श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रथमाला - ८२

श्रीमद्विद्यारण्यस्वामीविरचित

पञ्चदशी

व्याख्याता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

भूमिका

मानव धरती पर इकलौता प्राणी है जिसमें जिज्ञासा का असीम विकास तथा ज्ञान पाने की अथाह कोशिश सम्भव भी है और इन दिशाओं में निरन्तर वह प्रगति भी कर रहा है। सभी पदार्थ अपने मूलकारण को चरम गन्तव्य स्वीकारते हैं। जीव का मूल सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वर होने से वह भी उस तक पहुँचने को उत्सुक है। प्राचीन से अर्वाचीन तक सभी का प्रयास इस ओर है। बाहरी विषयों के अनुसन्धाता भी यही आशा रखते हैं तो भीतरी वस्तु की खोज करने वालों का भी यही मानना है। आन्तरिक की स्पष्ट समझ के बिना सिर्फ़ बाहरी की जानकारी समग्रता के स्तर पर वैसी ही अधूरी है जैसी बाहरी को समझे बिना भीतरी की। बाह्य-आभ्यन्तर समस्त प्रपंच का प्रामाणिक बोध ही जिज्ञासा शान्त करने में सक्षम है। ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होता भारतीय साहित्य इस तथ्य के प्रति सतत जागरूक रखता है कि ज्ञान एकांगी न रखा जाये। ऋषि-मुनि-आचार्यों ने दोनों दिशाओं में प्रकाश का विस्तार किया है। 'भारतीय' कहलाता कोई दर्शन नहीं जो एकांगी हो। सनातन धर्म की सभी परम्परायें इस पूर्णता को व्यक्त करती हैं। अविवेकपूर्ण धर्मसमतावादी शास्त्रविषयक अज्ञानवश ही वेदादि सच्छास्त्रों को अनर्गलप्रलाप-तुल्य पोथियों के समकक्ष रखने को तैयार हैं। वेदविद्या प्रत्यक्-पराक्, विषय-विषयी, ज्ञाता-ज्ञेय दोनों के ज्ञान के लिये तत्पर है, आधुनिक विद्याओं की तरह केवल विषयों में सीमित नहीं। पदार्थों के चिन्तन में वैशेषिक, प्रमाणचिन्तन में नैयायिक, वस्तुओं के प्रभाव के चिन्तन में सांख्य, मनोविषयक चिन्तन में योग, धार्मिक क्रियाकलापों या आचार के विषय में पूर्वमीमांसा जैसे एकाग्र हो प्रवृत्त हैं वैसे आत्मचिन्तन में वेदान्त समर्पित है। अपने-अपने प्रधान विषयों के अलावा अन्य सन्दर्भों में भी कुछ दृष्टिकोण सभी दर्शनों के हैं, अनात्म-विषयक कुछ विचार वेदान्तदर्शन के भी हैं। मुख्य सिद्धान्त से अविरुद्ध व्यवस्थायें सभी स्तरों पर मान्य हों यह दर्शन की सम्पूर्णता के लिये ज़रूरी भी है। दर्शन साधक के सारे आचार-विचार को निर्देश देता है अतः संसार-विषयक मान्यताएँ भी स्थापनीय होती हैं। वेदान्त अर्थात् उपनिषदों के अनुसन्धान से निश्चय होता है कि सब विषयों पर वेदान्त की विशिष्ट दृष्टि है। इस निश्चय को श्रीकृष्ण गीता में पुष्ट कर देते हैं एवं आचार्य श्री शंकर सुस्पष्ट करते हैं। उपनिषद्दृष्टिकोण हृदयंगम करने के लिये गीता-ब्रह्मसूत्र तथा प्रस्थानत्रयीभाष्य का अवलम्ब अनिवार्य है। व्याख्यानरूप होने से भाष्य किसी पद्धतिविशेष के स्पष्टीकरण में संलग्न नहीं हो पाता अतः भाष्यकार ने ही अनेक प्रकरण-ग्रन्थ रचे जो प्रक्रियाओं के उपस्थापक हैं। प्रक्रियावैविध्य वेदान्त की विशेषता है। अल्पश्रुत लोग प्रक्रिया और सिद्धान्त में अन्तर न समझने से प्रक्रिया में उलझे रह जाते हैं या उनमें से किसी का सहारा न लेकर सिद्धान्त आत्मसात् करने की कोशिश करते हैं किन्तु दोनों प्रयास असफल ही होते हैं। यत्किंचित् दृष्टिभेद सब प्रक्रियाओं में हैं फिर भी किसी एक के सहारे सिद्धान्त चित्त में स्थापित करना पड़ेगा फिर विभिन्न प्रक्रियाओं से उसे समर्थित करने के क्रम से

स्पष्टता आती जायेगी। पुरुषार्थ सिद्धान्तबोध से सम्पन्न होगा न कि प्रक्रियाबोध से एवं प्रक्रिया में त्रुटि से सिद्धांत भंग भी नहीं होता। अन्य वादी वेदान्तसम्प्रदाय की प्रक्रियाओं में दोष दिखाकर सिद्धान्तखण्डन के भ्रम में रहते हैं जबकि वेदान्ती प्रक्रियाओं को वास्तविक स्वीकारता ही नहीं कि उनके विरोध से हानि अनुभव करे। अत: आचार्य ने विभिन्न रीतिओं से तत्त्व-प्रतिपादन प्रकरणों द्वारा प्रकट किया।

भगवान् भाष्यकार के परमहंस सम्प्रदाय की महिमा रही कि इसमें उद्भट विद्वान् आचार्य निरन्तर उपलब्ध रहे जिन्होंने शास्त्र हृदयंगमकर उसे अधिकाधिक स्पष्ट करने के लिये सूक्ष्म विचार ग्रंथारूढ किया ताकि परम्परा सुलभ रहे। यह तथ्य है कि औपनिषद दर्शन छोड़कर षड्दर्शनी में अन्य किसी का समाश्रयण करता कोई सम्प्रदाय आज उपलब्ध नहीं। तत्तद् दर्शन में पारंगत होकर भी उसके अनुसार मोक्षलाभ में तत्पर होना कोई परम्परा नहीं स्वीकारती। क्रमश: श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठों की उपलब्धि ही यह सम्भव बना पायी कि श्रौत धर्म और दर्शन अद्यावधि साधकों को उज्जीवित रखता है। आचार्य-परम्परा में **श्रीविद्यारण्य स्वामी** का अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है। सूक्ष्मतम तत्त्व का स्थूलतम बिम्ब स्पष्टतम शब्दों में व्यक्त करना विद्यारण्यकी विशेषता है। फलत: उनकी **'पञ्चदशी'** वेदान्तबोध के लिये अनिवार्य एवं पर्याप्त अध्येतव्य कृति है।

आचार्य विद्यारण्य संस्कृतवाङ्मय में अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं प्रभावी आचार्य हुए हैं। चौदहवीं (१३००-१३८७ इस्वी) शताब्दी के वैदिक दर्शन व धर्म के इतिहास में वे चिरस्मरणीय हैं। सामान्य युक्ति-दृष्टान्तों से क्लिष्ट दार्शनिक तथ्यों, प्रक्रियाओं का चित्रण करने में इनसे कुशल वेदान्ताचार्य दुर्लभ है। व्याकरण-मीमांसा-धर्मशास्त्र-तन्त्रशास्त्र-पुराण-ज्योतिष-वेदान्त आदि समस्त शास्त्रों में वे पारंगत थे तथा सर्वत्र अपनी छाप उन्होंने छोड़ी है। ऐतिहासिकों के अनुसार ईस्वी सन् १३८० से १३८६ तक वे शृंगेरी मठ के अधिपति रहे। उनसे पूर्व **श्री भारती तीर्थ** मठाधीश रहे थे एवं दोनों **श्री विद्यातीर्थ** के शिष्य थे। एक मान्यता है कि भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य पूर्वाश्रम से भी भाई ही थे एवं पहले छोटे भाई ने संन्यास लिया और भारतीतीर्थ बने तथा सन् १३३१ में बड़े भाई ने संन्यास लिया तो विद्यारण्य बने। आचार्य बलदेव उपाध्याय कृत 'आचार्य सायण और माधव' महत्त्वपूर्ण इतिहास-बोधक शोध है। वे पृ. १५० पर सन् १३७९ से 'दो-चार साल पहले', संन्यास ग्रहण किया यह मत रखते हैं। विद्यारण्य का पूर्वाश्रम का नाम **माधव** था। कुछ इतिहासज्ञ वेदभाष्यकार माधव को ही विद्यारण्य मानते हैं जबकि कुछ वेदव्याख्याता माधव और सायण को विद्यारणय के शिष्य स्वीकारते हैं। ऐसे ही कुछ की कल्पना है कि भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य दोनों शब्द एक आचार्य को विषय करते हैं, भले ही विद्यारण्य विशेषण हो। प्राचीन टीका 'पददीपिका' एवं तदनुसार मोडककृत 'पूर्णानन्देन्दुकौमुदी' का मानना है कि सप्तमादि प्रकरण भारती तीर्थ द्वारा रचित हैं। अनेक परवर्ती आचार्य इन प्रकरणों के उद्धरण भी विद्यारण्य के नाम से व्यक्त करते हैं। 'शिवतत्त्वरत्नाकर' सन् १७०८ के आस-पास रचा ग्रंथ विजयनगरसाम्राज्य-स्थापना में आचार्य के योगदान पर

प्रकाश डालता है। उस साम्राज्य के विवेचक सभी इतिहास ग्रन्थों में विद्यारण्य का महत्त्व सूचित है तथा शिलालेख, ताम्रपत्र आदि से समर्थित है। आचार्य उत्तम कोटि के उपासक भी रहे एवं अनेक गायत्री-पुरश्चरण उन्होंने सम्पन्न किये ऐसा प्रसिद्ध है।

आचार्य विद्यारण्य की रचनायें अनेक हैं। पंचदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह, जीवन्मुक्तिविवेक, अनुभूतिप्रकाश, बृहदारण्यक वार्तिकसार एवं अनेक उपनिषदों पर दीपिकायें प्रायः निर्विवादरूप से उनके ग्रन्थ हैं। जैमिनीयन्यायमाला, पराशरमाधव, कालमाधव, माधवीय धातुवृत्ति, सर्वदर्शनसंग्रह एवं शंकरदिग्विजय भी मतभेद से इन्हीं की कृतियाँ हैं। वैयासिकन्यायमाला, दृग्दृश्यविवेक आदि भी इनके नाम से जोड़े जाते हैं। पुरुषार्थसुधानिधि आदि संग्रह एवं श्रीविद्यासम्बद्ध कुछ रचनाओं का भी आपसे सम्बन्ध प्रसिद्ध है। वेदान्त शास्त्र में आपकी कीर्ति पञ्चदशी से ही चिरस्थायी है इसमें संदेह नहीं। विद्यारण्य स्वामी के गुरु श्री **शङ्करानन्द सरस्वती**, श्रीविद्यातीर्थ एवं श्री भारती तीर्थ प्रसिद्ध हैं। विद्यातीर्थ संभवतः आपके दीक्षा गुरु रहे, शंकरानन्द से आपने वेदान्त शिक्षा ली तथा भारतीतीर्थ आप से पूर्ववर्ती पीठाचार्य रहे। तीनों गुरु अप्रतिम निष्ठावान् विद्वान् रहे फलतः विद्यारण्य स्वामी परिपूर्ण आचार्य बने।

पंचदशी की सबसे प्राचीन टीका **श्रीरामकृष्ण** द्वारा रचित **पददीपिका** है। टीकाकार को ग्रंथकार का शिष्य माना जाता है जिससे इस टीका में कहे भाव निर्विवाद मूलकार को अभिप्रेत हैं। श्रीरामकृष्ण का उद्देश्य विस्तार का बिलकुल न होकर मूल वचनों का अभिप्राय व्यक्त करना ही है। यह टीका पर्याप्त भी है एवं सर्वाधिक सम्मानित भी है। दूसरी व्याख्या **'पूर्णानन्देन्दुकौमुदी' अच्युतराय मोडक** की प्रशंसनीय कृति है। ये विद्वान् प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व हुए एवं अद्वैतविषयक अनेक कृतियाँ इनकी प्रचलित हैं। कुछ का अस्तित्व इनकी ही रचनाओं में सूचित है जिनकी खोज अभी बाकी है। मोडकने यह मानकर व्याख्या की है कि अध्येता पददीपिका से ग्रंथार्थ समझ चुका है अतः मात्र वाक्यार्थ बताना इनका उद्देश्य नहीं, विशेष विचार ही व्यक्त करते हैं। अनेक स्थलों पर पाठविषयक टिप्पण महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतिप्रकरण तात्पर्यविचार भी विशेष हैं। **लिंगन सोमयाजी**-कृत **'कल्याणपीयूष'** भी एक संक्षिप्त टीका है जो प्रायः अन्वयबोधक टिप्पण-सी है तथापि पाठादि की दृष्टि से उपादेय है। हिन्दी में **पीताम्बर पण्डित** की व्याख्या सर्वमान्य है, अन्य अनेक अनुवाद सुलभ हैं जो ग्रंथार्थ व्यक्त करने में सक्षम हैं। अन्य भाषाओं में भी अनुवाद एवं व्याख्यान हैं तथा आधुनिक दृष्टि से अनुसन्धानात्मक ग्रंथ भी हैं।

ग्रन्थ का कलेवर पन्द्रह प्रकरणों में विभक्त है इसे इसके 'पञ्चदशी' नाम से सूचित किया है। 'पञ्चाधिकानां दशानां प्रकरणानां समाहारः' इस तात्पर्य से शब्दव्युत्पत्ति समझनी चाहिये। प्रत्येक प्रकरण भी विशेष नामों से अंकित है तथा प्रायः ग्रंथकार प्रकरणनामोल्लेख से उद्धरण देते हैं। प्रकरणशः विषयसंग्रह भी बोधनीय है—

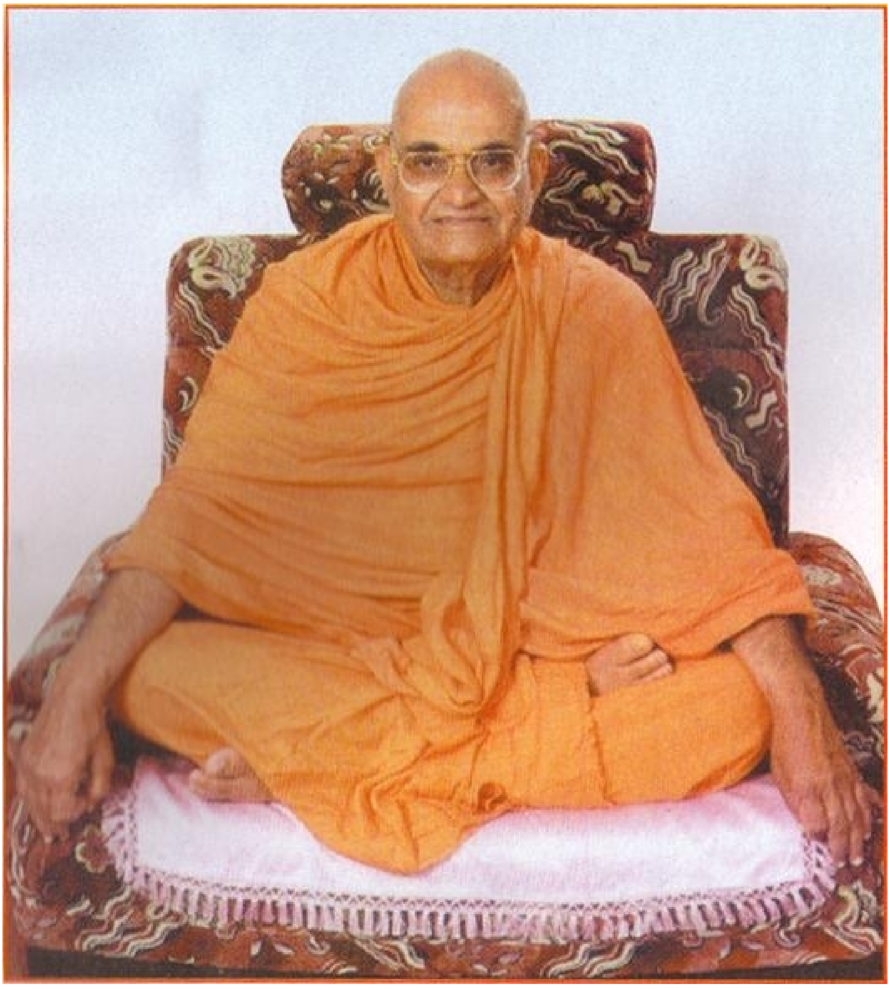
'तत्त्वमसि'-महावाक्य के अनुसार ग्रंथ का विस्तार नियोजित है। **प्रथम पंचक** तत् का, **मध्यम पंचक** त्वम् का तथा **अन्तिम पंचक** अभेदद्योती असि का व्याख्यान है।

सत्-चिद्-आनन्द क्रम से यहाँ वस्तु निरूपित है। जीवब्रह्म-अभेद के यौक्तिक उपस्थापन से ग्रंथारम्भ है एवं अवस्थाव्यतिरेक द्वारा अन्वयी स्वप्रकाश आत्मा को परमार्थ आनन्द सिद्ध कर मोक्ष का परिचय प्रथम तत्वविवेक प्रकरण में सुलभ करा दिया है। आत्मजिज्ञासा उपपन्न कर आवरक अज्ञान के द्वैविध्य से जीव-ईश्वरव्यवस्था स्पष्ट करी है। भूत-भौतिक बाह्य-आभ्यन्तर प्रपंच परमेश्वर से उत्पन्न बताकर विवेकार्थ पंचकोश सूचित करते हुए भाग-त्यागलक्षणा से महावाक्यार्थ व्यक्त किया है। लक्ष्यभूत वस्तु की निर्विकल्पता-सविकल्पता के प्रश्न का ही उन्मूलन तार्किक चातुर्य से आचार्य ने सुगमरीत्या सम्पन्न कर दिया है जो प्रसंग न्यायरसिकों के लिये सदा मनोहर रहा है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन का स्पष्ट परिचय स्मर्तव्य है। अपरोक्षात्मा के बारे में परोक्ष ज्ञान भी असंभव नहीं और सार्थक भी है अत: उतना तो कम से कम सभी पाने का प्रयास करें यह प्रकरणान्त में सूचित है। इन सभी प्रकरणों को स्वतंत्र मानकर इनका तात्पर्यनिर्णय भी संभव है ऐसा अच्युतराय मोडक ने प्रदर्शित किया है। प्रत्येक प्रकरण पूर्ण तो है ही तथा अन्य प्रकरण भी बाकी से निरपेक्ष रहते हैं फिर भी इसे पंद्रह पुस्तकों का संकलन कहने में संकोच होता है क्योंकि विषययोजना ऐसी है कि प्रवाहभङ्ग प्रतीत नहीं होता। यत्किञ्चित् पुनरुक्ति भी सन्दर्भानुरूप अत: मधुर लगती है। अत: यद्यपि कोई भी प्रकरण शुरू में पढ़ें फ़र्क नहीं पड़ता, किसी के बाद कोई पढ़ें तब भी अन्तर नहीं आता तथापि ग्रंथकार के विन्यास-अनुसार अध्ययन ही सुकर है। अन्तिम पंचक तो एक प्रधान शीर्षक से निर्दिष्ट है अत: वहाँ क्रमादि का महत्त्व अधिक है।

द्वितीय है **भूतविवेक** प्रकरण। वेदान्त के अनुसार सारा प्रपंच महाभूतों का विस्तार है। जीव की उपाधि स्थूल-सूक्ष्म शरीर भी भौतिक ही हैं। आधुनिक वैज्ञानिक पुन: पुन: इस तथ्य को प्रकट कर रहे हैं कि शरीर-इंद्रियाँ-प्राण-मन वैसे ही भौतिक हैं जैसे बाह्य विषय। यद्यपि अनजान लोग इससे विचलित होते हैं तथापि श्रुति-स्मृति का भी यही मत रहा है। आत्मा की सद्रूपता जैसे बाह्य अर्थों में प्रकट होती है वैसे चिद्रूपता सूक्ष्मदेह में प्रकट होती है। प्राकट्य के लिये उपाधि अपेक्षित है एवं वह भौतिक ही है। अपरा प्रकृति भगवान् ने भी भूतात्मक कही है। मन-बुद्धि-अहंकार जिस मूल कारण अव्यक्त के विस्तार हैं वह भूतोपादान ही होने से भूतात्मक समझा जाये यह असंगत नहीं। कारण वस्तु अज्ञान एवं कार्य सारा प्रपंच भूत-भौतिक—यही दृश्यवर्ग की व्यवस्था मान्य है। इंद्रियों को भूतकार्य शास्त्र-युक्ति से समझना चाहिये (प्र. २ श्लोक. १७) कहकर आचार्य ने समझाया कि इंद्रियाँ अतीन्द्रिय होने से ऐन्द्रिय दृष्ट्या इन पर चर्चा निराधार है अत: इन पर शंका भी शास्त्र-युक्ति से ही उठ सकती है, समाधान भी उन्हीं से मिलेंगे। दृश्य एवं द्रष्टा का उपकरण बनता सारा जगत् द्वैत है अत: इसकी उत्पत्ति अद्वैत से ही संभव है। वर्तमान भौतिकी की दृष्टि से भी प्राय: यही तथ्य प्रकट हो रहा है। स्थूलमति के लिये अद्वैत-अंगीकार मानो समुद्र में डूबने जैसा है! तथापि शास्त्रनिर्भर विचार से वास्तविकता हृदयंगम होती है। अभिव्यक्ति में कठिनायी भाषा एवं श्रोतृसंस्कारों के प्रतिबंध से है अत:

विवेक-संस्कार और शास्त्रीय शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग से समझना संभव हो जाता है। साक्षी से ब्रह्म को सहजता से समझाकर (२.४६) किया शक्तिवाद का स्पष्टीकरण अन्यत्र दुर्लभ है। विवेक निश्चय में परिणाम कैसे हो—यह साधकजिज्ञासा आचार्य ने श्लोक ७३ में समाहित की है जिससे प्रेरित हो अभ्यासी को मार्गदर्शन मिले। श्लोक १०१ में विलक्षण दृष्टिकोण प्रकट है जिससे अध्यात्ममार्गी पथभ्रष्ट होने से बचता है और साथ ही अनात्म-उपेक्षा को अपराध नहीं मानता। भारतीय अध्यात्म पर यह आक्षेप प्रसिद्ध है कि अनात्मा के प्रति तिरस्कार सामाजिक दायित्व से विमुखतारूप दोष है किंतु आचार्य ने इसका धार्मिक समाधान प्रदान किया। ज्ञानदार्ढ्य से जीवन-मरण के प्रति निरपेक्ष विद्वान् अन्य क्या दायित्व समझ भी सकेगा!

तृतीय है **'पञ्चकोशविवेक'**। शरीरत्रयविवेक और कोशविवेक—ये ही त्वमर्थशोधन की मुख्य प्रक्रियायें हैं। आचार्य ने विज्ञानमय-आनन्दमय को कर्त्ता-भोक्ता कहा जिससे एक ओर मनोमय-विज्ञानमयका भेद प्रकट हुआ और दूसरी ओर आनन्दमय की जाग्रदादि में उपलब्धि समझ आयी। तैत्तिरीयोपनिषत् में कोशों का वर्णन सुलभ है किन्तु मनोमय-आनन्दमय के स्वरूप को इस प्रकरण में उपनिषदनुरूप ही रखने का बंधन नहीं माना। सर्वसाधारण के लिये पञ्चदशीप्रोक्त स्वरूप ही सुगम एवं अनुभवानुसारी है तथा इसका अन्तर्भाव उपनिषद्-उक्त कोशों में सुसंगत है। आनन्दमयका वर्णन (३.९) ग्रन्थान्तमें आये आनन्द-विस्तार का बीज है। कोशातीत आत्मा का स्वप्रकाश अस्तित्व शास्त्र-युक्ति-अनुभूति से समर्थित है। ऐसे आत्मा को अनुभवाधीन समझना निरी जडता कही (श्लो. १९) है। 'स्वयम्' के आधार पर आत्मा का स्पष्टीकरण (श्लो २३) आचार्य श्रीशंकर ने ही उपस्थित किया था, विद्यारण्य स्वामी ने उसका विस्तार कर विषय सुबोध बना दिया है। श्लोक ३१ में 'यन्न किञ्चित्तदेव तत्' द्वारा बौद्धादि बहुत-से वादियों का मुख बन्द किया गया है। एक ब्रह्म का ईश्वर और जीव दोनों रूपों से उपलम्भ लौकिक दृष्टान्त से प्रकट कर (श्लो ४१) आचार्य ने समझा दिया कि श्रौतदृष्टि अत्यन्त सरल है क्योंकि सत्य का स्वभाव ही सरल होता है।



स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

विषय सूची

ॐ

पञ्चदशी

प्रथम
तत्त्वविवेक प्रकरण

श्री स्वामी विद्यारण्य की लिखी हुई पंचदशी वेदांत का प्रकरण ग्रन्थ है जिस की ऐसी विशेषता है कि प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है। संस्कृत में तो व्याख्यायें हैं ही। रामकृष्ण की व्याख्या प्रधान है जो ग्रन्थकार के शिष्य थे। यह व्याख्या संक्षिप्त है परन्तु सब चीजों को स्पष्ट करने के लिए बहुत अच्छी है। अच्युतराय की व्याख्या अत्यंत विद्वत्तापूर्ण है परन्तु उसके अन्दर प्रौढ विचार काफी आ गये हैं। आन्ध्र के एक विद्वान् लिंगन सोमयाजी ने भी एक टीका लिखी है। इस ग्रन्थ को पञ्चदशी कहते हैं क्योंकि पन्द्रह प्रकरणों का यह संग्रह है। प्रत्येक प्रकरण अपने में पूर्ण है अर्थात् एक प्रकरण को समझने के लिए दूसरा प्रकरण पढ़ा हुआ हो, ऐसा जरूरी नहीं है क्योंकि ये इस ढंग से लिखे गये हैं कि जितनी बात कहनी है वह सब एक जगह पर (एक प्रकरण में) कह दी गई है। इसलिये कुछ प्रकरणों में पुनरुक्ति दीखेगी; कि जो पहले कहा है, उसी को फिर कहते हैं! कई जगह पर तो उन्हीं श्लोकों को भी लिख दिया है; लेकिन वह इसलिये किया गया है कि प्रत्येक प्रकरण अपने में स्वतंत्र हो सके।

इसको लिखने वाले अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। चौदहवीं शताब्दी में इनका लौकिक दृष्टि से सबसे पहले काम था कि जो थोड़ी सी जमीन के मालिक थे उनको लेकर बड़े भारी हिन्दू राज्य, विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। एक विशेषता इन्होंने रखी कि अंतिम अधिकार के रूप में विरूपाक्षेश्वर महादेव की स्थापना की, कि वे ही वहाँ के असली अधिपति होंगे। इन विरूपाक्षेश्वर महादेव के अन्तर्गत ही बाद में करीब तीन सौ साल तक विजयनगर साम्राज्य बहुत अच्छी तरह से चला। यूरोप के अनेक विदेशी यात्रियों ने उसके वैभव और सुव्यवस्था की बड़ी प्रसंशा की कि वहाँ कोई भी चोरी करना जानता ही नहीं था! विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हुई तो सबसे बड़ा काम धर्म की दृष्टि से किया कि चारों वेदों के ऊपर, वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों पर अतिविस्तृत सायण भाष्य का निर्माण किया। परवर्ती काल में जब अंग्रेजों ने वेदों का अनुवाद करना शुरू किया, तब विल्सन और मैक्समूलर दोनों ने यह माना कि यह ठीक है कि कहीं-कहीं उन्हें सायणोक्त अर्थ ठीक नहीं

लगता लेकिन यह भी ठीक है कि वह भाष्य न होता तो वेदार्थ कुछ समझ ही नहीं सकते थे। उन्होंने यह भाष्य चाहे अकेले लिखा या कई विद्वानों के साथ मिलकर के लिखा–दोनों माना जाता है क्योंकि उस समय उस साम्राज्य के कई बड़े-बड़े विद्वानों को वहाँ बुलाया गया था। इन्होंने व्याकरण, ज्योतिष और स्मृतियों पर भी लिखा है, और भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनके अन्दर धर्म और मोक्ष विषयक विषयों को एकत्रित किया है। संगीत के अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इनके मतों का उल्लेख किया है इससे पता लगता है कि ये संगीतज्ञ भी अच्छे थे परन्तु संगीत पर इनकी कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं मिली है।

इनके एक भांजे, अहोबल पण्डित बड़े भारी विद्वान् हुए हैं। उन्होंने अपने व्याकरण, ग्रंथ में मंगलाचरण करते हुए लिखा है

'वेदानां भाष्यकर्त्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता
प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी।
वाणी नीलाऽहिवेणी सरसिजनिलया किंकरीति प्रसिद्धा।
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शंकरो वीतशंकः।।'

विद्यारण्य स्वामी ने सारे वेदों के मंत्र-ब्राह्मणों पर भाष्य लिखा, व्यास जी के ब्रह्मसूत्रों पर विवरणरूप वैयासिक न्यायमाला लिखी जिसके प्रारंभिक श्लोक में पूर्व पक्ष और दूसरे श्लोक में सिद्धांत को कहा है, व्याकरण पर धातुवृत्ति लिखी, विजयनगर राज्य के अन्दर हरिहर राजा को सार्वभौम राजा बनाया। जिनकी वेणी या बाल सर्प की तरह सुन्दर है, जो कमल पर वास करती हैं, वे सरस्वती इनके कहने के अनुसार चलती रहीं। इन्होंने अनेक गायत्री पुरश्चरण पहले किये थे कि भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना हो जहाँ वैदिक सम्प्रदायों के विद्वानों को संरक्षण मिले, परन्तु उस समय इनके ऊपर गायत्री की कृपा नहीं हुई। जब इन्होंने पता लगाया तो मालूम चला कि पूर्व जन्म का कोई ऐसा कर्म था कि इस जन्म में इनको वह सिद्धि नहीं हो सकती थी। उसके बाद इन्होंने संन्यास लिया। संन्यास लेना नया जन्म होता है। संन्यास लेते ही भगवती आई और कहा 'वरदान माँगो।' आचार्य हँस पड़े कि 'मैं जब कुछ करना चाह रहा था, जिस समय तुम्हारी शक्ति का प्रयोग करता, तब तो तुम आई नहीं और अब मैं पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा छोड़ चुका हूँ अतः मुझे कुछ नहीं माँगना है।' भगवती ने कहा 'मेरा आना व्यर्थ नहीं होगा। और कुछ नहीं माँगते हो तो मैं तुम्हारी जिह्वा पर रहूँगी। तुम जो लिखोगे वह अप्रतिहत होगा'। विद्यारण्य स्वामी की सारे विद्वानों में सबसे पहली पूजा होती थी।

संन्यास लेने के बाद जब इनके गुरु शंकरानन्द जी का शरीर शांत हुआ तब इन्हें वहाँ के पीठाधीश्वर शंकराचार्य पद पर बिठाया गया। श्रृंगेरी में सात साल तक गद्दी पर रहे। ऐसा वहाँ के लेखों के अन्दर वर्णित है। सरस्वती की कृपा के कारण शास्त्र में इन्हें कहीं कोई संदेह नहीं था। शास्त्र में इनकी अप्रतिहत गति थी। इसलिये संन्यास के बाद इन्होंने

पञ्चदशी, विवरण-प्रमेयसंग्रह आदि लिखे जो वेदान्त के आधार ग्रन्थ हैं। सबसे बड़ी उपनिषद् बृहदारण्यक के ऊपर विशाल दीपिका रची और उससे भी ज्यादा, बारह हजार श्लोकों के वार्तिक का भी इन्होंने संक्षेप किया। विवरण-प्रस्थान को इन्होंने विवरणप्रमेयसंग्रह में पुष्ट किया और वार्तिक-प्रस्थान को बृहदारण्यकवार्त्तिकसार में पुष्ट किया। पञ्चदशी में इन्होंने सभी का सुन्दर समन्वय करते हुए संग्रह किया है और इतने सरल दृष्टांतों के द्वारा बताया है कि साधारण व्यक्ति भी इसको अच्छी तरह से समझ सके।

नियम है कि ग्रन्थ समाप्त हो सके और उसका प्रचार-प्रवर्द्धन हो सके, इसके लिये मंगलाचरण किया जाता है। इसलिये पहले मंगलाचरण करते हैं–

नमः श्रीशङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे।। १।।

विलास-समेत महामोहरूप ग्राह का ग्रास करना प्रधान कार्य है जिनका उन श्रीशंकरानन्दनामक गुरु के चरणकमल को प्रणाम है।

सबसे पहले गुरु को नमस्कार करते हैं। गुरु-नमस्कार के व्याज से इस ग्रन्थ में क्या विषय होगा और उसे समझने का क्या फल होगा, वह भी बता देते हैं। श्री शंकरानन्द नाम वाले गुरु के चरणकमलों को नमस्कार है। वे चरण-कमल हैं तो बहुत नरम दीखने वाले, क्योंकि कमल को बहुत नरम माना जाता है तथापि वे करते क्या हैं? महामोह है कि सबको जानने वाला मैं अपने आप को नहीं जानता! सब चीजों को तो मैं जानता हूँ, पर मैं क्या हूँ यह नहीं जानता। किसी चीज को ठीक प्रकार से नहीं जानना मोह है। 'मुहु वैचित्ये'से शब्द बना मोह अर्थात् अविवेक। परन्तु जानने वाले को ही नहीं जानना महामोह है। मैं अपने को नहीं जानता इसलिए आगे सारे संसार का विलास सामने आ जाता है। सारे दुःखों का, जन्म-मरण के चक्र का, सभी का मूल कारण है कि मैं अपने को नहीं जानता। इसी से ये सारी चीज़ें पैदा होती हैं। यही विलास सहित महामोह है इसलिये इसे घड़ियाल, ग्राह या मगर कहते हैं। गुरु जी के चरण-कमल कैसे हैं? इस ग्राह को मुँह में लेकर लीन करना ही उनका एकमात्र कर्म है, अर्थात्, कार्य के साथ जो कारण अज्ञान है उसको निवृत्त करने में वे समर्थ हैं और वही उनका एक कर्म है।

गुरु का नाम शंकरानन्द है ही, विद्यारण्य स्वामी उन्हीं के शिष्य थे। शंकरानन्द स्वामी भी बड़े प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। इनका सबसे बड़ा ग्रन्थ आत्मपुराण है जो इनकी स्वतंत्र कृति है। उसमें इन्होंने अनेक उपनिषदों का बड़ा विस्तृत और रोचक व्याख्यान किया है। उपनिषदों की दीपिकाएँ भी इन्होंने लिखी। गीता पर भी इनकी बड़ी सुन्दर और विस्तृत व्याख्या है। ब्रह्मसूत्रों पर भी इनकी वृत्ति है। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी (तीनों प्रस्थानों) पर इनका लिखा हुआ भाष्य के बाद प्रथम व्याख्यान है। ऐसे शंकरानन्द स्वामी के यह शिष्य थे। उनका स्मरण करना तो ठीक ही है, परन्तु इसके द्वारा कुछ और बात भी कह देते हैं:

शंकर में शम् मायने कल्याण। जो कल्याण करने वाले हैं उनको शंकर कहते हैं। परमेश्वर ही गुरुरूप से कल्याण करते हैं। कल्याण करने वाला परमेश्वर ही है। इसलिये आगमों के अन्दर बताया है।

'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे सदीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः।।'

आचार्य की मूर्ति में स्थित हुए जो भगवान् दक्षिणामूर्ति हैं वे ही परम तत्त्व में स्थित करते हैं। गुरु क्या है? ज्ञान ही गुरु है। 'गु' शब्द का अर्थ अंधकार और 'रु' शब्द का अर्थ प्रकाश होता है। अन्तःकरण के अंधकार (अज्ञान) को नष्ट करके जो प्रकाश करता है वही गुरु कहा जाता है। इसलिये न शरीर गुरु है और न केवल अंतःकरण गुरु है। अंतःकरण के अन्दर विद्यमान जो ब्रह्मज्ञान है वही अज्ञान अंधकार को दूर करके प्रकाशित करता है। आचार्यमूर्ति के अन्दर स्थित जो यह ज्ञानस्वरूप दक्षिणामूर्ति हैं वे ही उस परतत्त्व, शुद्ध परब्रह्म परमात्मतत्त्व से हमको एक कर देते हैं।

सबको ही ऐसा क्यों नहीं कर देते? कहा कि जो परिपक्व-मल हैं, जिनके पाप पक गये हैं अर्थात् जिनके अंतःकरण में पापों को स्थान नहीं रह गया। कोई भी पाप कर्म ऐसा नहीं है जो उनके अंतःकरण में उस जन्म में फल दे। क्योंकि कर्म तो अनंत हैं इसलिये सारे कर्म ज्ञान के बिना कभी नष्ट नहीं होते। कर्मों में उसके पुण्य पाप सभी हैं। परन्तु जिस शरीर में ज्ञान होना है उसके अन्दर कोई पाप कर्म फल देने वाला नहीं रहना चाहिये। पाप कर्म के फल दो तरह के होते हैं : एक तो कर्म का फल सुख-दुःख जो परमात्मा के संकल्प से है। इसलिये प्रारब्ध कर्म अपना फल सुख-दुःख तो देगा ही। दुःख का कारण पाप और सुख का कारण पुण्य ही होता है। पाप और पुण्य दोनों के संस्कार हमको पुनः कर्म में प्रवृत्त करते हैं। हमने चोरी की, पैसा आया और हमको कोई पकड़ नहीं पाया। चोरी का फल दुःख तो होगा ही, परन्तु 'चोरी करने से चीज तो मिल जाया करती है' यह संस्कार हमको फिर से चोरी में प्रवृत्त करता है। कोई भी काम करने में हमारी प्रवृत्ति तभी होती है जब तदनुकूल संस्कार का उद्बोध हो। यह बात पुण्य-पाप दोनों के लिये है। हमने एक अनुष्ठान किया और उसमें सफलता मिल गई तो पुनः वैसे अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। अनुष्ठान किया और सफल नहीं हुआ तो मन में होता है कि इसे करने से कोई फायदा नहीं, इसलिये फिर उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। इस तरह कर्म के दो फल हैं—एक तो सुख-दुःख और दूसरा संस्कार के द्वारा पुनः प्रवृत्ति कराना। जहाँ तक सुख-दुःख को भोगने का प्रश्न है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। परन्तु जो संस्कार हैं, जो पुनः प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें विवेक और शास्त्र के ज्ञान के संस्कार बनाकर दूर किया जा सकता है। जैसे हमने चोरी की, सफलता मिली। परन्तु हमारे जो दूसरे साथी चोर थे, वे सभी पकड़े गये। हम नहीं पकड़े गये। तो भी संस्कार बनता है कि 'चोरी करने से सावधान रहो'। चोरी करने से हमको फायदा हुआ परन्तु उससे

प्रबल संस्कार हो गया कि पकड़े जाने पर जब पुलिस डण्डे मारती है तब बड़ी चोट लगती है। अपने साथियों को देखकर विपरीत संस्कार बनने पर भी चोरी के संस्कार हमें प्रवृत्त नहीं कर पाते। इस प्रकार विवेक और शास्त्र के संस्कार प्रबल हो जाते हैं तो पाप के संस्कार फल नहीं दे पाते अर्थात् प्रवृत्त नहीं कर पाते। एक संस्कार के प्रवाह को दूसरे संस्कारों के प्रवाहों से दबाया जा सकता है। संस्कार नष्ट हो जायेंगे यह नहीं कह रहे हैं, परन्तु वे हमें प्रवृत्त नहीं कर पायेंगे क्योंकि विपरीत संस्कार प्रबल हैं। इस स्थिति को परिपक्वमलता कहते हैं अर्थात् मल का परिपाक हो गया। जो ऐसे हैं उनके कल्याण के लिये, उनके पापों को उखाड़ फैंकने के लिये परतत्त्व में लगाते हैं। यह जो तत्त्वज्ञान है, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य-बोध है, यह सबसे बड़ी शक्ति है जिससे सारे संस्कारों का उच्छेद हो जाता है। इसलिये परमेश्वर ही गुरुमूर्ति के अन्दर बैठे हुए हमको मुक्त करते हैं।

शंकर, कल्याण करने वाला यह ज्ञान ही है। यही वास्तविक कल्याण है। जो प्रिय हो उसे आनन्द कहते हैं। सबको जो प्रिय है वह परम आनन्द है। बाकी चीजों के बारे में तो मतभेद होता है; हमको रसगुल्ला अच्छा लगता है, तुमको तिलपापड़ी अच्छी लगती है। हमको बण्डी, तुमको स्वेटर पहनना अच्छा लगता है। अलग-अलग चीजें अलग-अलग व्यक्तियों को आनन्द देती हैं। परन्तु आनन्द तो सबको चाहिये और यह आनन्द आत्मरूप है। इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सबसे अधिक प्रिय अपना आत्मा ही है। आनन्द किस के लिये चाहते हो? आत्मा के लिये या अपने लिये ही चाहते हो। जो शंकर हैं वही आनन्द हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप परमेश्वर जो गुरुमूर्ति में स्थित हैं और आत्मा जो आनन्दरूप है, दोनों एक ही हैं। इस प्रकार से शंकरानन्द के द्वारा इन्होंने विषय बता दिया कि जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

यह ज्ञान कैसा है? शंकर तो ज्ञानरूप हैं ही, लेकिन श्रीशंकर कहा; श्री अर्थात् ब्रह्मविद्या द्वारा वे हमारा कल्याण करते हैं। श्री का अर्थ लौकिक श्री भी हो सकता है। परमेश्वर को 'रातिर्दातुःपरायणं' कहा है। सब प्रकार की धन-सम्पत्ति देने वाले परमेश्वर हैं। उपनिषदों में कहा है—'तस्माद् आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' आत्मज्ञानी की अर्चना-पूजा करने से सब प्रकार की धन-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। जो तो परिपक्वमल हैं वे उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उस मूर्ति में परमेश्वर स्थित हैं और जो ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं वे जिस चीज को चाहते हैं उस चीज को प्राप्त कर लेते हैं।

नमः का मतलब त्याग होता है, 'त्यागो हि नमसो वाच्यः'। उनके चरणकमलों को नमन है अर्थात् अहंकार का त्याग है। नमन मनुष्य को विनम्र बनाता है। जिसे अपने से श्रेष्ठ समझेंगे उसी को नमस्कार करेंगे। यह नमः भी दो तरह का समझना। अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिफलित चेतन मेरा स्वरूप नहीं है। वरन् अहंकार का त्याग करके जो उससे उपलक्षित चिन्मात्र है वही मेरा वास्तविक स्वरूप है—इस प्रकार अहंकारात्मिका वृत्ति का त्याग ज्ञान के लिये जरूरी है। जब गुरु उपदेश देते हैं कि तुम ब्रह्म हो, तब स्वाभाविक प्रश्न सामने आता

है कि 'मैं देहादि वाला हूँ, ब्रह्म थोड़े ही हूँ! मैं इस शरीर, मन में रहने वाला हूँ।' गुरु के कहने पर कि 'तुम ब्रह्म हो' तुमको ज्ञान नहीं होता, मैं बने रहते हो। तुम 'मैं' नहीं अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं हो। शरीर से लेकर अंतःकरण की वृत्ति (अहंकारात्मिका वृत्ति) पर्यन्त तुमको लगता है कि मैं हूँ, अतः समझते हो कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ। सारी साधना तो इस असली 'मैं' में पहुँचने तक है। इसलिये आगे स्वयं कहेंगे कि सबसे बाह्य मैं तो शरीर है। शरीर के अन्दर प्राण, प्राण के अन्दर मन और मन में बुद्धि है। ये सब 'मैं' नहीं हूँ। इस प्रकार से धीरे-धीरे जिसे तुम 'मैं' समझते रहे हो, उसका जब त्याग करते हो तब यह विरुद्ध प्रतीति कि 'मैं ब्रह्म नहीं हो सकता' हटती है। परिच्छेदाभिमान के कारण ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता है। जब इन सब परिच्छेदों से अहंकारात्मिका वृत्ति हट जाती है और अनुभव होता है कि 'मैं' यह सब नहीं हूँ, तब आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाती है। आत्मस्थिति हो जाना ही यहाँ प्रयोजन या उद्देश्य है।

गुरुचरण-रूप कमल की विशेषता बड़ी विचित्र बतायी। मगर (घड़ियाल) का चमड़ा इतना कड़ा होता है कि उसकी ढाल बनाई जाती है जिसे तलवार आदि नहीं काट सकती। कमल बड़ा कोमल होता है। मगर कमल को खा जाये, यह तो कहना बनता है परन्तु कमल मगर को खा जाये, यह नहीं बनता। यहाँ वह विपरीत घटना है, उनके जो चरणकमल हैं वे महामोहरूपी ग्राह को खा लेते हैं। ऐसी जो विपरीत बात होती है वह मनुष्य के अन्दर आश्चर्य पैदा करती है कि कैसे हो गया? भगवान् शंकर के एक भक्त बड़े भारी विद्वान् थे। एक बार भगवान् ने उनसे कहा कि 'तुम यदि संदेह करना छोड़ दो तो तुमको ज्ञान हो जाये। किसी भी चीज में संशय मत करो।' जैसे वसिष्ठ जी ने कहा है कि आकाश को टुकड़े होते गिरते देखो तो भी आश्चर्य मत करो, सूर्य उदय हो और फिर भी अन्धकार दीखे तो भी आश्चर्य मत करो क्योंकि माया में सब सम्भव है। इसलिये बड़े महाराज कहते थे कि यदि कोई कहे कि 'मैंने कान में ऊँट घुसते देखा,' तो यह मत कहो कि असंभव है। तुम यह पूछ सकते हो कि 'तुमने खुद देखा या नहीं?' और वह कहे 'मैंने देखा,' तो ठीक समझो, संशय मत करो क्योंकि इस माया के संसार में ऐसा कुछ नहीं जो न हो सके। यदि संसार सत्य होता तो इसमें कार्य-कारण-भाव होता। फिर भी, अत्यंत असम्भव चीज को देखकर आश्चर्य होता ही है। उक्त भक्त अभ्यास करने लगा कि यह तो परमेश्वर की माया है उसके संकल्प से कुछ भी हो सकता है। वह एक दिन किसी तालाब के पास बैठा था। ऊपर से एक पत्ता गिरा जो आधा पानी में और आधा जमीन पर था। पत्ता एक ही था, जो हिस्सा पानी में गिरा वह मेंढक बनकर उछल गया और जो जमीन पर गिरा वह चिड़िया बनकर उड़ गया। भक्त से नहीं रहा गया, संदेह हो गया कि यह कैसे हो गया! जैसे ही उसने फिर संदेह करना शुरू किया, दिव्य पुरुषों ने उठाया और एक गुफा में ले जाकर बन्द कर दिया। वहाँ उसने देखा कि पहले ही बहुत से लोग लटके हुए हैं। भक्त ने उनसे पूछा—'तुम लोग यहाँ कैसे लटके हो?' उन्होंने कहा—'हम सब संशय करने वाले हैं। तुमने भी जरूर संदेह किया

होगा, तभी यहाँ आ गये।' मनुष्य को कोई भी आश्चर्यजनक चीज देखने पर खट संशय हो जाता है कि कैसे हो सकता है। यहाँ विद्यारण्य स्वामी कहना चाहते हैं कि कभी भी आश्चर्य नहीं करो। चरण-कमल यदि मगर को खा लेते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु क्यों ? क्योंकि न चरण सचमुच में कमल हैं और न महामोह सचमुच में मगर है इसलिये विद्या से अविद्या का उच्छेद हो जाता है इसी बात को इस प्रकार से कहा। यह भी एक बड़ा भारी आश्चर्य है। हम लोगों को दृढ संस्कार है कि कुछ करके कुछ मिलता है, बिना किये कुछ नहीं मिलता। यहाँ बिना किये ही मिलता है क्योंकि गुरु के हृदय में बैठा हुआ जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा है वह बिना कुछ किये हुए ही हमारे अन्दर आ जाता है। ज्ञानसे अज्ञान का नाश होता है—इस बात को बताने के लिये यह उपमा दे दी गई।

कुछ लोग शंकरानन्द शब्द से केवल विषयादि का कथन मानते हैं, वह इसलिये ठीक नहीं, कि अगले श्लोक में कहेंगे कि 'उनके चरण-सेवकों ही के लिये प्रकरण है' जो तभी संगत है जब यहाँ गुरु का कथन हो। कुछ कहते हैं कि केवल निजगुरु का यहाँ स्मरण है। वह भी ठीक नहीं क्योंकि शंकरानन्द स्वामी की चरणसेवा करने वाले पचीस-पचास लोगों के लिये ही यह ग्रंथ उपयोगी रहा होगा, हमारे लिये व्यर्थ मानना पड़ेगा। अतः यही स्वीकारना उचित है कि इस श्लोक में गुरु शब्द से वह संकेतित किया जो श्रुति ने 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाऽभिगच्छेत्' आदि से कहा है। जहाँ-जहाँ गुरु के अन्दर वह ज्ञान मौजूद है वहाँ-वहाँ उसका सेवन करना है। 'नमः' का मुख्य मतलब है कि अहंकार की वृत्ति का त्याग करना है, उससे उपलक्षणा नमन या नम्रता की तो है ही। इस प्रकार, ज्ञान देने वाले दक्षिणामूर्ति भगवान् शंकर आत्मस्वरूप से, आनन्दरूप से एक हैं, उन्हीं के चरणकमलों में नमन है।

चरण वे होते हैं जो चलते हैं, गुरु जी के दो पैर थे, लँगड़े तो थे नहीं! गुरु दो पैरों से चलते हैंः एक तो उनका शुद्ध रूप जिसमें वे स्थित हैं और दूसरा, उपदेश आदि के द्वारा जो प्रकट करते हैं वह भी उनका चरण ही है। क्योंकि यदि सविलास महामोह, सारे कार्यरूपी संसार समेत मूल अज्ञान हट जाये तो गुरु का यह शरीर भी गिर जायेगा क्योंकि अज्ञान का कार्य ही ये शरीर-मन हैं। तब गुरु-शिष्य का व्यवहार, उपदेश देना-लेना ही नहीं बनेगा। इसलिये दूसरा चरण लेशाविद्या है जिसके द्वारा यावत् प्रारब्ध मिथ्या भावना की दृढता के साथ यह सब प्रतीत होता है। अतः वह दीखने पर भी नहीं दीखने जैसा ही है। 'यह संसार सत्य है' यह भावना करके ही संसार चक्र चलता है। ठीक जिस प्रकार से पुराने लोगों को याद होगा कि बायोस्कोप आने से पहले तो थियेटर (रंगमंच) होता था, उसमें कोई पात्र अच्छा कार्य करता था तो ताली बजा कर कहते थे 'एक बार फिर से, एक बार फिर से' और पात्र दोबारा उसी कृत्य को करके दिखा देता था। यदि कोई बहुत बुरा, दुष्टता का काम करता था तो लोग गालियाँ देते थे। कोई-कोई जूता भी फैंक देते थे। प्रारंभ में जब सिनेमा देखने लगे तो उसी संस्कार से कोई अच्छा दृश्य हो तो ताली बजाकर कहते थे 'फिर

से करो,' लेकिन वहाँ क्या होना था! इसी प्रकार कोई दुष्टता बहुत अच्छी तरह करता था तो गालियाँ बकते थे जूता फेंकने लगते थे। लेकिन पर्दे पर तो उसका कुछ असर होना नहीं था क्योंकि वहाँ केवल एक पर्दा और रोशनी मात्र हैं। क्योंकि लगता था कि नट-नटी सामने हैं इसलिये वैसा कर देते थे। जहाँ नट हो वहाँ तो उसे जूता पड़ने पर खुशी होती है कि खेल इतना सच्चा लगा कि जूता फेंका। पर सिनेमा तो सर्वथा झूठा है। पैसा खर्च करके सिनेमा देखने जाते हैं परन्तु लोगों को पता है कि वहाँ कुछ नहीं है जिसे देख रहे हैं। ठीक इसी प्रकार से एक ब्रह्मशिला के ऊपर ये सब भेद फिल्म के चित्रों की तरह दीख रहे हैं। इसलिये अच्छे को देखकर 'फिर से ऐसा हो' यह भावना व्यर्थ है। बहुत बढ़िया रबड़ी का मालपुआ बन गया तो मन में होता है कि एक दिन और बनवायें, परन्तु जब पता है कि यह रबड़ी का मालपुआ कुछ भी नहीं है, प्रतीतिमात्र है, तो 'फिर से यह बनवायें' ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार पीठपर बहुत बड़ा फोड़ा निकल आया, यदि सच्चा फोड़ा है तो, 'फिर यह न हो' यह इच्छा होगी। परन्तु यदि बायोस्कोप में दीखने वाला फोड़ा हो तो 'यह न हो' ऐसी इच्छा नहीं होगी। अतः संसार को लेशाविद्या के समय देखते हुये भी 'मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ' ऐसी कोई वृत्ति नहीं होती। अंतःकरण के चित्रपट के ऊपर जो चित्र दीख रहा है, वह केवल दीख ही रहा है, है नहीं। ठीक उसी प्रकार से जगत् को बाधित समझते हुए शिष्य आदि के प्रति तत्त्वमसि वाक्य का उपदेश हो जाता है क्योंकि हृदय में वह ज्ञानरूप परमेश्वर मौजूद है।

अतः गुरु के दो चरण हैं—एक उनका शुद्धरूप है। उसकी सेवा शम-दम आदि से युक्त होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन हैं। यह शुद्धरूप की सेवा है। जो लेशाविद्यारूप दूसरा चरण है, उसकी सेवा है कि जो अद्वेष आदि गुण गुरुके अन्दर स्थिर हैं उन्हें शिष्य अपने में दृढ कर ले। ये दोनों ही सेवा करनी हैं। उनका अंतःकरण कमल की तरह कोमल है पर बड़ा भयंकर काम करने वाला है कि मगरमच्छ को खा जाता है! इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि ऐसा गुरु 'वज्रादपि कठोराणि' फूल से भी ज्यादा नरम होता है पर वज्र से भी कठोर होता है। अविद्या का नाश करने वाले रूप में तो अत्यंत कठोर होता है परन्तु अन्यथा अत्यंत ही कोमल रहता है। दुःख-समुद्र के अन्दर पड़े हुए लोगों का उद्धार करने के लिये कोमल है। परन्तु इस संसार समुद्र को सुखाने के लिये शिष्य में शम, दम, उपरति, इत्यादि लाने के लिए अत्यंत कठोर कर्म भी करते हैं। शम, दम, उपरति इत्यादि करना शिष्य को बड़ा कठिन लगता है। कहता है 'कोई सरल मार्ग बताइये। इन्द्रियों का दमन आदि मत बताइये।' लेकिन गुरु कठोर होकर कहता है कि इनके बिना काम नहीं होगा यह सब तो करना ही पड़ेगा। दुःखवारिधि से निकालना चाहते हैं इसलिये कोमल तो हैं ही। इस प्रकार विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ अत्यंत अद्‌भुत कार्य को दिखाते हुए गुरु की वन्दना की॥१॥

प्रथम श्लोक के अन्दर नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हुए जीव-ब्रह्मैक्यरूप विषय और मोक्षरूप प्रयोजन का निर्देश किया। अनुबन्ध-चतुष्टय में अब अधिकारी का निरूपण करना

बाकी बच गया। सम्बन्ध तो सब जगह प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव ही है। अर्थात् ग्रन्थ से जीव व ब्रह्म की एकता को बताया जायेगा इसलिये ग्रन्थ प्रतिपादक है और जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपाद्य है। संक्षेप से अधिकारी बताते हुए अवान्तर प्रयोजन भी बताते हैं

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते।। २।।

उनके चरणकमलद्वय की सेवा से निर्मल हुए चित्तवालों को आराम से समझ आये इसलिये यह 'तत्त्वविवेक' प्रकरण बनाया है।

तत् अर्थात् शंकरानन्द गुरु के दोनों चरण-कमलों की सेवा करने से जिनका चित्त निर्मल हो गया है, मलरहित हो गया है वे अधिकारी हैं। अंतःकरण के अन्दर मल और विक्षेपरूपी दोष के रहते हुए ग्रन्थ के द्वारा जिस बात को प्रतिपादित किया जा रहा है वह फलपर्यन्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर पाती। ज्ञान की उत्पत्ति सफल तब कही जाती है जब अज्ञान निवृत्त हो जाये। जब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक प्रतिपादन का प्रयोजन सम्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार से यदि घड़ा निरन्तर हिल रहा है और पानी में मिट्टी है तो उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है परन्तु वह स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। सूर्य की जगह अगर अपना प्रतिबिम्ब देखो तो उसमें मुख की छाया पड़ेगी परन्तु मुख का प्रतिबिम्ब अर्थात् मुख जैसा है वैसा प्रतीत नहीं होगा। अगर हजामत बना रहे हो तो कहाँ काटें यह पता नहीं लगेगा। छाया पड़ने पर भी प्रतिबिम्ब वह तब है जब उसमें बिम्ब का सही ज्ञान हो, बिम्ब के अनुकूल हो तब वह प्रतिबिम्ब है। छाया में मुख दीखता तो है परन्तु मुख जैसा है वैसा नहीं दीखता। इसी प्रकार सूर्य उसमें प्रकाशरूप दीखता है परन्तु जैसा सूर्य है वैसा मल और विक्षेप के कारण नहीं दीखता।

इसी प्रकार अंतःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखना है। जैसे अंतःकरण में जब घट दीखता है तब वह घटाकार वृत्ति कही जाती है उसी प्रकार जब अंतःकरण में ब्रह्म की प्रतीति होगी तब वह ब्रह्माकार वृत्ति है। 'तत्त्वमसि' वाक्य के द्वारा उपदेश सुनने पर समल चित्त में व्यापक ब्रह्मरूपता या ज्ञानरूपता की प्रतीति नहीं होती, शब्द तो समझ में आ जाता है जिसे वाचनिक ज्ञान कहते हैं। जैसे हम अगर किसी से कहें, जो मारवाड़ का रहने वाला है, 'कड़ापाक संदेश अच्छा होता है, छैने से बनता है, उसके अन्दर शहद भरी होती है।' इन शब्दों से उसे कड़ापाक संदेश का ज्ञान तो हो जायेगा परन्तु कड़ापाक संदेश सचमुच में कैसा होता है, उसका क्या स्वाद है यह तो पता चलेगा नहीं। कड़ापाक संदेश सामने आये और वह उसको अपनी जीभ पर रखे, तब अंतःकरण की प्रत्यक्ष वृत्ति उस कड़ापाक संदेश के आकार की बनेगी और वह जैसा है ठीक वैसा ज्ञान उसे हो जायेगा। इसी प्रकार जब 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि रूप से ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है तब कुछ पता तो लग ही जाता है, परन्तु ब्रह्म जैसा है वैसा पता नहीं लगता क्योंकि अंतःकरण की

ब्रह्माकार वृत्ति बनती नहीं। आगे इसी अध्याय में कहेंगे कि वह परोक्ष ज्ञान है। परोक्ष का मतलब धुँधला ज्ञान है। जैसे कोई व्यक्ति दूर हो तो तुमको पता लगता है कि वह आदमी है परन्तु चेहरा न दीखने के कारण स्पष्ट भान नहीं होता कि वह अनुक्रम है। देख तो अनुक्रम को ही रहे हो, और किसी को नहीं देख रहे हो। लेकिन मनुष्यरूप से देख रहे हो, अनुक्रमरूप से नहीं देख रहे हो। देख उसी को रहे हो परन्तु पहचान नहीं रहे हो। इसी प्रकार से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान है कि *वह* सर्वव्यापक है। अबाधित ज्ञानरूप आदि सब का पता लगते हुए भी 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है। अतः उसे धुँधला ज्ञान कहते हैं जैसे मिट्टी घुले हुए और हिलते हुए घड़े के पानी में दीखता है कि यह चेहरा है परन्तु यह मेरा चेहरा है—ऐसी प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार से जब सगुण का ध्यान किया जाता है, साकार का ध्यान किया जाता है तब वस्तुतः विष्णु-शंकर आदि शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप हैं परन्तु उनका दर्शन करते हुए भी वे शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप हैं यह पता नहीं लगता। यही पता लगता है कि हाथ-पैर वाले हैं, साँवले हैं, गोरे हैं आदि। विष्णु, शंकर का दर्शन भी ब्रह्मज्ञान ही है, परन्तु परोक्ष ज्ञान है क्योंकि 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है।

अंतःकरण में धुँधलापन क्या है? जो हमारे पाप आदि के संस्कार हैं, वे सब मल हैं। पाप आदि के संस्कारों का रूप क्या है? राग-द्वेष आदि ही पाप आदि के संस्कारों का रूप है। पाप का संस्कार हमें किसी चीज से निवृत्त करता है और पुण्य का संस्कार हमें किसी चीज में प्रवृत्त करता है। जब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति के संस्कार हैं, अर्थात् राग-द्वेष का मल है तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। राग-द्वेष आदि मिटने पर ही अंतःकरण में 'तत्त्वमसि' आदि से बोध हो सकता है। दूसरा दोष विक्षेप है। यदि मिट्टी वाले पानी के घड़े में फिटकरी डालें तो धूल बैठ जाती है। तब पानी साफ तो हो गया परन्तु चूँकि वह हिल रहा है इसलिये उसके अन्दर भी मुँह उतना साफ नहीं दीखता। पहले से तो अच्छा दीखता है परन्तु साफ फिर भी नहीं दीखता। हिलने का नाम ही विक्षेप है। 'क्षेप' का मतलब फैंकना होता है। अंतःकरण एक चीज पर स्थिर न रहकर दूसरी तरफ जाता-आता है। उस जाने-आने में कारण कई बार राग-द्वेष भी होते हैं और कई बार विषयों की उपस्थिति भी होती है। जैसे शोर सुनने की कोई इच्छा नहीं है, हम किसी काम में एकाग्र होकर बैठे हैं, किताब पढ़ने बैठे हैं, शोर सुनने की हमारे अन्दर कोई प्रवृत्ति नहीं होने पर भी शोर होता है तो सुनाई देता है।

कई लोग यह भूल से मानते हैं कि इच्छा होगी तभी शोर सुनाई देगा और इसलिये एकांगी प्रयास ही कर पाते हैं। चीज जैसी सामने मौजूद है, अंतःकरण से इन्द्रियों की प्रवृत्ति होने पर उसकी वैसी प्रतीति होगी ही। उस शोर से दूर चले जाओ तो, शोर सुनाई नहीं देगा। दूसरा तरीका है कि प्रत्याहार के द्वारा हम इन्द्रियों को बाहर जाने से रोक लें और शम के द्वारा अन्तःकरण को बाहर जाने से रोक लें। यह संयम है। संयम की ही तीन सीढ़ियाँ धारणा, ध्यान, समाधि हैं। दोनों प्रकार के साधन सामान्य साधक के लिये जरूरी होते हैं।

बाह्य विक्षेप के कारणों से भी दूर होना पड़ता है, परन्तु केवल बाह्य कारणों से दूर हो जाओ तो भी जब तक जाग्रदवस्था है तब तक इन्द्रियाँ तुम्हारे शरीर आदि में होने वाले परिवर्तनों को तो देखती ही रहेंगी। कहीं भी चले जाओ, आदमियों का शोर नहीं सुनाई देगा घोर जंगल में चिड़ियों का शोर सुनाई देगा। अतः दूर होना भी जरूरी है और अंतःकरण तथा इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकना भी जरूरी है। अगर किसी साधक के अंतःकरण और इन्द्रियों को पूर्व संस्कारवशात् प्रत्याहार और यम का इतना सुदृढ अभ्यास हो गया है कि चाहे जितना शोर हो, उसे श्रोत्रेन्द्रिय नहीं सुनेगी, तो उसे दूर जाने की जरूरत नहीं है। परन्तु सामान्य साधक ऐसा होता नहीं है।

इस प्रकार, चित्त में होने वाले काम-क्रोध आदि मल जिसके निवृत्त हो गये हैं ऐसे निर्मल चित्त वाले को सरलता से ज्ञान के लिये यह प्रकरण है। यह इस प्रकरण का विशेष उद्देश्य बता दिया। सामान्य उद्देश्य तो है कि तत्त्व के बारे में कुछ न कुछ स्पष्ट बोध हो जाये। प्रश्न होगा कि जिनका चित्त शुद्ध हो गया है उनको उपनिषदों के वचनों से, ब्रह्मसूत्रों के विचार से ही ज्ञान हो जायेगा फिर इस किताब की क्या जरूरत है? इसलिये जरूरत है कि वह सब पढ़ने में परिश्रम ज्यादा करना पड़ता है। उतना बुद्धि का परिश्रम करने में कुछ लोग तो समर्थ ही नहीं हैं और कुछ लोग योग्य गुरु आदि की प्राप्ति न होने के कारण परिश्रम कर भी नहीं सकते हैं। सामर्थ्य होने पर भी ऐसे गुरु इत्यादि की उपलब्धि न हो परन्तु हो श्रद्धालु तो उस साधक को सरलता से समझाना इस प्रकरण का विशेष कार्य हो गया।

'तत्त्वस्य विवेकः' तत्त्वविवेक इस प्रथम प्रकरण का नाम है। पंचदशी में पन्द्रह प्रकरण हैं। इनमें प्रथम पाँच सभी विवेक प्रकरण ही हैं। इनमें तत्त्व का, महाभूतों का, पंचकोशों का विवेक आदि अलग-अलग अध्यायों में बतायेंगे। पाँच ही दीप प्रकरण और अंत में पाँच ही आनन्द प्रकरण हैं।

जिन्होंने शंकरानन्द गुरु के चरण-कमलों का सेवन करके अपने चित्त को निर्मल कर लिया है, उनके लिये यह ग्रन्थ है। यहाँ शंकरानन्द का अर्थ केवल विद्यारण्य स्वामी के गुरु को लें तो यह दूसरों के काम का नहीं रहेगा यह पहले ही बता दिया है, अतः यहाँ तत् पद से परमात्मा और आत्मा, शंकर और आनंद दोनों की एकता का अनुभव करने वाला श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विवक्षित है। गुरु परमात्मास्वरूप है क्योंकि वेद कहता है कि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मरूप हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं है, शंकरानन्दरूप के दोनों चरण बता दिये थे : उसके शरीर आदि से प्रकट होने वाले अमानित्व आदि और अद्वेषादि धर्म उसका एक चरण हुआ एवम् दूसरा स्वरूपभूत चरण है जिसमें वह सदा चरण अर्थात् आचरण करता है, वह शुद्ध ब्रह्म है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन उस चरण की सेवा है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

'अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाऽद्वेष्ट्रादिसाधनः।
ज्ञानत्मुपद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः।।'

जो अमानित्वादि में नितरां निष्ठा वाला है और अद्वेषादि का अभ्यास करता है, उसका श्रवण-मनन आदि से काम हो जाता है। गुरु के चरण-कमलों की सेवा, परिचर्या करने से शिष्य को चित्तनिर्मलता प्राप्त होती है। निरन्तर उनके साथ रहने से उनके इन दोनों रूपों से परिचय हो जाता है। कर्म, उपासना आदि जितने बहिरंग साधन हैं वे गुरु-सेवा से गतार्थ हो जाते हैं। कर्म और उपासना के द्वारा दूर होने वाले मल और विक्षेप दोष दोनों गुरुसेवा से भी दूर हो जाते हैं। शास्त्रों में बताया है 'असंकल्पात् जयेत् कामम्' काम को जीतने का तरीका है कि संकल्प मत करो। मनु ने कहा—'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् प्रभविष्यसि। नाऽहं संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि।' हे काम! मैं संकल्प नहीं करुँगा तो तू मूल-सहित नष्ट हो जायेगा। भगवान् ने भी इसीलिये गीता में कहा है 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः' हम विषयों का चिंतन करते हैं तो उनका संकल्प बनता है इसलिये अखबार, टेलिविजन, मैगजीन इत्यादि सबमें तीन-चौथाई हिस्सा ही है कि तुमसे कैसे विषय-चिंतन कराया जाये। यह मनुष्य को दुःखी करने का सरल उपाय है। पचास मोटरें दिखाओ और कहो कि इसमें यह-यह फायदा है तो उन्हें देखकर मन में होगा कि ऐसी मोटर हमारे पास भी होनी चाहिये। दिल्ली में कहते हैं कि जिसके पास कार नहीं वह बेकार है! 'क्रोधं कामविवर्जनात्' कामना से बचें तो क्रोध जीता जा सकता है। भिन्न-भिन्न दोषों को भिन्न-भिन्न प्रकार से जय करने के उपाय बताये हैं। अंत में कहा है 'एतत् सर्वं गुरोर्भक्त्या' काम, क्रोध आदि जितने विकार हैं, इन्हें मनुष्य प्रेमपूर्वक गुरु की सेवा करने से सरलता से जीत लेता है। इसका मतलब यह नहीं समझना कि सेवा करना सरल है! सेवा बड़ी कठोर साधना है। 'सेवाधर्मः परमगहनः' सेवा करना बहुत ही गूढ है। तुम्हारा मन कहता है छह बजे तक सोओ, गुरु जी कहते हैं कि 'हमे ढाई बजे नहाने के लिये गरम पानी देना।' ढाई बजे पानी पहुँचाने के लिये तुम्हें डेढ़ बजे ही उठना पड़ेगा। धीरे-धीरे अपने आप तुम्हारी कामना मिटती चली जायेगी। इसी प्रकार से सभी सेवा अत्यंत गहन होती है, उसी के द्वारा सब दोष जीते जा सकते हैं।

'सेवानिर्मलचेतसाम्' गुरु के चरणों की सेवा करके जिनका चित्त निर्मल हो गया वे अधिकारी हैं। श्रुति में कहा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन आदि सब विविदिषा को उत्पन्न करते हैं। गुरु-सेवाकी विशेषता है कि मुमुक्षा उत्पन्न करते हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासन चूँकि उसकी सेवा के अन्तर्भूत हैं इसलिये अन्तरंग साधन भी सम्पन्न होता चला जाता है। यह कब तक करना है? भगवान् सुरेश्वर ने बताया है कि जिस प्रकार से बरसात का मौसम खत्म हो जाता है तो बादल बरस कर समाप्त हो जाते हैं, उनका फिर कोई प्रयोजन नहीं है। फिर बादल दिखाई भी नहीं देते क्योंकि सब बरस कर खत्म हो गये। इसी प्रकार गुरुसेवा से बुद्धि के अन्दर आत्मा को जानने की इतनी तीव्र इच्छा हो जाती है कि चित्त एकाग्र हो जाता है। दोष निवृत्त हो जाने पर तत्त्वमसि आदि का श्रवण करते हैं तो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

कर्म तभी तक है, जो गुरु का दूसरा चरण है उसकी सेवा तभी तक है जब तक मन श्रवण-मनन के अन्दर निरंतर प्रवृत्त नहीं हो गया। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर कम प्रयत्न से ही ज्ञान हो जाता है।

तत्त्व अर्थात् जो चीज जैसी है उसका स्वरूप। 'ॐ तत् सदिति निर्देशः ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' ॐ तत् सत् तीनों परमात्मा के साक्षात् नाम हैं। इसलिये तत् पद परमेश्वर को बताता है। परमेश्वर के अन्दर एक तो तत्ता (तत्त्व) है जो उसका अपना स्वरूप है और दूसरा उसके अन्दर माया द्वारा रूप दीखते हैं। तत्त्व वह है जो उसका शुद्ध अधिष्ठानरूप है, अनारोपित वस्तु है। उस अनारोपित वस्तु का प्रतिपादन किस प्रकार कर सकते हैं? आरोपित वस्तु की निवृत्ति से ही अनारोपित वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है। तत्त्व को बताना है 'नेति नेति' के द्वारा, जो आरोपित है उसको हटा करके। आरोपित को हटाना ही विवेक है। साधारणतः सत्य वस्तुएँ मिली-जुली हों तो उन्हें बीनकर पृथक् करना विवेक कहलाता है परन्तु वेदान्त में विवेक उससे भिन्न है क्योंकि यहाँ एक अनारोपित है और बाकी आरोपित हैं। एक पारमार्थिक सत्य है और बाकी केवल प्रातीतिक सत्य है। अतः इसे तत्त्व का विवेक कहा है। गुरु-सेवा के द्वारा चित्त को निर्मल करके श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा अनारोपित वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् आरोपित पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है। उसे सरलता से समझा जा सके इसके लिये यह प्रयत्न है। इस प्रकार प्रथम दो श्लोकों में विषय, प्रयोजन और अधिकारी बता दिये तथा अधिकार-प्राप्ति का साधन भी बता दिया।।२।।

अब विवेक को बताते हैं–

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते।। ३।।

जाग्रत् में अनुभूयमान शब्द-स्पर्श आदि ज्ञेय विचित्र होने से परस्पर पृथक् हैं लेकिन उनसे अलग उनका ज्ञान एकरूप होने से अभिन्न है।

किस चीज को आरोपित मानना है और किस को अनारोपित मानना है? जो सर्वत्र एकरूप हो वह अनारोपित है और जो सर्वत्र अलग-अलग रूप से हो वह आरोपित है। जैसे घटाकाश, मठाकाश, महाकाश के अन्दर घट, मठ, तो बदलते रहते हैं और आकाश एकरूप है। बिना घट या मठ का नाम लिये हुए या बिना उनका विचार किये हुए घटाकाश-मठाकाश आदि का निरूपण नहीं होता इसलिए वे तत्त्व नहीं। इसी प्रकार जो वेद्य विषय, वेदन के विषय जानने के विषय हैं वे बदलते रहते हैं परन्तु *जानना* एक जैसा है। शब्द स्पर्श आदि वेद्य हैं। जो तुम जानते हो वे मूलभूत पंचमहाभूत ही हैं। या किसी शब्द को जानते हो अथवा छू कर स्पर्श जानते हो कि ठण्डा या गरम है आदि। यह मीठा है, यह खट्टा है, इस प्रकार से रस जानते हो। यह लहसुन खराब गंध वाला है अथवा यह गुलाब अच्छी गन्ध वाला है इत्यादि गन्ध जानते हो। अपने सारे ज्ञानों का यदि विचार करो तो पाँच महाभूत

ही ज्ञेय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच ही वेद्य हैं। इनमें विचित्रता है, शब्द गन्ध नहीं, गन्ध शब्द नहीं, रूप रस नहीं, रस रूप नहीं। ये एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, विचित्र हैं। जाग्रत् काल में ये सब भिन्न मिलते हैं। जाग्रत् काल का अर्थ समझ लेना : इन्द्रियों से जहाँ विषयों का ग्रहण करते हो वह जाग्रत् है। रूप, रस आदि का ग्रहण तो सपने में भी करते हो। स्वप्न में भी तुम्हें सुन्दर स्त्री दिखाई देती है। स्वप्न में बगीचे से बढ़िया सुगन्धि आती है। स्वप्न में भी मधुर गाना सुनाई देता है। परन्तु उन चीजों को तुम इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करते हो। इसलिये चश्मा तो मेज पर खुला पड़ा है और स्वप्न में सभी का चेहरा साफ दीखता है! ऐसा नहीं है कि चश्मा भूल गये इसलिये चेहरा धुँधला दीख रहा हो। वेद्य तो वहाँ भी है परन्तु ऐसा नहीं है कि इन्द्रियों के द्वारा देखा जा सके। इन्द्रियों के द्वारा पाँच विषयों का ग्रहण जाग्रत् में होता है। जाग्रत् काल में बाकी सब विचार प्रत्यक्ष-मूलक ही होते हैं। अनुमान भी तभी करोगे जब कोई चीज प्रत्यक्ष हो। इसी प्रकार से वेद आदि सच्छास्त्र को भी जब सुनेंगे तभी कर्म या शास्त्रविचार करेंगे। जाग्रत् काल में प्रत्यक्ष ही प्रधान रहता है। इन्द्रियाँ तभी कार्यकारी होंगी जब तुम जाग्रत् में हो। ये पाँचों हमेशा अलग-अलग ही रहते हैं। शब्द का ज्ञान होता है, रूप का ज्ञान होता है, रस का ज्ञान होता है इत्यादि में *ज्ञान* में कोई फर्क नहीं है। जानना एक ही है, ज्ञान वैचित्र्य से रहित है, एकरूप ही है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने से इन्द्रियों के विषय विभिन्न हैं। इन्द्रियाँ अलग हैं इसलिये उनके विषय भी अलग हैं परन्तु ज्ञान में कोई भेद नहीं है। मोटे प्रस्तर-खण्ड या शिला के अन्दर राम की मूर्ति खोद देते हैं, रावण की भी मूर्ति खोद देते हैं। राम की मूर्ति धनुष-बाण चला रही है और रावण की मूर्ति में उसकी नाभि में बाण घुस रहा है। परन्तु शिला में तो कोई फर्क नहीं है! वह एक ही है। राम और रावण जिस प्रकार से खोदे गये हैं केवल उसको लेकर ही भेद है। इसी प्रकार से ज्ञानस्वरूप एक ही है। उसी पर आँख के द्वारा रूप मानो खोद दिया जाता है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था के अन्दर विश्व और वैश्वानर की एकता है अतः तुम्हारी आँख बिना आदित्य के अनुग्रह के प्रवृत्त नहीं होती, आदित्य इन सब आँखों में बैठा हुआ है। जो वैश्वानररूप आदित्य है, उसके द्वारा शिला में रूप खोद दिया गया है। वही चूँकि आँख का अधिष्ठाता है इसलिये तुम्हारी व्यष्टि आँख रूप को ग्रहण करती है। रूपादि का भेद रहने पर भी ज्ञान की एकरूपता है।

ज्ञान के बारे में भी कहा जाता है कि 'अमुक ज्ञान पैदा हुआ, अमुक ज्ञान नष्ट हुआ,' परन्तु ज्ञान नष्ट हुआ—यह भी ज्ञान है या नहीं? यदि ज्ञान की उत्पत्ति-नाश को जानने के लिए अलग ज्ञान मानो तो फिर उसे जानने के लिये तीसरा, चौथा ज्ञान मानना पड़ेगा। यही तो अनवस्था होती है। अतः ज्ञान की एकता मानकर ही ठीक व्यवस्था बन सकती है। फिर ऐसी प्रतीति क्यों होती है? ज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं। यहाँ आचार्य विद्यारण्य ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग न करके संवित् शब्द का प्रयोग किया है। जब तुम्हारे अंतःकरण की वृत्ति घटाकार बनती है तब घटज्ञान होता है। इसलिये घटाकार वृत्ति एक तरह का ज्ञान हुआ। जैसे

घटवाला आकाश घटाकाश, मठवाला आकाश मठाकाश, यहाँ अलग चीजें तो घट-मठ हैं, आकाश अलग नहीं है इसी प्रकार घटाकार वृत्ति वाला होने से उसे 'घट जाना' कहा या ऐसी प्रतीति हुई। मठाकार वृत्तिवाला ज्ञान हुआ तो मठज्ञान मान लिया। परंतु ज्ञान की एकरूपता तो वैसी ही मौजूद रही। वृत्ति चूँकि उत्पत्ति और विनाश वाली होती है इसलिये उसके कारण प्रतीति हो जाती है कि ज्ञान उत्पन्न और नष्ट हुआ।

इस प्रकार एकरूप होने से ज्ञान अनारोपित है और शब्द आदि विभिन्न होने के कारण आरोपित हैं। उनके आकार की बनी हुई जो अंतःकरण की वृत्तियाँ हैं उनके कारण ज्ञान के अन्दर भी उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति हो जाती है। ज्ञान हमेशा रहने पर भी दीखा तब *मठ का* ज्ञान हुआ, इसलिये ज्ञानमें उत्पत्ति-नाश की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार से संवित् की एक-रूपता जाग्रत् के अन्दर सिद्ध हो जाती है।।।३।।

तत्त्वविवेक अर्थात् अनारोपित और आरोपित दोनों को अलग-अलग करके प्रतिपादन करना। तीन ही अवस्थायें हर जीव को उपलब्ध हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था वह है जिसमें हम इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करते हैं। बहिरिन्द्रियाँ बाहर की चीजों को जानती हैं। इन्द्रियों के बिना हमारा सम्बन्ध बाह्य जगत् के साथ नहीं होता। इसलिये जाग्रत् काल वह है जिसमें बाह्य जगत् के साथ हमारा सम्बन्ध होता है। बाह्य जगत् क्या है? इसे आगे बतायेंगे कि परमेश्वर अपनी माया शक्ति से जिन पदार्थों को बनाता है वे सारे बाह्य जगत् हैं। परमेश्वर पदार्थों को बनाता है तो उस बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध करने के लिये हमारे अन्तःकरण का भी निर्माण करता है, और इन्द्रियों का भी निर्माण करता है। बाह्य जगत् के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध का मतलब हुआ परमेश्वर की स्थूल सृष्टि के साथ सूक्ष्म सृष्टि का सम्बन्ध होना। हैं दोनों ही परमेश्वर की सृष्टि, परन्तु सूक्ष्म के साथ हमारा हमेशा 'मैं'रूप में सम्बन्ध रहता है और बाह्य जगत् के साथ मेरा-रूप से सम्बन्ध रहता है। स्थूल शरीर एक विचित्र चीज है जो बाह्य भी है और जिसके साथ 'मैं' का सम्बन्ध भी रहता है। इन्द्रियाँ बाह्य विषय को हमारे सूक्ष्म शरीर अंतःकरण के सामने उपस्थित करती हैं और अंतःकरण के साथ जो हमारा सम्बंध है उसके द्वारा आत्मा भी उसी अंतःकरण में प्रकाशित होता है। अतः अंतःकरण वह हुआ जहाँ दोनों का सम्बन्ध है। बाह्य जगत् के सारे पदार्थ रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के अंतःपाती हैं। जो इन्द्रियाँ हमारे पास बाह्य विषय से सम्बंध करने वाली हैं वे इन्हीं चीजों को ग्रहण कर सकती हैं, इसलिए हमारी दृष्टि से ये ही विषय हो सकते हैं। पांचभौतिक सृष्टि में रूप रस नहीं, रस गन्ध नहीं है, गन्ध स्पर्श नहीं है, अर्थात् ये सब भिन्न-भिन्न हैं। आगे, रूप के अनन्त भेद भी एक-दूसरे से भिन्न हैं, भले ही हैं रूप के अंतःपाती। इसलिए उनका जो प्रतिबिम्ब अंतःकरण में पड़ता है वह भी भिन्न-भिन्न है; रूप का प्रतिबिम्ब रूपाकार, रस का प्रतिबिम्ब रसाकार होगा। प्रतिबिम्ब अर्थात् उसकी वृत्ति बनना। जो ज्ञान का प्रकाश पड़ रहा है, वह वृत्तियों में एक ही है, ज्ञान में फर्क नहीं है विषयों में फर्क है। ज्ञान सर्वत्र ही रहता है, सब वेद्य विषय

अलग-अलग होते हैं, यह जाग्रत् की स्थिति बतायी। जाग्रत् में विषय बदलने वाले हैं और ज्ञानरूप विषयी एक ही है।

प्रश्न होता है कि इन्द्रियों के द्वारा स्वप्न में तो चीज़ें दीखती नहीं, वहाँ जो दीखता है, उसमें ज्ञान और विषय अलग नहीं होंगे? जाग्रत् में तो विषय विभिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य हैं इसलिये आपस में अलग हैं, यह पहले सिद्ध किया। परन्तु स्वप्न के अन्दर तो जो घड़ा और कपड़ा दीखता है वे दोनों ज्ञानरूप ही हैं। उत्तर है कि ऐसा नहीं है। स्वप्न के अन्दर भी पदार्थ हैं। यह वेदांत की एक दृष्टि है जो हमेशा याद रखना; हमारे यहाँ, जो चीज दीखती है वह है। कैसे है—उसका विचार तो बाद में करेंगे, लेकिन जिस चीज का अनुभव हुआ वह चीज है। रस्सी में हमको साँप दीखा। साँप है तब दीखा, बिना हुए नहीं दीखा। कैसे है? उसी को बताते हैं—

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम्।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते।। ४।।

इसी प्रकार स्वप्न में संवित् एक ही है। परन्तु स्वप्न में वेद्य अस्थिर है जबकि जाग्रत् में स्थिर है। इसी से जाग्रत्-स्वप्न में परस्पर भेद है पर संवित् (ज्ञान) एकरूप ही है, वह भिन्न नहीं।

जैसे जाग्रत् के अंदर वेद्य अलग हैं, परन्तु ज्ञान एकरूप है, वैसे ही स्वप्न-काल में घट-पट आदि वेद्य हैं। फिर जाग्रत् की चीजों और स्वप्न की चीजों में क्या फर्क है? 'तुकार' से कहा कि इनका जाग्रत् से भेद है। स्वप्न में चीज स्थिर नहीं है, जाग्रत् में स्थिर है—इतना ही फर्क है। जाग्रत्-काल के अन्दर वेद्य स्थिर है। इसलिये श्रुति कहती है, 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'। स्वप्न में न रथ है, न घोड़े हैं, न सड़क है, परन्तु न होने पर भी स्वप्नद्रष्टा उन्हें पैदा करता है। जो बाहर के रथ और रथयोग आदि हैं, वे तो हमारे जानने से पहले भी हैं और हम उन्हें नहीं जानेंगे तब भी रहेंगे। इसी को शास्त्रीय भाषा में कहते हैं कि वे अज्ञात सत्ता वाले पदार्थ हैं अर्थात् हम नहीं जानते तब भी रहते हैं। स्वप्न में ऐसा नहीं है। इसलिए वहाँ रथ को, घोड़ों को और सड़क को हम ही बनाते हैं। 'सृज'धातु का भाव है, जो हमारे में है उसको हम प्रकट कर देते हैं। हमारे अंतःकरण में जो संस्काररूप से रथ आदि हैं उन्हीं को हम स्वप्न में प्रकट कर देते हैं। वे रथ, जब तक हम देख रहे हैं तब तक तो हैं, जैसे ही हमारा देखना खत्म हुआ, वे नहीं हैं। ऐसे अस्थिर वे पदार्थ हैं। कई बार यह भ्रम होता है कि प्रातिभासिक पदार्थों को 'नहीं है' माना जाये, किंतु तथ्य है कि जब तक प्रतिभास है तब तक पदार्थ हैं। प्रतिभास के आगे-पीछे नहीं हैं, परंतु प्रतिभास-काल में हैं। स्वप्न में भी पदार्थों का तो भेद है, घट अलग है, पट अलग है, परन्तु उनका ज्ञान एक ही है, उसके अन्दर फर्क नहीं है। स्थिर और अस्थिर वेद्य को लेकर ही जाग्रत् व स्वप्न में भेद है। स्वप्न के पदार्थों का भी जो ज्ञान है

वह एकरूप ही है, जाग्रत् हो या स्वप्न, दोनों को जानने वाला ज्ञान अलग-अलग नहीं है, एक ही है। प्रतिभास से भिन्न काल में रहना–यह जाग्रत्-पदार्थों की विशेषता है और प्रतिभास से भिन्न काल में नहीं रहना स्वप्न-पदार्थों का विशेषता है। इसी को यहाँ स्थायी और अस्थायी कहा है। इनका मतलब ज्यादा देर रहना या कम देर रहना नहीं समझना! सामान्य भाषा में स्थायी का यही अर्थ प्रसिद्ध है, लेकिन ऐसी अस्थायिता तो जाग्रत् पदार्थ के अन्दर भी होती है। घड़ा बना और फूट गया, फिर स्थायी कैसे रहा? और सपने में भी गिलास में पानी डालने तक घड़ा रहता ही है। इसलिये स्थायी अस्थायी का मतलब ज्यादा देर या कम देर रहना नहीं है। भानकाल के आगे-पीछे भी रहना स्थायिता है और ज्ञान के आगे-पीछे नहीं रहना अस्थायिता है।

'एकरूपा' अर्थात् जाग्रत् में जैसा ज्ञान होता है वैसा ही स्वप्न में भी ज्ञान होता है। यदि ज्ञान में भेद होता तो स्वप्न-काल के अन्दर अन्य प्रकार का ज्ञान होता और जाग्रत् में अन्य प्रकार का होता। तब झट पता लग जाता कि हम स्वप्न में हैं। किंतु ऐसा कोई तरीका तुम्हारे पास नहीं है जिससे तुम निश्चित रूप से कह सको कि स्वप्न देख रहे हो। स्वप्न काल में तो वैसा ही दीखता है जैसा जाग्रत् होता है। स्वप्न से उठने के बाद यह पता लगता है कि स्वप्न के पदार्थ अब नहीं हैं। और जाग्रत् के पदार्थ जैसे छोड़कर हम स्वप्न में गये थे वैसे ही यहाँ मौजूद हैं, जहाँ बत्ती थी वहीं हाथ जाता है और बत्ती वहीं मिलती है। स्वप्न में ऐसा नहीं होता कि घड़े वहाँ छोड़ आये थे, इसलिये वापिस वहाँ देखना शुरू करें। स्वप्न और जाग्रत् के अन्दर ज्ञानरूपी प्रकाश तो एक जैसा ही है, संवित् एक जैसी है। 'एकरूपा' यह हेतुगर्भ विशेषण है अर्थात् एकरूप होने से संवित् एक ही है।।४।।

तीसरा अनुभव प्राणिमात्र को होता है सुषुप्ति का। जाग्रत् में परमेश्वर के बनाये हुए स्थिर विषयों का अनुभव है, स्वप्न में हमारे बनाये हुए अर्थात् अंतःकरण के संस्कारों से बनाये हुए विषय हैं, लेकिन सुषुप्ति के अन्दर तो कोई विषय नहीं हैं। विचार दृष्टि से वहाँ भी विषय बताते हैं–

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत् स्मृतिः।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत् तदा तमः।। ५।।

सोकर उठे को जो सुषुप्ति में रहे अज्ञान का पता चलता है, वह स्मृति है और याद उसी की आती है जो अनुभव किया हो अतः निश्चित है कि सुषुप्ति में अज्ञान अनुभव का विषय था।

जब जाग्रत् का अनुभव करते-करते इन्द्रियाँ थक जाती हैं तब स्वप्न में चली जाती हैं। जाग्रत् में मन और इन्द्रियाँ दोनों काम करती हैं। जब इन्द्रियाँ थक जाती हैं और मन थका नहीं है तब इन्द्रियों का काम तो बन्द हो जाता है, बाहर के पदार्थों से सम्बन्ध नहीं रहता, पर मन नहीं थका है इसलिये मन वहाँ काम करता है। मन जाग्रत् में भी काम करता है। इन्द्रियों ने रूप रस आदि को जाना, उससे जो हम विषय का ग्रहण करते हैं कि 'यह देवदत्त

है,' वह मन का कार्य है। देवदत्त के रूप आदि को तो आँख आदि से जाना परन्तु 'देवदत्त' को मन के कारण जाना। क्योंकि मन के अन्दर पड़े हुए संस्कार हैं कि इस प्रकार के रूप वाला देवदत्त है इसलिए निर्णय होता है कि मैंने देवदत्त को देखा। जिसके ऐसे संस्कार नहीं हैं वह यही पूछता है कि यह कौन है। कहने को हम कहते हैं कि 'हमने देवदत्त को आँखों से देखा,' लेकिन दूसरा भी तो आँख से ही देवदत्त को देख रहा है, पर उसे कहाँ पता चलता है कि यह देवदत्त है? देवदत्त को जानने के लिए संस्कार अपेक्षित हैं। मन ही जाग्रत् में काम नहीं कर रहा है, इन्द्रियाँ भी काम कर रही हैं। जाग्रत् के प्रत्यक्षभ्रमों में भी इन्द्रियों का योगदान रहता है। जाग्रत् काल में 'यह पड़ा हुआ है' इसको आँख ने देखा लेकिन उसको रस्सीरूप से नहीं पहचाना, इसलिये 'यह साँप है' ऐसा मन ने संस्कारों के कारण बनाया। जाग्रत् में भी जीव विषय बना रहा है परन्तु इन्द्रियों और मन दोनों के प्रयोग से बना रहा है। स्वप्न-काल में, चूँकि इन्द्रियाँ थक गई हैं इसलिये केवल मन ही बना रहा है।

जब मन थक गया, लीन हो गया, तब सुषुप्ति आ गई। मन और इन्द्रियों के द्वारा ही हम संसार के साथ सम्बन्ध वाले बनते हैं। मन और इन्द्रियाँ दोनों नहीं रहे तो हम अकेले ही रह गये, उसी का नाम सुषुप्ति है। सोकर उठे, अर्थात् जाग्रत् काल में आ गये। नींद में कुछ नहीं जान रहे थे, क्योंकि जानने वाला और जिसके द्वारा जाना जा सके वे मन और इन्द्रियाँ वहाँ नहीं थे। उठ गये अर्थात् जाग्रत् में आ गये। तब स्मृति आती है 'इतनी देर तक मैंने कुछ नहीं जाना।' जाग्रत् में स्मरण होता है कि मैंने कल मन्दिर देखा था। स्मृति कब होती है? जब मैंने कल मन्दिर देखा था तभी आज स्मृति होगी। यह नियम है 'या या स्मृतिः सा अनुभवपूर्विका' जिसका पहले अनुभव हुआ हो उसी का स्मरण होता है। जैसे स्मरण है मैंने मन्दिर देखा था, वैसा ही स्मरण है कि नींद में मैंने कुछ नहीं देखा था। इससे निर्णय होता है कि सुषुप्ति में 'कुछ नहीं' जाना था; इस 'कुछ नहीं' को *जानना* ही अज्ञान है। सुषुप्ति काल के अन्दर 'कुछ नहीं जानना'—यह जाना गया था। यही तम का बोध है। 'मैंने कुछ नहीं जाना था' इस स्मृति से पता लगता है कि *उस समय* मैं कुछ नहीं *जान रहा* था। सुषुप्ति काल में 'मैंने कुछ नहीं जाना' अर्थात् 'कुछ न जानने का' अवश्य ज्ञान हुआ था अन्यथा इस समय स्मरण नहीं होता। न जानने का ज्ञान—यह बात बड़ी विचित्र लगती है। परन्तु यह ज्ञान बता देता है कि ज्ञान दो तरह का है : ज्ञान नहीं था अर्थात् जो ज्ञान विषयों को जानता है वह तो नहीं था क्योंकि किसी विषय को नहीं जाना, परन्तु जो ज्ञान केवल विषयों को जानने वाला नहीं, वह वहाँ भी था। असल में वहाँ विषयाभाव है अर्थात् सुषप्ति-काल के अन्दर कोई विषय नहीं था इसलिये *विषय का* ज्ञान भी नहीं था।

ज्ञान के लिए हमारे कई साधन हैं। एक तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है; आँख रूप को, कान शब्द को जानता है। गहरी नींद के अन्दर विषयों का ज्ञान था नहीं, इन्द्रियों से ज्ञान हुआ नहीं, इसलिये उसे प्रत्यक्ष कह नहीं सकते। ज्ञान के अन्य साधन अनुमान, अर्थापत्ति आदि, किसी-न-किसी चीज को प्रत्यक्ष से देखकर ही प्रवृत्त होते हैं। हमने पहाड़ पर धुआँ

देखा तब अनुमान होगा। जब वहाँ इन्द्रियाँ और विषय हैं ही नहीं तो लिंग आदि का भी ग्रहण नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष आदि के द्वारा जो ज्ञान होता है वह वहाँ है नहीं, उससे भिन्न ही ज्ञान है। वह एक-जैसा रहने वाला ही ज्ञान है। इसीलिये श्रुति कहती है–'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' उस समय सद्ब्रह्मरूप से ही स्थिर रहता है। अज्ञान को जान रहे हो, इसीलिये उसको साक्षिरूप ज्ञान कहते हैं। यहाँ केवल अज्ञान के ज्ञान को कहा है परन्तु अन्यत्र शास्त्रकारों ने वहाँ सुख की स्थिति को माना है क्योंकि 'मैं सुख से सोया,' यह भी स्मरण होता है! और, 'कौन सुख से सोया'? 'मैं सुख से सोया' अर्थात् अहमर्थ भी वहाँ है। यह अंतःकरण-वृत्तिरूप अहं नहीं वरन् अविद्यावृत्तिरूप है। ये दोनों ही वृत्तियाँ यहाँ कही नहीं हैं लेकिन समझ लेना। जो एक-जैसा रहने वाला ज्ञान है वह अहमर्थ है क्योंकि 'मैं' रूप से प्रतीत होता है। इस ज्ञान और जाग्रत् स्वप्न के अन्दर जो पदार्थों का ज्ञान हो रहा था उसमें कोई फर्क नहीं है। सुषुप्ति-काल में अज्ञान को जाना गया। इस प्रकार जाग्रत् में स्थिर विषयों का, स्वप्न में अस्थिर विषयों का और सुषुप्ति में अज्ञानरूप विषय का ज्ञान होता है, इनमें विषयों का ही फर्क है, ज्ञान एक ही है–यह स्पष्ट हो जाता है।। ५।।

ज्ञान की उक्त अभिन्नता का निगमन करते हैं–

स बोधो विषयाद् भिन्नो न बोधात् स्वप्नबोधवत्।
एवं स्थानत्रयेप्येका संवित् तद्वद् दिनान्तरे।। ६।।

स्वप्न-ज्ञान की तरह सुषुप्ति-ज्ञान भी विषय-भेदवश ही भिन्न कहा-समझा जाता है, न कि ज्ञान-रूपता में कोई भेद है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है, ऐसे ही अगले-अगले दिन भी ज्ञान एक ही है।

सुषुप्ति काल में अज्ञान का ज्ञान है। वहाँ किसे जाना? अज्ञान को जाना। ज्ञान और अज्ञान तो कभी एक हो नहीं सकते, इसलिये सुषुप्ति काल का ज्ञान अपने विषय अज्ञान से भिन्न है लेकिन ज्ञान से भिन्न नहीं है। जाग्रत् काल के अन्दर स्थायी विषय हैं, स्वप्न काल में विषय अस्थायी हैं। विषयों के भेद से तो जाग्रत् व स्वप्न भिन्न हुए, परन्तु ज्ञान दोनों जगह एक है। उसी प्रकार से विषयों के ज्ञान के अभाव का ज्ञान विषयों के ज्ञान से भिन्न है। विषय अलग हो गये लेकिन ज्ञान अलग नहीं हुआ। जैसे जाग्रत्-स्वप्न का ज्ञान जाग्रत् और स्वप्न के विषयों के भिन्न होने से भिन्न है, ज्ञान एक ही है, इसी प्रकार से विषयों के अभाव का अर्थात् अज्ञान का जो ज्ञान है वह भी जाग्रत्-स्वप्न के ज्ञान से एक ही है। जो जाग्रत् में है वही स्वप्न में है, वही सुषुप्ति में है। हम लोगों के जो तीनों अनुभव हैं उनके अन्दर विषयों का भेद है, ज्ञान का भेद नहीं है, ज्ञान एक ही है। इस प्रकार जो हम लोगों के तीनों स्थान अर्थात् जाग्रदादि अवस्थाएँ रोज के अनुभव हैं, उन सब के अन्दर एक ही संवित् है। जैसे इन तीनों अवस्थाओं के अन्दर ज्ञान की एकरूपता है वैसे ही आज के जाग्रत् के विषय से कल के जाग्रत् के विषय अलग होंगे। आज का विषय है, ठण्ड पड़

रही है, कल का विषय होगा गर्म हवा चल रही है। विषयों के भेद के कारण ज्ञानों में भेद है, ज्ञान तो जैसा आज है वैसा ही कल भी है। जैसे आज और कल में ज्ञान का फर्क नहीं, वैसे ही पूर्व में चले जाओ तो सृष्टि का जो आदि क्षण और आगे चले जाओ तो प्रलय का जो अंतिम क्षण, उन सब के अन्दर संवित् एक ही है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ना है, विषय बदलते जायेंगे।। ६।।

संसार में जितने पदार्थ हैं वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु उन सबसे जिस ज्ञान का सम्बंध है वह एक ही है। वह ज्ञान जैसा जाग्रत् में एक है वैसा ही स्वप्न तथा सुषुप्ति में एक है, जैसा आज है वैसा ही कल परसों है। उसे सारे काल में एक समझाते हैं–

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा।। ७।।

विगत एवं आगामी नाना प्रकार से बँटे महीने, साल, युग, कल्पों में एक स्वप्रकाश ज्ञान है जो न उदय होता है, न अस्त होता है।

तीस दिन बीतते हैं तो एक मास हो जाता है। जैसा चैत्र मास में ज्ञान है वैसा ही वैशाख मास में है। बारह मास होते हैं तो अब्द अर्थात् वर्ष हो जाता है। ज्ञान जैसा इस वर्ष में है वैसा ही दूसरे वर्ष में है। वर्षों को मिलाकर 'सत् युग' आदि युग हो जाते हैं। हरेक युग में ज्ञान वैसा ही है। फिर ब्रह्म कल्प, वराह कल्प आदि सब कल्पों में भी ज्ञान एक ही है। इस प्रकार से संवित् की काल से परिच्छिन्नता नहीं होती, यह स्पष्ट हो जाता है। गत अर्थात् आजसे पहले के दिन, मास कल्प आदि और आगे आने वाले मास, अब्द इत्यादि सब तो अनेक प्रकार के हैं। वराह कल्प ब्रह्मकल्प नहीं, ब्रह्म कल्प वराह कल्प नहीं है। इस प्रकार ये सब तो बदलते रहते हैं। प्रभव संवत्सर विभव संवत्सर नहीं है, वे भी सब अलग-अलग हैं, चैत्र वैशाख नहीं है, वे मास भी सब अलग-अलग हैं, इस प्रकार ये सब चीज़ें तो अलग-अलग अनेक प्रकार की हैं परन्तु उन सब में ज्ञान एक ही है।

चूँकि ज्ञान एक ही है इसलिये न उदय होता है और न अस्त होता है। उदय अर्थात् उत्पन्न नहीं होता है। 'उदेति' का प्रयोग इसलिये किया कि जैसे सूर्य स्थिर बना रहता है और हम लोगों को उदय होता हुआ प्रतीत होता है, वस्तुतः उदय नहीं होता। 'उत्' मायने ऊपर और 'एति' मायने जाता है। ऊपर को जाता है ऐसा प्रतीत होता है परन्तु सूर्य जैसा है वैसा ही है। इसी प्रकार ज्ञान जैसा है वैसा ही है। मास, अब्द इत्यादि बदलते रहते हैं इसलिये ज्ञान के अन्दर प्रतीति हो जाती है कि ज्ञान हुआ। प्रसिद्ध सूर्य के बारे में प्रतीति यह होती है कि सूर्य अब पैदा हो रहा है। सवेरा होता है तो कहते हैं 'यह बालसूर्य है,' जब शाम को सूर्य अस्त होता है तब कहते हैं 'सूर्य जीर्ण अवस्था में पहुँच गया'। परन्तु ऐसा होता नहीं है, सूर्य जैसा है वैसा ही रहता है। इसी प्रकार ज्ञान का न उदय होता है

अर्थात् ज्ञान न उत्पन्न होता है और न यह ज्ञान अस्त ही होता है अर्थात् ज्ञान नष्ट भी नहीं होता। नश् अदर्शने धातु है। सूर्य जब अस्त होता है तब हमको नहीं दीखता। सूर्य का दृष्टांत वैदिक दृष्टि से समझना; रात्रि में भी सूर्य की उपस्थिति वेदों में बताई है। यदि सूर्य रात्रि में न रहता तो उल्लू को कैसे दिखाई देता! रात्रि में उल्लू को सब चीजें दिखाई देती हैं तो किसी के प्रकाश में ही दिखाई देती हैं। इसलिये प्रकाश और सूर्य की उपस्थिति रात्रि में भी होती ही है इसलिये जब रात्रि में बच्चा पैदा होता है तब भी सूर्य की स्थिति नौवें, दसवें घर में आ जाती है। रात्रि में वह नीचे है इसलिये दीख नहीं रहा है। शाम से लेकर सवेरे तक सूर्य की स्थिति सातवें घर से बारहवें घर तक है। तब हम लोगों को सूर्य नहीं दीखता, अतः सूर्य नहीं है नष्ट हो गया–ऐसा लगता है। परन्तु जब वैदिक या आधुनिक दृष्टि से देखें तो, सूर्य हमें नहीं दीख रहा है, परन्तु है जरूर। इसी प्रकार, जिस समय हमको सुषुप्ति में लगता है कि कोई ज्ञान नहीं होता, तब भी विचार से सिद्ध होता है कि उस समय ज्ञान था, तभी उसकी स्मृति जाग्रत् काल में होती है। इसलिये ज्ञान भी न उत्पन्न होता है, न अस्त होता है।

'गत में उदय नहीं होता था' ऐसा कहना चाहिये था लेकिन 'है' शब्द का प्रयोग किया। आगे आने वाले के लिये भी भविष्य काल का प्रयोग होना चाहिये था, लेकिन यहाँ वर्तमान का प्रयोग किया है। जो चीज हमेशा होती है उसके लिये भी वर्तमान काल का प्रयोग होता है। उसी दृष्टि से यहाँ है। इसलिये 'उदय नहीं होता है' का मतलब हुआ कि वह पहले कभी नहीं था, ऐसा नहीं था। तार्किकों की भाषा में कह सकते हैं कि कभी भी इसका प्रागभाव नहीं है और ध्वंस नहीं है अर्थात् आगे भी कभी ऐसा नहीं होगा कि यह नहीं हो। न इसका प्रागभाव और न प्रध्वंसाभाव है। संवित् ऐसी क्यों है? उदय होने का मतलब है कि किसी समय न हो और फिर हो अर्थात् जो पहले न होकर फिर हो, उसी को कहेंगे कि यह संवित् पैदा हुई। उस समय संवित् नहीं है यह भी तभी सिद्ध हो जब संवित् हो, अन्यथा 'नहीं थी' यह कैसे कह सकते हो? तुमने उसका अभाव *जाना* तभी कह सकते हो कि 'नहीं थी' और जानोगे तो ज्ञान के द्वारा ही। इसी प्रकार संवित् आगे नहीं रहेगी, यह जानोगे तभी कहोगे और जानोगे तो संवित् रह ही गई!

संवित् को 'एका' कहा ताकि ज्ञानवानों के भेद से ज्ञानों में भेद का भ्रम न हो। जैसे विषय-भेद से ज्ञान भिन्न नहीं, वैसे जिन्हें हो रहा है उन आश्रयों के भेद से भी ज्ञान विभिन्न नहीं। सभी ज्ञाताओं को होने वाला भी ज्ञान एक ही है न कि विभिन्न। पुरुषभेद के बावजूद संवित् का भेद नहीं है। जैसे अवस्थाएँ ही बदली, न कि ज्ञान, वैसे अन्तःकरण ही अनेक हैं, न कि ज्ञान। 'एषा' अर्थात् यह प्रत्यक्षसिद्ध है। ज्ञान की सिद्धि सबको साधारण रूप से विद्यमान है। जैसे 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग है वैसे ही ज्ञान जो व्यवहार होता है वह भी सब पुरुषों का एक जैसा ही होता है। इसलिये संवित् हमेशा एकरूप है और 'एषा' अर्थात् जैसे हमें प्रत्यक्षसिद्ध है वैसे ही दूसरे को भी प्रत्यक्षसिद्ध है। इस प्रकार, ज्ञान में काल का

परिच्छेद नहीं और पुरुषों का परिच्छेद भी नहीं है। ज्ञान सर्वव्यापक है तो दो पुरुषों के बीच में ज्ञान है या नहीं है? आकाश और दीवार के बीच में ज्ञान है या नहीं है? वहाँ ज्ञान की प्रतीति न होने पर भी ज्ञान है। ज्ञान *की* प्रतीति अंतःकरण में होती है। जहाँ अंतःकरण नहीं है, वहाँ प्रतीति नहीं है, परन्तु ज्ञान है अवश्य। हम चलकर जाते हैं तो ज्ञान सब जगह कायम रहता है, जहाँ-जहाँ हमारा शरीर और उसमें विद्यमान अंतःकरण जाता है वहाँ-वहाँ ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जैसे घट को यहाँ से वहाँ ले जायें तो रास्ते में आकाश रहता ही है, अतः आकाश की सर्वव्यापकता स्फुट हो जाती है, इसी प्रकार अंतःकरण जहाँ जाता है वहाँ सर्वत्र ज्ञान *का* उसके अन्दर प्राकट्य हो जाता है, अभिव्यक्ति हो जाती है, इसलिये देशगत परिच्छेद उसमें नहीं है। अतः संवित् का अत्यंताभाव भी नहीं है। तीनों ही अभाव इस संवित् के नहीं हैं। चूँकि ज्ञान एक ही है इसलिये अन्योन्याभाव की तो बात ही नहीं है।

ज्ञान करता क्या है? हर चीज का भासक है, हर चीज की प्रतीति कराता है। संवित् जो सब का भान कराती है, उसका भान कैसे होता है? जो घट-पट आदि को 'जानता' है उस ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? यदि कहें कि ज्ञान अपना ही प्रकाश कर देता है तो इसमें कर्तृ-कर्म-विरोध हो जाता है अर्थात् जो प्रकाश करने वाला वही प्रकाशित होने वाला नहीं हो सकता ऐसा तार्किक आदि को मान्य है। यदि दूसरा ज्ञान मानो तो 'एका' संवित् कहना नहीं बनेगा। किं च दूसरे ज्ञान को प्रकाशित करने वाला तीसरा आदि मानने से अनवस्था हो जायेगी। अगर कहो कि ज्ञान की प्रतीति ही नहीं होती है तो जगत् में किसी चीज की प्रतीति नहीं होगी! इसलिये कहा 'स्वयंप्रभा'। संवित् स्वयंप्रभारूप है, किसी दूसरे से यह प्रभा वाली नहीं होती।

'नोदेति नास्तमेति' से सूर्य का दृष्टांत दिया। सूर्य अपनी किरणों के द्वारा घट-पट आदि का प्रकाश करता है, सब चीजों को दिखा देता है। यदि वही किरणें वापस जाकर सूर्य को प्रकाशित कर दें तब तो कह सकते थे कि सूर्य अपनी किरणों के द्वारा प्रकाशित होता है, लेकिन ऐसी बात तो है नहीं। इसलिये यह नहीं कह सकते हैं कि सूर्य अपने आपको प्रकाशित करता है। इसलिये सूर्य सबको प्रकाशित करते हुए ही प्रकाशरूप होने के कारण 'प्रकाशित' या 'अप्रकाशित' नहीं है। सूर्य को छोड़कर बाकी चीजें प्रकाशित या अप्रकाशित हैं पर सूर्य न प्रकाशित है, न अप्रकाशित है। ज्ञान की ऐसी ही स्वप्रकाशता बताई। दूसरे से प्रकाशित न होते हुए अप्रकाशित न होना ही स्वप्रकाशता है। सूर्य का दृष्टांत स्वयंप्रभता के बारे में स्पष्टता ले आता है। यह संवित् स्वयंप्रभ है अर्थात् किसी से प्रकाशित, ज्ञात न होते हुए अप्रकाशरूप (अज्ञानरूप) नहीं है। इस प्रकार, संवित् सब कालों में, सब देशों में और सब व्यक्तियों में एक रहती है। यह हमेशा सद्रूप ही है और कभी भी अप्रकाशमान नहीं है। उपनिषदों ने इसलिये स्पष्ट रूप से बताया कि न परमात्मा जाना जाता है और न नहीं जाना जाता है। संवित् सद्रूप और चिद्रूप अर्थात् स्वयंप्रकाश है।। ७।।

अब संवित् की आनन्दरूपता सिद्ध करते हैं। ज्ञान हमेशा एक-जैसा है इसलिये सद्रूप

है, हमेशा है, सब जगह है, हर वस्तु में अर्थात्, हर पुरुष के अन्दर है। सत्-चिद्रूपता तो जल्दी समझ में आती है, इसकी आनन्दरूपता समझना ज़रा कठिन है। अन्त के आनन्द-प्रकरणों में इसका विस्तार करेंगे। यहाँ तो इसी आनन्दरूपता को संक्षेप में सिद्ध करते हैं–

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते।। ८।।

यह ज्ञान आत्मा और सर्वाधिक आनन्द है, क्योंकि सर्वाधिक प्रिय है। 'ऐसा न हो कि मैं न रहूँ वरन् मैं बना ही रहूँ,' यों आत्मा के प्रति प्रेम अनुभूयमान है।

संवित् की आनंदरूपता कैसे सिद्ध करते हैं? आनन्द वह चीज है जो सबको प्रिय लगती है, और जो चीज प्रिय लगती है वह न रहे यह किसी को अच्छा नहीं लगता। दोनों बातें समझ लेना, पहली तो, जो चीज आनन्दरूप है वही प्रिय लगेगी। कोई भी प्राणी दुःख से प्रेम नहीं करता। कहोगे, लोग तपस्या करते हैं, मेवे की बढ़िया खिचड़ी बनी है परन्तु एकादशी का दिन है, नहीं खाते। किंतु ऐसा नहीं है कि उन्हें वह अच्छी नहीं लगती है। व्रत में न खाने के फलस्वरूप स्वर्ग में यथेष्ट खाने को मिलेगा–इस निश्चय से ही वे तप करते हुए भोगत्याग करते हैं। भोग से प्रेम न हो, ऐसा नहीं। जिस चीज में आनन्द की प्रतीति होती है उससे प्रेम होता है। कैसे पता लगे कि किस चीज से प्रेम है? 'यह चीज हमसे कभी भी दूर न हो' जहाँ ऐसी इच्छा हो, वहाँ पता लग जाता है कि उस चीज से प्रेम है। इसको आत्मा में घटा सकते हैं : अपना आत्मा हरेक को प्रिय है।

याज्ञवल्क्य महर्षि ने मैत्रेयी को उपदेश करते हुए यही प्रकार अपनाया। उन्होंने बताया कि लगता तो है कि पत्नी को पति प्रिय है परन्तु शादी करने के बाद पति रोज सवेरे उठकर पत्नी को दो चाँटे मारे, और वह जितना भी बढ़िया भोजन बना कर लाये, उठाकर फैंक दे, हमेशा गाली देकर बात करे, तो क्या वह पति प्रिय रह जाता है? पति की सेवा तो वह करती रहेगी क्योंकि उसमें कर्तव्यबुद्धि है कि पति की सेवा करेगी तो आगे जन लोक में जाकर उसे बहुत सुख मिलेगा। वहाँ से आकर फिर आदमी होकर पैदा होगी, लड़की नहीं बनेगी, इसलिये सेवा करती रहती है। किन्तु सुख उसे आगे मिलेगा, पति तो प्रिय नहीं रह गया। याज्ञवल्क्य महर्षि आगे कहते हैं कि पति को पत्नी बड़ी प्रिय है, परन्तु रोज सवेरे जली रोटी और शाम को जली दाल खिलाये; पति कहे कि घर साफ करो तो कहे 'साफ तो पड़ा है, तुम मारवाड़ में रहते हो, यहाँ तो धूल आयेगी ही, रोज-रोज कौन झाड़ू लगाये' इस प्रकार कठोर वचन बोले तो क्या वह पत्नी प्रिय रहती है? वह पत्नी का भरण तो करता रहेगा, पत्नी के प्रति वफादार भी रहेगा क्योंकि ऐसा करने से उसे स्वर्ग आदि की प्राप्ति होगी। वह भर्ता है, भरण का काम करेगा ही, परन्तु पत्नी प्रिय नहीं रहेगी। इसी प्रकार हीरे की अँगूठी पहनकर रेल में जा रहे हो। एक आदमी आकर बन्दूक दिखाकर कहता है 'यह मुझे

दे दो, नहीं तो गोली मारता हूँ,' तब क्या उसे अपने पास रखते हो या उसे देकर अपनी जान बचाते हो? जब तक हीरा सुख देने वाला था तब तक प्रिय था। जब दुःख देने वाला हो गया तब प्रिय नहीं रह गया। इसलिये पति, पत्नी, धन इत्यादि सबकी प्रियता तभी तक है जब तक हमको दुःख देने वाले नहीं हो जायें। इस प्रकार सब चीजें हमको अपने लिये प्रिय हैं। अतः आत्मा की आनन्दरूपता सर्वाधिक प्रेम का विषय होने से है। 'इयमात्मा' यह जो संवित् है यही आत्मा है।

एक शंका होती है कि आत्मा का विवेचन करते, संवित् या ज्ञान से क्यों प्रारम्भ किया? तत्त्व-विवेक में सीधे ज्ञान को क्यों लिया? समाधान है कि आत्मा के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न भ्रांतियाँ हैं। कोई शरीर को आत्मा मानता है, कोई इन्द्रियों को, कोई प्राण को, कोई मन को आत्मा मानता है, इत्यादि; इस प्रकार आत्मा के विषय में मतभेद हो जाता है। ज्ञान ऐसा है जिसके विषय में कोई मतभेद नहीं है, सब देश, सब काल, सब वस्तुओं में ज्ञान की एकरूपता सीधी समझ में आती है। अतः संवित् को इस प्रकार सत्चिद्रूप बताकर कह दिया कि संवित् ही आत्मा है।

सब चीजें अपने लिये प्रिय होती हैं अतः मैं, आत्मा, आनन्दरूप है, परानन्दरूप है। उसमें कारण दे दिया कि यह परप्रेमास्पद है। जो प्रेमास्पद होता है वह आनन्दरूप होता है। इसलिये आत्मा आनन्दरूप है। यह प्रेम स्वाभाविक है इसलिये परम आनन्दरूप है। दूसरी चीज़ें इसकी अपेक्षा करके प्रेमास्पद होती हैं अन्यथा इसको आनन्ददायक न होने पर भी चीजें प्रिय बनी रहतीं!

यह परप्रेमास्पदता कैसे पता लगती है? 'मा न भूवं हि भूयासम्' कभी ऐसा न हो कि मैं न रहूँ, मेरा अभाव कभी न हो यह स्थायी इच्छा सबकी है। सारे बड़े-बड़े अस्पताल, वैद्य इत्यादि, इसलिये हैं कि हम मर न जायें। दिल्ली के अन्दर बहुत से लोग कुतुबमीनार पर चढ़कर गिर कर मरते देखे जाते हैं, वे ऐसा किस लिये करते हैं? उनमें प्रायः दुःखी होकर मानते हैं 'मर जाऊँगा तो उस दुःख से छूट जाऊँगा'। जो बिलकुल कूदने को तैयार खड़ा है, उसी समय उसका मित्र कहे 'मत कूदना! जिसके वियोग में तू दुःखी है वह लड़की मान गई है,' तो फिर नहीं कूदता! लगता तो यह है कि वह *मरने* जा रहा है, पर वास्तव में मरने नहीं जा रहा, कोई-न-कोई दुःख है जिससे छूटने जा रहा है। 'कभी ऐसा न हो कि हम न हों, हमेशा हम रहें ही'—यह सभी चाहते हैं। जो चीज हमसे अलग कभी न हो—ऐसी लगे वह हम को प्रिय ही होगी और जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द है। जिसके साथ हमेशा रहना चाहें वह प्रेम का विषय अतः आनन्दरूप होता है। इस प्रकार से आत्मा की परानन्दरूपता सिद्ध की। ऐसी संवित् में देश-काल-वस्तु का परिच्छेद नहीं है। इसलिये संवित् ही आत्मस्वरूप है। इस से संवित् की सच्चिदानन्दता सिद्ध हो जाती है।

वेद में ऐसा वचन आता है 'आत्मा वै पुत्र नाम,' वहाँ लगता है कि पुत्र को ही आत्मा कहा है। परन्तु पुत्र को आत्मा इसलिये कहा है कि वह आत्मा की तरह प्रिय है। वह आत्मा

है—यह मतलब नहीं है बल्कि यह कि जैसे आत्मा प्रिय है वैसे पुत्र प्रिय है। प्रिय होने पर भी पुत्र *परम* प्रिय नहीं होता। जब अपने शरीर पर आपत्ति आती है, घर में जबर्दस्त आग लग जाती है, आदमी भागकर बाहर जाता है, बाहर पहुँच कर चिल्लाता है कि 'छोटा बच्चा अन्दर पड़ा हुआ है, कोई निकालो'। पूछो 'तुम क्यों नहीं उठा लाये?' प्रिय है इसलिये चिल्ला तो रहा है परन्तु चूँकि शरीर को अपना आत्मा समझता है इसलिये अपने शरीर को बचाने के लिये पहले भागा। ठीक इसी प्रकार धन आदि को भी अपने शरीर की रक्षा के लिये छोड़ देता है। जब तक शरीर को आत्मा समझता है तब तक स्थूल शरीर की रक्षा के लिये प्रवृत्ति करता है। जब शास्त्र के द्वारा जानता है कि 'यह स्थूल शरीर तो मर जायेगा, सूक्ष्म शरीर बना रहेगा और वह मैं हूँ,' तब एकादशी को भूखा रहकर स्वर्ग जाने की तैयारी करता है क्योंकि समझता है 'मैं ही स्वर्ग जाऊँगा'। इसलिये जिसे हमने 'मैं' समझा वही प्रिय हो जाता है। मेरा-भाव जहाँ है वहाँ भी मैं का संबंध है, इसलिये प्रियता है। मेरा बेटा चुनाव में खड़ा हुआ है और मेरे दुश्मन का बेटा भी खड़ा है, दोनों का एक जैसा सुन्दर स्वभाव, एक जैसी योग्यता है, दोनों में कोई फर्क नहीं है। एक जैसे हैं तो दोनों में से कोई भी चुनाव में जीते, प्रसन्नता एक जैसी होनी चाहिये, परन्तु होती नहीं है, क्योंकि शत्रु के पुत्र पर मेरेपने का भाव नहीं है। मैं से सम्बन्ध वाला वह नहीं है। कभी भ्रम हो जाता है तो शत्रु की लड़की प्रिय लगती है पर तभी तक जब यह पता नहीं लगता कि शत्रु की पुत्री है। वह पता लगते ही वही प्रिय नहीं लगती। इसलिये आत्मा की परप्रेमास्पदता अनुभव से सिद्ध होती है।

एक शंका रह जाती है कि आत्मा यदि सुखरूप है तो हम सुख के लिये विषयों की तरफ क्यों दौड़ते हैं? आत्मा हमारे पास है फिर भी हम विषयों की तरफ सुख के लिये ही दौड़ते हैं इससे पता लगता है कि आत्मा सुखरूप नहीं है। संस्कृत में कहते हैं 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्'। यदि अपने घर की छत पर मधुमक्खी का छत्ता लगा है तो क्या मधु लेने के लिये कोई पहाड़ पर जायेगा! इसी प्रकार यदि आत्मा ही सुख है तो फिर क्यों सुख लेने के लिये हम सवेरे से शाम तक आठ घण्टे काम करते हैं और ज्यादा 'ओवर टाइम' मिले तो ज्यादा खुश होते हैं कि पैसा आयेगा तो सुख होगा? आत्मा सुखरूप है और संवित्रूप होने से प्रकाशरूप भी है परन्तु इसके ऊपर आवरण है, इसलिये इसका भान नहीं होता। आवरण है तो प्रेमास्पद नहीं होना चाहिए और प्रेमास्पद नहीं होगा तो इसकी आनन्दरूपता सिद्ध कैसे होगी? प्रेमास्पद हो तभी आनन्द सिद्ध हो। प्रेमास्पद कब हो? जब उसकी आनन्दरूपता का पता हो। मान लो पाँच साल के बच्चे के सामने अठारह साल की अत्यंत सुन्दर लड़की खड़ी हो तो लड़की दीखती तो उस बच्चे को वैसी ही है जैसी बीस साल के जवान लड़के को दीखती है, लेकिन उस लड़की के प्रति उस बालक की कोई प्रेमास्पदता की प्रतीति नहीं है। उस औरत में है तो सुख जो बीस साल वाले जवान को देखकर प्रतीत भी हो रहा है परंतु औरत दीखने पर भी उसका वह सुख बालक की दृष्टि

में ढका हुआ है क्योंकि उसके अंदर उसको विषय करने के लिये जो कामुकता चाहिये, वह नहीं है। ठीक इसी प्रकार चूँकि आत्मा की तरफ हमारी वृत्ति की एकाग्रता नहीं है, इसलिये उसकी आनन्दरूपता हमें प्रकट नहीं है। हमारा मन आत्मा को एकाग्र दृष्टि से विषय करने में असमर्थ है और उसके बिना उसकी आनन्दरूपता प्रकट नहीं होगी। जैसे बच्चे में कामुकता नहीं है तो कामिनी में भी उसको कोई आनन्दरूपता की प्रतीति नहीं होगी इसी प्रकार जब तक चित्त की एकाग्रता न हो तब तक आत्मा में सुख प्रकट नहीं होता। इसीलिये शास्त्रों में कहा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' इन सब के द्वारा विविदिषा उत्पन्न होती है। जब विविदिषा उत्पन्न होकर चित्त उसमें एकाग्र हो जायेगा तब वह सुखरूपता प्रकट हो जायेगी। परन्तु सुखरूपता उसमें हमेशा है ही।

इस विविदिषा का रूप क्या होगा? उसकी जो आनन्दरूपता प्रकट नहीं है वह प्रकट हो जाये–यही विविदिषा है। लोक में भी रसगुल्ला जब तक जीभ पर नहीं रखा जायेगा तब तक उसकी सुखरूपता प्रतीत नहीं होगी। बहुत साल पहले हम कलकत्ते में किसी के घर ठहरे हुए थे। वहाँ एक अल्मारी थी जिसमें सेब, अंगूरों के गुच्छे, शरीफे आदि फल रखे हुए थे। हमने सोचा अगले दिन खाने को देंगे। वे सब ताले में बन्द थे। अगले दिन नहीं निकाले। किसी से कहा कि ये सब पड़े-पड़े सड़ जायेंगे, खाकर खत्म करो। वे लोग हँसने लगे, और कहा कि 'ये सब तो मिट्टी के बने हुए हैं, केवल दिखाने के लिये हैं।' उन फलों के प्रति प्रियता की बुद्धि थी परन्तु जब पता लग गया तो वे प्रिय नहीं रहे। खाने पर रसगुल्ले की सुखरूपता अभिव्यक्त होती है, देखकर सुख अभिव्यक्त नहीं होता है। चूँकि पहले खाया है इसलिये उसे देखकर भी प्रतीति भले होती है। आत्मा की सुखरूपता को शास्त्र से जान कर जब हम उसके लिये चित्त एकाग्र करते हैं तब उस एकाग्र चित्त में उसका आनन्दरूप अभिव्यक्त या प्रकट हो जाता है। इसलिये यहाँ पर उसकी सच्चिदानंदरूपता स्पष्ट की।। ८।।

आत्मा वह है जो नित्य और स्वप्रकाश हो। संवित् नित्य भी सिद्ध की गई और स्वप्रभ या स्वप्रकाश भी सिद्ध की गई। इसलिये आत्मा का लक्षण उसमें घटता है। अतः नित्य और स्वप्रकाश सिद्ध होने के बाद, 'इयमात्मा' कहा था। वह आत्मा सबको हमेशा प्रिय होता है क्योंकि लोग चाहते हैं कि यह हमेशा रहे और कभी ऐसा न हो कि यह न रहे। आत्मा अर्थात् अहम् अर्थात् 'मैं' इस अनुभव का जो विषय है। प्रश्न होता है कि भले ही आत्मा प्रिय है लेकिन और भी तो बहुत कुछ प्रिय है अतः केवल आत्मा को पाना ही पुरुषार्थ कैसे? उत्तर देते हैं कि परम आनंदरूप होने से आत्मलाभ का सर्वाधिक महत्त्व है–

तत् प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दताऽऽत्मनः।। ९।।

मैंसे अन्य के प्रति जो प्रेम वह मैं के लिये ही होता है जबकि मैं से प्रेम गैर-मैं के लिये नहीं हुआ करता। अतः मैं (आत्मा) के प्रति प्रेम ही परम है जिससे निश्चित है कि आत्मा परम आनन्द है।

पहले यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा को परमानन्दस्वरूप कहा है क्योंकि यह परप्रेमास्पद है। परम वह होता है जो अन्य के प्रति प्रमुख है और स्वयं अन्य के प्रति गौण नहीं है जैसे परमाचार्य वह है जो सब का आचार्य हो और उसका आगे कोई दूसरा आचार्य न हो। जब तक उसका गुरु जिन्दा होगा तब तक उसे परमाचार्य नहीं कह सकते। इसी प्रकार परमानन्द वह होगा जिसके लिये बाकी सब प्रिय हों और वह किसी अन्य के लिये *प्रिय* न हो। जो किसी भी चीज में प्रेम है, पुत्र, पत्नी, धन इत्यादि में जो प्रेम है, वह आत्मा के लिये है। प्रेम जब अन्य किसी चीज में होता है तो आत्मा के लिये ही होता है अर्थात् आत्मा के सुख के लिये ही अन्यत्र प्रेम होता है। प्रेम का मुख्य विषय सुख हुआ। अपने लिये जो चीज दुःखरूप होगी वह प्रिय नहीं होगी। जहाँ प्रतीति भी होती है कि दुःख से प्रेम कर रहा है वहाँ भी 'मुझे आगे सुख होगा,' यह मानकर ही कर रहा है। अन्यत्र चाहे कहीं प्रेम है, वह आत्मसुख के लिये ही है, आत्मप्रेम के अधीन ही है। पत्नी बढ़िया भोजन बनाकर देती है तब तो वह प्रिय है और रोज जली रोटी दे तो वह अपने दुःख का कारण होती है, वहाँ प्रेम या सुख-बुद्धि नहीं रह जाती। अतः दूसरे सब प्रेम तो नैमित्तिक हैं, आत्मा के निमित्त से हैं, परन्तु अपने से जो प्रेम है वह किसी दूसरे प्रयोजन से नहीं है। अपने से प्रेम क्यों करते हैं? क्यों पत्नी मुझे ही अच्छा भोजन दे तब प्रिय हो? इसका कोई जवाब नहीं है! इसलिये वह प्रेम नैमित्तिक नहीं हुआ। अन्य प्रेमाधीन न होना ही परप्रेमरूप होना है। आत्मा ऐसा है कि दूसरे सबके प्रति प्रधान है परन्तु स्वयं कभी गौण नहीं होता, किसी दूसरे के लिये होता नहीं। पर-प्रेमास्पद है अतः परम आनन्दरूप है।

इस बात को श्रुति भी कहती है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। गायत्री की उपासना करने वाले सूर्य को अपनी इच्छा का विषय मानते हैं। परन्तु मारवाड जेठ के महीने में जब धूप खूब जोर से तप रही है तब सूर्यनारायण का दर्शन करते जाते हुए सूर्य के उपासक को कोई सुख नहीं होता! उससे कहो कि 'बाजार से पान ले आओ,' तो कहता है 'चार बजे ले आऊँगा।' ऐसा क्यों? क्योंकि तब उसे भी सूर्य प्रिय नहीं लगता। इसलिये कहा कि देवता भी देवता के लिये प्रिय नहीं है। इस प्रकार कई सम्बन्ध आदि की प्रियता को श्रुति ने स्पष्ट किया, अंत में कहा है कि कोई चीज ऐसी नहीं है जो अपने को दुःख देने वाली हो और प्रिय लगे। एक शंका उठती है कि जो धर्म नहीं जानता, वह अपने पुत्र को खून की जरूरत पड़ने पर अपना खून दे देता है। हो सकता है कि उससे कमजोर होकर वह खुद मर भी जाये। अपने शरीर की परवाह न करते हुए अपना अंग भी दे देता है। जिनके अन्दर कोई धर्म की बुद्धि नहीं है, वे ऐसा कैसे करते हैं? वहाँ लगता है कि पुत्र का प्रेम आत्मा के प्रेम से ज्यादा है। परन्तु विचार करके देखो

तो वहाँ भी उसका खून अथवा अपना गुर्दा या किडनी देने से उसका पुत्र बच जायेगा, उससे होने वाला जो संतोष और सुख है, उस अपने सुख के लिये ही वह ऐसा करता है। अथवा जहाँ देखा जाता है कि दूसरे पर करुणा करके अपने ऊपर ओढ़ने का कपड़ा भी दे देता है, वहाँ भी उसके दुःख की निवृत्ति से उसे स्वयं जो संतोष होता है कि 'मुझ से अच्छा काम हो गया,' इसके लिये वैसा करता है। अपनी संतुष्टि के लिये ही वह सब किया जाता है, अतः वहाँ सर्वत्र 'मैं' ही प्रधान हूँ, मुझे संतोष हो जाये, चाहे शरीर को उस ठण्ड में ठिठुरना पड़े। आत्मा की परमानन्दता निर्विवाद है।।६।।

तत्त्व बताने में प्रवृत्त हुए; तत्त्वविवेक करना था; आप ने तो आत्मा को, सच्चित्परानन्द-रूप बताया! इससे तत्त्वविवेक कैसे होगा? तब कहते हैं–

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम्।
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते।।१०।।

यों युक्ति से सिद्ध हुआ कि आत्मा सत्-चित् परमानन्दरूप है। परब्रह्म भी ऐसा ही है अतः वेदान्तों में आत्मा-परब्रह्म की एकता का उपेदश है।

युक्ति के द्वारा आत्मा को सच्चिदानन्द बताया। आत्मा की सत्-चित्-परमानन्दरूपता को युक्ति से समझोगे तब आत्मा के उस परम आनन्दरूप के साक्षात् अनुभव के लिये प्रवृत्त होगे। जिसे पता ही नहीं है कि आत्मा परम आनन्दरूप है वह आत्मा के विवेक के लिये प्रवृत्त ही क्यों होगा! जब युक्ति से पता लगता है कि वह सच्चिदानन्दरूप है तभी उसे तत्त्व जानकर उसे पाने की इच्छा होती है।

सद्रूप का प्रतिपादन नित्यता के द्वारा किया कि वह सभी देश, काल, वस्तुओं में है। चिद्रूप बताया कि अन्य प्रकाशाधीन न होकर सबका प्रकाश करने वाला है। आनन्दरूप बताया कि वह किसी अन्य के लिये प्रिय नहीं है, उसके लिये सब प्रिय हैं। यह सब युक्ति से बताया। सच्चिदानन्द ही ब्रह्म का लक्षण है। सच्चिदानन्द आत्मा है यह युक्ति से सिद्ध किया और वह सच्चिदानंद ही ब्रह्म है यह शास्त्र से सिद्ध है। आत्मा का परम आनन्दस्वरूप तब तक प्रकट नहीं होता जब तक उसकी ब्रह्मरूपता का साक्षात्कार नहीं हो जाता। यह कहाँ बताया है? श्रुति अर्थात् वेदों का सिद्धान्त-प्रतिपादन उपनिषद् में है, उसमें इसका उपदेश दिया गया है। इसके द्वारा यह भी बता दिया कि ब्रह्म को युक्ति से सिद्ध नहीं कर रहे हैं, ब्रह्म तो शास्त्रैकगम्य है। श्रुतियों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि,' उपनिषद् के द्वारा ही उसे जाना जाता है; 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' जो वेदों को नहीं जानता वह कभी ब्रह्म को नहीं जान सकता। आत्मा तो युक्ति से थोड़ा-बहुत समझ में आ सकता है। कपिल आदि महर्षियों ने आत्मा का प्रतिपादन करते हुए करीब-करीब इस प्रकार से उसका पता लगा लिया और वर्णन कर दिया, परन्तु उसकी ब्रह्मरूपता को उन्होंने भी युक्ति से प्रतिपादित नहीं किया।

आत्मा ब्रह्म है अतः आत्मा का स्वरूप युक्ति से समझ लिया तब वह ब्रह्म कैसे है—इसे जानने के लिये प्रवृत्ति हो जाती है। मनुष्य की प्रवृत्ति न तो जिस चीज को पूरी तरह से जानता है उसे जानने के लिये होती है न सर्वथा अज्ञात के लिये। जिस चीज को पूरी तरह से जान लिया उसको जानने की प्रवृत्ति कैसे होगी! और जिस चीज को सर्वथा नहीं जानते उसके लिये भी *प्रवृत्ति* नहीं हो सकती। जिस चीज को कुछ जाना है, कुछ नहीं जाना है वहीं आदमी जानने में प्रवृत्ति करता है। इसीलिये कहा जाता है कि 'न तावदयम् एकान्तेन अविषयः, अस्मत्प्रत्यय-विषयत्वात्' आत्मा को हम सर्वथा नहीं जानते, ऐसी बात नहीं है, 'अहं'—इस प्रतीति के विषयरूप से तो जानते हैं परन्तु जो उसकी वास्तविक ब्रह्मरूपता है वह नहीं जानते। यदि इसे सर्वथा नहीं जानते तो भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये युक्ति के द्वारा जो उसकी सच्चिदानन्दरूपता सिद्ध की गई, उससे जिज्ञासा प्रबल हो जाती है।

अहं-प्रतीति के विषयरूप से तो जान रहे हैं परन्तु वह ब्रह्म स्वयं कैसे प्रतीतिरूप है यह नहीं जान रहे, इसलिये जिज्ञासा हो जाती है। जिन लोगों ने केवल युक्ति के द्वारा ब्रह्म को समझने का प्रयत्न किया है वे उसको सृष्टि के कारणरूप से तो समझ सके परन्तु आत्मरूप से नहीं समझ सके। अतः जीव-ब्रह्म की एकता समझ नहीं पाये। कपिल आदि ने उसकी सच्चिदानन्दरूपता जानकर भी उसकी ब्रह्मरूपता नहीं जानी। अतः अन्यों के लिये ईश्वर नित्य परोक्ष ही है, अपरोक्ष नहीं होता। केवल उपनिषद् से उक्त प्रकार से आत्मा को सच्चिदानन्दरूप जाना जा सकता है।। १०।।

चिद्रूप की भी जिज्ञासा-योग्यता उपपन्न करते हैं—

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा।
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दतात्मनः॥ ११॥

सर्वथा भान न हो तो आत्मा से परम प्रेम संभव नहीं और आत्मा का भान हो ही तो विषयकामना संभव नहीं, इसलिये आत्मा की यह परमानन्दता का भान होने पर भी वह प्रतीत नहीं है—यह मानना समीचीन है।

आत्मा को परम आनन्दरूप युक्ति से सिद्ध तो किया। जब हमको पता है कि आत्मा परम आनन्दरूप है तो सब चीजों की आनन्द के लिये इच्छा क्यों होती है? विषयों की ओर प्रवृत्ति, इच्छा होती अवश्य है जैसे रसगुल्ला, दही-बड़ा खाने को मिले, मोटर चढ़ने को मिले। 'भाने न विषये स्पृहा,' यदि आत्मा की परमानंदता का भान है तो विषयों की स्पृहा नहीं हो सकती। स्पृहा का मतलब है अप्राप्त विषय के लिये मन में तीव्र इच्छा होना। प्राप्त विषय के प्रति इच्छा स्पृहा नहीं कही जाती। थाली में प्राप्त दाल-भात को खाने की इच्छा तो है, तभी मिलाकर खा रहे हैं, परन्तु स्पृहा नहीं है। जो दाल का हलवा सामने नहीं है उसके लिये मन में जो होता है कि 'हाय! आज दाल का हलवा खाने को नहीं मिला, मिलता तो बड़ा अच्छा था,' यह स्पृहा है। सामने दाल का हलवा रखा है, उसको भी खाने की इच्छा तो है,

परन्तु स्पृहा नहीं है। अप्राप्त विषय के लिये मन में जो तीव्र संवेग होता है उसे स्पृहा कहते हैं। यदि आत्मरूप परम आनन्द का भान हो तो विषयों की स्पृहा नहीं होगी, जबकि होती है।

यदि कहो कि आत्मा आनन्दरूप होता है परन्तु उसका भान नहीं है, इसलिये विषयों में स्पृहा होती है, तो 'अभाने न परं प्रेम' अगर हमें उसमें आनन्दरूपता की प्रतीति नहीं है तो वह हमारे परम प्रेम का विषय भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि आनन्दरूपता की प्रतीति होने पर ही प्रेम होता है। यद्यपि पहले कहा था कि 'मैं' के सम्बन्ध से भी प्रेम हो जाता है; जैसे मेरा पुत्र है इसलिये उससे प्रेम हो जाता है। तथापि केवल मेरापना प्रेम का कारण नहीं है क्योंकि शरीर में हुआ फोड़ा भी मेरा तो है, संग्रहणी भी मेरी है लेकिन उससे कोई प्रेम नहीं होता! पुत्र भी यदि निरन्तर दुःख देने वाला हो तो उससे भी प्रेम नहीं रहता। वह सुख न दे तब तक तो प्रेम रह जायेगा, दुःख देने वाले लड़के को भी सर्वथा निष्कासित नहीं करते क्योंकि आशा है कि बीमारी आदि में काम आयेगा। परन्तु जिसका निश्चित पता है कि कभी काम आने वाला नहीं है, केवल डण्डे मारने वाला है, उससे प्रेम नहीं रह सकता। यदि कहते हैं कि आत्मा की आनन्दरूपता का भान नहीं तो परप्रेम कैसे है? यदि भान है तो विषयों के प्रति स्पृहा कैसे होती है?

दोनों प्रश्नों का उत्तर दिया 'अतः भानेप्यभाताऽसौ' भान होता हुआ भी भान नहीं हो रहा है! किस चीज का भान होते हुए भी भान नहीं है? आत्मा की परम आनन्दता का भान होते हुए भी भान नहीं है। सब चीजें इसके लिये प्रिय हैं इस युक्ति से समझ में आता है कि इसमें आनन्दरूपता है, इसलिये भान है और विषयों की ओर प्रवृत्ति है इसलिये लगता है कि इसकी आनन्दरूपता का भान नहीं है। यही विचित्र स्थिति है। सामान्य रूप से जानकर भी विशेष रूप से नहीं जानते। जैसा प्रसिद्ध है कि कोई व्यक्ति धूप में जा रहा है, मार्ग में एक घने पेड़ की छाया में जाकर लेट जाता है। उसको सुख देने वाला पेड़ जान रहा है। वहाँ लेटे-लेटे उसके मन में आता है कि 'यह घना जंगल है, कहीं नींद न आ जाये, कहीं कोई जंगली जानवर न आ जाये'। ऐसा मन में सोचते ही वहाँ एक जंगली जानवर आ गया और वह भागा। रास्ते में एक महात्मा मिल गये, उन्होंने पूछा—'कहाँ भागा जा रहा है?' उसने कहा 'पेड़ के नीचे लेटा हुआ सोच ही रहा था कि कहीं कोई जंगली जानवर न आ जाये और वहाँ तुरन्त एक जंगली जानवर आ गया।' महात्मा ने कहा—'तू समझा नहीं, वह तो कल्पवृक्ष है। उसके नीचे लेटे हुए और कुछ मन में लाया होता तो वह पूरा हो जाता।' उसने उस वृक्ष की छाया को सुख देने वाला तो समझा, परन्तु उसे कल्पवृक्ष नहीं समझा अतः लाभ नहीं उठा सका। इसी प्रकार आत्मा की प्रियता का सामान्य रूप से भान होने पर भी विशेषरूप से भान नहीं है अर्थात् परम आनन्दरूपता का भान नहीं है, उसके लिये सब चीजें प्रिय हैं इतना भान तो है।

यह वेदांत की समस्या हैः प्रायः लोग कहते हैं कि जब सत्संग करते हैं, विचार करते

हैं तब तो आत्मा का स्वरूप बिलकुल ठीक लगता है, बिलकुल समझ में आ जाता है। फिर जब बाहर जाकर व्यवहार करते हैं तब सब उड़ जाता है! इस पर कुछ लोग कह देते हैं कि 'व्यवहार तो मिथ्या है, उसकी चिन्ता मत करो।' पर ऐसी बात नहीं है। व्यवहार में गड़बड़ाते हो क्योंकि विषय की स्पृहा है। इसलिये विचार करने का उपदेश दिया है। श्रवण-मनन और निदिध्यासन कहा है, शम, दम आदि का भी उपदेश दिया है। शम-दम आदि पूर्वक जो श्रवण-मनन है वही फल देता है। शम, दम आदि के संस्कार हमारे अंतःकरण में तीव्र होंगे तो विषयस्पृहा दबायेंगे। विषय-स्पृहा दबने से आत्मा की परम आनन्दता का स्पष्ट भान होगा। श्रवण-मनन के द्वारा भान हुआ परन्तु वह दृढ इसलिये नहीं हुआ कि चित्त की एकाग्रता बिना शम, दम आदि के सम्पन्न नहीं होती। बिना योग्यता के जो सुननेमात्र से समझ आती है उसी को शास्त्रों में अन्यत्र 'ज्ञानाभास' कहा है। वह ज्ञान नहीं है, ज्ञान जैसा लगता है। ज्ञान हो जाने पर तो जगत् की तुच्छता स्पष्ट हो जाती है। अमृत के समुद्र में जो खेल रहा है वह फिर छोटी-मोटी गन्दी नाली के अन्दर जाने को प्रवृत्त होता ही नहीं। किसी ने उसे मना नहीं किया है, परन्तु अमृत-समुद्र को छोड़कर गन्दे पानी से भरे हुए छोटे-मोटे गड्ढों में उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी? इसी प्रकार परम आनन्दस्वरूप अपने को जानने पर उसको छोड़कर विषयों की स्पृहा कैसे होगी? प्रारब्ध-भोग के कारण जो प्राप्त होगा, प्रारब्ध उसे भुगवा देगा, परन्तु स्पृहा को पैदा नहीं करेगा। इसलिये मानना पड़ता है कि भान होने पर भी भान नहीं होता।। ११।।

इसे एक दृष्टांत से समझाते हैं कि जानना-न जानना एक-साथ कैसे होता है—

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत्।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते॥१२॥

मन्त्रोच्चारण करने वाले अनेक बच्चों के बीच अपने पुत्र के उच्चारण की आवाज की तरह भान का भान और अभान प्रतिबंध के प्रभाव से संगत है।

कहीं पर बीस बच्चे बैठकर महिम्नः स्तोत्र या वेद का पाठ कर रहे हैं। अध्येतृवर्ग के बीच अपना पुत्र भी बैठा है। सब बोल रहे हैं, वह भी बोल ही रहा है, उसके ओठ भी हिल रहे हैं। तुम जब सब के शब्द को सुन रहे हो तो उसके शब्द को भी सुन ही रहे हो। 'बच्चा बैठा हुआ है, उसके ओठ हिल रहे हैं' इत्यादि से भान भी हो रहा है कि वह बोल रहा है, फिर भी उसका शब्द अलग से प्रतीत नहीं होता; भान होते हुए भी भान नहीं हो रहा है! सामग्री उपस्थित होने पर फल में रुकावट डालने वाली चीज को बताने के लिये हमारे यहाँ दार्शनिक शब्द 'प्रतिबन्ध' है। सबकी आवाज के साथ मिलने के कारण उस आवाज का पता नहीं लगता। ऐसे कई दृष्टांत समझ लेना : हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में नहाते हैं। मंदाकिनी, अलकनन्दा, भागीरथी इत्यादि अनेक नदियों का पानी मिलकर ब्रह्मकुण्ड में है। तुम वहाँ नहा रहे हो तो भागीरथी के पानी में भी नहा ही रहे हो। यह पुराने जमाने की बात समझना,

क्योंकि अब तो गंगा का पानी टिहरी बाँध में रोक रखा है। वहाँ तुम्हें पाँच नदियों का पानी मिल रहा है तो उसमें गंगा का पानी भी है ही परन्तु उसका *अलग से* भान नहीं होता है। कई जगह ऐसा होता है कि अनेक चीजों में कोई चीज रहती है तो उसका भान नहीं होता। उसी को कहते हैं कि भान का प्रतिबन्ध हो गया। बाकी सब लोगों की आवाज बच्चे की आवाज सुनने में प्रतिबंधक है। सुनने की सामग्री वहाँ मौजूद है, हमारे कान ठीक हैं, कानों में कोई खराबी नहीं है, सामने वाला भी पूरे जोर से और साफ बोल रहा है, ऐसा नहीं है कि वह फुस-फुस कर रहा हो! सामग्री ठीक से मौजूद है। शब्द पैदा हुआ, हमारे कान तक भी पहुँचा, परन्तु दूसरी ध्वनि-लहरियाँ उसे सुनने नहीं देतीं, इसलिये उन्हें प्रतिबन्धक कहते हैं। बन्ध अर्थात् बाँध। जैसे पानी में प्रवाह या बहने की सामर्थ्य भी है और आगे ढाल भी है परन्तु तुमने बाँध बना दिया तो वह पानी आगे नहीं बह सकता। इसलिये उसे बाँध कहते हैं। सामग्री उपस्थित रहते हुए किसी को काम से रोक देना प्रतिबन्ध कहलाता है। बाँध टूट जाये तो पानी पूरे जोर से बहता है क्योंकि सारी सामग्री तो मौजूद ही थी, बाँध के कारण नहीं बह रहा था। इसी प्रकार से मंत्र बोलने वाले बाकी बच्चों ने मंत्र बोलना बन्द कर दिया तो अपने बच्चे की आवाज साफ सुनायी देती है। इसी प्रकार से परम आनन्दता होने पर भी उसका भान प्रतिबद्ध है॥ १२ ॥

प्रतिबंध का रूप बताते हैं–

प्रतिबन्धोऽस्ति भातीति व्यवहारार्हवस्तुनि।
तं निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३॥

'है, प्रतीति हो रही है' ऐसे व्यवहार के योग्य वस्तु के बारे में वह व्यवहार न होने देकर उससे विपरीत व्यवहार उत्पन्न करने को 'प्रतिबन्ध' कहते हैं।

व्यवहार के योग्य वस्तु, जैसे पुत्र का शब्द जो पूरे जोर से बोला जा रहा है। हमारा कान भी ठीक है अतः सुनने के व्यवहार के योग्य वह शब्द है। 'तं निरस्य' उस व्यवहार का निरास करके अर्थात् व्यवहार नहीं होने देता। पहचान होनी चाहिये थी लेकिन पहचान नहीं होने देता। जो विरुद्ध व्यवहार है कि 'लड़के की आवाज नहीं सुनाई दे रही' इत्यादि, उसे उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार से अस्ति, भाति अर्थात् ब्रह्म है, ब्रह्म का भान होता है; स्वप्रकाश है इसलिये भान न होने की प्राप्ति ही नहीं होनी चाहिये। किसी दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित हो, ऐसी बात नहीं है क्योंकि भानरूप है। इसीलिये ब्रह्म है और ब्रह्म का भान है, यही उसका व्यवहार होना योग्य है, उसे निरस्त करके, हटाकर, उसकी जगह विरुद्ध व्यवहार कराता है कि ब्रह्म नहीं है और ब्रह्म का भान नहीं हो रहा है। संसार में अधिकतर लोग कहते हैं कि ब्रह्म नहीं है। शास्त्र को पढ़ेंगे तब उन्हें पता लगेगा कि ब्रह्म है अन्यथा मानते हैं कि ब्रह्म नहीं है। जब शास्त्र पढ़कर परोक्ष ज्ञान होता है तब यह तो पता लग जाता है कि ब्रह्म है परन्तु 'वह ब्रह्म हमको भान नहीं हो रहा है। हमको उसका अनुभव नहीं हो रहा

है' यह प्रतीति रहती है। विचार करके देखो तो 'ब्रह्म का अनुभव नहीं हो रहा है' यह वैसी ही बात है कि नमक नमकीन नहीं लग रहा है या चीनी मीठी नहीं लग रही है! बीकानेर में ब्राह्मण चीनी बहुत खाते हैं। वहाँ ओले का लड्डू बनता है जिसे केवल खाण्ड से ही बनाया जाता है। वहाँ किसी सेठ ने ब्रह्मभोज कराया और ओले के लड्डू बनाये। ब्राह्मणों ने प्रेम से भोजन किया। जैसा नियम है, भोज होने के बाद यजमान ने हाथ जोड़कर पूछा कि 'सब ठीक तो बना था?' ब्राह्मणों ने कहा 'बाकी सब तो ठीक था लेकिन लड्डू में चीनी कम थी।' अब चीनी के लड्डू को और क्या मीठा किया जाये! इसी प्रकार ब्रह्म अनुभवरूप है और हम कह रहे हैं कि ब्रह्म का अनुभव नहीं हो रहा है! इस तरह जो योग्य व्यवहार उसे निरस्त करके अर्थात् जो नित्य भानस्वरूप है उसका 'है, भासमान है' इस व्यवहार का निरास करके ठीक उसके विरुद्ध व्यवहार करा देता है कि ब्रह्म है नहीं, उसका भान नहीं हो रहा है। ब्रह्म का भान किससे हो! क्योंकि ब्रह्म ही तो भान है। परन्तु प्रतिबन्धक ऐसा है कि उस समझ को रोक देता है, जैसे पुत्र का बोलना सुनते हुए भी तुमको पता नहीं लगता कि तुम सुन रहे हो ॥१३॥

दृष्टांत व दार्ष्टान्त में प्रतिबंधक स्पष्ट करते हैं–

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम् ॥१४॥

पुत्र की आवाज के बारे में 'है, सुनाई दे रही है' इस प्रत्यक्ष अभिज्ञारूप व्यवहार को रोकने में कारण है बहुत बच्चे साथ-साथ उच्चारण कर रहे हैं। आत्मा के बारे में विपरीत व्यवहारों का मुख्य कारण अनादि अविद्या ही है।

पुत्र की ध्वनि सुनने में प्रतिबन्धक यह है कि सब लोग मिलकर एक-साथ बोल रहे हैं। दो जने मिलकर वेदपाठ करते हैं तो ठीक एक ही स्वर में दोनों बोलते हैं। दोनों ही 'क' बोल रहे हैं इसलिये 'क' तो सुनाई दे रहा है परन्तु उसमें पुत्र का बोला हुआ 'क' कौन-सा है–यह नहीं सुनाई देता है क्योंकि समानाभिहार है अर्थात् अन्य कइयों के साथ बोल रहा है। सबका साथ-साथ बोलना पुत्र की ध्वनि को नहीं सुनने में हेतु या सुनने में प्रतिबंधक है। यहाँ जान-बूझकर 'शब्द'-शब्द का प्रयोग न करके, 'ध्वनि'-शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि जब वे शब्द बोल रहे हैं 'गणानां त्वा' तब ये शब्द तो सुनाई दे रहे हैं परन्तु पुत्र की ध्वनि अर्थात् उसके कण्ठ से जो उच्चारण होता है उसका पता नहीं लग रहा है। इसलिये ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। दार्ष्टान्त में क्या प्रतिबन्धक है? यहाँ ब्रह्म का भान कराने में प्रतिबन्धक अविद्या है। 'ब्रह्म को ब्रह्मरूप से नहीं जानने देना' यह करने वाली अविद्या है। अविद्या अनादि है। अविद्या कभी शुरू नहीं हुई।

'अनादि' हमेशा याद रखना क्योंकि लोग बार-बार यह प्रश्न पूछते हैं कि पहले-पहल जीव कैसे बना, पहले-पहल अज्ञान कैसे आया? लोग यह मानकर चलते हैं कि पहले सब

कुछ ठीक था और फिर बिगड़ा इसलिये समझते हैं कि पहले ब्रह्म था, फिर अज्ञान आ गया और फिर जीव बन गया। अतः पूछते हैं कि यह क्यों बना। जबकि बात बिलकुल उल्टी है; अविद्या अनादि है। इसलिये जीव और ईश्वर भी अनादि है। ठीक जिस प्रकार से ऐसा नहीं है कि जर्मन भाषा किसी तारीख तक हम जानते थे और फिर भूल गये। हमने जर्मन भाषा कभी भी नहीं जानी। और ऐसा भी नहीं कि अनादि है तो खत्म नहीं होगी। अविद्या अनादि है, खत्म भी होती है। सान्त है इसमें अपना प्रत्यक्ष दृष्टांत है कि हमने जर्मन भाषा कब से नहीं जानी? हमेशा से नहीं जानी परन्तु हमने जर्मन भाषा सीख ली तो हमारा उस भाषा का अज्ञान नहीं रह गया। अविद्या अनादि है इसलिये यह प्रश्न नहीं बनता कि कैसे आई। आई नहीं, यह तो अनादि है। इसीके प्रभावसे ब्रह्म को ब्रह्मरूप से हम नहीं जानते।

अविद्या ही व्यामोह का कारण है। सारे संसार का मोह इसलिये आ जाता है कि पहले हम ब्रह्म को नहीं जानते। इस व्यामोह के रहते हुए संसार का जन्म-मरण-प्रवाह कभी हट नहीं सकता। व्यामोह के हट जाने पर फिर कुछ भी चीज ऐसी नहीं है जो संसार के प्रवाह में कोई स्थिरता ला सके। अर्थात् व्यामोह हटने के बाद संसार रहता नहीं और जब तक व्यामोह है तब तक संसार हटता नहीं। यहाँ जिस तत्त्व का विवेक करना प्रारम्भ किया था उस तत्त्व की बात अब स्पष्ट होती जा रही है।। १४।।

आत्मा की सद्रूपता, चिद्रूपता का पता चल रहा है, आनंदरूपता व अनंतरूपता का पता नहीं चल रहा है। इसका कारण क्या है? अनादि अविद्या ही इसका कारण है। अनादि अविद्या का वर्णन करते हैं–

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥१५॥

ज्ञान और आनन्दात्मक ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से सम्बद्ध एवं तम-रज-सत्त्व गुणों वाली (वह अविद्या ही) प्रकृति है तथा वह दो तरह की है।

जो अविद्या या अज्ञान है उसमें 'चिदानन्दमय ब्रह्म' की परछाँई पड़ी है। जीव में आनन्द अनुद्घाटित है परन्तु ईश्वर में आनन्द उद्घाटित है अर्थात् हमें पता नहीं परन्तु ईश्वर को अपनी आनन्द और अनंतरूपता का पता है इसलिये वह चिदानन्दमय है। चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से अविद्या समन्वित है। ईश्वर ही अविद्या में प्रतिबिम्बित है। प्रतिबिम्ब कैसा है? उसके अन्दर चिद्रूप और आनन्दरूप प्रकट है। प्रतिबिम्ब से समवेत अविद्या की क्या जरूरत है, कपिल महर्षि की तरह यह क्यों नहीं मान लेते कि अविद्या ही कारण है? इस पर यह समझ लेना चाहिये कि हमारे यहाँ सद्रूप ब्रह्म है। जहाँ-जहाँ हमें है-पने की प्रतीति होगी वहाँ ब्रह्मरूपता जरूर है। जिसका ब्रह्म के साथ सम्बंध नहीं वह हमेशा नहीं है रूप में ही कल्पित होगा। जैसे गधे के सींग हमेशा नहीं हैं-रूप में ही समझ आयेंगे, कभी भी है–रूप में प्रकट नहीं होंगे। जो चीज ब्रह्मरूप नहीं वह हमेशा 'नहीं है'। ब्रह्म वस्तुतः 'है'रूप

में ही समझ आयेगा। ब्रह्म हमेशा सच्चिदानन्दरूप है। मोटी भाषा में, 'मैं' हमेशा 'है'रूप समझ आयेगा, 'मैं नहीं हूँ' इसका कोई विचार तुम्हें नहीं हो सकता। कल्पना करके देखो तो भी शरीर मरा पड़ा है और तुम उसे देख रहे हो—यही कल्पना होगी। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कभी *अनुभव* नहीं हो सकता क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' इसके अनुभव के लिये भी मैं चाहिये। कोई अनुभव करने वाला होगा तभी अनुभव होगा। सत् होने से परमात्मा की प्रतीति हमेशा ही 'है'रूप है।

संसार की जितनी चीजें हैं वे सब 'है' या 'नहीं है' जाति की हैं। संसार में जो कुछ है वह उत्पन्न है, उत्पन्न होने के पहले नहीं है। उत्पन्न होकर 'है' और जब खत्म हो जाता है, नष्ट हो जाता है तब 'नहीं है' हो जाता है। इस तरह संसार के जितने पदार्थ हैं वे हमेशा न है-जाति के और न नहीं है-जाति के हैं। वे दोनों तरह के हो जाते हैं, कभी हैं, कभी नहीं; इसी को हम लोगों की शास्त्रीय भाषा में माया या अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का मतलब यह नहीं है कि हम जिसे नहीं कह सकते, वरन् उसका मतलब है कि जिसे न 'है' कह सकते हैं और न 'नहीं है' कह सकते हैं। वह कभी है, कभी नहीं है। संसार उत्पन्न होता है, रहता है, नष्ट होता है। इसलिये उसे मायिक कहते हैं। जब ब्रह्म-सम्बंध होता है तब वह है और जब वह सम्बन्ध नहीं रहता तब 'नहीं है'। ब्रह्म के संबंध से ही वहाँ 'है' की प्रतीति और ब्रह्म के सम्बंध से रहित होने के कारण ही 'नहीं है' की प्रतीति। अविद्या तब तक विक्षेप पैदा नहीं कर सकती जब तक उसमें ईश्वर का संबंध न हो जाये। वह सम्बंध अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता इसलिये उसे प्रतिबिम्ब-रूप से कहते हैं।

प्रतिबिम्ब से युक्त अविद्या तीन गुणों वाली है—तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण। 'द्विविधा च सा' वह प्रकृति दो प्रकार की है। एक ही प्रकृति दो प्रकार की कैसे है? बनी हुई चीज को कृति कहते हैं। जैसे वाल्मीकि महर्षि ने रामायण लिखी तो रामायण को वाल्मीकि महर्षि की कृति कहा जाता है। अविद्या वह प्रकृति है जिसने सारे संसार को रच दिया है। महर्षि ने तो केवल अक्षरों में ही लिखा जबकि परमेश्वर ने केवल अक्षरों में नहीं लिखा, हर चीज का नाम तो है ही, रूप भी है। नाम-रूप दोनों प्रकार से परमात्मा ने इस कृति को जिसके द्वारा किया, उसे प्रकृति कहते हैं। प्र-का अर्थ प्रकर्ष होता है। अर्थात् बड़ी कृति है। महाभारत में एक लाख श्लोक हैं परन्तु वह कृति है, परमेश्वर तो सृष्टि को आदि से अंत तक रचता ही जाता है, इसलिये प्रकर्ष है; इससे बड़ी कोई कृति नहीं हो सकती।।१५।।

प्रकृति जिन दो प्रकार की है, उन्हीं को बताते हैं—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

अविद्यात्मक प्रकृति के दो प्रकार हैं : शुद्ध सत्त्व वाली माया और अशुद्ध सत्त्व वाली अविद्या। मायाबिम्ब उस माया को वश में कर सर्वज्ञ ईश्वर होता है।

वह प्रकृति तीन गुणों वाली है। सत्त्वगुण शुद्ध तब है जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव नहीं है। सत्त्वगुण ज्ञान करता है, ज्ञान में किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव रहता है तब सत्त्व अशुद्ध, मलिन है। माया का एक रूप ऐसा है जहाँ सत्त्वगुण का ही प्रभाव है, रजोगुण-तमोगुण का प्रभाव नहीं-जैसा है। दूसरा रूप है जिसमें अन्य गुणों के प्रभाव वाला सत्त्व है। शुद्ध सत्त्व वाला जो प्रकृति का हिस्सा है उसे माया कहते हैं। जो अशुद्धि वाला भाग है, रजोगुण-तमोगुण से प्रभावित सत्त्व है, उसे अविद्या कहते हैं, वह अविशुद्ध प्रकृति है। प्रकृति में परमेश्वर प्रतिबिम्बरूप से विद्यमान है। उसके अन्दर कोई तो उसका स्वरूप या हिस्सा ऐसा है जहाँ सत्त्वगुण प्रधान है और कोई हिस्सा ऐसा है जहाँ सत्त्वगुण दबा हुआ है। सत्त्वगुण-प्रधान वाले हिस्से को माया कहते हैं और जहाँ सत्त्वगुण कमजोर है उसे अविद्या कहते हैं। जो माया वाली अवस्था या हिस्सा है उसमें जो परमेश्वर का प्रतिबिम्ब है अथवा परमेश्वररूप प्रतिबिम्ब है वह माया को अपने वश में रखता है। यह उसकी विशेषता है। ईश्वर को माया का ज्ञान है, इसलिये माया में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ईश्वर सर्वज्ञ हुआ। ईश्वर माया के साथ सम्बन्धित तो है परन्तु पूर्णज्ञान वाले हिस्से से सम्बद्ध होने से वह उसे अपने वश में रखता है। इसलिये वह सर्वज्ञ ईश्वर कहा जाता है। वह प्रतिबिम्ब होने से प्रकृति के साथ बिना सम्बन्ध वाला कभी नहीं, लेकिन उसका जो सम्बन्ध है वह आवरण करने वाला न होने से ईश्वर माया का मालिक बना रहता है।। १६।।

अविशुद्धसत्त्व अविद्या और उससे सम्बद्ध चैतन्य का वर्णन करते हैं–

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्याद् अनेकधा।
सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राऽभिमानवान् ॥१७॥

ईश्वर से अन्य जो अविद्या में प्रतिबिम्बरूप से स्थित है वह अविद्या के वशीभूत है अतः अविद्या की विचित्रता के चलते वह भी नाना प्रकार का है। अविद्या कारण नामक शरीर है जिसमें तादात्म्याध्यास किया चैतन्य प्राज्ञ कहलाता है।

जो प्रकृति का दूसरा हिस्सा है उसमें सत्त्वगुण तो है, पर रज और तम दोनों भी प्रभावी हैं अतः वह मल वाला है। उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह उसके अधीन हो जाता है। वह हम लोग हैं। ईश्वर भी है उसी माया या प्रकृति से सम्बद्ध, परन्तु वह मालिक-रूप से सम्बन्धित है, माया को वश में रखता है और हम उसके गुलाम होकर रहते हैं। दोनों हैं एक ही, लेकिन एक मालिक-रूप से उसके साथ सम्बन्ध वाला है और दूसरा नौकर-रूप से उसके साथ सम्बन्ध वाला है। इसलिये ईश्वर नचाने वाला रहता है और हम नाचने वाले रहते हैं। वह चूँकि प्रकृति का मालिक है इसलिये नचाने वाला और हम गुलाम हैं इसलिये नाचने वाले बन गये। अशुद्ध अविद्या के अन्दर पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है वह अल्प अर्थात् जीव है और ईश्वर के वश में है। प्रकृति सत्त्व-रज-तमोगुण वाली है। प्रकृति

की विचित्रता से उसके साथ सम्बद्ध जीव अनेक प्रकार का हो गया। प्रकृति के वश में सभी जीव हैं। प्रकृति तीन प्रकार की है : कहीं सत्त्व बढ़ा हुआ है तो कहीं रजोगुण और तमोगुण बढ़े हुए हैं। प्रकृति की विचित्रता होने से जीव अनेक प्रकार के हो जाते हैं। एक तरफ ब्रह्मा जैसा हो जाता है और दूसरी तरफ अमीबा जैसा हो जाता है। यह भेद प्रकृति को लेकर ही है, बाकी, आत्मतत्त्व तो जैसे अमीबा में, वैसा ही ब्रह्मा में है, उसमें कोई फर्क नहीं है।

ऐसे समझ लो : तुमने दस घड़े रखे। एक घड़े में लाल पानी, दूसरे में हरा और तीसरे में पीला पानी आदि सबमें अलग-अलग रंग वाला पानी भर दिया। उन घड़ों को तुमने धूप में रख दिया तो सभी घड़ों में सूर्य प्रतिबिम्बरूप से दीखता है। जिस घड़े में लाल पानी है उसमें सूर्य का लालपना और जिसमें हरा पानी है उसमें सूर्य का हरापना इत्यादि जैसे-जैसे पानी हैं वैसा-वैसा सूर्य दीखता है। पानी की जगह प्रकृति के भिन्न-भिन्न रजोगुण, तमोगुण आदि के हिस्से को लेकर भेद है और उसके अन्दर जिस ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह एक है। इसलिये 'मैं हूँ', यह बात जैसे एक छोटा-सा कीड़ा जानता है वैसे ही हम भी जानते हैं और वैसे ही देवता भी जानते हैं। सूर्य का चमकीलापना, गोलपना आदि सब सूर्यप्रतिबिम्ब में एक जैसा दीखेगा लेकिन रंग अलग-अलग हो जायेंगे। इसी प्रकार 'मैं हूँ' यह सब जीवों में एक-जैसा दीखता है, सब का यही अनुभव होता है कि हूँ परन्तु आगे, मैं कैसा हूँ—यह जब प्रश्न होता है तब किसी को लगता है कि 'मैं बुद्धिमान् हूँ,' दूसरे को लगता है 'मैं बुद्धू हूँ'। एक का 'मैं चतुर हूँ,' दूसरे का 'मैं ठगा जा रहा हूँ' इत्यादि सबके अलग-अलग अनुभव हैं। ये सब प्रकृति के भेद से हो गये। 'तु'-पद दूसरी चीज से अलग बताने के लिये है—पहले वाले में वशीकृत्य (वश में करके) कहा था और यह वशगः वश में होने वाला है इसलिये ये दोनों एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न हैं। यह भेद बताने के लिये 'तु' पद दिया है।

'सा कारणशरीरं स्यात्' वह अविद्या हमारा कारण शरीर है। जाग्रत् और स्वप्न में जहाँ विक्षेप का अनुभव होता है, वह कार्य शरीर है। राजा की गहरी नींद और साधारण आदमी की गहरी नींद में कोई फर्क नहीं है। राजा का अनुभव भी यही है कि 'मैं आनन्द से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना,' तथा फुटपाथ पर पड़े हुए भिखारी का भी अनुभव यही है कि 'मैंने कुछ नहीं जाना, मैं आनन्द से सोया'। कहीं एक महात्मा का सत्संग हो रहा था। एक राजा रोज उनके सत्संग में आता था। सवेरे का सत्संग था, महात्मा की आदत थी कि कोई भी आये उससे पूछते थे 'रात में ठीक से सोये?' राजा ने जब पाँच-सात दिन तक यही सुना तो सोचा कि 'रोज ऐसा क्यों पूछते हैं?' एक दिन महात्मा पूछें, उससे पहले ही राजा ने आते ही पूछा 'महात्मा जी, रात में ठीक से सोये?' महात्मा ने कहा 'थोड़ी देर तुम्हारे जैसा सोया और थोड़ी देर तुमसे अच्छा सोया।' राजा को यह कैसे बर्दाश्त हो कि उस से अच्छा सोये! पूछा 'मुझसे अच्छा सोये, यह आप कैसे कहते हैं?' आपके पास कोई पलंग, मच्छरदानी आदि भी नहीं है, फिर मुझ से अच्छा कैसे सोये, मेरे जैसे भी कैसे सोये?' महात्मा ने कहा

'देखो! मैं सोने गया तो लेट कर परमात्मा का चिन्तन किया, सच्चिदानन्द-स्वरूप का चिन्तन किया और मुझे नींद आ गई। तुम जब सोने गये तो सोचते रहे कि 'आज अमुक जगह से खबर आई है कि वहाँ लोग क्रांति मचा रहे हैं, वहाँ इन्तजाम के लिये किसको भेजें, कौन ठीक रहेगा;' यह सोचते हुए तुम्हें नींद आई। उस समय मैं तुमसे अच्छा सोया क्योंकि तुम चिन्ता करते हुए सोये और मैं परमात्मा का स्मरण करते हुए सोया। उसके बाद नींद आ गई। नींद के समय मैंने भी कुछ नहीं जाना और आनन्द से सोया, नींद में तुमने भी कुछ नहीं जाना और आनन्द से सोये। इसलिये नींद में हम दोनों एक-जैसे थे। उस समय न तुम्हें बढ़िया बिछौने का ज्ञान था और न मुझे मच्छरों के काटने का पता था, इसलिये उस समय हम दोनों एक-जैसे थे। उसके बाद सवेरे आँख खुलते ही मैंने परमात्मा का चिन्तन करना शुरू कर दिया 'प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं' हृदय में स्थित सच्चिदानन्द परमात्मा का चिन्तन शुरू किया। तुमने उठते ही बायीं तरफ देखा कि रानी वहाँ है या नहीं, देखा कि वहीं है। फिर सोचने लगे कि अब क्या करूँ, रानी को जगाऊँ या नहीं। तुम्हारा यही सब चिन्तन चल रहा था और मेरा परमात्मचिन्तन चलता रहा। इसलिये नींद के पहले और पीछे तुम से अच्छा सोया और नींद में तुम्हारे जैसा सोया। इसलिये मैंने कहा कि तुम से कुछ अच्छा सोया और कुछ तुम्हारे जैसा सोया।'

सुषुप्ति के अन्दर सब जीवों का एक ही शरीर है, उसी को कारण शरीर कहा क्योंकि सबका एक ही अनुभव है। इस बात को हम सब लोग देख रहे हैं। वेदान्ती यही मानते हैं कि सुषुप्ति में सब एक ही चीज को देख रहे हैं। जैसे चीज पीले रंग की है तो सबको पीले रंग की ही दीखती है इसी प्रकार सुषुप्ति के बारे में सबका अनुभव एक जैसा है। चूँकि इसका नाम भी एक और अनुभव भी एक है, इसलिये इस अविद्या को, कारण शरीर को एक मानते हैं। सबको अपने कारण शरीर का सुषुप्ति में एक जैसा ही अनुभव होता है तो उसे एक ही मानना पड़ेगा। वह अनुभव स्मृतिरूप में स्पष्ट होता है। जैसे तुम यहाँ से उठकर बाहर गये तो तुम्हें इस पुस्तक की याद आई। याद तो तुम सबको अलग-अलग आई, परन्तु सबको याद आई इस पुस्तक की ही। उसी प्रकार सुषुप्ति से उठने पर उस अनुभव की याद तो हम सब लोगों को अलग-अलग आती है, इसलिये मैं सोया, देवदत्त सोया, यज्ञदत्त सोया, यह व्यवहार तो सब अलग-अलग कर रहे हैं, परन्तु जिसका अनुभव था और जिसकी स्मृति कर हैं, वह एक ही चीज है जिसे कारण शरीर कहते हैं। जाग्रत्-स्वप्न वाले को 'कार्य शरीर' आगे बतायेंगे। वे सब इस कारण शरीर से ही निकलकर आते हैं।

मैं सुख से सोया इस अभिमान वाले को शास्त्र ने प्राज्ञ नाम दिया। प्राज्ञ क्यों कहते हैं? संस्कृत में प्राज्ञ का मतलब होता है 'प्रकर्षेण अज्ञः प्राज्ञः' अर्थात् भली प्रकार से अज्ञानी है। 'मैं कुछ नहीं जानता था' ऐसी उसकी स्मृति है। इसलिये उसका नाम प्राज्ञ है। वह कारण-शरीर में अभिमान करने वाला है। उठने के बाद ही अभिमान होगा 'मैं सोया था'। 'मैं सो रहा हूँ'– गहरी नींद में ऐसा अनुभव कभी भी नहीं होता! हमेशा स्मरण ही होता

है कि मैं सोया था। इसलिये अभिमान करने वाला तो जाग्रत्-स्वप्न में आयेगा तभी है परन्तु जिसने वहाँ इस बात को जाना था वह प्राज्ञ है।। १७।।

अब बताते हैं कि यह संसार कैसे हुआ। संसार का विचार करते हैं तो तीन चीज़ें सामने आती हैं : पशु, पशुपति और पाश। जो बँधा हुआ है अथवा जिसे पाश लगा हुआ है उसे पशु कहते हैं। वस्तुतः हमारा स्वरूप क्या है? हम बँधे हुए हैं–यह हमारा अनुभव है, इसलिये पशु हैं जो प्रकृति के वश में है, प्रकृति ही जिसका पाश बनी हुई है वह पशु है। दूसरा पशुपति है जो हमको पाश से बाँध रहा है, हमको पशु बना रहा है। वह पशुपति ईश्वर है। वही प्रकृति को वश में रखता है। जिसके द्वारा वश में रखता है वह पाश है। पाश को अब बताना है। अविद्या तब तक नहीं बाँध सकती जब तक वह अपनी विक्षेपशक्ति का प्रयोग करके संसार को न दिखाये। कारण शरीर से तो हमें बन्धन का भी अनुभव नहीं है और कारण शरीर से हम कुछ साधना भी नहीं कर सकते। केवल आवरण से दुःख नहीं होता। विक्षेप हो तभी दुःख-सुख शुरू होंगे। जैसे, रस्सी नहीं दीखने से साँप दीखा तो दुःख हो गया और मान लो, साँप नहीं मोती की माला दीख गई तो सुख हो गया। यदि कोई चीज नहीं दीखी तो न सुख और न दुःख होगा। केवल आवरण रहने पर सुख-दुःख प्रकट नहीं होंगे। विक्षेप होने पर सृष्टि को दिखाया जायेगा तब तुम्हारे सामने कभी दाल का सीरा और कभी बाजरे का सूखा रोट आयेगा तभी सुख-दुःख होंगे। जो सृष्टि सुख-दुःख का कारण है वह उत्पन्न हो अर्थात् पाश हो तब तुम पशु बनोगे। पशु तो अविद्यामात्र से बन गये, परन्तु सुख-दुःख का अनुभव तभी शुरू होगा, जब संसार हो। वह सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, यह बताते हैं–

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥

ईश्वर की आज्ञावश प्राज्ञों के भोग के लिये तम की प्रधानता वाली प्रकृति से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी–ये भूत प्रादुर्भूत हुए।

सत्त्वप्रधान प्रकृति तो ईश्वर की उपाधि हो गई और जो तमःप्रधान प्रकृति है वह इस सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाली उपाधि है। यह सारी सृष्टि तमःप्रधान प्रकृति से ईश्वराज्ञा से ही उत्पन्न होती है। सृष्टि की उत्पत्ति तभी होगी जब ईश्वर आज्ञा देगा। इसलिये उपनिषद् कहती है 'तदैक्षत' पहले वह परमेश्वर संकल्प करता है तब सृष्टि होती है। एक प्रश्न लोगों को तंग करता रहता है कि उसने संकल्प क्यों किया अर्थात् संकल्प नहीं करना चाहिये था। इस प्रश्न के उत्तर के लिए अपने को सोचो, उसी से समस्या का हल जल्दी होगा : तुम गहरी नींद में आनन्द से सोये थे, उठोगे तो तुम्हें सारे सुख-दुःखों का अनुभव होगा। सुख-दुःख का अनुभव करने के लिये तुम उठते ही क्यों हो? यही कहना पड़ेगा कि पिछले किये हुए कर्मों को भोगने के लिये उठना ही पड़ता है। इसी तरह पिछले किये हुए

कर्मों के कारण ही परमेश्वर आज्ञा देता है या ईक्षण करता है। जीव के पहले किए हुए जो कर्म हैं, उनका फल होना है। यह सिद्धान्त है कि कोई भी चीज खत्म नहीं हो सकती। अतः जो कर्म हम करते हैं वे 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' अरबों कल्प बीत जायें तब भी जब तक उनके फलों का भोग नहीं कर लिया जाता तब तक कर्म खत्म नहीं होते।

हम लोग जोर देते हैं कि कर्म करने के पहले खूब विचार कर लो क्योंकि अभी तुम्हारे हाथ में है कि कर्म करो या न करो, इसमें तुम स्वतंत्र हो। तुम्हारे पिछले संस्कार उद्बुद्ध होंगे परन्तु तुम उनकी प्रेरणा-अनुसार करो या न करो, यह तुम्हारे हाथ में है। एक बार तुमने कर्म कर लिया तो उसका फल भोगना ही पड़ेगा। वाणी से हम लोग इतनी जल्दी बोल देते हैं कि बाद में कोई पूछे कि 'तुमने ऐसा कैसे कहा' तो कहना पड़ता है 'मैं अपनी बात को वापिस लेता हूँ।' चाहे जितना वापिस लो, उस आदमी का दुःख तो मिटने वाला नहीं है। इसीलिये वाणी के प्रयोग में नियंत्रण पर इतना जोर दिया गया है कि बोलने से पहले बार-बार सोचकर देखो कि अमुक बात बोलना जरूरी है या बिना बोले काम चल सकता है। यदि बिना बोले काम चल सकता है तो मत बोलो। यदि वह बात न तुम्हें और न किसी और को वास्तविक प्रसन्न करने वाली है तो उस हिस्से को मत बोलो। सावधानी यहाँ तक करो कि पहले यह सोचो कि उस बात का क्या-क्या प्रभाव दूसरे पर पड़ सकता है और वह प्रभाव डालना जरूरी है या नहीं? दूसरे को जो बात हम कह रहे हैं वह उसे फायदा पहुँचायेगी या नहीं? यदि उसकी हितकारी बात नहीं है तो मत बोलो। संस्कृत में सत्य का मतलब होता है जो सबके लिये हितकारी हो 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणं' व्यास जी कहते हैं कि जो दूसरे के हित की बात नहीं उसे मत बोलो। बात जैसी है वैसी तुमने कह दी—इतने मात्र से सत्य नहीं होता है। इसका उल्टा अर्थ नहीं लेना कि दूसरे के फायदे का है तो झूठ ही बोलो! लेकिन इतना याद रखो कि जिससे दूसरे का फायदा हो ऐसा यथार्थ बोलो।

कर्मों के भोग के लिये ही परमेश्वर आज्ञा देकर सृष्टि करते हैं। सृष्टि बनाने की उसकी आज्ञा तुम्हारे भोग के लिये ही है। भोग मायने सुख या दुःख का अनुभव और वह अनुभव विषयों से होता है इसीलिये विषय बनाने पड़ते हैं। उन विषयों के लिये आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाँच महाभूतों को उत्पन्न कर दिया। पंचमहाभूतों का मतलब ठीक से समझ लेना : भूत का मतलब है जो शब्दादि वाली वस्तु हो। जो तुम कान से ग्रहण करते हो, वह शब्द जहाँ रहता है वह आकाश है। जो जीभ से ग्रहण करते हो वह रस जहाँ रहता है वह जल है, जो तुम नाक से ग्रहण करते हो वह जहाँ रहता है वह पृथ्वी है, जो त्वक् से ग्रहण करते हो वह जहाँ रहता है वह वायु है, आँख से ग्राह्य रूप जहाँ रहता है वह तेज है। ये पाँच ही विषय हो सकते हैं। कम से कम मनुष्यों में, और जहाँ तक हम जानते हैं किसी भी प्राणी में पाँच से ज्यादा इन्द्रियाँ नहीं मिलती। पाँच से कम तो बहुतों में मिलती हैं परन्तु पाँच से ज्यादा इन्द्रियों वाला कोई प्राणी उपलब्ध नहीं है। इसलिये सृष्टि में हमने पाँच भूत

माने। ये पाँच भूत हैं जिनको पाँच इन्द्रियों से विषय करते हैं इसलिये पांचभौतिक सृष्टि का मतलब हुआ कि सृष्टि की मूल चीजों को बना दिया गया ॥१८॥

त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अन्दर तमोगुण की प्रधानता होने पर परमेश्वर ने पंचमहाभूत बनाये। उन पंचमहाभूतों के अन्दर भी सत्त्वगुण का अंश है! क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, इसलिये उसके तमोगुणप्रधानरूप के अंदर भी सत्त्व और रज की अवस्थिति अवश्य है। अतः तमोंश से बने भूतों के सत्त्वादि अंशों से कार्यों का बनना संगत है। पहले उनके सत्त्वांश के कार्य गिनाते हैं–

सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते॥१९॥

भूतों के पाँच सत्त्वांशों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण नामक पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

पाँचों भूतों में जो सत्त्व वाले अंश हैं उनसे क्रम से इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी यह क्रम है। आकाश से शब्द और श्रोत्र बना। तमोगुण वाला हिस्सा जाना जायेगा, विषय होगा और सत्त्वगुण वाला हिस्सा जानेगा। सत्त्वगुण ज्ञान को प्रकट करता है, रजोगुण क्रिया को और तमोगुण मोह को प्रकट करता है। इसलिये जो ज्ञान के साधन हैं, वे इन्द्रियाँ सत्त्वगुण से ही बनेंगी। शब्द जाना जायेगा और वह शब्द जिस आश्रय में है वह आकाश है। कान (श्रोत्रेन्द्रिय) उस शब्द को जानेगा। अगला भूत पवन या वायु है। वायु वह है जिसमें स्पर्श रहता है, इसलिये उसको जानने के लिये जो सत्त्व गुण का अंश है उससे त्वक् (छूने की इन्द्रिय) बना। इसलिये त्वक् स्पर्श को ही जानेगा। नियम यह हुआ कि सत्त्वगुणांश से जानने वाली चीज बनी और तमोगुण की प्रधानता होकर जिसको जानते हो वह बना। तीसरा भूत तेज है। आँख तेज से बनी है, इसलिये रूप को और रूप के आश्रय तेज को जानती है। चखने की इन्द्रिय रसना, जीभ है। जीभ रस को जानेगी और स्वाद के आश्रय जल को भी रसना से जाना जाता है। इसी प्रकार से घ्राण पृथ्वी से बना है। गन्ध का आश्रय पृथ्वी है इसलिये उसे घ्राणेन्द्रिय जानेगी। इस प्रकार पाँच विषयों के तमोगुणांश से जो जाना जाता है वह बना और सत्त्वांश से जिनसे जानते हैं वे इन्द्रियाँ बनीं ॥१९॥

एक चीज ऐसी है जो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श पाँचों को जानती है! वह मन है, मन पाँचों को जानता है। क्योंकि मन में पाँचों संस्कार रहते हैं इसीलिये स्वप्न में पाँचों का अनुभव होता है। मेवे की खिचड़ी खाने का, ठण्डी हवा लगने का, सुन्दर आदमी देखने का भी अनुभव होता है। मन में चूँकि पाँचों के संस्कार हैं इसलिये नींद में वे मन के द्वारा प्रकट होते हैं। इसलिये मन को पाँचों महाभूतों के सत्त्वांश से बनना पड़ा। तभी वह महाभूतों को और उनके विषयों को जान सकता है। उसी को बताते हैं–

तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद् द्विधा।
मनो विमर्शरूपं स्याद् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका।। २०।।

भूतों के उन सभी सत्त्वांशों से अन्तःकरण बनता है। वृत्तियों के (व्यापार के, बर्ताव के) भेद से वह दो तरह का है—संशयरूप वृत्ति मन एवं निश्चयरूप वृत्ति बुद्धि है।

चूँकि यह जानने वाला हिस्सा है इसलिये उन पंचमहाभूतों के सत्त्वांश से ही पैदा होगा। उसका नाम अंतःकरण है अर्थात् अन्दर की चीजों को जानने वाला। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बहिरिन्द्रियाँ कही जाती हैं। बहिः अर्थात् बाहर की चीजों को जानने वाली इन्द्रियाँ हैं। अंदर की चीजों को जानने वाला होने से मन अंतःकरण कहा जाता है। मन खुद बाहर की किसी चीज को नहीं जान सकता। आँख ने रूप को जाना तो आँख से जाना हुआ रूप अन्दर की चीज हो गया। रूप तो बाहर की चीज है, परन्तु आँखों ने उस रूप को देखा तो वह अन्दर की चीज हो गया, उस 'आँखों के देखने को,' अर्थात् आँख ने देखा है इस बात को अंतःकरण जान लेता है। अन्तःकरण का मतलब मन समझ लो। मन को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मुझे घड़ी दीखी। घड़ी को तो आँख ने देखा लेकिन घड़ी दीख गई इस बात को अंतःकरण ने जाना। मन जानता है कि घड़ी का ज्ञान आँख के द्वारा हो गया। इसी प्रकार कान से शब्द को सुना तो उसको भी मन ने जान लिया कि शब्द सुना गया। बिना कान के मन चाहे जितनी चेष्टा कर ले, बाहर के शब्द को नहीं जान सकता परन्तु कान ने सुन लिया इस अंदर की चीज को तो वह जान ही लेगा। इस तरह अन्तःकरण अन्दर की सब चीजों को जानने वाला हो गया।

इस अंतःकरण के अनेक प्रकार के व्यवहार हैं। बहिरिन्द्रिय का तो एक ही व्यवहार—बाहर की चीज के ज्ञान को अन्दर कर देना है। आगे फिर सब काम मन करता है। यहाँ हम सब लोग बैठे हैं और कोई रूसी (रशियन) भी यहाँ बैठा है। उसके कान तो वही सुनेंगे जो हम सब सुन रहे हैं। कान उसका भी है परन्तु कान से सुनने के बाद जो सुना जा रहा है उसका मतलब क्या है—यह मन ही जानेगा। जिसे हिन्दी भाषा का संस्कार है, ज्ञान है वह तो समझ लेगा कि हम क्या कह रहे हैं। जिसके अंतःकरण में हिन्दी भाषा का ज्ञान या संस्कार नहीं है, सुनेगा तो वह भी उसी बात को जो तुम सुन रहे हो, परन्तु क्या सुन रहा है—इसका ज्ञान उसे नहीं होगा। इन्द्रियाँ बाहर की चीज के रूप, रस, गन्ध आदि और उनके आश्रय को देख लेती हैं। यहाँ बैठा हुआ अनुक्रम तो जैसा है वैसा ही आँख से दीखेगा, परन्तु 'यह अनुक्रम है' इस बात को मन ही जानेगा, आँख इस बात को नहीं जानेगी कि अनुक्रम है। जो दीख रहा है वह अन्दर पहुँच गया तो मन ने जाना कि यह अनुक्रम है क्योंकि अनुक्रम के संस्कार हैं। यह जो 'अन्दर जानने' की प्रक्रिया है, मन का जानना है, इसको वृत्तिभेद कहते हैं। वृत्ति का मतलब परिणाम या बर्ताव होता है। अंतःकरण के अनंत वृत्तिभेद हैं। मनुष्य के जितने सूक्ष्म व्यवहार हैं उन सबको यह अंतःकरण ही सम्पन्न करता है। स्थूल

पदार्थों का व्यवहार तो इन्द्रियों से हो जायेगा, परन्तु सूक्ष्म पदार्थों का व्यवहार अंतःकरण करेगा। माँ अपने बच्चे के सिर पर हाथ फेरती है। नर्स भी रोगी के सिर पर हाथ फेरती है। माँ के हाथ फेरने का जो विलक्षण आनन्द है वह नर्स के हाथ फेरने से नहीं होता। जबकि दोनों का हाथ फेरना तो एक जैसा ही है। इन्द्रिय तो उतना ही ग्रहण करती है जो स्पर्श हुआ परन्तु उस विलक्षण आनन्द को मन ही विषय करता है। इसीलिये बहुत से लोग ऐसे कठोर हृदय वाले होते हैं कि माता के स्पर्श से भी उनके अन्दर कोई भावना नहीं आती। इस प्रकार अंतःकरण के अनेक व्यवहार हैं जिन्हें यहाँ वृत्तिभेद कहा।

विचार के लिये चीजों का समूहों में विभाजन करना पड़ता है। बहुत-सी चीजों को समझने के लिये इकट्ठा करके जानना पड़ता है। 'औरतों का स्वभाव ऐसा होता है,' यह कहते हो तो सबका व्यवहार एक जैसा नहीं हो रहा है, परन्तु समूह में एकत्र करके कहा जा रहा है, जबकि हरेक औरत अलग-अलग रहेगी। इसी प्रकार मिठाईयाँ सब एक नहीं रहेंगी। परन्तु समूह बना देते हैं, कि इन चीजों को मिठाई कहेंगे इन चीजों को नहीं कहेंगे। मिठास तो चावल में भी है परन्तु भात बना हो तो नहीं कहते कि मिठाई बनी है परन्तु उसी में थोड़ी सी चाशनी और मेवा डाल दिया तो उसी चावल को मेवे की खिचड़ी अर्थात् मिठाई कहेंगे। यों विभाजन समझने के लिये लाभदायक है। इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियाँ अनेक होने पर भी उनके दो विभाजन करके 'द्विधा' कह दिया।

अंतःकरण का जो भी व्यवहार है, जो भी परिणाम है उसे दो भागों में बाँट दिया, एक मन और दूसरा बुद्धि है। दो भागों में ही क्यों बाँटा? हम लोग तो वेदानुकूल ही विचार करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश—ये भाग किये हैं। मनोमय कोश में और विज्ञानमय कोश में ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। परन्तु मनोमय कोश वह है जिसके अन्दर संकल्प-विकल्प होता है, कि ऐसा है या वैसा है। दो तरह का ज्ञान अनुभव में आता है, एक विमर्श-रूप या विचाररूप ज्ञान है कि ऐसा है या वैसा है। विचार तभी करते हो जब किसी चीज के बारे में एकाधिक सम्भावनायें हों। जहाँ संकल्प-विकल्प होता है या जहाँ विचार करते हैं वह सारा का सारा मन है, उन सारे व्यवहारों में आपस में चाहे जितना भेद है, उन सबका एक समूहीकृत नाम 'मन' रख दिया। संकल्प-विकल्परूप ज्ञान या संशयरूप ज्ञान मन है। दूसरी बुद्धि है जो निश्चयात्मिका अर्थात् 'ऐसा ही है' आकार की बनती है। प्रायः हम लोगों का मन तो पुष्ट होता है पर बुद्धि कमजोर रहती है। मन संकल्प-विकल्प करने वाला है कि यह भी हो, वह भी हो, परन्तु 'यह ऐसा ही है'—अंतःकरण की ऐसी निश्चयात्मिका वृत्ति बहुत कम बनती है। निश्चयरूप ज्ञान बुद्धि कहा जाता है। है अंतःकरण एक ही चीज, 'ज्ञानरूप'; परन्तु जब तक वह संशय या विकल्प करता है तब तक उसे मन कह देते हैं और जब वह निश्चयरूप हो जाता है तब उसे बुद्धि कहते हैं। निश्चय अपने को ही करना पड़ेगा, जिसके लिए बुद्धि को धीरे-धीरे दृढ किया जाता है और मन को कमजोर किया जाता है। सामान्य व्यवहार में भी यही बात है : यदि तुम अपने किसी मुनीम

की हर बात को 'हाँ' करते रहे तो वह मुनीम धीरे-धीरे प्रबल हो जायेगा, इतना प्रबल हो जायेगा कि तुम कोई बात कहोगे तो वह कह देगा 'नहीं जी। काम आपकी तरह नहीं होता है, मेरी तरह होता है।' अगर तुम एक दिन में चाहो कि उसकी स्थिति बदल जाये और तुम्हारी बात मानने लग जाये तो संभव नहीं है। मालिक चूँकि तुम हो इसलिये धीरे-धीरे उसकी कई बातों को 'न' करते जाओगे तो वह समझ लेगा कि 'अब मालिक सावधान है, अब इसके कहने में ही रहना चाहिये'। यह तरीका जैसे जीवन के अन्य व्यवहारों में है वैसे ही मन और बुद्धि के व्यवहारों में भी है। एक दिन में चाहो कि अंतःकरण मन का व्यवहार छोड़कर बुद्धि की तरह व्यवहार करने लगे तो यह सम्भव नहीं है। तुम सोचोगे कि 'मैंने निश्चय कर लिया,' फिर थोड़ी देर बाद कुछ दूसरी बात सामने आ जायेगी तो संशय होने लग जायेगा! परन्तु जब धीरे-धीरे तुम निश्चय कर लेते हो कि 'चाहे जितना नुकसान हो, हम यही करेंगे' अर्थात् जब निश्चयात्मक व्यवहार बढ़ा लोगे तब मन सोचेगा कि इसके सामने विकल्प रखना बेकार है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि अर्थात् निश्चयरूप वृत्ति दृढ हो जायेगी। अंतःकरण के ये दो व्यवहार हैं। इन्हीं को तैत्तिरीय उपनिषद् में मनोमय और विज्ञानमय कहा है। निश्चय और संशय के अनेक स्थल होते हैं। इसीलिये वृत्तियाँ कई तरह की हैं। परन्तु प्रकार दो ही हैं कहीं संशय है, कहीं निश्चय है।

प्रायः वेदान्त के ग्रन्थों में अंतःकरण के चार भेद बताये हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। चित्त में तो संकल्प आते हैं। संस्कारों के कारण चित्त संकल्प उठाता है। वहाँ दोनों तरह के संस्कार पड़े हुए हैं इसलिये उसे मन के अन्तर्भूत कर लेते हैं। वैसे तो संस्कार चित्त में हैं, परन्तु चूँकि वे संस्कार संकल्प-विकल्परूप हैं इसलिये उनको मन के साथ समझ लेते हैं और निश्चय के साथ अहंकार समझा जाता है क्योंकि अहंकार हमेशा निश्चय-रूप ही रहता है। 'मैं हूँ, मैंने यह किया, मैंने यह जाना' इत्यादि अहंकार निश्चयरूप रहता है। चित्त और अहंकार क्रमशः मन और बुद्धि के अन्तर्गत आ जाते हैं इसीलिये आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने चार की जगह दो विभाग कर दिये। ये ज्ञान के साधन हुए।। २०।।

अब क्रिया का साधन बताते हैं : जीव का रूप यही है, क्रिया और ज्ञान। इन दो से ही जीव का पता लगता है। ज्ञान का तो अपने को खुद पता लगता है, दूसरे को नहीं लगता और क्रिया का पता दूसरे को भी लगता है। कोई आदमी जिन्दा है या मरा है, इसको क्रिया से ही जानना पड़ता है कि साँस चलती है या नहीं, नसें चलती हैं या नहीं, हृदय चलता है या नहीं। ज्ञान और क्रिया ही जीवन का लक्षण हैं। जो कुछ भी नहीं जानता, कुछ भी नहीं करता उसी को हम मरा हुआ मानते हैं। ज्ञान और क्रिया हम में हैं इसीलिये हम प्राणी कहे जाते हैं, हमें जीव कहो, चेतन कहो, एक ही बात है। हम जीव इसीलिये हैं कि हमारे अन्दर ज्ञान और क्रिया हैं। ज्ञान और क्रिया वाला होना ही जीवरूपता है। क्रिया के लिए हमारे साधन क्या हैं–

रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात् कर्मेन्द्रियाणि तु।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

उन भूतों के पाँचों रजोंशों से क्रमशः वाक्, पाणि, चरण, पायु और उपस्थ नामक कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं।

आकाश, वायु, तेज इत्यादि पाँच महाभूतों के जो रजोगुणांश हैं उनसे कर्मेन्द्रियाँ बनीं। सत्त्वगुण के हिस्से से ज्ञान के साधन बन गये और रजोगुणांश से क्रिया के साधन बन गये। चूँकि वे पाँच महाभूत हैं इसलिये उनसे होने वाली पाँच ही कर्मेन्द्रियाँ हैं। क्रम से अर्थात् भूतों के जिस क्रम को कहा था आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी, इसी क्रम से वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ प्रकट होती हैं। आकाश से वाक् अर्थात् बोलने वाली जीभ इत्यादि। 'इत्यादि' इसलिये कहते हैं कि स्वाद तो जीभ से ही आता है परन्तु बोलना केवल जीभ से नहीं हो सकता। प, फ, ब, भ, बोलोगे जब होठ होंगे तभी। इसलिये संस्कृत में किसी ने कहा है कि एक वेश्या का बाप मर गया तो वह रो तो रही है लेकिन 'पिता'-शब्द कहकर नहीं रो रही थी। केवल कहती, 'हा तात, हा तात'; तात भी पिता को कहते हैं। लेकिन 'पिता' कहे तो होठों की लाली बिगड़ जायेगी इसलिये वह 'तात' कहकर रोती रही, पिता कहकर नहीं रोयी! वाणी शब्द को प्रकट करती है। शब्द आकाश का गुण है। इसीलिये वह आकाश से ही बनी है। हाथ वायु से बना है। इसलिये प्रायः करके किसी भी चीज के स्पर्श का ज्ञान करना हो तो हम लोग हाथ से छूकर पता लगाते हैं। यह रेशम का कपड़ा है या ऊन का कपड़ा है—इसको हाथ से छूकर देखते हैं। बच्चे के सिर पर हाथ ही फेरते हैं, ऐसा तो नहीं कि उसके सिर पर पैर फेर दें! पाद अर्थात् पैर का तेज से सम्बन्ध है। आयुर्वेद वाले इस बात को जानते हैं। मनुष्य को तेज बुखार आता है, तो पैर के तलवे में लौकी आदि रगड़ते हैं। उज्जैन का कुम्भ गर्मी में पड़ता है। वहाँ खूब गर्मी होती है, लू भी चलती है। एक बार वहाँ थे तो हमें तेज बुखार आ गया। एक पुराने महंत थे, उन्होंने आकर कहा 'हम आपका इलाज करेंगे' हमने पूछा 'आप क्या करेंगे?' उन्होंने कहा 'लौकी लेकर आपके तलवे पर रगड़ेंगे तो बुखार उतर जायेगा।' वही हुआ। उन्होंने घण्टा-आधा-घण्टा लौकी रगड़ी तो धीरे-धीरे बुखार उतर गया। पैर पर रगड़ने से लौकी गर्मी को खींच लेती है। इसी प्रकार किसी को बहुत ठण्ड लग रही हो, शरीर काँप रहा हो तो तलवे पर गर्म चीज रगड़ो, वह आदमी ठण्ड से बच जाता है। इसलिये पैर का तेज से सम्बन्ध है। यह तो आयुर्वेद वाले भी कहते हैं कि पैर में यदि तेल लगाया जाता है तो आँख में उसकी ताजगी पहुँच जाती है। तेज और पैर का इस प्रकार संबंध होने से तेज से ही पैर बना। जिससे मल मूत्र आदि का विसर्जन होता है वह पायु है। पायु जल से बनी है यह ठीक ही है। उपस्थ के अन्दर शुक्रादि होते हैं जिनमें गन्ध या बदबू होती है, इसीलिये वह पृथ्वी के अंश से बना, यह भी ठीक ही है। इस प्रकार भगवान् ने वाणी, हाथ, पैर, पायु, और उपस्थ इन कर्मेन्द्रियों को पाँचों महाभूतों से पैदा किया ॥२१॥

बाहर की चीजों को ज्ञानेन्द्रियों से जानते हैं, कर्मेन्द्रियों से बाहर की चीजों से व्यवहार करते हैं, हाथ, पैर आदि सब बाहर के ही व्यवहार करेंगे। बहुत से व्यवहार शरीर के अन्दर के हैं, वे किससे होते हैं यह बताते हैं–

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात् स पञ्चधा।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

भूतों के उन रजोंशों से मिलकर प्राण बना जो वृत्तियों के भेद से पाँच तरह का है। वे पाँच प्रकार हैं–प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान।

पाँचों भूतों के रजोंश मिलकर प्राण हो जाते हैं। जैसे सभी भूतों के सत्त्वगुणांश मिलने से अंतःकरण हो गया वैसे ही पाँचों महाभूतों के रजोगुण को आपस में मिला दिया तो प्राण हो गया। इन प्राण आदि से ही सारी कर्मेन्द्रियों की प्रेरणा होगी, चाहे हाथ से वजन उठाओ, चाहे पैरो से तेज दौड़ो। मोटेरूप से समझना हो तो हाथ, पैर आदि किसी भी कर्मेन्द्रिय से ज्यादा काम करो तो साँस तेज चलने लगती है, यह सबका अनुभव है। हाथ उठा रहे हैं तो साँस की क्या जरूरत है? बिना साँस के हाथ का काम नहीं हो सकता। कई काम ऐसे होते हैं जिनके अन्दर दोनों गतियों को देखना पड़ता है। ज्यादा वजन उठाना पड़ता है तो मजदूर भी सबसे पहले साँस रोकता है तब वजन उठाता है। बाहर की क्रियायें कर्मेन्द्रियों से होंगी परन्तु अन्दर से पहले प्राण क्रिया करेगा तब कर्मेन्द्रियाँ काम करेंगी ।

प्राण के पाँच प्रकार के व्यवहार हैं। वृत्ति अर्थात् व्यवहार। जैसे मन को अनंत प्रकार का होने पर भी दो भागों में बाँटा था उसी प्रकार प्राण की क्रियायें तो बहुत हैं, कलम से लिखना या फावड़ा चलाना, दोनों काम हाथ से ही करते हैं, स्टीयरिंग को घुमाना भी हाथ का काम है, सब काम अलग-अलग ढंग से करने पड़ते हैं, प्राण के व्यवहार अनेक प्रकार के हैं परन्तु समझने के लिये विभाजन पाँच में किया। अंतःकरण को दो भागों में बाँटा था–मन और बुद्धि। प्राण को पाँच भागों में बाँटते हैं–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। प्राण–जो साँस अन्दर जाती है। अपान, जो हवा तुम बाहर निकालते हो। प्राण शब्द बड़ा विचित्र है। प्र+अन मिलकर प्राण शब्द बनता है। अन् धातु का अर्थ जीवन होता है। यह भारोपीय शब्द है। इसलिये अंग्रेजी में भी 'एनिमल' शब्द है। जिसे हम प्राणी कहते हैं उसे वे इस शब्द से कहते हैं। इसी प्रकार अप+अन मिलकर अपान बनता है। अप अर्थात् नीचे, अपान अर्थात् नीचे जाने वाली जीवनी शक्ति, अधोवायु इत्यादि कार्य करने वाला अपान है। समान–हम जो खाते-पीते हैं वह सारा पेट में जाता है। खाई हुई चीज में जो शक्ति है, वर्तमान भाषा में प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट, फैट आदि को शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में समान वायु पहुँचा देता है। यह फैलाने वाली शक्ति भी आंतरिक है, बाहर नहीं है। इसी को समान नामक प्राण कहते हैं। उदान, हर चीज को स्वाभाविक रूप से नीचे गिरना चाहिये। हम सब यहाँ बैठे हैं। किसी को नींद आ जाये, वह बात दूसरी है, बाकी कोई नीचे

नहीं गिर रहा है। कोई ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा तुम बैठे हुए हो। नींद आते ही ऐसा कोई संकल्प नहीं कि 'मैं गिरूँ' पर सिर कभी इधर, कभी उधर जायेगा। उदान मायने जो शरीर को खड़ा रखता है। खड़ा रहने का मतलब धरती से लम्बवत् रहना है अतः बैठे हुए जो धड़ गर्दन सीधे रहते हैं उसमें हेतु यही उदान वायु है जिसके सहारे बैठे हो। सारे शरीर के अन्दर प्राण की जो व्यापकता है वह व्यान है। सबको व्याप्त करके रखने वाली शक्ति व्यान है।

शरीर के किसी अंश से यह शक्ति निकलती है तो वह अंश मर जाता है। जैसे बाल का जो अन्दर का हिस्सा जड़ है वह जीवित है, उसको निकालो तो खूब दर्द होता है। उसमें कीटाणु इत्यादि होकर संक्रमण भी हो जाता है। परन्तु तुम्हारे जो बाल बाहर निकले हुए हैं उन्हें नाई काट दे तो कोई दर्द नहीं होता। उनके ऊपर कोई कीटाणु प्रभाव नहीं डालते। इसलिये यदि पुरानी औरतों या पुराने सिक्खों को देखो तो उनके बालों में तुम्हें जंगल नजर आयेगा! जुएँ, लीखें सब पड़ जाती हैं। जब वे काटने लगती हैं तब तो उन्हें पता लगता है, खुजली होती है, लेकिन जब तक वे नहीं काटतीं तब तक पता नहीं लगता क्योंकि बालों में उलझी हुई हैं। पता तब लगेगा जब त्वक् (त्वचा) से सम्पर्क हो, लेकिन जब तक बालों में हैं, तब तक कुछ पता नहीं लगता। इसी प्रकार नाखूनों को समझ लो। नाखून का निचला हिस्सा तो जीवित है और ऊपर का हिस्सा काट दो तो कुछ दर्द नहीं होता। जहाँ प्राण अपनी व्यापकता को नहीं रखता वह-वह हिस्सा जीवन-रहित या जड की तरह हो जाता है, बाकी सारा शरीर जीवित है क्योंकि वहाँ प्राण मौजूद है। इस प्रकार पाँच प्राणों को बता दिया।

प्राण के ही और भी पाँच कार्य हैं जो अन्दर ही होते हैं। डकार आना अथवा किसी समय वमन (कै या उल्टी) आना। यह भी बाहर का कार्य नहीं है, अन्दर का ही कार्य है। इस कार्य को करने वाला नाग वायु है जो प्राण का ही एक स्वरूप है। दूसरा, आँखें खुलना, मिंचना भी कार्य है, इसको करने वाला कूर्म प्राण है। जब आँख बन्द हो जाती है तब तुमको बाहर की किसी चीज का दर्शन नहीं हो सकता। इसी प्रकार भगवान् ने कहा कि कछुआ सारी इन्द्रियों को बन्द कर लेता है। कछुए को जैसे ही अपने ऊपर किसी खतरे का पता लगता है, वह अपने सारे अवयवों को अपने कवच में कर लेता है। इसी प्रकार योगी अपनी सारी इन्द्रियों को बन्द कर लेता है। आँखों से उपलक्षित इन्द्रियों के निमीलन के लिये कछुए का दृष्टांत है, इसीलिये इस प्राण को कूर्म (कछुआ) नाम से कहा जाता है। तीसरी, कृकल प्राण की गति है। लौकिक भाषा में कहते हैं कि 'आज ग्रहण या, ग्रस्तास्त हो गया, रात में भी खाना नहीं हुआ, चौबीस घण्टे से भूखे हैं, जल्दी भोजन बनाओ, पेट में चूहे दौड़ रहे हैं'। अनुभव होता है कि पेट एकदम लप-लप कर रहा है। यह भूख लगना भी अन्दर का कार्य है, बाहर का कार्य नहीं है। कृकल कहते हैं जो भूख लगाता है। एक और कार्य जम्भाई (जृम्भण) लेना है। बच्चे कहते हैं 'अभी तो हमें टी.वी. देखना है' और तुम थके हो तो उबासी आती है। यह भी अन्दर का कार्य है, बाहर का कार्य नहीं है। इसे देवदत्त प्राण

करता है। जो उबासी आदि का कार्य करता है उसे देवदत्त इसलिये कहते हैं कि हम लोग मानते हैं कि नींद देवता के द्वारा ही कृपा करके दी जाती है अन्यथा नींद आती नहीं। जँभाई नींद का पहला रूप है। यह होती है तो पता लग जाता है कि सोना चाहिये। इसलिये इसे देवदत्त (देव-प्रदत्त) कहा। पाँचवाँ धनंजय प्राण बड़ा विचित्र है, यह शरीर को फुलाता है। जैसा कि भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि बाकी के नौ प्राण चले जाने के बाद भी यह धनंजय प्राण पीछे छूट जाता है। इसलिये (मरने के थोड़ी देर बाद) मुर्दा भी फूलने लगता है। यह भी अन्दर का कार्य है। बहुत से लोगों का जब धनंजय वायु ठीक काम नहीं करता तो शरीर फूलता जाता है। ये पाँचों प्राण भी शास्त्रों में बताये हैं। चाहे दस हिस्सों में प्राण को समझो अथवा इन पाँच को पहले पाँच प्राणों के अन्तर्भूत कर लो, हर हालत में सब क्रियायें प्राणों से होंगी। प्राण से भीतरी क्रिया होने के बाद बाहर की क्रिया होगी। चीजों को जान कर मनके अंदर पहुँचाया जाता है और प्राण की भीतर की क्रियाओं को इन्द्रियों से बाहर पहुँचाया जाता है।

आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान–पाँच ही प्राण लिये। आगे कहेंगे कि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन के दोनों वृत्तिभेद, मन और बुद्धि, ये सब मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनता है जो भोग का साधन है, इसके द्वारा ही भोग कर सकते हैं। आत्मा स्वयं कोई भोग नहीं कर सकता। इन सत्रह साधनों के द्वारा ही भोग करते हैं।। २२।।

सूक्ष्म शरीर में पहले ज्ञानेन्द्रियाँ बता दीं जिन इन्द्रियों से ज्ञान होता है। फिर कर्मेन्द्रियाँ बता दीं, जिनसे कर्म होता है। मन-बुद्धि बता दिये जिनके द्वारा अंदर की चीजों का ग्रहण होता है और पाँच प्राण बता दिये। अब इन सबके उस संगठित रूप का कथन करते हैं जो संसरण सम्पन्न करने वाली उपाधि है–

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥२३॥

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण, मन, बुद्धि, ये सत्रहों एक-साथ 'सूक्ष्म शरीर' कहे जाते हैं, वही लिंग भी कहलाता है।

संस्कृत में नियम है कि द्वन्द्व समास के अन्त में जो शब्द आता है वह समास में आये सभी शब्दों के साथ सम्बन्धित हो जाता है। इसलिये 'बुद्धि-कर्मेन्द्रिय-प्राणपंचक' का मतलब हो जायेगा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण, ये मिलकर पन्द्रह हैं। मन-बुद्धि के साथ मिलकर सत्रह हो गये। इन सत्रह चीजों से सूक्ष्म शरीर बना। स्थूल शरीर तो हमारा यह है जो बाहर दीखता है और जिससे जाना जाता है, जिससे काम किया जाता है, जिससे सोचा जाता है वह सूक्ष्म शरीर हो गया। जैसे मोटर कार में एक तो बाहर का शरीर है और दूसरा उसके अन्दर यंत्र है जो उसे चलाता है वैसे हमारा स्थूल शरीर भी है,

इसे चलने लायक रखने वाला लिंग शरीर भी है। उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सूक्ष्म महाभूतों से बना हुआ होने के कारण यह इन्द्रियों का विषय नहीं है, इनमें से कोई चीज ऐसी नहीं है जो दूसरा देख सके। मैं देखता हूँ तो मुझे अपनी आँख पता चलती है लेकिन कोई नहीं जान सकता कि मुझे दीख रहा है या नहीं। ऐसा रोग होता है जिसमें आँख जैसी है ठीक वैसी ही दीखेगी, परन्तु उस आदमी को दीखता ही नहीं है। जब प्रथम विश्वमहायुद्ध में जर्मनी हार गया था तब हिटलर को इतना झटका लगा कि छह महीने तक उसे कुछ नहीं दीखता था, अन्धा हो गया था! वह मानसिक झटके के कारण वैसा हुआ था क्योंकि अपने देश को हारा हुआ नहीं देख सका। ऐसे व्यक्ति की आँख की बाहर से चाहे जितनी परीक्षा कर लो, वह आँख तो ठीक निकलेगी, परन्तु वह देख नहीं सकता। कई स्थितियाँ मन के कारण होती हैं। जैसे यदि किसी प्रकार का तनाव हो तो हम लोगों के सिर में बड़ा दर्द होता है। हमारे शरीर की सारी परीक्षा करा लो, सब चीजें ठीक निकलेंगी लेकिन चिंता के कारण सिर में दर्द रहेगा। इसी प्रकार से अनेक बीमारियाँ हैं जिनके लिये बाहर कोई कारण नहीं है, मन ही कारण है जिससे बीमारी हो जाती है। इसलिये मेरा कान सुन रहा है या नहीं, मेरी आँख देख रही है या नहीं–इस बात को मैं ही जान सकता हूँ। यह तो ठीक है कि यदि गोलक खराब है, या फूट गई है तब तो दूसरे भी कह सकते हैं कि इसको नहीं दीखता लेकिन सूक्ष्म महाभूतों का बना होने के कारण सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों का विषय नहीं है अर्थात् कोई दूसरा इसे नहीं देख सकता। साधारण भाषा में सूक्ष्म का मतलब छोटा होता है, उस अर्थ में यहाँ सूक्ष्म नहीं समझना। यह सूक्ष्म है अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है, स्थूल वह है जो इन्द्रियों का विषय होता है।

कई बार शंका होती है कि हम जब प्राण या साँस लेते हैं तब तो नाक के द्वारा पता चलता है, स्पर्श भी होता है, दूसरा आदमी हाथ लगाकर देख सकता है कि इसका प्राण चल रहा है या नहीं, तो क्या प्राण स्थूल है? प्राण एक तरह से लहर की तरह है जो बाह्य वायु को चलाता है। इसीलिये जो तुम को हाथ रख कर प्रतीत हो रहा है वह तो बाह्य वायु है। उसको चलाने वाला प्राण है जो तुम्हें नहीं दीखता। नाक-मुँह में चलती वायु केवल अनुमान कराती है कि वायु चल रही है तो अन्दर प्राण है। जब प्राण शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाती है तब वह वायु को नहीं चला सकती। तब यंत्रविशेष (Ventilator) से वायु चला देते हैं। वैण्टीलेटर से वायु तो वैसी ही चलती है जैसी दूसरे सामान्य व्यक्ति की चल रही है, परन्तु उसे प्राण नहीं चला रहा है, वह उस यंत्र से चल रही है। इसलिये वायु और प्राण में भेद करना जरूरी होता है। अगर मैं सड़क पर चल रहा हूँ और गड्ढे, ईंट आदि से बच जाता हूँ तो दूसरा आदमी अनुमान कर सकता है कि इसे दीख रहा है, नहीं तो कैसे बचकर चलता। इस प्रकार अनुमान से पता चल जाता है, लेकिन 'इसे दीख रहा है' यह साक्षात् तो दूसरों को पता नहीं चलता। इसी प्रकार वायु के चलने को देखने से प्राण शक्ति का पता लग जाता है, परन्तु प्राण साक्षात् तो विषय नहीं हो रहा है। इसीलिये प्राण भी सूक्ष्म है इसलिये सूक्ष्म शरीर में कहा।

दूसरी समस्या है कि शरीर कहते किसको हैं? 'यह मैं हूँ' ऐसी जिसकी प्रतीति होती है उसको शरीर कहते हैं। इस स्थूल शरीर में तो प्रतीति होती है कि 'यह मैं हूँ', ऐसे सूक्ष्म शरीर में यह प्रतीति तो किसी को नहीं होती कि मैं सूक्ष्म शरीर हूँ। कम से कम गहरी नींद से तो उठकर हम कहते हैं कि 'मैं अज्ञानी था, कुछ नहीं जान रहा था'; उसी को अज्ञानी कहते हैं जो कुछ नहीं जानने वाला था। कुछ नहीं जानने वाला मैं था—गहरी नींद में तो यह प्रतीति हो जाती है, परन्तु जाग्रत् में यह प्रतीति नहीं होती कि सूक्ष्म शरीर वाला मैं हूँ। फिर इसे शरीर क्यों कहते हैं? सूक्ष्म शरीर लिंग है; लिंग का मतलब है जिसको देखकर, जिसकी प्रतीति या अनुभव करके हमको किसी अन्य चीज का पता लगता है। 'लीनम् अर्थं गमयति इति लिंगम्'। उसमें छिपा हुआ जो पदार्थ है उसका ज्ञान करा देता है, इसलिये लिंग कहते हैं। जैसे दूर से धुएँ के गुब्बारों को आसमान में जाते देखकर पता लगता है कि वहाँ आग लगी हुई है। दीखा तो धुआँ, लेकिन उससे पता लग गया आग का। इसलिये धुआँ आग का लिंग है क्योंकि उसे देखने से जो दीख नहीं रही उस आग का पता लग जाता है। क्योंकि इंद्रियादि से आत्मा की अवस्थिति मालूम चल जाती है इसलिये इसे लिंग शरीर कहते हैं।

लिंग शरीर की एक-एक चीज का तो पता लगता है, मुझे सामने की दीवार दीखी तो पता लग गया कि मेरी आँखें हैं। घण्टे की आवाज सुनने से हमें कान का पता लग गया। तत्तद् काल में एक-एक इन्द्रिय का तो पता लग जायेगा, परन्तु सबका इकट्ठा कैसे पता लगता है? जब हम स्वप्न में जाते हैं तब स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ तो वहाँ काम नहीं कर रही हैं। इसलिये चश्मा लगाने वाला आदमी भी स्वप्न में बिना चश्मे के देखता है, कान में मशीन लगाने वाला आदमी भी स्वप्न में सुनता है। जिसे फालिज हुई है वह भी स्वप्न में चलता-बोलता है। जब स्वप्न काल में ये सब कर रहा है तो वहाँ जाग्रत् काल वाला सूक्ष्म शरीर तो नहीं है, परन्तु वहाँ सूक्ष्म शरीर है। इसका पता लग जाता है कि यदि सूक्ष्म शरीर न हो तो वहाँ कैसे देखा और सुना! कोई कह सकता है कि वहाँ भी एक काल्पनिक या प्रातिभासिक शरीर बन जाता है, उससे देख-सुन लेता होगा। लेकिन उस प्रातिभासिक शरीर का कोई अधिष्ठान तो होना ही चाहिये। अधिष्ठान का ज्ञान हुए बिना काल्पनिक चीज का बाध नहीं होता। जैसे साँप का अधिष्ठान रस्सी है तो रस्सी को जानने से पता लगता है कि साँप नहीं है परन्तु स्वप्न से उठने पर हमें ब्रह्मज्ञान की जरूरत नहीं पड़ती, फिर भी पता लग जाता है कि जो देखा था वह नहीं था। इसलिये यदि प्रातिभासिक सूक्ष्म शरीर मान भी लें तो उसका अधिष्ठानरूप लिंग शरीर सिद्ध होगा। इससे भी लिंग या सूक्ष्म शरीर की सिद्धि होती है। इतना ही नहीं, योग शास्त्र में हम देखते हैं कि मनुष्य एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर लेता है। हमें वहाँ कोई स्थूल चीज एक से दूसरे में जाती दीखती नहीं है। अतः उसे सूक्ष्म शरीर ही मानना पड़ेगा। शास्त्र की दृष्टि से देखो तो स्वर्गादि जाने वाली क्या वस्तु है? यह स्थूल शरीर तो यहीं रह जायेगा। आत्मा ही चला जायेगा—यह नहीं हो सकता क्योंकि व्यापक आत्मा तो कहीं आता-जाता नहीं है। इसलिये स्वर्गादि में जाने

के लिये सूक्ष्म शरीर को मानना ही पड़ता है। इसलिये 'मैं सूक्ष्म शरीर हूँ,' ऐसे इकट्ठा पता न लगने पर भी इन सब चीजों से 'सूक्ष्म शरीर है' यह पता लग जाता है।

यह जो सूक्ष्म शरीर बताया गया है, यह सृष्टि के अंत तक वही बना रहता है। चाहे जितने शरीरों में घूमें पर सूक्ष्म शरीर एक ही रहता है। इसीलिये कहते हैं कि जो करोगे वह तुम्हें भोगना ही पड़ेगा, इस शरीर में नहीं तो आगे शरीरों में भोगना पड़ेगा। शंका होती है कि मैंने इस शरीर से किया और जब यह शरीर नहीं रहा तो करने वाला भी नहीं रहा। यह शंका इसलिये नहीं बनती क्योंकि करने वाला तो सूक्ष्म शरीर है। स्थूल शरीर घर की तरह है अर्थात् इसमें बैठकर सब काम करता है, लेकिन करने वाला सूक्ष्म शरीर है। इसलिये यदि हमने इस कमरे में बैठकर तुमसे सामान लिया, हम घर बदल कर दूसरे घर में चले गये और तुम वहाँ पैसा लेने आये तो हम यह नहीं कह सकते कि 'हमने उस कमरे में लिया था, उस कमरे वाले से लो'। चाहे उस कमरे में या इस कमरे में, लिया तो तुमने ही था इसलिये पैसा तुम्हें ही देना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार से करने वाला और जानने वाला सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा आत्मा को प्राप्त होता है या नहीं होता है, यह दूसरी बात है, परन्तु सूक्ष्म शरीर से किया। इस शरीर में बैठकर किया इसलिये इसको करने वाला भी कह देते हैं। कर्म का फल उसी सूक्ष्म शरीर को भोगना पड़ता है जिससे कर्म किया है।

सूक्ष्म शरीर गहरी नींद में लीन हो जाता है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' ऐसा श्रुति कह रही है और अनुभव भी होता है कि गहरी नींद में आँख, कान, नाक कोई काम नहीं करते। जैसे हमें दीखता नहीं तो जानते हैं कि हमारी आँख नहीं है, हम अंधे हो गये, उसी प्रकार सुषुप्ति काल में न देखता है, न सुनता है, न चलता है, न बोलता है, न सोचता है इसलिये सूक्ष्म शरीर नहीं रहा। नहीं रहने को ही हम लोग 'लीन होना' कहते हैं। फिर कैसे कहते हैं कि सूक्ष्म शरीर वही बना रहता है? हर दिन सोते हैं तो लीन हो जाते हैं, फिर उठते हैं तो नया बन जाता है—ऐसा क्यों न मान लें? कल हमने बैंक से उधार लिया तो आज वह नहीं माँग सकते क्योंकि लेने वाला तो चला गया! यहाँ समझ लेना : दो तरह से चीजों का दीखना बन्द हो जाता है। एक तो अपने उपादान कारण में लीन हो जाये। जैसे बर्फ की डली पानी से बनी है और पानी में ही उसे पिघला दिया तो पानी, पानी में मिल गया। यह उपादान कारण में लीन हो जाना है, पानी से बर्फ बना और पानी में ही चला गया। अब उसी बर्फ को हम नहीं निकाल सकते। जब चीज उपादान कारण में आती है तो फिर वही नहीं निकलेगी। परन्तु लीन होने का एक दूसरा रूप भी है : छांदोग्य उपनिषद् में आता है कि पिता पुत्र को सिखा रहा है कि परमात्मा व्यापक है। यह सिखाने के लिये वह एक लोटा पानी लेता है और उसमें सेंधा नमक के टुकड़े डालता है। फिर बेटे से कहता है कि इस लोटे को अल्मारी में रखकर ताला बन्द करके चाबी अपने पास रखो। दो दिन बाद उससे वह लोटा मँगाता है। बाप उसमें देखकर पूछता है 'मैंने जो नमक की डली इसमें रखी थी वह कहाँ गई? यहाँ तो है नहीं। क्या तुमने उस डली का कुछ किया है?' वह कहता

है 'मैंने तो कुछ नहीं किया।' फिर वह डली यहाँ क्यों नहीं दीख रही है? पिता कहता है 'इस पानी को ऊपर से चखकर देखो, कैसा है।' उसने कहा 'नमकीन है।' फिर पिता ने कहा 'इसी पानी को नीचे से, अगल से, बगल से, सब तरफ से चखो।' उसने चखकर कहा 'सब तरफ से नमकीन है।' तब पिता ने उससे कहा 'यद्यपि पानी में नमक डली के रूप में नहीं दीख रहा है तथापि पानी तुम्हें नमकीन लग रहा है तो यह नमकीन-पना उस डली का है। इसी प्रकार परमात्मा तुम्हें चिद्घन रूप से तो नहीं दीख रहा है परन्तु जिस चीज को तुम देखते हो वह 'है' वाली दीखती है। रसगुल्ला सफेद, गोल तुम्हें आँख से दीखा, उसका मीठापन जीभ से पता लगा, छूकर हाथ से देख लिया, परन्तु रसगुल्ला 'है' इस है को तुमने किससे देखा? दीखने वाली, सुनायी देने वाली चीजें भी 'है' ही लगती हैं। शोर मच रहा है तो शोर 'है'। आँख तो शोर नहीं देख रही है। इसी प्रकार अकस्मात् कहीं से बदबू आई; गधा सड़ रहा है, यह बदबू आँख, कान से नहीं नाक से ही पता लगती है। बदबू का पता नाक ने लगाया, 'है' का पता किसने लगाया? यह 'है' ज्ञानस्वरूप होने से इसको जानने के लिये और किसी चीज की जरूरत नहीं है। ठीक जैसे प्रकाश में सब चीजें दीखती हैं, तो प्रकाश दीखता ही है, इसी प्रकार सारे संसार में 'है' का ज्ञान हो रहा है। परमात्मा 'है' की तरह सर्वव्यापक है। जहाँ कहा है कि गहरी नींद में सब लीन हो जाता है वहाँ इतना ही मतलब है कि पानी में नमक की तरह घुला हुआ है। विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि अगर पानी को भभके से निकाल लो तो नमक निकल जायेगा। बर्फ भी गलकर तो उपादान में गई, लेकिन उसी बर्फ की डली को वहाँ से निकाल सकते नहीं परन्तु इसी नमक को भाप से पानी में से निकाल सकते हैं। वह नया नमक नहीं है, पहले वाला ही है। इसी प्रकार अभी भी परमात्मा तुम्हें दीख रहा है, जैसे पानी में नमक दीख रहा है, परन्तु पानी में नमक डलीरूप में नहीं दीख रहा है, उसका नमकीन-पना दीख रहा है। इसी प्रकार परमात्मा का सच्चित्पना तुम्हें अनुभव में आता है, परन्तु उसका आनन्द-अनंतपना नजर नहीं आ रहा है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा जब नाम-रूप बाध करके हटा देते हैं तब अनंत आनंद स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसीलिये इसे लिंग शरीर कहना ठीक ही है।। **२३।।**

अब उस शरीरवाले का नाम भी ले देते हैं–

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते।
हिरण्यगर्भताम् ईशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४॥

प्राज्ञ सूक्ष्म शरीर में अभिमान से तैजस हो जाता है और ईश्वर हिरण्यगर्भ हो जाता है। इन दोनों में व्यष्टि-समष्टिभाव है।

सुषुप्ति के अन्दर अभिमान वाले को प्राज्ञ कहा था। वह जब सूक्ष्म शरीर में अभिमान करता है कि 'यह मैं हूँ' अर्थात् जब सुषुप्ति से स्वप्न में आ जाता है, तब उस प्राज्ञ को तैजस नाम से कहा जाता है। उसे तैजसता की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् गहरी नींद लेने

वाला और स्वप्न वाला अलग-अलग नहीं है। और जो स्वप्न लेने वाला है वही शरीर को चलाने वाला है, जो प्राज्ञ है वही तैजस है। तीन अवस्थाओं का विचार वेदांत की खास विशेषता है। प्रायः लोग जाग्रत् का विचार करते हैं, परन्तु स्वप्न और सुषुप्ति का कम लोग विचार करते हैं। इसलिये हम लोग स्वप्न और सुषुप्ति की बात करते हैं तो लोग कहते हैं कि 'स्वप्न को छोड़िये, जाग्रत् की बात कीजिये।' वेदांत इस बात पर जोर देता है कि जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति तीनों तुम्हारी अवस्थायें हैं। क्योंकि तुम ही जगे हो, तुम ही स्वप्न देखते हो, और तुम ही गहरी नींद में जाते हो, इसलिये अपने बारे में केवल जाग्रत् का विचार करके निश्चय नहीं कर सकते। तीनों का विचार करना जरूरी है। सुषुप्ति के अन्दर आनंद है और किसी चीज का अनुभव नहीं है। इसलिये सुषुप्ति का विचार करने से पता लगता है कि आनन्द के लिये किसी चीज की जरूरत नहीं पड़ती। यदि सुषुप्ति न होती तो यह बात हमारी समझ में कभी नहीं आती। इसलिये जाग्रत् का विचार करने वाले कहते हैं कि कुछ होगा तब सुख होगा, कोई चीज है नहीं तो सुख कैसे? यह पता सुषुप्ति में लगता है क्योंकि चीज वहाँ कुछ नहीं है और आनन्द है। यह भी तुम्हारा ही अनुभव है। सुषुप्ति के विचार से निर्विषय आनंद हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट हो जाता है, कहीं संदेह नहीं रहता। और स्वप्न के विचार से आत्मा की स्वप्रकाशता का पता लगता है। इसलिये इसे तैजस कहते हैं।

स्वप्नाभिमानी को तैजस कहते हैं। जैसे तेज सब चीजों को खुद ही प्रकाशित करता है इसी प्रकार स्वप्न में न चंद्र, सूर्य का प्रकाश है और न भाखड़ा नंगल की बिजली का प्रकाश है! कोई प्रकाश नहीं, तुम खुद ही सब चीजों को देख लेते हो। ऐसे आत्मा की स्वप्रकाशता स्वप्न में बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इसलिये स्वप्न वाले को तैजस कहा क्योंकि वह तेजोरूप है, सब चीजों को वह प्रकाशित कर लेता है। जाग्रत् में यह संदेह रहता है कि बत्ती नहीं तो हमें दीखेगा कैसे? बत्ती के प्रकाश में ही दीखता है—स्वप्न में यह बहम हट जाता है क्योंकि वहाँ बत्ती आदि कोई प्रकाश नहीं, पर दीखता है। इसलिये वहाँ तैजस भाव को प्राप्त कर लेता है, उसका नाम तैजस हो जाता है। प्राज्ञ वह था जो गहरी नींद में जीव का रूप था।

माया की उपाधि वाला जो ईश्वर है वह जब समष्टि सूक्ष्म उपाधि वाला है तब उसका नाम हिरण्यगर्भ पड़ जाता है। हिरण्य बड़ा विचित्र शब्द है। सोने को हिरण्य कहते हैं, लेकिन सोने को हिरण्य क्यों कहते हैं? क्योंकि 'हितं च रमणीयं च हिरण्यं' जो हितकारी और रमणीय हो उसे हिरण्य कहते हैं। संसार में कहीं भी जाओ, अगर तुम्हारे पास सोना है तो उससे सब काम कर सकते हो। अगर नोट हैं तो केवल अपने देश में काम चलेगा लेकिन सोना हो तो कहीं भी चले जाओ, उससे काम चल जायेगा। देखने में सुन्दर भी है, इसलिये औरतें खूब गहना पहन कर चलती हैं क्योंकि रमणीय है अर्थात् देखने में अच्छा लगता है। जो हितकारी और रमणीय हो उसे हिरण्य कहते हैं। यह संसार भी हिरण्य है। यदि तुम इसे देखो तो तुम्हारी भूख मिटाने के लिये, तुम्हारी सारी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये संसार

सक्षम है। तभी हम इसमें अपनी सारी कामनाओं को पूर्ण कर सकते हैं। यदि संसार न होता तो तुम क्या करते! क्योंकि तुम्हारे सारे हितों को सिद्ध तो यह संसार ही कर रहा है इसलिये हितकारी और बहुत सुन्दर है। इतना सुन्दर है कि सभी शास्त्र कहते हैं कि 'अरे! इस संसार को छोड़कर परमात्मा की तरफ जाओ,' तब भी यह इतना सुन्दर होने से छूटता नहीं। यह मन को ऐसा रमाकर रखता है कि चाहे जितना कोई उपदेश कर दे, मन उधर ही जायेगा। क्योंकि रमणीय है इसलिये मन उधर ही जाता है। संसार हितकारी भी है; मोक्ष तक जाने के लिये यह संसार ही चाहिये। श्रवण, मनन इत्यादि संसार में ही करोगे। गहरी नींद में संसार नहीं रहता तो गहरी नींद में कोई भजन भी नहीं होता। चाहे संसार के पदार्थों की तरफ जाओ तो भी संसार की जरूरत और संसार के पदार्थों से परमात्मा की पहचान करो तब भी संसार चाहिये। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है 'आरामम् अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' लोग इस संसार को तो देखते हैं परन्तु यह संसार कहाँ से आया—उस तरफ नहीं जाते। क्यों नहीं जाते? क्योंकि संसार अत्यंत सुन्दर है इसलिये नहीं जाते। यह हितकारी नहीं है यह नहीं कह सकते, क्योंकि बगीचे को देखकर ही बगीचे वाले को पहचानोगे। संसार को कोई बनाने वाला है तभी पता लगता है कि वह अनंत है। कम-से-कम हमारी समझ में दो सौ साल से अलग-अलग कामों के लिये लोगों के अंगूठों की छाप ली जा रही है, परन्तु इतने समय में किन्हीं दो अंगूठों की छाप एक जैसी नहीं मिली। विचार करो कि उसकी अनंतता कितनी होगी जिसने ऐसी रचना की जहाँ लाखों अंगूठों की छापें अलग-अलग हैं। मनुष्य इसमें अपनी प्रशंसा समझता है कि हमने एक जैसी चीजें बनाई, क्योंकि वह सान्त है। एक बार कहीं टैक्स्टाइल मिल में गये थे। वहाँ एक आदमी ऐसा था जो केवल साड़ियों की डिजाइन बनाता था, उस जमाने में उसकी तनख्वाह सत्तर हजार रुपये महीना थी। बड़ा परिश्रम करके दस-पन्द्रह दिन में एक डिजाइन बनाता था। जब तक उस डिजाईन की लाखों साड़ियाँ न बनें और बिकें, तब तक उसे इतनी तनख्वाह कैसे मिले। दस-पन्द्रह दिन बाद फिर दूसरी डिजाइन बनाता था। परन्तु परमात्मा तो रोज अंगूठों की नयी छापें ही बनाता है और अरबों की संख्या में बनाता है। इसी से पता लगता है कि परमात्मा कितना अनंत है। इसी प्रकार सृष्टि की व्यवस्थाओं को देखकर पता लगता है कि परमात्मा कितना जटिल सन्तुलन स्थापित करता है : मैंने एक आदमी से रुपये लिये और दूसरे को दे दिये। और हम तीनों मर गये। अब जब तीनों एक-साथ पैदा हों तब यह लेन-देन का काम पूरा हो। ऐसे अरबों आदमी होंगे। कभी विचार करो तो पता लगेगा कि इसका हिसाब लगाना कैसा असंभावित है। सीमित व्यक्ति के द्वारा यह काम नहीं हो सकता। ये सब देखकर ही पता लगता है कि बगीचे वाला कैसा अनंत है! यह सारा हिरण्य संसार परमेश्वर के गर्भ में है अर्थात् वह इस संसार को पैदा करेगा। जैसे माता के पेट में गर्भ होता है वैसे ही यह सारा संसार परमात्मा के गर्भ में है। इसलिये उसका नाम हिरण्यगर्भ ठीक है।

जीव का नाम तैजस है क्योंकि प्रकाशरूप से सब चीजों को जानता है। परमेश्वर, जो

माया वाला था, उसके अन्दर सृष्टि बनाने का संकल्प आ गया इसलिये उसका नाम हिरण्यगर्भ पड़ गया। अर्थात् उससे यह सारा संसार पैदा होगा। तैजस और हिरण्यगर्भ का आपस में क्या सम्बन्ध है? व्यष्टि और समष्टि सम्बन्ध है। तैजस अर्थात् जीव व्यष्टि है और हिरण्यगर्भ समष्टि है। हमारे तो अपने ही आँख, कान आदि वाला सूक्ष्म शरीर हुआ परन्तु सारे सूक्ष्म शरीरों का अभिमान करने वाला समष्टि हुआ। कई लोगों को यह आशंका होती है कि हम लोगों को हरेक को इतना दुःख होता है तो परमेश्वर को यदि सबका अभिमान है तो उसको सबका दुःख होता होगा! पहले अपने शरीर में ही देख लो : अपने शरीर में खरबों छोटी-छोटी कोशिकायें हैं और वे सारी कोशिकायें जीवित हैं। उनकी भी अपनी जीवरूपता है। हर कोशिका का जीव अपनी-अपनी कोशिका को ही देखता है और उसी का सुख-दुःख जानता है। हम सारे शरीर में अभिमान किये हुए हैं परन्तु उस प्रत्येक कोशिका के सुख-दुःख को हम नहीं जानते। इसी प्रकार परमेश्वर और हमारा शरीर-शरीरीभाव संबंध है, वह शरीरी है और हम शरीर हैं अर्थात् कोशिकाओं की जगह हैं। अतः हमारा सुख-दुःख हम ही भोगते हैं। इसलिये यह शंका नहीं करना कि ईश्वर हिरण्यगर्भ बन गया तो उसको हमारा दुःख भी होता होगा। सुख-दुःख का मूल कारण अज्ञान है और परमेश्वर को अज्ञान है नहीं, इसलिये उसके लिये सुख-दुःख नाम की चीज नहीं होती। वह केवल आनन्दघन है। व्यष्टि-समष्टि का मतलब ऐसा नहीं समझ लेना कि हम लोगों के सुख-दुःख भोगने वाला वह है, वह भोगने वाला नहीं है।। **२४।।**

सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ है। 'मैं सो रहा हूँ, कुछ नहीं जान रहा हूँ, बड़े आनन्द में हूँ'—ये अहंकार के अनुभव नहीं हैं। इसलिये सुषुप्ति काल में यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं सो रहा हूँ' परन्तु उठने पर 'मैं सोया था, मैं आनन्द से था, मैं कुछ नहीं जान रहा था' यह स्मृति होती है। इस स्मृति से पता लगता है कि उस समय इस प्रकार की स्थिति हुई थी। जैसे कल धूप अच्छी थी, आज इसका पता किससे लगता है? हमें स्मृति होती है कि धूप अच्छी थी। स्मृति या याद हुआ करती है जब पहले अनुभव हुआ हो। उस समय के अभिमान की जो दशा जीव की है, उसको प्राज्ञ कहा। सूक्ष्म शरीर स्वप्न के अन्दर अनुभव में आता है। वहाँ अनुभव होता है कि 'मैं देख रहा हूँ'। स्थूल शरीर की जो गोलकें जाग्रत् में हैं वे स्वप्न में नहीं हैं। जाग्रत् में यह संदेह हो सकता है कि जो स्थूल शरीर की आँखें हैं इनसे देखते हैं परन्तु स्वप्न के अन्दर ये आँखें नहीं हैं क्योंकि यह शरीर ही स्वप्न में नहीं है। इतना ही नहीं, स्वप्न के अन्दर ज्ञानेन्द्रियों का और कर्मेन्द्रियों का अर्थात् उनके कार्यों का अनुभव होता है। इसलिये स्वप्न काल के अन्दर सूक्ष्म शरीर की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ काम कर रही हैं। उनसे ही दीख आदि रहा है। सूक्ष्म शरीर में अभिमान है कि इससे मैंने स्वप्न देखा, उठकर पता लगता है कि जिसने स्वप्न देखा वह मैं ही था। किसी दूसरे ने स्वप्न देखा है—ऐसा तो नहीं लगता है! इसलिये जो प्राज्ञ है, वही सूक्ष्म के अन्दर अभिमान करता है कि 'यह मैं हूँ'। यह तादात्म्य अभिमान है। अभिमान दो तरह का होता है : 'यह शरीर मेरा है' और 'यह तिजोरी मेरी है' दोनों को 'मेरा'

कहते हो। परन्तु तिजोरी अपने से अलग लगती है ऐसे शरीर अपने से अलग लगने पर भी अलग है—ऐसा अनुभव नहीं होता बल्कि तादात्म्य है कि 'यह मैं ही हूँ।' सूक्ष्म देह में अभिमान करने वाला यह जो प्राज्ञ है, उसी का नाम तैजस हो जाता है।

इसको तैजस इसलिये कहते हैं कि तेज का मतलब प्रकाश होता है। शास्त्र आत्मा को स्वप्रकाश बताता है। आत्मा की स्वप्रकाशता जाग्रत् में स्पष्ट नहीं होती है। जाग्रत् में तो लगता है कि आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि आदि होंगे तभी हम कुछ जानेंगे। ऐसा लगता है कि सूर्य का प्रकाश होगा या चन्द्रमा का प्रकाश होगा तभी व्यवहार सम्भव है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह प्रश्न किया 'किं ज्योतिरयं पुरुषः' 'यह पुरुष किस ज्योति से काम करता है?' पहला जवाब हुआ कि सूर्य की ज्योति से काम होता है। जो-जो काम कर रहे हैं वे सब सूर्य की रोशनी में ही करते हैं। पुनः प्रश्न होता है कि रात में सूर्य नहीं होता, तब किस रोशनी से काम करते हैं। चंद्रमा के प्रकाश से काम करते हैं। लेकिन अमावस्या की रात है, चन्द्रमा भी नहीं है, तब किस रोशनी से काम करते हैं? तब तारों से काम हो जाता है। तारों का भी प्रकाश होता है इसलिये उससे काम हो जाता है, रास्ते में चल लेते हैं। लेकिन जब भाद्रपद का महीना है, घोर बादल छाये हुए हैं इसलिये तारों का प्रकाश भी नहीं है फिर किस रोशनी से काम करते हैं? तब कहा कि आग (मशाल आदि) जलाकर चलता है, आजकल तो टार्च आदि आ गये हैं। उनके प्रकाश से काम हो जाता है। टार्च आदि सब आग के ही रूप समझ लेना, उनसे काम होता है। जब आग भी शांत हो गई, बुझ गई, फिर किस रोशनी से काम करते हो? स्वप्न के अन्दर यही स्थिति है; न वहाँ सूर्य है, न चन्द्रमा और अग्नि हैं, फिर भी वहाँ सारा काम करते हो। इसलिये तुम खुद ही स्वप्रकाश हो, तभी सब काम करते हो। स्वप्न के अन्दर आत्मा की स्वप्रकाशता स्पष्ट हो जाती है। इसलिये स्वप्न-अवस्था के अभिमानी को 'तैजस' कहा।

सूक्ष्मोपाधिक ईश्वर का नाम हिरण्यगर्भ पड़ जाता है। हिरण्यगर्भ और ईश आपस में कैसे सम्बंधित हैं? तादात्म्य सम्बन्ध से हैं। जैसे प्राज्ञ का तादात्म्य सम्बन्ध तैजस के साथ है, वैसे ही ईश्वर का तादात्म्य सम्बन्ध हिरण्यगर्भ के साथ है। परन्तु एक फर्क है : जीव का जो सम्बन्ध है या प्राज्ञ का जो संबन्ध है वह अज्ञान से है। तादात्म्य तो है परन्तु अज्ञान से है। ऐसे समझ लो : जब रस्सी में साँप दीखता है तब अज्ञानपूर्वक दीखता है इसलिये 'यह साँप है' ऐसा ही निश्चय होता है। परन्तु कैलेण्डर में रामचन्द्र जी बने हुए हैं। वहाँ भी 'रामचन्द्र जी हैं' ऐसी प्रतीति हो जाती है। वहाँ तिलक, माला आदि डालने का व्यवहार भी कर लेते है। परन्तु यह सब करते हुए हम जानते हैं कि यह रामचन्द्र जी नहीं है। अतः कैलेण्डर फटने पर शोक नहीं मानते कि रामचन्द्र जी मर गये या राम का सिर कट गया; ऐसा नहीं मानते क्योंकि वहाँ रामचन्द्र जी को देखने पर भी अज्ञानपूर्वक नहीं है, वरन् जानबूझकर है। तादात्म्य तो वहाँ भी है कि 'ये रामचन्द्रजी हैं' परन्तु यह तादात्म्य ज्ञानपूर्वक है, अज्ञानपूर्वक नहीं है। रस्सी में साँप दीखता है तो अज्ञानपूर्वक ही है, इसलिये 'यह साँप ही है' ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार

से जीव को सूक्ष्म शरीर के साथ एक होकर 'यह मैं हूँ' ऐसा निश्चय होता है । ईश्वर का ज्ञान चूँकि अक्षुण्ण है, इसलिये उसे ऐसा नहीं होता कि 'यही मैं हूँ।'

इस फर्क का कारण क्या है? 'तयोर्व्यष्टिसमष्टिता' हिरण्यगर्भ और तैजस में समष्टि और व्यष्टि–यह फर्क है। तैजस व्यष्टि है और हिरण्यगर्भ समष्टि है। व्यष्टि और समष्टि का मतलब क्या होता है? अश् धातु का अर्थ व्यापन होता है। 'अश्नुते व्याप्नोति' समष्टि का मतलब होता है समग्र के साथ व्यापक होकर रहना। जितने सूक्ष्म महाभूत हैं, जितने सूक्ष्म लिंग शरीर हैं, उन सबमें हिरण्यगर्भ तो व्याप्त होकर रहता है, इसलिये उसे समष्टि कहते हैं, अर्थात् सब जगह एक जैसा व्यापक होकर रहता है। जीव व्यष्टि है इसलिये केवल एक सूक्ष्म शरीर के साथ ही उसका तादात्म्य है। विशिष्ट जो एक शरीर है 'वि+अष्टि = व्यष्टि' केवल उसी के साथ तादात्म्य रखता है। व्यष्टि और समष्टि भावों के कारण ही दोनों में भेद है। प्रश्न होता है : 'हमको अपने शरीर के साथ तादात्म्य होने से उसका सुख-दुःख होता है तो हिरण्यगर्भ का सबके साथ तादात्म्य होने पर उसको सबका सुख-दुःख होता होगा?' लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि जो फर्क है वह व्यष्टि और समष्टि को लेकर है। जैसे, विचार करो कि हजारों सैनिकों से मिलकर सेना बनी है। उसमें से पाँच सैनिक मारे गये, पाँच सैनिक बन्दी बन गये, परन्तु सेना जीत गई। जब लड़ाई होती है तब कुछ मरेंगे भी और कुछ बन्दी भी होंगे। परन्तु उनके मरने या बन्दी होने से सेना नहीं हारी, सेना बन्दी नहीं हुई। विशेष के जाने से समग्र चला जाये, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार से हम एक शरीर में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। इतने मात्र से व्यापक (समष्टि)। हिरण्यगर्भ को सुख-दुःख हो जाये, ऐसा नहीं है। इसमें कारण वही है जो पहले बताया कि उसका ज्ञान है और हमारा अज्ञान है। इसका कारण ज्ञान और अज्ञान का भेद ही है। और भी यदि विचार करके देखो तो हिरण्यगर्भ की जो व्यापकता है वह सूक्ष्म महाभूतों और सूक्ष्म शरीर दोनों के साथ है। सूक्ष्म महाभूतों का कुछ हिस्सा ही तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि बन गये। जाग्रत् के अन्दर सारी मिट्टी तो हमारा शरीर नहीं बन गई, कुछ मिट्टी शरीर बनी और बाकी मिट्टी ही बनी रही। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म महाभूतों के कुछ हिस्से से तो हम लोगों की इन्द्रियाँ, मन बन गये परन्तु और हिस्सा भी है। हमारी तादात्म्य-बुद्धि केवल शरीर से है, शरीर से बाहर वाली चीजों के साथ नहीं है। उनसे हमारा सम्बन्ध ही नहीं है–ऐसी बात तो है नहीं। हमने एक गिलास पानी पिया। तीन-चार घण्टे बाद जाकर पेशाब कर दिया। जब तक वह पानी हमारे शरीर में था तब तक तो उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्बन्ध था, लेकिन पेशाब करने के बाद उस पेशाब के साथ क्या हमारा कोई तादात्म्य सम्बन्ध रहता है? नहीं रहता। फिर उसका चाहे जो कुछ हो। इसी प्रकार हमने बहुत बढ़िया गाजर का हलवा खाया। सबेरे पेट साफ हो गया। उस गाजर के हलवे के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब तक शरीर में रहे, तब तक तादात्म्य सम्बन्ध है और शरीर से बाहर हो तो कुछ संबंध नहीं, चाहे पहले वह हमारे ही शरीर में था। परन्तु हिरण्यगर्भ तो सभी सूक्ष्म शरीरों में एवं सारे

सूक्ष्म महाभूतों में तादात्म्य वाला है। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि भावों के कारण दोनों का भेद है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि बिना अज्ञान के हिरण्यगर्भ को जगत् की प्रतीति कैसे होगी क्योंकि जगत् की प्रतीति तो अविद्या से होती है? इसका समाधान ऐसे समझ लो : कहीं नाटक हो रहा है। जो नहीं जानता कि वह नाटक है उसे भी घटनाक्रम वैसा ही दीखता है जैसा जो जानता है कि नाटक है उसे दीखता है। घटनाक्रम दोनों को एक-सा दीखने पर भी जिसे नहीं पता वह पात्रों में अच्छा-बुरा दृष्टि करता है, जानकार केवल अभिनय देखता है। जो चीज जैसी है उसको वैसा समझना अज्ञान नहीं कहा जाता। माया को, माया के कार्य को मायिक समझना अज्ञान नहीं है। अतः इसके अन्दर होने वाले सुख-दुःख ईश्वर को नहीं हैं।

यह सब ध्यान में रखते हुए व्यष्टि-समष्टि-भाव से जीव-ईश्वरता बताते हैं–

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात्।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

सभी का अपने से अभेदेन अनुभव करने के कारण ईश्वर (हिरण्यगर्भ) समष्टि है और उससे अन्यों को वैसा अनुभव न होने से वे (जीव) व्यष्टि कहे जाते हैं।

सभी से तादात्म्य का अनुभव करने के कारण समष्टि ईश्वर है। ईश्वर-भिन्न जीवों में सबसे तादात्म्य का अनुभव नहीं अतः वे ही व्यष्टि कहलाते हैं। यद्यपि समष्टिका तादात्म्य सबसे है तथापि समष्टि को सब व्यष्टियों के सुख-दुःख का भोग नहीं। तादात्म्यवश जीव को तो सुखादिका भोग होता है क्योंकि वह स्वरूप के प्रति अज्ञ रहता है। ईश्वर (समष्टि) यों स्वरूप के प्रति अज्ञ न रहने से तादात्म्य रखकर भी भोग नहीं करता। ईश्वर का स्वरूप जो ब्रह्म वही जीव का स्वरूप है अतः कह सकते हैं कि जीवरूप से ईश्वर का उपाधितादात्म्य है। इस तरह जीवों के तादात्म्य से पृथक् ईश्वर का कोई तादात्म्य नहीं किंतु जीवों को एक-एक उपाधि से तादात्म्य है और सभी जीवों के माध्यम से ईश्वर का सर्वत्र तादात्म्य है। साक्षात् तादात्म्यवश जीव सुखादि-भोगता है, परम्परया तादात्म्य रखने से ईश्वर नहीं भोगता। तादात्म्य में भेद और अभेद दोनों का सामंजस्य है। जीव भेद को तिरस्कृत कर देने से अभेद को महत्त्व देकर उपाधि-विकारों से विकार वाला बनता है जबकि ईश्वर भेद देखते हुए अभेद को आरोपित जानने से निर्विकार रहता है। इस तरह समष्टि में व्यष्टि के कोई भोग नहीं हैं।। २५।।

समष्टि-व्यष्टि सूक्ष्म का वर्णन कर अब पंचीकरण बताते हैं जिससे स्थूल की उत्पत्ति संभव हो–

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

जीवों के भोग संभव हों इसके लिये जरूरी जो भोग्य विषय और भोग करने योग्य शरीर, उनकी उत्पत्ति के लिये भगवान् सूक्ष्मोत्पादन के अनन्तर आकाशादि पाँच भूतों में से हर-एक को पंचात्मक बनाते हैं।

'तद्भोगाय' वे जो अब तैजस नाम वाले हैं, उनके भोग के लिये स्थूल सृष्टि की। शरीर भी जीवों के लिये ही बनाया है। इससे पूर्व १८वें श्लोक में बताया गया था 'तमः प्रधान प्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया' वहाँ भी 'तद्भोगाय' कहा था। जीवों के भोग के लिये ही सूक्ष्म शरीर भी बनाया। जब भोग के लिये सूक्ष्म शरीर बना दिया तो फिर आगे उसे स्थूल शरीर बनाने की क्या जरूरत है? भोग दो तरह से होता है : एक तो जीभ से खाते हो। जीभ नहीं होगी तो खाना या स्वाद लेना सम्भव नहीं। अनुभव किया होगा कि जब ज़ोर का जुकाम हो जाता है तब कुछ भी खाओ, स्वाद नहीं आता, क्योंकि स्वाद लेने की इंद्रिय जुकाम के कारण कार्य नहीं कर पाती। तुम्हारी जीभ खूब अच्छी है, एक दाना चीनी का जीभ पर आये तो पता लग जाता है कि मीठा है, परन्तु चीनी का दाना ही नहीं है तो स्वाद का क्या पता लगेगा! इसलिये भोग के लिये चीनी भी चाहिये और जीभ भी चाहिये। इसलिये पहले भोग के साधन इन्द्रियों व मन को बनाया फिर स्थूल चीजों को बनाया। भोग के लिये दोनों जरूरी हैं, भोग के साधन और भोग के विषय। विषय, जैसे खीर, और साधन जैसे रसनेन्द्रिय। किन्तु खीर स्थूल है और रसनेन्द्रिय सूक्ष्म है तो दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसलिये, जब स्थूल जीभ की प्राप्ति हो, उसके ऊपर खीर आये, तभी रसनेन्द्रिय स्वाद लेगी। भोग्य खीर और भोग का आयतन तुम्हारी स्थूल जीभ हुई। शास्त्रीय भाषा में कहते हैं कि इन्द्रिय की गोलक होनी चाहिये। गोलकों का आधार भोगायतन तुम्हारा यह स्थूल शरीर है। भोग्य खीर, भोगायतन तुम्हारा शरीर और उसमें होने वाली इन्द्रियाँ साधन हुईं। ये सब हों तब भोग हो। ये जो पंचीकृत पदार्थ बनाये जायेंगे ये भोग्य और भोगायतन के लिये अर्थात् तुम्हारे शरीरों के लिये और भोग्य पदार्थों के लिये हैं। ये दोनों स्थूल हैं। स्थूल शरीर के साथ तुम्हारा तादात्म्य सम्बन्ध है। इसके अन्दर ही इन्द्रियाँ कार्यकारी हैं, और इनके योग्य जो स्थूल पदार्थ हैं, उनके साथ सम्बन्ध होता है। सूक्ष्म शरीर का स्थूल पदार्थों के साथ सीधे ही सम्बन्ध नहीं हो सकता; इसलिये स्थूल शरीर की जरूरत है।

विषय और देह पैदा हो सकें इसलिये भगवान् महाभूतों को स्थूल बनाते हैं। सूक्ष्म वह है जो इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों से जिसका पता नहीं चलता उसको यहाँ सूक्ष्म कहा है और इन्द्रियों से जिसका पता लगता है उसको यहाँ स्थूल कहा है। इस अर्थ में ही यहाँ स्थूल, सूक्ष्म शब्दों का प्रयोग है। सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों का विषय नहीं है। जो इन्द्रियों का विषय नहीं है उसके साथ, इन्द्रियों का विषय जो स्थूल है, उसका संयोग नहीं हो सकता। दो चीजों में संयोग तब हो जब वे एक ही प्रकार की हों अर्थात् स्थूल हों। इन्द्रियाँ सूक्ष्म और विषय स्थूल हैं तो उनका संयोग हो नहीं सकता। परन्तु सूक्ष्म में जिसका अभिमान है वह स्थूल में भी अभिमान कर सकता है। अर्थात् इन्द्रिय-मन के अन्दर जिसका

अभिमान है वह स्थूल शरीर में भी अभिमान कर सकता है। स्थूल शरीर उसको कहते हैं जो इन्द्रियों से दीखता है, छुआ जाता है, सुना जाता है अर्थात् इन्द्रियों का विषय है। सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट जो जीवात्मा है उसका उस शरीर के साथ 'मैं'-पने का अध्यास है अर्थात् 'यह मैं हूँ' ऐसी उसको प्रतीति है। स्थूल शरीर में वह प्रतीति सूक्ष्म से विशिष्ट होकर होती है। अतः जब सूक्ष्म शरीर का अभिमान प्रधान होता है तब शरीर को 'मेरा शरीर' ऐसा समझता है। सूक्ष्म शरीर के साथ तो हमेशा 'मैं' का ही अनुभव होता है। कहने को 'मेरा मन' कह दें, लेकिन मन वैसे नहीं दीखता है जैसे हाथ में पहनी हुई घड़ी दीखती है। इसी प्रकार 'मेरी आँखें' कह दें, पर आँख अर्थात् इन्द्रिय वैसे नहीं दीखती जैसे यह गोलक दीखती है। जो दीख रहा है वह गोलक है जिसके अन्दर इंद्रिय रहती है। डाक्टर तुम्हारे सामने एक पर्दा टाँगकर कहता है 'सामने बाँचो क्या लिखा है।' अगर तुम उसे कहो 'मैं क्यों बाँचू? फीस आपको लेनी है, आप ही बताओ कि मुझे दीख रहा है या नहीं।' तो कोई डाक्टर नहीं बता सकता! तुम्हीं बता सकते हो कि तुम्हें दीख रहा है या नहीं । कई बार डाक्टर गोलक की परीक्षा करके कहते हैं 'तुम्हारी आँख बिलकुल ठीक है, उसमें कोई खराबी नहीं है,' लेकिन तुम्हें अनुभव होता है कि 'मुझे नहीं दीख रहा है'। तुम झूठ नहीं बोल रहे हो, क्योंकि तुम्हें सचमुच नहीं दीख रहा है। आँख की गोलक दीखती है, उसकी परीक्षा तो डाक्टर और मशीन कर सकते हैं परन्तु देखने वाली इन्द्रिय है, जिसे केवल तुम ही जान सकते हो। सूक्ष्म शरीर कभी भी स्थूल की तरह विषय नहीं होता। स्थूल शरीर वैसे ही दीखता है जैसे सामने घड़ी दीखती है अर्थात् विषयरूप से दीखता है। 'मैं हाथ नहीं उठा पा रहा हूँ या मेरा हाथ काम नहीं कर रहा है'—यह पता मुझे साफ लगता है परन्तु जैसे स्थूल हाथ दीख रहा है ऐसे सूक्ष्म हाथ दीखता नहीं है। हाथ-इन्द्रिय वाला हूँ या लूला हूँ यह अपने से एक होकर दीखता है। 'लंगड़ा या गूँगा हो गया' इस प्रकार से इंद्रिय-सम्बंध अनुभव में आता है। शरीर वह है जो स्थूल होने के कारण इन्द्रिय का विषय भी है और अभिमान होने के कारण मैं से एक या अभिन्न होकर भी अनुभव होता है। भोग्य स्थूल बनाने हैं और जहाँ बैठकर भोग करोगे वह शरीर भी स्थूल बनाना है। भोग तो सूक्ष्म शरीर से होगा लेकिन स्थूल शरीर में बैठकर भोग करोगे अतः वह भोगायतन है। बिना इस भोगायतन के, कभी भोग नहीं होता। केवल सूक्ष्म शरीर भोग नहीं कर सकता क्योंकि स्थूल विषय के साथ उसका सम्बंध तभी होगा जब भोगायतन में बैठेगा। जो भोग होता है उसमें कारण तुम्हारा कर्म ही है।

कर्म तीनों प्रकार के हैं शारीरिक कर्म, वाचिक कर्म और मानसिक कर्म। मनु महाराज ने ये तीन कर्म बताये हैं। शारीरिक कर्म—हमने तलवार उठाकर किसी का सिर काट दिया तो शरीर से किया, यह शारीरिक कर्म हुआ। हमने किसी को गाली दी, यह वाचिक कर्म हुआ। इसके द्वारा हमने उसके शरीर के प्रति तो कुछ नहीं किया, उसके शरीर का कुछ नहीं बिगाड़ा, परन्तु शब्द से उसे ऐसा दुःख दे सकते हैं जो पत्थर मारने से भी ज्यादा हो।

इसलिये कहते हैं कि वाणी से जो तीर लगता है वह बाहर के तीर से भी ज्यादा पैना होता है और उसका घाव बरसों तक नहीं मिटता। बाण से लगा घाव तो महीने-दो महीने में ठीक हो जायेगा परन्तु वाणी का घाव सालों होने पर भी भरता नहीं। वाणी के द्वारा वाचिक कर्म होता है। हमने गाली भी नहीं दी, मन ही मन सोचते हैं कि 'इसने मेरा अनिष्ट किया है, हे भगवान्! तुम इसे देखना'; और बाद में यदि उसका कुछ अनिष्ट हो जाता है तब कहते हैं 'मैंने तो पहले ही भगवान् से प्रार्थना की थी, भगवान् ने मेरी सुन ली।' उसका यह अनिष्ट सोचना तुमने मन से किया। यह ठीक है कि जब तुम किसी दूसरे का सिर काटते हो अर्थात् शारीरिक कर्म करते हो तब इन्द्रिय से तो किया ही, हाथ से तलवार उठाकर मारी इसलिये शरीर से भी किया। यदि बोलकर किया; तो वाचिक भी है और मानसिक भी है क्योंकि मन से पहले सोचा कि 'इसने मेरे लड़के को पीटा, मैं इसकी गर्दन काट दूँगा।' इसलिये शारीरिक कर्म में शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों हैं। वाचिक कर्म में केवल इन्द्रिय हो, शरीर और मन नहीं हों—ऐसा तो है नहीं, क्योंकि तुमने वाचिक कर्म किया तो जबान को हिलाया, ओठों को हिलाया अतः शारीरिक कर्म भी हुआ और 'यह दुष्ट है' ऐसा मन में पहले संकल्प हुआ तब गाली दी। इसलिये इन्द्रिय से कर्म किया तो वह शारीरिक भी है और मानसिक भी है। जब मानसिक कर्म किया तब केवल मानसिक ही हुआ, उसमें तुमने न शरीर को काम में लिया और न इन्द्रिय को लिया। इस दृष्टि से कई जगह शास्त्रों के अन्दर दो प्रकार के कर्म भी कह दिये हैं—एक, शारीरिक और दूसरे, मानसिक; शारीरिक कर्मों के भोग के लिये उस कर्म का फल शरीर में ही भोगना पड़ेगा अतः उसके लिये स्थूल विषय चाहिये और मानसिक कर्म के फलभोग के लिये सूक्ष्म विषयों से भी काम चल जाता है, स्वप्न में भोग हो जाता है। स्वप्न में स्थूल विषय तो नहीं हैं लेकिन मानसिक विषय हैं ही जो संस्काररूप से हैं। इसलिये स्वप्न में जो रसगुल्ला खाते हैं, वह मानसिक कर्म का फल है। स्वप्न के अन्दर भी सुख-दुःख का भोग होता है, परन्तु वह जाग्रत् कर्म का फल नहीं है।

मानसिक कर्मरूप उपासना के लिये तुम्हें शरीर आदि शुद्ध करके बैठना है, कुछ न कुछ शारीरिक क्रिया साथ है। शरीर को शुद्ध करना, एक आसन से बैठना, सीधे बैठना इत्यादि कुछ-न-कुछ शरीर के साथ करके उपासना करते हो, इसलिये उपासना को *केवल* मानसिक कर्म नहीं कहते। जबकि है उपासना मानसिक ही, 'उपासना नाम मानसी क्रिया,' फिर भी उपासना के अन्दर स्थूल शरीर का सम्बन्ध भी है। मानस कर्म स्वप्न में भी फल दे देते हैं, कई बार जाग्रत् में भी फल देते हैं। जाग्रत् के अन्दर भी मानसिक भोग होता है : जैसे तुमने भ्रम से किसी सुख को भोग लिया; वहाँ स्थूल चीज कुछ नहीं है। बंगाल में निरोध चौधरी नाम का एक बहुत बड़ा ईसाई लेखक हुआ है। उसने अपना एक अनुभव लिखा है : एक बार वह अमृतसर गया हुआ था। कम से कम अस्सी साल पहले की बात होगी। अमृतसर में जहाँ वह ठहरा हुआ था वहाँ सवेरे उठकर बरामदे में दातुन कर रहा था। उसकी नजर पड़ी की सामने एक औरत पीठ करके खड़ी है। उसके मन में आया कि 'वह औरत तो जवान है, इधर मुड़ेगी

तो उसका चेहरा देखूँगा।' काफी देर देखता रहा लेकिन वह औरत मुड़ी नहीं। हवा चल रही थी, थोड़ी देर बाद अकस्मात् हवा चलनी बन्द हो गई, तब उसने देखा कि वह जिसे औरत समझ रहा था, वहाँ दो तार ऊपर-नीचे लगे थे। ऊपर के तार में कुर्ता और नीचे के तार में सलवार सूख रही थी। हवा चलने के कारण वे फूले हुए थे तो वह सोच रहा था कि कोई औरत होगी। हवा बन्द हुई तो देखा कि वहाँ कोई नहीं, केवल दो कपड़े ही सूख रहे थे। उसे घण्टे भर तक जो सुख हुआ उसके लिये कोई विषय तो था नहीं। कपड़े में औरत का भ्रम हो रहा था। ऐसे ही कई बार दुःख भी हो जाता है। स्वप्न में हो या जाग्रत् में, जहाँ कल्पित विषय सुख-दुःख देता है, वह मानस कर्म का फल है। जो शरीर को प्राप्त होने वाले रसगुल्ले आदि का सुख है, वह तुम्हारे शारीरिक कर्म का फल है।

भोग्य और भोगायतन को पैदा करने के लिये परमेश्वर ने सृष्टि की। जिसने सृष्टि की उसको 'भगवान्' कहा। भगवान् शब्द का अर्थ है 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्यमित्येषां षण्णाम् भग इतीरणा॥' जिसके पास सारे ऐश्वर्य हैं, जिसका यश सबसे बड़ा है वह भगवान् है। संसार में परमेश्वर ऐसा है जिसका यश सबसे बड़ा है। संसार में कोई नहीं जो परमेश्वर को नहीं जानता, चाहे परमेश्वर को 'है'रूप से जाने या 'नहीं है'-रूप से जाने। जो कहता है कि 'मैं परमेश्वर को नहीं मानता' वह भी परमेश्वर को जानता तो है ही क्योंकि नहीं जानता होता तो कैसे कहता कि नहीं मानता? यदि वह जानता नहीं तब तो उसका प्रश्न होता कि ईश्वर क्या चीज है; वह तो कह रहा है कि ईश्वर को नहीं मानता। इसलिये ईश्वर का यश अक्षुण्ण है। आस्तिक उसे है और नास्तिक उसे नहीं है मानता है परन्तु उसे जानते सब हैं। एक व्यक्ति भगवान् का बड़ा भक्त था। उसको किसी नास्तिक ने कहा 'ईश्वर नहीं है, तुम तो ऐसे ही राम-राम किये जा रहे हो।' भक्त ने उसे नमस्कार किया कि 'तुम धन्य हो'। उसने पूछा कि 'तुम मुझे क्यों नमस्कार कर रहे हो?' उसने कहा 'तुमने कम-से-कम पता तो लगाया कि ईश्वर नहीं है। घड़ा नहीं है यह बात वही कह सकता है जो घड़े को जानता है। यज्ञदत्त को जानने वाला ही कह सकता है कि यहाँ यज्ञदत्त नहीं है। इसी प्रकार जो कह रहा है कि ईश्वर नहीं है तो वह ईश्वर को जानता ही है तभी कह रहा है। इसलिये तुम धन्य हो कि ईश्वर को जानते हो। मैंने तो आज तक ईश्वर को जाना ही नहीं।'

सारे कर्मों का फल देने वाला वही है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं 'फलमत उपपत्तेः' परमेश्वर सब कर्मों का फल देने वाला है। यदि वह न हो तो फल कौन देगा? कुछ लोग मान लेते हैं कि कर्म खुद फल दे देते हैं ईश्वर की क्या जरूरत है। आजकल भी बहुत से आदमी कह देते हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है इसमें ईश्वर की क्या जरूरत पड़ती है! परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि कर्म तो तुमने अभी किया और उसका फल तुम्हें बाद में मिला। क्रिया-प्रतिक्रिया की व्यवस्था लगातार चलती प्रक्रिया में लागू होती है। आज तुमने गेंद दीवार पर फेंकी और वह छह महीने बाद अकस्मात् तुम्हारे सिर पर आकर लगी–

ऐसा नहीं होता। जिस समय क्रिया की उसी समय प्रतिक्रिया होती है। कर्म का फल ऐसे नहीं होता कि अभी कर्म किया और उसका फल तुरन्त हो। लोक में देखा जाता है कि जहाँ क्रिया की प्रतिक्रिया देर से होती है वहाँ उसका फल देने वाला कोई चेतन व्यक्ति होता है। उत्तर प्रदेश में एक जगह थी जहाँ सारे डाकू रहते थे। वहाँ हम एक पाठशाला को खोलने गये। उद्घाटन हो गया, हम सब वहाँ चाय पीने के लिये बैठे। जितने लोग वहाँ आये थे उनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसके पास दुनाली बन्दूक न हो। बातचीत में हमने उनसे कहा 'अब तो तुम्हारे बच्चे पढ़-लिख कर सुधर जायेंगे, इसलिये अब तुमको डकैती नहीं करनी पड़ेगी क्योंकि बच्चे काम-धन्धा करने लग जायेंगे।' एक बुड्ढा वहाँ बैठा था। उसने कहा—'इस देश से डकैती कभी नहीं जायेगी। अभी तो हम सामने से बन्दूक दिखाकर लूटते हैं ओर ये जब पढ़-लिख जायेंगे तब कलम से छिपकर लूटा करेंगे।'

मान लो तुमने किसी अफसर को कुछ कह दिया। उस समय वह कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। पाँच-छह महीने बाद उसकी बदली होकर तुम्हारे ही गाँव में आ गया, तब वह तुम्हें तंग करता है, तरह-तरह के इल्जाम लगाता है, तुम परेशान हो जाते हो। उसका कारण है कि छह महीने पहले तुमने उसे कुछ कड़वा कहा था। अथवा जैसे मालिक सालभर तक देखता रहता है कि तुमने कैसे काम किया। तुमने अच्छा काम किया तो साल-भर बाद तुम्हारी तनख्वाह बढ़ा देता है। साल-भर तक तुम्हारा काम देखकर बाद में फल दिया। इसी प्रकार चेतन परमात्मा अच्छे-बुरे कर्म की प्रतिक्रिया बाद में करता है। जहाँ कर्म का फल देर से होता है वहाँ चेतन ही फल दे सकता है, अपने आप फल नहीं हो सकता।

संसार में जितनी भी स्थूल चीजें हैं, सबका एकमात्र बनाने वाला होने से मालिक वही है। तुम जिन चीजों को अपनी कहते हो, वे तुम्हारी मिल्कियत वाली नहीं होती। वे तो तुम्हें कुछ समय के लिये मिली हुई चीजें हैं। यहाँ तक कि जिसे तुम अपना शरीर कहते हो वह भी मिली हुई चीज है। जैसे ही सौ साल पूरे हुए, यह छीन ली जायेगी। बाकी चीजों की तो बात ही क्या है! इसलिये संसार में जितने पदार्थ हैं वे हमेशा परमेश्वर के तो रहेंगे, तुमको थोड़े समय के लिये मिल जायेंगे। अतः वही सारी श्री का स्वामी है।

ज्ञान और वैराग्य की भी उसमें पूर्णता है। परमेश्वर हर चीज को वह जैसी है वैसी जानता है और इस बात को भी जानता है कि जितना नामरूपात्मक संसार है यह सारा पानी के बुलबुले की तरह दीखता है, सचमुच में कुछ नहीं है। जैसे पानी का बुलबुला तुम्हें बड़ा भारी दीखता है परन्तु जैसे ही वह फूटता है, पता लगता है कि वहाँ सिवाय पानी के कुछ नहीं है इसी प्रकार 'नेति नेति' से पता लगता है कि यह सारा नाम-रूपात्मक संसार कुछ नहीं है, केवल सच्चिदानंदरूप ब्रह्म ही है, सारा भेद अज्ञान से प्रतीत हो रहा है। परमेश्वर सारे संसार को जानता है और उसकी वास्तविकता को भी जानता है। इसलिये उसे सारे पदार्थों से हमेशा वैराग्य है, किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति का प्रश्न ही नहीं है। राग किससे होता है? जिस चीज को तुम अच्छा समझो और वह तुम्हारे पास न हो, उससे राग

होता है। एक अरब रुपये को तुम अच्छा समझते हो तो तुम्हें राग होगा। जिसके पास अधिक है उसकी बात दूसरी है : जिसके पास नौ सौ अरब रुपये हैं, उसे एक अरब रुपये से विशेष राग नहीं होगा। यह दूसरी बात है कि उसे नौ सौ एक अरब रुपये की इच्छा हो सकती है, लेकिन 'एक अरब हो जायें' यह इच्छा तो नहीं हो सकती। भगवान् कहते हैं 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' संसार में कोई चीज ऐसी नहीं जो मुझे प्राप्त न हो क्योंकि मेरी ही मिल्कियत है। मुझे प्राप्त करनी हो—ऐसी भी कोई चीज नहीं है। अप्राप्त और प्राप्तव्य दोनों नहीं हैं तो भगवान् को राग कैसे हो? दोनों ही कारण हैं—संसार की वास्तविकता को जानने से वैराग्य है और सब कुछ प्राप्त भी है अतः राग की सम्भावना नहीं है। ये छह चीजें जिसमें पूरी तरह से रहती हैं वह भगवान् है। इनमें से थोड़ी बहुत चीजें तो हमारे पास हो सकती हैं, परन्तु पूरे रूप में जिनके पास होती हैं उनको भगवान् कहा जाता है।

ऐसे भगवान् 'वियदादिकं प्रत्येकं पंचीकरोति' आकाश आदि हरेक को पंचीकृत करते हैं अर्थात् हर चीज में अन्य चारों को मिलाकर पंचीकरण कर देते हैं। पंचीकरण क्यों करते हैं? क्योंकि सूक्ष्म महाभूत इस प्रकार से ही स्थूल बनाये जा सकते हैं। जैसे औरतें गहने बनवाती हैं तो क्या होता है? चौबीस कैरेट या सौ टंच सोने का कोई गहना नहीं बन सकता। गहना बनाने के लिये उसमें खोट मिलानी पड़ती है। उसे कम से कम बाईस कैरेट का करोगे तब गहना बनेगा। अन्यथा सोना इतनी मुलायम धातु है कि बिना खोट मिलाये गहना नहीं बन सकता। गहने में जितनी सूक्ष्म कारीगरी करानी होगी उतनी ज्यादा खोट मिलानी पड़ती है क्योंकि उसमें ज्यादा स्थूलता लानी पड़ती है। सूक्ष्म चीज को स्थूल करने के लिये कोई न कोई खोट मिलानी पड़ती है। एक धातु में दूसरी धातु की ही खोट मिलेगी। इसी प्रकार स्थूल विषय बनाने के लिये सूक्ष्म महाभूतों में मेल ही करना पड़ता है।। २६।।

मेल करने का तरीका आगे बताते हैं—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥२७॥

हर-एक महाभूत के दो हिस्से कर, प्रत्येक के एक हिस्से को चार भागों में बाँटकर, एक हिस्से को बाकी चारों के आठवें हिस्सों से जोड़ने से वे पाँचों (स्थूलीकृत महाभूत) पाँचों (भूतों) वाले हो जाते हैं।

आकाश आदि पाँचों महाभूतों का आधा भाग (आठ आना) एक तरफ कर लो आधे-आधे भाग के चार हिस्से (दो-दो आना) करके एक-एक हिस्सा (दो आना) दूसरे भूत में मिला देने से हर भूत एक रुपया-भर हो जायेगा अर्थात् प्रत्येक महाभूत इस प्रकार पूरा होकर पंचीकृत हो जायेगा। आधा हिस्सा (आठ आना) प्रत्येक महाभूत का अपना व शेष चार महाभूतों के चार भाग (दो-दो आना) मिलाकर स्थूल महाभूत पूर्ण हो जायेगा। जैसे पंचीकृत आकाश में आधा भाग आकाश का व चार भाग शेष चार भूतों—वायु, तेज, जल,

पृथ्वी के मिलकर स्थूल आकाश बन गया। इसी प्रकार अन्य चारों महाभूतों का भी पंचीकरण होकर स्थूल महाभूत बन गये। अतः स्थूल आकाश में आधा हिस्सा आकाश का है और उसमें एक बटा आठ वायु, उतना ही तेज, उतना ही जल और उतनी ही पृथ्वी है। चारों अन्य भूतों की 'खोट' मिलने से ही सूक्ष्म भूत स्थूल हो जाता है। अधिक भाग आकाश का होने से स्थूल में पाँचों होने पर भी उसे आकाश कहा-समझा जाता है।

इस प्रकार से खोट मिलाकर यह स्थूल संसार बना है। भोग के जो साधन सूक्ष्म बनाये थे उनके अन्दर स्थूलपना नहीं था जबकि भोग्यों के अन्दर स्थूलपना है। सोने का वर्क हमेशा शुद्ध सोना होता है। सोने में थोड़ी भी मिलावट होगी तो वर्क नहीं बन सकता। लेकिन उस वर्क से गहना आदि बनाना चाहो तो नहीं बनेगा। वह तो केवल मिठाई या पान के ऊपर लगाकर खाने के काम आयेगा। इस प्रकार सूक्ष्म महाभूत केवल आत्मा के भोग और कर्म का औजार बन गये, बाकी वे कुछ नहीं कर सकते। इस तरह सूक्ष्म भी पाँच हैं और स्थूल भी पाँच ही हैं ।। २७।।

स्थूलीकृत भूतों से क्या निर्मित होता है, यह बताते हैं–

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः।
हिरण्यगर्भःस्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत्।
तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ॥२८॥

उन स्थूल भूतों से ब्रह्माण्ड बना, उसमें चौदह भुवन (लोक) बने जहाँ भोग्य विषय और भोगायतन शरीर उत्पन्न हुए। इस स्थूल शरीर में हिरण्यगर्भ ही वैश्वानर (विराट्) हो गया। तैजस वहीं विश्वभाव को प्राप्त हो गये, जिनके अवान्तर भेद देव, पशु, मनुष्यादि हैं।

जब ये पंचमहाभूत पंचीकृत हो गये अर्थात् स्थूल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश बन गये, तब उससे अण्ड अर्थात् ब्रह्माण्ड बन गया जिसको तुम विश्व कहते हो। इसको ऋषियों ने देखा कि यह अण्डाकार है इसलिये इसे ब्रह्माण्ड कहते हैं। अर्थात् वह ब्रह्म ही माया के द्वारा पंचमहाभूतों को स्थूल आकार देने के बाद अंडाकार हो गया। वर्तमान में जिन लोगों ने बाह्य विषयों का अध्ययन किया है उन्होंने पाया है कि संसार में प्राकृतिक गति अण्डाकार ही होती है। हम लोगों के जितने ग्रह हैं, वे सूर्य के चारों तरफ जो परिधि बनाते हैं वह अंडाकार ही होती है। आगे सूर्य ध्रुव के चारों तरफ अण्डाकार की परिधि में ही घूमता है। यह आधुनिक विज्ञान को बड़े-बड़े यंत्रों के द्वारा पता लगा और अपने ऋषियों को इस बात का पता उसी समय लग गया, जब पंचमहाभूतों से सृष्टि बनी, कि यह सारा संसार अण्डे के ही आकार का बना है, अर्थात् ब्रह्माण्ड बन गया।

ब्रह्माण्ड सर्वत्र एक जैसा नहीं है। उसमें चौदह भुवन या लोक बने। सात ऊपर के लोक भूः, भुवः, स्वः (स्वर्ग), महः, तपः, जनः और सत्यम् तथा सात नीचे के लोक तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, पाताल–ये चौदह भुवन बन गये। इनमें जन लोक की

विशेषता है कि स्त्री वहाँ जाकर वापिस आने पर पुरुष बनती है अर्थात् स्त्री से पुरुष योनि में बनना जन लोक से होता है। सबसे ऊपर सत्य लोक है। उसीको ब्रह्मलोक भी कहते हैं। इन ऊपर के सात लोकों में मनुष्य पुण्य कर्म और पुण्य उपासनाओं को करने से जाता है। आगे बतायेंगे कि इन्हीं चौदह लोकों के अन्दर हम लोग घूमते रहते हैं। शुभ-कर्म करके ऊपर के लोकों को जाते हैं और अशुभ कर्म करके नीचे के लोकों को जाते हैं। हर हालत में मनुष्य लोक में आकर ही हम शुभ या अशुभ कर्म कर सकते हैं। अन्य लोकों के अन्दर उपासना भी की जा सकती है, ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है परन्तु शुभ या अशुभ कर्म वहाँ नहीं होते। कर्म में अधिकार केवल मनुष्यों का ही है। इन कर्मों को करने के लिये और उनके फल भोगने के लिये पंचमहाभूतों से विषय बन गये जिनका हम भोग या कर्म में उपयोग कर सकते हैं। गेहूँ, चावल इत्यादि बन गये जिन्हें भात आदि बनाकर हम खा सकते हैं। इसी प्रकार सुन्दर फूल इत्यादि बन गये जिनकी हम गंध ले सकते हैं। सुन्दर रूप, सुन्दर दृश्य इत्यादि बन गये। जंगल या पहाड़ों में जाओ तो दृश्य ऐसे सुन्दर लगते हैं कि देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। अथवा कई बार आकाश में बादल बड़े सुन्दर रूपों को धारण कर लेते हैं। जिनका इन्द्रियों से भोग होता है वे सब भोग्य हैं।

कुछ रूप देखने में आते हैं जिन्हें देखकर दुःख होता है। किसी गलित कुष्ठ के रोगी को देखो तो दुःख होता है, उसी समय आदमी वहाँ से हटना चाहता है। किसी की मृत्यु देखो तब भी भय होता है। आचार्यों ने कहा है कि अपना कोई प्राणप्रिय व्यक्ति भी मर जाये और रात को औरत को अकेले वहाँ बैठना पड़े तो उससे भी भय लगता है 'भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये'। इसी प्रकार घोर कड़वी चीज खाने से बड़ा दुःख होता है। कुनैन की बड़ी सुन्दर गोली आती है, देखने में बड़ी सुन्दर लगती है, मुँह में डालो तो उस आदमी का चेहरा देखने से ही लोग भड़कने लगते हैं! भयंकर कड़वी होती है। जैसे सुख भोग्य है वैसे ही दुःख भी भोग्य है। प्रायः भोग्य सुनकर लोग सुख को याद करते हैं, दुःख को ख्याल में नहीं लाते। परन्तु जैसे सुख का भोग है वैसे ही दुःख का भोग है। दुःख भी किसी-न-किसी विषय से ही होता है। कहीं पर छाया पड़ी हुई हो और उसमें भूत का भ्रम हो जाये तो भी दुःख होता है पर वहाँ विषय नहीं किंतु यद्यपि वहाँ व्यावहारिक विषय नहीं है तथापि प्रातिभासिक विषय तो है ही। छाया में तुमको जिस भूत का भ्रम हो रहा है वह भूत तो विषय है ही। चाहे व्यावहारिक विषय हो, चाहे काल्पनिक विषय हो, दोनों का भोग हो सकता है।

जैसे भोग्य पैदा हुआ वैसे ही भोगाश्रय भी। रसगुल्ला जब मुँह में जायेगा तब मजा आयेगा, इसलिये भोग करने का आश्रय मुख या जीभ हुई। इसी प्रकार फोड़े का दुःख तभी होगा जब शरीर हो, उसी में फोड़ा होगा। फोड़े के दुःख का भोग करने के लिये शरीररूपी आश्रय चाहिये जिसमें फोड़ा हो। पंचीकृत पंचमहाभूतों से भोग करने के विषय भी बने और उनका जिससे सम्पर्क होने से सुख-दुःख का साक्षात्कार संभव है वह शरीर भी हुआ।

पांचभौतिक ब्रह्माण्ड के अन्दर अर्थात् इस ब्रह्माण्डरूप स्थूल शरीर के होने पर 'हिरण्यगर्भः वैश्वानरो भवेत्।' माया की उपाधि से जो ईश्वर था, सूक्ष्म समष्टि के होने पर वही हिरण्यगर्भ कहा गया और वही जब स्थूल शरीर का अनुभव करता है तब उसे वैश्वानर कहते हैं। अतः हिरण्यगर्भ ही वैश्वानर हो जाता है। इसी को विराट् भी कहते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में 'वैश्वानर' शब्द का प्रयोग किया है। ईश्वर, ईश्वर-भाव को छोड़कर हिरण्यगर्भ नहीं होता अर्थात् हिरण्यगर्भ होने पर ईश्वर नहीं है ऐसा नहीं है! ईश्वर तो तब भी है जब हिरण्यगर्भ हो गया। ऐसे समझ लो कि जब तुम बी.ए. पास हो गये तो क्या मैट्रिक पास नहीं रहे? मैट्रिक पास तो हो ही। इसी प्रकार माया की उपाधि से ईश्वर है ही और सूक्ष्म महाभूतों की व्यापक उपाधि के साथ सम्बन्धित हुआ वही हिरण्यगर्भ है। ईश्वर बना रहा, क्योंकि माया की उपाधि हटी नहीं। माया के कार्य की उपाधि और मिल गई तब हिरण्यगर्भ हुआ। माया से ही पंचमहाभूत उत्पन्न हुए। इसी प्रकार माया के रहते हुए, सूक्ष्म पाँचों महाभूतों के भी रहते हुए स्थूल महाभूत भी हैं। इसलिये जब वह वैश्वानर हुआ तब भी हिरण्यगर्भ है ही।

बहुत-से लोग शंका करते हैं कि एक ईश्वर ही मानकर काम चल जाता जो कर्म-फल देने वाला और सृष्टि को बनाने वाला है। अलग से हिरण्यगर्भ मानने की क्या जरूरत है? वस्तुतः इसके दो कारण हैं। एक कारण है कि सृष्टि का निर्वाह करने के लिये चाहे ईश्वरमात्र से काम चल जाये, जैसे अन्य लोग चलाते भी हैं परन्तु वेदों के अन्दर हिरण्यगर्भ और वैश्वानर या विराट् की उपासना कही गई है। उनका फल भी बताया गया है। यदि वैश्वानर या विराट् और हिरण्यगर्भ का रूप न बताया जाये तो वह उपासना किस प्रकार सिद्ध होगी? हिरण्यगर्भ और विराट् की उपासना उन्हें ईश्वर समझकर होती है। उपासना के लिये यह उपयोग हो गया। ज्ञानसाधना में तो उपाधियाँ सारी ही बाध करने के लिये या हटाने के लिये हैं। अगर बाद में हटाना ही है तो पहले लाये ही क्यों? इससे क्या लाभ? शास्त्रकारों ने बताया है कि इसकी आवश्यकता इसलिये है कि इसके बिना परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझा नहीं जा सकता। अतः भ्रम और बाध दोनों ही आवश्यक हैं। इसलिये कहा है 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते' परमात्मा है तो निष्प्रपंच, प्रपंच से रहित है। सूक्ष्म पंचमहाभूत भी पाँच हैं और स्थूल महाभूत भी पाँच हैं। संसार में जो कुछ है वह सब स्थूल या सूक्ष्म महाभूतों के कारण है और ये दोनों ही ब्रह्म में हैं नहीं, इसलिये ब्रह्म निष्प्रपंच है। निष्प्रपंच ब्रह्म के बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं। जो कुछ भी कहोगे वह या तो सूक्ष्म या स्थूल पंचमहाभूतों को लेकर कहोगे। इसलिये यदि परमात्मा का वर्णन करना है तो भगवान् दक्षिणामूर्ति की तरह मौन बैठना पड़ेगा। उनका मौन ही व्याख्यान है। उपनिषद् में कथा आती है कि एक राजा किसी महर्षि से कहता है 'मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।' महर्षि चुपचाप बैठे रहे। राजा ने सोचा कि जोर से बोलने पर सुनते होंगे अतः जोर से बोल कर कहा 'आपने सुना नहीं! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।' फिर भी वे चुप

रहे। राजा ने फिर कहा 'मुझमें क्या खराबी है जो आप मुझे उपदेश नहीं देना चाहते?' ऋषि हँस पड़े कहा, 'मैं उपदेश दे तो रहा हूँ, तू सुन नहीं रहा है तो मैं क्या करूँ!' मौन रहना ही तो उसके बारे में उपदेश है। जिसके बारे में मन और वाणी की प्रवृत्ति हो नहीं सकती उसको तुम शब्दों से बता कैसे सकते हो! इसलिये यदि निष्प्रपंच ब्रह्म का उपदेश देना है तब तो भगवान् दक्षिणामूर्ति की तरह मौन रखना पड़ेगा। जब ब्रह्मा आदि ने सृष्टि बनाना शुरू किया तब उनके अन्दर सत्त्वगुण की प्रधानता थी। सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण पहले सनक सनंदन आदि पैदा हुए। सत्त्वगुण की अधिकता से नित्यकुमार होने के कारण उन्हें सनत्कुमार कहा जाता है। कुमार का अर्थ है 'कुत्सितो मारो येन सः कुमारः' जिसके लिये (जिसमें) कभी कामना उत्पन्न होती ही नहीं, कामना उसके द्वारा दूर ही रखी जाती है। अर्थात् वे सदा निष्काम थे। ब्रह्मा जी ने उनसे कहा 'हमने तुम्हें पैदा किया है, तुम आगे सृष्टि-चक्र चलाओ।' सनत्कुमारों ने कहा 'महाराज! दुनिया बनेगी, लोग दुःखी होंगे, ऐसी दुनिया बनाने से क्या फायदा! बेकार का काम है। आप भी ब्रह्मचिन्तन कीजिये, हम भी ब्रह्मचिंतन करें।' ब्रह्मा जी को गुस्सा आया कि 'मैं सृष्टि करना चाहता हूँ और ये मुझे ही उपदेश करने लग गये गुस्से में कहा, 'नालायको! निकल जाओ यहाँ से।' इसलिये जैसे सृष्टि के आदि काल में पिता ब्रह्मा ने उन्हें निकाला, वैसे ही आज भी कोई परमात्मा के चिंतन की तरफ जाता है तो लोग कहते हैं, 'अभी समय थोड़े ही है, जब बुड्ढे होना, तब कर लेना।' अर्थात् जब हम मर जायेंगे तब तुम जो मर्जी करना। ब्रह्माजी में क्रोध आने से रजोगुण आया, तब उन्होंने सप्त ऋषियों को पैदा किया। इसलिये गीता में कहा 'महर्षयःसप्त पूर्वे' चूँकि ये रजोगुण से पैदा हुए थे, इसलिये जब ब्रह्माजी ने कहा कि सृष्टि करो तो उन्होंने सनत्कुमारों की तरह यह नहीं कहा कि 'भजन करेंगे'। उन्होंने तो सृष्टि बनाई।

सनत्कुमारों की कोई कामना तो थी नहीं परन्तु सोचा कि बिना गुरु के ज्ञान की सम्भावना नहीं होती। वेद भी कहता है कि गुरु से विद्या प्राप्त होने पर ही वह साध्य को प्राप्त कराती है। 'आचार्यवान् वेद' जिसका आचार्य या गुरु होता है उसी को ज्ञान होता है। इसलिये सनत्कुमारों ने विचार किया कि पिता जी के पास तो जा नहीं सकते क्योंकि वे पहले से ही गुस्सा हैं। विष्णु भगवान् के पास जायें, तो वे भी स्थिति का काम करने वाले होने से कहेंगे कि 'पहले थोड़ा संसार की स्थिति का काम कर लो।' इसलिये निर्णय किया कि भगवान् शंकर के पास चलें, उन्हें न सृष्टि में और न स्थिति में रुचि है। भगवान् शंकर के पास गये। शंकर जी ने उन्हें दूर से देखा तो सोचा कि इनके अन्दर वैराग्य की पूर्णता है इसलिये इनके सामने पार्वती के पास बैठना ठीक नहीं है। वहाँ से थोड़ी दूर जाकर दक्षिणामूर्ति का रूप लेकर अकेले बैठ गये। सिंहासन आदि तो छोड़ दिया था इसलिये कहा है 'चित्रं वटतरोर्मूले' वट वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। यह नियम है कि जिसके अन्दर जो विशेषता होती है वह विशेषता जहाँ दीखेगी वहीं उसे आकर्षण होगा। जिसके मन में सोने

के गहनों का प्रेम है वह सोने के गहनों से आकृष्ट होगा। हम लोग सोने के रंग को अच्छा मानते हैं। कोई बता रहा था कि विदेशों में सफेद रंग अच्छा मानते हैं इसलिये वे चाँदी या प्लेटिनम के गहने पहनते हैं क्योंकि ये दोनों धातु सफेद रंग के होते हैं। उसमें हीरा, पन्ना आदि सब लगाते हैं। इसी प्रकार जो सर्वथा वैराग्यवान्, कामना से रहित है उसे कामना से रहित रूप से बैठकर ही ठीक प्रकार से उपदेश देना सम्भव है। अंगूठे और तर्जनी को मिलाकर, तीनों अंगुलियों को अलग करके बैठ गये। सनक, सनंदनादि ने आकर देखा कि भगवान् वहाँ उस मुद्रा के साथ मौन बैठे हुए हैं। मौन ही उनकी व्याख्या थी। सनत्कुमारों ने उनका हाथ देखते ही समझ लिया! इसलिये इसे चिन्मुद्रा कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा ठीक प्रकार से चेतन को समझा जाता है।

हाथ का अंगूठा ब्रह्म को बताता है। जैसे ब्रह्म कुछ नहीं करता, वैसे ही यदि हमने किसी से पैसा लिया है और हमको उसे वापिस नहीं देना हो तो हम उसे अंगूठा दिखा देते हैं। अंगूठे से द्योत्य निष्प्रपंच ब्रह्म है। अंगूठा ब्रह्म को बताता है। अंगूठे के साथ वाली जो पहली अंगुली है इसे संस्कृत में तर्जनी कहते हैं। किसी को डाँटना हो तो यही अंगुली दिखाकर डाँटते हैं, इसलिये इसे तर्जनी कहते हैं, इसमें मनुष्य का मैं-भाव प्रबल है। यह अंगुली आदमी तभी दिखाता है जब उसके अन्दर अहंकार की पूर्णता होगी। अपना जो अहम् अर्थात् जीवभाव है वह परमात्मा या ब्रह्म से एक कर दो अर्थात् मेरा अहम् कुछ नहीं, अन्दर बैठा हुआ जो अन्तर्यामी है उसी का सब कुछ है। परन्तु इसके लिये क्या करना पड़ेगा? इन तीन अंगुलियों को अलग करना पड़ेगा। अंगुलियाँ अन्दर को बन्द करो तो घूँसा बन जायेगा। चिन्मुद्रा के लिये अंगूठे और तर्जनी के अगले भाग को मिलाकर तीनों अंगुलियों को अलग करना पड़ेगा। इनमें से बीच की अंगुली सबसे बड़ी है इसलिये यह अविद्या को बताती है। इसके पास की अंगुली अनामिका है। इसमें प्रायः अंगूठी पहनते हैं। यह दूसरी बात है कि कोई ज्योतिषी मिल जाये तो उसके कहने पर दसों अंगुलियों में लोग अंगूठी पहन लेते हैं। परन्तु यदि एक ही अंगूठी पहननी हो तो इन तीन अंगुलियों के बीच वाली अंगुली में पहनते हैं। इसलिये यह अंगुली कामना को बताती है। अविद्या तमोगुण अर्थात् तम रूप ही है और कामना रजोरूप है। कामना रजोगुण को बताती है। इसके पास कनिष्ठिका है जो सबसे छोटी है, सबसे कमजोर भी है। हमारे अन्दर सबसे कमजोर सत्त्वगुण ही है। कामना हम में प्रबल है और अज्ञान तो प्रबल है ही, परन्तु सबसे कमजोर सत्त्वगुण या ज्ञान है। इसलिये यह सब से दूर होने से, या सबसे छोटी होने से सत्त्वगुण को बताती है। अंगूठे और तर्जनी से इन तीनों अंगुलियों को अलग करके बताया कि इन तीनों गुणों को छोड़ दो। भगवान् ने भी कहा है 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' वेद जितनी चीजों को प्राप्त करने के लिये बताता है वे सब तीन गुणों के अन्दर ही हैं। चाहे जैसे कर्म या उपासनायें बताई हैं, वे सब तीन गुणों के अन्तर्गत ही फल देंगी। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तीनों गुणों को छोड़कर उस परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित हो जाओ। दक्षिणामूर्ति इस चिन्मुद्रा को

बनाकर बैठे थे। सनत्कुमार आदि भी सर्वथा कामना से रहित थे। उनमें पूर्ण वैराग्य उपस्थित था इसलिये कहा 'शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः'। इस बात को देखते ही उनके मन के सारे संशय निवृत्त हो गये। वह मौन व्याख्यान का विषय है।

परन्तु मौन व्याख्यान चूँकि साधारणतः समझ में नहीं आ सकता इसलिये परमेश्वर के ऊपर पहले उपाधियों की कल्पना करनी पड़ती है, इसी को संस्कृत भाषा में अध्यारोप कहते हैं। अर्थात् जो जहाँ नहीं है उसको वहाँ समझना। फिर उसका अपवाद हो जाता है अर्थात् उसे हटा देते हैं। तब चीज तुम्हें समझ में आ जाती है। इसलिये ईश्वर का आरोप किया जाता है कि एक माया है, उस माया की उपाधिवाला ईश्वर है। अंत में बताना क्या है? माया है ही नहीं! बता तो उसी समय देते हैं, अगर सनत्कुमार जैसे हों तो समझ जायें। संस्कृत में 'मा' मायने नहीं और 'या' मायने जो, इसलिये 'माया' मायने जो नहीं है। इस बात को समझ जायें तो आगे का खेल खत्म हो जाये, अध्यारोप-अपवाद की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। माया की कल्पना की, परन्तु माया की कल्पना से ही समझ में नहीं आया तो आगे कहते हैं कि यह सब जो हमको दीख रहा है यह क्या है? हम मानते हैं कि हम देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं तब कहना पड़ता है कि तुम इसलिये अनुभव करते हो कि शरीर है। सूक्ष्म शरीर है यह कहना हमारा तात्पर्य नहीं है। परन्तु तुम कहते हो 'हम अनुभव करते हैं।' इसलिये बताना पड़ता है। हम जानते हैं कि हम कुछ अनुभव नहीं कर रहे हैं क्योंकि कुछ हुआ होता तो कुछ दीखा भी होता! परन्तु जब तुम कह रहे हो 'मैं देख रहा हूँ' तो सही जवाब है, 'तू झूठ बोल रहा है'। लेकिन ऐसा कहने से समाधान नहीं होगा। इसलिये सूक्ष्म शरीर मान लेना पड़ता है कि उससे दीखता है। उससे क्या दीखता है? तब बता देते हैं कि पंचीकरण होकर स्थूल पंचमहाभूत बने। विचार करो तो सचमुच में सूक्ष्म ही नहीं है तो स्थूल कहाँ से आया? इसे बताने के लिये कहा कि माया उपाधि कारणरूप से है। इसी प्रकार सूक्ष्म प्रपंच सूक्ष्म महाभूतों से बना, इसलिये हिरण्यगर्भ बताना पड़ता है। उनसे स्थूल महाभूत बने तो उसके लिये विराट् को बताना पड़ा। समष्टि सूक्ष्म महाभूत वाला हिरण्यगर्भ एवं समष्टि स्थूल महाभूत वाला विराट् है।

निष्प्रपंच का प्रपंचन करने में एक प्रयोजन तो बताया उपासना; हिरण्यगर्भ और वैश्वानर की उपासना बताई और उसके बहुत बड़े-बड़े फल बताये हैं। अश्वमेधादि जो बड़े-बड़े कर्म हैं उनका फल हिरण्यगर्भ की उपासना से हो जाता है। सब लोग तो अश्वमेध कर नहीं सकते। कोई चक्रवर्ती राजा हो, वह घोड़ा छोड़े और उसे कोई पकड़ नहीं सके तब वह यज्ञ होगा। फिर अश्वमेध के फल को कैसे प्राप्त किया जाये? उसके लिये हिरण्यगर्भ की उपासना बता दी। उसे तो सब कर ही सकते हैं। इसी प्रकार से वैश्वानर की उपासना बताई है। एक बड़ी सीधी वैश्वानर की उपासना है कि जब सबसे पहले खाने बैठो तो चावल, घी, गुड़ को मिलाकर मृगमुद्रा से पाँच बार कौर खाते हो तो उसमें भावना करनी है कि यह खाने वाला मैं नहीं वरन् पेट में बैठा हुआ वैश्वानर है और मैं उसे पाँच आहुति दे रहा हूँ। पेट

में रहने वाली अग्नि वैश्वानर अग्नि को कहा है। नहीं खाओ, यह नहीं कह रहे हैं, परन्तु पहले पाँच कौरों से उन्हें आहुति देते हुए दृष्टि रखो कि यह खाने का कार्य वैश्वानर की उपासना है। इस उपासना के बहुत बड़े फल बताये हैं। इसलिये यह प्रतिपादन आवश्यक भी है और सारे लोगों को इन दो उपासनाओं के द्वारा बड़े फलों की प्राप्ति हो सकती है। जो परमेश्वर की तरफ जाना चाहते हैं वे बिना कामना के इन उपासनाओं को करके अंतःकरण की शुद्धि होकर मोक्ष के योग्य ब्रह्माकार वृत्ति बना सकते हैं। इसलिये हिरण्यगर्भ को बताना जरूरी है। इन सब बातों को बताना तत्त्व समझने के लिये भी ज़रूरी है। माया की उपाधि वाला ईश्वर, सूक्ष्म महाभूतों की उपाधि वाला बनकर हिरण्यगर्भ है, वही स्थूल महाभूतों की उपाधि वाला विराट् या वैश्वानर कहा गया। एक के रहते हुए दूसरा कहा जैसे बी.ए. रहते हुए मैट्रिक-पास भी है। ये परमात्मा के रूप हैं।

जीव से उसमें फर्क यह है कि जीव को 'मैं जीव हूँ' यह भ्रम है जबकि ईश्वर में 'मैं ईश्वर हूँ' ऐसा भ्रम नहीं है। इसलिये 'भवेत्' या 'अभवत्' कहा अर्थात् वैश्वानर *होता* है। परन्तु जो तैजस (व्यष्टि) हैं उन्होंने इन्द्रिय-मन को मैं समझ लिया अतः भ्रांत हैं। इसलिये कहा कि विश्वभाव को प्राप्त कर गये। 'याताः' अर्थात् बन गये। हम लोग केवल शरीर में नहीं रहते वरन् 'यह शरीर मैं हूँ' ऐसा हमें निश्चय है। रास्ते में जा रहे हैं। किसी को हमारा हाथ छू गया तो क्या अनुभव होता है कि शरीर अशुद्ध हो गया? ऐसा नहीं होता, वरन् 'मैं अशुद्ध हो गया' ऐसा अनुभव होता है। इसी प्रकार शरीर में फोड़ा निकला तो 'मैं रोगी हो गया' या शरीर में बुखार आ गया तो 'मैं रोगी हो गया' ऐसा अनुभव होता है। इसलिये किसी ब्राह्मण को यदि कहें कि तू ब्राह्मण नहीं है तो वह गुस्सा करेगा कि 'कैसे कह रहे हो मैं ब्राह्मण नहीं हूँ!' वेदपाठ सूक्ष्म शरीर से करते हैं। संध्यावंदन आदि में जल इत्यादि स्थूल शरीर पर छिड़कते हैं। प्राणायाम आदि प्राणमय कोश या सूक्ष्म शरीर से करते हैं। इन सबसे *तुम* कैसे ब्राह्मण हो गये! कहोगे, 'यही सब तो मैं हूँ'। इसलिये हम विश्वभाव को, या तैजसभाव को या प्राज्ञभाव को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु परमेश्वर के लिये 'यातः' नहीं कहा केवल 'भवेत्' अर्थात् होता है कहा है। इतना ही नहीं, विश्वता क्या है? देवता के शरीर में जाकर 'मैं देव हूँ', मनुष्य-शरीर में जाकर 'मैं मनुष्य हूँ,' पशु-पक्षी के शरीर में जाकर 'मैं पशु-पक्षी हूँ', उसमें भी पुरुष शरीर में गया तो पुरुष, स्त्री शरीर में गया तो 'मैं स्त्री हूँ' ऐसा निश्चय होता है। जब हम लोग बात करते हुए पुल्लिंग का प्रयोग कर देते हैं तो कई औरतें कहती हैं कि आपने औरतों को छोड़ दिया। 'वह पुरुष मैं ही हूँ' यह समझ में नहीं आता। देव-भाव, तिर्यक्-भाव, नर-भाव 'आदि' से नरक आदि योनियों के अन्दर जाकर उन भावों को प्राप्त हो जाता है। कीट, पतंग आदि योनियों में भी यही अनुभव है।

देवताओं और मनुष्यों के बीच तिर्यक् अर्थात् पशु आदि का उल्लेख क्यों? पशु आदि तो मनुष्य से निकृष्ट प्रसिद्ध हैं। उत्तर है कि यहाँ कर्मानधिकार और कर्माधिकार से भेद विवक्षित है। देवताओं को कर्म में अधिकार नहीं क्योंकि वे पूजा करें इस तरह के कोई अन्य

देवता तो हैं नहीं! पशुआदि में बुद्धिआदि नहीं इसलिये वे भी कर्म में अधिकारी नहीं। अतः देव-तिर्यक् इन्हें पहले कह दिया और मनुष्य बाद में कहे। किंच यहाँ देवताओं के स्थूल-सूक्ष्म शरीर भी बताकर स्पष्ट किया कि पूर्वमीमांसकों की मान्यता, कि देवता शरीरधारी नहीं हैं, गलत है। ब्रह्मसूत्रों में यह निर्णय दिया गया है। इस प्रकार से तीनों शरीर वाले 'विश्वतां याता' विश्व हो गये। इसका मतलब यह नहीं कि तैजस प्राज्ञ नहीं रहा, वरन् तैजस, प्राज्ञ रहते हुए, स्थूल शरीर का अभिमानी है। केवल कारण या सूक्ष्म में मैं का अनुभव नहीं, लेकिन अभिमान तो है, उसमें यह स्थूल शरीर और जुड़ गया।। २८।।

विश्वादि नामक जीव चाहे देव-तिर्यक्-नर आदि जो भी हों, तत्त्व के साक्षात्कार से वंचित रहने के कारण संसार-चक्र के ही अन्तःपाती रहते हैं। यह सोदाहरण बताते हैं–

ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः।
कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्त्तुं च भुञ्जते ॥२९॥

प्रत्यग्भूत आत्मा की वास्तविकता की प्रमा से शून्य विषयदर्शनशील वे जीव भोग पाने के लिये कर्म करते हैं और कर्म करने के लिये भोगते रहते हैं!

'ते' अर्थात् विश्वादि पराग्दर्शी हैं। देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि सब पराग्दर्शी हैं। अपने से बाहर की चीजों को पराक् कहते हैं। देव, तिर्यक् आदि बाहर के विषयों की तरफ देखते हैं। यह ठीक है कि कभी-कभी अपने मन की स्थितियों को भी हम देख लें, परन्तु अधिकतर तो परागृदर्शी ही हैं। आगे बतायेंगे कि मन भी सचमुच में आत्मा की दृष्टि से बहिर्भूत ही है। हर हालत में, इन्द्रियों को परमेश्वर ने बनाया ही ऐसा है कि ये अपने अन्दर देख नहीं सकतीं, बाहर ही देखती हैं। आँख भी बाहर ही देखती है। श्रोत्र भी बाहर के शब्द को और नाक भी बाहर की गन्ध को ग्रहण करती है। परमेश्वर ने इनको पराग्दर्शी बनाया है। वेद ने कहा है 'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' ब्रह्मा जी ने अर्थात् परमेश्वर ने इन्द्रियों को ऐसा बनाया है कि ये बाहर की तरफ खुलती हैं। एक प्रश्न मन में आ सकता है कि यदि ब्रह्मा जी ने ही इनको बाहर जाने वाला बनाया है तो हम लोग इनको अन्तर्मुख करने की कोशिश में कैसे सफल होंगे? लेकिन यह शंका ठीक नहीं है। ये 'बनाई' बहिर्मुखी गई हैं। इसका मतलब है कि यह इनका स्वभाव नहीं है! जिसका जो स्वभाव होता है उसको तो बदला नहीं जा सकता। यदि किसी तरह से थोड़ी देर के लिये उसे दूसरी तरह का कर भी दो तो वह वापिस अपने स्वरूप में आ जायेगी। यदि हम पराग्दर्शी हैं, पराग् दर्शन के संस्कार हममें रहेंगे। थोड़ी देर के लिये परागृदृष्टि को हटा भी दिया तो फिर आ जायेगी क्योंकि वही स्वाभाविक है। यदि सारे पराग् दर्शन के संस्कार के कारण पराग्दर्शी ही बने रहेंगे तो जो शास्त्र प्रत्याहार या इन्द्रियों को अन्तमुर्ख करने की बात करते हैं वह व्यर्थ हो जायेगी। अनेक शास्त्रप्रसंगों की सतात्पर्य विधि असंगत हो नहीं सकती। इसलिये ये स्वभाव से पराग्दर्शी नहीं हैं। अनादि काल से पराग्दर्शन करते-करते लगता है कि यह इनका स्वभाव

है, परन्तु धीरे-धीरे अभ्यास करके इनको अन्तर्मुख किया जा सकता है। जो तो अभ्यास नहीं करते हैं वे पूर्व संस्कारों से युक्त होकर पराङ्मुख ही बने रहते हैं। उस प्रकार संस्कार के द्वारा अभ्यास से इनकी बहिर्मुखी वृत्ति होती है, इसलिये 'हिंसितवान्' कह दिया।

वस्तुतः प्रत्यक्ता और पराक्ता क्या है? जो जिसकी असलियत होती है वह उसकी प्रत्यक् होती है जैसे घड़े की असलियत मिट्टी है। मिट्टी पर 'घट' यह नाम और मोटा पेट, लम्बी गर्दन, ऊपर से खुला हुआ, यह रूप पराक् हैं। कुछ भी हो जाये घड़े का मिट्टीरूप तो बना ही रहता है। घड़ा बनने वाली मिट्टी नहीं रहे ऐसी बात नहीं होती है, मिट्टी रहते ही, नाम-रूप और आ जाते हैं। इसी प्रकार, आत्मा की वास्तविकता ब्रह्मरूप है, सच्चिदानंद-रूप है। यह संसार, नाम-रूपात्मक प्रपंच सारा पराक् है। अतः ब्रह्म की तरफ दृष्टि करने से अर्थात् बाकी दृष्टियों को छोड़ने से, अपने आप ही अन्दर की वृत्ति हो जाती है क्योंकि वही प्रत्यक् तत्त्व है। जैसे घड़े को मिट्टी बनने के लिये कुछ नहीं करना पड़ता क्योंकि मिट्टी वह है ही; इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म सारे प्रपंच को हटा देने पर ब्रह्म-रूप स्थिति है ही। जिस समय यह नाम-रूप बनता है तब हमें ख्याल नहीं रहता कि यह मिट्टी है। इसलिये यदि घड़ा फूट जाये तो आदमी कहता है 'इतनी सुन्दर कारीगरी वाला घड़ा था, तुमने मिट्टी में मिला दिया।' मानो घड़ा मिट्टी से कुछ अन्य था जो अब मिट्टी हुआ हो! जब कारीगरी वाला दीख रहा था, तब भी मिट्टी ही था। किंतु नाम-रूप दीखते यह बात भुला देते हैं। श्रुति ने इसीलिये 'नेति-नेति' के द्वारा उस तत्त्व का उपदेश दिया। स्थूल-सूक्ष्म और वीप्सा के द्वारा कारण प्रपंच का निषेध करते हुए कह दिया कि ये सारी उपाधियाँ नहीं हैं, ब्रह्म ही है। क्योंकि पराक् अर्थात् नामादि मिथ्या हैं, इसलिये इंद्रियों की पराग्दर्शिता भी वास्तविक नहीं। भले ही अभी ये पराग्दर्शी हैं, परन्तु यह उनका स्वरूप नहीं है कि हमेशा ऐसा ही रहे।

पराग्दर्शी होने से ही प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का ज्ञान इन्हें नहीं हो पाता। यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिये। बहुत से मतमतांतर कहते हैं कि भोग और मोक्ष दोनों, उन मतों द्वारा बताये साधनों से मिल जाते हैं, उनका यह कहना भोग और मोक्ष के स्वरूप को सर्वथा न समझकर ही है। भोग तो नाम-रूप का होता है। यदि नाम-रूपों की तरफ तुम अपने को रखोगे तो नाम-रूप से रहित होना जो मोक्ष है, वह सम्भव ही नहीं होगा। जैसे कोई व्यक्ति रेल में जा रहा था। वह नीचे की बर्थ पर बैठा था। उसके ऊपर की बर्थ पर अन्य सज्जन बैठे थे। उन्होंने नीचे की बर्थ वाले से पूछा 'आप कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मैं कलकत्ते जा रहा हूँ।' ऊपर की बर्थ वाले ने कहा—'गजब हो गया! मैं बम्बई जा रहा हूँ; विज्ञान का कमाल है कि एक ही रेल के डिब्बे में ऊपर वाला बम्बई जा रहा है ओर नीचे वाला कलकत्ते जा रहा है!' ठीक जिस प्रकार विरुद्ध दिशा होने से यदि रेल कलकत्ते जाने वाली है तो बम्बई नहीं जा सकती और बम्बई जाने वाली रेल कलकत्ते नहीं जा सकती, इसी प्रकार विषयों की तरफ वाली रेल और विषयों से मुक्ति की रेल एक नहीं हो सकती।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर इसीलिऐ कहते हैं कि पटना के आसपास रहने वाला एक साथ ही गंगासागर और गंगोत्री पहुँच जाये, यह नहीं हो सकता। जितना-जितना गंगासागर की तरफ जायेगा, उतना-उतना गंगोत्री से दूर होगा और जितना-जितना गंगोत्री की तरफ जायेगा उतना गंगासागर से दूर होगा। इसी प्रकार जितना नाम-रूप के दर्शन में जायेगा, उतना स्वरूप-दर्शन से दूर होगा और जितना स्वरूप-दर्शन की तरफ जायेगा, उतना नाम-रूप से दूर होगा।

संस्कारों के कारण पराग्दृष्टि में तो हम लोग हमेशा से हैं इसलिये हमें प्रत्यक् तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। पराग्दर्शी होने के कारण ही हम भोग के लिये कर्म करते हैं और भोग इसलिये करते हैं कि कर्म करें। किसी से पूछो कि 'काम क्यों करते हो?' तो कहता है 'काम नहीं करूँगा तो खाऊँगा क्या।' फिर पूछो 'खाते क्यों हो?' तो कहता है कि 'मुझे आठ घण्टे खड़े-खड़े काम करना पड़ता है, नहीं खाऊँगा तो कैसे चलेगा!' अर्थात् खाता है काम के लिये और काम करता है खाने के लिये। इस प्रकार से यह चक्र चल रहा है। जो कहा 'कुर्वते कर्म भोगाय', भोग के लिये कार्य करते हैं, यह बात सुख के लिये तो ठीक बन जाती है। जैसे दाल का हलवा खाने के लिये हम दाल लाये, भिगोयी इत्यादि सब काम किया जिससे दाल का हलवा खाने को मिला, हमें सुख हुआ। परन्तु दुःख की प्राप्ति के लिये तो तुम कर्म नहीं करते। कोई आदमी डाक्टर को अर्ज़ी नहीं भेजता कि 'छह साल हो गये, हमें पीलिया हुआ था। फिर अब तक नहीं हुआ तो भेज दीजिये, हमें पीलिया हो जाये, आपकी फीस हम दे देंगे!' ऐसे दुःख के लिये कोई कर्म करता नहीं है। लेकिन भोग तो सुख-दुःख दोनों का है। फिर यह कैसे कहा कि कर्म भोग के लिये करता है? यह समझो कि 'भोग के लिये' का मतलब है 'भोग है फल जिसका'। जब हम दूसरों को ठगते हैं या ठगने का काम करते हैं तो हम जेल जाने के लिये तो नहीं ठगते, परन्तु अगर ठग लिया तो जेल जाना ही पड़ेगा। इसलिये भोग अर्थात् सुख-दुःख का फल जिसका है ऐसा कर्म करते हैं। उस कर्म का फल जैसे दृष्ट वैसे अदृष्ट भी होता है। कोई कर्म यहाँ फल दे देता है अतः दृष्ट फल वाला है। कुछ कर्म यहाँ फल नहीं देते इसलिये उनका फल अदृष्ट है अर्थात् देखा नहीं जाता परन्तु फल मिलेगा अवश्य। कर्म किया है और फल न मिले, यह नहीं हो सकता। बोलने में भी कहते हैं कि 'पाप कर्म दुःख के लिये होता है'। दुःख को *उद्देश्य* करके तो पाप कर्म *किया* नहीं जाता है, परन्तु उससे दुःख-भोग होता है, इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार जब कहा कि कर्म करने के लिये भोग करता है, तब भी तात्पर्य यही है कि जब सुख-दुःख का भोग होता है तब उसके संस्कार बनते हैं। सुख होता है तो 'यह चीज़ हमें फिर से मिले' ऐसा संस्कार बनता है। दुःख होता है तो 'ऐसी चीज़ हमें फिर कभी प्राप्त न हो' ऐसा संस्कार बनता है। संस्कार ही बाद में स्मरण को पैदा करता है अर्थात् उस चीज़ की स्मृति होती है, और याद आने पर उसका कारणभूत जो कर्म है, उसके लिये प्रवृत्ति करते हैं। इसलिये भोग भी संस्कार के द्वारा कर्म करने में प्रवृत्ति कराता है। इसमें दोनों ही कर्म आ जायेंगे

अर्थात् या सुख के हेतु को सम्पन्न करने के लिये करते हैं या दुःख के हेतु को हटाने के लिये करते हैं। कर्म फल देता है और फल संस्कार उत्पन्न करके कर्म करवाता है। इस प्रकार तात्पर्य समझ लेना चाहिये ॥ २६ ॥

इस चक्र को बताने के लिये दृष्टांत देते हैं–

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्।। ३०।।

जैसे कीड़े नदी में एक भँवर से दूसरे भँवर में घूमते रहते हैं वैसे वे जीव शीघ्र ही एक से दूसरे जन्म में जाते रहते हैं, इस भ्रमण से छुटकारा नहीं पाते।

नदी के प्रवाह में भँवर पड़ जाते हैं जिनमें पानी गोल-गोल घूमता है। उस भँवर के अन्दर यदि कोई कीड़ा फँस जाता है तो उसी में गोल-गोल घूमता रहता है। थोड़ी देर बाद उस भँवर का जब बाहर फैंकने का वेग होता है, तब उस कीड़े को भी बाहर फैंका जाता है तो दूसरे भँवर में वह कीट फिर फँस जाता है! इस प्रकार एक भँवर से दूसरे भँवर में जाता रहता है। यों जाने में समय नहीं लगता, आशु, शीघ्र ही एक से दूसरे भँवर में जाता है। जो गोल-गोल भँवर घूमते हैं उनमें दो शक्तियाँ कार्य करती हैं जिन्हें आकर्षण (केन्द्राभिमुखी) और विकर्षण (बहिर्मुखी) कहते हैं। जीव के लिये एक जन्म से दूसरा जन्म भँवर है। एक जन्म एक भँवर है क्योंकि इस जन्म के अन्दर हम यहीं घूमते रहते हैं जहाँ रिश्तेदार नातेदार हैं, अपने बच्चे हैं। सौ साल तक घूम लेते हैं। उसके बाद जैसे ही बाहर फैंकने वाली शक्ति कार्यकारी होती है, हम झट दूसरे शरीर में पहुँच जाते हैं। यहाँ का भँवर छूट गया, वहाँ दूसरे भँवर मे फँस गये! यहाँ वाले लड़कों का विचार नहीं, यहाँ जो लड़की शादी के लिये रह गई उसका भी कुछ विचार नहीं करना पड़ता। किन्तु एक चक्र ख़त्म हुआ, दूसरा चक्र शुरू हो गया। वहाँ फिर नये माँ-बाप, नये रिश्तेदार आ गये, नई पत्नी आ गई। जब तक एक भ्रमर में रहते हैं तब तक दूसरे भ्रमर की बात मन में नहीं आयेगी। जब दूसरे भ्रमर में पहुँच गये तो पिछले भ्रमर से कोई मतलब नहीं रहता।

हम प्रत्येक समय जिस भ्रमर में पड़े हैं तब हमारे ऊपर वहीं के सारे कर्त्तव्य सिर पर रहते हैं कि ये तो ज़रूर करने चाहिये। एक कथा आती है : नारद और पर्वत, मामा-भांजे, कहीं जा रहे थे। अकस्मात् पर्वत को हँसी आ गई। नारद जी ने पूछा 'क्यों हँसे?' स्वाभाविक है कि दो आदमी साथ-साथ जा रहे हों, एक हँसे तो कारण बताना पड़ता है। पर्वत ने कहा–'कुछ नहीं, आगे चलो।' यदि हँसी का कारण नहीं बताओ तो मन में और ज्यादा शंका होती है कि ज़रूर कुछ छिपा रहे हैं। ज़ोर देकर पूछा तो पर्वत ने सच्ची बात बताई 'अपने दोनों जब उस सब्जी की दुकान के सामने से निकल रहे थे तब तुमने भी देखा होगा कि एक बकरा सब्ज़ी में मुहँ मार रहा था और मालिक ने उस बकरे को ज़ोर से डण्डा मारा, बकरा वहाँ से भागा। इससे मुझे हँसी आ गई।' नारद ने कहा 'आप करुणामय व्यक्ति हैं।

किसी के दुःख को देखकर आपको हँसी नहीं आ सकती, जरूर कोई और बात है।' पर्वत ने कहा—'यह बकरा दुकानदार का बाप है। इसी ने यह दुकान बनाई थी, और अब बकरा होकर पैदा हुआ है। संस्कार उद्बुद्ध होते हैं जिनसे वह बार-बार उस दुकान की तरफ जाता है। लड़का तो उस बात को जानता नहीं है। इसलिये उसे भगाने के लिये डण्डा मारता है।' विचार करो, जो दुकान तुमने बनाई है, वहीं जाओगे तो डण्डे पड़ेंगे! इसलिये कहा 'लभन्ते नैव निर्वृतिम्' कभी भी शांति की प्राप्ति नहीं होती ॥ ३० ॥

कर्म दो तरह के हैं—अच्छे कर्म और बुरे कर्म। उनके अनुसार हम ऊपर के या नीचे के भँवरों में चले जाते हैं। कभी ऐसा होता है कि अच्छे कर्म ज़्यादा हो जाते हैं—

सत्कर्मपरिपाकात् ते करुणानिधिनोद्धृता।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ॥३१॥

पुण्य कर्म फलोन्मुख होने से कृपासागर सज्जन द्वारा उस भँवर से निकाले गये वे कीड़े किनारे के पेड़ की छाया में आराम से सुस्ताते हैं।

'सत्कर्म के परिपाक से,' कहने पर शंका होती है कि कीड़े के अन्दर सत्कर्म कहाँ से आयेगा! यह नहीं कह सकते कि इसके पहले मनुष्य शरीर में था, तब सत्कर्म किया होगा, क्योंकि सत्कर्म किया होता तो कीड़े की योनि क्यों मिलती? मनुष्य से यदि कीड़े के शरीर में गया तो इसका मतलब है कि असत् कर्म ही फल देने वाले थे। समझने की बात यह है कि कीड़े सारे एक जैसे नहीं होते! एक कहानी हैः मलेरिया फैलाने वाले दो मच्छर थे। एक ने तो किसी धनी व्यक्ति को काटा और उसे मलेरिया हो गया। दूसरे ने किसी कंगले को काटा, उसे भी मलेरिया हो गया। कीड़े के द्वारा पैदा किया हुआ मलेरिया तो एक-जैसा होता है। जिसने सेठ को काटा था उसे बढ़िया हलवा इत्यादि खिलाया जाने लगा, पुरानी मान्यता है कि यदि बुखार हो जाये तो गरम-गरम हलवा खाने से ठीक हो जाता है, और ऐसा हो भी जाता है। दूसरे मच्छर ने जिस कंगले को काटा, वह रोज़ काम करके ही किसी तरह एक समय भोजन करता था। बुखार आ गया तो उसे दाल चावल भी खाने को नहीं मिला। बाद में दोनों मच्छर आपस में मिले। दूसरे मच्छर ने कहा 'मैंने तो गलत आदमी को काट दिया! वह कुछ खाता ही नहीं है, मैं भी भूखा मर रहा हूँ।' पहले मच्छर ने कहा 'मैंने तो ऐसे को काटा है कि मुझे खूब हलवा खाने को मिल रहा है।' दूसरे ने कहा 'अगर तुम्हें विरोध न हो तो मैं भी तुम्हारे वाले को काटूँ तो कुछ खाने को मिल जायेगा।' पहले वाले ने कहा—'आ जाओ, बहुत लम्बा-चौड़ा आदमी है, हम दोनों का गुजारा हो जायेगा।' वह सामान्य व्यक्ति तो ठीक हो गया लेकिन धनी के शरीर में दोनों का खून मिला तो उसे और जोर का बुखार चढ़ गया! कहने को मच्छर हैं, लेकिन हर मच्छर का भी एक-जैसा अनुभव नहीं होता। किसी को सुख का ज़्यादा और किसी को दुःख का ज़्यादा अनुभव होता है। कुत्तों को देखो : कोई कुत्ता ए.सी. कमरे में रहता है और ए.सी. गाड़ी में घूमने जाता

है। कुछ केवल दुत्कार पाते जूठन से गुज़ारा करते हैं। कुत्ते तो दोनों ही हैं। एक को सुख की उपलब्धि होती है, उसके सत्कर्म हैं तभी हो रही है। दूसरे के सत्कर्म नहीं हैं, इसलिये उसे सुख की उपलब्धि नहीं हो रही है। पशु-पक्षी दुःख की योनि कहे जाते हैं, परन्तु उनके अन्दर भी किसी के अन्दर सत्कर्म होने से सुखानुभूति होती है, और किसी के अन्दर वे सत्कर्म नहीं होते तो दुःख होता है। सुख-दुःख का कारण तो पुण्य-पाप हैं ही। इसलिये कीट के अन्दर भी सत्कर्म का परिपाक हो सकता है। किसी दुष्कर्म के कारण उसे कीट शरीर तो मिल गया, परन्तु उसके कुछ सत्कर्म भी हैं।

कर्म के परिपाक का मतलब है, जब कर्म फल देने को तैयार हो जाते हैं अर्थात् जब कर्म फलोन्मुख हों। कर्म फल तो देता है परन्तु देश, काल आदि की अपेक्षा रखता है। जब वे देश, काल, निमित्त आदि इकट्ठे हो जाते हैं, तब फल प्राप्त हो जाता है। बुरे कर्म से कीट शरीर में आया परन्तु जब देश काल आदि सत्कर्म का फल देने वाले आये तो सत्कर्म भी पक गये।

सत्कर्म का नतीजा क्या होता है? 'करुणानिधिना उद्धृताः'; करुणा जिनका खजाना है, ऐसे करुणानिधि के द्वारा वह उस भँवर से बाहर निकाल दिया जाता है। आत्मज्ञानी के अन्दर करुणा का खजाना होता है। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' आत्मज्ञानी के अन्दर किसी के प्रति कभी द्वेष-बुद्धि बनती ही नहीं। चाहे कोई कितना नुक्सान करे, फिर भी उसके मन में कभी किसी का नुक्सान करने की बात आती ही नहीं। जो दुष्ट होते हैं उनको संसार में कोई अच्छा नज़र नहीं आयेगा! जिस प्रकार यदि तुम्हारी आँखों के ऊपर हरा चश्मा लगा है तो तुम्हें हर चीज़ हरी ही नज़र आयेगी, जबकि सब चीज़ें हरी हो तो नहीं जायेंगी, इसी प्रकार यदि हमारे मन में दुष्टता भरी है तो हमें सारा संसार दुष्ट ही नज़र आता है। इसके विपरीत, यदि हमारे मन के अन्दर 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' का भाव है कि सब प्राणियों की आत्मा मेरी ही आत्मा है, तो हमें सामने वाला दुष्ट नज़र नहीं आता। बहुत बार लोग कहते हैं कि 'यदि ऐसे बन जायेंगे तो दूसरे सब हमें ठग लेंगे; क्योंकि सब हम जैसे होंगे नहीं, सब हमको रोंदते हुए चले जायेंगे' इस भय के चलते जो आत्मज्ञानी नहीं है वह कभी भी करुणा की निधि नहीं हो सकता। रोंदा तो नाम-रूप ही जायेगा। लोग नाम-रूप को ही रोंद सकते हैं। उस नाम-रूप को तो शास्त्र बार-बार रोंदने लायक ही कह रहा है। उसको हम भी रोंदना चाह रहे हैं। लोगों ने उसको रोंद दिया तो अच्छा ही किया। और, जो आत्म-रूप है वह 'मैं' ही है, 'मैं' को तो कोई भी नहीं रोंद सकता, अपने आपको तो कोई नहीं रोंद सकता। इस दृढ निश्चय के कारण आत्मज्ञानी ही करुणानिधि हो सकता है। इसलिये यहाँ कहा कि करुणानिधि भँवर से निकालता है। कीट को निकालने के लिये तो साधारण करुणा वाला भी काम आ जायेगा। 'करुणा वाला उद्धार कर देता है', ऐसा न कहकर 'करुणानिधि' क्यों कहा? प्रसिद्ध दृष्टांत है कि एक बिच्छू पानी में बह रहा था। एक महात्मा उस बिच्छू को हाथ से पकड़कर पानी

से बाहर डालने लगे। बिच्छू को क्या पता! उसने डंक मार दिया और महात्मा के हाथ से छूटकर फिर पानी में चला गया। उन्होंने फिर अपने दूसरे हाथ से उस बिच्छू को उठाया। बिच्छू की तो डँसने की आदत थी, उनका हाथ फिर हिल गया और बिच्छू पानी में चला गया। अब महात्मा बड़े प्रेम से अपनी कलाई के हिस्से से उस बिच्छू को उठाने की कोशिश कर रहे थे। किसी ने उनसे कहा—'क्या कर रहे हो? तुम्हारा दिमाग खराब है, उसने बार-बार काटा, तुम फिर भी उसे बाहर निकालने की कोशिश कर रहे हो!' उन्होंने कहा—'मेरा दिमाग खराब नहीं है। बिच्छू बेचारा क्या करे, वह तो अपनी आदत से काटता है। मैं भी क्या करूँ, मैं भी अपनी आदत से ही इसे बचाना चाहता हूँ। जब बिच्छू अपनी आदत नहीं छोड़ सकता तो मैं अपनी आदत क्यों छोड़ूँ? इसलिये मैं अपनी आदत से इसे बचाता हूँ। मेरी आदत बचाने की है।' ऐसा तो कोई करुणानिधि ही कर सकता है। बिच्छू जैसे का भी उद्धार करुणानिधि कर देता है। पहली बार वह बिच्छू को दस फुट बाहर लाये, दूसरी बार फिर दस फुट और तीसरी बार फिर दस फुट बाहर लाये। इस प्रकार करते-करते धीरे-धीरे वह बिच्छू नदी के तीर पर पहुँच ही जायेगा तब वह तीर पर पहुँचकर पेड़ की छाया में आराम का अनुभव करेगा क्योंकि पानी से हट गया। ठीक इसी प्रकार से सत्कर्म के परिपाक से जो मुमुक्षु है, उसका भी करुणानिधि उद्धार कर देता है। उसके लिये सत्कर्म का परिपाक यह है कि वह कर्मों को किसी फल की इच्छा से नहीं करता। वेदों ने इसीलिये यह मार्ग निकाला। वेदों ने कई कर्म ऐसे बताये हैं जिनका कोई भी फल नहीं कहा है। इसी लिये कई आधुनिक लोग तो यही शंका करते रहते हैं कि ऐसे कर्मों को क्यों करना जिनका फल नहीं बताया है? उन्हें तुम ईश्वराज्ञा से करते हो तो परमेश्वर की आज्ञा के पालन के निमित्त से वे कृपाकर चित्त में शुद्धि ला देते हैं जिससे परमार्थ सत्य की समझ आना सम्भव हो जाता है।

किसी फल के लिये नहीं किया, परमेश्वर की आज्ञा है इसलिये किया। इससे वह कर्म उनकी प्रसन्नता का कारण हो जाता है। उन कर्मों के अनुष्ठान से धीरे-धीरे तुम्हारे अन्दर निष्काम कर्म की भावना आ जाती है। पहले तो उन कर्मों को बिना किसी कामना के करते हो, फिर धीरे-धीरे सारे ही कर्म तुम बिना कामना के करने लगते हो। 'मुझे परमेश्वर ने आज्ञा दी है इसलिये कर रहा हूँ' केवल इस भावना से करते हो। इस प्रकार से जो काम्य कर्म हैं, जिन कर्मों को कामना से प्रयुक्त होकर दूसरे लोग करते हैं, उन कर्मों को भी तुम सत्कर्म बना देते हो, परमेश्वर के लिये किया हुआ बना देते हो। जब इस प्रकार के कर्म परिपाक को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् ईश्वर-प्रसन्नतार्थ किये गये कर्मों का जब फल आता है तब परमेश्वर की प्रसन्नता प्रकट होती है। जब हमने फल के लिये कर्म किया तो परमेश्वर वह फल दे देता है। फल के लिये नहीं किया तो परमेश्वर की प्रसन्नता ही फल है। परमेश्वर प्रसन्न होता है तो तुम्हें संसार सागर से निकाल देता है। कैसे निकाल देता है? करुणानिधि गुरु की प्राप्ति करा देता है। गुरु की प्राप्ति तभी होगी जब परमेश्वर को प्रसन्न करने की तुम्हारी सच्ची इच्छा पैदा होगी। ईश्वर ही गुरुरूप से करुणानिधि है।

प्रायः जो किसी की मदद करता है, उसका भाव रहता है कि इसके बदले में उसका कुछ कर सकूँ। ऐसा नहीं है कि वह उसके लिये अमुक काम करे। और कुछ नहीं तो कम-से-कम यह आशा रहती ही है कि तुमने हमारा इतना उपकार किया तो कम-से-कम मुस्कुराकर नमस्कार तो कर लूँ। यदि इसके विपरीत देखता है तो सहायता करने वाले को बड़ा दुःख होता है। बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर नाम के संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं जो किसी कालेज के प्रधानाचार्य हो गये थे। अध्ययनकाल में वे बड़ी कठिन परिस्थिति में पढ़ते थे। उनकी माता बर्तन आदि माँज कर किसी तरह गुज़ारा करती थी और वह अपने दोस्तों से किताब लेकर रात के समय पढ़ते थे। दिया जलाने के लिये तेल के पैसे भी नहीं थे तो सड़क की सरकारी बत्ती के प्रकाश में पढ़ते थे। ऐसी कठिनाई में पढ़कर भी विद्वान् बन गये और कालेज के प्राचार्य बन गये। लेकिन उनके मन में अपने समय के संस्कार थे इसलिये किसी भी गरीब बच्चे को देखते थे तो उसकी हर तरह से मद करते थे। अपनी कमाई का अस्सी प्रतिशत इसी काम में खर्च करते थे और बीस प्रतिशत में अपना काम चलाते थे। रिटायर होने के बाद लोगों ने उनके बारे में बहुत ऊटपटांग खबरें फैला रखी थीं। जब उन्हें पता लगता था कि अमुक आदमी ने उनके बारे में कोई बात फैलाई है तब पाते थे कि वह वही आदमी होता था जिसके पढ़ने में उन्होंने मदद की थी! जितनी ज़्यादा मदद की, वह उतनी ही ज़्यादा बुराई करता था। धीर-धीरे उन्हें व्याप्तिग्रह हो गया कि जिस-जिस का भला करो, वह-वह बुराई करता है। कभी ऐसा होता था कि कोई व्यक्ति उनके बारे में बुरी बात कहता था जिसे उन्होंने कुछ मदद नहीं दी थी। तब वे कहते थे 'मैंने तो उसे कभी कुछ दिया नहीं, वह मेरी बुराई क्यों कर रहा है।' यह संसार का स्वरूप है कि भलाई के एवज में भी कुछ चाहोगे और कुछ नहीं तो कम-से-कम इतना चाहोगे कि मिलने पर प्रसन्न होकर मुस्कुराहट से नमस्कार कर ले। परन्तु आत्मज्ञानी को किसी से कुछ आशा नहीं है। कोई कुछ भी करे, वह जानता है कि यह सब पानी के बुलबुले की तरह ही है, इसकी कोई कीमत नहीं है। जिस प्रकार सिनेमा के अन्दर बहुत बढ़िया अंगूर का गुच्छा देखकर मन में नहीं आता कि 'एकाध खा लें', क्योंकि जानते हैं कि वहाँ कुछ नहीं है; इसी प्रकार संसार की अवास्तविकता को आत्मज्ञानी ने जान लिया है। अतः वह केवल करुणा का खजाना ही है, आगे उसे कुछ प्राप्त करना नहीं है। ऐसे करुणानिधि के द्वारा मुमुक्षु बाहर निकाल दिया जाता है।

अतिधन्य वेद कहता है कि आत्मज्ञान का विषय ऐसा है कि सुनने को भी नहीं मिलता, क्योंकि सुनाने वाला दुर्लभ होता है। अतः अधिकतर ब्रह्मज्ञानी ऐसे होते हैं कि जब तक सत्कर्म के परिपाक के कारण कोई अन्तर्मुख दृष्टि न करे, तब तक वे उपदेश करते ही नहीं हैं। वर्तमान काल की दृष्टि यह है कि हम अपनी अच्छी चीज़ों को दूसरों को बतायें लेकिन प्राचीन काल की दृष्टि यह रही है कि अनधिकारी को बताने की अपेक्षा अपने अन्दर ही उसको रखना अच्छा है। अयोग्य को बताने का कोई फ़ायदा नहीं है। जो बैंगन खरीदने आया है उसे हीरे की अंगूठी दिखाओ तो कोई मतलब नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ सत्कर्म

का परिपाक नहीं है, जिसे विविदिषा नहीं है उसे उपदेश व्यर्थ है। जब वह ऐसे साधक को देखता है जो जिज्ञासु है तब उसकी करुणा का खजाना खुल जाता है। कीड़े को जैसे महात्मा ने हाथ से उठाया था वैसे, वेदान्त के उपदेश के द्वारा जीव का उद्धार होता है।

'तीर्यत इति तीरम्, अवसानम्', जहाँ तैर कर पहुँचते हैं, जहाँ तैरने की समाप्ति हो जाती है वह संसार-सागर का तीर है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इसी को तरु, अश्वत्थ, वृक्ष कहा है 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'। संसार वृक्ष का जो मूल है वह ऊर्ध्व (परमात्मा) है। गुरु द्वारा उद्धार किया जाने पर जीव उस तरु के मूल को प्राप्त कर लेता है। गीता में ही नहीं वेदों में भी उस वृक्ष का वर्णन आता है। उसका जो मूल है वही परब्रह्म परमात्मा है। वही छाया का स्थल है, अनादि काल के परिश्रम से थका हुआ व्यक्ति यथासुख अर्थात् पूर्ण आनन्द से भरकर विश्राम को प्राप्त करता है। यहाँ अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति ही छाया है। उस अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति के अन्दर परम सुख की उपलब्धि होती है।।31।।

जैसे कीड़ा नदी के भँवर में पड़ जाता है उसी प्रकार यह जीव संसार-सागर में रहता है और जन्म से जन्मान्तर में जाता रहता है। कोई करुणावाला जिस प्रकार कीड़े को भँवर से बाहर निकाल देता है उसी प्रकार कोई करुणानिधि ब्रह्मज्ञानी वेदान्त के उपदेश के द्वारा जीव का उद्धार कर देता है। यद्यपि दृष्टान्त से भी तात्पर्य तो समझ आ गया तथापि कौन निकाल देता है—इसे स्वयम् बताते हैं—

उपदेशमवाप्यैवम् आचार्यात्, तत्त्वदर्शिनः।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम्।।32।।

इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता आचार्य से उपदेश पाकर पाँचो कोशों के विवेचन से मोक्षसुख पाते हैं।

'एवं' जैसे कीड़े को करुणानिधि भँवर से निकाल देता है, उसी प्रकार से आचार्य भी उसको संसार-सागर से निकाल देता है। इसके द्वारा यह बताया कि जो संसार-सागर से निकालने वाला है, वही वस्तुतः आचार्य है। वह आचार्य तत्त्वदर्शी होता है, उसने तत्त्व का साक्षात्कार किया है। और वह करुणानिधि होता है। यह पूर्व श्लोक से समझ लेना चाहिये। आचार्य जो उपदेश देता है उसमें कारण करुणा ही है। इसीलिये पद्मपादाचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति छत पर बैठकर आम खाने को तैयार है उसी समय उसकी दृष्टि नीचे किसी भूखे व्यक्ति पर पड़ती है। जो करुणानिधि होता है वह सोचता है कि 'मैं तो भोजन किये हुए हूँ, मैं आम नहीं खाऊँगा तो चलेगा। यह भूखा है, इसे यह आम दे दूँ।'

इसी प्रकार, जो तत्त्वस्थिति में पहुँच गया, प्रारब्ध के कारण जब सच्छिष्य उसके सामने आये तब तुरन्त अपनी तत्त्वनिष्ठा के अन्दर कुछ भेददृष्टि करके, 'इसे तत्त्वनिष्ठा होकर यह भी इसी परमानन्द को प्राप्त करे' इसके लिये वह उसे उपदेश देता है। गुरु को तो कुछ लेना नहीं है, प्राप्त करने योग्य उसके लिये कुछ है ही नहीं क्योंकि उसने तत्त्वदर्शन प्राप्त कर

लिया। तत्त्वदर्शी तत्त्वदर्शन क्यों प्रदान करता है? सच्छिष्य सामने आया है—यहाँ तक तो प्रारब्ध है, अन्यथा वह स्वयं तत्त्वनिष्ठा में था ही। प्रारब्ध-भोग के कारण शिष्य की प्रतीति है। शिष्य का भी प्रारब्ध है, उपदेश देने वाले का भी प्रारब्ध है। 'शिष्य का उद्धार हो जाये' यह भाव करुणा है जो तत्त्वदर्शी में प्रकट होता है इसीलिये वह उपदेश देता है। यह बात निश्चित है कि तत्त्वदर्शी के उपदेश के बिना और कोई इस ज्ञान की प्राप्ति का साधन नहीं है क्योंकि श्रुतियों ने नियम कर दिया है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' गुरु से ही जिसने ज्ञान प्राप्त किया है उस ही शिष्य को तत्त्वसाक्षात्कार होता है। इसलिये भगवान् ने भी कहा 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'। जो तत्त्वज्ञानी है वही उपदेश करता है।

एक बात कई लोगों को खटकती है : श्रवण आदि दृष्ट फल वाले हैं अर्थात् जैसे ही ब्रह्मविद्या का उपदेश मिलता है, यहीं, जीते हुए ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। ऐसा नहीं है कि ब्रह्मज्ञान का उपदेश मिलने से किसी दूसरे लोक में जाकर शिष्य को ज्ञान होगा! श्रवण-मनन दोनों दृष्टफलक हैं। दृष्ट फल वाले कर्म के लिये आचार्यद्वारकता का नियम कैसे किया जाये? जैसे रोशनी होने से ही अंधकार हट जाता है। ऐसा नहीं होता है कि रोशनी हो गई लेकिन हमारा प्रारब्ध नहीं था इसलिये कोई चीज नहीं दीखी! रोशनी होते ही अंधकार निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार श्रवण-मनन होते ही तत्त्व-दर्शन हो जाता है। वेद ने इसका जवाब खुद ही दिया है 'आचार्याद् हैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' आचार्य से जो विद्या प्राप्त होती है वही पूर्ण फल को प्राप्त कराती है, साधिष्ठ अर्थात् साधुतम होती है। साधुता यह है कि पूर्ण तत्त्वज्ञान अज्ञान-निवृत्ति के साथ प्राप्त हो जाये। यह ठीक है कि श्रवण-मनन से ज्ञान होता है और ज्ञान का फल दृष्ट है, परन्तु कुछ प्रतिबन्धक ऐसे बैठे रहते हैं जो विद्या को उत्पन्न नहीं होने देते। इसी भेद को शास्त्रकारों ने दृढ ज्ञान और अदृढ ज्ञान कहा है। ज्ञान होता है, परन्तु प्रतिबन्धक के कारण वह दृढ नहीं हो पाता। अदृढ ज्ञान तो श्रवण-मनन से हो जाता है, परन्तु दृढता के लिये जो उसके प्रतिबन्धक हैं उनकी भी निवृत्ति आवश्यक होती है। अन्य भी कर्म हैं जिनके अन्दर दृष्टफलता होने पर भी अदृष्ट का अन्वय भी हो जाता है। जैसे अग्नि दाल को उबालती है, दृष्ट है। परन्तु यदि वहाँ चन्द्रकान्त मणि रख दो तो उस अग्नि से दाल नहीं गलती। यदि कहो कि हमने चन्द्रकांत मणि नहीं देखी तो मोटी दृष्टि से समझ लो : केदारनाथ में भी गर्म पानी में दाल उबालने के लिये आग पर रखो तो दाल नहीं गलती! क्योंकि वहाँ हवा का चाप कम हो जाता है, इसलिये दाल नहीं गलती। चाप बढ़ाने के लिये यदि वहाँ आजकल के प्रैशर कुकर (कसे ढक्कनदार पतीले) में दाल उबालो तो दाल गल जायेगी। चाप की कमी के कारण नहीं गल रही थी, प्रैशर कुकर ने उस कमी को दूर कर दिया तो दाल गल गई। प्रैशर कुकर तो दाल नहीं गलाता, दाल को गलाती तो अग्नि ही है, परन्तु चाप की जो कमी है उसको वह कुकर दूर कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति तो श्रवण-मनन से हो जाती है, परन्तु उसे दृढ करने के लिये अपूर्व की अपेक्षा होती है जो आचार्य से ग्रहण करने पर पूरी हो जाती है।

प्रतिबंधक दो प्रकार के होते हैं। कुछ प्रतिबन्धक ऐसे होते हैं जो विद्या को उत्पन्न नहीं करने देते। प्रायः इसका कारण आसक्ति होती है। वह आसक्ति सामान्य पुरुष के अन्दर किसी विषय के, पत्नी इत्यादि के प्रति हो सकती है। जो उच्च कोटि के साधक हैं, उनके लिये अपने इष्ट के प्रति भावना ही प्रतिबन्धक हो जाती है। रामकृष्ण परमहंस देवी के बड़े भारी भक्त थे। एक बार वहाँ बड़े सिद्ध महात्मा आये, उन्होंने देखा कि यह योग्य शिष्य है। उन्होंने परमहंस से पूछा 'क्या तुम निर्विकल्प समाधि में जाना चाहते हो?' वे तैयार हो गये। उपदेश देकर उनसे कहा 'इस भाव में स्थिर बैठ जाओ, अन्य सभी भावों के विचार को हटा दो।' थोड़ी देर बाद परमहंस कहने लगे कि 'बाकी सब विचार तो हट जाते हैं लेकिन काली की मूर्ति सामने से नहीं हटती।' उपदेश देने वालों ने उनसे कहा कि 'विवेक की तलवार से उसे काट दो। तुम देखने वाले (द्रष्टा) बन जाओ।' जैसे ही उन्होंने वहाँ दृश्य-द्रष्टा का विवेक काम में लिया, वह मूर्ति नहीं रह गई और वे निर्विकल्प समाधि में चले गये। बाकी चीजें तो दूर हो जाती थीं लेकिन देवी की मूर्ति उनकी इष्ट थी, उसे नहीं हटा पा रहे थे। उच्च कोटि के उपासक साधकों का मन दूसरी चीजों से तो हट जाता है लेकिन अपने इष्ट से मन नहीं हटता। कहीं इस प्रकार ज्ञान होने में ही प्रतिबन्धक हो जाता है और कहीं निरंतर ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वह भी कारण बन जाता है अर्थात् जीवन् मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं कर पाते क्योंकि कोई-न-कोई संस्कार ऐसा रह जाता है, जिसके कारण उस ब्रह्मानन्द की निरंतर अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वेद जो कहता है कि आचार्य से साधिष्ठ विद्या प्राप्त होती है, वह इसलिए कि प्रतिबंधक-निवृत्ति में नियम अदृष्ट काम कर जाता है।

उपदेश देने वाले के दो विशेषण गीता में बताये हैं 'ज्ञानिनः, तत्त्वदर्शिनः'। वेद में कहा है 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है, जिसने वेद के द्वारा ज्ञान को प्राप्त किया है और जो तत्त्वदर्शी है, जिसने उस परमब्रह्म परमात्मा को अपरोक्ष रूप से जान लिया है वह योग्य गुरु है। इसीलिये भगवान् ने भी ज्ञानी और तत्त्वदर्शी कहा है। जिसने तत्त्व को वेद से जाना है और उसका साक्षात्कार भी किया है, उससे साधिष्ठ विद्या प्राप्त होती है ऐसा श्रुति ने बताया। आचार्य शब्द का प्रयोग करके इस बात को स्पष्ट करते हैं कि आचार्य किसको कहते हैं—

> 'आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि।
> स्वयमाचरति ह्यस्माद् आचार्यः परिकीर्तितः'॥

शास्त्रों का चयन करता है। शास्त्र अथाह है, उसमें से तत्त्वज्ञान के उपयोगी भाग का चयन करना पड़ता है। जिन आचारों के द्वारा उस आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है उन आचारों में साधक को आचार्य लगाता भी है। जो तत्त्वज्ञान के उपयोगी आचरण होते हैं उन्हें वह स्वयं भी करता है। इन तीनों के होने के कारण उसे आचार्य कहा जाता है। शास्त्रों का

चयन, आत्मज्ञान के अनुरूप व्यवहार को दिखाना और उपदेश देकर शिष्य को उसमें स्थापित करना—ये तीनों जो करता है उसी को आचार्य कहते हैं। श्रुति में उसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कहा है। श्रोत्रिय से शास्त्र-ज्ञान को, ब्रह्मदर्शन (ब्रह्मनिष्ठा) से तत्त्वज्ञान को कहा। भगवान् ने भी तत्त्वदर्शन (तत्त्वनिष्ठा) से ब्रह्मज्ञान को और ज्ञान से शास्त्रज्ञान को कहा। यहाँ आचार्य से शास्त्रज्ञान और तत्त्वदर्शन से तत्त्वज्ञान को कहा। कुछ लोगों का यह कहना है कि आचार्य जो कहता है वह चाहे संस्कृत भाषा में कहे अथवा प्राकृत भाषा में, वह वेदान्त ही है। तात्पर्य उनका है कि केवल तत्त्वदृष्टि से काम हो जायेगा, श्रोत्रिय होने की जरूरत न मानें। किन्तु ऐसा होता तो श्रुति दोनों बातें नहीं कहती। शास्त्र के द्वारा भी पता तो लग जाता है, परन्तु बिना अनुभव के 'यह ऐसा ही है' इसकी दृढतापूर्वक प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार से जो व्यक्ति जहाँ गया हुआ है वह यदि रास्ता बताता है तो उस पर जाने से ठीक-ठीक पहुँच जाते हैं अन्यथा रास्ता तो नक्शे में भी बताया है, उसमें बताये हुए रास्ते को दूसरे को बता भी सकते हैं, परन्तु रास्ते में अनेक चीजें ऐसी आती हैं जो नक्शे में दिखाई नहीं गई होती। जो उस रास्ते से गया हुआ है, वह तो कह देगा कि 'अमुक सिनेमा हॉल आये तो बायें घूम जाना'। नक्शा स्थान का निर्देश कर देगा, लेकिन सिनेमा का क्या ठिकाना! आज वहाँ है, दूसरे दिन वहाँ कुछ और बन जाये। जो उस रास्ते से गया हुआ है, उसको पता है कि क्या चीज कहाँ है। साधना में भी इसी प्रकार की कई बातें होती हैं जो शास्त्र में न होने पर भी, जो उसका अनुभव कर लेता है उसके लिये सरल हो जाती हैं। अतः शास्त्र और आचार्य दोनों ही आवश्यक हैं। जड-चेतन का विवेक तो विचार करके भी बहुत कुछ समझ में आ जाता है, परन्तु शरीर और मन से अपने आपको अलग जानने वाला विवेक, बिना तत्त्वदर्शन के नहीं हो पाता। इसलिये जो तत्त्वदर्शी नहीं होगा वह ठीक प्रकार से 'इस शरीर-मन से हम अलग हैं। स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर से हम अलग हैं' इसका यथावत् प्रतिपादन नहीं कर सकेगा। तत्त्वदर्शी ही जो ब्रह्माकार वृत्ति बनाये ऐसा उपदेश दे सकता है।

क्या उपदेश देता है, 'पंचकोशविवेकेन।' आगे खुद पंचकोश बतायेंगे। पंचकोश का विवेक करके उपदेश करता है। बाकी उपदेशक विचारपूर्वक समझा सकते हैं लेकिन पंचकोशों से अपने आपको अलग जानते नहीं इसलिए उनका व्याख्यान सफल नहीं हो पाता। ब्रह्मनिष्ठ से प्राप्त उपदेश से साधक विवेक प्राप्त कर लेता है। तब परम शांति को प्राप्त करता है। जब पंचकोशों से अपने को अतिरिक्त जान लिया तब एक आवर्त से दूसरे आवर्त में जाता नहीं। आवर्तों में जाने वाली चीज प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय हैं। उनके साथ ही जीव जाता है। विविक्त होने से इनके जाने से *वह* जाने वाला नहीं बनता, जाना ही बन्द हो जाता है, जाने का प्रयोजन भी नहीं रहा। वह ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्मसात् कर देती है। भगवान् कहते हैं—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'। अतः न आगे ले जाने वाली वासना रह गई और न कोई प्रयोजन रह गया। इसलिये परम निर्वृति अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

वे पंचकोश क्या हैं यह बताते हैं–

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पंच ते।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥३३॥

अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द–ये पाँच कोश हैं। इनसे आच्छादित आत्मा भूल से संसरण में भटकता है।

अन्नमय कोश अर्थात् यह जो स्थूल शरीर हमको दीख रहा है, इसके साथ एकता अनुभव करके 'मैं मोटा, मैं लम्बा, मैं ब्राह्मण' इत्यादि अध्यास या प्रतीति होती है। ये सारे धर्म शरीर में रहते हैं। शरीर के अन्दर अध्यास करके ये सब 'मैं' के साथ जुड़ जाते हैं। जैसे शरीर के ऊपर तुम कोट पहनते हो, उसी प्रकार ये कोश कोट की तरह ही हैं। आजकल विज्ञापन टाईयों आदि के आते हैं; एक आदमी टाई पहने है और उसे देखकर उसके इर्द-गिर्द दस लड़कियाँ उससे शादी करने को तैयार होती हैं! शादी तो आदमी से होनी है, टाई से नहीं होनी है, परन्तु चूँकि वह व्यक्ति टाई से आकर्षक होता है, इसलिये उस टाई का आकर्षण ही उस विज्ञापन का तात्पर्य है। टाई अच्छी दीख रही है तो लगता है 'मैं अच्छा दीख रहा हूँ'। कभी वृन्दावन में बाँके बिहारी का दर्शन करने जाओ; जो दर्शन करके आ रहा हो वह कहेगा 'आज जरूर दर्शन करने जाओ क्योंकि हरी पोशाक के दर्शन हैं, आज बिहारी जी नौलक्खा हार पहने हैं, आज तो सिर पर मोरपंख का बड़ा सुन्दर श्रृंगार है।' मूर्ति तो वही रहनी है। जितने सुन्दर कपड़े या गहने पहनाओ, वे उन पर फबते हैं तो लगता है कि भगवान् फबते हैं। कई बार आदमी कोट आदि सब पहनकर घरवाली से पूछता है 'मैं ठीक लग रहा हूँ?' यह नहीं पूछता 'मेरे कपड़े ठीक लग रहे हैं या नहीं।' फिर भी वहाँ अध्यास नहीं है क्योंकि जानता है कि मैं कपड़े पहने हूँ। शरीर के साथ अध्यास है क्योंकि दृढ निश्चय है कि मैं यह शरीर हूँ ही। शरीर से अपने को अलग जानता नहीं। स्थूल शरीर अन्नमय कोश है।

अन्नमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है। प्राण सारी क्रियाओं को करने वाला है। प्राणमय कोश में प्राण और कर्मेन्द्रियाँ दोनों आ जाते हैं। लगता है 'मैंने यह काम किया,' जबकि काम तो कर्मेन्द्रियाँ करेंगी। प्राण कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त करेंगे तभी कर्मेन्द्रियाँ करेंगी। परन्तु अभिमान यह नहीं होता है कि पैर चले। अभिमान यही होता है 'मैं चला'। दिल्ली के लोग कार में बैठ कर आते हैं तो कहते हैं 'बहुत थक गये।' गाड़ी चलाने वाले ने परिश्रम किया क्योंकि गाड़ी चलाई, बाकी सब तो उसमें आराम से बैठकर आये फिर भी कहते हैं 'बहुत थक गये, इतनी दूर मोटर में बैठकर नहीं आना चाहिये।' तुमने काम कुछ नहीं किया, चलकर तो मोटर आई। लेकिन मोटर का चलना अपने ऊपर ऐसा दृढ प्रतीत होता है कि 'मैं ही चलकर आया' ऐसा अनुभव हो जाता है। तीसरा है, मनोमय कोश। मन के साथ ज्ञानेन्द्रियाँ भी हैं। जो कुछ भी ज्ञानेन्द्रियों से जाना गया वह सब लगता है, मैंने ही जाना।

बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय कोश; सारे भोग करने वाला 'मैं' ही है। पाँचवाँ है आनन्दमय कोश। सुषुप्ति के अन्दर आनन्दमय कोश (सोने वाला) 'मैं' ही है। इस प्रकार पंचकोश हैं।

इन पंचकोशों के द्वारा स्वात्मा ढका गया है। हम लोग पहले बनियान, उसके ऊपर कुर्ता, फिर उसके ऊपर स्वेटर, उसके ऊपर बण्डी और उसके ऊपर कोट पहन लेते हैं। ये पाँच आवरण होते हैं। इसी प्रकार आत्मा के ऊपर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश चढ़े हुए हैं। आत्मा इनसे ऐसा ढक जाता है कि ये दीखते हैं, आत्मा दीखता ही नहीं। कई बार लोग स्कूटर पर बैठकर आते हैं; शरीर पर कपड़े पहने हुए, उसके ऊपर चमड़े का कोट, सिर पर हैलमेट लगाते हैं जिसके आगे काँच होता है। दूर से बिलकुल पता नहीं लगता कि कौन हैं, पहचान में ही नहीं आते क्योंकि आवृत हैं। इसी प्रकार पाँच कोशों के द्वारा आत्मा आवृत हो जाता है। इसलिये किसी से पूछते हैं 'तुम कौन हो?' तो इन्हीं सब चीजों को बताता है।

स्वामी रामतीर्थ विदेश गये हुए थे। वे लोगों को चौंकाने वाली बात करते थे। उन्होंने एक विज्ञापन दे दिया कि 'यदि कोई ईश्वर को देखना चाहता है तो मेरे पास आये, मैं दिखा दूँगा।' किसी ने यह विज्ञापन देखा तो उनसे आकर कहा 'तुमने ऐसा विज्ञापन दिया है तो मुझे दिखाओ, अन्यथा मैं तुम्हारे ऊपर झूठा विज्ञापन देने का मुकदमा करूँगा।' उन्होंने उस आदमी से कहा 'मैं तुम्हें जरूर दिखा दूँगा लेकिन भगवान् आने से पहले पूछते हैं कि तुम कौन हो। बताओ।' उसने अपना नाम-ठिकाना बता दिया। उन्होंने कहा 'हमारी सनातन परम्परा है कि उपदेश लेने के पहले उपदेश देने वाले को प्रणाम करना पड़ता है। इसलिये पहले तुम प्रणाम करो, तब उपदेश दूँगा। और तुम्हें दर्शन हो जायेंगे।' वह प्रणाम करने के लिये झुका। रामतीर्थ खूब तगड़े थे। उन्होंने उसे बड़े जोर से मुक्का मारा! वह तिलमिलाकर उठा और कहने लगा 'यह तुमने क्या किया?' उन्होंने पूछा 'मैंने क्या किया!' कहने लगा 'आपने मुझे मारा है।' उन्होंने कहा—'मुझे 'मार' दिखाओ।' उसने कहा 'मार दिखाई थोड़े ही जाती है, वह तो अन्दर अनुभव होती है।' तब उन्होंने कहा 'फिर तो तूने झूठा ठिकाना दिया है। जो पता तुम दे रहे हो, यह तो जिस पर मार पड़ी उसका ठिकाना है। मार जिसे पड़ी उसका ठिकाना तो दिया नहीं। उसका ठिकाना बताओ जिसने मार खाई। वह कहने लगा 'मैं तो आत्मा हूँ'। उन्होंने कहा 'फिर उसका ठिकाना दो।' उसने कहा 'उसका तो ठिकाना पता नहीं है।' तब स्वामी रामतीर्थ ने कहा 'अब उसका पता मैं तुम्हें बताऊँगा। जब उसके ठिकाने को जानोगे, समझोगे तभी तुम भगवान् को जान पाओगे। जैसे किसी का ठिकाना पूछो तो कहता है-'१४ नं. बाराखम्बा रोड,' तो तुम वहाँ पहुँच जाते हो। इसी प्रकार मैं तुम्हें उसका पता बताऊँगा।' वह अन्नमय आदि सारी चीजों से इतना ढक गया है कि ये सारी चीजें तो दीखती हैं, वह नहीं दीखता। जैसे अन्नमय कोश है, ऐसे ही प्राणमय और मनोमय कोश ढाँकते हैं। अतः यही प्रतीत होता है कि 'मैं ही थक कर चूर हुआ हूँ'।

एक शंका होती है कि आवृत आदमी ढक गया, हमको नहीं दीखा, परन्तु वह खुद तो जानता ही है कि मैं रमण हूँ या रजनीश हूँ। अर्थात् वह स्वयं के प्रति तो आवृत नहीं होता। इसके उत्तर में 'विस्मृत्या' कहा। विस्मृति के द्वारा जन्म-मरण के चक्र को प्राप्त करता है। प्रश्न होता है कि विस्मृति उसकी हुआ करती है जिस चीज का पहले अनुभव किया है। अनुभूत विषय याद न रहे तब कहते हैं 'भूल गये'। हमने रूसी भाषा कभी पढ़ी ही नहीं तो हम कह सकते हैं कि हमें उस भाषा का अज्ञान है, यह तो नहीं कह सकते कि हम वह भाषा भूल गये। इसी प्रकार यदि मुझे पहले कभी आत्मा का अनुभव या दर्शन हुआ होता और फिर भूल जाते तब तो कह सकते थे कि विस्मृत है। शंका कर सकते हैं कि क्या ठिकाना, कभी जाना होगा! लेकिन यदि जाना होता तो तभी मुक्त हो गये होते, संसार-दर्शन होता ही नहीं। और, यदि दर्शन होकर भूला जा सकता है तो अभी भी आत्मदर्शन होने के बाद फिर नहीं भूल जायेंगे—इसकी क्या गारण्टी है? कभी पहले भूले तो अब भी भूल जायेंगे, फिर तो श्रवण-मनन आदि मोक्ष के साधन ही मान्य नहीं रहेंगे। स्मृति शब्द का प्रयोग केवल यहाँ किया है, ऐसा नहीं है। गीता में भी अर्जुन ने कहा है कि 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' मेरा अज्ञान नष्ट हो गया और स्मृति की प्राप्ति हो गई, यह अर्जुन ने स्पष्ट कहा। उपनिषद् में भी सनत्कुमार-विद्या में आया 'स्मृतिलम्भे'। अतः स्मृति शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में उपनिषद् और गीता में हुआ है। इसलिये यहाँ विद्यारण्य स्वामी ने भी उसी अर्थ को लेकर 'स्मृति' कह दिया।

श्रुति (उपनिषद्) या गीता ने भी ऐसा प्रयोग कैसे किया? इसमें कारण यह है कि पहले इसी अध्याय में दृष्टांत से कह आये हैं कि कहीं दस बच्चे मिलकर वेद का पाठ कर रहे हैं। उस समय एक बच्चे का बाप वहाँ आया। दसों पाठ कर रहे हैं तो वह अपने लड़के को भी सुन ही रहा है क्योंकि दसों को सुन रहा है। सुन तो रहा है लेकिन क्या सचमुच में पुत्र की आवाज सुन रहा है? 'मेरा बच्चा ठीक से बोल रहा है या नहीं' यह जानने के लिये बाकी नौ को चुप कराकर अलग से उससे बुलवाता है। ऐसे लोग होते हैं जो सबके साथ तो बोल लेते हैं, अकेले नहीं बोल सकते। साथ में बोलेंगे तो तुम्हें निश्चित पता नहीं लगता कि इसकी आवाज कैसी है और दूसरों की आवाज कैसी है। 'सुनते हुए भी नहीं सुनता है' इसका मतलब है कि सबके साथ तो सुन रहा है, परन्तु अकेले को नहीं सुन रहा है। इसी प्रकार जब कहते हो 'मैं ब्राह्मण हूँ,' तब ब्राह्मण तो शरीर से हो क्योंकि जो ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा हुआ है वह ब्राह्मण है, वह शरीर हुआ। 'मैं ब्राह्मण हूँ,' इस रूप से मैं दीख रहा है। परन्तु ब्राह्मणपने को छोड़कर मैं क्या हूँ—इस रूप से नहीं दीख रहा। इसी प्रकार 'मैं थका हूँ,' तो प्राण के साथ वाला हूँ, परन्तु उससे रहित मेरा स्वरूप कैसा है—यह पता नहीं लगता। इसी प्रकार दुःख, सुख आदि में समझ लेना। पंचकोशों के साथ दीख रहा है, सर्वथा नहीं दीख रहा हो ऐसी बात नहीं है, परन्तु इन सबसे रहित होकर कैसा

है—इस बात को नहीं जानता। जब पता लगता है तब ऐसा नहीं लगता कि किसी नई वस्तु का पता लगा; शरीर आदि से रहित जो अपना स्वरूप है, केवल वह प्रकाशित हो जाता है। जाने हुए को जानना होने से इसे स्मृतिरूप कह दिया है क्योंकि स्मृति भी उसी चीज की होती है जिसको पहले जाना था। जिसको पहले जाना था उसी को याद करते हो। यहाँ विस्मृति शब्द का प्रयोग इसी उपपत्ति से है।

भगवान् भाष्यकार ने कहा, 'राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्,' जैसे सूर्य जब राहु से ढक जाता है तब सब लोग कहते हैं कि राहु-दर्शन कर लो। जब तुम राहु-दर्शन करते हो तब सूर्यदर्शन हो ही रहा है। राहु स्वयं प्रकाशित तो होता नहीं, तुम आकाश में देखना चाहो तो बाकी ग्रह दीख जाते हैं; सूर्य, चन्द्रमा, मंगल लाल, बुध नीला, बृहस्पति पीला आदि दीख जायेंगे। अत्यंत चमकने वाला शुक्र भी दीख जायेगा; परन्तु राहु और केतु नहीं दीखेंगे। इसलिये सात ग्रहों को प्रकाशमान माना है परन्तु ये दोनों प्रकाशमान नहीं हैं। जब ये सूर्य के सामने आयें तब सूर्य के प्रकाश से दीखते हैं। खासकर अगर खग्रास हो तो ध्यान से देखोगे तो राहु ने जो हिस्सा ढका है उसके बाहर किरणों को निकलता हुआ पाओगे। खग्रास में सूर्य बिलकुल नहीं दीख रहा है फिर भी इधर-उधर से जो रोशनी निकल रही है वह सूर्य की ही है। वही रोशनी राहु को भी प्रकाशित करती है। रोशनी सूर्य का ही दर्शन है। ठीक इसी प्रकार आत्मा को अज्ञान ढाँकता है तो उस अज्ञान का भी ज्ञान आत्मा के प्रकाश से ही होता है! क्योंकि अज्ञान या माया स्वयं तो प्रकाशित हो नहीं सकती अतः आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रही है। जैसे राहु से ग्रस्त सूर्य सामान्यरूप से, प्रकाशरूप से दीख भी रहा है पर विशेषरूप से अर्थात् उसका चमकदार रूप नहीं भी दीख रहा है, इसी प्रकार अज्ञान से ढके हुए भी घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान हो रहा है; उस चेतन का ही प्रकाश है, तभी विषयज्ञान हो रहा है। ये सब चीजें प्रकाशित हो रही हैं—इस रूप से ज्ञानरूप चेतन दीख भी रहा है; परन्तु फिर भी इसका जो स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप है, उस रूप से नहीं दीख रहा है। इन्द्रियों से जो संसार दीख रहा है वह, जब हम गहरी नींद में चले जाते हैं तब नहीं दीखता, इन्द्रियाँ और मन वहाँ हट जाते हैं, इन्द्रियों के विषय भी नहीं रहते। केवल अज्ञान ही वहाँ विषय है। इसलिये उठकर कहते हैं 'मैं वहाँ अज्ञान अवस्था में था, कुछ भी नहीं जाना'। 'कुछ नहीं' को तो जान ही रहा था, तभी उठकर कह रहा हूँ। निद्रा द्वारा आवृत जो ज्ञान था, वह जाग्रत् में अनावृत हो गया। इसीलिये आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ 'विस्मृति' शब्द का प्रयोग किया, श्रुति-स्मृति ने भी इन शब्दों का प्रयोग किया।

पाँचों कोशों के साथ तो जानते हैं, परन्तु इनके बिना नहीं जानते। इनके बिना, केवल स्वरूप से जानने से ही मोक्ष होता है। 'संसृतिं व्रजेत्' चूँकि इसको जानते हुए भी नहीं जाना इसलिये जन्म-मरण का चक्र चलता है **॥ ३३ ॥**

अब तक पंचकोशों का केवल नाम दिया, वे पंचकोश क्या हैं–यह बताते हैं–

स्यात् पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः।
लिंगे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥३४॥

पंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न स्थूल शरीर का नाम अन्नमय कोश है। लिंगशरीर में वर्त्तमान रजोगुण के कार्यरूप पंचप्राणों और पंचकर्मेन्द्रियों सहित कोश का नाम प्राणमय है।

सबसे पहले अन्नमय कोश को बताते हैं। यह जो स्थूल देह हम लोगों को इन्द्रियों से दीखता है, इसी का नाम अन्नमय कोश है। अर्थात् इसका नाम अन्न है। श्लोक ३३ में यही नाम लिया था। इसे ही अन्नमय भी कहते हैं। 'अन्नसंज्ञकः' यह स्थूल देह पंचीकृत भूतों से बना हुआ है इसीलिये इसमें पृथ्वी होने से गंध है, जल होने से स्वाद है, दीखता है और गर्म रहता है इसलिये तेज भी है। जल तो इसमें बहुत ज्यादा है, इसलिये कहते हैं कि इस शरीर का करीब सत्तर प्रतिशत वजन तो पानी का ही है! इस प्रकार से इसमें रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श सारे ही हैं। और इन्द्रियों से विषय होता है इसलिये इसे पंचीकृतभूतोत्थ कहा। अन्नमय कोश की जाग्रत् अवस्था में प्रधानता है। स्वप्नावस्था के अन्दर प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमय तीनों कोश रहते हैं, इसीलिये इन तीनों को अलग-अलग करके बतायेंगे। सुषुप्ति में आनन्दमय कोश रहता है। लेकिन केवल सुषुप्ति में ही आनन्दमय कोश नहीं रहता, जाग्रत् और स्वप्न में भी रहता है। जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर केवल स्वप्न में ही नहीं रहता, जाग्रत् में भी रहता है, इसी प्रकार जाग्रत् में आनन्द भी रहता है। स्वप्न में स्थूल देह नहीं रहता, सुषुप्ति में स्थूल और सूक्ष्म नहीं रहते, लेकिन विपरीत नहीं है, इनका अनुवर्तन जाग्रत् में रहता है। आनन्दमय कोश का अनुवर्तन तो लिंग देह में रहेगा, लिंग देह आनन्दमय में नहीं रहेगा। लिंग शरीर के पहले भाग प्राण को बताया। प्राण राजस है। रजोगुण से उत्पन्न प्राण और रजोगुण से ही उत्पन्न कर्मेन्द्रियों के साथ होने वाला कोश प्राणमय है। यह स्वप्न के अन्दर भी रहता है, इसलिये वहाँ अनुभव होता है कि 'मैं देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ, बोल रहा हूँ, चल रहा हूँ,' आदि ॥ ३४ ॥

लिंग शरीर में ही सात्त्विक भी भाग है, उसे दो कोशों के रूप में बताते हैं–

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥३५॥

सात्त्विक ज्ञानेन्द्रियों सहित संशयरूप मन का नाम मनोमय कोश है। उन्हीं इन्द्रियों सहित निश्चयरूप बुद्धि विज्ञानमय कोश है।

ज्ञानेन्द्रियाँ, आँख, कान, नाक आदि के साथ विमर्शात्मा अर्थात् जहाँ संकल्प-विकल्प होता है वह मनोमय है। स्वप्न के अन्दर संकल्प-विकल्प भी होता है और आँख कान आदि ज्ञानेन्द्रियों से देखा-सुना भी जाता है। उन सात्त्विक इन्द्रियों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के साथ

निश्चयात्मिका, निश्चयरूप जो बुद्धि है, उसे विज्ञानमय कहते हैं। स्वप्न में भी निश्चय होता ही है। वहाँ भी पहले संदेह होता है कि 'देखो कौन आ रहा है,' फिर समीप पहुँचता है तो निश्चय हो जाता है कि देवदत्त आ रहा है। इस प्रकार प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय–तीनों लिंगशरीर में हैं ॥ ३५ ॥

अब कारण शरीर को बताते हैं–

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥३६॥

कारणीभूत अविद्या में स्थित मलिन सत्त्व ही मोद आदि वृत्तियों सहित आनन्दमय कोश है। उन-उन कोशों में अभेदाभिमान से कोशमय हो जाता है।

कारण शरीर अज्ञान है क्योंकि अज्ञान के कारण ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर हमारे साथ एक हो जाते हैं, तादात्म्यापन्न हो जाते हैं। कोश ये तभी होंगे जब हम इन्हें ओढ़े होंगे। जब हम इन्हें ओढ़े हुए नहीं हैं तब ये शरीर भी नहीं हैं। जैसे जब स्थूल शरीर मर जाता है तब उसे शरीर नहीं कहते, मुर्दा कहते हैं। जब तक जिंदा रहता है, तभी तक शरीर कहते हैं। अज्ञान भी त्रिगुणात्मक है, इसलिये इसके अन्दर सत्त्वगुण भी है। जो सत्त्वगुण वाला हिस्सा है वह मोदादि वृत्ति वाला आनन्दमय है। अज्ञान की जो सत्त्वगुण की वृत्ति है उससे मोद आदि का अनुभव होता है। जब किसी चीज को हम प्रिय समझते हैं और उसका लाभ होता है तब जो सुख होता है वह मोद है। जैसे बैठे हुए अकस्मात् दाल का सीरा याद आ जाये और वह मिल जाये तो मिलने से ही मोद होता है। इसी प्रकार से दूरस्थ पुत्र की याद आती है तो उससे ही प्रसन्नता हो जाती है। उससे प्रियता का अनुभव हुआ, सुख हुआ। जब पुत्र सामने आ गया, कल्पना से नहीं वरन् सचमुच सामने आ गया, तब मोद होगा। सामने आने पर जब उसका आलिंगन किया तब वह प्रमोद बन गया। इस प्रकार से ये सात्त्विक वृत्तियाँ बन जाती हैं। इसीलिये जहाँ आनन्दमय कोश का स्वरूप बताया वहाँ प्रिय, मोद, प्रमोद आदि कहे। एक शंका यह आती है कि प्रियता, मोद, और प्रमोद का अनुभव तो जाग्रत् या स्वप्न में ही हो सकता है, सुषुप्ति के अन्दर तो इसका अनुभव नहीं होता? इसीलिये यहाँ स्पष्ट कर दिया 'कारणे सत्त्वमानन्दमयः।' जैसा कि पहले बताया, आनन्दमय कोश तो सूक्ष्म शरीर में, स्वप्न में भी रहेगा और स्थूल शरीर में भी रहेगा। जब भी प्रियता, मोद, प्रमोद का अनुभव होता है वह आनन्दमय की सात्त्विक वृत्ति से ही अनुभव में आता है। आनन्दमय जाग्रत् के अंदर भी है, जिस प्रकार से घड़ा बनने पर मिट्टी तो रहेगी ही। आनन्दमय की जो सात्त्विक वृत्ति है उसी से प्रिय, मोद, प्रमोद आदि का अनुभव होता है। ऐसा नहीं है कि जब आनन्दमय नहीं रहा तब स्वप्न या जाग्रत् अवस्था हुई, जैसे ऐसा नहीं है कि मिट्टी नहीं रही तब घड़ा हुआ! मिट्टी बनी ही रहती है, घड़े का नाम-रूप पैदा हो जाता है। इसी प्रकार आनन्दमय बना रहता है और उसी में प्रिय, मोद, प्रमोद होते हैं।

सुषुप्ति का जो यह अनुभव है कि 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह अज्ञान का अनुभव तो जाग्रत्, स्वप्न में नहीं रहता है, परन्तु अज्ञान की जो सत्त्वगुणी वृत्तियाँ हैं उनके द्वारा प्रिय आदि का अनुभव हो जाता है।

इन कोशों का अनुभव 'यह मैं हूँ' ऐसा ही होता है। यही तादात्म्य अनुभव है। 'यह मैं ही हूँ' ऐसा जो एकता का अनुभव है उससे आत्मा तन्मय अर्थात् कोशमय हो जाता है। अनुभव होता है कि 'मैं मनुष्य हूँ' यह अन्नमय से तादात्म्य का अनुभव है। मनुष्य तो शरीर है, उसमें तादात्म्य अभिमान करके अनुभव होता है कि मैं मनुष्य हूँ। इसी प्रकार से अनुभव होता है कि मैं जीवित हूँ,। 'मैं जीवित हूँ' का मतलब है कि 'मैं प्राणवाला या मैं प्राणी हूँ'। प्राणों में तादात्म्य से अनुभव हो जाता है कि 'मैं जीव हूँ', या 'मैं जीवित हूँ'। इसी प्रकार से 'मैं विचार करने वाला या संकल्प-विकल्प करने वाला हूँ' यों मनोमय के साथ एकता हो जाती है। 'मैं करने वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ' इस प्रकार से विज्ञानमय के साथ तादात्म्य अभिमान हो जाता है। 'मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ,' इस प्रकार से आनन्दमय के साथ तादात्म्य हो जाता है **॥ ३६ ॥**

आवृत का मतलब यही है : जिस प्रकार खोली से तकिया आवृत है अर्थात् खोली तकिये के साथ एक होकर प्रतीत हो रही है, अलग प्रतीत नहीं हो रही है; इसी प्रकार हम कोशों के साथ एक होकर दीख रहे हैं, कोशों से अलग नहीं दीख रहे हैं। यही कोशों से आवृत होना है। चूँकि हम पंचकोशों से आवृत हैं, इसलिये विवेक करके यदि यह पता लग जाये कि यह मेरा स्वरूप नहीं है तो इन सारे कोशों के अभिमान से रहित होकर शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जायेगा। यही ज्ञान होने का तरीका है। इसलिये कहते हैं–

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७॥

अन्वय-व्यतिरेक द्वारा पाँचों कोशों से विवेकपूर्वक स्वात्मा को कोशों से पृथक् कर जीव परम ब्रह्म प्राप्त कर लेता है।

पाँचों कोशों से आत्मा का विवेक करना है। आत्मा का पंचकोशों के साथ जो तादात्म्याभिमान वाला रूप है, वह तो प्रकट है। कोशों के साथ आत्मा तो हम सबको ज्ञात ही है परन्तु कोशों से अतिरिक्त उस आत्मा का क्या रूप है–यह पता नहीं है। इसलिये पंचकोश-विवेक से अपने आत्मा (स्वात्मा) का उद्धार करके शुद्धरूप परब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। उद्धार, उत्+हार शब्द का अर्थ है–ऊपर ले जाना। ऊपर क्या है? गीता में ऊपर या ऊर्ध्व परमेश्वर को कहा है और छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्म का एक नाम ही 'उत्' कहा है। इन पंचकोशों से आत्मा को निकालना ही उसका (स्वात्मा का) उद्धार है, किसी नई चीज की प्राप्ति नहीं है। उत् का तात्पर्य 'हट जाना' भी है। आज से साठ साल पहले आदमी को निश्चय होता था कि मैं ब्राह्मण हूँ और अब पता है कि मैं ब्राह्मण हूँ फिर भी लगता

है कि मैं हूँ तो इंसान ही! पहले ब्राह्मण इंसान नहीं था ऐसी बात नहीं थी परन्तु ब्राह्मण के साथ जो तादात्म्य था वह अपने इन्सानपने को ढाँक लेता था। इसलिये कोई छू लेता था तो नहाना पड़ता था। कोई कहता भी था कि 'वह इंसान ही है'; कहते थे कि इंसान तो है परन्तु मैं ब्राह्मण हूँ। अब धीरे-धीरे यह शिक्षा दी गई कि यह जात-पाँत लोगों ने बना दी है इसलिये अनुभव नहीं होता कि 'मैं ब्राह्मण हूँ अतः कोई छू गया तो मुझे नहाना है।' मैं इंसान हूँ, इंसान ने इंसान को छू दिया तो क्या हुआ! परन्तु शरीर के साथ तादात्म्य है, तभी कहते हैं कि 'छूत की बीमारी वाले के पास बैठने, रहने से मैं रोगी हो जाऊँगा।' जैसे जब यह पता लग गया कि मैं ब्राह्मण नहीं इंसान हूँ, तब नहाने की जरूरत नहीं रही वैसे ही मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ—यह पता लग गया तो यह भाव नहीं रहेगा कि रोगी हो जाऊँगा। शरीरादि का आत्मा से कोई संयोग संबंध तो है नहीं कि इसको हटा सको, यह तो तादात्म्य अभिमान है। तादात्म्य हट गया, तो तुम्हारा उद्धार हो गया, तुम उससे दूर हो गये। अपने को इन पाँचों कोशों से हटा लेते हो तो सच्चिदानन्दरूप जो ब्रह्म का लक्षण है, वह तुमको अपने में मिल जाता है अतः परब्रह्म की प्रपत्ति हो जाती है।

सच्चिदानन्द—ब्रह्म का लक्षण है। सत् मायने जो हमेशा रहे। हमको हमेशा यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ', कभी यह अनुभव नहीं होता कि मैं नहीं हूँ। 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव करना असम्भव है! क्योंकि बिना हुए यह अनुभव कैसे होगा? मैं नहीं हूँ ऐसा अनुभव नहीं हो सकता। जब लोग कहते हैं 'मैं नहीं रहूँगा,' तब उनका मतलब है कि शरीर नहीं रहेगा। जब शरीर मैं नहीं हूँ, तब शरीर नहीं रहे, उससे 'मैं नहीं रहूँगा' यह नहीं बनेगा। ऐसा भी कभी नहीं होता कि मुझे मेरा भान नहीं है। डाक्टर शरीर के रोग के विषय में परीक्षा करता है। अगर कोई पूछे--'डाक्टर साहब! बताओ मैं जिंदा हूँ या नहीं?' तो डाक्टर उसे पागल खाने भेजेगा। इसकी परीक्षा कोई नहीं करेगा कि मैं जिंदा हूँ या नहीं। मैं हमेशा ही ज्ञान वाला या ज्ञानरूप ही रहता हूँ। और मुझे अपना आपा कभी अप्रिय नहीं लगता। शरीर अप्रिय लग सकता है। भयंकर बीमार हो जाता है तो व्यक्ति कहता है कि शरीर मर जाये तो मैं सुखी हो जाऊँ क्योंकि शरीर मुझे दुःख दे रहा है। शरीर से इसलिये हटना चाहता है कि 'मैं सुखी हो जाऊँ,' यह शरीर मर जाये तो दुःख हट जाये। उस समय भी 'मैं' के साथ प्रेम है। इसी तरह कोई चिंता लग गई तो रात में मन घूमता रहता है : दस बज गये, मन इधर-उधर हुआ; फिर घड़ी देखी साढ़े दस बजे हैं, इधर-उधर करवट लेते रहे, फिर थोड़ी देर बाद घड़ी देखी, ग्यारह बजे हैं। नींद नहीं आ रही है, रात कैसे बीतेगी! फिर सोने की दवा लेते हैं। मन दुःख का कारण बन रहा है तो सोचते हैं कि यह मन हट जाये। सुख का कारण बनता है तब तो कोई बात नहीं है। पहले बिजली आदि नहीं होने से रोशनी नहीं होती थी, इसलिये रेडियो, टी. वी. का तो सवाल ही नहीं था। रात को सात-आठ बजे भोजन हो गया, सर्दी में थोड़ी आग जलाकर उसके इर्द-गिर्द सभी पड़ौसी एक-साथ बैठ गये, घण्टा-आधा घण्टा बात-चीत हुई, नौ बजे सब सो गये। पूरे गाँव में कहीं रोशनी नहीं दीखती

थी। अतः नींद न आये तो परेशानी थी। आजकल देर तक जगना दुःख नहीं देता। इसलिये यदि किसी कारण से नींद आने लगे तो घरवाली से कहता है 'एक प्याला कॉफी बना दो'! यदि सुख का अनुभव होता है तो जगा रहना चाहता है, दुःख होता है तो मन को कहता है 'यहाँ से विदा हो'। मन से भी हटना चाहता है क्योंकि मन की चिंता हटे तो मैं सुखी हो जाऊँ। कोई नाटकादि देखकर सुख हो रहा है तो कॉफी पीकर भी जगता है। इस तरह आत्मा तो हमेशा प्रिय है, मैं तो हमेशा सुखी होना चाहता हूँ। वह सुख शरीर, मन, बुद्धि किसी से मिले, या इनके हटने से मिले तो भी ठीक है। इसलिये आत्मा में कभी भी अप्रियता नहीं है। यह इच्छा नहीं होती कि 'मैं खूब दुःखी हो जाऊँ'। तप करते हैं तो खूब दुःख उठाते हैं, जैन संथारा ले लेते हैं कि जब तक नहीं मरेंगे, भूखे-प्यासे रहेंगे। शरीर को भूखा-प्यासा रख रहे हैं तो दुःख ही उठा रहे हैं। लेकिन यह सब दुःख उठाकर उन्हें पता है कि संथारा लेकर मरेंगे तो परलोक जाने पर खूब आनन्द होगा, अमुक-अमुक चीज़ें मिलेंगी। इसलिये 'शरीर आदि को दुःखी करके भी मैं सुखी हो जाऊँगा' यही भाव है। मैं अपने को कभी भी अप्रिय नहीं लगता। जो चीज हमेशा सद्रूप, चिद्रूप और आनन्दरूप है, वही ब्रह्म है। सच्चिदानन्द यह लक्षण मुझ में मिलता है इसलिये मैं आनन्दस्वरूप हूँ। दुःख का कारण ये कोश हैं।

इस तरह विवेक से जब इन्हें हटाते हैं, आत्मा को इनसे सर्वथा स्वतन्त्र जानते हैं तब परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। एक प्राप्त की प्राप्ति होती है दूसरी, अप्राप्त की प्राप्ति। अप्राप्त जैसे मकान अप्राप्त है, तुमने पैसा देकर उसे खरीद लिया तो प्राप्त हो गया। उससे सुख हो गया कि इतना बढ़िया मकान मिल गया। दूसरे, मेरे पिता जी ने एक मकान खरीदा था, उसमें कुछ भड़ैती रहते थे। पिता जी के मरने पर मकान के कागज नहीं मिले, तो भड़ैतियों ने भाड़ा देना बन्द कर दिया और कहा 'स्वामित्व का प्रमाणपत्र दिखाओ तब भाड़ा देंगे।' दो महीने बाद कागज मिल गये। उन्हें दिखाया तो मकान हमारे नाम हो गया। पहले के दो महीने तक भी मकान था तो हमारा ही, परन्तु उसके कागज नहीं मिल रहे थे। अतः अपनी मिल्कियत होते हुए भी नहीं थी। नया कोई मकान नहीं मिला, केवल कागज मिल गये तो भी 'मकान मिल गया' व्यवहार होता है। इसको भी मिलना कहते हैं। प्रायः अप्राप्त की प्राप्ति होती है। पर कहीं प्राप्त की प्राप्ति होती है अर्थात् कोई चीज है प्राप्त लेकिन अज्ञान के कारण अप्राप्त लग रही है, उसकी जानकारी को भी प्राप्ति कह देते हैं।'परब्रह्म की प्राप्ति हो जायेगी' का मतलब है कि पहले हम इन पाँच कोशों से आवृत हुए अपने ब्रह्मभाव को नहीं समझ रहे थे, शरीर के कारण अपने को भी असत् समझ लेते थे, अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की सीमा के कारण हम अपने को परिच्छिन्न समझकर अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् समझ लेते थे। यह सब समझना है तो इन पंचकोशों के कारण तथापि प्रतीति हमको होती थी कि 'मैं सीमित हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ'; अब इसकी निवृत्ति हो गई तो अपनी अपरिच्छिन्नता स्वाभाविक ही है। पंचकोशों से उद्धार कैसे होता है? विवेक से यह उद्धार होता है।

विवेक क्या है? अन्वय-व्यतिरेक ही विवेक है। यह वेदांत की प्रधान साधना बता रहे हैं। अन्वय का मतलब अनुगति है, जो सब जगह, सबमें मौजूद रहे वह अन्वित, अनुगत है और जो कभी मौजूद रहे, कभी मौजूद न रहे उसे व्यतिरेक वाला या व्यावृत्त, अननुगत कहते हैं। यहाँ आत्मा का तो अन्वय दिखायेंगे। आत्मा जाग्रत् में, स्वप्न में और सुषुप्ति में भी है जबकि कोशों का व्यतिरेक है : जाग्रत् और उसके कोशादि स्वप्न में नहीं है, स्वप्न के कोशादि जाग्रत् में नहीं हैं। अतः जाग्रत्-स्वप्न का तो व्यतिरेक है और आत्मा का अन्वय है। मोटी भाषा में—जब मैं स्वप्न देख रहा था तब भी मैं तो था ही। स्वप्न में जाग्रत् की चीजें नहीं थीं। इसलिये रात में दाल का सीरा खा लिया, पेट ठस भरा हुआ है और सोते हुए स्वप्न देखा कि मैं भूखा हूँ! इसमें जनक का दृष्टांत प्रसिद्ध है। जनक दिन में सो रहे थे, नींद आ गई, गर्मी का मौसम था। प्राचीन काल में ए.सी. तो था नहीं! चारों तरफ गुलाबजल छिड़क कर दासियाँ पंखा कर रही थीं। स्वप्न में उन्होंने देखा कि किसी राजा ने चढ़ाई कर दी, लड़ाई में जनक हार गये और वहाँ से भाग गये। जीते हुए राजा ने राज्य में घोषणा कर दी कि जो भी जनक को पकड़ कर लायेगा उसे एक करोड़ रुपये मिलेंगे। वह घोषणा जनक ने भी सुनी। कोई पहचान न ले, इसलिये जंगल में छिपते फिरे। जंगल में खाने को कहाँ मिले! भटकते हुए एक गाँव में पहुँचे जहाँ अन्नक्षेत्र चल रहा था, लाईन में खड़े हो गये। जान-पहचान वाले के पास जायें तो कोई पकड़वा देगा। भिखमंगों की लाईन में जाकर खड़े हो गये। नम्बर आया तब बाँटने वाले ने कहा 'अपना बर्तन आगे करो'। इसने जन्म-भर कभी भीख तो माँगी नहीं थी, बर्तन कहाँ से रखता! कहा 'मेरे पास बर्तन नहीं है, तुम ही कुछ दे दो।' वहीं पास मिट्टी का एक ठीकरा (फूटा घड़ा) पड़ा था, उसे उठा लिया। तब तक देर भी काफी हो गई थी। पतीले में नीचे जो कुछ खिचड़ी जल जाती है, वही बच गयी थी। खिचड़ी देने वाले ने कुछ और खुरच कर उसे दे दी। उसी को लेकर बड़ी सावधानी से नीचे देखकर चल रहे थे। तब तक सामने से दो साण्ड लड़ते हुए आ रहे थे। एक साण्ड ने टक्कर मारी तो खिचड़ी नाले के पास गिर गई। भीषण दुःख हुआ कि इतने दिन बाद खाने को मिला, वह भी गिर गया। उस भीषण दुःख में आँख खुल गई तो देखा कि चारों तरफ गुलाबजल छिड़का जा रहा है, पंखा झला जा रहा है, सुन्दर वितान बना हुआ है। मिनट-दो मिनट ही आँख लगी थी। निश्चय हुआ कि यह तो स्वप्न था। विचार करो कि जाग्रत् में तो सब चीजें उपलब्ध थीं और अपने ही पास थीं, दूर नहीं थीं, परन्तु वह जाग्रत् उस स्वप्न में किसी काम का नहीं था। स्वप्न में जो खिचड़ी गिरी थी वह अब जाग्रत् में मिलने वाली नहीं थी। इसलिये जाग्रत् स्वप्न में नहीं है। यह व्यतिरेक है। लेकिन जाग्रत् में जो जनक अर्थात् मैं, सोया हुआ वही, स्वप्न के अन्दर भीख माँगता हुआ भी 'मैं' है; मैं तो एक ही है। मैं का अन्वय है। इस प्रकार से अन्वय और व्यतिरेक करने से पता लगता है कि ये हमारे कोश हैं, हम नहीं हैं। तब वह तादात्म्य-भाव चला जाता है।

अन्वय-व्यतिरेक तो जल्दी से समझ आ जाता है परन्तु इसका निरंतर अभ्यास करने पर ही यह दृढ होता है। सत्संग में बैठकर विवेक कर लिया अथवा अलग बैठकर विचार कर लिया, फिर दिन-भर इन पंचकोशों की ही आवृत्ति करते रहते हैं इसलिये विवेक सफल होता नहीं। किसी भी चीज को धारण तब किया जाता है जब निरंतर उसके संस्कार बनाये जायें। व्यवहार के नाम से इस धारण को हम लोग दृढ नहीं कर पाते। हरेक यही कहता है कि 'व्यवहार तो व्यवहार की जगह चलता है, इसलिये व्यवहार के लिये तो हमें तादात्म्य करना ही पड़ेगा'। अगर दिन में बीस घण्टे यह आवृत्ति करोगे कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं सुखी-दुःखी होने वाला हूँ, मैं काम करके थक जाता हूँ,' और चार घण्टे आवृत्ति करो कि 'मेरा इन कोशों से सम्बंध नहीं,' तो बीस घण्टे के संस्कार ही दृढ होते चले जायेंगे, चार घण्टे के नहीं। एक तो पहले से ही अनादि काल के तादात्म्य के संस्कार अंतःकरण में पड़े हुए हैं और फिर व्यवहार के नाम से तुम उन संस्कारों को और ज्यादा धीरे-धीरे दृढ करते हो तो वे तादात्म्य के संस्कार नहीं धुलते। समझ में तो आ जाता है, परन्तु धारणा नहीं बन पाती। दृढता के लिये अनवरत अभ्यास तब तक नहीं हो सकता जब तक व्यवहार में सत्य दृष्टि है कि व्यवहार तो करना ही है। व्यवहार की सत्यता हटाने के लिये पहले पंचमहाभूतों की असत्यता या अनिर्वचनीयता सिद्ध कर दी। वह सिद्ध होने के बाद ही अन्वय-व्यतिरेक कर सकते हैं। इसलिये आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि द्वैतमिथ्यात्व-सिद्धि-पूर्वक अद्वैत-सिद्धि होती है। जब तक द्वैत का मिथ्यात्व-निश्चय न हो जाये तब तब अद्वैत-सिद्धि नहीं हो सकती। अन्नमय आदि रूप से प्राप्त आत्मा का दर्शन तो पहले ही था। इन कोशों से पृथक् किया हुआ जो आत्मरूप है उसी का नाम ब्रह्म है। उस ब्रह्मरूप का अवलोकन करके उसमें स्थित होना है क्योंकि सत्य यही है और व्यवहार मिथ्या है। अभी तक साधना का रूप चलता है कि व्यवहार सच्चा है, थोड़ी देर ब्रह्मचिन्तन भी कर लें। जब तक यह मानते हैं तब तक उसकी सिद्धि अथवा उसकी धारणा नहीं हो पाती। इसलिये प्रपत्ति कहा, केवल प्राप्ति नहीं कहा ॥ ३७ ॥

अन्वय-व्यतिरेक ही स्पष्ट समझाते हैं–

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद् भानमात्मनः।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम्।।३८।।

सपने में स्थूल देह का अभान रहते आत्मा का भान अन्वय है और आत्मभान रहते शरीर का भान न होना व्यतिरेक है।

स्वप्न काल में स्थूल देह का भान होता नहीं है। स्थूल देह का पेट तो बढ़िया दाल का सीरा खाने के बाद तन रहा है लेकिन स्वप्न में भान हुआ कि भूख से तड़प रहा हूँ। इसलिये स्थूल देह का भान स्वप्न काल में नहीं है, परन्तु आत्मा का भान है, 'मैं हूँ' यह भान हो रहा है 'मैं भूखा हूँ', यह भान हो रहा है। यदि वहाँ स्थूल देह का भान होता तो ऐसा होता

कि 'मैं दाल का सीरा खाकर ठस हूँ,' लेकिन स्वप्न में इस शरीर का भान नहीं, बल्कि है कि 'मैं भूखा हूँ, कहीं कुछ खाने को मिल जाये।' इस तरह स्थूल देह का भान नहीं, परन्तु अपना भान तो है ही। स्वप्न व जाग्रत् दोनों में मैं तो रहा परन्तु देहभान स्वप्न में नहीं रहा, यह आत्मा का अन्वय हो गया। स्वप्न में आत्मा का भान होने पर भी 'अन्य' अर्थात् स्थूल देह अन्नमय का भान नहीं है, इसलिये उसका व्यतिरेक हो गया।

अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा पंचकोशों से अपने आत्मा को अलग करके परब्रह्म की प्राप्ति होती है। बिना पंचकोश-विवेक के ही आचार्य विद्यारण्य ने तत्त्व-विचार प्रारम्भ करते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप ही सब कुछ सिद्ध हो रहा है, यह बताया था। यह भी कहा था 'लभन्ते निर्वृतिं पराम्' (श्लोक ३२)। इसका कारण है कि पंचकोशों के साथ तादात्म्याभिमान दृढ होने के कारण ब्रह्मरूपता की सिद्धि होने पर भी 'वह सच्चिदानंद मैं हूँ' यह निश्चय नहीं होता। सब कुछ ब्रह्मरूप है—ऐसा अन्वय-व्यतिरेक से समझने पर भी 'वह ब्रह्मरूप ही मैं हूँ' यह निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि इन पंचकोशों का जो आवरण है उसमें 'यही मैं हूँ' ऐसा तादात्म्य अभिमान रहता है। इस प्रतिबंधक का हेतु अविद्या को बताया था।

दो प्रकार के अधिकारी होते हैं : एक, जिन्होंने योगाभ्यास करके निर्विकल्प समाधि में पंचकोशों से तो अपने को अलग समझा है परन्तु उन्हें संसार की वास्तविकता की दृष्टि बनी रहती है इसलिये अविद्या निवृत्त नहीं होती। ऐसे लोगों के लिये तत्त्वविवेक आवश्यक होता है। जो ऐसे उत्तम अधिकारी नहीं हैं अर्थात् कृतोपास्ति नहीं हैं, उनके लिये पंचकोश-विवेक भी करना जरूरी हो जाता है। संसार के मिथ्यात्व का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक से होने पर भी पंचकोशों से अपने को अलग समझना आवश्यक है। उत्तम अधिकारी को केवल तत्त्वमसि महावाक्य के श्रवणमात्र से ज्ञान होते देखा गया है। आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि जो खुद अर्थ नहीं जानता उसने 'तत्त्वमसि' आदि का उच्चारण किया, उसको पता नहीं कि मैं क्या बोल रहा हूँ, परन्तु श्रोता के पूर्व संस्कार जाग्रत् हो जाते हैं तो उसी से ज्ञान हो जाता है। किसी यक्ष आदि के कहने से ज्ञान हो जाता है, ऐसी कथायें आती हैं। कुछ ऐसे होते हैं जिन्होंने कुछ भी नहीं किया; पूर्व जन्म के संस्कार 'तत्त्वमसि' आदि के हैं, जगत् के मिथ्यात्व के भी संस्कार हैं, परन्तु किसी तीव्र प्रतिबन्धक के कारण उनको जन्म लेना पड़ा। गर्भ में ही उनको ज्ञान हो जाता है! किंतु इतने मात्र से कोई कहे कि जगत् की मिथ्यात्व-सिद्धि की जरूरत नहीं है, तत्त्वमसि आदि के श्रवण की जरूरत नहीं, पंचकोश-विवेक करने की भी जरूरत नहीं है—तो ऐसी बात नहीं है। ब्रह्मविद्या की साधना जन्म-जन्मान्तर में चलती रहती है। इसलिये श्रुति कहती है 'गर्भ एव शयानो वामदेवः प्रतिपेदे' वामदेव को गर्भ में ही ज्ञान हो गया था। पूर्व जन्म में किए हुए साधन भी इस जन्म में फल दे देते हैं। सर्वथापि पंचकोश-विवेक की जरूरत है।

पंचकोश-विवेक तैत्तिरीय उपनिषद् में आया है। कर्मकाण्डों में यह नियम है कि किसी भी कर्म को अपनी-अपनी वेद-शाखा के अनुसार करना चाहिये। इसलिये शंका होगी कि जो

कृष्ण-यजुर्वेदी हो वह पंचकोश-विवेक करे, सबको यह विवेक करना क्यों आवश्यक है? इसका समाधान यह है कि ब्रह्मसूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने 'सारे वेदान्तों का एक ही अर्थ है' ऐसा उपसंहार करना आवश्यक माना है। सारी ही उपनिषदें उस ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, ऐसा निश्चय करना जरूरी होता है। अतः कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा में यह फर्क है; कर्म तो भिन्न-भिन्न वेदशाखा वालों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे किसी शाखा के लिये कह दिया है कि सूर्य उदय होने के पहले अग्निहोत्र करे और दूसरी शाखा में लिखा है कि सूर्य उदय होने के बाद अग्निहोत्र करे। शंका हुई कि दोनों में से हम क्या करें? तब कहा कि जिसकी शाखा में उदय के बाद लिखा है वह वैसा करे और जिसकी शाखा में उदय के पहले लिखा है वह वैसा करे। क्योंकि कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं अतः कर्म में विकल्प हो सकता है। जैसे हमने किसी से कहा 'एक गिलास पानी लाओ' वह लोटे में पानी लेकर आता है। जैसे गिलास से वैसे ही लोटे से पानी पी सकते हैं। या वह प्याले में ही पानी ले आये तो उससे भी पी सकते हैं। इसलिये कर्म में विकल्प सम्भव है। कर्ममीमांसा में इस प्रकार विकल्प हो जाता है, परन्तु ब्रह्म का क्या स्वरूप है, इसका निश्चय करना है। ब्रह्म का स्वरूप एक ही है, उसमें तो विकल्प नहीं हो सकता कि ऐसा भी हो और वैसा भी हो। इसलिये यदि एक उपनिषद् में कुछ लिखा और दूसरी उपनिषद् में कुछ और ही लिखा तो दोनों को देखकर निश्चय करना पड़ेगा कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है। वास्तविक स्वरूप अलग-अलग नहीं हो सकता। अतः यद्यपि तैत्तिरीय उपनिषद् में आया है तथापि सभी के लिये कोशविवेक करना आवश्यक होता है।

दूसरा एक संदेह होता है : दो चीजें हों तब उनमें अन्वय और व्यतिरेक दिखाया जा सकता है। अन्वय अर्थात् जो सभी में हो वह अन्वित है या अनुगत है। जैसे माला के दानों में जो धागा गया है वह सब में अनुगत है, एक ही धागा माला के सारे दानों में है, इसलिये धागे का अन्वय है। दाने अलग-अलग हैं अतः दानों का व्यतिरेक है, क्योंकि धागे में जहाँ एक दाना है वहाँ दूसरा दाना नहीं है। इसलिये दो चीजें हों तब अन्वय-व्यतिरेक होता है। वेदान्त सिद्धांत में दूसरा कुछ है ही नहीं तो विवेक किससे करें?

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म अव्यावृत्त है अर्थात् किसी से अलग नहीं है और उससे भिन्न कुछ है नहीं इसलिये वह किसी में अनुगत नहीं है। ब्रह्म से दूसरा यदि कुछ हो तो ब्रह्म शब्द का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा! दूसरा हो तो अन्वय-व्यतिरेक हो, दूसरा है ही नहीं तो क्या अन्वय-व्यतिरेक किया जाये!

इसका समाधान है कि वास्तविक कोई दूसरी चीज हो यह सम्भव नहीं है। जैसे मंद अंधकार में रस्सी के अन्दर हमको जलधारा, माला, भूछिद्र इत्यादि प्रतीत हुए। ये सब चीज़ें सच्ची नहीं हैं, केवल रस्सी ही है। क्योंकि रस्सी होने पर ही जलधारा, माला इत्यादि दीखी हैं इसलिये रस्सी इन सबमें अनुगत कहलाती है। ये सब रस्सी से सर्वथा अलग हैं अतः ये सब मिथ्या हैं यह समझाने के लिये जब कहते हैं कि 'ये सब रस्सी हैं' तब तात्पर्य यह

निकलता है कि ये सब नहीं हैं, केवल रस्सी ही है। इसी प्रकार अपने आत्मा में पाँचों कोश प्रतीत हो रहे हैं, लगता है कि इन पाँचों कोशों में आत्मा है। ये पाँच कोश नहीं हैं, यह सिद्ध करने के लिये अन्वय-व्यतिरेक न्याय लगाया जाता है।

आत्मा का भान स्वप्न में है। 'मैं' का भान अर्थात् 'मैं देख रहा हूँ' यह भान जिससे उठने पर भी 'मैं स्वप्न देख रहा था' ऐसी मैं की याद आती है। जब स्वप्न के पदार्थ दीख रहे थे तब 'मैं' की भी प्रतीति हो रही थी। मैं अर्थात् आत्मा। जाग्रत् में जब 'मैं' स्थूल देह को देख रहा है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गोरा हूँ,' तब भी आत्मा का भान है। इस तरह 'मैं' का भान जाग्रत् और स्वप्न दोनों में है, परन्तु स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत् में भान नहीं है। स्वप्न में हमको किसी ने दस लाख रुपये दिये और मैंने रुपये सम्भालकर पेटी में रख दिये। उठकर मैं पेटी में वे रुपये ढूँढ रहा हूँ, मिल नहीं रहे हैं! यदि स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत् में भान होता तो दस लाख न सही, दस हज़ार ही मिल जाते! परन्तु कुछ नहीं मिलता। जाग्रत् के पदार्थों का स्वप्न में भान नहीं और स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत् में भान नहीं परन्तु 'मैं' का भान जाग्रत् में भी है, स्वप्न में भी है। स्वप्न-काल में स्थूल देह का तो भान नहीं है लेकिन अपना भान स्वप्न में भी है। इस प्रकार, मैं का भान जाग्रत् में भी है और स्वप्न में भी है अतः मैं का अन्वय हुआ और स्वप्न के पदार्थ, जाग्रत् में नहीं, जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में नहीं इसलिये उनका व्यतिरेक हुआ।

बदलने वालों में न बदलने वाले का बना रहना 'अन्वय' है, और न बदलने वाला कायम रहते बदलने वालों का न रहना, बदल जाना व्यतिरेक है। स्वप्न व जाग्रत् दोनों बदलने वाले हैं अतः परस्पर दोनों का व्यतिरेक एवं उभयत्र न बदलने वाले आत्मा का अन्वय है। इस प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक करके 'मैं शरीर से अलग हूँ' यह तो पता लग ही जाता है। शंका होती है कि दोनों जगह अहंकार का ही भान हुआ? समाधान है कि यहाँ आत्मा-शब्द जीवपरक होने से स्वप्न और जाग्रत् का विचार करने से स्थूल शरीर से मैं अलग हूँ इसका पता लगता है यह तात्पर्य है। सूक्ष्म शरीर से मैं अलग हूँ—इसका पता करने के लिये सुषुप्ति में जाना पड़ता है।। ३८।।

सूक्ष्म शरीर से आत्मा अलग है यह गहरी नींद के अनुभव से समझाते हैं—

लिंगाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभानमुच्यते।। ३९।।

सुषुप्ति में सूक्ष्म-शरीर का भान न होते आत्मा का भान होना अन्वय है तथा तब आत्मा का भान रहते सूक्ष्म शरीर का भान न होना व्यतिरेक है।

जब गहरी नींद आ जाती है तब 'मैंपने' का या अहंकार का अर्थात् सारे सूक्ष्म शरीर का ही भान नहीं होता। न देखता है, न चलता है, न पकड़ता है, कुछ नहीं करता। वहाँ अहंकार का भान नहीं है, फिर भी उठकर कहता है कि 'मैं ही सोया था।' सुषुप्ति में 'मैंपने'

का भान नहीं है फिर भी उठकर कहता हूँ कि 'मैं सोया था' इसलिये वहाँ मैं अर्थात् आत्मा था ही। सूक्ष्म शरीर का विवेक सुषुप्ति से होता है। सुषुप्ति में सूक्ष्म शरीर नहीं है और स्वप्न-जाग्रत् में मन है। इसलिये अवस्थात्रयके विचार से शरीरद्वय से आत्मा का विवेक हो जाता है। सुषुप्ति का भान होते हुए भी लिंग (सूक्ष्म) शरीर का भान नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न के अन्दर अहंकारात्मिका वृत्ति होने के कारण मैं-पने के साथ आत्मा का भान है जबकि सुषुप्ति में अहंकारात्मिका वृत्ति न होने से मैंरूप से आत्मा का भान नहीं है। फिर भी उसका पता किससे लगता है? 'सुषप्ति में मैंने कुछ नहीं जाना' उठने पर यह स्मरण होता है। 'कुछ नहीं जाना' रूप से जो अज्ञान था उस अज्ञान का ही कार्य यह अहंकारात्मिका वृत्ति, लिंग शरीर है। सुषुप्ति में कार्यरूप से मैं नहीं था लेकिन कारणरूप से था। अज्ञान कार्यरूप से जाग्रत् और स्वप्न में अनुगत रहेगा। जिस प्रकार, तुमने पीला कपड़ा लिया और उससे जो कमीज़ बनाई उसको फिर पीला रंगना नहीं पड़ता क्योंकि कारण का गुण वह पीलापन कार्य कमीज़ में भी आ जाता है। पीले धागे से जो कपड़ा बनाते हैं वह कपड़ा भी पीला होता है। ठीक इसी प्रकार अज्ञान से ही लिंग शरीर आया, उसी में अहंकारात्मिका वृत्ति अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण अज्ञान के सम्बंध के संस्कार जाग्रत्-स्वप्न में भी अन्वित रहते हैं। इस प्रकार सुषुप्ति के अन्दर सूक्ष्म शरीर की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है।। **३६।।**

जाग्रत् अवस्था में जो स्थूल शरीर वही अन्नमय कोश है। स्वप्न में समझा सूक्ष्म शरीर तीन कोशों का समुदाय है अतः सूक्ष्म के विवेक से तीनों का विवेक हो जाता है यह बताते हैं–

तद्विवेकाद् विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक्कृताः।। ४०।।

सूक्ष्म शरीर के विवेक के फलस्वरूप प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोशों का विवेक सम्पन्न हो जाता है क्योंकि उन्हें सूक्ष्म शरीर में गुणों की अवस्था के भेद के निमित्त से ही अलग-अलग करके कहा है।

लिंग देह के अन्दर तीन कोश आ जाते हैं–प्राण, मन और बुद्धि (विज्ञानमय)। आत्मा लिंग या सूक्ष्म शरीर से अलग है यह सिद्ध करने से आत्मा से प्राण, मन और बुद्धि अलग हैं यह सिद्ध हो जाता है। प्राण, मन और बुद्धि को अलग क्यों किया? इसलिये कि प्राण, मन और बुद्धि तीनों गुणावस्था के भेदमात्र से अलग हैं। मनुष्य के अन्दर ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों हैं। ये तीनों ही हैं तो एक जैसे ही। ज्ञान और इच्छा तो कथंचित् समान समझी जायें पर क्रिया भी ज्ञानरूप कैसे है? इसको देखने के लिये आजकल का दृष्टांत स्पष्ट है : चलचित्र की रील को देखो, वहाँ स्पष्ट प्रतीत होगा कि क्रिया कुछ नहीं है। पैर का 'चलना' वहाँ दीखता नहीं बल्कि एक चित्र में पैर थोड़ा ऊपर, दूसरे चित्र में और थोड़ा ऊपर दीखता है; चूंकि जल्दी-जल्दी दीख गया इसलिये लगता है कि क्रिया हो गई। अथवा एक और

प्रयोग करते हैं जिसमें एक गोल पट्टी में क्रम से सात भिन्न-भिन्न रंग लगा देते हैं। तुम्हें सात रंग दीख रहे हैं। उस पट्टी को मशीन पर चढ़ा कर तेज़ी से घुमाते हैं तो तुमको वहाँ केवल सफेद पट्टी ही नज़र आती है, रंग नज़र ही नहीं आते। क्या वे रंग मिलकर सफेद हो गये? फिर स्थिर पट्टी को देखो तो सात रंग दीखते हैं। इसका मतलब हुआ कि वे रंग मिले नहीं परन्तु पट्टी के जल्दी-जल्दी चलने से तुम्हारी आँख में लगता है कि सफेद है। चलती पट्टी में तुम उन्हें अलग-अलग जान नहीं सके। गति या चलना दीख रहा है, वस्तुतः पैर की अनेक स्थितियाँ ही हैं, और कुछ नहीं है। परन्तु उन ज्ञानों को अलग-अलग नहीं कर पाते इसलिये क्रिया दीखती है। इस प्रकार ज्ञानादि तीनों एक होने पर भी विभिन्न दीखते हैं। ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों को सामान्य दृष्टि से समझने के लिये अलग-अलग कहना पड़ता है।

विज्ञानमय कोश निश्चय करने वाला है इसलिये ज्ञानशक्तिरूप है। मन इच्छाशक्तिरूप है क्योंकि संकल्प-विकल्प करता है कि 'यह है अथवा वह है।' प्राण क्रियाशक्ति है। स्थूल शरीर मोटर कार के बाहरी शरीर की जगह है और सूक्ष्म शरीर मशीन की जगह है जो उस स्थूल शरीर को चलाती है। सूक्ष्म शरीर चलाने वाला है और स्थूल शरीर को चलाता है। वह चलाना तीन तरह से है—ज्ञान-इच्छा-क्रियारूप से चलाता है। इच्छा से भी शरीर को चलाया जाता है। किसी से पूछो 'तुम वहाँ क्यों गये?' तो कहता है 'मेरी मर्ज़ी'; ऐसा नहीं कहता कि 'मेरे पैर थे, इसलिये चला गया।' पैर में फालिज (लकवा) हो जाये तो कितनी भी पैर आगे बढ़ाने की कोशिश करो, कुछ नहीं होगा। जाने बिना न इच्छा कर सकते हो, न क्रिया कर सकते हो, जानते हो कि सामने गड्ढा दीख रहा है तभी क्रिया करते हो। चलाने वाली चीज़ है तो एक ही, फिर भी उसमें ये भेद ज्ञान-इच्छा-क्रिया, प्रतीत हो जाते हैं। इसलिये कहा कि लिंग शरीर से जब आत्मा को विविक्त कर देते हैं तब यह पता लग जाता है कि ज्ञान इच्छा क्रिया अथवा प्राण, मन, बुद्धि तीनों से आत्मा अलग है। सत्त्वगुण की अधिकता होने पर ज्ञान तथा रजोगुण की अधिकता होने पर क्रिया होती है। गुणों के भेद से इनका भेद हो जाता है। इच्छा में ज्ञान और क्रिया दोनों का मिलन है अतः 'इच्छा करते हैं' यह प्रतीति होती है। स्थूल शरीर से कुछ नहीं करते, प्राण से कुछ नहीं करते, केवल ध्यान ही करते हो तो वह भी मानसी क्रिया है। जिस मूर्ति का ध्यान करते हो उसे संस्कार जगाकर 'जान' रहे हो इसलिये ज्ञान भी है। रसगुल्ले का ज्ञान है तभी उसकी इच्छा होती है और वह इच्छा मैं करता हूँ—यह प्रतीति होती है। प्राणमय रजोगुण-प्रधान है, विज्ञानमय सत्त्वगुणप्रधान है और मनोमय उभयगुणप्रधान है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से निश्चय होता है।। ४०।।

सुषुप्ति के अन्दर अज्ञान है। 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह जो 'कुछ नहीं जानना' है, इससे आत्मा अलग है या नहीं, इसे अब बताते हैं—

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम्।। ४१।।

समाधि में सुषुप्ति का (अज्ञान का) भान न रहते आत्मा का भान अन्वय है एवं आत्मभान रहते सुषुप्तिका भान न होना व्यतिरेक है।

सुषुप्ति की अवस्था अर्थात् अज्ञान का भान समाधि में नहीं है, परन्तु जानना वहाँ भी है ही। इसलिये स्थूल देह का स्वप्न में अभान हुआ, लिंग देह का सुषुप्ति में अभान हुआ और समाधि के अन्दर सुषुप्ति का भी अभान है, इसलिये सुषुप्ति से भी आत्मा अलग है, यह सिद्ध हो जाता है। कुछ लोग कहेंगे कि समाधि का अनुभव सब लोगों को है नहीं, उसका अन्वय-व्यतिरेक कैसे होगा? यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके देखो तो जाग्रत् व स्वप्न प्रायः एक ही हैं। भगवान् गौडपादाचार्य ने जाग्रत् और स्वप्न दोनों को मिलाकर एक ही लक्षण किया है 'अन्यथागृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः'। आत्मा से अतिरिक्त दूसरी चीज़ों को जानना, ऐसा जाग्रत् में भी है और स्वप्न में भी है। जाग्रत् में पहाड़, पत्थर इत्यादि सबको जानते हो और स्वप्न में भी ऐसे ही पदार्थों को जानते हो इसलिये दोनों को स्वप्न समझ लो। सुषुप्ति में ऐसा अन्यथाग्रहण तो नहीं है लेकिन आत्मस्वरूप का ज्ञान भी नहीं है। तत्त्व का ज्ञान न होना तो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक जैसा ही है; परन्तु जाग्रत् और स्वप्न में यह विशेषता है कि आत्मा से अतिरिक्त अनात्मा को जानते हैं। जब एक वृत्ति लीन होती है और दूसरी वृत्ति नहीं उठी, इसके बीच का जो काल है, उस समय अन्यथा-ग्रहण भी नहीं है, अग्रहण भी नहीं है। इसीलिए यहाँ बार-बार 'भान' कहा है। 'कुछ नहीं जानना' अर्थात् अज्ञान का भान सुषुप्ति में है, परन्तु उस मध्य काल के अन्दर 'कुछ नहीं जानने' का भी भान नहीं है। जैसे सुषुप्ति से उठकर याद करते हो कि 'कुछ नहीं जानता रहा' वैसे वृत्तिसंधि के बाद याद नहीं आता, अतः तब अज्ञान का भान नहीं था यह कहना बनता है। इसका अभ्यास करने के लिये धीरे-धीरे दो वृत्ति के मध्यकाल को पकड़ने का अभ्यास करना पड़ता है। कोई तुमको कहानी सुना रहा है, तुमको नींद आ रही है; पहले लगता है कि एक-दो वाक्य सुने फिर बीच में एक वाक्य नहीं सुना, फिर दो वाक्य सुन लिये। बीच के वाक्य का कुछ पता नहीं रहता। फिर धीरे-धीरे न सुनने का काल बढ़ता जाता है। फिर नींद आ गयी। इस प्रकार धीरे-धीरे जो बीच वाला काल है, उसकी तरफ अपनी वृत्ति को स्थिर करने से स्पष्ट होगा, कि 'कुछ नहीं जानने' का भान भी तब नहीं है। यह जो नींद लेते समय की बात है, वही जाग्रत् में अर्थात् जगते समय की बात है, जगते हैं तो तुरन्त बिलकुल चौकन्ने नहीं हो जाते। पहले शरीर का भान होता है, फिर धीरे-धीरे कमरे का भान होता है, बिजली के बटन का भान होता है। बीच-बीच में अभान की भी स्थिति रहती है। उस मध्य काल में 'मैं कुछ नहीं जान रहा हूँ' भी भान नहीं है और 'कुछ जान रहा हूँ' ऐसा भी नहीं है। इसको पकड़ने का अभ्यास तो सब लोग कर सकते हैं। सुषुप्ति के अज्ञान के साथ जो आत्मा का भान है वह भी समाधि में नहीं रहता। इतना याद रखना कि यह नहीं समझ लेना कि उस काल में अज्ञान होता नहीं है; अज्ञान का भान

नहीं है, अज्ञान है तो सही। ऐसा क्यों मान रहे हैं? इसलिये कि उस मध्य काल में न किसी चीज़ का भान है, न किसी चीज़ के नहीं होने का भान है, परन्तु परम आनन्द का भान भी नहीं है। यदि अज्ञान न होता तो परम आनन्द प्रकट होना चाहिए था। परम आनन्द की प्रतीति न होने के कारण उसको अज्ञानरहित नहीं कह सकते। इसलिये अज्ञान के भान से रहित है, इतना ही कह सकते हैं। इस अभ्यास को करने के लिये बड़ा धैर्य चाहिए।। ४१।।

इस विषय में श्रुति का प्रमाण देते हैं–

यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरत्रितयाद् धीरैः परं ब्रह्मैव जायते।। ४२।।

जैसे सरकण्डे से सींक, वैसे ही धीरों द्वारा युक्तिपूर्वक तीनों शरीरों से भलीभाँति पृथक् किया आत्मा परम ब्रह्म ही हो जाता है।

सरकण्डे के बीच में एक अत्यंत बारीक इषीका (सींक) होती है। पहले ज़माने में सरकण्डे की कलम बनाते थे। बारीक नली में पतला कमज़ोर धागा-सा होता है जिसे बहुत धीरे-धीरे ही निकालना पड़ता है। थोड़ी भी जल्दबाजी की तो वह झट से टूट जाता है। वह टूट गया तो अन्दर कुछ नहीं डाल सकते कि निकाल सको। कठोपनिषत् में (६-१७) यही दृष्टान्त दिया है 'तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेद् मुञ्जाद् इवेषीकां धैर्येण'। मूँज में से जैसे इषीका को निकालना है, इसी प्रकार अत्यंत सूक्ष्म आत्मा पंचकोशों के बीच में है, उसे इन शरीरों से अलग करना है। श्रुति में कहा है 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' अर्थात् शरीर के मध्य में आत्मा है। जैसे मूँज में से अत्यंत पतली सींक इषीका निकालते हैं, वैसे ही इसे भी शरीर में से बड़े धैर्य से निकालना पड़ता है। 'युक्त्या' के यहाँ दोनों अर्थ समझ लेना, सावधानी एवं अन्वय-व्यतिरेक; इसमें धैर्य की जरूरत इसलिये है कि पंचकोशों के साथ तादात्म्य इतना दृढ है कि उनकी जडरूपता जल्दी जँचती नहीं। स्थूल शरीर से विवेक ही मुश्किल हो जाता है कि यह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ। मन, बुद्धि और बुद्धिवृत्तिरूप अहंकार से 'मैं' भिन्न है यह समझना बहुत मुश्किल होता है। 'मैं हूँ' में 'मैं' अहंकारात्मिका वृत्ति है और 'मैं हूँ' को जो जान रहा है वह आत्मा है। परन्तु इस प्रकार से 'मैं हूँ' और 'मैं को जानने वाला हूँ,' इनको अलग करना बड़ा कठिन होता है। इसलिए युक्ति और धैर्य की जरूरत है। धैर्य से ही इसको अलग करना पड़ता है।

संस्कृत में धीर के दो अर्थ होते हैं : बुद्धि में रमण करने वाले को भी धीर कहते हैं एवं जो प्रयास को धारण कर सके अर्थात् धैर्य वाला हो उसे भी धीर कहते हैं। बुद्धि से विवेक करके ही, विचार करके ही आत्मा प्राप्त किया जा सकता है। और किसी भी साधन जप, पूजा, पाठ आदि से इसको प्राप्त नहीं कर सकते। यह विचार करके ही प्राप्त होगा। बुद्धि के निश्चय से निश्चयवाले बनो; बुद्धि का निश्चय होने पर भी प्रायः मन उड़ान भरता

है। तुम किसी निश्चय पर पहुँचो तो मन फिर संकल्प-विकल्प करता है कि 'यह भी तो हो सकता है।' इसीलिये मनन पर इतना ज़ोर देना पड़ता है कि 'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्'। वेद ने जो सिद्धांत बताया है उसके अनुकूल तर्कों को सोचो। तर्क से कभी निश्चय नहीं होता! इसलिये व्यास जी ने सूत्र बनाया 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। एक तार्किक एक बात कहता है, दूसरा उसे काट देता है। तर्क के बल से चलने वाले आजकल के वैज्ञानिक हैं। एक नियम का पता लगता है, दस-बीस साल बाद दूसरा वैज्ञानिक पहले वाले नियम को काटकर दूसरा चला देता है, फिर कोई और तीसरा सिद्धांत चला देता है। इससे सत्य का निर्णय कैसे हो? तर्क से वस्तुतः किसी का पता नहीं लग सकता। आत्मबोध में तर्क का सहारा तो लेना है, परन्तु वेद की बात का समर्थन करने वाला जो तर्क हो, उसे बार-बार मन में लाना है। मन बार-बार टक्कर देकर उससे विरुद्ध तर्क को लायेगा उठायेगा; उसको प्रश्रय मत दो। मन संस्कारों का पुंज है। तर्क मन में चलते रहे तो मन ही जीत जायेगा, निश्चय नहीं हो पायेगा। इस सृष्टि को बनाने वाले परमात्मा ने वेद का उपदेश दिया। सच्ची बात को उसने कह दिया। वहाँ कही हुई बात को समझने के लिये तर्क का उपयोग करना है। सत्य का निर्णय तर्क से नहीं, निर्णय तो श्रुति से ही होता है। बुद्धि में रमण करना अर्थात् श्रुति के अनुकूल तर्कों के प्रवाह पर ज़ोर देना है। इसीलिये स्पष्ट कहा है कि श्रद्धा ही बुद्धि का सिर है। और इस कार्य में धैर्य की भी जरूरत है क्योंकि यह दो-चार दिन का काम नहीं है।

दीर्घकाल तक जब ये संस्कार चलेंगे तब निश्चय परिपक्व होगा। जब ऐसा हो जाता है तब 'परब्रह्मैव जायते;' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर वह खुद ही ब्रह्म हो जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि पहले ब्रह्म नहीं था! पहले ही था परन्तु अपने को ब्रह्मरूप समझ नहीं रहा था, अब समझा हुआ भी है, यह लाभ हो जाता है ।। ४२।।

धैर्य-पूर्वक और बुद्धिमत्ता से जैसे मूँज में से इषीका निकालते हैं उसी प्रकार आत्मा को पंचकोशों से युक्तिपूर्वक, विचार-पूर्वक निकाल लेने पर आत्मा परब्रह्म ही बच जाता है। इस विचार के अनुसार श्रुति का अर्थ समझ आता है यह कहते हैं–

परापरात्मनोरेवं युक्त्या सम्भावितैकता।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते।। ४३।।

पर और अपर आत्माओं की जो एकता यों युक्ति से सम्भावित है, तत्त्वमसि आदि वाक्यों से भागत्यागलक्षणाद्वारा वही समझायी गयी है।

पर आत्मा और अपर आत्मा; पर अर्थात् श्रेष्ठ। शुद्धसत्त्व-प्रधान माया श्रेष्ठ होने से तदुपाधिक को पर कहा और मलिनसत्त्व-प्रधान माया उपाधिवाला जीव होने से उसे अपर

कहा। मलिनसत्त्वप्रधान और शुद्धसत्त्वप्रधान इन दोनों उपाधियों को छोड़ देना ही उसका उद्धार है। जैसे पर आत्मा का सच्चिदानन्द लक्षण, वैसे ही अपर आत्मा का लक्षण भी सच्चिदानन्द है। पर और अपर दोनों का युक्ति से यह अभेद, एकत्व पता लग जाता है। जिसके लक्षण में कुछ भी भेद न हो वह वस्तु प्रायः एक ही हुआ करती है। देश काल आदि निमित्तक भेद भी हो सकता है। कलकत्ते में मोटर में जाते हुए एक सेठ को देखा, फिर आबू में फटे कपड़े और फटे जूते वाले उसी सेठ को देखा, देश काल और अवस्था तीनों अलग हैं; पहले देश कलकत्ता था, अब आबू है। काल वह तीन साल पहले का था और अब वर्तमान है। कपड़े आदि से अवस्था भी उसकी अलग दीख रही है, वहाँ बन-ठनकर जा रहा था, अब फटेहाल दीख रहा है। परन्तु कान-नाक-अंगूठा आदि सब वही हैं। उस देश काल अवस्था की उपाधि और इस देश काल अवस्था की उपाधि को छोड़कर कहते हैं 'यह वही सेठ है।' उपाधि को छोड़कर एक ही लक्षण होने से 'यह वही है' यह ज्ञान होता है। इसी प्रकार जब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं और अन्नमय, प्राणमय आदि पाँचों कोशों की उपाधियों को छोड़ा, तब तीनों अवस्थाओं और पाँचों कोशों से अलग हो गये। अब न जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति वाले हैं और न अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय वाले हैं। सभी उपाधियों को छोड़ देने पर मेरा सच्चिदानन्द रूप तो एक ही रहा। उधर, सृष्टि स्थिति और लय करने वाला, जगत् के रूप में बनने वाला, निमित्त और उपादान दोनों कारणों की उपाधियों को छोड़कर भी सच्चिदानन्द ही है। अतः उपाधियों को छोड़कर दोनों का एक ही लक्षण 'सच्चिदानन्द' मिल रहा है तो सम्भव यही है कि एक ही चीज़ है। सम्भावित एकता पक्की कैसे हो? युक्ति से सम्भावित बात प्रमाण से सिद्ध हो जाये तो पक्की हो जाती है।

पहले (श्लो.१०) कहा था 'तयोरैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते'। श्रुति में कैसे बताया है? 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से बताया है। श्रुति के बताने का तरीका यही है कि सृष्टि बनने के पहले केवल सत् था। उस 'सत्' ने ईक्षण करके यह सारी सृष्टि बनाई और बन भी गया। वह जो 'सत्' है, उसकी दृष्टि से कहा 'हे श्वेतकेतु! वह तू है।' 'तत्त्वमसि' के द्वारा श्रुति ने 'तू है' कहा। न तो यह कहा कि 'तू ब्रह्म था' और न यह कहा कि 'तू ब्रह्म हो जायेगा,' बल्कि कहा 'है'। इस प्रकार से यह 'तत्त्वमसि' वाक्य एकता का प्रतिपादन कर देता है। 'तत्त्वमसि' कहने पर जो विरोध की प्रतीति होती है, उसे युक्ति से पहले ही हटा दिया, इसलिए 'सा लक्ष्यते' अर्थात् सम्भावित एकता 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा भागत्याग लक्षणा से लखा दी जाती है अर्थात् लक्षित हो जाती है, अनुभव हो जाती है। ठीक जिस प्रकार से द्वितीया का चन्द्रमा दिखाई नहीं दे रहा हो तो उसे दिखाने के लिये कहते हैं 'यह जो नीम का पेड़ है उसकी दो डालियों के बीच में देखो, उसमें द्वितीया का चन्द्रमा दीख रहा है'। दो डालियों के बीच में तो चन्द्रमा हो नहीं सकता! दो डालियों के

बीच का अन्तर बित्ते भर का होगा जब कि चन्द्रमा तीन लाख योजन का है। परन्तु साथ वाला दो डालियों के बीच में देखता है तो उसे चन्द्रमा दीख जाता है। इसी प्रकार, मैं अपने को हमेशा ही साक्षात् अनुभव करता हूँ, अपरोक्ष अनुभव करता हूँ। कभी भी मैं अपने को परोक्ष नहीं दीखता। यह एक उपाधि है। सारे संसाररूप में बनने और बनाने वाला परमेश्वर दूसरी उपाधि है। जब बनना और बनाना नहीं है तब श्रुति ने उसे 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयं' कहा। बनने-बनाने के द्वारा उसका कारणरूप दीखता है। दुःख आदि के अनुभव वाला, पंचकोशों में दूसरा रूप दीखता है। दो डालियों के बीच में चन्द्रदर्शन की तरह सद्ब्रह्म के द्वारा कारणरूप से व्यापक और 'मैं'रूप से अपरोक्ष, इन दोनों डालियों से दूर—सर्वथा पृथक् अथवा अस्पृष्ट चन्द्र की तरह जो शुद्ध चिन्मात्र है, वह अनुभवरूप ही रह जाता है। इसी को भाग-त्याग कहते हैं। वह प्रतीति विषयरूप से नहीं है, चूंकि 'त्वं' से कहा है इसलिये अपरोक्षरूप से ही प्रतीति है। मैं ब्रह्म हूँ—इस रूप से ही प्रतीति होगी। मैं अर्थात् प्रत्यगात्मा को जो लक्षित कराता है। 'त्वं' में पंचकोशों के भाग का त्याग कर दिया और 'तत्' में से सृष्टि स्थिति लय की कारणता का त्याग कर दिया। पूरा त्याग 'त्वं' में भी नहीं किया और पूरा त्याग 'तत्' में भी नहीं किया। इसलिये इसको भागत्याग कहा। जैसे कलकत्ते वाले सेठ को भी नहीं छोड़ा और उसीको आबू में फटे हाल देखकर, उसको भी नहीं छोड़ा, परन्तु देश, काल, अवस्था की उपाधि को छोड़ दिया। इसलिये बिना किसी उपाधि वाला जो शुद्ध वही रह जाता है। इसलिये कहा 'सा भागत्यागेन लक्ष्यते'।

यहाँ जो सम्भावित एकता कहा है, इसमें एकता का अर्थ अभेद समझना। एकता का अर्थ 'एक' संख्या नहीं समझ लेना क्योंकि एक ब्रह्म है—यह ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है, बल्कि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान मोक्ष का कारण है। एकता का मतलब 'एक' संख्या नहीं, अभेद है। सारे देवताओं में और सारे मनुष्यों में एक ब्रह्म ही है—यह ज्ञान और चाहे जितनी ऐसी उपासना कर ली जाये, मोक्ष का कारण नहीं बनेगा। सबकी ब्रह्मरूपता समझने मात्र से मोक्ष नहीं है। 'मैं ब्रह्म ही है, ब्रह्म मैं ही हूँ' यह ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। जहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि कहा है वहाँ 'सर्वम्' में मैं भी समझना ज़रूरी है इसलिये अन्यत्र उपनिषदों में दोनों प्रकार से मिलाकर कहा है, 'तत् त्वमेव त्वमेव तत्' इत्यादि। दोनों का एक ही लक्षण है—इतना ही कहने से ऐसी प्रतीति हो सकती है कि ब्रह्म बड़ा विस्तृत है और मैं उसमें एक अंश हूँ, मेरी उससे अतिरिक्त सत्ता नहीं है। परन्तु इतने मात्र का ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ' और 'ब्रह्म ही मैं है' इस प्रकार सर्वथा अभेद का भान चाहिए। एक ही अधिकरण के अन्दर दो कल्पनायें प्राप्त होने पर दोनों कल्पनाओं को हटाने से अधिष्ठानमात्र रहे तब अभेद-बोध है। बिना तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के और कोई उपाय नहीं है जिससे यह ज्ञान दिया जा सके। अतः लक्षण की एकता को युक्ति से जानना पर्याप्त नहीं, उससे सम्भावित को जब वाक्य कहे तभी अत्यन्त अभेद की प्रतीति होगी।। ४३।।

पर और अपर को स्वयं मूलकार बताते हैं–

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा।। ४४।।

तामसी माया लेकर जो जगत् का उपादान और शुद्धसत्त्व-प्रधान उसी माया को लेकर जो जगत् का निमित्त है वह ब्रह्म 'तत्'-शब्द से कहा जाता है।

ब्रह्म शब्द से कही वस्तु तत् पद से कही। तत् शब्द किसको कहता है? जो जगत् का उपादान कारण है, उसको कहता है। यह याद रखना कि संसार के अनेक धर्म और मत, कणाद, गौतम, पतञ्जलि ईश्वर को जगत् का कारण तो मानते हैं परन्तु उसे जगत् का उपादान कारण नहीं मानते। पतंजलि कहते हैं कि प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, प्रकृति जगत् के रूप में बनती है। कणाद और गौतम परमाणु इत्यादि को जगत् का कारण मानते हैं। वेदांत में ब्रह्म ही जगत् बनता भी है और बनाता भी है। प्रायः यह समझने में मुश्किल पड़ता है। इसलिये श्रुति ने दृष्टांत दिया है कि जैसे मकड़ी का जाला मकड़ी खुद बनती है और खुद ही बनाती है, सामग्री कहीं से लाती नहीं। अथवा जिस प्रकार अपने नाखून हम खुद ही बढ़ाते हैं, हमारे मरने के बाद इनका बढ़ना नहीं हो पाता। इनको बनाने के लिये हमको कहीं किसी कम्पनी से कुछ खरीदना नहीं पड़ता। हम ही बन जाते हैं और हम ही बना लेते हैं। इन दृष्टांतों में देहविशिष्ट आत्मा कारण है अर्थात् देह के साथ आत्मा का तादात्म्य संबंध रहते हुए कहा जाता है कि मैं ही इसका कारण हूँ या मकड़ी ही जाले का कारण है। जैसे मकड़ी या हमारे अन्दर आत्मा देहविशिष्ट है, वैसे ही मायाविशिष्ट आत्मा ही जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण भी है। मायाविशिष्ट चेतन ही जगत् के रूप में भी बना और जगत् के रूप को बनाया भी। इसलिये जगत् की कारणता को समझाने के लिये ये दृष्टांत हैं, परन्तु शरीर के द्वारा बनने-बनाने वाले हैं तो हम ही, या जाले को बनाने वाली है तो मकड़ी ही। इसी प्रकार से अज्ञान के द्वारा या माया के द्वारा बनने-बनाने वाला तो ब्रह्म ही है

श्रुति ने ऐसा दृष्टांत दिया कि जो साधारण व्यक्ति भी समझ जाये। आचार्य शंकर ने दृष्टांत दिया कि जैसे रस्सी अज्ञान से सर्प बनती है। कौन सर्पाकार में बना? रस्सी ही बनी। इसलिये रस्सी की लम्बाई मोटाई ही दीखती है। और सर्प को किसने बनाया? रस्सी ने ही बनाया! दूसरा दृष्टांत है, जैसे लोटा-भर भाँग पीने के बाद ब्राह्मण कहता है, 'जानते हो, मैं सेठ हूँ!' लोटा-भर भाँग पीने के बाद तो उसके साथ एक हो चुकी है। स्वयम् को सेठ खुद उस ब्राह्मण ने बनाया और खुद ही सेठ बना भी, दूसरा तो उसे सेठ बनाने वाला कोई है नहीं। वह किससे बना? अपने स्वरूप के अज्ञान से बना; सचमुच में नहीं बना, बना हुआ प्रतीत हुआ। प्रतीत किसको हुआ? अपने आपको ही प्रतीत हुआ। दूसरा तो कोई उसे सेठ

नहीं मान रहा है। इसी प्रकार अपने अज्ञान से हम ही जीव और संसार बन गये। हमारे सिवाय न किसी को जीव, न संसार दीखता है। जैसे ही अज्ञान निवृत्त होता है वैसे ही न संसार रह जाता है, न जीव रह जाता है, केवल ब्रह्म ही रह जाता है। इसलिये महाराजा भर्तृहरि ने कहा 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिराम् उन्मत्तभूतं जगत्' वे क्षत्रिय थे, शराब पीते रहे होंगे, इसलिये उन्हें यह दृष्टांत सटीक लगा कि अज्ञान की शराब पीकर यह सारा जगत् उन्मत्त बना हुआ है।

इसलिये आचार्य ने कहा 'जगतो यद् उपादानम्'। जगत् का निमित्त कारण तो संसार में अनेक दूसरे आस्तिक दर्शन भी मानते हैं और वर्तमान काल में ईसाई, मुसलमान, यहूदी भी परमेश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं। परन्तु सिवाय वेदांत के और कोई परमेश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं मानता। सृष्टि बताते हुए कहा था 'तमःप्रधानप्रकृतेः' (श्लो. १८) तमोगुण-प्रधान माया से उन्होंने आकाश आदि महाभूतों का निर्माण किया। महाभूतों का परिणाम ही यह सारा जगत् है। स्थूल और सूक्ष्म महाभूत जो दीख रहे हैं, दोनों ही तमोगुणी माया के कारण ही हैं। तामसी का अर्थ तमोगुणप्रधान। संसार के अन्दर सत्त्व, रज और तम तीनों गुण मिलते हैं परन्तु विषयरूप से होने के कारण वे सब तमोगुणप्रधान ही कहे जाते हैं। ठीक जिस प्रकार से बड़ा भण्डारा हुआ, बहुत भीड़-भड़क्का हुआ, दो चार आदमियों को धक्का भी लगा, एक-दो आदमी गिर भी गये। बीस हज़ार लोगों ने भोजन किया, दो-चार जनों को चोट लगी, फिर भी कहते हैं 'आज के आनन्द की जय'। दो-चार की चोट को नहीं गिनते क्योंकि बीस हज़ार को आनन्द आया। इसी प्रकार से पंच महाभूतों को बनाने वाली माया को तमोगुण ही कहा जाता है क्योंकि यह अज्ञान का ही फैलाव करती है। गहरी नींद में पंचमहाभूत नहीं हैं तो वहाँ दुःख भी नहीं है। उठने पर जब पंचमहाभूतों का कार्य स्थूल-सूक्ष्म आते हैं, तभी दुःख शुरू होता है। यदि यह दुःख न होता तो हम अपने स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान के लिये प्रयत्न भी न करते। जिन स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का आधार लेकर परमेश्वर के ऐश्वर्य का भान होता है उन्हीं से हमें अपनी बद्धता और दुःख का भी भान होता है। ठीक प्रकार से विचार करते हैं तो यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करते हैं, ताकि यहीं बुद्धि को शुभ कर्म से शुद्ध करें। शुभ कर्म स्थूल पंचमहाभूतों से ही होगा। शुद्ध घी, विद्वान् ब्राह्मण आदि भौतिक सामग्री से ही पूजन, दान, होम आदि होते हैं जिनसे बुद्धि शुद्ध होगी। सब कर्म पंचमहाभूतों से ही सिद्ध होंगे। फिर उसके बाद अंतःकरण से उपासना करें तब एकाग्रता हो। कोई कहे कि यदि मन है ही नहीं, उसे असत् ही मानना है, तो एकाग्रता क्या करनी है! अंतःकरण में मल-विक्षेप रहते न अपनी ब्रह्मरूपता का पता चल सकता है और न अधिष्ठानज्ञान के बिना अध्यास की निवृत्ति हो पायेगी। ये स्थूल-सूक्ष्म ही बन्धन का कारण भी हैं और मुक्तिरूपी सुख भी इन्हीं की सत्ता से होना है। इस तामसी माया को लेकर ही जगत् का जो उपादान कारण ब्रह्म है, उसका पता लगता है।

'शुद्धसत्त्वां ताम् आदाय' अर्थात् जिसमें रजोगुण-तमोगुण बहुत ही क्षीण हैं ऐसी शुद्धसत्त्व माया के अन्दर जो ज्ञान और ऐश्वर्य का प्रकाश है उसके द्वारा निमित्त कारण भी वही है। शुद्धसत्त्व की उपाधि से बनाने वाला है और तमःप्रधान उपाधि से बनने वाला है। ठीक जिस प्रकार से लोटा-भर भाँग पेट में होकर जो ब्राह्मण सेठ बन जाता है, उसे सेठ बनाता कौन है? अंतःकरण की उपाधि के द्वारा वह अपने को बनाता है। अंतःकरण सत्त्वगुण का कार्य है। उससे वह बनाने वाला है। बनने वाला शरीर-प्रधान होकर है क्योंकि भाँग का लोटा गया तो शरीर में ही! शुद्धसत्त्व वाली माया को लेकर ब्रह्म को निमित्त कारण कहा जाता है। 'तद्गिरा'—तत्त्वमसि के अन्दर जो तत् शब्द है वह उस परमेश्वर को बताता है जो निमित्त और उपादान कारण है। निमित्त और उपादान कारण का फर्क उपाधि को लेकर है।। ४४।।

'तत्त्वमसि' में 'तत्' और 'त्वं' दो पद हैं। 'तत्' पद का अर्थ जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म है। अब 'त्वं' पद का अर्थ बताते हैं—

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते।। ४५।।

जब वह परम ब्रह्म कामना-कर्म आदि दोषों वाली मलिनसत्त्वप्रधान उस माया को ग्रहण करता है तब त्वम्-पद से कहा जाता है।

'यदा' (जब) शब्द का प्रयोग क्यों कर रहे हैं? यहाँ जब का अर्थ काल-विशेष नहीं लेना क्योंकि तब यह प्रतीति होगी कि उस काल से पहले जीव नहीं था! जैसे श्रुति ने कहा 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' सत् ही पहले था। वहाँ भगवान् भाष्यकार ने समझाया है कि 'अग्रे' का मतलब 'पहले' लेने से प्रतीत होगा कि अब नहीं है। जैसे, 'पहले अंग्रेज़ों का राज्य था' अर्थात् अब नहीं है। 'अग्रे' और 'आसीत्' का प्रयोग श्रुति ने केवल इसलिये किया कि मनुष्य काल के बिना सोचने का आदी नहीं है। इसी प्रकार यहाँ जो यदा और तदा शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं इसका मतलब यह नहीं है कि इसके पहले जीव नहीं था। वेदांत-सिद्धांत में छह चीज़ें हमेशा से हैं इसलिये हमेशा ही थीं। अज्ञान अनादि होने से हमेशा से है परन्तु ज्ञान से हट जाता है। इसलिए सब चीज़ें अनादि होने पर भी अनंत नहीं हैं। अनंत तो केवल एक शुद्ध चिन्मात्र ही है। 'यदा' का अर्थ मलिनसत्त्व वाली माया की उपाधिता दशा में।

'ताम्'—जिस माया की बात चल रही है वह माया मलिनसत्त्वा है। यद्यपि मलिनसत्त्वा प्रकृति को पहले अविद्या शब्द से कहा है तथापि यह बताने के लिये कि वस्तुतः अविद्या, माया, प्रकृति, तम आदि सभी शब्द एकार्थक हैं, एक ही चीज़ को बताते हैं, यहाँ ताम् से उसी का परामर्श कर लिया है। वह मलिनसत्त्वा क्यों है? 'कामकर्मादिदूषिताम्' काम, कर्म

आदि के द्वारा दूषित होने के कारण वह मलिन-सत्त्वा है। काम का मतलब अप्राप्त चीज़ को प्राप्त करने की इच्छा है। श्रुति ने परमात्मा का भी काम कहा है 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियाँ इसे बताती हैं। इसको देखकर कई अविचारी लोग ऐसा अर्थ कर लेते हैं कि परमात्मा को अच्छा नहीं लगा इसीलिये तो उसने यह दुनियाँ बनाई! परन्तु वस्तुतः अप्राप्त की इच्छा काम कही जाती है और परमेश्वर को कुछ भी अप्राप्त नहीं है। गीता में भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' न कुछ है जो मुझे प्राप्त करने योग्य दीखे और न कुछ ऐसा है जो मुझे पहले से प्राप्त नहीं है। श्रुति ने परमेश्वर का काम इसलिये कहा कि हम लोग जब किसी चीज़ को बनाते हैं तो किसी न किसी कामना से बनाते हैं। इसलिये कहा भी जाता है कि प्रयोजन को सामने रखे बिना कोई मूर्ख भी कार्य नहीं करता। परमेश्वर की क्रिया तो बिना प्रयोजन के है! इसलिये भगवान् वेदव्यास ने कहा कि जैसे बड़े-बड़े राजाओं के पास सब कुछ है फिर भी खेलते हैं वैसे ईश्वर की सृष्टि है। पुराने ज़माने में कबड्डी का खेल खेलते थे, आजकल के ज़माने में क्रिकेट खेलते हैं। खेलकर उन्हें कुछ मिलने वाला नहीं है। वे अगर कोई चौपड़ आदि खेल लें तो भी उन्हें मिलने वाला कुछ नहीं है। न उन्हें यह इच्छा है कि दस-बीस रुपये मिल जायें। फिर भी खेलते हैं। व्यास जी ने कहा कि इस तरह खेल के लिये यह सृष्टि है 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि दृष्टांत में शरीर का व्यायाम या मन लगाना इत्यादि प्रयोजन हो भी सकता है, लेकिन वह प्रयोजन भी परमेश्वर में नहीं है। लीला-शब्द का प्रयोग प्रयोजनरहितता के लिये किया है। इसलिये कामना जीव का लक्षण है, परमात्मा का लक्षण नहीं है। कार्य देखकर कामना का अनुमान परमेश्वर में नहीं कर सकते। फिर भी श्रुति ने 'अकामयत' आदि कहा ताकि इस बारे में स्पष्टता हो जाये कि जगत्कारण चेतन है। हम चेतन-चेष्टा कामना से समझते हैं अतः जगत्कारण की चेतनता बताने के लिये उसमें कामना कही।

कामनापूर्वक जो कर्म होता है वह बन्धन का कारण होता है, इसलिये वह कर्म भी दूषित हो जाता है। इसलिये भगवान् ने कहा 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' सारे ही कर्म दूषित हैं, कामना के दोष से ही दूषित हैं। इसलिये यहाँ 'कामकर्मादिदूषिताम्' कहा। ऐसे समझो कि हम लोग श्वास लेते हैं। श्वास लेने का कोई प्रयोजन हमारे सामने नहीं है। उससे जीवित रहना सिद्ध तो होता है, हम जीवित इसलिये हैं कि हम साँस लेते हैं, परन्तु साँस लेने के पहले 'मुझे जीना है, मैं साँस लूँ' ऐसी इच्छा नहीं होती। यह स्वाभाविक है। इसीलिये श्रुति को जहाँ बताना हुआ कि परमेश्वर से यह सारा ज्ञान प्रकट हुआ है वहाँ साँस की उपमा ली कि सारे वेद उसके निःश्वास से प्रकट हुए। हम लोगों के कर्म कामना से होने के कारण दूषित हैं। स्वाभाविक कर्म कामना-प्रयुक्त नहीं होते। देवताओं ने सोचा कि हमें रोज़-रोज़ असुरों से हारना पड़ता है इसलिये हम लोग कहीं बैठकर भजन करें और उससे शक्ति प्राप्त

करके असुरों को नष्ट कर दें। देवता जहाँ भजन करते थे वहाँ असुर विघ्न कर देते थे। देवता पहले वाणी में बैठे। असुरों ने देखा कि सारे देवता कहाँ चले गये! उन्होंने ढूंढना शुरू किया तो देखा कि वे तो वाणी में बैठे हुए हैं। उन्होंने वाणी को घूस देकर अपनी तरफ कर लिया। इसलिये घूस आदि लेने-देने का काम उसी ज़माने से अर्थात् अति प्राचीन काल से चला आया है। जैसे आजकल जजों को घूस देकर अपनी तरफ कर लेते हैं इसी प्रकार असुरों ने भी वाणी को अपनी तरफ कर लिया। इसीलिये वाणी सत्य और असत्य दोनों बोलती है, अच्छा शब्द और बुरा शब्द दोनो बोलती है। इस प्रकार वाणी असुरों के वश में होकर पाप से विद्ध हो गई। जिस जगह बैठकर भजन करो वह जगह यदि अशुद्ध है तो भजन का फल भी ठीक नहीं होगा। देवता जीभ को छोड़कर नासिका में बैठे। असुरों ने उसे भी बींध दिया। इसलिये नासिका केसर आदि की बढ़िया सुगन्ध भी सूँघती है और मरे गधे की दुर्गन्ध भी सूँघती है। नासिका भी अशुद्ध हो गई। फिर बेचारे देवता आँख में बैठकर भजन करने लगे। असुरों को पता लग गया, उन्होंने आँख को भी पाप से बींध दिया। इसलिए नेत्र से भगवान् विष्णु के भी दर्शन करते हो और परस्त्री को भी देखते हो। नेत्र भी पाप से विद्ध हो गये। इसी प्रकार कानसे दूसरे की निंदा भी सुनते हैं! इस प्रकार देवता प्रत्येक इन्द्रिय में बैठे, लेकिन असुर सबको कामना से बींधते चले गये। अंत में देवता प्राण में बैठ गये। असुर प्राण को बींधने गये तो, श्रुति वहाँ कहती है कि, जैसे मिट्टी के ढेले को बड़ी भारी चट्टान पर फैंको तो वही चूर-चूर हो जाता है, चट्टान का तो कुछ नहीं बिगड़ता, ऐसे असुर तिरस्कृत हो गये। बुरा कर्म तभी करते हैं जब आसुरी कामना करते हैं। दैवी कामना करके अच्छा कर्म भी करते हैं। परन्तु कामना रहेगी तो कभी आसुरी भी होगी। प्राण चूंकि बिना कामना के कर्म करते हैं इसलिये न वे अच्छा करते हैं और न बुरा करते हैं। मलिनसत्त्व तो वहाँ रहेगा जहाँ काम कर्म आदि रहेंगे। वही हमारा जीवभाव हो गया। माया मलिन इसलिये है कि वह काम व कर्म से दूषित है। परब्रह्म जब इसको उपाधिरूप से ग्रहण करता है तब उसे 'त्वं' पद से कहा जाता है।। ४५।।

माया के तीन रूप हो गये—एक तामस और दूसरा शुद्धसत्त्व, ये दोनों परमेश्वर की उपाधि हैं। तीसरा, मलिनसत्त्व-प्रधानरूप है जो जीव की उपाधि है। काम कर्म से दूषित होना ही मलिनता है। तीनों भेद माया में ही होने से परमेश्वर अभिन्न ही निर्धारित होता है, यह समझाते हैं—

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम्।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते।। ४६ ।।

आपस में विरोधी तीनों प्रकारों वाली उस माया को छोड़कर जो अखण्ड सच्चिदानन्द है वह महावाक्य से लक्षित होता है।

तत् और त्वं पदों के वाच्यार्थ बता दिये। तत् पद का वाच्यार्थ जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण परमेश्वर और त्वं पद का अर्थ जीव जो मलिनसत्त्व-प्रधान है अर्थात् अविद्या, काम, कर्म वाला है। तीनों को अर्थात् तामस, शुद्धसत्त्व और मलिनसत्त्व, तीनों प्रकारों वाली माया को छोड़ दो तो माया-रहित आत्मा ही बचता है।

जब तीनों प्रकारों वाली माया को छोड़ दिया तब जीव और ईश्वर दोनों की उपाधि को छोड़ दिया अतः एक अखण्ड सच्चिदानन्द बच गया। वह महावाक्य के द्वारा लखा जाता है अर्थात् महावाक्य के द्वारा उसका साक्षात्कार हो जाता है। इन तीनों को क्यों छोड़ना है? क्योंकि वे प्रकार परस्पर विरोधी हैं, इसलिये छोड़ना है। तमःप्रधान तामसी और सत्त्वप्रधान सात्त्विकी, दोनों का आपस में विरोध है। तम और सत्त्व का विरोध है। शुद्धसत्त्व और मलिनसत्त्व का विरोध है। इस प्रकार से विरोध होने के कारण उनकी एकता नहीं बन सकती। ईश्वर जीव हो जाये, जीव ईश्वर हो जाये—यह तो बन नहीं सकता जबकि तत्त्वमसि वाक्य यही कह रहा है। विरोध की प्राप्ति इसलिये है कि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् स्वतंत्र है, जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् परतंत्र है। इस प्रकार जीव और ईश्वर का जो विरोध बताया जाता है वह उसकी उपाधि को लेकर कहा जाता है अतः परस्पर विरोध वाली उपाधि को छोड़ना है। क्या छोड़ने का यह मतलब है कि पाँच कोशों को छोड़ दें या मर जायें? ऐसा नहीं है, क्योंकि मरोगे तब भी प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय तो साथ जायेंगे ही, केवल अन्नमय ही छूट सकता है। समाधि में जायेंगे तो मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय छूट भी जायेंगे, तो भी आनन्दमय रह ही जायेगा। सिवाय विद्या के, कारण शरीर छूट ही नहीं सकता। इसलिये 'मुक्त्वा' का अर्थ इस प्रकार से छोड़ना नहीं है। उसका अर्थ है 'भागत्यागेन परित्यज्य;' उपाधि-भाग का बुद्धि के द्वारा या विद्या के द्वारा त्याग करना है। छोड़ना अर्थात् इस बात को जानना है कि आत्मा उपाधि से अलग है। ऐसे उसको छोड़ देने पर केवल सच्चिदानन्द ही रह जाता है।

अखण्ड सच्चिदानन्द रह जाता है अर्थात् ऐसा नहीं है कि शुद्ध जीव अलग और शुद्ध ईश्वर अलग रह जाते हों और दोनों मिलकर एक हो जायें वरन् दोनों का औपाधिक भेद छूट जाता है इसलिये वह अखण्ड है। न वह अल्पज्ञ और न वह सर्वज्ञ रह जाता है। न वह अल्पशक्तिमान् और न सर्वशक्तिमान् तथा न वह शासक और न यह परतंत्र रह जाता है। सत्-चित्-आनन्द अलग-अलग नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि वह सत् *भी* है, चित् *भी* है और आनन्द *भी* है। सच्चिदानन्द तो अखण्ड ही है। उसमें सत्, चित् और आनन्द तीन खण्ड हों ऐसी बात नहीं है। महावाक्य के द्वारा ही अखण्ड में लक्षणा हो सकती है। अन्यथा यही लग सकता है कि यह भी चैतन्य और वह भी चैतन्य है इसलिये एक हैं; परन्तु इतने से अखण्ड अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी। अखण्ड अर्थ के लिये वाक्य से लक्षणा करना ही जरूरी है। यह अर्थ नहीं कि जो जीव था वही ईश्वर है। वेदांत की यह बात

ठीक से समझने की है : जो जीव था वह कभी ईश्वर नहीं हो सकता और जो ईश्वर है वह कभी जीव नहीं होता। दोनों ही उपाधियों को छोड़कर जो अखण्ड सच्चिदानन्द है वही रह जाता है और उसी को भाग-त्याग लक्षणा लखाती है, दिखा देती है, अथवा ज्ञान करा देती है।। ४६।।

उदाहरण से अब लक्षणाद्वारा अखण्ड-बोध समझाते हैं–

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात् तदिदन्तयोः।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा।। ४७।।

'वही यह' इत्यादि वाक्यों में वह-पने और यह-पने का विरोध होने से उन हिस्सों के त्याग द्वारा जैसे एक आश्रय लक्षित होता है। (वैसे महावाक्य में अखण्ड ब्रह्म लक्षित होता है)।

'सोऽयं देवदत्तः–वह देवदत्त यही है' इस वाक्य से तो पता लगता है उस देवदत्त का जो न भूत काल से विशिष्ट है और न वर्त्तमान काल से विशिष्ट है। दोनों को छोड़कर जो देवदत्त है, उसी का पता लगता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म को ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर देखा और ब्रह्म को ही अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् देखा; अतः वही ब्रह्म महावाक्य से पता लगता है। जैसे कलकत्ते की दो साल पहले वाली उपाधि से वह रोल्सरॉयस् मोटर वाला सेठ था और आबू में फटे कपड़े की उपाधि वाला यह देवदत्त है। दोनों अवस्थायें एक ही देवदत्त की हैं; यह लक्षणा से पता लगता है। ब्रह्म को सर्वज्ञ सर्वेश्वर वेद से जाना, उसी को अहं या अहंकारात्मिका वृत्ति से अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् अनुभव से जाना। इन दोनों रूपों से जिसे जाना वह एक है–यह महावाक्यका अर्थ है। अध्यास (भ्रम) से दोनों में भेद कल्पित है। अथवा दूसरा दृष्टांत ले लो : जैसे एक ही रस्सी देवदत्त के संस्कार के कारण साँप दीखी और यज्ञदत्त के संस्कार के कारण माला दीखी। दोनों संस्कारों की उपाधि छोड़ दो तो वहाँ केवल रस्सी ही है। ऐसे ही कहते हैं कि यह जो भुरभुरी मिट्टी है यह घड़ा ही है। इसमें भुरभुरापन और घड़ा दोनों ही नाम-रूप छोड़कर जो मिट्टीमात्र है, उसे ग्रहण करो। ऐसे वाक्यों में अखण्डार्थता रहेगी। शंका होगी कि लौकिक दृष्टांतों में जो देवदत्तादि पिण्ड (शरीर) लक्षणासे पता चलते हैं वे स्वयं तो देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न अर्थात् सखण्ड ही हैं तो क्या ब्रह्म भी ऐसा ही है? समाधान है कि 'सदेव, एकमेवाऽद्वितीयम्' आदि प्रमाणसे ब्रह्म की वास्तविक अखण्डता निश्चित होने से उसमें खण्डों का, परिच्छेद का आरोप ही है। जैसा अखण्ड वह वाक्य से पता चलता है वैसा ही वह स्वरूप से भी है।

'विरोधात् तदिदन्तयोः' अर्थात् तत्ता और इदंता का विरोध होने से। तत् मायने वह, इदं मायने यह। जो चीज़ परोक्ष होती है वह 'तत्' और जो वस्तु सामने होती है वह 'इदं' कही जाती है। हिन्दी में 'यह' और 'वह' कहते हैं। 'यह वही सेठ है।' सेठ इस देश-काल की उपाधि से 'यह' है, किसी अन्य देश-काल की उपाधि से 'वह' है जो इस समय मौज़ूद

नहीं है। इसी प्रकार अहं की उपाधि वाला जो प्रत्यगात्मा अपरोक्ष है वही ईश्वर है जो परोक्ष है। ईश्वर में सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता सब कुछ है, परन्तु उसमें दोष यह है कि वह परोक्ष है और हमेशा परोक्ष ही रहेगा। यदि कभी वह मायिकरूप लेकर आ भी जाये तो भी वह परोक्ष ही रहेगा। जैसे तुम शरीर लेकर आ गये तो तुम्हारा शरीर दूसरों को दीख जायेगा परन्तु तुम खुद तो परोक्ष ही रहोगे। तुम्हारा मन ही दूसरों को परोक्ष रहता है! तुम आँख में ग्लिसरीन डालकर हमारे सामने आकर रो दोगे तो तुम रोते हुए ही दीखोगे लेकिन सचमुच में तुम रो नहीं रहे हो। इसी प्रकार जब परमेश्वर मायिक रूप लेकर आयेगा तो जो करेगा वही दीखेगा। इसलिये जब भी परमेश्वर मायिक रूप लेकर आता है तब उनको देखकर लोगों को भ्रम होता ही है। प्रसिद्ध कहानी सुनी ही है कि राम जी को सीता के वियोग में देखकर पार्वती को ही संदेह हो गया था! मायिक रूप को देखकर कुछ पता नहीं लगता कि सच्चा रूप क्या है। इसलिये ईश्वर हमेशा परोक्ष रहेगा। प्रत्यगात्मा हमेशा ही अपरोक्ष है। मैं का पता 'मैं' को है ही, हम अपने को जानते ही हैं। परोक्ष न होने पर भी अविद्या-काम-कर्म से दूषित होने के कारण 'मैं सर्वव्यापक हूँ' यह जानते नहीं। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सब कुछ है, परन्तु उसमें परोक्षता का दोष है। जब 'तत्त्वमसि' वाक्य से कहा गया कि जो अपरोक्ष है वही ब्रह्म है, तब ईश्वर का परोक्षतारूपी दोष हट गया और पता लग गया कि परोक्ष नहीं है एवं जीव का जो परिच्छिन्नता या सीमिततारूपी दोष है वह भी दूर हो गया कि मैं परिच्छिन्न नहीं हूँ। इसलिये कहा कि ततूता और इदंता का विरोध होने से विरुद्ध भागों का त्याग कर दिया तो एक आश्रय ही रहा। दृष्टांत में, भूत-वर्तमान काल आदि विरोधी भाग छोड़ने पर भूतकालीनता-वर्तमानकालीनता जिसमें रहती हैं वह आश्रयरूप देवदत्त ही समझ आ जाता है। इसी प्रकार कारणता उपाधि और कर्तृत्वादि उपाधि का त्याग कर देने पर एक अखंड ब्रह्म ही आश्रय समझ आता है। शुद्ध माया और अशुद्ध माया दोनों का आश्रय एक ही है ।। ४७।।

जिसे समझाने के लिये 'वही यह' आदि उदाहरण दिया, उस अखण्ड तत्त्व का लक्षित होना बताते हैं–

मायाऽविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते।। ४८।।

इसी प्रकार परमेश्वर और जीव की माया और अविद्या उपाधियाँ छोड़कर अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म ही लक्षित होता है।

अविद्या, प्रकृति आदि शब्दों के प्रयोग से यह भ्रम नहीं कर लेना चाहिए कि पदार्थ दो हैं। श्लो.१६ में बता चुके हैं कि एक के ही ये दोनों रूप हैं। हमारी उपाधि अविद्या और परमेश्वर की उपाधि माया है, दोनों उपाधियों को छोड़कर, एक आत्मा पता चलता है। चूंकि

एक अखण्ड सच्चिदानंद में माया, अविद्या दोनों कल्पित हैं, इसलिये उन्हें छोड़ने से उस एक अखण्ड परब्रह्म का ही ज्ञान हो जाता है। 'तत्त्वमसि' के द्वारा पहले तो तत् और त्वं दोनों के वाच्यार्थ उपस्थित होंगे। 'तत्' को सुनकर मायावच्छिन्न चैतन्य उपस्थित होगा और 'त्वं' को सुनकर अविद्या का कार्य और तदवच्छिन्न चेतन उपस्थित होगा। पहले दोनों को सुनकर उनके वाच्यार्थ का ज्ञान होगा। जैसे, किसी ने कहा 'देवदत्त बम्बई गया' तो देवदत्त शब्द सुनकर उस आदमी का ज्ञान होगा, 'बम्बई' शब्द सुनकर उस शहर का ज्ञान होगा, 'गया' सुनकर गति का ज्ञान होगा। तब वाक्य से ज्ञान होगा कि जो देवदत्त यहाँ था वह बम्बई पहुँच गया। हमने देवदत्त सुना और तब तक दूसरी बात कह दी तो फिर पूछते हैं 'देवदत्तका क्या कह रहे थे?' इसीलिये देवदत्त सुनते ही देवदत्त का ज्ञान हो ही गया। इसी तरह पहले तत् का अर्थ और फिर त्वं का अर्थ उपस्थित होगा। चूंकि दोनों एक ही वचन और एक ही विभक्ति में अर्थात् प्रथमा एकवचन में कहे गये हैं इसलिये उनका आपसी अभेद पता लगता है। जैसे कोई कहता है 'नीलो घटः' तो सुनकर नीले घड़े का ज्ञान हो जाता है कि घड़ा और नीला एक ही वस्तु है। अर्थात् जो नीला है वही घड़ा है, इसी प्रकार यहाँ भी दोनों का एक ही अधिकरण है यह पता लगेगा। घड़ा तो नीला हो सकता है क्योंकि नीला रंग घड़े में रह सकता है किन्तु अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् दोनों एक हो नहीं सकते! दोनों का अभेद हो नहीं सकता इसलिये वाक्य का सुना जाता अर्थ अभिप्रेत होना असंगत होने से लक्षणा का अवसर आता है। तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ के उपाधि वाले भाग का त्याग करना पड़ेगा। इसी को भाग-त्याग-लक्षणा कहते हैं। विरोध उपाधिभाग में ही है, उन विरुद्ध उपाधियों को छोड़ने पर जो चैतन्य रहा उसका अभेद वाक्यार्थ संगत है। इस प्रकार से ही ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी।। ४८।।

इस अखण्ड वाक्यार्थ को सिवाय वेदांती के और कोई सहन करने को तैयार नहीं है! सामान्य विचारकों को लगता है कि जो सत् है उसमें सत्ता तो रहती ही है, जो चित् है उसमें चैतन्य तो रहेगा ही। मोटी भाषा में समझ लो : ब्रह्म है या नहीं? यदि जवाब दो कि 'ब्रह्म है' तो जैसे 'घड़ा है' अर्थात् एक घड़ा हुआ और एक उसमें है-पना हुआ अतः दो खण्ड हो ही गये है, इसी प्रकार 'ब्रह्म है' तो ब्रह्म में है-पना रहने से दो खण्ड होंगे ही। 'ब्रह्म नहीं है' यह तो शास्त्र कहता नहीं! केनोपनिषद् में यह विचार आया है कि गुरु जी ने उपदेश दे दिया तो शिष्य से पूछा 'क्या बात समझ गये?' शिष्य ने कहा—'जी, समझ गया कि ब्रह्म चैतन्यरूप है।' तब गुरु जी ने कहा 'जो समझा गया वह उसका अत्यंत अल्परूप है! अतः समझने की और कोशिश करो।' शिष्य बुद्धिमान् था। उसने विचार करके कहा 'गुरुजी, न मैं यह मानता हूँ कि नहीं जानता और न यही मानता हूँ कि जान गया।' तब गुरु जी ने उसकी पीठ थपथपा दी और कहा 'हाँ बेटा! तू ठीक समझा।' इसी प्रकार यदि कहते हो कि 'ब्रह्म है' तो ब्रह्म में सत्ता कह रहे हो और यदि कहते हो 'ब्रह्म नहीं है' तो मतलब

निकला कि अखण्ड ब्रह्म कुछ नहीं होता है। इसी तरह चेतन में चैतन्य है या नहीं है? यदि चेतनमें चैतन्य नहीं है तो क्या वह जड है? यह तुम कभी स्वीकार नहीं कर सकते। यदि कहते हो कि चैतन्य है, तो एक चेतन, दूसरा उसमें चैतन्य है, यों खण्ड रहने से अखण्डता असिद्ध है। किंतु जो अखण्ड या निर्विकल्पक चैतन्य का ज्ञान है उसी को मोक्ष का कारण माना है। सत्ता, चैतन्य आदि जो खण्ड आत्मा में प्रतीत होते हैं उन्हीं को 'विकल्प' कहते हैं। यदि किसी भी विकल्प के साथ उसका ज्ञान है तो वह मोक्ष का कारण नहीं है। किं च, लक्षणा से जिसे समझते हो उसमें लक्ष्यता है। इसलिये लक्ष्यता-रूप धर्म उसमें है ही। लक्षणा से तुम किसको लक्षित कर रहे हो—यह तो बताना पड़ेगा। जैसे गंगा में गाँव है कहेंगे तो 'गंगा' पद की लक्षणा 'किनारे' में करनी पड़ेगी। यह तो नहीं कह सकते कि गंगा पद की लक्षणा गंगा में होती है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' का लक्ष्यार्थ कौन है—यह बताओ। उसे किसी पद या शब्द से नहीं बताया जा सकता। यदि अन्य शब्द से बताते हैं तो जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध में से कोई न कोई उसमें रहेंगे। अगर कहें 'ब्रह्म' तो व्यापकता धर्म का प्रतिपादन होगा। यदि कहें 'आत्मा' तो सातत्य का बोध करा देंगे। इसलिये लक्ष्य क्या है इसे किसी शब्द से कैसे कहें? लक्ष्य का मतलब ही है कि लक्षणा का विषय हो और यदि वह विषय है तो वह सखण्ड ही हुआ! अतः लक्षणा से भी तुमको तत्त्वमसि से जो ज्ञान होगा वह सखण्ड ही होगा जबकि निर्विकल्प ज्ञान से मोक्ष मानते हो।

इस शंका का दो प्रकार से जवाब देंगे। यह प्रश्न दो तरह के लोगों का हो सकता है। एक शिष्य को हो सकता है कि अखण्ड का, निर्विकल्प वस्तु का ज्ञान कैसे होगा? और दूसरे, किसी वादी का हो सकता है जो इसे असमाधेय मानता है कि वेदान्त सिद्धान्त-अनुसार मोक्ष असम्भव है। शिष्य की तो जिज्ञासा है कि बात ठीक है परन्तु मैं कैसे समझूँ, वह समझना चाहता है। वादी वह होता है जो तुम्हारी कही बात में दोष दिखाना चाहता है। शिष्य श्रद्धालु होगा, इसलिये वह मानता है कि बात ठीक है परन्तु मेरी समझ में कैसे आये। वह बात को काटने के लिये नहीं बोलता है। लेकिन वादी समझने की चेष्टा नहीं करता। वह तो सिद्धान्त में गलती बताने की चेष्टा करता है। इस प्रकार चूंकि यह प्रश्न दो तरह का हो सकता है इसलिये जवाब भी दो तरह से देंगे। वादी की ओर से पहले प्रश्न उठाते हैं—

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्याद् अवस्तुता।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च सम्भवि।। ४९।।

यदि लक्ष्य विकल्पयुक्त है (खण्डों सहित है) तो अवास्तविक, मिथ्या होगा और विकल्परहित का लक्ष्य होना न देखा गया है, न सम्भव ही है।

जो किसी प्रकार से विशिष्ट हो, उसी को सविकल्प कहते हैं। जैसे 'यह पेड़ है' कहने पर पेड़-प्रकारक 'यह' का ज्ञान होगा। यह सविकल्पक या सप्रकारक ज्ञान है। और 'यह

है' निर्विकल्प ज्ञान है क्योंकि इसमें कोई प्रकार या विशेषण नहीं है। दूर से कोई चीज़ दीखती है। 'यह है' इतना ज्ञान हुआ, क्या है—यह पता नहीं लगा। पास में जाने पर पता लगा कि यह वृक्ष है। पहले तो निष्प्रकारक ज्ञान हुआ और पास गये तो सप्रकारक ज्ञान हुआ। प्रश्न यह है कि महावाक्य से जिसे लक्षणा द्वारा जानना है वह यदि सविकल्प, सप्रकारक, किसी विशेषता वाला है तब तो घड़े-कपड़े आदि की तरह अवस्तु, असत्य, मिथ्या ही हो सकता है। तब उसके ज्ञान से मोक्ष कैसे? और यदि वह निर्विकल्प, निष्प्रकारक, बिना विशेषता वाला है तो, पहली बात कि ऐसी कोई चीज़ आज तक अनुभव में नहीं आयी कि स्वीकारा जाये कि निर्विकल्प हो सकता है। और दूसरी बात, उसे लक्ष्य मानते हुए यह कहना संभव नहीं कि वह निर्विकल्प है क्योंकि किसी-न-किसी विशेषता से ही कुछ भी लक्ष्य बनता है। कोई भी वादी जगत् को मिथ्या मानने को तैयार नहीं हैं इसलिये उनको लगता है कि वेदान्ती जिसे निर्विकल्प ज्ञान कह रहा है, वह हो ही नहीं सकता। वास्तविक निर्विकल्प वस्तु में मिथ्या विकल्प हो सकता है—यह बात वे नहीं समझ सकते। वादी का प्रश्न अर्थात् आक्षेप है कि ब्रह्म वास्तव में अखण्ड या निर्विकल्प नहीं है।। ४६।।

उक्त शंका का समाधान प्रतिबन्दी से देते हैं अर्थात् यह बताते हैं कि प्रश्न ही संगत नहीं है कि इसका उत्तर सोचा जाये—

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः।। ५०।।

(लक्ष्य सविकल्प है या निर्विकल्प ऐसा आपका किया) विकल्प निर्विकल्प के बारे में है या सविकल्प के बारे में ? यदि निर्विकल्प के बारे में है तो 'व्याघात' दोष है और सविकल्प के बारे में है तो 'आत्माश्रय, अनवस्था' आदि दोष होंगे।

वादी ने पूछा था कि लक्ष्य कौन है—सविकल्प या निर्विकल्प? 'या' अर्थात् जो उसने यह विकल्प पूछा है, यह किसके बारे में पूछा है? अर्थात् उसका उक्त विकल्प जिसके बारे में है उसे वह क्या मानता है—क्या उसे निर्विकल्प मानता है या सविकल्प मानता है? यदि निर्विकल्प मानते हुए उसके बारे में विकल्प उठा रहा है तो व्याघात अर्थात् परस्पर विरुद्ध बात बोलना रूप दोष है। जिसे स्वयं निर्विकल्प कह रहा है उसी के बारे में विकल्प उठा कर उसे सविकल्प बता रहा है अतः अपनी ही मान्यता की काट कर रहा है। अतः निर्विकल्प के बारे में विकल्प है—यह कहना ग़लत हो जाता है। अतः यही कह सकता है कि उसका उठाया विकल्प सविकल्प के बारे में है। किन्तु इसमें समस्या है कि उक्त विकल्प उठ सके इसके लिये विषय को सविकल्प होना पड़ेगा तभी 'सविकल्प के बारे में' कहा जा सकता है। उक्त विकल्प से पूर्व जो विकल्प उस विषय में है वह भी विकल्प होने से सविकल्प में ही रहेगा तो एक अन्य विकल्प चाहिए और इस तरह अनन्त विकल्पों की कल्पना करनी

पड़ेगी जिनके होने में प्रमाण कोई है नहीं। यही अनवस्था दोष है। यदि वादी कहे कि उसके उठाये विकल्प से ही विषय सविकल्प है अतः विकल्पान्तर नहीं चाहिए, तो आत्माश्रय दोष है क्योंकि विकल्प जब सविकल्प में रहेगा तो अपने आश्रय में उसे स्वयं की ही जरूरत पड़ रही है! उदाहरणार्थ, आदमी का विवाह पत्नी से होता है या ग़ैर-पत्नी से? 'पत्नी से' कहें तो विवाह से पूर्व वह किसकी पत्नी है? उसी आदमी की है तो विवाह व्यर्थ है और दूसरे की है तो विवाह अवैध है! श्लोकस्थ 'आदि' से अन्योन्याश्रय और चक्रिका दोष समझने चाहिए। यदि पूछा गया विकल्प, अपने से अन्य विकल्प से युक्त के बारे में है और वह अन्य विकल्प इस पूछे गये विकल्प से युक्त में रहता है तो दोनों विकल्प एक-दूसरे का सहारा चाहने वाले होंगे जिसे अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। यदि इन्हें तीसरे विकल्प का सहारा दें लेकिन वह पुनः पूछे गये विकल्प के सहारे रहे तो चक्रिका दोष होगा। तात्पर्य यही है, कि लक्ष्य को सविकल्प-निर्विकल्प के बन्धन में बाँधने का प्रयास स्वयं ही तार्किक रीति से v l axr gSv r %oknh ; g i'zu ughamBk l drk।। ५०।।

एक विकल्प के बारे में ही नहीं, भेदवादियों को स्वीकृत सभी पदार्थों के बारे में यही दोष लागू होता है–

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम्।।५१।।

गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य, सम्बन्ध–सभी वस्तुओं के बारे में ये दोष समान हैं। अतः यही स्वीकार्य है कि ये सब स्वरूप में होते हैं।

जो बात विकल्प के बारे में कही, वह सब चीज़ों के बारे में समझ लेना। तुम पूछो कि क्या ब्रह्म सगुण है? तो सगुण ब्रह्म के बारे में पूछ रहे हो या निर्गुण के बारे में? यदि सगुण को गुणवान् होना मानो तो आत्माश्रयादि और निर्गुण को मानो तो व्याघात होगा। इसी प्रकार ब्रह्म को 'सक्रिय है या निष्क्रिय'–यह पूछना नहीं बनता। इसी प्रकार जाति-व्यक्ति में है : घटत्व जाति बिना जाति वाले घट में रहेगी या जाति वाले घट में रहेगी? यदि बिना जाति वाले घट में रहे तो व्याघात होगा। यदि जाति वाले घट में रहेगी तो आत्माश्रयादि होंगे। ब्रह्म ही नहीं, किसी के भी बारे में ये प्रश्न करना अनुचित होगा। इसलिये तार्किकों को यह मानना पड़ता है कि घट बनते ही एक क्षण के लिये गुण आदि से रहित रहता है! अर्थात् एक क्षण के लिये तो निर्विकल्प वस्तु मान ही लेते हैं। इसी प्रकार द्रव्य है। घड़ा द्रव्यवाले में रहता है या बिना द्रव्य वाले में? इसी प्रकार से सम्बन्ध ससम्बन्ध (अर्थात् सम्बद्ध) में रहता है या असम्बन्ध (अर्थात् असम्बद्ध) में? वैशेषिक लोग एक 'विशेष' नामक पदार्थ मानते हैं। हर चीज़ में एक विशेष होता है जो उसे दूसरी चीज़ों से अलग करता है। विशेष भी निर्विशेष में रहता है या सविशेष में रहता है? इत्यादि वही दोष सर्वत्र लागू होते

हैं। तात्पर्य है कि लक्ष्यभूत तत्त्व को तुम न सविकल्प कह सकते हो और न निर्विकल्प कह सकते हो। इसलिये जाति गुण आदि जितने विकल्प हैं वे, चीज का जो स्वरूप है उसी में मानने पड़ेंगे। वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप पहले ही कह दिया कि तीनों प्रकार के परिच्छेद से रहित है। जैसे सब विकल्प वस्तुस्वरूप में मानने पड़ेंगे वैसे ही ब्रह्मस्वरूप को लक्ष्य कहा जाता है। इस प्रकार श्लोक ४६ में वादी द्वारा उठाये प्रश्न का उत्तर दे दिया कि वह अपने प्रश्न की सार्थकता जिस 'स्वरूप' से सिद्ध कर सकता है उसी स्वरूप से सिद्धान्ती निर्विकल्प को लक्ष्य कह रहा है।। ५१।।

परमात्म-वस्तु के अन्दर भाव और अभाव दोनों ही कल्पित होते हैं जैसे रस्सी में सर्प और सर्प का अभाव दोनों कल्पित हैं। रस्सी में जो साँप दीख रहा है वह भी नहीं है और सर्प का अभाव भी वहाँ नहीं है। अभाव-बोध का नियम है कि जो प्राप्त हो, उसीका निषेध अर्थात् अभावज्ञान होगा। व्यावहारिक सर्प की रस्सी में अभेदेन प्राप्ति ही नहीं है इसलिये उसका निषेध अर्थात् अभाव भी वहाँ नहीं है। जैसे सर्प प्रातीतिक वैसे ही सर्प का अभाव प्रातीतिक है। जब कहते हैं 'यह सर्प नहीं है' तब उसका मतलब है कि प्रातीतिक सर्प नहीं है क्योंकि वास्तविक (व्यावहारिक) सर्प की तो वहाँ अभेदेन प्राप्ति ही नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा में कल्पित होने से सारे जगत् का भाव भी नहीं है और ऐसे कल्पित का जो अभाव कहा जाता है वह भी नहीं है। अतः परमात्मा को लक्ष्य एवं अखण्ड, निर्विकल्प, निर्धर्मक कहना संगत है यह निर्णय करते हैं–

विकल्पतदभावाभ्याम् असंस्पृष्टात्मवस्तुनि।
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः।। ५२।।

विकल्प और उसके अभाव, दोनों से अछूती आत्मरूप वस्तु में विकल्पितता, लक्ष्यता, सम्बन्ध आदि कल्पित ही हैं।

विकल्प और उसका अभाव, दोनों का ही जिस आत्मवस्तु में कोई स्पर्श ही नहीं है उसी के अन्दर व्यावहारिक दृष्टि से विकल्पितत्व अर्थात् उसके बारे में विकल्प उठते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से कहा जाता है कि अद्वितीय ब्रह्म ने ईक्षण करके जगद्रूप धारण किया। यों सारा विकल्प प्राप्त हुआ अतः 'नेति नेति' से सबका निषेध भी हो गया। निषेध से निश्चित है कि विकल्प था ही नहीं और इसीलिये निषेधक के भी कोई मायने नहीं, लेकिन यों विकल्प-पूर्वक निषेध से अद्वितीय ब्रह्म समझ आ जाता है। इसी तरह ब्रह्म लक्ष्यतारूप किसी धर्म वाला न होने पर भी (लक्ष्यतावच्छेदक वाला न होने पर भी) लक्षणा से समझ आ जाता है अतः लक्ष्यता भी उसमें व्यवहारयोग्य हो जाती है। लक्षणा के लिये जो उपादानत्व, निमित्तत्व इत्यादि सम्बन्ध जरूरी हैं, वे भी आत्मा में न होते हुए भी व्यवहार्य हैं। अन्य भी जितनी चीज़ें हैं वे सब उसी पर कल्पित हैं। वस्तुतः ब्रह्म में अज्ञान नहीं है, परन्तु कल्पित

अज्ञान को लेकर कल्पित निषेध भी कर दिया जाता है। जिस प्रकार रस्सी के अन्दर सर्प का कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु तुमको वहाँ पर सर्प की प्रतीति हुई, इसीलिये उस सर्प का निषेध भी कर दिया जाता है। वस्तुतः रस्सी में न तो सर्प है और न सर्प का अभाव है। जिस सत्ता का कल्पित अज्ञान है उसी सत्ता की यह लक्ष्यता है अर्थात् कल्पित है।

तुम कहते हो 'मैं दुःखी हूँ।' दुःख का तुम्हारे साथ तीनों काल में सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सुख-दुःख तो मन में होंगे। यदि तुम में सुख-दुःख होते तो जब तुम सो जाते हो तब भी होने चाहिए पर होते नहीं, इसलिये तुम में वे नहीं हैं। जब मन है तब सुख-दुःख होते हैं। तुम्हें दर्द होता है तो डाक्टर के पास जाते हो। वह तुम्हें अफीम या नशे की दवा देता है, फलतः तुम्हें दर्द नहीं होता। इसलिये जब तक मन है तब तक दुःख है, मन नहीं तो दुःख भी नहीं। दुःख का कारण अज्ञान और अज्ञान की निवृत्ति के लिये ज्ञान का उपदेश होता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो अज्ञान और ज्ञान दोनों ही नहीं हैं। व्यावहारिक दुःख आदि हैं इसलिये व्यावहारिक अज्ञान से हैं, पारमार्थिक नहीं हैं। इसलिये परमेश्वर में जैसे वाच्यता नहीं है वैसे ही लक्ष्यता भी नहीं है। वेद यह कहता है कि ब्रह्म शब्द का विषय नहीं है। फिर यह सारा उपदेश क्यों दिया जाता है? वाणी से जो उपदेश दिया जाता है वह तो व्यावहारिक है किंतु 'जिसका' उपदेश दिया जाता है वह विषय नहीं है। विषय के बारे में उपदेश है या अविषय के बारे में? इसका उत्तर है कि स्वरूप के बारे में उपदेश है और प्रयोजन है अनुभूयमान अज्ञान की निवृत्ति। जैसे पार्थिव फिटकरी जल से मिट्टी और खुद को भी पृथक् कर देती है वैसे वेद का उपदेश ब्रह्म से सारे संसार का आरोप और उपदेशविषयता दोनों को हटा देता है। हम लक्ष्यत्व धर्म को भी कल्पित मानते हैं। उससे स्वरूपबोध होता है, केवल इसलिये उससे हमारा तात्पर्य है। इसीलिये यदि ऐसी कल्पित वाच्यता से भी अखण्डार्थबोध संभव हो तो वेदान्ती को कोई विरोध नहीं यह परिभाषा आदि के अनुसन्धान से स्पष्ट है।। ५२।।

श्लोक ४३ से प्रारम्भ चर्चा का निष्कर्ष बताते हुए मनन का अर्थ कहते हैं–

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या संभावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्।। ५३।।

इस तरह वाक्यों से वाक्यार्थ का अनुसन्धान श्रवण है। उस अर्थ को युक्ति से सम्भव समझना तो मनन है।

श्रुति ने आत्मदर्शन के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान किया है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। आत्मा का दर्शन या साक्षात्कार श्रवण, मनन, निदिध्यासन से होगा। आत्मदर्शन से ही कल्याण सम्भव है इसलिये परमार्थ का साधन यही है। इसी बात को स्मृतियों ने भी कहा है 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्त्वा च सततं ध्यायेद् एते दर्शनहेतवः।।' श्रुतिवाक्यों से श्रवण करे और उपपत्ति अर्थात् श्रुति के अर्थ को सिद्ध करने की जो युक्तियाँ उनसे मनन करे। जब श्रवण-मनन से अर्थ निर्विचिकित्स हो जाये अर्थात् उसमें कोई संदेह या जिज्ञासा न रह जाये, तब उसका ध्यान करे। इसीलिये इस ध्यान को निदिध्यासन कहा है। प्रक्रिया तो ध्यान वाली है लेकिन थोड़ा भेद है : किसी चीज़ को जानने के लिये या साक्षात् करने के लिये करते हो तो ध्यान कहते हैं जैसे शालिग्राम में विष्णु का ध्यान करते हो कि ध्यान करते-करते विष्णु-दर्शन हो जायेगा। सचमुच में तो विष्णु का पता तभी लगेगा जब उनका दर्शन हो जायेगा। किसी भी मनन से यह पता नहीं लग सकता कि भगवान् विष्णु के चार हाथ किस तरह हैं, दोनों तरफ दो-दो हाथ हैं या वे हाथ आगे-पीछे हैं, या ऊपर-नीचे हैं इत्यादि, यह तो, जब तक उनका दर्शन न हो, लाख श्रवण करो, निश्चित नहीं हो सकता। ध्यान के फलस्वरूप जहाँ दर्शन होगा, तब निःसंशय ज्ञान होगा। परन्तु निदिध्यासन में इसके विपरीत है; पहले तुमको सन्देह-रहित हो जाना पड़ेगा कि कैसे जीव-ब्रह्म की एकता है फिर उस निर्विचिकित्स भाव के अन्दर तुम्हारा अंतःकरण सर्वथा स्थिर हो जाये, इसलिये निदिध्यासन करते हो। अर्थात् निश्चय होने के बाद सतत ध्यान करते हैं। बाकी ध्यान दो-चार या आठ-दस घण्टे करोगे, परन्तु यह निरन्तर ध्यान करना है। नित्य भी करना है, और निरन्तर भी करना है। यदि तुम नित्य नहीं करोगे तो विस्मृति सम्भव है। अन्तःकरण के जो पुराने संस्कार हैं वे कब वापिस घेर लें इसका कोई ठिकाना नहीं है। यदि निरन्तर नहीं करोगे तो जगत्-मिथ्यात्व का निश्चय नहीं हो पायेगा। इसलिये अपने स्वरूप का ध्यान नित्य भी होना चाहिए और निरन्तर भी होना चाहिए।

प्रश्न होता है कि यदि निरन्तर ध्यान करेंगे तो दाल-रोटी कैसे खायेंगे? भगवान् ने इसलिये कह दिया 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' भगवान् ने सब कालों में स्मरण करने को कहा', यह नहीं कहा कि सवेरे-शाम ध्यान करना; भगवान् ने कहा कि एक क्षण भी ऐसा न हो जब तुम ध्यान से रहित हो बल्कि कहा कि मेरा ही अनुस्मरण करो। प्रायः इसका अर्थ करते हैं कि भगवान् को 'याद' करो। परन्तु 'अनुस्मरण' का अर्थ होता है अनुभव के पश्चात् स्मरण। किसी भी चीज़ का स्मरण तभी होता है जब पहले उसका अनुभव हुआ हो, अनुभव के पश्चात् ही स्मरण होता है, फिर 'अनु' क्यों जोड़ा? कोई भी सगुण रूप ऐसा नहीं जिसका अनुभव के बाद स्मरण करना पड़े क्योंकि यदि भगवान् के सगुण रूप का दर्शन हो गया तो भक्त कृतकृत्य हो गया। इसलिये अहं-प्रत्यय के अन्दर ब्रह्म का जो अनुभव श्रवण-मनन से हो जाता है, उसके अनन्तर स्मरण का विधान समझना चाहिए। अनुस्मरण के साथ ही यह भी कहा 'सर्वेषु कालेषु युध्य च' अर्थात् सब समय युद्ध भी करो! तुम संसार में कोई काम करो, एक चीज़ को कभी नहीं भूलते और वह 'मैं' है। यह संदेह कभी नहीं होता कि 'आज मैं बहुत काम में लगा रहा, देखूँ तो सही कि मैं चेतन

हूँ या मर गया'। सब समय अपने को जानते हो। कैसे जानते हो? मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, इस रूप से जानते हो। श्रवण-मनन से निश्चय होगा कि यह सब मैं नहीं हूँ। तब शरीर अपना काम करता है, इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं। सब अपने-अपने विषयों की तरफ जाते हैं, पर तुम याद रखते हो कि तुम कौन हो। भगवान् ने कह दिया 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' जिस गुण से जो इन्द्रिय पैदा हुई वह इन्द्रिय उसी में वर्तन करती है। तुम यह सब करने वाले नहीं हो। तुम्हारा रूप तो 'तत्त्वमसि' महावाक्य से उद्घाटित हो गया है। तुम अधिष्ठान हो, इसलिये ये सब तुम में कल्पित रूप से प्रतीत हो रहे हैं। जिस प्रकार से रस्सी अधिष्ठान है तब उसमें सर्प, जलधारा, दण्ड आदि सब दीखते हैं और जैसे ही रोशनी आती है वे सब नहीं रहते, इसी प्रकार स्वरूप में स्थित रहते हुए ये सब अज्ञान से प्रतीत होते हैं।

अज्ञान तो खत्म हो गया लेकिन प्रारब्ध भुगवाने वाला थोड़ा बाकी रह गया है। इसलिये प्रारब्ध-भोग काल में अज्ञान के लेश की प्रतीति है, साथ में शरीर, मन आदि की प्रतीति है; लेकिन प्रतीति-काल में भी मैं अधिष्ठान हूँ—यह बोध बना ही रहता है। अथवा दूसरे दृष्टांत से समझ लो : जैसे एक चित्र का कपड़ा या काग़ज हो, तुमने उसे देखा हुआ है। उसके ऊपर कोई चित्रकार राम, लक्ष्मण और सीता का बढ़िया चित्र बनाता है। उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। भगवान् को माला पहना देते हैं, उसपर चन्दन भी लगा देते हैं। ये सब करते हुए भी तुम जानते हो कि है तो वहाँ व्यावहारिक काग़ज या चित्रपट ही, और वहाँ कुछ नहीं है। जैसे काग़ज या कपड़े को जानते हुए दीखता है कि रामजी प्रतीत हो रहे हैं, तदनुरूप व्यवहार भी कर लेते हैं, फिर भी जानते हैं कि यह रामजी नहीं हैं; इसलिये यदि वह चित्र अकस्मात् दीवार से गिर जाता है या कपड़ा फट जाता है तो क्या बैठकर रोते हो कि 'हाय रामजी मर गये'! ठीक इसी प्रकार अपने अधिष्ठान रूप को जानते हुए भी प्रारब्धभोग के लिये संस्कार के जाग्रत् होने पर भी जानते ही हो कि यह सब व्यर्थ प्रतीत हो रहा है। प्रतीति अज्ञान से है। कोई उसे अविद्या-लेश कहता है। कोई अविद्या-गन्ध कहता है। किसी भी नाम से कहो, जानते हो कि हूँ तो मैं एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूप ही। जैसे ही वह लेशाविद्या समाप्त हो जाती है वैसे ही वह प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। इसी को निदिध्यासन कहा।

उसी को स्मृतिकारों ने कहा 'मत्त्वा च सततं ध्यायेत्' ये श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही अधिकारी के अनुसार मिलकर भी और अलग-अलग भी साक्षात्कार के साधन हैं। श्रुति-वाक्यों को तुम गुरुमुख से सुनो अथवा अन्य प्रकार से सुनो, करना बार-बार श्रवण ही है। जिस प्रकार तुम छोटी कक्षा में गलत वर्णन्यास लिखते हो तो अध्यापक तुम्हारा हाथ पकड़कर ठीक प्रकार से वह वर्ण-न्यास लिखवा देते हैं, फिर कहते हैं खुद लिखो। जैसी वर्णमाला होती है वैसे ही बिन्दु लगा देते हैं, बिन्दुओं पर कलम चलाओ तो अक्षर बन जाता

है। बिंदुओं से लिखा होता है फिर खाली जगह होती है उस पर अपने-आप लिखना पड़ता है। इसी प्रकार गुरुजी दो-चार बार सुना देंगे, लेकिन उसके बाद खुद ही श्रवण करना पड़ेगा। चाहे तुम किताब देखकर करो, याद हो गया तो उन मंत्रों को बार-बार बोलकर करो। इसी प्रकार चाहे गुरुमुख से सुनो अथवा चाहे किसी प्रकार से उन श्रुति-वाक्यों को दोहराकर विचार करो। 'वाक्य' न कहकर 'तदर्थानुसंधान' करना कहा है। वाक्यों के द्वारा ही श्रवण अर्थात् उनके अर्थ का अनुसंधान करना है। सारे प्रकरण का असली अर्थ या प्रयोजन क्या है इसका बार-बार अनुसंधान करना है। अभिन्न निमित्तोपादान कारण से पंचमहाभूत कैसे (उत्पन्न) हुए; उन पंच महाभूतों के सत्त्वांश से क्या हुआ, राजस अंश से क्या हुआ और तामसांश से कैसे पंचीकरण हुआ; कैसे विषय पैदा हुए; इत्यादि इन चीज़ों का बार-बार अनुसंधान करना है ताकि कार्यभूत जगत् का कोई हिस्सा परमात्मा से पृथक् है यह सम्भावना न रह जाये। अभ्यास हो जाने पर बिना क्रम सोचे हुए ही तुम हर विषय के अधिष्ठानरूप से सच्चिदानन्द को ग्रहण कर सकते हो। उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है यह बोध बना रहता है। जब विचार पक्का हो जाता है तब क्रम की जरूरत नहीं पड़ती। अर्थानुसंधान करना है, केवल शब्दों का अनुसंधान नहीं करना है। यदि केवल शब्दों का अनुसंधान करोगे तो केवल स्वाध्याय-विधि का पालन होगा, श्रवणविधिका नहीं। आत्मा किसी एक अक्षर या एक शब्द से तो कहा नहीं जायेगा। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' से लेकर 'तत्त्वमसि' तक जब समझेंगे तब प्रसंग पूरा होगा। उपनिषद् का पाठ करते रहोगे तो प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, बार-बार उसके अर्थ का अनुसंधान करना पड़ेगा।

शंका होती है कि यदि अर्थ का अनुसंधान करना है तो वाक्य पर ही ज़ोर क्यों दिया गया है, किसी भी वाक्य से कर लेते? श्रवण-विधि इसीलिये की गई कि परमात्मा का साक्षात्कार दृष्टफल तो देता ही है, परन्तु यदि हमारा कोई पाप प्रतिबन्धक है तो जब हम उन्हीं वाक्यों से अनुसंधान करेंगे तो प्रतिबन्धक दूर होते चले जायेंगे। अगर किसी के प्रतिबन्धक नहीं हैं तो वाक्य से ज्ञान हो ही जायेगा। प्रतिबंधकों की निवृत्ति वेदवाक्य के उच्चारणादि से हो जाती है। वेदवचनों से श्रवण करते रहोगे तो प्रतिबन्धक भी हटता जायेगा और अर्थानुसंधान से दृढता भी होगी। श्रुति ने यह नहीं कहा है कि वेद का श्रवण करो; श्रुति ने तो इतना हि कहा है कि *आत्मा* का श्रवण करना है। आत्मा कोई शब्द तो है नहीं जिसका श्रवण किया जा सके! श्रवण तो केवल क, ख, ग आदि का किया जा सकता है। षड्ज आदि का तो श्रावण प्रत्यक्ष हो सकता है, आत्मा ऐसा है नहीं कि उसका श्रवण हो जाये। इसलिये तात्पर्य यही है कि श्रुति से उत्पन्न होने वाला जो शाब्दबोध है, उसी को सम्पन्न करो। बार-बार श्रुति के द्वारा यह शाब्दबोध करने से प्रतिबन्धकों की निवृत्ति हो जायेगी एवं आत्मज्ञान हो जायेगा। उसका नाम श्रवण है।

अर्थानुसंधान वेदवाक्यों का करना है और वह भी अपनी बुद्धि से नहीं करना है, गुरु के द्वारा प्रदर्शित मार्ग के द्वारा ही करना है। गुरु का श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ

होना जरूरी है क्योंकि तभी वह सम्यक् प्रकार से ब्रह्म में तात्पर्य प्रतिपादित कर सकेगा। जो इस ब्रह्मनिष्ठ-परम्परा वाले नहीं हैं, असम्प्रदायवित् हैं, उनसे श्रवण नहीं करना है, क्योंकि वेदों के चरम तात्पर्य का निर्णय करने के लिये अपनी बुद्धि काफी नहीं पड़ती है। सारे शास्त्रों को अपनी मनीषा से पढ़ ले परन्तु यदि उसने ब्रह्मनिष्ठों की परम्परा से अर्थ प्राप्त नहीं किया है तो उसकी बात को मूर्ख की बात की तरह से उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहिए। उसने केवल तर्क से विचार करके तात्पर्य-निर्णय किया है और तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। सत्य का निर्णय तर्क या बुद्धि से अथवा युक्ति से नहीं हो सकता। सत्य का निर्णय तो अनुभव ही कर सकता है। इसलिये यदि ब्रह्मनिष्ठों की परम्परा से श्रवण नहीं किया है तो तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। केवल सम्प्रदाय से तदर्थ-श्रवण कर लेना भी पर्याप्त नहीं है। हमने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से वेदान्त के तात्पर्य को सुन लिया तो इस बोध का उदय हो जायेगा कि क्या कहा गया है। तदनन्तर गुरु ने जिन वाक्यों का जो तात्पर्य बताया है, बार-बार उनका वैसा अनुसंधान करना है। इसीलिये भगवान् वेदव्यास ने नियम किया 'आवृत्तिरसकृद् उपदेशात्'। पिता ने पुत्र को 'तत्त्वमसि' का उपदेश एक बार नहीं, नौ बार दिया अर्थात् आवृत्ति की। उद्दालक महर्षि जैसे पढ़ाने वाले और श्वेतकेतु जैसा पढ़ने वाला, फिर भी नौ बार उपदेश किया। अतः तब तक आवृत्ति करनी है जब तक उसका साक्षात् अनुभव न हो जाये।

याज्ञवल्क्य महर्षि ने उसे साक्षात् अपरोक्ष कहा है। सामान्य रूप से तो अपरोक्ष कहो या साक्षात् कहो, एक ही अर्थ है। अपरोक्ष पदार्थ का प्रमा ज्ञान तो हमेशा अपरोक्ष ही होगा और चूंकि प्रत्यगात्मा हमेशा ही अपरोक्ष है इसलिये प्रत्यगात्मा के बारे में सर्वथा सही ज्ञान अपरोक्ष ही होगा। फिर भी, अपरोक्ष ही नहीं, साक्षात् अपरोक्ष होना चाहिए। हमने तुमसे कहा 'यह आदमी राजेश है,' ऐसा उसका परिचय करा दिया। किंतु फिर दीर्घ काल तक मुलाकात न हो तो मिलने पर भी पहचान नहीं पाते। इससे विपरीत, यदि परिचय के बाद लम्बे समय मिलते रहो तो पीठ-पीछे से देखकर भी पहचान लेते हो, दीर्घ अन्तराल के बाद भी पहचान लेते हो।

इसी प्रकार जब पहली बार ज्ञान कराया तो वह अपरोक्ष ज्ञान ही हुआ परन्तु पुराने संस्कारों के कारण मन आदि सबके अन्दर फिर अहं-बुद्धि हो जाती है कि यह मैं हूँ। फिर जब विचार करते हैं, ध्यान करने बैठते हैं तब पता लगता है कि ये तो मैं नहीं हूँ, मैं तो इन्हें जानने वाला हूँ। ये सब ज्ञान का विषय हैं इसलिये मुझ से अलग हैं। ध्यान करके उठे, किसी ने ज़ोर से घूंसा मारा, तो लगता है कि मुझे मारा! फिर विचार करो तो ज्ञान होगा कि 'मुझे तो मार नहीं सकता। मैं क्रिया का अविषय हूँ' किंतु यह नहीं पहचाना कि जिसने घूंसा मारा वह भी मैं ही हूँ! वह कोई दूसरा ही है यह झट अध्यास उपस्थित हो जाता है। परन्तु जब साधक सतत इस अद्वैत बुद्धि में रहता है तब, यथा कथंचित् प्रारब्ध के कारण घूंसा लगा तो भी जानता है कि मुझे नहीं लगा। इसीलिये असकृत् आवृत्ति आवश्यक है।

अनुसंधान कैसा है? 'इत्थं' इस प्रकार से अर्थात् जिस प्रकार से हमने पहले बताया पाँचों महाभूतों का विवेक, पंचमहाभूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति, स्थूल विषयों का उत्पन्न होना, तत् पदार्थ, तीन प्रकार की शक्तियाँ इत्यादि जो प्रकार बताया उस प्रकार से अनुसंधान करना है। वाक्य का तो सहारा लेना ही है लेकिन उक्त प्रकार से लेना है। जिस प्रकार से आचार्य ने बताया है उस व्यवस्थित क्रम से तो उपनिषदों में मिलेगा नहीं इसलिये जिस प्रकार से बताया है उस प्रकार से अनुसंधान करना है। जब इस प्रकार से दीर्घकाल तक अनुसंधान होता है तब श्रवण सम्पन्न होता है। 'सम्भावितस्य युक्त्या अनुसंधानं' जिस समय श्रवण नहीं कर रहे हैं उस समय उसी अर्थ का युक्ति के द्वारा 'यही सम्भव है' यह विचार अर्थात् मनन करना है। जो वेद ने कहा है वही सम्भावित है अर्थात् युक्ति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है—ऐसा अनुसंधान करना मनन है। युक्ति से क्या सिद्ध हो सकता है—यह विचार नहीं करना है बल्कि 'युक्ति से यही सिद्ध हो सकता है' यह विचार करना है। युक्ति तो दोनों तरफ चल जाती है। दोनों तरह की युक्तियों के संस्कारों का प्रवाह रहेगा तो निश्चित अर्थबोध नहीं हो पायेगा। इसीलिये श्रौत अर्थ का ही युक्ति से अनुसंधान करना मनन है। श्रुति जो कहती है वह अर्थ नहीं बनता है—इस बात को हटाने की युक्ति को सोचना है क्योंकि यही अर्थ बनता है यह निश्चय करना है। इसलिये भाष्यकार ने कहा 'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्, दुस्तर्कात् सुविरम्यताम्' जो श्रुतिमत से विरुद्ध ले जाने वाला तर्क उससे विरत हो जाना है, उसमें रमण नहीं करना है और श्रुति जिस बात को कहती है उसका तर्क से अनुसंधान करना है।

ब्रह्म के विषय में श्रुति ही प्रमाण है। श्रुति ब्रह्म को जैसा बताती है वैसा ही ब्रह्म है। जितनी युक्तियाँ हमारे पास हैं वे सारी देह से लेकर अहंकार पर्यन्त तादात्म्य अध्यास को लेकर हैं। अतः युक्ति व तदनुसार कथनादि अध्यासपूर्वक ही होगा। इसलिये श्रुति को अपौरुषेय या ईश्वर के द्वारा प्रकट हुई कहते हैं। श्रुति किसी जीव के द्वारा प्रकट नहीं हुई; इस विषय में सभी वैदिकों का एक ही निश्चय है कि किसी जीव ने श्रुति नहीं बनाई। यदि पुरुष बनाये तो अध्यास के बाद ही बनायेगा। परमेश्वर को कभी अध्यास हुआ नहीं इसलिये या उसका कथन होने से वेद प्रमाण है या स्वयंभू होने से वेद स्वतः प्रमाण है। जिस *अर्थ* का प्रतिपादन श्रुति करती है वह अध्यास के अन्तर्गत नहीं है। ब्रह्मनिष्ठ का अनुभव तो नैसर्गिक अध्यासों के द्वारा ही होगा, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्,' मन से ही होगा, परन्तु *जो* प्रकट होता है वह अध्यास नहीं है, वह अधिष्ठान है, सत्य है इसलिये वेदार्थ-अनुसंधान करना है और उसके विरुद्ध जो-जो दुस्तर्क आते हैं उन्हें हटाते चले जाना है। वह 'युक्त्या सम्भावित' इसलिये कहना पड़ता है कि तुम युक्ति से विचार करते हो तो तुम्हें दो पक्ष देखने ही पड़ेंगे। विपरीत कोटि की उपस्थितिकाल में ही विचार होगा। परन्तु उन दोनों कोटियों में से एक कोटि तुमको युक्ततर लगेगी, दूसरी तुम्हें युक्ततर नहीं लगेगी। श्रवण और मनन में यह

फ़र्क रहेगा; श्रवण-काल में दूसरे पक्ष को उपस्थापित करने की आवश्यकता नहीं है जब कि मनन में है।। ५३।।

शास्त्र से पता लगने पर भी, युक्ति से समर्थित होने पर भी, क्योंकि हमारा स्वानुभव द्वैत एवं कर्तृत्वादिका है इसलिये वेदार्थ अंगीकार नहीं होता, जैसा श्रुति ने कहा 'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः' सुनते हुए भी समझ या साक्षात्कार नहीं कर पाते। इसलिये वेद ने तीसरे साधन निदिध्यासनका विधान किया, उसका वर्णन करते हैं–

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।। ५४।।

श्रवण-मनने से जिसके बारे में संदेह हट चुके हैं उस आत्मरूप अर्थ में स्थिर किये चित्त की वृत्तियों का एकाकार प्रवाह बना रहना निदिध्यासन कहा जाता है।

श्रवण और मनन के द्वारा निर्विचिकित्स अर्थ का ज्ञान होता है अर्थात् उस अर्थ में अब संदेह नहीं रहता है। मनन करने से तो 'ऐसा नहीं हो सकता' यह समाप्त हुआ और 'ऐसा नहीं है' यह श्रवण से गया। श्रवण-मनन से अर्थ का तो निश्चय हो जाता है परन्तु अध्यास के संस्कार अंतःकरण में इतने प्रबल हैं कि गलत जानने पर भी पुराने संस्कारों से पुनः वैसी प्रवृत्ति हो जाती है। मन तो जैसे संस्कारों वाला है वैसा ही चलेगा।

एक राजा भगवान् शंकर का भक्त था। उसका नियम था कि प्रातः काल जो महात्मा आता था उसके चरण धोकर भोजन कराता था। एक दिन उसके नौकर ने महल में चोरी की और पकड़ा गया। उसे दण्डित किया गया, तीन महीने की जेल हो गई। तीन महीने बाद छूट गया। एक दिन प्रातः काल वह भी भस्म लगाकर और रुद्राक्ष धारण करके भिक्षा के लिये राजा के यहाँ महात्माओं की लाईन में खड़ा हो गया। रानी सोने की झारी से पानी डालती थी और राजा चरण धोता था। उस दिन रानी ने राजा के कान में कहा कि 'यह वही चोर नौकर है जो पकड़ा गया था।' राजा ने झट रानी के हाथ से पानी की झारी ली और खुद ही उसके चरण धोये, पूजा करके उसे भोजन करने के लिये भेज दिया। रानी ने राजा से पूछा 'क्या आपने मेरी बात नहीं सुनी?' राजा ने कहा–'मैंने सुन लिया था।' रानी ने कहा–'फिर भी आपने उसे कुछ नहीं कहा!' राजा ने कहा–'अब वह नौकरी लेने तो आया नहीं था। भस्म रुद्राक्ष धारण करके वह तो साधु बन कर आया था। क्या पता अब तक उसके जीवन में कितने परिवर्तन हो गये होंगे, हमें संदेह क्यों करना चाहिए? इसीलिये मैंने तुम्हारे हाथों से झारी ली कि तुम्हारे मन में अभी भी उसके प्रति चोर की भावना थी, तुम पानी डालती तो उस विचार से पानी अपवित्र हो जाता। मेरी दृष्टि में आज वह शिवभक्त ही था।' राजा के प्रबल संस्कार थे कि जो भस्म रुद्राक्ष धारण करके आ गया वह शिवभक्त ही है, आगे और कुछ क्यों सोचना! कुछ-कुछ ऐसा ही गीता में भगवान् ने भी कहा है 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः।।' केवल

दुराचारी ही नहीं, अत्यन्त दुराचारी भी हो परन्तु अब उसने निश्चय कर लिया कि 'मुझे अनन्यरूप से भगवान् का भजन ही करना है' तो उसे शुद्ध ही समझना चाहिए, उसने अब ठीक निश्चय कर लिया है। ऐसे ही उस राजा में मन के संस्कारों का प्रवाह दृढ हो गया था, रानी में वह नहीं था।

इसी प्रकार से जिसका अपने अकर्त्ता-अभोक्तापन का बोध दृढ हो गया, वह शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त कुछ भी करे, उसका यह ज्ञान हमेशा बना रहता है कि 'मैं अकर्त्ता-अभोक्ता हूँ।' परन्तु जिसका यह बोध दृढ नहीं हुआ है उसे यह सब करते देखकर फिर प्रतीति हो जाती है कि 'मैं कर रहा हूँ'। संशय से रहित ज्ञान तो हो गया है, कोई संदेह नहीं है, परन्तु बार-बार उस संस्कार को दृढ करना है अर्थात् आत्मैक्य-वृत्ति की दृढता करनी है। इससे नया ज्ञान नहीं होगा परन्तु देह आदि की प्रवृत्ति को देखकर जो कर्तृत्वादि की प्रतीति हो जाती है, वह प्रतीति भी न हो इसके लिये आत्मैक्यवृत्ति आवश्यक है। एकतानता अर्थात् निरंतरता से अकर्त्तृत्व-अभोक्तृत्व की वृत्ति बनी रहे। वृत्ति की एकतानता होगी तो उसमें श्रुत मत अर्थ का अनुसंधान रहेगा। इसको ब्रह्मस्थिति नहीं समझ लेना चाहिए। ब्रह्मस्थिति में अंतःकरण ही अनुपस्थित हो जाता है। परन्तु वृत्ति की एकतानता में अन्तःकरण उपस्थित रहते हुए उसके अन्दर ब्रह्मरूपता की प्रतीति है। एकतानता को निदिध्यासन कहा जाता है। प्रश्न होता है कि यह एकतानता कम से कम कितनी देर में सिद्ध होती है? कुछ आचार्यों ने काल का माप बताया भी है कि इतनी देर स्थिरता रखनी चाहिये। बात इतनी ही है कि तब तक करना चाहिये जब फिर कभी भी अपने कर्त्ताभोक्ता-भाव की प्रतीति नहीं हो और यदि कभी हो जाये, तो घबराना भी नहीं चाहिये! जिस प्रकार से तुम्हारी जेब में एस्प्रो की सौ गोलियाँ पड़ी हैं। लम्बे समय से सिरदर्द नहीं हुआ तो पड़ी ही रहेंगी, परन्तु भरोसा है 'हमें सिरदर्द होगा तो गोली खा लेंगे'। इसी प्रकार जब तक कर्त्ता-भोक्तापने की प्रतीति नहीं होती है तब तक कुछ नहीं करना है, परन्तु यदि किसी समय फिर कर्त्ता-भोक्तापने की प्रतीति हो गई तो पुनः ब्रह्मात्मैक्य का अनुसंधान अर्थात् समाधि लगा लो ताकि तुरन्त वह कर्त्ता-भोक्तापना दूर हो जाये।। ५४।।

श्रवण-मनन के द्वारा उपाधि का बाध करके जो लक्ष्य की एकता ज्ञात होती है उसके अन्दर मन को स्थापित करना और तैलधारा की तरह अर्थात् जैसे तैलधारा बिना टूटे हुए निरन्तर चलती है वैसा चित्त को एकतान कर देना, इसी को निदिध्यासन कहते हैं। 'ध्यै चिन्तायां' धातु से ही निदिध्यासन शब्द बनता है अर्थात् चिन्तन करना। ध्यान के अन्दर तीन स्तर होते हैं। एक, 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' चाहे बाहर सूर्य, चन्द्र आदि में, चाहे अन्दर मूलाधार आदि में, किसी एकदेश के अन्दर चित्त को स्थिर करना धारणा है अथवा शंकर आदि मूर्ति में स्थिर करना धारणा है। दस प्राणायाम-काल तक हो, तब तक उसे धारणा और बारह प्राणायाम के समय तक रहे तो उसे ध्यान कहते हैं। जब

तक ध्यान के अन्दर देश की प्रधानता है, जैसे यदि दहर विद्या की साधना कर रहे हैं तो हृदय के अन्दर ध्यान करना है अतः हृदय देश की प्रधानता है, तब तक धारणा है; जब तदाकार वृत्ति प्रधान है अर्थात् प्रयत्नपूर्वक वृत्ति को बनाया जा रहा है अतः ध्येयाकार वृत्ति प्रधान है, तब तक ध्यान है। इसलिये पतंजलि महर्षि ने लक्षण किया है 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' इन दोनों को छोड़ दो, तब समाधि है। ऐसी निदिध्यासन की गम्भीरतारूप समाधि को बताते हैं–

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते।। ५५।।

क्रमशः ध्याता व ध्यान छोड़कर केवल ध्येय को चित्त वैसी स्थिरता से विषय करे, जैसे वायु-प्रवाह-रहित स्थान पर दीपशिखा स्थिर रहती है तो उसे समाधि कहते हैं।

ध्यान में तीन चीज़ें होती हैं ध्याता–ध्यान करने वाला; ध्यान की क्रिया और ध्येय–जिसका ध्यान कर रहे हैं। ध्याता–अर्थात् जो चेतन अहंकार के द्वारा ध्यानकर्त्ता बना है। चेतन का प्रधान स्थल हृदय बताया है इसलिये ध्याता हृदय देश में स्थित है और 'मैं' ऐसी वृति बना रहा है। 'मैं वृत्ति बना रहा हूँ' ऐसा अभिमान रहते मैं ध्याता हूँ। जिसकी वृत्ति बना रहे हो वह व्यापक अर्थात् ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा है, जिसे पहले साक्षात् अपरोक्ष कहा था। वही ध्येय हो गया। प्रारम्भ में तो ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों भासित होंगे कि 'मैं ब्रह्मरूप आत्मा की एकता का ध्यान कर रहा हूँ।' धीरे-धीरे जैसे-जैसे ध्यान का परिपाक होता जायेगा वैसे-वैसे पहले 'मैं प्रयत्नपूर्वक ध्यान कर रहा हूँ' यह भान नहीं होगा। फिर, 'ध्यान दे रहा हूँ' यह भी भान नहीं रहेगा। धीरे-धीरे क्रम से केवल जीव-ब्रह्म की एकता ही रह जायेगी, जीव-ब्रह्म की एकता के आकार का चित्त रहेगा। जहाँ हवा बिलकुल न चल रही हो, वहाँ दीपक एक जैसा जलता रहता है, इसी प्रकार चित्त को स्थिर रखना है। ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों का भान रहते त्रिपुटी है। समाधि में, त्रिपुटी न रह जाये ऐसी स्थिति होती है।

यह नहीं है कि वहाँ त्रिपुटी होती नहीं है। त्रिपुटी होगी तो ज़रूर परन्तु उसका *भान* नहीं रहेगा। उपासना या ध्यान मानसी (मन की) क्रिया है। ज्ञान का साधन और क्रिया का साधन अलग-अलग है। निदिध्यासन करने वाले को ज्ञान तो है परन्तु संस्कारों से विपरीत प्रतीति होने से उधर से ध्यान हट जाता है। जब अन्तःकरण की ध्यानरूप क्रिया की जा रही है तब उसमें नये संस्कार पड़ जाते हैं। भगवान् ने मन को ऐसा बनाया है कि पुराने संस्कार खत्म तो नहीं होते लेकिन नयों के नीचे दब जाते हैं इसलिये कार्यकारी नहीं रह जाते। जैसे निवात में एक ढंग से ही दीपक जलता है वैसे ही जब चित्त 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार केवल एक ढंग से ही स्थिर रहे, तब समाधि है जिससे विरुद्ध संस्कार

निष्प्रभावी हो जाते हैं। इसी बात को स्मृतियों ने भी कहा है 'मत्वा च सततं ध्यायेत्'; सतत ध्यान की बात इसी दृष्टि से कही है। ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति है, परन्तु जीवन्मुक्ति के सुख के विलक्षण आनन्द के लिये इस समाधि अवस्था की आवश्यकता है। इसके बिना जीवन्मुक्ति का अनुभव नहीं हो सकता।।५५।।

उक्त समाधि में वृत्ति का रहना बताते हैं–

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात्।। ५६ ।।

समाधि से उठे हुए को उत्पन्न होने वाले स्मरण से समाधिकाल में आत्मविषयक वृत्तियों का अनुमान होता है, भले ही समाधि के दौरान वे वृत्तियाँ अज्ञात रहती हैं।

समाधि में 'अहं' इत्याकारक वृत्ति या ध्यानाकार वृत्ति न रहे ऐसी बात नहीं है। उस समय वृत्तियाँ हैं तो सही परन्तु उनका ज्ञान नहीं है। जब कहा 'ध्यातृध्याने परित्यज्य' तब मतलब यही लग जाता है कि ध्यानाकार वृत्ति नहीं रही; इसलिये स्पष्ट करना ज़रूरी है कि वह मौज़ूद तो है परन्तु तब भान का विषय नहीं है। जिस प्रकार, किसी मनुष्य के चेहरे के ऊपर तुम्हारा ध्यान टिका हुआ है तो ऐसा नहीं कि उसकी कमीज़ या कोट का तुम्हें ज्ञान न हो, क्योंकि आँख के सामने वे भी हैं, परन्तु चूंकि तुम केवल मुख की तरफ ही ध्यान दे रहे हो इसलिये उसके कोट आदि का प्रतिबिम्ब आँख के पर्दे पर पड़ने पर भी नहीं पड़ने जैसा ही है। इसी प्रकार वहाँ ध्यान तो है परन्तु तुम ध्यान की तरफ नहीं, वरन् ध्येय के भान की तरफ ही सावधान हो। 'वृत्तयः आत्मगोचराः' अर्थात् प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता को विषय करने वाली वृत्तियाँ तब भी रहती हैं। केवल अहं का साक्षी नहीं वरन् जो सर्वव्यापक साक्षी है उसका भान रहता है। निदिध्यासन में ब्रह्मात्मैक्य को विषय करने वाली वृत्ति रहती है। वृत्तियों में प्रमाण बताया 'व्युत्थितस्य समुत्थितात् स्मरणाद् अनुमीयन्ते'। जब समाधि छोड़कर उठता है तब स्मरण का रूप यही रहता है 'इतनी देर मैं समाहित रहा' अर्थात् मैं का स्मरण है, समाहित होने का भी स्मरण है, ब्रह्मात्मैक्य का भी स्मरण है। इस स्मरण से ही अनुमान करते हैं कि वहाँ वृत्तियाँ थीं। वृत्तियों का स्मरण नहीं है क्योंकि समाधि में वे अज्ञात थीं, और स्मरण उसी का संभव है जिसका अनुभव हुआ है। फिर भी उनका अनुमान अवश्य होता है। समाधि में वे अज्ञात थीं पर जगने पर उनको अनुमान से समझा जाता है। यह समझ लेना चाहिये कि स्मृति से ज्ञात वस्तुओं का तो अनुमान होता ही है, लेकिन स्मृति के उत्थान से यह भी अनुमान होता है कि इसका उत्पादक संस्कार मौजूद था और संस्कार तभी हो सकता है जब उस समय वृत्तियाँ रही हों। इस प्रकार समाधि में अज्ञायमान भी वृत्तियाँ, व्युत्थान काल के स्मरण के हेतु संस्कारों के कारणरूप से अनुमित हो जाती हैं। मन ज्ञान का साधन भी है और क्रिया का भी। वृत्ति मन की क्रिया

है। वृत्ति बनकर खत्म हुई तो उसका संस्कार रहेगा जिससे स्मृति होना संगत है। तुमने श्रवण-मनन के द्वारा पहले अर्थ का निर्विचिकित्स निश्चय कर लिया, फिर उसके संस्कार बनाने के लिये निदिध्यासनरूप क्रिया कर रहे हो। इसमें अंतःकरण ध्याता और ध्यान की तरफ ध्यान नहीं देता है, वे भी वहाँ मौज़ूद हैं, परन्तु तुम उनको जान नहीं रहे हो। इसलिये उनको अज्ञात कहा। जिस आत्मरूप अर्थ को तुम वहाँ जान रहे हो उसको श्रवण-मनन के द्वारा जाना हुआ है। ध्याता और ध्यान कोई ऐसी चीज़ें तो हैं नहीं कि जेब से निकाली और बाहर फेंक दीं! इसलिये 'परित्यज्य' का मतलब है कि उसके बाध का निश्चय भी है, यही उसका परित्याग है। इस प्रकार ध्याता-ध्यान वहाँ मौजूद हैं परन्तु अज्ञात हैं। उनके संस्कार पड़े हैं इसलिये बाद में स्मरण हो जाता है।। **५६।।**

प्रश्न होता है, वृत्तियाँ मनमें बनानी पड़ती हैं, स्वयमेव तो बनती नहीं। समाधि में वृत्तियाँ थीं तो उन्हें बनाया जाता रहा होगा; लेकिन यदि वृत्तियाँ बनाने का प्रयास होता रहा तो समाधि ही नहीं हो सकेगी! अतः वृत्तियाँ थीं यह कैसे? इसके उत्तर में कहते हैं—

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात् प्रथमादपि।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद् भवेत्।। ५७।।

समाधि में वृत्तियों का प्रवाह तो पुण्य और बारम्बार किये अभ्यास के संस्कारों की सहायता से समाधि के प्रारम्भ में किये प्रारम्भक प्रयत्न से भी हो जाता है।

साइकिल चलाई होगी तो जानते होगे कि पहले खूब ज़ोर से पैडल मारा और फिर अकस्मात् पैडल मारना छोड़ दिया, तब भी साइकिल चलती रहती है। पैडल मारने से चलने वाली साइकिल, पैडल नहीं मार रहे हैं तो भी चल रही है क्योंकि पहले मारा हुआ पैडल उसे अब भी चलाता है। यह ज़रूरी नहीं कि उसी समय पैडल मार रहे हो। इसी प्रकार पहले तुमने ज़ोर से वृत्तियाँ बनाई, उसके बाद तुमने ध्याता-ध्यान के भाग छोड़ दिये। जैसे पैडल नहीं चलाते हैं तब भी साइकिल की गति बनी रहती है वैसे पहले किये हुए प्रयत्न से ही मन की ध्येयाकार वृत्ति बनी रहती है। प्रवाहरूप से उसकी उत्पत्ति समाधि के पहले अर्थात् धारणा और ध्यान के समय में हो चुकी है। कई बार ऐसा होता है कि जैसे ही छोड़ते हैं वैसे ही अंतःकरण दूसरी वृत्ति बना लेता है लेकिन सही ढंग से और काफी देर करते हैं तो प्रवाह चलता रहता है। अदृष्ट अर्थात् प्रारब्ध भी कारण बनता है। यदि तुम्हारा बहिर्व्यवहार का तीव्र प्रारब्ध है तो वह तुम्हें उत्तम या ऊर्ध्व भूमिकाओं में नहीं जाने देता। केवल जितनी देर ध्यान किया उतनी ही देर रहेगा। जहाँ प्रारब्ध का वेग ज्यादा रहता है वहाँ उत्तम भूमिकाओं में जीवन्मुक्ति का अधिक आनन्द नहीं हो पाता। जहाँ अदृष्ट या प्रारब्ध उतने ज़ोर वाला नहीं वहाँ उत्तम भूमिकायें प्राप्त हो जाती हैं।

इसलिये व्यासजी ने 'असकृत्' अर्थात् बार-बार अभ्यास करना बताया है जिससे संस्कार

बढ़ते जायें। बार-बार अभ्यास करने से भी निरन्तर प्रवाह नहीं होता है तो अदृष्ट या प्रारब्ध रुकावट में कारण निर्धारित होता है। इसलिये प्रारब्ध और प्रयास दोनों अपेक्षित हैं। जिस कार्य का बहुत समय तक अभ्यास कर लिया जाता है, वह बिना उधर ध्यान दिये, या बिना उसे करने की इच्छा किये भी चलता रहता है। जैसे यदि पचास साल से महिम्नःस्तोत्र का पाठ कर रहे हो तो तुम कुछ दूसरी बात भी सोचते रहो, और पाठ बोलते रहते हो, तो ध्यान दिये बिना भी महिम्नःस्तोत्र का पाठ ठीक हो जायेगा; अकस्मात् कोई बीच में रोक कर पूछे कि 'कौन-सा श्लोक बोल रहे थे?' तो दायें-बायें देखने लगोगे! तुम्हें खुद ही पता नहीं है कि कौन-सा श्लोक बोल रहे थे! उधर ध्यान भी नहीं है और तुम्हें खुद पता भी नहीं, फिर भी असकृत् अभ्यास होने से वह पाठ चलता रहता है। इसी प्रकार असकृत् अभ्यास वाले का ब्रह्मानुसंधान बिना प्रयत्न किये हुए, उधर ध्यान दिये बिना भी, चलता रहता है।

'अनुवृत्ति' क्यों मानें, वृत्ति ही मान लें? सिद्धांत में वृत्ति किञ्चित् काल स्थायी होती है इसलिये अनुवृत्ति कहना पड़ता है। पता इसलिये नहीं लगता है कि अभ्यासातिशयवश स्वतः चलता रहता है। जिसकी समाधि स्थिर हो गई उसकी वह स्थिति चलती ही रहती है।। ५७।।

जिस समय नाम-रूप का दर्शन हो उस समय उसका बाध करके सच्चिदानन्दरूप से ब्रह्म की दृष्टि बनाने का अभ्यास भी साथ ही समझ लेना चाहिये। इसे दृष्टांत-युक्त भगवान् के वचन से समर्थित करते हैं–

यथा दीपो निवातस्थः इत्यादिभिरनेकधा।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ।। ५८।।

'निवात-स्थान में दीपक की तरह' इत्यादि अनेक तरह से भगवान् ने अर्जुन के लिये इसी बात का निरूपण किया।

भगवान् ने अनेक प्रकार से समाधि को अर्जुन के लिये निरूपित किया है अर्थात् यह बात सम्प्रदाय-सिद्ध है। गीता में (६.१९) आत्मस्थिति की दृढता के लिये आवश्यक समाधि स्पष्ट विहित है एवं 'आत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति' (२०) 'उपैति शान्तरजसम्' (२७) 'ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते' (३८) उसका फल प्रतिपादित है।। ५८।।

प्रश्न होता है कि इस समाधि का लाभ क्या? ज्ञान हो गया, संशय-विपर्यय हट गये तो फिर समाधि के अभ्यास का क्या लाभ है? इसके उत्तर में कहते हैं कि मोक्ष तो ज्ञान से ही होगा लेकिन–

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते।। ५९।।

इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठे हुए हैं, वे इस (समाधि) से विलीन होते हैं और शुद्ध धर्म बढ़ता है।

जिसमें संसरण अथवा जन्म-मरण का प्रवाह चलता रहता है, वह संसार है। यह संसार अनादि है अर्थात् संख्याओं को कितना ही बढ़ाते चले जाओ, फिर भी यह नहीं कह सकते कि संसार इतने समय से है क्योंकि उससे पहले से भी है। इसीलिये यह संसार अनादि है। इस अनादि संसार में हर जगह हमने कर्म किया है। हर जन्म के करोड़ों कर्म कर लेते हैं। एक दिन में ही शाम तक कितने कर्म कर लेते हैं! एक जीवन में अनन्त कर्म और ऐसे अनंत जन्म, इसलिये कितने कर्म हम लोगों के इकट्ठे किये हुए हैं! कोई ठिकाना नहीं है। ये सब हमारे संचित कर्म हैं। कह सकते हैं कि अश्वमेध आदि करके हम उन्हें खत्म कर सकते हैं, लेकिन अश्वमेध आदि सीमित हैं और उनसे सीमित ही कर्म समाप्त हो सकते हैं। ये असीम कर्म कैसे समाप्त हों?

एक राजा ने कहा कि हमें कोई ऐसी कहानी सुनाये जिसमें मेरा मन लगा रहे और कहानी ख़त्म न हो। कहानी खत्म हो गई तो इनाम नहीं मिलेगा। कोई कहाँ तक सुनायेगा कहानी! ख़त्म हो ही जाती थी। इसलिये किसी को इनाम नहीं मिला। कुछ दिनों बाद एक समझदार आदमी आया और उसने कहानी सुनाना शुरू किया : एक बहुत बड़ा सेठ था। उसने बहुत बड़ा कोठार बनाया जिसमें हज़ारों मन गेहूँ भर दिया। ग़लती से उस कोठार में एक छेद रह गया। उसमें एक गौरैया चिड़िया अन्दर गई, गेहूँ का एक दाना मुँह में लिया, बाहर आई और उड़ गई। तब तक दूसरी चिड़िया आई उसने भी एक दाना मुँह में लिया और उड़ गई। इसी प्रकार कहते-कहते दस-बीस बार बोला तो राजा ने कहा 'आगे चलो, फिर क्या हुआ?' उस आदमी ने कहा 'ऐसे कैसे आगे चलें? वह कोठार खाली होगा तभी कहानी आगे बढ़ेगी। राजा समझ गया और उसे इनाम दे दिया। इसी प्रकार अश्वमेध, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि करके एक-दो पापों को नष्ट करते रहोगे, लेकिन अनन्तकोटि कर्मों का कोठार कैसे खत्म होगा?

इसके लिये कहते हैं, 'अनेन विलयं यान्ति' यह जो ब्रह्मात्मैक्य की समाधि है इससे वे अनंत कर्म विलीन हो जाते हैं। विलय का यहाँ मतलब 'कारण में जाना' नहीं वरन् उनका दृढ बाध हो जाना है। सचमुच तो उन कर्मों को जलाने वाली ज्ञानाग्नि है। लेकिन ज्ञानाग्नि पूर्ण तेज़ी से जल सके इसके लिये उन कर्मों को समाप्त करने वाली यह समाधि है। इस प्रकार से द्वैत का बाध दृढ होने को बाधितानुवृत्ति कहते हैं अर्थात् तब क्षणभर को भी अपने में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का बोध नहीं होता और रूप आदि के अन्दर सत्यत्व का बोध नहीं रहता। इसलिये अब संचित कर्म तुम्हें फल नहीं दे सकता, कर्म के शिकंजे से निकल गये। कर्म तो ज़्यादा से ज़्यादा अहंकार तक को पकड़ता है, कर्म शरीर को भी तब पकड़ता है जब उसमें अहम् है। जब शरीर में अध्यास नहीं रहा, मन का भी बाध कर रखा है, अहंकार भी गया, तो संचित कर्म विलय को प्राप्त कर जाता है, अर्थात् सदा के लिये बाधित है।

अभी जो हम लोगों के धर्म हैं, वे अशुद्ध धर्म हैं क्योंकि कितनी भी सावधानी से धर्म करो, कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई कमी रह ही जाती है, वह कभी-न-कभी अपना फल देगी। परन्तु यह जो समाधि का अभ्यास है, इसके अन्दर कहीं कमी रहने का प्रश्न ही नहीं रहता है इसलिये शुद्ध धर्म ही रह जाता है। संचित कर्मों का नाश एक बार की समाधि के अभ्यास से नहीं होगा। तत् तत् काल के लिये जो फल देने वाले कर्म हैं उनका बाध तो तत्काल के विचार से हो जाता है। परन्तु संचित कर्म नष्ट हो जायें इसके लिये दृढ समाधि का अभ्यास हो जाना पड़ता है। 'शुद्ध धर्म बढ़ता है' कहने का मतलब ही यह है कि जितना-जितना समाधि का अभ्यास करोगे उतना-उतना शुद्ध धर्म का विवर्द्धन होगा। धर्म अर्थात् जो सुख देने वाली चीज़ है। धर्म से ही सुख होता है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। परन्तु जो भी सुख होता है उसमें कुछ न कुछ दुःख मिला होता है क्योंकि कोई भी कर्म करते हैं तो उसमें कोई न कोई त्रुटि रह जाती है। इसलिये जब सुख होता है तब साथ में कुछ न कुछ दुःख भी होता है। जैसे बढ़िया मिर्च का अचार खाओ तो मज़ा भी खूब आता है परन्तु साथ में मुँह भी जलता है। घी खाओ तो थोड़ी देर बाद जीभ बन्द हो जाती है। घी दस-पाँच घूँट लेते-लेते जीभ आगे घी खाना मना कर देती है। मिर्च, चीनी आदि से स्वाद बदलना पड़ता है। इसलिये जहाँ भी सुख होगा, कुछ-न-कुछ दुःख भी होगा। परन्तु इस समाधि से बाधितानुवृत्ति बन जायेगी अतः चूंकि नित्यनिरंतर अपनी आनंदरूपता की अनुभूति है, इसलिये वहाँ दुःख का स्पर्श भी नहीं है। 'विवर्द्धते' के द्वारा बता दिया कि जितना-जितना करोगे उतना-उतना बढ़ता जायेगा। केवल एक बार करने मात्र से कार्य नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि यह अभ्यास दीर्घकाल तक करना चाहिये।। ५६।।

समाधि से शुद्ध धर्म के संचय में योगशास्त्र-प्रसिद्ध समाख्या अर्थात् नाम को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं–

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः।। ६०।।

योगज्ञश्रेष्ठ इस समाधिको 'धर्ममेघ' कहते हैं क्योंकि यह हज़ारों की तादाद में धर्मरूप अमृत की धाराएँ बरसाती है।

योगवित्तमाः शब्द यह कहने के लिये है कि समाधि का यह नाम पतंजलि ने लिखा है। जिस प्रकार बादरायण महर्षि ने जो ब्रह्मसूत्र लिखे उन्हीं पर वेदांत का सारा विचार आधारित है इसलिये वे ही वेदान्तज्ञों में सबसे श्रेष्ठ हैं, इसी प्रकार योग के बारे में सूत्र लिखने वाले पतंजलि महर्षि उस विषय में सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता हैं। योगसूत्र है 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः' (४.२६)। 'कुसीद' ब्याज को कहते हैं। प्रसंख्यान के ब्याज अर्थात् लाभ को भी जो नहीं चाहता उसे इस धर्मामृत धाराओं की प्राप्ति होती है। इसके

द्वारा परिपूर्ण बोध होकर और सारे प्रतिबन्धक हटकर जीवन्मुक्ति का अनुभव हो जाता है। निदिध्यासन के बिना जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये मुमुक्षु के लिये प्रसंख्यान की विधि आवश्यक है। जब इस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है तब प्रसंख्यान की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती, परिपूर्णता हो जाती है। जब तक यह असम्प्रज्ञात स्थिति नहीं हो गई तब तक शुद्ध धर्म की वृद्धि के लिये समाधि-अभ्यास की आवश्यकता है। जब स्थिति हो गई तब प्रयास अनपेक्षित है। सांख्य-प्रक्रिया के अन्दर विवेकख्याति ही मोक्ष का कारण है। सत्त्व अर्थात् अंतःकरण से जब पुरुष अर्थात् अपने को अलग जाननारूप विवेकख्याति की पूर्णता की प्राप्ति होती है अर्थात् विवेकख्याति दृढ बनी ही रहती है तब धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है। जैसे मेघ (बादल) से पानी बरसता है वैसे ही इस धर्ममेघ समाधि से धर्म बरसता है**।। ६०।।**

समाधि से शुद्ध धर्म की उपलिब्ध में प्रमाण बताकर उसका प्रयोजन समझाते हैं–

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये।। ६१।।

इस समाधि से वासनाओं का समूचा जाल प्रविलीन कर दिये जाने पर एवं पुण्य-पाप नामक कर्म का संचय मूल-समेत उखाड़ दिये जाने पर (वाक्यार्थ का अपरोक्ष होता है)।

जैसे बादल बरसते हैं तो सड़क की सारी गन्दगी साफ हो जाती है इसी प्रकार यह धर्ममेघ समाधि चित्त के सारे दोषों की निवृत्ति का कारण हो जाती है। चित्त में वासना-जाल ही दोष है। जीवन्मुक्ति के सुख के लिये वासनाक्षय आवश्यक होता है। समाधि द्वारा सारी वासनाओं का जाल नष्ट हो जाता है। वासनाओं का जाल दो कारणों से कहा : एक तो, जाल में पक्षी फँसता है इसलिये बंधन करने वाला जाल है। इसी प्रकार जीव भी इन वासनाओं में ही बँधा रहता है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार वासनायें आती रहती हैं, और उसी के अन्दर जीव फँसा रहता है। दूसरा कारण यह भी है कि जाल की यह विशेषता होती है कि एक तरफ से खींचो तो सारा जाल खिंचकर इकट्ठा हो जाता है। जाल को समेटने वाला जो सूत्र होता है उसे खींचो तो सारा जाल बँध जाता है। इसी प्रकार से वासनाएँ भी एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का स्मरण कराते हुए जाल की तरह फैली रहती हैं। कई बार हम लोगों को कहते हैं कि मन को देखने के लिये एक काग़ज पैंसिल सामने रखो और मन में जो विचार आये उसे तुरन्त लिखते जाओ। देखोगे कि जिन बातों की तुम कल्पना नहीं कर सकते, ऐसी एक बात से दूसरी बात की याद आ जाती है। कई बार स्वयं को ही आश्चर्य होता है कि इसके बाद यह बात क्यों मन में आ गई? कौन-सी वासना का किस ज्ञान के साथ कैसा सम्बन्ध है, यह अकल्पनीय है। ज्ञान एक-दूसरे में फँसे हैं। इस समाधि से वासना का वह सारा का सारा जाल नष्ट हो जाता है। इसी को भगवान् वशिष्ठ ने वासनाक्षय नाम से कहा है। परवर्ती आचार्यों ने वासनाक्षय का काफी वर्णन किया है।

जब वासना-जाल का क्षय हो जाता है तब पुण्य-पापरूप कर्म का जो संचय है वह समूल नष्ट हो जाता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि मुमुक्षु के लिये पुण्य भी पाप ही है क्योंकि जैसे पाप बन्धन करता है वैसे ही पुण्य भी बन्धन करता है। पाप दुःख का भोक्ता बनाता है और पुण्य सुख का भोक्ता बनाता है। शुरू में यह बात समझ में आना मुश्किल है क्योंकि मनुष्य को सुख का बन्धन, बन्धन नहीं लगता, वह केवल दुःख को ही बन्धन समझता है। परन्तु विचार करो तो यह ठीक वैसा ही है कि जैसे जंग लगे हुए लोहे के पिंजड़े में बँधे हुए पक्षी को हीरे लगे हुए सोने के पिंजड़े में बैठा हुआ पक्षी धन्य लगता है कि इसे कितना बढ़िया पिंजड़ा मिला हुआ है, जबकि है तो पिंजड़ा ही! विचार करो; दस-बारह लाख की बी.एम.डब्ल्यू. मोटर में कोई जा रहा है और दूसरा साठ-सत्तर हजार की मारुति में जा रहा है। उस समय सत्तर हज़ार वाली मोटर वाले को लगता है कि 'बी.एम.डब्ल्यू. वाला बहुत बढ़िया गाड़ी में जा रहा है जबकि मैं घटिया गाड़ी में जा रहा हूँ।' दुःखी होता है। लेकिन सामने से ट्रक टक्कर मारेगा तो बी.एम.डब्ल्यू गाड़ी का जो हाल होना है वही मारुति का होना है। जब तक टक्कर नहीं लगती तभी तक वह बढ़िया लगती है। इसी प्रकार हम स्वर्ग का वर्णन सुनते हैं तो मन में होता है कि ये देवता लोग हम लोगों से कितने ज़्यादा सुखी हैं। परन्तु जब स्वर्ग से गिरते हैं तब पता लगता है कि ये भी तो महादुःखी ही हैं। अविवेकी को तो लगता है कि स्वर्ग देने वाला पुण्य अच्छा है और निकृष्ट स्थानों को ले जाने वाला पाप बुरा है। परन्तु जिसने जगत् के स्वरूप का विचार कर लिया है वह जानता है कि पुण्य भी खत्म ही होना है जैसे पाप खत्म होना है। इसलिये पुण्य और पाप नाम के दोनों कर्मों का जो संचय है, उसमें पाप की निवृत्ति के लिये तो शास्त्र के अन्दर कई प्रायश्चित्तों का विधान है, परन्तु पुण्य-निवृत्ति के लिये तो किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाये तो पुण्य ज़्यादा हमारे पीछे पड़ता है इसलिये यम आदि आधिकारिक पुरुष नचिकेता जैसे को देखते हैं तो उनका निश्चय होता है कि 'हम बहुत पुण्यों के कारण ही संसार का शासन करने के लिये नियुक्त कर दिये गये हैं'। यमराज नचिकेता को उपदेश करते हुए कहते हैं कि 'तू मुझसे बहुत अच्छा है, क्योंकि मैंने तो बहुत कर्म उपासना करके इस याम्य पद को प्राप्त कर लिया तो अब मुझे समझ में आ गया कि यह पद व्यर्थ है फिर भी जितने काल के लिये इस पद का भार मिल गया है, जब तक यह खत्म नहीं होगा, तब तक मुझे निर्विषयक मोक्ष की अनुभूति नहीं होगी। तू तो अभी से ही मुक्त हो जायेगा क्योंकि तू ऐसे पद से बच गया।' हम लोग सोचते हैं कि इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता हमसे अच्छे हैं परन्तु वे लोग भी इस बात को जानते हैं कि 'जिसने ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर लिया उसने वस्तुतः अपना काम बना लिया, बाकी तो देवताओं के ये पद व्यर्थ हैं।' शंका होती है कि हम पुण्य-पाप नष्ट करेंगे परन्तु पुण्य-पाप क्या फिर हो जायेंगे? अतः कहते हैं कि केवल पुण्य-पाप ही नष्ट नहीं होते वरन् पुण्य-पाप का कारण जो अविद्या और

काम हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं। पुण्य-पाप कर्मरूप हैं, राग-द्वेष-मोह आदि सब काम का रूप हैं। राग-द्वेष की निवृत्ति-पूर्वक कर्म का क्षय आत्यन्तिक है अर्थात् यह कर्म की निवृत्ति ऐसी है कि राग-द्वेष भी उखाड़ दिये गये हैं। मूल ही न बचने से नये कर्मों की सम्भावना समाप्त हो जाती है।। ६१।।

धर्ममेघ समाधि से कर्मक्षय और शुद्ध धर्म के संचय से प्राप्य फल बताते हैं–

वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षावभासिते।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते।। ६२।।

प्रतिबंधों से रहित हुआ वाक्य, पहले परोक्षरूप से अवभासित अर्थ के बारे में हाथ में रखे आँवले जैसा अपरोक्ष बोध उत्पन्न कर देता है।

गुरु जो तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य का उपदेश देता है उससे प्रारम्भ में प्रतिबद्ध ज्ञान होता है इसलिये वह तत्त्व परोक्ष की तरह लगता है। चूंकि त्वं-पदार्थ नित्य अपरोक्ष है इसलिये जब उसको ब्रह्म कहा जायेगा तो 'जो मैं हूँ वही ब्रह्म है' ऐसा अपरोक्ष पदार्थ के बारे में ही ज्ञान होता है परन्तु परोक्ष की तरह इसलिये रहता है कि अभी 'मैं' अपरोक्ष तो है परन्तु शरीर से लेकर अहंकार तक की उपाधि के सहित है। वेद कह रहा है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' लेकिन मैं स्वयं को इन सारों से ससीम जानता हूँ। अतः ब्रह्मरूप मैं तो परोक्ष की तरह है, मानों 'तत्त्वमसि' जिसका उपदेश दे रहा है वह कभी किसी समय हमको अपरोक्ष या साक्षात् होगा। इसलिये 'प्राक्' अर्थात् उपदेशकाल में वह परोक्ष की तरह अवभासित होता है। इस धर्ममेघ समाधि के अभ्यास से उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति होती है जिसके कारण अपरोक्ष नहीं होता। इसलिये अब दृढ अपरोक्ष ज्ञान प्रसूत हो जाता है, प्रकट हो जाता है, करामलक की तरह साक्षात् हो जाता है। यही दृष्टांत भाष्यकार ने दिया है कि जैसे हाथ में रखा हुआ आँवला निस्संदिग्ध स्पष्ट भान होता है वैसे ही यह ब्रह्मात्म-बोध स्पष्ट भान होता है। यह दृष्टांत केवल इतने ही अंश में लेना कि बिलकुल स्पष्ट भान होता है। अन्यथा, हाथ में रखा हुआ आँवला विषयरूप से ग्रहण होता है जबकि आत्मज्ञान विषयरूप होगा नहीं। अतः भाव इतना ही है कि साक्षात् अपरोक्ष हो जाता है अर्थात् स्पष्ट भान हो जाता है। विषयत्वेन भान होता है ऐसा कहने में तात्पर्य नहीं है।। ६२।।

प्रतिबंधक हटाने से पहले गुरु से जो तत्त्वमसि का श्रवण होता है, वह क्या व्यर्थ जाता है? ऐसा नहीं है–

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत्।। ६३।।

गुरुमुख से प्राप्त आगमजन्य ब्रह्म का परोक्ष-विज्ञान समझकर किये सारे पापों को आग की तरह जला डालता है।

उपदेश देने वाले गुरु को देशिक कहते हैं अर्थात् जो दिशा-निर्देश कर देता है। जैसे द्वितीया का चन्द्रमा नहीं दीख रहा है; जानकार व्यक्ति कहता है 'सामने नीम के पेड़ की दो डालियों के बीच में देखो, वह चन्द्रमा दीख रहा है।' दो डालियों के बीच में चन्द्रमा दीख ही नहीं सकता। चन्द्रमा करोड़ों मील लम्बा चौड़ा है और दो डालियों के बीच में एक बित्ते की जगह है। और, वे डालियाँ दो सौ मीटर की दूरी पर हैं जबकि चन्द्रमा करोड़ों मील दूर है। इसलिये चन्द्रमा दो डालियों के बीच में नहीं है फिर भी उसने तुमको देखने की दिशा बता दी कि दो डालियों के बीच में देखो। देखना तुम्हें ही पड़ेगा, उनमें देखते हो तो तुम्हें चन्द्रमा दीख जाता है। ठीक इसी प्रकार से 'तत्' और 'त्वं' दो ही चेतन प्रसिद्ध हैं। इन दोनों चेतनों के स्वरूप को सच्चिदानंद-रूपता के द्वारा देखो, यह दिशा-निर्देश कर दिया। देखना तुम्हें ही पड़ेगा। इसमें सावधानी चाहिये कि ब्रह्म के परिचय के लिये जो उपाधि सुनायी दे उसी में मन न उलझ जाये।

ब्रह्म का लक्षण किया गया कि वह जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय करने वाला है। गुरु तो 'ब्रह्म' बता रहा है लेकिन हमारा ध्यान सृष्टि, स्थिति, लय की तरफ जाता है, ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानंद की तरफ नज़र नहीं जाती। प्रतीत यह होता है कि 'मैं कहाँ, और जगत्कारण कहाँ!' औपाधिक भेद की तरफ दृष्टि चली जाती है। शब्द से होना तो चाहिये ब्रह्मविज्ञान, परन्तु पहले किये हुए पाप कर्मों के कारण जो दूसरी आसक्तियाँ हैं उनके कारण वह ब्रह्म परोक्ष की तरह ही लगता है। 'मैं सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला नहीं हूँ' ऐसा इसीलिये लगता है क्योंकि 'शरीर से लेकर अहंकार की उपाधि वाला मैं हूँ' यही अनुभव है। परन्तु जब धर्ममेघ समाधि का अभ्यास होता है तब वह अपरोक्ष हो जाता है। यह जो शब्द से होने वाला परोक्ष भी ज्ञान है, यह बुद्धिपूर्वक, निश्चयपूर्वक किये हुए पापों को नष्ट कर देता है। शास्त्र में जहाँ पाप का प्रायश्चित्त कहा है वहाँ बताया है कि जो पाप एक बार अनजाने में किया हो वह तो प्रायश्चित्त से दूर हो जाता है परन्तु निश्चयपूर्वक बार-बार पाप करें तो वह पाप प्रायश्चित्त से दूर नहीं होता। जैसे हम लोगों का झूठ बोलना; हम लोग मकरसंक्रांति पर तीर्थराज प्रयाग में जाकर गंगा-यमुना के संगम पर गोता लगाते हैं तो पहले के पाप नष्ट हो जाते हैं। लेकिन अगले दिन से फिर पाप बटोरना शुरू कर देते हैं; इस प्रकार के जो बुद्धिपूर्वकृत पाप हैं उन पापों को भी यह परोक्ष ब्रह्मविज्ञान जैसे ईंधन को आग जला देती है वैसे ही जला देता है। भगवान् ने भी यही कहा है 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' ज्ञानाग्नि सारे पापों को जला देती है। बुद्धिपूर्वक या जानबूझकर किये हुए पापों को यह नष्ट कर देता है।। ६३।।

परोक्ष ज्ञान का फल बताकर अपरोक्ष ज्ञान का फल बताते हैं–

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः।।६४।।

गुरुमुख से प्राप्त आगमजन्य आत्मा का अपरोक्ष अनुभव संसार के कारण अज्ञानात्मक अंधेरे के लिये दोपहर के सूर्य की तरह है।

मनन और निदिध्यासन के साथ हो जाने पर ज्ञान प्रतिबन्धक-रहित हो जाता है। मनन और निदिध्यासन से संशय और विपरीत भावना, दोनों प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं। धर्ममेघ समाधि के द्वारा पापों की निवृत्ति से चित्त शुद्ध हो जाता है। कई जगह शास्त्रों में वचन आता है 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसः क्षयात् पापस्य कर्मणः' पाप कर्म क्षय हो तब ज्ञान होता है। पाप कब क्षय हो? महाभारतकार कहते हैं : आत्मदर्शन नहीं करना ही सब से बड़ा पाप है 'किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' जिसने आत्मदर्शन नहीं किया उसने कौन-सा पाप नहीं कर लिया, अर्थात् उसने सारे ही पाप कर लिये। इसलिये यह धर्ममेघ समाधि ही उन सारे पापों को नष्ट करने का एकमात्र साधन है। उसके पहले सब पापों को निवृत्त कर सको यह असंभव है। आत्मा का अपहरण करते हुए कभी भी सब पापों की निवृत्ति हो ही नहीं सकती, पाप कम हो जाये यही सम्भव है। यह धर्ममेघ समाधि ही सारे पापों को दूर करने में समर्थ है और विक्षेप को दूर करने की सामर्थ्य भी इसी में है। अतः ऐसा नहीं समझना कि आज के जीवन में कुछ नहीं कर सकते; इस धर्ममेघ समाधि से पापक्षयपूर्वक आत्मकल्याण कर सकते हैं। यह अपरोक्ष आत्मविज्ञान तभी होगा जब देशिकपूर्वक अर्थात् गुरु के शब्द के द्वारा ज्ञान होगा। जैसा श्रवण-मनन पूर्वक परोक्ष अवभासित हुआ वैसा ही अपरोक्ष भी होगा। अब मल-विक्षेप की निवृत्ति हो जाने से ज्ञान अपरोक्ष हो पाता है। गुरु के मुख से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के श्रवण से जो प्रतिबद्ध ज्ञान होता है वह परोक्ष है वही अब अपरोक्ष अनुभव हो जाता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ और ब्रह्म मैं ही हूँ' इस तरह सब प्रकार से अपना ब्रह्म से अभिन्न बोध हो जाता है। सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला सच्चिदानंद मैं ही हूँ और मैं की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला भी सच्चिदानंद ही है यह साक्षात् हो जाता है। है तो एक ही सच्चिदानंद पर चूंकि भेद दिखाने वाला उपाधियों का प्रादुर्भाव अज्ञान से ही हुआ है, अतः आवरणनिवृत्ति के कारण केवल सच्चिदानंद का भान रह जाता है। जैसे प्रकाश आते ही सर्प, जलधारा, दण्ड आदि सब नहीं रह जाते, केवल रस्सी ही रह जाती है इसी प्रकार ऐसा नहीं होता है कि इस प्रकार का दृढ अपरोक्ष होने पर सिवाय सच्चिदानंद ब्रह्म के और कुछ रह जाये। है वह पहले वाला ही ज्ञान; फर्क़ केवल इतना है कि पहले परोक्ष था, अब अपरोक्ष है। ऐसा दृढ अपरोक्ष ज्ञान संसार के कारण मूल अज्ञान की निवृत्ति के लिये आवश्यक है। जैसे सर्प, जलधारा, दण्ड आदि की निवृत्ति के लिये सौ

वाट् के लट्टू का प्रकाश चाहिये वैसे ही संसार के मूल कारण अज्ञान की निवृत्ति के लिये यह अपरोक्ष ज्ञान चाहिये। यह ज्ञान कैसा है? अंधेरा मिटाने में तो सौ वाट् के लट्टू से काम चल जाता है परन्तु यह ज्ञान चण्डभास्कर है। अर्थात् जेठ के महीने में दोपहर के बारह बजे जैसा सूर्य होता है; उसे देखने जाओ तो सूर्य क्या दीखेगा, आँखें और चौंधिया जायेंगी! इसी प्रकार यह ज्ञान भी चण्डभास्कर है। इसके अन्दर मन सर्वथा निवृत्त हो जाता है। जैसे उस सूर्य के प्रकाश में आँखें चौंधिया जाती हैं, उस समय किसी दूसरी चीज़ को देखना चाहो तो कुछ नहीं दीखता, इसी प्रकार इस अपरोक्ष ज्ञान में किसी भी अन्य मिथ्या चीज़ का ज्ञान नहीं रह जाता! इसलिये कहा कि चण्ड भास्कर जैसे तम को दूर कर देता है वैसे ही यह दृढ अपरोक्ष ज्ञान मूल अज्ञान को दूर कर देता है।। **६४**।।

प्रकरण समाप्त करते हैं–

इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय।
विगलितसंसृतिबंधः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात्।। ६५।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां तत्त्वविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणम्।।

इस प्रकार यथाविधि मन समाहित कर तत्त्व का विवेक सम्पन्न कर नर संसार-बन्धन से छूट शीघ्र ही परम पद पा जाता है।

संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सच्चिदानंद है। वह सच्चिदानंद ब्रह्म कहाँ अनुभव में आता है? 'मैं' में अनुभव में आता है। उस अनुभव की दृढता के लिये क्या चाहिये! मेरे सिवाय दूसरा कोई सच्चिदानंद हो ही नहीं सकता। मनन के द्वारा 'मैं' की ही सच्चिदानंदरूपता का निश्चय होता है। यह निश्चय भी परोक्ष की तरह रहता है। उसके बाद जब इस निर्विचिकित्स ज्ञान के अनन्तर निदिध्यासन करते हैं तब धर्ममेघ समाधि के द्वारा सारे पुण्य-पापरूपी दोषों की निवृत्ति होकर वासनाजाल समाप्त हो जाता है तब तेजस्वी अप्रतिबद्ध जो अपरोक्ष साक्षात्कार है, उसका उदय होता है। जो सारा प्रकार इस प्रकरण में बताया उसी प्रकार से जो करता है अर्थात् सच्चिदानंद और असत्-जड-दुःखरूप नामरूपात्मक संसार का जो दृढ विवेक करता है उसमें इस अपरोक्ष साक्षात्कार का उदय होता है। केवल विवेक न कहकर 'तत्त्वविवेक' इसलिये कहा कि विवेक तो सांख्य पक्ष में भी हो जाता है; सत् ही तत्त्व है एवं असत् तीनों कालों में नहीं है इसका निश्चय सांख्य पक्ष में नहीं होता। इसलिये तत्त्वविवेक कहा। 'विधिवत्' अर्थात् जैसा श्रवण-मनन बताया है वैसा करने के द्वारा जो सच्चिदानंद तत्त्व अलग से जाना है उसके अन्दर मन को सर्वथा समाहित करे, उससे 'विगलितसंसृतिबन्धः' संसार में जन्म-मरण का बन्धन गल जाता है। जब बर्फ पानी में डाली जाती है तो गल जाती है, फिर उस बर्फ और पानी में कुछ फर्क़ नहीं रहता, उसको विगलित कहते हैं। अगर उस पानी में तुम नमक की डली डालते हो तो दीखेगी वह भी नहीं, परन्तु

वह विगलित नहीं होती। वह लीन तो हो जाती है इसलिये तुम्हें दीखती नहीं, परन्तु उसमें अलग से रहती है। अगर पानी उड़ गया तो फिर वही नमक रह जायेगा। समुद्र के किनारे बड़े-बड़े खेत बना देते हैं। उनमें समुद्र का पानी आता है, फिर जब समुद्र पीछे जाता है तो समुद्र का पानी खेत की उन क्यारियों में रह जाता है। वही फिर धीरे-धीरे सूखकर नमक बन जाता है। उसे कुरेद कर अलग कर देते हैं। समुद्र के पानी में नमक दीखता तो नहीं है लेकिन वह अलग किया जा सकता है। परन्तु जो बर्फ तुमने पानी में डालकर गला दी है, वह फिर पानी से अलग नहीं हो सकती। इसलिये कहा कि वह संसरण ऐसा विगलित हो जाता है कि फिर आत्मा बंधन में आ ही नहीं सकता। जो यह संसरण विगलित कर लेता है, वह नर है। 'नर' शब्द से कह रहे हैं कि वह विषयों में रमण नहीं करता है। जब विषयों को छोड़ देता है तभी व्यक्ति इस मार्ग में जाता है। 'न रमते विषयेषु इति नरः' वही परम पद को प्राप्त करता है।

श्रुति कहती है 'तस्य तावदेव चिरं यावत् न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' (छां ६.१४.२) श्रवण-मनन से ज्ञात निश्चित अर्थ में जो स्थिर रहता है उसको केवल इतनी ही देरी है कि जब तक मर नहीं जाता; अर्थात् प्रारब्ध-भोग के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है, केवल इतनी ही देरी है। 'अथ सम्पत्स्ये' फिर तो वह ब्रह्मरूप से अभिन्न ही रहता है। परन्तु इस प्रकार धर्ममेघ समाधि के अभ्यास से जिसने यह निश्चय कर लिया, वह यहीं अनुभव कर लेता है, यहीं छठी-सातवीं भूमिका का आनन्द लेता है अर्थात् उसे प्रारब्धक्षय की भी इन्तजार नहीं करनी पड़ती। कोई मुख में कौर डाल देता है तो वह पहले की स्थितियों में निगल लेता है पर बाद में निगलता भी नहीं है। ऐसा तब करता है जब प्रारब्ध-भोग समाप्ति पर होता है। शरीर छूटने में कहीं दो-एक दिन का समय भी लगता है परन्तु उसे वह प्रतीत होता ही नहीं। पूर्व के प्रवाह से मिले वेग के कारण उसका शरीर कुछ काल तक चल गया तो दूसरों को प्रतीति हो जाती है। इसलिये भगवान् ने भी कहा (४.३९) 'परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।' इसी प्रकार यहां 'न चिरात्' कहा अर्थात् परम पद मिलने में विलम्ब नहीं होता। अनादि संसार में प्रारब्धसमाप्ति तक की देर को विलम्ब कहना बनता नहीं। किंच स्वयं की दृष्टि से ज्ञान-समकाल प्राप्ति एवं प्रातीतिक दृष्टि से ही यत्किंचित् कालक्षेप होने से 'न चिरात्' ही कहना ठीक है।।६५।।

पंचदशी का प्रथम 'तत्त्वविवेक' नामक प्रकरण पूर्ण हुआ।

द्वितीय
महाभूतविवेक प्रकरण

तत्त्वविवेक प्रकरण में मूलतः उपाधि और अधिष्ठान को बताया। अधिष्ठान ही तत्त्व है, उपाधि नहीं। महाभूतविवेक नामक दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकरण में पाँचों महाभूतों का, उनके अनुभवों का और उनमें कितना अंश ईश्वरकृत है और कितना जीवकृत है, इसका प्रतिपादन करेंगे। जीवकृत को हटाना है, ईश्वरकृत को स्वीकारना है। तत्त्वविवेक से यह निश्चय हो गया कि जीवकृत अतत्त्व है। अतत्त्व होने पर भी ईश्वरकृत प्रतीत होता ही रहेगा। परन्तु जीव जो निर्माण कर लेता है उसका उपसंहार कर सकता है। बहुत-से लोग चाहते हैं कि ईश्वरसृष्ट संसार हमारे मन के अनुकूल हो जाये! इस प्रकरण के विचार से यह दुराशा दूर हो जाती है। संसार का निर्माण करने वाला और उसको चलाने वाला ईश्वर है। न हमने इसे बनाया है, न हम इसे चलाते हैं और न हम इसके लिये ज़िम्मेदार हैं। यह समझने पर बहुत बड़ा भ्रम दूर हो जाता है कि संसार को हम मनोनुकूल बना सकते हैं। प्रकरण का उपोद्घात करते हैं–

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पञ्चभूतविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते।। १।।

श्रुतिसम्मत जो सद्वस्तु का अद्वैत वह पाँच भूतों के विवेक से समझा जा सकता है इसलिये भूतपंचक का विस्तृत विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

श्रुतियों के अन्दर सत् की अद्वितीयता सुनी गई है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्'। सत् की अद्वितीयता को बताने के लिये तीन विशेषण दिये। तीन प्रकार से किसी चीज़ से कोई चीज़ भिन्न होकर प्रतीत होती है; एक सजातीय भेद होता है। जैसे कोई कह दे कि इस गाँव में केवल ब्राह्मण रहते हैं। या, कि अकेले ब्राह्मण ही रहते हैं। 'अकेले' से क्षत्रिय, वैश्य आदि की तो व्यावृत्ति हो गई अर्थात् यह तो पता लग गया कि इस गाँव में क्षत्रिय, वैश्य नहीं रहते, परन्तु ब्राह्मण परस्पर अलग हैं ही, ब्राह्मणों के पचास घर हैं ही, अन्यथा गाँव कैसे कह सकते हैं! अकेले ब्राह्मण रहते हैं का मतलब हुआ कि ब्राह्मणों से भिन्न जाति के अर्थात् विजातीय क्षत्रिय, वैश्य नहीं रहते। यह भी कह सकते हैं कि 'इस गाँव में देवदत्त अकेला ब्राह्मण है।' इसका मतलब होगा कि यहाँ उसकी जाति का अर्थात् ब्राह्मण जाति का कोई और नहीं है; परन्तु विजातीय क्षत्रिय, वैश्य हैं ही। पहले

वाक्य में विजातीय की निवृत्ति थी और दूसरे में सजातीयों की निवृत्ति है। ये सजातीय और विजातीय दो तरह के भेद हैं। तीसरा, किसी देवदत्त ब्राह्मण को हम कहते हैं 'आप आज अकेले ही भोजन करने आना' तो वह अपनी पत्नी और बच्चों को साथ नहीं लाता। सामान्यतः ब्राह्मण को निमंत्रण देने का मतलब होता है कि घर के सब लोग आयें। यही अपनी प्राचीन परम्परा है। जैसे केवल राष्ट्रपति को बुलाते हैं तो उनके अंगरक्षक आदि सब आ ही जाते हैं। उन सबके आने पर 'हमने सबको तो बुलाया नहीं था, इन्हें यहाँ से हटाओ' यह कहना नहीं बनता। जब ब्राह्मण को निमंत्रण देते हुए कहते हैं कि 'अकेले ही आना' तब वह अपने साथ आँख, कान, जीभ, और भूख भी साथ लेकर आयेगा, हाथ-पैर, आँख-कान या भूख आदि को घर में रखकर नहीं आयेगा! देवदत्त अकेला आयेगा तो उसके अन्दर होने वाले हाथ-पैर, जीभ, भूख आदि तो साथ आयेंगे ही। अपने अंगों से अंगी में जो अन्तर है उसे स्वगत भेद कहते हैं। उसे न सजातीय और न विजातीय कह सकते हैं; अपने अन्दर ही होने वाले पदार्थों से वह भेद है। विचार करके देखो तो एक चीज़ से दूसरी चीज़ में केवल ये तीन ही भेद मिल सकते हैं—सजातीय, विजातीय और स्वगत। श्रुति ने 'एकम् एव अद्वितीयम्' तीन तरह से एकता को बताकर सजातीय, विजातीय, और स्वगत तीनों भेदों की व्यावृत्ति कर दी अर्थात् सत् से भिन्न जो है वह है ही नहीं। ऐसा असत् कुछ नहीं है जो सत् से भिन्न होकर रहे। इसलिये यदि असत् को भी कहना पड़ता है तो बाध्य हो कहते हैं कि 'असत् है या शून्य है'। बिना 'है' जोड़े केवल 'शून्य' कहें, तो वाक्य ही न बनने से कुछ अर्थ ग्रहण नहीं होगा। अतः असत् कुछ भी नहीं है तो सत् से विजातीय की सम्भावना समाप्त है। सत् दो नहीं है, इसलिये सत् की समान जाति का भी कोई नहीं है अर्थात् सजातीय द्वितीय नहीं है। और सत् के अन्दर कोई विभाग भी नहीं हैं कि सत् में स्वगत भेद हो सके। इस प्रकार से तीनों भेदों की व्यावृत्ति के लिये कह दिया 'एकम् एव अद्वितीयम्'।

वेद ने सत् की अद्वितीयता को बताया कि वह सत् ही सृष्टि बनने के पहले अकेला था। भाष्यकार ने प्रश्न उठाया है कि फिर क्या वह सृष्टि-काल में नहीं है? उत्तर दिया है कि सृष्टि-काल में तो वह है ही। जब सृष्टि-काल में भी वह है तब 'आसीत्' या था, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि सृष्टि-काल में हमको इतने भेद दीख रहे हैं, उसी काल में 'ब्रह्म ही है' ऐसा कहते तो शिष्य घबरा जाता! जैसे पानी में डुबकी लगाने पर आदमी को कुछ भी नहीं दीखता, वहाँ वह चाहे जितनी आँख खोलने की कोशिश करे, ऐसे ही इतने भेद दीखते काल में यदि कहते कि 'केवल ब्रह्म है' तो शिष्य की बुद्धि विह्वल हो जाती। लेकिन ऐसा कहने पर कि 'सृष्टि बनने के पहले केवल एक ब्रह्म ही था' श्रोता की समझ में सम्भव बात आ जाती है। वेद का तात्पर्य, पहले 'आसीत्' से शुरू करके, अंत में 'तत्त्वमसि' में स्पष्ट हो जाता है। इसलिये कहा कि प्रकट होने के पहले वही एक था। जो पहले हुआ करता है वह कारण हुआ करता है और जो बाद में हुआ करता है वह कार्य हुआ करता

है। जैसे पहले मिट्टी हुआ करती है और फिर चाक पर चढ़कर घड़ा इत्यादि हुआ करते हैं इसलिये मिट्टी को कारण और घड़े इत्यादि को कार्य कह देते हैं। अथवा पहले रुई होती है, कपड़ा बाद में होता है इसीलिये रुई को कारण और कपड़े को कार्य कह देते हैं। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म पहले था इसका मतलब ही यह हुआ कि वही जगत् का कारण है। लोक में कारण दो प्रकार के होते हैं—एक, बनाने वाला कारण और दूसरा, बनने वाला कारण। घड़े के बनने से पहले दो चीज़ें थीं—एक, मिट्टी और दूसरा, कुम्हार था। केवल मिट्टी से घड़ा नहीं होगा, केवल कुम्हार से भी घड़ा नहीं बनेगा। दोनों हों तब घड़ा बनेगा। कुम्हार घड़ा बनाने वाला और मिट्टी घड़ा बनने वाली। कुम्हार भी पहले से सिद्ध है और मिट्टी भी पहले से ही सिद्ध है। इसलिये इनके 'होने' को भी कारण कहते हैं। शास्त्रीय भाषा में एक को उपादान कारण और दूसरे को निमित्त कारण कहते हैं। यहाँ श्रुति ने कहा कि सत् पहले एक ही था तो उसी एक को निमित्त कारण भी होना पड़ेगा और उपादान कारण भी होना पड़ेगा। वह उपादान और निमित्त दोनों कारण कैसे है—इसको आगे बतायेंगे। संसाररूप से बना भी वही और संसाररूप को बनाया भी उसी ने।

सृष्टि के रूप में बनने वाले और बनाने वाले परमेश्वर के ज्ञान से ही मोक्ष बताया है। परमेश्वर का साक्षात्कार करके ही मोक्ष होगा। वेद ने नियम कर दिया है 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' सृष्टि के पहले एकमात्र जो था, अथवा यह सारा नाम-रूप का प्रपंच प्रकट होने के पहले जो था, उसी का स्वरूपज्ञान कैवल्यप्रद है। जहाँ तक नाम-रूप हैं वहाँ का ज्ञान कभी मोक्ष नहीं दे सकता। इसलिये सगुण ब्रह्म के ज्ञान से कैवल्य सम्भव नहीं। वाणी, मन और इन्द्रियाँ सब जिसको जान सकती हैं वही सगुण है। शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी सामने खड़े हैं—यह ज्ञान आँख से होता है। शब्द से ज्ञान होता है कि एक वैकुण्ठ धाम है जहाँ भगवान् विष्णु बड़े आनन्द से रहते हैं। इसी प्रकार अनुमान से ज्ञान होता है कि जगत् का निमित्त कारण ईश्वर है। जो-जो कार्य हैं उन सबको बनाने वाला कोई होता है; जगत् कार्य है इसलिये इसको भी कोई बनाने वाला होना चाहिए। किंतु यों स्वयं अनुमान करने से अखण्ड वस्तु नहीं समझ सकते। निर्विशेष को खुद जानना असम्भव है। क्योंकि तुम उसे केवल बनाने वाला समझोगे अतः बनने वाले परमाणु, प्रकृति आदि भिन्न, स्वतंत्र, परिच्छेदक बने रहेंगे। अगर कहो कि परमाणु आदि बिना बनाये ही हैं, तो यह संसार जैसा दीख रहा है इसी को बिना बना हुआ मान लो! इसलिये जो वाणी और मन का विषय नहीं है उसको हम प्रत्यक्ष, शब्द, अनुमान के द्वारा नहीं जान सकते।

इसलिये वेद ने 'एकमेवाद्वितीयम्' कह दिया अर्थात् वह सब भेदों से शून्य है। तीनों भेदों से रहित क्या है? यह कुछ नहीं समझ में आता। इसलिये श्रुति ने केवल 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' कहकर नहीं छोड़ दिया, वरन् 'उसने इस सारी सृष्टि को बनाया जिसे हम देखते-सुनते हैं' यह भी कहा। पंचभूतों की उत्पत्ति को बताना इस तरीके से है कि जिससे यह स्पष्ट हो कि अधिष्ठान वैसा ही बना रहता है। संसार बिना बने हुए

बन जाता है और ईश्वर बिना बनाये हुए बनाने वाला हो जाता है! यही परमेश्वर की विशेषता है। आचार्य शंकर ने कहा 'महदिदम् इन्द्रजालम्' परमेश्वर तो बाजीगर की तरह है। पी.सी. सरकार को देखा होगा। वह एक लड़की लिटाता है, उसके दो टुकड़े करता है। दोनों टुकड़े अलग दीखते हैं। फिर उन दोनों टुकड़ों को मिला देता है। तुमको लड़की दीखी, फिर उसके टुकड़े भी दीखे, वापिस उन टुकड़ों को जुड़ते भी देखा। परन्तु तुम जानते हो कि न टुकड़े किये और न उन्हें जोड़ा, कुछ नहीं किया लेकिन तुम्हें सब कुछ दीखा। आचार्य शंकर कहते हैं कि ऐसे ही यह सारा इन्द्रजाल है। सृष्टि आदि सब कुछ नहीं बना और तुम्हें दीख गया। जैसे वहाँ लड़की के कटने और जुड़ने से तुम्हें पता लग गया कि यह जादूगर है इसी प्रकार जगज्जन्मादि के आधार पर ईश्वर का पता लग जाता है। शास्त्र बार-बार कहता है कि यह माया है, यह सब कुछ नहीं है, फिर भी जँचता है कि 'कुछ ज़रूर है, सारा मायाजाल थोड़े ही हो सकता है।' यदि बाजीगर खेल न दिखाये तो तुम्हें पता नहीं लगेगा कि यह बाजीगर है और खेल दिखाये तो तुम उसे सच्चा मान लेते हो, बाजीगर को भूल जाते हो! इसी प्रकार परमात्मा ने यह पांचभौतिक सृष्टि न की होती तो तुम उसे सिद्ध कैसे करते? इतना अनंत संसार बनाया तब सिद्ध होता है कि वह भी अनंत है। उसने अनंत संसार दिखाया तो इसलिये कि हम इसके दिखाने वाले को समझें, परन्तु हम उसे भूल गये। शास्त्र कहता है 'आरामम् अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति' इस बगीचे को देखने पर भी इसे बनाने वाले को देखना भूल गये। हमें लगता है कि ईश्वर कुछ नहीं है और यदि है भी तो उसके बारे में किसी को कुछ पता नहीं है। बनाया तो उसने इसलिये था कि 'मुझे देखकर अर्थात् मेरी अनंतता समझकर प्राणी मुक्त हो जायेंगे'। उसने पंचभूत इसलिये बनाये कि इनका विवेक करके हमें परमेश्वर का ज्ञान हो। पंचभूत-विवेक कोई विज्ञान की किताब नहीं है कि हमें इससे पता लगे कि कार्बन या हाईड्रोजन के क्या गुण हैं! बल्कि यह जो सिद्धांत है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' इसे समझें, इसलिये यह प्रकरण है। 'है'-रूप के अवबोधन के लिये पंच-महाभूतों का विवेक करते हैं। हम लोग पंचभूत इसलिये मानते हैं कि हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इस मार्ग के द्वारा ही संसार के स्वरूप को समझने में मदद मिल सकती है।। १।।

भूतों के गुण बताते हैं ताकि पाँचों का अन्तर पता चले–

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधो भूतगुणा इमे।
एकद्वित्रिचतुःपंचगुणा व्योमादिषु क्रमात्।। २।।

आकाशादि में क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच ये भूतगुण हैं–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

पंचमहाभूतों के क्या-क्या गुण हैं, यह बताते हैं : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध–ये पाँच गुण पाँचों भूतों के हैं। गुण से गुणी का ज्ञान हो जाता है। प्रश्न होता है कि इनसे

जिस गुणी का ज्ञान होता है उसमें क्या ये पाँचों गुण रहते हैं या इनमें से चार, तीन, दो या एक गुण रहता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि आकाश आदि में क्रम से एक-दो-तीन-चार और पाँच गुण रहेंगे। व्योम में शब्द रहेगा, वायु में शब्द और स्पर्श रहेंगे, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण रहेंगे, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण रहेंगे, पृथ्वी के अन्दर पाँचों रहेंगे।। ३।।

यह कैसे समझ में आये? इसे बताते हैं, भूतों में गुण ही दिखाते हैं–

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीतिशब्दनम्।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वह्नौ भुगु-भुगुध्वनिः।। ३।।
उष्णः स्पर्शः प्रभा रूपं, जले बुलुबुलुध्वनिः।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम्।। ४।।

आकाश में प्रतिध्वनिरूप शब्द है। वायु में बी-सी यों शब्द और न गरम न ठण्डा ऐसा स्पर्श है। वह्नि में भुगु-भुगु यों शब्द, गरम स्पर्श है और प्रभात्मक रूप है। जल में बुलु-बुलु ऐसा शब्द, ठण्डा स्पर्श, सफेद रूप और मीठा रस (स्वाद) है।

आकाश में एक ही गुण, शब्द है। जब दो चीज़ों में परस्पर आघात हो तब शब्द होता है। लोक में भी कहते हैं कि ताली दो हाथ से बजती है अर्थात् दो हाथ आपस में टकरायेंगे तब शब्द होगा। घण्टे का लम्ब जब घण्टे की दीवार से भिड़ाओगे तब शब्द होगा। इसी प्रकार वायु से कण्ठ भिड़ाओगे तो आवाज़ होगी। जहाँ भी टक्कर होगी वहाँ शब्द ज़रूर होगा। अंगूठे से अंगुली को ज़ोर से घिसो तो चुटकी बजेगी! सब आघातों के लिये आकाश ज़रूरी है। दो चीज़ों के बीच में कुछ दूरी होगी तभी उन को मिलाकर आघात करोगे। चीज़ों के बीच की दूरी का नाम ही आकाश है। बीच में कुछ नहीं होने से यह नहीं समझना कि वहाँ कुछ भी नहीं है वरन् जगह के सिवाय कुछ नहीं है। जगह का मतलब ही आकाश है। लोक में भी जगह इसी अर्थ में प्रसिद्ध है।

आकश में ही शब्द रहता है तभी वहाँ टक्कर लगने से शब्द प्रकट होता है। वायु में दो गुण, शब्द और स्पर्श हैं। तेज़ हवा चले तो हिन्दी में भी कहते हैं कि सांय-सांय हवा चल रही है। आकाश में प्रतिध्वनि और वायु में बी-सी ये शब्द होते हैं। वायु के परमाणु टकराते हुए चलते हैं तब बी-सी शब्द होता है। अग्नि के अन्दर 'भुक्-भुक्' ध्वनि होती है। आग ज़ोर पकड़ती है तो 'भुक्भुक्' करते हुए शोर होता है। वायु का अपना गुण स्पर्श है। वह स्पर्श न ठंडा है और न गर्म है। हम लोगों को हवा में जो गर्मी लगती है वह अग्नि के कारण है। इसलिये धूप तेज हो तो हवा गर्म लगती है, जेठ के महीने में तेज लू में हवा और ज़्यादा गर्म लगती है। हवा जो ठण्डी लगती है वह आर्द्रीकरण के कारण है। खुद वायु में न ठण्डक और न गर्मी है। शब्द आकाश, वायु, अग्नि में है परन्तु आकाश में उष्णता और

स्पर्श नहीं है। वायु में शब्द और स्पर्श है परन्तु उष्ण या शीतल स्पर्श नहीं है। अग्नि में ध्वनि और स्पर्श है, लेकिन उसका अपना गुण रूप भी है। अग्नि में भुक्-भुक् ध्वनि आकाश से आया गुण है। आग में गर्म स्पर्श और चक्षुर्ग्राह्य प्रभारूप भी है। प्रभा अर्थात् प्रकाश। गर्मी के मौसम में हवा गर्म लगती है तो पता लग जाता है कि हवा के अन्दर अग्नि है, धूप के कारण उसमें गर्मी या अग्नि होती है। जब आग को जलता देखते हैं तो उसमें भुक्-भुक् ध्वनि होती है और प्रकाश-रूप भी दीखता है। जब जल बहता है तो उसमें बुद्-बुद् या बुलु-बुलु ध्वनि होती है। जल का स्पर्श ठण्डा है। इसलिये बद्रीनारायण के गर्म कुण्ड में नहाते हैं तो मनुष्य को आश्चर्य होता है कि यहाँ पानी गर्म कैसे है; आश्चर्य इसीलिये होता है कि हम लोगों को पता है कि जल का स्पर्श शीत या ठण्डा है; वहीं अलकनन्दा भी बह रही है, उसमें गोता लगाते हैं तो शरीर काँपने लगता है, फिर भी कोई नहीं पूछता कि 'यह पानी ठण्डा क्यों है?' पानी गर्म हो तो आग की चमक न दीखने पर भी वहाँ अग्नि मानते हैं। इसी प्रकार जहाँ ठण्डक होती है वहाँ प्रतीत न होने पर भी जल मानते हैं। जल का रूप शुक्ल है अर्थात् जल का सफेद रंग होता है। जलका अपना गुण रस अर्थात् स्वाद है। जल का रस माधुर्य है, पानी स्वभाव से मधुर होता है। कभी पाली वगैरह मारवाड़ में यह पाठ पढ़ायें तो लोगों को यह नहीं जँचता कि पानी का मधुर रस होता है क्योंकि वहाँ सारे कुएँ खारे हैं। कहीं दस-बीस मील दूर मीठे पानी का कोई कुआँ मिलता है। किंतु गैर-मीठा स्वाद जलभिन्न पार्थिव अंशों के कारण है अतः बाष्पीकरण से पार्थिवांश हटा लेने पर जल का स्वाभाविक मिठास ही उपलब्ध होता है।।३-४।।

पृथ्वी के गुण बताते हैं। उस में पाँचों गुण हैं–

भूमौ कडकडा-शब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः।। ५।।
सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यक् विवेचिताः।

पृथ्वी में कड-कडा आवाज़ है, कठोर स्पर्श है, नील आदि मिला-जुला रूप है, मीठा-खट्टा आदि स्वाद और अच्छी-बुरी दोनों तरह की गन्ध है। यों गुणों का ठीक-ठीक विवेचन हुआ।

दो कंकड़ लेकर उन्हें आपस में भिड़ाओ तो कड़कड़ शब्द होगा। भूमि का स्पर्श कड़ा होता है। इसलिये जिस ज़मीन पर अखाड़ा आदि खोदते हैं उसे ऐसा बनाना पड़ता है, कि गिरें तो चोट न लगे। नीला आदि पृथ्वी का रूप है। मिट्टी कहीं काली तो कहीं भूरे रंग आदि की होती है अर्थात् उसके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। उड़ीसा इत्यादि प्रान्तों में लाल मिट्टी भी मिलेगी। मुलतान के आसपास मिट्टी पीली मिलती है। मिट्टी एक रंग की न रहकर अनेक रंगों की होती है। मिट्टी में कई तरह के स्वाद भी हैं। कहीं मिट्टी खट्टी, कहीं कड़वी तो कहीं नमकीन होती है। अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग तरह के स्वाद की मिट्टी मिलती है। उसमें स्पर्श का भी भेद है अर्थात् सर्वत्र समान कठोरता नहीं है। रस का भी भेद है। इसलिये

जहाँ जो फल, सब्जी आदि पैदा होती है, वहाँ की मिट्टी के अनुसार उसके स्वाद में फ़र्क मिलता है। जैसी एक ज़मीन में पैदा होती है वैसी दूसरी ज़मीन में पैदा नहीं होती। मिस्र देश में जो रुई पैदा होती है, उसका धागा जितना लम्बा बन सकता है उतना लम्बा धागा अन्य किसी भी देश की मिट्टी में पैदा रुई से नहीं बन सकता। और स्पर्श का फ़र्क है इसके कारण ही उसमें होने वाले फल, फूलों का भी भेद हो जाता है। पृथ्वी में आकाश से कड़-कड़ शब्द आया क्योंकि आकाश का गुण शब्द है। वायु से स्पर्श आ गया, रूप अग्नि से आ गया और मीठा इत्यादि स्वाद जल से आ गया। पृथ्वी की अपनी विशेषता दो तरह की गन्ध है, सुरभि, अच्छी गन्ध और उससे इतर या भिन्न अर्थात् दुर्गन्ध। भगवान् ने गीता में 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च' से पृथ्वी में अपनी विभूति सुगन्ध को माना। दुर्गन्ध को भगवान् ने अपनी विभूति में नहीं गिना, यद्यपि पृथ्वी में दोनों प्रकार की गन्ध है। इस प्रकार पृथ्वी के पाँचों गुण और बाकी भूतों में आकाश आदि क्रम से एक, दो, तीन और चार गुण अच्छी प्रकार से विविक्त करके समझाये।। ५।।

इन गुणों के ज्ञान के साधन अर्थात् इन्द्रियाँ भी इन्हीं महाभूतों से बने हैं। उनका संग्रह करते हैं–

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपञ्चकम् ।। ६।।

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जीभ, घ्राण–ये पाँच (ज्ञानोपायभूत) इन्द्रियाँ हैं।

शब्दज्ञान का साधन कान अर्थात् श्रोत्र है। कान से ध्वनिका ग्रहण होता है। जिसे साधारण भाषा में आवाज़ कह देते हैं वह कान से ग्रहण होती है। परन्तु सार्थक शब्द का ग्रहण तो उस शब्द के संस्कार वाले मन से होता है। यहाँ सब कान वाले बैठे हैं। यहाँ कोई चीन की भाषा में बोलने लगे तो सभी कान से ध्वनि वही सुनेंगे परन्तु 'शब्दों' का पता नहीं लगेगा। हम लोग हिन्दी में बोल रहे हैं, यहाँ बैठे चीनी व्यक्ति को समझ नहीं आयेगा कि क्या कह रहे हैं। जो हिन्दी भाषा के संस्कार वाला मन है वह शब्दों को अलग सुन लेगा और समझ जायेगा। संस्कारों से रहित को केवल ध्वनि ही सुनाई देगी, शब्द का उसे कुछ पता नहीं लगेगा। आकाश का गुण जो शब्द है वह ध्वनिरूप है अर्थात् कान से तो वही ग्रहण होता है। इसी प्रकार स्पर्श का केवल त्वक् से ही ग्रहण होता है। त्वक् इन्द्रिय से ही स्पर्श का पता लगता है। आँख की इन्द्रिय से ही रूप का पता लगता है। स्वाद का पता जिह्वा से ही लगता है और घ्राण से ही गन्ध का पता लगता है। जब गन्ध का पता लगेगा तभी मालूम चलेगा कि यह पृथ्वी है। जब तक किसी के विशेष गुण का ग्रहण नहीं करो तब तक 'यही चीज़' है इसका पता नहीं लगेगा। नासिका से जिसका पता लगेगा वह पृथ्वी होगी। उसमें गुण पाँचों रहें, परन्तु पृथ्वी है इसका निश्चय करने के लिये गन्ध की प्राप्ति आवश्यक है। इसी प्रकार रस की प्राप्ति होने पर ही कह सकते हो कि जल है। इसी प्रकार रूप का पता आँख से ही लगेगा। जन्मान्ध को तुम किसी भी प्रकार से रूप नहीं समझा सकते। इसी

प्रकार स्पर्श का पता त्वक् से ही लगता है, शब्द का पता श्रोत्र से ही लगता है। गुणानुसार महाभूतों का भेद और उन गुणों का ग्रहण जिन ज्ञानेन्द्रियों से होता है वे बता दिये।। ६।।

अब बताते हैं कि ये श्रोत्र त्वक् और चक्षु आदि कहाँ रहते हैं–

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात्।
सौक्ष्म्यात् कार्यानुमेयं तत् प्रायो धावेद् बहिर्मुखम्।। ७।।

कान आदि गोलकों में स्थित इन्द्रियाँ क्रमशः शब्दादि ग्रहण करती हैं। सूक्ष्म होने से वे कार्यद्वारा अनुमित हो सकती हैं और अधिकतर विषयों की तरफ ही दौड़ती हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय कान में, त्वक् चमड़े में, चक्षु आँखों में, जिह्वा मुँह में, घ्राणेन्द्रिय नाक में रहेगी। कान आदि गोलकों में तत्तदिन्द्रिय रहती है। श्रोत्र से शब्द, त्वक् से स्पर्श, चक्षु से रूप, जिह्वा से स्वाद, और घ्राण से गन्ध का ग्रहण होता है। हमें गोलकों का पता लगता है, आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा दीखते हैं। ये सब गोलकें हैं परन्तु इन गोलकों में इन्द्रिय नाम की कोई चीज़ नहीं दीखती अतः कहते हैं कि चूंकि इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं इसलिये प्रत्यक्ष का विषय नहीं होतीं अर्थात् नहीं दीखतीं। गोलकें स्थूल हैं इसलिये प्रत्यक्ष का विषय हैं। सूक्ष्म का मतलब यहाँ छोटा नहीं समझना। सूक्ष्म हैं अर्थात् उनको तुम इन्द्रियों से अनुभव नहीं कर सकते। चूंकि गोलकें स्थूल महाभूतों का कार्य हैं इसलिये दिखती हैं। सूक्ष्म इन्द्रियाँ कार्यानुमेय हैं, उनका पता कार्य से लगता है। अंधे की आँख की गोलक वैसे ही दीखेगी जैसी हम लोगों की दीखती है लेकिन उसकी इन्द्रिय कार्यकारी नहीं होती। चेहरा देखो तो पता नहीं लगता कि आँख चली गई है। गोलकरूप आँख तो ठीक ही दीखती है लेकिन इंद्रिय काम नहीं करती है। यदि रूप की उपलब्धि नहीं हो रही है तो इसका मतलब है कि आँखरूपी इन्द्रिय कार्यकारी नहीं है। यदि रूप का ज्ञान हो रहा है तो समझ आता है कि कोई साधन है जिससे रूप का ज्ञान हो रहा है। साधन को ही इन्द्रिय कहते हैं। इसलिये इन्द्रिय कार्यानुमेय है। अपंचीकृत पंचमहाभूतों का कार्य होने से उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, लेकिन उसके कार्य का अनुभव होता है। यही बात सभी गोलकों में समझ लेना। कान इतने बड़े दिखाई देते हैं, लेकिन श्रोत्र इन्द्रिय कहीं नहीं दीखती। बहरों की कानरूपी गोलक तो पूरी दीखती है लेकिन इन्द्रिय नहीं होने से उन्हें शब्द की उपलब्धि नहीं होती। इसी से पता लग जाता है कि इनकी इन्द्रिय नहीं है। जीभ की इन्द्रिय तो कई बार प्रतिबद्ध हो जाती है। जब कभी ज़ोर का जुकाम हो जाये तब कुछ भी खाओ, सब चीज़ें, भूसे की तरह लगती हैं। इसी प्रकार पीनस रोग में गन्ध का पता नहीं लगता। नाक गोलक बहुत अच्छी दीखती है, उसमें छेद (नथुने) भी स्पष्ट रहते हैं लेकिन उससे गन्ध नहीं आती।

ये इन्द्रियाँ प्रायः बाहर की तरफ मुख करके दौड़ती हैं। कभी-कभी अन्दर भी देख लेती हैं, लेकिन प्रायः बाहर की तरफ ही देखती हैं क्योंकि इन सबको बाहर की तरफ ही खोला

गया है। दरवाज़े (गोलकें) बाहर की तरफ खुलते हैं, इसलिये ये झट बाहर की तरफ दौड़ती हैं। इन्द्रियों का ऐसा स्वभाव क्यों है? वेद स्वयं बताता है कि स्वयंभू ब्रह्मा ने सोचा कि यदि इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होंगी तो कहीं ये आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न कर लें! इसलिये उन्होंने इन्हें बाहर दौड़ने वाला बना दिया ताकि बाहर ही देखती रहें। उसी को वेद ने कहा कि ब्रह्मा जी ने हमारी हिंसा कर दी। हमें बाहर की चीज़ें लगती तो बड़ी मीठी हैं परन्तु उन इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण हम जन्म-मरण के चक्र में फँसे हैं। ब्रह्मा जी ने चूंकि सृष्टि की है, इसलिये वे कभी नहीं चाहते कि लोगों को ज्ञान हो जाये क्योंकि जीवों को ज्ञान हो जायेगा तो ब्रह्मा जी का खेल खत्म हो जायेगा। इसलिये उन्होंने सोचा कि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी रहेंगी तो खेल चलता रहेगा। बहिर्मुखता के लिये इन्द्रियों को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अन्दर की तरफ ले जायें तो बड़ी मुश्किल होती है, अन्दर जाना ही नहीं चाहती। अगर कभी मूलाधार से ऊपर सुषुम्णा की तरफ जाओ तो बड़ी सुन्दर ध्वनियाँ सुनाई देती हैं, परन्तु उधर जाने में पहले बड़ी कठिनाई होती है। बाहर कहीं बाजार के चौक में गाना हो रहा है तो आदमी को अपने कमरे में बैठे ही वह गाना सुनाई दे जाता है। बीच में थोड़ा न सुनाई दे तो कान उधर लगाकर सुनने की कोशिश करता है। इन्द्रिय भी बाह्य विषयों को सप्रयास देखती रहती हैं। कहीं बढ़िया नींबू पड़ा हो तो देखते ही जीभ में से झट पानी निकलने लगता है! इसलिये कहा कि इन्द्रियाँ बाहर दौड़ती हैं।। ७।।

आन्तरिक शब्दादि के लौकिक उदाहरण देते हैं–

कदाचित् पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे।। ८।।
व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः।
उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ।। ९।।

कभी कान बन्द होने पर भीतरी आवाज़ सुनाई देती है जो प्राणवायु या पेट की आग के जलने से उत्पन्न होती है। जल पीने एवं अन्न खाने पर भीतरी स्पर्श मालूम पड़ता है। आँखें मूंदने पर भीतरी अंधेरा दीखता है। डकार आने पर भीतरी स्वाद और गंध पता चलते हैं। यों कभी-कभी इन्द्रियाँ भीतरी विषय भी ग्रहण करती हैं।

जैसे ही कान बन्द करोगे, अन्दर का शब्द बिना किसी प्रयत्न के सुनाई देता है। प्रयत्न-पूर्वक दक्षिण (दाहिने) कान में सुनो तो पहले बादल, मृदंग या वीणा जैसी आवाज़ सुनाई देगी और अंत में 'ॐ' के जैसी अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। वह ध्वनि कहीं बाहर की नहीं है, शब्द अन्दर ही सुनाई दे रहा है। कभी-कभी अकस्मात् किसी कारण के बिना अथवा प्रयत्नपूर्वक जब कान को अन्दर ले जाते हैं तब वह शब्द सुनाई देता है। यह अन्दर का शब्द किसका है? प्राणवायु का है। अन्दर निरन्तर हवा या प्राणवायु चलती रहती है।

वह वायु चलती है तो घर्षण होता है और उससे शब्द पैदा होता है। इसी प्रकार पेट में वैश्वानर अग्नि जलती रहती है, उसमें भी अग्नि की ध्वनि होती है। उसमें होने वाले जो भुक्-भुक् आदि शब्द होते हैं उन्हें आन्तर शब्द कहते हैं। आन्तर शब्दों का श्रवण कर्ण इन्द्रिय ही कर रही है।

अन्दर के स्पर्श का पता जल पीने से लगता है। पानी पीते हो तो जीभ से लेकर पेट तक सर्वत्र ठण्ड का अनुभव होता है। गर्म खीर पीते हो तो पीते समय होठ से लेकर पेट तक गर्मी का अनुभव होता है। तेज़ मिर्च खाने का मौका लगे तो उसे खाकर केवल जीभ नहीं जलती, पेट भी जलता है। प्रातः काल जब मल निकलेगा तब वहाँ भी जलन होगी। जीभ से लेकर पेट के अन्दर और नीचे के अंग तक जो जलन का अनुभव होता है वह आन्तर स्पर्श है। इसी प्रकार आँख बंद कर लेने पर अंधकार दीखता है। लोग प्रकाश के न होने को अंधकार समझते हैं। किंतु प्रकाश का न होना अंधकार नहीं है। अतः भगवान् भाष्यकार ने अंधकार और प्रकाश को विरुद्ध स्वभाव वाला कहा है। तम भी एक भावपदार्थ है। प्रकाश व अंधेरा दोनों भाव वस्तुएँ होने से उनमें विरुद्ध स्वभाव या धर्म रह सकते हैं, अभाव के अन्दर तो कोई विशेषता नहीं रह सकती। अंधकार भावपदार्थ है, अभावपदार्थ नहीं है। आँख बन्द करते हो तो अंधेरा दीखता है। वह अंधकार कहाँ का दीख रहा है? कमरे में तो सौ वाट का लट्टू या हैलोजन लाइट जल रही है इसलिये बाहर अंधकार है नहीं; वह अन्दर का ही अंधकार है जो आँख बन्द करने पर व्यक्त होता है। खाने के पाँच-छह घण्टे बाद डकार आती है तब उसके अन्दर जो चीज़ खाई है उसका रस आता है। अगर आलू की टिक्की खाई है तो वैसा उद्गार नहीं आयेगा, जैसा बढ़िया लड्डू खाकर आयेगा। अगर बढ़िया हींग पड़ी हुई कढ़ी खा लो तो उसकी गन्ध आयेगी। और भगवान् न करे, यदि कहीं अम्ल बढ़ गया तो पानी-पूरी खाकर इतनी जलन होगी कि स्पर्श पता लगेगा। इस प्रकार अन्दर के शब्द स्पर्श, तम आदि रूप, रस और गन्ध बता दिये।

इतना समझ लेना कि विशेष प्रकार के योग का अभ्यास करने से जिस स्वाद को तुम चाहो, वही स्वाद प्रकट होने लगता है। अन्य लोग तो केवल बाह्य पदार्थ के रस को ही जान सकते हैं, परन्तु योगी आन्तर रस आदि को भी जानता है। इसी प्रकार नासिका के ऊपर ध्यान करने की जो विशिष्ट प्रक्रिया पतञ्जलि ने बताई है उसमें दिव्य गन्ध का अनुभव होता है। वह पृथ्वी वाली गन्ध नहीं है वरन् जिस गन्ध की तुम कल्पना भी नहीं कर सकते वह गन्ध आती है। इसी प्रकार दिव्य रस का अनुभव होता है। रस आदि बाहर नहीं सर्वथा अन्दर ही अनुभव हो रहे हैं। इस प्रकार, यह जो इन्द्रियों का अन्दर के विषयों का ग्रहण है, इसके लिये अगर तुम योगाभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके इन अनुभवों को करते हो तो धीरे-धीरे बाह्य विषयों के प्रति तुम्हारी इच्छा कम हो जाती है। एक न्याय है कि अगर तुम्हारे घर में नीम के पेड़ पर मधुमक्खी का छत्ता लगा है तो उसी में से शहद निकाल लोगे, जंगल में शहद लेने नहीं जाओगे। इसी प्रकार से जब पता लगता है कि सुन्दर से सुन्दर शब्द,

स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सब अन्दर हैं तब फिर क्यों मेहनत करके बाह्य विषयों में जाया जाये! इसी प्रकार इन दिव्य गन्ध आदि के अनुभव से तीव्र वैराग्य होने का फ़ायदा हो जाता है। लेकिन, यह ज़रूर है कि बाह्य विषयों से वैराग्य होता है, सभी विषयों से वैराग्य नहीं हो पाता। इसलिये वेदान्त में उसकी उपयोगिता नहीं है परन्तु सामान्य व्यक्ति की बाह्य विषयों से निवृत्ति के लिये तो उपादेय हो ही जाता है।।८-६।।

कर्मेन्द्रियों की सिद्धि करते हुए उनके जिन व्यापारों (क्रियाओं) के आधार पर उन्हें स्वीकारना उचित है उन्हें बताते हैं–

पंचोक्त्यादानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पंचस्वन्तर्भवन्ति हि।। १०।।

बोलना, लेना, चलना, (मलादि को) त्यागना और ग्राम्यधर्मरूप आनन्द करना ये पाँच क्रियायें हैं। खेती, व्यापार, सेवा आदि उक्त पाँचों के अन्तर्गत ही हैं।

पाँच प्रकार की क्रियायें देखने में आती हैं। मनुष्य बोलता देखा जाता है, बोलने की क्रिया करता है। बोलने की क्रिया का मतलब है कि मनुष्य शब्दों का उच्चारण करता है। आदान–मनुष्य चीज़ों को ग्रहण करता या पकड़ता है। गमन–मनुष्य चलता है। विसर्ग–शरीर से मल-मूत्र आदि छोड़ता है। व्यायाम आदि के द्वारा पसीना इत्यादि भी निकालता ही है, सामान्यतः भी कभी पसीना निकलता है। आनन्द–स्त्री के साथ आनन्दरूप रतिक्रिया करता है। केवल इन्हीं को गिनाया क्योंकि खेती भी करता है तो उसके अन्दर हल पकड़ता है, जोतने में चलता है, इत्यादि; इसलिये सभी क्रियायें इन पाँच के अन्तर्गत ही हैं। व्यापार करता है उसमें थान हाथ से ग्रहण करता है तभी फाड़ता है। कैंची इत्यादि को भी हाथ से ग्रहण करता है। ग्राहक से रुपये उगाहने जाता है, रुपया लेता है अर्थात् आदान क्रिया करता है, यदि वह रुपया नहीं देता तो उसे डाँटता है या गाली-गुफ़्तार करता है अर्थात् उक्ति क्रिया करता है। इस प्रकार व्यापार के अन्दर भी इन्हीं सब क्रियाओं को करता है। सेवा (नौकरी) करता है तो उसमें भी कहीं जाता है, बोझ आदि पकड़कर उठाता है, ग्राहक से मोल-भाव करता है अर्थात् वाणी से क्रिया करता है। कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि से अन्य क्रियायें भी इन पाँचों के अन्तर्गत समझ लेना। अतः सारी ही क्रियायें इन पाँच में आ जाती हैं। कुछ क्रियायें इन पाँच के अन्तर्गत नहीं भी आ पाती हैं, जैसे आँख झपकना, डकार लेना आदि, इसलिये ऐसी क्रियाओं को प्राण का कर्म माना है, प्राण समय से उन्हें करता है। हम लोग कोशिश-पूर्वक पलकें नहीं झपकते। कहा जाता है कि एक मिनट में आँखें पैंतालीस बार झपक जाती हैं फिर भी 'हम झपका रहे हैं' ऐसा प्रतीत नहीं होता अतः उस कार्य के लिये इन्द्रिय भी नहीं माननी पड़ती। ऐसे ही अपान आदि के कार्योंमें समझ लेना चाहिये। ये क्रियायें प्राण आदि के द्वारा स्वाभाविक रूप से हो जाती हैं। चूंकि प्राण का अंतःकरण के

साथ सम्बन्ध है इसलिये कई बार व्यक्ति संकल्प व प्रयत्न पूर्वक डकार आदि ले लेता है, अधोवायु छोड़ देता है, आँखें झपका लेता है, परन्तु उनका नियंत्रण होता प्राण से ही है, किसी इन्द्रिय-प्रयोग से ये कार्य नहीं होते। इसीलिये प्राण की अलग से पाँच गतियाँ मान ली गई हैं। यद्यपि पाँच गिनाई हैं तथापि समझ लेना चाहिये कि जितनी भी इस प्रकार की क्रियाएँ हैं वे प्राण का कार्य हैं। जो क्रियायें पाँच कर्मेन्द्रियों से नहीं होतीं, वे सारी प्राण से मानी जाती हैं।। १०।।

ये क्रियायें किस-किस करण, इन्द्रिय से होती हैं यह बताते हैं–

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्क्रियाजनिः।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेन्द्रियपञ्चकम्।। ११।।

उक्त क्रियाओं की उत्पत्ति वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (विसर्गेन्द्रिय) और जननेन्द्रिय से होती है। वे, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ मुख-आदि गोलकों में रहती हैं।

वाणी बोलने की क्रिया करती है, हाथ पकड़ने की या ग्रहण करने की क्रिया करता है। पाद या पैर चलने की क्रिया करता है। पायु मल-मूत्र-विसर्जन की और उपस्थ आनन्द की क्रिया करता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न निर्दिष्ट क्रियाओं को जीव उत्पन्न करता है। ये इन्द्रियाँ कहाँ रहती हैं? इनकी अपनी-अपनी गोलकें हैं। वाणी मुख में रहती है। वाणी के लिये जीभ को गोलक नहीं कहा जबकि जीभ ही प्रायः बोलने का कार्य करती है। चखने के लिये जीभ को इन्द्रिय कहा भी था। यहाँ इसलिये नहीं कहा कि बोलने में जीभ प्रधान होने पर भी वाणी के उच्चारण के आठ स्थान अलग-अलग बताये हैं। 'अकुहविसर्जनीयानां कंठः' इत्यादि से उच्चारण के अलग-अलग स्थान बताये गये हैं। क, ख आदि का उच्चारण कण्ठ से होता है। इ, च, छ आदि का उच्चारण तालु से होता है। 'ऋटुरषाणां मूर्धा' ऋ, ट, ठ आदि का उच्चारण मूर्धा से होता है। हिन्दी वाले मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण कम कर पाते हैं क्योंकि वे बोलने में मूर्धा का प्रयोग कम करते हैं। पूर्व भारत में तो 'ष' का उच्चारण 'ख' कर देते हैं, 'पुरुष' न कहकर 'पुरुख' कह देते हैं। लृ, त, थ आदि के उच्चारण के लिये दाँतों की ज़रूरत पड़ती है। इसलिये जब आदमी बुड्ढा हो जाता है तब स का उच्चारण नहीं कर पाता। छोटे बच्चे से भी इसका उच्चारण नहीं हो सकता। उ, प, फ आदि के उच्चारण के लिये ओठों की ज़रूरत पड़ती है। ञ, म, ङ, ण, न आदि के उच्चारण के लिये नाक भी चाहिये, ज़ोर का जुकाम हो और नाक बंद हो जाये तो इनका उच्चारण नहीं कर सकते। इस तरह उच्चारण में जीभ के अलावा ये सब स्थान भी साधन हैं यद्यपि स्थानों में जीभ का स्पर्श जाता है, दंत्यके उच्चारण में जीभ दाँतों के ऊपर जायेगी, ऐसे ही मूर्धा और तालु में जीभ का स्पर्श होगा। यद्यपि जीभ का अगला भाग कण्ठ स्थान में नहीं ले जाना पड़ता तथापि जीभ के पिछले भाग को उठाना पड़ता है। अतः जीभ प्रधान है तथापि बाकी स्थान भी शुद्ध उच्चारण के लिये आवश्यक हैं। इसलिये गोलक मुख कहा क्योंकि ये आठों स्थान हैं तो मुख

में ही। यहाँ सब गोलकों का नाम नहीं लिया क्योंकि पाणि अर्थात् हाथ स्थूल शरीर में भी हाथ रूप से ही प्रसिद्ध हैं, पैर चलने वाले अंग के रूप में प्रसिद्ध हैं इत्यादि। शरीर के भागों को भी इन्हीं नामों से बोला जाता है इसलिये 'मुख आदि गोलकें' कहकर छोड़ दिया। ये सब गोलकें हैं। करणों का पता प्रत्यक्ष से नहीं लगता, यों अनुमान करना पड़ता है कि क्योंकि हर क्रिया किसी करण से होती है, उक्ति आदि क्रियायें हैं अतः वे भी जिनसे हो रही हैं वे करण (इन्द्रियाँ) हैं। जब मनुष्य को हाथ का फालिज हो जाता है तब गोलक-रूप हाथ वहीं बना रहता है, कहीं कटता या जाता नहीं है, फिर भी वह पकड़ने का काम नहीं कर सकता। इसलिये जब वह पकड़ने का काम कर सकता है तब मानना पड़ेगा कि वहाँ कोई करण है जिससे वह हाथ पकड़ने का काम करता है। इसलिये ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रियों की तरह कार्य के द्वारा ही अनुमेय हैं।। ११।।

अब इन सब इन्द्रियों का अध्यक्ष मन, जिसे आन्तर इन्द्रिय कहा था, उसका स्वरूप बताते हैं–

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्।
तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद् विनेन्द्रियैः।। १२।।

दसों इन्द्रियों के प्रति अध्यक्षभूत मन हृदयकमलरूप गोलक में स्थित है और इन्द्रियों के माध्यम के बिना बाहरी विषयों से सम्पर्क में अस्वतन्त्र होने के कारण वह अन्तः या भीतरी करण है।

मन इन दसों इन्द्रियों का अध्यक्ष है। केवल ज्ञानेन्द्रियों का नहीं, कर्मेन्द्रियों का भी अध्यक्ष है। मन कहाँ रहता है? हृत्पद्मगोलक में रहता है। नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदय कमल है। हृत्पद्म कहना इसलिये ज़रूरी होता है कि जिसको अंग्रेज़ी में हार्ट (Heart) कहते हैं उसको भी संस्कृत में हृत् कहते हैं। उस हृदय को यहाँ नहीं समझना उस हृदय को न समझ लिया जाये जहाँ से खून का आना-जाना होता है, इसलिये हृत्पद्म कहा। वह नाभि से दस अंगुल ऊपर शरीर के मध्य-भाग में रहता है। जब व्यक्ति अपना ज़िम्मा प्रकट करता है तब वह अपना हाथ उसी स्थान पर रखकर कहता है 'मैंने किया।' जबर्दस्त झूठ बोले तो दूसरा यही कहता है 'तुम अपने दिल पर हाथ रखकर कहो कि तुम सच कह रहे हो;' तब भी उसी जगह हाथ रखा जाता है। यह हृदय-कमल ऐसा है जिसमें अंतःकरण सहजरूप में रहता है। अंतःकरण के अन्दर ही 'अहं ब्रह्मास्मि' यह वृत्ति बननी है। अतः दहरविद्या में और सामान्यतः भी जब ध्यान आदि की बात कहते हैं, हृदय को ही आत्मा के रहने की जगह मानते हैं। आत्मा का वह स्वाभाविक स्थान नहीं है। चूंकि चेतन अंतःकरण में या 'मैं' में प्रकट होता है, प्रतिबिम्बित होता है इसलिये वह आत्मा का स्थान कहा-समझा जाता है। आत्मा ही ब्रह्म है इसीलिये आत्मा और ब्रह्म की एकता के ध्यान के लिये सामान्यतः हृदय

को श्रेष्ठ स्थान माना जाता है। दूसरे लोग भ्रूमध्य और सहस्त्रार में ध्यान बताते हैं परन्तु वेदांत का मुख्य ध्यान हृदय में ही होता है। इस लिये रमण महर्षि भी कहा करते थे कि आत्मा का केन्द्र हृदय ही है। यदि अंतःकरण को भ्रूमध्य या सहस्त्रार में ले जाओगे तो वह स्वाभाविक जगह नहीं है अतः सहजता से शान्त नहीं रहेगा, अतः शांत होने के लिये हृदय कमलरूपी गोलक में स्थित रहता है।

वहाँ रहता है लेकिन काम के लिये बाहर भी जाता है। तुम घड़ा देखते हो तो तुम्हारा मन घड़े पर जायेगा तभी तुम घड़े को देखोगे। इन्द्रिय घड़े पर जायेगी और इन्द्रिय के माध्यम से मन भी घड़े पर जायेगा। केवल इन्द्रिय वहाँ जाये तब भी ज्ञान नहीं होता। इसलिये योग की विधि में शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास से तुम्हारी आँखें तो खुली रहेंगी लेकिन देखेंगी नहीं। कान, जीभ आदि सब खुले रहेंगे लेकिन कोई शब्द या स्वाद नहीं आयेगा। परीक्षण भी करते हैं कि इनकी शाम्भवी मुद्रा सिद्ध हुई या नहीं; इसके लिये अभ्यासी की जीभ पर चीनी और थोड़ा नींबू का रस डालते हैं, फिर जीभ पर फूंक मारते हैं। फूंक मारने पर यदि चीनी उड़ जाती है तब मानते हैं कि शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि हुई अन्यथा, चाहे जितना नियंत्रण करो, थोड़ा-सा भी नींबू का स्पर्श करो, तो जीभ से लार निकलेगी और वह चीनी कुछ-न-कुछ चिपकी रह जायेगी। जब तक चिपकी रहे तब तक शाम्भवी सिद्ध नहीं हुई। स्वाद आदि ग्रहण करने के लिये मन का वहाँ जाना ज़रूरी है, केवल इंद्रिय जायेगी तो ज्ञान नहीं होगा। कार्य करने के लिये मन को बाहर जाना पड़ता है। जैसे ही पैर में काँटा लगता है वैसे ही हाथ झट से उसको निकालने में प्रवृत्त होता है। पैर और हाथ का यद्यपि कोई सम्बन्ध है नहीं, तथापि दोनों जगह मन है, इसलिये काँटा लगते ही मन को ज्ञान हुआ और अध्यक्ष होने के नाते उसने हाथ को हुक्म दिया जिससे हाथ तुरन्त उसे निकालने के लिये पैर में पहुँच जाता है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के अन्दर काम करने के लिये मन जाता है। जिस समय कोई काम नहीं करता है तब वह हृदय पद्म पर आकर बैठता है। यहीं वह लीन अवस्था में भी रहता है अर्थात् जब हमें सुषुप्ति होती है उस समय अविद्या में लीन मन हृदय में है। अतः वहाँ मन की स्थिति स्वाभाविक होने से वहाँ ध्यान करो, तो कोई तनाव नहीं आयेगा। वहाँ से अतिरिक्त मन को कहीं और ले जाओगे तो मन थोड़ा-बहुत कार्य करता रह जायेगा।

'मन' शब्द के दोनों प्रयोग होते हैं—अंदर की चीज़ें जानने वाले अंतःकरण को भी मन कहते हैं और उसकी एक वृत्ति भी मन कही जाती है। इसलिये स्पष्ट कर दिया कि जिसे दसों इन्द्रियों का अध्यक्ष कहते हैं वह अंतःकरण यहाँ मन शब्द का अर्थ है। उसको अंतःकरण क्यों कहते हैं? घड़े को भी देखने वही जाता है तो अन्दर का करण ही क्यों कहा? क्योंकि 'विनेन्द्रियैः बाह्येषु अस्वातन्त्र्यात्' बाहर वह इन्द्रियों की सहायता के बिना नहीं जा सकता। योगी लोग इन्द्रियों के बिना भी मन का जाना मानते हैं, परन्तु वेदान्त इस बात को नहीं मानता। वेदांत की दृष्टि से मन दूर देश में अथवा वहाँ के दर्शन श्रवण आदि में *जाता* नहीं है, जो समष्टि मन हिरण्यगर्भ है, उस के अन्दर दूर की चीज़ों की भी उपस्थिति है, इसलिये

उसके द्वारा ही वह जान लेता है। अर्थात् जब व्यष्टि मन समष्टि मन के साथ अपनी एकता का अनुभव करता है तब वह उस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने सारी सिद्धियों को बताते हुए योगियों की अपेक्षा भेद बताते हुए कहा कि ये सब सिद्धियाँ स्वतः हैं अर्थात् प्रयत्नसाध्य नहीं हैं; समष्टि मन के साथ एक होने के कारण अपने आप ही हो जाती हैं, प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस तरह अंतःकरण बाह्य पदार्थों तक जाने में स्वतंत्र नहीं है, इन्द्रियों के द्वारा ही जा सकता है, इन्द्रियों के बिना नहीं जा सकता, इन्द्रियों के परतंत्र है। हिरण्यगर्भ स्वाभाविकरूप से सब चीज़ों के साथ युक्त है और हिरण्यगर्भ के साथ जीवों के मन की स्वतः एकता है, केवल अपनी सीमितता का भ्रम है जिसके कारण अभेद-प्रतीति नहीं है। इसलिये कहा गया है 'ऐश्वर्यमव्याहतम्' अर्थात् तत्त्वज्ञ का ऐश्वर्य व्याहत नहीं है, किसी भी प्रकार से देश, काल और वस्तु से सीमित नहीं है। योगियों का ऐश्वर्य ऐसा नहीं है। हर हालत में, बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही अंतःकरण बाहर जा सकता है, इन्द्रियों के बिना नहीं जा सकने के कारण परतंत्र है।। १२।।

ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर और अन्दर दोनों को विषय कर सकती हैं। कर्मेन्द्रियाँ हर हालत में बाहर की क्रिया ही करेंगी। ये दोनों इन्द्रियाँ जीव को बाह्य जगत् से सम्बन्ध वाला बनाती हैं। कर्मेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् की क्रिया होती है और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान होता है। ये ही दो चीज़ें हैं जो जीव को जगत् के साथ सम्बन्धित करती हैं। किंतु सम्बंध के लिये इन्द्रियों का अध्यक्ष मन अनिवार्य है। उसका वर्णन करते हैं–

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम्।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः।। १३।।

इन्द्रियाँ विषयों से सम्बद्ध होने पर उनके गुण-दोष का विचार करने वाला मन है। सत्त्व, रज और तम इसके गुण हैं, क्योंकि उनसे यह बदलता है।

दसों इन्द्रियों का मालिक मन है जो अन्दर की चीज़ों को खुद जानता है जबकि बाहर की चीज़ों को जानने में इन्द्रियों के परतंत्र है। मन के बिना न कर्मेन्द्रियाँ और न ज्ञानेन्द्रियाँ चलेंगी, क्योंकि वह उनका अध्यक्ष है। उसके बिना क्रिया या ज्ञान कुछ नहीं हो सकता। परन्तु इन्द्रियों के बिना मन बाह्य जगत् से संबंध नहीं कर सकता। आन्तर जगत् के सम्बन्ध के लिये उसे बाह्य इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं है। मन को अध्यक्ष क्यों कहते हैं? जब इन्द्रियों में विषय स्थापित हो जाता है अर्थात् आँखमें जब विषय (रूप) स्थापित हो जाता है तब मन विषय का विश्लेषण करता है। इसका मतलब यह नहीं है कि आँख विषय-देश में न जाये! आँख वहाँ जाकर विषय से सम्बन्धित होती है तो विषय उसमें स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार कान शब्द में जायेगा, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श गुण वाले पदार्थ में जायेगी; तत्तद् इन्द्रिय के अन्दर वे रूप, रस, शब्द, स्पर्श स्थापित होंगे। इस प्रकार जब इन्द्रियों में विषयों का सम्बन्ध हो गया तब मन के द्वारा विषय का ज्ञान होता है। मन इसलिये इन्द्रियों का अध्यक्ष कहा

जाता है कि यह चीज़ों के गुणों और दोषों का विचार करता है कि यह अच्छा है या बुरा है। गुण, अर्थात् अच्छाई और दोष, अर्थात् बुराई, इसका विचार मन करता है। अच्छे और बुरे का निर्णय पूर्व संस्कारों के अनुरूप होता है। पहले हमने किसी चीज़ का अनुभव किया और उस चीज़ से हमको सुख हुआ तो संस्कार बनता है कि यह चीज़ अच्छी है। जैसे हमने रसगुल्ला खाया, अच्छा लगा, तब संस्कार बना कि यह अच्छा है। कभी हमने पत्थर खाया और दाँत में खूब ज़ोर से लगा तो अनुभव हुआ कि पत्थर खाना बुरा होता है। इस प्रकार अनुभव के आधार पर गुण-दोष का संस्कार मन में पड़ता है। यह ज्ञान का एक प्रकार हुआ। दूसरा प्रकार है जो अनुमान से होता है। प्रत्यक्ष में तो हम बढ़िया पूड़ी खाते हैं तो मज़ा आता है परन्तु शाम को अम्ल-पित्त बढ़ जाता है। एक-दो बार खाया, और हर बार तकलीफ़ हुई; दाल-भात खाते हैं तो अम्ल-पित्त नहीं बढ़ता। तब अनुमान करते हैं कि पूड़ी खाने के कारण अम्लपित्त होता है। खाने में अर्थात् प्रत्यक्ष तो पूड़ी अब भी अच्छी लगती है, परन्तु अनुमान से पता लग गया कि वह दुःखदायी है तो अगली बार पूड़ी कम खायेंगे।

कुछ चीज़ों की अच्छाई-बुराई का शब्द से पता लगता है। डाक्टर कहता है कि घी मत खाओ, जबकि प्रत्यक्ष में हमें घी खाने में कोई दोष नहीं लगता और बिना घी का भोजन बेस्वाद लगता है। इसमें अनुमान भी कुछ नहीं कि घी में कोई दोष है। डॉक्टर कहता है कि घी खाने से तुम्हारा कोलस्ट्राल या वसा बढ़ेगा और हृदयरोग होने की सम्भावना है। हमें कभी हृदयरोग नहीं हुआ, लेकिन डॉक्टर प्रामाणिक है अतः उसके शब्द से हमें ज्ञान हो जाता है। घी प्रत्यक्ष और अनुमान से दोषवाला न होने पर भी हमें आप्त वाक्य से उसके दोष का ज्ञान होता है। इसी प्रकार आप्त वाक्य होने से परमेश्वर का वाक्य प्रमाण है। परमेश्वर ने कहा है 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' वेद और स्मृति परमेश्वर की आज्ञा हैं। अतः उन्होंने जो नुकसान के कार्य कहे हैं वे मत करना और उन्होंने जो करने को कहा है वह लाभप्रद है। शास्त्रानुसार विहित अपने को अच्छा, गुणवाला लगता है और निषिद्ध दोष वाला लगता है। लेकिन जिसकी वेद में प्रामाण्य-बुद्धि नहीं है वह उस शब्द को सुनकर भी वैध या निषिद्ध में गुण और दोष को नहीं देखेगा ठीक जिस प्रकार से जिसको ऐलोपैथिक डॉक्टर में आप्तबुद्धि नहीं है, अनाप्त बुद्धि है, वह कहेगा 'डॉक्टर तो ऐसे ही कहते रहते हैं, हमारे दादा जी खूब घी खाते थे, नब्बे साल जिये और उनका शरीर भी ठीक रहा। डॉक्टर के कहने से क्या होगा।' इसलिये यदि किसी व्यक्ति में आप्तबुद्धि नहीं है तो उसके वाक्य से हमें प्रमा नहीं होगी अर्थात् उसका कहना 'ठीक है' ऐसा निश्चय नहीं होगा। इसी प्रकार यदि वेद में हमारी आप्त-बुद्धि नहीं है तो वहाँ भी प्रमा नहीं होगी। शब्द में आप्त-बुद्धि होती है तो प्रत्यक्ष और अनुमान से होने वाले ज्ञान को भी वह शब्द प्रतिबद्ध कर देगा। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के जो संस्कार हैं उनके अनुसार ही गुण और दोष का विचार होता है।

यहाँ आचार्य ने 'विचारक' कहा है। तात्पर्य यह है कि गुण-दोष का सीधा ज्ञान नहीं होता। पूड़ी सामने आते ही पहले तो लगता है कि यह बहुत अच्छी चीज़ है। उसके बाद

अनुमान उसको रोकेगा। विचार आयेगा कि यह अच्छी दीखने पर भी और खाने में अच्छी होने पर भी दुःखदायी है। इसी प्रकार शब्द को सुनकर भी विचार करोगे तो शब्द की अपेक्षा अन्य बातें उपस्थित होंगी। जो व्यक्ति विचार करने में जितना कमज़ोर होता है वह उतना ही प्रत्यक्ष के अधीन हो जाता है। चार्वाक सर्वथा अविचारशील है इसलिये वह यही कहेगा 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'। वह अनुमान भी करता तो सोचता कि जिससे ऋण लेकर वापिस नहीं चुकायेंगे वह मकान की कुर्की कर देगा। शब्द से विचार करता तो भी समझ लेता कि जिसका पैसा लूँगा वह कभी न कभी भरना पड़ेगा। परन्तु चार्वाक ऐसा विचार नहीं करता। वह सोचता है कि आज मज़ा मार लो, आज ऋण लेकर घी पी लो, कल मकान की कुर्की होगी तो देखा जायेगा। इसलिये पहले हम लोग जिस कर्ज को बुरी चीज़ मानते थे, आज वही सबसे ज़्यादा प्रचलित है। आजकल अंग्रेजी नाम 'क्रेडिट कार्ड' (Credit Card) रखा है अर्थात् उधार का प्रमाण-पत्र, जिससे उधार ले सकते हैं। ऐसी दुकानें हो गई हैं जो नकद पैसा न लेकर क्रेडिट कार्ड से पैसा लेती हैं; पहले लोग नगद देने वाले को अच्छा मानते थे, परन्तु 'कल किसने देखा है' यह नारा चार्वाकों का ही है और इस मत के प्रचार का ऐसा ही फल होना है कि लोग कम-कम विचारशील होंगे।

इसलिये गुण-दोष का विचार करने वाले को मन कहा। जो केवल प्रत्यक्ष के अधीन नहीं रहेगा वह अनुमान और शब्द की प्रमाणता समझकर विचार करेगा कि यह अच्छा तो लग रहा है मगर है हानिकर। शब्द या अनुमान से इष्टबुद्धि प्रतिबद्ध हो जायेगी कि 'अच्छा लगता है मगर अच्छा नहीं है'। तात्पर्य यह हुआ कि प्रमाता आत्मा है, जानने वाला आत्मा ही है। वह सारे ज्ञानों को साधारण रूप से जानेगा। आँखें इत्यादि इन्द्रियाँ केवल रूप इत्यादि के ज्ञान को ही उत्पन्न करेंगी। परन्तु उनके गुण-दोष का विचार करने वाला मन है। गुण-दोष का विचार ज़रूरी होता है। इसके बिना किसी भी स्तर का विकास असंभव है।

सभी व्यवहारों के लिये आवश्यक जो गुण-दोष का विचार, उसके साधनरूप से इस प्रकार से मन की सिद्धि होती है। सभी मन एक ही चीज़ को गुण मानें और एक ही चीज़ को दोष मानें यह भी नहीं होता। आँखें तो सब चीज़ों का एक जैसा ही रूप देखेंगी, नीले को नीला और पीले को पीला ही देखेंगी। किंतु यह निर्णय नहीं कर सकते कि हमें चावल गुण वाला लगता है तो सबको चावल गुण वाला ही लगे। इसी प्रकार, हमको वेद में प्रामाण्य-बुद्धि है तो सभी को वेद में प्रामाण्य-बुद्धि हो—ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे लोग भी हैं जो वेद को गड़रियों का गीत कहते हैं। प्रत्येक मन पृथक् होनेसे हर-एक का विचार और निर्णय अलग होते हैं। मन में सत्त्वगुण भी रहता है और रजोगुण-तमोगुण भी रहते हैं। जिस मन में सत्त्वगुण रहेगा उसमें वैराग्य की भावना, जिसमें रजोगुण रहेगा उसमें राग की भावना, और जिसमें तमोगुण रहेगा उसमें प्रमाद की भावना होगी। सामने एक सुन्दर स्त्री खड़ी है। यह औरत पैंतालीस किलो वजन की, गोरी और हरी साड़ी पहने है—यह ज्ञान तो वहाँ जितने आदमी खड़े हैं सबको एक जैसा होगा। इन्द्रियों से ज्ञान सबको एक जैसा होगा। परन्तु वहाँ

सत्त्वगुण की प्रकृति वाला वैराग्यवान् खड़ा है तो इन्द्रिय से स्त्री शरीर देखते हुए उसके मन में होता है कि 'इसके अन्दर सिवाय मांस आदि के और कुछ नहीं है, यह तो मनुष्य को बांधने वाली चीज़ है'। राग वाले को लगेगा कि 'अत्यंत सुन्दरी है, यह मेरी अंकशायिनी बन जाये तो बड़ा अच्छा हो'। तीसरा वहाँ यदि प्रमादी खड़ा होगा तो उसके मन में तामसी विचार आयेगा। एक को लगता है कि इससे बचना चाहिए, दूसरे को लगता है कि इसका भोग करना चाहिए, तीसरा उसके प्रति मुग्ध होता है। इस प्रकार का भेद सत्त्व, रज और तमोगुणों को लेकर है। अंतःकरण में गुणों के द्वारा ही भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव और क्रियायें होती हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों का फल उत्पन्न होता है। 'विक्रियते' शब्द का प्रयोग करके यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि अन्तःकरण सत्त्वगुण से उत्पन्न होता है इसलिये उसे चाहिये तो यह था कि वह हमेशा सत्त्वगुणी रहे, तथापि उसके अन्दर रजोगुण और तमोगुण के संस्कार भी पड़ जाते हैं, अतः अपने सत्त्वगुण के द्वारा तो उसमें सात्त्विक विचार आयेगा पर जो दूसरे संस्कार उसमें पड़ गये हैं उनके कारण राजस और तामस विचार भी आयेंगे।

सब प्रकार के वाक्य वेद में और स्मृतियों में भी मिलते हैं। एक वाक्य यह मिलता है कि परमेश्वर मन का विषय नहीं है, मन से परमेश्वर को जान ही नहीं सकते। दूसरा वाक्य यह भी मिलता है कि मन के द्वारा ही उसे जाना जाता है। ऐसे दोनों प्रकार के वाक्य शास्त्र में मिलते हैं। इसलिये प्रश्न होता है कि ये दोनों बातें तो परस्पर बिलकुल विरुद्ध हैं। तब आचार्य शंकर ने बताया है कि जो असंस्कृत मन है अर्थात् वेद आदि के प्रमाणों से जो मन संस्कृत नहीं हुआ है उससे तो परमात्मा का दर्शन कभी नहीं हो सकता। इसलिये कहा जाता है कि परमेश्वर मन का विषय नहीं है। और जिस मन के अन्दर वेदों के संस्कार भली प्रकार से दृढ हो गये हैं वह मन परमेश्वर का दर्शन कर सकता है। मन स्वरूप से तो सत्त्वगुणी होने पर भी रजोगण और तमोगुण के कारण असंस्कृत हुआ है। यदि वैदिक संस्कारों से उसमें से रजोगुण और तमोगुण हट जाते हैं, तो वही आत्मदर्शन में समर्थ है। मन तो अपने गुण से सत्त्वगुणी ही है इसलिये उससे रजोगुण और तमोगुण हट सकते हैं। वे हट जायेंगे तो वह अंतःकरण परमेश्वर को विषय कर लेगा।। १३।।

गुणों का अनुभूयमान रूप दिखाते हैं—

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्याः रजसोत्थिताः।।१४।।

विरक्ति, क्षमा, उदारता इत्यादि सत्त्व से उपजते हैं। कामना, क्रोध, लोभ, सक्रियता इत्यादि रजोगुण से पैदा होते हैं।

'सत्त्वसम्भवाः' सत्त्वगुण के होने पर क्या चीज़ सम्भव होती है? वैराग्य। इससे दोनों बातें समझ लेना : अपने अंतःकरण में सत्त्वगुण है या नहीं—यह इसी वैराग्यरूप पैमाने से पता

चलता है। हम अपने अंतःकरण को सत्त्वगुणी बनाने का प्रयत्न करें इसके लिये बार-बार सत्त्वगुणी चीज़ों को ही मन में लायें। वैराग्य सत्त्वगुणी है अतः उसे मन में लाने से मन और सात्त्विक होगा। बिना विचार के वैराग्य कभी नहीं आता। एक चीज़ से राग हटकर दूसरी चीज़ में राग चला जाये, यह तो प्रत्यक्ष और अनुमान से हो सकता है। डॉक्टर ने हमसे कहा—'तुम्हारे पेट में अल्सर हो गया है इसलिये मिर्च-मसाला मत खाओ।' हमको खूब चिरका भोजन अच्छा लगता है फिर भी डॉक्टर के कहने से मसाला खाना छोड़ देते हैं। लेकिन जब इस प्रकार दो साल तक उबली सब्ज़ी खाने लगते हैं तो धीरे-धीरे उबली सब्ज़ी का ही स्वाद आने लगता है। मसालेदार भोजन खाने से तो राग हट गया, परन्तु बिना मसालेदार भोजन खाने की आदत पड़ गई। बिना मिर्च मसाले के लौकी, गोभी आदि का असली स्वाद पता लगता है। अभी तो मसाले का ही स्वाद होता है, सब्ज़ी का स्वाद पता ही नहीं लगता। जब केवल सब्ज़ी के स्वाद का पता लगने लगता है तब मसाले की इच्छा नहीं होती। एक चीज़ से राग हटकर दूसरी चीज़ में राग होने को वैराग्य नहीं कहते हैं। भगवान् कहते हैं 'दुःखयोनय एव ते' अर्थात् संसार की जितनी भी चीज़ें हैं वे दुःख ही देंगी। यह निश्चय कि दृश्य मिथ्या ही हो सकता है, विनाशी ही हो सकता है, विचार से प्राप्त होता है। संसार की सभी चीज़ें दृश्यमात्र हैं, *इसलिये* उनके प्रति जो वैराग्य है वह बिना विचार के संभव नहीं है। उस विचार का आधार शब्द ही है। 'नास्ति अकृतः कृतेन' आदि वेद बिलकुल दृढ कर देता है कि अकृत मोक्ष की प्राप्ति कृत अर्थात् कर्म से नहीं है अतः तुम्हारा वैराग्य इसके आधार पर दृढ हो सकता है। ऐसा वैराग्य सत्त्वगुण का कार्य है।

लौकिक लोगों को इस वैराग्य से डर लगता है। उनको वैराग्य की यह बात बताई जाती है तो वे कहते हैं कि 'फिर तो सारा मज़ा ही चला जायेगा। संसार में फिर किसी चीज़ का मज़ा ही नहीं रहेगा।' इसका कारण यह है कि उनको अभी यह निश्चय नहीं है कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। उस ब्रह्म के आनन्द के थोड़े-से कण पड़ जाते हैं, उसे ही लौकिक सुख समझते हो। वे इस ब्रह्मानन्द के आगे फीके पड़ जाते हैं। इसलिये वेद कहता है कि संसार के अन्दर जो आनन्द या सुख दीखते हैं, सारे के सारे उस ब्रह्मानन्द के अंशमात्र हैं। एकमात्र उपनिषद् ऐसा शास्त्र है जहाँ आनन्द का माप बनाया है। बाकी लोग दूसरी चीज़ों के माप बताते हैं परन्तु आनन्द के बारे में माप नहीं बनाते। उपनिषद् ने इसका नाप बनाया है। उसकी एक इकाई बताई है : कोई आदमी बहुत विद्वान् हो, सारे संसार का राजा हो, उसके राज्य में सब लोगों के पास खूब धन-धान्य हो, उसका शरीर दृढ हो, जवान उम्र का हो, सच्चरित्र हो, ऐसे व्यक्ति को जो आनन्द होता है वह आनन्द की इकाई है। उससे सौ गुणा आनंद किसका और फिर उससे भी सौ-सौ गुणा आनन्द किस-किस का होता है, इस प्रकार बताते हुए अन्त में ब्रह्मानन्द बताया है। फिर कहा है कि उसीके लवलेश बाकी सारे आनन्द हैं। उस ब्रह्मानन्द की दृष्टि को न जानने के कारण ही व्यक्ति कहता है कि 'संसार का मज़ा तो चला जायेगा।' लेकिन मज़ा नहीं जायेगा क्योंकि मज़ा अर्थात् आनन्द की परम सीमा

ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही है। क्योंकि इस समझ से ही यह दृष्टि संभव है इसलिये यह वैराग्य सत्त्वगुण से उत्पन्न होता है।

दूसरा भाव क्षान्ति बताई। कोई हमारा चाहे जितना नुकसान कर दे, परन्तु उस नुकसान का कोई महत्त्व नहीं प्रतीत हो, यह क्षान्ति या क्षमा है। इससे मन में भी यह नहीं होता कि उस आदमी का नुकसान हो। एक कथा आती है कि एक बार भगवान् विष्णु और नारद दोनों ब्राह्मण वेश लेकर बड़े धनी के यहाँ आये। जैसे ही उन्होंने कहा कि 'हम लोग बहुत भूखे हैं;' तो नौकर ने ही डाँट दिया। उन्होंने कहा कि 'अन्दर सेठ से कह तो दो।' उसने कहा 'सेठ से पूछूँगा तो वह आकर डण्डा मारेगा।' वे लोग नौकर को समझा रहे थे कि इतने में सेठ आ गया और नौकर को कहने लगा 'इन्हें डण्डा मार कर भगाते क्यों नहीं?' यह सुनकर दोनों वहाँ से चल दिये। थोड़ी दूर जा कर भगवान् ने सेठ के मकान की तरफ देख कर कहा कि 'इसका खूब धन बढ़े।' आगे चले तो एक त्यागी व्यक्ति झोपड़ी में बैठा था। उसके पास एक गाय थी। उससे कहा—'हमें बहुत भूख लगी है, कुछ खाने को दे दो।' उसने कहा—'आप बैठिये, मैं अभी दूध गरम करके ला रहा हूँ।' दूध लाकर दिया तो भगवान् अपने हिस्से का सारा दूध पी गये। नारद जी ने भी दूध पी लिया। भगवान् ने प्रसन्न होकर उससे कहा—'बहुत अच्छा किया, बढ़िया दूध पिलाया।' थोड़ी दूर चले तो भगवान् ने उसकी झोपड़ी की तरफ देख कर कहा—'आज शाम तक इसकी गाय मर जाये तो अच्छा हो।' नारद जी से रहा नहीं गया। भगवान् से कहा 'लगता है आपके सिर पर कलियुग चढ़ गया है! सेठ ने डण्डे मारने को कहा तो उसके लिये आपने कह दिया कि उसका धन खूब बढ़े और इस बेचारे के पास एक ही गाय है, उसको भी आपने मरने को कह दिया।' भगवान् ने कहा—'नारद, तू समझा नहीं। मेरा दर्शन अमोघ होता है। मेरा दर्शन जिसको होगा उसकी कामना ज़रूरी पूरी होगी। चाहे उसने हमें डण्डे मारने को कहा लेकिन उसने मेरा दर्शन किया है तो उसका फल होना ही है। उसे धन की कामना है इसलिये मैंने उसका धन बढ़ने को कहा। उसके पास अभी जो धन है, उसीसे वह इतना क्रूर हो गया है, और धन बढ़ेगा तो ज़्यादा क्रूर कर्म करेगा, तो अंततोगत्वा नरक की प्राप्ति करेगा। हमको मारने की प्रवृत्ति करने का फल भी नरक है जो उसे मिलेगा। त्यागी को भी मेरे दर्शन का फल अवश्य मिलेगा। उसकी वृत्ति और सब जगह से तो हट गई है लेकिन उसका मन अब केवल गाय में रमा हुआ है। बाकी समय तो वह मेरा ही चिन्तन करता है, जब उसकी गाय मर जायेगी तो दूसरी कोई वृत्ति उसकी है नहीं, अपने आप ही चौबीस घण्टे मेरा चिन्तन करके मेरे वैकुण्ठ धाम में आ जायेगा, मुझे प्राप्त कर लेगा।' जैसे, भगवान् को मारने की चेष्टा करने पर भी उनमें कोई दुर्भाव नहीं कि 'उसका कोई बिगाड़ हो जाये या वह डूब जाये,' बल्कि यह भाव हुआ कि 'उस व्यक्ति को धन की ही कामना है तो उसकी कामना पूरी हो;' इसी प्रकार जिसमें किसी के नुकसान की भावना बनती ही नहीं, वह क्षमा वाला है। जिसने अपकार किया उसे पाप होगा ही अतः अपने मन में आना कि 'इसका बिगाड़ हो,' व्यर्थ है। कोई चाहे जितना

हमारा नुकसान करे, अपने मन में उसके प्रति कभी भी यह भावना नहीं करनी चाहिये कि उसका नुकसान हो। जो मन में ऐसी भावना ही नहीं करेगा वह नुकसान की क्रिया करे, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। यह हुआ जो दुष्टता करे, उसके प्रति क्षान्ति का भाव होना।

उदारता–जो कोई भी किसी भी परिस्थिति में किसी सहायता की अपेक्षा से हमारे पास आये, उसकी सहायता कर देना उदारता है। यदि हमारे पास धन आदि की सामर्थ्य है तो उसमें बिना आगा-पीछा सोचे हुए उसकी सहायता कर देना ही उदारता है। जितनी भी चीज़ें हैं वे कई प्रकार से नष्ट हो सकती हैं। आप लोग जानते हैं कि कुछ साल पहले कच्छ, गुजरात में बड़ा भारी भूकम्प आया था। हमारे एक परिचित सज्जन थे, उनका भी मकान वहीं था। वकील थे, देने में उदार थे, अब तो मर गये हैं। जहाँ भूकम्प आया था वहाँ से पाँच मील दूर उनका घर था। प्रायः सारा गाँव नष्ट हो गया था, इनके यहाँ खेती अच्छी थी, इसलिये अनाज काफी था, बाकी सबका सब कुछ नष्ट हो गया था। खुद सुना रहे थे कि कोई भी किसी सहायता के लिये आता था तो हमारे पास जो चीज़ रहती थी, उसे दे देते थे। एक दिन लड़के कहने लगे 'ऐसे सब देते रहोगे तो अपने पास क्या बचेगा?' मैंने उनसे कहा–'विचार करो, जो लोग आते हैं, उनके पास दो दिन पहले खूब धन-धान्य था, हमसे ज़्यादा था, आज क्या रहा? कल हमारे पास भी यह सब बना रहेगा इसकी कोई गारण्टी नहीं है, इसलिये ज़रूरतमन्दों को बाँटो तो ठीक है, कल चला जायेगा तो रोते रहोगे कि बाँट देते तो अच्छा था; न बाँटा और न अपने काम आया।' यह उदारता की भावना है। यह भावना तब तक नहीं आती जब तक वेद सुनकर यह समझ में नहीं आता कि सब प्राणियों में रहने वाला आत्मा एक ही है, सामने वाला व्यक्ति दुःखी नहीं है वरन् उसके अंतःकरण के द्वारा तो मैं ही दुःखी हूँ। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' जितना-जितना समझ में आता है उतनी-उतनी उदारता आती है। जितना यह ज्ञान दृढ होगा कि 'मैं अलग हूँ और यह अलग है', उतना यह विचार दुःख देता रहेगा कि अपने लिये रखें। परन्तु जब यह पता है कि मैं ही उस अंतःकरण से दुःख पा रहा हूँ, तब जैसे अपने शरीर के अन्दर एक अंग के दुःखी होने से अपने सारे शरीर को दुःख होता है, इसलिये उस अंग के दुःख को दूर करने की तरफ प्रवृत्ति होती है; यह नहीं सोचते कि इस अंग के दुःख को दूर करने के लिये सोचेंगे तो दूसरे अंग में दुःख आ जायेगा; इसी प्रकार जब 'सर्वभूतात्मा' का भाव दृढ होगा कि एक ही आत्मा प्राणिमात्र के हृदय में है, अतः पता है कि उन-उन उपाधियों के द्वारा अनुभव करने वाला आत्मा मेरे आत्मा से भिन्न कोई नहीं है, तभी उदारता आती है। पदार्थों के प्रति वैराग्य, अपराध करने वाले के प्रति क्षान्ति और जो भी किसी आवश्यकता में है उसके लिये उदारता– इत्यादि अन्य वृत्तियाँ भी सत्त्वगुण के कारण होती हैं। जब अंतःकरण में सत्त्वगुण बढ़ा होता है तब ये भावनायें आती हैं। यह अंतःकरण की स्थिति है।

रजोगुण से उत्पन्न वृत्तियों के लिये उत्थित शब्द का प्रयोग किया है। सत्त्व से तो 'संभव' शब्द का प्रयोग किया था। रज से उत्थित अर्थात् उठना और सत्त्व से सम्भव अर्थात् होना

कहा है। इसके द्वारा ध्वनित किया कि अंतःकरण का स्वाभाविक सत्त्वगुण है इसलिये उससे ये वृत्तियाँ सम्भव हैं और रजोगुण चूंकि मन के स्वभाव से अलग है, इसलिये ये वृत्तियाँ उठती हैं। रजोगुण की वृत्तियाँ स्वाभाविक नहीं हैं, सत्त्वगुण की वृत्तियाँ स्वाभाविक हैं, अंतःकरण के अनुरूप हैं। रजोगुण से क्या-क्या होता है? 'कामना'। सत्त्वगुण से वैराग्य है क्योंकि संसार की सारी चीज़ें मिथ्यात्व अनित्यता इत्यादि दोषों वाली दीखने के कारण उनसे वैराग्य ही हो सकता है। रजोगुण बढ़ता है तो कामना होती है कि अमुक-अमुक विषय मेरे पास हो। कामना को अनल कहा है, अर्थात्, काम अग्नि है। अनल—न अलम् अर्थात् जिसमें कभी अलम्-बुद्धि नहीं होती है। कामना में ऐसा कभी नहीं होता कि 'काफी हो गया'। जितना मिलता जायेगा उतनी ही कामना बढ़ती चली जायेगी कि यह भी मिले, वह भी मिले। बहुत साल पहले इन्दिरा जी ने एक नारा दिया था 'गरीबी हटाओ'। उसी समय किसी ने एक लेख लिखा था कि राष्ट्रपति भी कहते हैं कि गरीबी हटनी चाहिये क्योंकि वे जब अमरीका के व्हाइट हाउस को देखते हैं तो मन में ज़रूर आता है 'मेरी ग़रीबी ज़रूर हटनी चाहिये।' राष्ट्रपति यही गरीबी हटाने के बारे में सोच रहा है। इसी प्रकार अमरीका का रॉकफेलर भी समझता है 'मैं भी गरीब हूँ।' इसलिये, गरीब कौन है—इसका निर्णय 'पर्याप्त है' इस निश्चय के होने-न होने से ही संभव है। तुम जैसे हो वैसे ही गरीब हो यदि अलम्-बुद्धि नहीं है, कामना है। कामना गरीब को होती है जब अपने को दरिद्र समझता है, कि 'हमारे पास नहीं है।'

एक आदमी को रास्ते में एक रुपया मिला तो उसने झट से जेब में डाल दिया। थोड़ी दूर चला तो मन में आया कि 'पता नहीं किस का था, मैंने उठाकर अच्छा नहीं किया, किसी को दे देना चाहिये।' आगे जाकर देखा एक महात्मा लंगोटी लगाकर बैठा था। सोचा, उसको दे दें। उसमें अपनी तरफ से एक पैसा मिलाकर उस महात्मा के सामने रखा। महात्मा ने कहा—'इसका मैं क्या करूँगा, किसी कंगले को दे देना।' महात्मा को देखकर उसने कहा—'आपके पास तो कुछ भी नहीं है, आपसे ज़्यादा कंगला और कौन मिलेगा?' महात्मा ने कहा—'जबान सम्भालकर बोल। मैं कंगला नहीं हूँ।' सामने हाथ दिखाकर कहा—'उसे दे दे। वह कंगला जा रहा है।' राजा की सवारी निकल रही थी! उसने सोचा, महात्मा कह रहा है तो देखना चाहिये। वहाँ पहुँचा, राजा को एक रुपया दिखाया। राजा ने सोचा—'नज़राना पेश कर रहा है।' झट से हाथी को बिठाकर नज़राना ले लिया। उसने समझ लिया, महात्मा ठीक ही कह रहा था। वापिस आकर महात्मा से कहा—'आपकी बात ठीक निकली, राजा ने तो रुपया लिया, वही दरिद्र है।' दरिद्र वह होता है जिसके अन्दर कामना है, वह चाहता है कि 'और हो'। यह कामना कभी ख़त्म होने वाली नहीं है। सत्त्वगुण में वैराग्य और रजोगुण में कामना है।

सत्त्वगुण में क्षमा है, अपराध करने वाले के प्रति भी कोई बुरी भावना नहीं होती है और रजोगुण में उसके विपरीत है; किसी ने थोड़ा-सा अपराध कर दिया, चाहे कल्पित अपराध ही

हो, तब भी क्रोध आ जाता है। अभी जिसने अपकार किया ही नहीं है उसपर भी क्रोध आ जाता है। बिना प्रमाण मान बैठना कि 'अमुक ने या किसी अज्ञात ने मेरे विरुद्ध कोई दुःखदायी दृष्ट या अदृष्ट उपाय किया है' भी इसी कोटि का विचार है। लोग कहते हैं–'केवल प्रारब्ध क्यों, दूसरे भी तो कुछ कर सकते हैं।' यह कल्पित अपराध है। किसी ने चाँटा मारा तो क्रोध आ गया, यह तो समझ में आया; लेकिन अपने मन में केवल कल्पित अपराध से भी दूसरे के प्रति क्रोध आ जाता है। यह क्रोध की विशेषता है कि कल्पित नुकसान के प्रति भी हो जाता है। सचमुच देखने में आ जाये कि उसने अपराध किया, तब तो क्रोध आयेगा ही, इसमें कहना ही क्या है! क्रोधी व्यक्ति यह कभी नहीं सोच सकता कि 'मेरे साथ कोई बुराई हो रही है तो उसका कारण मेरा अपना कर्म है। मैंने कुछ न कुछ किया होगा तभी मेरे प्रति लोगों के मन में यह भावना आ रही है।' आचार्यों ने तो कहा कि हमने अन्य कुछ नहीं किया तो भी हमारा ही कसूर है कि पैदा हुए! यदि यह गलती न करते, अर्थात् पैदा न होते, तो फिर यह सब सहना-सुनना नहीं पड़ता। इसलिये प्रयत्न करो कि जन्म न हो। शास्त्रकार यहाँ तक समझाते हैं, तुम्हारा चाहे जितना अपकार हुआ है उसका कारण कहीं-न-कहीं तुम खुद हो, इसलिये क्रोध करना नहीं। लेकिन रजोगुणी को तो क्रोध ही आता है, विचार नहीं आता।

तीसरा कार्य है, सत्त्वगुण में उदारता होती है, रजोगुण में उसका विरोधी लोभ है अर्थात् 'जो चीज़ मेरी है वह मेरी ही बनी रहे' ऐसा आग्रह। कामना और लोभ में फ़र्क है। कामना है कि 'यह चीज़ मुझे मिल जाये' जबकि लोभ है कि 'मेरी चीज़ मेरी ही बनी रहे।' लोभी में उदारता नहीं आ सकती है क्योंकि अलंबुद्धि या पर्याप्त-बुद्धि होना लोभी के लिये बहुत मुश्किल है। उसे हमेशा यही लगता है कि 'मेरा ही काम पूरा नहीं हो रहा है, मुझे ही अभी कुछ नहीं मिला है तो दूसरे को कहाँ से दूँ।' प्रायः अनुभव यही होता है कि जितना जिसके पास ज़्यादा हो, उतना ही उसका लोभ ज़्यादा होता है। आज के महंगाई के ज़माने में भी ऐसी बालविधवायें हैं जिनकी आमदनी केवल तीन सौ रुपये महीना है, परन्तु वे भी मन्दिर जाती हैं या सन्तों के पास आती हैं तो चवन्नी-अठन्नी *चढ़ाती* ही हैं। दूसरे लोग कह देते हैं 'अठन्नी तो आजकल कंगले भी नहीं लेते' क्योंकि उन्हें तो पता नहीं कि उनकी कुल आय क्या है। महत्त्व की बात तो है कि उसके मन में कुछ देने की भावना है। वैपरीत्येन, आज जो लोग लाख रुपया महीना कमाते हैं वे पाँच रुपये नहीं चढ़ा सकते! उनसे कभी बात होती है तो यही कहते हैं कि महंगाई बहुत है, अपना ही गुज़ारा मुश्किल होता है। 'काफी हो गया' ऐसा उन्हें कभी नहीं लगता। एक व्यक्ति आबू के रहने वाले थे, अब दिल्ली चले गये हैं। खुद दो लाख रुपया महीना कमाते हैं और डेढ़ लाख रुपया महीना उनकी पत्नी कमाती है। साढ़े तीन लाख कमाने के बाद भी उनकी चिट्ठी बाप के पास आती रहती है कि 'खर्चा पूरा नहीं हो रहा है कुछ रुपये भेज दीजिये।' जब इतने में ही अलंबुद्धि नहीं हो रही है तो कब होनी है! ऐसों से कभी भी कुछ उदारता की आशा नहीं हो सकती। इस प्रकार सत्त्व

गुण में वैराग्य, क्षान्ति, और उदारता हैं और रजोगुण में उसके विरुद्ध काम, क्रोध और लोभ हैं। रजोगुणी हमेशा चेष्टा करता ही रहता है, कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। उसके करने का कोई फ़ायदा भी है या नहीं—इससे कोई मतलब नहीं, लेकिन कुछ-न-कुछ चेष्टा करता ही रहेगा। यह रजोगुण की विशेषता है। इसलिये उसमें शांति कभी हो ही नहीं सकती। वह हमेशा अशांत ही रहता है क्योंकि हमेशा प्रयत्न ही करता रहता है। साधारण लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं कि वह तो हमेशा काम में लगा रहता है। लेकिन कभी कोई शांति से बैठकर विचार नहीं करता कि वह जो प्रयत्न कर रहा है उसका कोई नतीजा भी होता है या नहीं? इसी प्रकार अन्य भी कई प्रकार की ऐसी ही भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ रजोगुणी के अंतःकरण में होती रहती हैं।। १४।।

सत्त्व से होने वाला वैराग्य आदि और रज से होने वाले काम-क्रोध आदि बताये। इन दोनों में जो 'इत्यादि' पद है, उसके द्वारा सत्त्व के अन्दर शम, दम आदि और रज से तीर्थयात्रा, गंगास्नान, देवदर्शन इत्यादि भी सब ले लेने चाहिये क्योंकि ये भी सभी गुणों के ही विकार हैं। अब तमोगुण को बताते हैं—

आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।
सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः।। १५।।
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत्।
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः।। १६।।

आलस्य, भ्रम, तन्द्रा इत्यादि तमोगुण से उठे विकार हैं। सात्त्विक विकारों से पुण्य संपन्न होता है, राजसों से पाप उत्पन्न होता है, तामसों से पाप-पुण्य तो नहीं होते पर आयु व्यर्थ बीतती है। इन वृत्तियों में 'मैं' ऐसे निश्चय वाला 'कर्त्ता' है, यह संसार में स्वीकार है।

अंतःकरण में तमोगुण का संस्पर्श होता है तब की स्थिति बताते हुए पहला विकार कहा आलस्य। कर्त्तव्यकर्म प्राप्त होने पर और सामर्थ्य होने पर भी उसको करने की प्रवृत्ति न होने को आलस्य कहते हैं। कर्त्तव्य कर्म को करने की सामर्थ्य न होने पर आलस्य नहीं कहते। कई बार आलस्य असामर्थ्य के रूप में प्रतीत हो जाता है। रामकृष्ण परमहंस की पत्नी शारदा जी को रात में बुखार आ गया। परमहंस रोज़ वहाँ जाते थे। उसने कहा—'आज बुखार आ गया इसलिये स्नान नहीं किया।' अगले दिन गये तो बुखार कम हो गया था लेकिन फिर भी स्नान नहीं किया था। तीसरे दिन बुखार उतर गया, फिर भी स्नान नहीं किया, कहा—'कमज़ोरी महसूस हो रही है।' तब परमहंस ने कहा कि 'यह शरीर गधे की तरह है। इसको एक बार आराम दे दिया तो फिर यह आरामपसंद हो जायेगा।' बहुत बार आलस्य असमर्थता का रूप ले लेता है कि 'नहीं हो सकता', उससे सावधान रहना चाहिये। सामर्थ्य हो और कर्त्तव्य कर्म प्राप्त होने पर उसे न करने को आलस्य कहते हैं। सामर्थ्य है परन्तु वह हमारा कर्त्तव्य नहीं है तो उसे नहीं करना आलस्य नहीं है।

भ्रांति—'अतस्मिन्स्तद्बुद्धिः' जो चीज़ जैसी नहीं है उसमें वैसी प्रतीति हो जाना भी तमोगुण से होता है। कोई छाया देखी, उसमें भूत का भ्रम हो जाता है। तमोगुण होता है तो भ्रम की पूरी सम्भावना हो जाती है। तन्द्रा—जगे होने पर भी इन्द्रियों का निद्रा की तरह प्रवृत्त होना तन्द्रा है। जैसे निद्रालु व्यक्ति इन्द्रियों से चीज़ों को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता, सब चीज़ें धुंधली लगती हैं, शब्द भी अस्पष्ट सुनाई देते हैं; इसी प्रकार जगे होने पर भी इन्द्रियों का भली प्रकार से विषय न करना तन्द्रा है। 'आद्याः' इसी प्रकार के दूसरे विकार भी समझ लेना। जैसे किसी गलत काम के बारे में न उसे कहना कि तुमने गलती की और न सुधार या प्रतीकार करना, बल्कि मन ही मन प्रार्थना करना कि 'इसका नुकसान हो जाये'; यह तमोगुण का कार्य है। रजोगुणी थप्पड़ मारेगा, सत्त्वगुणी उसे समझायेगा, लेकिन तमोगुणी यह सब नहीं करेगा, केवल मन ही मन उसका अनिष्ट सोचेगा।

सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से पुण्यादि क्या उत्पन्न होता है, इसे बताते हैं : वैराग्य, क्षमा, उदारता अथवा गंगा-स्नान, देवदर्शन इत्यादि पुण्य को निष्पन्न करता है। देव-दर्शन, गंगास्नान आदि तो क्रियायें हैं अतः रजोगुण से होंगी, परन्तु सत्त्व की प्रधानता वाला जो रजोगुण होगा वही पुण्य को उत्पन्न करेगा। रजोगुण से, जो अपनी पत्नी नहीं है उसकी तरफ कुदृष्टि करने की प्रवृत्ति होगी अथवा अपनी पत्नी से भी निषिद्ध समय भोग आदि की प्रवृत्ति होगी। पापोत्पादक वह रजोगुण है जिसमें तमोगुण दबा हुआ है। सारे ही राजस कर्मों से पापोत्पत्ति नहीं होती, देवदर्शन आदि राजस कर्मों से पापोत्पत्ति नहीं है। इसलिये यहाँ 'चकार' से यह समझ लेना चाहिये कि तमोगुण से मिश्रित (राजस) कर्मों से पापोत्पत्ति होगी, सत्त्वमिश्रित से पुण्य-उत्पत्ति होगी, इसमें संदेह नहीं। पुण्य भी दो प्रकार के समझना—एक तो जिसमें सत्त्व की प्रधानता है जिसे यहाँ वैराग्य, क्षांति आदि से कहा और दूसरा जिस सत्त्व के अन्दर थोड़ा रजोगुण भी मिला हुआ है, उसे यहाँ औदार्य (उदारता) में गिनाया। उदारता में किसी दूसरे के प्रति कुछ करने की प्रवृत्ति है, 'करना' रजोगुण से होगा। वैराग्य, क्षांति आदि तो शुद्ध अंतःकरण के द्वारा ईश्वर की प्रसन्नता के लिये किये जायेंगे और उदारता इत्यादि के द्वारा स्वर्ग लोक से ब्रह्मलोक तक जाने का अवसर मिलता है। देवदर्शन आदि के द्वारा वैकुण्ठ लोक इत्यादि में जा सकते हो। ये दोनों ही प्रकार के पुण्य निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग में ले जाने वाले होंगे। सत्त्व की प्रधानता होने से वैराग्य आदि; और सत्त्व में रज मिश्रित होगा तो उदारता आदि आयेंगे। इसी प्रकार राजस से पापोत्पत्ति इसी दृष्टि से कही है। आलस्य इत्यादि से पाप-पुण्य दोनों ही नहीं होंगे किन्तु उनसे जीवन का जो काल है वह व्यर्थ ही बिताया जा रहा है। पापकर्म से कम-से-कम इहलोक के क्षणिक सुखकी प्राप्ति तो हो जाती है, पुण्य कर्म से परलोक के चिरस्थायी सुख की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु तमोगुण से न यहाँ सुख और न आगे ही सुख मिलता है वरन् बेकार, जीवन व्यर्थ ही चला जाता है।

'अत्र' अर्थात् इस अंतःकरण में 'अहंप्रत्ययी कर्त्ता इति' 'मैं' इस प्रकार की अंतःकरण की (बुद्धि) वृत्ति से एकमेक अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है, सामान्यतः

जिसे जीवात्मा कहते हैं, वही कर्त्ता है अर्थात् वही प्रभु या मालिक है। राजा, या आजकल के ज़माने में राष्ट्रपति बन्दूक की गोली भी चलाना नहीं जानता, परन्तु फौज जीत जाये तो उसे लगेगा कि 'मेरी ही जीत या मेरी ही जय-जयकार है।' बांग्लादेश पर जीत में इन्दिरा गांधी को ही बधाई दी गई क्योंकि उसी को मालिक माना जाता था। सचमुच में कर्त्ता न होने पर भी उसी को कर्त्ता कहा जाता है जो अभिमानी हो। इसी प्रकार बाह्य विषयों से व्यवहार कौन करेगा, और कौन जानेगा? कर्मेन्द्रियाँ और प्राण करेंगे तथा जानेंगी ज्ञानेन्द्रियाँ; उनको प्रकाशित अंतःकरण में प्रतिबिम्बित चेतन करेगा। चीज़ों का ज्ञान होगा तो अंतःकरण या मन से। यह अहं-महाशय क्या करते हैं? करते कुछ नहीं हैं, वरन् राजा की तरह केवल हुक्म चलाते हैं। आँख से कहेगा 'देख।' तो अंतःकरण आदि सब देखने चले जाते हैं। बाकी सब इसके खटका दबाने से चलते हैं, इसके सिवाय यह कुछ नहीं करता है, फिर भी मालिक तो इसको ही माना जाता है। 'मैं' इस प्रत्यय को जो करता है वही कर्त्ता कहा जाता है। 'इति एवं' यह बात ऐसी है कि लोक में या संसार में भी देखी जाती है। यह इसलिये कहते हैं कि विचार करने पर तो 'अहं' कर्त्ता सिद्ध होता नहीं। कर्त्ता से भोक्ता भी समझ लेना। परन्तु जब तक विचार नहीं करते तब तक यही लगता है कि 'मैंने' किया, भले ही प्रमाण से निरूपण करने पर करने वाला मैं हूँ नहीं। गीता में भगवान् ने कहा है 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्त्वा न सज्जते'। जिस महाभूत से जो इन्द्रिय बनी, उसी तरफ वह इन्द्रिय जायेगी। चित्त के संस्कार के अनुसार मन, बुद्धि सोचेंगे। करने वाले ये ही सब हैं, 'मैं' तो करने वाला नहीं है। जो विचार से इस बात को समझ लेता है वही अनासक्त रहता है। विचार करने पर यह वृत्ति नहीं बनती कि 'मैं करने वाला हूँ।' परन्तु लौकिक, अविचारशील लोगों के लिये यही 'व्यवस्थिति' या स्थिति है कि 'अहंप्रत्ययी' या अहंवृत्ति-विशिष्ट कर्त्ता और भोक्ता है।।१५-१६।।

इन्द्रिय मन आदि सब पंचमहाभूतों से बने हैं। इस सब को जब भौतिक समझ लेते हैं तब पता लगता है कि मैं तो अभौतिक हूँ। ये सब जड हैं, चेतन तो एकमात्र मैं ही हूँ। इसलिये सृष्टि-प्रक्रिया के द्वारा वेद संसार की भौतिकता बताता है। हर उपनिषद् में सृष्टि-प्रक्रिया आती है। वह इसलिये कि जिसका अनुभव हो रहा है और जिसको अनुभव हो रहा है उन दोनों की भौतिकता का निश्चय होने पर दृश्य और द्रष्टा का विवेक सम्भव है। जब तक इनकी भौतिकता समझ में न आये तब तक तो आँख से देखने से 'मैंने' देखा यह अनुभव होता है। जब यह पता लगता है कि 'मैंने देखा होता तो आँख फूटने पर भी देख लेता, आँख तो भौतिक है' तभी विवेक का उन्मेष होता है। इसलिये इनकी भौतिकता का विवेक करना ज़रूरी है—

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वम् अतिस्फुटम्।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्याम् अवधार्यताम्।। १७।।

जहाँ स्फुट शब्दादि मौज़ूद हैं वे घटादि भूतकार्य हैं यह बात बहुत साफ है। इंद्रियादि भी भूतकार्य हैं इसे शास्त्र व युक्ति से निश्चित किया जाये।

घट आदि जो पदार्थ हैं वे शब्द, स्पर्श आदि वाले हैं, यह स्पष्ट है। घट आदि में शब्द आदि गुण स्पष्ट हैं। काली चीज़ काली और नीली चीज़ नीली ही दीखेगी। रंग आदि का नाम न मालूम हो तो नहीं कह सकते कि यह हरा है परन्तु दूसरा हरा देखेंगे तो जान लेंगे कि दोनों रंग एक ही हैं। इसी प्रकार 'शब्द' का ग्रहण तो संस्कार से होगा; भाषा का संस्कार है तब पता है कि यह अमुक शब्द है; परन्तु जो कण्ठ, तालु आदि के आघात से पैदा हुआ शब्द है वह कान से सुनाई देगा ही, इसलिये वह स्पष्ट है। इसी प्रकार गन्ध आदि में समझ लेना। क्या गन्ध है—यह तो प्रत्यक्ष से पता चलता है। यह सुगन्ध है या दुर्गन्ध—यह संस्कार से निर्णय होता है। हम लोगों को दूर से ही लहसुन आदि की दुर्गन्ध आ जाती है लेकिन जो उसको खाने के रसिक हैं उनको उसी से सुगन्धि आती है। एक ही चीज़ में किसी को सुगन्ध और किसी को दुर्गन्ध का अनुभव है। परन्तु गन्ध तो दोनों को एक ही आती है। घट आदि सब पदार्थ शब्द आदि गुणों से युक्त हैं। चूंकि इनसे युक्त हैं, इसलिये ये सब भूतकार्य हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से युक्त ही बाह्य जगत् है। शब्द, स्पर्श आदि के आश्रय जो आकाश, वायु आदि हैं उनके ही ये कार्य हैं। इस तरह बाह्य जगत् की भौतिकता तो अत्यंत ही स्पष्ट है, इसमें ज़्यादा विचार करने की ज़रूरत नहीं है। वह दृश्य है और हम उससे अलग हैं—यह तो करीब सबको मालूम है। हल चलाने वाला भी जानता है कि इन चीजों से जानने वाला मैं अलग हूँ। परन्तु ज्ञान की या कर्म की साधन जो इन्द्रियाँ हैं उनमें भूतकार्यत्व है—यह कैसे समझ में आये? देखने वाली आँख भौतिक है यह समझ में नहीं आता, वह भी दृश्य है यह समझ में नहीं आता। परन्तु वह भौतिकता ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और अन्तरिन्द्रियों में भी है इसका शास्त्र और युक्ति दोनों से निश्चय कर लेना चाहिये। यही विवेक का उद्देश्य है।

शास्त्र कहता है 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' मन अन्न से ही बना है और अन्न भौतिक है तो इसका विकार भी भौतिक ही होगा। शास्त्र की इस बात को हम कैसे मानें? जिसको यह उपदेश दिया था कि मन अन्न से बना है, उसी को यह संदेह हुआ था। आजकल साधारण आदमी भी सोचता है 'मन शुद्ध होना चाहिये, शरीर से कुछ भी हो। चाहे समय से नहाओ, मत नहाओ, शौचाचार करो या न करो, लेकिन मन शुद्ध हो तो तुम कुछ भी खाओ पियो, क्या नुकसान होना है।' ऐसे ही श्वेतकेतु की समझ में यह बात नहीं आई कि मन अन्नमय है तो आरुणि ने कहा 'आज से मर्ज़ी आये उतना पानी पीना, लेकिन पंद्रह दिन तक कुछ मत खाना।' इस प्रकार पंद्रह दिन तक उसे कुछ खाने को नहीं दिया। सोलहवें दिन उससे कहा कि 'वेद पाठ सुनाओ।' वह कहने लगा—'इस समय तो भूख के मारे एक भी मंत्र याद नहीं आ रहा है, केवल रोटी-दाल ही याद आ रहे हैं।' तब उससे कहा—'जाकर भोजन कर लो।' उसने भोजन कर लिया। शाम को मंत्र सुनाने को कहा तो वह खनाखन मंत्र सुनाने

लगा। मन को क्या हुआ था? केवल भोजन ही तो नहीं खा रखा था; मन में मंत्र याद क्यों नहीं आये? अब जब खाने को मिल गया तो मन तैयार हो गया, पूरी तरह से काम करने लगा। इस प्रकार युक्ति से भी निश्चय होता है और वेद तो कहता ही है। इसी प्रकार वेद ने कहा है 'आपोमयः प्राणः' प्राण जल से पुष्ट होता है। इसलिये शरीर-शास्त्र भी यही कहता है कि आदमी अपने को कमज़ोर अनुभव करे तो पानी पी लेने पर शरीर में ताकत आ जाती है। चाहे जितना खाने को मिले लेकिन पानी न मिले तो किसी भी कार्य को करने में अपने को सशक्त अनुभव नहीं करेगा। इसलिये कहा कि प्राण जलमय हैं। जो बात अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती है उसको युक्ति से सिद्ध मानते हैं। जल मिलता है तो ताकत रहती है। जल नहीं मिलता तो ताकत भी नहीं रहती। इसलिये जल और प्राण में कार्य-कारण-भाव सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार से भोजन मिलता है तो मन-बुद्धि काम करते हैं, भोजन नहीं मिलता तो मन-बुद्धि कार्यकारी नहीं होते। इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा मन भी भूतकार्य है, यह सिद्ध हो जाता है।

'अवधार्यताम्' ऐसा निश्चय करना पड़ेगा। बाहर की चीजें दृश्य हैं, भौतिक हैं यह तो इतना स्पष्ट है कि निश्चय करने में ज़्यादा प्रयास नहीं करना पड़ता। परन्तु इन्द्रिय और मन के बारे में बार-बार जब युक्तियों और शास्त्रों का अभ्यास करेंगे तब ये संस्कार दृढ होंगे कि ये भी भौतिक हैं। अन्यथा यही समझ आता है कि 'ये सब मेरे ही रूप हैं, 'मैं' हूँ तब हैं।' कुर्सी के लिये तो समझ में आ जाता है कि मैं कमरे से बाहर जाऊँगा तो कुर्सी वहीं रहेगी। परन्तु आँख के बारे में यह सोचना भी मुश्किल पड़ता है कि मैंने आँख बन्द कर दी तो आँख चली गई या कान में रूई लगा दी तो कान चले गये। यही लगता है कि कान बाहर से बन्द किया है। इसी प्रकार बार-बार युक्ति का अभ्यास करना है, तब ये संस्कार दृढ हो जाते हैं।। १७।।

भूत-भौतिक ही सारा बाह्य-आभ्यन्तर प्रपंच है यह समझने का उपयोग है इसके कारण के रूप में परमेश्वर से परिचय पाना। अतः 'सद् एव सोम्य! इदम् अग्र आसीद्' ऐसा छान्दोग्य में वेद ने कहा है। उस वचन का अर्थ समझाना शुरू करते हैं–

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते।।
यावत्किंचिद् भवेदेतदिदं-शब्दोदितं जगत्।। १८।।

ग्यारहों इंद्रियों से, युक्ति से और शास्त्र से जो कुछ भी समझ आता है वह जगत् (श्रुतिस्थ) 'इदं'–शब्द से कहा गया है।

पंचमहाभूत और पंचमहाभूतों से उत्पन्न होने वाली कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ व अंतःकरण, इन सब का विवेक करके बताया कि ये दृश्य हैं। परन्तु इस महाभूतविवेक प्रकरण में जिस श्रुति का प्रधानरूप से विचार करना है वह सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् है। प्रत्येक प्रकरण

में किसी-न-किसी वेद-वाक्य को सामने रखकर ही उसके अनुसार विचार करते हैं। विचारित सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् में आता है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्।' इसका शब्दशः अनुवाद है कि सृष्टि के पहले एक ही, दूसरे से रहित सत् ही था। इसमें इदं-शब्द के द्वारा सारे जगत् को कह दिया कि यह सद्रूप था। 'यावत् किंचिद् भवेद् एतत्' सारा जगत् जितना कुछ प्रमाणों के द्वारा जाना जाये, चाहे प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाना जाये, चाहे अनुमान प्रमाण से, चाहे अर्थापत्ति या उपमान प्रमाण से अथवा शब्द प्रमाण से जाना जाये, वह सब यह जगत् ही है। जितना भी जान सकते हो वह सब इंद-शब्द से कहा गया यह सारा जगत् है। एकादशेन्द्रियों से प्रत्यक्ष को कह दिया। ग्यारहों इन्द्रियों से जो जानते हैं वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से जो व्यवहार करते हैं वह प्रत्यक्ष है यह सब लोग मानते हैं। परन्तु सुख-दुःख आदि का अनुभव केवल मन ही करता है। इसी प्रकार बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जो मन प्रत्यक्ष करता है। मन किसी साधन से उन चीज़ों को नहीं जानता। सुख-दुःख आदि को खुद ही जानता है। 'युक्त्या' अर्थात् अनुमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाण युक्तियाँ हैं जिनसे जानता है। शास्त्र अर्थात् शब्द प्रमाण से भी जानता है। स्वर्ग, नरक, वैकुण्ठ लोक, ब्रह्मलोक आदि का न अुनमान कर सकते हैं, न इसमें अर्थापत्ति लग सकती है, यह तो केवल शास्त्र से ही पता लगता है। ऐसी बहुत-सी चीज़ें होती हैं जो शास्त्र से पता लगती हैं। अनेक बार लोग पूछते हैं कि शब्द प्रमाण को हम क्यों मानें या शास्त्र में लिखा है उसे हम क्यों मानें? तुम जितनी भी प्रत्यक्ष प्रमाण से परीक्षा करके देखो, किसी त्रिकोण में खूब नाप कर देखो, तीनों का योग कभी १८० अंश नहीं आयेगा! शास्त्र से तो सिद्ध है लेकिन प्रत्यक्ष से नहीं मिलेगा। क्यों? सीधी-सी बात है; जिस त्रिकोण की तुम कल्पना कर रहे हो उसकी रेखायें सीधी होनी चाहिये लेकिन गोल पृथ्वी पर कुछ भी रखोगे तो वह थोड़ा मुड़ा ज़रूर होगा, रेखायें सर्वथा सीधी नहीं होंगी। बहुत-सी चीज़ें हैं जिनका निश्चय तत्तत् शास्त्र से ही होता है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध करने जाओ तो नहीं होगा। जैसे दूसरे शास्त्रों को मानना पड़ता है, वैसे ही स्वर्ग आदि के लिये, पाप-पुण्य आदि के लिये, ईश्वर के लिये शास्त्र ही प्रमाण है; शास्त्र प्रमाण से ही इन्हें जाना जा सकता है। इसलिये युक्ति से शास्त्र को अलग किया। इन सब साधनों के द्वारा जो जाना जाता है, वह सब इदम् शब्द से कहा गया, कुछ भी बाकी नहीं बचा।। १८।।

उक्त छान्दोग्यश्रुति का अपने शब्दों से उपस्थापन करते हैं–

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम्।
सदेवासीन्नामरूपे नास्ताम् इत्यारुणेर्वचः।। १९।।

आरुणि का कथन है कि सृष्टि से पहले 'यह' सब एक ही अद्वितीय सत् ही था, नाम-रूप नहीं थे।

श्वेतकेतु के पिता का नाम उद्दालक आरुणि था। उनका यह वचन है अर्थात् उनका मतलब यह है। प्रायः जब कहते हैं कि 'यह उनका वचन है' तब लगता है कि उनके शब्दों का उद्धरण दे रहे हो। परन्तु कभी-कभी जब उनके कहे अर्थ का उद्धरण देते हो तब भी कहा जाता है कि 'उनका वचन है।' उन्होंने कहा कि सृष्टि से पहले केवल सत् था। लोक में सृष्टि का मतलब होता है जो पहले नहीं था उसको बनाया गया। सृज् धातु का अर्थ है 'बाहर फेंकना' इसलिये सृज धातु से बने सृष्टि शब्द का मतलब है कि जो अन्दर अव्यक्त रूप में है उसे बाहर व्यक्त कर दिया। अतः हम लोगों के यहाँ मिट्टी में घड़ा, सिकोरा आदि सब छिपे हुए हैं इसीलिये उससे पैदा होते हैं। ऐसा क्यों न मानें कि ये सब नये पैदा होते हैं? नये पैदा होते हों तो पानी को मथ कर घी पैदा कर लो! दही को मथ कर ही घी पैदा होगा, क्योंकि दही में घी है; दही के द्वारा ढका हुआ है इसलिये नहीं दीख रहा लेकिन मथकर प्रकट वही होगा जो वहाँ है। इसी प्रकार हम लोगों की मान्यता है कि जो चीज़ जिसमें है उसी से प्रकट होती है। अगर उसमें न होकर प्रकट हो तो किसी से भी कुछ भी बनाया जा सके। नियमतः चीज़ें कारण से बनती हैं तो इसमें कोई-न-कोई नियामक होना चाहिये। जो जिसमें है उसी से प्रकट होता है। इसीलिये सृष्टि के पहले अर्थात् यह सारा संसार जब तक परमेश्वर से बाहर नहीं आया था, तब तक 'एकमेवाद्वितीयकम्' अत्यंत अद्वितीय सन्मात्र था। नामरूप के द्वारा ही अनेकता की प्रतीति होती है। किन्हीं भी दो चीज़ों का भेद या नाम या रूप से होता है। जहाँ नाम और रूप दोनों एक हों वहाँ कभी नहीं कह सकते कि ये चीज़ें अलग हैं। जैसे, हम लोगों को अपनी-अपनी आँखों से यह घड़ी दीख रही है। दीख तो अलग-अलग रही हैं क्योंकि अपनी आँखों के पर्दे पर पड़ी परछाइयाँ अलग ही हैं! फिर भी घड़ी को एक मानते हैं क्योंकि जिससे भी पूछो—यह क्या है? तो एक ही नाम लेता है कि यह घड़ी है और एक ही रूप बताता है कि सफेद है। आँखों से सब अलग-अलग देख रहे हैं क्योंकि सबको अपने-अपने पर्दे पर दीख रहा है, परन्तु नाम-रूप एक हैं इसलिये एक ही मानते हैं। जब तक नाम-रूप प्रकट ही नहीं हुए थे तब तक अलग करने वाला कुछ न होने से केवल एक परमेश्वर ही था।

श्रुति ने केवल 'एक' नहीं कहा; 'एक' कहा, 'ही' कहा और 'अद्वितीय' भी कहा। जैसे किसी से कहें 'तुम एक भोजन करने आना' तब मतलब है कि दूसरा नहीं आये। और कहें कि 'दूसरे किसी को लिये बिना आना' तब भी मतलब है कि दूसरा न आये। द्वितीयता तीन तरह से हटाई जा सकती है १) तुम एक आना २) तुम ही आना; ३) दूसरे किसी को नहीं लाना। तीन प्रकार से एकता को बताया जाता है। यहाँ श्रुति ने तीनों इकट्ठे कह दिये 'एकम् एव अद्वितीयम्'। ऐसा नहीं कि श्रुति ने बेकार कह दिया हो! तीन तरह से चीज़ों में द्वितीयता होती हैः एक तो अपनी जाति वालों से द्वितीयता होती है; जैसे ब्राह्मण में अन्य ब्राह्मणों से द्वितीयता (दूसरापन) है। इसे सजातीय द्वैत कहते हैं, जहाँ एक ही जाति के अनेक व्यक्ति हैं। विजातीय द्वैत—जैसे एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय है, दोनों की एक जाति नहीं

है, दोनों अलग-अलग जाति के हैं फिर भी ब्राह्मणों में क्षत्रिय से द्वितीयता (दूसरापन) है। तीसरा, स्वगत द्वैत होता है; जैसे तुम्हारे शरीर में हाथ, पैर इत्यादि हैं लेकिन हाथ, पैर इत्यादि तुम तो नहीं हो, फिर भी हाथ-पैर इत्यादि तुमसे अलग नहीं हैं। तुमसे काटकर अलग कर दिया जायेगा तो वह 'हाथ' नहीं रह जायेगा। तुममें जो हाथ-पैर आदि से द्वितीयता (दूसरापन) उसे स्वगत समझा जाता है। इसे स्वगत भेद भी कहते हैं। अपने अन्तर्गत वस्तुओं से अपना फ़र्क स्वगत भेद है। 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' कहकर बताया कि सजातीय आदि त्रिविध भेद नहीं था। कोई दूसरा ईश्वर नहीं था, ईश्वर एक था। विजातीय भेद नहीं था अर्थात् सत् से भिन्न असत् कुछ नहीं था। कई लोग मानते हैं कि परमेश्वर ने परमाणुओं से सृष्टि की, इसलिये ईश्वर और परमाणु दो थे उनसे संसार बनाया। न कोई दूसरा ईश्वर था, न ईश्वर से अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ थी और ईश्वर के कोई टुकड़े (अवयव) भी नहीं थे।

एक शंका वेदान्त सुनने वाले कर सकते हैं कि, वह ईश्वर अपनी माया (शक्ति) के साथ तो था ही तभी सृष्टि की, अतः माया से सद्वितीयता क्यों नहीं रह जायेगी? अर्थात् स्वगत भेद को तो मानें। परन्तु यहाँ स्वगत भेद का भी निषेध है। अद्वितीय शब्द के रहते स्वगत भेद मानना शास्त्र से विरुद्ध है। माया से सद्वितीयता या भेद इसलिये नहीं कि सत् (है) का सत् (है) से ही द्वैत (भेद) सम्भव है जबकि माया सत् नहीं वरन् मिथ्या है। जो निन्यानबे रुपये हमारे पास हैं नहीं, उन्हें जोड़कर जैसे हमारा एक रुपया सौ रुपये नहीं हो जाता; जो रुपये हैं वे ही आपस में जोड़े जा सकते हैं; वैसे ही मिथ्या माया से सत् में सद्वितीयता, द्वैत, भेद नहीं आ सकता। सत् यदि दो हों तो जुड़कर सद्वितीय हो सकते हैं। परन्तु सत् एक ही है। उसके साथ भिन्न जाति की माया जुड़कर दो नहीं हो सकते।। १६।।

भूमिका रचकर जिसका विचार करना है वह छान्दोग्य श्रुति अर्थतः कही। उसमें एक, एव, अद्वितीय–इन तीनों पदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिये इनसे जिनका निषेध करना है उन त्रिविध भेदों (सद्वितीयताओं) को बताते हैं–

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः।। २०।।

पत्ते फूल फल आदि से वृक्ष का अलगाव 'स्वगत भेद' है। अन्य वृक्षों से वृक्षका अलगाव 'सजातीय भेद' है एवं पत्थर आदि से अलगाव विजातीय भेद है।

पेड़ के अन्दर पत्ते, फूल, फल होते हैं। 'आदि' पद से जड़ और तना भी होता है। इनको न वृक्ष से अलग कह सकते हैं क्योंकि पेड़ लाओगे तो पेड़ के पत्ते, फूल, फल आदि सब उसके साथ ही आयेंगे; और इन सब को वृक्ष से एक भी नहीं कह सकते कि पेड़ आ गया तो ये सब चीज़ें आ जायेंगी क्योंकि इनमें से एक चीज़ भी लाई जा सकती है, उससे 'पेड़ आ गया' यह नहीं कह सकते। अंगों से अंगी का स्वगत भेद है अर्थात् अपने अन्दर होने वालों से भेद है। भेद का मतलब अन्योन्याभाव होता है। जैसे हाथ पैर नहीं पैर हाथ नहीं

या घड़ा कपड़ा नहीं, कपड़ा घड़ा नहीं। घड़े का कपड़े से भेद, कपड़े का घड़े से भेद है। एक, एव, अद्वितीय–तीनों एक ही अर्थ के शब्द हैं, तीनों शब्दों से भेद की ही निवृत्ति समझनी है। इसलिये 'एकम्' शब्द से ही स्वगत भेद का निषेध लें यह ज़रूरी नहीं है, तीन शब्दों से तीनों भेदों को हटाना है।

दूसरा सजातीय भेद है। जैसे घड़े का अंग कपड़ा नहीं, कपड़े का अंग घड़ा नहीं, लेकिन दोनों ही दृश्य पदार्थ हैं इसलिये दोनों एक ही जाति के हैं। उनके अन्दर जो एक-दूसरे से भेद होता है वह सजातीय भेद है। इसी प्रकार यह नीम का पेड़ है, वह बबूल का पेड़ है, इसलिये नीम से भिन्न बबूल है। परन्तु दोनों वृक्ष जाति के हैं। स्वगत भेद तो अंगों से अंगी का है जबकि एक ही जाति की चीज़ों में परस्पर सजातीय भेद है। तीसरा विजातीय भेद है : जैसे वृक्ष एक जाति का पदार्थ है और पत्थर दूसरी जाति की जड चीज़ है। इसलिये जड और सजीव दोनों भिन्न जाति के पदार्थ हैं, इनमें परस्पर विजातीय भेद है अर्थात् दोनों भिन्न जाति के हैं और दोनों एक-दूसरे से अलग भी हैं। एकमेवाद्वितीयम् इन तीन पदों से तीनों भेदों की निवृत्ति है। तीन भेद ही संभव हैं। अतः भेदमात्र का, द्वितीयमात्र का, निषेध हो गया।। २०।।

उक्त ढंग से द्वितीय के तीनों संभव प्रकार बताकर समझाते हैं कि सत् तत्त्व में तीनों का निषेध श्रुति ने किया–

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्।। २१।।

वृक्षादि की तरह सद्रूप वस्तु में सम्भावित तीनों भेदों का क्रमशः एकता बताकर, अवधारण (एव) कहकर और द्वैत की मनाही करके निषेध श्रुति करती है।

जैसे वृक्ष आदि सद्रूप वस्तुओं के अन्दर तीन भेद देखे जाते हैं वैसे ही सत् भी एक वस्तु है इसलिये उसमें भी तीन भेद प्राप्त होते हैं अर्थात् उसमें ये तीन भेद हो सकते हैं। उन्हें हटाते हैं। किससे हटाते हैं? ऐक्य अर्थात् जो एकता कही उसके द्वारा स्वगत भेद मिटा दिया। एव, 'ही' कहकर अवधारण कर दिया कि दूसरा नहीं, इससे सजातीय भेद मिटा दिया। अद्वितीय से कहा कि उससे भिन्न जाति की कोई चीज़ नहीं है अर्थात् विजातीय भेद मिटा दिया। यह जो सामवेद ने क्रम से तीन शब्द कहे इनसे तीनों भेदों का निषेध किया कि ये तीनों भेद नहीं हैं। ।।२१।।

श्रुति ने भले ही कहा हो परन्तु सत् में भेद क्यों न माने जायें? सत् में भी भेद माने जायें तो हर्जा क्या है? अनेक बड़े आचार्य हुए हैं जो परमात्मा को अवयवी मानते हैं, जीवात्मा और जगत् को अवयव मानते हैं। जीव-ईश्वर में परस्पर शरीर-शरीरी-भाव मानते हैं। एक ही परमात्मा में जीव भी रहता है और जगत् भी रहता है। परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है, यह तो वे मानते हैं परन्तु परमात्मा के अन्दर जीव और जगत् हैं, ऐसा मानने वाले

वादी हैं। इसी को वे लोग विशिष्टाद्वैत कहते हैं अर्थात् जीव और जगत् से विशिष्ट ईश्वर है। इसके समाधान में बताते हैं कि क्यों भेद नहीं है–

सतो नावयवाः शंक्यास्तदंशस्यानिरूपणात्।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात्।।२२।।

सत् के अवयव संभव नहीं क्योंकि उसके अंशों (अवयवों) को परिभाषित कर नहीं सकते। नाम व रूप क्योंकि अभी (कारणदशा में) प्रकट नहीं हैं इसलिये वे सत् के अवयव नहीं हैं।

स्वगत भेद इसलिए नहीं है कि सत् के बारे में कहना कि उसके अवयव हैं, संभव नहीं। सत् का अंश जीव और जगत् कैसे कहें? अभी सृष्टि हुई नहीं, जीव और जगत् हैं ही नहीं तो वे सत् के अंश कैसे? अगर जीव और जगत् सत् के अवयवरूप से सदा हैं ही तो फिर सत् ने सृष्टि की किस चीज़ की? यदि जीव और जगत् हैं ही, तो बनाने वाले परमात्मा की क्या ज़रूरत है? इसलिये सत् (परमात्मा) का अंश जीव और जगत् मानना युक्तिसंगत ही नहीं है। कोई कह सकता है कि नाम-रूप उसके अंश हैं। किंतु यह बात भी नहीं है क्योंकि नाम-रूप 'अद्य' अर्थात् सृष्टि के पहले उपस्थित नहीं हैं, अभी बने ही नहीं हैं। अवयवों के न होने पर अवयवों से अवयवी में भेद (द्वैत) कैसे होगा?।।२२।।

कारणदशा में नाम-रूप क्यों नहीं, यह बताते हैं–

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा।
न तयोरुद्भवस्तस्माद् निरंशं सद्यथा वियत्।।२३।।

क्योंकि नाम-रूप का उद्भव ही सृष्टि है इसलिये सृष्टि से पूर्व उनका उद्भव नहीं था। अतः आकाश की तरह सत् अंशरहित है।

सृष्टि क्या है? नाम और रूप का उत्पन्न होना ही सृष्टि कहा जाता है। इसलिये सृष्टि के पहले नाम-रूप का उद्भव नहीं है अतः सत् के अन्दर अंश नहीं है, तो स्वगत भेद भी नहीं है। एक ही चीज़ ऐसी है जो हम लोगों को निरंश अनुभव में आती है, वह आकाश है। आकाश में कोई अंश नहीं है। इसलिये सब चीज़ों के परमाणु मानने वाले नैयायिक भी आकाश के परमाणु नहीं मानते। आकाश परमाणुओं से बना है, ऐसा वे भी नहीं मानते। अतः अनुमान हो सकता है कि वस्तु स्वगत भेद के रहित है, अवयव नहीं होने से, आकाश की तरह। जैसे आकाश में अवयव नहीं है तो उसमें स्वगत भेद नहीं है, वैसे ही सत् सृष्टि से पहले स्वगत भेद से रहित ही है। इस प्रकार स्वगत भेद सत् में क्यों नहीं है–यह स्पष्ट किया। यद्यपि युक्ति से यह अद्वैत समर्थित किया तथापि कारण और उसका अभेद (अद्वैत) शास्त्र से ही पता चल सकता है। सृष्टिकालिक विचार-प्रक्रिया से सृष्टि से पूर्व का 'पता' नहीं चल सकता, समझा भले ही जा सके।।।२३।।

अब सजातीय भेद को हटाते हैं–

सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात्।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा।। २४।।

सत् से समान-जातीय कोई अन्य सत् नहीं है क्योंकि उस 'अन्य' में सत् से विलक्षणता नहीं है। नाम-रूपात्मक उपाधि के भेद के बगैर सत् में भेद है ही नहीं।

जहाँ सजातीय भेद होता है वहाँ एक जाति वाले होने पर भी दोनों व्यक्तियों में कोई भेद होता है। जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त में भेद है क्योंकि दोनों के नाक, कान, मुँह, लम्बाई, चौड़ाई आदि सभी चीज़ों में अन्तर है। उन भेदों को लेकर ही कहते हैं कि देवदत्त यज्ञदत्त से अलग है। एक बार हम मनाली में दो महीने ठहरे थे। वहाँ जो मकान हमने भाड़े लिया था उसका मालिक सवेरे आया तो हमने उससे कोई बात कही कि अमुक चीज़ ठीक करवा देना। जब वह शाम को आया तो हमने उससे कहा कि 'तुमसे अमुक काम कहा था, वह नहीं हुआ।' हमने सोचा भूल गया होगा। उसने कहा–'आपने मेरे भाई से कहा होगा। हम जुड़वें हमशक्ल भाई हैं।' अगले दिन दोनों साथ-साथ आये, देखा तो दोनों में कोई फ़र्क नहीं, दोनों परस्पर फोटो-कॉपी जैसे थे! हमने सोचा कि प्रकृति में कोई दो चीज़ें बिलकुल एक जैसी तो हो नहीं सकतीं। दोनों का शरीर तो एक जैसा था, परन्तु एक भाई की आदत थी कि बात करते-करते कंधा मटकाता था, दूसरा वैसा नहीं करता था। थोड़ी देर बात हुई तो यह पहचान हो गई और फिर व्यवहार ठीक होने लग गया। जब तक दोनों में कोई न कोई भेद करने वाली चीज़ न हो तब तक सजातीय भेद कैसे सिद्ध हो? यह कैसे समझ आये कि यह वह नहीं? घटसत्ता और पटसत्ता अर्थात् घड़े का होना अलग है, कपड़े का होना अलग है। परन्तु सत्ता में यह भेद घट-पट के नाम-रूप को लेकर है। दोनों के नाम-रूप को हटा दो तो 'है'पने में कोई फ़र्क नहीं है। सत्ता का भेद बताते हैं तो किसी न किसी नाम या रूप को लेकर बताते हैं। बिना नाम-रूप का भेद बताये सत्ता का भेद नहीं बता सकते। उन्हें लेकर ही सत्ता में विलक्षणता, भेद है। सत्-मात्र के अन्दर विलक्षणता नहीं हो सकती क्योंकि विलक्षणता लाने वाले नाम-रूप अभी पैदा ही नहीं हुए। सत् जाति का दूसरा सत् तभी माना जाये जब सत् से उसे अन्य पहचान सकें। किंतु इस पहचान के लिये आवश्यक जो नाम-रूप, वे ही उत्पन्न न होने से यह पहचान असंभव और अनेक सत् न होने पर सत् की जाति ही अमान्य हो जाती है।

इसलिये सत् में सजातीय भेद भी नहीं हो सकता। आकाश में भी घड़ा-सिकोरा आदि उपाधियाँ रहते ही कम जगह ज़्यादा जगह आदि भेद का व्यवहार संभव है, स्वयं आकाश में भेद-व्यवहार संभव नहीं। ऐसी कोई उपाधि बनने से पूर्व जैसे 'अनेक आकाश' नहीं कह सकते ऐसे अनेक सत् नहीं कह सकते। अतः सत् के अन्दर सजातीय भेद बिना नाम-रूप

उपाधि के नहीं हो सकता और कारणावस्था में वह नाम-रूप उपाधि पैदा ही नहीं हुई। ।।२४।।

विजातीय से भेद का भी निषेध करते हैं–

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद् भिदा कुतः।।२५।।

सत् से विजातीय असत् होगा। वह तो 'नहीं है'–यों ही समझ आता है। अतः वह भेद का भी प्रतियोगी नहीं तो सत् में विजातीय से भेद क्योंकर होगा!

सत् से भिन्न जाति की चीज़ असत् होगी, क्योंकि सत् जाति छोड़कर दूसरी तो असत् ही होगी। जैसे जो ब्राह्मण जाति का नहीं है वह अब्राह्मण, अर्थात् क्षत्रियादि ही है, उसी प्रकार जो सत् जाति का नहीं है वह असत् है। सत् का विजातीय असत् है। असत् अर्थात् 'न खलु अस्ति' जो नहीं ही है। इस कमरे में सोने का पहाड़ नहीं है अर्थात् सोने का पहाड़ यहाँ असत् है। असत् कोई प्रतियोगी नहीं है। किसी चीज़ का निषेध करते हैं तो जिसका निषेध किया जाता है उसको प्रतियोगी कहते हैं। घड़े को कोई जानेगा तभी कहेगा कि घड़ा नहीं है। किंतु असत् यों ज्ञेय नहीं; किसी के निषेधरूप से भी नहीं समझा जा सकता क्योंकि वह किसी 'वस्तु' (सत्य) का निषेध नहीं है। अतः असत् प्रतियोगी नहीं हो सकता। इसलिये विजातीय भेद कैसे हो सकता है? अगर विजातीय कोई चीज़ होती, असत् कुछ होता, तो वह सत् से अलग भी होता। असत् अर्थात् 'कुछ नहीं' और 'कुछ नहीं' से सत् अलग कैसे होगा? इस प्रकार, सत् में न स्वगत न सजातीय और न विजातीय भेद है इसलिये श्रुति ने कह दिया 'एकमेवाद्वितीयम्' सृष्टि से पहले अद्वितीय एक ही सत् था।।२५।।

उपनिषत् द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से विरुद्ध एक पक्ष स्वयं उपनिषत् ने बताया है, उसकी परीक्षा प्रारम्भ करते हैं–

एकमेवाद्वितीयं सत् सिद्धमत्र तु केचन।
विह्वला असदेवेदं पुराऽऽसीदित्यवर्णयन्।।२६।।

उक्त विचार से एक ही अद्वितीय सत् सिद्ध हुआ। इस पर कुछ लोगों ने सन्मात्र न समझ पाने से यों वर्णन किया कि 'इदम्' पहले असत् ही था।

एक ही अद्वितीय अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित सृष्टि के पहले सत् का रूप सिद्ध हुआ। परन्तु यह जो सारे भेदों से रहित केवल एकमात्र परमात्मा ही है, इस विषय में 'केचन' बहुत से लोग विह्वल हो जाते हैं! अगले श्लोक में आचार्य खुद बतायेंगे कि विह्वल का क्या अर्थ है। हमारी आदत विभिन्न चीज़ों को ध्यान से देखने की है अतः ध्यानादि में एकाकार वृत्ति बनाये रखने से हम जल्दी विह्वल होते हैं, घबराते हैं, विविधता

की ओर वृत्ति ले जाने को उतावले होते हैं। इसी प्रकार यह एक ही अद्वितीय सत् कहा जाता है तो मन का प्रचार कहाँ करें, मन इधर-उधर कहाँ जाये! क्योंकि वहाँ कोई चीज़ें तो हैं ही नहीं। इसीलिये घबरा जाते हैं, विह्वल हो जाते हैं। विह्वल होकर कहते हैं कि 'इतना ही इसका मतलब है कि यह सब पहले नहीं था'। यह ख्याल रखना कि पहले यह सब नहीं था, केवल इतना ही नहीं, वरन् सत् था—यह भी श्रुति का अर्थ है। सत् में कोई भेद नहीं था, परन्तु सत् था। वे समझते हैं कि केवल इतना ही मानें कि यह सब पहले नहीं था, एक परमात्मा मानने की क्या ज़रूरत है?

ऐसे समझ लो कि उनका कहना है कि *तिल से* तेल नहीं निकलता है बल्कि जब तिल *नहीं रहता* है तब तेल निकलता (मिलता) है; तिल को कोल्हू में पेरते हैं तो तिल नहीं रहता, इसलिये तिल *नहीं रहने* से तेल पैदा होता है। अतः केवल यही कह सकते हैं कि तेल पैदा होने के पहले कोई चीज़ नहीं थी। इसी तरह उनका प्रश्न है कि वहाँ कोई नाम-रूप नहीं है तो वहाँ कोई चीज़ सत् है, यह कैसे मान लें? यह उनके कहने का हृदय है। नाम-रूपात्मक कोई चीज़ नहीं थी, अर्थात् इसके पैदा होने के पहले, असत् ही था, सत् नहीं था—ऐसा ये वर्णन करते हैं। इस पक्ष को श्रुति ने स्वयं उठाकर स्वयं ही इसका निषेध भी किया है। यदि असत् से पैदा हो तो तिल खरीद कर लाने की क्या जरूरत है? *कुछ नहीं* से तेल पैदा करना है तो वह 'कुछ नहीं' सुलभ है ही, उसी में से तेल निकाल लो! लेकिन चाहे जितना कट्टर असद्वादी हो फिर भी तेल के लिये तिल खरीदता ही है। यदि तिल को तेल का कारण नहीं मानता तो तिल क्यों खरीदता? व्यवहार में तो सभी यह मानते हैं कि कुछ होगा, उसी से कुछ पैदा होगा। 'कुछ नहीं' से 'कुछ' पैदा होता है—ऐसा सचमुच में मानने वाला कोई है नहीं। वाद के लिये कह देंगे फिर भी प्रवृत्ति तो चीज़ों को लाने की ही होती है।।२६।।

विह्वलता को उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ।। २७।।

जलाशय में डूबे व्यक्ति की इन्द्रियाँ जैसे विकल हो जाती हैं वैसे अखण्ड एकरस को सुनकर असद्वादी की बुद्धि उस तत्त्व में प्रवेश न कर पाने से डर जाती है।

कोई समुद्र के अन्दर पूरी तरह से डुबकी लगा ले तो उसकी आँख इत्यादि इन्द्रियों को वहाँ कुछ भी नजर नहीं आता क्योंकि जिधर देखें उधर पानी ही पानी है। सामान्यतः यह नियम है कि कोई फ़र्क वाला विषय होता है तब इन्द्रियों से ज्ञान होता है। जब तक कोई विरोधी अर्थात् भिन्न का ज्ञान न हो तब तक किसी चीज़ का पता ही नहीं लगता। यह इन्द्रियों का स्वाभाविक प्रकार है। जैसे हम लोगों को, आबू में बिलकुल शांति है—यह पता नहीं लगता। कोई बम्बई, कलकत्ता से आता है तो कहता है कि कितनी शांति है। क्योंकि वहाँ की अशांति का उसे स्मरण है इसलिये आबू की शांति को पहचान लेता है। हम लोगों

को सामान्य लगती है। वैपरीत्येन, हम दिल्ली जाते हैं तो हमें वहाँ बड़ा शोर सुनाई देता है, यद्यपि वहाँ रहने वाले कहते हैं कि 'ऐसा तो कोई शोर नहीं है', उन्हें वही सामान्य लगता है।

चित्र के अन्दर गहराई दिखाने के लिये रंग में फ़र्क कर देते हैं, कहीं गहरा, कहीं हल्का तो कहीं उससे हल्का रंग भरते हैं तो उस चित्र में लगता है कि पानी कितना गहरा है या नदी बह रही है। ठीक एक जैसा रंग पोत दो तो 'नदी बह रही है' ऐसा भान नहीं होता। दस लड्डू खाते चले जाओ तो लड्डू का मिठास कम होने लगता है। फिर आम के अचार की एक फाड़ी खा लो तो पुनः उस लड्डू में मिठास का भान होता है। इसी प्रकार, समुद्र में आदमी गोता लगाता है तो वहाँ कहीं कोई भेद का भान नहीं रहता है। केवल एक इन्द्रिय नहीं वरन् सारी ही इन्द्रियाँ विह्वल हो जाती हैं।

इसी प्रकार वेद कह देता है 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् तीनों भेदों से रहित होने के कारण अखण्ड एकरस ब्रह्म ही है। ऐसा जब वेद में पढ़ते हैं तब असद्वादी लौकिक लोगों की बुद्धि निष्प्रचार हो जाती है, अर्थात् क्या सोचें—यह उनकी समझ में ही नहीं आता। बहुत से लोगों का प्रश्न होता है कि ध्यान कैसे करें? जब कहते हैं 'शंख चक्र गदा पद्म धारण किये हुए, सांवले रंग के, मुकुट पहने हुए, कौस्तुभ धारण किये हुए का ध्यान करो।' तो कहते हैं कि 'यह तो मूर्ति है, अमूर्त का ध्यान कैसे करें?' फिर अमूर्त बताते हैं तो कहते हैं कि 'कोई चीज़ सामने हो तो ध्यान करें!' यह तो वही बात हुई जैसे कोई बीमार हो गया और वह खाने का शौकीन है। उससे केवल खिचड़ी खाने को कहें तो कहता है कि वह तो भाती नहीं। लड्डू खाता है तो पेट खराब हो जाता है। उसके लिये मरने के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं है क्योंकि वह या तो खिचड़ी खाना सीखे या लड्डू खा कर जंगल जाने की सोचे। इसी प्रकार साधक या तो किसी सगुण साकार का ध्यान करना सीखे या तीनों भेदों से रहित केवल ब्रह्म ही है ऐसा चिंतन करे। जो इस तरह अधिकारानुरूप कदम-कदम आगे नहीं बढ़ता, उसकी बुद्धि निष्प्रचार हो जाती है अर्थात् समझ नहीं पाती कि क्या सोचे। क्योंकि तत्त्व अखण्ड एकरस है इसलिये उससे उनको भय लगता है जो सखण्ड अनेकरस के ही चिन्तन में सक्षम हैं। जैसे, छोटे बच्चे से माँ कहती है 'तुम कमरे में रहना, मैं बाहर से ताला लगा दूँगी, कोई नहीं आयेगा।' वह कहता है—'नहीं माँ। मुझे डर लगता है।' अरे! किस चीज़ का डर लगता है? डर तो दूसरे से लगता है, अपने आपसे कैसे डर लग सकता है? कहेगा 'यह तो मैं नहीं बता सकता, लेकिन डर तो लगता है।' दूसरा ही कोई भय का कारण हुआ करता है। श्रुति भी कहती है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' दूसरा है नहीं तो किससे डर रहा है! परन्तु बालक को फिर भी डरते देखा जाता है। इसी प्रकार से लौकिक लोग भी विह्वल हो जाते हैं, भयभीत होते हैं कि एकमात्र ब्रह्म ही है; इसी अकेलेपन से उन्हें डर लगता है। इसीलिये वे श्रुति का अर्थान्तर करना चाहते हैं ताकि कुछ तो वहाँ सोचने को मिले।।२७।।

अखण्ड एकरस लोकबुद्धि से सिद्ध न हो सकने से श्रुति का यही अभिप्राय है। यह दृढ करने के लिए साम्प्रदायिक आचार्यों के वचनों का संवाद दिखाते हैं–

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम्।
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे।।२८।।

साकार ब्रह्म में निष्ठा वाले 'अन्य योगियों' को निर्विकल्प समाधि में अत्यधिक डर लगता है ऐसा गौडपाद आचार्य ने कहा है।

हमारे सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य गौडपादाचार्य हैं। वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्दर दो आचार्य देवरूप हैं–नारायण और ब्रह्मा। नारायण ने ब्रह्मा को उपदेश दिया। ये दोनों देवता थे, मानव नहीं थे। ब्रह्माजी ने अपने पुत्र वसिष्ठजी को, वसिष्ठ जी ने अपने पुत्र शक्ति को, शक्ति ने अपने पुत्र पराशर को और पराशर ने अपने पुत्र व्यास को उपदेश दिया। ये चारों ऋषि थे। इन्हें मानवाध्वा में नहीं मानते, इन्हें भी मनुष्य योनि में नहीं गिनते। व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव को उपदेश दिया। शुकदेव ऋषि नहीं हैं इसलिये मनुष्य ही हैं। उन्होंने गौडपादाचार्य को उपदेश दिया था। शुकदेव द्वापर में पैदा हुए और गौडपादाचार्य कलियुग में पैदा हुए। गौडपादाचार्य ऐसे पहले आचार्य हैं जिनका ग्रन्थ हमें उपलब्ध है, उपदेश तो नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ जी ने भी दिये और हमें उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य, उद्दालक आदि प्रसिद्ध ही हैं जिनके उपदेश मिलते हैं। ये सब ऋषि थे। मनुष्यों में शुक को छोड़कर सबसे पहले गौडपादाचार्य का ग्रन्थ मिलता है।

सनातन धर्म में सब चीज़ों का ज्ञान देने का अधिकार ब्राह्मण को है, इसलिये ज्ञान देने वाले ब्राह्मण लोग हैं। ज्ञान लेने का अधिकार तो दूसरे वर्णों को भी है। ब्राह्मणों में दो भेद हैं–पंचगौड और पंचद्राविड। एक सम्प्रदाय में गौड ब्राह्मण होते हैं और दूसरे में द्राविड ब्राह्मण होते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि इसके प्रथम आचार्य भी 'गौड' हैं और एक तरह से जो सबसे अन्तिम आचार्य हुए, वे भी 'गौड' ब्रह्मानन्द हैं। अर्थात् आदि आचार्य भी गौड और अन्तिम आचार्य भी गौड हैं। परन्तु वेदान्त सम्प्रदाय के सबसे महान् आचार्य शंकर द्रविड, नम्बूदरि ब्राह्मण थे। अतः वेदान्त सम्प्रदाय की परम्परा में गौड और द्रविड दोनों आचार्य हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने (नै.सि. ४.४४) लिखा है 'एवं गौडैर्द्राविडैर्नः' अर्थात् हमारा सम्प्रदाय द्रविड और गौड दोनों को ही सम्मत है। हमारे पूज्य आचार्य गौडाचार्य और आचार्य शंकर हैं।

वेदान्त सम्प्रदाय के आदि मानव-आचार्य कलियुग में होने वाले गौडाचार्य हैं। गौडाचार्य कहाँ के थे? आनन्दगिरि स्वामी ने इन्हें कुरुक्षेत्र के नजदीक का कहा है। वैसे, प्राचीन लोग बंगाल, पूर्व बिहार, उड़ीसा और आसाम के सारे प्रदेश को गौड कहते थे। भारतीय आचार्य किसी को अपना परिचय जल्दी नहीं देते। फिर भी इतना पता था कि गौडाचार्य गौड देश से आये। जैसे उड़िया बाबा उड़ीसा से, मद्रासी बाबा मद्रास से आये यह बोल-चाल आदि

से मालूम चलने पर भी स्थल-विशेष अज्ञात रहता है। अतः बहुत-से विद्वान् लोग इन्हें बंगाल, उड़ीसा का भी मानते हैं। गौडपादाचार्य ने असम्प्रज्ञात समाधि-काल में भेदवादियों को भयग्रस्त बताया है (मां.का. ३.३९)। पतंजलि ने जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा है, अन्यत्र उसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। किसी चीज़ का ज्ञान सविकल्प ज्ञान है। जैसे 'यह वृक्ष है' यह सविकल्प ज्ञान है क्योंकि तुम्हें पता है कि यह वृक्ष है। परन्तु यदि तुम्हें यह तो पता लगता है कि कुछ है, लेकिन पेड़ है या हाथी है आदि कुछ पता नहीं लग रहा है, विशेष का या विकल्प का पता नहीं है, तो उसे निर्विकल्प ज्ञान कहेंगे। चूँकि अखण्ड ब्रह्म में एकरसता है, द्रष्टा-दृश्य का भेद नहीं है, इसलिये दर्शन का भेद अपने आप ही नहीं है। केवल दृङ्मात्र ही है। लोक में सामान्य ज्ञान को निर्विकल्प ज्ञान मानते हैं। उसमें, क्या है—यह पता नहीं रहता है। इस दृष्टि से आत्ममात्रानुभव रहते इसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। पतंजलि महर्षि ने इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा है। अखंड ब्रह्म का ज्ञान द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि भेद से रहित असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प समाधि में होता है। पतंजलि ने कहा 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'। असम्प्रज्ञात समाधि काल में द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, सारी उपाधियों का अभाव हो जाता है। द्रष्टा का स्वरूप अखण्ड एकरस है इसलिये अखण्ड एकरस में स्थित हो जाता है। जिसने वेदान्त का श्रवण करके अखण्ड एकरस का पहले निश्चय कर लिया है वह जब निर्विकल्प समाधि में पहुँचता है तो वहाँ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। परन्तु जो किसी अन्य के साथ सम्बन्ध चाहते हैं, जो आत्मा की निर्विकल्पता, अखण्डता समझते नहीं हैं, वे सारे 'अन्य योगियों' में आ गये। अन्य योगी कौन होते हैं? जो साकार ब्रह्म में निष्ठा वाले हैं। विष्णु, शंकर आदि का ध्यान करने वाले भी हैं तो ब्रह्मनिष्ठ ही, परन्तु उस अखंड एकरस ब्रह्म की निष्ठा वाले नहीं वरन् उसके किसी-न-किसी एक प्रकार की कल्पना करने वाले हैं। 'साकार' में 'आकार' का मतलब मनुष्य आदि आकार ही नहीं लेना, प्रकाश, छवि, शब्द आदि सब चीज़ों को 'आकार' में ही समझना। यहाँ आकार का मतलब है कि तुमको ज्ञान हो जाये कि यह *ऐसी* है। अतः हिरण्यगर्भ, विष्णु, शंकर, सूर्य आदि का ध्यान, ओंकार आदि का ध्यान करने वाले सभी साकार-ब्रह्मनिष्ठ हैं। जब किसी चीज़ के बारे में कह सकें कि यह ऐसी है, तब भी साकार ध्यान है। द्रष्टा का स्वरूप अनुभवमात्र है। उस तत्त्व के अतिरिक्त, चाहे प्रकाश हो अथवा और कुछ हो, सभी 'साकार'-ब्रह्मनिष्ठा के अन्तर्गत है।

ब्रह्म का लक्षण है—जो सृष्टि को पैदा करे और सृष्टि रूप से हो जाये। विष्णु, शंकर, सूर्य का प्रकाश आदि अथवा अनहद (अनाहत) ध्वनि के भक्त सब यही मानते हैं कि जिनको मान रहे हैं उसी ने जगत् को उत्पन्न किया, वही जगत् के आकार का हुआ। 'वासुदेवः सर्वमिति'—यह तभी हो सकता है जब वासुदेव बनता भी है और सब कुछ को बनाता भी है। इसी प्रकार ध्वनि, नाद के उपासक भी उसी को जगत् का कारण बताते हैं। उनके सबसे बड़े आचार्य वाक्यपदीयकार भर्तृहरि हुए हैं जिन्होंने शब्द से ही सारी सृष्टि

मानी है। परन्तु ये सारे के सारे साकारब्रह्मनिष्ठ हैं क्योंकि इन लोगों को लगता है कि जिसको हम इष्ट या ब्रह्म मान रहे हैं, वही निर्विकल्प में नहीं रहेगा। इसलिये उन्हें अत्यंत भय होता है। सृष्टि आदि सारे कार्यकारणभाव का भार जिस पर डाल पाते हैं ऐसा साकार (सविशेष) न मिलने पर व्यवस्थावादी का भय स्वाभाविक है।

एक बगीचा बहुत अच्छा था, उसका मालिक उसे बड़ी अच्छी तरह रखता था। सब लोग बगीचे की बड़ी तारीफ करते थे। उसके पड़ोस में किसी की एक गाय बगीचे में घुसकर सारे पौधे, फूल आदि चर जाती थी। बगीचे के मालिक ने पड़ोसी से कहा 'तुम अपनी गाय को सम्भाल कर रखा करो, मेरा बगीचा बर्बाद कर जाती है।' उसने भी कह दिया, 'ठीक है, मैं ध्यान रखूँगा।' वह क्या ध्यान रखे! गाय तो फिर आकर चर जाती थी। पड़ोसी बार-बार केवल कहे 'मैं कोशिश करूँगा।' अगली बार जब गाय चरने आई तो बागवाले को बड़ा गुस्सा आया और उसने जोर से गाय को डण्डा मारा। गाय वहीं मर गई! गाँव में प्रसिद्धि हो गई कि वह तो गोहत्यारा है! उसके हाथ का पानी भी नहीं पी सकते। पहले ऐसी ही परम्परा थी। बगीचे का मालिक पढ़ा-लिखा था। उसने विचार किया कि गाय को हाथ ने मारा, और हाथ का देवता इन्द्र है। इन्द्र प्रेरणा करेगा, तभी हाथ मारेगा। उसने गाँव के सब लोगों को इकट्ठा करके कहा—'आप लोग कहते हैं मैंने बुरा किया, लेकिन शास्त्र कहता है कि हाथ का देवता इन्द्र है। उसकी प्रेरणा से हाथ ने मारा। इसलिए मैंने नहीं मारा, इन्द्र ही गोहत्यारा है।' गाँव वाले तो सीधे-सादे होते ही हैं, कहा—'तब तो ठीक है।' सब का आना-जाना, उसके साथ बैठना-खाना शुरू हो गया। लेकिन लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि 'कलियुग में इन्द्र भी गोहत्या करने लगा!' एक दिन नारद जी उस गाँव से निकल रहे थे तो उन्होंने भी सुना कि गाँव में प्रसिद्धि है कि इन्द्र से गोहत्या हो गई है। नारद जी के पूछने पर लोगों ने बताया कि इस-इस प्रकार से एक ब्राह्मण के हाथ को उठवाकर गाय को मरवा दिया। नारद जी ब्रह्मज्ञानी हैं ही, समझ गये क्या खेल है। वहाँ से इन्द्र के यहाँ पहुँचे। इन्द्र ने उन्हें बड़े आदर से बिठाया, पूछा 'आप सब जगह घूमते हैं, कोई खास खबर हो तो बताइये।' उन्होंने कहा 'अमुक गाँव में प्रसिद्धि हो गई है कि तुमने गोहत्या की है।' इन्द्र ने कहा 'मैं तो वहाँ कभी गया ही नहीं, मैंने गो-हत्या कैसे की?' नारद जी ने सब बता दिया। इन्द्र सोचने लगा कि यह तो बड़ी बदनामी हो गई। आजकल यह सब होने पर भी लोगों को लज्जा नहीं आती। बड़े-बड़े बूचड़खाने खुले हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी वहाँ बड़े-बड़े अफसर रहते हैं। उस विभाग के मंत्री भी बन जाते हैं। कोई नहीं विचार करता कि कैसे पाप की कमाई खा रहा है। लेकिन वह प्राचीन काल था। लोग ऐसा मानते थे 'बद अच्छा बदनाम बुरा'। इन्द्र वेश बदल कर उस गाँव में आया, उस बगीचे में पहुँचकर मालिक से कहा 'आपका बगीचा तो बहुत बढ़िया है।' ब्राह्मण ने कहा—'मैं बहुत मेहनत करता हूँ, रात-रात भर लगा रहता हूँ, तब यह बगीचा इतना बढ़िया दीख रहा है।' इन्द्र ने भी हरी-हरी घास, फल-फूल आदि सबकी खूब तारीफ की। ब्राह्मण सब जगह यही कहता था 'मैंने हाथ

से खूब मेहनत की, सब कुछ मेरे हाथ का किया हुआ है।' तब इन्द्र ने कहा 'यह सब काम तू अपने हाथ से करता है तो क्या केवल गाय मारने के लिये मैं आ गया था?' यह केवल उस ब्राह्मण की बात नहीं समझ लेना। आज सर्वत्र यही होता है। हरित क्रांति हम लाते हैं, परन्तु अकाल तो भगवान् लाते हैं। जैसे साधारण लोग अवांछित-कारणता परमेश्वर, दैव आदि पर डालते हैं वैसे दार्शनिक, भक्त आदि जगद्व्यवस्था का निर्वाहक परमेश्वर चाहते हैं अतः भय लगता है कि भगवान् ही नहीं होंगे तो सारी व्यवस्था हम किस के जिम्मे डालेंगे! भय होता है कि सहारा चला गया।।२८।।

आचार्य ने ऐसा कहाँ कहा—यह बताने के लिये उनका श्लोक ही उद्धृत कर रहे हैं। माण्डूक्य उपनिषद् के बारह मंत्रों पर उन्होंने वार्तिकरूप कारिका लिखी है। वार्तिक का लक्षण है कि जो मूल में कहा गया उसे कहे, जो किसी कारण से मूल में कहना छूट गया हो उसे भी कहे, और मूल में कोई बात दो बार कह दी हो तो उसका तात्पर्य बताये कि दो बार क्यों कही। माण्डूक्य उपनिषद् पर गौडपादाचार्य ने जो ग्रन्थ लिखा वह इस दृष्टि से वार्तिक है। माण्डूक्यकारिका नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ उन्होंने कहा है—

'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः'।।२९।।

'अस्पर्श' नामक योग सब योगियों द्वारा पाना कठिन है। अभय में (भी) भय देखने वाले योगी इस (अस्पर्श योग) से डरते ही हैं।

जिस योग का हम प्रतिपादन कर रहे हैं अर्थात् माण्डूक्य-कारिका में जिसे बताया है वह अस्पर्श योग है। संसार में जहाँ कहीं भी कुछ होता है वहाँ इन्द्रियों का या मन का विषय से स्पर्श होता है। रूप के ज्ञान में आँख का स्पर्श रूप वाले पदार्थ के साथ होता है। इसी प्रकार से रसनेन्द्रिय का रस वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है तब स्वाद आता है। जैसे बाह्य विषयों के साथ स्पर्श है वैसे ही अन्दर भी विषयों के साथ स्पर्श है। अविद्या के द्वारा मन सुख-दुःख का स्पर्श करता है तब अन्दर सुख-दुःख का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अन्य भी अन्दर के सारे ज्ञान हैं। मन समेत सब इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होना सब देहधारियों के लिए साधारण है। परन्तु जो इस प्रकार के अस्पर्शयोगी हैं उनकी विशेषता है कि सम्बन्ध का काल आता है तो वे *अपने* अस्पर्श को याद रखते हैं। उनका स्पर्श कहीं, किसी से नहीं हो सकता क्योंकि उन्हें इस बात का ज्ञान है कि यदि कोई चीज़ मुझ से अतिरिक्त हो तो उससे मेरा स्पर्श हो। 'अहमेव परं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' मैं ही परब्रह्म हूँ, अर्थात् कण-कण और क्षण-क्षण में मैं ही ब्रह्म हूँ। मैं ही हूँ तो मेरा मुझ ही से स्पर्श कैसे हो सकता है! अंगुली के अग्रभाग से उसी अंगुली के अग्रभाग का स्पर्श नहीं कर सकते। दूसरी चीज़ों का ही स्पर्श उस अंगुली से कर सकते हैं। आँख से सारी दुनिया को देख सकते हैं लेकिन आँख से आँख को नहीं देख सकते। अपनी आँख को देखना ही हो तो सामने

काँच रखकर देखते हैं। काँच में प्रतिबिम्ब दीखता है। उस प्रतिबिम्ब को आँख मानते हैं। जब तक प्रतिबिम्ब नहीं बनाओ, नहीं देख सकते। आँख स्वयम् आँख को नहीं देख सकती, आँख के प्रतिबिम्ब को भले ही देख सके। स्व से स्व का स्पर्श नहीं बनता। मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं तो स्पर्श कैसे बने? फिर स्पर्श होता दीखता क्यों है? यह सारा संसार मानो अविद्या के दर्पण में दीख रहा है। अविद्या के दर्पण में ही यह सारा विश्व दीख रहा है। जो दीख रहा है वह 'मैं' झूठा है। केवल दृङ्मात्र ही सत्य है। अगर कुछ भी होता जो मैं नहीं, तभी स्पर्श होता। इस तरह कुछ करके अर्थात् स्पर्श करके कभी भी अस्पर्श योग की सिद्धि नहीं हो सकती। गौडपादाचार्य ने तो इसको ही बताया है।

भेददर्शन करने वाले योगी, किसी चीज़ के साथ स्पर्श चाहते हैं, सम्बन्ध चाहते हैं, वे ही स्पर्श-योगी हैं। वे इस अस्पर्श वस्तु का दर्शन कर ही नहीं सकते। उनके लिये यह असंभव है क्योंकि जो है उसके अन्दर वे नहीं रह सकते, कुछ बदल कर हो, ऐसा चाहते हैं। इसीलिये अस्पर्श योग का दर्शन उन्हें हो ही नहीं सकता। ये योगी अस्पर्श योग से भय खाते हैं। बहुत से वैष्णवों को हम जानते हैं जो यह मानते हैं कि 'ध्यान करते ऐसी स्थिति आ जाती है कि वहाँ भगवान् की मूर्ति भी नहीं रह जाती, परन्तु उससे सावधान रहना क्योंकि वह गलत स्थिति है'! जगत् सत्य हो तो व्यवस्थापक न रहना भयावह भी समझ आये परन्तु मिथ्या संसार के लिये उसकी जरूरत ही कहाँ है! वास्तविक उधार लौटाना पड़ता है, स्वप्न में लिया उधार जगकर लौटाने का औचित्य ही नहीं है। जब तुम जग गये तब तुम जानते हो 'मैं लाख रुपया लेता हुआ प्रतीत हुआ था, परन्तु लिया नहीं था'। इसी प्रकार सत्य के ज्ञान से पता लगता है कि देखता हुआ प्रतीत हुआ था, देखा तो था ही नहीं। न वहाँ देखने का साधन इन्द्रियाँ थी और न विषय थे जिन्हें देखें। क्योंकि ऐसा त्रैकालिक अत्यंताभाव-निश्चय होता है, इसीलिये यह अभय पद है। फिर भी अन्य योगी इसी से भय खाते रहते हैं, जैसे बालक अकेले में भय खाता है। भय का कोई हेतु नहीं है, भय तो किसी दूसरे से होता है, कमरे में दूसरा कोई है नहीं तो मैं भय किससे खा रहा हूँ? कोई-न-कोई कल्पित कारण मानकर ही डरना संभव है। जैसे 'हौआ' कुछ है ही नहीं, फिर भी उससे बच्चों को भय लगता है, इसी प्रकार बिलकुल अज्ञान की अवस्था में जब मनुष्य अत्यंत दुराचारों में प्रवृत्त होता है तब कहा जाता है कि 'दुराचार करेगा तो तेरे ऊपर भगवान् का वज्र गिरेगा'। परमार्थ की भूमिका पर दुराचार है ही नहीं तो वज्र गिरने का प्रसंग भी नहीं है। शास्त्र इस बात को जानता है कि 'न जीव करने वाला है और न इस पर वज्र पड़ने वाला है।' किंतु अविद्यादशा में स्वयं की हानि न करे, सत्य समझने की सामर्थ्य पाये—इस उद्देश्य से शास्त्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानकर साध्य-साधन आदि सारी व्यवस्थाएँ बता देता है। जब समझने योग्य हो जाता है तब कहा जाता है कि 'न तू कर्ता है, न भोक्ता है'। वेद आदि सच्छास्त्र उपदेश दे देते हैं। निर्विकल्प समाधि में कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। नासमझ सोचता है कि वहाँ भी कोई न कोई सभी चीज़ों को करने वाला और भोगने वाला होगा, चाहे ईश्वर ही हो!

और इसीलिये वे लोग उस अभय पद से भय खाते हैं। ध्यान में ऐसी स्थिति होने लगे, दृश्य व द्रष्टा का लोप होने लगे तो उसे हटा देते हैं कि वह अवस्था ठीक नहीं है। जैसे 'सन्मात्र था' सुनकर विह्वलता विचारक को महसूस होती है वैसे अन्य योगियों को निर्विकल्प समाधि में होती है। उभयत्र वास्तविकता का अपरिचय ही हेतु है।।२६।।

एक ओर 'साकार ब्रह्मनिष्ठ' हैं जो सन्मात्र से त्रस्त रहते हैं, दूसरी ओर असद्वादी हैं, वे भी सत् स्वीकार नहीं पाते। बौद्ध 'मैं' को ही भ्रम बताते हैं! वे सर्व-शून्यवाद के समर्थक हैं। 'मैं नहीं हूँ' भी अप्रामाणिक कल्पना है क्योंकि अत्यन्त शून्य में प्रमाण रह जाये तो वह शून्य कैसा! प्रमाण ही उसकी शून्यता भंग कर देगा। फिर भी क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्ष-अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं और सन्मात्र, अस्मदर्थ दोनों का विषय नहीं इसलिये उसे अमान्य कर देते हैं। वेदान्ती शास्त्र को प्रमाण मानने से सन्मात्र समझ पाता है। यह रहस्य द्रविड श्रीशंकराचार्य के वचन से उद्घाटित करते हैं–

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटून् अमून्।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन् सदात्मनि।।३०।।

पूज्य श्री भगवत्पादाचार्य ने भी सूखे तर्क में चतुर इन माध्यमिक बौद्धों को इस अचिन्त्य सद्रूप आत्मा के बारे में भ्रान्त कहा है।

भगवान् गौडपादाचार्य का वचन कहने के बाद द्राविड आचार्य का प्रमाण देते हैं : भगवत्पूज्यपाद अर्थात् आचार्य शंकर ने शुष्क तर्क में अत्यंत कुशल बौद्धों से भाष्यादि में विभिन्न स्थलों पर कहा है कि यह जो सद्रूप आत्मा है, इसे तुम प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा नहीं जान सकते क्योंकि यह चिन्तन का विषय ही नहीं है। इसके बारे में सोचा जा नहीं सकता। इसीलिये तर्कमात्र का सहारा लेने वाले बौद्ध सद्रूप आत्मा के विषय में भ्रान्त हैं। शुष्क तर्क का मतलब है जिस तर्क का मनुष्य के *अनुभव* से कोई सम्बन्ध न रह जाये। चाहे बौद्ध हो, चाहे चार्वाक हो, किसी भी शास्त्र में प्रवृत्ति का हेतु किसी सत्य चीज़ को जानना है। वह सत्य चीज कुछ है ही नहीं, इसको सिद्ध करने वाले तर्क शुष्क हैं जिनसे होने वाले ज्ञान से हृदय में कोई शांति नहीं हो सकती। ऐसे तर्कों में बौद्ध पटु हैं। माध्यमिक शास्त्र इस तर्क में कुशल है। वे कहते हैं–न कोई भाव है, न कोई अभाव है, दोनों ही नहीं हैं। इसीलिये ये अचिन्त्य सद्रूप आत्मा के विषय में भ्रान्त हैं क्योंकि ये मान लेते हैं कि जिस चीज़ का चिन्तन नहीं किया जा सकता, जिस चीज़ के बारे में विचार कर नहीं सकते वह है ही नहीं। प्रत्यक्ष से अतिरिक्त जिनको प्रमाण मानना नहीं उन्हें उस विषय में भ्रम रहेगा ही जो प्रत्यक्ष के अयोग्य हो। प्रत्यक्ष और अनुमान से जो बात सिद्ध नहीं होती उसको शब्द प्रमाण से ही बता सकते हैं। अतः 'भ्रान्तान्' का मतलब यही है कि विचार करके तो यहीं तक पहुँचा जा सकता है कि कोई एक चेतन तत्त्व है, परन्तु उस चेतन तत्त्व को प्रमाणित नहीं कर सकते क्योंकि उस चेतन तत्त्व को जानकर कहते हो तो नहीं बनेगा और बिना जाने

कहते हो तब भी नहीं बनेगा। इसलिये इसके विषय में अपौरुषेय शब्द ही एकमात्र प्रमाण रह जाता है।। ३०।।

गौडपादाचार्य, भगवत्पादाचार्य को उद्धृत कर सुरेश्वराचार्य का भी वचन उपस्थापित करते हैं–

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः।।३१।।

युक्ति से प्रमाण का अधिक महत्त्व न समझने से श्रुतिका निरादर कर अज्ञ बौद्ध निरात्मता मान बैठे क्योंकि वे अनुमानरूप केवल एक आँख से देखते हैं।

नैष्कर्म्यसिद्धि (३.३४) में आचार्य कहते हैं कि ये बौद्ध तमोगुणी हैं अर्थात् श्रुति प्रमाण को अस्वीकार करने के कारण ये घोर अन्धकार में ही रह पाते हैं। बौद्धधर्म है तमोगुणी ही क्योंकि वेद के प्रकाश से रहित है। तमस्वी होने के कारण इनकी यह मूढता (मूर्खता) हो गई कि वेद प्रमाण को मानना ही नहीं है। (नैष्कर्म्यसिद्धि में 'मोहात्' पाठ मिलता है।) मूर्ख व्यक्ति यदि जिद्दी हो जाये तो उसे समझाना असम्भव हो जाता है! हिन्दी के किसी कवि ने कहा है कि ऐसे जो जडमूर्ख होते हैं उन्हें बृहस्पति भी नहीं समझा सकते! अपनी मूर्खता के कारण ये वेद का अनादर करते हैं कि वेद नहीं मानेंगे, अन्य किसी तरह से सिद्ध करो! जैसा सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यह वैसा ही हुआ जैसे कि 'मैं आँख को प्रमाण नहीं मानता; मुझे तो जब तक नाक के द्वारा सूर्य को नहीं दिखाओगे तब तक सूर्य है ही नहीं! क्योंकि नाक से सूर्य का पता लगता नहीं इसलिये सूर्य नहीं है।' सूर्य में कोई गन्ध तो है नहीं कि नाक से सिद्ध करें। ऐसे ही अद्वय आत्मतत्त्व श्रुति से ही जाना जा सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष-अनुमान की गति वहाँ है ही नहीं। प्रत्यक्ष से रूप रस आदि को जानते हैं, वे उसमें हैं नहीं; इसीलिये प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान से भी उसका पता नहीं लग सकता। उसका पता श्रुति से ही लग सकता है। अपनी मूर्खता से श्रुति का अनादर करके कहते हैं कि अनुमान से सिद्ध करो, तो हम मानेंगे। अनुमान से सिद्ध होने वाला आत्मतत्त्व है ही नहीं। इसीलिये वे लोग नैरात्म्य-वाद को प्राप्त हो गये अर्थात् वे इसी बात को सिद्ध मानने लगे कि अंतिम तत्त्व कुछ है ही नहीं। यह तो ठीक वैसे ही है जैसे किसी आदमी के सिर में दर्द हो और डाक्टर कहे कि सिर ही तोड़कर फेंक दो, न फिर सिर रहेगा न दर्द होगा! इसी प्रकार से जीव दुःख से छूटना चाहता है। पहले तो बौद्धों ने लम्बी-चौड़ी व्याख्या करते हुए बताया कि दुःख का कारण 'तन्हा' (तृष्णा) है और कहा कि हम इस दुःख से छुड़ा देंगे लेकिन ऐसा छुड़ायेंगे कि फिर कभी दुःख नहीं होगा क्योंकि तुम रहोगे ही नहीं! इसलिये इनको 'शुष्क तर्क' वाला कह दिया था।। ३१।।

जैसे सिद्धान्त में अस्पर्श योग वैसे माध्यमिकों का भी अस्पर्श है, परन्तु वह शुष्क तर्क पर निर्भर है। तर्क की शून्यता व्यक्त करने के लिए आगे विचार करते हैं–

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम्।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः।।३२।।

'शून्य था' कहते हो तो शून्य का सत् से सम्बन्ध बता रहे हो या उसे सद्रूप बता रहे हो? शून्य के बारे में दोनों ही बातें विरुद्ध हैं।

यह सारी सृष्टि शुरू होने के पहले शून्य था, अतः सबका कारण शून्य है—ऐसा कहने का मतलब क्या है? 'शून्य था' अर्थात् उस समय शून्य है। 'शून्य है' से तुम्हारा मतलब क्या यह है कि शून्य का सत् के साथ सम्बन्ध है? जैसे हम कहते हैं 'घड़ा है' तो हमारा मतलब है कि घड़े के साथ 'है' का सम्बन्ध है। 'है' मायने सत्ता। अथवा 'शून्य है' का मतलब क्या यह है कि शून्य के साथ सत् का तादात्म्य है अर्थात् शून्य और है एक ही चीज़ है, शून्य सद्रूप ही है, हैरूप ही है? किंतु न तुम कह सकते हो कि शून्य और है का आपस में कोई सम्बन्ध है और न कह सकते हो कि शून्य सद्रूप है क्योंकि दोनों बातें व्याघात दोष से दुष्ट हैं। इस व्याघात दोष को अगले श्लोक में खुद बतायेंगे। व्याघात का मतलब है बात का कट जाना। जैसे कोई कहे कि 'यह लड़का बालब्रह्मचारी का पुत्र है' तो यह कहते ही उसकी बात कट जाती है क्योंकि यदि लड़का है तो उसका बाप बालब्रह्मचारी नहीं है और यदि वह बालब्रह्मचारी है तो यह उसका लड़का नहीं है। अथवा कोई कहता है कि 'मेरे मुँह में जीभ नहीं है' तो कहने वाले की बात इसी से कट जाती है क्योंकि जीभ नहीं होती तो तुम यह बात बोल ही नहीं सकते थे। मोटी भाषा में भाव यह है कि असंभव बात कही है।।३२।।

व्याघात दोष कैसे है, यह खुद बताते हैं—

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत् कथं वद।। ३३।।

यह भी मानना संगत नहीं कि अंधेरे से सूर्य का सम्बन्ध है और न यह मान सकते हैं कि सूर्य अंधेरारूप है! सत् और शून्य सूर्य-अंधेरे की तरह परस्पर विरुद्ध होने से बताओ कि 'शून्य था' यह कैसे?

प्रत्यक्ष में सूर्य दीख रहा है और कोई कहे कि 'यह सूर्य अन्धकार है या अंधकार के साथ इसका संबंध है' तो कैसे माना जाये! सूर्य वह होता है जिसके सामने अंधकार टिकता नहीं। इसलिये सूर्य का सम्बन्ध यदि अंधकार के साथ होगा तो सम्बन्ध होते ही अंधकार रह नहीं जायेगा। इसी प्रकार सत् तो होता ही वह है जो असत् को खत्म कर दे। हम घड़े को इसलिये 'है' कहते हैं कि 'घड़ा है' होते ही 'घड़ा नहीं है' नहीं रह जाता। इसी प्रकार जैसे ही 'घड़ा है' यह ज्ञान हुआ वैसे ही 'घड़ा नहीं है', यह भाग जाता है। जिस प्रकार सूर्य वह है जो अंधकार का नाश करे, तो सूर्य और अंधकार का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार सत् और असत् का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जब कहते हो कि शून्य है तो यदि मतलब शून्य का है के साथ संबंध है, तो गलत क्योंकि सत् असत् (शून्य) के साथ रह नहीं सकता, सत् के आते ही असत् नष्ट हो जाता है। यदि कहो कि 'शून्य सद्रूप है' तो यह भी नहीं बनेगा; 'घटाभाव घटरूप' है, यह नहीं माना जाता। फिर तुम कैसे कहते हो 'यह सारा जगत् उत्पन्न होने के पहले शून्य था'। मोटी भाषा में न 'नहीं है' है हो सकता है और न 'नहीं है' का है से संबंध हो सकता है।।३३।।

यदि बौद्ध कहे कि निर्विकल्प असंग अद्वितीय चिन्मात्र में आकाशादि का होना भी वैसा ही असंगत है जैसा शून्य का होना; तो माया से उपपत्ति दिखाते हैं–

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम्।।३४।।

आकाशादि के नाम-रूप माया से भली-भाँति कल्पित हैं। शून्य के नाम-रूप भी उसी तरह कल्पित मानो तो तुम दीर्घायु बनो!

आकाशादि सब चीज़ों का या नाम है या कोई न कोई रूप है। रूप का अर्थ है जिससे किसी चीज़ का निरूपण हो जाये। नाम-रूप ही जगत् है। 'मायया सुविकल्पिते', आत्मा में माया से नाम-रूप परिकल्पित हो गये हैं। अतः वे हैं नहीं कि चिन्मात्र से, अद्वैत से विरुद्ध पड़ें। जैसे रस्सी में तुमको साँप दीख रहा है। जब दीख रहा है तब भी वहाँ साँप है नहीं, माया से दीख रहा है। इसी प्रकार यह नामरूपात्मक संसार जिसको हम मिथ्या कहते हैं, उसका जो सत् के साथ सम्बन्ध है वह मायिक है, माया के द्वारा भली प्रकार कल्पित है। 'सुविकल्पित' इसलिये कहा कि यह कल्पना अनन्त कल्पों से चली आ रही है और आगे अनन्त कल्पों तक चलती ही रहेगी। दृढतापूर्वक यह कल्पना बनी रहती है इसलिये इसे खूब अच्छी तरह से कल्पित कह दिया। सारे शास्त्र इस संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं, कहीं भी इस संसार को सत्य नहीं बताया। ऐसा होने पर भी सब को यह संसार सत्य ही लगता है! कितना भी कहें कि संसार नहीं है, फिर भी लगता है कि है ही। अतः यह सुविकल्पित है।

नामरूपात्मक जगत् सद्रूप निर्विकल्प ब्रह्म में माया से रहता है। असद्वादी कह सकता है, फिर शून्य को भी ऐसे ही मान लो! अर्थात् शून्य का भी नामरूप के साथ मायिक सम्बन्ध मान लो। इस पर आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा है अर्थात् शून्य के नाम-रूप सद् ब्रह्म पर कल्पित हैं तो तुम खूब जियो, खूब बढ़ो। तात्पर्य यह है कि अगर बौद्ध ने यह कह दिया तो अपसिद्धान्त हो जायेगा क्योंकि बौद्ध ऐसा मानता नहीं है। वेदान्ती के यहाँ तो एक सत् में संसार कल्पित है। असत् अर्थात् सत् से भिन्न मिथ्या जगत् की प्रतीति हम लोगों को है-रूप से माया द्वारा होती है। वेदान्ती को जगत् है इसलिये दीखता है कि है में जगत् की कल्पना है। शून्यवादी के लिये तो है भी कल्पित होगा! अतः वह जगत् है–की अनुभूति

तो झुठलाता ही है, साथ ही 'शून्य है' यह भी स्थापित नहीं कर पाता। वेदान्ती 'ब्रह्म है' कह सकता है क्योंकि ब्रह्म को है-रूप मानता है, बौद्ध ऐसा न मानने से 'शून्य है' कहने में असमर्थ है। हमारे यहाँ तो असत् जगत् सत् में कल्पित है। जब वह बौद्ध जगत् को असत् बता रहा है तो वह उसे किसमें कल्पित कहे? शून्य में यदि वह जगत् कल्पित हो तो 'जगत् नहीं है' प्रतीत हुआ करे! यदि वह शून्य को भी एक कल्पना मान ले तो वेदान्ती को विरोध नहीं। इसलिये कहा कि चिरायु बनो।।३४।।

वादी पूछ सकता है कि 'शून्य है' कहने के लिये शून्य के नाम-रूप की कल्पना माननी पड़ती है तो 'सत् है' कहने के लिए सत् के भी नाम-रूप क्यों न मानने पड़ेंगे? इसका समाधान देते हैं–

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते।।३५।।

यदि सत् के भी नाम-रूप दोनों कल्पित कहो तो बताओ, वे कहाँ कल्पित हैं? बिना अधिष्ठान का भ्रम कहीं नहीं देखा जाता।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।' आदि में 'सत्' नाम भी है और 'अद्वितीय' उसका रूप भी है। ब्रह्म के साथ भी ये नाम-रूप कल्पित क्यों नहीं हैं? इस पर सिद्धान्ती पूछता है कि वे नाम-रूप कहाँ कल्पित हैं? उन्हें सत् या ब्रह्म में ही कल्पित वह कहेगा नहीं क्योंकि रस्सी में साँप इत्यादि एक चीज़ में दूसरी चीज़ की ही कल्पना होती है, खुद में खुद को कल्पित कैसे कहे! न उन्हें असत् में कल्पित कहेगा क्योंकि वह असत् को अधिष्ठान बनने लायक मानता नहीं। जगत् स्वयं ब्रह्म में (सत् में) कल्पित होने से सत् का अधिष्ठान कहा ही नहीं जा सकता। इस तरह सत् के नाम-रूप को बौद्ध कल्पित 'कहीं' नहीं बता सकता। अतः वह मानता है कि भ्रम 'कहीं' अर्थात् किसी अधिष्ठान में नहीं होता। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं जिसमें बिना अधिष्ठान के कोई भ्रम प्रतीत हो जाये! अधिष्ठान उसे कहते हैं जिसके ज्ञान से भ्रम निवृत्त होता है, भ्रम उसे कहते हैं जो अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्त हो। अधिष्ठान के अज्ञान से भ्रम होता है और अधिष्ठान के ज्ञान से भ्रम निवृत्त होता है। अगर बिना अधिष्ठान के भ्रम है तो इसका मतलब है कि कुछ भी नहीं है जिसके ज्ञान द्वारा भ्रम दूर हो; लेकिन जब तक दूर न हो तब तक भ्रम सिद्ध नहीं होगा। भ्रम तो वह है जो अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्त हो, नहीं तो भ्रम कैसे कहेंगे? दरवाजा सामने दीख रहा है तो यह भ्रम नहीं है। रस्सी में सर्प-भ्रम हो रहा है क्योंकि रस्सी के ज्ञान से वह भ्रमरूप सर्प दूर हो जाता है। बिना अधिष्ठान के भ्रम कहना बनता ही नहीं क्योंकि भ्रम कहते ही उसको हैं जो अधिष्ठान-ज्ञान से निवृत्त हो तथा यदि अधिष्ठान है ही नहीं तो भ्रम कैसे निवृत्त हो! तब तो भ्रम को ही सच्चा ज्ञान मानो। बौद्ध की कठिनाई यहीं आकर है। यदि अन्य वादियों जैसे बौद्ध संसार को सत्य माने

तब कथंचित् सत् के नाम-रूप को अध्यस्त कह भी पाये लेकिन वह संसार किंवा कुछ भी सत्य न मान कर अधिष्ठानहीन हो जाता है। यही तर्क की शुष्कता है। वह इस कठिनाई में फँस इसलिये जाता है कि जिस अधिष्ठान का ज्ञान होना है, वह अधिष्ठान केवल बुद्धि से सोचने पर कुछ नहीं निकलेगा, वह बुद्धि का विषय नहीं है। उसका ज्ञान केवल श्रुति के माध्यम से ही हो सकता है।। ३५।।

प्रश्न उठता है कि 'असत् था' कहने की तरह 'सत् था' भी कहना असंगत कैसे नहीं है? इसे उठाकर जवाब देते हैं–

सदासीदिति शब्दार्थभेदे द्वैगुण्यमापतेत्।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात्।।३६।।

'सत् था' यों शब्दप्रयुक्त अर्थभेद हो तो दोगुणी सत्ता का प्रसंग होगा और यदि अर्थभेद नहीं तो एक ही वस्तु के लिये दो शब्दों का कथनरूप पुनरुक्ति दोष होगा–यह शंकनीय नहीं क्योंकि लोक में ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

बौद्ध पूछता है कि 'असत् था' वाक्य से असत् और था शब्दित सत् का जैसे सम्बन्धादि संभव नहीं, वैसे 'सत् था' में भी कैसे सम्भव है? क्योंकि सत् मायने है और आसीत् मायने पूर्व काल में 'है' किंतु वर्तमान में नहीं है। जैसे कहते हैं 'राम था' तो मतलब है कि इस समय राम नहीं है। इसलिये 'था' मायने नहीं है। जब कहते हैं 'सत् आसीत्' या सत् था तो इसका मतलब है कि अब सत् नहीं है। यह मानने पर विगुणता आ जायेगी अर्थात् सत् की असद्रूपता यह अपसिद्धान्त प्राप्त होगा। 'वैगुण्यमापतेत्' पाठ मानकर यह भाव है। टीकानुसार **'द्वैगुण्यमापतेत्'** पाठ है। विगुणता तो है कि तुम उसे सत् (है) भी कह रहे हो और 'था' अर्थात् 'नहीं है' भी कह रहे हो।

यदि पूर्वकालिक है कहने का वर्तमानकालिक 'नहीं है' अर्थ न निकालकर सिर्फ 'है' ही अर्थ मानो तो उक्त विगुणता न होने पर भी 'सत् था' का मतलब होगा 'है है'! क्या इन दो शब्दों के विभिन्न अर्थ बताओगे या एक ही कहोगे? विभिन्न कहो तो द्वैतापत्ति होगी। यदि अभेद कहते हो तो मतलब है कि 'है है'–यह द्विरुक्ति या पुनरुक्ति है। इस प्रकार प्रष्टा का भाव है कि 'सत् आसीत्' भी कहना नहीं बनता।

इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि यह पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि लोक में ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं, लोक में इस प्रकार बोला जाता है। लौकिक प्रयोग के अनुसार वैदिक प्रयोग समझा जा सकता है।। ३६।।

लोक-प्रयोगानुसार बताते हैं कि कहने पर भी अर्थभेद प्रतीत होना ज़रूरी नहीं–'पहले सत्' इतना ही कहना पर्याप्त होता, लेकिन इतना कहना बोलने का तरीका नहीं होने से श्रोता निराकांक्ष न हो पाता, इसलिये कहना पड़ता है कि सत् था–

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम्।।
इत्यादि-वासनाविष्टं प्रत्यासीत् सदितीरणम्।।३७।।

'कर्त्तव्य करता है, बात बोलता है, धारणीय का (बोझ) धारण करना (ढोना)' इत्यादि कहने-समझने के संस्कार वाले को समझाने के लिये 'सत् था' यह कहा गया है।

लोक में कहते हैं 'कर्त्तव्य कर रहा हूँ।' कर्त्तव्य अर्थात् करने योग्य, उसे कर रहा हूँ। या कहते हैं 'वाक्य बोल रहा हूँ'; जो बोलेगा वही वाक्य है। अथवा 'पहनने के कपड़े को पहन रहा हूँ।' ऐसे अनेक प्रयोग लोक में होते हैं। इस प्रकार से बोलने-समझने का अभ्यास होने के कारण ऐसे लोगों के प्रति समझाते हुए श्रुति केवल 'सत्' कहती तो समझ में नहीं आता, इसलिये यह नामरूप प्रकट होने के पहले 'सत् था', ऐसा कहा। 'सत् था' कहने में कोई तात्पर्य नहीं है वरन् नामरूप का बाध करने पर जो रहता है वह हमेशा है—यह अभिप्राय है। नामरूप की प्रतीति के काल में भी रहता है, नामरूप की प्रतीति से पहले भी था उसके बाद भी रहेगा।

हमें क्रियापद की आकांक्षा रहती है अतः उसे सुनने तक वाक्यार्थ समझ नहीं आता। शब्दतः न मिले, तो स्वयम् अध्याहार कर लेते हैं जैसे 'क्या जा रहे हो?' के जवाब में केवल 'हाँ' सुनकर 'जा रहा हूँ' उसका भाव श्रोता खुद समझ लेता है। इसलिये श्रुति को कहना ठीक लगा कि 'आसीत्' बोला जाये अन्यथा खुद अध्याहार में गलती भी हो सकती है। किंच 'सत् ही है' कहते तो प्रत्यक्षादि-दृष्ट भेद इस बात का विरोधी बनकर अयोग्यार्थ संभावित कर बोध रोक देता है। 'था' कहने पर जैसे 'बर्तन पहले मिट्टी थे' वैसे समझ आ जाता है कि सृष्टि से पूर्व केवल सत् था। इतने पर भी बहुतेरे श्रोता विह्वल हो जाते हैं (श्लोक २६) तो 'सत् ही है' सुनकर तो प्रायः सभी विह्वल होते, इसमें क्या कहना! मकान को 'मिट्टी है' कहना किसी को नहीं जँचेगा, 'मिट्टी था' भले ही समझ आये। आगे विचार से तो निर्णय हो जाता है कि न केवल था वरन् है भी, लेकिन एकाएक ग्रहण नहीं होता। अतः श्रुति ने 'था' का उल्लेख किया। इससे दो सत्-पदार्थों को समर्थन नहीं मिलता। इसे लोकानुसार बता दिया कि 'काम कर रहा है' में जैसे जो 'काम'-पदार्थ वही 'कर रहा है'-पदार्थ, फिर भी वाक्यपूर्ति के लिये कहना ठीक लगता है, वैसे 'सत् था' में पदार्थ दो न होने पर भी पदभेद (शब्दभेद) उपपन्न है।।३७।।

उक्त न्याय से ही 'था' के भूतकाल को उपपन्न करते हैं—

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम्।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शंक्यते।।३८।।

सृष्टि से पूर्व काल भी न रहने के बावजूद 'अग्रे' (पहले) यह कथन काल के संस्कारों वाले शिष्य की दृष्टि से ही है अतः उस दशा में (कालरूप) द्वितीय की संभावना नहीं।

श्रुति ने ‘अग्रे आसीत्’, पहले था—यह कहा। ‘अग्रे’ से लगता है कि ‘था’ का भूतकाल विवक्षित है। केवल ‘था’ कदाचित् ‘है’ की व्यावृत्ति न भी करे, ‘अग्रे’ कह देने पर निश्चित होता है कि वर्तमान विवक्षित नहीं। तब भाव होगा कि इदं-शब्दार्थ जगत् अब सत् नहीं है! किंतु यह श्रुति का तात्पर्य है नहीं क्योंकि आगे ‘ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्’ से सनातन सद्रूपता कही है। किंतु लोक में सर्पभ्रम वाले के प्रति तत्त्वज्ञ कहता है ‘वहाँ साँप नहीं था, रस्सी थी, चिंता छोड़ो’, ऐसे प्रयोग में ‘था’ का यह अर्थ नहीं कि अब साँप है या अब रस्सी नहीं है! वरन् रस्सी ही सदा रही है, साँप का भ्रममात्र रहा—यह भाव है। इसी प्रकार इदम् को था कहने पर भी यही अभिप्राय है कि अभी भी है तो सत् ही लेकिन इदम् का भ्रम है, सृष्टि से पूर्व इदम् का भ्रम नहीं था। इस पर प्रश्न उठता है कि काल ही जब इदम् के अन्तर्गत है तब इदम् के न होने की दशा भूतरूप काल से कैसे निर्दिष्ट की? उत्तर दिया कि इदम्-दशा में जो कालान्तर्गत निर्देश के संस्कार हैं उन्हीं के अनुरोध से बिना काल के भी काल का कथन किया है। यद्यपि जगत् त्रिकाल में नहीं तथापि यह सुनने पर प्रत्यक्ष-विरोध असह्य होता है इसलिये जब सुग्राह्य हो तब जगत् का निषेध समझाकर उसका सनातन असत्त्व बताया जा सकता है, इस तात्पर्य से श्रुति ने ‘था’ कहा।

देश-काल के उल्लेख के बगैर कोई तथ्य मानव मन शीघ्र अंगीकार नहीं करता। किसी का भी सत्त्व-विधान करें तो ‘कहाँ, कब’ यों देश-काल की जिज्ञासा सहज है एवं ‘न कहीं, न कभी’ अर्थात् देश-काल के परिच्छेद का निषेध करें तो सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि उक्त तथ्य असत् है, शशशृंग-सा है। इस मनोदशा को मानकर श्रुति ने केवल ‘सत्’ न कहकर उसे ‘था’ भी कहा ताकि ‘कब?’ की आकांक्षा मिटे। इसी तरह, ‘कहाँ?’ की आकांक्षा दूर करने के लिये प्रायः समझाते हुए ब्रह्म को ‘सर्वत्र’ कह देते हैं, भले ही उसमें देशपरिच्छेद का निषेध ही विवक्षित हो। अतः ‘सत् था’ से वह है—यह भी अंगीकार्य रह जाता है। फिर भी ‘पहले था’ यह कहते हैं क्योंकि जिसको समझा रहे हैं, उस शिष्य को काल-वासना है। इसलिए यदि हम यह कहते हैं कि ‘शिव सर्वत्र है’ तो बात समझ में आ जाती है। देश की वासना रहते केवल कहें कि ‘शिव किसी देश, किसी काल में नहीं है’, तो उसका निश्चय होगा कि शिव है ही नहीं! जैसे खरगोश के सींग कभी भी नहीं हैं, कहीं भी नहीं हैं, ऐसे शिव को भी ये कह रहे हैं—यह निश्चय होता है। अगर कहें कि ‘शिव सब कालों में है और सब जगह है’ तो सुनने वाले की समझ में आ भी सकता है कि शिव सर्वरूप है। परन्तु ऐसा कहना इसलिये पड़ता है कि श्रोता में देश-काल की वासना है। वस्तुतः तो देश और काल है ही नहीं *जहाँ* शिव हो! इसी प्रकार वस्तुभेद को हटाने के लिये कहते हैं कि ‘शिव सब में है’, कहने का मतलब यह नहीं है कि ‘सब’ एक वस्तु है जिसमें शिव है। क्योंकि तब तो शिव का आश्रय बनने वाला द्वितीय व्यापक आदि हो जायेगा! इसी तरह काल-वासनायुक्त जो शिष्य है उसके प्रति ही कहा जा रहा है कि उत्पत्ति के पहले केवल ब्रह्म था। श्रोता ठीक समझे—यह उचित है, न कि कहने का ढंग निर्दोष हो यह महत्त्व का

है। लोक में भी यही न्याय मान्य है और वेद भी इसी दृष्टि से प्रवृत्त है। श्रुति तो श्रोतृहितैषिणी है, सुनने वाले के हित की इच्छा करने वाली है इसलिये तर्कदृष्टि से बिलकुल असम्भव बात भी केवल इसलिये कहती है कि सामने वाले को फायदा हो। इसलिये 'सृष्टि होने के पहले सत् था' सुनकर शंका मत करो कि एक काल था और दूसरा ब्रह्म था।। ३८।।

अब कहते हैं कि यह तरीका सर्वत्र समझना, केवल 'पुरा आसीत्' इस उक्ति में ही नहीं–

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम्।। ३९।।

आक्षेप हो या समाधान, उन्हें द्वैत की भाषा से ही किया जाता है, अद्वैत-भाषा से न प्रश्न उठता है, न उसका उत्तर दिया जाता है।

प्रश्न भी अविद्या वाला ही करेगा, अविद्या में रहकर ही करेगा। इसलिये उसका उत्तर भी अविद्या में रहकर ही दिया जायेगा। ये दोनों द्वैत-भाषा से होंगे क्योंकि उपदेश देना और उपदेश श्रवण करना–दोनों व्यवहार हैं। व्यवहार अविद्या-काल की दशा है। जहाँ कहीं शब्द का प्रयोग करते हो, लक्षण, प्रमाण इत्यादि कहते हो, वे सारे के सारे व्यवहार-दशा ही हैं। परमार्थ दशा के लिये तो वेद स्वयं ही कहता है 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' वेद भी प्रमाण नहीं रह जाता! शब्द के द्वारा ही बोलेंगे और शब्द जितने होंगे वे अविद्या के अन्दर ही प्रयुक्त होंगे। ब्रह्म तो किसी भी शब्द का विषय नहीं है। श्रुति स्वयं ही कहती है कि वाणी उसे नहीं कह सकती, वरन् उसके बल से कहती है 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम् उपासते'। वेद शब्दरूप ही है, उसका प्रयोग भी बिना अविद्या के नहीं होगा। समझने वाला मन-बुद्धि से ही समझेगा और वह मन-बुद्धि का विषय भी नहीं है, मन-बुद्धि से वह समझा नहीं जा सकता। फिर भी मन-बुद्धि से ही समझना है और वेदवाक्य से ही समझना पड़ेगा! जब समझ लोगे तब वेद अवेद हो जाते हैं। इसलिये ये प्रश्न और उत्तर दोनों द्वैत भाषा में ही करने पड़ते हैं। वेदान्तोपदेश वाणी से होगा, मन से उसका ग्रहण होगा, फिर समझना उसे पड़ेगा जो इनसे परे है। यह वेदान्त-विचार में सर्वत्र ध्यान देना पड़ता है। परमार्थ अद्वितीय स्थिति के अन्दर तो मौन ही एक भाषा है। उस अद्वैत के अन्दर न शंका है और न शंका का उत्तर है। सारी शंकायें तभी तक हैं जब तक व्यवहार दशा है। परमार्थ का दर्शन होगा तो तुम कोई प्रश्न भी नहीं करोगे और हम कोई उत्तर भी नहीं देंगे।

यह वेदान्त की कठिनाई हमेशा रहती है। यह सैद्धान्तिक रहस्य है कि हम जितनी बातें कहते हैं वे सब हम जानते हैं कि ठीक नहीं हैं, परन्तु यह भी जानते हैं कि इस 'ठीक नहीं' तरीके से ही तुम ठीक जगह पहुँच सकते हो। दूसरी जो ठीक बातें नहीं हैं, उनसे तुम वहाँ

नहीं पहुँच सकते। अतः गलत का ही सहारा लेना है पर चाहे जिस गलत का सहारा नहीं ले सकते। जिस वासना से जो आविष्ट है उसको उसी के द्वारा उपदेश देना सम्भव होता है।।३६।।

फिर परमार्थ दशा कौन-सी है?

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिद् अवशिष्यते।।४०।।

तब निश्चल, दुर्बोध, न तेजोरूप और न तमोरूप, व्याप्त, अव्याख्येय, चक्षुरादिका अगोचर, इदंरूप से न समझा जाने वाला सत् रहता है।

तदा—द्वैत को हटाते-हटाते जो बच जाता है। व्यवहार दशा में द्वैत की प्राप्ति शंकारूप से है इसलिये द्वैत की निवृत्ति भी उत्तर रूप से करते हैं। द्वैत को हटाते-हटाते जो हट ही नहीं सकता, वह अपने आप रह जाता है। इसलिये 'तदा' अर्थात् जितना हटाना था, तुम जो द्वैतप्राप्ति कराते गये उसे हम हटाते चले गये; तब तुम 'स्तिमित' हो गये अर्थात् फिर बुद्धि चल ही नहीं सकती, तुम जिस-जिस द्वैत की प्राप्ति कराते गये उस-उसका हम निषेध करते गये कि यह भी नहीं, यह भी नहीं। सारी सम्भावनाएँ हट जाने पर, 'तो फिर क्या है?'—इस भाव से मनुष्य अवाक् रह जाता है, बुद्धि निश्चल हो जाती है, बिलकुल हिलती डुलती नहीं। वह तत्त्व गंभीर है। उसको समझना असम्भव लगता है। बुद्धि ऐसी निश्चल हो जाती है कि कुछ भी समझ में नहीं आता। अतः वह गंभीर ही लगता है कि 'कुछ समझ में नहीं आ रहा है, उसको मैं विषय कर ही नहीं सकता हूँ'। न वहाँ कोई तेज है, अर्थात् न कोई प्रकाश है। तेज वह है जिससे ज्ञान होता है, प्रकाश से ज्ञान होता है। वह तत्त्व केवल ज्ञानमात्र है, वह ज्ञान किसी चीज़ 'को' या 'का' नहीं है। अभी तो ज्ञान मन में होता है। तब वह 'मन में' वाला ज्ञान नहीं है। हम लोग जिसे 'ज्ञान' कहते हैं, वह हमारे मन में होता है। अर्थात् मनरूपी अधिकरण में होने वाला हमारी समझ में 'ज्ञान' है। परमार्थ में मन तो रहा नहीं, निवृत्त हो गया। मन का स्वरूप ही यह है कि वह विमर्श या संकल्प-विकल्प करे। मन के संकल्प-विकल्प तो स्तब्ध हो गये क्योंकि जितने संकल्प-विकल्प उठे, उन्हें हटाते चले गये, आगे कोई विषय मन को मिलता नहीं तो वह स्तब्ध रह गया। सम्भावना होगी कि मन में कोई ज्ञान नहीं तो उसमें अज्ञान होगा? पर वहाँ तम या अज्ञान भी नहीं है! प्रकाश और अंधकार दोनों ही वहाँ नहीं हैं। मन के अन्दर उस समय न ज्ञान और न अज्ञान ही रह गया। 'मैं जान रहा हूँ' ऐसा भी नहीं रह गया और 'मैं नहीं जान रहा हूँ' ऐसा भी नहीं रह गया।

जब कुछ भी जानना, न जानना नहीं रह गया तब 'ततम्'—उसको परिच्छिन्न करने वाली कोई उपाधि नहीं रह गई अतः परिच्छिन्नता नहीं रह गई, यही उसकी व्यापकता है। अभी तक तो हमारी व्यापकता देश-काल-वस्तु से विशिष्ट है; सब देश, सब काल और सब वस्तु

में है—यह व्यापकता हम समझते हैं, इसलिये देश-काल-वस्तु की परिच्छिन्नता को ही अपरिच्छिन्नता कह देते हैं! अब ये तीनों ही परिच्छिन्नतायें नहीं रह गईं तो अपरिच्छिन्नतारूप व्यापकता रह गई। यह अनाख्य है, इसे कहा नहीं जा सकता अर्थात् इसको व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका व्याख्यान असंभव है। 'अनभिव्यक्तं' इन्द्रियों और मन किसी के द्वारा इसको अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, किसी के भी द्वारा इसको प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि जितना कुछ अभिव्यक्त है उस सब का तो निषेध हो गया। उस स्थिति में मन भी नहीं रहा। फिर भी 'सत्किंचिदवशिष्यते'। उस समय ज्ञानस्वरूप, दृक्स्वरूप मैं तो रह ही गया। यदि कहो कि कैसे पता लगे? तो गहरी नींद में अपना होना समझ लो। गहरी नींद में तुम्हें पता नहीं था क्योंकि जानने वाला 'अहं' नहीं था। परन्तु उठने के बाद तुम्हें पता है कि 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना, मैं वहाँ आनन्द से सोया।' इससे पता लगता है कि कोई 'मैं' था ज़रूर जो अब याद कर रहा है। ठीक इसी प्रकार जब स्तिमित गम्भीर अवस्था से पुनः मन, इन्द्रियाँ आदि अधिकरण प्रकट होते हैं, उस समय 'स्तिमित गम्भीर था' इस स्मरणादि से ही वहाँ के अनुभव का पता लगता है। अतः इसमें *प्रमाण* तत्त्वमसि आदि वेद-वाक्य ही हैं। वेद के अनुरोध से स्तिमित गम्भीर अवस्था का अनुभव प्रामाणिक है यह निश्चित हो जाता है।

'किंचित् अवशिष्यते;' सारे द्वैतों के निषेध की अवधिरूप से जो केवल 'सद्' आत्मा वही बच जाता है। इस 'सत्' शब्द से बताया कि वह शून्य नहीं है। स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सत् प्रमाणों पर निर्भर नहीं जबकि जो स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप नहीं वह शून्य तब तक नहीं स्वीकार सकते जब तक उसमें प्रमाण न हो। आत्मा 'मैं'रूप से बिना किसी साधन के, बिना चक्षुः-अनुमान-शब्दादि प्रमाणों के, सभी प्राणियों को सदा भासमान है। शून्य यों किसी को न भासने से प्रमाणापेक्ष रह जाता है। अतः सत् को ही 'त्वमसि' यों अपरोक्ष बताया गया है। आपाततः भले ही लगे कि ब्रह्म और शून्य नामान्तर हैं लेकिन नित्य स्वप्रकाशता से दोनों में महान् अन्तर है। 'किंचित्' से कहा कि 'यह'—इस तरह वह निर्देश के योग्य नहीं। फिर भी सत् है अर्थात् शून्य नहीं है।। ४०।।

जन्य कुछ तब नहीं था—यहाँ तक स्वीकारने को तैयार तार्किक नित्य पदार्थों से प्रयुक्त द्वैत कैसे नहीं था यह पूछता है—

ननु भूम्यादिकं मा भूत् परमाण्वन्तनाशतः।
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत्।। ४१।।

परमाणु आदि तक नष्ट हो चुकने से तब (सृष्टि-प्राक्काल में) भूमि आदि भले ही न हों, आप वेदांतियों की बुद्धि में यह बात कैसे आती है कि तब आकाश भी नहीं था?

सृष्टि के पहले पृथ्वी, जल, तेज वायु नहीं थे—यह बात तो समझ में आ जाती है क्योंकि परमाणुओं तक सबका नाश हुआ रहता है। इसलिये, और कुछ नहीं है। लेकिन आकाश के

तो परमाणु हैं नहीं, इसलिये वहाँ आकाश नहीं था—यह कैसे कहते हो? यह शंका प्रायः सबके मन में रहती है। जब कहते हैं कि कुछ नहीं था, तो लोगों को लगता है कि केवल आसमान रहा होगा! 'कुछ नहीं' कहने से यही मन में आता है कि छेद जैसी चीज़ है। इसलिये 'आकाश नहीं था' यह बुद्धि में कैसे आये? बाकी कुछ नहीं रहा—यह तो मान लिया, एकमात्र शिव था—यह भी मान लिया, लेकिन आकाश तो ज़रूर रहा होगा? इसलिये सृष्टि के पहले और कुछ नहीं, लेकिन आकाश तो था। अतः द्वैत रह ही गया।।४१।।

उदाहरणपूर्वक उक्त शंका का परिहार करते हैं—

अत्यन्तं निर्जगद् व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम्।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम्।।४२।।

जैसे जगद्मात्र से रहित आकाश तुम्हारी बुद्धि में बैठ गया, वैसे ही आकाशहीन सत् बुद्धि में क्यों नहीं आता?

लोक में, और कुछ भी न हो सिर्फ आकाश हो—यह परिस्थिति कभी मिल नहीं सकती तो भी वादी को समझ आयी ही, उसी दृष्टान्त से आकाशहीन सत् समझा जा सकता है। वैशेषिकादि ने माना कि बाकी संसार तो पैदा होता है परन्तु आकाश हमेशा रहता है। बिना किसी कार्यभूत पृथ्वी, तेज, मेघादि के आकाश कभी नहीं देखा। फिर भी यह बात तुम्हारी बुद्धि में आरूढ हो जाती है कि स्थूल पृथ्वी आदि के बिना आकाश था। वैसे ही हम वैदिक हैं। वेद कहता है कि सत् जहाँ है वहाँ आकाश भी नहीं है। इसलिये हमें समझ आ जाता है। तुम्हारी बुद्धि में यह बात क्यों नहीं बैठती? जैसे बिना किसी चीज़ के आकाश कभी देखा नहीं, फिर भी आकाश वैसा रहता है यह बात समझ में आ गई, इसी प्रकार यह क्यों नहीं समझते कि ऐसा सत् था जहाँ आकाश भी नहीं है।।४२।।

वादी अपना पक्ष उपपन्न नहीं कर पाता यह दिखाते हैं—

निर्जगद् व्योम दृष्टं चेत् प्रकाश-तमसी विना।
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत् खलु।।४३।।

यदि कहो कि जगद्रहित आकाश देखा है; तो बताओ कि प्रकाश के या अंधेरे के बिना कब कहाँ देखा? किंच तुम्हारे मतानुसार आकाश प्रत्यक्ष ही नहीं है (कि दीख सके)!

दिन का समय हो और कोई चीज़ आकाश में न हो, सूर्य भी न दिखाई दे तो आकाश देखने में आता है, चारों तरफ कुछ भी नहीं दीखता। आधुनिक लोग कहते हैं कि उस समय धूल-कण दीखते हैं लेकिन सामान्य नेत्रों से ऐसे कोई कण दीखते नहीं। अतः कह सकते हैं कि तब बिना जगत् के आकाश देखने में आता है इसलिये वह आकाश हमारी बुद्धि में समझ आ जाता है। इस संभावना पर आचार्य कहते हैं कि क्या सचमुच में बिना रोशनी के तुमने कभी आकाश देखा है? दिन में देखा तो रोशनी को भी देखा। रात में अंधकार

भी आकाश में देखा। क्या अंधकार और रोशनी के बिना तुमने कभी आकाश देखा है? प्रकाश या अंधकार के बिना तुमको आकाश नहीं दीखता—यह तो दृष्टांत हुआ। इसी प्रकार बिना लोक में देखे भी शास्त्र के वचन से बिना आकाश का सत् भी समझा जाना चाहिये। केवल भूत-भौतिक के राहित्य की कठिनाई नहीं, हमें ज्ञान और अज्ञान के बिना सत् का अनुभव नहीं है। या हमें ज्ञात सत् का पता है, या अज्ञात सत् का पता है। फिर भी जैसे तुम मानते हो कि बिना प्रकाश या अंधकार के आकाश है वैसे ही हम मानते हैं कि ज्ञान और अज्ञान के बिना सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप है। या किसी चीज़ को जानते हो, या किसी चीज़ को नहीं जानते। जानने-न जानने से रहित कोई चीज़ समझ में नहीं आती। फिर भी वेद कहता है तो हम मानते हैं कि वह न ज्ञान का विषय है और न अज्ञान का विषय है। उसे न जानते हैं, न नहीं जानते हैं! इसलिये उस शिव का अनुभव वर्णन करते हुए कहते हैं 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च'। बस ऐसा जानना ही उसको जानना है। जैसे प्रकाश व अंधकार के बिना तुम आकाश जान रहे हो ऐसे ही हम उस परमात्मा को जान लेते हैं।

यह जो प्रश्न-उत्तर हमने किया, वह तुम्हारी बात को मान कर कह दिया। परन्तु वस्तुतः वैशेषिक-पक्ष में आकाश किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। आकाश को वह इन्द्रिय का विषय मानता नहीं है कि कह सके कि निर्जगद् व्योम देख चुका है। आँख देखेगी रूप को, कान सुनेगा शब्द को; शब्द के आश्रय का तो अनुभव कान करेगा नहीं। अतः तुम्हें ऐसा अनुभव हो नहीं सकता कि जगद्-रहित व्योम है, क्योंकि तुम वियत् (आकाश) को प्रत्यक्ष मानते ही नहीं।।४३।।

सिद्धान्ती बताता है कि वादी तो बिना अनुभव की बात मानता है जबकि वेद अनुभवानुरूप उपदेश दे रहा है—

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते।
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात्।।४४।।

शांत स्थिति में शुद्ध सद्रूप वस्तु हमें निश्चित ही अनुभव में आती है। वहाँ शून्यता का अनुभव नहीं क्योंकि शून्याकार बुद्धि भी नहीं होती।

हम मानते हैं सारी उपाधियों से रहित सद् ब्रह्म वस्तु को। उसका खूब विचार करके, निश्चय करके हमें अनुभव होता है कि वह अनुभवरूप है। 'कुछ नहीं जान रहे थे'—ऐसा कौन-सा समय था? 'तूष्णीं स्थितौ' बैठे हुए जब मन कोई भी संकल्प-विकल्प नहीं उठा रहा है तब जो स्थिति वह तूष्णीं स्थिति है, विशेषकर के इसका अनुभव करना हो तो खूब दूर तक तेजी से दौड़ो; साँस टूटने लगे तो और दो चार कदम दौड़ो; साँस टूट जायेगी और नीचे गिर जाओगे। उस समय देखोगे कि मन में कोई भी विचार नहीं आयेगा! शारीरिक श्रम से ऐसा हो जाता है। बौद्धों का एक सम्प्रदाय है जिसमें वे लोग एक विशेष प्रकार की परिस्थिति किसी चित्र या कहानी के द्वारा तुम्हारे सामने रखते हैं, उसे 'कोआन' कहते हैं।

उसका हल तुमसे पूछते हैं। कैसा भी हल तुम सोचो, कितना भी प्रयत्न करो, उसका हल नहीं निकलता। सोचते-सोचते जब बौद्धिक प्रयास शून्य हो जाता है, और कुछ नहीं सोच पाते, तब बुद्धि चुप हो जाती है। चाहे शारीरिक श्रम से करो, चाहे बौद्धिक श्रम से करो, करते-करते एक ऐसी स्थिति आती है जब अपने-आप तूष्णीं स्थिति हो जाती है। श्रुति ने एक और दृष्टांत दिया है : छोटे से स्तनंधय बालक को बड़े जोर की भूख लगी, खूब रोया, माँ जैसे ही आई तो बड़ा प्रसन्न हो स्तनपान करके तृप्त हो जाता है, उस समय वह बिलकुल स्तब्ध हो जाता है। कहीं कोई क्रिया उसमें नहीं होती, बुद्धि बिलकुल तूष्णीं स्थिति को प्राप्त हो जाती है। तब शुद्ध सद् वस्तु का भान रहता है। उस समय बुद्धि कुछ नहीं सोच रही है, इसलिये उस समय 'कुछ नहीं' रहा—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ 'कुछ नहीं' भी नहीं सोच रहे हो। अतः वहाँ शून्यता भी नहीं है अर्थात् 'कुछ नहीं'—यह भी तो एक बुद्धि है! इसलिये 'कुछ है', 'कुछ नहीं है'—दोनों ही चीज़ें वहाँ नहीं रह जातीं, ऐसी तूष्णीं स्थिति होती है। वहाँ कोई बुद्धि हुए बिना केवल वर्तमान है। आत्मा स्वप्रकाश होने के कारण भासमान बना रहता है। बुद्धि उसके अभाव या भाव को नहीं जानती है। समझने के लिये सुषुप्ति को याद रखो : सुषुप्ति में न तुम जान रहे हो 'मैं हूँ' और न जान रहे हो 'मैं नहीं हूँ'; परन्तु जब याद आता है तब यही कि 'मैंने कुछ नहीं जाना', 'मैं सुख से सोया'। इसलिये बिलकुल शून्य अवस्था तो नहीं रही। सुषुप्ति के अन्दर अज्ञान होने के कारण 'कुछ नहीं जानने' की वृत्ति रहती है—इतना दृष्टांत और दार्ष्टांत में अन्तर है ही। इस तरह हम जो शुद्ध सद् वस्तु की बात कह रहे हैं वह अनुभवगम्य है।।४४।।

यद्यपि पूर्व श्लोक में 'निश्चितैः' से याज्ञवल्क्यादि विद्वानों के अनुभव और श्रुति को प्रमाणतः सूचित किया तथापि शून्यबुद्धि न होने की तरह सद्बुद्धि न होने से तब वह तत्त्व सत् भी क्यों होगा?—इस शंका का समाधान करते हैं—

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः।
निर्मनस्कस्वसाक्षित्वात् सन्मात्रं सुगमं नृणाम्।।४५।।

(उस समय) सद्बुद्धि भी नहीं रहती तो मत रहे। यह सत् स्वप्रकाश है अतः क्योंकि मन न रहने का भी साक्षी बनता है इसलिये लोगों को केवल सत् समझ आना सरल है।

प्रश्न है कि शून्याकार वृत्ति न रहते शून्यभान नहीं तो सदाकार वृत्ति न रहते सद्भान कैसे? अगर हम कहते हैं कि सत् का ज्ञान है तो द्वैत हो जायेगा! एक सत् और दूसरा उसका ज्ञान। अगर कहते हैं, सत् का ज्ञान नहीं है तो सत् निष्प्रमाण है। दोनों तरह से ही कठिनाई है, एक तरफ खाई, दूसरी तरफ कढ़ाई वाली स्थिति है। इसलिये कहते हैं कि वहाँ सत् का ज्ञान नहीं है लेकिन वह सत् स्वप्रकाश है इसलिये उसके प्रमाण में ज्ञान की ज़रूरत नहीं है! ठीक जिस प्रकार से गहरी नींद में आत्मा किसी प्रमाण से तो सिद्ध नहीं है, परन्तु वहाँ आत्मा है क्योंकि जाग्रत् स्वप्न में आकर अहं में जो उसकी अनुवृत्ति है उसको लेकर

अर्थात् प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से सिद्ध है कि आत्मा सुषुप्ति में भी रहता है। अगर मैं (आत्मा) वहाँ न होता तो 'मैं सोया था' ऐसा स्मरण नहीं हो सकता था। ऐसा आत्मा मान्य है क्योंकि वह स्वप्रकाश है। ऐसा स्वप्रकाश शून्य को नहीं मानते हैं।

आत्मा की स्वप्रकाशता मनुष्यमात्र को सिद्ध है क्योंकि सभी की प्रतीति है 'मैं अपने आपको जानता हूँ और मैं जानता हूँ—इस बात को भी जानता हूँ'। 'मैं जानता हूँ'—यह तो अहंकारात्मिका वृत्ति है परन्तु 'मैं जानता हूँ' इस बात को जानना तो स्वप्रकाश (ज्ञान) से ही हो सकता है। स्वप्रकाश वस्तु को बुद्धि विषय न करे तो भी वह सुगम, सुबोध रहती है। स्वप्रकाशता जानना मुश्किल नहीं है क्योंकि 'निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्' मन अर्थात् विमर्शात्मा अथवा संकल्प-विकल्प। निर्मनस्क अर्थात् जिस समय मन संकल्प-विकल्प नहीं कर रहा है। मन जब संकल्प-विकल्प नहीं कर रहा है तब उसका भी तो आत्मा ही साक्षी है। जब संकल्प-विकल्प नहीं है तब मन भी नहीं है, फिर भी ज्ञानरूप स्थिति है ही। सुषुप्ति के अन्दर मन नहीं रहता है, फिर भी हम वहाँ थे, यह साक्षी का साधक अनुभव सबको रहता ही है। सन्मात्र का अनुभव चेतनस्वरूप से मनुष्यमात्र को सुगम है क्योंकि सुषुप्ति सभी मनुष्यों को होती है और सुषुप्ति के बाद उन्हें स्मरण भी होता है कि 'बड़े सुख से सोये'। इसलिये मनुष्यमात्र को साक्षी समझना सुगम है, अत्यंत सरल है।।४५।।

तूष्णीं स्थिति, सुषुप्ति से स्वप्रकाश आदि को स्पष्ट कर सृष्टिपूर्व अद्वितीय सत् का निगमन करते हैं—

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम्।।४६।।

मन के फैलाव के बगैर जैसे साक्षी समझना निर्दोष है वैसे ही माया के विस्तार से पहले सत् समझना निर्दोष है।

जब मन संकल्प-विकल्प नहीं कर रहा है तब साक्षी की जो स्थिति अर्थात् जृम्भणरहित (विस्तार-रहित) मन की जो स्थिति है उसे बता दिया। जृम्भण का शब्दार्थ जम्भाई होता है। आदमी जम्भाई लेता है तो उसका मुख खुल जाता है। दाँत टूटा हो या दाँत बड़ा हो तो व्यक्ति उसे छिपाकर ओठों में रखता है ताकि लोगों को पता न लगे। परन्तु जम्भाई लेते समय तो मुँह खुल ही जायेगा! इसी प्रकार से मन जब संकल्प-विकल्प करता है तो मानो जम्भाई ले रहा है, तब उसका विकराल रूप दीखता है। जब मन काम-क्रोध के आकार वाला है तब उसके अन्दर अपना स्वरूप कामी, क्रोधी दिखाई देता है। जब मन का वह रूप खुला नहीं है तब प्रतिबिम्ब भी वहाँ वैसा नहीं पड़ेगा इसलिये भ्रम भी नहीं होगा कि 'मैं कामी, क्रोधी हूँ'। इसलिये साक्षी को आकुल करने वाली चीज़ मन है। ऐसा अर्थ नहीं लेना कि मन के विकृत होने से साक्षी विकृत होता है! साक्षी मन में अपने प्रतिबिम्ब को देखता है इसलिये उससे अपने आपको विकृत समझ लेता है। जैसे हमने भस्मी लगाई तो हमारे मन

में कहीं आकुलता नहीं होती। परन्तु कोई काँच सामने है और उसमें देखते हैं कि भस्मी ठीक नहीं लगी, तब आकुलता होती है। उस समय यह जानना सम्भव नहीं है कि जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह काँच के दोष के कारण ठीक नहीं दीख रहा है या हमारे मुख के कारण ठीक नहीं दीख रहा है। काशी में कभी गंगाजी में नहाकर घाटिये के काँच में अपना मुँह देखो तो मुँह पर तरह-तरह के दाग दिखाई देंगे! देखने वाला सोचता है कि मुँह ठीक से नहीं पोंछा। फिर मुँह पोंछ कर काँच देखता है। फिर भी मुँह पर दाग दीखते हैं। वह आकुल हो जाता है। वहाँ रहने वालों का तो रोज उसी काँच में मुँह देखने का अभ्यास है इसलिये जानते हैं कि घाटिये का काँच ही ऐसा होता है, दोष काँच का है, मुँह का नहीं। इसलिये वे आकुल नहीं होते। इसी प्रकार संस्कार साक्षी में तो पड़ नहीं सकते, अंतःकरण में ही संस्कार पड़ेंगे। अंतःकरण के अन्दर जब तत्त्वमसि का संस्कार दृढ होता है तब भी व्यवहार-काल में अंतःकरणरूप काँच में प्रतिबिम्ब में दीखेगा वह द्रष्टारूप ही; लेकिन उस द्रष्टारूप को देखकर भी वह जानता है कि 'मैं साक्षी हूँ'। जिसका वह संस्कार दृढ नहीं पड़ा हुआ है, वह समझ लेता है कि 'मैं द्रष्टा हूँ' इसलिये वह आकुल हो जाता है।

वेदान्त का यह रहस्य समझकर रखने का है कि परिवर्तन मन में होता है। जब तक मन में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित हुए प्रतिबिम्ब को हम अपना स्वरूप समझते हैं तब तक आकुलता है। मन सात्त्विक रहते वेदवाक्य के द्वारा हम अपने स्वरूप को ठीक समझ पाते हैं। काँच बिलकुल साफ हो, तो उसमें अपना मुँह साफ दीखता है। वैसे निर्दोष मन में आत्मा का सही चित्र दीखता है। पता तो प्रतिबिम्ब का लगा, परन्तु वह प्रतिबिम्ब ठीक है, इसका निर्णायक वेदवाक्य है। जब उस रूप को देख भी लिया और वही प्रामाणिक है यह निश्चय कर लिया तब कितने ही खराब काँच में प्रतिबिम्ब रूप से उसे देखें, वास्तविकता के बारे में कोई भ्रम नहीं होता है। इसलिये कहा कि तब साक्षी निराकुल है।

इसी प्रकार, माया के अन्दर सारा संसार अव्यक्त रूप से मौजूद है। उसका जृम्भण होता है अर्थात् मुँह खुलता है तब सब व्यक्त हो जाता है, नहीं तो उसके अन्दर बन्द रहता है। सत् अर्थात् परमेश्वर ठीक उसी प्रकार निराकुल है चूँकि परमेश्वर सृष्टि के पहले बिना मायाजृम्भण के अपने स्वरूप को जानता ही है। उसको वेद का ज्ञान है ही इसीलिये उसको कभी भ्रम होता ही नहीं है। माया का जृम्भण तो वह करता है और माया के सब कार्यों को वह देखता भी है, चलाता भी है। यह सब करते हुए भी वह कर्त्ता-भोक्तापने से ग्रस्त नहीं होता क्योंकि मायाजृम्भण के पहले उसको अपने स्वरूप का ज्ञान है ही। हम लोग चूँकि वेद के ज्ञान से रहित हैं, इसलिये हम लोगों के अन्दर अनादि काल का जो अज्ञान है वह भ्रम को पैदा करता रहता है। उस भ्रम को निवृत्त करने के लिये साधना, वेदान्त-श्रवण आदि सब आवश्यक होते हैं। किंतु ईश्वर हमेशा निराकुल रहता है। 'तथैव' कहने का तात्पर्य है कि यह दृष्टांत केवल निराकुलता में समझना, जृम्भणराहित्य और साहित्य से जीव में जो फ़र्क आता है वह फ़र्क ईश्वर में माया-जृम्भण के पहले और बाद में नहीं है। इस बात का

संकेत करने के लिये जीव में कहा 'मनोजृम्भणराहित्ये' अर्थात् जृम्भण-रहित अवस्था होने पर। जीव पहले जृम्भण अवस्था में अपने को आकुल देखता है फिर जृंभणरहित स्थिति में निराकुल स्वरूप समझता है। जबकि ईश्वर में मायाजृंभण से पूर्व ही निराकुलता है अतः वह स्वाभाविक होने से उसमें स्थायी है।।४६।।

मायाजृम्भण कहा तो माया क्या चीज़ है, इसे बताते हैं–

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाऽग्निशक्तिवत्।
नहि शक्तिः क्वचित् कैश्चिद् बुध्यते कार्यतः पुरा।।४७।।

ईश्वर की शक्ति माया है। वह कार्यवश समझ आती है लेकिन तत्त्वहीन है। जैसे आग की शक्ति कार्य से पता चलती है वैसे कहीं भी कोई भी शक्ति को कार्य से पहले नहीं समझता।

जो सत्, ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर है, उसकी शक्ति माया कही जाती है। इसका रूप क्या है? निस्तत्त्वा, इसकी अपनी कोई तत्ता नहीं है। तत्त्व शब्द का अर्थ तत्ता होता है! शक्ति शक्तिमान् से अलग कहीं मिलती नहीं है। यदि उसकी अपनी सत्ता होती तो अवश्य ही वह हमको शक्तिमान् से अलग मिलती। अलग नहीं मिलती है तो इसका मतलब हुआ कि उसकी वास्तविकता कुछ नहीं है। माया ब्रह्म से अतिरिक्त कहीं मिलती नहीं इसलिये उसकी अपनी सत्ता कुछ भी नहीं है। जगत्कारणरूप जो ब्रह्म है वही उसकी वास्तविकता या तत्ता है।

यदि ऐसा है तो क्या वह माया फिर ब्रह्मस्वरूप है, जैसा शाक्त लोग मानते हैं कि माया ब्रह्मरूप है? इस पर कहा कि ऐसा नहीं, माया कार्यगम्या है। आकाश आदि कार्यों को उत्पन्न करती है, इसलिये पता लगता है कि वह शक्ति है, जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय करती है इसलिये जगत्सृष्टि-लय करने वाला ब्रह्म सिद्ध होता है। ज्ञान हो जाने पर पता लगता है कि जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय कभी होते नहीं हैं। इसलिये तभी पता लगता है कि माया नहीं है। जगत् को देखकर ही माया का पता भी लगता है। कार्य की अवास्तविकता समझने पर उसके बल पर समझी शक्ति की अवास्तविकता निश्चित हो जाती है। ब्रह्म कार्यगम्य नहीं है। वह स्वप्रकाश, स्वतःसिद्ध अतएव अप्रमेय स्वीकार है। 'मैं दस किलोमीटर चल सकता हूँ' इसका पता तब लगता है जब मैं दस किलोमीटर चल लेता हूँ। परन्तु ऐसा कुछ नहीं है कि जब कुछ कार्य (क्रिया) हो तभी पता लगेगा 'मैं हूँ'! अपनी भी शक्ति को जानने के लिये तो कार्य चाहिये। आँख आदि भी देखें, करें तभी पता लगता है कि हैं। परन्तु 'मैं हूँ' इस बात को देखने के लिये कुछ करना नहीं पड़ता। शक्ति कार्यगम्य है। जब कार्य हो तब पता लगेगा कि कारण में शक्ति है। सामान्यतः आदमी जानता है कि 'मेरी हलवा-कचौड़ी खाने की शक्ति है', परन्तु यह निश्चित ज्ञान नहीं है। जब दस कचौड़ी खा लेगा तब प्रकट होगा कि शक्ति है। कई बार सोचता है कि 'दस कचौड़ी खा

लूँगा'। परन्तु छह कचौड़ी खाने के बाद ही मुँह ऐसा बन्द हो जाता है कि फिर खाई ही नहीं जाती! पूर्व अनुभवों के कारण तुम कुछ अनुमान तो कर सकते हो परन्तु फिर भी जब तक कार्य न हो जाये तब तक शक्ति सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार से सृष्टि-स्थिति-लय होते हैं तब तो हम मायाविशिष्ट ब्रह्म को कह सकते हैं। जब सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोधान कुछ नहीं होते, तब ब्रह्म स्वरूप से शुद्ध (शक्ति के आरोप के बगैर) ही है। इसलिये कहा कि शक्ति कार्यगम्य है, निस्तत्त्व है।

दृष्टांत दिया, जैसे आग की शक्ति। आग तो हमको जलती हुई दीखती है और हम सोच भी लेते हैं कि आग के ऊपर दाल का भिगौना चढ़ायेंगे तो दाल पक जायेगी। पर कभी केदारनाथ पहुँच गये और दाल का भिगौना आग पर चढ़ा दिया, दो घण्टे हो जायें लेकिन दाल नहीं गलेगी! वहाँ आग तो जल रही है लेकिन गलाने की शक्ति उसमें कार्यकारी नहीं है। गलाने की शक्ति वहाँ के वायु के चाप (दबाव) के कारण काम नहीं करती है। प्राचीन काल में चन्द्रकान्त मणि को आग के सामने रख देते थे तो भी आग की शक्ति अवरुद्ध होने से दाल नहीं गलती थी। अग्नि हमको सामने दीख रही है और गलाना या पकाना आदि उसका कार्य है—यह भी हमें पता है, परन्तु जब वह शक्ति काम करेगी तभी उसका पता लगेगा। यदि कार्य नहीं है तो उस शक्ति का पता लगाने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये कहते हैं 'क्वचित् कैश्चित्' कहीं भी, किसी के द्वारा भी कार्य के पहले शक्ति का पता नहीं लगता। 'बुध्यते' का अर्थ है कि उसका ठीक ज्ञान नहीं होता, उसका सही पता नहीं लगता। इसी प्रकार से माया का कार्य देखने पर ही उसके वहाँ होने का ठीक पता लगता है। निस्तत्त्वा के द्वारा यह बता दिया कि माया की अपनी कोई सत्ता नहीं है।।४७।।

निस्तत्त्वता को स्पष्ट करते हैं—

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम्।।४८।।
शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम्।
न शून्यं नापि सद् यादृक् तादृक् तत्त्वमिहेष्यताम्।। ४९।।

सद् (ब्रह्म) की शक्ति सत् (सत्य) नहीं हो सकती जैसे आग अपनी ही शक्ति नहीं होती! यदि सत् की शक्ति सत् नहीं तो बताओ, उस शक्ति का तत्त्व (वास्तविकता) क्या है? यदि कहो शक्ति का तत्त्व शून्य है तो बता चुके हैं (श्लोक ३४) कि शून्य माया का ही कार्य है। इसलिये उसे न शून्य (असत्) और न सत्, बल्कि जैसी है वैसी ही स्वीकारना चाहिये।

सत् की जो शक्ति है वह सद्वस्तु नहीं है। जिसको पहले तत्त्व कहा था उसी को स्पष्ट करने के लिये सद्वस्तु कह दिया। सत् की शक्ति सद्वस्तु तो है नहीं जैसे आग की शक्ति आग

नहीं है। आग तो जलती रहती है, केवल शक्ति रुकती है अतः वह आगरूप तो नहीं है। यदि कहो कि वह सत् नहीं है, सत् से भिन्न है; तो जो सत् से भिन्न होगा वह असत् होना चाहिये। ऐसा असत् शक्ति को कह नहीं सकते जैसे गधे का सींग नहीं होता। गधे का सींग कभी किसी के अनुभव में नहीं आता, इसलिये उसे असत् कहते हैं। लेकिन शक्ति का कार्य देखने में आता है, भले ही शक्ति खुद देखने में नहीं आती। जैसे कोई पूछे कि 'पीठ कैसे खुजला रहा है?' और जवाब दो कि खरगोश के सींग से खुजला रहा है! तो यह कहने से कुछ बोध नहीं होगा क्योंकि सबको पता है, खरगोश का सींग होता नहीं तो खुजलाने का कार्य कैसे होगा! शक्ति से कार्य पैदा होता है इसलिये शक्ति को 'नहीं है' नहीं कह सकते। वह खरविषाण-तुल्य नहीं है, और सद्रूप भी नहीं है; अर्थात् 'है' भी नहीं है और 'नहीं है' भी नहीं है। 'नहीं है' इसलिये नहीं कि कार्य देखा जाता है और 'है' इसलिये नहीं कि उसकी अलग सत्ता नहीं है।

यदि ऐसा कहो कि वह शून्य है, तो शून्य और शून्य शब्द का अर्थ ये दोनों ही माया के कार्य हैं यह पहले ही निर्णय हो चुका है। इसलिये निष्कर्ष यही निकलता है कि माया सद्-असत् दोनों से विलक्षण मिथ्या है। 'यादृक्' जैसा है 'तादृक्' वैसा ही उसका तत्त्व स्वीकार करो। असत् या अभाव भी माया का कार्य है। जैसे माया भाव को पैदा करती है वैसे ही अभाव को भी पैदा करती है। जैसे जिस अज्ञान के कारण तुम्हें रस्सी में साँप दीखा, 'साँप नहीं' यह भी उसी के कारण समझ आता है। यह बहुत बड़ा फ़र्क शून्यवादी और वेदान्ती में है।

बौद्धों के यहाँ संसार के बंधन की प्रतीति विज्ञान के कारण होती है। परन्तु जब क्षणिक विज्ञान समाप्त हो जाता है, निर्वाण की स्थिति होती है, तब वह विज्ञान-स्वरूप नहीं है! इससे विलक्षण, वेदान्ती 'जगत् है' की प्रतीति को जैसा मायिक मान रहा है वैसे 'जगत् नहीं है' के अनुभव को भी! कर्त्ता-भोक्ता जैसे मनोवृत्ति से, अखण्ड साक्षात्कार भी मनोवृत्ति से ही। 'न बद्धः' के साथ 'न मुक्तः' भी परमार्थता में बताया गया है। इसी दृष्टि से ब्रह्मज्ञान भी अज्ञान में ही है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ब्रह्म का ज्ञान, जिसको अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं, वहाँ तक सारा का सारा माया का खेल है।

इस तरह क्योंकि सत्-असत् दोनों नाम-रूप पर निर्भर अतः मायामात्र हैं इसलिये सत्त्व और असत्त्व के द्वारा माया का निर्वचन नहीं हो सकता। कार्य की तरफ देखें तो असत् नहीं कह सकते और वास्तविकता की तरफ देखते हैं तो सत् नहीं कह सकते। माया ऐसी विलक्षण है। इसलिये आचार्य शंकर ने परिचय ही दिया है 'अघटित-घटना-पटीयसी माया' जो कभी घट नहीं सकता वह घटाने में अतिकुशल है। एक अद्वितीय ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कभी हो नहीं सकती, उस असम्भव जगत् को उत्पन्न करके दिखा देती है। और करीब-करीब यही मनुष्य के लिये मन कर दिखाता है! मन भी अघटित-घटना जैसा कार्य करता दीखता है। 'मैं' सन्मात्र हूँ और मन मुझे सुखी-दुःखी, रागी-द्वेषी, कामी-क्रोधी दिखा

देता है। मैं कभी ऐसा बन नहीं सकता, मेरा ऐसा बनना सर्वथा अयुक्त है, फिर भी मन ऐसा बना कर दिखा देता है। माया का प्रत्यक्ष रूप मन है। इससे समझ आ जाता है कि इसी तरह माया को है या नहीं है कहना न बनने पर भी नकारना सम्भव नहीं। यही उसका मिथ्यात्व है।। ४८-४९।।

सदसद्विलक्षण अज्ञानरूप माया में श्रुति का संवाद दिखाते हैं–

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं किं त्वभूत् तमः।
सद्योगात् तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात्।।५०।।

वेद ने बताया है कि तब न सत् था, न असत् था, किन्तु तम था। सत् के सम्बन्ध से तम की सत्यता है, खुद नहीं क्योंकि ('नो सत्' आदि से श्रुति ने) इसका निषेध किया है।

ऋग्वेद में (१०.१२९) नासदीय सूक्त आता है। वहाँ कहा है कि तब सत् नहीं था, असत् भी नहीं था 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।' लोक में कहते हैं कि 'सवेरे कुम्हार की दुकान गये तो उस समय वहाँ घड़ा नहीं था, मिट्टी ही थी। अब वहाँ घड़े रखे हैं, मिट्टी नहीं रह गई।' मिट्टी नहीं रह गई–अर्थात् कारण नहीं रह गया, कार्य ही है। इस तरह कार्य को 'है' कहते हैं और कारण को 'नहीं है' कहते हैं। ऐसी लोक में प्रसिद्धि है इसलिये 'असत् नहीं था' अर्थात् उस समय कारण नहीं था। और उस समय 'सत्' अर्थात् कार्य भी नहीं था। सृष्टि के पहले दोनों नहीं थे। परन्तु आगे सूक्त कहता है 'तम आसीत् तमसा गूढम् अग्रे' अज्ञान वाला ब्रह्म वहाँ था, ब्रह्म के साथ एक हुआ अज्ञान था। इसी बात को यहाँ कहा 'सद्योगात् तमसः सत्त्वं न स्वतः।' इसे अपनी सुषुप्ति में घटा लो; उठकर स्मृति आई कि 'वहाँ मैंने कुछ नहीं जाना।' अर्थात् वहाँ कुछ नहीं था–इस बात को जाना! कैसे पता कि वहाँ कुछ नहीं है? क्योंकि 'मैं' था। अगर कुछ नहीं को नहीं जाना होता तो 'कुछ नहीं था' यह कैसे याद कर सकता था? ठीक इसी प्रकार जिस समय सृष्टि होनी है उस समय परमेश्वर के साथ वह माया थी, इसलिये माया है कहना पड़ता है।

'सद्योगात्' ब्रह्म से सम्बद्ध होकर ही अज्ञान 'है'-रूप कहा जाता है। अज्ञान स्वतंत्र नहीं है क्योंकि उसकी सद्रूपता का निषेध है। 'सदेवासीत्' आदि श्रुतियाँ सद्रूप ब्रह्म से विलक्षण सभी का निषेध करती हैं। अतः सत् से स्वतन्त्र अज्ञान भी निषिद्ध ही है। कार्यगम्य होने से अज्ञान की सद्रूपता का निषेध है। उस समय परमेश्वर था और परमेश्वर के साथ उस समय अभिन्न हुई माया थी। 'माया थी' यह तब कह सकते हैं जब वह परमेश्वर से एक थी। अज्ञान हमेशा ज्ञान से ही सिद्ध होता है, अथवा नहीं जानना जानने के साथ ही सिद्ध हो सकता है। 'नहीं जानना' स्वतः सिद्ध नहीं हो सकता। वास्तविक चीज़ को नहीं जानने से उत्पन्न जो सारे विकार हैं उनका कारण उस अज्ञान को कहना पड़ता है। वह अज्ञान इसलिये है कि ज्ञानाश्रित है, और ज्ञानरूप ब्रह्म है। इसलिये इस सारे जगत् को उत्पन्न करने

वाली माया ब्रह्माश्रित है। वह स्वयम् सत्-असत् दोनों से भिन्न है। उसे 'कुछ नहीं' भी नहीं कह सकते और 'कुछ है' यह भी नहीं कह सकते। संसार पैदा होता है इस कार्य को देखने से उसे 'कुछ नहीं' यह नहीं कह सकते और ब्रह्म से अलग उसकी सत्ता नहीं है, इसलिये 'कुछ है' यह भी नहीं कह सकते।।५०।।

उक्त विवेचन का नतीजा बताते हैं-

अतएव द्वितीयत्वं शून्यवन्नहि गण्यते।
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक्।।५१।।

इसीलिये शून्य की तरह माया को 'दूसरा' नहीं गिनते। लोक में चैत्र और उसकी शक्ति के अस्तित्व का पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता।

माया की अपनी सत्ता नहीं है। शक्ति बिना शक्तिमान् के कहीं देखी नहीं जाती और शास्त्र में भी नहीं बताई जाती। इसलिये सत् से दूसरी सत्ता वाली वह नहीं है। जो लोग शून्य को मानते हैं वे कहेंगे कि दो तो हो ही गये-एक ब्रह्म और दूसरी माया या अज्ञान, कुछ भी कहो! परन्तु चूँकि अज्ञान की सत्ता बिना सद्रूप ब्रह्म के नहीं होती इसलिये शून्य की तरह ब्रह्म और माया दो हैं-यह नहीं कह सकते। शून्य को ब्रह्म-सत्ता पर निर्भर नहीं मानने से उसे ब्रह्मातिरिक्त गिना जाये तो भी माया को नहीं गिन सकते। शून्य भी कुछ है नहीं तो 'दूसरा' माना जाये यह असंगत है यह तो स्पष्ट ही है। लोक में चैत्र और उसकी शक्ति का जीवन अर्थात् उसका रहना अलग नहीं कहते। चैत्र आया तो उसकी देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति आई ऐसा अलग कहने की ज़रूरत नहीं। उसकी शक्ति को मानकर ही कहेंगे कि चैत्र आया।।५१।।

शंका होती है कि शक्तिमान् से अलग शक्ति कही समझी तो जाती है-

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद् वर्द्धते तत्र वृद्धिकृत्।
न शक्तिः किन्तु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा।।५२।।

यदि कहो कि शक्ति की अधिकता होने पर जीवित (जीवट) बढ़ता है (अतः दोनों में अंतर स्फुट है) तो समझ लो कि जीवट बढ़ाने वाली शक्ति नहीं वरन् युद्ध खेती आदि उसके कार्य हैं।

शक्ति की अधिकता से मनुष्य के जीवट की अधिकता को बताया जाता है। कहते हैं कि इसमें बहुत जीवट है या कम जीवट है। शक्ति की अधिकता, अर्थात् अधिक शक्ति से अधिक जीवन कहा जाता है अतः शक्ति को अलग मानना क्यों ठीक नहीं है? इस पर समझाते हैं कि शक्ति से क्या समझना है? 'जीवितं' का एक मतलब आयु हो सकता है; किंतु शक्ति से आयु बढ़ जाती है-तुम्हारा यह मतलब नहीं हो सकता। क्योंकि बली भी अल्पायु एवं दुर्बल भी दीर्घायु देखे जाते हैं। 'जीवित' का दूसरा मतलब सोत्साह बहुतेरे कार्य

संभालना भी होता है। किसी ने बहुत काम किया, इसलिये कहते हो कि उसमें जीवट अधिक है। कार्य को देखकर ही कहते हो कि वह अधिक बल वाला है या निर्बल है। किंतु इस अभिप्राय में शक्ति नहीं वरन् उसके कार्य, अभिव्यक्ति का पार्थक्य प्रतीत होता है। अर्थात् 'अधिक जीवित' इस व्यवहार का संपादक शक्ति नहीं वरन् उसका कार्य होता है। वृद्धि करने वाली शक्ति नहीं है, परन्तु शक्ति का कार्य है। कार्य, जैसे युद्ध आदि। कोई बहुत प्रबल युद्ध करता है, तब उसकी तारीफ होती है कि यह महारथी है, रथी या अर्द्धरथी है। इसी प्रकार खेती करता है तो कहते हैं कि वह पाँच खेत जोत लेता है। इस प्रकार जीवित के दो ही अर्थ हो सकते हैं—आयु या कार्य। यदि व्यक्ति का कार्य नहीं देखा जायेगा तो उसके अन्दर अधिक शक्ति है ऐसा कोई अनुमान नहीं कर सकता। 'आदि' पद से व्यापार आदि समझने चाहिये, उन में भी कार्य को देखकर ही अधिक-कम का पता लगता है। और कोई तरीका यह जानने का नहीं है कि शक्ति की अधिकता है। अतः शक्ति को शक्त से 'दूसरा' (अलग) कहना-समझना बनता नहीं।।५२।।

शक्ति से ब्रह्म में सद्वितीयता नहीं आती इसका उपसंहार करते हैं—

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित्।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम्।।५३।।

हर हालत में, (शक्त से) पृथक् केवल शक्ति की कहीं गिनती नहीं होती। (सृष्टि से पूर्व) शक्ति का कोई कार्य तो है नहीं (अतः) द्वितीय (होगा यह) शंका कैसे की जाये!

केवल शक्ति, बिना किसी कार्य को देखे हुए, कोई भी अलग से नहीं गिनता है। व्यक्ति को लेकर ही उसकी शक्ति की बात की जाती है। व्यक्ति को छोड़कर केवल शक्ति की बात नहीं की जाती। बिना कार्य को देखे हुए कभी पता नहीं लग सकता कि ज़्यादा या कम शक्ति वाला है। इसलिये बड़ाई हमेशा उस व्यक्ति की ही होती है जिसने कार्य किया। अलग से शक्ति को नहीं बता सकते। शक्ति को शक्तिमान् से पृथक् नहीं गिना जाता। सृष्टि के पहले कुछ नहीं, जब सृष्टि होगी तभी पता लगेगा कि यह शक्ति ब्रह्म में है। जैसे मोक्ष काल में शक्ति की प्रतीति नहीं है वैसे सृष्टि होने से पहले माया की प्रतीति भी नहीं है। शक्ति अलग से गिन नहीं सकते और शक्ति का कार्य उस काल में है नहीं, इसलिये ब्रह्म और माया को दो कैसे गिन रहे हो? ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न होती है इसलिये कह देते हैं कि ब्रह्म में इसको बनाने की शक्ति थी। कार्य के आधार पर ही कहते हैं कि माया थी, नहीं होती तो कार्य कैसे दीखता? कार्य को देखे बिना माया का अनुमान नहीं कर सकते। तात्पर्य है, माया अज्ञान-रूप और ब्रह्म ज्ञानरूप है। इसलिये अज्ञान ज्ञान के आश्रित रहने से उसकी अलग सत्ता नहीं हो सकती। कुछ लोग मानते हैं कि ब्रह्म में तो शक्ति हमेशा रहेगी! लेकिन जब तक पैदा नहीं करेगी तब तक 'हमेशा रहेगी' ऐसा अनुमान नहीं कर सकते। पैदा करे तभी कह सकते हो कि उसकी पैदा करने की शक्ति थी। मोक्ष अवस्था में कुछ पैदा होता नहीं इसलिये शक्ति भी वहाँ नहीं है।

वादी यह सिद्ध करना चाहता है कि ब्रह्म और माया दो हैं और इसलिये अद्वितीय स्थितिरूप मोक्ष असम्भव है। जवाब है कि मोक्ष असम्भव इसलिये नहीं होगा कि माया की कल्पना तभी करनी पड़ती है जब हम जगत् को देख लेते हैं। जगत् को बिना देखे माया की कल्पना का कोई प्रसंग ही नहीं आता।।५३।।

आगे शंका होती है कि यह माया शक्ति क्या ब्रह्म के एकदेश में रहती है? जैसे हमारे में चलने की शक्ति है, परन्तु वह पैर-देश में ही रहती है, कान-देश में तो नहीं रहती। सुनने की शक्ति कान-देश में ही रहती है, पैर-देश में नहीं रहती। ठीक इसी प्रकार, माया क्या ब्रह्म के एकदेश में रहती है? या, जैसे घी में जलने की सामर्थ्य हर कण में है वैसे माया शक्ति सारे ब्रह्म में रहती है? अगर माया ब्रह्म के सारे देश में रहती है तो मुक्ति कैसे होगी? जिसको ज्ञान होगा, उसकी मुक्ति हुई तो वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया किंतु वहाँ माया बैठी हुई है इसलिये वह अविद्या या माया से रहित नहीं हो सकता। अतः सारे ब्रह्म में माया रहे तो मोक्ष की सम्भावना नहीं रह जाती। यदि कहो कि ब्रह्म के एकदेश में माया है तो ब्रह्म देश-भेद वाला हुआ, अतः परिच्छिन्न हुआ! एकदेश में रहने पर परिच्छिन्नता की प्राप्ति और सारे देश में रहने पर मोक्ष की असम्भवता होगी।

इस समस्या का समाधान करते हैं–

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किन्त्वेकदेशभाक्।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते।।५४।।

वह शक्ति पूरे ब्रह्म में मौजूद नहीं किन्तु एक हिस्से में है जैसे घड़ा बनने की शक्ति सारी धरती में नहीं वरन् चिकनी मिट्टी में ही होती है।

इसके विषय में समझ लेना कि कुछ आचार्यों ने तो कृत्स्नब्रह्मवृत्ति भी मानी है अर्थात् समूचे ब्रह्म में माया है ऐसा स्वीकारा है। इसीलिये वे कहते हैं कि जब तक सबका मोक्ष नहीं हो जाता तब तक मुक्त का ईश्वर-भाव ही रहता है, सर्वमुक्ति होने पर ही शुद्ध भाव होता है। अन्यों ने यह माना है कि इस जगत् को देखने वाला एक ही है। अतः उसकी मुक्ति ही सर्वमुक्ति हो जाती है। इस प्रकार दोनों तरह की बातें मानी हैं। यहाँ जवाब यही है कि ब्रह्म में कल्पित देश मान लेंगे। जगत् को देखकर जैसे माया का अनुमान करते हैं वैसे ही माया के रहने के बारे में उक्त अनुपपत्ति के आधार पर ब्रह्म के अन्दर देश न होने पर भी उसके अन्दर मायिक देश की कल्पना कर लेते हैं। जिस प्रकार से जगत् को देखकर हमने माया की कल्पना की, वैसे ही श्रुति मोक्ष कह रही है, इसलिये उसी ब्रह्म में देश की कल्पना भी कर ली। अतः जिसकी मुक्ति होगी वह तो जो मायारहित ब्रह्म है उसमें जायेगा, बाकी लोग माया का खेल देखते रहेंगे। इसलिये 'एकदेशभाक्' यह मान लिया। इसमें दृष्टांत दिया : घड़ा बनने की शक्ति मिट्टी में है लेकिन सारी मिट्टियों में तो घड़ा बनने की शक्ति नहीं है! बालू मिट्टी है पर उससे घड़ा नहीं बना सकते। चिकनी मिट्टी में ही घड़ा बनने

की शक्ति है। जैसे घड़ा बनाने वाली चीज़ मिट्टी ही है, परन्तु चिकनी मिट्टी से ही घड़ा बनता है, इसी प्रकार ब्रह्म में सृष्टि करने की शक्ति है, परन्तु माया से अवच्छिन्न एक हिस्से में ही वह शक्ति है। जैसे मिट्टी का चिकना होना ज़रूरी है वैसे ब्रह्म का माया से युक्त होना ज़रूरी है।।५४।।

प्रश्न होता है कि देशशून्य ब्रह्म में देश की क्यों कल्पना कर रहे हैं? यही क्यों नहीं मान लेते कि कृत्स्नब्रह्मवृत्ति है? ईश्वरभाव को प्राप्त होना मोक्ष माना जा सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह हमारी कल्पना नहीं है, श्रुति ने ही इस प्रकार की कल्पना की है–

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः।।५५।।

'सारे भूत सद्ब्रह्म का एक पाद (चौथाई) है, इसके तीन पाद (तीन चौथाई भाग) स्वप्रकाशमात्र हैं' यों माया एक हिस्से में है ऐसा श्रुति कहती है।

इसके एक पाद में अर्थात् एक चौथाई में सारे भूत अर्थात् जड-चेतनात्मक सारा जगत् है। हिन्दी में 'पाद' को 'पाव' कहते हैं। इसका 'त्रिपाद्' अर्थात् तीन पाव (तीन चौथाई) हमेशा माया से रहित स्वयं-प्रकाश, शुद्ध रहता है। ऐसी चूँकि श्रुति ने कल्पना की है अतः उसी के अनुकूल हम कहते हैं कि माया ब्रह्म के एकदेश में है। श्रुति स्वयम् माया की एक-देशवृत्तिता को कहती है। इन सब चीज़ों के बारे में अंतिम प्रमाण श्रुति ही है।

उक्त मंत्र ऋग्वेद में १०.९०.३, शुक्ल यजुर्वेद में ३१.३, तैत्तिरीय आरण्यक ३.१२.१ में, सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् ३.१२.६ में एवं अथर्ववेद संहिता १९.६.३ में–यों सभी वेदों में मिलता है। 'सर्वा' की जगह 'विश्वा' पाठ कहीं है, इतना अंतर है। जैसे निरंश आकाश के एकदेश में ही घट आदि माने जाते हैं वैसे निरंश ब्रह्म में माया मानना संगत है।।५५।।

केवल श्रुति ने कहा हो ऐसा नहीं, स्मृति भी कहती है–

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम्।।५६।।

'इस सारे जगत् को एक हिस्से से धारण कर मैं स्थित हूँ'–यों अर्जुन को श्रीकृष्ण ने समझाया है कि जगत् ब्रह्म के एक हिस्से में ही है।

'इदं'–अर्थात् विषयरूप सारे दृश्य जगत् को व्याप्त कर परमेश्वर उसको एक अंश में स्थित रखता है। श्रुति ने जरा और व्यावहारिक ढंग से कह दिया कि एक-चौथाई में है, तीन-चौथाई में नहीं है। भगवान् ने यहाँ कहा कि यह सारा जगत् उसके एक अंश में ही स्थित है। 'सारे जगत् को मैं व्याप्त करके हूँ, परन्तु मैं उसके बाहर भी हूँ'–इस बात को श्री कृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा। इसलिये श्रुति और स्मृति दोनों ने अंश-कल्पना की है यह समझाने के लिये कि यह सारा जगत् परमेश्वर के एकदेश में या एक अंश में है।।५६।।

उदाहृत मंत्र के प्रकरण में ही श्रुति ने परमेश्वर का माया से परे स्वरूप भी बताया है, उसका उल्लेख करते हैं–

स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा ह्यत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः।।५७।।

'भूमि को सब तरफ से घेरकर (भी) वह उससे दस अंगुल ऊँचा रहा'–यह श्रुतिवचन एवं 'कार्यभाग में न रहने वाला भी परमेश्वरस्वरूप है'–यह सूत्रकारका वचन भी इस बारे में प्रमाण है।

परमेश्वर चारों तरफ से सारे संसार को व्याप्त करके भी दस अंगुल ऊपर ही रहा। जिसको श्रुति ने 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' कहा उसी को स्पष्ट कर दिया। 'अत्यतिष्ठत्' अर्थात् उस एक पाद से वह त्रिपात् अस्पृष्ट ही रहता है, उसका किसी प्रकार का स्पर्श नहीं है। यह श्रुति की (ऋ. १०.९०.१ एवं पुरुषसूक्तादि में अन्यत्र) बात हुई। सूत्रकार भगवान् वेद-व्यास जी ने भी यही कहा है 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' (४.४.१९) कि विकार से परे भी परमात्मा है। अतः ब्रह्म के एकदेश में माया मानना शास्त्रादि के अनुकूल है।।५७।।

शंका होती है कि ब्रह्म को निरंश (हिस्सा-रहित) स्वीकारने वाला वेदान्ती उसी ब्रह्म के एक अंश में प्रपंच कैसे मानता है? श्लोक ५४ में यह प्रश्न संकेतित था, उत्तर अब देते हैं–

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी।।५८।।

'पूरे में है या टुकड़े में?' ऐसा पूछने वाले को समझाने के लिये श्रोताओं के हित को चाहने वाली श्रुति निरंश ब्रह्म में भी अंशों का आरोप कर उसी द्वैत-भाषा में जवाब देती है जिस भाषा में प्रश्न पूछा गया है।

चूँकि प्रश्नकर्त्ता व्यवहार में रहकर, अविद्या में रहकर, प्रश्न करता है इसलिये उसे जवाब भी व्यावहारिक भाषा में ही देना पड़ता है। है तो ब्रह्म निरंश, परन्तु निरंश में अंश का आरोप करके ही कोई प्रश्न करता है कि 'माया सारे में है या उसके एक हिस्से में है?' श्रुति श्रोता की हितैषिणी है अतः 'इसने अंश का आरोप किया इसलिये इसी की भाषा में उत्तर देना चाहिये' यह समझकर श्रुति उत्तर दे रही है। अर्थात् अंश आरोपित हैं, वास्तविक नहीं। अविद्या में रहकर संसार दीखता है तब प्रश्न करते हैं कि 'सब ब्रह्मरूप हैं तो हमें संसार कैसे दीखता है?' इसका एकमात्र सच्चा जवाब तो लट्ठमार ही है कि 'तुम झूठ बोल रहे हो! न संसार सच्चा है, न दीख रहा है।' लेकिन इससे शिष्य का तो हित नहीं होगा, क्योंकि वह वास्तविकता समझ नहीं पायेगा। इसलिये श्रुति ब्रह्म में कारणता का आरोप करती है। जगत् है, दीख रहा है–यह सब कह तो रहे हैं; श्रुति यह प्रतिपादित नहीं

करती। अतः यह भी श्रुतितात्पर्य नहीं कि माया से जगत् हुआ। श्रुति का तो मत है 'अनुत्पन्नमिदं जगत्'। फिर भी जगत् दीख रहा है तो प्रष्टा का हित करने के लिये ही जवाब देती है कि ब्रह्म से ही जगत् उत्पन्न हुआ। फिर प्रश्न उठे कि कैसे हुआ? तब सारी सृष्टि-प्रक्रिया श्रुति ने बताई है।

सृष्टि-प्रक्रिया में श्रुति का तात्पर्य हम लोग नहीं मानते। ब्रह्म ने सृष्टि की—इसमें श्रुति का तात्पर्य नहीं है वरन् वह कहकर 'ब्रह्म में कुछ नहीं है' यह बताना है। वेदान्त समझने-समझाने में यह कठिनाई हमेशा रहेगी। वेदान्त जिसे मानता है वह पारमार्थिक है और शिष्य तथा उसे समझाना आदि व्यावहारिक है, इसलिये व्यावहारिक प्रक्रिया से ही समझाना पड़ता है। 'किसी प्रकार अज्ञानी को ज्ञान हो तो उसका हित है' यह मानने से, कहने में सारी बात युक्तिसंगत हो—यह श्रुति ज़रूरी नहीं समझती है। प्रश्नकर्त्ता जैसी युक्ति मानता है, उसे जैसा अनुभव हो रहा है, उसी का सहारा लेकर उस पारमार्थिक तत्त्व का ज्ञान कैसे कराया जाये—इसमें तात्पर्य है। पहले भी (२.३६) कहा था 'चोद्यं वा परिहारो वा क्रियते द्वैतभाषया'। निरंश में अंश की कल्पना श्रुति नहीं कर रही है, शिष्य ने निरंश में अंश का आरोप करके जो प्रश्न किया, उसके परिहार के लिये कह दिया कि माया उसके एक अंश में है।।५८।।

अब बताते हैं कि ब्रह्म में माया का समर्थन क्यों करना पड़ता है, क्यों इस शक्ति की बात आयी है—

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत् सति विक्रियाः।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा।।५९।।

जैसे भींत पर लगे रंग भींत पर अनेक प्रकार के चित्र बनाते हैं वैसे सत्-तत्त्व पर आश्रित शक्ति सत् पर विक्रियाएँ कल्पित करती है।

दीवार के ऊपर लाल, पीला, काला रंग कर दो तो उसमें अनेक प्रकार के चित्र बन जाते हैं। एक तरफ राम जी धनुष को खींच रहे हैं, दूसरी तरफ रावण मरा पड़ा है; इत्यादि सारी चीज़ें चित्र में दीखती हैं। भींत पर रंग हैं तभी चित्र दीखते हैं, बिना रंग के नहीं। इसी प्रकार सत् तत्त्व ब्रह्म में हमें सारा संसार दीख रहा है। जैसे दीवार पर रंग है, उसी प्रकार सत् में माया के कारण सारे विकारों की कल्पना है। राम, रावण आदि चित्र रंगों के कारण दीखते हैं लेकिन वास्तव में दीख तो दीवार ही रही है; इसी प्रकार वास्तव में ब्रह्म ही भासमान है लेकिन उस 'है'रूप ब्रह्म पर मायावश नाम-रूप बने दीखते हैं। जैसे वस्तुतः दीवार दीखती है, उसमें चित्र सर्वथा कल्पित हैं, इसी प्रकार एक सन्मात्र ब्रह्म के अन्दर यह सारा संसार दीख रहा है। वसिष्ठमहर्षि कहते हैं—

'रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरीशिला।
तथा त्रैलोक्यखचितं ब्रह्मैकं प्रविचार्यताम्।।' (निर्वाण पूर्व.४६.३४)

जैसे बहुत बड़ी चट्टान पर रामलीला खोद दी हो तो वहाँ है केवल शिला ही। उसी प्रकार यह सारा त्रैलोक्य ब्रह्मशिला पर हम लोगों को दीख रहा है। जैसे दीख शिला रही है लेकिन रेखाओं के कारण चित्रों की प्रतीति होती है वैसे ही सचमुच में एकमात्र सत् (सत्ता) ही है परन्तु उसमें ये सारे नाम-रूप दीख रहे हैं। माया नाम-रूपों की रेखा की जगह है। एकमात्र सत् के अन्दर ये सारे विकार दीख रहे हैं। आगे बतायेंगे कि सत् से अमुक-अमुक चीज़ें पैदा हुईं, किंतु यह मत समझ लेना कि सचमुच में पैदा हुईं! जैसे भींत पर राम, रावण नाम की कोई *चीज़* नहीं है, प्रतीतिमात्र है, इसी प्रकार सृष्टि है। ऐतरेय उपनिषद् के भाष्य में यह स्पष्ट किया कि जैसे व्यापक निरवयव निष्क्रिय आत्मा का शरीर में प्रवेश असम्भव है वैसे ही निर्विकार परमार्थ ब्रह्म से सृष्टि असंभव है लेकिन शास्त्र समझाता यों इसलिये है कि ब्रह्म से अन्य कुछ है नहीं यह निश्चय हो जाये। सृष्टि है या हुई–यह बताने में नहीं वरन् परमात्मा सदा अद्वितीय है–यह बताने में सृष्टि आदि प्रक्रियाओं का उपयोग है। उपलब्ध सृष्टि नकारने-मात्र से अद्वैत न समझा जा सकने से सृष्टि को ब्रह्मरूप बताकर उसे समझाया जाता है। इसमें कहीं ब्रह्म को विकारी न मान लिया जाये इसलिये उसकी अनिर्वाच्य मिथ्या माया-शक्ति बतायी जाती है। माया को भी बताना अभिप्रेत नहीं; ब्रह्म की निर्विकारता ही प्रतिपाद्य है।।५६।।

उक्त विचार से अद्वितीय सत् की सिद्धि (श्लो. २६) और उसकी निस्तत्त्व शक्ति का वर्णन (श्लो. ४७) कर, जिन कार्यों से शक्ति अनुमित है उनका प्रसंग प्रारम्भ करते हैं–

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान्।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति।।६०।।

'खाली जगह'-स्वरूप वाला आकाश पहला विकार (कार्य) है। 'आकाश है' यों सत्-तत्त्व (है-पना) आकाश में भी अनुगत (मिलता) है।

सबसे पहला विकार आकाश है। आकाश क्या है? अवकाश ही उसका स्वरूप है। सत् से आकाश उत्पन्न हुआ–ऐसा क्यों कह रहे हैं? आकाश का जब ज्ञान होता है तब यही लगता है कि 'आकाश है'। आकाश का कभी भी है-से स्वतंत्र ज्ञान नहीं होता है। इसलिये सत्तत्त्व आकाश में अनुगत होने से आकाश सत् का कार्य समझ आता है। जिस तरह गहना सोने के बिना न मिलने से पता चलता है कि गहना सोने का कार्य है, वैसे आकाश सत् का कार्य समझ आता है।।६०।।

कार्य-कारणभाव समझने के लिये दोनों में अंतर पता चलना चाहिये तथा कारण सूक्ष्म है यह निश्चित होना चाहिये अतः कहा–

एकस्वभावं सत्तत्त्वम् आकाशो द्विस्वभावकः।
नावकाशः सति, व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम्।।६१।।

सत्-त्तत्त्व का स्वभाव एक सद्रूपता ही है, आकाश दो स्वभावों वाला है। सत् में खाली जगह नहीं जबकि आकाश में सद्रूपता और खाली जगह–दोनों हैं।

खाली जगह–इस स्वभावभेद से आकाश-ब्रह्म का अंतर पता चलता है तथा ब्रह्म में एक सद्रूपता ही है जबकि आकाश में दो विशेषताएँ हैं अतः ब्रह्म ही सूक्ष्म निर्धारित होने से कारण समझ आता है। कारण होने से सर्वत्र सद्रूप ब्रह्म उपलब्ध होने पर भी नाम-रूप-कर्म के व्यामोह से उस ओर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती लेकिन यहाँ बताये ढंग से सब जगह सत्-स्वभाव पहचानने का प्रयास कर्त्तव्य है, तभी ब्रह्म की व्यापकता एवं मूलकारणता का निश्चय हो पाता है। आकाश कार्य होने से ब्रह्म-स्वरूप को स्वयं में धारण करता है जबकि कारणभूत ब्रह्म आकाश के स्वरूप अवकाश या खाली जगह को स्वयं में धारण नहीं करता। गहने में सोना दीखने पर भी सोने में जैसे गहना नहीं दीख सकता वैसे कारण में कार्य-स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सकता। इसी से कारण सूक्ष्म रह जाता है।।६१।।

अन्य ढंग से ब्रह्म-आकाश का अन्तर और ब्रह्म की सूक्ष्मता समझाते हैं–

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत्।।६२।।

या यों समझें कि प्रतिध्वनि (गूँज) आकाश का गुण है। वह गुण सत् में नहीं मिलता। आकाश में सत् और ध्वनि ये दो गुण हैं अतः सत् एकस्वभाव वाला है जबकि आकाश दो गुणों वाला।

प्रकरण-प्रारम्भ में श्लोक-३ में बता चुके हैं कि आकाश में प्रतिध्वनि होती है। गुफा आदि के दरवाजे पर चिल्लाने से जो वापिस आवाज आती है यह प्रतिध्वनि आकाश में होती है। जहाँ आकाश नहीं होगा, बड़ी और बंद खाली जगह नहीं होगी वहाँ कोई प्रतिध्वनि नहीं होगी। इसलिये आकाश का गुण प्रतिध्वनि है। प्रतिध्वनि सत् ब्रह्म में नहीं है! आकाश में दो गुण हुए सत् और ध्वनि अर्थात् 'है' और आवाज। सत् के अन्दर केवल एक ही 'है'। इस प्रकार चाहे अवकाशरूप को लेकर समझो या प्रतिध्वनि को लेकर विचार करो, आकाश सत् से अलग और स्थूल पता चलता ही है। अतः वह कार्य है एवं सत् कारण है।।६२।।

सोने से गहने बनते हैं तो 'सोने का गहना' प्रतीति होती है, सत् से आकाश बना हो तो 'सत् का' या 'है का आकाश' प्रतीति होनी चाहिये, 'आकाश का हैपना (सत्ता)' प्रतीति क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

या शक्तिः कल्पयेद् व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम्।
आपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्यासेनाऽवकल्पयेत्।।६३।।

जो माया शक्ति आकाश कल्पित करती है वह सत् और आकाश में अभेद प्रतीत कराकर उनके धर्म-धर्मिभाव को विपरीत ढंग से दिखा देती है।

माया की विशेषता ही असंभव को संभव कर दिखाना है। 'सोने का गहना' की तरह ही 'जेवराती सोना' भी तो प्रतीत होता ही है, इसलिये आकाश की सत्ता प्रतीत हो इसमें क्या विरोध होगा? माया सबसे पहले कारणभूत ब्रह्म की प्रतीति न करने देकर अपने द्वारा कल्पित नाम-रूप प्रतीत कराती है। फिर, ब्रह्मस्वरूप सत्ता को 'आकाश की सत्ता' दिखाती है एवं आकाशस्वरूप अवकाश और शब्द को ब्रह्मरूप है दिखाती है। हमें सत्ता लगती है आकाश की तथा 'अवकाश है, शब्द है' यों आकाश के स्वरूप है-से एकमेक लगते हैं। जैसे रस्सी की प्रतीति न होकर साँप दीखता है, फिर रस्सी का सामनेपना (पुरोवर्तित्व) साँप में और जो सामने (रस्सी) है उसमें साँप का नाम-रूप दीखता है, वैसे ब्रह्म न दीखकर जगत् दीखता है और धर्मधर्मिभाव विपरीत लगते हैं। इस सारी कल्पना में माया अकेली ही सक्षम है, अनेक शक्तियाँ मानने की ज़रूरत नहीं। किं च, कार्य धर्म एवं कारण धर्मी होता है। मिट्टीरूप धर्मी वही रहता है, घट-कुल्हड़-परई आदि कार्यरूप धर्म बदलते हैं। इस तरह आकाश है तो धर्म और सत् है धर्मी अतः 'सत् का आकाश' प्रतीत होना संगत है लेकिन मायावश प्रतीति विपरीत होती है कि आकाश की सत्ता।।६३।।

धर्मधर्मिभाव का वैपरीत्य प्रत्यक्ष कराते हैं–

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत्।।६४।।

माया से जो सत् की आकाशता प्राप्त होती है उसी को लौकिक और तार्किक आकाश की सत्ता समझते हैं! विपरीत-दर्शन में हेतु बनना माया के लिये उचित ही है।

सच्ची बात का विचार करो तो सत् ब्रह्म ही, व्योमता को प्राप्त कर जाता है। घट में सत्ता नहीं है, 'सत्' में घटत्व है। वस्तुस्थिति का विचार करने पर तो सत् ही व्योमभाव को प्राप्त कर गया लेकिन अविचार काल में लगता है कि आकाश की सत्ता है। लौकिक अर्थात् सर्वथा अविचारी लोग तो ऐसा समझते ही हैं, जो केवल तर्क का आश्रयण करते हैं उन तार्किकों को भी यह भ्रम हो गया।

जो बात वेद प्रमाण से सिद्ध है, उसको समझने के लिये तर्क का प्रयोग वेदान्ती करते हैं। तर्क से वास्तविकता का पता लगेगा–ऐसा हम लोग नहीं मानते क्योंकि जैसा भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि एक तार्किक एक बात सिद्ध करता है, दूसरा आकर उसे असिद्ध कर देता है, तीसरा तार्किक आकर फिर पहले वाले की बात को सिद्ध कर देता है। वर्तमान काल में ही देखें तो आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। मध्व ने उसका खण्डन करके द्वैतवाद का प्रतिपादन किया, मध्व के द्वैतवाद का फिर खण्डन किया गया। इस प्रकार आज तक यह खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया अपने सामने ही चली आ रही है। अंततोगत्वा भाष्यकार कहते हैं कि यदि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी तार्किकों को एक जगह बन्द करके उनसे कहो कि 'तुम लोग एक बात सिद्ध करो', तो भी वे एक-दूसरे का माथा फोड़ते

रहेंगे, किसी नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे! इसलिये तर्क से किसी बात को समझा तो जा सकता है, परन्तु किसी सच्ची बात का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

जैसे, स्वतंत्र इच्छा से व्यक्ति कोई अजीब कार्य कर ले तो अन्य लोग चाहे जितना युक्ति-चिन्तन करते रहें, तर्क से पता नहीं चलता कि उसने क्या या क्यों किया अथवा जो हुआ वह किसने किया। ठीक इसी प्रकार, स्वयं ईश्वर ने वेद में अपना स्वरूप बताया अभिन्न निमित्तोपादान कारण। माया के द्वारा निर्विकार में उभयकारणता भी कह दी 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'। उसने स्वयं किया, स्वयं बना अतः वह तो ठीक बता देता है। लेकिन दूसरे दर्शनों वाले तर्क के भरोसे यह पता लगाना चाहते हैं कि वह परमात्मा कैसा है! उसकी बात मानें तब तो निश्चय हो जाये लेकिन सिर्फ तर्क से 'वह अभिन्न निमित्तोपादान कारण है' यह सिद्ध नहीं होता, उसमें दोष ही दोष नजर आते हैं। वेदान्ती का कहना है कि जब वह ईश्वर खुद ही कह रहा है कि 'मैं अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ' तो इसका पता तर्क से लगाने का यत्न ही व्यर्थ, निष्फल है। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में कह दिया 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। तुम चाहे जितनी बढ़िया बात कहो, दूसरा तगड़ा तार्किक उसे खण्डित कर देगा। जैसे अच्छा वकील पक्ष की तरह प्रतिपक्ष भी सत्यापित कर दिखाता है ऐसे तार्किक सभी पक्षों के अनुकूल तर्क ढूँढ लेगा। आचार्य कहते हैं 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्।' शास्त्रोपपादक तर्क को काटने का प्रयत्न मत करो, शास्त्रीय तर्क को सिद्ध करने की बात करो। शुष्क तार्किक सोचता है कि बिना वेद प्रमाण के केवल तर्क से सत्यता का पता लगा लें। इसलिये वेदान्ती वेद से सिद्ध ईश्वर को मानते हैं, केवल तर्क से ईश्वर को *सिद्ध* नहीं मानते क्योंकि तर्क से ईश्वर को सिद्ध समझेंगे तो तर्क से उसका खण्डन भी संभव ही है। अतः नैयायिक की ईश्वर-सिद्धि का विरोध करने पर भी वेदान्ती ईश्वरवादी रहता है। वेदसिद्ध ईश्वर में अनेक तर्क भी देता है लेकिन तर्कसिद्ध ईश्वर अस्वीकार करता है।

इसी प्रकार, लौकिकों को भी यही लगता है कि आकाश की सत्ता है और तार्किकों को भी यही लगता है कि आकाश की सत्ता है जबकि वस्तुस्थिति है कि सत् में आकाश की कल्पना है। सत् की जाति सत्ता है जैसे घटजाति घटत्व है। यह जो उलटा ज्ञान होता है उसका कारण है कि माया के लिये यही उचित है कि उलटी प्रतीति कराये। अज्ञान कहते ही उसे हैं जो चीज़ जैसी है उसको वैसा न दिखाकर उससे उलटा दिखाता है। घड़े को घड़ा दिखाये तो ज्ञान कहेंगे, घड़े को घड़े से उलटा कपड़ा दिखाये तो अज्ञान कहेंगे। जो चीज़ जैसी है वैसी पता लग जाये—वह ज्ञान हो जायेगा। अज्ञान, जो चीज़ जैसी नहीं है वैसी प्रतीत कराता है। सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्म (सत्) आकाशरूप से भास रहा है पर अज्ञान प्रतीति करा देता है कि ब्रह्म आकाश में है, आकाश में 'है'पना है। यह माया के लिये उचित है। अन्य की अन्यरूप में प्रतीति कराना अज्ञान का काम है और जो चीज़ जैसी है वैसी प्रतीति कराना ज्ञान का काम है।।**६४**।।

स्पष्ट करते हैं कि अविद्या से, माया से प्रतीति है अतः भ्रम है–

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः।।६५।।

जो जैसा है, प्रमाण से वह वैसा प्रतीत होता है, अन्य तरह की प्रतीति भ्रम से होती है–यह सब लोगों को स्वीकृत नियम है।

जो चीज़ जैसी है, जैसे रस्सी है और रस्सीरूप से ही प्रतीत होती है तो रस्सीपना प्रमाण से दीखेगा। और रस्सी रस्सी न दीखकर साँप दीखे तो वह भ्रम से होता है। संसार में सभी इस न्याय को मानते हैं कि प्रमाण से तो चीज जैसी है वैसी दीखती है और भ्रम से अन्यथा दीखती है। इसलिये जब वेद से ईश्वर का ज्ञान होगा तब तो ईश्वर जैसा है वैसा ही होगा क्योंकि ईश्वर के विषय में वेद ही प्रमाण है; और किसी भी तर्क से सोचोगे तो ईश्वर जैसा है वैसा प्रतीत नहीं होगा, दूसरापना अर्थात् जैसा ईश्वर नहीं है वैसा प्रकार आ जायेगा। जितना लौकिक विचार है वह सारा ब्रह्म के विषय में भ्रम ही कराने वाला है। इसका मतलब यह नहीं है कि न्याय या तर्क का प्रयोग मत करो। तर्क का प्रयोग करना है लेकिन चीज़ को ठीक *समझने* के लिये। वह परमेश्वर कैसा है–इसका *निर्णय* करने के लिये तर्क का प्रयोग नहीं करना है, वह तो वेद से ही सिद्ध होगा।।६५।।

भ्रम से अयथार्थ अनुभव समझकर भ्रम मिटाने का उपाय बताते हैं–

एवं श्रुतिविचारात् प्राग् यथा यद्वस्तु भासते।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत्।।६६।।

इस तरह, वेद-विचार से पहले जो (सांसारिक) वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वेद-विचार से वह प्रतीति उलट जाती है। अतः उस आकाश के बारे में वेदानुसार विचार किया जाये।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि वेदोपदेश के अनुसार विचार किये बिना भ्रांति से विपरीत प्रतीति होती है कि आकाशादि जगत् की अपनी सत्ता है। जो चीज़ जैसी है, वैसी प्रमाण से भासित होगी। सत्य में प्रमाण श्रुति-विचार ही है। श्रुति, श्रवण अर्थात् वेद क्या कहता है इसका निश्चय; और वेद की उस बात को मन में बैठाने के लिये उसके अनुकूल तर्क से विचार करना। श्रुतिविचार से पहले प्रमाण सामने नहीं आता अतः चीज़ जैसी भान होती है वैसी ही मान लेते हैं, जैसे घड़े में सत्ता। श्रुति के द्वारा और तदनुकूल तर्क के द्वारा विचार करने पर वह निश्चय बदल जाता है। मन्द अंधकार में देखने पर साँप है और प्रकाश में देखने पर रस्सी है। मंद अंधकार में देखे को तुम भ्रम मानते हो और प्रकाश में देखे को सच्चा मानते हो क्योंकि आँख के ऊपर प्रकाश ही उपकार करता है, अंधकार उसे ढाँक देता है। इसी प्रकार, शब्द-प्रमाण के द्वारा ब्रह्म जैसा है वैसा भान होता है और प्रत्यक्ष आदि

प्रमाणों के द्वारा ब्रह्म जैसा नहीं है वैसा भान होता है। ब्रह्म जैसा है वैसी प्रतीति कराना शब्द-प्रमाण का काम है। तार्किक लोग जिन प्रमाणों का भरोसा करते हैं, वे हैं ही तुमको भ्रम में डालने वाले! श्रुतिविचार से उक्त भ्रम की अपेक्षा विपरीत ज्ञान हो जाता है कि सत् ब्रह्म ही आकाशरूप में प्रतीत हुआ। क्योंकि भ्रम से हुआ अतः कहते हैं कि माया से हुआ। चूँकि श्रुतिविचार से पता लगता है कि ब्रह्म कैसा है इसलिये वह सत् ही वियत्-रूप से प्रतीत हो रहा है इसका चिन्तन करना चाहिये।।६६।।

वह चिंतन कैसे करें? यही बताते हैं–

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद् बुद्धेश्च भेदतः।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः।।६७।।

आकाश और सत् परस्पर अलग हैं क्योंकि इन्हें कहने वाले शब्द पृथक् हैं और इन्हें विषय करती बुद्धियाँ अर्थात् ज्ञान भी अलग होते हैं। वायु आदि में सत् तो अनुगत है, आकाश तो अनुगत है नहीं। इस तरह इनमें अन्तर निश्चित है।

आकाश और सत् दोनों भिन्न हैं, सारे व्यवहार में हम लोग रोज 'है' का प्रयोग करते हैं, 'घड़ा है, कपड़ा है, लड्डू है, पेड़ा है' इत्यादि। परन्तु कभी यह विचार नहीं करते कि केवल घड़ा कहें, है क्यों कहते हैं? यह 'है' क्या चीज़ है–इसका कभी विचार ही नहीं करते! अगर पूछो तो भी यही जवाब है कि 'यह स्वतः स्पष्ट है, इसमें कहना क्या है!' आकाश तो दीख रहा है, लेकिन यह 'है' कहाँ दीख रहा है? 'आकाश है' इसलिये लगता है कि माया से हमें इनमें अभिन्नता की प्रतीति हो रही है। भ्रमदृष्ट लम्बे साँप में, लम्बाई तो ठीक है लेकिन वह लम्बाई रस्सी की है, भ्रमवश साँप में दीख रही है। इसी प्रकार 'घड़ा है, कपड़ा है' में जो हैपना है वह ब्रह्म का है, भ्रम से हमको आकाश में दीख रहा है।

सद्ब्रह्म के लिये और आकाश के लिये अत एव शब्दभेद है : जब तुम कहते हो 'आकाश है' तब तुम दो शब्दों का प्रयोग कर रहे हो अतः दोनों के अर्थ अलग होने चाहिये। 'बुद्धेश्च भेदतः' दोनों के ज्ञानों में भी भेद है। ज्ञानभेद कहना इसलिये ज़रूरी है कि कोई कह सकता है कि जैसे पर्यायवाची शब्दों में भेद होने पर भी अर्थभेद नहीं होता वैसे ही आकाश मायने 'है', ऐसे समझ लो। इसलिये ज्ञानभेद बताया कि पर्याय की तरह नहीं हैं, पर्याय शब्दों को सुनकर जो वृत्ति बनती है उसका आकार एक ही होता है; आकाश, व्योम, वियत् आदि शब्द विभिन्न होने पर भी इनसे समझ एक ही वस्तु आती है। लेकिन ऐसे आकाश और है में एक वृत्ति नहीं होती। जैसे 'आकाश है' वैसे ही 'पेड़ भी है'; यदि 'है' और आकाश एक को कहने वाले शब्द होते तो 'पेड़ है' सुनकर पेड़ को आकाश समझते! निश्चित ही 'घड़ा है' में 'है' और 'घड़े' की बुद्धियाँ अलग-अलग हैं, दोनों ज्ञानों में फ़र्क है। इस तरह शब्दभेद और बुद्धिभेद दोनों हैं। जहाँ शब्द और ज्ञान दोनों अलग होते हैं वहाँ

चीज़ें अलग होती हैं। जहाँ शब्द और ज्ञान एक ही होता है वहाँ चीज़ एक ही होती है। परन्तु 'आकाश है' इस प्रयोग में ऐसी बात नहीं है। यहाँ शब्दभेद भी है और बुद्धिभेद भी है।

बुद्धिभेद क्यों है? जैसे आकाश के साथ 'सत्' है, वैसे ही वायु है, तेज है, जल है, पृथ्वी है आदि सब वस्तुओं में 'है' अन्वित है, लेकिन आकाश ऐसे पृथ्वी, जल, तेज आदि के अन्दर एक होकर प्रतीत नहीं हो रहा है। सत् तो सब में प्रतीत हो रहा पर आकाश सब में प्रतीत नहीं हो रहा। जैसे सोने का हार, बाजूबन्द, सोने की करधनी, सोने का बोर आदि में सोने की अनुगति तो है परन्तु बोर, करधनी आदि की अनुगति नहीं है इसलिये सोना सब गहनों से अलग है यह निश्चित बात है, इसी प्रकार वायु आदि के अन्दर 'सत्' तो अन्वित है, परन्तु आकाश अन्वित नहीं है। आकाश को अवकाश-स्वरूप कहा था। पृथ्वी तो पोली नहीं लगती या जल पोला नहीं लगता! इस प्रकार दोनों के भेद का ज्ञान हो रहा है तो 'आकाश है' में दो चीज़ों के दो ज्ञान समझने चाहिये, उसमें सत् (है)-शब्द-बुद्धि से ब्रह्म पता चल रहा है यह निश्चय करना चाहिये।।६७।।

सत्-आकाश में भेद बता दिया, अब उनके धर्म-धर्मिभाव का विचार करते हैं–

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद् धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम्।।६८।।

ज़्यादा में मौजूद होने से सद्वस्तु धर्मी है, आकाश तो धर्म है। विवेक द्वारा सत् से पृथक् समझे आकाश का क्या स्वरूप है, यह बताओ!

बोर, बाजूबन्द, करधनी आदि सब में सोना है, इसलिये यदि कोई पूछता है कि इन गहनों का कारण कौन है? तो कहते हो कि सोना कारण है क्योंकि सोना तो इन सबमें है। यों जो अधिक में वृत्ति वाला अर्थात् मौजूद होता है उसे धर्मी कहा जाता है। ऐसे वायु आदि अन्यों में आकाश न मिलने से वह धर्म है। इस तरह जो न्यूनवृत्ति होता है उसे धर्म कहते हैं। जिसमें कुछ रहता है वह धर्मी और जो रहता है उसे धर्म कहते हैं। अधिक-वृत्ति सत् है, वह धर्मी है, सत् में व्योम धर्म रहता है। इस प्रकार विचार के द्वारा सत् से आकाश को अलग कर सकते हैं। वेदान्त में विचार करके ही अलग करना है। दूसरे साधक तो अलग करने का मतलब समझते हैं कि छोड़ दो या सारी चीज़ों को दूर कर दो! वेदान्ती कहता है कि चीज़ों को अलग *करना* ज़रूरी नहीं होता, विचार से भी चीज़ें अलग हो जाती हैं। 'सत्' से तुम किसी चीज़ को अलग *कर* भी नहीं सकते! विचार से पता लग सकता है कि सत् अलग है, आकाशादि प्रपंच अलग है। जब समझ आया कि आकाशादि सत् नहीं है तब अर्थसिद्ध है कि असत् है। प्रतीयमान संसार में नाशपर्यन्त कोई भी परिवर्तन करने पर उसका कुछ-न-कुछ अवशेष रह जाता है। स्वेटर को उधेड़ दो तो स्वेटर नहीं लकिन ऊन रह जाता है। ऊन को जला दोगे तो ऊन नहीं लेकिन राख रहेगी। किसी भी चीज़ को नष्ट

करते हो तो निरवशेष नष्ट नहीं होती। कुछ न कुछ बच जाता है। जो चीज़ जैसी है उस रूप वाली तो नहीं रहेगी, लेकिन किसी भी और रूप में रहेगी। अणुबम के लिये परमाणु को तोड़ा तो वह परमाणु शक्तिरूप में रह गया अर्थात् वह शक्ति बन गई। तभी से द्रव्य और ऊर्जा–दोनों की एकता सिद्ध हुई। द्रव्य अर्थात् मैटर टूट कर ऊर्जा अर्थात् एनर्जी और एनर्जी घनीभूत होकर द्रव्य बनती है। इसलिये किसी भी चीज़ का नाश करने का प्रयत्न करोगे तो वह बिलकुल 'नहीं है' कभी नहीं हो सकती।

चीज़ को असत् करने के लिये तो एकमात्र साधन विचार ही है। विचार से पता लग जाता है कि कार्य प्रपंच सत् नहीं असत् है। योगी कहता है कि दुनिया दीखती है इसलिये दुःख होता है, यदि मन को ऐसा बना लें कि दुनिया नहीं दीखे तो दुःख नहीं होगा। वेदान्त कहता है कि तुम कितने दिन तक मन को ऐसा बनाये रखोगे? ऐसे-ऐसे महर्षि हुए हैं जिन्होंने साठ हज़ार साल की समाधि लगाई! इतने दीर्घकाल तक समाधि लगाने के बाद जब उठे तो जहाँ समाधि लगाने बैठे थे, उनके ऊपर से नदी बह रही थी, वे बालू के अन्दर दबे हुए थे। अतः उठे तो उन्हें सबसे पहले दीखा कि मच्छ और मछलियाँ विहार कर रहे हैं। साठ हज़ार साल बाद यह देखकर उनके मन में आया 'हमने तो ब्याह ही नहीं किया!' इसलिये, तुम हज़ारों साल तक भी संसार से दूर रह जाओ लेकिन फिर संसार दीखेगा तो दुःख होगा ही। इसलिये वेदान्त कहता है कि यह समाधान नहीं है। किसी किले में रहकर कोई दूसरे पर चढ़ाई नहीं कर सकता। दूसरे पर चढ़ाई तभी कर सकता है जब मैदान में जाये। इसी प्रकार यह संसार ऐसा का ऐसा मौजूद है और हम बुद्धि के द्वारा आक्रमण करके इस सब को सत् से अलग कर दें, तब तो यह संसार रहेगा ही नहीं, हमें दुःख कभी नहीं दे सकेगा।

इसलिये सत् से आकाश आदि सबको अलग कर दो तो सत् से अलग होकर ये असत् हो जायेंगे। इसमें विचार करना ही प्रधान उपाय बताया है। अलग करके बताओ कि यह आकाश फिर क्या बच गया? आकाश को 'असत्' कहो या 'कुछ नहीं' कहो–बात एक ही है। अर्थात् आकाश कुछ नहीं रहा।।६८।।

सत् से अलग किये आकाशादि का कोई स्वरूप निर्धारित कैसे नहीं हो सकता? इसे बताते हैं–

अवकाशात्मकं तच्चेदसत् तदिति चिन्त्यताम्।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद् व्याहतिस्तव।। ६९।।

यदि कहो कि सत् से पृथक् आकाश अवकाशरूप (पोल-रूप, जगहरूप) है तो विचार करो कि वह अवकाशरूप भी तो असत् (=नहीं है) ही होगा! सत् से भिन्न लेकिन असत् नहीं कहो तो तुम्हारे मत से बात स्वयं कट जाती है (क्यों कि निर्वचनवादी सत् और असत् का ही विभाग जानता है)।

यदि वादी कहे कि सत् से पृथक् जो अवकाशरूप रह गया वही आकाश का स्वरूप है; तब आचार्य कहते हैं कि जो सत् से भिन्न है वह असत् ही होगा। 'वह असत्' ऐसा बार-बार युक्तिपूर्वक सोचो, निश्चय करो कि जो सत् से भिन्न हो वह असत् ही है। असत् क्यों है? क्योंकि सत् से भिन्न है। सत् से पृथक् मानते हुए भी उसे असत् न स्वीकारना व्याघात दोष से दुष्ट है। जैसे कोई कहे मेरा बाप आबाल्यमरण ब्रह्मचारी रहा, तो कहना पड़ेगा कि या तुम उसके बेटे नहीं या वह बाल-ब्रह्मचारी नहीं था। इसी प्रकार या प्रपंच सत् से भिन्न नहीं, या वह असत् है।।६९।।

यद्यपि उक्त विचार से मान्य है कि आकाश सद्भिन्न शब्दबुद्धिका विषय अतः असत् है तथापि जिज्ञासा होती है कि उसका भान कैसे हो पा रहा है? इसके समाधान में आचार्य समझाते हैं कि इसी असमंजसता से मिथ्यात्व सिद्ध होता है–

भातीति चेद्? भातु नाम, भूषणं मायिकस्य तत्।
यदसद् भासमानं तद् मिथ्या स्वप्नगजादिवत्।। ७०।।

यदि पूछो कि प्रतीत क्यों होता है? तो जवाब है कि प्रतीत होने दो, मायाकार्य का यह अलंकार है। जो असत् रहकर भी भास जाये (प्रतीत हो जाये) वह वैसे ही मिथ्या है जैसे सपने के हाथी आदि।

प्रपंच असत् बताये जाने पर सभी पूछते हैं 'हमको प्रतीत होता है, फिर आप कैसे कहते हो कि नहीं है?' उत्तर है कि प्रतीत होता रहे, क्योंकि मायिक पदार्थ की यही विशेषता है कि बिना हुए प्रतीत हो। असत् दो प्रकार के हैं–एक प्रतीत नहीं होता, दूसरा प्रतीत होता है, परन्तु सत् नहीं है। जैसे स्वप्न में हमें बड़ा, चार दाँतों वाला हाथी दीखता है। शरीर के एकदेश में रहकर स्वप्न दीखता है। योगियों का कहना है कि कण्ठ में रहकर स्वप्न दीखता है। हर हालत में शरीर से बाहर तो दीख नहीं रहा है और शरीर में हाथी हो नहीं सकता। हमारे शरीर में इतनी जगह है नहीं अतः स्वप्न में हाथी दीखता है, परन्तु होता नहीं है। इसलिये दीखने से चीज़ 'है' सिद्ध नहीं होती। स्वप्न के दृष्टांत को अच्छी तरह से बार-बार विचार करके मन में बैठाना चाहिये। प्रायः आदमी कहता है कि 'दीवार के ऊपर माथा फोड़ो, दीवार सत् न हो तो माथा नहीं फूटना चाहिये, फूटता है इसलिये सच्ची है।' किंतु स्वप्न में भी यही होता है! स्वप्न में भी 'माथा फूटा' ऐसा प्रतीत होता है जबकि फूटता नहीं है। साधारण आदमी स्वप्न का विचार किये बिना ही यह व्याप्ति-ग्रह कर लेता है कि जो दीखता है वह सच्चा होता है। यहाँ 'दीखने' से सभी अनुभव समझ लेना। 'बिना हुए प्रतीत होना' यही मायिक पदार्थ की शोभा है। शोभा का मतलब है 'तुच्छ से विलक्षण।' गधे के सींग तुच्छ हैं इसलिये प्रतीत नहीं होते। मायिक ऐसी चीज़ नहीं कि प्रतीत न हो वरन् न होने पर प्रतीत होती है। यही माया की शोभा है कि बिना हुए भासमान, प्रतीयमान होना। उसी को मिथ्या कहते हैं। तुच्छ वह है जो होता नहीं और प्रतीत भी नहीं होता। मिथ्या वह जो प्रतीत

होता है परन्तु है नहीं। आजकल तो यह रात-दिन देखने में आता है। टेलिविज़न में डेढ़ या दो फीट का पर्दा होता होगा, परन्तु उसमें बड़े-बड़े आदमी, पहाड़ इत्यादि सब दीखते हैं, इसलिये मायिक हैं। बिना हुए जो प्रतीत होता है उसी का नाम मिथ्या है, जैसे स्वप्नों में हाथी दीखता है परन्तु होता नहीं। बिना हुए जो प्रतीत होता है वह मिथ्या है। इसी प्रकार आकाश असत् है और प्रतीत होता है इसलिये आकाश मिथ्या है।। ७०।।

यह शंका होती है कि जो दो चीज़ें नियम से एक-साथ मिलती हैं वे भिन्न नहीं होतीं। आकाश नियम से 'है' के साथ मिलता है इसलिये 'है' से आकाश कैसे अलग हो सकता है? दृष्टांतों से समाधान करते हैं–

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक्।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः।। ७१।।

जाति-व्यक्ति, शरीर-शरीरी, गुण-द्रव्य जैसे (हमेशा साथ ही मिलने पर भी) अलग हैं वैसे ही आकाश और सत् में भी भेद रहे, क्या आश्चर्य है।

'मनुष्यता' जाति है और 'मनुष्य' व्यक्ति होते हैं। मनुष्य जब मिलेगा तब मनुष्यता के साथ मिलेगा और मनुष्यता जब मिलेगी तो मनुष्य में ही मिलेगी। फिर भी मनुष्य और मनुष्यता को एक कोई नहीं मानता कि मनुष्य ही मनुष्यता है। जाति-व्यक्ति हमेशा साथ मिलेंगे फिर भी हम जानते हैं कि दोनों अलग हैं। देही जीव जो देह अर्थात् शरीर वाला है। शरीर वाला तो शरीर के साथ ही मिलेगा और देह होगा तो देही ज़रूर होगा। देह शरीर को कहते हैं। मुर्दे को 'देह' नहीं कहते। शंका हो सकती है कि मरने के बाद देह तो है, देही नहीं है। लेकिन वास्तव में मरने के बाद देह भी नहीं है। शब्द-प्रवृत्ति के होने-न होने में अभिप्राय नहीं, तात्पर्य है कि जीवित देह भी देही से अलग न मिलने पर भी देह से देही अलग समझा ही जाता है। इसी से सामान्यतः कहते हैं कि मरने के बाद देह नहीं रहता, वह तो मुर्दा है। 'दिहि उपचये' से देहशब्द व्युत्पन्न होता है अर्थात् जो बढ़ता रहे उसे देह कहते हैं। शरीर हमेशा बढ़ता रहता है। मुर्दा होने के बाद बढ़ने की स्थिति नहीं रहती इसलिये उसे देह नहीं कहते। शरीरधारी शरीर के साथ ही हमेशा मिलेगा। फिर भी, 'शरीर ही देही है' ऐसा आस्तिक लोग नहीं मानते। इसी प्रकार द्रव्य और गुण के बारे में है। द्रव्य किसी गुण के साथ ही मिलेगा और गुण किसी द्रव्य में ही होगा। मिलते दोनों साथ हैं, फिर भी गुण और द्रव्य दोनों पृथक् समझे जाते हैं। जैसे ये चीज़ें अलग होती हैं वैसे ही 'आकाश' और 'सत्' हैं। 'है' के बिना 'आकाश' कभी मिलता नहीं परन्तु 'आकाश' और 'है' दोनों अलग हैं, इसमें क्या आश्चर्य है। शंका थी कि जब दो चीज़ें साथ ही मिलें तो अलग क्यों मानी जायें? इसे कई दृष्टांतों से समझाया कि साथ रहने से चीज़ों में भेद नहीं होता यह सिद्ध नहीं होता। इस तरह सिद्ध किया कि 'आकाश' और 'आत्मा या है' दोनों अलग हैं।। ७१।।

वैचारिक या वादी की दृष्टि से 'है' और प्रपंच के अभेद को असंगत जानकर भी भेद जँचता नहीं अतः सुहृद्भाव से जँचने का उपाय बताते हैं–

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत् तदा।
अनैकाग्र्यात् संशयाद् वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद।। ७२।।

समझ आया भी (सत्-आकाश का) भेद यदि चित्त में स्थापित नहीं होता तो इस बारे में बताओ : क्या अनेकाग्रता के कारण स्थापित नहीं होता? या संशय के कारण स्थापित नहीं होता?

कोई शिष्य कहता है 'मैं इस बात को समझ तो गया हूँ, परन्तु फिर भी यह बात चित्त में बैठती नहीं।' देवदत्त को देखते ही जानते हो कि 'यह देवदत्त है' तो इसका मतलब है कि देवदत्त को पहचानना तुम्हें अभ्यस्त हो गया है अर्थात् चित्त में स्थिर हो गया है कि अमुक आकार का शरीर देवदत्त का है। शुरू में एक बार देख लेने पर भी अगली बार देखते हो तो नहीं पहचानते। लेकिन चार-छह महीने साथ रहने पर फिर देखते ही पहचान जाते हो। इसे कहते हैं 'चित्त में निरूढ होना।' शिष्य कहता है–'आपने यह पहले भी समझाया, हमारी समझ में भी आ गया कि 'है' अलग चीज़ है और आकाश अलग चीज़ है। यह संस्कार दृढ नहीं होता कि 'आकाश' और 'है' को झट अलग ही समझें।' आचार्य कहते हैं कि अगर ऐसी बात है अर्थात् जानी-बूझी बात चित्त में निरूढ नहीं होती तो उसमें दो ही कारण हो सकते हैं : कई बार कारण यह होता है कि हमारा मन एकाग्र नहीं रहता, भेद पहचानने के प्रति तत्पर या सावधान नहीं रहता। जैसे कम प्रयुक्त शब्द को असावधान रहकर लिखने में बहुधा वर्णन्यास (हिज्जे) में ग़लती होती है; तो आवश्यकता सावधानी रखने की है, अन्य कमी नहीं है। अभ्यास अधिक हो तो असावधानी में भी ग़लत नहीं लिखते। अतः पुनरावृत्ति भी निरूढ करने में उपाय है। सावधानी का महत्त्व बताया है

'विषयेन्द्रियसंयोगः सामान्यं सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता।।'

दीवार आदि विषय से आँख आदि इन्द्रिय का सम्बंध तो साधक-असाधक दोनों का एक-सा, साधना किये योगी की विशेषता है कि वह सम्बंध के समय सत्य के प्रति सावधान रहता है। 'दीवार है' देखते ही सावधानी से वह इनके भेद को भी देख लेता है, उसकी एक बार भी उपेक्षा नहीं करता। अतः प्रत्येक विषय-दर्शन में है-रूप ब्रह्म का वह दर्शन पाता रहता है। सामान्य व्यक्ति को मालूम है कि गहना सोने से बना है अतः सोना-गहना दो चीज़ें हैं लेकिन गहने से इतना आकृष्ट रहता है कि सोने का परीक्षण न कराकर धोखा खाता रहता है। सुनार भी उसी गहने को वैसा ही सुंदर देखता है लेकिन गहने से पृथक् जो सोना उसकी

भी परख करता है अतः धोखा नहीं खाता। सुनार, सोने-गहने का जैसे भेद देखता है, ऐसे योगी विषय और सद्ब्रह्म के भेद के प्रति सावधान रहता है, उसे परखता रहता है। साधारण व्यक्ति 'समझता' है कि सोना-गहना अलग हैं लेकिन व्यवहार में उन्हें एक ही जानते रहने से धोखा खाता है। अभ्यासी योगी प्रतिक्षण ब्रह्म के बारे में सावधान रहता है जैसे असाधक जनता नाम-रूप के बारे में ही सावधान रहती है। हर अनुभव में ऐसा अभ्यास करते-करते ही निरूढता संभव है। निरूढ होने पर बिना प्रयास ही दोनों स्पष्ट भिन्न ही उपलब्ध होने लगते हैं। प्रायः साधक इस अभ्यास में, आवृत्ति में प्रमाद कर लेता है तो जैसे बच्चा यदि वर्णन्यास तीन सौ बार लिखकर न निरूढ करे तो समझने पर भी भूल करता है, वैसे प्रपंच और है का अंतर जानकर भी साधक 'प्रपंच है' ही समझता रहता है। अनादि काल के असंख्य संस्कारों को काटकर अतिप्रबल संस्कार बनाने में अतिशय अभ्यास अनिवार्य है। इस प्रकार निरूढि में एक रुकावट असावधानी है।

निरूढ न होने में दूसरा हेतु है कि संशय बना रहता है कि ऐसा है या नहीं? कई बार जब कक्षा में अध्यापक कोई बात पूछता है तो लड़का जवाब दे देता है लेकिन मास्टर साहब का चेहरा भी देखता रहता है! चेहरे पर हाव-भाव से देखा कि इन्हें जवाब ठीक नहीं लगा तो दूसरी बात कह देता है। इसका मतलब है कि दोनों में से क्या ठीक है, उसे यह निश्चय नहीं हुआ। परीक्षा में तो मास्टर सामने नहीं होगा, इसलिये निश्चय होना ज़रूरी है अन्यथा अनुत्तीर्ण होना पड़ेगा। इसी प्रकार आकाश और है सचमुच में अलग हैं—इस बारे में यदि कोई संशय मन में है तो भी बात रूढ नहीं हो पायेगी। संशय-निवृत्ति का उपाय विचार है। शास्त्र और तत्त्वज्ञ गुरु ही संशय दूर करता है। स्थल-स्थल के संशय हटाने से काम नहीं होता क्योंकि जीवन में नवीन स्थल उपलब्ध होते ही रहते हैं। संशय मिटाने के लिये वह तरीका आना ज़रूरी है कि सभी जगह उसको दूर किया जा सके। इसमें अनुभवी और कुशल गुरु ही सक्षम है। अकेला शास्त्रज्ञ तो शास्त्रीय स्थलों के संशय दूर कर सकता है, अकेला तत्त्वज्ञ खुद के तो संशय मिटा चुका है लेकिन शिष्य के संशय मिटा सके यह ज़रूरी नहीं। अतः 'श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ' गुरु की अनिवार्य आवश्यकता बतायी है।। ७२।।

दोनों स्थितियों में उपाय बताते हैं—

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन् विवेचनम्।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत्।। ७३।।

निरूढ न होने में कारण असावधानी है तो ध्यान से अप्रमादी बनो और यदि कारण संशय है तो प्रमाण और युक्ति से विवेचन करो। साधन करने से उक्त बात चित्त में दृढता से स्थित होगी।

यदि मन अभ्यास करके एकाग्र नहीं हुआ है, तुम बेध्याने हो जाते हो, तो उपाय है कि

ध्यान करो। प्रमाद मायने असावधानी 'प्रमादोऽनवधानता।' ध्यान करो अर्थात् अपने को विषयों से अलग करके देखने का अभ्यास करो। कभी बेध्याने विषय-दर्शन मत करो। जो लोग साइकिल चलाने में अभ्यस्त हो जाते हैं वे कई बार हैण्डल से हाथों को हटाकर भी काफी देर तक साइकिल सीधे चलाते रहते हैं, परन्तु जो व्यक्ति अभी साइकिल चलाना सीख रहा है वह कभी उसकी नकल करके हैण्डल से हाथ हटाये तो धड़ाम से गिरेगा! ठीक इसी प्रकार, जिसको ज्ञान की दृढता हो गई है वह व्यवहार ठीक ही कर लेता है। उसका अभ्यास इतना दृढ है कि हर बार विषयेन्द्रिय-संयोग में नामरूप और सत्-दोनों को अलग करके देखता है। परन्तु अभी जो साधक है वह व्यवहार, विषय-इन्द्रियसम्बन्ध कम-से-कम रखकर, व्यवहार करते समय ब्रह्मदर्शन का अभ्यास चालू रखे तो धीरे-धीरे दृढता होगी। इसलिये अनेकाग्रता हटाने के लिये उपाय है हमेशा ध्यान रखना। वेदांत के अभ्यास की कठिनता यही है कि हर चीज़ या हर काम में ध्यान रखना है, जहाँ प्रमाद हुआ वहाँ चूके। इसलिये सनत्कुमार ने स्पष्ट कहा है 'प्रमादो वै मृत्युमहं ब्रवीमि'। असावधानी हुई, विषय और ब्रह्म या 'है' को एक करके जाना तो मानो तुरंत मर जाते हो! क्योंकि विषय को सत्य देख लेना ही तो मृत्यु है। ध्यान के द्वारा अप्रमादी हो जाओ अर्थात् हर समय सावधानमना रहो।

यदि तुम्हारे मन में संशय हैं तो फिर विवेचन करो। दोनों चीज़ों का प्रमाण और युक्ति से विचार करो अर्थात् श्रवण और मनन करो। संशय दो तरह के होते हैं १) प्रमाण के बारे में, २) प्रमेय के बारे में। हमें कोई चीज़ दीखी तो जैसी दीखी वैसी है या नहीं, यह संशय है। उसके लिये विचार और परीक्षा करते हो कि हमारी आँख या चश्मे में कोई गड़बड़ी तो नहीं है। यदि आँख या चश्मा गड़बड़ है तो तुम्हें चीज़ ग़लत दीखेगी, इसलिये उसे ठीक करना ज़रूरी होता है। यदि शब्द में संशय हुआ कि ठीक सुना या नहीं; तो कान साफ करोगे और कहोगे 'ज़रा ज़ोर से बोलो।' जिस प्रमा के लिये जो प्रमाण होता है, अर्थात् जिस औजार (साधन) से ठीक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीको हम ठीक करना चाहते हैं। जैसे रूप में आँख और शब्द में कान प्रमाण है वैसे ही ब्रह्म में वेद प्रमाण है। वेद के द्वारा ही ब्रह्म का पता लगता है। इसलिये वेद ने स्पष्ट कह दिया है 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' उस ब्रह्म तत्त्व को वह नहीं समझ सकता, नहीं जान सकता जिसने वेद का अभ्यास नहीं किया है। इसलिये 'वेद यही कह रहा है या और कुछ कह रहा है' इसके निर्णय के लिये उपनिषदों को बार-बार आगे-पीछे देखकर निश्चय करना पड़ता है कि उपनिषद् यही कह रही है। यही श्रवण है।

दूसरा संदेह होता है कि प्रमाण तो ठीक है परन्तु प्रमेय ऐसा हो नहीं सकता। एक में प्रमाण के बारे में संशय है और दूसरे में प्रमेय के बारे में (प्रमेयगत) संशय होता है। संसार में सात अरब की आबादी है, सब यही मानते हैं कि दीवार है। 'दीवार' और 'है' दोनों अलग हैं—ऐसा सब थोड़े ही मानते हैं। इनका अन्तर लोकप्रसिद्ध युक्ति से युक्त नहीं है। परिष्कृत युक्ति से विचार करना पड़ेगा उनके भेद को समझने के लिये। दीवार ठोस दीखती है। तुमने भौतिकी में पढ़ा कि दो पत्थर पास में रखो तो दोनों के बीच में थोड़ी-बहुत जगह रहती है;

इसीलिये दीवार ठोस बनी है पर बाहर पानी बरसे तो सीलन अन्दर आ जाती है। यदि दीवार में जगह *सर्वथा* न होती तो पानी की सीलन अन्दर कैसे आती? भौतिकी पढ़ी तो जानते हो कि ठोस दीखती दीवार में कितने छेद हैं। फिर भी यह ठोस दीख रही है और सात अरब की आबादी को ठोस ही दीखेगी। तुम जानते हो कि इसमें पोल है, तुम खुर्दबीन या माइक्रोस्कोप से देखो तो तुम्हें छेद दीख भी जायेंगे, पता लग जायेगा कि इसमें खाली जगह है। हर समय माईक्रोस्कोप लेकर तो नहीं घूमोगे। तुम्हें *ज्ञान* हो गया कि ठोस दीवार के बीच में जगह ज़रूर है। ठोस में भी वह जगह क्यों रहती है? यह बात भौतिक शास्त्र के द्वारा तुमने जान ली कि एक मौलिक्यूल दूसरे मौलिक्यूल से ज़रूर दूरी पर होता है। मौलिक्यूल के घटक अणुओं (एटम) में दूरी होती है। इसे चाहे सीलन से, चाहे कील ठोक कर जानो या माइक्रोस्कोप से देखकर जान सकते हो। भौतिक शास्त्र से भी यही निश्चय होता है कि यहाँ पोल है। इन बातों को यदि तुम बार-बार मन में बिठा लोगे तब तो दृढ निश्चय हो जायेगा। युक्तियों को बार-बार सोचना पड़ता है तभी व्यक्ति की विचारपद्धति संस्कृत होकर वह दृष्टि स्वाभाविक बनती है। हमेशा सावधान रहोगे तो प्रमेयगत संशय नहीं रह जायेगा। इसलिये श्रवण और मनन के द्वारा विवेचन करो। जब अप्रमाद रखोगे और विवेचन करते रहोगे तब निश्चय रूढतम हो जायेगा। तुम्हारे चित्त में यह ऐसा रूढ हो जायेगा कि देखते ही तुम्हें निश्चय होगा कि 'आकाश' अलग और 'है' अलग। इस प्रकार जब तक रूढ न हो जाये तब तक सावधानी से युक्तियों का चिन्तन करते ही रहो। जब रूढ हो जायेगा तब सोचने की ज़रूरत नहीं रह जायेगी। समझने पर भी अभ्यास के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती इसलिये अभ्यास के द्वारा उसको अपने अंतःकरण में निरूढ कर लेना पड़ता है। यदि ऐसा लगता रहता है कि उक्त दोनों से कोई संशय या उसका बीज है तो अभ्यास करने पर भी सफल नहीं होता। इसलिये विचार करके देखना चाहिये कि संशय क्या है और उसको हटा देना चाहिये।

बार-बार जो सत्संग पर जोर दिया जाता है वह इसीलिये कि सत्संग के विचार में कई बार ऐसी बात आ जाती है जो हमारे संशय को प्रकट करती है और उसका जवाब भी मिल जाता है। वह सत्संग चाहे सुन कर हो या पढ़कर हो। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों को देखते हैं तो उनमें तरह-तरह के संशय मिलते हैं जिनमें से कई हमारे मन के संदेह भी होते हैं जो पढ़ने से दूर हो जाते हैं। निःसंशय ज्ञान हो और फिर दीर्घ काल तक अभ्यास हो तब दृढता होती है। हमारा जो व्यावहारिक जीवन है उसमें कुछ गलत मान्यताओं से हम व्यवहार करते रहते हैं इसलिये हमारी सही वासना दृढ नहीं हो पाती। समझी हुई से विरुद्ध वासनायें व्यवहार-काल में बनती हैं।

इसी दृष्टि से बार-बार आचार्य शंकर का ज़ोर रहता है कि व्यवहार जितना कम किया जा सके उतनी ही ज्ञान में दृढता आयेगी। आचार्य जो इतना ज़ोर सर्वकर्मसंन्यास पर देते

हैं वह इसीलिये कि इसके बिना निश्चित दृढता सम्भव नहीं। व्यवहार की न्यूनता समाज में रहते कठिन होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिये वह दूसरे के साथ व्यवहार करता है तो दूसरे भी उससे आशा रखते हैं और उनकी उस आशा को वह भी पूरा करना चाहता है जो हमेशा समझे सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होता। संन्यासी क्योंकि समाज से न्यूनतम ग्रहण करता है और यथासंभव संपर्क रखता नहीं इसलिये समाज भी उससे आशा नहीं रखता तथा उसे भी समाज के प्रति दायित्व का अनुभव नहीं होता इसलिये उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है।। ७३।।

यह संस्कार दृढ हो जाने का प्रभाव बताते हैं–

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः।
न कदाचिद् वियत् सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ।। ७४।।

ध्यान से, प्रमाण से और युक्ति से भी आकाश और सत् का भेद चित्त में आरूढ हो जाने पर आकाश कभी सत्य नहीं लगता तथा सत्-वस्तु कभी जगह वाली नहीं लगती।

दीर्घकाल तक हर व्यवहार करते समय ध्यान रखना पड़ता है। यह ध्यान दोनों तरह से होता है–'वियत् और सत् दोनों भिन्न हैं' ऐसी वासना बनाने के लिये दीर्घकाल तक एकान्त या शांत स्थिति में मनोवृत्ति का पुनरावर्त्तन भी करना पड़ता है और जब व्यवहार करें तब चिंतन करना पड़ता है। जैसे, रोटी ही खा रहे हो; रोटी की प्रतीति होनी ही है। वहाँ सावधानता रखनी है कि 'रोटी' अलग, 'है' अलग। वेदान्त का ध्यान केवल ध्यान-काल में नहीं, वेदान्त के साधक का जो न्यूनतम व्यवहार है उसमें भी उसका ध्यान जाग्रत् रहता है। 'मानात्' प्रमाण से भी उसका यही निश्चय है। इस विषय में प्रमाण एकमात्र श्रुति-वाक्य ही है। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' से प्रारम्भ करके आकाश आदि की उत्पत्ति आदि का बार-बार चिन्तन करने से प्रमाण वाक्य से पता लग जाता है कि सृष्टि के पहले बिना आकाश आदि के सन्मात्र ही था।

युक्ति से भी यही निश्चय होता है। मिट्टी का घड़ा, मिट्टी का सिकोरा, मिट्टी की परई आदि सबमें मिट्टी तो एक है परन्तु घड़ापना, सिकोरापना, परईपना आदि सब अलग-अलग हैं; इसलिये मिट्टी में ये सारी चीज़ें प्रतीत हो रही हैं। अभी तो लगता है कि घड़े में मिट्टी है। जो चीज़ अधिक वृत्ति वाली होती है उसमें न्यूनवृत्ति वाली चीज़ प्रतीत होती है। जैसे तालाब के अन्दर खूब पानी भरा हो तो 'पानी में पानी की लहर' प्रतीत होती है। ऐसी प्रतीति तो नहीं होती कि 'लहर में तालाब है' क्योंकि तालाब अधिकवृत्ति का है। वहाँ दीख तो दोनों चीज़ें रही हैं, परन्तु दोनों में जो अधिक वृत्ति है उसमें न्यूनवृत्ति दीखती है। इसी प्रकार मिट्टी में घड़ा, परई, सिकोरा आदि दीख रहे हैं क्योंकि मिट्टी अधिकवृत्ति है और घड़ा, सिकोरा आदि नाम-रूप न्यूनवृत्ति हैं। इसी प्रकार आकाश है, वायु है, जल है आदि सबमें 'है' प्रतीत हो रहा है। शुरू में लगता है कि आकाश में सत्ता है। उसकी जगह युक्ति से विचार करके

निश्चय करना है कि सत् में आकाश एक आकार है, सत् में पृथ्वी एक आकार है, जल एक आकार है। यह अधिकवृत्तिता आदि युक्ति है। यह भी दीर्घकाल का हमारा अभ्यास है कि 'घड़े में मिट्टी है या हार में सोना है, बाजूबन्द, चूड़ी, बोर आदि में सोना है।' उसकी जगह, 'सोने में चूड़ी, सोने में बाजूबन्द, हार आदि हैं' यह युक्ति से निश्चित करना है। धीरे-धीरे अभ्यास हो जाने पर यही प्रतीति दृढ हो जाती है। ध्यान, प्रमाण और युक्ति इन तीनों का अभ्यास करना है। 'अपि' के द्वारा तीनों अभ्यासों को इकट्ठा (एक साथ) करने के लिये कहा जा रहा है। अर्थात् यथावसर तीनों का अभ्यास करना है।

'वियत्सतोः रूढे भेदे' आकाश और सत् दोनों भिन्न हैं या दोनों का जो भेद है वह उक्त साधना से रूढ हो जाता है। आज से तीस या चालीस साल पहले के जो लोग हैं उनके अन्दर यह भेद रूढ था कि यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय या वैश्य है। इसलिये हम लोगों के सामने कोई आता है तो पहला ही प्रश्न होता है कि 'किस जाति के हो?' क्योंकि जाति का निर्णय हो तब आगे उससे कैसा व्यवहार करना है यह पता लगे। इधर तीस-चालीस साल के प्रचार के कारण लोगों को सब आदमी एक जैसे लगने लग गये हैं। इतना तो अभी होता है कि कोई धोखा दे जाये तो कहते हैं 'हाँ है तो आखिर छोटी जाति का ही;' पर पहले क्यों नहीं पता लगाया कि किस जाति का है? क्योंकि मन में यह निश्चय नहीं है कि यह अलग है। मन में यह निश्चय है कि आदमी सब एक जैसे हैं। इसलिये आज के व्यक्ति में क्षत्रिय आदि का भेद रूढ नहीं होता। उन्हें आदमी-आदमी सब एक जैसे लगते हैं। इसी प्रकार अभी पता नहीं इसलिये 'आकाश' और 'है' एक जैसे लगते हैं कि 'आकाश है' एक ही बात तो है। 'घड़ा' और 'है' दोनों अलग हैं यह भेद रूढ नहीं हुआ है। विचार करते-करते यह भेद रूढ हो जायेगा कि 'आकाश' अलग और 'है' अलग है। भेद रूढ होने पर क्या होता है? 'वियत् सत्यं कदाचित् न' आकाश सच्चा है—यह प्रतीति होती ही नहीं। आकाश की प्रतीति हमेशा सत् से भिन्न रहती है और 'सत् वस्तु छेद वाली है' यह प्रतीति नहीं होती। अभी जब सत् की बात करते हैं तो अधिकतर लोगों की प्रतीति होती है कि जैसे आकाश में कुछ नहीं है ऐसे ही ब्रह्म में भी कुछ नहीं है। 'कुछ नहीं है' की प्रतीति सत् वस्तु में होती है। इसलिये बहुत से लोग पूछते हैं कि ब्रह्म में क्या आनन्द होता होगा? जब यह पता लग गया कि आकाश तो पोल है, पर पोल ब्रह्ममें नहीं हैं, पोल से ब्रह्म भिन्न है; जब यह भेद रूढ हो जायेगा तब कभी भ्रम नहीं होगा कि आकाश सच्चा है या सत्में रिक्तता (खालीपन) है।। ७४।।

उक्त स्पष्टता का व्यावहारिक रूप दिखाते हैं—

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम्।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरस्सरम्।। ७५।।

जानकार को 'तत्त्वहीन है' यह समझ आते हुए ही आकाश का भान होता है एवं 'खालीपने से रहित है' यह समझ आते हुए ही सद् वस्तु का भान होता है।

'ज्ञस्य' अर्थात् जिसको यह ज्ञान दृढ हो गया है उसको 'सदा' जब भी व्योम (आकाश) की प्रतीति होती है तब निश्चय रहता है कि आकाश में कोई वास्तविकता नहीं है। अब 'उल्लेखपूर्वक' अर्थात् जैसे हमें गहना दीखते ही 'यह बीस लाख का है'; यह भी कौंध जाता है तो कहते हैं कि 'मूल्य के उल्लेखपूर्वक गहना प्रतीत हुआ।' दूसरी चीज़ें भी भले ही किसी मूल्य वाली हैं, पता हमें उनका भी मूल्य है, पर सदा उन्हें देखते ही मूल्य बुद्धि में नहीं आता तो 'मूल्योल्लेख-पूर्वक अनुभव' नहीं कहा जाता। ठीक इसी प्रकार से आकाश की प्रतीति होते ही वासना की दृढता से 'यह निस्तत्त्व' है' ऐसा निश्चय हो जाता है। यह इसलिये बता रहे हैं कि यह अभ्यास तब तक करना है जब तक बिना सोचे हुए, संसार में किसी भी चीज़ की प्रतीति होते ही 'यह झूठी है' ऐसा दृढ निश्चय बना रहे। जैसे अभी कुछ भी देखते ही लगता है कि 'यह सच्ची है' वैसे देखते ही लगना चाहिये कि 'झूठी है', यह उल्लेखपूर्वक निश्चय होने का मतलब है। इसी प्रकार प्रतीतिरूप जो 'है' वह सत् हमेशा पोल-रहित, बिलकुल आनन्दघन, ठोस आनन्द प्रतीत होना चाहिये। अभी तो संसार की चीज़ें सतत्त्व लग रही हैं और परमात्मा के बारे में लगता है कि 'हाँ अच्छा विचार है;' परन्तु परमात्मा संसार जैसा सतत्त्व, सत्य, सच्चिदानंद का ठोस रूप नहीं लगता। विचार निरूढ होने के बाद सत् वस्तु ब्रह्म की बात आती है तो उसके अन्दर किसी भी प्रकार की पोल की प्रतीति नहीं होती है।। ७५।।

जब इस प्रकार की निष्ठा हो जाती है तब की स्थिति बताते हैं–

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम्।
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः।। ७६।।

शास्त्रीय वासना पुष्ट हो जाने पर विज्ञ को उसे देखकर विस्मय होता है जो वादी सन्मात्र से अनभिज्ञ और आकाश (आदि प्रपंच को) सत्य मानता है।

'बुधः' अर्थात् जिसने उक्त ज्ञान को निष्ठापूर्वक स्थिर कर लिया, यह वासना जिसमें बिलकुल बढ़ी हुई है। संसारी आदमी को लगता है कि विरक्त लोग धन-दौलत को छोड़कर परमात्मा के पीछे भटकते कैसे फिर रहे हैं! वे समझते हैं कि ये आधे पागल हैं। कारण है कि उन्हें संसार बिलकुल सच्चा लग रहा है और परमात्मा एक कल्पना जैसी चीज़ लग रही है। शास्त्रीय प्रमाण-युक्ति के विचारपूर्वक ध्यान के परिपाक से यह उलटा हो जाता है। दृढ वासना जिसे हो गई कि 'आकाश आदि पदार्थ तो बिलकुल नहीं ही हैं, सर्वथा मायिक हैं;' जब वह किसी ऐसे आदमी को देखता है जो कहता है 'संसार तो सच्चा ही है;' तो उसे लगता है कि वह ऐसी नादानगी कर कैसे पा रहा है! वर्तमान काल

में महात्माओं से ऐसा कहने वाले बहुत से लोग हैं कि संसार के लिये आप लोगों को कुछ करना चाहिये। महात्मा कहते हैं कि संसार होता तो इसके लिये कुछ कर भी लेते। जैसे स्वप्न में किसी कंगले को देखा, तो क्या स्वप्न से उठकर उसे ढूँढते फिरें कि 'कहाँ है, मिले तो उसे कुछ पैसा दें'? ठीक इसी प्रकार जब सत्य समझ आ चुका तब मिथ्या प्रपंच के लिये कुछ कैसे किया जाये? 'यह संसार सच्चा है, इसके लिये कुछ तो करना ही चाहिये' सुनकर बुध को बड़ा आश्चर्य होता है कि ऐसे लोग भी संसार में होते हैं जो संसार की चीज़ों को सत्य मानते हैं, यह नहीं समझते कि सन्मात्र परमात्मा ही है। जब निरूढ हो जाता है तभी ऐसी स्थिति होती है।। ७६।।

आचार्य ने जो आकाश के बारे में इतना स्पष्ट किया है उसे आगे दूसरे भूतों में भी घटाकर समझना चाहिये यह बताते हैं–

एवम् आकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते।
न्यायेनाऽनेन वाय्वादेः सद् वस्तु प्रविविच्यताम्।। ७७।।

इस प्रकार आकाश मिथ्या और सत् सत्य है–यह संस्कार स्थिर होने के अनन्तर इसी विचार-रीति से वायु आदि से सद् वस्तु को पृथक् समझा जाये।

ध्यान-प्रमाण-युक्ति के पूर्वोक्त (श्लो. ७४) उपाय से सारे ही प्रपंच से सर्वथा अस्पृष्ट सत्तत्व ही परमार्थ है–यह दृढ बोध प्राप्त करना पुरुषार्थ है। आप लोग कभी-कभी साबुन लगाते होंगे। साबुन लगाने पर बुलबुले उठते हैं जिसे झाग कहते हैं। क्या उन बुलबुलों को देखकर कभी थोड़ा भी लगता है कि 'यह कोई *चीज़* है?' कई बार बुलबुले बड़े सुन्दर होते हैं, कई रंगों के दीखते हैं। परन्तु उन रंगों को देखकर कभी मन में भी आता है कि इनमें रंग है? स्पष्ट भान रहता है कि बुलबुले दीख रहे हैं परन्तु हैं कुछ नहीं। इसी प्रकार बुध का अनुभव है कि आकाश आदि प्रपंच दीख रहा है परन्तु है कुछ नहीं; सत् या 'है' कभी भी बदलता नहीं। जब ऐसी वासना दृढ हो जाये तब जैसा आकाश में दिखाया है उसी न्याय से वायु, तेज, जल, पृथ्वी से भी सत् वस्तु को अलग करके देखने का अभ्यास करके समझो कि यह वायु आदि कुछ नहीं हैं, प्रतीति होती है पर इनकी वास्तविकता कुछ नहीं है। वास्तविकता केवल सत् ब्रह्म की ही है। इस प्रकार उन सबका भी विवेक करो।। ७७।।

विवेक करने का प्रकार बताते हैं–

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम्।
वियत् तत्राप्येकदेशगतो वायुःप्रकल्पितः।। ७८।।

सद् वस्तु में एक हिस्से में माया स्थित है। उसमें (माया में) एक हिस्से में आकाश है, उसमें भी एक हिस्से में वायु ईश्वरीय कल्पना है।

आकाश तो सत् का कार्य होने से सत् प्रतीत होना संगत पर वायु सत् क्यों प्रतीत होता है? उत्तर है कि साक्षात् न सही, परम्परा से वायु भी सत् का ही कार्य है। जैसे आटा-लोई आदि परंपरा से फुलका कार्य तो गेहूँ का ही है, वैसे आकाश के माध्यम से वायु का भी कारण तो सत् ही होने से 'वायु सत्' अर्थात् 'वायु है' प्रतीति संगत है। प्रथम कार्य आकाश होने से उसमें विस्तार से समझा दिया, वे बातें सर्वत्र भूत-भौतिक प्रपंच में घटाते रहना चाहिये। आदि कार्य होने से आकाश नष्ट भी अंत में होता है अतः सामान्यतः वह नित्य ही लगता है। उसी को मिथ्या समझ लेने पर बाकी का मिथ्यात्व स्वीकार होगा इसमें क्या कहना! सत् अपनी माया से प्रपंच बनाता है, वह माया सत् के एक छोटे हिस्से में है यह श्लोक ५४ आदि में बता चुके हैं। आगे, माया के भी एक छोटे ही हिस्से में आकाश और उसके भी छोटे-से हिस्से में वायु है; आगे भी इसी तरह हर कारण के कम हिस्से में कार्य हुआ है। कितना भाग—इसमें कोई तात्पर्य नहीं क्योंकि मिथ्यात्व में ही तात्पर्य है। अतः 'प्रकल्पितः' कहा। वायु-रहित आकाश (अन्तरिक्ष, स्पेस) आधुनिकों को भी स्वीकार है। क्योंकि मूलतः सत् का ही कार्य है इसलिये सत् ब्रह्म के अन्दर जो 'है'पना है उसके कारण वायु में भी 'है'पना दीखता है। साक्षात् सत् के साथ वायु का सम्बन्ध न होने पर भी परम्परा से सम्बन्ध है ही।।७८।।

इस प्रकार, सत् और वायु का संबंध बता दिया। अब दोनों को अलग जानने के लिये वायु के गुण-कर्म का भी वर्णन करते हैं—

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः।। ७९।।

शोष (सूखापन), स्पर्श, गति और वेग—ये वायु के धर्म माने गये हैं। सत्, माया और आकाश के जो तीन स्वभाव, वे भी वायु में पहुँचे हुए हैं।

हवा का रूप शोष है; सुखाता है। यह ठीक है कि शास्त्रों के अन्दर वायु का गुण स्पर्श ही माना गया है, परन्तु वह स्पर्श कैसा है? देखा गया है कि वायु चीज़ों को सुखाता है। गीता में भी भगवान् ने कहा 'न शोषयति मारुतः', हवा भी आत्मा को नहीं सुखा सकती; अर्थात् बाकी चीज़ों को हवा सुखाती ही है। इस स्मृति और अनुभव से वायु के अन्दर सुखाने का धर्म मान्य है ही। वायु में गति है, अर्थात् वायु चलती भी है। वायु में गति है यह तो पता लगता ही है। वायु में वेग है। वायु बड़े ज़ोर का झपट्टा मारती है। खास करके बरसात के मौसम में छाता लेकर जाते हैं, वायु आती है तो छाते को उलट देती है। वायु में ऐसा वेग है जो छाते को उलट देती है। कई जगह तो नदी में नावों को उलट देती है।

स्पर्श गुण जो वायु का कहा है उस लक्षण को नहीं बदल रहे हैं, वह तो है ही, उसका अपना गुण वही है; परन्तु वायु में ये सब धर्म भी प्रतीत होते ही हैं। शोष, स्पर्श, गति और वेग—चार वायु-धर्म हुए परन्तु इनमें स्पर्श तो वायु का स्वाभाविक धर्म है और बाकी तीनों

प्रतीति पर निर्भर हैं। ये हमेशा वायु के रूप रहते नहीं हैं, स्पर्श हमेशा वायु का स्वरूप रहता है। शोष की प्रतीति के लिये निरार्द्रता और कुछ गति चाहिये। इसी प्रकार गति और वेग भी हमेशा वायु में नहीं रहते। बहुधा स्थिर वातावरण में गति नहीं अतः वेग भी नहीं है, वायु है ही। इसलिये बाकी तीनों कभी होते हैं, कभी नहीं होते। स्पर्श तो उसका स्वाभाविक गुण है, और बाकी तीनों अस्वाभाविक हैं। वायु में सत्, माया और व्योम के गुण भी हैं। वायु में 'है' भी प्रतीत होगा, माया का धर्म अनिर्वचनीयता भी प्रतीत होगी और पोल का अर्थात् आकाश का गुण शब्द भी प्रतीत होते हैं।। ७९।।

सत् आदि तीन के धर्म वायु में कैसे हैं इसे खुद खोलकर बताते हैं–

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः।। ८०।।

'वायु है' यों वायु में सत्ता है, सत्से वायु अलग करने पर निस्तत्त्वरूपता–यह माया का स्वभाव है, वायु में ध्वनि आकाश का धर्म है।

हवा 'है' यह प्रतीति होती है। हवा में 'है'पने की प्रतीति कहाँ से आई? शोष आदि तो वायु में हुए, परन्तु 'है'पना कहाँ से आया? 'है' अर्थात् सत् का स्वभाव वायु में 'है' रूपसे प्रतीत होता है। जब उस सत् ब्रह्म से वायु को विवेक द्वारा अलग कर देते हैं तब वायु सत् तो नहीं फिर भी प्रतीत होती ही रहती है। बिना सच हुए प्रतीत होना–यह माया का स्वभाव है। वायु बिना हुए प्रतीत हो रहा है यह उसमें माया की अनुवृत्ति है। आकाश का गुण शब्द वायु में है ही इसलिये वायु चलती है तो सांय-सांय आवाज़ आती है। यह आकाश की ध्वनि की प्रतीति उसमें हो रही है। इस प्रकार, जब-जब वायु की प्रतीति हो तब सावधानीपूर्वक हमेशा ही इन प्रतीतियों से तीनों चीज़ों को वायु से अलग समझ लेना चाहिये। हर बार वायु की प्रतीति हो तो यह अभ्यास कर्त्तव्य है। यों विवेकाभ्यास से वायु में तात्त्विकता का भ्रम मिटता है।। ८०।।

आकाश की वायु में अनुगति के बारे में पूर्व-प्रसंग से विरोध की शंका करते हैं–

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम्।
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः।। ८१।।

पहले (२.६७) बताया था कि सत् सर्वत्र अनुस्यूत है, आकाश यों सबमें अनुगत नहीं है जब कि अब कहा कि वायु में आकाश अनुगत है; दोनों बातें एक-दूसरे को काटती कैसे नहीं?

पहले बताया था कि सब चीज़ों में 'है' या सत् की प्रतीति है। आकाश है, वायु है, तेज है, जल है, पृथ्वी है–इस प्रकार 'है' की अनुवृत्ति सभी अनुभवों में है। परन्तु आकाश की

प्रतीति हर-एक में नहीं है, यह बात ६७वें श्लोक में कही थी 'वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः'। सत् की अनुवृत्ति होती है, आकाश की अनुवृत्ति नहीं होती यह सत् और आकाश में फ़र्क कहा था। इससे विपरीत, अब कहा कि वायु आदि में आकाश की भी अनुवृत्ति है! पहले कहे हुए का विरोध करके उलटा कह दें तो यह विचार-प्रक्रिया में बहुत बड़ा दोष है जिसे व्याघात कहते हैं। व्यवस्थित चिन्तन में सभी पहलू परस्पर अविरोधी होने चाहिये। निहित विरोध प्रक्रिया को सदोष ही सिद्ध करता है।। ८१।।

समाधान में कहते हैं कि हमने पहली बात को दूसरी बात से काटा नहीं है—

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम्।
शब्दानुवृतिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः।। ८२।।

पूर्व में कहा था कि छिद्र (अवकाश) की अनुगति नहीं जबकि यहाँ शब्द की ही अनुगति कही अतः दोनों बातों में विरोध कैसे है?

उक्त व्याघात दोष नहीं है। जैसे धागे का जो रंग है वह कपड़े में अनुवृत्त होता है। लाल रंग के ऊनी धागे का स्वेटर बनाओगे तो उसका रंग लाल आयेगा। स्वेटर का लाल रंग धागे से आया लेकिन स्वेटर में धागापना नहीं है, लालपना तो है। जब कारण की कार्य में अनुवृत्ति होती है तब कारण के स्वरूप की अनुवृत्ति हो जाती है। सारे गुणों की अनुवृत्ति हो जाये— यह नहीं कहते। जैसे स्वेटर लाल है क्योंकि धागा लाल है लेकिन धागा लम्बा होता है तो स्वेटर लम्बा नहीं होता! अतः धागे का गुण स्वेटर में आया भी और नहीं भी आया, लेकिन यह कहने में व्याघात दोष नहीं कहा जाता। इसी प्रकार पहले कहा था कि पोल की अनुवृत्ति नहीं है; आकाश पोलरूप है, खाली जगह आकाश है, उस रूप की (पोलकी) अनुवृत्ति नहीं है। अब हम यह नहीं कह रहे कि छेद अर्थात् पोल की अनुवृत्ति है वरन् यहाँ वायु में आकाश के गुण शब्द की अनुवृत्ति कही है। इसलिये व्याघात कहाँ हुआ! हमने पहले कही हुई बात को नहीं काटा।।८२।।

प्रपंच सत् से भिन्न होने पर भी माया से भिन्न नहीं, यह समझाते हैं—

ननु सद्वस्तुपार्थक्याद् असत्त्वं चेत् तदा कथम्।
अव्यक्तमायावैषम्याद् अमायामयताऽपि नो।। ८३।।

सद्रूप वस्तु से भिन्न होने के कारण (वायु आदि में) यदि असत्त्व है तो अव्यक्तरूप माया से भी भिन्न होने के कारण (वायु आदि) मायामय भी नहीं होने चाहिये? यह प्रश्न है।

यह कहा था कि माया सत् से भिन्न है इसलिये असत् है। असत् का यह अर्थ हमेशा याद रखना। सत् का न होना असत् नहीं है, सत् से भिन्न होना असत् है। जैसे घड़ा कपड़े से भिन्न है, घड़ा कपड़े का न होना नहीं है। प्रश्नकर्त्ता कहता है कि सत् वस्तु से भिन्न है इसलिये माया असत् है तो फिर वायु या आकाश आदि सारा व्यक्त जगत्, अव्यक्त माया

से पृथक् है तो जगत् को माया से अलग भी मानना चाहिये। अव्यक्त माया तो व्यक्त वायु से भिन्न है। आकाश में भी यह विचार समझ ही सकते हैं। क्योंकि आकाश उतना व्यक्त नहीं लगता, यहाँ तक कि अनेक वादी उसे अभाव ही मान लेते हैं, इसलिये वायु के प्रसंग में यह प्रश्न उठाया। व्यक्त वायु को सब मानते हैं और वह अव्यक्त माया से अलग है। जैसे सत् से भिन्न होने से माया असत् है इसी प्रकार अव्यक्त माया से अलग होने के कारण वायु भी अमायामय होनी चाहिये। फिर यह क्यों कहते हैं कि माया की अनुवृत्ति है? **।। ८३।।**

उक्त प्रश्न का उत्तर है–

निस्तत्त्वरूपतैवाऽत्र मायात्वस्य प्रयोजिका।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताऽव्यक्तत्वभेदिनोः।। ८४।।

इस प्रसंग में 'माया' कहलाने में हेतु तत्त्वरहितरूपता ही है (न कि व्यक्तभिन्नता)। व्यक्तता और अव्यक्तता से भले ही परस्पर भिन्न हों पर शक्ति और कार्य, दोनों में निस्तत्त्वता बराबर ही है।

माया का एक रूप है अव्यक्त रहना और दूसरा है, बिना हुए प्रतीत होना। बिना हुए प्रतीत होना माया में भी है और वायु में भी है। माया अव्यक्त है जबकि वायु व्यक्त है। माया अव्यक्त इसलिये समझी जाती है कि कार्य से अनुमेय है। अव्यक्तरूप माया कभी व्यक्त नहीं होती, *उसका* पता कभी नहीं लगता। जब माया का कार्य हो जाता है तब अव्यक्त का पता अनुमान से लगता है। ऐसे समझ लो कि चुपचाप बैठे आदमी में तुम्हें बाजीगर की ताकत नहीं दीखती। वह अकस्मात् अपने हाथ से एक हाथी निकालकर तुम्हें दिखा देता है! जब उसके हाथ से निकला हुआ हाथी देखते हो तभी तुम्हें पता लगता है कि यह ऐन्द्रजालिक है, बाजीगर है क्योंकि यदि बाजीगर न होता तो हाथ से हाथी कैसे निकाल देता? बैठे हुए देखकर तो तुम्हें पता नहीं लगा, जब खेल दिखाया तब पता लगा, तुमने माना कि बाजीगर है। ऐसे ही माया भी कार्यानुमेय है। यह कार्यानुमेयता माया में रहेगी, कार्यों में तो नहीं रहेगी। कार्य हाथी तो तुम्हें उसके हाथ से निकलते *दीख* गया, उसका अनुमान नहीं करना पड़ता, उसकी प्रतीति होती है। उसको देखकर पता लगता है कि उसके अन्दर माया है। माया का कारणरूप हमेशा अव्यक्त है और माया का कार्य हमेशा व्यक्त है। परन्तु माया भी कोई सच्ची चीज़ नहीं है और उसका कार्य भी सच्चा नहीं है। झूठा होना दोनों जगह एक जैसा है। मायात्व का प्रयोजक यही है कि वह वास्तविक नहीं है। तात्पर्य है कि माया वह इसी से कहलाती है कि तत्त्वहीन है। अव्यक्त तत्त्वहीनता से नहीं वरन् कारण और अनुमेय होने से कहलाती है। अव्यक्त जो परमेश्वर की माया शक्ति है, उसमें भी 'सा' अर्थात् निस्तत्त्वरूपता रहती है और उससे पैदा हुए संसार में भी रहती है। वायु इत्यादि में भी निस्तत्त्वरूपता है और परमात्मा की जो माया शक्ति है वह भी

निस्तत्त्वरूप है। दोनों में फ़र्क यह है कि शक्ति अव्यक्त है, कार्य व्यक्त हैं। दोनों में यह भेद तो है परन्तु निस्तत्त्व दोनों एक जैसे हैं।

बाजीगर जब खेल दिखाता है, हाथ से हाथी निकाल कर दिखा देता है तो प्रायः सबको यह जँच जाता है कि हाथी सच्चा नहीं है। परन्तु मन में बैठा रहता है कि 'इस बाजीगर में कोई *सच्ची* ताकत है तभी हाथी निकाल कर दिखा दिया'! उसको सच्ची ताकत मानकर ही आजकल ऐसे भ्रम बहुत फैल रहे हैं कि किसी ने व्यापार बाँध दिया, किसी ने स्वास्थ्य बाँध दिया इत्यादि। अर्थात् मान्यता है कि बाँधने वालों की शक्ति सच्चा कार्य कर देती है। परमेश्वर द्वारा रची यह सृष्टि हमें अनित्य दीख रही है, यह हमेशा नहीं रहती—यह अनुभव हो रहा है। हर चीज़ बदलती रहती है, इसमें तो कोई संदेह नहीं है। परन्तु लगता है कि परमेश्वर में वह माया शक्ति नित्य है ही! इस प्रतीति के कारण ब्रह्म का निश्चय नहीं हो पाता। इसलिए यह पता होना चाहिए कि वह शक्ति भी निस्तत्त्व है। जब तक ज्ञान नहीं हुआ, तब तक माया नित्य 'है' और ज्ञान होने से 'नहीं है'। इस तरह वह भी अनित्य है।

यह प्रश्न नहीं करना कि फिर वह माया कहाँ जाती है? ठीक जैसे बाजीगर ने हाथ से हाथी प्रकट किया, खेल खत्म होने पर हाथी चला गया, उस हाथी को ढूँढने नहीं जाते! क्योंकि हाथी दीखा था लेकिन था नहीं—यह निश्चय है। जैसे हाथी नहीं था, ऐसे ही हाथी दिखाने की शक्ति भी नहीं थी! इसी प्रकार जब तक जगत् की प्रतीति हो रही है तब तक मायावी ब्रह्म को मान लेते हैं। जगत् की प्रतीति समाप्त होने के बाद यह प्रश्न कि 'माया का क्या हुआ' बनता ही नहीं। अगर माया कोई सच्ची चीज़ होती तो प्रश्न बनता। इसलिए माया-तत्कार्य दोनों में निस्तत्त्वरूपता एक जैसी है। फ़र्क इतना ही है कि कार्य व्यक्त है और शक्ति अव्यक्त है ।।८४।।

यदि शक्ति और कार्य दोनों की निस्तत्त्वरूपता है तो दोनों में व्यक्तता-अव्यक्तता का भेद क्यों है? इस पर कहते हैं कि हम यहाँ सत्-असत् का विवेक समझाने में प्रवृत्त हुए हैं, असत् चीज़ों के भेद को बताने में हमारा तात्पर्य ही नहीं है! असत् के बारे में विवेचन बेकार है अतः उक्त प्रश्न विचारणीय नहीं है—

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् स चिन्त्यताम्।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयाऽत्र किम् ।।८५।।

सत्त्व और असत्त्व को परस्पर विलक्षण समझने का प्रसंग होने से उसी का विचार किया जाये, असत् के अन्तर्गत होने वाला भेद रहे, उसके चिन्तन से इस प्रकरण में क्या लाभ!

असत् के दो रूप हुए—एक, माया और दूसरा, माया-कार्य आकाश। ये असत् के ही अवान्तर भेद हैं। असत् के दोनों भेदों के बारे में या और भी ऐसे भेदों के बारे में हम जो सत्-असत् का विवेचन करने में प्रवृत्त हैं वे क्यों सोचें? यह जो आचार्यों ने कहा है इसे

साधक को हमेशा याद रखना चाहिए। प्रायः वादी असत् के विचारों में तुम्हें विरोध दिखाकर कहते हैं कि यदि सत्य को यथाशास्त्र स्वीकारें तो फिर इस असत्य जगत् का क्या होगा? साधक भी संशय में पड़ जाता है!

शंकर भगवान् का एक बड़ा भारी भक्त था परन्तु उसको भगवान् शंकर के दर्शन नहीं हो रहे थे। उसका नाम नक्किर था। उसने गुरु से पूछा कि 'हमें भगवान् के दर्शन क्यों नहीं होते?' उसे कहा 'तेरे अन्दर यह भाव है कि हर चीज़ का पता लगाना चाहिए कि क्या है। तू इस प्रकार संदेह करना छोड़ दे, तब भगवान् शंकर प्रसन्न होकर तुझे दर्शन दे देंगे।' यद्यपि उसकी आदत तो हर चीज़ का परीक्षण करने की थी कि 'ऐसा कैसे, ऐसा क्यों,' तथापि कहने पर बहुत समय तक तो वह अपने मन को वश में करके प्रश्न नहीं करता रहा। एक बार वह एक तालाब के किनारे खड़ा था। ऊपर से एक सूखा पत्ता यों गिरा कि आधा पत्ता पानी में, आधा हिस्सा ज़मीन पर गिरा। जो आधा पानी में गिरा, वह तो मेंढक बनकर पानी के अन्दर चला गया; जो आधा ज़मीन पर गिरा था, वह चिड़िया बनकर उड़ गया! अब नक्किर से नहीं रहा गया, सोचने लगा 'यह कैसे हो गया?' अत्यंत अद्भुत चीज़ देखी थी। एक चिड़िया आई, उसने भक्त को उठाकर एक गुफा में ले जाकर रख दिया। वहाँ उसने देखा कि बहुत से लोग लटक रहे हैं। उन्होंने कहा—'हम भी तेरी जाति के ही हैं। हम भी संदेह करते-करते कहने लगे थे 'ऐसा क्यों? ऐसा कैसे?' उसने कहा—'ऐसी असम्भव बात हो तो प्रश्न होता ही है।' उन्होंने कहा 'ऐसे ही हम लोग भी कहते थे।'

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आनन्दघन ब्रह्म के अन्दर दुःख कहीं से आ नहीं सकता, कोई सम्भावना ही नहीं है कि तुम में दुःख आये। परन्तु 'यह दुःख क्यों आ गया, क्यों आ गया?' इस प्रश्न के कारण ही हम बंधन में बँधे हैं। दुःख का कारण ढूँढने में तुम माया को ही ढूँढ रहे हो, जबकि माया का कभी समापन होना नहीं है। एक गुत्थी सुलझी, दूसरी गुत्थी आ आयेगी क्योंकि इसमें तो वट में वट पड़े हुए हैं। जिस प्रकार कोई आदमी प्याज को छील कर देखने की कोशिश करे कि इसमें क्या है? तो कितना भी छीले, कुछ मिलना नहीं है; इसी प्रकार किसी चीज़ का कारण ढूँढोगे, दो-तीन कोटि तक कारण मिल भी जायेगा, उसके बाद फिर कितना ही पता लगाओ, अंत नहीं आना है। कम-से-कम चार सौ सालों से आधुनिक वैज्ञानिक लगे हैं संसार के मूल का, मौलिक तत्त्वों और नियमों का पता लगाने में, लेकिन जितना पता लगता है उतना समझ आता जाता है कि अंतिम निर्णय बहुत दूर है।

मुमुक्षु को इससे बिलकुल बच कर रहना चाहिए। निस्तत्त्व चीज़ों की कार्य-कारण परम्परा को ढूँढने का झँझट मत करो। यह माया ज्ञान से प्राप्त करने की चीज़ ही नहीं है। ज्ञान से अज्ञान को *नष्ट* ही कर सकते हैं। यदि मोक्ष चाहते हो तो सत्-असत् के विवेक में लगो। वही प्रस्तुत है अर्थात् सामने जो मुमुक्षु है उसके लिए यही मार्ग है। जो मोक्ष नहीं चाहता है उसे कार्य-कारण-परम्परा ढूँढनी चाहिए। ढूँढते-ढूँढते कभी बुद्धि आ गई कि

कार्य-कारण-परम्परा कभी निर्णीत हो नहीं सकती, तो ढूँढना छोड़ेगा। मुमुक्षु तभी बनोगे जब तुम्हारे मन से संसार के कार्य-कारणों के प्रति आग्रह हट जायेगा कि इसका कुछ पता लगाना है। मुमुक्षु बनने के पहले ढूँढकर 'इसके बारे में सोचना व्यर्थ है' यह निश्चय कर लेना चाहिए; निश्चय होने पर मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। कार्य-कारण का विवेचन छोड़कर सत्-असत् का विवेक करो। व्यवहार की छोटी-मोटी अव्यवस्थाओं को जैसे-तैसे सह कर उनकी उपेक्षापूर्वक परमार्थ साधना में तत्परता बुद्धिमानी है, व्यवहार में उलझे रहना मूर्खता है क्योंकि चाहे-जितना प्रयास कर लें वास्तविक नतीजा नहीं निकलना।।८५।।

इस विचार का निर्णय यह हुआ–

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत्।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत्।।८६।।

वायु में प्रतीयमान सद्-वस्तु ब्रह्म है, उससे बचा हिस्सा जो वायु वह आकाश की तरह मिथ्या है। वायु मिथ्या है–इसके संस्कार दीर्घकाल तक स्थिर करके 'वायु सत्य है' यह निश्चय छोड़ देवे।

सत् वस्तु अर्थात् 'है' तो केवल ब्रह्म है। दूसरा अंश वायु है। 'वायु है' इस प्रतीति में 'है' यह ब्रह्म, बचा हुआ अंश वायु मिथ्या अर्थात् प्रतीत होते हुए नहीं है। दो चीज़ें जहाँ एक प्रतीत हो जाती हैं उसी का नाम भ्रम या मिथ्या है। अंग्रेजी में इसी तरह 'मिथ्' (myth) शब्द बना है। जिस कहानी के द्वारा जो उपदेश कहा गया है, वह तो सच्चा हो, परन्तु कहानी अपने में सच्ची नहीं हो, उसे वे 'मिथ' कहते हैं। एक कहानी रोज़ महिम्नःस्तोत्र में बोलते हैं : 'ब्रह्मा जी ने अपनी लड़की को देखा, उसकी सुन्दरता को देखकर मोहित होकर उसकी तरफ जाने लगे। लड़की शर्म से लाल मुँह की होकर भाग गई। ब्रह्मा जी लड़की के पीछे भागे।' कई लोग सवाल पूछते हैं कि देवता लोग भी ऐसा क्यों करते हैं? वस्तुतः इस कहानी से कुछ और ही बताया है–ब्रह्मा सूर्य है। सूर्य उदय होने से पहले जो भाग फटती है, उषा, वह सूर्य से ही उत्पन्न होती है अतः सूर्य की, ब्रह्मा की लड़की ही हुई। सूर्य उसकी तरफ जाता है तो वह लाल पड़ जाती है मानो शर्म से लाल हो गई। यह बात तो सच्ची है कि सूर्य के उदय होने पर उसके पहले भाग फटती है और फिर वह लाल हो जाती है। लेकिन 'ब्रह्मा जी अपनी लड़की की ओर गये,' इस ढंग से जो कहा गया वह झूठ है। मिथ उसी को कहते हैं जो बात *जैसी* कही गई, वैसी नहीं है परन्तु उसके द्वारा *जो* कहा गया वह ठीक है। इसी प्रकार यह सृष्टि अनंत है। अनंत सृष्टि के द्वारा प्रकट होता है कि ब्रह्म अनंत है। ब्रह्म अनंत है–यह जो प्रकट हुआ, वह तो सच्ची बात है। परन्तु यह जो तुम सारा का सारा *उत्पन्न* प्रपंच देख रहे हो यह सारा का सारा झूठा है! इसलिए वायु भी मिथ्या है, दीखता है परन्तु है नहीं। 'वायु है' में 'है'–यही बात सच्ची है। आकाश भी इसी प्रकार मिथ्या रहकर वास्तविक सत्य का ख्यापन कर देता है। इस बात को दीर्घ काल तक बार-बार

विचार करो। हर बार वायु का अनुभव होते ही जब उसके मिथ्यात्व का विचार करते हो तब वासना बन जाती है। वासना बनने पर वायु का अनुभव होते ही यह पता चलता है कि यह मिथ्या है। बार-बार वायु देखोगे तो 'है'-रूप में ही; क्योंकि कारण ब्रह्म है इसलिए वायु को हमेशा 'है' देखोगे। परन्तु जब वासना दृढ हो जायेगी तब पता रहेगा कि वायु मिथ्या है। तब 'मरुतं त्यजेत्' अर्थात् वायु सच्ची है इस बात को छोड़ दो। इस बुद्धि को छोड़ना है कि वायु है। दीखेगा कि वायु है परन्तु देखते ही जानो कि वायु स्व-रूप से मिथ्या है, दीखती है परन्तु है नहीं। फिर मरुत्-सत्यता कभी भी प्रतीत नहीं होगी।।८६।।

इस प्रकार आकाश और वायु में जो बताया, इसी को सर्वत्र समझते जाओ–

चिन्तयेद् वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम्।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा।।८७।।

वायु की अपेक्षा भी सीमित अस्तित्व वाली अग्नि के बारे में भी इसी प्रकार मिथ्यात्वका चिन्तन त्यागपर्यन्त करना चाहिए। (भूत आदि की) न्यूनता-अधिकता का यह विचार ब्रह्माण्ड के आवरणों (घेरों) के बारे में है।

जैसे वायु को आकाश से न्यूनवर्ती बताया, वैसे ही वायु के एक हिस्से में अग्नि रहती है। ब्रह्म के दसवें हिस्से में माया, माया के दसवें हिस्से में आकाश, आकाश के दसवें हिस्से में वायु, वायु के दसवें हिस्से में अग्नि रहती है इसलिए वायु से भी न्यूनवर्ती है। ऐसी अग्नि का भी जैसे वायु का वैसा चिन्तन करो कि वह भी मिथ्या है। भूतों की न्यूनवर्तिता कहाँ है? लोक में यह स्पष्ट नहीं पता कि महाभूतों में कौन कितना ज़्यादा या कम है। इसलिए कहते हैं कि यह तो ब्रह्माण्ड के बाहर जो ब्रह्माण्ड को घेरे हुए भूत हैं उनकी बात है। ब्रह्माण्ड के ऊपर तो पहले पृथ्वी आयेगी क्योंकि पृथ्वी के दसवें हिस्से में यह सारा ब्रह्माण्ड है! नीहारिकाओं समेत इस ब्रह्माण्ड को ढाँके हुए महाभूत हैं। श्लोक ९५ में बतायेंगे कि पृथ्वी के दसवें हिस्से में ही सारा ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड को ढाँके हुए तत्त्वों में ज़्यादा-कम की व्यवस्था है।।८७।।

वायु से अग्नि कितनी घटकर है, यह बताते हैं–

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके।।८८।।

वायु के दसवें भाग जितनी अग्नि वायु से न्यून ही है, वायु में अध्यस्त है। पाँचों भूतों में दसवें हिस्से के हिसाब से मात्रा-व्यवस्था पुराणों में कही है।

अग्नि वायु के दसवें हिस्से में है। उसमें भी उसकी कल्पना ही है, वास्तव में नहीं। पुराणों के अन्दर ब्रह्माण्ड के बाहर इस प्रकार दस गुणे के हिसाब से भूतों का तारतम्य बताया है। अर्थात् कारण के अंश में कार्य को कहना तो विचार से है, परन्तु दशांश की

व्यवस्था पुराण में बतायी है। पंचभूतों का तारतम्य दशमांश से है, यह यहाँ पुराणों के आधार पर कह रहे हैं। विष्णु-पुराण (२.७.२२–२४), श्रीमद्भागवत (३.२६.५२) आदि में इसकी सूचना है।। ८८।।

अब अग्नि को बताते हैं–

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च।
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि।।८९।।

अग्नि गर्म और प्रकाशरूप है। इसमें भी पूर्ववर्ती कारणों का अनुवेध भी है : वह्नि है, वह निस्तत्त्व (मिथ्या) है, शब्द वाली और स्पर्शवाली है।

अग्नि गरम है, प्रकाशरूप है। गर्मी और प्रकाश–दोनों अग्नि के अपने धर्म हैं। मरुत् की तरह वह्नि में भी सत्, माया, आकाश और वायु अनुगत हैं। वह्नि है इस प्रकार ब्रह्मकी अनुवृत्ति है। अग्नि मिथ्या है, प्रतीत हो रही है परन्तु वास्तविक नहीं है–यह माया की अनुवृत्ति है। अग्नि भुक्भुक् शब्द करती है अतः शब्द वाली है इसलिए आकाश की अनुवृत्ति है। अग्नि का स्पर्श होता है, गर्म लगती है अतः वायु की अनुवृत्ति है। इस प्रकार से कारण के धर्म कार्य में अनुवृत्त हैं।। ८९।।

अग्नि का निजगुण बताकर विवेक करने का विधान करते हैं–

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद् बुद्ध्या विविच्यताम्।।९०।।

सत्, माया, आकाश और वायु के अंशों से युक्त अग्निका निज गुण 'रूप' है। इनमें से सत् से अन्य सभी (मिथ्या हैं ऐसा) बुद्धि से विवेचन किया जाये।

सत् या 'है' वह्नि में ब्रह्म का गुण है। माया, मिथ्यात्व अर्थात् प्रतीत होने पर भी सच्चा नहीं होना। व्योम (आकाश) का गुण शब्द, स्पर्श वायु का गुण है। अग्नि में अपना गुण रूप है। वायु, आकाश, माया और ब्रह्म में रूप नहीं परन्तु अग्नि का अपना गुण रूप है। सत् से अन्य बाकी सब सत् से भिन्न हैं–इस प्रकार विचार करके बाकी सबके मिथ्यात्व का निश्चय करे। अग्नि दीखे तो उसमें जो स्पर्श की प्रतीति है वह वायु से आई है। शब्द की प्रतीति होती है वह आकाश से आई है। बिना हुए प्रतीत हो रही है यह विशेषता माया से आयी है और 'है' प्रतीत हो रही है, यह सत् से आया है। इस प्रकार शब्द आदि सब कुछ सत् से भिन्न है। ये सारे ही (अंश)–प्रतीति होने से लेकर रूपपर्यन्त–मिथ्या हैं। इस प्रकार का विचार करके सत् से सब चीज़ों को अलग देखना है। जैसा वायु के बारे में अभ्यास किया था वैसा ही इसके बारे में दीर्घकाल तक बार-बार जब-जब अग्नि की प्रतीति हो तब-तब बुद्धि से इस प्रकार विवेक करना पड़ेगा।। ९०।।

ऐसा ही जलका विवेक कर्त्तव्य बताते हैं—

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत्।। ९१।।

सत् से वह्नि का विवेक होने पर उसके मिथ्यात्वका संस्कार दृढ हो तब चिंतन करे कि वह्नि से न्यून, वह्नि के भी दसवें हिस्से में जल कल्पित है।

पूर्वदर्शित ढंग से अग्नि मिथ्या है ऐसी जब दृढ वासना बन जाये अर्थात् अग्नि को देखते ही यह लगे कि यह सत् से भिन्न है, तब उसके पश्चाद्वर्ती जलका विवेचन कर उसे मिथ्या जानने का प्रयास करना चाहिये।। ९१।।

जल के विवेक का प्रकार समझाते हैं—

सन्त्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः।। ९२।।

जल है, तत्त्वतः कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है, शब्द-स्पर्श से युक्त है, और रूपवान् है। उसका निज गुण रस है, बाकी गुण कारणों की अनुवृत्ति से हैं।

अग्नि से जल दशांश है। जल में भी दृष्टि करे कि 'जल है' इसमें 'है' ब्रह्म की प्रतीति और जल की वास्तविकता कुछ नहीं है, केवल प्रतीति ही होती है। जल बहता है तो इसमें कल-कल की आवाज़ भी होती है। छूते हैं तो इसमें स्पर्श भी होता है, जल रूप वाला भी है चूंकि दिखाई देता है। ये सब चीज़ें तो क्रमशः माया, आकाश, वायु और वह्नि के कारण प्रतीत हुईं; जल का अपना गुण स्वाद है। अग्नि में कोई स्वाद नहीं।। ९२।।

विवेक एवं ध्यान, दोनों द्वारा जलका मिथ्यात्व-निश्चय करने के बाद विचारणीय बताते हैं—

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते।
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताऽप्स्विति चिन्तयेत्।। ९३।।

सत् से जलको पृथक् और उसके मिथ्यात्व को समझकर उस संस्कार को दृढ करके चिंतन करे कि भूमि (पृथ्वी) जल के दसवें हिस्से में है अतः अत्यल्प है, जल में कल्पित है।

जब वासना दृढ हो जाये अर्थात् जल को देखते ही पता रहे कि 'यह प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः है नहीं' तब पृथ्वी के बारे में सोचना प्रारंभ करे कि जल के दसवें भाग में ही समूची पृथ्वी है, जल से अतिन्यून है, जल में कल्पित ही है। इसमें हेतु आदि का अनुसंधान पूर्व की तरह है। ये सारे विचार बार-बार करने पड़ेंगे, तब तदनुसार निश्चय बनेगा और तब वैसी वासना बनेगी जिससे दृश्य का सर्वथा त्याग होकर दृङ्मात्र में अवस्थिति होगी।। ९३।।

पृथ्वी के धर्म समझाते हैं–

अस्ति भूस्तत्त्वशून्याऽस्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ।
रसश्च परतो गन्धो नैजः सत्ता विविच्यताम्।। ९४।।

पृथ्वी है, उसमें वास्तविकता नहीं है, शब्द स्पर्श रूप और स्वाद उसमें अन्यों (अर्थात् कारणों) से हैं जबकि निजी गुण है गंध। इन सब में से सत्ता को अलग कर जाना जाये।

पृथ्वी में भी प्रतीति होती है कि पृथ्वी है। यहाँ, है–यह ब्रह्म की प्रतीति। है से भिन्न पृथ्वी स्वयं वास्तविकता से भिन्न है। वास्तविक नहीं है–यह माया से आया। पृथ्वी के अन्दर भी ध्वनि है। कहीं भी कंकड़ एक जगह से दूसरी जगह फैंकते हैं तो कड़कड़ शब्द आता है। यह शब्द गुण पृथ्वी में आकाश से आया। पृथ्वी को छूते हैं तो कड़ी लगती है। यह स्पर्श वायु से आया। पृथ्वी में रूप भी है, वह तेज से आया। मिट्टी चखो तो इसमें स्वाद भी है जो जलसे आया। ये सब तो कारणों से आये, इसमें अपना गुण गन्ध है। इन गुणों में से सत्ता को अलग कर लेने पर बची पृथ्वी मिथ्या रह जाती है अतः सत्ता के विवेक का अभ्यास कर्त्तव्य है।। ९४।।

सत्ता-विवेक का प्रभाव बताते हैं–

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते।
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम्।। ९५।।

सत्ता अलग कर ली जाने पर पृथ्वी मिथ्या बचती है। पृथ्वी के दसवें भाग में अतः पृथ्वी से न्यून सारा ब्रह्माण्ड है जो पृथ्वी के मध्य उपलब्ध है।

सत् को जब पृथ्वी से अलग करके जान लेते हैं तब पृथ्वी मिथ्या ही बच जाती है क्योंकि सत् से भिन्न है। सबसे व्यापक अखण्ड तो ब्रह्म है, ब्रह्म के दशमांश में माया हुई। डिब्बे में डिब्बे की तरह सोचना : अर्थात् चारों तरफ सर्वव्यापक ब्रह्म है। माया वहाँ दशमांश में है। उसके अन्दर आकाश, आकाश में वायु, वायु में तेज, तेज में जल, जल में पृथ्वी। इस प्रकार सब दसवें-दसवें हिस्से में हैं। पृथ्वी के अन्दर, उसके भी दसवें हिस्से में एक डिब्बे जैसा ब्रह्माण्ड है। 'अण्ड' के द्वारा कहते हैं कि यह चौकोर डिब्बे जैसा नहीं वरन् गोल डिब्बे जैसा है। ब्रह्माण्ड (ब्रह्मा का शरीर) भूमि के बीच में है। चारों तरफ पृथ्वी और बीच में ब्रह्माण्ड है।। ९५।।

जिसे हम असीम समझते हैं वह ब्रह्माण्ड इतना न्यून है! उसका विभाजन दिखाते हैं–

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम्।। ९६।।

ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन हैं। इन भुवनों में यथोचित व्यवस्था से प्राणियों के शरीर रहते हैं।

यह ब्रह्माण्ड चौदह भागों में बाँटा हुआ है। पृथ्वी से शुरू करके सात ऊपर के लोक और पृथ्वीसे सात नीचे के लोक, इस प्रकार चौदह लोकों वाला ब्रह्माण्ड है। भूमि से ऊपर सत्यम्, तपः, जनः, महः, स्वः, और भुवः छह और भूमि खुद इस प्रकार भूमि को लेकर सात लोक हैं। भूमि से नीचे सात लोक–अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल हैं। पहले तो ब्रह्माण्ड ही कितना? भूमि का दशांश अर्थात् बहुत छोटा। फिर उसके छोटे-छोटे चौदह हिस्से हैं। वे सब एक आकार के नहीं हैं, यह बात दूसरी है। फिर भी हैं तो चौदह हिस्से। इन भुवनों में जो जहाँ रहने के लायक हैं वे वहीं रहते हैं। अंतरिक्ष में पितर लोग रहेंगे, स्वर्ग लोक में देवता लोग रहेंगे, महः लोक में ऋषि लोग रहेंगे, पतिव्रता स्त्रियाँ जनलोक में रहेंगी, इस प्रकार जो जहाँ रहने के लायक है वह वहाँ जन्म ले लेता है।। ९६।।

पूर्ववत् भुवनविषयक विवेक का फल बताते हैं–

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः।। ९७।।

ब्रह्माण्ड, लोक और शरीरों में जो सद् वस्तु (उसे उनसे) पृथक् समझ लेने पर असत् जो ब्रह्माण्ड आदि वे भले भासें, उनके भासने पर भी आत्मा में हानि क्या है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड का भी विचार करे; ब्रह्माण्ड 'है', ब्रह्माण्ड में शब्द भी है। दिल्ली जाओ तो दिन-भर शब्द ही सुनते रहोगे, चारों तरफ आवाज़ ही आवाज़ होगी। स्पर्श भी है, सब चीज़ों को छू सकते हैं। ये सब तत्तद् महाभूतों से आ गये। पृथ्वी में 'है' की प्रतीति है; अपने को जो भू-लोक दीख रहा है इसमें 'है' ब्रह्म की प्रतीति है। विवेक से समझना है कि भू-लोक बिना हुए प्रतीत हो रहा है। ऐसे ही भू-लोक में हल्ला-गुल्ला, स्पर्श आदि तत्तद् चीज़ें भी बिना हुए ही 'हैं'। इस प्रकार भू-लोक को सत् से अलग करके जाने। भूलोक में रहने वाले जितने शरीर दीख रहे हैं–गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, सब 'है' ही दीख रहे हैं। इनमें 'है' की प्रतीति ब्रह्म की है। बिना हुए प्रतीत हो रहे हैं इसलिये माया की प्रतीति है, ये सब मायिक हैं। विवेक-दृष्ट्या ये देह सत् से भिन्न, असत् हैं। ब्रह्माण्ड (लोकों) में क्रमशः इसी प्रकार की भावना करते चले जाना है। इन सबमें 'सत्' तो अलग है। सद्रूप ब्रह्म इन सबमें प्रतीत हो रहा है, परन्तु इन सब से सर्वथा अलग है। उसके बाद ब्रह्माण्ड और 'आदि' पद से लोक और देह, सारे भले ही सत्ता से रहित हुए प्रतीत होते रहें। प्रतीति से वेदान्त का कोई झगड़ा नहीं है। यह बात याद रखने की है। प्रतीत होने से बन्धन नहीं है, उसको 'है' समझ लेने से बन्धन है। बिना हुए भान हो रहा है–केवल इस प्रकार से उनका भान होना चाहिये।

उसका भान होने पर भी व्यवहार-काल में रहने में कोई नुकसान नहीं है। नुकसान तो उसे सच्चा मानने में था।। ६७।।

सद् से विविक्त का भान बन्धकारी नहीं यह स्पष्ट करते हैं–

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यन्तवासिते।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित्।। ९८।।

भूत, भूतकार्य और कारणीभूत माया—ये सत् नहीं इसका संस्कार दृढ हो जाने पर 'सद्रूप वस्तु अद्वैत है' यह निश्चय कभी बदलता नहीं।

भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश; भौतिक अर्थात् इनसे बनाई चीज़ें शरीर आदि और पदार्थ आदि; माया अर्थात् बिना हुए प्रतीत होना; ये सब असत् हैं। माया को बार-बार इसलिये कहते हैं कि इसके बारे में सत्यता का भ्रम न रह जाये। कुछ ऐसे लोग हुए हैं जो ईश्वर को जगत् का कारण मानकर भी उसकी शक्ति को सत्य मानते हैं। इसलिये उनके अनुसार मोक्ष होने पर भी शक्ति रह ही जाती है। शक्ति रही तो कभी फिर उसका कार्य भी हो जायेगा। इसलिये शक्ति के सद्भिन्नत्व का चिन्तन करना है। नाम-रूप, शब्द, स्पर्श आदि भी सत् नहीं हैं और बिना हुए जो प्रतीत होना है वह भी सत् नहीं है। इन सब का जो असत्त्व है उसकी अत्यंत वासना बनाने के लिये बार-बार विवेक करे और बार-बार जब विषयेन्द्रिय-संयोग हो तब विवेक की आवृत्ति करे, तभी चित्त में दृढ वासना बन जाती है। तब 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' में जो कहा गया है कि सत् ब्रह्म एक और अद्वितीय है क्योंकि दूसरी चीज़ नहीं है, यह ज्ञान कभी भी किसी भी परिस्थिति में अभिभूत नहीं होता अर्थात् कभी भी एक अद्वितीय ब्रह्म के सिवाय और कोई भी चीज़ वास्तविक नहीं लगती। जब तक बुद्धि का विपर्यय दूर न हो जाये तब तक यह साधन बार-बार करने का है। क्षणमात्र को यदि यह प्रतीति हो जाये कि दृश्य है तो फिर सावधान हो जाओ कि यह नहीं है। आत्यन्तिक वासना का स्वरूप है कि किसी भी चीज़ में कभी भी विपर्यय नहीं होता।। ९८।।

मिथ्यात्वदर्शन व्यवहार-विरोधी नहीं यह सूचित करते हैं–

सदद्वैतात् पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा।। ९९।।

सद्रूप अद्वैत से विविक्त भूमि आदि द्वैत में विभिन्न सप्रयोजनताएँ वैसी ही होती हैं जैसे लोक में संमत हैं।

'द्वैत है' बिना प्रतीत हुए व्यवहार कैसे होगा? लोग इस संशय से ग्रस्त रहते हैं कि व्यवहार करने के लिये चीज़ का सच्चा होना ज़रूरी है। छोटे बच्चे से पूछो कि पाँच और सात

कितने? तो पहले तार के पाँच गोले अलग कर देगा, फिर सात गोले अलग कर देगा, फिर सबको गिनकर कहेगा कि बारह हो गये। उसकी समझ में नहीं आता कि जब तक कोई चीज़ न हो, तब तक कैसे गिने। कुछ बड़ा हो तब कहो–५३०० और ५३०४ जोड़ बताओ; तो अब उसे गोले नहीं चाहिये लेकिन अंक लिखकर जोड़ लेता है। और अधिक अभ्यास हो जाता है तो लिखना भी नहीं पड़ता। हमने दो संख्यायें कहीं, दोनों बुद्धि में रहती हैं और वहीं जोड़ लेता है। दीर्घकाल की अभ्यासी शकुन्तला देवी दस-दस अंको की संख्या को अठारह अंकों की संख्या से गुणा करके तुरन्त उत्तर बता देती है! तुम संख्याओं का गुणा करते हो तो प्रत्येक संख्या को अलग-अलग गुणा करके नीचे लिखते हो परन्तु वह बिना लिखे किस संख्या को किससे गुणा करके कितना आता है वह भी बता देती है।

यह सारा अभ्यास या वासना का खेल है। लोगों को लगता है कि विषय कुछ होना चाहिये तब उससे व्यवहार करेंगे, जो विषय है ही नहीं उससे व्यवहार कैसे करेंगे? जब अभ्यास इस प्रकार से दृढ हो जाता है तब विषय होने की ज़रूरत नहीं रहती है। बिना चीज हुए ही व्यवहार हो जाता है। इसलिये कहा कि एक अद्वितीय सत् ही है, और कोई चीज तो है ही नहीं। उससे (सत् से) पृथग्भूत जितनी प्रतीतियाँ हो रही हैं वे सब मायिक ही हैं। व्यवहार करना है तो पृथ्वी आदि से हो जायेगा, उसके *होने* की ज़रूरत नहीं है। जिससे प्रयोजन सिद्ध हो जाये उतने की ही आवश्यकता है, उससे अधिक विशेषताएँ प्रबल प्रमाण के बिना अस्वीकार हैं। जैसे तुमको गले में सूखापन लगा, प्यास को दूर करने के लिये तुम उसमें जल डाल देते हो, प्यास मिट जाती है। इसमें पानी के *होने* की क्या ज़रूरत है? भूख लगने पर क्या करें, ठण्ड लगने पर क्या करें आदि पूर्व के संस्कारों के अनुरूप ही लोक का व्यवहार हो जाता है। अतः विवेक करके जिसने अद्वैत-निष्ठा प्राप्त कर ली है उसका व्यवहार दूसरों के व्यवहार से कुछ अलग नहीं होता। गीता में तीन जगह प्रश्न किया है कि ज्ञानी के क्या लक्षण हैं 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'; फिर गुणातीत के लक्षण पूछे और आगे जाकर भगवद्भक्त के लक्षण पूछे। तीनों जगह अर्जुन पूछ रहा है कि ज्ञानी कैसा व्यवहार करता है। भगवान् ने किस प्रकार व्यवहार करता है–यह बताया। क्या करता है, यह नहीं वरन् कैसे करता है यह बताया। न किसी चीज़ की कामना करता है, न किसी चीज़ से द्वेष करता है इत्यादि यही सारा बताया। कामनादि न करके, व्यवहार तो जैसा लोक में सब करते हैं वैसा ही वह करता है। द्वैताग्रही व्यवहार में भेद की आशा करता है लेकिन व्यवहार को मिथ्या जानने वाले के लिये व्यवहार का भेद निरर्थक है। साँप देखो या माला, इससे रस्सीवेत्ता को क्या अन्तर पड़ेगा! सार्थक है कि कामना आदि से ग्रस्त न होकर दृश्य से अप्रभावित रह स्वरूपनिष्ठ बना रहे।। ९९।।

प्रपंच के सत्यत्वमात्र को हटाने में विवेक का उपयोग है, बाकी भेदों के विभाजनों का चिन्तन निष्प्रयोजन है यह बताते हैं–

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा।।१००।।

सांख्यवादी, वैशेषिक, बौद्ध आदि अनेक युक्तियों से जगत् के भेद की जैसी-जैसी उत्प्रेक्षा करते हैं, वह भेद वैसा-वैसा होवे (इससे अद्वैती को हानि नहीं)।

सांख्य पूरा प्रयत्न करके सिद्ध करते हैं कि सृष्टि केवल त्रिगुणात्मिका है। वेदान्ती को इसमें कोई आग्रह नहीं है। काणाद, वैशेषिक लोग इसी प्रकार परमाणुवाद के आग्रह वाले हैं। वे मानते हैं कि केवल सात ही पदार्थ हैं। वेदांती कहते हैं 'जो तुम मानते हो मानते रहो।' इसी प्रकार बौद्धों ने मान लिया कि यह सब विज्ञानमात्र है। 'बौद्धाद्याः' आदि पद से जैन, पाशुपत, वैष्णव सभी ले लो। जैसी-जैसी इस जगत्-भेद के बारे में उत्प्रेक्षा करते रहते हैं कि ऐसा ही जगत् को समझना चाहिये, दूसरे किसी ढंग से नहीं समझना चाहिये; उनके उस प्रयास का हम निरास नहीं करते हैं। वे जैसा समझते हैं वैसा समझते रहें। व्यावहारिक भेद त्रिगुणात्मक मान लो, सप्त पदार्थ मान लो, विज्ञानवाद मान लो, जैसा मानते हो मानते रहो। किसी को कोई ठीक लगेगा और किसी को कुछ दूसरा ठीक लग जायेगा। विज्ञान मानने से भी काम चल जायेगा, सात पदार्थ मानने से भी व्यवहार चल जायेगा, त्रिगुणात्मक मानने से भी काम चल जायेगा। कुछ रोग वैद्य की दवाई लेने से ठीक हो जाते हैं, कुछ रोग डॉक्टर की दवाई लेने से तो कुछ हकीम की दवाई लेने से भी ठीक हो जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न व्यवहार विभिन्न रीतियों से संगत हो सकते हैं, इस व्यवहार-संगति में एकरूपता का आग्रह व्यर्थ है। जैसा-जैसा लोग मानते हैं, व्यवहार भूमि में वही ठीक है। वेदान्त इस द्वैत जाल के बारे में अनाग्रही है। सबको एक में ही बाँधा जाये ऐसी उसकी मान्यता नहीं। जिससे तुम्हारा रोग दूर होता है वह दवाई ले लो। वादी लोग उत्प्रेक्षा भी अनेक युक्तियों से करते हैं। खूब युक्तियाँ देकर सिद्ध करते हैं कि यही ठीक है। वे जैसा मानते हैं उन्हें मानने दो, उनका निरास करना हमारा काम नहीं है क्योंकि मायिक होने के कारण उसके बारे में कभी भी निश्चय होना ही नहीं है, हमेशा अनिश्चय ही रहेगा। सब चीज़ों को एक ही ढर्रे पर ढालना चाहोगे तो कभी नहीं ढलेंगी। अतः सांसारिक व्यवस्था के बारे में हमारा कोई आग्रह नहीं है।। १००।।

प्रश्न होता है कि व्यवहार भूमि की व्यवस्थाएँ भी वेदान्तदर्शन क्यों न सुझाये? इसका उत्तर देते हैं–

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशंकैरन्यवादिभिः।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम्।। १०१।।

लापरवाह अन्य वादियों ने वास्तविक अद्वैत की उपेक्षा कर रखी है; इसी तरह उन्हें सम्मत द्वैत की हम उपेक्षा करें तो हमारी क्या हानि है!

सांख्य, काणाद, बौद्ध आदि अर्थात् जो संसार के पदार्थों से सत् ब्रह्म को अलग नहीं करते हैं। वे अद्वितीय सत् पर कोई ध्यान नहीं देते यों उसकी अवज्ञा करते हैं। व्यावहारिक लोग यही तो कहते हैं 'महाराज! संसार में भी तो ठीक होना चाहिये, परमात्मा तो ठीक है ही।' इसी तरह लोग परमात्मा की अवज्ञा करते हैं कि 'परमात्मा को फिर देखा जायेगा, अभी तो व्यवहार ठीक रहे।' इसलिये अन्य वादियों को द्वैत के महत्त्व के बारे में कोई संदेह ही नहीं होता जो अद्वितीय ब्रह्म की तरफ ध्यान दें। उसकी तरफ ध्यान नहीं देने में उन्हें कोई गलती कर रहे हैं यह शंका भी नहीं होती। वर्तमान काल में लोग यही कहते हैं कि मोक्ष की चिन्ता मत करो, संसार का क्या होगा यह सोचो। जैसे वे लोग मोक्ष का चिंतन नहीं करते, वैसे ही हम संसार का चिंतन नहीं करते। ब्रह्म की परवाह न कर संसार को ही सब कुछ मानने में वे कोई बुराई नहीं समझते। जैसे वे परमात्मा की बिना शंका के अवज्ञा करते हैं ठीक वैसे ही हम इस द्वैत की अवज्ञा करते हैं, इसके प्रति हमारा कोई आदर नहीं है। हमारा इससे क्या नुकसान होगा! वे परमात्मा की तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं तो उनका ही नुकसान है कि जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा। हमारा यदि कोई नुकसान हुआ भी तो इस मिथ्या द्वैत के ही स्तर पर होगा, वास्तविकता के, सत्य के स्तर पर तो हम ही लाभ में रहेंगे। जब वे सत्य स्तर पर नुकसान में रहकर भी अपनी मान्यता से निःशंक हैं तो हम इस थोड़े-बहुत मिथ्या दुःख के लिये चिन्ता में क्यों पड़ें? यह जो थोड़ा-बहुत नुकसान दीखता है इसकी क्यों चिंता करें?।। १०१।।

किं च अद्वैत की उपेक्षा हानिप्रद है जबकि द्वैत की अवज्ञा बहुत ज़रूरी है, लाभप्रद है यह समझाते हैं–

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीःस्थिरा भवेत्।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते।।१०२।।

द्वैत की उपेक्षा यदि (चित्त में) भली भाँति स्थित हो जाये तो अद्वैत में बुद्धि टिकी रहेगी जिससे यह जीव 'जीवित रहते मुक्त' कहा जाता है।

द्वैत के प्रति अवज्ञा कब स्थिर हो जाती है? जब द्वैत के प्रति आदर हट जाता है तब वह अवज्ञाभाव दृढ हो जाता है। 'यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते'। जब ज़्यादा सुख-दुःख की परिस्थिति में भी न हिले तब द्वैतावज्ञा सुस्थित अर्थात् एक-दम प्रतिष्ठित है। जैसा वसिष्ठ जी कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति आकाश को टूटते देखकर भी आश्चर्य में नहीं पड़ता। इसी प्रकार सूर्य बर्फ जैसा ठण्डा देखकर भी उसे कभी आश्चर्य नहीं होता।

यथासंस्कार, यथाप्रारब्ध, यथानियम बाह्य-आभ्यंतर संसार चलता देखने पर भी इसके प्रति उपेक्षाशील को उद्वेग की प्रतीति, 'मैं प्रभावित' ऐसी अनुभूति नहीं होती। यदि द्वैत की अवज्ञा ऐसी सुस्थित हो जाये तब फिर अद्वैत में ही बुद्धि हमेशा स्थिर रहती है, असत् द्वैत

को देखती नहीं। जब इस अद्वितीय ब्रह्म की निष्ठा दृढ हो जाती है तब व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्ति का आनन्द तभी आता है जब द्वैत-अवज्ञा स्थिर हो जाये। अंतःकरण आदि क्रिया करते रहें, पूर्व संस्कारों से उन्हें जैसी प्रतीति होती है तदनुकूल उनको प्रतीति हुआ करे, प्रतीति कराने वाला मैं अद्वितीय तत्त्व तो वैसा का वैसा ही रहता हूँ। यह दृष्टि जब ऐसी स्थिर हो जाये कि द्वैत की अवज्ञा क्षणभर को भी इधर-उधर न हो, उस अवस्था को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं।।१०२।।

जीवन्मुक्ति कोरी कल्पना नहीं, शास्त्रसंमत स्थिति है तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने विदेह कैवल्यके लाभ के लिये इसे आवश्यक कहा है यह सूचित करते हैं–

'एषा ब्राह्मी स्थितिःपार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।'।१०३।।

'पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसे पाकर (विद्वान्) मोह में नहीं पड़ता। अन्तकाल में भी इसमें प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मानन्द पाता है।'

अर्जुन ने प्रश्न किया कि जीवन्मुक्त का क्या स्वरूप या लक्षण है। भगवान् ने सबसे पहले उसका स्वरूप बताया कि वह समग्र कामनाओं को छोड़ देता है। कामना विषय की होती है। जब तक विषय की सत्ता की प्रतीति है तभी तक उसके लिये कामना हो सकती है। सीप में देखी हुई चाँदी को सीप देखने के बाद उसे कोई इकट्ठा करने नहीं जाता। चाँदी दीखी, जब तक उसे चाँदी समझता है तब तक तो प्रवृत्ति होती है, परन्तु जैसे ही देखा कि सीप से अतिरिक्त वहाँ चाँदी कुछ नहीं, सीप ही चाँदी के रूप में दीखी थी, जब इसका दृढ ज्ञान हो जाता है तब सीप में देखी हुई चाँदी के प्रति कोई प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ठूँठ के भूत को देखकर निवृत्ति होती है, वहाँ से भागते हैं। परन्तु चन्द्रमा के उदय होने पर वह ठूँठ दीख जाये, उसके बाद भूत के दूर हो जाने की या निवृत्ति की कामना नहीं होती। हम रास्ते में जा रहे हैं; सीप में चाँदी देखी; उस चाँदी की तरफ दो कदम चले और फिर दीख गया कि वह तो सीप है, तो वापिस जिस रास्ते जा रहे थे उसी पर चल देते हैं। इसी प्रकार भूत को देखकर भागने की प्रवृत्ति हो रही थी, ठूँठ देख लेने पर वह चेष्टा भी नहीं होती वरन् जिस रास्ते चल रहे थे उधर जाते हैं। एक बार रास्ता बदला तो पुनः सीधे रास्ते आने तक दूसरों को भले ही लगे कि चाँदी की ओर जा रहा है या भूत से भाग रहा है लेकिन स्वयं मालूम रहता है कि ऐसा कुछ नहीं है। इसी प्रकार शरीर के अन्दर जो प्रारब्ध से भोगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है उससे दूसरों को लगता है कि 'इसकी पदार्थ के प्रति निवृत्ति या प्रवृत्ति है' जबकि प्रारब्ध के कारण निश्चित होने से वह प्रवृत्ति-निवृत्ति है लेकिन *उसकी* न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति है। इसलिये सुरेश्वराचार्य कहते हैं–'न प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कटाक्षेणाऽपि वीक्षते' कि वह न किसी तरफ जाता है और न किसी से दूर होता है, जैसा

है वैसा ही स्वरूप में स्थित है। शरीर-मन की किसी प्रवृत्ति आदि से उस पर कोई प्रभाव नहीं है। यह भगवान् ने बताया।

प्रवृत्ति-निवृत्ति का दूसरा कारण सुख-दुःख है। सभी लोग दुःख से दूर हटना चाहते हैं और सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। तत्त्वज्ञ ने उस परमात्म-तत्त्व को जान लिया है कि वह परम आनन्द है, ब्रह्मानन्द है और उस ब्रह्मानन्द को मैं समझने के कारण इसके लिये दुःख सम्भव ही नहीं है। दुःख तो मन के कारण है परन्तु मन के बिना भी सुख या आनन्द तो हो सकता है। यह बात कैसे अनुभव में आये? इसके लिये भगवान् ने हमें सुषुप्ति दे दी। सुषुप्ति में मन नहीं है, परन्तु उठकर स्मरण करते हो 'बड़े आनन्द से सोया।' इससे सिद्ध होता है कि जहाँ मन है वहाँ दुःख हो सकता है, परन्तु बिना मन के कभी दुःख नहीं वरन् आनन्द ही होता है। और वह आनन्द अपना स्वरूप है। इसलिये दुःख-निवृत्ति या सुखप्राप्ति की कोई इच्छा नहीं रहती। आत्मस्वरूप के अन्दर ही वह पूरी तरह से संस्थित रहता है। स्वरूप-स्थिति तो यही है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाये। परमानन्द की स्थिति होना ही स्वरूपस्थिति है। इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, यही ब्रह्मनिष्ठा है। इसी को ब्रह्म में स्थित हो जाना कहते हैं। एक बार जब इसकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर पुनः अज्ञान नहीं आ सकता। बड़े से बड़ा दुःख आने पर भी, शरीर चाहे तड़पे फिर भी 'मैं आनन्दस्वरूप नहीं हूँ अथवा कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति की जा सकती है', ऐसा उसको भान कभी नहीं होता। केवल 'न मुह्यति' न कहकर 'न विमुह्यति' कहा क्योंकि उसे अज्ञान तो नहीं ही होता है, परन्तु अज्ञानजन्य विक्षेप भी नहीं होता है। प्रारम्भ में अपने स्वरूप का ध्यान रखते हुए भी विक्षेप से दुःख का अनुभव हो जाता है। दुःख का अनुभव करते हुए भी जानता है कि यह मिथ्या है परन्तु पूर्व संस्कार इतने दृढ होते हैं कि विक्षेप से दुःख हो जाता है। जब तक अद्वितीय ब्रह्म का संस्कार पूर्णतः दृढ नहीं हो जाता है तब तक विक्षेप के कारण दुःख की प्रतीति हो जाती है जो पूर्व संस्कारों के कारण है, सत्य जानने पर भी पूर्व संस्कार प्रबल पड़ जाते हैं। जब आत्मसंस्कार दृढ हो जायें तो विक्षेप भी नहीं होता, विमोह, विशेष मोह नहीं होता। विक्षेप देने वाला मोह या अज्ञान नहीं रहता और संस्कार से होने वाला विक्षेप भी नहीं होता। सारी चीज़ों की प्रतीति होने पर भी उसके अन्दर कभी भी सत्यता का भान नहीं होता और विक्षेप का भान नहीं होता। यही जीवन्मुक्ति है।

'अस्याम् अंतकाले अपि स्थित्वा' इस ब्राह्मी स्थिति में अंतकाल में भी स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। अंतकाल का प्रधान अर्थ तो है कि 'मैं जीव हूँ' इसका अंतकाल है 'मैं ब्रह्म हूँ'। अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय होकर जीवरूपता का अंत होना ही वस्तुतः अंतकाल है। मरण होने पर एक स्थूल शरीर के बारे में 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान छूटता है, ज्ञान होने पर सभी शरीरों के बारे में 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान छूटता है इसलिये इसे भी अंतकाल कहते हैं। ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होने के बाद कभी भी किसी देह में मैं-

बुद्धि नहीं होती, इसीलिये उसको 'पर अंतकाल' कहा जाता है। जैसे मलेरिया बुखार खूब जोर से आता है, दो-तीन घण्टे के बाद उतर जाता है। लेकिन वह वास्तव में 'उतरना' नहीं केवल फिर चढ़ने की तैयारी है। लगातार पन्द्रह दिन तक दवाई लेने के बाद तुम्हारे अन्दर से मलेरिया के सारे कीटाणु नष्ट हो जायेंगे तब उसे उतरना कहते हैं। मृत्यु तो उस बुखार उतरने की तरह है कि इस शरीर के सुख-दुःख को छोड़कर दूसरे शरीर के सुख-दुःख को लेना शुरू कर दिया। यह बुखार का 'उतरना' तो नहीं है, अर्थात् यह वास्तविक मृत्यु नहीं है। परन्तु जब अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति स्थिर हो गई तो फिर उसके बाद कभी भी अज्ञान और अज्ञान के कार्य का सम्बन्ध होगा ही नहीं। वही वस्तुतः अन्तकाल है। इस ब्रह्मस्थिति में अन्तकाल में स्थित होकर अर्थात् 'मैं जीव नहीं ही हूँ, ब्रह्म ही है' ऐसा स्थिर होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। वाण नाम दुःख का है। कहीं-कहीं शरीर को भी वाण कह देते हैं क्योंकि उसमें भी दुःख होता है। उस ब्रह्मस्थिति को प्राप्त निर्वाण अर्थात् उसका शरीर भी दिखाई नहीं देता, शरीर छूट जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के मत में जो जीवन्मुक्त है वही विदेहमुक्त भी होता है। जब तक शरीर की प्रतीति है तब तक जीवन्मुक्त है और जब शरीर की भी प्रतीति नहीं रह जाती तब विदेह मुक्ति कही जाती है।।१०३।।

'अन्तकाल' शब्द का भाव व्यक्त करते हैं–

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम्।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः।। १०४।।

सद् अद्वैत और असत् द्वैत को एकमेक कर देखने की समाप्ति यही है कि सत्-असत् का भेद स्पष्ट स्थिर भासे। इससे अतिरिक्त उसका अंतकाल नहीं।

अंतकाल का अर्थ खुद मूलकार बताते हैं : सद्रूप अद्वय ही तत्त्व है, द्वैत अनृत है। जो कुछ दृश्य है वह सारा का सारा अनृत है, वही द्वैत है। अद्वितीय सत् को अज्ञान काल में द्वैतरूप से देखते हैं। अज्ञान में घड़ा है, कपड़ा है आदि सब चीज़ें 'है'रूप से देखते हैं और 'है' को विषयरूप से देखते हैं। अगर कोई कहे भी कि यह दीवार नहीं है तो हम बड़े जोर से कहेंगे कि वहाँ जाकर माथा पटको तो पता लगेगा कि दीवार है या नहीं! दृढ निश्चय है कि दृश्य है ही। अद्वितीय सत् और मिथ्या द्वैत, इनमें सत् को द्वैतरूप से देखते हैं और द्वैत को वास्तविक रूप से देखते हैं। अर्थात् दृश्य को वास्तविक समझते हैं। सत्-असत् दोनों की एकता जानते हैं। तत्त्वनिष्ठा से उसका अंतकाल हो जाता है अर्थात् द्वैत को सत् देखने और सत् को द्वैतरूप से देखने का अंतकाल हो जाता है। फिर कभी भी सत् को विषयरूप से नहीं देखता है और विषय को सद्रूप नहीं देखता है। वह अंतकाल किससे होता है? 'तद्भेदबुद्धिः एव' सत् ही है, द्वैत केवल प्रतीत होने वाली चीज़ है, है नहीं–यह जो सत्य और अनृत की भेद-बुद्धि है, इसे अंतकाल कहते हैं। शरीर का छूटना-मात्र ही अंतकाल नहीं

है! अंतकाल तो यह भेद-निश्चय है। शरीर के छूटने को भगवान् अंतकाल नहीं कह रहे हैं वरन् इस भेद-निश्चय को अंतकाल कह रहे हैं। अधिष्ठान-प्रमासे जो अध्यास की तुच्छता का निश्चय वह यहाँ 'भेदबुद्धि' कही जा रही है।

अन्योन्यैक्य अर्थात् अन्योन्याध्यास। दो चीज़ों का एक-दूसरे के रूप में प्रतीत होना अध्यास है। जो द्वैत सत्य नहीं है वह सत्य दीखता है और जो सत् अद्वितीय है वह सद्वय दीखता है। अध्यास की निवृत्ति, जिसमें कल्पित है उसके ज्ञान से होती है। द्वैत का अधिष्ठान आत्मस्वरूप ब्रह्म है इसलिये ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा ही इसकी निवृत्ति होती है। भेद-बुद्धि का मतलब यहाँ विवेक-बुद्धि ही नहीं लेना। विवेक तो वहाँ कहा जाता है जहाँ दो चीज़ों को अलग समझा जाये। यहाँ चीज तो एक ही है, दूसरी केवल कल्पित है। जैसे रस्सी में साँप दीखता है तो रस्सी और साँप का 'विवेक' वैसा नहीं है जैसा अरहर की दाल और खेसारी या चने की दाल का! वहाँ तो खेसारी या चने की दाल का दाना अलग कर देते हैं तो अरहर की दाल रह जाती है। जहाँ दो चीज़ें हों वहाँ विवेक करके चीज़ें अलग हो जाती हैं। परन्तु रस्सी और साँप के विवेक में रस्सी का ज्ञान होने पर साँप नाम की *चीज़* रहती ही नहीं। रस्सी को साँप से अलग किया—इसका मतलब है कि रस्सी ही है, साँप तीन काल में नहीं है। इसी प्रकार सत् के अन्दर जो द्वैत देखा वह तीन काल में नहीं—यह निश्चय सत् के ज्ञान से होता है। इसी को यहाँ भेद-बुद्धि कहा है। सत्य और असत्य की भेद-बुद्धि इस प्रकार नहीं होती कि असत्य कुछ है, बल्कि यह है कि असत्य तीन काल में नहीं है।।१०४।।

प्रश्न होता है कि अंतकाल का प्रसिद्ध रूढि अर्थ तो मरना ही है। वह अर्थ क्यों नहीं लेते? शास्त्रों का सिद्धान्त है कि रूढि की अपेक्षा यौगिक अर्थ कमजोर पड़ता है। अभी जो अंतकाल का अर्थ किया वह योगज (यौगिक) है क्योंकि द्वैत और अद्वैत की समझ के अंत को अंतकाल कहा है। रूढि अर्थ मरना ही यहाँ क्यों नहीं लेते? उत्तर में कहते हैं कि वह अर्थ भी लो तो कोई हर्जा नहीं है—

यद्वाऽन्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः।
तस्मिन् कालेऽपि न भ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः।। १०५।।

अथवा प्रसिद्ध होने से प्राण छूटना अन्तकाल समझें; विद्वान् की जा चुकी भ्रान्ति का मरते समय भी फिर आगमन नहीं होता।

लोक में अंतकाल शब्द का हमेशा मतलब मरना ही हुआ करता है। रूढि को यदि प्रसिद्धितः प्रधान मान लें तब प्राण का वियोग ही अंतकाल हो जायेगा। यदि ब्रह्मचर्य से ही किसी ने श्रवण, मनन की साधना में अपना जीवन व्यतीत किया है तब तो प्रायः उसे ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु बहुतों को उतना समय श्रवण, मनन का नहीं

मिलता क्योंकि जीवन के अन्तिम भाग में जाकर इस मार्ग में आते हैं। जीवन के अन्तिम भाग में भी जो इस मार्ग पर चलता है और मरते समय भी उसे ज्ञान हो जाता है तो उसका कल्याण है। ज्ञान में वैसी ही पूर्णता चाहिये परन्तु अंतकाल में जब अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति बनी और फिर व्यवहार न होने से अन्य कोई वृत्ति बनी नहीं तो एक बार बनी हुई अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से जो निश्चय होता है वह सारे संचित कर्मों का नाश कर देता है। यह भगवान् ने भी कहा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'। संचित कर्म ज्ञान होने के साथ ही नष्ट हो गये। आगामी कर्म हुए नहीं क्योंकि उसका अंतकाल है। अंतकाल होने से प्रारब्ध भी नहीं है। अज्ञान का पुनः उद्भव नहीं होता क्योंकि अनादि है। अज्ञान नष्ट हुआ वापिस नहीं आता। जिसका प्रारब्ध शेष है, उसे भी अज्ञान की संभावना नहीं फिर भी द्वैत भ्रमों के दौरान स्थिति कायम रखने के लिये संस्कार बनाना अपेक्षित था। अज्ञान तो उस समय भी नहीं परन्तु उसकी प्रतीति रहती है। जिसका तो प्रारब्ध भी समाप्त है, उसे द्वैत-प्रतीति नहीं होगी, अतः अंतकाल में भी एक बार हटा हुआ भ्रम फिर वापिस आ जाये यह नहीं हो सकता। शंका होती है कि यह तो दीर्घकाल के अभ्यास से होता है और मरणासन्न को दीर्घकाल का समय मिला नहीं तो वह मुक्त कैसे होगा? समाधान है कि उसे अभ्यास की अपेक्षा ही नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञान की दृढता के लिये अभ्यास ज़रूरी है, परन्तु ज्ञान अज्ञान को नष्ट करके अपना फल देता ही है और ज्ञान को प्रतिबद्ध करने का मौका यहाँ उपलब्ध है नहीं कि दृढता चाहिये रहे। भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि जब अंतकाल में होने पर भी उसके पुनः उद्भव की सम्भावना नहीं है तो फिर 'किमु वक्तव्यं ब्रह्मचर्याद् एव सन्न्यस्य यावज्जीवं यो ब्रह्मणि एव अवतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छतीति'। 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' वालों के लिये तो कहना ही क्या है।।१०५।।

जीवन् मुक्त की परिपक्व निष्ठा किसी हालत में डिगती नहीं यह समझाने के लिये कहते हैं कि शरीरादि की दृष्टि से आराम से मरे या तकलीफ से, मुक्त को कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अर्थात् जीवभाव या जगत्सत्यता का भ्रम असम्भव है—

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रान्तिर्न सर्वथा।।१०६।।

नीरोग, बैठा, रोगी, भूमि पर लोटता हुआ—चाहे जैसे वह प्राण छोड़े, उसे किसी तरह की भ्रान्ति नहीं रहती।

मरते समय नीरोग, बिलकुल स्वस्थ रहे तो लोग उसे अच्छी मृत्यु मानते हैं। अथवा प्राण-वियोग के पहले बैठा हुआ हो, अंतकाल में जमीन पर गोबर लीप कर, उसके ऊपर कुशासन बिछाकर स्नान आदि करके भस्म धारण करके फिर बैठ कर मूर्धा में प्राण का स्थापन करके ओंकार का उच्चारण करते हुए शरीर छोड़े तो लोग और भी अच्छी मृत्यु मानते

हैं। पुराने लोगों को पता होगा कि प्रायः मरने के पहले मरणासन्न व्यक्ति को बिस्तर से नीचे जमीन गोबर से लीप कर उस पर बिठाते थे, तब उसके प्राण छूटते थे। कभी कदाचित् बिस्तर में पड़े हुए शरीर छूट गया तो नारायणबलि से प्रायश्चित्त होता था। पुराने मरने वाले भी अपना अंतकाल आया पहचानते थे और साथ वाले भी समझते थे। अब दोनों ही इस मामले में नासमझ रहते हैं अतः यों बैठकर मरना दुर्लभ है। आजकल तो जब तक नाड़ी या सांस चल रही है तब तक सोचते हैं कि अभी जियेंगे। सांस तो मरने पर ही बन्द होगी। मुक्त इस प्रकार चाहे मरे या अत्यंत बीमारी की स्थिति हो, अत्यंत कष्ट की स्थिति में जमीन पर इधर से उधर लोट रहा हो तो भी निर्भ्रान्त रहता है। शरीर को ऐसा लोटते हुए देखकर, अत्यंत कष्ट में देखकर लोग सोचते हैं कि यह बहुत बुरी मृत्यु है। कई लोग लोटते नहीं, मूर्च्छित हो जाते हैं, बेहोश होकर 'कोमा' में चले जाते हैं। इन सब भिन्न-भिन्न प्रकारों से चाहे प्राण छूटें परन्तु तत्त्वज्ञ को कभी भ्रान्ति नहीं होती। पुनः यह भ्रम नहीं होता कि यह जगत् द्वैत सत्य है और ब्रह्म अद्वैत नहीं है। ऐसा लगे तब भ्रम है।

ज्ञान इस पर निर्भर नहीं करता कि तुम वृत्ति बनाते रहो। तुम्हें पता है कि तुम्हारा नाम देवदत्त है तो तुम हर समय घोखते नहीं रहते। तुम काम में खूब व्यस्त हो, एक के बाद एक अनेक चीज़ें आती रहें, जैसे ही कोई आवाज देता है 'देवदत्त', तो क्या सोचना पड़ता है कि 'क्या मेरा नाम देवदत्त है', या सुनते ही तुरन्त मालूम रहता है कि मैं देवदत्त हूँ? 'मैं देवदत्त हूँ' यह ज्ञान बना रहने के लिये वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता। ज्ञान तो वृत्ति से हुआ, इसका मना नहीं कर रहे, लेकिन ज्ञान होने के बाद वह वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय होने के बाद वृत्ति नहीं चाहिये। श्रवण-मनन-निदिध्यासन पूर्ण होने पर, निश्चित ज्ञान होता है। एक ज्ञान बिजली के पलकारे की तरह होता है जो स्थिर नहीं होता। कई बार ऐसा होता है कि बच्चे से किसी सवाल का जवाब पूछो तो वह ठीक जवाब देता है लेकिन अन्दर ही अन्दर सोचता है कि 'कहीं जवाब गलत तो नहीं है', क्योंकि जवाब ठीक देने पर भी निश्चय नहीं है। परन्तु जिसका निश्चय हो जाता है उसे फिर दोहराने की ज़रूरत नहीं होती। एक अध्यापक ने एक लड़के से कहा 'अपनी किताब दिखाओ, उसमें से तुमसे कुछ पूछते हैं।' उसने अपनी किताब दे दी जिसमें चालीस पन्ने गायब थे। अध्यापक ने पूछा 'इतने पन्ने कहाँ हैं?' उसने कहा 'इसमें से निकले हुए चालीस पन्ने वे हैं जो आपने पढ़ाये थे; वे सब तो मुझे याद हो गये, इसलिये वे फाड़कर निकाल लिये, सोचा बेकार बोझा ढोने से क्या फायदा'। अध्यापक ने पूछा तो वह सब उसे ठीक याद था। जब निश्चित याद हो जाता है तो पन्ना फाड़कर फेंक देते हैं। अन्यथा परीक्षा के हॉल में जाते समय तक भी किताब में देखते रहते हैं। ज्ञान के निश्चय का मतलब है कि जिसके बारे में हमको सोचना या देखना न पड़े। जब तक फिर देखना पड़ता है, तब तक उसे निश्चय नहीं कहते। श्रीकृष्ण की भाषा में निश्चय को विज्ञान कहते हैं 'ज्ञानं

विज्ञानसहितम्'। ज्ञान अर्थात् शास्त्र से पढ़ा हुआ और विज्ञान अर्थात् अनुभव में आ चुका। जब निश्चय, अनुभव होता है तब फिर कभी भ्रम नहीं होता।

जो इस प्रकार ब्रह्मस्थिति में है वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है। अन्यथा तो फिर उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति बताई है। अगर थोड़ी भी कमी रह गई तो ब्रह्मलोक में रहकर ज्ञान की दृढता हो जायेगी। परन्तु जिसकी ब्रह्मस्थिति हो गई उसको कभी भ्रम होता ही नहीं। एक बार दृढ ज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद वह ज्ञान अंतःकरण की वृत्ति के ऊपर निर्भर नहीं करता। ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही प्रमाण और साधनों की अपेक्षा होती है। घड़ा देखने के लिये प्रकाश चाहिये, आँख चाहिये, अंतःकरण चाहिये, संस्कार चाहिये। ये सब हों तब 'यह घड़ा है' यह ज्ञान हो। आँख नहीं है तो, प्रकाश नहीं है तो, घड़े का संस्कार नहीं है तो भी घड़ा—ऐसा ज्ञान नहीं होगा; यह कुछ है—केवल इतना ही होकर रह जायेगा। अंतःकरण दूसरी तरफ लगा हुआ है तब भी ज्ञान नहीं होगा। ये सब चीज़ें इकट्ठी करने की ज़रूरत है, तब घटज्ञान होगा। परन्तु घटज्ञान होने के बाद वह फिर किसी पर निर्भर नहीं है। प्रकाश पर भी निर्भर नहीं, हम अंधे हो गये तो भी ज्ञान बना ही रहेगा। फिर वह ज्ञान साधन पर निर्भर नहीं होगा। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होने के लिये प्रमाण और वेद की जरूरत है। जैसे घड़े के ज्ञान के लिये आँख चाहिये वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बात को जानने के लिये वेद चाहिये क्योंकि इस ज्ञान में वेद ही प्रमाण है। मन चाहिये, वह मन भी एकाग्र और समाहित होना चाहिये। वेद में श्रद्धा भी होनी चाहिये। चित्त मलदोष से रहित भी होना चाहिये। तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थ को बताने वाले वाक्यों का संस्कार भी चाहिये। ये सभी होंगे तब 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होगा। अगर अंतःकरण में मलदोष के कारण अशुद्ध संस्कार पड़े हुए हैं तब भी मन में धुंधलापन होता है, इसलिये ज्ञान नहीं होगा। तप, तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा अंतःकरण को शुद्ध करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि मन में कामनायें हैं तो अंतःकरण परमात्मा में एकाग्र नहीं हो पायेगा। अतः योग आदि के अभ्यास से अंतःकरण समाहित करना भी ज़रूरी है। समाहित दोनों प्रकार से होता है। एक तो योग आदि का अभ्यास, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि; और दूसरे, ईश्वर-प्रणिधान, अर्थात् सभी प्रकार से चीज़ें ईश्वरार्पण करने से भी समाधि सिद्ध होती है। दोनों साधनों में से जिस साधन से हो सके उससे मन समाहित करे। वेदांत के उपक्रम उपसंहार आदि लिंगों के द्वारा बार-बार तात्पर्यनिश्चय करने तथा तत् और त्वं पदार्थों के शोधन की ज़रूरत होती है। सब चीज़ें होने पर जैसे ही गुरु 'तत्त्वमसि' वाक्य कहता है वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। फिर भी चूँकि अंतःकरणमें अनादि काल के संस्कार हैं इसलिये संशय आ जाते हैं। उन संशय आदि को हटाना भी ज़रूरी है। जब संशयरहित ज्ञान हो जाता है तब पुरानी वासनाओं की जगह नई वासनाओं को लाना पड़ता है। पुरानी वासनायें जैसे 'मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं काला, मैं गोरा, मैं मूर्ख, मैं पण्डित' आदि सब

पुरानी वासनायें हैं। उन पुरानी वासनाओं की जगह अंतःकरण को इस प्रकार की वासनाओं से युक्त करना पड़ेगा कि मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ। जब यह वासना दृढ हो गई तब वह ज्ञान हिलता नहीं। फिर चाहे शरीर रोगी हो, स्वस्थ हो, शरीर के रोग के कारण मन विलख रहा हो, मूर्च्छित हो जाये, ब्रह्मात्मनिश्चय में अंतर नहीं आता। जैसा कि किसी ने लिखा है, अंतकाल में वात, पित्त और कफ तीनों धातु प्रकुपित हो जाते हैं तो 'कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते' कण्ठ से भी तुम कुछ नहीं बोल सकते, केवल घर्र-घर्र की आवाज आती है। उस समय किसी चीज़ का स्मरण करना चाहो तो नहीं होता; परन्तु उस समय भी तत्त्वनिष्ठका 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान तो रहेगा ही। ठीक जिस प्रकार किसी तड़पते हुए से पूछो कि 'तू पुरुष है या स्त्री?' तो बिलखते हुए भी कहेगा कि 'हूँ तो मैं पुरुष ही' जबकि वह और कुछ भी स्मरण नहीं कर पाता। इसलिये दृढ निश्चयरूप ज्ञान स्मरण के अधीन नहीं है। जैसे 'मैं पुरुष हूँ' इस विषय में कभी विस्मरण नहीं होता इसी प्रकार ज्ञान की दृढता में 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका कभी विस्मरण नहीं हो सकता।।**१०६**।।

बेहोशी आदि से ज्ञान नष्ट नहीं होता। इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम्।
परेद्युर्नानधीतः स्यात् तद्वद् विद्या न नश्यति।।१०७।।

प्रतिदिन सपना देखते और गहरी नींद लेते समय पढ़ा हुआ भूलने पर भी अगले दिन ऐसा नहीं हो जाता कि पढ़ा न हो! इसी तरह ब्रह्मविद्या नष्ट नहीं होती।

यदि कोई मूर्च्छा या कोमा में चला गया तब तो उसे पता नहीं कि मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ। ऐसे, प्राणत्याग काल में यदि मूर्च्छा आ जाये तब तो ज्ञानी भी अज्ञान में लीन रहता ही मर गया अतः उसका जन्म भी हो जाना चाहिये? इसके उत्तर में कहते हैं : प्रतिदिन जो वेद का अध्ययन या स्वाध्याय कर, फिर स्वप्न में या गहरी नींद में गये तो स्वप्न में या गहरी नींद में याद नहीं रहता कि क्या पढ़ रखा है, लेकिन इतने मात्र से न वह न पढ़ा रह गया और न उसे भूला ही कहना बनता है। इसी प्रकार मूर्च्छा में विस्मृति है। अगले दिन जब तमोगुण की समाप्ति से या जाग्रत्-प्रारब्ध के उदय से उठते हो अर्थात् स्वप्न-सुषुप्ति की निवृत्ति हो जाने पर, या मूर्च्छा से होश में आते हो तब ऐसा नहीं होता कि क्या पढ़ा—यह विस्मृत हो चुका हो! उठने पर प्रायः याद आ ही जाता है। ठीक इसी प्रकार मरण-काल की मूर्च्छा में चाहे अपनी ब्रह्मरूपता का पता नहीं, परन्तु जैसे ज्ञानी को सोकर उठने पर ब्रह्मरूपता का ही स्मरण आता है वैसे मृत्यु के साथ ही प्रारब्ध समाप्त हो चुकने से ब्रह्मस्थिति ही रहती है। अप्रतिबद्ध ज्ञान की प्रारब्ध से इतर कोई उपाधि नहीं है जो भेददर्शन कराये। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' श्रुति कहती है कि वह पहले ही ब्रह्मरूप है। अंतःकरण, प्रारब्ध आदि के स्थित रहने के कारण ब्रह्म से अतिरिक्त प्रतीति थी, मरण-काल में वह

प्रतीति नष्ट हो गई इसलिये ब्रह्मस्वरूप जस का तस रह जाता है। यदि किसी कारण से मूर्च्छित हो गया तो जब मूर्च्छा खत्म होगी तब वह अपने स्वरूप में स्थित रहता ही है। यह विद्वदनुभव से स्पष्ट है।।१०७।।

कोई भी ज्ञान कैसे नष्ट होता है? बताते हैं–

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना।
न नश्यति; न वेदान्तात् प्रबलं मानमीक्ष्यते।। १०८।।

प्रमाणजन्य ज्ञान प्रबलतर विरोधी प्रमाण के बिना नष्ट नहीं होता और वेदान्त से प्रबलतर प्रमाण उपलब्ध नहीं।

ज्ञान के नष्ट होने का कारण तदपेक्षया प्रबल प्रमाण है। प्रमाण तो सारे प्रबल ही होते हैं, फिर प्रबल प्रमाण का मतलब क्या है? जब किसी विषय के बारे में प्रमाण ज्ञान कराता है तब जो अपना विषय नहीं है उसके बारे में भी कई बार ज्ञान हो जाता है। रसगुल्ले की मिठास जीभ से पता लगती है, नींबू की खटास जीभ से पता लगती है। जीभ ही बतायेगी कि नींबू खट्टा है। इसलिये अपने-अपने विषय के बारे में ये इन्द्रियाँ प्रबल प्रमाण हैं। परन्तु बाजार में जाकर रसगुल्ला आँख से देखकर खरीद लेते हैं और प्रायः वह रसगुल्ला ही निकलता है। आँख से जिसे देखा वह रसगुल्ला या रसवाला ही निकला, आँख के देखने से ठीक पता लगा कि 'यह रस वाला रसगुल्ला है'। लेकिन इससे प्रबल प्रमाण जीभ है। जब जीभ पर डालो तब वह नमकीन निकले तो आँख से दीखे की काट हो जाती है, 'यह रसगुल्ला है' यह ज्ञान नष्ट हो जाता है क्योंकि जीभ स्व-विषय में प्रबल प्रमाण है। इसी प्रकार नींबू की गन्ध से अर्थात् घ्राण से सूँघो तो मुँह में झट पानी आ जाता है। गन्ध कह रही है कि यह खट्टा नींबू है। एक फलविशेष ऐसा होता है जो गन्ध भी नींबू की तरह देता है लेकिन जब उसे काटकर निचोड़ते हैं तो उसमें से मुश्किल से एक-दो बूँदें निकलती हैं। उस नींबू का प्रयोग खट्टा बनाने के लिये नहीं होता, उसकी फाँक काट कर तेल आदि में डाल देते हैं तो उसकी खुशबू खूब आती है। जहाँ गन्ध से ज्ञान हुआ कि यह खट्टा है पर जब निचोड़कर चखा तो खट्टा नहीं है वहाँ घ्राण से प्रबल प्रमाण जीभ से उसका बाध हो जाता है। इस तरह प्रबल प्रमाण के द्वारा निर्बल प्रमाण का बाध होता है। इसका मतलब है कि जो जिस विषय में प्रमाण है वह उसी के बारे में प्रबल होता है, दूसरे के बारे में प्रबल नहीं होता, व्यावहारिक भले ही हो जाता है।

इसी प्रकार शरीर आदि में रहते हुए 'शरीर मैं हूँ' यह ज्ञान होता ही है। इसलिये अगर अशुद्ध व्यक्ति छूकर चला जाये तो तुमको यही बोध होता है कि 'इस समय मैं अस्पृश्य हूँ'। वैसे ही शरीर ब्राह्मण है तो लगता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ'। ये दोनों बातें शरीर को मैं मानकर ही हैं। निश्चित ज्ञान रहता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ'। इसी प्रकार कोई आकर कहता

है कि 'मेरी पत्नी अत्यंत बुरे स्वभाव की है, बच्चे कहना ही नहीं मानते, मैं तो दुःखी हो गया हूँ।' उससे कहते हैं कि इससे तो तुम्हारा मन दुःखी हो सकता है तू तो दुःखी नहीं हुआ। वह कहेगा 'घर में जब अशांति है तो मैं ही दुःखी हूँ, और कौन दुःखी है? मुझे निश्चित ज्ञान है कि मैं दुःखी हूँ'। विचार करो कि 'मैं' के विषय में कोई भी दृश्य पदार्थ कैसे प्रमाण हो सकता है! मैं द्रष्टा हूँ, दृश्य तो हूँ नहीं; जो द्रष्टा है वह दृश्य नहीं होता, यह तो बड़ी सीधी-सी बात है। फिर भी तुम मैं के बारे में केवल दृश्य पदार्थ को प्रमाण दे रहे हो। तुम्हारा अनुभव बड़ा पक्का है, इसमें हमें कोई संदेह नहीं है। परन्तु, पक्का अनुभव होने पर भी *प्रामाणिक* नहीं है क्योंकि वह 'मैं' को तो बताता नहीं है।

'मैं' के बारे में बताने वाला एकमात्र वेद है। उसमें बताया है कि तुम कौन हो। वेद बड़ी विचित्र बात कहता है : तुम कौन हो? सारे संसार को पैदा करने वाले, इसकी रक्षा करने वाले और इसका संहार करने वाले तुम हो। यह वाक्य सुनकर ही आदमी को बड़ा अचम्भा होता है। हमने तो कुछ पैदा नहीं किया। पिताजी ज़रूर मकान बना गये। वे दुकान से पैसा लाते थे, हम वह दुकान भी नहीं चला पाये। सृष्टि-स्थिति-लय तो बहुत दूर की बात है, बना हुआ ही नहीं रख पाये। वेद भले ही कहता है, परन्तु यह बात कैसे जँचे? विदेशियों के प्रभाव में आये बहुत से लोग कहते हैं 'वेद तो गडरियों के गीत हैं, ऋषि लोग नशे में बक देते थे। नशे में ही कह दिया 'तू ब्रह्म है' यह बिलकुल बेकार बात है।' यदि वेद में श्रद्धा नहीं है तो यही मान लोगे कि जीव-ईश्वर को एक कोई नशे वाला ही कह सकता है। जिसे वेद में अत्यंत श्रद्धा होगी वही आगे विचार करेगा कि वेद अपौरुषेय वाणी है, इसको समझने का प्रयत्न करना पड़ेगा। श्रद्धा होगी तभी आगे वेदार्थ-विचार में प्रवृत्ति होगी और तब जाकर इस वाक्य का अर्थ समझ में आयेगा कि मैं कैसे सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला हूँ। द्रष्टा के बारे में सिवाय वेद के और कोई प्रमाण नहीं है। श्रद्धापूर्वक, चित्त समाहित करके, उपक्रम-उपसंहार आदि के द्वारा जब बार-बार विचार करोगे तब जाकर यह समझ में आयेगा कि द्रष्टा का क्या स्वरूप है।

द्रष्टा के बारे में प्रमाण जो वेद है उसके द्वारा यह ज्ञान उत्पन्न हुआ 'मैं ब्रह्म हूँ' और द्रष्टा के बारे में वेद के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रबल प्रमाण है नहीं। क्योंकि बाकी जितने प्रमाण हैं वे सारे दृश्य के बारे में ही हैं, द्रष्टा के बारे में नहीं। इसलिये आत्मा के बारे में यही प्रबल प्रमाण है। एकमात्र आत्मस्वरूप को बताने का काम केवल वेद का ही है। इसलिये वेदरूप निर्दोष प्रबल प्रमाण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह नष्ट नहीं होता। ठीक जैसे गन्ध से यह ज्ञान हुआ कि यह नींबू खट्टा है, परन्तु प्रबल प्रमाण जीभ के द्वारा वह कट गया, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान वेद प्रमाण से उत्पन्न होकर पहले जो शरीर आदि में 'मैं'-बुद्धि थी, उसको काट देगा क्योंकि वह 'मैं' सारा का सारा दृश्यों को लेकर बन रहा था। यह प्रबल प्रमाण बना क्योंकि द्रष्टा को ही बताता है, दृश्य उपाधिका बाध करके

निरुपाधि द्रष्टा का अज्ञान मिटाता है। इससे ज़्यादा प्रबल प्रमाण और कोई दूसरा नहीं है।।१०८।।

प्रमाण का प्रभाव निर्णीत होने पर पूर्वदर्शित युक्ति एवं विद्वदनुभव के आधार पर इस प्रकरण का अभिप्राय उपसंहत करते हैं–

तस्माद् वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते।
अन्तकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता।। १०६।।

।।इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पंचदश्यां महाभूतविवेकाख्यं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।।

इसलिये वेदान्तों से भली भाँति सिद्ध सद्रूप अद्वैत अन्तकाल में भी बाधित नहीं होता अतः भूतविवेक (नामक इस प्रकरण में कहे अनुसार सही निश्चय पाने) से परमानन्द की ही स्थिति रहती है।

चूँकि वेदान्त से प्रबल और कोई प्रमाण नहीं है इसलिये आत्मविषयक ज्ञान तभी नष्ट होगा जब उस प्रबल प्रमाण से ज्ञान उत्पन्न हो। सद्रूप परमात्मा अद्वितीय है यह वेदान्त अर्थात् उपनिषदों से सम्यक् सिद्ध है। कई बार वेद के अन्दर अर्थवाद आदि आ जाते हैं। विचार करके देखते हैं तो वे अर्थवाद किसी चीज़ को सिद्ध करने के लिये नहीं वरन् किसी विधि को बताने के लिये ही हैं। इसी तरह कुछ लोग समझ लेते हैं कि जीव की प्रशंसा करने के लिये उसे ब्रह्म वेद ने कह दिया है। अतः कहा कि यह वेदांतसिद्ध ही नहीं वरन् 'भली प्रकार से' अर्थात् श्रवण-मनन आदि के द्वारा ऊहापोह से निर्णीत अर्थ है, संसिद्ध अर्थ है कि सत् अर्थात् ब्रह्म अद्वैत ही है, उसका बाध नहीं होता। अतः एक बार ज्ञान होने के बाद उसका बाध करने वाला और कोई प्रमाण अंतकाल में भी कहाँ से आयेगा! विचार के शुरू में वेदांत का विचार करके सिद्ध होता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', परन्तु जब बड़े जोर से सिर दुखने लगे, तो लगता है कि मैं शरीर हूँ, मैं दुःखी हूँ। फिर श्रवण-मनन से विचार करना पड़ता है कि क्या मैं सचमुच में दुःखी हो सकता हूँ? जब तक ज्ञान दृढ नहीं हुआ है तब तक जब शरीर या मन कहता है 'मैं दुःखी हूँ' तब उसकी बात में आ जाते हैं कि 'मैं दुःखी हूँ'। ऐसा होता है, तब तक समझ लो कि अभी पक्का पाठ याद नहीं हुआ है। जब पक्का पाठ याद हो जायेगा तब शरीर चाहे तेल के कढ़ाये में तला जाये तो भी यह अद्वैत ज्ञान नहीं जायेगा! उत्तरकाशी में एक अवधूत जी भिक्षा के लिये जाते समय तेजोबिन्दु उपनिषद् का पाठ करते जाते थे। उन्हीं दिनों एक बहुत अच्छे विद्वान् दयानन्द जी काशी से पढ़कर आये थे। दयानन्द जी ने अवधूत जी की किसी बात में दोष दिखाया। उन्होंने समझाया। दयानंद जी ने उसमें फिर दोष निकाला, उन्होंने फिर समझाया। इस प्रकार तीन-चार कोटि तक विचार चला। अंत में अवधूत जी ने दयानन्द से कहा 'तू नया पंडित है, इसलिये

कोई-न-कोई शंका उठाता रहेगा; मैं कब तक जवाब देता रहूँगा! परन्तु इतना कह सकता हूँ कि मेरे शरीर की कोई बोटी-बोटी भी काटे तब भी मेरा यह अनुभव नहीं जायेगा। तू युक्ति की बात कहता है तो स्वाभाविक है कि मैं किसी युक्ति का जवाब नहीं भी दे सकूँ लेकिन अगर तू यथाशास्त्र समझ लेगा तो तुझे अनुभव होगा, अन्यथा तर्क ही करता रह जायेगा।' 'मैं ब्रह्म हूँ' यह पक्का अनुभव शरीर के तड़पते हुए भी नहीं हट सकता। इसलिये ज्ञान हो जाने पर मरने के समय भी शरीर में चाहे जितना कष्ट हो, मन में चाहे जितना दुःख हो, परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव को हटा कर 'मैं शरीर-मन हूँ' ऐसा कभी नहीं आ सकता। अंतकाल में बहुत दुःख होता है, हज़ार बिच्छू काटें इतना दुःख होता है। यदि ज्ञान थोड़ा भी कच्चा होगा तो उस समय 'मैं शरीर हूँ' यह बुद्धि हो सकती है। ज्ञान यदि दृढ होगा तो वैसी बुद्धि नहीं हो सकती। जब अंतकाल में भी ऐसा है तो जीवित काल में बाकी दुःखों से अप्रभावित रहने में कहना ही क्या। इस अध्याय में जो पंचमहाभूतों का विवेक बताया, इसके बल पर सद् अद्वैत में स्थिर बुद्धि वाला पुरुष जीवित काल में ही मोक्ष में स्थित रहता है।।१०६।।

इस प्रकार यह 'भूतविवेक' नामक द्वितीय प्रकरण पूरा हुआ।

तृतीय
पंचकोशविवेक प्रकरण

पहले प्रकरण में तत्त्वविवेक से बताया था कि एक सत् ही कैसे अखण्ड है। देश-काल आदि जिसे परिच्छिन्न नहीं कर सकते, उस तत्त्व को बताया। फिर समझाया कि उस सत् से ही पंचमहाभूत कैसे उत्पन्न हुए और इनके अन्दर सत् ब्रह्म को कैसे देखा जाये। यह दूसरे प्रकरण में बताया कि सारे संसार के साथ व्यवहार करते हुए सारे पदार्थों में सत् का ध्यान रखो, उसके नाम-रूप की तरफ ध्यान मत दो। संसार के पदार्थों से भी ज़्यादा दुःख देने वाले जो शरीर-मन हैं उनका अब विश्लेषण करेंगे। बाकी पदार्थ थोड़ा-बहुत दुःख देते हैं, परन्तु शरीर या मन में दुःख होता है तो सहन करना ज़्यादा मुश्किल होता है। चारों तरफ अदालत के फैसले भी गलत आ रहे हैं, पुलिस वाले भी गलत आदमियों को पकड़ रहे हैं, यह सब बाँच कर दुःख होता है कि देश की क्या हालत है। परन्तु जब पुलिस अपने को पकड़कर ले जायेगी तब लगता है कि 'मैं फँस गया'। इसलिये महाभूतों के विवेक को करके पंचकोश-विवेक करते हैं कि ये शरीर आदि भी मैं कैसे नहीं हूँ। जैसे भूतों में सद्रूप ब्रह्म है वैसे ही चिद्रूप ब्रह्म शरीर-मन में है। जैसे सत् के बारे में नाम-रूप भ्रम हैं वैसे चित् के बारे में भी वे सब विशेष भ्रम ही हैं। है तो सत् पारमार्थिक, परन्तु लग रहा है कि नाम-रूप हैं। नाम-रूप नहीं हैं—ऐसा नहीं लगता और 'है' नाम-रूप वाला लगता है। इसी प्रकार से चित्, चेतन, ज्ञान या 'मैं' इन पाँच कोशों से एक लगता है, ये पंचकोश 'मैं हूँ' लगते हैं। इसलिये पंचकोश का विवेक करना ज़रूरी है कि इन पाँच कोशों से सर्वथा अलग ज्ञान समझें जो सद्रूप से एक है। प्रश्न हो सकता है कि पहले महाभूतप्रकरण क्यों रखा? इसलिये कि ये पाँचों कोश भौतिक हैं, पंचमहाभूतों से बने हैं। भूतों का विवेक करने पर पंचकोशों का विवेक वैसे ही सिद्ध हो गया, फिर भी ये कोश विशेष प्रकार के भूत होने से इनमें आत्मा का भ्रम दृढ होता है। चार्वाक तो शरीर को ही आत्मा मानते हैं कि शरीर ही मैं हूँ। आस्तिक लोग शरीर को मैं नहीं मानते परन्तु शरीर से जाने-आने वाला पुर्यष्टक मैं हूँ—ऐसा मानते हैं। इसलिये भूतविवेक के बिना पंचकोश-विवेक पूरी तरह से नहीं हो सकता था, इसलिये पंचभूत-विवेक के बाद पंचकोश-विवेक बताना प्रारंभ करते हैं—

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पंचकोशविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते।। १।।

जो ब्रह्म हृदय-गुहा में निहित है वह पाँचों कोशों के विवेक से समझा जा सकता है, इसलिये इन कोशों को आत्मा से पृथक् समझाते हैं।

जैसे पंचमहाभूत का विवेक छांदोग्य उपनिषद् के आधार पर किया था, वैसे ही पंचकोशों का विवेक कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय उपनिषद् के आधार पर करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर पहले ब्रह्म का स्वरूप बता दिया। जैसे छांदोग्य उपनिषद् में 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' के द्वारा ब्रह्म का रूप बताया था, फिर उससे जगत् उत्पन्न हुआ, यह बताया था, इसी प्रकार यहाँ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' से ब्रह्म का स्वरूप सत्य ज्ञान अनंत बता दिया। वह ब्रह्म कहाँ है? 'यो वेद निहितं गुहायां' गुफा में छिपा हुआ है। 'परमे व्योमन्' आकाश से भी जो परम व्योम (आकाश) है उसमें निहित है। आगे फिर पंचकोशों की उत्पत्ति बताई। जिस गुफा में छिपा हुआ ब्रह्म है वह गुफा कौन-सी है? उसे विद्यारण्य स्वामी अगले श्लोक में खुद बतायेंगे। श्रुति में कहा कि गुहा में निहित है लेकिन यहाँ कहेंगे कि ये गुहायें एक-दूसरे में हैं। पंचकोशों को बताकर फिर एक-एक करके उनका अतिक्रमण करना बतायेंगे। दूसरे प्रकरण में, जो सारे जगत् का कारण ब्रह्म है उसे बताया और अब जो ब्रह्म गुहा में आया हुआ है, उसे बता रहे हैं। सर्वव्यापक रहते हुए ही वह इस हृदय गुहा में 'आ गया' ठीक जिस प्रकार से काँच के अन्दर तुम्हारा मुँह 'चला जाता' है। मुँह नहीं आता है, परन्तु वैसा ही वह मुँह दिखाई देता है जैसा तुम्हारे धड़ पर है। आजकल कानून बना दिया है कि बैंक में खाता खोलते समय, मकान आदि की रजिस्ट्री कराते समय तुम्हारी फोटो चाहिये। पहले ये सारे काम हस्ताक्षरों से ही हो जाते थे लेकिन अब कहते हैं कि फोटो चाहिये जिससे पता लगे कि यह तुम हो। जैसा तुम्हारा मुँह है, वैसा ही फोटो में आ जाता है तो तुम झट पहचाने जाते हो। पहचान के लिये ही फोटो लगाते हैं। तुम तो फोटो में नहीं गये, परन्तु फोटो ठीक तुम्हारे जैसी ही है। इसी प्रकार हर गुहा के अन्दर ब्रह्म की फोटो है। वह ब्रह्म रहते हुए ही हर-एक के अन्दर प्रतिबिम्बरूप से आ गया जैसे काँच के अन्दर मुँह का प्रतिबिम्ब आ गया। सबके अन्दर चेतन ब्रह्म के जैसा ही है इसलिये वहाँ ब्रह्म को पहचान सकते हैं। ब्रह्म तो सर्वत्र है, परन्तु इस गुहा में उसकी पहचान हो जाती है, केवल इतनी ही बात है। यहाँ कुछ दिन पहले मतदाता पहचानपत्र के लिये फोटो खींचने वाला कैमरा लाया था, उसने हम सबके फोटो लिये। पहचानपत्र बनकर आये। फोटो से पता ही नहीं लगता कि वह किसकी फोटो है! पता लगा कि जितनों के फोटो लिये, सबमें ही ऐसा था कि पता नहीं लगे कि फोटो किसकी है। इसी तरह यदि दर्पण ठीक नहीं है तो प्रतिबिम्ब से ठीक ज्ञान नहीं होगा। इसी प्रकार यदि हमारी हृदय गुहा साफ नहीं हो गई तो भले ही वहाँ है वह ब्रह्म ही, दीख ब्रह्म ही रहा है, लेकिन रागी, क्रोधी, मोही, लोभी दीखने से तुम पहचान नहीं सकते कि ब्रह्म कामनारहित, लोभरहित है। काम, क्रोध आदि से अस्पृष्ट रहता हुआ भी गलत काँच के कारण कामी, क्रोधी, लोभी दीख रहा है। परन्तु पहचान वहीं करनी पड़ेगी। जितने दाग लगे हुए दीख रहे हैं, ये सारे हटाओगे तभी पता लगेगा, नहीं तो पता नहीं लगेगा। ब्रह्म स्वयं तो कोशों से रहित है, पर उन्हीं में उसे जान सकते हैं, पहचान सकते हैं। इसलिये कोशपंचक का

प्रकर्ष से विवेक करना ज़रूरी है अर्थात् प्रत्यगात्मा से खूब भली प्रकार से अलग करके जानना ज़रूरी है। प्रतिबिम्ब के अन्दर काँच के दाग भी दीखेंगे और हमारा मुँह भी दीखेगा। काँच साफ होगा तो मुख साफ दीखेगा परन्तु विवेक ज़रूरी ही रहेगा। तुम्हें जो मुँह दीखेगा वह पश्चिम की तरफ देख रहा होगा जब कि तुम्हारा मुँह (बिम्ब) पूर्व की तरफ देख रहा है। तुम्हारा दायाँ हाथ उसका बायाँ हाथ होगा। चाहे जितना बढ़िया और साफ बैल्जियम का काँच ले आओ, फिर भी तुम पूर्व की तरफ देख रहे होगे तो प्रतिबिम्ब पश्चिम की तरफ देख रहा होगा। तुम दाहिना हाथ उठाओगे, वह बायाँ हाथ उठायेगा। इतना फ़र्क रहेगा ही जिसे विवेक से समझकर ही अलग करना पड़ेगा। केवल दोष-रहित होने मात्र से तुम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकोगे, इसके लिये विवेक-पूर्वक पदार्थ समझकर तत्त्वमसि आदि वाक्यार्थ ही जानना पड़ेगा।। १।।

गुफा में छिपे हुए ब्रह्म को बताने की प्रतिज्ञा की थी, वह जिस गुफा में छिपा हुआ है उसी गुहा को बताते हैं—

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्त्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा।। २।।

देह से भीतरी है प्राण, प्राण से भीतरी मन है, उससे कर्त्ता और उससे भी भोक्ता—पाँच की यह परंपरा 'गुहा' (गुफा) है।

किस प्रकार गुफा में छिपा हुआ है? सबसे पहले बताया कि वह देहरूप गुफा में छिपा हुआ है। यह पहला विवेक बड़ा कठिन है क्योंकि सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि भगवान् के दर्शन किसी पहाड़ के ऊपर, कहीं पानी के अन्दर, किसी स्थल-विशेष में, किसी काल-विशेष में होते हैं। कितना घोर परिश्रम करके लोग केदारनाथ, बद्रीनाथ, सोमनाथ जाते हैं जहाँ भगवान् के दर्शन होंगे। इसी प्रकार मरकर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक, गोलोक आदि जायेंगे तब भगवान् के दर्शन होंगे। सर्वत्र मान्यता है कि भगवान् कहीं बाहर है जहाँ दर्शन होंगे। लेकिन श्रुति कह रही है कि भगवान् तो शरीर में हैं, देहरूप गुफा में हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शरीर के बाहर नहीं हैं। महाभूत-विवेक प्रकरण में बता आये हैं कि सद्रूप से भगवान् सर्वत्र हैं। मन्दिर में जाओ, पहाड़ पर जाओ, भगवान् सर्वत्र सद्रूप में, 'है' इस रूप में मिलेंगे। परन्तु उसका जो सत् के साथ चिद्रूप एवं आनन्दरूप है, वह शरीर से अन्यत्र नहीं मिलेगा। ठीक जिस प्रकार से सूर्यग्रहण लगता है तो चिकित्सक (वैज्ञानिक) लोग कहते हैं कि सूर्यग्रहण को सीधा (नंगी आँखों से) मत देखना, आँखों पर खराब असर आयेगा। देखने की इच्छा हो तो उसे एक काले काँच के अन्दर देखना। ग्रहण क्या काले काँच में ही लगा है? वह तो सर्वत्र लगा हुआ है। जो प्रकाश आ रहा है वह सारा सूर्य से आ रहा है। ग्रहण लगे ही सूर्य से सारा प्रकाश आ रहा है परन्तु सूर्य चौथाई, आधा, या पूर्ण ग्रस्त है—इस प्रकार सूर्य का यथार्थ दर्शन करना है तो काँच में ही देखना उचित है। प्रकाश की कमी तो सर्वत्र दीखती है परन्तु सूर्य कितना ढका है यह काँच में ही दीखता है। इसी प्रकार 'है'रूप से ब्रह्म तो सर्वत्र मौजूद है। 'है'रूपसे मौजूद कहने का मतलब यह नहीं समझ

लेना कि उसके कोई दो-तीन रूप हैं! उसका तो एक ही अखंडरूप है। यह पहले ही तत्त्वविवेक प्रकरण में भी बता आये हैं। सद्रूप से सर्वत्र प्रकट है, परन्तु चिद्रूप और आनन्दरूप अन्यत्र प्रकट नहीं इसलिये समझे नहीं जा सकते। प्रकाश में गर्मी भी होती है और रोशनी भी होती है। जहाँ-जहाँ प्रकाश होगा वहाँ-वहाँ कुछ गर्मी भी होगी ही। परन्तु काँच के अन्दर प्रकाश जगमगा कर दीखेगा। दूसरे पत्थर में वैसा नहीं दीखेगा, प्रकाश तो दीखेगा लेकिन चकाचौंध करता नहीं दीखेगा। इसी प्रकार सर्वत्र ब्रह्म मौजूद है और वही चिद्-आनन्दरूप है, परन्तु वे अन्यत्र स्पष्ट नहीं दीखते, अपने शरीर में चेतन स्पष्ट दीखता है कि 'मैं चेतन हूँ, मैं जानने वाला हूँ;' इस रूप में प्राणिमात्र को प्रतीति होती है। मैला उठाने वाला भी जानता है कि 'मैं चेतन हूँ'। अपनी चेतनता को जानने के लिये तुमको कुछ करना नहीं पड़ता। मैं चेतन हूँ यह स्वाभाविक, नैसर्गिक अनुभूति सबको है ही। यहाँ चिद्रूप का भी पता लग जाता है और प्रिय के रूप में आनंद का भी। चेतनरूपता हमेशा अपने में भासती रहेगी, आनन्दरूपता किसी विशिष्ट परिस्थिति में प्रतीत होती है।

परमात्मा की सच्चिदानन्दरूपता को जानने के लिये गुहा बताई। सबसे पहली गुफा शरीर है। आबू पर्वत में कभी 'हाथी गुफा' देखना जहाँ एक गुफा में दूसरी गुफा है। ऐसी ही यह गुहा-परम्परा है। पहले शरीर गुफा है और उस शरीर के अन्दर प्राण हैं। 'मैं' चेतन हूँ यह हमें अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रकट है, परन्तु चेतनता का संकेत प्राण से मिलता है। इसलिये चिकित्सक चाहे तुम्हारी नाडी देखे, चाहे रक्तचाप देखे, आँख की पलकों का स्फुरण देखे, सबमें प्राणों की क्रिया को देखकर ही निश्चित करता है कि व्यक्ति जीवित है। और खुद भी मृत्यु के समय जब अंतिम श्वास आती है तब पता लगता है कि अब जा रहे हैं। शरीर में चेतनता है, परन्तु साँस से वह चेतनता अधिक प्रकट होती है। गहरी नींद आ जाती है तो शरीर का कोई भान नहीं है, फिर भी लोग तुम्हें श्मशान घाट तो नहीं ले जाते क्योंकि तब प्राण चल रहे हैं जिससे पता लग जाता है कि व्यक्ति अभी जिन्दा है। चेतनता का प्राकट्य शरीर की अपेक्षा भी प्राण के अन्दर अधिक है। प्राण सारी क्रियाओं को करने वाला है इसलिये सारी कर्मेन्द्रियाँ इसी में रहेंगी। कभी तिलचट्टे को पकड़ने जाओ तो देखोगे कि वह तुरन्त अपनी सारी क्रियाओं को रोककर लेट जाता है, फिर चाहे उसपर पानी डालो, चाहे उसे उठाकर ऊपर से नीचे पटको, कुछ भी करो वह कोई क्रिया नहीं करता। तुम समझ लेते हो कि यह मर गया क्योंकि वह कुछ भी क्रिया नहीं कर रहा है। उसे छोड़कर तुम दूसरा काम करने लगते हो तो थोड़ी देर बाद देखोगे कि वह भाग गया। क्रिया से ही पता लगा कि वह जिन्दा था। निष्क्रियता जडता को बताती है। खुद अपने अन्दर भी शरीर में जडता या आलस्य हो तो कुछ नहीं करना चाहते हो। तब यही लगता है कि आज हमारे में जीवन नहीं है। यदि दो-चार दिन ऐसा रह जाये तो डॉक्टर के पास जाते हो। शरीर में चेतनता का पता स्वयं को तो लगता है, परन्तु जिसे जीवट या जीने का उत्साह कहते हैं वह क्रिया से प्रकट होता है। क्रिया प्राण में है।

प्राण से चेतन का पता लगता है परन्तु प्राण खुद चेतन नहीं है। अतः जैसा भान मन के अन्दर होता है कि मैं चेतन हूँ, वैसा स्पष्ट भान प्राण में नहीं होता। प्राण क्रिया करता है तब तो पता लगता है कि 'मैं जीवित हूँ,' मन में विषयव्यवहाररूप क्रिया के बिना भी चेतना का बिलकुल स्पष्ट भान होता है। उससे भी ज़्यादा चेतन का भान है इस बुद्धि में कि 'मैंने यह किया, मैं कर्त्ता हूँ।' मन *से* करता हूँ। इसलिये उसमें चेतनता का भान है, परन्तु मैं स्वयं कर्त्ता हूँ। साक्षात् मैं के कर्तृत्व के साथ सम्बन्ध की प्रतीति है। 'मैं करने वाला हूँ' इसी को विज्ञानमय कोश कहेंगे। कर्त्ता होकर क्या चाहते हो? कर्म का फल मिले इसीलिये हम करते हैं। कर्मफल की प्राप्ति हो इसीलिये जीव करता है। भोग मिलने से तृप्ति होती है। भोजन बनाने में तो सुख है, परन्तु भोजन को खाने में और ज़्यादा सुख है। जब भोग की प्राप्ति होती है तब लगता है कि 'अब मैं खूब आनन्द में हूँ,' चेतनता खूब प्रकट है। यह मानो गुहाओं की परम्परा हो गई—शरीर, शरीर के अन्दर प्राण, प्राण के अन्दर मन, मन के अन्दर बुद्धि या कर्त्तापना, उसके अन्दर भोक्तापना है।

'अन्दर' शब्द का अर्थ समझ लेना। शरीर के 'अन्दर' प्राण है इसका मतलब क्या है? वेदान्त की यह बात भली प्रकार से समझने की है। आत्मा को हम लोग अन्दर मानते हैं और बाकी सब चीज़ों को बाहर मानते हैं। इसीलिये उसको प्रत्यगात्मा कहते हैं। जो चीज़ बाहर दीखे उसे 'पराक्' कहते हैं। पर अर्थात् अपने से दूसरी, 'अक्' अर्थात् प्रतीत होती है या प्रकाशित होती है। जबकि प्रत्यगात्मा 'प्रातिलोम्येन अंचति' अपने से एक हुआ प्रकाशित या प्रतीत होता है। दो तरह से चीज़ों का अंचन या प्रकाशन होता है। एक, अपने से अलग और दूसरा, अपने से एक। साधारण भाषा में कहें तो एक लगता है 'मैं' और दूसरा लगता है 'मेरा'। जो मैं लगता है वह ऐसे प्रसंगों में 'अन्दर' कहलाता है और जो मेरा लगता है वह 'बाहर' कहलाता है। मैं लगने वाली चीज़ों में सबसे बाहर शरीर है। शरीर मैं लगता है इसलिये इसे सबसे पहली बाहर की गुफा कहा। यह ठीक है कि कई बार शरीर से बाहर की चीज़ों को भी 'मैं' कह देते हैं; जैसे किसी से दस हज़ार रुपये लेने हैं। जिसने रुपये देने हैं उससे कहते हो 'रुपये मेरी पत्नी को दे देना और वही तुमको हुण्डी पुरजा देगी, उसे फाड़ देना। उसे दिया तो मुझे ही दिया समझो।' अर्थात् पत्नी को दिया तो मैं को दिया, इसलिये पत्नी 'मैं' ही है! यों पत्नी में भी 'मैं'-बुद्धि होती है। ऐसे ही पुत्र, मैनेजर आदि में भी हो जाती है। परन्तु फ़र्क यह है कि शरीर में हमेशा मैं-बुद्धि रहती है। कहते तो हो 'यह मेरा हाथ है,' अर्थात् तुम 'मैं' से हाथ को अलग समझ रहे हो, परन्तु जिस समय 'मेरा' हाथ कह रहे हो उसी समय कोई ज़ोर से हाथ पर मारे तो लगेगा 'मुझे' मारा; 'मेरे हाथ को मारा' ऐसा नहीं लगेगा! शरीर से मैं-बुद्धि कभी हटती नहीं। जबकि पत्नी, पुत्र, मैनेजर में मैं-बुद्धि होते हुए भी 'मेरा पुत्र' आदि यह बुद्धि हटती नहीं। इसलिये चाहे जितनी प्रिय पत्नी हो, वह बढ़िया दाल बाटी चूरमा बनाकर जीम ले और तुम्हें कुछ न दे, कहे कि 'मैंने खाया तो आपने ही खाया;' तो क्या खुश हो जाओगे? शरीर के अन्दर हमेशा 'मैं'भाव रहेगा, वहाँ 'मेरा' कहते हो तब भी जानते हो कि मैं हूँ। अन्यत्र मैं कहते हुए जानते हो 'मेरा है, मैं

नहीं हूँ'। गुहाओं में सबसे बाहर की गुहा शरीर कही, उसका मतलब है कि संसार की बाकी सारी चीज़ों की अपेक्षा शरीर प्रत्यगात्मा से ज़्यादा नज़दीक है।

शरीर की अपेक्षा प्राण ज़्यादा नज़दीक है। इसलिये जब चिकित्सक तुम्हें कहता है 'यह तुम्हारा पैर गैंग्रीन से बिलकुल सड़ गया है, अगर यह नहीं कटवाओगे तो ज़हर फैलकर तुम्हारे प्राण निकल जायेंगे;' तब तुम तुरन्त उसे कटवाने को तैयार हो जाते हो ताकि मैं तो जिन्दा रहूँ अर्थात् मेरे प्राण बने रहें। इतना ही नहीं, चाहे एक पैर एक हाथ अथवा चाहे दोनों पैर दोनों ही हाथ कट जायें, लेकिन प्राण बचे, मैं ज़िन्दा रहूँ। इस से पता लगता है कि शरीर की अपेक्षा प्राणों में 'मैं'-बुद्धि और प्रबल है क्योंकि प्राण की रक्षा के लिये शरीर को भी नष्ट करने को तैयार हो। इसी प्रकार प्राण की अपेक्षा मन और ज़्यादा मैं लगता है तथा मन की अपेक्षा अपना कर्त्तापना और ज़्यादा प्रिय लगता है। किसी को खुश करना हो तो जो कोई अच्छा काम उसने किया ही नहीं है, उससे कहो 'तुमने यह उत्तम कार्य कर दिया' तो बड़ा खुश होता है। जैसे बाँगला देश इन्दिरा गाँधी ने तो जीता नहीं, वह तो बन्दूक से एक गोली भी नहीं चला सकती; मानकशा ही सारा नियंत्रण कर रहा था। फिर भी सबने कहा 'इन्दिरा गाँधी ने बाँगला देश जीता।' बिना कुछ अच्छा किये भी अपने को कोई उसका कर्त्ता कहे तो ज़्यादा खुशी होती है। इस कर्त्तापने की अपेक्षा भी जब तुम भोग कर रहे हो तब तो और अच्छा लगता है कि 'वाह! यह तो मैं ही हूँ।' भीतरी का मतलब हुआ कि जो जितना प्रत्यगात्मा की तरफ है वह उतना आभ्यंतर और जो प्रत्यगात्मा से जितना भिन्न, दूर है वह उतना बाह्य कहा जाता है। आभ्यन्तर का मतलब कहीं ऐसा नहीं समझ लेना कि जैसे मटके में पानी होता है!

तैत्तिरीय में इसी तरह 'अन्योऽन्तर आत्मा' के रूप में कोशों का वर्णन किया है। वहाँ वार्तिककार ने कहा है 'अन्तरः प्रत्यग् इत्येतद्, आत्मा चात्मसमन्वयात्' (२.२.१४)। यहाँ 'परम्परा' को गुहा कहा क्योंकि एक को ही पाँचों में अपनी उपस्थिति अनुभूयमान है एवं जाग्रत् में, विचारकाल में पाँचों का घेरा समान मौजूद रहते 'मैं यहाँ हूँ' ऐसा प्रतीत होता है।। २।।

पहले शरीर गुहा को बताते हैं—

पितृभुक्तान्नजाद् वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः।। ३।।

पिता द्वारा खाये अन्न से बने वीर्य से उत्पन्न और अन्न से ही बढ़ता यह शरीर अन्नमय है। यह आत्मा नहीं क्योंकि जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् शरीर रहता नहीं जबकि आत्मा नित्य वस्तु है।

माता और पिता ने जो अन्न खाया उस अन्न से क्रमशः सात धातु बनते हैं। उसमें जो चरम धातु शुक्र या शोणित है, उसके द्वारा ही यह अन्नमय शरीर पैदा होता है। पिता द्वारा खाये हुए अन्न के दाने के द्वारा जीव पिता में प्रवेश करता है और वह जिस शुक्र में होगा वही माता के शरीर में जाकर आगे पुत्र या पुत्री बनेगा। जो अन्न माता ने खाया है उससे बने शोणित में

भी अनेक बिन्दु होंगे। लेकिन जो बिन्दु उस जीव को पुष्ट करने वाला है उसी से वह पुष्ट होगा। जनिष्यमाण जीव के लिये निर्धारित अंशों से आगे पुत्र या पुत्री की उत्पत्ति होगी। शोणित और शुक्र मिले बिना काम नहीं होगा। गर्भोपनिषद् में भली प्रकार वर्णित है कि शरीर के कौन-कौन से अवयव माता की तरफ से और कौन-कौन से पिता की तरफ से आते हैं। यह भेद वर्तमान के लोग नहीं मानते किंतु क्रोमोसोम नामक अवयवों का भेद मानते हैं पर वे भी हैं भौतिक ही। चाहे किसी भी प्रकार से लो, माता-पिता के खाये हुए अन्न से ही शरीर उत्पन्न होता है। इसलिये शरीर अन्नमय है। कौन से अन्न से पैदा हुआ? जिसमें पैदा होने वाले ने पहले प्रवेश किया। अन्न के द्वारा पहले आना पड़ेगा, अन्न ही शुक्र-शोणित बनेगा। जो खाते हैं उससे ही वह गर्भ और आगे बढ़ता है। इसलिये चिकित्सक उस समय गर्भवती (माता) से कहता है कि 'तुम्हें दो प्राणियों को पुष्ट करना है इसलिये पौष्टिक पदार्थ खाना।' पुराने ज़माने में हम लोगों के लिये सबसे ज़्यादा पौष्टिक चीज़ घी हुआ करती थी। गर्भ में भी शरीर अन्न से ही बढ़ता है। जब बच्चा माता के गर्भ से बाहर आ गया तब भी माता को अच्छी तरह खाना पड़ता है क्योंकि तभी उसके दूध से बच्चा पुष्ट होगा। उसके बाद जब खुद अन्न खाने लग गया तब भी शरीर अन्न से ही बढ़ेगा। शरीर पैदा अन्न से हुआ और बढ़ता भी अन्न से है। इसलिये उस शरीर को अन्नमय कहा जाता है। अन्न का ही विकार है, और कुछ नहीं है।

अन्न का विकार होने के कारण यह शरीर आत्मा नहीं है। यह *खाया* हुआ है, *खाने वाला* नहीं है। जो तुमने खाया, उसका विकार है, इसलिये खाने वाले तुमसे वह अलग है। अन्नमय होने से ही यह शरीर आत्मा नहीं है। हम लोगों की मान्यता यह है कि हमारी नाभि के क्षेत्र में भगवान् बैठे रहते हैं और तुम जो खाते हो, वह वैश्वानर अग्निरूप जो भगवान् वहाँ बैठे हैं, उसमें पड़ता है। बढ़िया मिश्री एक दम शुद्धरूप से चीनी की ही होती है। उसे बनाने का तरीका क्या है? चीनी यही सामान्य लेते हैं जो हम लोग खाते हैं। इसी चीनी की चासनी लेकर घड़े में भर देते हैं और पहले की रखी हुई शुद्ध मिश्री के डले को एक धागे में बाँधकर उसी हण्डी में लटका देते हैं। फिर उसे कुछ दिनों के लिये छोड़ देते हैं। धीरे-धीरे चीनी का घोल उस लटकी हुई शुद्ध मिश्री से चिपकता जाता है जिससे वह दाना फूलता जाता है और अंत में घोल की सारी चीनी उस डले से चिपक जाने पर मिश्री तैयार हो जाती है। चीनी के घोल में जो चीनी का हिस्सा नहीं है, जिसे लोग गन्दगी कहते हैं, अलग ही पड़ा रह जाता है। शुद्ध मिश्री का दाना वहाँ क्या करता है? जो हिस्सा चीनी नहीं है वह उसे ग्रहण न करके केवल चीनी के हिस्से को ही ग्रहण कर लेता है। फिर उस हण्डी को फोड़ने पर उसी की शक्ल की मिश्री बाहर निकलती है। ठीक इसी प्रकार हमने *जो* खाया वह हमारे रक्त में नहीं जाता है, अगर चला जाये तो हम लोग बीमार पड़ जायेंगे। उसमें तो न जाने क्या-क्या डाल रखा है। अनुभव है कि प्रायः मनुष्य को मनुष्य नहीं खाता! अतः मनुष्य से मनुष्य पैदा होना इस तरह तो संभव नहीं कि जो खाया वही प्रकट हो गया। खाते तुम पालक या परवल हो । इन खाई हुई चीज़ों में से जो तुम्हारे शरीर के लिये आवश्यक है वह हिस्सा बनाकर अन्दर ले लेना, बाकी सब बाहर फेंक देना यह वैश्वानर की ही

कृपा से होता है। अत्यशुद्ध खाओ तो कुछ हानिकर भी शरीर में जाता है लेकिन मानवोचित भोजन लेने पर ऐसा नहीं होता। मिश्री की तरह एक ही चीज़ तो है नहीं, अनेक चीज़ें चाहिये और उसमें भी तुम्हारे शरीर की आवश्यकता देखनी पड़ती है कि उस समय तुम्हारे शरीर को किस चीज़ की ज़रूरत है। रोज़ एक ही चीज़ की ज़रूरत शरीर को नहीं होती, अलग-अलग ज़रूरत होती है। जिस समय, जिस दिन जिस चीज़ की ज़रूरत है उसे उस दिन अधिक मात्रा में ग्रहण करना है। उसी चीज़ की दूसरे दिन ज़रूरत नहीं तो उसे नहीं ग्रहण करना है। इतना क्लिष्ट व्यवहार, तुम्हारी बुद्धि पर छोड़ दिया जाये तो नहीं कर सकते। बड़े-बड़े डॉक्टरों को भी इस बात का पता नहीं लगता कि आज इसे किस चीज़ की कितनी ज़रूरत है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैंने इतना बड़ा विकट कार्य तुम्हारे ऊपर नहीं छोड़ा, बल्कि 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' इतने झंझट के काम को नाभि में बैठा हुआ मैं करता हूँ। खाये हुए अन्न से जो तुम्हारा शरीर बढ़ता है यह सम्पन्न करने वाला वह वैश्वानर अग्नि है। तुम वैश्वानर अग्नि में डालते हो और वह अग्नि उस अन्न को इस प्रकार विकृत करती है कि तुम्हारे शरीरको पुष्ट करे।

यह जो चेतन तत्त्व वैश्वानररूप से तुम्हारी नाभि में बैठा हुआ है, यह तुम्हारे शरीर के पैदा होने से पहले से है। तुम्हारे शरीर के साथ तो पैदा हुआ नहीं! तुम्हारे शरीर के साथ पैदा होता तो तुम उसे कुछ सिखाते कि क्या लेना, क्या देना आदि। अगर तुम्हारे साथ पैदा होता तो इतना बड़ा कार्य कैसे कर सकता था जबकि करता ज़रूर है। यथाकथंचित् मानें कि पूर्व जन्म से आया हुआ है तब भी अन्नमय से तो पूर्ववर्ती ही है। हर हालत में तुम्हारे शरीर के पैदा होने से पहले से है। अन्नज वीर्य होने के पहले, अन्न के पैदा होने से भी पहले चेतन है। अतएव शरीर के मरने के बाद यह खत्म भी नहीं होता, उसके बाद भी देहान्तर में रहता ही है। सादि सान्त अर्थात् अनित्य और भौतिक होने से शरीर आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा का कार्य है, कारण आत्मा है। अन्नमय शरीर आत्मा नहीं है, आत्मा का कार्य होने से। कारण होने से शरीर से पहले भी है और बाद में भी है। ठीक जैसे कपड़ा रूई का कार्य है तो कपड़ा पैदा होने के पहले भी रूई थी और कपड़ा फट कर चीथड़े हो जायेगा तब भी रूई रहेगी ही। अन्नमय में 'मैं'-प्रतीति होती है परन्तु यह मैं हो नहीं सकता।।३।।

जन्म के पहले शरीर न हो, और आत्मा भी न हो, मृत्यु के बाद भी शरीर न हो तथा आत्मा भी न हो तो क्या हर्जा है? विचार के अन्दर दो दोष सभी विचारक स्वीकार करते हैं, चाहे विज्ञान के दृष्टिकोण से सोचें और चाहे दर्शन की दृष्टि से सोचें—१) किये हुए का नष्ट हो जाना और २) बिना कारण के चीज़ का उत्पन्न होना अर्थात् कृत-विप्रणाश और अकृत-अभ्यागम। विज्ञान वाले भी मानते हैं कि पदार्थ या मैटर का रूप बदल जाता है परन्तु वह रहता ज़रूर है। इसी लिये मानना पड़ता है कि किसी चीज़ का अत्यंत विनाश नहीं होता बदलकर कुछ रहता है। लोक में कोई चीज़ ऐसी नहीं देखी जाती जो सर्वथा नष्ट हो जाये। ठीक इसी प्रकार जैसे ही कोई कार्य देखते हो, तुमको निश्चित पता है कि इसका कारण है। कारण मुझे पता नहीं भी

हो, लेकिन कारण है जिसे ढूँढते हैं। बुखार आ गया तो चिकित्सक कारण ढूँढता है कि क्यों हो गया। यह नहीं कहता कि अकस्मात् हो गया! चाहे दर्शन की दृष्टि से विचार किया जाये, चाहे विज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाये, जहाँ भी कार्य होता है वहाँ कारण ज़रूर होता है और किसी भी चीज़ के नष्ट होने पर उसका रूप बदल जाता है, पर होती ज़रूर है।

ठीक यही बात शरीर के बारे में सोचो : शरीर आत्मा-रूप से पैदा हुआ तो उसका कारण क्या है? माता-पिता के शोणित-शुक्र से पैदा हुआ। उनसे पैदा होकर उसके अन्दर आत्मा का अनुभव कहाँ से आया? वह माता-पिता के अधीन नहीं है, उल्टा माता-पिता से स्वतंत्र होता है। पहले तो माता-पिता से दबते भी थे लेकिन अब तो सीधे जवाब ही देते हैं 'पिता जी, तुम नहीं समझते।' शरीर में जो 'मैं' की प्रतीति है, उसका क्या कारण है? वह कहाँ से आया? इसी प्रकार आदमी मर जाता है तो उसके अन्दर ऐसी अनेक इच्छायें या कामनायें रह जाती हैं जो अपूर्ण हैं। मनुष्य भी इच्छा या संकल्प की शक्ति वाला है। यहाँ से चलकर हम आबू रोड तक पैदल चले जाते हैं। इतना चलाने वाली चीज़ क्या है? हमने संकल्प किया या इच्छा की, तभी। भावना या संकल्प की उत्पत्ति को कभी कम नहीं आँक सकते। एक बुढ़िया बराबर कहती थी कि 'अब तो मैं मर जाऊँ तो अच्छा है;' क्योंकि बिछौने से उठ नहीं सकती थी। एक बार वह अपने पड़पोते को बिछौने में लेकर बैठी थी कि अकस्मात् एक साँप फूँकार भरकर उसकी तरफ आने लगा। वह बुढ़िया बच्चे को वहीं छोड़कर भागकर बाहर आ गई! बाहर आकर चिल्लाने लगी 'अरे कोई आकर बच्चे को बचाओ'। हमने पूछा 'तू हमेशा कहती थी कि मर जाऊँ तो अच्छा है। भगवान् ने तो उसके लिये साँप भेज दिया। तुमसे तो बिछौने से उठा नहीं जाता था, उस समय बच्चे को छोड़कर वहाँ से भागकर बाहर कैसे आ गई?' विचार करो तो वहाँ से उसको भगाने वाली चीज़ सिवाय भावना के और क्या है? अभिनिवेश की वृत्ति आ गई कि 'मैं बचूँ'। इसी प्रकार अनेक लोग दवाई इत्यादि दे देते हैं अथवा झाड़ा-झाड़ देते हैं तो जो रोगी चल नहीं सकता वह दौड़ने लगता है। कैसे भागा या कैसे दौड़ने लगा? कारण कि भावना या इच्छा में बड़ी भारी शक्ति है। यह शक्ति मरने के साथ कहाँ जाती है? शरीर तो यहीं रह गया, उस शक्ति का क्या हुआ?

कृतविप्रणाश और अकृत-अभ्यागम इन दोनों दोषों की निवृत्ति के लिये विचार करने पर यही पता चलता है कि उस शक्ति को लेकर ही आत्मा कहीं जाता है। बच्चा पैदा होता है और आधा-पौने घण्टे बाद ही माता के स्तन का दूध पीता है। कभी किसी चिकित्सक से पूछो कि माता के स्तन का दूध पीने में मुख की माँस-पेशियों को कितना काम करना पड़ता है। इतना ही नहीं, वह स्तनों को ढूँढता है, हाथ इधर-उधर हिलाता है और पकड़ लेता है। 'मैं स्तनों को पकड़ूँगा, इसमें से दूध निकलेगा, मैं पियूँगा;' ये सारी बातें और क्रियायें उसे किसने सिखाई? इसलिये मानना पड़ता है कि पहले के ज्ञान और इच्छाओं को लेकर ही यह आत्मा आया है। शरीर स्वयं अपना कारण हो नहीं सकता, शरीर इच्छाओं को अपने अन्दर नहीं रख सकता। अन्नमय कोश के पैदा होने के पहले उसमें प्रवेश करने वाला आत्मा था और जब

वह अन्नमय कोश नष्ट हुआ तब वह आत्मा दूसरी जगह चला गया। इसी बात को कहते हैं—

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म सम्पादयेत् कथम्।
भाविजन्मन्यसत् कर्म न भुञ्जीतेह सञ्चितम्।। ४।।

पूर्व जन्म में न रहती (वस्तु) इस जन्म को कैसे सम्पन्न करेगी? इस जन्म में एकत्र कर्म वह (वस्तु) नहीं भोग सकती जो (तब) होगी ही नहीं।

पूर्व जन्म में अर्थात् इस जन्म के पहले यह शरीर तो नहीं था। जो शरीर जन्म के पहले नहीं था वह इस शरीर को उत्पन्न करने में कारण भी नहीं हो सकता। 'शरीर' अर्थात् 'मैं' इस भावना वाला देह। सिर्फ देह का कारण तो माता-पिता के अंश हैं। लेकिन शरीर में मैं-पने का कारण कौन है? पहले जो शरीर नहीं था वह इस शरीर के जन्म को कैसे सम्पन्न करेगा? इसी प्रकार, मरने के बाद अर्थात् भाविजन्म में जो प्रवेश, वह कौन करता है? यहाँ जिस मैं ने कर्म ज्ञान इच्छा संचित किये हैं, उनका भोग असम्भव होगा। सब व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि उस मुझे तब रहना है नहीं। नहीं किये हुए का अकस्मात् उत्पन्न हो जाना और जो है उसका 'कुछ न' हो जाना ये कभी संगत नहीं हो सकते। सभी जगह लोक में प्रसिद्ध है कि क्रिया की प्रतिक्रिया ज़रूर होती है। तुम बहुत-सी ऐसी क्रियायें यहाँ करते हो जिनका फल यहाँ उत्पन्न नहीं होता। मैंने किसी की हत्या कर दी। सरकार या पुलिस नहीं पकड़ पाई तो मैंने कोई दण्ड नहीं भोगा। तब क्या यह हत्या का कर्म बिना किसी फल को पैदा किये ख़त्म हो गया? यदि मरने के बाद भोग है तो व्यवस्था बन जायेगी, अन्यथा अव्यवस्था हो जायेगी। कर्म, ज्ञान, इच्छा आदि कोई चीज़ सर्वथा समाप्त हो जाये, यह नहीं हो सकता क्योंकि तब किया हुआ पुण्य-पाप कर्म व्यर्थ जायेगा, और इच्छा भी व्यर्थ चली जायेगी। इसलिये देह को आत्मा नहीं मान सकते।

शरीर को इसलिये भोगायतन कहते हैं कि यहाँ बैठकर भोग करते हैं। बिना शरीर के कोई भोग नहीं हो सकता और बिना शरीर के कोई कर्म भी नहीं हो सकता। कोई भी कर्म करोगे तो शरीर में बैठकर ही। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रवृत्ति करेंगे पर बिना शरीर के न कर्म और न भोग कर सकते हैं। किसी-न-किसी शरीर में बैठकर ही कर्म और भोग करोगे इसीलिये भ्रांति हो जाती है कि शरीर ही कर्म और भोग करने वाला है। जो चीज़ जिसके साथ नियम से मिलती है उसे तद्रूप मानना आवश्यक हो जाता है। शरीर के बिना कर्म भी नहीं मिलता और शरीर के बिना भोग भी नहीं मिलता। इसलिये शरीर ही कर्त्ता-भोक्तारूप आत्मा है यह भ्रम बड़ा रूढ है। जब तक इस प्रकार से इसका बार-बार चिन्तन न किया जाये कि शरीर आत्मा नहीं हो सकता, तब तक शरीर से आत्मबुद्धि नहीं हटती। शरीर के बिना आत्मा करता या भोगता हुआ मिलेगा नहीं लेकिन, किसी शरीर के साथ कर्त्ता-भोक्ता का नित्य सम्बन्ध नहीं है। किसी न किसी शरीर के साथ रहकर कर्त्ता-भोक्ता होगा। 'शरीर मैं नहीं हूँ' यह अनुभव पहला कदम है।

शरीर मैं नहीं हूँ—इस दृढता के बिना संसार के व्यवहार में भी और आत्मविचार में भी ग़लती करते हैं। जो भी ग़लत काम करते हैं वह शरीर को लेकर ही करते हैं। इसलिये यह शरीर मैं नहीं हूँ— जब तक इसकी दृढ भावना नहीं हो जायेगी तब तक पाप कर्म से बच नहीं सकते। इस भावना के दृढ होने पर पाप कर्म की प्राप्ति होते ही मन में विचार आता है कि इस शरीर को तो थोड़े दिन का लाभ होगा लेकिन आगे इसका फल कौन भोगेगा? एक बार गाँधी जी बहुत बीमार हुए। डॉक्टर ने कहा 'अब इन्हें कम से कम अण्डा तो खाना ही पड़ेगा, चिकन सूप लें तो और अच्छा है। इसके बिना तो शरीर में ताकत नहीं आयेगी।' लोगों ने गाँधी जी से कहा लेकिन उन्होंने ध्यान नहीं दिया। नेहरू जी आदि सबने समझाया 'आपका ज़िन्दा रहना बहुत ज़रूरी है। अण्डा खाने में तो जीवहत्या है नहीं।' गाँधी जी ने यह सब सुन कर डॉक्टर से पूछा 'तुम्हारा बाप जिन्दा है?' उसने कहा—'नहीं वे तो मर गये।' फिर पूछा 'तुम्हारा दादा जिन्दा है।' उसने कहा 'वे भी मर गये।' गाँधी जी ने कहा—'तुमने उन्हें अण्डा क्यों नहीं खिलाया और उन्हें कैसे मर जाने दिया? आदमी हमेशा अण्डा खाने से बचता नहीं, मरकर जाना ही पड़ेगा। जब मुझे यमराज के डण्डे खाने पड़ेंगे तब क्या तू या ये सब लोग वहाँ आयेंगे? इसलिये मैं अण्डा खाकर डण्डे खाने को तैयार नहीं हूँ।' उसके बाद भी गाँधीजी बहुत साल जिये। जब यह भावना होगी कि 'आगे डण्डे कौन खायेगा, पाप तो अपना फल देगा, यह क्षणिक सुख तुच्छ है,' तब तुम यमराज के डण्डे खाने को तैयार नहीं होगे। जब तक पाप में प्रवृत्ति है तब तक निश्चित है कि तुमने अभी अपने को शरीर से भिन्न जाना नहीं है। आदमी बहुत जल्दी कह देता है कि 'शरीर तो मैं नहीं हूँ' परन्तु यह कहने के बाद भी निश्चय यही रहता है कि इस शरीर में जो फ़ायदा-नुक्सान होगा वही सब कुछ है। इस तरह, जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आत्मा न मानने में यौक्तिक दोष स्पष्ट किया अतः उसे नित्य स्वीकारना ही उचित है।। ४।।

शरीर के अन्दर रहने वाला प्राण है, उसे बताते हैं—

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात्।। ५।।

शरीर में बल देता हुआ, इन्द्रियों का जो प्रेरक वह देह में भरा वायु प्राणमय (कोश) है। ज्ञानरहित होने से वह आत्मा नहीं।

सारे देह में प्राण भरा हुआ है। प्राण अर्थात् जीवनी शक्ति। तुम्हारी चलने वाली साँस तो प्राण का एक रूप है। परन्तु प्राण का असली अर्थ जीवनी शक्ति है इसलिये जिन प्राणियों में साँस नहीं चलता वे भी प्राणी कहे जाते हैं। अमीबा तो साँस नहीं लेता। साँस वही लेगा जो फेफड़े इत्यादि वाला प्राणी है। जो ऐसे नहीं हैं उन्हें भी प्राणी कहते हैं क्योंकि वे जीवित हैं। जहाँ जीवन की शक्ति है उन्हें प्राणी कहते हैं। जीवन की शक्ति को प्राण कहते हैं। साँस का आना-जाना प्राण का एक काम है, और वह चूँकि सरलता से देखा जाता है इसलिये उस को प्राणरूप से पहचान लेते हैं। अनेक प्राणी ऐसे हैं जिनका सर्दी के छह महीने तक श्वास-प्रश्वास

बिलकुल नहीं होता, फिर भी वे जीवित रहते हैं। यह ठीक है कि श्वास-प्रश्वास से पता चलता है परन्तु प्राण है जीवनी शक्ति ही। शरीर में सर्वत्र जीवनी शक्ति है। जहाँ जीवनी शक्ति नहीं होती है वह भाग शरीर के साथ चिपका होने पर भी मृत ही माना जायेगा। जैसे हमारे सिर पर हमेशा बाल होते हैं, जब तक वे अन्दर हैं या थोड़े-से बाहर निकले हैं तब तक उनमें जीवनी शक्ति है। कभी भी बाल उखाड़े जायें तो बड़ा कष्ट होता है। परन्तु बाहर आने के बाद वह प्राण से रहित हो जाता है। नाई के पास जाकर बाल कटवाते हैं तो कोई दर्द नहीं होता। शरीर में जहाँ तक जीवनी शक्ति या जीवन है, वहाँ तक प्राण मौजूद है।

सारे शरीर को प्राण ही जीवित रखते हैं, 'बलं यच्छन्' इसको बल देते हैं। जितनी हमारी प्राण शक्ति या जीवनी शक्ति प्रबल होगी उतना ही हम में बल होगा। बहुत से लोग हृष्ट-पुष्ट और तगड़े नज़र आयेंगे। तुम देख कर सोचोगे कि बहुत काम कर सकते हैं; परन्तु जब मौका आये तो उनसे कुछ भी नहीं होता। बहुत से लोग बहुत दुबले-पतले दीखेंगे, तुम्हें लगेगा कुछ नहीं कर सकेंगे, परन्तु देखोगे कि मौका आने पर बहुत बल वाला काम कर लेते हैं। कोई एक महा कंजूस बनिया था। वह कभी किसी को भोजन नहीं कराता था। उसके घर वाले बहुत पीछे पड़े कि एक बार बाप का श्राद्ध करने के निमित्त किसी ब्राह्मण को भोजन करा दो। उसने सोचा कि 'ये लोग रोज खटपट करते हैं तो एक बार करा ही दूँ' । वह जोधपुर में ब्रह्मपुरी में गया और एक बहुत दुबले-पतले ब्राह्मण को निमंत्रण दे आया। दूसरे दिन वह भोजन करने आया। घरवालों ने बढ़िया दाल का सीरा बनाया, जितना बना था वह सारा ही अकेला खा गया। श्राद्ध के भोजन में नियम है कि बाद में घर वाले पूछते हैं—'पंडित जी! और कोई आवश्यकता हो तो कहिये।' ब्राह्मण ने कहा 'कुछ तो और लाओ, और कुछ नहीं तो दस सेर रबड़ी ही मँगा दो।' घरवाले क्या करें, रबड़ी मँगाई, वह भी सारी खा गया। अंत में वह बनिया तो बिलकुल परेशान ही हो गया। कहने लगा 'इतना दुबला-पतला आदमी इतना खाता है, अगर किसी तगड़े को ले आता तो घर का ही दीवाला निकल जाता।' शरीर के द्वारा प्रायः अंदाज मिलता है, परन्तु जो बल, प्राण या जीवनी शक्ति है वह शरीर के अन्दर रहती है। शरीर के अन्दर जहाँ-जहाँ पूर्ण रूप से जीवन है वहाँ यह शक्ति रहती है। बल देते ये प्राण ही हैं। जिसमें प्राणशक्ति कमज़ोर होती है वह कोई बल वाला कार्य नहीं कर सकता।

'यः अक्षाणां प्रवर्तकः' इन्द्रियों को प्रवृत्त करने वाला प्राण ही है। प्राण मूलतः क्रियाशक्ति है। इसलिये चाहे मन क्रिया करे, चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ क्रिया करें, चाहे कर्मेन्द्रियाँ क्रिया करें, सबमें प्रवृत्त करने वाला तो प्राण ही है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि बिना प्राण के अंतःकरण की वृत्ति भी नहीं बनेगी। इसीलिये जब आदमी मरता है तो पहले मन का कार्य करना छूटता है, प्राण का कार्य करना बाद में छूटता है। उपनिषदों के अन्दर स्पष्ट किया है कि जब आदमी ज़्यादा बीमार होता है, उससे पूछते हैं 'हमारी बात सुनाई पड़ रही है?' वह कहता है 'हाँ।' तब समझ जाते हैं कि अभी जान है। एक अवस्था आती है जब चाहे कुछ भी बोलो, कुछ भी करो उसकी कोई प्रतिक्रिया देखने में नहीं आती, आँख की पलक को ऊँचा भी करते

हो तो झट नीचे गिर जाती है, आँख का डोया भी नहीं हिलता। तब सब लोग कहते हैं कि अब इसके जाने का समय आ गया। इन्द्रियों ने काम करना छोड़ दिया, मन भी काम नहीं कर रहा है। उसके बाद ज़ोर की हिचकी आती है और प्राण निकल जाते हैं। पहले इन्द्रियाँ काम करना बन्द करती हैं। तब प्राण काम करना बन्द करेगा। प्राण के काम बन्द करने के बाद फिर कुछ नहीं हो सकता। इन्द्रिय-मन को भी प्रवृत्त करने वाला प्राण ही है।

प्राण किंरूप है? 'वायुः प्राणमयः' वायुरूप ही प्राण है। लेकिन वायु का मतलब केवल हवा नहीं समझ लेना। उनचास प्रकार के वायु बताये हैं। उनमें से जिसे हम हवा समझते हैं वह तो एक जैसी है। इसलिये प्राण वायु का मतलब केवल यह स्थूल हवा नहीं लेना। जिसे प्राणमय कोश कहते हैं उसमें खाये हुए अन्न को सर्वत्र ले जाने वाला भी प्राण है। अन्य भी अनेक कार्य करने वाली वृत्तियाँ हैं। ये सब प्राणवायु की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों से सम्पन्न को प्राणमय कोश कहते हैं। यही जीवनमय कोश है। आधारभूत ढंग से है यह सारा वायु का विकार लेकिन सूक्ष्म वायु का विकार है, स्थूल वायु का नहीं। हवा से प्रायः पंचीकृत वायु समझी जाती है। प्राणमय कोश की वायु अपंचीकृत है। बहुत से लोगों ने प्रयोग किया है, कि मरने वाले को काँच की अलमारी में बन्द करके देखते हैं कि मरते समय इसमें से कुछ निकलता है या नहीं! अगर स्थूल वायु निकले तो काँच में तरेड़ आ जायेगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं होता। अगर पंचीकृत वायु प्राण होता तो उसको निकलने के लिये काँच को तोड़कर जाना ज़रूरी होता परन्तु क्योंकि यह अपंचीकृत वायु है इसलिये इसको जाने के लिये किसी प्रकार के पंचीकृत आकाश की ज़रूरत नहीं रहती है। प्राण अपंचीकृत वायु का विकार है। हम लोग जो साँस देखते हैं वह पंचीकृत वायु का विकार है। उसको प्रवृत्त करने वाली जीवनी शक्ति अपंचीकृत है अर्थात् इन्द्रिय का विषय नहीं है। यह जो इन्द्रिय आदि का प्रवर्तक वायु है वही प्राणमय (कोश) है।

परन्तु इस प्राणमय को आत्मा नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा तब कहा जाता है जब उसमें चेतना हो, जब वह कुछ जाने। प्राणमय में क्रिया तो है परन्तु चेतना नहीं है। करेगा प्राण परन्तु किसी के आदेश से करेगा। इसकी जो जीवन की क्रिया है, जिन्दा रखने की क्रिया है, उसके लिये तुम्हें आदेश देने की ज़रूरत नहीं है। वह काम तो यह अपनी सत्ता से खुद ही करेगा। परन्तु प्राण का जो बल वाला कार्य है उसे यह चेतन के आदेश से करेगा। चेतन यह खुद नहीं है, क्योंकि इसको पता नहीं लगता। कोई शंका कर सकता है कि ऐसा क्यों मानें, इसी को चैतन्य वाला क्यों न मान लें? इसका कारण गहरी नींद है; जब गहरी नींद आ जाती है तब प्राण तो चलते रहते हैं परन्तु आदमी के तकिये के नीचे से कोई घड़ी निकाल कर लेकर भी चला जाये तो उसे पता नहीं लगता। अगर प्राण में चेतना होती तो पता लगता। लेकिन पता नहीं लगता इसलिये प्राण में चेतना नहीं होने के कारण इसे आत्मा नहीं कह सकते। कुछ ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने प्राण को ही आत्मा माना है। उन्हें यह जवाब हो गया कि प्राण में चेतनता का न होना ही इसे आत्मा न मानने में प्रधान कारण है।

चूँकि ये अपंचीकृत प्राण हैं, इसलिये पंचीकृत शरीर के लिये जो कारण दिया था कि आगे-पीछे नहीं रहता, वह यहाँ नहीं लगा सकते क्योंकि आगे-पीछे इसका रह जाना स्वीकार है। अपंचीकृत होने के कारण यहाँ आने के पहले भी प्राण रहता है और यहाँ से जाने के बाद भी रह सकता है। इसलिये पंचीकृत शरीर के लिये जो कारण दिया था वह इसके लिये नहीं लग सकता। इसीलिये इसके अनात्मा होने में कारण दिया कि इसमें चैतन्य नहीं है। परमात्मा को सच्चिदानन्द कहते हैं। चिद्रूपता इसमें नहीं है, इसलिये प्राण आत्मा नहीं है।। ५।।

अन्नमय शरीर और प्राणमय कोश अनात्मा बताकर उससे भीतरी गुफा मनोमय का स्वरूप समझाते हैं कि वह आत्मा नहीं है—

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः।। ६।।

शरीर, घर आदि में जो 'मैं-पना' और 'मेरा-पना' करता है, कामना आदि अवस्था से भ्रमयुक्त है, वह मनोमय आत्मा नहीं है।

मन शरीर में मैं-भाव करता है कि 'यह शरीर मैं हूँ'। यह प्रतीति जिसके द्वारा होती है वह मन है। इसी तरह शरीर-सम्बन्धी में 'यह मेरा है, यह घर मेरा है क्योंकि इसकी रजिस्ट्री पर मेरा नाम है' आदि मेरा-भाव भी मन ही करता है। खरीदने के पहले मेरा नहीं था, बेचने के बाद यह मेरा नहीं रहेगा। शरीर के बारे में ऐसा नहीं; शरीर तो जब तक मरूँगा नहीं तब तक मैं ही रहूँगा। परन्तु ममभाव में ऐसी बात नहीं है। घर की तरह पत्नी, पुण्य-पाप आदि सभी समझ लेने चाहिये। पाँच कोशों तक ही 'मैं'-भाव होता है। इसलिये प्राण-मन-बुद्धि को सूक्ष्म देह और आनंदमय को कारण देह कहते हैं। अतः 'देहे' अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म या कारण, किसी भी देह में अहंता होती है। मैं और मेरा जिसके द्वारा होता है, यह मनोमय भी आत्मा नहीं हो सकता। मन काम आदि अर्थात् इच्छा आदि का केन्द्र होने से आत्मा नहीं हो सकता। काम आदि अवस्था-विशेष मन की है। जब इच्छा में रुकावट आती है तब मन में क्रोध होता है। इच्छा कैसी है? भूखा था तो लड्डू की इच्छा थी। पचास लड्डू खाने के बाद इच्छा नहीं रही। इच्छा कभी होती है, कभी नहीं होती। इसी प्रकार क्रोध कभी होता है कभी नहीं होता। कहीं-न-कहीं तुम्हारी कामना में रुकावट आयेगी तभी क्रोध होगा। यह मन की अवस्था होने से कभी है, कभी नहीं है अर्थात् अनियत स्वभाव है। आत्मा नियत स्वभाव वाला होगा, अनियत स्वभाव वाला नहीं होगा। काम आदि अवस्था वाला होने से मन आत्मा नहीं हो सकता। अवस्था वाला होने का मतलब विकारी होना है। विकार अर्थात् कभी एक स्थिति, कभी दूसरी, कभी तीसरी हो जाना।

मन की विशेष स्थिति इच्छा है। इच्छा के द्वारा ही मन प्राण का भी प्रवर्त्तक है। प्राण क्रिया करता है। बिना इच्छा के क्रिया नहीं हो सकती। लोग कहते हैं 'महाराज! जप करने बैठते हैं,

परन्तु जप होता नहीं।' हम हमेशा कहते हैं कि जप, प्राणायाम, पूजा आदि तभी नहीं होंगे जब पहले इन्हें करने की इच्छा नहीं होगी। हमने तुम्हें जप या पूजन करने को कहा है, तुम करते रहो। एक मंत्र से दूसरे के बीचमें मन इधर-उधर चला गया तो उसे जाने दो। तुम पूजा या जप करने की इच्छा करके ही बैठे हो, जब तक इच्छा रहेगी तब तक करते रहोगे। किसी दूसरी चीज़ की इच्छा हुई तो उतनी देर के लिये जप आदि नहीं हुआ किंतु पुनः तुमने कर लिया क्योंकि बैठे रहे थे। मन न लगने का प्रधान कारण यह होता है कि उस विषय से अतिरिक्त विषय की इच्छा जग जाती है। अतिरिक्त विषय की इच्छा जगेगी, तभी तुम्हारा जप या ध्यान नहीं हो पायेगा। अतिरिक्त विषयों की इच्छा को छोड़ना है।

इच्छा किसी चीज़ की क्यों होती है? उस चीज़ में सुख की दृष्टि हो जाती है इसलिये उसकी इच्छा होती है। जिस चीज़ में तुम्हें सुख की प्रतीति हुई, उसकी इच्छा होगी। वह चीज़ दुःख का कारण है—यदि यह निश्चय कर लोगे तो मन फिर उधर नहीं जायेगा। इसी को योगी लोग प्रतिपक्षभावना कहते हैं। संसार में कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे किसी-न-किसी को सुख न हो और संसार में ऐसा भी कुछ नहीं है जिससे किसी-न-किसी को दुःख न हुआ हो। इसलिये किसी *चीज़* या *परिस्थिति* में सुख नहीं है। शास्त्रकारों ने कहा है 'न खलु सुखत्वं जातिः यस्य यदिष्टं तदेव तस्य सुखम्'। जैसे ब्राह्मणत्व जाति हर ब्राह्मण में रहेगी ऐसे सुखत्व कोई जाति नहीं है जो सारे सुख के पदार्थों में रहे। जो जिसकी इच्छा का विषय होता है उसके लिये वही सुख है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो सबके लिये सब समय सुख देने वाला हो। एक पदार्थ एक को सुख देने वाला होता है, उसी समय वही दूसरे को दुःख देने वाला होता है। शास्त्रकार सौत का दृष्टांत देते हैं। एक आदमी की दो पत्नियाँ आपस में सौत कहलाती हैं। सौत चाहे जितना बढ़िया भोजन बनाये तो भी दूसरी सौत को दुःख होगा, जबकि पति को सुख होगा। उसकी जो-जो चीज़ पति को सुख देगी वही-वही चीज़ सौत को दुःख देगी। इसी प्रकार व्यापार भी दो तरह के लोग करते हैं। अंग्रेज़ी में एक को साँड (bull) और दूसरे को भालू (bear) कहते हैं। साँड जाति का व्यापारी उसको कहते हैं जो देखता रहता है कि अब भाव गिरेगा। भाव बढ़ेगा तो भालू प्रकृतिवाले व्यापारी को सुख होगा, घटेगा तो साँड प्रकृतिक व्यापारी को सुख होगा! भाव घटना-बढ़ना होने से दोनों को सुख-दुःख होना ही है।

जो तुम्हारी इच्छा का विषय होता है वही सुख देता है, उसी की स्मृति आती है। साधक को चाहिये कि प्रतिपक्ष-भावना के द्वारा उसे अपनी इच्छा का विषय मत बनने दे। जितना तुम्हें उस चीज़ की दुःखरूपता का अनुभव होगा उतना उधर से मन हटेगा। योगवासिष्ठ में वैराग्य का लम्बा-चौड़ा प्रकरण आता है। एक-एक चीज़ के दुःखों को गिनाया है। कई लोग उसे पढ़कर कहते हैं कि उन्होंने केवल दुःख ही दुःख गिनाये हैं, सुख भी तो है ही? ऐसा नहीं है कि वसिष्ठ जी जानते नहीं कि उसमें सुख है! सुखरूपता देखना सब के अन्दर नैसर्गिक है। दुःखरूपता का विचार चीज़ों के प्रति साधारण आदमी को होता नहीं। इसलिये दुःखरूपता का प्रतिपादन करना ज़रूरी होता है। सुख या अनुकूल-भावना तो पहले ही है। मन कामना को लेकर ही भ्रान्त हो

जाता है। जिस चीज़ की इच्छा होती है उस चीज़ में भ्रान्ति भी होती है क्योंकि इच्छा उसके दोष या दुःखरूपता को ढाँक देती है और जो सुखरूपता उस चीज़ में नहीं है उसका आपादन कर देती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि मन ही बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। बन्धन का कारण भी मन ही है और मोक्ष का कारण भी मन ही है। विषयों की सुखरूपता को देखोगे तो बन्धन है और दुःखरूपता को देखोगे तो मोक्ष है।

चूँकि सारे विषयों का त्याग एक झटके में सम्भव नहीं है इसलिये परमेश्वर में उन सब विषयों के सम्बन्ध से यह कार्य सुकर है। तुम्हें बढ़िया कपड़ों का शौक है तो भगवान् को बढ़िया से बढ़िया कपड़ा पहनाओ। इसमें तुम्हारी कपड़े की कामना निवृत्त नहीं होगी, परन्तु अब वह कामना परमेश्वर से सम्बन्धित हो गई। जिन चीज़ों को खाने का शौक है वे भगवान् के लिये बनाओ। उनको बनाकर भगवान् के प्रसाद को लो। कामना निवृत्त नहीं होगी परन्तु कामना का सम्बन्ध परमेश्वर से होता जायेगा। जब सब कामनाओं का सम्बन्ध धीरे-धीरे परमेश्वर से हो जायेगा तो फिर कामना परमेश्वर-विषयक होकर मुक्ति का साधन हो जायेगी। जैसे पारस पत्थर को तुम चाहे अपने जूते की लोहे की नाल से छुआओ, अथवा घोड़े के पैर के तलवे में ठुकी हुई लोहे की नाल से छुआओ तो वह लोहा सोना हो जायेगा और उत्तम लोहा लेकर उससे छुआओ तो भी वह सोना ही होगा। ऐसे ही जिस चीज़ का सम्बन्ध परमेश्वर से हो जाता है वह शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अपनी इच्छा-शक्ति का उपयोग करके अपनी सारी इच्छायें परमेश्वर से सम्बन्धित कर दो। जब मन की सारी इच्छाओं का सम्बन्ध परमेश्वर के साथ होगा तब वे इच्छायें शुद्ध हो जायेंगी और विषय इच्छा का विषय नहीं रह जायेंगे! यही मुक्ति का मार्ग हो जायेगा। जैसे प्राण की साधना प्राणायाम करके हो सकती है वैसे मन की साधना सारी इच्छाओं का विषय परमेश्वर को बनाकर हो सकती है। चाहे प्राण हो, चाहे मन हो, दोनों का उपयोग परमेश्वर के मार्ग में है, इसलिये इनको यहाँ गिनाना सार्थक है। ये साधन तो हैं, परन्तु ये आत्मा नहीं हैं जो इस औजार को चला सकें।। ६।।

शरीरादि औजार चलाने वाला कौन है यह बताते हुए उस कर्त्ता को भी अनात्मा सिद्ध करते हैं—

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक्।। ७।।

सुषुप्ति में लीन होने वाली तथा जाग्रत् में नखाग्र तक शरीर को घेर लेने वाली विज्ञानमय-शब्द से अभिधेय चेतनछायायुक्त बुद्धि आत्मा नहीं है।

चेतन की छाया से बुद्धि युक्त रहती है। बुद्धि में चेतन की छाया पड़ रही है। इसलिये लोक-प्रसिद्धि है कि करने वाला एक परमात्मा ही है। किंतु परमात्मा करने वाला है—इसे ठीक से समझना पड़ता है। बुद्धि के अन्दर परमेश्वर का जो प्रतिबिम्ब है वह कर्त्ता है। परमेश्वर का जो प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ा, वही कर्त्ता है। चूँकि बिना चिच्छाया के बुद्धि कुछ कर नहीं सकती,

इसलिये सिर्फ उसमें कर्त्तापना नहीं कहा। छाया को डालने वाला जो परमात्मा है उसी को कर्त्ता कहा जाता है, परन्तु बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर ही करता है। बिना बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए वह कर्त्ता नहीं बनता। मारवाड़ में पुराने घरों को देखोगे कि चौक में एक साल या बड़ा कमरा होता है वहाँ सब मिलने-मिलाने वाले जाते हैं। उसके बाद दो छोटे कमरे होते हैं जिन्हें ओरा कहते हैं, फिर उनके अन्दर एक और ऊँडिया ओरा होता है। साल तक रोशनी चली जाती है। ओरे में दिन के दो बजे कुछ रोशनी रहती है पर ऊँडिये ओरे में तो दिन के बारह बजे भी घुप्प अन्धेरा रहता है क्योंकि उसमें प्रकाश जाने का कोई रास्ता ही नहीं, खिड़कियाँ हैं ही नहीं! वहाँ रोशनी करने का एक तरीका है कि सूर्य के सामने एक काँच (दर्पण) रख देते हैं और उस काँच को इधर-उधर हिलाते हैं तो उसका प्रकाश एक कोण पर आकर ऊँडिये ओरे में चला जाता है, वहाँ उजाला हो जाता है। सूर्य का प्रतिबिम्ब काँच में पड़ा तो उसने वहाँ उजाला कर दिया। प्रश्न होता है कि वह उजाला किसने किया? यदि कहो सूर्य ने किया तो काँच वहाँ से हटा दें, तो भी सूर्य वहाँ उजाला करके दिखाये! केवल सूर्य वहाँ प्रकाश नहीं कर सकता। यदि कहो—काँच ने प्रकाश किया; तो वह भी नहीं कर सकता क्योंकि यदि काँच प्रकाश करता हो तो रात में उससे उजाला करके दिखाओ! इसलिये वहाँ न सूर्य प्रकाश करता है और न काँच प्रकाश करता है, काँच में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रकाश करता है। दूसरा दृष्टांत ले लो : बिना धूप पड़े घास नहीं फैलेगी। घास को सूर्य ही फैलाता है, खूब धूप पड़े तो घास फैलती है। सूर्य घास को पुष्ट करने वाला है। एक उन्नतोदर काँच ले लो। जब सूर्य चमक रहा हो तब उसे सूर्य के सामने करके उसका फोकस, किरण-केन्द्र ठीक घास के तिनके पर लगाओ। थोड़ी ही देर में वह घास जलने लगेगी। घासको कौन जला रहा है? सूर्य ही जला रहा है। सूर्य तो घास को पुष्ट करने वाला है, वह घास को क्यों जलायेगा? यदि उन्नतोदर काँच जलाता होता तो रात को बारह बजे भी जलाता! उस उन्नतोदर काँच या सूर्यकान्तमणि से युक्त सूर्य ही घास को जलाता है, उससे रहित केवल सूर्य घास को जलाता नहीं, उल्टा पुष्ट करता है। घास को पुष्ट करने वाला सूर्य ही सूर्यकांत मणि से युक्त होकर घास को जलाने वाला हो जाता है, न सूर्यकान्तमणि जलाती है और न सूर्य जलाता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा कर्त्ता नहीं है—यह भी शास्त्र कहता है और सब कुछ करने वाला परमात्मा ही है यह भी शास्त्र कहता है। ये बातें विरोधी लगती हैं। परन्तु परमेश्वर तुम्हारी बुद्धि से युक्त 'तुम' (जीवात्मा) बन गया, इसलिये परमेश्वर करता तुम्हारी बुद्धि से युक्त होकर है। इसीलिये कर्म का फल भी तुमको उसी अंतःकरण से युक्त होकर भोगना पड़ेगा। जब कहते हैं कि 'तुम अपना किया भोग रहे हो' तब इस तरह कर्म 'तुम्हारा' अपना किया है। बुद्धि में आया हुआ परमात्मा ही जीवात्मा है। इसलिये 'सब कुछ परमेश्वर करता है' यह ध्रुव सत्य है क्योंकि तुम वही हो जो बुद्धि से युक्त परमात्मा है। कर्त्ता वह है जो ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त बुद्धि या अंतःकरण है।

बुद्धि कैसी है? 'बोधे आनखाग्रगा वपुः व्याप्नुयात्' जाग्रत् अवस्था में नाखून के अग्रभाग तक शरीर घेरकर स्थित रहती है। नख के अग्रभाग को भी कोई स्पर्श करता है तो 'मुझे छुआ'

ऐसा ही लगता है। तात्पर्य है कि सारे शरीर में व्याप्त होकर रहती है। उसी को तैत्तिरीय उपनिषद् में 'विज्ञानमय' शब्द से कहा है। किंतु वह भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि गहरी नींद में यह बुद्धि, जिसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, नहीं रहती। इसलिये गहरी नींद में 'मैं कर्त्ता' यह भाव नहीं रहता। 'मैं' यह भाव ही नहीं रहता क्योंकि बुद्धि लीन हो गई। एक शंका संभव है कि बुद्धि के कारण ही 'मैं' जीवरूप है, बुद्धि लीन हो गई तो जीवभाव लीन हो ही गया। जीवभाव रहा नहीं तो क्या मुक्त हो गया? इसके दो प्रकार के उत्तर होते हैं : एक तो सीधा उत्तर है कि बुद्धि लीन हुई है, बाधित, समाप्त नहीं हुई। चूंकि बुद्धि समाप्त नहीं हुई है, अविद्या में लीन है अर्थात् अविद्यारूप से मौजूद है, इसीलिये समय आने पर पुनः प्रकट हो जाती है। जाग्रत्, स्वप्न में पुनः प्रकट होती है इसलिये मोक्ष नहीं है। लीन अवस्था को ही अविद्या कहते हैं। अगर बुद्धि समाप्त हो जाये, लीन न होकर बाधित हो जाये तो आत्मा मुक्त हो ही जाये। लीनावस्था की बुद्धि है तो सही लेकिन उस समय कार्यकारी नहीं है। थोड़ी देर में कार्यकारी हो भी जाती है तो तुम फिर कर्त्ता बन जाते हो। फिर भी बुद्धि के सुषुप्ति में लीन रहते 'मैं' यह भाव नहीं रह जाता। हर हालत में, वह आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा का कभी विलय भी नहीं होता। आत्मा स्वयं सबका कारण है। किसी का कार्य आत्मा नहीं है। कार्य ही कारण में लीन होता है। अतः सब चीज़ें आत्मा में तो लीन हो सकती हैं, परन्तु आत्मा किसी में लीन नहीं हो सकता। बुद्धि लीन हो रही है, इसलिये आत्मा नहीं है। जीव का व्यावहारिक स्वरूप कर्त्ता-भोक्ता है। आचार्य शंकर बार-बार याद दिलाते हैं कि 'मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता' यही निश्चय बन्धन है। गुजरात में नरसी मेहता बड़े भक्त हुए हैं, वे कहते हैं *'हूँ करूँ हूँ करूँ एज अज्ञान छे'*। आचार्य शंकर कहते हैं 'नाहं कर्त्तेति बुद्धिमान्'। जाग्रत् व स्वप्न में बुद्धि से युक्त होकर मैं कर्त्ता हूँ, मैं *खुद* कर्त्ता नहीं। जब कर्त्ता नहीं तो भोक्ता भी नहीं क्योंकि करूँगा तभी भोगूँगा। चूँकि बुद्धि लीन हो जाती है, आत्मा लीन हो नहीं सकता, इसलिये यह बुद्धि आत्मा नहीं है, यद्यपि है अंतरंग।

मन और बुद्धि प्रायः लोगों को एक लगते हैं, इसलिये यह फरक समझ लेना कि हैं दोनों अंतःकरण ही, इसमें संदेह नहीं है, लेकिन एक औजार है और दूसरा, औजार को चलाने वाला है। औजार चलाने वाले अंतःकरण को बुद्धि कहते हैं और जो चलने वाला औजार है उसी को मन कहते हैं। मन ख़ास करके कामादि अवस्था वाला है। बुद्धि अर्थात् मोटी भाषा में जीव, तब करेगा जब मन इच्छा करेगा। इसलिये कोई कार्य नहीं करना हो तो कहते हैं कि 'मन नहीं कर रहा है' अर्थात् इच्छा नहीं हो रही है। इच्छा के द्वारा बुद्धि प्राण की सहायता से क्रिया करवाती है। कराने वाली तो बुद्धि है, वही करवायेगी, लेकिन मन में इच्छा पैदा करके प्राण से करवायेगी। चूँकि प्राण करता है इसलिये उस के अन्दर सारा बल मानना पड़ता है। करेगा वही, मन इच्छा करेगा और बुद्धि करवायेगी क्योंकि निर्णय करने वाली है। इसलिये निश्चयात्मिका बुद्धि कहते हैं। वेद (बृ. ४.४.५) कहता है 'यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते' जैसा तुम्हारा संकल्प या निश्चय होगा वैसा ही तुम कर्म करोगे। जो तुम्हारे पुराने संस्कार हैं वे सारे चित्त में पड़े हुए हैं। वे संस्कार

बुद्धि में बहते रहते हैं और वे ही तुमसे निर्णय करवाते रहते हैं; परन्तु करने वाले तुम हो। संस्कार तुम्हारे सामने विकल्प उपस्थित कर सकते हैं परन्तु उनमें से कौन-सा संस्कार मानो या न मानो, यह तुम्हारे हाथ में है। जब तक बुद्धि कर्त्ता नहीं बनेगी तब तक कार्य नहीं होगा। चित्त की वृत्ति का प्रवाह संस्कारों से मन में आयेगा। मन में इच्छा तो बहुत-सी चीज़ों की होती है, परन्तु बुद्धि निश्चय करती है कि इनमें से किस पर मोहर मारकर हम क्या करें। इसलिये उसे विज्ञानमय कहा है। विज्ञान बुद्धि को कहते हैं। ज्ञान का केन्द्र बुद्धि, इच्छा का केन्द्र मन और क्रिया का केन्द्र प्राण है। ये तीनों हमारा सूक्ष्म शरीर है। सिवाय ज्ञान, इच्छा, क्रिया के कुछ नहीं हो सकता अतः इन तीन के अन्दर सब कुछ आ गया।

इस प्रकार पहले अन्नमय अर्थात् स्थूल देह फिर प्राण-मन-बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म देह, इन्हें अनात्मा समझाया।। ७।।

स्थूल देह उसे बताया जिसमें बैठकर भोग करते हैं। भोग से यहाँ कर्तृत्व भी समझ लेना। कर्त्ता विज्ञानमय है, जिसके द्वारा करता है वह मनोमय है और क्रिया करने वाला प्राणमय है। इस प्रकार ज्ञानप्रधान, इच्छाप्रधान और क्रियाप्रधान होकर सूक्ष्म शरीर तीन भेदों वाला बताया। जो मन और बुद्धि का भेद कहा था उसी को अब आचार्य स्वयं स्पष्ट करते हैं। मन और बुद्धि अंतःकरण ही हैं इसीलिये मनोमय और विज्ञानमय का भेद जल्दी समझ में नहीं आता इसलिये उसे स्पष्ट करना ज़रूरी है—

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम्।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम्।। ८।।

अंतःकरण कर्तृरूपसे बना हुआ विज्ञान (बुद्धि) है और करणरूप से बना मन है। ये आपस में भीतर-बाहर हैं।

'अन्तरिन्द्रियम्' अर्थात् जो अन्दर की इन्द्रिय है। आचार्य शंकर कहते हैं 'इन्द्रःसर्वकामेश्वरः' इन्द्र सारे जगत् का अधिपति सर्वकामेश्वर है। जीव ही इन्द्ररूप है। इन्द्र जिसके द्वारा करता है वे बुद्धि, मन और प्राण उसकी होने के कारण इन्द्रियाँ हो गयीं। प्राण के साथ बाह्य कर्मेन्द्रियाँ आ गयीं और मन के साथ बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ आ गयीं। ज्ञानेन्द्रियाँ चूँकि ज्ञान या निश्चय कराती हैं इसलिये बुद्धि के साथ उन्हें भी गिना जाता है। हर हालत में, मन-बुद्धि अन्तरिन्द्रियाँ ही हैं। फिर मनोमय और विज्ञानमय दोनों को अलग क्यों कह रहे हैं? इसलिये कि बुद्धि के अन्दर तो 'मैं करने वाला' यह कर्त्तापना या कर्त्तृत्व है; यह अन्तरिन्द्रिय का एक विकार हुआ। दूसरा विकार साधनपरक है। दोनों अनुभव होते हैं : 'मैं सोच रहा हूँ' यह अनुभव भी होता है और 'मैं मन से सोच रहा हूँ' यह अनुभव भी होता है। मन से सोचने पर मन साधन या करण हो गया और 'मैं' सोचने वाला अर्थात् कर्त्ता हो गया। अन्तरिन्द्रिय एक होने पर भी उसमें ये दो विकार अर्थात् परिवर्तन हैं। इसी को बताने के लिये, उपनिषद् में मनोमय को तो वेदरूप बताया : उसका सिर यजुर्वेद है, दोनों भुजायें ऋग्वेद और सामवेद हैं, ब्राह्मणभाग पैर हैं तथा

अथर्वांगिरस पूँछ है। इस प्रकार मन की वेदरूपता बताई चूँकि वेद ही साधन है जिसके द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। विज्ञानमय बताने में श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग और महत् को सिर आदि बताया। ये सारे कर्तृरूप हैं। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग, मह, जिसमें होंगे वही आत्मज्ञान पायेगा, वेद से पायेगा। उपनिषत् में चूँकि आत्मज्ञान का विषय है इसलिये इन्हें खासरूप से बताया, यहाँ सामान्य रूप से जो लौकिक ज्ञान आदि हैं उनके अनुसार बता दिया है। दोनों अन्तरिन्द्रिय के विकार ही हैं। जिन कर्त्ता को बुद्धि और करण को मन कहा वे एक-दूसरे के अन्दर और बाहर हैं। साधन प्रत्यगात्मा से कुछ दूर लगता है जबकि कर्त्तापने के अन्दर प्रत्यगात्मा से ज़्यादा नज़दीकी (एकता) लगती है, 'मैं मन से सोच रहा हूँ'। मैंपने के अन्दर (अहं में) प्रतिबिम्बित को ही चिदाभास कहते हैं इसलिये यह नज़दीक है और साधन होने से अंतःकरण थोड़ा बाहर ही है। यही अन्दर-बाहर होना है। जो प्रत्यगात्मा के विकार को ज़्यादा नज़दीक प्रतीयमान है उस अन्तरिन्द्रिय को कर्त्ता कहा और जो उससे दूर अर्थात् प्रत्यगात्मा से कुछ भिन्न लगता है उसे करण या मन कह दिया।। ८।।

करने या भोगने में कारण क्या है? किस कारण से जीव भोग करता है? इसे बताते हैं कि वह भी आत्मा नहीं—

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते।। ९।।

पुण्य कर्म के फल का भोग होने पर कोई बुद्धिवृत्ति प्रत्यगात्मा की ओर उन्मुख होती है एवं आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेती है तथा कर्मभोग कुछ काल के लिये शांत होने पर (वह वृत्ति) निद्रारूपसे लीन हो जाती है, (उसे आनन्दमय कहते हैं)।

वेदान्त की आधारभूत मान्यता है और लोकसिद्ध भी है कि जो कुछ किया जाता है वह सुख के लिये किया जाता है। कोई व्यक्ति दुःख के लिये प्रयत्न करता नहीं देखा जाता। बुखार आने पर अस्पताल जाते देखा जाता है ताकि बुखार हट जाये। लेकिन कोई अस्पताल जाकर यह नहीं कहता कि 'डॉक्टर साहब! छह साल हो गये, मुझे मलेरिया नहीं हुआ इसलिये मलेरिया हो जाये तो अच्छा है।' यह वेदान्त की मान्यता है और लोकसिद्ध है कि सब सुख के लिये प्रयत्न करते हैं। इससे यह पता लगता है कि आत्मा सुखरूप या आनन्दरूप है। जो भी चीज़ अपने स्वरूप से दूर जाती है वह वापिस स्वरूप की तरफ जाना चाहती है। पानी समुद्र से बादल बनकर पुनः बरस कर पानी के रूप में समुद्र की ओर ही बहने की चेष्टा करता है; कोई रुकावट हो तो नहीं जा पाता, परन्तु जैसे ही रुकावट हटती है वैसे ही वह समुद्र की तरफ जाता है और समुद्र तक जाकर शांत हो जाता है। समुद्र अपने-आप अशांत नहीं होता, भूकम्पादि हेतु-विशेष से उसमें अस्वाभाविक ही अशांति आती है अतः हेतु दूर होने पर चली भी जाती है। मोमबत्ती, दीपक या अग्नि जलाते हो तो अग्नि की लौ ऊपर की तरफ ही जाती है क्योंकि जितनी भी गर्मी या ऊर्जा है वह सब अंततः सूर्य से ही आई है। सूर्य की किरणों से ही पेड़-पत्तियाँ शक्ति संचय

करते हैं। सूर्य की शक्ति को ही पेड़ ने संचय किया इसलिये पेड़ जलकर आग उसी तरफ जायेगी। पेड़ भूकम्प आदि के द्वारा पृथ्वी में दब गये तो पृथ्वी के अन्दर ही जो गर्मी है उससे वे कोयला बन गये; और ज़्यादा समय तक वहाँ रहा तो वही पेट्रोल बन गया। पृथ्वी की गर्मी भी वस्तुतः सूर्य से ही आई है इसीलिये लौ हमेशा ऊपर की तरफ जाती है जबकि पार्थिव चीज़ें पृथ्वी की तरफ जाती हैं। ठीक इसी प्रकार से हर एक जीव सुख की तरफ जाता है, इसका मतलब है कि उसका स्वरूप सुख है। दुःख आने पर सब उसे दूर करना चाहते हैं, सुख आने पर उसे कभी दूर नहीं करना चाहते।

चूँकि आत्मा सुखरूप है इसलिये अंतःकरण की वृत्ति में जब वह प्रतिबिम्बित होता है तब हमको क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है। है तो वह अपना स्वरूपभूत सुख, परन्तु अंतःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने से क्षणिक सुख होता है। क्षणिक सुख भी है अंतःकरण की ही वृत्ति। इच्छा का विषय हमेशा सुखरूप लगता है जिससे इच्छा हमें बाहर ले जाती है। कई बार आदमी डण्डे के ज़ोर से भी करता है लेकिन वहाँ भी डण्डा न खाने की *इच्छा* है इसलिये करता है। अतः कोई भी इच्छा से क्रिया करता है। जिस चीज़ की इच्छा है उसकी तरफ प्रवृत्ति होती है तो वह बहिर्मुखी प्रवृत्ति है। जब इच्छा पूरी होती है, अर्थात् इच्छित विषय मिल जाता है, उसके मिलने के साथ ही वृत्ति को जो इच्छा बाहर धक्का दे रही थी, वह शांत हो गई तो वृत्ति आत्मा की ओर लौटने लगती है अर्थात् अन्तर्मुखी हो जाती है। तब सुख होता है अतः वह अंतःकरण की ही वृत्ति से सम्बद्ध है। जैसे स्प्रिंग को खींचने वाला बल हट जाये तो स्प्रिंग अपनी स्वाभाविक स्थिति पर चला जाता है इसी प्रकार इच्छा-रूप स्प्रिंग को विषय खींचता है, विषय मिलने पर वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। अन्दर आत्मा मौजूद है इसलिये जैसे ही वृत्ति अंतर्मुख होती है, वहाँ मौजूद आत्मा को विषय करती है अर्थात् आत्मा का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है। यही आत्मा वृत्ति का विषय बन जाना है। जैसे वृत्ति घट को विषय करती है तो घटाकार बनती है, इसी प्रकार आनन्द को विषय करती है तो आनन्दाकार बनती है। यह 'शुद्ध' आत्मा का आकार नहीं है। आत्मा शुद्ध रूप में ब्रह्म है। यदि शुद्ध आत्मा के आकार की वृत्ति बन गई होती तब तो तुम्हें नित्य आनन्द की प्राप्ति हो जाती! इच्छापूर्ति से वृत्ति वैसी नहीं बनती किंतु अविद्या के साथ जो उसका रूप है तदाकार बनती है। इच्छा की शान्ति होने पर वृत्ति अन्तर्मुखी होती है और अन्दर आत्मा को ग्रहण करती है, आत्मा आनन्दरूप है इसलिये आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। इसे ही 'काचिद् अन्तर्मुखा वृत्तिः' कहा।

यह वृत्ति कब बनती है? सीधी बात तो यही है कि जब इच्छा के विषय की प्राप्ति होती है तब यह वृत्ति बनती है। इच्छा के विषय की प्राप्ति क्यों होती है? संस्कृत की प्रारम्भ में पढ़ाई जाने वाली पुस्तक 'हितोपदेश' है। उसका पहला पाठ बताता है 'धनात् धर्मः ततः सुखम्'। धन तुमको सीधे ही सुख नहीं दे सकता, धर्म के द्वारा सुख देता है। प्रयत्न से धन प्राप्त करके तुम्हें विषय की प्राप्ति हुई, यह ठीक है परन्तु कितना भी प्रयत्न कर लो, यदि प्रारब्ध नहीं है तो पहले धन की ही प्राप्ति नहीं होगी, फिर धन रहते भी विषय की प्राप्ति नहीं होगी। अंग्रेज़ी में एक

कहावत है कि ओष्ठ और प्याले के बीच में बहुत-सी *फिसलन* होती है। प्याला तुम्हारे पास आ गया और ओष्ठ भी तुम्हारे पास है, फिर भी यदि पीने का प्रारब्ध नहीं है तो तुम्हारे हाथ से फिसल जायेगा। जीवन में अनेक बार अनुभव किया होगा, चीज़ मिलने ही वाली है, बीच में कोई रुकावट नहीं है, फिर भी नहीं मिलती। इसलिये सुख का साक्षात् कारण धर्म है। धर्म हमेशा विषय के द्वारा होगा, धनादि से होगा। जब पुण्य कर्म के फल का समय होता है तब यह वृत्ति अन्तर्मुख बनती है। अंतर्मुख वृत्ति बनने के लिये इच्छा के विषय की उसे प्राप्ति होनी चाहिये, उसी समय यह वृत्ति बनती है।

भोग शांत होने पर अर्थात् पुण्यादि कर्म का फल जो भोग है, उसका काल समाप्त होने पर भोग की निवृत्ति होगी, तब वह वृत्ति चूँकि अविद्या वाले चेतन की तरफ गई थी इसलिये अविद्या में ही लीन हो जाती है। भोग शांत होने पर निद्रा के रूप में लीन हो जाती है अतः कहते हैं कि आनन्दमय कोश में जाते हैं। यह समझ लेना कि पुण्य और पाप दोनों भोग लीन होने पर निद्रा में जाते हैं। केवल पुण्य के भोग के शांत होने पर ही निद्रा नहीं आती, पुण्य-पाप दोनों जब फल देने वाले नहीं होते हैं तब नींद आती है। यदि कभी सूक्ष्म दृष्टि से देखोगे तो पाओगे कि जब कभी सुख के विषय का भोग समाप्त होता है तब झट नींद आ जाती है। दाल का बढ़िया सीरा गले तक भर कर खा लिया तो बिछौने के सिवाय और कुछ नहीं दीखता! दुःख-भोग की शांति में इतनी जल्दी नींद नहीं आती, उल्टा नींद उड़ जाती है। इसलिये यह ठीक है कि पुण्य-पाप दोनों प्रारब्ध समाप्त हों तभी नींद आती है, परन्तु पुण्य का नाम विशेषकर इसलिये लिया कि उसमें निद्रा में लीन होना शीघ्र हो जाता है। यह अंतःकरण की वृत्ति का अविद्या में शांत होना है। क्योंकि जहाँ अंतःकरण की उत्पत्ति बताई वहाँ पहले पंचमहाभूत और फिर उन पंचमहाभूतों से अंतःकरण बना यह बताया, इसलिये अंतःकरण का मूल कारण अविद्या है। अंतःकरण अविद्या में लीन होता है। जो अविद्या वाला ब्रह्म है, उसकी तरफ वृत्ति जाती है, अपने कारण को देखकर वहीं लीन हो जाती है। जब ब्रह्मज्ञान होता है तब वह अविद्या भी ब्रह्म में नष्ट हो जाती है, बाधित हो जाती है। उसके पहले यह अंतःकरण बाधित नहीं होता केवल अपने कारण अविद्या में पुनः लीन होता है। चूँकि अंतःकरण अविद्या में लीन होता है इसलिये उस अविद्या से पुनः वही अंतःकरण प्रकट होकर जीव जगता है अथवा सपने देखता है।। ६।।

कोई कह सकता है कि वहाँ आनन्द की प्राप्ति हो गई तो काम बन गया, इसी को आत्मा का स्वरूप समझ लो अर्थात् आनन्दमय ही आत्मा का स्वरूप है। ऐसा मानने वाले लोग भी हुए हैं। अतः कहते हैं कि दो कारणों से ऐसा नहीं मान सकते—

कादाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम्।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदा स्थितेः।। १०।।

यह आनन्दमय भी कभी ही होने वाला है, अतः अनात्मा है। क्योंकि हमेशा रहता है इसलिये बिम्ब बना जो आनन्द वह आत्मा है।

जो वृत्ति सुखरूप आत्मा की तरफ गयी तथा अविद्या में लीन हुई वह आनन्दमय कादाचित्क है अर्थात् कभी होती है, कभी नहीं भी रहती। जब-जब पुण्यभोग होता है तब-तब वृत्ति आनन्दमय बनती है। पुण्य-भोग में आनन्दाकार वृत्ति बनती है और भोगशांति के अन्दर अंतःकरण या अविद्या में लीन होती है। अतः यह आनन्दमय कदाचित् है। कब हो? जब पुण्य कर्म का भोग हो। हमको जब निश्चित लगता है कि अमुक चीज़ मिल रही है, तभी वह मिलने से रह जाती है! न केवल कभी-कभी होती है वरन् बहुत मुश्किल से होती है, अगर एक दिन के चौबीस घण्टों के अपने व्यवहार को देखो तो उसमें ज़्यादा से ज़्यादा आंनदानुभव या सुषुप्ति की स्थिति कितनी अल्प है यह समझ आ जायेगा। आनन्दमय का रूप बताते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् ने कहा, प्रिय उसका सिर है। आनन्दमय के सिर की जगह प्रिय है क्योंकि जब तक प्रियता नहीं होगी तब तक आनन्द का सवाल ही नहीं है। जैसे किसी का चेहरा देखकर उसे झट पहचान लेते हैं वैसे ही जब प्रियता का अुनभव होगा तभी सुख होगा। फिर मोद होगा। प्रिय चीज़ के दर्शनादि ज्ञानमात्र से सुख होता है जिसे प्रिय कहा, प्रिय चीज़ प्राप्त हो जाये तो और सुख मिल जायेगा जो मोद है। ऐसे समझो कि किसी सेठ ने निमंत्रण दिया—'पंडित जी! आज हमारे यहाँ भोजन कीजियेगा, दाल का सीरा बनायेंगे।' जब वह तुम्हारी थाली में परोसा गया तब निमंत्रण मिलने के समय से ज़्यादा सुख होता है जिसे प्रिय कहा, परोसे जाने के बाद ब्राह्मण पुरुषसूक्त का पाठ करेंगे उसके बाद ही खाना शुरू करेंगे। उस समय परोसे जाने वाले समय से भी ज़्यादा सुख है, वह मोद है। पाठ ख़त्म होते ही जब दाल का सीरा मुँह में डालते हो तब सुख कुछ और ही है! जिसे प्रमोद कहा। आनन्द ही उसका आत्मा अर्थात् प्रिय-मोद-प्रमोद में अनुगत वस्तु है। यही वास्तव में आनंद या सुख है जो तत्तद् वृत्ति में हमें मिले तो प्रिय आदि सुख होते हैं। उस आनंद की वास्तविकता 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा', परब्रह्म है। आनंदमय अर्थात् वृत्तियों के साथ उपलब्ध सुख कभी-कभी होने वाला अतः आत्मा नहीं है।

जन्य सुख की अनित्यता तो प्रत्यक्ष ही है : कितनी बार तुम्हें निमंत्रण देने वाले आ जायेंगे! प्रियता का पहले तो दर्शन ही नहीं होता है; अधिकतर दिन-भर जाग्रत् के सोलह घण्टों को गिनोगे तो दस-बीस ही कोई प्रियता की बातें होती हैं, बाकी सब समय तो कोई दुःखी है, कोई बीमार है आदि प्रकार की बातें ही सामने आती रहती हैं। आगे मोद के अवसर और कम आते हैं। प्रिय चीज़ की बात हो भी जाये परन्तु पदार्थ सामने नहीं आता। जैसे आजकल चुनाव होते हैं तो नेता लोग बहुत प्रिय बातें कहेंगे कि 'हम तुम्हें नौकरी देंगे, सड़कें बढ़िया बना देंगे' इत्यादि; बातों को सुनकर सुख होगा। परन्तु बाद में उनमें से कोई भी चीज़ सामने नहीं आयेगी तो दुःख ही होगा। उसमें, चीज़ सामने आकर भी हमें मिल ही जाये, ऐसा नहीं होता। कई बार महात्मा वेष में भिक्षा लेने जाते हैं; पता लगा कि आज वहाँ दाल का सीरा बना है, मन में खुशी हुई, लेकिन हमसे आगे जो महात्मा गया उसे तो दाल का सीरा मिल गया, परन्तु जब तक हम वहाँ पहुँचे तब तक ख़त्म हो गया! दाल का सीरा सुनकर सुख का अनुभव तो हुआ, लेकिन मिला कुछ और ही। इसलिये प्रियता का अनुभव तो हुआ लेकिन मोद नहीं हुआ। मिलने पर

मोद हो गया तो सामने परोसा हुआ भी मुँह में नहीं जाता! क्षेत्र से निकले, साँड ने या आजकल किसी स्कूटर वाले ने ठोकर लगायी और झोली गिर गयी तो सीरा नाली में जा गिरा! इस प्रकार, से यदि सोलह घण्टे का हिसाब देखो कि सचमुच में कितनी बार सुख का भोग कर पाते हो, तो अत्यल्प मौका मिलता है यह स्पष्ट होगा। अगर पुण्य भोग हो तो प्रमोद होता है परंतु लोग क्या पुण्य करते हैं? महाभारतकार कहते हैं कि लोगों का स्वभाव बड़ा विचित्र है 'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः। न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।' लोग पुण्य के फल सुख को तो चाहते हैं परन्तु पुण्य नहीं करना चाहते। पाप के फल दुःख को नहीं चाहते, परन्तु प्रयत्न कर-कर के पाप करते हैं! पाप करने के लिये नये-नये रास्ते ढूँढते हैं जबकि पाप तो दुःख ही देगा, उससे प्रिय, मोद, प्रमोद कुछ भी नहीं होना है। पुण्य इतना अल्प करते हैं कि बहुत थोड़े से ही मोद, प्रमोद तक जा पाते हैं। इसलिये बहुत कम ही ऐसे अवसर आते हैं कि पुण्य भोग से सुख हो। आनन्दरूप होने पर भी कभी-कभी होता है इसलिये आनन्दमय अनात्मा है। प्रतिबिम्बरूप है इसलिये भी आत्मा नहीं है।

'मैं'-वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला अर्थात् *जो* प्रतिबिम्बित होता है वह आनन्दरूप ब्रह्म ही आत्मा है। इसलिये अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि संसार के सब लोग उस परम आनन्द के छोटे-छोटे अंशों से ही अपने को धन्य समझते हैं। जैसी हमारी वृत्ति होगी वैसा उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा। प्रतिबिम्ब होने से अंशता है। गीता में भी भगवान् ने कहा है 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः' अंश अर्थात् प्रतिबिम्ब; भगवान् कोई टुकड़े होने वाली चीज़ नहीं है कि उसके टुकड़े होकर जीव पैदा हो गये। यदि इतने टुकड़े पैदा हो जायेंगे तो भगवान् बेचारे का क्या बचेगा! अतः 'अंश इव अंशः' अर्थात् प्रतिबिम्ब को ही अंश कहा गया है। वह बिम्बरूप जो आनन्द आत्मा है जिसको प्रिय आदि शब्दों के द्वारा कहा जाता है, जो सब का कारणभूत है, उसे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' कहा। वही आत्मा है क्योंकि वह सर्वदा स्थित है। अंतःकरण में प्रतिबिम्ब तो कादाचित्क होगा, परन्तु वह आनन्दरूप आत्मा हमेशा समान ही रहेगा। जैसे जब-जब तुम्हारे सामने काँच आयेगा तब-तब तुम्हारा प्रतिबिम्ब पड़ेगा, परन्तु तुम्हारा मुँह तो वैसा का वैसा रहेगा। ब्रह्माकार वृत्ति की आवश्यकता क्यों पड़ती है? जैसे तुमने अपने मुँह के ऊपर भस्मी लगाई परन्तु कैसी लगी है—काँच देखो तो इसका निश्चय होगा। निश्चय के बाद हमेशा काँच लिये हुए तो नहीं घूमते पर अब निश्चय रहता है कि भस्मी ठीक लगी हुई है। कोई कह भी दे कि ठीक नहीं लगी तो उससे कहते हो 'तुम्हें ठीक लगी नहीं दीखती होगी, मेरा तो निश्चय है कि ठीक लगी है।' इसी प्रकार जब अंतःकरण मल और विक्षेप दोषों से रहित हो जाता है तब अर्थात् समाधि अवस्था के अन्दर आत्मस्वरूप यथावत् स्पष्ट हो जाता है।

चित्त की एकाग्र अवस्था हो, संशय, विप्रतिपत्तियाँ समाप्त हो चुकें तब जिस आत्मस्वरूप का दर्शन होता है उससे पता लगता है कि 'यह मेरा स्वरूप है।' फिर भी जब मैं बीमार हूँ तब लगता है कि 'मैं सच्चिदानंदरूप नहीं हूँ, मैं तो बीमार हूँ'; कभी प्राण कहेगा कि 'मुझ से चला नहीं जाता', कभी मन कहेगा 'मैं दुःखी हूँ'; तब लगता है कि मैं कहाँ सच्चिदानंदरूप हूँ! वेद

में श्रद्धा पूरी है, कि वेद ठीक कहता है, परन्तु निश्चय इसलिये नहीं हो पाता कि शरीर, मन आदि को देखकर संदेह हो जाता है। जैसे भस्मी ठीक नहीं लगी यह संदेह हो गया तो दर्पण देखने से निश्चय हो जाता है कि ठीक लगी है, इसी प्रकार जब ब्रह्माकार वृत्ति में अपने स्वरूप को प्रतिबिम्बित देखा कि मैं सच्चिदानंदरूप हूँ तब, अंतःकरण चूँकि शुद्ध है अतः जैसा अपना शुद्ध रूप है वैसा ही दीख जाता है। जैसे काँच में *मुँह* तो नहीं दीखा, मुँह का प्रतिबिम्ब ही दीखा लेकिन बिम्ब का ज्ञान हो गया; इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में देखा प्रतिबिम्ब लेकिन स्वरूप का निश्चय हो जाता है। इसीलिये गत अध्याय में कहा था कि शरीर दुःख से तड़पता भी रहे फिर भी संदेह नहीं होगा कि 'मैं दुःख पा रहा हूँ'। इसलिये 'सर्वदा स्थिति' कही क्योंकि आत्मस्वरूप हमेशा केवल आनन्दरूप से ही रहता है। जो आत्मा नहीं होता वह आनन्दरूप एवं नित्य नहीं होता। आकाश को भी अनित्य सिद्ध कर ही दिया था, उससें उत्पन्न हुए सारे अपने आप अनित्य हैं। एकमात्र आत्मा ही सर्वथा एक जैसा हमेशा स्थित है। इस तरह अन्नमय से आनन्दमय तक सभी कोष अनात्मा समझाये।। १०।।

आत्मा अर्थात् जो मैं लगे। हमें 'मैं ब्राह्मण, मोटा' आदि स्थूल शरीर मैं लगता है; 'खाता-चलता' आदि प्राणमय मैं लगता है, 'मैं कामी-क्रोधी' आदि मनोमय मैं लगता है, 'मैं कर्त्ता' यों विज्ञानमय तथा 'मैं सुखी' यों आनन्दमय मैं लगता है। यदि ये अनात्मा हैं तो क्या आत्मा कुछ है ही नहीं? इस प्रश्न को रखते हैं—

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते।। ११।।

शरीर से प्रारम्भ कर निद्रा में अनुभूयमान आनंद तक की वस्तुएँ आत्मा भले ही न हों, किंतु इनसे अन्य कोई 'मैं'-रूप से अनुभव भी तो नहीं होता?

शंका है कि शरीर से लेकर अर्थात् अन्नमयकोश से लेकर निद्रा पर्यन्त अर्थात् निद्रा में होने वाला जो आनन्दमय कोश है वहाँ तक आपने जो कहा कि ये सब आत्मा नहीं हैं, वह ठीक है लेकिन इसके सिवाय और किसी आत्मा का तो अनुभव नहीं है कि यह पता चले कि आप आत्मा किसे समझते हैं? यह सब आत्मा नहीं है, यह तो बौद्धों की समझ में आ गया पर भ्रम यह हो गया कि इसके अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, आत्मा नाम की चीज़ ही नहीं है! इसीलिये बौद्ध अनात्मवादी हो गये। यह बात भी ठीक ही है कि इनके बिना अपने को कभी मैं का अनुभव नहीं होता। वेदान्त में भी सत् चित् आनंद समझने में कठिनता इसीलिये आती है : ब्रह्म नाम-रूप के बिना सिर्फ 'है' तो सिद्ध नहीं होता क्योंकि जो है वह हमेशा नाम-रूपात्मक दीखता है। जगत् दीखता है। नाम-रूपात्मक जगत् के सिवाय 'है' का अनुभव कहीं होता नहीं, केवल 'है' कहीं मिलता नहीं, जब मिलता है तब नाम-रूप के साथ मिलता है। इसी प्रकार से जब चिद्-रूप से देखते हैं तब भी शरीर से लेकर आनन्दमय कोश पर्यन्त ही मैं की अनुभूति रहती है, इन सबको छोड़कर नहीं। ज्ञान भी घट-पट आदि सहित ही मिलता है, अकेला नहीं।

एवं च, शुद्ध आत्मा या 'मैं' सिद्ध होता नहीं और इनसे भिन्न 'मैं' का अनुभव होता नहीं, और न केवल 'मैं' का अनुभव होता है। सारा वेदान्त इसी पर आधारित है कि इन सब नाम-रूपों में प्रतीत होने वाला 'है' इन सबसे अलग होता है, इसी प्रकार इन पाँचों कोशों से एकमेक प्रतीत होने वाला 'मैं' इन पाँचों से भिन्न हूँ। इसीलिये वेदान्त को हमेशा श्रुति प्रमाण सामने रखना पड़ता है क्योंकि बौद्धों की तरह केवल बुद्धि से विचार करें तो यह सब नहीं है—इतना ही सिद्ध होगा। इनसे भिन्न कुछ है यह केवल वेद प्रमाण से ही पता लगता है। वेद प्रमाण से पता लगने के बाद फिर युक्ति प्रवृत्त हो सकती है। बिना वेद पर टिके 'नहीं है' पर ही अटक जाते हैं।।११।।

प्रश्न का उत्तर देते हैं—

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः।
तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत्।। १२।।

यह ठीक है कि निद्रादि (में आनंदमय आदि) का अनुभव होता है, इनसे अन्य कोई अनुभव में नहीं आता, फिर भी ये जिससे अनुभव होते हैं उसे कौन मना कर सकता है!

'बाढम्' अर्थात् तुम ठीक कह रहे हो। निद्रा से लेकर शरीर तक अर्थात् आनन्दमय, बुद्धि, मन, प्राण और अन्नमय—ये ही सब अनुभव में आते हैं। निद्रा का मतलब निद्रा में होने वाला आनन्द है। निद्रा का अनुभव अर्थात् निद्रा के आनन्द का अनुभव। ये सारे ही मैं-रूप से अनुभव में आते हैं; इनसे भिन्न कुछ अनुभव में नहीं आता, यह सच्ची बात है। इन पाँचों से अतिरिक्त आत्मा अनुभव में नहीं आता, यही तो इसे समझने में कठिनाई है! जो अनुभव में नहीं आता उसी को समझना है। कैसे समझें? 'येन एते अनुभूयन्ते' जिसके द्वारा इन सबका अनुभव होता है; वह भले ही अनुभव में नहीं आता, लेकिन उसके द्वारा ही सबका अनुभव हो ही रहा है। इसी प्रकार से नाम-रूप को हटाकर 'है' अनुभव में नहीं आता परन्तु नाम-रूपों में रहने वाला कोई है ज़रूर, यह पता लगता ही है। 'तं को निवारयेत्' उस अनुभव करने वाले को कैसे हटाओगे? वह नहीं होता तो इनका अनुभव कौन करता? इसी तरह, यदि 'है' नहीं होगा तो ये जो 'नहीं है'-रूप नाम-रूप, ये 'है'रूप कैसे होते? यदि अनुभव करने वाला चेतन नहीं हो तो इन सबका अनुभव कैसे हो? जब लम्बे समय तक धीरे-धीरे चिंतन करते हो तब यह बात बिलकुल स्पष्ट भान होती है। आत्मा का अनुभव नहीं होता, परन्तु जहाँ कहीं अनुभव होता है वहाँ अनुभव करने वाला अनुभवरूप आत्मा है, यह निश्चय रहता है। उस अनुभव को कौन अस्वीकार कर सकता है! लम्बे समय तक इसका विचार करना पड़ता है कि कोई है तभी सब चीज़ों का अनुभव होता है।

हमारे मन में दृढ संस्कार है कि जिसका अनुभव नहीं होता वह नहीं होता। यदि शुरू में ही किसी साधक को कह दें 'परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता' तो वह मान लेगा कि परमात्मा है ही नहीं! इसलिये समझाना यही पड़ता है कि उसका साक्षात्कार तब होता है जब ब्रह्माकार

वृत्ति बनती है। कह तो देते हैं, परन्तु क्या इसका साक्षात्कार होता है? साक्षात्कार तो ब्रह्माकार वृत्ति में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के कारण है। उस प्रतिबिम्ब को देखकर श्रुति प्रमाण से पता लग जाता है कि ऐसा बिम्ब है। जैसे घड़ा है, कपड़ा है में 'है' का अनुभव होता है, इसलिये 'है' घड़े-कपड़े से अतिरिक्त है यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध होता है, इसी प्रकार इन पाँच कोशों के अन्दर चेतना है, इसलिये इन पाँच कोशों से भिन्न चेतना भी सिद्ध होती है। इसी को त्वं और तत् पदार्थ का शोधन कहते हैं। इसी अभिप्राय से वेद कहता है कि सारी सृष्टि में जो सद्-रूप है वही शरीर में चिद्-रूप है। सद्-रूप सभी चीज़ों में भासता है और चिद्-रूप शरीर में प्रकट है। केवल आत्मा का अनुभव कभी नहीं होता क्योंकि आत्मा अनुभवरूप है। अनुभव अर्थात् ज्ञान। घड़े का ज्ञान होता है, अर्थात् घड़ा ज्ञात होता है, घड़े का ज्ञान से सम्बन्ध होता है। ज्ञान से घड़े का संबंध हो तब कहेंगे कि घड़ा ज्ञात होता है जैसे सूर्य का जिस किसी चीज़ के साथ सम्बन्ध होता है वह पदार्थ प्रकाशित हो जाता है अर्थात् प्रकाश से सम्बन्ध वाला होता है। ज्ञात मायने ज्ञान से सम्बद्ध, ऐसे ही प्रकाशित मायने प्रकाश के साथ सम्बद्ध। लेकिन सूर्य से क्या प्रकाश सम्बन्ध वाला होता है। नहीं हो सकता! जब प्रकाश से सम्बन्ध वाला नहीं होता तो सूर्य प्रकाशित कैसे होगा? इसलिये वस्तुतः सूर्य *प्रकाशित* नहीं होता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं निकाल सकते कि सूर्य अंधकाररूप है! सूर्य प्रकाशरूप है इसलिये उसका प्रकाश से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार तुम परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते, क्योंकि तुम हो ही परमात्मरूप।। १२।।

इसी बात को आगे समझायेंगे कि अनुभव का विषय हुए बिना वह प्रकाशमान है—

स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया।। १३।।

खुद अनुभूतिरूप होने से (आत्मा) विद्यमान है (जबकि वह) अनुभव का विषय नहीं है। उससे भिन्न ज्ञाता और ज्ञान न होने से वह ज्ञेय नहीं बनता, न कि इसलिये कि वह है नहीं।

आत्मा स्वयं ही अनुभूतिरूप है। स्वयं ही अनुभवरूप होने से इसकी अनुभाव्यता नहीं है, वह अनुभव का विषय नहीं हो सकता। दूसरी चीज़ें पहले अप्रकाशरूप हैं, उनके ऊपर प्रकाश पड़ता है तो वे प्रकाशित हो जाती हैं। परन्तु प्रकाश खुद तो अप्रकाशरूप नहीं है, है ही प्रकाशरूप इसलिये प्रकाश पड़कर प्रकाशित हो जाये यह नहीं हो सकता। यदि आत्मा ज्ञानरूप न होता तो ज्ञान से सम्बन्ध वाला होकर ज्ञात हो जाता, परन्तु चूँकि आत्मा नित्य अनुभव है, इसलिये अनुभव के साथ सम्बन्ध होकर अनुभव की विषयता उसमें नहीं है। जो अनुभूतिरूप न हो उसमें अनुभाव्यता होगी।

अनुभाव्यता क्यों नहीं है? यह समझाते हैं : ज्ञाता अर्थात् जानने वाला प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त नहीं और उससे अलग कोई ज्ञान भी नहीं है। उससे अलग कोई ज्ञाता और ज्ञान नहीं हैं। ज्ञाता बनने के लिये उसी को वृत्ति की उपाधि की ज़रूरत पड़ती है। गहरी नींद से उठकर

कहते हो 'मैं आनन्द से सोया।' वहाँ 'मैं' तो था नहीं! इसलिये गहरी नींद में 'मैं' के बिना भी जाना। वेदान्त ने इसको स्पष्ट करने के लिये उस जानने वाले का नाम 'साक्षी' रखा है। साक्षी भी जानने वाला है, ज्ञाता (प्रमाता) भी जानने वाला है। ज्ञाता 'मैं' की वृत्ति रहते हुए जानने वाला है, साक्षी मैं की वृत्ति के बिना भी जानता है। इसलिये 'मैं आनन्द से सो रहा हूँ,' ऐसा अनुभव कभी नहीं होता, परन्तु 'आनन्द से सो रहा हूँ' यह अनुभव किया तभी याद आ रहा है कि 'मैं आनन्द से सोया था'। याद उसी को आती है जिसे अनुभव हुआ है। इसी तरह अहं के रहते हुए द्रष्टारूप से और अहं के बिना साक्षीरूप से रहने वाला आत्मा ही है। आगे, उसको कौन जाने! साक्षी-स्वरूप भी वही है, द्रष्टा-स्वरूप भी वही है। एक तो, ज्ञाता उसके अतिरिक्त दूसरा नहीं; दूसरे, ज्ञान भी उसके अतिरिक्त नहीं है। आत्मासे अन्य ज्ञाता एवं ज्ञान का अभाव होने से आत्मा अज्ञेय है, जाना नहीं जा सकता। ज्ञानस्वरूप साक्षी होने के कारण निद्रा के अन्दर वही जानने वाला रहता है। उससे भिन्न कोई ज्ञान नहीं जिससे उसका सम्बन्ध होकर वह ज्ञात हो जाये, इसलिये भी अज्ञेय है। जो प्रकाशित नहीं होता, उसे सामान्यतः अंधकाररूप माना जाता है; प्रकाशित नहीं होता अर्थात् दीखता नहीं है। अँधेरे में बैठा हुआ देवदत्त दीखता नहीं है, जब टार्च से देखेंगे, तब उसका पता लग जायेगा। उसको कहते हैं कि वह प्रकाशित हो गया क्योंकि पहले अंधकाररूप था। परन्तु इस तरह सूर्य को तो नहीं कह सकते कि वह 'प्रकाशित' हो गया! सूर्य अप्रकाशित है, यह कहते ही लगता है कि सूर्य अंधकाररूप है जबकि सूर्य अंधकाररूप नहीं है। इसी तरह सनातन ज्ञानरूप होने से वह ज्ञानविषय या ज्ञेय नहीं। किंतु ऐसा नहीं कि वह है नहीं या ज्ञान नहीं। वह कभी अज्ञात है ही नहीं, इसलिये अज्ञेय है। ज्ञेय अर्थात् जानने के योग्य वही होता है जो जाना नहीं गया। आत्मा हमेशा ही ज्ञानरूप है इसलिये कभी भी बिना जाना हुआ होता ही नहीं। इस प्रकार जैसे विशेष-सम्बद्ध ही मिलने पर भी सामान्य स्वतन्त्र ही स्वीकार है वैसे कोश-सम्बद्ध ही मिलने पर भी आत्मा इनसे स्वतंत्र है। अतः शुद्ध का अनुभव न होने पर भी वह है, यही समझ सकते हैं।। १३।।

इसे दूसरे दृष्टांत से समझाते हैं–

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम्।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम्।। १४।।
अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता।
मा भूत् तथाऽनुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ।। १५।।

मिठास आदि जिनका स्वभाव है वे अन्य पदार्थों में अपना गुण अर्पित करते हैं। स्वयं में वह गुण अर्पित करने की ज़रूरत नहीं और न कोई अन्य उनमें वह अर्पित करने वाला है भी। यद्यपि दूसरा अर्पित करने वाला नहीं, तथापि ये वस्तुएँ (मिठास आदि) उन स्वभावों वाली ही हैं। इसी तरह आत्मा में अनुभवविषयता न हो तो भी उसकी अनुभवरूपता हटती नहीं।

गुड़-चीनी आदि स्वभाव से मीठे हैं। उन्हें डालने से लड्डू आदि मीठे होते हैं। स्वयं चीनी कुछ डालने से मीठी नहीं, स्वभाव से ही है। गुड़ कम डालो तो लड्डू कम मीठा और ज़्यादा मीठा तब है जब गुड़ ज़्यादा डाला है। गुड़ को तो तुम कम मीठा या ज़्यादा मीठा नहीं कह सकते क्योंकि गुड़ है ही मिठासरूप। इसी प्रकार खटाई में है; नींबू का रस या इमली का रस साँभर में कम ज़्यादा पड़े तो साँभर कम खट्टा या ज़्यादा खट्टा हो, किंतु नींबू या इमली में खटास की कमी या अधिकता नहीं कह सकते। गुड़ अपना मिठास लड्डू को देता है, नींबू का रस या इमली का रस अपना खटास साँभर को देता है। यदि प्रश्न करो कि इमली का रस किससे खट्टा हुआ? तो क्या बताया जाये! यही कह सकते हैं कि वह खुद ही खट्टा है। ऐसे ही गुड़ किससे मीठा हुआ? यही कहोगे कि गुड़ खुद ही मीठा है। कोई दूसरा उसे अपना मिठास या खटास दे ऐसा नहीं है, क्योंकि माधुर्य आदि ही उसका रूप है, स्वभाव है। यह कैसे पता लगता है? अन्यत्र अर्थात् अपने से भिन्न लड्डू आदि पर वह अपने मिठास आदि को अर्पण करता है; तथा स्वयं उसे कोई मिठास दे, ऐसे किसी दूसरे की अपेक्षा गुड़ादि को नहीं है। उसे मीठा बनाने वाली कोई दूसरी चीज़ है भी नहीं! जैसे गुड़ को मीठा बनाने वाली कोई दूसरी चीज़ नहीं, फिर भी गुड़ मीठा है, इसी प्रकार आत्मा अपने को खुद जानता है; आत्मा को कोई दूसरा जानता हो, ऐसा नहीं है क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

इसलिये आत्मा कभी जाना नहीं जाता, अनुभव का विषय नहीं होता। उसको जानने का मतलब यह है कि उसके प्रतिबिम्ब को देखकर उसका पता लगता है। जैसे तुम्हारी आँख सब चीज़ों को देखती है, खुद अपने को तो नहीं देखती। यदि उसे अपने को देखने की ज़रूरत पड़े तो सामने काँच में देखकर पता चलता है कि आँख में फुंसी हो गई। आँख खुद उसे नहीं देख सकती, प्रतिबिम्ब देखकर पता लगता है कि आँख में फुंसी है। इसी प्रकार से ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब को देखकर आत्मा की ब्रह्मरूपता का पता लग जाता है। आत्मा की अनुभाव्यता नहीं अर्थात् आत्मा कभी जाना नहीं जाता, लेकिन खुद ही ज्ञानरूप है। आत्मा अनुभवस्वरूप होने के कारण अनुभव का विषय नहीं है। एक प्रश्न होता है कि यदि आत्मा हमेशा ज्ञात है, ज्ञानरूप है तो वेद आदि सद्ग्रन्थ क्यों कहते हैं कि आत्मा का दर्शन करो? जानना दो तरह का होता है। हम सवेरे नगरपालिका में काम करने जाते हैं। एक दूसरा व्यक्ति भी उसी नगरपालिका में काम करने जाता है। रोज़ उसे जाते देखते हैं अतः उसे जान भी रहे हैं। फिर भी, वह कौन है—यह नहीं जानते। किसी दूसरे से पूछते हैं कि कौन है। वह बताता है कि यह नगरपालिका में कमिश्नर है। उसे देख तो रोज़ रहे थे, जान रहे थे, परन्तु सचमुच वह कौन है, यह नहीं जानते थे। उसे मनुष्यरूप से जानने पर भी कमिश्नररूप से नहीं जानते थे । जानी हुई चीज़ को जानना इसी प्रकार का होता है। इसी प्रकार आत्मा को हम लोग 'मैं'-रूप से जान रहे हैं, परन्तु वही आत्मा सर्वेश्वर सर्वव्यापक है, सबका कारण है, सब में मौजूद है, यह बात नहीं जानते। इस बात का परिचय वेद कराता है। कराता उसी का परिचय है, किसी अज्ञात चीज़ का परिचय नहीं कराता। उसे ही तुम मैं देख रहे हो, मैं की प्रतीति आत्मा की हो रही है। आत्मा को देखते हैं,

फिर भी वह ढँका हुआ है। जैसे दृष्टांत में कमिश्नर है—यह नहीं जानते, इसी प्रकार 'मैं' आत्मा साक्षात् शिव है, इस बात को नहीं जान रहे हैं। इसका परिचय वेद करा देता है। अभी हम आत्मा को करीब-करीब मैला ढोने वाले की तरह जानते हैं! पेट में टट्टी-पेशाब उठाकर घूमते-फिरते हैं। सवेरे भोजन कर लिया, दो घण्टे में उसका टट्टी-पेशाब बन गया, शाम को आठ बजे पेट खाली करने जाओगे। तब तक दिन भर टट्टी-पेशाब को ही ढोते रहे। रात में नौ बजे खाना खा लिया, फिर मल-मूत्र बन गया। सवेरे पाँच बजे तक उसे पेट में ढोते रहते हो। अपने को मल-वाहकरूप जानते हो जबकि मल-मूत्र ढोने वाला शरीर तुम नहीं हो। शरीर का मलमूत्र *तुम* नहीं ढो रहे हो, शरीर को अपना रूप मान कर जबर्दस्ती मल-वाहक बन रहे हो। दृष्टांत में पता लगा कि वह कमिश्नर है, वैसे ही आत्मा का पता लगता है कि यही सर्वेश्वर सर्वज्ञ है।। १४—१५।।

आत्मा यों सदा भासमान है इसे शास्त्र से प्रमाणित करते हैं—

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद् भासतेऽखिलात्।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत्।। १६।।

यह स्वप्रकाश है, इस सारे (जगत्) से पहले ही भासमान है। उसके भासने के बल पर ही उसके भान से जगत् प्रतीत होता है।

आत्मा स्वयंज्योति है। याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में प्रश्न किया गया 'किंज्योतिरयं पुरुषः' किस प्रकाश से तुम काम करते हो? कहा, सूर्य की रोशनी में करते हैं। जब सूर्य अस्त होता है तब? चन्द्रमा की रोशनी में काम करते हैं। अमावस्या की रात को? तारों के प्रकाश से काम चलता है। भाद्रपद की अमावास्या को आग जलाकर काम चलाते हैं। आग बुझ जाये तो जो रोज़ाना उस रास्ते से आते-जाते हैं, इसलिये, उन्हें पता रहता है कि कहाँ गड्ढा आ रहा है, वे बोल देते हैं तो उनके शब्द से जानकर गड्ढे से बच कर चले जाते हैं। कोई साथ नहीं हो जो बताये तब भी काम चलता है, तब तुम खुद अपनी ज्योति से काम करते हो! अगर वह खुद की ज्योति न हो तो न सूर्य का प्रकाश काम देगा न चन्द्रमा और शब्द का ही प्रकाश काम देगा। तुम स्वयं ज्योति हो तब तक तो सब काम कर देंगे। वह 'तुम' नहीं हो तो अन्य सारे प्रकाश भी अंधकाररूप हैं; स्वयंज्योति आत्मा है अतः इसके सामने सब प्रकाशित होते हैं, इन सबकी प्रतीति होती है। नृसिंहतापनीय (उ.ता.२) में श्रुति है 'अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातम्' अर्थात् पहले 'मैं' प्रतीयमान होगा तब देखना, सुनना, खाना, पीना, सोचना आदि सब हो सकता है। बिना 'मैं' के तो ये सब कुछ नहीं हो सकते।

इसलिये वेद कहता है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' पहले ज्ञानस्वरूप प्रत्यगात्मा का भान है, तब बाकी सब भान होते हैं। इसलिये मारवाड़ी भाषा में कहावत है कि 'आप डूबो, जग डूबे' जब तक तुम हो तब तक सारा जग है। यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा मकान है—ये सब तब तक हैं जब तक तुम हो। तुम नहीं रहे तो सब खत्म हो गये; मैं-रूप से आत्मा का भान

होकर बाकी सबका भान होता है। उसके प्रकाश से यह सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है। 'तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। यह श्रुति आत्मा की स्वप्रकाशता को बिलकुल स्पष्ट कर देती है।। १६।।

इसी पर एक और श्रुति का उद्धरण भी देते हैं—

येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम्।
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम्।। १७।।

जिससे ये सब जानते हैं उसे और किससे जानें? जानने वाले को कोई किस से जाने? ज्ञेय के ज्ञान के लिये ही साधन समर्थ होते हैं।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्, विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' (बृ.२.४.१४) इसी श्रुति के अधिकांश शब्दों के द्वारा यह श्लोक बना है। थोड़ा परिवर्तन है ही। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' का विचार करते हुए बताया कि इदं का मतलब अपने से भिन्न जो कुछ भी वह सब है। सारे संसार का विचार करके देखो तो वह दो भागों में बँट जाता है—दृक् और दृश्य। एक देखने वाला और दूसरा जिसको देखता है। 'मैं' को छोड़कर जो कुछ भी संसार में है वह सब दृश्य है। एकमात्र 'मैं' ही दृश्य नहीं है। 'मैं' के द्वारा ही सब जाना जाता है। 'मैं' को अहंकार की वृत्तिरूप 'मैं' नहीं समझ लेना, क्योंकि गहरी नींद वृत्ति-रूप 'मैं' नहीं जानता। गहरी नींद के सुख को मैं मन की वृत्ति से नहीं जानता क्योंकि वहाँ मन नहीं है, परन्तु जान तो मैं रहा हूँ क्योंकि उठता हूँ तो 'मैंने जाना,' ऐसी स्मृति करता हूँ। सुषुप्ति में भी जो जानता है वह साक्षात् चैतन्य मैं है। वही चैतन्य यहाँ भी जान रहा है। 'मैं' अर्थात् अहंकार वाला, जान रहा हूँ; मैं घड़े को जान रहा हूँ—इस अहंकार वाले के ज्ञान का भी तो ज्ञान हो रहा है, अन्यथा 'मैंने जाना' इस का संस्कार भी न रहे जबकि रहता है। 'येन' अर्थात् जानने वाला साक्षिचैतन्य। कर्त्तारूप से जानने वाला अर्थात् ज्ञाता 'येन' का अर्थ नहीं। वह जैसे सुषुप्ति में जानता है वैसे ही जाग्रत् के अन्दर सुख-दुःख को जानता है। सुख-दुःख तो खुद ही मन की वृत्ति हैं, घड़े की तरह कोई बाह्य चीज़ें तो हैं नहीं। मन की वृत्ति ही सुखरूप है अतः उसको जानने वाला मन से भिन्न है। सुख-दुःख को जानने वाला साक्षी है अतः सुख-दुःख भी 'इदं' कोटि में आता है। जिस साक्षी चैतन्य के द्वारा इन सबको जानते हैं 'तं केन विजानीयात्' उस साक्षी को कैसे जानें? यदि साक्षी से भिन्न होगा तो दृश्य होगा और दृश्य द्रष्टा को कैसे प्रकाशित करे? साक्षी से भिन्न जो होगा वह अनात्मा होगा और अनात्मा होने से जड होगा। साक्षी यदि आत्मा है तो दूसरे किसके द्वारा जाना जाये? 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्'? उस आत्मा से अतिरिक्त कौन दूसरा आत्मा हो सकता है जो उसे जाने? सारे दृश्य को जो जानने वाला है, कौन ऐसा हो सकता है जो उसे जाने? कोई भी दृश्य ऐसा नहीं हो सकता। और द्रष्टा कभी दृश्य होता ही नहीं है।

जो वेद्य हो अर्थात् जाना जा सकता हो उसको ही जो ज्ञान का साधन मन है वह जान

सकता है। जानने वाला आत्मा है। वह आत्मा 'अहम्' इत्याकारक वृत्ति के साथ सम्बद्ध होकर आँख के सामने घड़ा आने पर उसको जानता है। जानने में सामर्थ्य वाला मन है, परन्तु मन भी, जो जाना जा सकता है उसी को जानेगा। मन साधन है, वह वेद्य को तो जान सकता है, परन्तु मन भी साक्षी के लिये दृश्य कोटि में ही है, इसलिये मन अपने जानने वाले को जानने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिये श्रुति कहती है 'नैव वाचा न मनसा' (कठ ६.१२)। न वाणी उसको प्रकाशित कर सकती है और न मन उसको प्रकाशित कर सकता है। बिना वाणी और मन के भी उसे नहीं समझ सकते लेकिन वाणी और मन के द्वारा भी उसे नहीं समझ सकते! यह करीब-करीब ऐसी ही बात है जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को देखने के लिये कहते हैं कि 'वह सामने नीम के पेड़ के ऊपर दो डालियों के बीच में है' जबकि चन्द्रमा उन दो डालियों के बीच में नहीं है। फिर भी दो डालियों के बीच में नज़र ले जाने से चन्द्रमा दीख जाता है। दो डालियों के बीच में न होने पर भी तुम्हारी नज़र दो डालियों के बीच में जाती है तो तुमको उसका दर्शन हो जाता है जो दो डालियों के बीच में नहीं है। इसी प्रकार, वह न ईश्वर बना और न जीव बना, परन्तु जीव और ईश्वर की तरफ दृष्टि लगाते हो तो इन दोनों उपाधियों को छोड़कर वह शुद्ध ही रह जाता है। अतः वाणी और मन का विषय नहीं; फिर भी मन और वाणी से प्रयत्न करके ही मिलता है।। १७।।

आत्मा स्वप्रकाश है इसी में और श्रुतिवचन का परामर्श करते हैं—

स वेत्ति वेद्यं तत् सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता।
विदिताविदिताभ्यां तत् पृथग्बोधस्वरूपकम्।। १८।।

जो कुछ ज्ञेय है उस सबको वह आत्मा जानता है, अन्य कोई उसे (आत्मा को) जानने वाला नहीं। ज्ञानस्वरूप वह चेतन ज्ञात-अज्ञात से अलग है।

श्रुति कहती है 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वे. ३.१९) जो भी ज्ञान का विषय हो सकता है उन सबको वह तो जानता है पर उसे जानने वाला कोई नहीं। 'वेद्य' कहने से सारे विषय आ गये। कई बार कह देते हैं कि वह खुद ही खुद को जानता है क्योंकि समझाने के लिये शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है; लेकिन खुद को खुद से जानना कहने से कर्तृ-कर्म-विरोध हो जाता है। 'अपने को ही जाने' यह कहना वैसा ही है जैसे कहना कि सूर्य अपने को प्रकाशित करता है। सचमुच में सूर्य अपने को प्रकाशित करता नहीं है, सूर्य प्रकाशरूप है परन्तु चूँकि हमें संस्कार है कि बिना प्रकाशित हुए कोई प्रकाश में आता नहीं, इसलिये समझाने के लिये कह दिया जाता है कि सूर्य खुद अपने को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार यद्यपि ज्ञानरूप है अतः स्वयं को नहीं जानता, तथापि अज्ञायमान नहीं है यह समझाने के लिये 'खुद को जानता है' कह सकते हैं। युक्ति से तो खुद को ही खुद जानता है कहने में कर्तृ-कर्म-विरोध है। ज्ञानस्वरूप वही सारे वेद्यों को जानता है, उसको जानने वाला कोई दूसरा नहीं है। श्रुति यह भी कहती है 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिताद् अधि' (केन १.३) वह जाना हुआ भी नहीं है और नहीं जाना

हुआ भी नहीं है! जैसे सूर्य किसी के द्वारा प्रकाशित नहीं है, तो किसी के द्वारा प्रकाशित हुए बिना क्या अप्रकाशित है? अप्रकाशित भी नहीं है। सूर्य न प्रकाशित और न अप्रकाशित है क्योंकि प्रकाशरूप है। इसी प्रकार आत्मा जाना हुआ भी नहीं है, क्योंकि खुद ही ज्ञानरूप है और इसीलिये नहीं जाना हुआ भी नहीं है, दोनों से पृथक् है। ज्ञान से जो अलग होता है वही ज्ञात और अज्ञात होता है। ज्ञान से सम्बद्ध हुआ तो ज्ञात और ज्ञान से असम्बद्ध हुआ तो अज्ञात। अपने से अपना सम्बन्ध तो नहीं हो सकता! फिर भी आत्मा अज्ञात नहीं है क्योंकि 'नहीं जाना हुआ' नहीं है। वह बोधस्वरूप है। जहाँ कहीं ज्ञान होता है, इसलिये होता है कि आत्मा है। इस प्रकार युक्तिपूर्वक श्रुति-विचार से ज्ञानरूप आत्मा स्थापित हुआ।। १८।।

घड़ा हो या कपड़ा, है तभी जानते हो; जो नहीं है उसे तो जानते नहीं! 'है' से सम्बन्ध वाले घड़े-कपड़े को ही जानते हैं। फिर भी लोग पूछते हैं कि सद्रूप ब्रह्म कहाँ है? क्या बतायें! रात-दिन जान रहे हो 'यह लड्डू है, कपड़ा है' आदि, फिर भी पूछते हो 'है' क्या है? इसी प्रकार रात-दिन जान रहे हो और फिर कहते हो 'चिद्रूप कैसा है, नहीं जानते।' सद्रूप भी ब्रह्म और चिद्रूप भी ब्रह्म है। सत् और चित् दोनों एक साथ ही तुम्हारे अन्दर मौजूद हैं पर फिर भी लगता है कि सत् चित् ब्रह्म को नहीं जानते! जानते हुए भी कोई कहे 'मुझे पता नहीं' तो उससे क्या कहा जाये! यही व्यक्त करते हैं—

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथञ्चन जायते।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम्।। १९।।

सदा विद्यमान ज्ञान के बारे में भी जिसे किसी तरह ज्ञान नहीं होता ऐसे मनुष्यतुल्य आकार वाले मिट्टी के लोंदे को शास्त्र कैसे समझाये!

ज्ञानके बारे में उक्तविध प्रश्न की विद्यारण्य स्वामी हँसी उड़ाते हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा प्रश्न करने वाला मनुष्य का आकार लिये हुए है, परन्तु है बिलकुल मिट्टी का लोंदा ही! जो रात-दिन कहता है 'मैं जानता हूँ,' फिर पूछता है, 'जानना क्या होता है? मुझे पता नहीं।' उसे समझदार नहीं कह सकते। रात-दिन तुम *जानते* हो। पूछें—जानना क्या है? कहते हो 'यह नहीं जानते!' विदित और अविदित दोनों से अतीत जो बोध है उसे कहते हो 'अनुभव नहीं हो रहा है' तो मात्र नासमझी है। रात-दिन सच्चित् की बात करते हुए कहना 'मुझे उसका अनुभव नहीं हो रहा है' वैसा ही है जैसे रोशनी में चीज़ें देखते हुए कहना कि रोशनी नहीं दीख रही। मिट्टी का लोंदा नहीं है क्योंकि मिट्टी का लोंदा तो जानता नहीं, फिर भी नर अर्थात् जानने वाले की आकृति के लोंदे-सा है क्योंकि अतीव अविवेकी है। आकृति को देखते हैं तो जानने वाले की दीखती है, परन्तु जब बोलता है तब पता चलता है कि लोंदे-सा है क्योंकि घट आदि का ज्ञान होने पर भी कहता है कि अनुभव नहीं है, साक्षात्कार नहीं है! उसको शास्त्र कैसे जनावे अर्थात् शास्त्र भी उसकी कोई मदद नहीं कर सकता। जैसा मनु ने कहा है कि जो दोनों आँखों से अन्धा है उसके लिये रोशनी व्यर्थ है; दोनों आँखें नहीं हैं तो रोशनी कोई फ़ायदा नहीं पहुँचा

सकती; इसी प्रकार जो शास्त्र के अक्षरों को देखकर उनके वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकता क्योंकि उसमें समझने की प्रज्ञा नहीं, शास्त्र भी उसके लिये व्यर्थ है। जैसे अंधे के लिये प्रकाश व्यर्थ है वैसे ही प्रज्ञाहीन के लिये शास्त्र व्यर्थ है। इसलिये कहा कि शास्त्र उसे कैसे ज्ञान करावे!

ऐसा कोई दूसरा नहीं है, हम ही लोग हैं! 'मैं' क्या हूँ इसको नहीं जानते। जब हम कहते हैं कि 'तुम ब्रह्म हो' तो 'तुम' से तुम 'मैं' ही समझो। गुरु दे उपदेश 'तत्त्वमसि' तू ब्रह्म है, तो शिष्य को समझना चाहिये 'मैं ब्रह्म हूँ'। तुम ब्रह्म नहीं होते तो तुम्हें ब्रह्म दिखा देते। जब हो ही तुम ब्रह्म तो यह बता ही सकते हैं कि तुम ब्रह्म हो। जब कहते हो 'मैं ब्रह्म हूँ इस बात को नहीं जानता' तब अर्थात् कह रहे हो कि मैं अपने को नहीं जानता! क्योंकि आत्मा दृश्य के रूप में नहीं जाना जा सकता इसलिये श्रुति मूर्त और अमूर्त सारे दृश्य पदार्थों को दो भागों में बाँटते हुए हर चीज़ को 'नेति नेति' से 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' यों मना करती चली गई। सब चीज़ों को मना करने के बाद जब कोई ऐसी चीज़ नहीं रही जिसे 'ना' कहें तब तुम तो रह ही गये! वही तुम ब्रह्म हो। दूसरी चीज़ों से मिलकर कह रहे हो 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'। जैसे ब्राह्मण किसी स्कूल-कालेज में पढ़ता है, वहाँ सब जाति के लोग पढ़ते हैं, वह देखता है कि खाना-पहनना आदि सारे व्यवहार हमारे समान हैं। उसे भ्रम हो जाता है कि 'मैं भी बाकी लोगों की तरह एक आदमी हूँ, उसके सिवाय, ब्राह्मण कहा जाऊँ ऐसा मैं क्या हूँ!' इसी प्रकार हम रात-दिन पंचकोशों के साथ रहते हैं, इसलिये हमें भ्रम हो जाता है कि ये पंचकोश ही तो हम हैं, और क्या हैं! पंचकोशों के साथ रहते-रहते यही लगता है कि पंचकोशरूप ही मैं हूँ। विशेष योग्यता के द्वारा पता लगता है कि मैं कौन हूँ।

परशुराम का नियम था कि किसी क्षत्रिय को शस्त्रादि की शिक्षा नहीं देते थे। ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी को नहीं पढ़ाते थे। कर्ण शिक्षा प्राप्त करने के लिये उनके पास गया। सामान्यतः सब जानते थे कि कर्ण सूतपुत्र है। इसलिये कोई बड़े आचार्य इसे शस्त्रविद्या सिखाना नहीं चाहते थे। परशुराम पृथ्वी पर तो आ नहीं सकते थे क्योंकि राम जी ने अपने बाण से उनकी पृथ्वी पर आने की शक्ति को ख़त्म कर दिया था। इसलिये उनके लिये यह प्रश्न ही नहीं था कि पता लगायें कि कर्ण जाति से कौन है? कर्ण ब्राह्मण बनकर उनके पास गया और कहा—'मैं ब्राह्मण हूँ, आपसे शस्त्रविद्या सीखना चाहता हूँ।' उन्होंने कर्ण को सिखा दिया। दीखने को तो ब्राह्मण भी वैसी रोटी खायेगा, वैसा ही कपड़ा पहनेगा जैसे अन्य। परशुराम उसे ब्राह्मण ही समझते रहे और काफ़ी विद्या सिखा गये। कर्ण बहुत योग्य था, सीख भी बहुत अच्छी तरह रहा था। परशुराम का उससे बहुत प्रेम था। वह एक बार कर्ण की गोद में सिर रख कर सो रहे थे। उन्हें गोद में नींद आ गई। थोड़ी देर बाद एक भौंरे ने आकर कर्ण की जाँघ में इतने ज़ोर से काटा कि उसकी जाँघ से खून निकलने लगा, फिर भी कर्ण स्थिर बैठा रहा ताकि गुरुजी की नींद में कोई खलल न पड़ जाये। कर्ण की जाँघ से खून निकलकर बहते-बहते परशुराम की कमर में छू गया! गरम-गरम खून लगने से उनकी आँख खुल गई। देखा कि खून कहाँ से आ रहा है। पता लगा कि कर्ण की जाँघ से बहकर आ रहा है। पूछा 'यह क्या हुआ?' कर्ण ने कहा

कि 'कुछ नहीं है, एक भौंरे ने काट लिया था। आप सो रहे थे, आपको नींद में विक्षेप न हो इसलिये बैठा रहा।' उसने तो सोचा था कि गुरु जी को विक्षेप न पहुँचाकर मैंने बड़ा अच्छा काम किया, लेकिन परशुराम समझ गये और उससे कहा 'तू झूठा है, तू ब्राह्मण नहीं है। केवल इतना ही नहीं कि तू ब्राह्मण नहीं, तू क्षत्रिय है। इस प्रकार से खून निकले और ऐसे चुप बैठा रहे तो वह ब्राह्मण नहीं हो सकता। ऐसा तो क्षत्रिय ही कर सकता है। तू क्षत्रिय ही है। मैंने तुझे सिखा तो दिया है लेकिन तूने ब्राह्मण बन कर सीखा है, इसलिये इस शस्त्र-विद्या को ब्राह्मण की तरह सिखा तो सकता है, परन्तु क्षत्रिय होकर युद्ध में इससे काम कर सके, यह नहीं होगा। ब्राह्मण बनकर विद्या सीखी है तो ब्राह्मण बनकर ही सिखा सकेगा।' कर्ण को खूब शस्त्रज्ञान था परन्तु लड़ाई के काम का नहीं था। भीष्म इस बात को जानते थे, उन्होंने स्वयं भी परशुराम से सीखा था, भीष्म का उनके साथ हमेशा सम्बन्ध रहता था। जब महाभारत युद्ध शुरू हुआ तब रथी, महारथी, अर्द्धरथी आदि की गणना हुई तो भीष्म ने कर्ण को अर्द्धरथी गिना। स्वभावतः कर्ण को गुस्सा आना था ही क्योंकि वह अपने को महारथी मानता था। तब भीष्म ने कहा 'देख, दुर्योधन के आग्रह से मैंने तुझे अर्द्धरथी की श्रेणी में रखा है, वरना तू अर्द्धरथी के लायक भी नहीं है। मैं पक्षपात नहीं कर रहा हूँ। तू शस्त्रविद्या तो महारथी से भी ज़्यादा जानता है, परन्तु तेरी विद्या युद्ध के काम में आने वाली नहीं है। दुर्योधन राजा है, तुझे मानता है, इसलिये उसका मन रखने के लिये मैंने अर्द्धरथी गिन लिया!' क्षत्रिय का वैशिष्ट्य है कि समय आने पर उसकी शस्त्रविद्या, वीरता प्रकट हो। इसी प्रकार से समान खाते, पहनते देखकर तो जैसा ब्राह्मण वैसा ही अन्य भी दीखेगा परन्तु ब्राह्मण का वैशिष्ट्य समय आने पर प्रकट हो जाता है।

इसी प्रकार हमेशा पंचकोशों के साथ रहते-रहते 'ये पंचकोश ही हम हैं' ऐसी प्रतीति होती है। लगता है कि इसके सिवाय हम कुछ नहीं हैं। परन्तु अन्वय-व्यतिरेकरूप विचार करने से, व्यक्ति जब अपने को देखता है कि मैं क्या हूँ और क्या नहीं हूँ, तब एक-एक करके पाता है कि ये सारे कोश मैं नहीं हूँ। विचार के द्वारा देखता है तो पता लगता है कि ये सब मैं नहीं हूँ। 'नेति नेति' के द्वारा इन सबका निषेध कर देने पर निश्चय हो जाता है कि ये सारे के सारे मैं नहीं हूँ। फिर भी केवल ज्ञानस्वरूप 'मैं' रह ही जाता हूँ क्योंकि सबका निषेध कर देने पर भी 'मैं नहीं हूँ' ऐसा होता नहीं है। नेति नेति के द्वारा जब पता लगता है कि क्या मैं नहीं, तब जो बच जाता है वह 'मैं हूँ'। लोष्टसम आकृति वाला नर पूछता है कि फिर क्या बच गया? जो निषेध करने वाला था वही तो बच गया और वह तू ही है! परन्तु जिसमें प्रज्ञा ही नहीं है, उसे लगता है कि कुछ नहीं बचा! तात्पर्य है कि स्वात्मा ज्ञानविषय नहीं फिर भी स्वप्रकाश होने से निषेध किया जाये ऐसा नहीं। वह सच्चिद्रूप ब्रह्म ही है।। १९।।

ज्ञान समझ नहीं आता—यह बात कैसी है? इसे दृष्टांत से बताते हैं—

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी।। २०।।

'मेरी जीभ है या नहीं?' यह पूछना जैसे केवल शर्मिन्दगी का हेतु है वैसे 'मुझसे ज्ञान समझा नहीं जाता, समझना पड़ेगा'—यह कथन भी है।

शब्दोच्चारण के आठ साधन हैं—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दाँत, होठ, नासिका, उर, शिर, परन्तु जब तक जीभ इन साधनों के साथ सम्बन्ध न करे तब तक कोई वाक्य उच्चारण नहीं होगा। यदि इनको स्पर्श करने वाली जीभ नहीं हो तो बोलेंगे कहाँ से! अतः इस प्रकार का जो बोलना है, यह केवल लज्जा का हेतु है। सुनने वाले को भी लज्जा ही आती है कि कैसा बेवकूफ है! एक आदमी इसी प्रकार का था, किसी ने उससे कहा 'तू यहाँ बैठा खा-पी रहा है, शर्म नहीं आती! तेरी पत्नी विधवा हो गई है और तू यहाँ खाने-पीने में लगा है।' उसने कहा 'वह तो पीहर गई हुई है।' उस आदमी ने कहा 'उससे क्या हुआ? विधवा तो हो ही गई।' उसने कहा—'तब तो उस विधवा से मिल आना चाहिए।' पुराने जमाने में जिस गाँव में कोई मर जाता था उस गाँव में आने वाले लोग गाँव के दरवाज़े से ही ज़ोर-ज़ोर से रोना शुरू कर देते थे। रोते हुए वहाँ गया तो ससुराल के सब लोगों ने सोचा कि उसके यहाँ कोई मर गया होगा अतः वे भी धाड़ मार कर रोने लगे! खूब रोकर कुछ ठण्डे हो गये तो किसी ने उससे पूछा—'जँवाई साहब! क्या हो गया, आप इतना रो क्यों रहे हैं?' उसने कहा—'क्या बताऊँ, मेरी पत्नी तो विधवा हो गई!' उसकी बात सुनकर सब एक-दूसरे को देखने लगे! किसी ने समझाया, 'अरे! तुम जीते-जागते बैठे हो, वह विधवा कैसे हो सकती है?' फिर उसने कहा—'क्या बताऊँ, किसी का ज़ोर नहीं चलता। मेरी माँ विधवा हो गई, मेरी बहन विधवा हो गई तब मैं नहीं रोक सका, तो इसे क्या रोकता! भगवान् के आगे किसी का ज़ोर नहीं है।' उन लोगों ने सोचा, कैसे मूर्ख के साथ हमने लड़की ब्याह दी! ऐसे भी मूर्ख होते हैं।

जैसे यह दृष्टांत है ठीक वैसी ही स्थिति होती है जब कोई कहता है कि मैं ज्ञान को नहीं समझता। जब किसी चीज़ को जानेगा तो ज्ञान से ही जानेगा, 'मैं ज्ञान को नहीं जान रहा हूँ, मुझे ज्ञान करा दीजिये' यह भी कुछ वैसी ही परिस्थिति है। कई बार लोग कहते हैं, हमें ज्ञान करा दीजिये। ज्ञान तो सबको हो ही रहा है। बिना जाने थोड़े ही कह रहे हो कि 'हमें ज्ञान करा दीजिये!' ज्ञान के बिना, जानने लायक किसी भी चीज़ को तुम कैसे जानोगे। यदि नहीं जान रहे हो तो व्यवहार की ही असिद्धि है। इस प्रकार ज्ञानरूप आत्मा का अपलाप असम्भव समझाया।। २०।।

यदि ज्ञान सदा है ही तो शास्त्र क्यों कहता है कि ब्रह्मज्ञान करो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः?' 'आत्मा जानने लायक है' ऐसा अर्थ भी करें तो मतलब यही है कि अभी मालूम नहीं है। इसके उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म के बारे में ज्ञान नहीं करना है, ज्ञान तो तुमको है, परन्तु सगुण का है, गुणों को छोड़ दोगे तो निर्गुण अपने आप बच जायेगा—

यस्मिन् यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे।
यद्बोधमात्रं तद् ब्रह्मेत्येवं धीर्ब्रह्मनिश्चयः।। २१।।

जगत् में घड़ा आदि जिस-जिसके बारे में ज्ञान है उस घड़ा आदि विषय की उपेक्षा कर जो केवल स्फुरण है वह ब्रह्म है—इस तरह समझना ब्रह्म की अवगति है।

लोके—'लोक्यन्त इति लोका विषया उच्यन्ते।' जो कुछ अनुभव में आता है वही सब लोक है। अवलोकन आदि शब्द हिन्दी में प्रचलित ही हैं जहाँ लोकन का सीधा अर्थ है आँख से देखना किंतु अभिप्राय सभी ज्ञान से होता है। जितने भी व्यवहार तुम करते हो उन सब व्यवहारों में जितने पदार्थ हैं उन सब के अन्दर विषय मिथ्या होने से उपेक्षणीय है। कपड़ा, लड्डू, आदमी, घोड़ा, सुख, दुःख आदि देखते हो, जानते हो अतः ये सब विषय बुद्धि के हैं ही। जिसको देखकर तुम्हें लगता है कि ज्ञान हुआ, उस घट आदि विषय की उपेक्षा कर दो, अर्थात् अनादर करो। अनादर क्या होता है? कोई तुम से मिलने आया और तुम उसको देखो ही नहीं, अखबार बाँचते रहो तो उसकी उपेक्षा होती है। जिस चीज़ की तरफ ध्यान नहीं दोगे उसी की उपेक्षा हो जायेगी। उपेक्षा का मतलब है कि वह 'है' इस बात का तुम्हें ध्यान ही नहीं हो। घड़े का ज्ञान हुआ, घड़े की तरफ ध्यान ही मत दो, उसकी उपेक्षा कर दो, है और ज्ञान का ही ख्याल करो। अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ का प्रारम्भ यहीं से है कि जब तक द्वैत-मिथ्यात्व सिद्ध न हो तब तक अद्वैत सिद्ध नहीं होता। पहला कदम ही है कि द्वैत मिथ्या है, इस का निश्चय हो।

द्वैत मिथ्यात्व के निश्चय को रोकने वाली सबसे प्रबल चीज़ राग है। जिस चीज़ में राग होता है उसे आदमी झूठी नहीं समझना चाहता! वेद के एक लाख मंत्रों में यदि कोई व्यक्ति एक वाक्य के बारे में यह कह दे कि अमुक बात आज के विज्ञान ने असिद्ध कर दी है, तो वेद में श्रद्धावाले को सहन नहीं होगा, वह किसी-न-किसी तरह से प्रयत्न करेगा कि इसे सिद्ध करे कि वह ठीक ही है। जिसकी वेद में श्रद्धा नहीं है वह कहेगा—'चलो! एक वाक्य ही तो ठीक नहीं है, वेद में सच्ची बातें भी हैं ही।' शास्त्रकार कहते हैं कि वेद में एक मात्रा भी व्यर्थ नहीं है तो वेद के पूरे किसी मंत्र की तो बात ही क्या! द्वैत अर्थात् संसार के अन्दर जिस चीज़ के प्रति तुम्हारा राग होगा उसे तुम मिथ्या नहीं मानना चाहते। राग किससे होता है? किसी भी चीज़ के गुणों को सुनकर उसके बारे में राग होता है। दमयन्ती ने नल को देखा नहीं था, परन्तु उसके इतने गुणों को सुन लिया था कि उसे जँच गया कि नल से ही ब्याह करना है। गुणों को सुनने से राग होता है और अवगुणों को सुनने से राग हट भी जाता है। किसी दवाई की खूब तारीफ करो तो मन में होता है कि ले लें। जब दवाई के साथ का पुर्ज़ा निकलता है, उसे पढ़ते हैं तो उसमें उस दवाई के पच्चीस अवगुण भी लिखे होते हैं कि इससे अमुक-अमुक बीमारी भी हो सकती है। उसको बाँच कर वह दवाई नहीं खाते, सोचते हैं, 'इससे तो जो रोग चल रहा है वही चलने दो, यह दवाई खाकर और ज़्यादा नुकसान होगा।' द्वैत के प्रति राग द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय नहीं होने देता जिसके बिना अद्वैत कभी सिद्ध नहीं हो पाता। द्वैतमिथ्यात्व सिद्ध हुए बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं। चाहे जितनी युक्तियाँ दे दो कि द्वैत मिथ्या है, मगर भीतरी निश्चय रहता है कि मिथ्या हो, मगर इसके बिना काम नहीं चलता। यह 'मगर'मच्छ ही खा जाता है! मिथ्यात्वनिश्चय के लिये सबसे पहले वैराग्य की ज़रूरत है। वैराग्य के लिये विवेक चाहिये।

जब द्वैतमिथ्यात्व का निश्चय हमारे अंतःकरण में दृढ हो जाता है तब यहाँ जो साधन बता रहे हैं, कि उस की उपेक्षा करो, वह हो पाता है। अभी तो लगता है कि व्यवहार सत्य ही है, होना ही है, इसलिये उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। जब तुम लोक के अन्दर होने वाले बोध में से नाम-रूप की उपेक्षा कर देते हो तब अपने-आप बोधमात्र ही बच जायेगा। कोई नया ज्ञान नहीं होना है, केवल नाम-रूप की उपेक्षा कर देने से बोधमात्र ही रह जाना है। मान लो तुम्हारे पास बसन्ती रंग का कपड़ा है, लेकिन शादी के लिये तुम्हें बसंती नहीं, लाल रंग का कपड़ा चाहिये तो बसंती कपड़े को पानी में 'टिनोपाल' डालकर अच्छी तरह से धो दो, बसंती रंग चला जायेगा, सफेद कपड़ा अपने आप बच जायेगा, उसे लाल रंग दो; तुम्हें नया लाल कपड़ा नहीं खरीदना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान में से घट, पट, मठ को बाधित कर दिया तो अपने आप ज्ञान ही बच गया। घट, पट को हटाने से, अर्थात् उसकी उपेक्षा कर देने से जो बोधमात्र बचता है वही बोधरूप ब्रह्म है। ऐसी बुद्धि हो जाये कि नाम-रूप का बाध होकर जो बच गया, वह ब्रह्म है, तो यही ब्रह्म का निश्चय, ब्रह्मावगति या ब्रह्मज्ञान कहलाता है। उपेक्षा करना बार-बार दोहराना पड़ता है, क्योंकि राग के संस्कार बहुत पड़े हुए हैं। उन संस्कारों के कारण बार-बार घट आदि की प्रतीति होने पर उनका मिथ्यात्व तुम्हारे अंतःकरण में झट संस्काररूप से उद्‌बुद्ध नहीं होता। विचार करके निश्चय तो कर लेते हो कि वह मिथ्या है, परन्तु सामने आने पर फिर सच्चा लगने लगता है। इसलिये सभी व्यवहारों को करते हुए, भोजन आदि व्यवहार करते हुए भी अनुसन्धान कर्त्तव्य है। जो खा रहे हो, पहन रहे हो इत्यादि सब, उसके अन्दर मिथ्यात्व की अनुवृत्ति रखनी है। यह संस्कार दृढ हो जाता है तो जीवन्मुक्ति का आनन्द आ जाता है; यहाँ वेदान्त के आत्मानुसन्धान की साधना को बड़े सरल ढंग से बताया ताकि सारे संसार में सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है—यह निश्चय हो जाये।। २१।।

शंका होती है कि इस प्रकरण के प्रारम्भ में तो कहा था कि पंचकोशों से अलग अपने को जानने से मोक्ष होता है, परन्तु यहाँ कह दिया कि सब पदार्थों की उपेक्षा कर देने पर, नाम-रूप को बाधित कर देने पर जो बच जाता है वही ब्रह्म है, इसी निश्चय से जीवन्मुक्ति है, इसलिए यह बात उपक्रम से विरुद्ध लगती है। समाधान है कि बिलकुल विरुद्ध नहीं है। तत्त्वमसि ही वह वाक्य है जो साक्षात् मोक्ष देता है। तत् अर्थात् सारे जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला ईश्वर है। उसी के बारे में पहले प्रकरण में बताया था कि जगत् का कारण जो तत् पदार्थ है उसके अन्दर किसी प्रकार का परिच्छेद नहीं है। वह देश, काल, वस्तु, सब परिच्छेदों से रहित है। दूसरे अध्याय में बताया था कि वह देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न तत्त्व कैसा है? वही सारी सृष्टि में अविद्या के कारण अध्यस्त हो जाता है। फिर प्रश्न हुआ कि सृष्टि का कारण जो 'तत्' है, उसका साक्षात्कार कैसा है? अतः कहा कि जो भी सृष्टि में ज्ञान होता है, उसके अन्दर सत्य केवल ब्रह्म ही है, यही ब्रह्म का निश्चय है। परन्तु वह निश्चय होने के बाद भी क्या कठिनाई आती है? 'सियाराममय सब जग जानी' तो काम हो जाना चाहिए; लेकिन नहीं होता, क्योंकि 'करहुँ प्रणाम जोरि जुग पाणी': बाकी सब चीज़ों में परमार्थ दृष्टि करने पर भी आदमी

स्वयम् को नहीं छोड़ पाता, दोनों हाथों से प्रणाम करने वाला 'मैं' तो बच ही गया। जब सभी सियाराममय हो गया तो कौन प्रणाम करे! इसी प्रकार बाकी सब चीज़ों में मिथ्यात्व दृष्टि होने पर भी, वैराग्य होने पर भी, अपने में नहीं हो पाता, सोचता है कि 'मैं तो अलग हूँ ही'। इसलिए तत् पदार्थ के बाद 'त्वं' पदार्थ को इस अध्याय में बताया कि 'मैं' जो बच गया वह कौन है। 'मैं' को तुम पंचकोशों में देखते हो। सारा जगत् कहाँ दीखता है? रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के आकार में दीखता है। इन सब पंचमहाभूतों में वह मौज़ूद है। वे सब वह नहीं, उन सबमें वह अध्यस्त है—यह तत् पदार्थ हो गया। 'मैं' को तुम पंचकोशों में देखते हो। बहिर्जगत् में पंचमहाभूत और अध्यात्म जगत् में पंचकोश आत्मा की उपाधि हैं। पाँचों कोशों के अन्दर तुम 'मैं' देखते हो—मैं ब्राह्मण, मैं संन्यासी, मैं स्त्री, मैं पुरुष, मैं गोरा, मैं काला, इस प्रकार अन्नमय में 'मैं' को देखते हो। इसी प्रकार से मैं भूखा, मैं प्यासा ऐसा प्राणमय में भी मैं को देखते हो। मैं बेवकूफ या मैं मूर्ख, मैं बुद्धिमान् इत्यादि रूप से मनोमय में देखते हो। मैं सुखी, मैं दुःखी इस प्रकार विज्ञानमय में देखते हो। मैं अज्ञ आदि आनन्दमय में देखते हो। अब कहते हैं—

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम्।।२२।।

पाँचों कोश छोड़ देने पर साक्षिरूप ज्ञान बचा रहने से वही स्व का निज स्वभाव है। उसका शून्य होना सम्भव नहीं।

पंचकोशों का इस अध्याय में बताये तरीके से परित्याग करने पर उनके बिना वाला जो 'मैं' है, वह साक्षी बच जाता है। परित्याग से यह नहीं समझना कि स्थूल देह को छोड़ना है तो उसमें छुरा मार दो! उससे त्याग तो हो जायेगा, 'परि'त्याग नहीं होगा। एक शरीर से हटोगे तो दूसरे शरीर की प्राप्ति हो जायेगी। परित्याग का मतलब है 'परितः सर्वतः त्यागः परित्यागः' अर्थात् यह है ही नहीं इस बात का निश्चय होना है। इसमें केवल प्रतीत होने की योग्यता है, 'होने' की योग्यता नहीं। जैसे बाजीगर में हज़ार रुपये के नोटों की गड्डी 'दिखाने' की ताकत है, हज़ार के नोटों की गड्डी 'बनाने' की ताकत नहीं है। दिखाने की ताकत है, इसलिए दीख जायेगी परन्तु उसको दिखाने के बाद वह अपना बर्तन चारों तरफ घुमाकर उसमें आना-दो आना, चार आना डालने को कहता है। वह नोट दिखा देता है लेकिन बना नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार से ये पाँच कोश दीख रहे हैं, हैं नहीं। बिना हुए दीखते रहते हैं। इसलिए ये नहीं दीखें ऐसा नहीं समझना बल्कि दीखते हुए भी 'हैं नहीं' यह निश्चय हुआ तो परित्याग हो गया, फिर चाहे जितना दीखते रहें, इनसे 'मैं' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। संसार की अनित्यता तो सब देखते हैं। लोग कहते भी हैं 'महाराज! यह मकान एक दिन ढह जायेगा यह तो हम भी जानते हैं। हम मर जायेंगे—यह भी जानते हैं। हर चीज़ अनित्य है इस बात को तो हम समझते हैं, फिर वेदान्त में स्थिति क्यों नहीं होती'? यहाँ 'परित्याग' शब्द से विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट कर दिया कि तुम अनित्य तो जानते हो, परन्तु यह भी समझते हो कि कुछ समय तक तो रहता ही है!

वास्तव में यह एक क्षण भी नहीं रहता, यह तो बाजीगर के खेल की तरह दीखता ही है, है कुछ नहीं। पाँच कोश दीख ही रहे हैं, हैं नहीं। यह अपरोक्ष निश्चय पंचकोश-परित्याग है।

मैं को आज तक इन सब रूपों में जाना है; इन सब रूपों को जब अध्यस्त जान लिया तब साक्षिरूप जो बोध है वही बच जायेगा। यही वेदान्त की उपलब्धि समझ लेना। सारे जगत् को देखकर एकमात्र सच्चित्-स्वरूपता ही नित्य सिद्ध होती है, और कुछ नहीं। इससे तत् पदार्थ का बोध हो जाता है। इसी प्रकार 'मैं' पर विचार करने से सच्चित् ही एकमात्र सिद्ध हो रहा है कि मैं एकमात्र सच्चित् साक्षिमात्र हूँ। यहाँ तक विचार करके पहुँच सकते हो।

सम्भावना होती है कि तत् और त्वं दोनों का शोधित स्वरूप सच्चित् ही है तो ये एक ही होंगे। 'एक ही होंगे' तक तुम्हें विचार पहुँचा देता है। परन्तु वह एक ही है—यह वेद के 'तत्त्वमसि' महावाक्य के बिना निश्चय नहीं हो सकता। यदि एक न हों तो ब्रह्म में भेद रह जायेगा क्योंकि दो सच्चित् हो गये जबकि ब्रह्म तब तक ब्रह्म हो ही नहीं सकता जब तक वस्तुभेदशून्य नहीं हो। इसलिए अभिन्न होना ज़रूरी है। इस प्रकार संभावित सच्चित् एक ही है क्योंकि वेद उसे अद्वितीय कहता है। पंचकोश-परित्याग करके 'मैं' क्या है? प्रत्यग्रूप है, अपरोक्ष है। 'मैं' कभी परोक्ष नहीं होता, 'मैं' यह ज्ञान हमेशा ही अपरोक्ष है। इसलिए पंचकोशों का विचार करके जहाँ पहुँचे वह अपरोक्ष सत्य है। यहाँ तक व्यापकता मालूम नहीं है। महाभूतों का विचार करके जहाँ पहुँचे वह व्यापक सच्चित् है परन्तु वह हमें अपरोक्ष नहीं है। तत्त्वमसि इन दोनों की एकता को बताता है अर्थात् जो अपरोक्ष है वही व्यापक है और जो व्यापक है वह अपरोक्ष ही है। यही अपरोक्ष सच्चित्-रूपता का ज्ञान है, जो अज्ञान को नष्ट कर देता है। मूल अज्ञान यही है कि मैं व्यापक नहीं हूँ; जगत् का कारण व्यापक है, परन्तु मैं व्यापक नहीं अतः मैं उसे जानता ही नहीं हूँ, वह परोक्ष है। यह मानकर ही सारी साधनायें होती हैं। साधनायें होती इसी लिए हैं कि परमात्मा को मैं जानता नहीं हूँ, जान लूँ। लोग परमात्मा के सारे गुण गिनाते रहेंगे लेकिन यही कहेंगे कि 'वह किसी दिन तुम्हें मिलेगा' अर्थात् परोक्ष है। उसके अपरोक्ष होने का मतलब लोग समझते हैं कि जैसे विषय अपरोक्ष होता है, वैसे ही परमात्मा भी अपरोक्ष होगा! जैसे हमने देवदत्त को नहीं देखा, फिर आँख से उसे देख लिया तो वह अपरोक्ष हो गया। ऐसे ही ब्रह्म किसी दिन अपरोक्ष हो जायेगा, ऐसा लगता है। परन्तु ब्रह्म नित्य अपरोक्ष है, 'मैं'रूप से तुम ब्रह्म को ही जान रहे हो। वेदान्त यही कहता है कि जगत्कारण ब्रह्म नित्य 'मैं'रूप से अपरोक्ष है और मैं नित्य ही ब्रह्मरूप से व्यापक हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ, यह जो पदार्थद्वय-शोधन होने पर बच जाता है यही स्वस्वरूप है। अपरोक्ष व्यापक ही स्वस्वरूप है। शास्त्रकारों ने कहा है—

'विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
स्वस्वरूपं भवेत् सम्पत् तदन्यत् सुधियां विपद्।।'

जिसे लोग विपत्ति समझते हैं जैसे शरीर कट गया, भूख-प्यास नहीं मिटी, दुःखी हो गये इत्यादि; शास्त्रकार कहते हैं कि ये कोई विपत्तियाँ नहीं हैं। ये तो थोड़ी देर रहती हैं, फिर खुद

ही खत्म हो जाती हैं। इसी तरह धन मिल गया, सुन्दर पत्नी मिल गई, रहने को बढ़िया मकान मिल गया, बढ़िया दाल का सीरा खाने को मिल गया—लोग इन सबको सम्पत्ति समझते हैं। सुन्दर बीवी मिल गई, वह मर जायेगी, बढ़िया मकान मिल गया, वह भूकम्प में खत्म हो जायेगा, दाल का सीरा चौबीस घण्टे बाद ही बदबू मारने लगेगा। इसलिए ये सब सम्पत्ति नहीं हैं। 'स्वस्वरूपं भवेत् सम्पत्' व्यापकभाव में स्थित हो जाना ही सम्पत् है, स्वस्वरूप से अन्य सब विपत्ति है। बुद्धिमान् के लिए व्यापकता क्या है? तुमको पंचकोशों के मिथ्यात्व का ज्ञान हो गया, पंचमहाभूतों के मिथ्यात्व का ज्ञान हो गया तो सारी सीमाएँ समाप्त ही हैं। इनके सिवाय तो कुछ है ही नहीं, कुछ जानते नहीं। अतः फिर कुछ सीमा बाँधने वाला नहीं बचा तो स्वस्वरूप की व्यापकता अर्थसिद्ध है।

'तस्य शून्यत्वं दुर्घटं स्यात्।' 'कुछ नहीं' बचना या शून्यता समझदार के लिए दुर्घट है, क्योंकि इस शून्यता को जानने वाला वह स्वप्रकाश है, पंचकोशों के हटने पर भी सच्चित् बचता है। जो सुधी होगा वही इस बात को समझेगा, नहीं तो कहेगा कि अधिभूत में घडा-कपड़ा कुछ नहीं तो फिर कुछ नहीं बचा! अध्यात्म में मन, बुद्धि, अहंकार आदि कुछ नहीं तो फिर कुछ नहीं बचा। बुद्धिमान् को तो समझ आता है कि 'कुछ नहीं' अर्थात् नाम-रूप नहीं बचा पर 'है' बचा। कोश नहीं बचे तो साक्षी बचा है, साक्षी का शून्य होना दुर्घट अर्थात् प्रमाण-युक्ति से विरुद्ध है। नाम-रूप छोड़ने पर कुछ न हो यह सम्भव नहीं है क्योंकि छोड़ने वाला तो बच ही जायेगा।।२२।।

जो शून्यता देखता है वह कहता है कि छोड़ने वाला भी उपाधि से ही है। बुद्धि की उपाधि से ही उसका परित्याग करता है। यदि बुद्धि का जिससे परित्याग किया वह भी न रहे तो कुछ नहीं ही रहेगा। अतः उसकी दुर्घटता को थोड़ा समझाते हैं—

अस्ति तावत् स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत् प्रतिवाद्यत्र को भवेत्।।२३।।

'स्वयम्' नामक निर्विवाद वस्तु अवश्य है। 'स्व' में भी यदि विवाद हो तो इस बारे में 'स्व' का प्रतिपक्षी (विरोधी) कौन होगा!

बातचीत तीन तरह से होती है : एक, वाद होता है जैसे गुरु और शिष्य में। शिष्य समझना चाहता है, गुरु समझाना चाहता है। दोनों का उद्देश्य है कि तत्त्व क्या है, क्या वास्तविकता है, उसको समझना और समझाना है। वहाँ समझने-समझाने में प्रवृत्ति है। दूसरा, जल्प है; भले आदमियों में जल्प होता है। तुम कुछ मानते हो, हम कुछ और मानते हैं। हम तुम्हारे मानने में जो गलती है, उसे दिखाते हैं, तुम हमारे मानने में जो गलती है उसे दिखाते हो। अगर तुमने हमारी गलती बताई, हम यदि जवाब देने में असमर्थ हैं तो तुम्हारी बात मान लेते हैं और हमने तुम्हारी बात में दोष बताया, तुम उसका निवारण नहीं कर पाये तो तुमने हमारी बात मान ली। जल्प में किसी पक्ष को लेकर बैठते हैं और उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और सामने वाले का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं। दोनों ही बैठे किसी पक्ष को लेकर ही अतः उनकी मान्यता

है कि दोनों में से एक पक्ष सिद्ध होगा, दूसरा पराजित रहेगा। तीसरा तरीका आधुनिकों का है जिसे वितण्डा कहते हैं। वितण्डा करने वाला अपना कोई पक्ष नहीं रखता, अतः उसे कुछ निर्दुष्ट सिद्ध नहीं करना है। वह तो दूसरे से पूछेगा 'तुम क्या-क्या मानते हो' और वह जो मानता होगा उसमें वितण्डावादी दोष दिखायेगा। उससे पूछो, फिर ठीक क्या है? तो कहता है, 'ठीक बताना हमारा काम नहीं है।' आजकल अधिकतर वितण्डा होता है। कोई आकर कुछ पूछता है। हम उसका जवाब देते हैं। वह उस जवाब में अमुक दोष बताता है। हम उससे पूछते हैं 'तुम फिर क्या समझते हो?' तब कहता है 'हमें पता होता तो पूछने आते ही क्यों?' ऐसे व्यक्ति को तो केवल बात करनी है, वह समझने नहीं आया और न किसी पक्ष को सिद्ध करने आया है, वह वितण्डावादी है। ऐसे वितण्डावादी से वाद या जल्प नहीं कर सकते। उसका वितण्डा से ही मुँह बन्द भले ही कर दें। युक्ति से विचार किया जा सकता है, लेकिन युक्ति दुधारी तलवार की तरह है। जिस चीज़ को चाहो उसे तर्क से काट सकते हो। अतः युक्ति से यदि तुम किसी हल पर पहुँचो, निश्चित हो जाओ, तब तो युक्ति का फायदा है पर यदि किसी हल पर नहीं पहुँचे तो विचार करना व्यर्थ है। इन तीनों तरह की बात में वितण्डा को छोड़कर वाद और जल्प दोनों को यहाँ 'विवाद' से कहा।

गुरु-शिष्य या सहपाठी तत्त्व-निर्णय के लिए परस्पर बातचीत करते हैं। वेदों में अनेक जगह ऋषि लोग एकत्र होकर किसी विषय पर विचार करते हैं। हल करने के लिए विचार करते हैं तो यह मानकर कि तुम कोई हो जिसे हम जवाब दे रहे हैं और हम कोई हैं जिसका जवाब तुम सुन रहे हो! इसलिए हम-तुम हैं ही नहीं—यह दोनों में से कोई नहीं मानता। यदि जल्प करते हैं तो भी तुम कोई हो जिसका यह पक्ष है, इसीलिए तुम हम से बात कर रहे हो, हम भी किसी पक्ष को लेने वाले कोई हैं जो तुमसे बात कर रहे हैं। वाद और जल्प के अन्दर एक आधारभूत मान्यता है कि मैं हूँ और तुम हो। इसके विषय में यदि शंका है कि मैं हूँ या नहीं, तुम हो या नहीं, तब तो आपस में बात ही नहीं कर सकते! वितण्डावादी से पूछो कि तुमको जवाब दे रहे हैं, क्या तुम हो? वह कहेगा—'हम क्यों बतायें कि हम हैं?' क्योंकि वैतण्डिक है ही वह जिसे निजमत का स्थापन करना ही नहीं है। तब सामने वाले को भी वितण्डा ही करना पड़ता है कि तुम हो ही नहीं तो हम तुम्हें जवाब क्यों दें!

इसलिए वितण्डावादी को छोड़ कर चाहे वैदिक का पक्ष हो, चाहे वेदेतरवादी का पक्ष हो, सबके मत में 'स्वयं' अर्थात् 'खुद' नाम की कुछ चीज़ ज़रूर है। दोनों ही अपने को 'खुद' तो मानते ही हैं क्योंकि वह विवाद का विषय नहीं है। जो पक्ष हम रख रहे हैं वह विवाद का विषय है, परन्तु पक्ष रखने वाला मैं तो हूँ ही और जवाब देने वाले तुम तो हो ही, हम दोनों खुद तो हैं ही। विवाद का अविषय होने से 'स्वयं' नाम की कोई चीज़ निश्चित ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है, उसके विषय में विप्रतिपत्ति अर्थात् वैमत्य नहीं है। कोई कहे, मान लो कि हम-तुम दोनों नहीं हैं! अगर कोई यह प्रश्न कर ही दे कि मैं हूँ या नहीं इसको सिद्ध किया जाये; अर्थात् 'मैं हूँ या नहीं, मुझे तो पता नहीं' ऐसा कहे तो यदि हमारा प्रतिवादी ही विवादित हो गया तो हम

जवाब किसको दें? अगर तुम हो तो तुम्हें जवाब दें। किसी से बात कर रहे हो और वह सो जाये तो थोड़े ही उससे बात करते रहोगे! कोई प्रतिवादी हो ही नहीं तो बातचीत ही चलेगी नहीं। शून्यवादी का यही कहना है कि 'मैं' नहीं हूँ'। 'मैं' अर्थात् आत्मा नहीं है। मैं हूँ इस बात को कोई कैसे सिद्ध करे? तू बोल रहा है इसीलिए तू है; तू नहीं होता तो बोलता कैसे! यद्यपि तर्क के ढंग से इस पर अनेक शंका-समाधान सम्भव हैं तथापि युक्ति-संगत, जनसामान्य को भी स्वीकार है कि बातचीत चलने के लिए दोनों स्वयम् अपने को मैं मानें। इसलिए उस स्वयम् को विवाद का अविषय मानते हैं, वह विवाद का विषय नहीं हो सकता। बाकी सब चीज़ों का खण्डन-मण्डन तो हो जायेगा, परन्तु जिसका खण्डन कर रहे हो, वह तो रह ही जायेगा। स्वयम् के धर्मादि सब विशेषों का खण्डन हो जायेगा पर वह 'मैं' तो रह ही जाएगा। 'स्वयम्' पर इस रीति से विचार के बीज उपदेशसाहस्री (१६.३१) में उपलब्ध हैं।।२३।।

स्वयम् का अपलाप असंगत के अलावा अस्वीकार भी है यह समझाते हैं—

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना।
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चाऽसत्त्ववादिनः।।२४।।

'स्व' का (खुद का) न होना किसी को रुचिकर नहीं भले ही भ्रमसे वैसा लग सके। इसीलिए आत्मा का न होना मानने वाले का श्रुति बाध ही कहती है।

किसी को भी अपना नहीं होना रुचिकर तो होता नहीं। कोई नहीं चाहता कि मैं न रहूँ। कहोगे, 'कुछ लोग आत्महत्या करते हैं तो यही चाहते हैं कि हम न रहें?' किन्तु आत्महत्या करने वाले से भी यदि पूछते हो 'तू आत्महत्या क्यों करता है?' तो कहता है 'मैं दुःखी हो गया, मर जाऊँ तो इस दुःख से छूट जाऊँ।' अतः दुःख से *छूटने वाले* को तो मान ही रहा है! दुःख से छूटने वाला 'वह' तो रह ही जायेगा। कैसा भी आदमी हो, वह 'मैं न रहूँ' यह नहीं चाहता, वह सोचता है कि शरीर को लेकर दुःख है, मर जाऊँ अर्थात् शरीर से निकल जाऊँगा तो दुःख मिट जायेगा। यह उसे भ्रम ही है। दुःख का कारण तो किये हुए पाप हैं, शरीर उसका *कारण* है नहीं। शरीर अन्य कई लोगों के भी हैं, वे तो दुःखी नहीं हैं, खूब मौज कर रहे हैं। इसलिए दुःख से बचने के लिए शरीर से छूटना चाहता है भ्रम के कारण। यों भ्रम से चाहे कोई अपनी असत्ता की बात करे, परन्तु उसे अपनी असत्ता रुचिकर नहीं है, बल्कि अपना दुःख छुड़ाना ही रुचिकर है। चूँकि यह भ्रम से ही होता है अतः श्रुति (तै.२.६) कहती है कि जो आत्मा को असत् मानता है, वह खुद ही असत् हो जाता है।

भ्रम का दूसरा अर्थ भी हो सकता है; आत्मा के न रहने को मोक्षरूप कोई भ्रम से मानता है। उसने सोचा, 'मैं हूँ तो सारा दुःख है अतः मैं न रहूँ तो दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष हो जायेगा' जैसे आत्महत्या करने वाला सोचता है कि 'शरीर नहीं रहेगा तो दुःख नहीं रहेगा, मैं सुखी हो जाऊँगा।' 'जब मैं ही नहीं रहूँगा तब मैं सुखी कैसे हो जाऊँगा'—यह विचार न करने से उसे भ्रम हुआ। बौद्ध का यही कहना है कि अमुक साधना करो तो तुम नहीं रहोगे, अनात्मभाव को प्राप्त

हो जाओगे, निर्वाण हो जायेगा। चूँकि वाण नाम दुःख का है, इसलिए भाव है कि दुःख से छूट जाओगे। आत्मा नहीं रहेगा—यह भ्रम है। इसको भ्रम इसलिए कहते हैं कि सच्ची बात के ज्ञान से यह भ्रम मिटता है। बौद्ध लोग मानते हैं कि अधिष्ठान के ज्ञान के बिना ही भ्रम मिट जायेगा! सच्चाई जानने से झूठ का पता लगता है, अन्यथा, कुछ झूठ है—यह कैसे सिद्ध होगा? अधिष्ठान जब सच्चा होगा तभी उससे विरुद्ध बात को झूठ कह सकते हो। तुमने रस्सी में साँप देखा, वहाँ से भाग गये; तुमको कभी पता ही नहीं चलेगा कि वह रस्सी है तो तुम्हारा भ्रम कभी मिट नहीं सकता। जब रस्सी देखोगे तभी भ्रम मिटेगा। इसी प्रकार इस संसार-दुःख को भोगने का जो अधिष्ठान है उसको जानोगे तब पता लग सकता है कि दुःखरूप संसार उस भोगने वाले से सर्वथा असम्बद्ध है। इस प्रकार के भ्रान्त व्यक्ति को छोड़कर किसी को ऐसा रुचिकर नहीं होता कि मैं न रहूँ। श्लोक के 'बाध' शब्द का भाव 'सर्वस्व की हानि' से है अर्थात् परमार्थ सत् आत्मा को अत्यन्त असत् समझने वाला पुरुषार्थ-सिद्धि से चूक जाता है।।२४।।

अनात्मता-भ्रान्ति वाले की हानि कहने वाली श्रुति ही सूचित करते हैं—

असद् ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत्।
अतोऽस्य मा भूद् वेद्यत्वं स्वस्वत्वं त्वभ्युपेयताम्।।२५।।

(श्रुति ने कहा है)—यदि कोई समझे कि ब्रह्म असत् है तो वह खुद ही असत् हो जाता है। इसलिए आत्मा में ज्ञेयता नहीं है पर वह सद्रूप अवश्य मान्य है।

श्रुति कहती है 'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (तै.२.६)। 'असत् ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म नहीं है, शून्य है; यदि ऐसा तुम जानते हो तो तुम चूँकि स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो, इसलिए तुम स्वयं ही असत् हो जाते हो! यह ऐसी ही बात है जैसे एक अफीमची था, उसने खूब अफीम पी ली। अफीम पीने से कुछ होश तो रहता नहीं; शाम हो रही थी, आकाश लाल हो गया था। उसने सोचा कि आकाश में तो बड़े जोरों की आग लग गई है, इसको बुझाना ज़रूरी है। वह नशे में पड़ा हुआ था ही, वहीं से जोर से पेशाब करने लगा कि पानी पड़ेगा तो आग बुझ जायेगी! वह पेशाब उसके मुँह पर ही गिर पड़ा। उसने कहा 'आग बुझ गई, तभी पानी वहाँ से वापिस आ गया है।' ठीक इसी प्रकार जो ब्रह्म को असत् कहता है वह खुद अपने आपको ही असत् कह रहा है। अतः कहा कि उसकी बात मानें तो वही असत् हो जाता है। चूँकि श्रुति ने ऐसा समझाया है इसलिए ब्रह्म वेद्य नहीं है परन्तु है अवश्य। तुम तो रहोगे ही और तुम्हें ही तो ब्रह्म कह रहे हैं। 'मैं हूँ' इस बात को तो स्वीकार करना ही प्रमाण-युक्ति से सम्भव है। यदि तुमसे भिन्न ब्रह्म होता तब तो उसका खण्डन-मण्डन बनता। तुम खुद ही ब्रह्म हो, अतः इसका खण्डन करना असम्भव है।।२५।।

साधक को लगता है कि मान भी लिया कि मैं ही ब्रह्म हूँ, परन्तु आगे कुछ पता तो लगे कि यह ब्रह्म कैसा है? अर्थात् ब्रह्म कैसा है यह जिज्ञासा रहती है। इसे मिटाते हैं—

कीदृक् तर्हीति चेत् पृच्छेदीदृत्ता नास्ति तत्र हि।
यदनीदृगतादृक् च तत् स्वरूपं विनिश्चिनु।।२६।।

अगर कोई पूछे कि ब्रह्म कैसा है, तो यही निश्चय रखो कि 'ऐसापन' उसमें है ही नहीं। जो 'ऐसा' या 'वैसा' नहीं, वही स्वरूप है।

ठीक से समझें तो आत्मा समझने से ज़्यादा सरल कोई चीज़ नहीं है और जब तक समझ में नहीं आता तब तक लगता है कि यह महा मुश्किल है कि मैं ब्रह्म हूँ। उसमें वेद्यता तो है नहीं, उसको जान सकते नहीं, क्योंकि वही तो जानने वाला है। पहले (श्लोक १७) कह आये हैं—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जानने वाला जानने का विषय कैसे बने! वेद्य नहीं है तो वह आत्मा कैसा है? हम लोग विशेषरूप से चीज़ को जानने की आदत वाले हैं। 'कोई चीज़ सामने है, कुछ सामने है', सुनकर हमें शांति नहीं होगी, जब तक यह पता न लगे कि वह क्या है। सामने पेड़ है तो कैसा पेड़ है? नीम या बबूल का पेड़ है? इत्यादि आकांक्षा बनी रहती है। इसी प्रकार से जानना चाहते हैं कि ब्रह्म कैसा है, कुछ तो उसका विशेष ज्ञान हो। इस पर आचार्य कहते हैं—बस, यह निश्चय जान लो कि ऐसा-वैसा कुछ नहीं है, केवल 'है' ही है! 'है' के साथ समझते रहना 'मैं'। मैं ऐसा-वैसा नहीं, केवल मैं हूँ। भगवान् गौडपाद कहते हैं कि ध्यान करने बैठो और कोई अन्य चीज़ याद आने लगे तो धीरे-धीरे मन को शांत करो। जब मन को शांत करोगे, कोई वृत्ति नहीं बनाओगे, तो नींद आने लगेगी। जब नींद आने लगे तो फिर इसको जगाओ। जब मन अशांत हो तो इसे शान्त करो। जब यह लीन होने लगे तो इसे अशांत करो। मन वृत्तिहीन होता है तो सो जाता है अतः वहाँ से रोको। वृत्तिहीनता से निद्रा आती है, उसको रोकने के लिए वृत्ति बनानी पड़ेगी। ओंकार की वृत्ति बनाओ या जाग्रत्-स्वप्न के द्रष्टा की वृत्ति बनाओ। वह वृत्ति बनाओगे तो विक्षेप हो गया, अतः फिर वृत्ति को शांत करो। यह व्यायाम करते-करते अंत में थक जाओगे तो ऐसी अवस्था आयेगी कि जिसमें वृत्ति है नहीं किन्तु 'वृत्ति नहीं है' ऐसा भी नहीं! बस वहाँ स्थिर हो जाओ। वहाँ फिर यह वृत्ति न बनाओ कि क्या है? 'क्या' अर्थात् वह कैसा है? यह सोचा तो वह स्थिति हाथ से गयी। इसलिए कहा कि जो ऐसा नहीं, वैसा भी नहीं वही स्वरूप है—यह विनिश्चय करो। क्योंकि यह समझ सामान्य ढंग से नहीं आती इसलिए गौडपादाचार्य द्वारा कहा साधन बताया जिस अभ्यास से निष्प्रकार वस्तु स्फुर सके।।२६।।

'ऐसा' आदि का भाव बताकर समझाते हैं कि क्यों परमात्मा ऐसा आदि नहीं—

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता।।२७।।

इन्द्रियों का गोचार 'ऐसा' तथा परोक्ष पदार्थ 'वैसा' कहा जाता है। विषय करने वाला क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं और वही स्वयम् होने से परोक्ष नहीं इसलिए न ऐसा है, न वैसा है।

वह 'ऐसा नहीं वैसा नहीं', इतना कहने से कुछ समझ में नहीं आया, क्योंकि हमारे अनुसार चीज़ या ऐसी होती है या वैसी होती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि ऐसा और वैसा का अर्थ भी तो समझो : इन्द्रियाँ जिसको जानती हैं उसी को 'ऐसा' कहा जाता है। आँख से देखा तो रूप है, नाक से देखा तो गंध है, तभी कहते हैं कि 'इस चीज़ का यह रूप है, यह गंध है। यह आदमी गोरा है, इस औरत की गन्ध कमल की तरह है।' इन्द्रियों का जो विषय होता है उसी को 'ऐसा' कहा जाता है। और जो चीज़ इन्द्रियों का विषय नहीं होती साक्षात् नहीं भासती, कहीं-कभी है भले ही लगे पर भास नहीं रही होती, उसी को 'वैसा' कहा जाता है जैसे धर्म। धर्म इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता। अतः जो सामने हो उसे 'ऐसा' कहते हो और जो सामने होने के योग्य नहीं है उसको 'वैसा' कहते हो। साधारण भाषा में, इस देश काल में जो इन्द्रियों का विषय है उसको 'ऐसा' कहते हो और इस देश काल में जो इन्द्रियों का विषय नहीं, जैसे न्यूयार्क का 'वार्ल्डऑफ एस्टोरिया' उसे 'वैसा' कहते हो। जब सेव सामने पड़ा है, कोई पूछे 'सेव कैसा होता है'? झट सेव दिखाकर कहोगे 'ऐसा होता है।' सेव मौजूद न हो तो कहना पड़ेगा कि हल्के लाल रंग का होता है, नारंगी जैसा होता है। इन्द्रियों के सामने जो हो उसे ऐसा कहेंगे और इन्द्रियों के सामने जो नहीं है उसे वैसा कहेंगे। जो भी इन्द्रियों का विषय इस देश-काल में हो सकता है उसको ऐसा कह सकते हैं। परन्तु जो कभी भी किसी भी देश या काल में इन्द्रियों का विषय न हो, जैसे धर्म, उसे वैसा कहोगे। धर्म को किसी भी देश काल में *इन्द्रियों से* तो देख नहीं सकते कि 'यह धर्म है'। 'धर्म' का अर्थ यहाँ अपूर्व समझना। यज्ञ आदि भी धर्म हैं, यज्ञ तो देखा जाता है; परन्तु यज्ञ आदि से होने वाला जो अपूर्व या पुण्य, धर्म तो वह है, उसे 'वैसा' कहते हैं।

आत्मा क्यों न ऐसा न वैसा है?—इस प्रश्न का उत्तर श्लोक के उत्तरार्ध से बताया : विषय करने वाला जो मैं है वह इन्द्रियों का विषय तो है नहीं, इन्द्रियों से मैं देखा नहीं जा सकता। तुम्हारे शरीर को तो देख सकते हैं, तुम्हें नहीं देख सकते। मैं विषयी है अर्थात् विषय करने वाला है। वह इन्द्रियों का विषय हो नहीं सकता, न अपनी इन्द्रियों का, न दूसरे की इन्द्रियों का। फिर क्या उसे परोक्ष कह दें? परोक्ष भी नहीं है क्योंकि वह हमेशा सर्वत्र मौजूद है भासमान है, खुद ही तो है! इसलिए इसकी परोक्षता नहीं। चूँकि परोक्षता नहीं, इसलिए 'तादृक्' या वैसा नहीं कह सकते। जो द्रष्टा आत्मा है उसको विशिष्ट नहीं जान सकते, वह तो निर्विशेष ही है और चूँकि अपना रूप है इसलिए बिना जाना हुआ कभी नहीं होता। जानते तो उसको सब समय हैं, लेकिन केवल सत्-चित्-प्रिय रूप से ही। जैसे कोई कहे 'आकाश को मैं तब मानूँ जब आकाश आँखों से दीख जाये', तो आकाश तीन काल में आँख से नहीं दीख सकता, क्योंकि दीखने के योग्य नहीं है। उसी प्रकार जो कहता है 'मैं परमात्मा को तब मानूँ जब उसे देखूँ, चाहे इन्द्रियों से, मन से विषय करूँ' तो ऐसा होगा नहीं, क्योंकि वह तो न मन का विषय है और न इन्द्रियों का विषय है। इस प्रकार, विशेषों के बारे में जिज्ञासा छोड़ने का औचित्य बताया कि वह तत्त्व ही निर्विशेष है। सब अपेक्षा हटने पर प्रत्यग्रूप से भासमान आत्मा ही ब्रह्म समझ में आता है।।२७।।

यद्यपि आत्मा हमेशा वेदिता अर्थात् जानने वाला है, इसलिए कभी भी जानने का विषय या वेद्य नहीं बनता तथापि उसके कारण ही जानने वाले बनते हैं इसलिए वह असत् या शून्य नहीं, यह कहते हैं—

अवेद्योप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्।।२८।।

विषय हुए बिना भी साक्षात् भासमान होने से यह स्वयम्प्रकाश है। शास्त्र में ब्रह्म का लक्षण बताया है सत्य, ज्ञान, अनन्त।

बिना जाने हुए भी वह नित्य जाना हुआ ही है, अपरोक्ष है अर्थात् हमेशा ही उसका साक्षात्कार ज्ञानरूप से होता ही है। इसीलिए उसको स्वप्रकाश कहा जाता है, किसी के द्वारा नहीं जाना होकर ज्ञानस्वरूप से हमेशा जाना हुआ ही है। इसी का नाम स्वप्रकाश होता है। जिस प्रकार सूर्य किसी के द्वारा प्रकाशित न होकर भी अप्रकाश नहीं है, इसी प्रकार आत्मा कभी भी 'जाना हुआ' न होकर भी 'बिना जाना हुआ' नहीं है। यही स्वप्रकाश का लक्षण है। आत्मा स्वप्रकाश है क्योंकि जानने का कर्म हुए बिना भी अपरोक्ष है। परोक्षरूप से आत्मा को नहीं जान रहे हैं। 'मैं' को जो हम जान रहे हैं, वह परोक्षरूप से नहीं कि मुझसे भिन्न यह आत्मा है, वरन् अपरोक्षरूप से जान रहे हैं कि आत्मा हूँ। परोक्ष का मतलब होता है कि कोई दूसरा बीच में हो, जिसके द्वारा जानें। संसार में जितनी भी चीज़ें हैं वे किसी-न-किसी के मार्फत जानी जाती हैं। बाह्य चीज़ों को बाह्य इन्द्रियों के मार्फत जानते हो, अन्दर के अन्तःकरण को अविद्या के माध्यम से जानते हो। हर चीज़ माध्यम से जानी जाती है, परन्तु ज्ञान स्वयं किसी माध्यम से नहीं जाना जाता, वह ज्ञानस्वरूप होने से ही जाना हुआ है। जो ऐसा स्वप्रकाश होता है उसी को वेद ने ब्रह्म कहा है। 'ऐसा-वैसा' न सही लेकिन ब्रह्म की पहचान है क्योंकि 'इह' अर्थात् वेदान्तों में, उपनिषदों में, ब्रह्म का लक्षण किया 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। सत्य, ज्ञान, अनंत—यही ब्रह्म का स्वरूप या लक्षण है।।२८।।

'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' का अर्थ स्वयं मूलकार ही बताते हैं—

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते।।२९।।

सत्यता अर्थात् बाधरहितता। जगत् के बाध के साक्षी का बाध किस साक्षी से पता चलेगा! बताओ। बिना साक्षी का बाध तो स्वीकार्य है नहीं।

सत्य ब्रह्म है। जिसका कभी बाध नहीं होता है उसी को सत्य कहते हैं। बाध अर्थात् यह निश्चय कि यह चीज़ तीनों कालों में स्वरूप से 'है' नहीं। तीनों कालों में अर्थात् न यह वास्तविक थी, न यह वास्तविक है और न आगे ही वास्तविक होगी। जैसे रस्सी में जिस समय साँप दीख रहा है तब भी नहीं है, देखने से पहले भी नहीं था और बाद में भी नहीं रहेगा। यही

त्रैकालिक अत्यंताभाव का निश्चयरूप बाध है। घड़ा बनने से पूर्व 'मिट्टी में अभी घड़ा नहीं है'—यह समझना बाध नहीं क्योंकि लगता है कि जब बनायेंगे तब हो जायेगा। 'मिट्टी में घड़ा होगा', अर्थात् भविष्य के अस्तित्व का निषेध नहीं है। अथवा, 'घड़ा फूट गया, इसलिए अब मिट्टी में घड़ा नहीं है' यह निश्चय भी बाध नहीं क्योंकि लगता है कि पहले था, अब नहीं है। जहाँ कार्यकारण-भाव संबंध होता है वहाँ कारण अवस्था को 'असत्' पद से कई जगह कहा जाता है, क्योंकि कार्य-उत्पत्ति के पहले और कार्यनाश के बाद कारण के बारे में ही कहा जाता है कि 'यह कार्य नहीं है'। घड़ा पैदा होने के पहले और घड़ा नष्ट होने के बाद मिट्टी में घड़ा नहीं है किन्तु जितनी देर तक घड़ा है उतनी देर तक मिट्टी में ही है। बाध का मतलब यह निश्चय है कि न था, न है और न होगा। यह जो त्रैकालिक अत्यंताभाव का निश्चय है, इसी को बाध कहते हैं। जिसका ऐसा कभी बाध न हो वह सत्य है, जिसका बाध होता है उसी को मिथ्या कहते हैं। रस्सी में साँप को इसलिए मिथ्या कहते हैं कि उसका बाध होता है। अन्यथा, उसका नाश हो सकता, उत्पत्ति हो सकती है। जिसकी उत्पत्ति हो सकती है उसका कारण में प्रागभाव है, जो नष्ट हो गया उसका कारण में प्रध्वंसाभाव है, परन्तु वास्तविक कार्य का कारण में अत्यंताभाव नहीं है।

प्रश्न होता है कि यथाकथंचित् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से यह मान लेंगे कि जगत् पैदा होने के पहले नहीं था। जगत् अभी भी विचार से सत्य सिद्ध नहीं होता है। परन्तु आत्मा भी ऐसा ही अर्थात् कादाचित्क और विचार से असिद्ध ही क्यों न हो? जैसे घड़ा है तब देखते हैं, घड़ा नष्ट हो गया तो नहीं दीखा, इसी प्रकार से घड़ा है तो तुम घटद्रष्टा हो, घड़े को देखने वाले हो, घड़ा नहीं है तो घड़े को देखने वाला भी नहीं है। कोई कहे कि तब घड़े को देखने वाला नहीं, परन्तु कपड़े को देखने वाला तो है; कुछ-न-कुछ तो दीखता ही रहता है, इसलिए घड़े को देखने वाला नहीं पर देखने वाला तो है? तब कहते हैं—'जगद्बाधैकसाक्षिणः' सृष्टि के क्षण से लेकर प्रलय-पर्यन्त यह सारा जगत् है। इस सारे जगत् के बाध को करने वाला जो साक्षी है, आगे उसके बाध का साक्षी कहाँ से आयेगा! अधिष्ठानज्ञान से बाध होता है। अत्यन्ताभाव-निश्चय भी एक ज्ञान है। सारे जगत् के अत्यंताभाव का निश्चय करने वाला तो साक्षी है, इसलिए जगत् का बाध समझ में आ सकता है, लेकिन इसके बाध का साक्षी यदि बाधित होता है तो उस साक्षी का बाध करने वाला भी फिर कोई बचेगा ही। रस्सी के ज्ञान से सर्प तीनों काल में नहीं है, यह बाधरूप निश्चय हुआ तो इस निश्चय वाला कोई है। जब तक अत्यंताभाव का निश्चय न हो तब तक बाध नहीं है। सारे जगत् के बाध को करने वाले साक्षी का बाध कौन करेगा, यह बताओ। साक्षी का बाध किसने किया या उस बाधरूप निश्चय को करने वाला कौन है? यदि कहो कि कोई दूसरा साक्षी है तो उसे सत्य मानोगे ही, क्योंकि उसका बाध नहीं होगा। यदि कहो कि ये दोनों साक्षी एक-दूसरे का बाध करें तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। दो से ज़्यादा मानोगे तो चक्रिका हो जायेगी। और यदि आगे चार-पाँच मान लोगे तो अनवस्था हो जायेगी। इसलिए आत्मा के बाध का साक्षी कोई दूसरा मानना युक्तिसंगत नहीं है। साक्षी की विद्यमानता, ब्रह्म

की विद्यमानता शास्त्र से सिद्ध है, क्योंकि शास्त्र कह रहा है 'सत्यं ब्रह्म'। उसका बाध होता है, यह तो सिद्ध नहीं होता जबकि बाध नहीं होता है—यह वेद से सिद्ध हो रहा है। यदि कहो कि उसको बिना साक्षी के ही मान लेंगे तो संभव नहीं। जब तक अत्यंताभाव का निश्चय न हो, तब तक तो बाध हो नहीं सकता क्योंकि अत्यंताभाव का *निश्चय* होना ही तो बाध है; अतः साक्षी का बाध असम्भव है।

इसका अनुभव हम लोगों को रोज़ होता है : जब हम गहरी नींद में जाते हैं तब सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों नहीं रहते। स्थूल-सूक्ष्म शरीर ही तो सारा जगत् है! जो अनुभव में आता है वह गहरी नींद में नहीं रहता, मूर्च्छा में नहीं, समाधि में नहीं रहता। 'नहीं रहता', यह कैसे पता लगा? चूँकि वहाँ साक्षी रहता है। अहंकार उस साक्षी पर ही परिच्छेदक बनकर आ जाता है, इसलिए साक्षी का वह ज्ञान अहंकार में आ जाता है, अतः 'वहाँ मैंने कुछ नहीं जाना' यह अहंकारघटित प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार का अर्थात् ससाक्षिक बाध साक्षी का नहीं हो सकता है। अगर पूछो कि किस प्रमाण से हम ऐसा मानते हैं, तो दो प्रमाण हैं : एक प्रमाण यह अर्थापत्ति कि उसका बाध होना असम्भव है और दूसरा प्रमाण श्रुति है। साक्षी का बाध होता है यह न श्रुतिप्रमाण से सिद्ध हो सकता है और न युक्ति से सिद्ध होता है।।२९।।

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' के अनुसार आकाश के दृष्टांत से समझाते हैं—

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत्।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत्।।३०।।

मूर्तिमान् घट आदि हटा दिये जाने पर मूर्तिरहित आकाश बचा ही रहता है, इसी तरह जिनका सम्भव है उन सब उपाधियों का बाध हो जाने पर जो बचता है वही आत्मतत्त्व है।

दृष्टान्त देते हैं कि जितने मूर्त पदार्थ हैं, अर्थात् जो पदार्थ या छुए जा सकते हैं या देखे जा सकते हैं। मूर्त चीज़ें हम आँख से देख लेते हैं और अन्धा उन्हें छूकर जान लेता है। अगर तुम्हारी पेटी में कपड़े पड़े हैं तो उनको चाहे देखकर या छूकर पेटी में से हटा दो तो सब मूर्त पदार्थ हटा दिये गये। उन्हें हटाने पर अमूर्त आकाश स्वयमेव बच जाता है। अतः कहते हो, 'सारे कपड़े हटा दिये, पेटी खाली है' यह *खालीपना* तुम्हें आँख से दीख नहीं सकता, छूकर भी पता चल नहीं सकता अतः मूर्त नहीं है। अब वहाँ कोई मूर्त पदार्थ नहीं है—यह साक्षी जान रहा है, तभी यह कहते हो कि 'यहाँ कुछ नहीं है'। मूर्त पदार्थों को जानने के लिए तो इन्द्रियों की सामर्थ्य है परन्तु यह जगह खाली है इसको साक्षी जानता है। मूर्त पदार्थों को हटा देने पर जो अमूर्त बचा वह आकाश है। हटाने लायक चीज़ों को हटा देने पर जिसको नहीं हटाया जा सकता है वह अपने आप बच जाता है। नहीं हटने वाली चीज़ को कहीं से लाना नहीं पड़ता, वह बच ही जाती है। ठीक इसी प्रकार से जिन चीज़ों का बाध हो सकता है उनके बाध के बाद बचा आत्मा है। जगत् के सारे पदार्थों का बाध हो सकता है क्योंकि वे सारे कभी होते हैं कभी नहीं होते हैं। बाध करते-करते अंत में बाध करने वाला ही बचेगा! सर्वथा खाली कमरे में तुम कहते

हो 'कमरे में कुछ नहीं बचा।' तुम्हारा यह मतलब नहीं कि तुम भी वहाँ नहीं बचे! मतलब यह है कि खालीपन जानने वाले तुम्हारे सिवाय अन्दर कुछ नहीं है। मैं अन्दर नहीं होऊँ तो कैसे कहूँ कि अन्दर कुछ नहीं है? सब चीज़ों को निकालने के बाद अपने आप वहाँ हो ही तभी कह रहे हो। इसी प्रकार सारे जगत् को हटाने के बाद हटाने वाला साक्षी है ही। बाधयोग्य सबके बाध के पश्चात् भी जो बच जाता है वही आत्मा है।

श्रुति उपदेश करती है 'नेति नेति'। जो-जो मूर्त-अमूर्त है, उसका सत्य होना, आत्मा होना श्रुति मना कर देती है। आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि अनात्म वस्तुओं का अदर्शन (हटाना) ही परमात्मा की उपासना है। सगुण परमात्मा की तो उपासना है कि उनको कुछ चढ़ाओ पर निर्गुण परमात्मा की उपासना है कि उनके ऊपर से सब कुछ हटा दो! प्रातः काल जब भगवान् शंकर के मन्दिर में जाते हैं तब सबसे पहला कार्य करते हैं निर्माल्य का विसर्जन करना। जो कुछ चढ़ाया है, वह सब कुछ हटा देना है। यह सारा जगत् निर्माल्य ही है। यह सब अधिष्ठान ब्रह्म के ऊपर चढ़ा हुआ है। कई बार सुनते होगे कि भगवान् शंकर के निर्माल्य को ग्रहण मत करो, उसे मत खाओ। उसका वास्तविक तात्पर्य ही यह है कि यह सारा जगत् शिव के ऊपर चढ़ा हुआ है। वैराग्य के द्वारा इस सबको हटा देना है, इसलिए इसका ग्रहण तुम मत करो। इसका ग्रहण कौन करता है? राजस्थान में भगवान् शंकर के मन्दिर का प्रसाद ग्रहण करने वाले को सेवक कहा जाता है। परमेश्वर की सेवा करने वाले जो तुम्हारे शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त हैं वे ही संसार के पदार्थों को ग्रहण कर सकते हैं, तुम ग्रहण नहीं कर सकते। निरन्तर वैराग्य का अभ्यास कर्त्तव्य है। जो सेवा करने वाले शरीर से लेकर अहं-पर्यन्त हैं वे सिवाय निर्माल्य के, सिवाय भगवान् शंकर के प्रसाद के और क्या ग्रहण कर सकते हैं! सभी तो उनका निर्माल्य है।। ३०।।

पूर्वोक्त तथ्य ही और स्पष्ट करते हैं—

सर्वबाधे न किंचिच्चेद् यन्न किंचित् तदेव तत्।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि।।३१।।

यदि कहो कि सब का बाध हो जाने पर कुछ नहीं रहता, तो जिसे 'कुछ नहीं' समझ रहे हो वह (ज्ञानरूप तुम स्वयम्) ही वह आत्मवस्तु है। इस बारे में कहने के तरीके का ही अन्तर है क्योंकि बाधहीन तत्त्व है अवश्य।

जिसकी प्रतीति होती है उस सबका बाध करना हो तो द्रष्टा भी प्रतीत होता ही है, उसका भी बाध क्यों न हो? ठीक जिस प्रकार, कमरे में कोई चीज़ है तब तक तो बिजली का लट्टू उसका प्रकाशक है, परन्तु जब कमरे में कुछ नहीं है तब लट्टू किसका प्रकाश करे! अर्थात् किसी का नहीं करेगा, अतः उसे *प्रकाशक* नहीं कह सकते। इसी प्रकार जब सारे दृश्य का बाध हो गया तब किसका द्रष्टा रहेगा? इसलिए, कुछ नहीं है—यह मानना ठीक होगा। इस समस्या का समाधान ऐसे समझना चाहिए : मान लो कमरे में घुप्प अंधेरा है। हमने दरवाज़ा खोला।

कोई पूछता है 'क्या अन्दर कहीं कुर्सी पड़ी है?' उससे कहते हैं 'रोशनी करके देखते हैं कि कुर्सी पड़ी है या नहीं।' यह तो नहीं कह देते कि वहाँ कोई कुर्सी नहीं है क्योंकि अंधकार है! और यदि कमरे में लट्टू जल रहा है तब कह सकते हैं कि कोई कुर्सी है या नहीं है। कुर्सी है—यह जिस प्रकाश में देखते हैं, कुर्सी नहीं है भी उसी प्रकाश में देखकर कहते हैं। ये दोनों बातें तभी कह सकते हैं कि जब कमरे में प्रकाश है। इसी प्रकार इस सारे जगत् का बाध हो जाने पर प्रकाश होगा तभी कहोगे 'यहाँ कुछ नहीं है।' कुछ नहीं है—यह अगर तुम समझ रहे हो तो तुमने ज्ञानरूप को मान ही लिया। हम उसको विधिमुख से कहते हैं कि वहाँ प्रकाश है। तुम उसे निषेधमुख से कहते हो कि कुछ नहीं है। परन्तु दोनों इस विषय में एकमत हैं कि प्रकाश है। यदि सारे दृश्य प्रपंच का बाध हो गया तो फिर 'कुछ भी नहीं है'—यह जान कर ही कहोगे, बिना जाने तो नहीं कहोगे। 'कुछ नहीं है' का जो ज्ञान, वही तो ब्रह्म है! हमारे-तुम्हारे बात करने में इतना ही फ़र्क़ है कि बोलने के तरीके दो हैं। कमरे में कुछ है, यह भी प्रकाश से जानोगे, कमरे में कुछ नहीं है—यह भी प्रकाश से जानोगे। प्रकाश के बिना दोनों ज्ञान नहीं होंगे। फिर भी बोलने का तरीका यह है कि 'कमरे में केवल रोशनी है' या 'साफ़ दीख रहा है कि कमरे में कुछ नहीं है।' सबका बाध होने पर कुछ नहीं है का ज्ञान है ही। भाषा अर्थात् बोलने का ढंग ही अलग है, जो बाध-रहित है वह है ही, उसके बारे में कोई मतभेद नहीं है। 'वह कुछ नहीं का साक्षी है' कहो या 'केवल साक्षी है' कहो, स्थिति में अन्तर नहीं।

फिर भी दोनों तरीकों में इतना फ़र्क समझ लेना कि 'कुछ नहीं का ज्ञान'—इस प्रकार से कहते हो तो 'कुछ नहीं' को मान रहे हो। इसलिए हम उन लोगों को अभावाद्वैती कहते हैं कि द्वैत के अभाव वाला ब्रह्म है अर्थात् भाव पदार्थ तो एक अद्वैत ही है, परन्तु सबका अभाव भी वहाँ रहता है। हम लोगों का कहना है कि अभाव भी नहीं रहता। जैसे भाव कुछ नहीं रहता वैसे ही अभाव भी कुछ नहीं रहता क्योंकि 'सब कुछ' को लेकर के ही 'सब कुछ नहीं' का ज्ञान होगा। अभाव हमेशा किसी प्रतियोगी भाव को रखकर ही हो सकता है। अतः भावाभाव, दोनों से निर्मुक्त वह तत्त्व है। अतः अद्वितीयता के ऊपर ज़ोर देने के कारण हमको अभाव भी सहन नहीं होता। भाव भी नहीं और अभाव भी नहीं है। अभावाद्वैती की कठिनाई यह है कि वह इन दोनों (भाव और अभाव) कोटियों को इकट्ठा करके नहीं सोच सकता। जैसे जब तक हमारा स्थूल-सूक्ष्म शरीर है तब तक हम में भाव की दृष्टि है। इसी प्रकार जब तक स्थूल-सूक्ष्म शरीर है तभी तक अभाव की भी दृष्टि रहेगी। इसलिए जगत् का जब बाध होता है तो केवल भाव पदार्थों का बाध नहीं होता, अभाव पदार्थों का भी बाध हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प दीखने के बाद यह बाध नहीं होता कि सर्प का रस्सी में अभाव होने से सर्प नहीं है बल्कि यह कि अभाव भी नहीं है क्योंकि सर्प का रस्सी से कभी सम्बन्ध हुआ ही नहीं, केवल कल्पना से सम्बन्ध था, वह कल्पना नष्ट हो गई। इसलिए साँप है और साँप नहीं है, ये दोनों ही सुधी के लिए बाधित होते हैं। शुरू के साधक को 'नहीं है' पर ज़रूर ज़ोर देना है, वैराग्य की दृढता के लिए ऐसा करना ज़रूरी है। परन्तु वस्तुतः जब वहाँ पहुँचते हो तो भाव-अभाव से सर्वथा निर्मुक्त है।। ३१।।

दर्शित तथ्य वेद ने कैसे बताया यह समझाते हैं–

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः।।३२।।

अत एव 'स एष' आदि श्रुति अतत् के निषेध के तरीके से बाधयोग्य का बाध कर प्रत्यगात्मा को बचा हुआ बताती है।

चूँकि साक्षिचैतन्य का कभी बाध नहीं हो सकता इसलिए ही श्रुति ने (बृ.३.९.२६)'स एष नेति नेति' इस प्रकार 'यह नहीं, यह नहीं' कहकर मूर्त-अमूर्त सबको हटा दिया अर्थात् जिस-जिसका बाध हो सकता है उन सब का बाध कर दिया, तब 'अदः शेषयति' आत्मा ही अवशिष्ट रह गया। इसलिए श्रुति ने कहा 'स एष नेति नेति इति आत्मा' अर्थात् निषेध का साक्षी है। इस प्रकार से जिस-जिसकी व्यावृत्ति हो सकती है उस-उसकी व्यावृत्ति करने का प्रयत्न करो। जिसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती उस साक्षी की व्यावृत्ति करने की चेष्टा मत करो। इसीलिए भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा कि जब मूर्त-अमूर्त सामने आये तब तक तो चित्त को उपशान्त करो। चित्त को उपशांत करोगे तो अभाव प्रत्ययालम्बन निद्रा आने लगेगी, तब उसे पुनः जगाओ। इस प्रकार से जब दोनों तरह से देखते हैं अर्थात् जब न भाववृत्ति रहती है और न अभाव-वृत्ति रहती है, तब समता की प्राप्ति हो जाती है। 'समं प्राप्तं न चालयेत्' भाव-अभाव दोनों से निर्मुक्त होने के बाद फिर उसको विक्षिप्त मत करो कि यह क्या है, केवल उसमें स्थित हो जाओ। जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता है उसका श्रुति ने निराकरण करने के लिए नहीं कहा है, वरन् उसके अन्दर स्थित हो जाने के लिए कहा है।। ३२।।

जो कुछ भी दृश्य जगत् है उसका बाध कर देने से बाध कर देने वाला शेष रह जाता है जिसका आगे बाध नहीं किया जा सकता। बाध्य-अबाध्य का विवेक दिखाते हैं–

इदंरूपं तु यद् यावत् तत् त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम्।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः।।३३।।

जितना कुछ भी 'यह' इसी स्वरूप वाला है वह सब छोड़ा जा सकता है। जो 'यह' इस स्वरूप वाला नहीं वह छोड़ा नहीं जा सकता अतः बाधरहित वही सर्वप्रसिद्ध आत्मा है।

छोड़ उसी को सकते हो जो तुमसे अलग हो, अपने-आपको तो छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि तुम छोड़ने वाले हो। अतः जो तुमसे भिन्न होगा वही छोड़ा जा सकेगा। जिसे छोड़ा जा सकता है वह सब दृश्य है। द्रष्टा अपने को नहीं छोड़ सकता। जो इदं-रूप नहीं है अर्थात् अपने से भिन्नरूप नहीं है, दृश्यरूप नहीं है, उसे छोड़ना अशक्य है, वह छोड़ा नहीं जा सकता, वही आत्मा है। इसलिए उसका बाध नहीं हो सकता। इसका मतलब हआ कि अन्तःकरण में जो-जो चीज़ आती चली जाये उसका, दृश्य होने से, त्रैकालिक अत्यंताभाव-निश्चय-रूप बाध करते चले

जाओ। करते-करते जब कुछ न आये तो 'कुछ नहीं' की जो अभावरूपता है उसका भी बाध कर दो! जैसे अंतःकरण में 'कुछ' (है) आता है वैसे ही 'कुछ नहीं' भी आता है। जब इन दोनों चीज़ों को छोड़ दिया जाता है तब अंतःकरण की सत्ता ही विलीन हो जाती है, उस का भी बाध हो सकता है। तब अपने स्वरूप से स्थित हो जाते हो। उस स्थिति में जाकर 'वह कैसा है' इसका चिन्तन नहीं करना चाहिए, अन्यथा फिर अंतःकरण में कुछ न कुछ आने-जाने लगेगा।।३३।।

उक्त विचार का नतीजा बताते हैं—

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम्।
स्वयमेवानुभूतित्वाद् इत्यादिवचनैः स्फुटम्।।३४।।

ब्रह्म में कही सत्यता इस विचार से आत्मा में सिद्ध हुई। आत्मा की ज्ञानरूपता तो 'खुद अनुभूतिरूप होने से' इत्यादि वाक्यों से पहले (श्लो.१३) स्पष्ट कह चुके हैं।

प्रकारण तो यह चला हुआ था 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'। फिर प्रश्न हुआ, वह गुहा कौन-सी है? तब पंचकोशों का निरूपण किया। इस गुहा के अन्दर ही वह ब्रह्म अधिष्ठानरूप से स्थित है। अब अबाध्यता की बात आयी जो मूल प्रसंग से असम्बद्ध नहीं है, वही बात है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की ही सिद्धि कर रहे हैं। सत्यत्व का अर्थ कर दिया था कि जिसका कभी भी बाध नहीं हो सकता अर्थात् 'यह नहीं है' ऐसा कोई भी विचार हो नहीं सकता। अभी किये विचार से यही पता लगा कि एक ही चीज़ है जिसके बारे में 'नहीं है' हो ही नहीं सकता और वह मैं खुद हूँ! 'मैं नहीं हूँ' ऐसा नहीं हो सकता। ब्रह्म में यों बाधराहित्यरूप सत्यता सिद्ध होती है। ब्रह्म को छोड़कर और कोई भी चीज़ बाध से रहित नहीं हो सकती। इसलिए ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, 'ब्रह्म सत्यं'। ज्ञान को आत्मरूप पहले 'स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता' (३.१३) के द्वारा बताया था। आत्मा अनुभवस्वरूप होने से अनुभव का विषय नहीं है, ज्ञानमात्र है। अंतःकरण की उपाधि से ज्ञाता हो जाता है, ज्ञानेन्द्रियों की उपाधि से ज्ञान हो जाता है। यह ठीक है कि अंतःकरण की उपाधि से भी सुख-दुःख आदि ज्ञेय हो जाते हैं, परन्तु अंतःकरण की अहंकाररूप उपाधि के द्वारा ही ज्ञाता होता है। अंतःकरण की अहंवृत्ति के कारण जानने वाला और वृत्त्यन्तरों के कारण जाना जाने वाला हो जाता है। अंतःकरण की ही वृत्तिविशेष 'मैं' इस आकार की है, उसमें आत्मा ज्ञाता बन जाता है। वस्तुतः वह ज्ञानरूप है, न ज्ञाता है और न ज्ञेय है।

ज्ञानरूप होने से ही यह नहीं कह सकते कि वह अज्ञात है। सूर्य के दृष्टांत से समझाया था कि जो चीज़ अप्रकाशरूप होती है वह प्रकाशित नहीं हो तो अप्रकाशमान रहती है परन्तु जो स्वप्रकाश है वह प्रकाशित हुए बिना ही अप्रकाशमान नहीं है। आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं होता, कभी जाना नहीं जाता, परन्तु ज्ञानस्वरूप होने से वह 'नहीं जाना हुआ' भी नहीं है। ज्ञान अर्थात् स्वप्रकाश। इस प्रकार आत्मा की सत्यता और ज्ञेयता का प्रतिपादन किया।। ३४।।

'यो वेद निहितं गुहायां' का वर्णन हो गया, सत्य और ज्ञान का वर्णन भी हो गया। वह

परमात्मा अनंत है, इसका विचार अब करते हैं—

न व्यापित्वाद् देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा।।३५।।

व्यापक, नित्य, सर्वात्मा होने से ब्रह्म में देश-काल-वस्तुकृत अन्त नहीं, यों तीन प्रकार की अनन्तता है।

व्यापकता के विषय में हमारी तीन प्रकार की कल्पनायें हैं। आकाश इत्यादि को हम व्यापक इस प्रकार समझते हैं कि वह सब जगह है, यहाँ भी है, आगे भी है, पीछे भी है, अगल भी है, बगल भी है। सारे देशों में कोई चीज़ है तो उसे देश में व्यापक कहेंगे। इसी प्रकार से भूतकाल, भविष्य काल और वर्तमान काल तीनों में रहने वाले को हम काल में व्यापक कहते हैं। एक आदमी बीस साल का है तो इसका मतलब है कि बीस साल पहले वह पैदा हुआ था और आज है। 'इस आदमी की आयु साठ साल है' इसका मतलब है कि यह बीस साल पहले से है, आगे चालीस साल तक रहेगा और अभी तो है ही। जितना काल भूत में और जितना काल भविष्य में कोई चीज़ रहे उसे उतने काल में व्यापक कहते हैं। यदि कोई चीज़ जितना भूतकाल था उस सब में रहे तथा जितना भविष्य काल है उस सबमें रहे और वर्तमान में तो है ही, उसे काल में व्यापक कहेंगे। कोई चीज़ काल में व्यापक होकर भी देश में व्यापक न हो, यह हो सकता है जैसे हीरा। हीरा बहुत मज़बूत होता है, कहते हैं, इसलिये हज़ारों साल रह सकता है लेकिन देश-व्यापी नहीं है। उसका काल तो दस हज़ार साल पहले से आगे तक है परन्तु देश सीमित है, जहाँ पड़ा है, वहीं पड़ा रहेगा, और तो कहीं वह है नहीं। इसलिए कोई चीज़ काल में व्यापक है तो यह ज़रूरी नहीं कि वह देश में व्यापक हो। ऐसे ही, देशव्यापी हो परन्तु पहले पीछे न रहे तो काल में व्यापक नहीं है। यों देशगत व्यापकता और कालगत व्यापकता होती हैं। तीसरी वस्तुकृत है : घड़ा कपड़ा नहीं है, कपड़ा घड़ा नहीं है। इसलिए घड़ा कपड़ेरूप में व्यापक नहीं है और कपड़ा घड़ेरूप में व्यापक नहीं है। इसे वस्तु-कृत अव्यापकता कहते हैं। जो घड़े-कपड़े दोनों में रहेगा वही इन दोनों में व्यापक हुआ। ये तीन प्रकार की परिच्छिन्नतायें होती हैं और इसलिए तीन प्रकार की अपरिच्छिन्नता अर्थात् व्यापकता होती है।

वेद जब कहता है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तो तीनों प्रकार के अंत या परिच्छेद का निषेध है। ब्रह्म के स्वरूप को बताते हुए, नित्य भी कहा और देशगत व्यापकता भी कही। 'सर्वगतं' अर्थात् सब पदार्थों में है। इस प्रकार से श्रुति ने तीनों प्रकार की अनन्तता का प्रतिपादन किया है। व्यापक या विभु होने के कारण वह देश से परिच्छिन्न नहीं है, देश से उसका अंत नहीं है। उसे नित्य भी कहा है, इसलिए काल के द्वारा भी उसका अंत अर्थात् परिच्छेद नहीं है। वस्तु के द्वारा भी अंत नहीं है, क्योंकि सर्वगत कहा। वह सबमें है चूँकि सर्वरूप है। इसलिए कोई वस्तु इसका अंत या सीमा नहीं है। तीन प्रकार की सांतता प्राप्त होती है अतः तीनों प्रकार की अनंतता का प्रतिपादन श्रुति ने 'अनंतं' पद से कर दिया।।**३५**।।

श्रुति ने तो कह दिया लेकिन इस बात को युक्ति से कैसे समझा जाये जिससे मन में बात बैठ जाये? कहते हैं—

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया।
न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः।।३६।।

देश, काल एवं अन्य वस्तुएँ माया से कल्पित होने के कारण देशादि द्वारा किया वास्तविक अन्त है नहीं अतः ब्रह्म की अनन्तता स्पष्ट है।

भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'मायाकल्पित-देश-काल-कलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्' परिच्छेद का कारण जो देश, काल और वस्तु, तीनों ही दृश्य हैं, इदंरूप हैं और जो दृश्य होता है वह माया के द्वारा ही (कल्पित) होता है। इसलिए देशगत, कालगत और अन्यवस्तु-कृत परिच्छेद माया के द्वारा कल्पित है। जैसे रस्सी में साँप दीखेगा तो किसी देश में ही दीखेगा। इसलिए देश कल्पित हो जाता है। किसी काल में ही दीखेगा तो काल कल्पित हो जायेगा और जो सर्प दीखा वह माला, भूछिद्र इत्यादि नहीं है, इसलिए वस्तु-भेद कल्पित हो गया। इस प्रकार देश, काल, वस्तु की तीनों ही कल्पनायें मायिक हैं। ठीक जिस प्रकार से गन्धर्वनगर दीखता है, परन्तु गन्धर्वनगर देखने से उससे आकाश परिच्छिन्न नहीं होता इसी प्रकार देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से ज्ञान परिच्छिन्न नहीं होता। एक अखण्ड ज्ञान में ही ये सब कल्पित हैं, प्रत्यगात्मा तो अकल्पित है क्योंकि उसके लिए माया की जरूरत नहीं। परन्तु प्रत्यगात्मा से भिन्न जो भी अनात्मा होगा, उस अनात्मा को आने के लिए माया की जरूरत है। स्थूल रूप से समझ लो : मन के बिना न देश रहेगा, न काल और न वस्तु रहेगी। जब तक मन है तभी तक देश, काल, वस्तु हैं, इसलिए मन के अधीन होने से इनको कल्पित ही कह सकते हैं। मन को ही महर्षि वसिष्ठ आदि ने माया का स्वरूप बता दिया है। उपनिषदों में भी 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही कहा है। मन को ही आत्मा क्यों नहीं मान लेते? भगवान् ने अत्यंत दया करके हमको एक अवस्था सुषुप्ति दे दी जिसमें मन नहीं रहता, परन्तु सुषुप्ति से उठते हैं तो सारा का सारा संसार वैसा का वैसा रहता है। इसलिए मानना पड़ता है कि मन के बिना संसार नहीं यह तो ठीक है लेकिन मन स्वयं भी किसी कारण में लीन हो जाता है; वह कारण ही माया है। मन के बिना संसार नहीं यह तो सीधा समझ में आता है क्योंकि मन के बिना हमको किसी भी दृश्य की प्रतीति नहीं हो सकती। घुटने का दर्द भी गहरी नींद में नहीं, हमें लड़की की शादी की चिंता है तो वह भी गहरी नींद में नहीं है। इसलिए मन नहीं तो संसार नहीं, यह अनुभव से सिद्ध होता है, परन्तु संसार पैदा होता है, मन भी पैदा होता है, इससे सिद्ध होता है कि मन का भी कारण है। मन का जो कारण है उसी को माया या अविद्या कहते हैं। इस माया से ही देश, काल और अन्य सारी वस्तुएँ कल्पित हैं। सारा जगत् माया में कल्पित है। जिसमें यह सारा कल्पित है वह अधिष्ठान आत्मा है। कोई चीज़ कल्पित है यह तभी कह सकते हो जब अधिष्ठान के ज्ञान से उसका त्रैकालिक-अत्यंताभाव-निश्चय हो जाये। रस्सी देखकर ही निश्चय

होता है कि मुझे जो सर्प दीखा था वह तीनों कालों में नहीं था। जो तीनों कालों में न हो और दीखे, उसी को कल्पित कहते हैं, उसका बाध होता है। बाध होने के लिए अधिष्ठान-ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार देश, काल और अन्य वस्तुएँ कल्पित हैं यह सिद्ध होने के लिए देश, काल और अन्य वस्तुओं का बाध होना जरूरी है और वह ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान से ही होता है। इसलिए अधिष्ठान ब्रह्म पारमार्थिक है। चूँकि देश, काल और अन्य वस्तुएँ उसमें कल्पित हैं, अतः वे उसे परिच्छिन्न नहीं कर सकतीं। जैसे रस्सी में दीखने वाला साँप उस रस्सी को परिच्छिन्न नहीं कर सकता इसी प्रकार प्रत्यगात्मा के अन्दर इन चीज़ों की प्रतीति कल्पित होने से, प्रत्यगात्मा के ज्ञान से इनका बाध होने से, ये इसको परिच्छिन्न नहीं कर सकतीं। इसलिए ब्रह्म की अनन्तता प्रत्यगात्मा में स्फुट हो जाती है, प्रकट हो जाती है, स्पष्ट हो जाती है।।३६।।

'वस्तु' कल्पित कहने से जड वस्तुओं की चर्चा प्रतीत होती है अतः चेतन जीवों से ब्रह्म भिन्न अर्थात् परिच्छिन्न ही होगा यह सम्भावना रह जाती है, इसका निवारण करते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तद् वस्तु तस्य तत्।
ईश्वरत्वं च जीवत्वम् उपाधिद्वयकल्पितम्।।३७।।

जो सत्य, ज्ञान, अनन्त है वही ब्रह्म वस्तु है। उसकी ईश्वररूपता और जीवरूपता दो उपाधियों से कल्पित ही है।

उपनिषद् ने ब्रह्म का स्वरूप बताया 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् जिसका कभी बाध न हो, कभी अज्ञात न हो और कोई चीज़ जिसके बिना न हो, वही ब्रह्म वस्तु-शब्द का अर्थ है। उसी ब्रह्म के अन्दर ईश्वरत्व और जीवत्व दोनों कल्पित हैं, अवस्तु हैं। ईश्वरत्व एक उपाधि को लेकर कल्पित है और जीवत्व दूसरी उपाधि को लेकर कल्पित है। ऐसे समझ लो : आँख की उपाधि को लेकर तुम्हें द्रष्टा कहा जाता है और कान की उपाधि को लेकर तुम्हें श्रोता कहा जाता है। द्रष्टा श्रोता नहीं है, श्रोता द्रष्टा नहीं है, परन्तु द्रष्टा श्रोता दोनों तुम्हारे बिना नहीं हैं। इसलिए जब तुम चले जाते हो तो न आँख देखेगी, न कान सुनेगा। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर की उपाधि से ईश्वरता और जीव की उपाधि से जीवता है। जीव कभी ईश्वर नहीं है, ईश्वर कभी जीव नहीं है। परन्तु ईश्वर और जीव दोनों माया या अविद्यारूप उपाधिमात्र से नहीं हो सकते। ब्रह्म है तभी उसमें इन उपाधियों से ईश्वरता और जीवता है। जैसे आँख के बिना तुम द्रष्टा नहीं, कान के बिना तुम श्रोता नहीं, आँख से श्रोता नहीं हो सकते, कान से द्रष्टा नहीं हो सकते। जब तुम होगे तभी आँख के द्वारा द्रष्टा बनोगे, कान के द्वारा श्रोता बनोगे। इसी प्रकार से जो सत्य-ज्ञान-अनंतस्वरूप है वही माया की उपाधि से ईश्वरभाव को प्राप्त हुआ कहा जायेगा और अविद्या की उपाधि से जीवभाव को प्राप्त हुआ कहा जायेगा। जीव ईश्वर नहीं, ईश्वर जीव नहीं, परन्तु ब्रह्म के बिना न ईश्वर है, न जीव है। केवल माया से कुछ नहीं हो सकता। जो इस पारमार्थिक भाव को नहीं समझता वह इस बात को नहीं समझ सकता कि माया, अविद्या के न रहने पर भी ब्रह्म तो रहता ही है। जैसे मेरे आँख-कान फूट जायें तो भी मैं रहूँगा ही। मेरे

बिना तो आँख-कान रह नहीं सकते, परन्तु आँख-कान के बिना मैं देख सुन भले ही नहीं सकूँगा परन्तु रहूँगा तो ज़रूर। इसी प्रकार से माया की उपाधि के बिना सृष्टि कर नहीं सकूँगा, अविद्या की उपाधि के बिना सुख-दुःख भोग नहीं सकूँगा, परन्तु रहूँगा तो सही।

कुछ लोगों की यह मान्यता हो जाती है कि शिव शक्ति के बिना कुछ नहीं कर सकता, स्पन्दन नहीं कर सकता, इसलिए *प्रधान* शक्ति ही है। यह मान्यता उन लोगों की है जो संसार के अन्दर अत्यंत आसक्ति के कारण उसकी सत्यता का बाध नहीं कर पाते है। आँख के बिना मैं नहीं देख सकता लेकिन आँख मुझसे प्रधान नहीं हो गयी। इसलिए नहीं क्योंकि आँख के बिना मैं रह सकता हूँ, मेरे बिना आँख रहेगी ही नहीं। इसी प्रकार माया बिना ब्रह्म के रहेगी ही नहीं। जैसे बाजीगर खेल दिखाता है, तो उसकी शक्ति की प्रशंसा है किंतु आखिर शक्ति है तो बाजीगर की ही। वह शक्ति नहीं भी रहेगी तो बाजीगर रहेगा ही, भले ही उसे बाजीगर नहीं कह सकते। शक्ति तो कहीं *पड़ी* नहीं रहेगी कि बाजीगर ने छोड़ दी तो वह पड़ी रहे। इसी प्रकार से माया और अविद्या के बिना न भोग्य और न भोग होगा, परन्तु स्वरूप बना ही रहेगा।

ब्रह्म अनन्त है यह श्रुति ने कहा है। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाऽल्पे सुखमस्ति' जो व्यापक है वही सुख है, जो परिच्छिन्न होता है उसमें सुख नहीं है। अधिक भी अन्य की अपेक्षा कम प्रतीत हो तो सुखद नहीं होता जैसे साथी का वेतन अधिक बढ़े तो अपना बढ़ा वेतन भी सुखद नहीं रहता। कोई भी चीज़ अंत वाली हो जाती है तो वह, जो अंत वाली चीज़ नहीं उसकी अपेक्षा से दुःख का कारण बन जाती है। इसलिए श्रुति कहती है कि जो बड़ा या व्यापक होता है वही सुख है। इतना ही नहीं, श्रुति ने निषेध कर दिया कि अल्प में सुख नहीं और सब देश, काल और वस्तु माया से कल्पित होने के कारण परमात्मा की अपेक्षा अल्प हैं। अतः अनन्त का अर्थ आनन्द समझना, जैसा श्रुति ने अन्यत्र कहा है 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म'। अनन्त मायने आनन्द। देश, काल, वस्तु तो सब अल्प हैं। जब तक माया की कल्पना रहेगी तब तक सुख नहीं रहेगा, माया की कल्पना नहीं रहेगी तो तुम आनन्दरूप रहोगे। अतः जो लोग कहते हैं कि शक्ति प्रधान है वे मानो यही कहते हैं कि गेंग्रीनग्रस्त पैर बचा रहे, मैं भले ही मर जाऊँ!

माया और अविद्या जो दो उपाधियाँ, इनसे ईश्वरता और जीवत्व दोनों कल्पित हैं। सत्यादिरूप जो ब्रह्मवस्तु है वही पारमार्थिक है। लोक में दो तरह से आत्मा प्रसिद्ध है—एक, ईश्वररूप से और दूसरा, जीवरूप से। आगे इन उपाधियों का विचार करेंगे। हमको दो तरह से चैतन्य की प्रतीति होती है—एक बनाने वाला रूप और दूसरा भोगने वाला रूप। इस सृष्टि को जिसने बनाया वह बनाने वाला निमित्त कारण है और मैं इसमें सुख-दुःख का भोग करने वाला चेतन हूँ। लोक में दो प्रकार से ही चेतन की प्रतीति होती है—या भुगवाने वाले रूप से या भोगने वाले रूप से। तुम किसी के यहाँ नौकरी करते हो तो उसका रूप तन्ख्वाह देने वाला और तुम्हारा रूप लेने वाला। मालिक और नौकर रूप में भी चेतन-भेद की प्रतीति होती है। इसलिए भाष्यकार कहते हैं—'विश्वं पश्यति कार्य-कारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः। शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।' दुनिया में चेतन के ये दो ही भेद प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही एक चेतन में कल्पित हैं। किस के द्वारा कल्पित हैं? माया और अविद्या इन दोनों उपाधियों के द्वारा कल्पित हैं।।३७।।

ब्रह्म वस्तु के अन्दर से जीवता और ईश्वरता जिनसे कल्पित हैं वे कौन-सी उपाधियाँ हैं, इसे बताने के लिए कहते हैं—

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु।।३८।।

सब वस्तुओं पर शासन रखने वाली कोई ईश्वरसम्बद्ध शक्ति है जो आनन्दमय से शुरू कर सभी वस्तुओं में छिपी है।

शक्ति कैसी है? 'काचित्', कोई, जिसको कहा नहीं जा सकता कि वह कैसी है। इसलिए भाष्यकार कहते हैं 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो' न कह सकते हैं कि शक्ति है क्योंकि यदि है तो हमेशा रहे परन्तु वह हमेशा नहीं है। न कह सकते हैं कि नहीं है क्योंकि यदि न होती तो इतना बड़ा संसार प्रकट कैसे होता! सत् और असत् दोनों है भी कहना तो बनता नहीं क्योंकि सत्-असत् दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। कुछ ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने ब्रह्म को माया से अभिन्न माना है! उनके अनुसार ब्रह्म ही जगत् को बनाता है, कभी नहीं बनाता है, लीन कर देता है। चूँकि कारण होना उसका स्वरूप है इसलिए फिर बना देता है। वे लोग ब्रह्म और माया को एक-स्वरूप समझते हैं। जगत् बनाने के समय मायारूप वाला प्रतीत होता है और मोक्ष देने के समय ब्रह्मरूप प्रतीत होता है। चूँकि एक ही है इसलिए फिर कभी मायारूप भी हो जाता है। ऐसा मानना अच्छा तो बहुत लगता है, विशेष करके उन्हें जिनमें वैराग्य नहीं होता है। वे सोचते हैं कि यह सब कुछ नहीं रहेगा तो मोक्ष से फायदा क्या होगा! संसार के प्रति जिन्हें वैराग्य नहीं वे सोचते हैं कि जगत् बना रहना चाहिए, यह अच्छा लगता है। परन्तु विचार करो तो ऐसा मानने से अनन्त मोक्ष असंभव है क्योंकि कब वह फिर संसार बना दे और तुम जीवभाव में आ जाओ, कोई ठिकाना नहीं! कुछ लोग एक कदम और आगे जा कर कहते हैं कि उसको शक्ति की जरूरत नहीं है, बिना शक्ति के ही कभी वह संसार बन जाता है कभी नहीं बनता है। पूछो कभी बनता है, कभी नहीं बनता है इसमें कारण क्या है? कहेंगे—उसकी मर्ज़ी। उसकी मर्ज़ी को ही हम शक्ति कहते हैं। 'तदैक्षत' में इच्छा-शक्ति सबसे पहले कही है। वह न सत् और न असत् है और न सदसत् है।

कुछ लोग मानते हैं कि यह ब्रह्म से अलग है। खास करके वर्तमान काल में लोग देवियों को शक्तियाँ गिन लेते हैं और देवों को ब्रह्म गिन लेते हैं! विष्णु ब्रह्म हो गये और लक्ष्मी शक्ति हो गई, शिव ब्रह्म और पार्वती शक्ति हो गई, कृष्ण ब्रह्म और राधा शक्ति हो गई। इसी प्रकार राम और सीता ब्रह्म और शक्ति का रूप हो गये। इस प्रकार से दोनों को भिन्न समझते हैं। भिन्न होंगे तो कभी भी अद्वैत नहीं होगा जबकि श्रुतियों में ब्रह्म को बार-बार अद्वैत (अद्वितीय) कहा है। राम ब्रह्म है और उनके साथ सीता है तो राम अद्वैत नहीं रहे। सीता और राम दोनों एक हों तब अद्वैत है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि माया को भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं कह सकते। भिन्न नहीं, अद्वैत होने के कारण; अभिन्न भी नहीं क्योंकि अभिन्न होगी तो मोक्ष असंभव हो जायेगा। भिन्न भी और अभिन्न भी दोनों विरोधी होने से एक-साथ हो नहीं सकते।

किंच अगर उसे अंगवाली कहो तो उसका अंग कहाँ से आयेगा क्योंकि कारण ही अंग होते हैं जबकि माया का कारण कुछ नहीं। कहो कि वह अंग वाली नहीं है, तो यह अंग वाला संसार कैसे पैदा करती है? इसलिए न इसे अंग वाला कह सकते हैं और न अंग-रहित कह सकते हैं। अंग वाली और अंगरहित दोनों एक साथ कह ही नहीं सकते। किसी चीज़ को या सावयव या निरवयव कहते हैं। चीज़ को दोनों कह नहीं सकते क्योंकि विरोध हो जाता है। इसलिए माया अत्यंत अद्भुत है।

जिसे देखकर स्तब्ध रह जाया जाता है उसके बारे में शब्द की कुछ प्रवृत्ति नहीं होती। वेदान्तों में अनिर्वचनीय-शब्द पारिभाषिक है। प्रत्येक शास्त्र के अन्दर कुछ बातों को कहने के लिए लक्षण बनाकर शब्द दे दिया जाता है कि यह लक्षण होगा तो यह शब्द कहेंगे। अनिर्वचनीय का सीधा अर्थ तो हो जाता है—जिसे कह न सको। वाणी का अविषय ब्रह्म भी है क्योंकि ब्रह्म को भी वाणी से नहीं कह सकते लेकिन उसके लिए 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। अनिर्वचनीय पारिभाषिक शब्द है जो माया और माया के कार्यों के लिए वेदान्त शास्त्र में प्रयुक्त होता है। अनिर्वचनीय बताने के लिए यहाँ 'काचित्' शब्द का प्रयोग है। इसका बीज केनोपनिषद् में मिलता है। देवताओं और असुरों में संघर्ष हुआ। देवता भगवान् की कृपा से जीत गये और आकर खुशी मनाने लगे कि 'वाह! देखो हमने असुरों को कैसा मारा कि उन्हें जीत लिया।' परमेश्वर ने सोचा कि असुर तो घमण्डी थे इसलिए उन्हें देवताओं से हरवाया। अब ये देवता भी घमंडी होने लग गये जो कह रहे हैं 'अस्माकम् एव विजयः।' इसलिए इन्हें भी रास्ते लाना चाहिए। भगवान् शंकर यक्ष का रूप धारण करके, जहाँ देवता लोग उत्सव मना रहे थे, खूब खा-पी रहे थे, वहाँ एक पहाड़ की चट्टान के ऊपर जा कर बैठ गये। रोज़ स्तोत्र में पाठ करते हैं 'यक्षस्वरूपाय जटाधराय।' वेदों में परमेश्वर को अनेक जगह यक्षरूप कहा है। उनका महान् यक्षरूप था। देवताओं ने उन्हें देखकर सोचा कि पता लगाना चाहिए कि कौन है। वहाँ गये लेकिन पता नहीं लगा पाये। भगवान् तो वहाँ से लुप्त हो गये पर वहीं पर भगवती पार्वती प्रकट हो गयीं। देवताओं ने उनसे पूछा तो उन्होंने बताया 'वह वही भगवान् शंकर हैं जिनकी कृपा से तुम लोग विजयी हुए हो। जो तुम कह रहे हो 'हम जीते, हम जीते,' यह तुम्हारा गर्व व्यर्थ है।' इस प्रकार देवताओं ने महादेव का परिचय प्राप्त किया।

शक्ति या पार्वती क्या है? शक्ति वह है जो शिव का परिचय करा देती है, यही वहाँ पार्वती ने किया। परमेश्वर की शक्ति से बना सारा जगत् परमेश्वर की अनन्ततामात्र बताने के लिए है। अनन्तता का पता तब हो जब अनेक परिच्छिन्न रूपों में वह प्रकट हो। अनन्त सृष्टि में उसका पता लगा, पंचकोशों के द्वारा पता लगा, ये सारे उसका परिचय कराने के लिए हैं। वह सुन्दर इतनी है कि उसने परिचय कराने के लिए यह सब प्रकट किया पर जिसको प्रकट किया वह भी उसकी सुन्दरता के कारण परम सुन्दर हो गया और इस सुन्दर सृष्टि को देखकर हम सुन्दर परमात्मा की तरफ जाते, इसके बजाये सुन्दर संसार देखकर हम उसी में फँस गये! सुन्दर तो वह परमेश्वर के सौन्दर्य से है, परन्तु जिसके सौन्दर्य से उसमें सुन्दरता आती है, जिसकी सत्यरूपता से उसकी सत्यता प्रतीत होती है, जिसके आनन्द से उसमें आनन्दरूपता की प्रतीति होती है, उसको तो हम भूल गये और इसी के सौन्दर्य आदि के अन्दर हम फँस गये।

अनन्तता प्रकट करने के लिए होकर भी अप्रकट रखने के काम की हो गई। जिस माया के द्वारा हमको परमेश्वर की समझ होनी चाहिये, उसी माया के द्वारा परमेश्वर ढका हुआ है। वेदांत सिद्धान्त में कहते हैं कि माया की दो शक्तियाँ हैं—आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति जीव पर काम करती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा परमेश्वर कार्य करता है। हम जीवों को तो वह आवरण में रखती है। आवरण में रहकर ही हम सारे संसार को देखते हुए भी जिसके कारण संसार दीख रहा है उसको नहीं समझ पाते। इसलिए केनोपनिषद् में कहा कि वाणी जिसको कह नहीं सकती परन्तु जिसके कारण वाणी बोलती है, आँख जिसको देख नहीं सकती परन्तु जिसके कारण आँख देखती है, कान उसको सुन नहीं सकते परन्तु जिसके कारण कान सुनते हैं वह परमेश्वर है। परमेश्वर की अनन्तता को आँख, कान इत्यादि प्रकट करते हैं तभी सारा अनंत संसार दीखता है, सबका ग्रहण होता है, परन्तु इस प्रकार देखते हुए भी *उसकी* अनन्तता को हम नहीं समझ पाते, अनंत वस्तुओं को ही देखते हैं।

वह सर्ववस्तु-नियामिका है। सारे पदार्थों को नियमन में रखती है। कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो नियम-विरुद्ध चले। हमारा मन, हमारे प्राण आदि सब उसके नियम में चलते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में अन्तर्यामी ब्राह्मण (३.७) है, जहाँ विस्तार से समझाया है कि सर्वत्र रहकर अज्ञात बना परमेश्वर ही भीतर से सब पर शासन करता है। वह शासन इस शक्ति से है। हमारे अन्दर रहते हुए, पृथ्वी में रहते हुए, हरेक चीज़ के अन्दर रहते हुए सबका ऐसा नियमन करती है कि बाहर से कहीं कुछ करते नहीं देखी जाती। तुम सोचोगे 'मैं कर रहा हूँ' लेकिन वह बैठी कर रही है। बार-बार शास्त्र कहते हैं कि 'तू अकर्त्ता, अभोक्ता है। न तू कुछ करने लायक है और न तू कुछ भोगने लायक है।' परन्तु सवेरे उठने से लेकर रात को सोते समय तक हमारा अनुभव है कि हम नहीं करेंगे तो कैसे होगा? हमारी स्थिति कुछ वैसी ही है कि जैसे एक कुत्ता बैलगाड़ी के नीचे चलकर भार का मारा मर रहा है कि 'सारी बैलगाड़ी का भार मेरे ऊपर है'! भार तो सारा बैल खींच रहा है। इसी प्रकार सबका नियमन करने वाली तो वह शक्ति है। अंतर्यामी रूप से शासन करती है इसलिए पता नहीं चल पाता है। पानी को बहाने वाला कोई दीखता नहीं है, यही लगता है कि पानी बहता है, हवा बहती है, आग जलती है; परन्तु वस्तुतः आग में बैठा हुआ वही उसको जलाये जा रहा है, पानी में बैठा हुआ वह उसको बहा रहा है।

शंका होती है कि नियमन करने वाला हमेशा चेतन होता है। तो क्या दो चेतन हैं, एक ब्रह्म और दूसरी माया? अतः कहा 'ऐश्वरी शक्तिः अस्ति' वही ईश्वर की शक्ति अर्थात् उपाधि है। ईश्वर की उपाधि होने से वह चेतन की तरह लगती है। वेदान्त-सम्मत माया को कभी भी सांख्यों की प्रकृति नहीं समझना चाहिए क्योंकि साँख्यों की प्रकृति तो स्वतंत्र काम करती है। ऐसी स्वतंत्र काम करने वाली हो तो द्वैत सिद्ध हो जायेगा। यह ईश्वर की शक्ति है। नियमन करने वाली इसलिए बनी हुई है कि ईश्वर चेतन है।

एक बात और, जिन्हें नियम में रखना है उन्हीं में जा छिपी है! लोकमें यदि कार्यकर्त्ता पर निगरानी रखने के लिये किसी अन्य को रखो, पुनः उस पर अन्य को तो यों व्यर्थ भीड़ होकर कार्य ही अनियमित हो जाता है अतः परमेश्वर ने ऐसी नियामक-शृंखला का भरोसा न कर

जिस-जिस पर शासन करना है वहीं स्वयम् अवस्थित हो गया। इसलिए परमेश्वर सारी वस्तुओं के अन्दर अन्तर्यामी रूप से छिपा हुआ है। शासन वह करता है, नियामक वह है। इस ढंग से नियमन करता है कि छिपा रहता है, पता ही नहीं लगता कि वह कर रहा है। शासित सब वस्तुएँ कौन-सी हैं? 'आनन्दमयमारभ्य' आनन्दमय से प्रारम्भ करके ब्रह्माण्ड-पर्यन्त सभी हैं। आनन्दमय अर्थात् सुषुप्ति में पड़ा जीव, जिस समय केवल अविद्या उपाधि है। उसका भी नियन्त्रण करने वाली परमेश्वर की ही शक्ति है। तुम लाख कोशिश करो कि नींद आये, तो नहीं आती और लाख कोशिश करो कि जगते रहो, कॉफी पर कॉफी पिये जाओ, परन्तु नींद की झेरें छोड़ेंगी नहीं। अन्तर्यामी ही इसका नियंत्रण कर रहा है। इस एक रहस्य को अच्छी तरह समझ लो तो तुम्हारा कर्त्ता-भाव समाप्त हो जाये। जब नींद ही तुम नहीं ला सकते या रोक सकते तो और क्या कर सकते हो! नींद में जो अविद्या है, उसी से फिर तुम्हारी बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, प्राण, स्थूल शरीर आदि बनते चले जायेंगे। इस प्रकार यह शक्ति सारी वस्तुओं में छिपी हुई है।।३८।।

अप्रत्यक्ष यह शक्ति मानना क्यों अनिवार्य है यह समझाते हैं–

वस्तुधर्मा नियम्येरञ् शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसाङ्कर्याद् विप्लवेत जगत् खलु।।३९।।

वस्तुओं के धर्म यदि शक्ति से नियममें न रखे जायें तो एक-दूसरे के धर्मों का मिश्रण होने से अवश्य ही जगत् में व्यवहार अनियत हो जाये।

यदा अर्थात् जिस पक्ष में, अर्थात् यदि ऐसा मानते हो कि शक्ति के द्वारा अन्दर रहकर नियमन नहीं कर रहा है 'तदा' तब पदार्थों के धर्म अनिश्चित रहेंगे। पानी की कभी मर्ज़ी होगी तो वह प्यास बुझायेगा और उसकी मर्ज़ी होगी तो वह जलाने वाला हो जायेगा! कभी हाथ सेकने के लिये आग जलाकर हाथ उसके सामने किया तो वह बर्फ जैसी ठण्डी लगेगी! इस प्रकार सब वस्तुओं के अन्दर धर्म-सांकर्य हो जायेगा। कुछ पता नहीं लगेगा कि किस चीज़ से क्या करें। आग पर पतीले में चावल चढ़ाओ तो वह माँस बन जाये! इसलिए जगत् के विप्लव की आपत्ति होगी। निश्चित रूप से यह संसार अनियत व्यवहार के कारण विप्लव को प्राप्त कर जायेगा, संसार में विप्लव हो जायेगा। प्लव नाव को कहते हैं। नाव वह होती है जो तुमको पानी में ठीक ढंग से पार ले जाती है। नाव में कई जगह छेद हों तो वह तुम्हें डुबा भी देती है। प्लव का उल्टा विप्लव अर्थात् जगत् व्यवहार-सम्पादक न रहकर व्यवहार-विरोधी हो जायेगा। इसीलिये वह ऐश्वरी शक्ति सब पदार्थों में रहकर उन्हें नियम में रखती है कि तुम उन नियमों को जानकर, उन्हें समझकर इस व्यावहारिक संसार की यात्रा ठीक से कर सकते हो। अगर वह ऐश्वरी शक्ति न होती तो धर्म-सांकर्य होने से तुम निरन्तर डूबते ही रहते। सारा का सारा विज्ञान इस एक ही आधार पर है कि सारी वस्तुओं का नियमन करने वाली कोई शक्ति है। तभी तांबे के एक टुकड़े के गुण-धर्म को देखकर यह निश्चय कर लेते हैं कि जहाँ भी तांबा मिलेगा वहाँ ये ही गुण-धर्म उसमें मिलेंगे। हर तांबे के टुकड़े को तो नहीं देखना पड़ता। वह शक्ति पदार्थों के अन्दर रहकर ही नियमन करती है इसलिए सारे जगत् के अन्दर ऐसी व्यवस्था देखकर

शक्ति माननी पड़ती है। चूँकि वह शक्ति सदसद्-विलक्षण है, भिन्नाभिन्न-विलक्षण है, सांग-अनंग-विलक्षण है, इसलिए अनिर्वचनीय तो है, परन्तु है नियामक अवश्य ही। इसलिए निश्चित पता है कि यदि हमने धर्माचरण किया तो हमको उसका फल स्वर्ग मिलना है और अगर हमने अधर्माचरण किया तो हमको नरक मिलना ही है। जैसे प्रत्यक्ष से दीखने वाले पदार्थों के क्या नियम हैं इसका पता प्रत्यक्ष से लगता है उसी प्रकार धर्म, ब्रह्म इत्यादि शास्त्रीय विषयों का पता शास्त्र से लगता है। अतः हम निश्चित जानते हैं कि ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है। अन्यथा, वस्तुधर्म का कोई नियम न रहे तो किसी को ब्रह्मज्ञान से नरक हो जाये और कोई ब्रह्मज्ञान से मुक्त भी हो जाये! इसलिए निश्चय है कि धर्म-सांकर्य नहीं हो सकता।।३९।।

जड शक्ति स्वयं नियामक नहीं हो सकती अतः उसकी नियामकता उपपन्न करते हैं—

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्।।४०।।

चेतन के आभास के प्रवेश से वह शक्ति चेतन-सी प्रतीत होती है। उस शक्तिरूप उपाधि के सम्बन्ध से ब्रह्म ही ईश्वरभाव पा लेता है।

इस शक्ति के अन्दर चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है, ब्रह्म की छाया पड़ती है। चिच्छाया का उसमें प्रवेश हो जाने से वह चेतन की तरह दीखती है। काँच के अन्दर वैसी ही चमचमाहट प्रतीत होती है, जैसी सूर्य देखकर होती है। दर्पण को सूर्य के सामने करते हो तो दर्पण को देखकर भी आँखें वैसी ही चौंधियाती हैं जैसी सूर्य को देखकर चौंधियाती हैं। उस समय लगता है कि काँच ही चमचमा रहा है। रात में कभी सड़क पर जाओ तो एक ऐसा रंग लगा होता है जो तुमको स्पष्ट दीखता है कि पत्थर चमक रहा है। वह चमकता हुआ दीखता है, लेकिन *वह* चमक नहीं रहा। तुम अपनी मोटर की बत्ती बन्द कर दो तो वहाँ कुछ नहीं दीखेगा! तुम्हारी मोटर की रोशनी से ही वह चमचमाता है, उसकी अपनी चमक कुछ नहीं है। इसी प्रकार माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है इसलिए वह चेतन की तरह लगती है। चिच्छाया के प्रवेश से वह शक्ति चेतन लगती है, लेकिन वह चेतन नहीं है, वह तो जड है। चेतन हो तो द्वैत सिद्ध हो जायेगा! जड मिथ्या होता है, इसलिए उससे सत्य का द्वैत नहीं हो सकता। यह शक्ति ही उपाधि है जिसके सम्बन्ध से ईश्वर भासता है। यहाँ जो संयोग कहा वह कौन-सा है? प्रायः संयोग का मतलब होता है, चीज़ें आपस में जुड़ें परन्तु ब्रह्म और माया कभी जुड़ ही नहीं सकते! एक सत्य है, दूसरी मिथ्या जाति की है तो दोनों का संयोग कैसे हो सकता है? जैसे आज का लड़का चाहे कि सौ साल पहले वाली लड़की से शादी करे तो कैसे कर सकता है क्योंकि वह मर गई। शक्तिरूपी उपाधि जड है, असत् है, दुःखरूप है, और ब्रह्म सच्चिदानंदरूप है। दोनों का संयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि एक पारमार्थिक है और दूसरी व्यावहारिक है। इसलिए यहाँ संयोग का मतलब आध्यासिक सम्बन्ध है। ऐसा सम्बन्ध है जैसे रस्सी *पर* साँप है। जब रस्सी है तब साँप नहीं है और जब साँप प्रतीत हो रहा है तब रस्सी नहीं भासती है। फिर भी कहते हैं कि रस्सी पर साँप था। इसी प्रकार जब सच्चिदानन्द ब्रह्म है तब माया का स्पर्श नहीं, माया काल में

सच्चिदानंदरूप की कोई प्रतीति नहीं है। फिर भी ब्रह्म में ही माया है! यही आध्यासिक सम्बन्ध है। ml 'kfDr dsl ;aks lsog cã ghbZojrk dksiklr gkskg$SbZoj dgkt krkg$A

bl fy, dgkx; kgS^f' ko%' kDR;k; qDr ks; fn Hkofr * 'kDr og rc gkskgS c 'kfDr dsl kFk gksA 'kfDr lsjfgr Hkh og lfPpnkuUn cã g$A ml esafdafpr~Hkh Li an ughagks ldrkA ifjorZu nksrjg dkgkskg$A , d txg lsmBdj nwljh txg tkdj cBkstrksxfr g$A ; ghacB&cBsl kj ysgksrksNkrhi SVvkx&hNst krsg$Sbl dksLiUn dgrsg$A cã , sk fLFkj lR; gSfd mlesaLiUn Hkhughag$A lUek=k] ln~ku gSij brukcM+lakj cukrkgq k nh[krkgS dSsnh[krkgS ml dhtksNk; k iM+jghg$Sml ls, sk nh[krkg$A bl hfy, og bZojrk dksiklr djrkg$A 'kfDr rksnh[krhgSpsu okyh] vkjS psu loK] loZ'kfDreku~nh[ktkrkg$A ; ghbZojrk gSt ksdsoy vkè; kfl d lEcU/k lsg$A ftl idkj jLlhdhyEckbZ iZesnh[kxbZvkjSl iZdklikS jLlhesnh[kx;k] bl hidkj psu dkifrfcEc iM+j ek; kpsu nh[kxbZvkjS cã lc phTkksdkKku] lc phTkks dk'kkl u djrknh[kx; kA tho o$ftrusKku g$Sosl kjsvaï%dj.kesaghgkssg$A Kku gkskrkseu esagSijUrqyxrkgSfd ^eqsKku gqvk*A l[qk&nq%[kgkseu esagSa yfdu yxrkgSfd ^esa [qkh] esanq%[kh gw*A eu dsèkeksdkvi usesav è; kl djysgSa vius vkidkseu dhvgadkjkfRedkofÙk esav è; Lr djysg$A bl hidkj cã dkek; kesa vkjS ek; ko$ lokZRo lo$Zr kRo vkfn dkcã esav è; kl gksx;k bl fy, cã dks bZojHkko dhiklr gksxbZvkjS 'kfDr psu dhrjg nh[kusyx xbA bl idkj tks 'kfä:i mikfèk bZoj dhgSml scrkfn; kA ।।४० ।।

तीन तत्त्व हैं—पशु, पाश और पशुपति। पाश को हाथ में रख कर नियंत्रण करने वाला पशुपति कहलाता है और पाश के बंधन में रहने वाला पशु कहलाता है। पाश माया है, जो माया को नियंत्रण करता है उसको ईश्वर कहते हैं और जो माया से नियंत्रित होता है उसे जीव कहते हैं। जीवभाव और ईश्वरभाव माया को लेकर ही हैं। बिना माया के वह किसका शासन करेगा और बिना माया कौन शास्य होगा! माया में उसका शासक रूप से प्रतिबिम्ब है और माया के अधीन होकर वही शास्य है। तत्त्व एक ही है। ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब शक्तिरूप उपाधि में पड़ा, उस संबंध से ही ब्रह्म को ईश्वर कहा जाता है।

ब्रह्म ही जीव कैसे कहलाता है यह बताते हैं—

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।
पितापितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति।।४१।।

कोशरूप उपाधि की अपेक्षा से ब्रह्म ही जीवभाव पा लेता है। जैसे एक ही व्यक्ति पुत्र के प्रति पिता और पौत्र के प्रति दादा हो जाता है वैसे उपाधिभेद से एक ब्रह्म ही जीव-ईश्वर दोनों है।

शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्या अर्थात् आनन्दमय, इन पाँचों कोशों की उपाधि वाला इन कोशों के साथ एक हुआ ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त करता है। शरीर से लेकर अहं पर्यन्त के साथ सम्बन्ध है तब जीवभाव है। माया के साथ तो ईश्वर का भी सम्बन्ध है और जीव का भी सम्बन्ध है। परन्तु ईश्वर का सम्बन्ध माया के शासकरूप से है, माया से शासितरूप से नहीं है। जहाँ भी शरीर, प्राण आदि की बातें हैं वह चाहे जितना बड़ा हो, जीव हो सकता है, ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर में इन सबकी प्रतीति हो सकती है, परन्तु वह प्रतीति मायिक है, पांचभौतिक नहीं है, यही सब से बड़ा फ़र्क ईश्वर और जीव में है। ईश्वर में प्रतीति तो है, परन्तु उसके साथ तादात्म्य-बोध न होने से बंधन नहीं है। ईश्वर में माया के द्वारा मन, बुद्धि, प्राण आदि सबकी प्रतीति हो सकती है, परन्तु इन प्रतीतियों के होने पर उसे अध्यास नहीं है जबकि जीवका इन शरीर आदि कोशों के साथ तादात्मयाध्यासरूप सम्बन्ध है। जीवभाव को प्राप्त करने वाला ब्रह्म ही है पर कोशों की उपाधियों से युक्त हो गया इसलिये इन कोशों में चूँकि मन ही प्रधान है इसलिए कह दिया जाता है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है। मन बन्धन का कारण विषयासक्ति से है अतः जब विषयों में आसक्ति नहीं रह जाती है, तब जीव परब्रह्म परमात्मा ही है। वही मुक्ति है। अतः 'जीवतां गच्छति' का मतलब यह नहीं समझ लेना कि वह जीव बन जाता है। मतलब इतना ही है कि व्यवहार काल के अन्दर उसकी जीवसंज्ञा या नाम पड़ जाता है, रहता तो वह ब्रह्म ही है।

प्रश्न होता है कि जैसे मालिक और नौकर एक ही तो नहीं हो सकते हैं वैसे सृष्टि को बनाने वाला, कर्मफल देने वाला, और सृष्टि में रहने वाला, कर्मफल भोगने वाला, दोनों अत्यंत विरुद्ध उपाधियों वाले एक कैसे हो सकते हैं? उत्तर है कि एक ही उपाधि से एक ही चीज़ में विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते, परन्तु उपाधिभेद से रह सकते हैं। जैसे हमारी आँख से सूर्य में अंधेरा नाममात्र को नहीं है और उल्लू की दृष्टि से सूर्य के अन्दर नाममात्र का प्रकाश नहीं है; उल्लू की अपेक्षा से सूर्य अंधकाररूप है और मनुष्य की अपेक्षा से सूर्य प्रकाशरूप है। इसी प्रकार पंचकोशों की दृष्टि से ब्रह्म जीव है और माया की दृष्टि से ब्रह्म ईश्वर है। इसलिए ब्रह्म ही दृष्टिभेद से जीव-ईश्वर दोनों है। दूसरे दृष्टांत से समझाया है कि जैसे देवदत्त एक ही है, एक-साथ ही वह बाप भी है, दादा भी है। पुत्र के लिए वह पिता है और पौत्र के प्रति वह पितामह है। पुत्र-पौत्र के लिए एक देवदत्त पिता और पितामह दोनों है। वस्तुतः बेटा पैदा होने के पहले वह पिता भी नहीं था और पोता होने के पहले वह पितामह भी नहीं था, देवदत्त ही था। देवदत्त उसका स्वरूप है।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप है। माया के कारण, माया उपाधि से देखते हैं तो वह ईश्वर प्रतीत होता है और पंचकोशों की उपाधि से देखते हैं तो वह जीव प्रतीत होता है। इस प्रकार विरुद्ध धर्म उपाधिभेद से एक में रह जाते हैं। इन दोनों उपाधियों को जानना जरूरी है। बिना माया की उपाधि वाले ईश्वर को समझे हुए ब्रह्म जगत् का कारण, सर्वव्यापक, देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न, कर्मफलदाता आदि सब है यह समझ में नहीं आयेगा। अतः जो केवल पंचकोशों के विवेक के आधार पर चलेंगे वे कपिल की तरह वास्तविक व्यापकता को नहीं

समझ पायेंगे। दूसरी तरफ, जो माया की ही उपाधि को लेकर चलेंगे वे उसको सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला, कर्मफलदाता, व्यापकरूप से जान लेंगे, परन्तु उन्हें कभी भी अपरोक्षता नहीं हो सकती। उनके लिए परमेश्वर हमेशा परोक्ष ही रहेगा, पर्दे में ही रहेगा। जब ब्रह्म को इन दोनों दृष्टियों से देखते हैं तब माया की उपाधि से उसके रूप को देखकर उसकी अपरिच्छिन्नता का बोध हो जाता है तथा जीव की उपाधि को देखकर उसकी नित्य अपरोक्षता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार से ब्रह्म की व्यापकता और अपरोक्षता, दोनों को स्पष्ट करने वाली दोनों उपाधियों को समझना जरूरी है ।। ४१।।

दृष्टान्तानुसार जीव-ईश्वरभेद भी अपारमार्थिक है यह स्पष्ट करते हैं–

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे।।४२।।

पुत्र आदि की अपेक्षा छोड़ने पर वह जैसे न पिता न दादा है वैसे शक्ति और कोश दोनों उपाधियों के बिना वह न ईश्वर है, न जीव है।

जैसे देवदत्त तो देवदत्त ही है, वैसे ही ब्रह्म, ब्रह्म ही है। यदि उसको अपरोक्ष नहीं कहना चाहते हैं तो पंचकोशों के विवेक की जरूरत नहीं है और यदि उसको ईश्वर नहीं कहना चाहते हैं तो माया के विचार की जरूरत नहीं है। जब पुत्र आदि की दृष्टि कहना इष्ट नहीं है तब वह न पिता है, न पितामह है, वह तो केवल देवदत्त है। उसी प्रकार से जब न शक्ति की दृष्टि से कहना है और न पंचकोश की दृष्टि से कहना है, तब वह न ईश्वर है और न जीव है। इस प्रकार से अपरोक्ष ब्रह्म ही जीव और ईश्वर माया और माया के कार्यों के कारण है। माया स्वरूप से हुआ नहीं करती है, इसलिए अद्वैत की सिद्धि है।। ४२।।

बताये अद्वैतबोध का फल सूचित करते हैं–

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम्।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते।।४३।।

।इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां पञ्चकोशविवेकः।।३।।

जो इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है वह स्वयम् भी ब्रह्म हो जाता है। उस का फिर से जन्म नहीं होता। क्योंकि ब्रह्म का जन्म है ही नहीं।

प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि सबसे जो युक्त है, वह तत्त्वज्ञान पाता है। वेदान्त वहीं फलीभूत होता है जहाँ ये चीज़ें मौजूद रहती हैं अन्यथा जाना हुआ भी फल नहीं देता। हमको बहुत से ऐसे ज्ञान होते हैं जिनका फल नहीं हो पाता क्योंकि फल तभी होता है जब ज्ञाता में उसकी योग्यता हो। बी.ए. की कक्षा में बैठ जाओगे, प्रोफेसर का लैक्चर भी समझ लोगे, परन्तु बी.ए. पास तब तक नहीं हो सकते जब तक पहले बारहवीं पास न कर लो। जैसे कोई कहे कि मुझे तो बी.ए. होना है, बारहवीं पास करने से क्या

होगा, इसी प्रकार वे हैं जो सोचते हैं कि हमको ज्ञान की प्राप्ति हो जाये, हम मुक्त हो जायें, हमको कर्म-उपासना से क्या फायदा है! जब तक कर्म-उपासना के द्वारा चित्त शुद्ध होकर विवेक आदि की प्राप्ति नहीं होती तब तक वेदांत-श्रवण अपने फल मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। यह बात समझ में आ जाती है तो पाश का नियंत्रण करने वाले पशुपति के अधीन होकर इन दोनों उपाधियों से रहित हो जाने के कारण भेद की कोई प्रतीति नहीं रहती है। सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्रत्यगात्मा से अभिन्न जब साक्षात् जान लेता है तो वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। अविद्या की निवृत्ति होने के बाद ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ता में कोई फ़र्क नहीं है। इसलिए श्रुति ने कहा है 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.६) जिसने ऐसा निश्चय कर लिया है उसे ब्रह्मवित् नहीं कहते, साक्षात् ब्रह्म ही कहते हैं। इसलिए रोज़ गुरुप्रार्थना में कहते हो 'गुरुः साक्षात् परंब्रह्म' गुरु ब्रह्मस्वरूप है। जब तक उसमें गुरु की दृष्टि है, तब तक वह तुम्हें ज्ञान देता है, है तो वह ब्रह्म ही। हमारे ज्ञान का मनन आदि के द्वारा रक्षण करता है इसलिए विष्णु भी है। हमारी अविद्या का नाशक है इसलिए रुद्र भी है। परन्तु यह सब कार्य उसके शरीर-मन की उपाधि से होता हुआ दीखता है, वह स्वयं ब्रह्म ही है।

बार-बार वेदों ने कहा है कि ब्रह्म अज है, जन्मरहित है। यह जो जन्मरहितता है यह न जन्म का प्रागभाव है, न जन्म का प्रध्वंसाभाव है और न जन्म का अन्योन्याभाव है। अर्थात् ऐसा नहीं है कि ब्रह्म का जन्म हुआ और अब नहीं है। न ऐसा है कि ब्रह्म का जन्म होगा पर अभी नहीं है। परिपक्व ज्ञान की दशा में ऐसी प्रतीति नहीं है कि 'मैं बद्ध था और मुक्त हो गया'। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में कहा कि जो यह समझता है कि मैं मुक्त हो गया, दूसरे बद्ध हैं, उसे ज्ञान हुआ ही नहीं! ब्रह्म कभी बद्ध होता ही नहीं। जीवरूप में प्रतीत होने पर भी वह बद्ध नहीं है। बंधन की प्रतीतिमात्र है। जन्म मायने जो चीज़ पहले न हो और फिर हो जाये। सृष्टि के पहले भी ब्रह्म ही था। इसलिए 'पहले नहीं था, फिर हुआ,' इस प्रकार का प्रादुर्भाव उसका संभव नहीं है। चूँकि विद्वान् ब्रह्मरूप हो गया इसलिए वह उत्पन्न नहीं होता। 'पुनः' शब्द का प्रयोग शिष्य के प्रति समझाने के लिए है। 'अनावृत्तिः शब्दात्' (४.४.२२) ब्रह्मसूत्र भी कहता है कि 'न च पुनरावर्तते (छां. ८.१५.१) आदि के अनुसार मुक्त का संसार-चक्र में पुनः आवर्त्तन (घूमना) नहीं होता। यद्यपि वहाँ ब्रह्मलोक की प्राप्ति को लेकर कहा है, वहाँ ज्ञानी का विषय नहीं है, तथापि उस अपुनरावर्तन को यहाँ अर्थवाद के रूप में कह दिया 'पुनः न जायते'। ऐसा नहीं कि एक बार तो पैदा हुआ था, अब आगे पैदा नहीं होगा! क्योंकि जन्म के त्रैकालिक अत्यंताभाव का निश्चय है।। ४३।।

इस प्रकार यह पंचकोशविवेक प्रकरण पूर्ण हो गया।

चतुर्थ
द्वैतविवेक प्रकरण

पहले प्रकरण में तत्त्व के स्वरूप का, सद् ब्रह्म का विचार किया। फिर पंचमहाभूतों की उत्पत्ति बताने से, ईश्वररूप का वर्णन हो गया। तदनन्तर उसी सद् ब्रह्म को पंचकोशों की प्राप्ति समझाने से जीवरूप का वर्णन हो गया। अब द्वैतविवेक प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। द्वैत का विवेक क्या है? जीव चेतन है, और ईश्वर भी चेतन है। दोनों ही ब्रह्मरूप हैं। दोनों ही चेतन हैं, इसलिये जीव-ईश्वर दोनों ही सृष्टि करते हैं। किंतु ईश्वर सृष्टि करके सृष्टि में बँधता नहीं है, जबकि जीव सृष्टि करके बँधता है। ईश्वर की सृष्टि बाँधने वाली नहीं है, जीव की सृष्टि बाँधने वाली है। अतः जीव के द्वारा सृष्ट कौन-सा और ईश्वर के द्वारा सृष्ट कौन-सा—यह जानने पर ही जीवसृष्टि को हटाकर मुमुक्षु बन्धन से मुक्त हो सकता है। अन्यथा, मनुष्य व्यर्थ प्रयास करता रहता है क्योंकि विवेक से यह नहीं समझता कि बंधन का कारण जीवसृष्टि है, ईश्वरसृष्टि बंधन का कारण नहीं है। मनुष्य प्रयास करता रहता है ईश्वरसृष्टि को हटाने का! यह योगियों का मार्ग है कि ईश्वर-सृष्टि से सम्बन्ध न रहे तो हम भी सृष्टि कर नहीं पायेंगे, अतः सब बंधन खत्म हो जायेगा। परन्तु ईश्वरसृष्टि ख़त्म होगी नहीं। इसलिये जैसे ही मन फिर कार्य करेगा वैसे ही यह सृष्टि वैसी-की-वैसी सामने रहेगी।

ईश्वरसृष्टि को हटाना जीव के लिये सम्भव नहीं है। जीवसृष्टि को हटाना सम्भव है क्योंकि तुम्हारी बनाई हुई है। तुम अपनी सृष्टि न बनाओ तो ईश्वर-सृष्टि तुम्हारे लिये कोई बंधन नहीं कर सकती। दूसरी तरह से सोच लो : रिज़र्व बैंक में खरबों रुपये हैं, उनकी रक्षा के लिये तो तुम्हें कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती। तुम्हारे पास लाखों रुपये हैं, उसीकी रक्षा में तुम परेशान रहते हो! जो तुम्हारे पास हैं वे रुपये भी हैं तो रिज़र्व बैंक के ही! तुम्हारे पास बैंक के लिखे हुए रुक्के हैं, उनमें लिखा है कि यह रुक्का लाओगे तो तुम्हें पाँच सौ रुपये देंगे। तुम्हारे पास केवल यह रुक्का है, धेला एक भी नहीं है। परन्तु तुम्हें भ्रम हो जाता है कि 'मैं लखपति हूँ'। इस भ्रम के कारण परेशान हो। इसी प्रकार ईश्वर की सृष्टि के पंचकोश और तत्सम्बन्धी पदार्थों को तुमने मान लिया कि 'ये मेरे हैं।' जब तुम कहते हो मेरे हैं तब भी 'तुम्हारे' हैं नहीं। कहते हो कि 'यह शरीर मेरा है,' लेकिन एक वाक्य की भी पूर्व सूचना के बिना ही यह शरीर तुमसे छीन लिया जायेगा! फिर तुम कैसे घमण्ड करके कहते हो कि 'शरीर मेरा है'? तुम्हारा मन कब क्या विचार करेगा यह तुम्हें कुछ पता नहीं है। भगवान् खुद कहते हैं 'मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च' अर्थात् मुझ परमेश्वर से ही स्मृति, ज्ञान और भूलना—तीनों होते हैं। अतः ईश्वर न चाहे तो तुम

सिर के बाल नोंच डालो फिर भी याद नहीं ही आयेगा। जिस आदमी को बीस साल से जान रहे हो, तुम्हारा खूब परिचित है, फिर भी कई बार उसका नाम याद करने की कोशिश करते रहते हो, याद ही नहीं आता। किसी समय जिसको याद भी नहीं कर रहे हो, उसी का नाम याद आ जाता है। हमारा मन के ऊपर इतना नियंत्रण भी नहीं है, फिर भी ठप्पा मारते रहते हैं कि 'मेरा मन अच्छा या मेरा मन ख़राब हो गया'। जैसे हमारे पास रुपये नहीं हैं, रुक्के ही हैं लेकिन खुश होते रहते हैं कि लाखों रुपये हैं, वैसे ही तुम्हें पंचमहाभूतों के कुछ विकार मिल गये तो समझते हो 'मेरे हैं' जबकि तुमने व्यर्थ का ठप्पा मार रखा है, वे तुम्हारे हैं नहीं। द्वैत का विवेक कर देने से, ये जो दो ठप्पे तुमने मार रखे हैं कि यह मेरा और यह मैं हूँ, ये निवृत्त हो जाते हैं। तुम न पंचकोश हो और न पंचकोश से सम्बद्ध के साथ तुम्हारे मेरेपने का सम्बन्ध है। जैसे ही तुम्हारी यह जीवसृष्टि ख़त्म हो जाती है वैसे ही माया की सृष्टि का मायापन, मिथ्यापन स्पष्ट हो जाता है। चूँकि मिथ्या चीज़ कभी किसी के बंधन का कारण नहीं होती, इसलिये उससे कभी बंधन नहीं होता। यही द्वैतविवेक प्रकरण का उद्देश्य स्पष्ट करते हैं—

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धःस्फुटीभवेत्।। १।।

ईश्वर और जीव द्वारा उत्पादित द्वैत का विवेचन किया जा रहा है। विवेक हो जाने पर जीव द्वारा त्यागने योग्य बन्धन स्पष्ट हो सकेगा।

ईश्वर ने क्या सृष्टि की है, ईश्वर क्या है—इसे पहले बता आये हैं। माया की उपाधिवाला, कारण उपाधिवाला ईश्वर है। वह पंचमहाभूत, उनके तामस भाग का पंचीकरण, पंचमहाभूतों के सूक्ष्म भाग से हमारे मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों की अर्थात् भोग के साधनों की सृष्टि करता है। भोगायतन शरीर की सृष्टि पंचीकृत भूतों से करता है। ईश्वर ही कारण उपाधिवाला होकर सारे द्वैत को उत्पन्न करता है। ईश्वर के द्वारा सृष्ट यह सारा द्वैत है। जैसे ईश्वर कारण उपाधिवाला वैसे कार्य उपाधिवाला जीव है। जीव भी सृष्टि करता है। वह उन ईश्वर-सृष्ट पदार्थों के अन्दर 'यह स्वादिष्ट है, यह बेस्वाद है' इत्यादि सृष्टि करता है। चीज़ तो जैसी है वैसी ही है, 'स्वादिष्ट और बेस्वाद' यह सृष्टि तुम्हारी की हुई है। ईश्वर एक है इसलिये उसकी सृष्टि में एकता रहेगी। जीव अनेक हैं अतः इनकी सृष्टि में अनेकता है। बढ़िया सुन्दर लाल मिर्च डालकर छौंका लगाते हो तो तुम्हें कितना मज़ा आता है, कोई बंगाली वहाँ हो तो तड़पने लगे! मिर्च के स्वाद को अनिष्ट कहोगे, या स्वादिष्ट कहोगे? एक के लिये जो स्वादिष्ट है, दूसरे के लिये बेस्वाद है, परन्तु मिर्च तो मिर्च ही है। इसलिये जीव की सृष्टि अनेक प्रकार की है। आजकल कई बार सुन्दरता की प्रतियोगितायें होती हैं, जो 'मिस युनिवर्स' हो वह हमें सुंदर लगे ऐसा कोई नियम नहीं। विदेशियों को वही बहुत सुन्दर लगती है, भारतीयों को भद्दी लगती है। सुन्दरता-बदसूरती जीवसृष्ट हैं, ईश्वर ने वस्तु जैसी बनाई वैसी ही है। उसी चीज़ के बारे में

जिसकी कल्पना है कि यह सुन्दर है, उसके मन में प्रेम हो जाता है और जिसके बारे में कल्पना है कि बदसूरत है, उससे द्वेष हो जाता है।

संकल्प से राग-द्वेष होते हैं। राग-द्वेष से जिस चीज़ को अच्छा समझते हो, उसे पाने की इच्छा करते हो और जिसे अच्छा नहीं समझते, उससे दूर होने की चेष्टा करते हो। इसलिये राग-द्वेष-प्रयुक्त कर्म कर लेते हो और जब कर्म कर लिया तो उसका फल आता ही है। इस प्रकार से चक्र चलता रहता है जिसमें नये सिरे से अपनी सृष्टि शुरू कर देते हो। 'कति नाम सुता न लालिताः' अनन्त जन्मों के अन्दर कितने अनंत बच्चों को खिलाकर देख लिया। हर जन्म में बच्चे होते हैं; हीजड़े का जन्म तो कभी-कदाचित् हुआ होगा। प्रायः जीवके बच्चे होंगे ही। हर बार नये बच्चों का लालन-पालन-पोषण करते हो, फिर एक दिन छोड़कर चले जाते हो, जाकर फिर नई सृष्टि कर लेते हो! अनादि काल से यही चक्र चल रहा है। हर बार सोचते हो कि यही बच्चे सुखी रहें शांत रहें। इस प्रकार राग-द्वेष से कर्म, कर्म से कर्मफलभोग और पुनः जन्म का चक्र अनादि काल से चल रहा है। 'मैं' और 'मेरा' केवल यही सारा बंधन है, यही तुम्हारी सृष्टि है। यह परमेश्वर ने नहीं बनाई। इस प्रकार जब ईश्वर-सृष्टि और जीवसृष्टि का विवेक हो जाता है तब जीव के द्वारा जो छोड़ने लायक है अर्थात् जो बंधन करने वाला है वह स्पष्ट हो जाता है।

अन्यथा, लोग यही कहते रहते हैं कि 'हमें भगवान् ने माया में फँसा दिया है' जबकि सत्य है कि फँसे हम अपने अविवेक से हैं। जैसे कोई मरता है तो मारवाड़में चिट्ठी आती है 'ठाकुर जी, बुरो कियो।' वह मनमाना खाता रहा, खाकर रोगी हुआ, रोगी होकर मरा; यह कोई नहीं लिखता, 'उसकी आदतें ऐसी बुरी थीं, खाने-पीने की आदत थी, इसलिये मर गया, अच्छा हुआ।' लोग यह लिखते हैं कि ठाकुर जी ने बुरा किया। इसी प्रकार 'हम राग-द्वेष से बंधते हैं' यह कोई नहीं कहता। यही कहते हैं कि भगवान् ने हमें माया में, मोह में बाँध रखा है। इसलिये इस विवेचन को व्यर्थ नहीं समझना चाहिये। यह विवेक किये बिना जीव-सृष्टि और ईश्वर-सृष्टि का अंतर पता नहीं लगेगा। जीव को अपनी सृष्टि करना छोड़ना है क्योंकि वही बंधन का कारण है। ईश्वर की सृष्टि के बारे में तुम्हें कोई चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। जीव को क्या छोड़ना है, यह स्पष्ट होना ज़रूरी है, अन्यथा ईश्वर-सृष्टि को हटाने के निष्फल प्रयास में लगे रहते हो। लड़के के लिये बहू देखकर तुम खुद ही लाये हो; परन्तु यह भूल जाते हो, यही सोचते हो कि 'लड़का मेरी ममता का विषय है, अपनी पत्नी की ममता का विषय कैसे हो गया? मेरी ही ममता का विषय रहे।' न लड़का, न उसकी वधू तुम्हारे बन्धन का विषय है वरन् तुम्हारी ममता ही तुम्हें बाँधती है।

जीव का संकल्प, राग-द्वेष और राग-द्वेष से प्रयुक्त कर्म—इन सबको छोड़ना है। जब काम-प्रयुक्त कर्म नहीं करेगा तब परमेश्वर की सृष्टि अर्थात् शास्त्रीय कर्म करेगा, जिससे अंतःकरण शुद्ध होगा। दृश्य में ममता नहीं रहेगी तो परमात्मा में तुम्हारी ममता होगी। कर्म और उपासना का प्रयोजन सिद्ध होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जायेगा जिससे बंधन निवृत्त हो

जायेगा। ये सारी बातें तभी स्पष्ट हों जब ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि को विवेक करके समझ लिया जाये।। १।।

विवेक करने का लाभ क्या है? यह समझना कि जीवसृष्टि बंधन का कारण है, ईश्वर-सृष्टि बंधन का कारण नहीं है। मीमांसक यह मानता है कि जीव के अदृष्ट से सृष्टि होती है इसलिये ईश्वर-सृष्ट कुछ मानने की कोई ज़रूरत नहीं है! जीव ही संसार का स्रष्टा है। किंतु ईश्वर-सृष्टि श्रुति के अनुरोध से माननी पड़ती है। यद्यपि ईश्वर ही कारण होना युक्तिसंगत भी है, तथापि 'प्रमाण' के तौर पर ईश्वर के बारे में वेद ही निश्चित है। अदृष्ट की कारणता तो हर हालत में माननी पड़ती है। यदि अदृष्ट की कारणता नहीं मानें तो ईश्वर के अन्दर वैषम्य और नैर्घृण्य दोनों दोष प्राप्त हो जाते हैं। अगर ईश्वर ने सृष्टि की तो सबको एक जैसा बनाना चाहिये था। एक जैसा नहीं बनाया, इसलिये विषम है। और अधिकतर लोगों को उसने दुःखी बनाया, इसलिये वह घृणा अर्थात् करुणा से रहित निर्घृण अर्थात् क्रूर भी है। किंतु इस प्रकार विषमता और क्रूरता वाले ईश्वर को कोई ईश्वरवादी स्वीकर नहीं करता। अतः जाग्रत् के वैचित्र्य में अदृष्ट की कारणता स्वीकार है। श्रुति ने कहीं भी सिर्फ अदृष्ट को सृष्टि का कारण कहा नहीं है वरन् एकमेवाद्वितीय ईश्वर को कारण कहा है, इसलिये मीमांसक का कहना संगत नहीं कि ईश्वर के बजाये अदृष्ट ही जगत्कारण है।

चारों ही वेदों ने संसार का कारण ईश्वर बताया है यह दिखाते हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः।। २।।

श्वेताश्वतरशाखा वाले कहते हैं कि माया को प्रकृति और मायी (मायावी) को तो महेश्वर जानो; वह मायी (सबको) उत्पन्न करता है।

कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा है। उस शाखा की उपनिषद् में (४.१०) बताया है कि यह किसकी सृष्टि है। माया-कृत सृष्टि है। माया ही इस समग्र संसार की बनावट करने वाली है। इस माया उपाधि को चलाने वाला, नियंत्रित करने वाला महेश्वर है। इसमें यह युक्ति समझ लेना कि जगत् की रचना के अन्दर अत्यंत निपुणता का दर्शन होता है, अत्यंत कुशलता से बनाई गई सृष्टि है। बीसवीं शताब्दी का एक बहुत बड़ा नास्तिक दार्शनिक हुआ है जो जन्म भर ईश्वर-खण्डन ही करता रहा और अब काफी बुड्ढा, ८१ साल का है। आज डी.एन.ए. देखकर पता लग जाता है कि कौन किससे पैदा हुआ क्योंकि वे तत्त्व शरीरसृष्टि का आधार हैं अर्थात् जीव के शरीरों को बनाने का आधार हैं। उसमें अत्यन्त नियमबद्धता देखी जाती है। सृष्टि का प्रारम्भ जिन द्रव्यों से हुआ वे ही इतने संश्लिष्ट हैं कि वे केवल आकस्मिक हो जाते हैं, बिना किसी बुद्धि के हो जायें, यह समझ में नहीं आता! इतनी संश्लिष्ट और विचित्र रचना जब हो तभी प्राणियों का प्रादुर्भाव हो, यह विज्ञान मानता है। अब तक तो बात बड़ी सीधी-सी कह देते थे कि पानी में कलल हो गये। अमुक-अमुक कार्बन, हाईड्रोजन हो गये तो जीवन सम्भव हो

गया। किंतु जब जीवन के मूल आधार-कणों को देखा तब उसमें गजब की व्यवस्थित शृंखलाएँ मिली तो इस उम्र में आकर वह नास्तिक दार्शनिक कहता है 'मैं यह नहीं कह सकता कि ऐसा काम कोई जड भी कर सकता है। यह काम तो कोई न कोई बुद्धि वाला ही कर सकता है।' चाहे छोटे-से-छोटे उस डी.एन.ए. को देखें, चाहे बड़े से बड़े ब्रह्माण्ड को देखें, उन सबमें इतनी ज़्यादा क्रमबद्धता है कि जो भी उन्हें बनाने वाला है उसको चेतन मानना पड़ेगा। श्रुति कहती है कि चेतन 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' है। प्रकृति के कार्य बुद्धि में जिस ज्ञानवान् की प्रतीति होती है वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' का प्रतिबिम्ब है, प्रकृति का अपना वैशिष्ट्य नहीं है। 'मायी सृजति' महेश्वर बनाता है, माया या प्रकृति इन सब रूपों में बनती है। इस बात को कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर उपनिषत् में कहा है।। २।।

इसी विषय में ऋग्वेद का प्रमाण देते हैं—

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत् स ईक्षत सृजा इति।
संकल्पेनासृजल्लोकान् स एतानिति बह्वृचाः।। ३।।

पहले यह आत्मा ही था। उसने 'उत्पन्न करूँ' ऐसा विचार किया। संकल्प से उसने ये लोक बनाये। यह ऋग्वेदी बताते हैं।

'बह्वृचाः' अर्थात् ऋग्वेदी। ऋग्वेद का पाठ करने वाले ऐतरेयोपनिषत् में बताते हैं 'अग्रे इदं आत्मा वै अभूत्' सृष्टि के पहले अर्थात् जब तक इस दृश्य जगत् की सृष्टि नहीं हुई थी तब यह सारा क्या था? यह निश्चित रूप से केवल आत्मा था। 'मिषत्' यह जो मिथ्या संसार है यह नहीं था। पलक गिरने को मिषत् कहते हैं अर्थात् पलक गिरने जितना भी वहाँ कोई कार्य या गति नहीं थी। इस प्रकार जो अद्वितीय परमात्मा, उसने ईक्षण किया 'मैं जिन चीज़ों का अनुभव होता है उनकी अर्थात् दृश्य जगत् की, अनुभूयमान विषयों की सृष्टि करूँ'। परमेश्वर बिना किसी दूसरी चीज़ के था। वह ज्ञानस्वरूप है। उसने सोचा कि 'जो दीखे उसकी सृष्टि करूँ।' देखने वाला तो वह खुद है ही! यह ईक्षण करते ही उसने सारे लोकों का सृजन कर दिया। संकल्पमात्र से ही परमेश्वर सृष्टि करते हैं। उसके संकल्प करते ही सृष्टि हो जाती है। इसलिये उसे कवि कहते हैं। कवि काव्य की रचना संकल्पमात्र से कर देता है, उसे कुछ अन्य करना नहीं पड़ता। जो संकल्प किया उसको शब्द दे देता है, और कुछ नहीं करता। परमेश्वर कवि है, वह जैसे शब्द की रचना करता है वैसे ही संकल्पमात्र से अर्थ की भी रचना कर देता है। इसीलिये यह रचना माया की है। जैसे रस्सी में साँप हम बना देते है; रस्सी में जो साँप दीखता है वह साँप हमने ही बना दिया, संकल्पमात्र से, संस्कारों के कारण बना दिया। संस्कार के कारण संकल्प होता है। इसी श्रुति के आधार पर भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१.१.५) लिखा। परमेश्वर के ईक्षणमात्र से सृष्टि कही गई है। इसलिये जिस प्रकार की त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का कारण कपिल ने माना है, वह ठीक नहीं है। यजुर्वेद ने जो कहा है ऋग्वेद (ऐत.१.१) ने भी वही कहा है।। ३।।

तैत्तिरीय श्रुति से वही बात कहते हैं—

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी।
सम्भूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः।। ४।।
बहु स्याम् अहम् एवातः प्रजायेयेति कामतः।
तपस्तप्त्वाऽसृजत् सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः।। ५।।

उस इस आत्मा ब्रह्म से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधि, अन्न, शरीर ये सब क्रमशः प्रकट हुए। 'मैं ही बहुत हो जाऊँ' इस उद्देश्य से 'प्रकर्ष से उत्पन्न हो जाऊँ' इस कामना से तपका अनुष्ठान कर सारा जगत् पैदा किया। यह तित्तिरि ने कहा है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' कहकर (तै.२.१) श्रुति ने बताया कि हृदय में स्थित परमेश्वर ही है जिससे 'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशस्सम्भूतः आकाशाद् वायुः' आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधि अर्थात् वनस्पति फिर अन्न और फिर शरीर—ये सब क्रम से उत्पन्न हुए। परमेश्वर से ही ये सारी चीज़ें पैदा हुई। जो गुहा में छिपा हुआ है उसका 'मैं ही बहुत हो जाऊँ' संकल्प हुआ। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तो एकरूप है। माया से मिलकर ब्रह्मरूप महेश्वर ही जगत्-सर्जन की इच्छा शक्ति से युक्त हुआ स्रष्टा है। उसने कामना की 'बहु स्यां प्रजायेय' मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न कर दूँ। कैसे उत्पन्न करूँ—यह निर्धारित करने के लिये 'स तपोऽतप्यत' उसने तप किया। परमेश्वर का तप क्या है? 'यस्य ज्ञानमयं तपः' सोचना ही उसका तप है। सोच कर उसने जो कुछ भी है वह सब बना दिया। यह तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर कहा गया है। इस प्रकार ऋग्वेद और यजुर्वेद की श्वेताश्वतर व तैत्तिरीय दो शाखाओं से उक्त विषय बता दिया।। ४-५।।

सामवेद भी इसी बात को कहता है—

इदमग्रे सदेवासीद् बहुत्वाय तदैक्षत।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः।। ६।।

साम-गायक बताते हैं कि यह सब पहले सत् ही था। उसने बहुत होने की इच्छा की। तेज-जल-अन्न-अण्डजादि उत्पन्न किये।

परमेश्वर ने बहुत होने की कामना की। क्या-क्या बनाऊँ?—यह सोचा और सृष्टि हो गई! इसलिये भगवान् बादरायण ने (ब्र.सू.१.१.१८) स्पष्ट कहा है—'कामाच्च नानुमानापेक्षा' परमेश्वर की इच्छा से यह सृष्टि हुई है क्योंकि उसने कामना की, यह श्रुति से स्पष्ट है। इसलिये अनुमान से सिद्ध प्रकृति इत्यादि कुछ जगत् का अंतिम कारण नहीं हो सकता। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्। (छां ६.८) अर्थात् सृष्टि के पहले इदंरूप से दृश्य यह सारा जगत् जो युष्मद्-रूप से दीखता है, वह सब उस सत् ब्रह्म से एक ही था, ब्रह्मरूप ही था। फिर मायी महेश्वर ने संकल्प किया। वह

केवल निमित्त कारण नहीं है, उपादान कारण भी है। माया से मिलकर ही वह उपादान कारण होने से सोचता है कि 'मैं बहुत बन जाऊँ'। माया को उसके संकल्प ने प्रवृत्त किया। उसने बहुत बनने के लिये ईक्षण किया, फिर 'तत्तेजोऽसृजत' उसने तेज बनाया, जल बनाया, अन्न बनाया, अण्डज साँप, पक्षी इत्यादि भी बनाये। इस प्रकार से छांदोग्य में सृष्टि बताई है। महेश्वर को ही सृष्टि बनाने वाला सामवेदी भी कहते हैं।। ६।।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को बताने के बाद अथर्ववेद का प्रमाण देते हैं—

विस्फुलिंगा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरतस्तथा।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः।। ७।।

आग से चिनगारियों की तरह अक्षर से विविध चेतन व जड पदार्थ पैदा होते हैं ऐसा अथर्ववेद का कहना है।

आथर्वणा अर्थात् अथर्ववेद के अन्दर आने वाली मुण्डकोपनिषत् (२.१.१.) में बताया है कि जैसे आग से चिंगारियाँ निकलती हैं वैसे परमेश्वर से संसार बनता है। खूब तेज़ आग जल रही हो तो उससे हज़ारों चिंगारियाँ निकलती हैं। वे सारी चिंगारियाँ अग्नि का ही स्वरूप होती हैं। जो अग्नि का स्वरूप है वही चिंगारियों का स्वरूप है। अग्नि का स्वरूप गर्मी है और वह उन सभी चिंगारियों में है। उसी प्रकार से श्रुति कहती है कि उस अक्षर ब्रह्म से सारे प्राणी और सब कुछ उत्पन्न होता है। 'विविधाः' अनेक प्रकार के 'भाव' एकरस परमात्मा से पैदा होते हैं। अनेक प्रकार के चेतन भी उत्पन्न होते हैं, जैसे कई मूर्ख भी होते हैं और कई अत्यंत बुद्धिमान् भी होते हैं। जड भी अनेक प्रकार के उत्पन्न होते हैं। श्रुति में कहा है भाव, पर वे क्या भाव हैं—यह स्पष्ट कर दिया कि जड और चेतन जगत् को ही यहाँ 'भाव' कहा गया जिसे अक्षर ने उत्पन्न किया। जड जगत् वह है जिसमें परमात्मा की सत्ता तो प्रकट होती है, परन्तु चिद्रूपता और आनंदरूपता प्रकट नहीं होती है। है वह भी उत्पन्न परमात्मा से ही। ठीक जिस प्रकार से रस्सी में तुम साँप भी पैदा करते हो और उसी रस्सी में माला भी पैदा करते हो। माला पैदा हुई जो जड है, साँप चेतन पैदा होता है। इसी प्रकार से परमात्मा भी अनेक प्रकार के चेतन और जड पदार्थों के रूप में बनता है। यह अथर्ववेद की श्रुति अक्षर ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति बताती है।। ७।।

ऋक्, साम, अथर्व की तरह तैत्तिरीय अर्थात् यजुः का भी प्रमाण दे चुके फिर भी सारी ही शाखाओं की एकवाक्यता है यह स्पष्ट करने के लिये शुक्लयजुर्वेद की बृहदारण्यक (१.४.७) का समर्थन दिखाते हैं—

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद् व्याक्रियताधुना।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे।। ८।।

विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाऽजाऽवयस्तथा।
पिपीलिकाऽवधि द्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः।। ९।।

जगत् पहले अव्यक्त था, अब दृश्य नाम-रूपों से सम्पन्नरूप में व्यक्त है। विराट् आदि में नाम-रूप स्पष्ट (प्रकट) हैं। विराट्, मनु, मनुष्य, गायें, गधे, भेड़ें, तथा चींटी पर्यन्त सारे जोड़े (अद्वितीय परमेश्वर से पैदा हुए) ऐसा शुक्ल यजुर्वेद के अध्येता बताते हैं।

बृहदारण्यक शुक्ल यजुर्वेद की उपनिषद् है। इसके अंदर कहा है 'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीद्'। 'इदम्' अर्थात् जितना भी दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ यह सारा का सारा महाप्रलय के अन्दर अव्यक्त था। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे' (८.१८) जब स्रष्टा ब्रह्मा का दिन होता है तब अव्यक्त से सारा संसार व्यक्त, प्रकट, उत्पन्न हो जाता है। रात्री में हम लोग सो जाते हैं तो कोई संसार 'नहीं' रहता। हमारी बुद्धि कहाँ गई? गहरी नींद में गई अर्थात् अव्यक्त हो गई। मन, इन्द्रियाँ सभी अव्यक्त हो गये, सब कुछ अव्यक्त हो गया। इसी तरह से सृष्टि से पहले यह सब अव्यक्त था अव्याकृत था। 'अधुना' अब अर्थात् सृष्टिकाल में यह सब व्यक्त हो गया। 'तन्नामरूपाभ्याम् एव व्याक्रियत' उन सब का व्यक्तीकरण हो गया, सब कुछ व्यक्त हो गया। जैसे तुम जगते हो तो आँख, कान, जीभ, हाथ, पैर सब के सब तुम्हारे उठते ही व्यक्त हो जाते हैं, इसी प्रकार से जब वह परम महेश्वर जगता है तब यह सारी सृष्टि प्रकट हो जाती है। जैसे तुम जिस हालत में सोने गये थे, अगर मोटा चश्मा लगाकर देखने वाले तुम गये थे तो उठने पर भी उसी चश्मे से देखने वाले उठोगे। अगर कान में मशीन लगाकर सुनने वाले गये थे तो उठकर भी मशीन लगाकर ही सुन सकोगे। ऐसा नहीं होता कि हम सोने तो ख़राब आँख लेकर जायें और उठ जायें अच्छी आँख लेकर! इसी प्रकार सृष्टि के पहले जो चीज़ जैसी थी, जो पुण्यात्मा पापात्मा जैसे जीव थे, फिर वही उसी प्रकार व्यक्त हो जायेंगे।

व्यक्त होना क्या है? नाम-रूप वाला हो जाना ही अभिव्यक्ति होती है। नाम और रूप, ये दो ही चीज़ें हैं जो व्याकृत होती हैं। जब नाम रूप होंगे तब आगे कर्म बनेगा। नाम-रूप—दोनों दृश्य हैं। दृश्य हो जाना ही व्यक्त हो जाना है। दृश्य का मतलब आँखों से दीखना ही नहीं वरन् ज्ञेय हो जाना, जानने योग्य हो जाना, यह अभिप्राय है। दृश्य होना ही व्यक्त होना है। जब पदार्थ जानने योग्य नहीं होता तब अव्यक्त हो जाता है। श्वेताश्वतर में केवल मायी-मात्र कहा, ऐतरेय के अन्दर लोकों की सृष्टि को बताया। यजुर्वेद में तैत्तिरिय उपनिषद् के अन्दर बताया कि जो हृदय गुहा में छिपा हुआ है, उसने सृष्टि की; वहाँ बहुभवन का संकल्प कहा और आकाश आदि से सृष्टि को बताया। सामवेद ने आकाश, वायु की सृष्टि न कहकर तेज, जल, अन्न की सृष्टि कही। तैत्तिरीय ने भी 'अन्नात् पुरुषः' कहा था। सामवेद ने 'तेषां भूतानां त्रीणि एव बीजानि भवन्ति' (२.३.१) इस प्रकार अण्डज आदि सृष्टि को कहा जो तैत्तिरीय में नहीं कहा। मुण्डक के अन्दर जो उत्पन्न हुए हैं वे जड और चेतन रूप हैं यह स्पष्ट किया। वहाँ आकाश

आदि या अण्डज आदि प्रकार से नहीं कहा। सृष्ट जगत् तो अलग-अलग प्रकार से बताया, लेकिन इस विषय में एक-वाक्यता है कि परमेश्वर ने ही बनाया। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। कैसे बनाया? इसके बारे में अनेक प्रकार हैं। सृष्टि की अनेक प्रकारता यह बताने के लिये है कि यह कृति सच्ची नहीं है! सच्ची बात तो एक जैसी होती है, परन्तु झूठी बात एक जैसी नहीं होती, कई तरह की होती है। यह सृष्टि मायिक है यह बताने के लिये सृष्टि के भेद कह दिये। यह सृजन वास्तविक नहीं है, यह केवल इन्द्रजाल की तरह है। वेदान्त के अंदर वास्तविक सृष्टि स्वीकृत नहीं है। परन्तु शुरू में ही यदि यह कह दिया जाये कि यह बना ही नहीं है तो समझ में नहीं आयेगा। इसलिये श्रुति का कहने का तरीका यह है कि यह सब ब्रह्म ने माया से बनाया। आगे समझ में आयेगा कि जो माया से बनाया जाता है वह बनता नहीं है! जैसे बाज़ीगर तुम्हें पाँच सौ रुपये के नोटों की गड्डी दिखाता है, परन्तु वहाँ गड्डी है नहीं, केवल दीखती ही है। या आजकल के दृष्टांत से समझ लो कि टेलिविज़न के अन्दर बढ़िया से बढ़िया रसगुल्ला दीखता ही है। सोचो इस रसगुल्ले की दुकान से एक-दो रसगुल्ले उठा लें; तो वहाँ कुछ नहीं है। यों देखना और सुनना मायिक रूप से तो वैज्ञानिकों ने ही सिद्ध कर दिखाया। परमेश्वर ने पाँच रूपों में कर दिया। जैसे दीखता है वैसे ही हमें स्वाद भी आता है, गंध भी आती है परन्तु वैसा है नहीं। जैसे टेलिविज़न में दीखता है परन्तु है नहीं, उसकी आवाज़ भी सुनाई देती है परन्तु 'वह' आवाज़ उसकी तो है नहीं! इसी प्रकार से जहाँ सूँघा जाता है वहाँ गंध नहीं है, जहाँ छुआ जाता है, वहाँ स्पर्श है नहीं। बिना हुए प्रतीत होना वेदांतानुसार मूलतः सृष्टि है।

श्रुति ने संकल्प से, ईक्षण से, ज्ञानरूप तप से सृष्टि होती है इत्यादि प्रकार से बताया परन्तु यह समझना क्लिष्ट होता है। इसलिये वेदांत की पूर्व भूमि में परिणामवाद स्वीकार कर लेते हैं। पूर्व भूमि के रूप में बताया परिणामवाद, विवर्तवाद को समझने के लिये उपयोगी है इसलिये पहले परिणामवाद से बात को समझा देते हैं। मिट्टी में घड़ा है। अगर मिट्टी में घड़ा न हो तो उससे निकले कैसे? तिलों में तेल नहीं होता तो उन्हें चाहे जितना पेर लो, तेल नहीं निकलेगा। दूध में घी होता है तभी निकलता है। दिल्ली में डबल टोण्ड दूध मिलता है, उसे सवेरे से शाम तक उबालो, मलाई की थर नहीं आयेगी क्योंकि चिकनाई को तो उसमें से निकाल लेते हैं। दूध में घी होगा तो निकलेगा, नहीं तो नहीं निकलेगा। इसी प्रकार मिट्टी से घड़ा निकलता है; मिट्टी में घड़ा है तभी निकलता है। परन्तु तिलों में तेल अव्यक्त है, अप्रकट है, प्रतीत नहीं होता। चाहे जितने तिल हाथ में मसलो, कोई चिकनाई नहीं आयेगी। तिलों में तेल अप्रकट है, व्यक्त नहीं है, दूध में घी अप्रकट है, अव्यक्त है, है ज़रूर लेकिन व्यक्त नहीं है। उन्हीं तिलों को तेली के पास ले जाकर पेरते हो तो तेल प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार चाक के ऊपर चढ़ाकर मिट्टी में घड़ा प्रकट हो जाता है, अव्यक्त से व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार यह सारी सृष्टि बनने के पहले अव्यक्त रहती है, फिर परमेश्वर के संकल्प के द्वारा यह प्रकट हो जाती है। परमेश्वर किस रूप में प्रकट करता है? नाम-रूप जो दृश्य हैं वे विराट् इत्यादि के अन्दर स्फुट हैं, स्पष्ट हैं। परमेश्वर ही अव्यक्त माया से जगत् को व्यक्त अर्थात् विभिन्न नाम-रूपों वाला करता है। इसे

परिणामवाद के तरीके से अव्यक्त से व्यक्त होना कहते हैं। सृष्टि की अवास्तविकता को बताना हो तो उसे मायिक या मायामात्र कहते हैं।

वाजसनेयी अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद वालों ने विराट् आदि सृष्टि बतायी। विराट् से मनु, मनु के बाद मनुष्य, गौएँ, गधे, घोड़े, बकरे, भेड़, चींटियाँ आदि सब द्वंद्वों को पैदा किया। इस प्रकार सारी सृष्टि द्वन्द्व में पैदा हुई। मनुष्य, गाय आदि सभी जोड़े हैं। छोटी से छोटी पिपीलिका (चींटी) तक सब चीज़ों (जीवों) को परमेश्वर ने बनाया।। ८-९।।

शरीरों को बनाकर क्या किया यह कहते हैं—

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात्।। १०।।

जीवसम्बन्धी अन्य रूप बनाकर ईश्वर ने शरीर में प्रवेश किया—यों वे वेदवाक्य बताते हैं। प्राणों को धारण करने से जीवभाव पहचाना जाता है।

जैसे कायव्यूह में योगी अपने शरीर को रखते हुए अन्य शरीरों को भी पैदा कर लेता है, वैसे ही परमेश्वर ने ईश्वररूप रखते हुए ही रूपान्तर किया अर्थात् जीवरूप का बनकर सारे शरीरों में प्रवेश किया। ब्रह्म ही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ। पहले ईश्वर-रूप में था, फिर जीव-रूप धारण कर देह में प्रविष्ट हुआ। इतना याद रखना चाहिये कि ब्रह्म स्वरूप से अविकारी है। अतः जीवरूप धारण करने पर भी वह जीव *हो* नहीं जाता है। ईश्वररूप के अन्दर वह अव्यक्त के साथ है और जीवरूप में व्यक्त के साथ है अर्थात् यह विकारी रूप है। जीवरूप में वह अध्यास कर लेता है। ईश्वररूप के अन्दर अध्यास नहीं है, ईश्वर को भ्रम नहीं है। मायाशक्ति से युक्त है परन्तु उसको माया में सत्यतादिका अध्यास नहीं है, वह जानता है कि माया का स्वरूप मिथ्या है। जीवरूप में वही है, परन्तु उसको पता नहीं लगता कि 'ये पंचकोश मैं नहीं हूँ'! रूपान्तर अर्थात् अविकारी ब्रह्म से विकारी जीवरूप हो गया। चूँकि तत्त्वतः वह अविकारी है इसलिये जीवरूप में आने पर भी वह ब्रह्म तो बना ही रहता है। उसको जीव क्यों कहते हैं? 'जीवत्वं प्राणधारणात्' प्राण से इंद्रियों और अंतःकरण की भी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। वही अंतःकरण का प्रेरक है। प्राणों के द्वारा कर्मेन्द्रियों का प्रेरक होने से उसमें कर्तृत्व का अध्यास हो जाता है और अंतःकरण का प्रेरक होने से उसमें भोक्तृत्व का अध्यास होता है। 'प्राण' से उपलक्षणा सूक्ष्म शरीर की है। 'जीव प्राणने' धातु है इसलिये जीव का अर्थ 'प्राण धारण करने वाला' है। वही शरीर में प्रवेश करता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर का प्रेरक है ।। १०।।

जीव के ही स्वरूप को बताते हैं—

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते।। ११।।

जो अधिष्ठान चैतन्य है तथा जो सूक्ष्म शरीर है एवं उसमें स्थित चेतन की छाया है, उनका समुदाय जीव कहा जाता है।

जीव 'संघ' है। जहाँ अनेक चीज़ें इकट्ठी होती हैं वहाँ संघ कहा जाता है। परन्तु चीज़ें कैसे इकट्ठी हों? सब मिलकर एक होकर कार्य करें। जैसे फौज की एक इकाई में एक सौ दस सैनिक होते हैं परन्तु उनके चलने का, लड़ने का आदि सब एक ही उद्देश्य होता है। उनमें कोई पंजाब से, कोई मद्रास से, कोई बम्बई से तो कोई क्षत्रिय, तो कोई वैश्य, शूद्र भी होता है। परन्तु सब के सब एक कमाण्डिंग ऑफिसर के निर्देश के अनुसार ही चलते हैं, वह जो कहे वही करना है। इसी प्रकार से लिंग (सूक्ष्म) देह, अधिष्ठान चैतन्य और चिच्छाया का संघ है अर्थात् जीवन-निर्वाहादि एक ही कार्य सम्पन्न करने के लिये ये परस्पर सम्बद्ध हैं।

अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् जिसमें जीवभाव की प्रतीति हो रही है। इसके ज्ञान से ही मोक्ष होता है। जीव जिस अपने स्वरूप को जानकर मुक्त होता है वह अधिष्ठान चैतन्य ही है। सभी अपने को जानते ही हैं कि 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, शरीर को चलाता हूँ' इस रूप में सब अपने को जानते हैं। परन्तु अपने जीव-नामक संघ में अधिष्ठान चैतन्य भी है जिसमें यह सब कल्पित है, उसको नहीं जानते। उस अधिष्ठान के अन्दर माया के द्वारा लिंग देह बन गया, लिंग देह की कल्पना हो गई। लिंग देह में स्थित चिच्छाया है। लिंग देह में प्रधान अंतःकरण है। अंतःकरण में यह सामर्थ्य है कि वह चैतन्य को अपने में प्रतिबिम्बित कर लेता है। जैसे दीवार में छोटा-सा काँच लगा हो तो सूर्य का जो प्रकाश सारी दीवार पर पड़ेगा उसे देखकर सूर्य के बिम्ब का ज्ञान नहीं होगा, परन्तु वहीं काँच में जो प्रकाश पड़ेगा उससे पता लग जाता है कि सूर्य कैसा है। इसी प्रकार अंतःकरण में यह सामर्थ्य है कि वह चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है। अधिष्ठान चैतन्य, लिंग देह और उसमें होने वाली चिच्छाया—इन सबको मिलाकर जीव कहा जाता है। इसलिये कहेंगे जीव कर्त्ता-भोक्ता है। जो चिच्छाया है उसी से कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्पन्न होता है। भोगने वाला जीव-चैतन्य है, अधिष्ठान-चैतन्य तो है नहीं! लिंग देह के द्वारा जीव कर्त्ता-भोक्ता है। लिंग देह में जो चेतन की छाया वह करने वाला है। किस के द्वारा करता है? जैसे सूर्य की छाया किसके द्वारा है? काँच के द्वारा है। इसी प्रकार लिंग देह के द्वारा जीव कर्त्ता -भोक्ता है। इस प्रकार से चार चीज़ें हो गयीं—अधिष्ठान चैतन्य, लिंगदेह और उसमें चिच्छाया—ये तीन और तीनों को मिलाकर जो संघ हुआ वह चौथा।। ११।।

प्रश्न होता है कि माया के साथ महेश्वर होने पर तो उसमें अज्ञानीपना और दुःखीपना नहीं आता, जीवरूप बन गया तो अज्ञानीपना और दुःखीपना कहाँ से आ गया? तब कहते हैं—

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ।। १२।।

जो महेश्वर की माया है उसकी निर्माणसामर्थ्य की तरह मोहित करने की भी सामर्थ्य है, वही उस जीव को मोह में डालती है।

परमेश्वर की माया में एक आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति है। जैसे अंधकार के कारण रस्सी नहीं दीखी, यह तो आवरण हो गया, रस्सी आवृत हो गई; और उस रस्सी की जगह तुमने साँप देख लिया, यह विक्षेप हो गया। असली चीज़ को ढाँकना और उसकी जगह ग़लत चीज़ को बना देना—इन कामों की ये शक्तियाँ हैं। जिसे पहले 'मायिनं तु महेश्वरं' कहा उसी की मायाशक्ति को यहाँ 'माहेश्वरी तु माया' कहा। भगवान् शंकर की माया निर्माण अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म जगत् का निर्माण या सृष्टि करने की जैसे शक्ति है, उसी तरह से उसकी दूसरी शक्ति मोह करने की भी है। बाजीगर तुम्हें खेल दिखाता है तो जो असली चीज़ है उसे तुम नहीं जान पाते। खेल दिखाते समय बाजीगर सभी देखने वालों की आँखें 'बाँध' देता है अर्थात् वह जो चाहता है वही दिखा देता है, जो उपस्थित वस्तु है उसे देखना रुक जाता है। एक जादूगर ने पूछा—'तुम लोग क्या खाना चाहते हो?' सबने कहा—'गुलाब जामुन खिलाओ।' उसने जादू से गुलाब जामुन उपस्थित कर दिये, सभी खा रहे थे। उसी समय वहाँ किसी को बुलाने के लिये एक लड़की आ गई। उसकी आँखें तो बँधी नहीं थी। उसने देखा कि सब तो घोड़े की लीद खा रहे हैं! लीद अधिष्ठान थी जिससे उसने गुलाब जामुन बनाया था। जैसे ही उसने कहा—'अरे! तुम लोग यह क्या खा रहे हो?' तब सबकी बंधी हुई आँख खुल गई, लीद को देखा तो सब बाज़ीगर को गालियाँ देने लगे कि तुमने क्या खिला दिया! उसने कहा 'भ्रांति निरधिष्ठान तो होती नहीं, तुमने गुलाब जामुन खिलाने को कहा तो लीद ही पड़ी थी, उसी को अधिष्ठान बना दिया।'

ठीक इसी प्रकार सारे जीवों की आँखें बंधी हुई हैं इसलिये सबको यह दुनिया दीख रही है। जैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान होता है वैसे ही पता चल जाता है कि यह सारा जगत् तीन काल में नहीं है। यह जो बाजीगर की आँख बाँधने की प्रक्रिया है, इसी को महेश्वर की मोहशक्ति या शास्त्रीय भाषा में आवरण शक्ति कहते हैं। परमेश्वर ने यह सारी सृष्टि ब्रह्मरूप अधिष्ठान में रची। उसमें लिंग देह बनाया। उस लिंग देह के अन्दर जो चैतन्य है, आवरण शक्ति से उसकी आँखें बाँधी हैं इसलिये उसे दुनिया दीखती है, ब्रह्म नहीं दीखता। संसार में अधिकतर लोगों की शंका रहती है कि यदि परमेश्वर है तो हमें प्रतीत क्यों नहीं होता? इसलिये कुछ लोग यहाँ तक चले जाते हैं कि परमेश्वर है ही नहीं, होता तो प्रतीत होता। लेकिन उस लड़की की तरह जिस की आँखें बँधी हुई नहीं हैं, उसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। वेद की दृष्टि बिना बँधी हुई है। इसलिये वेद के द्वारा परमेश्वर कहता है 'तत्त्वमसि'। यह श्रवण करते ही अधिष्ठान चेतन का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान होते ही यह सब कार्य प्रपंच बाधित, व्यर्थ हो जाता है।

परमेश्वर में केवल निर्माण-शक्ति ही नहीं है, मोह-शक्ति भी है। सप्तशती में इसी शक्ति को कहा 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।' वह महामाया मोह अर्थात् अज्ञान की तरफ ले जाती है। अज्ञान अर्थात् आवरण-शक्ति। जीव सारे ज्ञानी ही हैं। सप्तशती के इस प्रसंग में ज्ञानी से ब्रह्मज्ञानी नहीं समझना क्योंकि इसके पहले

ही कहा है कि कुछ प्राणियों को दिन में नहीं दीखता, कुछ प्राणियों को रात में नहीं दीखता। अज्ञान या मोह से जिनकी आँखें बँधी हुई हैं वे बहुत ढूँढते हैं लेकिन उन्हें परमेश्वर नहीं मिलता। कोई अमरनाथ तो कोई बद्रीनाथ जाता है, सोचता है कहीं तो मिलेगा, लेकिन कहीं दीखता नहीं है। और जिसका वह आवरण हट गया, वह कहता है 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' संसार कहाँ है! भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'काकोलूकनिशेव' जैसे उल्लू को दिन में नहीं दीखता वैसे ही कौए को रात में नहीं दीखता। इसी तरह आवरण वाले को संसार दीखता है, परमात्मा नहीं; जबकि निरावृत को परमात्मा दीखता है, संसार नहीं। सप्तशती में जिन्हें ज्ञानी कहा उन्हें घट-पट आदि का ज्ञान होता है और इसीलिये वे उसी की तरफ जाते हैं। निर्माण-शक्ति के द्वारा जो संसार बनाया गया है उसकी तरफ वह मोह के लिये आकृष्ट करती है।

जिस जीव को संघ कहा था, यह माहेश्वरी माया उसे मोह में डाल देती है। है तो वह आनन्दस्वरूप, जीव का वास्तविक स्वरूप तो आनन्द है, पर मोह के कारण बक-बक करता है 'मैं दुःखी हूँ, तंग हो रहा हूँ, परेशान हो रहा हूँ'। आनन्दरूप होकर भी माया से विषय उसे अपनी तरफ आकृष्ट करते हैं, अपने स्वरूप का ज्ञान उसे नहीं हो रहा है।। १२।।

मोह का प्रभाव दिखाते हैं—

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः।। १३।।

मोह से अनीश्वरभाव (अर्थात् जीवभाव) पाकर शरीर में तादात्म्याभिमानी बना 'दुःखी हूँ' आदि अध्यास करता है। संक्षेप में यह सारा ईश्वर द्वारा उत्पादित द्वैत बताया।

यहाँ तक परमेश्वर की सृष्टि बतायी। पंचमहाभूत, विराट् इत्यादि से लेकर चींटी तक के शरीर बना दिये। लिंग देह के अन्दर जो चिच्छाया है उसे मोह शक्ति से अपने स्वरूप को भुलाकर निरंतर सुख-दुःख के लिये दौड़ने लायक बना दिया। जैसे कस्तूरी तो मृग की नाभि में होती है, उसी की सुगन्धि उसे भाती है, लेकिन वह समझता है कि सुगन्ध कहीं बाहर से आ रही है, उसकी तरफ दौड़ता है। ज़ोर से दौड़ने पर उसी की नाभि में पड़ी हुई कस्तूरी पिघल जाती है तो तरल पदार्थ से सुगन्ध और ज़्यादा आती है। उसके कारण वह ज़्यादा दौड़ता है, परन्तु उसे बाहर कहीं मिलती नहीं क्योंकि वह तो उसी की नाभि में हैं! इसी प्रकार जीव का आनन्द उसके अधिष्ठानरूप में हैं, परन्तु वह सोचता है कि ये विषय सुख देने वाले हैं। सुखरूप वह स्वयं है। सुख की इच्छा करके जीव दौड़ता है, विषय की प्राप्ति हो गई तो चित्त पुनः अन्तर्मुख होने पर सुख मिलता है तो सोचता है कि इस *विषय से* सुख हो गया। अतएव लगातार विषयों की तरफ ही आस लगाये रहता है। प्रपंच-निर्माण करके जीवभाव से प्रवेश तक तो परमेश्वर की सृष्टि है, इसके बाद दौड़ना आदि सब करना जीव का कार्य है।

मोह अर्थात् आवरण-शक्ति के द्वारा अनीशता को प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह ईश नहीं रहा। इसलिये जिस इष्ट को प्राप्त करना चाहता है वह प्राप्त नहीं होता और जिस अनिष्ट से

बचना चाहता है, वह अनिष्ट उसे प्राप्त होता रहता है। जो चाहता है वह मिलता नहीं, जो नहीं चाहता वह मिलता रहता है। इसीलिये अनीश है। ऐसा क्यों होता है? 'वपुषि मग्नः' अपना जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर है उसके अन्दर मग्न हो जाता है अर्थात् इसी को देखता रहता है। 'अपनी' तरफ इसकी नज़र कभी जाती नहीं है, स्थूल-सूक्ष्म देहों में ही मग्न है, अधिष्ठान की तरफ कभी भी देखता ही नहीं। मग्न का मतलब होता है कि किसी चीज़ में इतने डूब जाओ कि कोई दूसरी चीज़ दीखे ही नहीं। पानी में मग्न हो जाओ, गोता लगा लो तो वहाँ चारों तरफ पानी ही पानी दीखेगा। इसी प्रकार किसी विचार में ऐसे मग्न हो जाओ, जैसे शकुन्तला दुष्यंत में मग्न हो गई थी कि दुर्वासा की बात ही नहीं सुन सकी। इसी प्रकार जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में ऐसा मग्न है कि उसके सिवाय उसे कुछ नहीं दीखता। 'मैं यही हूँ' ऐसा निश्चय हो जाता है; उससे सर्वथा तादात्म्याभिमान हो जाता है। 'मेरी माँ ब्राह्मणी, मेरा बाप ब्राह्मण, मैं ब्राह्मण ही हूँ,' ऐसा निश्चय कर लेता है अर्थात् स्थूल शरीर में मग्न है। मैं गोरा ही हूँ, मैं गुजराती ही हूँ; इसी में एक-दम मग्न हो जाता है। ये सब चीज़ें तो स्थूल शरीर में हैं! फिर भी इसमें ऐसा मग्न है कि निश्चय है 'यही मैं हूँ।' वैसे ही सूक्ष्म शरीर में मग्न है कि मन दुःखी तो मैं दुःखी, मन सुखी तो मैं सुखी हूँ। बुद्धि ने किसी चीज़ का ठीक निश्चय किया तो कहता है 'मैंने ही निश्चय किया'। देहद्वय से तादात्म्याभिमान करके हमेशा शोक करता रहता है।

मन हमेशा कुलाँचे मारकर नई-नई इच्छायें सामने ले आता है। जीव उनको पूरा करना चाहता है, पूरा कर नहीं पाता इसलिये 'हाय-हाय' करता रहता है। इसलिये श्रुति ने कहा है 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः' इस शरीररूपी वृक्ष में मग्न हुआ अनिष्ट का परिहार नहीं कर पाता, इष्ट प्राप्त नहीं कर पाता, इसलिये दुःखी हो रहा है। जीवन में विचार करके देखो तो कम चीज़ें ऐसी होंगी जो *आवश्यक* हों और तुम्हें न मिली हों। अधिकतर चीज़ें तो केवल मानसिक चंचलता से इष्ट लगती हैं इसलिये शोक होता है। यहाँ तक ईश्वर की सृष्टि बतायी। नाम रूप की सृष्टि, जीव के स्थूल-सूक्ष्म शरीर की सृष्टि, फिर उनके अन्दर चिदाभासरूप से बैठ जाना—यहाँ तक की द्वैत-सृष्टि ईश्वर की है। ये सारी चीज़ें ऐसी हैं जिनमें तुम कुछ नहीं कर सकते।

यह स्मरण रखना चाहिये कि जो ईश्वरसृष्ट द्वैत है उसमें जीव मन-मानी हेर-फेर नहीं कर सकता, उस द्वैत के नियम समझकर उनके अनुसार द्वैत का उपयोग ही कर सकता है। ईश्वर-सृष्टि पर अपना नियंत्रण स्थापित करने की अभिलाषा हमेशा अपूर्ण रहनी है, ऐसी इच्छा वाला असन्तुष्ट, दुःखी ही रहेगा। युग-युगान्तर से धर्ममार्ग कठिन और तपोमूलक है और रहेगा, प्रेयोमार्ग सरल और आकर्षक ही है और रहेगा। इसमें मौलिक अंतर नहीं लाया जा सकता। यह परिस्थिति जानकर अपना कल्याण संपन्न कर सकते हैं।। १३।।

जीवसृष्टि भी वेदोक्त बताते हैं—

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपंचितम्।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत् पिता।। १४।।

'सप्तान्न ब्राह्मण' में जीवद्वारा उत्पादित द्वैत समझाया गया है। (वहाँ कहा है कि) 'पिता' ने ज्ञान और कर्म से सात अन्न पैदा किये।

सप्तान्न ब्राह्मण बृहदारण्यक उपनिषद् में (१.५.१) आता है। जीव ने जो सृष्टि की, उसका वहाँ विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ वाक्य है 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' समष्टि जीव जो हिरण्यगर्भ है, वह सबका पिता है, उसने ये सप्तान्न बनाये। यों जीवसृष्टि को कहा। 'मेधया तपसा' अर्थात् अदृष्ट के द्वारा। जिसने पूर्वजन्म में सबसे अधिक कर्म व उपासना का अनुष्ठान किया वह अगले कल्प में हिरण्यगर्भ बनकर पैदा होता है। अपने अदृष्ट के द्वारा ही वह सप्तान्नों की सृष्टि करता है। मेधा को यहाँ ज्ञान और तप को कर्म कह दिया। उपासना और कर्म के द्वारा आदिजीव हिरण्यगर्भ ने द्वैत पैदा किया।

जो खाया जाता है उसे अन्न कहते हैं। अन्न खाने का मतलब भोग करने से है। जिसका भी भोग किया जाता है वह सब अन्न है। इसलिये जहाँ उपनिषद् ने 'अनशन' कहा है वहाँ भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं कि अनशन का मतलब केवल मुँह में नहीं डाला, इतना ही नहीं समझना! आँख से रूप को, कान से शब्द को, नाक से गंध को इत्यादि सब चीज़ें खायी जाती हैं। जो खाया जाये या भोगा जाये वह सब अन्न है। श्रुति कहती है कि अन्न न केवल खाया जाता है वरन् अपने भक्षक को खा भी जाता है! जितना तुम्हें चाहिये उससे ज़्यादा खाओगे तो वह ज़्यादा खाया हुआ तुम्हें खायेगा, बीमारी तथा और भी अनेक विकारों को पैदा करेगा। जिस किसी इन्द्रिय से तुमने ग्रहण किया है वह सब अपच होकर नई-नई इच्छायें पैदा करेगा। इसलिये भगवान् ने कहा है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः' विषयों को जैसे ही तुमने मन में ग्रहण किया, उनका चिंतन करने लगे, वैसे ही उनके प्रति आसक्ति हो जाती है, इष्टबुद्धि हो जाती है। आज से ४०-५० साल पहले तक हिन्दुस्तान में एक मोटर 'एम्बेसेडर' कलकत्ते में, दूसरी 'स्टैण्डर्ड' मद्रास में और तीसरी बम्बई में 'फीयट' ये तीन ही गाड़ियाँ थीं। किसी को अन्य किसी गाड़ी की इच्छा भी नहीं होती थी। अब दिल्ली जैसे शहर में ही पचास तरह की गाड़ियाँ घूमती हैं। किसी में आठ आदमी तो किसी में केवल चार ही आदमी बैठ सकेंगे। ये सब विषय जब अंदर प्रविष्ट हुए तभी इनकी इच्छा भी हुई। व्यापारी-वर्ग न जाने कितनी चीज़ें लाकर प्रकट करता रहता है। विदेशों की चीज़ों को भी टेलीविज़न में दिखाते रहते हैं। ये सब अन्न हैं जो अविवेकपूर्वक ग्रहण करते हो तो अपच भी हो जाता है! हमारे पास बीस लाख रुपये हैं और कोई मोटर ऐसी देख ली जो चौबीस लाख की है तो परेशान हो जाते हैं। उस मोटर को लिये बिना कुछ बिगड़ता नहीं है लेकिन नई इच्छा होने से उसकी आपूर्ति का क्लेश व्यर्थ सहना पड़ता है।। १४।।

द्वैत का विवेक प्रारम्भ करने पर समझ आता है कि एक तो देखने वाले हम और दूसरा, दीखने वाला ससांर—यों दीखने वाले संसार से ही हमारा द्वैत है। संसार जो हमको दीखता है, अर्थात् दृश्य जगत् दो प्रकार का है—एक , ईश्वर का बनाया हुआ और दूसरा, जीव का बनाया हुआ। ईश्वर के बनाये हुए संसार से किसी प्रकार का बंधन नहीं है। जीव के द्वारा बनाया हुआ

संसार ही बन्धन का कारण है। ईश्वर ने अपनी माया शक्ति के द्वारा पंचमहाभूत बनाये, उन्हीं से हमारा सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्राण, मन, बुद्धि और इंद्रियाँ बनाये; ये सब चीज़ें ईश्वर की सृष्टि हैं। जीव की सृष्टि क्या है? बृहदारण्यक उपनिषद् में सात प्रकार के अन्नों का वर्णन किया गया है जो जीव की सृष्टि है। वे सात प्रकार के अन्न क्या हैं, यह समझाते हैं—

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम्।
अन्यत् त्रितयमात्मार्थम् अन्नानां विनियोजनम्।। १५।।

एक मर्त्यों (मनुष्यों) का अन्न है, दो देवताओं के और चौथा पशुओं का अन्न है। इनसे अन्य तीन आत्मा के अन्न हैं। इस प्रकार सातों अन्नों का उपयोग बताया गया है।

मर्त्यधर्मा जो प्राणी हैं अर्थात् सभी प्राणी, उनका तो एक अन्न है। जौ, चावल इत्यादि जिन के द्वारा सारे प्राणी ज़िन्दा रहते हैं वे मर्त्यों का अन्न है। यह अन्न वह है जो मरणधर्मा शरीर को पुष्ट करता है। इसी प्रकार देव, पशु और आत्मा के उपयोगार्थ अन्य छह अन्न बनाये। इस प्रकार से अन्नों का विनियोग है। जीव ने जो सात अन्न बनाये और जिस-जिस उपयोग से बनाये उसका उक्त उपनिषद् में कथन है, तदनुसार उन्हें संक्षेप में यहाँ भी समझायेंगे।। १५।।

पूर्वोक्त अन्नों का स्वरूप ही बताते हैं—

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वम् अन्नानामवगम्यताम्।। १६।।

चावल आदि, दर्श एवं पूर्णमास, दूध, मन, वाक् तथा प्राण—ये सात अन्न जानने चाहिये।

चावल, जौ इत्यादि खाने की चीज़ें हैं जिनसे शरीर पुष्ट होता है। फल, फूल भी 'आदि' पद से कह दिये गये। ये शरीर का पोषण करने वाले हैं। यह एक अन्न है। जौ, चावल इत्यादि तो परमेश्वर की सृष्टि है; इसी प्रकार दूध, प्राण, वाक्, मन—ये सब भी ईश्वर की सृष्टि है; परन्तु इनमें *अन्नरूपता* जीव की अपनी सृष्टि है। इसलिये जो खाने लायक चीज़ है उसको हम अन्न मानते ही हैं पर जो खाने लायक चीज़ नहीं है उसको भी अन्न बना लेते हैं! अगर मनुष्य के दाँतों और पेट को देखो तो न मनुष्य के दाँत माँस खाने लायक हैं और न मनुष्य का पेट माँस पचाने लायक है। फिर भी मनुष्य ज़बर्दस्ती माँस खाता है। इसलिये भगवान् की बनायी किस चीज़ में हम अन्नरूपता बनायें, यह हमारे हाथ में हैं।

दो अन्न दर्श और पूर्णमास याग हैं। ये दोनों देवताओं के अन्न हैं। देवता इनको ग्रहण करते हैं। मनुष्य-शरीर में सभी देवता रहते हैं क्योंकि ऋग्वेद में आता है कि परमेश्वर ने सृष्टि की तो भेड़ बकरी इत्यादि प्राणी पैदा किये, देवताओं से कहा—'तुम इसमें रहो।' देवताओं ने कहा—'ये हमारे रहने लायक नहीं हैं, इसलिये हम इनमें नहीं रहेंगे।' अंत में जब मनुष्य की सृष्टि की तब देवताओं ने कहा, 'बस यह हमारे रहने के लायक है, हम इसमें रहेंगे।' इसलिये

सारे देवताओं का वास मनुष्य शरीर में है। सामान्य लोगों में भी यह प्रसिद्धि है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह अपने शरीर या पिण्ड में है क्योंकि सारे देवता इसमें हैं। इस देवभाव को पुष्ट करने वाले दर्श और पूर्णमास याग हैं। गीता में भगवान् ने कहा कि यज्ञ से देवता भावित होते हैं और वे देवता पुष्ट करते हैं। इस प्रकार से परस्पर भावना करनी चाहिये, उसी से कल्याण की प्राप्ति बताई। अपने शरीर में भी जो देवता हैं इन्हें दर्श-पूर्णमास से पुष्ट किया जाता है। उसको न करके अपने आसुर भावों को बढ़ाते हैं। श्रुति में कहे हुए दर्श, पूर्णमास आदि याग शरीर में भी देवताओं को पुष्ट करेंगे। चूंकि देवता सबके शरीरों में हैं, इसलिये देवताओं को जितना पुष्ट किया जायेगा उतनी ही सबके अन्दर देवभाव की वृद्धि होगी। अगर उसकी अपेक्षा असुरों को पुष्ट करेंगे तो सर्वत्र अशास्त्रीय भावों की पुष्टि, वृद्धि होगी। असुर हमेशा चाहते हैं कि देवताओं को जीत कर हम शासन करें।

सामवेद ने बताया है कि एक बार असुरों को जीतते हुए देखकर देवताओं ने विचार किया 'हम कहीं बैठकर उत्तम अनुष्ठान के द्वारा जीत हासिल करें।' इसके लिये वे वाणी में जाकर बैठे। असुर सोचने लगे 'ये देवता कहाँ चले गये! ज़रूर कहीं छिपकर हमारे नाश की तैयारी कर रहे होंगे।' ढूँढते-ढूँढते उन्होंने देखा कि वे वाणी पर बैठकर अनुष्ठान कर रहे हैं। असुरों ने वाणी को पाप से बींध दिया। इसलिये, श्रुति कहती है कि वाणी सत्य बोलती है पर झूठ भी बोलती है। परमेश्वर की निंदा और प्रशंसा दोनों वाणी करती है। देवताओं ने देखा 'यहाँ तो फिर असुरों का प्रभाव हो गया!' उसे छोड़कर वे कान में जाकर बैठे कि वहाँ अनुष्ठान करें। असुरों ने पता लगाकर कान को भी आसुरभाव, कामना या पाप से बींध दिया। इसलिये कान अच्छी बातें सुनता है पर बुरी बातें भी सुनता ही है। इसी प्रकार देवताओं ने आँख इत्यादि सभी इन्द्रियों में बैठकर देखा लेकिन सभी में असुरों का ज़ोर हो गया। अंततोगत्वा वे प्राण में जाकर बैठे। उससे पूर्व मन, बुद्धि इत्यादि जितने स्थानों में बैठे, वे सभी आज तक भी अच्छा-बुरा करते देखे जाते हैं क्योंकि सभी स्थान असुरों द्वारा पाप से बींधे गये। अंत में जिस प्राण में जाकर बैठे उस प्राण में कभी आसुर भाव नहीं होता। प्राण कभी बुरा नहीं करता, वह एक-जैसा ही चलता है। असुरों ने प्राण को भी बींधने का प्रयत्न किया; वहाँ श्रुति कहती है कि जैसे मिट्टी के लोंदे को किसी चट्टान पर मारें तो वह टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, इसी प्रकार असुर भी टुकड़े-टुकड़े हो गये। प्राण का पापरहित रहना प्रत्यक्ष भी है, वह कभी भी बुरा काम नहीं करता, हमें केवल जीवन देता है। असुरों के द्वारा हमारी इन्द्रियाँ इत्यादि पाप से बींधी जाती हैं, परन्तु प्राण कभी नहीं बींधा जाता। दर्शपूर्णमास याग आदि जो शास्त्रीय कर्म बताये हैं उनके द्वारा हमारी सारी इन्द्रियों का देवभाव पुष्ट होगा। प्राण किसी भी विकार से रहित है, ऐसे सब विकारों से रहित होकर कर्म करने से देवताभाव पुष्ट होगा।

'क्षीर'—पशुओं का अन्न दूध है। जब तक बच्चा पशुभाव में है तब तक दूध से ही पुष्ट होता है। साल-डेढ़ साल के बच्चे को किसी बुराई-अच्छाई का पता नहीं है, केवल सुख-दुःख को जानता है अर्थात् उसे किसी चीज़ से अनुकूलता और किसी चीज़ से प्रतिकूलता है, इतना ही

जानता है। इतना ही समझना पशुभाव है। जब तक पशुभाव है तब तक उसके लिये दूध ही भोजन है। उसके बाद भी दूध का सेवन इसीलिये किया जाता है कि हमारे अन्दर अनिवार्य पशुभाव स्थिर रहे।

जीव ने अपने लिये तीन अन्न बनाये हैं—मन, वाक् और प्राण ये तीनों उसने अपने लिये पैदा किये। इसलिये श्रुति ने वहाँ (बृ.१.५.३) कहा है—'अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः'। जीव का अपना अन्न वह है जो मन में होता है। मन का भोग हम खुद करते हैं। बाह्य पदार्थ का भोग तो देवताओं के अनुग्रह से इन्द्रियों के द्वारा मन में पहुँचता है। सामने हमें कोई चीज़ दिखाई दी तो वह चीज़ आँख के द्वारा प्रविष्ट होकर मन ने उसको जाना। जब मन ने जाना तभी हम उसकी सुन्दरता से प्रसन्न हो सकते हैं। मन का ही भोग जीव साक्षात् करता है। भोग केवल ज्ञानरूप से ही नहीं, क्रियारूप भी है। हम कुछ करते हैं, तब भी मज़ा आता है। किसी कार्य को नहीं करने का मज़ा आता है। बहुत-से लोग आलसी होते हैं, उन्हें नहीं करने में ही मज़ा आता है। प्राचीन काल में हमारी पाठशालाओं में रविवार को छुट्टी नहीं होती थी, ईसाईयों ने रविवार की छुट्टी शुरू कर दी। हमारे यहाँ तो प्रतिपदा और अष्टमी के दिन छुट्टी होती थी। उस दिन गुरुकुल की सेवा के अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते थे। सर्वथा कुछ न कर आलस्य बढ़ाना पाश्चात्य दृष्टि है। हम लोग मानते हैं कि एक काम की जगह दूसरा काम करो, वह छुट्टी है। छुट्टी का मतलब 'कुछ नहीं करो' ऐसा नहीं है।

अंग्रेज़ों का यहाँ नया-नया राज्य था। एक व्यक्ति पंजाब में अफसर बन गया था। उसने एक जर्नल में अपना एक अनुभव लिखा है : उसके कार्यालय में छह महीने बाद अंग्रेज़ कलक्टर आ गया। प्रतिदिन का काम एक रजिस्टर में लिखा जाता था। वह हिन्दुस्तानी अफसर रविवार को भी काम करता था। अंग्रेज़ कलक्टर ने रजिस्टर देखा तो उससे पूछा 'तुम रविवार को काम क्यों करते हो?' उसने कहा—'जी! हमें तन्ख्वाह मिलती है। रविवार को और कोई काम नहीं होता तो यहाँ आकर काम करता हूँ।' कलक्टर ने कहा—'ऐसा नहीं किया जाता। हमारे यहाँ नियम है कि रविवार को काम मत करो।' वह कह कर चला गया। छह महीने बाद फिर आया तो रजिस्टर में देखा कि वह अफसर हफ्ते में किसी भी दिन 'रविवार की छुट्टी' लिख देता था, जैसे 'आज पत्नी की तबियत ठीक नहीं थी इसलिए आज रविवार मनाया'। कलक्टर ने पूछा—'किसी भी दिन रविवार कैसे लिख दिया?' उसने कहा—'पत्नी को अस्पताल ले जाना था, इसलिए रविवार की छुट्टी मना ली। रविवार को और काम नहीं था, इसलिए ऑफिस आकर काम किया'। कलक्टर ने कहा—'तबियत खराब थी तो उसके लिए अलग छुट्टी लेते, ऐसे रविवार को जब जरूरत तब काम में नहीं लिया जाता'। वह अफसर लिखता है 'यह कैसा बेवकूफी का नियम है! जिस दिन अन्य कोई काम नहीं, उस दिन कहते हैं 'छुट्टी मनाओ', और जिस दिन घर पर काम है तब के लिए कहते हैं 'उसके लिए पहले से लिखकर अलग छुट्टी लो!'

कर्म भी एक अन्न या भोग्य है। उसमें जो वाक् या वाणी है उसकी शुद्धि बड़ी आवश्यक होती है। हम लोग शब्द का जितना भोग करते हैं उतना भोग किसी और चीज़ का नहीं करते।

शास्त्र में सृष्टि को नाम-रूपात्मक कहा है। प्रत्येक चीज़ का कोई नाम है और कोई-न-कोई रूप है। रूप का मतलब आँख से जो दीखे केवल वही नहीं है। 'रूप्यते' अर्थात् जिससे किसी चीज़ का निरूपण हो जाता है कि 'यह चीज़ ऐसी है,' उसी को रूप कहते हैं। रूप मूर्त और अमूर्त दोनों हो सकते हैं। मूर्त और अमूर्त दोनों के नाम होते ही हैं। वाक् के प्रयोग पर बहुत ध्यान देने की ज़रूरत है। वाक् भी अन्न है। अगर किसी को बोलने न दिया जाये तो यह बहुत बड़ा दण्ड इसलिए मानते हैं कि उसे वाग्रूप अन्न से वंचित किया जाता है। वाक् भी जीव का अपना अन्न है।

प्राणश्च—प्राण के द्वारा ही हमें सारे कर्म करने की शक्ति मिलती है। यहाँ तक कि जानने की शक्ति भी प्राण की शक्ति से है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि मन और प्राण ऐसे हैं जैसे काँच के अगला और पिछला दो हिस्से होते हैं। काँच के पिछले हिस्से में मुँह नहीं दीखता, काँच के अगले हिस्से में दीखता है। परन्तु काँच तो दोनों हिस्से मिलकर ही है। अगर कोई सोचे कि इतना मोटा काँच क्यों लेना, पिछला हिस्सा हटा दे, तो उसमें मुँह नहीं दीखेगा! एक तरफ दीखता है, एक तरफ नहीं दीखता परन्तु दोनों तरफ मिलकर ही दीखता है। इसी प्रकार प्राण पिछले हिस्से जैसा है, इसलिए प्राण में ज्ञान का पता नहीं लगता और मन अगले हिस्से जैसा है जिसमें ज्ञान का पता लगता है। परन्तु पता तभी लगता है जब मन की वृत्ति बनती है। वृत्ति बनाना एक कार्य, परिवर्तन है। जब तक प्राण नहीं होगा तब तक कार्य वृत्ति नहीं हो पायेगा, वृत्ति नहीं बनेगी। इसी प्रक्रिया का प्रयोग योगाभ्यास में करते हैं : मन को रोकना बड़ा दुष्कर है। 'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।' मन ऐसा है कि हमें मानो मथ डालता है। मन को नियंत्रित करना कठिन है, परन्तु वह अपनी चंचलता के लिए प्राण के पराधीन है। प्राण वृत्ति बनने देगा तभी मन वृत्ति बनायेगा। इसलिए प्राणायाम के द्वारा योगाभ्यासी प्राण का नियंत्रण करते हैं। प्राण का नियंत्रण हो गया तो मन वृत्ति बना नहीं पायेगा। मन के नियंत्रण से भी प्राण नियंत्रित हो जाता है। मन किसी चीज़ में एकाग्र होता है तो साँस अपने आप क्षीण हो जाती है। मनोनिरोध से प्राणनिरोध का मार्ग दुर्गम है। प्राण को रोककर मन को रोकना सरल है, मन को रोककर प्राण को रोकना कठिन है। चूँकि सारी शक्तियों का प्रयोग साधारण प्राण के अधीन है इसलिए प्राण का भी हम लोग 'भोग' करते हैं। प्राण की एक शक्ति ऐसी है जो और किसी चीज़ में नहीं है। भूख और प्यास प्राणों का धर्म है। जब तक शरीर में प्राण रहेगा तब तक भूख-प्यास रहेगी। भूख-प्यास शरीर के किसी *अंग* का धर्म नहीं है, प्राण का ही धर्म है। भूख-प्यास के द्वारा हमको बड़े आनन्द की प्राप्ति होती है। यह ठीक है कि स्वाद तो जीभ से आता है लेकिन तभी तक आता है जब तक भूख हो। पचास गुलाब जामुन खाने के बाद, हमारी जीभ कितनी भी चटोरी हो, आगे नहीं खा सकती, खाने का स्वाद नहीं आ सकता क्योंकि पेट में जगह ही नहीं। किसी व्यक्ति की भूख कम हो जाती है तो वैद्य से कहता है 'भूख लगने की कोई औषधि दो।' वैद्य क्षुधावर्द्धक बटी दे देता है। भूख मिट गई तो खा ही नहीं सकते। भूख आवश्यक है क्योंकि भूख लगे तभी भूख मिटे, और तब सुख आये। जो बात भूख के विषय

में है वही प्यास के विषय में है। शक्तिप्रद होने से और भूख-प्यास के द्वारा प्राण अन्न हो जाता है। इस प्रकार एक साधारण अन्न चावल, जौ आदि, एक पशु का अन्न क्षीर, दर्श-पूर्णमास ये दो देवताओं के अन्न और मन आदि तीन जीव के अपने अन्न; यों कुल सात अन्न जीव ने बनाये। जिस-जिस चीज़ का भोग किया जाता है, जो जीवभाव के लिए, शरीर की पुष्टि के लिए, हमारे पशुभाव को पुष्ट करने के लिए और देवों को भोग देने के लिए है, वे सब जीव के द्वारा निर्मित अन्न हैं।। १६।।

स्वयं ही स्पष्ट करते हैं कि इन्हें जीव ने किस तरह तैयार किया—

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम्।।१७।।

यद्यपि स्वरूपतः ये पदार्थ परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं तथापि इनमें अन्नता का सम्पादन जीव ने ज्ञान (उपासना) और कर्म द्वारा किया है।

अन्न, दूध, वाक्, प्राण आदि जीव ने नहीं बनाये। इनके स्वरूप अर्थात् ये वस्तुएँ तो परमेश्वर के द्वारा बनायी हुई हैं। फिर इन्हें जीव-निर्मित क्यों कहा? चूँकि ज्ञान और कर्म के द्वारा जीव ने उनमें अन्नता की प्राप्ति कराई है। 'अन्नता' अर्थात् भोग। ऐसा नहीं समझना कि चीजें हमने बनाई। चावल तो भगवान् ने उगाया, परन्तु जब हम चावल खाने के योग्य हुए तब वह हमारा अन्न बना। संसार में उपलब्ध चावल ही ज्ञान और कर्म से अन्न बनते हैं। ज्ञान व कर्म दो तरह के हैं, एक दृष्ट और दूसरे शास्त्रीय। दृष्ट जैसे अमुक भोजन हमारे शरीर के लिए पौष्टिक है। यह ज्ञान हुआ तब उसे हम अन्न बनाते हैं। फिर उसके लिए कर्म हुआ—हल जोतना आदि। अथवा धन आदि कमाकर बाजार से खरीदना। ज्ञान और कर्म के द्वारा वह तुम्हारा अन्न बना। जैसे ये ज्ञान और कर्म, वैसे ही शास्त्र में बताई हुई उपासनायें भी ज्ञान हैं और शास्त्र में बताये हुए भी कर्म हैं। उपासना और कर्म के द्वारा तुम्हारा जो प्रारब्ध बनता है उसके अनुसार ही अन्न तुम्हें प्राप्त होता है। जो कर्म एवं उपासना हम करते हैं उसके अनुसार ही हमें चीज़ें मिलती हैं। जो नहीं मिलती हैं तो इसमें कारण है कि हमारा प्रारब्ध उनके अनुकूल नहीं है। ईश्वर ने तो सब चीज़ें बनाई परन्तु उनमें से कौन-सी हमारे भोगने लायक है, कौन-सी नहीं है, कौन-सी हमारे अनुकूल है कौन-सी नहीं, इसका निर्णय जीव के हाथ में है। इस तरह जीव चीज़ों में अन्नता को पैदा करता है। चीज़ स्वरूप से परमेश्वर की बनाई हुई है पर ज्ञान-कर्म के द्वारा अन्नरूपता की सृष्टि हो जाती है। चीज़ें परमेश्वर ने बनाई, परन्तु उसमें भोग्य दृष्टि करना या नहीं करना जीव का काम है, इसके लिए हम ज़िम्मेवार हैं।

हमें दो चीज़ों का भोग होता है, एक तो हमें जो शरीर मिला है उसका और दूसरा उस शरीर के कारण जो सुख-दुःख होते हैं उनका। ये दोनों अगल-अलग भोग हैं। सर्वत्र ऐसे असंख्य मनुष्य-शरीरधारी हैं जिन्हें सिर छिपाने को छप्पर नहीं, तन ढकने को कपड़ा नहीं, भूख मिटाने को अन्न नहीं। साथ ही अनेक ऐसे पालतू कुत्ते दीखते हैं जिन्हें भोजन और अन्य सारी

सुविधायें उपलब्ध हैं। उनका कुछ कर्म तो ऐसा है जिसके कारण वे कुत्ते की योनि में पैदा हुए और कुछ ऐसा है कि सुख-सुविधा से सम्पन्न हैं। दूसरे, किन्हीं कर्मों से मानव योनि पाकर भी कर्मवश दुःख एवं असुविधा से ग्रस्त हैं। हम कहाँ पैदा होंगे—इसका निर्णय ज्ञान (उपासना) करता है और वहाँ पर भोग कैसा करेंगे— इसका निर्णय कर्म (पुण्य-पाप) करता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि अंतकाल में तुम्हारी जो वृत्ति होती है, वह तुम्हें कहाँ जाना है, इसका निर्णय करती है। 'अंतमति सो गति' ऐसा सामान्य भाषा में भी लोग कहते हैं। जिसका जिस चीज़ पर ज़्यादा स्नेह होता है, अंत समय में वही उसे याद आती है। विदेशों में बहुत से ऐसे लोग हैं जिनको अपनी घरवाली से प्रेम नहीं है, कुत्तों से ही प्रेम है! ऐसे व्यक्ति को अंतकाल में भी कुत्ता ही याद आयेगा एवं अंत में जैसी हमारी वृत्ति रहती है वैसा ही हमें शरीर मिल जाता है। साथ ही, जैसे हमारे पुण्य-पाप होते हैं उनके अनुसार पैदा होने पर हमें सुख-दुःख की प्राप्ति हो जाती है। इस तरह ज्ञान और कर्म के द्वारा जीव अन्नता को बनाता है।।१७।।

भगवान् के बनाये में भी जीव कुछ बना सकता है इसे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद् द्वाभ्यां समन्वितम्।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम्।।१८।।

जैसे स्त्री अपने पिता से जन्म पा चुकी है और भर्त्ता से (पति से) भोग्यभाव (पत्नीत्व) पाती है वैसे जगत् ईश्वर का कार्य एवं जीव का भोग्य—यों दोनों से सम्बद्ध है।

एक ही चीज़ को दो कैसे बना सकते हैं? जैसे लड़की को पैदा तो पिता करता है परन्तु उसको भोग्या पति बनाता है। यद्यपि भोग्यता से यहाँ पत्नीभाव विवक्षित है तथापि भारतीय परम्परा यहाँ तक रही है कि कन्या दान की वस्तु होने से उसके स्वत्वकी कोई भी वस्तु पिता उपभोग नहीं करता था, ब्याही लड़की के घर जाकर वहाँ का जल भी ग्रहण नहीं करता था क्योंकि वह पति की ही भोग्य है यह निश्चय था। पिता ने पैदा की, लेकिन उसका भोग तो पति करेगा। इसी प्रकार चीज़ों को पैदा तो ईश्वर ने किया है लेकिन वह पूर्णकाम नित्यतृप्त है, इन्हें भोग्य जीव ने अपने कर्म और उपासना या ज्ञान और कर्म के द्वारा बनाया है। इस तरह से यह जगत् इन दोनों के द्वारा ही निर्मित है।।१८।।

ईश्वर व जीव को जगद्-उत्पादनार्थ उपलब्ध साधन बताते हैं—

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम्।।१९।।

जगत् की उत्पत्ति में साधन है ईश्वर का मायावृत्तिरूप संकल्प एवं जीव का मनोवृत्तिरूप संकल्प भोग के लिए साधन है।

संसार उत्पन्न करने के लिए परमेश्वर अपनी माया नामक शक्ति का जो प्रयोग करते हैं वह उस माया की वृत्ति, माया का बर्ताव, व्यापार, दशाविशेष ही ईश्वर का संकल्प कहा जाता

है जो जगत् के उत्पादन के लिए पर्याप्त है। अचिन्त्य सामर्थ्य होने से संकल्प ही काफी है कि माया सारा सृष्टि-विस्तार कर ले, परमात्मा को अन्य कोई आयास करने की आवश्यकता नहीं। तुम हाथ उठाते हो कोई सामान पकड़ने के लिए तो सामान के अनुसार तुम्हारी प्राण-शक्ति हाथ आदि को तैयार करती है लेकिन यह सारी प्रक्रिया प्रारम्भ तो तुम्हारे इस संकल्प से ही होगी कि 'हाथ से सामान उठाउँ'। संकल्प में सामर्थ्य अतिशय है, स्वल्प से संकल्प में ताकत है बड़े-से-बड़े परिवर्तन लाने की। इसी प्रकार माया को परमेश्वर के शरीर की जगह समझ लो। माया चीज़ें बनाती है परन्तु परमेश्वर के संकल्प से बनाती है। परमेश्वर के संकल्प कैसे होते हैं? अन्यत्र शास्त्रों ने बताया है कि जैसा जीव का प्रारब्ध होता है उसके अनुसार ही परमेश्वर का संकल्प होता है। चीज़ें बनेंगी तो परमेश्वर के संकल्प से ही, परन्तु जैसा तुम्हारा कर्म होगा उसके अनुसार ही चीज़ों का निर्माण होगा। इसलिए कहा कि ईश्वर का मायावृत्तिरूप संकल्प चीज़ों के पैदा होने में साधन या कारण है।

जैसे परमेश्वर का संकल्प मायावृत्ति है, वैसे ही जीव का संकल्प मन की वृत्ति है, जो भोग का साधन है। जब तक जीव संकल्प करके मन की वृत्ति नहीं बनायेगा तब तक उसमें भोग्यता नहीं आयेगी। जीव के संकल्प में उसके संस्कार कारण पड़ते हैं और मनुष्य को सुधारना या बिगाड़ना सम्भव करते हैं। जैसे संस्कार हमारे ऊपर डाले जायेंगे, उनके अनुसार ही हमारे भोगविषयक प्रयास बनते हैं। चाहे माता-पिता हों, चाहे समाज के नेता हों सभी को इन बातों का विचार करना चाहिये कि बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ कर किस स्तर पर क्या संस्कार उपलब्ध कराये जायें। वर्तमान पद्धति विचारहीनता, अविवेक को ही प्रश्रय देने की है। असमर्थ एवं गैरज़िम्मेवार व्यक्तियों-समूहों को सभी माध्यमों से प्रचार की स्वच्छन्दता सुरक्षित रखने से मूल्यहीनता, अनैतिकता, उद्वेगनिष्ठता, असन्तोष एवं अशान्ति की ही वृद्धि सर्वत्र प्रत्यक्ष हैं। धन एवं सुविधाओं की अस्थायी उपलब्धि को महिमामण्डित कर देने से कोई उत्कर्ष सम्भव नहीं तथा क्लेशों का अभिवर्धन अपकर्ष का ही निश्चित लक्षण है।

जीव का संकल्प संस्कारों से बनेगा इसलिए उसके अच्छे-बुरे संस्कारों के द्वारा किये संकल्प में भेद लाया जा सकता है, परन्तु संस्कार कार्यकारी हों या नहीं इसमें जीव अपने स्वातंत्र्य का उपयोग कर सकता है। अनिष्ट संस्कार उद्बुद्ध होने पर यदि उसके विरोधी संस्कार मौजूद हैं तो उनका उद्बोधन उसे दबा देगा। यदि वे मौजूद ही नहीं हैं या जीव उन्हें प्रश्रय देकर उद्बोधित करे ही नहीं तो अनिष्ट संस्कार कार्यकारी हो ही जायेंगे। शास्त्र इसीलिए जरूरी है कि अयोग्य के विरोधी संस्कार पड़ जायें। लेकिन सविवेक अभ्यास करने पर ही वे प्रबल होंगे, अपने आप नहीं होंगे। इसीलिए पुराने लोग कहा करते थे कि धर्म अपंग होता है, उसके पैर नहीं होते। उसे धक्का देकर चलाना पड़ता है। आजकल लोग इसे भूल जाते हैं और सोचते हैं कि धर्म अपने आप चलता है जबकि इसे चलाओ तभी चलता है, चलाने से चलता है, खुद अपंग है। जीव का संकल्प मनोवृत्तिरूप है और मनोवृत्ति बनने में कारण संस्कार पड़ते हैं। जीव का संकल्प ईशसृष्ट पदार्थों को भोग्य बना देता है। इस तरह भोग्य-विषय ईश्वर-जीव दोनों की उपज हैं, दोनों से

सम्बद्ध हैं। दोनों के पास इसके लिए साधन हैं। मन क्योंकि मायाकार्य है इसलिए मूलतः ईश्वर का प्रशासन कायम रहता ही है भले ही चित् का ही आभास होने से जीव में निहित स्वातन्त्र्य व्यक्त हो यह भी व्यवस्था स्थिर है।।१६।।

परमेश्वर का मायावृत्तिरूप संकल्प सृष्टि को उत्पन्न करता है और जीव के मनोवृत्तिरूप संकल्प के द्वारा सृष्ट चीज़ों को भोग का साधन बनाया जाता है। अगर वृत्ति हुई कि 'यह हमारे अनुकूल है' तो सुख का भोग होगा और 'हमारे प्रतिकूल है' यह वृत्ति बनी तो दुःख का भोग होगा। इसी भेद को बताते हैं–

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात् तद्भोगो बहुधेष्यते।।२०।।

परमेश्वर द्वारा निर्मित मणि आदि वस्तु एक प्रकार की रहते भोक्ताओं की बुद्धिवृत्तियों के भेद से मणि आदिका बहुत तरह का भोग हो जाता है।

हीरे को परमेश्वर ने अपने संकल्प से उत्पन्न किया। 'आदि' पद से, जितने भी भोग्य पदार्थ हैं, उनका ग्रहण कर लेना। मणि वस्तु या पदार्थ हुआ, वह तो एक प्रकार का ही है। सत्तर कैरेट का, आठ पहलुओं का है तो सबके लिए उस तरह ही वह स्थित रहता है। परन्तु भोग करने वाले की बुद्धि-वृत्तियाँ अनेक प्रकार की हैं। इसलिए हीरे का भोग अनेक प्रकार का हो जाता है। मणि एक जैसी है, परन्तु उसका भोग्याकर अलग-अलग। ईश्वर की सृष्टि एक जैसी ही होती है जो माया वृत्ति से है। परन्तु भोक्ताओं की बुद्धियाँ अलग-अलग हैं अतः जीव-सृष्टियाँ विभिन्न हो जाती हैं। उसे जीव-सृष्टि इसीलिए मानना पड़ता है कि पदार्थ एक प्रकार का होने पर भी हरेक जीव के लिए भोग्य की आकृति अलग-अलग हो जाती है।।२०।।

भोग्याकार कैसे अलग-अलग होता है यह दिखाते हैं–

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति।।२१।।

एक व्यक्ति मणि पाकर प्रसन्न होता है, दूसरा उसे न पाने से क्रोधित होता है जबकि मणि के प्रति वैराग्यवान् उसे देखता-भर है, न प्रसन्न व न क्रोधित होता है।

अंतःकरण के अन्दर कभी सात्त्विक वृत्ति होती है, कभी राजस वृत्ति होती है और कभी तामस वृत्ति होती है। एक व्यक्ति को मणि मिल गई तो वह प्रसन्न होता है कि मुझे मणि मिल गई। राजस्थान में राँका और बाँका पति-पत्नी हुए हैं। दोनों ही साधक थे। राँका ने रास्ते चलते देखा कि एक जगह सोने का टुकड़ा पड़ा है। उसने सोचा 'मेरी पत्नी पीछे आ रही है, वह सोना देखेगी तो उसका मन डाँवाडोल हो जायेगा'। इसलिए उसने झटपट बालू के ढेर से ढक दिया। ढक ही रहा था तब तक बाँका ने देख लिया और पूछा 'यह क्या कर रहे हो?' राँका ने कहा–'मैंने सोचा कहीं सोना देखकर तुम डाँवाडोल न हो जाओ इसलिए इसे ढाँक रहा हूँ।'

बाँका ने कहा—'तुमने अब तक खाक साधना की! अभी तुम्हें सोने और मिट्टी में फ़र्क लग रहा है? अर्थात् मिट्टी उपादेय नहीं है, सोना उपादेय है, तभी तो ढक रहे हो। इसलिए तुम्हारी साधना व्यर्थ है।' ऐसा विवेकी मणिलाभ से कैसे हर्षित होगा? जो मणि पाना चाहे वह मणि मिलने पर प्रसन्न होता है। दूसरा, जिसे मणि चाहिए लेकिन मिल नहीं रही है वह क्रोध करता है। मणि खरीदने जाता है। मणि दो लाख की है। उसके पास एक लाख नब्बे हजार हैं। दुकानदार दो से कम में बेचता नहीं तो ग्राहक को गुस्सा आता है, व्यापारी पर अनर्गल आरोप मढ़ता रहता है। उसे क्रोध आता है क्योंकि उसे मणि प्राप्त नहीं हुई। वहीं एक विरक्त खड़ा हुआ भी उस मणि को देखता तो है ही। उसे भी दीखती मणि ही है लेकिन न उसे हर्ष होता है और न उसे क्रोध आता है क्योंकि जैसे बहुत-सी चीज़ें पड़ी हैं, ऐसे ही मणि पड़ी है। इस तरह वही मणि एक को हर्ष दे रही है, दूसरे को दुःख दे रही है, क्रोध पैदा कर रही है और तीसरे को न दुःख दे रही है, न सुख दे रही है। मणि एकरूप है परन्तु ये जो तीनों भेद हैं, ये अपने-अपने मन की वृत्तियों के कारण हैं। जो एकरूप मणि है वह ईश्वर की सृष्टि है और जो अनेकरूप भोग्य हैं वे जीव की सृष्टि है। बंधन का कारण यह जीव-सृष्टि है। मणि पड़ी रहो, अगर तुम्हारी उसमें लाभ-अलाभ की दृष्टि नहीं तो वह तुम्हें सुख-दुःख नहीं दे सकती।।२१।।

मणि के स्वरूप से अतिरिक्त जीव द्वारा उत्पादित विभिन्न आकारों को स्पष्ट करते हैं—

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु।।२२।।

प्रिय, अप्रिय और उपेक्षायोग्य—मणि में होने वाले ये तीन आकार जीवों द्वारा उत्पादित हैं। तीनों में एक समान रहने वाला मणिस्वरूप ईश्वर द्वारा उत्पादित है।

कई बार लोगों को शंका होती है कि भोग अलग-अलग होने पर भोग्य का भेद होता है अर्थात् ईशसृष्ट पदार्थ ही सुखद या दुःखद होते हैं। परन्तु अनुभव में आता है कि एक ही भोग अर्थात् विषय अनेक भोग्याकार ग्रहण करता है। कई बार लोग नीलम खरीदते हैं, तीन दिन पहनते हैं; प्रतिदिन कोई दुर्घटना हो जाती है, कभी फिसल जाते हैं, कभी मोटर से टकरा जाते हैं, कभी उनकी जेब कट जाती है। तीन दिन बाद नीलम जौहरी को वापिस कर देते हैं कि यह अनुकूल नहीं पड़ा। उसके लिए यह नीलम अप्रिय हुआ। जौहरी उसे दूसरी मणि देता है, उसे पहनता हैं तो दुर्घटना नहीं होती बल्कि कुछ अच्छी घटना हो जाती है। कुछ दिनों में उसे पता लग जाता है कि यह मणि उसके अनुकूल हो गई। पहले वाली मणि उसे अप्रिय हो गई थी, यह प्रिय हो गई। उसी नीलम को जौहरी और किसी को देता है, वह हफ्ते-भर बाद आकर कहता है, 'नीलम मुझे अनुकूल पड़ा।' इसलिए उसे नीलम प्रिय हो गया। एक ही नीलम किसी को अप्रिय हुआ और दूसरे को प्रिय हो गया। तीसरा व्यक्ति उस मणि की उपेक्षा करता है कि 'मणि से क्या होना है! हमारे सुख-भोग का प्रारब्ध होगा तो मिल जायेगा, दुःखभोग का प्रारब्ध है तो दुःख मिल जायेगा, पत्थर पहनने से क्या होना है?' उसे नीलम न प्रिय है, न अप्रिय है। इस

प्रकार मणि में होने वाले प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य ये तीन आकार जीव के द्वारा सृष्ट हैं, तीनों हर जीव के अलग-अलग हैं। ईश्वर-सृष्ट पदार्थ दीखता तो एक जैसा ही है। 'यह मणि तीन रत्ती की है, अमुक रंग की है,' यह तो एक जैसा ही तीनों को दीखता है। जो एक जैसा पदार्थ दीखा वह ईश्वर-सृष्ट है। प्रिय, अप्रिय, उपेक्ष्य बुद्धियाँ तुम बना सकते हो। इन्हीं में प्रतिजीव भेद है एवं इन आकारों के परिवर्तन में जीव समर्थ भी है।।२२।।

जीव-सृष्टि में अन्य उदाहरण देते हैं–

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा।
प्रतियोगिधिया योषिद् भिद्यते न स्वरूपतः।।२३।।

पत्नी, पुत्रवधू, ननद, देवरानी, माता आदि अनेक तरह से सम्बन्धिभेदवश स्त्री में भेद होते हैं, स्वरूप से भेद नहीं, एकरस रहती है।

एक ही स्त्री ४५ किलोग्राम वज़न की है, पाँच फुट छह इंच लम्बी है। इस विषय में जितने लोग हैं सब एकमत हैं। परन्तु एक से पूछते हैं 'यह कौन है?' वह कहता है 'यह मेरी पत्नी है।' दूसरे से पूछते हैं तो वह कहता है 'यह मेरी माता है।' पत्नी और माता बिलकुल विरुद्ध पदार्थ हैं, परन्तु प्रतियोगी के भेद से संगत हैं : भार्या का प्रतियोगी भर्त्ता है इसलिए पति के लिए वह पत्नी है जबकि पुत्र के लिए माता ही है। ससुर के लिए वह स्नुषा है। स्नुषा को ही पंजाबी भाषा में नूँ कहते हैं। ससुर कहता है यह मेरी पुत्रवधू है। कोई कहती है 'यह मेरी ननद है।' इसी प्रकार चौथी, उसे देवरानी कहती है। एक ही स्त्री को भार्या, माता, स्नुषा, ननद, देवरानी आदि अलग-अलग प्रकार से अलग-अलग व्यक्ति कहते हैं। प्रतियोगी अर्थात् सम्बन्धी की दृष्टि से वे सभी अलग-अलग हैं। इस तरह जीव-सृष्ट आकारों से वह स्त्री अनेक आकार की भी हो गई। वह केवल प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य ही नहीं, अन्य भी अनेक प्रकार की बनती रहती है। अलग-अलग प्रतियोगी होंगे तो जीवसृष्टि बदलती है, परन्तु योषित् (स्त्री) स्वरूप से एक ही है। परमेश्वर की सृष्टि एक जैसी होती है। उसके अन्दर जो अलग-अलग प्रकार की बुद्धि है यह हरेक जीव अपनी-अपनी बनाता है।।२३।।

जीव-सृष्टि उपपन्न करने के लिए प्रश्नोत्तर व्यक्त करते हैं–

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः।।२४।।

प्रश्न होता है कि पत्नी-पुत्रवधू आदि ज्ञान भले ही विभिन्न हैं, स्त्री के आकार में तो कोई अन्तर आता नहीं! जीव द्वारा रचित कोई विशेषता स्त्री-शरीर में नहीं देखी जाती है।

प्रश्न का भाव है कि जैसे स्त्री-नामक द्रव्यात्मक रचना ईश्वर की है वैसे जीव ने उत्पन्न क्या किया? रिश्ते या प्रियता आदि केवल ज्ञान, अनुभूतियाँ, भावनाएँ अर्थात् द्रष्टा की मनोवृत्तियाँ ही हैं अतः जीवों ने अपने मनों की विभिन्न वृत्तियाँ बनायीं–यहाँ तक समझ आता है लेकिन

भार्या, स्नुषा आदि कोई चीज़ तो जीव ने बनायी ऐसा नहीं लगता। जीव ने स्त्री के शरीर में कुछ और बनाया तो नहीं कि ननद या देवरानी नामक विशेषता उत्पन्न हो गई हो! कोई परिवर्तन बाहर स्त्री-शरीर में आये तभी 'उसको बनाया' कह सकते हैं। जीव ने तो केवल जाना इसलिए जीव ने सृष्टि की यह कैसे? अपने मन में सोचता रहता है, और कोई सृष्टि करता नहीं है; ईश्वर-सृष्टि के बारे में अनेक प्रकार से ज्ञान करता अर्थात् जानता है, उत्पन्न कुछ नहीं करता, यह प्रश्न है।।२४।।

उक्त शंका का समाधान करते हैं—

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी।।२५।।

जीव कुछ उत्पन्न नहीं करता—ऐसा नहीं है। मांसात्मक स्त्री कोई और है जबकि मनोविकाररूप जीवोत्पादित भार्यादि अलग हैं। मांसरूप स्त्री अभिन्न रहने पर भी मनोजनित भार्यादि परस्पर विभिन्न ही हैं।

जीव ने कुछ नहीं बनाया हो, ऐसा नहीं है। मांस की बनी हुई स्त्री कुछ और है तथा मनोमयी स्त्री कुछ और ही है। 'काचिदन्या' पद दोनों तरफ लग जायेगा। मांस की बनी हुई औरत अलग है, मनोमयी अलग है। मांसमयी स्त्री तो एक जैसी है, उसमें कोई भेद नहीं है, लेकिन मनोमयी भार्या आदि में भेद है। मन के द्वारा जो भार्यादि बनी हैं वे अलग-अलग हैं। सामान्यतः नियम है कि ज्ञेय में भेद हो तभी ज्ञानों में अंतर आयेगा। सर्वथा वही, वैसा ही ज्ञेय हो तो चाहे जब चाहे जितनी बार देखे, ज्ञान एकरूप ही होगा। ज्ञान में अंतर आने से ही ज्ञेय में भेद स्वीकारते हैं। कच्चे आम की सुगंध अलग है, वैसा आम रखकर रोज़ सूँघते हैं, जब सुगंध में अंतर मिलता है तब 'आम पक गया' यों आम में भी अन्तर समझा जाता है। इसी तर्क से, क्योंकि भार्या, स्नुषा आदि ज्ञानों में भेद है इसलिए मानना उचित है कि इनके ज्ञेयों में भी अंतर है। वह अंतर ही जीव द्वारा सृष्ट है, यह भाव है।।२५।।

जीवसृष्टि उपपन्न करने के लिए और विचार प्रवृत्त करते हैं—

भ्रान्ति-स्वप्न-मनोराज्य-स्मृतिष्वस्तु मनोमयम्।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत्।।२६।।

भ्रम, सपना, मनोराज्य, स्मरण आदि में मनोविकाररूप विषय भले ही हों, जाग्रत् मे जब प्रमाण से विषय किया जा रहा है तब उस प्रमेय का कोई मनोमय रूप भी है—ऐसा न स्वीकारें तो क्या विरोध है?

काँच का टुकड़ा हीरे की तरह लगे तो मान लेंगे कि वह हीरा मन से बना। भ्रम स्थल के अन्दर तो ठीक है कि जिस हीरे को देखा वह हीरा है नहीं, काँच है। अथवा रात को तुमने स्वप्न देखा कि तुम हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में गोता लगा रहे हो। जो ब्रह्मकुण्ड तुमने देखा, वह तुम्हारे

मन की ही सृष्टि है। स्वप्न में जो देखा वह जीव की सृष्टि है, यह भी मान लेंगे। इसी प्रकार जब मनोराज्य बनाते हो तब भी ऐसा ही होता है।

हमारे यहाँ सोमशर्मा की कथा आती है जो भीख मांगकर गुजारा करता था। एक दिन उसे भीख ज़्यादा मिल गई। उसमें से कुछ सत्तू खा-पीकर उसका पेट भर गया। बाकी सत्तू बच गया तो उसने एक पोटली में बाँध कर टाँग दिया और वहीं किसी के बरामदे में लेट गया, पड़े-पड़े सोचने लगा कि 'आज खूब सत्तू मिल गया। वह एक-दो आने में बिक जायेगा तो दो आने का चना खरीद लूँगा। कल उसे बेचूँगा तो दो आने के तीन आने मिल जायेंगे। फिर तीन आने का चना खरीदूँगा तो पाँच आने मिल जायेंगे।' इस प्रकार सोचते-सोचते उसने सोचा कि 'धीरे-धीरे मैं इतना धनी हो जाऊँगा कि एक ठेला लगा लूँगा। जब रोज़ी में बहुत पैसे हो जायेंगे तो एक दुकान ले लूँगा, दुकानदार बन जाऊँगा। तब कोई अपनी लड़की मुझसे ब्याह देगा तो ब्याह कर लूँगा, फिर बच्चे हो जायेंगे। जब मैं दुकान में काम कर रहा होऊँगा और बच्चे आकर हल्ला मचायेंगे, उनसे कहूँगा 'यहाँ से जाओ' तो वे मेरी बात नहीं सुनेंगे। मैं उन्हें एक लात मारूँगा...।' बस इसी विचार में उसकी लात जो ऊपर लगी तो टँगा हुआ सत्तू वहीं पास की नाली में जाकर बिखर गया! वह बुरी तरह से रोने लगा। उसे रोते देखकर दूसरे भिखारियों ने पूछा—'रो क्यों रहा है? आज तो अच्छी तरह से सत्तू खा रखा है।' उसने कहा—'क्या करूँ? बचा हुआ सत्तू नाली में गिर गया!' दूसरे भिखारियों ने कहा—'गिर गया तो गिरने दे। आज खूब पेट भरकर खा ही रखा है। कल और कुछ मिल जायेगा।' उसने कहा—'तुमको लगता है कि सत्तू गिर गया लेकिन मेरी तो बनी हुई दुकान, व्यापार, बाल-बच्चे सब चले गये!'

इसी प्रकार मनुष्य मनोराज्य के अन्दर कल्पना करते-करते कहाँ तक फँस जाता है, कोई ठिकाना नहीं। ऐसे स्थल में मान लेंगे कि जीव के द्वारा रचा गया है। इसी प्रकार स्मृति आती है तो अमरीका गया हुआ पुत्र भी बिलकुल एकदम सामने खड़ा हुआ दीखता है, जबकि मांसमय पुत्र तो उस समय अमरीका में ही है। उस याद आते पुत्र को मनोमय या जीव-सृष्ट मानना संभव है। भ्रम, स्वप्न, मनोराज्य तथा स्मरण में मनोमय या जीवसृष्टि मान लेंगे, लेकिन जाग्रत् अवस्था ही उसे कहते हैं जहाँ आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों के द्वारा, प्रमाण के द्वारा, किसी विषय को जानते हैं। इन्द्रियों से अर्थोपलब्धि की दशा को जाग्रत् अवस्था कहते हैं।

प्रायः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थायें बताई गई हैं। स्वप्न अर्थात् नींद आ गई लेकिन मन काम कर रहा है। सुषुप्ति वह है जहाँ सोये हैं, मन भी काम नहीं कर रहा है। इसे गहरी नींद कहते हैं। परन्तु महर्षि वसिष्ठ ने विचार करते हुए कहा कि जाग्रत् में भी स्वप्न होता है! जिस समय तुम जगे हुए हो तब भी तुम ऐसी चीज़ों को देखते हो जो आँख आदि से नहीं दीखती। इसी तरह कई बार तुम थके हुए हो तो जगे हुए भी तुम्हें कुछ भान नहीं रहता; थके हुए शरीर के दर्द का भी भान नहीं रहता; उसे जाग्रत्-सुषुप्ति कहते हैं। जिस समय तुम भ्रान्ति, स्मृति और मनोराज्य आदि बना रहे हो उस समय 'जाग्रत्-स्वप्न' अवस्था में हो, शुद्ध जाग्रत् अवस्था में हो ही नहीं। लोक में भी जब कोई आदमी ऐसी बात कहता है जिसका इस जीवन

से कोई संबंध नहीं लगता तब कहते हैं 'स्वप्न छोड़ो, दुनिया की बात करो, तुम्हारी कल्पना से कुछ नहीं हो जायेगा।'

अधिकतर लोग कल्पना की शक्ति को नहीं समझते। पाकिस्तान बना था तो फ्रन्टियर से एक आदमी दिल्ली आया, उसके घर के सारे लोग मारे गये थे। बिलकुल निढाल पड़ा रहता था, थोड़े दिन तो कुछ नहीं करने से चला, आखिर कब तक ऐसे रहता! कुछ दिनों बाद एक आर्किटेक्ट के पास गया और उससे कहने लगा 'इतने कमरों के घर का ठीक-ठीक नक्शा बना दो।' नक्शा बना दिया तो वह उसे पैसे देकर नक्शा ले आया। उसके सब साथी कहने लगे 'तुम्हारा दिमाग़ खराब हो गया है! अपने पास खाने तक को तो कुछ है नहीं और नक्शे में रुपया बर्बाद कर दिया।' उसने उन्हें समझाया 'ऐसी बात नहीं है कि मैंने पैसा बर्बाद किया वरन् यह ऐसी कल्पना संजोयी है जो मुझे सहारा देगी कि मुझे ऐसा मकान बनाना है।' कुछ लक्ष्य सामने होगा तब उसके लिए कार्य करोगे। उस नक्शे को देख-देखकर ही उसे उत्साह आता रहा और सचमुच काम करके उसने इतना पैसा कमा लिया कि मकान बना लिया, घर भी बस गया! वह हमेशा कहा करता था 'केवल यही मेरा एकमात्र आधार था।' मनुष्य जो कल्पना करता है उसके अनुसार काम करेगा। विशेष करके जब किसी महत् कार्य को करने जाते हो तब तुम्हारे उद्देश्य के अनुसार तो लगता है कि यह कभी पूरा हो ही नहीं सकता लेकिन यदि धैर्यपूर्वक लगातार सोत्साह सचेष्ट रहना है तो 'होगा ही' ऐसी कल्पना आवश्यक है।

मोटी बात ले लो : यदि आज कोई कहे कि 'भारत में संस्कृत भाषा सामान्य हो जायेगी' तो सुनने वाले सब कहेंगे कि 'इसका दिमाग़ खराब हो गया है। हिन्दी तो सर्वत्र सामान्य हो नहीं पा रही है और यह संस्कृत भाषा के सामान्य होने की बात कर रहा है!' परन्तु जिसके सामने यह आदर्श होगा वह उस कार्य में लग जायेगा। उसको अपने जीवन में सफलता मिले या न मिले, परन्तु उस कार्य को पूरा करने में वह अपने जीवन को होम देगा। ऐसे कई होमनेवाले मिल जायेंगे और एक दिन देखोगे कि वह भाषा सामान्य हो भी जायेगी। यह केवल कल्पना नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम इज़रायल में देखते हैं। दो हज़ार साल में हिब्रू भाषा कहीं नहीं बोली जाती थी, केवल यहूदी मन्दिरों आदि में पाठ के काम आती थी। जीवन में कोई उसका प्रयोग नहीं करता था। जितनी भयंकर स्थितियों से यहूदी लोग निकले, आज हमारी परिस्थिति तो उतनी भीषण हुई भी नहीं है। उनका कोई देश नहीं रह गया था। सारे विश्व में फैल गये थे। जहाँ जो काम मिले उसे करने को तैयार और एकमात्र धन को ही सबसे ज़्यादा महत्त्व का समझते थे। दुनिया-भर में ये लोग बदनाम थे कि बड़े लोभी होते हैं, दूसरे को लूटने वाले होते हैं। परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में, आर्थिक आदि क्षेत्रों में वे आगे थे, जिस देश में रहते थे उसी के लिए काम करते थे। योरोप में लाखों यहूदियों को जला दिया गया। नतीजा हुआ कि आज इज़रायल देश बन गया। वहाँ हिब्रू भाषा आ गई। विज्ञान में सारी प्रगति उनकी उसी भाषा में उपलब्ध है। जब सारे देशों से उस पुनर्गठित देश में आये तब उन्हें एक ही भाषा चाहिए थी और वह हिब्रू ही हो सकती थी। वह उनकी धर्म-भाषा थी। इज़रायल तो छोटा-सा

ही मिला था। बाइबल में जो वर्णन आया है कि ईश्वर ने यह देश हिब्रू वालों के लिए बनाया, उससे भी ज़्यादा भाग इन लोगों ने जीत लिया। यदि इज़रायल में हिब्रू भाषा आ सकती है तो हमारे देश में संस्कृत भाषा नहीं आ सकती, यह हो नहीं सकता। कल्पना में कितनी शक्ति होती है यह बात एक व्यक्ति और एक समाज में देखने को मिल जाती है।

जीवसृष्टि की इस महिमा से अनभिज्ञ ही यह प्रश्न उठा रहा है कि मनोमय भ्रमादि-स्थलों के लिए कार्यकारी भले ही हो, जाग्रत् में इसे व्यावहारिक उपयोग का कैसे समझें? ।।२६।।

उक्त प्रश्न का उत्तर पूर्वाचार्यों के निर्णय के अनुसार देते हैं—

बाढं माने तु मेयेन योगात् स्याद् विषयाकृतिः।
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः।।२७।।

(प्रमा स्थल में बाहरी विषय भी होता है) यह बात ठीक है लेकिन प्रमेय से संबंध के कारण मन भी विषय के आकार वाला बनता है। यह तथ्य भाष्यकार एवं वार्तिककार ने उजागर किया है।

प्रमा में प्रतीत होती विषय की आकृति क्या चीज़ है—यह समझने की बात है। रंग क्या चीज़ है? सब लोगों को लगता है कि यह जो सामने दीख रहा वह हरा या पीला रंग है। परन्तु किसी वैज्ञानिक से पूछो कि यह पीला रंग क्या है? वह कहेगा कि चीज़ पीली नहीं होती! उस पर जो (सूर्य की) किरणें पड़ती हैं, उनके बाकी सब रंगों को जो पी जाती है, पीले रंग को नहीं पीती, वह पीली दीखती है। इस तर्क से जो चीज़ काली *होती* है वह सफेद दीखती है, जो सफेद *होती* है वह काली दीखती है! वैज्ञानिक कहेगा कि चीज़ का जो रंग दीखता है वह चीज़ में होता नहीं है। फिर भी पीली दीखती चीज़ का व्यवहार पीले रूप में ही सर्वत्र होता है। जैसे यह बात वैज्ञानिक दृष्टि से है, वैसे ही वेदांत कहता है कि प्रमाण के द्वारा प्रमेय का सम्बन्ध होने पर जो विषय की आकृति बनती है, जब तक प्रमाण के साथ प्रमेय का सम्बन्ध नहीं होता तब तक *वह* विषयाकृति नहीं है। ऐसे समझ लो : इस कमरे में रोशनी के लिए लाल लट्टू लगा हो तो तुम्हें यहाँ चीज़ों का रंग कुछ अलग लगेगा, ललाई वाला दीखेगा। यदि बैंगनी रंग का लट्टू लगा हो तो उसी जैसी चीज़ें दीखेंगी। सफेद रंग के सूर्य के प्रकाश में दीखने वाली चीज़ के रंग को ही हम सच्चा मानेंगे—यह केवल व्यवहार सिद्ध करने वाली व्यवस्था है। प्रत्येक चीज़ का रंग उसके ऊपर पड़ने वाले प्रकाश के अनुसार प्रतीत होता है।

ठीक इसी प्रकार, हमारे मन की वृत्ति जब जाकर पदार्थ पर पड़ेगी, तब उस वृत्ति के आकारानुरूप हमें पदार्थ की प्रमा होगी। पदार्थ नहीं है—यह हम नहीं कह रहे हैं, लेकिन वह पदार्थ कैसा है, विषयाकृति कैसी है—यह जैसा वृत्ति का आकार है, उस पर निर्भर करेगा। विषय एक जैसा रहेगा, परन्तु वह वृत्तियों के, मनोमयता के, जीवसृष्टि के भेद से अनुकूल या प्रतिकूल *बन* जायेगा। किस के द्वारा बन जायेगा? तुम्हारे मन की वृत्ति के द्वारा ही बनेगा। इसलिए मनोमय को केवल कल्पनामात्र नहीं कह सकते। प्रमाण के साथ प्रमेय का सम्बन्ध होने पर मन

विषयाकार बनता है। जैसे रोशनी पड़ा हुआ रंग ही दीखता है, वैसे अंतःकरण जो आकार लेता है वही विषय का आकार दीखता है। मन के आकार लिए बिना, विषय क्या है—इसका कुछ पता नहीं चल सकता। यह सिद्धांत कपोलकल्पित नहीं है क्योंकि भगवान् भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में और सुरेश्वराचार्यों ने वार्तिक में इस अर्थ को स्पष्ट करके बताया है।।२७।।

प्रमाण की प्रवृत्ति जब मेय के प्रति होती है तब प्रमाण के अन्दर विषय की आकृति तो मेय से सम्बन्ध होने के बाद बनती है। वस्तु बाहर है लेकिन वह विषय तब बनेगी जब प्रमाण के साथ उसका सम्बन्ध हो। इसलिए, विषयाकृति बनने के लिए जरूरी है कि मन की वृत्ति बने। ईश्वर-सृष्टि वस्तु की तो है, परन्तु विषय की आकृति की सृष्टि ईश्वरकृत नहीं वरन् जीवकृत है। यह बात भाष्यकार ने भी कही है। उपदेशसाहस्री (१४.३) से आचार्य शंकर का प्रमाण देते हैं—

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्।।२८।।

साँचे में ढाला ताम्बा जैसे साँचे जैसा हो जाता है वैसे रूप आदि को व्याप्त करता चित्त अवश्य ही रूपादि की तरह उपलब्ध होता है।

मूर्ति बनानी हो तो लकड़ी का साँचा बना देते हैं। साँचे में जो शक्ल बना दी, उसी में पिघला तांबा डाला। वह तांबा उसमें रहकर ठण्डा हो जाता है तब वह उसी आकार का हो जाता है जिस आकार का साँचा है। साँचे में पिघला तांबा डालने से तांबा साँचे के आकार वाला हो जाता है, उसी प्रकार कोई वस्तु—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श—सामने है, उस पर तुम्हारा मन या चित्त जाकर, जिस शक्ल का वह पदार्थ है उसी शक्ल का बन जाता है अर्थात् वैसा ही बन जाता है। हमें जो प्रतीति होती है कि विषय दीखा, वास्तव में वह विषयका आकार लिया मन ही दीखता है। मन ने जो आकार ग्रहण किया उससे अतिरिक्त विषय क्या-कैसा—यह जानने का कोई उपाय जीव के पास नहीं है।।२८।।

तांबा पिघलने-जमने वाली वस्तु है परन्तु चित्त ऐसी कोई गर्मी से पिघलने वाली चीज़ नहीं है, वह विषय के आकार का कैसे हो जायेगा? इसका समाधान तो यह है कि दृष्टांत इतने ही अंश में है कि जैसे साँचा और मूर्ति विभिन्न वैसे साँचा-स्थानीय ईश्वर-सृष्टि और मूर्तिस्थानीय जीवसृष्टि भी विभिन्न हैं; मूर्तिकार भले ही साँचे को प्रधानता दे, अन्य लोगों के लिए मूर्ति ही उपलब्ध है, ऐसे ही हमारा व्यवहार जीवसृष्टि-प्रधान है, भले ही ईश्वरसृष्टि पर निर्भर है। किंतु स्पष्ट करने के लिए आचार्य (उप.सा.१४.४) स्वयं दूसरा दृष्टांत ले लेते हैं जहाँ पिघलने की जरूरत नहीं होती है—

व्यंजको वा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते।।२९।।

अथवा जैसे (रूप को) व्यक्त करने वाला प्रकाश व्यंग्य के आकार का हो जाता है वैसे सब अर्थों को व्यक्त करने वाली होने से बुद्धि अर्थों के आकार की दीखती है।

प्रकाश सामने पड़ी हुई चीज़ को प्रकट कर देता है। कमरे में घड़ा रखा है लेकिन उस पर रोशनी न पड़े तो वह व्यक्त नहीं होता, नहीं दीखता है। टॉर्च से उस पर रोशनी डाल देते हो तो वह घड़ा व्यक्त हो जाता है, दीख जाता है। प्रकाश घड़े को बिना बदले हुए, जैसा घड़ा है वैसा व्यक्त कर देता है। वैसे ही चेतनरूप प्रकाश से युक्त हुआ मन विषय पर पड़ता है तो विषय व्यक्त हो जाता है। जैसे प्रकाश व्यक्त करने वाला है वैसे ही मन में पड़ा हुआ जो चित् का प्रतिबिम्ब है वह भी व्यक्त करने वाला है। प्रकट करने वाला प्रकाश, जिसको प्रकट करता है उसी के आकार का हो जाता है, उसी प्रकार सारे पदार्थों को व्यक्त करने वाली जो बुद्धि या ज्ञान है अर्थात् बुद्धि में पड़ा हुआ जो चैतन्य है, वह सारे पदार्थों के आकार का मिलता है। चेतन के प्रकाश से युक्त मन जिस पदार्थ को प्रकट करता है उस पदार्थ के आकार का हो जाता है। चाहे यह सोचो कि बाहर का पदार्थ साँचा है, उसमें पिघला हुआ चित्त जाता है तो उसी आकार का हो जाता है और चाहे यह सोचो कि व्यक्त करने वाला जो प्रकाश (ज्ञान) है, वह जिस वस्तु पर पड़ता है, उस पदार्थ के आकार के जैसा ज्ञान का आकार हो जाता है—तात्पर्य एक ही है। ये दोनों श्लोक आचार्य शंकर के हैं जिनमें उन्होंने साफ कहा है कि मन जब तक विषय के आकार का नहीं होता तब तक विषय का ज्ञान नहीं होता। अर्थात् ईश्वरसृष्ट वस्तु जीवका 'विषय' नहीं बनती। विषय बनने के लिए मन की वृत्ति तदाकार होनी चाहिए। अतः इसे मानस सृष्टि ही कह रहे हैं। जैसे प्रकाश पड़कर जब उस पदार्थ के आकार का हो जाता है तब चीज़ दीखती है, इसी प्रकार मन उस आकार का हुआ तभी तुम्हें वह चीज़ दीखती है। दोनों दृष्टांतों में बात यही है कि चीज़ों का ज्ञान तभी होता है जब चीज़ों के आकार की तुम्हारी बुद्धि बन जाती है।।२६।।

इसी विषय में भगवान् सुरेश्वराचार्य (बृ.वा.१.२.१०३) के वाक्य का प्रमाण देते हैं—

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते।।३०।।

प्रमाता से प्रमाण (मनोवृत्ति) की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न हुआ प्रमाण प्रमेय से सम्बद्ध होता है एवं सम्बद्ध होकर प्रमेय के समान आकार वाला बन जाता है।

जानने वाला अर्थात् प्रमाता है। प्रमाता या जीव का स्वरूप इस अध्याय के शुरू में बता दिया था—एक अधिष्ठान चैतन्य, उस अधिष्ठान चैतन्य के अन्दर बुद्धि या अंतःकरण और उस अंतःकरण के अन्दर चिदाभास—इन तीनों का संघ जीव या जानने वाला है। अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् ब्रह्म है, उस ब्रह्म के अन्दर माया के द्वारा बुद्धि बनी। बुद्धि के अन्दर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ा। इनका मिलाजुला जो रूप वह प्रमाता है। वह जिस साधन से जानता है उसे प्रमाण कहते हैं। शब्द को जानने के लिए मन कान के साथ युक्त होकर प्रमाण-भाव प्राप्त

करता है, आँख के साथ युक्त होकर रूप के प्रति प्रमाणभाव प्राप्त करता है। चेतन के प्रतिबिम्ब के साथ जो अंतःकरण आँख, कान आदि के साथ मिलकर विषयका अज्ञान मिटाने योग्य व्यापार करता है वह प्रमाण है। आँख के द्वारा अंतःकरण की वृत्ति (बाहर) जाकर रूप के आकार की हो गई, वही रूप में प्रमाण है। ठीक जिस प्रकार से प्रकाश पड़ने पर ही चीज़ व्यक्त होती है उसी प्रकार से अंतःकरण की वृत्ति के पड़ने पर ही चीज़ प्रतीत होती है या व्यक्त होती है। इसलिए साभास अंतःकरण की जो वृत्ति है वही प्रमाण है। प्रमाता के प्रमाण की अभिनिष्पत्ति अर्थात् वृत्ति का उत्पन्न होना। वह अभिनिष्पत्ति हो कर वही 'मेयम् एति' मेय अर्थात् घट आदि को प्राप्त करती है। प्रमाता की प्रमाणाकार वृत्ति जब जाकर घट के आकार की हो गई तब घट मेय हो जाता है, उसके पहले घट 'मेय' नहीं है। घट तो है, परन्तु मेय तब होगा जब प्रमाता की प्रमाणवृत्ति उसे विषय करे। जो अंतःकरण की वृत्ति प्रमाण है वह मेय या प्रमेय घट के साथ सम्बद्ध हो या एकाकार होकर घट के जैसी बनती है तभी वह प्रमेय कहलाता है। इस तरह भाष्यकार एवं वार्तिककार दोनों आचार्यों के अनुसार जीवसृष्टि का उपपादन हो जाता है।।३०।।

हमको घड़ा कैसे दीखता है—यह स्पष्ट होना ज़रूरी है। एक बहुत बड़ी समस्या दर्शनों में भी है कि दीवार तो बाहर है और मैं इस शरीर में हूँ। फिर दीवार का और मेरा सम्बन्ध कैसे हो गया कि मुझे वह दीवार दीख गई? इसलिए दीखी कि मन के साथ आँख वहाँ जाती है, मन उस दीवार के आकार का हो जाता है। इसी का नाम 'दीवार का दीख जाना' है। आँख के द्वारा जाकर दीवार के आकार को मन ने ही लिया। दीवार जैसी पहले है वैसी अब भी है, उसमें कोई फ़र्क़ नहीं आया परन्तु दीखेगी तब जब हमारा मन वहाँ जाकर तदाकार बने। इसलिए वहाँ दो चीज़ें हैं—एक दीवार है जो ईश्वरसृष्ट है, ईश्वर के द्वारा बनाई गई है और दूसरी, दीवार के आकार की मन की वृत्ति है जो हमारी सृष्टि, मानसी सृष्टि है। यह निष्कर्ष दिखाते हैं—

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः।।३१।।

यह स्थिति होने से मृन्मय (मिट्टी का) और धीमय (बुद्धि या मन का) यों विषयभूत घड़े दो हैं। मृन्मय घड़ा प्रमाण से प्रमेय होता है जबकि धीमय घड़ा साक्षी से भास्य है।

दो विषय हैं अथवा दो घड़े हैं—एक मृन्मय अर्थात् मिट्टी से बना हुआ और दूसरा मनोमय। मृन्मय का तात्पर्य है कि घड़े में असली चीज़ तो मिट्टी ही है। व्यवहार के लिए नाम-रूप का विभाजन भले ही है परन्तु चीज़ तो मिट्टी ही है। मिट्टी ही घड़े के आकार की दीख रही है। ईश्वरसृष्ट मिट्टी ने माया से जो नाम-रूप ग्रहण किया वह एक घट है। दूसरी मनोमय सृष्टि अर्थात् मन ने जाकर उस आकार को लिया, मृन्मय घट के जैसा हो गया, वह अंतःकरण की घटाकार वृत्तिरूप सृष्टि है। भगवान् भाष्यकार ने जो दृष्टांत दिया था, वह ज़्यादा स्पष्ट है क्योंकि साँचा व ढली मूर्ति दो मिलते हैं। प्रकाश दृष्टांत सूक्ष्म विचार करने से समझ में आता है। लकड़ी के साँचे में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, परन्तु पिघला तांबा उसके आकार का हो जाता

है, दो चीज़ें स्पष्ट दीख जाती हैं। तांबे वाली मूर्ति की जगह मनोमयी सृष्टि है और लकड़ी के साँचे की तरह ईश्वरसृष्टि है।

ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि के अनुसार मन की सृष्टि होती है। प्रमाता ईश्वरसृष्टि को जानता है। जो मिट्टी का बना हुआ घड़ा है उसको अंतःकरण की वृत्ति आँख से जानती है तब वह जाग्रत् अवस्था कही जाती है। जो मन की वृत्तिरूप घड़ा है वह साक्षिभास्य है अर्थात् साक्षी के द्वारा जाना जाता है। जैसे रंगीन प्रकाश में वस्तु प्रकाश के रंग से रंगी दीखती है वैसे मन की वासनाओं से रंजित ग्रहण जीव को होता है, उससे ईश्वरसृष्ट वस्तु की यथास्थिति में अन्तर नहीं आता जैसे अन्यथा दीखने पर भी वस्तु के रंग में अन्तर नहीं आता। इसलिए जीव को प्रियतादि वाला दीखने पर भी पदार्थ प्रियतादि वाला हो नहीं जाता, चीज़ जैसी है वैसी ही रहती है। यदि मन में, 'गुलाब जामुन मुझे अनुकूल है,' ऐसे संस्कार हैं तो अनुकूलता के आकारवाला अंतःकरण जब गुलाब जामुन पर पड़ता है तब गुलाब जामुन के आकार का तो होगा ही परन्तु साथ में 'अनुकूल' ऐसा रंग चढ़ा गुलाब जामुन होगा, इसलिए तुम्हें लगेगा 'यह *बढ़िया* गुलाब जामुन है।' जिसे डॉक्टर ने कहा है 'तुम्हारी शक्कर बढ़ी हुई है, तुमने कोई मिठाई खाई तो अगले दिन मर जाओगे', उसके अंतःकरण में चढ़ा हुआ है कि गुलाब जामुन जहर है क्योंकि इसके खाने से मर जायेंगे; इसलिए वह देखता है तो उसे भय होता है कि 'कहीं खा लिया तो मेरा क्या होगा!' गुलाब जामुन किसी को बहुत अनुकूल दीख रहा है और दूसरे को वही उसी समय प्रतिकूल लग रहा है। जिसका पेट ठीक हो वह जिस दिन खीर पूड़ी बने, बड़ा प्रसन्न होता है कि 'आज खूब खायेंगे'। जिसका पेट खराब होता है, वह कहता है 'सवेरे शाम दोनों समय पूड़ी क्यों बना दी!' जिसका पेट ठीक है उसको जिसमें अनुकूलता प्रतीत होती है, जो बीमार है उसको उसी में प्रतिकूलता प्रतीत होती है। पूड़ी जैसी है वैसी ही है, अनुकूलता और प्रतिकूलता के रंग के साथ हमारा अंतःकरण उसे प्रकाशित कर रहा है इसलिए वह चीज़ अनुकूल या प्रतिकूल दीख रही है। अनुकूलता-प्रतिकूलता संस्कारों के कारण दीख रही है, साक्षिभास्य है, इसलिए अलग-अलग अंतःकरणों की वृत्तियों के अनुसार अलग-अलग प्रतीत होती है। इस प्रकार प्रमाणगम्य गुलाब-जामुन और अनुकूल व्यंजन—यों भूतमय और धीमय दो विषय स्पष्ट हैं।।३१।।

इन दोनों में से हेय, छोड़ने योग्य कौन-सा है, यह कहते हैं—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम्।।३२।।

धीमय विषय रहते सुख-दुःख होते हैं, धीमय विषय न हो तो सुख-दुःख दोनों नहीं होते—इस अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है कि धीमय विषय जीव के लिए बन्धनकारी है।

जिस एक चीज़ के होने पर जो दूसरी चीज़ ज़रूर हो उनमें अन्वय है और जिस चीज़ के न होने पर जो दूसरी चीज़ निश्चित रूपसे न हो उनका व्यतिरेक है। जो अंतःकरण की वृत्ति

वाला विषय है, अंतःकरण के संस्कारों से युक्त प्रकाश से प्रकाशित है वह जीव का बन्धन करता है और जहाँ-जहाँ वह संस्कार वाला विषय नहीं है वहाँ-वहाँ केवल ईश्वरसृष्ट विषय कोई बन्धन पैदा नहीं करता। यह बात अन्वय-व्यतिरेक से दीखती है।

कई साल पहले हम एक मोटर में जा रहे थे। तब भारत में केवल एम्बेसेडर मोटर ही दीखती थी। उस दिन सामने से और गाड़ियों सहित एक कैडिलाक मोटर निकल रही थी। उस एक गाड़ी को देखते ही हमारे साथ बैठे किसी व्यक्ति ने बड़े जोर से कहा—'आह!' हमने सोचा कोई साँप दीख गया होगा! वह हमसे कहने लगा—'आपने देखा कि सामने से एक बढ़िया कैडिलाक गाड़ी निकल गई?' उसको कैडिलॉक के संस्कार थे कि वह कोई बड़ी अच्छी चीज़ होती है तो उसे वह बड़ा मनोरम दृश्य दीख गया, बाकी सब लोगों के वैसे संस्कार न होने से उन्हें कुछ विशिष्ट नहीं लगा। इसलिए चीज़ अपने आपमें सुख-दुःख नहीं देती यह बात अन्वय-व्यतिरेक से पता लगती है।

जो साक्षिभास्य, मन की वृत्तिरूप विषय है वही जीव का बन्धन करता है। जब तक किसी चीज़ की मनोवृत्ति नहीं बनेगी, वह कोई बन्धन नहीं कर सकती। अमरीका पचासों साल से खूब पैसे वाला देश था लेकिन जिन्हें मालूम नहीं था उन्हें इच्छा नहीं होती थी कि वहाँ जाकर पैसा कमायें। जब लोग यहाँ बैठे हुए रेडियो, टेलिविज़न के द्वारा बार-बार अमरीका को सुनने-देखने लगे तब उनकी वृत्ति बनने लगी कि वहाँ जाकर कितना ज़्यादा धन कमाया जा सकता है! यहाँ बैठे-बैठे ही सुन-सुनकर जब पता लगा अर्थात् धीमय अमरीका सामने आया तभी वहाँ जाने की इच्छा हुई। मृन्मय अमरीका तो पहले से ही था परन्तु तब कोई इच्छा नहीं हुई। बहुत से लोग जो वहाँ पहले-पहल गये थे उनके पास टिकट भी नहीं था! पानी के जहाज जाया करते थे। उनमें किसी कोयला झोंकने वाले की ज़रूरत पड़ी तो पाँच-सात कुली उस काम में लगा दिये। वहाँ पहुँचे तो किसी ने कह दिया 'हमें नौकर की ज़रूरत है, इतने रुपये देंगे।' वे काम करते हुए वहीं रह गये। उन लोगों ने वहाँ खेती-बाड़ी शुरू कर दी और उनके पास खूब धन हो गया। वहाँ से यहाँ अपने गाँव आये तो सबको सुनाया कि 'वहाँ बहुत बढ़िया माल मिलता है'। धीरे-धीरे प्रचार बढ़ता गया तो अब पासपोर्ट, वीज़ा लेने के लिए धक्के खाते रहते हैं। यह सब इसलिए हुआ कि उसके बारे में सुना। अमरीका तो तुम्हें दुःख नहीं दे रहा था, जब तुमने अमरीका को जाना तब दुःख हुआ। यह अन्वय-व्यतिरेक से पता लगता है कि जिस-जिस चीज़ को जानते हो वह तुम्हारा बन्धन करती है और जिन चीज़ों को तुम नहीं जानते वे भले ही पड़ी रहें, तुम्हारा बंधन नहीं करती।

जब बुद्धि की वृत्ति वाला पदार्थ है, जाना हुआ पदार्थ है, तब वह सुख-दुःख दे सकेगा। कई बार ऐसा होता है कि सवेरे जब नहाते हैं तो पैर में जलन होती है, तब देखते हैं कि पैर में तो बहुत बड़ा चीरा लगा हुआ है। कहीं घूमने गये थे, पैर में काँटा लग गया था, हमें पता ही नहीं चला। जब तक नहाये नहीं तब तक कुछ पता नहीं था। काँटा लग तो पहले ही चुका था। लेकिन जब पता लगा तभी दुःख शुरू हुआ कि 'कहाँ से लगा, डाक्टर को दिखायें।' डाक्टर

पूछता है कि कहीं कील तो नहीं लग गई थी? क्योंकि तब एन्टिटेटनस का इन्जैक्शन लगाना पड़ेगा! इत्यादि। एक तो पहले ही काँटे से दुःखी थे, फिर एक कील डाक्टर ने और घुसा दी! यह सब दुःख तब शुरू हुआ जब घाव या चीरे का पता लगा। इसलिए जब मन की वृत्ति वाला पदार्थ बनता है तभी सुख-दुःख होता है और जब तक मन की वृत्तिवाला पदार्थ नहीं बना तब तक न उससे सुख है और न दुःख है।। ३२।।

ईश्वरसृष्ट वस्तुओं में यों अन्वय-व्यतिरेक से बन्धनकारित्व नहीं मिलता यह बताते हैं—

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते।।३३।।

स्वप्नादि में बाहरी पदार्थ न रहते भी मनुष्य बँधता है जबकि समाधि, सुषुप्ति व मूर्छा में बाहरी पदार्थ रहते भी बँधता नहीं।

'स्वप्न आदि' के 'आदि' पद से भ्रम, मनोराज्य आदि सभी स्थल विवक्षित हैं। वहाँ बाह्य विषय कुछ नहीं है। यह तो सभी मानते हैं कि स्वप्न में बाह्य विषय नहीं हैं, एक बेचारे हरिश्चन्द्र को छोड़कर जिसने स्वप्न के दान को सच्चा मान लिया! विश्वामित्र ने आकर सपने की ही घटना का जिक्र किया था। वह कह सकता था कि 'स्वप्न में दिया तो दिया अब क्या देना!' पर उसने यही सोचा कि 'स्वप्न में ही सही, दिया तो मैंने है, कैसे नट जाऊँ?' केवल उसे छोड़कर और तो कोई नहीं कहेगा कि 'स्वप्न में दस करोड़ रुपये देने को कहा था तो जाग्रत् में दे दूँ'। स्वप्न के अन्दर कोई बाह्य विषय नहीं है, ईश्वरसृष्ट कुछ भी नहीं है। स्वप्न में कोई बाह्य चीज़ न होने पर भी सुख-दुःख होता है। वहाँ भी कभी तो बढ़िया गुलाब जामुन खाने को मिलता है और कभी कहीं भिक्षा लेने जाओ तो डण्डे खाने को मिलते हैं। डण्डे खाने को मिलें तो सवेरे उठकर मन में होता है कि 'आज रात बड़ा दुःख हुआ'। स्वप्न में किस चीज़ से सुख-दुःख हुआ? बाहरी चीज़ तो वहाँ कुछ नहीं है। मन ही गुलाब जामुन के आकार का बना और मन ही डण्डे खाने के आकार का बना। बाह्य विषय कोई न हो तब भी स्वप्न आदि में सुख-दुःख होता है। 'आदि' पद से भ्रमस्थल भी ग्राह्य है। रस्सी में साँप दीखता है जो साँप वहाँ है नहीं। उसे देखकर भय होता है, भागते हो, दुःख होता है। और, यदि उसी रस्सी में मोतियों की माला दीख जाती है तो बड़े खुश हो जाते हो कि 'जाकर उठा लें, हमें मोतियों की माला मिल गई'। वहाँ न मोतियों की माला है और न साँप है, फिर भी सुख-दुःख हो जाता है। साँप हो तभी दुःख हो—ऐसी बात नहीं है। तुमको यदि अपने मन की वृत्ति से सर्प की प्रतीति हो गई तो तुम्हें दुःख होगा। इसी प्रकार का अनुभव कई लोगों को स्मृति में होता है जिसमें सोमशर्मा के पिता की कथा या शेख चिल्ली का किस्सा प्रसिद्ध है। वह जग ही रहा था, कल्पना में सौदेबाजी करके लखपति हो रहा था, बड़ा सुख हो रहा था लेकिन मिला तो उसे एक धेला भी नहीं! इसलिए बिना बाह्य पदार्थ हुए स्वप्न आदि में मनुष्य सुख-दुःख का अनुभव करता है, बँध जाता है।

बाह्य विषय हो, तब भी समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा में सुख-दुःख का अनुभव नहीं है। समाधि में बैठ जायें तो यदि साँप आकर चारों तरफ से शरीर को लपेट लेते हैं तो भी तुम्हें कोई भय या दुःख नहीं होता। साँप है परन्तु तुम्हें दुःख नहीं दे पाता। इसी प्रकार गहरी नींद में होता है। जब तुम सोने गये थे तो भयंकर गर्मी थी, नींद नहीं आ रही थी। एक हाथ से पंखा झल रहे थे। फिर नींद आ गई और तब बड़ी ठण्डी हवा चली लेकिन उस ठण्डी हवा का मज़ा कुछ नहीं आया। इसलिए यदि चीज़ अर्थात् ठण्डी हवा है परन्तु तुम सुषुप्ति में हो तो तुम्हें उससे कोई सुख होने वाला नहीं है। इसी प्रकार से मूर्च्छा आ जाती है, तो उस समय कुछ पता नहीं लगता, वहाँ चीज़ पड़ी होने पर भी किसी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, कोई बन्धन का अनुभव नहीं होता।

इस तरह, विषय के होने पर भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं है जैसे गहरी निद्रादि में और विषय के न होने पर भी सुख-दुःख स्वप्न में होते हैं, इसलिए सुख-दुःख या बन्धन का कारण तुम्हारी मनोमय सृष्टि है, बाह्य सृष्टि इसका कारण नहीं है।।३३।।

ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टि दोनों में से बन्धन का कारण जीवसृष्टि है क्योंकि बाह्य विषय न होने पर स्वप्न में मनुष्य सुखी-दुःखी होता है और समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा में बाह्य विषय होने पर भी सुखी-दुःखी नहीं होता। इसी में दृष्टांत देते हैं—

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति।।३४।।

पुत्र कहीं दूर गया हो, वहाँ जीवित ही हो फिर भी किसी ठग के कहने से उसे मरा मानकर उसका पिता अत्यधिक रोता है।

पुत्र कहीं दूर देश में चला गया हो, पुत्र के वहाँ जीते हुए ही यहाँ रहने वाले पिता को किसी झूठे, वंचक या ठगने वाले व्यक्ति ने झूठमूठ दुःखी करने के लिए कह दिया 'तुम्हारा लड़का मर गया, मैं वहीं से आ रहा हूँ'। उस पिता के अंतःकरण में अंतःकरणवृत्तिरूप पुत्र मृत है क्योंकि वह समझता है कि लड़का मर गया। ईश्वरसृष्ट पुत्र तो जी ही रहा है, पिता की मानसिक सृष्टि में ही वह मर गया। इतने से ही वह आदमी बड़े ज़ोर से रोने लगता है—'हाय! मेरा लड़का मर गया'। इस तरह मनोमय प्रपंच बन्धनकारी है, ईश्वरसृष्ट बंधनकारी नहीं यह अनुभव रूढ हो जाता है।।३४।।

ईश्वरसृष्ट में दुःखहेतुता की योग्यता रहते भी मनोमय के बिना दुःखादि नहीं होते यह दिखाते हैं—

मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत्।।३५।।

वह पुत्र मर चुका हो फिर भी यह समाचार न सुनने तक पिता रोता नहीं। इससे स्पष्ट है कि मानस जगत् ही सब जीवों को बाँधता है।

दूरदेश गया हुआ लड़का मर भी जाये, लेकिन उसके मरने की खबर अभी पिता को नहीं मिली तो वह नहीं रोता। ईश्वरसृष्टि के अन्दर तो पुत्र मरा हुआ है तब भी दुःख नहीं होता है क्योंकि जो जीव की मानस सृष्टि है, उस में वह अभी ज़िन्दा ही है। यों अन्वय-व्यतिरेक दोनों मिल गये : ईश्वरसृष्ट पदार्थ अर्थात् लड़के के जीवित होने पर भी, झूठी खबर सुनकर कि 'वह मर गया', पिता रोने लगता है। ईश्वर-सृष्टि में पुत्र जीवित होते हुए भी यदि मानस पुत्र मर गया, उसके मरने की वृत्ति बन गई, तो पिता रोता है। और ईश्वरसृष्ट पुत्र मर भी गया लेकिन मानस पुत्र अभी ज़िन्दा है तो वह नहीं रोता है। इस अन्वय-व्यतिरेक से यह पता लगता है कि ईश्वरसृष्टि सुख-दुःख नहीं देती, जीवसृष्टि ही सुख-दुःख देती है। इसलिए 'धीमयो जीवबन्धकृत्' यह पूर्वोक्त बात निश्चित हो जाती है।

कई बार आदमी धोखा खा जाता है। पुराने जमाने में लोग दिशा मैदान के लिए बाहर जाया करते थे। एक आदमी रात में ही एक लोटा पानी भरकर अपने बिछौने के नीचे रख देता था ताकि सवेरे परेशानी न उठानी पड़े। एक सुबह वह उठा, लोटा लिया और दिशा मैदान चला गया। उस समय अँधेरा था ही, भरा लोटा उठाया अतः उसमें देखने का प्रसंग नहीं था। जब आबदस्त लिया तब देखा कि शौच में खून ही खून है! इतना खून देखकर तो उसके हाथ-पैर ठण्डे पड़ गये कि 'न जाने क्या बीमारी हो गई!' अत्यंत दुःखी हुआ। वहाँ से आने में ही बड़ी कमज़ोरी महसूस करने लगा। किसी तरह घर तो पहुँच गया, परन्तु पहुँचते ही बिछौने पर लेट गया। घरवाली ने पूछा—'क्या हो गया, इतने परेशान क्यों हो रहे हो?' उसने कहा—'क्या बताऊँ! आज तो मेरे पेट से बहुत खून निकल गया।' उसने कहा—'अभी वैद्य बुलाते हैं।' इतने में उसकी लड़की कमरे में आयी तो कुछ लेने के लिए उसके बिछौने के नीचे देखने लगी। उसे वहाँ रखा हुआ लोटा नहीं मिला तो पूछा 'मैंने इसके नीचे लोटा रखा था, कहाँ गया?' माँ ने पूछा—'यहाँ क्यों रखा था?' उसने कहा—'रात में लोटे में गेरू घोल कर रखा था।' यह सुनते ही बाप तुरन्त उठ बैठा 'गज़ब हो गया! मैंने तो पानी का लोटा समझा था और लेकर शौच चला गया। अरे! तब तो कोई खून नहीं था।' इस प्रकार बिना ख़ूनी पेचिश हुए ही वह आदमी ठण्डा पड़ गया था।

अन्वय-व्यतिरेक के ढंग से पता लगता है कि सभी जीवों के लिए मानस जगत् ही बन्धन करने वाला है, वही सुख-दुःख देता है।। **३५**।।

धीमय जगत् अर्थात् मानस सृष्टि ही बन्धनकारी मानें तो बाहरी विषयों को मानना ही व्यर्थ होगा जिससे बौद्धसम्मत विज्ञानवाद तो सिद्ध हो जायेगा, वेदान्तसंमत ईश्वरसृष्टि नहीं। इसलिए शंका-समाधान द्वारा आचार्य समझाते हैं कि विज्ञानवाद से वेदान्त में क्या अन्तर है अर्थात् धीमयसे अन्य ईश्वरसृष्टि क्यों मान्य है—

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात् स्यादिहेति चेत्।
न, हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः।।३६।।

यदि प्रश्न हो कि बाहरी वस्तुएँ व्यर्थ होने से इस बारे में क्या विज्ञानवाद स्वीकार हो गया? तो उत्तर है कि ऐसा नहीं क्योंकि हृदय अर्थात् बुद्धि में आकार के आधान के लिए बाहरी वस्तु की ज़रूरत है।

प्रश्न है कि क्या बाहर की चीज़, जिसे तुम ईश्वरसृष्टि कहना चाहते हो, वह व्यर्थ है, उसकी कोई ज़रूरत नहीं है? सुख-दुःख देने के लिए तो मानस जगत् ही पर्याप्त है, बाह्य चीज़ को मानना ही क्यों जब वह व्यर्थ है? यह शंका नहीं करना कि बाह्य चीज़ को नहीं मानेंगे तो मन के अन्दर संस्कार कैसे बनेगा? क्योंकि पूर्व संस्कार से उत्तर संस्कार यों क्रमशः संस्कार बनते चले जायेंगे। ऐसा विज्ञानवादी बौद्ध मानता है कि कोई बाह्य चीज़ नहीं है, जो कुछ है सो मन में अर्थात् क्षणिक विज्ञान ही है। वह कहता है कि संसार एक सपना है। वही यहाँ वेदान्त शास्त्र में भी स्वीकार हो जायेगा यदि यह मानोगे कि मानस जगत् ही जीवों के लिए बन्धन करने वाला, सुख-दुःख देने वाला है। फिर वेदान्ती और बौद्ध में कोई फ़र्क़ नहीं रह जायेगा।

इसके जवाब में कहते हैं कि दोनों में बड़ा फ़र्क़ है। बौद्ध तो कहता है कि संस्कारों से ही दूसरे संस्कार हो जायेंगे परन्तु वेदान्तियों का कहना यह है कि मन में आकार बनने के लिए बाह्य चीज़ अपेक्षित है। सामने घड़ा है, तब तुम्हारा मन घड़े के आकार का बनता है और जब घड़े के आकार का बनता है तब सुख-दुःख होता है। यदि बाहर घड़ा हो ही नहीं तो तुम्हारा मन किस आधार से वृत्ति बनायेगा? इसलिए, मन या बुद्धि में घट-पट आदि के आकार का आधान करने के लिए बाह्य पदार्थ अपेक्षित है। यह ठीक है कि पुत्र जीवित है, मृत पुत्र का समाचार सुनने से दुःख हो गया क्योंकि मानस पुत्र मर गया परन्तु बाह्य पुत्र है तभी मृत पुत्र का भी आकार मन ने ग्रहण किया। अगर पुत्र हो ही नहीं, कोई निपूता या हीजड़ा हो, उसे कोई कहे 'तुम्हारा बेटा मर गया', तो उसकी मनोवृत्ति बनेगी ही नहीं कि बेटा मर गया! इसलिए मन में आकार लाने के लिए बाह्य चीज़ की अपेक्षा है। बाह्य चीज़ होगी तभी मन उसका आकार बनायेगा। यह बात स्वप्न के लिए भी समझ लेना। स्वप्न में जो चीज़ दीख रही है वह तो नहीं है लेकिन स्वप्न को भी तभी देखोगे जब जाग्रत् में तुमने उन चीज़ों को देखा हुआ है। जिस तरह की चीज़ को कभी देखा ही नहीं है उसका स्वप्न आयेगा कैसे?

इस तरह बौद्ध और वेदान्ती में यह बहुत बड़ा भेद है कि सुख-दुःख का कारण मन तो है, परन्तु मन उस आकार को बनाने के लिए बाहरी किसी चीज़ की अपेक्षा करता है। संस्कार बनने के लिए बाह्य अर्थ की स्वीकृति होने से विज्ञानवाद का वेदान्त में प्रसंग नहीं है। विज्ञानवादी न ईश्वर को मानते हैं और न ईश्वरसृष्टि मानते हैं। हमारा यह कहना है कि बाहर की चीज़ है, उससे संस्कार मन में आया। जब संस्कार मन में आया तभी वह चीज़ तुम्हारे लिए है, जब तक तुम्हारे मन में संस्कार नहीं आया तब तक चीज़ नहीं है, ऐसी बात नहीं। तुम्हारे लिए नहीं, इतनी ही बात है।। **३६।।**

यद्यपि मानस आकार अनादि परम्परा से भी संभव है अर्थात् जैसे भ्रम भी संस्कार डालता है वैसे यह मान सकते हैं कि सदा से मनोमय ही जगत् रहा है, पहले के प्रपंच-संस्कार ही बाद के मानस प्रपंच का हेतु बनते चले जाते हैं; तथापि बाह्यार्थ स्वीकारना आवश्यक है यह स्पष्ट कर रहे हैं। बाह्यार्थ न मानने वाले विज्ञानवादी का बाह्य व्यवहार संगत नहीं हो पाता जबकि वेदान्ती के अनुसार वह भी संगत है, यह विशेष है। 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्र.सू.२.२.५.२८) अधिकरण में इस बारे में विस्तृत चर्चा है। वहाँ आचार्य ने कहा कि खाते हुए तृप्ति अनुभव करते हुए 'न खा रहा हूँ न तृप्ति पा रहा हूँ' बोलने की तरह बाह्यार्थ न स्वीकारने वाले का कथन है। बाह्यार्थ प्रमाणों से उपलब्ध हैं अतः अपलापयोग्य नहीं हैं। यही समझाते हैं—

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः।।३७।।

युक्तिमात्र से बाहरी पदार्थों की व्यर्थता भले ही हो, उनका निषेध नहीं कर सकते क्योंकि प्रमाण प्रयोजन पर निर्भर नहीं करते, यह निश्चित बात है।

हम यह नहीं कहते हैं कि बाह्य वस्तु सुख-दुःख देने में व्यर्थ नहीं है, वह चाहे व्यर्थ हो परन्तु सुख-दुःख न देने वाली होने से कोई चीज़ नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। चीज़ तो प्रमाणिक होने पर है ही। अनेक साधारण चीज़ें दीखती हैं, सुख या दुःख कुछ नहीं देती, पर होती ही हैं। जो चीज़ सुख-दुःख दे, वही हो—यह जरूरी नहीं है। यह तो ठीक है कि तुम्हारे मन से सम्बद्ध होकर ही चीज़ सुख-दुःख देती है, परन्तु होने के लिए सुख-दुःख देने पर निर्भर नहीं है। ईश्वरसृष्टि का प्रयोजन हो तभी वह सिद्ध होगी, ऐसा नहीं है। यही बात सारे दार्शनिक मानते हैं 'मानाधीना मेयसिद्धिः' प्रमाण के अधीन ही प्रमेय की सिद्धि होती है। प्रयोजन को लेकर किसी चीज़ की *सिद्धि* नहीं होती। केवल एक बौद्ध को छोड़कर किसी ने ऐसा नहीं माना कि कोई चीज़ है इसमें प्रमाण अर्थक्रियाकारिता ही है अर्थात् कोई न कोई प्रयोजन वह चीज़ सिद्ध करे तभी वह चीज़ सच्ची है। हम लोगों का कहना है कि रस्सी है तो उसमें हमने साँप भ्रम से देखा। बौद्ध कहेगा कि क्योंकि तुमने वहाँ साँप देखा और तुम उस साँप से डरकर भागे तो प्रयोजन सम्पन्न हो गया इसलिए वहाँ साँप है! हम लोग कहते हैं कि वह दौड़ावे, चाहे कुछ करे, परन्तु जब हम मशाल जलाकर देखते हैं कि वहाँ रस्सी है तब निश्चय होता है कि वहाँ साँप तीन काल में नहीं है।

इसलिए प्रमाण के अधीन प्रमेय की सिद्धि है, न कि प्रयोजन के अधीन। साँप है या नहीं इसका पता लगाने के लिए यह मत देखो कि उसने कोई प्रयोजन सिद्ध किया या नहीं, अर्थक्रियाकारी है या नहीं, वरन् यह देखो कि रोशनी वहाँ ठीक थी या नहीं, मेरी आँख ठीक है या नहीं अथवा मेरा मन तो अन्यत्र नहीं गया हुआ है इत्यादि। यदि आँख ठीक है, मन से मैं ध्यानपूर्वक देख रहा हूँ, रोशनी पूरी है तो जो चीज़ वहाँ होगी वही दीखेगी। बौद्ध जो कहता है कि जो चीज़ प्रयोजन को सिद्ध करे या अर्थक्रियाकारी हो वह सच्ची होती है, यह समझ लेना

कि सामान्य व्यवहार में अधिकतर हम लोगों की भी यही सोच होती है! पाँच सौ रुपये के नोट को हम पाँच सौ रुपये क्यों मानते हैं? क्योंकि उस नोट से पाँच सौ रुपये का काम चल जाता है। प्रमाण से तो वे पाँच सौ रुपये सिद्ध नहीं हैं, प्रमाण से वह पाँच सौ रुपये का एक पुर्जा है। एक बैंक वाले ने लिख कर दे दिया, इसे लेकर हिन्दुस्तान में हम कहीं चले जाते हैं तो यह पुर्जा चल जाता है। जैसे किसी दुकानदार के पास रेजगी कम होती है तो वह एक पुर्जा लिखकर दे देता है कि चार आने बकाया हैं या उससे रोज का लेना-देना है तो जमाखर्च कर देता है तो फिर हम उस पुर्जे को लेकर शाम को जायें तो वह दे देता है या जमाखर्च है तो अगली बार उतने का सामान दे देता है, वैसे ही रिजर्व बैंक का पुर्जा हिन्दुस्तान में चल जाता है, है वह भी पुर्जा ही। तुम्हारे पास एक तोला सोना है तो तुम वेनेज़ुएला, अफ्रीका, मैक्सिको कहीं भी चले जाओ, जहाँ जाओगे वह एक तोला सोना दोगे तो तुम्हारा काम एक तोले सोने के मूल्य का हो जायेगा। परन्तु वहाँ यहाँ के रिज़र्व बैंक का वह पुर्जा लेकर जाओगे तो एक धेले की चीज़ नहीं मिलेगी। इसलिए व्यवहार सिद्ध हो रहा है इससे चीज़ सच्ची सिद्ध नहीं हो जाती क्योंकि चीज़ सच्ची है या नहीं यह प्रमाण से सिद्ध होगा।।३७।।

योग प्रक्रिया के दृष्टिकोण से शंका उठाते हैं—

बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति।
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद।।३८।।

बंधन यदि मानस ही द्वैत है तो मनोनिरोध से ही समाप्त हो जायेगा अतः योग का ही अभ्यास करना चाहिए, ब्रह्मज्ञान से क्या लाभ—यह बताओ।

बौद्ध की शंका थी कि मानस जगत् ही बन्धन का कारण है तो फिर बाह्य जगत् को क्यों मानना? उसका निराकरण कर दिया कि बाह्य जगत् मन को तदाकार बनाने के लिए अपेक्षित है। बाह्य जगत् मन में आने पर ही सुख-दुःख देगा यह तो ठीक है लेकिन बाह्य जगत् है ज़रूर, तभी मन में आयेगा। बौद्ध को जवाब देने पर योगी कहता है कि यदि मन से होने वाला द्वैत ही बन्धन का कारण है तो ब्रह्मज्ञान का प्रयास व्यर्थ है। मानस-द्वैत में एक तो हम हुए जो मानस जगत् को देखने वाले हैं और एक मानस जगत् हुआ इसलिए उसे द्वैत कह दिया। अगर वही बंधन है तो मन का निरोध कर दो। मन चीज़ों का आकार लेता है तभी बंधन होता है, चीज़ तो बंधन का कारण है नहीं, इसलिए मन का निरोध कर लोगे तो सुख-दुःख का अनुभव नहीं होगा। कपिल और पतञ्जलि यही मानते हैं कि बाह्य जगत् रहता है। बौद्ध तो कहता है कि बाह्य जगत् है ही नहीं, कपिल और पतञ्जलि उनसे दूसरी तरफ चलकर कहते हैं कि बाह्य जगत् है, परन्तु तुम मन से उसकी वृत्ति नहीं बनाओगे तो तुम्हें सुख-दुःख नहीं होंगे। गहरी नींद में सारी चीज़ें तो वैसी की वैसी रहती हैं, केवल तुम बेखबर रहते हो। कमरे की तिजोरी वैसी की वैसी रहती है, चोर आता है तुम सोये पड़े हो, वह तिजोरी को तोड़कर उसमें से माल निकाल कर भाग जाता है। माल वहाँ पड़ा था तभी लेकर भागा, तुम को पता नहीं लगा। जब सवेरे पता

लगता है तब रोते हो। इसी प्रकार अगर तुम मन का निरोध कर लो तो तुम्हें किसी चीज़ का पता नहीं लगे। अतः तुम्हारा दुःख दूर हो जायेगा। इसलिए उनका कहना है कि योगाभ्यास के द्वारा मन को बाह्य विषय के आकार का न बनने दो तो पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेगा। बहुत से लोगों को भी ऐसा लगता है 'सब चीज़ों से दूर हो जाओ, तुम्हारी वृत्ति नहीं बनेगी, फिर शांति से रहोगे, काम हो जायेगा'। अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध कर लो, फिर कोई बंधन नहीं रहेगा।

इस तरह सिद्धान्ती ने जो बात सिद्ध की उससे तो यही निष्कर्ष निकला कि मन को विषयों में नहीं ले जाना चाहिए। इसलिए अष्टांग योग का ही अनुष्ठान ठीक है। समाधि में बैठ जाओगे तो फिर यह दुनिया तुम्हें कोई कष्ट नहीं देगी। फिर यह सारा श्रवण, मनन का प्रयत्न करके ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके क्या होगा? इसमें मेहनत भी बहुत है और मानस जगत् रहने पर दुःख होगा ही, इसलिए मन को ही रोक लो, इस ईश्वर-सृष्ट जगत् से अपने सम्बंध को तोड़ दो। मन के द्वारा सम्बंध होता है, तुम उस मन को ही वहाँ से हटा लो। यह योगमार्गी एवं उसी तरह की सोच वालों की शंका है। अगले श्लोक में समाधान देंगे।। ३८।।

उक्त शंका के समाधान में कहते हैं कि जितनी देर समाधि में बैठोगे उतनी देर ही सुख-दुःख नहीं होंगे लेकिन संसार तो कहीं जायेगा नहीं अतः समाधि से उठोगे तो फिर यह संसार वैसा का वैसा ही दीखेगा, सुख-दुःख का अनुभव भी वैसे ही होगा जैसे अभी है! इसलिए स्थायी बन्धनिवृत्ति के लिए परमात्मज्ञान आवश्यक है यह समझाते हैं—

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिंडिमः।।३९।।

(योग से) द्वैत की कुछ समय (समाधिकाल में) के लिए शांति (निवृत्ति) हो जाने पर भी भावी जन्म की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं होती यह उपनिषदों की घोषणा है।

तत्काल अर्थात् समाधि के काल में अकेले तुम ही रह जाओगे तो द्वैत की शांति हो जायेगी। उस दौरान जो बात तुम कह रहे हो उसको हम नहीं नकारते हैं। जितनी देर समाधि लगाओगे उतनी देर सुख-दुःख नहीं होगा यह तो ठीक है। लेकिन आगे फिर संसार की प्रतीति नहीं होगी, जन्म-मरण का चक्र नहीं चलेगा, यह तो नहीं कह सकते। बहुत से लोग सोचते हैं कि नशा करने से सुख हो गया। बड़ी मुश्किल से पैसा कमाते हैं और जाकर शराब पीते हैं। उनसे पूछो तो कहते हैं कि 'हफ्ते में एक दिन ही पीते हैं, उस दिन बड़ा आनन्द आता है। न पियें तो घर के बच्चे परेशान करते हैं।' उनसे पूछते हैं कि जब नशा उतर जाता है तो क्या फिर बच्चों की समस्या हल मिलती है? कहते हैं—'नहीं, वह समस्या तो वैसी की वैसी बनी रहती है।' उनसे यही कहना उचित है कि अगर तुम वह रुपया बचा लो तो धीरे-धीरे बच्चों की समस्या हल हो जायेगी! तुम जो पैसा नशे में बर्बाद कर रहे हो, उन पैसों को बचाओगे तो बच्चों की आवश्यकता पूरी हो जायेगी। तुम्हारे नशे के कारण ही उनकी आवश्यकता पूरी नहीं हो रही है। जैसे नशा, वैसे ही योगी ने समाधि लगाई। जितनी देर लगाई उतनी देर तो ठीक है, लेकिन उठने पर दुनिया वैसी की वैसी है।

पुराणों में सौभरि महर्षि की कथा आती है। उन्होंने साठ हज़ार साल की समाधि लगाई। जहाँ समाधि में बैठे थे उस जगह पर धीरे-धीरे नदी बहने लगी और वे बालू के नीचे दब गये, ऊपर से नदी बह रही थी। एक बार राजा के लोगों ने बालू निकालने की चेष्टा की तो अकस्मात् देखा कि उनके फावड़े में खून लगा है, सब घबरा गये। बालू में सौभरि महर्षि बैठे थे। राजा के लोगों ने बहुत हाथ-पैर जोड़े कि 'हम ने तो सोचा कि यहाँ बालू ही बालू है। ध्यान नहीं रहा, क्षमा कीजिए।' सौभरि को भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'यह क्या हो गया! मैं तो ध्यान लगाने बैठा था, यहाँ ऊपर से नदी आ गई।' साठ हज़ार सालों में तो बहुत परिवर्तन हो जाता है। वहीं उन्होंने एक मच्छ-मछली को आपस में खेलते देखा। उसको देखकर उनके मन में आया कि 'अरे! हम ब्रह्मचारी थे और समाधि में बैठ गये, शादी-ब्याह तो किया ही नहीं। ये मछलियाँ तो खूब मौज ले रही हैं!' तब सोचा कि शादी करें।

राजा के यहाँ पहुँचे। सारे शरीर में झुर्रियाँ पड़ी हुई थी, रंग काला हो गया था। राजा से कहा—'मैं तुम्हारी एक लड़की से ब्याह करूँगा।' राजा के घर में पचास लड़कियाँ थीं। राजा ने सोचा 'किसी लड़की को कैसे कुएँ में फेंकूँ! ये तपस्वी हैं, ना करूँगा तो शाप देकर नुकसान करेंगे।' इसलिए उसने चतुराई की। सौभरि से कहा 'मेरे महल में पचास लड़कियाँ हैं। उनमें से जो आपको पसंद कर ले, वही मैं आपको दे दूँगा।' सौभरि समझ गये कि मेरे शरीर की स्थिति देखकर राजा ऐसा कह रहा है क्योंकि इस हालत में मुझे कोई भी पसंद नहीं करेगी। तप में बड़ी शक्ति होती है। महल के अन्दर जाते हुए उन्होंने अपने शरीर को सोलह वर्ष का सुन्दर जवान बना लिया! अन्दर जाकर उन्होंने कहा 'राजा ने ऐसा कहा है कि आपमें से जो मुझे पसंद करे उससे मेरा ब्याह कर देगा।' यह सुनकर पचासों लड़कियाँ कहने लगी कि 'मैं आपसे ब्याह करूँगी, मैं करूँगी।' ऋषि ने राजा से कहा—'ये तो पचासों तैयार हैं, इसलिए सबसे मेरी शादी करा दो'। सौभरि का उन सबसे ब्याह हो गया। साठ हज़ार साल की समाधि की तपस्या के बल से उन्होंने सबके लिए अलग-अलग मकान बना दिये, और भी नौकर-चाकर आदि सारी सुविधायें हो गयीं। महर्षि खूब आनन्द से रहने लगे। कुछ साल बीत गये, बच्चे आदि सब हो गये। एक दिन एक रानी के सिर में बहुत दर्द था। उसने कहा कि आज सिर बहुत दूख रहा है। उन्होंने झट अपनी तपस्या के बल से सिर-दर्द ठीक करने के लिए उसके सिर पर हाथ रखा लेकिन कुछ असर नहीं हुआ! महर्षि ने सोच लिया कि 'अब तपोबल का 'बैंक बैलेंस' निल (शून्य) हो गया क्योंकि अब मैं सिर-दर्द ठीक नहीं कर पा रहा हूँ! अब ये सारे मकान खोने पड़ेंगे, कुछ भी नहीं रहेगा।' उन सबसे उन्होंने कहा 'अब तुम सब अपने बाप के घर जाओ।' वापिस तपस्या करने चल दिये क्योंकि तपस्या भी वैसी है जैसे कमाया हुआ धन, कमाते रहो तो बना रहेगा, नहीं तो कुछ नहीं रहेगा।

इसलिए पुराने लोग कहते थे कि कुएँ में पानी आता रहे और निकलता रहे तो कुआँ रहेगा। लेकिन केवल पानी निकलता रहे और आने का स्रोत नहीं हो तो कुआँ सर्वथा सूख जायेगा। ठीक इसी प्रकार धन कमाते रहो तो चलता रहेगा, अन्यथा खर्च करने मात्र से थोड़े दिन में खत्म

हो जायेगा। तपस्वी जब किसी से कोई चीज़ लेता है तो तुरन्त अपनी तपस्या को खर्च करता है क्योंकि किसी की चीज़ लोगे तो अपनी शक्ति क्षय करोगे। उतनी ही तपस्या ज़्यादा करो तब तो ठीक है, अन्यथा तपोबल शून्य हो जायेगा। सौभरि तो पिछले तपोबल से केवल भोग ही करते रहे थे इसलिए समझ गये कि अब सारा माल खत्म हो गया, इसलिए वापिस तपस्या के लिए चल दिये। साठ हज़ार साल तक समाधि लगाकर भी आगामी जन्म-मरण का चक्र नहीं मिटता, आगे तो फिर आयेगा ही।

आगामी जन्म का क्षय परमात्मा का साक्षात्कार करके ही होगा। यह बात उपनिषदों के अन्दर डोंडी पीट-पीट कर कही है अर्थात् बार-बार कही है। 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशैः मुच्यते' (श्वे. १.८) उस परमात्मदेव का साक्षात्कार करके ही पाशों की निवृत्ति होती है। 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।।' (श्वे.६.२०) जब चमड़े की तरह तुम आकाश को लपेट सकोगे (आकाश को तो लपेट नहीं सकते अर्थात् असम्भव कार्य है), तब ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये बिना, विज्ञान किये बिना, दुःख का अंत होगा। इस प्रकार श्रुति ने दोनों तरह से कहा है—ब्रह्मज्ञान से बंधन नष्ट हो जाता है और ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं नष्ट होता। रोज़ पुरुष-सूक्त सुनाते हैं 'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' एक ही पंक्ति में अन्वय-व्यतिरेक दोनों कह दिये। सर्वोपाधिनिर्मुक्त सच्चिदानन्दरूप उस परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार करके अथवा वेदन करके मृत्यु के परे चला जाता है—यह अन्वयमुख से कहा। आगे निषेधमुख से कह दिया कि इस जन्म-मरण के बंधन को काटने वाला कोई दूसरा रास्ता नहीं है। सिवाय परमात्म-ज्ञान के और कोई उपाय ऐसा नहीं है जिससे तुम्हारे जन्म-मरण का प्रवाह खत्म हो। योगाभ्यास से जब तक समाधि लगाओगे तब तक तुम्हें सुख-दुःख नहीं होगा यह तो ठीक, है लेकिन अंत में समाधि से उठना ही पड़ेगा।।३६।।

अद्वैतबोध के लिये द्वैत की अनुपलब्धि की अनिवार्यता भी नहीं, यह स्पष्ट करते हैं—

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम्।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः।।४०।।

ईश्वरोत्पादित द्वैत निवृत्त हुए बिना भी वह मिथ्या है—ऐसा जानकर अद्वय ब्रह्म समझा जा सकता है। यह तत्त्व की अद्वयता स्वीकारने वाले के मत में विशेष है।

श्रुति कहती है कि आत्मा से दूसरा कुछ नहीं है। जब तक यह सारा संसार मौजूद है तब तक अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति होगी कैसे? कुछ लोगों का इसीलिये कहना है कि समाधि का अभ्यास करोगे तभी ब्रह्मज्ञान हो सकता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि मानस सृष्टि को हटाना ज़रूरी है, जो हमारे मन की द्वैत सृष्टि है उसे तो हटाना ज़रूरी है क्योंकि उसके हटाये बिना अद्वय ब्रह्म समझ में आता नहीं। इसलिये उपनिषद् ने (कठ.१.२.२४) स्पष्ट कह दिया है 'नाशांतमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्' जिसने अपने मन को शांत नहीं कर लिया अर्थात् जिसका मन काम-क्रोध से रहित नहीं हो गया है वह चाहे जितना प्रज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करे, होता

नहीं है। तात्पर्य है कि मानस सृष्टि को हटाना ज़रूरी है। जिसने अपने सारे दुश्चरित्र छोड़ नहीं दिये हैं और जिसका मन काम-क्रोध-लोभ से रहित नहीं हो गया है वह इस प्रज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकता। शब्द का अर्थ तो समझ आ जायेगा कि किताब में यह लिखा है, लेकिन वह लिखी हुई बात अनुभव में नहीं आ पायेगी। रसगुल्ले के बारे में तुम चाहे जितना पढ़ लो, लेकिन रसगुल्ले का जो विशेष स्वाद है उसका पता रसगुल्ला खाये बिना नहीं लग सकता। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं कि शहद भी मीठा होता है, दूध भी मीठा होता है, अंगूर भी मीठा होता है, चीनी भी मीठी होती है। ये सब मीठे हैं, परन्तु ये सचमुच में *कैसे* मीठे हैं, इसे शब्द से नहीं कहा जा सकता। रसगुल्ले मीठे हैं इतना तो पता लगेगा लेकिन कैसे मीठे हैं, उसका विशेष स्वाद बिना खाये पता नहीं लगेगा। ठीक इसी प्रकार उपनिषदों को, वेदादि को पढ़ने से 'परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है' यह तो पता लग जायेगा परन्तु 'सत् चित् आनन्द' इन शब्दों को हमने किसी न किसी नाम-रूप के साथ ग्रहण किया है, इसलिये ऐसा लगेगा कि ब्रह्म है, ऐसा लगेगा कि ब्रह्म जानने वाला है, ऐसा लगेगा कि ब्रह्म मौज में रहता है। परन्तु बिना किसी नाम-रूप के सच्चिदानन्द कैसा है—यह समझ में नहीं आ सकता। वह अद्भुत आनन्द है, जब प्राप्त करो, अनुभव करो तभी वह कैसा है, यह ज्ञान होता है।

इसलिये जीवसृष्टिरूप धीमय द्वैत तो हटाना आवश्यक लेकिन ईश्वर की सृष्टि बनी रहे उससे कोई रुकावट नहीं आती। हमारा मानस जगत् शांत हो जाये तो बाह्य सृष्टि बनी रहे, द्वैत दीखता रहे इससे हानि नहीं। तब अद्वैत कैसे मन में आयेगा? यह पता लग जाने पर कि यह सब ईश्वर-सृष्टि मिथ्या है, द्वैत इस रूप में रहेगा कि मिथ्या है। झूठी चीज़ सच्ची चीज़ में दोपना नहीं लाती। दो सच्ची चीजों में तो दोपना आ जायेगा, दो झूठी चीज़ों में भी दोपना आ जायेगा। चौथी, पाँचवी कक्षा में ही पढ़ा देते हैं कि रुपये, आने, पाई को जोड़ना हो तो रुपये के साथ आने को मत जोड़ना। आनों को अलग जोड़ना, पैसों को रुपयों से अलग जोड़ना। पाँच रुपये और तीन पैसे मिलकर न आठ रुपये होंगे, न आठ पैसे होंगे। रुपये रुपयों से मिलेंगे, पैसे पैसों से ही मिलेंगे। द्वैत हमेशा समानधर्मा चीज़ों में होता है। ब्रह्म कभी नहीं बदलने वाला सत् है और जिस सत् को हम अभी जानते हैं वह बदलने वाला सत् है। 'घड़ा है' का मतलब यह है कि बनने के पहले घड़ा नहीं था, टूटने के बाद नहीं रहेगा, ऐसा घड़ा है। और जब कहते हैं कि ब्रह्म सत् है तो न कभी ऐसा था कि ब्रह्म नहीं था, न कभी ऐसा है कि ब्रह्म नहीं है और न आगे कभी ऐसा होगा कि ब्रह्म नहीं है। इसी प्रकार चित् आनन्द शब्दों में समझ लेना। इसलिये जिस सच्चिदानन्द को हम जानते हैं वह तो मिथ्या है। जब उसके मिथ्यात्व को जान लेते हैं तब उस ब्रह्म में द्वैत नहीं आता। अभी तो द्वैत इसलिये समझते हैं कि इन लौकिक सच्चिदानंद को भी हम ब्रह्म के समान ही समझते हैं कि जैसे ये हैं वैसे ब्रह्म। जब दोनों के 'है' के भेद का पता लगता है तब समझ में आता है कि दोनों एक-से नहीं हो सकते। परमेश्वर की सृष्टि मिथ्या है, माया से उन्होंने बनाई है। जब हम जान लेते हैं कि यह मिथ्या है तब ब्रह्म की अद्वितीयता समझ में आ जाती है। वास्तविक चीज़ या पारमार्थिक चीज़ एक ही है, इस बात को समझना है। ऐसा

जानकार दुनिया को ऐसा का ऐसा देखते हुए उसे मिथ्या जानता है। इसलिये इसे हटाने की कोई ज़रूरत नहीं होती। समाधि के अभ्यास से तो केवल तत्काल के लिये शांति मिलेगी, सच्ची और चिर शांति नहीं मिलेगी। जब तुम समझ लेते हो कि यह मिथ्या है, अतः अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब शाश्वत शान्ति उपलब्ध हो जाती है।।४०।।

अद्वयनिष्ठा के लिये ईश्वरसृष्ट द्वैत की निवृत्ति अनावश्यक है। यह पूर्व श्लोक में दिखाकर अब बताते हैं कि वह निरुपयोग भी है क्योंकि उसकी निवृत्ति से ज्ञानदृष्ट्या कोई लाभ नहीं—

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम्।।४१।।

प्रलयावस्था में द्वैत हटने पर तो अद्वैतज्ञान का विरोधी माना जाता द्वैत रहता नहीं, फिर भी गुरु, शास्त्र आदि ज्ञानसाधनों के न रहने से अद्वय वस्तु समझी नहीं जा पाती।

मन को बन्द कर लेने से मानसी सृष्टि निवृत्त हो जायेगी, परन्तु ईश्वर की सृष्टि निवृत्त नहीं होगी। ईश्वर तो अपनी सृष्टि प्रलय-काल में हमेशा लीन कर देता है। प्रलय-काल में ईश्वर-सृष्टि नहीं है, वहाँ न गुरु है, न शास्त्र है। 'आदि' पद से मनन इत्यादि करने का भी वहाँ मौका नहीं है। वहाँ विरोधी द्वैत नहीं होता, निवृत्त हो चुकता है। लेकिन ईश्वर-सृष्टि न दीखने पर अद्वैत की सिद्धि हो जायेगी, ऐसा नहीं है। वादी यह कहना चाहता है कि द्वैत सामने नहीं है तो अद्वैत समझ आता है, लेकिन द्वैत सामने न होने पर अद्वैत समझ आता नहीं है। प्रलयकाल में द्वैत तो नहीं है, यदि वहाँ अद्वैत की समझ हो गई होती तो पुनः सृष्टि में नहीं आना पड़ता। गुरु, शास्त्र आदि अर्थात् मनन, निदिध्यासन आदि का अभाव होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं है। अद्वैत का विरोधी कहलाने वाला द्वैत वहाँ नहीं है फिर भी अद्वय का साक्षात्कार या ज्ञान नहीं हो पाता अर्थात् द्वैत हटने से अद्वैत का ज्ञान नहीं होता है। साधारण आदमी यही समझता है कि बाह्य संसार नहीं दीखेगा तो द्वैत *ख़त्म* हो जायेगा। ख़त्म इसलिये नहीं होगा कि बाह्य संसार कारण में लीन होगा अतः कारण से फिर कार्य उत्पन्न होगा और द्वैत सामने आयेगा तो फिर तुम्हारा अद्वैत गया। अद्वैत का ज्ञान कब होगा? जब गुरु, शास्त्र आदि हों। गुरु व शास्त्र तो ईश्वरसृष्ट पदार्थ हैं, ईश्वर के बनाये हुए हैं। ईश्वर का बनाया हुआ जो संसार है वह केवल तुम्हारे मन के संस्कारों का उद्‌बोधन करके तुमको बन्धन में रखने के लिये ही नहीं है, बल्कि ठीक प्रकार के संस्कारों से गुरु, शास्त्र की उपलब्धि कराके तुमको मोक्ष देने के लिये है।।४१।।

उक्त विचार का निष्कर्ष कहते हैं—

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्।
अपनेतुम् अशक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः।।४२।।

ईश्वर-निर्मित द्वैत अद्वैत का बाधक नहीं वरन् अद्वैत का (अद्वैतज्ञान का) साधक (उपकारक) है। किं च ईश्वरसृष्टि हटाना जीव के लिये सम्भव भी नहीं! अतः उसे रहने दिया जाये, उस से द्वेष क्यों!

एक समस्या हमेशा लोगों की बनी रहती है, कि परमेश्वर ने यह संसार बनाया ही क्यों? अधिकतर लोग संसार में दुःखी देखे जाते हैं। परमेश्वर ने न यह संसार बनाया होता और न लोग दुःखी होते। विचार करो, दिल्ली के अन्दर एक-दो पीढ़ी पहले लोगों ने बड़े-बड़े आलीशान बगीचों के साथ मकान बनाये और आज उन्हीं के बच्चे उन मकानों को बेचने के चक्कर में हैं और उसके बदले में बड़ा फ्लैट लेकर रहना चाहते हैं क्योंकि, उनका कहना है कि उस मकान की सफेदी कराने में ही पच्चीस हजार रुपये खर्च हो जाते हैं। और इतने बड़े मकान में झाड़ू कौन दे! हम उनसे कहते हैं कि तुम्हारे बड़े इतना बड़ा मकान बनाने में समर्थ हो सके और तुम लोगों का काम भी बढ़ रहा है, पैसे की कोई कमी नहीं है, फिर भी तुम उस मकान की झाड़ू, पुताई आदि करने की सामर्थ्य वाले क्यों नहीं हो? बड़ों ने तो वह मकान उनके सुख के लिये बनाया था कि पीढ़ी दर पीढ़ी बच्चे सुख से रहेंगे परन्तु उस मकान को ही कमज़ोर लोगों ने अपने दुःख का कारण बना दिया। क्या बड़ों को दोष दिया जाये? लेकिन बच्चे ऐसा ही दोष देते हैं कि इतना बड़ा मकान क्यों बनाया? ठीक इसी प्रकार परमेश्वर ने यह सृष्टि इसलिये बनाई कि हम यहाँ आकर आत्मज्ञान प्राप्त करके इस संसार में निरन्तर आनन्द से रहें। इतनी बढ़िया सृष्टि परमेश्वर ने बनाई कि कल्पना नहीं कर सकते। तुम्हारी बड़ी से बड़ी कोई इण्डस्ट्री नहीं है जिसमें इतनी कम लागत से इतना ज़्यादा मुनाफा हो। आम की केवल एक गुठली बो, थोड़ा-सा खाद-पानी दे दो और पाँच साल में आम का पेड़ तैयार, फिर चालीस साल तक हर साल उसमें से पाँच सौ आम लेते रहो! क्या तुम्हारी ऐसी कोई इण्डस्ट्री है जिसका यह परिणाम हो? फिर भी लोग कहते हैं कि हम दुःखी हैं। परमेश्वर ने तो सृष्टि बहुत सुन्दर बनाई, परन्तु हम लोग इसमें बिना मतलब चीजों में फँसकर, जो आनन्द इस सृष्टि का लेना था, वह नहीं ले पाते। मनोमयी सृष्टि करते रहते हैं और उससे दुःखी होते रहते हैं। ईश्वर ने हमें वेद दिया, गुरु दिया जिसके द्वारा इस सृष्टि के मूल कारण अविद्या को हटाकर इस सृष्टि में आनन्द ले सकते हैं। दुःख देने वाली हमारी मनोमयी सृष्टि है, ईश्वर की सृष्टि दुःख देने वाली नहीं है। ईश्वर की सृष्टि तुमको आत्मज्ञान में बाधा नहीं देती, उससे तुम्हारे आत्मज्ञान में कोई रुकावट नहीं आती। इसलिये आत्मज्ञान के साधनों में विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, मुमुक्षा है। इनमें से एक भी ऐसा साधन नहीं है जो तुमसे कहे कि संसार के पदार्थों को हटाना ज़रूरी है। सारे साधन तुम्हारी मनोमयी सृष्टि को हटाने के उपाय हैं। इसलिये ईश्वर की सृष्टि तुम्हारे कल्याणमार्ग में कोई बाधा डालने के लिये नहीं है कि तुम अद्वैतज्ञान न कर सको।

वह केवल अबाधक ही नहीं है, उपयोगी भी है। गुरु और शास्त्र भी इसी सृष्टि में हैं। इसलिये ईश्वर-सृष्टि अद्वैत-ज्ञान उत्पन्न करने में मदद करने वाली है; रुकावट डालने वाली नहीं है, ज्ञान का साधन भी है। उसको हटाना ज़रूरी नहीं और वह हट जाये तो ज्ञान के साधन भी नहीं रहेंगे। किं च एक और बात भी है कि परमेश्वर के बनाये हुए आकाश, वायु, हिमालय, समुद्र आदि सबको तुम हटा सको, यह असंभव है। इसको नहीं हटा सकते। एक तो, हटाना ज़रूरी नहीं; दूसरा, यदि हटा दोगे तो अद्वैत-ज्ञान हो नहीं सकता; और तीसरा, इसको हटाना

तुम्हारी सामर्थ्य में नहीं है। यह सृष्टि तो ईश्वर के संकल्प से बनी है और ईश्वर के संकल्प से ख़त्म होगी, तुम्हारे संकल्प से नहीं। इसलिये उस परमेश्वर की सृष्टि से तुम क्यों द्वेष करते हो? प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि 'अगर यह संसार न होता तो हम मुक्त हो जाते'। जबकि यह संभव नहीं। अतः इसके साथ द्वेष मत करो, द्वेष तो तुम्हें अपनी मनोमयी सृष्टि से करना है। गुरु, शास्त्र की सहायता से दृढ मिथ्यात्व-ज्ञानपूर्वक आत्मा को ब्रह्मरूप से जानना आवश्यक है।।४२।।

मनोमयी सृष्टि को फिर कैसे हटायें? सामने घड़ा है तो मन में घड़ा आ ही जाता है, इस पर कहते हैं कि सीढ़ी-सीढ़ी चलना पड़ता है—

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा।
उपाददीत शास्त्रीयमाऽऽतत्त्वस्यावबोधनात्।।४३।।

जीवसृष्टिरूप द्वैत शास्त्रीय और अशास्त्रीय भेद से दो तरह का है। शास्त्रीय का ग्रहण करना आत्मतत्त्व के ज्ञान होने तक उचित है।

जीवसृष्ट द्वैत भी दो प्रकार का है। तुम दो प्रकार की मनोमयी सृष्टि करते हो : पत्नी में भोग्या की दृष्टि करते हो तो शास्त्रीय है, दूसरों की औरतों में भोग्या की दृष्टि करते हो तो अशास्त्रीय है, हैं दोनों ही मनोमयी। 'मैं रसगुल्ला खाऊँ' यह शास्त्रीय दृष्टि करते हो; सफेद अण्डा देखकर 'मैं इसे खाऊँ' यह अशास्त्रीय दृष्टि करते हो। इस तरह जीव जो मनोमयी सृष्टि करता है वह भी दो प्रकार की है—शास्त्रीय और अशास्त्रीय। वेद ने कहीं नहीं कहा कि तुम संसार के मालिक बन सकते हो। वेद ने तो तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य बताया है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आत्मा का साक्षात्कार करो, यही जीव का एकमात्र कर्तव्य है, यही वेद ने बताया है। बाकी सब चीजों में कहा कि अगर तुम अपने को ब्राह्मण मानते हो तो अमुक-अमुक कार्य करो, क्षत्रिय मानते हो तो यह करो, पुरुष या स्त्री मानते हो तो वैसे कर्म करो। जीव का तो एक ही कर्तव्य बताया है कि परमात्मा का साक्षात्कार करो। इसलिये आत्मविचार करना, उसके उपयोगी विवेक, वैराग्य आदि की प्राप्ति करना इत्यादि शास्त्रीय द्वैत है। है यह भी द्वैत ही। गुरु को देखोगे तो सेवा करोगे, बात सुनोगे तब श्रवण होगा। यह सब है तो द्वैत लेकिन इस शास्त्रीय द्वैत को ग्रहण करो।

इसे ग्रहण करने से क्या होगा? उत्तरकाशी में बरसात के मौसम में गंगा जी से पानी की बाल्टी भर कर लाते हैं तो उसमें बालू भरी होती है, पीने लायक पानी नहीं होता। पानी को साफ करने के लिये फिटकरी का एक डला, या एक निर्मली बूटी आती है, उसे लेकर उस पानी में घुमा देते हैं तो सारी बालू बाल्टी के पेंदे में बैठ जाती है और साफ पानी ऊपर रह जाता है। वह पीते हैं तो उसमें फिटकरी या निर्मली बूटा का किंचित् भी स्वाद नहीं आता। फिटकरी खुद भी एक कचरा है लेकिन वह पानी में बालू को नीचे बैठाते हुए खुद भी उसी में बैठ जाती है। कंकड़, बालू, चूना, कोयला आदि की पर्त्तों से गुज़ारने पर भी पानी साफ हो जाता है क्योंकि

वे कंकड़ादि बाकी कचरा रोक लेते हैं और खुद भी पानी में घुलते नहीं। चूना आदि सारी चीजें कचरा होने पर भी पानी का कचरा पी लेती हैं, अपना कोई नया कचरा उस पानी में नहीं डालतीं।

जैसे कोई कचरा पानी गन्दा करने वाला और कोई उसे साफ करने वाला, ठीक इसी प्रकार द्वैत दो तरह का है—शास्त्रीय और अशास्त्रीय। श्रवण, मनन आदि भी कचरा ही है परन्तु संसार का राग-द्वेष से भरा मन जब इस श्रवण-मनन से निकलता है तो राग-द्वेष से रहित शुद्ध होकर निकलता है। जब तक तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक तो दो चीजें अर्थात् द्वैत है। जब परमात्मा का साक्षात्कार हो गया, साक्षात् अपरोक्ष हो गया, तो फिर श्रवण, मनन, गुरु, शास्त्र आदि द्वैत की भी ज़रूरत नहीं है। जब तक तत्त्व-साक्षात्कार न हो जाये तब तक उस द्वैत की ज़रूरत है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर शास्त्रीय द्वैत को भी छोड़ दो।।४३।।

शास्त्रीय द्वैत और उसकी अवधि बताते हैं—

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत्।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम्।।४४।।

आत्मा और ब्रह्म का विचार कहलाने वाला शास्त्रीय मानस संसार है। ब्रह्मात्मैक्य का अप्रतिबद्ध अपरोक्ष हो जाने पर शास्त्रीय जीवद्वैत भी त्याज्य है ऐसा वेद का निर्देश है।

आत्मा अर्थात् प्रत्यक् आत्मा। जो अन्दर से प्रकाश अर्थात् ज्ञान होता है उसे प्रत्यक् कहते हैं। 'प्रातिलोम्येन अञ्चति इति प्रत्यक्'। संसार की सारी चीजें तो तुम्हें अपने से बाहर दीखती हैं, परन्तु 'मैं' कभी बाहर नहीं दीखता। भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्रभाष्य का प्रारम्भ ही किया कि यह सारा संसार दो भागों में बँट जाता है—युष्मद् और अस्मद्, अर्थात् विषय और विषयी। मैं के अन्दर जो प्रकाश है वह प्रत्यगात्मा है। वह प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है, साक्षात् परमेश्वर है। यह जो वेदान्त का तत्त्व है यह सनातन धर्म को एक ऐसा आयाम प्रदान करता है जो संसार में किसी मत-मतांतर, मज़हब में नहीं मिल सकता। सब कहते हैं कि ईश्वर को ज़रूर मानो, ईश्वर जगत् को बनाने वाला है। वह कौन है? वह तो जब तुम स्वर्ग या बहिश्त में जाआगे तो दिखाई देगा। यहाँ उसका कुछ अता-पता नहीं है। ऐसा ईश्वर तुम्हें मानना पड़ेगा। वेदांत कहता है कि तुमको 'तुम' बनाने वाला परमेश्वर है। सब चीजें तुम्हें दीखने वाली अर्थात् ज्ञेय मिलती हैं। केवल 'मैं' ऐसा है जो कभी दीखता नहीं, वह दीखने वाला नहीं है, 'मैं' देखने वाला हूँ। देखने वाले को जो देखने वाला बना रहा है वह ब्रह्म है। 'मैं जान रहा हूँ' यह तुम्हारा अनुभव है, यह हम तुम्हारे सिर पर नहीं डाल रहे हैं कि तुम जान रहे हो। तुम जान रहे हो, यह तुम्हारा प्रत्यक्ष अनुभव है। तुमको जो जानने वाला बनने की शक्ति दे रहा है वह तुम ही ब्रह्म हो। यह तुम्हारा असली रूप ही है। आत्मा का ब्रह्मरूप से जो शास्त्र, गुरु तुमको विचार करवाता है वही शास्त्रीय मानस जगत् है। बाकी जितने कर्तव्य हैं वे तो तब हैं जब तुम जबर्दस्ती मान लेते हो कि 'मैं शरीर हूँ'। शास्त्र नहीं कहता कि तुम अपने को शरीर मानो। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, जब तुम

यह मान लेते हो तब शास्त्र आगे तुम्हारे कर्तव्य बताता है। अगर शास्त्र से पूछो तो वह एक ही बात कहता है कि तुम परमात्मा का साक्षात्कार करो, तुम सचमुच में क्या हो—केवल इसी बात को जानो। ब्रह्म-विचार करवाने का जो शास्त्र है वह भी तुम्हारा मानस जगत् या द्वैत है। परन्तु वह शास्त्रीय द्वैत है। वह भी हेय है, छोड़ने के लिये है लेकिन तब जब तुम्हें तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाये। तभी उस द्वैत को छोड़ो, उसके पहले नहीं।

आत्मा को ब्रह्मरूप समझने की अनेक प्रक्रियायें हैं उनमें से कोई एक, दो या जिन-जिन भी प्रक्रियाओं के द्वारा वह समझ में आता है वे हैं तुम्हारा मानस जगत् ही, तुम ही उस द्वैत की रचना करोगे। सभी प्रक्रियाओं में दोष भी होते हैं। चूँकि मानस जगत् है इसलिये दोष तो होगा ही। कोई भी प्रक्रिया ऐसी नहीं जो दोष वाली न हो। जितना प्रमेय समझने के लिये आवश्यक होता है वह तत्त्वसाक्षात्कार तक के लिये है। जब साक्षात्कार हो गया तब उस शास्त्रीय द्वैत का परित्याग करो, यह श्रुति का अनुशासन है अर्थात् श्रुति ने यही करने को कहा है।

एक शंका होती है कि शास्त्र यह भी कहता है कि 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया' जब तक मर न जाओ तब तक वेदान्तचिंतन करो अतः चिंतन छोड़ना कैसे उचित मानें? जो वेद के एक हिस्से को देखता है दूसरे को नहीं देखता, उसे ऐसे भ्रम होते हैं। एक मुसलमान कभी नमाज नहीं पढ़ता था। एक बार मौलवी उसे समझाने लगे कि कम से कम शुक्रवार को तो पढ़ लिया कर। उसने कहा कि कुरान में लिखा है कि नमाज मत पढ़! मौलवी ने पूछा 'ऐसा कहाँ लिखा है?' उसने दूसरे दिन कुरान लाकर दिखा दिया जहाँ लिखा था 'नमाज मत पढ़'। मौलवी को बड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन उसने पन्ना पलट कर देखा तो आगे लिखा था 'जबकि नापाक हो'। मौलवी ने उससे कहा 'आगे का भी पढ़' उसने कहा—'आगे का आप बाँचो। कुरान की एक बात काफी है, सारी कुरान मैं क्यों बाँचू!' इसी प्रकार के बहुत से लोग होते हैं जो कहीं से गीता का एक श्लोक या उपनिषद् का एक मंत्र याद कर लेंगे और फिर कहीं कोई बात होगी तो कहेंगे 'वेद में यह लिखा है'। उनसे कहो 'उसके आगे भी तो बाँचो', तो कहते हैं, 'वह आप बाँचो'! जैसे कठोपनिषद् में लिखा है कि इस संसार में दो पक्षी हैं। किसी आर्यसमाजी से मिलो तो कहेगा कि वेद में साफ लिखा है कि जीव और ईश्वर अलग-अलग हैं और पेड़ अलग है अतः तुम्हारा अद्वैत नहीं, त्रैतवाद सिद्ध होता है! उनसे कहें कि आगे का मंत्र भी तो देखो जिसमें लिखा है कि जीव-ईश्वर एक हैं। लेकिन आगे का मंत्र नहीं बाँचेंगे। ऐसी बहुत-सी बातें आती हैं जिसमें लोग मनमाना अर्थ करते हैं। 'आसुप्तेरामृतेः कालम्' आदि वाक्यमें 'आमृतेः' का मतलब शरीर से अपने को अलग समझ लेने तक है। अर्थात् जब तक तुम शरीर से आत्मतत्त्व को सर्वथा अलग न समझ लो तब तक वेदान्तचिन्तन ही करना है, यह कहा गया है। उस श्लोक में आगे ही लिखा है 'किंचिन्नावसरं दद्यात् कामादीनां मनागपि' अतः जहाँ काम आदि सम्भव है वहीं के लिये चिंतनविधि है। कामादि को उत्पन्न होने का मौका नहीं देना है। काम आदि की प्रवृत्ति स्थूल-सूक्ष्म देह में अभिमान-पर्यन्त है अतः उनसे तादात्म्यपर्यन्त चिंतन कर्तव्य है, तादात्म्य मिटने पर छोड़ना कर्तव्य है।।४४।।

ऐसा अर्थ करना क्यों ज़रूरी है? क्योंकि शास्त्र में ही (अमृतना. १) लिखा है–

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत् तान्यथोत्सृजेत्।।४५।।

मेधावी को चाहिये कि शास्त्रों का अध्ययन कर, बार-बार उनका अभ्यास (आवर्तन) कर परब्रह्म का अनुभव पाये, फिर शास्त्रों को वैसे ही छोड़ दे जैसे देखने का कार्य हो चुकने के बाद मशाल छोड़ दी जाती है।

ग्रन्थार्थ को ग्रहण या धारण करने की सामर्थ्य को मेधा कहते हैं। जो ग्रन्थ तुम पढ़े हो वह ग्रन्थ तुम्हें याद रहना चाहिए। कोई बच्चा ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ रहा है। हमारे पास आता है तो हम उससे नौंवी-दसवीं कक्षा का कोई प्रश्न पूछते हैं। कहता है 'इसका जवाब नौंवी कक्षा में पढ़ा तो था लेकिन अब याद नहीं है।' नौंवी पास कर ली लेकिन याद नहीं है तो क्या पास किया! जहाँ मेधा शक्ति नहीं होती वहाँ आगे-आगे का पढ़ते जाते हैं, पीछे-पीछे का भूलते जाते हैं। शास्त्र ऐसे मेधारहित लोगों के लिये नहीं है। मेधावी जो याद कर लेता है उसे हमेशा याद रहता है, भूलता नहीं है। इसी प्रकार प्रक्रियाओं में एक-एक कदम होता है। पिछला कदम स्थिर हो गया तभी अगला कदम कारगर होगा। जो मेधावी न हो, उसे तो बार-बार आगे-पीछे का पढ़ते ही रहना पड़ेगा! अगला कदम लेने पर पुनः पिछले की शंकाओं में उलझता रहेगा। मेधावी शास्त्रों का अध्ययन करके आत्मज्ञान को प्राप्त कर ले इसलिये कई जगह कहा गया है कि मेधावी को सकृच्छ्रवणमात्र से अर्थात् एक बार महावाक्य को सुनते ही तत्त्वनिष्ठा हो जाती है। जो ऐसा याद रखने वाला नहीं है, वह बार-बार पढ़े, बार-बार श्रवण-मनन का ही अभ्यास करे। इसलिये श्वेतकेतु को उपदेश देते हुए उसके पिता ने नौ बार तत्त्वमसि कहा है। यदि पिछली सारी बातें उपस्थित हैं, तत् और त्वं पदार्थों का शोधन हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट है, तो तत्त्वमसि सुनने के साथ ही तुम्हारी निष्ठा हो जाती है। अगर ऐसा नहीं है, तो बार-बार श्रवण-मनन ही करे। दोनों हालात में करना तब तक है जब तक 'मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा अपरोक्ष साक्षात्कार न हो जाये।

'मैं ब्रह्म ही हूँ' इतना-मात्र अनुभव मनुष्य को यह संदेह करा देता है कि ब्रह्म बहुत बड़ा है और मैं उसमें एक बिन्दु की तरह हूँ। मैं ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ, किन्तु ब्रह्म तो बहुत बड़ा है। इसलिये 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इतना ही नहीं, 'ब्रह्म मैं ही हूँ' अर्थात् ब्रह्म और मुझ प्रत्यगात्मा में अणुमात्र भी भेद नहीं है, दोनों सर्वथा एक ही हैं। विज्ञान अर्थात् साक्षात् अनुभव करके शास्त्र-प्रयोजन पूरा हो चुका यह निर्णय कर लेना चाहिये। रात्रि में चलते हो तो आजकल हाथ में 'टॉर्च' ले लेते हो, पुराने जमाने में उल्का अर्थात् मशाल जलाकर चलते थे। रास्ते चलने के लिये मशाल की ज़रूरत है। पर जब गन्तव्य घर आदि पहुँच जाते हैं तब मशाल को बाहर छोड़कर जाना पड़ता है। जैसे मशाल को बाहर ही रख देना पड़ता है, इसी प्रकार जैसे ही अपना और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान हुआ, वैसे ही वे जितनी प्रक्रियायें हैं, सब त्याज्य हैं। यदि प्रक्रियाओं

को याद ही करते जाओगे तो वे तुम्हारे अद्वय ज्ञान में बाधा ही डालेंगी क्योंकि प्रक्रियायें द्वैत मानकर बनी हैं। द्वैत है जिसे निवृत्त करना है तभी प्रक्रिया चाहिये। अद्वैत निश्चित हो जाने पर इसलिये उन सबको छोड़ना पड़ता है। वस्तुदृष्टि से सारी प्रक्रियायें ग़लत हैं, क्योंकि मायिक हैं। जैसे मशाल रास्ते चलने के लिये ज़रूरी है, घर में ले जाने के लिये नहीं, इसी प्रकार शास्त्र का अध्ययन रास्ते चलने के लिये अर्थात् विज्ञान प्राप्त करने के लिये है, जब अनुभव में पहुँच गये तो उसे सर्वथा छोड़ देना उचित है।

कहाँ उत्सर्जन करना या छोड़ना है? वैदिक यज्ञ में बारहसिंगा हरिण के सिर से निकले हुए सींग को पास रखने को कहा है। यज्ञ में आहुति आदि दोगे, गर्मी का मौसम हो तो पसीना आयेगा, खाज होगी। यज्ञ के दौरान हाथ से खुजलाना मना है क्योंकि खुजलाने से हाथ में पसीना लगेगा जो अपवित्र पदार्थ है, उसी हाथ से आहुति देनी है। इसलिये हाथ से न खुजलाकर उस सींग से खुजलाने को कहा है। जब यज्ञ पूर्ण हो गया, सामग्री तो सारी समाप्त हो गई, पर उस सींग का क्या करें? शास्त्र ने बताया है कि उसे घर में ले जाकर नहीं रखना है, वरन् गड्ढा खोद कर उसमें डालना चाहिये। नवरात्री में देवी की प्रतिष्ठा करते हैं। मूर्ति की नहीं तो घड़े में स्थापना करते ही हैं। नौ दिन तक उसकी देवीरूप में पूजा होती है। नवरात्री के बाद उस मूर्ति या घट का क्या करें? उस मूर्ति का जल में ले जाकर उत्सर्ग, विसर्जन कर देते हैं। नौ दिन पूजा के लिये मूर्ति ज़रूरी भी है लेकिन पूजा पूरी होने के बाद उसे लेकर नहीं बैठे रहना है, उसे जल में उत्सर्ग करना पड़ेगा। इसी प्रकार जितनी शास्त्रीय प्रक्रियायें हैं वे सारी तब तक अभ्यास करने के लिये हैं जब तक तत्त्वबोध नहीं हो गया। तत्त्वज्ञान होने के बाद उनका उत्सर्ग करो, छोड़ो।

ज्ञान कोई ऐसी चीज़ तो है नहीं कि उसे सींग या मूर्ति की तरह कहीं पानी में फेंकें! इसलिये कहा है कि शिष्य के हृदय में उस ज्ञान को तुम छोड़ दो। जब उन सब प्रक्रियाओं को लेकर शिष्य के सामने सिद्धान्त प्रकट करोगे तब उसे भी तत्त्वज्ञान हो जायेगा। भगवान् भाष्यकार बताते हैं कि प्रायः लोग कहते हैं कि गुरु पारसमणि की तरह है। जैसे पारसमणि लोहे को सोना बना देती है, ऐसे ही गुरु शिष्य को आत्मज्ञानी बना देता है। परन्तु यह दृष्टांत ठीक नहीं है। पारसमणि लोहे को सोना बनाती है, पारस तो नहीं बनाती! चाहे दस मन लोहा पड़ा हो, उससे पारसमणि छुआओ तो वह दस मन सोना बन जायेगा, पारस तो नहीं बनेगा! परन्तु गुरु शिष्य को तत्त्वज्ञान देकर गुरु ही बना देता है, जिस परमात्म-स्वरूप को गुरु ने प्राप्त किया वही शिष्य को प्राप्त करा देता है। विविध प्रक्रियाओं को उसके हृदय में स्थापित करके उस तत्त्वज्ञान का विकास करा देना ही शास्त्रों का उत्सर्ग है। वह भी उन प्रक्रियाओं को आगे किसी शिष्य में स्थापित करके उनको छोड़ देता है। साक्षात्कार के बाद ही उक्त प्रकार से उत्सर्ग करे, ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक तो प्रक्रियाओं से ही अभ्यास करे। इसलिये पूर्व श्लोक में (४४) कहा था कि तत्त्व समझ लेने पर द्वैत त्याज्य है। 'हेय' शब्द से लगता है मानो वे चीजें बेकार हों,

इसलिये 'उत्सर्ग' शब्द से बताया कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने के बाद अपने लिये शास्त्र बेकार हैं, दूसरे (साधक) के लिये तो लाभकारी हैं ही।।४५।।

समझने और हृदय में स्थिर करने के लिये विचार के विभिन्न प्रकार हैं, अपनी-अपनी बौद्धिक स्थिति के अनुरूप साधक उनका उपयोग करता है। निर्णय पर स्थिरता हो चुकने पर उन प्रकारों का उपयोग न रहने से जहाँ उपयोग हो वहाँ उनका उत्सर्ग बताया। इसमें अमृतनादोपनिषत् (श्लो.१) का संकेत पूर्व श्लोक में देकर ब्रह्मबिन्दूपनिषत् से भी (श्लोक १२) यह प्रमाणित करते हैं–

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः।।४६।।

शास्त्र का अर्थ समझने व उसे अनुभव करने में तत्पर मेधावान्, ग्रंथ का अभ्यास कर जैसे धान्य चाहने वाला पुआल छोड़ देता है वैसे, समूचा ग्रन्थ छोड़े।

मेधावी अर्थात् जिसमें ग्रन्थ धारण करने की सामर्थ्य है, उसे पहले ग्रंथ का अभ्यास करना पड़ेगा। अभ्यास कर लिया तो ज्ञानतत्पर होना पड़ेगा अर्थात् बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति के संस्कार मन में बिठाने पड़ेंगे। बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति को बनाये, जिससे उसके संस्कार दृढ हो जायें। जब संस्कार दृढ हो गये तब केवल उस अनुभव के अन्दर ही स्थिर रहे, फिर संस्कार *बनाने* की जरूरत नहीं है। अतः केवल अनुभवमात्र में ही परायण रहे, स्वरूप में ही स्थिर रहे, वृत्ति की तब कोई ज़रूरत नहीं बचती है। जब ज्ञानपूर्वक विज्ञान में तत्पर रहने की सामर्थ्य है, अर्थात् बिना श्रवण-मनन के ब्रह्माकार वृत्ति बना पाता है, तब ग्रन्थ की ज़रूरत नहीं है और जब अनुभव में स्थित हो गया तब वृत्ति की भी जरूरत नहीं है। इसमें दृष्टान्त दिया कि जिसको भूसी में से चावल निकालना है, जो चावल निकालने के लिये प्रयत्नशील है वह पलाल को फेंककर चावल को रख लेता है। ग्रन्थ पलाल की तरह है। उसके अन्दर जो प्रतिपाद्य विषय है वह धान्य, चावल की जगह है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ' यही निश्चय सारे श्रवण-मनन का प्रयोजन है। जब यह निश्चय हो गया तब धान्य की प्राप्ति हो गई। जैसे धान्यार्थी पलाल को फैंक देता है वैसे ही अब अशेष ग्रंथ का त्याग कर दे। श्रवण के प्रयोजन वाले और मनन के प्रयोजन वाले ग्रंथों का शिष्य में आधान कर स्वयं ब्रह्मस्वरूप से रहे।।४६।।

बृहदारण्यक (४.४.१२) श्रुति ने भी यही कहा है–

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।।४७।।

धीर ब्राह्मण उसे ही अनुभव कर 'प्रज्ञा' करे। बहुत शब्दों का अनुध्यान न करे क्योंकि वह वाणीसम्पादित आनन्दक्षयहेतु है।

'अथ ब्राह्मणः' से बृहदारण्यक (३.५) उपनिषद् में कहा है कि जब ज्ञान दृढ हो जाता है तभी कोई वस्तुतः ब्राह्मण होता है। उसके पहले उसको ब्राह्मण वैसे ही कहा जाता है जैसे कोई मेडिकल कॉलेज में भर्ती हो गया तभी लोग उसे डॉक्टर कहने लगते हैं। जबकि डॉक्टर बनेगा तब जब उसे एम.बी.बी.एस. की उपाधि मिल जायेगी। पहले ही उसे कहने लगते हैं क्योंकि डॉक्टर बनने वाला है। इसी प्रकार ब्राह्मण के कर्तव्य बताते हुए कहा है कि ब्राह्मण शरीर की प्राप्ति ब्रह्मनिष्ठा के लिये ही है, क्षुद्र भोगों की प्राप्ति के लिये नहीं है। मनु महाराज कहते हैं 'क्षुद्रकामाय नेष्यते' ब्राह्मण का शरीर इसलिये मिला है कि तुम ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त करो, क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिये नहीं मिला है। क्षुद्र का अर्थ है जो चीज़ तुम्हें मिलती है और हाथ से निकल जाती है। आत्मज्ञान से अतिरिक्त सारी चीज़ें तुम्हारे स्थूल सूक्ष्म शरीरों को ही प्राप्त हो सकती हैं, इसलिये उनकी कामना क्षुद्र की कामना है। क्षुद्र कामनाएँ छोड़ने वाले को ही साधन से जब ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति होगी तब वह वस्तुतः ब्राह्मण होगा। उससे पहले इसलिये कहलाता है कि उस रास्ते चल रहा है।

ब्रह्मनिष्ठा कैसे प्राप्त होती है? धीर होने से ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति होती है। धीर शब्द के दो अर्थ हैं—एक, जब कोई किसी काम को धीरजपूर्वक करता है तब उसे धीर या धैर्यवाला कहते हैं। दूसरा, 'धी' बुद्धि को कहते हैं। जब बुद्धि से बार-बार श्रवण-मनन करते हैं तब ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति होती है। यह एक-दो या पाँच-दस दिनों का काम नहीं है। भगवान् गीता में कहते हैं 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' बहुत से जन्मों तक जब अभ्यास करता रहता है तब अंतिम जन्म में परमात्म-तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब परमात्मा में लीन हो जाता है, परमात्मरूप हो जाता है। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' अनेक जन्मों तक साधना करके वह सिद्ध होता है। अतः इस मार्ग में धैर्य की बड़ी ज़रूरत है। असफलता का बहुत बड़ा कारण यह है कि लोगों में धैर्य नहीं है। लोग तुरन्त फल चाहते हैं। एक बार बन्दरों ने निर्णय किया कि 'रोज़-रोज़ चोरी करके खाते हैं, इसलिये हमें खेती करनी चाहिये।' बन्दर नकल करने वाला होता ही है। उन्होंने देख रखा था कि कैसे बीज बोया जाता है। वे कहीं से गेहूँ चुरा लाये और उन्हें बो भी दिया। अब हर घण्टे-आधे घण्टे में उसे निकाल कर देखने लगे कि गेहूँ लगा या नहीं। ऐसे गेहूँ को क्या फलना है! हमने ऐसे मनुष्यों को देखा है जो दही के लिये दूध में जामन लगा कर रखते हैं लेकिन घण्टे-दो घण्टे में उसे हिलाकर देखते हैं कि दही जमा या नहीं। यह भी बंदर की तरह का आचरण है। ऐसे कभी दही नहीं जमेगा।

इसी प्रकार लोग वेदान्त की साधना में बजाय इसके कि दीर्घ काल तक बार-बार श्रवण मनन करते रहें, थोड़ा-सा श्रवण-मनन करके सोचते हैं 'और करने से क्या फायदा'! जब उससे विरत होंगे तब कोई कामना उद्बुद्ध होगी ही। उसे पूरा कर फिर थोड़ा श्रवण-मनन में लगते हैं लेकिन बार-बार सोचते रहते हैं कि उसका क्या फल हुआ। कई लोग कहते भी हैं 'बीस साल से श्रवण कर रहे हैं, लेकिन अभी भी दुःख तो होता ही है'। इसीलिये भगवान् ने कहा कि जन्म

भर करना पड़े और चाहे कई जन्मों में करना पड़े तो भी अधीर मत होवो। बार-बार मत सोचो कि ज्ञान का क्या फल हुआ, क्योंकि कोई फल नहीं हुआ इस विपरीत संस्कार के कारण कभी निष्ठा बनेगी ही नहीं। निरन्तर अभ्यास करते-करते अपने-आप ही अनुभव होने लगता है, खोद-खोद कर देखने की जरूरत नहीं है! कोई बच्चा सोने जा रहा था तो माँ से कहा 'नींद में मुझे पेशाब लगे तो जगा देना।' माँ ने कहा 'तू चिन्ता मत कर, जब तुझे पेशाब लगेगा तो तू अपने आप जाग जायेगा, जगाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी'। इसी प्रकार लोग सोचते हैं कि ज्ञान हुआ या नहीं—कैसे पता लगेगा? कोई पता लगाने की ज़रूरत नहीं है। जब ज्ञान होगा तब तुम्हारा अनुभव अपने-आप ही वैसा हो जायेगा। भोजन करते हैं तो पेट भरता है। पेट भरने का पता किसी दूसरे के कहने से या हमने कितना खाया इसे जानने से थोड़े ही लगता है। पेट भर गया यह अपने आप पता लगता है। हर कौर में कुछ-न-कुछ भरता अवश्य है लेकिन काफी भरने से पहले पता नहीं लगेगा कि भरा या नहीं। इसी प्रकार निरन्तर श्रवण-मनन में लगे रहो, ज्ञान पुष्ट होगा तो अपने आप पता लग जायेगा। इसलिये इस मार्ग पर चलने वाले में धैर्य होना चाहिये। धैर्य से बुद्धि में रमण करना है, अर्थात् बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति को बनाने की जो प्रक्रियायें हैं उन्हें प्रयोग में लाते जाना है। उस आत्मतत्त्व का ही बार-बार श्रवण-मनन करते रहना है। सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है, इसे जानते हो तो सब कुछ जानते हुए ब्रह्म को ही जान रहे हो। ये साधन तो हैं परन्तु ये सब जानना सचमुच में ब्रह्मज्ञान नहीं है। ये सब ब्रह्म हैं, पर इनको जानना ब्रह्मज्ञान नहीं है। 'ये सब नहीं हैं, मैं ही ब्रह्म हूँ' यह ब्रह्मज्ञान है। प्रत्यगात्मा के अतिरिक्त बाकी सारी चीजें छोड़नी हैं। प्रत्यगात्मरूप से व्यापक को समझना ही ब्रह्मज्ञान है।

जब उसका अनुभव हो जाये तब उस प्रज्ञा में ही स्थित रहो। अगर यहाँ 'प्रज्ञा' का मतलब ब्रह्माकार वृत्ति बनाना है तब 'विज्ञाय' में लक्षणा करनी पड़ेगी। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने दोनों तरह से अभिप्राय कहा है। अगर विज्ञाय का मतलब 'शास्त्र दृष्टि से जानकर' यह करें तो प्रज्ञा का मतलब होगा बार-बार वृत्ति को बनाना। अगर 'विज्ञाय' अर्थात् साक्षात् अनुभव हो गया है तब 'प्रज्ञा' का अर्थ उसमें स्थिर रहना ही है जो स्वभाव से होगा, करना नहीं पड़ेगा। अगर 'कुर्वीत' का 'कुछ करना' अर्थ करते हैं तो 'विज्ञाय' का मतलब शास्त्र-दृष्टि से निश्चय करके प्रज्ञा अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति को तब तक बनाये जब तक तत्त्व में स्थिर न हो जाये।

उसके बाद 'बहून् शब्दान्' अर्थात् बहुत्व-प्रतिपादक, अनेकता का प्रतिपादन करने वाले जो शब्द हैं उनका विवेचन छोड़ देना चाहिये। जैसे कहा जाता है कि परमात्मा न मूर्त है, न अमूर्त है। मूर्त और अमूर्त दोनों शब्द बहुत-सी चीजों का प्रतिपादन करने वाले हैं। इसी प्रकार पंचकोश, तीन अवस्थायें आदि जितने विचार हैं ये सब बहुत्व का प्रतिपादन करने वाले शब्दों के द्वारा ही उस एक का प्रतिपादन करते हैं। जब तक उस एक तक नहीं पहुँचे तब तक ही इन शब्दों की ज़रूरत है। जैसे चिट्ठी आई कि पाँच किलो चावल, एक किलो दाल, एक छटाँक नमक-मिर्च, छटाँक भर घी—यह सारी सामग्री लेकर आना। जाकर जब सौदा खरीद लिया, उसके बाद चिट्ठी को फैंक देते हैं क्योंकि उसकी अब ज़रूरत नहीं है, तभी तक ज़रूरत थी जब

तक सामग्री ली नहीं। इसी प्रकार जब मृत्यु का अतिक्रमण हो गया अर्थात् समझ में आ गया कि मृत्यु का अपने साथ न कभी संबंध रहा है, न है और न हो सकता है तब शब्द व्यर्थ हो गये। इस प्रकार के निश्चय पर पहुँचने के लिये ही शब्दों की जरूरत थी क्योंकि शास्त्रीय शब्दों से ही यह निश्चय होगा। जब निश्चय हो गया तब ग्रन्थों का, बहुत्ववाचक शब्दों का कोई प्रयोजन नहीं रहा, इनके अध्ययन, चिन्तन या ध्यान करने की ज़रूरत नहीं बची। भिन्न-भिन्न सोपानों के अनुसार पहले शब्दों को याद करने की ज़रूरत नहीं रहेगी। फिर ब्रह्माकार वृत्ति बनाने की भी ज़रूरत नहीं रहेगी, जब अर्थ में स्थित हो गये तो व्यवहार व्यर्थ हो जाता है, उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।।४७।।

मुण्डकोपनिषत् (२.२.५), कठोपनिषद् (३.१३) आदि के संग्रह से भी यही प्रमाणित करते हैं—

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः।।४८।।

'उसी एक को जानो, बाकी बातें छोड़ो', 'प्राज्ञ को चाहिये कि वाक् को मन में छोड़े' इत्यादि श्रुतिवचन स्पष्टतः (ज्ञान के बाद शास्त्रीय जगत् को भी हेय बताते हैं)।

'तम्' अर्थात् प्रत्यगात्मा का जो स्वरूप है; 'एव' अर्थात् जितनी भी उसकी उपाधियाँ उन सबको हटाकर शुद्ध परमात्म-स्वरूप सजातीय, विजातीय, स्वगत—तीनों भेदों से रहित एक ही है, ऐसा उसका विज्ञान अर्थात् अनुभव या साक्षात्कार करो। उससे अन्य किसी भी चीज़ का प्रतिपादन करने वाले जो वाक्य हैं उन्हें छोड़ो। अद्वितीय के ग्राहक वाक्यों से अन्य वचनों से तो अवश्य मुक्त हो जाओ। मुण्डक में श्रुति में कहा है 'अमृतस्यैष सेतुः' यह अमृत का सेतु है। कठ उपनिषद् है 'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञानआत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि।' (३.१३)। जो प्राज्ञ है अर्थात् जिसने प्रज्ञा प्राप्त कर ली कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' वह वाणी को मन में लीन कर दे। फिर उसे शब्दों की ज़रूरत नहीं है। पहले किसी चीज़ को जानने के लिये शब्दों की जरूरत होती है। जब अर्थ समझ लिया तब शब्द व्यर्थ हो जाते हैं। वाणी का मन में लीन होना अर्थात् वाणी का अर्थ हमारे मन में रूढ हो गया। फिर उस मन को ज्ञानरूप आत्मा के अन्दर लीन कर दे, समष्टि बुद्धि में लीन कर दे। तदनन्तर वृत्तिहीन होकर जो अपनी शुद्ध अनुभवस्वरूप स्थिति है, केवल उसी में स्थित हो जाये। इस प्रकार की श्रुतियाँ स्पष्टरूप से इस बात को कहती हैं कि सारा ही द्वैत हेय है।

शास्त्र में कहा कि आत्मा का दर्शन करो, उपनिषदों का श्रवण, मनन युक्ति से करो; निश्चय करने के बाद सब साधन भी छोड़ दो। शास्त्रीय द्वैत भी निरुपयोग हो चुकने पर त्यागने लायक ही है। अन्य धर्म तो कहते हैं कि ईश्वर को मानो और हम कहते हैं कि ईश्वर को जानो। वह तुम्हारे अन्दर बैठा हुआ है, इसलिये उसे जानते हुए भी तुम उसके वास्तविक स्वभाव को नहीं जानते। 'मैं जानने वाला हूँ' तो जानते हैं किन्तु जिस ज्ञान से यह अहंकारात्मिका वृत्ति भी

बनी है उसे नहीं जानते। अन्य वादी कहते हैं कि जानने के साधन को तुम्हें हमेशा पकड़े रहना पड़ेगा, वह चाहे मसीहा या प्रॉफेट के रूप में हो। एकमात्र वेद ही कहता है 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति'! जब तुम जहाँ पहुँचने चले थे वहाँ पहुँच गये, तब पहुँचाने वाला वेद भी 'अवेद' हो जाता है क्योंकि ज्ञान उत्पन्न करने के बाद जानने का साधन व्यर्थ हो जाता है। संसार में कोई दूसरा धर्म यह कहने की हिम्मत नहीं करता कि वहाँ पहुँचो जहाँ तुम्हें कोई सहारा न चाहिये रहे।।४८।।

शास्त्रीय द्वैत बताया। अब अशास्त्रीय कहते हैं—

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत्।।४६।।

तीव्र और मन्द भेद से अशास्त्रीय द्वैत दो तरह का है। कामना, क्रोध आदि तीव्र द्वैत है, मनोराज्य मन्द द्वैत है।

शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकार के द्वैत बताये थे। शास्त्र के द्वारा सूचित शास्त्रीय द्वैत श्रवण-मनन आदि हो गया। दूसरा अशास्त्रीय द्वैत है। वह दो प्रकार का है—तीव्र और मन्द। काम, क्रोध आदि तीव्र हैं। काम, क्रोध आदि वे हैं जो अपने संस्कारमात्र से तुम्हें प्रवृत्त करते हैं। दूसरा है मनोराज्य। वह भी अशास्त्रीय द्वैत है किंतु मन्द है। मन से चीज़ों को सोचते रहते हो, इसे मनोराज्य कहते हैं। काम, क्रोध आदि को तीव्र इसलिये कहते हैं कि जब उन का वेग आता है तब तुम कुछ अन्य सोच ही नहीं सकते। कामना मन में आ गई तो उसे रोकना तुम्हारे लिये सम्भव नहीं रहता है। क्रोध तो उससे भी आगे की कड़ी है इसलिये उसको रोकना और भी असम्भव है। कामना को ही साधारण आदमी नहीं रोक पाता। तुम्हें निश्चित पता है, डॉक्टर ने कहा है कि तुम्हारा शक्कर का रोग बहुत बढ़ा हुआ है, चीनी मत खाओ। लेकिन सामने बढ़िया दाल का सीरा आ गया, उस समय भी 'उसे नहीं खाना चाहिये' यह वृत्ति बनती है फिर भी सोचते हो कि 'थोड़ा तो मुँह में डाल लें'; अपने को नहीं रोक पाते। जब कामना ही रोकनी मुश्किल है तो क्रोध का कहना ही क्या! 'आदि' से मोह, मद, मात्सर्य आदि समझ लेना। लेकिन जब सामने दाल का सीरा नहीं है, केवल मन में सोच रहे हो कि 'दाल का सीरा खायें तो बहुत अच्छा हो', वह मनोराज्य है। उसमें मन्दता है। इसलिये उसे रोका जा सकता है। मनु ने कहा है 'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् प्रभविष्यसि'। 'हे कामना! मैंने तेरा मूल जान लिया है। तू संकल्प से पैदा होती है। मैं संकल्प नहीं करूँगा, तभी तू नष्ट होगी।' मनोराज्य कामनादि की मन्द अवस्था है। भगवान् ने भी गीता में कहा है 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते।' पहले विषयों का ध्यान होगा। मनोराज्य में विषय संमुख आयेंगे, तब उन पदार्थों के प्रति आसक्ति बढ़ेगी। अंग्रेजी में कहावत है 'आउट ऑफ साइट, आउट ऑफ माइण्ड' कि यदि कोई चीज़ लम्बे समय तक दृष्टि से दूर रहती है तो उसकी याद नहीं आती। जर्मनी पहुँचे हुए छह साल हो गये तो दाल का सीरा याद भी नहीं आता,

वापिस भारत आ गये और दाल का सीरा सामने आया तब तो फिर मन में आता है कि खा ही लें। पहले विषय-चिन्तन करने के बाद उसके प्रति संग होता है 'यह मिले तो ठीक है'। तब कामना उत्पन्न होती है कि 'अमुक दुकान में बहुत बढ़िया सीरा बनता है, वहाँ जाकर खायें'। इस प्रकार दो तरह का अशास्त्रीय द्वैत बताया।।४६।।

शास्त्रीय की तरह यह उपादेय न होकर हेय है इसे स्पष्ट करते हैं—

उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः।।५०।।

ज्ञान उत्पन्न हो सके इसके लिये सत्य को समझने से पहले ही दोनों अशास्त्रीय द्वैतों का निवारण करना आवश्यक है। ज्ञान-साधनों में क्योंकि शान्ति और एकाग्रता की गणना वेद में है (इसलिये उनके विरोधी कामना और मनोराज्य दूर करना उचित है)।

जब तक तत्त्व का बोध न हो जाये, तत्त्व समझ में नहीं आये, तब तक तत्त्वज्ञान हो जाये—इसके लिये तीव्र और मंद दोनों अशास्त्रीय द्वैत का निवारण करना पड़ता है। साधनावस्था में ही काम क्रोध आदि का भी निवारण करो और मनोराज्य का भी निवारण करो। दोनों का निवारण क्यों करना है? क्योंकि ज्ञान के साधनों में इनसे विरुद्ध दोनों बातों को गिनाया गया है : काम क्रोध आदि जो तीव्र अशास्त्रीय द्वैत है उसे हटाने का साधन शम है। मनोराज्य को हटाने का साधन समाधि का अभ्यास है जिसे यहाँ 'समाहितत्व' कहा है। समाधि के अभ्यास से मनोराज्य को हटाओ। समाधि का अभ्यास करोगे तभी मनोराज्य नहीं बनेगा। शम और समाहितत्व के द्वारा तीव्र और मंद दोनों प्रकार के अशास्त्रीय द्वैत को अर्थात् काम-क्रोधादि और मनोराज्य को हटाने के लिये श्रुति ने कहा है। तत्त्वज्ञान के पहले दोनों को हटाना ज़रूरी है क्योंकि जो ज्ञान के साधन हैं वे इनके रहते संभव नहीं।।५०।।

'पहले हेय है' कहने से शंका होती है कि फिर बोध के बाद काम, क्रोधादि हो तो क्या हर्ज़ा है, जब ज्ञान सिद्ध हो ही गया? इसके समाधान में कहते हैं—

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य न हि मुक्तता।।५१।।

ज्ञान के बाद भी अशास्त्रीय द्वैत त्याज्य है ताकि जीवन्मुक्ति बनी रहे। कामना आदि क्लेशों के बन्धन से बंधा रहते मुक्त नहीं है।

ज्ञान की प्राप्ति हो जाना अर्थात् निश्चय होना कि मैं ब्रह्म ही हूँ। यह निश्चय होने पर भी अभी मन ख़त्म हुआ नहीं है। यह तो निश्चित है कि जिसको तत्त्वज्ञान हो गया उसकी विदेह मुक्ति हो जायेगी क्योंकि ज्ञान सारे संचित कर्मों को नष्ट कर देगा, आगामी कर्म बनेंगे नहीं, प्रारब्ध जब तक बाकी है तब तक भोगना ही पड़ेगा। किंतु कामनादि नष्ट न हुए तो जीवनकाल में बंधनानुभव ही रहेगा, मोक्षानुभव नहीं होगा। जीते हुए मुक्ति का जो विलक्षण रसास्वादन है

वह कामनादि हटाने पर ही प्रकट होता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि नित्यमुक्त आत्मा क्यों मनुष्य के शरीर में आया है? जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द लेने के लिये ही आया है। जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द की सिद्धि के लिये शरीर, मन आदि बने रहें, सारे कार्य करते रहें, परन्तु 'मैं' मुक्त रहे—यह स्थिति जीते हुए ही मुक्ति है। इसमें किसी प्रकार का दुःख होता ही नहीं। जीवन्मुक्ति सिद्ध हो जाये इसलिये तत्त्वज्ञान के बाद भी अशास्त्रीय तीव्र और मन्द दोनों द्वैतों को छोड़ देना है। तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिये छोड़ना साधनरूप में है और तत्त्वज्ञान के बाद इन्हें जीवन्मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति के लिये छोड़ना है। भगवान् भाष्यकार ने इसे बहुत स्पष्ट किया है कि शम आदि साधन ज्ञानी में स्वभाव से रहते हैं, अज्ञानी में प्रयत्न से रहते हैं।

ऐसे समझ लेना जैसे पुराने ज़माने में हम लोग ढैया आदि सब पहाड़े याद करते थे तो झट हिसाब कर लेते थे। आजकल वैसे याद नहीं करते तो जोड़-गुणा आदि करके हिसाब निकालते हैं। स्मरणशील को क्षणभर लगता है, आधुनिक ढंग वाले को समय लगता है। यंत्र से हिसाब करने वाला पराधीन बना रहता है। इसी प्रकार यदि साधनावस्था में कामादि नियंत्रित कर तत्त्वज्ञान पा लिया तो बाद में प्रयासपूर्वक भले ही अपनी असंगता समझ आये लेकिन एकाएक नहीं, जबकि जिसने कामना आदि का उन्मूलन ही कर लिया उसे प्रारब्ध से वृत्ति बनने के साथ ही अपनी निर्विकारता भी लगातार भासती रहती है। अतः साधनों को ब्रह्मज्ञान में स्वाभाविक हो चुकना चाहिये ऐसा आचार्य ने समझाया। उससे बगैर प्रयास के आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द बना रहता है। साधक काफ़ी प्रयास से जिस निर्विकार स्थिति पर टिक पाता है वह सिद्ध के लिये हमेशा अनायास हो यही जीवन्मुक्ति का उपाय है। कामना से जैसे विद्वान् विचलित नहीं होता वैसे मनोराज्य से भी नहीं अतः दोनों अशास्त्रीय द्वैत छोड़े रहता है। 'प्रारब्ध से ही मिलता है' आदि विचार विद्वान् को नहीं करना पड़ता वरन् उसका वह अनुभव रहता है। अतः 'प्रारब्ध अमुक ढंग का फल दे' ऐसा उसका भाव नहीं बनता। जो सामने आये उससे निष्प्रभावित हो वह अनुभव करता है, उसमें किसी तरह उलझता नहीं। ज्ञान के बाद जिसने कामना आदि नियंत्रित नहीं किये वह भी अज्ञानी की तरह अशान्त तो नहीं होता लेकिन नित्य-निरन्तर शांत भी नहीं रहता। साधनदशा की तरह ज्ञान के बाद भी इन अशास्त्रीय द्वैतों को हटाने पर ही जीवन्मुक्ति संभव है। अन्यथा कामना आदि क्लेशों का बन्धन बना रहने से मुक्ति ही नहीं है!

भगवान् पतञ्जलि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँचों का नाम क्लेश बताते हैं। अविद्या होने पर 'मैं' की भावना आती है। 'मैं' एक वृत्ति है, वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकती। अज्ञान के कारण उस वृत्ति को हम अपना स्वरूप देखते हैं, हम समझते हैं कि 'यही मैं हूँ'। बच्चा काँच में अपने को ही देखता है, सोचता है कि इसमें कोई दूसरा बच्चा है उसे आवाज़ देता है—'आओ, खेलें।' उसे क्या आना है! बच्चा रोने लगता है। माँ पूछती है—'क्यों रो रहा है?' कहता है कि 'यह मेरे साथ खेलने नहीं आता।' जैसे दर्पण में जो चेहरा दीख रहा

है वह चेहरा वहाँ है नहीं, भ्रम के कारण वैसा प्रतीत हो जाता है, उसी प्रकार मैं-वृत्ति के अन्दर प्रत्यगात्मा की छाया को देखकर हम समझते हैं कि यही मैं हूँ। वस्तुतः वह मैं नहीं हूँ, मैं तो बिम्ब है जो उसमें प्रतिबिम्बित हुआ प्रतीत होता है।

अविद्या के कारण यह अस्मिता होती है। जैसे ही मैं को अपना स्वरूप माना वैसे ही अंतःकरण हावी हो जाता है। अंतःकरण के अन्दर संस्कार पड़े हुए हैं, उन संस्कारों के कारण मैं-वृत्ति के अन्दर राग, द्वेष आदि होंगे ही। जैसे संस्कार होंगे वैसे ही राग-द्वेष भी प्रकट होंगे। किसी ने फूलों की माला पहनाई तो मन में होगा कि 'बड़ा अच्छा आदमी है, भक्त है'। किसी ने जूतों की माला पहना दी तो द्वेष होगा कि 'यह महादुष्ट है, महानास्तिक लगता है।' यह सब इसलिये होता है कि अपने में अस्मिता बैठी है जिसके कारण शरीर के साथ तादात्म्य होकर शरीर के साथ किया व्यवहार अपने साथ किया लगता है। अगर किसी दूसरे को जूतों की माला पहनायी हो तो जैसे हमारे मन में होता है कि *उसका* अपमान हुआ वैसे अपने शरीर से हुए व्यवहार के बारे में नहीं हो पाता।

अज्ञान के कारण अस्मिता, अस्मिता के कारण राग, द्वेष और तब अभिनिवेश होता है कि इस शरीर को छोड़कर मैं कभी नहीं रहूँ, यह शरीर हमेशा मेरे पास ही रहे। ये पाँचों क्लेश हैं। बीज तो अविद्या है। अज्ञान है तब आगे सारा खेल चलता है। यदि ये कामादि क्लेश बन्धन हैं तो इन से जो युक्त है वह मुक्त नहीं है। निश्चय जानो कि तब तक अविद्या का बीज अभी नष्ट नहीं हुआ है। जीवन्मुक्ति की जब तक सिद्धि न हो जाये तब तक मनोराज्य को भी छोड़ना है, काम क्रोध आदि को तो छोड़ना ही है। शास्त्रीय द्वैत तो निरुपयोग होने से हेय है, अशास्त्रीय इसलिये हेय है कि जीवन्मुक्ति में रुकावट डालता है।। ५१।।

प्रश्न होता है कि तत्त्वज्ञान से विदेह मुक्ति निश्चित हो गयी तो जीवन्मुक्ति न होने से क्या हानि? वैसे भी जीवन्मुक्ति प्रतीतिमात्रसिद्ध दशा है अतः 'आपाततः' ही मोक्ष है; वास्तविक नहीं है, प्रारब्ध नामक उपाधि से प्रयुक्त है और औपाधिक कभी सत्य नहीं होता। इसका उत्तर समझाते हैं कि मुमुक्षु वही है जो कैसा भी दुःख न सहना चाहे। जिसे सांसारिक क्लेश हेय नहीं लगते वह तो तत्त्वज्ञान का भी अधिकारी नहीं, उसे विदेह भी मोक्ष नहीं मिलेगा। जो यहीं मुक्त हो चुका वही प्रारब्ध-समाप्ति पर मुक्त हो सकेगा—

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात् कृती भवान्।।५२।।

(अगर कहो कि) यह जीवन्मुक्ति भले ही न हो, आगे जन्म न होने से ही मैं कृतार्थ हूँ; तो (सच्चाई समझ लो—) तुम्हारा जन्म भी अवश्य होगा क्योंकि तुम केवल स्वर्ग से कृतार्थ हो!

वैराग्य के दो रूप हैं—एक, दुःखजन्य वैराग्य होता है और दूसरा विचारजन्य वैराग्य होता है। 'मुझे दुःख नहीं चाहिए, सुख ही चाहिए' इस तरह दुःख का कभी अनुभव न हो— इतने मात्र को ही जो चाहता है, उसे दुःखजन्य वैराग्य है। 'संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया' 'चाहे

जितनी विषय-सुख की प्राप्ति हो जाये वह सब निस्सार ही है' यह समझकर जो सार ही पाना चाहता है उसे विचारजन्य वैराग्य है। विचारजन्य वैराग्य नित्य-अनित्य का, सत्य-असत्य का विचार करने से आता है। इससे प्रतिकूलता-अनुकूलता दोनों ही एक जैसी निस्सार प्रतीत होती हैं। प्रायः प्रतिकूल अनुभव से बचने के लिए मनुष्य परमात्मा की तरफ जाता है। प्रतिकूल अनुभव न हो, अनुकूल अनुभव होता रहे तो कोई हर्ज़ा महसूस नहीं होता। प्रतिकूल अनुभव कुछ तो देखे जाते हैं जैसे रोग, धन का नाश इत्यादि। कुछ प्रतिकूल अनुभव देखे तो नहीं जाते, परन्तु सुने जाते हैं। 'यहाँ से मरकर जाने पर बड़ी भारी पीप से भरी हुई वैतरणी नदी आती है जिसे पार करना पड़ता है, यमराज के भयंकर दूत यातना देते हुए ले जाते हैं' इत्यादि दुःख हमारे देखे हुए नहीं परन्तु सुने हुए हैं। 'प्रतिकूल अनुभव कहीं न हो, यहाँ अनुकूल अनुभव बना रहे'—यह उनकी दृष्टि है जिन्हें दुःखजन्य वैराग्य है। विचारजन्य वैराग्य वाला जानता है कि अनुकूल-वेदन भी वस्तुतः निस्तत्त्व है, उसके लिए भी विषयों के साथ ही सम्पर्क होता है जो जीवन का प्रयोजन नहीं। जिसको यह विचारजन्य वैराग्य है वही मोक्ष का अधिकारी है, दूसरा मोक्ष का अधिकारी नहीं है।

'जीवन्मुक्ति भले ही न हो' कहने वाले साधक का अभिप्राय है कि जीते हुए मुक्ति का अनुभव नहीं होगा, इतना ही कामना-मनोराज्य आदि न छोड़ने से दोष है किंतु ज्ञान हो जाने के बाद विदेहमोक्ष निश्चित ही है। काम, क्रोध आदि और मनोराज्य के कारण यहाँ, जीते हुए, मोक्ष का अनुभव नहीं होगा तो न होवे, विदेह कैवल्य सुनिश्चित है यही पर्याप्त है। अच्छा सुखमय जीवन बीत रहा है, थोड़ा-बहुत कभी इसमें कुछ बुखार या सिर दर्द आदि दुःख हो गया तो कोई बात नहीं है। मरकर तो मोक्ष हो ही जायेगा, फिर दुःख होगा नहीं।—इस प्रकार की बात वही कहता है जो दुःखजन्य वैराग्य वाला है। इस जन्म के बाद आगे शरीर न मिले, इतने मात्र से ही उसे कृतकृत्यता है। किंतु आचार्य सावधान करते हैं कि यदि ऐसा तुम सोचते हो तो तुम्हें ज्ञान की योग्यता ही नहीं मिली, विवेक-वैराग्य से ही वंचित हो। यदि कोई तुम्हें कह दे 'आगे तुम हमेशा सुखी रहोगे' तो तुम वही चुन लोगे क्योंकि तुम यही चाहते हो, तुम मुक्ति के अधिकारी नहीं हो। तुम्हें दुःख से ही बचने की इच्छा है, जन्म से नहीं। स्वर्ग में सुखमय जन्म मिले तो भी कृतकृत्यता ही समझोगे। फिर तो तुम स्वर्ग जाकर ही सुखी हो जाओ, मोक्ष के अधिकारी नहीं हो। मोक्ष का अधिकारी वह होता है जो चाहे जितना सुख संसार में हो, निश्चय जाने कि है वह निस्सार ही। निस्सारता का मूल कारण है मायिक होना। जिस प्रकार बाज़ीगर तुम्हें हज़ार-हज़ार के नोटों की गड्डी दे या बाज़ीगर तुमको सिर-दर्द दे, दोनों ही मायिक होने से निस्सार हैं। न उन नोटों की गड्डी से कोई लाभ है और न उसके दिए हुए सिरदर्द से कोई नुकसान है। इसी प्रकार आगे के जन्म सर्वथा तुम्हारे अनुकूल और सुख देने वाले हों तो भी व्यर्थ हैं। केवल सुखार्थी मुमुक्षु नहीं, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी चाहने वाला, परमार्थ सत् को पाना चाहने वाला, असत्य से प्रसन्न न होने वाला ही मुमुक्षु है।। ५२।।

स्वर्ग से कृतार्थता न मानने में हेतु दिखाते हुए कामनादि अशास्त्रीय द्वैत की हेयता स्थापित करते हैं—

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा।
स्वयं दोषतमात्माऽयं कामादिः किं न हीयते।।५३।।

अगर स्वर्ग इसलिए त्यागने योग्य मानो कि घटता (समाप्त होता) है एवं जितना हमें मिले उससे अधिक दूसरे को मिलता है, तो सर्वाधिक दोषरूप ये कामना आदि क्यों नहीं त्यागते?

यदि तुम यह कहते हो कि 'मैं स्वर्ग नहीं चाहता क्योंकि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' पुण्य घटने पर वापिस आना पड़ता है', तो स्वर्ग की तरह कामादि भी ऐसे ही हैं। स्वर्ग नित्य निरंतर सुख नहीं दे सकता इसलिए जो स्वर्ग नहीं चाहता वह कामना आदि कैसे चाहेगा जो सदा सुखद नहीं? विषय और इन्द्रिय का संयोग ही अविवेकी को दुःख देता हो ऐसा नहीं है, वह प्रतिकूल होता है तब दुःख देता है। इसी प्रकार जब स्वर्ग से नीचे आना पड़ेगा गिरना पड़ेगा, तब दुःख होगा, इसलिए वह स्वर्ग नहीं चाहता। ऐसा सोचने वाले का मतलब है कि जिस चीज़ के अन्दर दोष हो, वह नहीं चाहता। उसे कहते हैं—विचार करो कि कामना आदि और मनोराज्य—ये खुद ही 'दोषतम' हैं, अत्यंत अधिक दोष वाले हैं। कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला मैं, किसी एक उपाधि के परिच्छेद की इच्छा करूँ, इससे बड़ा दोष और क्या होगा! यह वैसी ही बात है कि जैसे अरबों रुपयों का मालिक टट्टी-पेशाब में पड़े हुए दो पैसे का इच्छुक होकर यह सोचे कि हाथ खराब होंगे तो धो लेंगे, क्या हर्ज़ा है! इस प्रकार से यह विचार है कि विषय और इन्द्रियों के संयोग से सुख तो मिल जायेगा, ये मायिक या मिथ्या हों इसमें क्या हर्ज़ा है! काम-क्रोध और मनोराज्य स्वयम् अत्यधिक दोषरूप हैं, उनसे क्यों नहीं बचना चाहते? विषयेन्द्रिय-संयोग हो ही नहीं—यह क्यों नहीं चाहते ? जैसे स्वर्ग से गिरना पड़ता है वैसे तुम अपने व्यापकभाव को छोड़कर अत्यंत हीन उपाधि, जो केवल तुम्हारी इन्द्रियों को तृप्त कर सकती है उसके लिए इच्छा कर रहे हो, यह कितना बड़ा दोष है। तुम जीवन्मुक्ति इसलिए नहीं चाहते कि ऐहिक भोगों की प्राप्ति होती रहे अतः अविवेकपूर्ण रागादि से ग्रस्त हो। यह बात केवल काल्पनिक नहीं है। कई लोग कहते हैं कि 'जन्म-मरण का चक्र छूट जाये, यहाँ इन्द्रियों की प्रवृत्ति से विषयसंयोग भले ही हो, कोई हर्ज़ा नहीं है'। ऐसी भावना तभी होगी जब विषयों के प्रति कामना है अतः अपने मन के अनुसार न होने पर क्रोध उत्पन्न होगा। ये सब दोष तुम्हारे व्यापकभाव को खंडित करने वाले हैं अतः दोषतम हैं।।५३।।

इह लोक के उपयोगी कामना आदि यदि बने रहे तो जो हानि संभव है उसे स्पष्ट करते हैं—

तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन् निःशेषं न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः।।५४।।

'तत्त्व समझ चुका' मानकर यदि कामनादि को सर्वथा नहीं छोड़ते हो तो क्योंकि कर्म-शास्त्र का उल्लंघन स्वाभाविक होगा इसलिए तुमसे मनमर्ज़ी का आचरण हुआ करेगा।

श्रवण करके जिसने इस बात को समझ लिया कि यह सारा संसार ब्रह्म में वैसे ही कल्पित है जैसे रस्सी में सर्प कल्पित है, अर्थात् इसके मिथ्यात्व का निश्चय कर लिया है वह भी यदि इसे नहीं छोड़ना चाहता तो यह एक आश्चर्य है। पुराणों में एक कहानी आती है : एक आदमी ने राजा से कहा 'मेरी पत्नी खो गई है, उसको आप ढूँढवा दीजिये।' राजा ने कहा 'मैं ढूँढने के लिए कोशिश करता हूँ। पहले तुम अपनी पत्नी का रंग-रूप आदि हुलिया बताओ'। उसने बताना शुरू किया 'मेरी पत्नी कोयले के रंग जैसी है, उसके दो दाँत बाहर को निकले हुए होठों पर टिके रहते हैं। उसके होठ इतने मोटे है मानो हाथी के होठ हों। कान बिलकुल सूपड़े की तरह हैं। वह बोलती है तो ऐसा लगता है मानो गधा रेंग रहा हो। गुस्सा इतना भयंकर करती है कि छोटी-सी बात पर लकड़ी लेकर पीछे दौड़ती है, गालियाँ देना मामूली बात है। राजन्! यह मैं कोई उसकी बुराई नहीं कर रहा हूँ, वह मेरी प्रिय पत्नी है। आपने पहचान पूछी है, इसलिए बता रहा हूँ। उसकी निन्दा नहीं कर रहा हूँ।' इन सब बातों को सुनकर राजा कहने लगा कि 'वह गई तो जाने दो, तुम्हारे लिए कोई दूसरी औरत ढूँढ देता हूँ।' उसने डाँट कर कहा—'खबरदार राजन्! ऐसी बात नहीं करना। मैं अपनी पत्नी से अन्य किसी स्त्री पर कुदृष्टि नहीं करता हूँ।'

ब्रह्मज्ञान 'उत्' है, वह बना रहे यह 'उत्-तर' है तथा हिले ही नहीं यह 'उत्-तम' है। इसके लिए पहले उपनिषद् आदि सच्छास्त्रों का गहन विचार चाहिये। विचार अर्थात् शास्त्र में वि-चरण करना, विशेषतः घूमना। पुनः पुनः उपक्रमादि लिङ्गों के अनुसार तात्पर्य-अवधारण का नाम विचार है। उपनिषदों का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए ही ब्रह्मसूत्र आदि अन्य भी अनेक सहायक ग्रंथ हैं, उन पर भी चिन्तन आवश्यक है तभी शास्त्र का विचार पर्याप्त होगा। जैसे रोग-निवारणार्थ औषध का ज्ञान चिकित्सा-विज्ञान के विचार से ही संभव है—भले ही रोगी स्वयं करे या जानकार वैद्य करे तथा रोगी उसके निर्देश का पालन करे—वैसे मुमुक्षु या गुरु पर श्रद्धापूर्वक साधना करे या स्वयं विचार करे—ये ही विकल्प हैं। भूखा कमज़ोर हाजमे वाला है तो खिचड़ी खाये या हाजमा मज़बूत करे तभी खीर-पूड़ी पाकर भूख मिटा पायेगा, वैसे या गुरु के विचार पर श्रद्धा रखे या खुद विचार करे तभी साधक मोक्ष पायेगा। स्वयं विचार में असमर्थ हो तथा गुरु पर श्रद्धा करे नहीं तो साधना सम्भव नहीं। जगत् नहीं है—ऐसा अनुभव आवश्यक है, चाहे गुरुवाक्य से हो चाहे शास्त्र-विचार से। विचार भी 'अलम्' अर्थात् पर्याप्त चाहिये, अतिदृढ अप्रकम्प्य निश्चय-पर्यन्त विचार के बिना प्रत्यक्ष-उपलब्ध द्वैत का निषेध हृदयंगत नहीं होता। राम जी ने अकेली माण्डूक्य को भी मुमुक्षु के लिए पर्याप्त बताया है, उसी के भलीभाँति विचार से मोक्ष संभव है। उतने से सन्तोष न हो तो दस उपनिषदें पढ़े, एक सौ आठ पढ़े, सारा वेद पढ़े, सूत्रादि सहायक ग्रंथ पढ़े; जैसे हो वैसे निर्णय पर पहुँचे कि द्वैत है ही नहीं, एकमात्र सच्चिदानन्द है। समझने के बाद उसकी वासना दृढ बनाने के लिए आपस में उसी का कथनादि करे। साथियों से, शिष्यों से अद्वैत की ही चर्चा करने से न केवल उन्हें इसे ग्रहण कराया जाता

है वरन् उनकी विभिन्न शंकाओं के निवारण के प्रयास से स्वयं भी निःसन्देहता आती है एवं ज्ञानका संस्कार पुष्ट होता है। जैसे न कम न अधिक पानी में धीमी आँच पर चावल पकाते हैं वैसे शास्त्र की समझ धीरे-धीरे अपनी समझ बनानी पड़ती है। अधिक पानी में उबालकर पानी फैंक दें तो चावल जैसे शक्तिहीन हो जाता है वैसे स्वयं के अनुभव में न उतरा शास्त्रज्ञान निस्तेज रहता है। जैसे माँड जिसे मिलेगी वह ताकत पायेगा, माँड-निकला चावल खाने वाला कमज़ोर रह जायेगा वैसे स्वानुभव में न उतरा ज्ञान दूसरों को भले ही लाभ दे किंतु खुद के लिए व्यर्थ है। अतः शनैः शनैः अपनी शास्त्रप्रज्ञा को विकसित करना ही हितकर है। प्रारंभ में शास्त्र का या गुरु का ज्ञान ग्रहण होता है पर उसे 'मेरा ज्ञान' बनाने पर्यन्त विचार कर्त्तव्य है।

ठीक इसी प्रकार से जो कहता है 'मुझे जीवन्मुक्ति नहीं चाहिये' और यह भी कहता है 'संसार बड़ा दुःखमय है, मिथ्या है, इसमें कोई तत्त्व नहीं है, फिर भी इसमें सुख है तो इष्ट ही', वह वस्तुतः मिथ्यात्वदर्शी नहीं। चाहे जितनी बुराइयाँ हो, हमें पत्नी तो यह संसार ही चाहिये। संसार में दृष्ट सुख तभी आयेगा, जब विषय-कामना होगी। संसार-सुख चाहने वाला इसीलिए कामना आदि छोड़ना नहीं चाहता। 'निःशेषं कामादीन्' इसलिये कहा कि इस रास्ते चला है तो शास्त्रविरुद्ध कामादि को छोड़ चुका है। अन्यथा मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। परन्तु कामना हो ही नहीं—ऐसा वह नहीं चाहता। जिन शास्त्रविरुद्ध कामनाओं को छोड़ा है वह इसीलिए कि उनसे पाप होकर दुःख होगा। जान लिया कि आत्मा को तो पाप लगता नहीं है। इस तरह, जिस कारण से ग़लत आचरण छोड़ा था वह समाप्त हो गया क्योंकि इस बात को जान लिया कि कर्मों से कभी दुःख तो होना ही नहीं है तब फिर कर्मशास्त्र के बन्धन में क्यों रहेंगे? शास्त्र का उल्लंघन करेंगे ही, जो मर्ज़ी सो आचरण करेंगे। इसलिए उपनिषदों में इस बात को कहा है—तत्त्व को जो ठीक प्रकार से समझ नहीं पाता अथवा कुछ बातों को ठीक समझता है और बाकी बातों को ग़लत समझता है, उसे यदि कहा 'तू ब्रह्मस्वरूप है, पाप-पुण्य तो केवल मन की कल्पना है' इत्यादि; तो वह यथेष्ट आचरण करने लगेगा क्योंकि समझेगा कि 'ब्रह्मज्ञान हो गया, इसलिए अब मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा,' इस तरह उसे नरक की ओर मानो भेज दिया। 'आत्मा एक शुद्ध है, मेरा स्वरूप है', इस रूप से जानता है परन्तु जिस समय अहंकारात्मिका वृत्ति बनती है उस समय में वृत्तिरूप ही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करता है। केवल परोक्ष रूप से जानता है कि मैं 'शुद्ध-स्वरूप है,' अनुभव तो अशुद्ध रूप का करता है। अशुद्ध रूप का अनुभव करते हुए ही गुरु, शास्त्र के उपदेश से जान-मात्र लिया कि वास्तविक स्वरूप से शुद्ध हूँ लेकिन इतने से अध्यास तो निवृत्त होता नहीं है।

अध्यास निवृत्त नहीं होने से जो चीज़ें शरीर और मन को सुख देती हैं उनके प्रति अनुकूल बुद्धि हो जाती है। कह देते हैं कि 'यह तो शरीर-इन्द्रियों का धर्म है', परन्तु अनुभवस्तर पर मैं का सम्पर्क ही रहता है। ऐसा व्यक्ति जब अनुकूल वेदन होता है, सुख का अनुभव होता है, तब तो यथेष्ट आचरण कर लेता है, परन्तु जब दुःख आता है तब 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' का भाव नहीं रह पाता! सुख के समय तो लगता है कि 'भोग कर लिया तो क्या हर्ज़ा है'। परन्तु दुःख आने

पर घबराहट ही होती है। जहाँ अपरोक्ष ज्ञान की दृढता होगी वहाँ न सुखकाल में वह अपने को सुखी समझ पायेगा और शरीर मन के दुःख भोगने पर भी उसे किंचित् भी दुःख नहीं होगा क्योंकि अपनी ब्रह्मरूपता का कभी भी, क्षणमात्र को भी लोप नहीं होता। अज्ञ, अर्धप्रबुद्ध कहनेभर का ज्ञानी है, उसे वास्तव में ज्ञान हुआ नहीं अतः कर्म तो नष्ट होंगे नहीं इसलिए ज्ञानी होने के भ्रम में पाप करने के कारण बड़े नरकों की तरफ चला जायेगा। तात्पर्य है कि न केवल शास्त्रीय द्वैत वरन् अशास्त्रीय द्वैत भी तत्त्वज्ञ द्वारा त्यागने के योग्य है, इसके प्रति आकर्षण इसी का चिह्न है कि अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ।। ५४।।

यदि कोई मोक्ष का मतलब स्वच्छन्दता समझे, यथेष्ट आचरण की छूट चाहे, तो उसे सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि (४.६२) के वचन से समझाते हैं—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।।५५।।

वास्तविक अद्वैत समझ चुकों में यदि यथेष्टाचार हो तो कुत्तों और तत्त्ववेत्ताओं में क्या अन्तर होगा जब दोनों ही अशुद्ध वस्तु खाने में तत्पर होंगे?

'सिवाय मुझ आत्मब्रह्म के और कुछ नहीं है' ऐसे अद्वैतरूपी अपनी वास्तविकता को जिसने जान लिया, उसे फल यह हुआ कि शास्त्रीय आचार छोड़ा, तो लाभ नहीं हानि ही है। शास्त्रीय नियम न मानने की स्वतंत्रता कुत्तों को स्वतः ही है, वह पाना साधना का प्रयोजन नहीं हो सकता। लोकसिद्ध सुख न छोड़ने के पीछे हेतु अपने भोक्तृत्व को सत्य समझना ही है अतः इसे अज्ञान का चिह्न समझ लेना चाहिए।

परलोक के दुःख के भय से असद्-आचार से दूर रहा जाता है। जिसे ज्ञानी होने का भ्रम है वह मानता है कि आत्मा जन्मातीत होने से परलोक नहीं जाना पड़ेगा। इह लोक में भोक्तृत्व सत्य मानने से वह शास्त्र का उल्लंघन कर लेगा अतः पाप का भागी होकर नरक ही जायेगा। वर्तमान भोग सत्य लगते भावी भोग मिथ्या समझना अविवेकपूर्ण है। जिसे अभी ही भोग मिथ्या नहीं प्रतीत होगा उसे भविष्य में कर्मफल भोगना ही पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति से वही बेहतर है जो स्वयं को कर्त्ता जानकर शास्त्र का अनुसरण करता रहता है। मन-मर्जी के आचार की छूट चाहना अविवेक का लक्षण है, मुमुक्षा का नहीं। अनेक लोग अत्यंत घृणित मल आदि का भक्षण कर लेते हैं पर इससे वे तत्त्वज्ञ नहीं सिद्ध होते। वस्तुतः ऐसा क्यों नहीं हो पाता है? कोई पूछे कि सचमुच ही किसी में ज्ञान हो तो वह शास्त्रोल्लंघन क्यों नहीं कर सकता है? इसका उत्तर भगवान् सुरेश्वराचार्य ने अगले श्लोक में स्पष्ट किया है कि पाप कर्म अज्ञान से होता है। तत्त्वज्ञान की साधना के प्रारंभ में ही व्यक्ति पाप छोड़ चुकता है। मन शुद्ध होने पर उसका अज्ञान मिट जाता है। न दुराचार का कारण अज्ञान रहा, न दुराचार के संस्कार रहे तो ज्ञानी में पाप कैसे उपलब्ध होंगे? शक्कर का रोगी जब समझ लेता है कि शक्कर खाने से उसका रोग बढ़ता है तब वह शक्कर खा नहीं सकता। जिसे निश्चय नहीं वही परहेज न करे यह सम्भव है।

ग़लत काम करने का मूल कारण अज्ञान ही है। अज्ञान से तुमको ग़लत के अन्दर अच्छे का भ्रम हो जाता है। जो चीज़ जैसी नहीं है, उसको वैसा समझ लेते हो यही भ्रम है। शास्त्र-उल्लंघन को इष्टोपाय समझना भ्रम है जिससे व्यक्ति पाप करता है। मल, मूत्र आदि अशुद्ध वस्तु में भी उपादेयता की भ्रान्ति हो जाये तो व्यक्ति उन्हें खा-पी लेता है। अज्ञान केवल पाप का ही कारण नहीं है, कर्ममात्र का कारण है। शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त यह सब मैं नहीं हूँ। फिर भी मैं-बुद्धि है इसीलिए हमसे सारे कर्म होते हैं। अज्ञान की निवृत्ति होने पर कोई कर्म हो सके यह संभव नहीं। 'यत्र धर्मोऽपि नेष्यते', उस स्थिति में धर्म भी किया जाए यह संभव नहीं तो अधर्म हो सकेगा इसे कैसे माना जाये? साधारण विचारशील भी पाप को करने लायक नहीं समझता, पाप से दूर रहता है तो तत्त्वज्ञान होने पर व्यक्ति पाप के लिए प्रवृत्त होगा—यह व्यर्थ की शंका है। तत्त्वज्ञान तो धर्म का कार्य है, प्रभाव है। जब तत्त्वबोध हो गया तब पाप-प्रवृत्ति नहीं ही होगी। पहले अधर्म को छोड़ा, धर्म में गए, फिर धर्म से आगे गए शम, दम आदि में। फिर उससे भी आगे आत्मज्ञान में पहुँचे। इतना आगे गए हुए फिर पाप तक कैसे पहुँचेंगे? अगर कोई पहुँचता है तो निश्चय है कि अभी ज्ञान हुआ ही नहीं है। जिस प्रकार बहुत बड़े लेखक व्यास, वाल्मीकि, माघ, भारवि आदि के ग्रन्थों में हमें यदि कोई प्रयोग सामान्य व्याकरण के विरुद्ध मिलता है तो कहते हैं कि 'यह ग़लती नहीं है, आर्ष प्रयोग है' अर्थात् वह प्रयोग अब नहीं चलता है परन्तु उन्होंने तो ठीक ही लिखा है। परन्तु यदि तुम्हारा बच्चा वैसा लिखकर लायेगा तो उसे समझाकर कहेंगे कि वह गलत है और ठीक प्रयोग क्या है। जो व्यक्ति एक लाख श्लोक बिलकुल ठीक लिखता है उसके प्रयोग प्रतीत ग़लत होने पर भी ठीक हैं जबकि जो ग़लतियों की भरमार करे उसके लेख में प्रामाणिकता नहीं मानी जाती। जिसका अज्ञान हट गया, उसने पहले अधर्म को धर्म से छोड़ा; फिर धर्म का अतिक्रमण करके शम, दम आदि में गया; फिर शम, दम आदि का भी अतिक्रमण करके अपने स्वरूप में पहुँच गया। अब वह वापिस अधर्म में कैसे चला जायेगा!।।५५।।

अविद्या स्वतः तो दुःख देती नहीं। अन्यथा गहरी नींद में भी दुःख ही होता। अविद्या के द्वारा होने वाले राग-द्वेष ही स्फुट दुःख देने वाले हैं। यदि राग-द्वेष की निवृत्ति नहीं हुई है तो क्लेश-निवृत्ति नहीं है। चूँकि अज्ञान से मनुष्य मनमाना आचरण करता है इसलिए मनमाना आचरण तो पशुवत् आचरण है जिसकी आशा उससे नहीं जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है। इतना ही नहीं—

बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्नास्यथाऽधुना।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम्।।५६।।

ज्ञान से पूर्व केवल अपने मन के दोषों के कारण क्लेश का अनुभव कर रहे हो, ज्ञान के बाद अब सब लोगों द्वारा की जाती निन्दा का क्लेश और जुड़ गया—ऐसी तुम्हारी ज्ञान की महत्ता आश्चर्यकारी है।

जब तक तुम्हें ऐसा अभिमान नहीं हुआ कि ज्ञान हो गया है तब तो तुम्हारे मन के दोषों से ही क्लेश होता है। कुत्ते के सदृश आचरण क्यों करते हो? क्योंकि तुमने समझ लिया कि अब तो ज्ञान हो गया है, मनमाना आचरण किया जा सकता है। इस समझ से पहले तुम्हारे मन में दोष आते थे तो तुम्हें क्लेश होता था कि 'अभी तक मेरे ये दोष हटे क्यों नहीं।' मन में आता था परन्तु पाप के डर से, नरक जाने के डर से उन दोषों को रोक लेते थे क्योंकि मन में दुःख होता था कि 'काम क्रोध मुझे सता रहे हैं'। उस स्थिति में लोगों के द्वारा निन्दित नहीं होते थे। तुम्हारे मन में चाहे जितने काम क्रोध हों, दुनिया के लोग तो तब देखेंगे जब उसके अनुसार बाहर क्रिया करो। जब ग़लत काम देखेंगे तो निन्दा भी करेंगे। 'अथ', ज्ञानाभिमान के बाद ग़लत काम करने पर सोचोगे कि 'ऐसा करूँगा तो नरक नहीं जाना पड़ेगा क्योंकि आत्मा तो असंग है।' 'अधुना' अब भी राग-द्वेष तो होंगे जिनसे मन में क्लेश होगा ही परन्तु साथ में ग़लत आचरण से सारी दुनिया तुम्हारे ऊपर थू-थू भी करेगी। मनोदोषों का क्लेश रहा ही, सब लोगों द्वारा की जाती निन्दा और जुड़ गई! भगवान् ने अर्जुन से भी ऐसा ही कहा था कि तू दुर्योधनादि पर दया करके युद्ध छोड़ रहा है, यह बात कोई नहीं समझेगा, 'डरकर भाग गया' यही निन्दा सब करेंगे। जिस आदमी की एक बार लोक में प्रशंसा होती है, सब लोग उसे अच्छा समझते हैं। फिर किसी कारण से उसकी अपकीर्ति हो जाये तो वह उसे मरण से भी ज़्यादा दुःखदायी होती है। इसलिए भगवान् ने उसे दोनों विकल्प कहे कि यदि जनक आदि की तरह ज्ञानी है तो अकर्तृ-आत्मबोध के द्वारा लोकसंग्रह के लिए कर्म कर और अगर ऐसा नहीं है तो क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ अपने को क्षत्रिय समझता है इसलिए कर्म कर। यही बात यहाँ कह रहे हैं कि साधकावस्था में बाह्य सदाचार से 'संभावित' अर्थात् आदर पाये व्यक्ति को सिद्धावस्था में असद्-आचारनिमित्तक निन्दा का पात्र नहीं बनना चाहिए क्योंकि वह असह्य कष्ट का ही हेतु होगा। यह एक प्रकार से उसकी हँसी उड़ा रहे हैं जो मान रहा है कि बोध का महत्त्व है कि विद्वान् पाप कर सकता है। जिसको लोक में कहते हैं कि 'चौबे गये छब्बे बनने दूबे बनकर घर को आये' वैसे यदि पापप्रवृत्ति होने लगी तो ज्ञान के बजाये अज्ञान की ही गहनता में वृद्धि का चिह्न होगा। किंच मानस क्लेश से अतिरिक्त निंदा-दुःख का बढ़ना भी अनिष्ट ही है।।५६।।

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद् भवान्।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत्।।५७।।

जो स्वयं को तत्त्वज्ञ समझ रहे हैं ऐसे आप विष्ठाभक्षी सुअर आदि की समानता मत पाना चाहिए वरन् बुद्धि के सारे दोष छोड़कर संसार में लोगों द्वारा देवता की तरह पूजे जाइये।

शास्त्र बताता है कि बहुत जन्मों के सात्त्विक आचार-विचार के फलस्वरूप अतिशुद्ध मन वाला व्यक्ति परमेश्वर को समझता है। ऐसा बनकर उस सर्वोत्कर्ष के अनुरूप रहने में तो बुद्धिमानी है, न कि अतिनिकृष्ट तुच्छ भोगों के आकर्षण से पशुतुल्य बनने में। अनियंत्रित आचार न केवल व्यक्ति वरन् उसकी विद्या की भी निंदा का हेतु बनता है। 'सुअर की तरह जो

मर्ज़ी सो खा सकूँ' ऐसी इच्छा मुमुक्षु में संभव नहीं। टट्टी खाने वाले सुअर को बहुत गंदा प्राणी मानते हैं। आचार्य प्रष्टा से कहते हैं 'वैसा मत बनना चाहो, उसकी जगह जो भी तुम्हारी बुद्धि के दोष काम, क्रोधादि हैं उन्हें भलीभाँति छोड़ दो और सब लोगों के द्वारा देवता की तरह पूज्य बनो।' ज्ञानी की पूजा सबसे उत्कृष्ट मानी गई है। सदाचारी रहे तो लोकदृष्टि में भी उस पूजा के हकदार हो जाओगे। तुम्हारे काम, क्रोधादि को देखकर तो सारे लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे और सदाचारी रह गये तो सारे लोग तुम्हारी पूजा करेंगे। 'तत्त्वविद् भवान्' इस दृष्टि से नहीं कह रहे कि उपहास कर रहे हों। सामान्य नियम हम लोगों का है कि किसी की मान्यता को भंग करने से कोई फ़ायदा नहीं है, बल्कि वह वहाँ से आगे कैसे जाये इसका प्रयत्न करना चाहिए। यद्यपि जो ज्ञानोत्तर अशास्त्रीय द्वैत छोड़ना नहीं चाह रहा वह तत्त्वज्ञ नहीं वरन् अविवेकी मूर्ख ही है तथापि वेदान्ताचार्य किसी को हतोत्साह न कर प्रोत्साहित ही करते हैं अतः उसे सदाचार की ही प्रेरणा दे रहे हैं। जब उत्कृष्ट साधन करके उसका दोष हट जायेगा तब अपने आप समझ लेगा कि 'पहले मैं बेवकूफी से अपने आप को ज्ञानी समझ रहा था'। अधिकार-दृष्टि से क्रम समझकर अधिकारी-भेद स्वीकारना सनातन धर्म की एक विशेषता है। जो जहाँ है उसको वहीं से आगे ले जाने का उपाय सनातन धर्म बताता है।।५७।।

धीदोषों का त्याग कैसे होगा? इसका उपाय भी बता देते हैं—

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव।।५८।।

कमनीय विषय आदि के दोष देखना आदि कारण हैं जिनसे कामनादि छूटते हैं। मोक्ष-शास्त्रों में ये उपाय प्रसिद्ध हैं, उन्हें खोजकर सुखी रहो।

काम्य अर्थात् जिस चीज़ की कामना की जाती है, कामना का विषय स्त्री, पुत्र, धन आदि। 'आदि' अर्थात् जिस चीज़ के प्रति द्वेष किया जाता है उसके भी दोष समझना। राग और द्वेष के विषयों के प्रति अनादर विकसित करना आवश्यक है। जितने राग-द्वेष के विषय हैं वे सारे अनित्य हैं, उनमें यह एक बहुत बड़ा दोष है। किसी चीज़ के प्रति द्वेष होता है तो भाव रहता है कि यह चीज़ कब हटे, कैसे नष्ट हो जाये, किस प्रकार इसे नष्ट करूँ, इत्यादि। उस समय यह सोच लो 'यह जो दुःख आया है यह हमेशा रहने वाला नहीं है, खुद ही चला जायेगा। इसलिए मैं बेकार क्यों दुःखी हो रहा हूँ?' इसी प्रकार जब कोई राग का विषय अपनी तरफ आकृष्ट करे और उसकी प्राप्ति नहीं हो तो परेशान होते हो कि 'कैसे मिलेगा, कैसे मिलेगा'। तब सोचो कि 'जब विषय मिलेगा तब भी हमेशा रहने वाला नहीं है, चूँकि अनित्य है'। इसी प्रकार सातिशयता दोष भी है। हम जिस चीज की कामना करते हैं वह मिल जायेगी तो उससे भी बहुत ज्यादा प्राप्त किए हुए लोग रहेंगे। जो संसार के सबसे ज़्यादा धनी दस लोग होते हैं उनमें से कोई भी दस साल से ज़्यादा उस दस की सूची में नहीं रहते, प्रायः पाँच-चार साल में ही पिछड़ने लग जाते हैं। 'अधिक हो जाये' इसलिए और ज्यादा अपने उद्योग इत्यादि को बढ़ाते

हैं और जब अपनी सम्भाल से ज़्यादा हो जाता है तो पहले वाले धन को भी ले बैठता है, पहले वाला भी हाथ से निकल जाता है। सिकन्दर एक रात घूम रहा था। उसके सैनिकों ने उससे पूछा 'आप क्या चाहते हैं, सब जगह तो आप जीतते चले जा रहे हैं?' उसने कहा—'क्या बताऊँ! मेरी आँख खुली तो तारों को देखा। सोचा कि अभी तो मैंने सारी पृथ्वी ही नहीं जीती, उम्र तो बहुत कम है, इन तारों को कब जीत पाऊँगा?' पुराने लोग कहते थे 'हर सेर को सवा सेर मिलता है' सातिशय होने से विषय सुख का कारण नहीं हो पाता, 'हाय! मेरे पास ज़्यादा क्यों नहीं?' यह दुःख बना रहता है। इसी प्रकार दुःख भी सातिशय होता है, दूसरे हमसे ज़्यादा दुःखी मिलते हैं। इस सातिशयता के कारण मेरा दुःखी होना बेकार है क्योंकि मुझसे भी ज़्यादा दुःखी लोग हैं। इस प्रकार दोषों का विचार करो। यह विचार मनुष्य के राग, द्वेष, काम, क्रोधादि को त्यागने में कारण बन जाता है। स्वयं विचार करके ये दोष उपस्थित नहीं होते। इसलिए मोक्षविषयक शास्त्रों में इन्हें विस्तार से समझाया है।

मोक्षशास्त्र जैसे योगवासिष्ठ में विस्तार से एक-एक चीज़ की निन्दा को पढ़ते हैं तो वही दोषों का त्याग करने में कारण बन जाता है। इसी प्रकार शांति पर्व, सूतसंहिता आदि में भी कई जगह विषयदोषों का वर्णन मिलता है। बार-बार उनका विचार करके, अपने मन में उन्हें घटाकर के उन दोषों के कारण कामनादि से निवृत्त होकर सुखी हो जाओ। दोष-दृष्टि तभी कर लेनी चाहिए जब कामना आदि तीव्र नहीं हुए। प्रारंभ में विचार कर सकते हैं, तीव्रता आने पर विचार करना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। उत्तम पक्ष है कि काम-क्रोध उत्पन्न हो, राग-द्वेष उत्पन्न हो उसके पहले विषय-दोषों का, कामनादि के दोषों का विचार कर लेना चाहिए। हमेशा इन के दोषों का विचार करते रहोगे तो काम-क्रोधादि आ ही नहीं पायेंगे। आने के बाद रोकने की अपेक्षा पहले ही विचार कर लेना चाहिए। उपचार करने की अपेक्षा रोकथाम कर लेना बेहतर है। शरीर में रोग का प्रतिरोध करने की क्षमता उत्पन्न कर ली जाये तो रोगाणु का आक्रमण होते ही शरीर उसका पराभव कर देता है जिससे रोग हो नहीं पाता। इसी प्रकार विषयों और कामना आदि के दोषों का विचार करते रहोगे तो किसी भी विषय के प्रति आकर्षण आदि तुम्हारे में हो ही नहीं पायेगा, संभावना के साथ ही वह कट जायेगा। किसी स्त्री को देखते ही यदि तुमको उसकी वास्तविकता याद आ जाये कि 'यह तो कंकालमात्र है', तो तुम्हारे अन्दर उसके प्रति कामवासना उत्पन्न ही नहीं हो पायेगी। सुखी होने का यह अचूक उपाय है कि विषयों में दोषदर्शन करते रहो।।५८।।

कामना आदि की तरह मनोराज्य भी हेय बताते हैं—

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः।
अशेषदोषबीजत्वात् क्षतिर्भगवतेरिता।।५९।।

(यह न कहना कि) ये कामना आदि भले ही छोड़े जायें, मनोराज्य में क्या नुकसान है, क्योंकि भगवान् ने सारे दोषों का बीज होने से मनोराज्य में नुकसान बताया है।

कामना आदि से यथेष्ट प्रवृत्ति होने पर लोकनिन्दा दुःखहेतु है यह सरलता से स्वीकार हो जाता है किंतु मनोराज्य अन्यों से छिपा रहता है, निन्दा का हेतु बनता नहीं तो उसे हेय क्यों माने?—यह प्रश्न उठता है। क्रिया की पापरूपता मानने वाले भी मानस दुर्विचार को पाप नहीं मानकर मन से काल्पनिक यथेष्टाचार कर सुखी होना चाहते हैं। अज्ञानी को विषयभोग की तरह विषयचिन्तन से भी सुख होता है। संस्कृत साहित्य में 'सोमशर्मा के पिता' की कथा प्रसिद्ध है जिसने भीख में मिले सत्तू के आधार पर कल्पना से महल खड़ा कर लिया फिर काल्पनिक पत्नी को लात मारने लगा तो सत्तू ही नाली में गिरा बैठा! हिन्दी में शेख चिल्ली के किस्से प्रसिद्ध हैं। किसी को मुँह पर जवाब न दे पायें तो अकेले में बैठकर उससे काल्पनिक वार्त्तालाप से लोग सुखी हो लेते हैं। मन में तादात्म्य अध्यास रहते मन को सुखी करने का प्रयास उचित लगता है अतः मनोराज्य का समर्थन वादी की ओर से संगत है। मन से मैं-बुद्धि जल्दी नहीं हटती। दृढ तत्त्वज्ञान के बिना यह अध्यास नहीं मिटता। अध्यास रहते विषयचिंतन के बिना जीवन नीरस प्रतीत होता है। आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण के वचनानुसार समझा रहे हैं कि मनोराज्य इसलिए त्याज्य है कि काम-क्रोध आदि सारे दोषों का वह बीज है। मन से अपने अभेद को और दृढ बनाने में मनोराज्य सहायक बनता है न कि मिटाने में। जब तक मन को अपना रूप समझोगे तब तक अशेष दोषों का जो बीज अविद्या-अध्यास है वह रहेगा।।५९।।

यह बात स्वयं श्रीकृष्ण ने कही है कि सारे दोषों का बीज विषयचिंतन है। गीता का श्लोक (२.६२) सुनाते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।६०।।

विषयचिन्तन करने वाले व्यक्ति को उनसे संग (आसक्ति) होता है। संग से कामना और उससे क्रोध उत्पन्न होता है।

विषयों का ध्यान ही मनोराज्य है। मनुष्य मनोराज्य बनाता है अर्थात् अन्दर ही अन्दर विषयों का चिन्तन करता है तो उन विषयों के बारे में यह भावना बन जाती है कि 'ये सुख का कारण हैं'। इससे उनमें आसक्ति हो जाती है। इसका साक्षात् दृष्टांत देखना हो तो वर्तमान विज्ञापनों का युग है। सारे विज्ञापन तुम्हें कोई चीज़ देते नहीं, तुम विषयों का ध्यान करो इसके लिए बार-बार उन्हें तुम्हारे सामने लाते हैं। जिस चीज़ का अपने लिए कोई उपयोग भी नहीं है उसका चिंतन विज्ञापन देखकर करने लगते हैं। विचार नहीं करते कि इतना लम्बा समय इन चीज़ों के बिना बीत गया, अब इन्हें बटोरने का क्या लाभ! विज्ञापन देख कर सोचते हैं कि एक बार प्रयोग करके तो देखें। इस तरह स्पष्ट है कि विषयध्यान से आसक्तिपूर्वक विषयकामना उत्पन्न होती है। जिसे अपने सुख का कारण समझोगे उसकी कामना उत्पन्न हो जायेगी, ऐसी इच्छा उत्पन्न होगी कि 'इसको प्राप्त करने के लिए मैं कुछ करूँ'। तुम उपाय करने चले और उसमें कोई रुकावट आई तो कामना पूरी न होने से क्रोध होगा। कामनापूर्ति में जो रुकावट डाले

उसके प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। माँ-बाप के प्रति भी क्रोध हो जाता है कि 'ये विघ्न डालते हैं,' पति के प्रति क्रोध हो जाता है कि 'मेरी हर बात को 'ना' कर देते हैं'। 'माता-पिता आदि हितैषी हैं, मेरा नुकसान नहीं होने देकर मेरा लाभ कर रहे हैं' ऐसा विवेकपूर्ण विचार न आकर क्रोध ही होता है। आगे भगवान् ने कहा है कि क्रोध आने पर सही-ग़लत का कुछ ध्यान नहीं रहता। पूज्यों को भी अपमान-सूचक शब्द बोल देता है। भगवान् के प्रति भी क्रोध आने पर उनके बारे में, उनकी आराधना करने-कराने वालों के बारे में अनर्गल बातें कह दी जाती हैं। क्रोध से सम्मोह, उससे स्मृतिभ्रंश होता है। वेद अपौरुषेय अतः निर्दोष प्रमाण है—इस बारे में दीर्घ काल से बनाये संस्कारों का भ्रंश हो जाता है, वेद में अप्रामाण्य प्रतीत होने लगता है। जो संस्कार गुरुजनों ने डाले थे, वे सब सम्मोह में हट जाते हैं, सारी स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट हुई तो जो कुछ पढ़ा है कि 'जगत् का रूप असत्य है, एकमात्र ब्रह्म सत्य है, वह प्रत्यगात्म-रूप है,' यह सारा ज्ञान कर्पूर की तरह उड़ जाता है! 'जगत् सर्वथा असत्य है, मैं ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ'—यह निश्चय जहाँ डाँवाडोल हुआ वहीं जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाते हैं। भगवान् ने सबका बीज विषयध्यान को बताया है। इस प्रकार मनोराज्य ही सब दोषों का बीज है। यह ठीक है कि मनोराज्य खुद दुःख नहीं देता लेकिन सारे दुःखों का बीज यही है।।६०।।

विषयों के प्रति आकर्षण मोक्षशास्त्र आदि में बताये हुए तरीके से विचार करें तो हट जायेगा। मनोराज्य कैसे हटेगा? भगवान् ने गीता में कहा है कि मन को रोकना बहुत कठिन है, इसमें कोई संशय नहीं है। यह ऐसे चलता है जैसे जमीन पर यदि पारा गिर जाये और उस पर अंगुली लगाओ तो इधर से उधर दौड़ता है, पकड़ में ही नहीं आता! अतः मन पर विजय कैसे पायें? इसका उपाय बताते हैं—

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः।
सुसम्पादः क्रमात् सोऽपि सविकल्पसमाधिना।।६१।।

निर्विकल्प समाधि से मनोराज्य पर जीत हासिल हो सकती है। निर्विकल्प समाधि भी सविकल्प समाधि के अभ्यास से क्रमशः आराम से सम्पन्न की जा सकती है।

मनोराज्य को जीता जा सकता है। मन की चंचल अवस्था में उस का निग्रह कठिन है, परन्तु जब मन निर्विकल्प तत्त्व में समाहित हो जाता है तब मनोराज्य पर जीत हो चुकती है। दृश्य और द्रष्टा दोनों विकल्पों से रहित जहाँ केवल दर्शनमात्र ही है, ज्ञाता-ज्ञेय से रहित ज्ञानमात्र ही है, उसमें समाहित हो जाता है तो चूँकि वहाँ दृश्य-द्रष्टा, ज्ञाता-ज्ञेय आदि का भेद है ही नहीं इसलिए मन कैसे चलायमान हो सकता है! कोई चीज चलायमान तो तभी होगी जब इधर-उधर कोई जगह हो। एक डिब्बी के अन्दर तुम पारा डाल दो, कितना भी उस पारे को दबाओ, वह इधर-उधर जा ही नहीं सकता क्योंकि डिब्बी में चारों तरफ दीवार बनी हुई है, कहीं जाने की जगह नहीं है। इसी प्रकार जहाँ दृश्य-द्रष्टा का भेद नहीं है वहाँ मन चलकर कहाँ जाये?

जब तक निर्विकल्प समाधि नहीं होती तब तक मनोराज्य बनता है। निर्विकल्प समाधि कैसे हो? निर्विकल्प समाधि सविकल्प समाधि के द्वारा सुसम्पादित होती है। निर्विकल्प समाधि में तो सारे द्वैत की निवृत्ति है। सविकल्प समाधि में द्वैत उपस्थित होने पर उसका बाध करके अद्वैतसिद्धि की युक्तियों का, वैदिक वाक्यों का बार-बार विचार होगा, श्रवण-मनन करने पड़ेंगे। मन चिन्तन के द्वारा राज्य बनाता है। जब तुम्हारा चिंतन निरन्तर अद्वैत के बारे में होगा तब धीरे-धीरे अद्वैत के संस्कार ही दृढ होंगे तो उसी में राज्य कायम होगा। अभी जैसे संस्कारवश सांसारिक कल्पनाओं के मनोराज्य बनते हैं इसी प्रकार जब दीर्घकाल तक श्रवण-मनन हो जाते हैं तब मनोराज्य भी इन्हीं चीज़ों का बनता है कि अद्वैतसिद्धि में क्या लिखा है, लघुचंद्रिकाकार ने इसमें क्या परिष्कार किया है, भाष्यकार ने इस विषय में क्या कहा है, इत्यादि। यह सब भी मनोराज्य ही हैं, परन्तु ऐसे मनोराज्य बनाते-बनाते अंत में निर्विकल्प में स्थिति हो जाती है। प्राचीन शास्त्रकारों ने इतना अधिक हम लोगों को दिया है कि जन्म-भर विचार करते रह सकते हैं। शास्त्रानुसारी विकल्पोंवाली सविकल्प समाधि के सहारे ही निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो सकती है। सरल प्रक्रियाओं से, सुबोध ग्रंथों से प्रारंभ कर धीरे-धीरे गंभीर, सूक्ष्म विचारों पर एकाग्र होते जाने पर अन्त में, परम सूक्ष्मतम तत्त्व पर ही चित्त स्थिर हो जाता है। यह एकाएक नहीं हो सकता इसलिए 'क्रमात्' कहा। प्रारंभ में कठिन प्रक्रिया या ग्रंथ का सहारा लेने पर तो मन अधिक व्यग्र हो जायेगा अतः स्थूलारुन्धतिन्याय से ही यह संपन्न करना चाहिए। धीरे-धीरे अपने शास्त्रीय मनोराज्य को इतना बढ़ा लो कि सविकल्प समाधि निरन्तर चलती रहे। उसके नतीजे से निर्विकल्प समाधि भी हो जायेगी। तब वह मनोराज्य भी ख़त्म हो जायेंगे।।६१।।

मनोराज्य पर विजय पाने के लिये समाधि का विधान किया किन्तु वही एकमात्र उपाय नहीं, समझदार श्रद्धालु के लिए अन्य उपाय बताते हैं—

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते।।६२।।

ब्रह्मतत्त्व समझ चुका जो कामनादि से त्रस्त न होने वाला एकान्तवासी साधक वह प्रणवका दीर्घ उच्चारण कर मनोराज्य को जीत पाता है।

मनोराज्य पर कैसे विजय होती है? मनोराज्य को जीतने का एक तरीका पूर्व श्लोक में बताया था जिसमें श्रवण-मनन की वासनाओं की पुष्टि से शास्त्रनियंत्रित मनोराज्य द्वारा उससे छुटकारा मिलता है। जो विद्वान् हैं, उनके लिए बार-बार शास्त्रचिन्तन सरल है। जो ऐसा विद्वान् नहीं है, वह मनोराज्य को कैसे जीते? पहली बात कही कि मनोराज्य को वही जीत सकता है जिसने तत्त्व को ठीक प्रकार से समझ लिया है। एकमात्र अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा है, बाकी सारे विषय, सारा जगत् उसमें माया के कारण बिना हुए ही प्रतीत होता है, वह ब्रह्म आत्मरूप है—जिसने ऐसा नहीं जाना है वह तो मनोराज्य को विजय कर ही नहीं सकता। जिस प्रकार काँच में चीज़ें दीखती हैं, होती नहीं हैं, इसी प्रकार मन के दर्पण में चीज़ें दीखती हैं लेकिन होती

नहीं हैं। प्रतीत होने के लिए कहीं-न-कहीं चीज़ होना जरूरी नहीं है, उस चीज़ के संस्कार होना पर्याप्त है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि जो अत्यंत असत् पदार्थ हैं उनकी प्रतीति भी शब्द से हो जाती है। जैसे मनुष्य के सींग कभी होते नहीं परन्तु फिर भी 'मनुष्य का सींग' यह शब्द उच्चारण करते ही प्रतीति हो जाती है, फिर चाहे अगले क्षण ही हम उसे काट दें। यह नहीं समझना कि केवल शब्द से ही प्रतीति होती है; वर्तमान काल में बहुत से लोग व्यंग्य चित्र बनाते हैं; शैतान को सींगों वाला आदमी-सा आँककर प्रकट करते हैं जिससे वैसी कहानियाँ लोग समझ ही लेते हैं। न केवल शब्द से ही असत् पदार्थ का व्यवहार होता है वरन् चित्र से भी उसकी प्रतीति हो ही जाती है। जब तक यह निश्चय न हो जाये कि 'मन में पदार्थ दीख रहा है, परन्तु है नहीं', तब तक मनोराज्य को विजय नहीं कर सकते। इस पर भी एक शंका और आती है कि संस्कारमात्र से ही कुछ प्रतीत होगा तो हमें हमारे संस्कार से प्रतीत होगा। सामने एक ही दीवार है, सौ आदमी खड़े हैं तो सबको ही वह दीवार प्रतीत होती है। प्रतीति मन में हो रही है परन्तु जिसकी प्रतीति हो रही है वह केवल हमारे संस्कारों के कारण नहीं है क्योंकि अनेकों को उसका भान है। इस शंका का जवाब इस अध्याय में दे दिया कि दीवार कहीं है नहीं, केवल ईश्वर अपनी माया से उसे प्रतीत करा रहा है। ईश्वर की माया शक्ति ऐसी है कि अनेक लोगों को वस्तुओं की प्रतीति करा देती है। दीवार सौ-पचास आदमियों को दीख जाती है, आकाश सभी प्राणियों को एक जैसा दीख जाता है। प्रतीति का कारण ईश्वर की मायारूप सृष्टि है, वास्तविक चीज़ें नहीं हैं। द्वैतविवेक के द्वारा यह निर्णीत हो जाता है कि यह संसार प्रतीत होता है परन्तु है नहीं। जो चीज़ नहीं होती उसके बारे में सोचना छोड़ा जा सकता है, इसलिए मनोराज्य समाप्त करने के लिए यह विचार ज़रूरी है। जिसमें यह संसार दीख रहा है वह ब्रह्म है और वही प्रत्यगात्मस्वरूप से विद्यमान है। इस प्रकार का जिसको दृढ ज्ञान हो गया है वही मनोराज्य को जीत सकता है। यहाँ 'जीतने' का मतलब है उसे विनिवृत्त कर देना, हटा देना।

बुद्धतत्त्व होने पर भी नहीं हटता, क्योंकि धीदोषशून्य होने की भी आवश्यकता है। बुद्धि के काम, क्रोधादि दोषों को पहले कहे हुए तरीके से हटा देना पड़ता है। सत्यत्वबुद्धि न होने पर भी जब तक जिस चीज़ के विषय में कामना होती है, तब तक उसका चिंतन होता रहता है। जैसे चलचित्र में जो देखते हो, तुम्हें निश्चित पता है कि वह कोई चीज़ वहाँ नहीं है, केवल छाया ही है। दूरदर्शन के कार्यक्रम देखने की प्रवृत्ति इसलिए है कि जिस चीज़ को दिखाते हैं वह तुम्हें प्रिय लगती है, तुम्हारी कामना का विषय है, भले ही तुम्हें पता है कि असत्य है। इसलिए पहले दीर्घकाल तक दोषदृष्टि के द्वारा काम, क्रोधादि को हटाना पड़ता है। जिस चीज़ की कामना नहीं रह जायेगी उस चीज़ को वास्तविक समझोगे, तब भी उसके बारे में विचार होता है, जैसे हमारी कामना नहीं कि हम मर जायें, परन्तु एक दिन ज़रूर मरना पड़ेगा इसलिए मरने के बारे में विचार आता है। मृत्यु के प्रति कोई क्रोध भी नहीं है क्योंकि वह निश्चित परिणाम है। चीज़ निश्चित है तो राग-द्वेष का विषय न होने पर भी हमारे सिर पर आयेगी। तुम्हारी सुनने की कोई इच्छा न होने पर भी रात में ढोल बजेंगे तो नींद खुलेगी। जिस चीज़ के प्रति तुम्हें राग-द्वेष होंगे

ही नहीं तथा उसे असत्य भी जानोगे, उसके प्रति तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी। धीदोषशून्यता उसकी प्रवृत्ति को अवरुद्ध कर देती है, जो पहले मिथ्यात्व-निश्चय कर चुका है।

लेकिन कितने ही धीदोषशून्य हो, नौ रातें लगातार रोज 'गरबे' के बाजे बजते रहें तो मिथ्या जानने पर भी असुविधा ही होगी! उसे दूर करने का कोई प्रयास इष्ट लगेगा। इसलिए कहा कि एकान्तवासी भी होना चाहिये। गाँव, शहर से दूर जाकर, जहाँ अकारण इस प्रकार के विक्षेप नहीं होते हों, वहाँ रहे। बुद्धत्व और बुद्धिदोष से रहित होने से वैसे स्थान का सेवन तुम्हारे मनोराज्य को हटाने में सहायता देगा। जहाँ तक हो सके एकांत में ही वास करे। भीड-भड़ाके में रहकर मनोराज्य को जीतना सम्भव नहीं होता। पहला कार्य है कि तत्त्व के विषय में निश्चित ज्ञान हो, दूसरा, काम-क्रोधादि से रहित हो और तीसरा, एकांतवास करे। एकांत देश में बैठो तो भी मन के संस्कार उदित होंगे ही! इसलिए वहाँ दीर्घप्रणव का उच्चारण करे। सोलह मात्रा, बत्तीस, चौंसठ या एक सौ अट्ठाइस मात्रा का प्रणव दीर्घ कहलाता है। धीरे-धीरे मात्रा बढ़ाते हुए उच्चारण करे। दीर्घ प्रणव के उच्चारण से विशेष प्रकार के स्पन्द पैदा होते हैं जो तुम्हारे स्नायुमण्डल को शांत करते हैं। प्रणव में जो अकार, उकार, मकार और नाद हैं ये क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था को बताते हुए अंत में तुरीय में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार का दीर्घ प्रणव का उच्चारण धीरे-धीरे मन के अन्दर बैठे हुए वासना-जाल को हटाता चला जाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के साक्षिरूप से जो तुरीय है, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के समाप्त होने पर भी एक जैसा बना रहता है जैसे अकार, उकार, मकार के शेष हो जाने पर भी दीर्घप्रणव ध्वनि (नाद) बनी रहती है। इस अभ्यास से मनोराज्य पर विजय हो जाती है। ओंकार के प्रयोग से जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के अधिष्ठानरूप की ही प्रतीति रह जाती है बाकी सारा मनोराज्य निवृत्त हो जाता है। मनोराज्य वासनाओं से, संस्कारों से होते हैं। जब हम ओंकार के संस्कारों का प्रवेश मन में करा लेते हैं तब दूसरे मनोराज्य नहीं आ पाते। यही मनोराज्य को निवृत्त करने का साधन है। ज्ञान अज्ञान को तो निवृत्त कर देता है परन्तु अज्ञान के संस्कारों को निवृत्त करने के लिए यहाँ साधन बताये—विषयों में दोषदर्शन, एकांतवास, दीर्घप्रणव का उच्चारण। इन साधनों से ही अज्ञान के संस्कारों की निवृत्ति हो जाती है।।६२।।

मनोराज्य पर विजय प्राप्त करने का प्रभाव बताते हैं—

जिते तस्मिन् वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत्।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम्।।६३।।

मनोराज्य जीता जाने पर मन गूँगे की तरह वृत्तिरहित रहता है। श्रीराम को यह दशा वसिष्ठ जी ने कई तरह समझायी है।

जब मनोराज्य जीत लिया जाता है अर्थात् जब मनोराज्य हट जाता है तब मन वृत्तिशून्य हो जाता है। मन का व्यापार वृत्ति बनाना है, मनोराज्य वृत्तिरूप ही है, मनोराज्य हट जाता है अर्थात् वृत्तिशून्यता हो जाती है। मन तो रहता है परन्तु वृत्तिज्ञान नहीं रहते हैं। ऐसे मन में शुद्ध

ब्रह्म का प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही रहेगा। वहाँ ब्रह्माकार वृत्ति नहीं है, बुद्धि ही ब्रह्मरूप से प्रतीत होती है। गूँगा वाणी के व्यापारों से रहित होकर रहता है। उससे वाणी का कोई व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार इस साधक के भी मन से कोई व्यवहार नहीं होता। मूक दृष्टांत इसलिए है कि मौन तो अन्य लोग भी रह सकते हैं। व्यक्त वाणी का प्रयोग नहीं करेंगे, लेकिन मन में शब्दों का प्रवाह चलेगा ही। इसलिए हम लोग सर्वथा शब्दव्यवहार से शून्य नहीं होते हैं। परन्तु जो बहरा होने से गूँगा होता है, उसने कभी शब्द सुना ही नहीं है, अतः कभी शब्द बोला भी नहीं, शब्द का कोई व्यवहार किया ही नहीं है। वह शब्द-व्यवहार से सर्वथा रहित होता है। इसी प्रकार मन किसी भी संस्कार से रहित होने पर किसी भी वृत्ति से रहित हो जाता है। हमारा मन प्रायः किसी-न-किसी वृत्ति वाला ही रहता है। चाहे भगवान् का ध्यान करें, मन स्थिर तो हो जाता है, किंतु भगवान् के उसी आकार की वृत्ति रह जाती है, वृत्तिशून्य तो नहीं रहता। अतः सविकल्प अवस्था तो समझ में आती है, परन्तु मन निर्विकल्प कैसे होगा? महर्षि वसिष्ठ ने भगवान् राम को उपदेश द्वारा यह समझाया है। 'एतत् पदं' इस स्थिति को प्राप्त करने के साधन बताये हैं। यह पुरुषार्थ-साध्य है। स्वतः नहीं होता पर प्रयास से होता भी है। विष्णु का जो परम पद कहा जाता है वह यही है। इस विष्णुपद का आत्मज्ञानी ही अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं। मन की वृत्तिशून्य अवस्था प्राप्त करने के योग्य है, ऐसा वसिष्ठजी ने अनेक प्रकार से श्री राम को कहा है।।**६३**।।

उनके दो वाक्यों का यहाँ उदाहरण देते हैं—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः।।६४।।

'दृश्य है ही नहीं' इस ज्ञान के द्वारा मन से दृश्य को यदि मिटा दें तो समझ लेना चाहिए कि परम मोक्षरूप आनन्द उपलब्ध हो गया। (योगवा.वैरा.३.६)

श्लोक ६२ में 'बुद्धतत्त्वं' कहा था, वसिष्ठ जी ने उसका स्वरूप बता दिया कि जिसे पता है कि दृश्य न था, न है और न होगा। 'नास्ति' में 'अस्ति' पद केवल वर्तमान का निषेध नहीं करता वरन् होनेमात्र का निषेध करता है कि न कभी दृश्य था, न है और न कभी रहेगा। श्रुति कहती है 'नेह नानास्ति किंचन' द्वैत कहीं है ही नहीं। 'इह' अर्थात् प्रत्यगात्मा के अन्दर कभी द्वैत है ही नहीं। इस प्रकार अद्वय प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो ब्रह्म है उसके सिवाय और कुछ भी नहीं है इस ज्ञान से दृश्यरूप मल को मनरूप दर्पण से मानो पोंछ दिया है। जैसे ज़मीन पर झाड़ू लगाने से सफाई हो जाती है वैसे उक्त ज्ञान से मन की वासनाएँ साफ हो जाती हैं। जैसे झाड़ू देकर सारी धूल बाहर फैंक दी जाती है, वैसे यहाँ मन का मैल कहीं बाहर फैंकते नहीं हैं! जो चीज़ है ही नहीं उसे बाहर फैंकने का मतलब केवल यही होता है कि उसके न होने का पता लगा लेना। जैसे रस्सी से साँप भगा देने का मतलब होता है कि प्रकाश डालकर रस्सी का साक्षात्कार कर लेना इसी प्रकार अद्वितीय साक्षात्कार ही दृश्य का मार्जन है। मन में ही दृश्य

दीख रहा है, इसलिए अंतःकरण में ही निश्चय करना है कि वह नहीं है। मन से अतिरिक्त कभी कहीं दृश्य नहीं दीखता है; जाग्रत् एवं स्वप्न में मन है तभी दृश्य है, सुषुप्ति में मन नहीं है तो दृश्य भी नहीं है। अतः दृश्य तब तक है जब तक मन है। मन से दृश्य के मार्जन का मतलब इतना ही है कि दृश्य का सर्वथा त्रैकालिक अत्यंताभाव समझ लेना। यह दृश्य-निवारण धीरे-धीरे होता है। जैसे साफ करने के बाद भी कमरे में धूल आ जाती है तो पुनः सफाई करनी पड़ती है। इसी प्रकार जब-जब दीर्घप्रणव की वासना कमज़ोर होकर प्राचीन वासनायें प्रभावी होंगी तब फिर दृश्य की प्रतीति करायेंगी। जैसे ही प्रतीति करायें वैसे ही फिर 'दृश्यं नास्ति' यह झाड़ू लगा दो कि दृश्य नहीं है। ऐसा तब तक करो जब तक फिर कभी दृश्य सामने आये ही नहीं। 'चेत्' अर्थात् यदि के द्वारा बताया कि यह सम्पन्न होना बड़ा कठिन है। यदि हो जाये तो यही 'परा' अर्थात् जिससे और ज़्यादा कुछ नहीं है ऐसी अंतिम स्थिति है। इसे निर्वाण स्थिति कहते हैं। 'वाण' नाम दुःख का है। निर्वाण अर्थात् दुःख-निवृत्ति। तब संसार की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। यह जो परम निर्वाण की निष्पत्ति, उत्पत्ति है, उसके आगे और कुछ नहीं है। यह वही अवस्था है जिसे वसिष्ठजी सप्तम भूमिका कहते हैं क्योंकि फिर दृश्य की कभी भी प्रतीति नहीं है।।६४।।

उक्त स्थिति के बारे में और भी (योगवा.स्थिति.५७.२८) बताते हैं–

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः।
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम्।।६५।।

शास्त्र का पर्याप्त विचार कर एवं दीर्घकाल तक उसे परस्पर समझाकर निश्चय होता है कि सारी वासनाओं का भली भाँति त्यागरूप मौन से बेहतर कोई पद (स्थिति, पुरुषार्थ) नहीं है।

शास्त्र का श्रवण, मनन आदि सारा प्रथम तीन भूमिकाओं में सम्पन्न कर लिया जाता है। चतुर्थ भूमिका का प्रारंभ शास्त्र-ज्ञान के साथ होता है। 'चिरम् उद्ग्राहितं' चतुर्थ और पंचम भूमिकाओं को बताता है। चतुर्थ भूमिका के अन्दर सतीर्थ्यों और वादियों के साथ ज़्यादा विचार करते हैं। पंचम भूमिका में उतनी प्रवृत्ति नहीं रहती, परन्तु शिष्यों को ज्ञान कराता है। सच्छिष्य को देखकर गुरु उसे तत्त्वनिष्ठा कराता है। प्रतिपक्षी, तो अपने मत का आग्रही है, उसे समझाने में उसके पक्ष के दोषों का भी उद्भावन आवश्यक है। पंचम भूमिका में वैसा विचार रुचिकर नहीं होता। शिष्य केवल तत्त्व ग्रहण करने को उत्सुक है अतः समझाने में तत्त्वमात्र का चिन्तन अपेक्षित रहता है जिसमें विद्वान् को रुचि होती है। चतुर्थ भूमिका में अलं-बुद्धि तक पहुँच गया फिर वह जब दृढ होकर पंचम भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है तब उसकी सत्-शिष्य को उपदेश देने की ही प्रवृत्ति रह जाती है। उसके बाद वासनाओं का भली प्रकार से परित्याग किया जाता है। जितनी काम आदि की वासनायें हैं वे सारी की सारी भली प्रकार से छूट जायें, उनका कुछ भी लेश न रहे इसका प्रयास होता है। यह सविकल्प समाधि की स्थिति षष्ठ भूमिका है। इसमें काम-क्रोधादि सारी वासनायें छूट जाती हैं। फिर 'मौनात्' सप्तम भूमिका में पहुँचकर मन कुछ

भी वृत्ति नहीं बनाता। मुँह के अन्दर पानी डाल दो तो उसे पीने की वृत्ति भी नहीं बनती! छठी भूमिका तक अपनी ओर से प्रवृत्ति धीरे-धीरे छूट जाती है, परन्तु कोई दूसरा मुँह में डाल दे तो निगलने की प्रवृत्ति रहती है। सप्तम भूमिका में मन की उतनी वृत्ति भी नहीं बनती, केवल स्वरूप में ही स्थिति रहती है। इसके आगे फिर और कोई पुरुषार्थ नहीं है। यहीं तक पहुँचना है, जब मन सर्वथा वृत्तिशून्य रहे। श्लोक ६४-६५ दोनों वसिष्ठजी के वाक्य हैं। भूमिकाओं का क्रम मूलतः वसिष्ठ जी ने समझाया है।

साधक दो प्रकार के होते हैं। एक, जिनका प्रारब्ध न्यून होता है। प्रारब्ध-न्यूनता के कारण वे लोग सप्तम भूमिका में आरूढ हो जाते हैं। दूसरे वे साधक हैं जिनका प्रारब्ध अधिक होता है। उनको इन सातों भूमिकाओं की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि प्रारब्ध शेष है। वे ही विभिन्न प्रकार के लोकसंग्रह, ग्रंथरचना आदि में प्रवृत्त किये जाते हैं। तत्त्वप्रतिष्ठा के लिए परमेश्वर उनका प्रयोग कर लेते हैं।।६५।।

अभ्यासी ने चित्त वृत्तिहीन बना भी लिया पर प्रारब्धवेग यदि विक्षेप उपस्थित करे तो क्या किया जाये यह समझाते हैं—

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात्।।६६।।

भोगप्रद कर्म से कभी बुद्धि विक्षिप्त हो तो अभ्यास-कुशलता से उसे तभी समाहित बनाया जाये।

जिसे उत्तम पद की दृढ प्राप्ति हो गई वह सप्तम भूमिका में आरूढ हो चुका। जिसे इस पद की पूर्ण प्राप्ति नहीं हुई उसे इस श्लोक में बताते हैं कि वह और अभ्यास करे। यह श्लोक वसिष्ठ जी का नहीं है। अभ्यासी साधक के चित्त में प्रायः विक्षेप नहीं होता। अपनी तरफ से उसमें काम, क्रोध, मनोराज्य नहीं होते हैं। परन्तु कभी भोगदायी कर्म उपस्थित होते हैं तो मन में भेददृष्टि भी आ जाती है। यहाँ द्वैत की प्रतीति ही विक्षेप है। जैसे हम सुख-दुःख आदि से विचलित होते हैं वैसा विक्षेप तत्त्वज्ञ को संभव नहीं। अतः 'कदाचित्' कहा। भोग-मात्र से जो विक्षेप, भेदानुभूति, उसे वह झट से मिटा देता है। हम कामना-मनोराज्यादि से भी विक्षिप्त रहते हैं, कर्म (प्रारब्ध) से भी। विद्वान् केवल भोगप्रद कर्म (प्रारब्ध) से ही द्वैतदृष्टि वाला बनता है, कामना-मनोराज्य आदि से नहीं। शरीरनिर्वाह के लिए शौच, भोजन आदि हो या शिष्य को उपदेश हो, यत्किञ्चित् द्वैतबुद्धि अनिवार्य है। यद्यपि विद्वान् उस भेद को सत्य नहीं समझता तथापि जो भेदभान होता है वही उसके लिए विक्षेप है। अनुपस्थित का उसे कोई विचार नहीं आता। सामने रखी थाली से अन्य कुछ भोजन के बारे में वह नहीं सोचता, उपस्थित शिष्य के अज्ञाननिवारण से अतिरिक्त उसके भी बारे में कुछ नहीं सोचता। स्वयम् अद्वैतस्थिति में रहने के अभ्यास की पटुता से वह ऐसे विक्षेप को पुनः समाधि से उपशांत कर लेता है। हम लोग भोगमात्र के अलावा द्वैत को महत्त्व देकर उसके चिन्तन में बह जाते हैं, विद्वान् यों बहता नहीं

यह उसकी पटुता, प्रौढता, कुशलता है। दीर्घ अभ्यास से उसमें यह चतुराई आ जाती है कि विक्षेप होते ही उसी समय उसे काट देता है। इस प्रकार सार है कि अभ्यास की दृढता ही चाहिए, अन्य उपाय नहीं है।।६६।।

'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वाक्यों से, 'ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् है ही नहीं' इस समझरूप झाड़ू से जब मन से दृश्यरूप मल हटा दिया जाता है तब सारे दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है। दुःख द्वैत से ही है, श्रुति भी कहती है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' सारे भय अर्थात् दुःख का कारण दूसरा (द्वैत) ही है। जिसने द्वैत का सर्वथा उन्मूलन कर दिया उसकी महिमा बताते हैं—

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः।।६७।।

जिसे सर्वथा विक्षेप होता ही नहीं उसे ब्रह्मज्ञ नहीं माना जाता क्योंकि वेदान्त के मर्मज्ञ मुनि कहते हैं कि वह ब्रह्म ही है!

जिसके मन से दृश्य का मार्जन हो चुका उसको चित्त में कभी भी विक्षेप नहीं होता। चित्त हमेशा ही विक्षेप से रहित है तो ब्रह्मस्वरूपता नहीं हटती। कोई-न-कोई दूसरी वृत्ति बने, विक्षेप हो, तभी ब्रह्मस्वरूप से हिलकर ब्रह्मवेत्ता-रूप आता है। या दृश्य विक्षेप लाता है या अहंकार विक्षेप लाता है। दो ही अनात्म-प्रतीतियाँ हैं—युष्मत् और अस्मत्, मैं और मैं से भिन्न। जिसे भिन्न की प्रतीति नहीं होती वह अभिन्न ब्रह्म ही है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक वृत्ति से अविद्या नष्ट होती है। 'मैं ब्रह्म हूँ' जानने से अविद्या नष्ट होने पर इस वृत्ति का उपयोग बचता नहीं। यद्यपि दर्पण में मुख दीखता है तथापि जिसका पता चलता है वह तो ग्रीवा पर स्थित है, देख चुकने पर प्रतिबिम्ब कायम नहीं रखना पड़ता। ऐसे ही अहम्ब्रह्माकार वृत्ति में परमेश्वरभाव का दर्शन होता है परन्तु वृत्ति तो ब्रह्म नहीं! अतः दर्शन के बाद वृत्ति चाहिये नहीं। बिना मैं-वृत्ति बनाये 'मैं ब्रह्म को जानने वाला' प्रतीति होगी नहीं अतः 'मैं ब्रह्म-वेत्ता' यह अभिमान नहीं रहेगा। अतः जैसे दर्पण में देखने के बाद ग्रीवास्थ ही मुख बचता है वैसे ब्रह्मदर्शन के बाद ब्रह्म ही रहता है, 'ब्रह्मज्ञ' कहलाने जैसा कोई नहीं रह जाता। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है 'ब्रह्मैव न ब्रह्मवित्'। उपनिषत् कहती ही है 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। जब वचन का प्रयोग कर रहे हैं तब अहं की उपस्थिति अवश्य है। अहं की उपस्थिति रहते हुए 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' यह बात तो कही जा सकती है लेकिन 'मैं ब्रह्म हूँ' यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों में केवल लक्षणा से ही ज्ञान माना है। दोनों ही पदों से भाग-त्याग लक्षणा के द्वारा ही अखण्ड कहा जाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा उसका सीधा अर्थ नहीं है। 'मैं' के अर्थ में दो हिस्से हैं, उनमें वृत्तिवाला, उपाधिवाला हिस्सा छोड़कर चेतन वाला हिस्सा लेकर उसे, ब्रह्म का भी चेतन वाला ही हिस्सा कहा जा रहा है। अतः महावाक्यों में लक्षणा आवश्यक हो जाती है। किसने कहा है? 'मुनयः पारदर्शिनः' उन संन्यासियों ने कहा है जिन्होंने इस संसार समुद्र के पार जो शुद्ध तत्त्व है, उसका साक्षात्कार कर लिया है। कहने वाले पारदर्शी लोग हैं अतः 'अयम्' (यह)

से वे साक्षी चेतन को ही कहते हैं न कि अहंकार को। 'मुनयः मननशीलाः' मननशील विचारवान् ही अवाच्य तत्त्व को शब्द से प्रकट कर पाते हैं, अन्यथा या ग़लत बोलेंगे या बोल ही नहीं पायेंगे॥६७॥

इस बारे में भी महर्षि वसिष्ठ ने जो कहा है वह बताते हैं–

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित् स्वयं।।६८।।

हे ब्राह्मणदेव! 'ब्रह्म को जानता हूँ' एवं 'ब्रह्म को नहीं जानता' ये दोनों व्यवहार छोड़कर स्वयम् अद्वितीय चेतनमात्र रूप से जो रहता है वह स्वयं ब्रह्म है न कि (ब्रह्मेतर कोई) ब्रह्मवेत्ता।

वसिष्ठ जी वहाँ बैठे हुए ब्राह्मणोत्तम को सम्बोधित कर कहते हैं–हे ब्रह्मन्! 'ब्रह्म को मैं देखता हूँ' और 'ब्रह्म को मैं नहीं देखता हूँ'–ये दोनों ही अभिमान विद्वान् के छूट जाते हैं। ठीक जैसा केनोपनिषद् में कहा है–'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' जिसने ब्रह्म को 'मैंने जान लिया' इस प्रकार से नहीं जाना उसने तो जान लिया। यह बात विरुद्ध लगती है परन्तु विरुद्ध नहीं है। जाना हमेशा उसे जाता है जो अपने से भिन्न हो। ब्रह्म भिन्न है नहीं अतः जो समझता है कि 'मैंने ब्रह्म को नहीं जाना' उसने जान लिया और जो भेदेन जानकर समझता है कि 'मैंने ब्रह्म *को* जान लिया', उसने नहीं जाना। स्वयं कोई स्वयं को नहीं जान सकता। सूर्य सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि सूर्य प्रकाशरूप है। सूर्य प्रकाशरूप है इसलिए उसे न दूसरा प्रकाश प्रकाशित कर सकता है और न सूर्य स्वयं अपने को प्रकाशित कर सकता है। ऐसा कहने से लगता है कि क्या सूर्य अप्रकाशित है? सूर्य अप्रकाशित भी नहीं है! ठीक इसी प्रकार से मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, अतः मैं ब्रह्म को जान नहीं सकता और फिर भी ब्रह्म मुझे अज्ञात नहीं है। विदित-अविदित, ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न है क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों अज्ञान के ही रूप हैं। घड़े को 'घड़ा है' जानते हैं किन्तु नाम-रूप कभी 'है' नहीं हो सकते! इसलिए जो जानते हैं वह सब अज्ञान का ही कार्य है। 'नहीं जानना' यह अज्ञान और भेदेन जानना भी अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान है, जैसे सोने का कार्य गहना सोना ही है।

इसलिए ज्ञान और अज्ञान दोनों को छोड़कर अर्थात् दोनों ही व्यवहार जिसके छूट गये हैं, वह अद्वितीय चेतन ही है। सारे व्यवहारों को छोड़कर रहने वाला केवल है। व्यवहार या कारण अज्ञान से कर सकते हो या कार्य अज्ञान से कर सकते हो। कारण अज्ञान से व्यवहार करने वाला ईश्वर है, वह कारण अज्ञान को चलाता है। कार्य अज्ञान को चलानेवाला जीव है। अज्ञान से ही अंतःकरण आदि सारी उपाधियाँ उत्पन्न हुई हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' कारण उपाधिवाला ईश्वर और कार्य उपाधिवाला जीव है। इन दोनों उपाधियों को जिसने छोड़ दिया वह स्वयं केवलरूप है सजातीय, विजातीय, स्वगत सारे भेदों से रहित, देश, काल, वस्तु सबसे अपरिच्छिन्न केवल अर्थात् अकेला ही है। केवलत्व ही उसका निरूपण है, और किसी भी प्रकार से उसको निरूपित नहीं कर सकते। सामान्य

व्यवहार में आकाश का निरूपण किस रूप से करते हो? सिवाय इसके कि 'पेटी में और कुछ नहीं है,' और कोई तरीका आकाश को बताने का नहीं है। इसी प्रकार जो-जो द्वैत भेद प्राप्त है, वह सारा 'नहीं नहीं' यों मना करना ही केवल को बताने का ढंग है। 'नेति नेति' का मतलब यह नहीं है कि कुछ नहीं बचा! जैसे आकाश से सारा व्यवहार, सारे नाम-रूप उत्पन्न होते हैं अतः आकाश को 'कुछ नहीं' तो नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार जिस ब्रह्म से सारा जगत् उत्पन्न होता है वह 'कुछ नहीं' तो कहा नहीं जा सकता, परन्तु 'कुछ' है इसका निषेध ज़रूर किया जा सकता है।

जो केवलरूप से ही रहता है वह ब्रह्मस्वरूप ही है, उसको ब्रह्मवेत्ता भी नहीं कह सकते क्योंकि वह स्वयं ब्रह्म ही है। अज्ञान का त्रैकालिक अभाव उसमें स्वरूप से रहने के कारण 'मैं अज्ञान में था, मेरा अज्ञान हट गया' इत्यादि कोई भी व्यवहार उसमें संभव नहीं है। ब्रह्म का अज्ञान जिसको प्रतीत है वह जीव अज्ञान के कारण अज्ञान में ही है। ब्रह्म में तो तीनों काल में जीवरूपता है ही नहीं! जिस प्रकार जब तक दर्पणों में देखते हैं तब तक जिसे बिम्ब कहते हैं वही जैसे ही काँच हट गये वैसे ही मुखस्वरूप ही रह जाता है। जब तक दर्पण में न पड़े तब तक प्रतिबिम्ब नहीं होने से मुख बिम्ब भी नहीं बन सकता! इसी तरह किसी उपाधि से ही ब्रह्मज्ञता का व्यवहार है, निरुपाधि तो अद्वितीय चेतन ही है। जो जीव था, वह ब्रह्म हो गया—ऐसा नहीं है। ब्रह्म तो ब्रह्म ही रहा, जीवत्व की भ्रांति मिट गयी, केवल इतना ही है।।६८।।

द्वैतविवेक का उपसंहार करते हैं—

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात्।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद् विवेचितम्।।६९।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां द्वैतविवेकः समाप्तः।।४।।

जीवन्मुक्ति की चरम सीमा जीवद्वैत (मनोमय प्रपंच) के परित्याग से मिलती है इसलिए ईश्वरसृष्ट द्वैत से अलग कर जीवद्वैत को समझाया।

तुम जिस द्वैत को देखते हो, उस द्वैत को ही तुम्हें हटाना है। हम लोग हमेशा इस भ्रम में रहते हैं कि 'बाह्य संसार है इसलिए हमें दीख रहा है'। परन्तु सच्ची बात यह है कि हमें दीख रहा है इसलिए बाह्य संसार है! बहुत पुरानी कथा है : कलकत्ते के अन्दर हुगली नदी में कोई डूब रहा था तो ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था 'दुनिया डूब रही है'। मल्लाहों ने उसे बाहर निकाला। उससे पूछा 'तुम कैसे कह रहे थे कि दुनिया डूब रही है?' उसने कहा कि 'मैं बच गया तो संसार बच गया, मैं डूबा तो जग डूबा।' संसार की स्थिति होती है जब हम उसे जानें। चाहे परोक्षरूप से, चाहे अपरोक्षरूप से जानें, परन्तु जिस चीज़ को हम जानेंगे उसी को हम सिद्ध कर

सकते हैं। अतः बंधन का कारण हमारा मानस द्वैत ही है। मानस द्वैत से हटकर कोई दूसरा द्वैत है नहीं। आचार्य मधुसूदन कहते हैं कि दृष्टि-सृष्टिवाद ही उस स्थिति को बताता है। जब तक उस स्थिति में नहीं पहुँचते हैं तब तक के लिए बाकी सब विचार हैं। 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' इस अभिमान समेत सारा का सारा अज्ञान का कार्य, जीव का द्वैत है। 'मैं बद्ध हूँ, मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय हूँ' यहाँ से लेकर 'मैं ब्रह्म हूँ' पर्यन्त जीवद्वैत है अर्थात् जीव द्वारा सृष्ट द्वैत है। कुछ द्वैत द्वैत को हटाने वाले होते हैं और कुछ उसे दृढ करते हैं। जैसे हमारे कपड़े में मिट्टी का दाग़ लग गया। उसको हटाने के लिए साबुन की बट्टी से एक दाग़ और लगा देते हैं। साबुन का भी दाग़ ही लगता है। साबुन लगा कर बिना धोये सुखाकर कपड़ा पहनो तो वह गंदा ही दीखेगा। साबुन अगर दाग़ है तो लगाना ही क्यों? साबुन दाग़ है इसमें संदेह नहीं, परन्तु वह ऐसा है जो मिट्टी के दाग़ को हटाकर अंत में खुद भी हट जाता है। इसी प्रकार जितने उपदेश आदि व्यवहार हैं, वे भी सारे जीवद्वैत ही हैं। श्रवण-मननरूप द्वैत अब तक हमने जिस द्वैत को बनाया उसे साफ कर देता है। यह जो ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति, जीवन्मुक्ति की अंतिम अवस्था अर्थात् सप्तम भूमिका है वह सारे द्वैत को हटाने से प्राप्त हो जाती है। इसे समझने के लिए ईश्वर के द्वैत से जीवद्वैत को अलग किया। सारी उपनिषदें कहती हैं कि परमेश्वर ने आकाश, वायु, मनुष्य, पशु, पेड़, अन्न, वीर्य आदि सब उत्पन्न किया। यह सब ईश्वर-द्वैत है। ये जितनी चीजें कही गई हैं, ये बन्धन का कारण नहीं हैं। ये बन्धन का कारण तभी होती हैं जब जीवद्वैत से सम्बद्ध हों। अतः जब जीवद्वैत का विवर्जन कर दिया जाता है तब ईश्वरद्वैत कैसे हटेगा—यह सोचने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह मायिक ही है। शंका होती है कि परमेश्वर ने जिन आकाश आदि की सृष्टि की, ये तो रहेंगे ही। यदि जीवद्वैत से सम्बन्ध टूट जाये तो इनका रहना कोई दुःख नहीं देता। बंधन का कारण जीवद्वैत बनता है। बन्धन अवस्था के अन्दर ही आकाशादि के अन्दर 'अस्ति' है-बुद्धि होती है। स्वरूप से यह मायिक होने के कारण उसमें अस्ति या नास्ति बुद्धि का कोई प्रयोजन ही नहीं है। द्वैत बंधन का कारण कैसे है—यह समझाने के लिए दोनों द्वैतों का विवेचन किया गया है।।६९।।

इस तरह द्वैतविवेक प्रकरण पूर्ण हुआ।

पञ्चम
महावाक्यविवेक प्रकरण

प्रायः विद्यारण्य स्वामी की शैली है कि किसी एक प्रधान वाक्य को आधार बनाकर विचार प्रवृत्त करते हैं, परन्तु प्रकृत प्रकरण में चारों महावाक्यों का विचार करेंगे। इस तरह यह पंचदशीका 'समन्वय अध्याय' है। चार वेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। अनेक कर्म, उपासनायें ऐसी हैं जो मिलती-जुलती हैं लेकिन ऋग्वेद में और प्रकार से, यजुर्वेद में और प्रकार से, सामवेद में और प्रकार से, अथर्ववेद में किसी अन्य प्रकार से उन्हें कहा है। सबमें अलग-अलग प्रकार से कहा गया तो प्रश्न होता है कि कौन-सा प्रकार अपनायें? हमारी परम्परा है कि जिस वेद का ग्रहण, अध्ययन अपनी कुलपरम्परा में चला आया है उसका ही अनुसरण करना उचित है। यह चिन्ता करने की जरूरत नहीं कि हम यजुर्वेदी हैं किन्तु सामवेद में तरीका अच्छा है! अपनी-अपनी वैदिक शाखा के अनुसार ही सब लोग करें। फल में कोई भेद नहीं। जैसे एक वाक्य कहता है कि जिस समय सूर्य हो उस समय यज्ञ करो और दूसरा कहता है कि जिस समय सूर्य न हो, उस समय यज्ञ करो। अत्यंत विरुद्ध बातें हैं। जिस वेद में आया है कि सूर्य के रहते करो, उस शाखा वाले प्रशंसा करते हैं कि सूर्य की साक्षी में ही कर्म होना चाहिए अन्यथा वह कर्म व्यर्थ हो जाता है। और जो वेद कहता है कि सूर्य उदय न हो तब कर्म करो अथवा सूर्य की मौजूदगी न हो तब करो, उस शाखा वाला कहता है कि जिस समय ध्रुव उदित है उस समय किया हुआ कर्म ध्रुव की तरह स्थिर हो जाता है, काम सिद्ध हो जाता है! आधुनिक व्यक्ति की समस्या होती है कि दोनों में से ठीक कौन-सी बात है? ठीक उसके लिए वही है जो जिसकी कुल-परम्परा से चला आ रहा है। अतः दूसरे को उसकी नकल नहीं करनी है। यह सनातन धर्म की आधारभूत मान्यता है कि अपनी परम्परा अपने लिए श्रेष्ठ है। लोग अपने-अपने मोहल्ले में, अपनी-अपनी जाति को देखकर वही काम करते थे जो होता चला आ रहा है। कभी कदाचित् कोई दूसरा देखने में आता था तो समझ लेते थे कि दूसरों की परम्परा है। आजकल दिल्ली में एक ही मोहल्ले में चले जाओ तो पड़ोस में ही यजुर्वेदी, सामवेदी दोनों रहते हैं, यहाँ तक कि ईसाई, मुसलमान भी सब पड़ोस में ही रहते हैं, सब एक ही मकान में रहते हैं। कलकत्ते में मारवाड़ियों ने कुछ मकान बनाये, उन्होंने नियम रखा था कि मकान केवल हिन्दू को दें जिससे परम्परायें गड़बड़ न हों। उनके बच्चों को धन की जरूरत पड़ी तो लेने वाला चाहे मुसलमान हो, पैसा ज़्यादा मिला तो उसी को मकान बेच दिया! ऐसे मकानों में ऊपर के तल्ले

में अग्निहोत्री ब्राह्मण रह रहा होगा, उसके नीचे के तल्ले में गोमांस खाने वाला मुसलमान रह रहा होगा! वहीं माँस पकायेगा तो ऊपर ब्राह्मण के नाक में दुर्गन्ध पहुँचेगी ही। महाराज जी हमेशा कहा करते थे कि जहाँ होटल हो उसके पास से भी गुजरना नहीं चाहिए क्योंकि वह तो श्मशान भूमि है। श्मशान भूमि उसे कहते हैं कि जहाँ माँस पके, श्मशान का जहाँ तक धुँआ जाता हो वहाँ तक का चावल भी नहीं खाना चाहिए। आधुनिक काल में इस प्रकार सब रहने लगे तो परम्पराओं की नकल होने लगी। यह प्रश्न होने लगा कि 'अमुक ऐसा कर सकते हैं तो मैं क्यों नहीं कर सकता?' सनातन धर्म का जो आधार है कि अपने-अपने कुलधर्म का पालन करो, वह गड़बड़ा गया।

वेदान्त का सिद्धांत इसमें कर्म-उपासना के सिद्धान्त से बिलकुल अलग है। वेदान्त-सिद्धांत यह कहता है कि सत्य एक ही होता है 'नहि वस्तुनि विकल्पः सम्भवति।' जो चीज़ जैसी है वैसी ही रहती है। ब्रह्म एक तत्त्व है जो न करने की चीज़, न उपासना की चीज़ है। कर्म और उपासना में तो तुम्हारी कुल-परम्परा विभिन्न हो सकती है परन्तु वस्तु एकरूप होती है। वेदांत कहता है कि ठीक तो लोक में कोई भी चीज़ नहीं है! भगवान् गौडपाद आचार्य कहते हैं—झगड़ा तब होता है जब द्वैत को सत्य समझ लेते हैं। सारा झगड़ा, सारा 'करना' द्वैत में ही होता है। ध्यान भी द्वैत में ही होता है। कर्म उपासना दोनों जिस द्वैत में ही हो सकते हैं वह द्वैत वास्तव में है ही नहीं। इसलिए सारे द्वैत एक जैसे गलत हैं। किसको ठीक कहें और किसको गलत कहें, जब सारे ही गलत हैं। यदि द्वैत में यह पूछते हैं कि 'यह ठीक है या वह ठीक है?' तो वेदांती कहेगा कि सच्ची बात यह है कि 'तच्च द्वैतं न विद्यते' वस्तु एक है, द्वैत है नहीं। भगवान् वेदव्यास ने कहा 'तत्तु समन्वयात्' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की उपनिषदें सब एक ही तत्त्व को कहती हैं। तत्त्वविचार करते समय, चाहे हम ऋग्वेदी हों, चाहे यजुर्वेदी, सामवेदी या अथर्ववेदी हों, सभी शाखाओं का विचार करके एक तत्त्व का निर्णय करना आवश्यक है। उसमें यह नहीं कह सकते कि सामवेद का तत्त्व ऐसा है और ऋग्वेद का तत्त्व कुछ और है।

अतः चारों वेदों में से चार महावाक्य छाँटे गये जिनके अन्दर जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। इस महावाक्य-प्रकरण के अन्दर चारों महावाक्यों का विचार आयेगा। जहाँ-जहाँ जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन होता है वे सब महावाक्य कहे जाते हैं। उनमें से चार महावाक्यों को प्रधान माना जाता है, जिनका प्रधानरूप से उपदेश और विचार किया जाता है। चार की संख्या में वाक्यों को सीमित नहीं समझना, परन्तु चार का विचार इसलिए किया जाता है कि वेद चार हैं और एक वेद का एक महावाक्य निर्णीत किया गया है। सबसे प्रथम ऋग्वेद है। यहाँ क्रम में पहले का मतलब समय की दृष्टि से पहले नहीं समझ लेना। लोग समझते हैं कि ऋग्वेद सामवेद से पहले हुआ होगा। ऐसा नहीं है, क्योंकि वेद तो इकट्ठा एक ही साथ है। ऐसा नहीं कि यह वेद पहले और वह वेद पीछे। समय की दृष्टि से ऐसा

पूर्व-अपरभाव नहीं है। जब कोई बात कहेंगे तो किसी क्रम से ही कही जाती है। गीता में भी कह देते हैं कि 'यह पहले आ गया, वह बाद में आया'; गीता तो सारी एक-साथ ही है! गीता में फिर भी भगवान् के बोलने के क्रम की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु नित्य वेद में तो वह कल्पना भी संभव नहीं है। ऋग्वेद के आरण्यक का नाम ऐतरेय आरण्यक है। वहीं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह महावाक्य आया है। प्रज्ञानं ब्रह्म में दो शब्द हैं एक, प्रज्ञान और दूसरा, ब्रह्म। स्वयं श्रुति ने ही प्रज्ञान का अर्थ किया है–

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत् प्रज्ञानमुदीरितम्।।१।।

जिससे पुरुष इदम्बुद्धिगम्य संसार को देखता, सुनता, सूँघता, बोलता, स्वादिष्ट-बेस्वाद पहचानता है वह 'प्रज्ञान' कहा गया है।

आँख के द्वारा देखने का मतलब है कि आँख के द्वारा बाहर गया हुआ अंतःकरण चीज़ की वृत्ति बनाता है। इसीका नाम 'देखना' है। केवल आँख से कुछ नहीं देखा जाता। इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत शकुन्तला का है ही। शकुन्तला आँख खोलकर बैठी हुई थी, कान भी खोल कर बैठी थी; कान में कोई रूई तो नहीं ठूस रखी थी, आँख के आगे भी कोई पर्दा नहीं लगा रखा था। दुर्वासा आकर कहते रहे कि 'मैं आया हूँ', लेकिन उसने न सुना और न देखा क्योंकि उसका मन कहीं और था, दुष्यंत का ही चिन्तन कर रहा था। उसकी आँखें खुली हुई थीं, कान भी खुले हुए थे, परन्तु मन चूँकि अन्यत्र था इसलिए न उन्हें देखा और न उनके शब्द सुने। कोई पूछ सकता है कि फिर कहते क्यों हैं कि आँख से ही देखते हैं? यद्यपि आँख के द्वारा बाहर गई हुई अंतःकरण की वृत्ति पदार्थ तक जा कर तदाकार बनती है, तथापि चूँकि आँख से गई इसलिए आँख को देखने वाला कह दिया जाता है। अंतःकरण या मन तो एक ही है। आँख से भी मन जाता है, कान से भी नाक से भी मन जाता है। परन्तु कान से गया हुआ मन 'देखता' नहीं, आँख से गया हुआ मन 'सुनता' नहीं। मन ज्ञानमात्र के प्रति साधारण कारण है और आँख इत्यादि इन्द्रियाँ विशेष कारण हैं। इसलिए 'आँख से देखते हैं' ऐसा कहा जाता है। आँख के द्वारा अंतःकरण बाहर जाकर घट आदि से संबद्ध हो तदाकार को ग्रहण करता है तब घट ज्ञान के योग्य बनता है अर्थात् उसका ज्ञान हो सकता है।

ऐसा क्यों नहीं मान सकते कि उसी से ज्ञान होगा? क्योंकि मन और आँख खुद जड हैं, घड़ा भी जड है; जड मिलकर चेतन ज्ञान कहाँ से आ जायेगा! इसलिए इन सबसे भिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है तभी कुछ जाना जाता है। ऐसे समझ लो : तुम्हारे पास एक बहुत बढ़िया लकड़ी है। उसी लकड़ी को जाकर तुम धूप में रखो तो लकड़ी दीखती है, परन्तु उसमें सूर्य नहीं दिखाई देता है। फिर तुम उस लकड़ी के ऊपर बढ़िया चमकदार पॉलिश कर दो तो सूर्य उसी में प्रतिबिम्ब रूप से चमचमाता दीख जाता है। चमचमाता सूर्य

किस पर दीख रहा है? उसी लकड़ी में दीखा पहले जिस लकड़ी में नहीं दीखा था। दीखा लकड़ी में ही परन्तु तेल या पॉलिश चुपड़ने से वह इस योग्य हो गयी कि सूर्य उसमें दीख जाये। ठीक इसी प्रकार, घड़ा दीखने के योग्य नहीं है। जब अंतःकरण की वृत्ति आँख के द्वारा उसके ऊपर जाकर छा जाती है जिससे वह घड़ा ज्ञान के प्रतिबिम्ब को लेने में समर्थ होता है, तब घटज्ञान होता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में वृत्ति-व्याप्ति और फलव्याप्ति कहते हैं। लकड़ी पर तेल चुपड़ने की जगह घड़े को मन की वृत्ति से चुपड़ना वृत्तिव्याप्ति है और सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने की जगह फलव्याप्ति है। इस प्रकार, अंतःकरणवृत्ति से उपहित जो चैतन्य है उससे जब दर्शन योग्य हो जाते हैं तब रूपादि दीखते हैं, रूपादि का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार सभी इन्द्रियों में समझ लेना। 'इदं शृणोति'—अर्थात् शब्द-समूह को सुनता है। अंतःकरण की वृत्ति कान से जायेगी, शब्द के ऊपर चमक पैदा कर देगी, उसके अन्दर ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़कर 'शब्द को मैंने सुना या जाना' ऐसा ज्ञान होगा। इसी प्रकार 'येनेदं जिघ्रति' जिससे यह सूँघता है। घ्राण (नाक) द्वारा गई हुई अंतःकरण की वृत्ति गंध के ऊपर जा बैठेगी तब गन्धज्ञान प्रतिबिम्बित रूप से होगा। इसी प्रकार 'व्याकरोति च' वाणी-इन्द्रिय से अवच्छिन्न होकर वह शब्दसमूह को व्यक्त करेगा, प्रकट करेगा। 'स्वादु अस्वादु विजानाति' यह स्वादिष्ट है, यह अस्वादिष्ट है—यों भेद भी पता चलता है। यहाँ जो 'च'कार कहा है वह बाकी के संग्रह के लिए है जो यहाँ नहीं कहे हैं। यहाँ रूप, रस, गन्ध और शब्द—ये चार कहे हैं, स्पर्श नहीं कहा है, उसका 'च'कार से संग्रह हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ वाक् का प्रयोग बताया है; पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन अनुक्तों को चकार से समझ लेना। सारी ही इन्द्रियों से अंतःकरणवृत्ति-भेद के द्वारा ही चैतन्य अवच्छिन्न होता है, तब चीज़ों का ज्ञान होता है। जिसके द्वारा यह सब होता है उस चैतन्य को प्रज्ञान कहा जाता है।।।१।।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य में 'प्रज्ञान' का तात्पर्य बता दिया। अब 'ब्रह्म' का अर्थ बताते हैं—

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि।।२।।

चार मुँह वाले ब्रह्मा, देवराज इन्द्र, अन्य देवताओं में, मनुष्य-घोड़ा-गाय आदि में जो एक चैतन्य है, वह ब्रह्म है। (क्योंकि सर्वत्र है) इसलिए मुझमें भी प्रज्ञान ब्रह्म ही है।

सृष्टि का आदिकर्त्ता ब्रह्मा के रूप में है। इन्द्र, देवताओं के राजा हैं। सभी देवता उत्तम उपाधि वाले हैं। चतुर्मुख सबसे उत्तम, इन्द्र उनसे घटकर, बाकी देवता उनसे घटकर हैं। फिर मनुष्य, जो शास्त्राधिकारी हैं। और घोड़ा, गाय आदि अधम उपाधि वाले हैं। ये सब देह धारण करने वाले हैं। आदि-पद से आकाश आदि महाभूत, जड जगत् समझ लेना चाहिए। इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण जो चैतन्य वह एक ही ब्रह्म है। उपनिषत् में 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः'

(ऐ.उ.३ख.१.३) इत्यादि से प्रारम्भ कर अंत में कहा 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा' अर्थात् इन सबमें एक ही चैतन्य है, भेद सारे उपाधियों के हैं। सबमें रहने वाला चैतन्य एक है। सब प्राणियों और जड वस्तुओं के अन्दर जो मौजूद प्रज्ञान है, वही मुझमें अर्थात् जीवरूप जो 'मैं' द्रष्टा, जानने वाला, उसमें भी है। क्योंकि चैतन्य एक है, इसलिए वही ब्रह्म है। इस प्रकार ऋग्वेद के महावाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म' का विचार हुआ।।२।।

अब यजुर्वेद का जो महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ.१.४.१०) है, उसे बताते हैं—

परिपूर्णः परात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते।।३।।

विद्या में अधिकार रखने वाले इस शरीर में बुद्धि के साक्षिरूप से स्थित होकर प्रकाशमान अपरिच्छिन्न परमात्मा 'अहम्' (मैं) इस शब्द से कहा गया है।

पहले जीव का रूप बताते हैं। जीव का अनुभव तो मैं है, कि 'मैं जीव हूँ।' वह मैं वस्तुतः परिपूर्ण है अर्थात् त्रिविधपरिच्छेदशून्य है। न उसमें देश के कारण, न काल के कारण और न वस्तु के कारण ही किसी प्रकार का विच्छेद है, रुकावट है। चूँकि वह सर्वत्र परिपूर्ण है इसलिए यह जो विवेक वैराग्य वाला श्रवण मनन किया हुआ विद्या में अधिकारी है, जिसमें यह विद्या प्रकाशित हो सकती है, उस शरीर में भी वही परिपूर्ण परमात्मा है। जो परमात्मा सर्वत्र व्यापक है वही, यह जो ज्ञान का अधिकारी है, उसमें भी किस रूप में है? बुद्धि के साक्षिरूप से स्फुरित होता है। साक्षी यहाँ 'अहं' कहा जा रहा है। बुद्धि के साथ स्थित, वह प्रतिबिम्ब-रूपसे उपाधि वाला है और साक्षिरूपसे वही ब्रह्म है। 'बुद्धेः साक्षितया' में बुद्धि से सारे ही सूक्ष्मशरीर ले लेने चाहिए। द्रष्टा होकर बुद्धि के विकारों से वह अपने को विकार वाला समझता है, परन्तु साक्षिरूप से वह अविकारी है।।३।।

'अहं ब्रह्मास्मि' में ब्रह्म-शब्द का अर्थ बताते हुए वाक्यार्थ समझाते हैं—

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्।।४।।

स्वभाव से ही अपरिच्छिन्न परमात्मा इस महावाक्य में ब्रह्म-शब्द से लक्षित है। 'अस्मि' ('हूँ')—शब्द से अहं और ब्रह्म की एकता बतायी है। इस तरह तात्पर्य है कि मैं ब्रह्म हूँ।

'अत्र' इस वाक्य में जो स्वतः अर्थात् स्वरूप से ही पूर्ण है, किसी कारण से नहीं, उस पूर्ण चेतन को ब्रह्म-शब्द से कहा है। उसकी परिपूर्णता तभी संगत हो सकती है जब वह अभिन्न निमित्तोपादान कारण हो अर्थात् सारे संसार को बनाने वाला और बनने वाला वही है, तभी परिपूर्ण है। 'अस्मि' (हिन्दी में 'हूँ') यह पद एकता को बताता है। यह जो अभेद का कथन है

उससे 'मैं ब्रह्म हूँ' यह फलितार्थ आ गया। इसलिए बुद्धि का जो साक्षी है वही परमात्मा है, ब्रह्म है। ब्रह्म कौन? जो सर्वत्र व्यापक है, परिच्छेद से रहित है, इसलिए वही इन सब चीज़ों का एकमात्र कारण है।।४।।

अब तीसरे सामवेद के महावाक्य 'तत्त्वमसि' को बताते हैं। छांदोग्य उपनिषत् के छठे अध्याय में नौ बार इसका उपदेश दिया है—

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेःपुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते।।५।।

सृष्टि से पहले नाम-रूप से रहित जो एक ही अद्वितीय सत् था वह अब भी वैसा ही है यह 'तत्' शब्द से कहा जा रहा है।

'तत्त्वमसि' में पहला शब्द तत् है। तत्पद का लक्ष्यार्थ है 'एकमेवाद्वितीयं', त्रिविध परिच्छेद से रहित अर्थात् कोई देश ऐसा नहीं, कोई काल और कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसमें वह नहीं। उसके कारण ही ये सारे देश, काल, वस्तु हैं। सृष्टि के पहले, जब तक नाम और रूप की सृष्टि नहीं हुई तब तक वह नाम-रूप से रहित है। जैसे जो आदमी बाल-बच्चे वाला लग रहा है वही विवाह के पहले बाल-बच्चों से रहित था क्योंकि बाल-बच्चे उसने पैदा किये। इसी प्रकार सब नाम-रूपों के प्रकट होने के पहले कारण सत् नाम-रूप से रहित था। जो नाम-रूप से रहित सत् था वह सृष्टि होने के बाद भी, इस समय में भी, विचारदृष्टि से वैसा ही है। जब तक चित्र उस पर नहीं डाला गया तब तक जो केवल सिनेमा का पर्दा था, जैसे ही फिल्म देखना बन्द करते हो वह फिर पर्दा ही रह जाता है। इसलिए तुम्हें पता है कि जब यह फिल्म दीख रही थी तब भी सचमुच में रहा तो वह पर्दा ही। इसी प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूपभूत पर्दे पर अपनी शक्ति से अनंतकोटि ब्रह्माण्ड दिखा देता है परन्तु जब दिखाता है उस समय भी वह रहता वैसा का वैसा ही है। उसी को तत् पद से कहा गया।।५।।

उसी महावाक्य के 'त्वं' और 'असि' पदों का अभिप्राय बताते हैं—

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वं-पदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्।।६।।

श्रोता के देह-इंद्रिय से परे उनका साक्षिरूप वस्तु यहाँ 'त्वम्' शब्द से कहा है। तत् और त्वम् की एकता 'असि' से समझायी है। इन दोनों के अभेद का अनुभव मुमुक्षु करें।

अत्र अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य में श्रवण आदि अनुष्ठान के द्वारा महावाक्य के अर्थ को ठीक प्रकार से समझने वाला देह-इन्द्रियों से रहित आत्मा त्वम्-अर्थ है। देह अर्थात् स्थूल शरीर और इन्द्रियाँ अर्थात् सूक्ष्म शरीर, इनसे वह रहित है। स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों से वह अतीत है,

इन सबसे परे है। इन सब उपाधियों वाला नहीं है अतः 'वस्तु' अर्थात् 'सत्' है। अर्थात् देह से उपलक्षित जो चेतन है उसे त्वं पद से कहा।

'असि' पद दोनों की एकता को बताता है। जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' में 'अस्मि' पद से दोनों की एकता को कहा वैसे ही इसमें 'असि' पद से दोनों की एकता को बताया। चूँकि यह वाक्य एकता का ग्रहण करवाता है इसलिए शिष्य से कहते हैं कि उस एकता को ग्रहण करो। तत् त्वं की एकता का ग्रहण कर्तव्य है क्योंकि यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध है। जो सृष्टि से पहले अद्वितीय था वह इस समय भी वैसा ही है और इस शरीर के रहते हुए ही इससे अतीत है। इस प्रकार, तत्त्वमसि का विचार कर लिया।। ६।।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के महावाक्यों का विचार करने के बाद अब अथर्ववेद के 'अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्य का अर्थ बताते हैं—

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्।
अहङ्कारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मेति गीयते।।७।।

'अयम्' ('यह') इस कथन से स्वप्रकाश अपरोक्षता समझी जाती है। 'आत्मा' शब्द से अहंकार से देहपर्यन्त सबकी अपेक्षा प्रत्यग्भूत वस्तु कही गयी है।

'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू.२) अथर्ववेद का महावाक्य है। अयम् अर्थात् 'यह'। 'यह' कहने का मतलब है जो तुम्हारे सामने सर्वथा प्रकट है। सर्वथा क्या प्रकट है? जो चीज़ स्वप्रकाश होते हुए अपरोक्ष है उसे (अयं) से कह रहे हैं। स्वप्रकाश अपरोक्ष मैं जीव ही हूँ। क्योंकि मैं जीव अपने आप को साक्षात् जानता हूँ, इसलिए अपरोक्ष हूँ। मैं अपने आपको किसी दूसरे से जानता नहीं हूँ; न कोई दूसरा मुझे जान सकता है और न मैं खुद अपने *को* जानता हूँ। अर्थात् ज्ञान का न आश्रय मैं हूँ और न ज्ञान का विषय मैं हूँ। यह बात 'अयं' पद से कही। अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त जो 'मैं' समझे जाते हैं उन सबकी अपेक्षा प्रत्यग्भूत वस्तु ही आत्मा है। सूक्ष्मतम 'मैं' अहंकारात्मिका वृत्ति है और सबसे स्थूल देह-पर्यन्त है। इन सबका प्रकाशक जो चेतन है इसी को प्रत्यगात्मा कहते हैं। वह प्रत्यगात्मा सबका अधिष्ठान होने के कारण साक्षिरूप से मौजूद है।।७।।

बचे 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ बताते हैं—

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते।
ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्।।८।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिवर्यकृत-पञ्चदश्यां महावाक्यविवेकः समाप्तः।।५।।

ज्ञेय सारे जगत् का अधिष्ठान 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है। वह ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मस्वरूप है।

जैसे बाह्य सारा जगत् दृश्यमान है वैसे ही शरीर से लेकर अहं-पर्यन्त सब दृश्यमान ही हैं, सभी अनुभव में आते हैं। 'दृश्य' कहकर सूचित है कि जो दृश्य होता है वह मिथ्या होता है, इसलिए सारा नाम-रूपात्मक जगत् और शरीर से लेकर अहं-पर्यन्त सारा मिथ्या है। 'तत्त्वं' अर्थात् उसका वास्तविक स्वरूप। मिथ्या का वास्तविक रूप अधिष्ठान हुआ करता है। नाम-रूप का बाध हो जाने पर जो बच जाता है वही पारमार्थिक सच्चिदानन्द है। उसी को 'अयमात्मा ब्रह्म' में ब्रह्म पद से कहा गया है। इस लक्षण वाला जो ब्रह्म है वह स्वप्रकाश है। जैसे वह स्वप्रकाश है वैसे ही प्रत्यगात्मा भी स्वप्रकाशरूप है। दोनों ही स्वप्रकाश होने से एक ही हैं।।८।।

इस प्रकार एक-एक महावाक्य पर दो-दो श्लोक कहकर, आठ श्लोकों में चारों महावाक्यों का अर्थ बताकर 'महावाक्यविवेक' प्रकरण पूरा कर दिया।

छठा
चित्रदीप प्रकरण

एकमात्र परमात्मा ही सत्य है और वही इस संसार में जीवरूप से आया है। वस्तुतः ब्रह्म ही, माया के द्वारा जीव की तरह प्रतीत होता है जिस प्रकार से दर्पण के अन्दर हमारा मुख ही काँच के बीच में प्रतीत होता है। जैसा हमारा मुँह है वैसा ही प्रतिबिंब में दीखता है, परन्तु वहाँ *होता* नहीं, वह तो उससे बाहर है! इसी प्रकार ब्रह्म, अंतःकरण में जीवरूप से प्रतीत होता है, परन्तु वहाँ नहीं होता, वह इससे अतीत ही है। यह बात दूसरी है कि मुख और काँच समान सत्ता के हैं जबकि ब्रह्म परमार्थ सत्ता का है और जिस में दीख रहा है, वह केवल प्रातीतिक सत्ता की वस्तु है, उसकी वास्तविक सत्ता है नहीं। इसमें दीखते हुए भी वह वास्तविक नहीं है; परन्तु उपाधि के अंदर ही उसका ज्ञान होता है। जैसे मुँह काँच में है नहीं, पर दीखता उसी में है इसी प्रकार परमात्मा का दर्शन जब मन ब्रह्माकार वृत्ति बनाता है तभी होता है, उसके बिना उसका दर्शन होता नहीं। इस 'काँच' का सुंदर निरूपण आचार्य शंकर की परंपरा के ही विद्यारण्य स्वामी, इस चित्रदीप प्रकरण में चित्र के सहारे से कर रहे हैं। जगत् और जीव के स्वरूप को चित्र के उदाहरण से समझायेंगे।

यथा चित्रपटे दृष्टम् अवस्थानां चतुष्टयम्।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम्।। १।।

परमात्मा में अवस्थायें वैसे समझी जा सकती हैं जैसे चित्रपट में चार अवस्थाएँ होती हैं।

चित्र बनाने का पट, कपड़ा होता है। उसकी चार अवस्थायें देखी जाती हैं। इसी प्रकार परमात्मा में भी चार अवस्थायें होकर जगत् बनता है। चित्रपट की जगह अधिष्ठान परमात्मा है, उसके ऊपर दीखने वाला जगत् चित्र है। क्योंकि यहाँ से पाँच 'दीप प्रकरण' प्रारम्भ कर रहे हैं, इसलिये परमात्मा शब्द के द्वारा इष्ट देवता का स्मरण भी किया और जिस तत्त्व का प्रतिपादन करना है उसका मन में ध्यान भी किया ॥१॥

अब चार अवस्थायें बताते हैं–

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते।। २।।

जैसे धोया, माँड़ चढ़ाया, रेखांकित किया और रंग किया कपड़ा होता है वैसे चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्—यों चार अवस्थाओं वाला विराट् बताया जाता है।

कपड़े पर चित्र बनाने से पहले उसे साफ कर दिया जाता है। साफ कपड़े पर ही चित्र बनता है। फिर उसपर माँड़ चढ़ायी जाती है ताकि कपड़ा चित्र बनाने योग्य हो जाये। कहीं-कहीं माँड़ को माया भी कहते हैं। फिर उसे लांछित करते हैं अर्थात् पैंसिल से खाका (outline) उसपर बनाया जाता है। अंत में यथास्थान रंग लगाये जाते हैं। चित्रपट की ये चार अवस्थायें हुईं। इसी प्रकार आत्मा भी चार अवस्थाओं वाला है। धोये हुए वस्त्र की जगह चित् है। जब माया चढ़ गई तब अन्तर्यामी है। जब खाका बन गया तो सूत्रात्मा और जब रंग भर गये तब विराट् है। आत्मा इन चार अवस्थाओं वाला होकर सारे जगत् चित्र के रूप में हमारे सामने आता है ॥२॥

अवस्थाओं को स्वयं समझाते हैं—

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतःस्याद् घट्टितोऽन्नविलेपनात्।
मष्याकारैर्लाञ्छितःस्याद् रञ्जितो वर्णपूरणात्।। ३।।

यहाँ खुद सफेद कपड़ा 'धुला' है, जिसपर अन्न (चावल आदि की माँड़) लेपा गया हो वह 'घट्टित' है, स्याही से विभिन्न आकारों के अंकन वाला 'लांछित' है एवं रंग भर दिये जाने पर 'रंजित' है।

जो वस्त्र बिना किसी द्रव्यादि के सम्बन्ध के, स्वभाव से ही स्वतः शुद्ध है उसे धौत या धुला बताया। किसी-न-किसी के सम्बन्ध के द्वारा ही कपड़े में कुछ दाग आदि होता है। जगत्रूप बनने के लिये ये चार अवस्थायें होती हैं पर स्वरूप से सदैव आत्मा ही रहता है। धुले कपड़े की तरह चिद्रूप में स्वतः शुद्धि है। द्रव्यान्तर के सम्बन्ध की तरह अध्यासरूप संबंध से उसमें अशुद्धि आती है अतः इस सम्बन्ध को हटाना ज़रूरी है। यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, काल्पनिक है। अज्ञात अवस्था में हमेशा इसका द्रव्यान्तर से सम्बन्ध प्रतीत होता है। जैसे काल्पनिक द्रव्यान्तर है वैसे ही काल्पनिक द्रव्यान्तर की निवृत्ति भी हो जाती है! अविद्या की अनादिता की दृष्टि से कपड़े की स्वाभाविक शुद्धि दृष्टांत कही। अज्ञान के द्वारा आत्मा आवृत था, अज्ञान हट जाने से वह अपने स्वरूप से ही है। जब अज्ञान के कारण वह अपने स्वरूप वाला प्रतीत नहीं हो रहा था, तब भी था तो वह स्वतः स्वरूप से वैसा ही। उस शुद्ध अवस्था को यहाँ धौत अवस्था कह रहे हैं। अर्थात् अज्ञाननिवृत्ति के काल में भी जैसा चित् है वैसा विवक्षित है।

जब कपड़े पर माँड़ लगा देते हैं, तब उसे 'घट्टित' कहा जाता है। जब चित्र का खाका बना दिया, तब कपड़े को 'लांछित' कहते हैं। जब रंग भर दिया तब उसको रंजित कहते हैं ॥३॥

उक्त चार अवस्थाएँ आत्मा में घटाकर समझाते हैं—

स्वतश्चिद् अन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराड् इत्युच्यते परः।। ४।।

परमात्मा ही १) स्वतः चिद्रूप,२) मायावी अंतर्यामी, ३) सूक्ष्म सृष्टि की अपेक्षा से सूत्रात्मा और ४) स्थूल सृष्टि से संबंध से विराट् कहा जाता है।

'पर' अर्थात् इन सब कल्पनाओं से अतीत है। उसका जो अपना रूप है वही चिद् नाम से कहा जाता है। जब उसको माया के साथ सम्बन्धित करते हैं तब वही अन्तर्यामी कहा जाता है। जैसे कपड़े पर माँड़ लगायी जाती है वैसे आत्मा में मायावी है। माया के कारण वह मायावी कहलाता है। जब सूक्ष्म सृष्टि से सम्बन्ध वाला बनता है, तब इसी को 'सूत्रात्मा' कहते हैं। जब वही सबके व्यवहार की विषयभूत स्थूल सृष्टि से सम्बद्ध बनता है तब विराट् कहा जाता है। इन सब अवस्थाओं में प्रतीत होने वाला भी वह तो पर ही है, इन सब से उसका सर्वथा अस्पर्श ही रहता है, ऐसा नहीं कि कुछ *बन* जाता हो वरन् अज्ञान के कारण ऐसी प्रतीतियाँ होती हैं ॥४॥

कपड़े की समानता बताकर आँका जाने वाले चित्र की जगह क्या है यह कहते हैं—

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि।
उत्तमाधमभावेन वर्त्तन्ते पटचित्रवत्।। ५।।

ब्रह्मा से घास के तिनके तक तथा सभी जड विषय इस आत्मा पर ऊँचे-नीचे आदि तरीकों से कपड़े पर बने चित्र की तरह वर्तमान हैं।

सारा प्राणी-जगत् अर्थात् व्यष्टि जीव भी उसी में कल्पित है। यह छठे-सातवें श्लोक में बतायेंगे। ब्रह्मा, विष्णु, सारे देवता सबसे श्रेष्ठ प्राणी हैं और घास का तिनका सबसे निकृष्ट प्राणधारी माना जाता है। इस तरह, सारे ही प्राणी ग्रहण हो जाते हैं। साथ ही जड, पहाड़, नदी आदि वस्तुएँ भी उसी पर कल्पित हैं। ब्रह्मा उत्तम है, घास अधम है और जड चीज़ें उससे भी अधम हैं। पट पर बने चित्र में जैसे ऊँची-नीची, अच्छी-बुरी सब चीजें दीखती हैं जबकि वास्तव में होता कपड़ा ही है वैसे ही सारा ऊँच-नीच आदि विभाग वाला जगत् दीख रहा है। यह सब दीखते हुऐ भी वह तो स्वरूप से शुद्ध ही है, उसमें कोई विकार नहीं आया है ॥५॥

जीव चित् के आभास ही हैं, कोई वस्तु नहीं, यह समझाने के लिये दृष्टांत का सहारा लेते हैं—

चित्राऽर्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक्।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः।। ६।।

पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम्।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी।। ७।।

चित्र में पृथक्-पृथक् बने मनुष्यों की अलग-अलग कपड़ों जैसी पोषाकें चित्र के आधारभूत कपड़े की तरह लगने पर भी कपड़ा होती नहीं। इसी प्रकार चैतन्य पर अध्यस्त शरीर-धारियों के अलग-अलग जीव-नामक चैतन्य जैसे लगते स्वरूप (उसी चैतन्य पर) कल्पित हैं जो बहुत तरह से संसरण कर रहे हैं।

चित्र में बने जो मनुष्य आदि उनके द्वारा 'पहने' प्रतीत होने वाले 'कपड़े' भी चित्र में दीखते हैं; सीताजी लाल साड़ी, रामचंद्रजी पीले वस्त्र पहने दीखते हैं। दीखने वाले साड़ी-पीतांबर आदि 'वस्त्र' तो हैं नहीं। वे ठंड तो मिटाते नहीं! सचमुच में वस्त्र नहीं हैं पर वस्त्र की तरह ही दीखते हैं। जैसे चित्रका आधारभूत कपड़ा सत्य होने पर भी पीताम्बरादि अवास्तविक कपड़े ही हैं, इसी प्रकार चैतन्य परमात्मा में अध्यस्त, आरोपित देहधारी मनुष्य आदि हैं और उन सब में फिर चैतन्य कल्पित है। देवदत्त-यज्ञदत्त के जीव चेतन अलग-अलग लगते हैं। वे भी अध्यस्त तो चेतन में ही हैं परन्तु देवदत्त-यज्ञदत्त के विभिन्न चेतनों की जो प्रतीति हो रही है वह कल्पित चेतनों के बारे में है। ऐसे जीव नाम वाले कभी देवता बनते हैं तो कभी पशु-पक्षी बनते हैं, कभी मनुष्य बनते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में वे संसरण करते हैं। जैसे चित्रपट पर राम कल्पित, फिर उनका पहना कपड़े जैसा पीताम्बर कल्पित, वैसे चेतन पर शरीर कल्पित फिर उसमें चिदाभास कल्पित, यह भाव है। एक ही माया जड-चेतन सारे संसार का आरोप परमात्मा पर कर लेती है **॥६-७॥**

यदि पूर्वोक्त रीति से कल्पित जीव ही संसरण कर रहा है, तो वैदिक और अन्य दार्शनिक आत्मा का संसरण कैसे मानते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वद् आधारवस्त्रगान्।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः।। ८।।

(साड़ी-पीताम्बर आदि) वस्त्राभास में मौजूद रंग अज्ञानी जैसे आधारभूत चित्रपट में बताते हैं वैसे जीव का संसरण आत्मा का है ऐसा कह देते हैं।

उपहित में प्रतीत होती विशेषताएँ अज्ञान से भ्रमवश अनुपहित में समझ ली जाती हैं। प्रतिबिम्ब के गुण-दोष बिम्ब में मानना प्रसिद्ध है। चित्र-संदर्भ में इसे समझाया कि वस्त्राभास अर्थात् जो वस्त्र न होकर भी वस्त्र प्रतीत हो ऐसी चित्रस्थ लोगों की पोषाकों में जो रंग—लाल, पीला आदि—दीखते हैं उन्हें आधारभूत पट में जैसे समझते हैं वैसे जीव का संसार-भ्रमण आत्मा में कहा समझा जाता है। यद्यपि चित्रस्थल में वे वर्ण चित्रपट पर हैं ही तथापि वह दृष्टांतभाग विवक्षित नहीं है; विवक्षित इतना ही है कि 'राम जी ने पहना है' ऐसा जिसे समझते हैं उस पीताम्बर का जो रंग, उसे मानते हैं कि चित्रपट का है, वैसे ही जीव

समझे जाते की संसारयात्रा मानते आत्मा की हैं। इसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब का दृष्टांत ज्यादा स्पष्ट होता है ॥८॥

यदि जड पदार्थों की तरह संसरणशील जीव भी कल्पित हैं तो जड वस्तुएँ जीवकी तरह कर्म-फलानुसार आवागमन क्यों नहीं करतीं अर्थात् उन्हें वैसे ही सचेतन क्यों नहीं समझते जैसे जीवों को? इसका उत्तर देते हैं—

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा न हि।। ९।।

चित्र में भी बने पहाड़ आदि की जैसे पोषाकें नहीं बनायी जातीं वैसे सृष्टि में मौजूद भी मिट्टी आदि में चिदाभास (चेतन जैसा लगता स्वरूप) नहीं है। (अतः उन्हें सचेतन नहीं मानते)।

चित्र में जो पर्वत आदि बनते हैं उनके ऊपर कोई वस्त्र का आभास प्रतीत नहीं होता अर्थात् उनपर लगे रंग कपड़ा जैसे नहीं दीखते। रामचन्द्रजी, सीता जी, पर लगे रंग ही लगते हैं मानो कपड़े पहने हैं, उन रंगों में तो कपड़ापना दीखता है, लेकिन पहाड़ आदि में लगे रंगों में कपड़ापना नहीं दीखता। इसी प्रकार सृष्टि में जो मिट्टी, पत्थर, पर्वत इत्यादि हैं वहाँ चित् का आभास नहीं दीखता, जीव में ही चैतन्यरूप आभास दीखता है। जैसे कपड़ा-रंग वही फिर भी कहीं वस्त्राभास दीखता है, कहीं नहीं, वैसे चेतन-माया वही फिर भी कहीं चिदाभास (जीव) है, कहीं नहीं। जहाँ चिदाभास है उसी का संसार में आवागमन है, बिना चिदाभासों वाले मिट्टी आदि पदार्थों का संसरण भी नहीं कहा जाता ॥९॥

जिस अज्ञानवश जीव का संसरण आत्मा का समझ लिया जाता है उसका स्वरूप दिखाते हैं—

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद् विद्ययैषा निवर्तते।। १०।।

यह वास्तविक संसार, स्वात्मरूप वस्तु से सम्बद्ध है—यह भ्रम अविद्या है जो विद्या से दूर होती है।

'यह संसार ही परमार्थ है, सच्चा है' यह अविद्यात्मक भ्रम का एक पहलू है। क्योंकि ऐसा समझते हैं इसलिये इसी में परम प्रयोजन ढूँढते हैं, वैकुण्ठ आदि लोकों को चले जाओ बस इसी को मोक्ष मानते हैं। उन्हें विश्वास है कि यह जो आना-जानारूप संसरण है यही परमार्थ है। उनकी भ्रमरूप अविद्या का दूसरा पहलू है कि निज आत्मा नामक वस्तु में यह संसार सचमुच ही लगा हुआ है, सम्बद्ध है। आत्मा का संसरण वास्तविक ही है—यह भी प्रतीति अविद्यारूप, भ्रमरूप ही है। क्योंकि सचमुच आत्मा स्वतः शुद्ध, अपापविद्ध है इसलिये उसमें संसरण आदि अशुद्धि वास्तविक समझना भ्रम ही होना संगत है। यह जो

भ्रान्ति है, यही यहाँ अविद्या कही है। 'हम जो जन्मने-मरने वाले, जाने-आने वाले हैं, ऐसे हम ही परमार्थ हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं' यह भ्रांति ही इस प्रसंग में अविद्या है। विद्या के द्वारा ही इसकी निवृत्ति हो जाती है। जब पता लगता है कि 'संसरण करने वाला मैं नहीं हूँ, कर्त्ता-भोक्ता मैं नहीं हूँ;' तभी इसकी निवृत्ति हो जाती है। यहाँ भ्रान्ति को अविद्या कहा क्योंकि वह भी विद्यारूप तो नहीं ही है और विद्या से हटती भी है। विद्या से हटना तथा विद्यारूप न होना—ये जैसे अविद्या में वैसे इस भ्रम में अतः इसे अविद्या कहना संगत है। यही स्पष्ट करने के लिये इसे विद्या से निवृत्त होने वाला बताया ॥१०॥

उक्त अविद्या की निवर्त्तिका विद्या को स्पष्ट करते हैं—

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः।
इति बोधो भवेद् विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात्।। ११।।

आत्मरूप वास्तविक पदार्थ का नहीं वरन् आत्मा जैसा लगने वाले जीवका संसरण है—यह बोध 'विद्या' है जो विचार से मिलता है।

जीव हो गया आत्माभास। जिसको चिदाभास कहा था (श्लोक ७) उसी को यहाँ आत्माभास कह दिया। क्योंकि शरीर आदि में चेतनता की प्रतीति होती है इसलिये जहाँ जो नहीं वहाँ वह प्रतीत होने से आभास है, वही जीव है, उसका ही संसार है, आत्मा नामक सत्य पदार्थ का संसार या संसरण नहीं। प्रायः सब लोग आत्मा का ही जन्म-मरण मानते हैं किंतु उपनिषदें स्पष्ट करती हैं कि आत्मा निर्विकार तत्त्व है, जन्मादि विकार उसमें नहीं, उसके आभास में ही हैं। यह ज्ञान ही 'विद्या' है। इसकी प्राप्ति कैसे होती है? विचार करने से ही इसकी प्राप्ति होती है। अन्वय-व्यतिरेक आदि का चिंतन विचार है। 'मैं' कौन हूँ, मेरा किससे क्या सम्बन्ध है, कोई भी होता है तो क्यों व कैसे इत्यादि को विधिवत् सोचकर समझने का नाम विचार है। अपरोक्षानुभूति में श्लोक ११-१६ तक इसका स्वरूप वर्णित है। यहाँ भी विचार के विषयादि को समझायेंगे।।११।।

विचारणीय विषयों का उल्लेख करते हैं—

सदा विचारयेत् तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते।। १२।।

(क्योंकि विद्या का हेतु है) इसलिये सदा जगत् जीव और परमात्मा का विचार कर्त्तव्य है। जीवभाव एवं जगद्भाव का बाध होते ही अद्वितीय स्वात्मा रह जाता है।

चूँकि विचार से ही इस विद्या की प्राप्ति होती है, इसलिये मुमुक्षु सदा विचार करे। किसका विचार? जगत् का क्या रूप है, जीव का क्या रूप है, और परमात्मा का क्या रूप है—इन तीनों का विचार करना है। चाहे किसी का विचार करने से ज्ञान हो जायेगा, ऐसा

नहीं है! जगत्, जीव, परमात्मा के स्वरूप का विचार करते हैं तो जीवभाव का बाध हो जाता है अर्थात् जो हमें जीव प्रतीत होता है, वह है नहीं इसका पता लग जाता है। और जगत् के भाव का भी बाध हो जाता है अर्थात् यह जो दृश्य प्रतीत हो रहा है, यह भी नहीं है यह निश्चय हो जाता है। जब ये दोनों हट जाते हैं तब 'स्वात्मैव शिष्यते' फिर एकमात्र आत्मा ही बच जाता है। जीव-जगत्-भाव हटाने पर जो बच जाता है वही परमात्मा है। भ्रम से साँप दीखे तो पर्याप्त प्रकाशादि में सावधानी से उसी को देखने पर साँप और उसका पुरोवर्त्ती वस्तु से सम्बन्ध बाधित होकर जो सच्ची रस्सी आदि वस्तु वही जैसे 'बच' जाती है, भले ही वास्तव में वही हमेशा से थी, वैसे सनातन भी परमात्मा 'बच जाता' है यह कहना उचित है।।१२।।

जब कहा 'आत्मा ही बच जाता है' तब शंका होगी कि बाकी कुछ प्रतीत नहीं होता होगा? अतः स्पष्ट करते हैं कि इसी भ्रम से बचने के लिये 'बाध' कहा—

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः।
नो चेत् सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येताऽयत्नतो जनः।। १३।।

जीव-जगत्-भावों के 'बाध' का मतलब यह नहीं कि ये प्रतीत न हों वरन् यह है कि उनके मिथ्यात्वका निश्चय हो; अन्यथा सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में बिना प्रयत्न सब जने मुक्त हो जायें।

बाध होने का मतलब यह नहीं है कि प्रतीति नहीं होगी; प्रतीति नहीं होना 'बाध' नहीं है। प्रतीति होते हुए भी यह पता लगना कि वस्तुतः यह मिथ्या है, बाध कहलाता है। उसके बाद प्रतीति होते हुए भी मालूम रहता है कि वास्तविक नहीं है। अगर 'बाध' का अर्थ करें 'प्रतीति का न होना' तो सुषुप्ति या मूर्छा में भी जगत् की अप्रतीति है, तब इसकी प्रतीति किसी प्रकार से तो होती नहीं है। और ये अवस्थाएँ बिना प्रयत्न आती हैं। मूर्छा के लिये भी कोई प्रयत्न नहीं करता है। अतः बिना विचार का प्रयत्न किये हुए ही लोग मुक्त हो जाने चाहिये। अतः बाध का मतलब अप्रतीति नहीं है। 'मूर्छादि' में आदि से समाधि भी समझ सकते हैं, क्योंकि उसमें भी जीवादिभाव की अप्रतीति हो जाती है किंतु विवक्षित बाध वहाँ भी नहीं होता। अतः तत्त्वनिश्चय होने पर जीवभावादि की प्रतीति भले ही रहे, उनमें सत्यता-भ्रांति नहीं रहती।।१३।।

केवल परमात्मा का बचा रह जाना भी कैसा है यह समझाते हैं—

परमात्माऽवशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः।
न जगद्विस्मृतिर्नोचेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत्।। १४।।

परमात्मा का बचा रह जाना भी यही है कि यह असंदिग्ध निश्चय हो कि वही सत्य है। ऐसा नहीं कि जगत् भुलाया ही जाये, अन्यथा जीवन् मुक्ति सम्भव न होगी।

'परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है, बच जाता है;' इसका मतलब यह है कि वही एक-मात्र सत्य है यह निश्चय रह जाता है। यही उसका 'बच जाना' है। जीव-जगत् का हट जाना परमात्मा का बचना नहीं है, लेकिन इस निश्चय का होना कि 'सत्य तो केवल एकमात्र परमात्मा ही है' उसका बचना कहा गया है। जगत् की विस्मृति इसमें आवश्यक नहीं है। अगर कहो कि जगत् की विस्मृति हो जाये, जगत् की प्रतीति भी नहीं रहे तभी 'परमात्मा बचा' कहा जाये, तो जीवन् मुक्त ब्रह्मनिष्ठ आचार्य ही असम्भव हो जायेगा! जीवन् मुक्ति में विद्वान् सारा व्यवहार स्मृति से ही करता है। किंतु जगदादि भान और तद्विषयक स्मृति रहते हुए भी उसको यह निश्चय है कि 'यह मिथ्या है, सत्य तो केवल परमात्मा है'। क्योंकि यह निश्चय रहता है इसलिये वह मुक्त है, अन्यथा जीवन् मुक्ति नहीं होगी। जीवन चले तो जगत् की विस्मृति होगी नहीं और यदि जीवन् मुक्ति संभव न हो तो आचार्योपदेश न मिलने से तत्त्वज्ञान असंभव होगा, मोक्ष ही असंभव होगा, तत्त्वमस्यादि वाक्य ही व्यर्थ होंगे। अतः अप्रतीति या विस्मृति को अनावश्यक ही स्वीकारना उचित है।।१४।।

'सदा विचार कर्त्तव्य है' ऐसा श्लोक १२ में कहा था किंतु कब तक सदा करना चाहिये यह अब बताते हैं–

परोक्षा चाऽपरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते।। १५।।

विचार से उत्पन्न होने वाली विद्या 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' इस प्रकार दो तरह की होती है। इनमें से जो अपरोक्ष विद्या, उसे पा लेने पर यह विचार समाप्त (पूर्ण) हो जाता है।

विचार से जो विद्या, ज्ञान होता है वह दो प्रकार का है। एक परोक्ष ज्ञान, दूसरा अपरोक्ष ज्ञान। विचार के द्वारा पहले परोक्ष ज्ञान आता है फिर अपरोक्ष ज्ञान आता है। पर परोक्ष ज्ञानमात्र से विचार की समाप्ति नहीं है। अपरोक्ष विद्या जब प्राप्त हो जाती है तब यह विचार समाप्त हो जाता है अर्थात् फिर और कुछ विचार करना शेष नहीं रहता।। १५।।

परोक्ष और अपरोक्ष विद्या क्या हैं इसे क्रमशः दिखाते हैं–

अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद् वेद साक्षात्कारः स उच्यते।। १६।।

यदि कोई इतना ही जाने कि 'ब्रह्म है' तो उसकी वह विद्या परोक्ष है। यदि अनुभव करे कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो उसे साक्षात्कार (या अपरोक्ष विद्या) कहा जाता है।

पहले तो विचार करने से यह पता लगता है कि जीवभाव और जगत् मिथ्या है, सृष्टि का एकमात्र कारण वह (अर्थात् मुझसे अलग कोई) परमात्मा है। यह निश्चय हो जाना

'परोक्ष ज्ञान' हुआ। 'ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी सत्य नहीं है'। इतना पता लगने को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का भी बड़ा फल बतलाया है। 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः' वेद कहता है कि 'ब्रह्म है' जानने वाला ही सचमुच में स्वयं भी है। जो 'ब्रह्म है' भी नहीं समझता उस प्राणी को भी 'है' कहना व्यर्थ है! वह तो 'नहीं है' ही समझा जाने लायक है। परोक्षज्ञान भी बड़ा फल देने वाला है। परमात्मा है यह जानकार ही 'सन्त' है। इस निश्चय के बाद भी विचार करते-करते 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा जब निश्चय होता है तब इस विद्या को 'साक्षात्कार' या अपरोक्ष विद्या कहते हैं। ऐसा निःसन्दिग्ध स्थायी साक्षात्कार होने तक साधक विचार ही करता रहे यही उचित है। निश्चय होने पर फिर विचार आवश्यक नहीं रह जाता ॥१६॥

विचार ही समझाने की प्रतिज्ञा करते हैं—

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थम् आत्मतत्त्वं विविच्यते।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते।। १७।।

उक्त साक्षात्कार के लाभ के लिये आत्मा नामक तत्त्व का विवेचन किया जाता है जिससे जीव सारे संसार से तत्काल मुक्त हो जाता है।

मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार सिद्ध हो जाये अर्थात् हमको साक्षात् अनुभव हो जाये इसीलिये इस आत्मतत्त्व का विवेक करते हैं, विचार करते हैं। इसका विचार करने से विचार करने वाला साधक सारे संसार से—वैकुण्ठ से लेकर के घास के तिनके तक जितना संसरण है उस सबसे—उसी समय मुक्त हो जाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होते ही जीव सारे संसार से एक-साथ मुक्त हो जाता है।।१७।।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझाने के लिये व्यवहारदशा में उपलब्ध विभिन्न आत्माओं का परिचय देते हैं—

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा।। १८।।

कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर—इस प्रकार चेतन चार तरह का है जैसे घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश (यों आकाश चार तरह का होता है)।

चित्, आत्मतत्त्व चार प्रकार का है। एक कूटस्थ, दूसरा ब्रह्म, तीसरा जीव और चौथा ईश्वर। आत्मा की ये चार प्रकार की कल्पनायें हैं। उदाहरण में घड़े के अन्दर के आकाश को घटाकाश कहते हैं, बाहर के आकाश को महाकाश कहते हैं। घड़े में पानी भरा है, रात का समय है, नक्षत्रों सहित आकाश का उसमें प्रतिबिम्ब दीखता है। जल में प्रतिबिम्बित जो आकाश दीखता है, वह जलाकाश है। ऊपर बादल हैं, उनमें भी पानी भरा है तो उस मेघस्थ जल में भी आकाश प्रतिबिम्बित होगा ही, वह मेघाकाश हो गया। बादलों में जो

पानी उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब एक, घड़े के पानी में पड़ा प्रतिबिम्ब दूसरा, घड़े के अन्दर का आकाश तीसरा और महाकाश चौथा है ही। इस प्रकार जैसे चार आकाश हैं उसी प्रकार आत्मा के चार प्रकार हो गये ॥१८॥

घड़े से घिरा घटाकाश और किसी से न घिरा महाकाश तो समझना कठिन नहीं किंतु बाकी दोनों का क्या स्वरूप है यह समझाते हैं–

घटावच्छिन्नखे नीरं यत् तत्र प्रतिबिम्बितः।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते।। १९।।

घड़े से परिसीमित जो जल उसमें प्रतिबिम्बित बादलों-नक्षत्रों समेत आकाश 'जलाकाश' कहलाता है।

घटाकाश व महाकाश को नहीं समझाया क्योंकि वे प्रसिद्ध हैं। घटाकाश अर्थात् जिसमें पानी भरा है उस पानी में जो प्रतिबिम्बित आकाश है वह 'जलाकाश' कहा जा रहा है। प्रतिबिम्बित आकाश अभिप्रेत है इसीलिये 'बादलों-नक्षत्रों समेत' कहना ज़रूरी था, अन्यथा जलमात्र से घिरेको समझ लेते। यह एक विभाग का स्वरूप बताया ॥१९॥

अभ्राकाश (श्लो. १८ में कहा अभ्रख) अर्थात् मेघाकाश समझाते हैं–

महाकाशस्य मध्ये यद् मेघमण्डलमीक्ष्यते।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः।। २०।।

महाकाश में जो बादलों की मण्डलियाँ दीखती हैं उनमें स्थित जल में प्रतिबिम्बरूप से स्थित आकाश 'मेघाकाश' है।

यहाँ भी, मेघों से घिरा आकाश न समझ लिया जाये इसलिये स्पष्ट किया कि मेघस्थ जल में आकाश का जो प्रतिबिम्ब है वह मेघाकाश है। इस प्रतिबिम्ब में 'साभ्र-नक्षत्र' का उल्लेख नहीं, स्वच्छ आकाश ही प्रतिबिम्बित है ॥२०॥

मेघस्थ जल में आकाश का प्रतिबिम्ब उपपन्न करते हैं–

मेघांशरूपम् उदकं तुषाराकारसंस्थितम्।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वाद् अनुमीयते।। २१।।

तुषार के आकार में संस्थित जो मेघका अंशरूप जल उसमें यह प्रतिबिम्बरूप आकाश अनुमित होता है क्योंकि वह (तुषार) भी है तो जल ही।

अनुमान होता है कि मेघ में जो पानी है उसमें भी आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है क्योंकि वह भी जल है, जैसे घड़े में स्थित जल। घट के अंदर जो जल है, उसमें प्रतिबिम्ब जैसे पड़ता है वैसे मेघस्थ जल में भी पड़ेगा। मेघ के अन्दर जल स्थित है ही। मेघ में जल

है, तभी बरसता है। पहले क्यों नहीं बरसा? तुषार की तरह था इसलिये नहीं बरसा, जब पानी हो गया तो बरसा। बादल में जो पानी है उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है क्योंकि जहाँ पानी होता है वहीं उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रकार, अनुमान से मेघाकाश का भी पता लग जाता है ॥२१॥

दृष्टांत समझा चुककर दार्ष्टान्त का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते।। २२।।

'कूट' की तरह निर्विकार-भाव से अधिष्ठानरूप से स्थित स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों से अवच्छिन्न (उपहित) चेतन कूटस्थ कहा जा रहा है।

कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर इन चार तरह के चेतन में पहले कूटस्थ बताते हैं। स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों से अवच्छिन्न चेतन ही शरीरों के अधिष्ठानरूप से स्थित है। लोहे को काटने के लिये मजबूत मोटा घनीभूत लोहे का ही एक प्रायः चौरस ठोस पिण्ड नीचे रखा जाता है जिस पर रखकर अन्य लोहे की छड़, पत्ती आदि को काटने-मोड़ने-पतला करने आदि के लिये पीटते हैं; उस पिण्ड का नाम 'कूट' है। पिटता लोहा तो बदलता रहता है, पिटाई से प्रभावित होता है, लेकिन कूट निर्विकार बना रहता है, अनेक वर्षों तक वैसे ही कूट का कार्य करता है। इसी तरह चेतन निर्विकार रहता है अतः कूटस्थ कहलाता है। कूटस्थ है ब्रह्म ही लेकिन शरीरों से अवच्छिन्न होने से उसे कूटस्थ के रूप में समझाया। यही त्वम्पद का लक्ष्य है। जैसे घट के अवच्छेद से महाकाश ही घटाकाश है ऐसे देहद्वय के अवच्छेद से ब्रह्म ही कूटस्थ है। कूट तो संयोग सम्बन्ध से पिटते लोहों का अधिकरण है अतः शीघ्र न सही, विलम्ब से विकृत होता ही है लेकिन कूटस्थ अधिष्ठानरूप से अर्थात् अध्यास-सम्बन्ध से अधिकरण होने से नित्य निर्विकार है। क्योंकि शरीरों का अधिष्ठान है इसीलिये उनसे अवच्छिन्न है जैसे सर्प का अधिष्ठान बनी रस्सी ही सर्प से अवच्छिन्न होती है अर्थात् सर्प से रस्सी का परिचय प्राप्त होता है। वाच्य-लक्ष्य भेद से व्यवस्था समझने के लिये यह चतुर्विध चेतन का विभाग सरल है ॥२२॥

घटाकाश-स्थानीय कूटस्थ बता चुके, अब जलाकाश-स्थानीय जीव का वर्णन करते हैं—

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते।। २३।।

कूटस्थ में कल्पित जो बुद्धि है उसमें पड़ा जो चेतन का मिथ्या प्रतिबिम्ब, वह प्राण धारण करनेवाला होने से जीव है, वही संसार से सम्बद्ध है।

त्वम्पद का (जीवशब्द) वाच्य अर्थ वह प्रतिबिम्ब है जो उस बुद्धि में पड़ता है जो बुद्धि स्वयं कूटस्थ में कल्पित है। ऐसी बुद्धि में चेतन का जो प्रतिबिम्ब है वह प्राणों को धारण

करता है एवं उसी का गमनागमन होता है। गमनागमन तो पुर्यष्टक का होता है पर अनुभव करने वाला बुद्धि में पड़ा चित् का प्रतिबिम्ब ही है। प्राणों को धारण करने से उसका नाम जीव हो गया। कूटस्थ जो देहद्वयावच्छिन्न चेतन है उसका तो संसरण हो नहीं सकता जैसे घटाकाश का गमनागमन हो नहीं सकता; लेकिन घटाकाश में स्थित जल के अंदर पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है उसका आवागमन हो जाता है ऐसे ही बुद्धिस्थ चिदाभास का संसरण हो जाता है।

यह आभासवाद की प्रक्रिया है; इसमें जीव का बाध होकर कूटस्थ रह जायेगा। हमारे यहाँ दोनों प्रकार की बातें मानी गई हैं। हम अपना चेहरा काँच में देखते हैं, तो उसके बारे में एक विचार यह है कि जो चेहरा दीख रहा है, वह तो झूठा है, गले पर होने वाला चेहरा सत्य है। दूसरी दृष्टि है कि सच्चा चेहरा ही काँच के कारण सामने दीख रहा है। दूसरी विचारधारा को प्रतिबिम्बवाद कहते हैं। काँच के अन्दर पड़ा हुआ झूठा कुछ है जो दीख रहा है यह मानना आभासवाद है। जब मुँह का ही प्रतिबिम्ब है अर्थात् मुँह ही वहाँ दीख रहा है, तब 'वहाँ दीखना' मात्र झूठा है, परन्तु *जो* दीख रहा है वह सत्य है। यह प्रतिबिम्बवादी का तरीका है। आभासवाद में दीखने वाली वस्तु झूठी है। चिच्चातुर्विध्य में जीव, जलाकाशस्थानीय बुद्धिस्थ चेतन मिथ्या है एवं उसी का अच्छी-बुरी योनियों में जन्मना-मरनारूप संसार है ॥२३॥

जीव से पृथक् कूटस्थ मौजूद रहते हुए भी भासता नहीं इसे उपपन्न करते हैं—

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते।। २४।।

जैसे जलाकाश से सारा घटाकाश छिप जाता है वैसे जीव से कूटस्थ छिपा है। इसी को अन्योन्याध्यास कहते हैं।

घड़े के अन्दर जो आकाश है उस घटाकाश में ही पानी भरा पड़ा है लेकिन उस पानी में प्रतिबिम्बित साभ्रनक्षत्र आकाश ही दीखता है, पानी जिसमें भरा है वह घटाकाश तो दीखता नहीं! है अवश्य वहाँ आकाश, परन्तु दीखता नहीं, जल में जो प्रतिबिम्बित आकाश, वह वहाँ वास्तव में है नहीं किंतु दिखाई देता है। जल में प्रतिबिम्बित आकाश के द्वारा सारा का सारा घटाकाश छिप जाता है, उसकी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार कूटस्थ चेतन उपस्थित रहते भी जीव से छिपा होने से भासता नहीं है, केवल जीव ही भासता है। साक्षी रहते भी प्रतीति प्रमाता की ही होती है, साक्षी छिपा रह जाता है। जीव से कूटस्थ का ढकना ही भाष्यादि में अन्योन्याध्यास कहा गया है। अन्य-अन्य अर्थात् अलग-अलग वस्तुओं को अलग न समझकर उन्हें जब एक समझ लिया जाता है तब झूठा जो एक वही दीखता है, सच्चे जो दो वे नहीं दीखते। इसे 'अन्य का अन्य में' या 'परस्पर' अध्यास कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रारम्भ में इस पर विशेष चर्चा है किंतु अन्यत्र भी भाष्यादि सभी ग्रंथों में इस पर

बहुत विचार किया गया है। इस प्रकार जीव और कूटस्थ के अन्योन्याध्यास से जीव तो भासता है, कूटस्थ भासता नहीं ॥२४॥

कूटस्थ छिपकर जीव की प्रतीति अध्यास है तो इसमें हेतु होना चाहिये अज्ञान क्योंकि सर्वत्र सत्य का अज्ञान रहते ही भ्रम देखा जाता है। अतः शंका होती है कि अध्यास का हेतुभूत अज्ञान कैसा है, उसका क्या स्वरूप है? समाधान देते हैं–

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाऽविद्येति गम्यताम्।। २५।।

यह जीव कूटस्थ को (स्वयं से) पृथक् कर कभी नहीं समझता। इस अनादि अविवेक को 'मूल अविद्या' ऐसा समझना चाहिये।

जो जीव है वह कूटस्थ नहीं है किन्तु इस प्रकार से कभी भी विवेक नहीं करता है। देहद्वय के द्वारा अवच्छिन्न चेतन जीव ही है–बस, इतना ही ज्ञान होता है। शरीरद्वय से अवच्छिन्न कूटस्थ है, और बुद्धि में प्रतिबिम्बित जीव है–ऐसा उनके भेद का ज्ञान नहीं होता। तथापि यह अविवेक अनादि है। इसी को आचार्यों ने 'मूलाविद्या' कहा है, यह समझ लेना चाहिये। संसार-दशा में कूटस्थ-जीव के अभेद की प्रतीति का हेतु ही अविद्या है। कूटस्थ और जीव अलग-अलग नहीं हैं, यही समझना अनादि अविद्या है। संसार-दशा के अन्दर इनके भेद को कोई नहीं जानता है कि जीव अलग है एवं कूटस्थ अलग है।

अविद्या कोई अभाव नहीं वरन् इस अविवेक का नाम है। अविवेक भी विवेकाभाव ही नहीं वरन् कूटस्थ को आवृत कर उससे अभेदेन जीव का भान कराने वाली आत्मसामर्थ्य है। कुछ विचारक आवरणहेतुता की उपेक्षा कर मूलाविद्या न स्वीकारने का प्रयास करते हैं जो श्रुति-युक्ति-आचार्योक्ति-अनुभव सभी से विरुद्ध पड़ता है। यहाँ विद्यारण्य स्वामी ने इसी भ्रम से बचाने के लिये मूलाविद्या का उल्लेख कर दिया। अनादि कहकर भी स्पष्ट किया कि कार्य-भूत भ्रमविशेषों का प्रसंग नहीं वरन् भ्रमों के मूलभूत अविवेकात्मक अज्ञान का कथन है। इस प्रकार जीव और कूटस्थ का भेद न जानना-रूप अविद्या ही अध्यास का हेतु है ॥२५॥

जीव का स्वरूप स्पष्ट हो इसके लिये बतलाते हैं कि मूलाविद्या के दो रूप हैं। किंच दो रूप बताने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अविवेक अभाव नहीं क्योंकि अभाव यों अनेक रूपोंवाला होता नहीं–

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः।। २६।।

अविद्या दो रूपों से बँटी हुई स्थित है–विक्षेप और आवरण। 'कूटस्थ का भान नहीं होता, कूटस्थ है नहीं'–इस व्यवहार के हेतु को आवरण कहते हैं।

अविद्या दो प्रकार से स्थित है—एक, विक्षेप और दूसरा, आवरण, आवृति। अविवेक नामक मूलाविद्या के दो भेद हैं—आवरण और विक्षेप। अभाव न कुछ ढाँक सकता है, न कोई अन्य रूप धारण कर प्रतीत हो सकता है इसलिये यह सांख्यों के अविवेक की तरह विवेकाभावरूप नहीं है। सांख्यमत में अविवेक के यों दो रूप या स्वभाव बताये भी नहीं गये हैं। जो चीज़ है उसको ढाँकना—यह आवरण है। जो नहीं है उसको दिखाना यह विक्षेप है। प्रकरणानुसार आवरण का स्वरूप है 'कूटस्थ न है, न भान होता है।' दृष्टांत में भी समझ लेना; जब घड़े में जल भर गया, तब वहाँ 'आकाश (जगह) है' ऐसी प्रतीति साधारण आदमी को नहीं होती। वरन् 'अब इसमें आकाश (जगह) नहीं हैं' 'ऐसी प्रतीति होती है। और, जो आकाश प्रतिबिम्बित है, सचमुच में नहीं है, वह आकाश दीखता है! इसी प्रकार से साधारण अनुभव है कि 'कूटस्थ तो यहाँ नहीं है' अर्थात् ऐसा कुछ नहीं है जो नहीं बदलने वाला है। न ऐसा कूटस्थ है और न हमें प्रतीत हो रहा है—आवरण इन दो प्रकार से व्यवहार कराता है। जो चीज़ है उसके बारे में यह कि 'नहीं है।' और जो चीज़ नहीं है, उसको दिखला देता है, उसके बारे में 'है' कहते हैं ॥२६॥

अविद्या और उसके द्वारा किये आवरण को लोकानुभव से ही प्रमाणित करते हैं—

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि।। २७।।

विद्वान् द्वारा पूछा जाये तो अज्ञानी को कूटस्थ समझ नहीं आता बल्कि अनुभवानुसार कहता भी है 'कूटस्थ न प्रतीत होता है, न है।'

किसी अज्ञानी से ज्ञानवान् पूछे 'तुम कूटस्थ को जानते हो?' वह यही उत्तर देता है 'नहीं जानता हूँ। कूटस्थ है ही नहीं। हमें कूटस्थ का भान नहीं। है ही नहीं, इसलिये भान कैसे होगा!' और यह नहीं कि वह बगैर समझे-बूझे कह रहा हो, उसकी समझ ही यह है कि कूटस्थ न है न भासता है। इसी का नाम आवरण है। उसका यह कहना ही कि 'न है, न जानता हूँ' अविद्या के आवरण-स्वरूप को सिद्ध कर देता है। साधारण आदमी का अनुभव कि 'कूटस्थ न है, न प्रतीत होता है' यही आवरणरूप अविद्या में *प्रमाण* है। अविचारित होने से इसमें व्यावहारिक ही प्रामाण्य है, यह बात अलग है ॥२७॥

इस विषय में प्रायः स्वाभाविक रूप से उठने वाली शंका और उसका समाधान व्यक्त करते हैं—

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ।। २८।।

स्वयं प्रकाशमान आत्मवस्तु में अविद्या कैसे? अविद्या के बिना आत्मस्वरूप पर आवरण कैसे? इत्यादि तर्क के जालों को स्वभाव ही निगल जाता है।

आत्मा को सब लोग, कम-से-कम वेदान्ती लोग स्वप्रकाश मानते हैं। ऐसे स्वप्रकाश में कहाँ से अंधकाररूप अज्ञान आ गया? यदि यह स्वप्रकाश है, तो इसमें अज्ञान कैसे आया? ज्ञानरूप ब्रह्म में अज्ञान होना संगत नहीं और बिना अविद्या के आवरण कैसे होगा! इसलिये ब्रह्म को स्वप्रकाश कहते हो तो तुम्हारे मत में सब ज्ञानी ही हो सकते हैं। या आत्मा को स्वप्रकाश नहीं मान सकते, स्वप्रकाश मानो तो उसमें अविद्या नहीं मान सकते। यह तर्कजाल है। ऐसे सारे तर्कजाल को अपना यह अनुभव ही खा जाता है कि 'मैं कूटस्थ को नहीं जानता।' वेदान्ती पूछे कि 'तुम बताओ तुम्हें अनुभव होता है कि मैं ब्रह्म हूँ, कूटस्थ हूँ?' तो साधारण व्यक्ति कहेगा 'ऐसा तो मुझे अनुभव नहीं होता।' तुमको जब अनुभव नहीं हो रहा तब 'अनुभव होना चाहिये' यह तर्क क्या करेगा! अध्यास-भाष्य के प्रारंभ में यही कहा है कि विचार करके देखें तो द्रष्टा और दृश्य, आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास हो ही नहीं सकता क्योंकि ये एक-दूसरे से वैसे ही भिन्न हैं जैसे अँधेरा और रोशनी। अँधेरे को रोशनी और रोशनी को अन्धकार कोई कैसे समझेगा? विचार करने पर हो ही नहीं सकता कि तुम अज्ञानी हो लेकिन यह असंभव घटना हो तो रही है! हम कितना भी कहें 'तुम को अज्ञान नहीं है, तुमको सुख-दुःख नहीं हो रहे हैं' तो यह कहोगे 'महाराज, हमें तो ऐसा नहीं लगता।' 'नहीं लगता' इसमें प्रमाण है कि तुम्हें अज्ञान है। अनुभव है तो युक्तिविरुद्ध को भी मानना पड़ता है। 'कैसे हुआ' यह भले ही नहीं कह सकते लेकिन 'नहीं हुआ' तो कहना बनता नहीं। इस प्रकार स्वानुभव मानो घड़ियाल है जो तर्कजाल को निगल लेता है, समाप्त कर देता है ॥२८॥

शंका होगी कि प्रमाण छह हैं, सिर्फ 'अनुभव' तो कोई प्रमाण नहीं होता है! अतः अनुभव से तर्क का विरोध हो तो अनुभव ही कट जाता है। जैसे, मैंने साँप देखा, अनुभव हुआ। रोशनी आने पर वहाँ रस्सी रह गई। ये दो अनुभव हुए; अँधेरे में साँप दीखा, उजाले में रस्सी दीखी। आँखें उजाले में ठीक देखती हैं, अँधेरे में ठीक नहीं देखती—इस तर्क के बल से समझते हो कि जो तुमने रस्सी देखी, उसी को तुमने साँप देखा था। अनुभव तो सर्प का हुआ, परन्तु उक्त तर्क के बल से कि 'रोशनी में जो दीखता है वह सच्चा, अँधेरे में जो दीखता है वह झूठा,' वह कट जाता है। अतः तर्क से दुर्बल अनुभव तर्कविरुद्ध आवरण में प्रमाण कैसे? इसका समाधान करते हैं—

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः।
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात्।। २९।।

क्योंकि तर्क भी (अकेला) निश्चायक होता नहीं इसलिए स्वानुभव पर यदि विश्वास न हो तो स्वयं को तार्किक समझने वाला तत्त्व (सत्य) के बारे में निश्चय कैसे कर पायेगा?

तर्क 'अनवस्थित', अप्रतिष्ठित होता है, स्थिर न होने से टिकाऊ नहीं होता। एक तार्किक के द्वारा उत्प्रेक्षित तर्क दूसरे तार्किक द्वारा कट जाता है। नैयायिक तर्क को एक कल्पना ही मानता है अतः वह निश्चयकारी हो यह नियम कर भी नहीं सकते। तर्क जब

अनुभव का उपोद्बलक हो तभी निश्चय करने में उपयोगी होता है, अनुभव का विरोधी हो तो अधिकाधिक संशय करा ले, लेकिन विपरीत निश्चय के लिये अनुभवान्तर पर ही निर्भर रहता है जैसे रस्सी-अुनभव के बगैर 'यदि सर्प मिथ्या न होता तो दृश्य न होता' इस तर्क से साँप के अनुभव को काटना संभव नहीं हुआ करता। अतः अनुभव पर भरोसा किये बिना निश्चित-लाभ हो नहीं सकता। तार्किक यद्यपि 'व्यवसाय' को 'अनुव्यवसाय' का सहारा मानता है तथापि 'अनुव्यवसाय' भी सहारा देने योग्य कैसे?—इस शंका से मुँह मोड़ता ही है क्योंकि तथ्य यही है कि अन्तिम निर्णय परीक्षित ही सही, पर करता अनुभव ही है। तर्क को व्यासजी ने अप्रतिष्ठित कहा है। यदि प्रमाण तर्क का अनुग्रह चाहता है तो तर्क भी बिना किसी प्रमाण पर अनुग्रह किये निश्चयात्मक प्रमा नहीं उत्पन्न करता। छह प्रमाणों में तर्क कोई प्रमाण नहीं है। भ्रमसिद्ध सर्प के भी अनुभव के बारे में विविध तर्क उपलब्ध हैं। रस्सी में छोटा-सा साँप भी होता है, जो मन्दान्धकारवश बड़ा दीखा; अथवा रस्सी-स्थल पर उपलब्ध महाभूतों से सर्प बना जैसी अनर्गल कल्पनाएँ भी तर्कित की ही जाती हैं! अतः अनुभूति से संवाद रखने वाला ही तर्क उपयोगी है। अनुभव की उपेक्षापूर्वक तर्क-प्रयास असंगत कल्पना-जाल के अलावा कोई लाभ नहीं देगा। केवल अनुभव के बल पर कथंचित् व्यवहार चल सकता है पर केवल तर्क के बल पर वह भी नहीं चलता। तर्कमात्र का सहारा लेने वाले एकमत से कोई निर्णय करने में अक्षम हैं यह तार्किक दर्शनों के विस्तार से स्पष्ट है। अतः जो स्वानुभव पर शंकालु रहेगा, वह तत्त्वविषयक निश्चय पा सके इसका कोई साधन ही नहीं मिलेगा। तात्पर्य है कि स्वप्रकाश निजस्वरूप रहते जब अविवेकात्मक अज्ञान अनुभूयमान है तब तर्कमात्र से उसका अपवाद करना आयोग्य है ॥२९॥

यद्यपि तर्क अपर्याप्त है तथापि उपयोगी है—यह बताते हुए कैसा तर्क सोचना चाहिये इसे व्यक्त करते हैं—

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेद् अपेक्षेत तथा सति।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्।। ३०।।

बुद्धि में स्थिर हो जाये इसके लिये तर्क चाहिये हो तो निजके अनुभव के अनुसार तर्क किया जाये, कुतर्क न किया जाये।

चीज़ तुम्हारी बुद्धि में आरूढ हो जाये, समझ में आ जाये, इसके लिये तर्क की अपेक्षा है। वहाँ रस्सी ही थी, साँप नहीं था, वहाँ साँप दीखा ज़रूर पर था नहीं। इसके लिये तर्क है कि तुम्हारे संस्कारों की सहायता से रस्सी-सम्बन्धी अज्ञान ही सर्प-सा दीख गया, वास्तव में साँप नहीं था। जिस प्रकार संस्कारमात्र से स्वप्न में चीज़ों को देखते हो वैसे ही भ्रम में सर्प को संस्कारमात्र से देखा। यह तर्क तो तुम्हारे अनुभव के अनुसार है। इस तरह बुद्धि में चीज़ को बैठाने के लिये तर्क की अपेक्षा है। अपना अनुभव क्या है? 'मैं कर्त्ता-भोक्ता

जीव हूँ।' श्रुति कहती है 'तुम ब्रह्म हो।' तब तर्क से मानना पड़ेगा कि अज्ञान के कारण हम अपने को कर्त्ता आदि समझ रहे हैं।

यह हो गया अनुभव के अनुसार तर्क का उपयोग। अनुभूति का उपपादक सत्तर्क होता है, अनुभव का अपलाप करने वाला कुतर्क होता है। रस्सी में साँप दीखा तो तर्कसे पता लगता है कि अंधेरे के कारण दीखा। अतः अनुभव के अनुसार विचारक तर्क करे, कुतर्क न करे। ज्ञानी कहता है कि कूटस्थ है, तुम कहते हो कि कूटस्थ नहीं है। 'कूटस्थ नहीं है;' इसीलिये कह रहे हो कि उसपर अज्ञान का आवरण है—यह तर्क हो गया। 'हो ही नहीं सकता'—यह कुतर्क हो गया! जैसे 'रस्सी में साँप तुमने देखा नहीं' यह कुतर्क होगा ॥ ३०॥

कूटस्थ के स्वीकार के लिये अनुभव की प्रधानता प्रकट करते हैं—

स्वानुभूतिरविद्यायाम् आवृतौ च प्रदर्शिता।
अतः कूटस्थचैतन्यम् अविरोधीति तर्क्यताम्।। ३१।।

अविद्या और तत्कृत आवरण में 'मैं अज्ञानी' यह सभी की निजानुभूति दिखायी जा चुकी है। अतः (आवृत रहते न भासने पर भी) कूटस्थ चैतन्य युक्तिविरुद्ध नहीं, यही तर्क से समझना चाहिये।

पूर्व श्लोक में कहा था कि अपने अनुभव के अनुसार तर्क किया जाये, न कि कुतर्क। यहाँ उस स्वानुभव को ही व्यक्त किया कि 'मैं अज्ञानी हूँ, कूटस्थ हूँ इसे नहीं जानता, मेरी कूटस्थता ढँकी हुई है।' शास्त्र एवं युक्ति आत्मा को कूटस्थ, निर्विकार बताते ही हैं। इसलिये स्वप्रकाश में अज्ञान रहना तर्क से सम्मत समझना ही उचित है, उसे तर्कविरुद्ध नहीं कह सकते क्योंकि अनुभव का अपलाप नहीं वरन् समर्थन ही तर्क कर सकता है ॥३१॥

कूटस्थ स्वप्रकाश चैतन्य में अविद्या अन्यथानुपपत्तिरूप तर्क से सिद्ध होती है यों विवक्षित सत्तर्क समझाते हैं—

तच्चेद् विरोधी केनेयम् आवृतिर्ह्यनुभूयताम्।
विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम्।। ३२।।

चैतन्य यदि अविद्या का विरोधी हो तो यह आवरणरूप अविद्या किससे अनुभव की जाये! इसका तो विरोधी विवेक है और यह तथ्य तत्त्वज्ञानी में देखा जा सकता है।

यदि कूटस्थ अज्ञान का विरोधी होगा तो इस आवरण का अनुभव कौन करेगा? किस के द्वारा आवरण अनुभव किया जायेगा? इसका विरोधी तो विवेक है जो तत्त्वज्ञानी में देखा जाता है। अविद्या का विरोध विवेक ही करता है। विवेक अर्थात् उपनिषदों के विचार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। ऐसा ज्ञान अविद्या का विरोधी है। कूटस्थ पर आवरण विवेकदशा में नहीं रह सकता। ज्ञानी की विवेकदशा है इसलिये उसको अज्ञान नहीं होता है ॥३२॥

कूटस्थ का चिन्मय स्वरूप समझाकर वही अविद्या-आवरण को प्रतीत होने देता है अतः विरोधी नहीं वरन् स्वरूप से भासमान और विद्यमान रहकर भी यों लगता है कि 'न है, न भासता है'—यह स्पष्ट किया। इस प्रकार अविद्या और उसका आवरण कृत्य बताने के बाद विक्षेपरूप अध्यास का वर्णन करते हैं—

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवद् अध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि।। ३३।।

अविद्या से ढँके कूटस्थ में स्थूल-सूक्ष्मशरीरों से युक्त चैतन्य सींप में चाँदी की तरह अध्यस्त है, यह विक्षेप नामक अध्यास ही है।

अविद्या के दो कार्य बतलाये थे—आवरण और विक्षेप। आवरण का पता किस से लगता है? देवदत्त को पूछने पर वह कहता है कि 'कूटस्थ है नहीं और मुझे प्रतीत भी नहीं होता' इसी से निश्चय है कि कूटस्थ पर आवरण है। अब विक्षेप को बतलाते हैं। अविद्या से आवृत जो कूटस्थ उसमें देहद्वय अध्यस्त हैं, उन देहद्वय में फिर चेतन प्रतीत हो रहा है, जो हो गया प्रतिबिम्बरूप चिदाभास। देहद्वय के अंदर बुद्धि या मन में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यगात्मारूप कूटस्थ में साक्षात् आरोपित हैं स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनसे सम्बद्ध रूप से आरोपित हो गया चिदाभास। आवरण मायने ढाँकना, विक्षेप मायने जो है उसके बजाये कुछ और दिखाना। तीव्र प्रकाश में शुक्ति (सींप) चमचमाती है अतः वह शुक्ति है—यह तथ्य छिप जाता है, तब वह शुक्ति के बजाये चाँदी दीखती है। शुक्ति है—ऐसा न प्रतीत होना आवरण है, शुक्ति की जगह चाँदी दीखना विक्षेप है। इसी प्रकार कूटस्थ न भासना आवरण है, उसके बजाये पहले देहद्वय भासना यह विक्षेप फिर उन देहों से युक्त, सम्बद्ध चैतन्य प्रतीत होना यह विक्षेप होता है। जैसा है नहीं वैसा प्रतीत होना—इसे अध्यास कहते हैं। क्योंकि वास्तव में भासमान ही है, अभासमानता सत्य नहीं इसीलिये आवरण भी अध्यास है एवं देहादि तथा तत्सम्बद्धरूप चैतन्य भी अध्यास ही है। देहद्वय से युक्त चैतन्य स्वरूपतः ही अध्यस्त है—ऐसा इस प्रक्रिया में समझना चाहिये। अन्यत्र बताते हैं कि चैतन्य का देहादि से सम्बन्ध ही अध्यस्त है; वह प्रक्रियान्तर है। तात्पर्यतः तो अन्तर नहीं, विचार करने का ढंग ही फ़र्क है। सम्बन्ध को विशेषणरूप से समझने पर 'सम्बद्ध' को एक स्वतंत्र वस्तु माना जा सकता है अतः उसे स्वरूपतः अध्यस्त कहना संगत हो जाता है। इस प्रकार चिदाभासरूप विक्षेपाध्यास का कथन किया ॥३३॥

विक्षेप की अध्यासरूपता सिद्ध करने के लिये यह सींप में चाँदी जैसा ही है यह समझाते हैं—

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते।
स्वयन्त्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम्।। ३४।।

जैसे सींप का इदंभाग (यह-पना) और सत्यता चाँदी में दीखते हैं वैसे कूटस्थ की स्वयंरूपता एवं वस्तुता (सत्यता) विक्षेप में दीखते हैं।

सींप में यह-पना है अर्थात् वह सामने है। सींप का सामने होना चाँदी के अन्दर दीखता है कि चाँदी सामने है। यों सींप का 'यह' वाला हिस्सा चाँदी में दीखता है। इसी प्रकार सींप सच्ची है, उसका सच्चापना भी चाँदी में दीखता है, कि 'यह सच्ची चाँदी है।' सत्यता किस में है? शुक्ति में। दीख कहाँ रही है? चाँदी में। इसी प्रकार पुरोवर्तिता, 'यह-पना' है तो सींप में, और दीख रही है चाँदी में। इसी प्रकार से स्वयन्ता अर्थात् खुदपना है कूटस्थ में, और दीखता देहद्वय में और चिदाभास में है। देहद्वय स्वयं हैं, वास्तविक हैं ऐसा दीखता है। *मैं खुद* तो कूटस्थ हूँ, पर कूटस्थ का खुदपना देहद्वय और चिदाभास में दीखता है। वस्तुता, सच्चापना, है तो कूटस्थ में पर दीख रहा है, देहद्वय में। जैसे दृष्टान्त में इदंता और सत्यता वैसे दार्ष्टान्त में स्वयन्ता और वस्तुता। कूटस्थ में होने वाली स्वयंता और वस्तुता शरीरों और आभास में दीखती हैं, विक्षेप में, आरोपित में दीखती हैं **॥३४॥**

जैसे अधिष्ठान का सामान्य भाग उभयत्र प्रतीयमान है वैसे विशेषांश अप्रतीयमान है यह बताते हैं—

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम्।
असङ्गानन्दताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम्।। ३५।।

सींप में होने वाले पृष्ठ भाग पर नीलिमा और खास तिकोनाकार जैसे छिपे रहते हैं वैसे कूटस्थ में रहने वाले असंगता, आनन्दता आदि भी छिपे रहते हैं।

सींप की पहचान क्या है? उसका पृष्ठ भाग नीला होता है। परंतु सूर्य की चमक में, सफेद वाला हिस्सा इतना चमकता है कि नीला वाला हिस्सा दीखता नहीं। और सींप त्रिकोण होती है। चाँदी के तो त्रिकोण होने का कोई नियम नहीं। सींप के अन्दर होने वाली ये दोनों बातें तिरोहित हो जाती हैं, छिप जाती हैं, तभी वही चाँदी दीखती है। इसी प्रकार से कूटस्थ असंग और आनंदरूप है लेकिन उसकी असंगता और आनन्दता, भी तिरोहित रह जाती हैं। इसलिये चिदाभास को यह तो लगता है 'मैं खुद हूँ और मैं सचमुच हूँ' परन्तु 'मैं आनन्दरूप हूँ, मैं असंग हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। सींप की विशेषता छिप जाती है, तब विरोधी चाँदी दीखती है, इसी प्रकार से कूटस्थ के अंदर जो असंगता और वास्तविक आनन्द है, वे छिप जाते हैं। अधिष्ठान का सामान्य भाग पता रहे, विशेषता न पता रहे, तभी भ्रम होता है; कूटस्थ में ऐसा ही है अतः उसके बारे में भ्रम होना तर्कसंगत भी है यह तात्पर्य है **॥३५॥**

व्यवहार-सिद्ध भी भेद है जिससे अध्यस्त को अधिष्ठान से पृथक् समझ सकते हैं यह बताते हैं—

आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यनाम यथा तथा।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेप-नामाऽहमिति निश्चयः।। ३६।।

जैसे दृष्टांत में आरोपित का चाँदी नाम है वैसे कूटस्थ में अध्यस्त विक्षेपरूप चिदाभास का नाम है 'मैं' यह निश्चित बात है।

दृष्टांत दिया सींप में चाँदी; उसमें जो भ्रम से दीखा उसका नाम है चाँदी। उसी प्रकार कूटस्थ में अध्यस्त जो विक्षेप है उस चिदाभास का नाम है मैं, अहम्। मैं की जो प्रतीति हो रही है, यह मुख्य विक्षेप है। देहद्वय, शरीर-मन में मैं हूँ—ऐसा लगता है। अधिष्ठान से पृथक् ही अध्यस्त का नाम होता है जैसे सींप से पृथक् ही चाँदी नाम है अतः अधिष्ठान जो कूटस्थ उससे पृथक् ही अध्यस्त चिदाभास का नाम 'अहम्' है। अहम् आभास का ही वाचक है, कूटस्थ को लक्षणा से भले ही कह दे ॥३६॥

भ्रम-स्थल पर अधिष्ठान-ज्ञान किसी साधन से होता है जैसे सींप का यह-पना आँखों से दीखता है, किंतु कूटस्थज्ञान में साधन अनावश्यक है, इतना उभयत्र अन्तर दिखाते हैं—

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यम् इत्यभिमन्यते।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहम् इत्यभिमन्यते।। ३७।।

खुद (साक्षी) इदम्भाग देखते हुए 'चाँदी' ऐसा मान लेता है; इसी प्रकार खुद स्व को (स्वयन्त्व को) देखते हुए 'मैं' ऐसा मान लेता है।

यद्यपि इदम्भाग चक्षुर्द्वारा दीखता है तथापि है तो वह भी बुद्धिवृत्ति के व्यवधान से साक्षिभास्य ही। सभी वस्तुएँ 'ज्ञात' इस तरह हो अथवा 'अज्ञात' इस तरह हो, साक्षी का विषय ही हैं। यह तथ्य विवरणाचार्य ने स्पष्ट किया है। अतः चाँदी-अभिमान या भ्रम इदमंश से जुड़ा हुआ हो जाता है कि 'यह चाँदी है'। जिस साक्षी को 'यह' दीखा उसे ही (अविद्यावृत्ति से) चाँदी दीखी अतः उसने 'यह चाँदी' यों दोनों को एकमेक कर समझ लिया। इसी प्रकार खुद को साक्षी-रूप से स्वप्रकाश ज्ञान के बलपर जानता हुआ अहंकार में तादात्म्य कर 'मैं' ऐसा अभिमान करता है। अधिष्ठानीभूत कूटस्थ स्वप्रकाश आत्मवस्तु होने से उसका ज्ञान वृत्ति आदि किसी साधन का सहारा चाह ही नहीं सकता। अतः स्वयमेव भासमान होने से वह अहम्भ्रम का आलम्बन बन जाये यह असंगत नहीं ॥३७॥

स्वयम् और मैं—इन शब्दों के अर्थों में अंतर होता तो ठीक था कि स्वयम् हो गया अधिष्ठान (या आधार) भाग और मैं हो गया अध्यास भाग, लेकिन जब 'मैं स्वयम् गया था' इत्यादि कहते हैं तब मैं और स्वयम् (खुद) शब्दों के अर्थ अलग तो प्रतीत नहीं होते। इसलिये आचार्य इनके अर्थों का अंतर व्यक्त करते हैं—

इदन्त्व-रूप्यते भिन्ने स्वत्वाऽहन्ते तथेष्यताम्।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्राऽपि गम्यते।। ३८।।

जैसे यहपना और चाँदीपना अलग हैं वैसे खुदपना और मैं-पना अलग समझे जाने चाहिये क्योंकि 'यह' और 'खुद' से सामान्य तथा 'चाँदी' और 'मैं' से विशेष—यों विभिन्न अर्थ समझे जाते ही हैं।

प्रायः शब्दभेद अवश्य अर्थभेद द्योतित करता है। 'मैं' कहने से ही काम चले तो 'खुद' इतना और क्यों बोला जाये? कुछ-न-कुछ विवक्षित हुए बिना शब्द का प्रयोग नहीं होता और व्यवस्थित अर्थ नहीं समझा जाता। 'स्वयम्' या 'खुद' बोलने में कोई भाव है एवं सुनकर कुछ समझ भी आता है। अर्थभेद यही है कि 'स्वयं' कहता है सामान्य को और 'मैं' कहता है विशेष को जैसे 'यह' और 'चाँदी' भले ही एक ही चमकते धातुपिण्ड को बतायें लेकिन 'यह' से पुरोवर्ती अर्थात् सामान्य और 'चाँदी' से विशेष का उल्लेख होता है एवं ये ही विभिन्न अर्थ प्रतीत भी होते हैं। 'इष्यताम्' कह कर बतलाना चाहते हैं कि यद्यपि यह और चाँदी की तरह मैं और खुद का भेद स्पष्ट नहीं तथापि प्रयोग-भेद से मानना पड़ता है और ऐसी प्रतीति भी होती है कि दोनों के भाव में अंतर है। इदन्ता और चाँदी के अन्दर तो थोड़े से विचार से भेद की प्रतीति हो जाती है, लेकिन 'मैं खुद' में ऐसी भेदप्रतीति नहीं होती। इदम् या 'यह' सामान्य को कहता है, इसलिये दोनों के अंदर है—अध्यास-काल के अन्दर भी है और अधिष्ठान-ज्ञान के काल अर्थात् बाधकाल के अन्दर भी है। और जो विशेष है अर्थात् चाँदी, वह भ्रमकाल में ही है, बाधकाल का विशेष जो नीलारंग-तिकोना आकाररूप सींप वह भ्रमकाल में सर्वथा नहीं भासता। इस प्रकार रजतभ्रम में, दृष्टान्त में अन्तर स्पष्ट होने पर भी मैं और स्वयम् या खुद का अन्तर स्पष्ट नहीं लेकिन युक्तिवश अंगीकार्य है तथा अधिक ध्यान दें तो विवेकानुसार प्रतीत भी हो जाता है ॥३८॥

'स्वयं' की इदन्तुल्य सामान्य-बोधकता प्रदर्शन-पूर्वक प्रकट करते हैं—

देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते।। ३९।।

'देवदत्त स्वयं (खुद) जाये'; 'तुम स्वयं देखो'; 'मैं स्वयं (यह कर) सकता नहीं;' यों संसार में (विभिन्नों के साथ स्वयं-शब्द) प्रयोग किया जाता है।

अन्य पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष—तीनों के साथ 'स्वयं' शब्द जुड़ता है अतः स्पष्ट ही वह तीनों में स्थित किसी सामान्य का ही बोधक है। केवल 'मैं' के ही साथ जुड़ता तो संभावना भी थी कि मैं-से इसका अर्थभेद न हो किन्तु सबसे जुड़ने के कारण वह संभावना मिट जाती है। लोक में ही जब विशेष-बोधक वह-मैं आदि के साथ जोड़कर स्वयं-शब्द कहा-समझा जा रहा है तब उसके अभिप्राय को नकारा नहीं जा सकता ॥३९॥

दृष्टांत-पूर्वक स्वयं-पद की सामान्यार्थता व्यक्त करते हैं—

इदं रूप्यमिदं वस्त्रम् इति यद्वद् इदं तथा।
असौ त्वमहम् इत्येषु स्वयम् इत्यभिमन्यते।। ४०।।

'यह चाँदी' 'यह कपड़ा' इत्यादि प्रयोगों में जैसे 'यह'-शब्द सामान्य का बोधक है वैसे वह-तुम-मैं इनमें (जुड़ा) स्वयम्-शब्द सामान्य का ही बोधक है।

चाँदी, कपड़ा आदि सभी चीजों को उनके विशेष नामों से कहते हैं तथा 'यह-वह' आदि उनके ही सामान्य नाम हैं क्योंकि सभी से जुड़ते हैं। जो नाम एक वस्तु से सम्बद्ध हो वह विशेष का ज्ञान कराता है, जो अनेकों से सम्बद्ध हो वह सामान्य का अर्थात् विशेषों में अनुगत का ज्ञान कराता है। यह आदि सभी से सम्बद्ध होकर चाहे-जिसका ज्ञान कराने से सामान्य के बोधक स्पष्ट ही हैं। इस दृष्टांत के अनुरूप स्वयम्-शब्द भी है जो वह-तुम-मैं से भी जुड़ जाता है और आगे कहेंगे कि घड़े आदि से जुड़ जाता है (श्लो.४४) अतः अधिक व्यापक सामान्य का बोधक है। इस प्रकार स्वयं-शब्द को प्रसिद्ध तथा सामान्यार्थक समझाया ॥४०॥

श्लोक ३४ में आत्मा की स्वयन्ता 'मैं' में प्रतीत होती है यह कहा था जिससे कूटस्थ को अधिष्ठान बताया था। तदनन्तर 'मैं' और 'स्वयम्' इन अनुभूतियों का विवेचन किया, अब समझाते हैं कि 'स्वयं' यह कूटस्थ का ही भान है—

अहन्त्वाद् भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत्।। ४१।।

स्वत्व भले ही अहन्त्व से भिन्न हो, कूटस्थ के बारे में तुम्हें उससे क्या लाभ? मुझे (सिद्धान्ती को) यह लाभ है कि स्वयं-शब्द का यह अर्थ ही कूटस्थ है (यों कूटस्थ अनुभवारूढ हो जाता है)।

पूर्व विचार से यही सिद्ध किया कि 'मैं' से 'खुद' अलग होता है किन्तु इससे कूटस्थ के बारे में क्या फ़ायदा हुआ? अर्थात् प्रसंग तो कूटस्थ का चल रहा था, बीच में स्वयं की चर्चा हुई, उसका मूल प्रसंग से क्या सम्बन्ध? सम्बंध यह है कि कूटस्थ-शब्द शास्त्रीय है, उसका सही-सही भाव स्पष्ट नहीं होता। 'स्वयम्'—इस रूप से अर्थ साफ़ हो जाने पर यह समझना सुगम हो जाता है कि स्वयम्पदार्थ ही कूटस्थ है। इस प्रकार 'स्वयम्' या 'खुद' रूप से कूटस्थ की सिद्धि हो गयी ॥४१॥

'स्वयम्' से कूटस्थता को समझने का तरीका प्रश्नोत्तर से बताते हैं—

अन्यत्ववारकं स्वत्वम् इति चेदन्यवारणम्।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत्।। ४२।।

प्रश्न हो सकता है कि स्वयंशब्दार्थ स्वत्व तो केवल अन्यता का वारण करता है (कूटस्थता का उल्लेख कैसे)? उत्तर है कि कूटस्थ को आत्मा कहने वाले को अन्य-वारण स्वीकृत ही है।

'खुद' का इतना ही मतलब है कि 'कोई और नहीं'। 'वह खुद गया' अर्थात् वही गया, अन्य किसी को भेजकर काम नहीं कराया। 'वह गया' से संभावना होती कि प्रतिनिधि से उपस्थिति दर्ज करायी होगी लेकिन 'स्वयम्' या 'खुद' जोड़ देने से वह संभावना दूर हो जाती

है। इसलिये 'अन्य नहीं' के अलावा 'स्वयम्' या 'खुद' का कूटस्थ—यह अर्थ कैसे समझा जाये? उत्तर का तात्पर्य है कि आत्मा का ही कूटस्थ शब्द बोधक है। आत्मा वस्तु सदा भासमान है। वह अद्वितीय होने पर भी प्रतीत सद्वितीय अतः परिच्छिन्न हो रही है। उसे सीमित, सद्वितीय बनाने वाले 'अन्य' का वारण करना ही अभीष्ट है, इससे अतिरिक्त कोई कूटस्थतारूप धर्म का उल्लेख करना ज़रूरी ही नहीं है। स्वरूप से भासमान के आरोपित सद्वितीय रूप के निषेधमात्र से अद्वितीय का बोध फलतः संगत है यह तात्पर्य है ॥४२॥

कूटस्थ को आत्मा बताना इष्ट है तो उसे स्वयम् कैसे कहा जा रहा है? गाय व घोड़ा शब्द जैसे विभिन्न निमित्तों से अर्थबोधन में प्रवृत्त होते हैं वैसे स्वयम् और आत्मा शब्द भी अलग-अलग अर्थ बतायें यह उचित है। अतः स्वयम् शब्द का यदि अर्थ कूटस्थ है तो उसे आत्मा कहना कैसे बनता है? उत्तर देते हैं—

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वम् आत्मत्वं चान्यवारकम्।। ४३।।

'स्वयम्' और 'आत्मा' शब्द पर्याय हैं अतः लोक में इनका साथ-साथ प्रयोग नहीं होता। इसलिये इनका अर्थ जो 'स्वत्व' और 'आत्मत्व' वह अन्य का वारण ही करता है।

स्वयम् और आत्मा ये शब्द लोक में पर्याय के रूप से प्रयोग होते हैं। एकार्थक शब्द पर्याय होते हैं। जैसे 'गाय' और 'घोड़ा' शब्द विभिन्न चीजों को बतलाते हैं वैसे 'स्वयम्' और 'आत्मा' शब्द अलग-अलग चीजों को नहीं बतलाते वरन् एकार्थक हैं। इसलिये लोक में 'आत्मा खुद' ऐसा प्रयोग नहीं होता है; चाहे 'खुद' कहो, चाहे 'आत्मा' कहो, एक ही बात है, दोनों ही अन्य का वारण करने वाले हैं अर्थात् अन्यवारकत्व ही इनका अर्थ है। तात्पर्य है कि इनका प्रवृत्तिनिमित्त स्वरूपतः एक ही है अतः आत्मरूप कूटस्थ ही स्वयम्-शब्द का अर्थ है। एवं कूटस्थ अनुभवानुसारी भासमान वस्तु ही है ॥४३॥

स्वयम् शब्द आत्मरूप कूटस्थ को कहे इसमें अनौचित्य की शंका उठाकर समाधान करते हैं—

घटःस्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु।
अचेतनेषु दृष्टं चेद् दृश्यताम् आत्मसत्त्वतः।। ४४।।

'घड़ा खुद नहीं जानता' यों खुदपना जड घड़े आदि में भी देखा जाता है तो भले ही देखा जाये, क्योंकि वहाँ भी आत्मा की उपस्थिति है ही।

स्वयं या खुद यदि आत्मा का बोधक है तो जड, अनात्मा के साथ स्वयं-शब्द नहीं जुड़ना चाहिये जबकि घड़े आदि जड वस्तुओं के भी साथ स्वयम् या खुद शब्द जुड़ जाता है अतः शंका होती है कि स्वयम् का अर्थ आत्मा नहीं होना चाहिये। समाधान है कि सर्वव्यापक

आत्मा घट में भी अधिष्ठान-विधया है ही—अतः उसका स्वयम्पना घड़े में दीखे तो संगत ही है, उपपन्न ही है।

'आत्मसत्त्वतः' से सद्रूप आत्मा की स्थिति तो स्पष्ट ही है लेकिन 'घड़ा स्वयम् नहीं जानता' प्रयोग में भाव है कि घटज्ञान केवल घट से संभव नहीं, अन्य कोई ज्ञाता चाहिये, अतः ज्ञायमान घड़े में स्फुरण या चिद्रूप से भी आत्मा की मौजूदगी है यह भी समझना चाहिये। किंच प्रिय या आनन्दरूप से भी वह उपस्थित ही होने से घड़े को स्वयं कहना उचित है।

पहले (श्लो. ३६) क्योंकि वह-तुम-मैं यों चेतनों से ही स्वयम्-शब्द जोड़ा था इसलिये शंका उठी लेकिन 'वह' में जड-चेतन दोनों आ जाने से शंका निस्तत्त्व है यह स्पष्ट किया गया। चेतन के साथ कहना ज़रूरी इसलिये था कि स्वयम्पदार्थ कूटस्थ का अपरोक्ष 'मैं' में ही होगा, वहाँ समझकर ही अन्यत्र जाना जा सकता है। तात्पर्य अन्यवारण में ही है, अन्य का वारण हो जाने पर जो भासमान रहे वही स्वयम्, आत्मा, कूटस्थ है **॥४४॥**

यदि घड़े में भी कूटस्थ है तो लोक व शास्त्र में जड-चेतन का भेद कैसे किया जाता है? इसका उत्तर देते हैं—

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि।
किन्तु बुद्धिकृताऽऽभासकृतैवेत्यवगम्यताम्।। ४५।।

जड-चेतन का भेद कूटस्थरूप आत्मा के होने-न होने से नहीं है वरन् बुद्धि-निमित्तक चिदाभास के होने-न होने से ही है—यह समझ लिया जाना चाहिये।

लोक या शास्त्र में चेतन-अचेतन के भेद की चर्चा कूटस्थ अधिष्ठानरूप आत्मा को दृष्टि में रखकर नहीं होती। जड में अधिष्ठान-रूपसे कूटस्थ आत्मा नहीं है—यह शास्त्र में अभिप्रेत नहीं क्योंकि शास्त्र तो आकाशादि सारे जड जगत् को सच्चिदानन्द आत्मा से ही उत्पन्न बताकर उसकी सारे प्रपंच में व्याप्ति ही समझाता है। शास्त्र जड को आत्म-अधिष्ठानक न कहे यह संभव ही नहीं है। जो सर्वव्यापक है वह सबके अंदर है ही। फिर यह जड-चेतन का भेद किस से है? बुद्धिकृत जो आभास है अर्थात् बुद्धि के अन्दर जो चेतन का आभास पड़ता है उसके होने से चेतन कहा-समझा जाता है एवं वह आभास न पड़े तो जड कहा-समझा जाता है। जहाँ बुद्धि में चेतन का आभास होता है उसे चेतन कहते हैं, जहाँ बुद्धि में पड़ा आभास नहीं होता उसे जड कहते हैं। बुद्धि में पड़े आभास द्वारा कृत ही जड और चेतन का भेद है, कूटस्थ और आत्मा को लेकर नहीं है **॥४५॥**

चेतन और अचेतन का विभाग चिदाभास के होने या न होने से है तो फिर अचेतनों में आत्मा (स्वयंपदार्थ) मानने का क्या प्रयोजन? यह शंका होने पर कहते हैं—

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥४६॥

जैसे कूटस्थ पर भ्रम से वह आभास कल्पित है जो लोक में चेतन कहलाता है वैसे अचेतन घड़ा आदि भी वहीं (कूटस्थ में) कल्पित है।

चेतन और अचेतन के विभाग का कारण कूटस्थ न होने पर भी अचेतन की कल्पना के अधिष्ठानरूप से कूटस्थ को मानना ही पड़ेगा। कूटस्थ में आभास जहाँ भ्रांति से कल्पित है वहाँ चेतन, सजीव ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार से घड़ा आदि अचेतन भी वहीं कल्पित है। तात्पर्य है कि जड भी कोई सत्य वस्तु तो है नहीं वरन् भ्रम से कल्पित ही है और कल्पना का अधिष्ठान सत्य ही होता है अतः एकमात्र सत्य जो आत्मा वह जड का भी अधिष्ठान है। उसी को यहाँ 'तत्रैव' से कहा। श्लोक २२ में देहद्वय से अवच्छिन्न को कूटस्थ कहा था, घड़े आदि का अधिष्ठान देहावच्छिन्न नहीं तथापि वस्तुगत्या आत्मा अभिन्न ही होने से आत्मरूप से एकता के तात्पर्य से 'तत्रैव' कहा। अथवा अधिष्ठान चेतन को कूटस्थ स्वीकारना चाहिये, देहों से अवच्छिन्न ही कूटस्थ कहलाये ऐसा आग्रह नहीं, यह अभिप्राय है।

बुद्धि में पड़ा चिदाभास ही चेतन और जड ऐसी भेद-कल्पना उपपन्न करता है। कल्पित सभी अनात्मा हैं, फिर भी बुद्धि में आभास रहते वहाँ आत्मरूपता का भ्रम हो जाता है जबकि घड़े आदि में बुद्धि न होने से आभास के अभाव में आत्मता का भ्रम न होकर केवल जड (अनात्मा) की कल्पना होती है। जहाँ अन्योन्याध्यास है वहाँ सजीवता और जहाँ केवल स्वरूपाध्यास है वहाँ निर्जीवता की प्रतीति से जड-चेतन का विभाग संगत है यद्यपि अधिष्ठान सबका एक ही चेतन है जिसे 'स्वयं' शब्द से कहा-समझा जाता है। भ्रांतिकल्पित होने से आभास भी है तो अचेतन ही ॥४६॥

स्वयम् और आत्मा शब्दों को एक ही वस्तु का बोधक मानें तो 'वह', 'यह' शब्दों को भी उसीका बोधक मानना पड़ेगा—यह आपत्ति उठाते हैं—

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वम् इव त्वम्-अहमादिषु।
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७॥

स्व-पने की तरह वह-पना और यह-पना भी तुम-मैं आदि सर्वत्र अनुस्यूत हैं जिससे उन्हें भी आत्मरूप माना जाये?—यह शंका है।

जैसे स्वयम्-शब्द सबसे जुड़ जाता है वैसे 'वह'-'यह' शब्द भी सभी से जुड़ते हैं—'वह देवदत्त, वह तुम, वह मैं' इत्यादि। यद्यपि हिन्दी में 'वह मैं' प्रायः नहीं कहते लेकिन 'जो मैं तब मूर्ख था वही मैं अब समझदार हो गया हूँ' इत्यादि प्रयोगों में कहते ही हैं। इसलिये वह-यह शब्दों का अर्थ भी आत्मा-शब्द का अर्थ ही मानना चाहिये, केवल स्वयम्-शब्द के अर्थ का ही महत्त्व कैसे स्वीकारें? इसमें अनिष्टता यह है कि स्वयन्त्व जैसे अपरोक्ष है वैसे तत्ता परोक्ष है जबकि आत्मा को परोक्ष नहीं स्वीकार सकते ॥४७॥

उक्त आपत्ति का निराकरण करते हैं—

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदन्ते ततस्तयोः।
आत्मत्वं नैव सम्भाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा।। ४८।।

क्योंकि 'वह-पना'-'यह-पना' आत्मता में भी उपलब्ध हैं इसलिये उन्हें सम्यक्ता आदि की तरह आत्म-रूप स्वीकारना संभव नहीं।

यह तो ठीक है कि स्वत्व की तरह तुम-मैं आदि में 'वहपना-यहपना' उपलब्ध हैं लेकिन तुम-मैं आदि में स्थित जो आत्मता, उसमें भी वहपना यहपना उपलब्ध हैं ही, अतः 'वहपना-यहपना' सिर्फ आत्मा में ही नहीं रहते, आत्मा से अन्य जो 'आत्मत्व' उसमें भी रहते हैं तो उन्हें आत्मस्वरूप नहीं मान सकते। आत्मगत धर्मविशेष, उपाधिविशेष या वादिसम्मत सामान्य (जाति) को आत्मत्व (आत्मता) कहा जाता है। विचार-विमर्श में 'वह आत्मता' अर्थात् वादिस्वीकृत आत्मता, 'यह आत्मता' अर्थात् सिद्धान्तस्वीकृत आत्मता आदि प्रयोग होते हैं जहाँ वह-यह शब्द आत्मता से भी जुड़ते हैं। इस प्रकार न केवल आत्मा से वरन् आत्मता से भी सम्बन्ध वाले वह-यह शब्द आत्मरूप अर्थ ही कहें यह नियम नहीं किया जा सकता। अतः जैसे 'वादिसम्मत आत्मत्व नहीं वरन् सिद्धान्तानुसार आत्मत्व सम्यक् है' आदि प्रयोगों से निश्चित है कि सम्यक्त्व (ठीकपना) आत्मा का स्वरूप नहीं वैसे तत्ता-इदन्ता भी नहीं। वह-यह शब्द सापेक्ष अर्थों के बोधक होने से निरपेक्ष आत्मा के बोधक नहीं यह अभिप्राय है ॥४८॥

कूटस्थ की प्रतीति उपपन्न कर वही आत्मा है यह समझा चुके। अब उसे 'मैं' से अन्य स्पष्ट करने के लिये लौकिक प्रयोगों के दृष्टांत का सहारा लेते हैं—

तत्तेदन्ते स्वताऽन्यत्वे त्वन्ताऽहन्ते परस्परम्।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः।। ४९।।

अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम्।
त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहम् इत्यात्मनि कल्पितः ॥५०॥

वहपना-यहपना, स्वपना-अन्यपना, तूपना-मैंपना—ये आपस में विरोधी रूप से लोक में प्रसिद्ध हैं, इसमें संशय नहीं। इसी तरह अन्यता का विरोधी स्वयंशब्दित कूटस्थ को समझा जाये और तूपने का विरोधी 'मैं' समझा जाये जो आत्मा में कल्पित है।

लोक में समझा ही जाता है कि जो 'वह' होगा उसे 'यह' नहीं कह सकते, 'स्वयम्' (खुद) को अन्य (गैर) नहीं कह सकते, 'तू' को 'मैं' नहीं कह सकते। जब कहीं कहते भी हैं तो उपचारमात्र होता है या देश-कालादि के भेद का उल्लेख अभिप्रेत होता है। सामान्यतः ये शब्द ऐसे भावों के बोधक हैं जो साथ-साथ नहीं रहा करते। जैसे ये दृष्टांत वैसे 'अन्य'

और 'स्वयम्'—इन्हें समझना है। जो अन्य जाना जाये उसे हम स्वयम् नहीं महसूस करते। यद्यपि पहले कहा था कि सर्वत्र स्वयंबुद्धि संगत है तथापि तात्पर्य है कि जिससे अभेद को स्वयं कहते हैं उसी से उस वस्तु को अन्य नहीं कहते। 'घट स्वयम्' कहकर उसी घट को उसी से अन्य भी कहें, यह संगत नहीं। इसलिये अन्य का अर्थ एवं स्वयं का अर्थ आपस में विरोधी ही हैं। तथा 'मैं' तो 'तू' का विरोधी प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार स्वयम् और मैं—ये शब्द विभिन्न अर्थों के बोधक हैं, मैं मायने तू-से विरुद्ध और स्वयम् मायने अनन्य या अन्य से विरुद्ध। इनमें मैं तो आत्मा पर स्वतः कल्पित है जबकि स्वयम् कूटस्थ आत्मा ही है। यहाँ केवल शब्द-प्रयोग की चर्चा नहीं, विवेक का उपाय दिखा रहे हैं। 'मैं स्वयम्' अनुभव का विश्लेषण करना चाहिये कि इसमें मैं-पना क्या है, स्वयम्पना क्या है। मैंपने में केवल तू-विरोध भासता है। तू मुझसे स्वतंत्र कोई होता है अतः मैं-पना तू-निर्भर होने से अन्यापेक्ष है, फलतः मिथ्या है। स्वयम्पने में अन्य-विरोध भासता है जो अद्वितीय आत्मा का स्वरूप होने से सत्य है। यद्यपि आपाततः अन्यता-विरोध भी अन्यनिरूपित अतः सापेक्ष प्रतीत होता है तथापि विचार करें तो समझ आता है कि क्योंकि स्वयन्त्व को सर्वत्र सिद्ध कर चुके इसलिये यह स्वयम्पना ऐसी अन्यता का विरोधी है जो झूठमूठ ही कल्पित है। तात्पर्य है कि मैं-तू में तुल्यसत्ताक विरोध है जब कि स्वयम्-अन्य में विषमसत्ताक विरोध है। इस प्रकार कूटस्थ और मैं—इनके विवेक का अभ्यास करना चाहिये ॥४६-५०॥

यों अत्यन्त विलक्षण होने पर भी इन्हें एकमेक समझा जाता है यह मोह की महिमा दिखाते हैं—

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे।। ५१।।

चाँदीपना-यहपने के भेद की तरह मैंपना-स्वयम्पने का भेद स्पष्ट होने पर भी मोह में पड़े अविवेकी इन्हें एक समझे हुए हैं।

'यह चाँदी है' इस प्रतीति में यह और चाँदी एक ही वस्तु को समझा जाता है जबकि बाद में पता चलता है कि यह तो दीखी थी सींप, भ्रम से भासी थी चाँदी। इसी प्रकार शास्त्र-प्रदर्शित विचार से मैं व स्वयं का अंतर पता चलता है। स्वयम् जो कूटस्थ वह बुद्धिसाक्षी होने से बुद्धिविषय नहीं जबकि मैं तो बुद्धि की एक वृत्ति ही है जो सुषुप्ति में रहती भी नहीं। यों अन्वय-व्यतिरेकादि से इनमें अन्तर साफ है फिर भी अविवेकरूप मोह के वशीभूत हो इन्हें एक ही समझते हैं कि मैं-अनुभव और खुद-अनुभव एक ही का है। खुद तो मैं-काल में (जाग्रत्-स्वप्न में) भी रहता है, जब मैं-काल नहीं तब (सुषुप्ति में) भी रहता है, अतः स्पष्ट ही मैं से अतिरिक्त है। अहं या मैं स्वरूपतः ही कूटस्थ पर कल्पित है जैसे सींप पर चाँदी। उस पर कल्पित होने से ही कूटस्थ की स्वयन्ता का मैं से सम्बन्ध कल्पित हो जाता है जैसे सींप की इदन्ता चाँदी पर कल्पित हो जाती है। जीवभाव या मैं-पने का

बाध होता है जबकि खुदपने का, कूटस्थ का नहीं। चिदाभास ही बाध्य है, कूटस्थ नहीं। फिर भी मोह या अविवेक के चलते मैं-कूटस्थ को एक ही समझ लिया जाता है ॥५१॥

उक्त भ्रम का कारण व्यक्त करते हैं—

तादात्म्याध्यास एवाऽत्र पूर्वोक्ताऽविद्यया कृतः।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते।। ५२।।

पूर्व में (श्लोक. २५) कही अविद्या से ही यह तादात्म्य-अध्यास (एकता का भ्रम) किया गया है। अविद्या सर्वथा दूर होने पर उसका कार्य (यह अध्यास) सर्वथा मिट जाता है।

श्लोक १० में तथा श्लोक २५ में अविद्या बता चुके हैं। अविद्या की आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। विक्षेप से अध्यास, भ्रम संपन्न होते जाते हैं। स्वयम्-अहम् को एक ही समझना—यह जो तादात्म्य का भ्रम, यह भी अविद्या का प्रभाव है। 'तादात्म्य' कहकर स्पष्ट किया कि खुद-मैं में हमें भेदघटित कोई सम्बंध नहीं प्रतीत होता वरन् सर्वथा एकता भासती है जैसे 'यह-चाँदी' में सर्वथा एकता प्रतीत होती है। आत्मसाक्षात्कार से अविद्या मिटने पर ही यह तादात्म्य या खुद-मैं का अभेद-निश्चय दूर होता है। जीवभाव अर्थात् मैं-पना एवं कूटस्थ अर्थात् स्वयम्पना; इनमें जो ऐक्य अभी प्रतीत हो रहा है वह न होने पर इन का अंतर स्पष्ट हो जाता है। खास यही अंतर है कि कूटस्थ सत्य, अबाध्य है जबकि मैं (जीव) असत्य, बाध्य है। कूटस्थ वास्तव में अकर्त्ता-अभोक्ता होने पर भी जीव से (मैं, से) एकमेक होते कर्त्ता-भोक्ता बना हुआ है। अविद्या हटने पर इन्हें एक समझना समाप्त हो जायेगा। अविवेक के रूप में प्रकट होने से मूलाविद्या अविवेकरूप कही जाती है। विद्या से ही उसकी निवृत्ति संभव है ॥५२॥

अविद्यात्मक उपादान के बाध से उसके प्राथमिक कार्य तादात्म्याध्यास का समापन बताने पर प्रश्न होगा कि फिर अविद्योपादानक जगत् भी न बचने से जीवन्मुक्ति, ब्रह्मनिष्ठ से उपदेश-प्राप्ति आदि भी संभव कैसे? उत्तर देते हैं—

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते।। ५३।।

अविद्या से होने वाले आवरण और तादात्म्याध्यास विद्या से ही विनष्ट हो जाते हैं किंतु विक्षेप स्वरूपतः नष्ट होने के लिये प्रारब्ध-समाप्ति का इन्तजार करता है।

अविद्या आवरण करती है, आत्मा की अखण्ड अद्वितीय पूर्णता का भान नहीं होने देती तथा तादात्म्य कराती है अर्थात् कल्पित मैं को कूटस्थ आत्मा से एकमेक प्रतीत कराती है। विद्या से अविद्या हटते ही ये दोनों तो सर्वथा समाप्त हो जाते हैं, न यह लगता है कि अद्वितीय आत्मा की अखण्ड पूर्णता का भान नहीं और न 'मैं' 'स्वयम्' से अभिन्न प्रतीत

होता है। विद्वान् को 'मैं' में आत्मबुद्धि नहीं होती जैसे हमें प्रतिबिम्ब में मैंपना नहीं लगता। इन दो से अतिरिक्त आकाशादि सारा संसाररूप विक्षेप प्रतीत भले ही हो, उससे विरोध नहीं। अतः जीवन्मुक्ति आदि संगत हो जाती है। सोपाधिक भ्रमों में स्वतः भान रहना तथा भ्रमरूपता न रहना प्रसिद्ध हैं। आकाश नीला दीखता है—यह हुआ नीलिमा का स्वरूपतः रहना। जानकार को मालूम है कि आकाश नीला है नहीं—यह हुआ भ्रम मिट चुकना। इसी प्रकार संसार-रूप विक्षेप स्वरूपतः भासता है प्रारब्धरूप उपाधि रहते, तथापि न वह सत्य लगता है, न उसमें आनंद प्रतीत होता है और न 'मैं' से स्वयं की एकता भासती है—मैं-स्वयं का जो तादात्म्याध्यास अभी प्रतीत हो रहा है, यह नहीं रहता। आकाशादि भूत-भौतिक जगद्रूप विक्षेप प्रारब्ध-पर्यन्त प्रतीत होता है किन्तु तादात्म्यभ्रम नहीं प्रतीत होता है। आवरण और तादात्म्याध्यास, इनके अलावा जो नाम-रूपात्मक प्रपंच वह भासता रह जाता है। शरीर-मन भी उसी तरह प्रतीत होता है, उसमें आत्मबुद्धि नहीं होती। आहार्य के रूप में आभास भी प्रतीत होकर सजीव-निर्जीव का भेद उपपन्न कर देता है। 'नहीं है' समझते हुए 'है'-व्यवहार करना आहार्य कहलाता है। मुक्त यों देहादि में आत्माभास का व्यवहार भी कर लेता है। इन सबकी प्रतीति प्रारब्ध-समाप्ति पर समाप्त होती है, केवल तत्त्वज्ञान से नहीं ॥५३॥

यद्यपि अविद्या ही प्रारब्ध का भी उपादान है तथापि अविद्या मिटने पर भी प्रारब्ध बच सकता है यह तार्किक-संमत व्यवस्था से संगत करते हैं—

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वद् अस्माकं किं न सम्भवेत् ॥५४॥

जैसे तार्किक कहते हैं कि उपादान (समवायी) कारण नष्ट हो चुकने पर भी कार्य एक क्षण इन्तज़ार करता है वैसे हमारी व्यवस्था क्यों संभव नहीं कि अविद्या मिटने पर भी प्रारब्ध रहता है।

जैसे तार्किक के अनुसार दो कपालों को मिलाकर घट बनाया, कपाल नष्ट होने पर भी घट नष्ट होने के लिये एक क्षण लेता है। कपालनाश क्योंकि घटनाश के प्रति हेतु है और हेतु को पूर्ववर्ती होना अनिवार्य है इसलिये कपालनाश वाले क्षण में कार्य जो घट उसे रहना पड़ेगा! कपालनाश होने पर अगले ही क्षण घट नष्ट हो सकता है, तभी घटनाश के प्रति उपादाननाश हेतु बनेगा। ऐसा तार्किक लोग मानते हैं। इसी प्रकार हमारे यहाँ भी अविद्या उपादान है, उसके नष्ट होने पर भी प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होता, यह संगत है। तार्किक की ओर से शंका मानकर उसके अनुसार समाधान दिया। सामान्य दृष्टि से सोपाधिक भ्रम अविद्या-निवृत्ति के बाद भी प्रतीत होते हैं यह समझना सरल है ॥५४॥

तार्किक कार्य-कारणभाव की अनुपपत्तिवश उपादानध्वंस-क्षण में कार्य-स्थिति मानता है, इतनेमात्र से दीर्घकालीन प्रारब्ध बचा रहना कैसे संगत? इसका उत्तर देते हैं—

तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः।
भ्रमस्यासङ्ख्यकालस्य योग्यःक्षण इहेष्यताम् ॥५५॥

धागे कुछ दिनों रहने वाले अतः तार्किकों ने उनके बिना कपड़े को अत्यल्प कालरूप क्षण तक रहने वाला कहा किंतु अनगिनत समय से रहे संसार भ्रम को कारणाभाववश दूर होने के लिये योग्य क्षण इस प्रसंग में स्वीकारा जाये।

तन्तु अर्थात् धागों का तथा उन्हें ताना-बाना बने कुछ दिनों का ही समय बीत पाता है क्योंकि प्राकृतिक तौर पर वे रह ही कुछ समय सकते हैं। सौ सालों से ज्यादा पुराने धागे कम ही मिलते होंगे। ऐसे धागों से बना कपड़ा यदि क्षणभर बिना धागों के रह सकता है तो अनादि काल से स्थित अज्ञान का कार्य जगत् अज्ञान के बिना कुछ वर्ष (प्रारब्धपर्यंत) रहे तो क्या आश्चर्य है! क्षण आदि काल-खण्ड सापेक्ष माप के होते हैं जैसे मानुष वर्ष और दैव वर्ष के माप भिन्न हैं। आधुनिक कालविचारक भी समय की सापेक्षता मानते हैं। लोक में भी अतिशीघ्र कर्त्तव्य कार्य में—जैसे शल्य करते हुए—किसी प्रक्रिया को 'क्षण' भर के लिये रोकें तो प्रायः दो-तीन सैकेंड ही रोकते हैं जबकि दीर्घकालीन कार्य में, जैसे मकान बनने में क्षणभर के विलंब का मतलब हफ्ता-दस दिन का विलम्ब हो जाता है। सन्दर्भानुसार क्षण-मिनट आदि समझने पड़ते हैं। इसी तरह अनादि जगत् भ्रम भी अपने हिसाब से तो बिना अविद्या के 'क्षण'भर ही रहता है भले ही सूर्य-चंद्र की दृष्टि से अस्सी-सौ साल (विद्वान् के प्रारब्ध पर्यन्त) रह जाये। यद्यपि टीका में सरलता के लिये कुम्हार के चक्के का उदाहरण दिया है कि चलाना छोड़ने पर भी कुछ समय चक्का घूमता रहता है—या बिजली बंद करने पर भी पंखा चलता रहता है—तथापि वह बिना प्रकट निमित्त के ही कार्य की अवस्थिति में दृष्टांत है, उपादानभूत चक्र, पंखा तो होता ही है। मुख्य तात्पर्य आवरण के बिना विक्षेप-उपलब्धि को संभव समझाने में है। मुक्त का प्रारब्धपर्यन्त चिदाभास भी यथाप्रतीति रह जाता है, उसमें सत्यत्व या स्वयन्त्वका निश्चय नहीं रहता जिससे मुक्त को 'अहं' सुखी-दुःखी दीखने पर भी 'स्वयम्' वह सुखी-दुःखी नहीं होता। सर्वत्र सोपाधिक भ्रमों में ऐसा मिल जाता है। बहुधा जिस रोगी की टाँग कट गयी उसे भी पाँव के तले में खुजली का अनुभव होता है! रस्सी की राख में ऐंठन देखकर रस्सी की प्रतीति हो जाती है। अतः उपादान अज्ञान के बाध के अनन्तर प्रारब्धरूप उपाधिवश प्रपंच-प्रतीतिरूप विक्षेप संभव ही है तथा विद्वानों का अनुभव है और 'ब्रह्मनिष्ठ से श्रवण करना चाहिये' इस विधि के अनुकूल है अतः स्वीकार्य है ॥५५॥

यद्यपि कारणनाश को कार्यनाश के प्रति हेतु मानने के आग्रहवश युक्तिविरुद्ध भी बिना उपादान के कार्य का रहना तार्किक को बलात् स्वीकार्य है तथापि उस असंगत उदाहरण से

वेदान्ती अपनी स्थापना को संगत कैसे सिद्ध कर रहा है? इसके उत्तर में वेदान्ती का मानना प्रामाणिक होने से संगत बताते हैं—

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम्।। ५६।।

विचारानुसारी प्रमाण के बगैर तार्किक व्यर्थ कल्पना करते हैं (यह ठीक है) लेकिन श्रुति-युक्ति-अनुभूति के आधार पर बोलने वाले वेदान्ती के लिये विक्षेप-प्रतीति स्वीकारना क्या कठिन है!

कारण के न रहने पर भी कार्य रहे यह बात विचार से कभी संभव नहीं लगती। यह 'क्षोद' अर्थात् परीक्षा में खरी उतर सके ऐसी बात नहीं है, इसे विचार से सहन नहीं किया जा सकता है। फिर भी अपनी स्थापनाओं के अनुकूल ऐसा उन्होंने मान लिया जो वृथा कल्पना है। स्वकल्पित नियमों में बँधकर उन्हें मानना पड़ा। लेकिन वेदान्ती ने अपने मन से नहीं माना। श्रुति, वेद कहता है 'तस्य तावदेव चिरम्' कि उसको ज्ञान होने के बाद, बस इतनी ही *देरी* है, जब तक शरीर गिर नहीं जाता। उसके *बाद* वह स्वरूप में स्थित है। श्रुति कहती है कि ज्ञान के बाद भी इतना विलम्ब तो लगता ही है अतः ज्ञान और विलंब का साथ रहना वेदसंमत है। इसमें युक्ति भी मिलती है कि भ्रमसिद्ध प्रतीतियाँ कारणीभूत अज्ञान के बिना भी बनी रहें तो अनुपपत्ति नहीं। सत्य कार्य के लिये बिना उपादान रहना यदि असंभव हो तो भी मिथ्या कार्य के लिये असंभव नहीं। बिना उपादान भी कार्य रहे तो हानि क्या?—ऐसा यदि वेदान्ती पूछे तो क्या उत्तर दिया जा सकता है! सत्य कार्य-कारणों के नियम असत्य कार्य-कारणों पर लागू होते नहीं। अतः बिना आवरण के विक्षेप मानने में युक्ति-विरोध नहीं है।

जैसे चाक चलाने वाली कुम्हार की क्रिया के बंद हो जाने पर भी, संस्कार से चाक चलता रहता है इसी प्रकार इस संसार चक्र को चलाने वाली अविद्या न रहने पर यह भी चल सकता है। अविद्या के कारण चिदाभास को अपना स्वरूप मानकर जो होता है 'वह मैंने किया'—ऐसा भ्रम करते हैं। जिससे 'मैं इसका फल पाऊँगा' यह भी भ्रम होता है। इसी से राग, द्वेष की प्राप्ति होकर कार्य करते रहते हैं, और संसार चक्र चलता रहता है। संसार चक्र को चलाने वाला यह भ्रम ही है। 'मैं कर्त्ता, भोक्ता' यह भ्रम संसार चक्र को चलाता है। ज्ञान हुआ तो संसार चक्र को चलाने वाली अविद्या नहीं रही, फिर भी उसका संस्कार रह गया। जब तक वह संस्कार समाप्त नहीं होता है तब तक शरीर मन आदि के कार्य होते रहते हैं। श्रुति-युक्ति के साथ तीसरा आधार ज्ञानियों का अनुभव भी है। जहाँ जीवन् मुक्ति का प्रकरण आता है, वहाँ भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'अपि च, नैवाऽत्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित् कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियते—इति; कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययवेद्यं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चाऽपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत! श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते। (ब्र.सू.४.१.१६)' इस बारे में ज़्यादा विवाद नहीं करना चाहिये। एक मनुष्य अपने हृदय में

जानता भी है, 'मैं इंद्रियों के द्वारा देखने वाला नहीं हूँ, मन के द्वारा सोचने वाला नहीं हूँ', जानते हुए भी मन के द्वारा सोच रहा है, इंद्रियों के द्वारा विषय-व्यवहार कर रहा है! ये हृदय में होने वाली दोनों विरोधी अनुभूतियाँ होती हैं, यह विद्वान् का अनुभव है। अनुभव संस्कार के आधार पर बनेगा, अन्यथा नहीं अर्थात् अविद्या के संस्कार से उक्त अनुभव की उपपत्ति है।

दीर्घकालिक अभ्यास छूटने में समय लगता ही है। राजाओं को सेवकों का अभ्यास रहता है तो राज्य छिन जाने पर भी कुछ समय सेवक की तलाश रहती है। एक कथा है कि किसी राजा के दरबार में नृत्य-गान के कार्यक्रम को देखने आये लोगों में से एक पर राजा का ध्यान गया तो उसने सेवकों से कहा 'कार्यक्रम के बाद इसे रोकना, इससे बात करनी है।' राजा को लगता था कि वह भी कोई राजा है। बाद में राजा ने उससे पूछा 'सच बतलाओ, तुम कौन हो, कहाँ के राजा हो?' उसने कहा 'आपको कैसे मालूम है कि मैं राजा हूँ?' राजा ने कहा 'नृत्य-गान के समय तुम्हारा हाथ पान का बीड़ा लेने बार-बार पीछे जाता था जैसे राजाओं को आदत होती है। तुम्हारा वह अभ्यास तुम्हारी राजसी स्थिति को प्रदर्शित करता है।' तब उसने माना वह राजा है। ठीक इसी प्रकार से ज्ञानी निश्चित रूप से जानता है, 'मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ। यह जगत् सत्य नहीं है।' यह जानते हुए भी संस्कारवश उसका शरीर-मन क्रिया कर लेता है। इस प्रकार तार्किक-मान्यता का दृष्टांत ही नहीं, श्रुति-युक्ति-विद्वदनुभव के बलपर बिना आवरण के विक्षेप स्वीकार है यह निर्धारित हुआ ॥ **५६॥**

अहन्ता-स्वत्व का भ्रम अविद्या से है—इस प्रसंग में बिना अविद्या भी विक्षेप रहना उपपन्न किया। अब मूल विषय पर लौटते हैं—

आस्तां दुस्तार्किकैःसाकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे।
स्वाऽहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥५७॥

कुतार्किकों से विवाद रहने दिया जाये, जिसका प्रसंग चला है उसी पर आगे बताते हैं। (अभी तक) सिद्ध हुआ कि कूटस्थ 'स्वयम्' और परिणामी अहम् की भ्रम से एकता है।

अनुभव और प्रमाण से विरुद्ध सम्भावनाओं को यौक्तिक रूप में उपस्थित करना कुतर्क है। श्रुति-प्रमाण तथा विद्वानों का अनुभव, दोनों के विरोध में उठा होने से विद्वान् का सविक्षेप अस्तित्व नकारना कुतर्क है। किं च, आपाततः केवल विक्षेप-सद्भाव आक्षेप प्रतीत होता है जबकि अन्तर्निहित ज्ञान की असंभवता है : ब्रह्मनिष्ठ उपदेश दे इसके लिये उसे जीवित एवं शिष्यादि-भेद का द्रष्टा होना पड़ेगा। यदि जीवनादि विक्षेप तत्त्वज्ञान के साथ न रहे तो गुरु असंभव होने से किसी को भी तत्त्वसाक्षात्कार हो नहीं सकता अतः ऐसे असम्पाद्य ज्ञान के लिये शास्त्र श्रवणादि का विधान कर नहीं सकता। फलतः शास्त्र का तात्पर्य ही कुछ और बताने में है, ब्रह्म की अद्वितीय सत्यता, जगत् का मिथ्यात्व बताने में नहीं। यों भेद-सत्यता, जीव का विकारित्व आदि सिद्ध करने के छिपे उद्देश्य से विद्वान् के विक्षेप पर आक्षेप होने से उसे कुतर्क कहा।

प्रकरण चल रहा था कूटस्थ और अहं का। कूटस्थ वह जो कभी बदलता नहीं। परिणामी वह जो बदलता रहता है। चिदाभास परिणामी है, बदलता रहता है; अभी मैं सुखी, फिर मैं दुःखी, कभी सर्दी तो कभी गर्मी भोग रहा हूँ। कभी सम्मानित हूँ कभी अपमानित हूँ। इस तरह मैं परिणामी है। कूटस्थ कौन है? 'स्व', स्वयम् कूटस्थ है। और अहंकार, मैं परिणामी है, बदलता रहता है। इन दोनों की एकता भ्रांति से ही सिद्ध है। दोनों की एकता हो नहीं सकती पर भ्रमसिद्ध है। अध्यास का विचार ही वेदान्त का सबसे कठिन पर ज़रूरी हिस्सा है। इसलिये आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ में सबसे पहले अध्यास की सिद्धि की। अन्य वादी कहते हैं कि सर्वथा मिथ्या का अध्यास अर्थात् भ्रम नहीं है इसलिये मानते हैं कि आत्मा सचमुच कर्त्ता-भोक्ता ही है, क्योंकि ऐसा ही अनुभव में आ रहा है। वेदांती कहता है कि आत्मा ऐसा भले ही अनुभव हो रहा है पर ऐसा है अज्ञान से। अज्ञान के कारण कूटस्थ और परिणामी में, स्वयम् और अहम् में एकता प्रतीत है। इस प्रसंगानुसारी बात को ही आगे चलाते हैं ॥५७॥

स्वयम् मैं का अभेद मिथ्या है तो कोई भी ऐसा समझता क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं–

भ्राम्यन्ते पण्डितम्मन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात् केवलां युक्तिमाश्रिताः।। ५८।।

सामान्य लोग एवं विभिन्न संप्रदायानुसार विचार करने वाले वे सभी जो मूर्खतावश श्रुति की उपेक्षा कर केवल युक्ति का सहारा लेते हैं और स्वयं को पण्डित मान बैठते हैं, (इस बारे में) भ्रम में पड़ते हैं।

'पंडित'-शब्द का अर्थ करते हुए भाष्यकार ने कहा है : पंडा अर्थात् आत्मबुद्धि जिसमें हो वे पंडित हैं 'पण्डाऽऽत्मविषया बुद्धिर्येषां ते हि पण्डिताः' (गीता. २.११)। जिनको आत्माका ज्ञान नहीं है वे पंडित नहीं हो सकते, आत्मज्ञानी ही पंडित है। लोक में सभी ब्राह्मणों को पंडित कह देते हैं। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी मैडिकल कालेज में भर्ती विद्यार्थी को भी लोग 'डाक्टर साहब' कह देते हैं! इसी प्रकार मनु इत्यादि आचार्यों के द्वारा यह स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मण शरीर की जो प्राप्ति है वह संसार की किसी कामना की पूर्ति के लिये नहीं है। महर्षि पतंजलि भी इसीलिये कहते हैं कि ब्राह्मण को बिना किसी कारण के वेद पढ़ना चाहिये।

मनु कहते हैं कि ब्राह्मण का शरीर आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये ही मिला है। गीता में भी भगवान् ने ब्राह्मण के सब कर्म आत्मज्ञान के साधन ही बतलाये हैं। जो ब्राह्मण शरीर में पैदा हो गया वह आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न कर रहा है यह मानकर उसे पंडित कह दिया जाता है। वस्तुतः आत्मज्ञान जिसमें है, वह पंडित होता है। कुछ लोग पण्डितंमन्य अर्थात् बिना पंडित हुए खुद को पण्डित मानते हैं। आत्मज्ञान तो नहीं है, कुछ और विषय पढ़ लिये, उस अनात्मज्ञान को ही पंडित होने के लिये पर्याप्त समझते हैं। शास्त्र की दृष्टि में तो आत्मा को ही जानने वाला पंडित है।

पण्डितंमन्य दोनों तरह के हैं : कुछ तो लौकिक हैं। अनेक लौकिक विषयों को जानने वाले लोग भी अपने को पंडित मानते हैं। दूसरे तैर्थिक हैं; आस्तिक-नास्तिक दर्शन समझने वालों ने चाहे ग़लत ही पर आत्मा के विषय में कुछ विचार किया है। 'तीर्थ' कहते हैं 'मार्ग' को, तैर्थिक अर्थात् रास्ते पर तो आये हैं, पहुँचे नहीं हैं। लौकिक वे हैं जो आत्मविचार के रास्ते पर ही नहीं हैं। चाहे लौकिक हों या तैर्थिक पंडितंमन्य होने से भ्रम में पड़ते हैं। क्यों? क्योंकि श्रुति का अनादर करते हैं। जो अतीन्द्रिय विषय होता है, उसको जानने के लिये अतीन्द्रिय-विषयक प्रमाण की ज़रूरत है। जिस प्रकार से देखने के लिये आँख की ज़रूरत है, सुनने के लिये कान की ज़रूरत है उसी प्रकार आत्मा समझने के लिये शास्त्र की जरूरत है। तुम लाख प्रयत्न करके भी आँख से सुन और कान से देख नहीं सकते! जो लोग कहते हैं कि वेद को छोड़कर किसी दूसरे प्रमाण से आत्मा का पता लगे, उनके लिये सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि वे लोग वैसे ही हैं जो कहें कि 'हमें जब तक नाक से सूर्य नहीं दीखेगा तब तक हम नहीं मानेंगे!' इसी प्रकार वे लोग हैं जो कहते हैं कि श्रुति को छोड़ करके किसी और तरह से हमें आत्मा के विषय में समझाओ! और कोई प्रमाण उसको बता ही नहीं सकता है।

अतः ये मूर्खता से श्रुति का अनादर करते हैं। श्रुति स्पष्ट कहती है कि कोई भी व्यक्ति मंत्र को बनाने वाला नहीं है। लेकिन मूर्खतावश लोग कहते हैं कि श्रुति के वाक्य अन्य वाक्यों के समान ज़रूर किसी ने बनाये होंगे! यही मूर्खता है। कोई कहे कि हर कमरे को बनाने वाला राज-मिस्त्री होता है, गुफा भी रहने का कमरा है, अतः ज़रूर किसी राज-मिस्त्री ने ही बनाया होगा! तो यही मूर्खता है। इसी प्रकार अन्य शब्द-क्रम तो लोग बनाते हैं परन्तु श्रुति का शब्द-क्रम किसी का बनाया हुआ नहीं है फिर भी पंडितंमन्य लोग श्रुति का अनादर कर केवल युक्ति से ही सोचना चाहते हैं। युक्ति का आधार अनुभव होता है। अनुभव हमें इंद्रिय-विषयों का ही है। अतीन्द्रिय विषय का अनुभव है नहीं तो उसके विषय में युक्ति लगेगी कैसे? कूटस्थ-जीव की भ्रान्ति-सिद्ध एकता को ही वे जानते हैं तो उसी के अनुसार युक्ति भी लगाते हैं। जो जिसके योग्य उपाय नहीं उससे उसे समझने का प्रयास करने वाले होने से ऐसों को मूर्ख कहा ॥५८॥

किंतु श्रुतिचिंतक भी सब उक्तविध आत्मस्वरूप के बारे में एकमत नहीं हैं! इसका हेतु बताते हैं—

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन।
वाक्याभासान् स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया।। ५९।।

श्रुतिसंदर्भों में आगे-पीछे का अनुसन्धान न करने वाले श्रुतिविचारकों में भी कुछ ऐसे हैं जो बेशर्म होकर अपने-अपने पक्षके समर्थन में वाक्य की तरह प्रतीत होने वाले वचनों को जोड़ लेते हैं।

किसी भी ग्रंथ के पढ़ने के कुछ नियम होते हैं। जिस ढंग से आदमी लिखता है उस ढंग से उसका लेख समझने के लिये प्रयास करना पड़ता है। ऐसे ही वेद को समझने के भी नियम हैं। उक्त नियमों के बिना बाँचोगे तो अर्थ समझने में गड़बड़ी होगी। कोई मुसलमान नमाज़ नहीं पढ़ता था। मौलवी ने कहा 'नमाज़ पढ़ा कर।' उसने कहा कि 'कुरान में लिखा है कि नमाज़ नहीं पढ़नी चाहिये।' मौलवी ने पूछा 'यह कहाँ कुरान में लिखा है?' उसने झट पन्ना खोलकर दिखाया, जिस पर लिखा था 'नमाज़ मत पढ़।' लेकिन आगे ही था 'जब कि नापाक हो।' वे लोग हाथ उलटा धोते हैं, 'वजू करना' कहते हैं। जब तक वजू न कर लो तब तक नमाज़ नहीं पढ़ो। मौलवी ने कहा 'पूरा वाक्य तो पढ़।' उसने कहा 'सब हम ही थोड़े ही पढ़ेंगे!' इसी प्रकार से श्रुति के वाक्यों को आगे-पीछे विचार किये बिना पढ़कर अण्डबण्ड अर्थ करते हैं। यजुर्वेद में पंचकोषों को बतलाकर कहा कि इनका अतिक्रमण करने से वह परमात्मा अनुभव में आता है। कुछ लोग अन्नमय का वर्णन करके कहते हैं 'देखो, अन्नमय को आत्मा कह दिया न!' उनसे कहो 'आगे पढ़ो।' कहते हैं 'हम तो इतना ही मान लेते हैं।' कुछ अन्नमय, कुछ प्राणमय, कुछ मनोमय, कुछ विज्ञानमय में अटक जाते हैं। पहले क्या आया, बाद में क्या आया यों पूर्व और अपर विचार करने से विकल हैं, विचार नहीं करते हैं। अतः कुछ 'वाक्याभासों' की सहायता से स्वकल्पित अर्थ समर्थित करते हैं। वाक्य उसे कहते हैं जो किसी तात्पर्य का प्रतिपादन करने वाला शब्द-समूह होवे। श्रुति का तात्पर्य समझने के लिये नियम बताये गये हैं। उनके अनुसार ही वेद के तात्पर्य का निर्णय होता है। उपक्रम-उपसंहार, दोनों देखने पड़ते हैं, दोनों को मिलाना पड़ता है। जो बताना प्रारंभ किया, तदुपयोगी आवश्यक अन्य सब कहकर उसी मूल बात को बताकर समापन (उपसंहार) किया जाता है। इसी प्रकार जिस बात में श्रुति का तात्पर्य होगा, उस को श्रुति बार-बार भी कहेगी जैसे तात्पर्य वाली बात व्यक्ति बार-बार कहता है। किंच, जो बात कही गई है, वह और कहीं से जानी नहीं गयी हो तभी वास्तव में वह श्रुति का तात्पर्य हो यह स्वीकार है। जिस बात को हम दूसरे प्रमाणों से जानते हैं, उसे प्रसंगवश कह भी दिया जाता है लेकिन उसमें तात्पर्य नहीं होता। जैसे वेद में मंत्र आता है 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' ठंड की दवा आग है। पर यह तो हल चलाने वाला भी जानता है! अतः यह जब श्रुति कहेगी तो इतना ही बताने के तात्पर्य से नहीं कहेगी। जो हम जानते, जान सकते हैं उसका सहारा लेना, अनुवाद करना तो इसलिये कि तभी हमें समझ आयेगा, लेकिन ज्ञात या अन्य उपाय से ज्ञेय में वेद का तात्पर्य नहीं होता। ऐसे ही जो बात वेद तात्पर्य से कहता है उसमें कुछ फल होता है। जिस बात का कोई फल नहीं उसे वेद नहीं बताता। श्रुति ऐसी किसी बात को नहीं कहेगी जिसका कोई फल नहीं। जिस बात में उसका तात्पर्य होगा, उसकी श्रुति प्रशंसा करेगी और उससे विपरीत बात की निंदा करेगी। युक्ति से भी समझायेगी कि ऐसा क्यों है। ये छहों चिह्न श्रुति-सन्दर्भ में देख कर वाक्य के तात्पर्य का निश्चय किया जाता है।

इस सबके बगैर किसी वाक्य को उठाकर स्वस्वीकृत तात्पर्य के अनुकूल उद्धृत कर देने को कहते हैं वाक्याभास। श्रुति का वचन तो है, पर श्रुति उस से वह अर्थ कहने में तत्पर नहीं है। जैसे श्रुति ने कहा कि जगत् उत्पन्न होने से पहले एकमात्र परमात्मा था। उसके बाद कहा—'कुछ लोग कहते हैं कि पैदा होने से पहले कुछ नहीं था।' असद्वादी इसी को कहते हैं कि 'वेद में कहा है कि पैदा होने से पहले कुछ नहीं था'! आगे ही श्रुति ने कहा 'पर ऐसा हो नहीं सकता। कुछ नहीं है से कुछ पैदा नहीं हो सकता।' फिर भी कुछ लोग केवल वाक्याभास को ही लेते हैं। ऐसा क्यों? हमने जो पक्ष मान रखा है उसको सिद्ध करने का जब आग्रह, मोह होता है तब ऐसे गलत उपायों का सहारा ले लेते हैं। आजकल यह रोग बहुत हो गया है। गीता के किसी श्लोक को उठाकर कह देंगे 'देखो, भगवान् ने भी ऐसा कहा है।' वहाँ किस तात्पर्य से कैसे कहा है, इस सबका विचार नहीं करेंगे। यों वेद भी अपने-अपने पक्ष में लगा लेते हैं। जिन्हें मालूम भी है कि आगे-पीछे दूसरी बात है, वे भी बेशर्म होकर ऐसा करते हैं। अधिकतर लोगों ने वेद पढ़े नहीं हैं, अतः उनको तो पता ही नहीं लगेगा। आजकल प्रचारकों का ढंग भी ऐसा हो गया है कि प्रवक्ता से प्रश्न नहीं कर सकते! अतः श्रोता संदर्भादि-विषयक जिज्ञासा भी न कर पाने से यथाश्रुत मानकर भ्रम में पड़ जाता है। पुरुषार्थी को चाहिये कि अध्येय ग्रंथ को विधिवत् पढ़कर साधना में संलग्न हो ॥५६॥

ऐसे निर्लज्जों में कुछ लोकायतादि के मत दिखाते हैं—

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः।। ६०।।

प्रत्यक्षतुल्य ज्ञान पर निर्भर लोकायत व पामर कूटस्थ से शरीरपर्यन्त संघात को आत्मा बताते हैं।

कूटस्थादि, इसमें कूटस्थ को नहीं लेना है। दोनों तरह से 'आदि' का प्रयोग होता है : जिससे आदि या प्रारंभ करते हैं उस समेत भी विवक्षा होती है, उसे छोड़कर भी विवक्षा होती है। कूटस्थ तो आत्मा है ही, परंतु वे उसको छोड़कर, आगे जितने हैं उनके संघात को आत्मा कहते हैं। अथवा, 'कूटस्थादि' में कूटस्थ का भी ग्रहण करना हो तो तात्पर्य है कि स्वप्रकाश प्रत्यक् होने से अनवरत भासमान का परित्याग असंभव है पर उसकी वास्तविकता जाने बिना भी जब संघात कहते हैं तब वह छूट नहीं जाता। इस अभिप्राय से उनका कहना होता है कि कूटस्थ भी एक अंग हो सकता है इस शरीर-पर्यन्त संघात का। शुद्ध कूटस्थ ही आत्मा है ऐसा वे नहीं कहते। लोकायत अर्थात् लौकिक प्रमाणों को ही जो सही मानते हैं। पामर अर्थात् वे जो प्रमाण आदि का कुछ भी विचार नहीं करते। अविचारशील लोग आपात प्रत्यक्ष का आश्रय करते हैं। अतः उनके द्वारा आश्रित प्रत्यक्ष भी कैसा है? 'प्रत्यक्षाभास'। वेद तो कहता है कि प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष एक परमेश्वर ही है। सचमुच में तो एक ही

चीज़ अपरोक्ष है—परमात्मा। बाकी सब चीज़ों को हम किसी अन्य माध्यम से जानते हैं। रूप को आँख के माध्यम से, शब्द को कान के माध्यम से, जानते हैं। उन्हें बिलकुल प्रत्यक्ष तो नहीं जानते अतः वे परोक्ष ही हैं। कुछ चीज़ों को मन के द्वारा जानते हैं। हम समझते हैं 'मैंने खुद उस आदमी को देखा था' किन्तु *खुद* तो नहीं देखा था, आँख के द्वारा देखा था। खुद अपने खुद को जब जानते हैं तब उसके लिये दूसरे साधन की ज़रूरत नहीं है। इसलिये श्रुति कहती है कि एकमात्र ब्रह्म ही सच्चा अपरोक्ष है, बाकी सब परोक्ष है। परन्तु ये लोग लौकिक प्रत्यक्ष को ही समझकर जो चीज़ इंद्रियों से जानी जाती है उसी का भरोसा करते हैं। सचमुच में तो प्रत्यक्ष, विचार से आभास ही सिद्ध होता है। जो चीज़ जैसी नहीं है वैसा उसको 'प्रत्यक्ष' दिखा देता है। जैसे दीवाल ठोस दीखती है। वैज्ञानिक बताता है कि इसमें बहुत पोल है! कील ठोकने से भी पता लगता है पर आँख से ठोस दीखती है अतः यह प्रत्यक्षाभास ही है। यों लौकिक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास सिद्ध हो जाता है क्योंकि जैसा हम देखते हैं, वैसा होता नहीं है। ऐसे प्रत्यक्ष का सहारा लेकर ही तो लोग आत्मा को संघातरूप मान बैठते हैं। आभास से प्रतीत होने के कारण संघात की आत्मता प्रातीतिक ही हो सकती है किन्तु वे इसे ही पारमार्थिक मान लेते हैं अतः धोखा खाते हैं **॥६०॥**

यद्यपि वे स्वमत स्वीकारते तो प्रत्यक्षाभास से हैं तथापि विद्वत्समाज में गिना जाने के लिये या आस्तिक अल्पज्ञों को भ्रम में डालने के लिये वाक्याभास भी उद्धृत करते हैं, यह सावधान करते हैं—

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे।। ६१।।

श्रुति को असंमत भी अपने पक्ष को श्रुतिसम्मत दिखाने के लिए वे प्रमाणरूप से अन्नमयकोश-बोधक वाक्य को, विरोचन की समझ को सप्रतिज्ञ उद्धृत करते हैं।

'हमारा पक्ष भी श्रुति के अनुकूल ही है, श्रुति ही ऐसा कहती है' यों वे अपनी मान्यता पर वेद का ठप्पा लगाते हैं। यदि साधारण वैदिक को कहा जाता है कि 'यह श्रुति का मत है' तो वह प्रायः उसके बारे में युक्ति से विचार नहीं करता है। जिस वातावरण में लोकायत थे उस में वैदिक ही प्रधान थे। अतः 'मुख्य धारा' से जुड़ने के लिये न चाहकर भी अपना मत वेदानुकूल दिखाना पड़ता था। अतः वाक्याभास के सहारे कहते हैं कि 'यह वेदवचन हमारे पक्ष को ही सिद्ध करता है'। वे श्रुति समझकर पक्ष ग्रहण करते होवें, ऐसा नहीं है, अपने पक्ष को 'श्रुति के द्वारा कहा गया' ऐसा बताना ही चाहते हैं। श्रुति में अन्नमयकोश कहा तो है ही इसलिये 'अन्नमयकोश को श्रुति ही आत्मा कह रही है' यह बोलना संभव है। तैत्तिरीय उपनिषत् में अन्नमय को आत्मा कहा है। वह वचन उनको मिल जाता है। ऐसे ही विरोचन का सिद्धान्त सामवेद की छांदोग्योपनिषत् में है। ब्रह्मा जी के पास विरोचन

आत्मविद्या सीखने के लिये गया। जो सिखाया वह तो समझा नहीं, उसका उल्टा अर्थ उसने लगा लिया! उसने सिद्धान्त बनाया 'खाओ, पियो, मज़े से रहो, और मरने के बाद शरीर का खूब श्रृंगार करो'। विरोचन जिस बात को मानता था उसी को वे सिद्धांत समझते हैं! वेद ने तो नासमझी दिखाने के लिये विरोचन का उल्लेख किया, सही समझ इंद्र को मिली यह विस्तार से बताया, किन्तु जिन्हें पहले प्रत्यक्षाभास आदि से मतनिर्णय कर केवल मोहर लगाने के लिये वेदवचन चाहिये वे ऐसे स्थलों को ही प्रमाणरूप से उपस्थित कर देते हैं और विचार में असमर्थ आस्तिक भ्रम में पड़ जाते हैं।। ६१।।

क्योंकि विचारशील न होने से लोकायत प्रतिज्ञा ही कर पाते हैं, उपपादन नहीं, इसलिये अन्य लोकायत उनकी मान्यता की काट भी करते हैं—

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्याऽत्र दर्शनात्।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे।। ६२।।

जीवात्मा निकल जाने पर देह की मृत्यु सर्वत्र देखी जाती है अतः आत्मा देह से अलग ही है—ऐसा अन्य लोकायत कहते हैं।

मृत्यु लोकसिद्ध अनिवार्य घटना है। लोकायतों में कुछ ने इसे महत्त्व दिया तो कहा कि जिसके रहने-न रहने से जीवन-मरण होता है उसे आत्मा समझा जाये। यदि देह ही आत्मा हो तो 'मरा' क्या? शरीर तो यहीं पड़ा रहता है। वे वेद में उन वचनों को ढूँढ लेते हैं जो मृत्यु पर जीव का जाना बताते हैं। वृक्ष का उदाहरण लेकर छान्दोग्य में (६.११.२) कहा 'यदेकां शाखां जीवो जहाति, अथ सा शुष्यति। जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते'। इसी तरह बृहदारण्यक में (४.४.२) कहा 'एष आत्मा निष्क्रामति'। इन सब को उद्धृत कर वे कहते हैं, संघात नहीं वरन् मरते समय इससे निकलकर जाने वाला आत्मा है। क्योंकि ये भी लोकायत हैं इसलिये व्यापक नित्य चित्तत्त्व को नहीं, किसी जाने-आने वाले को ही आत्मा मानते हैं। संघातात्मवादी तो मानता है कि अनुकूल सन्तुलन रहते देहादि 'जीवित' और सन्तुलन बिगड़ने पर 'मृत' होता है, निकलकर जाने वाली कोई चीज़ नहीं जिसे आत्मा कहें। संघातभिन्न को आत्मा स्वीकारने वाले इसलिये 'शिक्षित चार्वाक' कहलाते हैं। ऐन्द्रिय अनुभव पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता—यह समझने से ही वे शिक्षित हैं। सन्तुलन बिगड़ने में भी हेतु होना चाहिये—इस आधार पर वे देहादि-भिन्न आत्मा मानते हैं।। ६२।।

चार्वाक होने से स्वमत अनुमान से समर्थित न कर सकने के कारण वे प्रत्यक्ष-विशेष का ही सहारा लेते हैं—

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताऽहन्धीर्देहातिरेकिणम्।
गमयेद् इन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः।। ६३।।

प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृत 'मैं'-ज्ञान शरीर से भिन्न इन्द्रियरूप आत्मा का ज्ञान कराता है। 'बोलता हूँ' इत्यादि अनुभवमूलक कथन से भी इंद्रियाँ आत्मा हैं यह पता चलता है।

यद्यपि अशिक्षित चार्वाक बहिरिन्द्रियों से अन्य प्रत्यक्षोपाय नहीं स्वीकारता तथापि शिक्षित 'मैं बोलता हूँ' आदि यथानुभव कथनादि की उपपत्ति के लिये अहन्धी अर्थात् विविध विशेषताओं वाले 'मैं'-निश्चय को भी प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकारता है। 'मैं बोलता हूँ' आदि बिना किसी माध्यम के होने वाला अनुभव है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान होना संगत है। इसके बलपर वह इंद्रियों को मैं समझने से इन्हें आत्मा स्वीकार लेता है। 'मेरा शरीर' आदि प्रयोग शरीर-भिन्न को 'मैं' बताता भी है। मैं से अन्य ही 'मेरा' कहलाता है। बोलना-देखना आदि इंद्रियाँ करती हैं और हम उन कार्यों के बारे में 'मैंने किया' समझते हैं अतः नतीजा निकलता है कि इंद्रियाँ मैं अर्थात् आत्मा हैं। यद्यपि 'मैं मोटा, मैं ब्राह्मण' आदि भी अभिमान होने से शरीर भी आत्मा होना चाहिये तथापि विचारकुशल न होने से ये चार्वाक उस अनुभूति पर ध्यान नहीं देते।। ६३।।

इन्द्रियात्मवादी से पूछें कि गोलकरूप इंद्रियाँ तो स्पष्ट ही जड हैं, सूक्ष्म वस्त्वन्तर को प्रत्यक्ष से मान नहीं सकते, तब इन्द्रियों को आत्मा कैसे स्वीकारें? तो 'वाक्याभास' के सहारे अपनी कल्पना स्थापित करता है—

वागादीनाम् इन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः।
तेन चैतन्यम् एतेषाम् आत्मत्वं तत एव हि।। ६४।।

श्रुतिप्रसंगों में वाक् आदि इंद्रियों का कलह सुना गया है जिससे अवश्य वे चेतन हैं, इसीलिये आत्मा हैं।

वेद में अनेक स्थलों पर इंद्रियों के आपसी कलह का उल्लेख है। प्रश्नोपनिषत् (प्र.२) कौषीतक्युपनिषत् (२.६), छान्दोग्योपनिषत् (५.१), बृहदारण्यक (६.१) आदि प्रसंग प्रसिद्ध हैं जहाँ इंद्रियों में 'कौन श्रेष्ठ?' को लेकर कलह हुई। प्रजापति ने इंद्रियों से ही कहा 'एक-एक कर शरीर छोड़कर जाओ, जिसके जाने से सबसे ज्यादा दुःख होवे, समझ लेना वही श्रेष्ठ है।' पहले वाणी गई। एक साल बाद आई तो देखा कि आदमी का काम वैसा ही चल रहा है जैसे गूँगों का गुज़ारा होता है। आँख को अभिमान था, वह गई, साल बाद देखा तो आदमी वैसा ही है जैसे अंधे होते हैं। कान गया, लौटकर देखा, आदमी का काम वैसा ही चला जैसे बहिरों का चलता है। एक-एक इन्द्रियों के जाने पर कोई अन्तर नहीं आया। मन जो इंद्रियों का राजा है, उसने सोचा 'मेरे जाने से सब समाप्त हो जायेंगे।' लौटकर आने पर देखा कि आदमी पहले से ज़्यादा स्वस्थ है! मन के बिना पागलों की तरह काम चला। पागलों को कोई चिंता नहीं होती अतः स्वस्थ, मोटे रहते हैं। अन्त में प्राण ने कहा 'अब मैं चलता हूँ'। उसके जाने पर शरीर की सारी नाडियाँ टूटने लगीं। इससे सभी ने समझ लिया कि प्राण ही श्रेष्ठ है। सभी ने प्राण से प्रार्थना की, कहा 'आप ही सबसे श्रेष्ठ हो।' अतः

यह प्रकरण है इन्द्रियों व मन की अपेक्षा प्राण की श्रेष्ठता बतलाने का। प्राण की ब्रह्मरूप से उपासना करना बतलाना है।

इसी सिद्धांत के अनुसार व्यासजी ने पुराण लिखे। जिस पुराण में जिस की उपासना का विधान करना था उसकी तो प्रशंसा की, और अन्यों को उससे हीन बतलाया। जो लोग पुराणों के इस तात्पर्य को नहीं समझते हैं वे बस उस प्रशंसा और उस निन्दा से भ्रम में पड़ जाते हैं कि सचमुच में उस उपाधि वाला हीन होगा। कुछ लोगों ने यह चेष्टा की कि कुछ पुराण सात्त्विक हैं, कुछ राजस और कुछ तामस हैं। पर विचार से ऐसा निर्णय होता नहीं। श्रुति ने जो इंद्रियों का कलह बतलाया, इंद्रियों की हीनता और प्राण की श्रेष्ठता बताई वह इसलिये कि प्राण की उपासना का विधान करना है। परन्तु शिक्षित चार्वाक इससे मतलब निकालते हैं कि ये सब लड़ाई करने वाले बतलाये हैं, चेतन ही लड़ते हैं, इसलिये इंद्रियाँ चेतन हैं, आत्मा हैं।। ६४।।

चार्वाकों में कुछ ने शरीर को तो अन्यों ने इंद्रियों को आत्मा माना। अन्यों ने कलहादि प्रसंगों में देखा कि श्रेष्ठता तो प्राण की बतायी है अतः वही आत्मा होना चाहिये। इंद्रियाँ हैं भी अनेक, क्या शरीर में एक-साथ अनेक आत्मा मानें अथवा सब इंद्रियाँ मिलकर आत्मा है यह मानें? दोनों स्थितियों में 'एक शरीर में अनेक आत्मा हैं' यह अनुभव संगत नहीं होता। अतः उन्हें जँचा कि प्राण आत्मा है। यह पक्ष रखते हैं–

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवम् ऊचिरे।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति।। ६५।।

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम्।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः।। ६६।।

प्राण ही आत्मा है मानने वाले हैरण्यगर्भ तो यों कहते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ न रहने पर गहरी नींद में (इन्द्रियाँ सोने पर भी) प्राण जगा रहता है। प्राण की श्रेष्ठता आदि वेद में भी सुनी गयी है। प्राणमयकोश भली-भाँति विस्तार से समझाया गया है। (अतः प्राण ही आत्मा है)।

हैरण्यगर्भ वे हैं जिन्होंने पहले निर्णय कर लिया है कि प्राण ही आत्मा है। आदमी गहरी नींद में सोता है तो इंद्रियाँ कोई काम नहीं करतीं, उनका तो लोप अर्थात् अदर्शन हो जाता है। परन्तु प्राण तब भी चलता देखा जाता है, तभी तक सब उसको जीवित भी मानते हैं। प्राण बंद हो जाने पर लोग मरा मान लेते हैं। इसलिये प्राण ही आत्मा है। प्राण चलते ही जीवित रहता है, प्राण निकलने पर मर जाता है। इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण की श्रेष्ठता भी श्रुति में बतलाई है। श्रुति में प्राणमय आत्मा को कहा ही है। शरीर से भिन्न अंदर रहने वाला प्राणमय है। प्राणमय कोश का श्रुति ने प्रपंचन किया कि प्राण ही इसका सिर है, अपान

दक्षिण पक्ष है, व्यान वाम पक्ष है, इत्यादि। विस्तार से श्रुति ने पाँच अंगों वाले प्राणमय का प्रतिपादन किया। पाँचों अंग प्राण की ही वृत्तियाँ हैं अतः ये पाँच पृथक् वस्तुएँ नहीं, वस्तु एक प्राण ही है जो आत्मा है ऐसा मान्य है।। ६५-६६।।

यद्यपि प्राण चलते रहते हैं तो क्योंकि आदमी ज़िन्दा है इसलिये कोई जलाता नहीं, पर ज़िन्दा होते हुऐ भी मरे हुऐ की तरह ही हैं! इसलिये गहरी नींद में या बेहोशी में तकिये से माला निकल जाने का भी पता नहीं चलता! प्राण के चलते ज़िन्दा तो है, पर जानता कुछ नहीं अतः मरे जैसा ही है। आदमी का दिमाग काम नहीं करे तो चेतना नहीं रहती है पर मशीनों को लगाने से प्राण चलता रहेगा। किन्तु क्योंकि उसे कभी चेतना आयेगी नहीं, जानेगा ही नहीं अतः प्राण चलने से भी क्या लाभ? इस तरह बिना जानने वाला जो प्राण है उसको आत्मा मानना ठीक नहीं। यह विचार करने वाले लोग कहते हैं—

मन आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः।
प्राणस्याऽभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः।। ६७।।

उपासनामें तत्पर लोग 'मन आत्मा है' ऐसा कहते हैं। प्राण भोक्ता नहीं यह स्पष्ट है इसलिये मन भोक्ता (अतः आत्मा) है।

जो उपासना को प्रधान मानते हैं वे कहते हैं कि ठीक उपासना करो तो ठीक उपास्य की प्राप्ति होकर सालोक्य, सामीप्य आदि मुक्तियाँ मिल जायेंगी। ये सब मुक्तियाँ किसको मिलेंगी? जानने वाले मन को ही मिलेंगी। इसलिये ये लोग कहते हैं कि मन ही आत्मा है। यह प्रसिद्धि भी है कि मन सुखी होता है तभी हरेक कहता है 'मैं सुखी'। मन के सुखी होने से अपने को सुखी मानता है। मन दुःखी होता है तो अपने को भी दुःखी मानता है अतः मन को ही अपना स्वरूप, अपना आत्मा मानता है। मन ही आत्मा है ऐसा हमारा रात-दिन का अनुभव है और सालोक्यादि मोक्ष मन को ही प्राप्त होगा। इसलिये कहते हैं 'जिसका मन जिसके पास है, वह उसी के पास है।' आबू में बैठे हुए भी यदि तुम्हारा मन दिल्ली की बात सोच रहा है तो तुम आबू नहीं, दिल्ली में हो। शकुन्तला और दुर्वासा मुनि का प्रसिद्ध दृष्टांत है ही। रामकृष्ण परमहंस पुजारी थे। देवी-मन्दिर की मालकिन आई, पूजा के लिये बैठी। रामकृष्ण ने देखा, उसे दो थप्पड़ मारे! कहा 'मंदिर में बैठकर मोचियों के यहाँ जाती है!' सबने सोचा रामकृष्ण की नौकरी गई। मालकिन ने बाहर आकर मैनेजर से कहा 'इनका वेतन बढ़ा दो और अतिरिक्त सुविधायें इनको दो।' सबको आश्चर्य हुआ। मालकिन ने कहा 'इन्होंने ठीक थप्पड़ मारा। मैं पूजा तो कर रही थी पर लड़की के लिये जूते की दुकान का विचार मन में आया। उसी समय पुजारी जी ने थप्पड़ मारा। मन से मोची को छू रही थी।' जहाँ तुम्हारा मन है, तुम भी वहीं हो अतः तुम या आत्मा मन ही है। और भी कारण बतलाते हैं; प्राण किसी चीज़ का भोग नहीं करता, सुख-दुःख का भोग प्राण को नहीं होता यह स्पष्ट ही है, जबकि मन भोक्ता है। जो कर्त्ता-भोक्ता हो वही आत्मा होना

चाहिये। प्राण भोक्ता है ही नहीं तो आत्मा कैसे? फलतः ये चार्वाक मन आत्मा है ऐसा स्वीकारते हैं।। ६७।।

अपने पक्ष में ये भी वाक्याभास उद्धृत करते हैं–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः।। ६८।।

मनुष्यों के बंधन और मोक्ष में कारण मन ही है। मनोमय कोश आत्मा वेद में सुना भी गया है इसलिये मन आत्मा है।

श्रुति (ब्रह्मबि.२) कहती है कि मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है। विषयों में आसक्ति होती है तब बंधन है। यदि मन निर्विषय हो गया, किसी विषय में उसको आसक्ति नहीं है, तो उसको कोई सुख-दुःख नहीं हो सकता, सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है। अतः बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है। जो मन को आत्मा मानते हैं वे उक्त श्रुति का ऐसा भाव कहते हैं। इस श्रुति ने मन को आत्मा कहा नहीं है! श्रुति केवल यह बतला रही है कि मन के द्वारा ही बंधन और मोक्ष का अनुभव होता है। इसका मतलब यह नहीं कि मन ही अनुभव *करता* है। जैसे 'जीभ स्वाद लेती है' कहना बनता नहीं है क्योंकि मुर्दे की जीभ में ऐसा नहीं होता! जैसे जीभ के द्वारा जो स्वाद लेता है वह आत्मा है, जीभ आत्मा नहीं उसी प्रकार कहा कि मन बंधन-मोक्ष का कारण है, उसका मतलब है कि आत्मा मन के द्वारा मोक्ष और बंधन का अनुभव करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मन का बंधन-मोक्ष है। तथापि क्योंकि चार्वाक को श्रुत्यर्थ से प्रयोजन नहीं वरन् निज मत में केवल श्रुतिसमर्थन का प्रदर्शन करना है, इसलिये वह उक्त वचन का ऐसा भाव निकालता है।

इसी प्रकार श्रुति में मनोमयकोष को बतलाया है। 'प्राणमयादन्योन्तर आत्मा मनोमयः' (तै.२.३) श्रुति ने प्राणमय के अंदर मनोमय प्रतिपादित किया है, उसे आत्मा भी कहा है। वे उतना ही उद्धृतकर मन को ही आत्मा मानते हैं। सामान्य व्यवहार में लौकिक व शास्त्रीय लोग भी मनआत्मता में ही अटके रहते हैं। मानस अनुभवों पर ही निर्भरता तभी संगत है जब मन में आत्मबुद्धि हो। अनेक ध्यानादि-पद्धतियों के प्रतिपादक शास्त्रों में मन की अवस्थाओं का विस्तार से विचार किया है उपासक-सम्प्रदाय ने। वे सब वास्तविक आत्मा की चर्चा न करके, मन के बारे में ही सारा विचार करते हैं। शरीर में भिन्न-भिन्न चक्रों में मन जाता है, वहाँ विभिन्न चीज़ों का अनुभव करता है इत्यादि ही उनके चिंतन का विषय है। वहाँ उन चीज़ों का अनुभव नहीं होता—यह हम नहीं कहते, परन्तु वह सारा अनुभव आत्मा से संबद्ध नहीं, मन का खेल है। लोक में भी कहते हैं 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।' महाराणा प्रताप मानसिंह से हार गये थे परंतु उनका मन नहीं हारा था एवं पुनः विजय प्राप्त की। पर मानसिंह मन से हार गया था अतः अकबर के आगे उसने समर्पण

किया। इसलिये लोकानुसार भी मन ही आत्मा है। भक्तिमार्गियों को मनआत्मवादी समझना चाहिये।। ६८।।

मन आत्मा है—यह बात बौद्ध लोग नहीं मानते—

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम्।। ६९।।

उक्त चार्वाकों से अन्य जो क्षणिकता पर आग्रही वादी हैं वे कहते हैं कि विज्ञान आत्मा है क्योंकि मन का मूल विज्ञान है यह स्पष्ट समझ आता है।

क्षणिकवादी बौद्ध लोग हैं। इनके अंदर सौत्रांतिक, वैभाषिक और विज्ञानवादी ये तीन हैं, तीनों क्षणिकवादी ही हैं। क्योंकि बुद्ध ने कहा था 'सर्वम् क्षणिकम् क्षणिकम्' इसलिये क्षणिकवाद सब बौद्धों को स्वीकार है।

बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का अनुभव किया था, 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, सर्वम् दुःखं दुःखम्, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्, सर्वं शून्यं शून्यम्' ये बुद्ध के चार मूल अनुभव थे। इन्हीं के ऊपर सारे बौद्धमत आधारित हैं। बौद्ध ऐसा कोई नहीं हो सकता जो सब चीज़ों को दुःखरूप न माने और क्षणमात्र-परिणामी न माने। इसलिये सभी बौद्ध क्षणिकवादी हैं। वे भक्तिमार्ग वालों से भिन्न हैं इसलिये 'परे' कहा। वे कहते हैं कि क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। क्षणिक विज्ञान अर्थात् बुद्धिवृत्ति। क्षण-क्षण में जो बुद्धि बनती है वही आत्मा है, मन आत्मा नहीं है। पहले विज्ञान, अर्थात् बुद्धि-वृत्ति बनती है, तब मन विषय को जानता है ।। ६९।।

'मन का मूल विज्ञान है यह स्पष्ट प्रतीत होता है' ऐसा कहा, किंतु हम लोगों को तो ऐसा लगता नहीं कि बुद्धि से मन उत्पन्न होता है! अतः विज्ञानवादी समझाता है—

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यन्तःकरणं द्विधा।
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत्।। ७०।।

मैं-वृत्ति और यह-वृत्ति, यों अंतःकरण दो तरह का है। मैं-वृत्ति विज्ञान है, यह-वृत्ति मन है।

अंतःकरण दो प्रकार का है, 'अहंवृत्ति' अर्थात् 'मैं' ऐसा जानते हैं, मैं-रूप से जानते हैं। और दूसरा प्रकार है इदंवृत्ति; इदम् मायने यह। 'यह' में सारा संसार आ गया। मैं से भिन्न जितना है वह 'यह' है। मैं जानने वाला और इदंवृत्ति वह जिसे जानता हूँ। अतः वे लोग अंतःकरण को दो प्रकार का मानते हैं। हम जिसको बुद्धि की अहंवृत्ति कहते हैं, उसीको वे विज्ञान कहते हैं। और 'यह' को मन की वृत्ति कहते हैं। हम लोग भी अहंकार बुद्धि के अंतर्गत कहते हैं, और इदंकारास्पद प्रपंच के संस्कारों वाले चित्त की वृत्ति को मन के अंतर्गत कहते हैं।। ७०।।

मन और विज्ञान में कार्य-कारणभाव का बौद्ध के अनुसार कथन करते हैं—

अहंप्रत्ययबीजत्वम् इदंवृत्तेरिति स्फुटम्।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित्।। ७१।।

इदंवृत्ति का बीज अहंवृत्ति है यह स्पष्ट इससे है कि स्वयम् को जाने बिना कभी बाह्य (अन्य) को कोई नहीं जानता।

पहले मैं का भान होता है, तब किसी बाह्य चीज़ का, यह का भान होता है। जानने वाले का भान हुए बिना, ज्ञेय का भान नहीं होता। यह सामान्य सिद्धान्त है कि नियम से जो पहले रहे वह कारण है। नियम से मैं पहले है और तब बाकी सब चीज़ें हैं अतः स्पष्ट है कि इदंवृत्ति का बीज, कारण अहम्-वृत्ति है। यह बात हर-एक को स्पष्ट अनुभव में आती है क्योंकि देखा जाता है कि अपने को जाने बिना, आत्मा को जाने बिना कहीं भी बाहर की चीज़ नहीं जानी जाती है। इसलिये अहम्वृत्ति अर्थात् विज्ञान, इदम्वृत्ति अर्थात् मन का कारण है। पहले मैं का भान होता है फिर और किसी चीज़ का भान होता है। 'मैं घड़े को जान रहा हूँ' अर्थात् पहले मैं को और तब घड़े को जान रहा हूँ, यों पहले मैं और तब घड़े का भान है। विज्ञानवादी बौद्ध इस विज्ञान को ही आत्मा कहता है।। ७१।।

अनुभव पर निर्भर कर बौद्ध उस विज्ञान को क्षणिक भी कहता है—

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मितौ यतः।
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः।। ७२।।

क्योंकि क्षण-क्षण में अहंवृत्ति के जन्म और नाश अनुभव में आते हैं इसलिये विज्ञान क्षणिक है एवं खुद से ही इसका भान हो जाता है इसलिये स्वप्रकाश है।

अहम्-वृत्ति हर क्षण पैदा और नष्ट होती है। बुद्ध भगवान् का अनुभव है 'सर्वं क्षणिकं, क्षणिकम्' इसलिये 'मैं' यह ज्ञान भी हर क्षण पैदा होता और नष्ट होता है। अर्थात् विज्ञान क्षणिक है। अनुभव ही प्रमाण है जिससे विज्ञान को क्षणिक ही मान सकते हैं। चूंकि इसकी प्रतीति खुद इसी से (विज्ञान से) होती है, इसलिये वह स्वप्रकाश है। विज्ञान को बौद्ध लोग स्वप्रकाश मानते हैं क्योंकि मैं के जन्म-नाश को जानने वाला मैं ही है, कोई दूसरा नहीं। बौद्धसंमत और वेदांतसंमत स्वप्रकाशता में अंतर यह है कि बौद्ध स्व में विषयता मानता है जबकि वेदान्ती नहीं मानता। क्षणिक और नित्य मानने से भी दोनों को स्वीकृत विज्ञान में महान् भेद है। बौद्ध स्व के नाश को कैसे जानता है—यह समझाने का उसके पास उपाय नहीं। फिर भी क्षणिक मानता है यह उसका दुराग्रह है।। ७२।।

आस्तिक को भी क्षणिकवाद जँचाने के लिये शास्त्र से विज्ञानवाद का समर्थन दिखाते हैं–

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः।। ७३।।

यह विज्ञानमयकोश जीव है ऐसा वेदों में कहा है। जन्म, मृत्यु, सुख आदि सारा संसार विज्ञान का ही है।

विज्ञान ही आत्मा है इस बात को वेदों ने भी प्रतिपादित किया है। तैत्तिरीयोपनिषत् के अनुसार विज्ञानमयकोश ही जीव है। 'मैं' इस अनुभव को करने वाला ही जीव है, यह वेद कहता है। तैत्तिरीय उपनिषत् (२.४) कहती है 'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' तथा 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (२.५) मनोमय के अंदर विज्ञानमय है जो आत्मा है इस प्रकार वेद ने भी कहा है। सारे शुभाशुभ कार्यों को करने वाला यह विज्ञान ही है। मैं ही यज्ञ का कर्त्ता यजमान हूँ। जब हम अपने को कर्त्ता-भोक्ता मानते हैं तब हमारी पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, सब कार्यतत्पर हो जाते हैं। अतः जैसे ही पता लगता है, 'मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं;' वैसे ही यह यज्ञ भी बन्द हो जाता है! विज्ञानमय का ही सारा संसरण है। यह कर्त्ता-भोक्ता बनता है तभी कर्मों के फल को देने के लिये परमेश्वर सारी सृष्टि करता है। प्रायः लोगों का प्रश्न होता है 'ईश्वर ने सृष्टि क्यों बनाई?' इसलिये बनाई कि तुम कर्त्ता-भोक्ता बने! सृष्टि यज्ञ के यजमान तो तुम ही हो। जैसे ही अकर्त्ता अभोक्ता बनते हो, वैसे ही तुम्हारा सृष्टि-चक्र समाप्त हो जाता है। इसलिये संसार इसी विज्ञान का है। संसार का रूप है–शरीर में प्रवेश अर्थात् जन्म, शरीरादि को छोड़कर दूसरी जगह जाना अर्थात् नाश और शरीर में सुख-दुःख शोक-मोह आदि सब अनुभव। ये सब इसी विज्ञान के होते हैं। सुषुप्ति में यह विज्ञानमय कोश नहीं है तो न जन्म न नाश न सुख न दुःख की प्रतीति है। यह विज्ञानवादी ने कहा।। ७३।।

उक्त क्षणिक विज्ञान भी आत्मा नहीं यह बौद्धों के ही एक भेद अर्थात् शून्यवाद का पक्ष उपस्थित करते हैं–

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत्।
अन्यस्याऽनुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः।।७४।।

बिजली, बादल, पलक गिरने-सा क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं है। (शरीरसे विज्ञान पर्यन्त की अपेक्षा) अन्य कुछ (आत्मरूप से) उपलब्ध होता नहीं अतः (आत्मा भी न होनारूप) शून्य माध्यमिकों ने बताया।

आत्मवादी स्थायी ही आत्मा मानते हैं अतः क्षणिक विज्ञान आत्मा हो नहीं सकता। एवं च जैसे संसार वैसे आत्मा है ही नहीं, भ्रममात्र से उसे मानते हैं। समान विज्ञानों की परंपरा से अखण्ड चैतन्य की भ्रांति है जैसे अखण्ड दीपक या गंगा की एकता की भ्रांति प्रसिद्ध

है। मैं भी क्षणिक वृत्ति से अतिरिक्त कुछ नहीं, समान वृत्तियाँ एक के पीछे दूसरी आने से बाल्यसे वार्धक्य तक मैं एक हूँ यह भ्रम हो जाता है। क्षणिक वस्तु आत्मा होना संगत नहीं। सदैव एकरस सद्रूप ही आत्मा हो सकता है। अतः अनात्मा क्षणिक विज्ञान के बारे में 'आत्मा' यह भ्रम ही है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। क्योंकि अनात्मरूप अहम्-वृत्ति एक जैसी पैदा होती है, इसलिए आत्मा—यह भ्रम बना रहता है। यह भ्रम केवल बाल्य-युवा-वृद्धावस्था तक रहता हो ऐसा नहीं, एक शरीर से दूसरे शरीर में भी यह भ्रम बना रहता है। 'जो कर्ता है वह भोक्ता है' यह केवल 'जो' और 'वह' की एकता के भ्रम के कारण कहा जाता है। करने वाला तो उसी क्षण समाप्त हो जाता है इसलिए भोक्ता वही नहीं है। अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सामानाधिकरण्य भ्रममात्र है। जैसे विद्युत्, बादल और पलक क्षण-क्षण में समाप्त हो जाते हैं वैसे ही आत्मा भी हर क्षण समाप्त होता है। इस आत्मा के अभाव का ज्ञान होना ही बोध है, यही ज्ञान है, इसी से मुक्ति है। ऐसा माध्यमिक मानते हैं। इदम् जितना है वह तो विज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता अतः मिथ्या है और विज्ञान क्षणिक है इसलिए नित्य-आत्मा नहीं। क्षणिक विज्ञान और इदम् से भिन्न कोई दूसरी चीज़ उपलब्ध होती नहीं, कभी मिलती नहीं जिसे आत्मा समझें। क्योंकि बौद्धों को केवल अनुमान पर भरोसा है, शास्त्र पर नहीं, इसलिए 'अनुपलब्धत्वात्' कहते हैं। शास्त्र से तो आत्मा उपलब्ध ही है। पूर्व में (२.३१) भी बौद्धों की यह कमी दिखा चुके हैं। सब मिथ्या है तक अनुमान से पहुँच सकते हो, नित्य आत्मा है यह केवल श्रुतिसिद्ध है। नित्य आत्मा युक्तिसिद्ध नहीं है। हम लोग मानते हैं क्योंकि श्रुति बताती है, बौद्ध श्रुति को मानते नहीं इसलिए कहते हैं कि सत्य की उपलब्धि नहीं है। बौद्धों का चरम सिद्धांत यही है, माध्यमिक मत या शून्यवाद।।७४।।

माध्यमिक लोग कहते हैं कि शून्य से सब चीज़ें निकलती हैं और इसी में लुप्त हो जाती हैं। अपनी कल्पना को वेद से भी समर्थित करते हैं—

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः।
ज्ञान-ज्ञेयात्मकं सर्वं जगद् भ्रान्तिप्रकल्पितम्।।७५।।

'यह सब असत् ही था' इत्यादि (छां.६.२) वेदवाक्यों में भी यह शून्य ही बताया है। इसलिए ज्ञान-ज्ञेयरूप सारा जगत् भ्रम से अध्यस्त है।

वेद में उत्पत्तिपूर्व असद्रूपता की संभावना उठाकर निरस्त की गयी है। निरासभाग छिपा देने से यह भी वाक्याभास है। बहुधा लोग शंका करते हैं 'वैदिक जिसे ब्रह्म कहता है उसे ही बौद्ध शून्य कहता होगा,' किन्तु यह शंका बौद्ध-विचार न समझने से है। वैदिक ब्रह्म को सच्चिदानन्द नित्य समझता है जबकि बौद्ध शून्य को ऐसा कुछ नहीं स्वीकारता है। ब्रह्म नित्य सत्य रहते मिथ्या प्रपंच उस पर अध्यस्त-बाधित हो सकता है किंतु ऐसा कोई अधिष्ठान बौद्ध को इष्ट न होने से वह निरधिष्ठान भ्रमवादी है। 'है'-'नहीं है' दोनों जिसे न समझें ऐसा चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य माध्यमिक की कल्पना है जो ब्रह्मस्थानीय होना

संभव नहीं। बौद्ध-सिद्धांत से अनभिज्ञों को ही जगन्मिथ्यात्व के साम्यवश भ्रम हो जाता है कि अधिष्ठान-स्थानीय को शून्य मानने से नाम का भेद है, तत्त्व का नहीं। किंतु सदादिरूप होने-न होने से तत्त्वस्वरूप ही पृथक् है। वेदांत में ज्ञान सत्य है, माध्यमिक कहता है ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों कल्पित हैं, स्वरूपतः ही भ्रांतिरूप हैं। वेद का उद्धरण माध्यमिक के मुख से इस भ्रमको दूर करने के लिए भी है कि वेदसिद्धांत से बौद्ध दर्शन में साम्य है।।७५।।

क्यों हम कहते हैं कि उनका यह मानना गलत है? त्रिपुटीरूप ज्ञानादि को मिथ्या मानना, व्यावहारिक-पारमार्थिक में अंतर मानना—इतना साम्य है। 'लोकसंवृति सत्य' से बौद्ध वही कहता है जिसे वेदान्ती व्यावहारिक सत्य कहता है। इसलिए बहुत से आधुनिक लोग कहते हैं कि एक ही बात है। अतः अन्तर स्पष्ट करते हैं—

निरधिष्ठानविभ्रान्तेरभावाद् आत्मनोऽस्तिता।
शून्यस्याऽपि ससाक्षित्वाद् अन्यथा नोक्तिरस्य ते।।७६।।

बिना अधिष्ठान के भ्रम हुआ नहीं करता अतः आत्मा अवश्य है। किं च शून्य भी साक्षी द्वारा भास्य हो तभी बौद्ध उसका कथन कर सकता है अतः शून्यसाक्षिरूप से आत्मा अवश्य है।

बिना किसी चीज़ के अधिष्ठान हुए, भ्रम होता नहीं। सत्य हो, उसे असत्य समझो तभी भ्रम कहलायेगा। शून्यवादी बिना सत्य स्वीकारे असत्य की प्रतिज्ञा करता है, यह वेदान्ती से उसमें महान् अन्तर है। आधुनिकों को तो साम्य-भ्रम होता ही है, आचार्य गौडपाद भी इस भ्रम की सम्भावना जानते थे इसलिए उन्होंने ग्रन्थ के अंत में लिखा है 'न एतद् बुद्धेन भाषितम्' (४.९९) अर्थात् जो हमने बात लिखी है, इसे बौद्धों की बात मत समझना, क्योंकि बुद्ध ने परमार्थ सत्य नहीं कहा है। साधिष्ठान या निरधिष्ठान भ्रांति होती है—यह आधारभूत प्रश्न है। बौद्ध लोग निरधिष्ठान भ्रांति मानते हैं, हम नहीं मानते क्योंकि निरधिष्ठान भ्रांति का कोई दृष्टांत लोक में नहीं मिलता। बौद्ध कहीं भी इसका दृष्टांत नहीं दे पाते। इसलिए आत्मा की अस्तिता सिद्ध होती है। जिस अधिष्ठान में भ्रम हो रहा है वह तो है तभी भ्रम हुआ। चिद्रूप आत्मा न मानने में दूसरा दोष है कि शून्य निःसाक्षिक रह जाता है। कोई साक्षी हो तभी शून्य माना जाये! जिसमें साक्षी ही नहीं वह मान्य कैसे हो? स्वप्रकाश होने से आत्मा साक्षी की अपेक्षा नहीं रखता किंतु माध्यमिक शून्य को स्वप्रकाश मानता नहीं अन्यथा उसे डर है कि वह शून्य ही नहीं रहेगा! किसी के द्वारा न जाना जाये तो शून्य की सिद्धि कैसे? जब कोई नहीं जानता तो बौद्ध भी उसे नहीं जानता, फिर उसे कहता कैसे है? साक्षी न मानने पर शून्य का कथन ही असंभव है। शब्द उनके मतमें प्रमाण नहीं कि बुद्ध देव के वचन से शून्य स्वीकार लें! इस प्रकार श्लोक ५८ से यहाँ तक लोकायत, हैरण्यगर्भ, भक्तिवादी और बौद्धों के आत्मसम्बन्धी मत-मतान्तरों की परीक्षा हुई।।७६।।

यदि उक्त सब मत अयुक्त हैं तो फिर आत्मा कौन है?—

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम्।।७७।।

विज्ञानमय से अन्य और भीतरी है आनन्दमय जिसे 'है' ऐसा ही समझना चाहिए। यह (आत्मा के बारे में) वैदिक दर्शन (सिद्धांत) है।

तैत्तिरीयक्रम से विचार चल रहा है। वहाँ विज्ञानमय से भीतरी, विज्ञानमय से अन्य, विज्ञानमय को पूरा करने वाला आनन्दमय भी कहा है। यद्यपि मुख्य आत्मा आनन्दमय की पुच्छ कहा ब्रह्म है तथापि अभी सद्रूपता की सिद्धि ही विवक्षित है। श्लोक ६४ में स्पष्ट होगा कि आनन्दमय को आत्मा स्वमत से नहीं, प्राभाकरादि के अनुसार कहा है। अतः यहाँ 'वेदान्तदर्शन' के बजाये 'वैदिकदर्शन' कहा। आनन्दमय भोक्ता होने से उसे जीवात्मा के रूप में सत्, विद्यमान स्वीकारना सरल होने से मयट्-घटित का उल्लेख उचित है पर सिद्धांत तो है कि आत्मा आनंद है न कि आनंदमय। वृत्तिकारमत में आनन्दमय आत्मा है यह आनन्दमयाधिकरण में व्यक्त ही है। अतः अभी आनन्द और आनन्दमय के भेद को न कहकर असत् से विलक्षण सद्रूप आत्मा अंगीकार्य कहा है। इसी लिए 'अस्तीत्येव' आदि उद्धृत किया। कठ में (२.३.१३) यह वाक्य है। ब्रह्म नहीं है—यह प्रश्न होने पर श्रुति ने कहा कि वाणी-मन-इन्द्रियाँ उसे विषय नहीं करती यह तो ठीक है किंतु 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र' संसार में 'है' सर्वत्र मिलते, संसार के मूल को 'है' न कहा जाये यह भी असंभव है। अतः निर्णय दिया कि उसे 'है' ही समझना चाहिए। तैत्तिरीय में भी आनन्दमय बताकर कहा 'ब्रह्म को 'नहीं है' समझने वाला खुद ही 'नहीं है' हो जाता है! यदि 'ब्रह्म है' जाने तो उस जानकार को भी 'है' समझा जाता है।' (२.६) इस तरह श्रुति आनन्दमय से आत्मास्तित्व के ख्यापन की विवक्षा रखती है यह पता लग जाता है। वस्तुतः अंतिम तत्त्व आनंद है, न कि आनन्दमय किंतु आनंदमय से आनंद का अस्तिरूप स्वीकार हो जाता है। बुद्धिपर्यन्त जब आत्मभाव निवृत्त हो गया तब 'है'-बुद्धि के सहारे अर्थात् जिसे बुद्धि 'है' समझती है उसी के सहारे आत्मा स्वीकार सकते हैं। अन्य उपाय आत्मा के अंगीकार का नहीं। इसीलिए ब्रह्म 'औपनिषद' अर्थात् केवल उपनिषदों से समधिगम्य बताया गया है। प्रत्यक्षादि उसमें प्रमाण नहीं। बौद्ध के पास शब्दात्मक साधन न होने से प्रमाणान्तर से अगम्य को वह 'अन्यस्यानुपलब्धत्वात्' (श्लोक. ७४) स्वीकार न पाये यह स्वाभाविक है। 'अस्तीत्येव' अर्थात् सन्मात्र आत्मा समझा जा सकता है, उसके भी विशेषों को जानने का प्रयत्न हुआ तो 'उस' को नहीं जान पायेंगे! इसीलिए वह विदित-अविदित से स्वतंत्र बताया गया है। जिसके विशेष ज्ञात हों वह विदित एवं सर्वथा अविद्याऽऽवृत अविदित होता है; आत्मा 'एकान्तेन अविषय' नहीं अतः अविदित नहीं किंतु इसके विशेष ज्ञात नहीं अतः विदित भी नहीं! फलतः विदित-अविदित से स्वतंत्र ही समझा जा सकता है। है—इस तरह आत्मा

सर्वानुस्यूत अतः अधिष्ठान पता चलता है। इसी निर्णय को वैदिक दर्शन बताया कि सद्रूप आनंद ही आत्मा है।।७७।।

आत्मस्वरूप की तरह आत्मा के परिमाण (माप) में भी मतभेद सूचित करते हैं—

अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्राऽपि वादिनः।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात्।।७८।।

वेद एवं तर्क के सहारे वादी इस बारे में भी अनेक तरह से विवाद करते हैं कि आत्मा अणु है या महान् है या मध्यम परिमाण का है।

सम्भव परिमाण ही तीन प्रसिद्ध होने से तीनों विकल्प उपस्थित कर दिए। वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अनेक वादी अणुपरिमाणी आत्मा स्वीकारते हैं। यों सीमित मानने से उपासना-पद्धति उन्हें संगत प्रतीत हो जाती है। आस्तिक दार्शनिक महान् (विभु) मानते हैं यह प्रसिद्ध ही है। मध्यम परिमाण मानने वाले भी वादी हैं। देहात्मवादी आदि स्पष्ट ही आत्मा को मध्यम परिमाण का मानता है। सूक्ष्म-शरीररूप आत्मा लोक-लोकान्तर में गमनागमन करता है यह स्वीकारने वाला भी उसे मध्यम परिमाणी ही कहेगा तभी जाना-आना संभव होगा। जैन लोग भी आत्मा को अणु या विभु नहीं वरन् मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। बहुत प्रकार से इस बारे में वादी विवाद करते हैं क्योंकि इनको भी इस विषय में श्रुति और युक्ति अर्थात् इनके आभास मिल जाते हैं। श्रुति और युक्ति दोनों का आश्रयण करके, ये विवाद करते हैं।।७८।।

पहले अणु आत्मा मानने वालों का उल्लेख करते हैं—

अणुं वदन्त्यान्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम्।।७९।।

'आन्तराल' वादी आत्मा को सूक्ष्म नाडियों में घूमते रहने से अणु-परिमाणी कहते हैं। रोंये के हज़ारवें भाग के बराबर नाडियों में यह आत्मा विचरता है।

जो इस चीज़ को सामने रखते हैं कि शरीर की सूक्ष्म नाडियों के अन्दर आत्मा संचार करता है वे इसे अणु मानते हैं। नाडियों में घूमना शरीर के अंदर होने से 'अन्तः भवति' के अनुसार 'आन्तर' है, उसी को आत्मा की अणुता में हेतुरूप से 'लान्ति' लेते हैं, स्वीकारते हैं इसलिए आत्माणुतावादी 'आन्तराल' कहे गये हैं। नाडियाँ रोम के हज़ारवें हिस्से जितनी मोटी कही गयी हैं। एक बाल के यदि खड़े एक हज़ार भाग करो तो उतनी सूक्ष्म ये नाडियाँ हैं! वस्तुतः तो उससे भी सूक्ष्म हैं। यहाँ 'सहस्र' का मतलब 'हज़ार' ही मत समझना। शत और सहस्र शब्द ऐसे हैं, जो संख्या को भी कहते हैं और 'बहुत' को भी कहते हैं। आत्मा इतनी सूक्ष्म नाडियों के अन्दर जाता है, अतः अत्यन्त ही सूक्ष्म होना चाहिए। फलतः वह अणु-परिमाणी है।।७९।।

इस विषय में उनको श्रुति भी मिल जाती है यह दिखाते हैं–

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं त्विति।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः।।८०।।

'अणु से भी छोटा है' (श्वे.३.२०; कठ.२.२०) 'यह अणु आत्मा' (मुण्ड.३.१.९), 'सूक्ष्म से अधिक सूक्ष्म है' (मुंड.३.१.७; कैवल्य.१६) आदि सैंकड़ों हज़ारों श्रुतियाँ तो कहती हैं कि आत्मा अणु है।

वेद कहता है कि आत्मा अणु से अणुतर है, अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। यद्यपि उसके आगे ही कहा 'महतो महीयान्' कि बड़े से अधिक बड़ा है; पर जिन्हें वाक्याभास चाहिए वे इतना ही हिस्सा लेते हैं–'अणोरणीयान्'। इस प्रकार से हज़ारों श्रुतियाँ बार-बार आत्मा की अणुता को बतलाती इन्हें मिल जाती हैं। अणु-शब्द के प्रयोग से श्रुति का तात्पर्य परिमाण बतलाना नहीं है। इसका तो मतलब है कि आत्मा को समझना बहुत मुश्किल है। जैसे कहते हैं 'यह बड़ा सूक्ष्म विवेचन है' तो समझने की कठिनाई को अणु कह देते हैं न कि माप को! किंतु पहले आत्मा अणु मान बैठे वादी इन वाक्यों से ऐसा भाव निकालते हैं कि वेद आत्मा को अणु जितना बताता है।।८०।।

जीवात्मा को इतना छोटा बताने वाला भी उन्हें वेद-वाक्य मिल जाता है–

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः इति चाहापरा श्रुतिः।।८१।।

बाल की नोक के सौ बार सौ-सौ टुकड़े करें तो जितना छोटा हिस्सा होगा उतना जीव को समझना चाहिए–ऐसा अन्य वेदवचन भी कहता है।

अन्यत्र (श्वेता.५.९) वेद खुद ही कहता है, बाल के अग्रिम भाग को खड़ा करके सौ टुकड़े करो, और उनमें से एक के फिर सौ भाग करो और ऐसा सौ बार करो तो जितना छोटा हिस्सा बने वह जीव का माप जानो! यह केवल सोचने के लिए है कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। श्रुति तो इसके आगे ही कहती है 'स चानन्त्याय कल्पते' कि ऐसा भी जीव अनंत होने लायक है। किन्तु ये वादी उस बात को नहीं लेना चाहते क्योंकि इन्हें वाक्याभास से काम निकालना है। इस प्रकार अणु-परिमाणी आत्मवादी एकत्र किये।।८१।।

मध्यम परिमाण मानने वालों का मत बताते हैं–

दिगम्बरा मध्यमत्वम् आहुरापादमस्तकम्।
चैतन्यव्याप्तिसन्दृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि।।८२।।

पैरों से माथे तक (शरीर में) चैतन्य (चेतना, ज्ञान) व्याप्त मिलने से तथा 'नखाग्र पर्यन्त' श्रुति से दिगम्बर (जैन) आत्मा को मध्यम परिमाणी कहते हैं।

दिगम्बर अर्थात् जैन मत वाले कहते हैं कि आत्मा अणु नहीं, मध्यम परिमाणी है। कितना परिमाण है? पैर के तले से लेकर मस्तक पर्यन्त। यदि अणु होता तो एक साथ ही पीठ का और पैर का अनुभव नहीं होता! जबकि एक-साथ अनुभव होता है। हरिद्वार में गर्मी में, ब्रह्मकुंड में स्नान करो तो पीठ लगता है जल जायेगी जबकि पैर ठिठुर जाते हैं। एक-साथ आत्मा पीठ और पैर में मौजूद होगा, तभी एक-साथ उनका अनुभव कर सकेगा। अणु-परिमाणी मानने वाले कहते हैं कि तेज़ी से इधर-उधर चला जाता है, एक-साथ अनुभव ही होता नहीं है! जैनों ने देखा कि प्रायः अनुभव एक-साथ होता है इसलिए पैर से लेकर मस्तक तक इतना परिमाण जीवात्मा का मान लिया। सिर से पैर तक चेतना रहती है, इसके बाहर कभी चेतनता का अनुभव नहीं। चेतन की व्याप्ति इतने में ही देखी जाती है अतः यही आत्मा का परिमाण उपपन्न है। श्रुति में भी कहा है 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ.१.४.७) अर्थात् जीवात्मा ने इस शरीर में प्रवेश सिर की तरफ से किया और पैर के तले के अग्रभाग तक किया। इस श्रुति से भी पता लगता है कि जीवात्मा मध्यम परिमाणी है। अतः शरीर के आकार जितना जीवात्मा है यह श्रुति के 'आ नखाग्र' प्रयोग से ये वादी समझना चाहते हैं।।८२।।

मध्यम परिमाण वाला हो तो आत्मा नाडियों में संचार कैसे करता है? इसे वादी ही समझाता है—

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत्।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत्।।८३।।

हाथों द्वारा जैसे स्थूल शरीर कंचुक पहन लेता है वैसे सूक्ष्म (छोटे) अवयवों द्वारा सूक्ष्म (छोटी) नाडियों में घूमना तो संभव ही है।

शरीर को जब कंचुक अर्थात् कमीज़ पहनाते हैं तब दोनों हाथों को उसमें डाल देते हैं, इतने से वह पहन लिया जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि शरीर कमीज़ से छोटा है! हाथ रूप अवयव को डाल कर देहरूप अवयवी कमीज़ पहन लेता है। इसी प्रकार जीवात्मा है तो सिर से लेकर पैर तक, लेकिन अपने अवयवों के द्वारा नाडियों में भी प्रविष्ट हो जाता है। जो उसके सूक्ष्म अवयव हैं उनके द्वारा नाडियों में घुस जाता है। इस प्रकार मध्यम परिमाणी आत्मवादी ने अपना पक्ष समर्थित किया।।८३।।

चाहे जैन, बौद्ध हों या हम लोग हों, सभी भारतीय कर्म-सिद्धान्त को मानने वाले हैं। यह पाश्चात्यों से हमारा बड़ा भारी भेद है। भारत में पैदा सब इस बात को मानते हैं कि जैसा कर्म करोगे वैसा फल मिलेगा, बिना कर्म के फल नहीं मिलेगा। भारत के बाहर, पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान कोई नहीं मानते कि कर्म के अनुसार फल मिलेगा। एक आदमी सड़क पर पैदा होता है। दूसरा धनी के यहाँ पैदा होता है। उसके पास सुख की कमी नहीं, इसके पास दुःख की कमी नहीं। इसका कारण क्या? बाकी सब कहेंगे 'खुदा

की मर्ज़ी।' हम कहेंगे कि जिसने शुभ कर्म किया वह सुख-सम्पन्न पैदा हुआ, जिसने अशुभ कर्म किए वह दुःख-सम्पन्न पैदा हुआ। अपने कर्म के अनुसार ही सबका जन्म हुआ है। जैन के लिए भी यह प्रश्न है कि चींटी के शरीर में जाओगे तो आत्मा के बाकी हिस्सों का क्या होगा? अथवा अगला शरीर मिल गया हाथी का तो सारे शरीर में तुम्हारा प्रवेश नहीं हो पायेगा! इसके समाधानार्थ जैन कहता है कि अवयव जुड़ते-घटते हैं जिससे व्यवस्था बन जाती है—

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः।
आत्मांशानां भवेत् तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम्।।८४।।

आत्मा के टुकड़ों के जाने-आने से छोटे-बड़े शरीरों में प्रवेश भी सम्भव है। अतः विचारपूर्वक निश्चित है कि आत्मा का परिमाण मध्यम है।

जैसे नाडियों में कुछ एक अवयवों के प्रवेश से आत्मा का प्रवेश संगत है वैसे छोटे शरीर में पैदा होते समय थोड़े अवयवों का ही प्रवेश होगा, वही आत्मा का वहाँ प्रवेश है। बड़े शरीर में प्रवेश के अवसर पर अधिक अवयव जुड़ जायेंगे ताकि वह शरीर पूरा आत्मा से भरा जा सके। मानव शरीर जितना ही मध्यम परिमाण विवक्षित नहीं कि हाथी आदि जन्म मिले तो टुकड़े कम पड़ें! जितने मानव शरीर के लिए चाहिए उतने लेकर इसमें पैदा होते हैं, अपने अन्य अवयव सुरक्षित छोड़ आते हैं; हाथी-देह में जाना हो तो उतने ले जाते हैं। इस तरह सब परिमाणों के शरीरों में जाना भी संगत है।।८४।।

इस मत के विरोध में यह नियम याद दिलाते हैं कि जो अवयव वाला होता है वह सर्वत्र नष्ट होने वाला देखा गया है। इसलिए जितने भी आस्तिक दार्शनिक हैं वे आत्मा को न अणु और न मध्यम परिमाणी मानते हैं, वे तो उसे व्यापक, विभु ही मानते हैं। यदि आत्मा अवयव वाला है तो नष्ट होने वाला होगा! ऐसी नश्वर वस्तु आत्मा होना असंगत है—

सांशस्य घटवद् नाशो भवत्येव तथा सति।
कृतनाशाऽकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत्।।८५।।

टुकड़े वाले का वैसे ही नाश होता है जैसे घड़े का, तथा यों हो तो किए कर्म का नाश एवं न किए के भोग की प्राप्ति—इन समस्याओं को कौन दूर करेगा?

घड़ा आदि सभी टुकड़े वाली चीज़ें नश्वर हैं तो टुकड़े वाला आत्मा भी नश्वर ही होना जरूरी है। जीव ने कर्म किये और फल भोगने से पूर्व नष्ट हो गया तो कृत कर्म भी निष्फल रह जाने से नष्ट ही होंगे—यह अनित्यात्मवाद में एक दोष। इसी प्रकार सावयव जन्मवान् भी होगा। आत्मा जन्म लेगा तो उससे पूर्व उसके कर्म तो होंगे नहीं जबकि जन्म लेते ही सुख-दुःख मिलने शुरू हो जायेंगे। उन सुखादि के प्रति उसके किये तो कोई कर्म हेतु होंगे नहीं अतः अकृत मायने न किये कर्मों के फल का अभ्यागम मायने भोगावसर प्राप्त

होगा—यह अनित्यात्मवाद में दूसरा दोष। इन दोषों का वारण सावयव आत्मा मानने पर नहीं हो सकता। आस्तिक इस बारे में निश्चित हैं कि जो कर्म करता है वही फल भोगता है। लौकिक व्यवस्था भी यही है कि अच्छा करने वाला पुरस्कार और बुरा करने वाला दण्ड पाता है। बुरा किये बगैर दण्ड मिलना, अच्छा किये बिना पुरस्कार मिलना—ऐसा लोक में भी नहीं देखा जाता। अनित्यात्मवादी ईसाई-मुसलमान ईश्वर को न्यायकारी मानकर भी उक्त दोषों का संगत परिहार नहीं बता सकते। उनके अनुसार चाहे जितना पापी हो, यदि ईसा या पैगम्बर की शरण ले ले तो स्वर्ग ही जायेगा, चाहे जितना पुण्यात्मा हो, ईसा या पैगम्बर के बताये रास्ते पर चलता रहे लेकिन उन्हें अपना रक्षक न स्वीकारे तो नरक ही जायेगा। आस्तिकों की दृष्टि में यह वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों का प्रसंग है। समान कर्म वालों को विषम फल देना वैषम्य है और सत्कर्मी को सत्फल न देना करुणाहीनता या नैर्घृण्य है। संसार में अधिकतर प्राणी जन्मजात दुःखी मिलने से ईश्वर ने उन्हें बिना उनके किसी पाप के दुःखी पैदा किया तो ईश्वर निष्करुण ही होगा! ईसाई आदि तो कर्मफल-व्यवस्था को ईश्वर पर एक बंधन मानते हैं किंतु स्वाभाविक प्रक्रिया को परतंत्रतापादक समझना अनुचित है। न्यायोचित पुरस्कार या दण्ड देना स्वयं स्वीकृत मर्यादा का पालन होने से परतंत्रता नहीं कहा जा सकता। न्यायकारी स्वतंत्र है, इसका मतलब यह नहीं कि जो मर्ज़ी आये वह करे! न्याय करना दया करने का विरोधी नहीं। दयावश भी अन्याय नहीं करता, न्याय करने के अलावा दया भी करता है।

इस बारे में विद्यापति की जीवनकथा प्रसिद्ध है। विद्यापति मिथिला के ब्राह्मण थे, बड़ी शान्ति से रहते थे। राजा उनके बारे में जानता भी था, उनका बड़ा प्रशंसक था। घरवाली उनके बार-बार पीछे पड़े कि 'अरे! राजा के यहाँ जाओ, वह कुछ देगा, लेकर आओ; ऐसे ही पड़े रहते हो!' विद्यापति का मानना था कि जो कुछ अपने प्रारब्ध में है वही मिलता है, क्यों किसी के सामने जाकर अपनी दीनता प्रकट करें! अतः वे जाते नहीं थे। काफी समय हो गया। रोज़ भगवान् का रुद्राभिषेक करना, प्रदोषकालीन पूजन करना आदि नियम से रहते थे। एक बार पत्नी बहुत पीछे पड़ी, तो उन्होंने सोचा 'यह इतना कहती है तो एक बार हो आता हूँ।' पत्नी ने दे दिया उनको रास्ते में खाने के लिए भोजन। गर्मी का मौसम था, धूप बड़ी तेज़ थी। चलते-चलते थक गए। एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ था, वट वृक्ष था, उसकी छाया में बैठ गए। सोचने लगे कि 'इस समय यदि पानी मिल जाता तो बड़ा अच्छा होता।' उनका सेवक एक लड़का था, तभी वह उनके लिए पानी लेकर आ गया! पानी पीते ही उनको पता चला कि 'अरे! यह तो साधारण जल नहीं है, गंगा-जल है।' उन्होंने उससे पूछा 'अरे! तुम पानी कहाँ से लाये?' बोला 'जी, यहीं पास ही है, वहीं से ले आया।' विद्यापति ने कहा 'चल, मुझे यहाँ इतने साल हो गए, आस-पास में गंगा जी मैंने तो देखी नहीं। दिखा मुझे, कहाँ से लाया।' जो लेकर आया था, उसने अपना सिर झुकाकर नीचे किया। विद्यापति ने देखा कि उसमें गंगा जी बह रही हैं! पैरों पर गिर पड़े—'महाराज! आपने

मेरा सेवक बनने का कष्ट किया!' भगवान् बोले 'तू मेरा भक्त है। तेरी जो दीनता है वह तो तेरे अपने कर्मों का फल है, तुझे भोगनी पड़ेगी। पर इस समय तेरी पानी पीने की इच्छा थी इसलिए मैंने पानी दे दिया।' समझ गए विद्यापति कि प्रारब्ध की चीज़ ही मिलती है किसी से जाकर माँगने से कुछ नहीं मिलता। भगवान् तुम्हारी सहायता कर देते हैं, जैसे उनको पानी पिला दिया, पर उसकी दीनता तो रही ही। नहीं गए विद्यापति फिर राजा के पास। भगवान् की दयालुता तो थी कि उन्होंने उसको ठण्डा पानी पिला दिया, परन्तु न्यायकारी होने से जैसा कर्म था वैसा फल भी दिया ही। इस प्रकार वैषम्य-नैर्घृण्य ईश्वर में नहीं यह वैदिक तो स्पष्ट जानता है, औरों को समझ नहीं आता। कर्मव्यवस्था अंगीकार होने से कृतनाशादि भी हमें दोष दीखते हैं, उन्हें नहीं। सांश आत्मा मानने पर ये दोष होंगे अतः मध्यमपरिमाणी आत्मा अमान्य है।।८५।।

क्योंकि तीन ही परिमाण संभव हैं—अणु, मध्यम, महान् इसलिए अणु-मध्यम न हो सकने पर बचा हुआ महान् ही हो सकता है यह बताते हैं—

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः।
आकाशवत् सर्वगतो निरंशः श्रुतिसम्मतः।।८६।।

इसलिए आत्मा महान् ही है, न अणु और न मध्यम-परिमाणी। वेद को यही संमत है कि आकाश जैसा सर्वव्यापक अंशरहित आत्मा है।

'तस्मात्' अर्थात् पारिशेष्य से। आत्मा की व्यापकता को सिद्ध नहीं करना पड़ा। तीन ही परिमाण हैं। तीन में से दो नहीं हो सकते इसलिए तीसरा अपने आप बच जाता है। अतः आत्मा व्यापक ही सिद्ध होता है। न तो वह अणु है, न मध्यम परिमाण का है। जैसे आकाश सब चीज़ों में मौजूद है वैसे ही आत्मा सबमें मौजूद है। नाडियों के अन्दर भी मौजूद है इसलिए 'वहाँ कैसे जाता है' आदि प्रश्न नहीं बनते। शरीरों में भी व्यापक है इसलिए 'इस शरीर से उस शरीर में कैसे जाएगा' इत्यादि प्रश्न भी नहीं बनते। जैसे, घड़े में घटाकाश है, कमरे के अन्दर कमरे का आकाश शालाकाश है। यहाँ तुम घड़े को ले आए और घड़ा फोड़ दिया तो घटाकाश कहाँ गया? यह नहीं कह सकते हो कि घटाकाश शालाकाश हो गया क्योंकि आकाश जैसे घट में व्यापक था वैसे ही कमरे में व्यापक है। कमरा उपाधि के कारण शालाकाश दीख रहा है, घड़ा उपाधि के कारण घटाकाश दीख रहा था। ऐसे ही हाथी की उपाधि है तो उसमें भी आत्मा व्यापक है और चींटी की उपाधि है तो उसमें भी व्यापक है। जैसे आकाश महान् परिमाण वाला है तो सर्वत्र है ऐसे आत्मा महान् अतः सर्वत्र है। इसमें कोई अंश भी नहीं है। मध्यम परिमाणी होता तब अंश होता। यह श्रुतिसम्मत आत्मा का परिमाण है। और इस बारे में सभी आस्तिक एकमत हैं। सभी आस्तिक दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं। मध्यकाल के भक्ति-मार्गी धर्म से तो आस्तिक हैं ही परन्तु दर्शन से

आस्तिक नहीं हैं, इसलिए वे लोग आत्मा को अणु परिमाणी मानते हैं। इस प्रकार श्लो.७८ से यहाँ तक आत्मा के परिमाण की बात हुई।।८६।।

आत्मा का अस्तित्व और महत्परिमाण समझाकर उसके चेतनरूप की चर्चा प्रारंभ करते हैं—

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि।।८७।।

विभिन्न वादी स्वयं नामक वस्तु के बारे में पूर्वोक्त बातों के अनंतर नाना तरह से इस बारे में विवाद करते हैं कि वह अचेतन है या चेतन या चेतन-अचेतन दोनों!

आस्तिक सारे आत्मा को मानते हैं परन्तु वह व्यापक होने पर भी चेतन है, अचेतन है या चेतन-अचेतन दोनों है—इस विषय में बहुत प्रकार से मतभेद हैं! आस्तिक अर्थात् वेद पर श्रद्धालु हैं इसलिए इस संदर्भ में कलह करते हैं। जैसे दुश्मन से आर-पार का युद्ध हो सकता है ऐसे पत्नी, भाई आदि से नहीं; उनसे जो झगड़ा चले वह 'कलह' है जिसमें परेशान होकर कोई निर्णय स्वीकारा जाता है। इसी प्रकार वेद न मानने वालों से अलग ढंग का विवाद है, अस्तिकों में आपसी विवाद कलह है जिसमें सब सभी का भला चहते हैं, सत्य मार्ग सब अपनायें यह भाव रखते हैं, 'मेरी बात मानें' यह आग्रह नहीं। यही 'वाद' नामक चर्चा कही जाती है, इसी से तत्त्वनिर्णय हो पाता है। आस्तिकों में कुछ कहते हैं कि आत्मा चेतनरूप नहीं है, दूसरे कहते हैं चेतनरूप ही है, जबकि तीसरे कहते हैं कि चिद्-अचिद् दोनों रूपों वाला है।।८७।।

कौन-कौन क्या कहते हैं यह क्रमशः बतलाते हैं—

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याऽचिदात्मताम्।
आकाशवद् द्रव्यमात्मा शब्दवत् तद्गुणश्चितिः।।८८।।

प्राभाकर और तार्किक आत्मा की अचिद्रूपता बताते हैं। उनके अनुसार आत्मा आकाशतुल्य द्रव्य है जिसका गुण चेतनता है जैसे शब्द आकाश का गुण है।

वेद के कर्मकाण्ड का विचार करने वालों के दो मत हैं—एक कुमारिल भट्ट को मानने वालों का और दूसरा प्रभाकर को मानने वालों का। विद्वानों में प्रसिद्धि है कि प्रभाकर कुमारिल के शिष्य थे लेकिन इनकी बुद्धि बड़ी तेज़ थी। कुमारिल किताब पढ़ाते थे, उसमें कहीं-कहीं उनको कुछ अटक महसूस होती थी तो प्रभाकर बतला देते थे 'गुरु जी, इसका ऐसा अर्थ करना चाहिए।' प्रभाकर का बताया अर्थ ठीक होता था! बताया जाता है कि एक जगह कुमारिल ने ही लिख दिया था 'अत्र तु नोक्तं तत्रापिनोक्तम्' इसका सीधा-सादा अर्थ होता है—'यहाँ तो नहीं कहा, वहाँ भी नहीं कहा' लेकिन कुमारिल सोचने लगे कि 'फिर

कहाँ कहा है?' खुद अपने लिखे में ही उलझ गये। प्रभाकर ने कहा 'गुरु जी, आपने लिखा है कि यहाँ जिस बात को तु-शब्द से कहा है, उसी को वहाँ अपि-शब्द से कहा है। तुना उक्तम् अपिना उक्तम् ऐसा पदच्छेद है। तात्पर्य निकला कि दोनों जगह कहा है।' यही बात ठीक थी। अतः कुमारिल ने प्रसन्न होकर कहा 'अरे! तू तो मेरा भी गुरु है।' इसलिए प्रभाकर का नाम ही पड़ गया गुरु और उनके मत को गुरुमत कहते हैं। गुरु यह नाम उनके गुरु जी का ही दिया हुआ था। इसी प्रकार एक बार अन्त्येष्टि के बारे में विचार हो रहा था कि मरने के बाद जो कार्य किए जाते हैं वे किस प्रकार करने हैं। कुमारिल बतला रहे थे कि ऐसे-ऐसे करना। प्रभाकर ने क्रमशः अनेक शंकायें की जिनका परिहार सोचते-सोचते कुमारिल को बेहोशी आ गई! शिष्यों ने देखा 'अरे, गुरु जी तो मर गए!' पहले सब प्रभाकर को डाँटने लगे 'माथा खा-खा कर तुमने मार ही दिया गुरु जी को।' बेचारे प्रभाकर क्या करते, चुपचाप बैठे रहे। फिर शिष्यों ने कहा 'जो भी किया, तुम्हारी अंतिम शंका का समाधान नहीं हुआ था अतः तुम्हारा मत ठीक होगा इसलिए इनकी अन्त्येष्टि तुम्हारे मतानुसार करेंगे।' प्रभाकार ने कहा 'अरे, नहीं-नहीं, वह तो समझने के लिए शंका कर रहा था, करना तो वही है जो गुरु जी ने कहा है। बात तो वही ठीक है।' जैसे ही प्रभाकर ने यह कहा वैसे ही भट्ट की बेहोशी दूर हुई थी तो उन्होंने सुन लिया, वे उठ बैठे, बोले 'अब तो मान गया न!' प्रभाकर ने कहा 'मरे गुरु की बात मानी है, ज़िन्दे रहोगे तब तक तो प्रश्न करूँगा!' तात्पर्य है कि प्रभाकर वेद का विचार करने वालों में श्रेष्ठ थे।

वे कहते हैं कि आत्मा चेतन नहीं है। मन के साथ इसका जब सम्बन्ध होता है तब चेतनता (ज्ञान) इसमें प्रकट हो जाती है। कहीं भी बिना मन के आत्मा में चेतनता मिलती नहीं, जब चेतनता मिलती है तब मन से जुड़े में ही मिलती है। इसलिए आत्मा स्वयम् चेतन नहीं है। जिस बात को प्रभाकर कहते हैं उसी को गौतम और कणाद महर्षि भी मानते हैं। इन दोनों को मिलाकर प्रायः 'तार्किक' कहा जाता है। तर्क के बल से विचार करेंगे तो आत्मा-मन का संयोग संबंध होने पर ही चेतन सिद्ध होगा। तर्क के बल से यही समझा जायेगा। परन्तु श्रुति ने कहा है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' इसलिए वेदान्ती उसको ज्ञानस्वरूप मानते हैं। मिलेगी तो चेतना हमेशा मन का संयोग होने पर ही लेकिन वेदप्रामाण्य से आत्मस्वरूप ही स्वीकार है। तर्कानुसारी चिंतक और वैदिक होकर भी अनुभवमात्र को प्रधानता देने वाले प्रभाकर कहते हैं कि आत्मा है तो अचिद्रूप ही। आत्मा को वे द्रव्य मानते हैं। द्रव्य उसको कहते हैं जिसके अन्दर गुण या क्रिया रहती है। उनके अनुसार आत्मा का एक गुण चेतनता है, आत्मा खुद चेतन नहीं है। पानी पियो तो मीठा नहीं लगता लेकिन हरड़ चबाकर पानी पियो तो मीठा लगता है लेकिन मिठास वह पानी का ही है न कि हरड़ का। आधुनिकों ने तो यहाँ तक पता लगाया है कि जीभ को यदि अच्छी तरह से सुखा दिया जाए और फिर उसके ऊपर चीनी बुरको तो मिठास का स्वाद नहीं आएगा! जब जीभ में लार या थूकरूप रस आएगा तभी मिठास आदि स्वाद आएगा। फिर

भी मानते तो यही हैं कि चीनी में मिठास है, भले ही थूक के सम्बंध के बिना मिठास मिलती नहीं। प्रायः हमारी जीभ हमेशा गीली रहती है इसलिए हम लोगों को यह रहस्य पता नहीं लगता। इसी प्रकार तार्किकों के अनुसार आत्मा द्रव्य है, उसका गुण चैतन्य है पर वह गुण तभी पता लगता है जब मन का संयोग होवे। जैसे आकाश एक द्रव्य है, उसमें शब्द गुण रहता है लेकिन शब्द प्रकट तो जब घर्षणादि हो तभी होता है, उसके बिना प्रकट नहीं होता वैसे मनःसंबंध से आत्मा में ज्ञान पैदा होता है। इसलिए ये ज्ञानको आत्मा का स्वरूप नहीं वरन् गुण मानते हैं। क्योंकि ज्ञान आत्मा का 'विशेष' गुण है, उसकी पहचान है, इसलिए अन्य द्रव्यों से वह स्वतंत्र समझ आ जाता है।।८८।।

प्रसंगवश आत्मा के गुणान्तर भी प्रभाकरादि के अनुसार बता देते हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे।
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः।।८९।।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और इनके संस्कार—ज्ञान की तरह ये सब भी आत्मा के गुण बताये गये हैं।

प्रसंग आ गया तो उक्त मतानुसार उसके सारे विशेष गुण बतला दिए। कौन करेगा? आत्मा ही करेगा। कब करेगा? जब संस्कार से युक्त होगा। बंगाल के अन्दर लम्बे-लम्बे बैंगन होते हैं जिन्हें वे लम्बाई में काटकर तवे पर तलते हैं, नमक-मिर्च डाल कर खाते हैं। एक बार हम किसी बंगाली के घर भोजन करने गए। उन्होंने ऐसा बैंगन भाजा बनाया था। ऐसा कटा हुआ था कि हमारे साथ के महात्मा खुसुर्फुसुर करने लगे कि मछली है! लेकिन था वह बैंगन। जिसे ऐसे बैंगन भाजे का संस्कार होगा वही उसे खाने की इच्छा करेगा, अन्यथा सामने आने पर भी इच्छा न हो तो नहीं खा सकेगा। जैसे इच्छा को संस्कार की जरूरत है वैसे ही द्वेष के लिए भी संस्कार की जरूरत है। हम किसी के लिए चेष्टा या प्रयत्न भी मन होता है तभी करते हैं, गहरी नींद में मन नहीं है तो वहाँ कुछ प्रयत्न भी नहीं होता है। अतः आत्मा में संस्कारों की सहायता से इच्छा-द्वेष-प्रयत्न होते हैं। इसी प्रकार सत्संग के द्वारा जिसके अन्दर धर्म के संस्कार पड़े हुए हैं वही धर्म करेगा। लौकिक वार्ताओं से जिसमें अधर्म के संस्कार पड़े हुए हैं वह अधर्म करेगा। बिना संस्कार के न कोई धर्म करता है, न अधर्म ही कर पाता है। पुण्य-पाप की क्रिया करने से जो सूक्ष्म, अपूर्व, अदृष्ट उत्पन्न होता है वह धर्माधर्मरूप से आत्मा में गुण बना रहता है। इसी प्रकार सुख हम ही भोगेंगे धर्म के परिणाम से और अधर्म के परिणाम से असुख अर्थात् दुःख भी हम ही भोगेंगे। ज्ञानादि के संस्कार भी हममें, आत्मा में ही रहेंगे। इसलिए आत्मा के ही ये सारे विशेष गुण हैं। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और संस्कार—ये नौ विशेष गुण हैं आत्मा के। इनसे अतिरिक्त, संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग ये सामान्य गुण भी आत्मा में हैं अतः आत्मा के कुल चौदह गुण हैं।।८९।।

नित्य आत्मा में अनित्य गुणों के उत्पत्ति-विनाश में मनःसम्बन्धरूप कारण बताते हैं—

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः।
जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात्।।९०।।

आत्मा का मनसे संयोग होने पर अपने (आत्मा के) अदृष्ट (धर्माधर्म) के अनुसार ये गुण पैदा होते हैं तथा सुषुप्ति में अदृष्ट क्षीण होने से (विशेष) गुण लीन हो जाते हैं।

ये गुण हमेशा तो रहते नहीं; कभी ज्ञान है, कभी इच्छा है, कभी प्रयत्न है इत्यादि। कभी कोई तो कभी कोई, इसी तरह सब रहते हैं। कब रहेंगे, कब नहीं रहेंगे—इसका कारण धर्माधर्म हैं। हमने जो पुण्य और पाप पहले किए हैं, वे हमारे आत्मा में हैं, जिस समय उनको फल देना है उस समय मन जुड़ने से यथोचित गुण वे धर्माधर्म ही पैदा करते हैं। जब धर्म फल देने वाला होगा तब हमें सुखी करेगा, जब अधर्म फल देने वाला होगा तब दुःखी करेगा। यदि संस्कार मजबूत है तब प्रयत्न करवाता है, यदि संस्कार कमजोर है तो व्यक्ति प्रयत्न ही नहीं करता। जिसमें शास्त्र के संस्कार दृढ हैं वह धर्म के लिए प्रयत्न करता है, पाप के संस्कार वाला अधर्म के लिए प्रयत्न करता है। संस्कार के कारण इच्छा या द्वेष आने पर भी उनके अनुसार चेष्टा करें या न करें—यह इस पर निर्भर करता है कि हमारा संस्कार कितना बली है। जिस समय यथार्थ वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति होती है तब मन के अन्दर सत्त्वगुण की प्रधानता चाहिए। तभी जो चीज़ जैसी है उसका वैसा पता लगता है। जिस समय सत्त्वगुण की प्रधानता नहीं होती उस समय इच्छा-द्वेष के अनुसार चीज़ पर रंग चढ़ जाता है! अपने पुत्र को देखते हैं तो राग होने से सुन्दर ही लगता है और दुश्मन का लड़का सुन्दर होने पर भी बदसूरत ही दीखता है। लगता है कि 'ज्ञान' हो रहा है लेकिन वह ज्ञान है नहीं, भ्रम है। ज्ञान तभी होगा जब सत्त्वगुण की प्रधानता हो। अदृष्ट के कारण जब मन और आत्मा का सम्बन्ध होता है तभी ये गुण उत्पन्न होते हैं। अतः जब अदृष्ट लीन हो जाता है, सुषुप्ति अवस्था होती है, तब मनःसम्बन्ध से ज्ञानादि भी नहीं होते। सुषुप्ति में धर्म और अधर्म कोई फल देते नहीं। सुषुप्ति काल में आत्मा में ज्ञानादि गुण लीन होकर रहते हैं।।९०।।

ज्ञानरूप न होने पर भी आत्मा चेतन कहा-समझा जाये यह उचित है क्योंकि ज्ञानादि उसी के धर्म हैं यह उक्त वादी बताते हैं—

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान्।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः।।९१।।

चेतनावान्, इच्छा-द्वेष-प्रयत्नवान् होने से, धर्म-अधर्म का कर्त्ता होने से एवं दुःखादि वाला अतः भोक्ता होने से आत्मा चेतन है।

यद्यपि वेद आत्मा को ज्ञान कहता है तथापि प्रभाकर उसे ज्ञानवान् मानता है किंतु वेदविरोध ऐसे बचाता है कि जैसे 'लाल' गुण के कथन से उस गुण वाले कपड़े आदि गुणवान् को कहते हैं वैसे वेद ने ज्ञानवान् को ही ज्ञान कहा है। आत्मा चेतन तो है लेकिन चेतनस्वरूप नहीं वरन् चेतनावान् है। किं च इच्छा, द्वेष, प्रयत्न वाला भी होने से उसे चेतन कहना उचित है। कर्त्ता-भोक्ता है इससे भी आत्मा चेतन कहलाता है। धर्म का कर्त्ता होने से सुख का भोक्ता, अधर्म का कर्त्ता होने से दुःख का भोक्ता बनने वाला है आत्मा ही। वास्तव में, सोद्देश्य क्रिया के प्रति ही कर्तृत्व कहना बनता है क्योंकि वहीं आत्मा (जीव) का स्वातंत्र्य व्यक्त होता है। अन्यत्र, शरीर क्रियावान् बनने से आत्मा में कर्तृत्व स्वीकारा भले ही जाये, उल्लेख के योग्य नहीं है। इसलिए यहाँ धर्म-अधर्म का ही कर्त्ता कहा। जैसे जो पौष्टिक वस्तु नहीं वह खायी हुई भी नहीं खायी जैसी है वैसे जो धर्म या अधर्म नहीं वह न किये जैसा ही है। ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न वाला होने की तरह दुःख-सुख वाला होने से भी चेतन कहलाता है। लोक में जो सुखी-दुःखी होते हैं ऐसों को चेतन स्पष्ट समझते हैं, पेड़-पौधों में सुख-दुःख हमें प्रतीत नहीं होता तो उन्हें चेतन भी हम स्वानुभव से नहीं, शास्त्रादिवश ही मानते हैं। भोग तो सुख-दुःख का ही कहलाता है, खीर-वस्त्रादि का भोग औपचारिक है, तन्निमित्तक सुखादि के निमित्त से कहा जाता है। ऐसा कर्तृत्व-भोक्तृत्व ईश्वर में नहीं, जीवात्मा में ही है। प्रभाकर न सही, तार्किक ईश्वरात्मा का भी विचार करता ही है। ईश्वर से पृथक् जीव में अनित्य कर्तृत्वादि उसे मान्य हैं। इसी की सूचना के लिए 'दुःखादि' यों दुःखका उल्लेख है।।९१।।

विभु भी आत्मा देह-देहान्तरका ग्रहण-त्याग कर सकता है यह समझाते हैं—

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम्।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते।।९२।।

जैसे यहाँ कर्म के प्रभाव से कभी-कभी सुखादि होते हैं वैसे कर्म से ही लोकांतरवर्ती शरीर में इच्छादि पैदा हो जाते हैं।

आत्मा व्यापक है यह सभी आस्तिक मानते हैं। वेदादि में यहाँ से स्वर्ग जाने की बात, ब्रह्मलोक आदि जाने की बात आती है। अगर पहले ही व्यापक है, पहले से ही वहाँ है तो जाएगा कैसे? आत्मा को व्यापक मानने से यह दोष झट लोगों को दीखता है। आत्मा व्यापक है तो जाना-आना कैसे बनेगा? इसका समाधान समझने के लिए दृष्टांत का सहारा लेना चाहिए—घड़े में जो आकाश है, उसके अन्दर तुमने बढ़िया धूप जला करके घड़े का मुँह बन्द कर दिया। घड़े के आकाश में धुँआ भर जाता है। घड़ा उठाकर तुम आधा मील आगे गए। आकाश तो व्यापक है इसलिए आकाश 'वहाँ' से 'यहाँ' आएगा नहीं। और आकाश में ही धुँआ है। जब आकाश नहीं आया तो धुँआ भी न आवे! किंतु वहाँ जाकर खोलते हो

तो धुँआ वहाँ पर मिलता है। आकाश के अन्दर जो धुँआ वह आकाश के न गमन करने पर भी उपाधि घड़े के गमन के कारण गमन कर जाता है। इसी प्रकार से अणु-जितना मन जिस स्थूलदेह के अंदर आत्मा से संयोग वाला है उसमें सुख-दुःख पैदा हो जाने से वहाँ आत्मा है—यह व्यवहार निर्बाध है। इस वर्तमान शरीर में पृथ्वी पर मनुष्य लोक में आत्मा है यह व्यवहार भी इसी से है कि कर्मवश मन वहाँ है, ऐसे ही कर्मवश मन लोकांतर में देहान्तर में पहुँचने से 'आत्मा वहाँ है' ऐसा व्यवहार संपन्न हो जाता है। यहाँ पृथ्वी लोक में आत्मा के व्यापक होने पर भी क्योंकि इस शरीर में मन के संयोग से इच्छा, प्रयत्न उत्पन्न हो रहे हैं इसलिए आत्मा को यहाँ कहते हैं। इसी प्रकार जब स्वर्गलोक के शरीर में आत्म-मनःसंयोग से इच्छा प्रयत्न आदि उत्पन्न होते हैं तब कहा जाता है कि 'वहाँ जन्म हो गया।' इच्छादि की तरह सुखादि जीव में कभी-कभी ही होते हैं क्योंकि अदृष्ट कभी-कभी ही फलोन्मुख होता है। इसी तरह लोकान्तर में उपभोग्य कर्म फलोन्मुख होने पर वहाँ के शरीर से परिसीमित आत्मा से मन जुड़कर वहाँ आत्मा कभी-कभी सुखादि भोगता रहता है। जैसे आकाश में रहने वाले धुँए को गमन करने के लिए आकाश के गमन की जरूरत नहीं, जो उपाधि घड़ा है, उसी के जाने से धुआँ वहाँ पहुँच जाता है, इसी प्रकार आत्मा के गमन न करने पर भी स्वर्गलोक के अन्दर मन का संयोग किसी शरीर में हो गया इसलिए भू-लोक वाला आत्मा स्वर्गस्थ हो गया—ऐसा व्यवहार संगत हो जाता है। तार्किक आदि के मत में जीवात्मा अनन्त हैं और प्रतिजीव एक-एक मन नियत है, उसी के संयोग से उस आत्मा में ज्ञानादि पैदा होते हैं। जिस जीव का मन जहाँ पहुँचकर संयोगी होगा, आत्मा भी वहीं मान लिया जायेगा। इस प्रकार मन के गमनागमन से व्यवस्था हो जाती है, आत्मा विभु बना रहता है। यहाँ आचार्य ने कर्म से इच्छादि की उत्पत्ति कहकर सूचित किया कि यदि कोई वादी मन को भी व्यापक माने या मन का गमनादि न माने तो भी कर्म इसके लिए पर्याप्त है कि कहाँ आत्मा में इच्छादि होंगे। आखिर मन जाने के लिए भी निर्भर कर्म पर ही हैं तो सीधे ही कर्म से व्यवस्था स्वीकारी जा ही सकती है। हर हालत में विभु आत्मा स्वीकारने से लोक-लोकान्तर जाने-आने की व्यवस्था में असुविधा नहीं।।९२।।

उक्त उपपत्ति का लाभ स्पष्ट करते हैं—

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ।
कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन्।।९३।।

इस प्रकार सर्वगत आत्मा के भी गमन-आगमन संभव हैं जिस बात में सारा कर्मकाण्ड प्रमाण है। ऐसा उन प्राभाकरादि का कथन है।

पूर्व-उपपादित व्यवस्था का लाभ है कि आत्मा विभु भी स्वीकार्य रहता है और कर्म-फल-भोग के लिए लोक-लोकान्तर में देह-देहान्तर की प्राप्ति भी स्वीकार्य रहती है। आत्मा का

कर्मवश गमनागमन है यह कर्मकाण्ड से प्रमाणित है। यदि आत्मा कर्त्ता न होता तो उसे शास्त्र यागादि करने को कहता नहीं एवं यदि वह भोक्ता न होता तो शास्त्र के कहने पर भी करता नहीं! फलभोग के लिए ही कर्म किया जाता है। फल के साधन का प्रकाशन वेद करता है, फलेच्छा होने पर साधनानुष्ठान की इच्छापूर्वक तदर्थ चेष्टा होती है। एवं च कर्म-फल के संबंध का ज्ञान, फलादि की इच्छा और तदनुसार चेष्टा-पूर्वक सुखादि का भोग आत्मा करता है यह तार्किक को वेदसंमत प्रतीत होता है। विभु होने से मुख्य गमन-आगमन न सही, मनोगमन से या कर्मवश स्थल-विशेष में व्यवहार-योग्यता के आधार पर गौण जाना-आना संगत ही है। वेदान्त-स्वीकृत न होने पर भी तार्किक को सही लगने से कर्मकाण्ड को इस बारे में 'प्रमाण' वह कहता है यों 'अवदन्' से इस पक्ष में स्वारस्य नहीं यह सूचित है।।९३।।

कोशव्यवस्था के अनुसार प्रभाकरादि के आत्मा का स्थान समझाते हैं—

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते।
अस्पष्टचित् स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः।।९४।।

सुषुप्ति में जो आनन्दमय कोश बचा रहता है, जहाँ चैतन्य (ज्ञान) स्पष्ट नहीं होता, वह (प्रत्यग्दृष्टि से) पहला कोश इन प्राभाकरादि के मत में आत्मा है जिसके ज्ञानादि पूर्वोक्त गुण हैं।

श्लोक ७७ में आनन्दमय कोश कहा था। अन्नमय से प्रारंभ कर आनंदमय अंतिम होने पर भी प्रत्यगात्मा से प्रारंभ करें तो आनंदमय पहला कोश है। स्वप्न में अन्नमय छूट चुकता है, सुषुप्ति में प्राण-मनो-विज्ञानमय भी छूट जाते हैं अतः केवल आनंदमय कोश बचता है। और वह 'अस्पष्ट चित्' होता है अर्थात् उसके अन्दर चेतना का स्पष्ट भान नहीं रहता है। यद्यपि तार्किक के मत में तो वहाँ चित् या ज्ञान रहता ही नहीं तथापि प्रभाकर के मत में अस्पष्ट, कारणरूप, शक्तिशेष रहता है। हर हालत में, चैतन्य तब स्पष्ट नहीं रहता यह तो दोनों मतों में स्वीकार है। साधारण दृष्टि से भी गहरी नींद में ज्ञान स्पष्ट, साफ नहीं होता। नहीं जानने का और आनन्द का भान तो रहता है परन्तु स्पष्ट भान नहीं होता। जाग्रत् के अन्दर बुद्धिवृत्ति है इसलिए यहाँ स्पष्ट भान होता है, सुषुप्ति में बुद्धिवृत्ति नहीं अतः स्पष्टता नहीं। तार्किकादि के अनुसार अदृष्ट अनुकूल न होने से स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। यह आनन्दमय कोश उक्त ढंग से प्रभाकर आदि को स्वीकार आत्मा है। उसी के ये ज्ञान आनन्द आदि जितने गिनाए, सब गुण हैं। आनन्दमय में अप्रकट होने पर भी अदृष्टवश या तत्सहकृत मनोयोगवश प्रकट उसी में होने से गुण उसी के हैं। यहाँ तक मीमांसकों में प्राभाकरों का मत बतलाया।।९४।।

आत्मा के अचिद् आदि तीन स्वरूपों का उल्लेख किया था (श्लो.८७), उनमें अचित्

मानने वालों का मत बता चुके। अब चिदचित् (जड-चेतन) दोनों स्वरूप मानने वाले भाट्टों (कुमारिल भट्ट के अनुयायियों) के मत को उपस्थित करते हैं—

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम्।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः।।९५।।

जगे को होती याद के आधार पर स्वीकार्य (किंतु सुषुप्ति में) अस्पष्ट रहते ज्ञान पर विचार कर भट्टमतावलम्बी आत्मा को दोनों स्वरूपों वाला कहते हैं—जड और ज्ञान।

भाट्ट लोगों का कहना है कि आत्मा अस्पष्ट भान वाला और स्पष्ट भान वाला भी है। अस्पष्ट ही 'गूढ' चैतन्य कहा गया है। सुषुप्ति में चैतन्य है पर छिपा हुआ है। यद्यपि सुषुप्ति के समय 'मैं आनंद से सो रहा हूँ' यह स्पष्ट नहीं होता तथापि जागकर याद आने से 'जरूर आनंद से सोया था' यह मानना पड़ता है। अगर चैतन्यरूप ही होता तो सुषुप्ति में भी स्पष्ट पता चलता और जड ही होता तो स्मृति न होती। स्मृति से स्वीकार है कि संस्कार पड़े हैं जिनके लिए ज्ञान चाहिए। इससे भाट्ट ने नतीजा निकाला कि वह जड-स्वरूप भी है और बोधस्वरूप भी है, दोनों इकट्ठे ही है। सुषुप्ति में स्पष्ट भान नहीं होता क्योंकि जडस्वरूप है और जाग्रत् में स्पष्ट भान होता है क्योंकि बोधस्वरूप है। फिर गूढचित् की उत्प्रेक्षा क्यों? उत्थित अर्थात् जगे हुए को स्मृति आती है 'सुखसे सोया था।' स्मृति करता है 'मैं वहाँ बड़े आनन्द से सोया' अतः वहाँ उसने अनुभव किया ही होगा। इससे उसके ज्ञान की उत्प्रेक्षा हो जाती है। किंतु वहाँ कोई स्पष्ट भान नहीं था, इसलिए उसकी जड-स्वरूपता भी निश्चित हो जाती है। इस विचार से भाट्ट आत्मा को ज्ञान-अज्ञान उभयरूप मानते हैं।।९५।।

स्मृति दिखाकर जड-ज्ञान उभयरूपता उपपादित करते हैं—

जडो भूत्वा तदाऽस्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा।
विना जाड्यानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते।।९६।।

'तब जड हुआ सोया था' यों सौषुप्त जडता की स्मृति तब तक किसी तरह संगत नहीं जब तक तब (आत्मगत) जडता का (आत्मगत) ज्ञान न रहा हो।

'तदा' अर्थात् सुषुप्ति काल में जड होकर सोया था—ऐसा ही जगकर कहा करते हैं। अंग्रेज भी कहते हैं कि लकड़ी के शहतीर-सा सोया था अर्थात् जड हुआ पड़ा था। और, 'मैं जड हूँ' इस बात को जान भी रहा था तभी मैं उसको याद कर रहा हूँ। इस प्रकार, सुषुप्ति में—मैं जड होकर कुछ नहीं जान रहा था—यह जडता की स्मृति बिना जडता के अनुभव के संभव नहीं। तथा जडता का अनुभव था, इसी से जगकर स्मृति करता हूँ। जडता की स्मृति करने से उत्प्रेक्षा, संभावना होती है कि उस समय जान रहा था पर जडता को। और कोई जड वहाँ था नहीं अतः मैं ही जड भी अवश्य हूँ। अपने जडरूप को ही वहाँ जान रहा था अतः चेतन भी था ही। इसलिए उभयरूपता अंगीकार्य है।।९६।।

उभयरूपता में वाक्याभास भी भाट्ट उद्धृत करता है—

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम्।।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद् युतः।।९७।।

'सुषुप्ति में द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता' (बृ.४.४.२३) ऐसा वेद में सुना जाता है अतः यह आत्मा जुगनू की तरह अचित् और चित् दोनों से सम्पन्न है।

श्रुति ने कहा है कि द्रष्टा की जो दृष्टि है, जानने वाले का जो जानना है वह कभी भी खत्म नहीं होता। सोने पर भी उसकी दृष्टि का लोप नहीं होता। श्रुति के बल से और तत्कालीन सुख की स्मृति के बल से निश्चित है कि वहाँ दृष्टि थी, ज्ञान था। काहे का ज्ञान था? 'कुछ भी ज्ञान नहीं है'—इसका ज्ञान था! 'कुछ भी ज्ञान नहीं' यह जडता को बतलाता है। और इस बात का ज्ञान था—यह बोध-स्वरूपता को भी बतलाता है। इसलिए आत्मा अप्रकाशरूप भी है और प्रकाशरूप भी है। अगर ऐसा नहीं मानें, दृष्टि का लोप मान लेवें कि वहाँ वह जड ही रह जाता है, तो उसकी जडरूपता का साक्षी कौन होगा? साक्षी के बिना किसी वस्तु को मानना संगत नहीं। इस प्रकार चिदचिद्रूप आत्मा सिद्ध हुआ। इसमें जुगनू का दृष्टांत है। जुगनू का आधा भाग बगैर रोशनी का, आधा भाग रोशनी वाला होता है। एक ही जुगनू रोशनी-रूप और अँधेरारूप दोनों होता ही है। इसी तरह एक ही आत्मा ज्ञान-अज्ञान दोनों रूपों वाला है। यह चिदचिद् आत्मवादी भाट्टों का मत बताया।।९७।।

श्लोक ८७ में कहे तीसरे विकल्प को सांख्यमतानुसार व्यक्त करते हुए भाट्टमत में दोष भी दिखाते हैं—

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद् घटिष्यते।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः।।९८।।

(सांश जुगनू के दृष्टान्त से) निरंश आत्मा (ज्ञान-अज्ञान) दो विपरीत स्वरूपों वाला किसी तरह हो नहीं सकता इसलिए आत्मा चिद्रूप (ज्ञानरूप) ही है ऐसा सांख्यानुसार विवेक रखने वाले कहते हैं।

सांख्य का मतलब है भली प्रकार से जो किसी का ख्यापन करते हैं, ज्ञापन करते हैं। मनुष्य के मन का विश्लेषण जितना सांख्यवादियों ने किया उतना और किसी भारतीय दार्शनिक ने नहीं किया। सांख्य विवेकी हैं। भली प्रकार से किसी चीज़ को बतलाने के लिए उसके अन्दर जितनी घटक चीज़ें हैं उन सबको अलग-अलग करके जानना पड़ता है। पहले जिस चीज़ को 'एक' समझते थे उसका आधुनिक वैज्ञानिकों ने विश्लेषण कर पता लगाया तो उसमें कई प्रकार के अणु निकले। विवेकदृष्टि से वहाँ कई चीज़ें हैं, अविवेकवश 'एक' मानकर काम चलता है। जैसे स्थूल पदार्थों के बारे में आधुनिकों ने विश्लेषण किया ऐसे मन की वृत्तियों के बारे में सांख्यवादियों ने विश्लेषण करके देखा। एक संकेत समझ लेना

कि विवेक से चीज़ों का अलग-अलग ज्ञान तो होता है पर जीवन की वास्तविकता ओझल हो जाती है! वास्तविकता से हम दूर हो जाते हैं। आदमी बीमार होता है, चिकित्सक के पास जाता है, वह परीक्षा करके दवाई देता है। मनुष्य के अनेक अंग हैं। आधुनिक पद्धति में प्रत्येक विशेषज्ञ एक अंग या उसके भी एक भाग के बारे में तो जानता है लेकिन बाकी अंगों से लगभग अपरिचित रह जाता है। विवेक तो है, पर समग्र का अवबोध नहीं रहा। हरएक भाग में जानने को इतना ज्यादा है कि कोई एक व्यक्ति सबको जान सकता भी नहीं है। इसलिए जितनी-जितनी विशेषज्ञता बढ़ती जाती है उतना-उतना पूर्ण उपेक्षित हो जाता है। जीवन संश्लिष्ट है। सारी चीजों का परस्पर सन्तुलित संबंध रहते ही जीवन है। एकपक्षीयता रोग बन जाता है। उचित तो है कि हिस्से को भी जानें और पूर्ण को भी जानें। जितना जरूरी विवेक है उतना ही जरूरी संश्लेष भी है अर्थात् सारे ज्ञानों का जो मूल है उसको समझना। कपिल महर्षि के अनुयायियों ने विश्लेषण तो खूब किया लेकिन संश्लेषण नहीं कर पाए! चीज़ को भली प्रकार से विस्तार से तो बतलाते हैं परन्तु अलग-अलग करके ही।

उन्होंने कहा कि कुमारिल का कहना है कि एक ही चीज़ जड और चेतन दोनों है। इसमें दृष्टान्त उन्होंने जुगनू का दिया। जुगनू के अगले-पिछले हिस्से हैं इसलिए एक हिस्सा प्रकाशरूप हो गया, दूसरा हिस्सा प्रकाशरूप नहीं हुआ। पर आत्मा का कोई भी आस्तिक दर्शन अंश नहीं मानता। बिना अंश के कैसे कह सकते हो कि दोनों स्वरूप हैं? चीज़ निरंश होवे और उसके दो विरोधी स्वरूप होवें—यह कभी नहीं घट सकेगा, कभी नहीं हो सकेगा। जड आत्मा हो नहीं सकता क्योंकि चैतन्य अनुभूयमान है। जड तो प्रकृति है। इसलिए चैतन्य या ज्ञान ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।।९८।।

यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो सुषुप्ति में जडता का अनुभव कैसे? इस पर सांख्य कहता है—

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत्।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते।।९९।।

जडता वाला अंश प्रकृति का रूप है। वह परिवर्तनशील और त्रिगुणात्मक है। चिद्रूप आत्मा के भोग व मोक्ष के लिए वह प्रकृति प्रवृत्त होती रहती है।

सुषुप्ति में अनुभव होता है वहाँ स्थित जड प्रकृति का, उसी को वेदान्ती अज्ञान कहता है। गहरी नींद से उठने पर यही अनुभव होता है—'मैंने कुछ नहीं जाना।' जो 'कुछ नहीं' था जिसे जान रहे थे, वह जाड्यांश है, दृश्य है। आत्मा तो द्रष्टा, चिद्रूप ही है। अतः उन्होंने विवेक करके पाया कि जड और चेतन बिलकुल अलग चीज़ें हैं। जड प्रकृति है और चेतन आत्मा है। प्रकृति विकारी, विकारों वाली, बदलने वाली है। मैं जानने वाला तो जैसा हूँ वैसा ही रहता हूँ। सुषुप्ति में जिसको 'कुछ नहीं' जान रहा था उसे अव्यक्त कहते हैं, वहाँ प्रकट

कुछ नहीं है, वही बदलने वाली चीज़ है। सुषुप्ति में जो स्पष्ट नहीं था वही बुद्धि और मन के आने पर स्पष्ट हो जाता है। सारा संसार उस प्रकृति का, अव्यक्त का ही विकार है।

'कुछ नहीं' तो एक जैसा था, उसमें भेद न रहते उसी से इतनी तरह का संसार कैसे हो गया? अतः कहते हैं कि अव्यक्त के अन्दर तीन गुण हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। क्योंकि नींद के अन्दर वह साम्यावस्था में है इसलिए वहाँ हमें 'कुछ नहीं' लगता है। प्रकृति की साम्यावस्था ही अव्यक्त दशा है। ठीक जैसे रस्सा-कशी में दस आदमी इधर, दस आदमी उधर रस्सा खींचते हैं। जिस समय दोनों तरफ का तनाव एक जैसा होता है उस समय रस्सा हिलता नहीं, कोई आदमी भी हिलता नहीं, ऐसा लगता है 'ये खड़े हैं, कुछ नहीं कर रहे हैं।' पर 'कुछ नहीं' कर रहे हों—ऐसा नहीं है! पूरी ताकत बेचारे लगा रहे हैं फिर भी क्योंकि दोनों की ताकत उस समय एक-जैसी है इसलिए असर दिखाई कुछ नहीं पड़ रहा। इसी प्रकार सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण एक-दूसरे को ऐसे तनाव में रखे हुए हैं कि हमें वहाँ तीनों गुणों में से कुछ नहीं दिखाई देता, हैं वहाँ तीनों ही गुण। इसलिए थोड़ी देर में जब रस्सा खींचने वाले के एक दल का ज़ोर कमज़ोर पड़े तभी दूसरी तरफ खिंच जाता है। इसी प्रकार सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण में से जो गुण थोड़ा-सा बढ़े वह दूसरे दो गुणों को भी हिला देता है।

आखिर अव्यक्त करता क्यों है यह सब धन्धा? चेतन तो इसलिए करता है कि उसके अन्दर ज्ञान है, वह ज्ञानों को बदलना चाहता है। अव्यक्त तो जड है, वह काहे के लिए करता है? इस पर सांख्य कहते हैं कि जो आत्मा है, उसके लिए करता है। आत्मा चेतन है, उसको तरह-तरह के अनुभवों की प्राप्ति हो, उसको तरह-तरह का भोग हो, इसलिए प्रकृति यह सब करती है। केवल भोग ही नहीं, प्रकृति मोक्ष भी देती है। जब तक जीव विषयों की तरफ आकृष्ट होता है तब तक प्रकृति ही रजोगुण को बढ़ा कर भोग देती है और जब इसका भोग पूर्ण हो जाता है तब वह सत्त्वगुण को बढ़ाकर आत्मा को मोक्ष का अनुभव कराती है। चाहे भोग हो चाहे अपवर्ग मायने मोक्ष हो, दोनों देने वाली प्रकृति है। इसी आत्मा के लिए प्रकृति सारी प्रवृत्ति करती है।।६६।।

प्रकृति और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं और आत्मा स्वभाव से ही असंग है, फिर प्रकृति के प्रयास से आत्मा को भोग या मोक्ष मिलने में उपपत्ति क्या है? इसका उत्तर देते हैं—

असङ्गायाश्चितेर्बन्धमोक्षौ भेदाग्रहाद् मतौ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा।।१००।।

असंग भी चेतन (प्रकृति से अपना) भेद ग्रहण न करने के कारण बंधन और मोक्ष पाता है यह स्वीकार्य है। जैसे तार्किकादि, वैसे सांख्यवादी चेतनों में आपसी भेद मानते हैं ताकि कोई बद्ध और कोई मुक्त—यह व्यवस्था सम्पन्न हो।

चेतन को वेदादि शास्त्रों ने असङ्ग कहा है। इसमें सङ्ग (संबंध, प्रभाव) है नहीं तो भोग

कैसे होगा? जब तक कोई चीज़ तुम को अच्छी या बुरी न लगे, तब तक भोग हो नहीं सकता। आत्मा असंग है इसलिए इसे अच्छा लगना या बुरा लगना हो नहीं सकता, तो इसका भोग क्या है? इसके उत्तर में सांख्यवादी कहते हैं कि आत्मा के बन्धन और मोक्ष ये दोनों इससे होते हैं कि आत्मा यह समझता नहीं कि वह प्रकृति से अलग है। दृश्य जो प्रकृति, इससे मैं अलग हूँ, भिन्न हूँ—इस भेद का ज्ञान आत्मा को नहीं है इसलिए प्रकृति के विकारों को अपना विकार समझता है। मीठी चीज़ खायी, जीभ को मीठी लगी। जीभ को मीठा लगने को हम मान लेते हैं 'मुझे मीठी लगी।' ऐसे ही मन को अच्छी लगी संस्कारों के कारण और मन को अच्छी लगने पर हम मान लेते हैं 'हमें अच्छी लगी।' इसी प्रकार से यदि मुठ्ठी-भर नमक डाली हुई दाल परोस दी तो जीभ को खारी लगी, मन के अन्दर संस्कार है इसलिए मन को बुरी लगी, और मन से एक होकर हम कहते हैं 'हमें खारी लगी, बुरी लगी।'

जितने सुख-दुःखों के अनुभव हैं, विश्लेषण करो तो इंद्रिय या मन से स्वयं का भेद न देखने पर मिलेंगे। पदार्थ इन्हीं को अच्छे या बुरे लगेंगे लेकिन इनके साथ एक होने से हमें अच्छा या बुरा लगता है। चीज़ से हम अलग हैं परन्तु उसके साथ ऐसे एक हो जाते हैं, खुद को उससे एकमेक समझ लेते हैं कि उसके सुख-दुःख को हम अपना सुख-दुःख 'जानते' हैं। प्रकृति और पुरुष—इन दोनों का जो भेद उसका अग्रह है, ज्ञान नहीं है। इसलिए, प्रकृति जब तक भोगाकार होती रहती है तब तक बन्धन का अनुभव है और प्रकृति जब अपवर्गाकार हो जाती है तब मोक्ष का अनुभव है। बन्धन और मोक्ष ये व्यवस्थित होवें इसलिए प्रकृति ऐसा करती है। सचमुच में बन्धन व मोक्ष नहीं हैं परन्तु व्यवस्था ऐसी है कि जब तक प्रकृति से एक अपने को रखते हो तब तक बन्धन है और जब प्रकृति से अपने को अलग जान लेते हो तब मोक्ष है। अलग जनवाने वाली भी प्रकृति ही है! पुरुष के पास सिवाय प्रकृति के और कोई जानने का साधन नहीं है। सुख-दुःख भोगने के लिए शरीर और मन के अलावा और कोई हमारे पास साधन नहीं है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि के सहारे ही हम कुछ भी जान सकते हैं। इनके सहारों के बिना कुछ नहीं जान सकते। ये सहारे प्रकृति ही हैं। इसलिए प्रकृति ही बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था करती है।

व्यवस्था प्रकृति इसलिए कर पाती है कि सांख्यों के मत में हर-एक चेतन अलग-अलग है। देवदत्त का चेतन अलग, यज्ञदत्त का चेतन अलग, भानुदत्त का चेतन अलग। इसलिए किसी चेतन को बन्धन देती है, किसी चेतन को मोक्ष देती है। प्रभाकर, नैय्यायिक और कुमारिल, जिनके मतों का पूर्व में प्रसंग आया, वे जैसे आत्मभेद मानते हैं, वैसे ही सांख्यवादी भी। सामान्य दृष्टि से जीवों का भेद माने बिना कर्म-व्यवस्था बनती नहीं। कोई अच्छा कर्म करता है तो अच्छा फल पाता है, बुरा कर्म करता है तो बुरा फल पाता है। वैसे ही बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था के लिए आत्मभेद चाहिए। कोई बद्ध है, कोई मुक्त है—यह तभी हो सकता है जब उनकी आत्माएँ अलग होवें।। १००।।

असंग पुरुष के लिए प्रवृत्त होती प्रकृति का कहीं वेद में उल्लेख नहीं है इस शंकाको मिटाने के लिए सांख्य भी वाक्याभास का वेद में उल्लेख दिखाता है–

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते।
श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटा।।१०१।।

'महान् से परे अव्यक्त है' (कठ.३.११) यों वेद में प्रकृति कही गयी है। इसी प्रकार 'यह पुरुष असंग है' (बृ.४.३.१५) यह कहने से पुरुष की असंगता स्पष्ट कही गयी है।

कठोपनिषत् में महत् अर्थात् हिरण्यगर्भ से परे अव्यक्त अर्थात् ईश्वर बताया गया है। सांख्यवादी ने प्रकृति को अव्यक्त और उसके प्रथम विकार को महत्तत्त्व परिभाषित किया हुआ है। वह स्वमतानुसार उपनिषत् में महत् से परे कहे अव्यक्त को प्रकृति मानकर वाक्य उद्धृत कर रहा है। ब्रह्मसूत्रों में (३.३.७.१४) स्पष्ट किया है कि आत्मबोधार्थ ही यह प्रसंग है, महत् से परे प्रकृति बताना तात्पर्य नहीं है। तथापि सांख्यवादी का अभिप्राय है कि जहाँ सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण तीनों में से कोई भी व्यक्त नहीं है उसे अव्यक्त शब्द से कहते हैं। इसी को सांख्य लोग प्रकृति कहते हैं। अतः वेदों में प्रकृति को अव्यक्त कहा है। यों जैसे प्रकृति को श्रुति ने कहा है वैसे ही चेतन जो पुरुष है उसे असङ्ग कहा है। श्रुति के अन्दर चेतन को स्पष्ट असंग कहा है। चेतन की असंगता होने से सांख्य कहते हैं कि उसके बन्धन-मोक्ष नहीं हैं। इसी तरह, सारा बन्धन व मोक्षरूप संसार व्यक्त होता है उस अव्यक्त से, इसलिए सारा प्रकृति का खेल है।

दोनों अलग हैं तो हमें बन्धन और मोक्ष का अनुभव क्यों? प्रकृति के खेल से एक हो जाने के कारण। कुछ लोग नाटक देखने या आजकल सिनेमा देखने जाते हैं। कोई बड़ा दुःखान्त नाटक होता है तो वे रोने लगते हैं। रोने का कोई कारण तो वहाँ है नहीं, क्योंकि जो खेल दिखा रहे हैं उनके ऊपर कोई सच्चा दुःख तो होता नहीं है। पर नाटक इतना बढ़िया करते हैं कि उसके साथ आदमी एकतान होकर उस दुःख से दुःखी हो जाता है। अभिनेता तो नहीं रोता, दर्शक रोने लगते हैं! अथवा नाटक में कोई अत्यन्त दुष्ट व्यवहार करे तो दर्शक हाथ उठाने लगते हैं, उन्हें जोश आने लगता है कि 'मार के ठीक कर दें इसको'। कभी-कभी तो हमने ऐसा देखा है कि लोग उपन्यास पढ़ते-पढ़ते रोने लगते हैं। निश्चित पता है कि उपन्यास के पात्र सब कल्पित हैं, उनको कोई दुःख होना संभव नहीं है। परन्तु कल्पित पात्रों के साथ ऐसे एकतान हो जाते हैं कि भूल जाते हैं कि उपन्यास ही है। इसी प्रकार प्रकृति का खेल देखने में पुरुष इतना तल्लीन है कि उसके साथ एक होकर, मन दुःखी हुआ तो खुद भी रोने लग जाता है, मन सुखी हो गया तो खुद भी हँसने लग जाता है, खुद भी प्रसन्न हो जाता है। अतः अपनी असङ्गता को, प्रकृति से स्वयं को अलग करके न जानने के कारण बन्धन-मोक्ष के अनुभव हैं। यह सांख्यवादियों ने अपना पक्ष रखा।।१०१।।

स्वयम् व अहम् के भ्रमसिद्ध अभेद को श्लो.४६ में बताकर श्लो.६० से जीवात्मा के बारे में मत एकत्र किये। अब ईश्वर के बारे में विचार करते हैं। यद्यपि नैयायिक का भी ईश्वर के विषय में चिंतन है तथापि उसे श्लो.२०७ में बतायेंगे। प्रारंभ योगमत से करते हैं—

चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम्।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतेः।।१०२।।

चेतन की निकटता में प्रवृत्ति करने वाली प्रकृति का नियमन करने वाले को योगी ईश्वर कहते हैं और वेदानुसार उसे जीवों से अलग बताते हैं।

पतंजलि महर्षि के अनुयायी प्रकृति पुरुषों के लिए करे यह तो अंगीकार कर लेते हैं लेकिन प्रकृति को जड देखकर इसकी व्यवस्थित प्रवृत्ति के लिए नियमनकर्त्ता चेतन आवश्यक समझकर उसे जीवों से वस्तुतः भिन्न ईश्वर स्वीकारते हैं। महल आदि व्यवस्थित कार्य देखकर चेतन द्वारा रचित, संचालित ही उसे माना जाता है, स्वयं ईंट-पत्थर जुड़कर महल बना होगा—ऐसी कल्पना नहीं होती। ऐसे ही जगत् के रचयिता व संचालक चेतन को समझना स्वरस है, जड प्रकृति का स्वयमेव प्रवृत्त होना असंगत है। चित् या चेतन की संनिधि, निकटता में प्रकृति प्रवृत्त हो इसमें दोष नहीं लेकिन प्रवृत्त करने वाला चेतन जरूरी है। संसार की प्रक्रिया इतनी व्यवस्थित एवं संतुलित है कि इसे जड की क्रियाशृंखला हृदय से कोई नहीं जान पाता। सभी सामान्य व्यवहारों में यही बात है कि जहाँ चीज़ें अव्यवस्थित हों, चाहे जैसी पड़ी हुई हों, वहाँ तो लग सकता है कि उड़-उड़कर आ गई होंगी लेकिन बिलकुल तरतीब से लगी हुई हों तो ऐसा नहीं समझ में आता कि 'ये अपने आप यों सजी होंगी।'

एक वकील थे। उन्होंने निर्णय कर रखा था कि भगवान् कुछ नहीं है। उनकी पत्नी भगवान् की बड़ी भक्त थी। दोनों में कई बार बातचीत होती थी, पर मतभेद बना रहा। उनका बच्चा बड़ा होने लगा तो माँ उसकी अँगुली पकड़ कर मन्दिर ले जाती और पिता उससे कहते 'अरे, तू इसको बिना मतलब अन्धविश्वासी बना रही है; मन्दिर में ले जा रही है, पूजा करवा रही है, जप करवा रही है; ये सब क्यों? बच्चा बिगड़ जाएगा, अन्धविश्वासी हो जाएगा।' माँ कहे 'आप इसे समझा दो कि यह अन्धविश्वास है।' पिता उसको समझाता रहे लेकिन माँ प्रेम से उसमें संस्कार डालती रही। धीरे-धीरे वह कालेज में पहुँच गया फिर भी मन्दिर जाए, पूजा करे, जप करे। कई तरह से बाप उसको समझावे, लड़का पिता जी को जवाब तो नहीं देवे पर मन में जाने कि 'ये भी ठीक समझते तो अच्छा था।' एक दिन पिता जी अदालत से वापिस आए, अपने ऑफिस में गए तो देखा एक बड़ा सुन्दर मोर का चित्र बना हुआ है। रंग खूब अच्छी तरह से भरे हुए हैं। देख कर उन्होंने पूछा 'मेरे ऑफिस में कौन आया था?' पत्नी ने कहा 'जी, आप ताला बंद करके गए थे। तब से ताला बंद है। कोई नहीं आया।' 'आया कैसे नहीं! यह मोर यहाँ कैसे आ गया?' पत्नी ने कहा 'आ

गया तो आ गया, मैं क्या करूँ इसमें!' वे कहने लगे—'अरे! यह तो गजब हो गया। आज तो कागज आया है, कल हमारी फाईलें गायब होने लग जाएँगी। पता लगाओ क्या हुआ।' चारों तरफ खूब हल्ला मचा। घर के नौकर-चाकर सब पता लगाने लगे कि क्या हो गया, कैसे हो गया, कौन आया। कालेज से लौटा तो लड़के ने कहा 'पिता जी, कोई आया लगता नहीं है, आपकी खिड़की खुली रह गई थी और अपने सामने रंगों की दुकान है। सादा कागज़ आपके टेबल के ऊपर कई बार पड़ा ही रहता है। वहाँ से रंग उड़-उड़ कर आए और मोर बन गया। यही हुआ होगा, और कोई आदमी तो आया नहीं।' वे बाले—'मुझे बुद्धू बनाता है! मैं इतना बड़ा वकील हूँ। ऐसे उड़-उड़ कर आकर चित्र कैसे बन जाएगा?' उसने कहा 'पिता जी, जैसे परमाणु उड़-उड़ कर आए और हम सब बन गए। इतने व्यवस्थित हम लोग बन गए। आखिर ज़िंदा मोर भी तो बना ही है। जो जड प्रकृति बिना किसी चेतन के हम सबको बना सकती है, उस जड प्रकृति ने एक यह चित्र बना दिया तो आपको इतना आश्चर्य क्यों?' बात पिता के मन में लग गई कि ठीक कह रहा है।

हम देखते हैं कि इतनी व्यवस्थित प्रकृति है, फिर कैसे मान सकते हैं कि बिना किसी के बनाए संसार बन गया! कोई न कोई इसको नियन्त्रित करने वाला होना चाहिए। पतञ्जलि महर्षि के अनुयायी कहते हैं कि प्रकृति पर नियन्त्रण करने वाला परमेश्वर है। करेगी प्रकृति ही, लेकिन ईश्वर नियामक है, इसलिए सब चीज़ें ढंग से प्रकृति कर पाती है। सांख्यवादी कहते हैं कि जीव को ही नियामक मान लो, जीव ही उसका नियन्त्रण कर लेवे। इस पर योगी कहते हैं कि वेद के अन्दर ईश्वर को जीवों से अलग बतलाया है। जीव प्रकृति के अधीन है और परमेश्वर के अधीन प्रकृति है। इसलिए वह कोई जीव तो हो नहीं सकता जो इस सारी सृष्टि का नियामक है। अतः उसको जीवों से अलग ही मानना पड़ेगा। यों निरीश्वर सांख्यमत का योगी निषेध कर ईश्वर अंगीकार करते हैं।।१०२।।

'श्रुतः' पूर्व श्लोक में कहा, उस वेदवचन का ही उल्लेख करते हैं—

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः।
आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः।।१०३।।

'प्रधान और क्षेत्रज्ञ का पति गुणेश है' यह प्रसिद्ध मंत्रवचन है। बृहदारण्यक में आदरपूर्वक अन्तर्यामी समझाया ही गया है।

श्वेताश्वर की श्रुति है 'स विश्वकृद् विश्वविद् आत्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः। प्रधान-क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबंधहेतुः' (६.१६) इसमें 'प्रधान' शब्द आया जिससे सांख्य व योगी प्रकृति को कहते हैं। प्रधान का मतलब होता है 'प्रकर्षेण धीयते अस्मिन् इति प्रधानम्' जिसके अन्दर सब चीज़ें ठीक प्रकार से व्यवस्थित होवें, धारण कराई जाएँ। जैसे, राष्ट्र का प्रधान राष्ट्रपति; जब वह प्रधानमंत्री को शपथ दिलाएगा तब कोई प्रधानमंत्री बनेगा। प्रधानमंत्री बनाने की शक्ति किसकी? राष्ट्रपति की। प्रधानमंत्री बना तो

सब विभागों का मालिक है। उनमें से जिस-जिस विभाग को अपने मंत्री को देगा उस-उस का काम करने वाला वह हो जाएगा। जब तक दूसरे को नहीं बनाया तब तक अधिकार किसमें? प्रधानमन्त्री में निहित है। इसीलिए उसको प्रधानमंत्री कहते हैं। कोई मन्त्री मर जाता है, किसी को निकाल दिया जाता है तो उसके विभाग को लेने के लिए प्रधानमंत्री को अलग से कुछ नहीं करना पड़ता। कोई मर गया या छोड़ गया तो सभी विभागों का प्रधान वह है ही। ठीक इसी प्रकार से प्रकृति के अन्दर सब चीज़ें करने की सामर्थ्य है, प्रकृति सब कुछ करती है। अतः मंत्र ने जब कहा प्रधानपति—प्रधान का अर्थात् प्रकृति का मालिक, तो स्पष्ट किया कि ईश्वर के पतित्व, नियामकत्व में ही प्रधान करता है।

खाली प्रधान का ही मालिक नहीं है, क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव का भी वही पति है। हमारे यहाँ शरीर को क्षेत्र कहते हैं। क्षेत्र मायने खेत। शरीर एक खेत है क्योंकि इसमें हम पुण्य और पाप की खेती करते हैं और वे जब फलरूप में परिणत होते हैं तब उनका हम भोग करते हैं। शरीर अच्छा या बुरा करने का खेत है। जैसे खेत में खेती करते हो और फिर गेहूँ चावल इत्यादि जो पैदा हुआ उसका भोग करते हो, इसी प्रकार इस शरीर के अन्दर पुण्य-पाप करते हो और फिर सुख-दुःख भोग करते हो। इसलिए इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र को जो अपना स्वरूप जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। शरीर से यहाँ स्थूल शरीर ही नहीं, सूक्ष्म शरीर भी साथ में समझना अर्थात् मन प्राण ये सब भी क्षेत्र हैं। 'ये दोनों शरीर मेरे हैं' इस प्रकार शरीर के साथ एक होकर जो स्वयम् को जानता है वह क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा है। परमेश्वर केवल प्रकृति का मालिक नहीं, जीवों का भी मालिक है। इसलिए किस जीव को ऊपर ले जाना है, किस जीव को नीचे ले जाना है—इत्यादि सब उसके अधीन है।

वह इस कार्य को करता है प्रकृति के द्वारा इसलिए अज्ञानी जीव को लगता है कि 'मैं रसगुल्ला खाना चाहता हूँ'—अर्थात् मेरी इच्छा है रसगुल्ला खाने की। किंतु यह सच्ची बात नहीं है! तुम्हारे अन्तःकरण में, चित्त में अनेक संस्कार पड़े हुए हैं। उनमें 'रसगुल्ला खाकर मज़ा आया था'—इसका भी संस्कार पड़ा हुआ है। अन्तःकरण है तो प्रकृति। परमेश्वर तुम्हारे उस संस्कार को जगा देते हैं तो संकल्प बनता है—'रसगुल्ला बड़ा अच्छा होता है खाना चाहिए।' तुम जाकर रसगुल्ला खाते हो बड़े खुश होते हो, कि इच्छा पूरी हुई। परन्तु हुआ क्या? परमेश्वर ने जब प्रकृति के उस संस्कार को तुम्हारे सम्मुख करवा दिया तब लगा 'मैंने किया, मेरी इच्छा थी।' जब रसगुल्ला खिलाना होगा तब ईश्वर रसगुल्ले का संस्कार आगे कर देगा, जब करेला खिलाना होगा तब करेले का संस्कार आगे कर देगा कि 'बड़ी अच्छी चीज़ है करेला, खून साफ करती है।' उस समय रसगुल्ला याद नहीं आएगा। इस प्रकार प्रकृति के द्वारा वह जीव का नियामक है। आत्मा का नियामक सीधे तो हो नहीं सकता, लेकिन क्योंकि आत्मा शरीर-मन-रूप प्रकृति के साथ अपने को एक समझता है इसलिए शरीर-मन पर नियंत्रण से ईश्वर जीव पर नियंत्रण कर लेता है। यह शासन का उत्तम तरीका है। 'मैं कहता हूँ इसलिए तुम करो, मेरा हुक्म मानो'—यह शासन का अच्छा तरीका नहीं

है। तुम्हें लगे कि 'यह करना ही अच्छा है' और तब करो तो उत्तम शासन है। फौज का भी अनुशासन है, वहाँ सब को बिलकुल ठीक से रखते हैं। और एक है गुरु का, शिक्षक का अनुशासन। शिक्षक, गुरु डण्डे मार कर नहीं करवाता, वह तुम्हें समझा देता है, तुम्हारे मन में जँचा देता है कि यही करना ठीक है तो तुम समझते हो 'यही मुझे करना चाहिए।' डर से जो शासन होता है वह जैसे ही डर हटता है वैसे ही दूसरा आचरण करने में रुकावट नहीं बनता क्योंकि मन से तो कर नहीं रहे थे! पुराने संस्कारी घरों में बच्चों पर शासन था कि प्रातः जप-पूजा न की तो दूध-नाश्ता नहीं मिलेगा। जब तक बुजुर्गों का नियमन चला तब तक पूजा चली भी, लेकिन उनका डर हटते ही समाप्त भी हो गयी। परन्तु जब शिक्षा ठीक से मिल जाए, संस्कार बन जाएँ कि भगवान् की पूजा करके दिन प्रारम्भ करना ही ठीक काम है तब कभी तुम पूजा छोड़ नहीं सकते। ऊपर से दण्ड किसी का नहीं रहे तब भी अन्दर से संस्कार रहता है कि 'बिना पूजा किये हम स्वयं नहीं खा सकते, नहीं पी सकते।' जो अनुशासन शिक्षा से आता है वही असली होता है।

परमेश्वर का ऐसा अनुशासन है। तुम्हें लगने नहीं देता कि उसने जबरदस्ती तुमसे कुछ करवाया। परमेश्वर मन में ऐसे संस्कारों को जगा देता है कि तुम अपने-आप उसके संकल्प का अनुपालन करते हो, सोचते हो 'मैं ही तो कर रहा हूँ।' परमेश्वर प्रधान का साक्षात् पति है और क्षेत्रज्ञ का पति है क्षेत्र के द्वारा। क्योंकि जीव क्षेत्र से स्वयं को अभिन्न जानता है इसलिए क्षेत्र का नियन्त्रण करने से क्षेत्रज्ञ का नियन्त्रण हो जाता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है इसलिए ईश्वर गुणेश भी है। कभी सत्त्वगुण को बढ़ा देगा, उसी के अनुसार तुम अपने सब काम करने लगोगे। गुणों का नियामक है और गुणों के नियमन द्वारा क्षेत्रज्ञ का नियामक हो जाता है यह बात श्रुति ने ईश्वर के बारे में कही है।

केवल श्वेताश्वतर की ही श्रुति नहीं, बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर (३.७) एक अन्तर्यामी ब्राह्मण है। उसके अन्दर एक-एक चीज़ का नाम लेकर कहा है कि उस अंतर्यामी को वे चीज़ें नहीं जानतीं, वह उन चीज़ों को जानता है और प्रवृत्त करता है। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीम् अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः' से शुरू कर यह वर्णन है। गिने तो वहाँ उन्नीस पदार्थ हैं लेकिन सभी कुछ अभिप्रेत है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में यही कहा है कि सबको अन्दर से वही चलाता है। 'असंभ्रमेण' मायने वहाँ किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि ईश्वर ही अन्तर्यामी है। इस प्रकार पातञ्जलों ने, योगदर्शनानुयायियों ने, ईश्वर को जीव और जगत् का नियामक, प्रकृति से अलग तीसरा तत्त्व माना। अब तक जीवात्मा के बारे में विचार चल रहा था, यहाँ से ईश्वर के बारे में विचार करेंगे।।१०३।।

त्वम् पदार्थ जीवात्मा का विचार भिन्न-भिन्न वादी लोग कैसा करते हैं—यह बतलाया। फिर बताना शुरू किया कि प्रकृति व जीव का नियमन करने वाला ईश्वर ही है। सांख्यदर्शन प्रधानतया निरीश्वरवादी है। ईश्वर को भी लेकर महर्षि पतञ्जलि ने योग का सिद्धान्त

बनाया है। प्रकृति को बनाया ईश्वर ने ऐसा तो नहीं मानते, ईश्वर जीव और प्रकृति—ये तीन चीज़ें इन्होंने मानी। ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' कहते हैं अर्थात् जातियाँ दो ही रखीं, पुरुष और प्रकृति। पुरुष के दो भेद हैं—जीव और ईश्वर।

ईश्वर-विषयक विचार प्रारंभ करते हैं—

अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरन्ति हि।।१०४।।

अपनी-अपनी युक्तियों के अनुसार ईश्वर के बारे में भी वादी कलह करते हैं और अपनी-अपनी समझसे वेदवाक्य भी उद्धृत करते हैं।

जैसे जीव के विषय में मतभेद हैं वैसे ही ईश्वर के विषय में भी मतभेद हैं। 'अपि' से जीवविषयक कलह का दृष्टांतविधया संग्रह है। सब अपनी युक्तियाँ देते हैं अतः आपस में कलह करते हैं। यह कलह आस्तिकों की आपसी है। सब ईश्वरवादी उसे नियामक मानते हैं। मोटी दृष्टि से कह सकते हैं कि निमित्त मानते हैं। योगी, नैयायिकादि कोई ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं मानते। उपादान कारण उसे कहते हैं जो बनता है, निमित्त कारण उसे कहते हैं जो बनाता है। हम लोगों के सिद्धान्त में ईश्वर जगत् का उपादान और निमित्त उभय कारण है। परन्तु बाकी जितने ईश्वरवादी हैं वे ईश्वर को निमित्त तो मान लेते हैं पर उपादान नहीं मानते। मुसलमान, ईसाई, यहूदी लोग भी ईश्वर को नियामक तो मानते हैं परन्तु 'खुद बना'—ऐसा नहीं मानते। कुछ चीज़ थी जिसको उन्होंने संसाररूप में बनाया—यह इन सबका कहना है।

हमारे यहाँ एक बहुत बड़ा वैदिक पक्ष है मीमांसाका, जो कहता है कि सृष्टि ऐसे ही है, न कभी बनी है न कभी खत्म होगी। बनी नहीं तो बनाने वाले की जरूरत ही नहीं है। जीव ही अपने कर्म से इस सारी सृष्टि में कार्यों की रचना करता है। ऐसा नहीं है कि पहले संसार था नहीं और जीव ने बनाया, पर इन चीज़ों का प्रयोग करके जीव धर्म या अधर्म उत्पन्न करता है जिस के कारण विभिन्न चीज़ें उत्पन्न होती रहती हैं। जैसे खेती में तुमने बीज बोया, खेती काटी, फिर से बोया, फिर से अनाज पैदा हुआ। ऐसा तो नहीं कि किसी खेतिहर ने सबसे पहले गेहूँ पैदा किया होगा! हमेशा से चला आया है। इसी तरह संसार हमेशा से ऐसा ही चला आया है। इसमें होने वाली चीज़ों का प्रयोग करके जीव खेती करता है फिर काटता है अतः चक्र चल रहा है। मीमांसकानुसार ऐसा कोई प्रलय नहीं होता है कि कुछ न बचे। प्रलय का मतलब है कि कुछ चीज़ें नष्ट हो गयीं कुछ बच गयीं। जो बच गयीं, उनसे फिर पैदा हो जाता है। इसलिए मीमांसक को ईश्वर मानने की जरूरत नहीं।

इसके जवाब में ईश्वरवादी का कहना है कि संसार की जितनी चीज़ें हैं सब हिस्से वाली हैं, अवयव वाली हैं और जो भी हिस्से वाली चीज़ होती है उसे कोई उसी के हिस्से तरतीब से मिला कर ही बनाता है। चूंकि सृष्टि टुकड़े वाली है इसलिए किसी ने टुकड़ों को जरूर

मिलाया है। चूंकि ऐसा दृष्टान्त नहीं देखा जाता जहाँ बिना अवयव मिलाने वाले चेतन के सावयव पदार्थ बनें, इसलिए इन चीज़ों को मिलाने वाला कोई होना चाहिए यही अनुमान होता है। प्रकृति है जिसे जगत् के आकार में रूपांतरित करता है और ईश्वर हो गया रूपांतरण करने वाला, टुकड़े मिलाने वाला, इसलिए निमित्त कारण, नियामक ईश्वर है। मीमांसक का प्रश्न होता है कि प्रकृति भी तो टुकड़ों वाली है! यदि टुकड़ों वाली प्रकृति पहले से है तो सारा संसार ही पहले से क्यों न हो जाए? और यदि प्रकृति को किसी दूसरे ने बनाया तो वह भी ईश्वर होगा। अतः एक ईश्वर से काम चल नहीं सकता! कम से कम दो ईश्वर तो मानो ही। ऐसी विप्रतिपत्तियाँ आती हैं केवल निमित्त कारणवाद मानने से। इसलिए वेदान्त कहता है कि परमेश्वर खुद ही बना और खुद को ही उसने बनाया भी अर्थात् कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसे उसने नहीं बनाया। परन्तु वादी नहीं समझ पाते इसलिए उन्हें जैसी समझ पड़ती है वैसी युक्ति अर्थात् तर्क देते हैं।

मीमांसक और वेदान्ती वैदिक हैं। इनके मतभेद का आधार है कि वेद क्या कहता है। अन्य दार्शनिक युक्तियों से मतनिर्धारण कर तदनुकूल वेदवाक्य से उस मान्यता का केवल पोषण करते हैं। इसलिए कहा 'वाक्यानि अपि' अपनी-अपनी युक्तियों से ही निर्णय करते हैं पर श्रुति में कहीं न कहीं जो समर्थक वाक्य मिलते हैं उन्हें भी उद्धृत करते हैं ताकि शिष्यों के हृदय में दृढता हो जाए कि केवल युक्ति ही नहीं, शास्त्र भी कहता है। इसलिए 'दार्ढ्यार्य' दृढ करने के लिए उदाहरित करते हैं, सिद्धि के लिए नहीं। 'यथाप्रज्ञ' जैसी उनकी प्रज्ञा है उसके अनुसार ही वाक्यों को समझते हैं।।१०४।।

युक्ति से विचार करने वालों में पतञ्जलि महर्षि ईश्वर के बारे में क्या मानते हैं यह बताते हैं—

क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसंयुतः।
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत् सोप्यसङ्गचित्।।१०५।।

क्लेश, कर्म, विपाक और उनके आशयों से असम्बद्ध पुरुषविशेष ईश्वर है, वह भी असंग चेतन ही है। पतंजलि का सूत्र है 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (१.२४) ईश्वर है तो पुरुष ही, उसकी कोई दूसरी जाति नहीं है। 'पुरुष' का मतलब नर-मादा वाला पुरुष नहीं समझ लेना! पुरुष का यहाँ मतलब है चेतन, जिस के आने से सब चीज़ें पूर्ण हो जाती हैं। प्रायः पुरुष कहते हैं सोलह साल का होने के बाद क्योंकि तभी वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। उसके पहले पूर्णता नहीं आई होती, उससे पूर्व कानूनन भी नाबालिग अर्थात् गैरजिम्मेदार माना जाता है। पूरा, बालिग होने पर उत्तरदायी, दण्डनीय बन जाता है। शरीर में सब चीज़ें होवें—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ होवें—परन्तु आत्मा नहीं हो तो उसे कोई 'शरीर' नहीं कहेगा, शव, मुर्दा कहेगा। आत्मा के आने से ही शरीर पूर्ण होता है। आत्मा है पर आँख नहीं है तो अन्धा भी पुरुष है ही, कान नहीं तो बहरा भी पुरुष ही है,

बुद्धि नहीं तो पागल भी आदमी है। यदि आत्मा, चेतन है तो बाकी चीज़ें नहीं होंगी तो भी कोई नहीं कहेगा कि पुरुष नहीं है। लेकिन आत्मा नहीं हो तो कहेंगे कि मुर्दा है। आत्मा को सांख्य और योग दर्शनों में पुरुष शब्द से ही प्रायः कहा गया है। वेदों के अन्दर भी परमात्मा को पुरुष शब्द से कई जगह कहा है। उपनिषदों के अन्दर भी 'अव्यक्तात् पुरुषः परः' कहा गया है। योगी कहते हैं कि जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मा हैं। एक जीव है दूसरा पर है। ईश्वर हम लोगों से जातितः भिन्न नहीं है। जैसे राष्ट्रपति बहुत बड़ा है, कल्लु बहुत छोटा, पर दोनों भारतीय एक जैसे हैं, उसमें कोई फ़र्क़ नहीं। राष्ट्रपति होकर भी एक ही वोट दे सकता है और कल्लु भी एक ही वोट दे सकता है। दोनों की भारतीयता एक जैसी है, बाकी व्यवहार में चाहे जितना फ़र्क़ होवे। इसी प्रकार ईश्वर सारे संसार का शासन करने वाला, जीव उस शासन में चलने वाला, लेकिन दोनों आत्मा हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं।

ईश्वर की क्या विशेषता है? असंगचिद्रूप तो जैसे जीव वैसे ही परमात्मा, फिर फ़र्क़ क्या है? ईश्वर क्लेशादि चार से असंबद्ध है, जीव चारों से जकड़ा है, यह अंतर है। 'क्लेश' दुःख को ही कहते हैं लेकिन पतञ्जलि ने पाँच क्लेश गिनाए हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष है। अविद्या अर्थात् अज्ञान, हमें चीज़ों की नित्यानित्यादिरूपता का अज्ञान है। अस्मिता—हमें अपने शरीर आदि के अन्दर अभिमान है कि 'यह मैं हूँ।' मैंपना मायने परिच्छिन्नता कि शरीर मन आदि ही मैं हूँ। राग—कुछ चीज़ें मुझे अच्छी लगती हैं; द्वेष—कुछ चीज़ें मुझे बुरी लगती हैं। अभिनिवेष—किसी न किसी तरह से मैं हमेशा बना रहूँ यही चाहता हूँ। ये पाँच क्लेश जीव में होते हैं। परमेश्वर में पाँचों में से एक भी नहीं है। उसको किसी चीज़ का अज्ञान नहीं। हम लोगों को तो दस-बीस चीज़ों का ज्ञान होता भी है पर बाकी असंख्य चीज़ों का अज्ञान रहता है जबकि परमेश्वर को सब चीज़ों का ज्ञान है। जीव को जो आधा-अधूरा पता है वह भी दूसरी चीज़ों का, खुद का तो कुछ ज्ञान नहीं है। अपने मन में ही अगले क्षण क्या आने वाला है यही नहीं जानते! स्वस्वरूप से अनभिज्ञता जीव में है, ईश्वर में नहीं।

दूसरा हमारा बंधन है कर्म। कभी शुभ कर्म करते हैं, कभी अशुभ कर्म करते हैं। योगियों के अनुसार कभी ऐसे कर्म भी करते हैं जो शुभ और अशुभ मिले हुए हैं। तथा कभी ऐसे कर्म करते हैं जो न शुभ हैं न अशुभ हैं। हमने किसी को दान दिया, दवाई दी तो शुभ कर्म कर लिया। हमने किसी की चीज़ ले ली, किसी को ज़हर दे दिया तो अशुभ कर्म कर लिया। कई काम ऐसे होते हैं जिसमें किसी को तो फायदा हुआ और दूसरे को नुकसान हुआ। आजकल के ज़माने में सड़क चौड़ी करने के लिए हमने जिनके घरों को तोड़ दिया उनको नुकसान हो गया, मोटर चलाने वालों को आराम हो गया। अतः शुभ-अशुभ दोनों कहा जाये ऐसा कर्म हुआ। ध्यान, आसन, प्राणायाम करना इत्यादि से किसी अन्य का कोई फायदा भी नहीं कर रहे अतः शुभ भी नहीं मान सकते और किसी का नुकसान भी नहीं कर रहे तो अशुभ भी नहीं मान सकते। योग के कर्म शुभ और अशुभ दोनों नहीं हैं। उनसे

अपना ही फायदा होगा, और तो किसी का कुछ फायदा-नुकसान नहीं है। ऐसे कर्मों को वे 'अशुक्ल अकृष्ण' कहते हैं। हम लोग इन तीनों प्रकारों में से कोई-न-कोई कर्म करते ही रहते हैं। भगवान् ने गीता में कहा है—'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' बिना काम किए हुए कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता। या अच्छा करेगा या बुरा करेगा या अच्छा-बुरा मिला हुआ करेगा या जो न अच्छा है न बुरा है ऐसा करेगा, पर कुछ तो करेगा ही।

किंतु ईश्वर कर्मों से अस्पृष्ट है। किसी कर्म का उसको न शुभ फल भोगना पड़ता है न अशुभ फल भोगना पड़ता है। यदि चित्तवृत्ति पहले विक्षिप्त होवे तब समाधि लगाकर चित्त वृत्ति का निरोध होवे। अब ईश्वर का ऐसा विक्षिप्त चित्तादि भी नहीं कि योगाभ्यास ही करे! इतनी वृष्टि करता है तो उसको कोई पुण्य नहीं होता और चिलचिलाती धूप चार साल तक लगातार डाल दे, एक बूँद पानी नहीं बरसे, पानी के बिना मनुष्य, पशु सब तड़पते रहें, तो भी ईश्वर को कोई पाप नहीं लगता है! प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों। जज, न्यायाधीश किसी खूनी को सज़ा देता है कि इसे सूली पर चढ़ा दिया जाए। कितना बड़ा काम है, एक आदमी को मारने का आदेश दे रहा है परन्तु कोई कभी हाकिम को पकड़ता नहीं 'तुमने इसका खून क्यों करवाया।' इसी प्रकार से किसी ने किसी के लाख रुपए दबा लिए और न्यायाधीश ने फैसला दिया कि 'इसका मकान लेकर उसके लाख रुपए दे दिए जाएँ' तो लाख रुपए उसने दिलवाए जरूर पर कोई नहीं कहता कि 'यह बड़ा भारी दानी है, इसने लाख रुपए दिला दिए!' क्यों? क्योंकि जैसा कर्म किया था वैसा फल देता है इसलिए जज को न रुपया देने का पुण्य होगा न फाँसी देने का पाप होगा। इसी प्रकार ईश्वर न्यायकारी है। तुमने जैसे कर्म किए हैं उसके अनुसार फल देता है, उसका कोई कर्म शुभ या अशुभ नहीं है। इसलिए उसे शुभ-अशुभ प्रकृति के द्वारा करते रहने पर भी वह अपने को सर्वथा असंग जानता है। असंगचित् हम भी हैं पर हमें स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से हम असंगता का लाभ ले नहीं रहे हैं।

कर्म से रहित है तो कर्म के विपाकों से, फलों से भी रहित है। कर्म का फल क्या है? जन्म। हम कहाँ जन्म लेते हैं यह हमारे कर्मों पर निर्भर करता है। कोई फुटपाथ पर जन्म लेता है और कोई अम्बानी के घर जन्म लेता है। अपने-अपने कर्मों के फल से ही यह भेद है। ईश्वर का जन्म कभी नहीं होता। कर्म का दूसरा फल है हमारी आयु। बहुत बुरे कर्म होते हैं तो आदमी गर्भ में आ गया पर वहीं मार दिया गया! आजकल यह बहुत हो रहा है। और कोई सौ साल से भी ज्यादा जीता है। किसी की आयु बड़ी या कम कर्म के फल से होती है। अच्छा कर्म होगा तो लम्बी आयु होगी, बुरा कर्म होगा तो छोटी आयु होगी। इतना समझ लेना कि हम जब 'आयु' कहते हैं तब मतलब है कि तुम्हारे शरीर के सारे अंग ठीक हैं। जिसको कहते हैं 'चलता-फिरता आदमी होना चाहिए, पड़ा हुआ तरबूज नहीं होना चाहिए', तभी उसकी आयु है। यह भी पुण्य का फल है। और जो सुख-दुःख मिलते हैं वे भोग विपाक हैं ही। ये सारे कर्म के विपाक हैं।

आशय अर्थात् उनके संस्कार; इन सभी चीज़ों के संस्कार पड़ते हैं। खास करके हम जो कर्म करते हैं, जो फल भोगते हैं उनके संस्कार पड़ते हैं। संस्कारों से भी ईश्वर रहित है। सूत्रकार ने शब्द रखा था 'अपरामृष्टः'। अपरामर्श का मतलब है कि ईश्वर के बारे में इनके संदर्भ में किसी प्रकार की बात ही न की जाए, इनकी सर्वथा प्राप्ति ही न होवे। किसी भी प्रकार से वह क्लेशादि से युक्त नहीं है ॥१०५॥

अगर असंग है तो नियंता कैसे? जीव भी असंग है पर अपनी असंगता को नहीं जानता। इसलिए संसार के चक्कर में फँसा हुआ है। ईश्वर जानता है, अविद्या उसमें है नहीं, अस्मिता है नहीं, उसको अपने लिए कुछ करना हो ऐसा नहीं क्योंकि राग-द्वेष हैं नहीं। फिर वह इतने बड़े संसार को क्यों चलाता है? हम लोगों को तो अगर कोई फायदा न होवे तो तुरन्त कहते हैं 'इस झंझट में कौन पड़े'। परमेश्वर असंग होते हुए, अपनी असंगता को जानते हुए, इस सारे संसार का नियामक कैसे हो गया? इसका उत्तर योगी देता है—

तथापि पुंविशेषत्वाद् घटतेऽस्य नियन्तृता।
अव्यवस्थौ बन्धमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥१०६॥

फिर भी पुरुषविशेष होने से यही उपपन्न है कि वह नियामक है। यदि वह नियामक न हो तो बन्धन और मोक्ष व्यवस्थित रूप से उपलब्ध नहीं होंगे।

पुरुष है इसलिए कुछ करेगा! सर्वथा असंग होने पर भी करेगा। भगवान् ने गीता में कहा है 'कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो, न कोई चीज़ ऐसी है जो मेरे लिये प्राप्त करने के योग्य हो फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ!' हम लोग काम दो ही चीज़ों के लिए करते हैं—जो चीज़ हमें नहीं मिली है उसके लिए अथवा जिससे कोई आगे फायदा समझते हैं उसके लिए। ये दोनों ही ईश्वर के अन्दर नहीं हैं—फिर भी भगवान् यथानियम करते हैं। महाभारत में श्री कृष्ण का चरित्र देखते हैं : प्रातःकाल साढ़े तीन बजे उठते थे, नहा-धोकर सन्ध्या-वन्दन करते थे, अग्निहोत्र करते थे, तर्पण करते थे। उसके बाद जैसा राजा के लिए नियम है, सोमवार के दिन मोतियों का दान ब्राह्मणों को देते। इसी प्रकार मंगल के दिन मंगल का दान करते इत्यादि। थाली भर-भर के दान करते थे। उसके बाद अच्छी तरह से सारा शृंगार करते, फिर काँच में मुँह देखते, उसके बाद कलेवा लेते, दूध पीते, फिर सभा में जाते थे। रथ पर चढ़ते हुए सारथि से कैसे बातचीत करते थे यह भी वहाँ बताया है। लोगों से व्यवहार का ढंग भी उनमें आदर्श मिलता है। विस्तृत वर्णन दिया है कि सभा में कैसे बैठते थे, क्या करते थे—सब बतलाया है।

इसलिए भगवान् ने कहा 'वर्तएव च कर्मणि'। जैसा नियम से काम सबको करना चाहिए वैसा करता हूँ। मुझे कुछ लेना-देना नहीं है, असंग हूँ, फिर क्यों करता हूँ? यदि मैं इन कामों को नियम से न करूँ तो दूसरे मुझे देख कर नियम से काम करना छोड़ देंगे। मेरा तो करके कुछ फायदा नहीं है, बिना किए भी कोई नुकसान नहीं है। पर लोग बेचारे मुझे देखकर

बिगड़ जाएँगे जिससे उन प्रजाओं का उपहनन होगा अर्थात् उन प्रजाओं को नष्ट करने वाला मैं हो जाऊँगा। ईश्वर है तो पुरुष पर कुछ न लेने-देने पर भी, आवश्यकता नहीं होने पर भी पुरुष के ढंग से आचरण करता है, न्यायपूर्वक जिसको जो फल देना है तदनुरूप देता है, सृष्टि के सब कार्य करता है। राम, कृष्णादि रूपों में ईश्वर मानवोचित नियमपालन ही करते मिलते हैं। राम जी तो ईश्वर होने से रामेश्वरस्थापना से पुण्य नहीं कमा सकते लेकिन हमें सही शिक्षा, प्रेरणा मिले इसके लिए करते ऐसा ही हैं। श्रीकृष्ण भी केदारनाथ में शिवाराधना करते मिलते हैं। परमेश्वर भी पुरुष है इसलिए जैसा आचरण हम लोगों को करना चाहिए वैसा ही करता है। न्यायपूर्वक कार्य करना चाहिए इसलिए परमेश्वर सृष्टि की व्यवस्था न्यायानुसार करता है। हम सामान्य पुरुष होने के कारण, मतलब होता है तब करते हैं, नहीं तो नहीं करते। ईश्वर की विशेषता है कि कुछ भी प्राप्त नहीं करना है फिर भी करते हैं क्योंकि पुरुषविशेष हैं, सामान्य नहीं। इस तरह क्लेशादि से असंबद्ध होने पर भी नियन्ता है।

न केवल पुरुषोचित होने से नियन्ता है वरन् संसार में उपलब्ध व्यवस्था की अन्यथा अनुपपत्ति से भी उसे नियंता ही स्वीकारना होगा। साधकों की मुक्ति और बहिर्मुखों का संसरण—यह व्यवस्थित रूप से मिलना बताता है कि नियामक ईश्वर है। यदि कर्म किया और तुरन्त फल मिल जाए, तब तो व्यवस्थापक की जरूरत नहीं है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती ही है। हमने गेंद दीवार पर मारी और दीवार ने उसे वापिस फैंक दिया। ऐसे ही तुम कर्म करते और फल हो जाता तो ईश्वर नहीं चाहिए था। जैसे ऐसा कभी नहीं होता कि मैंने आज बॉल फैंक दी, आज तो वापिस आई नहीं, दस दिन के बाद मैं वहाँ बैठा हुआ था तो अकस्मात् बॉल आ गई! जैसे ही क्रिया हुई वैसे ही प्रतिक्रिया होती है। लेकिन कर्मफल तत्काल नहीं मिलता। किसी आदमी ने खून किया। तीन साल बाद उसे फाँसी होती है। इसलिए आचार्य पुष्पदन्त ने कहा—'क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते'। देर से फल तभी होता है जब कोई न्यायाधीश देता है। इसी प्रकार से कोई नौकर हमारा काम बेहतर करता है, बेसमय भी करता है, तत्काल कुछ विशेष फल न मिलने पर भी तरक्की, पदोन्नति, ईनाम आदि के समय फल पाता है। जब काम किया, उस समय तो उसे कुछ फल नहीं मिला लेकिन तुम चेतन हो इसलिए व्यवस्थित रूपसे उसे किये अनुसार फल मिला भी। जहाँ चेतन पुरुष होता है वहीं कर्म का फल व्यवस्थित मिल जाता है। जड चीज़ तो तुरन्त ही प्रतिक्रिया कर सकती है, देश-काल-निमित्त आदि के इंतज़ार-पूर्वक नहीं। इसलिए यदि परमेश्वर नियमन न करे तो कर्मफल-व्यवस्थारूप बन्धन की अवस्था और समाधि इत्यादि का अभ्यास कर लेते हैं तो हमें मिलने वाली मोक्ष की अवस्था की व्यवस्था न बने। अतः श्रुति ने कहा 'स्थितिबंधहेतुः' ॥१०६॥

एक और हेतु ईश्वर स्वीकारने में है कि परमेश्वर से लोग डरते हैं क्योंकि निश्चित पता है कि हमने बुरा काम किया है तो बुरा फल कभी-न-कभी मिलेगा, हम कितना भी छिपाकर

कर लेवें। वास्तव में ईश्वर से कभी कहीं कोई कुछ छिपा नहीं सकता। दण्ड देने वाला परमेश्वर है—यह जब समझ लेता है तब आदमी हमेशा ठीक काम करता है। इसलिए किसी अंग्रेज विचारक ने कहा है कि ईश्वर है ही, पर ईश्वर न होता तो भी संसार नियम से रहे इसके लिए हमें एक ईश्वर बनाना पड़ता! परमेश्वर के भय से ही सब ढंग से कार्य करते हैं। इसमें भी वेद प्रमाण है—

भीषास्मादित्येवमादावसङ्गस्य परात्मनः।
श्रुतं तद् युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसङ्गमात् ॥१०७॥

'इसके डर से' (तै.२.८.१) इत्यादि वाक्य में असंग परमात्मा को भयहेतु सुना जाता है, वह ठीक भी है क्योंकि परमेश्वर का क्लेश, कर्म आदि से संबंध नहीं है।

परमेश्वर के भय से ही सूर्य ठीक समय पर उदय होता है। तुम सौ साल का पंचांग बना कर रखते हो, सौ साल बाद का सूर्योदय-सूर्यास्त उसमें दिया हुआ है। सूर्योदय ठीक उसी समय होता है, कभी ऐसा नहीं होता कि देर-सवेर हो जाये। इसी प्रकार से वायु नियमानुसार चलती है। चाहे जितनी घोर बरसात पड़ रही हो, अन्धेरी रात्रि हो, चारों तरफ कीचड़ भरा हुआ हो फिर भी यमराज पहुँच जाता है। रात में दो बजे भी लेने पहुँच जाता है, लेकर चला जाता है। यह नहीं कह सकते कि इतने कीचड़ में मौत थोड़े ही आएगी! किसी का भय है, इसीलिए तो ये बली देवता भी नियमित कार्य करते हैं। सारा संसार बिलकुल नियम से चलता है। इसी से पता लगता है कि किसी का भय है। परमेश्वर का वर्णन करते हुए उसको बहिर्यामी और अन्तर्यामी दोनों कहा है। गलत काम करने वाले का तो बाहर से शासन करता है अर्थात् दण्ड देता है। परन्तु जो देवता हैं, इन्हें अन्दर से प्रेरणा नियम के अनुसार ही मिलती है, अनियमित होती ही नहीं। उनका शासक तो ईश्वर ही है पर अन्तर्यामीरूप से। अधिकतर देवता और दैवी वृत्ति वालों की नियमबद्धता अन्तर्यमन से होती है, क्योंकि उनमें सत्संस्कार दृढ हैं कि उनसे गलती होती ही नहीं। जो अन्तर्यमन से नहीं चलता, ईश्वर के खिलाफ जाता है, अपने मन के अनुसार करता है, उसके लिए परमेश्वर बहिर्यामी है, बाहर से भी दण्ड देते हैं। अन्दर का दण्ड तो है ही, अन्दर से भी धिक्कार की भावना आती है कि 'मैंने बड़ा गलत काम किया।' साथ में बहिर्यामी का भी दण्ड है—रोग-शोक आदि पैदा हो जाते हैं। दोनों प्रकार का शासन परमेश्वर का है इसलिए उसका भयंकर, भीषण भय है।

इस प्रकार से और श्रुतियाँ भी उसको भयहेतु बतलाती हैं। 'महद् भयं वज्रमुद्यतम्' (क. २.३.२) 'भयाद् अग्निस्तपति' (क.२.३.३) इत्यादि में कहा कि मानो बड़ा भारी वज्र लिए हुए वह खड़ा है! परमेश्वर को किसी प्रकार का संग नहीं, उसको कुछ नहीं चाहिए परन्तु ऐसे असंग परमात्मा का भी इस प्रकार से अन्तर्यमन-बहिर्यमन श्रुत है, वेद में बतलाया है। यह युक्त भी है, उचित है। क्लेश कर्म इत्यादि के साथ संग न होने से ही संसार के अन्दर नियम

से प्रवृत्ति बनी रहे इसके लिए वह जाग्रत् रहता है। क्लेशयुक्त स्वयं गलती करने से अन्यत्र कठोर नियमन नहीं कर सकता। अन्य लोग कहते हैं कि या तो परमेश्वर है ही नहीं, और है तो कुछ करने-धरने वाला नहीं है! परन्तु वेद परमेश्वर को नियामक कह रहा है ॥१०७॥

जीव-ईश्वर में क्लेशादिकृत भेद योगदृष्ट्या व्यक्त करते हैं—

जीवानामप्यसङ्गत्वात् क्लेशादिर्न ह्यथापि च।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥१०८॥

असंग होने से जीवों के भी क्लेशादि हैं नहीं फिर भी बुद्धि से अपने भेद को न जानने से उनके क्लेशादि हैं ऐसा पहले कहा था।

जीव भी असंग हैं इसलिए वस्तुतः उनमें क्लेशादि नहीं हैं। ऐसा होने पर भी 'विवेकाग्रहतः' विवेक का ग्रहण न होने से वे क्लेश में डूबते हैं। प्रकृति और उसकी कार्यभूत बुद्धि में होने वाले विकारों को जानने पर स्वयं को बुद्धि से अलग न जानने से 'मैं क्लेशमुक्त नहीं हूँ' (वरन् क्लेशयुक्त हूँ) ऐसा जानते हैं। अखबार में पढ़ा 'रेल की टक्कर में पद्मनाभ नामक व्यक्ति मर गया।' मेरे लड़के का नाम पद्मनाभ है। वह यात्रा कर रहा था या नहीं—यह भी पता नहीं फिर भी दुःख या कम-से-कम चिंता शुरू हो जाती है क्योंकि मरने वाले से अपने लड़के के भेद को नहीं जानते। इसी प्रकार प्रकृति के विकार हमारे नहीं हैं पर हमने अपने समझ लिए हैं। पहले (श्लो.१०५) कह आए हैं कि असंगता समान रहते भी जीव-ईश्वर में भेद है ही ॥१०८॥

सृष्टि को परमेश्वर ने कैसे किया? वेद कहता है—'सोऽकामयत'—उसने कामना की तब सृष्टि हुई। परमेश्वर में कामना है, हममें भी कामना है। कामना से दुःख होता है। तो सकामता, सदुःखता समान रहते ईश्वर जीवों से कैसे भिन्न होगा! इस समस्या को देख तार्किकों ने योगियों की अपेक्षा अलग व्यवस्था बनायी—

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छागुणानीशस्य मन्वते।
असङ्गस्य नियन्तृत्वम् अयुक्तमिति तार्किकाः ॥१०९॥

सर्वथा सम्बन्धहीन नियामक होना संगत नहीं (अतः) हमेशा रहने वाले ज्ञान-प्रयत्न-इच्छा ईश्वर के गुण हैं—ऐसा तार्किक मानते हैं।

जिसका नियमन करना है उससे कोई संबंध न हो यह देखने में आता नहीं अतः ईश्वर में भी कोई तो संबंध होना चाहिए। वह सर्वज्ञ है अतः ज्ञातृ-ज्ञेयभाव सम्बन्ध हो जाता है। ज्ञान उसका सनातन होने से संबंध होने पर भी आसक्तिरूप नहीं हो पाता। आसक्ति से तो इच्छाएँ बदलती रहती हैं, ईश्वर की इच्छा नित्य है और संसार के बारे में प्रयत्न भी एकरस है। किं च जीवों की कामना अपने लिए होती है, ईश्वर की अपने लिए न होकर जीवों के लिए होती है, यह महान् अन्तर है। संसार से ईश्वर को लाभ-हानि नहीं, जीवों को

ही फ़र्क पड़ता है। कर्मों का फल-भोग और बंधन से छुटकारा जीवों का ही होता है, ईश्वर को न फल भोगना है, न उसका बंधन है जिससे मुक्त होना है। यह तार्किक मानते हैं ॥१०६॥

तार्किक भी ईश्वर को जीव से वस्तुतः भिन्न मानता है। ईश्वर के ज्ञानादि नित्य होने से जीवों से वह विलक्षण रहता है—

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा।
'सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इत्यादि श्रुतिर्जगौ ॥११०॥

पुरुष (आत्मा) होने पर भी इसकी विशेषता गुणों से (उनके नित्य होने से) ही है, और किसी तरह नहीं। वेद ने उसे 'सत्य कामना वाला, सत्य संकल्प वाला' (छा.८.७.१) कहा है।

ईश्वर को पुरुष या आत्मा मानना भी इसीलिए आवश्यक है कि वह ज्ञानादि आत्मोचित गुणों वाला है तथा वे गुण नित्य होने से जीवात्माओं से विलक्षण हैं अतः वह विशेष है, हम जैसा नहीं। ऐसे ईश्वर में तार्किक भी वेदवाक्य का समर्थन उपस्थित करता ही है। जीव की कामना कभी पूरी भले ही हो, प्रायः तो नहीं होती जबकि ईश्वर सत्यकाम है, उसकी कोई कामना असत्य, अपूर्ण हो ही नहीं सकती। ऐसे ही हमारे संकल्प भी मनोरथमात्र रह जाते हैं, उसका संकल्प भी सत्य, अमोघ है। जो सत्य है उसी की कामना व संकल्प करना ईश्वर की महिमा है। जीव भी जो उपस्थित है उसे चाहे तो सुखी ही रहेगा। हम वह चाहते हैं जो है नहीं इसलिए दुःखी होते हैं। पुराने जमाने में लोग कहा करते थे 'जितनी चद्दर होवे उतने ही पैर फैलाओ।' सर्दी लग रही है, तुम्हारी चद्दर चार इंच छोटी है। हर बार पैर पूरा फैलाओगे तो पैर में ठण्ड लगेगी। परन्तु चद्दर के अनुसार यदि तुम उसके अन्दर ही पैर रखते हो तो ठण्ड नहीं लगेगी। इसी प्रकार से जो चीज़ हमारे पास है, बस उसी की कामना करो, जो चीज़ पास नहीं है, उसकी कामना ही मत करो तो कामना पूर्ण ही रहेगी। उसी की तुम कामना करते हो जो तुमको प्राप्त है तो चाहे जितनी कामना करो, तुम्हें दुःख कभी नहीं होगा। क्योंकि करोगे उतने की जितना तुम्हारे पास माल है।

दुःखी होने का बढ़िया तरीका है, जो है नहीं उसे चाहना। आजकल के लोग कहेंगे कि इससे तो उन्नति ही नहीं होगी! आजकल के लोग कहते हैं कि लक्ष्य रखो बड़े होने का। राजनीति में प्रवेश करने वाला हर एक लक्ष्य रखता है कि प्रधानमंत्री हो जाऊँ। भारत में वह तो एक ही होना है अतः बाकी सबकी कामना पूर्ण होगी नहीं, सब दुःखी रहेंगे। यदि इस बात को समझते हो तो वह कामना ही नहीं करोगे अतः दुःख नहीं होगा। बच्चों के साथ भी यही होता है! हर माँ अपने बच्चे को कहती है, 'कक्षा में प्रथम आना'। प्रथम तो एक ही बच्चा आ सकता है! सब प्रथम आने का लक्ष्य रखेंगे तो एक से अन्य बाकी सब दुःखी होंगे। अगर तुम कामना ही करते हो उत्तीर्ण होने की तो वह सब हो सकते हैं। कर्म जितना अपने से बन सके उतना करो। जितनी तुम्हारी पढ़ने की सामर्थ्य है उतना पूरे सामर्थ्य

से पढ़ो, योग्यता के अनुसार अंक आएँगे ही, हो सकता है प्रथम आ जाओ। तब सुख भी होगा ही। प्रथम आने से पहले यदि प्रथम आना चाहेंगे तो सिवाय दुःखी होने के और कुछ नहीं होगा! इसलिए जो सत्य है अर्थात् जो पास है उसी की कामना करो। परमेश्वर सत्यकाम है इसलिए उसको कभी भी कामना की अपूर्ति का दुःख नहीं होता। जो सत्य है उसी की वह कामना करता है।

कामना के बाद होता है संकल्प। 'मैं इस कामना को पूर्ण करने के लिए अब प्रवृत्त होऊँ' यह संकल्प है। किसी भी शास्त्रीय कर्म को प्रारम्भ करने के पहले संकल्प कराया जाता है। संकल्प शिक्षा देने के लिए है कि कोई भी काम शुरू करो तो समझ-बूझकर। संकल्प में चार चीज़ें प्रधान हैं : सबसे पहले तो काल का वर्णन आता है। सृष्टि प्रारम्भ होने से इतने वर्ष हुए, अमुक मास, अमुक पखवाड़ा, अमुक तिथि है, अमुक नक्षत्र और अमुक ग्रह अमुक जगहों पर हैं—यों संकल्प में काल ही बोला जाता है। यह सब बोलने का तात्पर्य असल में है कि यह याद करो कि कौन-सा काल है जिसमें हम काम करने जा रहे हैं। क्या वह काल इस कार्य के उपयुक्त है? काल को कहने के बाद देश बतलाते हैं : भू-मण्डल के अन्दर जम्बू द्वीप, उसके अन्दर भारत-खण्ड के अन्दर गंगा के इस किनारे या उस किनारे, नर्मदा के उत्तर या दक्षिण आदि सब विस्तार से वर्णन करते हैं कि कहाँ कर्म कर रहे हो। किसी भी संकल्प को करो तो काल की तरह देश का भी विचार करो कि इस देश में यह सफल होगा या नहीं। सब काम सब देशों में नहीं होते हैं। मद्रास में जाकर घर में आग तापने की भट्टी बनाओ तो बेकार जाएगी! जहाँ हमेशा गर्मी है वहाँ कब तापोगे? इसी प्रकार हिमालय में गंगोत्री में जाकर ठण्डा करने के लिए वातानुकूलन यन्त्र लगाओ तो बेकार है। जिस देश में हम काम करने जा रहे हैं वह देश उस काम के उपयुक्त है या नहीं यह विचारणीय होता है। देश काल का विचार करके अपना भी विचार करो कि मैं किस गोत्र में उत्पन्न हुआ, किस कुल का हूँ, मेरे दादा कौन थे, पिता कौन थे; यह इसलिए कि समझ आये कि मेरे करने लायक काम है भी या नहीं।

प्राचीन काल में एक ऋषि हुए जिनके मन में आया 'मैं सर्वस्व-दान करूँ' संकल्प तो आ गया, फिर देखा अपने बच्चे की तरफ 'अरे! यह बच्चा अभी छोटा है।' जैसे आजकल लोग करते हैं—दिवाला निकालने के पहले कुछ अपनी पत्नी के नाम कर दिया, कुछ साले के नाम कर दिया, फिर दिवाला निकाल दिया; ऐसे ही उन्होंने अच्छी गायें अपने बच्चे के नाम कर दी—और बेकार गायें दान में दे रहे थे। बेटा बड़ा समझदार था। बेटे ने सोचा कि पिता जी यह काम तो गलत कर रहे हैं। संकल्प किया है सर्वस्व-त्याग का और अच्छा-अच्छा माल अलग रख रहे हैं, बाकी का ही त्याग कर रहे हैं। बड़ों से ऐसे नहीं कहा जाता है 'पिता जी, आप गलती करते हैं', यह हमारी परम्परा नहीं है। पिता को समझाना तो है लेकिन विनय से। उसने अपने पिता से कहा—'पिता जी, आप सर्वस्व-त्याग कर रहे हो, आप मुझे किसे देंगे?' मतलब उसका सीधा था कि पुत्र भी पिता का ही 'धन' है। आप कुछ मेरे नाम

से रख रहे हैं—यह है तो आपका ही क्योंकि मैं भी तो आपका ही हूँ! पिता जी समझ तो गए पर मन ज़रा लोभी था। कहने लगे 'चुप रह, बीच में नहीं बोल।' बच्चे को तो उन्हें समझाना था तो इसी बात को दो-चार बार पूछा। पिता को गुस्सा आ गया। उन्होंने कह दिया—'तुझे यमराज को देता हूँ।' पिता ने कह तो दिया गुस्से में लेकिन लड़का हाथ जोड़ कर तैयार हो गया यमराज के यहाँ जाने के लिए! अब पिता ने सोचा, 'मैंने क्या कह दिया!' कहा 'अरे! मैंने ऐसे ही कहा था, सचमुच में दे नहीं रहा हूँ यमराज को।' पुत्र ने कहा 'पिता जी, आपने कहा है। आप विचार करके बताएँ, अपने कुल में आज तक क्या कोई झूठ बोला था? अपने पूर्वजों में कोई ऐसा हुआ है जिसने झूठ बोला हो?' पिता को कहना पड़ा 'नहीं, अपने यहाँ कोई नहीं हुआ।' पुत्र बोला 'अब भविष्य का विचार करिए : अपने कुल में झूठ बोलने वाले लोग होंगे। लोग पूछेंगे 'अरे, तुम झूठ कब से बोलने लगे?' अपने कुल वाले आपका नाम लेंगे कि तब से हमारे कुल में झूठ बोलने की परम्परा शुरू हो गई है! जीना-मरना तो मामूली घटनायें हैं परन्तु झूठ बोल कर किसी परिस्थिति से दूर होना ठीक नहीं।' मन में झूठ का ही सहारा लेकर पिता दान भी कर रहा था क्योंकि सर्वस्वका संकल्प कर सब दे नहीं रहा था। झूठ को ही लड़के ने अकार्य समझाया। पिता की समझ में बात आ गई।

इसलिए, अपने पूर्वजों का विचार करो कि अपने यहाँ किसी ने ऐसा किया है क्या अर्थात् मेरी यह करने की सामर्थ्य है या नहीं, मेरा करना उचित है या नहीं। उसके बाद उस कार्य का विचार करो कि जो तुम करने जा रहे हो उससे जो तुम फल चाह रहे हो वह पूरा होगा या नहीं। कई बार हम लोग साधन कुछ और करते हैं, फल कुछ और ही चाहते हैं! इस विषय में बहुत भ्रम होता है कि ऐसा करेंगे तो शायद हो जाए। 'शायद हो जाए' वाला व्यक्ति 'संकल्प' करने वाला नहीं है! संकल्पकर्त्ता तो निश्चित पता लगाता है कि किस फल को प्राप्त करने के लिए क्या साधन है। इन चार बातों का विचार करके तब हम लोग शास्त्रीय कोई कर्म प्रारम्भ करते हैं। इसलिए किसी भी कार्य को करने के लिए तुम पहले विचार-पूर्वक संकल्प करो, मन में जो आये वही न कर लो।

परमेश्वर सत्यसंकल्प है। देश भी योग्य है, काल भी योग्य है, अधिकारी भी योग्य है, क्रिया भी योग्य है, तभी वह संकल्प करता है। इसके द्वारा श्रुति ने परमेश्वर की सामर्थ्य तो बतला ही दी कि उसकी कामना हमेशा सत्य हो जाती है, उसका संकल्प हमेशा सत्य हो जाता है, पर क्यों हो जाता है—इसको बतलाते हुए हम लोगों को भी उपदेश कर दिया ताकि हम सत्यकाम सत्यसंकल्प होवें। हमारी सामर्थ्य तो नहीं है कि हम जो चाहें सो कर लें पर हम चाहें ही वह जो हमारी क्षमता में है, उससे ज़्यादा चाहना करें ही नहीं। इसलिए गांधी जी प्रायः कहा करते थे कि एक कदम आगे की सोचो, ठेठ आगे की पहले से सोचने की कोशिश मत करो। जब वह काम सिद्ध हो जाए तब फिर अगला कदम लो। ऐसा इसीलिए कि जब उस कार्य को करके हमारी क्षमता बढ़ जाएगी तब आगे की सोच उचित भी होगी। तार्किकों ने ईश्वर के बारे में यों विचार कर कहा ॥११०॥

कुछ तार्किकों के विचार में भी दोष दिखाने वाले कहते हैं—

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत्।
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिङ्गदेहेन संयुतः ॥१११॥

ईश्वर के ज्ञानादि नित्य हों तो हमेशा सृष्टि ही होती रहे! इसलिए सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध हिरण्यगर्भ ही ईश्वर है।

ज्ञानादि के अन्दर प्रयत्न और इच्छा का संग्रह है। इच्छा भी नित्य मानें तो सृष्टि की इच्छा हमेशा रहे, फलतः स्थिति-नाशकालों में भी सृष्टि ही हो! किं च उत्पत्ति होते ही सृष्टि-इच्छा निवृत्त न हो तो उसी वस्तु की पुनरुत्पत्ति माननी पड़े जो संभव नहीं। किं च नाशेच्छा भी नित्य रहेगी जिससे स्वीकारना होगा कि सृष्टि-स्थिति-नाश एक-साथ होते ही रहें तथा यह कल्पना भी असंगत है। जैसे क्षणिकवादी एक क्षण में तीनों नहीं उपपन्न कर सकता वैसे तार्किक भी नहीं कर सकता। मूलकार ने सृष्टि का इसलिए उल्लेख किया कि वर्तमान है स्थितिकाल जिसमें सृष्टि (उत्पत्ति) अनुपलब्ध है अतः तार्किकमत प्रत्यक्ष से बाधित है यह स्पष्ट हो। नाशकाल इसलिए कहना व्यर्थ कि तब हम बाध करने वाले भी होंगे नहीं! तार्किक जगत्कारणरूप से ही ईश्वर सिद्ध भी करते हैं, नाशकरूप से प्रायः कहते नहीं। महाप्रलय उन्हें सर्वथा स्वीकार भी है यह कहना कठिन है! महासृष्टि-महाप्रलय मानना वास्तव में तार्किक के लिए संभव नहीं क्योंकि अदृष्ट भी जन्य वस्तु होने से नष्ट होने के बाद महासृष्टि में उन्हें निमित्त नहीं मिलता, जीवादृष्ट के निमित्त से ही वे सृष्टि आदि मानते हैं। हर हालत में जैसी भी वे सृष्टि ईश्वरकृत मानें, उस सृष्टि-क्रिया को होते हमेशा रहना चाहिए—यह आक्षेप है।

इसलिए आक्षेप्ता वादी का अभिप्राय है कि मन-बुद्धि आदि लिंग शरीर वाला ही अनित्य ज्ञानादि वाला संभव होने से वही ईश्वर माना जाये। न योगी, न तार्किक ईश्वर को लिंगयुक्त मानता है, 'हैरण्यगर्भ' अर्थात् लिंगशरीरों की समष्टि में अभिमानी चेतन को ईश्वर स्वीकारने वालों की ऐसी मान्यता है। हिरण्यगर्भ ही उपासक का ईश्वर सम्भव भी है क्योंकि हमारी प्रार्थना सुनने वाला हो सकता है; हमारी गलतियों को माफ भी कर सकता है। ये सब कार्य तो मन होवे तभी हो सकते हैं। यदि सूक्ष्म शरीर वाला न हो तो प्रार्थना सुने कैसे, हम पर कृपादृष्टि डाले कैसे, उसके चरणों में हम शरण लेवें कैसे—इत्यादि भक्ति का सारा व्यवहार ही असंगत हो जायेगा। इसलिए उपासक, परमेश्वर की भक्ति करने वाला, तो उसको मन-बुद्धि वाला ही मान सकता है। मन बुद्धि वाला वेदांत में हिरण्यगर्भ ही कहलाता है जिसे वे ईश्वर कहते हैं। पतञ्जलि और तार्किक जिसे ईश्वर कहते हैं वह प्रार्थना सुनना इत्यादि कुछ कार्य नहीं कर सकता! जिस समय ग्राह ने पकड़ लिया गज को, किसी तरह से छुड़ा नहीं पाया, तब उसने एक फूल तोड़ कर परमेश्वर के अर्पण किया कि मुझे बचाएँ। वहाँ बतलाया है कि भगवान् बड़ी शीघ्रता से आ रहे थे लेकिन पूरी तेज़ी से चलने वाले भी गरुड

की गति धीमी लगी, भगवान् ने विलंब सहन नहीं किया यह सोचकर कि इससे तो भक्त बचेगा नहीं, इसलिए उससे उतर कर पहुँचे, ग्राह का सिर सुदर्शन से काट दिया! केवल प्रार्थना सुनते ही नहीं हैं, तेज़ी से आते भी हैं! इसलिए आने की इन्द्रियाँ इत्यादि भी उनके पास चाहिए। इसलिए कहा 'लिङ्गदेहेन संयुतः' समष्टि लिंगदेह से युक्त परमेश्वर है, उसी की हम सब प्रार्थना करते हैं ॥१११॥

हैरण्यगर्भ उपासक अपने मत के भी समर्थन में वाक्याभास ढूँढ निकालता है–

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम्।
लिङ्गसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥११२॥

'उद्गीथ ब्राह्मण' नामक प्रसंग में उस ईश्वर का अतिविस्तृत माहात्म्य कहा है। उसका लिंगदेह होने पर भी जीव नहीं क्योंकि उसके कर्म आदि नहीं हैं।

उद्गीथब्राह्मण बृहदारण्यक (१.३) में आता है। उसमें लिङ्गदेह वाले परमेश्वर का विस्तार से वर्णन किया है। नाम वहाँ 'प्राण' लिया है। उसी से बाकी सबको पोषण मिलना बताया है, उसकी शरण लेने का महत्त्व कहा है। जिसकी हम उपासना करते हैं उसकी बहुत विस्तार से महिमा बतलाई है। मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ इत्यादि होने पर भी वह जीव नहीं है। क्यों? जीव को लिङ्गदेह की प्राप्ति अपने कर्मों के फलरूप से होती है। हिरण्यगर्भ के जो समष्टि मन इत्यादि हैं वे किसी कर्म के फलरूप से नहीं। ऐसा हैरण्यगर्भ लोग मानते हैं। वेदांत सिद्धान्त में तो हिरण्यगर्भ पद पर जीव जाता है। अतिशय कर्म और उपासना करने के फलरूप से ही जीव उस पद पर जाता है। इसी से उसको लिङ्गदेह की प्राप्ति हुई है, उसे 'भाण' करना पड़ा, डर लगा इत्यादि सब कर्म का ही फल है। परन्तु समष्टि-अभिमान इतने उत्कृष्ट कर्म-उपासना से हुआ कि अपने अकेलेपनके ही विचार से तुरंत वह पूर्णभाव में स्थित हो जाता है। इसके कारण अधिकतर समय तो वह ईश्वरभाव से रहता है। भगवान् भाष्यकार ने कहा भी है कि अधिकतर उसका ईश्वरभाव ही है पर कादाचित्क जीवरूपता भी है। हर हालत में वह परिच्छिन्न, हम जैसा जीव नहीं है। किंतु हैरण्यगर्भ उसे ईश्वर ही कह रहा है। न कर्म, न फल, न कर्म के संस्कार उसमें हैं जो जीवों में होते हैं। इस प्रकार, भक्ति-सिद्धांत वालों ने परमेश्वर को लिङ्गदेह वाला स्वीकार किया ॥११२॥

इस पर पूजा करने वाले लोगों ने पूछा, भगवान् का लिङ्गदेह है तो हम प्रार्थना कर भी लेवें, लेकिन उसकी पूजा कैसे करेंगे? कोई स्थूल देह होगा तभी पूजा होगी। इसलिए अर्चक लोगों का कहना है–

स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहो न क्वापि दृश्यते।
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥११३॥

स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्म शरीर कहीं दीखता नहीं अतः सब ओर मस्तक आदि वाला विराट् का देह ईश्वर है।

बिना किसी स्थूल शरीर के कहीं भी केवल सूक्ष्म शरीर देखने में नहीं आता। भूत-प्रेत भी जब आँखों से दीखेंगे तो शरीर वाले ही दीखेंगे। चाहे धूएँ का ही शरीर मानो! खाली लिङ्गदेह स्थूल देह के बिना कहीं भी अनुभव में नहीं आता। स्थूल देह के साथ ही सूक्ष्म देह अनुभव में आता है। इसलिए ईश्वर तो विश्वरूप है—विराट् देह वाला है। स्थूल सारी सृष्टि जिसका शरीर है वह विराट् है। वैराज देह अर्थात् विराट् देह वाला। अर्चक भी ईश्वर को स्थूलदेहमात्र नहीं वरन् स्थूल-सूक्ष्म से विशिष्ट मानेगा। गीता में भगवान् कृष्ण ने विराट् देह ही, विश्व-रूप ही दिखाया। विराट् देह वाला ईश्वर है। इसकी हम पूजा, सेवा आदि कर सकते हैं। संसार में जो कुछ भी तुमको अनुभव में आ रहा है वह सब उसका देह है। इसलिए चाहे तुम उसकी पत्थर में पूजा करो चाहे पानी में पूजा करो, चाहे तेज में पूजा करो। प्रायः ये तीन पूजा के सहारे प्रसिद्ध हैं। मन्दिरों के अन्दर मूर्तियों की प्रतिष्ठा होती है। तीर्थों के अन्दर जल की प्रतिष्ठा होती है, तीर्थ-स्नान करने जाते हैं। और यज्ञादि के अन्दर अग्निरूप से उसकी पूजा करते हैं। कुछ लोग उसकी वायुरूप से पूजा करते हैं, प्राण ही परमात्मा है—मानकर तरह-तरह से प्राणों का ही अर्चन करते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा होती है। जैसे परमेश्वर अनन्त है वैसे ही परमेश्वर के अनन्त रूप हैं, कहीं भी उनकी पूजा की जा सकती है। महर्षि पतञ्जलि ने भी कई स्थान बतलाए। अन्त में उन्होंने लिखा है जहाँ तुम्हारा मन लगे वहीं पूजा करो, उसके अन्दर परमात्मदृष्टि करो। गीता में भगवान् ने कहा है कि 'जिस चीज़ के अन्दर भी तुम परमात्म-दृष्टि करोगे, फल देने वाला मैं ही वहाँ भी हूँ।' क्योंकि विराट्-रूप होने से सर्वत्र वे ही हैं जैसे हम अपने सारे शरीर में मौजूद हैं। कोई किसी भी अंग को यदि पूज्य समझता है तो वहाँ पूजा करेगा पर खुश तो हम ही होंगे! गले में उसने सोने की माला पहना दी तो भी हम ही खुश होंगे। पैर में उसने बढ़िया नुपूर बाँध दिए तो भी हम ही खुश होंगे। कमर में उसने सुन्दर करधनी बाँध दी तो भी हम ही खुश होंगे। सिर में उसने उत्तम मुकुट पहना दिया तो भी हम ही खुश होंगे। हाथ में बाजूबन्द पहना दिया तो भी हम ही खुश होंगे। ऐसा कुछ नहीं है कि किसी अंग की पूजा से हम खुश न होवें। ठीक इसी प्रकार से सारा संसार परमात्मा का रूप है इसमें जिस चीज़ को भी हम परमात्मा समझ कर पूजा करेंगे, वह उन्हीं की पूजा होगी। 'सर्वतो मस्तकादिमान्'—संसार में जितने सिर हैं सब परमात्मा के ही हैं। जहाँ आँखें हैं सब परमात्मा की ही हैं, सब चरण परमात्मा के ही हैं। असली चीज़ है कि परमात्मा समझ करके तुमको पूजा करनी है। उसमें परमात्मा-दृष्टि नहीं करोगे, तुम उसको अन्य समझोगे तो तुमको अन्यसेवा के अनुरूप फल मिलेगा। तुम परमेश्वर समझोगे तो तदनुरूप फल मिलेगा। गीता में भगवान् ने ही कहा—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि' जो जिस रूप से मेरी आराधना करता है मैं उसी तरह उससे व्यवहार करता हूँ। परमेश्वर का कोई एक ही रूप

नहीं है। सारा संसार परमेश्वर का ही स्वरूप है। समष्टि रूप सिवाय हम लोगों के और किसी धर्म वाले की समझ में नहीं आता! वे किसी एक रूप को तो परमेश्वर गिनते हैं लेकिन सभी उसका ही रूप है यह सनातनी को ही समझ आता है। वैदिक मार्ग से भटके भारतीय धर्मों में भी शरीर-विशेष का ही आग्रह मिलता है, भेदवाद ही उन्हें स्वीकार होता है, समष्टि की ईश्वरता नहीं ॥११३॥

विराट् की ईश्वररूपता में वेद-समर्थन दिखाने का प्रयास वादी करता है—

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि।
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४॥

रात-दिन विश्वरूप का चिंतन करने वाले कहते हैं कि 'सहस्रशीर्षा' (ऋ.१०.९०.१) 'विश्वतश्चक्षुः' (श्वे.३.३) इत्यादि में विराट्-रूप ईश्वर कहा गया है।

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'—ऋग्वेद में कहा है कि वह हज़ारों सिर वाला है। हज़ारों का मतलब यहाँ संख्या से नहीं है, तात्पर्य है कि असंख्य सिर हैं। उसकी अनन्त आँखें हैं अर्थात् संसार में जितनी आँखें हैं, सब उसकी ही हैं। श्रुति साथ में सावधान करती है कि यह मत समझना कि परमेश्वर इतना ही है! 'अत्यतिष्ठद्' इससे परे भी वही है। आत्मा शरीर में रहता है—यहाँ तक बात ठीक है। शरीर के बिना आत्मा मिलता भी नहीं, यह भी बात बिलकुल ठीक है। लेकिन इससे जो गलत निर्णय लेते हैं कि इसलिए शरीर ही आत्मा है, वह अप्रामाणिक है। शरीर *ही* आत्मा नहीं है। शरीर में आत्मा रहता है और वह इस सबका नियामक है, इससे उत्कृष्ट है। इस सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक रहते हुए वह इससे ऊपर भी है, इस सबका नियामक है। जीव भी शरीर में मिलता है, शरीर के बिना मिलता नहीं, फिर भी शरीर ही नहीं है, शरीर से अधिक कुछ है, सारे शरीर का नियन्त्रण करने वाला है। इसी प्रकार विराट् पुरुष ब्रह्माण्ड ही नहीं है, ब्रह्माण्ड के अन्दर रहते हुए, ब्रह्माण्ड का शासन करते हुए भी है इससे परे। जैसा सहस्रशीर्षा में कहा वैसा ही 'विश्वतश्चक्षुः' में बताया। यह मंत्र रोज़ आरती में बोलते ही हैं। 'विश्वतश्चक्षुः' अर्थात् सर्वत्र, सब ओर उसके चक्षु हैं। जहाँ भी चक्षु है सब उसके ही हैं। इसी प्रकार मुख, बाहु, पाद आदि सब समझने चाहिए। इस प्रकार ईश्वर का शरीर वेद में श्रुत है। विश्वरूप का ही जो चिन्तन करने वाले हैं, निरन्तर विश्वरूप का चिन्तन करते हैं उनका यह मत है। उपासक के लिए 'अनिशं' नहीं कहा था क्योंकि उपासना अहर्निश ही होती है। उपासक भक्त होने से हमेशा भक्ति करता ही है यह सभी लोग जानते हैं। पर अर्चक, पूजा करने वाले, घण्टा-दो घण्टा पूजा करके फिर दूसरा धन्धा करते हैं। पूजकों की यह प्रसिद्धि नहीं है कि वह निरन्तर पूजन करते हैं। परन्तु ये जो विश्वरूप की उपासना करने वाले हैं ये 'अनिशं चिंतकाः' दिन-रात विराट्-चिंतन करते हैं। जैसा भगवान् ने गीता में कहा है कि सारे कर्मों को मेरे लिए करे, वैसा इनका व्यवहार है। 'अभ्यर्च्य' पूजा करके; किससे? 'स्वकर्मणा'

जो अपना कर्म है उसको पूजा के ढंग से करे। अगर दुकान में बैठा हुआ माल बेच रहा है तो वहाँ भी जो ग्राहक आया है वह साक्षात् नारायण है—इस बुद्धि से ही उससे व्यवहार करे। शरीर आदि चलाने के लिए जो व्यवहार हैं उनके अन्दर भी हमेशा 'परमेश्वर की पूजा ही हो रही है' यह निश्चय रखना चाहिए। इस प्रकार अपने हर कर्म को परमेश्वर के लिए विश्वरूप का चिन्तक करता है। अर्चक प्रायः सोचते हैं 'पूजा खत्म हो गई' अतः 'अनिशं' से कहा कि जो विश्वरूप की दृष्टि वाला है वह अपने सारे ही कर्मों को परमेश्वर के अर्पण ही करता रहता है ॥११४॥

विश्वरूप परमेश्वर स्वीकारना अतिशय विवेक और निरन्तर सावधानी की आवश्यकता रखता है। इसे समझने में असमर्थ को ईश्वर का यह वर्णन ही नही जँचता। अतः वह मूर्तिविशेष को ईश्वर मानने का पक्ष रखता है—

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान्।।११५।।

सब तरफ हाथ-पैरों वाला होना ईश्वर का लक्षण हो तो (कनखजूरा आदि) कीड़े वगैरह भी ईश्वर होंगे! इसलिए चार मुखों वाले देव ही ईश्वर हैं, अन्य कोई पुरुष नहीं।

सब जगह हाथ पैर होना यदि लक्षण मान लिया परमेश्वर का तो कृमि, जैसे कनखजूरा इत्यादि कीड़े, को भी ईश्वर मानना होगा। कई कीड़ों के हाथ-पैर उनके शरीरों के सब ओर होते हैं। फिर तो उनको भी ईश्वर मान लेना पड़ेगा! इसी तरह अनेक लोग कहते हैं कि आप लोग परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हो तो कोढ़ी, भयंकर बीमारी वालों, दरिद्रता वालों में भी ईश्वर है क्या! रामकृष्ण परमहंस जब विवेकानन्द जी को समझाते थे कि परमेश्वर सर्व-व्यापक है तब नरेन्द्र (विवेकानंद) उनसे यह ही कहते थे 'नाले में बिल-बिलाने वाला कीड़ा, जिसमें भोजन बनता है वह कढ़ाई, ये सब क्या तुम्हारा ईश्वर है? कैसे मान सकते हैं तुम्हारी बात को?' परमहंस कहते थे कि ये कुलबुलाते हुए कीड़े वाला नाली का पानी और गंगा जल, जब दोनों तुमको एक जैसा समझ में आवे, तब समझना कि ब्रह्मज्ञान हुआ है। दोनों में सच्चिदानन्द एक ही है। सर्वत्र विश्वरूप परमेश्वर विद्यमान है—यह दृष्टि जल्दी बनती नहीं; अच्छी-अच्छी चीज़ों में तो परमेश्वर दीख भी जाता है! रामचन्द्र जी तो परमेश्वर जँच जाते हैं पर रावण भी परमेश्वर है—यह बहुत कम लोगों को जँच पाता है। अतः प्रकृत श्लोक में भी यही मत रखा कि ऐसा व्यापक नहीं हो सकता परमेश्वर वरन् कोई एक शुद्ध रूप होना चाहिए।

सुन्दर ब्रह्मलोक के अन्दर कमल के ऊपर बैठे हुए चार मुँह वाले भगवान् ब्रह्मा तो परमेश्वर समझ में आते हैं। वे अत्यन्त शुद्ध हैं, ऊपर रहकर सबका शासन करते हैं। अतः ब्रह्मा जी ईश्वर हैं। चार मुख उनके इसलिए हैं कि चारों तरफ एक-साथ दृष्टि रख सकें शासन करने के लिए। उन चार मुखों से उन्होंने चार वेदों का उपदेश दिया। वही सबसे श्रेष्ठ

हैं, शुद्ध हैं, परमेश्वर हैं। 'इतरः पुमान्'—जिस विश्वरूप का वर्णन किया, वह ईश्वर नहीं है। गीता के ग्यारहवें अध्याय के अनुसार भगवान् ने तो अपना विश्वरूप दिखलाया कि 'मैं सर्वरूप हूँ' पर अर्जुन ने कहा 'महाराज, यह तो हमारी समझ में नहीं आता है। इसमें भयानक रूप हैं, डर लगता है। इसलिये जो आपका मनुष्य रूप है वही दिखाइए।' भगवान् ने वही रूप दिखाया। वैष्णवाचार्यों ने कहा है कि इसके द्वारा सिद्ध हो जाता है कि विश्वरूप उपासना के योग्य नहीं है! उसके योग्य वही कृष्ण शरीर है। कृष्ण-शरीर कहो या चतुर्मुख देव कहो, एक ही बात है, क्योंकि मतलब है कि भगवान् का रूप एक ही होना चाहिए। सनातन धर्म में एक परमेश्वर सबमें गूढ (निहित) स्वीकार होने से सभी शरीरादि उसी की उपाधियाँ हैं, सर्वत्र ईश्वरास्तित्व अंगीकार है। किंतु यह दृष्टि बनाना कठिन होने से तत्तद् देवादि उपाधि को ही ईश्वर स्वीकारने की पद्धति लोक में प्रचलित हो गयी है **॥११५॥**

उक्त मत वालों का परिचय देकर तदनुकूल वेद का वाक्याभास भी प्रदर्शित करते हैं—

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः, प्रजापतिः।
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ॥११६॥

पुत्रलाभ के लिये उन (ब्रह्मा) की उपासना करने वाले ऐसा कहते हैं। 'प्रजापति ने प्रजाएँ उत्पन्न कीं' (मैत्रा. २.६) इत्यादि श्रुति भी वे उद्धृत करते हैं।

मैत्रायण्युपनिषत् में कहा है 'प्रजापतिर्वा एकोऽग्रेऽतिष्ठत् स नारमतैकः सोऽऽत्मानमभिध्यात्वा बह्वीः प्रजा असृजत'। प्रजापति ने ही सारी प्रजाओं को पैदा किया। इसलिए मनुष्यों को आगे सृष्टि करने के लिए पुत्र उत्पन्न करने के लिये प्रजापति की ही उपासना करनी चाहिये। प्रजापति की कृपा से ही मनु इत्यादि ने भी आगे सारे लोगों को पैदा किया। इससे पता लगता है कि सब सृष्टि को करने वाले प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा ही हैं। ये ब्राह्म लोग, ब्रह्मा को ही ईश्वर मानने वाले हैं। जब एक मूर्तिधारी ब्रह्मा जी को ईश्वर माना तब मूल बात भूल गये कि वे तो विश्वव्यापक हैं! **॥११६॥**

एक बार मूर्तिविशेष का आग्रह आया तो अन्यान्य कल्पनाएँ भी प्रारम्भ हो गयीं। इन्हीं में भागवत मत बताते हैं—

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः।
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥११७॥

कमल से जन्में ब्रह्मा विष्णु की नाभि से प्रकट हुए इसलिये विष्णु ही ईश्वर हैं ऐसा भागवत लोग जगत् में प्रचार करते हैं।

भागवत सम्प्रदाय के लोग कहते हैं कि ब्रह्मा जी ने सृष्टि पैदा की यह तो ठीक है लेकिन ब्रह्माजी किससे पैदा हुए? विष्णु के नाभिकमल से पैदा हुए। उनको भी उत्पन्न करने वाले

होने के कारण विष्णु ईश्वर है, ब्रह्मा नहीं। जहाँ तुमने किसी एक मूर्ति, स्थूल मूर्ति को परमेश्वर मानना शुरू किया वहीं ये झगड़े चलने लग जाते हैं। पुराणों ने ये कथाएँ क्यों कही हैं? इसलिये कि जब कोई असम्भव बात कही जाती है और हमें पता है कि कहने वाला समझदार है, तब हम विचार से पता लगाने की कोशिश करते हैं कि इसने किस दृष्टि से कहा है। जो उस व्यक्ति को प्रामाणिक नहीं समझता, वह कहता है, 'बेकार की गप्प मार रहा है।' तात्पर्य नहीं समझा जाए तो कही हुई बात असम्भव लगेगी। कुछ लोग मानते हैं कि जो भी कह रहा है वैसा ही सम्भव है। वे मान लेते हैं कि सचमुच में ऐसा ही हो गया। विष्णु लेटे हुए हैं, उनके नाभि से कमल निकला और ब्रह्माजी उत्पन्न हो गये, यह पुराणों ने कहा है। कुछ लोग मानते हैं कि सचमुच यह घटनाक्रम हुआ। यथाश्रुत यह हमारे अनुभव के अनुसार असम्भव बात है। नाभि से कभी कमल निकलने वाली चीज़ नहीं और ब्रह्माजी मिलते भी नहीं। ऐसी असम्भव कथा कही जाती है ताकि उसके अर्थ का विचार करो। विष्णु शब्द का अर्थ होता है व्यापक। जो सब जगह प्रविष्ट होवे वह सर्वव्यापक परमात्मा विष्णु है। नाभि वह होती है जिसके द्वारा बच्चा जब तक पेट में है तब तक सारा भोज्य खाता है। व्यापक परमात्मा के द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है प्रजापति। प्रजापति की सारी शक्ति किससे है? उस व्यापक परमात्मा से है। व्यापक परमात्मा से सारी शक्तियों को प्राप्त करने वाला स्थूल ब्रह्मा है इस बात को बतलाने के लिए कथा कही गयी है। इसको नहीं समझ करके भागवत लोग कहते हैं कि विष्णु के नाभि-कमल से पैदा हुआ इसलिये ब्रह्मा उसकी अपेक्षा छोटा है।

जब-जब व्यापकभाव को छोड़ते हैं तब-तब हमारी शक्ति सीमित होती है और जब-जब व्यापक भाव होता है तब-तब हमारी शक्ति असीम हो जाती है। इस व्यापकभाव को छोटा करने वाला कौन है? अहम् है। मैं के द्वारा ही हम अपने व्यापकभाव को छोड़ते हैं। 'यह मैं हूँ' तब बाकि सब 'दूसरे' हैं। 'मैं' वाला जो अन्तःकरण है उसके चार प्रकार के मुख हैं—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। व्यापकभाव से परिच्छिन्नभाव आने के क्रम में पहले वही पैदा होता है। इसलिये आचार्य ने भी कहा है कि बहुत से प्रतिबन्धक संसारहेतु हैं परन्तु सबसे पहला प्रतिबन्ध अहंकार ही है—'तेषां प्रथमविकारो भवत्यहंकारः'। भगवान् पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य-टीका में इस अहंकार पर बड़ा विस्तृत विचार किया है। इसी के द्वारा हमारा जीवभाव प्रधान रूप से प्रकट होता है। कहानी तो इस बात को समझने के लिये थी, परंतु भागवत लोगों ने यह बिना समझे 'यह बड़ा, यह छोटा' का लठ्ठम-लठ्ठा शुरू कर दिया। भागवत सम्प्रदाय के लोग विष्णु ईश्वर है ऐसा मानते हैं ॥११७॥

साकार ईश्वरवादियों में पुराण, आगम आदि पर निर्भर ब्राह्मों, भागवतों की तरह शैव भी अपना मत रखते हैं—

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः।
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥११८॥

आगम ही प्रधान बोधक मानने वाले शैव कहते हैं— शिव के चरण भी ढूँढ पाने में विष्णु अशक्त रहे अतः विष्णु नहीं वरन् शिव ईश्वर हैं।

शार्ङ्गी अर्थात् शार्ङ्ग नाम वाले धनुष को धारण करने वाले विष्णु भगवान्। वे शिव के पैरों का पता नहीं लगा पाए यह कथा पुराणों में आती है। ब्रह्मा और विष्णु के अन्दर इस बात का विवाद था कि हममें से श्रेष्ठ कौन। ब्रह्मा का कहना था 'सारी सृष्टि हमने बनाई इसलिये हम श्रेष्ठ।' विष्णु का कहना था 'मैंने तुम को पैदा किया इसलिये मैं श्रेष्ठ।' ब्रह्मा का कहना था 'कोई बहुत अच्छा वकील होवे, उसका बाप कहे कि 'मैंने वकील को पैदा किया है इसलिये सबसे ज़्यादा कानून मैं ही जानने वाला हूँ' तो कोई नहीं मानेगा! आपने मुझे पैदा किया—यह बात तो ठीक है लेकिन सृष्टि को तो मैंने पैदा किया।' ये दोनों लोकपाल हैं, सारे संसार का संचालन करने वाले हैं, इन्हें इस प्रकार झगड़ते देख कर वहाँ इनके बीच में ज्योति रूप से एक लिङ्ग प्रकट हुआ, उसमें से आवाज़ आई 'जो मेरी सीमा को जान लेवे वही तुममें बड़ा है।' ब्रह्मा जी हंस का रूप लेकर सिर देखने के लिये चले, विष्णु भगवान् वराह का रूप लेकर पैरों को देखने के लिये चले। परन्तु न ब्रह्मा को सिर का पता लगा और न विष्णु को पैरों का पता लगा! अन्ततोगत्वा जब किसी तरह से पार नहीं मिला तो उन्होंने यह निर्णय किया कि हम लोग वापिस जहाँ से चले थे वहीं आवें। ब्रह्माजी ने सोचा कि वापिस चलेंगे और विष्णु को पता लग गया होगा तो उसी की श्रेष्ठता हो जाएगी। अतः उन्होंने निर्णय किया कि 'मैंने इतने प्रयत्न के बाद नहीं प्राप्त किया तो सिर किसी को तो दीखना नहीं है! इसलिये मैं कह दूँगा कि मुझे दीख गया।' और दो गवाह तैयार कर लिये। तबसे आज तक यही बात है, जब कोई झूठ बोलता है तब तुरन्त कहता है 'उससे पूछ लो।' झूठा व्यक्ति गवाह का उल्लेख पहले करता है। सच बोलते समय मन में नहीं आता कि गवाह ढूँढें। झूठ बोलता है तो व्यक्ति सोचता है, 'किसी को गवाह बनाऊँ।' विष्णु भगवान् सत्त्वप्रधान हैं, उन्होंने कहा 'हमें पता नहीं लगा।' ब्रह्माजी ने कहा 'मैं तो पता लगा आया।' उस झूठी बात को सुन कर उस लिङ्ग में से आवाज़ आई 'अरे! तुम लोकपाल होकर इस प्रकार झूठ का सहारा लेते हो—इसलिये तुम अपूज्य रहोगे, तुम्हारी लोग पूजा नहीं करेंगे।' और विष्णु भगवान् से कहा 'तुम्हारी मेरे जैसी ही सर्वत्र पूजा होगी क्योंकि तुमने सत्य को नहीं छोड़ा।' यह पुराणों में कथा है। इसलिये शैव लोग कहते हैं कि विष्णु शिव के पैरों को ढूँढ नहीं पाए, इसलिये शिव ही ईश्वर है।

जैसे विष्णु की कथा का तात्पर्य कुछ और, परन्तु लोग उसको यथाश्रुत लेकर सोचते हैं कि सचमुच इस ढंग से कोई काम हुआ होगा, इसी प्रकार इस कथा का भी वास्तविक तात्पर्य कुछ और है। जो लिङ्ग प्रकट हुआ था उसका आदि अन्त नहीं था इसलिये आदि अन्त से रहित ही वास्तविक तत्त्व है। परन्तु ब्रह्मा ने कहा कि 'मुझे आदि का पता है।' ब्रह्मा कर्म-शास्त्र के प्रतीक हैं। इसलिये ब्रह्माजी के हाथों में जो आयुध हैं वे सब कर्मकाण्ड में प्रयोग के पात्र हैं। कर्मकाण्ड वाला सोचता है—'सब चीज़ों को हम जानते हैं' उनका कहना

है कि 'मन्त्राधीना हि देवता' सारे देवता मन्त्रों के अधीन हैं और मन्त्र हमारे अधीन हैं। इसलिए कर्मकाण्डी के अन्दर कभी समर्पण की भावना नहीं आती। कर्म करेंगे तो फल मिल ही जाएगा—इसी प्रकार वह सोचता है। अतः उसे लगता है कि कर्म के द्वारा ही परमेश्वर भी मिल जाएगा! वेदों में कहीं भी किसी कर्म का विधान नहीं किया कि जिसे करने से परमेश्वर मिलता हो। अधिकतर लोगों का प्रश्न यही होता है—'क्या *करने* से परमेश्वर मिलेगा'? कर्मकाण्डी ईश्वर का आदि अर्थात् प्राप्ति का उपाय कर्म समझता है, यह जो उसका झूठा आग्रह है—इसी को ब्रह्मा की कथा के द्वारा बतलाया गया।

विष्णु भगवान् उपासना के प्रतीक हैं। उपासक सोचता जरूर है कि 'उपासना करूँ, परमेश्वर प्रसन्न हो जाएँगे' परन्तु उसके मन में उपासना के कारण समर्पण की भावना बनी रहती है। उपासक के मन में यह नहीं आता कि हमने इतनी उपासना की *इसलिये* जरूर मिल जाएँगे। एक प्रसिद्ध कथा है : एक बार नारद जी जा रहे थे। एक कोई बड़ा घोर तपस्वी था। उसने पूछा 'आप कौन हैं?' उन्होंने कहा 'हम नारद हैं।' उसने कहा 'फिर आप तो भगवान् के यहाँ जाते ही रहते हैं। ज़रा भगवान् से पूछ लेना कि मुझे तपस्या करते इतने साल हो गए, आप कब मिलेंगे? और कितनी तपस्या करनी है?' नारद जी ने कहा 'पूछ लूँगा।' कुछ आगे गए तो देखा, एक आदमी परमेश्वर की उपासना कर रहा है। उसने भी पूछा 'आप कौन हैं?' बोले 'मैं नारद हूँ।' 'जायें तो भगवान् से ज़रा पूछ लेना कि मुझे उनकी प्राप्ति कब होगी?' नारद जी ने कहा 'ठीक है।' नारद जी घूमते-घामते पहुँचे वैकुण्ठ। भगवान् से पूछा 'महाराज! वहाँ एक तपस्वी घोर तपस्या कर रहा है, आप उसको कब मिलेंगे?' भगवान् ने कहा 'अभी उसको सात जन्म और तपस्या करनी पड़ेगी।' नारद जी ने कहा 'ठीक है। एक दूसरा वहाँ पर था वह भी आपकी उपासना कर रहा था, उसने भी पूछा था।' भगवान् ने कहा 'वह इतना घोर तपस्वी है नहीं, ढीला-ढाला ही है, प्रेम उसे मुझसे बहुत है! उससे कहना कि जिस पेड़ के नीचे है—उस वट वृक्ष के जितने पत्ते हैं, उतने जन्म बीत जाएँगे तब दर्शन होंगे।' नारद जी ने कहा—'ठीक है।' नारद जी जब वापिस आए तो उस तपस्वी की तरफ से निकले। तपस्वी ने कहा 'महाराज पूछा था?' बोले 'हाँ पूछा था। भगवान् ने कहा है, सात जन्म में दर्शन हो जाएगा।' तपस्वी तो गालियाँ देने लगा! 'तुम झूठे तुम्हारे भगवान् झूठे! मेरे जैसा घोर तपस्वी, इतना घोर कर्म करने वाला और सात जन्म! बाप-रे-बाप! मैं तो एक जन्म में ही परेशान हो गया। भगवान् कुछ नहीं है, सब ऐसी ही बातें हैं। मुझ जैसे को सात जन्म के लिए टाल दिया!' नारद को भी गालियाँ देता रहा और भगवान् को भी। तपस्या छोड़कर चल दिया। नारद जी तो उस दृश्य को देख कर घबराए कि यह सात ही जन्म सुनकर इतना क्रोध कर रहा है, तो उसे जाकर कहूँगा तब पता नहीं मुझे पीट ही देगा! पर कहा हुआ था तो गए उसके भी पास। उसने भी पूछा तो नारद जी ने खड़ाऊँ-कस कर पकड़ी कि गुस्सा करेगा तो खट से भागेंगे! नारद जी ने कहा कि

'भगवान् से पूछा तो था लेकिन क्या बताऊँ, भगवान् कहते हैं, इस पेड़ के जितने पत्ते हैं उतने जन्म बीतेंगे तब तुमको दर्शन हो जाएँगे।' नारद जी तो सोच रहे थे कि गुस्सा करेगा पर वह बड़ी प्रसन्नता से नाचने लगा। कहने लगा 'भगवान् कितने दीन-दयालु हैं, समय निश्चित तो कर दिया। इन पत्तों से तो न जाने कितने गुणा अधिक जन्म हम बिता चुके अनादि काल से। अब जन्मसंख्या निश्चित तो हो गयी। जैसे अनन्त जन्म बीत गए वैसे ये भी बीत जाएँगे। बड़ी कृपा की जो तुमने यह बात कही क्योंकि निश्चय हो गया कि भगवान् तो मिल ही जाएँगे।' यह फ़र्क है कर्मी और उपासक में। कर्मी हमेशा देखता है 'मैंने कितना किया।' उपासक उससे भिन्न होता है, कहता है 'होना तो परमेश्वर की कृपा से ही है। न जाने अनन्त जन्मों में हमने कितने पाप किए हैं! कब वे कटें यह हमारे प्रयत्न से साध्य नहीं। भगवान् ही कृपा करके आ जाएँ तो दर्शन हो।' जब प्रसन्न होकर नाच रहा था तभी भगवान् वहाँ आ गए! उसकी सर्वथा समर्पण की भावना थी उसीके कारण भगवान् प्रसन्न होकर आ गए।

उपासक के अन्दर समर्पण की भावना होती है। उसको ऐसा नहीं लगता कि भक्ति कारण है, भगवत्कृपा कार्य है। प्रेम की दृष्टि में परमेश्वर कृपा करने में स्वतन्त्र है, उपासना आदि प्रेम की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। ब्रह्मा जी जैसे कर्म के वैसे विष्णु भगवान् उपासना के प्रतीक हैं। प्रायः जीव कर्म-उपासना से परमेश्वर को परिच्छिन्न, सीमित, 'इतना ही है' ऐसा निर्धारित करना चाहता है। होता वह दोनों से सीमित नहीं है! दोनों से उसका पता लगे यह सम्भव नहीं है। कर्मी अभिमान रखता है कि करनेसे परमेश्वर समझ आ जायेगा। उपासक ऐसा अभिमान छोड़कर शरणागति लेता है। शरणागत होने पर परमेश्वरदर्शन होता है—यों उपासना की श्रेष्ठता बताने में इस कथा का तात्पर्य है। यह न समझें तो बड़ा-छोटा आदि विवादमात्र का प्रसंग रह जाता है।

शैवों को 'आगममानी' कहा क्योंकि वे स्वपरम्परा के आगमों का सहारा पकड़ते हैं। वेदों को निगम कहा जाता है। वे कहीं से आए नहीं, परमेश्वर ने ही प्रकट किए हैं। जो किसी भी ऋषि, देव आदि के द्वारा प्रवृत्त हुआ है उसे आगम कहते हैं। यदि पुराण साहित्य में देखो तो बौद्ध जैन आदि सबके ग्रथों को आगम कहा है। क्योंकि बुद्ध के द्वारा प्रवृत्त हुआ इसलिये बौद्धागम। जिन के द्वारा प्रकट हुआ है इसलिये जैनागम। इसी प्रकार से शैवागम, शाक्तागम इत्यादि हैं। जो ईश्वर के किसी एक रूप में आग्रह वाले होते हैं वे किसी-न-किसी आगम के अनुसार ही विचार करते हैं, निगम अर्थात् वेद की दृष्टि नहीं लेते। इस प्रकार शैव मत बताया ॥११८॥

गाणपत्य लोगों ने कहा कि शिव की श्रेष्ठता भी हम नहीं मानते हैं—

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत्।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥११९॥

त्रिपुर-संहार करने के लिये शिव ने भी विघ्नेश्वर पूजा की थी अतः विनायक ईश्वर है ऐसा गणपति-ईश्वरवाद में रति वाले कहते हैं।

त्रिपुरासुर बड़ा भयंकर हो गया। सब देवताओं ने प्रयत्न कर लिया लेकिन त्रिपुरासुर को नहीं मार सके। सारे प्रयास विफल होने पर महादेव से सबने उसे नष्ट करने की प्रार्थना की। भगवान् ने स्वीकारा पर देवताओं की भी मदद माँगी! पृथ्वी को रथ बनाया, सूर्य-चन्द्र को चक्के बनाया, ब्रह्माजी सारथि बने, विष्णु जी बाण की नोक पर बैठे। बाकी देवता भी यथायोग्य तैनात हुए। चढ़ायी शुरू करने से पूर्व गणेश जी को बुलाकर भगवान् शंकर ने उनकी पूजा की क्योंकि कार्यसिद्धि के लिये गणेशपूजा कर्त्तव्य है। गणपतिभक्तों का कहना है कि पूजा अपने से बड़े की की जाती है, शिवजी ने पूजा की तो अवश्य गणेश उनसे श्रेष्ठ हैं। अतः गणेश जी ही सचमुच में ईश्वर हैं। जैसे पूर्व दोनों कथाएँ किसी तात्पर्य से हैं वैसे ही यह भी तात्पर्य से कथा है।

पहली बात जो गणों का ईश्वर होवे वह गणेश होता है। किसी भी कार्य की सफलता के लिये समूह में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब सिद्धि होती है। दूसरी यह कि भगवान् शंकर को भले ही किसी सहायता की ज़रूरत नहीं थी परन्तु सिखाना था कि सबकी सहायता से काम करना चाहिये, अकेले करने में समर्थ हो तो भी। सहायता लेने से लोगों को संतोष होता है, सबका आत्मविश्वास बढ़ता है। भगवान् ने तो सबके मनोबल के सम्मान में ऐसा किया परन्तु उन्होंने देखा कि सबके मन में आ रहा है कि 'नष्ट करने वाले तो हम सब ही हैं'! भगवान् शंकर युद्धस्थल पर पहुँचे तो त्रिपुरासुर को देखकर बड़े ज़ोर से हँसे, अट्टहास किया। इतने ज़ोर से हँसे कि तीनों पुर हिलकर इकठ्ठे हो गए और त्रिपुरासुर मारा गया! भगवान् शंकर ने कहा 'अरे, यह तो इतने से ही मर गया! हम तो सब इतनी तैयारी करके आए थे।' सबका जो गर्व था वह शान्त हो गया। त्रिपुरासुर केवल पहले ही कोई हुआ हो ऐसा नहीं है। हमारे स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर तीन पुर हैं। पुर शहर को कहते हैं। वेदों के अन्दर शरीर को पुर कहा है। स्थूल शरीर एक पुर है, सूक्ष्म शरीर दूसरा पुर है, कारण शरीर तीसरा पुर है। इस त्रिपुरासुर को नष्ट करना है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों को छोड़कर शुद्ध परमात्मा का ज्ञान करना है। यही त्रिपुरासुर का संहार है। उसके लिये शम आदि षट् का एक गण है। नित्य-अनित्य-विवेक, सत्य-असत्य-विवेक आदि विवेकों का एक गण है। पर-अपर आदि भेद से और विषय के भेद से वैराग्यों का एक गण है। इस प्रकार कई साधन इकठ्ठे करने पड़ते हैं तब ज्ञान होता। पहले लगता है कि इन साधनों *से* होगा। परन्तु सारी तैयारी होने से भी ज्ञान होता नहीं है! वेद का जो तत्त्वमसि वाक्य है, उसी से ज्ञान हो जाता है, वही अट्टहास की जगह है। फिर भी, बाकी सारी तैयारियाँ करनी ज़रूर चाहिये। आचार्य शंकर बार-बार लिखते हैं कि अद्वैत का ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह से ही होता है। होता केवल महावाक्य से है लेकिन तैयारी सारी करके रखनी पड़ती है। इसलिये शिव ने गणेश्वर का पूजन किया कि इंद्रियाँ-अंतःकरण-प्राण आदि गणों के द्वारा उचित साधना

करना साधक को आवश्यक समझ आये। साधना ज़रूरी है, इसके बिना विघ्न दूर होंगे नहीं, लेकिन मोक्षोपयोगी पुष्ट ज्ञान ईश्वरानुग्रह से ही, श्रवण से ही होगा। तत्त्व तो स्वयं ही अपने आपको प्राप्त कराता है फिर भी साधनों की तैयारी तुम्हें करनी चाहिये। यह बतलाने के लिये त्रिपुरासुर की कथा है। लेकिन गाणपत्य लोग कहते हैं कि इससे गणेश जी ही बड़े हैं यह सिद्ध हो गया!

आचार्य ने शैवों को आगममानी कहा था और गाणपत्योंको 'मते रताः' किसी मत में संलग्न कहा है। परिच्छिन्न की चर्चा क्योंकि अनुभवक्षेत्र का विषय होता है इसलिये शास्त्र से दूरी होती ही जाती है, पहले किन्हीं पुरातन ग्रंथों पर निर्भर रहते हैं, फिर अपनी मान्यताएँ ही आधार बन जाती हैं जिससे असंख्य 'वाद' खड़े हो जाते हैं। गाणपत्य लोग अभी महाराष्ट्र में बहुत ज़्यादा हैं; वहाँ गणेश जी को बहुत मानते हैं ॥११९॥

इन तीन-चार संभावनाओं के द्वारा बतला दिया कि परमेश्वर को किसी एक विग्रह में परिच्छिन्न समझने वाले वास्तविकता को नहीं जानते। ऐसे अन्यों का भी संग्रह कर देते हैं—

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा।
मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०॥

इसी तरह मन्त्र, अर्थवाद, कल्प आदि के सहारे अपने-अपने पक्ष के अभिमान से लोग अन्यान्य प्रकार से देवविषयक निश्चय करते हैं।

'एवम्' अर्थात् इसी न्याय से, ढंग से अन्य भी मतान्तर समझ लेने चाहिये। किसी-न-किसी कथा को लेकर, किसी-न-किसी बात को लेकर सब अपनी श्रेष्ठता बतलाते हैं—भैरव, मैराल इत्यादि के जो उपासक हैं वे उसी को श्रेष्ठ मानते हैं। सभी को अपने पक्ष का अभिमानमात्र है। आगे-पीछे कथाओं को देखें तब तो समझ में आ जाए कि किसी परिच्छिन्न की श्रेष्ठता बतलाने में व्यास जी का तात्पर्य नहीं है। परन्तु जो जिस पक्ष वाला होता है वह उसीको सामने रखता है, बाकी को छोड़ देता है। अमुक पुराण प्रधान है, बाकी सब पुराण गौण हैं—इत्यादि कल्पनाएँ करते हैं। इसमें कारण केवल अपने पक्ष का अभिमान है कि जिस देवता को हम मानते हैं उस देवता को ही सबसे श्रेष्ठ सिद्ध किया जाए। जिसकी भी तुम आराधना करते हो उसकी श्रेष्ठता *तुम्हारे* मन में होनी चाहिए यह बात तो बिलकुल ठीक है। लेकिन दूसरों में जो कनिष्ठ-भावना होती है वह गलत है क्योंकि उसका मतलब है तुम अपने इष्ट को भी अव्यापक समझते हो, परिच्छिन्न समझते हो! किसी देवता का मन्त्र मिल जाये वेदों के अन्दर, तो उसी को लेकर श्रेष्ठता का ख्यापन करते हैं, आगे-पीछे विचार नहीं करते। जहाँ साक्षात् मन्त्र नहीं मिलता वहाँ अर्थवाद का सहारा लेते हैं। वेदों के अन्दर किसी चीज़ की प्रशंसा और उससे भिन्न की निन्दा कर दी जाती है। वेद का तात्पर्य स्तुति या निन्दा में नहीं है वरन् जो करने को कहा जा रहा है उस विधान में है। अर्थवाद न समझकर उसे जैसा कहा है वैसा ही समझने से भी भ्रम होता है। कुछ

देवता न मन्त्रों में मिलते हैं न अर्थवादों में मिलते हैं, वे कल्पसूत्रों में मिल जाते हैं। पूजा का विस्तृत विधान, इतिकर्त्तव्य अर्थात् करने का ढंग बताने वाले ऋषिवचन 'कल्प' कहलाते हैं। 'आदि' से स्थल-पुराण, लौकिक कथाएँ आदि समझना चाहिये, उसी के सहारे तत्तत् देवता की श्रेष्ठता मान लेते हैं। हर हालत में अविवेकवश अभिमान में फँसकर वास्तविक तत्त्व को नहीं प्राप्त कर पाते ॥१२०॥

ऐसे असंख्य मत हैं। तैंतीस करोड़ देवता हैं, यहाँ किस-किस को गिनाते रहें! अतः संक्षेप में कहते हैं—

अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात्।। १२१।।

अन्तर्यामीसे लेकर स्थावर पर्यन्त तत्तत् को ईश्वर मानने वाले वादी हैं। पीपल, अर्क, बाँस आदि को कुलदेवता स्वीकारने वाले प्रसिद्ध हैं।

अन्तर्यामी, सबके हृदय में बैठा हुआ परमेश्वर है—यहाँ से लेकर जड चीज़ों तक कोई किसी को, कोई किसी को ईश्वर मानते हैं। स्थावर कहते हैं जो चले-फिरे नहीं। कुछ लोग अश्वत्थ, पीपल को भी परमेश्वर मानते हैं, बहुत-से आकड़े को ही ईश्वर मानते हैं। बहुत-से बाँस को ही ईश्वर मानते है! 'आदि' से बहुत-से केले को भी परमेश्वर मानते हैं। अनेक लोग कुलदेवता को ही मानते हैं कि बस यही है जो कुछ है, ऐसे लोग भी देखे जाते हैं। अतः ईश्वरविषयक भी वैमत्य सुलभ है ॥१२१॥

इतने मतभेद हैं तो अब हम क्या मानें? आचार्य इसका उत्तर समझाना प्रारम्भ करते हैं—

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम्।
एकैव प्रतिपतिः स्यात् साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥१२२॥

तत्त्व के निश्चय की कामना से तर्क एवं शास्त्र का विचार करने वालों की समझ एक ही होती है। वह भी यहाँ स्पष्ट बता देते हैं।

वास्तविक तत्त्व का निश्चय करने की इच्छा वाला पक्षपाती नहीं होता है। सचमुच में क्या बात है—केवल इसको जानना चाहता है। न्याय अर्थात् युक्ति से भी विचार करना चाहिये और आगम अर्थात् शास्त्र से भी विचार करना चाहिये। यहाँ आगम से वेद समझना चाहिये। वेद से तत्त्वनिर्णय कर यों विचार करने वाले जो तत्त्वनिश्चयकामी हैं उन सब को एक ही निश्चय होता है। जो शास्त्र और युक्ति से सोचने वाले हैं उन्हें कहीं कोई भ्रम नहीं रहता। वह क्या प्रतिपत्ति है—यह अगले श्लोक में स्पष्ट बतलाते हैं ॥१२२॥

विचारकों का एकरूप निर्णय बताने के लिये उपोद्घातरूप से श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति सुनाते हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। १२३।।

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे।
तथा सत्यविरोधः स्यात् स्थावरान्तेशवादिनाम्।। १२४।।

माया को तो प्रकृति जानो, मायावी को महेश्वर समझो। यह सारा जगत् इस महेश्वर के अंशतुल्य (जीवों) से घिरा है। इस (श्वे. ४.१०) श्रुतिवचन के अनुसार ईश्वर के बारे में निर्णय उचित है। यों समझने पर स्थावर-पर्यन्त चाहे जिसे ईश्वर स्वीकारने वालों से कोई विरोध नहीं रह जाता।

परमेश्वर की शक्ति ही प्रकृति या माया है। उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जैसे बाजीगर अपनी शक्ति से वस्तुएँ प्रतीत कराता है वैसे ईश्वर अपनी ही माया, प्रकृति नामक शक्ति से संसार प्रतीत कराता है। माया शक्ति वाला परमेश्वर है, महेश्वर है। सारी प्रकृति का नियन्त्रण करने वाला और इस प्रकृति को अपने से प्रकट करने वाला परमेश्वर है। माया अर्थात् प्रकृति के ही ये सारे जीव अवयव हैं। चाहे देवता हों, चाहे असुर हों, चाहे मनुष्य हों, सारे के सारों में जो आत्मतत्त्व है वह महेश्वर का ही अंश है और जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं वे सारे माया का अंश हैं। हमारा स्थूल शरीर विराट् पुरुष का ही एक छोटा-सा हिस्सा है। हमारा सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ का ही अंश है। कारण शरीर भी उपाधि का ही अंश है। स्वयं हम भी उसी ईश्वर के अंशतुल्य प्रतिबिम्ब-से हैं। जितना स्थूल समष्टि जगत् है, उससे हम अलग नहीं हैं। व्यष्टि स्थूल शरीर का अभिमानी इस अभिमान के द्वारा फँसा है जबकि समष्टि ईश्वर को अभिमान नहीं है। इसी प्रकार हमारा सूक्ष्म शरीर भी समष्टि सूक्ष्म शरीर से अलग नहीं है। व्यष्टि-समष्टि की एकता हर कदम में है, हर सोपान में है। 'अवयवभूत' इसलिये कहा कि वस्तुतः तो आत्मा अवयवों से रहित है। ठीक जिस प्रकार से वस्तुतः हम स्थूल शरीर से रहित हैं फिर भी स्थूल शरीर वाले प्रतीत हो रहे हैं, इसी प्रकार वैश्वानर और हिरण्यगर्भ वस्तुतः उपाधियों से रहित होते हुए ही उपाधियों वाले हमें प्रतीत हो रहे हैं। अवयवभूत सुनकर कुछ लोग मान लेते हैं कि सचमुच अवयव हैं! किंतु तात्पर्य है कि उपाधि के कारण भेद की, अल्पता की प्रतीतिमात्र है। जैसे काँच सामने आने से उसमें सूर्य दिखाई देता है पर सूर्य का कोई टुकड़ा टूटकर उसके अन्दर घुस जाता हो—ऐसा नहीं है, काँच में प्रतीत होता है फिर भी उसमें होता नहीं। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरण की सीमाओं के अन्दर वह प्रतिबिम्बित होता है। हम घड़े को देखते हैं तो घड़े के आकार का अन्तःकरण बन जाता है। इसी को कहते हैं 'घड़ा अन्तःकरण में पहुँच गया।' उसी के अन्दर जो परमेश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ा उससे घटज्ञान हुआ। इसी प्रकार जितने ज्ञान हैं सारे प्रतिबिम्ब के द्वारा होने वाले हैं, वास्तविक नहीं, पर भ्रम से हम उनको वास्तविक समझते हैं। जीव

अवयव न होने पर भी चेतन के अवयव की तरह प्रतीत होते हैं। सारा जगत् महेश्वर के अवयवों से ही व्याप्त है। ईश्वर की उपाधि, माया ही सारे जगत् के आकार में बनी होने से माया सर्वत्र व्याप्त तथा प्रतिबिम्बों द्वारा महेश्वर सर्वत्र व्याप्त है इस प्रकार स्वयं एवं उपाधि दोनों दृष्टियों से महेश्वर के अवयवों से सारा जगत् व्याप्त है। यह ईश्वरविषयक न्यायागमसंमत निर्णय है, किसी एक ही रूप को ईश्वर नहीं कह सकते।

'मायां तु' इत्यादि श्वेताश्वतर उपनिषत् की श्रुति है। श्रुति ने स्वयं यह निर्णय दिया है। युक्ति एवं शास्त्र के अनुसार ही ईश्वर के बारे में निर्णय करना युक्तियुक्त है। इस प्रकार का जब निर्णय कर लेते हैं तब जितने भी ईश्वर मानने वाले वादी हैं, किसी से विरोध नहीं रहता। अन्तर्यामी से लेकर पीपल, केले तक को मानने वाले किसी से विरोध नहीं है क्योंकि ये सारे हैं तो उसी के अवयव! लोग क्यों भ्रम में हैं? एक गुरु जी थे। उनके दो चेले थे। दोनों उनकी सेवा करते थे, पैर दबाते थे। कई बार उनमें झगड़ा हो जाता था—'मैं दबाऊँ, मैं दबाऊँ।' रोज़-रोज़ के झंझट से गुरु जी परेशान हो गए, 'तुम लोग झगड़ा नहीं किया करो। दायाँ पैर एक दबाये, बायाँ पैर दूसरा दबाया करे। दायाँ तेरा हो गया, बायाँ उसका हो गया।' वे दोनों भी खुश हो गए। थोड़े दिन तक तो काम चलता रहा। एक दिन नींद में उन्होंने करवट ले ली तो दाहिना पैर बाँयें पैर पर आ गया। बाँये पैर वाला चेला गया और एक लठ्ठ लेकर आया! दाएँ पैर को खूब ज़ोर से मारा, 'मेरे पैर पर तू कैसे चढ़ता है!' दूसरे चेले को गुस्सा आया। वह भी एक सोटा उठा लाया। अब गुरु जी की नींद खुली, गुरु जी ने कहा 'अरे बात सुनो भाई, क्या कर रहे हो?' कहने लगे 'गुरु जी, आपने बँटवारा कर दिया, अब आप चुप रहो। हम अपने झगड़े को निपटेंगे।' एक ही गुरु जी के दोनों पैर हैं। तुम चाहे दाएँ पैर को दबाओ चाहे बाएँ पैर को दबाओ, दबाए तो गुरु जी ही जाएँगे। परन्तु जैसे उनको भ्रम हो गया 'दायाँ पैर मेरा या बाँया पैर मेरा' इसी प्रकार जितने अन्य वादी हैं सब किसी एक अंश को, एक आकार को, एक रूप को लेकर 'दूसरे सब ठीक नहीं, हम ही ठीक हैं'—ऐसा मान बैठते हैं। जो गुरु जी को समझता है उसको इनके इस भाव से विरोध नहीं कि गुरुसेवा कर रहे हैं लेकिन यह समझाना चाहता है कि गुरु को दाँयें-बाँयें में परिच्छिन्न करना अनुचित। जहाँ जिस किसी की पूजा कर रहे हो, परमेश्वर की ही पूजा हो रही है इसलिये श्रुतिपक्ष वाले को कोई विरोध नहीं रहता। यही वेद का सिद्धान्त है ॥१२३-४॥

यह स्पष्ट किया कि उपास्य और पूज्य व्यावहारिक जगत् में जो जैसा मानता है वैसा मानता रहे परन्तु वास्तविक तत्त्व तो एक ही है। यह संगत किया था माया और मायी के आधार पर। अतः अब माया का क्या स्वरूप है, इस पर विचार करते हैं—

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात्।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम्।। १२५।।

यह माया भी तमोरूप (अज्ञानरूप) है क्योंकि नृसिंहोत्तरतापनीय में उसका यह रूप बताया है। श्रुति ने स्वयं तमोरूप माया में अनुभव प्रमाण है यह प्रतिज्ञा की है।

जो सारे जगत् की प्रकृति है वह माया है। प्रकृतिरूप माया तमोरूप है। इसका स्वरूप क्या है? अन्धकार ही इसका स्वरूप है। सुषुप्ति के अन्दर हम कुछ नहीं जानते। उस 'कुछ नहीं जानने' की स्थिति से ही जो हमारी सब कुछ जानने की स्थिति (जाग्रदादि) है, यह आती है। अतः सुषुप्ति कारण है, जाग्रत्-स्वप्न कार्य हैं। सोने के सारे आभूषण जब आभूषण नहीं रह जाते तब सोना ही रह जाता है। आभूषणों को गला देने पर सोना ही रह जाता है। अथवा बर्तन फूट जाने पर वे मिट्टी ही रह जाते हैं। इसी प्रकार हमारे आँख कान नाक इत्यादि, जिनके द्वारा हम सारे जगत् को देखते हैं, मन-बुद्धि आदि जिनके द्वारा अन्तर्जगत् को देखते हैं, ये सब गहरी नींद में 'कुछ नहीं जानने' में लीन हो जाते हैं। और जैसे सोने से ही पुनः गहना बन जाता है, इसी प्रकार गहरी नींद से जब हम उठते हैं तब फिर हमारे आँख कान नाक आदि वैसे-के-वैसे आ जाते हैं। इसी प्रकार जब परमेश्वर 'सो' जाते हैं, उस समय सारा जगत् उनमें लीन होकर मायारूप से रह जाता है। पुनः जब सृष्टि के समय वे जागते हैं तब मायारूप से वह सब बाहर निकल आता है। कारणरूपता वह है जिसमें नाम-रूप लीन होकर रह जाते हैं, फिर जिससे पैदा होते हैं। लोक में यही कारणरूप से प्रसिद्ध है—जिससे सारे नाम-रूप प्रकट होवें और फिर उसमें लीन हो जावें उसी को कारण कहते हैं। सारे जगत् का कारण माया है जिसमें किसी नाम-रूप का प्राकट्य नहीं है। अतः वहाँ कुछ नहीं जाना जाता। अतः माया तमोरूप, अज्ञानरूप होना ही उचित है। ऐसा ही क्यों मानते हैं? उसकी जो तमोरूपता है वह नृसिंहतापनीय उपनिषद् के अन्दर बतायी है, 'माया च तमोरूपा अनुभूतेः' ऐसा वहाँ कहा है। एक तो उपनिषद्-वाक्य प्रमाण है और दूसरा, अनुभूति भी प्रमाण है। अनुभूति क्या हुई? सारा नाम-रूप तमोरूप माया से पैदा होता है और फिर मायारूप ही रह जाता है, जैसे गहरी नींद में। गहरी नींद हमारे लिये तमोरूप है—वहाँ हमें कुछ पता नहीं लगता है। अनुभव भी इस विषय में प्रमाण है। स्वयं वेद ने भी यही कहा है कि अनुभूति ही इसमें प्रमाण है ॥१२५॥

श्रुत्यनुसार उक्त अनुभव ही स्पष्ट करते हैं—

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः।
आबालगोपं स्पष्टत्वाद् आनन्त्यं तस्य साऽब्रवीत्।। १२६ ।।

श्रुति अनुभव कराती है कि वह (माया) जड और मोहात्मक है। श्रुति ने उसे अनंत कहा क्योंकि बच्चों व ग्वालों तक सभी को वह स्पष्ट है।

माया कैसी है? जडरूप है। दृश्य जितना है सब जडरूप है। देखने वाला चेतन है और जिसको देखता है वह जड है। हम तुम्हारे शरीर को देखते हैं, तुम्हारे चेतन हिस्से को नहीं

देखते। जड को चलता-फिरता, बोलता देखकर अनुमान करते हैं कि तुम चेतन हो परन्तु तुम्हारी चेतनता तुम्हें ही प्रत्यक्ष है। हमें तो तुम्हारा शरीर ही दीखता है। कोई भी डाक्टर से नहीं कहता 'डाक्टर साहब, हमारी नाडी देखिए कि हम ज़िन्दा हैं कि मरे हैं।' क्योंकि अपनी चेतनता तो स्वयं को ही स्पष्ट है। परन्तु कोई दूसरा मरा या नहीं, इसके लिये सरकार भी कहती है कि जानकार डाक्टर प्रमाणित करे तभी जला सकते हो, नहीं तो नहीं जला सकते! डाक्टर क्या परीक्षा करता है? आँख में रोशनी है या नहीं, दिल चल रहा है या नहीं, नाडी में गति है या नहीं इन सबसे डाक्टर अनुमान करता है कि ज़िन्दा है या नहीं। उसे भी साक्षात् चेतन नहीं दीखता। इसलिये कई बार ऐसा हो जाता है कि डाक्टर मृत्युप्रमाणपत्र दे भी देता है, श्मशान में ले भी जाते हैं और आदमी फिर खड़ा हो जाता है! डाक्टर भी किसी जड चीज़ की क्रिया की परीक्षा करके मानता है कि कोई चेतन है। पर अपनी चेतनता में कभी भूल नहीं होती। मैं चेतन हूँ—इस बात को जानने में कभी भूल नहीं होती क्योंकि उसे हम साक्षात् जानते हैं। माया का कार्य जितना है वह सब जड है अर्थात् जाना जाता है, जानता नहीं है।

और मोहात्मक है। मोह का मतलब है, जिसके बारे में कभी भी निर्णीत न कह सको कि ऐसा ही है। संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसके बारे में हम निश्चित रूप से कह सकें यह ऐसा ही है। आज जिस चीज़ के बारे में बड़े निश्चय से कहते हैं, उसी चीज़ के बारे में पचास साल में नए प्रयोगों से पता लगता है कि ऐसा नहीं है! लाखों सालों तक लोग यही मानते रहे कि सूर्य उदय होता है और अस्त होता है। कोपरनिकस ने आकर बतला दिया कि ऐसा नहीं है, पृथ्वी घूमती है, सूर्य तो जहाँ है वहीं है। इसी प्रकार हम लोग मानते रहे पाँच सेर की, पाँच फुट लम्बी कोई चीज़ है तो उतनी ही भारी व लंबी है। बड़े ज़ोर-शोर से कहते थे 'मैंने नाप कर देखा है।' आईन्स्टाईन आया, उसने कहा कि यदि तुम अपनी गति बढ़ा दो तो पाँच फुट की चीज़ साढ़े चार फुट रह जाएगी! चीज़ वही रहेगी परन्तु उसका माप बदल जाएगा, परिमाण बदल जाएगा। जो पाँच सेर है वह साढ़े चार सेर रह जायेगा। परिमाण हो या भार हो, ये सब चीज़ें तुम्हारी गति के सापेक्ष हैं। गति बढ़ा दो तो फ़र्क आ जाएगा। इसी प्रकार हम लोग कहा करते थे दो और दो तो चार ही होंगे पोने चार भी नहीं हो सकते, सवा चार भी नहीं हो सकते। गणित वालों ने विचार करके देखा तो कहते हैं कि दो और दो चार होते हैं यह बात केवल काल्पनिक है! जो हम लोगों को गणित के बारे में पक्का पता था वह भी आविष्कारों ने स्पष्ट कर दिया कि वैसा कुछ नहीं है। इसी प्रकार से आज जो हम मानते हैं वह पचास साल बाद नहीं रह जाएगा। अनादि काल से चीज़ों के बारे में विचार हो रहा है पर आज तक 'इदम्-इत्थं-भावेन' अर्थात् यह ऐसा ही है—यों कुछ निश्चित नहीं कह सकते। इसलिये श्रुति ने कहा कि माया मोहात्मक है, मोहरूप है। सचमुच में इसका क्या रूप है यह निश्चय नहीं हो सकता। निश्चय क्यों नहीं हो सकता? सचमुच में है ही नहीं तो उसका निश्चय क्या होवे! सारा जगत् तो ऐसा

ही है जैसे लोग कहते रहते हैं 'इस पेड़ पर भूत रहता है'। जिससे पूछो कहता है—'हाँ इसके ऊपर भूत रहता है।' तुमने देखा? 'नहीं, मैंने तो नहीं देखा, बाकी सब लोगों ने देखा है'। ठीक यही हालत इस जगत् की है। किसी से कहें, 'तुम निश्चय करके बताओ क्या है' तो हर-एक जवाब देता है, 'मैंने निश्चय नहीं किया है लेकिन बड़े-बड़े विद्वानों ने किया है।' एक बार गाँधीजी काशी आए, वहाँ के कुछ लोगों ने उनसे पूछा—'आप जन्म से जाति मानते हैं कि कर्म से जाति मानते है?' गाँधी जी पक्के बनिए भी थे, राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने सोचा 'अगर मैंने यहाँ कहा कि कर्म से जाति मानते हैं तो पंडित लोग शास्त्रार्थ को आ जायेंगे। अगर मैंने कहा जन्म से जाति होती है तो जिन्होंने वहाँ काँग्रेस बुलाई थी—डाक्टर भगवान् दास, जो मानते थे कि कर्म से जाति होती है, वे भी बड़े विद्वान् थे—वे नाराज़ होंगे।' गाँधी जी चतुर थे ही, उन्होंने कहा 'देखिए, आप लोग जन्म से जाति मानते हैं। आप सब बड़े-विद्वान् हैं। डाक्टर भगवान् दास कर्म से जाति मानते हैं, वे भी बड़े विद्वान् हैं। मैं अदना व्यक्ति क्या कह सकता हूँ! आप लोग ही निर्णय कर लो'। ठीक इसी प्रकार कोई कहता है वैज्ञानिकों को पता होगा, कोई कहता है दार्शनिकों को पता होगा, कोई किसी को कहता है, कोई किसी को कहता है, पर कोई यह नहीं कह सकता कि 'मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि यह चीज़ ऐसी ही है।' क्योंकि ऐसा जगत् की किसी चीज़ के बारे में नहीं कहा जा सकता। माया है ही मोहरूप। मैं हूँ—यही निश्चित बात है, इसमें कहीं कोई सन्देह नहीं है। मैं चेतन हूँ, माया हूँ नहीं। श्रुति ऐसा अनुभव कराती है, ऐसी भावना कराती है। जगत् किसे दीखता है—एक पैदा हुए बालक से लेकर के ग्वालों तक सबको जगत् दीखता है। जगत् नहीं दीखता—ऐसा समझने वाला कोई व्यक्ति नहीं है। जगत् सबको दीखता है, चाहे पशु पक्षी हों उन्हें भी दीखता है। अनन्त लोगों को जो जगत् दीखता है वह अनन्त ही हो सकता है। बालक से लेकर जितने हैं, यहाँ तक कि पशु, पक्षी, उन सबको भी दीखता है इसलिये यह अनन्त ही है। इसलिये श्रुति ने उसे अनन्त कहा। माया जडरूप है, मोहरूप है और अनन्त है **॥१२६॥**

जड का क्या अर्थ है, स्पष्ट करते हैं—

अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूपं जडं हि तत्।
यत्र कुण्ठीभवेद् बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः।। १२७।।

जो चिदात्मा नहीं ऐसे घड़े आदि का जो स्वरूप है वही जड है। जहाँ बुद्धि कुण्ठित हो जाती है उसे लोग मोह कहते हैं।

'अचिदात्म'—जो चेतनरूप नहीं है, चिद्रूप नहीं है वह अचिदात्मा कहलाता है। घड़ा, दीवार इत्यादि सब चीज़ें अचिद्रूप, अनात्मा प्रसिद्ध हैं। बच्चा यदि खेलते हुए चींटी को मारता है तो माँ डाँटती है 'अरे, बेचारी चींटीको क्यों मारा? यह भी तो प्राणी है।' पर पत्थर फैंकता है तो माँ नहीं कहती 'यह भी तो प्राणी है' अर्थात् सबको पता है कि क्या जड है,

क्या चेतन है। जो चिद्रूप नहीं होता वह अचिदात्मस्वरूप होता है। वही निश्चित रूप से जड है। जो चेतन न होवे वह जड है। चेतन कौन है? 'मैं चेतन हूँ'—यह हर-एक जानता है। जो मेरे जैसा नहीं है वह जड है—यह सीधी-सी बात है। जो सर्वथा पता नहीं या जिसके बारे में 'है या नहीं' आदि संशय है वह अचिद्रूप 'मैं' जाति का नहीं है। चेतन वह है जो अपने को भी जानता है, दूसरे को भी जानता है। जड वह है जो न अपने को जानता है, न दूसरे को जानता है। जैसे माया जड वैसे मोहरूप।

बुद्धि कहते हैं—जो निश्चय करने वाली सामर्थ्य है। जो उठा-पटक करने वाला है, संकल्प-विकल्प करता है वह मन कहा जाता है। 'ऐसा ही है' यों निश्चय करने वाली बुद्धि है। संसार के बारे में संकल्प-विकल्प खूब कर सकते हो पर जब निश्चय करने जाओ कि—'ऐसा ही है' तो वही नहीं हो पाता। बुद्धि कुंठित हो जाती है, भुथरा जाती है। तुम चक्कू से कपड़े को काटते रहो तो थोड़े दिनों के बाद चक्कू की धार भुथरी हो जाती है, काटो तो काटता नहीं है। फिर जाकर धार लगवाओ तो काट सकता है। तेज़ी, धार न रहना ही भुथरा होना या कुण्ठीभाव कहा जाता है। इस जगत्-कारण के बारे में जब विचार करते हैं तब बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, कुछ निश्चित नहीं हो पाता। एक निश्चय करते हैं तब तक कोई विरुद्ध बात सामने आ जाती है। वर्तमान में यदि किसी भी वैज्ञानिक प्रयोग के बारे में पढ़ो तो कोई नहीं कहता कि 'शत प्रतिशत नतीजा है।' वरन् 'अस्सी प्रतिशत है, इसका नतीजा नब्बे प्रतिशत है, पिच्चानबे प्रतिशत है' आदि ही बताते हैं। अब वैज्ञानिकों ने इस बात को समझ लिया है कि पूर्ण निर्णय करना मुश्किल है। यह बुद्धि का कुण्ठी भाव है। जब तक सूक्ष्म बातों को आदमी नहीं जानता तब तक तो झट निश्चय कर लेता है किंतु जब सूक्ष्म बातों को जानने लगता है तब समझ आता है कि सर्वथा किसी भी परिस्थिति जैसी दूसरी परिस्थिति नहीं होती, बदलने वाली चीज़ें बहुत हैं। सारे बदलने वाले घटकों को नियन्त्रित किया नहीं जा सकता। इसी का नाम है बुद्धि का कुण्ठित हो जाना। इसलिये अनिश्चय से ही काम चलाना पड़ता है। इसी को मोह कहते हैं। इस अर्थ में मोह शब्द शास्त्रीय ही नहीं है, सभी लोग यह जानते हैं। जब कोई आदमी कहता है 'कुछ समझ में नहीं आता, क्या करें?' तब बाकी कहते हैं 'यह मोह में है।' अर्जुन को समझ में नहीं आ रहा था—लड़ूँ कि न लड़ूँ। उपदेश दिया तब उसने कहा 'नष्टो मोहः' मेरा मोह नष्ट हो गया। मोह शब्द प्रसिद्ध है उस दशा के लिये जब आदमी कुछ निश्चित नहीं कर पाता। अनिश्चय की स्थिति को मोह कहते हैं। माया की जडरूपता, मोहरूपता और अनन्तरूपता प्रसिद्ध हैं ॥१२७॥

प्रसिद्धि ही व्यक्त करते हैं—

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत् सर्वैरप्यनुभूयते।
युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः।। १२८।।

यों लौकिकों की दृष्टि से यह (जडतादि) सभी को समझ आ रही है। युक्ति की दृष्टि से तो माया अनिर्वचनीय है क्योंकि वेद में कहा है 'असत् नहीं था' इत्यादि।

जड व मोहरूप तम या माया सर्वसाधारण को ऐसी प्रतीत हो ही रही है। जहाँ भी द्रष्टा हो उसे दृश्य मिलता है अतः दृश्यभूत माया अनन्त भी समझी जाती है। सब लोग अनुभव करते हैं तो क्या जैसी अनुभव कर रहे हैं वैसी ही है? अनुभव की दृष्टि से कहोगे तब तो संसार ऐसा ही है। पर युक्ति की दृष्टि से देखो तो संसार के बारे में निश्चयरूप से कुछ कहा नहीं जा सकता है अतः मिथ्या है। युक्ति से यह समझ में आता है। जैसे रस्सी में एक को साँप दीख रहा है, एक को जलधारा दीख रही है, एक को दण्डा दीख रहा है; निश्चय-रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता इसलिये उन्हें युक्ति की दृष्टि से मिथ्या ज्ञान कहते हैं। रस्सी नहीं दीख रही है अतः साँप दीख रहा, जलधारा दीख रही है या दण्डा दीख रहा है। इनमें सच्चा कौन-सा? इनमें से किसी को सच्चा नहीं कह सकते, सब एक जैसे झूठे हैं। युक्ति की दृष्टि से ये अनिर्वाच्य हैं। जिसका निर्वचन नहीं किया जा सकता उसको अनिर्वाच्य कहते हैं। अनिर्वचनीय का भाव यह नहीं कि निश्चय *हमें* नहीं वरन् यह कि सत्-असत् आदि रूप से निश्चय किया जा सकने योग्य नहीं। अतः यदि किसी को इसका निश्चय है तो अवश्य भ्रम है!

युक्ति से ही यह समझ आता है कि इसका निश्चय हो ही नहीं सकता। अनिर्वचनीय का मतलब 'ऐसा ही है' यह कोई नहीं कह सकता क्योंकि इसके बारे में ऐसा निश्चय करना असम्भव है। जैसे विज्ञान के अन्दर सापेक्षवाद के दो सिद्धान्त हैं—विशेष सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of special relativity) और सामान्य सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of general relativity) । व्यावहारिक तो है विशेष सापेक्षतावाद जिसमें कुछ निश्चित माना गया हैं। सब चीज़ें उसके सापेक्ष हैं। सामान्य सापेक्षता में कुछ भी निश्चित बिना माने सब कुछ सापेक्ष स्वीकारा जाता है। वैसे ही वेदान्त कहता है कि जब तक तुम्हें ज्ञान हो नहीं जाता तब तक वेद ने जैसा कहा है वैसा ही मानो। यद्यपि सब चीज़ें अनिश्चित हैं पर जब तक संसार में व्यवहार करना है तब तक कुछ मान लेना पड़ेगा अतः वेद को प्रमाण मानकर फिर सारा व्यवहार करो। जब तुम व्यवहार से अतीत जाते हो तब संसार में, दृश्य में कुछ भी निश्चित मत समझो। एकमात्र वेद ही ऐसा शास्त्र है जो कहता है कि उस परमात्मतत्त्व में जब पहुँचते हो तब वेद भी अवेद हो जाता है। वेद भी तुम्हारे लिए 'वेद' नहीं रह जाता! वेदान्ती जब कहता है वेद को प्रमाण तो उसका मतलब है व्यावहारिक प्रमाणता। वास्तविक जब आत्मातिरिक्त कुछ नहीं तब वास्तविक प्रमाणता रहे किसमें? यों समझ आती अनिर्वचनीयता श्रुति ने भी सूचित की है ॥१२८॥

पूर्व श्लोक में सूचित ऋग्वेद (१०.१२९.१) के मंत्र का स्वयं भाव स्पष्ट करते हैं—

नाऽसदासीद् विभातत्वाद् नो सदासीच्च बाधनात्।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः।। १२९।।

(यह प्रपंच) पहले कुछ नहीं था ऐसा नहीं, क्योंकि भासमान है और पहले सचमुच था ऐसा भी नहीं क्योंकि (वेद से ही) बाधित है। क्योंकि हमेशा नहीं है इसलिए ज्ञान के दृष्टिकोण से यह तुच्छ सुना जाता है।

ऋग्वेद कहता है कि सृष्टि होने के पहले कुछ नहीं था ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि 'कुछ नहीं' से 'कुछ' पैदा नहीं हो सकता है। और न कह सकते हैं कि वहाँ कुछ था क्योंकि बगैर सृष्टि का यदि सचमुच होता तो बदल कर अब सृष्टि वाला नहीं बनता; सच तो एकरस ही होता है। इसी का नाम अनिर्वचनीय, अनिर्वाच्य होता है। इतना ही कहने से आदमी घबरा जायेगा क्योंकि हम है-नहीं है दो ही विकल्प समझते हैं। अतः आगे श्रुति ने थोड़ी समझने लायक बात कही 'तम आसीत् तमसा गूढम् अग्रे' (मंत्र ३), तम था, अन्धेरा था और वह अन्धेरे के द्वारा छिपा हुआ था! जब कहते हैं 'अन्धेरे से छिपा हुआ था' तब कुछ था ज़रूर, वही छिपा हुआ होगा। किंतु वह स्वयं भी अन्धेरारूप ही था! इस प्रकार श्रुति ने अनिर्वचनीयता को स्पष्ट किया है। बहुत-से आधुनिक लोग कह देते हैं कि मायावाद बाद में आचार्यों ने बना दिया! ऋग्वेद सबसे पुराना है यह आधुनिक भी मानते हैं। हम लोग तो सभी वेदों को नित्य मानते हैं लेकिन जो काल-खण्ड में मानते हैं वे भी ऋग्वेद संहिता को सबसे प्राचीन मानते हैं। और ऋग्वेद संहिता का ही नासद् आदि मन्त्र है। अनिर्वचनीयता वेदों में स्पष्ट है। श्रुति ने युक्ति की दृष्टि से जगत् और माया को अनिर्वचनीय कहा है।

'विभातत्वात्' सारा जगत् उसमें से निकल कर आया है इसलिए 'वहाँ कुछ नहीं था' यह नहीं कह सकते। अगर जगत् निकल कर नहीं आया होता तब तो कह देते 'वहाँ कुछ भी नहीं था' लेकिन जगत् निकलकर आया है तो कुछ-न-कुछ था जिसमें से आया है। किन्तु सत् इसलिये नहीं मान सकते कि 'बाधनात्'। श्रुति कहती है 'नेह नानास्ति किञ्चन' जितना निकलकर आया जगत् है यह है नहीं। इस श्रुति से जगत् का बाध हो जाता है। 'नाना' निकल कर आया इसलिये कुछ ज़रूर था लेकिन नाना का बाध हो जाता है अतः कारण को सत् भी नहीं कहना बनता। इसलिये न उसको सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते हैं। लौकिक दृष्टि से यथाप्रतीति जगत् है, युक्तिदृष्टि से अनिर्वचनीय, मिथ्या है किन्तु 'विद्या-दृष्ट्या' जब आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब समझ आता है कि यह तुच्छ है। जिसने रस्सी देख ली उसके लिए सर्प जलधारा दण्ड इत्यादि 'नहीं रहे'—ऐसा नहीं है—वरन् निश्चय होता है कि 'कभी भी नहीं थे, आगे भी कभी नहीं होंगे'। इसी प्रकार जब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है तब पता लगता है कि सारा संसार वैसा ही है जैसे स्वप्न दीखता है। स्वप्न में सारी चीज़ें दीखती हैं। उठने पर निश्चय होता है कि वहाँ सचमुच कुछ नहीं था, मैं ही था। मैं जरूर था, मैं नहीं होता तो अब याद कैसे करता कि 'स्वप्न देखा था'? परिच्छिन्न 'मैं' स्वप्न देखता है पर इस सारे जगत् को प्रकट करने वाला परमात्मा है। जैसे हम स्वप्न को प्रकट करते हैं वैसे वह मायावृत्ति से सारे जगत् को प्रकट कर रहा है। जब हम परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं जिससे सारा जगत् प्रकट हुआ है, तब पता लग

जाता है कि 'सब प्रकट होना' भी नहीं-जैसा ही है! फिर यह निश्चय ही होता है कि जगत् हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। जैसे स्वप्न के बारे में निश्चय यह नहीं होता है कि 'उस समय तो हरिद्वार में गोता लगा रहे थे, अब नहीं लगा रहे हैं;' वरन् निश्चय होता है कि जब गोता लगा रहे थे तब भी नहीं लगा रहे थे! इसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर निश्चय होता है कि सारा जगत् वस्तुतः कभी भी प्रकट नहीं हुआ। ज्ञान की दृष्टि से तुच्छ है। तुच्छ वह जिसकी वास्तविक कोई कीमत नहीं होती। व्यवहार से कीमत चाहे जितनी हो पर वास्तविक कीमत नहीं होती। इसके लिए स्पष्ट दृष्टांत पाँच सौ रुपये का नोट है। पाँच सौ रुपये के नोट से तुम सारे व्यवहार कर लेते हो पर तुम्हें पता है कि उसकी *वास्तविक* कीमत कुछ नहीं है। अगर आज रिज़र्व बैंक घोषणा कर दे कि 'पाँच सौ रुपये के नोट अब नहीं चलेंगे' तो कोई एक धेले में भी नहीं खरीदने वाला है तुम्हारा पाँच सौ रुपया का नोट! पुराने समय में चाँदी का रुपया, सोने की मोहर चलते थे। अगर तुम्हारे पास वह सिक्का बचा हुआ है तो अब उसका सिक्के की तरह मुद्रा के रूप में तो लेना-देना नहीं हो सकता परन्तु पाँच सौ के नोट की तरह वह बेकार नहीं है! उस एक रुपये के बदले तुम्हें आज चार हज़ार रुपये मिल जाएँगे। जैसे पाँच सौ रुपया का नोट सारे व्यवहार चलाने के काम आता है परन्तु जानते हो इसकी अपनी कीमत कुछ नहीं है, इसी प्रकार संसार के सारे कार्य जैसा योग्य व्यवहार है वैसे करते रहो परन्तु इस बात को जानो कि वास्तव में इस की कोई कीमत नहीं है। वास्तव में तो केवल एक आत्मा की ही कीमत है, जो मैं हूँ वही एकमात्र ऐसी चीज़ है जिसके बारे में निश्चय है, बाकि सब चीज़ें तुलनात्मक हैं। इस तरह 'तुच्छ' का मतलब कि वह वस्तुतः है नहीं, व्यवहारतः भले ही कार्यकारी हो ॥१२६॥

जो संसार अविचार काल में वास्तविक लगता है, वही विचार काल में अनिर्वचनीय लगता है। अनिर्वचनीय अर्थात् जिसके बारे में न निश्चित रूप से कह सकते हैं कि 'है' और न निश्चित रूप से कह सकते हैं 'नहीं है'; न निश्चित रूप से कह सकते हैं कि 'टुकड़े वाली चीज़ है' न यह कि बिना टुकड़े वाली चीज़ है। न कह सकते हैं कि कारण से अलग है, न यह कि कारण से एक है। गहना दीखता है तो गहना नहीं है—कह नहीं सकते। परन्तु देखने के आगे-पीछे गहना है, यह भी नहीं कह सकते! जब तक दीख रहा है तब तक है पर आगे-पीछे इसका कैसा रूप है—यह नहीं कह सकते। न कह सकते हैं कि सोना और गहना एक ही है, अभिन्न है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो सुनारों का काम ही बन्द हो जाए! और न कह सकते हैं कि गहना सोने से भिन्न है क्योंकि सोना हटा लें तो गहना नाम की कोई चीज़ बचती नहीं! इसलिये माया का ऐसा रूप निर्धारित करते हैं—

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः।। १३०।।

श्रुतिसिद्ध, युक्तिसिद्ध एवं लोकसिद्ध तीन अनुभवों द्वारा यह माया तुच्छ, अनिर्वचनीय और वास्तविक समझनी चाहिये।

लौकिकबोध जो साधारण लोगों को बिना विचार किए होता है। लौकिकों के लिये तो माया वास्तवी है। लोकदृष्टि से जगत् वास्तविक ही है। वास्तविक चीज़ वह होती है जो हमेशा रहे। लोकदृष्टि से संसार हमेशा ही रहता है। हम लोगों को संसार हमेशा से ही है-रूप दीख रहा है। बिना विचार किये संसार जैसा है वैसा ही सच, वास्तविक लगता है। 'यौक्तिक दृष्टि' अर्थात् तर्क से समझना। जब युक्ति से विचार करते हैं तब जँचता है कि संसार की कोई भी चीज़ हमेशा नहीं है। संसार हमेशा दीख रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु इसकी कोई चीज़ तो हमेशा नहीं रहती! यही कहना ठीक है कि संसार की हर चीज़ कभी है, कभी नहीं है। इसलिये न इसे 'है' जाति का कह सकते हैं, न 'नहीं है' जाति का कह सकते हैं। दोनों मिला कर कह नहीं सकते क्योंकि एक ही चीज़ 'है' और 'नहीं है' दोनों इकट्ठे ही नहीं होती।

एक धोबी का गधा चोरी हो गया। थोड़े दिनों के बाद उसने उस गधे को कुम्हार के पास देखा। कुम्हार से कहा 'भाई, यह मेरा गधा है।' कुम्हार ने कहा 'मेरा है, तेरा कैसे है!' उसने नहीं दिया तो धोबी ने जाकर न्याय की पुकार की, हाकिम से कहा 'जी, इसने मेरा गधा ले लिया है और वापिस नहीं दे रहा है।' दोनों को न्यायालय में बुलाया। धोबी कहे 'गधा मेरा', कुम्हार कहे 'मेरा'! जो निर्णय करने वाला था उसने पूछा कुम्हार से 'अच्छा, यह बता तेरा गधा है कि गधी है?' कुम्हार ने तो अभी दो-तीन दिन पहले ही चोरी की थी, ध्यान नहीं दिया था। उसने सोचा 'गधा कहा और गधी निकली तो हाथ से जाएगी और गधी कहा पर गधा निकला तो हाथ से जाएगा' इसलिये उसने कहा 'जी कुछ गधा है, कुछ गधी है'! धोबी से पूछा, उसने तुरन्त जवाब दे दिया—'मेरा तो गधा है।' हाकिम ने निर्णय कर दिया कि गधा धोबी का ही है कुम्हार का नहीं क्योंकि एक ही जानवर कुछ गधा कुछ गधी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार एक ही चीज़ 'है' और 'नहीं है' दोनों नहीं हो सकती। इसलिये 'है' और 'नहीं है' इन दोनों से संसार विलक्षण है। कई बार लोग शंका कर देते हैं कि जितनी चीज़ें हम जानते हैं वे हैं या नहीं हैं। है और नहीं है से विलक्षण कैसा होता है? जैसे अधिकतर लोग पुरुष हैं या स्त्री हैं पर कोई-कोई हीजड़े भी होते हैं। हीजड़ों को न पुरुष कह सकते हो और न स्त्री कह सकते हो। इसी प्रकार संसार है और नहीं है से विलक्षण तीसरी तरह का है, इसीलिये उसको अनिर्वचनीय, मिथ्या कहते हैं। मिथ्या का मतलब असत्य नहीं है वरन् सत्य और असत्य दोनों से विलक्षण है। जो कभी प्रतीत नहीं होता वह असत्य, संसार प्रतीत हो रहा है अतः असत्य से विलक्षण, मिथ्या है। युक्ति से संसार का विचार करते हैं तो अनिर्वचनीय कहना पड़ता है। दार्शनिक दृष्टि की तरह वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करो तो भी ऐसा ही निकलता है। प्रकाश कैसे आता है? पहले मानते थे कि प्रकाश के छोटे-छोटे

टुकड़े एक के बाद एक आते हैं इसलिये लगता है कि निरन्तर आ रहा है। फिर उसके बाद पता लगा कि प्रकाश ऐसे नहीं आता निरन्तर किरणों के रूप में आता है, निरन्तर प्रवहित होता है। और प्रयोग हुए तो समझ आया कि किसी दृष्टि से पदार्थों के टुकड़ों के रूप में आता है और किसी दृष्टि से तरंगों के रूप में आता है। पहले यह बात प्रकाश के बारे में पता लगी, अब जितने पदार्थ हैं सबके बारे में यही पता लग रहा है। पदार्थों के जो अतिसूक्ष्म रूप हैं परमाणु, वे कभी तरंगों के रूप में प्रतीत होते हैं और कभी पदार्थ के रूप में प्रतीत होते हैं, द्रव्य के रूप में प्रतीत होते हैं। जब अणु का विस्फोट किया गया तब उसमें से ऊर्जा निकली और द्रव्य ख़त्म हो गया। इससे सिद्ध हो गया कि शक्ति ही द्रव्य का रूप ले लेती है, द्रव्य ही शक्ति का रूप ले लेता है। ऐसे ही किसी दृष्टि से कह सकते हैं 'है' और किसी से कह सकते हैं 'नहीं है'। युक्ति से विचार करो, चाहे विज्ञान के द्वारा करो, चाहे दर्शन के द्वारा, युक्ति से सिद्ध यही होता है। इसीलिये कहा कि यौक्तिक दृष्टि से जगत् अनिर्वचनीय है।

श्रौत, श्रुति की दृष्टि से, शास्त्र की दृष्टि से तुच्छ निकलता है। श्रुति के द्वारा जिसने ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया उसकी दृष्टि से तुच्छ है अर्थात् इसका कुछ भी मूल्य नहीं है। श्रौत बोध, श्रुति के तत्त्वमस्यादि महावाक्य से होने वाले अपरोक्ष साक्षात्कार के बाद तुच्छ समझ आ जाता है। इसीलिये अन्यत्र (वराहो. २.६९) उपनिषदों ने कहा है 'शास्त्रेण न स्यात् परमार्थदृष्टिः, कार्यक्षमं पश्यति चापरोक्षात्। प्रारब्धनाशात् प्रतिभासनाश एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया।।' शास्त्र पढ़ने से 'जगत् पारमार्थिक है' यह दृष्टि हटती है, जैसा प्रतीत है वैसा ही सत्य है—यह दृष्टि हट जाती है। फिर प्रपंच काम-चलाऊ रह जाता है। यही सापेक्ष दृष्टि है। इससे काम ही चल सकता है, भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि मालूम रहता है कि हमेशा कुछ नहीं रह सकता। जब अपरोक्ष साक्षात्कार दृढ होता है तब तो यह दृष्टि भी हट जाती है कि इसी से हमेशा काम चल सकता है! ऐसे समझ लो : जो हमेशा भारत में ही रहा है उसे पाँच सौ रुपये के नोट सच्चे ही लगते हैं। जब दूसरे देश में जाता है और वहाँ भारतीय मुद्रा नहीं चलती तभी समझ आता है कि इसका कामचलाऊ रूप भी सीमित क्षेत्र की दृष्टि से ही है। काम चलाने लायक भी दूसरे देश में नहीं रहता है। परमात्मा का साक्षात्कार दृढ कर लेने पर 'कार्यक्षम है' यह दृष्टि भी हट जाती है क्योंकि क्षमता पदार्थों में मिलती नहीं। बम्बई में कोई सेठ थे। उनको पकौड़े बहुत अच्छे लगते थे। घर में अपनी पत्नी को टेलीफोन किया कि पकौड़े बनाकर रखना चाय के साथ खाने के लिये। पत्नी ने बढ़िया पकौड़े बनाकर रखे। खाने के लिये बैठा, गर्म-गर्म पकौड़े लेकर आई, परोस ही रही थी तब तक उन्होंने टेलीफोन उठाकर सुना, सुनते ही उनका मुँह उतर गया! पत्नी से कहा 'अरे, अब मैं खाऊँगा नहीं, मुझे जल्दी जाना है।' पत्नी ने कहा 'पकौड़े बने हैं, आपने खास बनवाए हैं; थोड़ा तो खा लीजिए।' बोले 'नहीं। खा नहीं सकता। फैक्ट्री में आग लग गई है।' विचार करो, पेट में जगह भी है खाने की। बिलकुल

ताज़े पकौड़े हैं, उसे अच्छे भी लगते हैं। पर क्या उसको सुख देने में सक्षम हो रहे हैं? अगर घरवाली ज़ोर दे तो एक-दो मुँह में डाल भी लेगा, लेकिन क्या उसमें उसको कोई सुख आएगा? पकौड़े सुख देने के कार्य में क्षम, समर्थ नहीं हैं। किसी अपेक्षा से हैं भी पर अन्य अपेक्षा से नहीं हैं। अगर टेलीफोन नहीं आया होता तो खाकर मज़ा ले लेता। लेकिन निश्चित नहीं कह सकते कि पकौड़ा सुखद है। अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार के बाद व्यवहार करते हुए भी आदमी जानता है कि निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। अपरोक्ष साक्षात्कार के बाद कार्यक्षमता की दृष्टि चली जाती है। प्रतीत होता रहता है, कार्यक्षम है यह निश्चय नहीं रह जाता। प्रतीति समाप्त होती है प्रारब्ध पूरा होने पर। यों आत्ममाया तीन कदमों में निवृत्त होती है। इस तरह लोकदृष्टि से वास्तविक को, युक्तिदृष्टि से मिथ्या और श्रुतिदृष्टि से तुच्छ समझने को कहा ॥१३०॥

नृसिंहोत्तरतापनीय खण्ड नौ में माया के वर्णन के अनुरूप यहाँ समझा रहे हैं। वहाँ 'माया च तमोरूपाऽनुभूतेः, तद् एतद् जडं मोहात्मकम् अनन्तं तुच्छम् इदं रूपमस्य अस्य व्यञ्जिका, नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मेव दृष्टा, अस्य सत्त्वम् असत्त्वं च दर्शयति,' यह वचन है। इसे समझाते हैं—

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ।
प्रसारणाच्च सङ्कोचाद् यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

यह माया इस जगत् का होना-न होना फैलाव और सिमटने से वैसे ही दिखाती है जैसे जिस पट पर चित्र बना हो।

चित्रलिखित पट का उदाहरण इस प्रकरण में प्रधान है ही, लिपटा रहे तो चित्र नहीं दीखने से अनजान व्यक्ति कहेगा 'नहीं है'; फैला रहे तो दीखता ही होने से 'है' ही कहा-समझा जायेगा। जैसे यह दृष्टान्त है इसी प्रकार सृष्टि-काल में जगत्-सत्त्व दिखाना माया का प्रभाव है। सृष्टि-काल के साथ मध्य-काल के अन्दर भी समझ लेना कि जिस समय जो चीज ज्ञात होती है वह 'है'रूप से समझी जाती है। चित्र समेट लेने की तरह जब वस्तु अज्ञात हो जाती है तब चीज़ 'नहीं है' समझी जाती है। 'अस्य सत्त्वं' मायने सचमुच में है और 'असत्त्वं'—सचमुच में नहीं है। इस जगत् की सत्ता सृष्टि-काल में जब फैलाया हुआ है तब दीखती है और प्रलय काल में जब समेट लिया तब नहीं दीखती। सृष्टि के दौरान, जाग्रत् काल इसके फैलाने का काल है और गहरी नींद का काल इसके सिमटने का काल है। जाग्रत् काल में संसार तुम्हारे सामने फैला हुआ दीखता है पर जैसे ही तुम गहरी नींद में गए कि संसार कहीं कुछ नहीं दीखता! यह नहीं कह रहे हैं कि संसार उस समय में नहीं है, परन्तु यह कि उसकी प्रतीति नहीं है। प्रलय काल में, गहरी नींद में क्या सिमटता है? तुम्हारे देखने के साधन हैं इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के बिना तुमको जगत् नहीं दीख सकता। आँख के बिना रूप नहीं दीखेगा, जीभ के बिना रस नहीं दीखेगा, नासिका के बिना गन्ध

नहीं दीखेगा, कान के बिना शब्द नहीं दीखेगा, त्वक् के बिना स्पर्श नहीं दीखेगा। आदमी को किसी अंग के अन्दर लकवा हो जाता है, अर्धांग हो जाता है तो छूते हो फिर भी उसे कुछ पता नहीं लगता। अंगारा रखो तो जल जाएगा लेकिन उसको जलने की कोई प्रतीति नहीं होगी। बाहर का जितना संसार है वह तुम्हारे बहिरिन्द्रियों के द्वारा ही दीखता है। अन्दर तुम्हारे जितने विचार हैं वे मन के द्वारा दीखते हैं इसलिये उसको अन्तःकरण कहते हैं, अन्दर की चीज़ों को जानने का साधन है। गहरी नींद में बाहर की इन्द्रियाँ भी काम नहीं करती हैं और अन्दर का मन भी नहीं चल रहा है। चीज़ें भले ही वहाँ की वहीं हों लेकिन जिन साधनों से तुम उनको जानते हो वे साधन नहीं रहे, इसलिये तुम्हारे लिए संसार नहीं है। प्रलय में सबके जानने के साधन लीन हो जाते हैं इसलिये कहीं कुछ नहीं है। सुषुप्ति में हमें पता लग जाता है कि प्रलय कैसा होता है। जैसा अनुभव हमें अभी होता है सुषुप्ति में, प्रलयकाल में भी वैसी ही स्थिति रहेगी। फ़र्क इतना है कि इस समय हम सोते हैं तो बच्चे जगते रहते हैं जबकि प्रलय में सब मानो सुषुप्ति में होंगे। चाहे चित्रपट से समझो चाहे अनुभव से समझने के लिये सुषुप्ति से समझो। गहरी नींद में तुम्हारे ज्ञान और क्रिया के साधन मानों लपेटकर रखे हैं और जाग्रत् के अन्दर वे साधन फैले हुए हैं। जब फैले हुए हैं तब व्यवहार होगा कि संसार की सब चीज़ें हैं। लिपट गए तो लगेगा कि कोई भी चीज़ नहीं है। जैसे चित्रपट को लपेट लो या खोल लो इसपर निर्भर करता है कि चित्र है दीखे या नहीं है दीखे, ऐसे ही करणों के कार्यकारी या वैसा न रहने पर निर्भर करेगा कि जगत् है या नहीं है। इस प्रकार जन्मादि को अनुभवानुसार समझने में चित्रपट दृष्टांत कारगर है जिससे माया-जगत् का कारणकार्यभाव स्पष्ट हो जाता है और जगत् के है-नहीं है व्यवहार में उसका योगदान बुद्धिसंगत हो जाता है ॥१३१॥

उक्त नृसिंहोत्तरतापनीय में ही आगे 'स्वतन्त्राऽस्वतन्त्रत्वेन' कहा है। उससे समझाया कि माया, प्रकृति खुद फैलती और लिपटती है या कोई उसे लपेटता-फैलाता है? प्रकृति खुद दोनों करती है—यह सांख्यवादियों का कहना है और प्रकृति को लपेटने-खोलने वाला ईश्वर है—यह ईश्वरवादियों का कहना है। इसे व्यक्त करते हैं—

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम्।
स्वतन्त्रापि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः।। १३२।।

चैतन्य के बगैर प्रतीयमान न होने से माया परतंत्र ही है पर उसी प्रकार, स्वतंत्र भी है क्योंकि असंग भी आत्मा को अन्य ही तरह का (अर्थात् संगवान्) किये हुए है।

वेदान्त ईश्वरवादी है, तदनुसार माया स्वतन्त्र नहीं। क्यों नहीं है? जो जिसके बिना नहीं रह सकता वह उसके परतंत्र माना जाता है। सभी लौकिक व्यवहार में यही नियम है। जैसे पेड़ के बिना लता नहीं रह सकती इसलिये लता को पेड़ के परतन्त्र मानते हैं। लता यों भी फैलने वाली लगे तो परोपजीवी (Parasite) पौधों का दृष्टांत समझ लो जो अन्य वृक्षपर ही

जीवित रहते हैं, खुद ज़मीन से अन्न-जल नहीं ग्रहण करते। किसी दूसरे के भरोसे ही ज़िन्दा रहते हैं वे परजीवी हैं इसलिये उन्हें स्वतन्त्र नहीं कह सकते। चेतन है तभी प्रकृति की भी प्रतीति है। चेतन नहीं हो तो प्रकृति की प्रतीति भी नहीं हो सकती। कोई जानने वाला है तभी माया है। अगर हम कहें कि 'अमुक चीज़ है जिसे आज तक न किसी ने जाना है, न भविष्य में कोई जानेगा' तो तुरन्त तुम्हें पता लग जाएगा कि गप्प है। किसी भी प्रकृति की चीज़ की सत्ता इस पर निर्भर करती है कि उसको कोई-न कोई जानने वाला है। जानता है की तरह जानता था, जानता होगा भी हो सकते हैं, लेकिन किसी-न-किसी ने कभी-न-कभी जाना है। ज्ञान के बिना प्रतीत नहीं होने के कारण माया अस्वतन्त्र, परतन्त्र है क्योंकि चेतन जानता है तभी है।

किन्तु 'तथैव स्वतन्त्रापि' जैसे परतन्त्र है वैसे ही स्वतन्त्र भी है। असङ्ग चेतन को माया सङ्ग वाला बनाती है तो उससे पूछ कर थोड़े ही बनाती है! तुम आनन्दस्वरूप हो फिर भी इतना दुःख भोग रहे हो, इसमें हेतु यही कहते हो कि माया के बन्धन में फँसे हुए हो। तुमने थोड़े ही माया को लेकर अपने गले लगा लिया है! यही कहना होगा कि गले पड़ी है इसलिये उसे स्वतन्त्र भी मानना पड़ता है। हमारी इच्छा के बिना जो कार्य करे उसे स्वतन्त्र कहना ही पड़ेगा। असङ्ग परमात्मा को वह 'अन्यथा' अर्थात् सङ्ग वाला बना देती है। चेतन को अज्ञान अन्यथा कर देता है इसलिये स्वतन्त्र है पर चेतन के बिना अज्ञान रहता नहीं इसलिये परतन्त्र भी है। इसे स्वतन्त्र या परतन्त्र नहीं कह सकते, यह स्वतन्त्र भी है, परतन्त्र भी है। वेदान्त में कहीं माया को ऐसा बताते हैं मानों स्वतन्त्र हो और कहीं सर्वथा परमेश्वर के पराधीन रूप से वर्णन है। ये दो अलग मत नहीं हैं। माया को 'अघटित-घटना-पटीयसी' भी ईश्वर के परतन्त्र मान कर ही कह सकते हैं। क्या घटायेगी इसमें स्वतन्त्र है पर स्वप्रकाश नहीं होने से उसकी उस घटना को जानने के लिये हम चेतन हैं। क्या चीज़ सामने आएगी इसमें माया स्वतन्त्र है। परन्तु उसको देखने वाला चेतन आवश्यक होने से वह चेतन के परतंत्र है। चेतन स्वरूप से असङ्ग है। सब लोग यही कहते हैं—'कोई कुछ कहे, तुम गुस्सा मत करो। कोई चीज़ सामने आवे, तुम उससे आकृष्ट न हो' इत्यादि। यह सब मानकर कहते हैं कि चेतन असङ्ग है। असङ्ग चेतन को ही माया ने अन्यथा अर्थात ससङ्ग बना रखा है! यही माया की विशेषता है कि असङ्ग को ससङ्ग *बना* देती है ॥१३२॥

इस 'अन्यथाकरण' को तापनीय में कहा 'यथा वटबीजसामान्यम् एकम् अनेकान् स्वाऽव्यतिरिक्तान् वटान् सबीजान् उत्पाद्य तत्र तत्र पूर्णं तिष्ठति, एवमेवैषा माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति, माया चाऽविद्या च स्वयम् एव भवति।' इसे समझाते हैं—

कूटस्थाऽसङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे।। १३३।।

कूटस्थ असंग आत्मा को वह जगद्रूप बनाती है तथा चेतन की परछाई के रूप में जीव व ईश्वर भी उसने बनाये हैं।

आत्मा कैसा है? कूटस्थ, असङ्ग है, सर्वथा निर्विकार है, किसी प्रकार का सङ्ग उसमें नहीं किंतु उसी को माया 'जगत्त्वेन करोति'; सारा संसार चित्र उस चेतन पर ही फैला हुआ है! जैसे चित्रपट को बतलाते हुए कहा था कि धोया हुआ साफ कपड़ा लेते हो, उसके ऊपर माँड चढ़ाते हो, फिर खाका बनाते हो, फिर रंग भरते हो; ठीक इसी प्रकार शुद्ध परमात्मा में माया की माँड के बिना जगत्-चित्र नहीं बन सकता। माया ही जगत् चित्र बन जाने का कारण है। चित्र बनता तो कपड़े पर है पर जिस कपड़े में माँड के द्वारा कड़ापन नहीं आया उस पर चित्र नहीं बन सकता। इसी प्रकार कूटस्थ आत्मा भी माया के चलते जगदाकार उपलब्ध है। माया ने ही कूटस्थ असंग आत्मा को जगदूरूप से 'कर' दिया। साधारण सामर्थ्य से पट पर चित्र बन सकता है, उस चित्र को देखने वाला भी वह कपड़ा बन जाये, यह नहीं हो सकता। चित्र को देखने वाला भी कोई चाहिये अवश्य। किंतु आत्मा 'देखने वाला' कैसे बने? माया ही अपने एक हिस्से को ऐसा बनाती है जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ा आत्मा देख सकता है! अन्तःकरण में, मन में प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका नाम जीव और माया के शुद्ध सत्त्वगुण में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ईश्वर। ईश्वर को प्रतीति है कि 'सारे संसार के खेल को मैं चला रहा हूँ। सृष्टि करने वाला, प्रलय करने वाला मैं हूँ।' शुद्ध सत्त्व होने के कारण उसका 'मैं' अभिमान-रूप नहीं है, जीव के 'मैं' की तरह नहीं है। रजोगुण-तमोगुण से मिला हुआ जो सत्त्वगुण उससे मन बना। उसमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह 'देखने वाला हूँ, भोगने वाला हूँ, करने वाला हूँ' ऐसा अभिमानरूप है। उसीका नाम जीव है। ये दोनों ही प्रतिबिम्ब माया में पड़ते हैं। माया के एकदेश में पड़ा प्रतिबिंब जीव हो गया, सारी माया में पड़ा ईश्वर हो गया लेकिन पड़े दोनों माया में ही हैं। माया के शुद्ध सत्त्व में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ईश्वर और जो माया के एकदेश मन में प्रतिबिम्ब पड़ता है वह जीव। प्रतिबिम्ब बनाने वाला काँच ही तो है। काँच हो तभी प्रतिबिम्ब बने, अन्यथा नहीं। माया ने दो काम किये—पहला यह कि असंग आत्मा पर माँड लगाकर जगत्-चित्र दिखा दिया और दूसरा यह कि अपने शुद्धसत्त्व वाले भाग में एवं अन्तःकरण वाले भाग में प्रतिबिम्ब डालकर आत्मा को देखने वाला भी बना दिया, चलाने वाला भी बना दिया अतः कहा 'जीवेशौ अपि निर्ममे'। जगत्, जीव, ईश्वर—तीनों को माया ही बनाती है **॥१३३॥**

कूटस्थ को भी 'चलाने वाला' बना दिया तो वह कूटस्थ कैसे? कूटस्थ तो एक-जैसा रहने वाला होता है। जगत् में सारी चीजें चलती हुई, बदलती हुई दीखती हैं तो या वह जगत्त्वेन बना नहीं और या कूटस्थ नहीं! इस समस्या का समाधान करते हैं—

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम्।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥१३४॥

कूटस्थ को बिगाड़े बिना माया जगत् आदि कर देती है। जो संभव नहीं वही करने वाली माया के बारे में आश्चर्य क्या हो सकता है!

कूटस्थ को कूटस्थ रखते हुए ही, अपरिवर्तनीय चीज़ का अपरिवर्तित रूप रखते हुए ही उसका परिवर्तित रूप दिखला देती है! ऐसा नहीं है कि तुमने जब दूध से दही बना लिया तो 'दूध' नहीं रह गया। इसी प्रकार कूटस्थ परमात्मा से संसार बना तो फिर अब परमात्मा नहीं रहा, ऐसी बात नहीं। दूध में सामान्य व्यक्ति को समझना मुश्किल है अतः जैसे सोने से गहना बन गया तो भी सोना रहता ही है। पाँच तोले सोने का यदि ईमानदारी से गहना बनाया है तो उसमें पाँच तोला ही सोना होगा। यदि गहने में कम तोला निकलता है तो तुम सुनार से पूछते हो कि कम तोल कैसे निकला। अर्थात् तुम मानते हो कि गहना बनने पर सोना यथावत् रहा। इसी प्रकार परमात्मा कूटस्थ ही बना रहता है फिर भी उसके ऊपर संसार बन जाता है! विद्यारण्य स्वामी चौदहवीं शताब्दी के हैं, इसलिये चित्रपट का दृष्टांत दिया, अगर आज लिखते तो सिनेमा का पर्दा या स्क्रीन का दृष्टांत देते। स्क्रीन वैसी बनी रहती है, उसमें बिना कुछ परिवर्तन किए हुए ही सारा बाईस्कोप दीख जाता है, सिनेमा दीख जाता है। जिस समय दीख रहा है उस समय भी स्क्रीन में कोई परिवर्तन नहीं है। जिस चित्रपट का इस ग्रंथ में दृष्टांत लिया उसमें लगता है कि कुछ परिवर्तन तो कपड़े में हो गया। लेकिन सिनेमा के पर्दे में परिवर्तन नहीं हुआ यह निश्चित है। चाहे सोने से गहना समझ लो चाहे बाइसकोप का पर्दा समझ लो, तात्पर्य है कि कूटस्थ-स्वरूप सनातन है फिर भी जगत् उपलब्ध है। माया ही जगद्, जीव और ईश्वर सब तैयार कर देती है फिर भी आत्मा कूटस्थ ही बना रहता है। असम्भव बात लगती है कि किसी चीज़ को बिना बदले हुए बदल दिया लेकिन माया कहते ही उसीको हैं जो उसे घटित दिखा दे जो घट न सके! एक बाजीगर था पी.सी. सरकार। वह खेल दिखाने आधा घण्टा विलम्ब से मंचपर आता था किन्तु जब भी आये, सब से कहता था 'अपनी घड़ी देखो' तो सब को वही समय दीखता था जो खेल शुरू होने के लिये घोषित रहा! इसी को कहते हैं कि जो घट नहीं सकता उसको घटा कर दिखा देना। इसी को माया शक्ति कहते हैं।

आत्मा कूटस्थ रहते हुए ही जीव, जगत्, ईश्वर बन जाता है। माया में चमत्कार नाम की कोई चीज़ नहीं है। हम यहाँ बैठे हुए हैं और एक सैकेण्ड के अन्दर सूर्य चन्द्रमा जो करोड़ों मील दूर हैं, उन्हें देख लेते हैं! यह चमत्कार नहीं तो क्या है? विद्यारण्य स्वामी आगे (श्लो. १४७) कहेंगे, शरीर में से एक पानी की बूंद निकलती है और सोलह साल के बाद खड़ी होकर कहती है 'पिताजी, आप नहीं समझते'! क्या इससे बड़ा चमत्कार कोई दिखला सकता है? अगर चमत्कार मानते हो तो सारा संसार सिवाय चमत्कार के कुछ नहीं है। यदि इसके अन्दर नियम-बद्धता मानते हो तो जब भी तुम किसी घटना को नहीं समझ सकते हो तब उसके नियमों को जानने की कोशिश करो। जिस नियम का हमें पता नहीं वही हमारे लिये चमत्कार है। गाँव का आदमी बिजली का पंखा चलते देखता है तो उसके लिये

चमत्कार ही है। उससे पूछो 'कैसे चलता है?' तो बोलेगा 'राम जाने'। क्योंकि नियमादि नहीं जानता है इसलिये उसके लिये चमत्कार है अतः न माया न उसके कार्यों से आश्चर्य संगत है। चाहे जितना परिवर्तन हुआ लगे, निश्चय रखना चाहिये कि आत्मा तो कूटस्थ असंग ही है **॥१३४॥**

उदाहरणों से समझाते हैं कि यह सामर्थ्य स्वाभाविक है—

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिद्ध्यति नान्यतः ॥१३५॥

जल में द्रवता, आग में गर्मी, पत्थर में कठोरता जैसे किसी अन्य से प्राप्त नहीं वैसे माया में दुर्घटता स्वयं से ही है, किसी अन्य हेतु से नहीं।

पानी बहता है। पानी में द्रवता मायने बहने का स्वभाव; वह कैसे बना? सब कहेंगे कि उसका स्वभाव है। जिसे स्वभाव कहते हैं उसे बनाने वाली ही तो माया है! कैसे बना? तुम नहीं कह सकते परन्तु है। यही अनिर्वचनीय माया है। आग में गर्मी किसने बनाई? पत्थर का टुकड़ा कड़ा है, किसने उसे कड़ा बनाया? ये सब बनाने वाली माया है। तुम स्वभाव के बारे में जान तो सकते हो पर स्वभाव उसमें कैसे और क्यों है यह नहीं जान सकते। जितना आधुनिक विज्ञान है वह यही अध्ययन करता है कि चीज़ों का क्या स्वभाव है। वही स्वभाव क्यों है—इसका जवाब किसी के पास नहीं है। जिसने सब चीजों का स्वभाव बनाया है वह माया है। माया के अन्दर जो 'न घटने लायक चीज़ों को घटा देना' स्वभाव है वह स्वतः सिद्ध है, किसी दूसरे कारण से नहीं है **॥१३५॥**

सभी के स्वभाव रूप से माया स्वीकारने में लाघव है : सबके अपने-अपने स्वभाव मानने से बेहतर एक माया मानना जो सभी को स्वभाववाला बनाती है। उसे और उसके प्रभाव को आश्चर्य मानना इसलिये निरर्थक है कि सत्य न जानने तक ही उसकी स्थिति है यह बताते हैं—

न वेत्ति लोको यावत् तं साक्षात् तावच्चमत्कृतिम्।
धत्ते मनसि, पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥१३६॥

लोग जब तक उसे साक्षात् (अर्थात् अपरोक्ष) नहीं समझते तभी तक मन में लगता है कि 'चमत्कार है', जानने के बाद तो 'यह माया है' ऐसा समझकर लोगों का मन विक्षेपहीन हो जाता है।

किसी-किसी पुस्तक में 'यावत् तां' पाठ है, टीकानुसारी 'तं' पाठ है। पूर्व श्लोक से यदि सीधा सम्बन्ध रखते हैं तब 'तां' अर्थात् जब तक उस माया को इस प्रकार से नहीं समझ लेता है कि वह अघटितघटना में कुशल है, तभी तक चमत्कृत होता है, समझने पर नहीं।

एक बार निश्चय हो जाये कि वह है ही असंभव को दिखाने वाली, तब किसी चीज का आश्चर्य नहीं होता। संसार की हर-एक चीज़ को विचित्रतापूर्वक व्यवहार करते देखने पर माया न समझने वाले को चमत्कार लगता है कि कैसे हो गया! जब साक्षात् जान लेता है तब उपशान्त रहता है। जब तक समझता है 'ऐसा नहीं हो सकता' तब तक माथामारी करता रहता है। कर्नाटक में एक संस्था बनायी जिसका उद्देश्य ही यह स्थापित करना है कि संसार में चमत्कार नहीं हो सकता। वे सभी आश्चर्यों को तर्क-संगत सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, संस्था का नाम ही रखा 'तार्किक न्यास' (Rationalist trust)। संसार-सत्यवादी प्रायः यही मानोभाव रखते हैं। एक बार समझ में आ गया कि जगत् का कारण माया है इसलिये असम्भव कुछ है ही नहीं, असम्भव है तो जगत् की प्रतीति ही असम्भव है! फिर इसके बारे में असम्भवताओं का क्या विचार करना! इसलिये माया के जानकार के लिये सब कुछ सम्भव है। महर्षि वशिष्ठ ने लिखा कि वह आकाश को टुकड़े होकर गिरते देखता है, पानी को ऊपर चढ़ते देखता है, इतने पर भी उसे कोई आश्चर्य नहीं होता! क्यों? वह सोचता है कि 'पानी नीचे ही जाता है—यही कैसे? नीचे ही क्यों जाता है?' एक बार मान लिया कि पानी नीचे जाता है तभी ऊपर जाता देख कर आश्चर्य होता है। जैसे उसका नीचे को बहना, वैसे ऊपर को बहना, आश्चर्य दोनों हैं या दोनों नहीं। तालाब से पानी ही निकल सकता है और पूड़ी घी में ही तली जा सकती है—इन दोनों नियमों को जो मानेगा उसके लिये तो बड़ा भारी आश्चर्य है कि तालाब से पीपा भरकर पानी लाए और पूड़ियाँ तल दी! कैसा आश्चर्य है!! पर जो माया की वास्तविकता को जानता है उसे कोई आश्चर्य नहीं होता। वह समझता ही है कि माया में तालाब से पानी ही निकले, घी नहीं निकले ऐसा बंधन नहीं। जैसे घी में तला जा सके वैसे पानी में तला जा सके यह भी कोई आश्चर्य नहीं। इसलिये उपशांत रहता है।

टीकानुसार 'तं' पाठ है। जब तक 'तम्' माया के नियन्ता अधिष्ठान को साक्षात् न जाने तभी तक आश्चर्य, अधिष्ठानज्ञान के बाद कोई आश्चर्य नहीं, उपशांति है। वह देख लेता है कि जो कुछ है वह ब्रह्म ही, तदतिरिक्त 'यह' लगता सब है ही नहीं! जो है नहीं उसकी प्रतीति कराना—यही माया का कार्य है। माया कब समझ में आती है? जब ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है। उसके पहले समझ नहीं आती। दृष्टांत में 'तं' का मतलब हो जाएगा माया दिखाने वाला बाजीगर, मायावी। माया का प्रयोग करने वाले का जब तक साक्षात्कार नहीं होता है तब तक आश्चर्य होता है, एक बार पता चल जाये कि वह है ही जादूगर, फिर कुछ भी देखकर आश्चर्य नहीं होता, कुछ भी देखने को तैयार रहता है। इसी तरह अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार के बाद क्योंकि समझ आ जाता है कि उसकी माया सामर्थ्य ही असंभव को संभव दिखाने वाली है इसलिये आश्चर्य आदि कोई उद्वेग, चांचल्य नहीं रहकर सर्वथा शांति बनी रहती है **॥१३६॥**

आत्मा कूटस्थ रहते-रहते जगत् के आकार का कैसे हुआ इत्यादि प्रश्न वेदान्त में मायने नहीं रखते, यह स्पष्ट करते हैं—

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु।
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥१३७॥

जगत् वास्तविक है ऐसा प्रतिपादन करने वालों के प्रति सभी प्रश्न किये जाने योग्य हैं। माया स्वीकार ली जाने पर कोई प्रश्न उचित नहीं क्योंकि माया का रूप प्रश्न ही है!

कैसे? क्यों? ये प्रश्न पूछने चाहिये जो संसार को वास्तविक मानते हैं उनसे। वेदान्ती को और सौगत को छोड़कर बाकी सब जगत् को वस्तु मानते हैं, वास्तविक मानते हैं। वास्तविक चीज़ के बारे में प्रश्न होता है कि कैसे हो गया, क्यों हो गया। वास्तविक गहना बना है तो प्रश्न उठता है—किससे बना और जवाब भी मिलता है—सोने से बना। परन्तु बाजीगर जब तुमको पाँच सौ के नोट दिखलाता है तब प्रश्न नहीं बनता कि 'इसने किस प्रेस में छपवाए?' नोट दीखते हैं छपे हुए, फिर भी प्रश्न नहीं बनता क्योंकि पता है कि बने हैं ही नहीं, छपे हैं ही नहीं, खाली दीखते ही हैं! ठीक इसी प्रकार, जिसको अधिष्ठान का दृढ ज्ञान हो गया वह जानता है कि जगत् की सब चीज़ें केवल प्रतीतिमात्र हैं, बनी नहीं हैं। खाकर पेट भरा करता है लेकिन कभी भूखे भी पेट भरा महसूस होता है। वस्तुवादी कहते हैं कि पेट में हवा भर गई इसलिये भर गया। मायावादी के लिये यों हेतु-फल का बंधन नहीं है। वह कहता है कि माया या अज्ञान से कभी भरा-प्रतीति, कभी खाली है प्रतीति, इससे अतिरिक्त हेतुगवेषणा निरर्थक है। जो जगत् को वास्तविक मानते हैं उनके लिये कैसे क्यों—ये प्रश्न बन सकते हैं। जो तो कहता है कि माया से बना है, उससे ये प्रश्न पूछना संगत नहीं जैसे बाजीगर से नहीं पूछ सकते कि 'ये नोट तुमने किस प्रेस में छपवाए थे?' क्योंकि छपे हुए नोट हैं ही नहीं, छपे हुए प्रतीत हो रहे हैं—बस इतनामात्र है। माया खुद ही प्रश्नरूप है। नहीं होने वाले कार्य का 'हेतु' माया कही जाये यही कैसे? हेतु तो फल के प्रति होगा, फल ही नहीं तो हेतु कैसे! अतः माया एक प्रश्न या अबूझ पहेली है। प्रश्नरूपता का भाव व्याख्याकार ने कहा है कि वह अज्ञानमात्ररूप है। सब प्रश्नों का मूल अज्ञान ही है।

ऐसा करोगे तो अमुक फल होगा इसी नियम पर कर्मकाण्ड आश्रित है। ज्ञानकाण्ड इस पर आश्रित नहीं है कि कुछ करोगे तो मोक्ष होगा! कुछ भी *करने* से मोक्ष नहीं होता। चाहे परमेश्वर की उपलब्धि कहो, चाहे अज्ञाननाश कहो, कुछ करके मोक्षप्राप्ति नहीं होती। आलमारी में रखी सोने की कण्ठी ढूँढने पर नहीं मिलती, अकस्मात् किसी समय उसपर नज़र पड़ने से 'मिल' जाती है, वह मिलना कुछ 'करने' से नहीं हो सकता। इसी प्रकार बुद्धि के अन्दर अहंकारात्मिका वृत्ति में परमेश्वर बैठा होने पर भी हमें वहाँ 'मैं' तो दीखता है, परमेश्वर दीखता नहीं! जब शास्त्र से पता लगता है कि 'अरे, मैं चेतन हूँ, चेतन ही तो ब्रह्म

है!' तब उसकी 'प्राप्ति' हो जाती है। कैसे प्राप्ति हो गई, क्यों प्राप्ति हो गई—इसका जवाब जैसे माला के बारे में कुछ नहीं दे सकते ऐसे परमात्मा के बारे में नहीं दे सकते। ढूँढते समय क्यों नहीं दीखी? न ढूँढते हुए क्यों दीखी? इनका क्या जवाब दिया जाये! इसी प्रकार 'मैं चेतन' यह रात-दिन जानने पर भी चेतन क्यों नहीं दीख रहा? और फिर शास्त्रादि के द्वारा कैसे दीख जाता है? ये प्रश्न व्यर्थ हैं। कोई नहीं कह सकता, कैसे दीख जाता है। इसलिये सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि माया अनिर्वचनीय शक्ति है। जैसे कण्ठी 'मिल' जाती है वैसे मुक्त हो जाता है। क्यों हो जाता है, कैसे हो जाता है—ये कुछ नहीं कह सकते। जैसे ही आत्मदर्शन होता है, यदि संशय-विपर्यय न होवें तो वैसे ही मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कूटस्थ की जगदधिष्ठानता स्वीकार है ॥१३७॥

माया से अनुभव की व्याख्या करने वाले के प्रति प्रश्न की असंगति ही स्पष्ट करते हैं—

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया।
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम्।। १३८।।

प्रश्नरूप माया के बारे में यदि 'क्यों' आदि प्रश्न करो तो तुम्हारे प्रश्न पर भी हम सवाल खड़ा करेंगे कि 'क्यों—यह प्रश्न क्यों उठता है?' अतः प्रश्न का उत्तर ढूँढा जाये, प्रतिप्रश्न नहीं करना चाहिये।

वेदान्ती ने हेतु-फलभाव को मायिक, प्रातीतिक कहकर समझाया कि लोकसिद्ध कार्य-कारणव्यवस्था के बारे में प्रश्न ही निरर्थक है क्योंकि वस्तु ही परीक्षणीय है, अवस्तु नहीं। यदि वादी को आग्रह ही हो कि माया ही क्यों हेतु होती है; तो वेदांती पूछेगा कि तुम्हारा यह प्रश्न उठाना ही आखिर क्यों होता है? यों केवल प्रश्न-परम्परा चलेगी, समाधान होगा ही नहीं। किं च, कार्य-कारणभाव अन्योन्याश्रय आदि दोषों से ग्रस्त है जबकि अज्ञान से सब का होना अनुभवसिद्ध है एवं किसी कोटि पर पहुँचकर सब वादियों को अभिमत है। इसलिये आचार्य ने भेदवादी को सावधान किया कि वह वेदान्ती से माया के बारे में बात करने के बजाय माया का परिहार करे यही हितकर है ॥१३८॥

वितण्डारीति से वादी का प्रतिरोध कर अब जिज्ञासु को वही बात समझाते हैं—

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः।
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः।।१३९।।

विस्मय ही जिसका मुख्य स्वरूप है वह माया प्रश्नात्मिका होने से उसका परिहार (उत्तर, निवृत्ति-उपाय) खोजने में बुद्धिमानों को यत्न करना चाहिये।

माया का शरीर ही विस्मय है। विस्मय मायने आश्चर्य। देखकर आश्चर्य ही होता है। सूर्य-उदय, सूर्यास्त का दर्शन तुम साल भर रोज़ करो, कभी दो दिन एक जैसा नहीं होगा!

कम से कम डेढ़ सौ साल से लोगों की अंगुलियों की छाप ले रहे हैं। डेढ़ सौ सालों में कोई दो आदमी ऐसे नहीं मिले जिनकी अंगुलियों की छाप एक-जैसी हो! हम लोग डिज़ाईन बनाते हैं कपड़ों की, बीस साल बाद ही लोग कहने लगते हैं कि पुरानी फैशन फिर आ गई, पुरानी डिज़ाईन फिर आ गई जबकि हर मनुष्य की अंगुली की छाप, एक मनुष्य की भी दो अंगुलियों की छाप, एक जैसी नहीं हैं। अभी फिर बननी खत्म भी नहीं हुई हैं! इसी विस्मय को माया कह रहे हैं। विस्मय अर्थात् आश्चर्य ही इसका रूप है। यद्यपि यह आश्चर्य चलता रहे तो कोई हर्जा नहीं तथापि एक भयंकर आश्चर्य है कि हम दुःखी होते हैं। कभी सिर दर्द होता है, कभी पैर-दर्द होता है, कभी आँखें देखती नहीं हैं, कभी कान सुनता नहीं है, कभी बुद्धि काम नहीं करती है।

अगर आश्चर्य दीखता रहता और दुःख नहीं होता तो देखते भी रहते, लेकिन इस तमाशे में दुःखरूप तमाशा पसन्द नहीं आता। यह दुःख कैसे निवृत्त होवे—बस यह ढूँढना चाहिये। 'कैसे-क्यों' को ढूंढने का प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि कभी भी अन्त होना नहीं है, कभी पता लगना नहीं है। मूर्ख लोग तो इसी संसार की उठा-पटक में लगे रहते हैं। बुद्धिमान् सोचते हैं कि साक्षात् भगवान् भी संसार के अंदर होने वाला दुःख नहीं मिटा पाते तो हम कोशिश ही क्यों करें। अनादि काल से विभिन्न अवतार धारण करते रहने पर भी फिर-फिर दुःख, अधर्म आदि पनपने ही लगता है। परशुराम ने क्षत्रिय नियंत्रित किये तो ब्राह्मणों में रावण असुर हो गया! अतः दुःखप्रतीति मिटाने के लिये यत्न ही सार्थक है, कार्य-कारण-व्यवस्था में चाहे जैसी हेर-फेर करें, दुःख समाप्त नहीं होगा। एक-एक दुःख मिटाने से दुःख नहीं दूर होगा, दुःख का मूल ही उखाड़ फैंकना बुद्धिमानी है। तत्तत् असुर के विरोध से काम नहीं होगा, काम तो तब होगा जब हमारे अन्दर जो असुर बैठा हुआ दुःख का कारण पैदा कर रहा है, वह दूर होवे। असुर क्या है? संस्कृत में 'असु' का मतलब होता है प्राण। जो प्राणों में ही रमण करे उसी को असुर कहते हैं। खाओ, पीओ, मौज करो, बस इसी से सब दुःख हट जायेंगे—यही असुर का स्वभाव है। यह असुर मरे, तब काम बने। दुःख की प्रतीति तब खत्म होगी जब इस संसार को सत्य मान कर खाने-पीने मौज करने में ही हम जीवन को न लगा दें वरन् इस असुरभाव को निवृत्त करें। विस्मय-शरीर वाली माया के परिहार को ढूँढना चाहिये। 'प्रयत्नतः' उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥१३९॥

मायारूपता का निश्चय हो जाए तभी उसके परिहार का अन्वेषण करना बनता है, अन्यथा नहीं। अतः मायारूपता स्पष्ट करते हैं—

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु।
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम्।। १४०।।

मायारूपता का निश्चय करना चाहो तो किया ही जा सकता है क्योंकि लोक में प्रसिद्ध माया का जो लक्षण है वह इसमें भी देखा जाता है।

यह माया है—इस बात का निश्चय करना चाहिये। निश्चय तब होवे जब हम माया के स्वरूप को जानें। तार्किकों का नियम है कि कोई चीज़ सिद्ध होवे—इसके लिये पहले उसका लक्षण जानना चाहिये, फिर उसके यथार्थ ज्ञान का तरीका जानना चाहिये—'लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'। जैसे गाय का पहले लक्षण जानते हो—जिसकी सासना होवे वह गाय। फिर जाकर आँख से देखते हो। तब सिद्ध हो जाती है कि यह गाय है। माया का निश्चय करने के लिये माया के लक्षण का पहले पता लगे, फिर प्रमाण का पता लगे तब निश्चय हो। 'माया प्रश्नरूप है' यह बात प्रायः लोग समझ नहीं पाते इसलिये आचार्य यों समझा रहे हैं। वेदान्त में माया का कोई लक्षण करना नहीं पड़ता क्योंकि लोक में मायावी बाजीगरों को माया करते देखा जाता है। लोकसम्मत इतना मात्र है कि 'असम्भव को सम्भव करके दिखावे—वही माया है'। अतः यही लक्षण है उसका। निश्चय करने का तरीका क्या है? किसी वस्तु, घटना, प्रक्रिया का विश्लेषण कर देखो कि कोई भी नियम शत-प्रतिशत क्या उसपर लागू रहता है? ऊपर से पत्थर गिराते हैं तो पत्थर नीचे गिरता है। लगता है यह निश्चय है कि भारी चीज़ फैंकोगे तो नीचे गिरेगी। अतिसूक्ष्म अणुवीक्षण यन्त्र से देखें तो पता चलता है कि अधिकतर परमाणु तो नीचे जाएँगे पर दस-बीस परमाणु इधर-उधर चले जाएँगे। जितने ऊपर से गिराये थे, सभी नीचे नहीं पहुँचते। जिस प्रकार हज़ार आदमियों की भीड़ कहीं जाने लगे तो निश्चित नहीं कि सभी गंतव्य तक पहुँचेंगे, वैसे पत्थर के अंशों के बारे में भी निश्चित नहीं। नियम से ऐसा ही व्यवहार करेंगे—यह किसी के बारे में नहीं कह सकते। हर लाभकारी वस्तु सबको लाभान्वित नहीं करती, हर हानिकारक पदार्थ सबकी हानि करता नहीं मिलता। माया के यही अनुकूल भी है क्योंकि माया तो चाहती ही है कि लोग माया-मायिक की ही उधेड़बुन में लगे रहें—क्यों होता है, कैसे होता है यही सोचते रहें—परमार्थ वस्तु से बेखबर बने रहें क्योंकि तभी तक माया रह सकेगी। इस प्रकार वस्तु आदि के बारे में निश्चय कर सारे ही संसार की मायारूपता समझनी चाहिये। विचार से जो चीज़ सिद्ध नहीं हो सकती है वह प्रतीत होती है यह माया का स्वरूप है। निश्चय करना ज़रूरी अन्यथा सम्भावना सोचते रह जायेंगे कि शायद कुछ अमायिक, सत्य भी होता होगा! बुद्धिमान् तो स्थालीपुलाक-न्याय से दो-चार की परीक्षा से निश्चय पर पहुँच जाता है, मंद हो तो अधिक स्थलों का परीक्षण करे, लेकिन स्मरण रखे कि निश्चय यही करना है कि प्रपंच है माया का ही विलास ॥१४०॥

लोक में प्रसिद्ध माया का ही लक्षण बताते हैं—

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥

लोगों को संमत है कि जिसका सद् आदि रूप से निरूपण न हो सके और साफ प्रतीत हो वह माया है। इन्द्रजाल आदि में यह घट जाता है।

निरूपण करने जाओ अर्थात् 'इदम् इथंभावेन' निश्चय करने जाओ कि 'यह ऐसा ही है' तो न किया जा सके फिर भी 'विस्पष्टं भासते' भान, प्रतीति स्पष्ट हो, लगे कि ऐसा ही दीख रहा, सुनाई दे रहा आदि है, तो उसे माया कहना बनता है। रोगी की परीक्षा से चिकित्सक को स्पष्ट भान होता है कि अमुक रोग है, जिसकी अमुक दवाई है, दूँगा तो ठीक हो जाएगा। परन्तु जो पचास साल तक डाक्टरी कर चुका है वह अन्दर से जानता है कि सौ-पचास रोगियों में एक दो ठीक नहीं भी होते! यही माया का स्वरूप है। लोगों ने इन्द्रजाल, बाजीगर के खेल में यह समझा हुआ है। रस्सी हो फिर भी मन्दान्धकार में साँप दीख जाता है। कई बार नहीं दीखता। कभी माला दीख जाती है। पास जाकर देखते हो तो रस्सी दीख जाती है। मन्दान्धकार में पड़ी रस्सी में हमेशा नियम से तुमको साँप दीखेगा—ऐसा निरूपण नहीं कर सकते। फिर भी साँप दीखता तो स्पष्ट है; उस समय कोई कह भी देवे—'अरे, यह साँप नहीं है, आगे जाकर ज़रा देख तो सही।' तो कहोगे 'मुझे डँसाना चाहते हो! मैं कोई आज का आदमी नहीं हूँ। बाल मैंने सफेद किए हैं अनुभव से। मैं नहीं जाने वाला।' साफ दीखता है कि साँप ही है। पास जाकर देखने पर रस्सी हो तो समझ आता है कि रस्सी साँप के रूप में दीख गई थी। क्यों दीख गई—इसका निश्चय नहीं कर सकते। समझाने के लिये मन्दान्धकार, संस्कार ये सब कह देते हैं। लेकिन इन्हें कारण कहना नहीं बनता, उतने ही मंदान्धकार में सर्पसंस्कारी को रोज़ साँप दीखे इत्यादि नियम नहीं और कार्य-कारणभाव नियमबद्ध ही होता है। लोग माया को जानते हैं, माया संप्रतिपन्न है, स्वीकार है। 'निरूपण के अयोग्य' न कहें तो परमात्मा भी स्पष्ट भासता है जो कि माया नहीं, सत्य है। 'स्पष्ट भासमान' न कहें तो असत् (गधे के सींग) भी निरूपणयोग्य नहीं किंतु माया नहीं, क्योंकि है ही नहीं! अतः दोनों बातें जहाँ हो वही माया है यह स्पष्ट है **॥१४१॥**

दृष्टांत में स्वीकार मायामयता ही दार्ष्टान्त जगत् में घटाते हैं—

स्पष्टं भाति जगच्चेदम् अशक्यं तन्निरूपणम्।
मायामयं जगत् तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२॥

यह जगत् स्पष्ट प्रतीत होता है और इसका सद् आदि रूप से निरूपण संभव है नहीं अतः पक्षपात के बगैर इसे मायामय जानना चाहिये।

सारा जगत् हमें स्पष्ट भान हो रहा है, कुछ सन्देह नहीं है कि यह आदमी बैठा है, यह दीवाल है, दरवाजा है—ये स्पष्ट भान हैं, कहीं कोई अस्पष्टता नहीं है। किंतु 'कैसे और क्यों?'— ये जब देखने जाओ तब इन तरहों से निरूपण नहीं हो सकता है। सौ चीज़ें देखते हो, अस्सी नब्बे एक तरह की हैं पर दस नहीं भी होतीं। इसलिये निश्चित रूप से रूपण कर देना कि 'ऐसा ही है', यह संभव नहीं। बस, इसी का नाम माया है। इसलिये जगत् मायामय है। इस बात को ध्यान से देखें; 'ईक्षस्व' मायने निश्चय-पर्यन्त देखो। इसके लिये क्या करना पड़ेगा? 'अपक्षपाततः'। संसार में अनादि काल से दार्शनिक रहे हैं जो

किसी-न-किसी तरह से संसारव्यवस्था को ठीक चाहते हैं। जो पक्षपाती नहीं हैं वे तो कहते हैं कि सारे दार्शनिक नहीं बैठा पाते तो निश्चय करो कि बैठ नहीं सकती। बहुत दूर तक बिलकुल बैठ गयी ऐसा लगेगा अर्थात् ये दर्शन बिलकुल ठीक लगेंगे, किंतु और विचार करो तो पता लगता है कि किसी अनुभव और युक्ति का विरोध है। सोने से गहना बना पर सोना बचा रह गया इसलिये कुछ दार्शनिकों ने कहा कि कारण बचा रह जाता है, उसी में कार्य उत्पन्न हो जाता है। यह भी ठीक है। इस नियम को तुम दूध से दही बनने में लगाओ : दूध से दही बना तो दूध रहा नहीं, दही बन गया। बना दूध से ही है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं लेकिन दही बन गया तो दूध नहीं रहा। कहीं कोई चीज़ बनती है तो पहली चीज़ ख़त्म नहीं भी होती और कहीं खत्म होती भी है। एक नियम कैसे करें?

चीज़ होती है तब दीखती है—यह भी नियम ठीक लगता है। लोग कहते भी हैं—'मैंने खुद अपनी आँख से देखा।' सपने में क्या करोगे? सपना भी तो तुमने अपनी आँख से देखा, अपने कान से ही सपने की सब बातें सुनी, लेकिन वहाँ न कुछ दृश्य था, न कोई दूसरा बोलने वाला था। इसलिये कुछ दार्शनिकों ने माना कि चीज़ है तब प्रतीत हो जाती है। कुछ ने माना कि चीज़ की ज़रूरत नहीं, प्रतीत हो जाती है। सच्ची बात क्या है? जो पक्षपाती नहीं है वह कहेगा कि दोनों ही बातें ठीक हैं। चीज़ होने पर दीखे यह जाग्रत् में होता है। चीज़ बिना हुए दीखे—यह स्वप्न में होता है। सर्वत्र के लिये एक नियम नहीं बना सकते। कहो, जाग्रत् में ही नियम बना लेंगे कि जो चीज़ होती है वही दीखती है; तो सींप में चाँदी जगते हुए दीखती है! पूरे जग रहे हो, रोशनी भी पूरी है, फिर भी जो नहीं है वह चाँदी दीख जाती है। रोशनी ज्यादा थी इसलिये कहो कि चकाचौंध के कारण नहीं दीखी; तो रस्सी में साँप क्यों दीखता है! कितनी रोशनी में चीज़ देखें इसका क्या कोई नियम कर सकते हो? कुछ नहीं कर सकते! पक्षपाती सर्वत्र कारण खोजता ही रह जाता है।

जैसे दार्शनिक, वैसे ही वैज्ञानिक एक नियम बनाते हैं; थोड़े दिनों बाद उससे बिलकुल दूसरी बात निकल आती है! न्यूटन ने जितने नियम बनाए उनमें से बस एक नियम अब तक बचा है बाकी सब कट गए, वह भी कितने दिन तक रहेगा, क्या कह सकते हैं! ऊर्जागतिकी का द्वितीय नियम (Second law of thermodynamics) एक ही है जो अब तक मान्य है न्यूटन के सिद्धान्तों में से। वैज्ञानिक भी पूरी कोशिश करते हैं कि क्यों और कैसे का पता लग जाए, लेकिन नहीं लगा पाते। वर्तमान में वैज्ञानिकों ने कुछ-न-कुछ मायावाद का आश्रयण किया है। अब वे लोग यह नहीं कहते कि इसी कारण से यही कार्य होगा वरन् प्रतिशतों में कहते हैं। जैसे इस दवाई से अस्सी प्रतिशत ठीक होंगे, इस दवाई से पिच्चासी प्रतिशत ठीक होंगे। वैज्ञानिक समझ गये हैं कि शत प्रतिशत का निश्चय तो हो ही नहीं सकता। यही हम लोग कहते हैं कि निरूपण अशक्य है। हो रहा है, दीख रहा है, यह सब ठीक है लेकिन निश्चित रूप से इसका रूपण नहीं कर सकते। पक्षपाती अपने नियम को किसी तरह घटाना चाहता है पर घटता नहीं है। जो पक्षपाती नहीं वह स्वीकार

लेता है कि इसका निश्चय हो नहीं सकता। निश्चय नहीं हो सकता और स्पष्ट प्रतीत हो रहा है—बस, इसी का नाम माया है ॥१४२॥

संसार एक पहेली है, एक सवाल है जिसका कोई जवाब नहीं है। सब लोग प्रयत्न करते हैं इसके रहस्य का उद्घाटन करने के लिये पर होता क्या है? यही बताते हैं—

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३॥

सभी पण्डितों द्वारा निरूपण प्रारंभ करने पर किन्हीं कोटियों पर उनके सामने अज्ञान भास जाता है।

जितने भी भिन्न-भिन्न शास्त्रों के जानकार विद्वान् लोग हैं, पण्डित हैं—वे जब इस संसाररूप समस्या का निरूपण (निर्वचन) करना प्रारम्भ करते हैं अर्थात् 'यह सब क्यों हो रहा है' इस बात का विचार करने के लिये प्रवृत्त होते हैं, तो कहीं पहुँचकर उनके सामने 'पता नहीं' अर्थात् अज्ञान ही खड़ा हो जाता है। यह क्यों? तो एक कारण बतलाते हैं। वह क्यों? तो उसका भी कारण कहते हैं। इस प्रकार दो-तीन 'क्यों?' का जवाब देने के बाद कहना ही पड़ता है—'यह तो पता नहीं कि क्यों हुआ।' अर्थात् अज्ञान सामने आ जाता है। कोई दो कोटि तक जाता है, कोई दस कोटि तक जाता है, परन्तु अन्त में यही कहना पड़ता है—'नहीं जानते।' अभी तक कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं है जो इस विषय को समूचा बतला सके। थोड़ी कोटियों तक बतला देते हैं बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, पर उसके आगे जब 'क्यों?' आता है तब जवाब नहीं कह सकते। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है उतना-उतना कितनी चीज़ें हम नहीं जानते—यही पता लगने लगता है। जिस प्रकार, छोटा टॉर्च जलाओ; थोड़ी रोशनी होती है तो उसमें जो अन्धकार का चक्र उसके चारों तरफ दीखता है वह छोटा होता है। बड़ा टॉर्च जलाओ, उसकी रोशनी ज़्यादा होती है तो उसके चारों तरफ का अन्धकार का चक्र भी बड़ा हो जाता है। जितनी-जितनी रोशनी बढ़ाते जाओगे उतना-उतना अन्धकार का चक्र बड़ा होता जाएगा। इसी प्रकार जितना हम इस संसार के रहस्य को खोलने के लिय पता लगाते हैं उतना ही, कितनी ज़्यादा बातों का पता नहीं है—यह पता लगने लगता है। दर्शन, विज्ञान, समाजशास्त्र आदि किसी भी शास्त्र में थोड़ी दूर तक पता लगता है, उसके बाद समझ आने लगती है कि यह भी नहीं पता, वह भी नहीं पता! कोई ऐसा पंडित नहीं है किसी विषय का जो कह सके कि किसी विषय के बारे में सर्वथा निश्चित है ही। अतः जगत् निरूपण के अयोग्य ही ठहरता है ॥१४३॥

उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि सहज-सी अनुभूयमान उत्पत्ति अशक्यनिरूपण ही है—

देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम्।
कथं वा तत्र चैतन्यम् इत्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥१४४॥

शरीर, इन्द्रियाँ आदि पदार्थ वीर्य से क्यों-कैसे उत्पन्न होते हैं और वहाँ चैतन्य (चेतनता) क्यों कैसे उपलब्ध होता है? यह पूछने पर तुम्हारे (निर्वचनवादी के) पास क्या उत्तर है?

मनुष्य की बूंद से जो उत्पन्न होता है उसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ये सब कहाँ से आ जाते हैं? कुछ नहीं कह सकते। आ जाते हैं—यह तो सब जानते हैं। विज्ञानवेत्ता कहेंगे 'उसमें ऐसे-ऐसे 'जीन्स' होते हैं जो ऐसे-ऐसे बन जाते हैं।' पर वे जीन्स भी वैसे ही क्यों बन जाते हैं? कहेंगे, 'यह तो नहीं कह सकते। बन जाते हैं, बस यही कह सकते हैं।' एक कोटि आगे चले गए, बूंद से जीन्स तक चले गए लेकिन जीन्स में भी जाकर सवाल तो वहीं का वहीं रहेगा। और, सबसे बड़ी बात, वहाँ चैतन्य कहाँ से आ जाता है? जड चीज़ में चेतन कहाँ से आ जाता है?—यह भी नहीं बता सकते। बरसात के मौसम के पहले एकदम सूखी बालू पड़ी हुई है। जहाँ दस-पाँच बारिश पड़ी वहाँ असंख्य मेंढक टर्र-टर्र करने लगते हैं! कहाँ से आये? कहोगे 'पड़े हुए थे।' पड़े हुए तो जड थे। उनमें कोई चेतन तो दीखता नहीं था। जो टर्र-टर्र कर रहे हैं वे तो चेतन हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकते हो? कुछ नहीं ॥१४४॥

कहते हैं कि वीर्य का स्वभाव है कि सचेतन देहादि बनता है। किंतु वह भी नियम नहीं—

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत् कथं तद् विदितं त्वया।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवीर्यतः ॥१४५॥

वीर्य का वह स्वभाव कहो तो बताओ कि तुम्हें कैसे मालूम? जो अन्वय-व्यतिरेक कह सकते हो वे वन्ध्या में पड़े वीर्य स्थल में कट जाते हैं।

वीर्य का ऐसा स्वभाव है कि शरीर-इन्द्रिय आदि बन जाना यह स्वभाववादी को अभिमत है। सवाल होता है कि स्वभाव का तुम्हें पता कैसे लगा? कहते हैं 'अन्वय-व्यतिरेकसे।' जहाँ-जहाँ शरीर-इन्द्रिय आदि पैदा होते हैं वहाँ-वहाँ अवश्य वीर्य होता है इसलिये वही कारण है। बिना वीर्य के देहादि नहीं पैदा होते। स्वभाव का पता ऐसे लगता है। किंतु यदि वीर्य कारण होता तो वन्ध्या में पड़ा कारण क्यों नहीं होता? द्रौपदी आदि के शरीरों में वीर्य-पूर्वकता है भी नहीं अतः व्यतिरेक भी नहीं बनता। वीर्य का स्वभाव हो शरीर बनना तो सर्वत्र बने, शरीर का स्वभाव हो वीर्य से बनना तो सर्वत्र उसी से बने, पर दोनों बातें हैं नहीं अतः स्वभाव कैसे माना जाये?

कारण इसीलिये जानना चाहते हो कि जिस चीज़ के कारण का पता लग जाए, जब तुमको वह कार्य उत्पन्न करना हो तब तब उस कारण को इकट्ठा कर लो ताकि कार्य पैदा हो जाये। भात कैसे बना? चावल-पानी-आग से बना। अगले दिन भात बनाने के लिये चावल-पानी-आग ले लेते हो तो भात बना पाते हो। यदि कहो 'कोई चावल भात बन जाता है कोई नहीं भी बनता है' तो यह ज्ञान किस काम का! अतः कार्य हो चुकने पर उसके

कारण का कथन निष्प्रयोजन है। अन्वय-व्यतिरेक से यह स्वभाव का पता लगे तो निर्दुष्ट अन्वय व्यतिरेक कहीं मिलते नहीं ॥१४५॥

फलतः 'पता नहीं' ही स्वभावादिवादी भी कहेंगे जो मायिकता का सूचक है यह बताते हैं—

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव।
अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ॥१४६॥

अन्त में तुम्हारी (निर्वचनवादी की) शरण यही होगी कि 'यह कुछ नहीं जानता'। इसीलिये महान् लोग इस प्रपंचको इन्द्रजाल कहते हैं।

दो, चार, दस कोटियों तक जाने के बाद अन्त में 'यह हमें नहीं पता, नहीं जानता हूँ, इसके आगे क्या है यह नहीं जानता।' यही सबको कहना पड़ेगा, यही शरण होगी। इतनी कोटियों में जाने के बाद कहते हो 'नहीं जानता', हम शुरू में ही कहते हैं कि जब जैसा जो हो जाए तब उसको वैसा देख लो, इस संसार का निरूपण नहीं कर सकते। इसीलिये महान् अर्थात् जिन लोगों ने खूब परिश्रम करके रहस्य समझ लिया है, वे कहते हैं कि यह इन्द्रजाल है। अमेरिका के अन्दर प्रिंस्टन युनिवर्सिटी में एक जगह थी जहाँ नोबल प्राईज पाए हुए लोग ही पढ़ते-पढ़ाते थे। मैक्सप्लैंक, आइन्स्टाईन आदि सब उसमें थे। किसी ने मैक्सप्लैंक से पूछा 'जितना वर्तमान विज्ञान है, इस सबके तो आप ही लोग बनाने वाले हो, आप लोग एक-दूसरे को क्या सिखाते हो?' उन्होंने जवाब दिया ''We explain to each other what we don't understand ourselves.''—अर्थात् जो हम नहीं जानते हैं वही हम एक-दूसरे को पढ़ाते हैं! इस सबसे दृढ होता है कि इन्द्रजाल है ॥१४६॥

इस इन्द्रजाल को प्राचीन लोगों ने जिस प्रकार कहा है वह उद्धृत करते हैं—

एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद् गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम्।
पर्यायेण शिशुत्व-यौवन-जरावेषैरनेकैर्वृतम्
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति।। १४७।।

इस से बड़ा इन्द्रजाल क्या होगा कि गर्भरूप वासस्थान में स्थित वीर्य चेतन हो जाता है, हाथ-सिर-पैर आदि उसमें ऐसे फूटते हैं मानो अनेक अंकुर हों। फिर वही क्रमशः बालकपन, जवानी, बुढ़ापा आदि अनेक वेष धारण कर देखता-खाता-सुनता-सूँघता-जाता-आता है!

प्रायः लोग कहते हैं कि चमत्कार देखने में नहीं आता अतः ईश्वर में विश्वास कठिन है। आचार्य का कहना है कि सारा संसार चमत्कार ही है। इससे बड़ा बाजीगर का क्या खेल

तुम्हें देखने को मिलेगा! गर्भ के अन्दर भी बालक अपने हाथ-पैर हिलाता है, माताओं को पता लग जाता है अतः कहा 'चेतति'। उसके हाथ सिर पैर—ये सब जैसे पेड़ से डालियाँ निकल आती हैं, ऐसे निकल आते हैं। फिर छोटा-सा बच्चा पैदा होता है, उसका शिशुवेश होता है फिर जवान हो जाता है तब क्या इठला के चलता है! तब सोचने की चेष्ट करो कि वह पेट के अन्दर कितना-सा था! अब बड़े-बड़े पहाड़ों पर चढ़ जाता है। फिर जरा, ऐसा बुड्ढा हो जाता है कि दस सीढ़ी चढ़े तो हाँफनी छूट जाती है। यह बाजीगर का खेल नहीं तो क्या है? वीर्यबूंद ही देखता है, सुनता है, सूंघता है, जाता है, आता है, सारे ज्ञान और कर्म करता है। इससे बड़ा और बाजीगर का खेल क्या देखोगे? हमारे शरीर की एक बूँद हमारे सामने खड़ी होकर कहती है—'आप समझते नहीं।' इससे बड़ा कोई आश्चर्य क्या हो सकता है ॥१४७॥

मनुष्य शरीर ही नहीं, वृक्षादि भी निरूपणयोग्य नहीं—

देहवद् वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम्।
क्व धानाः कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु।। १४८।।

शरीर की तरह वट के बीज आदि में भी भलीभाँति विचार कर देखा जाये; कहाँ (छोटा-सा) वटबीज और कहाँ (इतना विशाल) वटवृक्ष! इसलिये सारा संसार ही माया है ऐसा निश्चय करो।

सामवेद में इसको समझने के लिये गुरुजी ने शिष्य से कहा 'इतना बड़ा बरगद का जो पेड़ देख रहे हो, इसका फल लाओ।' फल ले आया तो कहा 'फल को तोड़ो।' फल को तोड़ा, उसमें हज़ारों छोटे-छोटे दाने, बीज होते हैं। उसने कहा 'फल में सिर्फ ये वटधान हैं।' गुरु बोले 'इनमें से एक फोड़ो।' वटबीज छोटा-सा दाना होता है, उसने उसको भी तोड़ा। गुरु ने कहा 'देखो अन्दर क्या दीखता है?' बोला 'अन्दर तो कुछ भी नहीं है।' आचार्य बोले 'विश्वास करो, उसी से सारा वटवृक्ष निकल आया है! जैसे वटधान से इतना बड़ा वृक्ष निकल आया है उसी तरह से परमात्मा से सारा जगत् निकल आया है।' इसी प्रसंग को यहाँ श्लोक में सूचित किया। 'वट-धानादि' के 'आदि' से पीपल, तुलसी आदि चाहे कोई ले लो। 'क्व धानाः'—कहाँ वे छोटे-छोटे बीज, उनमें इतना बड़ा पेड़ कैसे हो सकता है? फिर भी निकल आता है। याज्ञवल्क्य ने भी ऐसी चमत्कार की बात पूछी थी बड़े-बड़े पंडितों से। उन्होंने कहा था 'पेड़ की डाली को तोड़ कर हम गाड़ देते हैं, उसको पानी और खाद दे देते हैं तो पेड़ निकल आता है। इसी प्रकार हमारे भी हाथ-पैर हमारी डालियाँ हैं। हाथ को काट करके ज़मीन में गाड़ देते हैं तो आदमी क्यों नहीं निकल आता?' इस 'क्यों?' का क्या जवाब दिया जाए! नहीं निकलता—यह सब जानते हैं। सड़ जाएगा, खत्म हो जाएगा। इसलिये इतना ही निश्चय संभव है कि सब माया है, इन्द्रजाल है। जैसा है वैसा देख सकते हो, इसके रहस्य को, तत्त्व को जानने का कोई उपाय नहीं है ॥१४८॥

संभावना होगी कि आपको पता नहीं लगा, ऐसे बड़े-बड़े दार्शनिक हुए हैं, गौतम, कणाद आदि बहुत बड़े-बड़े विचारक हुए हैं, उन्होंने निर्णय कर दिया कि सात ही पदार्थ हैं, नव ही द्रव्य हैं इत्यादि खूब विचार किया उन्होंने। अनिर्वाच्य कहना कैसे बनता है? इसपर बताते हैं—

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः।। १४६।।

जो तार्किक आदि निर्वचन करने में अभिमान रखते हैं उन्हें खण्डन आदि ग्रंथ में हर्षमिश्र आदि ने भलीभाँति समझा दिया है। उनका अभिमान मिटा दिया है।

गौतम, कणाद इत्यादि कहते हैं 'हम बतलाएँगे कैसे क्या हुआ।' उन्होंने जितना बतलाने का उपाय किया, हर्षमिश्र अर्थात् श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ में उस सबको काट कर रख दिया। 'तार्किक आदि' के 'आदि' से सांख्यादि समझने चाहिये, 'खण्डनादि' के आदि से 'तत्त्वप्रदीपिका' आदि और 'हर्षमिश्रादि' के आदि से चित्सुखाचार्यादि समझने चाहिये। अनेक वेदान्ताचार्यों द्वारा 'सुशिक्षिताः' भली प्रकार से तार्किकादि को शिक्षा दे दी गई है कि जितना वे युक्तिसंगत बनाते हैं, कुछ वास्तव में बनता नहीं है। अतः 'हम बना लेंगे'—यह अविचारशील ही मानते हैं, विचारशील समझ लेता है कि अगर आज तक इसका पता नहीं लगा तो इसकी कोख में ही 'पता नहीं लगना' छिपा हुआ है अर्थात् 'पता न लग सकना' इसका स्वरूप है, यही इसके बारे में निर्णय है कि यह अनिर्वाच्य है ॥१४६॥

इसी विषय में पूर्वाचार्यों का वचन उद्धृत करते हैं—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत् खलु ॥१५०॥

जो चिन्तन के अयोग्य भाव (वस्तुएँ) हैं उन्हें तर्क से जोड़ने का प्रयास न करे। जगत् निश्चित रूप से ऐसे रूप वाला है जिसका मनसे भी चिंतन संभव नहीं।

'भावाः' अर्थात् पदार्थ 'अचिन्त्य' हैं, उनका चिन्तन करना सम्भव ही नहीं है। जैसा है वैसा देख तो सकते हो पर उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह नहीं जान सकते। एक ही माता-पिता के बच्चों के स्वभाव, सामर्थ्य आदि में इतना वैलक्षण्य मिलता है कि कारण-एकता का महत्त्व ही नहीं लगता। लोग वहाँ भी ग्रह-नक्षत्र-दृष्टिदोष आदि कोई कारण ढूँढते हैं लेकिन वे सब फल के बाद ही बताये जाने से व्यर्थ ही हैं। पहले ये ग्रह आदि के जानकार भी बता नहीं पाते कि स्वभाव आदि कैसा होगा। अतः ये सभी अचिन्त्य भाव हैं। तर्क से इनकी योजना समझना अशक्य है। तर्क से निष्कर्ष के रूप में ये वस्तुएँ, प्रक्रियाएँ, फल, नहीं समझ आ सकते।

अतः इनमें तर्क लगाने की ज़रूरत नहीं है। जो चीज़ जैसी है उसके उस स्वरूप को जानो

परन्तु वह वैसी क्यों है—इसको जानने का कोई तरीका नहीं। इसलिये इसके बारे में तर्क करने से कुछ निकलने वाला नहीं है। 'अचिन्त्याः' इत्यादि प्रथमार्ध के साथ 'प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्' यह उत्तरार्ध (भीष्मपर्व ५.१२) में है। 'पौराणिका आहुः' कहकर भाष्यकार ने सूत्रभाष्य २.१.२७ में श्लोक उद्धृत किया है। पूर्वार्ध यहाँ उद्धृत कर उसका वर्तमान सन्दर्भ में क्या तात्पर्य यह 'अचिन्त्यरचनारूपम्' आदि उत्तरार्ध से यहाँ बताया।

निश्चित रूप से, मन के द्वारा भी इस जगत् के रूप का चिन्तन कर सको, इसके बारे में कुछ सोच सको यह संभव है ही नहीं। एक श्लोक में ही अचिन्त्यता को दृढता से बतलाने के लिये दो बार 'निश्चय' कह दिया। 'खलु' शब्द का दो बार प्रयोग है। नियम है कि दो बार गाँठ मार दो तो गाँठ पक्की हो जाती है 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'। एक गाँठ मारो तो ढीली हो जाती है, खुल जाती है, दो बार करने से पक्की हो जाती है। तात्पर्य है कि जगत् की मायिकता के बारे में कभी सन्देह मत करो **॥१५०॥**

प्रसंग था माया का, जगत् अनिर्वाच्य सिद्ध होने से क्या लाभ? उत्तर देते हैं—

अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते।। १५१।।

अचिन्त्य की रचना में सशक्त बीज ही माया है यह निश्चय करो। वही एक मायारूप बीज गहरी नींद में अनुभव में आता है।

जो सोच भी नहीं सको उस चीज़ को करने वाली जो शक्ति है उससे संपन्न जो बीज है वह माया है। माया का यह काम है कि असम्भव को सम्भव करते रहना, अघटित को घटित करते रहना। यह पहेली ऐसी है कि जितना इसको युक्तिसंगत करने की चेष्टा करोगे उतना तुम्हारा प्रयत्न असफल होगा। एक खिलौना आता है बच्चों का, उसमें दस तो छेद होते हैं और दस ही गोलियाँ होती हैं। दस गोलियों को दस छेदों में डालना है। घण्टों माथापच्ची करते रहो, नौ तक गए, दसवीं को जहाँ अन्दर गिराने की कोशिश की, वहीं छह बाहर आ जायेंगी। दिन-दो दिन लगे रहो तब दसों आ भी जाती हैं। किंतु कैसे आयीं—इसका कोई नियम नहीं है। हर बार सफल होते हो तब सोचते हो आ गई इसकी प्रक्रिया समझ लेकिन फिर गड़बड़ हो जाता है। ऐसा ही संसार है—एक तरफ से ठीक बैठाते हो, तो दूसरी तरफ से गड़बड़ हो जाता है। माया है ही ऐसी। इस माया का अनुभव कहाँ होता है? 'सुषुप्तौ अनुभूयते'—गहरी नींद में। वहाँ कुछ नहीं है फिर भी जगने पर उसी से तुम्हारे आँख नाक कान सब आ जाते हैं। किसी क्रम की भी अपेक्षा नहीं करते कि पहले आँख आवे फिर कान आवे फिर नाक आवे इत्यादि। जगने के साथ ही सारा का सारा सूक्ष्म शरीर निकल आता है। जगने के पहले तक कुछ नहीं था। माया बीज गहरी नींद में बिलकुल साफ अनुभव में आ जाता है। गहरी नींद का सबने अनुभव किया है। वहाँ न देख रहे थे,

न सुन रहे थे, पर जैसे ही जगे वैसे ही सब करने लग गए। माया एक होने से सुषुप्ति में अनुभूयमान अविद्या भी वही है अतः वहाँ माया का स्पष्ट अनुभव कहा ॥१५१॥

वही जगत् का बीज कैसे, यह समझाते हैं–

जाग्रत्स्वप्नजगत् तत्र लीनं बीज इव द्रुमः।
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥१५२॥

बीज में पेड़ की तरह जाग्रत् व स्वप्न का जगत् सुषुप्ति में अनुभूयमान माया में लीन रहता है। अतः स्पष्ट है कि सारे जगत् की वासनाएँ उसमें रहती हैं।

गहरी नींद में जाग्रत् व स्वप्न जगत् लीन रहता है। जाग्रत् जगत् जो जगने पर व्यवहार में आता है और स्वप्न जगत्, मन का जगत्, क्योंकि स्वप्न में बाहर की कोई चीज़ होती नहीं, मन ही सब कुछ बन जाता है। न वहाँ रथ है, न वहाँ घोड़े हैं, न वहाँ सड़क है। स्वप्न में ये सब कुछ नहीं हैं। मन इन सब आकारों का बन जाता है। मन ही का सारा दृश्य स्वप्न जगत् है। जाग्रत् के अन्दर तुम अपने आँख-नाक-कान के द्वारा बाहर का संसार देखते हो। *देखना* तो दोनों जगह एक जैसा है, देखने में कोई फ़र्क नहीं, पर जाग्रत् में चीज़ें मन से बाहर हैं, तुम्हारे बाहर हैं और स्वप्न में बाहर नहीं हैं, बस यही फ़र्क है। अतः जाग्रत् अर्थात् बाहर का जगत् और स्वप्न-जगत् अर्थात् अन्दर का जगत्, दोनों सुषुप्ति के अन्दर लीन रहते हैं। दो तरह चीज़ों का नाश होता है : एक, ऐसा नाश कि फिर पैदा हो जाए और दूसरा, ऐसा नाश कि फिर पैदा न होवे। सुषुप्ति में जो चीज़ें लीन अर्थात् नष्ट होती हैं वे फिर पैदा हो जाती हैं, जाग्रत् स्वप्न जगत् निकल आते हैं। इसलिये यह नाश वैसा है जैसे बीज में पेड़ छिपा रहता है। जैसे पेड़ अपने बीज के अन्दर लीन रहता है क्योंकि उसमें से पैदा होता है इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न जगत् सुषुप्ति के अज्ञान में लीन होता है, उसीसे वापिस फिर जैसे ही उठते हो वैसे ही पैदा हो जाता है।

अज्ञान में क्या है? 'जगतः वासनाः'। जाग्रत् और स्वप्न दोनों जगतों की वहाँ सारी वासनाएँ पड़ी हुई हैं, उन्हीं से पैदा हो जाता है। अज्ञान में वासनारूप से जगत् लीन है। अच्छी तरह हींग का छौंक दाल में दिया उसके बाद बटलोई अच्छी तरह से माँजी। फिर भी उसमें दूध पकाओ तो दूध हींग की गंध वाला हो जाता है। स्थूल वर्तमानता हटा देने के बाद भी जो सूक्ष्म स्वरूप बच जाता है उसको वासना कहते हैं। वासना के रूप में 'है' नहीं पता चलता पर क्योंकि उसका कार्य सामने आता है अतः पता लगता है कि ज़रूर बच गया था। हमने रसगुल्ला खाया, बड़ा मज़ा आया तो एक-आध मिनट में ख़त्म हो गया। उसके पाँच साल बाद अकस्मात् मन में आता है 'अरे, आज रसगुल्ला खाते तो बड़ा अच्छा था'। पाँच साल तक तुमको पता नहीं था कि मन में रसगुल्ला भरा है, खाने की इच्छा आई अतः पता लग गया कि इतने समय तक वासनारूप में रसगुल्ला रखा हुआ था। कई बार याद आता भी नहीं है कि कब की वासना है लेकिन कार्य से पता लगता है कि थी अवश्य।

इसी प्रकार, जाग्रत् और स्वप्न जगत् सुषुप्ति में नहीं था पर अब प्रकट हो गया तो मानना पड़ेगा कि वहाँ वासना थी। जैसे हमारे अज्ञान में, ऐसा ही परमेश्वर की माया में समझना चाहिये। महाप्रलय के समय वैसे ही कुछ नहीं बचता है जैसे हमारे सुषुप्ति में कुछ नहीं बचता है। उस 'कुछ नहीं बचे' में से सृष्टि उत्पन्न होती है, इसलिये पता लगता है कि इस सृष्टि के संस्कार वहाँ थे, वासना थी। वहाँ थी, यह सृष्टिरूप कार्य देखकर पता लगता है। अगर महाप्रलय के बाद सृष्टि न हो तो कभी पता नहीं लगे कि वहाँ सृष्टि की वासना पड़ी हुई थी। इसलिये जगत् का बीज माया को समझना संगत एवं सरल है **॥१५२॥**

अहन्ता-स्वता के अन्तर को समझाते हुए उनके भेद को न जानना ही संसरण-हेतु बताया, उस 'न जानने' की मायारूपता कही। किंतु केवल माया ही समर्थ हो ऐसा नहीं, सामर्थ्य 'स्व' नामक परतत्त्व की ही है यह सूचित करना आवश्यक होने से, माया में बीजतुल्य लय का प्रभाव व्यक्त करते हैं—

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति।
मेघाकाशवदस्पष्ट-चिदाभासोऽनुमीयताम्।। १५३।।

जो बुद्धि में (जगत् की) वासनाएँ हैं, (अविद्या में छिपी भी बुद्धि की) उन वासनाओं में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे मेघाकाश अनुमेय है (श्लोक.२१) वैसे वासनाओं में चिदाभास अनुमानसे समझा जा सकता है।

बुद्धि में जाग्रत्-स्वप्न जगत् की वासनाएँ हैं ही, उन समेत बुद्धि सुषुप्ति में अविद्या में विलीन होती है अतः सुषुप्ति में वासनाएँ रहती ही हैं जो कि पुनः कार्योदय से भी सत्यापित है। जब जाग्रत् में अनुभवसिद्ध है कि वासनाएँ चेतन से ग्रस्त होती हैं, चेतन उनमें प्रतिबिंब-रूपसे उपस्थित होता है तभी उनसे एकमेक प्रतीत होता है, तब अनुमान सहज है कि सुषुप्ति में भी वासनाएँ आत्मछाया से सम्पन्न हैं। पूर्व में (श्लोक.२१) समझा चुके हैं कि सर्वत्र पानी क्योंकि आकाश का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है इसलिये बादल बना पानी भी अवश्य ग्रहण करता है। उसी रीति से वासना चाहे सुषुप्ति में हों, चेतन का आभास ग्रहण करेंगी ही। जैसे जाग्रत् में आभास अर्थात् वासनासे अपनी एकमेकता स्पष्ट है वैसे सुषुप्ति में नहीं—यह भले ही अंतर हो लेकिन आभास नकारना संभव नहीं। जाग्रत् में घड़ी देखने के स्पष्ट भान की तरह सुषुप्ति में कोई भान स्पष्ट न होने पर भी क्योंकि वासनाओं का अस्तित्व वहाँ है इसलिये आभास का भी अवश्य अस्तित्व अंगीकार्य है। मेघाकाश जैसे अनुमेय ही रहता है वैसे सौषुप्त वासनाओं में चिदाभास अनुमानगम्य है। उसी बलपर अर्थात् आभास के रूप में वहाँ जो चित् की उपस्थिति, उसके कारण जाग्रत् में पुनः सभी सृष्टि होती है। अकेली वासना नहीं, आभासरूप चेतन से युक्त होने के कारण वह जाग्रत्-कारण है यह भाव है **॥१५३॥**

घड़े-सिकोरे में पड़े पानी में आकाश-प्रतिबिम्ब मिलने से जैसे मेघाकाश सिद्ध होता है वैसे किस आधार पर सौषुप्त वासनाओं में चिदाभास सिद्ध होता है यह समझाते हैं—

साभासमेव तद् बीजं धीरूपेण प्ररोहति।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते।। १५४।।

आभासयुक्त ही वह बीज (जाग्रत् में) बुद्धि के रूप में अंकुरित होता है इसलिये बुद्धि में चिदाभास साफ़ प्रतीत होता है।

मेघाकाश अनुमेय ही भले ही रहे पर मेघरूप जल बरसने पर उसमें आकाशाभास मिलने से सहज निश्चय होता है कि मेघावस्थ जल में भी आकाशाभास होता ही है। बुद्धि भी सुषुप्ति में साभास अनुमेय है, उस अवस्था में आभास स्पष्ट नहीं। किन्तु वह जब जाग्रत् में आती है तब साभास मिलती है अतः निश्चय होता है कि सुषुप्ति में भी साभास रही। जैसे जाग्रत् में बुद्धि की अवस्थाएँ, वृत्तियाँ साभास हैं वैसे सुषुप्ति में वासनाएँ साभास हैं क्योंकि वे भी हैं बुद्धि की ही अवस्थाएँ। 'वह बीज' अर्थात् सुषुप्ति-अवस्था वाला अज्ञान, जो जगद्बीज है। जैसे बीज ही अंकुर बनता है ऐसे वही अज्ञान जाग्रत् में बुद्धि बनता है। बुद्धि साभास ही है अतः समझना उचित ही है कि अज्ञान साभास ही रहा। सौषुप्त आनंद की स्मृति भी 'मैं'-सम्बन्ध वाली होती है, इससे भी स्पष्ट है कि तब मैं-सम्बंध रहा, और मैं-सम्बन्ध आभासरूप ही होता है यह समझा चुके हैं। 'वहाँ कोई आनन्द था' ऐसी स्मृति न होकर 'वहाँ मैं बड़े आनंद से था' यह स्मृति होती है, यों मैं-सम्बंध तब भी रहा यही पता चलता है। जगने पर भान स्पष्ट, सुषुप्ति में अस्पष्ट—यह अंतर रहने पर भी आभास नकारना संभव नहीं, स्वीकारना ही उचित है। जाग्रत् में रसगुल्ला खाने के आनंद का भान स्पष्ट चिदाभास वाला है, ऐसा सौषुप्त भान नहीं—यह दोनों अवस्थाओं का अंतर है ही। यहाँ बुद्धि व्यक्त है तो आभास भी व्यक्त (स्पष्ट) है, वहाँ बुद्धि सूक्ष्मरूप से है तो आभास भी स्पष्ट नहीं है। वहाँ क्योंकि अज्ञान साभास है इसीलिये वह बुद्धिरूप से 'उगने' पर भी साभास रहता है। बुद्धि का आकार लेने पर साभास मिलने वाला अज्ञान सुषुप्ति में भी साभास हो यह संगत है। इसी बल पर गहरी नींद की, वहाँ कुछ न जानने की, वहाँ सुख से होने की स्मृति सम्भव है। सुषुप्ति की तरह महाप्रलय में भी अज्ञान साभास रहता है। जगत्-अवस्था जैसे साभास है, तभी सात्मक, सस्वरूप, सद्रूप आदि है, व्यवस्थित चल रही है, वैसे ही प्रलयावस्था में साभास है ॥१५४॥

जैसे आकाशप्रतिबिम्ब-ग्राहक जल ही मेघरूप हो जाने पर भले ही हमें साकाश न दीखे पर होता ज़रूर है और पुनः जलरूप से प्रकट होने पर साकाश मिलता है ऐसे वासनाएँ आत्माभास से युक्त ही रहती हैं, चाहे प्रकट हों या माया में विलीन। बुद्धि की अवस्था में चिदाभास स्पष्ट एवं अविद्या में चिदाभास अस्पष्ट, यह भेद उपपन्न एवं अनुभवानुसारी है। छान्दोग्य में कहा भी है कि सुषुप्ति में सत् ब्रह्म से सम्पन्न होने पर भी जान नहीं पाते।

इसीलिये नहीं जानते कि अविद्या ही थी, जान सकने वाली बुद्धि-अवस्था नहीं थी। बुद्धि-परिच्छिन्न के लिये मायावस्था न समझने की स्थिति होने पर भी मायावी के लिये तो समझने लायक स्थिति है ही। मायावी ईश्वर और बुद्धि वाला जीव है। बुद्धि भी माया की ही अवस्था-विशेष होने से जीव-ईश्वर मायिक ही हैं। यह श्लोक. १३३ में कहना प्रारंभ किया था, उस प्रसंग का उपसंहार करते हैं—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ।। १५५।।

वेद में सुना जाता है कि माया आभास के द्वारा जीव-ईश्वर सम्भव करती है। वे दोनों उसी तरह सुव्यवस्थित (संगत) हैं जैसे मेघाकाश और जलाकाश।

स्वयं श्रुति ने ही नृसिंहोत्तरतापनीय ६ में कहा है कि माया अपने में प्रतिबिम्बित करके, आभास उत्पन्न करके, जीव व ईश्वर दोनों को बनाती है। अविद्या का एकदेश अन्तःकरण बना जिसमें आभास जीव हो गया और समष्टि माया के अन्दर आभास पड़ा तो ईश्वर हो गया। यों आभास के द्वारा माया जीव और ईश्वर दोनों को बनाती है।

बुद्धि जाग्रत् में स्थूल रूप वाली है। घट की स्थूलरूपता के कारण घट में रखा जल स्थूल है जबकि बादल सूक्ष्म होने से उसके अन्दर स्थित जल स्पष्ट नहीं, सूक्ष्म है। इसी से जलाकाश हमें स्पष्ट पता है, मेघाकाश स्पष्ट नहीं दीखता। इसी तरह जीव का स्पष्ट भान होता है, 'मैं हूँ' यों स्पष्ट भान होता है, परंतु ईश्वर का ऐसा स्पष्ट भान होता नहीं। यही अन्तर इनकी सुव्यवस्था है! क्यों ऐसा है कि हर जीव अपने को जानता है कि 'मैं हूँ' परन्तु 'ईश्वर है'—ऐसा नहीं जानता? क्योंकि ईश्वर की उपाधि ही सूक्ष्म या अस्पष्ट है और जीव स्थूलोपाधि या स्पष्ट उपाधि वाला है, उसी स्पष्ट स्थिति में कुछ भी जान पाता है। इस प्रसंग में स्थूल-सूक्ष्म का तात्पर्य स्पष्ट-अस्पष्ट से है, पंचीकृत आदि की दृष्टि से नहीं। ईश्वर की माया उपाधि भी है कारण ही पर दुर्बोध होने से यहाँ सूक्ष्म कही जा रही है। सुषुप्ति में बुद्धि नहीं रह जानेसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःख नहीं हैं। जिस बुद्धिरूप उपाधि से जीव बना वह उपाधि नहीं रही इसीलिये जीव सद्ब्रह्म के साथ एक होता है फिर भी अपनी उपाधि के अभाव में जान नहीं पाता क्योंकि जान सकने के लिये आत्मा योग्य उपाधि पर निर्भर है। माया क्योंकि सभी स्थितियों में रहती माया ही है इसलिये ईश्वर सर्वदा जान ही सकता है। सुषुप्ति में जीव की सद्रूप से ही स्थिति युक्ति से भी समझ आती है और श्रुति से भी समर्थित है। स्पष्ट भान न होना भी श्रुति-युक्ति दोनों से संगत है। इसलिये इन्हें उक्त दृष्टांतानुसार 'सुव्यवस्थित' कहा ॥१५५॥

ईश्वर-पक्ष में दृष्टांत-समन्वय दिखाते हैं—

मेघवद् वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत्।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत् स्थितः ॥१५६॥

मेघ की तरह रहती है माया। मेघ में तुषार (जलबूँदों) की तरह रहती हैं माया में बुद्धिवासनाएँ। तुषार-प्रतिबिम्बित आकाश की तरह उन वासनाओं में पड़ा चिदाभास है।

माया बादल की जगह है। बादल के अन्दर जो छोटे-छोटे जलीय अंश हैं, जल के कण हैं, उनकी जगह बुद्धि की वासनाएँ हैं। जैसे मेघ में स्थित जल में आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही माया में लीन बुद्धि में चित् का आभास, प्रतिबिम्ब पड़ता है। क्योंकि तब बुद्धि तो व्यक्त है नहीं, कार्यकारी केवल माया है, इसलिये उस बुद्धिवासना में पड़ा प्रतिबिम्ब है ईश्वर ही। जब बुद्धि कार्यकारी हो तभी उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब जीव होगा। अतः वासनाओं में प्रतिबिम्बित ईश्वर ही है। वासना की अपेक्षा से उसे प्राज्ञ कहना संगत है जब कि माया की अपेक्षा से वही ईश्वर है। जैसे तालाब में पड़ा आकाशप्रतिबिंब तालाबस्थ प्रत्येक बूँद में भी पड़ा है ही, वैसे माया में पड़ा भी मायास्थ बुद्धिवासनाओं में पड़ा ही है। बूँदों में पड़े आभास को विश्व और तालाब में पड़े को विराट् कहते हैं। इसी तरह सुषुप्ति में प्राज्ञ-ईश्वर की व्यवस्था सुबोध है **॥१५६॥**

माया में पड़े आभास की ईश्वरता प्रमाणित करते हैं—

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि।। १५७।।

श्रुति में महेश्वर को 'मायी' अर्थात् मायानिरूपित चिदाभास बताया है। वही अन्तर्यामी, सर्वज्ञ और जगत् का कारण है।

मायाधीन अर्थात् माया में प्रतिबिम्बित; जब तक माया है तब तक प्रतिबिम्ब रहेगा, बिना माया के प्रतिबिम्ब नहीं रहेगा इसलिये माया में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब मायाकालस्थायी होने के कारण माया के *अधीन* कहा गया। जब तक घड़ा रहेगा तभी तक घटाकाश रहेगा इसलिये घटाकाश को घट के 'अधीन' कह ही सकते हैं। इतना याद रखना चाहिए कि जैसे जीव बुद्धि की वासनाओं के अधीन है, अपनी उपाधि के अधीन है, वैसे ईश्वर की अधीनता मत समझ लेना। क्यों? क्योंकि ईश्वर को माया का अधिपति कहा गया है। ('श्रुतौ' ऐसा पाठ है। 'श्रुतो' पाठ हो तो 'महेश्वरः' का विशेषण है। अर्थ वही है।) वेद ने 'मायान्तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनन्तु महेश्वरम्' से स्पष्ट किया कि वह मायी अर्थात् माया का नियन्ता है। अतः माया उस के 'अधीन' है अर्थात् जब तक माया है तब तक उसका नियामक है। जीव भी चिदाभास है, वह भी बुद्धि के अधीन है पर उसकी अधीनता यह है कि बुद्धि के पीछे-पीछे चलता है! बुद्धि जो वृत्ति बनाती है उससे तादात्मय कर लेता है इसलिये उसके कारण खुद को प्रभावित समझने से उसके अधीन है। परमेश्वर 'अधीन' कहा भले ही जाये पर सदा है माया का नियामक। वेद ने परमेश्वर को केवल मायी ही नहीं कहा है, अन्तर्यामी भी कहा है, सर्वज्ञ भी कहा है। वही जगद्योनि अर्थात् सारे जगत् का कारण भी कहा गया है।

श्वेताश्वतर ४.९, ४.१० आदि में मायी; बृहदारण्यक ३.७.३, माण्डूक्य ६ आदि में अन्तर्यामी; मुंडक १.१.९, माण्डूक्य ६, आदि में सर्वज्ञ तथा छांदोग्य ६.१, तैत्तिरीय २.१, ऐतरेय १.१ एवं बृहदारण्यक में अनेक तरह से परमात्मा को जगत् का कारण कहा है।। १५७।।

बुद्धिवासना में चिदाभास को ईश्वर समझना वेदानुकूल समझाते हैं–

सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ।
एष सर्वेश्वर इति सोयं वेदोक्त ईश्वरः ॥१५८॥

सुषुप्ति में भी रहने वाले आनन्दमय के सन्दर्भ में वेद ने यों कहा है 'यह सबका ईश्वर है।' इस तरह वेद में बताया यह (बुद्धिवासनोपाधिक) ईश्वर है।

श्रुति (माण्डूक्य.५) ने पहले प्राज्ञ का वर्णन कर दिया, फिर (मंत्र ६) 'एष सर्वेश्वरः' कहा। वेद में अन्यत्र जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया है मायी महेश्वर के रूप में उसे 'एष' अर्थात् प्रकृत से अभिन्न बताया। 'प्रज्ञानघन' क्यों है? क्योंकि सारी वासनाएँ वहाँ एकत्र हैं। वहाँ प्रतिबिम्बित होने वाले आनन्दमय को सर्वेश्वर कहा। सुषुप्ति के अन्दर परमेश्वर से एक हो जाते हैं, इसीलिये कितने भी थके हों, चिन्ताग्रस्त हों, बीमार हों, सुषुप्ति में जाते ही तरोताज़ा हो जाते हैं, सत् ब्रह्म से एकता के कारण। प्रश्न हो सकता है कि यदि सद्ब्रह्म से एक हो गए तो वापिस क्यों आते हैं जाग्रत्-स्वप्न में? उत्तर बताया गया है 'बीज-निद्रायुतः प्राज्ञः'। प्राज्ञ के अन्दर इस जगत् को उत्पन्न करने का बीज पड़ा हुआ है। बीज जब बुद्धिरूप में आता है तब हम (जीव) प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि से जब बीज दग्ध हो जाता है तब वापिस आने का प्रश्न रहता नहीं। जीवभाव समाप्त किये बगैर सत् से एक होते हैं इसलिये सुषुप्ति खत्म होने पर संसार बना रहता है **॥१५८॥**

आनन्दमय में सर्वज्ञता आदि अनुभवानुसारी न होने से उसे ईश्वर स्वीकारने में कठिनाई दूर करते हैं–

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम्।
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वाद् मायायां सर्वसम्भवात्।। १५९।।

उसकी सर्वज्ञता आदि के बारे में वैमत्य न रखा जाये क्योंकि वेदोक्त अर्थ तर्क से काटने के योग्य नहीं होता, कारण कि, माया में सभी कुछ संभव है।

आनन्द को सर्वज्ञ कहना अनुभव से विरुद्ध लगता है। सुषुप्ति का तो अनुभव है कि 'हम कुछ नहीं जानते' उसी को कह रहे हैं 'सर्वज्ञ'! अतः कैसे समझा जाये? अतः कहते हैं कि सर्वज्ञत्वादि जो कहा गया है इसमें विप्रतिपत्ति नहीं करनी चाहिये अर्थात् अनुभव-विरुद्धता का दोष देकर 'ऐसा नहीं है' यह नहीं समझना चाहिये। क्यों? क्योंकि श्रुति ने जो बात

स्पष्ट रूप से कह दी, जो श्रौतार्थ है, वह अवितर्क्य है, उसे तर्क नहीं काट सकता। प्रमाण-सिद्ध के बारे में 'ऐसा हो नहीं सकता है' यह नहीं कहना चाहिये। श्रुति ने न मानने जैसी बात क्यों कही? क्योंकि 'मायायां सर्वसंभवात्'—माया में तर्कविरुद्ध चीज़ें भी संभव होती हैं। सर्वज्ञता को प्राप्त करके भी अल्पज्ञता का नाश नहीं—यह माया कर सकती है! फिर भी किस प्रकार से समझें? सर्वज्ञता वहाँ अप्रकट है, अनुमेय है। सुषुप्ति में सर्वज्ञता अनुमेय है। अतः प्रकट अल्पज्ञता बची रहे तो अनुपपत्ति नहीं ॥१५९॥

श्रुतिप्रोक्त बात में भी अनुकूल युक्ति चाहिये क्योंकि योग्यता न होने पर शब्द से ठीक बोध नहीं होता। इसलिये युक्ति दिखाते हैं—

अयं यत् सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान्।
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः।। १६०।।

यह आनन्दमय जिस जाग्रद् आदि विश्व को उत्पन्न करता है उसे कोई पुरुष अन्यथा नहीं कर सकता। इसी से यह 'सर्वेश्वर' ऐसा बताया गया है।

सुषुप्ति से जाग्रत् में विश्व बन करके आता है। जाग्रत् कालीन संसार ऐसा है जिसको कोई भी पुरुष, चाहे जितना सामर्थ्यवान् हो, अन्यथा नहीं कर सकता। इससे पता लगता है कि वह सर्वेश्वर है। तात्पर्य है कि जाग्रदादि प्रकट होने से पूर्व सुषुप्ति में नियमतः रहने वाला प्राज्ञ ही जाग्रदादि का कारण हो यह युक्तिसंगत ही है। उससे यह विश्व जैसा बनता है उसमें जाग्रदादि जीव कोई फेर-बदल कर भी नहीं पाता। अतः सर्वाधिक समर्थ है यह भी संगत है। ऐसे को सर्वेश्वर मानना ही पड़ेगा ॥१६०॥

परमेश्वर सर्वज्ञ है यह भी आनन्दमय में संगत बताते हैं—

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः।। १६१।।

सारे प्राणियों की बुद्धियों की वासनाएँ सुषुप्ति-प्रसिद्ध अज्ञान में रहती हैं, उन वासनाओं से सारा जगत् विषय किया गया है अतः उस उपाधि वाला होने से वह सर्वज्ञ कहा गया है।

सर्वेश्वरता का प्रतिपादन इस बात से किया कि उससे उत्पन्न इस संसार को कोई अदल-बदल नहीं कर सकता, जैसा उसने बनाया वैसा ही रहता है। सर्वेश्वरता बतला करके सर्वज्ञता समझाने के लिये कहते हैं कि संसार के जितने प्राणी हैं, जितने जीव हैं, उनकी बुद्धियों के अन्दर जो वासनाएँ वे सुषुप्ति के अन्दर स्थित हैं। सुषुप्ति में होने वाली जो कारणरूप माया है उसी में कार्यरूप प्राणियों की बुद्धियाँ हैं। क्योंकि बुद्धि पैदा उसी माया से होती है इसलिये कारण में कार्यरूप स्थित रहता ही है। यहाँ परिणामवाद इसलिये नहीं

कि सचमुच स्थित नहीं, वरन् अज्ञान से स्थित है। उन वासनाओं के द्वारा सब कुछ 'क्रोडीकृत' उसकी गोद में आ गया है। वासनाओं का विषय सारा संसार होने से वासना रहेगी तो सारा संसार ही रहना अनिवार्य है। चेतन का प्रतिबिम्ब उस अविद्या में पड़ता ही है इसलिये सब कुछ उसका विषय हो जाता है इसलिये वह सर्वज्ञ कहा गया है। सारी वासनाएँ अज्ञान में हैं अतएव परमेश्वर जब देवदत्त को हमारे सामने लाता है तब हमारा देवदत्त का संस्कार उदय हो जाता है जिससे हम उसे पहचान लेते हैं। हमारे में जो अनन्त वासनाएँ हैं उन्हें हम नहीं जानते, वासना का पता भी लगता है जब विषय सामने आने पर वासना उत्थित हो जाती है। विषय स्थूल रूप से उपस्थित हो सकता है, सूक्ष्म रूप से भी हो सकता है। हमें अकस्मात् बैठे-बैठे देवदत्त का मन में स्मरण हो तब जानते हैं कि देवदत्त की वासना मन में थी। हमारी वासनाएँ एक-एक करके हमारे सामने आती हैं। सारे जीवों की वासनाओं वाली बुद्धि जिस माया में लीन है उसके अन्दर सभी वासनाएँ एक-साथ रहने से सब कुछ क्रोडीकृत है ही, इसलिये वह सर्वज्ञ है ॥१६२॥

प्रश्न होता है कि हम भी वहाँ हैं तो हमें सर्वज्ञता का अनुभव क्यों नहीं होता? उत्तर देते हैं—

वासनानां परोक्षत्वात् सर्वज्ञत्वं न हीक्ष्यते।
सर्वबुद्धिषु तद् दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥१६२॥

(हमें) वासनाएँ परोक्ष हैं इसलिये सर्वज्ञता का अनुभव नहीं होता। सारी बुद्धियों में होने वाली सर्वज्ञता देखकर वासनाओं की (वासनामय अज्ञान; सुषुप्ति में स्थित अज्ञान की) सर्वज्ञता अनुमान से समझनी चाहिये।

धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप भले ही मन में हों परंतु स्वरूपतः परोक्ष हैं, उनका साक्षात् अनुभव होना संभव नहीं। इसी तरह वासना, संस्कार वस्तु ही ऐसी है जिसका अपरोक्ष अनुभव नहीं हो सकता, उसका प्रभाव देखकर वासना को समझा ही जा सकता है, परोक्ष ही जाना जा सकता है। सुषुप्ति में होने पर भी वासनाएँ रहेंगी हमें परोक्ष ही, हमें न उनका, न उनके विषयों का कोई भान हो सकता है। इसीलिये उपस्थित भी सर्वज्ञता का हमें अनुभव होना संभव नहीं। जिन वासनाओं के सहारे हम तब सर्वज्ञ हैं वे परोक्ष होने से सर्वज्ञता भी समझी ही जा सकती है, महसूस नहीं की जा सकती। अनुभव नहीं होनेपर भी वासनाओं के रहने से है अवश्य, उसे नकार भी नहीं सकते। प्रकट बुद्धियों में वासनाएँ मिलने से लीन बुद्धियाँ भी वासनाओं वाली रहती हैं यह निश्चित हो जाने से लीनदशा में वासनानिमित्तक सर्वज्ञता स्वीकारना संगत है। प्रत्येक बुद्धि में सभी के बारे में वासनाएँ हैं अतः वे बुद्धियाँ सर्वज्ञता के प्रति निमित्त हैं। उनमें वैसा इसी से है कि उनके कारणभूत अज्ञान में सारी वासनाएँ होने से वह सर्वज्ञता में हेतु है। कारण में सर्वज्ञता होने से कार्य में सर्वज्ञता है यह निश्चित है ॥१६२॥

सर्वज्ञता समझा चुककर वही अन्तर्यामी है यह स्पष्ट करते हैं—

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि।
अन्तस्तिष्ठन् यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत्।। १६३।।

विज्ञानमय आदि कोशों में एवं पृथ्वी आदि अन्यत्र भीतर रहते हुए नियन्त्रण करता है इसलिये अन्तर्यामी हो जाता है।

आनन्दमय सर्वेश्वर और सर्वज्ञ कैसे है यह समझा चुके। आगे श्रुति ने कहा 'एषोऽन्तर्यामी' वही 'अन्तः' भीतर रहते हुए 'यामी' नियन्ता है। आनंदमय साक्षात् तो विज्ञानमय के भीतर है अतः उसके कोशों में विज्ञानमय पहला है, मुख्य है। मनोमय, प्राणमय और अन्नमय में भी आनन्दमय है क्योंकि ये क्रमशः बहिर्भावी हैं। जो चौथे के भीतर वह पहले तीन के भीतर है इसमें क्या कहना! पाँचों कोश तो जीवों के, अध्यात्म के अभिप्राय से बताये कि इनमें आनन्दमयरूप अन्तर्यामी है।

'अन्यत्र' मायने जड पदार्थों के अन्दर, पत्थर मिट्टी इत्यादि में। ईश्वर व्यापक है, सारी माया के अन्दर है इसलिये माया के हर टुकड़े में है, हर चीज़ में है। सब चीज़ों के अन्दर रहते हुए 'यमयति' उनपर शासन करता है तभी कोई चीज़ अपने नियम से विपरीत कार्य नहीं कर पाती। जो जड चीज़ों के नियम हैं उनके अनुसार ही वे चीज़ें काम करती हैं। इसी प्रकार अपने-अपने संस्कार आदि के अधीन होकर जीव भी काम करते हैं। अन्दर रहकर इन सबका शासन करता है, बाहर से नहीं, इसलिये उसे अन्तर्यामी कह दिया। विज्ञानमय से प्रारंभ इसलिये कि सुषुप्ति में यमन, प्रशासन का प्रसंग नहीं, जीवादिभाव प्रकट रहते ही नियमन संभव है। क्योंकि सभी कोशों की चेष्टाएँ आनंद के ही लिये हैं इसलिये आनंद का उनपर नियंत्रण अनुभव से सत्यापित है **॥१६३॥**

इस बात को अन्तर्यामी ब्राह्मण, जो बृहदारण्यक ३.७.२२ में है, बतलाया है—

बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियाऽनीक्ष्यश्च धीवपुः।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम्।। १६४।।

अंतर्यामी की घोषणा वेद में यों की है—'बुद्धि में रहते हुए, उसके भीतर है, बुद्धि से जाना नहीं जाता, बुद्धि ही उसका शरीर है, भीतर से बुद्धि को नियंत्रित रखता है।'

उस प्रसंग में पहले पृथ्व्यादि बारह स्थल बताये जहाँ अन्तर्यामी का शासन स्पष्ट है, फिर 'सब भूतों में' उसी को अंतर्यामी कहकर प्राणादि उपाधियों का उल्लेख किया। प्राण से प्रारम्भकर सातवीं वस्तु 'विज्ञान' कही। उसे ही यहाँ बुद्धि-शब्द से सूचित किया। सर्वव्यापक होने से बुद्धि में भी वह विद्यमान है और उसका नियमन करता है। बुद्धि ही उसका वपु है, शरीर है। जैसे आगे खुद ही कहेंगे कि कपड़े में धागे रहते हैं तो धागों का शरीर कपड़ा ही होता है इसी प्रकार बुद्धि में रहता है इसलिये बुद्धि उसका शरीर है। अन्यत्र

पृथ्वी, प्राणादि में भी रहता है इसलिये वे सब भी उसके शरीर हैं। बुद्धिरूपी शरीर को देखता है, बुद्धि की सारी वासनाओं को देखते हुए शासित करता है। जिसमें रहता है वह बुद्धि उसे देख नहीं सकती। अन्तर्यामी की यह विशेषता है कि प्रशासित द्वारा उसका स्वरूप समझा ही नहीं जा सकता। यही अंतर्यामीरूप प्राज्ञ को कहा है ॥१६४॥

श्रुति ने इक्कीस स्थलों का निर्देश दिया किंतु यहाँ सबको गिनाना अनुपयोगी समझकर आचार्य 'सर्वेषु भूतेषु' के आधार पर सोदाहरण बताते हैं कि वह सर्वत्र रहता है—

तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा।
सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्रायमवस्थितः।। १६५।।

उपादानरूप से जैसे कपड़े में धागा रहता है वैसे सबका उपादान होने से यह (अन्तर्यामी) सर्वत्र रहता है।

प्रायः मानते हैं कि कपड़ा धागों में है किंतु यहाँ कहते हैं कि धागों में कपड़ा स्थित है। 'उपादानतया' क्योंकि धागारूप उपादान से कपड़ा बना इसलिये कपड़े के अन्दर सारे धागे स्थित हैं। लोकप्रतीति भी ऐसी ही है कि कपड़े में धागे हैं। गहनों में सोना है। इसी प्रकार, परमात्मा सबका उपादान है इसलिए वह सबमें स्थित है। जैसे धागा कपड़े का उपादान होने से कपड़े में स्थित है वैसे ही सबका उपादान होने से अंतर्यामी सबमें स्थित है। श्रुति में 'यः सर्वेषु भूतेषु' (३.७.१५) यों सब भूतों में अन्तर्यामी का रहना बताया ही है, उसे यहाँ दृष्टांत से उपपन्न कर दिया ॥१६५॥

उपादान को कार्य के भीतर सिद्ध कर अब भीतरता का क्रम बुद्धिसंगत समझाते हैं—

पटादप्यान्तरस्तन्तुस्तन्तोरप्यंशुरान्तरः।
आन्तरत्वस्य विश्रान्तिर्यत्रासावनुमीयताम्।।१६६।।

कपड़े से भी भीतर तन्तु, उससे भी अन्दर अंशु (सूत); भीतरता जहाँ समाप्त होती है वह (अन्तर्यामी ईश्वर) है यह अनुमान से निश्चय हो जाता है।

जैसे कपड़े में धागा वैसे ही धागे में सूत है। तीन-चार सूत लेकर उसको जब बटते हैं तब जो तैयार होता है उस को धागा कहा जाता है। बटने के पहले जो उसका हिस्सा है उसको संस्कृत में अंशु कहते हैं। कपड़े में धागा है, धागे में अंशु है, अंशु में फिर रूई है। इस प्रकार जो अंदर मिलता है उसके भी अंदर और कुछ मिलता है। किंतु जो सबसे अन्दर होगा, जिसके अन्दर आगे और कुछ नहीं उसे इस परंपरा के विश्राम का, रुकने का स्थल कहा जायेगा। क्योंकि बाहरी ही इंद्रियादि से ग्रहण होता है, भीतरी समझना ही पड़ता है इसलिये कहा 'अनुमीयताम्'—ऐसा अनुमान किया जाये। अणुवादी समझाते हैं कि कुछ तोड़ो तो छोटे टुकड़े होते हैं अतः छोटी से छोटी चीज टूटने पर भी टुकड़े छोटे होंगे किंतु अन्त में ऐसा छोटा टुकड़ा रहेगा जिसका आगे टुकड़ा नहीं हो सकता। ऐसा परम छोटा टुकड़ा

करके तो नहीं देख सकते पर अनुमान से सिद्ध होता है। इसी प्रकार कपड़ा-धागा आदि में देखकर अनुमान से जो सबके अन्दर समझ आता है वही परमात्मा है, वह अन्तिम उपादान है। उसी ने सबसे पहले ईक्षण किया 'एकोऽहम् बहु स्याम्' 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ'। एक ही आन्तरतम है ॥१६६॥

भीतर होने पर भी सूत दीखता है लेकिन अणु नहीं, ऐसे ही परमेश्वर दीखता नहीं, समझा ही जाता है। यह बताते हैं—

द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः।
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः।।१६७।।

भीतर होने वालों के दो-तीन स्तर दीखने पर भी यह सबसे भीतरी अन्तर्यामी दीखता नहीं अतः युक्ति व श्रुति से ही इसका निर्णय होता है।

कपड़े से भीतर धागा दीखता है, उसके भीतर सूत दीखता है, फिर रूई दीखती है। उसके अन्दर क्या है? बहुत जोर लगाओ तो कह सकते हो कि खाद दी थी अतः मिट्टी रूई के अन्दर है। मिट्टी के अन्दर क्या? कुछ नहीं कह सकते। पहले तो रूई से मिट्टी तक जाना ही मुश्किल है क्योंकि किसी को यह बोध नहीं होता कि रूई मिट्टी से हुई। अनुमान ही कर सकते हैं कि जहाँ रूई हुई वहाँ पहले मिट्टी थी इसलिए मिट्टी से रूई हुई। आगे, मिट्टी किससे हुई—इसका तो कोई अनुमान भी नहीं कर सकते! यह तो लग रहा है कि हमेशा से ऐसा ही है। इसलिए कहा कि दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि यथासंभव पर कुछ ही स्तर देखने में आते हैं परन्तु परमेश्वर तो उससे भी आन्तर है अर्थात् उसका भी उपादान है। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। उसे युक्ति-श्रुति से समझना चाहिये। अकेली युक्ति से नैयायिक परमाणु तक पहुँचा, श्रुति से पता चलता है कि उससे भी भीतर परमात्मा है क्योंकि वह उसका भी उपादान है। दीखता इसलिये नहीं कि वह किसी से बाहरी नहीं है। जो भीतरी होने के बावजूद किसी और की अपेक्षा बाहरी होते हैं वे तंतु, अंशु आदि ही दीखते हैं। परमात्मा सबसे भीतरी है, उससे भीतर और कोई नहीं जिसकी अपेक्षा वह बाहरी हो अतः वह प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है।

श्रुति यही कहती है कि वह आन्तरतम है। केवल युक्ति से अतीन्द्रीय पदार्थों का निर्णय हम लोग नहीं मानते। युक्ति से समझने में मदद तो मिलती है पर सिद्ध कुछ नहीं होता। लोक में भी युक्ति संभावना देती है, लेकिन प्रमाण ही निर्णायक होता है। इसलिए युक्ति से समझने के साथ श्रुति जब कहती है 'ऐसा है' तब पक्का निश्चय हो जाता है। युक्ति की जरूरत क्या है? अन्तिम निर्णय श्रुति का मानना है तो श्रुति ने जैसा कहा वैसा ही मान लें, मनन करना क्यों? उत्तर है कि हम लोग श्रुति को युक्ति से विरुद्ध नहीं मानते। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी कह दें कि आग ठण्डी है तो हम मान नहीं लेंगे कि आग ठण्डी होती है! पहले तो श्रुति ऐसी असम्भव बात कहेगी नहीं और यदि कही

है तो उसका कुछ दूसरा तात्पर्य होगा जो समझना पड़ेगा जो युक्ति से अविरुद्ध सिद्ध हो सके। तर्क या युक्ति प्रमाणों को मिलने वाला सहारा है अतः युक्ति की आवश्यकता हम लोग कभी नहीं छोड़ते। वेद ने केवल यह नहीं कहा कि 'आत्मा के विषय में वेद से पता लगा लो।' जैसे कहा कि वेद से पता लगाओ वैसे ही बताया कि तर्क के द्वारा निश्चय करो कि श्रुति का यही तात्पर्य है।

महर्षि यास्क ने लिखा है कि यहाँ से ऋषि जाने लगे तो सब लोगों ने कहा 'आप लोग यहाँ से जा रहे हैं, अब तक तो जब कभी हमें धर्म के विषय में सन्देह होता था, आपसे पूछ लेते थे, आप जो कहते थे वह मान लेते थे। अब आप सब चले जायेंगे तो हमें रास्ता कौन दिखाएगा?' ऋषियों ने कहा 'हमारा तो जाने का समय है लेकिन हम वहाँ से एक ऐसा ऋषि भेजेंगे जो आपकी हमेशा मदद करेगा।' वहाँ जाकर 'को नः ऋषिर्भविष्यतीति? तेभ्य एवं तर्कम् ऋषिम् प्रायच्छन्' (निरुक्त ५.१३.१३) उन्होंने तर्क नाम के ऋषि को भेजा। कोई शंका होवे तो उसकी तुम तर्क से परीक्षा करो। तर्क से परीक्षा करके निर्णय मानो। तर्क या युक्ति तुमको सम्भावना बतला देती है कि क्या सम्भव है। श्रुति उसी को कह रही हो तो पक्की बात जँच जाती है, और तुम रास्ते पर चल पड़ते हो। श्रुति ने स्वयं ही कहा 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' पहले सुनो फिर उस पर मनन करो। उसके विषय में जो संशय हो सकते हैं सब हटाओ। यह युक्तिसंगतता अपने धर्म में ही है, संसार में और किसी धर्म में नहीं है। बाकी कहते हैं 'जैसा किताब में लिखा है वैसा ही मान लो'। और हम कहते हैं कि किताब में लिखी बात युक्ति से विरुद्ध होगी तो नहीं मानेंगे। युक्ति के अनुकूल होगी तभी मानेंगे। युक्ति से यदि पाँच सम्भावनाएँ निकलती हैं और उनमें से एक को श्रुति कहती है तो श्रुति की बात पर हमें पक्का निश्चय हो जाता है। पर श्रुति अगर कोई असंगत बात कहती है, असम्भव बात कहती है तो जब तक युक्ति से विचार करके सम्भव अर्थ नहीं निकलेगा तब तक नहीं मानेंगे। इसलिए श्रुति और युक्ति दोनों से निश्चय करना है, इनमें से किसी एक से काम नहीं चलता। श्रुति का अर्थ समझने के लिए युक्ति की जरूरत रहती है। केवल युक्ति से इसलिए कार्य नहीं चलता कि वह निश्चय नहीं करा सकती। अतः दोनों से निर्णय करना पड़ता है।

'न वीक्ष्यते' के द्वारा कह दिया कि यदि साक्षात् कोई अनुभव है तब तो उसमें श्रुति और युक्ति की जरूरत नहीं है। तुमने पास जाकर देख लिया, ठोक-बजा कर देख लिया कि दीवार है तो इसमें न श्रुति की जरूरत है, न युक्ति की जरूरत है। पर जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, वे आँखों से तो देखे नहीं जा सकते इसलिये अतीन्द्रिय पदार्थ के अन्दर श्रुति और युक्ति का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रसंग में युक्ति क्या है? कहीं भी अचेतन पदार्थ में किसी चेतन से अधिष्ठित हुए बिना प्रवृत्ति नहीं मिलती। कमरा बन्द करके चले गए, वापिस आए; गलीचा समेटा हुआ मिले, कुर्सियाँ नदारद मिलें तो पूछते हैं—'किसने किया?' कोई कहे 'कुर्सियों में पैर होते ही हैं, चलकर चली गईं। गलीचा मुड़ने वाली चीज है तो मुड़ गया।

ये कार्य किसी को करने की क्या जरूरत है?' तो कोई मानने को तैयार नहीं होगा। जड में चेष्टा अपने आप नहीं हो सकती। कोई चेतन हटाये या लपेटे तभी कुर्सी हटेगी, गलीचा गोल होगा। इसलिए पता लगता है कि नियमों को किसी ने बनाया है। वह बनाने वाला ईश्वर ही उपादान है इसलिए वही इनका आन्तरतम है ॥१६७॥

उपनिषत् ने सब भूतों को अन्तर्यामी का शरीर कैसे बताया यह समझाते हैं—

पटरूपेण संस्थानात् पटस्तन्तोर्वपुर्यथा।
सर्वरूपेण संस्थानात् सर्वमस्य वपुस्तथा।।१६८।।

कपड़े के रूप में बना होने से जैसे धागे का शरीर कपड़ा होता है वैसे सब रूप में बना होने से अंतर्यामी का शरीर सब है।

कपड़ेरूप से धागा संस्थित है। कपड़ा स्पष्ट दीखता है। जो दीखता है वह उसका शरीर होता है, जैसे हमें देवदत्त का शरीर ही दीखता है। देवदत्त तो जीव का नाम है, वह अतीन्द्रिय पदार्थ है, उसे देख आदि नहीं सकते, उसके जिस रूप को देखते आदि हैं वही उसका शरीर कहलाता है। इसी प्रकार से धागा ही कपड़े के रूप से स्थित है तो दीखेगा कपड़ा, पर मालूम है कि वही धागे का शरीर है। अथवा ऊन ही स्वेटर बनी तो स्वेटर ही ऊन का शरीर होता है। इस तरह से 'अस्य' उस परमेश्वर का शरीर इस समय क्या है? 'सर्वरूपेण संस्थानात्' सारे ब्रह्माण्ड रूप से ही इस समय परमेश्वर स्थित है। क्योंकि सृष्टि के आदि में एकमात्र परमात्मा ही था अतः वही सर्वरूप बना है। सर्वरूप से स्थित वही परमात्मा है। इस प्रकार तन्तु-पट आदि दृष्टान्त से स्पष्ट है कि सारे भूत, सारा ब्रह्माण्ड अन्तर्यामी परमेश्वर का शरीर कैसे है।

शंका होती है कि यदि सभी उसका शरीर है तो किसी-किसी स्थान-वस्तु-काल आदि में विशेषता क्यों मानी जाती है? समाधान है कि जैसे शरीर सारा ही एक देवदत्त का है फिर भी उसकी पहचान विशेषतः उसके मुख से, चेहरे से होती है; सारे शरीर में रहने पर भी हृदय में विशेष उपस्थिति होती है; इसी प्रकार सब परमेश्वर का शरीर होने पर भी जहाँ विशेष उपस्थिति है वहाँ विशेषता स्वीकार है। विभूतिवर्णन में स्वयं भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है। पतंजलि ने अनेक विशेष ध्येय स्थल बताने पर भी 'यथाभिमत' ध्यान करने को इसलिये मान्यता दी कि सर्वत्र ईश्वर एकरस ही है। आगे नौवें प्रकरण में (श्लोक ४१-४२) भैंस को भी परमेश्वर की ही उपाधि बतायेंगे। सभी रूपों में परमात्मा का ही 'संस्थान', सम्यक् स्थिति होने से ही यह संभव है। वही सब रूपों में बना होने से सब उसका वपु, शरीर है। उसकी सर्वरूपता स्वीकारना है कठिन; सुन्दर व्यक्ति को देखकर 'इस पर भगवान् की बड़ी कृपा है' समझना सरल होने पर भी कोढ़ी भी भगवान् का कृपापात्र है समझना अति कठिन है; ऐसे ही उपास्य मूर्तियाँ उत्तम हों तो उपासना सहज होती है अन्यथा असंभव तो नहीं पर अति कठिन हो जाती है। ऐसे भी महात्मा हुए हैं जो अपने पैर के घाव में पड़े कीड़े

अगर बाहर गिरें तो उठाकर पुनः घाव में डाल देते थे कि 'बेचारे बाहर मर जायेंगे'। यों सर्वत्र आत्मदर्शन संभव अवश्य है पर दुर्लभ है। अतएव सब कुछ परमेश्वर का संस्थान, शरीर होने पर भी पूज्यादि मूर्तियों का उपदेश विरुद्ध नहीं ॥१६८॥

परमेश्वर का सब पर नियमन भी सोदाहरण स्पष्ट करते हैं–

तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ पटो यथा।
अवश्यमेव भवति, न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक्।।१६९।।

धागे के सिमटने, फैलने, चलने आदि पर कपड़ा जैसे अवश्य ही अनुकारी होता है, कपड़े में थोड़ी भी स्वतन्त्रता नहीं है, (वैसे...)।

पट का कारण जो तन्तु, उन तन्तुओं को इकट्ठा करो तो कपड़ा अपने आप ही इकट्ठा हो जाता है। तन्तुओं को फैलाओ तो कपड़ा अपने आप फैल जाता है। दूसरा दृष्टान्त देख सकते हो–तुमने सोने से गहना बनाया। उस सोने को ऊपर से नीचे करो, समेट कर रखो तो वह गहना अपने आप सिमट जाएगा। सोने की लड़ी, कण्ठी विस्तृत है, फैली हुई है; सोने को समेटो तो अपने आप ही कण्ठी सिमट जाएगी। अर्थात् जो जिसका 'आन्तर' है उसको कुछ करने से 'बाह्य' तो अपने आप ही वैसा हो जाता है। मन शरीर का आन्तर है अतः मन को दुःखी कर दोगे तो शरीर भी कमजोर हो जाता है। जो जिसका आन्तर है उसमें परिवर्तन जैसा होता है वैसा बाहर परिवर्तन हो ही जाता है। उसी प्रकार यदि तन्तु चलता है तो कपड़ा भी चलता है। इसलिए कपड़े में कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं है, तन्तु के अधीन ही रहता है ॥१६९॥

यहाँ तक अर्थात् उदाहरणों में तो लोगों को सब ठीक लगता है किंतु अगला कदम जो आत्मस्थल है, वह कठिन लगेगा, उसमें भी नियम वही है यह बताते हैं–

तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा।
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः।।१७०।।

वैसे यह अन्तर्यामी जहाँ जिस वासना से जैसा आकार ग्रहण करता है वैसा ही (उसका 'वपु') हो ही जाता है, इसमें संशय नहीं।

अन्तर्यामी परमात्मा हम सब लोगों का आन्तर है, हम लोगों का उपादान कारण है, हमारे अन्दर है। देवदत्त, यज्ञदत्त, भानुदत्त आदि सभी में अन्तर्यामी वही है। 'यत्र', जहाँ अर्थात् जिस शरीर में रसगुल्ला खाने की वासना उसने प्रकट कर दी वह रसगुल्ला खाने को चल देगा। जिसके अन्दर उसने प्रकट कर दी दालमोठ खाने की वासना, वह दालमोठ खाने चल देगा। अन्तर्यामी द्वारा उद्बोधित वासना के अनुरूप हमारी चेष्टाएँ अवश्यम्भावी हैं। पाप फलोन्मुख होने पर वह उन वासनाओं को प्रकट करता है जिनके अनुसार प्रयास हमें दुःख दे, पुण्य फलोन्मुख होने पर उन्हें प्रकट करता है जिनके अनुसार करने पर सुख हो।

मारवाड़ में बंगाली रसगुल्ले की वासना उद्बुद्ध होने पर दुःख ही होगा, कलकत्ते के बाग बाजार में घूमते समय सम्पन्न व्यक्ति की रसगुल्ले की वासना प्रकट होकर सुख देगी। हम वासना के द्वारा ईश्वर के पराधीन रहते हैं। वासना बनाने में सावधानी हमारे हाथ है पर बनाने के बाद वह हमारे नियन्त्रण का हेतु बनकर ईश्वराधीन है। जैसे धागे के अधीन कपड़ा वैसे ईश्वर के अधीन जीव है। पृथ्वी आदि सर्वत्र उपादानरूप से अन्तर्यामी उपस्थित है, वासना उद्बुद्ध होने पर जो उस अन्तर्यामी का आकार बनता है तदनुरूप ही उसके शरीर-रूप पृथ्वी आदि सारे भूत, प्राणी, आकार ग्रहण करते रहते हैं, चेष्टादि करते रहते हैं। क्योंकि नियमन सोपाधिक में संमत है इसलिये उपाधि-विकार संगत ही है। क्योंकि ईश्वर में आवरण नहीं इसलिये उसकी निर्विकाररूपता भी बनी ही रहती है **॥१७०॥**

अन्तर्यामी समझाने वाला वेदवाक्य बताकर उसी के बारे में भगवान् कृष्ण ने गीता में (१८.६१) जो कह दिया है वह सुनाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।१७१।।

'अर्जुन! यन्त्रारूढ सब भूतों को माया से घुमाते हुए सब भूतों के हृदय-स्थल में ईश्वर रहता है।'

ईश्वर कहाँ रहता है? सब प्राणियों के हृदय-देश में परमेश्वर रहता है। विज्ञानमय कोष-रूप जीव का सामान्य निवास स्थान हृदय ही है। इन स्थलों पर 'हृदय' से मतलब खून संचालन का हृदय नहीं समझ लेना। ईश्वर रहने का स्थान, जिसे हृद्देश कहते हैं वह नाभि से एक बित्ता ऊपर मध्य भाग में होता है। परीक्षा उसकी है कि जब तीव्र सुख-दुःख होता है तब वहीं सर्वाधिक अनुभव होता है। जहाँ पन्द्रह-बीस मंजिल का मकान हो, वहाँ तेज ऊर्ध्वयान (lift) में जाने पर यान एकाएक तीव्र गति पकड़ता है तब छाती में जहाँ लगता है कि कुछ हो रहा है, उसी को हम हृद्देश कहते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में हृदय का अर्थ बतलाया 'हृदि अयम्'—जहाँ जीव को अपना अनुभव होता है वह हृदय है। आदमी को अभिमान, गर्व होता है तब उस हृदय-देश में ही छाती ठोक कर कहता है—'मैंने कह दिया'। कोई दाईं तरफ, बाईं तरफ छाती नहीं ठोकता, ठीक मध्य भाग में ठोकता है क्योंकि वहीं उसको 'अपना' स्वाभाविक अनुभव है। जहाँ जीव, विज्ञानमय अपना अनुभव करता है वही हृद्देश है। सारे प्राणियों का जहाँ जीवभाव है वहीं ईश्वर रहता है। जहाँ विज्ञानमय है, वहीं आनन्दमय है क्योंकि आनन्दमय ही तो अधिकोपाधिसम्पन्न हुआ विज्ञानमय बना!

वहाँ बैठा हुआ वह अन्तर्यामी जीवों को घुमाता है। 'भ्रामयन्' का अर्थ 'भ्रम में डालना' भी होता है। वासना को उद्बुद्ध करके हमारी जो प्रवृत्ति कराता है वह है तो भ्रम। जो व्यक्ति विज्ञानमय से अलग हो जाता है, उसका भी विज्ञानमय भ्रमण करता रहेगा परन्तु

वह नहीं भ्रमण करेगा क्योंकि भ्रमण करने वाला वह रहा नहीं। पर जब तक विज्ञानमय से हम एक हैं तब तक तो विज्ञानमय के घूमने से हम घूमेंगे ही। कैसे घुमाता है?

'यन्त्रारूढानि' शरीररूपी यन्त्र पर हम चढ़े हुए हैं। यन्त्र का अर्थ शरीर से लेकर बुद्धिपर्यन्त सारी उपाधि समझ लेना। इस यन्त्र में आरूढ हो जाने का, चढ़ जाने का मतलब क्या है? इसमें अहं-बुद्धि कर लेना, 'यही मैं हूँ' यह बुद्धि, निश्चय ही इसमें आरूढ होना है, चढ़ना है। सचमुच में तुम्हारा व्यापक स्वरूप असंग है, इसलिए चढ़ना-चढ़ाना तो बनता नहीं है परन्तु भ्रम से संभव बना है। जिसमें मैं-बुद्धि कर लेता है उसके सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होता रहता है। लोक में भी यही देखने में आता है।

पास के मकान में एक लड़की रहती थी। उसको भयंकर रोग हो गया, हैजा, प्लेग आदि। गरीब लोग थे। उन्होंने हमसे इलाज के लिए पैसे माँगे, 'सौ रुपए दे दीजिए।' हमें पता था कि सौ रुपये वापिस कहाँ से आयेंगे। हमने कहा 'पाँच रुपए ले जाओ, बाकी दूसरी जगह से इन्तजाम कर लो।' सौ रुपया तुम नहीं दे पाए। उस बात को हो गए दस-बीस साल। तुम्हारा लड़का उस लड़की की सुन्दरता से मोहित हो गया। अब तुम्हारे लड़के ने उस लड़की से ब्याह कर लिया। वह पुत्रवधू होकर तुम्हारे घर आ गई। अब एक दिन वह कहती है 'सिर में दर्द है।' वह मर रही थी, तब तुमने पाँच रुपए मुश्किल से दिए थे और अब खाली सिर में दर्द होने पर झट से तुम पचास रुपए फीस वाले डाक्टर को बुला लेते हो। क्या फ़र्क पड़ गया? तब तुमको उसमें मैं-सम्बन्धी ज्ञान नहीं था, अब मैं-सम्बन्धी ज्ञान है—कि यह मेरी पुत्रवधू है। यही फ़र्क हुआ। लड़की तो वही है।

इसी प्रकार शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त जो उपाधियाँ हैं उन सबके अन्दर 'मैं' और 'मेरी' बुद्धि बनी हुई है इसीलिए इनके दुःख से हम दुःखी होते रहते हैं। यही यन्त्र पर आरूढ हो जाना है कि उनसे एकमेकता अनुभव करना। क्यों चढ़ते हो और वह तुमको कैसे भ्रमण कराता है? दोनों का एक ही कारण बतला दिया—'मायया'। वह घुमा रहा है तो माया से—उसकी माया शक्ति से ही घुमा रहा है और तुम उसमें मैं-बुद्धि कर रहे हो, तो माया से ही ॥१७१॥

भगवद्वाक्य का स्वयं व्याख्यान करते हैं—

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः।
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु।।१७२।।

'सारे भूत' अर्थात् विज्ञानमय (जीव)। वे हृदय में रहते हैं क्योंकि उनका उपादानरूप ईश्वर वहीं (विज्ञानमयाकार में) परिणत होता है।

विज्ञानमय कोश, अन्तःकरण ही जीव की कार्यकारी उपाधि है इसलिए विज्ञानमय कोष ही जीव कह दिया जाता है। विज्ञानमय कोष हृदय में रहता है, वहीं आनन्दमय भी है। हृदय देश में ही ईश्वर है। अन्नमय कोश तो प्रतिजन्म बदलते रहते हैं, प्राणमय में भी स्थूलानुसार

भेद प्रतीत होता है, संस्कारनिर्भर मनोमय को एकरूप समझना भी कठिन किंतु कर्त्ता-रूप एक-समान भासने से इसे अपना स्थायी परिचय स्वीकारना सरल है। यह पेड़-पौधों पर्यन्त समझा जा सकता है। जैसे दीर्घकाल तक साँप-मेढक आदि का प्राणमय कार्यकारी न मिलने पर भी रहता है वैसे स्थावरों में हम न पहचान पायें फिर भी सभी कोष रहते हैं, वे भी जीव हैं, पाप-विशेष के फलस्वरूप उन योनियों में पहुँचे हैं। सारे ही भूत, जीव— विज्ञानमय वाले हैं ही। उससे बहिर्भूत भी कोश भले ही हो पर वह कोश प्राथमिक है अतः उसका उल्लेख आवश्यक है। इसलिए कहा, जो भी प्राणी हैं, प्राण वाले हैं, जीव हैं, सब विज्ञानमय हैं।

विज्ञानमय हृदय में ही स्थित हैं। विज्ञानमय का उपादान क्या है? विज्ञानमय का उपादान है आनन्दमय, वही ईश है। 'तत्र' अर्थात् वहीं, हृदय के अन्दर 'खलु' निश्चित रूप से ईश्वर विज्ञानमय के आकार में विकृत होता है। हृदय देश के अन्दर ही आनन्दमय विज्ञानमयरूप में 'बनता' है। इस प्रसंग में गीता आदि सन्दर्भ के अनुसार 'हृदय' से समष्टि-अंतःकरण समझना कठिन है जैसा अच्युतराय ने समझाया है। 'हृदय' से स्थूलदेह के भीतर का स्थल समझें तो लोकान्तरगमन करने वाला विज्ञानमय समझना मुश्किल होने से मोडक ने 'सब विज्ञानमयों का उपादान' के अभिप्राय से व्याख्या की। समष्टि ही व्यष्टिका उपादान प्रसिद्ध है, हिरण्यगर्भ से सारे विज्ञानमय बनें यह संगत प्रतीत होता भी है। सूक्ष्मभूतों का ही हिरण्यगर्भ समष्टि है। और सूक्ष्मकार्य ही अंतःकरणरूप व्यष्टि विज्ञानमय है। गीता में नियन्ता-रूप प्रधान रखकर कहा जबकि यहाँ कारणरूप प्रधान रखकर कह रहे हैं। अनुभूयमान विज्ञानमय तो हृद्देश में ही मिलने से यह समझना संगत ही है कि उसी स्थल पर हिरण्यगर्भ भी विज्ञानमय बनता है। जैसे घटसीमित आकाश ही जलधारक बनता है वैसे हृदयसीमित हिरण्यगर्भ विज्ञानमय बनता है। इतना अंतर है ही कि घट के बिना आकाश जलधारक नहीं लेकिन स्थूल हृदय के बगैर भी विज्ञानमय रह जाता है, लोक-लोकान्तर में विभिन्न देह पाकर विभिन्न हृद्देशों में अनुभूयमान बनता है। कर्त्ता-रूप क्योंकि स्थूलावच्छेद में ही होता है इसलिये पंचदशीकार ने हृद्देश में ही विज्ञानमयभाव की प्राप्ति समझायी है। तात्पर्य है कि जैसे अन्नमयादि ही जीव नहीं, वैसे विज्ञानमय भी जीव नहीं लेकिन 'सर्वभूत' शब्द से विज्ञानमय कहे क्योंकि वहीं नियंत्रण स्पष्ट होता है **॥१७२॥**

'सर्वभूतानि' समझाने के बाद 'यंत्रारूढानि' का भाव बताते हैं—

देहादि पञ्जरं यन्त्रं तदारोहोऽभिमानिता।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत्।।१७३।।

शरीर आदि का ढाँचा 'यन्त्र' है, उसमें तादात्म्य अभिमान 'आरोह' (चढ़ना) है एवं विधि-निषेध-विषयभूत कर्मों में संलग्न होना 'भ्रमण' (घूमना) है।

'देहादि' के आदि से प्राणमय, मनोमय आदि समझ लेना। देहादि पञ्जर एक यन्त्र है। शरीर-प्राण-मन इत्यादि को परमेश्वर घुमाता है, जीवों *को* नहीं घुमाता है, लेकिन इस पंजर,

यंत्र पर चढ़ जाते हैं अतः घूमते हैं। यन्त्र तो चलता रहेगा, तुम उस पर चढ़ो या न चढ़ो। तुम चढ़ोगे तो यन्त्र के साथ घूमते रहोगे, तुम न चढ़ो तो नहीं घूमते, यन्त्र भले ही चलता रहे। इसी प्रकार से शरीर आदि जैसे घुमाए जाते हैं वैसे घूमते ही रहेंगे परन्तु इनमें जो हम अभिमान कर लेते हैं 'यह मैं हूँ', बस यही इस पर 'चढ़ना' है। गहरी नींद में या जब क्लोरोफार्म सुंघा देते हैं तब शरीर घूमने का कुछ पता नहीं लगता क्योंकि अभिमान नहीं रह जाता। शल्यक्रिया में शरीर की कटाई-छटाँई होती है, शरीर में विकार तो हो रहा है, पर उस विज्ञानमय को कहाँ दुःख हो रहा है। कुछ नहीं मालूम पड़ रहा। ऐसे ही गहरी नींद में अभिमान हट जाता है। जब विज्ञानमय के अन्दर 'मैं'-अभिमान नहीं रह गया तब शरीर के विकारों का हमें पता नहीं लगता है। होश आता है, मायने पुनः हमने जब अभिमान कर लिया, तब फिर दर्द शुरू हो जाता है, सारे विकार शुरू हो जाते हैं। इसलिए शरीर के अन्दर अभिमान करना ही यन्त्र पर चढ़ जाना है। देहादि के ऊपर चढ़ना क्या है? अभिमानिता, 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान कर लेना।

'भ्रामयन्'—घुमाना क्या है? कभी शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति होती है, कभी शास्त्र-विरुद्ध प्रवृत्ति होती है। शरीर आदि की प्रवृत्ति भगवान् कराते हैं और विज्ञानमय इसमें मैं-अभिमान कर लेता है इसलिए वह सुख-दुःख का भागी बन जाता है। जैसे कोई आदमी जाकर थाने में कहे 'अमुक आदमी को मैंने मार डाला।' तो भले ही वास्तव में न मारा हो तो भी पुलिस उसे पकड़ेगी ही। वकील लाख समझाएगा 'कोई प्रमाण नहीं है कि तुमने मारा। तुम उसे मारो इसमें कोई हेतु भी नहीं है। किसी ने तुम्हें देखा भी नहीं है। तुम काहे को कहते हो कि मैंने मारा?' पर तुम कहते हो कि 'मैं तो जरूर कहूँगा कि मैंने मारा।' तो क्या कोई वकील तुमको छुड़ा सकता है? तुमने नहीं मारा पर तुम ही जिद रखो कि 'मैंने मारा' तो तुमको दण्डित ही किया जाएगा। ठीक इसी प्रकार शरीरादि के ऊपर चढ़े होने से शरीर आदि जो करते हैं उसके लिए हम कहते हैं 'मैंने किया'। शास्त्र कितनी भी युक्ति से समझाए—'तुमने नहीं किया', फिर भी हम अभिमान नहीं छोड़ते। इस प्रकार आग्रहपूर्वक कर्त्ता बनते हैं, तब भोक्ता भी बनना पड़ता है, दण्ड के भागी भी बनते हैं। जब विहित कार्य हो जाता है तब स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होती है, प्रतिषिद्ध हो जाता है तो दुःख की प्राप्ति होती है। यावज्जीवन केवल प्रतिषिद्ध काम ही कोई नहीं करता। स्वाभाविक ढंग से कभी-न-कभी विहित कर्म भी हो जाता है, निषिद्ध भी। अच्छे-बुरे का फर्क इतना ही है कि जिसके अधिक कर्म विहित होते हैं, उसे 'अच्छा' कहा जाता है; जिसके अधिक कर्म प्रतिषिद्ध होते हैं उसे 'बुरा' कहा जाता है। जो अच्छे से अच्छा व्यक्ति है उससे भी कभी-न-कभी भूल होती ही है और जो बुरे से बुरा होता है उससे भी कभी-न-कभी अच्छा काम होता ही है। विहित और प्रतिषिद्ध सभी से होते हैं, ज्यादा कम की बात दूसरी है। ये दोनों क्यों कहे? सर्कस, मेले आदि में देखा होगा, एक बहुत बड़ा चक्का, पहिया होता है जिसमें विभिन्न स्तरों पर लोगों के बैठने के स्थान होते हैं। एक व्यक्ति बीच में पैरों से

उस चक्के को घुमाता है तो बैठे लोग ऊपर-नीचे घूमते रहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि उसमें बैठा हुआ कोई नीचे ही जाए या कोई ऊपर ही जाए! इसलिए हमसे विहित और प्रतिषिद्ध दोनों कार्य होते हैं। जब ऊपर जाना होता है तब विहित ज्यादा हो जाते हैं। फिर भी, कोई-न-कोई प्रतिषिद्ध हो ही जाते हैं। इसलिए स्वर्ग में देवताओं को भी बीच-बीच में असुर लोग जाकर जीत लेते हैं तो बेचारे बड़े दुःखी हो जाते हैं। तब भगवान् की सेवा करते, प्रार्थना करते हैं, भगवान् किसी तरह उनको फिर असुरों से छुड़ाते हैं। देवता बने, इसलिए उन्होंने अधिकतर विहित कर्म किए थे; पर बीच-बीच में असुरों से हराए जाते हैं, इसलिए कुछ-न-कुछ प्रतिषिद्ध भी किया होगा, नहीं तो काहे के लिए इतना बड़ा दुःख आता? ऊपर और नीचे जाना संसार में चलता ही रहता है। इसी का नाम भ्रमण है **॥१७३॥**

'मायया भ्रामयन्' शब्दों का भाव समझाते हैं—

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत्।।१७४।।

अपनी शक्ति से ईश्वर विज्ञानमयरूप से (और) उसकी प्रवृत्तिरूप से संस्थित हो जाते हैं, यही (उसे) 'माया से घुमाना' है।

जो घूमता है वह विज्ञानमय है। इसलिये 'तत्प्रवृत्ति' कहा, प्रवृत्ति विज्ञानमय की है, जो प्रवृत्ति, घूमना हो रहा है वह जीव का, वही विहित और प्रतिषिद्ध कार्य कर रहा है। विज्ञानमय का अनुभव यही है कि 'मैं कर रहा हूँ'। जैसे उस यन्त्र पर बैठे हुए को लगता है 'अब मैं नीचे जा रहा हूँ, अब मैं ऊपर जा रहा हूँ' जबकि सच्ची बात है कि घुमाने वाला जैसे घुमा रहा है वैसे घूम रहा है। विज्ञानमय रूप से जीव घूम ही रहा है पर ईश, परमेश्वर जो आनन्दमय है वही उसे घुमा रहा है। घूमना-रूप जीवप्रवृत्ति भी एक कार्य है अतः उसका कारण क्या? कौन उस प्रवृत्ति के आकार में प्रतीयमान है? जो विज्ञानमय के रूप से उपस्थित है वही परमेश्वर प्रवृत्तिरूप से विकृत होता है, बनता है, उपस्थित होता है। विज्ञानमय, उस प्रवृत्ति से अपने को प्रवृत्ति वाला मानता है! क्योंकि विज्ञानमय भी ईश्वर बना है, प्रवृत्ति भी ईश्वर बना है इसलिये 'किसी की अच्छी, किसी की बुरी प्रवृत्ति क्यों कराता है?' आदि वैषम्य-नैर्घृण्य (पक्षपात) की शंका निरर्थक है। अपनी एक जेब से पैसा क्यों निकाला, दूसरी से क्यों नहीं? जैसे यह प्रश्न व्यर्थ क्योंकि दोनों जेब मेरी हैं, वैसे सर्वरूप परमेश्वर पर पक्षपात का आरोप व्यर्थ है **॥१७४॥**

विज्ञानरूप धारण किया हुआ जो घूमता है वही आनन्दमय रूप से घुमाता है। यह जो गीताश्लोक का भाव निर्धारित किया है यही अंतर्यामी ब्राह्मण के 'यमयति' का अर्थ बताते हैं—

अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया।।१७५।।

'भीतर रहते नियन्त्रित करता है' यह कहकर यही भाव वेद में व्यक्त है। स्वमनीषा से यह बात पृथ्वी आदि सब उपाधियों में घटा लेनी चाहिये।

अन्तर्यामी ब्राह्मण के अन्दर बृहदारण्यक में जो कहा है—'अन्तर्यमयति' अन्दर से शासन करता है, इस उक्ति से यही बतलाया है जो भगवान् ने 'भ्रामयन्' से कहा है। विज्ञानमय के अन्दर आनन्दमयरूप से रहकर उसका शासन करता है। श्रुति के अन्दर यही अर्थ कहा है। वहाँ पर केवल विज्ञानमय के लिए नहीं पृथ्वी, जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशाएँ, चंद्र, तारे, आकाश, अंधेरा, तेज आदि सारे संसार के लिये उसे ही अंतर्यामी बताया है। पृथ्वी उसको नहीं जानती पर वह अन्दर रह कर पृथ्वी पर शासन करता है अर्थात् जिन नियमों से उसने पृथ्वी को बना दिया, वे नियम पृथ्वी के अन्दर ही रह कर उसके ऊपर शासन करते हैं। कोई भी वस्तु अपने नियम का उल्लंघन नहीं कर सकती है। उसके नियमों के अनुसार ही चल सकना—यही उसका अखंड यमन, शासन है। जिस रीति, उपपत्ति से जीव का शासन उसी से संसार-भर का वह शासन करता है; तरीका एक ही है, स्वयं में अपरोक्ष करके अन्यत्र समझना चाहिये कि संसार में जहाँ कहीं जो कोई कुछ कर रहा है वह परमेश्वर के अलंघ्य शासन में ही कर पा रहा है, अन्तर्यामी से स्वतंत्र कोई जीव या जगत् की वस्तु हो यह सम्भव नहीं। केवल विज्ञानमय को ही वह शासित करता है—ऐसा नहीं, जडों का भी वही यमन करता है ॥१७५॥

इस विषय में प्रसिद्ध वचन प्रमाण देते हैं कि सभी प्रवृत्तियाँ ईश्वराधीन हैं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।।१७६।।

'धर्म जानता हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, अधर्म है—ऐसा समझते हुए भी उसे छोड़ता नहीं। हृदय में स्थित किसी देव द्वारा जैसा निर्देश पाता हूँ वैसा करता हूँ।'

यह श्लोक महाभारत में दुर्योधन के कथन-रूप से प्रसिद्ध है। 'केनापि देवेन' की जगह 'त्वया हृषीकेश!' ऐसा भी पाठ प्रसिद्ध है। सभी का अनुभव यही है कि धर्म जानकर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं हो पाती, अधर्म जानकर भी उसे छोड़ नहीं पाते, लगता है मानो हृदय में कोई तीव्र प्रेरणा देकर बलात् हमसे करा रहा है। झूठ बोलना गलत है यह सब जानते हैं तभी नौकर झूठ बोले तो डाँटते हैं फिर भी खुद के फायदे को देखकर सच बोलने की इच्छा मन में आये तो भी लालच झूठ ही बुलवा देता है। सच उपस्थित होने पर भी बोलने की प्रवृत्ति नहीं होती, झूठ से निवृत्ति नहीं होती—यह सर्वानुभवप्रसिद्ध है। इसमें एक परवशता भी प्रतीत होती है अतः यह अन्तर्यामी का शासन समझना चाहिये। हमारे कुसंस्कार इसमें निमित्त बनते हैं कि सर्वेश्वर हमसे पाप करवाता है। वासनानुसार वह प्रवृत्त करता है, उसे निमित्त बगैर बनाये नहीं। जिसने झूठ की वासना ही नहीं बटोरी है उससे वह झूठ नहीं बुलवाता। व्यासजी ने इसीलिये सूत्र ही बनाया 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु' (२.३.४२) कि जीव जो

प्रयत्न कर चुका है उसकी अपेक्षा से ही परमेश्वर उससे कर्म कराता है। इस प्रकार अन्तर्यामी का वर्णन, उसके नियमन का निरूपण किया **॥१७६॥**

कोई पूछ सकता है कि फिर पुरुषार्थ क्यों करें! क्यों हमें सब कहते हैं—'ऐसा करो, ऐसा नहीं करो'? जवाब देते हैं—

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शंक्यतां यतः।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते।।१७७।।

यह शंका न की जाये कि अंतर्यामी का ऐसा शासन रहते पुरुष-प्रयत्न निरर्थक है। कारण कि ईश्वर ही जीव-प्रयत्नरूप से भी उपस्थित होते हैं।

यदि वह जो प्रवृत्ति कराता है वही हम करते हैं तो फिर पुरुष, जीव स्वयम् क्या कर सकता है? वह अच्छा करने आदि का कोई प्रयास करे इससे कोई प्रयोजन नहीं है। किंतु यह शंका मन में नहीं लानी चाहिये कि पुरुषकार से कुछ नहीं होगा क्योंकि पुरुषकार-रूप से भी तो ईश्वर ही प्रकट होता है! जैसे तुमसे पुण्य-पाप की प्रवृत्ति करवाता है वैसे ही तुमसे पुरुषार्थ भी वही करवाता है। इसलिए ऐसा मत समझो कि पुरुषकार व्यर्थ है क्योंकि पुरुषकार भी वही करवाता है। तुमने सत्संग सुना—'झूठ बोलना महापाप है।' उसका संस्कार पड़ा। पुरानी आदत के कारण तुम झूठ बोलने में प्रवृत्त हुए। अब, परमेश्वर ही पुरुषकार के रूप में तुमसे प्रवृत्ति कराता है—'नुकसान होने दो, झूठ नहीं बोलेंगे'। इस संकल्प के आकार में तो परमेश्वर ही प्रकट हुआ है। जैसे सत्संगानुरूप प्रवृत्ति, वैसे ही किसी को जँचता है कि सत्य से व्यवहार नहीं चलता, व्यवहार में झूठ का प्रयोग करना ही ठीक है। सत्संग सुनकर भी पाप में प्रवृत्ति करना ही ठीक है। सत्संग सुनकर भी पाप में प्रवृत्ति परमेश्वर ही करा रहा है क्योंकि उसकी वासना वैसी है **॥१७७॥**

अच्छी-बुरी प्रवृत्तियाँ परमेश्वर के नियंत्रण से हो रही हैं तो उसे अन्तर्यामी, भ्रामयिता (घुमाने वाला) समझने से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हुआ! हम समझें-न-समझें, ईश्वर को जो कराना है, करायेगा ही। इस शंका का समाधान करते हैं—

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम्।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्माऽसङ्गत्वधीजनिः।।१७८।।

ऐसे ज्ञान से ईश्वर की प्रवृत्ति मत ही रोकी जाये फिर भी ईश्वर के बोध से निज की असंगता का ज्ञान उत्पन्न होता ही है।

ईश्वर संस्कारानुरूप सद्-असत् प्रवृत्ति कराता है। यह जानकारी जीव को रहे तो, न रहे तो, ईश्वर अपने नियमानुसार प्रवृत्ति आदि रूप में बनता ही है। वेद व्यर्थ की बात बताता नहीं। ईश्वर अन्तर्यामी है यह वेद ने तरह-तरह से जगह-जगह बताया है अतः इसे समझना सार्थक होना चाहिये। वही 'अर्थ' या प्रयोजन इस श्लोक में स्पष्ट किया। प्रथम तो यह

प्रयोजन है कि अभी हम अन्तर्यामी की प्रवृत्ति रोकने की कोशिश करते हैं, उसका विरोध करते हैं। वही सर्वसमर्थ है जान लेने पर यह विरोध छोड़ देंगे। दूसरा प्रयोजन है स्वयं की असंगता का निश्चय। सब प्रवृत्ति ईश्वर की जानने पर 'मेरी' कहलाने लायक ही कोई प्रवृत्ति नहीं तो संग करें किससे! 'मेरा किया या मेरे किये का फल' समझने पर ही आसक्ति संभव है, अन्यथा नहीं। ईश्वर सर्वकर्त्ता है समझने से यही मुख्य फल है कि स्वात्मा असंग है यह निश्चय हो पाता है। अतएव ईश्वर की अंतर्यामिता से शास्त्र के विधि-निषेध व्यर्थ नहीं होते क्योंकि इसी निश्चय के लाभार्थ वे विधान हैं, उन्हें पालना आवश्यक है। इसी से कहा कि 'ईश्वर की प्रवृत्ति न रोकी जाये'। श्रुति-स्मृतिरूप ईश्वराज्ञाओं का वारण उनकी अंतर्यामिता नहीं करती। उनके पालन से मनोदोष दूर होने पर ही अन्तर्यामी पता चलने से आत्मा असंग है यह निर्णय होता है अतः शास्त्र और अंतर्यामिज्ञान सार्थक हैं **॥१७८॥**

अन्तर्यामी को समझने से स्वयं को असंग समझ सकते हैं किंतु स्वयं को असंग समझने का भी फल, प्रयोजन क्या है? यह बताते हैं—

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम्।।१७९।।

उतने से (आत्माऽसंगतानुभूति से) मुक्ति हो जाती है, यह श्रुतियाँ व स्मृतियाँ बताती हैं। श्रुति-स्मृति दोनों मेरी ही आज्ञायें हैं यह भी ईश्वर की कही बात है।

असङ्ग आत्मा का ज्ञान हुए बिना 'तत्त्वमसि' महावाक्य से जो तात्पर्य-बोध होना चाहिये वह हो नहीं सकता क्योंकि त्वम् पद के अर्थ के अन्दर जो प्राप्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व है उसकी निवृत्ति करने के लिये आत्मा असंग है समझना जरूरी है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि 'तावता' अर्थात् असंगता-ज्ञान से मोक्ष मानें तो अभेद-ज्ञान व्यर्थ हो जायेगा। आत्मा ही तत्पदार्थ जगत्कर्त्ता है यह बता चुके भी हैं, आगे भी बताना है अतः उतना सिद्धवत् मानकर 'तावता' कहा है। अथवा असंगता को अद्वितीयता-पर्यन्त विवक्षित मानकर समाधान हो जाता है। द्वितीय रहते संग संभावित होने से संग का आत्यंतिक निरास अद्वैत में ही संभव है अतः असंगता की पूरी सही समझ तभी होती है जब अभेदबोध हो। इसलिये 'तावता' संगत ही है। जीव सचमुच में कर्ता-भोक्ता नहीं है—इस बात के ज्ञान से स्वयं के कर्तृत्वादि से तो मुक्ति हो ही जाती है। असंगताज्ञान हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती यह तो निश्चित है। श्रुतियों और स्मृतियों में त्वम् पदार्थ के इस प्रकार के स्वरूप को बतलाया है।

श्रुति-स्मृति परमेश्वर की ही आज्ञाएँ हैं। जीव के अन्दर जो पुरुषार्थ की प्रेरणा की जाती है वह भी ईश्वर की ही आज्ञा है। जीव के अंतःकरण में पड़े श्रुति-स्मृति के संस्कारों के द्वारा परमेश्वर प्रेरणा कर देता है पुरुषार्थ की और जो अन्य लौकिक संस्कार हैं, उनसे कर्मयोग की भी प्रवृत्ति कर देता है। श्रुति स्मृति परमेश्वर-आज्ञाएँ हैं, उनके संस्कार व्यर्थ नहीं हैं। यह बात ईश्वर ने ही कही है। विष्णुसहस्रनाम-भाष्यमें 'ऊर्जितशासनः' के व्याख्यान में

आचार्य ने पूरा श्लोक उद्धृत किया है, तदनुसार पुराण में श्लोक है–

'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्त्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोपि न वैष्णवः।।'

मेरा भक्त होने पर भी, चाहे जितना ऊपर से भक्ति करे लेकिन जो श्रुति-स्मृति का अनुसरण नहीं करता उसको वैष्णव नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे मेरी आज्ञायें हैं। वेदादि में पुरुषार्थ-संपादन के निर्देश होने से उनका पालन न करना दोषावह है। पुरुषार्थ की प्रेरणा उसे नहीं मिल पाती है जिसमें श्रुति-स्मृति के संस्कार दृढ नहीं हैं। 'आज्ञा' कह कर क्या बतलाना चाहते हैं? जब ईश्वर अन्दर से प्रेरणा कर ही रहे हैं तो फिर और आज्ञा की क्या जरूरत हुई? अतः तात्पर्य है कि परमेश्वर केवल अन्तर्यामी ही नहीं है, बाहर से भी शासन करने वाला है। बाहरी शासन के संपादन के लिये परमेश्वर की आज्ञायें हैं जिन्हें नहीं मानेंगे तो दण्ड मिलेगा ॥१७६॥

'आज्ञा' शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि जिसकी आज्ञा है उससे डरना चाहिये, तभी आज्ञा-पालन में तत्परता रहती है। 'श्रुति स्मृति को मैं नहीं मानूँगा तो परमेश्वर दण्ड देगा' इस संस्कार के रहने पर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा होगी। केवल अन्तर्यमन ही नहीं, बाहर से भी वह शासन करता है अतः उसकी बात मानो तो ठीक है, नहीं मानो तो दण्ड मिलता है। यह अभिप्राय स्पष्ट करते हैं–

आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषास्मादिति हि श्रुतम्।
सर्वेश्वरत्वमेतत् स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक्।।१८०।।

'आज्ञा' पदप्रयोग से पता चलता है कि वह भयहेतु है क्योंकि श्रुति बताती है कि उसके डर से वायु आदि व्यवस्थित व्यवहार करते हैं। अंतर्यामिता से अलग यह सर्वेश्वरता है (जो आज्ञापूर्वक भय से नियंत्रण में हेतु है)।

'आज्ञा' कह कर भय की कारणता बतलाई। जब कहते हैं 'यह मेरी आज्ञा है'–तब मतलब है कि 'नहीं मानोगे तो दण्ड मिलेगा'। दण्ड के भय का कारण आज्ञा होती है। जिस आज्ञा के उल्लंघन से डर नहीं होता, वह व्यर्थ है। अगर आज्ञा दी जाए और न मानने वाले को दण्ड न होवे तो फिर किसी की भी आज्ञा मानने में प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए जो शासन करने वाला है, शासन की दृष्टि से वह अपराध को क्षमा नहीं कर सकता। उस *व्यक्ति* के प्रति अगर कोई गलत काम करे तो वह क्षमा कर देवे–यह दूसरी बात है, परन्तु आज्ञा के विरुद्ध यदि कुछ किया है तो क्षमा नहीं कर सकते क्योंकि क्षमा करते हैं तो दूसरों के सामने भी प्रश्न होता है कि आज्ञा क्यों मानें? अव्यवस्थित व्यवहार प्रशासन में अक्षमता ही ला सकता है। जितने अधिक अपवाद होंगे उतना ही उत्सर्ग (सामान्य नियम) दुर्बल होगा। ईश्वर इसलिये करुणावरुणालय होते हुए भी आज्ञाच्छेदी के प्रति भीषण भी है।

वेद में (तै.उ.२.८.१) भी इसीलिए कहा है—'भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' सौ साल आगे का पंचांग बनाकर लिख देते हो—'अमुक तिथि को सूर्य पाँच बज कर सोलह मिनट पर उदय होगा', तो उस दिन पाँच बज कर सोलह मिनट पर ही उदय होता है! हम लोगों के ऑफिसों में नियमतः प्रतिदिन नियत समय पर ही पहुँचना, कार्यालय से जाना कितना असंभव! लेकिन सूर्य अनादि काल से नियत ही समय पर उगता-डूबता है। यह भगवान् के शासन की महिमा है। सूर्य एक मिनट भी इधर-उधर नहीं करता क्योंकि परमेश्वर का भय है कि दण्ड पड़ेगा। भय-हेतुता सर्वेश्वरत्व है। परमेश्वर को 'एष सर्वेश्वरः' भी कहा है। वह अन्तर्यामी तो है, अन्दर से प्रेरणा तो करता है, पर श्रुति-स्मृति की आज्ञाओं के द्वारा भयहेतु भी है और उस सर्वेश्वरता के द्वारा पुरुषार्थ में प्रेरणा करता है। कहीं 'आज्ञया' भी पाठ है। आज्ञा द्वारा बहिर्यमन करता है। इसलिए श्रुति-स्मृति के संस्कार आवश्यक हैं। परमेश्वर सर्वेश्वर भी है और अन्तर्यामी भी है। अर्थात् भयहेतुतारूप सर्वेश्वरता अन्तर्यामिता से पृथक् है।

अन्तर्यमन का अर्थ है कि तुम्हें अपने संस्कारों के अनुसार तत्-तत् कर्म में प्रवृत्त करता है। जो उसकी आज्ञा के विरुद्ध काम हैं, उनके लिए वह तुम्हें दण्ड देता है इसलिए भयहेतु होने से सर्वेश्वर भी है। 'पृथक्' कह कर सावधान किया कि अन्तर्यामी समझ कर उसकी सर्वेश्वरता को भूल मत जाना! मन में आ सकता है कि 'वही कराता है, वही कर रहा है तो फिर हम पुरुषार्थ क्यों करें?' किंतु याद रखना है कि इसलिए करना है कि यदि पुरुषार्थ नहीं किया तो दण्ड मिलेगा। यह उसकी सर्वेश्वरता है कि भय पैदा करना। यों वह बाहर और अन्दर दोनों तरफ से शासन करता है, ये उसकी विशेषतायें हैं।।१८०।।

बाहर-भीतर से ईश्वर ही नियमन करता है इसको बृहदारण्यक (३.८.९) में बतलाया है—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः।
अन्तः प्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः।।१८१।।

'इस अक्षर के प्रशासन में' (बृ. ३.८.९) 'भीतर घुसा यह जीवों का शासक है' (तैत्तिरीय आर. ३.११) ये सब श्रुतिवचन हैं।

याज्ञवल्क्य का वचन है—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादि। अक्षर परमात्मा के शासन में ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वीलोक, स्वर्गलोक आदि सब मर्यादित रहते हैं। सर्वत्र उसका शासन है। तैत्तिरीय आरण्यक में वचन है 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्'। परमात्मा लोगों का शासन करने वाला कैसे है? 'अन्तः प्रविष्टः', विज्ञानमय कोष के भी कारणरूप से, आनन्दमयरूप से वहाँ उपस्थित होकर अन्दर से प्रेरणा करता है। ये दोनों श्रुतियाँ परमेश्वर की अन्तर्यामिता और बहिर्यामिता दोनों बतलाती हैं ॥१८१॥

'एष सर्वेश्वरः एषोऽन्तर्यामी' कह करके आगे कहा 'एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' कि यह केवल जीवों का शासक और प्रेरक ही नहीं है, सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला भी है। यह व्यक्त करते हैं—

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ।।१८२।।

प्रकट और लीन करने वाला होने से यह जगत् का कारण है। प्रकट होना और छिप जाना क्रमशः उत्पत्ति और प्रलय समझे जाते हैं।

जीव को जो भीतर से प्रवृत्त करता है बाहर के संसार में कर्म करने के लिए, जीव पर जो शासन रखता है, जीव पुरुषार्थ करे तो भी, न करे तो भी वही जीव और जगत् को बनाता है। उसी ने बाहर का जगत् प्रकट किया जीव के कार्य करने के लिए और जीव को प्रकट किया कि वह वहाँ कार्य करे। दोनों उसी के बनाए हुए हैं। सारे जगत् का कारण वही बनता है क्योंकि वही अपने में से इन सब चीजों को प्रकट करता है। जगद्योनि क्यों है? 'प्रभव' अर्थात् इनकी उत्पत्ति भी वही करता है और 'अप्यय' अर्थात् इन सबको प्रलय काल में अपने में लीन भी करता है। जिसमें चीज लीन होती है वह उपादान कारण ही होता है। जिससे बनता है वह तो उपादान भी हो सकता है, निमित्त भी हो सकता है। मिट्टी ने घड़ा बनाया और कुम्हार ने घड़ा बनाया—दोनों बातें सच्ची हैं। मिट्टी नहीं होती तो भी घड़ा नहीं बनता और कुम्हार नहीं होता तो भी घड़ा नहीं बनता। बनाने में तो दोनों कारण हैं। निमित्त कारण वह होता है जो उस चीज को बनाता है इसलिए चेतन है। उपादान कारण वह होता है जो बनता है। कार्य बनते समय तो दोनों की कारणता समान लगती है परन्तु घड़ा फूटकर मिट्टी में ही जाएगा, कुम्हार में तो जाएगा नहीं! 'सृष्टि परमेश्वर करता है'—इतना मात्र कहते तो लगता कि वह निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। इसलिये वेद ने साथ ही कह दिया कि जगत् को वह वापिस अपने में लीन करता है। इसका मतलब हुआ कि वही इसका उपादान कारण है। जीव और जगत् रूप से वही बना है। किसने बनाया? उसने बनाया। कौन बना? वह खुद ही बना। न काणादों की तरह अणुओं से जगत् बना, न कापिलों की तरह प्रकृति से बना। वरन् उस परमेश्वर से ही बना, उसने अपने में से ही प्रकट किया। यद्यपि प्रायः निमित्त-उपादान विभिन्न मिलते हैं तथापि इनमें अभेद समझने के लिये बिलकुल सीधा दृष्टान्त सपना है। सपने में तुम सड़क बना देते हो, बैल बना देते हो, गाड़ी बना देते हो, हाँकने वाला बना देते हो। ये सब बनाने के लिए तुम कहीं से कोई सामग्री लाते हो? कहीं से लकड़ी काटकर लाए गाड़ी बनाने के लिए? तुमने किसी दूसरे से लेकर कुछ नहीं बनाया, सब कुछ खुद ही बन गये। और तुम ही बनाने वाले हो। जैसे स्वप्न के अन्दर तुम बनाते हो वैसे ही परमेश्वर सृष्टि के समय खुद ही सब कुछ बना देता है और खुद ही सब कुछ बन जाता है। उत्पन्न भी वही करता है और अन्त में लीन भी वही अपने में करता है इसलिए जगत् की योनि है।

दो तरह से उत्पत्ति वादियों ने मानी है : एक तो मान्यता है कि नई चीज पैदा होती है, इसको आरम्भ कारणवाद कहते हैं। धागों ने मिलकर कपड़ा पैदा किया, कपड़ा नई चीज है। दूसरा परिणाम प्रसिद्ध है—दूध दही बन गया। यहाँ 'दूध ने दही को बनाया'—ऐसा नहीं कहते। दूध खुद ही दही बन गया। तो दो तरह से उत्पत्ति समझी जाती है जैसे दूध दही बनता है अथवा जैसे धागों से कपड़ा बनता है। दूसरे को आरम्भवाद कहते हैं, पहले को परिणामवाद कहते हैं। ये दोनों अस्तिकों में प्रचलित हैं। इनसे अन्य है संघातवाद जो बौद्धों को संमत है। बहुत लोग एकत्र हों तो कहते हैं 'भीड़ पैदा हो गई'; न यह कह सकते हैं कि 'भीड़' कोई नई चीज पैदा हुई, न कह सकते हैं कि दूध खत्म होने की या बदलने की तरह सब लोग खत्म हो गए या बदल गये और भीड़ रह गई! अतः संघात कहना पड़ता है अर्थात् चीजों के इकट्ठे होने से जो नये व्यवहार का विषय है। भीड़ कुछ है जरूर, क्योंकि सारे व्यवहार 'भीड़' शब्द से होते हैं। भीड़ के काम भी व्यक्ति के काम से अलग माने जाते हैं, और हैं भी। आरम्भवाद और संघातवाद में भी कई चीजें इकट्ठी होती ही हैं; कई धागे इकट्ठे होते हैं तब कपड़ा बनता है। एक धागे से तो कपड़ा बनेगा नहीं लेकिन इकट्ठा होना मात्र से अन्य भी कुछ है यह उन वादों में मान्य है, नहीं है यह संघातवाद में मान्य है। परमेश्वर एक है, इसलिए आरम्भवाद और संघातवाद तो दोनों ही नहीं घटते क्योंकि दोनों कारणगत अनेकता पर निर्भर हैं। अनेक धागे दोनों वादों में चाहिये तब कपड़ा बनेगा, चाहे नया बने अर्थात् आरम्भ हो, चाहे इकट्ठे हुए धागों का कपड़ा-व्यवहार हो। यदि परिणामवाद से कहा कि ईश्वर जगद्रूप बन गया, तो फिर ईश्वर नहीं रहेगा! जैसे दही बन गया तो दूध नहीं रहता। पहली बात तो यह कि कोई भी निरवयव पदार्थ परिणामी, परिवर्तनीय नहीं होता। परिणाम अंशों वाले, अवयवों वाले में ही देखा गया है। लोक में आकाश निरवयव पदार्थ है, उसका कोई टुकड़ा है नहीं, और आकाश का कोई परिणाम भी नहीं होता। परमेश्वर निरवयव है इसलिए परिणामी कारण भी नहीं हो सकता।

फिर यह कैसा कारण है? जगत् के प्रभव और अप्ययको करता है—ऐसे यह जगत् का कारण है। आविर्भाव और तिरोभाव ही 'प्रभव' अर्थात् उत्पत्ति और 'अप्यय' अर्थात् प्रलय हैं। जैसे चित्रपट को समेट दो तो चित्र नहीं दीखता, खोल दो तो चित्र दीखता है, इसी प्रकार परमेश्वर जब जगत् का आविर्भाव करता है तब जगत् दीख जाता है और जब इसको लपेट देता है, इसका तिरोभाव कर देता है तो जगत्-जीव नहीं रह जाते। 'आविस्' कहते हैं आँखों के सामने होने को; जो सामने हो जाता है उसका आविर्भाव हो गया। 'तिरस्' कहते हैं दूर हो जाना, ऐसे कोने में हो जाना कि दीखे नहीं। पुराणों में बहुत-सी कथाएँ आती हैं—भगवान् आए या कोई सिद्ध मुनि आए और फिर 'तिरोहित' हो गए मायने नहीं दीखने लगे। तात्पर्य हुआ कि चले गये। आविर्भाव-तिरोभाव को ही उत्पत्ति और प्रलय कहते हैं। परमेश्वर ही कभी अपने को जगद्रूप से प्रकट कर देता है, कभी अपने को छिपा देता है। यही जगत् के उत्पत्ति और प्रलय हैं, और कोई नहीं। जब हमने चित्रपट को खोला तो

कोई नई चीज नहीं बनी। चित्र बना हुआ तो पहले ही था और जब हमने समेटा तब कोई चीज खत्म भी नहीं हुई। इसलिए वास्तविक किसी की न उत्पत्ति है न प्रलय है। इसी को दार्शनिक भाषा में कहते हैं—विवर्तवाद, बिना हुए प्रतीत होना।

कारणगत अनेकता, कारण की सावयवता आदि अनिष्ट-प्रसंग न होकर श्रुति की अनुकूलता बने रहना इस कारणवाद में लाभ है। इसमें स्वप्न उदाहरण सर्वप्रसिद्ध है। सोने से चीजें नहीं बनीं, और जब तुम उठे तो सब चीजें नष्ट हुई क्या? कहीं मिल जाएँगी वे सब चीजें टूटी-फूटी हुई, जो हमने सपने में बनाई थीं? सपने में दीखीं, उठने पर नहीं दीखतीं—बस इतनी बात है। सपना 'बनने' का मतलब है दीख जाना और सपना टूटने का मतलब है सपने का दीखना बन्द हो जाना, जग जाना। ठीक इसी प्रकार सृष्टि प्रकट होती है और छिप जाती है, जब यह नष्ट होगी तब इसका नाम-रूपादि कुछ बचेगा नहीं! वास्तव में स्वप्न उत्पन्न नहीं होता है परन्तु स्वप्न में सारे व्यवहार हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर से उत्पन्न हुई सृष्टि सारी की सारी जैसी प्रतीत होती है वैसी ही है, इसके सिवाय इसकी कोई दूसरी सच्चाई होवे ऐसा नहीं है **॥१८२॥**

प्रकट होना, छिपना ही सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

आविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत्।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः।।१८३।।

जैसे समेटा कपड़ा फैलाव द्वारा अपने पर अंकित चित्र प्रकट करता है वैसे प्राणियों के कर्मों के कारण यह सर्वेश्वर स्वयं में छिपा जगत् प्रकट कर देता है।

'आविर्भावयति'—सबके सामने ले आता है। ठीक जिस प्रकार कपड़े को खोल कर सबके सामने ले आए तो सबने चित्र देख लिया और समेट लिया तो उसी कपड़े के अन्दर चित्र लीन हो गया। सारा जगत् इसी प्रकार से परमात्मा में है। क्यों कभी खुलता है, कभी सिमटता है? 'प्राणिकर्मवशात्' प्राणियों के कर्म जब फल देने को तैयार हो जाते हैं तब संसार खुल जाता है क्योंकि फल तो तभी देवें जब सारा जगत् व्यक्त, व्यवहार्य होवे। रसगुल्ला होगा तभी खाओगे, नहीं तो क्या खाओगे! प्राणियों का कर्म जब भोगोन्मुख होता है तब जगच्चित्र खुल जाता है, इसी को कहते हैं 'उत्पत्ति हो गई'। और जब प्राणियों के कर्म भोगप्रद नहीं रह जाते तब सिमट जाता है, प्रलय हो जाती है। ठीक उसी प्रकार से जैसे जब प्रारब्ध का भोग कुछ देर के लिये खत्म हो जाता है तब तुम्हारी आँखें, कान, नाक, मन, बुद्धि—सब कुछ अविद्या में लीन हो जाता है। गहरी नींद के अन्दर कुछ नहीं रहता। गहरी नींद में न तुम्हारी आँखें हैं, न नाक है, न कान हैं; कुछ नहीं है। तुम्हारे आँख-नाक-कान आदि सारे के सारे अविद्या में लीन हो जाते हैं, जब तुम गहरी नींद में जाते हो। और जब प्रारब्ध कर्म फिर फल देने को तैयार होता है तो जैसे ही तुम उठते हो वैसे ही आँख-नाक-कान सब अपनी-अपनी जगह पर आ जाते हैं। कभी ऐसा घपला नहीं होता

कि जल्दी में उठे तो आँख, कान में चली गई, कान नाक में चला गया! वेद कहता है कि भगवान् जब सृष्टि करते हैं तब 'यथापूर्वमकल्पयत्' जैसी जो चीज जहाँ पहले थी वैसी ही फिर प्रकट हो जाती है। इसे समझाने के लिये चित्रपट का दृष्टान्त दिया है जिसके ऊपर चित्र बने हुए हैं। वह जब फैला दिया जाता है, उसका जब प्रसार कर देते हैं, तब जैसे सब चीजें प्रकट हो जाती हैं वैसे ही परमेश्वर में संसार प्रकट हो जाता है। सृष्टि और प्रलय का सहायक कारण प्राणियों के कर्म हैं। जब हमारे कर्म फल देने वाले होते हैं तब सृष्टि प्रकट हो जाती है और जब फल देने वाले नहीं होते हैं तब प्रलय हो जाता है ॥१८३॥

प्राकट्य बताकर छिपना समझाते हैं—

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत्।
प्राणिकर्मक्षयवशात् संकोचितपटो यथा।।१८४।।

समेटा चित्रपट जैसे चित्रों को छिपा लेता है वैसे प्राणियों के कर्मानुसार सर्वेश्वर सारे जगत् को स्वयं में ही छिपा लेता है।

सर्वेश्वर में पक्षपात आदि किसी भी तरह की अन्यायिता सम्भव नहीं क्योंकि वह प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार ही करने-भोगने का मौका देता है तथा कर्मानुसार ही मौके से वंचित करता है। समष्टि के उस तरह के कर्म हों तब ईश्वर प्रलय करता है जब किसी प्राणी को कुछ करने-भोगने का मौका नहीं रहता। जैसे पट पर अंकित चित्र छिपता भी पट में है या जैसे हमारी इंद्रियाँ सुषुप्ति में लीन भी हममें होती हैं वैसे प्रलय में प्रपंच परमेश्वर में ही तिरोहित हो जाता है। कपड़े के दृष्टांत में तो समेटने-फैलाने वाला अन्य सम्भावित है लेकिन चेतन होने से परमेश्वररूप पट के लिये कोई अन्य अपेक्षित नहीं जैसे स्वप्न फैलाने-समेटने के लिये हम अकेले काफी हैं। जैसे 'हम' में ही हमारी उपाधि का अन्तर्भाव है वैसे सर्वेश्वर में उसकी मायारूप उपाधि का अन्तर्भाव है। उसकी निवृत्ति होने पर मोक्ष ही है, न आविर्भाव, न तिरोभाव, यह प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार प्रकरण के मुख्य दृष्टान्त के आधार पर अन्तर्यामी को जगद्योनि समझा दिया ॥१८४॥

आविर्भाव-तिरोभाव का अनवरत क्रम भी स्पष्ट हो ऐसे दृष्टान्त देते हैं—

रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने।
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ।।१८५।।

रात-दिन, सोना-जागना, आँखें खोलना-मूँदना, शांति-कल्पनायें करना—इनकी तरह ये सृष्टि और लय हैं।

जो परमेश्वर से सृष्टि और लय हैं, ये कैसे हैं? जैसे रात और दिन। सब चीजें अंधेरे में लिपटी हुई हैं, कुछ नहीं दीख रहा तो रात है। जब सूर्य उदय होता है तब कोई चीज पैदा नहीं होती है; जो चीज जैसी है वैसी ही सूर्य के आने से प्रकट हो जाती है, आविर्भूत

हो जाती है। ऐसा नहीं है कि रात में कुछ नहीं था और सूर्य के आने से चीजें बन गईं! इसी प्रकार जब सूर्य डूब गया, रात आ गई, तो कोई चीज कहीं जाती नहीं है, अंधेरा है, इसलिए कुछ नहीं दीखता। सुबह लगता है कि सारा संसार प्रकट हो गया, रात में लगता है सारा संसार लीन हो गया। जैसे जब चित्रपट खोलते हो तब कोई नया चित्र नहीं बन जाता, लपेटते हैं तो चित्र कहीं चला नहीं जाता, इसी प्रकार दिन आता है तो सब चीजें सामने आ जाती हैं, रात आती है तो सब चीजें लीन हो जाती हैं, दीखती नहीं हैं।

'सुप्तिबोधौ' गहरी नींद में जाते हैं तो कुछ नहीं रहता। फिर जग जाते हैं तो सब चीजें वहाँ की वहाँ। जो चीज जहाँ रखी थी, उठते हैं तो वह वहीं रखी मिलती है। 'उन्मीलननिमीलने' सब चीजें सामने दीख रही हैं और आँखें बन्द कर लो तो कुछ भी नहीं है, लेकिन कोई चीज कहीं चली नहीं जाती है। आँखें खोलो तो कहीं से चीजें आ नहीं जातीं। आविर्भाव-तिरोभाव वैसे ही हैं जैसे आँखें खुल गईं, बन्द हो गईं। 'तूष्णींभाव' कभी मन को बिलकुल शान्त कर दिया तो मन में कोई भी वृत्ति नहीं रहती है। खूब ऊँचे पहाड़ के ऊपर चढ़ कर आओ, थक कर चूर होकर बिस्तरे पर पड़ो तो चित्त सर्वथा चुप, निर्विचार रहता है, वह तूष्णींभाव है। मन में कुछ नहीं आता, मन एकदम स्थिर हो जाता है। इससे विपरीत मनोराज्य है—कभी-कभी बैठा हुआ मन पूरा एक राज्य बनाता है, 'ऐसा होगा, फिर ऐसा कर लूँगा' इत्यादि, उन कल्पनाओं को कहते हैं मनोराज्य। मनोराज्य का करीब-करीब सबको अनुभव है, तूष्णींभाव का किसी-किसी को अनुभव होता है! इस प्रकार चार दृष्टान्त दिये जिनसे आविर्भाव और तिरोभाव स्पष्ट हो जाते हैं। इव—जैसे ये दृष्टान्त हैं वैसे ही परमेश्वर से होने वाला सृष्टि और प्रलय का क्रम भी है। इन उदाहरणों में चित्रपट से इतना अधिक है कि सृष्टि-लय क्रमशः होते रहते हैं यह भी स्पष्ट हो जाता है ॥१८५॥

ईश्वर जगत्कारण वैसे नहीं जैसे तार्किक या सांख्यादिवादी कारण समझते हैं वरन् वैसे है जैसे मायावी होता है यह व्यक्त करते हैं—

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना।
आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः।।१८६।।

क्योंकि ईश्वर की यह शक्ति है कि वह जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव कर सकता है इसलिये आरम्भ, परिणाम आदि प्रश्न इस प्रसंग में नहीं उठते।

कारण से पृथक् वस्तु कार्य होता है यह आरंभवाद तथा कारण ही बदल जाये तो कार्य होता है यह परिणामवाद क्रमशः तार्किकों और सांख्यवादियों को संमत है। परमेश्वर दोनों तरह से कारण नहीं क्योंकि अद्वितीय और निरवयव है। संघात आदि अन्य भी कारणवादों की दृष्टि से परमेश्वर कारण नहीं है क्योंकि उक्त हेतुओं से संघात आदि भी असंभव हैं। अतः सशक्त होने से कारण है जैसे खेल दिखाने में समर्थ जादूगर खेल के प्रति कारण होता है जबकि वह खेल न कोई आरंभ हुआ पदार्थ है, न परिणत कारण ही है। चित्रकार तो

श्रमादि की अपेक्षा से चित्रकारण है लेकिन जिसके पास लिपटा चित्र है वह केवल उसे खोल सकता है, इसी से उसका कारण बन जाता है। राजमिस्त्री ईंट-सीमेंट आदि की अपेक्षा से मकान का कारण है लेकिन सोता व्यक्ति सपने में मकान बनाने में ईंट आदि से निरपेक्ष ही कारण है। ऐसे ही ईश्वर की कारणता आरंभ आदि वादों की दृष्टि से नहीं वरन् सशक्त होने की दृष्टि से है। शक्ति को माया कहते हैं। आविर्भाव मायने सामने आना। यह प्रश्न बेकार है कि किसके सामने आना? जिसे भी सृष्टि की अनुभूति है उसके सामने आना आविर्भाव है। ईश्वर भी मायावृत्तियों से कदाचित् सामने देखता है, कदाचित् तिरोहित रखता है। अतएव ज्ञाततया-अज्ञाततया विषयता से सर्वज्ञता का वर्णन संगत है। जगत् को सामने लानारूप आविर्भाव और छिपानारूप तिरोभाव की शक्ति से सम्पन्न है अतः ऐसा वह करे यह संगत है। शक्ति मायारूप है अतः कार्य मायिक है। एवं च आरंभ आदि वादों का प्रसंग ही नहीं, मायिककार्यवाद या विवर्तवाद ही यहाँ विवक्षित और स्वीकारने योग्य है। कार्य-कारणता की वास्तविकता हो तो आरम्भादि विकल्पों की परीक्षा संभव है, जब कार्य है ही मिथ्या तब इन वादों का सवाल ही नहीं उठता। सामने आना—सृष्टि, सामने न रहना—प्रलय, इतनी ही इनकी व्याख्या संगत है **॥१८६॥**

ईश्वर एकरस होने पर भी उससे बना संसार जड-चेतन भेद से दो तरह का होना संगत बनाते हैं—

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत्।।१८७।।

जड जो उपाधि उस भाग से ईश्वर अचेतन वस्तुओं का कारण है एवं चेतन के आभासरूप अंश से तो यही जीवों का कारण हो जाता है।

चेतन ब्रह्म और जड माया—ईश्वर के अन्दर दोनों ही हैं क्योंकि उपहित में उपाधि और उपधेय दोनों संमिलित होते हैं। माया की प्रधानता से पृथ्वी जल तेज वायु आकाश इत्यादि अचेतनों का हेतु बनता है, कारण बनता है। मकड़ी जाला बनाती है तो कोई दूसरा कारण नहीं है, मकड़ी खुद ही जाला बनाती और बनती भी है, उसके लिए धागा कहीं से लाती नहीं है, अपने अन्दर ही से निकालती है। जैसे एक ही मकड़ी के दो भाग हैं—शरीर के भाग से उसको जड कहेंगे और उसके अन्दर जो उसका मन का भाग है, उससे उसको चेतन कहेंगे। मन के भाग से बनाती है क्योंकि 'मुझे यहाँ जाला बनाना है' यह मन के भाग से निश्चय करेगी और जाला के लिए जो धागा है वह अपने शरीर के अन्दर से ही निकाला। यद्यपि मकड़ी एक है तथापि उसके मन और शरीर ये दो समझने के भाग हैं। दोनों मिल कर मकड़ी है। जब मन नहीं रहेगा तब उसको मकड़ी नहीं कह सकते, जैसे जिसका मन शरीर छोड़ जाये उस आदमी को मुर्दा कहते हैं वैसे मनोहीन मकड़ी को मुर्दा कहना पड़ेगा। जिंदा रहते दोनों हैं इकट्ठे ही फिर भी समझने के लिए कह सकते हैं कि शरीरप्रधान-रूप

से जाला बनी और मनःप्रधानरूप से बनाने वाली बन गई। इसी प्रकार परमेश्वर ने माया वाले हिस्से से पृथ्वी जल तेज वायु आकाश—ये महाभूत बनाए। इन महाभूतों से इन्द्रियाँ बनाईं, मन बनाया। यहाँ तक तो माया की प्रधानता रही। जब अन्तःकरण बन गया तब उसके अन्दर जो प्रतिबिम्ब पड़ा, वह चेतन वाले हिस्से का पड़ा। माया के हिस्से का तो प्रतिबिम्ब पड़ा नहीं है! माया के हिस्से से स्वयम् अन्तःकारण बना परन्तु जो उसमें आभास पड़ा वह चेतन वाले हिस्से का। इसलिए जड वाले हिस्से से अचेतनों का हेतु हो गया, और जो उसके चेतन-भाग का आभास मन में पड़ा, उससे ईश्वर जीवों का कारण बना।

ब्रह्मसूत्रादि में जीव को उत्पन्न होने वाला नहीं माना है। यहाँ 'जीवानां कारणं भवेत्' से लगता है कि उत्पन्न किया। परन्तु विरोध नहीं है। इस प्रसंग में आविर्भाव को उत्पत्ति कहा जो पूर्वसिद्ध का ही संभव है अतः जिस जीव के प्रति कारण ईश्वर को कहा वह जीव भी पूर्वसिद्ध स्वीकारना होगा जिससे जीव की अनादिता से कोई विरोध नहीं। यहाँ ईश्वर को जगत् का कारण कहा है। जगत् में जड-चेतन दोनों हैं अतः दोनों के प्रति कारण ईश्वर ही है **॥१८७॥**

'सदेव' आदि श्रुति, 'जन्माद्यस्य' आदि सूत्र के अनुसार अभिन्न वस्तु जगत्कारण सिद्ध रहते जाड्य-चिदाभास इन दो अंशों वाले को कारण कैसे मानें? इसके उत्तर में बताते हैं कि श्रुत्यादि के तात्पर्य के रहस्यवेत्ता श्रीसुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकवार्तिक १.४.३४२ में यह भेद स्वीकारा है अतः इस ढंग से समझना श्रुति-सूत्र आदि के अनुकूल ही है—

तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम्।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः।।१८८।।

भावनाओं के, ज्ञानों के और कर्मों के द्वारा, तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी मायारूप उपाधि वाला परमात्मा शरीरादि 'क्षेत्रों' का और चेतन-प्रधानता से जीवों का कारण बन जाता है।

शरीर इत्यादि जो जड हिस्सा है वह जीव का क्षेत्र कहा गया है। गीता में भगवान् ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग में अहंकार-पर्यन्त सब चीजों को क्षेत्र कहा है। 'परः' सबसे परे ही रहने वाला परमात्मा ही तमःप्रधान होकर क्षेत्रों का कारण है। जैसे घटप्रधान होकर आकाश ही जलधारण करता है—इसका मतलब है कि घट जिसकी उपाधि वह आकाश जल धारण करता है, ऐसे तमोगुण जिसमें प्रधान वह माया जिसकी उपाधि वह परमात्मा ही क्षेत्र अर्थात् शरीरादि का कारण बनता है। 'चिदात्मनाम्' अर्थात् चित् है आत्मा जिनका अर्थात् चिदाभास जीव, उन का कारण भी बनता परमेश्वर ही है लेकिन उसमें चित् की (चैतन्य, ज्ञान की) ही प्रधानता रहती है। यह श्लोक वार्तिक से उद्धृत है।

'भावनाज्ञानकर्मभिः', भावना, तुम्हारे मन के भाव अर्थात् जिन संस्कारों के कारण तुमको इच्छा इत्यादि होती हैं। ज्ञान, जो भी देवताओं का ध्यान आदि किया है या शास्त्र में निषिद्ध

चीजों का चिंतन किया है। दुर्गा जी का ध्यान करते हो तो सद् ध्यान हो गया और पड़ोसी की पत्नी का ध्यान करते हो तो असत् ध्यान हो गया, शास्त्रविरुद्ध ध्यान हो गया। संस्कार भी अच्छे-बुरे दोनों होते हैं, ध्यानादि भी अच्छे-बुरे दोनों होते हैं और कर्म भी दोनों होते हैं। दान किया तो शास्त्रीय कर्म हो गया, दूसरे का धन चोरी कर लिया तो अशास्त्रीय कर्म हो गया। चोरी चाहे चतुराई आदि से की जाये जैसे हिसाब आदि में हेर-फेर से करते हैं तो भी असत्कर्म ही है। बंदूक दिखाने से डराओ या अफसरी ताकत के प्रयोग से डराओ, डराकर नाहक वसूलना असत्कर्म ही है।

इस प्रकार भावना—संस्कार, जिनके कारण इच्छा होती है; ज्ञान—जो हम मन से करते हैं, और कर्म—जो हम शरीरादि से करते हैं, इनके द्वारा ही परमात्मा कारण बनता है। ये निमित्त बनते हैं, फल देने वाले होते हैं तब परमात्मा कारण बन जाता है ॥१८८॥

यद्यपि वार्तिक का अभिप्राय ही पूर्वप्रसंग में व्यक्त किया तथापि वेदान्तशास्त्र की भावना से रहित प्रश्नकर्ता परब्रह्म और ईश्वर के स्वरूप से अनभिज्ञ होने से 'परः कारणताम्' सुनकर ईश्वरातिरिक्त कोई कारण वार्तिक में कहा मानकर प्रश्न उठाता है—

इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु।।१८९।।

यदि प्रश्न करो कि उक्त प्रकार से वार्तिककार ने जड-चेतन के प्रति कारण परमात्मा को ही कहा है, ईश्वर को नहीं। (अतः वार्तिक से पंचदशी में विरोध कैसे नहीं हैं)? तो (उत्तर) सुनो :।।

वार्तिककार अर्थात् भगवान् सुरेश्वराचार्य ने परमात्मा को ही जड और चेतन का कारण बतलाया है, ईश्वर को नहीं अतः ईश्वर को जगद्योनि कैसे कहा? यह शंका है। दो शब्द हैं—बिम्ब और प्रतिबिम्ब। बिम्ब कहते हैं जो प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् जिसका आभास पड़ता है और प्रतिबिम्ब होता है पड़ा हुआ आभास। तुम्हारे मुख का काँच में प्रतिबिम्ब पड़ता है तो तुम्हारा मुख है बिम्ब क्योंकि उसका आभास पड़ता है और काँच में जो दीख रहा है वह है प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्ब कोई 'चीज' तो है नहीं। छोटा बालक जरूर भ्रम से समझता है, सामने कोई लड़का बैठा है। माँ से कहता भी है 'इसको बुला रहा हूँ, खेलने नहीं आ रहा।' पर सचमुच वहाँ लड़का है ही नहीं तो आवे क्या! दीखता है पर है नहीं। जब तक प्रतिबिम्ब पड़ता है तब तक मुख का नाम बिम्ब है। अब यदि काँच हट गया तो प्रतिबिम्ब रहा नहीं। अतः हमारे मुख को बिम्ब भी नहीं कह सकते। मुख है, पर वह बिम्ब नहीं है। 'बिम्ब' न रहने पर भी मुख रहेगा लेकिन ऐसे प्रतिबिम्ब कुछ है नहीं जो प्रतिबिम्बता के बगैर रहे।

इसी प्रकार जब तक हमको कारणता की प्रतीति होती है तब तक उसे परमेश्वर कहते हैं और जब वह प्रतीति नहीं है तब केवल ब्रह्म है। प्रतीति कब तक होती है? जब तक

हमारा अज्ञान है। अज्ञान-काल में जिसे 'ईश्वर' नाम से कहा जाता है तब भी है वह ब्रह्म ही। जब अज्ञान खत्म हो जाता है तब जिसको ईश्वर नहीं कह सकते वह ब्रह्म है ही। वेदान्त में ब्रह्म और ईश्वर दो *चीजें* नहीं हैं। अज्ञान-काल में जिसको ईश्वर कहते हैं वही वास्तव में ब्रह्म है। ईश्वर का मतलब होता है 'शासन करने वाला'। जैसे राजा वह होता है जिसका राज्य होवे, अन्यथा तो साधारण आदमी है। भारतवर्ष में इतने राजा थे, सबका राज्य चला गया तो वे राजा नहीं, साधारण आदमी ही रह गए। राजा राज्य के सापेक्ष है। इसी प्रकार हम जीव हैं जिन पर शासन करता है तब तक उसका नाम ईश्वर है, जब हम जीव नहीं रह जाएँगे तब उसको किसका ईश्वर कहोगे, किसका शासक कहोगे? इस तरह ब्रह्म और ईश्वर—ये दो चीजें नहीं हैं, जब तक अज्ञान है तब तक ईश्वर और ज्ञान होने पर समझ आता है कि ब्रह्म ही है। किन्तु प्रश्नकर्त्ता दोनों में वास्तविक अंतर मानकर विरोध दिखा रहा है। अतः अगले श्लोक से उसे उत्तर देंगे ॥१८९॥

पूर्वोक्त विरोध का परिहार बताते हैं—

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः।।१९०।।

जीव और कूटस्थ के परस्पर अध्यास की तरह ईश्वर-ब्रह्म का परस्पराध्यास है मानकर आचार्य सुरेश्वर ने 'परःकारणताम्' कहा है।

हम शरीर और इन्द्रियों वाले हैं जाग्रत् काल में। स्वप्न में शरीर-इन्द्रियों वाले नहीं हैं, मन वाले ही हैं। हमारी उपाधि में अंतर आने पर भी हम तो एक ही हैं। इसलिए उठकर यह नहीं समझते कि किसी दूसरे ने सपना देखा, वरन् जानते हैं—'मैंने ही सपना देखा, मैं सपने में दुःखी था, अब नहीं हूँ'। या विचार करते हैं 'मैं जाग्रत् में दुःखी था, स्वप्न में गया तो बड़ा सुखी था'। जाग्रत् में महादुःखी भी स्वप्न के अन्दर अपने को सुखी देख लेता है, स्वप्न में महादुःखी भी जाग्रत् में आते ही सुखी हो जाता है कि 'वह सारा दुःख मिट गया'। इस प्रकार एक अवस्था में सुखी, दूसरी अवस्था में दुःखी यह भेद प्रत्यक्ष होने पर भी दोनों में तुम तो एक ही रहते हो, तुम ही सुखी हुए, तुम ही दुःखी हुए। बदलावों के बावजूद जो एक रहा उसे दार्शनिक भाषा में 'कूटस्थ' कहते हैं, सुखी-दुःखी होने वाले को 'जीव' कहते हैं। परन्तु दोनों को तुम 'मैं' शब्द से कह देते हो। जीव और कूटस्थ दो *चीजें* प्रतीत होती हैं पर वस्तुतः हैं नहीं। जब ज्ञान हो जाएगा तब तुम कूटस्थ को ही 'मैं' समझोगे। जब तक ज्ञान नहीं हुआ तब तक जीव अर्थात् सुखी-दुःखी होने वाले को ही तुम 'मैं' समझते हो। जीव और कूटस्थ सचमुच में दो नहीं हैं, उपाधि के साथ अपने को एकमेक करके देखते हो तब तक जीव और उपाधि से अलग करके अपने को समझो तो कूटस्थ। सामान्य व्यवहार के अन्दर जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास चलता है अर्थात् 'मैं' शब्द से कभी जीव कह देते हो, कभी कूटस्थ कह देते हो। जैसा जाग्रत्-स्वप्न में, वैसा ही जाग्रत् में भी

अवस्थाभेद से अंतर है : 'मैं तब बी.ए. में पढ़ता था' और 'अब मैं बी.ए. में पढ़ाता हूँ'; पढ़ने और पढ़ाने को लेकर तो 'मैं' में भेद है, पर जब कहते हो 'पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों एक ही हैं' तब कूटस्थ के अभिप्राय से कहते हो। साधारण आदमी 'मैं' में कूटस्थ और जीव इन दोनों को मिलाये रखता है, इन्हें पृथक्-पृथक् नहीं पहचानता। इस मिलाने को ही संस्कृत में 'अन्योन्याध्यास' कहते हैं जिसमें जीव को कूटस्थ देख लेते हो, कूटस्थ को जीव देख लेते हो। जैसे जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास करके तुम 'मैं' एक ही शब्द से कह देते हो, वैसे ही ईश्वर और ब्रह्म को एकमेक कर लोकव्यवहार चलने से तदनुरोध से वार्तिक-वचन है।

जब माया उपाधि से सृष्टि करने वाला प्रतीत होता है तब जिसे ईश्वर कहते हैं वह भी ब्रह्म ही है। चाहे उपनिषदों में हो, ब्रह्मसूत्रों में हो, वार्तिककार के इस श्लोक में हो, जो 'पर' या 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह ईश्वर के लिए कर दिया जाता है क्योंकि दोनों की एकता प्रतीयमान है। कारणतत्त्व को ब्रह्म-शब्द से कहना इसलिये सार्थक है कि ब्रह्मरूप के ज्ञान से मोक्ष-रूप फल होगा। ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापक। जब हम परमेश्वर को कण-कण और क्षण-क्षण में अधिष्ठानरूप से समझ पाएँगे तब मोक्ष होगा। जब तक इस बात को नहीं समझ पाएँगे, तब तक शासन करने वाले परमेश्वर को मानने से मोक्ष नहीं होगा किंतु उससे नियमों में तो रह सकेंगे। ईश्वर समझने का भी फल है, इसलिए उसे बतलाना जरूरी है। वही अन्तर्यामी भी है, अन्दर रहकर भी प्रेरणा कर रहा है। वही बहिर्यामी भी है, भय दिखा करके हम लोगों को शुभ कर्म में प्रवृत्त करता है, अशुभ कर्म में प्रवृत्ति से रोकता है, डराता है। इस रूप वाला जानने से हम शुभ आचरण तो करेंगे, परन्तु मोक्ष नहीं होगा। जब उसको कण-कण और क्षण-क्षण में अर्थात् सर्वरूप जानते हैं तब मोक्ष होता है।

वेद का चूंकि असली उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है इसलिए ब्रह्मरूप से उसका वर्णन है। फिर भी उसकी ईश्वररूपता का वर्णन करते हैं ताकि ईश्वर सचमुच में ब्रह्म ही है यह स्पष्ट हो। भगवान् ने भी गीता में 'मत्तःसर्वं प्रवर्तते' 'मैं ही आदि हूँ, मैं ही मध्य हूँ, मैं ही अन्त हूँ' इस प्रकार अपने ईश्वररूप का वर्णन किया और फिर कहा—'अहमात्मा सर्वभूताशयस्थितः' सारे प्राणियों के मन में रहने वाला आत्मा मेरा स्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है। उपनिषदें इसलिये ब्रह्मरूप से प्रारम्भ करती हैं कि पहुँचना कहाँ है, यह ख्याल रहे। पहुँचने के लिए धर्माचरण करना पड़ेगा, इसलिए ईश्वररूप जानना भी जरूरी है। ब्रह्म और ईश्वर का इस प्रकार अध्यास एक-दूसरे में करके, अर्थात् यह अध्यास हमें है इसे सिद्ध मान कर, भगवान् सुरेश्वराचार्य ने 'परः कारणताम् एति' कहा है। अर्थात् वार्तिक का वही अर्थ है जो पंचदशी में भी समझाया, कोई मतभेद या प्रक्रिया-भेद का प्रसंग नहीं है ॥१९०॥

यह भी कैसे मानें कि आचार्यों ने उक्त अध्यास को अंगीकार कर कथन किया है? इसके उत्तर में वेदवचन के विचार से यही अभिप्राय निकलता है, यह बताना प्रारंभ करते हुए अर्थतः तैत्तिरीयवचन उद्धृत करते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तस्मात् समुत्थिताः।
खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः।।१९१।।

सत्य ज्ञान अनन्त जो ब्रह्म उससे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वनस्पति, अन्न, शरीर—सब बने—यह श्रुति कहती है।

यजुर्वेद की इस श्रुति ने पहले तो कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—जो सत्यरूप है, ज्ञान-रूप है और अनन्तरूप है, वही ब्रह्म है। फिर कहा—'उससे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधि, अन्न और शरीर—ये सब प्रकट हुए'। मतलब है कि सत्य, ज्ञान, अनन्त जो ब्रह्म है वह मायाशक्ति वाला है, तभी आगे ये सब प्रकट हुए। जिसे ब्रह्मरूप कहा उसे माया शक्ति से कार्य करने वाला ईश्वर कहा। यों अन्योन्याध्यास श्रुति में सूचित हो गया क्योंकि ब्रह्म को ईश्वर कह दिया, ईश्वर को ही ब्रह्म कह दिया। यों बताया इसलिए कि जब तक पहले उसकी ईश्वररूपता समझोगे नहीं, तब तक धर्माचरण नहीं कर सकोगे, ब्रह्मज्ञान के योग्य नहीं होओगे। जब धर्मानुसार आचरण करना तुम्हारा स्वभाव हो जाएगा तब ईश्वर को केवल शासन करने वाला नहीं वरन् हर एक के हृदय में वह विद्यमान है इस रूप से जान जाओगे। वही एकमात्र सर्वाधिष्ठान है यह तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएगा।

इसलिये जहाँ परमात्मा को ही जगत् का कारण कहा है वहाँ भी तात्पर्य ईश्वर से ही है। ब्रह्म और ईश्वर का अन्योन्याध्यास होने से यों कहना संगत है। अन्योन्याध्यास का मतलब क्या? अन्य और अन्य, अर्थात् दो चीजें अलग होवें और उन्हें आपस में एक समझा जाये तो उस गलत समझ को अन्योन्याध्यास कहते हैं ॥१९१॥

उक्त वेदवचन से अन्योन्याध्यास की सूचना व्यक्त करते हैं—

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते।।१९२।।

विचार किये बगैर इस वचन में प्रतीत होता है कि ब्रह्म (जगत्का) कारण है एवं जो कारण है वह सत्य है। अतः अन्योन्याध्यास समझा जाता है।

आपात दृष्टि का मतलब होता है, बिना विचार किए जो प्रथम प्रतीति होती है। पहले-पहल जो ज्ञान होता है उसको आपात ज्ञान, आपात दृष्टि कहते हैं। विचार करने से बहुधा पता लगता है कि चीज वैसी नहीं है जैसी प्रतीत हुई थी। एक बार कलकत्ते में हम किसी के घर गए। जैसे ही दरवाजा खोला तो हमको बड़ा कमरा और सामने गद्दी लगी हुई दीखी। तेजी से गए गद्दी की तरफ। आगे आए तो देखा, काँच था! गद्दी तो दरवाजे के पास लगी थी, सामने काँच था। इसलिए लगा था कि वहाँ है। इसे आपात दृष्टि कहते हैं। अगर गद्दी देख कर आगे-पीछे दीवार वगैरह का विचार कर लिया होता तो यह भ्रम नहीं होता। यों बिना विचार किए, देखते ही जिसे लोक में कहते हैं 'लगता है', उसे आपात दृष्टि

कहते हैं। 'तत्र'—अर्थात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इस वेदवाक्य के अन्दर निर्गुण ब्रह्म का लक्षण कहा है। इसलिए जब कहा 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः'—झट आपात दृष्टि से प्रतीति होती है कि ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ अर्थात् ब्रह्म में जगत् की कारणता प्रतीत होती है। 'एतस्माद् आत्मनः' *इस* आत्मा से; 'इस' शब्द से पहले जो ब्रह्म आया है वही उपस्थित होता है। इसलिए आपात दृष्टि से लगता है कि निर्गुण ब्रह्म कारण है। विचार करने से पता लगता है कि निर्गुण ब्रह्म कभी किसी का कारण हो नहीं सकता। इसलिये निर्णय होता है कि यहाँ जिसे कह रहे हैं वह परमेश्वर है। कारणता है ईश्वर में और प्रतीत हुई ब्रह्म में। इस प्रकार ईश्वर में होने वाली कारणता का अध्यास हो गया ब्रह्म में।

किंच कारण सत्य प्रतीत होता है; हेतु में सत्यता की दृष्टि हो जाती है। माया में पड़ा चिदाभास ही ईश्वर है, जगत् का कारण है। जगत् का कारण सत्य लगता है क्योंकि 'माया में आभास है' ऐसा प्रतीत होता नहीं। सत्य तो सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है! परन्तु सत्यता का अध्यास हो जाता है ईश्वर में, माया में पड़े चिदाभास में। यों ब्रह्म की सत्यता का अध्यास चिदाभास में और चिदाभास की कारणता का अध्यास ब्रह्म में होता है। इसलिए जहाँ कहीं ब्रह्म को जगत् का कारण कहते हैं वहाँ ब्रह्म और ईश्वर का अन्योन्याध्यास मान कर कहते हैं ॥१९२॥

चित्रपट के उदाहरण से यही समझाते हैं—

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद् भ्रान्त्यैकतां गतः।।१९३।।

जैसे अन्न (माँड) से लिपा कपड़ा (ही) घट्टित कपड़े से एक होता है वैसे यह अन्योन्याध्यास है (जिसमें ईश्वर ब्रह्म से) एक होता है।

अन्योन्याध्यास से सिद्ध ईश्वर और ब्रह्म की एकता अवास्तविक है। पहले बताये दृष्टान्त के आधार पर कहते हैं कि कपड़े पर माँड चढ़ा दी तो कपड़ा और माँड एक प्रतीत होते हैं। कपड़े की लम्बाई-चौड़ाई माँड में और माँड का कड़ापन कपड़े में प्रतीत होता है। लम्बाई-चौड़ाई कपड़े की है, माँड की तो है नहीं, पर कपड़े जितनी जगह में माँड भी प्रतीत होती है और माँड का कड़ापना कपड़े में प्रतीत होता है। इस प्रकार दृष्टांत में अन्योन्याध्यासरूपता है। इसी प्रकार माया के साथ एक हुआ ब्रह्म प्रतीत हो जाता है। 'भ्रान्त्या' अविचार के कारण, अज्ञान के कारण, भ्रान्ति से चिदाभास और चित् एक जैसे हो जाते हैं। लगता है कि एक ही है। इसलिए ब्रह्म जगत् का कारण लग जाता है ॥१९३॥

आपातदर्शी को कैसे इनमें भेद की प्रतीति नहीं होती, इसमें जो दूसरा दृष्टान्त इस प्रकरण में चल रहा है उसके अनुसार स्पष्ट करते हैं—

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः।
तद्वद् ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः।।१९४।।

जैसे नासमझ लोग मेघाकाश-महाकाश को पृथक्-पृथक् नहीं जानते वैसे आपातदृष्टि कायम रखने वाले लोग ब्रह्म और ईश्वर को एक ही समझते हैं।

जो अत्यन्त पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं उनको पामर कहा जाता है। अत्यन्त पाप कर्म में प्रवृत्त क्यों होते हैं? क्योंकि उनको इस बात की समझ नहीं है कि वह कर्म आगे कितने भयंकर परिणाम वाला है। जिस प्रकार, जिसे रक्तचाप की बीमारी है उसको चिन्ता नहीं करनी चाहिए। रक्तचाप का सबसे बड़ा कारण चिन्ता है। किंतु अगर रोगी से कहो 'चिन्ता मत करो' तो वह तुम पर ही गुस्सा करता है, 'चिन्ता नहीं करूँ तो क्या करूँ? तुम लोग तो कोई काम ठीक से करते नहीं हो, सब गड़बड़ करते हो!' चिन्ता करने से कोई फायदा तो होना नहीं है। अगर सब लोग काम गड़बड़ करते हैं और वह व्यक्ति चिन्ता करता भी रहता है तब भी सब तो गड़बड़ करेंगे ही। चिन्ता करने से कोई काम तो सिद्ध नहीं होगा और तुम्हारा रक्तचाप बिगड़कर तुम बीमार हो ही जाओगे जिससे एक और काम सबके लिए बढ़ जाएगा। विचारशील तो समझेगा 'चिन्ता करने से कोई फायदा नहीं, केवल नुकसान ही है'। ठीक इसी प्रकार 'गलत काम करूँ तो फायदा हो जाएगा' इस भ्रम से ही लोग गलत काम करते हैं। अपना काम बिगाड़ने के लिए तो कोई गलत काम नहीं करता है। कोई किसी को इसलिए तो घूस नहीं देता कि 'हमारा कागज खराब कर देना'। अपने कार्य संपन्न करने के लिये ही गलत काम करते हैं। किंतु काम बिगड़ता है पाप के कारण। तुम एक पाप और करोगे तो तुम्हारा काम और ज्यादा बिगड़ेगा, न कि सुधर जाएगा! पर अज्ञानी को समझ नहीं है।

सन् चालीस तक किसी को पता नहीं था कि 'दो नम्बर', कालाबाजारी क्या होती है। दूसरे विश्व महायुद्ध के दौरान नियन्त्रण आया। कोई आदमी बीमार है, उसे दवाई चाहिए। दवाईयों पर नियन्त्रण था, दवाई यथेष्ट मिलती नहीं थी। परिचित दवाई वाले से कहते थे 'पत्नी की तबीयत बड़ी खराब है, कुछ करो।' वह कहता था 'रात में नौ बजे दुकान बन्द करूँगा, उस समय आना।' वह चुपचाप दुकान बन्द करते हुए किसी तरह से छिप कर दवाई दे देता था और कहता था 'जल्दी जाओ यहाँ से, कोई देख नहीं ले।' यह स्थिति थी। उस समय यही लगता था कि 'दवाई नहीं लाएँगे तो औरत मर जाएगी'। इसलिये चोरी से ले आते थे। परन्तु चोरी से लाना जो शुरू किया, उसका आज क्या नतीजा है, सबके सामने है। इसी प्रकार जरूरतमंद ने 'घूस' नामक चोरी शुरू की, वह आज आम बात है, उसमें चोरी की भावना ही लुप्त-सी है। तुम्हारा काम बिगाड़ न दे, इसके लिए भी आज घूस देनी पड़ती है। तुम पाप करते हो यह समझकर कि इससे हमें कुछ सुख होगा। परन्तु पाप ऐसी चीज है कि अन्ततोगत्वा तुमको पहले से ज्यादा दुःखी करेगा। पहले के पाप से तो दुःख हो ही रहा है, नया पाप करके अपने दुःख को बढ़ाने का ही इन्तजाम करते हो।

क्योंकि अविचारशील ही पामर होता है इसलिए यहाँ पामर अर्थात् अविवेकी। बादल के अन्दर जो छोटे-छोटे तुषार के कण हैं, उनमें महाकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है पर क्योंकि

दिखाई नहीं देता इसलिए अविवेकी उस सबको महाकाश ही समझता है। पामर मेघाकाश और महाकाश में विवेक नहीं करता, उसको वे एक ही लगते हैं। इसी प्रकार अविवेकी को ब्रह्म और ईश्वर एक ही लगता है अर्थात् ब्रह्म को ही जगत्-कारण समझ लेता है और ईश्वर को पारमार्थिक सत्य समझ लेता है। आपातदर्शी अर्थात् बिना विचार के जो दीखता है उसको ही जो ठीक समझते हैं उन्हें ऐसा लगता है ॥१९४॥

वेद ने ब्रह्म को ही जगत् का कारण बतलाया। यहाँ कहा कि जगत् का कारण ईश्वर है, ब्रह्म नहीं। कैसे निर्णय कर लिया? क्योंकि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है इसलिये वेद में कहे का अभिप्राय उक्त प्रकार का निकलता है, यह समझाते हैं—

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात्।
असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः।।१९५।।

उपक्रमादि चिह्नों के अनुसार तात्पर्य के विचार से पता चलता है कि ब्रह्म असंग है, यही मायावी महेश्वर हुआ जगत् उत्पन्न करता है।

वेदवाक्य के तात्पर्य का विचार करने के जो चिह्न हैं उन्हें लिङ्ग कहते हैं जो छह बताये गये हैं। उपक्रम अर्थात् बताना शुरू कहाँ से हुआ, और उपसंहार अर्थात् अन्त कहाँ पर हुआ। इनमें समानता होनी चाहिये। दूसरा है अभ्यास अर्थात् किस बात को बार-बार कहा। वेद का जिसमें तात्पर्य होगा उसको बार-बार कहेगा। जिसमें तात्पर्य नहीं होगा उसे एक-आध बार कहीं प्रसंग से कह देगा लेकिन पुनः नहीं। तीसरा लिंग है अपूर्वता अर्थात् वेद जिस बात को कहेगा वह और कहीं से पता लगेगी नहीं। वेद ने कह दिया— 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' ठण्ड मिटाने के लिये आग ताप लेना। किंतु यह बात हम लोगों को रोजमर्रे के व्यवहार से पता ही है। ऐसी जो वेद में कई बातें आ जाती हैं उनमें वेद का तात्पर्य नहीं होता है। चौथा चिह्न है कि जिस बात को तात्पर्य से कहेंगे उसका कुछ फल भी कहा जाएगा। पाँचवाँ लिंग है कि उसकी प्रशंसा की जाएगी और छठा कि उसके बारे में युक्ति से समझाएँगे।

इन सब चिह्नों से विचार करके क्या तात्पर्य है—इसका निर्णय होता है। तब पता लगता है कि ब्रह्म को तात्पर्य से असङ्ग सिद्ध किया है। उसके साथ किसी का किसी प्रकार का लेप नहीं हो सकता। लेप होगा तभी अशुद्धि आएगी, संग से ही अशुद्धि आती है, 'सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः'। ब्रह्म निर्दुष्ट है इसलिए असंग है। श्रुति के अन्दर जहाँ-कहीं तात्पर्य से ब्रह्म को बतलाया है वहाँ उसे असंग बतलाया है। और मायावी महेश्वर सृष्टि बनाता है, इसका नाम माया से संग है। माया वाला होने से ही ईश्वर सृष्टि करता है। श्रुति ने ईश्वर को सृष्टि बनाने वाला और ब्रह्म को असंग बतलाया। ब्रह्म का जहाँ प्रतिपादन किया वहाँ असङ्गता बतायी, ईश्वर का जहाँ प्रतिपादन किया वहाँ मायाविता बतायी ॥१९५॥

असङ्गता के प्रतिपादन का स्थल बताते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम्।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः।।१९६।।

'सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है' यों प्रारम्भ कर 'जिससे वाणी निवृत्त हो जाती है' यों समापन किया जिससे निर्णय हो जाता है कि ब्रह्म असंग है।

तैत्तिरीय में उपक्रम में कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और उपसंहार में कहा 'यतो वाचो निवर्तन्ते' वाणी जिसे कह नहीं सकती। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' से *कहते* हुए भी कह रहे हैं कि वाणी उसे *कह* नहीं सकती! अर्थात् सत्य ज्ञान अनन्त आदि शब्दों का प्रयोग भी ब्रह्म को साक्षात् नहीं बतला रहा, लक्षणा से ही बतला सकेगा। लोक में सत्य कैसा प्रसिद्ध है? मैंने देवदत्त को यहाँ बैठे देखा और मैंने कहा 'देवदत्त यहाँ है'—इसे सत्य कहते हैं। हमेशा देवदत्त को देख रहा हूँ—ऐसा तो नहीं है। अभी देवदत्त यहाँ बैठा है, मैंने देखा। फिर देवदत्त उठ कर चला गया तो भी मेरा वचन सत्य कहलायेगा। लोक में व्यावहारिक सत्य के अर्थ में प्रसिद्ध है सत्य शब्द। देवदत्त कमरे में है—यह नित्य सत्य नहीं है। अनादि काल से कमरे में देवदत्त है और अनन्त काल तक कमरे में रहेगा—यह लोक में सत्य का अर्थ नहीं है। किंतु जब ब्रह्म को सत्य कहते हैं तब ऐसा नहीं कि जब हम कह रहे हैं तभी ब्रह्म सत्य है, आगे-पीछे किसी देश-काल में ब्रह्म नहीं हो! उस व्यावहारिक सत्य को छोड़ कर, जो कभी नहीं बदलने वाली चीज है उसमें लक्षणा करनी पड़ेगी। इसी प्रकार ज्ञान शब्द की शक्ति से व्यवहार में होने वाला अनित्य ज्ञान समझना पड़ेगा। ज्ञान अनित्य तो है नहीं अतः व्यावहारिक ज्ञान से पारमार्थिक ज्ञान को लक्षित करना पड़ेगा। ज्ञानादि शब्द शक्ति से उसे विषय नहीं कर सकते। इसी प्रकार अनन्त का मतलब होगा—देश काल वस्तु से जो परिच्छिन्न नहीं। वस्तुतः जहाँ देश काल वस्तु हैं ही नहीं, वहाँ देश काल वस्तु से परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न भी कह नहीं सकते। आकाशादि व्यावहारिक वस्तुओं को अनन्त कहते-समझते हुए देश-काल-वस्तु की उपस्थिति होने से देशादि से अपरिच्छिन्नता के मायने हैं लेकिन परमार्थ तत्त्व को इस मायने में अपरिच्छिन्न कहना बनता नहीं अतः व्यावहारिक अनन्त से उपलक्षणा करनी पड़ेगी उस अनन्त की जो व्यावहारिक नहीं, स्वरूप से अनन्त है।

यजुर्वेद की प्रकृत श्रुति में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' से शुरू करके आगे कहा 'यतो वाचो निवर्तन्ते' कि इन शब्दों से भी उसे नहीं कहा जा सकता! इससे तात्पर्य निकला कि ब्रह्म को शब्द भी सीमित नहीं कर पाता क्योंकि 'सीमित' करना अर्थात् शक्ति द्वारा उपस्थित करना निर्भर करता है नित्य संबंध पर और ब्रह्म में सम्बन्ध कोई भी नहीं है। बाकी सब चीजों से असंबद्ध होने पर भी व्यावहारिक असंग आकाश आदि का शब्द के साथ सम्बन्ध मानते ही हैं तभी शब्द बोलते ही उस का पता लगता है। परन्तु किसी भी शब्द से ब्रह्म का पता नहीं लगता क्योंकि वह असंग है। श्रुतिप्रसंगानुसार सब तरह सम्बन्धहीन परमेश्वर

जगद्धेतु समझा जा सकता है क्योंकि परमेश्वर की अबोध्य सामर्थ्य के सहारे वेद उसका इस तरह परिचय कराता है ॥१९६॥

मायावी ईश्वर जगत् का स्रष्टा है यह बताने वाली श्रुति का अभिप्राय दिखाते हैं—

मायी सृजति विश्वं संनिरुद्धस्तत्र मायया।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत्।।१९७।।

'माया वाला (ईश्वर) विश्व का सर्जन करता है, वहाँ माया से बन्दी बना अन्य (जीव) है'—यों दूसरी (श्वे. ४.९) श्रुति कहती है। इससे (भी समझ आता है कि) ईश्वर सृष्टि करे यह संगत है।

श्वेताश्वतर में कहा है—'छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।।' 'अस्मात्' अर्थात् अक्षर नामक ब्रह्म से वेदादि प्रपंच पैदा होता है क्योंकि कूटस्थ भी ब्रह्म माया वाला होने से यह विश्व बना लेता है। वही अपनी माया से अन्य की तरह हुआ, बन्दी बना-सा संसारसमुद्र में भटक रहा है। इस आधार पर भी ईश्वर जगत्कारण माया से है यह समझ आ जाता है। माया का मालिक बन करके ईश्वर दुनिया को बनाता है। ठीक जिस प्रकार से बड़ा उद्योग कोई कब खोलेगा? जब धनी होगा। सच्चा धनी होवे, चाहे झूठा धनी होवे, धनी बनना पड़ेगा। सच्चा धनी वह जिसके पास बाप-दादों का पैसा है। झूठा धनी वह जो बैंक से उधार ले पाता है। रुपया वह सचमुच बैंक का है, काम चलाने के लिए तुम्हें मिला है। परन्तु यदि रुपया मिल कर तुम धनी नहीं बनते तो उद्योग प्रारम्भ नहीं कर सकते थे। चाहे अन्य सब योग्यता तुम्हारे अन्दर है फैक्ट्री खोलने की, चलाने की, परन्तु धनी बने बिना खोल-चला नहीं सकते। इसी प्रकार इस संसार को माया के बिना नहीं बनाया जा सकता। मायाधीश ही विश्व को बनाता है।

'तत्र'—उस विश्व के अन्दर 'अन्य' दूसरा है जीव। माया से ही सृष्टि होगी, ईश्वर माया का मालिक होगा और जीव माया से बंधा हुआ, माया का नौकर होगा। उसी दुनिया में जीव माया से बंधा हुआ है। तत्त्व एक ब्रह्म ही है। माया के कारण एक मालिक हो गया और दूसरा नौकर हो गया। जैसे धनी मालिक होता है, वेतनभोगी कर्मचारी होता है इसी प्रकार जो माया को चलाने वाला है वह ईश्वर और माया से होने वाले भोग चाहकर उनके लिए कर्म करने वाला जीव है। जब तक माया के भोग चाहिए तब तक कर्म करना पड़ेगा और तब तक तुम इसमें बंधे ही रहोगे। पहली थी तैत्तिरीय श्रुति और 'अपरा' दूसरी है श्वेताश्वतर की श्रुति। श्रुतियों के विचार से निर्णय हो जाता है कि ब्रह्म असङ्ग है, पर माया के सम्बन्ध से ईश्वर सृष्टि करता है ॥१९७॥

ईश्वर क्या है? यह श्लोक १५७ आदि से बतला रहे थे। विज्ञानमय जीव और आनन्दमय ईश्वर बताया। उससे जगत् की उत्पत्ति का प्रकार समझाते हैं—

आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत्।।१९८।।

इस आनन्दमय ईश्वर ने 'बहुत हो जाऊँ' ऐसा विचार किया तो वह हिरण्यगर्भ के रूप वाला हो गया जैसे नींद सपना हो जाती है।

आनन्दमय मतलब गहरी नींद में होने वाला आत्मरूप। कब तक तुम भोग भोगना चाहते हो? जब तक तुम्हें गहरी नींद नहीं आ जाती! गहरी नींद में कोई भोग नहीं चाहिए। अगर किसी भी भोग की इच्छा होवे तो गहरी नींद में नहीं रह सकते। जिसको किसी प्रकार की चिन्ता नहीं वह तो घोड़े बेचकर सोता है और जिसे चिन्ता होती है उसे चाहे जितना बढ़िया बिस्तरा मिले, अनुकूल मौसम आदि मिले पर नींद नहीं आएगी! कामना ही नींद नहीं लेने देती है। जितनी असङ्गता होगी उतने ही निश्चिन्त रहोगे। गहरी नींद के अन्दर किसी भी भोग की इच्छा नहीं है तो तुम ईश्वर की तरह ही हो। इसलिए आनन्दमय को ईश्वर कहा।

जगत् की उत्पत्ति का प्रकार श्रुति ने बतलाया कि आनन्दमय मायावी ईश्वर में माया के कारण संकल्प हुआ, 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ'। अकेला था, 'नैव रेमे' उसको अच्छा नहीं लगा। इसलिए उसने इच्छा की 'बहुत हो जाऊँ।' बहु-भवन की इच्छा मायी के अन्दर होती है तभी सारा जगत् उत्पन्न होता है। घर में भी यही होता हैः तुम अकेले हो, अकेले मन नहीं लगता तो एक घरवाली ले आते हो। घरवाली आती है तो फिर तुम्हारे बेटे हो जाते हैं। उनका भी मन नहीं लगता तो वे घरवालियाँ ले आते हैं तो तुम सास-ससुर बन जाते हो। फिर दादा-दादी बन जाते हो। यों बहुभवन हो रहा है। सबका बीज क्या? अकेले तुम्हारा मन नहीं लगना। बहुभवन के तरीके से ही जगत् उत्पन्न होता है। आनन्दमय की अवस्था के अन्दर केवल माया थी, और कुछ नहीं था। माया में जैसे ही बहुभवन का संकल्प बना वैसे ही 'हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्' परमात्मा हिरण्यगर्भरूप हो गया।

जैसे जब तुम सुषुप्ति से स्वप्न में आते हो तो तैजस, और जाग्रत् में आते हो तब देखने-चलने आदि वाले अर्थात् विश्व बन जाते हो वैसे परमेश्वर हिरण्यगर्भ बना अर्थात् समष्टि सूक्ष्म व्यक्त होने पर तदभिमानी बना। जिन इक्कीस मुखों वाले हम जाग्रत् में स्वयं को जान रहे हैं उन्हीं से युक्त स्वयं की हमें सपने में भी अनुभूति है। इसी प्रकार जैसा विराट् उपलब्ध है वैसा ही वह हिरण्यगर्भ बनता है। कारणावस्था में भेदों का उल्लेख नहीं, हिरण्यगर्भ में भेद सूक्ष्म है और विराट् में स्थूल है, यह अन्तर प्रसिद्ध है। परमेश्वर ने जब संकल्प किया 'मैं बहुत हो जाऊँ' तब उसने हिरण्यगर्भरूप धारण किया अर्थात् सारे सूक्ष्म देहों का समष्टि अभिमानीरूप उत्पन्न हो गया जैसे हम हो जाते हैं स्वप्न में। सुषुप्ति आनन्दमय की स्थिति है, उससे तुम स्वप्न में जाते हो तो आँख-कान-नाक इत्यादि सूक्ष्म शरीर वाले हो जाते हो। ऐसे ही ईश्वर हिरण्यगर्भ के रूप वाला हो गया ॥१९८॥

शंका होती है कि आकाश-वायु-आदि क्रम से सृष्टि होती है या एक साथ सब उत्पन्न हो जाता है? समाधान करते हैं कि दोनों ही तरह समझना सम्भव है—

क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् द्विविधस्वप्नदर्शनात्।।१९९।।

यह सृष्टि क्रम से हुई या एक-साथ, इसे श्रुत्यनुसार समझ लेना चाहिए। दो तरह की श्रुतियाँ भी हैं, दोनों तरह के सपने भी दीखते हैं (इसलिए दोनों ढंगों से समझना सम्भव है)।

जैसे कभी हम गाय-बछड़ा साथ-साथ सपने में देखते हैं तो कभी गाय पहले देखकर फिर उससे बछड़ा होता देखते हैं या कभी सपने में स्वयं व्यापारादि श्रम करके खुद को धनाढ्य देखते हैं, कभी सीधे ही धन-सम्पन्न देखते हैं, वैसे ही परमेश्वर की रचना का कहीं वेद क्रमशः कथन करता है तो कहीं बताता है कि सब एक-साथ बना दिया। तैत्तिरीय में ही पहले आकाशादि क्रम से सृष्टि कही लेकिन आगे (२.६) कहा कि तपस्यापूर्वक परमेश्वर ने यह सब उत्पन्न कर दिया। इसी तरह ऐतरेय में (१.२) भूतादि न कहकर 'ये लोक बनाये' ऐसा कहा। मुण्डक में (१.७) मकड़ी, धरती, पुरुष दृष्टान्त देकर 'सम्भवतीह विश्वम्' यों सभी की उत्पत्ति कही। ईश में (मंत्र ८) 'अर्थान् व्यदधात्', कठ में (२.२.८) 'कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' तथा अन्य बहुत श्रौतादि स्थलों में अक्रम सृष्टि कही है। अतः यथाश्रुति अर्थात् जहाँ जैसा श्रुति ने बताया वहाँ वैसा समझ लेना चाहिये। गौडपादाचार्य ने स्पष्ट किया है कि सृष्टि अनभिप्रेत होने से इसके बारे में, इसमें क्रमादि के बारे में आग्रह व्यर्थ है। अतः यहाँ पंचदशीकार ने भी 'वा' रखा अर्थात् चाहे जैसे समझा जा सकता है।

जो लोग युगपत् सृष्टि पर जोर देते हैं वे प्रायः दृष्टिसृष्टि-वादी होते हैं और जो क्रम पर जोर देते हैं वे प्रायः सृष्टिदृष्टि-वादी होते हैं। पहले घड़ा था तब दीखा। यह हुआ क्रम-सृष्टि मानना। 'दीखा तभी घड़ा है' समझना अक्रमसृष्टि है। प्रमाण के बगैर प्रमेय बुद्धिमानों को अस्वीकार है। अल्पमति लोग तो प्रसिद्धि के बल पर, प्रचार के बल पर भी अनेक वस्तुएँ मान लेते हैं जैसे आजकल दूरदर्शन में देखकर बहुत कुछ मान बैठते हैं। जो व्यक्ति स्वयं के लिये आवासादि व्यवस्थित करने में अक्षम हो उसे भी लोग अतिशय शक्तिसंपन्न स्वीकार लेते हैं। ऐसा नहीं कि वैराग्यवश वह तपस्वी हो क्योंकि अन्यों के लिये तंत्रादिप्रयोग वह दक्षिणा लेकर करता है। अतः विचारानुसार उसे समर्थ समझना संभव न होने पर भी अविचार से लोग मानते देखे जाते हैं। विचार पर बल देने वाला दृष्टिसृष्टिवादी कहता है कि घड़ा है इसमें प्रमाण क्या? कोई-न-कोई उसे जानने वाला चाहिए। किसी को ज्ञान है तभी घट की सिद्धि होगी। इसलिए ज्ञान के साथ ही घट को मान सकते हैं, पहले से मानने की कोई जरूरत नहीं। इस प्रकार से युगपत् सृष्टि स्वीकार होती है। दूसरी है क्रम सृष्टि जिसमें पदार्थ है फिर ज्ञान होता है। वेद में दोनों तरह की सृष्टि बतायी है और स्वप्न

के अन्दर दोनों प्रत्यक्ष भी हो जाती हैं। उपनिषदों में प्रायः क्रम को बतलाया है परन्तु क्रम से ही सृष्टि हो—यह नियम नहीं है। इसलिए कहा है कि द्रौपदी की साड़ी जब भगवान् ने बढ़ाई—'न तत्र तन्तुर्न च तन्तुवायः' तो न वहाँ कहीं चरखे से धागा काता गया और न ही कोई जुलाहा बैठकर धागों से कपड़ा बना रहा था। सीधे साड़ी ही बनी, माया के द्वारा। इसी बात को बतलाने के लिए श्रुति के अन्दर क्रमों को बदलकर भी कह दिया है, जिसे 'विगान' कहते हैं। क्रमसृष्टि प्रधान है बतलाने के लिए बादरायण आचार्य ने गुणोपसंहारन्याय से क्रमसृष्टि को उपपन्न किया है। तथापि उनका अभिप्राय सृष्टि में न होकर परमेश्वर में ही है ॥१९९॥

हिरण्यगर्भ का ही वर्णन करते हैं—

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः।
सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादिशक्तिमान्।।२००।।

सूत्रात्मा का नाम सूक्ष्मदेह है। सभी जीवों का वह समष्टि रूप है क्योंकि सभी व्यष्टि लिंग शरीरों में वह 'मैं' अभिमान वाला है। उसमें क्रिया-ज्ञान आदि शक्तियाँ हैं।

हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा है। जैसे माला के सब दानों में धागा होता है; सारे दानों को नियन्त्रण में रखने वाला, अपनी-अपनी जगह रखने वाला, इधर-उधर बिखर न जाएँ—इस बात पर नियन्त्रण रखने वाला कौन है? धागा है। इसी प्रकार सभी जड-चेतन जगत् के अन्दर जो अनुस्यूत है उसको सूत्रात्मा कहते हैं। जिस प्रकार कपड़े में सर्वत्र सूत्र होता है क्योंकि सूत का कपड़ा बना है इसी प्रकार जगत् में जो सर्वत्र है उस हिरण्यगर्भ को सूत्रात्मा कहते हैं। ध्यान करने के लिए श्रुतियों ने प्राण को प्रतीक बनाया है सूत्रात्मा का। सभी जीवित लोगों के अन्दर अनुस्यूत प्राण है। प्राण की विशेषता है कि उसमें किसी प्रकार का स्पर्शास्पर्श दोष नहीं है। बर्तन, पानी आदि सब चीजों में तो छुआ-छूत होती है पर साँस तुम जो बाहर छोड़ते हो वह दूसरा ग्रहण कर लेता है, ऐसा नहीं है कि 'आबू में अमुक जाति के लोग साँस छोड़ते हैं इसलिए हम आबू में साँस नहीं लेंगे'। सब प्राणियों में एकरूप प्राण है। इसलिए श्रुतियों ने वायु को संबोधित करते हुए—'नमस्ते वायो! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि' कहा। हे वायु! आपको नमस्कार है क्योंकि आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। प्रत्यक्ष अर्थात् आँखों के, इन्द्रियों के सामने, किंतु तात्पर्य है, जिसका हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। कोई आदमी जिन्दा है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव केवल इससे होता है कि साँस चल रही है या नहीं। वायु का संचरण हो रहा हो तब तक उसे जीवित कहते हैं और वायु का संचरण बन्द हुआ तो मरा हुआ कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से चाहे अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चेतन जीव है लेकिन तुम्हारे शरीर में अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चेतन है या नहीं—इसका पता हमें नहीं लग सकता, तुम्हारी साँस का ही पता लगता है। प्राण को इसलिए 'सूत्रात्मा' कहा क्योंकि सबके अन्दर एक प्राण ही घूम रहा है, एक वायु ही घूम रही है।

इसी को सूक्ष्म देह नाम से कहा जाता है। सूक्ष्म देह के अन्दर प्राण भी आ जाते हैं मन, बुद्धि, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ भी आ जाती हैं। मन बुद्धि के अलावा चित्त व अहंकार को अलग गिनें तो उन्नीस हो जाते हैं और बुद्धि से अहंकार को तथा मन से चित्त को एक कर दें तो सत्रह रह जाते हैं। दोनों तरह के वर्णन आते हैं। माण्डूक्य में एकोनविंशति मुख कहे। कहीं सप्तदशक लिङ्ग शरीर कहा जाता है। सूक्ष्म देह उस सूत्रात्मा का नाम है। वही सर्वजीवघनात्मक है। लोहे के दस टुकड़े होवें, उन्हें गला कर एक कर दो तो जो एक पिण्ड होगा उसे 'घन' कहते हैं अर्थात् दस चीजें एक घन हो गईं। या, बहने वाले घी को बर्फ में रखते हो तो वह घन हो जाता है। जमकर एक पिंड हो जाता है, फिर बहता नहीं। इसी प्रकार सारे जीवों का घन अर्थात् समष्टिस्वरूप है। हम लोगों के सूक्ष्म देह लोहे की तरह गलकर एक होते हों, ऐसा तो नहीं है। हमारे सूक्ष्म देह बने ही रहते हैं और वह इनका घन होता है। लिङ्ग-शरीर उपाधि वाले जो जीव उनका वह समष्टि स्वरूप है। व्यष्टि अलग-अलग रहते हुए भी समष्टि स्वरूप एक है। यह वैसा ही समझ लो जैसा हर एक के घर में उसके अपने रुपये बने रहते हैं फिर भी सारे के सारे रिजर्व बैंक के हैं। सब नोटों का मालिक तो रिजर्व बैंक ही है। इसी प्रकार तुम्हारे अपने-अपने सूक्ष्म शरीर रहते हुए ही उन सबका मालिक हिरण्यगर्भ है। तुम सब अपने शरीर चलाओगे, परन्तु फिर भी हिरण्यगर्भ की मिलकियत रहती ही है। हिरण्यगर्भ तुम्हारी आँख का अभिमानी सूर्यरूप से है। जब तक सूर्यदेवता 'हाँ' नहीं कर देगा तब तक तुम्हारी आँखें नहीं देख सकतीं। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ वरुणरूप से जब तक तुम्हारी जीभ पर कृपा नहीं कर दे तब तक तुम कोई स्वाद नहीं ले सकते। तुम क्या करते हो—यह तुम्हारे अपने संस्कारों पर निर्भर है।

इसलिए कहा—'सर्वाहंमानधारित्वात्'—सभी व्यष्टि लिङ्ग शरीरों के अन्दर सूत्रात्मा को एक-जैसी अहंमन्यता है। इसलिए एक नाम सबका है, 'मैं'। कोई दरवाजा खटखटाता है, तुम पूछते हो, 'कौन है?' पहला जवाब होता है 'मैं हूँ।' कोई यह नहीं कह सकता 'मैं तो मेरा नाम है, तुम अपना नाम दूसरा रखो।' मैं सबका नाम है। यह नाम हिरण्यगर्भ का होने से सभी का है। सबको अपना अनुभव मैंरूप में ही होता है। इस प्रकार, तैजस सूक्ष्म शरीर और हिरण्यगर्भ की एकता मैं में प्रकट हो जाती है।

क्रिया, ज्ञान और 'आदि' से इच्छा—ये उसकी शक्तियाँ हैं। अन्यत्र श्रुति ने (श्वे. ६.८) भी 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च' कहा। सबको शासन में रखता है इसलिए क्रियाशक्ति वाला सर्वेश्वर है। और सबकी सारी वृत्तियों को जानता है इसलिए सर्वज्ञ है, ज्ञानशक्ति वाला है। सबके अन्दर संस्कारों के अनुसार इच्छा का प्रवर्त्तक है इसलिए इच्छाशक्ति वाला भी वही है। जैसे तुम्हारे पाप-पुण्य कर्म वैसे तुमको सुख-दुःख देता है। देता तो वह है पर तुम्हारे अपने कर्म थे इसलिए। इसी प्रकार जो तुम्हारे संस्कार हैं उनसे उसने इच्छा को प्रवृत्त किया। मिलेगा तुम्हारे ही कर्म का फल पर किस समय, किस देश में, कौन-से कर्म का फल देना है—यह उसका स्वतंत्र निर्णय है। इसी प्रकार तुम्हारे अपने संस्कार ही जगने वाले हैं,

पर कौन-सा संस्कार किस क्षण में जगे—यह परमेश्वर ही निर्णय करता है। यह प्रश्न मत करना कि 'पहले-पहल कर्म और संस्कार कहाँ से आए?' क्योंकि सृष्टि अनादि है। भगवान् ने गीता में कहा है—'न कोई ऐसा काल था जब तू नहीं था, न कोई ऐसा काल था जब मैं नहीं था, न कोई ऐसा काल था जब ये राजा नहीं थे। सब थे ही, अलग-अलग रूपों में।' जैसे परमेश्वर अनादि है वैसे ही जीव भी अनादि है। अतः पहला कैसे हुआ—यह प्रश्न नहीं बनता। जैसे तुम किसी कटोरदान के ढक्कन के किनारे को, कुमकुम रंगकर किसी कपड़े पर छाप मारो तो एक चक्र अंकित हो जायेगा। उस चक्र में पहला बिन्दु कौन-सा है? अगर तुम परकार से चक्र बनाते तो कह सकते थे कि पहले यहाँ था फिर इस दिशा में गोला आँका। पर ढक्कन से छापने पर एक-साथ सारा चक्र बनता है। इसी प्रकार इस सृष्टि-चक्र में न कोई पहला है, न कोई बाद का है। हम लोग हमेशा ऐसे ही हैं। संस्कार और कर्म हमारे हमेशा हैं। परमेश्वर उनमें से चुन कर किसी समय किसी को आगे कर देते हैं। यदि धर्म के संस्कार एक-के-बाद एक आगे आते हैं तो तुम्हारे अन्दर सत्त्व की प्रधानता होकर परमात्मा के ज्ञान की सम्भावना आ जाती है और अगर अधर्म के संस्कार लगातार आते हैं तो दानवी प्रवृत्ति होकर निम्न लोकों में जाने की स्थिति बन जाती है। प्रायः करके जीवन में शुभ और अशुभ दोनों वासनाएँ प्रकट होती हैं।

महर्षि वशिष्ठ ने कहा है—'शुभाशुभाभ्याम् मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्'—वासना नामक सरिता शुभ मार्ग से भी बहती है, अशुभ मार्ग से भी बहती है। कभी अच्छी बात मन में आती है, कभी बुरी बात मन में आती है। हम क्या करें? 'पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि' इसमें पुरुषार्थ है कि जब शास्त्रानुकूल संस्कार आवे तब तो तुरन्त उसको पूरा कर दो और शास्त्रविरुद्ध संस्कार आवे तो उसको टाल दो। धीरे-धीरे शास्त्रानुकूल वासनाएँ दृढ होती चली जाएँगी। शास्त्र का ज्ञान होगा तभी शास्त्रानुकूल संस्कार को दृढ करेंगे। इसलिए सर्वज्ञ भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वं'। जब सत्संग करोगे तब तुमको पता लगेगा कि कौन-से शास्त्रानुकूल संस्कार हैं। फिर तुम उन शास्त्रानुकूल संस्कारों को तुरन्त पूरा करने लगोगे, उनकी दृढ वासना बन जाएगी, दूसरों की कमजोर पड़ जाएगी। तभी निःसङ्गता आ जाएगी। यह भगवान् की कृपा ही है कि जन्मजन्मान्तर में पुण्यसंस्कार उद्बुद्ध करें। इसलिए भगवान् ने कहा—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'—बहुत-से जन्म जब बीत जाते हैं इस प्रकार शुभ कर्म करते-करते, तब मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है तब परमेश्वर से प्रपन्न हो जाता है, एक हो जाता है ॥२००॥

शासन, सर्वज्ञता, इच्छा करना—ये सब परमेश्वर के क्रिया, ज्ञान, इच्छा हैं जो समष्टि सूक्ष्म, लिङ्ग, शरीर में व्यक्त होते हैं। बाह्य पदार्थों के अभाव में भी लिङ्ग शरीर चीजों को देखता है। यहाँ बैठे हुए आदमी को दिल्ली की याद आ जाये तो दिल्ली का घण्टाघर 'दीख' जाता है, ऐसा लगता है मानो सामने ही दीख रहा है। किंतु दिल्ली जाकर जैसा साफ

दीखता है ऐसा स्मृति में साफ नहीं दीखता। केवल सूक्ष्म शरीर से धुंधलापन होता है, स्पष्ट नहीं होता। यही कहते हैं–

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम्।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते।।२०१।।

जैसे यह लोक प्रातः या सायम् हल्के अंधेरे में डूबा अस्पष्ट दीखता है वैसे हिरण्यगर्भावस्था में जगत् दीखता है।

प्रत्यूष उषा-काल को कहते हैं। सूर्य उदय होने के पहले का जो प्रातः काल का समय है, जब आसमान लाल हो गया है परन्तु अभी सूर्य नहीं दीख रहा, तब चीजें दीख तो जाती हैं पर साफ-साफ नहीं। या प्रदोष काल में वैसी स्थिति होती है। दोषा कहते हैं रात्रि को, रात्रि का प्रथम प्रहर प्रदोष कहा जाता है। उस समय सूर्य अस्त तो हो गया है पर अभी पूरा अन्धेरा हुआ नहीं है। उस समय 'अयं लोकः' ये सारी जो चीजें हमें दीख रही हैं वे मन्द अंधेरे में लिपटी मिलती हैं। जब भी मन्द अंधकार है तब विषय अस्पष्ट भासते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म, सूत्रात्मा के स्तर में जगत् अस्पष्ट दीखता है। जब जगत् है ही सूक्ष्म तब उसका वैसा ही भान भी उचित है। हिरण्यगर्भ अवस्था में प्रपंच की स्थूलता है ही नहीं, तो उसका दर्शन भी वैसा ही है। यह नहीं कह रहे कि हिरण्यगर्भ के ज्ञान में कोई कमी है वरन् तब जैसे विषय हैं वैसा उनका भान है यही बता रहे हैं।।२०१।।

हिरण्यगर्भ की अनुभूति में सुबह-शाम के ज्ञान को दृष्टांत बताकर अब जिस चित्रपट का दृष्टान्त दे रहे थे उसके सहारे बतलाते हैं–

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद् घट्टितः पटः।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम्।।२०२।।

जैसे अन्न से लिप्त कपड़ा स्याही से सब ओर से चिह्नित होता है वैसे ईश्वर का शरीर सब ओर सूक्ष्म आकारों से अंकित होता है।

घट्टित अर्थात् माँड जिस पर चढ़ चुकी है उस कपड़े पर 'मष्या' स्याही के द्वारा लांछन लगा दिया जाता है अर्थात् चित्र के आकार का रेखांकन कर दिया जाता है। चित्र बनाने से पहले कलम लेकर खाका बना लेते हैं। उसे देख कर चित्र का भान तो हो जाता है कि यहाँ आदमी होगा, यहाँ पत्थर होगा, पहाड़ होगा, यहाँ से नदी निकलेगी इत्यादि; लेकिन नदी इत्यादि का स्पष्ट भान नहीं होता है। वैसे ही परमेश्वर का जो वपु, सूत्रात्मरूप शरीर है, उसमें सूक्ष्म आकार अंकित है। अपंचीकृत भूतों के कार्य लिंग शरीर हिरण्यगर्भ में उपलब्ध हैं यह भाव है।।२०२।।

हिरण्यगर्भ को ही अन्य उदाहरण से व्यक्त करते हैं—

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः।।२०३।।

सब ओर अंकुरित अनाज या शाकों की तरह यह जगत् का अंकुर कोमल है।

सस्य—गेहूँ चावल इत्यादि हैं। शाक—पालक, बथुआ वगैरह हैं। जब बीज में से अंकुर निकलता है तब तना और जड़ दोनों ही भाग बँटने पर भी होते अत्यंत कोमल हैं। विकसित तना और जड़ तो बिलकुल कड़े होते हैं लेकिन अंकुरावस्था में कोमल हैं। उसी प्रकार से जगत्-अंकुर पेलव अर्थात् कोमल है। मन्दान्धकार में जैसा दीखता है—इसके द्वारा भान बतलाया था। खाके के द्वारा कहा था कि आने वाले रूप की कल्पना हो सकती है। यहाँ बतला रहे हैं कि सूक्ष्म देह में कोमलता है। जब तक हमारे मन में कामना केवल सूक्ष्म रूप में है तब तक अगर हम चाहें तो उसे दबाना, जीतना सरल होता है। जब कामना स्थूल रूप ले लेती है अर्थात् उसे पूरा करने के स्थूल साधन जुट चुकते हैं तब मानो कड़ी हो जाती है। हमारे मन में आया 'हमारे पास हवाई जहाज होता तो चाहे जहाँ उड़ कर चले जाते।' तभी विचार करके कामना को काटने के लिये हवाई जहाज के दोषों का अनुसंधान करने लग जाएँ तो हवाई जहाज की इच्छा चली जाएगी। यदि हमने कमाई की और हवाई जहाज खरीद लिया, हम हवाई जहाज के मालिक हैं तो अब अगर हवाई जहाज की इच्छा को छोड़ना चाहो तो बहुत मुश्किल होगा। जो साधक नहीं हैं वे कह देते हैं 'जो मन में आवे उस इच्छा को पूरी करके मिटा लेना चाहिए, दबाना नहीं चाहिए'। किंतु जब इच्छा पूरी करोगे तब वह स्थूल हो गई, उसके संस्कार और दृढ बन गये, उसको जीतना और मुश्किल हो गया। जिसने कभी साधना नहीं की है वही ऐसा कह सकता है। जब तक सूक्ष्म शरीर में है तब तक कोमल अवस्था में है, स्थूल में आने के बाद कड़ी हो जाएगी। इसलिए हमेशा सावधान रहना चाहिए। प्राचीनों का न्याय था 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' पहले पैर कीचड़ में डालो, फिर निकालकर धोवो, इससे अच्छा कि कीचड़ से दूर रहो। इसी प्रकार कामना पूरी करके दूर करने की अपेक्षा उत्पन्न होते ही उसका उन्मूलन करना बेहतर है।।२०३।।

हिरण्यगर्भ अर्थात् सूत्रात्मा को स्पष्ट करके अब स्थूल विराट् को बतलाते हैं—

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः।
सस्यं वा फलितं यद्वत् तथा स्पष्टवपुर्विराट्।।२०४।।

सूर्य के प्रकाश में दीखता संसार या रंगों से पूरी तरह चित्रित कपड़ा या फली हुई खेती की तरह विराट् स्पष्ट शरीर वाला है।

जो परमेश्वर का स्थूल शरीर है उसको विराट् कहते हैं। उसकी शरीररूपता स्पष्ट है। उस स्पष्टता को उदाहरणों से बताया। हिरण्यगर्भ के लिये मंद अंधेरे में दीखना उदाहरण था जब कि धूप के अन्दर जैसे चीजों का स्पष्ट भान होता है, उस तरह का स्पष्ट भान विराट् का है। चित्र का खाकामात्र हिरण्यगर्भ के प्रसंग में कहा था, उस खाके को रंगों से भर दिया, बिलकुल स्पष्ट भान है कि यह नदी है, पहाड़ है, आदमी है इत्यादि, ऐसी स्थिति विराट् की है। मकान का नक्शामात्र देखकर आर्किटेक्ट, इंजीनियर, शिल्पी को तो ठीक पता चल जाता है कि तैयार मकान कैसा होगा किंतु सामान्य लोगों को प्रायः पूरा रूप-रंग पता नहीं चलता। जब स्थूलाकार वस्तु संमुख हो तब सभी को स्पष्ट हो जाती है। खाकेमात्र से कलाकार भले ही समझ पाये, हमें नहीं पता चलता कि क्या चित्र तैयार होगा। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ को सूक्ष्म अवस्था में भी सही समझ है लेकिन विराट् अवस्था में सभी के लिये समझना संभव है। ऐसे ही अंकुरदशा में किसान ही पहचानेगा लेकिन फलावस्था तक तैयार पेड़-पौधों को सभी साफ देख-समझ पाते हैं, उस के सारे अवयव पहचान लेते हैं। उसी प्रकार विराट् स्पष्ट वपु वाला है। आँखें खोल कर जो दीख रहा है वह परमेश्वर का स्पष्ट वपु है, बिलकुल साफ दीखता देह है। यह पंचीकृत पंचभूत का कार्य है, स्थूल पंचभूतों से बना है। सूक्ष्म शरीर अपंचीकृत महाभूतों से बना है और स्थूल देह पंचीकृत पंचमहाभूतों से बना है। यही इसकी स्पष्टता में कारण है। ठीक जिस प्रकार से सौ टंच सोने का यदि गहना बनाओ तो तुम मोटा कड़ा भी बनाओ लेकिन जोर से दबा दो तो दब जाएगा। जब तुम अठारह कैरेट के सोने से बनाते हो तब उसे चाहे जितना दबाओ, टक्कर भी मार दो, तो भी कुछ नहीं होगा, वैसा ही रहेगा। खोट मिली हुई चीज ठोस होती है। इसी प्रकार विराट्-दशा में जो आकाश वायु जल तेज पृथ्वी हैं उन सबमें खोट मिली हुई है। इसलिए यह जगत् ठोस है जिससे कहा 'स्पष्टवपुर्विराट्' ।।२०४।।

विराट् को शास्त्र से समर्थित करते हैं—

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान् विदुः।।२०५।।

विश्वरूपाध्याय और पुरुषसूक्त में भी यह विराट् बताया गया है। विधाता से घास के तिनके तक सब इसके टुकड़े समझे जाते हैं।

इस विराट् का वर्णन गीता के ग्यारहवें अध्याय में, विश्वरूपाध्याय में है। इससे संकेत समझ लेना कि विद्यारण्यस्वामी की दृष्टि से अर्जुन को जो दीखा वह साक्षात् विराट् का रूप था। कई लोग वहाँ भगवान् ने अपना जो रूप दिखाया उसे मायिक कहते हैं। परन्तु विद्यारण्य स्वामी के कहने से लगता है कि विश्वरूपाध्याय के अन्दर उसने भगवान् के स्थूल रूप को, विराट् रूप को ही देखा था। विधाता से लेकर घास के तिनके तक, इस विराट् के अवयव समझे जाते हैं। विश्वरूपाध्याय में इतना स्पष्ट भान न भी होवे तो पुरुषसूक्त

में देख लेना चाहिये। पुरुषसूक्त में जिसका वर्णन है वह भी विराट् देह ही है। किंतु वहाँ के कथन से 'स्पष्ट दृश्य है' ऐसा नहीं प्रतीत होता। इसलिये गीता का प्रसंग याद दिलाया जहाँ अर्जुन ने कहा कि वह साफ देख रहा है। विश्वरूपाध्याय का उल्लेख किया, प्रत्यक्ष है यह बताने के लिए और सारा संसार एकत्र हो जाये इसलिए पुरुषसूक्त का कथन किया।।२०५।।

विराट् परमेश्वर का रूप होने से नतीजा निकलता है कि अन्तर्यामी से कुदाली तक सभी चीजें ईश्वर के रूप में पूजी जा सकती हैं—

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः।
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः।।२०६।।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः।।२०७।।

जलपाषाणमृत्काष्ठवास्यकुद्दालकादयः।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः।।२०८।।

ईश्वर, सूत्रात्मा, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, विघ्नराज, भैरव, मैराल, मारिका, यक्ष, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, घोड़ा, हिरण, पक्षी, पीपल, वट, आम आदि वृक्ष जौ, चावल, घास आदि, पानी, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, वसूला, कुदाली आदि ये सभी ईश्वर हैं अतः पूजे जाने पर फल प्रदान करते हैं।

संसार की सभी चीजों की पूजा करने से फल मिलता है। भेद किसको लेकर है? उपाधि को लेकर है। जितनी श्रेष्ठ उपाधि होगी उतना ही फल श्रेष्ठ होगा, जितनी निकृष्ट उपाधि होगी उतना ही फल निकृष्ट होगा। परन्तु ईश्वररूप होने से पूज्य सब हैं। अतः उस ढंग से पूजा करने से सभी फल देने वाले हैं। ईश, अर्थात् अन्तर्यामी, सूत्र अर्थात् सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ जो सब प्राणियों के अन्दर प्राणरूप से मौजूद है। विराट् अर्थात् गीता के ग्यारहवें अध्याय में, विश्वरूप में वर्णित रूप। वेधा अर्थात् ब्रह्मा। इन सबमें अन्तर्यामी की आराधना सबसे श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा सूत्रात्मा न्यून है, तदपेक्षया विराट् न्यून है। चूँकि ईश, सूत्र, विराट् इन सबमें समष्टि उपाधि रहती है इसलिए इससे कम व्यष्टि उपाधि वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं। ये गुणोपाधि वाले हैं इसलिए इनकी भी अपेक्षा इन्द्र, अग्नि आदि जो आधिकारिक देवता हैं वे कम हैं। लेकिन अन्यों से वे भी अतिश्रेष्ठ हैं। विघ्न अर्थात् विघ्नेश्वर, भैरव—जिन्होंने दक्ष-यज्ञ का ध्वंस किया था। मैराल—यमराज। मरिका या मारिका एक देवीविशेष हैं। आधिकारिक देवताओं की अपेक्षा ये सब न्यून हैं। इनसे भी कम पूज्य यक्ष और राक्षस हैं। यक्ष-राक्षस मनुष्यों से अधिक महत्त्व के अतः देवताओं में आते हैं। इनसे

कम हैं मनुष्य; मनुष्यों के अन्दर विप्र सबसे श्रेष्ठ हुआ, क्षत्रिय उससे न्यून हुआ, विट् अर्थात् वैश्य उससे न्यून हुआ, शूद्र उससे न्यून हुआ। ये सभी मनुष्य होने से पशु इत्यादियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। पशुओं में गाय, घोड़ा, हरिण, पक्षी—ये सब एक-दूसरे की अपेक्षा न्यून हैं। पशु और पक्षियों की अपेक्षा भी वृक्ष न्यून हैं। अश्वत्थ अर्थात् पीपल, वट मायने बरगद, आम, बिल्व इत्यादि वृक्ष अन्य वृक्षों की अपेक्षा श्रेष्ठ। उनकी अपेक्षा न्यून हैं यव अर्थात् जौ, चावल, तृण आदि क्योंकि वृक्ष इनकी अपेक्षा बहुत अधिक स्थायी हैं। ओषधियाँ तो जैसे ही एक बार फल पका, ख़त्म हो जाते हैं, आम इत्यादि सैंकड़ों बार फलते हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं। ये बताये सब जो हम लोगों को चेतन दीखते हैं। जो चेतन नहीं दीखते उन जल आदि में भी ईश्वरभाव ऐसे ही है। जल जैसे गंगा, यमुना नर्मदा इत्यादि। पाषाण—हिमालय, मेरु, विन्ध्य पर्वत इत्यादि। मृत् अर्थात् मिट्टी, काठ अर्थात् लकड़ी। वास्य मायने वसूला जो औजार लकड़ी को छीलता है। कुद्दाल—ज़मीन को खोदने वाला औजार, कुदाली; हम लोग मकान बनाते हैं तो कुदाली की भी पूजा करते हैं, उसको भी मौली बाँधकर, स्वास्तिक बना करके उसकी पूजा होती है। ये सभी ईश्वररूप हैं अतएव पूजा करने से फल देते हैं।

इस प्रकार से संसार की प्रत्येक चीज़ पूज्य है क्योंकि आधारभूत ढंग से है तो परमात्मरूप ही। ठीक जिस प्रकार से सोने का तुम चाहे सिर का मुकुट बनाओ, चाहे पैर की पायजेब बनाओ, अथवा बिछुआ बनाओ, अलग-अलग जगह पर अलग-अलग उपाधियों से दीखने पर भी सोना एक जैसा है। अतः बेचने जाओगे तो जिस भाव में मुकुट बिकेगा उसी भाव में बिछुआ भी बिकेगा। ऐसा नहीं है कि पाँव की नुपूर है तो कम दाम लगें! गले में पहनने लायक एक उपाधि है, पैरों में पहनने लायक दूसरी उपाधि है परन्तु वस्तु सोना है—यह निर्विवाद है। इसी प्रकार उपाधियों में कोई समष्टि उपाधि अन्तर्यामी सूत्रात्मा इत्यादि हैं और कोई अत्यन्त निकृष्ट उपाधि कुदाली इत्यादि हैं। परन्तु सब हैं तो ईश्वर ही। इनमें से किसी की भी पूजा करें, फल देने वाला तो ईश्वर ही है पर उस उपाधि के द्वारा देता है।।२०६-२०८।।

सभी उपाधियों का पूजन सफल है इसमें श्रुतिसमर्थन दिखाते हैं—

यथायथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः।। २०९।।

शास्त्रप्रसिद्ध परमेश्वर की जैसी-जैसी उपाधिवाले के रूप में उपासना करते हैं वैसा-वैसा फल पा लेते हैं। फल में उत्तमता-नीचता तो पूज्य और पूजा के अनुसार होती है।

‘तं यथायथोपासते तदेव भवति’(अग्निरहस्य ५.२.२०) श्रुति कहती है कि उस परमेश्वर की जिस उपाधि में जिस प्रकार से तुम उपासना करते हो उसके अनुरूप ही तुमको सिद्धि हो जाती है, उसके फल को प्राप्त कर लेते हो। फल में उत्कर्ष, श्रेष्ठता या अपकर्ष, निकृष्टता उपाधि और पूजा के भेद से संगत है।

ब्रह्मा-विष्णु की पूजा का महत् फल है। कुदाली इत्यादि का अत्यन्त तुच्छ फल है। उत्कर्ष मायने बड़ा फल, अपकर्ष मायने छोटा फल। पूज्य के भेद से फलभेद है। पूज्य उपाधि जितनी श्रेष्ठ होगी उतना ही उसका फल भी उत्कृष्ट होगा, श्रेष्ठ होगा। और, पूजा सात्त्विक करोगे तो उसका श्रेष्ठ फल होगा। राजस पूजा करोगे तो तदपेक्षया न्यून फल होगा। तामस पूजा करोगे तो और न्यून होगा। इस तरह पूज्यों का भी भेद है और पूजाओं का भी भेद है। सभी ईश्वर होने पर फल भी एक जैसा है—ऐसा नहीं समझ लेना। इसीलिए शास्त्र किसी की पूजा करने को कहते हैं, किसी की पूजा करने को नहीं भी कहते। पूज्य और पूजा के भेद से फल में भेद हो जाता है। सब ईश्वररूप है, जो फल चाहते हैं उन्हें जैसा फल चाहते हैं तदनुकूल उपासना करनी चाहिये और तदनुकूल पूजा का प्रकार भी अपनाना चाहिये।।२०६।।

औपाधिक रूपों से ईश्वर की पूजा करना केवल फलों को दे सकता है, मोक्ष को देने में असमर्थ है। जब तक फल की कामना है तब तक औपाधिक रूपों की पूजा करनी पड़ेगी जिससे फल मिलेगा, अगर पूजा नहीं करोगे तो फल नहीं मिलेगा। जब समझ आ जाता है कि जो फल मिलेगा वह नष्ट हो जाएगा, नष्ट होने वाले फल के मिलने से हमको क्या लाभ?—तब हृदय से फलेच्छा दूर होने लगती है। सामान्य अनुभव यही है कि फल मिलकर नष्ट हो जाता है तो ज़्यादा तकलीफ होती है! हमारे पास लाख रुपया नहीं तो इसका कुछ दुःख है ही। परन्तु लाख रुपया मिल कर पाँच साल तक रहे और फिर चला जाए तो दुःख ज़्यादा होता है। इस बात को जो समझ लेता है वह फिर फल की इच्छा को छोड़ देता है। अतः वह पूज्य-पूजा के व्यवहार से हटकर सत्य के साक्षात्कार में तत्पर होता है क्योंकि वही मोक्षहेतु है यह बताते हैं—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा।। २१०।।

मुक्ति तो ब्रह्मरूप तत्त्व के ज्ञान से ही होती है, और किसी तरह नहीं। अपने जगे बिना जैसे अपना सपना नहीं टूटता वैसे ब्रह्मज्ञान के बिना संसार नहीं मिटता।

सारे दुःखों की निवृत्तिरूप और परमानन्द-प्राप्तिरूप मोक्ष नित्य होने से फल नहीं हैं। फल के द्वारा दुःख की क्षणिक निवृत्ति होगी। जिस क्षण में इष्ट चीज़ मिलेगी उस क्षण में सुख हो जाएगा परन्तु अगले क्षण किसी और चीज़ का दुःख आ जाएगा। रसगुल्ले की हण्डी भर किसी ने रख दी। पचास रसगुल्ले खाए, तृप्ति तो हुई लेकिन मन में आयेगा 'आम का अचार होता तो बड़ा मज़ा आता'; आम का अचार वहाँ है नहीं तो दुःख होगा। रसगुल्ले खाने की इच्छा हटी, उसका सुख तो हो गया लेकिन 'अचार नहीं' का दुःख आ गया। ऐसी दुःख की निवृत्ति होवे कि फिर कभी दुःख होवे नहीं और परम आनन्द की प्राप्ति होवे जो हमेशा एक जैसी बनी रहे, इसी का नाम मुक्ति है। किसी चीज़ का सर्वथा निवृत्त होना तभी

हो सकता है जब वह तुम्हारा स्वरूप न होवे, स्वभाव न होवे। इसलिये, मुक्ति तभी सम्भव है जब तुम्हारा स्वरूप दुःख से सम्बन्धित न होवे, क्योंकि तभी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होगी। जितनी उपाधियाँ हैं, सारी दुःख से सम्बद्ध हैं। यमराज इतने बड़े पद पर पहुँचे हुए भी नचिकेता से कहते हैं कि 'मैंने पहले बड़े-बड़े कर्मों के द्वारा यम पद को प्राप्त किया। यम-पद को प्राप्त करने के बाद सारी दुनियाँ को मरते देख करके मेरे अन्दर जिज्ञासा हुई और अन्त में मैंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया। यम-पद पर पहुँचा हुआ हूँ इसलिये इस सृष्टि के अन्त तक मेरा प्रारब्ध बना रहेगा। इसलिये मुझे यह काम करते रहना पड़ेगा। मुझे पता है कि यह व्यर्थ है लेकिन जो कार्य प्राप्त हो गया छूटेगा नहीं। तू धन्य है कि अभी छोटी उम्र में ही बिना इन सब स्थितियों को प्राप्त किए ही तेरी फल की इच्छा मिट गई। तू ज्ञान प्राप्त करके अभी ही मुक्त हो जाएगा इसलिये मुझ से भी ज्यादा धन्य है।'

जो चीज़ अपना स्वरूप नहीं है वह कभी भी दुःखरहित नहीं हो सकती। मेरा वास्तविक स्वरूप दुःख-सम्बन्ध से शून्य होना चाहिये। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' दुःख का सम्बन्ध किससे होता है? मेरा सम्बन्ध दुःख के साथ कैसे होता है? या तो शरीर के कारण होता है जैसे घुटने में दर्द है, गर्दन में दर्द है; या मन के कारण होता है—मेरा अपमान कर दिया, मुझे गाली दे दी इत्यादि। अथवा कई बार गौणात्मा के दुःख से भी दुःखी हो जाता है—मैंने संगमरमर लगाकर एक बढ़िया मकान बनाया, दस करोड़ का, और किसी माओवादी ने उसे बम से उड़ा दिया! मैं तो वहाँ नहीं था, मेरा कुछ नहीं बिगड़ा है, बिलकुल ठीक हूँ, फिर भी दुःख होता है क्योंकि उस मकान से सम्बन्ध है। मनुष्य को दुःख होता है तो कोई-न-कोई अपनी अपेक्षा दूसरा कारण होता है। बिना देह, मन, गौणात्मा इत्यादि के कभी दुःख नहीं होता। इसलिये कभी किसी को दुःखी देखते हैं तो पूछते हैं 'अरे भाई! तुमको किस बात का दुःख है?' जवाब भी देता है कि शरीर बीमार है या घरवाली बीमार है इत्यादि। परन्तु कोई शान्त बैठा हुआ है तो कोई नहीं पूछता 'तुझ में शान्ति कहाँ से आई?' क्योंकि शान्ति से बैठना, आनन्द से बैठना तुम्हारा स्वरूप है, स्वभाव है। दुःख का संयोग किसी-न-किसी निमित्त को लेकर होता है। जिन सम्बन्धों को लेकर दुःख होता है उन सबसे वियोग हो जाए बस यही 'योग' है। भगवान् की दृष्टि में योग यही है कि सारे गौणात्मा और मिथ्या आत्मा से तुम्हारा सम्बन्ध हटकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ जो दुःखनिवृत्तिरूप, परमानन्दरूप है। यही मुक्ति है।

'तुकार' से बतलाते हैं कि यह फल नहीं है! कोई चीज़ प्राप्त होवे तो फल है। मुक्ति में 'मिलना' कुछ नहीं है वरन् सब कुछ चले जाना है। जितनी चीज़ें और जिनके द्वारा तुम्हें फलरूप से प्राप्त होंगी वे सब दुःखसंयोग हैं अतः उनका वियोग हो जाना ही मुक्ति है। इसलिये तु-शब्द के द्वारा कहा कि मुक्ति कोई फल नहीं है। वह कैसे होती है? ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से ही होगी। किसी भी पूजा से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। पुरुषसूक्त में कहा—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'—'एव' का मतलब होता है केवल, अर्थात् उपाधियों से

रहित। ऐसे उस तत्त्व को जानकर तुम मृत्यु के पार चले जाते हो। अनेक श्रुतियों ने इसी बात को तरह-तरह से कहा है। ब्रह्म तत्त्व के ज्ञान के अलावा और कोई उपाय नहीं है इसलिये श्रुति ने कहा 'नान्यःपंथा विद्यते' कि कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसमें विकल्प नहीं है कि चाहे इस रास्ते से जाओ, चाहे उस रास्ते से जाओ! एक ही रास्ता है। इसमें दृष्टांत देते हैं कि हमारा अपना सपना हमारे जगे बिना कभी नहीं हटेगा। हमारा सपना हमारे जगने से ही हटेगा। वसिष्ठ जी कहते हैं, इसी प्रकार यह संसार भी दीर्घ स्वप्न, एक लम्बा सपना ही है। जब हम अपने स्वस्वरूप में जगते हैं तभी संसारस्वप्न की निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। जैसे अपने जगने से ही अपना सपना ख़त्म होगा वैसे ही हम अपने को जीवभाव के स्वप्न में देख रहे हैं, जब हम अपने ब्रह्मस्वभाव के अन्दर जगेंगे तभी यह निवृत्त होगा। हमें सपना क्यों आता है? हम जो हैं उसे निद्रा ढाँक देती है इसलिये। हम हैं तो राजा और स्वप्न में अपने को भिखारी देखते हैं, या हम हैं तो भिखारी, स्वप्न में अपने को राजा देखते हैं। निद्रा दोष से हम जो हैं वह ढक जाता है, उसकी जगह दूसरा दीखता है। हमारा-स्वरूप ढक गया निद्रा से इसलिये हमें अपना भिखारी-रूप दीख गया। इसी प्रकार हमारा ब्रह्मस्वरूप अज्ञान से जब ढक गया तभी ब्रह्म की जगह हमें अब्रह्म दीख रहा है, मैं स्वयं को ब्रह्म से अतिरिक्त ही देख रहा हूँ। ब्रह्म तत्त्व जो हमारा स्वरूप, वह अज्ञान के कारण ढक गया जैसे निद्रा दोष से जाग्रत् ढक गया। तभी स्वस्वरूप के सही ज्ञान से बंधनिवृत्तिरूप मोक्ष सम्भव है।। २१०।।

बन्धनकी स्वप्नसमानता प्रकट करते हैं—

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्।। २११।।

द्वितीय से रहित ब्रह्मरूप तत्त्व में ईश्वर-जीव आदिरूप से वर्तमान चेतन-अचेतनरूप सारा जगत् यह स्वप्न है।

ब्रह्म तत्त्व कैसा है? अद्वितीय है, वहाँ कोई दूसरा नहीं है। न ब्रह्म-जाति का दूसरा है, न ब्रह्म से भिन्न जाति का दूसरा है और न ब्रह्म में ही कोई टुकड़े हैं। तीनों प्रकार के द्वैत से रहित ब्रह्म तत्त्व की स्थिति है। तीन प्रकार के ही द्वैत लोक में प्रसिद्ध हैं; दूसरा जो होता है वह या समान जाति का होता है, जैसे दो ब्राह्मणों की जाति तो एक है लेकिन वे आपस में विभिन्न हैं। अथवा, कई बार कहते हैं—'उस गाँव में ब्राह्मण एक ही है।' इसका मतलब है कि ब्राह्मण से भिन्न जाति के वैश्य-क्षत्रिय तो हैं पर ब्राह्मण जाति का कोई दूसरा नहीं। कभी कहते है 'उस गाँव में अकेले ब्राह्मण ही हैं।' वहाँ 'अकेले' का मतलब है कि ब्राह्मण जाति के दूसरे तो हैं लेकिन उनसे भिन्न जाति का कोई नहीं है। तीसरा एक स्वगत भेद होता है : किसी से तुमने कहा 'आप हमारे यहाँ आइए, भोजन करने के लिये।' क्या कभी ऐसा होता है कि कहे 'थोड़ा रुकिए, मैं ज़रा घर जाकर भूख ले आऊँ, भूख को मैं वहीं

भूल आया!' तुम्हारी भूख, तुम्हारी प्यास, तुम्हारे देखने की शक्ति, तुम्हारे कान—अकेले तुमको बुलाएँगे तो भी ये सब साथ में आएँगे। अपने अन्दर रहने वाली चीज़ों से ही अपने में जो भेद वह स्वगत भेद है। आँख फूट जाती है तो मैं मर नहीं जाता हूँ। परन्तु आँखों वाला रहते जब तक ज़िन्दा हूँ तब तक जहाँ जाऊँगा मेरी आँख साथ ही जाएगी। यदि आँख और मैं एक होते तो आँख फूटने से मैं मर जाता। ऐसा न होने से एक नहीं हैं। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि आँख को हम खूंटी पर टाँग कर कहीं चले जाएँ, अतः है हमारा अंग। जो चीज़ हमसे अलग नहीं रह सकती लेकिन जिससे हम अलग रह सकते हैं उससे हम स्वगत भेद वाले हो जाते हैं। न तो ब्रह्म की जाति का दूसरा है कि दो ब्रह्म हों अतः सजातीय भेद नहीं है। विजातीय भेद भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म से भिन्न मायिक ही है, वास्तविक कोई नहीं है। और ब्रह्म में कोई अवयव हैं नहीं, वह निरवयव है। इसलिये ब्रह्म तत्त्व अद्वितीय है, तीनों प्रकार के द्वैतों से रहित है।

इसके द्वारा बतलाया कि जिस द्वैत को निवृत्त करते हो वह कोई वस्तु ब्रह्म में नहीं है जिसको हटाते हो! 'यदि यह द्वैत हट जाए, सारा संसार हट जाए तो काम बन जाए' यह मानकर योगी कहता है—'मैं समाधि में चला जाऊँ ताकि द्वैत रहे नहीं, सुख हो जाएगा।' किंतु वह मानता है कि द्वैत है, इसलिए इसे हटाना भी है। किंतु स्वप्न में जितनी चीज़ें दीखती हैं उनके हटने से स्वप्न नहीं हटता, स्वप्न हटेगा जब तुम्हारा निद्रा दोष जाएगा। एक स्वप्न में जितनी चीज़ें हैं वे हट जाती हैं तो दूसरी चीज़ें आ जाती हैं। अतः स्वाप्न वस्तुएँ हटने से नहीं वरन् निद्रा टूटने से स्वप्न हटता है। वेदान्त के अनुसार हटने वाला द्वैत स्वाप्न-तुल्य ही है। समाधि में कार्यप्रपंच की कोई चीज़ नहीं रहेगी परन्तु प्रकृति बची रहेगी। अतः जितनी देर समाधि लगाई उतनी देर द्वैत नहीं है पर समाधि का काल समाप्त हुआ तो द्वैत वैसा का वैसा सामने उपस्थित हो जाता है। इसलिये महर्षि पतञ्जलि ने यही कहा 'तदा द्रष्टुःस्वरूपे अवस्थानम्' 'तदा' मायने समाधि-काल में तुम स्वरूप में स्थित होते हो, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु प्रकृति बची हुई है इसलिये जैसे ही समाधि से उठकर आते हो वैसे ही संसार वैसा का वैसा रहता है। निद्रा दोष यदि हट जाता है तो जैसे स्वप्न से जगते हो वैसे ही जब अज्ञान हट गया तब तुम अपने ब्रह्मस्वरूप में *जग* जाते हो। फिर यह नहीं होता कि समाधिकाल में द्वैत नहीं है, या विचारकाल में नहीं है, वरन् सब समय, त्रिकाल में इसका अभाव है। जैसे स्वप्न में जो रसगुल्ला हमने खाया, जगने पर पता है कि खाते समय भी नहीं था, पहले भी कभी नहीं था और आगे भी कभी नहीं होगा, ठीक इसी प्रकार सारा जगत् न था, न है, न होगा। ऐसे अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व में सारा जगत् स्वप्न की तरह ही है, स्वप्न ही है।

रोज़ जो स्वप्न देखते हो वह निद्रा दोष से देखते हो। संसार स्वप्न अज्ञान दोष से देखते हो। दीखने वाला सपना ही है, दोषों में फ़र्क है। निद्रा से जगते हो तो जैसे जाग्रत् में आते हो वैसे अज्ञान से जगते हो तो तुरीय में आते हो। यह भेद होने पर भी तीनों कालों में न-

होना रूपी निश्चय जैसा स्वप्न के बारे में होता है वैसा ही जगत् के बारे में होता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि स्वप्न से जगे हुए व्यक्ति को स्वप्न के किसी पदार्थ की कामना नहीं होती। जब तक जगा नहीं है तब तक स्वप्न की सब चीज़ों की कामना रहती है, जगते ही वह कामना हट जाती है क्योंकि पता है कि चीज़ें हैं ही नहीं। इसी प्रकार जैसे ही हम जगत्-स्वप्न से जगते हैं वैसे ही जगत् की किसी चीज़ के प्रति कोई कामना रह नहीं जाती। अगर फिर भी रहती है, तो आचार्य कहते हैं कि इसका मतलब है, अभी नींद पूरी तरह से टूटी नहीं!

जब तक स्वप्न है तब तक इस सारे संसार को चलाने वाला, इसका नियमन करने वाला ईश्वर है और नियमन में रहने वाला मैं जीव हूँ। मुझे अपनी करनी का फल भोगना ही पड़ेगा क्योंकि वह हाथ में वज्र लिए खड़ा है। जो तुमने किया है भरना ही पड़ेगा। इसलिये जब तक बाध नहीं हो जाता जगत् का, तब तक यदि कोई कहे 'ईश्वर नहीं है, कर्त्ता भोक्ता जीव नहीं है,' तो वैसा ही है जैसे छोटे-छोटे सात आठ साल के बालक फाल्गुन के महीने में होली आती है तो बड़ी बुरी गलियाँ देते हुए घूमते हैं। उन बच्चों को पता कुछ नहीं है कि क्या बोल रहे हैं। ठीक इसी प्रकार से आचार्यों ने कहा 'कलौ वेदान्तिनः सर्वे फाल्गुने बालका इव' कलियुग के अन्दर बहुत लोग वेदान्त की बातें करते हैं जो वैसी ही हैं जैसे फाल्गुन के महीने में बालकों की गालियाँ। जैसे बालक को पता नहीं कि गाली बक रहा है इसी प्रकार अज्ञानदशा में जीव-ईश्वर के निषेध की बात होती है जिसका अभिप्राय वक्ता भी समझ नहीं रहा। 'ईश्वर नहीं है, मैं कर्त्ता भोक्ता नहीं हूँ' यह अनुभव तभी होता है जब जगत्-स्वप्न से जग गए, उसके पहले तक ईश्वर है ही और मैं जीव कर्त्ता भोक्ता हूँ ही। जगत् में ईश-जीव इन रूपों में चेतन की उपलब्धि है, भूत-भौतिक वस्तुओं के रूपों में अचेतन जड की उपलब्धि है। दोनों जगत् के अन्तःपाती अतः स्वप्नात्मक ही हैं। प्रायः स्वप्न और जाग्रत् में अन्तर मानकर समझाते हैं लेकिन जो वास्तव में है नहीं उसका अनुभव—यह स्वरूप दोनों में समान होने से यहाँ जाग्रत् को भी स्वप्न ही बताया जा रहा है।। २११।।

ईश्वर और जीव को स्वप्नान्तर्गत कहना कैसे बनता है? चेतन होने से वे वास्तविक क्यों न स्वीकारे जायें? इस शंका का समाधान करते हैं—

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्।। २१२।।

आनन्दमयरूप ईश्वर और विज्ञानमयरूप जीव, ये दोनों माया से कल्पित हैं एवं इनके द्वारा सब कुछ कल्पित है (अतः मायाकल्पित होने से जाग्रत्स्वप्न के अन्तर्गत हैं।)

ईश्वर कौन है? आनन्दमय कोष, कारण शरीर। हम लोगों के तीन शरीर हैं। एक तो स्थूल शरीर, जो सबको दिखाई देता है। दूसरा, इसके अन्दर सूक्ष्म शरीर है जो बाहर से किसी को दिखाई नहीं देता लेकिन हमें स्वयम् उसका साक्षात् अनुभव भी होता है और शरीर

को चलते-फिरते-बोलते देखकर दूसरे लोग सूक्ष्म शरीर का अनुमान भी करते हैं। तीसरा है कारण शरीर। कारण शरीर से ही ये स्थूल व सूक्ष्म शरीर बाहर आते हैं, वापिस उसी में लीन हो जाते हैं। जिस प्रकार मिट्टी से घड़ा, सिकोरा, परई—ये सब बाहर निकल आते हैं, फिर कालान्तर में सब फूट कर मिट्टी बन जाते हैं, मिट्टी ही रह जाती है, इसीलिये मिट्टी को इनका कारण मानते हैं; इसी प्रकार उस कारण शरीर से ये स्थूल सूक्ष्म शरीर बाहर आते हैं, फिर कारण शरीर में ही चले जाते हैं। कारण शरीर ही ईश्वर है। उसी को आनन्दमय कोष भी कहते हैं। मन या सूक्ष्म शरीर विज्ञानमय अर्थात् जीव है। आनन्दमय ईश्वर है। ईश्वर से ही हम लोग सब बाहर निकलते हैं और वापिस ईश्वर में ही लीन हो जाते हैं। निकलने वाले हम जीव हैं। जो ईश्वर से निकलते हैं वे जीव और जिसमें से निकलते हैं वह ईश्वर। उपनिषदों ने दृष्टांत दिया है कि जैसे बड़ी भारी आग जलती है तो उसमें से छोटी-छोटी चिन्गारियाँ निकलती हैं; चिन्गारी भी है आगरूप ही, यदि बारूद के ऊपर गिरती है तो भयंकर नुकसान करती है। निकली भी किससे? आग से। इसी प्रकार से परमेश्वर में से जीव निकलते हैं। माया के द्वारा ही इन दोनों की कल्पना होती है इसलिये इन्हें जगत् के अन्तःपाती कहा जाता है।

'तत्त्वमसि' के अन्दर दोनों की ब्रह्मता का प्रतिपादन किया है। फिर भी उन्हें जगत् में इसलिये गिन लिया कि माया से कल्पित ये दोनों हैं ही। ईश्वर माया के मालिकरूप से कल्पित है। जैसे धन के कारण ही तुम एक को तो धनी कहते हो दूसरे को निर्धन कहते हो। जो धन का मालिक उसे धनी कहते हो, लेकिन धन के कारण ही। दूसरे के पास कोई धन नहीं है इसलिये उसको निर्धन कहते हो, वह भी धन के ही कारण। इसी प्रकार माया के कारण ही जो माया का अधिपति है, माया का मालिक है, वह ईश्वर कहा जाता है और जो माया का गुलाम है, माया के अधीन चलता है उसे जीव कहा जाता है। पर हैं तो दोनों व्यवहार माया के कारण ही। इसलिये इन्हें मायाकल्पित जगत् के अन्तःपाती कहा है।

वेद में जगह-जगह ईश्वर और जीव को मित्र कहा है, सखा कहा है। ये मिलकर काम करते हैं। अतः दोनों के द्वारा बाकी संसार बनाया गया। जीव कर्म करता है इसीलिये चीज़ें बनती हैं। ईश्वर उस कर्म का फल देता है इसलिये चीज़ें बनती हैं। अगर ईश्वर फल न दे तो भी कुछ नहीं पैदा होगा और यदि जीव कर्म न करे तो भी कुछ नहीं पैदा होगा। जीव के कर्म के लिये ही फल होता है। मायाधीश होने से ईश्वर फल देकर दुनिया को पैदा करता है और हम मायाधीन जीव होकर कर्म करते हैं जिसके फलस्वरूप दुनिया पैदा होती है। उद्योगपति तनख्वाह न दे तो भी उद्योग नहीं चल सकता और कर्मचारी काम न करें तो भी उद्योग नहीं चल सकता। कुछ लोग, जैसे साम्यवादी, कहते हैं कि काम करने वालों की प्रधानता है; वे मज़दूरों के हितों की ही बात करेंगे, मालिक के हित की बात नहीं सुनेंगे। दूसरे कहते हैं कि सारे मज़दूर मिलकर भी क्या कर सकते हैं! कोई उद्योगपति पहले पैसा लगाएगा, उद्योग खड़ा करेगा तभी मज़दूर काम करेंगे। इसलिये उद्योगपति ही प्रधान है।

इस प्रकार के विचारक पूंजीवादी बन गए कि पूंजीपति ही प्रधान है। वेदान्ती कहता है कि पूंजी भी होनी चाहिये और काम करने वाले भी होने चाहिये इसलिये दोनों के हित की बात सोचो, किसी एक के हित की बात सोचने से काम नहीं चलेगा।

ठीक है कि हम माया के गुलाम हैं लेकिन कर्म करते समय सोचो कि सारा संसार हमारे कर्म से ही चल रहा है इसलिये कहीं हम एक ग़लती करते हैं तो उस का असर सारी चीज़ों पर पड़ेगा। हम मोटर का एक छोटा पार्ट बना रहे हैं और उसको हम बेध्याने खराब बना देंगे, तो जितनी हज़ारों मोटरें तैयार होंगी उन सबमें खराबी आ जाएगी। जैसे प्रायः छोटा कारीगर इस बात को भूल जाता है कि उद्योग चलाने के लिय उसकी कितनी बड़ी ज़िम्मेदारी है इसी प्रकार संसार चक्र चलाने के लिये हमारी कितनी बड़ी जिम्मेदारी है यह हम भूलते हैं। वस्तुतः हम कहीं थोड़ा भी चूकेंगे तो उसका असर सारे जगत् पर आएगा। परमेश्वर फल बिलकुल नियम के अनुसार देता है, उसके अन्दर कहीं गड़बड़ी नहीं करता है। जो जगत् हमारे सामने आ रहा है उसे हमने कर्म करके बनाया है, उसने फल देकर बनाया है। इसलिये जब कभी दुःख भोगो तब हमेशा सोचो 'हमने क्या गलती की जो यह दुःख हुआ।' क्योंकि दोनों का योगदान है इसलिये वेद ने कहा कि दोनों मित्र हैं।। २१२।।

आनन्दमयरूप ईश्वर तथा विज्ञानमयरूप जीव यद्यपि मिलकर जगत्कल्पना करते हैं तथापि कौन क्या करता है—इसको ज़रा स्पष्ट करके बतलाते हैं—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः।। २१३।।

ईक्षण से शुरू होकर प्रवेश तक की सृष्टि ईश्वर द्वारा कल्पित है तथा जाग्रत् से विमोक्ष पर्यन्त संसार जीवद्वारा कल्पित है।

प्रलय काल में अकेला परमात्मा ही था। उसने ईक्षण किया 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ'। यह ईक्षण ईश्वर की स्वतन्त्रता है। बहुत कैसे होगा? पूर्व कल्प के अन्दर जो जीव थे, उनके कर्मों का फल देने के लिये सृष्टि का निर्माण करने से एक बहुत हो जाता है। बहुभवन का संकल्प हुआ तो फल देने के लिये कैसे सृष्टि की जाए?— यह सोचकर उसने जिसका स्मरण किया, वह नित्य वेद है, उस में जैसा सृष्टि का क्रम बतलाया है उसी ढंग से उसने सृष्टि की। वेद कहता है 'यथापूर्वम् अकल्पयत्' जैसा पहले था वैसा ही उसने किया। सबसे पहले आकाश उत्पन्न किया। आकाश से वायु उत्पन्न किया। वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, इसके बाद देवताओं का निर्माण किया। देवताओं के बैठने के लायक जगह गाय, घोड़ा वगैरह पैदा किया किंतु देवताओं ने मना कर दिया 'हम नहीं बैठेंगे। ये हमारे बैठने लायक नहीं हैं।' कई शरीर पैदा करने के बाद उसने मनुष्य को पैदा किया। जब मनुष्य को पैदा किया तब देवताओं ने कहा—'यह आपने सुन्दर किया, इसमें बैठेंगे।' देवता बैठ गए, फिर भी सृष्टि नहीं चली। शरीर बन गया, शरीर के अभिमानी देवता तैयार हो गए, इन्द्रियाँ

बन गईं, फिर भी जब जीव कर्म करना शुरू करे तभी सृष्टि का चक्र चले। उसने पूर्वकल्पानुसारी सारी उपाधियाँ बना दीं; देवताओं की उपाधियाँ, पशुओं की उपाधियाँ पक्षियों की उपाधियाँ वनस्पतियों की उपाधियाँ, मनुष्य इत्यादि कि सारी उपाधियाँ पूर्व कल्प की सृष्टि के अनुकूल ही बनायीं। सब बनने पर भी कर्मारंभ न होता देखकर परमेश्वर ने विचार किया—'चेतन मैं ही हूँ, ये तो सब उपाधियाँ हैं। चेतन ही कर्म कर सकेगा।' इसलिये उसने शरीर में जीवरूप से प्रवेश किया। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् इति' ईश्वर ने जीवरूप से प्रवेश किया। प्रवेश वैसा ही है, जैसे तुम्हारा मुख प्रतिबिम्बरूप से काँच में प्रवेश कर जाता है। जब तुम्हारा मुख काँच में प्रवेश करता है तब तुम्हारे मुख में कोई परिवर्तन नहीं होता, तुम्हारा मुख वैसा का वैसा रहता है। इसी प्रकार ईश्वर ने जब जीवरूप से प्रवेश किया तब ईश्वर की ईश्वरता में कोई कमी नहीं आई। प्रतिबिम्बरूप से ही जीव बन गया। आगे सब कार्य जीव करता चला जाएगा, ईश्वर उसको फल देता रहेगा। अपनी तरफ से स्वतन्त्र होकर ईश्वर को अब कुछ करने की ज़रूरत नहीं रही। जब तक जीव नहीं बना था तब तक चेतनरूप एक ईश्वर ही था इसलिये सब कुछ वही कर रहा था। इसलिये कहा कि ईक्षण से प्रवेश तक का कार्य ईश्वर ने किया। स्वयं ही वह सारा जगत् बना और फिर खुद ही जीवरूप से उसने प्रवेश किया। अतः जीव जो करता है वह भी करने वाला ईश्वर ही है। वही जीवरूप से करता है। 'जीव ने किया' ऐसा कहा जाता है परन्तु जीवरूप से है कौन? ईश्वर ही है। 'कल्पिता' और 'जीवकल्पितः' ऐसा कहने के द्वारा बतला दिया कि जैसे रस्सी में साँप *बनता* है परन्तु समझदार को वह कल्पित ही लगता है वैसे संसार समझदारों की दृष्टि में कल्पना ही है। जब विचार करेंगे तब पता लगेगा कि जगत् केवल अविद्याकृत है मायाकृत है। जब तक यह पता नहीं लगेगा तब तक लगेगा कि पदार्थों से कृत है। जैसे जब भ्रम से साँप दीखता है तब प्रतीत यही होता है कि यह साँप किसी साँप से पैदा होकर यहाँ आया है। जब पता लग जाता है कि वह भ्रममात्र था तब समझ लेते हैं कि रस्सी को ही भ्रम से साँप समझा था।

इसी प्रकार, जब तक तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक सारे जगत् में हमें कार्यकारणभाव प्रतीत होता है। विचार करने से पता तो लग जाता है कि ऐसी कोई व्यवस्था नहीं परन्तु फिर भी व्यवहार करने के लिये कारणों की ही जिज्ञासा होती है और उन्हीं में प्रवृत्ति भी होती है। जब तत्त्व का पता लगकर निश्चय हो जाता है कि सब अविद्याकृत है, तब अन्य किसी कारण की तरफ प्रवृत्ति होती नहीं, केवल माया ही सबका कारण निश्चित होता है। उस अवस्था में मन के द्वारा जो संकल्प होता है वह वास्तविक हो जाता है। इसलिये वेद कहता है—जिस चीज़ की वह मन से कल्पना करता है वैसा ही हो जाता है। वह जानता है कि हर चीज़ का कारण अविद्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिसे अभी हम प्रमा समझते हैं वह भी तब भ्रम ही हो जाती है। अभी हमें लगता है कि भ्रमरूप साँप का कारण तो अज्ञान परन्तु अधिष्ठान रस्सी का कारण तो फैक्ट्री है, जहाँ से बनकर रस्सी

आई है। किंतु तत्त्वसाक्षात्कार होने पर पता लगता है कि जैसे साँप अविद्या से कल्पित है वैसे रस्सी भी अविद्या से कल्पित है। ईशकल्पित जो पदार्थ हैं पंचमहाभूत आदि, वे सब तो ज्ञान होने तक ईशकल्पित ही लगेंगे, हमारे अधीन हैं—ऐसा नहीं लगेगा। जो जीवकल्पित हैं उन्हें तो समझने पर लगता है—यह हमने किया। ज्ञान होने पर पता चलता है कि एक ही चेतन माया के कारण दोनों प्रकार की चीज़ों का निर्माण करने वाला है। अतः इस प्रकार का भेद नहीं रह जाता कि 'ये कर सकते हैं, ये नहीं कर सकते।' योगी बहुत-सी सिद्धियाँ दिखलाते हैं परन्तु उसके लिये वे ईश्वर के निर्मित पदार्थों का प्रयोग करके ही दिखलाते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि का प्रयोग करके ही किसी भी चीज़ को बनाकर सिद्धि दिखलाते हैं। दिखलावें या स्वयं अनुभव करें परन्तु पदार्थों का निर्माण वे नहीं कर सकते। निष्ठा दृढ हो जाने पर इस प्रकार का फ़र्क नहीं रह जाता।

एक कथा आती है : नारद जी किसी के घर ठहरे थे। वे लोग सेवा करते थे। घर में कोई बच्चे नहीं थे। नारद जी ने पूछा 'तुम्हारे बच्चे कहीं गए हुए हैं?' वे बोले—'नहीं जी! हमारे बच्चे हुए ही नहीं।' उन्होंने देखा कि नारद जी के मन में दया आई है तो कहा 'आप भगवान् के पास जाते रहते हैं, ज़रा कहिएगा कि बच्चे का मुँह देख लेते तो बड़ा अच्छा था।' नारद जी ने कहा—'ठीक है।' नारद जी विष्णु भगवान् के पास गए तो पूछा—'इसके बच्चे नहीं हैं। क्या किया जाए?' विष्णु भगवान् ने विधाता से कहा 'अरे देखो कि इसका प्रारब्ध कैसा है।' प्रारब्ध देख कर उन्होंने कहा—'इसके तो सात जन्म में सन्तति नहीं होनी है!' नारद जी ने कहा 'ठीक है।' नारद जी वापिस उसके यहाँ ठहरे तो बताया 'तुम्हारे सात जन्मों में बच्चा लिखा नहीं है। अब भगवान् की इच्छा मानकर सन्तोष करना।' वे लोग तो भगवान् के भक्त थे ही, उन्होंने कहा 'ठीक है, नहीं है तो नहीं सही।' कुछ समय और हो गया। महात्माओं की वे सेवा करते ही रहते थे। कोई एक परमहंस महात्मा आए। दो-तीन दिन ठहरे, उन्होंने बहुत सेवा की। उन्होंने प्रसन्न होकर कहा 'अरे तुम्हें कुछ चाहिये तो माँग लो।' उन्होंने कहा—'हमें तो एक चीज़ ही चाहिए परन्तु हमारे सात जन्मों तक भाग्य में नहीं है तो कहाँ से मिलेगी।' महात्मा ने पूछा 'किसने कहा?' वे बोले 'नारदजी आए थे, भगवान् से पता कर बताया कि सात जन्मों में हमारे सन्तति नहीं है।' उन्होंने कहा—'ऐसा है!' उन्होंने अपना दण्डा उठाया और उसकी औरत को सात बार दण्डे मारे, कहा 'चलो इसी जन्म में तू सात ले ले।' महात्मा चले गए। अब एक-के-बाद-एक उनके तो सात पुत्र हो गए! थोड़े सालों बाद नारदजी आए तो बड़ा शोर-गुल उस घर में। नारद जी ने पूछा—'ये सब भाई के लड़के आए हुए हैं?' उन्होंने कहा—'नहीं जी, आपके ही हैं।' नारद जी बोले 'तुम्हारे बच्चे हुए!' वे बोले 'हाँ। एक महात्मा आए थे, उनकी कृपा से हो गए।'

नारद जी को बड़ा गुस्सा आया! मन में आया कि यह सोचता होगा कि मैं झूठ-मूठ का नारद हूँ। बेचारे झटपट सीधे गए वैकुण्ठ। भगवान् से कहने लगे 'महाराज आपने कहा उसके सात जन्मों में बच्चे नहीं हैं। उसके तो इसी जन्म में सात हो गए!' भगवान् ने कहा

'बाद में जवाब दूँगा, अभी किसी काम से चलना है, चलो हमारे साथ।' दोनों गए। एक जगह सात दिन से भयंकर पानी बरस रहा था। लकड़ियाँ गीली थीं। वहाँ जाकर एक झोपड़े में पहुँचे। सर्दी से ठिठुर रहे थे भगवान्। महात्मा ने कहा 'आइए पधारिये।' बोले 'भाई, बड़ी ठंड लग रही है, थोड़ा गरम दूध पिला दो तो काम होवे।' उन्होंने कहा 'अभी लीजिये।' और चला गया जहाँ गरम करने की जगह थी। थोड़ी देर में माँस जलने की बदबू आने लगी। नारद जी ने पूछा 'काहे की बदबू आ रही है?' भगवान् ने कहा 'माँस जलने जैसी बदबू लगती है। जाकर देखो, सब ठीक तो है उस कमरे में?' नारद जी गए, देखते हैं कि महात्मा अपने पैर के ऊपर घी-भिगोये चीथड़े बाँधकर उनको जला रहा है और उसपर दूध गरम कर रहा है! नारद जी ने कहा—'यह क्या कर रहे हो?' बोले—'सात दिन से पानी बरस रहा है, लकड़ी तो कहीं सूखी है नहीं। आप लोगों को दूध पिलाना था। पैर ही सूखा था।' नारद जी ने कहा 'अरे! ऐसा क्यों किया?' महात्मा ने कहा 'त्रिलोकी के ईश्वर साक्षात् भगवान् विष्णु माँग रहे हैं गर्म दूध तो देना ही हुआ न!' नारद जी ने आकर कहा भगवान् से—'भगवन्! इसने तो हम लोगों को पहचान लिया। ऐसा भयंकर काम कर रहा है दूध गरम करने के लिये।' भगवान् ने कहा—'नारद, इसी ने उसे सात बच्चे दे दिए। अब बोलो, इसकी बात को मैं कैसे नकार करूँ?'

परमेश्वर कर्म के अनुसार तुमको फल देता है। परन्तु इस प्रकार का जो तत्त्वनिष्ठ है, जो कुछ भी उसके मन में भान हो जाता है वही वास्तविक हो जाता है। संसार है तो अविद्या से कल्पित ही। योगी तो परमेश्वर द्वारा बनाई चीज़ों के सहारे उत्पत्ति करेगा और तत्त्वनिष्ठ अविद्या से कार्य कर लेता है।

जाग्रत् अवस्था में हम जिन पदार्थों को देखते हैं, द्रष्टा बनकर उन्हें दृश्य बनाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि, बस यही जाग्रत् अवस्था है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि करने वाला जीव ही है इसलिये उसी की जाग्रत् अवस्था है। महाभूत आदि तो परमेश्वर ने बना दिए, उन पदार्थों के अन्दर क्या-क्या परिवर्तन किए जाते हैं—यह सब ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-मन-प्राण के द्वारा जीव ही सम्पन्न करता है। जाग्रदादि से जाग्रत् और स्वप्न समझने चाहिये। स्वप्न भी जीव बनाता है। परमेश्वर ने जीवरूप से प्रवेश किया है लेकिन *जहाँ* प्रवेश किया वहाँ से ब्रह्मरूप मानो बरी हो जाता है, छूट जाता है अतः जीव-सृष्टि को अलग से कहना-समझना संगत है। 'अहमेव परं ब्रह्म-इति अस्य अर्थस्य अप्रबुद्धता अविद्येति वयं ब्रूमः' अविद्या क्या है? 'मैं ही परब्रह्म हूँ'—इस बात का भान न होना। अतः अविद्या-निवृत्ति का मतलब है 'मैं ही परब्रह्म हूँ' इस बात का स्पष्ट भान होना। यहाँ परब्रह्म विषयरूप से नहीं भासता है, अभिन्नरूप से अर्थात् प्रत्यगात्मा रूप से भासता है। प्रत्यगात्मा से ब्रह्म अभिन्न है—इसी का नाम मोक्ष है। अभिन्न नहीं है—इसी का नाम अविद्या है। 'अभिन्न नहीं है' की निवृत्ति हो गई तो अभिन्न हमेशा है ही। जब जीव इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है तब जाग्रत् अवस्था है और जब इन्द्रियों के बिना ग्रहण करता

है तब स्वप्नावस्था है। यही जाग्रत् और स्वप्न में फ़र्क है। परमेश्वर की सृष्टि के साथ सम्बन्ध करने के लिये इन्द्रियों की अपेक्षा है, जो परमेश्वर की सृष्टि नहीं है, अपने ही मन की बनी हुई स्वप्न की सृष्टि है, उसके लिय बहिरिन्द्रियों की ज़रूरत नहीं पड़ती। इसीलिये वह स्वप्नावस्था है। जब इन दोनों में हम थक जाते हैं तब न बहिरिन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, न अन्तरिन्द्रिय से ग्रहण करते हैं। विषय ग्रहण करना ही जीव का स्वभाव है, वह चला गया तो हम आनन्दमय में चले जाते हैं, कारण ब्रह्म में चले जाते हैं। इसलिये श्रुति ने कहा है—'तस्य त्रय आवसथाः' इसके रहने के तीन मकान हैं। इन्द्रियों के द्वारा जहाँ ग्रहण करता है वह एक मकान है। बिना इन्द्रियों के केवल मनसे ग्रहण करता है वह दूसरा मकान है। जब ये दोनों अवस्थाएँ नहीं हैं तब उस आनन्दमय में जाकर कारण के साथ एक हो जाता है, वह तीसरा मकान है। जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त अर्थात् १) इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, २) मनोनिर्मित विषयों का ग्रहण ३) दोनों का ग्रहण नहीं, ४) ग्रहण और अग्रहण दोनों से हट कर ब्रह्म-स्वरूप में स्थिति। यह सारा संसार जीव के द्वारा कल्पित, बनाया हुआ है। मोक्षप्राप्ति का साधन जो वेद वह सृष्टि के शुरू में जब परमेश्वर ने सृष्टि करना प्रारभ किया, तभी स्मरण कर लिया है इसलिये मोक्ष का जो मार्ग है वह वेद में बतला दिया। मोक्ष का मार्ग तो ईश्वरकल्पित है परन्तु उस मार्ग में चल कर प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म की स्थितिरूप जो मोक्ष वह तो जीव का ही है क्योंकि मुक्त वही होगा जो पहले बद्ध है। ईश्वर माया के द्वारा सब कुछ करता है परन्तु वह माया के द्वारा बद्ध नहीं है इसलिये कभी मुक्त भी नहीं है! मुक्ति उसकी कल्पना नहीं है। मुक्ति तो हम जीवों की ही कल्पना है। इसीलिये कहा 'विमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः'।। २१३।।

अपारमार्थिक होने से जीव और ईश्वर के बारे में विवाद निष्प्रयोजन है यह बताते हैं—

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसङ्गं तन्न जानते।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः।। २१४।।

ब्रह्मतत्त्व अद्वितीय व असंग है, उसे नहीं जानते अतः मायिक जीव-ईश्वर के बारे में निष्प्रयोजन कलह करते हैं।

वास्तविक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का संग न ईशकल्पित सृष्टि से, न जीवकल्पित संसार से है। जैसे काँच में मुँह दीखने पर काँच वाले मुँह का हमारे मुँह से कोई सम्बन्ध नहीं होता, प्रतिबिम्ब के विकार बिम्ब में नहीं आते, उपाधि का प्रभाव प्रतिबिम्ब पर ही पड़ता है बिम्ब पर नहीं, वैसे मायिक से सत्य प्रभावित नहीं। कर्तृत्व-कारयितृत्व, फलदातृत्व आदि जीव-ईश्वर में रहें लेकिन ब्रह्म में नहीं होते। वह असंग, असम्बद्ध ही रहता है। जो यह तथ्य नहीं जानते वे कर्तृत्वादि को वास्तविक समझने से इनसे युक्त जीव-ईश्वर का विचार करते रह जाते हैं, सत्य ब्रह्म वस्तु का विचार नहीं करते। न जानने से लोग इस बारे में मतभेद ही रखते हैं, विवाद, कलह करते हैं। जीव अणु है या मध्यम परिमाणी आदि, एक है या

अनेक आदि विविध मान्यताएँ प्रचलित हैं। ऐसे ही ईश्वर-विषयक असंख्य मतभेद हैं। अज्ञान रहते विवाद व्यर्थ है, जानकार ही वस्तु का विचार कर सकते हैं। वेद से अनभिज्ञ ही विवाद में संलग्न होते हैं, वैदिक सत्य समझने से निर्विवाद रहता है।। २१४।।

तत्त्वज्ञान का प्रभाव दिखाते हैं—

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठाननुमोदामहे वयम्।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे।। २१५।।

हम सत्य जानकर तत्त्वनिष्ठों का हमेशा अनुमोदन करते हैं, उनसे भिन्नों के प्रति हमें दया ही आती है, भ्रमग्रस्तों से हम विवाद नहीं करते। (तत्त्वनिष्ठा ननु मोदामहे वयम् इति कल्याणपीयूषानुसारी छेदः। ननु आमन्त्रण इति तदर्थः।

तत्त्वज्ञ होने से अन्य तत्त्ववेत्ताओं की स्थिति को समझ करके हम तो हमेशा ही खुश रहते हैं। क्योंकि हमने तत्त्व का अनुभव कर लिया है इसलिये निश्चित रूप से हम खुश ही रहते हैं। अज्ञानी लोग हमारे कल्पित रूपों के बारे में तरह-तरह के विवाद करते हैं पर इससे हमें विक्षेप नहीं होता, हमारी प्रसन्नता सदा कायम रहती है। छोटे बच्चे झगड़ा करते हैं तो माता-पिता खुश ही होते हैं, कि देखो, कैसी बातों पर झगड़ा कर रहे हैं! सूरदास जी ने कहा है कि भगवान् कृष्ण को बलराम चिढ़ाते थे

'गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत श्याम शरीर
मोको कहत मोल को लीनो तुम यदुपति कब जायो?'

कृष्ण से बलराम कहते हैं, 'तुझे तो खरीदा है! पैदा होता तो काला कैसे पैदा हुआ? बाकी घर में सब गोरे ही हैं, तू ही एक काला कैसे है?' भगवान् ने जाकर यशोदा से शिकायत की 'देखो, मुझे चिढ़ाता है।' यशोदा हँस पड़ी। इसी प्रकार जब दूसरों को जीव-ईश्वर के विषय में विवाद करते देखते हैं, कलह करते देखते हैं तब तत्त्वज्ञ हँसते रहते हैं यह जानकर कि ये बच्चों की लड़ाईयाँ हैं। जीव-ईश्वर पर जो विचार करते हैं, उनकी बातें सुनकर तो तत्त्वज्ञ प्रसन्न होते हैं। पर 'अन्यान् अनुशोचाम एव;' जो लोग जीव-ईश्वर का विचार नहीं करके बाकि जगत् की चीज़ों का ही विचार करते रहते हैं, तत्त्वज्ञ को उनपर दया आती है कि जन्म निरर्थक खो रहे हैं। संसार के अन्दर 'हम जीव कैसे हैं, फल देने वाला ईश्वर कैसा है'—ये विचार करने वाले अत्यल्प हैं। दाल-चावल क्या भाव आते हैं, किस जगह कितने की नौकरी मिलती है आदि यही सब सोचते रहते हैं। निष्प्रयोजन वार्त्ता आदि में घण्टों बरबाद करते हैं पर उनसे कहो 'ज़रा परमात्मा के विषय में विचार करो' तो कहते हैं 'समय नहीं मिलता!' ऐसे लोगों के लिये तत्त्वज्ञ शोक ही कर सकते हैं कि ये बेचारे कैसे फँसे हुए हैं! ऐसा नहीं कि सांसारिकों या शास्त्रीयों को तत्त्वज्ञ समझाने में तत्पर होवे, क्योंकि 'न भ्रान्तैर्विवदामहे'—जो दृढ भ्रम में पड़े हुए हैं उनके साथ विवाद करना, उनको

समझाने का प्रयत्न करना केवल अपने को दुःखी करने के सिवाय और कोई फल देता नहीं है। उनको समझाने जाओ तो वे तुम्हें ही डण्डा मारेंगे। इसलिये भ्रान्तों के साथ विवाद नहीं करना चाहिये। जो जानने के इच्छुक जिज्ञासु हैं, आचार्य शंकर ने कहा है कि उनकी तो उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो जिज्ञासु है उसे रास्ता बतलाना ही चाहिये। जो इस रास्ते पर चलने वाले हैं ही नहीं, जिज्ञासु हैं ही नहीं, उनके साथ विवाद में पड़ना व्यर्थ का काम है।

सांसारिक लोग सत्संग करते नहीं, शास्त्रचिन्तक महात्माओं से दूरी रखते हैं। सिद्धिप्रदर्शन आदि करने वालों का भरोसा करते हैं फिर धोखा खाकर कहते रहते हैं कि महात्मा बुरे होते हैं! ऐसे भ्रान्त लोगों से विवाद करने से कोई लाभ हासिल नहीं होता। जिज्ञासु को ही उपदेश करना चाहिये। वेदान्त ऐसी चीज़ नहीं है जो अनधिकारी को दी जा सके। जिस प्रकार मोती यदि हंस को दो तो चुग लेगा और बगुले को दो तो कड़ी चीज़ होने से फैंक देगा कि व्यर्थ है। भ्रान्ति वालों को अपनी तरफ से उपदेश न करो, वे जैसे जाते हैं वैसे चलते रहने देना चाहिए।। २१५।।

जीव-ईश्वर के बारे में क्या भ्रान्तियाँ हैं, यह बतलाते हैं—

तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः।। २१६।।

तिनकों की अर्चना करने वालों से योगियों तक ईश्वर के बारे में एवं लोकायतों से सांख्यवादीपर्यन्त जीव के बारे में भ्रम पर ही टिके रहते हैं।

ईश्वर के विषय में भ्रम पूजा करने वालों को, उपासना करने वालों को है। कुछ लोग तृण, कुशा की पूजा करते हैं, 'यही परमेश्वर है' ऐसा मानकर कुश की पूजा करते हैं। कहीं पर कुश की मूर्ति बनाकर भी पूजा करते हैं। श्राद्ध आदि में तीन पिण्ड देने के लिए कुश के तीन ब्राह्मण बना लिये जाते हैं कि एक वसुदेवता है, दूसरा रुद्र देवता है, तीसरा आदित्य देवता है। कुश की तरह पत्थर, नदी इत्यादि सबके अन्दर ईश्वरदृष्टि से पूजा करते हैं। इसी प्रकार उपासक लोग मूर्तिविशेष को ईश्वर समझते हैं जैसे, हनुमान् जी ईश्वर हैं ऐसा मानते हैं। आगे ऐसी मान्यता वाले हो जाते हैं कि 'अमुक मुहल्ले के हनुमान् जी ज्यादा चेतन हैं, ज्यादा ताकत वाले हैं, उस मुहल्ले के हनुमान् जी से।' जब कहते हो उस हनुमान् जी की अपेक्षा ये हनुमान् जी तब एक की अपेक्षा दूसरे को 'हनुमान् जी' कह रहे हो पर भेद तो मूर्ति के फ़र्क को लेकर ही है, हनुमान् जी दो हैं नहीं। मूर्ति को ईश्वर समझने वालों से लेकर 'सब विद्याओं का उपदेश देने वाला ईश्वर है'—इस प्रकार योगी जो ईश्वर को मानते हैं वे सब भ्रान्ति के सहारे हैं। मूर्ति-उपासकों की अपेक्षा सबसे ज़्यादा सूक्ष्म योगसम्मत स्वरूप है। वेद में भी कहा है—'ईशानःसर्वविद्यानाम् ईश्वरः सर्वभूतानां' सारी विद्याओं का वह शासक है। पूजा करने वाले और ध्यान करने वाले—ये सब ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानते हैं। एक

कहते हैं कि परमेश्वर साकार ही है, दूसरे कहते हैं कि निराकार ही है। निराकार और साकार के झगड़े को छोड़ कुछ लोग 'नीराकारम् उपास्महे' गंगाजी की ही उपासना करते हैं जो नीर हैं, जलरूप हैं। जो अपने को मान्य है—उसको तो हर एक ठीक बतलाता है, दूसरों की मान्यता गलत बताता है। वेदान्त की दृष्टि तो पहले ही (श्लो. १२१) कह दी है कि अन्तर्यामी से लेकर कुदाल पर्यन्त सभी ईश्वररूप है, किसी की भी ईश्वररूप से उपासना कर सकते हैं।

उपासक और पूजक लोग ऐसा नहीं मानते हैं कि *किसी* भी रूपकी पूजा करो वरन् 'हम जिसकी पूजादि करते हैं वही ताकत वाला है, वही रूप सब मानें, पूजें' ऐसा मानते हैं। ईसाई-मुसलमानों का भी ऐसा ही कहना है। अल्लाह ही मान्य है और वह एक ही जगह, काबा में, मक्का में है। इसीलिये संसार में जहाँ भी हो वहाँ मुसलमान नमाज़ पढ़ने के लिये मक्का की ओर ही मुँह करके बैठेगा। भारतवर्ष से पश्चिम में पड़ता है इसलिये पश्चिम को मुँह करके बैठते हैं। यूरोप में बैठेगा तो पूर्व की तरफ मुँह करेगा। इसी तरह से ईसाई भी कहते हैं कि 'हम जिस परमेश्वर को मानते हैं, वही ठीक है।' कुशा से लेकर सर्वविद्यागुरु तक को परमेश्वर मानने वाले अपनी-अपनी मान्यता को ही ठीक कहते हैं इसलिये भ्रान्त हैं। हम लोग कहते हैं, सभी ईश्वर के रूप हैं। जिसको जो रूप पसन्द हो उसकी पूजा करे, ध्यान करे। इस बारे में भ्रम वालों का ही झगड़ा है। वैष्णव और शैव झगड़ा करते हैं। वैष्णवों में भी राम को मानने वाले कृष्ण को मानने वालों से झगड़ा करते हैं।

जैसे ईश्वर के विषय में भ्रान्त हैं वैसे लोकायत अर्थात् चार्वाक जो शरीर को ही जीव मानता है। कोई इन्द्रियादियों को मानते हैं। कपिल महर्षि को मानने वाले आत्मविचारकों में श्रेष्ठ माने जाते हैं, उन्होंने जीव को केवल भोक्ता ही माना, कर्त्ता नहीं, करने वाली प्रकृति मानते हैं। जीव के विषय में ये सब भ्रम हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदि अलग-अलग चीज़ों को जीव माना गया है। ऐसे सब भ्रमों को पहले इसी अध्याय में बतला आए हैं।। २१६।।

पामरों व वादियों की भ्रान्तता उपपन्न करते हैं—

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदा तदा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम्।। २१७।।

जब अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व नहीं जानते तब सभी भ्रान्त हैं, कहाँ उनका मोक्ष या इहलोक में भी उन्हें कहाँ सुख!

अद्वितीय एकमात्र ब्रह्मतत्त्व है; न सजातीय द्वैत है, न विजातीय द्वैत है, न स्वगत द्वैत है। इस प्रकार द्वैतभाव से सर्वथा रहित जो ब्रह्म तत्त्व अर्थात् वास्तविक सच्चिदानंद स्वरूप है उसे जब तक नहीं जानते हैं तब तक तृणार्चक से लेकर योगी पर्यन्त और लोकायतिक से लेकर सांख्य पर्यन्त सारे के सारे भ्रान्त ही हैं। क्योंकि अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व को तो जाना

नहीं इसलिये अज्ञ अतएव भ्रान्त हैं। सारे ही अज्ञानी भ्रान्त हैं। वास्तविकता को न जानने वालों में 'यह इससे श्रेष्ठ, यह इससे श्रेष्ठ' कहना नहीं बनता। एक को रस्सी में साँप दिखाई देता है, दूसरे को रस्सी में माला दिखाई देती है। कोई कहे कि 'रस्सी में हार की कल्पना करो तो ज्यादा अच्छा है साँप की अपेक्षा' तो व्यर्थ बात है। दोनों में कोई श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भाव नहीं कह सकते। जब तक रस्सी है—यह नहीं जाना, तब तक तो कह सकते हो, जैसे एक सज्जन कहा करते थे कि 'अगर मनके ही खाने हैं तो फिर लड्डू ही खाओ, फुलका काहे के लिये खाओ'! मन का चाहे फुलका खाओ चाहे लड्डू खाओ, दोनों एक-जैसे ही हैं। मन के लड्डू खाने से कोई ज़्यादा मज़ा आएगा ऐसी बात तो है नहीं। इसलिये जब तक अधिष्ठान तत्त्व को नहीं जाना तब तक कितने भी अच्छे लगें, सुन्दर लगें, हैं सब वाद भ्रम। व्यक्ति की महिमा या तर्क के प्रभाव से भी भ्रम को प्रमा नहीं मान सकते। कपिल की महिमा चाहे जितनी हो लेकिन अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के अज्ञान से उनके मत को भ्रान्त स्वीकारना पड़ता है। भ्रान्त होने से उनकी बात के अनुसरणसे मुक्ति कैसे हो सकती है? द्वैत-दर्शन है ही तो सचमुच में मृत्यु है। वेद ने कहा है—'मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—जो यहाँ अनेकता जैसी भी देखता है उसे बार-बार मरना पड़ता है। अनेकता कैसी है? श्रुति कहती है 'नाना इव' सचमुच में नाना है ही नहीं, अनेक हैं ही नहीं। अद्वितीय तत्त्वको ही भ्रांत अनेक की तरह देखता है अतः बार-बार मृत्यु के पाश में पड़ता रहता है अर्थात् जन्म-मरण का चक्र उसका चलता रहता है।

संसार-बन्धन से भले ही नहीं छूटते, इस संसार में तो सुख से रहते होंगे? यह सम्भावना भी दूर करते हैं, 'क्वेह वा सुखम्' 'इह' मायने यहाँ, जीवन काल में भी उनको सुख कहाँ से हो सकता है? जिस पक्ष को जिसने धारण कर लिया उसमें अभिनिवेशसे उसका चित्त कभी भी विश्रान्त नहीं हो पाता। ग़लत बात सिद्ध तो कर नहीं पाते, दूसरों के मतों को देख कर चित्त अविश्रान्त होता रहता है कि 'ये कैसे रास्ते पर आवें'। इसलिये वे लोग शान्ति से नहीं बैठते वरन् 'मिशन' बनाते हैं कि 'हमारे जीवन का उदेश्य है, सब जने ईसाई बन जाएँ'। बनेंगे तो हैं नहीं, अतः परेशान रहेंगे तो विश्रान्ति कहाँ होगी! जब वादी कोई तर्क देगा, उसका जवाब नहीं दे सकेंगे तब चित्त अशान्त भी हो जाएगा। वादी कोई-न-कोई बात कहेगा जिसका जवाब नहीं मिलेगा इसलिये संशय भी आएगा। गीता में भगवान् ने कहा है—जो संशयात्मा होता है उसको न यहाँ सुख है, न आगे सुख है। ऐहिक सुख भी भ्रान्त को नहीं हो सकता क्योंकि चित्त उसका कभी भी विश्रान्ति को प्राप्त नहीं करता।। २१७।।

भ्रान्तों में ब्रह्म का ज्ञान भले ही न हो, अन्य विद्याएँ तो होती हैं जिनके कारण कोई ऊँचा या नीचा समझा जाये, कोई क्रम हो अच्छाई का, यह सम्भव है। उस उत्तमता से सुख भी सम्भव है। तथापि मोक्ष में निरुपयोग होने से ऐसी उच्चता और ऐसे सुख को मुमुक्षु महत्त्व दे यह ठीक नहीं यह बताते हैं—

उत्तमाधमभावश्चेत् तेषां स्यादस्तु तेन किम्।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु।। २१८।।

भ्रान्तों में उत्तमता-अधमता का क्रमादि हो भी तो उससे क्या! स्वप्न में स्थित राज्य हो या भीख, जगा व्यक्ति दोनों से असम्बद्ध ही रहता है।

अन्यान्य विद्याओं, तकनीकों के बलपर बेहतर-बदतर का भेद माना जा भी सके तो अवास्तविकता पर निर्भर होने से निरर्थक है, किसी प्रयोजन का सम्पादक नहीं। तिनका, पत्थर आदि जड को पूजने वाले से चेतन गुरु आदि को पूजने वाला या लोकायत से सांख्य स्वयं को श्रेष्ठ समझकर खुश हुआ भी तो लाभ क्या? असलियत में क्या उससे कुछ फ़ायदा होना है? जैसे स्वप्न के अन्दर हमने देखा, हम राजा बन गए हैं, हमारा सारे भारतवर्ष पर राज्य है। दूसरे ने सपना देखा कि भिखारी होकर कई घरों में माँग कर किसी तरह गुज़ारा करता था। कोई कहे, 'जी, राजा बनने का सपना देखना अच्छा है। तुमने सपना भी देखा तो भिखारी का सपना!' स्वप्न देखते काल में तो फर्क लगता है, भिखारी सोचता है 'मैं राजा होता तो आराम से रहता', लेकिन जब आदमी जग गया तब न यह प्रसन्नता रहती है कि हमने राजा का सपना देखा क्योंकि राजा का सपना देखने से तुम्हारे हाथ तो कुछ आया नहीं, और भीख माँगने से भी कुछ तुम्हारा गया नहीं इसलिये इसका दुःख भी नहीं होता। जग जाने पर जैसे स्वप्न के राज्य और भिक्षा में कोई फ़र्क नहीं रह जाता ठीक इसी प्रकार ब्रह्म स्वरूप में जगता है तो कर्म और उपासना के उत्तमाधम-भाव का कोई मतलब नहीं रह जाता। सब एक जैसे व्यर्थ हो जाते हैं। जो लोग अज्ञानी हैं, वे उस उत्तमाधमभाव से प्रसन्न होते रहें, परन्तु ज्ञान की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।। २१८।।

निरर्थकता का फल बताते हैं—

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या, किन्तु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यं बुध्यतां च तत्।। २१९।।

इसलिये मोक्ष चाहने वालों को जीव-ईश्वर-विषयक वाद-विवाद में बुद्धि नहीं लगानी चाहिये किन्तु ब्रह्मतत्त्व (अखण्ड स्वरूप) का ही विचार करना और वही समझना चाहिये।

स्वप्न में होने वाले राज्य और भिक्षा से जैसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता इसी प्रकार मायिक ईश्वरवाद और मायिक जीववाद के अन्दर किसको तुम मानते हो इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। जो मोक्ष चाहते हों उन्हें फ़र्क नहीं पड़ता लेकिन जो सांसारिक फलों को चाहेंगे उनके लिये तो फ़र्क है ही। किसी ज़माने में ब्राह्मण को समाज श्रेष्ठ मानता था तब सरस्वती की श्रेष्ठता मानी जाती थी। सरस्वती, वाणी जिसके ऊपर कृपा करे वह कहीं भी सभा में जावे तो सबको जीत लेता है आदि उसकी प्रशंसा होती थी। फिर समय आया जब क्षत्रिय की प्रशंसा थी। जो जितना राज्य जीत लेता था, बहादुरी दिखलाता था, उसको उतना ही प्रधान

मानते थे। इसलिये शक्ति की खूब पूजा होती थी, उसकी प्रधानता थी। अब वैश्यों का युग आया। तुम चाहे जितने विद्वान् हो पर धनाढ्य तुमसे श्रेष्ठ समझा जायेगा। चण्डीगढ के अन्दर 'सैक्टर' (बस्तियाँ) बने हुए हैं। जज लोग अमुक सैक्टर में रहेंगे, सैक्रेटरी अमुक सैक्टर में रहेंगे, मिनिस्टर अमुक में रहेंगे, उद्योगपति अमुक में इत्यादि विभाजन था। सोचा था कि बड़ा अच्छा इन्तजाम है, अपने ही जैसे सब लोग पास में रहते हैं। लेकिन एक ने कहा 'महाराज! यह तो ठीक है कि एक जैसे लोग साथ रहते हैं। पर हम अध्यापकों का बुरा हाल है!' हमने कहा 'तुम्हारा क्यों बुरा हाल है?' वे बोले 'हम पढ़ाते हैं विद्यार्थियों को तो वे पूछते हैं, 'सर, आपका ठिकाना क्या है, कहाँ रहते हैं?' हम जैसे ही कहते हैं '२३वें सैक्टर में' वैसे ही समझ लेते हैं कि 'अरे इनसे तो अच्छा हमारा रसोईया है, उसको ही हम ज़्यादा दे देते हैं।' हमारी पोल खुल जाती है। दूसरी जगह ठिकाना बताओ तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता है पर चण्डीगढ़ में प्रभाव में अंतर आता है।' आज विद्या की प्रशंसा नहीं है। विद्या से कितना धन आया—इसकी प्रशंसा है। कौन-सा विषय पढ़ने से ज़्यादा कमाई होगी यह विचार करने वाले वैश्य हो गए हैं। इसी प्रकार बहादुरी की विशेषता नहीं है। एक कुश्ती तुम बढ़िया तरह से मारो तो तुमको दो लाख का इनाम मिल जाता है, वीर अर्जुन तुमको पुरस्कार मिल जाता है सरकारी। और क्रिकेट का एक खेल खेलो तो मिल जाते हैं एक करोड़ रुपये! पहलवान की बहादुरी की कोई तारीफ नहीं है, क्रिकेट खेलने वाले को ही अच्छा मानते हैं क्योंकि उसमें ज्यादा आमदनी है। वैश्य-युग के अन्दर न विद्या की प्रधानता है, न शक्ति की प्रधानता है, केवल धन की प्रधानता है। जो लोग कुछ पूजा पाठ नहीं मानते वे भी दिवाली के दिन लक्ष्मी जी की पूजा नहीं छोड़ते! क्योंकि यह लक्ष्मी का युग है। फल चाहने वाले तो उपाधियों वाले ईश्वररूप का पूजन करेंगे अतः उपाधिका महत्त्व होगा किंतु मुमुक्षु निरुपाधि से ही सरोकार रखे यही ज़रूरी है।

पूज्य उपाधियों में भी उत्तमाधमभाव तो कल्पित ही है। सचमुच में विद्या श्रेष्ठ है कि बल श्रेष्ठ है—इसका क्या निर्णय करोगे? आचार्य शंकर लिखते हैं कि सौ बुद्धिमान् बैठे हों और एक लठैत डण्डा लेकर आ जाए तो सौ के सौ चुप हो जाएँगे, कुछ नहीं बोलेंगे! क्योंकि डण्डा मार देगा इससे डरते हैं। इससे ऐसा लगता है कि बल श्रेष्ठ है। आज के युग में कितना भी बल वाला हो, उसे तुमने जहाँ एक लाख रुपये के नोट दिखाए वहीं जिसने उसे तुम्हें मारने भेजा था उसे भूल जाएगा, लाख लेकर तुम्हारी रक्षा करने वाला बन जाएगा! अब कैसे कहा जाए कि सरस्वती श्रेष्ठ है, शक्ति श्रेष्ठ है या लक्ष्मी श्रेष्ठ है? जिसको जिस फल की इच्छा है उसके लिये वही श्रेष्ठ है। इसलिये उत्तमाधम वास्तविक भाव नहीं है। फल की इच्छा वाले उत्तमाधमभाव मानते रहेंगे, उसके अनुसार ही पूजा अर्चना उपासना सब होगी। लेकिन जिसको कोई फल नहीं चाहिये, वह इस फलाशा से मुक्त होना चाहता है, छूटना चाहता है। मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष की इच्छा वाला। उसे 'जीव का कौन-सा दार्शनिक पक्ष ठीक है, ईश्वर का कौन-सा दार्शनिक पक्ष ठीक है'—इसमें बुद्धि को बेकार नहीं लगाना

चाहिये क्योंकि जितने पक्ष हैं, सब एक-जैसे कल्पित हैं। इसीलिये वेदान्त में जीव और ईश्वर के बारे में अनेक प्रक्रियाएँ हैं।

कई आधुनिक लोग कहते हैं कि वेदान्तियों में भी एकमत नहीं है! वे यह नहीं समझ पाते कि जीव और ईश्वर की कल्पना के अन्दर वेदान्ती कभी आग्रह वाला होता ही नहीं है। दशहरे में रावण तो बढ़िया तैयार किया जाता है जलाने के लिये। परन्तु कोई थोड़ा-सा ऊपर हो जाए, अँगुली नीचे हो जाए, एक कान छोटा एक कान बड़ा हो जाए, तो किसी को ज़्यादा नहीं खटकता। जैसे भी होवे, सबसे ज़्यादा पटाके भरे होवें, खूब ज़ोर से जले और खूब आवाज़ करे—बस वही अच्छा माना जाता है क्योंकि रावण के पुतले को बनाया जाता है उड़ा देने के लिये। इसी प्रकार वेदान्ती जीव और ईश्वर के विषय में बातें इसलिये कह रहा है कि इन दोनों को उड़ाना है। किसी प्रक्रिया में कोई कमी रहती है, दूसरी प्रक्रिया में कोई और कमी रहती है। आचार्यों ने अनेक प्रक्रियाएँ इसलिये बनाई कि किसी को कोई जँच जाती है, किसी को कोई जँच जाती है। अनेक प्रक्रियाएँ वेदान्त शास्त्र में भी हैं और दूसरे मतो में हैं ही। मुमुक्षु को इसमें ज़्यादा विचार नहीं करना चाहिये। जो तरीका इस बारे में जँच जाए, उसको जँचा लेना चाहिये। किस विषय में बुद्धि लगावें? ब्रह्म की वास्तविकता के विषय में पूरा विचार करो, वही विचार करने के योग्य है। जीव और ईश्वर विचार करने के योग्य नहीं हैं। उसी को जानो क्योंकि वह तुमको मोक्ष दे सकता है। मुमुक्षु के लिये ब्रह्मतत्त्व का विचार करना ज़रूरी है। जीव-ईश्वरवाद का विचार करने में ज़्यादा बुद्धि नहीं लगानी चाहिये।। २१९।।

यद्यपि ब्रह्मसूत्रादि में मत-मतान्तरों के गुण-दोषों की विस्तृत आलोचना है तथा वादों के उत्तम-अधमभाव पर भी कहीं चर्चा मिलती है एवं ये मत त्याज्य के रूप में तो समझने ही पडेंगे ऐसी सम्भावना होती है तथापि आचार्यप्रयास इनके महत्त्व में नहीं वरन् खोखलेपन को व्यक्त करने के लिये है यह बताते हैं—

पूर्वपक्षतया तौ चेत् तत्त्वनिश्चयहेतुताम्।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः।। २२०।।

पूर्वपक्ष के रूप में वे जीव-ईश्वरवाद यदि तत्त्वनिश्चय के प्रति कारण बनते हैं तो भले ही बनें, इतने लाभ के निमित्त से बेबस होकर उन्हीं में डूब नहीं जाना चाहिये।

'तौ' अर्थात् जीव और ईश्वर के विषय में जो दूसरे दार्शनिकों ने विचार किया है वह खण्डन करने के लिये हमारे बड़े-बड़े आचार्यों ने ग्रहण किया है। पूर्वपक्ष के रूप से उसे समझना ज़रूरी है। खण्डन करने के लिये सामने वाले का पक्ष तो ठीक तरह से समझना पड़ता है तभी खण्डन करोगे। पूर्वपक्षका खण्डन जैसे तत्त्वनिश्चय का हेतु है वैसे जिसका खण्डन करना है उस पूर्वपक्ष को समझना भी तत्त्वनिश्चय का हेतु ही है क्योंकि सभी

सम्भावनाओं का परीक्षण कर उनका निरास हो जाने पर सिद्धान्त का निश्चय दृढ होता है अन्यथा लगता रहता है कि शायद मतान्तरों में कोई सार हो! सबमें कमी पता लगने से भ्रान्त सिद्ध होने पर तत्त्व के बारे में निश्चय हो जाता है। जहाँ ब्रह्मसूत्रों के अन्दर दूसरे मतों का विचार आया है वहाँ कोई कहता है आचार्य शंकर से कि आपने अपनी सब बात समन्वय अध्याय में बतला दी है, सिद्धान्त बतला दिया, उपनिषद् क्या कहती है यह बतला दिया, अब आप दूसरों का खण्डन काहे को करने के लिये जा रहे हैं? क्या आपको उनसे द्वेष है? उनका क्यों खण्डन करने जा रहे हैं? इस पर आचार्य शंकर जवाब देते हैं कि भाई! दूसरे का खण्डन करने में हमारा तात्पर्य नहीं है, लेकिन सारे शिष्य खुद बुद्धिमान् होते नहीं इसलिये किसी ग़लत बात को मान कर गलत रास्ते पर न चले जाएँ इसके लिये हम मतों का खण्डन करते हैं, कोई द्वेष या राग नहीं है, मुमुक्षुको कोई बेरास्ते न कर देवे, बस इतना ही हमारा तात्पर्य है। जो साधक नहीं है, संसारी है, उसके लिये तो वाद-विवाद ठीक है।

तत्त्व के बारे में निश्चय के प्रति वादों की कैसे कारणता होती है? वे पूर्वपक्षरूप से सामने आकर उनका जवाब मिल जाने से निश्चय हो जाता है कि यही ठीक है। इतनी उपादेयता ही है। दूसरा जिस जीव-ईश्वरवाद को मानता है उसमें कहाँ क्या त्रुटि है यह जानना चाहिए जिससे गलत रास्ते न चले जाएँ, परन्तु इतने मात्र से कि तत्त्वनिश्चय में कारण बनता है, उसी उठापटक में लगे नहीं रहना चाहिये! परिष्कारों की शृंखला का कोई अन्त तो आना नहीं है। एक बार इस प्रकार के विवाद में पड़ जाओ तो फिर अवश हो जाते हो कि इस पूर्व पक्ष का समाधान तो देना ही है। जब पता है कि इसने जो बात कही है वह गलत है तब इसकी कोई अनिवार्यता नहीं कि युक्तिसे जवाब दिया ही जाये। किन्तु जो अवश होता है, जब तक उसका जवाब नहीं दे, तब तक वह रात में सो भी नहीं सकता! इसको कहते हैं अवश हो जाना। हम उस बात का ठीक निश्चय कर सकें—इतना समझ लेना है। बात की गलती तो झट पकड़ी जाती है। सामने वाला भी समझ जाता है कि कहाँ कमज़ोरी है। पर वह कोई तर्क और युक्ति देगा, दृष्टान्त देगा कि तुम दिमाग खुजलाने लगोगे कि इसका कैसे जवाब देवें। वश में रह कर अर्थात् हमें तत्त्वनिश्चय करने की जरूरत है—बस इतने मात्र के लिए उन वादों को देखना है। जीव और ईश्वर के बारे में जो विचार है उसी में डूब मत जाओ, उसी का विचार करते न रह जाओ, ब्रह्मतत्त्व से हाथ न खो बैठो। कितनी ज़रूरत है—यह विवेक-बुद्धि रखनी पड़ती है। अपनी ज़रूरत पूरी करना तो बुद्धिमान् का कार्य है और अपनी ज़रूरत से ज़्यादा चीज़ों को इकट्ठा करना अविवेकी का काम है।

जैसे धन में निमग्न होते हैं तो विवेक नहीं रखते कि हमारी ज़रूरत का है कि नहीं, बल में निमग्न होकर राष्ट्रविस्तार करते जाते हैं, ऐसे ही कुछ लोग विद्या में निमग्न होते हैं। तत्त्व का निश्चय करना है। उसके लिये जितना उपादेय उतना-भर मतान्तर समझना जरूरी, तदतिरिक्त वहाँ श्रम निष्प्रयोजन है। अपना संशय हट जाए यही उद्देश्य होना चाहिये, 'सभी'

संशय तो कभी हट नहीं सकते। इस विवेक के बगैर ऊहापोह में संलग्न रहना अवश हो डूबना कहा गया है।। २२०।।

अध्यात्म विद्या में सांख्य-योग शास्त्रों की बहुत प्रतिष्ठा है। जीवस्वरूप के बारे में सांख्य एवं ईश्वरस्वरूप के बारे में योग शास्त्र ठीक बताते होंगे यह सम्भावना उठाते हैं–

असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः।
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु।। २२१।।

संगहीन चैतन्य और विभु जीव सांख्यमत में कहा गया है, ऐसा ही ईश्वर योगमत में बताया गया है–ये ही तत् और त्वम् शब्दों के (वेदान्तसंमत) शुद्ध अर्थ होंगे? ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर सुनो–

सांख्य ने जो जीव कहा है वह असङ्ग चित् अर्थात् चेतन और विभु अर्थात् व्यापक है। वेदान्त भी जीव का यही रूप कहता है। योग में जिस ईश्वर को बतलाया वह भी असङ्ग चेतनरूप है और व्यापक है। सांख्य ने जो जीव का निरूपण किया, वह भी वेदान्ती मानते हैं और योग ने जिस ईश्वर का वर्णन किया वह भी मानतें ही हैं। जीव ईश्वर का स्वरूप यही कहते हैं। तत् अर्थात् ईश्वर, त्वम् अर्थात् जीव। ईश्वर और जीव जिस तात्पर्य से कहे हैं वह शुद्ध रूप इसी प्रकार का बताया जाता है। अशुद्धि के रूप में ईश्वर में माया आ जाएगी, जीव में अज्ञान आ जाएगा। शुद्ध अज्ञान और माया से रहित है। सांख्य-योग वेदान्तसंमत शुद्ध जीव-ईश्वर का वर्णन कर रहे हैं तो इनका विचार करना ठीक ही क्यों नहीं है? तब कहते हैं कि अगले श्लोकों से यह समझा रहे हैं कि सांख्य-योग की बात वेदान्त से कैसे विरुद्ध है अतः अगला प्रसंग सुना-समझा जाये। विरुद्ध होने से हेय हैं यह यथास्थित है।। २२१।।

वेदान्त का प्रधान उपदेश अद्वैत है, तद्विरुद्ध बातें चाहे जितनी समान हों, ग्राह्य नहीं हैं। अनेक विचारक अद्वैत वाले हिस्से की उपेक्षा कर कई दूसरे मतों को 'वेदान्त की ही बात है' ऐसा कह देते हैं जो ठीक नहीं। आचार्य शंकर ने कहा है 'कर्मशास्त्रे कुतो ज्ञानं तर्के नैवाऽस्ति निश्चयः। सांख्ययोगौ भिदापन्नौ शाब्दिकाः शब्दतत्पराः। अन्ये पाखण्डिनः सर्वे ज्ञानवार्त्तासुदुर्लभाः। एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते।।' (सदाचार २८-२९) अर्थात् कर्मकाण्ड कर्मप्रतिपादक है अतः वहाँ तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा! तर्कशास्त्र में निश्चय नहीं ही हो पाता। सांख्य योग भेदपक्षीय हैं, वैयाकरण शब्दसाधुत्व में ही परायण हैं। अन्य सब मत पाखण्डी हैं, उनमें तत्त्वज्ञान की बात ही अतिदुर्लभ है। एक वेदान्तविज्ञान ही है जो स्वानुभूतिरूप से विराजमान रहता है। सांख्य-योग दोनों जीव को शुद्ध-चैतन्य मानकर भी जीवों को अनेक और परस्पर भिन्न, संसार से भी वस्तुतः भिन्न और ईश्वर मान्य हो तो उससे भी भिन्न स्वीकारते हैं।

इसी प्रकार योगी ईश्वर को जीवों से और जगत् से भिन्न स्वीकारते हैं। भेद सत्य है ऐसी दोनों की मान्यता है। सांख्यों का मुख्य पक्ष ईश्वर मानता ही नहीं, जो मानता है वह भी उसे जीव-संसार से भिन्न मानता है। वेदान्ती जो भेद कहता है वह औपाधिक, मिथ्या मानता है, सत्य भेद वेदान्त में सर्वथा अमान्य है। अभेदभाग छोड़कर समानता है यह ठीक है किंतु अभेद ही वेदान्तका प्रधान उपदेश है! शुद्ध तत्-त्वम् अर्थ भेदग्रस्त नहीं हैं कि सांख्य व वेदान्त का वर्णन एक ही हो। इसी तथ्य को व्यक्त कर पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर सुनाते हैं—

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्ततां गतौ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते।। २२२।।

तत्-त्वम् शब्दों के उक्त दोनों अर्थ हम वेदान्तियों के सिद्धान्त में स्वीकार नहीं हैं। (दो शब्दों से कहने की) वह कोई स्थिति या युक्ति अद्वैत समझाने के लिये ही स्वीकार्य है।

तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये, समझाने के लिये किसी बात को पहले मान लेना पड़ता है पर वह मानी हुई चीज़ अपना सिद्धान्त नहीं होती। जैसे गणित के अन्दर कोई सवाल हल करना है तो कह देते हैं कि 'मान लो इसका हल एक है। यदि एक हल होता तो ऐसी स्थिति बनती पर वैसी स्थिति बन कर इतने गुणे ज़्यादा होती है इसलिये हल भी एक से उतने गुणा ज्यादा होगा।' जब कहते हैं—'मान लो हल एक है' तब मतलब यह नहीं है कि सचमुच उसका जवाब एक कह रहे हैं। वह तो हल निकालने का तरीका है। वैसे वेद कहता है एक अद्वितीय ब्रह्म है और हमें सारा भिन्न-भिन्न जगत् दीख रहा है, भिन्न-भिन्न जीव दीख रहे हैं और इन सबका नियमन करने वाला ईश्वर हमें लगता है होना चाहिये जिससे सब चीज़ें ठीक चल रही हैं। कोई एक व्यक्ति कहता था कि यहाँ पर एक रूसियों का प्रतिनिधिमण्डल आया, स्टालिन के जमाने में। उसने हम लोगों की अव्यवस्था देखी, तो कहा 'इतने अव्यवस्थित होने पर भी देश व्यवस्था से चल रहा है तो चलाने वाला ईश्वर चाहिये।' जीवों का भेद, जीव-जगत् का भेद, इन सबको व्यवस्थित करने वाला ईश्वर—ये सब हम लोगों के सामने उपस्थित हैं जबकि वेद कह रहा है कि एक ब्रह्म है, अद्वितीय है। इन विरोधों का परिहार कैसे किया जाए?

वेद जो कहता है, वह भी झूठा नहीं हो सकता और हमें जो दीखता है, इसे झूठ कैसे मानें! इसको समझाने के लिये वेदान्त ने कहा कि जो चीज़ नहीं है वह भी अज्ञान से दीख जाती है। जैसे रस्सी नहीं दिखाई दी तो वहाँ जो साँप नहीं है वह हमें दीख गया तो अज्ञान के कारण। 'अज्ञान के कारण दीखा' का मतलब होता है—नहीं दीखा। रस्सी में साँप *दीखा* तो नहीं है। बिना दीखे, दीखे जैसा हुआ। इसी प्रकार जगत्, जीव, ईश्वर—ये सब दीख रहे हैं एक शुद्ध चेतनमात्र में अतः अज्ञान से। किसका अज्ञान है? ब्रह्म का अज्ञान है। ब्रह्म को नहीं जाना, इसलिये सब दीख रहे हैं। सब चीज़ें वस्तुतः ब्रह्म हैं—यह बतलाना है। जैसे तुमको जो साँप दीखा वह वस्तुतः रस्सी थी। देखने पर तो पता लगता है पर उसके पहले

समझाने के लिये कहते हैं—'कितना लम्बा सर्प दीखा? तीन फीट का दीखा। देखो, यह रस्सी तीन फीट की है। इसी प्रकार रस्सी लिपटी पड़ी थी इसलिये तुमको साँप लिपटा हुआ दीखा।' इस प्रकार से माया की कारणता को रखकर भेद दीखना सम्भव हो सकता है।

जगत् के अन्दर हर चीज़ है-रूप से दीखती है। 'है' ब्रह्म का स्वरूप है जो चीज़ों में दीखता है। जैसे चाहे तुम जलधारा देखो, चाहे गले की माला देखो, चाहे साँप देखो, दीखेगा उतना ही बड़ा जितनी बड़ी रस्सी है, वैसे संसार दीखेगा सद्रूप, है-रूप। 'है' ब्रह्म का रूप नहीं जाना इसलिये जगत् में दीख रहा है। ऐसे ही सारे जीव चेतन लगते हैं, जीव अपने आपको चेतन जानते हैं। चेतनता, चिद्रूपता ब्रह्म की है पर अन्तःकरणों में अज्ञान से दीखती है। इसी प्रकार ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक है ऐसा क्यों प्रतीत होता है? ये सारी चीजें ब्रह्म की हैं जो ईश्वर में दीखती हैं। ब्रह्म ही सद्रूप से जगत् में दीख रहा है, ब्रह्म ही चेतन-रूप से दीख रहा है अन्तःकरणों में और ब्रह्म ही व्यापकरूप से दीख रहा है ईश्वर में। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ये ब्रह्म के रूप इन सबमें दीख रहे हैं इसलिये ये सारे जो *दीख* रहे हैं वे वास्तविक नहीं जैसे रस्सी में साँप वास्तविक नहीं है। ईश्वर की चेतनरूपता, व्यापकरूपता योगी एवं जीव की चेतनरूपता सांख्य बतलाते हैं इसलिये लगता है कि सांख्य और योग वेद से मिलती-जुलती बातें हैं। परन्तु हमें यह नहीं बतलाना है कि जगत् में जो 'है' दीख रहा है उसके कारण जगत् है। इसी तरह, अन्तःकरणों के अन्दर चेतन दीख रहा है इसलिये वे चेतन हैं—यह हमारा कहना नहीं है। ये सब चीज़ें ब्रह्म में कल्पित हैं और ब्रह्म का अज्ञान होने से हमें इस प्रकार की प्रतीत हो रही हैं मानों जगत् या मन में हों। हम लोगों का तो कहना है जीव ईश्वर जगत् नहीं केवल अद्वितीय ब्रह्म है। जबकि सांख्य 'जीव ऐसा ही है' यह प्रतिपादित करता है, योग 'ईश्वर ऐसा ही है' यह प्रतिपादित करता है। हम समझाने के लिये कहते हैं कि वह ऐसा दीख रहा है परन्तु साथ ही बता देते हैं कि है नहीं। है तो केवल 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' त्वम्पद से जीव और तत्पद से ईश्वर जो ये दो अर्थ बतलाए गए हैं वे हमारा सिद्धान्त पक्ष नहीं है; हमारी स्थापना तो है कि ब्रह्म ही इन रूपों से दीख रहा है, है नहीं। हम दोनों पदार्थों को अन्तिम चीज़ नहीं मानते हैं। अन्तिम चीज़ अद्वितीय ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर कहते हैं कि वेदान्त सिद्धान्त में 'ब्रह्म सत्य है' बस, इतनी ही बात है। और इसीका नतीजा है कि जगत्-प्रतीति वास्तविक नहीं है, मिथ्या है। 'जीव ऐसा है, ईश्वर ऐसा है'—यह जो हम बतलाते हैं वह तो उनकी ब्रह्मरूपता सिद्ध करने के लिये। अतः कपिल और पतंजलि का जो सिद्धान्त है वह हमारा सिद्धान्त पक्ष नहीं है। एक अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म ही है—इसको बतलाने के लिये बीच में वे चीज़ें मानकर कही जाती हैं, यही हम स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष से सिद्ध जो भेद है उसका निरसन करने के लिये हम जीव और ईश्वर के रूप को बतलाते हैं, उनका प्रतिपादन करने के लिये नहीं। जीव और ईश्वर की एकता बतलाना हमारा तात्पर्य है। जीव का स्वरूप अलग है, ईश्वर का स्वरूप अलग—यह बतलाना नहीं।। २२२।।

पदार्थशोधन साधना का एक स्तरमात्र है यह शोधन का प्रयोजन बताकर स्पष्ट करते हैं–

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ।
मन्यन्ते, तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः।। २२३।।

अनादि अज्ञान से भ्रम में पड़े लोग जीव-ईश्वर को वस्तुतः विपरीत लक्षण वाला मानते हैं। वह भ्रम मिटानेमात्र के लिये उनके वाच्य-अर्थ से स्वतन्त्र उनके शुद्ध अर्थ समझाये जाते हैं जिसे पदार्थ-शोधन कहते हैं।

पदार्थ का शोधन हम ऊहापोह से करते हैं इसलिये कि भ्रम में पड़े हुए ठीक समझ सकें। माया अनादि है, माया जिसका कारण कुछ नहीं है, वह अनादि है। माया कब आई, कैसे आई, इत्यादि प्रश्न व्यर्थ के हैं क्योंकि माया कभी आई नहीं और कैसे भी आई नहीं! ठीक जिस प्रकार यदि किसी से पूछें–तुम जर्मन भाषा जानते हो? वह कहे–'नहीं जानते।' उससे पूछें–'कब से नहीं जानते हो?' यही कहेगा–'जी, कभी नहीं पढ़ी इसलिये हमेशा से ही नहीं जानता।' नहीं जानते–इस बात की प्रारम्भकी तारीख कैसे बताई जाए क्योंकि 'नहीं जानना', अज्ञान हमेशा से है। पढ़ने से जर्मन भाषा का ज्ञान होता है जबकि जर्मन भाषा का अज्ञान हमेशा से ही है। इसी प्रकार ब्रह्म को हम कब से नहीं जानते–यह प्रश्न नहीं बनता। ब्रह्म को जानने से ब्रह्म का अज्ञान नष्ट हो जाएगा। पर ब्रह्म का अज्ञान कब से है–यह प्रश्न व्यर्थ है–इसलिये कहा 'अनादिमायया।' जो अज्ञान अनादि है उस अनादि माया से जीव भ्रम में है।

जिस चीज़ का अज्ञान होता है उसके बारे में ही ग़लत ज्ञान हो जाये तो भ्रम है। घोर अन्धकार है तब भी भ्रम नहीं होता। रस्सी कुछ दीखेगी तभी उसमें साँप का भ्रम होगा। अतः भ्रम के लिये मन्दान्धकार चाहिये। इसी प्रकार ईंट-पत्थर को कभी भ्रम नहीं होता! क्योंकि वे तो घोर अन्धकार में हैं। उनको किसी चीज़ का पता है ही नहीं। हम लोगों को 'मैं हूँ'–यह पता भी है और 'सामने दीवार है'–यह भी पता है क्योंकि चेतन का स्वरूप ही ऐसा है। जैसे दीपक का स्वरूप होता है खुद अपने को प्रकाशित करना और सामने की दीवार को प्रकाशित करना। दीपक जलता है तो उसको देखने के लिए तुमको दूसरा दीया तो नहीं लाना पड़ता है! दीपक खुद ही अपने को दिखला देता है। और दीपक के सामने जो दीवार, घड़ा आदि है उसको भी दिखा देता है। इसी प्रकार चेतन प्रकाशरूप है इसलिये अपने को जानता है। 'मैं हूँ'–यह सब जानते हैं। कोई आदमी किसी डॉक्टर के पास जाकर नहीं कहता–'मेरी नाडी देखो कि मैं हूँ या नहीं'। और, जो मैं के सामने आ जाए, आँखों के सामने, कान के सामने, जीभ के सामने आ जाये, उसका भी प्रकाश कर देता है, उसको भी जान लेता है। सामने अर्थात् इन्द्रिय के सम्बन्ध में। रसगुल्ला जीभ पर रखोगे तब जानोगे। दीवाल दस-बीस फीट दूर है तब भी जानोगे पर सामने होगी तब, पीछे होगी तो

नहीं। शब्द कोई पीछे से भी बोलेगा तो सुन लोगे। अतः सामने मायने इन्द्रियों से योग्य सम्बन्ध वाला।

हम अपने को जानते हैं पर ठीक तरह से नहीं जानते। जैसे रस्सी को देखते हैं—यह है। देख तो रस्सी को ही रहे हैं परन्तु रस्सीपना साफ नहीं दीख रहा है इसलिये वहाँ सर्प दीख जाता है। यही भ्रम है। ऐसे ही मैं हूँ तो चेतन परन्तु अपने को समझता क्या हूँ? शरीर समझता हूँ। 'मैं वहाँ गया था'। कौन गया था? शरीर गया था। यों शरीर को मैं समझ लेता हूँ। कभी मन को समझ लेता हूँ। 'मैं बैठा हुआ तो सत्संग में था लेकिन पहुँच गया बाजार में सामान खरीदने के लिये।' उठकर तो नहीं गए, मन चला गया। कभी शरीर को मैं कह देते हो, कभी मन को मैं कह देते हो। कभी दुकान को भी मैं कह देते हो, जैसे दुकान नष्ट हो जाये तो कहते हो 'मैं बर्बाद हो गया।' मैं को जान तो रहे हो लेकिन मैं ठीक कैसा है—इसको नहीं जान रहे। इसी प्रकार ईश्वर को भी हम जान तो रहे हैं कि सारे संसार का शासन करने वाला ईश्वर है। पर यह झगड़ा हमारा नहीं मुक रहा कि शासन करने वाला चार मुँह वाला ब्रह्मा है, कि चार हाथों वाला विष्णु है कि पाँच मुख वाला शिव है। ईश्वर को हम लोग सामान्येन तो जानते हैं, कि सारे संसार की व्यवस्था करने वाला है पर निश्चित रूप से 'वह ऐसा ही है' यह नहीं जानते। जैसे मैं का सच्चा रूप नहीं जानते वैसे ईश्वर का सच्चा रूप नहीं जानते। हम लोग इसी अनादि माया से भ्रान्त हैं अतः हमें लगता है कि जीव और ईश्वर सर्वथा, एक-दूसरे से विलक्षण हैं, भिन्न हैं। माया से लगता है कि करने वाला और भोगने वाला तो मैं हूँ। जो किया सो भोगता हूँ। किया है, तभी भोग रहा हूँ। मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ। और ईश्वर सबको व्यवस्थित रखता है इसलिये सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् लगता है। ईश्वर कौन है—इसका चाहे निर्णय न होवे लेकिन ईश्वर को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् मानते ही हैं। यों अभी दोनों के बारे में हमारी मान्यता है कि वे सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न हैं।

इसलिये वेदान्त शोधन का विधान करता है। अतः जीव के स्वरूप का विचार करते हैं कि जीव सचमुच में क्या हो सकता है। जीव मानने वालों के लिये यह बात है। जीव है—यह भी वेदान्त का *सिद्धान्त* नहीं है! सिद्धान्त तो है कि ब्रह्म जीवरूप से दीख रहा है अज्ञान के द्वारा। उस जीव का वास्तिवक स्वरूप क्या है—यह त्वम् पदार्थ के शोधन से पता लगेगा। इसी प्रकार ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कौन है—इसका निर्णय अभी नहीं कर पाते हैं। तत्-पदार्थ का शोधन करके पता लगाना है कि ईश्वर की वास्तविकता क्या है। जीव, जगत्, ईश्वर की वास्तविकता ब्रह्म ही है—यह तो जवाब निकलेगा। क्योंकि लोग भेद मानते हैं भ्रान्त होने के कारण है, इसलिये उस भ्रम को हटाने के लिये तत् और त्वम् (वाच्यार्थों) पदार्थों के शुद्ध रूप बतलाते हैं। शुद्ध पदार्थ बताने का प्रयास 'वे ब्रह्म से अलग हैं'—इस भ्रम को हटाने के लिये ही है। उस ब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ नहीं—यह बतलाने के लिये वेदान्त है। सांख्य-योग जिसे जीव-ईश्वर कहते हैं वह उनका असली रूप मानते हैं जबकि

वेदान्त दोनों का शुद्ध रूप दिखाता है यह समझाने के लिये कि ये दो हैं ही नहीं, अखण्ड अद्वितीय वस्तु ही है। 'साँप का असली रूप रस्सी है' ऐसा प्रतिपाद्य नहीं होता, समझाएँगे तो ऐसे ही कि 'देखो, यह तुमको पूँछ दीख रही थी, यह मुख दीख रहा था' इत्यादि, लेकिन सत्य यही है कि साँप सर्वथा नहीं, एकमात्र रस्सी सदा है। इसी प्रकार पदार्थशोधन भी प्रक्रियामात्र है यह तात्पर्य है।। २२३।।

पूर्वकथित उदाहरण का भी शोधन में ही विनियोग दिखाते हैं—

अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः।
घटाकाश-महाकाश-जलाकाशाभ्रखात्मकः।। २२४।।

इसीलिये इस विषय में योग्य दृष्टान्त पहले (श्लो.१८) भलीभाँति समझाया था जिस दृष्टांत का स्वरूप है घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और अभ्राकाश (बादल में प्रतिबिम्बित आकाश)।

इसी चित्रदीप प्रकरण में पहले जिसे अच्छी तरह से प्रतिपादन कर आए हैं वह दृष्टांत ही इस सन्दर्भ में योग्य है। जैसे आकाश तो एक अखण्ड रहता है पर घड़े में घड़े के कारण घटाकाश दीखता है, इसी प्रकार बादल में इत्यादि। जब हम कहते हैं घटाकाश, मेघाकाश, तब हमारा मतलब बिलकुल नहीं है कि घटाकाश आकाश से कुछ अलग है। इसी प्रकार अन्तःकरण के कारण जीव दीखता है और माया के कारण ईश्वर दीखता है जबकि है तो केवल ब्रह्म ही। घड़े के अन्दर पानी भर दो और उसके अन्दर देखो। रात का समय होवे तो चन्द्रमा तारों समेत सारा आकाश उस पानी में नज़र आता है। एक घड़े के अन्दर आकाश और जो घड़े में आकाश है वहीं भरे जल में तुमको महाकाश भी प्रतिबिम्बित नज़र आता है। बादलों के अन्दर भी आकाश है और बादलों के पानी में भी आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ये चार पहले बतला आए हैं।। २२४।।

उदाहरणानुसार शोधन समझाते हैं—

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे, तयोः।
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ।। २२५।।

जलाकाश और अभ्राकाश जल और अभ्र उपाधियों के अधीन हैं। उनके आधार तो घटाकाश और महाकाश हैं जो उपाधियों पर निर्भर नहीं।

घटाकाश के अधीन ही जलाकाश होगा। पानी में आकाश तभी तक दीखेगा जब तक घड़ा है। घड़े को फोड़ दो, पानी बह गया तो जलाकाश नहीं दीखेगा। बादल फट गया तो अभ्राकाश भी नहीं रहा। जल में प्रतिबिम्बित आकाश और बादल वाले पानी में प्रतिबिम्बित आकाश—ये उपाधियों के अधीन हैं। इनके जो आधार हैं—घटाकाश एवं महाकाश, वे किसी

उपाधि के अधीन नहीं हैं। घटाकाश जब दीख रहा है तब सिवाय आकाश के तो कुछ नहीं दीख रहा, घड़े के कारण तुमको घटाकाश लगता है लेकिन वहाँ जो दीख रहा है वह आकाश से कोई अन्य चीज़ तो नहीं है। भरे हुए पानी में जो आकाश दीखता रहा है वह प्रतिबिम्ब होने से दूसरी चीज़ है परन्तु घड़े में जो जगह दीख रही है वह खाली जगह ही है, और कुछ नहीं है। घटाकाश और महाकाश—ये हमेशा एक ही बने रहते हैं इसलिये ये सर्वदा निर्मल ही हैं।। २२५।।

दार्ष्टान्त बताते हैं—

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले।। २२६।।

इसी तरह माया उपाधि से आनन्दमय (ईश्वर) और बुद्धि-उपाधि से विज्ञानमय जीव हैं। इनके अधिष्ठान कूटस्थ और ब्रह्म तो सर्वथा निर्मल (निरुपाधि) हैं।

जिस प्रकार जलाकाश और बादल में प्रतिबिम्बित आकाश, ये दोनों उपाधि के अधीन हैं उसी प्रकार आनन्दमय और विज्ञानमय उपाध्यधीन हैं। आनन्दमय ईश्वर को कहा था, विज्ञानमय जीव को कहा था। आनन्दमय और विज्ञानमय माया के और बुद्धि के अधीन हैं। बुद्धि में जो चेतन दीख रहा है वह विज्ञानमय है और माया में जो चेतन दीख रहा है वह आनन्दमय है। परन्तु जो चेतन उनमें दीख रहा है वह तो दोनों के अधीन नहीं है! जैसे काँच में जो मुँह दीख रहा है वह तुम्हारे मुँह जैसा ही है परन्तु वह काँच के अधीन है। काँच टूट गया तो वह मुँह भी गया। परन्तु जो गर्दन के ऊपर वाला मुँह है वह वैसा ही रहेगा। काँच के टूटने से तुम्हारे मुँह में तो कोई परिवर्तन आएगा नहीं! इसी प्रकार चेतन माया में प्रतिबिम्बित हो गया तो ईश्वर और बुद्धिमें प्रतिबिम्बित हो गया तो जीव। माया और बुद्धि चले भी जाएँगे तो वह चेतन वैसा ही रह जाएगा। अधिष्ठान अर्थात् जिसमें माया और बुद्धि है। जीव का जो अधिष्ठान है उसको कूटस्थ कहते हैं और ईश्वर का जो अधिष्ठान है उसको ब्रह्म कहते हैं। इनमें अन्तर कहने-भरको है, वास्तव में नहीं, यह श्लोक २३७ में स्पष्ट होगा। कूटस्थ और ब्रह्म हमेशा निर्मल ही रहते हैं।। २२६।।

उक्त शोधन के ढंग में उपयोगमात्र से सांख्यादि स्वीकर नहीं हो जाते यह स्पष्ट करते हैं—

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि।
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम्।। २२७।।

इस स्तर पर (इस युक्ति में) उपयोग के चलते सांख्य योग को यदि वेदांतसंमत कहो तो अन्नमयके स्तर पर (पंचकोशों की युक्ति, प्रक्रिया में) देह को आत्मरूप कहना उपयोगी होने से देहात्मवाद भी वेदान्तसम्मत कहना होगा (जो सर्वथा गलत बात हो जायेगी)।

जीव और ईश्वर के शुद्ध रूप को समझने के लिये सांख्य और योग उपयोगी हैं इसलिये उसका उपयोग कर लो। लेकिन यदि कहना चाह रहे हो कि कुछ उपयोग है तो उन वादों को अंगीकार किया जाये तो चार्वाक भी किसी कक्षा में हमारी मदद करता है! जो आदमी दुकान के लिये रो रहा है, फैक्ट्री के लिये रो रहा है, चार्वाक कम-से-कम उसको समझाता है 'तुम्हारा शरीर तुम्हारा आत्मा है, फैक्ट्री के लिये मत रो।' फैक्ट्री और दुकान से हटाकर शरीर तक लाता है तो वह भी उपयोगी है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती 'प्रस्थानभेद' नाम के ग्रन्थ में वार्तिकानुसार लिखते हैं कि वात्स्यायन का कामसूत्र भी हमारे उपयोगी है, बौद्धों का वैराग्यपक्ष भी हमारे उपयोगी है। उनका वचन है—'न हि ते मुनयो भ्रान्ताः'—कोई भी मुनि गलत है, भ्रम में है, यह हमारा कहने का मतलब नहीं है। थोड़ी-थोड़ी दूर तक तो सब पहुँचाते हैं। मतलब यही है कि वे *अन्तिम सिद्धान्त* तक नहीं ले जाते। उनसे हमारा फ़ायदा नहीं है—यह हम नहीं कहते। फायदा लो उनसे, परन्तु उनको सिद्धान्त नहीं समझ सकते। जैसे किसी को यहाँ से जाना है बम्बई। रास्ते में पालनपुर, महेसाना, अहमदाबाद, सूरत आदि स्थान आते रहेंगे; सब स्टेशन तुम्हारा फायदा कर रहे हैं पर उन्हें तुम बम्बई समझ कर उतर जाओगे तो गड़बड़ होगा। एक आदमी कलकत्ते से दिल्ली आ रहा था। रेडियो में सुना—'यह दिल्ली है, लीजिए समाचार सुनिए।' तो वह कानपुर में उतर गया! कानुपर को दिल्ली समझकर उतर जाओगे तो गड़बड़ है। इसी प्रकार यदि कपिल की बात सुनकर वही सिद्धान्त मान बैठोगे तो अखण्ड वस्तु से वंचित रह जाओगे। यह सब के समन्वय का युक्तिसंगत तरीका है न कि यह कि विपरीत वादों को सभी को सत्य मान बैठना। अतः सांख्यादि का उपयोग भी इस सावधानी से करना चाहिये कि निर्णय स्वसिद्धान्त के विरुद्ध न हो, यह भाव है।। २२७।।

यदि शुद्ध पदार्थ के बारे में ऐकमत्य है तो विरोध किस अंश में है यह बताते हैं—

आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोऽन्य इति चेत् त्रयम्।
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः।। २२८।।

आत्माओं में परस्पर एवं जगत् से भेद, जगत् की सत्यता, ईश्वर जीवों से व जगत् से अन्य है—ये तीन बातें उनके द्वारा छोड़ी जाती हैं तो सांख्य-योग से वेदान्त की संमति (एकवाक्यता) ही है।

पहली चीज़ आत्मभेद : हर शरीर में रहने वाला जीवात्मा अलग है, ऐसा सांख्यों ने माना। वेदान्त मानता है कि जैसे कमरे में, घड़े में, पेटी में आकाश अलग-अलग नहीं है, घड़े आदि के कारण दीख भले ही अलग रहा है, इसी प्रकार बुद्धि यदि रावण की है तो आत्मा रावण की तरह दीख रहा है और बुद्धि राम की है तो राम की तरह दीख रहा है पर आत्मा में भेद नहीं है। ऐसा सांख्य और योग वाले नहीं मानते वरन् हर-एक के अन्दर अलग-अलग ही स्वीकारते हैं।

दूसरी बात कि जगत् सत्य है। वे लोग जगत् को, प्रकृति को सत्य मानते हैं, अर्थात् कभी नहीं खत्म होने वाली है। कोई भी चीज़ है इसमें क्या प्रमाण है?—यह किसी से पूछो तो कहेगा 'हमने देखी या हमारे भाई ने देखी।' यही प्रमाण देगा। अगर तुम कहो कि न चीज़ है, न हमने देखी न और किसी ने देखी, न कोई आगे भविष्य में देख सकता है तो ऐसी चीज़ को कैसे माना जाए! इसी प्रकार प्रकृति तभी है जब देखी जा रही है। मोक्ष होने के बाद जब आगे कभी प्रकृति दीखेगी ही नहीं तब भी 'प्रकृति है' कैसे मान लेवें? लेकिन सांख्यमत में मुक्त को प्रकृति न प्रतीत होने पर भी मान्य ही है। तीसरी बात है कि शासन करने वाला ईश्वर अलग है। जीवों से, प्रकृति से एवं प्रकृति के कार्यों से ईश्वर को वे वास्तव में भिन्न ही मानते हैं।

इन तीन मान्यताओं के कारण सांख्य और योग वेदान्त पक्ष वाले नहीं हैं। अगर कोई कपिल और पतंजलि का अनुयायी कहे—'जी, हम ये तीन चीज़ें छोड़ देते हैं।' जगत् को मिथ्या समझ लें, जीवभेद न मानें, जीव-ईश्वर का भेद न मानें; फिर सांख्य और योग के साथ वेदान्त की सहमति हो जाएगी। परन्तु ऐसा कोई कपिल और पतंजलि का अनुयायी कहेगा नहीं क्योंकि भेदवाद उनका सिद्धान्त है।। २२८।।

सांख्य जीव को चेतन, विभु और असङ्ग मानते हैं। योगी भी पुरुष को असङ्ग चिद्रूप और विभु मानते हैं। वेदान्ती भी जीव का वास्तविक स्वरूप असङ्ग, चिद्रूप एवं विभु मानते हैं। जीव और ईश्वर के विषय में इतनी समानता होने पर भी तीन विषयों में मतभेद है। वेद को मानने वाले जितने भी आस्तिक हैं सब आत्मा को विभु मानते हैं नैयायिक, मीमांसक, सांख्य, योग सभी आत्मा को विभु मानते हैं। आत्मा को अणु परिमाणी मानने वाला तो वैष्णव ही है। वही आत्मा को व्यापक नहीं मानता। छहों आस्तिक दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं किंतु व्यापक मानते हुए भी इन अनन्त व्यापकों को स्वीकार करते हैं!—यह विलक्षण बात है। नित्यादि स्वीकारने से जैसे विभु मानना संगत लगता है वैसे कर्म-फलभोग की व्यवस्था के लिये विभिन्न मानना उचित लगता है। वेदान्ती के लिये समस्या इसलिये हल हो जाती है कि जीवात्माओं का भेद तो माया से है और स्वरूप व्यापक ही है अतः आत्मा एक ही है। मोक्ष के लिये सांख्यादि का कहना है कि जगत् प्रतीत न होना ही मोक्ष है। न्याय-वैशेषिक कर्मवश भोगार्थ जगत्प्रतीति मानते हैं अतः कर्मभोग न रहने पर प्रतीति नहीं तो मोक्ष मान लेते हैं। इसलिये दोनों मतों में संसार सत्य है, इससे मोक्ष में रुकावट नहीं क्योंकि वह अप्रतीति पर निर्भर है। वेदान्ती सत्य जगत् बन्धक ही रहेगा यह समझकर इसे मिथ्या मानता है। इस पर प्रश्न होता है कि जीव यदि समझ ले कि वह जगत् से, प्रकृति से असंग है तो ही मुक्त हो जायेगा, अद्वैतबोध से क्या लाभ? जगत् मिथ्या जानने से एवं जीव की ईश्वराभिन्नता जानने से मोक्ष में क्या विशेष होगा? इसके उत्तर में कहते हैं—

जीवोऽसङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा।
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता।। २२९।।

केवल असंगता से जीव यदि कृतकृत्य हो जाये तो माला-चन्दनादि की नित्यतामात्र से भी कृतकृत्यता होनी चाहिये!

'असङ्गत्वमात्रेण' अर्थात् असङ्गत्वज्ञानमात्रेण। जीव को अपनी असङ्गता का ज्ञान हो जाए तो वह मुक्त है ऐसा सांख्यादि का कहना है। सांख्यमत में अविवेक से संग है, विवेक हो गया तो संग हट जाता है। अतः असङ्गता के ज्ञानमात्र से ही जीवन का जो प्रयोजन है, अर्थ है, वह कृत, सिद्ध हो जाता है। वैष्णव कहता है कि वैकुण्ठ में जाकर तुमको बढ़िया मालाएँ मिलेंगी, चन्दन लगाने को मिलेगा, 'आदि' से बाकी दिव्य चीज़ें होंगी, जो वहाँ नित्य होंगी तो असङ्गता की भी क्या ज़रूरत है? मनुष्य इसीलिये संसार से छूटना चाहता है कि संसार में दुःख का अनुभव है। बीच-बीच में सुख का भी अनुभव होता है लेकिन दुःख का अनुभव है इसीलिये छूटना चाहता है। वैकुण्ठ में जाकर दुःख का अनुभव तो होगा नहीं। हमेशा भोग मिलता रहेगा तो सुख बना रहेगा अतः कृतार्थता सम्भव होने से सांख्य मत ही क्यों मानना? इस तरह का कथन 'प्रतिबन्दी' कहलाता है अर्थात् सांख्य सही हो तो वैष्णवादि उपासना से मोक्ष मानने वाले भी सही हों और दोनों सही हो नहीं सकते। तात्पर्य है कि असंगता जाननेमात्र से कृतार्थता, मोक्ष सम्भव नहीं।। २२९।।

सांख्य कहेगा कि कृतक अनित्य ही होने से वैकुण्ठादि भी नित्य नहीं होंगे। इस पर जवाब देते हैं—

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसम्पादं तथाऽऽत्मनः।
असङ्गत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः।। २३०।।

जैसे माला आदि को नित्य नहीं बना सकते वैसे जगत् और ईश्वर पृथक् सत्य रहते आत्मा असंग नहीं हो सकता।

वैकुण्ठ के अन्दर चाहे जितना तुम दिव्य कहो पर है तो प्रकृति का कार्य। इसलिये विषय रहते संग न होवे—यह नहीं होगा और जहाँ संग हुआ, एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या, असूया आदि सब दुःख के कारण मौजूद ही रहेंगे। हमें जितनी रोटी खाने को चाहिये उतनी मिल जाती है इतने मात्र से संतोष कहाँ होता है! दूसरे को ज़्यादा रोटी खाते देखते हैं तो सोचते हैं मुझे कम क्यों? कितना भी वैकुण्ठ के विषयों को दिव्य कह लो लेकिन जो परमाणुओं से बना है उसमें कुछ न कुछ विकारिता अवश्य होगी। रोज़ महिम्नःस्तोत्र में कहते हैं कि जो सावयव पदार्थ है वह नित्य नहीं हो सकता। सावयव पदार्थ है तो अवयव कभी इकठ्ठे भी किये गए हैं और कभी अलग भी हो जाएँगे। स्रक्-चन्दनादि सावयव होनेसे उनकी अनित्यता निश्चित है। उन्हें नित्य बनाना संभव ही नहीं। इसको सम्पन्न कर सको, उपपन्न

कर सको, समझा सको युक्ति से, यह असम्भव है। इसलिये सांख्य कहता है कि वैकुण्ठ के अन्दर मोक्ष नहीं है, असङ्गता में मोक्ष है।

इसपर कहते हैं कि जैसे विषय नित्य होना असम्भव है वैसे ही आत्मा की असङ्गता सम्भव हो सके यह नहीं जब तक जगत् और ईश्वर हैं। इनके रहते हुए जैसे पहले संग हुआ वैसे ही फिर होगा। 'जीवतोः' का मतलब है कि विशेषण-विशेष्य-भाव के आकार से भासते रहते। तात्पर्य है कि 'जगत् है', 'ईश्वर है', 'जगत् पर ईश्वर का शासन है' इत्यादि रीति से जगत् व ईश्वर को जानना ही उनसे संग हो जाना है अतः ये यों रहते, यों प्रतीत होते आत्मा संग वाला ही होगा। यदि प्रतीति न हो तो इन्हें है भी न माना जाये अतः इनका असत्त्वरूप मिथ्यात्व ही मान्य होगा। ईश्वर हो या जगत्, प्रतीत होता है तो प्रतीति संग ही है। ईश्वर नियमन करता है। अगर हमारे ऊपर नियमन नहीं ही कर रहा तो उसका ईश्वर नाम ही बेकार है। अभिप्राय है कि जगत्-ईश्वर सचमुच विभिन्न हों तो आत्मा संग वाला ही रहने से सांख्यसंमत मोक्ष सम्भव नहीं।। २३०।।

पूर्वोक्त असंभवता समझाते हैं–

अवश्यं प्रकृतिः सङ्गं पुरेवापादयेत् तथा।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति।। २३१।।

(विवेक से) पहले की तरह (बाद में भी) प्रकृति अवश्य पुरुष को संगवाला बनायेगी एवं इसे ईश्वर भी नियमित रखेगा। ऐसा रहते जीवका मोक्ष क्या हुआ?

विशेष्य-विशेषण-भाव के रहते अर्थात् जब तक जगत् एवं ईश्वर हमारे दृश्य हैं तब तक आत्मा द्रष्टा रहने से संग होगा ही। विवेक से पूर्व द्रष्टा होना ही जीवका संग था, द्रष्टा अब भी रहेगा तो असंग कहाँ रहा? सचमुच में संग तो पहले भी नहीं था! सांख्य भी पुरुष को स्वरूप से संगहीन मानता है। प्रकृति से अपना भेद न जानने से द्रष्टा बनकर संगी होता है। द्रष्टा होना विवेक के बाद भी आवश्यक रहते संग समाप्त नहीं हो पायेगा, यह भाव है। योगी ईश्वरभेद मानेगा तो मुक्त ईश्वर जाने यह ज़रूरी; ईश्वर शासनादि करने वाला ही होगा तो स्वयं को शासित भी जानेगा, फलतः संगवान् होना ही है। फिर प्रकृति और ईश्वर से मोक्ष कहाँ हुआ?।। २३१।।

सांख्यवादी स्वाभिमत मोक्ष समर्थित करने के लिये यदि प्रयास करे तो पुनः निज सिद्धान्त छोड़ वेदान्त की रीति अपनानी पड़ेगी यह दिखाते हैं–

अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत् तदा।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः।। २३२।।

यदि (सांख्य कहे कि) संग और नियमन अविवेक का कार्य है तो नासमझ सांख्य ने न चाहकर भी मायावाद माना!

सांख्यवादी का कहना है कि विवेक के न होने से अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान नहीं होने से बंधन है। विवेक न होने से शरीर मन इत्यादि के साथ मैं एक दीख रहा था। इनका शासन ईश्वर करता है, उससे मैं अपने को शासित होने वाला मान रहा था। इनसे जो कर्म होता है उसे मैं अपना कर्म मान रहा था। यह संग है। जब विवेक-ज्ञान हो गया, सत्त्व और पुरुष में अन्यता की ख्याति हो गई अर्थात् अन्तःकरण अलग है, पुरुष अलग है—इस प्रकार से भेदज्ञान हो गया, तो प्रकृति के दीखनेमात्र से बन्धन नहीं। विवेक न होने से संग हो जाता था इसलिये बन्धन था, अब विवेक हो गया तो संग नहीं होगा। इसी तरह सेश्वर पक्ष में ईश्वर नियमन तो करता है प्रकृति पर परन्तु प्रकृति से अपने को अलग न जानने के कारण हमें लगता है कि वह हमारे ऊपर नियमन करता है। विवेक हो गया तो ये दोनों ज्ञान नहीं होंगे; ईश्वर एवं प्रकृति भले ही रहें, हमारा संग नहीं होगा।

इसपर सिद्धान्ती कहता है कि तुम जिसको अविवेक कहते हो वह चीज़ क्या है? अविवेक का मतलब एक ही मानते हो—विवेक का न होना। वैसे, एक अर्थ हो सकता है विवेक से भिन्न, विवेक का विरोधी भी अविवेक का अर्थ हो सकता है। अविवेक के तीनों अर्थ हो सकते हैं। जैसे 'धन नहीं है' का एक अर्थ हो गया धन न होना। कभी मिट्टी के लोंदों को दिखाकर कह देते हैं कि यह धन नहीं है। वहाँ मतलब है कि वह धन से भिन्न है। लोंदा अभाव नहीं है वरन् धन से अलग कोई चीज़ है। तीसरा है—धन का विरोधी, जैसे आलस्य। जहाँ आलस्य रहेगा वहाँ धन नहीं रहेगा। इसी प्रकार अविवेक का अर्थ या हो सकता है विवेक का न होना अर्थात् अभाव। या हो सकता है विवेक से भिन्न कुछ, या हो सकता है विवेक का विरोधी। सांख्य मुख्यतः कहता है कि विवेक का न होना अविवेक है। 'न होना' अभाव है तथा अभाव से भाव की उत्पत्ति आस्तिक होने के कारण सांख्य भी मान नहीं सकते। मानते भी नहीं हैं क्योंकि वे परिणामवादी हैं। परिणामवादी असत् से सत् की उत्पत्ति कहाँ मानेगा! तिलों से ही तेल निकलता है, दूध से ही मक्खन निकलता है। 'कुछ नहीं है' से तो 'कुछ' होता नहीं है। इसलिये विवेक का न होना अविवेक का अर्थ करे तो असत्कारणवादी बनना पड़ेगा जो वह है नहीं। 'विवेक से भिन्न' अर्थ भी ठीक नहीं। विवेक से भिन्न तो घट पट आदि हैं जिन्हें कोई 'अविवेक' नहीं कहता-समझता। तीसरा विकल्प है कि विवेक का विरोधी कुछ है जो विवेक को पैदा नहीं होने देता। विरोधी है तो कुछ भाव पदार्थ होगा जो विवेक-ज्ञान से नष्ट हो जायेगा। यदि भावरूप अविवेक को ज्ञाननिवर्त्त्य मानते हो, तब तो भावरूप अज्ञान का ही तुमने नाम अविवेक रखा! यों तुमने अपना पक्ष छोड़ दिया। सांख्य पक्ष वाला दुर्मति है अर्थात् अपनी बात मानने से क्या नतीजा आएगा यह ठीक प्रकार से मनन करके जान नहीं पाता है। अतः बलात्, अपने ही तर्क के बल से उसे मानना पड़ा कि संसार का कारण भावरूप अज्ञान है जो ज्ञान से नष्ट हो जाएगा। यह मानता ही है कि विवेक से अविवेक नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मायावाद स्वीकार हो

गया। जगत् में ज्ञाननिवर्त्य (अतः मिथ्या) भावरूप (अभावविलक्षण) आवरणकारी अज्ञान का योगदान मानना ही वेदान्ती का मायावाद है।। २३२।।

अद्वैत में सांख्य का भय दूर करने के लिये समझाते हैं–

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थम् आत्मनानात्वमिष्यताम्।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा।। २३३।।

ऐसा भी नहीं कि बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था के लिये आत्माओं की अनेकता मानी जाये क्योंकि माया वह व्यवस्था भी बना सकती है।

एक बद्ध है और दूसरा मुक्त है। आत्मा को एक मानो तो वह बद्ध है कि मुक्त? इसी प्रकार, एक आत्मा पाप करके नरक जाता है, दूसरा आत्मा पुण्य करके स्वर्ग जाता है। एक ही आत्मा मानो तो स्वर्ग और नरक दोनों जगह एक-साथ कैसे जायेगा? बन्ध-मोक्ष, स्वर्ग-नरक आदि जो शास्त्रीय स्थितियाँ हैं उनकी व्यवस्था के लिये आत्मा नाना मानने पड़ते हैं। यदि सांख्यवादी ऐसा कहे तो जवाब है कि मायावादी को इसमें कोई कठिनाई नहीं है। ये उक्त व्यवस्थायें नहीं बन सकतीं–यही कहना चाहते हो लेकिन माया की तो विशेषता ही है कि जो नहीं बन सकता उसे बना कर दिखा देना! ठीक जैसे बाजीगर अपनी जेब से ठनाठन गिन्नियाँ निकालता है तो जेब में पहले बिना रखे गिन्नियाँ निकलनी सम्भव नहीं हैं अतः माया से निकालता है यही मानते हैं। बाजीगर अपने सिर से टोप हटा कर और उसमें से एक मुर्गी निकालता है, उस मुर्गी में से दूसरी मुर्गी, दूसरी में से तीसरी, ऐसे निकालता जाता है। टोप में से इतनी मुर्गियाँ निकलनी असम्भव हैं पर माया के कारण सम्भव कर देता है। इसी प्रकार एक ही आत्मा बद्ध हो और मुक्त हो, एक ही आत्मा स्वर्ग में हो और नरक में हो–यह सम्भव नहीं है परन्तु माया इसको सम्भव करके दिखला देती है। इसलिये उक्त व्यवस्था के लिये आत्मभेद की अप्रामाणिक असंगत कल्पना अनुचित है।। २३३।।

माया का कथित प्रभाव ही प्रकट करते हैं–

'दुर्घटं घटयामीति' विरुद्धं किं न पश्यसि।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम्।। २३४।।

जो घटित होना संभव नहीं वह घटित कराती हूँ, ऐसी विरुद्ध सामर्थ्य माया की क्यों नहीं देख पाते! बन्धन और मोक्ष मायिक ही हैं, वे वास्तव हों यह वेद को बिलकुल सहन नहीं।

दुर्घट–जो घट नहीं सकता है, उसको 'घटयामि'–मैं घटाकर दिखला देती हूँ–यह मानो माया की प्रतिज्ञा है। मायिक कार्य दुर्घट होता है किंतु घट भी जाता है! इसी तरह एक आत्मा एक-साथ स्वर्ग में भी हो नरक में भी हो–यह दुर्घट है पर घट जाता है। माया की

इस विलक्षणता को तुम नहीं देख रहे क्या? ऐन्द्रजालिक के खेल में सब लोग देखते ही हैं कि जो नहीं घट सकता है उसको वह घटाकर दिखलाता है। सांख्य कह सकता है कि बाजीगर जो पाँच सौ रुपये के नोट और मुर्गियों से मुर्गी निकालता है वे सब तो झूठी चीज़ें होती हैं। यदि दुर्घट को घटने वाला मानो तो वेदांती को बन्धन की तरह मोक्ष भी झूठा मानना होगा जबकि दुर्घट में कम-से-कम मोक्ष को तो तुम सच्चा मानोगे। संसार झूठा है, बन्धन झूठा है, यहाँ तक तो जँच जाता है परन्तु मोक्ष भी वैसा ही झूठा है—यह साधारण व्यक्ति को समझ नहीं आता। विचार करके देखो तो कठिनाई नहीं है; जेल में बिना पड़े हुए तुम यदि अपने को जेल में देख रहे हो तो जेल से बाहर निकले बिना ही अपने को जेल से छूटा भी देख लोगे। यदि जेल में पड़े बिना अपने को जेल में देखना भ्रम है तो जेल से बाहर निकले बिना ही 'मैं निकल गया' ऐसा समझना भी भ्रम ही है। नशे आदि से ऐसा होता भी है। इसलिये यह समझना संगत है कि एक अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व है, उसी में माया आवरण के द्वारा बन्धन की प्रतीति करा देती है, ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्रतीति करा देती है। परब्रह्म परमात्मा न बद्ध हुआ, न मुक्त हुआ। जो तो उसकी नित्य मुक्तता, वह स्वरूप ही है, न कि बन्धननिवृत्ति। बन्ध का विरोधी जो मोक्ष उसकी यहाँ बात कर रहे हैं। जैसे अज्ञान कल्पित है वैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति भी कल्पित ही है। अतः वृत्तिद्वारा अज्ञान मिटना भी कल्पित है। वास्तविक बन्धन और वास्तविक मोक्ष तो श्रुति सहन नहीं करती क्योंकि तब परमात्मा का पारमार्थिक अद्वैत अमान्य होगा। इसलिये बन्धन और मोक्ष ये दोनों ही मायिक हैं। 'यक्षानुरूपो बलिः'—जिस जाति का यक्ष होता है उसी जाति की बलि देनी पड़ती है। कोई यक्ष सीरे की बलि से, भेंट से खुश हो जाता है या और कोई यक्ष बकरे की बलि माँगता है! जैसा यक्ष है उसके अनुसार ही उसको बलि देनी पड़ेगी। इसी प्रकार मायिक ही बन्धन है तो उसके लिये मायिक ही मोक्ष है।। **२३४।।**

मोक्षादि अवास्तविक हैं यह मुखतः भी श्रुति ने बताया है यह ब्रह्मबिन्दु उपनिषत् (१०) के उद्धरण से सिद्ध करते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।। २३५।।

नाश, जन्म, बन्धन वाला, साधना करने वाला, मोक्षेच्छुक, मुक्त—ये कोई नहीं हैं, ऐसी यह वास्तविकता है।

परमार्थ अर्थात् सचमुच में सच्ची बात। व्यवहार है जो सचमुच में झूठा है परन्तु व्यवहार में लगता है सच्चा। इसका दृष्टांत हमें रिजर्व बैंक का नोट लगता है। पाँच सौ रुपये का नोट पाँच सौ रुपये के सारे काम चलाएगा पर *सचमुच* में वह पाँच सौ रुपया नहीं है। जिस दिन रिज़र्व बैंक की सूचना आ जाती है कि 'आज से इन नम्बरों के नोट चलना बन्द कर दिया।' उस दिन से तुम पाँच सौ के नोट लिये बैठे रहो, कुछ नहीं मिलना है। नोट सचमुच

में सच्चे नहीं हैं; सचमुच में तो झूठे हैं लेकिन व्यवहार में सच्चे लगते हैं। इसी प्रकार संसार के जो परमेश्वर के बनाए हुए पदार्थ हैं उनसे व्यवहार सिद्ध हो जाता है पर वे पदार्थ *सचमुच* में सच्चे नहीं है, हैं मायिक, प्रातिभासिक हैं, झूठमूठ ही सच्चे हैं। पारमार्थिक वह हुआ जो जैसा है वैसा ही रहता है, उसमें कोई परिवर्तन कभी होता नहीं। ऐसा पारमार्थिक सत्य परिवर्तन से सर्वथा रहित है। अतः श्रुति खुद ही कहती है 'न निरोधः' जगत् का कभी भी नाश नहीं होता। नाश उसी का होता है जो पहले होवे! बाजीगर ने जो पाँच सौ रुपये की गड्डी दिखाई वह जलती नहीं है क्योंकि कुछ होती तो जलती। इसी प्रकार जो संसार प्रतीत हो रहा है—यह होवे तो इसका नाश भी हो सके, जब है नहीं तो इसका नाश कैसे होवे? माया से प्रतीतिमात्र है। जैसे बाजीगर वाले नोट रिज़र्व बैंक से छपकर नहीं आए हैं इसी प्रकार संसार के पदार्थों की जो उत्पत्ति कही गई है वह वास्तविक नहीं है। केवल लय-प्रक्रिया से ध्यान करके इसकी प्रतीति को खत्म करने के उपाय के लिये ही वेद में भी कही गई है। सचमुच में कुछ नहीं उत्पन्न हुआ।

इसी प्रकार 'न बद्धः'—सुख-दुःख एवं धर्माधर्म वाला कोई बंधन में पड़ा नहीं है। मन सुख-दुःख वाला इसलिये नहीं है कि जड है। आत्मा इसलिये नहीं कि सुख-दुःख से उसका सम्बन्ध हो नहीं सकता। सुख-दुःख केवल प्रतीतिमात्र हैं। 'न च साधकः' न कोई वेद-स्वाध्याय, यज्ञ इत्यादि के द्वारा चित्तशुद्धि की साधना करने वाला है। चित्त जड है सत्त्वगुण से ही बना हुआ है, उसकी शुद्धि क्या होगी! और कहो कि चित्त वाला जीव शुद्ध होगा; तो चित्त वाला जीव कोई है नहीं, केवल भ्रम से प्रतीत हो रहा है। इसलिये साधक भी सचमुच में कोई नहीं है। न कोई शम दम आदि वाला श्रवण-मननरूप साधन करने वाला मुमुक्षु है। मुक्त होने की इच्छा वह करे जो बद्ध होवे। आत्मा बद्ध है नहीं इसलिये मुमुक्षु भी नहीं हो सकता। चित्त बद्ध हो नहीं सकता क्योंकि जड है। इसलिये श्रवणादि का अनुष्ठाता भी एक कल्पना ही है। 'इति एषा परमार्थता'—पारमार्थिक तत्त्व तो यह है। जिस प्रकार बायोस्कोप में दीखता है—बादल आ गये, पानी बरस गया, फिर धूप निकल आई; परन्तु वस्तुतः न पर्दा गीला हुआ न पर्दा सूखा, उसी प्रकार निरोध, उत्पत्ति, बद्ध, साधक, मुमुक्षु, मुक्त—ये सब माया के परदे के ऊपर दीख रहे हैं। इसलिये बंध-मोक्ष की व्यवस्था के लिये भी आत्मा अनेक होना बिलकुल ज़रूरी नहीं यह स्पष्ट हुआ।। २३५।।

युक्ति से जो सम्भव न हो वह सम्भव हो जाए—इसी को माया कहते हैं। एक अद्वितीय ब्रह्म का न किसी प्रकार बन्ध सम्भव है, न किसी प्रकार मोक्ष सम्भव है फिर भी उसके अन्दर बन्धन और मोक्ष दोनों की प्रतीति माया करा देती है। जीव-ईश्वर आदि सारा ही भेद मायामय है इसका नतीजा बताते हैं—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि।। २३६।।

माया नामक कामधेनु के जीव और ईश्वर नामक दोनों बछड़े जैसा चाहें वैसा द्वैतरूप दूध पियें, वास्तविकता तो अद्वैत ही है।

कामधेनु स्वर्ग में रहने वाली गाय है जिससे जो चाहो वह दुह सकते हो। जिस प्रकार कल्पवृक्ष के नीचे जो इच्छा करो, पूरी हो जाती है वैसे कामधेनु भी कामनापूरक है। अपने को नहीं मिलेगी, वह तो इन्द्र की है, पर यह माया नाम की कामधेनु हमारे पास है। उस गाय के बछड़े कौन हैं? जीव और ईश्वर—ये दोनों बछड़े हैं। इनकी समग्र इच्छाओं को वह पूर्ण कर देती है। जैसा-जैसा द्वैत चाहते हैं, वैसा-वैसा द्वैत मिलता रहता है। जो अपनी इच्छा हो उसी पदार्थ को, द्वैत को, दुह लेते हैं, माया से पा लेते हैं। वेद ने समग्र कामनाओं की पूर्ति के लिये उपाय बतलाए हैं। अविचारशील मानते हैं कि वही वेद का प्रधान उपदेश है। कर्मकाण्ड के अस्सी प्रतिशत मंत्र हैं। बचे बीस प्रतिशत में सोलह प्रतिशत में परमेश्वर की उपासना बतलाई है। केवल चार प्रतिशत के अन्दर जीव-ईश्वर की एकता और जगद्‌मिथ्यात्व का प्रतिपादन है। उपासक कहते हैं कि सोलह प्रतिशत मन्त्र प्रधान हैं। रहस्य चार प्रतिशत अर्थात् उपनिषदों में ही बताया है। जब तक उसकी सामर्थ्य नहीं तब तक जिस-जिस पदार्थ की इच्छा है उस-उस पदार्थ को कैसे प्राप्त किया जाए—यह वेद से जानकर प्राप्त कर सकते हो। वेद के अनुसार परमेश्वर इच्छाओं के विषय जीव को देंगे, जीव अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करके उन चीज़ों को प्राप्त करेंगे। फल देने वाला ईश्वर भी माया का ही वत्स है और कर्म करने वाला जीव भी माया का ही वत्स है। पीने का मतलब है भोग करना। यह फ़र्क तो रहेगा ही कि जीव भोग करेगा, ईश्वर करायेगा। वेद के अन्दर जीव और ईश्वर के वर्णन में कहा है कि ये दो पक्षी हैं, एक फल भोगने वाला, एक फल नहीं भोगने वाला। अतः यहाँ एक पीने वाला और दूसरा पिलाने वाला है, फिर भी दोनों के लिये 'पिबताम्' कहते हैं। कर्म से पदार्थों की प्राप्ति होगी पर मन को शान्ति की प्राप्ति कर्म के द्वारा नहीं है। मन की शान्ति उपासना से होगी। ये दोनों ही द्वैत का ही चक्र है चाहे विषयरूप द्वैत की प्राप्ति करो, चाहे मन की शान्ति की प्राप्ति करो, परन्तु ये दोनों वास्तविक नहीं हैं; मायिक ही हैं। 'तु' से पक्ष व्यावृत्त करके कहते हैं कि ये सब तो मायिक हैं; तत्त्व अर्थात् वास्तविकता अद्वैत ही है। जीव व ईश्वर वास्तविक नहीं हैं, वास्तविक एकमात्र अद्वितीय तत्त्व है।। **२३६।।**

पहले समझाया था कि मेघाकाश, मेघजल में प्रतिबिम्बित आकाश की तरह (१५५-६) ईश्वर है, घट के जलाकाश की तरह (श्लो. १८-२०) जीव है अतः (श्लो. १८) कूटस्थ और ब्रह्म में अन्तर किया था। कूटस्थ में प्रतीत होने वाला जीव और ब्रह्म में प्रतीत होने वाला ईश्वर समझाया था। इसलिये जीव का अधिष्ठान कूटस्थ और ईश्वर का अधिष्ठान ब्रह्म है। अब यह कह रहे हैं कि तत्त्व अद्वैत है। जगत् तो अतत्त्व हो सकता है, अवास्तविक हो सकता है परन्तु कूटस्थ और ब्रह्म—ये दो तो बचेंगे ही? इसके उत्तर में कहते हैं—

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते न हि।
घटाकाश-महाकाशौ वियुज्येते न हि क्वचित्।। २३७।।

नाम का अन्तर छोड़कर कूटस्थ और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है जैसे घटाकाश व महाकाश कभी कहीं वियुक्त (परस्पर अलग होकर स्थित) नहीं होते।

समझाने के लिये जीव के अधिष्ठानरूप से कूटस्थ बतलाया, ईश्वर के अधिष्ठानरूप से ब्रह्म बतलाया पर दोनों *चीज़* एक ही हैं। केवल दो नाम अलग-अलग हैं, चीज़ एक ही है। नाममात्र का मतलब होता है कि वस्तुतः दोनों के अन्दर कुछ भी भेद नहीं है। कूटस्थ और ब्रह्म ये दोनों अद्वितीय के नाम हैं। अतः इनके अर्थ में भेद नहीं है। कहने को घटाकाश-महाकाश यों मानो दो कहे जाते हैं परन्तु सिवाय आकाश के और तो कुछ है नहीं। जैसे घटाकाश और महाकाश केवल नाममात्र का भेद है, वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म को कूटस्थ भी कह देते हैं अतः दोनों का स्वरूप एक ही है। कहोगे, घट के कारण आकाश है—इतना भेद तो है। पर विचार करो, घट का स्वरूप क्या है? घट मिट्टीरूप है। मिट्टी जलरूप है। जल तेजोरूप है, तेज वायुरूप है, वायु आकाशरूप है। यों घट भी आकाश ही है। यह भेद वैसा ही है जैसा किसी तालाब के अन्दर तुम बर्फ की कुण्डी डाल दो तो उसमें भरा पानी अलग दिखाई देगा, बर्फ की कुण्डी के बाहर पानी अलग दिखाई देगा। पहले लगेगा, बर्फ की कुण्डी के बाहर का पानी और अन्दर का पानी। लेकिन थोड़ी देर बाद जब बर्फ गल जाएगी तब दोनों पानियों का भेद प्रतीत हो सकता है क्या? बर्फ भी पानी ही है। जैसे बर्फ की कुण्डी जब तक है तब तक *लगता है* कि बाहर-भीतर के पानी अलग हैं। इसी प्रकार जब तक समझाते हैं तब तक घटाकार्क और महाकाश का फ़र्क लगता है परन्तु जब ठीक तरह से समझ में आता है तब घट भी आकाशरूप ही होने से सिवाय आकाश के और कुछ नहीं बच जाता। इसी प्रकार से कूटस्थ ब्रह्म में अन्तर विवक्षित ही नहीं कि परमार्थ तत्त्व में द्वैत-संभावना हो।। २३७।।

इस विचार से सनातन अद्वैत समर्थित होता है यह दिखाते हैं—

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक् तदेवाद्य चोपरि।
मुक्तावपि, वृथा माया भ्रामयत्यखिलान् जनान्।। २३८।।

सृष्टि से पूर्व जो अद्वैत वेद ने बताया है वही आज है, वही भविष्य में है, वही मोक्ष में भी है। वास्तविक किसी अर्थ के बगैर ही माया सब लोगों को भ्रम में घुमाये जा रही है।

वेद के अन्दर सृष्टि से पहले अद्वितीय ब्रह्म को कहा—'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मा वा इदमेकएवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्' इत्यादि श्रुतियाँ बार-बार कहती हैं कि सृष्टि से पहले केवल एक अद्वितीय तत्त्व था। जहाँ 'था' कहा, वहाँ भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने प्रश्न उठाया है कि क्या 'था' का मतलब है कि अब नहीं है? जवाब दिया कि तब भी था और अब भी है। फिर था क्यों कहा? इसलिये कि

ऐसा कहें कि 'इस समय ये ब्रह्मरूप हैं' तो लोग समझेंगे नहीं। एक तरफ रावण दीखता है, दूसरी तरफ राम दीखता है, कैसे समझ लेवें कि सब ब्रह्म हैं? एक अत्यन्त रूपवान् व्यक्ति है दूसरा कोढ़ी है—कैसे समझ लेवें कि सब ब्रह्म है? अगर अद्वैत 'है' कहते तो लोगों की समझ में नहीं आता। जब कहते हैं कि 'सृष्टि होने से पहले एक अद्वितीय तत्त्व था' तब मनुष्य का जी नहीं घबराता है, लगता है कि पहले ऐसा रहा होगा। मनुष्य घबरा न जाए, इसलिये 'था' कहा, इसका मतलब यह नहीं कि अभी भी अद्वैत नहीं है। वह तो वैसा का वैसा है, तब भी और अब भी। वेद ने हम लोगों के ऊपर कृपा करके 'था' कहा। (प्रकरण २ श्लो. ३८ में भी यह चर्चा हो चुकी है।) श्रुति ने देखा कि जीव संसारभेद से त्रस्त है, इसकी चिन्ता से सूख रहा है अतः चिंता मिटाने के लिये सच बताना जरूरी कि यह भेद है नहीं, वास्तविक नहीं कि इसके लिये क्लेश भोगा जाये। इस सत्य को समझाने की भूमिका इस तरह बांधी कि पहले अद्वैत था। उतना बुद्धिगत होने पर धीरे-धीरे समझ आ जायेगा कि हमेशा अद्वैत है। जब कारण पीतल के अलावा नहीं तब कार्य में सोना कहाँ होगा! अद्वैत से द्वैत कैसे होगा! फलतः 'नेह नानास्ति' जँच जायेगा। जैसे 'कौन धुनेगा, कौन बुनेगा?' की चिंता में पागल हुए को समझाना पड़ा कि सारी रुई जल गयी वैसे संसार की चिन्ता में पागल जीव को वेद ने समझाया कि पहले अद्वैत था। इतना जँचने पर जीव को बोध होगा कि हमेशा ही अद्वैत है। वेद कहता है, उस अखण्ड ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ इत्यादि; श्रुति का तात्पर्य ये सब पैदा हुए बताने में नहीं है, यह बतलाने में है कि ये वास्तविक नहीं हैं। अद्वितीय तत्त्व ही इस समय भी है जब सद्वितीय लग रहा है, भविष्य में भी यही रहना है, इसमें कोई फ़र्क नहीं आएगा। पहले, आज, आगे—ये तो हो गये माया के अन्दर जितनी प्रतीतियाँ होती हैं उनमें, और जब माया की सारी प्रतीतियाँ ख़त्म हो जाएँगी, मोक्ष होगा, तब भी अद्वितीय तत्त्व वैसा का वैसा रहेगा। मुक्ति में उस तत्त्व में कोई फ़र्क नहीं पड़ना है। वह वैसा का वैसा रहते हुए ही सृष्टि से लेकर मुक्ति पर्यन्त दीख जाता है। अद्वितीय तत्त्व सदा निर्विकार है फिर भी सब लोगों को इस चक्कर में कि 'यह हो गया अब वह होगा या ऐसा हो जाए', माया वृथा घुमाती रहती है। न कोई विषय है जो हमें मिले, न हमसे छूट सकता है, फिर भी 'यह मिला, वह मिले' की भ्रांति में हम घूमते रह जाते हैं। वृथा ही सारे लोगों को माया घुमाती रहती है।। २३८।।

शंका-समाधान से सत्यबोध का उपयोग व्यक्त करते हैं—

ये वदन्तीत्थमेतेऽपि भ्राम्यन्ते विद्ययात्र किम्?
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्तेरदर्शनात्।। २३९।।

जो यों (भेदमिथ्यात्व) कहते हैं वे भी अविद्या से घुमाये ही जाते हैं तो विद्या से इस सन्दर्भ में क्या लाभ? उनका भ्रमण अज्ञावस्था की तरह नहीं रहता। सत्य के बारे में उन्हें भ्रान्ति ज्ञान नहीं होता।

यह शंका प्रायः लोगों को होती है कि आप हमें बतला रहे हैं। इस का मतलब है कि मैं सुनने वाला हूँ, आप सुनाने वाले हैं, मुझे कुछ पता नहीं है, आप जानते हैं; तो तत्त्व अद्वैत कहाँ रहा? जो कहते हैं कि संसार भ्रम-मात्र है, वे भी तो भेदभ्रम के अन्दर हैं ही फिर आपकी ब्रह्मविद्या से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? कुछ नहीं! 'द्वैत मिथ्या है, अद्वैत सत्य है' कहने के सिवाय बाकी सब व्यवहार तो वैसा ही रहता है। 'अविद्या' ऐसा भी पदच्छेद मानकर आक्षेप से संबंध हो जाता है कि 'कहने वाले भी अविद्या से भ्रम में हैं'। मुख्य आक्षेप तो यही है 'विद्यया किम्?' विद्या से क्या लाभ? ज्ञान से क्या फायदा? इस के समाधान में कुछ लोगों ने तो मान लिया कि तत्त्व-ज्ञान के बाद व्यवहार होता ही नहीं। जब तक व्यवहार होता है तब तक तत्त्वज्ञान नहीं। ऐसी कुछ लोगों की व्यवस्था है। परन्तु यहाँ सिद्ध करेंगे कि तत्त्वसाक्षात्कार के पश्चात् भी व्यवहार होता है और व्यवहार के होने से कुछ फ़र्क भी नहीं पड़ता। व्यवहार होने मात्र से द्वैत की *सिद्धि* नहीं होती जिस प्रकार से पाँच सौ रुपये के नोटों से व्यवहार करने पर भी नोट की वास्तविकता सिद्ध नहीं होती। जो इस अन्तर को जानता है वह 'धन' सुरक्षित रखता है, न जानने वाला सिर्फ नोट या नोटों की गिनती ही बढ़ाता रहता है, धन खोता रहता है। इस संसार में व्यवहार करते हुए भी जो जानता है कि इसकी वास्तविक कीमत कुछ नहीं है, वह धोखा नहीं खाता अर्थात् इसके प्रभाव से स्वयं कर्त्ता-भोक्ता नहीं बनता। व्यवहार तो वैसे ही करता है लेकिन पहले, अज्ञानावस्था में स्वयं को कर्त्तादि समझकर व्यवहार होता था, अब विद्यावस्था में वह भ्रम नहीं होता, न दृश्य में सत्यता का ही भ्रम होता है।

पहले आग्रहपूर्वक व्यवहार था—'ऐसा ही होवे' अतः वैसा नहीं होने से दुःखी होना पड़ता था और वैसा हो गया तो सुखी होते थे। जब वास्तविकता को समझ लिया तब किसी भी व्यवहार के अन्दर आग्रह नहीं रह जाता। आग्रह के अभाव में वैसा हो गया तो कोई सुख नहीं और नहीं हुआ तो दुःख नहीं होता। उनके अन्दर यह भ्रान्ति नहीं देखी जाती कि संसार वास्तविक है। संसार में वास्तविकता का दर्शनरूप भ्रान्ति और 'मैं' सचमुच सुखी-दुःखी हूँ—यह भ्रान्ति नहीं होती। अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति दुःखी देख कर भी वे विचलित नहीं होते क्योंकि उससे 'मैं दुःखी' प्रतीति नहीं होती। व्यवहार भ्रम नहीं है, असत्य में सत्यबुद्धि भ्रम है जिसका नतीजा है व्यवहार के अन्दर आग्रह। इस प्रकार प्रभावी होने से विद्या सप्रयोजन है एवं विद्वान् का व्यवहार अविद्या द्वारा घुमाया जाना नहीं।। २३९।।

ज्ञान से मिटने वाला ग़लत निश्चय बताते हैं जो अज्ञानी में सुलभ है—

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः।। २४०।।

इस लोक व परलोक का सारा संसार सच्चा है इसलिये अद्वैत न प्रतीत होता है न है—यह अज्ञानियों का पक्का निर्णय है।

अज्ञानी का निश्चय क्या है? इह लोक में जो संसार दीख रहा है वह वास्तविक है, सच्चा है। बाप मरे तो प्रतीति होती है कि सचमुच में मर गया। इसी प्रकार अगर हज़ार रुपया का फ़ायदा हो तो सचमुच में लाभ हो गया। मिथ्या दृश्यों में कुछ परिवर्तन है, मैं निर्विकार एकरस हूँ—ऐसी अनूभूति नहीं होती। इसी प्रकार जो आस्तिक है उसे लगता है कि आमुष्मिक संसार भी सत्य है। आमुष्मिक मतलब आने वाला, मरकर के जाएँगे तब जो होगा। स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक पर्यन्त सब सचमुच में सत्य लगता है। ऐहिक संसार उसको सच्चा लगता ही है, आमुष्मिक संसार भी आस्तिक को वास्तविक लगता है। ऐहिक में भी संस्कारों से फ़र्क पड़ता रहता है। पहले मनु के प्रति श्रद्धा थी तो 'मैं ब्राह्मण' आदि सत्य लगता था, आज नेहरूजी पर श्रद्धा है तो 'मैं हिन्दुस्तानी' सच्चा लगता है। अगर 'मैं ब्राह्मण' में कोई प्रमाण नहीं तो प्रत्यक्षादि से 'मैं हिंदुस्तानी' भी सिद्ध नहीं होता। संविधान के आधार पर अगर हिन्दुस्तानी की सिद्धि तो मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मणादि की भी सिद्धि है। किस पर श्रद्धा है इसी का अन्तर है, और कुछ भेद नहीं। मनु ने न केवल इहलोक वरन् परलोक तक के प्रभाव समझकर बताये हैं और नेहरू जी का संविधान, इहलोक का भी प्रभाव बिना समझे बताता है, फिर भी जिसकी जैसी श्रद्धा वैसा आग्रह पाल लेता है। इसी प्रकार से और भी बहुत-सी चीजें, ऐहिक भी हैं और आमुष्मिक भी हैं। रसगुल्ला खाने से मजा आता है यह सर्वथा ऐहिक है, इसके लिए आमुष्मिक विचार की जरूरत नहीं है। वैकुण्ठ लोक सर्वथा आमुष्मिक है, इसमें ऐहिक कुछ नहीं है। गंगास्नान से ऐहिक भी सफाईरूप लाभ है और आमुष्मिक भी पुण्य है। अज्ञानी का निश्चय है कि तीनों प्रकार का सारा संसार वास्तविक होने के कारण कहीं पर भी अद्वैत तत्त्व का तो पता लगता नहीं! सारा संसारभेद ही दीखता है, अभेद कहीं दीखता होता तो कभी, कहीं अनुभव में भी आता, न आने से यही उचित है कि अभेद, अद्वैत है ही नहीं। जब वास्तविक अभेद नकारा तब काल्पनिक अभेद की बातें शुरू होती हैं। आज जो भेद मिटाने की बातें करते हैं वे नये भेद ही डालते हैं। संविधान में लिखा गया जात-पाँत नहीं मानेंगे। फिर कहेंगे अमुक जाति को विशेष अधिकार देंगे। एक तरफ कहेंगे, हम धर्मों का भेद नहीं मानेंगे; दूसरी तरफ विभिन्न मजहब आदि की मान्यताओं को सुरक्षित रखने में सहायता प्रदान करेंगे। यदि अभेद सत्य समझकर भेद मिथ्या होने से समान देखते तब तो व्यवहार सन्तुलित रहता लेकिन वास्तविक सत्य से बेखबर रहते मनमाना अभेद अव्यवस्थित विचार-आचार ही पनपाता है। इस प्रकार अज्ञानियों का निश्चय है कि इहलोक और परलोक सच्चे हैं, अभेद का कहीं पता लगता नहीं।।२४०।।

अज्ञानी का निश्चय बताया कि संसार सच्चा, अद्वैत असत्य है। अज्ञानियों में पामर वे जो इहलोक को ही सत्य मानें, परलोक को भी असत्य कहें, अद्वैत को तो कहें ही। जो संस्कारी अज्ञानी वे परलोक तो समझते-मानते हैं लेकिन अद्वैत नकारते हैं। अब ज्ञानी के निश्चय का प्रदर्शन करते हैं—

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते।। २४१।।

इससे विपरीत है ज्ञानी का निश्चय क्योंकि वह सही समझता है। अपने-अपने निश्चय से 'मैं बँधा', 'मैं छूटा' यों मानते हैं।

ज्ञानी का निश्चय पूर्वोक्त से विपरीत है कि इहलोक परलोक वास्तविक नहीं हैं क्योंकि जो प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं हुआ करता। अज्ञानी का कहना है कि जो प्रतीत होता है वह वास्तविक है और जो प्रतीत नहीं हो रहा वह है ही नहीं। ज्ञानी ऐसा नहीं कहता कि यह संसार और परलोक नहीं हैं वरन् यह कि ये वास्तविक नहीं हैं, सच्चे नहीं हैं। उसका निश्चय है कि प्रतीत होने वाली चीजें सच्ची नहीं होतीं, जिसे प्रतीत होती हैं वह सच्चा है। प्रतीत करने वाला प्रतीति, भान है; श्रवण-मनन आदि के द्वारा पता चलता है कि प्रतीत करने वाले का वास्तविक रूप प्रतीति ही है। प्रतीति वास्तविक है, जिसकी प्रतीति होती है वह वास्तविक नहीं है—यह ज्ञानी का निश्चय है। अद्वितीय तत्त्व है, वही पारमार्थिक है यह उसका सोचा-समझा महसूस होता निश्चय, निर्णय है। संसार में जो कुछ भी है, वह निश्चय का ही फल है। जैसा निश्चय होता है वैसा ही होता भी है। अज्ञानी अपने निश्चय के कारण समझता है मैं बँधा हूँ। अज्ञानी का निश्चय है कि 'संसार में मैं कर्मों के फल से आया हूँ। कर्मों के फल से आगे जाऊँगा, वैकुण्ठ आदि धाम को जाऊँगा' आदि, इसलिए कर्म-पाश में वह बद्ध है। यह निश्चय ही कि 'मैं कर्म से बँधा हुआ हूँ' उसे बन्धन में रखता है। 'मेरा कर्म से त्रैकालिक सम्बन्ध नहीं है, कर्म जितना है वह माया का खेल है, मैं नित्य मुक्त हूँ' ऐसे निश्चय वाला मुक्त है। 'बद्धोहं' या 'मुक्तोहं'—अपने-अपने निश्चय के अनुसार ही बन्धन व मोक्ष का अनुभव है।

सत्य के निश्चयार्थ शास्त्र का आलम्बन लेना अनिवार्य है। उसमें आमुष्मिक, पारलौकिक व्यवस्थाएँ भी बतायी हैं। ऊहापोह से समझ आता है कि तत्त्व समझाने के उपयोगार्थ उनका वर्णन है, उन व्यवस्थाओं या परलोक को परमार्थ बताने के लिये नहीं। इहलोक पर ध्यान दें तो पाप से दुःख, पुण्य से सुख यह नियम मिलता नहीं। कर्मवादी सुख-दुःख के प्रति कर्म को कारण कहता है। शल्यक्रिया में टांग कटती है तो पापवश, लेकिन सुंघनी के प्रभाव से दुःख होता भी नहीं, तब पाप का दुःख फल है यह कैसे निर्णय होगा? अतः देहादि में मैं-बुद्धि ही दुःखादिका हेतु है। सुंघनी से हो या नशे आदि से, जब वह मैं-बुद्धि नहीं रहती तब देहादि के सुखादि भी नहीं होते, तभी होते हैं जब देहादिमें मैं-बुद्धि हो, अतः वही कारण होना संगत है। जिस मकानादिमें मेरा-बुद्धि हो उसी से सुख-दुःख होता है, बेचने आदि से मेरापन हट जाने पर मकान के टूटने, जलने से भी दुःखादि नहीं होते। इसलिये कर्मादि नहीं वरन् मैं-मेरा बुद्धि या अध्यास ही सुख-दुःख में, बंधन में कारण है।

इसलिए आचार्य शंकर ने कहा है-'देहात्मज्ञानवद् ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्' जैसे अभी

तुम्हारा दृढ निश्चय है कि शरीर मैं हूँ, वैसा दृढ ब्रह्मभाव का निश्चय हो तभी देहात्मबुद्धि कटती है। शरीर मानसरोवर की यात्रा कर आया तो तुम्हें निश्चय होता है कि 'मेरी मानसरोवर की यात्रा हो गई' क्योंकि देहात्मज्ञान दृढ है। वैसे ही दृढ 'मैं शरीर नहीं हूँ' यह ज्ञान हो जाए तभी देहात्मता-भ्रम टूटे। जिसको ऐसा निश्चय हो जाता है 'स नेच्छन्नपि मुच्यते' वह मुक्त होने की इच्छा न करे तो भी मुक्त हो जाता है क्योंकि वह मुक्त ही है। जिस प्रकार जिसके पास पाँच करोड़ रुपए हैं वह इच्छा न करे तब भी धनी है ही। आमुष्मिक संसार की वास्तविकता की भ्रांति वेद का सम्यक् प्रकार विचार करने से हट जाती है और ऐहिक की सत्यता की भ्रांति संसार का विवेक करने से निवृत्त हो जाती है।।२४१।।

अद्वैत-निश्चय शास्त्रीय होने से श्रद्धेय अतः द्वैतबाधक बनने योग्य है यह उपपन्न करते हैं–

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात्।
अशेषेण न भातं चेद् द्वैतं किं भासतेऽखिलम्।। २४२।।

यदि कहो 'अद्वैत अपरोक्ष नहीं;' तो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानरूप से वह अपरोक्ष भासमान है। 'पूरा नहीं प्रतीत होता' यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि क्या द्वैत समूचा प्रतीत होता है!

अद्वैत का निश्चय शास्त्र के बल से आप कहते हैं। 'शास्त्र ऐसा कहता है' यह तो ठीक है लेकिन अद्वैत कभी अपरोक्ष अर्थात् अनुभव-गोचर होता नहीं। इस शंकापर कहते हैं, कैसे कह सकते हो कि उसका अनुभव नहीं होता? अद्वैत तत्त्व चेतन है और 'मैं चेतन हूँ' यों चेतन का भान किसको नहीं होता? अपरोक्ष ही भान है कि मैं चेतन हूँ। इसी प्रकार घड़े की प्रतीति, कपड़े की प्रतीति भी हो रही है। इस प्रकार घड़े कपड़े के साथ भी भान की प्रतीति की अपरोक्षता को कौन मना करेगा? वह प्रतीति भी अपरोक्ष है। प्रतीति, अनुभव अपरोक्ष है इसमें कोई सन्देह नहीं। यद्यपि घड़े-कपड़े से सम्बद्ध प्रतीति है तथापि प्रतीति है और अपरोक्ष है यह नकार नहीं सकते। जैसे घड़े-कपड़े को ही लाल देखते हैं लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि लाल नहीं दीखता! जैसे गुणवान् की प्रतीतिसे गुण का अपरोक्ष, क्रियावान्की प्रतीति से क्रिया का अपरोक्ष वैसे सविषय प्रतीति से भी प्रतीतिका अपरोक्ष मना नहीं कर सकते। घट की, पट की प्रतीतियों में घट और पट अलग-अलग हैं, प्रतीति में कोई भेद दीखता है क्या? प्रतीति सब जगह एक ही दीखती है। इसलिए प्रतीति का अद्वैतरूप भी अपरोक्ष ही है। अगर प्रतीति में भेद, द्वैत दीखता तो कह भी सकते थे कि दो प्रतीतियों में क्या फ़र्क है। लेकिन कुछ नहीं कह सकते। 'चिद्रूपेण भासनात्' चिद्रूप, स्फुरणरूप से सभी प्रतीतियों में उसका ज्ञान हो रहा है इसलिए अद्वैत का अपरोक्ष नहीं है–यह कोई नहीं कह सकता।

यदि आक्षेप हो कि अद्वैत तो पूर्ण है, प्रतीतिरूप से भासने पर भी 'पूरे' अद्वैत का, पूर्णता का भान तो नहीं हुआ। थोड़ी-सी प्रतीतियों का ज्ञान हुआ, 'सारी' प्रतीतियों का ज्ञान

नहीं हुआ तो इसे अद्वैतनिश्चय कैसे मानें? समाधान है कि जब द्वैत को वास्तविक कहते हैं तब भी 'सारे' द्वैत का ज्ञान तो नहीं होता! मंगल में क्या, बुध में क्या है, नीहारिकाओं में क्या है इत्यादि कुछ नहीं जानते। फिर कैसे कहते हो 'हमें द्वैत का पता लगा'? थोड़े-से द्वैत का पता लगने से जैसे द्वैत की वास्तविकता सिद्ध की जाती है वैसे थोड़ी-सी प्रतीतियों के अनुभव से अद्वैत का निश्चय क्यों नहीं होता? इसलिए पूर्ण रूप से भानाभाव तो द्वैत में भी है। अतः जैसा तुमको द्वैत का भान है वैसा अद्वैत का भान है।।२४२।।

अद्वैतसिद्धिमें जो दोष वही द्वैतसिद्धिमें अतः जवाब भी समान होगा यह समझाते हैं—

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु।
द्वैतसिद्धिवद् अद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम्।। २४३।।

एक हिस्से के अनुभव से सारे को समझना द्वैत-अद्वैत दोनों में समान ही है तो द्वैतकी सिद्धि की तरह तुम भेदवादी को अद्वैत सिद्ध क्यों नहीं स्वीकार होता?

दस किलो चावल डेगची में चढ़ाया हो, पक गया या नहीं पता लगाना हो तो प्रत्येक दाना नहीं देखना पड़ता, दो-चार दाने परखने से ही सारी डेगची के चावल के बारे में निश्चय हो जाता है। एक-दो चावल देखते हो और निश्चय हो जाता है कि सारे चावल पक गये। इसी तरह 'सारा' अद्वैत देखने की जरूरत नहीं है। वैज्ञानिक सोने के एक कण की परीक्षा से समूचे स्वर्ण को समझ लेता है ऐसे ही एक प्रतीति ही प्रतीतिमात्र समझने के लिये पर्याप्त है। जैसे चावल के एक दाने से तुम सारी देगची के चावल का पता लगाते हो, सोने के एक कण का प्रयोग करके संसार में सारे सोनों का पता लगाते हो, इसी प्रकार यहाँ अद्वैत दीखता है तो पता लग जाता है सब जगह अद्वैत है।

'दिङ्मात्रेण' एकदेशमात्र के ज्ञान से समूचे का ज्ञान—यह सर्वत्र व्यवहार है। इसी तरह से द्वैत का भी पता लगा है, ऐसे ही अद्वैत का पता लग जाता है। घटभान, पटभान में भान का पता लग गया तो संसार में जहाँ भी भान है वह इस प्रकार का ही है यह निश्चय हो जाता है। शरीर के अन्दर हृदय के अन्दर छोटा-सा बुद्धि का स्थान, उसके अन्दर ब्रह्माकार वृत्ति बनती है। उतनी छोटी जगह पर बनी, पर वहाँ ब्रह्म का पता लग गया तो संसार में जहाँ-कहीं कोई चेतन प्राणी है उसके अन्दर उसी ब्रह्म का पता लग गया। अपने हृदय में पता लग गया तो निश्चय हो गया कि यही ब्रह्म का स्वरूप है। जैसे एकदेश में द्वैत की सिद्धि से वह सर्वत्र सिद्धवत् प्रतीत होता है, ठीक इसी प्रकार अद्वितीय प्रतीति का पता लगने पर सर्वत्र अद्वैतके बारे में तुम्हारा निश्चय क्यों नहीं बनता? ब्रह्मज्ञान यह हुआ कि अपने हृदय में स्थित ब्रह्म को जानकर पता लग जाना कि जहाँ कहीं हृदय है उसके अन्दर अद्वितीय ब्रह्म ही है, कोई दूसरा नहीं है। स्वर्ण, भात आदि विषयों में यह समझने वाले भी ब्रह्म के बारे में यह समझने में अक्षम रह जाते हैं।।२६३।।

पुनरपि अलग ढंग से अद्वैत-सिद्धि के बारे में शंका उठाते हैं—

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम्।
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे।। २४४।।

द्वैतसे रहित अद्वैत है तो द्वैत-ज्ञान रहते यह अद्वैत कैसे? चिद्रूप भान तो इस प्रतीयमान द्वैत का विरोधी है नहीं। इसलिये द्वैत-अद्वैत दोनों में वैषम्य है।

पूर्वपक्षी कहता है कि अद्वैत का मतलब है द्वैत का न होना। अधिकतर लोग ऐसा ही समझते हैं कि द्वैत का न होना अद्वैत है। अतः प्रश्न है कि द्वैत के रहते अद्वैत कैसा! द्वैत हटे तब अद्वैत होवे—ऐसा प्रायः समझते हैं। ठीक उसी प्रकार हुआ कि हार, बाजू-बन्द, कर्धनी आदि गहने रहते एक सोना थोड़े ही है! इस सबको गलाओ, क्या तब सोना होगा? पिघलकर जमेगा तो डली बनेगी पर डली भी तो सोने का एक रूप है; जैसे डली एक रूप है वैसे बाजूबन्द, कर्धनी रूप हैं। इन सभी रूपों में सोना तो एक ही है। 'ब्याह में सौ तोला सोना दिया।' क्या डली रूपमें दिया? गहने दिए तो सोना ही दिया। जैसे साधारण आदमी समझते हैं कि द्वैत नहीं रह जाए तब ब्रह्मज्ञान होता है इसी तरह वादी पूछ रहा है कि द्वैत का ज्ञान रहते हुए अद्वैत का ज्ञान कैसे है?

यदि सिद्धान्ती कहे कि पूर्वोक्त ढंग से भानरूप अद्वैत स्थापित कर चुके तो अद्वैतभान है ही, उसके रहते द्वैत ही कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् द्वैत रहते यदि अद्वैतसिद्धि नहीं होती तो अद्वैत रहते द्वैतसिद्धि भी नहीं होगी! इस पर पूर्ववादी जवाव देता है कि द्वैत-अद्वैत का परस्पर विरोध है जबकि द्वैत-द्वैतभानका विरोध है नहीं अतः स्वरूप से भान अद्वैतरूप होने पर भी भान और द्वैत साथ-साथ संभव रहने से द्वैत सिद्ध हो जाता है जबकि द्वैत-अद्वैत साथ-साथ संभव न होने से द्वैत रहते अद्वैत सिद्ध नहीं होता। सिद्धान्ती ने कहा था कि, द्वैत-अद्वैत की सिद्धि में बराबर कठिनाई है किन्तु वादी ने दिखाया कि द्वैतसिद्धि में कठिनाई नहीं, अद्वैतसिद्धि में ही कठिनाई है, दोनों की स्थिति बराबर नहीं। जैसे कारण व कार्य अविरुद्ध होते हैं, सोना व गहनों का विरोध नहीं, वैसे भान और द्वैत का विरोध नहीं ऐसा पूर्वपक्षी का मानना है। यही बात सिद्धांती कह सकता है क्योंकि भानरूप, चिद्रूप आत्मा ही जगत्कारण है! अगले श्लोक में कार्य-मिथ्यात्व बताकर एक तरह से यही कहेंगे भी। द्वैत मिथ्या तथा अद्वैत सत्य—यों ये दोनों असमान हैं ही। अतः श्रुतिने मिट्टी सत्य, घड़ा आदि मिथ्या—इसी तरह के उदाहरणों से परमात्मा समझाया है। सत्य-मिथ्या का विरोध कहना नहीं बनता। अतः 'द्वैतेन हीनमद्वैतम्' का इतना ही मतलब बनता है कि सत्य अद्वैत किसी सत्य द्वैत से रहित है; मिथ्या भी द्वैत से वह रहित हो यह शास्त्र व विद्वदनुभव से विरुद्ध है; तथापि वादी मिथ्यात्व समझे बगैर शंका कर रहा है। अतः उसे लग रहा है कि द्वैत तो सिद्ध है, अद्वैतसिद्धि दुष्कर है।। २४४।।

प्रायः सभी के मन की शंका वादी ने रखी कि द्वैत प्रतीत होते अद्वैत ही एकमात्र सत्य कैसे स्वीकार हो? समाधान देते हैं–

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन् मायामयत्वतः।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद् विभासते ।। २४५।।

ऐसी शंका है तो (समाधान) सुनो : द्वैत सत् नहीं (मिथ्या) है क्योंकि मायाकार्य है। इसलिये बचा हुआ अद्वैत ही वास्तविक, सत्य है जो भासमान रहता है।

द्वैत प्रतीत हो रहा है, हम इसे न कब कह रहे हैं! परन्तु यह वास्तविक सिद्ध नहीं होता। चित्र का दृष्टान्त इस प्रकारण में चल रहा है, कपड़े के ऊपर चित्र प्रतीत नहीं हो रहा यह नहीं कह रहे हैं परन्तु चित्र सच्चा नहीं है बस, इतना ही कहना है। द्वैत प्रतीत होता रहता है पर साथ में पता है कि यह असत् है। विचार करने से ही पता लगता है कि असत् है, मायामय है, माया का विकार है अर्थात् मिथ्या है। और, विचार करके सिद्ध होता है कि अद्वैत वास्तव है। श्रुति प्रमाण से यह निश्चय है और युक्ति से यही पुष्ट है। प्रतीत होने वाला द्वैत अवास्तविक और अद्वैत वास्तविक है। एक अकेला अद्वैत ही सत्य बच गया। जिन सबका निषेध हो सके उनका निषेध करने पर जिसका निषेध सम्भव नहीं वह बचता ही है। इसी को 'परिशेष' न्याय कहते हैं। जिनका बाध हो सके वे सभी अधिष्ठान-ज्ञान से बाधित हो जाते हैं, बाधकी बुद्धि जिसे विषय नहीं करती वह बाधकी अवधि, अधिष्ठान बचा ही रहता है। चिद्रूप होने से वह भासता रहता है।

युक्ति से सच्चिदानन्द ब्रह्म की पूर्णता, अद्वितीयता स्पष्ट प्रतीत होती है। द्वैत की प्रतीति से उसमें विरोध आया था पर जब द्वैत की वास्तविकता नहीं है तो वह हट गया, जो पहले अद्वैत का निश्चय था वह वैसा का वैसा बना रह गया। द्वैत की वास्तविकता की सम्भावना प्रतीतिमात्र से हुई थी, उसको मायामय समझ लिया तो उस सम्भावना की निवृत्ति हो गई अतः अद्वैत जैसा है वैसा बच गया। इसी को उपनिषदों ने 'नेति नेति' के द्वारा बतलाया। जो-जो प्रतीत होता है उसका निषेध करते चले जाओ, फिर भी प्रतीति का तो निषेध होता नहीं। जैसे कमरे के अन्दर रोशनी में हम को दस चीजें दीख रही हैं, जब उन सब को हटा दिया तब रोशनी ही अपने आप बच गई। इसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश में सब कुछ भान हो रहा है। जिनका भान हो रहा है वे मायिक होने के कारण वास्तविक नहीं हैं तो भानरूप ही बाकी रह गया। इस प्रकार, पूर्व श्लोक की शंका का समाधान हो गया कि द्वैतज्ञान-अद्वैतभान का विरोध नहीं क्योंकि द्वैत मिथ्या है जब कि अद्वैत सत्य है।। २४५।।

जिस न्याय, युक्ति से पूर्वोक्त समाधान दिया वही व्यक्त करते हैं–

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत्।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम्।। २४६।।

सत्-असद्आदि प्रकारों से जिसका चिन्तन शक्य नहीं ऐसे स्वरूप वाला सारा जगत् माया ही है ऐसा निश्चय कर अद्वैत में ही वस्तविकता बचती है यह समझा जाये।

माया क्या है? अचिन्त्यरचनारूप, जिसकी रचना अचिन्त्य है। किसी भी तरह से समझ में नहीं आता कि माया कुछ भी कैसे बना देती है! छोटी-से छोटी चीज़ ईंट ले लो : ईंट ठोस दीखती है। उसे तुम अणुवीक्षण यंत्र में देखते हो तो उसमें पोल ही पोल दीखती है! प्रश्न होता है कि खाली जगह के रहते हमें ठोस कैसे दीख गयी? तालाब में जाते हैं, बिलकुल साफ निर्मल जल है। उसकी एक बूँद लेकर अणुवीक्षण यंत्र में देखते हैं तो उसके अन्दर कुलबुलाते कीड़े दिखाई देते हैं! उनके रहते हुए पानी निर्मल कैसे दीख गया? यही मानना पड़ेगा कि कुछ पता नहीं, दीखा जरूर! जितनी चीजों का विचार करो सबका यही हाल है। ग्रह खूब चमकते हुए दीखते हैं जबकि ग्रह चमकने वाली चीज हैं नहीं यह अन्वेषणों से पता लग जाता है। उनके ऊपर सूर्य का प्रकाश पड़ता है तब वे चमकते हैं। इसको देख कर लगता है कि तारे चमकते हैं, वे भी सूर्य के प्रकाश से चमकते होंगे। कई प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे लेख भी हैं। तारों के बारे में पता लगता है कि स्वप्रकाश हैं। ग्रह और तारे एक जैसे कैसे दीखते हैं जब उनमें इतना बड़ा फ़र्क है? समझ में नहीं आता—बस, इतना कह सकते हैं। वैज्ञानिक कोशिश जरूर करते हैं बतलाने की। दो चार स्तर तक बतला पाते हैं उसके आगे फिर उनको भी कहना पड़ता है कि इसका पता नहीं। साठ वर्ष पूर्व कहते थे कि सूर्य का प्रकाश धीरे-धीरे कम होता जाएगा। जो भी ऊर्जा होती है वह खर्च होती जाती है। जब ज्यादा कम हो जाएगी तब पृथ्वी हम लोगों के रहने लायक नहीं रह जाएगी, ठण्डी हो जाएगी। उस समय मानते थे और सामान्य नियम भी है कि ऊर्जा धीरे-धीरे कम होती है। इधर साठ-सत्तर साल से जो प्रयोग हो रहे हैं उनसे पता लगता जा रहा है कि गर्मी बढ़ती जा रही है! इतनी ऊर्जा खत्म होने के बाद ज्यादा कैसे हो गई? कोई अनुकूल तर्क सम्भावित करते हैं लेकिन उसमें भी वे निश्चित रहने का भरोसा नहीं रखते, अनुभव बदलते रहते हैं यह जानकर वे परीक्षा करते ही रहते हैं। प्रकाश पदार्थ है या नहीं, सीधा जाता है या तरंगों में इत्यादि भी इसी तरह के विषय हैं।

इसलिए सारा जगत् एक अचिन्त्य रचना है, समझ से परे है। समझा जाता है युक्ति से, जहाँ युक्ति से विरुद्ध चीजें देखने में आती हैं उसे अचिन्त्य ही मानना पड़ेगा। कोई चीज मायिक है यह कैसे पता लगे? खूब विचार करके भी जिसकी किसी भी तरह से तुक बैठे नहीं, समझ लेना चाहिए कि वह मायिक है। क्यों मानते हो कि जादूगर ने पाँच सौ की गड्डी दिखाई तो सच्ची नहीं है? क्योंकि यदि पाँच सौ की सच्ची गड्डी होती तो खेल खत्म होते ही अपनी ढफली सबके सामने फैलाता नहीं, दो-चार आने माँगता नहीं। संसार में किसी भी चीज के ऊपर सन्देह होने लगे कि वह सच्ची है तो उसको समझने की कोशिश करना। जहाँ समझने की कोशिश की, वहाँ देखोगे कि समझ में कुछ नहीं आ रहा। एक ही माँ बाप के दो जुड़वाँ बच्चे होते हैं, एक महागुस्सैल, एक महाशान्त! तुम उसका कोई

आनुवंशिक कारण नहीं बतला सकते हो, और दोनों एक ही वातावरण में बड़े हुए हैं इसलिए वातावरण का फ़र्क भी नहीं बतला सकते। फ़र्क दीखता है, पर कुछ कारण समझ में नहीं आता कि क्यों है। इसलिए हार कर यही कहना पड़ता है 'पता नहीं, पूर्व जन्म से लेकर आया होगा।' हर हालत में, युक्ति-सिद्ध है नहीं अतः अचिन्त्य रचना है। पूर्व जन्मादि युक्तिपर नहीं, शास्त्र पर सिद्ध है अतः चिन्त्य कोटि की बातें नहीं। जो चीज अचिन्त्य रचना वाली हो वह माया का रूप है। सारे संसार में यही बात है। सामने दरवाजा कैसे दीखता है—यह भी अचिन्त्य है। यदि आधुनिकों की मानें कि आँखों में परछाँई पड़ने का नाम दीखना तो 'बाहर है' यह क्यों लगता है? पीठ पर चींटी चले तो 'दूर चींटी है' ऐसा नहीं लगता! प्राचीनों की मानें कि मन-आँख बाहर जाकर देखते हैं तो जो तारे आदि टूट चुके, हैं ही नहीं, वे हमें कैसे दीखते हैं? हैं ही नहीं तो वहाँ पहुँचे मन-आँखों को 'तारा नहीं है' दीखना चाहिये, 'तारा है' कैसे दीखता है? अतः मायिक है यही निर्णय करना पड़ता है।

एक बार यह निश्चय हो जाता है तब शान्ति आती है। अभी हम कार्य-कारण-व्यवस्था सत्य मानकर भविष्य की योजनाएँ बनाकर उन्हें पूरा करने-कराने के प्रयास में अशान्त रहते हैं। जब निर्णय है कि यह व्यवस्था सत्य नहीं, योजनानुसार होने की संभावना नहीं, कुछ भी युक्ति-संगत क्रम प्रत्याशित नहीं, तब जो कुछ सामने आता जायेगा उसे निहारते रहेंगे, माया का वह खेल देखकर अशान्त नहीं होंगे।

इसका मतलब यह नहीं है कि तुम व्यवहार नहीं करोगे! व्यवहार करोगे परन्तु तुम्हारे अन्दर से यह निश्चय निकल जाएगा कि 'इसका यही फल होना है'। जो हो गया उसी को देखते रहोगे। पूर्वदर्शित रीति से विषयों का द्वैत और भानका अद्वैत, सच्चिदानन्द का अद्वैत ये दोनों सत्य के रूप में उपस्थित हुए, इनमें द्वैत मिथ्या निकला तो बचा हुआ अद्वैत सत्य ही रह गया, उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिये कोई पृथक् प्रयास नहीं चाहिये। यही परिशेष-न्याय है। द्वैत-मिथ्यात्व-सिद्धि होने पर अद्वैत सिद्ध ही है ऐसा आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' नामक विशालकाय ग्रंथ के प्रारंभ में ही बता दिया है।। **२४६**।।

उक्त बोध में निष्ठाका उपाय सुझाते हैं—

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत् त्वं तथा पुनः।
परिशीलय को वाऽत्र प्रयासस्तेन ते वद।। २४७।।

अद्वैतनिश्चय होने के बाद फिर से अगर लगे कि द्वैत सत्य है तो पहले की तरह फिर से विचार करो, इसमें बताओ तुम्हें क्या मेहनत लगती है!

जब हम किसी चीज़ के बारे में विचार करते हैं तब उस के बारे में लगता है कि अचिन्त्य रचना है, वास्तविक नहीं है। परन्तु किसी दूसरी चीज़ के साथ व्यवहार करते हैं तो लगने लगता है कि यह तो वास्तविक ही है, पुनः विचार करके निश्चय हो भी जाये पर सबके बारे में मिथ्यात्व का भाव स्थिर नहीं रहता। जब व्यवहार में द्वैत की वस्तुता लगती

है कि यह तो सच है तब क्या करें कि 'द्वैत वस्तु नहीं' यह दृष्टि कायम रहे? आचार्य कहते हैं, इसमें क्या चिन्ता की बात है! जिस चीज की वस्तुता लगे उसको तुम युक्ति से फिर देखो कि अचिन्त्यरचनारूप है या नहीं। जो चीज़ सच्ची लगे उसकी परीक्षा करो। परिशीलन किसी अनात्म साधन पर निर्भर नहीं। पाँच लाख की पूँजी थी, सारी एक यज्ञ में समाप्त हो गई, यज्ञ पुनः नहीं कर सकते। ऐसे, विचार में कोई दिक्कत नहीं। इसके लिए एक धेले के खर्च की जरूरत नहीं है। इसके लिए कौन-सा प्रयास करना है! द्वैत की प्रतीति हो ही रही है। बस, उसी के बारे में फिर से विचार कर लो। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने कहा 'आवृत्तिः असकृद् उपदेशात्' श्रवण-मनन बार-बार करो। कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि हमारी समझ में आ गया। इसलिये प्राचीन परम्परा थी कि किसी भी ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक नहीं समझाते थे ताकि 'ग्रन्थ पूरा समझ लिया' यह मनमें आये। वेदान्तग्रन्थ ऐसे नहीं हैं जैसे उपन्यास कि पढ़ लिया तो पुनः न पढ़ना पड़े। 'हमने श्रवण-मनन काफी कर लिया, और करने की जरूरत नहीं' ऐसा धोखा कभी नहीं खाना चाहिए। श्रवण-मनन करते रहने से ही जगत् की मायामयता और ब्रह्म की अद्वितीयता स्पष्ट होती जाती है। जब किसी प्रकार का संशय या विपर्यय आना बन्द हो जाएगा तब विचार की जरूरत नहीं रहेगी। श्रवण-मनन कब तक करें? यह यहाँ स्पष्ट कर दिया कि जब तक द्वैत के अन्दर वस्तुता का भ्रम होवे तब तक श्रवण-मनन करते ही रहो।। २४७।।

शिष्य पूछता है कब तक करें? इस पर आचार्य जवाब देते हैं कि विचार आनन्दप्रद होने से जितना भी किया जाये, हर्ज क्या है—

कियन्तं कालमिति चेत् खेदोऽयं द्वैत इष्यताम्।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात्।। २४८।।

यदि पूछो 'कितनी देर तक करें?' तो विचार करने में खेद का अनुभव तब संगत है जब द्वैत के बारे में करना पड़े, अद्वैत के बारे में विचार सारे अनर्थका निवारण करता है, अतः अद्वैत विचार के प्रति ऐसा खेद संगत नहीं है।

कितने समय तक करें—पूछने वाले को असल में समस्या है कि विचार करने में झंझट लगता है! कोई कभी नहीं पूछता 'महाराज! रोज पचास साल से सुबह-शाम रोटी खाते हैं ऐसा कब तक होता रहेगा?' जो कार्य आनंद नहीं देता उसी की अवधि की जिज्ञासा होती है, सुखद कार्य तो लगता है कि करते ही रहें। जो सोचता है कि झंझट है वही चाहता है कि शीघ्र छूटे। श्रवण-मनन करने में जिसे आनन्द नहीं आता वही सोचता है 'कब तक करना पड़ेगा!' जिसको आनन्द आता है उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता, नई-नई युक्ति का उद्भावन होने से प्रसन्नता होती है कि एक और तरीका मिला। श्रुति के नए-नए तात्पर्य उद्घाटित होते हैं तो मज़ा आता है। खेद इस बात को बतलाता है कि संसार की अन्य चीजों में अभी तक राग है इसलिए चाहते हो कि अद्वैतचिंतन खत्म हो जाए तो फिर

द्वैतव्यवहार करें। जब श्रवण-मनन के अन्दर आनन्द का भान होगा तब कोई दूसरा काम जबरदस्ती आ भी गया तो सोचोगे 'यह काम कब खत्म होवे और हम वापिस श्रवण-मनन में लगें'। यह 'थर्मामीटर' है, मन में लगा कर देख लेना चाहिए। अगर श्रवण-मनन में आनन्द आवे, छूटने पर दुःख होवे तब समझना चाहिए कि हमारा साधन पक रहा है। शास्त्रकार तो कहते हैं कि जब तक नींद न आ जाए और जब तक मर न जाएँ तब तक वेदान्तचिन्तन ही करते रहें।

जब से पैदा हुए, द्वैत दीख ही रहा है, यह दीखना कब बंद होवे! ऐसा खेद क्यों नहीं करते? विचार में ही खेद क्यों करते हो? इसीलिये कि विचार का आनन्द अभी आया नहीं। द्वैत नियमतः दुःखदायी है। अगर साक्षात् दुःख नहीं दे तो भी क्षणिक सुख ही देगा। भोजन जैसी चीज भी या तो दुःख देती है हजम नहीं हुआ तो, मिर्च ज्यादा लगी या नमक कम लगा तो दुःख। यदि दुःख नहीं देता है तो बढ़िया भोजन भी प्रायः लोगों को पंद्रह मिनट तक ही सुख दे पाता है। पुनः वैसा स्वादिष्ट नहीं मिले तो भोजन याद आकर दुःख देता है! यों जो हमेशा दुःखदायी उसके विचार का तो खेद करना चाहिये कि 'कब मेरी द्वैतचिंता समाप्त हो।' अद्वैत के बारे में खेद क्यों? श्रवण-मनन करने से दुःख तो कभी होगा ही नहीं और जो सुख होगा वह आत्यन्तिक होगा, हमेशा के लिए होगा। अद्वैत ज्ञान के लिए किये जाने वाले श्रवण-मनन के विषय में खेद करना युक्त नहीं है क्योंकि वह सारे अनर्थों का निवारण करने वाला है। लोक में भी सामान्यतः यही मानते हैं कि बड़े सुख के लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। सारे अनर्थों को निवृत्त करने वाला जो अद्वैत ज्ञान है उसके लिए परिश्रम करने से क्यों घबराना! घबराना तो द्वैत जगत् की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न करते हैं उससे चाहिये **।। २४८ ।।**

यह कहा कि 'इससे सारे अनर्थ हट जाते हैं'। परन्तु जो अनुभूयमान सुख-दुःख हैं भूख-प्यास से, वे तो नहीं हटते हैं। सारे अनर्थ नष्ट होते तो भूख-प्यास भी हटनी चाहिए? इस समस्या को भी सुलझाते हैं—

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत्।
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यन्तां नेति को वदेत्।। २४९।।

यदि कहो कि 'भूख-प्यासादि पहले जैसे ही मुझे लगते हैं' तो यह जानो कि 'मैं' कहलाने वाले अहंकार में वे प्रतीत हों, (हर्ज क्या है?) अहंकार में वे नहीं दीखेंगे ऐसा कहा किसने!

भूख, प्यास, बीमारी आदि सभी देखे जाते हैं, अनुभव किए जाते हैं; जैसे ज्ञान होने से पहले भूख-प्यास लगती थी वैसे ही अद्वैत समझने के बाद भी भूख-प्यास लगती हैं। अद्वैत आत्मतत्त्व के अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी क्षुत्-पिपासारूप अनर्थ देखे ही जाते हैं तो सर्वानर्थनिवारण कहाँ हुआ! आत्मज्ञान से जब भूख-प्यास ही नहीं मिटी तो और क्या अनर्थ मिटेगा? इसपर कहते हैं : तुम कह रहे हो 'मयि' मुझ में; 'मैं' से तुम्हारा क्या मतलब है?

क्या मुझ ब्रह्म में देखे जाते हैं? अथवा अहंकार में देखे जाते हैं? ब्रह्मरूप में तो भूख-प्यास लगते नहीं। साधारण आदमी को भी गहरी नींद में भूखादि नहीं लगती। ब्रह्मरूप के अन्दर यदि भूख-प्यास होती तो गहरी नींद में भी होती। भूख-प्यास तो जब तक अहंकार है तब तक रहती हैं। बुद्धि की वृत्ति जो 'मैं' उसके रहते भूखादि रहती है।

'मैं' तीन प्रकार का है। एक तो अहंकारात्मिका वृत्ति में जो चिदाभास पड़ता है उसे 'सहज मैं' कहते हैं। अहंकारात्मिका वृत्ति बने, उसमें चिदाभास न पड़े, यह कभी नहीं हो सकता। काँच होवे और उसमें मुख का प्रतिबिम्ब न पड़े यह नहीं हो सकता। चेतन सर्वव्यापक है। अहंकारवृत्ति आत्मप्रतिबिम्ब-ग्राहिका है तो उसके अन्दर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ना ही है। चिदाभास मायने चित् की तरह प्रतीति, अहंकार *चेतनकी तरह* प्रतीत होता है जैसे काँच मुख की तरह प्रतीत होता है। तुम कितना ही विवेक करो कि 'मैं काँच में नहीं हो सकता', तुम्हारा निश्चय भी हो गया 'मैं काँच में नहीं हो सकता', पर फिर भी काँच में मुँह तो दीखेगा ही, अपना ही मुँह उसमें दीखेगा! इसी प्रकार अहंकार की वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही, दीखेगा ही। अहंकार चिदाभास से युक्त होकर चेतनरूप प्रतीत होगा ही। उसीको साधारण आदमी अपना स्वरूप समझते हैं, इसे सहज मैं कहते हैं। दूसरा—शरीर के साथ मैं की प्रतीति है, 'मैं वहाँ गया, मैं वहाँ से आया'। शरीर के साथ मैं का सम्बन्ध जब तक कर्मभोग है तब तक रहेगा इसलिए शरीर के साथ संबंध 'कर्मज' है, कर्म के रहते रहेगा ही, कर्म की निवृत्ति हो जाने पर जब आदमी मर जाता है तब शरीर के साथ मैं का सम्बन्ध छूट भी जाता है। मैं की वृत्ति के साथ तो सम्बन्ध कभी नहीं छूटेगा। जब तक मैं की वृत्ति है तब तक मैं-प्रतीति होगी। परन्तु शरीर रहे तो हमेशा उसमें मैं की प्रतीति रहे ऐसा नहीं है। शरीर रह जाता है, आदमी मर जाता है, मैं का सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः शरीर में मैं-बुद्धि कर्मज है। तीसरा अहंकार है, भ्रमज। चित् को चिदाभास समझ लेना भ्रमज है, अविद्या से होता है। अपना जो शुद्ध स्वरूप है उसे वृत्ति में जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वह समझ लेना भ्रमज 'मैं' है। ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। विचारादि के बाद मैं निर्विकार हूँ यह निश्चय है इसलिए अब भ्रमज मैं नहीं रहेगा। परन्तु मैं दीखता भी रहेगा, जैसे शरीर दीखता रहेगा जब तक कर्म है।

जब कहते हो 'भूख-प्यास आदि प्रतीत होते हैं' तो विचारणीय है कि प्रतीत कहाँ होते हैं? अहंकार में होते हैं। भूख-प्यास कहाँ प्रतीत होती हैं? मैं में ही होती हैं—मैं भूखा, मैं प्यासा। मैं जब नहीं प्रतीत होता तब भूख प्यास अज्ञानी की भी हट जाती हैं जैसे गहरी नींद में। अहम् की वृत्ति रहते उस में भूख-प्यास रहेंगी। जब तक कर्मज सम्बन्ध अहंकार का शरीर के साथ है तब तक दृष्ट दुःख दृश्य रहेगा। जब तक जिन्दा हो तब तक भूख-प्यास आदि व्यवहार होगा ही। पर किसका नहीं होगा? *तुम्हारा* नहीं होगा। तुम जब कहते हो 'मुझमें पूर्ववत् भूख आदि हैं' तब 'मुझ' से तुम्हारा मतलब क्या है? मैं-शब्द का लक्ष्य तो प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूप है। वाच्य अहंकार में पड़ा चिदाभास ही है। वाच्य

जो अहंकार, उसमें दुःखादि दीखते रहें, कौन कह सकता है कि उसमें नहीं रहेंगे। इसीलिए श्रुति कहती है 'पश्यन् वै तद् न पश्यति' देखते हुए उसको नहीं देखता है अर्थात् अहंकार के द्वारा भूख-प्यास अनुभव करने पर भी जो तत्त्वज्ञानी है वह उससे अपने को भूख-प्यास से अन्वित नहीं समझता। अर्थात् मैं-शब्द के लक्ष्य में यदि भूख आदि कहो तो हो नहीं सकते, वाच्य में कहो तो उसमें होंगे ही।

तात्पर्य है कि यदि पूर्ववत् दुःखादि प्रतीत हों तो समझ लेना चाहिये कि हमारा पदार्थशोधन कमजोर है। जितना शुद्ध पदार्थ स्पष्ट भासेगा उतना आभासधर्मों से तादात्म्य घटेगा। जब दुःखादि स्वयं से भिन्न, स्वयं के प्रतिबिम्बतुल्य में प्रतीत होने लगें, इनका साक्षी ही मैं हूँ ऐसा भान बना रहे, तब साक्षी-ब्रह्म के अभेद का बोध दृढ हो पायेगा।। २४६।।

प्रश्नोत्तर से और स्पष्ट करते हैं—

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि।
माऽध्यासं कुरु किन्तु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ।। २५०।।

अध्यासरूप तादात्म्य से भूख आदि (केवल अहंकार नहीं वरन्) चित्स्वरूप में भी अनुभव होते हों तो अध्यास मत करो किन्तु हमेशा विवेक करते रहो।

अहंकार में पड़े हुए चिदाभास के साथ तादात्म्य अध्यास हो जाता है 'यही मैं हूँ' इसलिए अपने को चिद्रूप समझते हुए भी तादात्म्याध्यास से भूख-प्यास की अपने में प्रतीति हो जाती है। पता तो लग गया कि आत्मा असंग है, सुख-दुःख से संबद्ध है ही नहीं, भूख-प्यास वाला है ही नहीं, किन्तु जानने पर भी अहंकार में चिदाभास देखकर 'यही मैं हूँ' ऐसी बुद्धि हो जाती है। ब्राह्मण संन्यासी बने तो शिखा यज्ञोपवीत छूट जाने पर भी ब्राह्मणत्वाभिमान एकाएक नहीं छूटता, शौचादि के समय यज्ञोपवीत कानपर चढ़ाने के लिये हाथ उठ जाता है, गंगास्नानादि के समय शिखाकी तरफ हाथ बढ़ता है। इसी प्रकार जीव बहुत लम्बे काल से चिदाभास को ही चेतन समझता था। अब समझ तो लिया कि यह चेतन नहीं है, पर देखने के साथ झट तादात्म्याध्यास होता है 'मुझे भूख लगी है'। दीर्घ काल तक जो अध्यास रहता है, पहले तो वही नहीं जाता। सायास चला भी जाये, लेकिन फिर भी प्रतीति हो जाती है। इसके लिए एकमात्र उपाय है—अध्यास मत करो! अहंकार में जो दीखे उसको अपना स्वरूप, चेतन मत समझो। अध्यास न होवे इसका उपाय क्या है? विवेक जाग्रत् रखना ही उपाय है। जब अहम् में चिदाभास की प्रतीति हो तब विकारी संगवान् अहंकार से निर्विकार असंग स्वात्मा की समझ दुहराओ। हमेशा विवेक करते रहो तो तादात्म्य अध्यास नहीं होगा। भूलना और ग़लत निश्चय में फर्क है। भूलना भ्रम नहीं है। भ्रम निश्चयात्मक होता है। 'मैं भूखा-प्यासा हूँ ही' ऐसा निश्चय है तब कहेंगे कि भ्रम हुआ। प्रतीति हो गई, फिर याद आते ही पता लग गया कि ऐसा नहीं है, तो भ्रम नहीं कहा जाता।

किसी भी सत्य का अपरोक्ष अनुभव हो जाने के बाद गलत प्रतीति तो हो सकती है लेकिन वह अध्यास या निश्चयरूप नहीं होगी।

विवेक नहीं करते रहे तो भ्रम भी हो जायेगा! जब तक दृढता न हो, ज्ञान की परानिष्ठा न हो, अप्रतिबद्धता न हो, तब तक यह साधन आवश्यक ही है। यहाँ विवेक का तात्पर्य है बार-बार विचार करते रहना, श्रवण-मनन की आवृत्ति करते रहना। उसकी आवृत्ति करते रहोगे तब भूख-प्यास की प्रतीति अहंकार में होने पर भी तादात्म्याध्यास की काट का ख्याल आता रहेगा।

हर समय वेदान्त-चिन्तन श्रवण-मनन में लगे रहो क्योंकि जिस समय श्रवण-मनन नहीं कर रहे होगे उस मौके में तुरन्त काम क्रोध आ सकते हैं! बीच में समय होगा ही नहीं, तो उक्त अध्यास की संभावना नहीं रहेगी। प्रतीति होते ही विवेकवृत्ति उसका उन्मूलन कर देगी। भिक्षा भी करने जाओ तो वेदान्तविचार चलता रहे। 'अध्यास मत करो' अर्थात् सर्वदा विवेक करो, वेदान्तचिन्तन करो। मन कुछ किए बिना नहीं रहेगा। एक व्यक्ति ने भूत सिद्ध कर लिया ताकि सारे काम उससे करा ले। भूत तो अतिशीघ्र काम निपटा दे, और काम न मिले तो उस व्यक्ति को खाने के लिये तैयार हो जाये! किसी महात्मा के समझाने पर इसने एक खाम्भा गाड़कर भूत को आज्ञा दी 'जब तक मैं रोकूँ नहीं तब तक इस पर चढ़ते उतरते रहो'। यह कभी न खत्म होने वाला काम है, भूत इसमें लगा तो व्यक्ति का पिंड छूटा। इसी प्रकार हम लोगों को भूत सिद्ध है, हमारा मन ही भूत है। कोई काम लेना होवे तब तो यह काम करता है और जहाँ तुम शान्त बैठे, वहाँ बिना मतलब के प्रपंच तुम्हारे सामने लाता रहेगा! बिना कुछ किए रहेगा नहीं और तुम दुःखी होते रहोगे। तुम्हारी अच्छी बढ़िया मोटर है, कोई दुःख नहीं है पर मन कहता है 'फोर्ड होती तो अच्छा था।' हो जाओ इसके पीछे परेशान! मन सब चक्कर चलाता रहता है जिससे झंझट में हम पड़े रहते हैं। इस मन के लिए काम बतला दिया कि षड्विध लिंगोंसे बार-बार उपनिषदों के प्रकरणों का श्रवण, विचार करो, युक्ति से मनन करो। जैसे ही संसार की प्रतीति हो फिर श्रवण-मनन करो। हमारे ऋषियों ने इतने शास्त्र ग्रन्थ हमारे सामने वेदान्तविचार करने के लिये दिए हैं कि कभी यह समस्या नहीं आनी है कि अब क्या पढ़ें? मन को अगर तुम श्रवण मनन के काम में नहीं लगाओगे तो यह आपत्ति जरूर आएगी कि दीखता दृश्य हावी हो जायेगा, सत्य धुँधला रह जायेगा ।।२५०।।

आवृत्ति का ही महत्त्व बताते हैं–

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत्।
आवर्तयेद् विवेकं च दृढं वासयितुं सदा।। २५१।।

पुरानी अतः मजबूत वासनावश अगर झट से अध्यास आ जाता है तो विवेकी की भी अधिक आवृत्ति करना उचित है ताकि विवेकवासना हमेशाके लिये स्थिर हो जाये।

अहंकारात्मिका वृत्ति से एकता की प्रतीति अनादि काल से हो रही है इसलिए उसकी दृढ वासना हो गई है। राजस्थान के गाँव में एक औरत साठ साल की हो गई थी। किसी कारण से पति-पत्नी में कहा-सुनी हो गई और पति ने तलाक दे दिया। अब वे पति-पत्नी रहे नहीं। पर दस आदमियों के सामने कभी वह आदमी आवे तो वह औरत झट घूँघट निकाल लेवे! उससे पूछा 'अब तो यह तुम्हारा पति रहा नहीं, घूँघट क्यों करती हो?' कहती थी 'पति नहीं रहा, फिर भी शरम तो आती है; पचास साल का घूंघट निकालने का अभ्यास एकाएक कैसे चला जाए?' इसी को दृढ वासना कहते हैं। अहमध्यास पालते हुए तो खरबों साल बीत गए! अनादि काल से अहम् को हम अपना ही स्वरूप मानते रहे, इसकी दृढ वासना है, इसलिए अध्यास झट से आ जाता है।

शिष्य का भाव है कि पूर्व श्लोक में कहे सदा विवेक करने के अलावा कोई उपाय पता चले। लेकिन आचार्य का तात्पर्य है कि उपाय वही है, और कोई नहीं। जैसी दृढ वासना बनी हुई है अध्यास की वैसी ही 'चिदाभास मैं नहीं' दृढ वासना कर लो तो अध्यास निवृत्त रहेगा। उपाय है बार-बार श्रवण-मनन करो, यही एकमात्र साधन है जिससे आत्मा का स्वरूप बार-बार तुम्हारे सामने आता रहेगा। जितना श्रवण-मनन करोगे उतनी ही आत्मविषयक वासना दृढ होती जाएगी कि मैं असंग ही हूँ। हमेशा के लिये यह दृढ वासना बनाने के लिए प्रयत्नशील रहो। जब ऐसी दृढ वासना हो जाए कि तुम्हारे अन्दर संशय-विपर्यय आएँ ही नहीं, तब श्रवण-मनन की जरूरत तो नहीं रहेगी पर श्रवण-मनन करने की वासना ही इतनी दृढ हो चुकेगी कि शास्त्र का अभ्यास छूटेगा नहीं। जब तक संशय-विपर्यय आते हैं तब तक उसे हटाने का प्रयत्न करो ताकि सत्य के भान के लिये सोचना न पड़े, सीधे ही लगे कि ऐसा ही है।। २५१।।

साधक युक्ति से प्रपंचमिथ्यात्व समझकर भी 'मिथ्या लगता नहीं' से परेशान रहता है जिसे दूर करने के लिये मिथ्यात्वानुभव समझाते हैं—

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम्।
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी।। २५२।।

विवेक करने पर केवल युक्ति से द्वैत का मिथ्यात्व पता चलता है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि द्वैत में अचिन्त्यरचनात्व का अनुभव सभी को है, सबका अनुभव इसमें गवाह है।

विचार करने से द्वैत की मायारूपता, मिथ्यारूपता युक्ति से सिद्ध होती है लेकिन लगता नहीं है। अनुभव से तो लगता है कि द्वैत सच्चा है। युक्ति से जब विचार करते हैं तभी समझ आता है कि सच्चा नहीं हो सकता। ऐसा होने पर भी लगता तो सच्चा ही है। युक्ति से तो सिद्ध हो जाता है कि पाँच सौ रुपये का नोट पाँच सौ रुपये नहीं हैं पर लगता तो पाँच सौ रुपया ही है! इसी प्रकार, विवेक से पता लगता है कि संसार मिथ्या है, सत् असत् से विलक्षण है पर अनुभव से लगता है कि है ही। आचार्य कहते हैं—यह बात मत कहो।

मिथ्या का रूप याद करो कि मिथ्या मायने क्या? पदार्थ मिथ्या लगनेका प्रकार ही स्पष्ट करते हैं–

दृश्य वस्तु की रचना अचिन्त्य है। जैसे सोपाधिक भ्रमों में विषयका अनुभव न हो यह संभव नहीं, 'हो नहीं सकता' के दृढ ज्ञान के फलस्वरूप अनुभव रहते भी 'है नहीं' ज्ञान बना रहता है, वैसे संसार अचिन्त्यरचनारूप है—यह क्योंकि स्पष्ट पता चल सकता है इसलिये इसके सहारे 'वह मिथ्या है' यह ज्ञान स्थिर रखा जा सकता है। अचिन्त्यरचनारूपता हर कदम पर याद आती है। सभी के बारे में 'पता नहीं क्यों ऐसा है या हुआ' बोध होता ही है। अचिन्त्य रचना वाला होना तो माया का स्वरूप है! किसी भी चीज के बारे में छाती ठोक कर कह नहीं सकते कि ऐसा ही है या ऐसा ही होगा।

स्वसाक्षिकी अर्थात् हर एक को इस बात का अनुभव होता है। अचिन्त्य-रचना-रूप होने का अनुभव केवल इन्द्रियों से नहीं होगा। सारा विज्ञान इसी आधार पर चल रहा है कि हमें संसार का पता लग जाएगा। अगर विचार करें कि हजारों साल तो प्रयोग करते हो गए, आज तक पता नहीं लगा तो आगे क्या लगना है! तो इसके चक्कर से छूटें! इन्द्रियों के स्तर पर तो बार-बार पता लगाने की कोशिश करोगे पर अन्दर अपना जो साक्षी है वह इस बात का अनुभव कर पाता है कि कुछ पता नहीं लगता है। सत्तर साल के अनुभवी डॉक्टर दवाई देते हैं, कभी काम करती है, कभी काम नहीं करती। इन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं का पता लगता है परन्तु इनकी रचना अचिन्त्य है यह बात केवल साक्षी को पता चलती है अर्थात् अविद्यावृत्ति से पता लगती है।।२५२।।

शंका होती है कि यदि माया का इदमित्थं पता नहीं लगता तो ब्रह्म का कौन-सा हमें पता लगता है! ब्रह्म के बारे में भी यही लगता है कि अचिन्त्य है, कुछ नहीं समझ में आता अतः क्या वह भी मिथ्या है? अर्थात् अचिन्त्यरचनारूपता और मिथ्या का अनिवार्य संबंध कैसे मानें–

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम्।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ।।२५३।।

यदि कहो कि चेतन भी अचिन्त्य रचना वाला है तो जवाब है कि ऐसा भले ही रहे! हम चेतन को सुचिन्त्य रचना वाला नहीं कहते क्योंकि वह नित्य है।

वादी का कथन है कि चिति, चेतन भी अचिन्त्य रचना वाला होने से सिद्धान्ती अचिन्त्यरचनात्व से मिथ्यात्वानुमान नहीं कर सकता क्योंकि चेतन मिथ्या नहीं, सत्य है। सिद्धान्ती का समाधान है कि जगत् की रचना तो है पर चिन्त्य अर्थात् तर्कानुसारी नहीं है जबकि चेतन की रचना ही नहीं है, वह नित्य है। रचना का अचिन्त्य होना अलग है, रचना ही न होना अलग है। विशेषण के अभाव से विशिष्ट का अभाव तथा विशेष्य के अभाव से

विशिष्ट का अभाव—यों दो तरह प्रसिद्ध हैं और दोनों जगह परिस्थिति में फर्क होता है। 'लाल न होने से लाल कपड़ा नहीं है' या 'कपड़ा न होने से लाल कपड़ा नहीं है'—इन दोनों परिस्थितियों में अन्तर है। जगत् रचना वाला है अथ च अचिंत्य है। चेतन रचना वाला ही नहीं है। इसलिए व्याख्याकार रामकृष्ण ने समझाया है 'प्रागभावयुक्तत्वे सति अचिन्त्यरचनात्वं मिथ्यात्वलक्षणम्' कि जो प्रागभाव वाला हो अर्थात् कार्य हो वह अचिन्त्यरचना वाला हो तो मिथ्या ही होगा। चेतन नित्य अतः प्रागभाव वाला है नहीं। अतः उसमें उक्त लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा। अचिन्त्यतामात्र ब्रह्म में होवे भी तो उससे मिथ्यात्व का अनुमान नहीं होगा क्योंकि नित्य है और नित्यत्व-सत्यत्वका सम्बंध स्थिर है।

अथवा, चेतन ऐसी वस्तु है जिससे रचना होती है। उसकी तो रचना नहीं पर उससे तो प्रपंचरचना हुई है तथा है वह भी अचिन्त्य अतः कारण ब्रह्म के मिथ्यात्व की शंका है। समाधान है कि कारणता तो मायिक ही है अतः मिथ्या इष्ट ही है। कार्य-कारणनिर्मुक्त चेतन नित्य अतः सत्य है। ब्रह्म को समझना सरल हर हालत में नहीं! अखण्ड, निर्विशेष, सत्य वस्तु से भेदवान् मिथ्या प्रपंच कैसे उपजता है—यह तर्क से समझ नहीं सकते। परमात्मा एकमात्र सत्य है यह भी युक्ति-सिद्ध नहीं। हमें तो आकाश आदि भी सत्य लगते हैं। लोकसिद्ध सत्य अनेक हैं, सबकी समानता सत्यता है, जिसमें सत्यता हो वह सत्य होना चाहिए; परमात्मा सत्य तो है लेकिन उसमें सत्यता नहीं है क्योंकि निर्विशेष है! यह व्यवस्था सुचिन्त्य तो कही नहीं जा सकती। इसी प्रकार नित्य ज्ञानरूप चेतन को ही अज्ञान से आवृत समझना सुचिन्त्य नहीं, सामान्य युक्तियों से सुबोध नहीं। इसलिए आचार्य ने माना कि वह भी अचिन्त्य न सही पर सुचिन्त्य भी नहीं है! 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' आदि वेदवाक्य भी इसके अनुकूल है। चेतन नित्य है जबकि प्रपंच, द्वैत सदा अनित्य है, पैदा होता-नष्ट होता है—यह इनका स्पष्ट अन्तर है। अतः अचिन्त्य-रचनात्व से प्रपंचमिथ्यात्व का निश्चय होना संगत है यह अभिप्राय है।।२५३।।

अनित्य संसार समझ में नहीं आता अतः मिथ्या है यह समझाया। अपना ही कहलाने वाले मन की ही हमें समझ नहीं आ पाती! वही बात कभी हँसी में टाल देते हैं, कभी उसी से नाराज़ हो जाते हैं। मनसे ज्यादा हमारे निकट और हमसे बेपर्दा और कुछ है नहीं, जब वही अचिन्त्य है तो बाकी संसार का क्या कहना! चेतन नित्य है अतः मिथ्या नहीं। किं च विचारपूर्वक, शास्त्रानुसारी चिन्तन से वह समझ आता भी है क्योंकि सदा एकरस, एकरूप है। प्रपंच को कभी है, कभी नहीं है कहना पड़ता है, चेतन सदा है कहलाता है। ऐसे ही सदा ज्ञान, सदा आनन्द कहलाता है। इस तरह प्रपंच और चेतन में महान् अन्तर है। चेतन नित्य कैसे? यह समझाते हैं—

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते।।२५४।।

चेतन का प्रागभाव अनुभव न किया जाने से चेतन नित्य है। द्वैत के प्रागभाव का तो अनुभव चेतन करता है।

चेतन के प्रागभाव का अनुभव नहीं होता क्योंकि चेतन के प्रागभाव को अनुभव करने वाला चेतन प्रागभावकाल में हो तभी उसको अनुभव करे लेकिन अनुभव करने वाले को ही तो चेतन कहते हैं! वह यदि अनुभव करने के लिए उपस्थित है तो उसका प्रागभाव कैसे होगा? इसलिए चेतन के प्रागभाव का अनुभव नहीं हो सकता ठीक जिस प्रकार से कोई लड़का अपने माता-पिता की शादी नहीं देख सकता क्योंकि माता-पिता की शादी के बाद ही पैदा होगा। माँ-बाप तो अपने बेटे का पैदा होना देख सकते हैं पर वह अपना पैदा होना नहीं देख सकता। जानने के लिए जानने वाला चाहिए। 'जानने वाला नहीं है'—इस बात को जानने के लिए भी जानने वाला मौजूद होना चाहिए। इसलिए चेतन का प्रागभाव जाना नहीं जा सकता। चेतन का प्रध्वंसाभाव भी इसीलिए नहीं जाना जा सकता क्योंकि नष्ट होने के बाद देखेगा कौन? देखने वाला है तो उसका ध्वंस नहीं हुआ। इसलिए चेतन का न प्रागभाव सिद्ध होता है, न प्रध्वंसाभाव सिद्ध होता है। अर्थात् चेतन ऐसा पदार्थ नहीं है जो कभी न रहा हो और न ऐसा पदार्थ है जो कभी नहीं रहेगा। चेतन के भी अभाव का अनुभव करने के लिए अनुभव करने वाला तो चाहिए ही। संसार को भी ऐसा नहीं समझ सकते। संसार में जितनी द्वैत की चीज़ें हैं घट-पट आदि, वे नहीं थी इसको चेतन अनुभव करता ही है। हो सकता है कि देवदत्त ने अनुभव नहीं किया पर चेतन ने तो अनुभव किया ही है। चाहे चेतन ने यज्ञदत्त में अनुभव किया या भानुदत्त में, पर किया अवश्य। 'पहले द्वैत जगत् की चीज़ें नहीं थीं' इसमें तो अनुभूति प्रमाण है पर 'चेतन नहीं था'—इसमें कोई अनुभूति प्रमाण नहीं दी जा सकती। इस प्रकार चेतन नित्य है यह युक्ति से भी निश्चित है।।**२५४।।**

श्लोक २५२ में कही बात का निगमन करते हैं—

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत्।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्रजालवत्।।२५५।।

द्वैत प्रागभाव वाला और घड़े आदि की तरह रचा ही जाता है फिर भी उसकी रचना अचिन्त्य होने से इन्द्रजाल की तरह वह मिथ्या है।

द्वैत प्रागभावयुक्त है अर्थात् पैदा होने के पहले हर चीज़ नहीं है। जितने घट-पट पदार्थ हैं उन सबको कोई न कोई बनाने वाला देखा ही जाता है, वे रचे जाते हैं। द्वैत के पदार्थ सावयव हैं, उनके टुकड़े अलग-अलग हैं। व्याप्ति है कि जो सावयव पदार्थ होता है वह जरूर रचा जाता है। जितने सावयव पदार्थ हम देखते हैं, सब रचे जाते हैं। इसलिए यदि आज से दस हजार साल पहले या पीछे की चीज़ हो, सावयव तो अनित्य होगा ही। द्वैत सारा ही ऐसा है जो रचा जाता है, रचा जाने से पहले नहीं होता है। यदि सर्वथा पहले न होता तो पैदा नहीं होता जैसे बालू में सर्वथा तेल नहीं है तो पेरने से भी निकलता नहीं, तिल में

है तभी उन्हें पेरने पर निकलता है। पहले से सब है—यह भी कहना कठिन, टेलीविजन, कम्प्यूटर आदि पहले से कहीं छिपे थे समझना भी सरल नहीं। जामन से दही बने तो पानी में जामन डालो तो भी बन जाये! दूध से दही बने तो जामन न चाहिए रहे। विचार करें तो कोई व्यवस्था नहीं बनती है। चीज़ें बनती अवश्य मिलती हैं अतः रचना को अचिन्त्य ही कहना बनता है। शास्त्रीय भाषा में असत्कारणवाद और सत्कारणवाद दोनों पूरी तरह चिन्त्य (तर्क से समर्थनीय) नहीं लगते। फलतः दोनों से विलक्षण ही स्वीकारना पड़ता है। 'होती है'—ऐसा प्रतीत होने पर 'कैसे?'—यह न पता चले, वह रचना अचिन्त्य है, जैसे बाजीगर का खेल। सारा संसाररूप द्वैत दीखता जरूर है पर 'कैसे हो गया'—इसका कुछ पता नहीं चलता। अतः जैसे बाजीगर का खेल मिथ्या हुआ करता है वैसे ही द्वैत परमेश्वर का महेन्द्रजाल ही है।।२५५।।

श्लोक २४२ में चेतनस्वरूप का भान समझा चुके, द्वैत मिथ्या है यह भी बता चुके, दोनों बातों को मिला कर निर्णय व्यक्त करते हैं—

चित् प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम्।।२५६।।

चेतन अपरोक्ष है और उससे अन्य मिथ्या है यह अनुभव किया जा रहा है तो 'अद्वैत न है न अपरोक्ष है' यह कहना विरुद्ध कैसे नहीं है!

अनुभवरूप चेतन प्रत्यक्ष है। संसार का *अनुभव* नहीं होता—यह कोई नहीं कह सकता! संसार का अनुभव प्रत्यक्ष हो ही रहा है। वस्तुतः एक ही चीज़ तो है जो निश्चित प्रत्यक्ष है—अनुभव। रस्सी में साँप कैसे दीखा—नहीं पता, पर दीखा—इसमें सन्देह भी नहीं। अनुभव प्रत्यक्ष ही है, निःसन्दिग्ध है। यह तो कह सकते हो कि 'तुम जिसे साँप कहते हो वह साँप नहीं है', पर मुझे साँप *दीखा* इसमें मुझे सन्देह नहीं। अनुभव से अन्य द्वैत प्रपंच जैसे रस्सी से अन्य साँप। अनुभव से अलग जो चीज़ें हैं वे सब अचिन्त्यरचनारूप हैं, समझ में नहीं आती। इसीलिए अनादि काल से लोग प्रयोग किए जा रहे हैं पर आज तक किसी सांसारिक चीज़ का कोई निर्णय नहीं है। अनिश्चितता हर-एक अनुभव करता है। अनुभव की प्रत्यक्षता भी है और बाकी चीज़ों की अचिन्त्यरचनारूपता भी है। ये दोनों अनुभव रहते, कैसे कह सकते हो कि 'अद्वैत अपरोक्ष नहीं है'? 'व्याहत' अर्थात् स्वयं से ही विरुद्ध; स्वयं की स्थापना को असिद्ध करने वाली बात स्वयं ही प्रतिपादित करें तो व्याघात दोष है जैसे बोलकर कहना 'मैं गूँगा हूँ!' अनुभव निश्चित है, जिसका अनुभव है वह मिथ्या है (अर्थात् है नहीं)—ये दो स्वीकार चुकने का मतलब ही है कि निश्चित जो अनुभव वह अद्वैत है, उसे सद्वितीय बनाने वाला कुछ है ही नहीं और भास वह रहा ही है तो अद्वैतभानरूप अधिष्ठानभान होने का ही नाम है अध्यस्त का बाध। रस्सी है—यह देखते हुए कैसे कहा जाये कि साँप का मिथ्यात्व लग नहीं रहा? साँप मिथ्या है—यह देखने के मायने ही हैं कि

उस वस्तु को रस्सी देख लिया जाये, परीक्षापूर्वक निर्णय कर लिया जाये कि वह रस्सी ही है। चेतन का विचारित निश्चय होने पर एवं प्रपंच-मिथ्यात्व समझ लेने पर वेदान्त का प्रतिपाद्य तिरोहित कैसे कहा जाये? शास्त्र-युक्ति से जो बताया वह अनुभव के साथ मिल रहा है। इस प्रकार भेदवाद, अद्वैतविरोधी सभी वाद स्वानुभूति के ही विश्लेषण से शिथिल हो जाते हैं, शास्त्र तो उनके खोखलेपन का सत्यापन ही करता है।।२५६।।

पूर्वोक्त तरीके से अनुभवारूढ करने पर भी यही द्वैतमिथ्यात्व का एवं अद्वैत का साक्षात्कार है यह न जँचने में हेतु बताते हैं–

इत्थं ज्ञात्वाप्यसन्तुष्टाः केचित् कुत इतीर्यताम्।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद।।२५७।।

(यदि पूछो कि) 'यों जानकर भी कुछ लोग इस बारे में असन्तुष्ट क्यों रहते हैं यह बताया जाये?' तो तुम ही बताओ कि विचारकुशल भी चार्वाकादि 'देह आत्मा है' क्यों मानता है?

प्रश्न है कि द्वैतमिथ्यात्व-अद्वैतसत्यत्व समझ आ जाता है लेकिन जानने पर भी बहुत से लोग असन्तुष्ट रहते हैं, जान कर उन्हें सन्तोष नहीं हो जाता कि बस, यही जानने लायक है। लगता रहता है कि 'कुछ और जरूर होगा जानने को, इतनी-सी बात तो स्पष्ट ही है, इसे जानने से क्या होगा! कोई नया ज्ञान, कोई करिश्मा होवे, तब समझें कि अद्वैत का ज्ञान हुआ!' वेदान्ती का तो कहना है कि सब मनुष्यों की पाँच अँगुलियाँ हैं, कोई एक छह अंगुलियों वाला होवे तो तुम क्या मानोगे कि हम सब असामान्य हैं और वह छंगा ही सामान्य है? या यह कि हम सामान्य और वही असामान्य है? इसी प्रकार, यदि कोई अनुभव किसी अन्य को नहीं है, हम को ही है तब तो यही लगेगा कि हम ही कुछ असामान्य हैं। वेदान्त कहता है कि जो सबका अनुभव है, उसकी बात करो, किसी एक का ही अनुभव उसके चाहे-जिस काम का हो, हमारे क्या काम का! परन्तु लोगों को ऐसा लगता है कि कोई नया अनुभव होगा, नई समझ आती होगी तो कल्याण होगा। अनुभव वही है जो पहले था। पहले उसे ढंग से समझा नहीं था इसलिए निरर्थक था, अब समझ लिया तो सार्थक है। समझने पर भी असंतोष इसी भ्रम से है कि 'कुछ और होता होगा।' दृष्टांत दिया चार्वाक का; शरीर आत्मा है–यह जिनका मानना वे चार्वाक। वे भी ऊहापोह में कुशल होते हैं। सभी वादियों से प्रश्न करते हैं। सभी वादी उन्हें भरसक समझाते हैं। बहुधा चार्वाक के पास जवाब नहीं होता। वाद-स्तर पर परास्त होता है। फिर भी स्वयं क्या मानता है? शरीरातिरिक्त आत्मा तो नहीं है–यह मानता रहता है।

एक गाँव में एक द्वैतवादी पहुँचा। उसने कहा–'मैं द्वैत सिद्ध करूँगा, अद्वैत को असिद्ध करूँगा। और शास्त्रार्थ नहीं करना हो तो तुम सब पण्डित लिखकर दे दो कि मैं जीत गया।' छोटा गाँव था, अल्पश्रुत ब्राह्मण थे, सोचने लगे 'हम इसको जवाब कैसे देवें?–यह तो

पढ़-लिखकर आया है बनारस से। शास्त्रार्थ में हम हार जाएँगे।' दो-एक दिन उन्होंने टाला। गाँव में एक अनुभवी बुड्ढा था। उसने कहा 'मैं शास्त्रार्थ करूँगा।' मंच तैयार हो गया। दोनों विद्वान् बैठ गए, लोग भी इकट्ठे हो गए। जैसे ही बोलने की तैयारी हुई वैसे ही एक नाई आया और कहने लगा 'पण्डित जी, आपने मुझे नौ बजे का समय दिया था हजामत बनाने के लिए, आप तो यहाँ बैठ गए!' पण्डित जी ने कहा—'हे भगवान्! क्या बताऊँ, यह शास्त्रार्थ निश्चित हो गया, पहले पता नहीं था। आप तो भगवान् हो, सब जानते हो।' उसने कहा 'आप क्यों मेरे ऊपर पाप चढ़ा रहे हो? मैं काहे का भगवान् हूँ!' वह चला गया। फिर बात शुरू करने वाले थे कि एक लकड़हारा आया, बोला 'आपने कहा था सवेरे लकड़ी गिरवाएँगे, आप यहाँ आकर क्यों बैठ गए?' उससे भी कहा—'हे भगवान्! तुम तो जानते ही हो कि शास्त्रार्थ का मौका आ गया तो मैं यहाँ आकर बैठ गया।' लकड़हारे ने भी कहा—'मेरे ऊपर पण्डित जी क्यों पाप चढ़ाते हैं? मैं काहे का भगवान् हूँ! चलो, कल ले आऊँगा।' पण्डित जी ने आगन्तुक शास्त्रार्थी पण्डित से कहा 'देखो, हमारे यहाँ के तो लकड़हारे और नाई भी इस बात को जानते हैं कि हम भगवान् नहीं हैं, भगवान् अलग है, हम अलग हैं। और आप इतने साल काशी में यही पढ़ आए जो हमारे नाई और लकड़हारे जानते हैं? फिर तो आपने पढ़ा क्या!' जो सबको ज्ञात है जीव-ईश्वर का भेद उतना ही शास्त्र-तात्पर्य हो तो शास्त्र में अपूर्वता क्या!

अतः शास्त्र अभेदार्थक ही है। किंतु इसका यह मतलब नहीं कि अभेददर्शन का अनुभव कोई अलग तरीके का हो! अनुभव यही है, गलत ढंग से समझा जाता यह भेद को सत्य प्रतीत कराता है, सही तरह समझा जाता अद्वैतनिष्ठा कराता है। ज्ञान-अज्ञान को हटाता है, और कुछ नहीं देता है। न्यूटन के बारे में प्रसिद्धि है कि बड़े-छोटे कुत्तों के लिए अलग-अलग छेद बनवाने को तैयार हुआ, बढ़ई ने समझाया कि बड़े छेद से दोनों ही निकल सकते हैं तब न्यूटन को ख्याल आया कि दो छेद व्यर्थ बनवा रहा था! यह इतनी साधारण बात और न्यूटन जैसा प्रबुद्ध व्यक्ति, लेकिन स्वयं नहीं समझ में आयी, यही अज्ञान की महिमा है। इसी प्रकार से अनुभव के बारे में कोई सन्देह किसी को हो नहीं सकता पर चीज़ों का अनुभव होता कैसे है—यह भी किसी को पता लगता नहीं! सबका अनुभव है, फिर भी इधर ध्यान नहीं जाता। चार्वाक आदि बड़े प्रबुद्ध हैं, बहुत तर्क-युक्ति लगाते हैं, पर अन्त में सिद्ध करते हैं कि शरीर ही आत्मा है! या प्राण-मन-शून्य पर्यन्त सिद्ध करने वाले विभिन्न वादी हैं।

आजकल प्रायः लोग कहते हैं—'आगे किसने देखा है।' फिर वे ही अगले हफ्ते का प्रोग्राम बनाते हैं! हम उनसे पूछते हैं, 'अगला हफ्ता तुमने देखा है क्या?' कहते हैं 'अगला हफ्ता तो आएगा ही।' हमारे कितने दोस्त थे जो अगले दिन हमारे साथ खाने को आने वाले थे और मर गए? मैं भी मर सकता ही हूँ। फिर भी पन्द्रह दिन आगे का प्रोग्राम बना रहे हो। इसी प्रकार परलोक का भी कार्यक्रम विचारा जाना चाहिए। बिलकुल मोटी बात

है, फिर भी कहेंगे—'आगे किसने देखा है!' तात्पर्य है कि जैसे चार्वाकादि बुद्धिमान् होकर भी सही बात समझने में असमर्थ रह जाने से दुराग्रह-ग्रस्त होते हैं वैसे 'मैं अद्वैत समझ गया' मानकर भी जो असंतुष्ट है वह अद्वैत का सही भाव ग्रहण नहीं कर पाया यह निश्चित है। पदार्थशोधन ठीक तरह संपन्न हो, शास्त्रश्रद्धा पूरी हो तो यही साक्षात्कार सन्तोष, तृप्ति के लिए पर्याप्त है।।२५७।।

उक्त बात स्वयं व्यक्त करते हैं—

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत् तथा।
असन्तुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः।।२५८।।

यदि कहो कि चार्वाकादि की बुद्धि में दोष होने से उससे विचार समीचीन नहीं हो पाता तो यहाँ भी जवाब है कि जो असन्तुष्ट हैं उन्होंने भी अपनी बुद्धि के दोषवश जिस खास तरह से शास्त्रतात्पर्य समझना चाहिए था उस तरह नहीं समझा है।

चार्वाक के विचार करने का ढंग ठीक न होने से सोच-विचार कर भी वह मानता है कि शरीर ही आत्मा है। प्रबुद्ध होने पर भी वह ऐसे भ्रम में पड़ा रहता है। विचारका ढंग ठीक नहीं हो तो व्यक्ति गलत बात मान लेता है। कोई अविचारित आग्रह पाल लें तो सही बात नहीं जँचती। बुद्धि का दोष है आग्रह। शरीरात्मता के आग्रह से ही चार्वाक शास्त्रसिद्ध आत्मा के विरोध में तर्क ढूँढता रह जाता है पर वह सिद्धान्त मान नहीं पाता। आग्रह का प्रसिद्ध रूप राजनैतिक दलों में दीखता है जब वे कहते हैं कि बात भले ही ठीक हो पर अमुक दल ने उठाई है तो हमें समर्थन नहीं करना! 'हम साम्प्रदायिक पक्ष के साथ नहीं दीखना चाहते'—इस आग्रह से वे सत्य नकारने लगते हैं। लोक में भी किसी से दुश्मनी हो जाये तो उसमें केवल बुराई ही दीखने लगती है। यह आग्रह का नतीजा है। आग्रही परपक्ष में दोष खोजता है, उसे समझने का प्रयास करता ही नहीं। चार्वाकादि वादी इसी दोष से शरीरात्मवाद छोड़ नहीं पाते। यही स्थिति साधक की हो जाती है जब वह मिथ्यात्वदर्शन और अद्वैतसाक्षात्कार की किसी अजीब अनुभूति के रूप में कल्पना कर लेता है! होते हुए भी दर्शन को, साक्षात्कार को वह स्वीकार नहीं पाता। इस अनिश्चयदोष से दृढता न कर उपायान्तर खोजते हुए बहिर्मुख हो जाता है। इसीलिए कहा कि ऐसा व्यक्ति सही तरह से शास्त्र-पर्यालोचना करता नहीं। जैसे उपासक अपने-अपने इष्ट के महत्त्व के आग्रही हो जायें तो तद्विरुद्ध पुराणादि को ही तामस, अप्रामाणिक आदि घोषित कर देते हैं वैसे ही सर्वत्र आग्रही व्यक्ति असली बात नहीं समझ पाते। स्वयं तो जानना चाहिए कि सन्तोष न होना इसका चिह्न है कि शास्त्र सही तरह विचारा नहीं अतः बारम्बार श्रवण-मनन ही विधिवत् करते रहना चाहिए जब तक द्वैतमिथ्यात्व-आत्माद्वैत के बारे में तसल्ली न हो जाये। द्वैतसत्यत्व के अनादि आग्रह से इसके मिथ्यात्व का सामना नहीं करना चाहते। पारमेश्वरी शक्ति किसी की समझ में आ नहीं सकती अतः मिथ्या है इसमें सन्देह नहीं और अत एव

असीम है! इसमें कभी कोई कमी नहीं आ सकती। भगवान् प्रयोग करते रहे तो उनकी शक्ति क्षीण हो जायेगी, तब हम भी मुक्त हो जायेंगे—यह कल्पना भी मूर्खता है। इसलिए सम्यक् विचार से ही यह निश्चय दृढ करना एकमात्र उपाय है इसमें विकल्प नहीं।।२५८।।

उक्त ज्ञान का फल दिखाते हैं ताकि साधक स्वयं जान सके कि उसका विचार ठीक ओर बढ़ रहा है या नहीं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद् दृष्टमेव तत्।।२५६।।

साधक के हृदय में स्थित सारी कामनाएँ जब निवृत्त हो जाती हैं (तब अमृत है)—यह तत्त्वज्ञान का श्रुतिसिद्ध फल है जो वेदविचारसे सुनिश्चित होने के कारण होता ही है, यह नहीं कहना बनता कि नहीं होता।

श्रुति (कठ.६.१४) कहती है तत्त्वज्ञान होने पर सारी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। कामनाएँ कहाँ रहती हैं? कह दिया 'इस आदमी के मन में, हृदय में रहती हैं।' ऐसी जितनी कामनाएँ हैं वे सब छूट जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं। भली प्रकार यदि शास्त्र के तात्पर्य को समझा जाए तभी असन्तोष हटता है, अन्यथा बना रहता है। मनुष्य को संशय और विपर्यय नहीं रहते तब तो सन्तोष हो जाता है और जब तक संशय-विपर्यय हैं, तब तक नहीं होता। प्रसिद्धि हो कि किसी रोग का निवारण अमुक जगह होता है, तुम्हारे पिता आदि को वह रोग हो, तुम वहाँ इलाज न करवा पाओ और वे मर जायें तो असंतोष रहता है जबकि वहाँ इलाज करते हुए मरें तो सन्तोष रहता है। विचार से यदि देखो तो अमेरिका में भी शत-प्रतिशत लोग मरते हैं! जो पैदा होते हैं सभी मरते हैं। धोरों में, ढाणियों में रहने वाले लोग जो डॉक्टर, वैद्य को जानते ही नहीं, वे भी सौ में सौ ही मरते हैं, सौ में सवा सौ नहीं मरते हैं! इसलिए केवल मन की विडम्बना है कि अमुक जगह इलाज कराते तो कोई जी जाता। फिर भी वहाँ ले जाकर दस लाख रुपया खर्च करके सन्तोष हो जाता है, और जगह मन में संशय रहता है 'शायद बच जाता' या विपरीत ज्ञान भी हो जाता है कि 'बच ही जाता।' असन्तोष का कारण संशय और विपर्यय है। हमारे शरीर में कमज़ोरी है, हम दो घण्टा काम करके थक जाते हैं। दस हज़ार रुपया महीना की नौकरी मिल रही है, सन्तोष है, इससे ज़्यादा काम हम कर ही नहीं सकते। अगर हमें लगता है 'हम तो काम कर सकते हैं; मालिक तरक्की नहीं देता', तो असन्तोष रहता है। इसी प्रकार 'मुझे जो ज्ञान हो गया, प्रमाण से भी यही सिद्ध है, युक्ति से भी प्रमेय यही सिद्ध हो रहा है इसलिए यही वास्तविकता है' इस विषय में संशय-विपर्यय नहीं रहे तब तो आदमी को सन्तोष हो जाता है और यदि संशय रहे तो असन्तोष रहता है। बार-बार श्रवण-मनन करने पर इसीलिए ज़ोर दिया जाता है कि संशय-विपर्यय हट जाएँ, 'ऐसा ही है, और कुछ हो ही नहीं सकता'—यह निश्चय हो जाए।

फल मालूम रहे तो सन्तोष संभव है अतः श्रुति के अनुसार कामनिवृत्ति प्रत्यक्ष फल बताया। जब सारी कामनाएँ छोड़ जाती हैं, हट जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं तब जानना चाहिए कि विचार फलीभूत हुआ। कहाँ की कामनाएँ? 'हृदि श्रिताः' जो हृदय में होती हैं। जब सारी कामनाओं की निवृत्ति हो जाती है तब जो मरणधर्मा है वह अमरणधर्मा हो जाता है अर्थात् जीव शिव हो जाता है। और ऐसा कहीं जाकर नहीं होता, 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'—इह लोक में रहते हुए ही हो जाता है, यहीं होता है। उपनिषदों का विचार करो तो एक बात देखोगे कि ब्रह्मज्ञानरूप फल यहीं होने वाला बतलाया है। जितनी कर्म-उपासनाएँ हैं उनका फल आगे मिलता है और आत्मज्ञान का वैशिष्ट्य ही है कि फल यहीं हो जाता है। यहीं फल पर इतना ज़ोर दिया गया है कि शंका की जाती है कि अगर आत्म-ज्ञान की साधना से यहाँ ज्ञान हो गया तब तो ठीक है पर यहाँ नहीं हुआ तो क्या साधना बेकार गयी? यह शंका होने पर भगवान् वेदव्यास ने अधिकरण बनाया 'ऐहिकमपि अप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (३.४.१६) यहाँ हो ही जाता है लेकिन अगर कोई प्रतिबन्धक है और उसके कारण यहाँ नहीं हुआ तो किया हुआ साधन व्यर्थ नहीं रहेगा, प्रतिबन्ध के हटते ही ज्ञान प्रकट हो जाएगा। ज्ञान का फल प्रायः तो यहीं होता है पर कोई तीव्र प्रतिबन्धक हो जिससे यहाँ न हो पाये तो जन्मान्तर में हो जाता है। उसमें दृष्टान्त है वामदेव। वामदेव ने पूरा श्रवण-मनन किया परन्तु कोई उनका पाप ऐसा था जिससे उस शरीर में मोक्ष नहीं होना था इसलिए वे गर्भ में गए, दूसरा जन्म हुआ, लेकिन गर्भ से बाहर निकलने से पहले ही उन्हें ज्ञान हो गया। अतिधन्य वेद स्वयं कहता है 'गर्भ एव शयानो वामदेवः प्रतिपेदे' गर्भ में रहते हुए ही उनको आत्मज्ञान हो गया क्योंकि एक जन्म का ही प्रतिबन्धक बाकी था। भगवान् ने भी इसीलिए वेदान्त साधना का वैशिष्ट्य बतलाया है—'नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।' कल्याण तो एक ही है—मोक्ष। बाकी जिसको कल्याण समझते हो वह सब आगे-पीछे अकल्याणरूप ही है। मोक्ष के मार्ग में जो-जो प्रवृत्त है वह कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं करता। न यहाँ उसका कोई नाश होता है, न आगे होता है। व्यास जी ने इतना ही कहा कि अगर यहाँ फल नहीं हुआ तो आगे फल होगा, भगवान् ने तो कह दिया 'स्वल्पमपि अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' सु-अल्प मायने बहुत थोड़ा। इस धर्म का थोड़ा भी पालन कर लिया तो महान् भय से त्राण कर देता है। अगर इधर एक कदम भी ले लिया तो उससे कोई नुकसान तुम्हारा कभी होने वाला नहीं है, फायदा ही होगा। भगवान् शंकर यहाँ तक कहते हैं कि कोई एक बार मेरा नाम लेता है तो मैं संसार के सारे भोग देता हूँ, दूसरी बार ले तो मोक्ष देता हूँ, अगर तीसरी बार नाम लेता है तो मैं उसका कर्जदार रह जाता हूँ! अतः इस कल्याणकारी मार्ग के अन्दर लाभ ही लाभ है।

श्रुति ने 'हृदय में श्रित कामनाएँ छूटती हैं' कहकर समझाया कि अज्ञानदशा में 'मैं कामी' इसलिए समझते हैं कि हृदय को मैं मानते हैं, ज्ञानदशा में क्योंकि मालूम है कि हृदय मैं नहीं इसलिए मुझसे वे कामनाएँ छूट जाती हैं, दूर हो जाती हैं। भगवान् ने इंद्रिय-मन-बुद्धि

सभी को कामना रहने की जगह बताया है। उससे भी स्पष्ट है कि इंद्रियादि को मैं माने बगैर 'मैं कामी' अनुभव असंभव है। यद्यपि कामना होगी मनोवृत्ति तथापि कहीं तो इंद्रिय के सहारे होने से इन्द्रियों को कामना का अधिष्ठान कहते हैं और जहाँ इंद्रिय-निरपेक्ष मन ही कामना उठाता है वहाँ मनको ही अधिष्ठान कहते हैं। बुद्धि या ज्ञान से वह कामना समझ सकते हैं जो भ्रम से है क्योंकि केवल इंद्रिय या मन वहाँ कामनाहेतु नहीं, गलत ज्ञान हेतु है। आत्मा निष्काम है अतः उसमें समझी जाती कामनाएँ दूर होती हैं, मन आदि में प्रारब्धादि के अनुसार दृश्यरूप से रहती तो हैं ही। यह कहना नहीं बनता कि सब कामनाओं की निवृत्तिरूप फल शास्त्रोक्त नहीं क्योंकि उपक्रमादि के विचार से वह फल सिद्ध है और ऐसा भी नहीं कि वह अनुभव में न आता हो क्योंकि जनक, शुक आदि प्राचीन विद्वानों को एवं आज तक के विद्वानों को यही अनुभव होता है कि हृदयस्थ कोई कामना उन्हें अपनी नहीं लगती, सभी छूट जाती हैं।।२५६।।

वेदार्थ भी पूर्वोक्त ही है इसमें उपनिषत् का ही अगला मंत्र (कठ. ६.१५) प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति।
कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः।।२६०।।

'जब हृदय की सारी गाँठें सर्वथा खुल जाती हैं'—यों आगे के वाक्य में समझाया है कि कामनाएँ गाँठें हैं।

गाँठ कहते हैं जो दो चीज़ों को एक कर देती है। डोरियाँ तो अलग-अलग ही रहती हैं लेकिन गाँठ के कारण एक के जैसा काम कर लेती हैं। जो काम लम्बी डोरी से होता वह गाँठ लगी दो छोटी डोरियों से हो जाता है। सचमुच में एक हुए बिना एक की तरह काम कर लेना गाँठ का मतलब है। सचमुच में तो एक हुई नहीं, क्योंकि बाद में अलग कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति और चेतन—ये बिलकुल अलग चीज़ें हैं परन्तु दोनों में गाँठ पड़ गई है इसलिए हम अपने को अहंकारात्मिका वृत्ति ही समझते हैं। 'मैं चेतन हूँ' कहते हैं तो हम 'मैं' का मतलब अहंकारात्मिका वृत्ति ही समझते हैं। दोनों अलग रहते हुए, सचमुच में एक कभी बिना हुए, मानो एक हों ऐसा काम कर रहे हैं। अनादि काल से यह गाँठ पड़ी हुई है। लम्बे समय तक गाँठ लगी रहे और रस्सी आदि से काम लेते रहो तो इतनी कस जाती है और उलझ जाती है कि खोलना बहुत कठिन होता है। अनादि काल से अनन्त कल्पों में पड़ी हुई अहंकाररूप गाँठ को खोलने में कई मुश्किलें आती हैं। गाँठ रहते जिसे हम चेतन समझते हैं वह अचेतन निकलता है, जिसे अचेतन समझते हैं वह चेतन निकलता है! दोनों ऐसे फँसे हुए हैं कि पता ही नहीं लगता। अगर कहीं ऐसा होता कि शरीर से अलग चेतन पड़ा हुआ मिल जाये तो विवेक तुरन्त हो

जाता, लेकिन शरीर से अलग कभी चेतन मिलता नहीं है! इसलिए यह खुलना बड़ा मुश्किल होता है। इसीलिए श्रुति ने अहंकार को हृदय की ग्रन्थि कह दिया।

अहंकार में जो चेतन की गाँठ लगी है यही चिदाभास है। 'सर्वे' इसलिए कहा कि अनेक गाँठें उलझी हुई हैं। गाँठ तो एक ही है लेकिन उलझी हुई है, इसलिए सब तरफ से खोलना जरूरी होता है। ठीक पहले श्लोक में जिसे 'हृदय की कामनाएँ' कहा था, उसी को यहाँ 'हृदय की गाँठ' कहा है, इसलिए कामना का अर्थ हृदय की गाँठ है। ग्रन्थ का ठीक अर्थ समझने के लिए आगे-पीछे के वचनों को मिलाना पड़ता है। इस तरह कामना का गाँठ के स्वरूप से स्वयं श्रुति ने ही व्याख्यान कर दिया। 'वाक्यशेषतः' अर्थात् वाक्यशेष द्वारा। एक वाक्य के ही अभिप्राय को समझाने में प्रवृत्त सभी सार्थक शब्दसमूह वाक्यशेष कहे जाते हैं क्योंकि वाक्यार्थ समझने के लिए जो-जो 'शेष' या बाकी रहा उसे पूरा करते हैं। यहाँ कामना के स्वरूप को ही अगला वाक्य समझा रहा है अतः उसका शेष है। अहंकारात्मिका वृत्ति का चिदात्मा के साथ जो तादात्म्याध्यास है उसकी निवृत्ति दृष्ट फल है। फिर यह भ्रम कभी नहीं होता कि अहंकारात्मिका वृत्ति, कामनाएँ, या शरीर की जरूरतें 'मेरी' अर्थात् चेतन की कामनाएँ हैं। जिस जीवन में गाँठ खुलती है उसी में यह फल हमेशा के लिए मिल जाता है।।२६०।।

लोक में 'काम' शब्द से इच्छामात्र का ग्रहण किया जाता है इसलिए स्पष्ट करते हैं कि यहाँ कैसी इच्छा विवक्षित है—

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः।।२६१।।

अहंकार और चेतन आत्मा को अलग बिना समझे एक ही जानते हुए 'मेरे लिए ऐसा हो, ऐसा हो'—इन इच्छाओं को काम-शब्द से कहते हैं।

काम शब्द से कौन-सी इच्छाओं को कहा है? अहंकार और चिदात्मा—इन दोनों को एक करके होने वाली इच्छाओं को ही कहा है। एकीकरण क्यों होता है? 'अविवेकतः।' श्रवण-मनन नहीं होने के कारण अविवेक होता है। लोक में भी देखा जाता है कि किसी चीज़ के वास्तविक स्वरूप को जिसने नहीं समझा है उसे भ्रम होता ही रहता है। अविवेक अर्थात् अज्ञान के कारण स्वयं को परिच्छिन्न जानते हुए उस परिच्छिन्न रूप के लिए ही 'इदं मे स्यात्'—'ये मुझे होवें, मुझ चेतन को ये होवें' ऐसी कामनायें होती रहती हैं। चूंकि उस अहंकारात्मिका वृत्ति के अन्दर चेतन का अध्यास है इसलिए ये बढ़ती जाती हैं। लोक में देखने में आता है कि नासमझी से कामना बढ़ती है : एक चाय के व्यापारी थे, पुड़ियों आदि में बाँधकर निर्यात करते थे। इस काम में मज़दूर ही ज़्यादा होते हैं। धीरे-धीरे मज़दूरों ने अपनी तन्ख्वाह बढ़वाना शुरू कर दिया हड़तालें करके। यह बंगाल की घटना है जहाँ साम्यवादियों का राज्य था, वहाँ कर्मचारीसंघ अपनी बात मनवा लें इसमें क्या कहना! वेतन

बढ़ते-बढ़ते ऐसा हुआ कि घर का काफी पैसा निकल गया। मालिक ने सब मज़दूरों और उनके नेताओं को बुलाकर कहा—'हमसे तो जितना चलना था चल चुका। अब हम सारा काम तुम लोगों को देते हैं। आज से तुम मालिक हो गए, हमारा कोई लेना-देना नहीं। इसमें जितना फायदा होवे सो बाँटते रहना।' सारा काम उनके ज़िम्मे दे दिया। बड़े खुश हुए सब लोग कि अब हम मालिक बन गए। काम करने लगे तो घाटा ही हुआ! आजकल कोई मज़दूरों का काम होवे, सहकारीसंघ का काम हो तो सरकार बैंक से कर्ज़ा दिलाती है। तीन साल तक बैंक कर्ज़ा देते रहे। फिर बैंक भी कहने लगा कि वापिस कर नहीं रहे हो इसलिए आगे कर्ज़ा मिलेगा नहीं। बड़े परेशान हो गए। तीन साल बाद मालिक के पास आए बोले, 'आप ही वापिस ले लीजिए।' उन्होंने कहा 'हम तो वापिस लेने वाले नहीं हैं। तुम्हारी जो मर्ज़ी सो करो।' बहुत रोए कि हर साल घाटा ही होता है। वे बोले 'यही तुम लोगों को समझाते थे!' 'कितना फायदा होता है' इसका अज्ञान होने से ही मन में गलत ज्ञान आता है कि मालिक बहुत कमाता है और तब इच्छा बढ़ती जाती है कि वेतन बढ़े। ठीक इसी प्रकार, अज्ञान के कारण चिदाभास को अपना स्वरूप समझना—इस भ्रम से ही मन की इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं जैसे मज़दूरों की बढ़ती गई।

इच्छाओं से प्रेरित हुआ काम में लगा हुआ है—ज्योतिष्टोम, अश्वमेध आदि करता है कि स्वर्ग जाए या इस संसार में व्यापार-धंधा करता है कि खूब कमाए। जितना फायदा सोचता है उतना कभी होता नहीं! जब अध्यास हट जाता है तब चेतन चिदाभास से अलग समझ लिया जाने पर फिर इच्छाएँ बढ़ेंगी नहीं। पूर्व संस्कारों के कारण जो प्रारब्धपूर्ति के लिए थोड़ा-बहुत व्यवहार होता है उतना हो जाएगा पर कामनाएँ बढ़ेंगी नहीं। जैसे खटका बन्द करने से बिजली मिलना रुक जाने पर कुछ देर चलता भले ही रहे पर पंखा हर क्षण धीमा ही पड़ता जाता है, तेज़ नहीं हो सकता वैसे निरज्ञान की, निरध्यास की कामनाएँ प्रतीत भले ही हों पर वस्तुतः उसमें होती भी नहीं और बढ़ें इसकी तो संभावना भी नहीं। जब चेतन का अहंकार से अध्यास हट जाता है तब चिदाभास की इच्छाओं के अन्दर वृद्धि नहीं होगी। जो पहले से हैं वे भी धीरे-धीरे कम होकर खत्म हो जाएँगी। जो अहंकार-निमित्तक इच्छाएँ हैं उनकी यह स्थिति है। किन्तु जो इन्द्रियों की, शरीर की इच्छाएँ हैं—वे जब तक शरीर है तब तक रहेंगी। खाना, पीना या मल आदि निकालना आदि के बारे में जो शरीर-धारण के लिए आवश्यक इच्छाएँ हैं वे तो शरीर के रहने तक रहेंगी। मन की इच्छाएँ और इन्द्रियों की इच्छाओं को अलग करके समझना साधक के लिए भी जरूरी है। शरीर की इच्छाएँ अर्थात् स्वाभाविक जीवन चलने के लिए आवश्यक प्रेरणाएँ जैसे खाने-पीने-ओढने आदि की प्रेरक इच्छाएँ, वे चलती रहेंगी जब तक शरीर है भले ही उनकी अपूर्ति से सिद्ध को 'मैं दुःखी' न लगे। अहंकार की इच्छाएँ कम हो जाती हैं का मतलब यह मत समझ लेना कि उसका खाना-पीना कम हो जाता है! अविवेक के कारण—'यह मेरा हो, वह मेरा हो' इस प्रकार जो इच्छाएँ बढ़ती रहती हैं, अध्यास निवृत्त होने पर वे बढ़ती नहीं हैं। अज्ञानमूलक अध्यासपूर्वक

होने वाली इच्छाओं को यहाँ काम शब्द से कहा गया है। शारीरिक आदि इच्छाओं को यहाँ काम शब्द से नहीं कहा गया है।।२६१।।

पूर्वोक्त प्रकार की कामनाओं से अन्य इच्छाओं को तत्त्वज्ञान का विरोधी नहीं समझ सकते यह स्पष्ट करते हैं—

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम्।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः।।२६२।।

चिद्रूप आत्मा का प्रवेश कराये बिना उस प्रत्यग्भूत चित्स्वरूप से अहंकार को अलग जानते हुए करोड़ों वस्तुओं को चाहे तो भी तत्त्वज्ञान का विरोध नहीं क्योंकि गाँठ खुल चुकी है।

अहंकार के अन्दर चिदात्मा का प्रवेश कराए बिना होने वाली इच्छा का तत्त्वज्ञान से विरोध नहीं। सच्चा प्रवेश तो कभी होता नहीं है, झूठा प्रवेश कराना यही है कि 'यह मैं हूँ' ऐसा अध्यास हो जाना। अहंकार से तादात्म्याध्यास किए बिना अहंकार को अपने से सर्वथा अलग जानते हुए करोड़ों वस्तुओं की इच्छा करे तो उससे कोई बाध, दुःख आदि नहीं होना है क्योंकि अहंकार में दुःख आदि हों भी तो उन्हें अपने में जानेगा नहीं। अज्ञानी तो गाँठ चलते अन्योन्याध्यास से अहंकारधर्म चेतन में मानो घुसा देता है, ज्ञानी ऐसा करता नहीं है अतः उसे सब विकारों सहित अहंकार दृश्य ही रहता है, कभी द्रष्टा-कोटि का नहीं बनता। अतः ग्रन्थि खुल जाने के बाद फिर चिदात्मा से अलग हुआ अहंकार चाहे कितनी भी इच्छाएँ करे, आत्मा की निर्विकारता की समझ कायम रह जाती है, कटती नहीं। ये इच्छाएँ होंगी संस्कार और प्रारब्ध के अनुरोध से ही, न कि बन्धन बढ़ाने वाली नयी कामनाएँ। यद्यपि व्यवहार सम्पन्न करने के लिए चिदाभास चाहिए तथापि अज्ञानी आभास को ही चिदात्मा जानता है जबकि विद्वान् उसे अनात्मा जानता है, उसे आभास की आहार्य जैसी प्रतीति होती है अर्थात् अहंकार में चिद्रूपता देखते काल में ही 'यह चिद्रूप नहीं' यह भाव बना रहता है। इसलिए इच्छादि व्यवहार संभव है और वह तत्त्वानुभव में कोई बाधा भी नहीं डालता।।२६२।।

यदि प्रश्न हो कि अध्यास मिटने पर इच्छामात्र का ही उदय कैसे संगत है तो उत्तर देते हैं कि प्रारब्धसाफल्य के लिए आवश्यक और अनुभूयमान होने से असंगति नहीं है—

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः।
बुद्ध्वापि पापबाहुल्याद् असन्तोषो यथा तव।।२६३।।

गाँठ खुल चुकने पर भी प्रारब्ध नामक दोष के फलस्वरूप इच्छाएँ सम्भावित हैं जैसे तुम्हें आत्मबोध होने पर भी पापाधिक्यवश (उस बोध से) सन्तुष्टि नहीं है।

चिद्रूप प्रत्यगात्मा अहंकार से सर्वथा स्वतंत्र है ऐसा विपर्ययरहित जिसे निश्चय है वह भी श्लोक २५७ में कहे ढंग से यदि असंतुष्ट है तो इसमें उसके पाप-प्रारब्ध को ही हेतु कहा जा सकता है। प्रत्यगात्मा और अहंकार के भेद का अनुभव सुषुप्ति में तो सब करते हैं क्योंकि सुषुप्ति के अन्दर अहंकारात्मिका वृत्ति न रहने पर भी प्रत्यगात्मस्वरूप रहता ही है। इसका मतलब है कि प्रत्यगात्मरूप मैं अहंकारात्मिका वृत्ति से अलग हूँ। परन्तु जब तक इस बात को समझाया नहीं जाता तब तक कोई समझता नहीं है। सामवेद में कहा कि लोगों का हाल ऐसा है कि अपने खेत में धन गड़ा हुआ है, उसके ऊपर से रोज़ चल कर जाते भी हैं, पर बेचारे निर्धन भी हैं! जब पता लग जाता है कि यहाँ धन गड़ा हुआ है तब निर्धनता दूर हो जाती है। मालूम न हो, या भूल भी जाओ तो धन तुम्हारे काम नहीं आता, चाहे बैंक में हो या ज़मीन में गड़ा हो। इसी प्रकार हृदय के अन्दर प्रत्यगात्मरूप चिदात्मा है। भगवान् ने भी बताया कि कहाँ रहते हैं 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'—हे अर्जुन! सब प्राणियों के हृदय-देश में ईश्वर रहता है। ईश्वर के रहने की जगह अलग नहीं है।

लोग पहाड़ चढ़कर जाते हैं कि शिव जी कैलास में मिलेंगे किन्तु अगर शिवजी यहाँ मिले हुए हैं तभी वहाँ भी मिलेंगे, और यहीं नहीं मिले हैं तो वहाँ भी नहीं मिलेंगे। मिले भी तो शिवजी को तुम पहचानोगे कैसे? काश्मीर में एक महात्मा रहते थे। किसी ने उनके सम्मान में बहुत भारी भण्डारा किया। तैयारी हो रही थी कि एक साधु फटे-हाल आया, कहा 'कुछ खाने को दे सको तो दे दो।' लोगों ने कहा 'बहुत बड़े महात्मा के निमित्त भोज है अतः अभी तुम्हें नहीं मिलेगा।' वह चला गया। बारह बजे भोजन के समय अच्छे कपड़े, ऊपर से पहने जाने वाला चोंगानुमा फिरन पहनकर महात्मा जी और अन्य भी लोग पहुँच गये। मंत्रपाठादि पूर्वक भोजन प्रारंभ हुआ तो महात्मा अपने बाजू से लटकती फिरन को खीर आदि में डुबाकर 'खा, खा' कहने लगे। लोगों ने पूछा तो बोले 'इसे ही तो तुम खिलाना चाहते हो। मैं तो कुछ देर पहले भी आया था, यह पहनी नहीं थी तो बिना खिलाये तुमने मुझे भेज दिया। अतः मुझे नहीं, कपड़ों को खिलाने बुलाया है।' न पहचानने से आये महात्मा का ही तिरस्कार हो गया। ठीक इसी प्रकार भगवान् शंकर मिल भी जाएँ तो दुत्कारोगे! अगर यहाँ देखकर पहचान चुके हो तो वहाँ भी मिलने पर पहचान लोगे। इसलिए लोग न जाने कितनी तीर्थ यात्रा कर आते हैं, फिर भी किसी को नहीं लगता कि 'हमें भगवान् मिल गए।' भगवान् तो कहते हैं कि ईश्वर तुम्हारे हृदय में है, यहाँ पहले पहचान लो, फिर और कहीं देखना। परन्तु हृदय के अन्दर छिपे हुए हैं। जैसे खेत के अन्दर मिट्टी-पत्थर से धन छिपा होता है वैसे ही अज्ञान से ईश्वर छिपा हुआ है। गहरी नींद में जाते तो हो उसी में, पर पहचानते नहीं कि यही परमात्मा का स्वरूप है। जब शास्त्र पहचान करवा देता है तब पता लग जाता है। सुषुप्ति में प्रत्यगात्मा तो रहता है, अहंकार नहीं रहता। यों भेदानुभूति के बावजूद जाग्रत्-स्वप्न में इस अहंकार और प्रत्यगात्मा का भेद हमारी समझ में नहीं आता!

अतः दोनों को एक कर लेते हैं, अहंकार में होने वाली इच्छाओं को अपनी इच्छाएँ समझ लेते हैं।

समझ लिया तो इच्छा होनी नहीं चाहिए, प्रत्यगात्मा को अहंकार से अलग जान लिया तो इच्छा होना संगत नहीं, फिर भी सम्भव हैं। क्यों? अहंकार और उसके अन्दर प्रतिबिम्बित चिदाभास के कर्मों का फलभोग देने के लिए ईश्वरेच्छारूप प्रारब्ध से शरीर मिला है। जीव के कर्मों को देखकर 'इनमें से कौन-से कर्म इस जीवन में फल देंगे'—इसका निर्णय भगवान् कर देते हैं। जो निर्णीत कर्मफल हैं वही 'प्रारब्ध' कहे जाते हैं। कर्म हमारे अनन्त हैं, उनमें से 'इस शरीर में ये फल देवें'—ऐसी जो ईश्वर की इच्छा है उसके कारण ही हमें शरीर मिलता है। ईश्वर की इच्छा कभी भी अन्यथा नहीं हो सकती। उसका जो संकल्प बन गया वह इस शरीर में भोगना ही पड़ेगा। अतः पता लगने के बाद भी जो प्रारब्ध का दोष है इससे इच्छा सम्भव हो जाएगी। प्रारब्ध-भोग का मतलब है सुख या दुःख का भोग। इच्छा के अनुरूप परिस्थिति होने पर सुख होता है, उससे विरुद्ध होने पर दुःख होता है। जिस चीज़ के न प्राप्त होने की, न निवृत्त होने की इच्छा है उससे सुख या दुःख होगा नहीं। सुखादि हो सके इसके लिए इच्छा चाहिए अतः ग्रन्थि खुलने पर भी हो सकती है। इसमें प्रष्टा को ही उदाहरण बना लिया जिसे तत्त्व समझ आने पर भी असन्तोषरूप दुःख महसूस हो रहा है। वह तत्त्वानुभूति से अतिरिक्त कुछ चाहता है जिसे न पाकर ही असंतुष्ट है। अतः ज्ञान और 'चाहना' या कामना साथ रहना अनुभवसिद्ध है। समझ में भी आ गया कि प्रत्यगात्मा अहंकार से अलग है फिर भी असन्तोष रहता है यह जिसे अनुभूयमान है वह इसी तरह इच्छान्तर भी संभव समझे यह संगत है। कामना क्यों होती है? 'पापबाहुल्यात्' पाप ज़्यादा है इसलिए दुःख होना है जिसके लिए कामना की अपूर्ति चाहिए अतः कामना होती है। जैसे असन्तोष ही दुःख का कारण हो गया वैसे ही दूसरों के भी पाप-पुण्य के अनुसार इच्छा हो कर सुख-दुःख का अनुभव चिदाभास में हो जाता है।।२६३।।

अध्यास न रहने पर अहंकार में होती इच्छादि तत्त्वज्ञानविरोधी नहीं यह सोदाहरण समझाते हैं—

अहंकारगतेच्छाद्यै-र्देहव्याध्यादिभिस्तथा।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत्।।२६४।।

अहंकार में होती इच्छादि से, या शरीर में होती बीमारी आदि से, या वृक्ष आदि के जन्म-नाशों से ज्ञानरूप आत्मा में क्या हो सकता है!

जो व्यक्ति वृक्ष को स्वयं से भिन्न जानता है उसे वृक्ष के उगने या कटने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार स्वयं को चिद्रूप आत्मा जानकर शरीर में आती-जाती बीमारी से 'मैं बीमार या स्वस्थ'—ऐसा अनुभव नहीं होता। ऐसे ही अहंकार को चेतन से पृथक् जान चुकने पर अहंकार में इच्छादि कोई भी अच्छी-बुरी वृत्ति बने उससे चित्स्वरूप प्रत्यग्वस्तु में कोई

परिवर्तन प्रतीत होना संभव नहीं। प्रारब्ध से जैसे स्थूल शरीर में रोगादि होते हैं वैसे अहंकार में इच्छादि होते हैं। दुःख के लिए ऐसी इच्छा चाहिए जो पूरी न हो, सुख के लिए ऐसी चाहिए जो पूरी हो। प्रारब्धवश इच्छा होगी, पूरी न हुई तो वही क्रोध का भी आकार ले सकती है! अन्य भी वृत्तियाँ होंगी लेकिन किसी से भी 'मैं चेतन विकृत हो गया' ऐसी अनुभूति उसे नहीं होगी जो अहंकार को चेतन से अलग निर्णीत कर चुका है। वृक्ष-उदाहरण स्पष्ट है क्योंकि 'मैं वृक्ष' ऐसा कोई समझता नहीं तो वृक्ष के जन्म-नाश आदि से 'मैं उत्पन्न, नष्ट आदि' नहीं समझता। एवं च जहाँ भी मैं-अभिमान नहीं रहता वहाँ के विकारादि अपनी स्वरूपस्थिति के विरोधी नहीं बनते, यह नियम हो गया। अहंकार से तादात्म्य मिट चुकने से विद्वान् को उसके इच्छादि विकार अपने लगते नहीं कि अपनी आत्मस्थिति से विचलित हुआ जाये।।२६४।।

वस्तुतस्तु अज्ञानदशा में भी आत्मा निर्विकार ही रहता है, सविकारता भ्रममात्र है जो ग्रंथिभेदन से मिट जाता है यह स्पष्ट करते हैं—

ग्रन्थिभेदात् पुराप्येवमिति चेत् तन्न विस्मर।
अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृती भवान्।।२६५।।

यदि कहो कि गाँठ खुलने से पहले भी यों ही था (अर्थात् आत्मा निर्विकार था), तो इस तथ्य को भूलो मत। यही तुम्हारी 'गाँठ खुल जाना' है। इससे आप कृतकृत्य हैं।

शिष्य पूछता है कि ग्रन्थिभेद के पहले अर्थात् प्रत्यगात्मा के तत्त्व को जानने के पहले भी प्रत्यगात्मा तो ऐसा ही असंग, निर्विकार था, फिर ज्ञान से क्या फर्क पड़ा? ऐसा तो है नहीं कि ज्ञान होने के बाद आत्मा अलग हो गया हो! ज्ञान होने के बाद अलग होवे—तो 'किया हुआ' होने से अलगाव अनित्य हो जाएगा। जब तक ज्ञान रहेगा तब तक अहंकार से आत्मा अलग रहेगा, जैसे ही ज्ञान नहीं रहा, वैसे ही अलग भी नहीं रहेगा। किंतु आत्मा वास्तव में ही अहंकारादि अनात्मवर्ग से स्वतंत्र, पृथक् है। वह स्वरूप से ही सबसे अलग है।

जवाब में कहते हैं कि इसे भूलो मत। चिदात्मा पहले भी ऐसा ही असंग, साक्षी, कूटस्थरूप था, अभी भी ऐसा ही है और आगे भी ऐसा ही रहेगा—इसे मत भूलो! इसे भूलने से ही अहंकारगत इच्छादि, शरीरगत व्याधि आदि को अपने में मान लेते हो। आचार्य ने 'उसको स्मरण रखो'—ऐसा नहीं कहा वरन् कहा कि भूलो मत। अर्थात् स्मरण रखना जरूरी नहीं है, केवल वह तथ्य भूलना नहीं चाहिए। यदि भूलें नहीं तो अहंकार से एक, तादात्म्यापन्न नहीं होंगे। यदि अहंकार, शरीरादि के साथ एकता का बोध नहीं है तो इस पाठ को याद रखने की भी जरूरत नहीं है! इसलिए सुरेश्वराचार्य श्रवणादि की परिसंख्या विधि मानते हैं अर्थात् श्रवणादि के अलावा कुछ न किया जाये यह जरूरी है, श्रवणादि करते ही रहें—यह जरूरी नहीं है। प्रारब्ध-पर्यन्त अन्तःकरण रहेगा, उसमें आवश्यक वृत्तियाँ बनेंगी

तो उसकी स्वरूप-योग्यतानुसार उनमें आत्मप्रतिबिम्ब भी भासेगा। ग्रंथि रहते प्रतिबिम्ब भासने पर 'यही मैं हूँ' ऐसा विपरीत निश्चय होता है। ग्रंथि खुलने पर ऐसा भ्रम नहीं होता—यह फर्क है। 'पूर्व में भी निर्विकार था'—यह समझ आना ही तो सिद्ध करता है कि मोक्ष नित्य है! ग्रंथिभेद-प्रयुक्त विकारहानि तो वैसे ही मोक्ष नहीं जैसे सुषुप्ति-समाधि में निर्विकारता मोक्ष नहीं है। सनातन निर्विकारता का अनावरण ही ग्रंथिभेद विवक्षित है जिससे नित्य मोक्ष ही उपलब्ध होता है। इसलिए श्रुति ने कामना का तात्पर्य इच्छा न कहकर 'हृदय की गाँठें' कहा यह श्लो.२५९—२६० में समझा चुके। इच्छादि प्रारब्धभोग की अन्यथानुपपत्ति से आवश्यक होने पर भी अज्ञान आवश्यक नहीं, ग्रंथि आवश्यक नहीं, अतः प्रारब्धवश कामादि की तो संभावना है, अज्ञान या तादात्म्याध्यास की संभावना नहीं। चिदाभास को ही प्रत्यगात्मा जानना अध्यास है, चिदाभास को आभास ही जानना, स्वयं को साक्षी जानते रहना अध्यास नहीं। दर्पण में मुख देखने से हम भ्रांत नहीं कहलाते हैं। अतः अहंकार रहना, वह चिदाभासयुक्त रहना, उसमें कामनादि रहना—इन सबसे तत्त्वज्ञान में कोई रुकावट नहीं आती, उसकी काट नहीं होती। चेतन को सनातन निर्विकार जान लेने से ग्रंथि कट गयी अतः कृतार्थता प्राप्त हो गयी। अब अहंकार से एकता का कभी भ्रम होना संभव नहीं। अहंकारगत इच्छामात्र की निवृत्ति न संभव है न अपेक्षित है। कामना ही निवृत्त होना आवश्यक है, अन्य इच्छाओं का रहना-न रहना मायने नहीं रखता। अहंकार में इच्छाएँ न रहें—यह आग्रह तो बताता है कि उससे स्वयं की पृथकूता को भूला जा रहा है।।२६५।।

तत्त्वज्ञान न होना अनिष्ट और हो जाना ही कृतार्थता है यह व्यक्त करते हैं—

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत् सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः।।२६६।।

यदि मूढ उक्त प्रकार से आत्मा को सदा अविकार नहीं जानते तो इसीलिए कि यही गाँठ है, अन्य कोई नहीं। मूढ और समझदार में यही फर्क है कि एक में गाँठ है, दूसरे ने वह खोल ली है।

जिन्होंने अब तक ज्ञान प्राप्त नहीं किया वे मूढ हैं। अपने स्वरूप को न जानना ही ग्रन्थि है। यद्यपि अध्यास को गाँठ समझाया था तथापि उसका मूल होने से एवं स्वयं भी एक अध्यास होने से अज्ञान को यहाँ ग्रंथि कहा है। अज्ञान क्योंकि अनुभूयमान ही संभव है और अनुभव 'मैं अज्ञ' यों अहंकार रहते ही होता है तथा अज्ञाननिवृत्ति पर अध्यासरूप अहमभिमान नहीं रहता इसलिए अविद्या को ग्रंथि कहना संगत है। इस दृष्टि से अज्ञान के सिवाय और दूसरी कोई गाँठ नहीं है। यह भ्रम नहीं कर लेना चाहिए कि ग्रंथकार कारण और कार्य यों अविद्या के भेद का अपलाप कर रहे हैं वरन् अभेदोपचार से कारणाविद्या को ग्रंथि बता रहे हैं। विद्वान् की यह अविद्याग्रंथि खुल चुकती है, मूढ की बनी रहती है, यही

दोनों में अंतर है। ब्रह्मज्ञान के बाद प्रारब्ध का रहना इस प्रकार प्रतीयमान अहंकार-स्तर पर ही रहता है, चिदात्मा के स्तर पर नहीं, यह भाव है।।२६६।।

मूढ व विद्वान् में ग्रंथि होने-न होने के अतिरिक्त भेद नहीं यही स्थापित करते हैं—

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम्।
न किञ्चिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानि-विबुद्धयोः।।२६७।।

अज्ञानी और ब्रह्मवेत्ता के शरीर-इंद्रिय-मन-बुद्धि की प्रवृत्ति या निवृत्ति में कुछ भी फर्क नहीं है।

शरीर एवं इन्द्रिय, मन और बुद्धि अर्थात् प्राणादि समेत सारा सूक्ष्म शरीर जो भी चेष्टा करता है उसमें अंतर नहीं, अध्यास रहने-न रहने का ही अंतर है। यहाँ व्यवहार करते समय की बुद्धि की बात कर रहे हैं न कि ब्रह्मबुद्धि, ब्रह्मनिश्चय की। शरीरादि की प्रवृत्ति-निवृत्ति इन्हीं के संस्कारों से प्रारब्धवश होती है। शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि की प्रवृत्ति जैसी ज्ञानी की वैसी ही अज्ञानी की होती है। अज्ञानी भी दाल भात ही खाएगा, ज्ञानी भी दाल भात ही खाएगा। ऐसा तो नहीं कि ज्ञानी की आँखें सुनने लग जाएँ, कान देखने लग जाएँ! इसी प्रकार मन अपने संस्कारों से प्रवृत्ति-निवृत्ति करेगा। बुद्धि भी यथासंस्कार निश्चय करेगी। इनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति के अन्दर किसी प्रकार की विषमता नहीं है। जैसे हिन्दीवेत्ता ब्रह्मात्मसाक्षात्कार के बाद भी हिन्दी ही बोलता है, फ्रेंच आदि नहीं बोलने लगता! वैसे सभी व्यवहार संस्कारानुसार ही करता है, यह भाव है। यहाँ इतना याद रखना चाहिए कि पूर्वोक्त रीति से विद्वान् की प्रवृत्ति या निवृत्ति कामनापूर्वक न होने से बिजली बंद होने के बाद चलते पँखे की तरह धीरे-धीरे मंद ही होगी—यह अंतर मना नहीं किया जा रहा। इतना ही तात्पर्य है कि शरीरादि के जो स्वाभाविक नियम हैं उनका वह उल्लंघन नहीं करता यद्यपि निष्काम होने से सकामता-प्रयुक्त दोषों से तो रहित ही होता है। अतः अन्यत्र माना है कि ज्ञानी में उपलब्ध कामाभास भी क्रमशः नष्ट ही होते जाते हैं। साधनादशा में जिसके संस्कार ही सर्वकर्मसंन्यास के हैं वह सिद्ध अवस्था में भी वैसा रहेगा इसमें क्या कहना!।।२६७।।

ज्ञान से व्यवहारान्तर में अन्तर न आने में दृष्टान्त देते हैं—

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा।
नाहारादावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम्।।२६८।।

अयज्ञोपवीती और वेदाध्येता में वेदपाठ या उसके अभाव का ही भेद होता है, भोजन आदि में भेद नहीं होता—इसी नीति से मूढ और ज्ञानी का अंतर समझा जाये।

जिसका जनेउ नहीं हुआ उसने वेद नहीं पढ़ा। दूसरा व्यक्ति श्रोत्रिय है, उसने नियमपूर्वक वेद का अध्ययन किया है, रोज़ वेद का पाठ करता है। दोनों आदमियों के खाना-पीना, चलना, फिरना आदि में थोड़े ही फर्क रहेगा! इंजीनियर और वकील के ज्ञानों

का ही अन्तर होता है, शरीरादि के व्यवहार तो मानवोचित एक तरह के ही रहते हैं। ऐसे ही तत्त्वज्ञानी का खाना-पीना तो वैसा ही है जैसा मूढ का, बस, वह जानता है कि 'प्रवृत्तियाँ मुझ प्रत्यगात्मा की नहीं हैं' जबकि मूढ 'प्रवृत्ति मुझ आत्मा की है' समझता है। इससे अतिरिक्त, आहार-विहार इत्यादि में कोई भेद नहीं। जैसे वेद पढ़े-न पढ़े व्यक्ति में भेद जानना है तो उनके द्वारा किया पाठ सुनना पड़ेगा, खाना-पीना देखने से कोई फर्क नहीं मालूम चलेगा वैसे मूढ-अज्ञ का भेद ग्रंथि रहने-न रहने से है, प्रवृत्ति-निवृत्ति से नहीं। शरीरादि तो अपने संस्कारों से जैसा करते हैं वैसा करते रहते हैं परन्तु ज्ञानी जानता है 'इनके करने से मेरे ऊपर न कोई प्रभाव है और न मेरा कोई योगदान है। मेरी उपस्थिति में ये करते हैं—बस, इतनी ही बात है।' मूढ-विद्वान् में फर्क किसी कार्य को देखकर तो पता नहीं लगता परन्तु यदि तृष्णा की वृद्धि हो रही है तो समझ आता है कि ज्ञान नहीं है। तृष्णा क्षीण हो रही है तो ज्ञान है यह भी निर्णय हो जाता है। ठीक जिस प्रकार, यदि पंखा पहले से तेज़ हो रहा है तो पता है कि अभी तक खटका बन्द नहीं हुआ।।२६८।।

ज्ञानी निर्ग्रन्थि होता है यह क्योंकि गीता (१४.२२-३) आदि शास्त्र से सिद्ध है इसलिए यही इसे अज्ञानी से भिन्न करे यह उचित है यह बताने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का वाक्य उद्धृत करते हैं—

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते।।२६९।।

प्राप्त दुःखों से द्वेष और अप्राप्त सुखों की आकांक्षा नहीं करता, उदासीन की तरह निष्पक्ष रहता है—यों (भगवान् द्वारा) गाँठ का खुलना बताया गया है।

ज्ञान होने के बाद जो भी कर्म-फल प्रवृत्त होते हैं, अपना फल देते हैं, उनके प्रति उसे कोई द्वेष नहीं होता है। अर्थात् दुःख आने पर 'यह जल्दी से जल्दी दूर हो जाए'—ऐसा मन में नहीं रहता क्योंकि वह जानता है कि प्रारब्ध अपना फल देकर खत्म हो जाएगा। अन्यत्र उदाहरण दिया है कि कम ही रास्ता तय करना बचा है—ऐसा जानकार थका होने पर भी विचलित नहीं होता जबकि जिसे गंतव्य की निकटता का पता नहीं वह थकने पर पास आकर भी परेशान होता है। इसी प्रकार अज्ञानी को उद्वेग रहता है कि 'दुःख कब जाएगा' जबकि ज्ञानी इस बात को जानता है कि 'प्रारब्ध से शरीर-इन्द्रियों में हो रहा है, प्रारब्ध समाप्त होते ही खत्म हो जाएगा', इसलिए उसे कोई उद्वेग करने की जरूरत नहीं लगती तो उससे कोई द्वेष नहीं करता। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तो अविद्या के कार्य हैं इसलिए इनके अन्दर संस्कारों से उद्वेगात्मक वृत्तियाँ होते हुए भी ज्ञानी को 'अपने' में उद्वेग का अनुभव नहीं होता। वह तो देखता है कि भोग से प्रारब्ध कर्म क्षीण होता जा रहा है। जो प्रवृत्त हो गया उस दुःख के प्रति उसे कोई द्वेष नहीं होता है। द्वेष का मतलब है 'जल्दी खत्म हो जाए' ऐसी मानसिक छटपटाहट। इसी प्रकार जो सुख अपने से दूर हो गया, चला

गया, उसके प्रति भी उसको उद्वेग नहीं होता कि 'अरे, मिल जाए, फिर वैसा हो जाए।' ये जो 'हो जाए' या 'हट जाए' की भावनायें होती हैं ये ही हमसे नए कर्म कराती रहती हैं जिनसे बन्धन उलझता रहता है। जो हुआ, वह खत्म होना ही है। सभी कार्य (जन्य अनुभव) अपने आप खत्म होते हैं। यदि उन्हें दूर करने की कोशिश न करें तो भी वे दूर होंगे लेकिन हम उद्वेग से जो प्रयास करते हैं वे ही शुभ-अशुभ नये पुण्यादि एकत्र कर देते हैं जबकि विद्वान् में उद्वेग न होने के कारण पुनः नए कर्मों को जोड़ने की प्रवृत्ति नहीं रहती।

वह कैसे रहता है? जैसे किसी आदमी को किसी चीज़ से मतलब न होवे तो उदासीन-भाव से रहता है वैसे ज्ञानी गुणातीत बना रहता है। जिससे तुम्हें मतलब नहीं वह घटना हो रही है तो देखते हो कि 'हो रही है', पर उदासीन रहते हो अर्थात् 'जो होना हो सो हो जाये' इस तटस्थ भाव से द्रष्टा ही रहते हो, न रोकते हो, न बदलने या जल्दी करने की कोशिश करते हो। इसी प्रकार ज्ञानी, 'शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के अन्दर जो होना है सो हो जाये' यों उदासीन की तरह रहता है। 'आसीनः'—जैसे जिस कार्य के होने से तुम्हें कोई मतलब नहीं उसके लिए तुम अपनी जगह से हट कर कुछ करने की प्रवृत्ति नहीं करते, बैठे रहते हो, इसी प्रकार वह शरीर-इन्द्रियादियों के लिए—'इन्हें दुःख हो रहा है तो मैं कुछ करके इस दुःख को दूर करूँ' ऐसी प्रवृत्ति नहीं करता क्योंकि जानता है कि प्रारब्ध शेष होते ही अपने आप खत्म हो जाएगा।

इस प्रकार से गीता के अन्दर ग्रन्थिभेद को मूढ से ज्ञानी को अलग करने वाला कहा है। देहादि की प्रवृत्ति-निवृत्ति ज्ञानी-अज्ञानी की समान रहेंगी लेकिन ज्ञानी में द्वेष और आकांक्षा नहीं होंगे जो अज्ञानी में होते ही हैं। क्योंकि द्वेषादिराहित्य समेत उदासीनसमता को यहाँ आचार्य ने 'ग्रंथिभेद' का स्वरूप माना है इसलिए ज्ञानी राग-द्वेष से, कामना से रहित होगा ही क्योंकि उसकी 'ग्रंथि' समाप्त हो चुकती है।।२६९।।

उक्त गीतावाक्य का पूर्वदर्शित ही अभिप्राय है यह सिद्ध करते हैं—

औदासीन्यं विधेयं चेद् वच्छब्दव्यर्थता तदा।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः।।२७०।।

यदि इस वाक्य द्वारा उदासीनता का विधान मानें तो (उदासीन-शब्द से जुड़ा) वत्-प्रत्यय व्यर्थ होगा। यदि मानें कि विद्वान् के शरीरादि असमर्थ हो जाते हैं तो वह कोई रोग ही होगा!

भगवान् ने कहा 'उदासीन की तरह आसीन' इसलिए शरीर-इन्द्रियादि की उदासीनता का विधान नहीं कर रहे हैं। यदि कहो 'उदासीन रहे'—यह विधि की जा रही है तो विधि चिदाभास के लिए करेंगे। तथा तब कहना चाहिए था, 'उदासीन रहे'; यह नहीं कहना चाहिए था, 'उदासीन की तरह रहता है'। वत्-शब्द भगवान् ने कहा है इसका मतलब है कि शरीर-इन्द्रिय आदि उदासीन रहेंगे—यह नहीं कह रहे हैं वरन् तत्त्वज्ञ उदासीन ही रहेगा। प्रश्न होता है कि शरीर-इन्द्रिय आदि बिना आत्मा के सम्बन्ध के कार्य कर नहीं सकते

क्योंकि जड हैं। यदि ज्ञानी उनके अन्दर आत्मभाव नहीं करेगा तो वे कैसे व्यवहार करेंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि ज्ञान का फल मानना चाहते हो कि शरीर-इन्द्रियादियों की प्रवृत्ति नहीं हो सके। यह तो कोई रोग हुआ! जैसे किसी को लकवा लग जाता है तो उसके हाथ-पैर नहीं हिलते वैसे ही ज्ञान होने पर हिलना छोड़ दें तो ज्ञान रोग ही होगा।

जीवन्मुक्ति का प्रसंग होने से समझने में कुछ कठिन है किन्तु जैसे 'नीला नहीं' जानते हुए आकाश नीला दीख जाता है, 'मैं निरपराध' जानते हुए पुत्रादिका अपराध स्वयं पर ओढ़कर पिता आदि दण्ड भोग लेता है, इसी तरह मुक्त जीवित रहते चित्त में आभास देखते हुए 'वह मैं नहीं' जानता है फिर भी उपाधिके कारण आभास में प्रतीत होते दोष स्वयं पर आरोपित प्रतीत कर लेता है। अतः रोग आने पर 'यह दूर होवे'—ऐसा 'द्वेष' मुक्त के व्यवहारवश उस पर आरोपित होते हुए भी वह स्वयं को द्वेषहीन जानता है, रोग रहने-हटने से निरपेक्ष जानता है, रोग हटाने की चेष्टाओं से रहित, उदासीनतुल्य अनुभव करता है। देहधारण आदि प्रारब्धकी अनिवार्यता से आवश्यक रागादि उसके मन में उद्‌बुद्ध होंगे, ग्रंथिवश होने वालों की संभावना नहीं क्योंकि एक तो वह साधकदशा में चित्त शुद्ध कर चुका है जिससे उसमें वे संस्कार धूमिल हो चुके हैं जो उस तरह के रागादि प्रकट करें और दूसरा, वह ग्रंथिहीन है। प्रतिबिम्ब को बिम्ब समझना भ्रम है, न कि प्रतिबिम्ब देखनामात्र! अज्ञानी चिदाभास को प्रत्यगात्मा समझने से भ्रान्त है, ज्ञानी यावत्प्रारब्ध उसे आभास ही देखने से अभ्रांत है। बिम्ब में अनुपस्थित भी दोष-गुण उपाधिवश प्रतिबिम्ब में प्रतीत हो तो असंगति नहीं। जीवन चलने के लिये आभास आवश्यक है, उसके बिना जड देहादि उपाधियाँ सक्रिय नहीं होतीं। अतः ज्ञानी का संघात अशक्त हो जाये—यह ज्ञानप्रभाव असंगत, अप्रामाणिक है। टीकाकार ने इसलिये कहा है कि ऐसी संभावना मानने वालों का आचार्य उपहास कर रहे हैं कि तब तो ज्ञान एक रोग होगा। मुक्त के सारे व्यवहार का लोप मानें तो वह उपदेष्टा नहीं बनेगा। फलतः ब्रह्मनिष्ठ से ग्रहण न होने पर किसी को तत्त्वबोध ही न हो सकने से स्वयं उसी का ज्ञान असंभव होगा क्योंकि उसे भी ज्ञानी से उपदेश प्राप्त हुआ नहीं होगा!

भगवान् ने 'न द्वेष्टि' आदि जो कहा वह इसलिये कि ग्रंथि के कारण होने वाले द्वेषादि तो उसके आभास में भी नहीं होंगे और जो आभास में हैं भी उन्हें वह चित् में नहीं अनुभव करेगा। अतएव मुक्त में प्रतीयमान रागादि को भी रागाभास आदि कहा गया है। क्योंकि वह उदासीनता भी स्वयं में नहीं अनुभव करता—कारण कि जिसके प्रति उदासीन रहा जाये ऐसा कुछ 'है' यह उसकी प्रतीति नहीं—इसलिये 'उदासीन की तरह', यह गीता में बताया। व्यवहार से संभावित राग-द्वेषादि के प्रति उसमें कर्तृत्व नहीं—यह भाव है; अर्थात् उसके व्यवहार से हम उसमें जिस रागादि की संभावना करते हैं, वे उसमें नहीं हैं—यही भगवान् का अभिप्राय है। अतः उसके लिये उदासीन रहने का विधान नहीं मानना पड़ता, उसका वह स्वभाव ही है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति ग्रंथिनिवृत्ति से तत्त्वज्ञान को सफल बताती हैं।।२७०।।

उक्त उपहास स्पष्ट करते हैं—

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः।
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद।।२७१।।

जो अतिबुद्धिमान् तत्त्वज्ञान को क्षय रोग मानते हैं उनकी प्रज्ञा बहुत विशाल है, उनके लिये कुछ असाध्य नहीं!

जो महान् बुद्धि वाले अर्थात् अपने को महान् विचारक कहते हैं वे वास्तव में मूर्ख हैं क्योंकि ज्ञान के प्रभाव को देहादि की अशक्तिरूप मानते हैं, तत्त्वज्ञान को मानो क्षय की व्याधि मानते हैं। जैसे जिसे क्षय रोग हो जाता है वह अन्ततः कुछ नहीं कर सकता क्योंकि उसमें कुछ ताकत नहीं रहती है वैसे ज्ञानी न कर सके तो ज्ञान एक तरह का क्षय रोग ही होगा। हँसी उड़ाते हुए कहा कि उनकी समझ बहुत बड़ी है, अति विशद है। यों असंगत अप्रामाणिक मान्यता व्यक्त करने वाला चाहे जो कह सकता है, उसे युक्तियुक्त घोषित कर सकता है। ऐसा वादी प्रबोधनीय ही है, खण्डनीय नहीं यह भाव है।।२७१।।

वादी क्यों भ्रम में पड़ा यह दिखाकर भ्रमनिवारण का उपाय सुझाते हैं—

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा।
जक्षन् क्रीडन् रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम्।।२७२।।

यदि कहो कि (ज्ञानवान्) भरत आदि का सर्वविध प्रवृत्ति-राहित्य पुराण में कहा होने से (वह ज्ञान का प्रभाव होगा) तो क्या तुमने 'खाते हुए, खेलते हुए, रमण करते हुए' (छा.८.१२.३) इत्यादि श्रुति नहीं सुनी?

वादी कहता है कि जो आपने हमारा परिहास किया कि महाबुद्धिमान् हैं और ज्ञानफल क्षय-व्याधि मानतें हैं, यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसी खाली हमारी कल्पना नहीं है, ज्ञानियों के अन्दर प्रवृत्ति नहीं होती है—यह पुराणों के अन्दर कहा गया है। इसलिए वैसा मान लेना चाहिए। जडभरत की कथा आई है कि वे कुछ नहीं करते थे। बहुत कोशिश की कि कम-से-कम गायत्री जप ही सीख लेवें, पर वह भी उनसे नहीं हुआ। और भी कुछ नहीं करते थे। अन्त में लोगों ने समझ लिया कि बिलकुल बेकार हैं। खेतों में बाँस से आदमी का ढाँचा बना कर लटका दिया जाता है जिससे डर कर चिड़ियाँ नहीं आएँगी। घरवालों ने सोचा, 'कुछ नहीं करता है तो इसे खेत में बैठा दो, कम-से-कम चिड़ियाँ तो नहीं आएँगी।' उसे बैठा दिया। बाँस का ढाँचा तो हवा लगने से इधर-उधर हिलता है, इसलिए चिड़ियाँ नहीं आती, पर भरत तो वहाँ बैठ कर बिलकुल हिलता डुलता भी नहीं था। थोड़े दिनों में चिड़ियों को पता लग गया कि कुछ डर नहीं है तो फिर चिड़ियाँ आने लग गईं। घरवालों ने निर्णय किया कि वह तो उस काम भी नहीं आ सकता! पुराण की ऐसी कथा से पता लगता है कि ज्ञानी में कोई प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु इस कथा का अगला हिस्सा शंकावादी नहीं

बोलते हैं। उधर से एक बार पालकी में बैठा हुआ राजा जा रहा था। पालकी को ले जाने वाले कहारों में से एक को चोट लगी, गिर गया। पालकी तीन से तो जाएगी नहीं। लोग ढूँढने गए कि किसी तगड़े आदमी को ले आवें जो पालकी को लेकर चले। वहाँ खेत में बैठा ही हुआ था भरत, खूब तगड़ा। उन्होंने उससे कहा—'पालकी उठा।' वह चलकर पालकी में लग गया। पालकी लेकर चलना भी एक कला है, सीखना पड़ता है कि कैसे चलें। इनको पालकी ढोने का अभ्यास था नहीं। और फिर ये चलते थे तो 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'—पहले देखते थे कि जहाँ पैर पड़ रहा है वहाँ कोई कीड़ा तो नहीं है। उन्होंने अपना पैर दाँयें-बाँयें कर दिया तो पालकी टेढी हो गई। थोड़ी देर में राजा को बहुत असुविधा हुई। राजा ने कहा 'अरे! तुझे भार लग रहा है क्या?' उन्होंने कहा 'राजन्! तेरा भार पालकी पर, पालकी का भार कन्धे पर, कन्धे का भार पैर पर, पैर का भार जमीन पर। मैं बीच में कहाँ से आ गया जिसे भार लगे?' राजा था सत्संगी अतः उसके उस कथन को सुन कर समझ गया कि कोई कुली, मजदूर नहीं है। पालकी नीचे रखवाकर हाथ जोड़ कर बोला—'महाराज! गलती हो गई। कुछ उपदेश दीजिए।' वहाँ भरत ने उसको उपदेश दिया। इसका मतलब हुआ कि उपदेशादि कर्म उसने किया भी है, ऐसा नहीं है कि उसने कुछ नहीं किया। वैषयिक प्रवृत्तियाँ छोड़ी थी, इतना ही वहाँ अभिप्राय है।

जैसा भरत का वैसा ही जैनियों के जो प्रथम गुरु, प्रथम तीर्थंकर थे, उनका भी चरित्र था। उनको कपड़ों का होश ही नहीं रहता था। इसलिए पुराण कहता है 'मदिरामदान्धः' जैसे शराब के नशे में आदमी को कपड़ों का होश नहीं रहता है ऐसे ही उनके साथ भी होता था, उनकी भी कोई संसार-विषयक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती थी। किन्तु फिर भी ज्ञान का प्रभाव अप्रवृत्ति मानना संभव नहीं क्योंकि जैसे पुराण में वह कहा है वैसे श्रुति में कहा है कि ज्ञानी खाता है तब भी वैसा ही शरीर से परे रहता है। क्रीडन्, खेलता है तब भी वैसा ही है। रतिं विन्दन्—आनन्द को प्राप्त करते हुए भी ज्ञानी वैसा ही बना रहता है। अन्यत्र बताया गया है कि देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता है आदि। इसका मतलब है कि देहादि देख रहे होते हैं तब भी वह जानता है 'मैं नहीं देख रहा'। आचार्य वादी को उलाहना देते हैं कि पुराण में अप्रवृत्ति सुनी तो क्या सारी प्रवृत्तियों की अनुमति देने वाली श्रुति नहीं सुनी? पुराण के अन्दर 'प्रवृत्ति नहीं कर रहे थे' ऐसा तुमने बाँचा तो तुमने श्रुति के वे वाक्य क्यों नहीं सुने जो कहते हैं कि करते हुए भी नहीं करता है। तात्पर्य है कि पुराण भी ज्ञानप्रभाव देहादि की अप्रवृत्ति नहीं बता रहा।।२७२।।

पुराण का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं—

नह्याहारादि सन्त्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित्।
काष्ठपाषाणवत् किन्तु सङ्गभीता उदासते।।२७३।।

ऐसा नहीं कि भरतादि भोजन आदि छोड़कर काठ, पत्थर की तरह कहीं पड़े थे। वरन् वे आसक्ति न हो जाये इस डर से उदासीन भाव से रहते थे।

भरत, ऋषभदेव आदि की कोई भी प्रवृत्ति नहीं थी तो आहार आदि की प्रवृत्ति कैसे थी? खाते-पीते थे ही तो मलमूत्र त्यागने की प्रवृत्ति भी रहेगी ही! ये सब प्रवृत्तियाँ हो ही रही थीं। पाषाणवत् जैसे लकड़ी या पत्थर खाना पीना नहीं करते हैं ऐसा तो उनका हाल था नहीं। पुराण में तो बताया है कि 'सङ्गभीता उदासते'। जैसे कहते हैं 'दूध का जला छाछ भी फूँक-फूँक कर पीता है', इसी प्रकार पूर्व जन्म में हिरण के प्रति संग हो गया अतः अब वे पूर्ण सावधान थे। पूर्व जन्म में भी संग का कोई कारण नहीं था, खाली दया ही थी; दया के कारण प्रवृत्ति हुई, फिर ऐसा संग हो गया कि उसीका चिन्तन ज्यादा करने लग गए। इतनी साधना के कारण जातिस्मर तो रहे ही। अगले जन्म में जब हिरण होकर पैदा हुए तब भी याद रहा कि 'इस शरीर में मैं हिरण पर दया करने के कारण आया हूँ'। जब जडभरत के शरीर में आए तब भी याद था कि थोड़ी-सी दया की थी तो क्या हाल हुआ! अतः संग से बचे रहना चाहते थे। उन्हें मानो डर था कि कहीं फिर संग न हो जाए, क्योंकि पहले एक बार भुगत चुके थे। संग भी अन्तःकरण में हुआ, संस्कार भी वहीं उद्‌बुद्ध हुए, उससे डर भी वहीं रहा तो अप्रवृत्ति भी संघात में हुई। उनके स्वरूप में क्या अन्तर आया! आचार्य शंकर ने भी कहा—'जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्'। कृपा-निष्ठुरता दोनों छोड़ने को कहा है। लोगों के ऊपर कृपा करोगे और तुम्हारा बोध दृढ नहीं है तो अच्छी वृत्ति होने पर भी सङ्ग पैदा करके बाँध देगी। जनकृपा से इसलिए बचो। यदि कहते हैं 'दया नहीं करो' तो आदमी में निर्दयता आ जाती है कि 'कोई बीमार पड़ा है तो पड़ा रहे, हमें क्या लेना-देना?' इसलिए कहा कि निर्दयता भी नहीं होनी चाहिए। दया और निर्दयता दोनों न हों इसका मतलब है कि तुम्हारे सामने कोई अत्यधिक आवश्यकता वाला है तो तुम दया कर भी दो लेकिन उससे संग होने तक उसके साथ संबंध न रखो। साधक को ऐसा करने को कहा है इसलिए ऐसा करते रहकर ज्ञानी बने सिद्ध के अन्दर जो संस्कार बचे होंगे उनके अन्दर दया और निर्दयता दोनों से बचना अंकित होगा। वह न निर्दयी होगा, न ऐसी दया करेगा कि बन्धन में बँध जाए। यद्यपि ज्ञानी में संग होगा नहीं तथापि ज्ञान अदृढ रहते संभव है अतः सावधानी रखने में पुराण का तात्पर्य है।।२७३।।

संगत्याग का महत्त्व बताते हैं—

सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता।।२७४।।

क्योंकि संसार में नियम है कि संगवान् बँधता (पीडित होता) है, असंग सुख पाता है इसलिये सुखेच्छुक के लिये संग हमेशा छोड़ने योग्य है।

घरवाले आदमी को तो ज्ञान नहीं है कि कैसे सेवा की जाती है रोगी की, इसलिए घरवाले की अपेक्षा 'नर्स' तीमारदारी बेहतर करेगी क्योंकि उसको पता है, कर्त्तव्यबोध है। फ़र्क कहाँ आता है? जैसे ही अस्पताल में एक मरीज मर जाता है, नर्स जाकर सूचित करती है—'सात नम्बर का रोगी मर गया, मुझे दूसरा कार्य दीजिए।' वह बैठकर रोती नहीं है! तुरन्त दूसरे रोगी की तीमारदारी शुरू करती है। इससे विपरीत, घरवाले दहाड़ मारकर रोएँगे, हफ्तों तक दुःखी रहेंगे कि मर गया। तीमारदारी करते देख कर तो कोई कह सकता है 'इस नर्स को यह रोगी बहुत अच्छा लगता होगा तभी इतनी सेवा करती है।' परन्तु वह अपनी तनख्वाह के लिए सेवा करती है, उसका रोगी के साथ कोई संग नहीं है। ठीक इसी प्रकार 'यह परमेश्वर की सृष्टि है, इसके लिए जो प्राप्त कर्म हों शरीर-मन से हो जाएँ'—ये तत्त्वज्ञानी के मन में संस्कार हैं। साथ ही, वह जानता है कि संसार के संस्कार ऐसे नहीं रह जाने चाहिए कि संग करने लगें। साधक-अवस्था में ही संग प्रायः छूट जाएगा। लोक में संग से ही दुःख होता है। आसक्ति से रहित व्यक्ति कार्य करते हुए भी सुख ही प्राप्त करता है, दुःख प्राप्त नहीं करता। इसलिए जो हमेशा सुख चाहता है वह संग का हर तरह से परित्याग करे। भरत आदि की कथा साधक के लिए असंगता का प्रतिपादन करने के लिए है, ज्ञानी की निष्क्रियता का प्रतिपादन करने के लिए नहीं है। संगपरित्याग ज्ञानी के लिये विधेय नहीं होगा, उसका स्वरूप होगा।।२७४।।

श्लोक २७० से प्रारम्भ हुए विचार का उपसंहार करते हैं—

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथाऽन्यथा।
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धान्त उच्यते।।२७५।।

शास्त्र-तात्पर्य न जानकर मूढ और-और तरह से शास्त्रार्थ बताता रहता है! मूर्खों की बातों का निर्णय छोड़ा जाये, अपना सिद्धान्त यहाँ बताया जाता है।

शास्त्र के हृदय को जो नहीं जानते कि शास्त्र क्या कहना *चाहता* है, वे जो शास्त्र का अभिप्राय नहीं वही उसका अर्थ बताते हैं। आजकल बहुत से लोग प्रश्न पूछते हैं—'द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अंगूठा क्यों काट दिया?' वह प्रसंग 'शिष्य कैसा होना चाहिए'—यह बतला रहा है, 'गुरु कैसा होना चाहिए' यह उस प्रसंग में बतला नहीं रहे। गुरु के व्यवहार को सोचने लगोगे तो ऊट-पटाँग बात करने लगोगे। इसी प्रकार भरत, ऋषभदेव की असङ्गता को बताने के लिए शास्त्र प्रवृत्त हुआ। इसको न समझ कर उसका 'उनके शरीर आदि की प्रवृत्ति नहीं थी इसलिए ज्ञानी की शरीर आदि की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए' ऐसा अर्थ निकालना गलत है। जो इस प्रकार तात्पर्य को नहीं जानने वाला मूर्ख है वह जो कुछ भी कह सकता है। इसलिए 'मूर्ख लोग किस प्रकरण से क्या अर्थ निकालते हैं' इन बातों का विचार व्यर्थ है। लोग प्रायः प्रश्न करते हैं—'लोगों ने अमुक ग्रंथ का ऐसा अर्थ कैसे समझा है?' लेकिन कोई किसी संदर्भ का अर्थ गलत समझता है तो उसका विवेचन करने से कोई

प्रयोजन सिद्ध होना नहीं है। इसलिए कहा कि उनका निर्णय रहने दिया जाये, 'अस्मत्सिद्धान्त उच्यते' अपना सिद्धान्त ही आगे बतलाते हैं॥२७५॥

कहीं ज्ञानी की प्रवृत्ति देखी जाती है, कहीं निवृत्ति देखी जाती है। ज्ञानियों का चरित्र एक जैसा नहीं होता। इस फ़र्क का कारण क्या? ज्ञान एक जैसा, ज्ञान का फल मोक्ष एक जैसा, ज्ञानियों का अनुभव एक जैसा, फिर उनके शरीर-मन के व्यवहारों में फ़र्क क्यों? इसका आधार समझाते हुए जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द का उपाय भी बताते हैं—

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम्।
प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित् क्वचित्॥२७६॥

वैराग्य, ज्ञान और उपरति—तीनों आपस में सहायक हैं। अधिकतर ये साथ होते हैं पर कभी-कभी इनका साथ नहीं भी होता।

ये तीन चीजें बिलकुल अलग-अलग हैं! वैराग्य, विषयों के प्रति आकर्षण का न होना। बोध, सचमुच मैं और यह जगत् क्या है—इस बात को समझना; और तीसरा उपरामता, क्रियाओं का परित्याग। ये तीनों एक-दूसरे की मदद करते हैं। अगर आसक्ति नहीं हटे तो परमात्मा में मन लगेगा नहीं और जब तक पूरा मन लग कर श्रवण-मनन हो नहीं तब तक बोध आएगा नहीं। किताब की लिखी बात रहेगी, निश्चय स्वयं अपना नहीं हो पाएगा। विषयों के प्रति आकर्षण न होने पर ही श्रवण-मनन सिद्ध होगा। इसलिए वेद ने नियम किया 'निर्वेदमायात्' साधक निर्वेद को, वैराग्य को प्राप्त करे। वैराग्य किससे प्रकट होता है? 'न अस्ति अकृतःकृतेन' यह बात समझने पर कि कुछ 'करके' किसी चीज की प्राप्ति हमेशा के लिए नहीं हो सकती। 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' संयोग होगा तो वियोग भी अवश्यंभावी है। इस समझ के द्वारा ही वैराग्य होता है। वियोग दो तरह से हो सकता है—या चीज चली जाए, या हम मर कर चले जायें।

आचार्य शंकर ने अपनी माता को समझाते हुए कहा—'कति नाम सुता न लालिताः, कितने जन्मों में तुमने कितने बच्चों को बड़ा नहीं कर लिया! है उनका कुछ संबंध तुम्हारे साथ?' इसी तरह, जब अभिलाषा आए तब विचार करो 'न जाने कितने जन्मों में कितनी बार उन चीजों का अनुभव कर चुके, फिर भी चीजों का आज हमसे कुछ लेना देना नहीं है।' इस बात का हृदय से विचार करते हैं तो किसी भी चीज के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता। तभी श्रवण-मनन में मन लगता है, अन्यथा मन संसार की तरफ खिंचता है। इस तरह वैराग्य का बोध के प्रति उपकार है।

और, जितना-जितना समझ आता है कि जगत् मिथ्या है अर्थात् जितना बोध होता है, उतना ही जगत् के प्रति आकर्षण भी कम हो जाता है। यों बोध का वैराग्य के प्रति उपकार है। एक ईसाई था निरोध चौधरी। अच्छा लेखक था। एक किताब में लिखा है : जब मैं कॉलेज में पढ़ता था तब पंजाब गया था। जहाँ हम ठहरे थे वहाँ सामने पड़ोसी के घर का बगीचा था। उसमें तार खिंचे हुए थे। मैंने अपने कमरे से देखा कि एक औरत खड़ी कपड़े

सुखा रही थी उसकी पीठ मेरी ओर थी। पीछे से बड़ी अच्छी लगी। सोचा, इसका चेहरा देखूँ। मेरी नजर उस तार की तरफ ही रही दस-पंद्रह मिनटों तक। हवा चल रही थी। अचानक हवा बन्द हो गई। हवा बन्द होते ही वह औरत गायब हो गई। नीचे की तार पर एक सलवार लटक रही थी, ऊपर की तार पर कमीज लटक रही थी। उनमें हवा भरी हुई थी तो पीछे से औरत लग रही थी! जैसे ही पता चला कि सलवार-कमीज हैं, वैसे ही क्या उस काल्पनिक औरत को देखने की इच्छा रह जाएगी? इसी प्रकार संसार के पदार्थ लगते हैं कि सचमुच कुछ हैं। जब समझ आ जाता है कि संसार के पदार्थ हैं नहीं, आत्मा की सत्ता से केवल हैं ऐसे दीख रहे हैं, वैसे ही पहले जैसा आकर्षण नहीं रहता। इसलिए बोध वैराग्य की मदद करता है, वैराग्य बोध की मदद करता है।

तीसरी है उपरामता। मनुष्य कोई भी प्रवृत्ति-निवृत्ति करता है तो या कुछ पाने के लिए, या दूर हटने के लिए। जब चीज की अवास्तविकता का ज्ञान होता है तब प्रवृत्ति-निवृत्ति अपने आप कम होगी। बोध प्रवृत्ति-निवृत्ति को कम करता है, उपरामता का सहायक है और उपरामता बोध की सहायक है। अन्त तक वेदान्त-चिन्तन करो, तब जाकर ज्ञान होगा। नित्य-निरन्तर अगर चिन्तन करना है तो क्रियाओं से उपरामता करनी ही पड़ेगी क्योंकि जिस समय प्रवृत्ति-निवृत्ति करोगे, उस समय श्रवण-मनन नहीं होगा। बल्कि पहले-पीछे भी तैयारी, निपटारा आदि करते रहने में श्रवणादि से दूर होना पड़ेगा। जितनी-जितनी प्रवृत्ति-निवृत्ति छूटेंगी, उतना-उतना पदार्थों का आकर्षण कम होगा। क्रिया करते रहने से बार-बार विषयों का ही संस्कार पड़ेगा। महाराजा मनु ने कहा है कि जैसे घी डालकर आग बुझाई नहीं जा सकती वरन् तेज़ होगी, उसी तरह क्रिया करके चीजों को प्राप्त करने से राग बढ़ेगा, घटेगा नहीं। कुछ कह देते हैं कि भोग लेंगे तो इच्छा मिट जाएगी, किंतु यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। बोध की दृढता के लिये उपरति चाहिये।

प्रायः तो मनुष्य में वैराग्य भी होगा, उपरामता भी होगी और बोध भी होगा। तीनों साथ-साथ रहते हैं। इसलिए प्रायः ज्ञानी में मानसिक विकार भी नहीं दीखेंगे और संसार के पदार्थों के प्रति प्रवृत्ति-निवृत्ति भी अधिक नहीं दीखेंगी। फिर भी कहीं-कहीं वैराग्यादि वियुक्त भी दीखते हैं अर्थात् किसी में उपरामता की कमी दीख सकती है और किसी में वैराग्य की। किसी में वैराग्यादि होने पर भी बोध ही कम रहे यह भी संभव है। अनेक ऋषि लोग हुए हैं जिनकी उपरामता बड़ी जबरदस्त थी, हजारों सालों की समाधि लगा लेते थे। शरीर के ऊपर से नदी निकल जाती थी फिर भी उन्हें पता नहीं लगता था! परन्तु समाधि खुली, मछलियों को क्रीडा करते देखा, तो मन में आया 'मैंने तो शादी-ब्याह किया ही नहीं' और ब्याह में प्रवृत्ति हो गई! उपरामता तो इतनी थी, पर वैराग्य नहीं था। इसी प्रकार बौद्धों के अन्दर बड़े-बड़े लोग हुए हैं जिनमें वैराग्य पूर्ण था परन्तु बोध नहीं था, प्रत्यगात्मा का ब्रह्म से अभेद है इसका ज्ञान नहीं था। वैराग्य की पूर्णता से उनको जगत्-मिथ्यात्व का निश्चय तो हो गया परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा बोध नहीं हुआ। कहीं कहीं बोध होता है, उपरामता नहीं होती जैसे जनक में। ज्ञान उनका पूर्ण था। स्वयं याज्ञवल्क्य ने उनसे कह

दिया 'अभयं प्राप्तोसि'। जनक के ज्ञान में कोई कमी नहीं थी परन्तु इतना बड़ा राज्य चलाता था। इसलिए कहा कि कहीं-कहीं एक या दो भी नहीं रहते हैं। यदि उपरामता है तो जैसा आचार मिलता है, उपरामता न हो तो वैसा नहीं मिलता किंतु बोध में अन्तर नहीं। अतः बोध के प्रभाव से शरीरादि निश्चेष्ट ही होना चाहिये—यह कहना नहीं बनता॥२७६॥

यदि शंका हो कि ये तीनों सर्वथा पृथक् कैसे—तो आचार्य इनका विश्लेषण कर स्पष्ट करते हैं। शंका होती इसलिये है कि यदि तत्त्व समझ आ जाए तो संसार मिथ्या दीखेगा ही जिससे उसके प्रति न राग संभव है, न प्रवृत्ति आदि। सर्वथा वैराग्य या उपरति संसारमिथ्यात्व समझे बगैर संभव नहीं। अतः नाम का भेद लगता है, अर्थतः एक ही स्थिति होगी यह शंका सहज है। प्रायः साथ रहना इस शंका को बल भी देता है। अतः आचार्य साफ करते हैं कि इनमें भेद है—

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसङ्करः।
यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता॥२७७॥

शास्त्र के अभिप्राय को विवेकपूर्णता से समझने वाले को चाहिये कि उक्त तीनों का स्वरूप मिला-जुला नहीं है यह ठीक से समझे क्योंकि इनके कारण अलग-अलग हैं, स्वरूप अलग-अलग हैं एवं कार्य अलग-अलग हैं। (मोडक के अनुसार 'प्रविचिन्वता' ही ठीक पाठ है। प्र एवं वि इन दो उपसर्गों से युक्त विचिर् पृथग्भावे धातु का शतृप्रत्ययान्त तृतीया एक-वचन का 'प्रविविंचता' रूप यहाँ अधिक संगत लगता है।)

सामान्यतः तो लगता है कि वैराग्य, बोध और उपरति तीनों एक ही चीज हैं। सर्वथा ज्ञान न होवे फिर भी उपरामता होवे यह भी बात समझ में नहीं आती। ज्ञान होवे पर उपरामता न होवे—यह भी समझ में नहीं आता। बातें एक जैसी लगती हैं परन्तु जो शास्त्रार्थ का विवेचन करना चाहे, समझना चाहे, उसे इनमें हर-एक का कारण क्या है, स्वरूप क्या है और कार्य अर्थात् फल क्या है यह समझना चाहिये। तीनों के कारणों में, स्वरूपों में और फलों में फ़र्क है। एक व्यक्ति में प्रायः करके तीनों साथ-साथ दीखते हैं इसलिए लगता है कि एक ही होंगे। परन्तु जब शास्त्र-तात्पर्य का विवेचन करते हैं तब इन तीनों चीजों के कारण, स्वरूप और फल—तीनों अलग-अलग समझ आने से तीनों को अलग-अलग मानना जरूरी हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि ये तीनों इकट्ठे नहीं होते। प्रायः तो होते हैं। शास्त्र में कहीं-कहीं ऐसे दृष्टान्त मिल जाते हैं जहाँ इनमें साहचर्य नहीं प्रतीत होता। अतः वैराग्यादि कोई एक देखकर दूसरे दोनों का अनुमान भी संभव नहीं और कोई एक न देखकर दूसरे भी नहीं हैं—यह निश्चय भी संभव नहीं। प्रायः साथ रहते हैं इसलिए तीनों को ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना ही है। तीनों ही मिलकर फल भी देंगे। परन्तु शास्त्र के तात्पर्य का निर्धारण करते समय समझना चाहिए कि कहीं-कहीं साथ नहीं भी होते हैं। रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि शास्त्रों के अन्दर एक जनक राज्यादि काम करता हुआ ज्ञानी मिला और इस कलियुग में हर चौराहे पर एक जनक बैठा हुआ है! जनक

का दृष्टान्त मिल गया तो हर-एक चाहता है कि कर्मसंलग्न रहकर ज्ञाननिष्ठ हो जाये!

याद रखना कि जो विवेचन चल रहा है इसका मतलब यह नहीं है कि तीनों की आवश्यकता नहीं है वरन् इतना ही है कि तीनों में फर्क जानकर तीनों के पृथक् उपाय किये जायें। तीनों चूँकि भिन्न हैं इसलिए इनमें साङ्कर्य नहीं है। जिस प्रकार, जहाँ मकान बनेगा वहाँ बिजली-मिस्त्री भी जरूर होगा, सिविल इंजीनियर भी जरूर होगा, राजमिस्त्री भी जरूर होगा; तीनों के बिना तो कोई मकान नहीं बनेगा; परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि बिजली-मिस्त्री, इंजीनियर और राजमिस्त्री ये एक ही व्यक्ति हैं! जैसे राजमिस्त्री का काम राजमिस्त्री ही करेगा, इंजीनियर का काम वही करेगा, बिजली-मिस्त्री का कार्य वही करेगा; तीनों अलग-अलग हैं लेकिन मकान तब बनेगा जब तीनों मिलेंगे; इसी प्रकार हैं ये तीनों अलग-अलग पर इकट्ठे होकर ही तीनों की पूर्णता है। इन्हें अलग-अलग जानना फिर क्यों जरूरी है? शास्त्र के तात्पर्य को विवेक से समझने के लिये और फिर तीनों के उपायों के अनुष्ठान के लिये जरूरी है॥२७७॥

सबसे पहले वैराग्य को बतलाते हैं क्योंकि जहाँ ज्ञान की साधना बतलाई वहाँ विवेक, वैराग्य, शम आदि षट्क—यह क्रम रखते हैं। वैराग्य और उपरामता के बीच में ज्ञान रखना इसलिए जरूरी है कि साधक यदि वैराग्य से सीधा चला जाएगा उपरामता की तरफ तो श्रवणादि में प्रवृत्ति न होने से ज्ञान होगा नहीं और ज्ञान के बिना मोक्ष होता नहीं है। सब चीजों से निवृत्त होना उपरामता है लेकिन सब चीजों से निवृत्त कब होना चाहिये? जब श्रवण-मनन के द्वारा ज्ञान हो जाये। ज्ञान की दृढता के लिये उपरामता उपाय होती है। वैराग्य और उपरामता दृढ बोध के लिए आवश्यक हैं और बोध के द्वारा ही ये पूर्णतः हो भी सकते हैं। इसलिए बोध को बीच में और वैराग्य तथा उपरामता को आगे-पीछे रखकर समझा रहे हैं—

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी॥२७८॥

वैराग्य का विशेषहेतु है दोषदृष्टि, विशेष स्वरूप है जिहासा (छोड़ने की इच्छा) और कार्य है भोगों के प्रति दीनता न रहना।

वैराग्य का असाधारण या विशेष कारण है दोषदृष्टि। जिस चीज में गुण नजर आएगा उधर मन जाएगा। श्रवण-मनन के साधक के लिए तो दोषदृष्टि से वैराग्य पाना जरूरी है ही, बच्चों की शिक्षा के लिए भी बड़े काम की बात है। तत्त्व-बोध के लिए वैराग्य जरूरी है, परन्तु सामान्य विद्या-अध्ययन भी तभी होगा जब भोगों के प्रति वैराग्य होगा। इसलिए ब्रह्मचारी को घर से दूर गुरुकुल में भेजते थे। नियम है कि जिसे विद्या प्राप्त करनी है उसे सुख सुलभ नहीं होता है साथ ही, सुखार्थी जो सुख को ढूँढेगा उसे विद्या नहीं मिलती है। इम्तहान में पास होना विद्यार्जन नहीं है! विद्या तो वह है जो पढ़ लेने पर हमारे अन्तःकरण का अंग बन गया। हमारे सारे कार्यों में वह अपने आप मदद करेगी। वैराग्य की आवश्यकता

होने से ही वशिष्ठ आदि के ग्रन्थों में पहले कई लम्बे प्रकरणों में एक-एक चीज के दोष दिखाये हैं। आधुनिक लोग समालोचना करते हैं कि पुराने लोगों को दोष ही दोष दीखते थे जबकि विषयों में गुण भी तो हैं। किंतु ऋषियों का मानना है कि गुण तो स्वभाव से सब जानते ही हैं, इसलिए गुण बताने की जरूरत नहीं है। दोष बताना जरूरी है ताकि दोषदृष्टि हो। जब तुमको स्वभाव से विषयों में दोष दीखने लग जाएँगे तो अपने-आप मन वहाँ से हट जाएगा। दोषदृष्टि वैराग्य का हेतु है। जिहासा, छोड़ने की इच्छा उसका स्वरूप है। जिस चीज के बारे में दोषदृष्टि प्रमुख हो जाती है, सोचते हैं कि अब वह कैसे भी छूटे। छोड़ने की इच्छा—यही वैराग्य का स्वरूप है। वैराग्य का फल है कि जिन चीजों को छोड़ दिया उनके प्रति फिर 'ये भोग प्राप्त हो जाएँ' ऐसी दीनता न आना। दोषदृष्टिपूर्वक छोड़ी वस्तु, पद, सम्बन्ध आदि की कभी जरूरत पड़े तो मन में न आ जाए कि 'नहीं छोड़े होते तो आज काम आ जाते' यह वैराग्य का फल है। जिस चीज को छोड़ दिया उसके प्रति कभी भी दीनता नहीं आनी चाहिये कि 'होता तो अच्छा था'। हर चीज के होने में भी कुछ फायदा है और नहीं होने में भी कुछ फायदा है। वैराग्य में असाधारण या विशेष हेतु दोषदृष्टि है, साधारण हेतु तो शास्त्रज्ञान है ही, नहीं तो वैराग्य में प्रवृत्ति नहीं होती। केवल वेदादि ही नहीं, बौद्धादि के भी शास्त्र पढ़ने से वैराग्य संभव है क्योंकि सभी इहलोक की व्यर्थता प्रकट करते हैं। साधारण कारण का प्रायः उल्लेख न कर असाधारण को ही कारण कहा जाता है। कोई गिरता है तो पूछने पर कहता है 'वहाँ केले का छिलका था इसलिये गिरा'। पर तुम तभी गिरे जब वहाँ जमीन और जगह थी! ये साधारण कारण हैं, असाधारण होने से इन सबके अन्दर केले के छिलके का ही उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार वैराग्य के साधारण कारण तो कई हो सकते हैं पर असाधारण दोषदृष्टि है। इसी प्रकार असाधारण स्वरूप है जिहासा और असाधारण फल है भोगों में अदीनता।

उपरामता में क्रिया से दूर हुआ जाता है, आलसी भी क्रिया से दूर रहते हैं! उनको देखकर कुछ सोचेंगे 'देखो, इन्हें कुछ नहीं चाहिए इन्हें बिलकुल वैराग्य है।' पर, जैसे ही जाकर कुछ दो वैसे ही लपक कर पकड़ने को तैयार हो जाते हैं। उपरामता तो है, कुछ करते तो नहीं हैं, पर भोगों के प्रति अदीनता नहीं है। एक आलसी के पैरों के बीच में आम पड़ा है। रास्ते चलते से उसने कहा 'जरा इसका रस मेरे मुँह में टपका दे।' उसने वैसा नहीं किया तो आलसी कहने लगा 'कैसे-कैसे निकम्मे लोग हैं, ज़रा आम का रस टपकाने के लिए कहा, वह भी नहीं किया।' आलसी को आम खाने की तो इच्छा है पर 'कौन टपकावे!' यह आलस्य है। जब भोगों के प्रति दीनता न हो तब वैराग्य है। इस प्रकार वैराग्य के कारणादि तीनों स्पष्ट किये ॥२७८॥

तत्त्वज्ञान के कारणादि बताते हैं—

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम्।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः॥२७९॥

तत्त्वबोध का असाधारण कारण है श्रवण, मनन, निदिध्यासन। तत्त्वज्ञान का स्वरूप है सत्य-मिथ्या को अलग कर पहचान जाना। तत्त्वज्ञान का फल है फिर ग्रन्थि (अहमध्यास) का उदय न होना।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन—ये ही ज्ञान के प्रति कारण हैं। श्रवण अर्थात् गुरुमुख से तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थ का शोधन समझना, किस प्रकार उपनिषदों के उपक्रम उपसंहार आदि लिङ्गों से अद्वैत सिद्ध होता है यह समझना। मनन अर्थात् किस प्रकार अद्वैत युक्ति से अविरुद्ध है यह समझना। जब प्रमाण व तर्क से अद्वैत को जान लिया तब उस तत्त्वस्वरूप में ही स्थिति रखे, उससे भिन्न कोई विपरीत भाव आवे तो उसे हटा देवे और नहीं आए तो आनन्द से रहे, यह निदिध्यासन है। ये तीनों ज्ञान के साधन हैं। 'तद्वत्' अर्थात् जैसे वैराग्य के कारणादि बताये उसी तरह ये ज्ञान के कारणादि हैं। बोध का स्वरूप क्या है? प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो अपना शिवस्वरूप है वही तत्त्व अर्थात् सत्य है, शिव ही तत्त्व है, और शिव से भिन्न जो कुछ दीख रहा है, अनुभव में आ रहा है, सारा मिथ्या है, वास्तविक नहीं है। इस बात की समझ, पहचान, सावधानी बनी रहे यह ज्ञान का स्वरूप है। व्यवहार भले ही मिथ्या से किया जाये लेकिन वह वास्तविक नहीं है—यह हमेशा सामने रहे। श्रुति ने बताया है कि द्रष्टा की जो दृष्टि है वह कभी लुप्त नहीं होती। सुषुप्ति के अन्दर द्रष्टा नहीं रहता पर दृष्टि रहती है जिसे साक्षी या कूटस्थ कहते हैं। उस साक्षिस्वरूप में प्रतीयमान प्रमाता को हमेशा साक्षी से भिन्न, मिथ्या जान पाना बोध का खास स्वरूप है। आत्मा के बारे में कभी अध्यास, भ्रम न हो—यह ज्ञान का विशेष स्वरूप है। कभी भी तत्त्व को मिथ्या न समझना, मिथ्या को तत्त्व न समझना अर्थात् अन्योन्याध्यास कभी न हो—यह बोध का स्वरूप है।

ज्ञान का फल है अहंकारग्रंथि फिर न उदय हो। अहंकारात्मिका वृत्ति ही 'मैं चेतन हूँ' ऐसी अज्ञान-दशा में प्रतीति है। 'मैं' से अहंकारात्मिका वृत्ति भासती है। चेतन अधिष्ठान है। अभी ये दोनों अलग नहीं लग रहे हैं। जब ज्ञान हो जाता है तब दोनों सर्वथा अलग लगते हैं। मैं-वृत्ति है जो अनुभव में आती है और जो उसे जानने वाला है वह वास्तविक प्रत्यगात्मा है, मैं हूँ। जैसे तुम जानते हो—'यह घड़ा है', वैसे ही जानते हो—'मैं घड़े को जान रहा हूँ'। इसी तरह जो मैं को जान रहा है वह साक्षी, कूटस्थ है। जिसको जान रहे हो वह हो गया अहंकार। उससे अलग कोई है जो इसे जान रहा है। साक्षी-अहंकार की एकता का अनुभव ग्रंथि या गाँठ में बताया गया है। श्लोक २६० से इसकी चर्चा चल चुकी है। इसका फिर कभी उदय न होना तत्त्वबोध का फल है। जब तक फल उत्पन्न नहीं हुआ तब तक समझने के बाद भी ग्रन्थि का उदय अकस्मात् हो जाता है। खूब विचार करके देख लिया—'शरीर मर जाएगा, शरीर मैं नहीं हूँ'। निश्चय भी होता है। पर जैसे ही गाल पर मक्खी बैठी, वैसे ही प्रतीति होती है 'मुझ पर मक्खी बैठी'। यह ग्रन्थि का उदय है। जब तक श्रवण-मनन करते रहते हैं तब तक तो आत्मा-अनात्मा का भेदबोध है पर जब प्रवृत्ति होती है तब झट ग्रन्थि का उदय हो जाता है। इस उदय होने से घबराना नहीं चाहिये।

क्योंकि इसके अत्यन्त प्राचीन संस्कार हैं अतः लम्बे समय तक जब आत्माकार वृत्ति बनेगी तब उसका संस्कार दृढ हो जाएगा। हिंदी की गिनती के संस्कार दृढ हों तो अंग्रेजी में जवाब देने से पहले मन में हिंदी याद आती है। अंग्रेजी के संस्कार दृढ हो जाने के बाद ऐसा नहीं होता, तुरंत अंग्रेजी शब्द याद आता है। इसी प्रकार अहंकार को मैं समझने के संस्कार दृढ हैं अतः यही पहले उपस्थित होता है, अभ्यास से स्थिति आती है कि प्रत्यगात्मा ही पहले उपस्थित हो, फिर अहंकार सामने आने पर भी वह 'मैं नहीं हूँ' यह भान बना रहता है। आधुनिक लोगों को 'सब मनुष्य समान हैं' यह नया संस्कार है। स्पर्शास्पर्श का पुराना दृढ संस्कार है। उनके सामने ही कोई शौचालय, नाली आदि साफ करे, फिर भोजन लाकर परोसे तो पहले पुराना संस्कार प्रकट होकर खाने की इच्छा नहीं होती फिर नये को याद कर खाते हैं। धीरे-धीरे नया संस्कार दृढ हो जाने पर वैसी परिस्थिति में हिचक भी नहीं होगी। इसी प्रकार प्रत्यगात्मा-अहम् के अभेद के प्राचीन संस्कार होने से जहाँ अहंकार का प्रयोग करना पड़े वहाँ वही प्रत्यग्रूप प्रतीत हो जाता है। शनैः शनैः अभ्यास की दृढता से वह प्रतीति समाप्त होगी। अतः जैसे ही अहंकार में प्रत्यग्बुद्धि होवे, वैसे ही पुनः श्रवण-मनन कर लो, घबराने की जरूरत नहीं है। अभ्यास करते-करते संस्कार प्रबल होगा। परन्तु संस्कार तब बनेगा जब पहले श्रवण-मनन करके बोध कर लिया है। खाली रट कर कहो 'मैं परमात्मा हूँ' तो कुछ लाभ नहीं होना है! जब तक समझा नहीं जाएगा कि प्रत्यगात्मा का स्वरूप क्या है, अहंकार का स्वरूप क्या है, तब तक विवेक का संस्कार नहीं बनेगा। कब तक बोध के साधन श्रवण आदि का आवर्तन करते रहना चाहिए, कब समझना चाहिए कि उसका फल उदय हो गया? जब फिर कभी भी अहंकार आदि के साथ अपनी एकता का भान न हो, ग्रन्थि का उदय न हो। इस प्रकार ज्ञान के विशेष कारणादि समझा दिये॥२७९॥

वैराग्य, तत्त्वज्ञान और उपरति ये तीनों एक-दूसरे के सहायक हैं। तत्त्वज्ञान होने पर संसार के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। और मिथ्यात्व ही एक बड़ा दोष सारे पदार्थों में है। अतः ज्ञान से संसार में दोष-दृष्टि बनती है जिससे जिहासा होती है। वैराग्य हो तभी मन को संसार से हटा कर श्रवण-मनन में लगा सकते हैं। जब तक संसार के पदार्थों में राग की प्रधानता रहेगी तब तक तत्त्व-ज्ञान के प्रति प्रेम ही नहीं होगा। जिन चीजों में राग है उनके लिए ही अपनी सारी प्रवृत्ति लगेगी। तत्त्वज्ञान के लिए थोड़ा-बहुत प्रयास करने से कुछ लाभ नहीं होगा, इसमें तो निरन्तर लगना पड़ता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान और वैराग्य एक-दूसरे के उपकारी हैं और एक-दूसरे से उपकृत भी हैं। तीसरी चीज है उपरति—

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसङ्कर ईरितः॥२८०॥

उपरति के असाधारण कारण हैं यम आदि, विशेष स्वरूप है बुद्धिवृत्तियों का निरोध और फल है व्यवहार का भलीभाँति क्षीण होना। इस प्रकार बता दिया कि वैराग्य-ज्ञान-उपरति तीनों पृथक् हैं, मिले-जुले नहीं हैं।

उपरति का हेतु यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि हैं। ये जो यम आदि आठ हैं, इनके द्वारा ही उपरति आती है। उपरति का स्वरूप है धीनिरोध। पतञ्जलि ने भी कहा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। बुद्धि का निरुद्ध हो जाना अर्थात् जिस ध्येय के अन्दर बुद्धि को लगाया है उस ध्येय से अतिरिक्त और कोई भी चीज सामने न रह जाए, यहाँ तक कि ध्याता-भाव और ध्यान भी न रहे। पंचदशीकार स्वयं कह चुके हैं 'ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्' (१.५५)। 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' यह भी नहीं याद रहता और 'ध्यान हो रहा है' यह भी नहीं याद रहता; केवल ध्येय ही भासता रह जाता है। जब ध्यातृ-ध्यान-भाव ही चले गये तो बाकी कर्त्तापना आदि तो अतिदूर चले ही गए। इसलिए उपरति का स्वरूप है बुद्धि सर्वथा निरुद्ध हो जाए, एकमात्र ध्येय ही उसमें रह जाए। केवल अपना इष्ट ही रहे, और कुछ न रहे। उपरति का फल है—कि सारे व्यवहार खत्म हो जाते हैं। यद्यपि व्यवहार शरीर इन्द्रिय मन सबसे होते हैं तथापि व्यवहार को प्रवृत्त करने वाली बुद्धि की निश्चयरूपता ही है। जिस चीज का निश्चय होता है उधर ही प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। मन में दस बातें आती हैं। अन्त में जो एक निश्चय हो जाएगा उसके अनुसार ही शरीर आदि की प्रवृत्ति होगी। इसलिए बुद्धि के निरुद्ध होने पर शरीर इन्द्रिय आदि भी निरुद्ध होंगे ही। अतः व्यवहार का संक्षय होता है, व्यवहार सर्वथा समाप्त हो जाता है।

व्यवहार की संक्षयता कहाँ तक होती है? विचार करने वाले तत्त्वज्ञों ने कहा है कि पहले तो शरीर-इंद्रियों की प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं। मुँह में यदि कोई खाने की चीज डाल दी जाती है तो वह निगल लेता है। बस इतना ही उसका व्यवहार रहता है, बाकी कुछ नहीं। जब और गम्भीर हो जाता है तब फिर मुँह में डाला हुआ अन्न भी वहीं पड़ा रहेगा, गले से नीचे उतारने का भी व्यवहार नहीं होगा। इस प्रकार व्यवहार क्षीण होते चले जाना—यही उपरति का फल है और व्यवहार का सर्वथा न रहना, मुँह में डाले हुए को निगलने का भी व्यवहार न रहे—यह उपरामता की पूर्णता है। उपरति का हेतु हो गया योगाभ्यास, स्वरूप हो गया ध्येयाकार वृत्ति का न छूटना और फल हो गया कोई व्यवहार न रह जाना।

तत्त्वबोध इसको मदद करता है। संसार के अन्दर सत्यत्व-बुद्धि ही मनुष्य को पूरी तरह से सांसारिक प्रवृत्ति-निवृत्ति कराती है। जितना संसार के मिथ्यात्व का निश्चय होता जाता है उतनी ही उपरति बढ़ती है। किंतु केवल मिथ्यात्व-निश्चय से प्रवृत्ति नहीं हटती, उस चीज के दोष भी मन में जमने चाहिए। सबको पता है कि टेलीविजन में जो दीखता है वह मिथ्या है परन्तु फिर भी टेलीविजन देखते ही रहते हैं। अतः मिथ्यात्वज्ञानमात्र नहीं, वैराग्य भी उपरति का सहायक है। और जितनी-जितनी उपरामता होगी उतना ही उतना वैराग्य भी दृढ होगा क्योंकि व्यवहार करते रहने से विषयों में गुणदर्शन, राग हो जाता है। किंच व्यवहार-काल में कुछ-न-कुछ पदार्थों के अन्दर कार्य-कारणता का संबंध प्रतीत होता ही है और जब कार्य-कारणता प्रतीत होती है तो मिथ्यात्व निश्चय नहीं रहता। इसलिए जितना व्यवहार घटाते हैं उतना ही बोध दृढ होता है। व्यवहार घटाने से श्रवण-मनन भी पूर्ण रूप

से हो सकते हैं। इसलिए ये सब एक-दूसरे के मददगार हैं पर हैं अलग-अलग। एक होवे तो दूसरा जरूर होगा— ऐसा नहीं कह सकते। थोड़ा-बहुत जरूर होगा, लेकिन पूर्णता नहीं होगी॥२८०॥

उक्त तीनों प्रायः साथ रहते हैं लेकिन यदि किसी तत्त्वज्ञानी का व्यवहार सर्वथा क्षय नहीं हुआ तो क्या उसकी मुक्ति नहीं होगी? या उसमें किसी भोग के प्रति दीनता रह गई अर्थात् 'यह तो हमें चाहिए ही' यह भाव रह गया, तो क्या मोक्ष नहीं होगा? इसके उत्तर में कहते हैं—

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः।
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ॥२८१॥

सीधे ही मोक्ष देने वाला होने से तत्त्वबोध प्रधान है। वैराग्य और उपरति बोध के उपकारक हैं।

मोक्ष के लिए प्रधान तत्त्वज्ञान ही है। यदि ग्रन्थि का उदय नहीं होता है अर्थात् अहंकार से प्रत्यगात्मा अभिन्न नहीं लगता तो अहंकार के अन्दर चाहे जितनी पदार्थों के प्रति दीनता आ जाए, अथवा व्यवहार अहंकार के द्वारा हो जाए, तो भी मोक्ष हो जाएगा। प्रधान है 'पुनर्ग्रन्थेरनुदयः'। अभी हम अपने को मैं से अलग जानते ही नहीं हैं और ज्ञान होने पर मैं के साथ कभी एक होंगे ही नहीं। मुमुक्षु के लिये प्रधान तत्त्वबोध है। तदनन्तर किसी भोगेच्छारूप दीनता के होने पर भी 'मैं दीन' यह नहीं भान होगा वरन् 'अहंकार में यह दीनता है' यों प्रत्यगात्मा को उसका साक्षी ही जानता रहेगा। तत्त्वज्ञानी में ऐसी दीनता कभी और किसी एक-आध विषय के प्रति ही संभव है, ऐसा नहीं कि सारे राग भरे रहें! तब तो ज्ञान होगा ही नहीं यह पहले कह चुके। कदाचित् कहीं दीनता रह जाए अथवा कदाचित् कोई व्यवहार रह जाए परन्तु यदि ग्रन्थि का उदय नहीं होता है अर्थात् अहंकार के इच्छा या व्यवहार करने पर भी अपने साथ उस अहंकार की एकता प्रतीत नहीं होती है तो मोक्ष निश्चित है।

वह जीवन्-मुक्त नहीं हो पाएगा क्योंकि जीवन् मुक्ति के लिए तो तीनों चाहिए। तत्त्व-बोध ही प्रधान है क्योंकि साक्षात् मोक्ष देने वाला न वैराग्य है, न उपरामता है। साक्षात् मोक्ष देने वाला तत्त्वज्ञान ही है क्योंकि श्रुति ने अनेक जगहों पर कहा है—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ऋते ज्ञानाद् न मुक्तिः', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' इत्यादि। श्रुतियों ने स्पष्ट कहा है कि साक्षात् मोक्ष देने वाला तत्त्वज्ञान ही है। फिर बाकी दोनों की क्या जरूरत है? वैराग्य और उपरामता दोनों ही ज्ञान में उपकारक हैं। ज्ञान को उत्पन्न करने में भी उपकारी हैं और उत्पन्न हुए ज्ञान का एक-जैसा प्रवाह बना रहे इसके लिए भी जरूरी हैं। ब्रह्मसूत्रों में भगवान् व्यास ने स्पष्ट किया है कि शम दम आदि तो ज्ञानानन्तर भी सिद्ध में रहते हैं। ब्रह्म का स्वभाव ही शांत आदि है इसलिए ब्रह्मरूप हुए ज्ञानी में इनका रहना स्वाभाविक है। अतः वैराग्य और उपरामता उसमें स्वभाव से रहते ही

हैं। प्रारब्ध के दोष से कभी थोड़ा-बहुत राग या व्यवहार हो गया, वह और बात है। सामान्येन वैराग्य और उपरति रहेंगे ही॥२८१॥

ज्ञानी में प्रायः साथ रहने वाले कभी वियुक्त क्यों होते हैं यह समझाते हैं—

त्रयोऽप्यत्यन्तपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम्।
दुरितेन क्वचित् किञ्चित् कदाचित् प्रतिबध्यते ॥२८२॥

महान् तप के फल से ये तीनों एक व्यक्ति में पूर्णतः विकसित होते हैं। पापवश किसी में कभी कोई प्रतिबद्ध रहता है।

उपरति भी पूर्ण होवे, वैराग्य भी पूर्ण होवे और तत्त्वज्ञान भी पूर्ण होवे—यदि ऐसा कहीं देखा जाता है तो जानना चाहिये कि महान् तपस्या का फल है, अत्यन्त दुर्लभ है। जिसका महान् तप है उसी में तीनों ही पूरे होते हैं। अधिकतर लोगों का कुछ-न-कुछ पाप का प्रारब्ध होता है। उसके कारण कहीं-कहीं अर्थात् किसी-किसी विषय में राग, व्यवहार आदि रह जाते हैं। जैसे भोजन निगलने के प्रति भावना रह गई तो उतना व्यवहार भी रह जाएगा, उपरामता *पूरी* नहीं होगी। क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए—इसका भी संस्कार रह गया इसलिए दाल-रोटी तो खाएगा और कहीं कोई मुसलमान उसको प्याज दे तो नहीं खाएगा। अर्थात् दाल-रोटी के प्रति राग है, प्याज के प्रति द्वेष है कि 'यह तो नहीं खाएँगे'। खाने का प्रारब्ध प्रबल है तो निगलने का व्यवहार भी हो जाएगा, खाद्य जो शास्त्र में बताए हैं उनके प्रति प्रवृत्ति भी रह जाएगी और दूसरी चीजों के प्रति निवृत्ति भी रह जाएगी। यों पाप के प्रारब्ध के कारण किसी-किसी विषय के संदर्भ में प्रतिबद्ध हो जाते हैं। पहले तो क्वचित् अर्थात् सारे विषयों के प्रति नहीं रहता है, एक-दो विषयों के प्रति रह सकता है, फिर 'किञ्चित्' थोड़ा रहता है। और कदाचित् अर्थात् कभी रहता है, स्थायी नहीं।

जैसे याज्ञवल्क्य महर्षि जनक के यहाँ गये तो वहाँ उनसे पूछा 'आप क्या सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी हैं?' उन्होंने कहा 'ब्रह्मज्ञानियों को हम नमस्कार करते हैं। हमें गायें चाहिए, इसलिए आ गए।' उस समय उनके मन में गाय का राग था, चाहिए थीं। बाकी सब ब्राह्मणों ने उनसे कहा 'ऐसे गायें नहीं ले जा सकते हो, हमसे शास्त्रार्थ करके जीतो।' तब उन्होंने शास्त्रार्थ भी किया। शास्त्रार्थ में किसी ने बहुत ऊट-पटांग बातें कह दीं तो उसे शाप भी दे दिया। अतः कदाचित् राग, कोप आदि दीख सकते हैं। इसी प्रकार उद्दालक आरुणि के सामने उनका लड़का गया। उसको पढ़ने के लिए भेजा था। घर में बारह साल का हो गया था, तब भी पढ़ता नहीं था। उसकी माँ भी ढिलाई करती थी। पिता ने सोचा कि कहीं गुरुकुल में भेज दिया जाए, ताकि वहाँ जरूर पढ़ेगा। बारह साल पढ़ कर आया। पढ़ा तो जाता इसलिए है कि तुम्हारे अन्दर विनय आवे किंतु उसके अन्दर घमण्ड और आ गया कि 'मैं पढ़कर आया हूँ। मेरे पिता जी इतने पढ़े नहीं थे, नहीं तो काहे को दूसरी जगह भेजते!' अतः उसने आकर पिता को नमस्कार भी नहीं किया। उद्दालक आरुणि को 'अपना बच्चा है इसलिए पढ़े'—ऐसा राग भी था, 'उद्दण्ड होकर आ गया है, यह भी ठीक नहीं' सोचकर

उसे उपदेश देने का व्यवहार भी किया। इस प्रकार क्वचित् पुत्र के लिए व्यवहार कर लिया। किञ्चित्, थोड़ा-बहुत और कदाचित् अर्थात् कभी-कभी। इन तीन विशेषणों के द्वारा स्पष्ट किया कि जहाँ निरन्तर राग, व्यवहार ही हैं, वहाँ की बात नहीं कर रहे हैं। क्वचित् कदाचित् किञ्चित् इत्यादि पदों का ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो बहुत-से लोग इस प्रकरण को पूरी तरह से नहीं समझने से कहते हैं कि कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता है। ऐसा नहीं है। इसलिए कहा था कि प्रायः ये तीनों साथ ही रहते हैं पर तीनों की बिलकुल पूर्णता अत्यन्त तपस्या का फल है। तीनों उपयोगी होने पर भी मोक्ष के प्रति तो तत्त्वज्ञान ही प्रधान उपाय है॥२८२॥

तत्त्वज्ञान की प्रधानता होने से नतीजा निकालते हैं—

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते।
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात्॥२८३॥

जिसके वैराग्य और उपरति पूरे हैं किन्तु बोध प्रतिबद्ध है उसे मोक्ष नहीं मिलता, तप के बल पर पुण्यलोक उपलब्ध होता है।

यदि किसी का वैराग्य पूर्ण है, उपरामता भी पूर्ण है या इनमें से कोई एक भी पूर्ण है परन्तु ज्ञान प्रतिबद्ध हो जाता है अर्थात् अहंकार से अपने आपको सर्वथा अलग करने वाला जो ज्ञान है उसका फल नहीं उदय होता तो वह मोक्ष से वंचित रह जाता है। परोक्ष ज्ञान रहेगा, ऐसा नहीं कि वह जानेगा नहीं, पर अहंकार से अपने को अलग *अनुभव* नहीं करेगा। उसे अहंकार के अन्दर 'यह मैं हूँ'—ऐसा भाव बना रहता है। वैराग्य और उपरामता पूर्ण हो भी जाएँ पर तत्त्वज्ञान न हो तो उसका मोक्ष नहीं है। उसने बाकी सब काम तो छोड़ दिए, तत्त्वज्ञान हुआ नहीं, तब उसका क्या होगा? जैसा भगवान् ने कहा है—'प्राप्य पुण्यकृताम् लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः' जो पुण्य करने वाले की गति होती है स्वर्गलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त, वह पा जाएगा। तप के बल से पुण्यलोकों की, स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होगी। तप क्या है इसका? भगवान् वेदव्यास ने कहा है 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः'। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता सबसे बड़ा तप है। उपरति होने से इसका मन और इन्द्रियाँ तो एकाग्र हैं, अतः तप कर रहे हैं इसलिए इसे तप का फल मिल जाएगा। यद्यपि तत्त्वज्ञान होने पर वह निष्ठापर्यन्त परिपक्व हो यह सामान्य नियम है तथापि संशय, कर्मदोष आदि से यदि प्रतिबद्ध है, अवश्यभोग्य प्रारब्ध बाकी है, तो परिपाक के अभाव में अविद्यानिवृत्ति नहीं हो पायेगी अतः मोक्ष नहीं होगा॥२८३॥

जैसे तत्त्वबोध मोक्षार्थ अनिवार्य वैसे वैराग्य-उपरति जीवन्मुक्ति के सुख के लिये अनिवार्य हैं यह बताते हैं—

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा।
मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति॥२८४॥

ज्ञान पूरा होने पर भी बाकी दोनों जब प्रतिबद्ध हों तब मोक्ष निश्चित है लेकिन अनुभूयमान दुःख नष्ट नहीं होता।

बोध की पूर्णता अर्थात् फिर कभी भी अहंकार के अन्दर अध्यास का न होना, 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति न होना। बोध पूर्ण हो गया लेकिन वैराग्य और उपरति किसी कारण से प्रतिबद्ध हैं, पूर्ण नहीं हो पाते हैं तो भी मोक्ष उसका निश्चित है। लेकिन जब तक जिन्दा रहेगा तब तक यहाँ जो दुःख देखा जाता है वह दीखता ही रहेगा। तत्त्वज्ञानवश दुःखी अहंकार को अपना आत्म-स्वरूप तो नहीं जानेगा लेकिन 'इसमें हो रहा है' इस तरह से दुःख को देखेगा ही। ऐसा नहीं कि *उसे* दुःख होता है, लेकिन उससे दुःख देखा जाता है। कोढ़ी को देखते हैं तो 'मैं कोढ़ी हूँ' यह भावना तो नहीं है पर कोढ़ी को देख कर दुःख होता ही है, अच्छा नहीं लगता। इसी प्रकार ज्ञानवान् अहंकार को दुःखी देखता है। दुःख का इस प्रकार से दीखना बन्द नहीं होता॥२८४॥

वैराग्यादि की पूर्णता को स्पष्ट करते हैं—

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते॥२८५॥
सुप्तिवद् विस्मृतिः सीमा भवेद् उपरमस्य हि।

वैराग्य की सीमा है ब्रह्मलोक पर्यन्त को तिनके जैसा तुच्छ समझना। शरीर में आत्मबुद्धि की तरह परम तत्त्व में आत्मबुद्धि दृढ होने पर बोध पूर्ण विकसित समझा जाता है। जैसे नींद में वैसे सदा सब भूलना उपरामता की सीमा है।

ब्रह्मलोक में, वैकुण्ठ आदि लोकों में जाकर निरन्तर सगुण ब्रह्म के साथ रहना, उनके समीप रहना, निरन्तर उनकी सेवा में बने रहना, इतना दिव्य सुख भी जिसको तिनके की तरह सर्वथा व्यर्थ लगता है, उसके प्रति भी राग नहीं रहता, तब वैराग्य की पूर्णता है। दिव्य भोग, साक्षात् सगुण ब्रह्म के समीप रहना भी उसके लिए तिनके की तरह है तो बाकी भोगों का तो प्रश्न ही नहीं है! यह संभव नहीं कि ब्रह्मलोक पर्यन्त भोगों से वैराग्य हो तथा इस लोक के विषयों में मन रमा रहे। यदि कोई यहाँ के तुच्छ भोगों में रागी बना सोचे कि उत्तम लोकों के प्रति वह विरक्त है तो वह भ्रान्त ही है। अनुपलब्ध के प्रति बहुधा वैराग्य का भ्रम हो जाता है किंतु ऐन्द्रिय भोग समान होने से उपलब्ध के प्रति राग है तो जान लेना चाहिए कि अनुपलब्ध भी सुलभ होने पर उससे राग होगा ही। अधम से राग रहते उत्तम से वैराग्य असंभव है। अतः ब्रह्मलोक तक जो सर्वोत्तम भोग संभव हैं उन सभी से राग हट जाना वैराग्य की अवधि, सीमा है।

रामकृष्ण परमहंस में इष्ट काली के प्रति विशेष अनुराग था। उस प्रतिबंध को हटाने के लिये उनके गुरु तोता पुरी ने विशेष उपाय किया तब निर्गुण में स्थिति हुई। कबीर के बारे में प्रसिद्ध है कि उन्हें सत्संग के आनन्द के प्रति विशेष अभिरुचि थी। ऐसे क्वचित्

राग रहें तो वैराग्य की कुछ कमी बनी रहती है। दिव्य पदार्थों के प्रति प्राप्यता की भावना कई बार मनुष्य में प्रारब्ध के द्वारा हो जाती है जिससे दिव्य लोकों तक जाना पड़ता है। दिव्य भोगों के प्रति, सगुण ब्रह्म के प्रति भी जिहासा की भावना होवे तब वैराग्य की पूर्णता है।

ज्ञान की पूर्णता क्या है? जैसे हमें अज्ञान रहते इस शरीर के अन्दर आत्मभावना दृढ है कि 'यह मैं हूँ' वैसे 'ब्रह्म मैं हूँ' यह दृढ हो तब ज्ञान की पूर्णता है। जितना भी विचार कर लेवे कि मैं शरीर नहीं हूँ परन्तु 'मैं शरीर हूँ' यह भाव दृढ रहता है, किसी के कहने से मिटता नहीं है। ऐसा ही चेतन के सच्चिदानन्दरूप के अन्दर दृढता, ज्ञान का पूरा विकास है। लौकिक चाहे कोई व्यवहार करें, चाहे जैसी सुख-दुःख की स्थिति बने, शरीर में मैंपना रहता ही है, ऐसे परात्मभाव ही बना रहे, देहात्मभावना हो ही नहीं, व्यवहार के बावजूद ग्रन्थि का उदय नहीं हो, तब दृढता पूरी समझनी चाहिये। यह बोध की सीमा, बोध की समाप्ति है। उससे आगे और ज्ञान नहीं पकना है।

सुप्तिवत् विस्मृतिः—जैसे गहरी नींद में पड़े हुए व्यक्ति को कुछ भी याद नहीं रहता है, सोए हुए आदमी से खाया भी नहीं जाता, निगल नहीं सकता है; जैसी गहरी नींद की अवस्था में सारे व्यवहार की निवृत्ति है वैसी ही सदा हो जाये यह उपरामता की सीमा है॥२८५ १/२॥

प्रसंग पूरा करते हैं—

दिशाऽनया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम्॥२८६॥
आरब्धकर्मनानात्वाद् बुद्धानामन्यथाऽन्यथा॥
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः॥२८७॥

उक्त दिशानिर्देशानुसार ज्ञानादि का अन्य भी न्यूनाधिक्य निश्चित कर लेना चाहिये। प्रारब्ध कर्म अलग-अलग होने से तत्त्वज्ञों का बर्ताव अलग-अलग तरीके का होता है, उस (भेद) से (ज्ञान मोक्षोपाय है इस) शास्त्र के अर्थ के बारे में पण्डितों को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

वैराग्यादि के परिपाक के बारे में कोई निश्चित आकार नहीं कह सकते कि ऐसा ही होवे, केवल दिशा दिखा सकते हैं। ठीक जिस प्रकार पूर्व कहाँ है—यह नहीं कह सकते। इस तरफ है—इतना तो कह सकते हैं। पर यह नहीं कह सकते कि यह पूर्व है, क्योंकि और आगे भी पूर्व है! विस्मृति बढ़ती चली जाती है—यह दिशा उपरामता की है। इसी प्रकार जितने भोगों को छोड़ते चले जाते हो, तुम्हारी आसक्ति नहीं रह जाती है, वह दिशा वैराग्य की हो गई। इसी प्रकार से परमात्मा में ही जितनी-जितनी आत्मबुद्धि होती चली जाए—वह दिशा तत्त्वबोध की हो गई। अवान्तर तारतम्य अर्थात् मध्यम, मन्द आदि कम-ज्यादा का भेद समझ लेना चाहिए। ऐसा संभव नहीं कि हममें एकाएक पूर्णता आ जाये। आचार्य शंकर

कहते हैं कि यह तो भोजन करने की तरह है : चार रोटी खाकर तृप्ति होगी, चार रोटी की भूख है, पर एक रोटी खा ली तो कुछ तृप्ति हो ही जाती है। असल में तो पहला कौर खाया तभी से थोड़ी तृप्ति शुरू हो गई। इसी प्रकार से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि हमें पूर्ण वैराग्य नहीं हुआ तो कुछ नहीं हुआ, क्योंकि जितना हुआ उतना तो तुम वांछित स्थिति के नजदीक पहुँच गए। इसी तरह से हमारा सारा व्यवहार नहीं छूटा तो कुछ नहीं छूटा—ऐसा नहीं है। जितना-जितना छोड़ा उतना-उतना तुम उपरामता के पास पहुँचे। इसी प्रकार यदि तीन घण्टा ध्यान किया और उसमें एक सैकेण्ड के लिए भी अपने अधिष्ठानरूप का भान रह गया तो उतना ज्ञाननिष्ठा के पास पहुँचे। लेकिन दिशा याद रखनी चाहिए कि जाना इस तरफ है।

तारतम्य का कारण क्या होता है? प्रारब्ध-भेद से व्यवहार-भेद हो जाने के कारण वैराग्यादि में तारतम्य रहता है। बंध-मोक्ष व्यवहार की स्थितियाँ हैं अतः चिदाभास के स्तर पर होंगी। अतः प्रारब्ध का प्रभाव रहना अवश्यम्भावी है। प्रारब्ध कर्म अनेक प्रकार के हैं। चिदाभास के प्रारब्ध कर्म हैं और वे सब अनेक प्रकार के हैं, विविध संस्कार हैं। 'बुद्धानाम्', जो ज्ञानी हो गये अर्थात् जिन्होंने अपने आपको दृढतापूर्वक समझ लिया कि 'मैं तो अधिष्ठानमात्र ही हूँ', उनका चिदाभास प्रारब्धानुरूप व्यवहार करेगा। इसलिए जनक को राज्य करते देखोगे, याज्ञवल्क्य को शाप देते देखोगे, उद्दालक आरुणि को अपने बेटे से प्रेम करते देखोगे; ये सब चिदाभास के व्यवहार हैं जो प्रारब्ध के वशीभूत होकर हो रहे हैं। जिसने अपने अखण्ड स्वरूप का बोध प्राप्त कर लिया, उसमें कुछ फ़र्क नहीं है, लेकिन चिदाभास से लेकर शरीर पर्यन्त व्यवहार होगा और विभिन्न होगा। व्यवहारभेद से पण्डितों को इस शास्त्रनिर्णय के बारे में भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि मोक्ष का हेतु तत्त्वबोध ही है। यद्यपि वैराग्य-उपरति उपकारक हैं तथापि मोक्ष से सीधा सम्बंध ज्ञान का है। श्लोक २७२ में उठे प्रश्न का यहाँ तक उत्तर स्पष्ट किया॥२८७॥

भरतादि के आचार को देखकर व्यवहारभेद को अकिंचित्कर ही समझना चाहिये यह निर्णय देते हैं—

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः॥२८८॥

अपने-अपने कर्मों के अनुसार वे जैसे-जैसे बर्ताव करें, उन सभी का बोध समान है अतः मोक्ष एक जैसा है, यह वास्तविकता है।

जिनको तत्त्वबोध ऐसा हो गया है कि कभी भी अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति में 'यह मैं हूँ' ऐसा बोध नहीं होता, सर्वथा साक्षिरूप रहकर अहंकार को अपने से अलग देखते हैं, वे स्वस्वकर्मानुसार व्यवहार भले ही करें, ज्ञान व मोक्ष में अंतर नहीं आता। क्योंकि अहंकार को अपने से सर्वथा अलग देखते हैं इसलिये न अहंकार को प्रवृत्त करेंगे न निवृत्त

करेंगे। इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा—'न प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कटाक्षेणापि वीक्षते'। अन्तःकरण-देहादि की क्या प्रवृत्ति या निवृत्ति हो रही है उसकी तरफ ध्यान देकर उसमें कोई परिवर्तन करने की वे इच्छा करें यह हो नहीं सकता। अपने बगीचे में सूखे पत्ते-टहनी तोड़ने की प्रवृत्ति होती है, रास्ते चलते दीखती झाड़ियों को संवारने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे झाड़ियों के संदर्भ में हमारी प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं इसी प्रकार अहंकार से लेकर देह-पर्यन्त के प्रति ज्ञानी की कोई प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होती। अतः ज्ञानी के शरीरादि के बर्ताव का विचार मत करो। अपने-अपने कर्मानुसार वे व्यवहार करते हैं। उन सब ज्ञानियों में तत्त्वबोध समान है। 'मैं सर्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान उन सब के अन्दर अविशिष्ट है, एक जैसा है, उसमें कोई अन्तर नहीं। सारे ही ज्ञानियों का बोध एक जैसा ही है, उसमें कोई फ़र्क नहीं। चूंकि बोध का फल ही मुक्ति है इसलिए उनके बाह्य चरित्र कैसे भी होवें, उनकी मुक्ति एक जैसी है, मुक्ति में कोई फ़र्क नहीं है। ठीक जिस प्रकार से झूले से उतर जाने के बाद झूले की गति का उतरे हुए पर असर नहीं पड़ता वैसे देहादि से तादात्म्य हट जाने के बाद देहादि-व्यवहार का आत्मवस्तु पर प्रभाव नहीं पड़ता। तादात्म्यरहित आत्मा ही मुक्ति है अतः सभी का मोक्ष एकरस है, यह वस्तुस्थिति, वास्तविकता है॥२८८॥

प्रकरण का तात्पर्य संक्षेप में प्रकट करते हैं—

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम्।
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम्॥२८९॥

कपड़े पर चित्र की तरह स्वरूपभूत चिन्मात्र पर माया से जगत्-नामक चित्र बना हुआ है, उसकी सर्वथा उपेक्षा करें तो चैतन्य ही रहता है—इस स्थिति में रहा जाये।

सारे प्रकरण का एक श्लोक में तात्पर्य बतला दिया—'स्वचैतन्ये'—खुद अपना जो चैतन्य-रूप है उसमें। शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त को भी स्व कहते हैं, पर वह यहाँ नहीं वरन् केवल चैतन्य ही पट, कपड़ा है। उसके ऊपर अज्ञान के कारण सारा जगत् चित्र अध्यस्त है। जैसे कपड़े पर चित्र बन जाता है वैसे ही यहाँ जगत् बन गया। जगत् चित्र की रचना करने वाली माया है। वह स्वरूप से मिथ्या है इसलिए उसकी सर्वथा उपेक्षा करना उचित है। ईक्षा मायने देखना। अभी हम लोग जिस चीज को देखते हैं उस के आकार के बन जाते हैं। घड़ा देखते हैं तो हमारा अन्तःकरण आँख के रास्ते घड़े के आकार का बन जाता है अतः उस अन्तःकरण वाला अहंकार 'घड़ा देखने वाला' बन जाता है। अहंकार को ही अपना स्वरूप समझने के कारण हमारा अपरोक्ष अनुभव होता है 'मैंने घड़े को देखा, घड़ा देखने वाला मैं चेतन'। अभी तो यह हो रहा है कि अन्तःकरण घटाकार बना, वही अन्तःकरण अहंकारात्मिका वृत्ति वाला है जिससे हम एक हैं, इसलिए हम ही घड़े के आकार वाले बनते हैं। जब पता लग गया कि अहंकार मैं हूँ नहीं तब घड़े के आकार को जब अन्तःकरण ग्रहण करता है तब 'मैं' उस आकार को ग्रहण करने वाला नहीं बनता हूँ। 'ईक्षा'

मायने अन्तःकरण का तत्-तत् आकार लेना अतः 'उपेक्षा' अर्थात् उस-उस आकारका न बनना। सारे जगत्-चित्र की उपेक्षा करनी है क्योंकि वह अहंकार में ही स्थित है। मेरे हो या दूसरे के, जगत्-चित्र किसी-न-किसी देखने वाले में ही अंकित है। अहंकार वाला न रहने पर 'मेरे' लिये सारा जगत् उपेक्षा का विषय हो जाता है। जगत् को अहंकारमें स्थित कहने में तात्पर्य नहीं वरन् अभिप्राय है कि तादात्म्याधास रहते अन्तःकरण में आया जगत् जीवकेलिये ईक्षण-योग्य होने से उसीकी वह उपेक्षा करे ताकि केवल चैतन्य अवशेष रह जाये। 'चैतन्य ही बचाया जाये'—यों 'अवशेष्यताम्' के प्रयोग से कहा कि अभी स्वयं को सचित्र देख रहे हैं, वह छोड़ें, चित्र की उपेक्षाकर केवल स्वयं का भान रखें। जगत्-चित्र में बाह्य-आभ्यन्तर दोनों की गणना हो जाती है। अन्तःकरण से स्वयं का तादात्म्य रखे हैं अतः वह बाह्याकार बना तो हम भी बन गये। यदि बाह्यों में केवल ममता का अध्यास ही समझ आये तो भी वह संसर्गका अध्यास ही होने से हेय ही है। ममता-अहंता दोनों छूटने पर केवल चैतन्य रहता है। प्रकरण में चित्रपट का दृष्टान्त देकर, और भी सारा विस्तार बताकर समझाया इतना ही कि जगत् की उपेक्षा कर चिन्मात्र रहा जाये॥२८९॥

इस प्रकरण के बार-बार विचार का फल बताते हुए इसे समाप्त करते हैं—

चित्रदीपम् इमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्ववत्॥२९०॥

॥ इति श्रीविद्यारण्यविरचितायां श्रीपञ्चदश्यां चित्रदीपः समाप्तः॥६॥

जो समझदार हमेशा इस 'चित्रदीप' का अनुसन्धान करते हैं वे जगद्रूप चित्र देखते हुए भी पहले की तरह इस पर मुग्ध नहीं होते।

जिन्होंने इस प्रकरणमें कहे स्वरूप वाले तत्त्वबोध को प्राप्त कर लिया फिर इस प्रकरण का प्रतिदिन विचार करते हैं, इसमें बतायी बातें दुहराते हैं वे अहंकार-समेत इस जगत्-चित्र को साक्षिभावसे देखते हुए भी मोहग्रस्त नहीं होते। विदेहावस्थापर्यन्त दीखना बन्द नहीं होता पर उससे इन्हें मोह नहीं होता। इसी स्थिति के लिये 'देखते हुए भी नहीं देखता' आदि श्रुति ने कहा है। ज्ञान से पूर्व की तरह ज्ञानके पश्चात् मोह न हो पाये यह इसके अनुसन्धानका प्रभाव है। अहंकाररूप ग्रन्थि न हो इसलिये इसका विचार करते रहना चाहिये। तत्त्व को आत्मसात् करने तक अनुसन्धान, विचार, श्रवण-मनन करना पड़ेगा, निरन्तर विचारप्रवाह से ही अद्वैतवासना वैसी दृढ होगी जैसी देहवासना अभी है। यद्यपि अन्य प्रकरणों या ग्रंथों के अनुसार भी किया चिन्तन यह फल देगा तथापि यहाँ जगत् की चित्ररूपता स्पष्ट होने से 'इसका अधिष्ठान मैं हूँ' यह निश्चय सुलभ होता है यह आचार्य का भाव है॥२९०॥

॥ चित्रदीप प्रकरण समाप्त ॥

सातवाँ
तृप्तिदीप प्रकरण

पंचदशी में सातवाँ है तृप्तिदीप नामक प्रकरण। इसके रचयिता आचार्य भारतीतीर्थ बताये गये हैं। कुछ विचारक यहाँ से आगे के सभी प्रकरण भारतीतीर्थ की रचना मानते हैं। पूर्व प्रकरण में (श्लो. २६१) इच्छा और कामना का अन्तर विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट किया था। संभवतः उस विचार की चर्चा गुरु से की तो गुरु को जो विचार स्फुरित हुए वे इस सप्तम प्रकरण के रूप में उपलब्ध हैं। भारतीतीर्थ थे विद्यारण्य के गुरु यह अन्य प्रमाणों से ज्ञात है अतः लेखकभेद होने पर भी पंचदशी में सारे प्रकरण एकत्र रखे गये हैं यह उचित है। अहंकार-ग्रंथि न उदय होने पर दीखते जगत्-चित्र से एक प्रकार की तृप्ति अनुभव में आती है कि 'तादात्म्य से छूटकर कितने अनर्थ से मैं बच गया!' व्यावहारिक जीवन चलने पर होने वाली यह तृप्ति है जो जीवन्मुक्त को प्रत्यक्ष है।

इच्छा रहने पर भी कामना न रहने से तृप्ति उपपन्न है। इच्छा व कामना में भेद बृहदारण्यक में (४.४.१२) सूचित है अतः उस श्रुतिवचन को उद्धृत कर उसकी व्याख्यारूप इस प्रकरण को प्रारंभ करते हैं—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।। १।।

'यह पुरुष मैं हूँ' यों स्वयं को यदि जाने तो क्या चाहते हुए और किसकी कामना से शरीरानुरोध से सन्तप्त हो!

पहले आत्मा का स्वरूप बतलाया है कि आत्मा कैसा है, क्या है। उसके बाद उपनिषद् ने कहा कि उस आत्मा को जो 'यही मैं हूँ' जान ले वह इच्छा-कामना-सन्तापों से रहित हो जाता है। अपने को 'अयं पूरुषः अस्मि' अर्थात् 'यह जो पूर्ण पुरुष है वही मैं हूँ'—इस प्रकार समझे। वेदों में अनेक जगह परमेश्वर को पुरुष नाम से कहा है। गीता में भगवान् ने भी उत्तम पुरुष नाम से कहा है। गीता में माया को भी पुरुष नाम से कहा है इसलिये उससे अलग करने के लिये आत्मा को पुरुषोत्तम कहा है। परमेश्वर को पुरुष नाम से क्यों कहते हैं? स्थूल सूक्ष्म कारण ये तीन पुर हैं। पुर मायने शहर, जैसे कानपुर, नागपुर। स्थूल शरीररूप इस शहर के हृदय देश के अन्दर वह परमात्मा प्रकट होता है। जैसे सूर्य बिलकुल एक जैसा है परन्तु काँच में वही धूप पड़कर सूर्य को यथावत् प्रकट कर देती है, सूर्य का रूप बतला

देती है, पता लग जाता है कि सूर्य ऐसा है। दीवार, घास पर पड़ी धूप पता नहीं बतलाती कि सूर्य कैसा है। इसी प्रकार चैतन्य, परमात्मा एक जैसा ही है। जैसा वह घड़े-दरवाज़े में है वैसा ही हृदय में है। परमात्मा में तो कोई फ़रक नहीं है। परन्तु मन में, अन्तःकरण में विशेषता है कि वहाँ परमात्मा का रूप प्रकट हो जाता है।

परमात्मा का रूप क्या है? सृष्टि करता है, स्थिति करता है और लय करता है। ठीक इसी प्रकार से तुम भी सृष्टि स्थिति लय सब करते हो। स्वप्न में तुम सड़कें बनाते हो। स्वप्न में तुम रथ, घोड़े बनाते हो। स्वप्न में जो चीज़ें तुम देखते हो उसे बनाने वाला कौन है? तुम ही बना रहे हो! और उन्हीं का पालन तुम कर रहे हो। सपने में भी घोड़े को जो घास मिल रही है खाने को वह घास कहीं दूसरी जगह से तो नहीं आ रही! और अन्त में जब तुम सपना देखकर थक जाते हो तब सब चीज़ें कहाँ चली जाती हैं? तुम में ही लीन हो जाती हैं। जैसे स्वप्न में तुम निर्माण करते हो अपनी शक्ति से ऐसे परमेश्वर अपनी शक्ति से सारी सृष्टि को प्रकट करता है, इसका पालन करता है, अन्त में पुनः इसको अपने में लीन कर लेता है। परमेश्वर की ही शक्ति तुम्हारे हृदय में प्रकट होती है, और कहीं प्रकट नहीं होती। जैसे उसकी शक्ति वहाँ प्रकट होती है वैसे उसका स्वरूप भी वहीं प्रकट होता है। जैसे सूर्य का जो शुद्ध रूप है चमचमाना, वह भी काँच में ही प्रकट हो जाता है; तुम्हारी आँखें दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य देखकर वैसे ही चौंधिया जाती हैं जैसे सूरज को देखने से चौंधिया जाती हैं। इसी प्रकार परमेश्वर का जो निर्विकल्परूप है, वास्तविक परमात्मरूप है, वह भी उस अन्तःकरण को जब बिलकुल साफ कर दिया जाता है तब श्रवण-मनन के द्वारा वहीं प्रकट हो जाता है। उसका जो मायाविशिष्ट रूप सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला, वह ज्ञानी-अज्ञानी सब में प्रकट है। परन्तु उसका जो शुद्ध, निर्विकल्प रूप है वह जिस मन को साफ कर दिया गया है, वहीं श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा पता लगता है। मैले काँच के ऊपर सूरज पड़ता है तो तुम्हारी आँखें चौंधियाती नहीं हैं। अज्ञानी के अन्तःकरण के ऊपर क्योंकि अज्ञान की कालिख है इसलिये आत्मा दीखता तो है, सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला तो दीखता है, परन्तु उसका शुद्ध रूप नहीं दीख सकता। यदि काँच को बिलकुल साफ कर दो तो सूरज उसमें चमचमाने वाला दीखेगा, वैसे ही शुद्ध मन में श्रवण मनन निदिध्यासन के संस्कार दृढ हो जाने पर सच्चिदानंद रूप दीखेगा। चूंकि हृदय के अन्दर प्रकट होता है इसलिये इस पुरी में शयन कर रहा है—ऐसा कहा जाता है, भले ही रहता तो सब जगह है।

'यह पुरुष चेतनमात्र है, निर्विकल्प अद्वैत है, यही मैं हूँ'—जब यह जान लिया तब 'किमिच्छन्' किस चीज़ की इच्छा करते हुए और 'कस्य कामाय' किसकी कामनापूर्ति के लिये 'शरीरम् अनुसंज्वरेत्'—स्थूल-सूक्ष्म-शरीरों के ज्वर अर्थात् पीडा का अनुगमन करे! शरीरों के दुःखी होने से स्वयं क्यों दुःखी होवे? अभी हमको शरीर के दुःखी होने से दुःखी होना पड़ता है, आत्मविज्ञान के बाद शरीर-मन के दुःखी होने से हमें दुःखी नहीं होना पड़ता। अभी तो लगता है कि शरीर के रोग से मैं रोगी हो गया, इस रोग को कैसे हटाऊँ। फिर ज्ञान के बाद इस प्रकार की पीडा नहीं होती ॥१॥

इच्छा और कामना के अभाव से शरीर-मन के अन्दर दुःख होने पर भी दुःखी न होना—यह है जीवन् मुक्त की तृप्ति। शरीर-मन को दुःखी देख रहा है पर उससे खुद दुःखी नहीं हो रहा है—बस यही तृप्ति है। इसे ही उक्त मंत्र की व्याख्याद्वारा समझाने की प्रतिज्ञा करते हैं—

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते।। २।।

इस प्रकरण में पूर्वोक्त वेदवाक्य के समीचीन अभिप्राय का विचार किया जा रहा है। इस विचार से जीवन्मुक्त की तृप्ति स्पष्ट हो जाती है।

इस श्रुति का शब्दार्थ तो स्पष्ट है लेकिन इसका अभिप्राय गम्भीर है। श्रुति किस चीज़ को कहना चाह रही है—उसे इस तृप्तिदीप प्रकरण के अन्दर भली प्रकार से समझायेंगे। इस सारे प्रकरण के अन्दर खाली इसी श्रुति का विचार करना है। अकस्मात् यह बात कैसे शुरू की, बात तो चली थी जीवन्-मुक्ति की स्थिति की? इसका उत्तर दिया कि इस श्रुति के अभिप्राय के विचार से जो जीवन् मुक्त की तृप्ति है उसे विस्तार से समझा जा सकता है। इसलिये पूर्व प्रसंग से यह विचार सम्बद्ध है। विषयों से होने वाली तृप्ति सच्ची तृप्ति नहीं है। तृप्ति का मतलब होता है कि 'अब और नहीं चाहिये'। वैषयिक तृप्ति को भी वे लोग नहीं समझ सकते जो दस चम्मच खीर और आधा मालपूआ खाने वाले हैं। तृप्ति में 'नहीं चाहना' पर जोर है। जितनी वैषयिक तृप्ति होती है वह किञ्चित् काल के लिये होती है। अस्सी लड्डु खाए, अब और नहीं चाहिये, पर पन्द्रह दिन बाद फिर ब्रह्मभोज हुआ, तब? फिर नहीं खाएँगे क्या! फिर तैयार हैं खाने को। वैषयिक तृप्ति क्षणिक कही जाती है। क्षणिक का मतलब जो थोड़ी देर होवे। हमेशा के लिये वैषयिक तृप्ति होती नहीं अर्थात् विषय की इच्छा या कामना हमेशा के लिये हटती नहीं, देशान्तर में, कालान्तर में, अवस्थान्तर में फिर आ जाती है। इससे विपरीत, जीवन्मुक्त की तृप्ति हमेशा बनी रहती है, क्षणिक नहीं है। जब तक बीच-बीच में ग्रन्थि का उदय होता है तब तक ऐसी तृप्ति, जीवन्मुक्त की तृप्ति नहीं होती, जब ग्रन्थि का अनुदय रहे तभी तृप्ति निरन्तर बनी रहती है। इसीलिये गत अध्याय में भी कहा (६.२५९-६०) था कि सारी कामनाओं की निवृत्ति ब्रह्मभाव से ही होती है। अतः कामनानिवृत्ति को ग्रन्थिप्रभेदन के रूप में श्रुति ने समझाया। सारी कामनाएँ असल में इस ग्रन्थि को लेकर हैं। ग्रन्थि का उदय नहीं होगा तो कामना का उदय भी नहीं होगा। क्योंकि यह श्रुतिसिद्ध पक्ष है इसलिये इसे श्रुति-व्याख्या से समर्थित करेंगे।। २।।

सबसे पहले 'पुरुषः' शब्द का अर्थ बतलाना ज़रूरी है जिसे श्लोक ५ में कहेंगे। उसकी भूमिका बाँधते हुए संक्षेप में सृष्टि का उल्लेख करते हैं—

मायाऽऽभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्।। ३।।

क्योंकि वेदसिद्ध है कि माया आभास से जीव-ईश्वर बनाती है (इसलिये) जीव-ईश्वर कल्पित ही हैं (और) उनके द्वारा सब विरचित है।

जीव और ईश्वर दोनों को आभास से बनाने वाली माया ही है। (इस पर पूर्व प्रकरण के श्लोक १५५ में भी चर्चा हुई थी।) 'आभासेन' इसलिये कि सचमुच में तो माया बना नहीं सकती! उसको माया कहा ही जाता इसलिये है कि सच्चा नहीं बनाती। जैसे जीव सपने में जो बनाते हैं वह सच्चा नहीं होता है वैसे ही परमेश्वर भी जो बनाता है वह सच्चा नहीं होता है। माया भी जिन जीव और ईश्वर को बनाती है वे दोनों आभास हैं। माया के एकदेश में आभासित हुआ तो जीव और समग्र माया में आभासित हुआ तो ईश्वर हो गया। माया ही को कई जगह सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणरूपी प्रकृति कहा है। उसके शुद्ध सत्त्वप्रधान रूप में प्रतिबिम्ब ईश्वर एवं अशुद्धसत्त्वप्रधान रूप में प्रतिबिम्बित जीव होता है। क्योंकि आभास से बनाती है इसलिये न जीव की ब्रह्मरूपता कभी जाती है, न ईश्वर की ब्रह्मरूपता कभी जाती है। जीवरूप प्रतिबिम्ब क्योंकि रजोगुण-तमोगुण से अभिभूत होता है इसलिये जीव इस बात को जानता नहीं और ईश्वर माया को नियन्त्रण में रखता है, उससे अभिभूत नहीं होता है, इसलिये वह जानता है। दोनों की ब्रह्मरूपता क्षणभर के लिये भी गई नहीं है। जब जीव-ईश्वर रूपों में दीख रहे हैं तब भी ऐसा नहीं कि ब्रह्म न हो। प्रश्न होगा कि सब कुछ ईश्वर करता है तो यह कैसे कहा कि ईश्वर को भी माया करती है! उत्तर में कहते हैं—'इति श्रुतत्वतः' यह तथ्य उपनिषद् में कहा गया है, इसलिये प्रामाणिक है। जैसे कहा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' परमेश्वर ने माया के द्वारा अनेक रूप धारण किए, वैसे यह भी कहा कि माया जीव-ईश्वर बनाती है। चूंकि आभास से इन्हें किया इसलिये जीव और ईश्वर दोनों भाव कल्पित हैं, वास्तविक नहीं।

अधिकाधिक मोक्ष पर्यन्त ही जो रहता है वह सब हमारे यहाँ 'कल्पित' कहा जाता है। लोक में तो जीव जिसकी कल्पना करे उसे कल्पित कहते हैं और ईश्वर जिसकी कल्पना करे वह वास्तविक लगता है। परन्तु जैसा अभी स्वप्न-दृष्टांत से बतलाया, चाहे जीव कल्पित करे चाहे ईश्वर कल्पित करे, है तो कल्पित ही। जो कल्पित होता है वह अज्ञान के द्वारा, माया के द्वारा ही होता है। इनकी कल्पितता तत्त्वबोध के पहले पता नहीं है। जैसे स्वप्न के अन्दर जितनी चीज़ें तुम देखते हो, सब कल्पित तो हैं परन्तु *उस समय* तो सच्ची लगती हैं। सपने में लगी चोट कल्पित है लेकिन जाग्रत् में लगी चोट जैसी ही लगती है। तुम जब स्वप्न से उठते हो तब लगता है कल्पित था। स्वप्न काल में कल्पित लगता नहीं है, जगने के काल की दृष्टि से कल्पित समझ आता है। जगे हुए के लिये कल्पित है, स्वप्न देखने वाले के लिये तो कल्पित नहीं है। इसी प्रकार जो जगत्-स्वप्न से उठ गया, तत्त्वबोध वाला

है, उसके लिये जीव और ईश्वर कल्पित हैं। जब तक हम जगत्स्वप्न के अन्दर हैं तब तक हमारे लिये कल्पित नहीं हैं। तत्त्वबोध के पहले ईश्वर है ही, उसके नियमों का उल्लंघन करोगे तो तुम्हें दण्डित करेगा ही। इसी प्रकार तत्त्वबोध के पहले तुम जीव ही हो, सुख-दुःख भोगोगे ही और भोगने के लिये कर्म करोगे ही। न तुम बिना कर्म किए रह सकते हो, न बिना फल भोगे रह सकते हो। कर्म करना तुम्हारा काम और फल भुगवाना ईश्वर का काम है। प्रायः कर्म करने में हमारी सबसे बड़ी चूक रहती है कि हम कर्म करने वाले हैं—इस बात को भूल जाते हैं। ऐसा मान लेते हैं कि समाज करवा देता है, कानून करवा देता है, कई जगह तो घरवाली औरत करवा देती है! यह भूलते हैं कि करने वाले हम हैं। भगवान् ने स्पष्ट कहा—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—कर्म करने में तेरा अर्थात् जीव का अधिकार है। बाकी चीज़ें सहयोग करती हैं—समाज का भी सहयोग हो जाता है, घरवालों का भी हो जाता है पर करते हम हैं। प्रसिद्ध कहानी है—एक डाकू था, कभी उसने महात्माओं को पकड़ लिया। महात्माओं ने पूछा 'यह दुष्कर्म क्यों करते हो?' उसने कहा 'परिवार-पोषण के लिये।' उन्होंने पूछा 'इसका दोष भी सब बाँटकर भोगेंगे क्या?' उसने घर जाकर पूछा तो सब नट गए! कहा 'हमें क्या मतलब तुम कहाँ से पैसा लाते हो। तुमने किया, तुम फल भोगोगे।' तब डाकू ने महात्माओं से कहा 'मैं तो गलतफ़हमी में था।' कर्म में ही जीव का अधिकार है, फल देना ईश्वर का काम है।

मैं कर्म करने वाला, ईश्वर फल देने वाला—यह स्थिति तत्त्वबोध के पहले तक वास्तविक है जैसे जगने तक स्वप्न वास्तविक है। जीव कर्म करके संसार की सब चीज़ों को बनाता है, ईश्वर फल देकर सब चीज़ें बनाता है; दोनों मिलकर ही सब चीज़ें बनाते हैं, इसमें कोई शंका नहीं। आकाश की सृष्टि से लेकर जब तक इसमें जीवभाव से प्रवेश नहीं हो गया तब तक का सब कुछ करने के लिये प्रधान ईश्वर है। गौण तो वहाँ भी जीव है क्योंकि ईश्वर का सृष्टि बनाने का संकल्प ही इसलिये होता है कि जीवों के कर्मों का फल देना है। जीवों के कर्म नहीं होते तो सृष्टि बनती भी नहीं। इसलिये उसमें भी जीवों का योगदान है परन्तु प्रधानता ईश्वर की ही है। उसके बाद जब इसमें जीवरूप से प्रवेश कर लिया तब संघात चलाने में हम प्रधान हैं। जैसा-जैसा हम कर्म करेंगे वैसे-वैसे पदार्थ बनते जाएँगे। ईश्वर की बनाई हुई चीज़ों को लेकर ही जीव कुछ भी कर सकता है। तुम्हारा शरीर मन सब ईश्वर का बना हुआ है। उसकी मदद से ही तुम कुछ भी कर रहे हो। बाह्य संसार जितना है सब ईश्वर का बनाया हुआ है। तुमने मोटर बनाई पर लोहा कहाँ से लाए? पेट्रोल कहाँ से लाए? सर्वत्र ईश्वर का सहयोग है पर इनमें जीव का कर्तृत्व प्रधान हो गया। इस तरह सभी कुछ दोनों से प्रकल्पित या रचित है।। ३।।

अद्वैतसाक्षात्कार के बाद क्योंकि जड-चेतन कुछ भी अपने से भिन्न रहता नहीं इसलिये किसकी और किसके लिये इच्छा होगी! साक्षात्कार से पूर्व प्रतीयमान प्रपंच में कितना ईश्वर की और कितना जीव की रचना है यह बताते हैं—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः।। ४।।

ईक्षण से प्रारंभ होकर प्रवेश पर्यन्त हुई सृष्टि ईश्वर द्वारा कल्पित है। जाग्रत् से प्रारंभ होकर मोक्ष पर्यन्त संसार जीव द्वारा कल्पित है। (यह श्लो. ६.२१३ में भी आ चुका है।)

जीवों का जब कर्म फल देने वाला होता है तब परमेश्वर ही ईक्षण करके सृष्टि करते हैं। ईक्षण अर्थात् विचार-पूर्वक ईश्वर ने पंचमहाभूत बनाए। पंचमहाभूतों के सत्त्वगुण से उन्होंने ज्ञानेन्द्रियाँ और मन बनाये। रजोगुण से कर्मेन्द्रियाँ और प्राण बनाये। तमोगुण से पंचीकरण के द्वारा जो हमें प्रतीत हो रहे हैं इन विषयों को बनाया। कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन,-प्राण—सब बन गए पर आगे कुछ काम नहीं चला! तब परमेश्वर ने सोचा 'कथं न्विदं मदृते स्यात्।' मेरे संपर्क के बिना यह सब कैसा चलेगा! जैसे लट्टू-पंखा आदि उपकरण बिजली-संपर्क के बिना कुछ नहीं करते वैसे परमेश्वर-संपर्क के बिना संघात निश्चेष्ट रहता है। तब 'तत् सृष्ट्वा'—सृष्टि करके 'तदेवानुप्राविशत्'—उसीने प्रवेश कर लिया। जैसे ही परमेश्वर का जीवरूप से प्रवेश हुआ वैसे ही ज्ञानेन्द्रियाँ आदि सब चलने लग गए। यहाँ तक ईश्वर ही सृष्टि में प्रधान है। जीव का इतना ही योगदान है कि जीव के लिये बनाया गया है। जब सब चलने लग गए तब इन्हें स्वतन्त्रता दे दी कि 'मर्ज़ी आए सो करो, जो करोगे उसका फल देने के लिये मैं बैठा हुआ हूँ।' ईक्षण से लेकर प्रवेश तक ईश्वर की सृष्टि है।

प्रवेश कर लिया तो हम लोगों ने जाग्रत् अवस्था बनाई। इन्द्रियों के द्वारा जब बाह्य विषयों को देखते सुनते चखते छूते हैं, इसका नाम जाग्रत् अवस्था है। अवस्थायें जीव की हैं। जब इन्द्रियाँ थक जाती हैं पर मन नहीं थकता तब स्वप्न आता है। तब इन्द्रियाँ कुछ नहीं करेंगी, इन्द्रियों के बिना बाह्य जगत् का स्पर्श होगा नहीं, वहाँ मन खुद ही स्वप्नरूप संसार बना लेता है। जब मन भी थक गया, तब सुषुप्ति होती है। सुषुप्ति भी जीव की अवस्था है, वही उसमें अज्ञानमग्न रहता है अतः उसे भी जीवसृष्टि कहना संगत है। सुषुप्ति में परमेश्वर के साथ एक हो जाता है। गहरी नींद में सद् ब्रह्म से एक हो तो जाता है पर इस बात को जानता नहीं कि मैं किससे एक हुआ। एक होने पर भी ज्ञान नहीं होता कि मैं एक हूँ। अतः अज्ञान से होने वाली जो जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाएँ हैं वे अज्ञान से फिर प्रकट हो जाती हैं। इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाएँ बनाते हो। साधन आदि करके ज्ञान प्राप्त भी तुम ही करते हो। पुण्य कर्म करके स्वर्ग लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त जाते हो और पाप कर्म करके नरकादि योनियों को जाते हो; यह तुम्हारा ही काम है, परमेश्वर तो शक्ति दे रहा है। कभी किसी महापुरुष का सम्पर्क मिलने से तुम्हें पता लगा कि इस चक्र के अन्दर पड़े हुए हो। अन्यथा तो इसको चक्र जानते ही नहीं, सोचते हो कि बस यही वास्तविक है। जब इसे चक्र जाना तब धीरे-धीरे इसके प्रति आकर्षण कम होता है, विवेक

जाग्रत् होता है, वैराग्य आता है। जो करके मिलता है वह कभी स्थिर रहता नहीं, पर हमेशा आशा रहती है कि अगली चीज़ स्थिर रह जाएगी! एक लड़के ने बात नहीं मानी तो सोचते हैं कि दूसरा लड़का अच्छा निकल आएगा, नहीं तो तीसरा। उसने भी नहीं मानी तो लगता है शायद लड़की ही ठीक निकल आवे। ऐसे एक-के-बाद-एक आशा बाँधते रहते हैं। जैसे बटलोई में भात पका या नहीं जाँचने के लिये दो-चार दाने ही देखने पड़ते हैं वैसे विवेकवश ही संसार की असार चक्ररूपता का निश्चय करना पड़ता है तभी इससे बाहर निकलने का प्रयास होगा।

जब समझ में आये कि यह तो कुत्ते की पूँछ जैसा है, जैसे वह सीधी नहीं हो सकती वैसे यह स्थायी, सुखरूप नहीं हो सकता, तब इस दुःख की निवृत्ति की इच्छा होती है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा 'संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।' संसार में यह चीज़ निस्सार है, वह निस्सार है—ऐसा नहीं वरन् संसार ही निस्सार है। यहाँ कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिससे शान्ति हो सकती है क्योंकि एक दिन सभी ज़रूर चली जाएँगी। जब संसार की निस्सारता जान लेता है तब सार को देखने की इच्छा होती है। बोलने को रोज कहते हैं 'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्'—कि संसार का सार तो शिव है पर मन में जानते हैं कि रसगुल्ला सार है, बढ़िया कपड़ा सार है, अमेरिका जाना सार है, वहाँ जाएँगे तो सब ठीक हो जाएगा। जब संसार को निस्सार समझ लेते हो तभी जो इसका सार है उसे देखने की इच्छा होती है, अनुभव करने की इच्छा होती है। तब गुरु के पास जाते हो, वेदान्त का श्रवण करते हो, युक्ति से विचार करते हो, निरन्तर उसी में लगे रहते हो। फिर जब तत्त्व का साक्षात्कार होता है तब मुक्ति हो जाती है। जो अब तक कर्म कर रहा था उसी की ज्ञानसाधना करके मुक्ति होती है। इसलिये 'जाग्रदादि-विमोक्षान्तः' जाग्रत् से मोक्ष पर्यन्त सब जीव के द्वारा करने की चीज़ें हैं, उन्हें ईश्वर नहीं करता। जिस प्रकार तुम अश्वमेध करोगे तो परमेश्वर तुमको अश्वमेध का फल देंगे इसी प्रकार तुम श्रवण-मनन करोगे तो तुमको मोक्ष होगा। होता यह परमेश्वर की कृपा से ही है। तुमने एक दो किलो घी की आहुति दे दी और तुम्हें छत्तीस हजार साल के लिये स्वर्ग मिल गया! कोई तुक नहीं है कि इतना-सा करके इतना अधिक फल हो जाये। परन्तु ईश्वर का अनुग्रह है।

जैसे पिता के दिये जेबखर्चे के पैसों से बचाकर कभी पिता को कोई भेंट लाकर दे तो पुत्र पर पिता प्रसन्न हो जाता है पर क्या भेंट मिलने की प्रसन्नता है? नहीं। 'उसने कोशिश करके लाकर मुझे दिया' इस बात की प्रसन्नता है। इसी प्रकार दो-चार मन घी चढ़ा दिया तो भगवान् को कुछ मिल जाएगा क्या? सब कुछ तो उन्हीं का है। पर हमने उसने जैसा कहा, उसके अनुसार किया—इसलिये वह हमें स्वर्गादि लोक दे देता है। है यह उसका अनुग्रह। यह ठीक है कि हमने किया इसलिये मिला, लेकिन जो मिला और जो किया, उन दोनों के बीच कोई तोल का हिसाब नहीं है। इसी प्रकार जब हमने बाकि सब चीज़ों से मन

को हटा करके श्रवण मनन से आत्मदर्शन के अन्दर ही लगाया तब वह हमारे बंधन की निवृत्ति कर देता है। इसलिये आचार्य श्रीहर्ष कहते हैं 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'—अद्वैत का दृढ निश्चय वासनारूप से होना—यह परमेश्वर के अनुग्रह से ही संभव है। अगर हिसाब देखो तो अनन्त कल्पों में अनन्त जन्मों में बटोरी द्वैतवासना तीस-चालीस सालों की साधना से या दो-तीन जन्मों की साधना से मिट जाये यह कैसे संगत है! उसका अनुग्रह ही है कि यह संभव हो जाता है। जैसे किञ्चित् कर्म करने से बड़ा फल दे देता है वैसे ही किञ्चित् श्रवण-मनन करने से मोक्ष फल मिल जाता है। लेकिन किया किसने? हमने, जीव ने। अतः सारा संसार जीव द्वारा कल्पित है।। ४।।

पुरुष शब्द का अर्थ बतलाने के लिये जरूरी दोनों की सृष्टि बतला दी। अब पुरुष शब्द का अर्थ कहते हैं—

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासङ्गचिद्वपुः।
अन्योन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः।। ५।।

कूटस्थ, असंग, ज्ञानरूप आत्मा जो भ्रम का अधिष्ठान है, वही अन्योन्याध्यास से असंग बुद्धि में स्थित जीव हुआ जो प्रकृत श्रुति में पुरुष कहा गया है।

पुरुष कौन? जो स्वरूप से तो कूटस्थ असंग चिन्मात्र है। कूटस्थ है अर्थात् सारा कूट संसार उसी में प्रतीत होता है। कूट मतलब खोटा, झूठा। कूट उसपर स्थित है अतः वह अकूट है, सत्य है। कूटस्थ कहने से ही असंगता भी समझ आ जाती है परन्तु फिर भी स्पष्ट करने के लिये असंग कहा। स्वाभाविक और आगन्तुक सभी सम्पर्कों की यों निवृत्ति हो जाती है। इसलिये गीता में भगवान् ने कहा है कि आत्मा सर्वथा विकार से रहित है। चिद्वपु है अर्थात् चित्-स्वरूप है। यहाँ वपु मायने स्वरूप। चिद्वपु अर्थात् अनुभवस्वरूप है। किसी का अनुभव नहीं वरन् सर्वथा अविकारी अनुभवमात्र इसका स्वरूप है। जैसे मंदान्धकार में रस्सी का 'यह'-पना तुमने देखा मायने 'सामने कुछ है' तुम्हें दीखा और तब उसे साँप देखा। यह-पना जो तुमको दीखा वह रस्सी का है। इसलिये कोई कहेगा—'रस्सी है', कोई कहेगा 'माला है', कोई कहेगा 'पानी की लकीर है।' सब अलग-अलग बतायेंगे लेकिन सब कहेंगे कि 'यह अमुक है' अर्थात् यह के बारे में कोई मतभेद नहीं, यह तो निश्चित है। इसी प्रकार सबको *अनुभव* है। अनुभव है, वह तुम्हें दुःख दीख सकता है, सुख दीख सकता है, बेटा दीख सकता है, रसगुल्ला दीख सकता है। अनुभव नहीं होता तो क्या दीखता! अनुभव ऐसी चीज़ है जिसके विषय में कोई मतभेद नहीं। सारे भ्रमों का अधिष्ठान अनुभव है, यही स्वरूप है जिस आत्मा का वह 'भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा' कहा। अनुभव के अन्दर सबकी कल्पना अलग-अलग है पर अनुभव कूटस्थ असंग है।

जो चेतनमात्र शुद्ध है वही अन्योन्याध्यास से बुद्धिस्थ हुआ जीव है। जैसे 'यह साँप है' भ्रम में 'यह' के सम्बन्ध का अध्यास कर लेते हो 'साँप' में और 'साँप' का अध्यास कर लेते हो 'यह' में। इसलिये 'यह साँप है' यह दो अनुभव नहीं लगते। विवेक दृष्टि से तो

ये दो अनुभव हैं, एक पुरोवर्तिता का अनुभव, 'यह' का अनुभव है; दूसरा, सर्प का अनुभव है। पर यह और सर्प का आपस में एक-दूसरे पर अध्यास कर लिया, इसलिये अन्योन्याध्यास से 'यह सर्प है' यह एक ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार धी अर्थात् अन्तःकरण की जो अहंकारात्मिका वृत्ति है उसके अन्दर चिदाभास पड़ रहा है अर्थात् अहंकाररूप धी और चैतन्य का अन्योन्याध्यास हो रहा है।

चेतन तो अधिष्ठान है, उसका 'मैं' में अध्यास हो रहा है और 'मैं' का चेतन में अध्यास हो रहा है जिससे अनुभव है—'मैं चेतन हूँ'। बुद्धि की वृत्ति हुई अहंकार, उसके अन्दर जो चिदाभास पड़ा उससे लग गया कि मैं चित् का आभास नहीं, स्वयम् चित् हूँ, चेतन हूँ। यह अन्योन्याध्यास होकर संसार का सारा व्यवहार होता है। कर्ममार्ग में इस अध्यास को लेकर ही सब विधि-निषेध हैं। 'तुम भारतवर्ष में पैदा हुए हो, यहाँ की संस्कृति की रक्षा करना तुम्हारा काम है' यही कहेंगे। 'इस राष्ट्र के लिये बलिदान हो जाना तुम्हारा फ़र्ज़ है'—यह कहेंगे। भारतवर्ष में कौन पैदा हुआ? शरीर। तो शरीर चिन्ता करे संस्कृति की, इस देश की; 'मैं' थोड़े ही पैदा हुआ जो मैं इसकी चिन्ता करूँ! किन्तु सारे कर्मों का उपदेश अन्योन्याध्यास को लेकर ही है। प्राचीन काल में कहते थे—'तुम ब्राह्मण हो, वेद की रक्षा करना तुम्हारा काम है।' ब्राह्मण तो शरीर है। परन्तु शरीर और तुमको एक करके कहा जाता था। इसी प्रकार मन को लेकर उपदेश होगा—'धैर्य रखो'। धैर्य मन रखेगा। उपदेश किसे दे रहे हैं? *तुम* धैर्य रखना। या स्थूलशरीर को लेकर या सूक्ष्म शरीर मन इत्यादि को लेकर उपदेश होगा जो अन्योन्याध्यास से ही सम्भव है। जब तक इस बुद्धि में संग है तब तक उसमें जो स्थित है वह जीव है। 'असंगधीस्थ' कहने से बताया कि जब इसमें संग नहीं रहेगा तब जो उसमें जीव है वह पुरुष कहा जा रहा है। बुद्धि के साथ चेतन का, पुरुष का वास्तविक संबंध कभी नहीं होता जिस प्रकार साँप का रस्सी के साथ तीनों कालों में संबंध नहीं होता। रस्सी का 'यह' और 'साँप'—इनका अन्योन्याध्यास तुम करते हो पर उस साँप का उस रस्सी से स्पर्श तो क्षणभर को भी नहीं होता है! दस साल तक मृगी का जल देखते रहो पर क्या उससे बालू का एक दाना भी गीला होता है? इसी प्रकार अन्योन्याध्यास होने पर भी बुद्धि के साथ उसका संग तो बिलकुल भी नहीं है, पहले ही कह दिया कि वह तो असंग ही है।

अन्योन्याध्यास से भासमान जीव ही इस वेदवचन में पुरुष कहा गया है। अधिष्ठान कूटस्थ ही मेरा एकमात्र स्वरूप है। अतः अध्यास हटने से निर्विकार स्वरूप स्वतः बचता है। रोशनी आ जाने से अन्योन्याध्यास जैसे ही हटता है 'यह' और साँप' का, वैसे ही भयादि निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार अब तक पुरत्रय को लेकर, स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों को लेकर 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं भारतीय हूँ' इत्यादि सब अभिमान थे। अथवा 'मैं कामी क्रोधी हूँ' इत्यादि थे। अब पता लगता है कि मैं चेतन ऐसा कभी न था, न हूँ, न हो सकता हूँ, यह सब मुझे प्रतीति केवल भ्रम से हुई, अहंकार और चेतन के अन्योन्याध्यास से हुई, वैसे ही सारे अभिमान निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा नहीं होता कि 'मेरे अन्दर अन्तःकरण में प्रतीत होने

वाले काम क्रोध आदि का दोष आया है इसे कुछ तो दूर कर लूँ' वरन् किञ्चित् भी नहीं रह जाता। सदा शुद्ध अधिष्ठान ही अध्यस्त जीवभाव के अभिप्राय से पुरुष कहा गया है यह तात्पर्य है। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६.३.१३७) इस पाणिनिसूत्र से पुरुष-शब्द का 'पूरुष' रूप भी उचित है।। ५।।

यदि आभासमात्र जीव हो तो क्योंकि मोक्ष उसका होगा नहीं, मुक्त वही हो सकता है जो वास्तविक हो, अतः जीव की मुमुक्षा ही असंगत होगी। इसलिये कूटस्थ और आभास का अन्योन्याध्यास होने से जीव की अवस्थिति है ताकि कूटस्थ-भाग मुक्त हो सकता है। बिना कूटस्थांश के आभासमात्र सम्भव भी नहीं यह एक और युक्ति सूचित करते हैं—

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः।। ६ ।।

अधिष्ठान-समेत जीव मोक्षादि में अधिकार रखता है न कि केवल चिदाभास, क्योंकि बिना अधिष्ठान के भ्रम कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है।

भ्रम बिना अधिष्ठान के कहीं देखा नहीं गया। कोई-न-कोई सत्य चीज़ होती है तब उसमें झूठी का भ्रम होता है। भ्रम हमेशा अधिष्ठान में ही होगा, रस्सी में साँप दीखेगा, बिना रस्सी के तो साँप दीखेगा नहीं। यही बौद्धों के साथ हमारा मूल मतभेद है। बौद्ध कहते हैं कि सभी कुछ अध्यस्त है, मिथ्या है, कुछ भी सत्य नहीं है। उनका कहना है कि आत्मा भी शरीरादि में अध्यस्त प्रतीत होने से मिथ्या ही संभव है, सत्य नहीं। हम लोग कहते हैं कि अध्यास दो तरह का होता है : एक स्वरूपाध्यास है—जैसे रस्सी में सर्प का अध्यास। सर्प स्वरूप से अध्यस्त है मायने सर्प खुद ही अध्यस्त है। जो स्वरूप से अध्यस्त होता है वह मिथ्या होता है। सर्प स्वरूप से अध्यस्त है तो सर्प मिथ्या है। परन्तु सर्प के ज्ञान में 'यह' भी तो भासता है, 'यह साँप है।' साँप पाँच फीट लम्बा है, चार इंच चौड़ा है—आदि लम्बाई चौड़ाई या 'यहपना', पुरोवर्तिपना, ये सारे रस्सी में हैं। रस्सी इतने फीट की है इतने इंच की है, यह अर्थात् सामने है। 'यहपना' भी सर्प में अध्यस्त है क्योंकि साँप तो 'यह' नहीं है! परन्तु सामने कुछ है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई-पुरोवर्तिता का साँप में अध्यास है। यहपना, लम्बाई, चौड़ाई—ये सचमुच में हैं, उनका साँप में होना ही अध्यस्त है। यहपना, लम्बाई, चौड़ाई का संसर्ग अध्यस्त है, अर्थात् उसका संसर्ग, सम्बन्ध जो साँप से लग रहा है वह झूठा है। यहपना झूठा नहीं है परन्तु उसका सर्प में होना झूठा है। इसलिये जब रस्सी दीख जाती है तब भी प्रतीति होती है—'यह रस्सी है।' रस्सी भी दीखेगी पाँच फीट की, चार इंच चौड़ी। परन्तु सर्प बिलकुल नहीं दिखेगा। इसलिये लम्बाई, चौड़ाई , पुरोवर्तिता साँप में होना तो झूठा है लेकिन ये खुद झूठे नहीं हैं। जो संसर्ग से अध्यस्त होता है वह सच्चा होता है, उसका केवल संसर्ग ही झूठा है। जो स्वरूप से अध्यस्त होता है वह स्वयं झूठा होता है। साँप स्वयं झूठा है, पुरोवर्तितादि संसर्गतः दीखना झूठे हैं, स्वरूप से झूठे नहीं हैं।

निरधिष्ठान भ्रान्ति नहीं होती क्योंकि अधिष्ठान भी अध्यस्त-काल में किसी-न-किसी रूप में प्रतीत होता है। क्योंकि प्रतीत होता है अध्यस्त के साथ, अध्यस्त से अलग होकर नहीं प्रतीत होता, इसलिये भ्रम है, यदि अलग प्रतीत होता तो भ्रांति ही नहीं होती। श्रुति कहती है कि ब्रह्म सत् है। 'है'—बस, यह ब्रह्म का रूप है। 'है' की प्रतीति हम लोगों को है, अध्यस्त काल में भी है। इस समय भी हमको ब्रह्म दीख रहा है लेकिन नाम-रूप के साथ है, केवल ब्रह्म नहीं दीख रहा। 'घड़ा है' के अनुभव में 'है' का भी तो अनुभव है। किंतु 'है' घड़े में दीख रहा है। 'है' तो सच्चा है क्योंकि वह ब्रह्म है, परन्तु उसका घड़े में दीखना झूठा है, अध्यस्त है। यदि नाम-रूप को हटाकर सत् की दृष्टि करते हो तो अधिष्ठान की दृष्टि है। इसलिये एक जगह बतलाया है कि ब्रह्म को जानने का प्रयत्न क्या है—जो ब्रह्म से अतिरिक्त ये नाम-रूप हैं इन्हें हटाना। जैसे सामान हटाने से जगह 'हो' जाती है क्योंकि पहले से ही थी, केवल सामान से घिरी थी, अब घिरी नहीं रहती, वैसे सद्रूप ब्रह्म सर्वत्र है। उसको देखना, उसका साक्षात्कार करना है तो नाम-रूप हटा दो, ब्रह्म तो हमेशा है ही। जहाँ भी अध्यास होगा, गलत ज्ञान होगा, वहाँ अधिष्ठान होगा ही। संसार निरन्तर परिवर्तित हो रहा है जबकि 'है' एकरूप है। घड़ा कपड़ा तो बदलते हैं, 'है' में क्या बदलता है? योगी कहते हैं कि नाम-रूप की प्रतीति हटा दो। सारी योग साधना इसलिये है कि नाम-रूप की प्रतीति न रह जाए। निर्विकल्प समाधि में इस प्रकार से हटाओ तो समाधि काल में हटी रहेगी लेकिन व्यवहार-काल में फिर नाम-रूप आ जाएँगे। विचार के द्वारा जब नाम-रूप हटाते हो तब प्रतीत होते हुए भी निश्चय बना रहेगा कि ये नहीं हैं। वेदान्त और योग के दृष्टिकोण में यह फ़रक है।

क्योंकि बिना अधिष्ठान के भ्रम कहीं भी होता नहीं इसलिये कूटस्थ जो अधिष्ठान उसके साथ ही जीव है। जीव मुक्ति की इच्छा करता है। उसका जो मिथ्या चिदाभास रूप है वह मोक्ष में हट जाता है, कूटस्थ बच जाता है। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि 'जीव अपने नाश के लिये कैसे प्रवृत्ति करेगा?' क्योंकि जीव के ही सत्यांश का मोक्ष है। मुक्ति इत्यादि में अधिष्ठान के साथ जीव अधिकारी है। 'विमोक्षादौ' कहा क्योंकि अन्य व्यवहार में भी अधिकार ऐसे ही उपपन्न है। शरीर आदि यहाँ रह जाता है, मन स्वर्गादि जाता है, ब्रह्मलोक में जाता है। कर्म करने वाला तो शरीर-समेत है। कर्मकाण्ड के अन्दर जो कुछ भी करने को कहा वह शरीर से। बिना शरीर के तो कोई कर्म नहीं होगा! परन्तु फल मिलेगा किसे? मन को, शरीर को तो नहीं। कर्म शरीर करेगा और फल मन भोगेगा तो स्वर्ग जाने की इच्छा से शरीर काहे के लिये अग्निहोत्र करे? शरीर तो जाएगा नहीं। किंतु मैं एक ही हूँ—मन भी और शरीर भी। इसलिये शरीर से कर्म भी 'मैंने' किया और मन से स्वर्ग भी 'मैं' भोगता हूँ। एक हिस्से से भोगता हूँ इतने मात्र से यह नहीं कह सकते कि मैं नहीं भोग रहा। इसी प्रकार कूटस्थ और चिदाभास ने मिलकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन किया और मोक्ष कूटस्थ भोगता है फिर भी मैं मोक्ष भोग रहा हूँ। केवल चिदाभास का साधना में अधिकार नहीं, कूटस्थ और आभास के मिलेजुले रूप का होता है।। ६।।

अधिष्ठान-समेत आभास का संसार आदि से सम्बन्ध बताते हैं–

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते।
यदा तदाऽहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते।। ७।।

जीव जब अधिष्ठान से सम्बद्ध भ्रमांश को स्वरूप समझता है तब 'मैं संसारी हूँ' ऐसा अभिमान करता है।

अधिष्ठान के अंश से एक होकर अर्थात् कूटस्थ के साथ मिल करके भ्रमांश चिदाभास का अवलम्बन करता है तब जीव स्वयं को संसरणशील समझता है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों का अवलम्बन सूचित है। स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों के साथ कूटस्थ का अन्योन्याध्यास साक्षात् या परम्परा से होता है। श्रवणादि करोगे तो शरीर, कान आदि सबकी ज़रूरत है। शरीर में बैठ कर ही सुन सकते हो। भ्रमांश अर्थात् स्थूल शरीर वाला जो हिस्सा है उसको अपना स्वरूप समझना। कूटस्थ है पर कूटस्थ का भान नहीं है वरन् हमें तो शरीरद्वय वाला मैं दीख रहा हूँ जैसे साँप वाली ही लम्बाई आदि दीखती है। मैं के बारे में जितनी बातें सोचते हैं उनमें शरीर-मन को छोड़कर और कुछ भी हमारे सामने नहीं रहता है। शरीरद्वय हमें है भी दीखते हैं, उन्हीं में हमें ज्ञान भी होता दीखता है। भौतिक आदि भले ही हो, ईंट की तरह शरीर जड कभी अनुभव नहीं होता। इसलिये हम चेतन कहते हैं तो शरीर की भी चेतनता प्रतीयमान है। शरीर में चेतनता तो कूटस्थ की है पर हम जिस चेतन को समझते हैं वह शरीर वाला है। शरीर से विचारपूर्वक भिन्न समझें भी तो मन से चेतन पृथक् समझ नहीं आता। चेतन के साथ हम शरीर और मन को समझ रहे हैं। चेतन कूटस्थांश है, उससे संयुक्त भ्रमांश का अवलम्बन कर रहे हैं। जब तक ऐसा करते हैं तब तक 'अहम् संसारी' यह हमारा अभिमान है। चूंकि शरीर-मन का जन्म-मरण का चक्र चल रहा है इसलिये लगता है कि 'मेरा' जन्म-मरण का चक्र है। सचमुच में तुम्हारा आज तक जन्म-मरण हुआ नहीं है, हो ही नहीं सकता है, लेकिन चूंकि तुमने भ्रमांश का अवलम्बन कर लिया, शरीर-मन को अपना स्वरूप मान लिया, इसलिये शरीर-मन के जन्म या सुखी-दुःखी होने पर 'मैं सुखी-दुःखी' ऐसा समझ रहे हो। भ्रम दशा में 'मैं संसारी ही हूँ, जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ हूँ, किसी तरह इससे छूट जाऊँ। सुख-दुःख के चक्र में पड़ा हुआ सुख-दुःख से छूट जाऊँ'–यह कहते-समझते हैं। अन्योन्याध्यासपूर्वक भ्रमांश के सहारे 'संसारी ही हूँ'–ऐसा जीव अभिमान कर लेता है। ।।७।।

संसारी की तरह असंसारी अनुभूति भी अन्योन्याध्यास वाले जीव की उपपन्न करते हैं–

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते।। ८।।

चिदाभासरूप भ्रमांश का विचार से बाध कर मुख्यतः अधिष्ठान कूटस्थ को जब जीव 'मैं' समझता है तब जानता है कि 'मैं असंग चिद्रूप आत्मा हूँ'।

जब भ्रमांश का अवलम्बन न कर उसका तिरस्कार कर देता है तब मोक्ष का भागी होता है। तिरस्कार कर देता है अर्थात् मिथ्यात्व-ज्ञान से उसमें वास्तविकता की दृष्टि हटा लेता है। जब अध्यस्त को हटा लेगा तब केवल अधिष्ठान जो सच्चिदानंदरूप है, वही प्रधान रह जाता है। जब सच्चिदानंद प्रधान रह गया तब—'मैं चेतन रूप हूँ, शरीरद्वय के धर्मों से मेरा कोई संग है ही नहीं' यह जान जाता है। अध्यस्त रूप बताते हुए पिछले श्लोक में कहा था 'अभिमन्यते' अभिमान करता है, यहाँ कहा 'बुध्यते' अर्थात् समझ लेता है। रोज़ जब सुषुप्ति में जाते हो तब न तुमको शरीर का भान है, न मन का भान है पर अभिमान के कारण स्वयं को शरीर-मन वाला ही मानते हो। सुषुप्ति की बात करते हैं तो संसारी लोग कहते हैं—'सुषुप्ति की बात छोड़ो, जाग्रत् की बात करो।' इसी का नाम है अभिमान! तुम गहरी नींद में जाते हो? 'हाँ जाते हैं, पर उसकी बात छोड़िये। हमें तो जाग्रत् में ही अभिमान है।' वस्तुस्थिति को देखते हुए, समझते हुए भी नहीं मानना—यह अभिमान है। जीव-भाव अभिमान से है। 'स्थूल-सूक्ष्म शरीर मैं नहीं हूँ' यह सुषुप्ति में हमेशा अनुभव करके भी इसको नहीं मानना है, जाग्रत् वाले को ही मानना है, यह अभिमान संसार का हेतु है। भ्रमांश का तिरस्कार करके अधिष्ठान सचमुच में है। जब तुम अपने को संसारी समझते थे, तब भी अधिष्ठान वैसा ही था। इसलिये भ्रमांश छोड़ने पर चीज़ जैसी है वैसी ही समझने से इसे बोध कहा।। ८।।

'मैं असंग चिद्रूप आत्मा हूँ' इस समझ पर शंका उठाकर समाधान की प्रतिज्ञा करते हैं—

नासङ्गेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु।
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः।। ९।।

असंग आत्मा के बारे में 'मैं असंग हूँ' यों अहंकारवाचक मैं-शब्द का प्रयोग कैसे संभव है? सुनो—मैं के तीन तरह के अर्थ हैं, एक मुख्य और दो अमुख्य अर्थ हैं।

प्रश्न है कि असंग कूटस्थ मैं अहंकार कैसे होगा? अहंकार में एक तो है प्रत्यग्रूप और दूसरी है मैं-वृत्ति। मन की अहंकारात्मिका वृत्ति रहते हुए तो इसे अहंकार कहते हैं परंतु सुषुप्ति के बारे में तुम्हारा अनुभव है 'मैं बड़े सुख से सोया'; जब तुम सो रहे थे तब अहंकार की वृत्ति नहीं थी। अतः 'मैं सो रहा हूँ'—ऐसा अनुभव तो नहीं कर रहे थे, फिर भी उठकर कहते हो 'मैं सोया था' इसलिये गहरी नींद में सोने वाला एक 'मैं' है और जाग्रत् काल के अन्दर सब पदार्थों का भोग करने वाला भी कोई 'मैं' है। इसलिये मैं-शब्द का प्रयोग केवल अहंकार को लेकर ही नहीं है। जो प्रत्यगात्मा है उसे भी मैं-शब्द से कहते हैं। इस विभाग को न समझकर पूर्वपक्षी कहता है कि असंग में अहंकार युक्त नहीं है। चिदात्मा अविषय है, उस के बारे में अहम्-शब्द का प्रयोग कैसे हो सकता है! भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने इसलिये कहा है कि वह सर्वथा अविषय नहीं है 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' मैं इस प्रतीति

का विषय है। उस मैं को लेकर असंग कह रहे हैं। वही सुषुप्ति वाला मैं है। वहाँ अहंकार की वृत्ति नहीं है फिर भी उसका अनुभव मैं-रूप से होता है। अतः सिद्धान्ती समझाना शुरू करता है कि अहम् शब्द के तीन अर्थ होते हैं। उनमें से एक अर्थ मुख्य है, शक्य है और दो अर्थ अमुख्य हैं अर्थात् गौण हैं।। ९।।

पहले मैं-शब्द का मुख्य अर्थ बताते हैं—

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते।। १०।।

कूटस्थ और चिदाभास के परस्पर अध्यास के रूप में एकमेक हुआ स्वरूप मैं-का मुख्य अर्थ है, उसी अर्थ में मूढों द्वारा मैं-शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कूटस्थ और चिदाभास, इन दोनों का एक-दूसरे से अध्यास होने पर जो सम्पिण्डित एक स्वरूप प्रतीत होता है वह मैं-शब्द का लोकसिद्ध अर्थ है। 'मैं' सुनकर पहली उपस्थिति उसी की होती है इसी से वह मुख्य है। जिस शब्द को सुनकर जो अर्थ सभी को तुरन्त उपस्थित होता है वही मुख्य अर्थ कहा जाता है। जैसे पृथ्वी को भी गौ कहते हैं, गौ अर्थ सूर्य की किरण भी है, लेकिन गौ शब्द सुनते ही सब लोगों को पहली उपस्थिति सास्नादिवाले पशु की, गाय की ही होती है अतः वह मुख्य है। अगर वह अर्थ नहीं लगे तो दूसरे अर्थ उपस्थित होते हैं। यद्यपि अनेकार्थता भी संभव है तथा तब अनेक मुख्य अर्थ माने जाते हैं तथापि जहाँ तक हो सके अनेक मुख्य अर्थ न मानना ही दार्शनिकों को संमत है। यहाँ मुख्य अर्थ का मतलब 'सच्चा अर्थ' नहीं ले लेना वरन् शक्य अर्थ, शक्ति से समझ आने वाला अर्थ, मुख से बोलते ही जिस अर्थ का भान होता है वह विवक्षित है। कोई कहता है—'मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ,' तो 'मैं' से उसका शरीर भी प्रकट होता है, मन भी प्रकट होता है और कूटस्थ चेतन प्रकट होता ही है। इसलिये मैं शब्द का एक अर्थ हो गया कूटस्थ और चिदाभास दोनों मिलकर। अतः कहा 'एकीभूय' अर्थात् कूटस्थ व आभास हैं अलग पर अध्यास से एक होकर प्रतीत होते हैं, वह जो उनका एक लगता रूप उसे 'मैं' का मुख्य अर्थ जानना चाहिये। मूढ अर्थात् जिन्होंने कभी शास्त्र में बताया विवेक नहीं किया वे उसी अर्थ में प्रयोग करते हैं।। १०।।

अमुख्य अर्थात् लक्षणा से कहे जाने वाले बाकी दोनों अर्थ बताते हैं—

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित्।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके।। ११।।

अलग-अलग जो आभास और कूटस्थ वे मैं-के अमुख्य अर्थ हैं, उनके अभिप्राय से लौकिक व वैदिक व्यवहार में तत्त्वज्ञ क्रमशः मैं-शब्द का प्रयोग करता है।

कूटस्थ और चिदाभास को मिलाकर मैं-शब्द का प्रयोग तो साधारण आदमी, अविवेकी लोग करते हैं। जो विवेकी है उसने समझ लिया है कि मैं के अन्दर दो चीज़ें पड़ी हुई हैं—एक कूटस्थ चेतन और दूसरा चिदाभास, अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिफलित चेतन। अतः ये दोनों भी मैं के अर्थ तो हैं ही। खिचड़ी खाओगे तो चावल भी खाओगे ही, दाल भी खाओगे ही। खिचड़ी कहते हो तो एक मतलब दोनों का मिला हुआ रूप है और दूसरा खिचड़ी के अन्दर वाले चावल और दाल भी अर्थ हैं। ऐसे ही अविवेकी ने जिन दोनों को मिलाया वे कूटस्थ और आभास भी मैं कहे जा सकते हैं किन्तु उन्हें मैं-का अमुख्य अर्थ ही माना जायेगा। ये अमुख्य इसलिये कि सुनते ही नहीं वरन् विचार करने से प्रतीत होते हैं, सामान्यतः प्रतीत नहीं होते। तत्त्ववित्—जिसने कूटस्थ और अहंकार को अलग जान लिया है, उनकी वास्तविकता जानने वाला, वह इन अर्थों के लिये भी प्रकरणानुसार मैं शब्द का प्रयोग करता है। 'पर्यायेण' अर्थात् एक-एक करके। लोक में अर्थात् अपारमार्थिक अर्थ के लिये जब वह मैं शब्द का प्रयोग करता है तब आभास के अर्थ में कर लेता है। आत्मज्ञान भाषा को नहीं बदलता है! कई लोग सोचते हैं कि भाषा बदलने से ज्ञान का पता लगता होगा। किसी से पूछें—आपका नाम क्या है? जवाब में कहेंगे—'शरीर को यज्ञदत्त कहते हैं।' बतलाना चाहते हैं कि 'मैं शरीर नहीं हूँ'। पूछने वाला भी शरीर का ही नाम पूछ रहा है और तुम यदि जवाब दो—'मेरा नाम देवदत्त है' तो तुम्हारा मतलब भी शरीर के नाम से ही होगा। तत्त्वज्ञ को कोई प्रदर्शन तो करना नहीं अतः लोक में जिस भाव से 'मैं' बोलते हैं उस भाव से वह भी बोल देता है। अन्तर यह रहता है कि वह भ्रम में नहीं पड़ता कि उस मैं के बारे में कही बात कूटस्थ पर लागू होती है। मूढ तो 'मैं कर्त्ता' कहकर आत्मा को कर्त्ता समझता है, ज्ञानी आभास को ही कर्त्ता समझता है।

'वैदिके' अर्थात् जब वह 'अहम् ब्रह्मास्मि' कहता है तब उसके 'अहम्' का मतलब कूटस्थ है, चिदाभास नहीं। 'मैं ब्रह्म हूँ' कहते हैं तो मैं मायने कूटस्थ, न कि आभास। अहंकार को थोड़े ही ब्रह्म कह रहे हैं! कूटस्थ को ही ब्रह्म कह रहे हैं। तत्त्ववेत्ता इस बात को जानता है। वैदिक प्रयोग 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि का करता है तो तत्त्वज्ञ अहम् का अर्थ कूटस्थ ही समझता है। चूंकि जिसको सुना रहा है वह अभी नहीं जानता है इसलिये उसे समझाता है कि अहम् के दो अर्थ हैं। इसीको पदार्थ-शोधन कहते हैं। जैसे, सोने को शुद्ध करने का मतलब है—सोने के अन्दर पड़ी हुई खोट को हटा देना। खोट हटाओगे तो सोना खुद शुद्ध है ही। इसी प्रकार मैं-पदार्थ का शोधन करना है तो उसमें जो खोटा, मिथ्या हिस्सा है—स्थूल-सूक्ष्म शरीर और चिदाभास—उस सबको हटा देना है, कूटस्थ स्वयं ही बच जायेगा। तत्त्वज्ञ यह शोधन कर चुका है अतः वह जब 'अहम् ब्रह्मास्मि' कहता है तब 'अहम्' से उसका मतलब कूटस्थ ही है। वह जैसा प्रसंगानुसार आवश्यक हो वैसा प्रयोग कर लेता है। मूढ इस विवेक को नहीं जानता अतः दोनों को मिला-जुला ही समझता है।। ११।।

क्रमशः प्रयोग को ही दो श्लोकों द्वारा समझाते हैं—

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ।। १२।।

'मैं जा रहा हूँ' इत्यादि लौकिक व्यवहार में विद्वान् कूटस्थ से अलगकर चिदाभास कहना चाहता है।

जब जीवन्मुक्त महापुरुष लौकिक व्यवहार, लोक के संदर्भ में होने वाला व्यवहार करता है जैसे कहता है 'मैं जा रहा हूँ' तब अहम् का मतलब स्थूल-सूक्ष्म शरीर वाला चिदाभास, यह उसका मतलब है। चिदाभास-कूटस्थ के एकमेक हुए रूप में से चिदाभास को अलग करके ही ऐसा व्यवहार करता है। उसे भ्रम नहीं है कि कूटस्थ और चिदाभास एक हैं। इसलिये जब जनक ने पूछा याज्ञवल्क्य से कि 'महाराज! आप खाली गायों की दक्षिणा लेने के लिये आए हैं या कुछ ब्रह्मविचार करने के लिये आए हैं?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'दोनों के लिये आया हूँ। तू योग्य मुमुक्षु है इसलिये ब्रह्मविचार भी करूँगा और आश्रम के लिये गायें चाहिये इसलिये वे भी माँगने आया हूँ।' जब वे आत्मवर्णन करेंगे तब उनका 'आत्मा' से कूटस्थ अर्थ होगा, जब गायें ले जाने की बात कहेंगे तब 'ले जाने वाला मैं चिदाभासरूप हूँ' यह अर्थ होगा। पर्याय अर्थात् क्रम से प्रयोग होता है अर्थात् एक बार में एक ही तात्पर्य रहता है, उसमें कहीं भ्रम नहीं होता। भ्रम वाले दोनों को मिलाकर प्रयोग करते हैं अतः आभास में कूटस्थ की विशेषता देखना चाहते हैं या कूटस्थ में आभास के दोष देखने लगते हैं! प्रसिद्ध है कि कौवे की आँख का डोया एक ही होता है, वही कभी दायीं गोलक से देखता है, कभी बाँयी से। ऐसे ही ज्ञानी कभी कूटस्थ को मैं कहता है, कभी आभास को। जैसे दोनों गोलकों से कौवा नहीं देखता वैसे दोनों के मिले-जुले रूप को ज्ञानी 'मैं' नहीं समझता या कहता।

जैसे दीपक शब्द है। दीपक का अर्थ ज्योति भी होता है और बत्ती इत्यादि को धारण करने वाले मिट्टी के बर्त्तन को भी कहते हैं। दोनों चीज़ें दीपक शब्द से कही जाती हैं। प्रसंग के अनुसार दीपक शब्द का अर्थ लगाना पड़ता है। अथवा बिजली शब्द समझ लो; जब कहते हैं 'बिजली वाले को बुलाओ पंखा नहीं चल रहा है' तब 'बिजली वाले' का मतलब होता है—पंखे के यन्त्र को ठीक करने वाला। और जब कहते हैं 'बिजली वालों को खबर दो यहाँ बिजली नहीं चल रही है।' तब मतलब होता है तार के अन्दर बिजली का जो प्रवाह है उसे व्यवस्थित करने वाला। लौ प्रकाशरूप है, खुद को व आस-पास वाले को दिखाती है जबकि मिट्टी का बर्तन आदि दीपक-पदार्थ ऐसा नहीं, अप्रकाशरूप है। इसी प्रकार आत्मा सब चीज़ों का प्रकाश करता है, उसका प्रकाश कोई नहीं करता। आत्मा का प्रकाश है ज्ञान। आत्मा तो सब चीज़ों को जानता है पर आत्मा को कोई नहीं जानता। आत्मा शरीर को जब प्रकाशित करता है तब शरीर चेतन लगता है, ज्ञान वाला लगता है। मन को प्रकाशित करता है तो मन ज्ञानवाला लगता है। इसी प्रकार बुद्धि की अहंकारात्मिका वृत्ति को प्रकाशित

करता है तो अहंकार वृत्ति ज्ञान वाली लगती है। परन्तु आत्मा केवल स्वयम् ज्ञानस्वरूप है। दूसरे उसके ज्ञानको धारण करते हैं अतः उन्हें भी 'जानने वाला' कह सकते हैं, परन्तु वे स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं। जब अहम् भी प्रकाशित नहीं होता है तब भी प्रकाशरूप आत्मा रहता ही है भले ही किसी को जान नहीं रहा। ऐसा क्यों मानना? शास्त्र तो उसे नित्य ज्ञानरूप कहता ही है, लेकिन गहरी नींद में यह बात पता भी लग जाती है। गहरी नींद में न अहम् जाना जा रहा है, न मन जाना जा रहा है, न शरीर जाना जा रहा है और बाहर की चीज़ों को जानने का तो प्रश्न ही नहीं। परन्तु फिर भी वहाँ ज्ञानरूप आत्मा मौजूद रहता है तभी 'मैं सुखसे सो रहा था, कुछ पता नहीं लगा' ऐसी याद आती है। अहम् शब्द प्रायः जानने वाले के लिये प्रयुक्त होता है। परन्तु ज्ञानरूप के लिये भी इसका प्रयोग संगत है क्योंकि ज्ञानरूप के होने से ही जानने का काम होता है। 'जानना' अर्थात् अनित्य ज्ञान तभी संभव है जब अहंकारादि को नित्य ज्ञान से ज्ञानाभास उपलब्ध हो। जब अहम् का अर्थ ज्ञानरूपमात्र होगा तब वृत्ति अर्थ नहीं, वृत्तिज्ञान को मैं नहीं कहेंगे। तब केवल ज्ञान-स्वरूप अर्थ है जिसे कोई जानता नहीं। 'कोई जानता नहीं' इतने मात्र से वह जाना नहीं गया—ऐसा भी नहीं है! जैसे दीपक की लौ को किसी ने प्रकाशित नहीं किया इसका मतलब यह नहीं कि वह प्रकाशमान नहीं है। 'आत्मा कभी जाना नहीं जा सकता' सुनकर कहोगे 'फिर आत्मज्ञान के लिये जो सारा प्रयत्न करते हैं, क्या वह बेकार है?' बेकार नहीं है। क्योंकि आत्मा 'प्रत्यक्' है 'प्रातिलोम्येन अञ्चति' यह प्रत्यक् शब्द की व्युत्पत्ति है। बाकि सब चीज़ें तो ज्ञान से जानी जाती हैं। आत्मा उनसे विपरीत, बिना ज्ञान का विषय बने हुए ज्ञानरूप है। जैसे बाकि सब चीज़ें रोशनी से प्रकाशित होती हैं परन्तु खुद रोशनी तो किसी रोशनी से प्रकाशित नहीं होती! 'रोशनी से प्रकाशित नहीं होती' तो क्या वह अन्धकाररूप है? इसी प्रकार ज्ञान का विषय न बनने से उसे 'जाना जाता है' या 'कोई उसे जानता है' यह नहीं किंतु वह अज्ञायमान भी नहीं। अहम् पद का एक अर्थ तो यह आत्मा हुआ जो प्रत्यक् है, साक्षी है। अहंकार या चिदाभासरूप मैं भी प्रकाशरूप ही प्रतीत होता है इसलिये उसे भी मैं कहते ही हैं। उसका प्रकाश निजी न होकर आभास है यह तो विवेकी ही समझता है, सामान्यतः तो आभास ही ज्ञानरूप माना जाता है और 'मैं' कहलाता है। तत्त्वज्ञ को साक्षी विवक्षित होने पर आभास में प्रतीयमान ज्ञानरूपता के अभिप्राय से वह 'मैं' शब्द का ही प्रयोग साक्षी के भी लिये कर लेता है। अतः साक्षी में 'मैं' शब्द लक्षणा से प्रवृत्त होता है। जैसे अहम् बाकी सब चीज़ों की अपेक्षा प्रत्यक् है वैसे आत्मा सभी की अपेक्षा या निरपेक्ष प्रत्यक् है। अन्य तो सब अहम् जानता है, आत्मा उस अहम् को भी जानता है।

यह भी समझाने के लिये कहते हैं कि आत्मा अहं को जानता है क्योंकि ऐसा नहीं कि 'जानना' रूप कोई क्रिया आत्मा करे वरन् इतना ही है कि जो कुछ सत्ता में आता है वह आत्मस्वरूप ज्ञान से भासित हो जाता है अतः अहंकार भी सत्ता में आते ही आत्मा द्वारा जाना जाता, कहा-समझा जाता है। जैसे लोग घट-बढ़ जाने से प्रकाश की चेष्टा में अंतर नहीं आता, खाली कमरे में जैसे प्रकाश फैला होता है, लोग आने पर भी वैसा ही फैला

रहेगा, लोगों को प्रकाशित करने के लिये उसे कुछ करना नहीं पड़ेगा, वैसे ज्ञान को ज्ञेयभान के लिये विकृत नहीं होना पड़ता। भौतिक प्रकाश में भले ही प्रत्यावर्त्तन आदि सूक्ष्म विकार हों, आत्मप्रकाश में वे भी नहीं क्योंकि भौतिक प्रकाश व उसके प्रकाश्य तुल्यसत्ताक हैं जबकि सभी ज्ञेय ज्ञान से न्यूनसत्ताक हैं। स्वप्रकाश आत्मा वैसा का वैसा रहता है, जब अहम् आदि उसके सामने आते हैं तो वे प्रकाशित हो जाते हैं इसलिए आत्मा को प्रकाशक कह सकते हो। अतः अहम् का लक्ष्यार्थ आत्मा हो गया। अहम् शब्द का जो प्रयोग रात-दिन करते हैं, वह अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रकट प्रकाश को आत्मा से एकमेक कर समझे जाते रूप के लिये अतः वह उसका वाच्यार्थ हो गया। चूंकि अहंकारात्मिका वृत्ति स्वप्रकाश नहीं है इसलिये कूटस्थ के प्रकाश से प्रकाशित हो रही है अतः कूटस्थ को साथ रखना ज़रूरी हो जाता है जिससे मूढ अन्योन्याध्यास वाले को ही मैं-पदार्थ समझ पाते हैं।

अब जो अहंकार की वृत्ति को प्रकाश वाला बनाने से सब चीज़ों का भी प्रकाशक है वह कूटस्थ मैं का लक्ष्यार्थ हो गया और कूटस्थ समेत वृत्ति वाला वाच्यार्थ हो गया। साधारण आदमी इस भेद को नहीं समझने से वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ को एक ही समझता है। तत्त्वज्ञ इस भ्रम से रहित है अतः या कूटस्थ को मैं कहता है, या आभास को मैं कहता है। तत्त्वज्ञ द्वारा कहे दोनों अर्थ लक्ष्य हैं, अमुख्य हैं। मूढ एकमेक हुए को कहते हैं, वही मुख्य, वाच्य अर्थ है। विवेकी क्योंकि दोनों को स्पष्ट रूप से जानता है इसलिये तीसरे अर्थ का उसके लिये कोई मतलब नहीं है। व्यवहार-काल में वह चिदाभास के अर्थ में प्रयोग करेगा, और जिस समय तत्त्वमस्यादि का उपदेश देगा, उस समय लक्ष्यार्थ के लिये प्रयोग करेगा।। १२।।

लौकिक व्यवहार बता चुके। अब शास्त्रीय व्यवहार में कूटस्थ के लिये प्रयोग दिखाते हैं—

असङ्गोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः।
अहंशब्दं प्रयुङ्क्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः।। १३।।

'मैं असंग चिद्रूप आत्मा हूँ' यों शास्त्रीय दृष्टि से अहं-शब्द का तत्त्वज्ञ प्रयोग केवल कूटस्थ के लिये करता है।

विवेकी ने जैसे चिदाभास के लिये अहम् का प्रयोग किया वैसे ही जब शास्त्रीय दृष्टि से विचार करता है अर्थात् उपदेश आदि करता है तब 'मैं असंग हूँ' बताते समय 'मैं' का अर्थ आत्मा कहता है। यहाँ मैं का अर्थ चिदाभास नहीं है। ज्ञानी जब विचार करता है तब चिदाभास को तो 'मैं' कह नहीं रहा है। वह तो 'असङ्गोहम्' अर्थात् जब वह कहता है 'मैं असङ्ग हूँ' तब उसका मतलब होता है कि कूटस्थ असङ्ग है। अविवेकी को लगता है कि आभास असंग होगा! फिर उसमें आसक्ति अनुभव करता है अतः शंकायें उठाता है जबकि आवश्यकता विवेक की है ताकि पता चले कि असक्त कौन है। इसी प्रकार से चिदात्माहम्—मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ। लोक में तो सब चीज़ों को जानने वाला अहम् है ही। परन्तु यहाँ मैं से लक्षित कूटस्थ लेना पड़ेगा क्योंकि चेतनरूप तो वही है। इस प्रकार लक्षणा करके

वह शास्त्रीय दृष्टि से प्रयोग करता है। 'शास्त्र' से यहाँ वेदान्त शास्त्र समझना क्योंकि कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड में तो चिदाभास को ही 'मैं' कहा गया है। 'राजा राजसूयेन यजेत', राजसूय यज्ञ क्षत्रिय करे। क्षत्रिय तो शरीर है। अतः कर्मकाण्ड के अन्दर शरीर को भी साथ रखना पड़ता है। कूटस्थ अर्थ में प्रयोग न कर्मकाण्ड में आएगा, न उपासनाकाण्ड में आएगा, केवल उपनिषदों में ही आएगा। इसलिये 'शास्त्रीयदृष्टि' का मतलब है वेदान्त शास्त्र की दृष्टि। यह जो ज्ञानी, विवेकी है वह शास्त्रीय अहमर्थ बताते हुए अहं शब्द का प्रयोग करता है केवल कूटस्थ के लिये। 'केवले' अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति को भी हटाकर चिदाभास को छोड़ करके, कूटस्थ के लिये ही इसका प्रयोग है क्योंकि केवल कूटस्थ ही असंग है, चिद्रूप है। जो अविचारशील है वह अहम् का अर्थ दोनों को मिलाकर समझता है और ज्ञानी अहम् शब्द का अर्थ हमेशा विवेक-पूर्वक कभी आभास के लिये और कभी कूटस्थ के लिये करता है। प्रसंग के अनुसार प्रयोग करता है, हर हालत में कभी उन्हें मिला-जुला नहीं समझता क्योंकि इसका अध्यास निवृत्त हो चुका है।।।१३।।

प्रश्न होता है कि 'असङ्गोहम्'—यह क्या कूटस्थ जानता है या चिदाभास जानता है? अकेला कूटस्थ तो जान नहीं सकता। अहंवृत्तिद्वारा ही जान सकता है। जैसे रेडियो तरंगें मौजूद होने पर भी ट्रांजिस्टर-यंत्र के बिना सुनी नहीं जा सकतीं ऐसे कूटस्थ मनोवृत्ति के बगैर विषयों को नहीं जानता। अहंकारात्मिका वृत्ति को लेकर सब चीज़ों को जान लेता है परन्तु यदि अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं है तो भी कूटस्थ ज्ञानरूप रहता है लेकिन किसी को प्रकाशित नहीं करता। जैसे रेडियो यंत्र में ही शक्ति है कि यहाँ मौजूद रेडियो की लहरों को प्रकट करे ठीक इसी प्रकार अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति में ही शक्ति है कि कूटस्थ से ज्ञान लेकर सब चीज़ों को जाने। अगर ऐसा नहीं होता तो कूटस्थ असंग नहीं रह सकता था। असंग चिद्रूप कूटस्थ न कभी जानता है, न कभी नहीं जानता है, वह तो ज्ञानरूप है। ज्ञानरूप कूटस्थ अहंकारात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध वाला होकर ही 'जानने वाला' बनता है। 'सम्बन्ध वाला' भी केवल समझाने के लिये कह रहे हैं। जैसे सामने आने से रोशनी वाले लट्टू का तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध हुआ नहीं वैसे कूटस्थ का सम्बंध भी होता नहीं। तुम यहाँ आए तो तुम्हें प्रकाश मिला—इतना तो ठीक है पर लट्टू को तो कुछ नहीं मिला! उसी प्रकार कूटस्थ के सामने अहम् आया तो प्रकाश लेकर सब चीज़ों का प्रकाशक बन गया परन्तु कूटस्थ में कोई संग, कोई विशेषता, कोई अंतर नहीं है, वह तो वैसा का वैसा है। अतः 'जानना', 'नहीं जानना'—ये दोनों अहंकारात्मिका वृत्ति वाले चिदाभास में ही रहेंगे। वही नहीं जानने वाला है, और वही जानने वाला है। कूटस्थ न कभी जानने वाला है, न कभी नहीं जानने वाला है। इसलिये शंका होती है—

ज्ञानिताऽज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम्।। १४।।

ज्ञानीपना व अज्ञानीपना तो आभास के ही होते हैं न कि आत्मा के तो फिर आभास 'मैं कूटस्थ हूँ' कैसे समझे?

आत्माभास, चिदाभास के अन्दर ही ज्ञानीपना और अज्ञानीपना है। चिदाभास ही जानता है तो ज्ञानी कहा जाता है, नहीं जानता है तो अज्ञानी कहा जाता है। आत्मा न जानता है, न नहीं जानता है। प्रकाशरूप होने से 'नहीं जानने वाला' उसे नहीं कह सकते। असंग होने से जानने वाला भी नहीं कह सकते। इसलिये चिदाभास ही जानेगा या नहीं जानेगा। यदि ऐसा है तो चिदाभास 'मैं कूटस्थ हूँ'—कैसे जानेगा? जब सभी कुछ आभास जानता है तब 'मैं आत्मा हूँ' इसे भी चिदाभास ही जानेगा। लेकिन चिदाभास तो कूटस्थ है नहीं! चिदाभास ने अपने को कूटस्थ जाना तो भ्रम ही कहा जाएगा! भगवान् ने आसुरी सम्पत्ति में गिनाया है—'ईश्वरोहम्' 'मैं ईश्वर हूँ' यह अभिमान। वेदान्ती बार-बार कहते हैं 'तुम ही ईश्वर हो' तो क्या भगवान् ने उसे आसुरी सम्पत्ति में गिना है? नहीं, क्योंकि 'ईश्वरोहम्' के आगे ही भगवान् ने कहा 'अहम् भोगी सिद्धोहम् बलवान् सुखी'। 'मैं ईश्वर हूँ' वेदान्ती कहता है तो वह उस 'मैं को कह रहा है जो असंग है, अभोगी है। आसुरी सम्पत्ति वाला कहता है 'मैं ईश्वर हूँ' तो वह समझता है कि जो यह भोगी चिदाभास है वही ईश्वर है। हिरण्यकशिपु भी यही कहता था 'मैं ही ईश्वर हूँ' पर 'मैं' से कूटस्थ नहीं समझता था। सामान्यतः किसी को उपदेश देते हैं 'मैं ब्रह्म हूँ'—तो वह कहता है 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ।' उसका मतलब होता है कि चिदाभास ब्रह्म नहीं है। अतः चिदाभास स्वयं को ब्रह्म समझे यह ग़लत है। यदि चिदाभास ही जानने वाला है तो यह प्रमा कैसे मानी जा सकती है कि मैं कूटस्थ हूँ? पूर्वपक्षी का कहना है कि कूटस्थ तो कूटस्थ को जानता नहीं है और चिदाभास अगर जानेगा तो भ्रम होगा; तो फिर मोक्ष कैसे होगा?।। १४।।

उक्त शंका का समाधान करते हैं—

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान्।
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात् कूटस्थत्वावशेषणात्।। १५।।

(वेदान्तानुसार निर्विकार आत्मा समझा ही नहीं जा सकता) यह दोष नहीं है। चिदाभास का निज अस्तित्व केवल कूटस्थ है। क्योंकि आभासता मिथ्या है इसलिये (उसका बाध होते ही जो आभास प्रतीत हो रहा है वह) कूटस्थरूप से बना रहता है।

कूटस्थ निर्विकार होने से प्रमाणज ज्ञान पायेगा नहीं, आभास स्वयं को निर्विकार समझे तो भ्रम होगा अतः आत्मबोध कैसे? अर्थात् असंभव है, यह पूर्वश्लोक में दोष दिया था। इसके परिहार के लिये बताते हैं कि चिदाभास की असलियत तो कूटस्थ है। संसार के सब पदार्थ 'हैं' परन्तु कूटस्थ के प्रकाश को नहीं ले पाते इसीलिये जड कहे जाते हैं। लोकव्यवहार में हम ईंट-पत्थर को जड क्यों कहते हैं? परमात्मा वहाँ भी है क्योंकि 'है' यह भी परमात्मा

का ही स्वरूप है। ऐसा कुछ नहीं है कि हम में परमात्मा ज़्यादा होवे और ईंट-पत्थर में कम होवे! वह तो पूर्ण है, सब जगह एक जैसा है। सब जगह एक जैसा होने पर भी उसके ज्ञानरूप को हम तो ले पाते हैं, ईंटादि कोई नहीं ले पाता। जहाँ अन्तःकरण होगा वहीं चेतन का प्रकाश आ सकेगा। मौजूद तो चेतन सब जगह है। जैसे रेडियो की लहरें मौजूद सब जगह हैं परन्तु जहाँ औजार होगा वहीं पकड़ में आएँगी इसी तरह जहाँ अन्तःकरण, मन होगा, वहीं ज्ञान पकड़ में आएगा, और किसी में नहीं आ सकता है। अन्तःकरण बाकी सब चीज़ों से अलग क्यों है? ज्ञान को लेता है इसलिये। इसलिये उसकी असली विशेषता तो ज्ञान ही है। अतः 'मैं कूटस्थ हूँ' समझना अर्थात् जानना कि मेरी ज्ञानरूप विशेषता कूटस्थ ही है। मुझ में आकर कूटस्थ ही चिदाभास की तरह लग रहा है परन्तु है कूटस्थमात्र ही। प्रश्न था कि ज्ञान किसको होना है? जो अहम् के अन्दर चिदाभास पड़ रहा है उसका वास्तविक स्वभाव है कूटस्थ। ज्ञानरूप जिस विशेषता के कारण मैं अर्थात् आभास 'मैं' अर्थात् प्रत्यग्रूप से भासमान हूँ वह कूटस्थ है यह तात्पर्य है। अतः चिदाभास ही जानेगा। जब वह जानता है 'मेरी असलियत कूटस्थ है' तब भ्रम ज्ञान नहीं है क्योंकि उसकी वास्तविकता वही है।

यद्यपि आभास में दूसरा स्वभाव भी है ही, वृत्ति वाला, क्योंकि वृत्ति में जो प्रतिबिम्बित हो रहा है या अवच्छिन्न हो रहा है वह आभास है तथापि 'कूटस्थैकस्वभाववान्' इसलिये कहा कि कूटस्थ स्वभाव सत्य है, दूसरा झूठा है। जिस अन्तःकरण की वृत्ति के कारण चिदाभास प्रतीत हो रहा है वह अन्तःकरण महाभूतों का विकार होने से मिथ्या है। मिथ्या को अलग से गिनकर नहीं कह सकते हैं कि दो हैं। जब तक समझ नहीं थी तब तक लगता था कि मैं ज्ञानरूप भी हूँ, परिवर्तनशील भी हूँ। किंतु मिथ्या और सत् का कभी जोड़ नहीं हुआ करता है। गणित शास्त्र में समझाते हैं कि रुपया का जोड़ रुपये से ही होगा, रुपये को तुम रुपये से ही जोड़ सकते हो। रुपये को पैसे से नहीं जोड़ सकते। एक रुपया और एक पैसा मिल कर दो नहीं हो सकते; न वे दो पैसे होंगे, न दो रुपये होंगे। इसी प्रकार सच्ची चीज़ सच्ची से ही सद्वितीय हो सकती है, मिथ्या से सद्वितीय नहीं होती। मिथ्या जोड़कर सत्य को दो नहीं बना सकते। आभासता मिथ्या है। मिथ्या वाला हिस्सा है आभास, वह हट गया तो कूटस्थता ही अवशिष्ट रह जायेगी। अज्ञान-काल के अन्दर मैं अपने को परमेश्वर से अलग समझता था। परमेश्वर का ज्ञान ही नहीं—यह सर्वथा मूढ की अवस्था है। उसके बाद जब परोक्ष ज्ञान हुआ तब पता लगा कि मैं के साथ हमेशा परमेश्वर बैठा हुआ है क्योंकि शास्त्र कहता है कि ईश्वर सारे प्राणियों के मन में बैठा हुआ है। भगवान् कहते हैं 'ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेर्जुन तिष्ठति' अतः हृदयदेश में रहने वाले, मन में रहने वाले दो हुए—एक 'मैं' और दूसरा ईश्वर। जब पता लगा कि मैं और ईश्वर तो माया के कारण प्रतीत हुए हैं, सत्य एक ही परमात्मा है तब वह 'मैं' हटकर केवल एकमात्र परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। कूटस्थ इसलिये बच जाता है क्योंकि परमात्मा से अतिरिक्त जितना है सब मिथ्या है। जैसे पूछें कि 'सूर्यादि के बताने पर किसने जाना कि मैं कौन्तेय

हूँ?' तो यही कहेंगे कि राधेय ने जाना। खुद को कौंतेय जानने से पूर्व वह स्वयं को राधेय ही जानता था। ऐसे ही चिदाभास जानता है कि 'मैं कूटस्थ हूँ'—यह निर्दोष बात है।। १५।।

चिदाभास ने जाना कि 'मेरी वास्तविकता कूटस्थ है' तो जो जाना वह सत्य होने पर भी 'जानना' मिथ्या होगा क्योंकि जानने वाला आभास मिथ्या है परन्तु इससे अविद्यानिवृत्ति नहीं रुकती यह समझाते हैं—

कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत्।
न हि सत्यतयाऽभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम्।। १६।।

'कूटस्थ हूँ' यह ज्ञान भी क्या मिथ्या है? कौन कहे कि नहीं है! रस्सी में दीखे साँप का हट जाना सत्यरूप से स्वीकार नहीं होता।

पूर्वपक्षी कहता है कि—'मैं वस्तुतः कूटस्थ हूँ' यह अहंकारात्मिका वृत्ति वाला चिदाभास ही जानेगा। जब चिदाभास मिथ्या है तो उसका यह बोध, जानना भी मिथ्या है। सिद्धान्ती कहता है— हमने कब कहा कि मिथ्या नहीं है! जैसे हमने रस्सी में साँप देखा। उसके बाद रोशनी हो गई तो 'साँप नहीं रहा'। दो अनुभव हुए—एक, साँप है और दूसरा, साँप नहीं है। साँप ही मिथ्या है तो 'साँप है' भी मिथ्या और 'साँप नहीं है' भी मिथ्या ही है! साँप सत्य होता और जाता तब कहते कि नहीं है। 'यह साँप नहीं है' तभी कहा जब वह साँप दीखा था। जैसे रस्सी का साँप और रस्सी के साँप का हट जाना, दोनों ही मिथ्या हैं। रस्सी तो वहाँ जैसी है वैसी ही रहेगी। रस्सी में ही सर्प देखा और सर्प का हटना देखा। इसी प्रकार चिदाभास ने अपनी वास्तविकता को नहीं जान कर अपने को जन्म-मरण वाला देखा। जब उसे पता लगा कि 'मैं कूटस्थ हूँ' उसका अनुभव है 'मेरा जन्म-मरण नहीं रहा'। जन्म-मरण थे कब जो अब नहीं रहे? जब समझ रहा था 'जन्म-मरण हैं' तब भी तो नहीं थे। अतः जानना-रूप प्रमाणज वृत्ति मिथ्या है इसमें संदेह नहीं, सिद्धान्ती को स्वीकार है।। १६।।

यदि ज्ञान मिथ्या है तो इससे संसार हटना नहीं चाहिये, संसार की निवृत्ति कैसे होगी? इस पर कहते हैं—

तादृशेनाऽपि बोधेन संसारो हि निवर्तते।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः।। १७।।

वैसे बोध से भी संसार निवृत्त होता ही है। सांसारिक लोग कहते ही हैं कि यक्ष के अनुसार भेंट दी जाती है।

चिदाभास का जो बोध हुआ 'मैं कूटस्थ हूँ,' वह 'मैं' के रहते हुआ इसलिये मिथ्या होने पर भी संसार की निवृत्ति हो जाती है। मिथ्या बोध से संसार की निवृत्ति नहीं होती—ऐसी बात नहीं है। मान लो स्वप्न में तुम रेल-लाईन पार कर रहे हो और तुम्हारा पैर लकड़ी के

फट्टे में फँस गया। जब तक उसे निकालो तब तक धड़ाधड़ाती हुई रेल पहुँच जाती है! स्पष्ट दीखता है कि बस, ऊपर चढ़ने ही वाली है। ऐसी परिस्थिति के अन्दर जो भयंकर वेदना होती है उससे आँख खुल जाती है। कभी भी भयंकर वेदना होवे तो आँख खुल जाती है। आँख खुल कर तुम इधर-उधर देखते हो—रेल तो नहीं है। विचार करो, जो रेल नहीं थी उसके द्वारा तुम जग गये लेकिन जगना तो सत्य रहा। ऐसा तो नहीं कि झूठी रेल से जगे हो इसलिये तुम जगे नहीं हुए! ठीक इसी प्रकार चिदाभास का जो 'कूटस्थोऽस्मीति' बोध वह झूठा होने पर भी हमें अपने ब्रह्मरूप में जगा देता है। झूठी चीज़ से सत्य की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा नहीं है। केवल स्वप्न का ही दृष्टांत नहीं हैः हम पुस्तक बाँच रहे हैं, विद्यारण्य स्वामी ने श्लोक बनाए, उनको बाँच रहे हैं। क्या बाँच रहे हैं? शब्द को तो कान से सुना जाता है, आँखों से देखा नहीं जा सकता! फिर आँख से क्या देख रहे हैं? लिपि, जो 'शब्द' नहीं है। एक गोला बनाया, सामने एक दण्डा खड़ा कर दिया, घोड़े की पूँछ लगा दी, और कहते हो 'इसको क कहो।' 'क' तो वह है जो तुम्हारे कण्ठ से निकलता है। यद्यपि जो हम बाँच रहे हैं वह विद्यारण्य स्वामी का शब्द नहीं है तथापि इसको बाँचने से जो ज्ञान होता है वह सच्चे शब्द का हो जाता है। एक नहीं अनेक दृष्टांत मिलते हैं जिनके अन्दर झूठ को मानकर सत्य का ज्ञान हो जाता है। रेखागणित जितना है सारा झूठ का मामला है। बिन्दु क्या है?— जिसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई नहीं होती। तीनों नहीं हों, तब उसे बिन्दु कहते हैं। ऐसा कहीं कोई बिन्दु तुमने देखा है, बना सकते हो? जो भी बनाओगे उसमें कुछ न कुछ लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई होनी ही हैं। खुर्दबीन से देखोगे तो दीख भी जाएँगी। रेखा वह है जिसमें चौड़ाई नहीं होती। कैसी भी रेखा खींचो, कितनी भी पैन्सिल पतली कर लो, फिर भी उसमें कुछ न कुछ चौड़ाई रहेगी। सारी रेखागणित यह मानकर है कि बिन्दु होता है, रेखा होती है। परन्तु उनसे जब हम हिसाब लगाते हैं तो जो ज्ञान होता है वह सच्चा है। बिन्दु और रेखा जो हम बनाते हैं वे सच्ची नहीं हैं परन्तु उनसे जो ज्ञान होता है वह सच्चा है। इसी प्रकार चिदाभास कूटस्थ से अपनी असली एकता जानता है तो वह 'जानना' मिथ्या है परन्तु उससे जो अपने स्वरूप का ज्ञान होता है वह सच्चा है इसलिये संसार निवृत्त हो जाता है।

लोक में प्रसिद्ध है 'जैसा देव वैसी पूजा'। लोगों को 'भूत' चढ़ता है। ऐसे 'चढ़ने' वाले को प्रेत, यक्ष आदि भी कह देते हैं। उसे उतारने के लिये उसे भेंट देनी पड़ती है। जो भेंट माँगे वही देने से जाता है। मुर्गा माँगे तो कुँहड़ा देने से नहीं जायेगा। वैयाकरण अगर यक्ष बने तो व्याकरण की समस्या सुलझाने को कहता है। यक्ष यदि वेदान्त शास्त्र के विषय का जानकार है तो तत्सम्बद्ध उत्तर से शान्त होता है। बृहदारण्यक में एक गंधर्व का प्रसंग है जो सूत्रात्मा के बारे में प्रश्न पूछता था। अतः जैसा यक्ष होता है वैसी ही बलि देनी पड़ती है। इसी प्रकार मैं बद्ध हूँ—यह मिथ्या ज्ञान है। इसे हटाने के लिये—'मैं मुक्त हूँ'—यह मिथ्या ज्ञान ही चाहिये। ये दोनों मिथ्या ज्ञान हटने पर कूटस्थ अवशिष्ट रह जाता है। लौकिक प्रसिद्धि है ही कि जैसा यक्ष होवे वैसी ही बलि देनी चाहिये।। १७।।

जिस श्रुति का विचार कर रहे हैं उसमें 'पुरुष' शब्द के अर्थ का विचार चल रहा है। चिदाभास का वास्तविक रूप कूटस्थ ही है इसलिये चिदाभासरूप प्रतीत होता कूटस्थ ही पुरुष शब्द का वाच्य है। लक्ष्य हुआ कूटस्थ और चिदाभास का रूप लिया हुआ वही कूटस्थ 'पुरुष' शब्द का वाच्य है। उस पुरुष को 'अयमस्मीति' आत्मा समझ आयेगा यह प्रसंग पूरा करते हैं–

तस्मादाभासपुरुषः सकूटस्थो विविच्य तम्।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः।। १८।।

अतः आभासरूप 'पुरुष' कूटस्थ-समेत है। वह कूटस्थ को आभास से पृथक् कर 'मैं कूटस्थ हूँ' समझ सकता है—यह 'पुरुषोऽस्मि' इस श्रुतिभाग ने कहा।

क्योंकि कूटस्थ ही झूठ-मूठ चिदाभास का रूप धारण किए प्रतीत हो रहा है, कूटस्थ में कोई विकार नहीं, फिर भी अज्ञानान्धकार के कारण वह चिदाभास प्रतीत होता है, इसलिये 'सकूटस्थः' अर्थात् कूटस्थ के साथ जो चिदाभास है वह पुरुष शब्द का वाच्य है। 'तम्' अर्थात् कूटस्थ का विवेक कर 'मैं चिदाभास नहीं, कूटस्थ हूँ' समझना संभव और उचित है। साधक को पहले अन्वेषणा करनी है कि द्रष्टा और दृश्य में क्या फ़र्क है। दृश्य वह है जो देखा जाता है और द्रष्टा वह है जो देखने वाला है, देखता है। 'मैं' द्रष्टा हूँ और बाकी सब दृश्य हैं क्योंकि उन्हें मैं जानता हूँ। यह पहला कदम है। जानने वाला जो मैं वह अपने को ब्राह्मण क्षत्रिय आदि शरीर के कारण समझ रहा हूँ, सुखी-दुःखी आदि मन के कारण समझ रहा हूँ, कमज़ोर-मजबूत आदि प्राण के कारण समझ रहा हूँ, मूर्ख-समझदार आदि बुद्धि के कारण समझ रहा हूँ। इनमें से सचमुच मैं कौन हूँ?—'मैं द्रष्टा हूँ, बाकी सब दृश्य है'—जब इतना हृदय में जम जाए तब 'मैं शरीर से लेकर बुद्धि-पर्यन्त जो अलग-अलग समय में अलग-अलग रूप धारण करता हूँ उनमें वस्तुतः कौन हूँ?'—यह विवेक कर्त्तव्य है।

जैसे गिरगिट अगर पीले पत्तों के बीच में जाती है तो पीली हो जाती है, लाल फूलों के बीच में जाती है तो लाल हो जाती है, हरे पत्तों के बीच में गिरगिट जाती है तो हरी हो जाती है। जिस वातावरण में गिरगिट जाती है उसी रंग की हो जाती है, ठीक इसी प्रकार मैं शरीर के साथ जाता हूँ तो शरीर ही हो जाता हूँ। सिर में यदि दर्द होवे तो मैं दर्द वाला हो जाता हूँ; यही अनुभव करता हूँ कि मुझे दर्द है। चाहे जितना कोई कहे कि 'अरे, सिर में दर्द होने दे, तेरा क्या!' तो क्या कहोगे? 'मैं ही तो सिर हूँ।' उसके बाद किसी ने गाली दी, दुःखी हो गए। तुम क्यों दुःखी होते हो? उसने डण्डा तो मारा नहीं। अभी तुम कह रहे थे 'मैं सिर हूँ, शरीर हूँ'। सिर पर डण्डा मारते तो दुःखी होते। उसने खाली गाली दी, फिर काहे के लिये दुःखी हो? कहते हो 'मन मैं ही तो हूँ'। गिरगिट की तरह कभी शरीर के साथ मैं हो जाता है, कभी मन के साथ हो जाता है। इसलिये अगला विवेचन साधक को करना है कि मैं सचमुच में कौन हूँ। इसका विवेचन करते-करते समझेगा कि शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त नहीं, मैं तो केवल अहंकारात्मिका वृत्ति वाला हूँ। क्योंकि बाकी सबको मैं अलग-अलग समय में जानता हूँ, वे मेरा दृश्य हो जाते हैं इसीलिये मैं केवल द्रष्टा हूँ,

पंचकोष दृश्य ही हैं। दीर्घ काल की साधना से ही यह भी हृदय में स्थिर हो पाता है कि मैं कोष नहीं, इनका द्रष्टा हूँ।

जब केवल मैं ही रहूँ—बाकी चीज़ें 'मैं' कहने से मेरे सामने न आवें, 'मैं' से केवल जानने वाला उपस्थित हो, तब आगे मैं का विवेचन करके देखो कि 'मैं भी हर समय नहीं रहता! चेतन तो हर समय रहता है पर गहरी नींद में 'मैं' नहीं रहता, चेतन तब भी रहता है। जो चेतन गहरी नींद में भी रहता है वही कूटस्थ है। गहरी नींद में वह जानता नहीं कि 'मैं कूटस्थ हूँ'। चेतन व्यापक है और मैं अहंकारात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध वाले क्षेत्र में ही हूँ। संसार में जितने 'मैं' हैं सबके अन्दर चेतन एक ही है। इसलिये मैं के अन्दर एक तो 'हमेशा रहना' नहीं है, दूसरा, व्यापकता नहीं है। वेद कहता है कि ब्रह्म व्यापक और चेतन है। इसलिये 'मैं' की वृत्ति को भी छोड़ कर जो चेतनमात्र है वही आत्मा है। 'मैं हूँ'—इस को भी जो जानने वाला है वह शास्त्रोक्त आत्मा है। संसार में जितने 'मैं' हैं, सारे गहरी नींद में नहीं रहते, चेतनरूप रहता ही है। इसी तरह चेतन की व्यापकता और नित्य होना दोनों सिद्ध हैं। मैं-रूप से, आभासरूप से नित्य नहीं हूँ, गहरी नींद में नहीं रहता, परन्तु चेतनरूप से नित्य हूँ। इसी प्रकार मैं-रूप से व्यापक नहीं हूँ क्योंकि मैं तो हर-एक जीव का अलग-अलग है, परन्तु सारे 'मैं' चेतनरूप हैं अतः चेतन व्यापक है। इस प्रकार विवेक पूर्वक आत्मा को स्पष्ट समझने पर वेद ने जो कहा 'तू ब्रह्म है'—वह बिलकुल अनुभव में अपरोक्ष हो जाता है। कूटस्थ के साथ चिदाभास प्रतीत हो रहा है, उसे विवेक पूर्वक ठीक से समझना आवश्यक है, तब 'मैं कूटस्थ हूँ' इसका अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। 'विज्ञान' का अर्थ अनुभव है। गीता में भगवान् ने भी कहा—'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' विज्ञान के साथ ज्ञान बताऊँगा। ज्ञान अर्थात् वह समझना जो शास्त्र में कहा है, परोक्ष बोध। अपरोक्ष ज्ञान, साक्षात्कार ही विज्ञान है। आत्मा का विवेक कर लेने पर इस बात का विज्ञान अर्थात् अनुभव हो जाता है कि मैं कूटस्थ हूँ।

'कूटस्थोस्मि' जानने पर भी पुराने संस्कार रह जाते हैं इसलिये फिर-फिर भूल जाएँगे। जब-जब भूल जाएँ तब-तब तुरन्त कूटस्थोऽस्मि का निश्चय दुहराना पड़ेगा। एक बार प्रतीत हो गया, इतने से काम नहीं होता। जिस प्रकार से, बादलों से बिजली चमकी और हमें सामने का पेड़ दीख गया। अपरोक्ष ज्ञान हुआ है, साक्षात् ज्ञान हुआ है पेड़ का परन्तु बिजली चमकती है तो एक निमेष के बाद खत्म हो जाती है। फिर हमें पेड़ नहीं दीखता। जब सूर्य उदय होता है तब भी पेड़ देखते हैं, वही पेड़ दीखता है जो बिजली की रोशनी में दीखा था परन्तु अब उसे अच्छी तरह से देख लेते हैं अतः उसके बारे में निःसन्दिग्ध हो जाते हैं, सन्देह कोई नहीं रह जाता। इसी प्रकार एक बार समझनेमात्र के बाद बार-बार अभ्यास करते-करते तब सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। इस तात्पर्य से कहा 'विज्ञातुम्'। उसका निःसन्दिग्ध साक्षात्कार करना ही योग्य है। पूर्व प्रकरण में बताया था कि ज्ञान का प्रभाव है कि फिर अहंग्रन्थिका उदय नहीं होता, फिर कभी चिदाभास के अन्दर अपनी मैं-प्रतीति नहीं होती। चिदाभास अहंकार के कारण मेरा प्रतिबिम्ब है और प्रतिबिम्ब होने से झूठा है—यह भान रहता है। 'मैं प्रतिबिम्ब हूँ'—ऐसी प्रतीति सर्वथा नहीं रह जाती। आभास के

बारे में स्पष्ट रहता है कि मेरे जैसा दीख रहा है परन्तु मैं नहीं हूँ। 'मैं' अर्थात् प्रत्यगात्मा। 'अयमस्मीति विजानीयात्' श्रुति बता रही है कि चिदाभास में अस्मद्बुद्धि न रहे ऐसा प्रत्यक्साक्षात्कार अवश्य प्राप्तव्य है। 'अस्मि' शब्द इसी बात को स्पष्ट करने के लिये कहा।।१८।।

'पुरूष' से कहा कूटस्थ के साथ चिदाभास को और अस्मि से कहा विवेक करके 'कूटस्थ ही हूँ'—यह बात जानना। अब 'अयम्' शब्द का विचार करते हैं—

असन्दिग्धाऽविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते।
तद्वद् अत्रेति निर्णेतुम् अयमित्यभिधीयते।। १६।।

देहरूप आत्मा के बारे में जैसा संशय-विपर्ययरहित अनुभव हो रहा है वैसा प्रत्यगात्मा के बारे में सम्पन्न करना चाहिये यह निर्णय करने के लिये 'यह' यों कहा गया है।

'अयम्' अर्थात् यह-शब्द का प्रयोग जो चीज़ बिलकुल सामने अपरोक्षरूप से अनुभव होती है, साक्षात् होती है, उसके लिये करते हैं। जो दूर होती है उसे 'वह' कहते हैं। जो सामने होती है उसका ज्ञान कैसा होता है? उसके बारे में कोई सन्देह नहीं रहता है और न कोई विपरीत ज्ञान रहता है। सामने देवदत्त दो फुट, तीन फुट की दूरी पर खड़ा है तो सन्देह भी नहीं है कि 'यह देवदत्त है या नहीं' जैसा एक फर्लाङ्ग दूर दीखे तो होता है। इसी प्रकार चार फुट दूर पर पर्याप्त प्रकाश में ठूंठ है तो विपरीत ज्ञान नहीं होता कि आदमी बैठा है। यदि ठूंठ फर्लाङ्गभर दूर है, कोई भागते हुए आकर कहे 'देखो, भूत आ गया', तो विपरीत ज्ञान हो जाता है कि ठीक ही कह रहा है, भूत है। जो सामने स्पष्ट है उसे कहते हैं—'यह', जिसके बारे में कोई संशय नहीं और कोई विपरीत ज्ञान नहीं। अभी 'मैं' का ऐसा बोध कहाँ है? इस समय शरीर में है, 'शरीर मैं हूँ'—इसमें कोई संशय नहीं होता। चाहे जितना शास्त्र और युक्ति समझायें, 'शरीर-मन आदि मैं हूँ' के बारे में कोई संशय भी नहीं होता तो इससे विपरीत, 'मैं शरीर नहीं अन्य कुछ हूँ' यह तो संभावना ही नहीं।

लौकिकों के द्वारा शरीररूप आत्मा स्पष्ट समझा जाता है। शरीर को ही 'मैं' मान करके सारा काम करते हैं। रोज़ सपने में जाते हैं तो स्थूल शरीर वहाँ नहीं होता। इसका भी अनुभव होता है खुद अपने को। पर सपना झूठा लगता है, शरीर झूठा है—ऐसा कभी सन्देह भी नहीं होता! स्वप्न में रोज़ अनुभव हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ परन्तु 'मैं शरीर हूँ' यह ज्ञान ऐसा संशय-विपर्यय-रहित है कि आदमी कहता है 'सपने की बात जाने दीजिए, हूँ तो मैं शरीर ही'। फिर सुषुप्ति के अन्दर दोनों शरीर नहीं रहते, वह तो आगे की बात है।

जैसे यह देखने में आता है वैसे ही 'अत्र' प्रत्यगात्मा के विषय में संशय और विपर्यय से रहित ज्ञान होवे इसके लिये प्रयास करना चाहिये। प्रत्यगात्मा कूटस्थ है इसके विषय में कोई कुछ और कह देवे तो भी संशय नहीं होना चाहिये। अत्यन्त दुःख के अन्दर शरीर लोट-पोट होता है। शरीर की ऐसी वेदना की दशा में भी, 'मैं कूटस्थ हूँ' यह अनुभव नहीं

जाये। प्रत्यगात्मा के विषय में ऐसा असन्दिग्ध और अविपर्यस्त ज्ञान होना चाहिये। जीवन्मुक्ति काल में चिदाभास से लेकर शरीर तक प्रतीत तो सब होते रहेंगे। जब तक ज्ञान असन्दिग्ध अविपर्यस्त नहीं हो गया है तब तक पुराने संस्कारों से लगेगा कि ये भी मैं हूँ। पुनः पुनः विचारादि से 'ये भी मैं नहीं हूँ, मैं तो कूटस्थ ही हूँ' इसका निश्चय स्थिर करना पड़ेगा। प्रत्यगात्मा के विषय में वैसा ही ज्ञान हो जाए इस बात को निर्णीत करके कहने के लिये अयम्-शब्द का प्रयोग किया। बहुत बार दूसरे विद्वान् ही संशय विपर्यय डाल सकते हैं! कोई कहेगा 'तुम्हारी बीमारी पुराने पाप का फल है, प्रायश्चित्त कर लो।' उस समय भी मन में न आये कि मुझ आत्मा का कोई पाप है। आभास के दुःख, रोग से आभास का पाप माना जाये पर मैं आभास न होने से पापहीन हूँ—यह निश्चय कायम रहना चाहिये। जब तक संसार के पदार्थों के प्रति अर्थात् शरीर-मन तक सब चीज़ों में वैराग्य की तीव्रता नहीं है, तब तक संस्कार जग जाएँगे। शास्त्रकारों ने कहा है 'वैराग्यस्य फलं बोधः'। वैराग्य हो तभी ऐसा दृढ बोध हो पाता है अन्यथा होता नहीं।। १९।।

अब सूचित करते हैं कि जो बात हमने कही है, इसको भगवान् भाष्यकार ने भी उपदेशसाहस्री (४.५) में कहा है—

'देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं　देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते'।। २०।।

देह मैं हूँ—इस ज्ञान की तरह आत्मा ही मैं हूँ—यह ज्ञान देहात्मज्ञानका बाध करता है। यह जिसे हो जाये वह न चाहते हुए भी मुक्त होता है।

हमें दृढ ज्ञान है कि मैं शरीर हूँ। सन्देह नहीं है लौकिक पुरुष को कि मैं शरीर हूँ। वैसा ही दृढ ज्ञान होवे कि 'मैं शरीर नहीं ही हूँ' तो देहात्मभाव का बाध करने वाला बनता है। 'मैं देह नहीं, मैं तो कूटस्थ ही हूँ' यह निश्चय बाधक ज्ञान है। देहात्मज्ञान का बाध करने वाला ऐसा ज्ञान अपने बारे में जिसको होता है उसका मोक्ष निश्चित है। 'आत्मा' से यहाँ प्रत्यगात्मा समझना अर्थात् देहात्मा को छोड़कर कूटस्थ समझना। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस ज्ञान से 'मैं स्थलू-सूक्ष्म शरीर वाला हूँ' इसका बाध हो जाता है कि मैं स्थूल-सूक्ष्म शरीर वाला नहीं हूँ, मैं तो कूटस्थ ब्रह्म ही हूँ। जिसकी सारी कामनाएँ निवृत्त हो गई उसकी मोक्ष की कामना भी नहीं है। फिर भी यह ज्ञान मुक्त ही करेगा, इच्छा नहीं है—इससे अन्तर नहीं पड़ेगा। जिसे अविकम्प बोध हो गया, वह मुक्त हो ही गया इसलिये 'आगे मुक्त होगा कि नहीं' यह सन्देह ही नहीं होता। जो हमें प्राप्त नहीं है उसी की इच्छा होती है। जब तक हमें मुक्ति प्राप्त नहीं है तब मुक्ति की इच्छा होती है। जब पता लगता है कि 'मैं नित्य मुक्त हूँ' तब मुक्ति की 'इच्छा' नहीं रहती। विवेकी किससे मुक्त होना चाहता है? संसार के सारे अनुभवों से, 'संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया'। *संसार में* कोई चीज़ अच्छी है कोई चीज़ बुरी है—ऐसा जो समझता है वह मुक्ति के योग्य है नहीं! संसार सारा ही निस्सार है, इसलिये

संसार को निस्सार समझकर सार को जो देखना चाहे वही विवेकी है। जब 'मैं ब्रह्म हूँ' ज्ञान अविकम्प होता है तब 'मैं संसारी हूँ' यह तो प्राप्त ही नहीं है तो इससे छूटने की इच्छा कैसे हो सकती है? इसलिये इच्छा न होने पर भी उसकी मुक्ति हो ही जाती है। अर्थात् मोक्ष वस्तुधर्म है, तुमको ज्ञान हुआ तो तुम मुक्त हुए—ऐसी बात नहीं है, तुम तो नित्यमुक्त हो, अज्ञान के कारण अपने को अमुक्त समझ रहे थे। ऐसा नहीं है कि पहले तुम बद्ध हो और फिर मुक्त हो जाओगे। अगर बद्ध रहकर कभी मुक्त होते तो तुम्हारी मुक्ति नित्य नहीं होती। नियम है कि जो पैदा होता है वह एक दिन ख़त्म हो जाता है। यदि तुम मुक्त हो, भूल से, झूठमूठ तुमने अपने को बद्ध समझ लिया, तब तो ज्ञान से भूल दूर होकर नित्य मुक्तता प्रकट हो जायेगी। इस ज्ञान के होने पर मुक्ति की 'इच्छा' नहीं रह जाती क्योंकि मुक्तरूप ही है।। २०।।

'अयम्' का भाव बताया कि निःसंदिग्ध और भ्रमरहित ज्ञान प्राप्तव्य है। और भी अर्थ कहते हैं—

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम्।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः।। २१।।

'यह' यों अपरोक्षता कही जाती हो तो (यहाँ भी) कही जाये क्योंकि स्वयम्प्रकाश चेतन हमेशा अपरोक्ष है।

'अयं' या 'यह' तो कोई चीज़ बिलकुल सामने हो उसे कहते हैं। क्या आत्मा ऐसा सामने आ जाता है? प्रत्यगात्मस्वरूप है तो सामने आएगा नहीं। सामने आए तो दृश्य होगा! जो 'यह' यों दीखता है वह दृश्य होता है। जो देखता है वह ब्रह्म हो सकता है, जो दीखता है वह तो कभी ब्रह्म हो ही नहीं सकता। 'यह' शब्द से जो दीखता है उसे कहा जाता है। लोक में कहते हैं 'यह घड़ा है।' अनात्मा, दृश्य ही यह कहलाता है। जो सामने हो, परोक्ष हो, दूर न होवे उसी को यह कहते हैं। ब्रह्म तो सामने नहीं हो सकता फिर उसके ज्ञान को 'अयमस्मि' ('यह हूँ') कैसे कहा? उत्तर है कि अयम्‌का मतलब परोक्ष नहीं है—बस इतना ही तो है। जब कहते हो 'सामने है' तब मतलब है कि परोक्ष नहीं है। स्वयंप्रकाश चैतन्य तो कभी भी परोक्ष नहीं होता! वह है ही अनुभवरूप। ठीक जिस प्रकार से आदमी, घड़ा आदि तभी दीखता है जब वह रोशनी से ढँका हो लेकिन रोशनी खुद दीखती है, किसी रोशनी से उसे ढँका नहीं होना पड़ता। घड़े को दीखने के लिये तो रोशनी की ज़रूरत है पर रोशनी को दूसरी रोशनी की ज़रूरत नहीं है। जैसे रोशनी घड़े को दिखाते हुए अपने को भी दिखाती है वैसे ही अनुभव के द्वारा घड़े का अनुभव होते हुए उस अनुभव का भी अनुभव हो रहा है उसके लिए कोई दूसरा अनुभव नहीं चाहिए। घड़ा तो रोशनी में ही दीखेगा परन्तु अंधेरे में 'घड़ा नहीं दीख रहा' यह अनुभव तो हो ही रहा है। अनुभव हमेशा अपरोक्ष ही

होता है, कभी भी परोक्ष नहीं होता। उसी को स्वयम्प्रकाश कहा। जड प्रकाश से अलग करने के लिये चैतन्य कह दिया। वह हमेशा ही अपरोक्ष है। अतः 'यह' कहा जाये इसमें कुछ अनुचित नहीं। बिना किसी साधन से भासता हुआ जो तत्त्व हमसे किसी तरह दूर नहीं, उसे 'यह' कहना ही ठीक है। 'यह' शब्द अपरोक्ष चीज़ को कहता है और स्वात्मा अपरोक्ष है ही। 'यह' के लिये 'सामने होना' ज़रूरी नहीं, निकटता ही ज़रूरी है और आत्मा सर्वाधिक निकट है ही अतः 'यह' कहा जाने लायक है।। २१।।

स्वप्रकाश आत्मवस्तु न जानी जाये, परोक्षतः जानी जाये, अपरोक्ष जानी जाये—इसे सोदाहरण उपपन्न करते हैं—

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद् दशमे यथा।। २२।।

सदा अपरोक्षस्वरूप के बारे में भी परोक्ष और अपरोक्ष दोनों तरह का ज्ञान एवं अज्ञान, दोनों वैसे ही हो सकते हैं जैसे दसवें के बारे में होते हैं।

स्वयंप्रकाश चैतन्य जो ब्रह्म वह नित्य अपरोक्ष है परन्तु वेद उसको परोक्ष भी मानता है क्योंकि वेद कहता है कि यदि परोक्षरूप से ब्रह्म को जान लिया तो भी तुम सत्पुरुष हो गए। यदि परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता ही नहीं तो कैसे कह दिया कि परोक्ष ब्रह्म ज्ञानवाले को सत् समझना चाहिये? अतः कहते हैं कि अपरोक्ष चीज़ भी परोक्ष हो जाती है। यह अज्ञान की महिमा है। जड चीज़ रस्सी, चेतन साँप बन जाती है। रस्सी जड है पर अज्ञान की ऐसी महिमा है कि चेतन बन जाती है अथवा सारी आर्द्रता को, पानी को पी जाने वाला जो बालू का समुद्र, उसमें मृगी का जल दीख जाता है! बालू ही जल हो गया, मतलब बिना हुए हो गया। जैसे बालू पानी हो जाती है, रस्सी साँप हो जाती है, वैसे ही अपरोक्ष ब्रह्म परोक्ष हो जाता है। और ऐसा परोक्ष होता है कि लोग दुनिया भर में घूमते हैं : रामेश्वरम् चलो, केदारनाथ चलो, कैलास मानसरोवर चलो, अमरनाथ चलो—कहीं तो होगा, शायद कहीं मिल जाए। ऐसा परोक्ष है कि सब जगह से घूमकर लौटने पर कहते हैं कि 'सब जगह हो आये लेकिन अभी तक भगवान् का दर्शन हुआ नहीं।' वहाँ क्या करने गए थे? भगवान् का दर्शन ही तो करने गए थे। परमात्मा इतना परोक्ष है कि आदमी सर्वत्र ढूँढता है! यह अज्ञान की महिमा है। तुम्हारे 'मैं' के भी अन्दर पड़ा हुआ है पर ऐसा परोक्ष है कि रामेश्वर से केदारनाथ तक घुमा देता है। अतः आत्मवस्तु परोक्ष नहीं हो सकती—यह नहीं कह सकते। अपरोक्ष चीज़ भी परोक्ष हो गयी है। परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानों का जोड़ा एक बात और अज्ञान दूसरी बात; आत्मा के बारे में इन दोनों बातों को असंभव नहीं कह सकते यह तात्पर्य है। अर्थात् वह परोक्ष भी रह जाता है और अपरोक्ष भी हो जाता है। नित्य ज्ञानस्वरूप होते हुए भी अज्ञान का आश्रय हो जाता है। सब चीज़ों को जानने वाला मैं, पर कहता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ'। ऐसा कहने से ही पता लग जाता है कि अज्ञानी नहीं है! 'मैं अज्ञानी हूँ'—इस बात का

ज्ञान है कि नहीं तुमको? यदि है तो तुम अज्ञानी कहाँ हुए? 'मैं अज्ञानी हूँ'—इस ज्ञान को अज्ञान समझते हैं। नित्य ज्ञानस्वरूप होते हुए भी उसीमें अज्ञान प्रकट है। इस प्रकार जो नित्य अपरोक्ष है, उसमें भी 'द्वय' अर्थात् परोक्षापरोक्षज्ञान और अज्ञान का जोड़ा संभव हो जाता है। कैसे? इसी में आगे दृष्टांत बतलाएँगे कि जैसे दसवाँ नित्य अपरोक्ष होते हुए परोक्ष हो जाता है, जानते हुए भी अज्ञानी हो जाता है वैसे आत्मा में संभव है।। २२।।

एक दृष्टिकोण से जो वस्तु ही अपरोक्ष है उसकी प्रमा परोक्ष नहीं हो सकती, यदि वह परोक्ष लगे तो भ्रम होगा। दूसरी दृष्टि से, जैसे घड़े के एक पहलू का ठीक ज्ञान भी घटप्रमा होता है वैसे अपरोक्ष के बारे में परोक्ष भी प्रमा सम्भव है। अतः अपरोक्ष आत्मा का परोक्ष ज्ञान समझाने के लिये दृष्टांत देते हैं—

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान् नव।। २३।।

नौ-संख्या से जिस दसवें व्यक्ति का विवेक प्रतिरुद्ध हो गया वह उन नौ जनों को देखते हुए भी 'मैं दसवा हूँ' यह नहीं समझता।

वेदान्तियों में प्रसिद्ध यह बहुत प्राचीन दृष्टांत है। दस ब्राह्मण कहीं जा रहे थे। एक जगह नदी आई। नाव थी नहीं। दसों ने नदी को तैरकर पार किया। पार पहुँचने पर सोचा कि सब लोग आ गए कि नहीं आ गए यह निर्णय करने के लिये गिन लें। ब्राह्मण विचार में इतना मगशूल रहते हैं कि उन्हें ख्याल नहीं रहता। एक ने खड़े होकर गिना—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ। उसने कहा 'भाई! नौ ही आए। एक तो डूब गया!' दूसरे ने इधर-उधर देखा, चेहरे तो सबके दीख रहे हैं, कौन डूबा? उसने कहा 'मैं गिनता हूँ, तुझे गिनना नहीं आता है।' फिर उसने गिना तो भी नौ ही दीखे! कौन डूबा—यह नहीं पता लग रहा है लेकिन मान लिया कि एक डूबा तो है ही क्योंकि दीख तो नौ ही रहे हैं। सब बैठे रोने लगे कि एक अपना साथी मर गया। उधर से कोई घोड़े वाला निकला उसने देखा, ब्राह्मण बैठकर रो रहे हैं। जाकर पूछा 'क्या बात है?' उन्होंने कहा 'हम लोग अपने गाँव से दस जने आए थे, एक डूब गया नदी पार करने में।' वह देखने लगा तो उसे दस दीखे! समझ गया कि ब्राह्मण लोग हैं, गणित में कमज़ोर हैं। उसने कहा 'दस ही हो।' वे माने नहीं। उसने कहा 'मेरे सामने गिनो।' एक जना खड़ा हुआ, गिना उसने—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह सात, आठ, नौ। घुड़सवार ने एक डण्डा मारा उसको और कहा 'यह दस'! डण्डा मारते ही उनको पता लग गया कि 'हाँ, दसवाँ तो मैं ही हूँ।' जो भी गिनने वाला था दसवाँ, वह हमेशा अपरोक्ष ही था, पर जान नहीं रहा था। घुड़सवार ने जब कहा 'दसों हो, क्यों रो रहे हो?' उन्होंने देखा, घोड़े वाला अच्छा राजपूत है, विश्वासी होगा। अतः विश्वास हो गया कि हाँ, दसवाँ है, यह कह रहा है तो इसने कहीं देखा होगा। दसवाँ है—यह पता लगा और बात सच्ची है। पर दसवाँ कहाँ है—यह पता नहीं लगा। जब सिर में डण्डा लगा तब पता लगा 'दसवाँ मैं हूँ', अपरोक्ष हो गया।

ठीक इसी प्रकार जब हम विवेक करके देखते हैं तो सारे जगत् का कारण ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है यह तो हमें पता चल जाता है। पर लगता है—उस सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के दर्शन कब होंगे, कहाँ होंगे! सच्चिदानन्द ब्रह्म कहाँ है—यह पता नहीं लग रहा है। फिर तत्त्वमसि का सोटा लगता है सिर में कि वह ब्रह्म तुम हो। यद्यपि 'मैं' पहले भी, ढूँढते समय भी अपरोक्ष था, खुद ही ब्रह्म है अतः अपरोक्ष ही है। परन्तु बिना तत्त्वमसि का डण्डा लगे 'वह मैं हूँ' यह समझ में नहीं आता। जैसे 'दसवाँ है' यह परोक्ष ज्ञान भी ठीक ज्ञान है, गलत ज्ञान नहीं है भले ही पूरा ज्ञान नहीं है, इसी प्रकार 'सच्चिदानन्द ब्रह्म है' यह परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि पता नहीं है कि कौन है। लेकिन इस परोक्षता से यह नहीं कह सकते कि भ्रम हो रहा है। है यह यथार्थ ज्ञान। इसकी उपादेयता क्या है? 'सच्चिदानन्द ब्रह्म है'—ऐसा निश्चय करने पर हम उस सगुण ब्रह्म की उपासना कर सकते हैं। उपास्य ब्रह्म हमेशा परोक्ष होता है परन्तु वह भ्रम नहीं हैं। उपास्य ब्रह्म परोक्ष है, ज्ञेय ब्रह्म अपरोक्ष है। अपरोक्ष होने पर भी उसका परोक्ष ज्ञान संभव है। जैसे परोक्ष ज्ञान से उनका रोना तो ख़त्म हो गया क्योंकि पता लग गया कि दसवाँ कोई डूबा नहीं है। इस ज्ञान से मन तो शान्त हो गया पर 'कौन है, कहाँ है' यह डण्डा लगने से अपरोक्ष पता चला। जो सिर फूटा, वह तो पाँच-सात दिन दवाई लगा कर ही ठीक होगा। मैं दसवाँ हूँ—इस ज्ञानमात्र से डण्डे का दर्द नहीं जाएगा! ठीक इसी प्रकार, जैसे ही पता लगता है 'सच्चिदानंद ब्रह्म मैं हूँ', वैसे ही सारे संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं लेकिन जो प्रारब्ध का डण्डा लगा है वह तो भोगना ही पड़ता है, भोगकर ही दूर होगा। परन्तु 'हमारा साथी मर गया'—इसका दुःख कुछ और है, डण्डे की चोट जो दो-चार दिन दवाई लगाने से ठीक हो जायेगी उसका दुःख कुछ और है।

दसवें के बारे में भ्रम क्यों हुआ?—सामने नौ दीख रहे हैं। गिनने लायक तो नौ ही हैं। उससे विवेक अपहृत हो गया। नौ हैं अतः 'मैं दसवाँ हूँ'—यह ख्याल नहीं रहता। इसी प्रकार बड़े-बड़े गौतमादि महर्षि, जो दीख रहा है उसका तो खूब विवेक करेंगे, खूब विचार करेंगे पर आत्मा का नहीं। चन्द्रमा में क्या है, मंगल में क्या है—इन सबको गिनने के कारण, खुद जो मैं गिनने वाला हूँ उसका कुछ पता नहीं है! संसार की चीज़ों के बारे में ये लोग अनादि काल से खूब प्रयोग करते हैं, खूब पता लगाते हैं पर आत्मा के बारे में नहीं। वर्त्तमान में गणनाएँ होती हैं—देश ने क्या उन्नति की, कितनी सड़कें बनी, कितने बाँध बने, कितने मकान बने, लोगों का इतना कपड़ा पहनना बढ़ गया; चीज़ों को तो गिनते हैं परन्तु हम लोगों का हुआ क्या—इसके बारे में कोई विचार नहीं करता। पहले शहर में एक खून हो जाये तो कितना हल्ला मच जाता था। अब अखबार देखो तो न जाने कितने खून रोज़ होते हैं। मनुष्य की तो यह स्थिति हुई! इसके बारे में कभी कोई चिन्ता नहीं होती कि हम कितने गिर गए। हमारा क्या हुआ—यह नहीं कहते, कपड़े का यह हुआ, सड़का का यह हुआ, बाँध का यह हुआ, हवाई जहाज का यह हुआ—इन्हें गिनते हैं। जो अपने से बाहर हैं उन सब

चीज़ों को गिनने में जीव ऐसा लगा हुआ है, समझने की चेष्टा में ऐसा लगा हुआ है कि खुद अपने को नहीं देखता। उनको गिनने में लगने के कारण भ्रम में पड़ जाता है। भ्रम में पड़ गया तो 'इन सब चीज़ों को जानने वाला मैं ही ब्रह्म हूँ'—इस बात को नहीं समझता। जितनी संसार की चीज़ें, ये 'हैं' कब बनती हैं? कोई आदमी किसी चीज़ के बारे में कहे 'हैं', तो तुम पूछोगे 'क्या प्रमाण?' कहेगा 'मैंने देखा', तो स्वीकार कर लोगे। अगर कहे 'मैंने नहीं देखा, कोई कभी देख भी नहीं सकेगा, फिर भी है,' तो जानोगे कि गप्पें मार रहा है। किसी ने देखा है या कोई देख सकता है तभी तुम मानोगे कि है। कोई चीज़ 'है' तब होती है जब मैं जानूँ। 'मैं' का मतलब कोई शरीर नहीं है, जो भी देखने वाला है वह मैं होता है। सभी जानने वालों का सामान्य नाम है 'मैं'। कोई भी चीज़ 'है' कब? जब मैंने देखा अर्थात् मुझे ज्ञान हुआ। सद्रूप, चिद्रूप सब चीज़ों को बनाने वाला कौन है? मैं है। जो सब चीज़ों को 'है' करे उसी का नाम ब्रह्म है। वेद ने यही लक्षण किया है कि जिससे सब होते हैं, जिसमें सब रहते हैं, जिसमें सब लीन होते हैं वह ब्रह्म है। 'मैं' के द्वारा ही सब लोग सत् अर्थात् होते हैं। जब तक 'मैं' के साथ हैं तभी तक जाने जाते हैं। इस लक्षण को घटाकर देखते हैं तो झट पता लग जाता है कि ब्रह्म जो जगत् का कारण है, वह मैं हूँ। परन्तु चीज़ों को गिनने में इतने लगे हुए हैं कि ध्यान ही नहीं देते हैं कि ये पदार्थ सत् और चित् किससे होते हैं। जैसे सत् व चित् मुझसे होते हैं वैसे ही आनन्दरूप भी मुझसे ही होते हैं। अल्मारी में पड़ा हुआ रसगुल्ला आनन्दरूप है क्या? आनन्दरूप तो जब हमारी जीभ पर आवे तब है अर्थात् जब 'मैं' का विषय होवे तभी आनन्दरूप है। मेरी सच्चिदानन्दरूपता ही संसार में प्रतीत होती है और सच्चिदानन्द ब्रह्म का लक्षण है इसलिये मैं ब्रह्म हूँ। परन्तु यह निश्चय कब होवे? जब इस तरफ ध्यान जाए। सबको जानने वाला, सबको प्रकाश करने वाला, सबको आनन्दरूप करने वाला—वह सारे जगत् को देख भी रहा है, गिन भी रहा है पर गिनने वाले को, देखने वाले को समझता ही नहीं है!।। २३।।

दृष्टांत में दसवें के बारे में अज्ञान बता चुके, अब दिखाते हैं कि अज्ञान का कार्य आवरण भी प्रसिद्ध है—

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः।। २४।।

अज्ञानदशा में दसवाँ खुद दसवें के बारे में 'दसवाँ न भास रहा है, न है' मानकर बोलता है। विद्वान् समझते हैं कि इसका कारण अज्ञान से किया आवरण है।

परमात्मा को कोई नहीं देखता—यह बात बिलकुल ठीक है। क्यों नहीं देखता? देखने वाला 'तू' परमात्मा है! कोई कहता है 'परमात्मा नहीं है' तो इसका मतलब है कि 'मैं नहीं हूँ'। कहते हुए ही बात कट जाती है, वदतो व्याघात दोष आता है जैसे कोई कहे 'मेरे मुँह में जीभ नहीं है'। इसीलिये कई बार हम कहते हैं कि वेदान्ती के लिये कोई भी नास्तिक

नहीं होता क्योंकि वेदान्त 'मैं' को परमात्मा कहता है। अतः परमात्मा नहीं है अर्थात् मैं नहीं हूँ और यह कहना बनता नहीं। अगर तुम मानते हो मैं हूँ तो मान लिया कि परमात्मा है। तुम इस रहस्य को जानते नहीं, यह बात दूसरी है, लेकिन हो तो सही। किसी को नहीं दीखता इसीलिये लगता है कि नहीं है। दसवाँ ही कहता है कि दसवाँ नहीं है। 'मैं ही दसवाँ हूँ'—इस बात का जो ज्ञान नहीं है उससे आवरण हो गया। परमात्मा नहीं है, परमात्मा का भान नहीं है—इस व्यवहार का कारण अज्ञान के द्वारा किया हुआ ढक्कन है, आवरण है।।२४।।

आवरण के बाद विक्षेप व्यक्त करते हैं—

नद्यां ममार दशम इति शोचन् प्ररोदिति।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः।। २५।।

नदी में दसवाँ मर गया—यह शोक करते हुए बहुत रोता है। विद्वान् जानते हैं कि रोना आदि अज्ञान द्वारा किया विक्षेप है।

दसवें की प्रतीति नहीं हो रही है इसलिये मान लेता है कि दसवाँ नदी में मर गया, इससे शोक करता है, रोता है, कि 'अरे, हमारा दसवाँ साथी मर गया'। अपने को दसवाँ न जानना जो अज्ञान उससे यह रोना आदि विक्षेप हुआ। जो शास्त्रज्ञ लोग हैं वे इस बात को समझते हैं। साधारण आदमी यों तो रोने आदि को ठीक मानता है, जैसे दसवाँ मानता है, 'हमारा रोना ठीक ही है, हमारा आदमी मर गया, हम कैसे नहीं रोएँगे?' बुध ही इस बात को समझता है कि न मरा, न शोक का मौका है। जो बुध नहीं है उसे अगर यह बात समझाने की कोशिश भी करें तो उल्टा डाँट कर कहता है 'जिसको लगती है उसको पता लगता है, आपके लड़का होता और मर जाता, तब आप नहीं रोते तो हम जानते।' अर्थात् लड़का मर गया, कैसे नहीं रोएँ! इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि अज्ञानियों के बीच बैठो तो अज्ञानियों के लायक ही बात करो। सच्ची बात उनसे करोगे तो लड़ाई-झगड़ा होगा। सच्ची बात है कि मरता कोई है नहीं। यहाँ से दूसरी जगह चला जाता है। उसके शरीर में कोई ऐसी खराबी थी कि रह ही नहीं सकता था इसलिये दूसरे शरीर में चला गया, इसमें रोने की क्या बात है? यहाँ नौकरी नहीं मिलती है तो तुम उसे अमेरिका भेज देते हो। इसमें कोई रोने की बात थोड़े ही है। वैसे ही यहाँ उसका शरीर ठीक नहीं था तो दूसरी जगह चला गया, वहाँ जाकर आराम से रहेगा। किंतु जिसे वास्तविकता का अज्ञान है उसमें शोक, रोना आदि विक्षेप रहेंगे ही।। २५।।

'दसवाँ है नहीं' यह जो भ्रम से उसका असत्त्व (न होना) प्रतीत होता है इसे दूर करने वाला परोक्ष ज्ञान बताते हैं—

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत्।। २६।।

'दसवाँ मरा नहीं, है'—यह विश्वासपात्र की बात सुनकर तब दसवें को परोक्ष रूप से समझता है जैसे स्वर्ग आदि लोक समझे जाते हैं।

जैसे घुड़सवार ने कहा, जानने वाले ने कहा कि दसवाँ मरा नहीं है, तो यह सुनते ही ज़रा धैर्य हुआ कि दसवाँ अभी जिन्दा है, मरा नहीं है। किसी आप्त पुरुष के वचन को सुनकर 'है' इतना पता चलता है। आप्त अर्थात् जिसके बारे में पता है कि झूठ नहीं बोलता है, सच्चा आदमी है, ठीक जानता है। उसके कहने से लगता है 'अरे, इसने कहीं देखा होगा, कहीं बचा हुआ है। मरा नहीं, अच्छा हो गया।' परोक्ष रूप से अर्थात् कहीं है—बस, ऐसा जानता है। इसी प्रकार जब वेदादि शास्त्र कहते हैं परमेश्वर है तब जीव परोक्ष-रूप से जानता है कि परमेश्वर भी कुछ है ज़रूर, अत्यन्त प्रामाणिक वेद कह रहा है तो ठीक ही बात है। लेकिन परोक्ष रूप से जानता है कि कहीं है। शायद केदारनाथ में हो, शायद रामेश्वरम् में हो, कहीं होगा। जैसे स्वर्गादि लोक हैं, अपने को दीखते तो नहीं हैं परन्तु शास्त्र में कहे हैं और शास्त्र सत्यवादी है तो ज़रूर कहीं न कहीं स्वर्ग है। स्वर्ग का निश्चय होने पर ही ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ कर वहाँ जाने का प्रयास होता है। शास्त्र में या बुजुर्गों से स्वर्ग की बात सुन कर व्यक्ति स्वर्ग जाने के लिये प्रयत्न करता है। कई बार नास्तिक लोग भी मरने की सूचना की चिट्ठी में लिख देते हैं—स्वर्गीय पिताजी। स्वर्ग लोक है—इस बात की प्रतीति दूसरे के कहने से होती है, स्वर्ग हमें दीख तो नहीं जाता अतः यह परोक्ष ज्ञान है। इसी प्रकार परमेश्वर है—यह पता चल जाना परोक्ष ज्ञान हुआ।। २६।।

'दसवें का भान नहीं हो रहा' इस अभानापादक आवरण को हटाने वाला अपरोक्ष ज्ञान दिखाते हैं—

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति।। २७।।

गिनकर जिसे दिखा दिया कि 'तू ही दसवाँ है' वह अपरोक्षरूप से जानकर प्रसन्न ही होता है, रोता नहीं।

जब—'तू ही दसवाँ है' यह गिनकर दिखला दिया तब साक्षात् हो गया कि मैं दसवाँ हूँ। अपरोक्षतया अर्थात् साक्षात् जान लिया कि मैं ही तो दसवाँ हूँ। इसी प्रकार सारे दृश्यों को गिनाते हैं यह भी द्रष्टा नहीं, यह भी द्रष्टा नहीं, शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त दिखाते हैं कि ये सब भी चेतन नहीं, ये तो सब दृश्यों में आ गए। अहंकारात्मिका वृत्ति में पड़ा चेतन जो चिदाभास उस अहम् पर डण्डा लगता है कि यह अहंकारात्मिका वृत्ति तू नहीं, तू शिव है। इससे पता लगता है, 'शिवोहम्'। बाकी सब दृश्य है यह निश्चय होने पर 'मैं ही शिव हूँ'—यह अपरोक्ष ज्ञान होता है। इससे 'हृष्यति एव' बड़ा प्रसन्न हो जाता है कि अनादि काल से फँसा हुआ था पर मैं तो यह वृत्ति नहीं, मैं शिव हूँ! उसके बाद रोता नहीं है।। २७।।

दृष्टांत में बतायी सात अवस्थाएँ दार्ष्टान्त में घटाने के लिये उन्हें इकट्ठा करते हैं—

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि।। २८।।

अज्ञान, आवरण, विक्षेप, दो तरह के ज्ञान, तृप्ति और शोक मिटना इन (सातों) को चिदात्मा के बारे में घटा लेना चाहिये।

चिद्रूप आत्मा के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये। अज्ञान है—'शिव कौन है' इस बात को नहीं जानता, 'मैं कौन हूँ' इस बात को नहीं जानता। शिवरूप आत्मा का भान ही नहीं अतः ऐसा आत्मा है ही नहीं—ऐसा आवरण हो जाता है अतः विक्षेप होता है। सारे विक्षेपों का कारण, सारे दुःखों का कारण अपने को शिवरूप न जानना ही है। अज्ञानरूप कारण से पहले आवरणरूप प्रभाव होता है तब विक्षेप प्रकट होता है। 'आत्मा को नहीं जानता' इतना अज्ञान है तथा 'आत्मा भासता नहीं, है नहीं' यह अनुभव आवरण है। इनमें कार्य-कारणभाव ही है। किसी से पूछो 'तुमको क्या दुःख है?' तो अपने से भिन्न ही कुछ बतलाता हैः मेरे सिर में दर्द है, मेरी कमर में दर्द है, मेरे मन में दुःख है। और कई बार उससे भी बाहर की चीज़ों को कहता है—मेरी दुकान लुट गई, दिवाला निकल गया। सब अनात्म चीज़ों को दुःख का कारण बतलाता है इससे स्पष्ट है कि अनात्मा को मैं मानकर ही विक्षेप है, स्वयं मैं में विक्षेप नहीं। फिर शास्त्रादि से जो आत्मा के बारे में जानकारी मिलती है वह एक तरह का अर्थात् परोक्ष ज्ञान और जब साक्षात्कार हो जाता है तब दूसरी तरह का अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसके अनन्तर तृप्ति और शोकनिवृत्ति होती है। ये सात अवस्थाएँ जीव में स्पष्ट होती हैं।। २८।।

क्रमशः इन्हें स्पष्ट करते हुए पहले अज्ञान अवस्था बताते हैं—

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम्।। २९।।

संसार में आसक्त चित्त वाला हुआ चिदाभास स्व की वास्तविकता जो स्वयंप्रकाश कूटस्थ उसे कभी जानता ही नहीं।

'मैं' की वृत्ति में जो चेतन भान हो रहा है उस चिदाभास का क्योंकि संसार में चित्त आसक्त है इसलिये निश्चय है कि वह अज्ञ है। संसार की चीज़ों को ही जीव देखता रहता है, उन्हीं का विचार करता रहता है। जो संसार की चीज़ों का चिन्तन न करके परमात्मा-विषयक चिन्तन करे उसे कहते हैं—'यह तो स्वार्थी है, अपना ही फायदा करना चाहता है। हम तो बच्चों के लिये कमाने में लगे हुए हैं, पत्नी को गहने पहनाने में लगे हुए हैं। लोकोपकार कर रहे हैं। दालरोटी समय पर नहीं भी खाते तो भी इनके लिये काम करते हैं, हम कितने बड़े त्यागी हैं! और मुमुक्षु को तो बस, अपना ही ब्रह्म चाहिये, अपनी ही मुक्ति चाहिये।' संसार में आसक्त चित्त वाला, परमात्मा को जो सोचता है, जो उधर समय

लगाता है उसे बेकार मानता है। घर में दो बहुएँ होवें। एक बहू बैठकर जप कर रही है, दूसरी बहू सो रही है। जो जप कर रही है उसे सास कहेगी 'बच्चों को स्कूल जाना है, ज़रा दूध गरम क्यों नहीं करती?' अगर वह कहे 'जप कर रही हूँ' तो सुनने को मिलेगा 'अरे, भगवान् बच्चों में ही तो है। इनकी सेवा करना ही भगवान् की सेवा करना है। इनकी सेवा छोड़ कर जप-पूजा करने में पुण्य नहीं।' सास की यह हिम्मत नहीं है कि सोने वाली से जाकर कहे—'अरे! सोना छोड़कर क्यों नहीं दूध गरम करती। वह पूजा कर रही है, तू तो सो रही है, उठ जा।' संसार के भोगादि से थककर सोये रहना ठीक है परन्तु परमात्मा के लिये करते हुए सांसारिक काम न करना सहन नहीं है—यह है संसार में आसक्त चित्त वालों की दृष्टि। 'संसार के लिये कुछ करो, वह करना है, बाकी सब व्यर्थ है'—यह संसार में आसक्त चित्त वाले का निश्चय है। इसलिये स्वयंप्रकाश कूटस्थ के बारे में वह अनजान रहता है। स्वयंप्रकाश कूटस्थ क्या है? अपनी वास्तविकता है। उसे कभी भी नहीं जानता अर्थात् सर्वथा व्यर्थ समझता है। यह है अज्ञान की स्थिति।

'कदाचन' अर्थात् अनादि काल से पड़ा हुआ है इस संसार भ्रमर में, पर कभी भी श्रुति का विचार करता ही नहीं। बड़े-बड़े वेदपाठी होते हैं। उनसे पूछो 'जो पाठ करते हो उसका मतलब क्या है?' कहते हैं 'अरे भाई! यह तो पाठ-पूजा करने के मंत्र हैं, इनका मतलब क्या समझना है।' पूजा के मन्त्रों का यदि कोई अर्थ समझ लेवे तो उसे पता लग जाएगा कि क्या है तत्त्व। परन्तु संसारी उनका कभी विचार नहीं करता है कि ये वेदवचन क्या कह रहे हैं—इनका क्या तात्पर्य है। शायद कोई ही ऐसा पूजा-पाठी होगा जिसको पुरुषसूक्त न आता हो। और पुरुषसूक्त में सारी वेदान्त की प्रक्रिया आ गई है। हर पूजा में पुरुषसूक्त बोलते हैं, पर कभी भी उसके अर्थ का विचार नहीं करते। और जब जिन्होंने श्रुति पढ़ी वही श्रुति का विचार नहीं करते हैं तो जिन्होंने वेद पढ़ा ही नहीं, उनका क्या कहना! विद्यारण्य स्वामी ने अपने पूर्व आश्रम में वेदभाष्य लिखा है। उसकी भूमिका में लिखते हैं कि लोग दुनियाभर की निन्दा करने के लिये वाणी का प्रयोग करते हैं परन्तु कभी भी वेदों के उच्चारण के लिये प्रयत्न नहीं करते। जिनसे कोई मतलब नहीं है उन दुनियाभर की बातों को करेंगे बैठकर परन्तु कहो 'सत्संग करो' तो तुरन्त कहते हैं—'क्या बतावें, सत्संग करने की इच्छा तो बहुत है लेकिन समय ही नहीं मिलता।' तीन घण्टे टेलीविज़न देखने के लिये टाईम कहाँ से आ जाता है? दृश्य में चित्त इतना आसक्त है कि अपने स्वरूप का कोई ज्ञान नहीं करता है। 'कदाचन' अर्थात् श्रुति के विचार का मौका ही नहीं मिलता इसलिये कभी नहीं जानता। परमात्मा ने अपने को इतना सुलभ कर दिया कि तुम्हारे हृदय में है, कहीं आना-जाना नहीं, एक धेले का खर्चा नहीं, कोई झंझट नहीं करनी है। वहीं बैठा हुआ है, खट से मिल जाता है। इतना सरल होने पर भी उसका दर्शन इतना कठिन है क्योंकि चित्त संसार में आसक्त है। यही अज्ञान की अवस्था है। इसमें कभी किसी तरह का विचार आत्मा के बारे में आता ही नहीं है। है, नहीं है आदि कुछ भी विचार नहीं होता है।। २६।।

संसार में आसक्ति आजकल इस तरह व्यक्त होती है 'आगे किसने देखा है!' संसार

में तो भविष्य की सोचेंगे, निवेश करेंगे, बीमा करायेंगे लेकिन परमात्माके बारे में 'किसने देखा' का तर्क लगायेंगे। अतः परमेश्वर के विचार में प्रवृत्ति ही नहीं होती। ऐसे अज्ञानी में आवरण और विक्षेप व्यक्त हो जाते हैं यह बताते हैं–

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः।
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते।। ३०।।

प्रसंग आने पर 'कूटस्थ न भासता है, न है' ऐसा कहता है (यह आवरण अवस्था है।) 'मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ' यों विक्षेप अवस्था को प्राप्त होता है।

कभी कोई बात आ जाए परमेश्वर के विषय में तब आवरण प्रकट हो जाता है। 'प्रसंगतः' अर्थात् कोई दूसरी बात चल रही है और किसी ने परमेश्वर की बात उठा दी तो अज्ञानी कहता है 'कूटस्थ परमात्मा प्रतीत नहीं होता अतः है ही नहीं।' पहली स्थिति के अन्दर आदमी दृश्यमान संसार को तो 'है' कहता है और परमात्मा के बारे में 'पता नहीं' कहता है। आवरण की अभिव्यक्ति का अनुभव है 'न भाति', 'परमेश्वर का किसी को पता चलता नहीं, अनेक लोग अनेक तरह की बातें करते हैं, अनेक धर्म हैं, सब परमेश्वर के विषय में अलग-अलग बातें कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'नास्ति' परमेश्वर है ही नहीं क्योंकि सब एक नतीजे पर पहुँचे नहीं।' रक्तचाप का माप तीन डाक्टर करें तो तीनों अलग बतायेंगे, इससे कोई नहीं समझता कि रक्तचाप है ही नहीं, होता तो एकमत होता। उसमें मानते हैं कि है तो लेकिन इनको पता नहीं लगता। परन्तु जब परमेश्वर का विषय आता है तब 'अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग बातें कहीं' इसलिये निर्णय निकालते हैं कि है ही नहीं, होता तो सब एक बात कहते। आवरण अवस्था में परमेश्वर के विषय में निश्चय है कि उसके सत्ता और भान दोनों नहीं हैं।

फिर विक्षेप की अवस्था है जहाँ 'अहम् कर्त्ता' करने वाला मैं हूँ। अगर उनसे पूछते हैं–तुमने सफेद दूध पीया और वह लाल खून हो गया, तुमने कैसे सफेद को लाल कर दिया? कहते हैं–'यह तो मुझे पता नहीं, डाक्टर लोग कुछ बतलाएँगें।' तुमने जान कर किया कि बेजाने किया? काम के बारे में कुछ जानोगे तभी करोगे। तुमको कोई ज्ञान नहीं है कि सफेद दूध लाल कैसे हो गया फिर भी तुम्हारा निश्चित अभिमान क्या है? सफेद दूध लाल मैंने ही तो किया। ठीक इसी प्रकार किसी को घाटा हो गया; उसको पूछते हैं कि घाटा तुमने क्यों किया? कहता है 'मैंने थोड़े ही किया, वह तो हो गया।' नफा हो जाए और पूछते हैं–'नफा तुमने कैसे किया?' कहता है 'जी, बहुत मेहनत की है इसके लिये, खून-पसीना एक कर दिया, तब जाकर हुआ है।' कोई प्रमाण नहीं है कि तुम कर्त्ता हो क्योंकि तुम कभी कर्त्ता बन जाते हो कभी अकर्त्ता बन जाते हो,। तुम ही करने वाले हो कि और कोई करने वाला है–इसमें एक निश्चय पर नहीं पहुँच पाते । फिर भी 'मैं कर्त्ता ही हूँ'–ऐसा ही मानते हो। करने वाला ही हूँ, ऐसा ही जीव स्वयं को मानता है। कर्त्ता मानता है तो फिर 'मैं ही

भोग करने वाला हूँ', अपने को भोक्ता मानता है। निश्चित मानता है 'रसगुल्ला मैंने खाया'। ज़्यादा जुकाम होने से जीभ की स्वाद लेने की सामर्थ्य खराब हो जाती है, स्वाद नहीं आता। पूछो 'क्यों नहीं रसगुल्ले का स्वाद ले रहे?' कहेगा 'जीभ खराब हो गई।' तुम कहते थे, स्वाद लेने वाला मैं हूँ, स्वाद लेने वाली तो फिर जीभ निकली! इतने पर भी निश्चय रहता है कि भोग करने वाला तो मैं ही हूँ। परमात्मा के विषय में विरुद्ध प्रमाण न होने पर भी जँचता है कि न है न भान होता है। और अपने विषय में विरुद्ध प्रमाण मिलने पर भी मानते हैं कि कर्ता भोक्ता तो मैं ही हूँ। इसी को कहते हैं विक्षेप। देहद्वय से युक्त चिदाभास पर कर्त्ता भोक्तापने का आरोप यह विक्षेप है। परमात्मा को नहीं जानता—यह अज्ञान। परमात्मा का भान नहीं होता अतः वह है नहीं—यह परमात्म-विषयक आवरण। देहद्वययुक्त चिदाभास की कर्त्ता-भोक्तारूप में प्रतीति—यह विक्षेप है।। ३०।।

दोनों प्रकार के ज्ञान भी आत्मसन्दर्भ में समझाते हैं—

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः।। ३१।।

वार्त्ता द्वारा पहले 'कूटस्थ है' यों परोक्ष जानता है। बाद में विचार से (अपरोक्ष) समझ लेता है कि 'मैं ही कूटस्थ हूँ'।

'कूटस्थः अस्ति' अर्थात् परमात्मा है। यह सारा जो कूट संसार है इसमें अधिष्ठानरूप से परमात्मा स्थित है। शास्त्र व तदनुसारी सदुपदेश से सुनने पर अभी भान नहीं हुआ लेकिन पहले कहते थे कि प्रतीत न होने से लगता है वह है ही नहीं और अब निश्चय होता है कि है, भले ही भान नहीं हुआ। जब कोई जानकार आदमी ठीक ढंग से समझाता है और उस पर तुम्हारा विश्वास है तब वार्ता से यह निश्चय होता है। गुरु उपक्रमादि चिह्नों से समझाता है कि वेद का यही तात्पर्य है तथा अपौरुषेय होने से वेद की बात कभी गलत हो नहीं सकती। श्रुति और युक्ति से समझाना वार्ता है जिससे 'परमात्मा है' यह परोक्ष निश्चय हो जाता है। भान नहीं हुआ लेकिन 'परमात्मा है' इतना परोक्ष ज्ञान हो गया। परोक्ष ज्ञान को व्यर्थ नहीं समझना। स्वयं वेद ने कहा है 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः' 'ब्रह्म है' इतना ही जान लेता है तो सत् हो जाता है, 'सन्त' बन जाता है। यह निश्चय होना भी कठिन है! जैसे भगवान् ने गीता में कहा कि यदि ठीक निश्चय कर लेता है तो साधु ही माना जाये, क्योंकि उसका निश्चय ठीक है। चाहे जितना गलत आचरण करने वाला है, 'परमेश्वर से मेरी कोई अलग सत्ता नहीं है। परमेश्वर की सत्ता से ही मैं सत्ता वाला हूँ। परमात्मा की शक्ति से ही मैं शक्ति वाला हूँ।' अगर ऐसा समझ लेता है तो साधु समझा जाये। अभी उसने दुराचार छोड़ दिया यह नहीं कहा है, परन्तु उसने ठीक निश्चय कर लिया इसीसे साधु कहलाता है। हम पाप क्यों करते हैं? क्योंकि हमारा निश्चय गलत है। वर्तमान में लोगों का निश्चय है—घूस दिए बिना काम चलता नहीं। गलत निश्चय के कारण घूस

देते हैं। झूठ बोले बिना चलता नहीं—यह निश्चय है तभी झूठ बोलते हैं। अधर्म की सफलता का निश्चय क्यों होता है? क्योंकि हमें लगता है कि परमात्मा फल देने वाला नहीं है। जर्मनी में एक बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ है। उसने अपनी किताब ही यहाँ से शुरू की है कि ऊपर से एक आदमी नीचे आ रहा है, उसे दूसरा आदमी दीखता है तो वह जोर से चिल्लाता है—'अरे! तुमने आज की ताजा खबर सुनी? परमात्मा मर गया।' जो कहते हैं कि अधर्म किए बिना नहीं चल सकता, उनका निश्चय गलत है क्योंकि वे सोचते हैं कि अधर्म से सफलता हो सकती है। जैसे 'सिगरेट से कैंसर नहीं होता' यह किसी का निश्चय हो जाये तो डॉक्टर होने पर भी छोड़ नहीं पाते, इसी तरह पाप ही सफल है—यह ग़लत निश्चय हो तो पाप नहीं छोड़ पाते।

माया विचित्र है अतः जैसे अनेक सिगरेट न पीने वाले कैंसर-पीडित मिलेंगे, पीने वाले स्वस्थ मिलेंगे अतः निश्चय नहीं कर पाओगे वैसे पाप भी सफल और पुण्य अप्रभावी मिलने से निश्चय नहीं हो पाता। अधर्म के आचरण से तुरन्त नुकसान तो दीखता नहीं और अधर्म का प्रचार करने वाले बहुत होते हैं। अदालत में हमेशा दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष हारता है, एक ही पक्ष जीतता है। दो पक्ष हैं, एक को जीतना ही हुआ, दूसरे को हारना ही हुआ। दोनों पक्ष झूठ बोलते हैं, उनमें से ही एक हारता भी है, एक जीतता है। झूठ बोलने वालों में पचास प्रतिशत ही जीतते हैं, पचास प्रतिशत हारते भी हैं। पर 'झूठ बोलने से ही मुकदमा जीता जाता है'—इसके प्रचारक खूब हैं। वास्तविकता होने पर भी कोई नहीं कहता 'झूठ बोलने से मुकदमा हारते हैं'। हारते उतने ही हैं जितने जीते हैं इसलिये निश्चय नहीं हो पाता। इसीलिये मनुष्य की अधर्माचरण में प्रवृत्ति होती है। भगवान् ने कहा कि ठीक निश्चय यदि कर लिया तो उसके अनुकूल ही तुम्हारा आचरण हो जाएगा। पुराने संस्कारों से दो-चार कदम ग़लत लोगे परन्तु सही निश्चय के कारण ग़लत संस्कार कमजोर पड़ते चले जाएँगे अतः भगवान् ने कहा 'साधुरेव स मन्तव्यः'—जिसने निश्चय ठीक कर लिया वह पुरुष मानो सदाचारी हो ही गया। यदि थोड़ी-बहुत उसमें कमज़ोरी दीखती भी है तो टिकेगी नहीं क्योंकि उसका निश्चय है कि ये ग़लत कार्य हैं। जिस प्रकार से यदि कोई हिज्जे गलत याद हो जायें, फिर सही, हिज्जे मालूम पड़ जायें तो भी जल्दबाजी में ग़लत लिखे जाते हैं। व्यक्ति जैसे ही ग़लत लिखता है, उसे याद आता है कि ग़लत लिखा, उसे काट कर फिर ठीक बना देता है। धीरे-धीरे अभ्यास दृढ होने पर ठीक ही लिखता है। इसी प्रकार यदि किसी अधर्म का अभ्यास है भी लेकिन निश्चय हो गया कि यह ग़लत है, तो शुरू-शुरू में ग़लती हो भी जाए पर जल्दी ही अपने को ठीक कर लेगा। प्रारंभ में मन में आएगा पर नहीं करेगा, फिर कुछ समय के अभ्यास के बाद मन में ही ग़लत करना नहीं आएगा। इसीलिये श्रुति ने कहा कि परोक्ष भी यदि जान लेता है कि परमात्मा है तो 'संत' हो जाता है। सुनकर तो इतना ही ज्ञान होता है—'परमेश्वर है'।

फिर साधक विचार करता है—'परमेश्वर क्या है?' परमेश्वर वह है जिसने दुनिया को अपने में से उत्पन्न किया, अपने में स्थित रखता है और अपने में ही लीन कर लेता है। जैसे रूई से धागा बना तो धागे में सर्वत्र रूई है। धागे से कपड़ा बना तो कपड़े में भी सर्वत्र

रूई है। कपड़े से तुमने कोट पायजामा बनाया तो उनमें भी सब जगह रूई है। चाहे जितने परिवर्तन होते चले जाएँ, सबमें रूई तो रहेगी। इसी प्रकार 'है'रूप जो परमात्मा उसी ने आकाश आदि सब पैदा किए। चूंकि कारण 'है' इसलिये जितनी कुछ सृष्टि का हमें अनुभव होता है, सबमें 'है' ज़रूर अनुभव होता है। परमात्मा ही सबका कारण है इसलिये सब चीज़ों में 'है'रूप से प्रतीत होता है।

वह 'है' कहाँ सबसे ज्यादा प्रतीत होता है, जिसमें कभी सन्देह न होवे? बाकी चीज़ों में 'है' दीखता है लेकिन कई बार भ्रम भी हो जाता है। हमें दीखा 'साँप है'। फिर अलाती से देखा, बत्ती से देखा कि रस्सी है। पता लगा कि साँप जब दीखा था तब भी नहीं था, रस्सी ही इस प्रकार से दीख गई। आँखों के दोषवश एक व्यक्ति दो दीखता है। पास आने पर पता चलता है कि दो नहीं हैं। अन्य सब चीज़ों के अन्दर 'है' की प्रतीति होती है किंतु बाद में पता चलता है कि गलत प्रतीति हो गई। पर एक स्थल ऐसा है जहाँ 'है' की प्रतीति होती है जो कभी भ्रमरूप सिद्ध नहीं होती, वह है 'मैं' की प्रतीति। मैं के बारे में कभी प्रतीति नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ'! इसलिये इस संसार को उत्पन्न करने वाला जो कूटस्थ परमात्मा वह 'मैं' के रूप में निरन्तर है प्रतीत होता है। 'मैं' कभी भी 'है' के बिना प्रतीत नहीं होता इसलिये 'मैं' 'है'रूप ही है। उस 'है' से अतिरिक्त जो देहद्वय हमें अपने साथ प्रतीत हो रहे हैं उनके बारे में तो 'नहीं है' भी पता चलता है। जाग्रत् के अन्दर स्थूल शरीर है, स्वप्न में नहीं है। स्वप्न में मन है, गहरी नींद में वह भी नहीं है। परन्तु गहरी नींद में भी 'मैं' हूँ, स्वप्न में भी 'मैं' हूँ, जाग्रत् में भी 'मैं' हूँ। इसलिये इस 'मैं' से अतिरिक्त जिस देहद्वय की प्रतीति हो रही है उसे जानना है कि नहीं है। उनसे रहित 'मैं' तो केवल सन्मात्र परमात्मा ही हूँ, कूटस्थ ही हूँ। इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है विचार के द्वारा। श्रवण-मनन के द्वारा पता लग जाता है कि परमात्मा से अतिरिक्त मैं कुछ नहीं हूँ।। **३१।।**

अंतिम दो अवस्थायें बताते हैं—

कर्त्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुञ्चति।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति।। ३२।।

कर्त्ता, भोक्ता और इस तरह का अन्य भी शोकसमुदाय सर्वथा छोड़ देता है। करने योग्य सब कर लिया, पाने योग्य पा लिया—यह निश्चय होने से सन्तुष्ट ही रहता है।

शोकजात—सारे शोकों का समूह, दुःखों का समूह किस पर आधारित है? इस भ्रम पर कि मैं कर्त्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ। मैं कुछ नहीं कर पाता तो दुःख और मैंने कुछ ग़लत किया तो दुःख। मैंने भोग नहीं किया तो दुःख और भोग कर लिया तो भी दुःख। चाँदनी चौक में जाकर बढ़िया चाट की दुकान में पहुँचे। तुम्हारा दोस्त चाट खा रहा है, तुमको अम्लपित्त है अतः नहीं खा रहे हो इसका दुःख कि 'यह भी कोई जीवन है जिसमें बढ़िया चाट नहीं खा पा रहे हैं।' और खा ली तो रात में जब अम्लपित्त का वेग होता है तब 'हाय क्यों खाई थी' यों फिर दुःख। कर्त्ता-भोक्ता से सम्बद्ध देहद्वय को लेकर सभी चीज़ों के अन्दर शोक

है। शादी नहीं हुई तो दुःख। लोग बेचारे तरह-तरह के अनुष्ठान करते हैं कि पत्नी मिल जाए। नहीं मिलती तो दुःखी रहते हैं। पत्नी मिल गई पर लड़ने वाली है तो दुःखी कि इससे शादी नहीं करते तो ही अच्छा था! अच्छी मिल गई, बच्चे हो गए पर एक बच्चा बोलता ही नहीं है, गूंगा पैदा हो गया, तो दुःखी। जीवन के अन्दर कोई ऐसा नहीं मिलेगा जिसे दुःख का अनुभव नहीं है। हर तरह योग्य लड़के का भविष्य सोच ही रहे थे कि एक दिन गाड़ी ने टक्कर मारी, मर गया तो रोने लगते हैं। इतनी बातें मन की हो गईं, अब एक ही बात मन की नहीं हुई क्योंकि वह मर गया, फिर भी बाकी बातों का सुख नहीं रहता, एक का दुःख ही रहता है।

जब देहद्वय मैं नहीं तो देहद्वय-सम्बन्धी कोई दुःख भी नहीं। अब शोक की सम्भावना ही नहीं है। जिस प्रकार जिसकी शादी नहीं हुई उसको न औरत की झिड़क सुननी पड़ेगी, न औरत का मनचाहा गहना बनाकर कमाई को उड़ते देखना पड़ेगा, न आगे बच्चा पैदा होगा, न उसकी पढ़ाई की चिन्ता करनी पड़ेगी। एक अगर शादी नहीं हुई तो कितनी चिन्ताओं से तुम मुक्त हो गए! ठीक इसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध नहीं हुआ तो कितने शोकों से हम बच गए। शरीरद्वय के सम्बन्ध से ही शोक हो रहे थे। कर्त्ता भोक्ता बनने से शोक शुरू होता है। यद्यपि शोक सुषुप्ति में छूट ही जाता है तथापि फिर जाग्रत्-स्वप्न में आ ही जाता है किंतु जब श्रवण-मनन से ज्ञान हो गया तो फिर प्रकर्ष से छूट जाता है, अर्थात् कभी आता नहीं। यह शोकापगम की अवस्था है। फिर कृतकृत्यता की तृप्ति होती है। 'जो कुछ भी करने लायक था वह सब मैंने कर लिया' यह अनुभव होता है। सारे दुःखों को दूर करना और परमानन्द को प्राप्त करना, दुःखनिवृत्ति और सुख की प्राप्ति—यही तो 'कृत्य' है। ज्ञान से तुम्हारे सारे दुःख निवृत्त हो गए और परमानन्द की प्राप्ति हो गई। अतः जो करना था वह कर लिया और प्राप्त करने योग्य उस आनन्द को प्राप्त कर लिया—इस भान से हमेशा प्रसन्न रहता है। यह तृप्ति हमेशा बनी रहती है कि जो कुछ करना था वह कर लिया, जो कुछ प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया।। ३२।।

श्लोक २८ में दृष्टांत में बतायी अवस्थाएँ दार्ष्टान्त में समझाईं, उन्हें संगृहीत करते हैं—

अज्ञानमावृतिस्तद्वद् विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा।। ३३।।
सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः।। ३४।।

अज्ञान, आवरण, उसी तरह विक्षेप, परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोक से छुटकारा और निरंकुश तुप्ति ये सात अवस्थाएँ चिदाभास की हैं। इन्हीं सात में ये बन्धन और मोक्ष व्यवस्थित हैं। इनमें तीन अवस्थाएँ बंधनकारी हैं।

अज्ञान अर्थात् परमात्मा के विषय में कोई सोच ही नहीं है। आवृति—परमात्मा के विषय

में गलत ज्ञान है क्योंकि परमात्मा 'है'रूप और लगता है 'नहीं है'रूप। परमात्मा नहीं है लगता है तो विक्षेप होता है, उसकी जगह सारा संसार प्रतीत होता है। संसार में सबसे नजदीक प्रतीत होते हैं तुम्हारे स्थूल-सूक्ष्म शरीर। फिर शास्त्र विचार से सत्संग से परोक्षधी होती है कि परमात्मा है। जब यह परोक्ष निश्चय होगा तभी आगे विचार में प्रवृत्ति होगी। विचार में प्रवृत्ति होने पर अपरोक्ष निश्चय हो जाता है। जब अपरोक्ष निश्चय हो तब शोक से मोक्ष होगा, फिर कभी शोक होगा नहीं। अंत में निरंकुशा तृप्ति मिलती है। विषयों से जो तृप्ति होती है वह तो सांकुश है; जब तक विषय रहेगा तब तक तृप्ति और विषय हटने पर तृप्ति भी गई। परमात्मा कभी तुमसे अलग होने वाला है नहीं इसलिये सांकुशा तृप्ति नहीं है।

चिदाभास की ये सात अवस्थाएँ हैं। बन्धन और मोक्ष—ये दोनों इन सात अवस्थाओं में ही मौजूद हैं। सात में जो पहली तीन हैं—अज्ञान, आवृति (आवरण) और विक्षेप—ये बंधन की अवस्था हैं। तीन बन्धन करने वाली कही गई हैं।। **३४।।**

ये बन्धन करने वाली हैं यह दिखाने के लिये इनका कार्य बताते हुए स्वरूप स्पष्ट करेंगे। पहले स्वरूप बताते हैं—

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम्।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम्।। ३५।।

'नहीं जानता' इस तरह उदासीनता के व्यवहार के प्रति कारण एवं विचार के प्रागभाव से युक्त (अनादि भावरूप अनुभूयमान वस्तु) अज्ञान बताया गया है।

'मुझे कुछ पता नहीं, परमात्मा के विषय में कुछ नहीं जानता' इसलिये उसके प्रति बिलकुल उदासीन भाव है। न तो 'परमात्मा है' मानकर प्रवृत्ति है और न 'परमात्मा नहीं है' मानकर निवृत्ति है, क्योंकि परमात्मा के विषय में कोई भान ही नहीं। अज्ञान स्थिर इसलिये है कि अभी तक आत्मतत्त्व के बारे में विचार नहीं किया, विचार प्रारंभ करने से पूर्व उसका अभाव है। विचार तब आता है जब पहले संशय आवे। परमात्मा है या नहीं है—यह संशय दूर करने के लिये आदमी विचार करे। जो कहे कि आगे कुछ नहीं है, उससे बात कर सकते हैं। अगर कहे 'आगे कुछ है' तब भी बात की जा सकती है। परन्तु 'आगे किसने देखा?' अर्थात् न है कह रहा है, न नहीं है कह रहा है, ऐसे से विचार किया ही नहीं जा सकता। जो व्यक्ति आगे विचार करेगा, विचार का बीज जिसमें है, वह विचार के प्रागभाव से युक्त है। जैसे चिकनी मिट्टी है तो आगे घड़े की सम्भावना है। अगर बजरी, बालू है, तो उससे घड़े की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार जिसके भी अन्दर बुद्धि तत्त्व है उसमें विचार का प्रागभाव है।

जहाँ बुद्धि तत्त्व है ही नहीं वहाँ विचार की सम्भावना ही नहीं। इसलिये बिल्ली, कुत्ते से कोई आशा नहीं कर सकते कि इनको कूटस्थ का ज्ञान होगा! जब तक मनुष्य नहीं होंगे, बुद्धि तत्त्व नहीं आएगा, तब तक विचार संभव नहीं। कई मनुष्य हैं जो कभी विचार में प्रवृत्त

होते ही नहीं। परन्तु फिर भी, कुत्ते-बिल्ली की अपेक्षा उनके अन्दर बुद्धि तत्त्व होने से उनसे आशा की जा सकती है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि शास्त्र में मनुष्य का अधिकार है। विचार कितना सफल होगा, यह कोई नहीं कह सकता, परन्तु सम्भावना है। हम कई बार कहते हैं कि शास्त्र का विचार करने के लिये, दूसरे को प्रवृत्त करने के लिये ब्राह्मण-दृष्टि की ज़रूरत है। ब्राह्मण खेती करता है तो हल नहीं जोतता! ब्राह्मण के लिये हल जोतना अच्छा नहीं माना गया। उसके पास खेत है तो उसमें बीज डाल देता है, कुछ उग भी जायेंगे, कई नहीं भी उगेंगे। ब्राह्मण की खेती ऐसी होती है। इसी प्रकार शास्त्र की बातें हर बुद्धि के अन्दर डालते चले जाओ। अगर यह देखने लगे कि हमने दस हज़ार बीज डाले, कितनों में अंकुर उगा?—तो यह खेती नहीं कर सकते! जो फल की दृष्टि से प्रचार करना चाहेगा वह शास्त्र की बात पर नहीं चल सकता, हमेशा शास्त्र के साथ समझौता करेगा। दस आदमी जिस चीज को समझ सकें, मान सकें वही बताने लगेगा। परन्तु ब्राह्मण कहता है 'मैं तो ठीक बात ही बताऊँगा, जँचे या न जँचे।'

जहाँ बुद्धि तत्त्व है वहाँ विचार का प्रागभाव है, शास्त्र-विचार करने के लिये प्रवृत्ति हो सकती है, अन्यत्र नहीं। विचार के प्रागभाव से युक्त जो 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार के उदासीन व्यवहार का कारण है वह अज्ञान कहा जाता है। चिदाभास ही यह व्यवहार करेगा। वही अनादि भावरूप यह अनुभूयमान वस्तु अज्ञान-शब्द से कही जाती है।। ३५।।

लौकिकों की अज्ञान-अवस्था होती है। उनको परमात्मा के बारे में न कुछ पता है न जिज्ञासा है। जिन नियमों को हम जानते हैं, उनके अनुसार प्रवृत्ति संसार में करते हैं और असफलता होती है तो मन में आता है 'इन असफलताओं का, दुःखों का क्या कारण है?' अर्थात् लगता है कि मेरे ज्ञान से परे कोई चीज़ है ज़रूर। उसको जानना चाहिये, हो सकता है उसे जानने पर मैं उन नियमों के अनुसार काम करके सफलता प्राप्त करूँ ताकि दुःख न हो। जानने का प्रयास बेढंगा या ग़लत ढंग का भी हो सकता है। अथवा किसी सत्संग आदि के द्वारा सही ढंग का भी हो सकता है। यदि सही तरीका नहीं अपनाया तो अज्ञान का कार्य आवरण प्रकट होता है—

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ।
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते।। ३६।।

अमार्ग से विचार कर फिर 'कूटस्थ न है, न भासता है' ऐसा विपरीत व्यवहार आवरण का कार्य माना जाता है।

आवरण का कार्य क्या है? परमात्मा के विषय में गलत विचार हो जाना। अज्ञान तो इतने ही व्यवहार का हेतु है कि उदासीनता होती है, कुछ पता भी नहीं और न जानने की इच्छा होती है। अमार्ग अर्थात् जो रास्ता नहीं है। जहाँ जाने का जो रास्ता है उस रास्ते से चलकर ही वहाँ पहुँच सकते हैं। जहाँ जाने का जो रास्ता नहीं वह सड़क कितनी ही अच्छी हो, गंतव्य के लिये अमार्ग ही है। जो जहाँ ले जाने का रास्ता न हो उससे जाओगे तो कहीं

के कहीं पहुँचोगे! मार्ग के बारे में अज्ञान के कारण अमार्ग में मार्गबुद्धि हो जाती है। आदमियों की भीड़ इस बात को नहीं बतला सकती है कि मार्ग ठीक है या नहीं। बाहर के रहने-सहने के चाकचिक्य से, खाने-पीने के चाकचिक्य से अनेक लोग सोचते हैं यहाँ परमात्मा की बात ठीक ही होगी। अमार्ग—जो मार्ग नहीं है भले ही मार्ग की तरह दीखता है। जो जहाँ पहुँचाता हो वही वहाँ का रास्ता कहा जाता है। जैसे रास्ते पर चलते हैं वैसे यहाँ विचार करना है, समझना है। अमार्ग से गलत ढंग से विचार कर लेते हैं। 'मुझ से परे कुछ है'—इतना तो चाहे खुद विचार करके पता लगाया, या अर्थापत्ति प्रमाण से या किसी के कहने से पता लगाया। वह 'कुछ' क्या है? कौन-सी चीज़ें रुकावट डालती हैं? कोई शनि शुक्र आदि की जानकारी को मार्ग मान लेता है। अथवा इधर पानी की टंकी बनाओ, उधर भण्डार-घर बनाओ आदि वास्तु को मान लेता है। ऐसे असंख्य अमार्ग हैं जिनके अनुसार विचार करे तो व्यक्ति निश्चय करता है कि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नहीं है। बृहस्पति अच्छा है तो शुक्र खोटा हो गया । शुक्र खोटा है तो बुध अच्छा हो गया। कोई एक नहीं है, सब एक-दूसरे में रुकावट डालेंगे, जो जबरा होगा वह जीत जाएगा। इसी तरह से देवताओं के विषय में हो जाता हैः कोई कह देता है—'अरे, तुमने देवी जी की पूजा तो की, हनुमान् जी की नहीं की, करो तब काम बनेगा।' सोचता है शायद हनुमान् जी से काम बन जाए क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् किसी को मानता नहीं है। फिर कोई मिल जायेगा कहने वाला कि देवता क्या है! 'मन्त्राधीना हि देवताः' मन्त्र के अधीन देवता होते हैं। हम मन्त्र का प्रयोग करेंगे तो देवताओं को ज़बरदस्ती करना पड़ेगा। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नहीं है यह मान लेने पर कहीं स्थिरता संभव नहीं। 'नहीं है' मान लिया तो स्पष्ट लगता है कि 'असौ नो भाति' ऐसा कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कहीं भी प्रतीत तो होता नहीं है। अतः दृढ हो जाता है कि कूटस्थ परमात्मा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न है न उसका भान होता है। यह विपरीत व्यवहार है। सर्वज्ञ परमात्मा है, उलटा ज्ञान हो गया कि 'सर्वज्ञ परमात्मा नहीं है, उसकी कहीं प्रतीति ही नहीं होती'। यह आवरण का कार्य हुआ। अज्ञान में तो कुछ भी पता नहीं और आवरण में विपरीत विचार करके 'सर्वज्ञ परमात्मा न है, न उसका भान होना है' इस प्रकार का निर्णय रहता है। अधिकतर लोग कह तो देते हैं कि हम सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमात्मा को मानते हैं परन्तु व्यवहार में हमेशा सोचते हैं कि कोई न कोई दूसरी चीज़ काम कर जाएगी। यह सब आवरण का कार्य है।। ३६।।

विक्षेप का स्वरूप और कार्य बताते हैं—

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः।। ३७।।

स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों समेत चिदाभासरूप वाला विक्षेप कहा गया है। संसार-नामक कर्तृत्व आदि सारा शोक इस विक्षेप का (चिदाभास का) बन्धनहेतु है।

विक्षेप क्या है? पहले तो देहद्वय, स्थूल-सूक्ष्म शरीर ही विक्षेप है। जो बाह्य संसार हमें दीख रहा है, यह विक्षेप नहीं है! विक्षेप तो हमारे अपने स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं। भालू हमको दुःख नहीं देता है। आँख के द्वारा जब भालू के आकार की अन्तःकरणवृत्ति बनती है तब दुःख देना शुरू करती है। कई बार मील भर तक चले जाओ, पीछे भालू आ रहा है, शेर आ रहा है, तुम्हें कोई मतलब नहीं, चले जाते हो, कोई दुःख नहीं होता। जैसे ही पता लगता है कि शेर है या भालू है, वैसे ही दुःख शुरू होता है। इसलिये कुछ विचारकों ने मान लिया कि सुख-दुःख का कारण केवल मन है। वेदान्त यह नहीं कहता है कि बाहर चीज़ें नहीं हैं। वेदान्त कहता है कि भालू है लेकिन तुमको सुख-दुःख तभी दे सकता है, तुम्हारे विक्षेप का कारण तभी हो सकता है जब तुमको उसका पता लगे। कुछ लोगों का मानना है कि जिसके बारे में पता नहीं वह है ही नहीं किंतु हम लोग ऐसा नहीं कहते। वेदान्त कहता है कि संसार की चीज़ें हैं परन्तु तुम्हारे विक्षेप का कारण, सुख-दुःख का कारण तभी होंगी जब तुम्हारे ज्ञान में आवें। इतना ही नहीं, यदि भ्रम से भी मन में भालू दीख गया तो भालू नहीं होगा तो भी दुःख होगा। बाहर भालू है पर तुम्हें पता नहीं तो दुःख का कारण नहीं; बाहर भालू नहीं है परन्तु तुम्हारे मन में हो गया कि भालू है तो तुम्हारे दुःख का कारण हो जाता है। इसलिये हमारे अपने विक्षेप का कारण स्थूल-सूक्ष्म शरीर ही हैं।

सूक्ष्म शरीर तो केवल तुम्हारे लिये दृश्य है, तुम्हारा सूक्ष्म शरीर और किसी को नहीं दीखता। तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारे प्राण, तुम्हारा अन्तःकरण—ये सब तुम्हारे लिये तो दृश्य हैं, ये सब चीज़ें प्रतीत होती हैं, पर तुम्हारे सिवाय और किसी को प्रतीत नहीं होतीं। स्थूल शरीर ऐसा है जिसकी प्रतीति तुम्हें भी है और दूसरों को भी है। तुम्हारा शरीर बाकी सबको दीखता है। फरक केवल इतना है कि तुम्हें अपना शरीर 'मैं' करके दीखता है—'यह मैं हूँ'। दूसरों को तुम्हारा शरीर 'यह' करके दीखता है। दीखता दोनों को है। जिस शरीर में 'मैं'-दृष्टि होती है वह दुःख का कारण बनता है। अपने सिर में दर्द है या पेट में दर्द है तभी हमें दुःख देता है। तुम्हारे सिर का दर्द तुम्हारे लिये तो साक्षात् अनुभव का विषय है, कोई मशीन उसे नहीं देख सकती। चित्रों से अनुमान लगाते हैं कि ऐसा चित्र है तो दर्द नहीं होना चाहिये। जैसे स्थूल शरीर को देख करके अनुमान करते हैं वैसे ही स्थूल शरीर की क्रियाओं को देखकर अनुमान करते हैं। तुम्हारे सिर का या पेट का दर्द केवल तुम्हारे ही साक्षात् अनुभव का विषय होगा, दूसरे का नहीं। स्थूल शरीर के द्वारा तुम समग्र बाह्य संसार के अंग हो जाते हो। तुम्हारा सूक्ष्म शरीर किसी दूसरे का विषय नहीं। स्थूल शरीर तुम्हारे 'मैं' का विषय और दूसरों के 'यह या तुम' का विषय है; विषय दोनों का है। संसार की सब स्थूल चीज़ें दूसरों का भी विषय हैं और तुम्हारा भी विषय हैं। इसलिये स्थूल देह से सारा ही संसार गृहीत हो जाता है। और अहंकार में पड़ा हुआ परमेश्वर का प्रतिबिम्ब, चिदाभास है।

दोनों शरीर और चिदाभास—ये विक्षेप हैं। इनको लेकर ही कर्तृत्व की प्रतीति होती है।

अपने अन्दर पैर की इन्द्रिय, फिर स्थूल बाहर का पैर, तभी 'मैं चल रहा हूँ' ऐसी प्रतीति होगी। मैं करने वाला हूँ प्रतीति होगी तब आगे शोक शुरू होंगे। 'कर्तृत्वादि' के आदि से भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि समझने चाहिये। कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्तृत्व प्रतीत होता है, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भोक्तृत्व प्रतीत होता है। ज्ञानेन्द्रियों से भोग करते हो। मन कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है। परमात्मा का ध्यान क्रिया है जो मन करेगा, अन्तःकरण करेगा। लड़का स्कूल से देर से आया तो चिन्ता कौन करेगा? मन करेगा, अन्तःकरण करेगा। इसलिये अन्तःकरण को कर्त्ता मानना पड़ता है और भोक्ता वह है ही। ज्ञानेन्द्रियों के साथ वही जानता है और ज्ञानेन्द्रियों के बिना भी वह जानता है। स्मरण करके जो जानता है उस सबमें ज्ञानेन्द्रियों का तो कुछ लेना-देना नहीं है। लड़का गया हुआ है अमेरिका पढ़ने के लिये। महीने भर से कोई उसकी खबर नहीं आई है—यह कोई ज्ञानेन्द्रिय तो जानती नहीं है, अन्तःकरण ही जानता है। इसी प्रकार आगे की जितनी आशाएँ हैं—लड़का आएगा, बहुदेशीय उद्योग में बड़ी नौकरी पाएगा, लाख रुपये महीना कमाएगा, हम दोनों समय घी-गुड़ से रोटी खाएँगे—ये सब आशायें मन ही तो बाँधता है। पहले अनुभूत चीज़ों को भी मन ही जानता है स्मरण के द्वारा तथा आगामी चीज़ों को भी मन ही जानता है। इसी प्रकार से राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह—सारे देहद्वय में ही हैं। इन सबसे ही शोक होता है।

शोक क्यों होता है? क्योंकि कर्तृत्वादि सब चिदाभास को बाँधने वाले हैं। कर्तृत्व के द्वारा मैंने किया इसलिये किये का मैं ही फल भोग रहा है। क्यों घी-गुड़ खा रहे हो? अरे, बड़ी मेहनत से लड़के को पढ़ाया है तब जाकर अब घी, गुड़ रोज़ खाने को मिल रहा है। जब राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति हो गए तो उनके गाँव के लोग बड़े खुश हुए बिहार में। आपस में कहते थे कि 'अब क्या कमी है, अब तो रोज़ दही चिवड़ा खाते होंगे!' उन्हें लगता था कि राष्ट्रपति हो गए, अब क्या कमी है, जितना मर्ज़ी उतना दही-चिवड़ा खाओ। अर्थात् मैं के आधार पर ही समझने का प्रयास होता है। उन्हें दही-चिवड़े का ही न्यूनाधिक्य समझ आने से राजेन्द्र प्रसाद के बारे में भी उसी संदर्भ में सोच पाते थे।

कर्त्ता-भोक्ताभाव ही जीव का बन्धक है। जो बन्धन का कारण है वही संसार कहा जाता है। 'मैंने किया' इस अभिमान के कारण फिर अगला जन्म लेना पड़ता है जहाँ उनका फल भोगें। फल भोगने के काल में फिर जो किया जाता है उसमें अभिमान कर लेता है तो फिर आगे फल मिलता है। इस प्रकार चक्र चलता रहता है। एक चक्र होता है चिड़ियों को पकड़ने के लिये। उसमें चिड़िया आकर जिस दण्डे पर बैठती है वह चिड़िया के बोझ से नीचे झुक जाता है; चिड़िया पीछे वाले डण्डे को पकड़ती है सीधा रहने के लिये, वह भी झुक जाता है; चक्र चलता रहता है, वह बेचारी डण्डों को पकड़ो-छोड़ो करती रहती है, तब तक पकड़ने वाला पकड़ ले जाता है! इसी प्रकार पहले किए हुए के फल को भोगने के क्रम में हम जो करते हैं उसमें कर्त्तापने का अभिमान होने के कारण फिर फल उत्पन्न होता है। इस तरह चक्र चलता रहता है। इस तरह कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमानरूप संसार ही बंधक है

चिदाभास का। और वस्तुतः यही शोक भी है। कोई चीज़ मन के लायक न होवे तब उसका जो दुःख होता है, वह शोक है।

संसार को शोक क्यों कहा? संसार में बच्चा पैदा होता है तो शोक थोड़े ही होता है! थाली बजाते हैं, खुश होते हैं। सारा संसार शोकरूप कैसे है? श्रुति ने जहाँ संसार को तरने की बात कही वहाँ कहा 'तरति शोकम् आत्मवित्'—आत्मज्ञान द्वारा शोक से तर जाता है, अर्थात् संसार को श्रुति ने ही शोक कह दिया। वह शोक इसलिये है कि पैदा हुआ बच्चा यदि पढ़ेगा नहीं तो तुम्हें शोक होगा, बीमारी से, दुर्व्यवहार से, मरने से शोक होगा। आगे या पीछे, संसार की हर चीज़ शोक देती ही है। उसका मूल कारण है कि संसार का नियम है 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' जिस चीज़ से सम्बन्ध होता है उससे वियोग अवश्यंभावी है। बच्चा मरेगा तो वियोग और हम मरे तो भी वियोग। संसार का कोई सुख ऐसा नहीं है जो आगे या पीछे शोक में तब्दील न हो जाए, शोक में परिवर्तित न हो जाए। इसलिये संसार सारा ही शोक कह दिया गया।। ३७।।

सातों अवस्थाएँ आभास की हैं यह उपपन्न करते हैं—

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिद्ध्यतः।
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः।। ३८।।

यद्यपि अज्ञान और आवरण—ये विक्षेप से पहले उपस्थित रहते हैं फिर भी वे विक्षेप की ही अवस्थाएँ हैं, आत्मा की नहीं।

शोकरूप संसार हमारे बन्धन का कारण है—यह बात तो समझ में आती है। देहद्वय की उपाधि आने पर चिदाभास आया और देहद्वय की उपाधि आने से पहले अज्ञान और आवरण था, तब विक्षेप आया। बाद में आने वाले आभास की वे कैसे अवस्थायें बनेंगी जो पहले थीं? बेटा बड़ी उम्र का होवे, बाप छोटी उम्र का होवे-यह हो नहीं सकता। इसी प्रकार विक्षेप की अवस्था में आया चिदाभास और विक्षेप आने के पहले अज्ञान और आवरण हैं। उन्हें चिदाभास की अवस्था कैसे समझें? विक्षेप से पहले दोनों सिद्ध हैं तो चिदाभास की अवस्थाएँ कैसे होंगी? इसका उत्तर दिया कि यद्यपि पहले पीछे वाली स्थिति है फिर भी अज्ञान और आवृति अवस्थाएँ चिदाभास की हैं, परमात्मा की नहीं हैं। कारण है कि कूटस्थ की कोई अवस्था हो नहीं सकती! दो ही चेतन प्रसिद्ध हैं—एक परमात्मा, कूटस्थ और दूसरा चिदाभास, जीव। परमात्मा की अवस्थायें हो नहीं सकतीं। क्योंकि वह निर्विकार है। और कोई है नहीं अतः चिदाभास की ही हो सकती हैं। इसलिये कहा कि विक्षेप की ही हैं, आत्मा की नहीं हैं।। ३८।।

यद्यपि दो में से आत्मा की नहीं हो सकतीं तो चिदाभास की होंगी, लेकिन चिदाभास जब है ही नहीं तो उसकी हुईं कैसे? जैसे आत्मा की नहीं हो सकतीं, वैसे चिदाभास की भी नहीं होनी चाहिये। अतः युक्ति से यह संगत करते हैं कि उन्हें चिदाभास की माना जाये—

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः।। ३६।।

विक्षेप की उत्पत्ति से पहले भी विक्षेप का संस्कार है ही अतः अज्ञान-आवरण उसकी अवस्थायें होना विरुद्ध नहीं है।

संसार अनादि है। कभी कोई चीज़ व्यक्त होती है, कोई चीज़ अव्यक्त हो जाती है। कभी कोई चीज़ प्रकट होती है, कभी अप्रकट होती है पर होती ज़रूर है। चीज़ जाती है तो अपने संस्कार को छोड़ कर जाती है अर्थात् उसका अव्यक्त रूप संस्काररूप से रह जाता है। यह ठीक है कि पहले चिदाभास व्यक्त नहीं था पर चिदाभास के संस्कार तो थे। इसलिये उन्हें चिदाभास की अवस्था कहना बन जाता है। विक्षेप शब्द का मतलब क्या होता है? 'क्षेप' का मतलब होता है फैंकना। जो बाहर फैंका जाता है वह विक्षेप हुआ। फैंके जाने से पहले जैसा अन्दर विद्यमान है वह उसका संस्कार है। जब तक प्रकट नहीं हुआ, बाहर नहीं आया, उससे पहले भी विक्षेप का संस्कार था। क्योंकि पूर्व कल्प में चिदाभास था ही अतः उसका संस्कार मौजूद था। विक्षेप के संस्कार हैं ही इसलिये अज्ञान और आवरण को चिदाभास की ही अवस्था कहा जाना ठीक ही है। इस तरह इन दोनों का चिदाभास की अवस्था होना युक्तिविरुद्ध नहीं है।। ३६।।

इन्हें कूटस्थ की अवस्था मानना संगत नहीं यह बताते हैं—

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति।
न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात्।। ४०।।

यह शंका नहीं करनी चाहिये कि ब्रह्म में आरोपित होने से ये ब्रह्म की अवस्थाएँ हैं क्योंकि ब्रह्म में तो (ये दो ही नहीं) वरन् सभी अध्यस्त हैं।

अज्ञान और आवरण—ब्रह्म की अवस्थाएँ हैं—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये अर्थात् इसकी प्राप्ति ही नहीं समझनी चाहिये। ब्रह्म में आरोपित है यह बात तो ठीक है लेकिन इससे वे ब्रह्म की अवस्थाएँ नहीं होती। जितनी भी अवस्थाएँ हैं सारी-की-सारी अध्यारोपित हैं। ब्रह्म में तो सभी कुछ अध्यस्त है, सभी कुछ अध्यारोपित है। अतः इन्हें उसकी अवस्थाएँ नहीं कह सकते। अवस्थाएँ तो ये चिदाभास की ही कही जाएँगी। इतनी ऊहा-पोह चिदाभास के लिये क्यों करनी पड़ती है? ब्रह्म ही अज्ञान से अवस्थाओं वाला क्यों न माना जाये? चिदाभास को मानने की ज़रूरत ही काहे के लिये पड़नी चाहिये? चिदाभास को मानना इसलिये ज़रूरी पड़ता है कि सारा कर्म का और उपासना का काण्ड किसको उपदेश करेगा? जड को तो उपदेश दिया नहीं जा सकता और चेतन ब्रह्म को भी उपदेश नहीं दिया जा सकता क्योंकि चेतन ब्रह्म में कर्तृत्व की उपस्थिति ही नहीं है। सारा कर्म का और उपासना का काण्ड तभी संगत होगा जब कोई ऐसा होवे जो अपने को उपाधियों के साथ

काम करने वाला मानता हो। जो मानता है 'मैं बोलता हूँ' उसी को उपदेश दे सकते हो—झूठ मत बोलो, सच बोलो। ज्ञानी को क्यों नहीं कह सकते कि झूठ मत बोलो, सच बोलो? क्योंकि ज्ञानी इस बात को मानता ही नहीं कि बोलने वाला मैं हूँ। जड बुद्धि को उपदेश दे नहीं सकते। यह ठीक है कि चिदाभास वास्तविक नहीं है परन्तु अवास्तविक को ही उपदेश की सम्भावना है अतः चिदाभास मानना ज़रूरी है। चिदाभास क्या है? उपाधि और चेतन की मिली-जुली प्रतीति। देहद्वय के साथ चेतन मिला हुआ प्रतीत होना चिदाभास है। उसमें जड-चेतन दोनों की विशेषतायें मिलती हैं। विवेक करने से तो दोनों अलग हो जाते हैं, तब उपदेश का विषय ही नहीं रहता। अहंकार या जीवभाव चिदाभास है। यह ऐसे आदमी की तरह है जो वर-वधू किसी पक्ष का न होने पर भी दोनों का व्यवहार करा लेता है।

जो व्यक्ति दोनों पक्षों को अज्ञात हो वह एक का प्रतिनिधि बनकर दूसरे को और दूसरे का भी प्रतिनिधि बनकर पहले को परस्पर सूचनाएँ दे-लेकर व्यवहार सम्पन्न करा लेता है। जब दोनों पक्ष आपस में परिचित हो जाते हैं तभी दोनों को पता चलता है कि वह दोनों से असम्बद्ध ही था! फिर वह निरर्थक हो जाता है। जीव कहो, चिदाभास कहो, अहंकार कहो, यह चेतन की तरफ से आकर देहद्वय पर अपना शासन चलाता हैः 'मैं करने वाला, जानने वाला, तुम लोग क्या हो! कुछ नहीं।' यों उपाधि के ऊपर शासन करता है। और जड जगत् से इसके संस्कारों से, चेतन-भाव को ढाँकता रहता है। कर्त्तापना काहे से है? कर्मेन्द्रियों से। भोक्तापना काहे से है? ज्ञानेन्द्रियों से। इनसे अहंकार आत्मा के कूटस्थरूप को ढाँकता है और कूटस्थ के चेतनभाव से इन्द्रियादि के ऊपर शासन करता रहता है। जब विवेक करके पता लगता है कि शासन करने वाला तो एक ईश्वर ही है, उससे भिन्न सब जड है, तब यह जीवभाव, चिदाभास, अहंकार कहाँ गया? इसका पता ही नहीं लगता! जो अब तक कर्त्ता-भोक्ता बना हुआ था, उसका नामो-निशान नहीं मिलता। इसलिये ये हैं तो चिदाभास की अवस्थाएँ।। ४०।।

ब्रह्म में आरोपित होने से ब्रह्म की ही अवस्थाएँ क्यों नहीं मान लेते? इसलिये कि फिर दो ही नहीं सभी अवस्थाएँ ब्रह्म में ही आरोपित हैं! अधिष्ठान-रूप से तो ब्रह्म सबके प्रति एक जैसा है। जिसकी अवस्थाएँ बतला रहे हैं वह अवस्थाओं के द्वारा परिवर्तनीय है अर्थात् व्यावहारिक है। ब्रह्म पारमार्थिक है जब कि जीव व्यावहारिक है इसलिये ये अवस्थाएँ जीव की ही मानना ठीक है, ब्रह्म की नहीं। युक्ति तो संस्कार के सहारे समझा चुके। रही बात अनुभव की, प्रश्नोत्तर द्वारा उसे भी स्पष्ट करते हैं—

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि।। ४१।।

यदि कहो कि 'मैं संसारी हूँ, तत्त्व समझ गया, शोकरहित हो गया, सन्तुष्ट हूँ'—ये बाद

की अवस्थाएँ जीव में प्रतीत होती हैं, ब्रह्म में नहीं (अतः इन्हें ही जीव की अवस्था मानना जँचता है)।

जीव को चार अवस्थाओं की प्रतीति है, प्रारंभिक तीन के बाद की चार अवस्थाओं का भान होता है। संसारी हूँ— यह जीव को भान होता है कि जन्म-मरण वाला मैं हूँ, करने वाला एवं भोगने वाला मैं हूँ। उसके बाद गुरु के उपदेश से दीर्घ काल तक मनन करके निश्चय करने के बाद जीव को प्रतीति होती है कि 'अहं विबुद्धः' मैं तत्त्वसाक्षात्कार वाला हूँ। पहले मैं कर्तृत्व-भोक्तृत्व जो बुद्धि के धर्म हैं, उन वाला था और अब कर्तृत्व-भोक्तृत्व वाला नहीं, बुद्धि के द्वारा जो ब्रह्माकार वृत्ति बनी उससे होने वाले ज्ञान वाला मैं आत्मज्ञानी हूँ—यह भी जीव को ही प्रतीति होती है। फिर निःशोक हूँ—मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षिमात्र हूँ इसलिये सारा जगत् और देहद्वय प्रतीत होने पर भी मुझ में शोक नहीं आता। वैसे तो शोक दुःखरूप है, परन्तु शोक तब कहा जाता है जब 'दुःखी हूँ'—ऐसा अनुभव हो। केवल दुःख तब तक जब तक अन्तःकरण के अन्दर दुःख की प्रतीति हो रही है पर मैं दुःखी नहीं हूँ। शोक तब होता है जब मैं दुःखी हूँ—यह प्रतीति हो। दुःख तभी होता है जब जो मैं चाहता हूँ वह न होवे। कोई चाहना मुझ में है ही नहीं तो शोक की सम्भावना ही नहीं है अर्थात् दुःखी होने की सम्भावना ही नहीं है। इच्छा होती है राग-द्वेष के अधीन होकर। मेरे शरीर-मन को जो सुखी करने वाला है वह होवे, शरीर-मन को दुःखी करने वाला न होवे—ये राग-द्वेष हैं। राग-द्वेष के कारण इच्छा होकर जीव प्रवृत्ति-निवृत्ति करता है। जो चाहता है कि हो जाए, उसके लिये प्रयत्न करता है। जो चाहता है कि हट जाए, उसे हटाने के लिये भी प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न करने से कर्म बन जाते हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति करने से कर्म बनता है। प्रारब्ध अनुकूल हुआ तो वह प्रवृत्ति-निवृत्ति सफल हो जाती है और प्रतिकूल हुआ तो सफल नहीं होती। उसके सफल होने न होने से प्रारब्ध के भोग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

ज्ञान के बाद क्योंकि 'मैं' दुःखी नहीं होता इसलिये प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती। तब तुष्ट हो जाता हूँ। आदमी कब सन्तुष्ट होता है? जो करना चाहे वह जब हो जाता है। लड़की का ब्याह करना चाहता है। लड़की का ब्याह अच्छे घर हो गया तो कहता है 'गंगा नहाये' अर्थात् तुष्टि का बोध होता है कि हम जो चाहते थे वह हो गया। कोई धन आदि कमाना चाहते हैं, धन आदि प्राप्त हो गया तो सन्तुष्टि होती है कि इतनी मेहनत की तो लाख रुपया मिल गया। जो कार्य था वह कर लिया, जो प्राप्त करने लायक था वह प्राप्त कर लिया—ये दो ही तुष्टि का स्वरूप हैं। तत्त्वज्ञ ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति कर ली इसलिये और कुछ करना रहा नहीं और निर्विशेष आनन्द की प्राप्ति कर ली इसलिये और कुछ प्राप्त करना रहा नहीं। इसलिये पूर्ण सन्तोष हो जाता है। ये उत्तरावस्थाएँ हैं—मैं संसारी हूँ, मैं विबुद्ध हूँ, मैं शोकरहित हूँ और मैं सन्तुष्ट हूँ। ये जीव में ही प्रतीति होती हैं। ये ब्रह्माश्रित प्रतीत नहीं होती हैं। संसारी होना आदि प्रतीतियाँ जीव को ही होती हैं, परमात्मा को तो होती

नहीं। इसलिये ये चार अवस्थाएँ जीव में भान होने से जीव की मान लेवें, परन्तु अज्ञान और आवरण अनुपस्थित जीव की अवस्थाएँ मानना संगत नहीं लगता।। ४१।।

उत्तर में प्रथम दो अवस्थाएँ भी जीव को अनुभूयमान दिखाते हैं–

तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हि।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु।। ४२।।

तो (जवाब है कि) 'मैं अज्ञानी हूँ, मेरी दृष्टि में ब्रह्म की सत्ता और उसका भान हैं नहीं' यों पूर्व की दोनों अवस्थाएँ भी जीवगत ही भासती हैं।

प्रतीति की दृष्टि लेते हो तो भी पहली दोनों अवस्थाएँ–अज्ञान और आवरण, जीव में प्रतीत होती ही हैं। 'तर्हि' मायने जीव में जिनका भान होवे उनको जीव का मानो तो 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार अज्ञान की अवस्था भी जीव में ही भान होती है, चिदाभास में ही भान होती है। 'ब्रह्म अज्ञानी है'–ऐसा तो भान होता नहीं! इसी प्रकार 'मद्दृष्टितः' मेरी दृष्टि से ब्रह्म है नहीं और उसका भान भी होता नहीं। ब्रह्म की सत्ता और ब्रह्म का भान–ये मेरे अनुभव में नहीं हैं–यह भान भी जीव को होता है। इस प्रकार आवरण का भान भी जीव को ही होता है और अज्ञान का भान होता ही है। इसलिये भान की दृष्टि लेते हो तो भी इन्हें जीव में मानना ठीक ही है। 'पूर्वे अवस्थे' पूर्व अवस्थायें अर्थात् अज्ञान और आवृति–ये भी जीव में ही भान होते हैं। इसलिये सातों अवस्थाएँ जीव की ही माननी चाहिये।। ४२।।

पूर्वोक्त विचार से अज्ञान का आश्रय जीव है यह इन्होंने सिद्ध किया। वेदान्तियों में वाचस्पति मिश्र तो जीव को अज्ञान का आश्रय मानते हैं परन्तु दूसरे वेदान्तियों ने अज्ञान का आश्रय ब्रह्म को ही माना है। आप वाचस्पति का समर्थन कर रहे हैं तो अन्य आचार्यों की बात कैसे संगत समझायेंगे? अज्ञान का आश्रय ब्रह्म को मानने वालों में प्रकाशात्म-श्रीचरण, सर्वज्ञात्ममहामुनि, और सुरेश्वराचार्य जैसे लोग हैं। इनके मत से विरोध भी सह्य नहीं। अतः समझाते हैं कि हमारे और उनके कहने में विरोध नहीं है। हम कह रहे हैं जिसे भान होता है और वे कह रहे हैं जिसमें भान होता है अर्थात् जिसके ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है। इस प्रकार यहाँ वाचस्पति और प्रकाशात्मश्रीचरण, दोनों के वाक्यों का समन्वय प्रदर्शित किया है। किसे अनुभव होता है–यह एक बात हुई और किसमें अनुभव होता है–यह दूसरी बात हुई । जैसे दोनों बातें कही जाती हैं–रस्सी में साँप है और अन्धेरे में साँप है। अन्धेरे में साँप है–यह तो अनुभव की दृष्टि से कहते हैं कि जहाँ अन्धेरा है वहाँ साँप है। जब कहते हैं 'रस्सी में साँप है' तब अधिष्ठान की दृष्टि से कि किसे जानने से सर्प का अज्ञान मिटता है। यही व्यक्त करते हैं–

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः।
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम्।।४३।।

अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है—यह ब्रह्म की अधिष्ठानता की दृष्टि से आचार्यों ने कहा है। अज्ञान का अभिमानी होने से इन्हें हमने जीव की अवस्था कहा।

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' यह सर्वज्ञात्म मुनि का वचन है कि माया का आश्रय जीव-ईश्वरभाव से रहित शुद्ध चैतन्य ही है। उन्होंने कहा है कि अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है। भगवान् सुरेश्वराचार्य सीधा ही बतलाते हैं कि ब्रह्म ही अज्ञान से अपने को जीव समझ रहा है ठीक जिस प्रकार से कर्ण ही अज्ञान से अपने को सूत समझ रहा था। कर्ण जब अपने को सूत समझ रहा था तब कर्ण में कोई विशेषता तो आई नहीं थी पर उसे पता नहीं था कि उसके माँ-बाप कौन हैं इसलिये अपने को सूत समझ रहा था। जैसे ही सूर्य ने कहा, कृष्ण ने कहा, कुन्ती ने कहा वैसे ही जान गया कि कौन्तेय है, सूर्यपुत्र है, सूत नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूप को नहीं जान कर अपने को कर्त्ता-भोक्ता समझ रहा है। जैसे ही श्रुति, युक्ति और विचार के द्वारा जान जाता है कि 'मैं तो इन सबका साक्षी कूटस्थ-मात्र हूँ,' वैसे ही अपने स्वरूप में आ जाता है। यह सुरेश्वराचार्य की प्रक्रिया बिलकुल सीधी पड़ती है। इसमें 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च'—ब्रह्म का ही संसरण और उसकी ही मुक्ति है यह बात समझ में ठीक आ जाती है।

परन्तु जो युक्ति से विचार करते हैं उनकी समस्या है कि ऐसा मानने से ब्रह्म विकारी हो जाता है। वस्तुतः विकार होता नहीं है जैसे कर्ण में कोई विकार तो आया नहीं, फिर भी वे कहते हैं कि अपने को सूत माना—यही विकार है। सीधी बात होने पर भी इसके अन्दर युक्तिवादियों को अनेक विरोध प्रतीत होते हैं, इसलिये युक्ति-विरोध से बचने के लिये जीव को ही अगर आश्रय मान लिया जाए तो कोई हरजा नहीं है। जीव ने पहले अपने को कर्त्ता-भोक्ता जाना, बाद में अपने को मुक्त जाना। चूंकि ये दोनों व्यावहारिक होने से मिथ्या हैं इसलिये ब्रह्म में कोई फ़र्क़ आया नहीं। अतः वाचस्पति आदि ने कहा कि जीव आश्रय है। प्राचीन आचार्यों ने तो इस दृष्टि से कहा कि अज्ञान और आवरण का अधिष्ठान कौन है। वही आश्रय है जो अधिष्ठान है। और यहाँ विद्यारण्य स्वामी ने इस दृष्टि से कहा कि अज्ञानी हूँ—यह अभिमान किसका है। अभिमान तो हर हालत में जीव का ही मानना पड़ेगा। अधिष्ठान की दृष्टि से विवरणादिकारों ने और अभिमान की दृष्टि से विद्यारण्य स्वामी ने कहा। अज्ञान और आवरण को जीव की अवस्था अभिमान को लेकर कह रहे हैं अर्थात् जीव ही इनमें अभिमान करता है। इस प्रकार से बन्ध का हेतु तीन अवस्थाएँ और ज्ञान वाली चार अवस्थाएँ—ये सातों अवस्थाएँ जीव की बतलाई।। ४३।।

बन्धहेतु तीनों अवस्थाएँ बता चुके, अब मोक्षहेतु दो अवस्थाएँ दिखाते हैं—

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः।
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति।। ४४।।

दोनों ज्ञानों द्वारा यह अज्ञान नष्ट होने पर 'कूटस्थ न भासता है, न है'—दोनों तरह का अज्ञानकृत आवरण भी नष्ट हो जाता है।

अज्ञान नष्ट होता है ज्ञान से ज्ञान दो प्रकार का है— परोक्ष और अपरोक्ष। श्लोक ३१ में इनकी चर्चा आयी थी। दोनों ज्ञानों से अज्ञान नष्ट हो जाता है। प्रथमतः परोक्ष ज्ञान होता है। जब परोक्ष ज्ञान होता है तब 'परमात्मा है ही नहीं'—यह अज्ञानकृत आवरण नष्ट होता है, 'परमात्मा है'—यह निश्चय हो जाता है। फिर भी 'परमात्मा के मैंने आज तक दर्शन नहीं किए' अर्थात् भान नहीं हुआ। जब अपरोक्ष ज्ञान होता है तब क्योंकि भान हो चुका इसलिये वह आवरण भी नष्ट हो चुकता है। 'ब्रह्म है'—यह निश्चय भी है और यह भी कि 'मैं-रूप से मुझे ब्रह्म का भान हो रहा है'। हम लोगों के जीवन में हर समय 'मैं' का भान तो रहता ही है—मैं चलता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ। लेकिन अभी 'मैं' शब्द से हम समझते हैं स्थूल-सूक्ष्म शरीर वाला चिदाभास और तब हम अहम्-शब्द से उस चित् को समझेंगे जिसका बुद्धि के अन्दर आभास पड़ रहा है। ठीक जैसे काँच में मुँह देख कर एक भान है कि मैं काँच में मुँह देख रहा हूँ और दूसरा भान है कि काँच में मेरा मुँह है, मैं ही हूँ। इसी तरह अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतीत होने वाला चिदाभास भी चिद्रूप मैं ही हूँ। सभी व्यवहारों में मैं का भान रहता ही है और ज्ञान के बाद 'मैं' के द्वारा ब्रह्म का मान होता है इसलिये हमेशा ही ज्ञानी की ब्रह्म में स्थिति बनी रहती है। बहुत समय से 'मैं' की प्रतीति आते ही हमें शरीरद्वय का भान होता रहा है। इसलिये ये संस्कार प्रतिबन्धक हो जाते हैं। हम इस बात को प्रायः भूल जाते हैं कि हम चिन्मात्र हैं। हमें मैं के अन्दर प्रतीति हो जाती है देहद्वय-विशिष्ट चिदाभास की। जैसे ही ऐसी प्रतीति हो, वैसे ही पुनः श्रवण-मनन के द्वारा उस निश्चय को दुहरा लो कि 'ये दोनों मैं नहीं हूँ'। जब इसके संस्कार दृढ हो जाएँगे 'तब नियमतः' मैं-बोध कूटस्थ का ही होगा। जैसे पहले एक आदमी का संस्कार होता है 'मैं देवदत्त हूँ'। कहीं भी 'देवदत्त' सुनते ही उसके कान खड़े हो जाते हैं कि मेरी बात हो रही है। आवाज़ दो—'देवदत्त!' तो झट आ जाता है। मैं देवदत्त हूँ—ये संस्कार दृढ हैं। फिर उसने संन्यास ले लिया, उसका नाम हो गया शिवानन्द। उसको निश्चय तो हो गया कि गुरु जी ने कह दिया है तो मेरा नाम शिवानन्द है परन्तु शुरू-शुरू में जब सुनता है 'देवदत्त!' तो उसका ध्यान आकृष्ट होता है। कई बार कोई आवाज़ देता है—'देवदत्त इधर आना', तो उठने भी लगता है। फिर याद आ जाता है कि 'अरे, मैं तो शिवानन्द हूँ, देवदत्त नहीं हूँ।' लेकिन जब बीस साल का साधु हो जाता है तो कितना ही कोई देवदत्त की बात करता रहे, उसे 'मेरी बात हो रही है' ऐसा लगता ही नहीं, उधर उसका कोई ध्यान नहीं जाता। 'मैं शिवानन्द हूँ' यह निश्चय बना रहता है। कोई उसको कहे—'अरे, पच्चीस साल पहले तेरा नाम देवदत्त था' तो याद आता भी है लेकिन 'अब नहीं है' यह भान दृढ रहता है। जैसे 'मैं शिवानन्द हूँ'—ये संस्कार जब तक दृढ नहीं हो जाते तब तक देवदत्त होने की कुछ प्रतीति होती रहती है लेकिन धीर-धीरे खत्म हो ही जाती है। वैसे ही अभी तो प्रतीति है कि देहद्वय-विशिष्ट चिदाभास मैं हूँ। फिर वेदादि के श्रवण-मनन से पता

लगता कि मैं तो सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ। निश्चय हो गया, पता तो लग गया, परन्तु कोई व्यवहार आदि होता है तो फिर अपना देहद्वय विशिष्ट जो चिदाभास के नाम-रूप हैं उन्हीं को मैं समझ लेता है। जब दीर्घ काल तक संस्कार पड़ जाता है तब अपना जीवभाव याद भी नहीं रहता। कोई शिष्य इत्यादि याद दिलावे, तब याद आता है 'अरे! जैसे यह अपने को जीव समझ कर बन्धन में है वैसे ही किसी समय मैं भी अपने को जीव समझकर बंधन में था। इसलिये जैसे मेरे गुरुजी ने उपदेश देकर मेरे इस भाव को नष्ट किया वैसे ही इसे उपदेश देकर मैं इसके जीवभाव को नष्ट करूँ।' ऐसे किसी प्रधान कार्य के लिये याद आ जाती है। लेकिन याद काल में भी 'मैं जीव हूँ' ऐसी *प्रतीति* कभी नहीं होती। परोक्ष-अपरोक्ष ज्ञानों द्वारा अज्ञान तथा अज्ञान के द्वारा किया हुआ आवरण नष्ट हो चुकता है**।। ४४।।**

दोनों ज्ञानों से अज्ञान और दोनों तरह का आवरण नष्ट हो जाता है यह बताया। किस ज्ञान से क्या नष्ट होता है यह स्पष्ट करते हैं—

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता।
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता।। ४५।।

अज्ञान में जो असत्त्वापादक आवरण के प्रति कारणता वह परोक्ष ज्ञान से नष्ट होती है तथा अभानापादक आवरण के प्रति कारणता अपरोक्ष ज्ञान से नष्ट होने योग्य है।

परोक्ष ज्ञान से पता चलता है कि सारे संसार का निर्माण करने वाला निरंश परमात्मा ही है। कोई परमाणुओं को जगत् का कारण मानते हैं, कोई प्रकृति को, या शक्ति को जगत् का कारण मानते हैं। इसी प्रकार अनेक विचारक जगत् के अलग-अलग कारण बतलाते हैं। परोक्ष ज्ञान से निश्चय हो जाता है कि अन्य कोई कारण नहीं है, जगत् का कारण तो एकमात्र ब्रह्म ही है। 'असत्त्वावृतिहेतुता' अज्ञान में है। असत्त्वावृति अर्थात् असत्त्व की प्रतीति कराने वाला आवरण, जिससे लगता है कि परमात्मा नहीं है। परोक्ष ज्ञान से अज्ञान में जो असत्त्वावरण के प्रति कारण बनने की सामर्थ्य वह नष्ट हो जाती है। कारणता ही नष्ट हो जाने से आगे कभी आवरण की संभावना नहीं रहती। फिर भी अभानावृति-हेतुता अर्थात् उसका भान नहीं हो रहा है इस प्रतीति के प्रति कारणभूत आवरण को अज्ञान बनाये रखता है। निरन्तर उसका भान हो रहा है परन्तु भान होते हुए भी अज्ञान के कारण कहता है—भान नहीं हो रहा। जैसे हिरण्यकशिपु ने कहा प्रह्लाद से—'तेरा परमात्मा है कहाँ?' उसने पलटकर जवाब दिया—'कहाँ नहीं है! सर्वत्र है।' पिता ने पूछा 'क्या इस खम्बे में भी है?' प्रह्लाद ने कहा—'इस खम्भे में भी है।' जैसे ही खम्भे को गदा मारी वैसे ही प्रकट हो गये। 'वह कहाँ है?' का जवाब यही हो सकता है कि सर्वत्र है, कहाँ नहीं है! परमात्मा का हमेशा ही भान हो रहा है किंतु उसका भासमान रूप आवृत है, ढँका हुआ है। जिस प्रकार, आज बादल हैं तो बहुत से लोग कहते हैं—'घना बादल है, सूरज का नाम नहीं है।' बादल घने हैं—यह

क्या टॉर्च जला कर देखा तुमने? घने बादल को भी तो सूर्य के प्रकाश से ही देखा है परन्तु फिर भी लगता है कि सूर्य का प्रकाश नहीं दीख रहा। इसी प्रकार हमें घट-पट आदि का भान होता है तो भानरूप से परमात्मा ही प्रकट हो रहा है। इस प्रकार उस भान को रात-दिन देखते हुए भी कहते हैं—'मुझे परमात्मा का भान नहीं हैं।' अज्ञान इस आवरण के प्रति कारण है कि ब्रह्म भले ही है पर उसका भान नहीं हो रहा है! यह जो अज्ञान की सामर्थ्य है वह 'अपरोक्षज्ञाननाश्या' अपरोक्षज्ञान के द्वारा नष्ट हो पाती है। सद्रूप-चिद्रूप से परमात्मा का हमेशा भान हो रहा है। सद्रूप मायने 'है'। कोई भी चीज़ दीखे तो है-रूप ही दीखती है। चीज़ें है-रूप दीख रही हैं तो 'है' नहीं दीखे इसमें कोई कारण ही नहीं है। इतना ठीक है कि नाम-रूप के साथ 'है' की प्रतीति हो रही है, नाम-रूप के बिना 'है' की प्रतीति नहीं हुई, लेकिन 'है' की प्रतीति तो हुई ही। इसी प्रकार नामरूप के साथ अनुभव हुआ है, बिना नाम-रूप का अनुभव नहीं हुआ है—इतना तो ठीक है लेकिन 'अनुभव' तो हुआ ही। फिर भी अपरोक्ष न होने तक लगता है कि भानरूप आच्छादित है, आवृत है। 'सत्-चित्-रूप प्रत्यगात्मा मैं हूँ,' इस ज्ञान से अभान का अनुभव कराने की अज्ञानसामर्थ्य नष्ट हो जाती है।। ४५।।

ज्ञान की फलभूत दोनों अवस्थाएँ समझाते हैं—

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात्।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते।। ४६।।

अभानापादक आवरण नष्ट होने पर जीवरूपता का आरोप भलीभाँति क्षीण हो चुकने से संसार-नामक कर्तृत्व आदि सारा शोक दूर हो जाता है।

अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा अभान कराने वाला आवरण भी नष्ट हो जाता है। ठीक जिस प्रकार सोने के गहनों को देखते हुए कोई कहे 'हमें सोना नहीं दीख रहा है,' उसी प्रकार अस्ति और भाति से युक्त ही सब कुछ दीखते हुए लगता है कि 'अस्ति और भाति को हमने नहीं जाना'। स्वर्ण की तरह सच्चिद्रूप आत्मा बुद्धिगम्य है, यह याद रखना। अर्थात् नाम-रूप को नष्ट करके कुछ अलग भान होगा—ऐसी कल्पना नहीं कर लेना। नाम-रूप रहते हुए भी वही है यह समझना है। उसमें नाम-रूप माया के कारण कल्पित हैं। नामादि तो विकारी, अनित्य दुःखरूप, जडरूप हैं परन्तु हैपना और भान तो आत्मस्वरूप ही हैं। अभान कराने वाला आवरण नष्ट हो गया तो जीवभाव समाप्त हो जाता है। ब्रह्म का भान न होने से ही जीवत्व का आरोप है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह भान न होने से ही आरोप हो जाता है—'मैं जीव हूँ'। जैसे यह रस्सी है—ऐसा भान नहीं होने से ही आरोपित हो जाता है कि यह साँप है। मैं कौन हूँ इसको ढूँढना एक बड़ी भारी साधना है। 'मैं कौन हूँ' को ढूँढने लगें तब पता लगेगा कि मैं ब्रह्म हूँ। मैं चलता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं कमाता हूँ, मैं लूटता हूँ, मैं खर्च करता

हूँ, मैं लूटा जाता हूँ आदि लगातार मैं का व्यवहार कर रहे हैं। इसी प्रकार मेरा शरीर, मेरा बेटा, मेरी पत्नी-इस प्रकार का मेरा-का भी निरन्तर प्रयोग कर रहे हैं। प्रयोग करते हुए भी कभी जानने की चेष्टा नहीं करता है कि वह 'मैं' कौन है जिसका यह लड़का है। अनादि काल से तो लड़का था नहीं, पैदा हुआ तब से हुआ। इसके पहले किसका था? वह मैं कौन हूँ जिसका यह लड़का हो गया? निरन्तर 'मैं मेरा'-शब्दों का प्रयोग करते हुए भी इनका अर्थ नहीं जानते!

यह स्थिति वैसी ही है जैसे लोक में भागांश-वाले उद्योगों को लोग जानते हैं, बहुधा उनके मालिक का पता नहीं लगाते। कहते हैं 'मालिक का तो पता नहीं लेकिन है बड़ी अच्छी कम्पनी।' भागांश वाली कम्पनियों के मालिक का सामान्यतः पता होता नहीं है। ऐसी कम्पनी में रुपया कैसे जमा किया जाये? जिसका पता ही नहीं कि मालिक कौन है, उस कम्पनी का भरोसा कैसे किया जाए? लोग कहते हैं कि सब काम तो करने वाले मैनेजर इत्यादि ही हैं, अतः फिलहाल जो उसका प्रकाशित हिसाब उसी के आधार पर भरोसा करना चाहिये। किन्तु जिस दुकान के मालिक का पता नहीं हो, उसके मुनीम को देखकर उसे रुपया उधार दिया नहीं जा सकता। मालिक भला हो तो उसका विश्वास कर सकते हैं। इसी प्रकार 'मेरा मकान' अर्थात् मैं उसका मालिक हूँ। तुम मकान को जानते हो, बाकी सब चीज़ों को जानते हो पर मालिक का तुमको पता ही नहीं! वस्तुतः इस 'मैं' को पता करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रायः आदमी इसके लिये प्रयत्न नहीं करता क्योंकि मान लेते हैं कि यह स्पष्ट है, सब जानते ही हैं। जिस पर विचार न करना हो उसे 'सभी समझते हैं' के रूप में स्वीकारा जाता है। जिसके बारे में हमें पता नहीं उसीका हम मानते हैं कि सबको पता है! किसी से पूछें तो कहेगा 'मुझे तो पता नहीं लेकिन सबको पता है' ठीक इसी प्रकार 'मैं' की बात आने पर कहते हैं—'मैं का क्या पता लगाना! मैं तो हूँ ही। किंतु इसका पता लगाते हैं तब मालूम चलता है कि 'मैं' ही तो परमात्मा है!

इसलिये भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' सारे प्राणियों की बुद्धिवृत्ति के अन्दर विद्यमान आत्मा मैं परमात्मा हूँ। हृदय में परमात्मा बैठा हुआ है, वहीं पर मैं की वृत्ति है। अगर वहाँ देखो तो तुम्हें परमात्मा मिल जाए। लेकिन उस मैं का ही पता नहीं लगाते, यही माया का खेल है। अगर इसका पता लग जाए तो माया का खेल खत्म हो जाए। इसलिये माया हमें सब चीज़ों के लिये प्रयत्न करने देती है, इस मैं को जानने के लिये नहीं। माया के कार्यों पर मुग्ध होने से जितने 'समझदार' लोग हैं सब कहते हैं 'अरे, स्वार्थी मत बनो, अपने मैं का क्या चिन्तन करना है?' वे इस बात को समझते नहीं कि मैं का पता लगने से उस तत्त्व का पता लगता है जो सब प्राणियों के हृदय में है इसलिये यह स्वार्थ नहीं है। अभानावरण नष्ट होता है तो क्योंकि बुद्धिवृत्ति के अन्दर जो प्रतिबिम्बित हो रहा है उस ब्रह्म का साक्षात् होता है इसलिये जीवत्व का आरोप नष्ट हो जाता है। सचमुच में जीवत्व कुछ है नहीं, आरोप ही है। सुरेश्वराचार्य स्पष्ट कहते हैं—ब्रह्म ही अपने

ऊपर आरोप करके कहता है 'मैं जीव हूँ'। जब आरोप नष्ट हो गया तो ब्रह्म ही बच गया।

'संक्षयात्' इसलिये कहा कि सुषुप्ति के अन्दर प्रतिदिन ही इसका क्षय तो हो जाता है, सुषप्ति के अन्दर जीवत्व का आरोप नहीं रह जाता, परन्तु सम्यक् क्षय नहीं होता है। ऐसा क्षय नहीं होता कि फिर उसमें से निकल कर न आ जाए। हमें रस्सी में साँप दीख रहा है। हम डण्डा लेने के लिये गए। जब दूसरी तरफ गए तो साँप का दीखना बंद हो जाता है परन्तु साँप के आरोप का संक्षय नहीं हुआ क्योंकि जैसे ही वापिस आएँगे वैसे ही वहाँ साँप ही दीखेगा। इसी प्रकार सुषुप्ति में गए तब जीवत्व नहीं भासता परन्तु सुषुप्ति से बाहर आते ही फिर हम अपने को जीव ही समझते हैं। किन्तु जब ब्रह्म के स्वरूप का भान हुआ तब जीवभाव का संक्षय होता है अतः अब कभी भी फिर ग्रन्थि उदय नहीं होगी। इसलिये यहाँ 'अभानावरणे नष्टे' का मतलब अभानावरण का प्रतिबंध-रहित नाश है। मनन-निदिध्यासन की कमी से अभानावरण सर्वतोभावेन नष्ट नहीं होता, प्रतिबन्धक रह जाते हैं। अभानावरण जब अप्रतिबद्ध नष्ट हो जाता है तब जीवत्व का आरोप नहीं आ सकता। तब संसार निवृत्त हो जाता है।

संसार क्या है? 'कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः'—कर्ता भोक्ता इत्यादि और तन्मूलक सारा ही शोक संसार है। शोक का रूप होता है—'मैं कर नहीं सका और मैं पा नहीं सका' तो इसी से शोक होता है—नहीं कर सका तो दुःख होता है, नहीं पा सका दुःख होता है। अब पता लग गया कि मैं कुछ कर ही नहीं सकता तो शोक काहे का हो! यदि केवल इतना हो कि 'मैं कुछ कर ही नहीं सकता' तो और बड़ा दुःख हो जायेगा! जैसे हमें फालिज हो जाये तो बिछौने से उठ नहीं सकते, हाथ को भी उठा नहीं सकते, कुछ नहीं कर सकते तो दुःख गया नहीं वरन् बढ़ गया। यदि कोई चीज़ मुझे प्राप्त करने योग्य है और मैं करके पा नहीं सकता तब तो दुःख बढ़ जाएगा। लेकिन जब कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है क्योंकि मैं सर्वरूप हूँ, इन्द्र के शरीर में अमृत पीने वाला भी मैं हूँ, कलकत्ते के बाग बाज़ार के रसगुल्ला खाने वाले सेठ के अन्दर भी खाने वाला मैं ही हूँ, तब मेरे लिये कोई प्राप्तव्य चीज़ है ही नहीं, सब मुझे प्राप्त ही है। अतः दुःख बढ़ने की संभावना नहीं । 'कर्तृत्व आदि' से भोक्तृत्व भी समझ लेना चाहिये। यही अखिल शोक है। सफलतापूर्वक कर न पाना और जिसे मैं फल समझूँ उसे न भोग पाना, इसी से शोक होता है। ज्ञान हो चुकने पर ये दोनों ही मेरे अन्दर नहीं हैं। भगवान् ने गीता में भी स्पष्ट किया—'नानवाप्तमवाप्तव्यं' कुछ भी ऐसा नहीं है जो मुझे प्राप्त करने योग्य लगे और प्राप्त नहीं है। कुछ भी नहीं है जो मुझे प्राप्त करने जैसा लगता ही हो। यही तत्त्वज्ञ की अनुभूति होती है। जब अधिष्ठान-साक्षात्कार से अध्यस्त का बाध हो जाता है तब अवाप्तव्य नहीं रह जाता। सिनेमा के अन्दर बड़े सुन्दर अंगूरों का गुच्छा देखकर मन में नहीं आता 'ये अंगूर तोड़ लूँ' क्योंकि पता है कि वहाँ अंगूर तो हैं ही नहीं, क्या तोड़ेंगे! इसी प्रकार संसार की अवास्तविकता के निश्चय से कुछ भी प्राप्त करने के योग्य नहीं रहता है।

अतः ऐसा भी नहीं कि सर्वरूप होने से दुःखी प्राणियों से भी अभेद हो जाता है अतः दुःख भी होवे। जब दृश्य को मिथ्या जान लिया तब दुःखरूप दृश्य भी मिथ्या ही होने से मुक्त को दुःखी नहीं कर सकता। कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप अखिल शोक ही संसार है। श्लोक ३७ में यह कह चुके हैं। संसार की असलियत तो शोक ही है, दुःख ही है। इसमें सुख का तो केवल पलकारा होता है, वह भी इसलिये कि तुम उसमें फँसे रहो! जिसे तुम सुख समझते हो उसे पाने के लिये पहले जो परिश्रम वह दुःखरूप और जैसे ही फल का भोग पूरा हुआ वैसे ही उसका वियोग होने पर फिर दुःख, संसार में निरन्तर दुःख-प्रवाह के बीच-बीच में सुख का केवल पलकारा हो जाता है ताकि तुम इसमें फँसे रहो। इसलिये वह सुख भी दुःखरूप संसार में ही प्रवर्त्तक होने से दुःखरूप ही है। सुखाशा से कष्ट भोगते हैं, आशा बनी रहे इसीलिये सुख का नमूना क्षणभर को दीख जाता है। क्योंकि वह पुनः दीर्घकाल तक दुःख में जोते रखने के लिये ही है इसलिये दुःख का मूल ही है, सुख नहीं। इसलिए कहा कि संसार नाम का यह शोक है जो ब्रह्मसाक्षात्कार से निवृत्त हो जाता है।। ४६।।

'मैं ब्रह्म हूँ, जीव नहीं'—यह साक्षात्कार हो जाने पर 'ब्रह्म की प्रतीति नहीं हो रही' यह अज्ञानकृत अभानापादक आवरण हट जाता है। ब्रह्म की प्रतीति होने में इसीलिये कठिनाई पड़ती है कि हम ब्रह्म को अपने से अलग कहीं ढूँढना चाहते हैं। अपने से अलग वह मिलना मुश्किल है क्योंकि अलग है नहीं। ब्रह्मभान नहीं हो रहा—यह प्रतीति होने पर 'मैं कर्त्ता और मैं भोक्ता, मैंने कर्म किया है इसलिये इसका फल मुझे मिलेगा' इस भ्रम से जन्म-मरण का चक्र चलता है। 'मैं कर्ता, मैं भोक्ता हूँ'—यही शोक है। जब अपने को कर्त्ता मानेंगे तभी 'हाय, मैंने अच्छा काम क्यों नहीं किया, बुरा काम क्यों किया' यह शोक होगा। इसी प्रकार 'यदि अच्छा काम किया होता तो दुःख-भोग क्यों होता' यों न करने का भी शोक होता है। 'ब्रह्मरूप मैं नहीं भास रहा' इस भ्रम के रहते कर्तृत्व और भोक्तृत्व निवृत्त होते नहीं। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाना—यह संसरण ही शोक है। जब समझ आता है कि मैं जाने-आने वाला हूँ ही नहीं, था ही नहीं, हो सकता ही नहीं, मैं तो कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप प्रतीत होने वाले इस सारे संसार का अधिष्ठान हूँ, तब जो तृप्ति होती है वह बताते हैं—

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात्।
निरङ्कुशा भवेत् तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात्।। ४७।।

सारा संसार हट जाने पर सनातन मोक्ष का भान होने से असीम तृप्ति होती है क्योंकि फिर शोक का जन्म होना नहीं है।

कर्त्ता-भोक्तापना और उससे होने वाला सारा संसार कैसे निवृत्त हो जाता है? 'नित्यमुक्तत्वभासनात्'—मैं नित्यमुक्त हूँ इस अनुभूति से। यह प्रतीति नहीं होती कि 'मैं पहले बद्ध था, और अब मुक्त हो गया' वरन् होती है 'मैं तो नित्यमुक्त हूँ, अब तक नहीं जानता था इसलिये मैंने अपने को कर्त्ता-भोक्ता समझ लिया था। कर्तृत्व-भोक्तृत्व का

अनुभव चिदाभास में है और मैं चित् हूँ, चिदाभास नहीं।' तब ऐसी तृप्ति होती है जिसके ऊपर देश काल वस्तु का अंकुश नहीं है। अभी हमें जो भी तृप्ति होती है उसमें देश का अंकुश, रुकावट है—यहाँ का मौसम अच्छा है परन्तु दिल्ली चले गये तो फिर गर्मी लगने लगी। अथवा काल का अंकुश है—अभी मौसम अच्छा है, दो दिन के बाद मौसम बदल गया। अथवा वस्तु का अंकुश है—हमारे पास चार ही रसगुल्ले हैं, चार खाएँ तब तक तृप्ति है आगे चौबिस खाने थे जो हैं नहीं अतः वस्तु का अंकुश है। देश नहीं बदला, काल नहीं बदला लेकिन वस्तु अब नहीं है। जिस पर देश, काल और वस्तु का अंकुश न हो ऐसी यह तृप्ति है क्योंकि अपने बारे में है। मैं जब तक रहूँगा ऐसा ही रहूँगा क्योंकि नित्यमुक्त हूँ। व्यापक होने से देश का अंकुश नहीं, सब समय रहूँगा अतः काल का अंकुश नहीं और वस्तु के अधीन है नहीं क्योंकि मैं स्वयं हूँ अतः वस्तु का भी अंकुश नहीं है। फिर शोक का उद्भव हो नहीं सकता। वैषयिक तृप्तियाँ होकर तो कुछ देर के बाद, कुछ देश के बाद, कुछ वस्तुओं के बाद फिर अतृप्ति हो जाती है लेकिन इसके अनन्तर संसाराख्य शोक फिर कभी पैदा ही नहीं हो सकता इसलिये तृप्ति निरंकुश है। जब तक परमेश्वर हमसे दूसरा है तब तक कभी निरंकुश तृप्ति नहीं हो सकती क्योंकि जो दूसरा परमेश्वर उसके मैं अधीन रहता हूँ। जब मेरा स्वरूप ही परमेश्वर है तब मैं निरंकुश ही हूँ। निरंकुश तृप्ति सिवाय अपरोक्ष ब्रह्म-साक्षात्कार के और किसी तरह संभव नहीं।। ४७।।

अवस्था-विचार का विचाराधीन श्रुतिवाक्य से सम्बन्ध व्यक्त करते हैं—

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे।
अवस्थे जीवगे ब्रूते आत्मानं चेदिति श्रुतिः।। ४८।।

'आत्मानं चेद्' यह वेदवाक्य अपरोक्ष ज्ञान एवं शोकनिवृत्ति नामक ये दो जीवनिष्ठ अवस्थाएँ बताता है।

याद दिलाते हैं कि ये सात अवस्थाएँ हमने आत्मा की बताई तो यह मत सोच लेना कि हम भूल गए क्या विचार करने चले थे! विचार करने चले थे 'आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः'—इस श्रुति का। बजाय आत्मा को बतलाने के ये सात अवस्थाएँ क्यों बतलाने लग गए? 'आत्मनं चेद्' श्रुति के तात्पर्य-निर्णय को करते हुए आत्मा का विज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान बताना ज़रूरी था। विज्ञान अर्थात् अनुभवपूर्वक ज्ञान। इसलिये अपरोक्ष ज्ञान का प्रकरण आया। 'शरीरं अनुसंज्वरेत्' से शोक की निवृत्ति का भी प्रसंग है। अपरोक्ष ज्ञान और शोकनिवृत्ति—ये दोनों ही जीव में होने वाली अवस्थाएँ हैं। अपरोक्ष ज्ञान को बतलाने के प्रसंग में परोक्ष ज्ञान बतलाना भी ज़रूरी था। ये जीव की अवस्थाएँ हैं इसलिये सभी का परिचय दिया। विचाराधीन श्रुति द्वारा दो अवस्थाएँ कही थीं, प्रसंग से ग्रंथकार ने सारी अवस्थाएँ बता दीं।। ४८।।

श्लोक २१ में बताया था कि 'अयम्'-शब्द से सूचित है कि आत्मा वस्तु ही अपरोक्ष है।

इसलिये वह अपरोक्ष ज्ञान का ही गोचर होने योग्य है। फिर परमात्मा के परोक्ष ज्ञान का प्रसंग क्यों ले आए? इसका उत्तर देते हैं–

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत्।
विषयस्वप्रकाशत्वाद् धियाप्येवं तदीक्षणात्।। ४६।।

'यह' यों जो अपरोक्षता कही जाती है वह दो तरह की होती है–एक, विषय की स्वप्रकाशता के कारण, दूसरी, बुद्धि से भी उसे स्वप्रकाश समझने के कारण।

श्रुति ने 'अयं' के द्वारा उसे अपरोक्ष कहा। अपरोक्ष दो प्रकार का होता हैः एक तो क्योंकि पदार्थ स्वप्रकाश है इसलिये अपरोक्ष है। और दूसरा, जब तुम अपनी बुद्धि से उसे साक्षात् समझते हो तब अपरोक्ष होता है। ऐसे समझ लोः कोई कमरे में आकर पूछता है–'देवदत्त है?' उससे कहते हैं 'देवदत्त है, तुम्हें क्या काम है?' जब हमने कह दिया 'देवदत्त है' तो उसे पता लग गया कि देवदत्त यहाँ बैठा है। रोशनी है ही, उसके आँखें हैं ही, अतः देवदत्त दीख ही रहा है। देवदत्त यहाँ अपरोक्षता की योग्यता वाला है–यह एक तरह की अपरोक्षता है। परन्तु अभी भी उसे बुद्धि से ईक्षण नहीं हो रहा है 'अमुक देवदत्त है'। इनमें से कोई देवदत्त है–यहाँ तक तो पता है पर बुद्धि से नहीं देख रहा कि यही देवदत्त है। देवदत्त अपरोक्ष है यह पता लग गया पर 'यह देवदत्त है' यों नहीं जाना। इस तरह अपरोक्ष चीज़ का भी परोक्ष ज्ञान होता है। जैसे यहाँ बैठे हुए देवदत्त का परोक्ष ज्ञान है। इसी प्रकार कहा कि 'ब्रह्म स्वप्रकाश है, सच्चिदानन्दघन है, असंग है'। ब्रह्म कौन है? तुम हो। इसलिये ब्रह्म वस्तु तो अपरोक्ष है परन्तु बुद्धि से उसे वैसा ग्रहण नहीं कर पा रहे कि यही मैं हूँ। इतना ही लगता है कि ऐसा एक परमेश्वर है। जब तुम पदार्थ-शोधन करके जानते हो 'यही तो मैं हूँ' तब बुद्धि भी तदाकार बन गई। यह दूसरा अपरोक्ष है। यद्यपि 'विजानीयात्' के द्वारा श्रुति ने अपरोक्ष कहा तथापि अपरोक्ष का भी परोक्ष ज्ञान होता है इसलिये आत्मा के परोक्ष ज्ञान की चर्चा आयी। अतः परोक्ष ज्ञान बताना भी प्रसंगानुकूल है।। ४६।।

दो तरह की अपरोक्षता के कारण संभव है कि अपरोक्ष वस्तु का परोक्ष ज्ञान हो–यह बताते हैं–

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता।
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात्।। ५०।।

उसके बारे में परोक्ष ज्ञान के समय भी विषय की स्वाभाविक स्वप्रकाशता एक जैसी बनी रहती है क्योंकि यही समझ आता है कि ब्रह्म स्वप्रकाश है।

ब्रह्म स्वप्रकाश है। ब्रह्म के प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। प्रकाश अर्थात्

ज्ञान। ब्रह्म के ज्ञान से ही सब प्रकाशित हो रहा है, सब ज्ञात हो रहा है। ब्रह्म ज्ञानरूप है इसीलिए सब जाना जा रहा है। अभी यह बोध नहीं हुआ कि सब मैं के द्वारा जाना जा रहा है इसलिये मैं ही तो स्वप्रकाश ब्रह्म हूँ! परोक्ष-ज्ञान काल में भी पता है कि ब्रह्मरूप विषय स्वप्रकाश है अर्थात् सबको जानते हुए अपने को भी जानता है। उसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। ब्रह्म की स्वरूपभूत अपरोक्षता स्थायी है अतः उसे समझा भी ऐसा ही जाता है कि अपरोक्ष है। किंतु इसका मतलब यह नहीं कि 'वह मैं हूँ' यह भास रहा हो, सामान्य लोग भी समझते हैं कि ब्रह्म सर्वज्ञ है लेकिन फिर भी अपने मनकी इच्छाएँ प्रार्थना के रूप में भगवान् को सुनाते ही हैं। कहते हैं कि 'आप करुणावतार हैं' फिर प्रार्थना करते हैं कि 'इसपर दया कीजिए'! ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसे मेरी इच्छा भी मालूम है, दयालु है तो उसे पूरा भी करेगा, फिर प्रार्थना क्यों? क्योंकि भक्त 'सर्वज्ञ, दयाकर' कहते हुए भी उसे पूर्णतः समझता नहीं।

जब समझ आ जाती है तब आचार्य शंकर कहते हैं—'सर्वज्ञस्य दयाकरस्य भवतः किम् वेदनीयं मया' आप सर्वज्ञ हैं, कोई चीज़ ऐसी नहीं जो आप नहीं जानते। हमारे मन में वृत्ति बनने से पहले परमेश्वर जानते हैं। यदि मेरे मन में कोई इच्छा है तो आपको पता न होवे यह हो नहीं सकता। प्रार्थना तो इसीलिये की जाती है कि जिससे कुछ चाहिये उसे पता चले कि हमें क्या चाहिये। अर्थात् जिसे पता नहीं है कि मेरे मन में क्या है उसे बताना पड़ता है। जब तक परमेश्वर को अपने से भिन्न समझोगे तब तक प्रार्थना करोगे, भगवान् को बताओगे—'मेरी यह इच्छा है'। आचार्य शंकर कहते हैं कि मुझे पता लग गया कि आप सर्वज्ञ हैं। आपके ज्ञानस्वरूप के बिना कहीं ज्ञान है नहीं अतः मेरे मान में क्या है—यह आपको बताने की ज़रूरत नहीं है, आप जानते ही हैं। प्रार्थना का दूसरा उद्देश्य होता है दया प्रेरित करना। सामान्य लोगों की आदत होती है कि सामने आकर कोई दीनता प्रकट करे, रोए-गाए तब फिर उस पर दया कर देते हैं। कोई सामने आकर दया करने को नहीं कहे तो उसके दुःख को हटाने के लिये कुछ नहीं करते। किंतु आप दया के आकर, खजाना हैं। आप दया करते ही रहते हैं, प्रार्थना की इन्तज़ार तो करते नहीं। इसलिये दया करने के लिये आपसे प्रार्थना करने की ज़रूरत नहीं है। आपका तो स्वभाव ही है दया करना। ज्ञान के सागर होने से आपको पता भी है और दया के सागर होने से आप दया करेंगे भी इसलिये 'किम् वेदनीयम् मया' मैं आपसे क्या और क्यों प्रार्थना करूँ, आपको क्या निवेदन करूँ? परन्तु 'शम्भो! त्वम् परमान्तरंगः' आप मुझ चिदाभास के अन्तरंग चिद्रूप हैं। मेरी वास्तविकता आप हैं। अपनी इन्द्रियों का, अपने शरीर का, अपने प्राणों का, अपने मन-बुद्धि का, सबका अन्तरंग तो मैं चिदाभास हूँ क्योंकि मैं होने से ही ये सब हैं। शरीर तभी तक है जब तक मैं हूँ। मैं निकला तो यह शव रह जाएगा, मुर्दा रह जाएगा। इसी तरह इंद्रियादि भी आभास रहते ही हैं। इसलिये सबका अन्तरंग मैं चिदाभास हूँ। परन्तु मैं चिदाभास भी तब तक हूँ जब तक चित् का प्रकाश है, अर्थात् आप हैं तभी मैं हूँ। चित् से निरपेक्ष तो

चिदाभास रहेगा ही नहीं। इसलिये चिदाभास के भी अन्तरंग आप परम अन्तरंग हैं। 'इति मे चित्ते स्मराम्यन्वहम्'—इसलिये रात-दिन केवल आपका ही चिन्तन करता हूँ। मुझे कहना कुछ नहीं है, चाहिये कुछ नहीं, पर परम अंतरंग होने से स्मरण चलता रहता है। जिसे 'सर्वज्ञ, दयाकर' की समग्रता मालूम है उसके ये भाव हैं। बाकी लोग भी भगवान् को सर्वज्ञ आदि ही कहते हैं, फिर भी प्रार्थना करते रहते हैं क्योंकि समूची जानकारी नहीं।

इसी प्रकार परोक्ष ज्ञान काल में पता है कि ब्रह्म स्वप्रकाश है किंतु 'वही मैं हूँ' यह न भासने से ज्ञान परोक्ष ही है। तात्पर्य हुआ कि पूर्व श्लोक में अपरोक्ष दो तरह का कहा था, उनमें जो विषय की स्वरूपभूत अपरोक्षता वह यथावत् रहते भी उसके बारे में ज्ञान परोक्ष हो जाये यह संभव है। अतः ब्रह्म नित्य अपरोक्ष भी है और प्रारंभ में उसका परोक्ष ज्ञान भी होता है जिसका अवस्थाओं के अन्तर्गत वर्णन किया।। ५०।।

'ब्रह्म अपरोक्ष है' इस ज्ञान को परोक्ष क्यों कहते हैं यह बताते हैं—

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखत्।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधाऽनिरूपणात्।। ५१।।

'मैं ब्रह्म हूँ' यों ब्रह्म को मैं-रूप से उपस्थापित न कर 'ब्रह्म है' यों उपस्थापित करना यह परोक्ष ज्ञान ही है किंतु क्योंकि इसका बाध किसी प्रमाण से संभव नहीं इसलिये यह भ्रम ज्ञान नहीं है।

ब्रह्म स्वप्रकाश चिद्रूप वस्तु है। एकमात्र प्रत्यगात्मा ही ऐसा तत्त्व है अतः ब्रह्म का ज्ञान 'मैं हूँ' यों होना चाहिये तब उस ज्ञानको अपरोक्ष कहा जाये। जब तक 'ब्रह्म है' इतना ही पता है, उसका इतरव्यावृत्त स्वरूप, निजी खास स्वरूप मालूम नहीं, तब तक ज्ञान परोक्ष कहा जायेगा। इसमें ब्रह्म के विषय में सब बातों का पता है परन्तु वह कौन है यही नहीं पता है। ब्रह्म है—यह जाना। ब्रह्म हूँ—यह नहीं जाना। फिर भी यह भ्रम नहीं है। परमेश्वर के स्वरूप को जैसा है वैसा जान लिया अतः ज्ञान ग़लत नहीं है। वही सृष्टि करने वाला है, वही इसको स्थित रखने वाला है, उसी में सब कुछ लीन हो जाता है, वह सबके हृदय में है इत्यादि रूप से उसकी सब बातें तो जान ही ली। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह नहीं जाना इतने मात्र से ज्ञान भ्रम नहीं होता। भ्रम किसे कहते हैं? रस्सी में हमने साँप देखा वह भ्रम क्यों है? क्योंकि रोशनी में रस्सी देखकर निश्चय हो जाता है, साँप नहीं था। बाध से पता चलता है कि यहाँ साँप किसी भी समय नहीं था। मैंने देखा ज़रूर, लेकिन जब मैंने देखा था तब भी नहीं था यही निश्चय होता है। इसी को बाध कहते हैं। न था, न है, न होगा—इसी निश्चय को बाध कहते हैं। ऐसा बाध 'ब्रह्म है' इस ज्ञान का कभी होता नहीं। अपरोक्ष ज्ञान होने पर यह प्रतीति नहीं होती कि ब्रह्म ऐसा नहीं है! इसलिये 'व्यक्ति' अर्थात् निजी स्वरूप का उल्लेख न होने मात्र से ज्ञान भ्रम नहीं हो जाता।। ५१।।

बाध प्रमाण से संभव क्यों नहीं यह बताते हैं—

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत् स्याद् बाध्येत तदा ध्रुवम्।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते।। ५२।।

यदि 'ब्रह्म नहीं है' इसमें कोई प्रमाण होता तो अवश्य 'ब्रह्म है' इस परोक्ष ज्ञान का बाध होता। किंतु ऐसा बताता कोई पुष्ट प्रमाण दीखता नहीं इसलिये ब्रह्म के बारे में परोक्ष ज्ञान बाधित नहीं होता।

'ब्रह्म नहीं है' यह यदि किसी प्रमाण से सिद्ध हो जाए तब तो परोक्ष ज्ञान बाधित भी हो। सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला परमेश्वर नहीं है—यदि किसी प्रमाण से यह सिद्ध हो तब 'ब्रह्म है' ज्ञान का बाध हो। प्रमाण छह प्रसिद्ध हैं। उनमें अनुपलब्धि तो अभाव को ही बताती है। ब्रह्म भाव वस्तु है। प्रत्यक्ष इंद्रियों से होता है। ब्रह्म के विषय में भगवान् ने गीता में स्पष्ट कह दिया है—'अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अरसम् अगन्धवत्'। रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श—ये ब्रह्म में हैं नहीं। प्रत्यक्ष से हमें उसी चीज़ का ज्ञान होगा जो रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श वाली है। इसलिये प्रत्यक्ष से तो 'ब्रह्म है' इस ज्ञान का बाध हो नहीं सकता। बहुत-से लोग कहते हैं— भगवान् होता तो दीखता। हम उनसे कहते हैं— 'हवा होती तो दीखती!' यही कहोगे कि हवा आँख का विषय नहीं है। आँख का विषय नहीं है इसलिए 'देखें तो हवा को मानें'—यह ठीक नहीं। तुम स्पर्श करते हो, हवा की गति का पता लगता है। जैसे हवा को आँखें नहीं देख सकतीं उसी तरह परमात्मा को कोई इन्द्रिय नहीं देख सकती। इसलिये प्रत्यक्ष से उसका बाध भी हो नहीं सकता। प्रत्यक्ष से बोध और बाध नहीं हो सकते तो तन्मूलक अनुमान भी असम्भव हैं। रह गया शब्द। सारे वेदान्तों का विचार करके ही ब्रह्म का निश्चय किया गया इसलिये शब्द का विरोध हो नहीं सकता। 'ब्रह्म नहीं है'— ऐसा प्रामाणिक ज्ञान होवे तब 'ब्रह्म है' का बाध होवे। 'ब्रह्म नहीं है' ऐसे प्रामाणिक ज्ञान का साधन ही नहीं है। यदि होता तो बाध होता ही, बिना प्रामाणिक विरुद्ध ज्ञानके 'ब्रह्म है' का बाध न होने से वह भ्रम नहीं है। 'प्रबल' इसलिये कहा कि तत्पर वेदवाक्यों से दुर्बल यदि प्रमाण मिले भी तो वेदतात्पर्य का बाधक नहीं हो सकेगा, केवल व्यवहारमात्र में संकुचित होकर रह जायेगा। अपरोक्ष सर्वाधिष्ठान अद्वितीय आत्मा वेदार्थरूप से सिद्ध होने से प्रामाणिक है। ऐसा कोई प्रबल प्रमाण देखने में नहीं आता है जो वेद की इस बात को काट सके। इसलिये 'ब्रह्म नहीं है'—ऐसा ब्रह्म का बाध हो जाए यह सम्भव ही नहीं है। अतः ब्रह्म है— इसको भ्रम नहीं कह सकते।

जिस प्रकार चिदाभास मोक्ष-पर्यन्त रहने वाली चीज़ है इसलिये इसको तुम नकार नहीं सकते इसी प्रकार से 'परमेश्वर है' इस ज्ञान का बाध नहीं होगा। मोक्ष-पर्यन्त तो इसका बाध हो नहीं सकता और मोक्ष के बाद क्या तुम अपना बाध करोगे कि 'मैं नहीं हूँ'? जो कहे कि 'ईश्वर भ्रम है' उससे पूछना चाहिये कि किस बाधक प्रमाण से वह ऐसा कहता है। भ्रमरूप ईश्वर के अधिष्ठान का वह कोई ज्ञान बतला नहीं सकता है। 'परमेश्वर नहीं है' यह

ज्ञान हो नहीं सकता और वेद कह रहा है 'परमेश्वर है' तो परमेश्वर है—यह बात कभी कटने वाली नहीं है। 'परमेश्वर मैं हूँ'—इससे 'परमेश्वर है' का बाध नहीं होता। शंख पीला नहीं अतः उसे पीला समझना भ्रम है तो जो परोक्ष नहीं उस ब्रह्म को परोक्ष समझना भ्रम क्यों नहीं? इसलिये कि 'शंख पीला नहीं' यह बाध होता है जबकि 'ब्रह्म है नहीं' ऐसा बाध नहीं होता। अतः 'अस्ति कूटस्थः' को परोक्ष ज्ञान कहा था (श्लोक.३१), वहाँ उल्लेख नहीं कि वह परोक्ष है, दूर है, व्यवहित है। 'मैं'रूप से उल्लेख न होने मात्र से परोक्षता कही जा रही है, शंख में पीतिमा की तरह ब्रह्म में परोक्षतारूप कोई धर्म भास रहा हो ऐसा नहीं। अतः यह परोक्ष ज्ञान भ्रम नहीं।। ५२।।

अमुक 'व्यक्ति' ब्रह्म है—यह न समझने से भी परोक्ष ज्ञान भ्रम नहीं कहा जा सकता यह समझाते हैं—

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि।
भ्रान्तिः स्याद् व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेखदर्शनात्।। ५३।।

व्यक्ति का उल्लेख न होने मात्र से यदि ज्ञान भ्रम हो तो स्वर्ग के बारे में ज्ञान भी भ्रम होना चाहिये क्योंकि उसमें स्वर्ग-व्यक्ति का उल्लेख नहीं होता, सामान्यतः ही स्वर्ग का उल्लेख होता है।

'ब्रह्म नहीं है या नहीं था'—ऐसा बाध तो नहीं होता परन्तु ब्रह्म कौन है?—यह तो नहीं पता चला, इतने से परोक्ष ज्ञान भ्रम क्यों न हो? सच्चिदानंद ब्रह्म है जानने पर भी वह ब्रह्म क्या चीज़ है— यह तो नहीं जाना इसलिये इसे भ्रम क्यों न मान लेवें? 'खास पहचान', व्यावृत्त स्वरूप के अभिप्राय से 'व्यक्ति'-शब्द का प्रयोग है। शास्त्र से स्वर्ग के बारे में जानने पर भी अमुक स्थल या अमुक सुख स्वर्ग है यह न जानना स्वाभाविक है किन्तु उससे स्वर्गज्ञान भ्रम नहीं होता। इसी प्रकार जगत्कारण सच्चिदानंद जानने पर भी मैं-रूप व्यक्ति ही वह ब्रह्म हूँ यह भले ही न जानें, इतने से ब्रह्मज्ञान भ्रम नहीं हो जाता। जैसे स्वर्ग का सामान्यतः पता चलने पर भी भ्रम नहीं है वैसे ब्रह्म का सामान्य ज्ञान भी भ्रम नहीं है। वस्तुतस्तु ब्रह्म न सामान्य है न विशेष है अतः उसके बारे में 'व्यक्ति-उल्लेख' का अभिप्राय उसके आपरोक्ष्य से ही है। अपरोक्ष व्यक्ति ही ब्रह्म होने से ब्रह्मबोध में आपरोक्ष्य भासना चाहिये—यह प्रष्टा का भाव है। उत्तरदाता का कहना है कि ज्ञान में कमी भले ही हो, ज्ञान गलत नहीं अतः भ्रम नहीं है।। ५३।।

अन्य तरह से भी परोक्ष ज्ञान को प्रमा सिद्ध करते हैं—

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात् पारोक्ष्यसंभवात्।। ५४।।

अपरोक्षता के योग्य के बारे में परोक्ष ज्ञान भ्रम नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म है' ज्ञान में यह उल्लेख तो है नहीं कि वह परोक्ष है। ज्ञान को परोक्ष कहना इसलिये संभव है कि 'मैं' रूपता का उल्लेख न होने से परोक्षता अर्थसिद्ध है।

जो अपरोक्ष ज्ञान के ही योग्य है उसका यदि ज्ञान परोक्ष हो तो भ्रम होना चाहिये यह इसलिये नहीं कह सकते कि जिसे यहाँ 'परोक्ष ज्ञान' कह रहे हैं उसका आकार यह नहीं है कि ब्रह्म कोई परोक्ष वस्तु है। यदि यह आकार होता तब गलत ज्ञान अर्थात् भ्रम होता। क्योंकि प्रत्यग्रूपता प्रकट नहीं, ज्ञान प्रत्यगाकार वाला नहीं है इसलिये माना जा सकता है कि परोक्ष है। वस्तु यदि प्रत्यक् न हो तो इदंकारास्पद होती है और वैसी वस्तु अतीन्द्रिय हो तो परोक्ष हुआ करती है इस सामान्य नियम से कहा जा सकता है कि ब्रह्म का प्रत्यग्रूप से ग्रहण नहीं है अतः ज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार परोक्ष ज्ञान होने पर भी ग़लत ज्ञान अर्थात् भ्रम नहीं है।। ५४।।

परोक्ष ज्ञान की भ्रमरूपता को और तरीके से संभावित कर उसका निरास करते हैं—

अंशागृहीतेर्भ्रान्तिश्चेद् घटज्ञानं भ्रमो भवेत्।
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः।। ५५।।

एक हिस्से को न जानने से ज्ञान भ्रम हो तो घड़े का ज्ञान भी भ्रम हुआ करे! अंशरहित के भी हिस्से को न जानना उसे सांश मानकर कह रहे हैं। जिन अंशों से वह रहित है उनके भेद से ब्रह्म के विभिन्न अंशों के ज्ञान की चर्चा संभव है।

ब्रह्म सच्चिदानंद अपरोक्ष है। परोक्ष ज्ञान में अपरोक्ष अंश का ग्रहण नहीं हुआ। ब्रह्म—इस 'अंश' को जानने पर भी प्रत्यग्-'अंश' का, अहम्-अंश का ग्रहण नहीं हो रहा है। ज्ञान एक हिस्सा न जाने इतने मात्र से उसे यदि भ्रान्ति माना जाए तो घड़े का भी बाहरी अंश ही देखते हैं इसलिये उसे भी भ्रम मानना पड़ेगा! प्रश्न होगा कि घट के अन्दर तो सांशता है इसलिये एक अंश के बारे में ज्ञान हो सकता है, वह ज्ञान दूसरे अंश को विषय ही नहीं करता। अतः उसको भ्रान्ति मानना ज़रूरी नहीं है। जहाँ अवयव-अवयविभाव होवे, वहाँ अंश का ग्रहण बन सकता है। ब्रह्म निरंश है, उसमें अंश हैं नहीं। उसके अंश के अग्रहण की बात कैसे उठती है? इसके उत्तर में कहा कि ब्रह्म के बारे में अनेक भ्रम हैं जिन्हें प्रमा से दूर करना ज़रूरी है। जो-जो भ्रम हटाने हैं उन्हें ब्रह्म के अंशों के रूप में मानकर एक-एक भ्रम को हटाने वाले ज्ञान को एक-एक अंश का ग्राहक कह रहे हैं। 'व्यावर्त्त्य' अर्थात् जिनका ब्रह्म में निषेध करना है वे विभिन्न 'अंश' हैं। एक अंश हटे ब्रह्म का ज्ञान, दूसरे अंश हटे ब्रह्म के ज्ञान से भिन्न होगा ही। वह असत् नहीं—यह ज्ञान उसके सदंश के बारे में समझ सकते हैं, वह जड नहीं—यह चिदंश के बारे में, दुःख नहीं—यह आनंदांश के बारे में इत्यादि अंश समझे जा सकते हैं। अतः संभव है कि सद्रूप ब्रह्म को जाना, चिद्रूप को नहीं जाना। सत् और चित् रूपों को जाना, आनन्दरूप को नहीं जाना। वैसे ही उसके प्रत्यक्-रूप को

नहीं जाना, तो अंश का अग्रहण कहना बनता है। फिर भी परोक्ष ज्ञान भ्रम नहीं जैसे घटज्ञान में घड़े के भीतरी भाग का भान न होने पर भी वह भ्रम नहीं होता।। ५५।।

प्रकृत में जिन दो ज्ञानों की चर्चा चल रही है उनसे हटने वाले अंश बताते हैं—

असत्त्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता।। ५६।।

परोक्ष ज्ञान से असत्त्व-अंश दूर होगा तथा अपरोक्ष ज्ञान से अभान-अंश दूर किया जायेगा।

परोक्ष ज्ञान से 'नहीं है' वाला अंश हट जाता है क्योंकि पता चलता है कि ब्रह्म है। इसी प्रकार जब उसका अपरोक्ष रूप से ज्ञान होता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' तब अभानांश अर्थात् 'मुझे ब्रह्म का भान नहीं है' यह अंश हट जाता है।। ५६।।

अपरोक्ष की परोक्षप्रमा लोकप्रसिद्ध दिखाते हैं—

दशमोस्तीत्यविभ्रान्तं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत् स्यादज्ञानावरणं समम्।। ५७।।

'दसवाँ है' यह गैर भ्रमरूप परोक्ष ज्ञान होता है। इसी तरह 'ब्रह्म है'—यह भी होना उचित है। अज्ञानकृत असत्त्वापादक आवरण दृष्टांत-दार्ष्टान्त में समान है।

पूर्व दर्शित दृष्टांत में ही श्लोक २६ से कही बात याद दिला रहे हैं। 'दसवाँ तू है'—ऐसा नहीं कहा है, 'दसवाँ है' इतना ही कहा तो अपरोक्ष के बारे में परोक्ष ही ज्ञान होगा। दसवाँ कौन है—उस व्यक्ति का उल्लेख नहीं होगा। इसी प्रकार 'ब्रह्म है' ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान है। इसमें ब्रह्म कौन है—इसका उल्लेख नहीं है। (कहीं 'विभ्रान्तं' पाठ छपा है, वहाँ भी अर्थ 'अभ्रान्त' ही है। अच्युतराय ने प्रतीक में 'अविभ्रान्तम्' स्पष्ट बताया है।) इस परोक्ष ज्ञान को भ्रान्त ज्ञान नहीं मानते। दसवाँ है— यह ज्ञान भ्रम नहीं कहा जाता है। सुनने वाले को यह पता नहीं चला है कि 'मैं दसवाँ हूँ', केवल 'दसवाँ है' यह परोक्षज्ञान हुआ है, फिर भी यह भ्रम नहीं है।

ब्रह्म है— यह भी जो वाक्यजन्य ज्ञान है वह उसी तरह से परोक्ष होगा। दसवाँ खुद की बजाये 'कोई दसवाँ है' यह समझा फिर भी भ्रम में नहीं है क्योंकि खुद भी 'कोई' तो है ही! इसी तरह जीव स्वयं को ब्रह्म नहीं समझकर 'कोई ब्रह्म है' समझा पर इससे वह भ्रम में हो यह नहीं कह सकते। दसवें का होना जैसे आवृत था और 'है'—ज्ञान से अनावृत हुआ वैसे ब्रह्म का होना भी आवृत है और 'ब्रह्म है'—ज्ञान से मिटता है। अतः अपरोक्षरूप से ग्रहण के योग्य के बारे में परोक्ष प्रमा उचित है।। ५७।।

परोक्ष की तरह अपरोक्ष ज्ञान भी होता शास्त्रवाक्य से ही है किंतु तब जब योग्याधिकारी

सही तरह से विचार करे, यह स्पष्ट करते हैं—

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते।
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद् दशमस्त्वमसीत्यतः।। ५८।।

'आत्मा ब्रह्म है' इस वाक्य के अर्थ का पूर्णतः विचार कर लेने पर 'व्यक्ति' का भी पता चल जाता है जैसे 'दसवाँ तू है' इस वाक्य में दसवें व्यक्ति का पता चल जाता है।

जब वेद कहता है—'अयमात्मा ब्रह्म', यह आत्मा ब्रह्म है, तब पहले-पहल 'मैं ब्रह्म हूँ' समझ नहीं आता। 'अयमात्मा ब्रह्म' तो गुरु जी संन्यास देते समय ही बतला देते हैं! इसीसे समझ आ जाये तो सबको ज्ञानी हो जाना चाहिये! इसलिये कहा—'इति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते'। संशय से सर्वथा रहित होकर पदार्थ-शोधन पूर्वक जब वाक्यार्थ समझता है तब अधिकारी को 'मैं' अर्थात् प्रत्यग्रूप से 'व्यक्ति' का पता चल जाता है। सबसे विलक्षण ब्रह्म का रूप प्रत्यक् ही है। अन्य सब पराक् हैं, ब्रह्म ही प्रत्यग्वस्तु है। 'अयम्' से कही प्रत्यक्षता ही विचार से साक्षद् अपरोक्ष के रूप में समझ आती है।

आत्मा और ब्रह्म दोनों पदार्थों का शोधन करने पर इनके सामानाधिकरण्य से समझा जाने वाला अभेद स्पष्ट हो जाता है, उसके बारे में सभी संशयों की निवृत्ति हो जाती है। विचार 'निःशेष' अर्थात् समूचा, सांगोपांग होना चाहिये। अपने को तो जीव जानता ही है और ब्रह्म को सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला जाना। 'अयमात्मा ब्रह्म' सुना तब पदार्थ-शोधन किया कि यहाँ 'आत्मा' से किसको लेना? शरीर तो हो नहीं सकता संसार के सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला। अतः धीरे-धीरे पंचकोषातीत को समझता है। यों त्वम् पदार्थ का शोधन हो गया। सृष्ट्यादि-कर्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप होना संभव नहीं इत्यादि विचार कर इन्हें तटस्थ और सत्यादि को स्वरूप समझने से तत्पदार्थ का भी शोधन हो जाता है। शोधित पदार्थों का अभेद निर्दोष होने से समझ जाता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। जब कहा गया था—'ब्रह्म अस्ति' तब परोक्ष ज्ञान था। ब्रह्म-वस्तु के बारे में विचार करने पर उसे व्यापक, प्रत्यक्, सत्य, स्वप्रकाश, अद्वितीयादि समझा जिस विचार की सहायता से वाक्यार्थ ही अपरोक्ष हो गया। यद्यपि मूलकारने 'दशमस्त्वम्' का उल्लेख किया है तथापि 'दसवाँ है' इसका विचार करे तो अपनी भूल पकड़ भी सकता ही है जिससे 'मैं दसवाँ' यह अपरोक्ष ज्ञान ही हो जायेगा। जैसे दशमस्त्वमसि—'दसवाँ तू है'—इस वाक्य से व्यक्ति का उल्लेख होता है वैसे 'अयमात्मा' आदि महावाक्यों से प्रत्यग्व्यक्ति का उल्लेख हो जाता है। अपरोक्ष भान जब सर्वथा विवेकपूर्ण होता है तब जो सुस्पष्ट मालूम रहता है कि किसके बारे में ज्ञान है उसे 'व्यक्ति का उल्लेख' समझना चाहिये। इसके लिये विचार चाहिये क्योंकि सुनते ही तो 'मैं ब्रह्म हूँ' बात ग़लत लगती है। जैसे 'तू गधा है' सुनने पर 'मैं गधा हूँ' ज्ञान ग़लत लगता है तब सोचकर पता चलता है कि गधा-शब्द की लक्षणा मूर्ख में है अतः 'मैं गधा हूँ' ज्ञान ठीक है क्योंकि मैंने अमुक ग़लती की है, वैसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ग़लत लगने पर भी पदार्थ-शोधन के

बाद ग़लत नहीं लगता। मैं से लक्षित प्रत्यगात्मा और ब्रह्म से लक्षित केवल सच्चिदानन्द अधिष्ठान अभिन्न होना संगत ही है।। ५८।।

विचार की सहायता से वाक्य अपरोक्ष ज्ञान पैदा करता है यह भी दृष्टांत में उपलब्ध कराते हैं–

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत्।। ५६।।

'दसवाँ कौन?' यह प्रश्न होने पर 'तुम ही' यह उत्तर सुनने के अनंतर खुद सहित सबको गिनकर 'मैं ही दसवाँ हूँ' यह समझ सकता है।

विचार के साथ वाक्य अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति कराता है–इस बात को ही बतला रहे हैंः जब विश्वस्त आगन्तुक ने कहा 'दसवाँ ज़िन्दा है' तब प्रश्न किया गया 'कहाँ है, कौन है?' पूछने वाले से आगन्तुक ने कहा 'तू ही है।' इस प्रकार प्रश्न का निराकरण कर दिया, उत्तर दे दिया। सुनने वाले को जिज्ञासा हुई 'मैं ही दसवाँ कैसे हूँ।' वह खुद ही विचार कर लेता है कि गिनती में यह भूल हुई कि मैंने स्वयं को न गिना हो। पुनः खुद को जोड़कर सबको गिनता है तो दस पूरे हो जाते हैं अतः समझ लेता है 'मैं ही दसवाँ हूँ'। गिनती में क्या ग़लती संभव है, पुनः गिनना चाहिये आदि सारा का सारा विचार हो गया। जब सुना 'तू दसवाँ है'–तो वक्ता पर श्रद्धावश उसने वह बात कैसे समझ में आवे–इसके लिये कोशिश की। उपदेश समझने के लिए किया युक्ति आदि का प्रयोग विचार है। उपदेश की काट करने वाला कुतर्क होता है। विचार में प्रवृत्त भी वाक्य से हुआ और अंत में माना भी कि 'इसके बतानेसे पता चला कि मैं ही दसवाँ हूँ' अतः विचार सहायक और वाक्य प्रमाण बना। विचार-पूर्वक उसी वाक्य से समझ लेता है कि 'मैं ही दसवाँ हूँ' अब उसे निःसंशय ज्ञान हो जाता है। 'मैं दसवाँ' जानने पर भी 'दसवाँ है' यह पहले हुआ ज्ञान उसे भ्रम नहीं लगता है। 'दसवाँ मैं हूँ' इससे पता लग जाता है कि दसवाँ कौन है। इसी प्रकार 'सच्चिदानन्द ब्रह्म है' जानने के बाद, वह सच्चिदानन्द ब्रह्म कौन है? इसका उत्तर विचारपूर्वक वाक्य से समझने पर पता चलता है 'मैं हूँ', यों व्यक्ति का उल्लेख हो जाता है।। ५६।।

जैसे 'दसवाँ है' प्रमा निश्चित हुई वैसे ही 'दसवाँ हूँ' भी प्रमा है यह बताते हैं–

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः।। ६०।।

श्रोता को हुआ वाक्यजन्य 'दसवाँ हूँ' ज्ञान बाधित नहीं होता। शुरू से, बीच से, आखिर से गिनने पर भी यह संशय नहीं आता कि 'मैं भी नौ में ही हूँ'।

'दशमस्त्वम्' वाक्य से ज्ञान होता है 'दशमोऽस्मि'। 'तू' का मतलब तो वक्ता से दूसरा, पर सुनने वाले को ज्ञान होता है—'मैं'। सविचार वाक्यजन्य 'मैं दसवाँ हूँ' यह ज्ञान कभी भी हटता नहीं है अर्थात् किसी दूसरे ज्ञान से कटता नहीं है। सभी को पंक्ति में खड़ा कर इधर से, उधर से, बीच से गिनकर देखता है, सब नौ ही मिलते हैं, दसवाँ सामने नहीं दीखता, फिर भी स्वयं को दसवाँ निश्चित जानता है। यद्यपि सभी को इस तरह 'दसवाँ हूँ' समझ आ सकता है तथापि एक ने ही गिना, उसी ने पूछा, उसे ही विश्वस्त ने बताया अतः विचारपूर्वक वही समझा—यह यहाँ सन्दर्भानुसार विवक्षित है। कहने का मतलब है कि जैसे बाकियों को नौ ही गिनने पर भी अपने को दसवाँ जानता है उसी प्रकार शरीरादि से व्यवहार करते हुए भी अपने को ब्रह्मरूप ही जानोगे। 'मुझ ब्रह्म के कारण ही इन सबकी पूर्णता है' यह बोध बना रहेगा। जैसे नौ को गिनने से 'मैं दसवाँ हूँ'—यह नहीं हटता है उसी प्रकार शरीर आदि के व्यवहार करने से 'मैं परमात्मा हूँ'—यह नहीं हटता है**।। ६०।।**

जो दृष्टांत में बतलाया उसे अब दार्ष्टान्त में बतलाते हैं—

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः।
गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्याद् व्यक्तिं समुल्लिखेत्।। ६१।।

'सदेव' इत्यादि वाक्य से ब्रह्म की सद्रूपता परोक्ष रूप में जानकर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से व्यक्ति का उल्लेख कर लेता है।

छन्दोग्य में (अध्याय ६) श्रुति ने बताना यों शुरू किया—यह सब उत्पन्न होने के पहले एक सत् ही था। उस सत् से तेज, जल, पृथ्वी पैदा हुए। तेज, जल, पृथ्वी ही संसार में सब तरह से सर्वत्र हैं। पृथ्वी ही अन्नरूप होकर मन बनती है। जल ही प्राण बनते हैं। तेज ही वाणी बनती है। इस प्रकार जड-चेतन सब इन तीन के द्वारा ही प्रकट हुए। कई दृष्टान्तों से समझाया कि कैसे सत् से ये सब चीज़ें पैदा हुई। यह जो 'सदेव' इत्यादि सृष्टि-वाक्य है इससे ब्रह्म के सद्भाव का निश्चय हो जाता है। ये सब पैदा होने के पहले केवल एक सद् ब्रह्म था इसलिये ब्रह्म अवश्य है यह निश्चय होता है। लोग शंका करते हैं कि सृष्टि से पहले ब्रह्म रहा हो, अब नहीं बचा होगा? किन्तु श्रुति का तात्पर्य है कि अब नाम-रूप *भी* हैं, ब्रह्म तो है ही। ब्रह्म ही अब नाम-रूप के आकार से प्रतीत हो रहा है। इसलिये इस समय भी ब्रह्म है पर नाम-रूप के साथ प्रतीत हो रहा है। सृष्टि होने से पहले नाम-रूप प्रकट नहीं थे तो बिना नाम-रूप के ही ब्रह्म था। इस प्रकार 'ब्रह्म है'—यह निश्चय हो जाता है। वेदानुसार विचार न करें तो 'ब्रह्म है'—यह निश्चय ही लोगों को नहीं हो पाता। संसार के नाम-रूप ही दीखते हैं, इन सब नाम-रूपों को जिसने प्रकट किया वह तो दीखता नहीं! सृष्टि-वाक्यों से निश्चय हो जाता है कि जगद्रूप कार्य का कारण ब्रह्म है। ब्रह्म है—यह परोक्ष रूप से जाना। अब उस ब्रह्म का अपरोक्ष कैसे होवे? रामेश्वर में जाके होवे, बद्रीनाथ में जाके होवे, वैकुण्ठ में जाकर के होवे, कहाँ जाकर के होवे? तब श्रुति ने कहा 'तत्त्वमसि', 'तत्

पदार्थ जो सृष्टि का कारण वह तू ही है'। इस वाक्य से 'ब्रह्म कौन है' पता लग गया है अर्थात् व्यक्ति का उल्लेख हो गया। ब्रह्म का जो सबसे व्यावृत्त रूप उस प्रत्यक् का अनावरण हो गया कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। 'मैं' से यहाँ त्वम्पदलक्ष्य ही समझना चाहिये। अतः इस प्रसंग में व्यक्ति किसी परिच्छिन्न को नहीं कह रहे। शुक, वामदेव आदि को भी 'मैं'—यही व्यक्तिबोध हुआ, आज भी यही होता है, आगे भी यही होगा। अहंकार तो अनन्त हैं किन्तु उनसे लक्षित प्रत्यग्वस्तु अद्वितीय ही है, उसी को व्यक्ति समझना चाहिये।। ६१।।

अपरोक्ष आत्मबोध की दृढता दिखाते हैं—

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम्।
नैव व्यभिचरेत् तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम्।। ६२।।

शुरू, बीच और अंत में अपनी ब्रह्मरूपता का यह निश्चय अन्यथा नहीं होता अतः अपरोक्षता दृढरूप से स्थित हो जाती है।

शुरू अर्थात् पाँचों कोष जब प्रकट नहीं हुए थे; बीच अर्थात् इनके प्रकट होने की अवस्था में और अन्त अर्थात् इनकी फिर प्रतीति न होने की अवस्था में; सब स्थितियों में मैं की ब्रह्मरूपता एकरस रहती है। पंचकोषों की प्रतीति होने पर तथा पहले या पीछे न होने पर, जो अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय है—इसका बाध नहीं होता, यह नहीं हटता। इसलिये अपरोक्षता प्रतिष्ठित है अर्थात् सुस्थित है, कभी हटती नहीं। इसका विरोधी कोई विपरीत ज्ञान संभव ही नहीं है। आज तक सचमुच में विचार करके कभी पता लगा नहीं कि मैं कौन हूँ। कभी शरीर को कह दिया, कभी मन को कह दिया, कभी इन्द्रियों को कह दिया लेकिन कभी विचार करके निश्चय तो किया नहीं था कि यही मैं हूँ। अब जब श्रुतिवाक्य से विचारपूर्वक निश्चय हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ तब शरीर आदि की प्रतीति होने पर भी, ये शरीर आदि मैं हूँ—यह बुद्धि नहीं हो पाएगी। यही अपरोक्ष ज्ञान की विशेषता है। क्योंकि विचारसापेक्ष यह ज्ञान होगा इसलिये 'तत्त्वमसि' से जो ज्ञान होगा वह डिग नहीं सकता, डिगाने वाले तर्कों और अनुभवों की परीक्षा विचार द्वारा की जा चुकी होने से उनमें अब इस निश्चय को चुनौती देने की सामर्थ्य नहीं है। अतएव बिना विचार के यह ज्ञान नहीं होता। 'तत्त्वमसि' कहने मात्र से श्वेतकेतु को ज्ञान नहीं हुआ, नौ भिन्न-भिन्न प्रकारों से उसको समझाया तब वह समझा। हर बार उपदेश तो 'तत्त्वमसि' ही दिया लेकिन उसमें आने वाले तरह-तरह के सन्देहों को हटाते चले गए। नौवें उपदेश के बाद 'तद् ह विजज्ञौ' उसको अनुभव हो गया। होगा तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से ही परन्तु बार-बार विचार करके उसके अर्थ को स्पष्ट करना पड़ेगा कि वाक्य का मतलब क्या है। 'दशमस्त्वमसि' के अन्दर तो वाच्यार्थमात्र से काम चल जाता है परन्तु 'तत्त्वमसि' के अन्दर लक्ष्यार्थ समझना ज़रूरी होता है अतः विचार करना पड़ता है। अगर किसी ने कहा—'उसकी लड़की गोरी है' तब तो तुरन्त

ज्ञान हो जाता है कि कैसी है। पर, यदि कहा—'चन्द्रमुखी है' तो एका-एक ज्ञान नहीं होता है कि कैसी है। चाँद गोल भी है, उसमें दाग भी है इत्यादि कई विशेषताएँ हैं। कौन-सी विवक्षित है, या सब अभिप्रेत हैं इत्यादि जब तक विचारपूर्वक निर्णय न किया जाये तब तक अनिश्चय भी रह सकता है, भ्रम भी हो सकता है। लक्ष्यार्थ-ज्ञान के लिये श्रोता में योग्यता चाहिये। जैसे लोक में ऐसे ही 'तत्त्वमसि' में लक्ष्य अर्थ को ठीक से समझना प्राथमिक आवश्यकता है। तुमने अगर समझ लिया कि तुम्हारा शरीर या तुम्हारा मन ब्रह्म है तो भ्रम ही होगा! विचार करके ही इसका सही ज्ञान होता है।। **६२।।**

इस बात को स्पष्ट करने के लिये उस तैत्तिरीय उपनिषद् (वल्ली ३) का प्रकरण बतलाते हैं—

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद् व्यक्तिमैक्षत।। ६३।।

जन्मादि-कारणता नामक लक्षण से भृगु ने पहले परोक्ष रूप से ग्रहण कर फिर विचार से व्यक्ति का अपरोक्ष किया।

भृगु अपने पिता वरुण के पास गया। जाकर कहा 'मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए।' पिता ने सीधा नहीं कहा कि ब्रह्म क्या है। उन्होंने लक्षण बतलाया—'जिससे सब कुछ पैदा होता है, जिसमें सब कुछ स्थित रहता है, जिसमें सब अन्त में लीन हो जाता है वह ब्रह्म है।' उन्होंने कहा, 'यह मैंने तुम्हें लक्षण बतला दिया, 'तद् विजिज्ञासस्व', इसको अपरोक्षरूप से साक्षात्कार करने के लिए विचार करो।' भृगु ने पहले इतना ही समझा कि कोई एक ब्रह्म है जो सृष्टि-स्थित-लय का कारण है। इस प्रकार परोक्षरूप से उसने जाना। 'अथ'—परोक्षरूप से जानने के बाद विचार करने में प्रवृत्त हुआ। पिता ने केवल ब्रह्म का लक्षण ही नहीं, जहाँ उसको ढूँढ़ना है वे जगहें भी बतला दी थीं—'अन्नं प्राणं चक्षुःश्रोत्रं मनो वाचमिति'। और कहीं ढूँढ़ने को नहीं कहा। पंचकोषों में ढूँढ़ने को कहा क्योंकि यहीं है। पंचकोषों में जब उसने ढूँढा तो अपने आप को ही ब्रह्मरूप पाया। उसे आनन्दरूप का साक्षात्कार हुआ, आनन्दरूप से व्यक्ति का उल्लेख हो गया। व्यक्ति अर्थात् अपना जो प्रत्यगात्मारूप है उसी को ब्रह्म जाना! आनन्द को उसने इदन्तया नहीं अहन्तया जाना। यहाँ वेद ने बलता दिया कि बिना विचार किए उसका ज्ञान नहीं हो सकता। और कोई दूसरा उपाय नहीं, विचार ही एकमात्र उपाय है। यह याद रखना चाहिये कि परमात्मा के अपरोक्ष ज्ञान के लिये ब्रह्म के स्वरूप को जानना और इन पंचकोषों में उसको ढूँढ़ना—ये ही साधन हैं, इन साधनों से अतिरिक्त उसकी प्राप्ति का और कोई साधन नहीं है।। **६३।।**

'तू दसवाँ है' की जगह तैत्तिरीय में कोई वचन स्पष्ट नहीं अतः उस अभिप्राय का बोधक वाक्य सूचित करते हैं—

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्यस्थलमुक्तवान्।। ६४।।

यद्यपि भृगु के पिता ने 'तुम हो' वाक्य इस प्रसंग में नहीं कहा तथापि यही भाव स्पष्ट करने लायक स्थल विचारपूर्वक बता दिये—अन्न, प्राण इत्यादि।

'तत्त्वमसि' की तरह जीव-ब्रह्म की एकता बताने वाला कोई वाक्य तैत्तिरीय में है ही नहीं जिसका वरुण ने उपदेश दिया हो। फिर कैसे कहते हैं कि महावाक्य के द्वारा ही ज्ञान होता है? यद्यपि सीधे, जैसा श्वेतकेतु को कहा था 'तू है' वैसे यहाँ वरुण ने नहीं कहा 'तू है' तथापि 'कहाँ ढूँढना' यह बताया ही। वहाँ कहे हैं—'अन्न प्राण' तथा चक्षु, क्षोत्र, मन और वाक्। पूर्व वल्ली के अनुरोध से पाँच कोष लक्षणा से समझ सकते हैं। 'तत्त्वमसि' सुनने पर भी 'त्वम्' से ये पाँच ही प्राप्त होते हैं। अज्ञावस्था में अन्न, प्राण, मन, बुद्धि—इन्हीं को हम अहम् समझते हैं। अतः ये प्राप्त होंगे त्वम् शब्द से। इस वाच्यार्थ के द्वारा विचार करके ही लक्ष्यार्थ की सिद्धि होगी। वरुण ने यद्यपि 'तू' ऐसा नहीं कहा लेकिन शरीर मन प्राण इत्यादि कहा क्योंकि उसी को भृगु 'मैं' जानता था। वे ही ढूँढने की जगहें बतलाई। वहाँ ढूँढने पर उसको प्रत्यगात्मा का ज्ञान होना स्वाभाविक था। वरुण ने विचार-पूर्वक वे ही विचार-योग्य स्थल बताये जहाँ विचार करने पर भृगु को अपरोक्ष वस्तु ही समझ आये। विचार्यस्थल अर्थात् विचार करने के लिये योग्य स्थल, कहाँ विचार करना है। इसके द्वारा स्पष्ट करना चाहते हैं कि जो कुछ लोग महावाक्य को केवल एक स्वरूप का ही कहना चाहते हैं वैसी बात नहीं है। हर हालत में ब्रह्म का लक्षण पता होना चाहिए और अपने में ढूँढना है यह पता होना चाहिए। 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्पष्ट रूप से निर्देश किया जाए अथवा जैसा यहाँ कहा गया, अस्पष्ट रूप से निर्देश किया जाए—उससे फ़रक नहीं पड़ता। तत् का अपरोक्ष कहाँ?—त्वम् में होगा।

त्वम् अर्थात् मैं ही एक ऐसी चीज़ है जो नित्य अपरोक्ष है। 'मैं हूँ'—यही एक ऐसा हमारे पास ज्ञान है जिसके बारे में कभी कोई सन्देह नहीं हो सकता। बाकी सब ज्ञानों में सन्देह हो सकते हैं। घड़ा देखते हो, अपरोक्ष लगता है। जब आँख में मोतियाबिन्द हो जाता है तब दो घड़े दीखते हैं! सामने एक ही घड़ा होता है। इसलिये आँखों से हुए ज्ञान के बारे में ठीक-गलत का संदेह संभव है। आँख का दोष उससे हुए ज्ञान में आ जाएगा। मन का दोष भी आ जाएगा। विषयों का निःसंदिग्ध अपरोक्ष नहीं होता है, उसे दूसरे प्रमाणों से मिलाना पड़ता है। आँख से दो घड़े दीख गए, जब हाथ से छूते हैं, एक ही निकलता है तब समझ लेते हैं कि ग़लती से दो दीखे थे। परन्तु 'मैं हूँ' इस ज्ञान के अन्दर कभी कोई सन्देह नहीं होता! इसमें कभी भी परोक्षता नहीं आती। मैं क्या हूँ—इसके बारे में तो संदेह होंगे, पर 'मैं हूँ'—इसमें अपरोक्षता हमेशा रहेगी। इसलिये नित्य अपरोक्ष ब्रह्म है। श्रुति कहती है कि ब्रह्म ही 'साक्षात् अपरोक्ष' है, बाकी सब 'साक्षात्' अपरोक्ष नहीं हैं। बीच में कोई-न-कोई व्यवधान रहता है, परदा रहता है—उसके द्वारा विषयों को देखते हो। रूप देखते

हो तो प्रकाश का पर्दा है। लाल बत्ती होगी तो चीज़ कुछ दूसरी दीखेगी, हरी होगी तो और रंग की दीखेगी। आँख का दोष, दूरी का दोष आदि अनेक दोष संभव हैं। अनात्मज्ञान के अन्दर कोई-न-कोई परदा बीच में है। बिलकुल बिना परदे का ज्ञान तो एक ही है—मैं हूँ। इसमें किसी और चीज़ की ज़रूरत नहीं है। जब इसे 'मैं'-शब्द से प्रकट करते हो तब अहंकारात्मिका वृत्ति इसके साथ मिली होती है। जब परीक्षा करके देखते हो कि गहरी नींद में 'मैं' की वृत्ति भी नहीं रहती फिर भी मैं रहता हूँ, तब वृत्ति के बिना वाला 'मैं' समझ लेते हो जो नित्य अपरोक्ष है। जो साक्षात् अपरोक्ष है जिसके लिये किसी व्यवधान की ज़रूरत नहीं, वही परमेश्वर है। जिसे तुम 'मैं' समझते हो, उसमें से जो-जो चीज़ें साक्षात् अपरोक्ष नहीं हैं उन्हें हटाते चले जाओ, यही विचार है। इसी से त्वमर्थ का पूर्ण शोधन होकर उसकी ब्रह्मरूपता समझ आ जायेगी ।।६४।।

भृगु ने विचार से क्या निर्णय किया यह सूचित करते हैं—

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः।
आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत्।। ६५।।

अन्न-प्राण आदि कोषों के बारे में बार-बार अच्छी तरह विचार कर आनन्दरूप 'व्यक्ति' का अनुभव कर उसी में ब्रह्म के लक्षण को भृगु ने घटाया।

अन्नमय, प्राणमय इत्यादि जो कोष हैं उनके बारे में पुनः पुनः भलीभाँति विचार करना पड़ता है। यह जल्दी का मामला नहीं है। भगवान् वेदव्यास ने भी कहा कि अभ्यास के द्वारा, बार-बार विचार करके ही यह प्रकट होता है। भाष्यकार ने वहाँ स्पष्ट किया है कि हर बार विचार करते हो तो कोई-न-कोई संशय हटता है। धीरे-धीरे जब सब शंकाएँ हट जाती हैं तब तत्त्व पूर्णतः प्रकाशित हो जाता है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिये विचार ही एकमात्र साधन है। बार-बार विचार करने से ही संशय हटते जाते हैं और परमात्मा बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। कब तक करे? जब वाक्योत्थ धी किसी भी परिस्थिति में हटे ही नहीं, तब तक अभ्यास कर्त्तव्य है। जिसको इन्होंने पहले (६.२७६) कहा था 'ग्रन्थेरनुदयः', वह स्थिति पाने तक ज्ञानसाधना है। जब तक मुझे ब्रह्म के सिवाय और किसी चीज़ के अन्दर अहम् की प्रतीति होवे तब तक विचार करते रहना है। और जब मुझे अपनी ब्रह्मरूपता के सिवाय और किसी चीज़ की प्रतीति प्रत्यग्रूप से न होवे, तब विचार की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए कहा 'सुविचार्य पुनः पुनः'। सुविचार इसलिए कहा कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ—इसमें भी बहुत युक्तियाँ हैं, संसार में एक वेदान्ती को छोड़कर जितने भेदवादी, भेदाभेदवादी आदि हैं, सब 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'—इसी को सिद्ध करने में लगे हुए हैं। यदि उनके ढंग से विचार करो तो ग़लत जवाब आता रहेगा। इसलिए कहा 'सुविचार्य'। जिस प्रकार का विचार करके अपना कल्याण होवे, उसी ढंग से विचार करना चाहिए। अगर अन्य वादियों की युक्तियों का आश्रय करके भेद की सिद्धि में लग गए तो मोक्षप्रद ज्ञान नहीं हो पाएगा। शंकाएँ

अनन्त हैं। जितनी अभी हमारे संस्कारों से हमारे अन्दर पड़ी हुई हैं, उन्हीं को जन्म-भर में काटना मुश्किल होता है, और नई शंकाओं के संस्कार डालोगे तो उसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं रहेगी। जो अपना कल्याण करना चाहता है उसको तो सुविचार करना पड़ेगा अर्थात् अपनी ब्रह्मरूपता को सिद्ध करने के जो ढंग हैं उन से ही विचार करना पड़ेगा।

ब्रह्म का जो जगत्कारणत्वरूप लक्षण कहा वह अन्न आदि सभी उपाधियों में घटाकर देखते-देखते जब तक वरुण कहते रहे 'और तप करो' तब तक भृगु विचार करता ही रहा तब पिता ने शब्दतः जो कहा नहीं था उस आनन्द को देखा, उसमें लक्षण सर्वथा ठीक बैठ गया तो 'वही ब्रह्म है' यह समझ लिया। उस ढंग से विचार करते हुए प्रत्यगात्मरूप आनन्द-व्यक्ति का भृगु को साक्षात्कार हुआ। श्रुति में आया है 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'। 'आनन्द' को ज़रा ठीक से समझने की जरूरत है। आनन्द किसे कहते हैं? जिसके लिए चीज़ें प्रिय हैं वह आनन्द है। रसगुल्ला क्यों चाहते हैं? क्योंकि रसगुल्ला खाने में मज़ा, आनन्द आता है। रसगुल्ला क्यों प्रिय है? आनन्द के लिए प्रिय है। जो व्यक्ति मिर्च के साग का शौकीन होवे उसे तो रसगुल्ला अच्छा लगेगा नहीं। वह कहेगा 'रसगुल्ले में क्या मज़ा है! न जीभ जलती है, न आँखों से पानी निकलता है, खाने से क्या फायदा?' कोई 'चीज़' ऐसी नहीं जिसे हम आनन्द कह सकें, सुख कह सकें। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है—'न खलु सुखत्वं जातिः, यस्य यदिष्टं तदेव तस्य सुखम्'। सुखत्व कोई जाति नहीं है। जैसे सफेद चीज़ तुमको अच्छी लगे, बुरी लगे, दीखेगी सफेद ही। पीली वस्तु पीली ही दीखेगी, मीठा पदार्थ मीठा ही लगेगा। ये 'जातियाँ' हो सकती हैं जो वैसी सब चीज़ों में रहे। ऐसे सुखत्व कोई जाति नहीं जिसके रहने से वस्तु सदा सबको सुख लगे। जो वस्तु जिसे अच्छी लगती है वह उसे सुख देती है। चीज़ें सुख के लिए प्रिय होती हैं, आनन्द के लिए प्रिय होती हैं। हमें रसगुल्ला बहुत अच्छा लगता है परन्तु यशपाल रसगुल्ला खाए तो हमें थोड़े ही मज़ा आएगा! रसगुल्ला आनन्द के लिए प्रिय है और मेरे लिए प्रिय है। प्रियता तभी आती है जब दोनों चीज़ें होवें—मैं और आनन्द। ऐसा नहीं है कि रसगुल्ला मेरा इष्ट है तो मेरे दुश्मन को मिले और मुझे आनन्द आ जाए। इसका मतलब है कि मैं और आनन्द एक ही हैं। इस प्रकार जब विचार करके देखते हैं तब 'मैं आनन्दरूप हूँ'—यह प्रतीत हो जाता है। यही आनन्दरूप 'व्यक्ति' का दर्शन है। सब चीज़ें मेरे लिए ही क्यों चाहिए? क्योंकि मैं आनन्दरूप हूँ। सब कुछ आनन्द के लिए चाहिए और मेरे लिए चाहिए अतः आनन्द मैं हूँ। यों अपनी आनन्दरूपता स्फुट हो जाती है, प्रकट हो जाती है। सारी सृष्टि का कारण क्या है? आनन्द है, और वह आनन्द मेरा स्वरूप है, मैं हूँ।

ब्रह्म का जो लक्षण पिता ने बताया था उसे भी भृगुने आनन्द में घटाया। आनन्द से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है, आनन्द में ही स्थित रहती है, अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाती है। हम जितना कार्य करते हैं आनन्द के लिए ही करते हैं अर्थात् अपने लिए ही करते हैं। आनन्द मैं हूँ इसलिए प्रत्यगात्मा से ही सब उत्पन्न होता है, प्रत्यगात्मा में ही स्थित

है और अन्त में प्रत्यगात्मा में ही लीन हो जाता है। आनन्दरूप प्रत्यगात्मा जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान है यह शास्त्रदर्शित रीति से विचाररूप तप करने से ही पता चल सकता है, अन्यथा पता नहीं चलता। यहाँ जैसे 'मैं' से प्रत्यक्स्वरूप लक्षित है वैसे 'आनन्द' से व्यापक सत्य लक्षित है, वह व्यापक आत्मा ही ब्रह्म व्यक्ति है।।६५।।

हम लोगों की भ्रान्त इच्छा है कि परमात्मा को हम देखें। जैसे अन्य विषय देखते हैं, ऐसे परमात्मा को देखें तब पता लगे कि परमात्मा है। अतः समझाया कि जैसे दसवाँ उसे दीखा कभी नहीं, दीखे तो नौ ही; नौ दीखने पर भी 'मैं दसवाँ हूँ'—यह बोध हो गया। इसी प्रकार 'मैं परमात्मा हूँ' यही साक्षात्कार होगा, 'यह' यों उसका अपरोक्ष नहीं होगा। मैं हूँ इसलिए बाकी सब चीज़ें दीख रही हैं। इस प्रकार अपरोक्ष होने से अब कभी भी ब्रह्म के बारे में संशय नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म को प्रत्यक् से भिन्न कोई अन्य वस्तु न समझा जाये वरन् प्रत्यक् ही समझा जाये क्योंकि यही वेद का उपदेश है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम्।
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत् प्रदर्शितम्।।६६।।

'सत्य, ज्ञान, अनन्त' इस प्रकार ब्रह्म का निजी लक्षण कहकर उसे बुद्धिगुफा में निहित रूप से स्पष्ट किया है।

भार्गवी विद्या में बताया कि अन्न, प्राण आदि का विचार करके आनन्दरूप ही ब्रह्म को जाना और उसी में उसने ब्रह्म के लक्षण को घटा लिया 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'। ब्रह्म का लक्षण प्रत्यगात्मा में कैसे घटाया जाएगा?—आनन्दरूपता के सहारे। भृगु ने तो यही जाना था कि आनन्द से सब उत्पन्न होते हैं, प्रत्यगात्मा में कैसे घटाएँगे? अतः कहते हैं कि ब्रह्म का अपना लक्षण है सत्य-ज्ञान-अनन्त-रूपता। स्व अर्थात् अपना लक्षण, स्वरूप लक्षण है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'—यह तटस्थ लक्षण है। 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं' यह ब्रह्म का लक्षण बतला कर आगे कहा 'यो वेद निहितं गुहायाम्'। वह गुहा में छिपा हुआ है। गुहा कौन-सी है? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—ये जो पाँच कोष बतलाए, यह गुहा है। अर्थात् पंचकोशों में ब्रह्म है। पंचकोशों के अन्दर प्रत्यग्रूप ही है। इससे बतलाया कि पाँच कोशों में होने वाला जो प्रत्यगात्मा वही ब्रह्म है। जैसे अंगुली से निर्देश करके कोई कह देवे 'यह देवदत्त है' वैसे ही बतला दिया कि पंचकोशों के अन्दर ही ब्रह्म है। इस प्रकार से तैत्तिरीय श्रुति के द्वारा अपरोक्ष ब्रह्म पता लग जाता है।।६६।।

श्लोक ६१ में श्वेतकेतुविद्या की दृष्टि से, श्लोक ६३ आदि द्वारा भार्गवी विद्या की दृष्टि से आत्मविषयक अपरोक्ष बोध समझा चुके। अब छान्दोग्य के आठवें अध्याय की प्रजापति विद्या के अनुसार स्पष्ट करते हैं कि विचारपूर्वक वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का हेतु बन जाता है—

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात्।
अपरोक्षी कर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ।।६७।।

'य आत्मा अपहतपाप्मा' आदि लक्षण से परोक्षतः समझकर अपरोक्ष करने की इच्छा करता हुआ इन्द्र प्रजापतिरूप गुरु के पास चार बार गया।

इन्द्र और विरोचन दोनों ब्रह्माजी के पास गए थे कि 'आप हमें ब्रह्म का उपदेश दीजिए।' ब्रह्मा जी ने पहले घोषणा कर रखी थी 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः' आदि। पाप के द्वारा आत्मा का कोई नुकसान नहीं हो सकता, पाप का उस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। 'विजरः' समय का भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ता है, समय से वह जीर्ण नहीं होता। 'विमृत्युः' उसका कभी नाश भी नहीं होता। यह शंका न हो जाये कि दुःखी होता होगा, इसलिए कहा 'विशोकः' शोक से रहित है, कभी कोई दुःख भी उसको स्पर्श नहीं करता। ऐसे उस ब्रह्म को जानकर मनुष्य भी जरा-मरण से रहित हो जाता है। अपहतपाप्मत्वादि लक्षण वाले आत्मा का अन्वेषण, विज्ञान अवश्य कर्त्तव्य है तथा उससे सब लोकों की और सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है—यह ब्रह्मा जी की घोषणा सबने सुनी। देवताओं ने भी सुनी, असुरों ने भी सुनी। देवता और असुर हमेशा आपस में एक-दूसरे से संघर्ष करके एक-दूसरे पर हावी होना चाहते हैं। उन्होंने सोचा कि इस विद्या से कभी नहीं मरेंगे, कभी नहीं बुड्ढे होंगे तो हम दूसरे को हरा देंगे। अतः इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मा जी के पास गए। आत्मा विजर, विमृत्यु, विशोक है—यह परोक्ष ज्ञान पहले हुआ कि आत्मा ऐसा है। उसका अनुभव करने पर ही जरा-मरण से रहित होने का फल मिलेगा इसलिए अपरोक्ष करने के लिए, अपरोक्षीकरण की इच्छा से इन्द्र गुरु अर्थात् ब्रह्मा जी के पास चार बार गया। पहली बार तो विरोचन भी साथ ही था। ब्रह्मा जी ने जो कुछ बताया उसके विरोध में विरोचन को तो आगे विचार आया नहीं; वह वापिस चला गया। उसने जो बात ग़लत समझी, उसी का प्रचार कर दिया कि इस शरीर को खिलाओ-पिलाओ आनन्द से रखो, यही सार है, यही ब्रह्मा जी ने कहा है।

इन्द्र विचारशील था। दोनों को एक ही उपदेश मिलने पर दैवी गुणों से सम्पन्न इन्द्र ने तो विचार किया, आसुरी गुण-सम्पन्न विरोचन ने विचार नहीं किया। जो दैवी गुणों से सम्पन्न नहीं होगा वह विचार करेगा नहीं अतः सुनकर भी उसे ज्ञान, अपरोक्ष होगा नहीं। दैवी गुणसम्पन्न विचार करेगा तो अपरोक्ष प्राप्त करेगा। दैवी गुणरूप सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए जन्म जन्मान्तरों के पुण्य कर्मों की ज़रूरत है जिसके फलस्वरूप ही मन में ब्रह्मजिज्ञासा आती है। ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान तो सुलभ है कि सब ब्रह्मरूप है। लोग समझते हैं कि नाम-रूप वाला ब्रह्म है! अतः शंका करते रहते हैं—सब ब्रह्मरूप है तो एक ब्राह्मण क्यों और दूसरा अन्त्यज क्यों? भेद क्यों है? आजकल जातिगत भेद को ज़्यादा पूछते हैं। सम्भवतः थोड़े सालों के बाद पूछेंगे, या कम्यूनिस्ट अभी भी पूछेंगे कि एक ही ब्रह्म है तो एक करोड़पति क्यों पैदा होता है, दूसरा कंगला क्यों पैदा होता है? आजकल धन के भेद को तो सत्य मान लेते हैं लेकिन जाति का भेद कल्पित लगता है। ये शंकाएँ इसीलिए कि ब्रह्म

को नाम-रूपात्मक समझते हैं। ब्रह्मा जी तो कहना चाहते थे—तुम्हारे अन्दर जो अपरिवर्तित रहने वाला तत्त्व है वह ब्रह्म है और विरोचन ने यही समझ लिया कि शरीर ही ब्रह्म है!

परन्तु इन्द्र दैवी गुणों वाला था इसलिए उसने आगे विचार किया कि शरीर तो ब्रह्म नहीं हो सकता है। दुबारा गया। तब उसे, स्वप्न में जो स्थित है उसका रूप बतलाया। जाग्रत् में शरीर है, स्वप्न में मन स्थित है। इन्द्र कुछ सन्तुष्ट होकर चला गया। लेकिन दैवी गुणसम्पन्न था, और विचार किया कि मन तो क्षण-क्षण में बदलने वाला है—सुखी-दुःखी होने वाला है, वह ब्रह्म कैसे हो सकता है? वापिस आया; तब उसे सुषुप्ति वाले का स्वरूप बताया। फिर चला गया। विचार करने लगा कि सुषुप्ति में तो कुछ है ही नहीं, 'कुछ नहीं' जैसा रूप है। पुनः वापिस आया। अन्त में जाकर अपने तुरीय रूप को समझा। इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में स्थित को समझकर तुरीयस्वरूप उसे हस्तगत हुआ। हुआ तभी जब वह अपनी समझ पर, उपदेश से हुए ज्ञान पर विचार करता था। बिना विचार के कोई नहीं समझ सकता। वह चार बार ब्रह्मा जी के पास गया और तीन बार उन्होंने बत्तीस साल का समय लिया उपदेश देने के लिए, अन्त में पाँच साल लिये। इस प्रकार एक सौ एक साल में इन्द्र को ज्ञान हुआ! इन्द्र जैसा देवराज यदि एक सौ एक साल लेता है उस तत्त्व की अवगति करने में और हम लोग चाहें कि जल्द बाजी में हो जाए तो कैसे होगा! धैर्य से साधना में लगे रहने पर ही होता है। इसी जन्म में सारा विचार किया जाए—यह ज़रूरी नहीं है। जितना विचार यहाँ कर लिया वह जाएगा नहीं, इसके संस्कार रहेंगे। निरन्तर वेदान्त-विचार के अन्दर लगे रहने का फल होगा कि अगली बार भी अच्छे ब्रह्मवेत्ताओं के यहाँ पैदा होगे। फिर जहाँ से छोड़ा है वहाँ से आगे चलोगे।

इस प्रकार स्पष्ट किया कि प्रसिद्ध तरीके के महावाक्य के बगैर भी ब्रह्मोपदेश पर विचार करने से अपरोक्ष हुआ। त्वमर्थ उपस्थापनार्थ जैसे वरुण ने अन्नादि का उल्लेख किया वैसे ब्रह्मा जी ने अवस्थाओं का सहारा लिया। जिस भी तरह हो, प्रत्यगुल्लेखसहित पूर्ण तत्त्व का अवभास अपेक्षित है जो विचार-सहकृत वाक्य से ही संभव है।।६७।।

सामवेद एवं यजुर्वेद के प्रसंगों के बाद ऋग्वेद की ऐतरेय उपनिषत् के उपदेश का संग्रह करते हैं—

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम्।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम्।।६८।।

'यह आत्मा ही (था)' यों प्रारंभ में परोक्ष रूप से लक्षण द्वारा ब्रह्म कहा (फिर) अध्यारोप और उसके अपवाद द्वारा प्रज्ञान ब्रह्म का दर्शन कराया।

ऋग्वेद की ऐतरेयोपनिषत् में 'आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चन मिषत्' कहा कि सृष्टि होने के पहले एकमात्र आत्मा ही था। जो यह सारा नाम-रूप उपलब्ध है

यह सब पैदा होने से पहले नहीं था। जिस प्रकार साँप, जलधारा, दण्ड, माला—ये सब दीखने से पहले केवल एक रस्सी ही होती है, ये सब रस्सी में ही दीखते हैं, इसी प्रकार मिथ्या संसार दीखने से पहले केवल एक आत्मा ही था। इस के द्वारा परोक्ष की तरह ब्रह्म बतलाया। फिर कहा कि उसने ईक्षण किया—'मैं इन लोकों का सृजन करुँ'। इनको बनाते हुए 'तस्य त्रय आवसथाः' घूमने के लिए तीन महल बना दिए।

जर्मनी के अन्दर राजाओं के कई शहरों में महल होते थे। वहाँ पूछा कि वे इतने महल इतने शहरों में क्यों रखते थे? वहाँ के जानकारों ने बताया—पुराने ज़माने में मल त्यागने के लिए महलों के बाहर ही जाना पड़ता था। धीरे-धीरे इलाका बड़ा गन्दा हो जाता था। हिन्दुस्तान के अन्दर तो गर्मी रहती है इसलिए कुत्ते, सूअर आदि सफाई करते रहते हैं। जर्मनी जैसे ठण्डे देशों में तो छह महीना सर्दी होगी। न सूअर बाहर निकलेगा न कुत्ता। गन्दगी बहुत बढ़ जाती थी। जब असह्य हो जाती थी तब वे लोग दूसरे शहर के महल में चले जाते थे। फिर वहाँ की हालत खराब हो जाती थी तो तीसरे शहर में चले जाते थे। तब तक धीरे-धीरे पहले वाला महल साफ हो चुकता था क्योंकि आखिर मल प्रकृति में मिल जाने वाली वस्तु ही है। प्रकृति धीरे-धीरे उसको हटा देती है। कभी पानी बरसता है, कभी बरफ पड़ती है, हवा बहती है; यों सब साफ हो जाता था तो फिर पहले वाले महल में चले आते थे!

इसी प्रकार से परमेश्वर ने हमारे लिए भी तीन रहने की जगह बना दी। एक जाग्रत्; उसमें इन्द्रियों से व्यवहार करते-करते जब हम थक जाते हैं तब स्वप्न में चले जाते हैं। जाग्रत् की कोई गन्दगी तुमको स्वप्न में दुःख नहीं देगी! स्वप्न में भी तकलीफ होती है, थकावट होती है। जब स्वप्न में थक गए तो सुषुप्ति में चले जाओ। सुषुप्ति के अन्दर कोई भोग्य पदार्थ नहीं होता है इसलिए शान्ति से रह करके जब फिर मन में आये अर्थात् प्रारब्ध कर्म का भोग हो, तब जाग्रत् या स्वप्न में चले आते हो। श्रुति कहती है कि ये तीनों आवसथ स्वप्न ही हैं! जाग्रत् की दृष्टि से स्वप्न नहीं है, स्वप्न की दृष्टि से जाग्रत् नहीं है, जाग्रत्-स्वप्न की दृष्टि से सुषुप्ति नहीं है, सुषुप्ति की दृष्टि से जाग्रत्-स्वप्न नहीं हैं। क्योंकि सचमुच नहीं, केवल किसी दृष्टि से ही होते हैं इसलिए ये तीनों सचमुच में स्वप्न ही हैं। उसने ईक्षण करके यह सब बनाया इत्यादि उस परमात्मा पर अध्यारोप ही है।

हमें यह संसार दीख रहा है इसलिए श्रुति ने कहा कि यह संसार बनने और इसे बनाने वाले परमात्मा की तरफ दृष्टि ले जाओ। उसीने बनाया है और वही बना भी है। सामने का संसार देखकर मन में जिज्ञासा रहती ही है कि 'संसार कहाँ से आया?' कुछ लोगों ने कहा, प्रकृति ने बना दिया। कुछ ने कहा, परमाणुओं ने बना दिया। जिसे तुम कारण समझोगे उसकी तरफ तुम्हारा मन जाएगा। जो कारण है नहीं उन प्रकृति आदि की तरफ मन ले जाने से हाथ कुछ नहीं पड़ेगा, इसलिए श्रुति ने कहा कि सब जहाँ से आया उस परमात्मा को कारण समझकर उसकी तरफ जाओ। परमेश्वर पर विश्वास करते हैं तो कोई विपत्ति आने

पर परमेश्वर की तरफ ही जाते हैं। जो समझते हैं कि यह सब ग्रहों से होता है, उनके ऊपर कोई आपत्ति आवे तो ग्रहों की तरफ जाते हैं। आजकल एक और मान्यता है कि ईंट-पत्थर तुम जिस ढंग से रखते हो, वही तुम्हारे सुख-दुःख का कारण है! इसका नाम 'वास्तु' है। इसके अनुयायी उसी तरफ जाते हैं कि दरवाजा इधर निकालें, उधर निकालें। हर हालत में जिसको कारण समझोगे उसी तरफ तुम्हारा मन जाएगा। परमेश्वर से अन्य जिसे कारण समझेंगे उसकी ओर जाने पर भी हमेशा रहने वाला फायदा नहीं होने वाला। अन्य किसी तरह सर्वशोकविनिर्मुक्त कोई नहीं मिलता। ज्ञान से अतिरिक्त साधन करके परम शान्ति की प्राप्ति तो होगी नहीं। इसलिए श्रुति ने कहा—सबका कारण परमात्मा है; जो कुछ होना है सब परमात्मा से ही होता है, एकमात्र वही अभिन्ननिमित्त-उपादान कारण है। कारणतादि सारी बातों को उसके ऊपर अध्यारोप किया।

श्रुति ने पहले ही कह दिया था 'नान्यत् किञ्चन मिषत्'। पर इतने से पहले-पहल समझ में आएगा नहीं कि अन्य सब मिथ्या है। इसलिए सब कुछ उसके ऊपर अध्यारोपित कर दिया। फिर बताया कि अध्यारोपित वस्तुएँ वह नहीं है अर्थात् अध्यारोप का अपवाद कर दिया। इस प्रकार उसको प्रत्यगात्मरूप बतला दिया। उसके बाद संसार की दुःखरूपता का प्रतिपादन करने के लिए गर्भवास आदि दुःखों को बतलाया ताकि संसार के प्रति जो आसक्ति है वह हटे क्योंकि ज्ञान का साधन वैराग्य है, 'वैराग्यस्य फलं बोधः'। मन एक ही है, संसार के किसी पदार्थ पर लगाओगे तो ब्रह्म में नहीं जाएगा। संसार के पदार्थों के प्रति राग सबको स्वाभाविक है इसलिए वैराग्य-प्रतिपादन करना पड़ता है जिससे वैराग्य होकर ज्ञानसाधना में लग सको। उसके बाद 'यह कौन आत्मा है'—आदि तरीके से विचार करके पदार्थों का शोधन किया, अपवाद किया। फिर बतलाया कि जो प्रज्ञान है—तुम्हारे अन्दर निरन्तर ज्ञानरूप से स्थित है, जिसके कारण तुम्हारा अहंकार ज्ञाता बनता है, वही ब्रह्म है। तुम्हें ज्ञाता बनाने वाला चेतन तुम्हारे लिए अपरोक्ष है अतः 'वही ब्रह्म है' कहकर ब्रह्म को अपरोक्ष प्रदर्शित किया। ज्ञान ब्रह्म है, विषय ब्रह्म नहीं हैं। ज्ञान से ही अज्ञान के द्वारा विषय उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद में भी अद्वैत की बात कही।।६८।।

क्रमशः परोक्ष-अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करना शास्त्रकार्य है यह सामान्य नियम व्यक्त करते हैं—

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत्।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः।।६९।।

वेद के सभी स्थलों में अवान्तर वाक्य से ब्रह्म के बारे में परोक्ष ज्ञान होता है एवं विचार-सहकृत महावाक्य से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है।

ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान कैसे होता है? अवान्तर वाक्य वे हैं जो तत्-त्वम्

पदार्थों का वर्णन करते हैं। कोई बात समझाने के लिए उपयोगी चीज़ें बतलानी पड़ती हैं। श्रुति का तात्पर्य तो तुम्हारी ब्रह्मरूपता बतलाने में है। ब्रह्मरूपता जानो, इसके पहले ब्रह्म के रूप को तथा अपने रूप को सही तरह जानना पड़ेगा, तभी समझ पाओगे कि तुम कौन हो जो ब्रह्म हो और ब्रह्म कौन है जो तुम हो। अन्यथा, बरगद के पेड़ के ऊपर जो भूत रहता है उसे भी ब्रह्म कहते है! उसी को तुम ब्रह्म समझ लोगे। पहले समझोगे ब्रह्म कौन है तब तुम ब्रह्म हो—इस बात को समझ पाओगे। अवान्तर वाक्य के द्वारा जैसे ब्रह्म को बतलाना पड़ेगा इसी प्रकार तुम सचमुच में कौन हो—यह भी स्पष्ट करना पड़ेगा।

अभी तुम अपने को कई चीज़ें समझते हो—मैं भारतीय हूँ, हिन्दू, ब्राह्मण हूँ, सुखी, दुःखी हूँ, कमज़ोर, ताकतवर, लूला, लंगड़ा, अन्धा, काणा हूँ आदि सभी समझते हो। इन सबमें तुम हो कौन? तुम्हारा स्वरूप क्या है? चेतन, ज्ञान ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। अवान्तर वाक्य अलग-अलग ब्रह्म और जीव का स्वरूप बता देते हैं, यह नहीं बतलाते कि जो तुम ज्ञानस्वरूप हो वही सारे जगत् का एकमात्र कारण है। इसलिए पदार्थ-प्रतिपादक वाक्य अवान्तर कहे जाते हैं। यद्यपि स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से मैं को अन्य समझना बिना साक्षात् श्रुति का सहारा लिए भी संभव है तथापि अपनी चेतनमात्रता का पता बिना वेद के नहीं लगता। उसके लिए श्रुति का सहारा लेना ही पड़ता है। चूंकि ब्रह्म सर्वथा अनवगत है, इसलिए अवान्तर वाक्य से ब्रह्म का प्रतिपादन तात्पर्यतः विस्तार से करना पड़ता है।

ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय हैं। उसमें पहला अध्याय बड़ा भी है और उसमें प्रधानतया यही प्रतिपादित किया है कि जगत् का एकमात्र कारण ब्रह्म है। अन्य जो कारण माने जाते हैं वे कारण होना वेदसंमत नहीं। पूरा एक अध्याय इसके विचार के लिए ही है कि जगत् का एकमात्र कारण ब्रह्म ही है। बाकी जितने कारण माने जाते हैं, वे श्रुति की दृष्टि से कारण नहीं हो सकते। दूसरा अध्याय प्रधानरूप से प्रतिपादन करता है कि युक्ति से भी कोई दूसरा कारण सिद्ध नहीं होता। वेदों के अनुसार ब्रह्म कारण है, गौतम और कणाद महर्षि के अनुसार परमाणु कारण हैं, तो वही क्यों न मान लें? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर के लिये दूसरे अध्याय में प्रधानरूप से यही बतलाया कि क्यों अनुमान से सिद्ध ये जितने जगत्कारण हैं—ये युक्तिसंगत एवं प्रामाणिक नहीं हैं। इस प्रकार तत्पद के वाच्यार्थ को भी शास्त्र स्पष्ट करता है और लक्ष्य का भी वर्णन करता है। ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं होगा तो जगत् का कारण अद्वितीय ब्रह्म है—यह पता लग ही नहीं सकता। अतः अवान्तर वाक्य बहुत ज़रूरी हैं। उनसे परोक्षधी होगी। त्वम्पद का वाच्य कथंचित् स्वयं पता चल जाये लेकिन उसका लक्ष्य अर्थ तो शास्त्र ही बताता है, अन्य उपाय नहीं है। महावाक्य समझाते हैं कि जो शुद्ध त्वम् पदार्थ है वही शुद्ध ब्रह्म है। बिना अध्यारोप वाला—'सत्यं ज्ञानमनन्तं', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' वस्तुतः प्रत्यगात्मरूप ही है। महावाक्य उसे कहते हैं जो शुद्ध तत् पदार्थ और शुद्ध त्वम् पदार्थ का अभेद कहे। अध्यारोप को अपवाद से हटाने के बाद जो बचा रूप है वह

महावाक्य का अर्थ है। बहुत से आधुनिक पूछते हैं—अध्यारोप की ज़रूरत क्या है, श्रुति सीधा क्यों नहीं कह देती? उत्तर है कि बिना अध्यारोप अपवाद के ब्रह्म जगत् का कारण सिद्ध नहीं होगा, जगत् मिथ्या सिद्ध नहीं होगा तथा अद्वैत सिद्ध नहीं होगा।

'महावाक्यविचाराद्' इसलिए कहा कि सही ज्ञान पाने के लिए महावाक्य का विचार करना पड़ता है। बिना विचार के महावाक्य से न ब्रह्म का अर्थ समझ आएगा और न जीव का स्वरूप समझ में आएगा। यद्यपि विचार अवांतर वाक्य का अर्थ समझने के लिए भी चाहिए तथापि महावाक्य का अर्थ हमारे वर्तमान अनुभव से इतना अधिक अलग है कि उसे आत्मसात् करने के लिए गहनतर विचार अपेक्षित है। यद्यपि चार या पाँच महावाक्य प्रधानरूप से प्रसिद्ध हैं तथापि जहाँ-जहाँ जीव-ईश्वर की एकता बतलाई गई है वे सब महावाक्य हैं। सारा वेद इसी में तात्पर्य वाला है। वेद सारी बातें कहकर जीव को प्रधान उपदेश यही देता है 'तू अपने को ब्रह्मरूप जान ले।' सारे वेद का तात्पर्य यही है। इसी को समझाने के लिए तरह-तरह की युक्तियाँ हैं। इसलिए कहा 'सर्वत्रैव' अर्थात् सारे ही वेद में। भृगु आदि प्रसंगों में बता चुके हैं कि शब्दों में महावाक्य नहीं कहा लेकिन अन्न-प्राणादि विचार्यस्थलों से या जाग्रदादि से जीव उपस्थित कर उसे सत्यज्ञानादि या अपहतपाप्मादि बताया है जो महावाक्यार्थ ही है। वाक्यार्थ-प्रतिपादक को वाक्य कहना संगत है अतः उन प्रसंगों में भी महावाक्य नकारा नहीं जा सकता। जहाँ महावाक्य है वहाँ विचार से ही अपरोक्षधी होती है। विचार के बिना वाक्य का अर्थ समझ में ही नहीं आएगा, संशयरहित नहीं हो पाएगा। ।।६९।।

महावाक्य का विचार अपरोक्षोत्पादक है इसे आचार्य-वचन से प्रमाणित करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम्।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि।। ७०।।

वाक्यवृत्ति नामक ग्रन्थ में बताया है कि महावाक्य का प्रयोजन ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि है। अतः इसमें संशय नहीं कि (वाक्य से) ब्रह्म का अपरोक्ष होता है।

महावाक्य-विचार ही अपरोक्ष ज्ञान का जनक है। मनन के बिना वाक्य परोक्ष तथा मननयुक्त अपरोक्ष ज्ञान देता है ऐसा भी कहा गया है एवं कुछ विद्वान् तो शब्द प्रमाण से परोक्ष ही मानते हैं। अतः विद्यारण्य स्वामी स्पष्ट करते हैं कि वाक्य से अपरोक्ष होता है यह स्वयं आचार्य शंकर ने स्थापित किया है। वाक्यवृत्ति आचार्यकृत एक प्रसिद्ध प्रकरण ग्रंथ है जिसमें ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान के लिए महावाक्य को समर्थ बताया है। ब्रह्म के अपरोक्ष अनुभव के लिए विचारयुक्त महावाक्य ही कारण है—इसके विषय में कोई मतभेद नहीं है क्योंकि वाक्यवृत्ति में आचार्य शंकर ने यह बात कह दी।। ७०।।

वाक्यवृत्ति में क्या कहा है, यह आठ श्लोकों के द्वारा बतलाना प्रारंभ (वा.वृ.श्लो. ४४-६) करते हैं—

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः।
अन्तःकरणसम्भिन्नबोधः स त्वम्पदाभिधः।। ७१।।

जो 'मैं' इस ज्ञान और शब्द के विषयरूप से भासता है वह अन्तःकरण से एकमेक हुआ ज्ञान 'त्वम्'-शब्द का अभिधेय (वाच्यार्थ) है।

वाच्यार्थ समझने के लिए अधिक विचार की ज़रूरत नहीं पड़ती पर लक्ष्यार्थ जानने के लिए वाच्यार्थ के विचार की भी ज़रूरत पड़ती है। वाच्य से सम्बन्ध लक्षणा है अतः वाच्य सही उपस्थित हो यह ज़रूरी है। लक्ष्यार्थ भी अनेकों हो सकते हैं। कहाँ क्या लक्ष्य है यह विचार निर्णीत करेगा। 'सिर चक्कर खा रहा है' यह प्रसिद्ध प्रयोग है। इसमें चक्कर-शब्द और खा रहा-शब्द, दोनों लक्षणा से ही अभिप्राय व्यक्त करते हैं। इसके लिए इनके वाच्य उपस्थित करना भी ज़रूरी और विचारपूर्वक तात्पर्य समझना भी जरूरी। बिना विचार के लक्षणा नहीं हो सकती। इसलिए पहले त्वम्-पद की अभिधा किस अर्थ में है अर्थात् वाच्य क्या है यह बतलाते हैं। अन्तःकरण के साथ मिला हुआ अर्थात् अन्तःकरण जिसकी उपाधि है, अन्तःकरण वाला ज्ञान त्वम्-शब्द का वाच्यार्थ है। अन्तःकरण-संभिन्न बोध अर्थात् चिदाभास त्वम्-पद का वाच्यार्थ है। बोध तो चेतन ही है लेकिन उसका अन्तःकरण उपाधि वाला रूप चिदाभास है। त्वम् शब्द का उच्चारण करते हैं तो अन्तःकरण वाले चेतन का ही बोध होता है। 'मैं' यह प्रतीति भी है, शब्द भी है, इनसे विषय होता है मनोयुक्त चेतन। मैं—प्रतीति भी होती है और मैं शब्द का प्रयोग भी होता है। 'मैं जा रहा हूँ'—ऐसा कहते भी हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है। अपनी प्रतीति हमेशा मैं-रूप से ही होगी। मैं इस प्रतीति और शब्द का विषय कौन है, आलम्बन कौन है? वही अभिधार्थ, वाच्यार्थ कहलायेगा। अन्तःकरण-विशिष्ट अर्थात् अंतःकरण जिसकी उपाधि है वह चेतन। विशिष्ट और उपहित में पारिभाषिक अन्तर है किंतु उसका यहाँ प्रसंग नहीं। सत्य चेतन का विशेषण जड बनना असंगत होने से उपाधि के अभिप्राय से विशेषण कहना भी प्रचलित है। यों वहाँ त्वम् पद का वाच्यार्थ बतला दिया।। ७१।।

'तत्त्वमसि' में दूसरा पद है तत्। उसका अर्थ भी उक्त ग्रंथानुसार बतलाते हैं—

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः।। ७२।।

सर्वज्ञता आदि लक्षण वाला, मायारूप उपाधि वाला, सत्य आदि स्वरूप वाला, परोक्षता से युक्त जगत्कारण 'तत्' शब्द से अभिधेय है।

तत् पद का वाच्यार्थ कौन है? माया की उपाधि वाला चेतन। ईश्वर कहते ही माया की उपाधि वाला ही प्रतीत होता है। वही जगद्योनि, सारे जगत् को पैदा करने वाला, सारे जगत् रूप से पैदा होने वाला अर्थात् संसार का एकमात्र अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। वह

सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक है। 'आदि' से ये सब समझ लेना। ये सब उसके लक्षण हैं। किन्तु यह सारा स्वरूप परोक्षता के धर्म वाला है, परोक्ष रहता है। न माया की उपाधि हमारा प्रत्यक्ष है, न संसार की योनि होना प्रत्यक्ष है, न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रत्यक्ष है। इसलिए तत् पदार्थ हमेशा परोक्षता-विशिष्ट रहेगा। माया की उपाधि से अगर कभी वह अपने को प्रकट करे तो भी परोक्ष ही रहेगा क्योंकि हमें केवल माया का कार्य दीखेगा। इसलिए जब नारद ने भगवान् के दर्शन किए और फिर भगवान् लुप्त हो गए तब नारद बड़े दुःखी हुए। भगवान् ने कहा 'क्यों दुःखी होते हो! तुमने जो देखा है वह मैं नहीं, मेरी माया थी।' परमेश्वर हमेशा परोक्ष ही रहेगा। परोक्षता धर्म वाले मायोपाधिक जगद्योनि सर्वज्ञ का अपना स्वरूप क्या है? माया की उपाधि से जगद्योनि है, माया की उपाधि से सर्वज्ञ-सर्वेश्वर-सर्वशक्तिमान् है परन्तु उसका स्वरूप क्या है? 'सत्याद्यात्मकः।' वेद कहता है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। सत्य, ज्ञान, अनन्त ये उसका अपना स्वभाव हैं। तत्-पद का वाच्य माया वाला चेतन है जो स्वरूप से सत्य ज्ञानानन्त है।। ७२।।

'तत्त्वमसि' में कहते हैं कि जो कभी भी तुम्हें परोक्ष नहीं होता वह मैं ऐसा ब्रह्म है जो हमेशा परोक्ष है! इस रहस्य को समझने के लिए लक्षणा सहायक बनती है यह भी वाक्यवृत्ति से उपस्थित करते हैं—

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता।
विरुद्ध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते।। ७३।।

एक तत्त्व का प्रत्यक् और परोक्ष होना एवं सद्वितीय और पूर्ण होना परस्पर विरुद्ध हैं, इसलिए (ऐसे पदार्थों का अभेद बताने वाले वाक्यों का अर्थ व्यक्त हो इसके लिए) लक्षणा कार्य करती है।

एक चेतन प्रत्यक् और परोक्ष हो यह संगत नहीं, सद्वितीय अर्थात् भेदयुक्त वस्तु पूर्ण अर्थात् अपरिच्छिन्न हो यह भी संगत नहीं; 'तत्त्वमसि' आपाततः कहता यही है, इसलिए 'तत्त्वमसि' के अनेक प्रकार के अर्थ किए हैं। जैसा कहा है वैसा तो कोई नहीं मानता! किसी ने कहा कि 'तस्य त्वमसि' परमात्मा के तुम हो—यह अर्थ है। परमात्मा मालिक है, तुम नौकर हो—यह शायद वेद कह रहा है। दूसरे ने कहा कि अर्थ है—परमात्मा के तुम अंश हो। अंश और अंशी जैसा तुम्हारा और ईश्वर का संबंध है, इस संबंध को बतलाने वाला 'तत्त्वमसि' वाक्य है। एक ही चीज़ प्रत्यक् भी हो और परोक्ष भी हो, यह यथाश्रुत बुद्धिसंगत नहीं होता। इसी तरह त्वम्पदार्थ जीव सद्वितीय है, हमेशा 'मैं' के साथ तुम, यह आदि अनेक पदार्थ उपलब्ध हैं। परमात्मा पूर्ण अर्थात् अद्वितीय है। परमेश्वर में सद्वितीयता रहेगी नहीं। कोई भी आस्तिक अनेक परमेश्वर नहीं मानता। न गौतम मानते हैं, न कणाद मानते हैं, न योगी मानते हैं। परमेश्वर की एकता सभी आस्तिक कहते हैं। वे उसमें वस्तुकृत भेद मानते हैं, अनेक चेतन मानते हैं, इसलिए 'तत्त्वमसि' का वे अभेद अर्थ नहीं कह पाते।

सद्वितीय, भेदयुक्त वस्तु को पूर्ण अर्थात् सभी परिच्छेदों से रहित कहना नहीं बनता। देश-काल के परिच्छेद न होने पर भी वस्तुकृत परिच्छेद रहते कोई पूर्ण नहीं कहलाता। प्रत्यक्ता का परोक्षता से और सद्वितीय का पूर्णता से विरोध है। वाक्य कह रहा है कि एक ही वस्तु एक-साथ तत् और त्वम् है अर्थात् परोक्ष व प्रत्यक् है, इसी तरह (तत्) पूर्ण और (त्वम्) सद्वितीय है। वाच्यार्थों की दृष्टि से संगति न बैठने से लक्षणा प्रवृत्त होती है। चाहे लक्षणा दास और मालिक के सम्बन्ध में करो, चाहे लक्षणा अंश-अंशी के सम्बन्ध में करो, लक्षणा तो माननी ही पड़ती है। इसलिए वेदान्ती पर कोई यह दोष नहीं दे सकता कि 'लक्षणा से अर्थ क्यों करते हो, जैसा कहा वैसा क्यों नहीं मानते?' संगत अर्थ के लिए लक्षणा करनी ही पड़ेगी, कौन-सी लक्षणा करें? वेदान्ती का कहना है, जिसमें कम से कम गौरव हो वह लक्षणा करनी चाहिए। तीन तरह की लक्षणायें प्रसिद्ध हैं। एक लक्षणा में जो वाच्यार्थ है उसका सर्वथा त्याग कर दिया जाता है और कोई दूसरा अर्थ समझ लिया जाता है। जैसे, कहते हैं, 'गंगा में गाँव है' तो गंगाप्रवाह को सर्वथा छोड़ देते हैं, गंगा-शब्द का अर्थ 'किनारा' करके वाक्यार्थ करते हैं—गंगा के किनारे गाँव है। या कहा 'घर सड़क पर है'। सब समझते हैं कि घर सड़क पर नहीं है, सड़क के किनारे है। सड़क को छोड़कर किनारा लक्षणा से समझ लेते हो। इस प्रकार की लक्षणा में वाच्य अर्थ सर्वथा छोड़ देते हो। दूसरी है जहाँ सर्वथा नहीं छोड़ते वरन् कुछ जोड़ और देते हो। जैसे सात नम्बर का घोड़ा जीत गया। कौन जीता? तो क्या कहते हैं? 'सात नम्बर', बस। समझने वाले सात नम्बर को छोड़ते नहीं, मतलब कर लेते हो—सात नम्बर का घोड़ा अर्थात् 'घोड़ा' उसमें जोड़ देते हो। एक लक्षणा में जोड़ है, दूसरी में घटाव है। तीसरी लक्षणा होती है जिसमें कुछ हिस्सा छोड़ देते हो और कुछ हिस्सा रख लेते हो। 'तत्त्वमसि' के अन्दर यही लक्षणा है।। ७३।।

महावाक्यस्थल पर वह तीसरी तरह की लक्षणा प्रवृत्त होती है जिसे भागलक्षणा, भाग-त्यागलक्षणा, जहदजह लक्षणा—इन नामों से कहा जाता है। यह भी वाक्यवृत्ति के (श्लो. ४८) वचन से व्यक्त करते हैं—

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा।। ७४।।

'वही यह' इत्यादि वाक्यगत पदों की तरह 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में स्थित पदों की भागत्यागलक्षणा है, अन्य लक्षणायें नहीं।

'तत्त्वमस्यादि' से जितने महावाक्य हैं सब समझ लेना। जीव-ईश्वर की एकता बतलाने वाले जितने महावाक्य हैं वहाँ इसी रीति से अर्थबोध सम्भव है। कौन-सी लक्षणा है जिससे तत् और त्वम् पदार्थों की एकता सिद्ध हो जाए? भागलक्षणा मतलब जहत्-अजहत् लक्षणा। इसमें न्यूनतम गौरव इसलिए कि जोड़ना कुछ नहीं और पूरे को छोड़ना भी नहीं है। एक में गंगाप्रवाह पूरा छूटा, दूसरे में नयी चीज़ घोड़ा जोड़ना पड़ा; इन दोनों की अपेक्षा इसमें लाघव

स्पष्ट है क्योंकि एक हिस्सा छोड़ा, एक हिस्सा नहीं छोड़ा। भागलक्षणा कहाँ प्रसिद्ध है? 'सोऽयम् देवदत्तः'; किसी आदमी को देखकर हम कहते हैं—'यह वह दिल्ली वाला ही है।' भाग मायने हिस्सा। तो एक 'वह' देवदत्त दिल्ली का, 'यह' देवदत्त आबू का। आबू का देवदत्त दिल्ली का नहीं हो सकता, दिल्ली वाला आबू का नहीं हो सकता। अतः दिल्ली का और आबू का—इन हिस्सों को छोड़कर केवल देवदत्त अंश का अभेद वाक्य का अर्थ समझ आता है। देवदत्त को रख लिया और जो विरोधी हिस्से थे उन्हें छोड़ दिया। वह और यह—ये विरोधी हिस्से थे; वह अर्थात् दिल्ली और यह अर्थात् आबू; विरोधी चीज़ें छोड़ कर अखण्ड चीज़ को रख लिया। 'सोऽयम्' आदि स्थलों में जहद् या अजहद् लक्षणा नहीं, भागलक्षणा ही होती है। भागलक्षणा करना इसलिए ज़रूरी है कि ब्रह्म अखण्ड है। वाच्यार्थ खण्ड वाला ही होगा क्योंकि वाच्यार्थ जाति गुण क्रिया संबंध इनके द्वारा प्रकट होता है। एक पाँचवाँ तरीका कह सकते हैं—किसी व्यक्ति का नाम। नाम से समझ आने वाली वस्तु प्रमाणान्तर से ज्ञात होनी चाहिए तभी उस शब्द से तुमको अर्थ प्रतीत हो सकता है। यदि तुम इन्द्रदत्त को जानते ही नहीं तो इन्द्रदत्त-शब्द से कुछ ग्रहण नहीं होगा। अतः जो वाच्यार्थ होगा वह जाति, गुण, क्रिया, संबंध वाला या प्रमाणान्तर-विषयता वाला ही ज्ञात होगा अर्थात् इन खण्डों वाले के रूप में पता चलेगा। 'ब्राह्मण है' सुनकर तुमको ब्राह्मणत्व को लेकर ज्ञान हुआ। 'गोरा है'—गुण को लेकर ज्ञान होगा। 'रसोईया है' सुनने पर क्रिया के द्वारा ज्ञान होगा। 'मेरा बेटा है' सुनकर संबंध से ज्ञान होगा। जाति, गुण, क्रिया, संबंध इन खण्डों के बिना ज्ञान चाहिए अखण्ड परमात्मा का। इसलिए अखण्ड वाक्यार्थ समझने के लिए भागलक्षणा करनी ज़रूरी पड़ जाती है।। ७४।।

लक्षणा की आवश्यकता सिद्ध करते हैं (वा. वृ. श्लो. ३८)—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।। ७५।।

महावाक्यों में न कोई सम्बन्ध और न विशिष्ट वस्तु वाक्यार्थ के रूप में स्वीकृत है। विद्वानों का मानना है कि अखण्ड एकरस वस्तु ही यहाँ वाक्यों का अर्थ है।

साधारण वाक्यों का सीधा-सीदा अर्थात् बिना लक्षणा के अर्थ समझा जाता है। किसी ने कहा 'गाय लाओ', तो कोई लक्षणा थोड़े ही करते हो! सीधा अर्थ हो जाता है संसर्ग। आने का संबंध गाय से करोगे, गाय का संबंध आने से करोगे—इस प्रकार, संसर्ग का वाक्य से ज्ञान होगा। या वाक्य से विशिष्ट अर्थ पता चलता है। जैसे कहा 'नील कमल है'। यहाँ नीला गुण से विशिष्ट कमल वस्तु का ज्ञान होगा। या पदों से याद आये पदार्थों का आपसी संबंध और या विशेषण से युक्त वस्तु वाक्यार्थ के रूप में समझी जाती है। ब्रह्म का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं होता और न ही उस पर कोई विशेषण है अतः उसका इन दोनों तरह से ज्ञान संभव नहीं। वह अखण्ड है जबकि सम्बन्ध और विशेषण दोनों ही खण्ड हैं। सम्बन्ध

हो या विशेषण, ब्रह्म से अलग होगा तो उसे परिच्छिन्न ही करेगा जो कि सम्भव नहीं। इसलिए जो प्रसिद्ध वाक्यार्थ हैं संसर्ग और विशिष्ट, वे यहाँ स्वीकार नहीं किए जा सकते। न तत् को तुम विशेषण बना सकते हो त्वम् का, न त्वम् को विशेषण बना सकते हो तत् का, तथा न तत् और त्वम् का कोई संसर्ग हो सकता है। इसलिए वाक्यार्थ समझने के लिए किसी न किसी तरह से लोग लक्षणा करते ही हैं। उपक्रमादि लिंगों से निर्णीत है कि महावाक्यों द्वारा बतलाना तो अखण्ड एकरस ब्रह्म को है, न कि 'तत्' और 'त्वं' खण्डों वाली किसी चीज़ को। वेदान्त के विशेषज्ञों ने इसलिए सम्बन्ध या विशिष्ट को यहाँ वाक्यार्थ नहीं स्वीकार किया वरन् लक्षणा का सहारा लेकर अखण्ड ब्रह्म को ही बतलाया।। ७५।।

ब्रह्मवेत्ता लोग जो अखण्डरूप वाक्यार्थ स्वीकार करते हैं (वा. वृ. श्लो. ३६) वह बताते हैं—

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः।। ७६।।

भासमान जो प्रत्यग्रूप बोध वह अद्वय आनन्द स्वरूप है, और अद्वय आनन्दरूप वस्तु केवल प्रत्यग्बोधात्मक है(—यह विद्वत्सम्मत वाक्यार्थ है)।

जो अहम्प्रतीति में अन्तःकरण के सम्बन्ध वाला होकर प्रतीत हो रहा है, वही अद्वयानन्दरूप तत्पदार्थ है। अद्वयानन्द अर्थात् सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप वाला। ब्रह्म के स्वरूप से जीव के स्वरूप का विरोध नहीं, विरोध तो है माया और अंतःकरण का अर्थात् जगद्योनि, सर्वज्ञ आदि विशेषताएँ जीव में संभव नहीं। सच्चिदानन्द होने में तो विरोध है नहीं क्योंकि मैं भी हूँ, मैं भी चेतन हूँ, मैं परप्रेमास्पद हूँ ही। इन बातों का विरोध तो सत्य-ज्ञान-आनन्द लक्षण वाले के साथ है नहीं। विषय बिना हुए प्रकाशमान बोध एक ही है। अन्तःकरण के विकारों के कारण भेद दीख रहा है। अन्तःकरण उपाधि छोड़ दे तो कोई भेद नहीं रहता। माया उपाधि छोड़ दें तो जगत्कारणता, सर्वज्ञता आदि विरोधी धर्म नहीं रहते। इस प्रकार उपाधिभाग का त्याग करने से अद्वयानन्दलक्षण वस्तु ही रह जाती है। अद्वयानन्दरूप जो ब्रह्म है वही प्रत्यग्बोधैकलक्षण है। मैं के अन्दर जो ज्ञानरूपता भासती है वह अद्वय आनन्दरूप से अभिन्न है। मैं की ब्रह्मरूपता और ब्रह्म की मैं रूपता—दोनों तरह कहने से अत्यन्त अभेद व्यक्त कर दिया। उद्देश्य-विधेय का 'व्यतिहार' प्रसिद्ध है जो अभेद को सुदृढ करता है।। ७६।।

अखण्डार्थ के ज्ञान का प्रभाव दिखाते हैं (वा.वृ.श्लो.४०)—

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत्।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि।। ७७।।

इस तरह जब एक-दूसरे से अभेद समझ आता है उसी समय त्वम्पदार्थ जीव में प्रतीयमान ब्रह्मभेद का बाध हो जाता है।

इस प्रकार जब विचारित तत्त्वमस्यादि वाक्य में लक्षणा हो जाती है तब अन्योन्यतादात्म्य की प्रतिपत्ति होती है—यहाँ तादात्म्य का मतलब दोनों की एकता, तद्रूपता है अर्थात् मैं ब्रह्मरूप हूँ और ब्रह्म मैं रूप है यह ज्ञान हो जाता है। अब तक त्वम् अर्थ से हम समझते हैं अन्तःकरण की उपाधि वाले चेतन को इसलिए उसमें उपाधि के कारण अब्रह्मता प्रतीत होती है। अब उपाधि का त्याग कर दिया अतः अब्रह्मता हट गई, 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'—यह अज्ञान हट गया। ज्ञानसमकाल ही यह निवृत्ति है जैसे रज्जुज्ञान के समय ही साँप हट जाता है।। ७७।।

इतना ही नहीं, और भी फल बताते (वा. वृ. श्लो. ४१) हैं—

तदर्थस्य च पारोक्ष्यम् यद्येवं किं ततः शृणु।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते।। ७८।।

तत्पदार्थ की परोक्षता भी निवृत्त हो जाती है। यदि ऐसा है तो उससे क्या (लाभ)? सुनोः पूर्ण आनन्द ही एकरस स्वरूप है जिसका वह प्रत्यग्रूप ज्ञान रह जाता है (यह मोक्षरूप लाभ है)।

अब तक उस परमेश्वर को हम परोक्ष समझते थे, सोचते थे—न जाने कब परमेश्वर का ज्ञान होगा! जब ज्ञान होता है तब ऐसा नहीं लगता कि हमें अभी परमेश्वर का पता चला वरन् लगता है कि हम तो हमेशा ही परमेश्वररूप हैं! देश काल वस्तु की उपाधि से रहित का यह ज्ञान है। देश काल की उपाधि में अगर लाना चाहो तो उपाधि का ही उल्लेख करना पड़ेगा। तदर्थ जो परमेश्वर उसके बारे में जो परोक्षता थी, वह भी हट जाती है क्योंकि वह परमेश्वर कभी भी परोक्ष नहीं है। मैं—इस प्रतीति के अन्दर वह निरन्तर विद्यमान है। ठीक जिस प्रकार से आकाश किसी भी चीज़ में हमेशा ही मौजूद है इसी प्रकार से मैं—इस प्रतीति में प्रतीति तो ब्रह्म की ही है, उपाधि के कारण हम इस बात को समझ भले ही नहीं पा रहे हैं। न तदर्थ परोक्ष रह गया, न अहमर्थ अब्रह्म रह गया। क्या आया उससे? इसी का नाम तो मोक्ष है! तब केवल बच जाता है अखण्ड अद्वितीय आनन्द, और कुछ नहीं बचता। मैं का जो ज्ञान है वह केवल पूर्णानन्दरूप से रह जाता है और इसी का नाम मोक्ष है।।७८।।

वाक्यवृत्ति के प्रसंग से सत्यापित शाब्दापरोक्षवाद का उपसंहार करते हैं—

एवं सति महावाक्यात् परोक्षज्ञानमीर्यते।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम्।। ७९।।

आचार्य के ऐसे स्पष्ट निरूपण के बावजूद जो महावाक्य से परोक्ष ही ज्ञान बताते हैं उनका शास्त्रसिद्धान्त का अनुभव ज़्यादा ही शोभास्पद है!

यह सिद्ध हो जाने पर कि विचारित महावाक्य से ब्रह्मरूपता का अपरोक्ष ज्ञान होता है, अवान्तर वाक्यों से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होता है—जो कहते हैं कि महावाक्य से भी परोक्ष ही ज्ञान होता है, उनकी समझ परम्परानुसार ठीक नहीं। युक्ति व अनुभव का भी उन्हें बल नहीं है। यहाँ जो कहा कि 'उनका शास्त्र-सिद्धान्त-विज्ञान अतिशोभनीय है' वह उनका मज़ाक उड़ाया है। ध्वनि तो है कि वे शास्त्र के सिद्धान्त को सर्वथा नहीं समझते। वाक्यवृत्ति के सहारे सिद्ध किया कि महावाक्य से विचार करके लक्षणा करने पर अपरोक्ष ज्ञान ही होता है। ।।७९।।

वाक्यवृत्ति के सात श्लोकों में जिस प्रकार से महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान सिद्ध होता है वह भगवान् भाष्यकार ने प्रतिपादित किया। शंकावादी कहता है कि शास्त्रीय मान्यता जैसी भी हो, बात तर्कसंगत तो होनी चाहिए—

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धान्तो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः।
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः।। ८०।।

शास्त्रका सिद्धान्त (जैसा है वैसा) रहे। युक्ति से (निश्चित होता है कि) वाक्य से परोक्ष ही ज्ञान होता है जैसे स्वर्ग आदि बताने वाले वाक्यों द्वारा अनुभवसिद्ध है। किंतु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि दसवें के बारे में (शब्द की परोक्षधीहेतुता का) व्यभिचार है।

वादी ने कहा कि आपके वेदान्त शास्त्र और उपनिषद् क्या कहते हैं—इस बात को रहने दीजिए। अर्थात् आपके शास्त्र का शाब्दापरोक्षवाद सिद्धान्त नहीं है, यह हम नहीं कह रहे हैं, परन्तु युक्ति के द्वारा सोचने पर समझ आता है कि शास्त्र से परोक्ष ही हो सकता है। सिद्धान्त-सम्मत बात तर्क से भी तो सिद्ध होनी चाहिए। असंख्य वाक्य परोक्ष ज्ञानों के उत्पादक रहते यही नियम मान्य है कि जो कोई भी वाक्य हो उससे परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है। ज्योतिष शास्त्र कहता है—पानी बरसेगा, तो क्या तुम्हें अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है? संसार में अधिकतर जगह शब्द से परोक्ष ज्ञान होता है। न्यूयार्क में अमुक सबसे बढ़िया होटल है—यह बाँच कर परोक्ष ज्ञान ही होता है, होटल दीख तो नहीं जाता, न वहाँ के कमरे में जो बिछौना है उस पर तुम लेट जाते हो! अधिकतर जगह वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है। यदि कहो कि लौकिक वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है लेकिन वेदवाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है; तो स्वर्गादि वैदिक वाक्यों का दृष्टांत ले सकते हैं। वेद ने कहा 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत', इससे तुमको क्या स्वर्ग का अपरोक्ष ज्ञान हो गया, स्वर्ग में पहुँच गए? चाहे वेद का वाक्य हो, चाहे लौकिक वाक्य हो, वाक्य अर्थात् शब्द से होने वाला ज्ञान परोक्ष ही होता है। यह पूर्वपूक्षी का कहना है।

पूर्वपक्षी की गलती क्या है? दृष्टांत तो उसे बहुत मिल जाएँगे! गलती है कि परोक्षता के प्रयोजक पर ध्यान नहीं दे रहा। विषय दो प्रकार के होते हैं—एक परोक्ष विषय होता है, दूसरा अपरोक्ष विषय होता है। जहाँ विषय परोक्ष होता है वहाँ शब्द से भी परोक्ष ज्ञान

होता है। चाहे दूर देश का होटल आदि विषय होवे, चाहे स्वर्ग होवे, ये स्वरूप से परोक्ष पदार्थ हैं। जहाँ विषय ही परोक्ष होता है वहाँ शब्द से भी परोक्ष ज्ञान ही होगा। परन्तु जहाँ विषय अपरोक्ष है वहाँ शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होगा। जैसे किसी ने पूछा 'क्या यहाँ श्रद्धानन्द है?' हमने कहा 'है'। 'कौन है?' हम कहते है 'दाढ़ी वाला महात्मा है।' हमने कोई अंगुली से भी नहीं दिखलाया, केवल शब्द का प्रयोग किया है। चूंकि यहाँ श्रद्धानन्द बैठा हुआ है इसलिए जिसे जवाब दिया उसे कौन-सा ज्ञान होता है? अपरोक्ष ज्ञान होता है। विषय इन्द्रियों से अपरोक्ष हो या उनके बिना ही, इसका अन्तर चाहे हो लेकिन नियम यही है कि अपरोक्ष विषय के बारे में शब्द अपरोक्ष ज्ञान कराये यह संगत है। इसके लिए दृष्टांत दिया 'दसवें' का। पूर्वोक्त उदाहरण में जब 'तू दसवाँ है' बताया तब 'मैं दसवाँ हूँ' यह अपरोक्ष ही हुआ और शब्द से ही हुआ। अपरोक्षरूप से भासमान वस्तु के बारे में शब्द कहे तो वह वस्तु परोक्ष बन जाये इसमें ही कोई युक्ति नहीं!

अपरोक्ष वस्तु का शब्द से अपरोक्ष अनुभव होगा, परोक्ष वस्तु का परोक्ष अनुभव होगा। इस प्रकार शब्द ही एक ऐसा साधन है जिससे परोक्ष ज्ञान भी होता है, अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। अनुमान आदि से परोक्ष ज्ञान ही होता है। प्रत्यक्ष से अपरोक्ष ज्ञान ही होता है। शब्द की ऐसी शक्ति है कि परोक्ष ज्ञान भी कराता है और अपरोक्ष ज्ञान भी करता है। अतः वाक्य से परोक्ष ज्ञान ही होता है—यह युक्तिसिद्ध नहीं होता। क्यों? क्योंकि जब दसवें व्यक्ति को कहा कि 'दसवाँ तू है' तो वह 'मैं-दसवाँ' अपरोक्ष जान लेता है। मैंरूप से अपने को जान रहा था, दसवाँ-रूप से नहीं जान रहा था। जब उसे कहा तब अपने को दसवें-रूप से भी जान लिया। वैसे ही यहाँ पर 'मैं हूँ'-रूप से जान रहे हैं, 'ब्रह्म हूँ'-रूप से नहीं जान रहे हैं, वह ज्ञान महावाक्य कराता है।। ८०।।

वादी ने जिस युक्ति से शब्द की परोक्षैकोत्पादकता बतायी उसकी असारता व्यक्त करते हैं—

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः।
नश्येत् सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो।।८१।।

खुद ही अपरोक्ष जीव की ब्रह्मरूपता चाहने वाले की पूर्वसिद्ध अपरोक्षता भी नष्ट हो जायेगी—यह एक आश्चर्यजनक महान् युक्ति है!

अगर तुम कहते हो कि तत्त्वमसि से भी परोक्ष ज्ञान होगा तो यह स्थिति बनेगीः त्वम् पदार्थ जीव पहले ही अपरोक्ष है, उसकी परोक्षता कभी होती ही नहीं है। जीव अपने को अपरोक्ष तो जानता है, क्या नहीं जानता? अपनी सर्वव्यापकता नहीं जानता है, ब्रह्मत्व नहीं जानता है। अपनी ब्रह्मरूपता को जानने के लिए प्रवृत्त हुआ और सदासे सिद्ध जो अपरोक्षता थी वह भी हाथ से निकल गयी! प्रत्यक्स्वरूप ही परोक्ष हो गया! जब कहते हैं कि उससे परोक्ष ज्ञान होगा तब मतलब है कि किसी न किसी परोक्ष चीज़ को जान रहा है। 'तत्त्वमसि'

से जानेगा तो 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं को ही ब्रह्म जानेगा तो क्या वह खुद ही परोक्ष हो गया?

'अहो' से आश्चर्य व्यक्त किया कि शब्द से अपरोक्ष को काटने के लिए ऐसी युक्ति दी जो स्वाभाविक अपरोक्ष को भी समाप्त कर दे! तात्पर्य है कि युक्ति ही गलत है।।८१।।

यह कैसी हालत है इसे लौकिक उक्ति से समझाते हैं—

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम्।
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः।। ८२।।

'ब्याज चाहने वाले का मूल भी नष्ट हो गया' ऐसा लौकिक वचन आपकी कृपा से सार्थक हो गया!

जो आदमी ब्याज कमाना चाहता है, उसने जिसे रुपया दिया, उसने न ब्याज दिया, न मूल दिया। गया तो था ब्याज कमाने और अपना मूल भी गँवा आया! इसी प्रकार मुमुक्षु गया तो था ब्रह्म को अपरोक्ष करने और अपनी अपरोक्षता ही चली गई! वादी का मज़ाक उड़ाते हैं कि आपकी कृपा से यह लौकिक वचन बिलकुल ठीक सिद्ध हो गया।।८२।।

अब पूर्वपक्षी दूसरे ढंग से चलता है, कहता है कि उपाधि वाला पदार्थ अपरोक्ष हुआ करता है और उपाधि-रहित पदार्थ परोक्ष हुआ करता है। प्रकारान्तर से उसके कहने का मतलब है कि नाम-रूप वाली चीज़ का ही अपरोक्ष अनुभव होता है। नाम-रूप उपाधि से रहित जो होता है—उसका कभी अपरोक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता। बहुत से लोग ऐसा ही कहते हैं कि यदि भगवान् का नाम-रूप नहीं हो तो हमें काहे का दर्शन होगा! यह शंका उठाते हैं—

अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम्।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः।।८३।।

अन्तःकरण से एकमेक हुआ ज्ञानरूप जीव अपरोक्ष होने योग्य है क्योंकि उपाधि मौजूद है। उपाधि न होने से ब्रह्म तो अपरोक्ष होने योग्य नहीं है।

'अन्तःकरण संभिन्नबोधः' अन्तःकरणरूप उपाधि से युक्त जो बोध है वही जीव है। 'मैं' का ज्ञान अन्तःकरण के साथ होता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण नहीं रहता तो 'मैं' का ज्ञान नहीं रहता है। अन्तःकरण से युक्त होकर ही जो चेतन है वह जीव है। वह अपरोक्ष होवे अर्थात् 'मैं हूँ'—यह अपरोक्ष होवे, यह तो ठीक है। क्यों? क्योंकि वहाँ उपाधि मौजूद है। उपाधि-रहित जो ब्रह्म वह अपरोक्ष होने योग्य ही नहीं है। अतः शब्द से भी उसका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो सकता। यह सामान्य बात सबके मन में जँच जाती है। हर-एक यही सोचता है कि कोई चीज़ सामने होवे तो दर्शन हो। और इसलिए कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कल्पना कर ली है कि जैसे दूर से यदि कोई आदमी जा रहा है तो उसके नाक कान आँख

आदि नहीं दीखते हैं। यहाँ से कोई एक चलती हुई चीज़ ही दीखती है। फिर जब उसके पास चले जाते हो तब नाक कान आँख सब साफ दीखते हैं। इसी तरह से निरुपाधिक ब्रह्म का ज्ञान तो इसलिए है कि अभी तुम भगवान् से बहुत दूर हो! भगवान् के पास पहुँचोगे तब उसके नाक कान आँख सब दिखाई देंगे, भगवान् का जैसा रूप है। अभी उपाधि से रहित इसलिए कहलाता है कि उसकी उपाधि का ठीक प्रकार से ज्ञान हो नहीं रहा है। अन्य भी ऐसी कल्पनायें लोकप्रसिद्ध हैं। शंकावादी शाब्दापरोक्ष हटाने के लिए अखण्ड को ही अपरोक्ष के अयोग्य मान रहा है।। ८३।।

ब्रह्म निरुपाधि होने से अपरोक्ष होने के अयोग्य है—इसकी काट के लिए समझाते हैं कि वह सोपाधि है, निरुपाधि नहीं, अतः शंकावादी के अनुसार भी अपरोक्ष के योग्य ही रहेगा—

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः।
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात्।।८४।।

पूर्वोक्त कथन ग़लत है क्योंकि ब्रह्मरूपता का ज्ञान सोपाधि को विषय करता है। जब तक विदेह कैवल्य न हो तब तक उपाधि का निषेध नहीं है।

'एवम्' अर्थात् ब्रह्म निरुपाधि होने से अपरोक्ष न हो सके, ऐसी बात 'न', नहीं है क्योंकि ब्रह्मरूपता का ज्ञान सोपाधिक वस्तु-विषयक ही है। जीव सोपाधि रहते हुए ही ब्रह्म का ज्ञान करेगा। उपाधि के साथ ही ब्रह्म विषय है। जब तक तुम्हारा शरीर है, नष्ट नहीं हो जाता, विदेह कैवल्य नहीं हो जाता, तब तक उपाधि का निवारण नहीं होगा। ज्ञेय भी सोपाधिक ही है। सिद्धान्त में ध्येय ब्रह्म सोपाधिक तथा ज्ञेय ब्रह्म निरुपाधिक मान्य है। यहाँ अभिप्राय है कि अपरोक्ष-योग्यता के लिए यदि उपाधि का आग्रह हो तो अभाव को ही उपाधि समझ सकते हैं, यह अगले श्लोक में कहेंगे ही। उपाधि तदभाव से निरपेक्ष वस्तुमात्र तो ज्ञेय भी होगी नहीं अतः निरुपाधि को ज्ञेय कहें या उपाधिके अभाव को ही उपाधि मानकर ज्ञेय कहें, अर्थ एक ही आता है। विदेहावस्था में अन्तःकरण की स्वरूपतः प्रतीति न रहने से उसका विषय भी ब्रह्म नहीं होता अर्थात् ज्ञेय भी नहीं कहलाता। अन्यत्र भी अविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित ब्रह्म को मोक्षहेतु बताकर यह स्पष्ट किया है।। ८४।।

तत्त्वसाक्षात्कार भी सोपाधि को विषय करता है तो किस उपाधि वाले को? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

अन्तःकरणसाहित्य-राहित्याभ्यां विशिष्यते।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा।। ८५।।

अन्तःकरण-सहितता जीवभाव के लिए उपाधि है, अन्तःकरण-रहितता ब्रह्मभाव के लिए उपाधि है। इससे अन्य कोई ज्ञेय ब्रह्म की उपाधि नहीं।

जैसे चीज़ का होना उपाधि है, वैसे चीज़ का नहीं होना भी उपाधि ही है। प्रायः तो

उपाधि को भावरूप ही बतलाते हैं। यहाँ कह रहे हैं कि ऐसा नियम नहीं कि भावरूप ही उपाधि होवे, अभावरूप भी उपाधि होती है। जीवभाव की उपाधि है अन्तःकरण साथ होना। जीव जब अपने को ब्रह्मरूप से अपरोक्ष करता है तब अन्तःकरण-रहित होकर करता है। अभी अपने को अन्तःकरण-सहित जान रहा है, जब ब्रह्मज्ञान होता है तब अपने को अन्तःकरण-रहित जानता है कि 'मैं अन्तःकरण वाला नहीं हूँ'। अभी तो अपने को अहंकारात्मिका वृत्ति से एक करके जान रहा है, तब इससे रहित जानता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने को दण्ड वाला जान कर अपने को 'दण्डी' समझ रहा है, जब उसका दण्ड नष्ट हो गया तब वह अपने को 'निर्दण्ड' समझता है। दण्ड से अपने को दण्ड वाला जाना, दण्ड के अभाव से निर्दण्ड जाना। अब तक जीव अपने को अन्तःकरण वाला जानता है। जब गहरी नींद में अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं रहती है तब के बारे में दोनों बातें कहता है—'मैं वहाँ सुख से सोया'—यह भी, और कोई उससे पूछे—'क्या तब तुम्हें पता था?' तो कहता है—'मैंने तो कुछ नहीं जाना।' 'मैं सुख से सोया'—यह स्मृति भी है और 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना' यह भी पता है। जाग्रत् के अन्दर जब 'मैं' वृत्ति जीवित है तब की कोई भी स्मृति होवे तो कभी भी नहीं कहते कि 'याद तो है किंतु मैंने नहीं जाना था!' जाग्रत् के बारे में स्मृति होती है तो उसका रूप यही होता है कि 'मैंने उस समय जाना था'। परन्तु गहरी नींद की जो स्मृति होती है कि मैं सुख से सोया, उसके बारे में यदि उससे पूछो—'क्या तुम वहाँ सुख को जान रहे थे?' तो कहता है—'मैंने जाना तो कुछ नहीं।' यह अन्तर इसीलिए है कि सुषुप्ति में अहंवृत्ति या अन्तःकरण नहीं था। जीवभाव अन्तःकरण-साहित्य में है, वहाँ अन्तःकरणराहित्य है अतः 'सत्सम्पत्ति' है, जीवरूपता प्रतीत नहीं होती। अन्तःकरण बीजरूप से है अतः मोक्ष तो नहीं किंतु जीवभाव भासता नहीं ही है। लगभग ऐसी प्रतीति होती है कि 'मैं कुछ नहीं रहा'। तब आनंद प्रकाश रहने से जगने पर स्मृति संगत भी बनती है लेकिन आनन्द की साहंकार प्रतीति सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार अभी अपने को मैं-रूप जान रहे हैं। ब्रह्मज्ञान होने पर अपने को मैं-रहित जो अपना रूप है—वही अपरोक्ष रह जाता है। जैसे दण्ड के रहते हुए अपरोक्ष ही अपने को दण्डी जानता था वैसे अपरोक्ष ही अपने को जाना कि 'मैं निर्दण्ड हूँ'। वैसे ही अन्तःकरण होते हुए जब अपने को जानता है तब जीव है, उसके बिना जानने पर अपनी ब्रह्मरूपता पता चलेगी। तत्त्वनिष्ठा जब हो जाती है तब कभी भी अपने को अन्तःकरण वाला नहीं जानता वरन् जानता है कि अन्तःकरण मुझसे सर्वथा अलग है। अतः तब मन के कितने भी सुख-दुःख होवें उससे वह अपने को कभी सुखी-दुःखी नहीं जानेगा। अभी क्योंकि हम मन को अपना रूप समझ रहे हैं, इसलिए मन दुःखी होता है तो 'मैं दुःखी'—यह अनुभव होता है। जब पता लग जाता है कि मन तो मैं हूँ नहीं, तब मन के दुःखी होने से दुःखी भी नहीं होता।

ब्रह्मज्ञान जिसके बारे में होता है वह अन्तःकरण से रहित चित्तत्त्व है। प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मज्ञान तो एक वृत्तिविशेष है, उसके रहते ही ब्रह्म को जानेंगे तो वह वृत्तिरहित कैसे

होगा? उत्तर समझना चाहिए कि वृत्ति का होना अलग है, वह ब्रह्म की उपाधि हो—यह बात अलग है। सुषुप्ति में तो वृत्ति स्वरूपतः नहीं है, तत्त्वज्ञान में स्वरूपतः तो है लेकिन ब्रह्म की उपाधि नहीं बनती। जैसे गहने में आकार तो है लेकिन वह सोने की उपाधि नहीं, गहना-स्तर तक ही रहता है। अथवा किसी व्यक्ति को देखेंगे तभी जब हम भी सामने हों लेकिन हमारा 'सामने होना' दृश्यभूत व्यक्ति की उपाधि नहीं बनती। हमारी वहाँ उपस्थिति स्वरूपतः है, उसकी उपाधि के रूप में नहीं है। ऐसे ही अखण्डवृत्ति होने पर ब्रह्मज्ञान होगा किंतु वह वृत्ति उसकी उपाधि बने ऐसा नहीं। मुक्त स्वयं को अन्तःकरण से सर्वथा स्वतन्त्र जानता है अतः न उसे अहंभाव होता है, न ममभाव होता है। यद्यपि अहंवृत्ति रहती है, तत्प्रयुक्त 'मैं'-कहना-समझना आदि व्यवहार रहता है, ममता का भी व्यवहार रहता है, तथापि निजस्वरूप उससे अस्पृष्ट भासता है जैसे स्वर्ण गहनों के आकार से अस्पष्ट भासता है।। ८५।।

अन्तःकरणराहित्य में उपाधिलक्षण घट जाने से उसे उपाधि मानना उपपन्न बताते हैं—

यथा विधिरुपाधिः स्यात् प्रतिषेधस्तथा न किम्।
सुवर्णलोहभेदेन शृङ्खलात्वं न भिद्यते।। ८६।।

जैसे भावरूप (मनःसंबंध) उपाधि है वैसे अभावरूप (मन का असम्बन्ध) क्यों नहीं! सोने-लोहे के भेद से श्रृंखलारूपता में अन्तर नहीं आता!

विधि-शब्द यहाँ भावरूपता के लिए प्रयुक्त है। वस्तु को 'है' कहना विधि और उसे 'नहीं है' कहना निषेध होता है। भावरूप को ही 'है' कहते हैं एवं जब निषेध करते हैं तब 'नहीं है' ही समझ आता है। अतः विधि भावरूप को तथा निषेध अभावरूप को कहा जाता है। उपाधि होने में इससे अंतर नहीं आता कि वह भावरूप हो या अभावरूप। जैसे भावरूप उपाधि होती है, वैसे अभावरूप भी होती ही है। भावरूप उपाधि हो सकती है तो अभावरूप उपाधि क्यों नहीं होगी? उपाधि किसको कहते हैं? जब तक कोई काम करना है तब तक वह रहे एवं दूसरी चीज़ों से अलग करके उसको बता सके। जैसे, 'लाल मोटर के सामने वाला मकान देवदत्त का मकान है' यह किसी को बताया। लाल गाड़ी तो मकान के सामने से किसी भी समय हट जाएगी, लेकिन उसे जो ज्ञान हो गया उस मकान का, वह बना रहेगा। वह व्यक्ति देख ले तब तक तो गाड़ी वहाँ चाहिए, हमेशा नहीं अतः गाड़ी उपाधि है। परन्तु यदि मकान लाल पुताई वाला है और किसी ने कहा कि 'उस लाईन में जो लाल मकान है वह देवदत्त का है।' तो जब कहा तब भी वहाँ लाल पुताई है और छह महीने बाद भी वह जायेगा तो लाल रंग से घर पहचान लेगा। लाल गाड़ी-रूप जो उपाधि है उसका मकान के सामने खड़ा रहना अनपेक्षित है। लाल रंग की पुताई जैसे परिचायक को विशेषण कहते हैं क्योंकि वह मकान से एकमेक हो प्रतीत होता है, गाड़ी की तरह तटस्थरूप से प्रतीत नहीं होता। चाहे भावरूप उपाधि मानो, चाहे अभावरूप मानो, दोनों में ही उपाधि का यह लक्षण रह सकता है।

अगर आत्मा और मन का सम्बन्ध वैसा होता जैसा लाल पुताई का मकान से, तब तो अन्तःकरण-रहित होने पर आत्मा नहीं रह जाता—परन्तु इनका सम्बन्ध उपाधि-उपधेय वाला होने से आत्मा यथावत् रहता है, अन्तःकरण है तब जीवभाव, अन्तःकरण चला गया तब जो रह गया वह ब्रह्मभाव है। हैं तो उपाधि दोनों ही—भाव और अभाव। इसे दृष्टान्त से कहा कि जंजीर चाहे सोने की बनाओ, चाहे लोहे की बनाओ, जंजीररूपता में अंतर नहीं आयेगा। सोने की जंजीर से बँधे होने से तुम जेल में बंद नहीं हो ऐसा तो है नहीं। सोने की साँकल भी तुमको बाँध लेगी और लोहे की साँकल भी बाँध लेगी। सोना और लोहे में जो भी भेद होवे उससे साँकलरूपता में भेद नहीं आता। उसी प्रकार भाव और अभाव का जो भी भेद होवे, उपाधिरूपता अलग नहीं होती है। इस प्रकार विधि अर्थात् भावरूप जो अन्तःकरण का सम्बन्ध, और प्रतिषेध अर्थात् अन्तःकरण का न होना रूप अभाव; दोनों ही उपाधियाँ हैं।। ८६।।

भाव-अभाव दोनों तरह की उपाधि स्वयं भाष्यकार ने वाक्यवृत्ति में (श्लो. २८) कही है यह दिखाते हैं—

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद् विधिमुखेन च।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद् द्विधेत्याचार्यभाषितम्।। ८७।।

आचार्य का कथन है कि वेदान्त-वाक्य दो तरह तत्त्वप्रतिपादन करते हैं—अतत् के निषेध के रूप में और सीधे विधान के रूप में।

आचार्य ने वाक्यवृत्ति में ही यह भी बताया है। वेदान्त अर्थात् उपनिषदें दो प्रकार से प्रवृत्त होती हैं। पूर्व श्लोक में कहा ही था कि जैसे विधि उपाधि है अर्थात् किसी चीज़ का भाव कुछ व्यावृत्त करके बतला देता है, वैसे ही प्रतिषेध अर्थात् निषेध, अभाव भी व्यावृत्त करके बता देता है। ये दोनों प्रकार वाक्यवृत्ति में भी कहे गये हैं। ब्रह्म को विधिमुख से भी वेद बतलाता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'। विधिमुख अर्थात् ब्रह्म क्या है—यह भी बतलाता है। सत्यम् आदि वचन ब्रह्म जैसा है वैसा उसको उद्घाटित करते हैं, प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार से भी श्रुति कहती है और ब्रह्म क्या नहीं है—यह बताकर भी अर्थात् निषेधमुख से भी कहती है। 'नेति नेति, अशब्दम् अर्स्पशम् अरूपम् अरसम् अगन्धम्' आदि निषेधों से ब्रह्म बताया जाता है। निषेध से पता चल जाता है कि ये चीज़ें उसमें नहीं हैं। जैसे ब्रह्म का ज्ञान सत्य-ज्ञान-आनन्द-रूप से कराया जाता है वैसे ही 'ब्रह्म रूप-रस-गन्ध-स्पर्श वाला नहीं है'—यों 'नहीं है' के द्वारा भी कराया जाता है। 'अतद्व्यावृत्तिरूपेण'—जो तत् नहीं है वह अतत्। तत् मायने ब्रह्म। अतत् मायने अब्रह्म, नाम-रूपात्मक जगत्। उसकी व्यावृत्ति अर्थात् निषेध। इस तरह भी ब्रह्म कहा जाता है। यों बताने पर अभाव उपाधि ही है क्योंकि 'नाम-रूप वाला न होना' रूप अभाव ब्रह्म को व्यावृत्त

रूप से बताता है रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि वाले पदार्थों से अलग करके ब्रह्म को बतला देता है।

प्रायः करके जो उपासक सम्प्रदाय हैं वे अतद्व्यावृत्ति से बहुत घबराते हैं! इसलिए जब श्रुति स्पष्ट कहती है कि उसमें रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं हैं तो उसका मतलब करते हैं कि ब्रह्म में लौकिक रूपादि नहीं हैं, रूप तो है। वैकुण्ठ में जाएँगे तो वहाँ साँवले ही विष्णु भगवान् का दर्शन होगा, गोरे का तो होगा नहीं! परन्तु वह *दिव्य* साँवलापन है। इसी प्रकार वहाँ बढ़िया प्रसाद खाने को मिलेगा लेकिन वह दिव्य स्वाद होगा, यहाँ का स्वाद नहीं। श्रुति ने ऐसा कुछ नहीं कहा है। श्रुति तो सीधा कहती है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श उसमें नहीं हैं। जैसे हम लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' आदि के अन्दर सत्य का जो लौकिक अर्थ है वैसा ब्रह्म में नहीं मानते वैसे वे निषेध से लौकिक का निषेध करते हैं, सर्वथा निषेध नहीं। हम लोगों को निषेधमुख वाक्यों के अन्दर कुछ घटा-बढ़ी करने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

अतद्व्यावृत्ति एक तरीका है, दूसरा है 'साक्षाद् विधिमुखेन च'। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इत्यादि में साक्षात् विधिमुख से बताते हैं कि वह ऐसा ही है। साक्षात् अर्थात् उसे बतलाने वाले शब्द का प्रयोग करके। 'साक्षात्' इस तरह समझना चाहिए कि जिसने उन वाक्यों का ठीक प्रकार से अर्थ करना समझ लिया है उसके लिए सीधा है। जिसने वेदान्तों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं समझा है उसे काफी विचार से विधिमुख का अर्थ प्रतीति होगा। शब्दों के अर्थ के बारे में काफी विचार ज़रूरी होता है। 'घड़ा' प्रत्येक घट को भी कहते हैं, यों अनन्त घट घड़ा-शब्द का अर्थ हैं। घटत्व जाति को भी घड़ा कहते हैं। घकारपूर्वक डाकार यह शब्द भी घड़ा कहलाता है जैसे जब कहते हैं 'घड़ा लिखो' तब शब्द से मतलब है। कहाँ क्या अभिप्राय है यह विचार से ही निर्णय करना लोकव्यवहार में भी आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्र ने कहा कि ब्रह्म ज्ञानरूप है। जिसको साधारणतः ज्ञान कहते हैं वह बुद्धिवृत्ति है। अथवा, अज्ञान-निवृत्ति को भी ज्ञान कहते हैं। ब्रह्म वृत्तिरूप या अज्ञानध्वंसरूप तो है नहीं। स्वरूपतः आवरणविरोधी वस्तु—इस तात्पर्य से ब्रह्म को ज्ञान कहते हैं। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, ब्रह्म में स्वरूपतः कभी आवरण नहीं। जो आवरण-विक्षेप की प्रतीति हो रही है। वह सब माया का कार्य है। सचमुच में ब्रह्म का आवरण होता नहीं, नित्य अनावृत है। जैसे सूर्य को बादल ढाँक देता है ऐसा साधारण आदमी कहते हैं जबकि अतिविस्तृत सूर्य को छोटे-से बादल ढाँक सकते नहीं, आखिर बादल आदि भी सूर्य की रोशनी से ही दीखते हैं! इसी प्रकार अज्ञान कभी भी ब्रह्म को ढाँकता नहीं है, ढाँक सकता ही नहीं। 'मैं अज्ञानी हूँ, मैं नहीं जानता' इस बात को तुम जान रहे हो या नहीं जान रहे हो? 'मैं नहीं जानता'—इस बात को जान रहे हो, इसका मतलब है कि तुम्हारा 'जानना' ढाँका तो नहीं गया। बल्कि तुमने जाना, तब प्रकाशित हुआ कि 'नहीं जानते'। जो ज्ञान कभी नहीं ढँकता, हमेशा प्रकाशरूप बना रहता है, यह ब्रह्म का स्वरूप है। बुद्धिवृत्तिरूप जानना ब्रह्मरूप नहीं

है, जो कभी नहीं ढाँका जाता वह ब्रह्मरूप है—यह विचार से पता लगता है। इसलिए कहा कि साक्षाद् विधिमुख से भी शास्त्र ब्रह्म को बताते हैं।। ८७।।

केवल अतत् की व्यावृत्ति से ही शास्त्र बताये तो महावाक्यार्थ से बोध कैसे? यह प्रश्नोत्तर से स्पष्ट समझाते हैं—

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः।।८८।।

'मैं'—शब्दार्थ छोड़ने से 'मैं ब्रह्म' ज्ञान कैसे होगा? यों आक्षेप ठीक नहीं क्योंकि बता चुके हैं कि भागलक्षणा से एक हिस्सा ही छोड़ा जाता है (समूचा नहीं)।

वेदान्त, जो नहीं है उसे हटाने के द्वारा ही बतलाता हो, प्रतिषेध-मुख से ही कहे तो 'अहम् ब्रह्म' का मतलब होगा 'अहम् नहीं, ब्रह्म है' अर्थात् अहम् को छोड़ दो तब ब्रह्म है। अगर अहम् अर्थ को छोड़ दिया—'मैं' नहीं रहा—तो महावाक्य से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बुद्धि कैसे होगी? ब्रह्म है—यही पता चलना चाहिए। इस शंका के समाधान के लिए कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। क्यों? हमने पहले ही कहा कि भागलक्षणा से किसी हिस्से को ही छोड़ा जाता है, बाकी हिस्सा रह जाता है। 'मैं' शब्द का जो अर्थ उसके अन्दर वृत्ति भी है ज्ञान भी, इनमें वृत्ति ही छोड़ते हैं, ज्ञान रहता ही है। घड़े में आकाश (पोल), उस आकाश में पानी है। घड़े में पानी भरें तो पानी कहाँ रहता है? जो जगह है उसी में रहता है। आरस का ठोस घड़ा बना लो तो उसमें पानी नहीं भरा जाएगा। अगर घड़े की दीवारों को दो इंच मोटा कर दो तो उसमें कम पानी भरा जाएगा। एक सूत मोटी दीवार बनाओ तो ज़्यादा पानी भरा जाएगा। घड़ा उतना ही बड़ा है फिर फरक किसमें पड़ा? घड़े के अन्दर जो पोल, खाली जगह है, उसका फरक पड़ा। मोटी दीवार कर दी तो उसमें आकाश, जगह ही कम हुई, घड़ा तो उतना का उतना रहा! घट में आकाश, उस आकाश में पानी और उस पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब दीखता है।

इसी प्रकार बुद्धि के अन्दर चेतन का जो प्रतिबिम्ब पड़ा वह चिदाभास है। जब तुम अहम् शब्द कहते हो तो इन सब चीज़ों को लेकर के कहते हो—शरीर, कूटस्थ, बुद्धि और चिदाभास; सबको लेकर कहते हो 'मैं'! गहरी नींद में चले जाते हो तो बुद्धि नहीं रहती, चिदाभास का भान नहीं रहता है। जब 'मैं ब्रह्म' कहते हैं तब बुद्धि और चिदाभास—इन अंशों को छोड़ देते हैं और कूटस्थ अंश को रख लेते है। जैसे कहें कि 'घटाकाश और महाकाश—दोनों में भेद नहीं है' तो घटाकाश का घट-हिस्सा ही छोड़ा जाता है, आकाश-हिस्सा नहीं वैसे 'मैं' के अर्थ के अंतर्गत अहंकारात्मिका वृत्ति और उसमें पड़ने वाला चिदाभास, इन्हें समझा जाता है कि ब्रह्म नहीं है; पर कूटस्थ तो ब्रह्मरूप है ही। 'अहम् ब्रह्म' बोध में अहम् का मतलब कूटस्थ वाला हिस्सा है। इसलिए भागलक्षणा का ही प्रयोग स्वीकार है, त्यागलक्षणा का नहीं। अहंकारात्मिका वृत्ति और उसमें पड़े हुए चिदाभास हिस्से को हटा कर

कूटस्थ को ब्रह्म समझा जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि में भी ऐसा नहीं कि जीवभाग छोड़कर ब्रह्मभाग रखा जाये वरन् जीव-ब्रह्म दोनों में जो उपाधिभाग उन्हें छोड़कर चेतन भाग रखा जाता है यह तात्पर्य है।। ८८।।

एक हिस्सा छोड़कर ज्ञान कैसे होता है यह बताते हैं—

अन्तःकरणसन्त्यागादवशिष्टे चिदात्मनि।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते।।८९।।

अन्तःकरण को छोड़ने से बचे चिदात्मारूप साक्षी में 'अहं ब्रह्म' इस वाक्य से ब्रह्मरूपता अनुभव की जाती है।

वाक्यार्थबोध के लिए तुमको अहम् पदार्थ का श्रुति-युक्ति से निश्चय पहले कर लेना पड़ेगा। इसी को पदार्थ-शोधन कहते हैं। पदार्थ-शोधन का मतलब है कि जिन चीज़ों का ब्रह्मज्ञान में अन्वय नहीं रहेगा—उन हिस्सों को अलग करके जो रहेगा उसे जानना। यहाँ त्याग का मतलब 'वह ऐसा नहीं है'—यह समझना; किसी चीज़ को उठाकर फैंक देना त्याग नहीं है! अनेक चीज़ों का त्याग इसी प्रकार से लोक में भी प्रसिद्ध है : कहते हैं 'हमने आसक्ति का त्याग किया।' आसक्ति को कहाँ फैंका! फैंका कुछ नहीं है, तुमने जान लिया कि इन सबके साथ मेरा प्रेम नहीं है; इसी का नाम यहाँ त्याग है। इसी प्रकार पदार्थ-शोधन का मतलब है कि पदार्थ में उपाधि और आत्मा—दोनों चीज़ों को अलग करके जान लो। अन्तःकरण का सम्यक् त्याग करना पड़ता है। सम्यक् त्याग का मतलब है उसके साथ अपना कोई भी वास्तविक संबंध न रखना। अध्यास को अध्यास-रूप से समझ कर संबंध रखते हो तो वह कभी भी बंधक नहीं होता। जिस प्रकार, कोई नौकर अच्छा काम करता है तो तुम कहते हो 'बेटा, इधर आ। बेटा, एक गिलास पानी ले आ।' परन्तु कल वह कोई ग़लत काम करे तो उसे निकालने में देरी नहीं करते हो! कोई कहे—'अरे, तुम कल तक बेटा कहते थे, आज निकाल दिया!' तो उसे समझाओगे कि बेटा कहते थे पर जानते थे कि बेटा है नहीं। जो तुम्हारे पेट से पैदा हुआ है उसे भी बेटा ही कहते हो। वह ग़लत काम करे तो दुःखी होते रहते हो, उसको घर से निकालते नहीं हो। क्यों? उसको बेटा कहते हुए जानते हो कि बेटा है। इसी प्रकार, शोधन के बाद अन्तःकरण की *प्रतीति* नहीं रहेगी ऐसा नहीं कह रहे हैं; अन्तःकरण की प्रतीति रहेगी परन्तु अब हम जानेंगे कि यह सचमुच में हमारा अन्तःकरण है नहीं। हमें ही दीखता है—इतनी बात तो ठीक है। अतः अब अन्तःकरण कोई दुःख देने का काम करता है तो *हम* उससे दुःखी नहीं होते। जब अन्तःकरण को छोड़ दिया, बुद्धि को छोड़ दिया तब चिद्रूप कूटस्थ बच गया। जो बचा वह चिदात्मा है। जब वेद कहता है 'अहम् ब्रह्म' तब उपाधि को छोड़ने के बाद जो बच गया वह चिदात्मा ब्रह्म है यह तात्पर्य है। अन्तःकरण को छोड़ने के बाद जो साक्षी रहा उसकी ब्रह्मता वेदवाक्य से स्पष्ट हो जाती है।

यहाँ प्रकरण साक्षी का है इसलिए इतना ही कहा है। परन्तु जैसे अहम् का शोधन है वैसे ही ब्रह्म का शोधन भी समझ लेना। ब्रह्म कौन है? सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला। जब सृष्टि करता है तब स्थिति नहीं करता, स्थिति करता है तब लय नहीं करता। इसलिए सृष्टि काल में, स्थिति काल में, लय काल में—यों तीन ब्रह्म होंगे इत्यादि कल्पना संभव है। उन सबका विचार करने से पता लग जाता है कि सृष्टि स्थिति संहार करना केवल अज्ञान के कारण उसमें प्रतीत होते हैं, उसका स्वरूप नहीं हैं। जैसे अहंकार को हटाने के बाद साक्षी बचा वैसे ही माया को हटाने के बाद चेतन ही बचता है। इस तरह तत्पदार्थ का भी शोधन करना पड़ता है। तब साक्षी की ब्रह्मता स्पष्ट प्रतीत होती है। ब्रह्मता मतलब व्यापक, अद्वितीय चिद्रूपता, आत्मरूपता।

जब तुमने अहंकार को हटाया और बचा हुआ साक्षी है ही तो फिर 'अहम् ब्रह्म'—इस महावाक्य के उपदेश की ज़रूरत क्या है? बुद्धि को हटाने के बाद जो बचा वह ब्रह्म ही है तो महावाक्य की जरूरत नहीं होनी चाहिये। लेकिन ज़रूरत इसलिए है कि केवल साक्षिरूपता तो सांख्यप्रोक्त विवेक से भी रह जाती है। परन्तु वह समझता है कि सृष्टि को प्रकट करने वाली प्रकृति अलग है इसलिए उसको अद्वैत का ज्ञान नहीं होता। अद्वैत का ज्ञान होने के लिए जानना पड़ेगा कि सृष्टि स्थिति लय आदि सब चीज़ें जहाँ प्रतीत हो रही हैं, वह मैं हूँ। यह ब्रह्मज्ञान है, यही मोक्ष का कारण बताया गया है। सृष्टि-स्थिति-लय-कारणता ब्रह्म में दीखती है इसलिए ब्रह्म-पदार्थ का शोधन भी उतना ही जरूरी है।। ८६।।

साक्षी की ब्रह्मरूपता कहाँ प्रकट होती है? बुद्धिवृत्ति में प्रकट होती है। अखण्डवृत्ति में ब्रह्म प्रकट होता है। जिस प्रकार मुख प्रकट होता है, पर कहाँ? काँच में प्रकट होता है। इसी प्रकार अखण्डाकार वृत्ति में ब्रह्म प्रकट होता है। अज्ञान से ही बंधन है पर बन्धन का रूप तुम्हारा निश्चय ही है। तुम्हारी बुद्धिवृत्ति ही है कि 'मैं जन्मने-मरने वाला हूँ, कर्त्ता-भोक्ता हूँ'। करने में तरह-तरह की रुकावटें हैं, भोगने में भी तरह-तरह की रुकावटें हैं, इसलिए मैं परतन्त्र हूँ—यह भी निश्चय ही है। बुद्धिवृत्ति से ही परतंत्रतारूप बंधन जानते हो। गहरी नींद में न जानते हो 'मैं कर्त्ता हूँ', न जानते हो, 'मैं भोक्ता हूँ', न जानते हो 'मैं बँधा हुआ हूँ'। बुद्धिवृत्ति में ही तुम अपने को बद्ध जानते हो। अतः बुद्धिवृत्ति में ही तुम्हें अपने को मुक्त जानना है। जैसे तुम्हारा निश्चय है—'मैं बद्ध हूँ' वैसे ही तुम्हारा निश्चय होना है कि 'मैं मुक्त हूँ'। इसीलिए बुद्धिवृत्ति की जरूरत है। ब्रह्म को तुम्हारी बुद्धिवृत्ति की ज़रूरत नहीं है! वह तो स्वप्रकाश है, ज्ञानरूप है, तुम नहीं जानते हो तब भी वह ज्ञानरूप ही है। परन्तु यदि तुम्हारी बुद्धिवृत्ति ब्रह्माकार नहीं बनी तो तुम्हारा बन्धन निवृत्त नहीं हो सकता। ब्रह्म नित्यमुक्त है। बन्धन तो उसका है जिसकी कर्ता आदि आकार की बुद्धिवृत्ति है। अतः जैसे बन्धन के लिए बृद्धिवृत्ति जरूरी, ऐसे मोक्ष के लिए भी बुद्धिवृत्ति ही ज़रूरी। इसे व्यक्त करते हैं—

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।।९० ।।

स्वप्रकाश भी साक्षी बुद्धिवृत्ति से वैसे ही व्याप्त होता है जैसे अन्य चीज़ें। शास्त्रकारों ने साक्षी की फलव्याप्ति का ही निषेध किया है।

साक्षी को ब्रह्मरूप कहा इसलिए कि उसको किसी के प्रकाश की ज़रूरत नहीं है। फिर भी साक्षी ही बुद्धिवृत्ति के द्वारा व्याप्त होता है। जैसे घड़े को देखने के लिए बुद्धिवृत्ति घड़े को व्याप्त करके घड़े का आकार लेती है ठीक इसी प्रकार साक्षी-ब्रह्म को देखने के लिए बुद्धि साक्षी-ब्रह्म का आकार लेती है। अर्थात् बुद्धिवृत्ति ब्रह्माकार बनानी पड़ती है। इस तरह बुद्धि से तो व्याप्त होता है परन्तु फल अर्थात् चेतन उसे विषय नहीं करता। साक्षी को किसी और चेतन ने जाना—ऐसा नहीं। साक्षी खुद ही अपने आपको प्रकाशित करता है जैसे दीपक देखने के लिए अन्य रोशनी की ज़रूरत नहीं होती है। शास्त्रवेत्ता कहते हैं कि ब्रह्म नहीं जाना जाता तो उनका मतलब है कि ब्रह्म को *ज्ञान* की ज़रूरत नहीं है जिससे वह प्रकाशित होवे। उनका मतलब यह नहीं है कि बुद्धिवृत्ति भी बनाने की ज़रूरत नहीं है। बहुत से लोग पूछते हैं—ब्रह्म स्वप्रकाश है तो आप लोगों को उसके बोध के लिए इतना सब प्रयत्न करने की क्या ज़रूरत है? कुछ लोग और सूक्ष्म विचार करने वाले होते हैं, कहते हैं कि जब समाधि लगाएँगे तब, समाधि काल में, ब्रह्म क्योंकि स्वप्रकाश है इसलिए ब्रह्मज्ञान हो जाएगा। वे ऐसा समझते हैं कि निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मज्ञान हो जाता होगा। निर्विकल्प समाधि के अन्दर चित्तवृत्ति तो रहेगी नहीं, क्योंकि समाधि का लक्षण ही किया है—चित्तवृत्ति का न रहना। समाधि में चित्तवृत्ति रहेगी नहीं तो बुद्धि ब्रह्म को जानेगी नहीं। उस समय ब्रह्म से एकता तो हो जाएगी—और इतना ही पतञ्जलि ने कहा भी है 'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्'—परन्तु ब्रह्मज्ञान नहीं होगा क्योंकि बुद्धि को तुमने पहले ही बन्द कर दिया। जैसे स्वप्रकाश दीपक भी आँख वाले को दीखता है, अंधे को नहीं इसी प्रकार से निर्विकल्प समाधि में बुद्धि को हटा लोगे तो वहाँ ब्रह्म स्वप्रकाश है भी पर ज्ञान करने वाली बुद्धि रही नहीं तो ब्रह्मज्ञान नहीं होगा।

वेदान्त-साधना में कठिनाई ही यह है कि बुद्धि रहते हुए हमें बुद्धि से रहित होना है। बुद्धि का काम है ब्रह्मज्ञान, बुद्धि की वृत्ति वह काम करेगी, तब हमें ज्ञान भी हो जाएगा। हम अपने स्वरूप में स्थित तो हमेशा से हैं! दुश्मन के रहते हमें उसे जीतना है। दुश्मन को मारकर जीतना योगी करता है। बुद्धि के, अहंकार के कारण ही सारी झंझटें हैं, उसे बन्द कर दो, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', तो झंझट खत्म—यह योगी कहता है। अधिकतर यही सोचते हैं कि मन न रहे तो हम ठीक हो जाएँ क्योंकि उसके कारण ही ये सब झंझटें हैं। परन्तु वेदान्त कहता है कि मन तो सुषुप्ति में रोज़ ही नहीं रहता लेकिन फिर जैसे ही प्रारब्ध को फल देना होता है, तुम्हें जगा देता है। इसी प्रकार तुम निर्विकल्प समाधि में साठ हज़ार

साल भी रह जाओ, उसके बाद जब भी प्रारब्ध फलोन्मुख होगा तब तुम्हें वैसी ही बन्धन की प्रतीति हो जाएगी। ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं होता यही मान्य है, वृत्तिविषय तो होता ही है। मैं ही ब्रह्म हूँ—इस प्रकार से उसे जान सकते हो।। ९०।।

जीव के स्वरूप में चार चीज़ें हैं—शरीर, शरीर में रहने वाला कूटस्थ आत्मा, उसके अन्दर अध्यस्तरूप से रहने वाली बुद्धि (अहंकारात्मिका वृत्ति), उस बुद्धि में ब्रह्म का प्रकाश। ये चार चीज़ें मिलकर इनका नाम जीव है। व्यापक ब्रह्म के अन्दर शरीर है तो शरीर के अन्दर जो ब्रह्म का हिस्सा है उसे कूटस्थ कह दिया। कूटस्थ ही ब्रह्म है। उसमें कल्पित है बुद्धि और बुद्धि की जो अहंकारात्मिका वृत्ति, उसमें चिदाभास है। आभास का मतलब है—जो चीज़ वैसी होवे नहीं, पर वैसी लगे। हमें अनुभव होता है—मैं चेतन हूँ। मैं तो चेतन है नहीं! चेतन है जिसके प्रकाश के कारण मैं चेतन लग रहा हूँ। मैं को चिदाभास कहते हैं, चित् की तरह लगता है, चित् है नहीं। आजकल सड़कों पर निर्देश चिह्नित करने के लिए विशेष प्रकार के रंग का प्रयोग करते हैं जिस पर रोशनी पड़े तो वह चमकता है, रोशनी की तरह दीखता है पर उसमें रोशनी होती नहीं। इसी प्रकार परमात्मा के प्रकाश से, चेतन-भाव से मैं चेतन की तरह चमक रहा है। दीख तो रहा है कि 'मैं चेतन हूँ' पर ऐसा प्रतीत हो रहा है ब्रह्म के कारण। अब जब पता लग जाता है कि बुद्धि और चिदाभास तो ब्रह्मरूप, चेतनरूप हैं नहीं तब बुद्धि और उसमें होने वाला चिदाभास छूट कर बचा कूटस्थ, जो ब्रह्म ही है। 'अहम् ब्रह्म' कहते हैं तो बुद्धि और चिदाभास को छोड़कर जो बचा उस कूटस्थ को ब्रह्म कहते हैं। जीव पदार्थ का सर्वथा त्याग नहीं हुआ केवल मैं-भाव का त्याग हुआ, कूटस्थ भाग रख लिया गया, उसे ब्रह्म जाना। ब्रह्मज्ञान में फलव्याप्ति नहीं, जहाँ अनात्मा में है वहाँ की व्यवस्था समझाते हैं—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।। ९१।।

बुद्धि और उसमें स्थित चिदाभास, दोनों घटादि विषय को व्याप्त करते हैं। इनमें से बुद्धि द्वारा अज्ञान नष्ट होता है तथा आभास से घट का स्फुरण होता है।

बुद्धि और 'तत्स्थ' मायने बुद्धिस्थ, बुद्धिवृत्ति के अन्दर स्थित चिदाभास। घट का ज्ञान होता है तो बुद्धि की वृत्ति आँख के द्वारा चल कर घड़े पर पहुँचती है। बुद्धि, अन्तःकरण, मन विषय-सम्पर्क से विषयाकार धारण कर लेता है जैसे पानी जैसे खेत या बर्तन में पहुँचता है वैसा आकार ग्रहण कर लेता है। इसलिए बुद्धि जब पड़ती है घड़े के ऊपर तो घड़े के आकार की हो जाती है। मन आँख के द्वारा घड़े पर पहुँचा और उसने जाकर घड़े का आकार ले लिया। बुद्धि जहाँ होगी वहाँ चिदाभास पड़ेगा। बुद्धि ने जब घड़े का आकार लिया तो उसके अन्दर भी चिदाभास पड़ा। जिस शकल की बुद्धि हुई उसी शकल का चिदाभास भी दीखेगा। रोशनी पड़ने पर चमकने वाले रंग से तीर बना हो, उस पर प्रकाश पड़े तो बाण

के आकार का ही हो जायेगा, अगर वहाँ कोई और आकार है तो प्रकाश उसी आकार का दीखेगा। इसी प्रकार जब मन घड़े के आकार का हुआ तो उसमें जो ज्ञान का प्रकाश पड़ा वह भी घड़े के आकार का होगा। बुद्धि और बुद्धि के अन्दर पड़ने वाला चिदाभास—ये दोनों ही घड़े को व्याप्त कर लेते हैं। जैसे पानी घड़े पर पड़ता है तो घड़े को व्याप्त कर लेता है, घड़े के आकार का हो जाता है वैसे बुद्धि और आभास उसे घेर लेते हैं।

घड़े के ऊपर दो चीज़ें पहुँची—एक बुद्धिवृत्ति और दूसरा, चिदाभास। बुद्धिवृत्ति जब घड़े के आकार की हुई तो घड़े का अज्ञान नष्ट होगा। बुद्धि का स्वभाव है कि जिसे व्याप्त करे उसका अज्ञान नष्ट हो जाए। जैसे पानी जिस चीज़ पर पड़ेगा वह पदार्थ गीला हो जाएगा यह पानी का स्वभाव है इसी प्रकार जिसके ऊपर बुद्धि पड़ती है उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञाननाश तो बुद्धिवृत्ति ने किया। घड़े का अज्ञान ही नष्ट नहीं होता है, घड़े का ज्ञान भी होता है। जो चिदाभास पड़ा घटाकार वृत्ति में—उससे घड़े का प्रकाश हो गया, घड़े का स्फुरण हो गया, घड़े की प्रतीति हो गई। दोनों चीज़ों की ज़रूरत है। बुद्धिवृत्ति प्रमाण है जो जड होने से अज्ञान को तो नष्ट कर देती है; अज्ञान भी जड है, बुद्धिवृत्ति भी जड है; परन्तु ज्ञान चिदाभास से ही होगा। इसलिए अनुभव होता है 'मैंने घड़े को जाना।' आगे पूछो, 'कैसे जाना?' तब कहेगा 'आँख के द्वारा मन ने जाकर जाना।' मन के द्वारा जाना। मन वहाँ कैसे पहुँचा? आँख के द्वारा पहुँचा। परन्तु मैंने जाना—यह चिदाभास को लेकर अनुभव है। इस तरह विषय जड हो तो वृत्ति और आभास-दोनों की ज़रूरत है।। ९१।।

जड, अप्रकाशरूप विषय जानने के लिए आभासरूप प्रकाश चाहिए, चेतन, प्रकाशरूप को जानने के लिए नहीं। घड़े से ढँका सेब देखना हो तो घड़ा फोड़ना भी पड़ता है, दिया जलाना भी पड़ता है किंतु घड़े से ढँका दीपक देखना हो तो घड़ा फोड़ना ही पर्याप्त है, नया दीपक नहीं जलाना पड़ता! ऐसे ही जड को चित्प्रकाश से देखना पड़ता है, स्वयं चेतन के लिए यह ज़रूरी नहीं। यही स्पष्ट करते हैं—

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते।। ९२।।

ब्रह्म में स्थित अज्ञान के नाश के लिए वृत्ति द्वारा उसे घेरना आवश्यक है किंतु ब्रह्म स्वयं ही ज्ञानरूप होने से (उसे जानने के लिए) चिदाभास का कोई उपयोग नहीं।

ब्रह्म के ऊपर भी अज्ञान रूपी घड़ा पड़ा हुआ है। ब्रह्म के अज्ञान के नाश के लिए बुद्धिवृत्तिरूप डण्डा तो चाहिए इसलिए कहा कि ब्रह्म के ऊपर जो अज्ञान पड़ा हुआ है उसे नष्ट करने के लिए 'वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता', तुम्हारी बुद्धि की वृत्ति जाकर उस अज्ञान को फोड़े—यह ज़रूरी है। इसी को वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। लेकिन जैसे ही अज्ञान नष्ट हुआ, ब्रह्म खुद ज्ञानरूप है, इसलिए उसके ज्ञान के लिए अब चिदाभास की ज़रूरत नहीं है। वह स्वयं

ही स्फुरणरूप है, ज्ञानरूप है इसलिए वहाँ चिदाभास का कोई उपयोग नहीं है। 'उपयुज्यते' के द्वारा कहा कि जहाँ भी बुद्धिवृत्ति होती है वहाँ स्वभाव से ही उसमें चिदाभास होता है लेकिन उसका ब्रह्मज्ञान में कोई उपयोग नहीं है, होते हुए भी आभास किसी काम का नहीं है। जैसे सवेरे खूब घनी धुन्ध हो, तो बगीचे में कोई चीज़ उठाने के लिए टॉर्च जलानी पड़ती है। धुन्ध खत्म हो गई, सूर्य ऊपर आ गया, अब अगर तुम्हारी टॉर्च जली हुई भी है तो उसका कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार जहाँ बुद्धि होगी वहाँ चिदाभास पड़ेगा लेकिन उसका ब्रह्मज्ञान में कोई उपयोग नहीं है।। ९२।।

उदाहरण से इसे समझाते हैं–

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते।। ९३।।

घड़े आदि को देखने के लिए जैसे चक्षु एवं दीपक दोनों चाहिए वैसे दीपक देखने के लिए दोनों नहीं, केवल चक्षु ही चाहिए।

घड़े को देखने के लिए आँखें भी चाहिए और दीया भी चाहिए। अन्धे आदमी को भी नहीं दीख सकता और बिना दीये के भी नहीं दीख सकता। दीया जलता हो और तुम्हारी आँखें ठीक हों, तब घड़ा दीखेगा। पर दीये को देखने के लिए सिर्फ आँखें ही चाहिए, दूसरा दीया नहीं चाहिए। इसी प्रकार संसार की सब चीज़ों को देखने के लिए बुद्धिवृत्ति भी चाहिए और चिदाभास भी चाहिए पर ब्रह्म को जानने के लिए बुद्धिवृत्ति तो चाहिए, चिदाभास की कोई ज़रूरत नहीं है।।९३।।

स्वभावतः बुद्धि साभास भले ही हो, इस सन्दर्भ में आभास निष्प्रभावी रहता है यह तात्पर्य व्यक्त करते हैं–

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम्।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत्।। ९४।।

वृत्ति में स्थित भी चिदाभास ब्रह्म से एकमेक हो जाता है, ब्रह्म से अलग नहीं भासता। जैसे घड़े आदि के बारे में आभास ज्ञानरूप प्रभाव प्रकट करता है वैसे ब्रह्म में कोई वैशिष्ट्य नहीं लाता।

उपयोग हो या नहीं हो, चिदाभास तो वहाँ है ही क्योंकि बुद्धि स्वभावतः ही आत्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है। बुद्धिवृत्ति में चिदाभास पड़ना ही फल है। ब्रह्मज्ञान में भी फल मानने में हरज़ा क्या है? उत्तर है कि फल तब *होता* है जब कोई काम करे। जो कोई काम नहीं करता है, वह बैठा हुआ भी गिनती में नहीं आता! बैंकों के अन्दर नहीं काम करने के योग्य लोगों को सर्वसमर्थ सरकार ने जबरदस्ती अधिकार दे दिया कि इन्हें नौकरी मिलेगी, कुर्सी मिलेगी, काम ये कुछ करेंगे नहीं! बैंक की एक शाखा में छह आदमी काम करेंगे–यह

भी सरकार ने नियम बनाया। उसका मतलब है काम करने वाले छह आदमी होंगे। किंतु दो आदमी सरकार ने वे बैठाए जो काम नहीं करने वाले हैं! अतः काम करने वाले हैं चार ही तो काम पूरा होना मुश्किल होता है। जैसे वे आदमी कुर्सी पर बैठे हुए, तन्ख्वाह लेते हुए भी नहीं जैसे ही हैं क्योंकि काम तो करते नहीं हैं, इसी प्रकार बुद्धिवृत्ति जब ब्रह्माकार बनती है तब उसमें चिदाभास की रोशनी तो पड़ती है परन्तु वह चिदाभास की रोशनी तो मानो पाँच नम्बर का लट्टू है और ब्रह्म सूर्य की तरह अनन्त नम्बर वाला है! उसके सामने आभास काम कुछ कर ही नहीं सकता। पाँच नम्बर का लट्टू सूर्य के प्रकाश के अन्दर क्या अतिशय करेगा? कुछ नहीं करेगा। जलता छूट गया है तो जलेगा पर काम कुछ नहीं कर सकता। बुद्धि होने के कारण उसके अन्दर चिदाभास पड़ता है परन्तु ब्रह्म से एकीभूत होता है। जैसे पाँच नम्बर के लट्टू की रोशनी सूर्य की रोशनी से एक हो जाती है, अतिशय कुछ कर नहीं पाती वैसे आभास ब्रह्म में किसी अतिशय अर्थात् किसी विशेषता का आपादन नहीं करता। घट को प्रकाशित करने के लिए तो जड बुद्धि चेतन की तरह जगमगा जाती है परन्तु यहाँ ब्रह्म का प्रकाश मौजूद है इसलिए बुद्धि के मार्फ़त चेतन का प्रकाश पड़ने की कोई ज़रूरत ही नहीं है। इसलिए कोई फल नहीं है। चिदाभास को पारिभाषिक फल कह दो तो भी वह अनुभूयमान कुछ फल पैदा कर रहा हो—ऐसा नहीं है। इसलिए कहा कि ब्रह्म से एक हो जाता है।। ९४।।

प्रश्न उठता है कि यह तो अद्वैत सिद्ध करने के लिए तरीका निकाला कि ब्रह्मज्ञान में फलव्याप्ति नहीं। फल मायने चिदाभास अर्थात् अहमर्थ, जीव। घट आदि को मैं जानता हूँ, ब्रह्म को मैं नहीं जानता क्योंकि मैं रहता नहीं, वह स्वयं जानता है—यह फलव्याप्ति के निषेध का तात्पर्य हुआ। इस तरह जीव-ब्रह्म के भेद को स्थान न मिले इसके लिए बनायी व्यवस्था होगी, इसमें प्रमाण क्या है? सर्वत्र फलव्याप्ति रहते एक ब्रह्म में ही न मानी जाये इसके लिए कोई प्रमाण चाहिए।

अतः बताते हैं कि यह हमारी कपोल-कल्पना नहीं है, वेद ही इस बात को कहता है। वेद के अन्दर दो प्रकार के वाक्य मिलते हैं—कहीं मिलता है कि ब्रह्म मन से परे है, मन वहाँ पहुँच नहीं सकता। और ऐसे वाक्य भी मिलते हैं कि मन से ही परमात्मा को जाना जाता है। दोनों प्रकार के वाक्य मिलते हैं। दोनों प्रकार के वाक्यों से पता लगता है कि मन की ज़रूरत है भी और नहीं भी है। इससे स्पष्ट है कि मन के दो कामों में से किसी की ज़रूरत है, किसी की ज़रूरत नहीं है। उस भेद को ही खोलकर वृत्ति-फल के विभाजन से बतला रहे हैं। वेदवचन ही सूचित करते हैं—

अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम्।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्तता श्रुता।। ९५।।

वह अप्रमेय और अनादि है—इस स्थल पर वेद ने फलव्याप्ति का निषेध कहा है। मन से ही यह पाने योग्य है—यों वृत्तिव्याप्ति वेद में सुनी जाती है।

वेद ने यह स्पष्ट कहा है कि परमेश्वर अप्रमेय है, बुद्धि के द्वारा जानने योग्य नहीं है। अमृतबिन्दु (मं.९) की श्रुति ने कहा है

'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।
अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः।।'

श्रुति ने बताया कि परमात्मा कैसा है—उसमें किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं है। बुद्धि कैसे जानती है? मन किसी चीज़ को देखकर, सुनकर, सूंघकर, संकल्प और विकल्प करता है। ये काम बड़ी जल्दी होते हैं इसलिए हम लोगों को पकड़ में नहीं आते। जैसे ही हमें कोई चीज़ दीखी, उस चीज़ की चाँदी से भी समानता है क्योंकि सफेद चमक वाली चीज़ है और सिगरेट लपेटने वाली चमकीली पन्नी से भी समानता है अतः मन के अन्दर दोनों विकल्प उठते हैं—यह चाँदी है कि पन्नी है? फिर उसमें किसी निश्चित चिह्न को देखकर बुद्धि निश्चय कर लेती है कि सिगरेट की पन्नी ही है क्योंकि तेज़ हवा के अन्दर थोड़ा हिल रही है, चाँदी भारी होती है, हिलेगी नहीं। जब किसी चीज़ के बारे में मन संकल्प-विकल्प करता है तब बुद्धि निश्चय कर देती है। परमात्मा निर्विशेष होने से उसमें कोई विकल्प हो ही नहीं सकता! विशेषों को लेकर ही विकल्प हुआ करता है। विशेष उसमें है ही नहीं अतः विकल्प भी उसमें सम्भव ही नहीं। और वह अनन्त है, उसका अन्त नहीं है। परमेश्वर के विषय में यह नहीं कह सकते कि 'बस, इतना ही है, इसके आगे नहीं'। वह अनन्त है। तीन चीज़ों से अन्त हुआ करता है : हिन्दुस्तान समुद्र तक है, उसके आगे नहीं—यह देश की सीमा हुई। परमेश्वर के अन्दर देश की सीमा नहीं क्योंकि देश स्वयं परमेश्वर में कल्पित है। पुराणों ने यह कल्पना भी की है कि ब्रह्म के एकदेश में माया और माया के एकदेश में आकाश है। जब ब्रह्म के एकदेश के भी एकदेश में आकाश अर्थात् देश है तो वह ब्रह्म को कैसे सीमित कर सकता है! दूसरी, काल की सीमा होती है—अमुक समय तक यह चीज़ है, उसके बाद नहीं। परमेश्वर में काल की भी सीमा नहीं है क्योंकि काल स्वयं परमेश्वर में ही कल्पित है। काल की सीमा का मतलब है कि उसके बाद काल तो होगा पर वह चीज़ नहीं होगी। काल भी खत्म हो जाए तब भी परमेश्वर तो रहता ही है।

इसलिए प्रसिद्ध दृष्टान्त मार्कण्डेय का है। मार्कण्डेय को ज्योतिषियों ने कह दिया था कि वह आठ साल तक ही जीएगा। वही उसकी परम आयु थी। मृकण्डु ऋषि उसके पिता थे, उनके मन में दुःख हुआ कि बेटा आठ साल की उम्र में मर जाएगा। उन्होंने उसे तीन साल की उम्र में ही 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र दे दिया और भगवान् शंकर की पूजा के अन्दर लगा दिया। जब वह आठ साल का हुआ तब उन्होंने मार्कण्डेय से कह दिया 'तुम भगवान् शंकर के मन्दिर में बैठ कर निरन्तर नमः शिवाय का जप करो, भगवान् का पूजन करो।

चौबीस घण्टे और कुछ नहीं करो।' बच्चा था आठ साल का, लग गया। बड़ी उम्र वालों की ही समस्या होती है कि 'महाराज, बैठते हैं पूजा करने पर मन नहीं लगता है।' जैसे थर्मामीटर में पारा होता है जो थर्मामीटर के अन्दर रहता है। कभी थर्मामीटर टूट जाए तो पारा फैल जाता है। अब उसे बटोरने का प्रयत्न करो तो कितनी भी मेहनत करते हो, बटोर नहीं पाते। बंद रहते पारा इकट्ठा बना रहेगा लेकिन अगर पारा एक बार फैल गया तो उसको इकट्ठा करना मुश्किल है, असम्भव-सा हो जाता है। इसी प्रकार जब तक संसार के पदार्थों में तुम्हारा मन नहीं गया है तब तक परमात्मा में लगाना मुश्किल नहीं है। एक बार मन संसार की चीज़ों की तरफ चला गया तब वह ऐसा फैल जाता है कि एक जगह से इकट्ठा करो तो दूसरी जगह जायेगा, एकत्र होकर परमात्मा में नहीं टिकेगा। एक चीज़ से मन हटाओ तो दूसरी चीज़ में, तीसरी चीज़ में जाता ही रहेगा। वह तो आठ साल का बच्चा था, मन विषयों में बिखरा नहीं था इसलिए शिवपूजादि में बैठ गया।

आठ साल उसके पूरे होने पर यम के दूत आए। देखा, अन्दर मन्दिर में बैठा हुआ भजन कर रहा है। थोड़ी देर खड़े रहे। समय हो रहा था, क्या करते! लौट गए। कहा मृत्यु से—'महाराज, वह तो मन्दिर में बिलकुल एकाग्र होकर पूजा कर रहा है। उसका मन और किसी चीज़ में बिलकुल नहीं है। हम लोग उसको कैसे लावें? मन का पता लगे तभी लावें।' यमराज ने कहा—'तुम लोग बड़े गए बीते हो। मैं चलता हूँ।' आए यमराज। देखा, बिलकुल ध्यान में बैठा हुआ है, भगवान् शंकर की पूजा कर रहा है। आठ साल पूरे हो गए थे। यमराज को तो बड़ा घमण्ड था कि 'मारना हमारा काम है।' यम ने बलपूर्वक पाश डाल कर उसके मन को, सूक्ष्म शरीर को खींचा। जैसे ही मन को यमराज ने खींचा ले जाने के लिए, वैसे ही भगवान् शंकर ने प्रकट होकर यमराज को एक लात ज़ोर से मारी तो यमराज मर गया! मार्कण्डेय की आँखें तो खुल ही गईं क्योंकि यमराज ने विघ्न डाल ही दिया था। भगवान् शंकर को सामने देखकर स्तुति करने लगा। सारे देवता घबराए कि 'यमराज मर गया तो अब हम लोगों का क्या होगा!' सबने आकर भगवान् से कहा—'महाराज, आपने यम को क्यों मार दिया!' वे बोले—'यह बड़ा नालायक था, सबको दुःखी करता था। कोई इससे प्रसन्न नहीं था। मरा रहने दो।' देवता कहने लगे—'महाराज, दुनिया चलेगी कैसे?' बहुत प्रार्थना की तो उन्होंने कहा 'अच्छा, यमराज को जिला तो देंगे, लेकिन आगे से इसको समझा देना कि मेरे भक्त के ऊपर कभी इस प्रकार आक्रमण नहीं करे। इस बार तो छोड़ दिया, अगली बार नहीं छोड़ूँगा।' उन्होंने कहा 'हाँ महाराज!' तब उसको वापिस जीवित कर दिया। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि यदि भगवान् शंकर का पूजन करता हो, ध्यान करता हो, नाम-जप करता हो तो 'मृत्युभीताः पलायन्ते मृत्युदूताः' मृत्यु के दूत, यमदूत उसे देख कर भाग जाते हैं 'इसे मारा तो हमें ही मरना पड़ेगा'। जो काल को इस प्रकार खत्म करने वाला हो, उसकी काल से सीमा कैसे होवे? न देश से, न काल से परमात्मा की सीमा हो सकती है।

तीसरी सीमा वस्तु से होती है—जो घड़ा है वह कपड़ा नहीं अर्थात् कपड़े और घड़े ने एक-दूसरे को सीमित कर दिया। कपड़ा घड़ा नहीं है, घड़ा कपड़ा नहीं है। परमेश्वर सर्वरूप है, कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो उससे भिन्न हो। इसलिए वस्तु से भी उसका अन्त नहीं हो सकता। इस प्रकार निर्विशेष होने से निर्विकल्प है और अनन्त है। उसका कोई भी हेतु, कारण नहीं है। परमेश्वर का आगे कुछ कारण नहीं है। सबका कारण परमेश्वर, आगे परमेश्वर का कारण कोई नहीं। कारण की परम सीमा परमेश्वर है। और न उसमें कोई दृष्टान्त है, उसके जैसा कोई नहीं। अप्रमेय है—उसका ज्ञान नहीं हो सकता, उसकी प्रमा नहीं हो सकती। 'अनादिं च' उसका कोई आदि भी नहीं है। उस तत्त्व को जान करके जानकार आदमी मुक्त हो जाता है। इस मन्त्र के अन्दर श्रुति ने स्पष्ट कहा है—'अप्रमेयम्,' प्रमा का अविषय है अर्थात् उसे मन से, बुद्धि से जान नहीं सकते। इसका मतलब हुआ उसके जानने में बुद्धि का उपयोग नहीं, यही सीधा अर्थ होगा। किंतु दूसरी श्रुति (कठ.४. ११) कहती है—'मनसैवेदमाप्तव्यं' परमात्मा की प्राप्ति मन से ही हो सकती है। 'मनसा एव' मन के द्वारा ही हो सकती है, और कोई साधन है नहीं। आँखों से वह दीख नहीं सकता। जीभ से उसको चख नहीं सकते। हाथ से छू नहीं सकते। उसका ज्ञान खाली मन से ही होता है। इससे पता लगता है कि बुद्धि के द्वारा ही वह जाना जाता है! इस प्रकार बुद्धि की व्याप्ति भी कह दी। दोनों वेदवचनों में विरोध संभव नहीं अतः दोनों की एकवाक्यता के अनुसार तात्पर्य निश्चित होता है कि 'बुद्धि से नहीं जाना जाता' इसका मतलब है कि बुद्धि में पड़े चिदाभास के द्वारा नहीं जाना जाता। 'बुद्धि के द्वारा ही जाना जाता है' इसका मतलब है कि बुद्धि जब ब्रह्माकार होती है तब जाना जाता है। इस तरह स्वयं वेद ने ही दोनों बातें कही हैं—फलव्याप्ति नहीं है और वृत्तिव्यप्ति है। अतः हमने जो बात कही है, वह हमारी कपोल-कल्पना नहीं है, श्रुति से सिद्ध है।।९५।।

पूर्व में (श्लोक ४८) प्रतिज्ञा की थी कि 'आत्मानं चेद्' आदि व्याख्येय श्रुति अपरोक्ष ज्ञान एवं शोकनिवृत्ति—दोनों बातें बताती है। विचारसहकृत महावाक्य अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है यह भी (९३-७०) समझाया। व्याख्येय श्रुति महावाक्यरूप से प्रसिद्ध नहीं अतः जिज्ञासा होती है कि इसका कौन-सा भाग अपरोक्ष ज्ञान बताता है? इसके समाधानार्थ कहते हैं—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः।
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते।।९६।।

'यह हूँ' यों यदि आत्मा का विज्ञान करे—इस वाक्य से वह ज्ञान कहा जा रहा है जो ब्रह्मात्मा-रूप व्यक्ति का उल्लेख करता है।

श्रुति ने कहा कि यदि साक्षात् अनुभव कर लेता है कि मैं तो पूर्ण पुरुष ही हूँ तो इच्छादि छूट जाते हैं। इस प्रकार 'विजानीयात्' से अपरोक्ष ज्ञान को कहा। अपरोक्ष ज्ञान को समझाने के लिए पहले परोक्ष ज्ञान भी इस प्रकरण में बतलाया था। अपरोक्ष ज्ञान का स्वरूप भी

बतला चुके हैं। ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान भी होता है, अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। अपरोक्ष ज्ञान का जो स्वरूप समझाया था वह यहाँ उपलब्ध है यह स्पष्ट करते हुए कहा 'ब्रह्मात्मव्यक्तिम् उल्लिख्य'—ब्रह्म और आत्मा की एकता का स्पष्ट उल्लेखपूर्वक जो ज्ञान होता है वह अपरोक्ष है। 'अयमस्मि' से मैं ब्रह्म हूँ—इसका स्पष्ट उल्लेख है। 'ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य' का मतलब क्या? पहले ब्रह्म का उल्लेख है कि वह सद्रूप है, चिद्रूप है, आनन्दरूप है, अनन्तरूप है। ये सब भासें तो ब्रह्म का उल्लेख हुआ अर्थात् ब्रह्म मायने क्या—इसका भान हुआ। और आत्मा अर्थात् प्रत्यगात्मा। स्थूल शरीर (अन्नमय), इसके अन्दर प्राण, इसके अन्दर मन, इसके अन्दर बुद्धि इस प्रकार जो बाहर के आत्मस्वरूप हैं—इन्हें छोड़ते-छोड़ते जो सर्वाधिक भीतरी तत्त्व है उसका उल्लेख आत्मा, अहम् से हुआ। पहले तो आत्मा कहते ही अपना शरीर समझ आता है। किसी से पूछो तुम कौन हो? पहला जवाब देता है—'मैं ब्राह्मण हूँ।' जब तुम पैदा हुए तब बाप तुम्हारा ब्राह्मण और माँ तुम्हारी ब्राह्मणी—इसी से तुम ब्राह्मण हुए। पैदा होने के पहले तुम कौन थे? तो कुछ अता-पता नहीं है! जितनी बातें हम लोग अपने बारे में करते हैं सारी शरीर को लेकर। प्रथम उपस्थित तो 'मैं' से शरीर होता है। विचार करके पता लगता है कि मैं शरीर तभी तक हूँ जब तक प्राण हैं। प्राण जाने के बाद तो मैं शरीर नहीं रहूँगा। उसके बाद शरीर को निगमबोध घाट पर जला देंगे। कोई मुकदमा नहीं चला सकता कि 'मेरे बाप को इन्होंने जला दिया'। मर गया तो जलाया ही जायेगा। इसलिए लगता है कि मैं सचमुच में तो प्राण हूँ क्योंकि प्राण रहते ही मैं हूँ। किंतु जब गहरी नींद में जाता हूँ तब प्राण यहीं रह जाते हैं। इस प्रकार विचार करें तो जो-जो चीज़ें छूट जाती हैं और 'मैं' फिर भी रहता है—वे सब आत्मा नहीं हैं, मैं से अलग हैं। इस अलगाव का विचार तब तक करते रहना पड़ता है जब तक उनसे पृथक् प्रत्यक्तत्त्व स्पष्ट न हो जाए।

जब तक उपाधि में मैं-अभिमान मिटे नहीं तब तक विवेक करना पड़ता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि पेट के अन्दर पड़ी हुई चीज़ें मैं ही हूँ। मैं शरीर हूँ तो शरीर में पड़ी सब चीज़ें मैं ही हूँ। जंगल गया, वहाँ जाकर पेट हल्का कर दिया, पेट का माल बाहर निकल गया। तुमको उस माल के बारे में क्या कभी 'मैं' की भावना होती है? उसे सूअर ने खाया, कुत्ते ने खाया, कीड़ों ने खाया आदि किसी प्रकार की चिन्ता तुमको होती है? थोड़ी देर पहले जिसे शरीर समझ रहे थे, अब तुम्हें उसकी कोई चिन्ता नहीं। इसी तरह पहले तुम इस शरीर को मैं समझ रहे हो, जब विवेक के बाद उसकी कोई चिन्ता न रहे, तब समझो कि 'मैं शरीर नहीं' यह ज्ञान हुआ। केवल शब्द, युक्ति याद करना पर्याप्त नहीं, ऐसी स्थिर अनुभूति होनी चाहिए। इस प्रकार विवेक से शरीर प्राण मन बुद्धि—इन सबको छोड़ते चले जाते हुए अन्त में प्रत्यगात्मा बचता है। वह शुद्ध मैं और सच्चिदानन्द ब्रह्म—इन दोनों का अभेदेन उल्लेख करता ज्ञान अपरोक्ष है।

उल्लेख का मतलब कि सुस्पष्ट भान हो। वृत्ति में जो आकार बना हो उसका उल्लेख कहा जाता है। विषय होने मात्र से या उसके बारे में बुद्धि में अस्पष्टता होने तक भी उल्लेख

नहीं कहते। जैसे लिखी बात निर्विवाद होती है, बोलने से सुनी के बारे में वक्ता-श्रोता में मतभेद हो सकता है, वैसे जिसके बारे में कोई विवाद नहीं उसका 'उल्लेख' कहा जाता है। इसी प्रकार से ब्रह्म के स्वरूप का, सच्चिदानन्दरूप का स्पष्ट भान होवे और प्रत्यगात्मा का भी इन सब कोषों से हटा कर स्पष्ट भान होवे, तब 'दोनों' की एकता बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। दोनों की एकता का जो बोध है उसे आगे भी बतला रहे हैं।। ९६।।

शंका होती है कि ज्ञान से ही मोक्ष है और विचारसहकृत वाक्य से ज्ञान की सिद्धि होती है तो श्रवणादि का बार-बार अनुष्ठान क्यों विहित है? शास्त्रतात्पर्य और यौक्तिक अविरोध के पुनः पुनः विचार की क्या ज़रूरत है? इसके समाधानार्थ कहते हैं—

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात् तथाप्यसौ।
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात्।।९७।।

महावाक्य से अभेद के बारे में अपरोक्ष ज्ञान भले ही हो जाये फिर भी वह दृढ नहीं होता अतः आचार्यों ने कहा है कि श्रवणादि का पुनः पुनः आवर्तन करना चाहिए।

'अत्र'—अर्थात् ब्रह्मात्मा के विषय में जीव और ईश्वर की एकता बतलाने वाले वाक्य से, महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होवे—यह बात तो ठीक है क्योंकि ज्ञान के लिए विचार-सहित महावाक्य ही कारण है। यह बात बिलकुल ठीक है कि ज्ञान तो वाक्य से हो जाता है फिर भी दृढ नहीं होता। वशिष्ठ महर्षि ने कहा है कि दृढता के लिए दो उपाय हैं—योग और ज्ञान। किसी के लिए योग साधन कठिन है। उसकी कठिनाईयाँ खुद ही आगे बतलाएँगे। योग के द्वारा जिसका चित्त समाधिसम्पन्न हो चुका है, विचार-सहित महावाक्य से ज्ञान के बाद वह तो इस अपरोक्ष बोध में ही स्थिर रहेगा। उसकी अदृढता का कोई कारण ही नहीं है। संसार की जब प्रतीति होती है तब दृढता-अदृढता का भेद आता है। अपरोक्ष बोध हुआ और उसी में स्थिर रह गये तो अदृढता का प्रश्न ही नहीं उठता है। परन्तु योगाभ्यास से निर्विकल्प समाधि की ऐसी निष्ठा होना सबके लिए सम्भव नहीं। फिर भी, किसी के लिए ज्ञाननिश्चय कठिन है।

'कस्यचित् ज्ञाननिश्चयः'—वशिष्ठ जी ने यह नहीं कहा कि ज्ञान-प्राप्ति कठिन है वरन् कहा कि ज्ञान का *निश्चय* कठिन है अर्थात् ज्ञान की ऐसी दृढता कठिन है कि उससे अत्यन्त विरुद्ध इस जगत् में प्रतीति होने पर भी अपना निश्चय न डिगे। सूर्य स्थिर है—यह जानने पर भी सूर्य को उदय होता देख कर यही लगता है कि सूर्य ऊपर आ रहा है। सूर्य ऊपर नहीं आ रहा है—ऐसा दृढ निश्चय नहीं रहता। अथवा, जैसा भाष्यकार कहते हैं, दिग्भ्रम दूर करना कठिन होता है। एक बार जो लग गया पूरब है बाद में पता चल भी जाये कि वह उत्तर है फिर भी अकस्मात् वही पूर्व लगता है। थोड़ी देर में विचार आता है—'इधर पूर्व नहीं है, उत्तर है'। सूक्ष्म चीज़ों को जानने के बाद भी निश्चय बना नहीं रहता। रोज़ प्रातः चार बजे उठने वाला भी जगने पर घड़ी में दो बजे देखे तो 'मैं समय पर उठा' निश्चय नहीं

कर पाता। फिर नींद न आये, दुबारा घड़ी में दो ही बजे देखे तो 'घड़ी बन्द हो गयी' जानने पर भले ही समझ जाये लेकिन एकाएक नहीं। इसी प्रकार जगत् को देख कर यह निश्चय डोल जाता है कि यह तीन काल में नहीं है। संसार तीन काल में नहीं है—यह विचार से निश्चय कर लिया, निश्चय कहीं चला नहीं गया, लेकिन फिर संसार को देखते समय भूल जाते हैं, लगता है कि संसार है। इसलिए कि वह निश्चय दृढ नहीं हुआ है। जिसको वशिष्ठ जी ने निश्चय नाम से कहा उसी को यहाँ ज्ञान की दृढता कह रहे हैं। 'दृढ नहीं हुआ' ऐसा क्यों मानते है? क्योंकि 'आवृत्तिः असकृद् उपदेशात्' आदि सूत्र में एवं बोधाभ्यास आदि बताते हुए आचार्यों ने श्रवणादि को दुहराते रहने का विधान दृढतालाभ के लिए किया है इसलिए ज्ञानमात्र से दृढता नहीं होती तथा दृढता आवश्यक है—ये दोनों बातें निश्चित हो जाती हैं।

'ज्ञान हो गया तो मोक्ष हो जायेगा, दृढता की क्या ज़रूरत है?' ऐसा नहीं मान लेना चाहिए। आत्मबोध के बाद भी भगवान् वेदव्यास ने, भगवान् शंकराचार्य ने, भगवान् सुरेश्वराचार्य ने फिर-फिर श्रवण आदि करने का कथन किया है। 'पुनः' अर्थात् वाक्य से ज्ञान होने के बाद भी श्रवण आदि का आवर्त्तन करता ही रहे ज्ञान की दृढता के लिए ऐसा समझाया है। व्यास जी ने कहा है कि छांदोग्य में बार-बार उपदेश देकर श्रुति बता रही है कि दुहराना चाहिए। श्वेतकेतु को नौ बार तत्त्वमसि का उपदेश दिया। भृगु को वरुण महर्षि ने पाँच बार 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'—यह उपदेश दिया। बार-बार के उपदेशों से बतलाया कि आवृत्ति करो, श्रवणादि का बार-बार आवर्त्तन करो। कब तक इनका आवर्त्तन करते रहें? जब तक ऐसा निश्चय न हो जाए, ऐसी दृढता न हो जाए कि विपरीत बोध का उदय ही न होवे, संसार की *वास्तविकता* की कभी भी प्रतीति न होवे तथा अपने में जीवभाव का कभी भी बोध न होवे। दृढता से पूर्व यदि मृत्यु का काल आ जाए तब तक भी श्रवणादि की आवृत्ति करते ही रहो। कभी भी ऐसा मत सोचो कि 'काफी हो गया, अब नहीं भी किया तो हर्ज़ा नहीं'। इसलिए कहा है—'निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना' आँख की पलकें जितनी देर गिरती हैं उसके आधे समय में भी जब संसार की वास्तविकता और अपनी जीवरूपता की प्रतीति न होवे तब दृढता जाननी चाहिए। लोग बहुत सन्तोष से कहते हैं—'दस-पाँच मिनट को तो मन डोल जाता है लेकिन फिर नियन्त्रित हो जाता है'। दस-पाँच मिनट तो बहुत होते हैं, पलक गिरने के आधे काल में भी यह निश्चय न डाँवाडोल होवे तब तक श्रवण-मनन में लगे ही रहना अनिवार्य है। इस प्रकार भगवान् वेदव्यास ने आवृत्ति का विधान किया है। विधि अवश्य सफल को कर्तव्य कहती है अतः आवृत्ति का फल दृढता ही मान्य है।। ९७।।

आचार्य शंकर ने वाक्यवृत्ति में (श्लो. ४९) भी दृढता-प्राप्ति को प्राप्तव्य कहा है यह उनके वचन से सिद्ध करते हैं—

'अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद् दृढीभवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्।।६८।।'

महावाक्यों का 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अर्थ जब तक दृढ हो तब तक शम आदि पूर्वक श्रवणादि का अभ्यास करे।

प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमेश्वर है—यह वाक्यार्थज्ञान जब तक दृढ नहीं हो जाता तब तक अभ्यास कर्त्तव्य है। दृढ का मतलब यही कि क्षणार्ध को भी उससे विपरीत निश्चय न हो। श्रवणादि अर्थात् श्रवण-मनन-निदिध्यासन का अभ्यास करे। श्रवण अर्थात् सुनना तभी वास्तव में सम्पन्न होता है जब सावधानी से तात्पर्य ग्रहण कर उसे आत्मसात् करें। दृढता लाभ से पहले 'सुन चुका' मानकर श्रवण नहीं छोड़ना चाहिए। इसलिए हमारी पुरानी साम्प्रदायिक परम्परा थी कि ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक कभी पढाते नहीं थे! पूरा ग्रन्थ पढ़ा देते थे, अन्तिम श्लोक छोड़ देते थे। भाव था कि श्रोता के मन में यह न होवे कि 'यह किताब हमने पढ़ ली'। मन में रहता था 'अभी हमने एक श्लोक नहीं पढ़ा है।' अतः उसे पढ़ने में लगे रहो। ग्रन्थ समाप्त हो गया—यह बुद्धि नहीं होनी चाहिए ताकि श्रवण का निरन्तर अभ्यास किया जाए। पुराण आदि में प्रसंग आते हैं कि ब्रह्मा जी कोई उपदेश दे रहे हैं तो सनत्कुमार सुन रहे हैं। कहीं सनत्कुमार उपदेश दे रहे हैं तो ब्रह्माजी सुन रहे हैं! कहीं नारद बोल रहे हैं, पर्वत सुन रहे हैं, कभी पर्वत बोल रहे हैं तो नारद सुन रहे हैं। कहीं अगस्त्य बोल रहे हैं तो लोपामुद्रा सुन रही है, कहीं लोपामुद्रा बोल रही है तो अगस्त्य सुन रहे हैं। लोगों के मन में शंका होती है कि ऐसा क्यों? पुराणकार समझाना चाहते हैं कि श्रवण का अभ्यास किया जाए, तुम सुनाओ तो हम सुन लेगें, हम सुनाएँ तो तुम सुन लो। सभी परस्पर तत्त्ववर्णन करें तभी श्रवण आदि का अभ्यास चलता रहता है।

यह अभ्यास लौकिक लाभार्थ न किया जाये इसलिए श्रवणादि की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हैं शमादिसहित अभ्यास करे। शम—मन का नियन्त्रण, दम—इन्द्रियों का नियन्त्रण, उपरति—सर्वकर्मों का परित्याग, तितिक्षा—सब कर्मों का परित्याग कर देने पर जो कष्ट आते हैं उनको सहन करना, समाधान—बार-बार चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करना, श्रद्धा—वेद-वाक्य में, गुरु-वाक्य में आत्यन्तिक विश्वास रखना। इन सब धर्मों को करते हुए श्रवण आदि का अभ्यास करे। शमादि का अनुष्ठान श्रवणादि करने का तरीका है जिसे मीमांसा में इतिकर्त्तव्यता कहते हैं। इनके साथ ही किया हुआ श्रवण-मनन दृढीकरण करेगा। इसलिए भगवान् वेदव्यास ने भी स्पष्ट किया है कि साधना में चाहे जितनी प्रगति हो जाये, शम-दमादि की उपयोगिता तो रहेगी ही, इनका अभ्यास निरन्तर करते रहना ज़रूरी है। इन चीज़ों के बारे में कभी इति-बुद्धि नहीं होनी चाहिए कि 'बहुत मन को नियन्त्रण कर लिया, अब थोड़े दिन तो मन की कर लेवें'! इसमें छुट्टी कभी नहीं मिलती है।। ६८।।

स्थूल विषय निर्दोष परिस्थिति में एक बार भी पर्याप्त स्पष्ट पता चल जाये तो ज्ञान

दृढ ही होता है, अभ्यास नहीं चाहिए। कारण-विशेष हो तभी दृढता में कमी रहती है। आत्मज्ञान में दृढता को कौन रोकता है यह बताते हैं—

बाढं सन्ति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता।
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना।। ९९।।

अदृढता के अनेक हेतु अवश्य हैं। पहला है—अनेक वेदवचनों की उपलब्धि। दूसरा है, यह प्रतीति कि वेदोक्त अर्थ असंभव है। तीसरा है, वास्तविकता से विपरीत ही निश्चय हो जाना, 'मैं कर्त्ता, भोक्ता' यह भाव बन जाना।

ज्ञान होने पर भी दृढता न होने में कारण हुआ करते हैं। ब्रह्मात्मताज्ञान को अदृढ बनाये रखने में अनेक कारण हैं इसलिए अदृढता होती है। पहला कारण है श्रुत्यनेकता, श्रुतियाँ अनेक हैं, सर्वत्र अलग तरह से तत्त्व को बतलाती हैं। कर्मकाण्ड के अन्दर श्रुतियों की अनेकता से कर्म में अनेकताएँ हो जाती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में उसी कर्म को जिस तरह बताया, ऋग्वेदी उसी के अनुसार करेंगे, यजुर्वेदी वैसे करेंगे जैसे शतपथ ब्राह्मण में बताया होगा। वहाँ दोनों की एकवाक्यता बैठाकर एक तरह के कर्म का निर्णय नहीं किया जाता। श्रुतियों की अनेकता से कर्मभेद मान लिया जाता है। अथवा विकल्प मान्य होता है : एक जगह कह दिया—सूर्य उदय होने के बाद आहुति दे। दूसरी जगह कह दिया—सूर्य उदय होने के पहले आहुति दे! इनमें विकल्प ही संभव है क्योंकि श्रुतियों की अनेकता का कर्मकाण्ड में परिहार यही है कि या अलग-अलग कर्म हैं, या विकल्प हैं। इससे ऐसी संभावना होती है कि जिन उपनिषदों का हमने विचार किया उनमें जीव-ब्रह्म की एकता बताई है लेकिन किसी दूसरी शाखा में अनेकता भी बतला दी होगी! मन में यह भी आएगा कि जिस शाखा में एकता कही है उस को मानने वाले एकता मानें, भेदबोधक शाखा वाले जीव-ब्रह्म को अलग-अलग मान लें। कर्म में यही किया जाता है—जिस परम्परा में जैसा कहा है वैसा कर लेते हैं। ऐसा ब्रह्म के बारे में मान लें तो निश्चय क्या हुआ कि है क्या? सच्ची बात में विकल्प नहीं हो सकता। कर्म तो करने से स्वर्ग मिलता है, सत्य को जानना ही पड़ेगा, मान लेना तो उपासनारूप कर्म होगा जिसका फल अनित्य ही होने से मोक्ष ही असम्भव हो जायेगा।

कुछ आधुनिक, अनेक अंधों ने एक हाथी का अनुभव किया तो विभिन्न वर्णन कर दिया—इस दृष्टान्त से परमेश्वर-विषयक सभी वर्णन सत्य मानना चाहते हैं। किंतु दृष्टांत में सब अन्धे थे—यह वे लोग मान रहे हैं। लेकिन आँख वालों को तो सभी को हाथी एक जैसा ही दीखेगा! इसी प्रकार जो श्रुति के प्रकाश से रहित लोग हैं उनको तरह-तरह के तत्त्व भले ही दीखते रहें, श्रुतिरूप प्रकाश वालों को तो एक जैसा ही दीखता है। युक्ति और अनुभव, तो सबके एक-समान हैं। युक्ति और अनुभव जैसा दूसरों का है वैसा वैदिक का भी है। परन्तु अपौरुषेय वाक्य और किसी के पास नहीं है। बाकि सबके पास पौरुषेय ही वाक्य

हैं। घूम-फिर कर यही कहते हैं कि ‘अमुक ने कहा है।’ अपौरुषेय वाक्य केवल वैदिक के पास है। दृष्टान्त अन्धों के लिए तो ठीक बैठता है जिन्होंने परमात्मा का साक्षात्कार नहीं किया है, परन्तु आँख वाले जो साक्षात्कार किए हुए लोग हैं, वे सब तो एक ही बात कह सकते हैं। वैदिकों के यहाँ ज़ोर है अनवच्छिन्न गुरु-परम्परा पर। गुरु ब्रह्मनिष्ठ है, उसने जो साक्षात्कार किया वही उपदेश देता है। तभी उसके उपदेश से अधिकारी को ज्ञान होता है। सारी परम्परा के अन्दर एक ही उपदेश चला आया है क्योंकि सबने एक ही ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त की है। हमारे यहाँ उपनिषदों के अन्दर ‘वंश ब्राह्मण’ आते हैं जिनमें किसने किसको उपदेश दिया यह अनेक पीढियों का वर्णन है। उन वंशावलियों द्वारा बतलाया कि इन सबका अनुभव एक ही रहा जैसे जितने आँखों वाले हैं उनमें हाथी के बारे मे मतभेद नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्म सत्य है, वेदैकप्रमाणक है, इसलिए ब्रह्म के विषय में विकल्प तो हो नहीं सकता। अतः निश्चय करना पड़ता है कि सारे वेद-वाक्य इसी चीज़ को बतलाते हैं। जितनी विरुद्ध बातें प्राप्त होती हैं उन सबका जवाब सोचना पड़ता है, समझना पड़ता है।

भगवान् वेदव्यास ने हमारे ऊपर कृपाकर ब्रह्मसूत्र के समन्वयाध्याय में यही सिद्ध किया है कि सारी उपनिषदों का तात्पर्य जीव-ब्रह्म की एकता में ही है। अगर हम लोगों को खुद निर्णय करना पड़ता तो काफी परिश्रम से होता। भगवान् वेदव्यास ने कृपाकर एक ही जगह सारी बातों को इकट्ठा कर दिया। मतभेदों की भी परीक्षा कर सिद्धान्त-विरुद्ध मतों के दोष बता दिये हैं। इस प्रकार श्रुति-अनेकता एक कारण हुई अदृढता में। इसी को साम्प्रदायिक भाषा में कहते हैं—प्रमाण के बारे में संशय। ब्रह्म में प्रमाण एक ही है—वेदवाक्य। ब्रह्म रूप रसादि वाला तो है नहीं कि प्रत्यक्ष व तन्मूलक प्रमाणों से पता चले। ब्रह्म के विषय में प्रमाण केवल वेद है। वेद-वाक्यों के अन्दर किसी प्रकार का निर्णय नहीं है—यह प्रमाणगत संशय है। क्या वेद-वाक्य जीव-ईश्वर की एकता ही बतलाते हैं या कुछ और बतलाते हैं; और कुछ बतलाते हैं तो क्या बतलाते हैं? इस तरह के प्रमाणगत संशयादि को हटाने के लिए बार-बार श्रवण करना पड़ता है, उपनिषदों का विचार करके निश्चय करना पड़ता है। ब्रह्मसूत्र के समन्वयाध्याय को बार-बार देखकर निश्चय करना पड़ता है।

दूसरा हेतु अदृढता में है ‘अर्थस्य असंभाव्यत्वम्’। अर्थ हुआ जीव-ब्रह्म की एकता, उसको समझना कि यह असम्भव है, कैसे हो सकता है! लगता है कि अभेद युक्ति-संगत नहीं। एक है सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला, नियन्त्रण में रखने वाला, और दूसरा बेचारा अदना-सा, जो अपने लड़के से ही अपनी बात नहीं मनवा सकता, दोनों की एकता कैसे मान लें! ईश्वर के भय से तो देवता भी घबराते हैं और हमारे भय से हमारी पत्नी ही नहीं घबराती! दोनों की एकता कैसे हो सकती है? लगता है कि वेद का कुछ और मतलब होगा। जीव-ईश्वर का अभेद नहीं है इस बात को कई लोगों ने बड़ी-बड़ी युक्तियों से सिद्ध भी किया है। तार्किक, सांख्यवादी, योगी, बौद्ध, जैन आदि अनेक चिंतक हैं। इनमें कोई भी जीव-ईश्वर की एकता नहीं मानता, कोई भी संसार को सत्य के ज्ञान से निवृत्त होने वाला

मिथ्या नहीं मानता। सब इसको असम्भव मानते हैं कि हो ही नहीं सकता। सामान्यतः भी यही लगता है और युक्ति के द्वारा विद्वान् लोगों ने इसे सिद्ध भी किया है। इसलिए बुद्धि कहती है कि वेद भले ही कहे, लेकिन बात असंगत है।

इसलिए वैदिक रास्ता निकालते हैं कि दोनों की एकता हो तो नहीं सकती, परन्तु एकता का ध्यान कर सकते हैं। अत्यन्त असम्भव चीज़ का भी ध्यान तो हो ही सकता है। कलकत्ते में एक हज़ार हाथों वाली देवी है। एक शरीर के अन्दर हज़ार हाथों का होना असम्भव लगता है। फिर भी उस देवी का ध्यान कर ही सकते हो। इसलिए वेद को मानने वाले कहते हैं कि अपने हृदय में ईश्वर का ध्यान करो, एकता का ध्यान करो तो बड़ा फल होता है। जिसका ध्यान करते हो उसे सच्चा होने की ज़रूरत है नहीं। इसी प्रकार संसार को मिथ्या समझो तो धीरे-धीरे इससे तुम्हारा आकर्षण कम होगा। संसार के मिथ्यात्व का ध्यान करो—इतना ही शास्त्र का मतलब है, वह है तो नहीं मिथ्या। इस प्रकार अर्थ की असम्भवता लगने से भी दृढता नहीं होती कि ऐसा ही है। जिसे वेद को प्रमाण नहीं मानना है वह तो यही कहेगा—वेद ऐसी असम्भव बातें कहता है इसलिए इसे छोड़ो, इसमें कुछ नहीं रखा है, सब बेकार की बातें हैं! वेद ग़लत किताब है। प्रमाण जिस चीज़ को प्रकट करता है उसको प्रमेय कहते हैं। इसलिए यह प्रमेयगत संशय हुआ। प्रमाणगत संशय तो नहीं है, वेद तो यही कह रहा है इसमें संदेह नहीं, पर वेद जैसा कह रहा है वैसा सचमुच में नहीं है या है—यों प्रमेयगत संशय है। सचमुच में ऐसा नहीं है क्योंकि युक्तिविरुद्ध है—यदि ऐसा जँचे तो प्रमेय-विषयक विपरीत भावना हो जायेगी। इसलिए भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में जितने ये सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत, वैष्णव, भागवत हैं—सबके पक्षों को उठाकर सिद्ध किया कि उनकी मान्यतायें ही युक्तिविरुद्ध हैं। श्रुति जो बात कह रही है वह युक्ति से बिलकुल संगत है। ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय से प्रमेयगत संशय हट जाता है कि वेद जो कह रहा है वैसा है या नहीं। प्रमाणगत संशय एवं प्रमेयगत संशय से ज्ञान में अदृढता होती है। बार-बार मनन करते-करते प्रमेयगत संशय भी हट जाता है। समझ आ जाता है कि ऐसा ही सचमुच में है।

तीसरा है साधन-विषयक सन्देह। मान लिया कि तत्त्व ऐसा ही है और वेद भी ऐसा ही कहता है, परन्तु हमें प्राप्त कैसे होवे? अखण्ड बोध को हम अपने लिए सम्भव कैसे करें? इस साधन-विषयक संशयादि की निवृत्ति के लिए ब्रह्मसूत्रों में तीसरा अध्याय है। उसमें सिद्ध किया है कि इसका साधन श्रवण-मनन-निदिध्यासन ही है। न कर्म इसका साधन है, न भक्ति इसका साधन है, न योग इसका साधन है। यद्यपि निदिध्यासन ध्यान जैसा तो लगता है तथापि दोनों में फ़रक है। जैसा शास्त्र या वाक्य के द्वारा कहा गया वैसा मानकर चिन्तन करना ध्यान कहा जाता है। शास्त्र में कही हुई बात को यथार्थ जान कर, यथार्थ निश्चय करके कि 'ऐसा ही है', फिर उसके निश्चय का जो निरन्तर प्रवाह उसे निदिध्यासन कहते हैं। श्रवण-मनन से अर्थ निश्चित हो गया, तो 'किसी की' बात हम नहीं कहते, स्वयं

हमारा वह निश्चय होता है। शास्त्रानुसारी निःसन्दिग्ध निश्चय का निरन्तर प्रवाह करना निदिध्यासन है। अगर इसका प्रवाह नहीं करेंगे तो मन अपने पुराने प्रवाह में बह जाएगा। मन का पुराना प्रवाह है—'विपरीता च भावना'। जैसा हमने सच का निश्चय किया है उससे ठीक उल्टा समझना मन का स्वभाव है! इसलिए यदि निरन्तर शास्त्रीय भाव में स्थिर नहीं रहोगे तो मन उल्टा चलेगा ही, कर्तृत्वादि आकार ही बनाता रहेगा। फलतः श्रवण-मनन से हुआ निश्चय रह नहीं पाएगा। इसलिए साधन विषयक शंका को हटाना ज़रूरी है।

साधकभेद से इतना अन्तर अवश्य है कि अगर पहले शम दम उपरति तितिक्षा समाधान में जो समाधान कहा है उसके अनुसार ईश्वर की उपासना करके चित्त को ईश्वर में एकाग्र कर लिया है तो निदिध्यासन अर्थसिद्ध है। जिसने ईश्वर में चित्त को सर्वथा एकाग्र कर लिया है, जब उसे पता लगता है कि ईश्वर असल में प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप है, तो उसका मन आत्मरूप ईश्वर में रह जाता है। इसीलिए परमेश्वर के अन्दर चित्त समाहित करने के अनेक साधन उपनिषदों में बताये हैं। और अगर ऐसा पहले नहीं कर रखा है तो बार-बार श्रवण-मनन के आवर्त्तन में मन को रखने से विपरीत भावना नहीं आ पाएगी।

एक विपरीत भावना यह भी होती है कि क्या मोक्ष ही अन्तिम पुरुषार्थ है या इसके आगे भी कुछ है? कई ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि 'ठीक है, निर्विकल्प अवस्था होनी चाहिए, अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति होनी चाहिए लेकिन ब्रह्म तो उससे बहुत आगे है, इसमें ब्रह्म ख़त्म थोड़े ही हो जाता है!' वर्तमान काल में एक बड़े भारी विचारक हुए हैं बंगाल में। उन्होंने कहा कि जब तक शरीर को ब्रह्म न बना लो, अमर न बना लो, तब तक क्या ब्रह्मरूपता की प्राप्ति की! साधारण आदमी भी ऐसा ही मानते हैं। जब किसी ब्रह्मज्ञानी को बीमार इत्यादि देखते हैं तब पूछते हैं 'क्या आत्मज्ञान होने के बाद भी ये सब होता है?' वे सोचते हैं कि आत्मज्ञान का मतलब होगा शरीर में रोग आदि न होना, शरीर की मज़बूती हो जाना। इस प्रकार से विपरीत भावना हो जाती है कि दूसरे फल भी पाने चाहिए। कुछ कहते हैं कि 'कर्म तो करना ही चाहिए, आखिर तुमने ज्ञान प्राप्त किया है, सारे संसार का उपकार भी करना चाहिए, यह भी तुम्हारा कर्त्तव्य है। जिस मनुष्य जाति में पैदा हुए उसका कल्याण करो।' कोई और भी आगे जाते हैं; एक बड़े भारी गीताटीका करने वाले हैं, उन्होंने लिखा है कि सब ज्ञान प्राप्त करके फिर देश की सेवा करनी चाहिए! जोर-शोर से उन्होंने यही निर्णय किया है। खाली अपनी मोक्षप्राप्ति की तो क्या किया, दूसरों के लिए भी करना चाहिए। इन बातों को सुन कर सन्देह हो जाता है कि करना चाहिए दूसरों के लिए या कोई दूसरा है ही नहीं, कुछ करना होता ही नहीं? ये सब अदृढता में कारण हो जाते हैं। 'दूसरा है'—यह सबसे बड़ी विपरीत भावना है।

इस तरह फल-सम्बन्धी भी विपरीत भावना हो जाती है। उसको हटाने के लिए ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अन्दर निर्णय कर दिया है भगवान् वेदव्यास ने कि मोक्ष के आगे और कुछ नहीं है, इसी में सारा पर्यवसान है। क्योंकि ये सब अदृढता में हेतु हैं, अतः ब्रह्मबोध

होने पर भी एकाएक वह दृढ होता नहीं। ये सब कारण जब नष्ट हो जाएँ, न प्रमाणगत संशय रहे, न प्रमेयगत संशय रहे, न साधन-सम्बन्धी रहे, न फल-सम्बन्धी रहे, तब जाकर दृढता आती है। इसी को आगे विस्तार से बतलाएँगे।।६६।।

जब तक पूर्ण दृढता न हो जाए तब तक श्रवणादि का आवर्तन करना ही चाहिए, इसी बात को स्पष्ट करके बतलाते हैं–

शाखाभेदात् कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथाऽन्यथा।
एवमत्रापि मा शङ्कीत्यतः श्रवणमाचरेत्।।१००।।

शाखाओं के भेद से, विभिन्न कामनाओं से जैसे अलग-अलग तरह के कर्म होते हैं वैसे उपनिषत्प्रतिपाद्य तत्त्व भी विभिन्न होंगे–यह शंका न हो इसलिए श्रवण पुनः पुनः करना चाहिए।

वेदों में शाखाभेद है, कोई माध्यदिनी शाखा का है, कोई शाकल्य शाखा का है इत्यादि। विभिन्न शाखाओं में अलग-अलग प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार से अलग-अलग शाखाओं में ब्रह्म तत्त्व का भी अलग-अलग प्रतिपादन होगा–यह सन्देह हो सकता है। कर्म करने में तो जीव स्वतन्त्र है इसलिए उसमें विकल्प हो सकता है, परन्तु वास्तविक तत्त्व के बारे में विकल्प नहीं हो सकता। यदि विकल्प हुए तो उनमें से एक सत्य हो सकता है बाकी झूठे होंगे–यह तो हो सकता है परन्तु वास्तविक तत्त्व अनेक प्रकार के होवें, यह नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म के बारे में किसी शाखा में कुछ कहा हो, किसी शाखा में कुछ और कहा हो, यह नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो तो सिद्ध यही होगा कि उनमें से कोई भी तत्त्व नहीं है! तात्पर्य है कि तत्त्व के बारे में शाखाभेद से भेद नहीं हो सकता। इसीलिए वेदान्त शास्त्र पढ़ते हैं तो ऋग्वेद की, यजुर्वेद की, सामवेद की, अथर्ववेद की, सारी श्रौत शाखाओं की उपनिषदों का विचार करके उन सबका ऐकमत्य सिद्ध करना पड़ता है। शाखाभेद से कर्मों का भेद हो सकता है, आहुति के प्रकार में भेद हो सकता है, परन्तु सभी शाखाओं में चावल तो एक प्रकार का ही होगा! चावल और तिल के बारे में नहीं कह सकते 'ऋग्वेदियों का यह चावल है, यजुर्वेदियों का दूसरा चावल होता है।' कर्म करने में चूंकि जीव स्वतन्त्र है इसलिए ऐसे भी कर सकता है वैसे भी कर सकता है, कर्म में तो विकल्प हो सकता है, परन्तु तत्त्व में विकल्प नहीं हो सकता।

इसी प्रकार 'कामभेदात्'–कामनाएँ अलग-अलग होने से भी अलग-अलग कर्म हो जाते हैं। किसी को वृष्टि की कामना है, खेत सूख रहा है, बरसात की उसको जरूरत है। दूसरा गोपालक है इसलिए उसे पशुओं की ज़रूरत है। दोनों के लिए अलग कर्म होंगे। बरसात की इच्छा होवे तो कारीरीयाग करे। यदि पशुओं की कामना होवे तो चित्रायाग करे। कर्म में भेद हो गया कामना के भेद से। ऐसे मोक्ष अनेक प्रकार का नहीं है कि ऐसा मोक्ष इससे प्राप्त कर लें, वैसा साधनान्तर से प्राप्त कर लें। मोक्ष तो एकरूप ही है। मोक्ष शब्द का

प्रयोग कुछ लोग सालोक्य, सामीप्य इत्यादि के लिए भी कर लेते हैं लेकिन मोक्ष का मुख्य मतलब 'छूटना' होता है, 'पाना' नहीं होता। सालोक्य सामीप्य इत्यादि का वर्णन करते हैं 'ये सब पाएँगे', इसी रूप में कहते हैं। कहते हैं 'ऐसे हो जाओगे।' 'ऐसे नहीं रहोगे'—यह नहीं कहते हैं। जबकि मोक्ष का मतलब होता है छूटना। इसलिए जहाँ कुछ 'मिलना' फल है उसे मोक्ष गौणी वृत्ति से ही कह सकते हैं। कैवल्य मे अध्यास, अज्ञान, बन्धन छूटना ही है, मिलना कुछ नहीं इसीलिए वही मोक्ष है। अत एव मोक्ष एकरूप है। मुमुक्षु के लिए ही तत्त्वज्ञान बतलाया गया है अतः कामभेद संभव नहीं है, कहा भी नहीं। विविध मोक्ष प्रामाणिक होते तो उनकी कामना के भेद से साधनों में भेद आदि की चर्चा होती। इस प्रकार, कर्मकाण्ड में जैसे शाखाभेद, कामभेद से कर्मभेद होते हैं वैसे ब्रह्मभेद भी होगा—यह शंका न रहे इसके लिए बार-बार श्रवण करने की ज़रूरत है। अन्यथा, एक ईशावास्य में ही तत्त्व का पता लग गया तो आगे केनोपनिषद् को क्यों पढ़ा जाए, माण्डूक्य उपनिषद् को क्यों पढ़ा जाए? जब तक सारी उपनिषदों के द्वारा उसका निर्णय नहीं किया जाता तब तक दृढता नहीं आती। इसलिए श्रवण करते रहना चाहिए।।१००।।

श्रवण का स्वरूप बताते हैं—

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत्।।१०१।।

उपक्रम, उपसंहार एवं मध्यवर्ती भाग के विचार से सारे वेदान्तों का तात्पर्य ब्रह्मरूप आत्मा में ही है—यह निश्चय श्रवण है।

श्रवण का लक्षण क्या है? वेदान्त उपनिषदों को कहते हैं। उपनिषद् ही जिसके लिए प्रमाण हैं वह वेदान्ती है। सारी ही उपनिषदों का एक ही तात्पर्य है। 'आदि'—उनके उपक्रम में भी ब्रह्मात्मतत्त्व का ही प्रतिपादन है। 'मध्य'—उनके अन्दर बार-बार ब्रह्मात्मैक्य को ही बतलाया है। और जैसा उपक्रम वैसा ही 'अवसान' उपसंहार में ब्रह्मात्मा कहा है। इस प्रकार उपनिषदों के आदि में, मध्य में और अवसान में अभिन्न आत्मा ही प्रतिपादित है यह निश्चय प्राप्त करना श्रवण है। एक बार में यह निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि उपनिषदों के कहने का ढंग ऐसा है कि लगता है कि अलग-अलग ऋषियों ने अलग-अलग रूप से प्रतिपादित किया है। इसलिए जब तक उनका षड्विध लिङ्गों से बार-बार विचार न करो, तब तक कुछ और ही अर्थ निकल सकता है। बार-बार उपनिषदों के विचार से यह निश्चय करना पड़ता है।

यद्यपि वर्तमान में बहुत से लोग अपने को वेदान्ती कहते हैं, ब्रह्मसूत्रों पर कईयों ने भाष्यादि लिखा भी है, पर जिस प्रकार अद्वैती अपनी साधना में बार-बार वेदान्तों का, उपनिषदों का ही विचार करते हैं, ऐसी साधना कोई अन्य नहीं मानता। कहते हैं 'हम भी वेदान्ती हैं' लेकिन विचार करेंगे अन्य ग्रन्थों का। देवता, उपासना आदि विषयक आगम,

पुराण आदि का ही विचार रात-दिन करेंगे। रात-दिन वेदान्त का ही चिन्तन करने वाला सम्प्रदाय केवल आचार्य शङ्कर का अद्वैतवादी ही है। यदि उपनिषदों ने अन्य वादियों की बात कही होती तो उनको दूसरी पुस्तकों को हमेशा अपनी साधना में प्रयुक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके द्वारा यह भी बतला दिया कि अद्वैत की साधना के लिए किसी दूसरे ग्रन्थ का सहारा लेना कभी भी निश्चय को प्राप्त नहीं कराएगा। बार-बार उपनिषदों का विचार करने से ही तत्त्वज्ञान संभव है। बार-बार जब श्रवण करते हैं, मनन करते हैं—तब पता लगता है कि ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है—यही वेदान्त का तात्पर्य है।

कहीं साक्षात् कहा है और कहीं किसी तरीके से कहा है। ब्रह्म और आत्मा की एकता बतलाने के लिए ब्रह्म के बारे में विभिन्न बातें कहनी पड़ती हैं। जब तक ब्रह्म को समझोगे नहीं तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' से क्या समझोगे! खाली शब्द तो कहना है नहीं, ब्रह्म किसको कहते हैं—यह स्पष्ट होना चाहिए। इसलिए अवान्तर वाक्यों से ब्रह्म और जीव के बारे में भी वेद बताता है। उन्हें अलग-अलग समझाने वाले वाक्यों को चुन कर दूसरे वादी कह देते हैं—'देखो! वेद में यह भी लिखा है।' जो ब्रह्म का स्वरूप बतलाया है वह भी परम्परा से उपयुक्त होगा ब्रह्म और प्रत्यगात्मा की एकता समझने के लिए। इसी प्रकार से आत्मा के बारे में भी बतलाने वाले बहुत से प्रकरण आएँगे उपनिषदों में। उन प्रकरणों का भी तात्पर्य है कि प्रत्यगात्मा के स्वरूप को समझ कर ब्रह्म से एकता जान पाओ। जीव का स्वरूप बतलाने वाले एवं ब्रह्म का स्वरूप बतलाने वाले वाक्य, ब्रह्मात्मा की एकता को बतलाने में परम्परा से गतार्थ हैं। उपनिषदों में लम्बा-चौड़ा प्रकरण आएगा सृष्टि का। कई लोग कहते हैं 'इतना सब सृष्टि का वर्णन किया है। अगर है ही नहीं तो कैसे वर्णन किया?' वर्णन तो किया यह सिद्ध करने के लिए कि ब्रह्म के सिवाय जगत् का और कोई कारण नहीं है। ब्रह्म ही एकमात्र कारण है अर्थात् ब्रह्म ही जगत् के रूप में अज्ञान से प्रतीत हो रहा है। इस बात को समझाने के लिए सारे कारण-प्रकरण हैं। सृष्टि हुई—यह कहने में तात्पर्य नहीं है, ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई सृष्टि का कारण नहीं है—बस, यह बतलाने में तात्पर्य है। 'इति धीः'—ऐसी जो बुद्धि अर्थात निश्चयात्मिका वृत्ति है, कि ऐसा ही है, इसका नाम श्रवण है। श्रवण हो गया अर्थात्, वेदान्तों का एकमात्र तात्पर्य जीव-ब्रह्म की एकता में है यह तुमको निःसन्दिग्ध रूप से भान हो गया।। १०१।।

श्रवण में आने वाली कठिनाई को दूर करने में सहायक प्रमाण का निर्देश देते हुए मनन का उपयोग दिखाते हैं—

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः।
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता।।१०२।।

समन्वय-नामक अध्याय में श्रवण स्पष्ट बताया गया है। बुद्धि को स्वरूप में स्थित कराने वाली युक्तियों से प्रतिपाद्य वस्तु की संभवता दूसरे अध्याय में कही है।

श्रुति-तात्पर्य के विषय में जितने सन्देह हो सकते है, भगवान् वेदव्यास ने वेदान्त सूत्रों के प्रथम अध्याय में, समन्वयाध्याय में, उन्हें भली प्रकार हटा दिया है और उसके भाष्य में आचार्य शङ्कर ने अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है। भगवान् वेदव्यास ने सूत्र रचे। सूत्र का काम होता है बिलकुल थोड़े-से-थोड़े अक्षरों में बात कहना। यों जब बात कहते हैं तब स्पष्ट नहीं हो पाती। उसका लाभ उठाकर वादी सूत्रों का अर्थ कहीं का कहीं ले जाते हैं! इसलिए ब्रह्मसूत्रों का अर्थ तो लोग इधर-उधर ले गए हैं, ब्रह्मसूत्रों पर अन्य सम्प्रदायों ने भी अपनी टीकायें लिख दीं, पर सारी उपनिषदों पर आचार्य शङ्कर के सिवाय किसी भी आचार्य ने भाष्य नहीं लिखा है। उपनिषदों में विस्तार से अद्वैत प्रतिपादित है। वहाँ भाष्य लिखने जावें तो अद्वैतविरुद्ध मत सिद्ध करने में कोई न कोई कठिनाई आवे। ब्रह्मसूत्रों के अन्दर चूंकि इतने थोड़े अक्षर हैं इसलिए उनकी हेरा-फेरी करना सरल हो जाता है! समन्वयाध्याय और उस पर आचार्य शङ्कर का भाष्य, दोनों मिलकर भली प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। इस श्लोक के पहले पाद में (‘सूक्तं’ तक) श्रवण का ही कथन है।

आगे मनन बतलाते हैंः वेदान्तों का श्रवणसिद्ध अर्थ ब्रह्मात्मैक्य, वह सम्भव है यह युक्ति से समझना मनन है। वेद कहता है पर सम्भव है या नहीं—यह प्रश्न होता है। क्यों? क्योंकि उस तत्त्व के बारे में अनेक दूसरे लोग तर्क से अन्य प्रकार से समझते हैं। इसलिए बहुत से लोग कहते हैं—वेदान्त की बात तो बिलकुल ठीक है पर वह सम्भव नहीं है। कोई कहते हैं, इस कलियुग में कैसे हो सकता है! उनके अनुसार कलियुग में बस, घण्टी हिलाए जाओ, झाँझ बजाओ क्योंकि ‘सत्ययुग में बड़े-बड़े तपस्वी लोग थे, हज़ारों साल की तपस्या करते थे, उनको ज्ञान हो जाता था। आजकल एक तो उम्र ही कम है। चारों तरफ का वातावरण अनुकूल नहीं है, हज़ार बातें हैं। अतः अद्वैतनिष्ठा सम्भव नहीं।’ तात्पर्य उन सबका यही है कि बात ठीक है पर असम्भव है। यों अर्थ की असम्भावना की निवृत्ति के लिए ब्रह्मसूत्रों के द्वितीयाध्याय में इस बात को सम्भव सिद्ध किया। कैसे सिद्ध किया? ‘तर्कैः’ युक्तियों से सिद्ध किया है। ब्रह्मसूत्रों का पहला अध्याय प्रधानरूप से श्रुतियों का विचार है और दूसरा अध्याय तर्क से विचार का है क्योंकि जब दूसरे वादियों से बात की जाती है तब श्रुति उद्धृत करने से लाभ नहीं क्योंकि वे श्रुति को परम प्रमाण मानते नहीं हैं। इसलिए दूसरे वादियों के सामने वेद की बात बोलने से उन्हें नहीं जँचता, उनसे तर्क से बात करनी पड़ेगी। तर्क के द्वारा ही उनका खण्डन भी हो सकता है।

तीन तरह से तर्क का उपयोग होता है—वाद, जल्प और वितण्डा। वाद गुरु-शिष्य के बीच में होता है। शिष्य को समझाने के लिए तर्क का उपयोग गुरु द्वारा किया जाता है। शिष्य भी उस बात को समझना चाहता है, गुरु समझाना चाहता है। इसी प्रकार यदि एक ही गुरु के शिष्य हैं, एक सिद्धान्त के अनुयायी हैं तो वे भी आपस में वाद करते हैं। वाद का उद्देश्य है किसी निश्चित मत पर पहुँचना या पहुँचाना। तर्क का उपयोग जब किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए किया जाता है तब वाद है। इसलिए आचार्यों ने कहा—‘वीतरागकथा

वादः'। किसी भी पक्ष में जिनको राग नहीं है वरन् तत्त्व के प्रति ही पक्षपात है, वे वाद करते हैं। पक्ष में राग हो तो उस पक्ष में दोष पता लगने पर भी पक्ष छूटता नहीं जैसे प्रतिवादी का पक्ष उचित है जानते हुए भी वकील अपने मुवक्किल का ही पक्ष स्थापित करता रहता है क्योंकि उससे मिलते धन में राग है। इसीलिए जो राग वाला है उसके साथ बात करने का दूसरा ढंग होता है—जल्प। रागी है, किसी पक्ष को पकड़े हुए है तो उससे तर्क के प्रयोग से जो बातचीत की जाती है उसको जल्प कहते हैं। जल्प के अन्दर विपक्षी की बात का खण्डन करना है, अपनी बात का मण्डन करना है। अपनी बात को युक्तियुक्त सिद्ध करना और विपक्षी की बात को अयौक्तिक सिद्ध करना—इस प्रकार दो पक्ष वाले जब आपस में बातचीत करते हैं तब जल्प है। ये दोनों तो भले आदमियों की बातों का ढंग है।

तीसरे हैं जैसे आधुनिक लोग। आधुनिक लोग वैतण्डिक—वितण्डा करने वाले होते हैं। उनसे अगर पूछते हैं 'तुम क्या मानते हो?' तो कभी नहीं बतला पाते हैं कि वे क्या मानते हैं। जिस चीज़ को मानते हों उसको उन्हें ही सिद्ध तो करना पड़ेगा। वैतण्डिक प्रतिवादी को गलत सिद्ध करने की तो सब युक्तियाँ देगा लेकिन यदि वह पूछे 'अगर हम गलत हैं तो ठीक क्या है, तुम बताओ।' तो वैतण्डिक का कहना है 'हम कुछ नहीं मानते'! वितण्डा में स्वपक्ष की स्थापना को कोई स्थान नहीं है। आजकल अधिकतर लोग वैतण्डिक होते हैं। क्या मानते हैं—यह कभी नहीं कहेंगे। वितण्डावादी से उसको समझाने के लिए बात नहीं की जाती वरन् उसका मुँह बन्द करने के लिए की जाती है। वितण्डावादी के साथ तुम वाद या जल्प करने जाओ तो वही जीत जाएगा! तुम्हारे पक्ष में दोष बताकर कोई भी निर्दोष पक्ष स्थापित उसे करना नहीं है। सुनने में वितण्डा अच्छा लगता है कि कोई सत्य पक्ष है ही नहीं, किंतु जीवन का कोई पहलू इस दृष्टि से नहीं चलता अतः वैतण्डिक प्रायः इह लोक की व्यवस्थाओं में वितण्डा नहीं करता जिससे स्पष्ट है कि वह भी इस रीति को व्यर्थ मानता है। परलोक एवं अध्यात्म में श्रद्धा न होने से वहीं वितण्डा करता है। अतः सामने वाला वैतण्डिक है तो वितण्डा करना पड़ता है, स्वमत पर आग्रही है तो जल्प करना पड़ता है और यदि वीतराग है तो वाद करना पड़ता है। वितण्डा की युक्तियों से सामने वाले को भी कोई जवाब नहीं मिलता और तुम्हारे भी वे कोई फायदे की नहीं हैं, आतंकवादियों की तरह सभी के नुकसान की हैं! वितण्डा की युक्तियों से कभी भी किसी को लाभ होता नहीं है इसलिए वाद और जल्प के ढंग से आचार्यों ने प्रधान विचार किया। शिष्य वैतण्डिक से अभिभूत न हो इसके लिए वितण्डा भी बताया है पर विशेष प्रयास उस तरह नहीं किया है।

वाद और जल्प दोनों धीस्वास्थ्यकारी हैं, ये दोनों बुद्धि को स्वस्थ कर सकते हैं। तर्क से प्रतिवादी भी समझ सकता है और स्वयं भी दृढता बढ़ती है। जल्पी भी स्वपक्ष की कमजोरी समझ तो जाता ही है अतः जब भी विवेक बढ़ेगा तब ग़लत मत छोड़ देगा यह संभव है। इसलिए जल्प बुद्धि की स्वस्थता के लिए उपयोगी है। ऐसे ही वाद हितकारी है। बुद्धि का स्वास्थ्य से क्या मतलब? बुद्धि निश्चयात्मिका है। निश्चय पैदा करने वाला जो

तर्क होता है उसी से बुद्धि की स्वस्थता होती है। बुद्धि की अस्वस्थता है—निश्चय न हो पाना। बुद्धि को स्वस्थ करने वाले जो वाद और जल्प हैं उनके अन्दर जिन युक्तियों का प्रयोग किया जाता है उन्हें शारीरक शास्त्र के दूसरे अध्याय में उपस्थापित किया है। अविरोधाध्याय-नामक दूसरे अध्याय के अन्दर वितण्डा की युक्तियों का प्रयोग नहीं किया है। अपने सहित दूसरे का पक्ष भी रखा है। भाष्यकार ने इतने अच्छे ढंग से पूर्वपक्ष रखा है कि बहुत बार जब पढ़ा-पढ़ाया जाता है तब सुनने वालों को पूर्वपक्ष ही जँचने लगता है कि यही हमारा पक्ष होगा! विपक्षी अच्छे-से-अच्छे जिस ढंग से स्वपक्ष उपस्थित कर सकता है वैसे पहले सामने रख कर फिर उसका जो जवाब दिया जाता है, उसमें जो कमी दिखाई जाती है, उससे बुद्धि स्वस्थ होती है।

बुद्धि को स्वस्थ करने वाली भगवान् भाष्यकार की बड़ी जबरदस्त पद्धति है—जितने अंश में ग़लती है उतने अंश का तो विरोध करते हैं और जितने अंश के अन्दर प्रमाण से कोई विरोध नहीं है, उसका खण्डन नहीं करते। जैसे जहाँ भागवतों का, वैष्णवों का मत आया, वहाँ भाष्यकार ने स्पष्ट किया कि इनकी पूजा-पद्धति, भगवान् की शरण लेना आदि सब हमें अनुमत हैं, कार्यतया स्वीकार हैं। वे जो अप्रामाणिक, अयौक्तिक बातें मानते हैं उन्हीं को गलत बतलाते हैं। जीव उत्पन्न होता है, भगवान् जीव को पैदा करते हैं—ये सब जो उनकी गलत बातें हैं उनका ही खण्डन किया। इसी प्रकार जहाँ योग का खण्डन किया वहाँ प्रकृति को वे लोग सत्य मानते हैं और जीवों को अनेक मानते हैं इन गलत मान्यताओं का ही निरास किया है। बाकी जो वे यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार आदि करते हैं उनसे हमारा कोई विरोध नहीं है। भाष्यकार की यह शैली बुद्धि को स्वस्थ करती है। विरोधी है इसलिए उसकी सही भी बात का हम खण्डन करें—यह हम लोगों का दृष्टिकोण नहीं है। जो खण्डन के योग्य है उतने का ही खण्डन करते हैं। ऐसी युक्तियाँ बुद्धि में निश्चय पैदा करती हैं। इन्हें दूसरे अध्याय में कहा है। अन्य वादी भाष्यकार वाली दृष्टि न रखने से स्वसम्मत पदार्थों के उपपादन में इतने उलझ जाते हैं कि उनके आग्रह व्यक्त हो जाते हैं। जैसे, भक्ति से मोक्ष होता है इतनामात्र प्रतिपादित करने से उन्हें सन्तोष नहीं होता, कहते हैं कि भक्ति विष्णु की ही होनी चाहिए! ऐसे ही अन्यान्य देवताओं में आग्रही वादी हैं। उनका आग्रह देखकर बुद्धि स्वस्थ नहीं होती।। १०२।।

श्रवण-मनन बता चुके, अब निदिध्यासन का प्रसंग उठाते हैं—

बहुजन्मदृढाभ्यासाद् देहादिष्वात्मधीः क्षणात्।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि।।१०३।।

बहुत जन्मों के दृढ अभ्यास से देह आदि में पुनः पुनः क्षणभर में 'मैं'-बुद्धि और जगत् सत्य है—यह बुद्धि पैदा हो जाती है।

अनादि काल से हमने अनन्त जन्म लिए हैं। उनमें बार-बार यही अभ्यास किया

है—'शरीर मैं हूँ। मन ही मैं हूँ। मन सुखी-दुःखी तो मैं सुखी-दुःखी।' इसलिए जब कहते हैं कि मन सुखी-दुःखी होवे, तुम कैसे सुखी-दुःखी हो? तब साधक कहता है 'मन सुखी-दुःखी होवे तो हम सुखी-दुःखी कैसे न होवें! शरीर में इतना बड़ा फोड़ा हो जाए तो हम दुःखी कैसे न होवें!' शरीर के साथ हमने इतना दृढ अध्यास कर रखा है कि शरीर के दुःखी होने से मैं ज़रूर दुःखी होऊँगा, मन के दुःखी होने से मैं जरूर दुःखी होऊँगा। चूँकि अभ्यास इतना दृढ है, इसलिए जब देह से अपना भेद समझा भी दिया गया, और बात युक्तियुक्त होने से जँच भी गई, फिर भी जैसे ही मच्छर ने काटा वैसे ही 'मुझे काटा' यह बुद्धि होती है। किसी ने गाली दी। जानते हो कि गाली सुनने से मन को दुःख होता है, फिर भी जैसे ही गाली देता है वैसे ही 'मैं दुःखी हो जाता हूँ'। 'क्षणात्' तुरन्त, मच्छर ने काटा और तुरन्त 'मुझे काटा' बुद्धि हो जाती है, इसके लिए कोई विचार नहीं करना पड़ता! बाद में विचार भले ही करो—'मच्छर शरीर को काट रहा है, मुझ से क्या मतलब! गाली से मन को दुःख हो रहा है, मुझ से क्या मतलब!' शरीरादि में मैं-भाव 'पुनः पुनः उदेति' बारम्बार होता रहता है। देहादि से कोई-न-कोई व्यवहार होता ही रहता है अतः फिर-फिर देहात्मबुद्धि उदय हो जाती है। किसी ने तारीफ कर दी तो मन प्रसन्न हो गया, फिर बुद्धि हो जाती है—'मैं खुश हो गया'।

इसी प्रकार, खूब निश्चय कर लिया कि निरन्तर परिवर्तनशील होने के कारण, और भी अन्य अनेक कारणों से जगत् सत्य नहीं है, मिथ्या है। जब तक विचार करें तब तक जगन्मिथ्यात्व ही ठीक लगता है। किंतु जहाँ विचार बन्द हुआ, वहाँ फिर सत्य लगने लगता है! ये दो ही प्रधान विपरीत भावनाएँ हैं—शरीरादि में मैंपना और जगत् में सत्यपना।। १०३।।

निदिध्यासन का उपयोग दिखाते हैं—

विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात् सा निवर्तते।
तत्त्वोपदेशात् प्रागेव भवत्येतदुपासनात्।। १०४।।

यह (पूर्वोक्त) विपरीत भावना है। वह एकाग्रता से निवृत्त होती है। तत्त्व के उपदेशग्रहण से पूर्व ही (सगुण ब्रह्म की) उपासना से यह एकाग्रता सम्पन्न हो सकती है।

एक सौ तीनवें श्लोक में जो कही थी वह विपरीत भावना है। अपने ब्रह्मस्वरूप पर एकाग्रता आने से यह निवृत्त होती है। एकाग्रता आएगी कैसे? जैसे ही देहात्म-बुद्धि उदय हो, तुरन्त विचार करो। निरन्तर श्रवण-मनन में ऐसे लगे रहो कि जल्दी भूलने का समय ही न मिले! जिस समय श्रवण मनन कर रहे हो उस समय तो आवृत्ति हो ही रही है इसलिए उस समय तो विपरीत बुद्धि उत्पन्न होती नहीं। जब श्रवण-मनन नहीं कर रहे हो, तभी उत्पन्न होगी। वासना का अपना वेग होता है। अतिदीर्घ काल से 'ईश्वर अलग है, मैं अलग हूँ'—यह वासना दृढ है। इसलिए निश्चय हो जाने पर भी कि 'ईश्वर और मेरा भेद मिथ्या

उपाधि के कारण होने से मिथ्या ही है', भेद झट से उपस्थित हो जाता है। व्यवहारिक जगत् के अन्दर सत्यबुद्धि की भी दृढ वासना है। इसलिए पता होने पर भी कि मिथ्या है, फिर भी सत्यत्व की वासना झट से उदय हो जाती है। कार्य-कारणभाव की असम्भवता जानते हैं फिर भी लगता है कि दवाई लेने से रोग ठीक हो ही जाएगा। अगर रोग ठीक नहीं हुआ तो लगता है कि दवाई ठीक नहीं मिली। कार्य-कारणभाव असम्भव है यह निश्चय होते हुए भी अनादि वासना के कारण झट से सत्यत्व-बुद्धि आ जाती है। जगत्-सत्यत्व का निश्चय आना—इसी को विपरीत भावना कहते हैं। चूंकि पता लग चुका है कि 'ऐसा नहीं है' इसलिए इसे सीधा-सीधा ज्ञान नहीं कह सकते। ज्ञान प्रायः तब कहते हैं जब निश्चय होता है कि 'ऐसा जानते हैं'। जगत् को जानते तो मिथ्या हैं पर लगता सत्य है। इसके बारे में खुद अपने से ही, या कोई दूसरा याद दिलावे तो झट से याद आ जाता है कि है तो मिथ्या। फिर भी लग जाता है कि सच्चा है। इस 'लग जाने' को ही वासना, भावना नाम से कहा है। जीवन् मुक्तिविवेक नामक ग्रंथ में 'वासनाक्षय' कहा है, यहाँ भावना की निवृत्ति कही है। नए ज्ञान के अन्दर दृढता नहीं है इसी से विपरीत भावना बनी रहती है, और कोई कारण नहीं है, न प्रमाणगत संशय है, न प्रमेयगत संशय है। फिर भी वासना ऐसा भाव करा देती है।

प्रायः लोग परमेश्वर की उपासना तत्त्वज्ञान समझने से पहले करते हैं, सगुण ब्रह्म की उपासना पहले करते हैं। इसलिए जिस चीज़ को चाहते हैं उसमें उनका मन स्थिर रहता है, मन को स्थिरता का अभ्यास है। वह स्थिरता भी अलौकिक चीज़ में अभ्यस्त है। अलौकिक चीज़ में स्थिरता के लिए श्रद्धा की अतिशय आवश्यकता होती है। परमेश्वर अलौकिक पदार्थ है। परमेश्वर न दृष्टि का विषय है न रसना का, न घ्राण का; किसी भी इन्द्रिय का विषय परमेश्वर है नहीं। इसलिए परमेश्वर में किसी-न-किसी उपाधि की कल्पना करते हैं जिस के द्वारा ही परमेश्वर में मन स्थिर होता है। जिसका उपासना से चित्त की एकाग्रता का स्वभाव हो गया है, उसे जब श्रवण-मनन से निश्चय होता है कि 'जिस परमेश्वर पर हमने चित्त को एकाग्र किया था वह परमेश्वर प्रत्यगात्मा है' तो इसी में वह स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार 'परमेश्वर ही सर्वरूप है' इसकी उपासना में जिसे दृढता हुई वह नामरूप के अन्दर परमेश्वर को देखता है। जब पता लगा कि जो नाम-रूप हम कल्पित कर रहे हैं वे उपाधिमात्र हैं, वहाँ तो अधिष्ठान रूप से ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म मैं हूँ।' तब जगत्-मिथ्यात्व और ब्रह्म अपना स्वरूप है—इसके अन्दर एकाग्रता बनी रहती है। स्वभाव हो चुकने से एकाग्रता के लिए प्रयास नहीं चाहिए रहता। ऐसे अधिकारी की तो उपदेशमात्र से अर्थात् श्रवण-मनन सिद्ध हो जाने मात्र से ही स्थिति हो जाती है क्योंकि उसकी विपरीत भावना एकाग्रता के कारण पहले ही निवृत्त है।

अन्यत्र विद्यारण्य स्वामी ने लिखा है कि वेदान्त के दो तरह के साधक हैं—एक कृतोपास्ति, दूसरा अकृतोपास्ति। कृतोपास्ति अर्थात् जिन्होंने उपासना कर ली, परमेश्वर में एकाग्रता को सिद्ध कर लिया। उनका तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते ही दृढ होता है, इस स्थिति

से इधर-उधर होते नहीं। दूसरे हैं अकृतोपास्ति, जिन्होंने उपासना पहले नहीं की है। उन्हें तत्त्वबोध के अनन्तर एकाग्रता स्थापित करनी पड़ती है जिससे विपरीत भावना हटती है। यद्यपि प्रायः जिसने कर्म-उपासना कर लिए उसी का चित्त शुद्ध होकर ज्ञान प्राप्त करता है अतः एकाग्रता पहले ही होती है ऐसा कहा, तथापि अधिकारिभेद प्रसिद्ध होने से नियम नहीं कर सकते, ज्ञान के बाद भी एकाग्रता कर्तव्य हो सकती है।। १०४।।

ज्ञानकाण्ड में विहित असंख्य उपासनायें हैं जिससे उपासना का ज्ञानदार्ढ्य में उपयोग सिद्ध हो जाता है यह समझाते हैं—

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिन्तिताः।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद् ब्रह्माभ्यासेन तद् भवेत्।।१०५।।

इसीलिए इस ब्रह्म-शास्त्र में भी उपासनाओं का वर्णन किया गया है। जिसने ज्ञान से पहले उपासना का अभ्यास नहीं किया, उसे ज्ञान के बाद ब्रह्माभ्यास से एकाग्रतालाभ हो जाता है।

उपासना से ही एकाग्रता हो सकती है इसलिए वेदान्त शास्त्र में, ब्रह्मसूत्रों के तृतीयाध्याय के अन्दर अनेक उपासनाएँ बतलाई हैं। प्राण को ब्रह्म माने, मन को ब्रह्म माने, हृदय के अन्दर जो दहराकाश है उसके अन्दर चित्त को एकाग्र करे इत्यादि अनेक उपासनाएँ बतलाई हैं। 'अत्र' अर्थात् वेदान्त शास्त्र में, उत्तरमीमांसा में। चिन्तित अर्थात् विचारित हैं, इन्हें कैसे करें, उपासनाओं की क्या इतिकर्तव्यता है, किन-किन अंगों से उपासना करनी है, इत्यादि सब विस्तार बतलाए हैं। उसी में ओंकार की उपासना भी कही है। उसके अन्दर अकार में विश्व को वैश्वानर से एक करना बतलाया। अभी तो जाग्रत् से हम अपनी, व्यष्टि की अवस्था लेते हैं। उसकी जगह 'जाग्रत् अवस्था समष्टि की है' इस तरह से विश्व और वैश्वानर को एक करना है। इसी प्रकार अभी तो हम स्वप्न को केवल अपनी स्थिति समझते हैं। उपासना से सबके स्वप्न को इकट्ठा करके तैजस और हिरण्यगर्भ को एक देखना है। इसी प्रकार सषुप्ति के अन्दर प्राज्ञ और ईश्वर को एक करके देखना है। इसी प्रकार दहरोपासना, शाण्डिल्य उपासना आदि कई उपासनाएँ बतलाई हैं। तलपट मिलाने में, लड़की के ब्याह की व्यवस्था में इत्यादि लौकिक कार्यों में तो सभी का चित्त एकाग्र होता है पर वह अभ्यास ब्रह्मनिष्ठा के लिए व्यर्थ है। शास्त्रोक्त उपासना से ही एकाग्रता का अभ्यास ब्रह्मनिष्ठा में उपयोगी है। परमेश्वर की उपासना से ही यह लाभ सम्भव है। परमेश्वर में जब चित्त की एकाग्रता होगी तब मैं में भी एकाग्रता हो जाएगी, अन्यथा नहीं हो पाएगी। इसलिए परमेश्वर की जो उपासनाएँ उपनिषदों में विहित हैं उन्हीं से यह लाभ होना है। वर्तमान काल में परमेश्वर की उपासना करने वाले बहुत कम हैं। इसलिए अधिकतर लोग अकृतोपास्ति हैं।

पहले जिसने परमेश्वर पर चित्त एकाग्र नहीं कर लिया है उसके लिए क्या उपाय है?

जिसकी चित्त-एकाग्रता नहीं है, उसकी विपरीत भावना क्या नहीं हट सकती? श्रवण-मनन करके जिसने निश्चय कर लिया जीव-ईश्वर की एकता का, उसका मन सोपाधि रूप पर एकाग्र नहीं होगा क्योंकि उपाधि-मिथ्यात्व प्रतीत होने से उसमें आकर्षण नहीं रहेगा। झूठा, काल्पनिक जानने पर एकाग्रता स्थापित नहीं की जा पाती। जीव-ईश्वर का भेद मानकर होने वाली उपासना ऐसे अधिकारी के लायक नहीं। किंतु उपासना के बिना विपरीत भावना हटेगी नहीं। इस तरह वह तो बुरा फँसा! फल और साधन—दोनों में अक्षम होने से ज्ञान भी व्यर्थ जायेगा! इसलिए स्पष्ट किया कि उसके लिए कोई उपाय न हो, ऐसा नहीं है। जो पहले अभ्यास नहीं कर चुका है वह जीव-ब्रह्म की एकता का ही अभ्यास कर सकता है, निर्विकल्प परमात्मा के अन्दर ही चित्त की एकाग्रता का अभ्यास कर सकता है। क्योंकि अब सोपाधिक उपासना में उसका चित्त एकाग्र हो नहीं सकता इसलिए जिसको उसने ठीक समझा अर्थात् श्रवण-मनन से निश्चित प्रत्यगात्मा और ब्रह्म की एकता के अन्दर मन को स्थिर करे, इसी का अभ्यास करे। इसलिए कहा कि ब्रह्माभ्यास से चित्त की एकाग्रता संपन्न हो जाती है।। १०५।।

निर्विशेष ब्रह्म की उपासना कैसे की जाए? सोपाधिक उपासना तो उपाधि सामने है, वहाँ मन एकाग्र करते हो और उसमें परमेश्वर की दृष्टि करते हो। यहाँ सामने तो कुछ होगा नहीं, उपाधि कोई आएगी नहीं, फिर चित्त एकाग्र कहाँ करें? अतः दूसरे ढंग की उपासना कहते हैं—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः।। १०६।।

उसका चिन्तन, उसका कथन, एक-दूसरे को वह समझाना—यह एक-तत्परता विद्वानों ने 'ब्रह्माभ्यास' समझी है।

यह महर्षि वशिष्ठ (योगवा. उत्प. २२. २४) का वाक्य है। वशिष्ठजी ने ब्रह्माभ्यास इस प्रकार बतलाया है। इसमें मन को वैसे एकाग्र नहीं करना है जैसे ध्यान में करते हैं। यहाँ तो 'तच्चिन्तनं' उस तत्त्व का चिन्तन करना है। जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म है उसका जिस ढंग से उपनिषदों में, ब्रह्मसूत्रों के अन्दर प्रतिपादन किया है उस ढंग से उन्हीं बातों को बार-बार सोचना है। जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों के प्रसंगों को बार-बार सोचना है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' से लेकर 'तत्त्वमसि' पर्यन्त सारी बातें सोचनी हैं। जो भेदवादी शास्त्र हैं, जिनमें भेद के प्रसंग आए हैं, उनसे बचकर भी रहना है, उनको नहीं सोचना है। स्वयं श्रुति ने कहा है कि बहुत्वबोधक शब्दों का अनुचिंतन नहीं करना चाहिए। अन्य शास्त्रों का चिन्तन करोगे तो एकाग्र भावना नहीं हो पाएगी। क्योंकि वे तो एकात्मता को सिद्ध करने वाले प्रसंग हैं नहीं इसलिए उतनी देर भेदभावना का व्यवधान होगा। हो सकता है प्रसंगवश वहाँ कहीं एक बार अभेद कह भी दिया हो, लेकिन

प्रधान प्रसंग तो भेद का ही रहेगा अतः उन शास्त्रों का चिन्तन करने से अभेदभावना की दृढता सम्भावित नहीं। उपनिषदों के अन्दर तो आदि से अन्त तक बार-बार अभेद का ही विचार आना है इसलिए बार-बार उपनिषदों का ही आवर्तन करे। कहोगे, 'सब समय उसी चीज़ को सोचते तो रहें, लेकिन कोई मिलने आवे तब क्या करें?' अतः कहा 'तत्कथनम्'। जीव-ब्रह्म की एकता और जगत्-मिथ्यात्व की बातें ही उससे भी करो। किसी से बात करो तो वही करो। यह मत सोचो कि उसे क्या सुनना अच्छा लगेगा, तुम अपना ब्रह्माभ्यास ही करो। भाग जाएगा तो बहुत अच्छा है, तुम फिर चिन्तन करने लग जाओ!

दक्षिणामूर्ति मठ के ही एक पहले के मण्डलेश्वर थे स्वामी रामानन्द जी महाराज। जब कोई आये तो वे तकिए पर सिर रख करके सो जाया करते थे। कोठारी ने कहा 'महाराज, लोग आते हैं, ज़रा उनको कुछ सुनाना चाहिए।' उन्होंने कहा 'ये सुनाने आते हैं, सुनने तो आते नहीं। हम सुनाने लगेंगे तो उठकर चले जाएँगे।' उन्होंने कहा 'ऐसा नहीं है, सुनाना चाहिए।' वे बोले 'तुम कहते हो तो सुना देंगे।' अगले दिन कोई आया तो उन्होंने वेदान्त का उपदेश प्रारंभ किया। जो आधा घण्टा बैठ कर अपने घर की सब लीलाएँ सुना कर जाया करता था, जब स्वामी जी ने थोड़ी देर सत्संग सुनाना शुरू किया, तब बोला 'स्वामी जी, ज़रा काम है, जाता हूँ।' दो-एक आए, सबने ऐसा ही किया। बाद में मंडलेश्वर जी ने कोठारी से कहा—'ये सब घण्टा-घण्टा बैठने वाले थे। तुम कहते हो सुनाओ, सुनाने पर ये चले जाते हैं। नहीं तो ये अपने मन की निकाल लेते थे, इनका जी हल्का हो जाता था।' इसलिए तत्त्व सुनाओगे तो आये लोग उठकर चले जाएँगे, फिर अपना चिन्तन चला सकते हो। यदि दूसरे की खुशी के लिए तुम कोई दूसरी बात करोगे तो जो तुम्हारी अनादि वासनाएँ हैं वही उठने लगेंगी, अद्वैत वासना में दृढता नहीं आ पाएगी, ब्रह्म का अभ्यास नहीं हो पाएगा। सामने वाला क्या सुनना चाहता है इससे मुझ साधक को कोई मतलब नहीं, मुझे तो अपना हित साधना है। जैसे भोजन हम करते हैं स्वयं को मज़ा आने के लिए। हमें मीठा अच्छा लगता है, कोई बड़े प्रेम से करेला खिलावे तो एक-आध कौर किसी तरह से खा लेंगे लेकिन आनन्दपूर्वक तो नहीं खा सकेंगे। इसी तरह किसी की इच्छा पूरी करने के लिए भी भेदवार्त्ता में रस मत लो, मजबूरी समझकर भले ही एक-दो बातें कर लो पर जल्दी ही अभेदवार्त्ता पर लौट आओ। कौन क्या सुनना चाहता है इससे मतलब नहीं, जिस कथन से मेरा ब्रह्माभ्यास हो वह मुझे करना है।

कथन किसी से भी हो सकता है। कई बार लोग पूछते हैं, कि इसका अधिकारी न हो तो क्या करें? उसके अधिकार की चिंता में तुम्हारा अभ्यास बिगड़ जाएगा, तुम खुद भी अनधिकारी बनने लग जाओगे! वह अधिकारी नहीं है तो नहीं सुनेगा लेकिन अपना ब्रह्माभ्यास दृढ करने का तो यही तरीका है। जो सतीर्थ्य हैं, साथ अध्ययन करने वाले हैं, उनसे व्यवहार का तरीका है 'अन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्'। अगर साथी किसी समय ब्रह्माभ्यास से अतिरिक्त कोई विचार करने लगे तो उसको बतावे कि ग़लत कर रहा है, इससे

जन्म-मरण के चक्कर में फँसा रहेगा। उसे छोड़ने को प्रेरित करो। कभी हम भूल जाएँगे तो वह याद दिला देगा। दोनों हैं सतीर्थ्य ही। वह भी इसी का अभ्यासी है। कथन में श्रोता वक्ता से कम जानकार होता है, अन्योन्य तत्प्रबोधन में समान जानकार होंगे। एक ही शास्त्र के अध्येता, एक गुरु के शिष्य आपस में चर्चा करें तो अन्योन्य प्रबोधन होगा। किंच 'प्रबोधन' मतलब जगाना। एक भूले तो दूसरा सावधान कर दे—यह अन्योन्य प्रबोधन है। साथियों की प्रमाण-प्रमेय-विषयक निःसंशयता में यत्किञ्चित् फ़रक हो सकता है। सब बिलकुल एक जैसे ही होवें, ऐसा नहीं है, लेकिन होंगे सब अपरोक्ष ज्ञान वाले ही। किसी के कम संशय बचे हो सकते हैं, किसी के ज़रा ज़्यादा संशय निवृत्त हो चुके हो सकते हैं। जहाँ गीता के अन्दर भगवान् ने साधक के लिए एकान्त में रहने का विधान किया, वहाँ आचार्य शंकर ने कहा है कि एकान्त का मतलब है जहाँ प्राकृत लोग नहीं हैं। प्राकृत अर्थात् सांसारिक दृष्टि वाले। क्योंकि जो संस्कृत अर्थात् ठीक प्रकार के संस्कारों वाले हैं, उनका साथ तो मदद ही करता है। अतः अकेले रहना एकान्त का मतलब भाष्यकारों ने नहीं किया। 'एक' परमात्मा के विषय में ही जो लगे हुए हैं, ऐसों के साथ रहना एकान्त माना। 'अन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्' तभी बनेगा जब दूसरे साथ हैं। यही एकपरता है—एकाग्र होने का साधन है। इसी को ब्रह्माभ्यास कहा गया है यह ज्ञान के बाद करने का साधन है। श्रवण-मनन से निःसंशय हो चुके, दृढता के लिए उसी श्रवण-मनन की आवृत्ति खुद बैठकर करे, अन्यों को सुनावे, और आपस में एक दूसरे को याद भी दिलावे। बुध, समझदार लोगों ने इसी को ब्रह्माभ्यास कहा है। उपासना में एक उपाधि में चित्त को एकाग्र करते हैं। ब्रह्माभ्यास में किसी उपाधि में चित्त को एकाग्र नहीं किया जाता है वरन् जिस-किसी ढंग से निरुपाधिक की तरफ वृत्ति बहती रहे, वही साधन है। अत एवं कथन-प्रबोधन आदि में सावधानी रखनी चाहिए कि बहिर्मुखता न आने पाये, ख्याति-लाभ-पूजा आदि के विचार मन में न आयें, तर्कादिका अभिनिवेश न हो। ।।१०६।।

वशिष्ठादि विद्वानों का ही यह मानना नहीं है, स्वयं श्रुति (बृ. ४.४.२१) भी यही कहती है यह बताते हैं—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।। १०७।।

धीर ब्राह्मण उसी का अनुभव कर प्रज्ञा (एकाग्रता) करे। बहुत्वपरक शब्दों का अनुसन्धान न करे क्योंकि वह वाणी के श्रमका ही हेतु है।

प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो शिव है उसी का विज्ञान करे। आचार्य शंकर ने इसीलिए कहा, दो ही काम करने हैं, 'अहर्निशं किं परिभावनीयं संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्'। रात-दिन संसार के मिथ्यात्व का चिंतन करना है, और अपनी शिवरूपता का स्मरण करना है। 'ब्राह्मणः' जिसने ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया है उसको 'धीर' धैर्य पूर्वक प्रज्ञा करनी है। यह

एक-दो दिन का मामला है नहीं, इसलिए धैर्य वाला साधक चाहिए। धीर-शब्द का दूसरा अर्थ है बुद्धि में रमण करने वाला। अर्थात् ब्रह्म को जानकर बुद्धि में उसकी वासना को स्थिर करने में जो लगा हुआ है। वह सारी उपाधियों से रहित शुद्ध जो स्वरूप है, उसका अपरोक्ष साक्षात्कार करके इसी प्रज्ञा को बार-बार करे। तत्त्व के निश्चय को दोहराना प्रज्ञा है। भगवान् दक्षिणामूर्ति का जो प्रधानमंत्र है, उसमें उनसे प्रार्थना ही यह की गई है कि मुझे प्रज्ञा देवें। यह प्रज्ञा बार-बार उपनिषदों के आवर्तन से, उस चीज़ को सिद्ध करने वाली युक्तियों के आवर्तन से होगी। अतः 'निदिध्यासितव्यः' को स्वयं श्रुति ने 'विज्ञान' कहा है अर्थात् बार-बार विज्ञान पैदा करना निदिध्यासन है। अखण्डाकार वृत्ति बनी रहे, टूटने न पाये—यह निदिध्यासन है। इसमें श्रवण-मनन उपाय बनते हैं। बहुत्व के प्रतिपादक शब्दों को मन में नहीं लाना है, उसका अनुध्यान नहीं करना है। बहुत से लोग केवल बहुश्रुत होना चाहते हैं। किस-किसने क्या-क्या कहा यह जान लेना चाहते हैं। 'उससे मेरा क्या हुआ' इससे कोई मतलब नहीं रखते। यों भी बहुत्व के प्रतिपादक जो शब्द हैं, उनका अध्ययन नहीं करे, उनका चिन्तन भी न करे, उसको सोचने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि उनके संस्कार दृढतर हो जायेंगे। इनके संस्कार तो अनादि काल से पड़े ही हैं, उन्हें और पुष्ट मत करे। उनका चिन्तन, अध्ययन करना वाणी का व्यर्थ प्रयास है। जगत् का न कोई अन्त पा सका है, न पा सकेगा। इसलिए जो अपने काम की, अपने कल्याण की बात है, उसको समझ लो, कहाँ क्या कहा है, इसका विचार छोड़ो। इसी प्रकार राम, कृष्ण आदि ने क्या किया, क्यों किया, क्या नहीं किया इत्यादि का विचार भी इस साधना में निरर्थक है। अपने स्वरूप को समझने, समझे रहने का ही प्रयास उपयोगी है।। १०७।।

ब्रह्माभ्यास का स्वरूप निरूपित कर उसमें श्रुति बतलाई, अब स्मृति (गी.९.२२) कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। १०८।।

जो अनन्य जन चिन्तन करते हुए मेरी सब समय उपासना करते हैं, सदा मन्मना उनके योग और क्षेम का मैं वहन करता हूँ।

चिन्तन करना तो उपासना हुई, सब तरह से अर्थात् सभी कार्यों को करते हुए, सभी काल में जो चिन्तन करना वह पर्युपासना है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म की उपासना, सब समय प्रवहित होनी चाहिए। दूसरी उपासनायें तो दो-चार घण्टे में हो जाती हैं, ऐसी प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की उपासना नहीं है। जब तक नींद न आ जाये, जब तक मर न जाये, तब तक निरन्तर यह उपासना चलनी चाहिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शुरू में ही लगातार ध्यान हो जायेगा। उपासना धीरे-धीरे बढ़ती जायेगी, तब पर्युपासना होगी। इसके द्वारा स्मृतिकार कहना चाहते हैं कि जब तक पर्युपासना नहीं हो जाती तब तक ज्ञान दृढ नहीं

होता। यह पर्युपासना किसकी है? कहा, 'मां', उपासना मेरी है, परमेश्वर की है। 'मैं परमेश्वर से अन्य नहीं हूँ, परमेश्वर मेरे से अन्य नहीं हैं' इस प्रकार अनन्य भाव रखते हुए उपासना है। इसी को वेद में कहा है 'हे भगवन्! मैं तुम ही हूँ, और तुम मैं हूँ'। एक तरह कहो तो अंशांशिभाव की प्राप्ति हो सकती है इसलिए वेद ने दोनों तरह से कहा। अर्थात् सर्वथा अभेद है। ऐसा नहीं है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म का अंश होवे, या ब्रह्म प्रत्यगात्मा का अंश होवे। ऐसे अनन्य-भाव से मेरा जो चिन्तन करते हैं। उन्हीं की स्थिति बनती है।

जब पर्युपासना करेंगे और वह सिद्ध भी हो जायगी, तब प्रश्न होता है कि उनके सांसारिक व्यवहार का कैसे निर्वाह होगा? जब सर्वतः, सब जगह, सब समय उपासना को चलाते हो, तब सांसारिक व्यवहार कैसे चलेगा? यह शंका सभी साधकों के मन में रहती है। सभी अपने योग-क्षेम की चिन्ता करते हैं, लगता है 'रहने-खाने का प्रबंध तो हमें ही करना है, बाकी सब भगवान् करेंगे'। इसलिए भगवान् कहते हैं कि जो हमेशा ही 'अभियुक्त हैं, मेरे ही चिन्तन में संलग्न हैं उनको अपने योग-क्षेम की चिन्ता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं उनका वहन करता हूँ'। योग अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति। क्षेम अर्थात् प्राप्त का संरक्षण। यह केवल सांसारिक चीज़ों के लिए ही नहीं समझ लेना। हमने जितनी एकाग्रता या ज्ञान प्राप्त किया। उसका संरक्षण और उसमें दृढता की, पूर्णता की प्राप्ति, ये भी योग-क्षेम ही हैं। इस मार्ग पर चलने के बाद यह सोचने की ज़रूरत नहीं है कि सिद्धि होगी या नहीं। जितना तुमने साधन किया है वह नष्ट नहीं होगा, अगले जन्म में बाकी हिस्से को करोगे। उचित स्थान, शरीर, परम्परा आदि भगवान् उपलब्ध कराते हैं जहाँ साधना आगे चल सके। इस मार्ग में जो चल पड़ा, उसके लिए प्रत्यवाय दोष नहीं है। जन्म-जन्मान्तर तक यह क्रम चलता ही रहेगा। यह योग साधक को प्राप्त हो, यह व्यवस्था स्वयं भगवान् करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि संसार में सभी का योग-क्षेम प्रारब्ध के द्वारा परमात्मा ही करते हैं, फिर अनन्य चिन्तन की विशेषता क्या रही? सभी का योग-क्षेम परमेश्वर वहन करते हैं यह तो निःसन्दिग्ध है पर इसको न जानने के कारण अपने शरीर, पत्नी, पुत्र, सम्पत्ति व्यापार आदि सबका बोझ अपने सिर पर ले कर लोग व्यर्थ परेशान होते रहते हैं। जो अनन्य चिन्तन करने वाला है, वह इस प्रकार परेशान नहीं होता क्योंकि जानता है कि सर्वथा परमेश्वर ही चलाने वाले हैं। बिना अभेद-अनुसंधान के यह निश्चय हो नहीं सकता। अहम् में कर्तृत्व-बोध है 'मैं करता हूँ' यह बोध है। जब त्वम्-पदार्थ का शोधन करते हैं, तब पता लगता है कि मैं अकर्त्ता हूँ, करने वाले तो माया का कार्य बुद्धि से लेकर कर्मेन्द्रियाँ आदि शरीर-पर्यन्त सब हैं। जब तक परमेश्वर का बोध नहीं होता, तब तक लगता है कि ये सब मेरे बिना कैसे चल सकते हैं, मैं चेतन, मेरे बिना ये जड प्रवृत्ति कैसे करेंगे? जब पता लगता है कि चेतन परमेश्वर बैठा ही हुआ है तब यह बोझ उतर जाता है। खाली मैं ही चेतन थोड़े ही हूँ! कहने को तो हम सब कहते हैं कि हृदय में परमेश्वर बैठा है, परन्तु 'दुकान तो मैं

ही खोलूँगा'! जिसने शास्त्रानुसार विचार किया है वह जानता है कि माया के जितने भी कार्य हैं, सब माया के द्वारा ही परिचालित हैं और माया ईश्वर द्वारा परिचालित है। तत् पदार्थ का शोधन करने से जानता है कि माया ईश्वर का स्वरूप नहीं है। अतः ईश्वर निर्विकार रहते हुए अपने पर अध्यस्त माया को नियन्त्रित रखता है। फलतः संसार के किसी कार्य के लिए मुझ जीव को अभिमान करने की ज़रूरत नहीं। यह अनन्यचिन्तन से लाभ होने के कारण ऐसे पर्युपासक निरभिमान हो जाते हैं। अज्ञानी को अपने योग-क्षेम के प्रति दायित्व का अनुभव होने से केवल भगवान् वहन करते हैं—यह प्रतीत नहीं होता जबकि पर्युपासक को यही प्रतीत होता है। यह ज्ञान होने पर इसकी दृढता के लिए प्रयत्न करना है। ज्ञान की दृढता के बिना, संसार के सुख-दुःख नहीं हटेंगे।।१०८।।

श्लोक १०७ में उद्धृत वेदवचन और श्लोक १०८ में उद्धृत गीतावचन का तात्पर्य सूचित करते हैं—

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि।।१०९।।

ये श्रुति-स्मृति वचन विपरीत भावना के क्षय के लिए ही बुद्धि की आत्मा में हमेशा एकाग्रता का विधान करते हैं।

ऐसी अनेक श्रुतियाँ व स्मृतियाँ हैं। विपरीत भावना अर्थात् तत्त्वमस्यादि से होने वाला जो अखण्ड ब्रह्माकार ज्ञान, उसका निश्चय होने पर भी, अनादि संस्कारों के कारण फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति हो जाती है, यह विपरीत भावना है। इसे विपरीत क्यों कहते हैं? क्योंकि यह निश्चय है कि मैं चिन्मात्र हूँ फिर भी सुख-दुःख की प्रतीति के समय 'मैं सुखी-दुःखी' ऐसी प्रतीति होती है। चिन्मात्रताका निश्चय नहीं बदलता, क्योंकि श्रवण-मनन पक्का हो गया है। भगवान् भाष्यकार ने यही कहा कि अपने हृदय में अपनी ब्रह्मरूपता का भी अनुभव करता है, साथ में संसार की प्रतीति का भी अनुभव करता है। प्रमाणतः समझी बात से उलटी है—इसलिए विपरीत भावना है। अभी तो हमारा निश्चय भी है कि हम कर्त्ता-भोक्ता हैं और हमारी भावना भी यही है। ज्ञान के बाद निश्चय है कि अकर्त्ता-अभोक्ता हूँ इसलिए यह भाव हो कि 'यह मुझे करना या भोगना है' तो विपरीत भावना ही कहलायेगी। उसके क्षय के लिए आत्मा में अर्थात् ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा में बुद्धि की एकाग्रता करनी है, उसी में बुद्धि स्थिर रखनी है। दीर्घकाल तक ऐसा होने से यही वासना बन जायेगी। तब फिर देहादि से लेकर के मन बुद्धि, अहंकार पर्यन्त सारे ऐसे ही दीखेंगे लेकिन उनमें मैंपना या मेरापना नहीं भासेगा। जैसे उदरस्थ भोजन मैं लगता है पर मल निकलने के बाद मैं नहीं लगता, उसके विकार से मुझमें कोई विकृति नहीं आती, वैसे शरीर-मन आदि के विकार मैं में नहीं भासते। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने यह दृष्टांत दिया है। अहंकार-वृत्ति से लेकर देहादि में जो भी कुछ होता है, उसको देखने पर भी कोई उसमें दुःखी-सुखी की

भावना नहीं होती। इसके लिए एकाग्रता को प्राप्त करना है। 'नित्यम्' अर्थात् हमेशा अवश्य एकाग्रता रखने का विधान है। नित्य-निरन्तर यह भावना करनी है।।१०६।।

विपरीत भावना किसे कहते हैं यह बताते हैं–

यद्यथा वर्त्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः।
विपरीता भावना स्यात् पित्रादावरिधीर्यथा।। ११०।।

जो जैसा है उसकी सच्चाई छोड़कर उसे अन्य तरह का समझना विपरीत भावना है जैसे पिता आदि को दुश्मन समझना।

पिता कभी भी पुत्र का अनिष्ट नहीं कर सकता। यह बात तो सच्ची है। परन्तु गलत व्यक्तियों का संग होने से पिता भी दुश्मन लगता है। एक बड़े लेखक के पिता साहित्य के बड़े समालोचक थे। वे लड़के के लेखों की आलोचना करते रहते थे। धीरे-धीरे लड़के के मन में आने लगा कि 'मेरे पिता जी मेरी प्रसिद्धि से ईर्ष्या करते हैं। इनके रहते मैं कभी बड़ा लेखक नहीं हो सकता।' पिता तो उसे और अधिक सुधारने के लिए वैसा करते थे। मन में शंका आ गई तो उनको मारने का उपाय करने लगा! जब रात में पिता को मारने गया तब पिता, माता से लड़के की तारीफ कर रहे थे। माँ ने कहा 'लड़का अब बड़ा हो गया है, नहीं डाँटना चाहिए।' पिता ने कहा, 'चाहता हूँ यह सब समय का सबसे बड़ा लेखक हो जाये इसलिए टोकता हूँ।' यह सुनकर लड़के को ग्लानि हुई। इस प्रकार के भ्रम का नाम विपरीत भावना है। मैं प्रत्यगात्मा अकर्त्ता-अभोक्तास्वरूप हूँ। मेरी वास्तविकता तो ब्रह्म है। उसको 'हित्वा' छोड़कर अन्यथा समझना–'मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ, मैं सुखी-दुःखी हूँ।' यह विपरीत भावना है। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'अतस्मिंस्तद्बुद्धि' भ्रम होता है। सूत्रभाष्य के प्रारम्भ में ही भाष्यकार ने यह शंका उठाई है कि आत्मा चेतन है, बाकी सब इससे भिन्न जड हैं। एक दृश्य है, दूसरा द्रष्टा है। समझ में यह आना चाहिए कि ये दोनों अलग हैं। बैटरी के प्रकाश में दीवाल दीखती है। बैटरी का प्रकाश दिखाने वाला, दीवाल दीखने वाली हुई। दोनों सर्वथा अलग हैं। यह बात सीधी है पर लोग कहते हैं 'हमें ऐसी प्रतीति होती है। चींटी के काटने से मुझे दर्द होता है!' नहीं होना चाहिए, यह तो ठीक है, लेकिन जो चीज़ नहीं होनी चाहिए वह होती है, इसी को विपरीत भावना, अध्यास कहते हैं। ।।११०।।

तत्त्वबोध के अनन्तर ऐसी भी विपरीत भावना होती है यह स्पष्ट करते हैं–

आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत् तयोः।
देहाद्यात्मत्व-सत्यत्व-धीर्विपर्ययभावना।।१११।।

यह आत्मा शरीर आदि से भिन्न है एवं यह जगत् मिथ्या है फिर भी आत्मा को शरीरादिरूप समझना और जगत् को सत्य समझना विपर्यय भावना है।

शरीर को मैं जानता हूँ, मन को मैं जानता हूँ, अतः शरीर-मन से मैं भिन्न हूँ। और यह जो जगत् है, इसमें हम न किसी चीज़ को 'है' कह सकते हैं, न 'नहीं है' कह सकते हैं। आर्यसमाजी कहते हैं—जो पढ़ावे वह ब्राह्मण, जो कमावे वह वैश्य; कर्म से जाति मानते हैं। ऐसा मानने पर सचमुच में उसकी कोई जाति तो सिद्ध होती नहीं है। इसी प्रकार जब हमें चीज़ है दीखी, तब हमने उसे है-जाति का कह दिया। जब नहीं दीखी तब नहीं है—जाति का कह दिया। उसकी वस्तुतः जाति क्या है? जाति वह जो एक ही रहे। अतः सिद्ध हुआ कि संसार न है-जाति का और न नहीं है-जाति का है। सत् और असत् से विलक्षण है। इसी को मिथ्या कहते हैं। इस प्रकार आत्मा तो शरीर आदि से भिन्न है और यह जगत् मिथ्या है—यह तो विचार से आदमी समझ सकता है। फिर भी 'तयोः' अर्थात् आत्मा और जगत् इन दोनों में जो आत्मा है उसे शरीरादि रूप समझ रहे हैं। शरीर का जन्मदिन, मेरा ही जन्मदिन है। दृढ भावना है कि शरीर मैं हूँ।

इसी तरह से जगत् सत्-असत् से विलक्षण है, फिर भी लग सत्य ही रहा है। यह भ्रांति इसलिए और दृढ हो जाती है कि जिस प्रकार हम एक 'भीड़' नाम की चीज़ को मान लेते हैं वैसे जगत् माने हुए हैं। यदि हजार आदमी किसी को मार दें तो खून का इल्जाम नहीं होता है। उसे तो दंगा मानते हैं। अर्थात् 'भीड़' नाम की चीज़ को मान लिया। मारा तो एक-दो ने ही है, पर मान लिया कि भीड़ ने मारा तो किसी ने नहीं मारा। ऐसे ही एक-एक करके तो सब चीज़ें नष्ट ही होती मिलती हैं पर मानते हैं कि 'सारा जगत्' तो नष्ट नहीं हुआ! हर-एक चीज़ को छोड़ कर 'सारा जगत्' है कहाँ? सारा जगत् तो तुम्हें 'है' नहीं दीखता, नहीं है भी नहीं दीखता। अनेक आकाशगंगायें हैं, तारे हैं, तुमने क्या सबको देखा? कुछ भी नहीं देखा! 'सारा जगत्' तो उपस्थित है नहीं। जगत् के रूप में वही कह सकते हो जो तुम्हारे सामने है, और उसमें से हर चीज़ पैदा और नष्ट होती दीखती है। फिर भी यह मानना कि जगत् तो है, केवल भ्रांति है। पर जगत्-सत्यत्वधी हो जाती है, जैसे शरीरादि में आत्मत्वधी हो जाती है। यह विपरीत या विपर्यया भावना है। आत्मा शरीर आदि से भिन्न है, यह सच्ची बात है। जगत् मिथ्या है, यह सच्ची बात है। फिर भी विपरीत निश्चय है। इसके संस्कारवश ज्ञान के बाद भी शरीर-जगत् से थोड़ा भी व्यवहार करते समय विपरीत प्रतीति हो जाती है। तत्त्व समझने के बाद इस विपरीत भावना को हटाने वाली एकाग्रता है। यदि तुम्हारी एकाग्रता रही कि आत्मा में ब्रह्मरूपता है और माया के द्वारा परमेश्वर ने यह सारा जगत् प्रकट किया है, अतः जगत् सत्य नहीं है, अज्ञान से प्रतीयमान जगत् में होने वाले ये शरीर आदि मुझ से सम्बंध वाले हैं नहीं, तो विपरीत भावना आने का अवसर नहीं रहेगा।। १११।।

एकाग्रता का विषय बताते हैं—

तत्त्वभावनया नश्येत् साऽतो देहातिरिक्तताम्।
आत्मनो भावयेत् तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम्।।११२।।

जैसी वस्तु है वैसी भावना करने से विपरीत भावना नष्ट होगी अतः आत्मा शरीरादि से भिन्न है एवं जगत् मिथ्या है—ऐसी भावना दिन-रात करते रहना चाहिए।

जिसने श्रवण-मनन किया है उसको तत्त्वज्ञान तो है, तभी तत्त्व की भावना कर सकेगा, केवल संस्कार पक्का नहीं है। साधक का अनुभव है, घण्टा-आधा घण्टा तो संसार की प्रवृत्ति होती है, फिर वहाँ से मन हट जाता है। सांसारिक व्यक्ति का तो मन हटता ही नहीं, चाहता है कि संसार ही बढ़ता रहे, वह इससे प्रसन्न होता है। जिसने तत्त्व को समझ लिया है, वह संसार के बढ़ने से प्रसन्न नहीं होता, यह कैसे घटे—यह चाहता है। चाहे एक घण्टे के लिए, चाहे चार घण्टों के लिए, चाहे मिनटभर के लिए, उतनी देर के लिए पुराने संस्कारों से विपरीत प्रतीति हो जाती है। अतः उसे तत्त्व अर्थात् वास्तविकता की भावना से नष्ट करना चाहिए। तत्त्व पर एकाग्रता बनी रहेगी, तो विपरीत भावना नहीं हो पायेगी। 'नश्' धातु का मूल अर्थ है अदर्शन। अतः भाव है कि फिर कभी शरीर में आत्मबुद्धि देखने में नहीं आयेगी। अपने को यह नहीं लगेगा कि 'यह मैं हूँ' तथा न जगत् में कभी सत्यत्व बुद्धि आयेगी। अतः तत्त्व-भावना क्या है? 'आत्मनः देहातिरिक्तताम्'। देह आदि सब आत्मा से अतिरिक्त हैं। वे सारे माया के कार्य हैं। आत्मा माया का कार्य है नहीं। उसी प्रकार जिस जगत् की प्रतीति हो रही है, वह सत्-असत् से विलक्षण है। दोनों भावनायें लगातार होनी चाहिए। तब जाकर संस्कार पकेगा। तत्त्वभावना में दुर्बलता रही तो विपरीत भावना आयेगी।। ११२।।

तत्त्वभावना में नियमादि का प्रश्न उठाते हैं—

किं मन्त्रजपवद् मूर्तिध्यानवद् आत्मभेदधीः।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चाऽत्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा।। ११३।।

मंत्रजप, मूर्ति-ध्यान आदि की तरह क्या किन्हीं नियमों से आत्मभेद और जगन्मिथ्यात्व के निश्चयों का पुनरावर्त्तन करना है या नियम-बन्धन के बगैर करना है?

मंत्र का जप करते हो या मूर्ति का ध्यान करते हो तो अनेक नियमों के अनुसार ही। मंत्र के जप में वाणी की प्रधानता है। रूपध्यान में मन की प्रधानता है। ध्यान में मन के नियम बताये जायेंगे, जप में शब्दोच्चारण के नियम बतायेंगे। क्या वैसे ही देहादि से आत्मा भिन्न है और जगत् मिथ्या है इन भावनाओं के लिए भी किसी तरीके का विधान है? 'व्यावर्त्या' अर्थात् विशेषतः आवर्तनीय इन भावनाओं के लिए क्या कोई नियम है? या जैसे लौकिक व्यवहार में कोई नियम नहीं होता, वैसे इनमें भी नहीं है? मंत्रजप, ध्यान तो शास्त्रीय कार्य हैं, अतः इनमें शास्त्रीय नियम हैं। लौकिक कार्य में ऐसा नहीं है। दो तरह के कार्य हैं—एक शास्त्रीय, दूसरा लौकिक। लौकिक कार्यों का यहीं फल होता है, लौकिक फल होता

है। शास्त्रीय कार्यों का फल लौकिक नहीं है। ध्यान-जप का तो पारलौकिक फल है, अदृष्ट फल है। अतः वह शास्त्र के अनुसार ही करना पड़ेगा, फल यहाँ पता लगना नहीं है। लौकिक का दृष्ट फल यहीं होना है। दृष्ट साधन को घटाना-बढ़ाना तुम्हारे अपने हाथ में है। प्रश्न है कि क्या जप-ध्यान की तरह यह शास्त्रीय होने से, पारलौकिक फल देने वाला है या लौकिक कर्म की तरह यहीं फल देने वाला है? लौकिक नियम से करना है या शास्त्रीय नियम से करना है? ।।११३।।

उत्तर देते हैं–

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत्।
बुभुक्षुर्जपवद् भुङ्क्ते न कश्चिद् नियतः क्वचित्।।११४।।

जप-ध्यान की अपेक्षा अन्य तरह से तत्त्वभावना करनी है यह समझो क्योंकि यह भावना भोजन की तरह दृष्ट प्रयोजन वाली है। कोई भूखा नियमबद्ध होकर जप करने की तरह भोजन नहीं खाता!

तत्त्वभावना का अभ्यास लौकिक कर्म है इसलिए उसमें कोई शास्त्रीय नियम नहीं है। जैसे तुम्हारी दृढता होती जाये वैसे करते जाओ, यहीं फल मिल जायेगा। ब्रह्मसूत्रों में यह बतलाया है कि लौकिक फल वाला होने पर भी शास्त्रानुसारी होने से कथंचित् यहाँ फल न मिला तो भी जन्मान्तर या लोकान्तर में फलीभूत होगा। भगवान् ने गीता में भी यह बताया है कि भगवच्चिन्तन करने वाले की दुर्गति संभव नहीं, प्रगति ही होती है। है यह लौकिक कर्म की तरह, पर यह विशेषता है कि तुमको अगर किसी कारण से यहाँ फल नहीं हुआ, तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति तक करा देगा। हर हालत में, तत्त्वबोध की दृढता के लिए ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करना आवश्यक है।

'अन्यथा' अर्थात् इसके लिए जप या ध्यान की तरह नियम नहीं हैं। क्यों? 'दृष्टार्थत्वेन'। तत्त्वबोध की दृढता यह दृष्ट प्रयोजन है अर्थात् यहीं दृढ हो जाता है। ऐसा नहीं है कि यहाँ करोगे तो परलोक में दृढ होगा! तत्त्वभावना भोजन खाने की तरह है। ऐसा नहीं है कि चार रोटी की भूख है तो चार रोटी खाने पर ही भूख मिटेगी। चार खाने से पूरी भूख मिटेगी, दो रोटी से आधी तो भूख मिट जायेगी। हर कौर से थोड़ी-थोड़ी भूख मिटती ही है। भूख मिट गई तो पता लग जाता है कि पेट भर गया। किसी की भूख मिटने के लिए चालीस फुलके चाहिए, किसी की एक फुलके से ही मिट जाती है। निश्चित कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार जब तक विपर्यय की प्रतीति हो, विपरीत भावना होवे, तब तक ब्रह्माभ्यास करते जाना है। जितना-जितना यह अभ्यास होगा, उतनी-उतनी विपरीत भावना कम होती जायेगी। शुरू में हो सकता है घण्टे-भर गप मारने पर याद आता है, 'मैं तो साक्षी हूँ।' फिर दृढता बढ़े तो कम समय में याद आ जाता है। जब विपरीत भावना होती ही नहीं है तब तक के लिए अभ्यास है। किसी को बीस साल तक ब्रह्माभ्यास करने से दृढता पूरी

होती है, किसी को महीना-भर करने से ही हो जाती है! जब भी विपरीत भावना का भान बन्द हो जाये, तभी दृढता हो गई। बुभुक्षु, जो भूखा है, वह किसी भी नियम को मानकर नहीं खाता है। जप में यदि तीन माला रोज करनी है तो तीन अवश्य करनी है। ऐसा नहीं कि किसी दिन तीस, किसी दिन दस कर ली। ऐसा भूख के लिए कोई नियम नहीं है कि रोज़ इतना ही खाना है। जितने अभ्यास से विपरीत भावना समाप्त हो उतना कर्त्तव्य है।

दृष्टार्थ भी खाने-सोने के तरीके के लिए शास्त्र में विधियाँ मिलती हैं अतः दृष्टार्थता से नियमों में छूट कैसे? उत्तर है कि भूख मिटनारूप दृष्ट फल में या ताजगी आनारूप दृष्ट फल में नियम-पालन करने-न करने का योगदान नहीं है। नियम-पालन से पुण्य होगा जिसका अदृष्ट फल होगा। आचमन ब्रह्मार्पण-पूर्वक खाओ या उसके बगैर, भूख एक-सी मिटेगी। मुमुक्षु को तत्त्वबोध की दृढता से अतिरिक्त और किसी फल की इच्छा है नहीं, अतः किसी भी नियम के पालन की ज़रूरत नहीं है।।११४।।

पूर्वोक्त दृष्टान्त व्यक्त करते हैं—

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति।। ११५।।

(भूखा तरीके से) खाता है या सर्वथा नहीं भी खाता या इच्छानुसार बेढंग से खाता है; जिस तरह हो, भूख मिटाना चाहता है।

भिक्षादि भोजन मिल गया तो उसको खा लिया। गाँव-भर में धूम कर आ गये, सभी ने अंगूठा दिखा दिया, तो बैठकर कोई किताब बाँच कर मन बहलाता है। कल दूसरे गाँव में जायेंगे तब भिक्षा मिलेगी। तब तक मन तो बहलाना है ही। 'न वाऽश्नाति'—नहीं मिला तो नहीं खाया यदि खाने का नियम ले लिया हो तो थोड़े-बहुत की व्यवस्था करनी पड़ेगी, अन्यथा नियम भंग होगा, दोष लगेगा। अन्न-उपासना भी होती है, उसमें रोज़ ही सुबह-शाम खाना पड़ता है, नियम है खाने का, खाना ही पड़ेगा। नहीं मिला तो खेत में सूखा जौ का दाना ही ढूँढ लो, दो चार दाने खा लो, उसी से नियम पूरा हो जायेगा। लेकिन जो भूख मिटाने के लिए खाता है, वह तो खेत में जायेगा नहीं क्योंकि चार दानों से भूख तो मिटेगी नहीं, खाली नियम पूरा होगा। वह तो किसी तरह मन बहलायेगा। 'अन्यथा' अर्थात् खाने में भी कभी ढंग से बैठकर खायेगा, कभी खड़ा होकर या खटिया पर बैठकर ही खायेगा, जैसे पंजाब वाले। चाहे खड़े, चलते, लेटे हुए जैसा दिल करे वैसे खा सकता है। भूख मिटाने मात्र के लिए नियम से, आसन पर बैठ कर पालथी मारकर खाये—ऐसा कुछ नहीं है। उसे भूख मिटानी है, नियम का तो पालन करना नहीं है। जिस किसी प्रकार से केवल भूख मिटाना चाहता है। इसी प्रकार मुमुक्षु विपरीत प्रत्यय को हटाना चाहता है, इसके सिवाय और कुछ नहीं। अतः कोई नियम नहीं, जैसा मर्ज़ी वैसा करे। ग्रन्थ पढ़कर करे, योगाभ्यास करके करे, ध्यान लगाकर करे, किसी भी प्रकार से करे, इसमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इसीलिए परिसंख्या विधि माना है अर्थात् विपरीत प्रत्यय न करे, न होने दे, बस इतना मात्र ज़रूरी है।। ११५।।

जपादि में ऐसा नहीं हो सकता है यह भेद दिखाते हैं–

नियमेन जपं कुर्याद् अकृतौ प्रत्यवायतः।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात्।।११६।।

जप नियम से ही किया जा सकता है क्योंकि न करने पर दोष लगता है तथा स्वर या अक्षर में मनमाना ढंग अपनाने पर अनर्थ भी होता है।

जप तो नियम से ही करना पड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि जप बिना नहाये ही कर लिया, बिना आसन पर बैठे ही कर लिया। दिल्ली में लोग पूछते हैं 'सुबह घूमने जाते हैं तो घूमते-घूमते जप कर लें तो कोई हर्जा है?' ऐसे जप नहीं हो सकता! वह तो आसन पर बैठ कर ही करना पड़ेगा। चलते-चलते भी खाओगे तो भूख मिट ही जायगी, ऐसे जप का दृष्टफल तो है नहीं, अदृष्ट फल है। इसलिए नियम से ही करना पड़ेगा। यदि तुमने नियम ले लिया कि 'तीन माला का जप करना है' तो किसी कारण से तुमने तीन नहीं दो माला फेरी तो दोष और लग जायेगा! ऐसे भोजन में नहीं है कि एक दिन भोजन नहीं किया तो कोई दोष लगे। अन्यथाकरणे–जप में शब्द है, इसलिए उसमें स्वर और वर्ण दोनों का ध्यान रखना पड़ता है। जिस वर्ण के लिए जो ध्वनि चाहिए उसको ठीक वैसा ही बोलना पड़ेगा। 'नमः शंकराय' का जप करना है और 'नमः संकराय' बोलो तो दोष ही लगेगा। ठीक जैसा उच्चारण करना चाहिए, वैसा ही उच्चारण करना पड़ेगा। वर्ण बदल जाने से अनर्थ भी हो जाता है। मारवाड़ में 'श' अक्षर 'ह' उच्चारण कर देते हैं। अतः प्रसिद्धि है 'आशीर्वादोऽपि न ग्राह्यो मरुभूमिनिवासिनाम्। शतायुरिति वक्तव्ये हतायुर्यत्र कथ्यते।।' बोलना चाहेंगे 'शतायुर्भव' अर्थात् सौ साल की उम्र हो, लेकिन बोलेंगे 'हतायुर्भव' अर्थात् तुम्हारी उम्र समाप्त हो जाये! अतः उनसे आशीर्वाद लेने में भी खतरा है। स्वर-विपर्यय से दोनों तरह के विपर्यय समझ लेना : छोटी 'इ' को बड़ी 'ई' कर देते हैं, या बड़ी 'ई' को छोटी 'इ' कर देते हैं। और स्वर का मतलब उदात्त-अनुदात्त आदि भी है। उसमें भी गड़बड़ कर देते हैं। स्वर और वर्ण की गड़बड़ी से अनर्थ होगा। जिस प्रयोजन के लिए कर रहे हो वह प्रयोजन तो पूरा होगा नहीं, दोष लगकर अनर्थ की प्राप्ति होगी। जप करने में तो यह सब ध्यान में रखना पड़ता है, सब नियम पालन करने पड़ते हैं। पर भूख मिटाने के लिए तुम चाहे जैसे भी खाओ, वैसे ही मिटती है। हम लोग पंक्ति में बैठकर दाहिने हाथ से भोजन करते हैं तो भी भूख मिटती है। जो दोनों हाथों से खाते हैं, उनकी भी उतनी ही भूख मिटती है, कुछ लोग घूमते हुए खाते हैं। भूख मिटने में कोई फ़र्क पड़ता नहीं है। इसलिए दृष्टफलक व अदृष्टफलक कर्मों में भेद स्पष्ट है।। ११६।।

विपरीत भावना में जपादि से वैषम्य बताते हैं–

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद् विपरीता च भावना।
जेया केनाऽप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः।।११७।।

भूख की तरह विपरीत भावना भी दृष्ट बाधा ही करती है अतः किसी भी उपाय से इसे जीत लेना चाहिए, इसे जीतने के उपाय के अनुष्ठान का कोई वैध क्रम नहीं है।

विपरीत भावना भी दृष्ट बाधा ही करती है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान नष्ट हो गया इसलिए आगे जन्मादि तो हो नहीं सकता। संचित और आगामी कर्म तो ज्ञान से खत्म हो गये। अतः विपरीत भावना केवल दृष्टबाधा करती है। विपरीत भावना के कारण, शरीर और मन के विकारों से हमें दुःख-सुख हो जाते हैं। बस, यही नुकसान यह करती है। शरीर और मन में जो विकार आते हैं, विपरीत भावना उन्हें हममें प्रतीत करा देती है, 'मैं बीमार हूँ, मैं दुःखी हूँ'। कोई अदृष्ट फल तो वह दे नहीं सकती। जैसे भूख अदृष्ट बाधा उत्पन्न नहीं करती है, यदि भूखे रह गये तो नरक जाना पड़ेगा, ऐसा कुछ नहीं है! भूख का दुःख वही है जो दीख रहा है। इसी प्रकार विपरीत भावना दृष्ट बाधा करती है, सुख-दुःख की प्रतीति कराती है। इसलिए भूख की तरह ही है। अतः इसको तो किसी भी उपाय से जीत लो अर्थात् विपरीत भावना न हो इसकी व्यवस्था करो। अगर तुम निरंतर श्रवण-मनन में लगे हो, तो तुम्हारी विपरीत भावना नहीं बनती है। अथवा तुम योगाभ्यास में बैठ गये, तो भी विपरीत भावना का कोई मौका नहीं बनेगा। किसी भी उपाय से होवे इसको जीतो इतना ही ज़रूरी है। इसमें अनुष्ठान का कोई क्रम नहीं है कि वैसे करो तब ही विपरीत भावना मिटे। रामकृष्ण परमहंस के गुरु रातभर बैठकर चिन्तन करते थे और दिनभर सोते थे। कहते थे कि दिन में बैठते हैं तो लोग आकर बेकार की बातें करते हैं, यदि सो गये तो कोई पास में आयेगा नहीं! तुम चाहे लेट कर भी विपरीत भावना को दूर कर सकते हो। कुछ ऐसे भी महात्मा थे जो पास में आने वाले को पत्थर मारते थे। किसी भी उपाय से विपरीत भावना नहीं बनने देना है। न यह नियम है कि तुम पत्थर मारो, न नियम है कि तुम चद्दर तान कर सोओ। जिस किसी उपाय से विपरीत भावना को दूर रख सको, वही करो। विपरीत भावना अनुभव से दुःख का हेतु सिद्ध है अर्थात् विपरीत भावना आने पर ही दुःख आयेगा। यह अपने अनुभव से पता लगता है। दुःख की हेतुता विपरीत भावना में सिद्ध है, इसलिए उसे हटाना है जैसे भूख दुःख-रूप है, इसलिए हटायी जाती है।।११७।।

विपरीत भावना जीतने का पूर्वदर्शित उपाय ही याद दिलाते हैं—

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिन्ताकथनादिकः।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि।।११८।।

ब्रह्माभ्यास में उपाय उसी का विचार, कथन आदि करना पहले ही बता चुके। इस एकपरता में भी ध्यान की तरह नियम नहीं है।

विपरीत भावना को नियंत्रित करने का उपाय एकपरता ही है जो तच्चिन्तनादि पूर्वोक्त ढंग से सम्पन्न होती है। परमात्मतत्त्व को ही सोचो, उसी का कथन करो, प्रबोधन करो—यही सब उपाय हैं। जिस-किसी उपाय से ब्रह्माकार वृत्ति बनाओ ताकि विपरीत भावना हट जाये। जैसे ध्यान में एकपरता का बन्धन है वैसे यहाँ नहीं। केवल विष्णुध्यान का नियम नहीं होता, खास तरह के ध्यान का नियम होता है। खड़े विष्णु का ध्यान करने वाला रोज़ वैसा ही करेगा, ऐसा नहीं कि कभी बैठे विष्णु का करे, कभी लेटे का करे। जैसे ध्यान का नियम है वैसा ही करना होगा। यहाँ कोई ग्रंथ, तर्क आदि का बंधन नहीं, चाहे जिस सहारे से हो तत्त्व का अनुसन्धान चलना चाहिए।।११८।।

ध्यान के बन्धन को स्पष्ट करते हैं—

मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यम् अन्यानन्तरितं धियः।
ध्यानं तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः।। ११९।।

अन्याकार वृत्ति के व्यवधान के बिना मूर्ति के आकार की वृत्ति लगातार रहना ध्यान है। चंचल स्वरूप वाले मन के लिए ध्यान में रहना अत्यन्त बंधन है।

ध्यान के लिए मन को बाँधना पड़ता है। मन कैसा है? मन का स्वरूप ही चंचल है। ऐसे मन को एक जगह बाँधना अतिकठिन है। जिस मूर्ति का ध्यान कर रहे हो, उसी मूर्ति का प्रत्यय अर्थात् वृत्तियाँ निरन्तर चलें तब ध्यान है। विष्णुध्यान है तो शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी मूर्ति के प्रत्यय का प्रवाह होवे, बीच में लक्ष्मी जी आ जायेंगी तो गड़बड़ हो जायेगा! ऐसे यहाँ निर्बन्ध नहीं हैं कि 'तत्त्वमसि' से ही चिन्तन करो। चाहे इससे करो चाहे 'अहं ब्रह्मास्मि' से करो, कोई रुकावट नहीं है। किसी भी तरह से करो, चिन्तन उसका करो।।११९।।

मन चंचलात्मा है इसे प्रमाणित करते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। १२०।।

'हे कृष्ण! मन मथ डालने वाला, सामर्थ्यशाली, मज़बूत और चंचल है अतः हवा बाँधने की तरह मन को नियन्त्रण में रखना अतिकठिनता से किया जा सकने वाला कार्य मानता हूँ।'

प्रायः लोग कहते हैं, 'मन को इधर-उधर मत जाने दो।' वे सोचते हैं मन ऐसी चीज़ है जिसे खूँटे से बाँधा जा सकता है! किंतु मनोनियंत्रण ऐसा सीधा काम नहीं है। अर्जुन (गीता.६.३४) ने भी कहा है कि यह सुदुष्कर है। मन अत्यन्त चंचल है, इसका स्वभाव ही चंचल है। 'प्रमाथि' जितना भी इसे रोकने की चेष्टा करो, यह तुम्हें मथ देगा, तुम परेशान हो जाओगे। 'बलवद्' अत्यन्त बल वाला है। 'दृढम्' एकदम दृढ है, जिन संस्कारों को सामने करना चाहता है, दृढतापूर्वक उन्हीं संस्कारों को आगे लाता है। इसलिए अर्जुन ने कहा कि

हवा को कोई बंद कर देवे, जैसे यह असम्भव है, वैसे ही मन को नियन्त्रित करना असम्भव है। ध्यान करने के लिए मन के ऊपर अत्यधिक नियंत्रण करने की ज़रूरत पड़ती है, इसलिए ध्यान कठिन है। विपरीत वासना को हटाने के लिए इतना तो कोई बंधन है नहीं, कि इसी तरह से हटाओ अतः ध्यान की अपेक्षा यह अधिक सहज सुकर है।।।१२०।।

कोई कहे कि 'अर्जुन क्षत्रिय था, उसे क्या पता मन के निग्रह का! हम ब्राह्मण हैं, शीघ्र मन का निग्रह कर लेते हैं।' इसलिए ब्राह्मण वशिष्ठ ऋषि ने क्या कहा यह योगवाशिष्ठ (वैराग्य. १६.२४) के वाक्य से बताते हैं–

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनात् साधो! विषमश्चित्तनिग्रहः।। १२१।।

समुद्र पीना, सुमेरु उखाड़ना, अग्नि खाना–इन महान् कर्मों से भी चित्त का निग्रह कठिन है।

ऋषि वशिष्ठ जी कहते हैं कि समुद्र पीने से भी यह बड़ा काम है कि चित्त को एकाग्र कर लो। समुद्र को पीना ही असम्भव है। अगस्त्य मुनि से भी ज़्यादा बड़ा उसने काम कर लिया जिसने अपने मन को निग्रह में कर लिया। सुमेरु पर्वत को जड़ से उखाड़ देना भी असम्भव है। ब्रह्मा जी ने सुमेरु पर्वत को जड़ से उखाड़ा था। लेकिन जो मन का निग्रह कर ले वह उससे भी बड़ा काम करने वाला है। इसी प्रकार आग को खाना भी असंभव-सा ही है। कृष्ण भगवान् वृन्दावन में लगे दावानल को खा गये थे। कृष्ण के उस काम से भी मनोनियन्त्रण बड़ा काम है। चित्त का निग्रह इन सबकी अपेक्षा विषम है, कठिन है।

समुद्र में जितने भी कण हैं जल के, उनकी अपेक्षा हमारे मन में संस्कार ज़्यादा हैं। समुद्र की बूँदों की गिनती हो सकती है पर अनन्त कल्पों, जन्मों के, संस्कार उससे बहुत ज़्यादा हैं। जब तक संस्कार समाप्त न होवें तब तक मन पर निग्रह हो नहीं सकता। सुमेरु पर्वत की जड़ें जैसे बहुत गहरी हैं, उसी प्रकार वासना की जड़ें अत्यन्त गहरी हैं। थोड़ी देर के लिए तो ऊपर से वासना हट जाती है, पर जड़ से नहीं उखड़ती, कालान्तर में फिर प्रकट हो जाती है। इसलिए इनको जड़ से उखाड़ना सुमेरु पर्वत उखाड़ने से भी कठिन है। मन के अंदर इच्छाओं की अग्नि जलती रहती है। एक के बाद एक कोई-न-कोई इच्छा जागती रहती है। उसी से लोग जलते रहते हैं। इसलिए शास्त्रों में कहा है कि इच्छा की निवृत्ति ही परम सुख है। संतोष को इसीलिए परम सुख कहते हैं। पुराने समय में हर एक के पास भोगसामग्री आज से कम थी पर सन्तोष से सुखी थे। आधुनिक काल में सामग्री अत्यधिक है फिर भी असन्तोषवश दुःखी रहते हैं। यह जो इच्छाओं की अग्नि है, जब तक इसको खा न जाओ, निरिच्छ न हो जाओ, तब तक कैसे ध्यान लगे! अतः ये तीनों काम कहे हैं, जो एक से एक कठिन हैं।।१२१।।

ब्रह्माभ्यास में वैसी कठिनाई नहीं यह कहते हैं–

कथनादौ न निर्बन्धः शृङ्खलाबद्धदेहवत् ।
किन्त्वनन्तेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ।।१२२ ।।

साँकलों से बँधे शरीर वाले की तरह तत्त्वकथन आदि में बंधन नहीं किन्तु असंख्य इतिहास आदि से नाटक की तरह बुद्धि का विनोद है।

परमात्मा के विषय में कथन करने में कोई बंधन नहीं है, कठिनाई नहीं है। अनेक शास्त्रों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है, किसी के भी अनुसार कथन कर सकते हैं। ध्यान में ऐसे नहीं चलेगा कि सवेरे विष्णु का कर लिया, बाद में हनुमान् जी का कर लिया, देवी जी का कर लिया। ऐसे ध्यान की कभी दृढता होगी नहीं। तत्त्वकथादि में ऐसा नहीं है कि सुबह छांदोग्य से सुनाया तो शाम को भी इसी से सुनाओ। कभी छांदोग्य, तो कभी बृहदारण्यक से सुना दो, कभी गीता से सुना दो, कोई बंधन नहीं है। इसी प्रकार प्रबोधन में भी कोई निर्बन्ध नहीं है। जिस-किसी प्रकार से याद दिलाना है। चिन्तन में भी ऐसी रुकावट नहीं है। कभी चित्सुखी द्वारा करो, कभी अद्वैतसिद्धि के द्वारा चिन्तन कर लो, कभी वार्तिक द्वारा करो, कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ध्यान कैसा है? 'शृंखलाबद्धदेहवत्' जंजीरों से मन को बाँधो तब काम बने। ऐसा ब्रह्माभ्यास में नहीं है। इसलिए कबीरदास ने कहा है 'आँख न मूदूँ कान न रूदूँ, हँस-हँस रूप निहारूँ'। कभी ब्रह्मसूत्र से कभी गीता से कभी कठोपनिषद् से रूप निहार सकते हैं। हमारे प्राचीनों ने अनन्त इतिहास रचे जिनमें बड़े-बड़े महर्षि, राजर्षियों के चरित्र हैं। सब में यही आता है कि वे तत्त्वनिष्ठ थे। कभी कोई, कभी कोई कथा सोच सकते हैं। सोचने में बुद्धि का विनोद भी होता है। 'इतिहासाद्यैः' के 'आदि' से तरह-तरह की युक्तियों का संग्रह कर लेना चाहिए। आचार्यों ने अनन्त सूक्ष्म-सूक्ष्मतर युक्तियाँ बतायी हैं। सभी से अंत में बात एक ही सिद्ध होती है। अलग-अलग दृष्टान्त देते हैं उसी चीज़ को समझाने के लिए, इससे भी विनोद होता है। गुजरात में एक इच्छाराम देसाई हुए हैं। उन्होंने तीन खण्ड की किताब में खाली कहानियाँ ही लिखी हैं। हैं सारे वेदान्त समझाने के लिए दृष्टान्त ही। इससे बुद्धि का विनोद भी होता है साथ में विपरीत भावना का अवसर ही नहीं मिलता है। विपरीत भावना न बने, इतना ही तात्पर्य है, इसे चाहे-जैसे करो–दृष्टांत से, युक्ति से, श्रुति को सोचकर करो या इतिहास को सोचकर करो। खेल-खेल में काम हो जाता है। 'नाट्यवद्धियः'। जैसे नाटक में देखते तो क्रिया हो; हरिश्चन्द्र नाटक देखा तो बुद्धि बनती है कि ऐसा सत्यवादी बनना चाहिए कि कष्ट होने पर भी सत्य का परित्याग न करे। गांधी जी को इस नाटक को देखकर सत्य के प्रति इतनी निष्ठा हुई। इसमें विनोद भी है। इसी प्रकार शास्त्रों के चिन्तन में विनोद भी होता है, बुद्धि भी बनती है कि 'मैं अकर्ता-अभोक्ता हूँ'। जिस प्रकार से ध्यान के लिए मन को एक बिन्दु पर टिकाना पड़ता है, ऐसे वेदान्त साधना में किसी एक बिन्दु पर टिकाने की ज़रूरत नहीं

है। मोक्षधर्म, सूतसंहिता, वाशिष्ठ रामायण, आत्म-पुराण आदि ग्रन्थों में जो अनेक कथायें आई हैं, उनके द्वारा विविध प्रकार से तत्त्वचिंतन होता है, मनोरंजन भी होता है।। १२२।।

प्रश्न होता है कि जब इन कथानक आदि में मन को ले जायेंगे, तब आत्मा में तो नहीं टिका होगा। वे तो सब अनात्म-चिन्तन हैं। अन्य वाणी तो छोड़ने को कहा था। फिर इसकी अनुमति कैसे? उत्तर में बताते हैं कि एकपरता का मतलब क्या है—

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत्।। १२३।।

आत्मा चिद्रूप है, जगत् मिथ्या है—इसमें कथादि का तात्पर्य निर्णीत होने से इतिहासादि द्वारा निदिध्यासन में विक्षेप नहीं होता।

इतिहास, युक्ति, दृष्टान्त आदि सबके द्वारा निदिध्यासन में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं है। इसलिए इसको ध्यान से अलग किया। एकपरता यही है कि यह निश्चय रहे कि जगत् मिथ्या है और आत्मा चिद्रूप है। जितनी भी कथायें, दृष्टान्त, युक्ति आती हैं, सारी अन्त में इसी में पर्यवसित होती हैं कि आत्मा चिन्मात्र ही है और जगत् मिथ्या ही है। दृष्टान्तों का, युक्तियों का, कथाओं का, अन्त में सार यही है कि जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म की एकता है। अतः एक चीज़ में पर्यवसान होने से एकपरता है। बिलकुल एक आकार बनाकर ध्यान की तरह बैठना नहीं पड़ता।। १२३।।

संभावना उठती है कि इतिहास आदि अंगीकार करते हैं तो फिर दुकानदारी भी करने दो! अतः कहते हैं कि दुकानदारी में ऐसी बात नहीं है, उसमें जगत्-मिथ्यात्व का विचार नहीं आता है—

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च।
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात्।।१२४।।

खेती, व्यापार, नौकरी आदि में तथा काव्य, तर्क आदि में प्रवृत्ति से बुद्धि विक्षिप्त होती है (बिखरती है) इसलिए इनसे तत्त्व का स्मरण सम्भव नहीं।

वैश्य होगा तो खेती करेगा, या धन कमाने के लिए वाणिज्य, दुकानदारी करेगा। शूद्र है तो नौकरी करेगा। इनमें कमाई के प्रायः सभी साधन आ गये। 'आदि' से क्षत्रिय का राजकार्य भी समझ लो। ब्राह्मण धन कमाने के काम तो नहीं करता परन्तु विद्वत्ता पाने की कोशिश करता है। रघुवंश, कुमारसम्भव आदि काव्य पढ़ेगा, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, चिन्तामणि आदि ग्रन्थों को पढ़ेगा। विद्वत्ता प्रदर्शित कर सम्मान पाना चाहता है। किंतु इन विषयों के अध्ययनादि से मन-बुद्धि में विक्षेप होता है। क्यों? क्योंकि इन सब को पढ़ने-समझने से तत्त्व की स्मृति तो नहीं आयेगी। शास्त्र में तो सर्वत्र अपने आप पर्यवसान एक ही तात्पर्य में

होगा। तुम्हें अपनी तरफ से सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। सारी युक्तियों से आयेंगे तो इसी निर्णय पर अतः तत्त्वस्मृति होती रहेगी। खेती या काव्यादि में तत्त्वस्मृति की कोई सम्भावना नहीं है। मुण्डक-भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि सभी आश्रम वालों को ज्ञान तो हो सकता है पर ज्ञाननिष्ठा के लिए सर्वकर्मसंन्यास आवश्यक है। यहाँ भी ज्ञाननिष्ठा की बात है। खेती आदि करते हुए ज्ञान तो हो जायेगा, पर निष्ठा नहीं। आत्मपुराण में याज्ञवल्क्य-प्रसंग में शंकरानन्द स्वामी ने विस्तार से बतलाया है कि याज्ञवल्क्य ने तत्त्वज्ञान तो प्राप्त किया, परन्तु गृहस्थ आश्रम के जंजाल में जीवन् मुक्ति का आनंद नहीं आ पाया। तब मैत्रेयी से कहा 'मैं इसको छोड़ कर जा रहा हूँ।' इसी तरह अन्य भी प्रसंग हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि प्रवृत्ति से निष्ठालाभ संभव नहीं, सब कर्मों को छोड़े बगैर तत्त्वनिष्ठा नहीं बनेगी।। १२४।।

जब कहा कि खेती, व्यवसाय आदि करते हुए तत्त्व में पर्यवसान नहीं है, तब आक्षेप आता है—'तुम रोटी खाते हो तो कौन-सी तत्त्व में पर्यवसानता है? रोटी भी मत खाओ, वह भी एक कर्म है।' इसका परिहार करते हैं—

अनुसन्दधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम्।
शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावाद् आशु पुनः स्मृतेः।। १२५।।

परतत्त्व के बारे में ही विचार करते हुए भोजनादि में प्रवृत्त हो सकते हैं क्योंकि उनमें अधिक विक्षेप नहीं होता और शीघ्र फिर से याद आ जाती है।

खेती आदि को यदि तत्त्व-अनुसन्धान में विघातक मानते हो तो भोजन भी विघातक है, उसे भी छोड़ो—यह प्रायः संन्यासी पर आक्षेप होता है। भोजन की तरह अन्य भी दैनिक कृत्य किये ही जाते हैं अतः आक्षेप में कुछ महत्त्व प्रतीत होता है। अतः यहाँ आचार्य इसका परिहार कर रहे हैं। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने 'सदाचारानुसन्धान' ग्रन्थ में स्नान आदि भी कैसे अनुसन्धान सहित किया जाना चाहिए, यह बतलाया है। भोजन, स्नान, शौच, आचमन आदि सब में प्रवृत्ति के दौरान भी तत्त्वचिन्तन सम्भव है। 'आदि' से खेती तक नहीं चले जाना! इसलिए भगवान् कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कर दिया, 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'। शरीर-निर्वाह मात्र के लिए जो कर्म किया जाता है उससे दोष नहीं लगता। शरीर-निर्वाह के कार्य करते हुए, आत्मा का अनुसन्धान कर सकते हैं। इसलिए उसका अनुसन्धान करते हुए ही भोजनादि करे। उस दौरान भी अनुसन्धान छूटना नहीं चाहिए। खाना, शौच आदि ऐसे कार्य हैं जिनमें अत्यन्त विक्षेप नहीं होता है अर्थात् जगत्-सत्यत्व की दृष्टि करने की ज़रूरत नहीं पड़ती है। ऐसा दुकानदारी, व्यापार, नौकरी में नहीं कर सकते। भोजनादि में विक्षेप नहीं है ऐसा नहीं, पर विक्षेप अत्यन्त नहीं है, अनुसन्धान करते हुए भोजनादि किया जा सकता है। किं च, जैसे ही वह कार्य समाप्त होता है, वैसे ही फिर तत्त्व की स्मृति करने लग सकते हैं। कृषि, व्यापार, तर्कपठन आदि यों केवल

तात्कालिक निर्वाह से संभव नहीं, बहुत समय श्रम विचारादि की अपेक्षा रखते हैं। अतः समानता नहीं है।। १२५।।

विक्षेप अल्प भले ही हो, तत्त्व उतनी देर भूला तो जाता है, अतः भोजनादि की अनुमति भी कैसे? इसका उत्तर देते हैं–

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किन्तु विपर्ययात्।
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित्।।१२६।।

केवल तत्त्व भूलने से अनर्थ नहीं होता किंतु विपरीत-निश्चय से होता है। भोजनादि से विपरीत निश्चय का मौका नहीं मिलता क्योंकि साधक तुरन्त स्मरण करता रहता है।

ध्यान और निदिध्यासन में यह अंतर है कि ध्यान में विष्णु का चिन्तन कर रहे हो, मूर्ति का स्मरण नहीं रहा तो ध्यान खंडित हो जाता है। निदिध्यासन में तत्त्व की स्मृति न रहे, इतने मात्र से, नुकसान नहीं होता। विपर्यय अर्थात् विपरीत निश्चय ही बाधक है। जगत् में सत्यत्व की बुद्धि न आये यही ज़रूरी है, जगत् में मिथ्या बुद्धि न रहे, इतने मात्र से कोई हर्ज़ा नहीं होगा। इसी प्रकार मैं के अंदर कर्तृत्व, भोक्तृत्व बुद्धि नहीं आनी चाहिए। अकर्त्ता-अभोक्ता भाव का स्मरण न रहे इससे हर्ज़ा नहीं होगा। विपर्यय तब होवे जब देर तक तत्त्व की विस्मृति रहे। तत्त्व की क्षणिक विस्मृति में विपर्यय हो नहीं पायेगा। वह ज़्यादा देर तक रहे तो विपर्यय आ जायेगा। इसलिए ज़रूरी है कि खाते आदि समय भी तुरन्त याद करें, इसलिए कहा, 'झटिति स्मरतः'। सदाचारानुसन्धान आदि के ढंग से जब दैनिक क्रियायें करते हुए भी अनुसन्धान करता रहता है, तो बार-बार स्मरण आता ही रहेगा अतः कभी विपर्यय का काल नहीं रहेगा।। १२६।।

भोजनादि में विपर्यय नहीं आता है तो तर्क, काव्य आदि पढ़ने में भी विपर्यय नहीं आता होगा, या किसी को दुकानदारी में भी विक्षेप नहीं होता होगा, तो उनकी भी अनुमति क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं–

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद् बलात् तत्त्वमुपेक्ष्यते।। १२७।।

अन्य शास्त्रादि के अभ्यासी को तत्त्व याद करने का मौका नहीं रहता बल्कि उसके अभ्यासका घातक होने से वह कोशिशपूर्वक तत्त्व की उपेक्षा करता है।

भोजनादि में तत्त्व-विस्मृति के लिए समय ज़्यादा नहीं है लेकिन तर्कशास्त्र, साहित्य इत्यादि का जो अभ्यास करेगा वह यों बीच-बीच में तत्त्व को याद नहीं कर सकता। अगर हर पाद के बाद तत्त्व का स्मरण करता रहेगा तो पूरे श्लोक का अन्वय ही नहीं लग सकता! भोजनादि करते हुए तो तत्त्व-स्मरण कर सकते हो, लेकिन तर्क पढ़ते समय ऐसा नहीं होगा। क्योंकि पूर्वापर अनुसन्धान में सावधानी चाहिए। ऐसे ही दुकानदारी में तत्त्व-स्मरण करते

रहोगे तो दुकानदारी चलेगी नहीं, ग्राहक, माल, हिसाब आदि की तरफ ध्यान देते ही रहना पड़ेगा, यह अन्तर है। 'अभ्यासशालिनः' से कहा कि कभी दो-चार मिनट कोई श्लोक सोच लिया या तर्क सोच लिया तो उससे विपर्ययनिश्चय नहीं होगा। लेकिन उसी अभ्यास में जो लगा हुआ है उसे तत्त्व के अनुसन्धान का मौका नहीं मिलेगा बल्कि यदि अनुसन्धान करने लगा तो तर्कादि की प्रक्रिया में गड़बड़ा जायेगा! जिस शास्त्र का अभ्यासी होता है उसी के संस्कार दृढ रखता है, उसी के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता है। तर्कादि शास्त्रों का अभ्यासी यदि बीच-बीच में तत्त्व को याद करता रहेगा तो उसके अभ्यास का घात ही होगा, अभ्यास को काट देगा। ऐसे ही तत्त्वानुसन्धान दुकानदारी का भी घात करेगा। अतः ऐसे लोगों को बलात् तत्त्व की उपेक्षा करनी पड़ती है। इसलिए भोजनादि को इनके समान नहीं मान सकते।। १२७।।

श्लोक १०७ में बताये वचन की तरह अन्य भी श्रुतिवचन यही सत्यापित करते हैं यह सूचित करते हैं—

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ।
इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति।।१२८।।

'उसी एक का विज्ञान करो, अन्य बातें छोड़ो' तथा 'वाणी की ग्लानि का हेतु है' आदि जगह-जगह वेद में सुना जाता है।

श्रुति ने कहा 'तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ' (मुं.२.२.५)। उस एक-मात्र परमात्मा का ही विज्ञान रखो, अपरोक्ष अनुभव रखो, 'मैं ब्रह्म हूँ', इसी का प्रवाह रखो। जो इसके प्रतिपादक वाक्य नहीं हैं, उन्हें छोड़ो। अभेद-वाक्यों से अन्य वाणी लौकिक-पारलौकिक कर्त्तव्य ही बतायेगी अतः उसे छोड़ने पर सर्वकर्मसंन्यास अर्थसिद्ध है। संन्यास अनिवार्य होने से विहित भी है अतः बाकी बातें छोड़ने का भाव सब प्रवृत्तियाँ छोड़कर श्रवणादिपरायणता ही है। यदि कर्म करोगे तो बार-बार कर्त्ता-भोक्तापना याद आयेगा। भोजन करना है—इसके लिए सावधान नहीं रहना पड़ता, भूख लगने पर स्वतः पता चलता है। किंतु लौकिक या अलौकिक कार्य समय-निमित्त आदि के सापेक्ष होने से पूर्वनियोजन की आवश्यकता रखते हैं अतः कर्त्ता बनने से पूर्व ही 'करना है, करुँगा' आदि अभिमान रखना पड़ता है। भोजनादि के लिए ऐसे योजना नहीं बनानी पड़ती। इसलिए कहा 'अन्या वाचो विमुञ्चथ।' जितने विधि वाक्य हैं उन सबको छोड़ो, बस, अपनी ब्रह्मरूपता का ही निरन्तर अनुभव कायम रखो। अनात्मसम्बन्धी जितना वाग्व्यवहार है वह ग्लानि को ही पैदा करता है (बृ. ४.४.२१)।। १२८।।

आहारादि के दृष्टान्त से अन्य शास्त्रों के अध्ययन की अनुमति चाहना तर्कहीन है। यह वैसा है जैसे कोई आत्महत्या करने जाये रेल की पटरी पर साथ में भोजन लेकर कि अगर रेल देर से आई तो काम आयेगा! निदिध्यासन के लिए जीवन आवश्यक और जीवन के लिए

आहार आवश्यक। ज्ञान-दार्ढ्य पकेगा तो शरीर रहते हुए ही। परन्तु ऐसा बाकी कोई काम नहीं है, जिसके बिना दार्ढ्य का कार्य न हो। जैसे वैद्य 'कुछ नहीं खाना' कहता है तो दवाई खाने की मनाही नहीं कर रहा होता वैसे ही शास्त्र ने कहा कि निदिध्यासन के लिए सारे कर्म छोड़ो तो अर्थ है कि निदिध्यासन के लिए अपेक्षित शरीर-निर्वाह के लिए जो कर्म हैं, उनके अतिरिक्त कर्मों को छोड़ो। इसलिए शास्त्रानुकूल आहार की अनुमति ही संगत है, यह स्पष्ट करते हैं–

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन्।
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम्।।१२९।।

आहारादि छोड़े रहकर जियोगे नहीं। अन्य शास्त्रों को छोड़े रहकर क्या जियोगे नहीं जो इस बारे में यों आग्रह कर रहे हो?

भूख बिना मिटाये, मल-मूत्र बिना त्यागे, साधक ज़िन्दा रहेगा नहीं। इसलिए इनकी छूट दी है। जितना शरीर के निर्वाह के लिए ज़रूरी है उतना भले ही किया जाये, लेकिन क्या व्यक्ति तर्कशास्त्र पढ़े बिना मर जायेगा? या दुकानदारी, नौकरी किये बिना कोई मर जायेगा? निदिध्यासन के अंगरूप से शरीर को ज़िन्दा रखना ज़रूरी है। ऐसे निदिध्यासन के लिए कृषि, वाणिज्य, सेवा का कोई उपकार नहीं हो सकता। अतः शास्त्रान्तर पढ़ने या कार्यान्तर करने की अनुमति का आग्रह युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए 'शारीरं केवलं कर्म' इतनी ही छूट है।। १२९।।

निदिध्यासु के लिए ही पूर्वोक्त निषेधादि है, तत्त्वनिष्ठ के लिए नहीं यह बताते हैं–

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद् दृढबोधतः।
तथा तवापि चेत् तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु।। १३०।।

अगर पूछो कि जनक आदि ने राज्य कैसे किया? तो उत्तर है कि उनमें जो दृढ ज्ञान था उसके बल पर उन्होंने राज्य किया। तुम्हारा भी ज्ञान ऐसा ही दृढ है तो चाहे तर्क पढ़ो, चाहे खेती करो।

'जनकादि राज्य कैसे करते थे? ऐसे हमें भी तर्कपठन, कृषि आदि की छूट दे दो।' यह शंका है। उत्तर है कि उनको तो ज्ञान की दृढता हो चुकी थी। इसलिए उनको निदिध्यासन करने की ज़रूरत नहीं थी। जहाँ गीता में जनकादि का प्रसंग आया है वहाँ भाष्यकार ने दोनों विकल्प दिये हैं : यदि जनकादि को दृढ ज्ञानी मानते हो, तो राज्यादि करने से उनको कोई हानि होगी नहीं। जिसमें हाजमे की पर्याप्त शक्ति है वह एक माह तक केवल माल-पूआ, मावे की कचौड़ी, कलाकन्द ही खाये तो भी पचाता रहेगा, जिसका हाजमा कमज़ोर है वह तीन बार ही लगातार नहीं खा सकता। इसी प्रकार जो दृढज्ञानी है, चाहे जितना उसका शरीर-मन कार्य करे, उसे यह बुद्धि कभी नहीं होती कि 'यह मैं कर रहा हूँ'। न यह होता

है कि यह सब सच्चा है। परन्तु जिसको दृढ ज्ञान नहीं है उसके जब तक ठीक काम होते रहते हैं तब तक तो उसे ठीक याद रहती है कि भगवान् ने किया, लेकिन जब घाटे होते हैं तब कहता है 'भगवान् यह क्यों कर रहा है!' जिसको जगत् मिथ्या निश्चित है, उसके लिए लाभ-हानि दोनों ही झूठे हैं! अतः प्रसन्न ही रहता है। जनक को ऐसा ही दृढ ज्ञान था। यदि उसको विविदिषु समझते हो कि उसे ऐसा दृढ ज्ञान नहीं था, तो मानो कि वह अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म कर रहा था। किसी को कर्म करते देखते हो तो दोनों पक्ष सम्भव हैं—वह अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म कर रहा हो, अथवा दृढ ज्ञान हो गया है, इसलिए कर्म हो रहा है। ज्ञान होकर दृढ ज्ञान के लिए जो लगा हुआ है, वह कर्म नहीं कर सकता। जो निदिध्यासु है उसके लिए तो सर्वकर्मसंन्यास ही कर्तव्य है।

अतः प्रष्टा को आचार्य ने कहा कि यदि तुम्हारा अनुभव है कि 'मेरा दृढबोध है,' क्योंकि यह स्वानुभव-सिद्ध है, तो भले ही तर्क पढ़ो। एक अवधूत उत्तर काशी में थे। वे उपनिषदों का आवर्तन करते रहते थे। किसी ने उनसे प्रश्न पूछ लिया, उन्होंने उसे तात्पर्य बताया। पूछने वाला न्याय पढ़ कर आया था, पुनः उसने शंका की। एक-दो बार जवाब देने के बाद अवधूत जी ने कहा 'तू तो नया साधु, पढ़ कर आया है। कहाँ तक जवाब दूँगा! पर यदि मेरे शरीर के छोटे टुकड़े भी कोई करेगा, तब भी मेरा जो जीवन्मुक्ति का निश्चय है, वह रहेगा ही।' दृढ बोध का यही रूप है। यदि ऐसी ही तुम्हारी दृढता है, तो कितना भी तुम तर्कशास्त्र पढ़ते रहो या पैसा कमाने के लिए खेती करते रहो। इन कर्मों में प्रवृत्ति निदिध्यासु की नहीं हो सकती है। अन्तःकरण की शुद्धि से ज्ञानप्राप्ति के लिए कर्म-प्रवृत्ति हो सकती है या दृढ बोध के अनन्तर प्रारब्धभोगमात्र के लिए हो सकती है। जिसे ज्ञान हो गया, पर ज्ञान की दृढता नहीं हुई, उसके लिए जो प्रवृत्त है उसकी कर्मप्रवृत्ति नहीं हो सकती।। १३०।।

जनक तत्त्वज्ञ होता तो क्यों प्रवृत्त होता? इस शंका का समाधान करते हैं —

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः।। १३१।।

मिथ्यात्वका संस्कार दृढ हो जाने पर प्रारब्ध के समापन की इच्छा से अपने-अपने कर्मों के अनुसार बिना क्लेश अनुभव किये ज्ञानिजन भी प्रवृत्ति करते हैं।

जब जगत् के मिथ्यात्व की वासना दृढ हो जाती है, जगत् में सत्यत्व बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तब भी प्रवृत्ति असंभव नहीं। ज्ञान की दृढता होने पर भी उन्हें पता है कि इस शरीर का प्रारब्ध-भोग तो इस शरीर की उत्पत्ति के समय ही निश्चित हो चुका है। वह प्रारब्ध इस शरीर से भोगना है। अतः प्रारब्ध के क्षय की आकांक्षा रखते हैं। उन्हें कुछ प्राप्त करना नहीं है, न कुछ खोना है, प्रारब्ध को ही समाप्त करना है। प्रारब्धक्षय के अलावा किसी चीज़ की आकांक्षा नहीं है। दृढ ज्ञान के बाद शरीर मन आदि की प्रवृत्ति प्रारब्धभोग के लिए होगी।

अभी तो प्रवृत्ति दो तरह से है—कुछ प्रारब्धभोग के लिए होती है और कुछ हमारी इच्छा से होती है। ऐसा नहीं है कि कोई प्रारब्धवश ज्योतिष्टोम कर लेगा! ज्योतिष्टोम तो जब स्वर्ग की कामना होगी, तभी करेगा! ज्ञानी की अपनी तो कोई इच्छा रही नहीं, अब केवल प्रारब्धभोग बचा हुआ है। उसके द्वारा तो प्रारब्ध के लिए स्थूल और सूक्ष्म शरीर दे दिये गये, प्रारब्ध इनसे जो करावें क्योंकि उसे खुद तो कोई कार्य रहा नहीं। अज्ञानी को प्रारब्धभोग में क्लेश होता है। ज्ञानी को मिथ्यात्व-निश्चय रहने से यह क्लेश नहीं होता। जानता है कि यह समाप्त हो रहा है। अतः ज्ञानिजन बिना क्लेश के प्रवृत्त होते हैं। जो निदिध्यासन में संलग्न है उसके अंदर यह दृढता है नहीं इसलिए यदि प्रवृत्त हो गया तो तत्त्व विस्मृति की तरफ जायेगा, फलतः विपर्यय बना रहेगा। सुख के प्रारब्ध के काल में निदिध्यासु को क्लेश न होवे यह हो सकता है, पर दुःख प्रारब्धकाल में तो उसे क्लेश हो जायेगा। जिसे मिथ्यात्व-वासना दृढ हो गई है, उसको कभी क्लेश होगा नहीं। जिस प्रकार, जादूगर तुमको पाँच सौ की गड्डी देता है कि जेब में रख लो। फिर उसमें से पाँच नोट माँगता है। तुम देखते हो, वह है ही नहीं जेब में! क्या तुम्हें दुःख होता है कि सारे रुपये कहाँ गये? जिसको पता है कि यह सब जादू का खेल है, उसको गड्डी प्राप्त करते समय सुख नहीं, चली जाने के समय कोई दुःख भी होता नहीं है। इसी प्रकार जिसकी मिथ्यात्व-वासना दृढ है, उसको सुख के प्रारब्ध आने पर कोई प्रसन्नता नहीं होती, कष्ट आने पर दुःख भी नहीं होता। दोनों दशाओं में बिना क्लेश के रहता है।

ज्ञानी अनेक तरह के हैं, सबके अलग-अलग कर्म हैं। किसी के प्रारब्ध में बहुत काम करना जरूरी है तो वह घोर प्रवृत्ति करता है। किसी के वैसे कर्म नहीं हैं तो वह शांति से बैठा आनन्द लेता है। न उसको बड़े काम करने से कोई क्लेश है, न प्रसन्नता है। न कोई काम न होने का उसको कोई क्लेश है। वह दृश्यमात्र को एक-जैसा मिथ्या जानता है। सत्यबुद्धि वालों को लगता है कि कोई हाथी पर बैठा जा रहा है, कोई बिना जूते के जा रहा है; जिसकी मिथ्यात्व-वासना दृढ नहीं है, उसको ज्ञानियों में भी यह अन्तर दीखता है, पर ज्ञानी तो जानता है कि दोनों अवस्थायें झूठी हैं। इसलिए ज्ञानियों के चरित्र अनेक प्रकार के देखे जाते हैं क्योंकि उनके पहले किये कर्मों के अनुसार प्रारब्ध अलग-अलग हैं।।१३१।।

शंका आती है कि क्या ज्ञानी से ग़लत काम भी हो सकता है? ज्ञान किसको होता है? जो अनेक जन्मों तक शुभ कर्म करता रहा है। तभी अन्तःकरण की शुद्धि होकर ज्ञान होगा। इसलिए पापकर्मों की वासना तो रहेगी ही नहीं। परन्तु इस रहस्य को न समझने के कारण, लोग शंका करते हैं। इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि अधर्म का कारण अज्ञान है। जिसे पता नहीं है कि अधर्म का फल नरक आदि निम्न योनियों की प्राप्ति है वह उस अज्ञान से अधर्म करता है। लोक में भी जिसे पता नहीं कि सामने गड्ढा है वही उसमें गिरता है, जानकार नहीं। ऐसे ही जिसे पता नहीं है कि झूठ बोलने से नरक भोगना पड़ेगा वह ग़लती कर लेगा। ज्ञान होने पर जो धर्म से भी परे जा चुका वह अधर्म कैसे कर

लेगा! जब मन में मिथ्यात्व-वासना दृढ हो जाती है तब कर्तृत्व-भोक्तृत्व का जहाँ अनुभव होता है, उस चिदाभास में कुछ भी करने या न करने की प्रवृत्ति नहीं रह जाती। जब मन में कोई कामना होगी, तभी प्रवृत्ति-निवृत्ति होगी। बिना कामना के कोई कर्म नहीं हो सकता। वासनाओं के कारण, चिदाभास में कर्तृत्वबोध होने से 'मैं ऐसा करूँ' यह बुद्धि भी आती है और शास्त्र का ज्ञान होने से 'मैं ऐसा न करूँ' यह भी बुद्धि आती है। चिदाभास शास्त्र के अनुकूल वासना वाला बन चुका ही है। जैसा संस्कार बार-बार डालोगे, वैसी ही अन्तःकरण में वासना बन जाती है। जब अन्तःकरण शुद्ध होता है, तभी विवेक पैदा होता है, तभी विवेकजन्य वैराग्य होता है। दुःख के कारण किसी चीज़ से दूर हटना-रूप वैराग्य ज्ञान के लिए उपयोगी नहीं होता। जिस चीज़ से दुःख का अनुभव होता है, उससे तो कीट-पतंग भी दूर हटते हैं! दुःखमात्र से हुए वैराग्य वाला आगे किसी साधना की तरफ प्रवृत्ति नहीं करता। जो वैराग्य विवेक के कारण पैदा होता है वही नित्य परमात्मा पाने में प्रवृत्त करता है। परमात्मा नित्य होने से कार्य नहीं है इसलिए उसकी प्राप्ति किसी कर्म के द्वारा बताई नहीं जा सकती। जब मिथ्यात्व-वासना दृढ हो गई, शास्त्र-विरुद्ध वासनायें हैं नहीं, तब कर्म-भोग के लिए जो प्रवृत्ति करेगा, वह शास्त्रविरुद्ध होगी नहीं। जिस प्रकार से हम लोगों की पत्थर खाने में कोई प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि उसे खाने की वासना नहीं है उसी प्रकार तत्त्वज्ञ की दुष्प्रवृत्ति असम्भव है। जिसकी शास्त्र-वासना दृढ होगी, उसके अंदर लहसुन-प्याज खाने की बुद्धि आयेगी ही नहीं, शराब आदि पीने योग्य ही नहीं लगेगा। प्रारब्ध क्षय करने के लिए भूख लगी तो खाने में प्रवृत्ति होगी, लेकिन शास्त्रीय संस्कारों की प्रबलता के कारण अशास्त्रीय चीज़ों में नहीं होगी। खाना तो खाना पड़ेगा, तथा खाओगे—यह संस्कारों के अनुरूप होगा। भात खाने के संस्कार वाला ज्ञानी होकर मक्की तो खाने नहीं लगेगा! इसी प्रकार शास्त्रानुमत भोगों के संस्कारों वाला पाप नहीं करेगा। जगत् में सत्यता लगते तात्कालिक लाभ के लालच में पाप हो भी जाये, मिथ्यात्व स्पष्ट दीखते हो नहीं सकता। अज्ञानी सोच सकता है कि आत्मज्ञान हो जायेगा तो खूब सोया करेंगे! फिर उठने का नियम तो रहेगा नहीं। जो जगत् को सत्य समझता है, वह फल प्राप्त करने की इच्छा से अधर्म में प्रवृत्ति करता है। जिसमें उसकी मिथ्यात्व-वासना दृढ है वह नहीं करता। यही समझाते हैं—

अतिप्रसंगो मा शङ्क्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम्।
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद।। १३२।।

प्रारब्ध कर्म के वशीभूत जीवनक्रम वाले ज्ञानियों की प्रवृत्ति सम्भव है तो पाप-प्रवृत्ति भी हो जायेगी—यह शंका न की जाये। अथवा, पाप हो भी जाये! कर्म का निवारण कौन कर सकता है? बताओ।

जो केवल अपने प्रारब्ध कर्म के कारण ही प्रवृत्त-निवृत्त हैं, जिनका अपना कोई उद्देश्य

नहीं है, प्रारब्ध के वश ही उनकी सारी प्रवृत्ति-निवृत्ति है, उनके बारे में यह शंका ठीक नहीं कि जो नहीं करने के काम हैं, उनमें वे प्रवृत्ति करेंगे। उनकी अधर्म की वासनायें निवृत्त हो चुकी हैं। वादी कहता है—अनन्त जन्मों के कर्म हैं, कौन-सा कर्म किस समय फल देगा, निश्चित नहीं। माण्डव्य महर्षि थे। वे एकान्त में आत्मचिन्तन कर रहे थे। उधर से कुछ चोर निकले, उनके पीछे पुलिस वाले आ रहे थे। चोरों ने सब माल उनकी झोपड़ी में फैंक दिया और भाग गये। पुलिस वालों ने वहाँ वह चोरी का माल देखा। महर्षि को पकड़ कर राजा के पास ले गये। उसने सूली का दंड दिया। प्राणायाम के बल के कारण शूल महर्षि के शरीर में प्रवेश न कर सका। राजा ने कुछ दिन बाद उन्हें विलक्षण रूप से जीवित पाया। राजा ने क्षमा माँगी। महर्षि ने कहा 'यह तो प्रारब्ध का फल था, भोगना ही पड़ता है।' महर्षि ने विचार कर देखा कि सौ जन्म पहले तक तो कोई पाप नहीं था जिसका यह दंड मिला। तब यमराज के पास पहुँचे, कारण पूछा। कर्म के बिना किसी को फल देने का अधिकार तो है नहीं। यमराज ने कहा 'एक सौ एकवाँ जन्म देखलो।' देखने पर पता लगा कि बचपन में उन्होंने काँटे से चींटीं को गोदा था! उसका फल उतने शूल का चुभना था। असावधानी से अज्ञात पाप भी हो जाते हैं। एक महर्षि ने प्रातः काल हवन किया। कहीं जा रहे थे तो एक कीड़ा उनके पैर से अन्धकार में मर गया। कीड़ा तो अपने प्रारब्ध से मरा। पर 'मेरे द्वारा क्यों मरा? मैं क्यों निमित्त बना?' यह उन्हें जिज्ञासा हुई। यमराज से पूछा। यम ने कहा 'महाराज, कर्म कब हो जाये यह निश्चित नहीं। आपकी आहुति से एक चावल यज्ञ में न जाकर बाहर गिर गया। इस कीड़े ने वह दाना खा लिया। मंत्र द्वारा पवित्र किया वह चावल तमोगुणी कीड़े के पेट में कैसे रहता? इसलिए उसको कीट योनि से छूटना ज़रूरी हो गया। क्योंकि आपकी असावधानी से उसमें सत्त्वगुण आया, इसलिए आप उसके मरने में निमित्त बने।' अतः पता नहीं किस जन्म के किस कर्म के कारण कोई न कोई अज्ञात पाप हो ही जाता है। अतः ज्ञात या अज्ञात पाप हो ही नहीं सकता यह भी कहा नहीं जा सकता। इसलिए ज्ञानोत्तर अघ अर्थात् पाप का विद्वान् से श्लेष अर्थात् सम्बन्ध नहीं होता यह ब्रह्मसूत्रों में स्पष्ट किया है।

वस्तुतस्तु पंचदशी में ही (६.६६) आगे कहा है कि अतिप्रसंग वहीं हो सकता है जहाँ प्रसंग हो! ज्ञानी जब विधि-निषेध का विषय नहीं तो उसके किसी कार्य को न प्रसंग, न अतिप्रसंग कह सकते हैं। ब्राह्मण, गृहस्थ आदि सब अभिमानों से शून्य होने से उसमें उपलब्ध क्रियाओं को सही-ग़लत की श्रेणियों में बाँटना संभव नहीं। पहले किसी कर्म का प्रसंग होवे, कि इसे यह करना या नहीं करना है, फिर वह उसका अतिक्रमण करे, तब उसे अतिप्रसंग कहा जाये। जो इन अभिमानों से शून्य है, उसके लिए कोई प्रसंग है ही नहीं। ज्ञानी के लिए तो कोई विधि निषेध हैं नहीं। जब प्रसंग ही नहीं है तो अतिप्रसंग कहाँ से आयेगा!।। १३२।।

प्रारब्धानुसार कर्मानुष्ठान तो सभी का समानरूप से है, इसके कारण ज्ञानी की प्रवृत्ति में विशेषता क्या है? उत्तर है—

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चाऽत्र समे प्रारब्धकर्मणी।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्याद् मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः।।१३३।।

संसार में ज्ञानी-अज्ञानी के प्रारब्ध का होना समान है किन्तु धैर्य के कारण ज्ञानी को क्लेश नहीं होता जबकि अधैर्यवश मूढ को क्लेश होता रहता है।

'अत्र' अर्थात् कर्म-भोग के प्रसंग में, ज्ञानी हो या अज्ञानी प्रारब्ध कर्म वैसा ही है। प्रारब्ध कर्म का भोगादि होता है इसमें कोई अन्तर नहीं है। पर अज्ञानी दुःख के प्रारब्ध से दुःखी होता है, सुख के प्रारब्ध से सुखी होता है। ज्ञानी दुःख के प्रारब्ध से दुःखी भी नहीं होता, सुख के प्रारब्ध से सुखी भी नहीं होता। प्रारब्ध कर्म का फल है—यह समान होने पर भी ज्ञानी में अतिप्रसंग दीख भी जाये, परन्तु उसमें सुखी-दुःखीपना नहीं आयेगा। जैसा छान्दोग्योपनिषद् कहती है, उसके मुख पर कोई कालिमा नहीं आती। 'मैंने पुण्य क्यों नहीं किया, मैंने पाप क्यों कर लिया' इस विचार से आने वाली मुख की कालिमा अज्ञानी में होती है, ज्ञानी में नहीं होती। ज्ञानी को क्लेश नहीं होता है, यह धीरता के कारण। दोनों ही धीरता समझ लेना : बुद्धि में मिथ्यात्व और अकर्तृत्व सदैव भासता रहता है, इसलिए क्लेश नहीं रहता; और धैर्य मतलब जल्दबाजी नहीं होती। मनुष्य ग़लती, अतिप्रसंग क्यों करता है? अधीरता से। किसी काम में एक माह लगेगा, यदि रिश्वत दे दी तो दो दिन में काम हो जायेगा। ऐसे में अधीरता के कारण व्यक्ति अतिप्रसंग करता है। इसीलिए मनु महाराज ने धर्म को गिनाते समय सबसे पहले धैर्य को गिनाया। 'धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयम्' इत्यादि। सारे पाप अधीर होने पर ही होते हैं। हम तुरन्त फल चाहते हैं, इसीलिए पाप करते हैं। प्रारब्ध कर्म अपना फल देकर शेष हो जायेगा। इसमें कुछ जल्दबाजी करने की ज़रूरत नहीं है। मूढ, जिसे यह मिथ्यात्व और अभोक्तृत्व का ज्ञान नहीं है—वह अधीर होता है, चाहता है कि काम जल्दी हो जाये, दुःख जल्दी मिट जाये। लहसुन भी वैद्यों के कहने से खा लेता है पर रोग तो जाता नहीं। सोचता था रोग जल्दी चला जायेगा इसीलिए पाप जानने पर भी लहसुन खा लिया, इसमें कारण अधीरता ही है। रोग तो समय से ही जायेगा—मूढ इस बात को नहीं समझता है। गांधी जी को डाक्टर ने एक बार शरीर रखने के लिए अंडा खाना ज़रूरी बताया तो गाँधी जी ने कहा 'तुमने अपने बाप-दादों को अंडा खिलाकर क्यों नहीं जीवित रखा?' अधीर होने पर ही व्यक्ति अपनी तरफ से ग़लत प्रवृत्ति करता है, अन्यथा प्रारब्ध कर्म-भोग में जो होना है वह हो जाता है। ज्ञानी से प्रारब्धानुसार भले ही ग़लती हो, स्वयं समझ-बूझकर नहीं करता जबकि मूढ करता है यह एक अंतर तथा ज्ञानी क्लेशरहित रहता है जबकि मूढ क्लेश ही अनुभव करता है यह दूसरा अंतर दोनों में है। 'प्रारब्ध से प्रवृत्ति हुई' यह ज्ञानी का अनुभव, 'मैंने प्रवृत्ति की' यह मूढ का अनुभव—यह भी दोनों में अन्तर है।। १३३।।

धैर्य से विशेषता के लिए उदाहरण देते हैं—

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम्।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेद्अन्यस्तिष्ठति दीनधीः।। १३४।।

रास्ते चलते दो जनों की थकान समान होने पर भी गन्तव्य दूर नहीं—यह जानता व्यक्ति धैर्य से तेज़ चलता है, न जानने वाला दुःखी मनवाला हुआ रुक जाता है।

मार्ग में दो आदमी जा रहे हैं, चलने से दोनों ही थकेंगे। चाहे विद्वान् हो या मूढ हो, दोनों ही थकेंगे। जिसको यह पता है कि चार फर्लांग पर गाँव आ जायेगा, मार्ग अब समाप्त हो रहा है उसको धैर्य रहता है। अतः हिम्मत से चलता है। दोनों थके हैं, पर जो जानता है कि रास्ते का अंत हो रहा है वह उसे जल्दी से पार करता है। जिसको यह पता नहीं कि कितना और चलना है, कितनी दूर है, वह दीन बुद्धि हो जाता है, कि 'न जाने कितना चलना है, और नहीं चल सकता, क्या करूँ' और वहीं बैठ जाता है! इसी प्रकार ज्ञानी को पता है कि 'प्रारब्धमात्र का भोग करना है; अनादि काल से जीवन-मरण के चक्र में पड़े रहे, अब तो दस-बीस साल की ही बात है।' इसलिए उसमें तो दीनता आती नहीं। जो मूढ है, उसे लगता है 'न जाने आगे और कितना दुःख भोगना है,' इसलिए वह अधीर होकर 'किसी भी प्रकार अनुचित विधि से भी यह दुःख कैसे दूर हो' इस कामना से पीडित रहता है। दीनता होने-न-होने से दोनों में अन्तर है।। १३४।।

'आत्मानं चेद्' आदि व्याख्येय श्रुति का पूर्वार्ध समझा चुके। उत्तरार्ध ज्ञान का फल बता रहा है। उसे समझाना प्रारंभ करते हैं—

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।।१३५।।

जिसने बुद्धि से आत्मा का ठीक साक्षात्कार कर लिया और विपरीतभावना से अप्रभावित है वह क्या चाहते हुए, किसकी कामना पूरी करने के लिए शरीर के पीछे स्वयं को परेशान करे!

एक परोक्ष आत्मधी होती है कि निर्गुण निर्विकल्प परमात्मा है। 'निर्गुण परमेश्वर मैं हूँ,' यह साक्षात् बुद्धि है। जब तक निर्गुण परमात्मा कौन है—यह पता नहीं है, है कोई—इतना ही मालूम है तब तक परोक्ष है। जब यह पता लगता है कि वह निर्गुण परमात्मा मैं हूँ तब साक्षात् आत्मधी है। जिसने 'अहम् ब्रह्म' इसका साक्षात् अनुभव कर लिया अर्थात् जिसकी ब्रह्माकार वृत्ति बन गई उसकी भी जब तक देहादि है, तब तक देहादिबुद्धि हो जाती है। देहादिबुद्धि निश्चयात्मक तो नहीं होती पर प्रतीति होती है। उस विपर्यय को भी पूर्वदर्शित उपाय से जिसने निष्प्रभावी कर लिया उसे वह बाधा नहीं पहुँचाता, दुःख नहीं देता। विपरीत

ज्ञान से उसे बाधा नहीं होती। देह की प्रतीति होने पर भी, 'मैं देह हूँ' यह भ्रम नहीं होता। ऐसा सम्यक् स्थिर हो जाता है कि किसी भी हालत में अहंकार से देह पर्यन्त में कभी भी आत्मबुद्धि नहीं होती। शुरू में विशेष क्लेश इत्यादि होवे, तब तो हो जाती है, धीरे-धीरे अभ्यास करने से ऐसा सम्यक् बोध हो जाता है कि कभी भी उपाधि में 'मैं बुद्धि' नहीं बनती। शरीर के दुःखी होने पर ऐसा तत्त्वनिष्ठ क्यों दुःखी होवे? निरिच्छ, निष्काम ब्रह्मवेत्ता उपाधिधर्म स्वयं में नहीं समझता।। १३५।।

उक्त मन्त्र के उत्तरार्ध का तात्पर्य बताते हैं—

जगन्मिथ्यात्वधीभावाद् आक्षिप्तौ काम्यकामुकौ।
तयोरभावे सन्तापः शाम्येद् निःस्नेहदीपवत्।।१३६।।

जगत् मिथ्या है यह निश्चय रहने से काम्य विषय और कामना वाला विषयी दोनों बाधित होने से उनका अभाव रहते, बिना तेल के दिये की तरह ज्ञानी का सन्ताप शान्त हो जाता है।

जगत्-मिथ्यात्व का निश्चय वर्तमान रहने पर संताप शांत होता ही है। जैसे जिस दीये में तेल न रहे वह शान्त हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानी का सन्ताप शान्त हो जाता है। कोई चीज़ कामना का विषय होवे तभी सुख देती है। जो लोक में दुःख समझा जाता है, वह भी यदि कामना का विषय हो जाये तो दुःख नहीं देता, सुख देता है! सालभर मौज-मस्ती की, अब परीक्षा आ गयी, फेल होंगे। उसी समय भगवान् की कृपा से तेज़ बुखार आ गया! ऐसी अवस्था में माता-पिता परीक्षा लिखने के लिए भेजेंगे नहीं। इससे बच्चे का मन प्रसन्न होता है कि 'बुखार आ गया, परीक्षा नहीं देनी पड़ेगी।' जो हमारी कामना का विषय होगा वही मिलने से सुख और छूटने से दुःख दे सकता है। 'काम्य'—जिसकी हम कामना करें; 'कामुक'—कामना करने वाला मैं। जगत्-मिथ्यात्व का जिसे ज्ञान है उसके लिए कोई चीज़ काम्य नहीं रह जाती। जैसे बाजीगर के दिखाये नोट तुम प्राप्त करना नहीं चाहते, जानते हो कि झूठे हैं वैसे जगत्-मिथ्यात्व-बुद्धि होने से ज्ञानी में कामना नहीं रह जाती। जगत्-मिथ्यात्व जानने पर भी कामना हो सकती है, जैसे तुम्हें पता है कि टेलीविज़न के पर्दे पर दीखने वाला सब झूठा है। फिर भी देखने में तुम्हारी प्रवृत्ति होती है! इसी प्रकार जगत् मिथ्या है फिर भी इसको देखने की प्रवृत्ति हो सकती है। इसलिए खाली 'काम्य' न कह कर 'कामुक' भी साथ में कहा। 'मैं देखने वाला हूँ, मुझे मज़ा आता है' यह निश्चय हो तब कामना होगी। चीज़ मिथ्या और मैं सचमुच देखने वाला भी नहीं यों दोनों का बाध होने पर ही कामना असम्भव है। अकर्त्ता-अभोक्तापने का अपने में निश्चय और मिथ्यात्व का जगत् में निश्चय दोनों होने से कामना समाप्त है। काम्य बुद्धि चली गई मिथ्यात्व के ज्ञानके कारण और कामुक-बुद्धि चली गई स्वयं को अकर्त्ता-अभोक्ता जानने के कारण, तभी कामना निवृत्त होती है। केवल विषय-मिथ्यात्व की बुद्धि से कामना निवृत्त नहीं होती। जिस प्रकार

ज्ञाता और ज्ञेय होने पर ही ज्ञान है उसी प्रकार काम्य और कामुक होने पर ही कामना है। जब जगत्-मिथ्यात्व का ज्ञान भी दृढ है, आत्मा के अकर्ता-अभोक्तापने का ज्ञान भी दृढ है, तब काम्य-कामुक दोनों का ही अभाव है, अतः सन्ताप शान्त हो जाता है। कामना के निमित्त से ही सारे सन्ताप होते हैं। 'ऐसा क्यों हो गया? ऐसा क्यों नहीं हुआ?'—ही संताप देते हैं। ये कामना से ही होते हैं। जैसे तेल ही दीये के जलने में कारण है, वैसे ही कामना ही सारे सन्तापों का कारण है। इच्छा और कामना का अन्तर आगे स्पष्ट करेंगे।।१३६।।

कमनीय विषय के बाध से कामना-निवृत्ति में उदाहरण देते हैं—

गन्धर्वपत्तने किञ्चिद् नैन्द्रजालिकनिर्मितम्।
जानन् कामयते किन्तु जिहासति हसन्निदम्।।१३७।।

ऐन्द्रजालिक (जादूगर) द्वारा निर्मित गन्धर्वनगर में कुछ भी है नहीं—यह जानता हुआ व्यक्ति वहाँ की चीज़ें चाहे—यह संभव नहीं बल्कि 'ये (मिथ्या हैं'—यों) हँसते हुए उन्हें छोड़ना ही चाहता है।

'इन्द्रो मायाभिः' आदि श्रुति ने बताया कि इन्द्र माया से जाल की रचना करने वाला है। 'इन्द्र' शब्द का अर्थ बताते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि परमेश्वर ही इन्द्र है जो माया से इस सृष्टि का निर्माण करता है। लौकिक इन्द्रजाल का जो निर्माण करने वाला वह तुम्हें गन्धर्वपत्तन दिखला देता है। आसमान में बड़ा नगर दीखता है। सच्चाई का पता नहीं है तो लगता है 'यह कौन-सा शहर है?' डूँगरपुर बीकानेर के पास एक नगर है, जो कटोरे के समान, धरती पर बसा है। बहुत साल पहले की बात है, वहाँ दिशा-मैदान गये, अकस्मात् एक नगर दिखाई दिया। सोचा 'यह ऊपर कौन-सा नगर है?' लोगों से पूछा 'इधर कौन-सा नगर है?' लोगों ने कहा 'वहाँ तो कोई नगर नहीं है।' तब पता लगा कि वह गंधर्व नगर था! कुछ न होने पर भी दीखता था। जब पता लगे कि इंद्रजाल है तब वहाँ जाने की इच्छा नहीं रहती। पता लगने पर हँसी आती है, उससे दूर ही रहना चाहता है। जिहासा, छोड़ने की इच्छा का भाव इतना ही समझ लेना कि उसे देखने या पता लगाने का प्रयास व्यर्थ जानने से वैसी प्रवृत्ति नहीं करता है। ऐसा नहीं कि उसकी निवृत्ति की इच्छा करने लगे!।। १३७।।

दार्ष्टान्त में भी वही स्थिति है यह दिखाते हैं—

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान्।
नानुरज्यति किन्त्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहासति।।१३८।।

विचार न करने तक ही रमणयोग्य प्रतीत होने वाले भोगों को ऐसा समझने वाला उन पर अनुराग नहीं रखता किन्तु उनमें दोष देखने से उन्हें छोड़ना चाहता है।

जो इस बात को नहीं जानते हैं कि यह जादूगर का खेल है, उन्हें तो उन चीज़ों की इच्छा हो जाती है, पर जो जानता है, उसे इच्छा नहीं होती। वैसे ही यहाँ विचारवान् अर्थात् जिसने श्रुति से जानकर मनन द्वारा संसार की वास्तविकता का निश्चय कर लिया है वह जानता है कि भोग हैं आपात-रमणीय। जब तक प्रतीत होते हैं, तभी तक रमणीय लगते हैं। 'आपाततः' अर्थात् प्रथम दृष्ट्या। यदि विचार करके देखो तो उनमें कुछ सुखद नहीं है। बिना विचार के देखते हैं तो लगता है बड़े सुखद हैं। प्रतीतिमात्र से रमणीय हैं, वस्तुतः रमणीय नहीं हैं। जिनका भोग किया जाता है, उन विषयों को यहाँ भोग कहा है। विद्वान् वास्तविकता जानकर विषयों के प्रति राग नहीं करता है। जो विषय की वास्तविकता को नहीं समझता है, उसे उसमें राग हो जाता है। जैसे जो आम को पहचानता है वह इनका पीलापनमात्र देखकर उनमें राग नहीं करता क्योंकि आजकल पीला करने के लिए एक मसाला लगाते हैं! जो नहीं जानता, वह ठगा जाता है। जानकार को आम का नकली पीलापन देखकर राग नहीं होता। इससे संकेत किया कि जब कोई विषय सामने आये, तो वास्तविकता को सोचना चाहिए। जब अभ्यास दृढ हो जाता है तब तो विषय को देखते ही, उसकी आपात रमणीयता प्रतीत हो जाती है, पर शुरू में सावधानी से उसके मिथ्यात्व को देखना पड़ता है।

इतना ही नहीं कि उनमें अनुराग नहीं करता है, उनमें जो छिपा दोष है, उसकी तरफ दृष्टि भी ले जाता है। इसीलिए वाशिष्ठ आदि ग्रन्थों में, अनेक प्रकरणों में भोगों के दुःखों को विस्तार से बताया है। उन्हें देखकर लोग कहते हैं, यह निराशावाद है। किंतु यदि संसार में गुणों की प्रतीति बनी रहेगी, तो कभी भी संसार से मन हटेगा नहीं। दुःख होते रहने पर भी झूठी आशा में लोग संसार-परायण रहते हैं, इसी से यह संसार चलता रहता है। जिसकी संसार में दोष-दृष्टि नहीं बनी है उसे यही आशा ही तो बाँधे रखती है! ग्रीक देश के पुराणों में एक कथा है : देवताओं ने मनुष्यों को एक बक्सा दिया, कहा 'इसको कभी खोलना, नहीं।' जिज्ञासावश खोला तो उसमें से कीड़े निकलकर उड़ गये। बक्सा पुनः बंद कर दिया, एक कीड़ा अंदर रह गया था। उसने बताया 'ये सब कीड़े रोग-शोकादि थे। पर मैं आशा हूँ। मेरे भरोसे ही लोगों का दुःख कम होता रहेगा, सुख की आशा करते रहेंगे।' जो लोग कहते हैं कि वाशिष्ठ आदि ग्रन्थों में निराशावाद ज़्यादा है, वे यह मानते हैं कि आशा से कुछ प्राप्त होगा। पर विचारवान् जानता है कि अनादि काल से आशा रखे हुए हैं, अभी तक तो कुछ उपलब्ध हुआ नहीं, आगे क्या होगा! बल्कि विषयों को देखते रहने से ही हम आत्मज्ञान से दूर हैं। इनसे सुख की आशा दीर्घकाल तक रखने का फल यह हुआ कि आत्मज्ञान से भी दूर रहे। साधक इनको छोड़े तब आत्मज्ञान प्राप्तकर वास्तविक सुख मिलेगा। अतः जैसे विवेकी ज्ञानलाभ के लिए वैसे ज्ञानी ज्ञानदार्ढ्य के लिए विषयत्याग करता है।। १३८।।

विषयों के दोष बतलाते हैं–

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः।।१३६।।

धन के अर्जन, रक्षण, नाश और व्यय–सभी आयामों में दुःख-क्लेश ही है, ऐसे धन को धिक्कार है!

पदार्थ हमें प्राप्त हो जायें, इसके लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता है। बिना कष्ट के कोई पदार्थ मिलता नहीं। शरीर में कष्ट है फिर भी नौकरी-धंधे पर जाना ही पड़ता है। बिना कष्ट के कोई भी विषय प्राप्त नहीं हो सकता, धन भी प्राप्त नहीं हो सकता। यह समझ लेना दोष-दर्शन है। मन, शरीर को कष्ट दिये बिना कमाया नहीं जा सकता–यह एक दोष। पर्याप्त कमा भी लिया, अब सारा काम सुचारुरूप से चलता रहे, इसके लिए भी कष्ट ही उठाना पड़ता है। यदि धन नष्ट हो जाये तो भी दुःख ही होता है। आदमी कमाता है, औरतें खर्च करती हैं तो आदमी को दुःख होता है। कष्ट से कमाया धन खर्च होने पर भी दुःख ही होता है। धन से सिवाय क्लेश के और क्या मिलता है? ऐसे अर्थ को धिक्कार है। जब तक विचार नहीं रहता है, तब तक उसमें रमणीयता लगती है। विचार नहीं करेगा तो वह रमणीय ही दीखेगा।।१३६।।

संसार में दो चीज़ें सबसे बड़ी बन्धन का कारण हैं। एक धन और दूसरी स्त्री। धन कैसे दुःख का कारण है यह बतला दिया। अब स्त्री में दोष दिखाते हैं–

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्।। १४०।।

माँस की पुतली एवं स्नायु-अस्थि-गाँठों वाली स्त्री के यन्त्र जैसे चंचल शरीररूप पींजड़े में सुन्दर जैसा क्या है!

विचारवान् सोचता है कि स्त्री में कौन-सी चीज़ शोभन है। नाडियों की गाँठें, हड्डियाँ, स्नायु आदि में कोई सुन्दरता तो है नहीं। सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि भगवान् ने मनुष्य शरीर में मांस-हड्डी आदि सब गंदी चीज़ें लगाईं, कोई आकर्षण की चीज़ नहीं है। पर ईश्वर ने एक पतली चमड़ी चढ़ा दी तो भ्रम से सुन्दरता दिखाई देने लगी। मांस का लोथड़ा ही स्त्री नामक पुतली है। शरीर, यंत्रसमान चंचल है, निरन्तर हिलता ही रहता है। हाथ-पैर आदि अंगों वाला पींजड़ा है। इसी में लोगों को सुन्दरता दीखती है! विचार-दृष्टि से तो इसमें सुन्दर, शोभा वाला है क्या! जैसा स्त्री शरीर के बारे में है वैसा ही पुरुष के शरीर के बारे में है। संसार में एक तो दुःखप्रदता दोष जो धन से बताया, दूसरा इसके स्वरूप में अरमणीयता जो शरीर से बताया। बाकी चीज़ें भी इसी तरह असार समझ लेना।।१४०।।

इस विवेक-दृष्टि का प्रभाव दुःख से बचना है—

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपञ्चिताः।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति।।१४१।।

इस प्रकार के शास्त्र-वचनों में संसार के दोष भली भाँति समझाये हैं, उन्हें रात-दिन सोचता रहने वाला दुःखों में कैसे डूबेगा!

शास्त्रों में संसार के दोषों को भली प्रकार बतलाया है। गुणों को क्यों नहीं बतलाया? गुण के द्वारा ही बन्धन में जाते हो। जिस तरफ ले जाना हो उसके गुणों को बताना चाहिए। जिससे निवृत्त करना हो, उसके दुःखों को, दोषों को देखना चाहिए। जिस प्रकार, 'कुछ काम न करके पड़े रहने में मज़ा है', यदि यह बच्चों को सिखाया तो, वे कभी काम नहीं करेंगे। अतः उन्हें काम करने के गुण बतलाते हो। यदि पढ़ने के दोष बतलाओगे, 'पढ़े फारसी बेचें तेल, ये देखो कुदरत का खेल', तो क्या फिर वह पढ़ने में मन लगायेगा? उसे तो पढ़ने के गुणों की, लाभों की याद ही दिलाओगे तभी वह अध्ययन में परिश्रम करेगा। इसलिए शास्त्रों में जिसकी प्रशंसा की जाती है उसका विधान मानते हैं कि उसे करो। और जिसकी निन्दा की जाती है उसका निषेध माना जाता है। शास्त्रों में संसार के गुणों के वर्णन की ज़रूरत नहीं है, उनको देखकर तो तुम फँसे ही हो। मोक्षशास्त्र में तो उसके दोषों को ही बतलायेंगे। जो प्रवर्तक शास्त्र है, वहाँ कहते ही हैं 'दस पुत्रों की इच्छा करो, कोई एक तो गया श्राद्ध कर ही देगा।' तुम को प्रवृत्त करने के लिए इस प्रकार की बातें भी शास्त्रों में हैं। जिनको संसार में प्रवृत्त करना है उनके लिए प्रवृत्ति का शास्त्र है, जिनको निवृत्त करना है, उनके लिए निवृत्ति का शास्त्र है। रात-दिन इसका तुम विमर्श करो, क्योंकि अनादि काल से संसार की चीज़ों को अच्छा समझते ही रहे हो, इसलिए दोष देखते हुए भी गुण जल्दी सामने आयेंगे। गुण देखते हुए दोष जल्दी सामने नहीं आते। इसलिए दोषों का तुम्हें बार-बार विमर्श करना ही पड़ेगा। जो जिसे दुःख समझता है वह उधर कैसे मग्न होगा? ठीक है, शरीर-निर्वाह के लिए विषयों से थोड़ा-बहुत व्यवहार हो सकता है। पर उनमें मग्न नहीं होता। जैसे जो धन कमाने वाले हैं वे खाने-पहनने में मग्न नहीं होते। सेठ के लड़के भोग में मग्न हैं, पर सेठ वृद्धावस्था में भी धन कमाने में मग्न हैं। इसी प्रकार जो रात-दिन विचार करने में लगा है, उसे भी आवश्यक काम तो करने पड़ते हैं, पर वह उनमें मग्न नहीं होता वरन् उन्हें निपटाकर परमार्थ-विचार में ही तत्पर रहता है। निरन्तर विमर्श में तो मग्न रहता है, अन्य कार्य जितने ज़रूरी हैं उतने कर लेता है।। १४१।।

दोष-दर्शन होने पर इच्छा नहीं होती यह सोदाहरण कहते हैं—

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नाऽमूढस्तज्जिघत्सति।।१४२।।

भूख से पीड़ित व्यक्ति भी जहर खाना चाहता नहीं है तो मिठाई खाकर जिसकी भूख मिट चुकी है ऐसा गैर-मूर्ख कोई जहर जानते हुए उसे खाना नहीं चाहता।

भूख से पीड़ित है, सामने लड्डू पड़ा है, किंतु यह निश्चित पता है कि इसमें विष है। ऐसे में भूख से पीडित व्यक्ति भी उसको खाने की इच्छा नहीं करता, क्योंकि जानता है कि भूख मिटने का जितना सुख होगा, उससे बड़ा दुःख मरने का हो जायेगा। इसी प्रकार मनुष्य को चाहे जितनी किसी विषय की इच्छा होवे, परन्तु पता लग जाये कि इसके सेवन से भयंकर रोग होगा तो सेवन नहीं करता। सुन्दर पुरुष है, पर पता लग जाये कि इसे एड्स रोग है तो कोई उससे आलिंगन की इच्छा नहीं करेगा। विषयों में जब दोष प्रतीत होता है, तब उनकी इच्छा नहीं रह जाती। मन में विषय की आशा चाहे जितनी तीव्र होवे, लेकिन दोषदर्शन से दब जाती है। इसी प्रकार भगवान् भाष्यकार कहते हैं, 'विषयान् विषवत् त्यज' संस्कृतमें पदार्थों को विषय कहते हैं, यह विष है—यह याद दिलाने के लिए। इच्छा इसलिए होती है कि हम उनकी विषरूपता को समझते नहीं हैं। विष हैं, क्योंकि उनकी इच्छा से ही हम करोड़ों बार मरे हैं। अनादि काल से जो जन्म-मरण का अनुभव कर रहे हैं, वह इसीलिए कि विषयों की इच्छा हमें उस तरफ प्रवृत्त करती है। इसलिए कहा, यदि मुक्ति की इच्छा है तो विषयों को विष समझकर छोड़ना पड़ेगा। व्रत, तप आदि में भी विषयों को छोड़ते हैं लेकिन पुण्य से विषयलाभ के ही लिए, न कि विष समझकर। पार्वती जी ने अत्यन्त घोर तप किया। वह तप विवाह के लिए था। जब विषयों को विष की तरह समझकर छोड़ा जाता है तब बोध रहता है कि इनमें सिवाय दुःख के और कुछ भी नहीं है, इनसे दुःख ही होना है।

अभी परमेश्वर का ज्ञान नहीं हुआ है इसलिए 'क्षुधया पीड्यमानः'। परमात्मा को समझा नहीं है इसलिए विषयों की इच्छा दुःख तो देती है, पर 'विष हैं' जानने से भोग की इच्छा नहीं होती है। जन्म-मरण का चक्र विषयों के कारण है, मुमुक्षु को इस चक्र में भटकने की इच्छा नहीं है यद्यपि अभी विषय-इच्छा गई नहीं है। वर्तमान में लोगों का कहना है, मन में इच्छा है तो उसे दबाकर क्या होगा? दबा कर ही मोक्ष होगा। पर इसके लिए उनके दोषों को देखकर ही दबाना पड़ेगा, खाली दबाना लाभकारी नहीं है। भूखा भी जहर नहीं खाना चाहता तो जिसने बढ़िया घेवर, मालपूआ, रबड़ी आदि सब खूब खा लिया, उसके सामने जहर का लड्डू आये तो उसको क्या खाने की इच्छा होगी? जब पेट भरा होने से कुछ भी खाने की इच्छा नहीं रह गई, और जानता भी है कि इस लड्डू में जहर है, तो उसे कभी-भी खाने की इच्छा नहीं होती। मूढों को छोड़ करके! अपने अपरोक्ष स्वरूप की परमानंदता का ज्ञान होने से समग्र इच्छायें समाप्त हो जाती हैं। सारी इच्छा चाहती तो सुख को है। जिसने यह अनुभव कर लिया है कि 'परमानंद मेरा आत्मस्वरूप है', उसे कोई कामना रह नहीं सकती। जब हम किसी चीज़ को अपने से अलग देखते हैं तब उसको पाने की इच्छा होती है। जब इस बात को देख लिया कि मैं ही सर्वत्र व्यापक हूँ, पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तर सिवाय मेरे और कुछ नहीं है, तो किसकी इच्छा करेगा! विवेकी की एक तो पहले ही इच्छा नहीं

है, फिर वह जानता भी है कि यह दुःख का कारण है, ऐसा जो अपरोक्षानुभवी वह कभी भी किसी भी चीज़ के भोग की इच्छा नहीं करेगा क्योंकि मूढ नहीं है, मोहग्रस्त नहीं है। 'अमूढ' से संकेत देते हैं कि जानते हुए भी जब किसी प्रारब्धभोग की अवश्य कर्तव्यता से प्रवृत्ति होती है, तब स्वेच्छा प्रारब्ध से दुःख भी भोगता है। उस तात्पर्य में यहाँ मूढ का मतलब विषय के प्रति तात्कालिक शोभनबुद्धि है।। १४२।।

ज्ञानी की विषयेच्छा अज्ञानी से विलक्षण बताते हैं—

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद् भोगेष्विच्छा भवेद्यदि।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत्।। १४३।।

प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से यदि भोगविषयक इच्छा होती है तो भी बेगार में जुते की तरह क्लेश अनुभव करते हुए ही विषय भोगता है (भोग से प्रसन्न नहीं हो पाता)।

शरीर-मन से किये कर्मों से प्रारब्ध बनता है और संस्कार भी पड़ते हैं। प्रारब्ध से प्रेरित संस्कार प्रवृत्ति कराते हैं। कर्म के अनुसार जो सुख-दुःख होना है, उसकी तरफ संस्कार प्रवृत्ति कराते हैं। निर्बल प्रारब्ध को उपाय से हटाया जा सकता है। यदि सभी प्रारब्ध एक जैसे प्रबल हों, तो आयुर्वेद से योगशास्त्र पर्यन्त, जितने साधन सब निष्फल हो जायेंगे। इसलिए दुर्बल-प्रबल ये दो विभाग किये गये हैं। यह अनुभवसिद्ध भी है। कुछ रोग ऐसे होते हैं कि सारा इलाज़ करके भी कोई लाभ नहीं होता। कई रोगों में इलाज़ से लाभ हो भी जाता है। कभी इलाज़ लाभ करता है, कभी नहीं करता। कोई ऐसा रोग है जो प्रयत्न से हटता है, कोई नहीं हटता। जो प्रयत्न से हटता है उसे लाने वाले को निर्बल प्रारब्ध कहते हैं, जो नहीं हटता उसे लाने वाले को प्रबल प्रारब्ध कहते हैं। निर्बल प्रारब्ध को तो ज्ञानी चित्तवृत्ति की एकाग्रता से हटा देता है। निर्बल प्रारब्ध उसे फल नहीं दे पाता।

लेकिन जो प्रबल प्रारब्ध है उसको तो भोगना ही पड़ेगा। प्रारब्ध से ही सुख भी मिलते हैं, दुःख भी। ऐसा नहीं कि रबड़ी-पूड़ी की इच्छा न करो, सूखी-दाल रोटी की इच्छा करो वरन् इच्छा किसी की भी मत करो। वास्तविकता यह है कि रबड़ी-पूड़ी भी तीव्र प्रारब्ध होगा तो मिलेगी ही, उस दिन सूखी-रोटी दाल नहीं मिलेगी अगर उसका प्रारब्ध नहीं है तो। जब सुखानुभव होना है तब विषय की इच्छा चाहिए, इसलिए उतने समय के लिए वह चीज़ इष्ट लग भी जायेगी फिर भी वह क्लेशपूर्वक ही भोगता है। वह तो अपने सदानन्दरूप में ही स्थित रहना चाहता है। ज्ञानी को विषयों की इच्छा नहीं है परन्तु पूर्वप्रज्ञा से, प्रारब्ध फल देने के कारण, संस्कारों के अनुरूप तात्कालिक इच्छा होती है। उस इच्छा की पूर्ति से उसे वैसी प्रसन्नता नहीं होती, जैसी संसारी को होती है। लोग बड़ा आदर करें तो सब लोगों को अच्छा लगता है। पर वह समझता है 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा' प्रतिष्ठा सुअर की विष्ठा है। 'मानं चैव सुरापानम्'। जब लोग सम्मान देते हैं तो उसे लगता है, 'ये सब शराब पिला

रहे हैं जिससे हम अपने स्वरूप को भूल जायें।' इसलिए क्लेश महसूस करते हुए प्रारब्ध-पूर्ति के लिए भोगता है।

कैसे? 'विष्टिगृहीतवत्'। जैसे जो आदमी बेगार में पकड़ा जाकर काम में लगाया गया है वह इच्छापूर्वक काम नहीं करता है, क्लेश-पूर्वक ही करता है। मृगतृष्णा का जल है ऐसा जानने वाले को भय के कारण वहाँ पानी लेने जाना पड़े तो जैसे क्लेश से जाता है ठीक इसी प्रकार से विषयों में सुख नहीं है, इस बात का विद्वान् को निश्चित ज्ञान है; प्रारब्ध और संस्कार कहते हैं 'वहाँ पर जाओ, सुख मिलेगा।' वह विचार करके कहता है 'सुख है नहीं विषयों में, क्यों मुझे भेजते हो?' फिर भी जाना पड़ेगा, प्रारब्ध के ज़ोर से इसलिए कहा कि बेगार में पकड़ा जाने पर व्यक्ति जिस प्रकार से प्रवृत्ति करता है, वैसे ही ज्ञानी की भोगप्रवृत्ति होती है।। १४३।।

ज्ञानवान् क्लेशपूर्वक भोगता है यह स्पष्ट करते हैं–

भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः।
नाद्यापि कर्मनश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति सन्ततम्।। १४४।।

समझदार श्रद्धालु गृहस्थ भी विषयभोग करते हुए 'आज तक भी हमारा कर्म समाप्त नहीं हुआ' यों लगातार क्लेश अनुभव करते हैं।

जिन्होंने परमात्मा का अपरोक्ष रूप से अनुभव कर लिया है, 'बुधाः' हैं तथा 'श्रद्धावन्तः' शास्त्र में पूर्ण श्रद्धा वाले हैं उन्हें यदि भोगना पड़े तो क्लेश से करते हैं। जरत्कारु महर्षि प्रसिद्ध हुए हैं। जरत्कारु महर्षि ने गुरुगृह में पढ़ते समय ही निर्णय कर लिया था कि संसार चक्र में नहीं जायेंगे। अतः आत्मज्ञान के मार्ग पर चल पड़े। दृढता भी हो गई। एक बार मार्ग में एक कुआँ देखा। उसमें एक पतली डाली से कुछ व्यक्ति लटक रहे थे। पूछने पर लटके लोगों ने बताया कि 'हमारे कुल में एक जरत्कारु हुआ है, जिसने ब्याह नहीं किया। वह अकेला ही हमारे कुल में रहा है इस पतली डाल की तरह। आगे बच्चे न होने से उसके साथ ही परंपरा समाप्त होकर हमें श्राद्ध प्राप्त होंगे नहीं, हमें कुए में गिरना पड़ेगा।' श्रद्धावान् थे। माता-पिता आदि के कल्याण के लिए कहा 'ठीक है, मैं विवाह तो करूँगा, पर मैं कन्या नहीं तलाश करूँगा। स्वयं लड़की वाला आवे तो ठीक है। और मेरे नाम के समान लड़की का नाम भी जरत्कारु होवे तभी मैं विवाह करूँगा। और केवल एक पुत्र उत्पन्न करूँगा। फिर संन्यास मार्ग पर चला जाऊँगा।' सोचा था कि असम्भव शर्ते हैं। नाग लोक में जरत्कारु नाम की कन्या थी। उससे ऋषि का ब्याह हुआ। एक पुत्र उत्पन्न हुआ तब उन्होंने संन्यास लिया। ऐसे भी जबरदस्ती गृहस्थ बनना पड़ता है। उसे सभी प्रकार के भोग भी प्राप्त होते हैं लेकिन भोगने में मस्त न होकर चिन्ता करता है 'अभी तक लड़का पैदा नहीं हुआ, इसलिए भोगों में रहना पड़ रहा है। शीघ्र खत्म हो तो आत्मध्यान में परायण रहूँ।'

इस प्रकार भोग करते हुए भी मन में सदैव क्लेश बना रहता है। अज्ञानी विषयों के अभाव में दुःखी होता है। ज्ञानी विषयों के मिलने पर दुःखी होता है! विषयों के न मिलने पर उसे कोई दुःख नहीं है।।१४४।।

ज्ञान होने पर भी क्लेश होता है तो ज्ञान से क्या लाभ? इसका समाधान करते हैं—

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किन्तु विरक्तता।
भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः।।१४५।।

विद्वान् का यह क्लेश सांसारिक ताप नहीं वरन् संसार के प्रति वैराग्य है। भ्रमज्ञान के कारण होने वाला सांसारिक ताप समझा जाता है (न कि विवेकजन्य)।

विषयों के अन्दर सत्यत्वबुद्धि और सुखबुद्धि तथा अपने अंदर कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि, इनसे जो होता है उसे सांसारिक ताप कहा जाता है। सांसारिक ताप का कारण भ्रांति ज्ञान है। 'अभी तक प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति क्यों नहीं हुई'—यह क्लेश संसारताप नहीं है किंतु यह वैराग्य है। वैराग्य विविदिषा-काल में रहेगा ही, विद्वत्काल में भी रहेगा। ब्रह्मसूत्रों में कहा है कि शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा इत्यादि ज्ञान के साथ भी रहते हैं, निवृत्त नहीं हो जाते। वैराग्य की निवृत्ति सिद्धावस्था में भी होती नहीं है। चूँकि शमादि ज्ञान के उपोद्बलक होते हैं, इसलिए उनको संसार-ताप नहीं कह सकते। राग से भोग में रस आता है, वैराग्य से भोग से निवृत्ति होती है। भ्रांतिज्ञान से होने वाला क्लेश ताप कहा गया है, विवेक से होने वाला वैराग्य है।। १४५।।

ज्ञानी का क्लेश विवेकमूलक कैसे यह समझाते हैं—

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति।
अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित्।। १४६।।

विवेक से पूर्णतः क्लेश अनुभव करता व्यक्ति अल्प भोग से तृप्त हो जाता है। जो विवेकी नहीं, वह अनन्त भोग से भी कभी तृप्त नहीं होता।

विरक्तता विवेकमूलक है। विवेक के कारण ही जो वैराग्य है, उससे क्लेश हो रहा है यह कैसे पता लगता है? जितना प्रारब्ध से भोगने के लिए न्यूनतम मिला उतने मात्र से उसे तृप्ति रहती है क्योंकि उसमें कामना है नहीं। जब वह जलेबी-दूध खा रहा होता है, तब लगता है 'जैसे हम लोग मज़े से खाते हैं वैसे यह भी खा रहा है, इसको भी ऐसे ही विषयों में रुचि है'। परन्तु चार दिन बाद बाजरे की सूखी रोटी मिल गई तो उससे भी वह उतना ही तृप्त होता देखा जाता है। यह बिना विवेक-जन्य वैराग्य के जो भोग करता है उसमें नहीं देखा जा सकता। प्रारब्ध भोग अल्प लाया या नहीं लाया, तब भी वह सन्तुष्ट रहता है। यह अपने को स्पष्ट पता लग जाता है कि हमारे मन में यह आता है कि नहीं कि 'यह भोग

और होता तो अच्छा था'। या 'यह न मिलता तो अच्छा था'। जब जो मिल गया उसी से सन्तुष्टि है या नहीं। यही अन्तर है विवेक-जन्य वैराग्यरूप क्लेश में और अविवेकजन्य संसारताप में। यदि ऐसा वैराग्य नहीं है, तो कोई काम अपने मन के विपरीत हुआ तब अत्यन्त क्रोध आता है। सौ चीज़ें प्रारब्ध हमारे मन की ले आया, यदि एक चीज़ मन की नहीं आई, तो दुःखी हो जाता है। अविवेकी के अंदर तृप्ति का बोध होता ही नहीं है।।१४६।।

इसके लिए प्रसिद्ध राजा ययाति का दृष्टान्त है। ययाति ने सारी जवानी भोगी फिर भी विषय-तृष्णा गयी नहीं। उस काल में हृदय प्रत्यारोपण की तरह जवानी का भी प्रत्यारोपण होता था। किसी दूसरे की जवानी मिल जाये तो उसका बूढे में और बूढे के बुढ़ापे का जवान में प्रत्यारोपण हो जाता था। राजा ने बड़े लड़के से जवानी मांगी, वह नहीं माना। अन्त में एक लड़के ने मान लिया, जवानी पिता को दे दी और खुद बुड्ढा हो गया। नयी प्राप्त जवानी की भी समय-सीमा है। बुढ़ापा पुनः आने पर उसी लड़के को ही ययाति ने अपना राज्य दिया और स्वयं वन को प्रस्थान किया। उस लड़के ने पूछा 'आपको दो जवानियाँ प्राप्त होकर क्या अनुभव हुआ, उसे बताइये।' ययाति ने कहा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।१४७।।

उपभोग कर लेने से कामना शान्त नहीं होती वरन् हवि से आग की तरह और बढ जाती है।

जिसकी कामना की जाती है उसको भी 'काम' कहते हैं। यहाँ 'काम' मायने विषय। विषयों के उपभोग से, कामना शान्त नहीं होती, मन इससे कभी भरने वाला नहीं है। भोग से थोड़ी भी शान्ति नहीं मिलती। अग्नि में घी की आहुति डालते हो, इससे आग बढ़ती है, घटती नहीं। इसी तरह जितना भोग करते जाओ उतनी कामना बढ़ती जाती है, शान्त नहीं होती। विचार करके देखो, हमारे अनन्त जन्म हुए, उनमें एक ही भोग को कितनी बार भोगा! फिर भी आज उसी भोग की इच्छा वैसी ही है। इसलिए ठीक है कि भोगों से कामना की शान्ति नहीं होती। जो विवेकजन्य वैराग्य है, उससे अल्पभोग से भी तृप्ति होती है कि 'बस, काफी हो गया'। सांसारिक व्यक्ति प्रारब्ध-भोग को बढ़ाना चाहता है, विरक्त ऐसा नहीं होने देना चाहता। जब तक भोग ख़त्म नहीं होता है, उतनी देर तो वैराग्य-जन्य क्लेश रहेगा ही। ज्ञानी तो 'प्रारब्ध का भोग भोगना ही है' इसलिए भोगता है। अतः भोग समाप्त होते ही अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसलिए अल्प भोग उसको संतोष देता है। अज्ञानी क्योंकि स्वयं इच्छा वाला है, इसलिए 'प्रारब्ध भोगना ही है' इसलिए नहीं भोगता, वरन् भोगने की इच्छा से प्रवृत्त होकर उत्साह से भोगता है। अतः चाहे जितना भोग मिले, उसके अंदर और पाने की इच्छा बनी रहती है। इस तरह, जगत्-मिथ्यात्व और अपने

अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व के ज्ञान के साथ जो प्रारब्ध भोग किया जाता है उसमें, और अज्ञानी के भोग में अन्तर है।। १४७।।

शंका हो सकती है कि प्रारब्ध भोगना ही है तो इस अन्तर का कोई लाभ नहीं है। ज्ञान से दृष्ट भोग तो नष्ट होगा नहीं। उस से जन्म-मरण का चक्र नष्ट होगा। तब आत्मज्ञान को दृष्ट फल वाला कैसे कहते हैं? दृष्टफल अर्थात् जिसका फल यहीं देखा जाता है। जन्म-मरण का चक्र नहीं होगा पर वह तो अदृष्ट है। इसके समाधान में कहते हैं कि यद्यपि दृष्ट भोग रहता है तथापि जानकर भोग होने से अज्ञानी के भोग से महान् अन्तर है—

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्।।१४८।।

सब तरह समझकर किया उपभोग संतुष्ट करता है। 'यह चोर है'—यों समझकर साथ किया जाये तो वह दोस्त का व्यवहार करता है, चोर का नहीं।

'परिज्ञाय' भली प्रकार से भोगों के स्वरूप को समझ कर, अर्थात् संसार-मिथ्यात्व का स्पष्ट ज्ञान रखते हुए जो विषयों का उपभोग किया जाता है वह तुष्टिकर होता है। अन्यथा, भोग में अतुष्टि रहती है, इस भावना से कि इससे ज़्यादा भोग मिले। जैसे, किसी नौकर को दुःखी करना चाहते हो तो उसके साथी का वेतन उससे भी ज्यादा बढ़ा दो! साथी का अधिक बढ़ा जानकर स्वयं की तरक्की का सुख नहीं ले पायेगा। समझनेमात्र से विषय अपना असर कैसे बदल देंगे? इस पर दृष्टान्त दिया—तुम्हारे गाँव का एक चोर शहर में तुम्हें मिल गया। निकटता हो गई। वह तुम्हारे घर तो चोरी नहीं ही करेगा! यह चोर है—ऐसा यदि तुम्हें मालूम है तो वह मैत्री का ही व्यवहार करता है, तुम्हारी चोरी नहीं करता। इसी प्रकार संसार की वास्तविकता इन्द्रजालपना है। यह सारा संसार मिथ्या है। इसके मिथ्यापने को जब तुम निश्चय पूर्वक जान लेते हो, तो अब वह तुम्हें दुःख देने का काम नहीं करता। संसार को सत्य समझने वाले को जैसे संसार दुःखी करता है, वैसे जिसने संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ लिया, उसको मिथ्या समझ लिया, उसको दुःखी नहीं कर सकता। तब तो जितना तुम भोग कर लेते हो उसी में तुमको संतुष्टि हो जाती है।

'परिज्ञाय' का यह भी अर्थ हो सकता है कि यह भोग इतनी मेहनत करके मिलता है, इतना ही फल देने वाला है इत्यादि बातों को यदि भोग के बारे में जान लिया, तो भोग करते हुए उससे ज़्यादा की इच्छा नहीं करता, अतः उसे सन्तोष हो जाता है। जगत् के मिथ्यात्व का और अपने अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व का परिज्ञान हो जाता है तो कोई आशा करते ही नहीं, अतः जितना भी भोग मिले, उसी से सन्तोष हो जाता है। विवेकजन्य वैराग्य-सहकृत भोग में और अविवेकजन्य राग सहित भोग में दृष्ट ही इतना स्पष्ट अन्तर है। एक को तुष्टि होती है, दूसरे को नहीं। जैसे कहते हैं 'केला खाओ तो पेट भारी हो जाता है, पर इलायची के साथ भारी नहीं होता।' इसी प्रकार प्रारब्धभोग तो करना ही है, जगत्-मिथ्यात्व और अपने

अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व के ज्ञान के साथ करोगे तो यही संसार सुख देने वाला हो जायेगा, दुःख देने वाला रहेगा नहीं। बिना विवेक-वैराग्य के जब प्रारब्ध का भोग करते हो तब कभी तुष्टि नहीं होती फलतः दुःख ही मिलता है।। १४८।।

शंका होती है कि मन है ही कामनाओं से भरा तो विवेकजन्य वैराग्य से कामना नहीं रहेगी यह असंभव है! समाधान करते हैं—

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद् बहु मन्यते।।१४९।।

योगाभ्यास से जिसने मन वश में कर लिया उसे खेल-खेल में थोड़ा भी भोग मिले तो बिना बहुत बढ़ाये उसी को काफी समझता है क्योंकि उसे सदोष जानता है।

मन का निग्रह करना पड़ता है। ग्रह का मतलब होता है पकड़ना। पकड़कर अपने वश में करने को कहते हैं निग्रह। अभी तो मन स्वतंत्र है। मन की स्वतंत्रता वास्तविक नहीं हो सकती क्योंकि स्वरूप से जड है। पर हमने मन को अपनी वाली स्वतंत्रता दे रखी है क्योंकि मन जो करे उसी को 'मैं कर रहा हूँ' इस प्रकार हम अंगीकार कर लेते हैं। स्वतंत्र तो चेतन है। मन जड है। अविवेकवश चेतन की स्वतंत्रता उसे दे दी है। जैसे मकान तुम्हारा पर चौकीदार को मुख्तारनामा लिख दिया। अब वह मकान बेच भी सकता है! यह उसका मकान नहीं है तथापि जब तक दिया गया दस्तावेज वापिस नहीं लो तब तक वह जो चाहे सो करे। इसी प्रकार मन जड है, स्वतः कुछ करने में असमर्थ है पर हमने उसमें अपनी चेतनता देकर उसके हाथ में स्वतंत्रता दे दी है। इसीलिए वह कामना से भरा है। जब विवेकजन्य वैराग्य होता है तब पता लगता है 'अरे! इस मन का भरोसा कर रहे हैं पर इसके योग्य यह है नहीं।' तब तुम उस मन पर नियंत्रण करते हो।

उसकी विधि क्या है? अभी तो तुम को अपने सच्चे स्वरूप का पता नहीं है। शास्त्रों से पता लगता है कि मन एवं सारी सृष्टि का असली मालिक मेरा ही जो मायामय रूप वह ईश्वर है। माया शक्ति वाला और सूक्ष्म शरीर वाला चेतन यों मेरे ही दोनों रूप हैं। इसलिए अब मन के अनुसार न चल कर शास्त्र के अनुसार चलते हो अर्थात् ईश्वर की इच्छा से चलते हो। ईश्वर ने जो करने को कहा है वही तो शास्त्र है। अभी तो मन अपनी इच्छा से चलता है, फिर हम मनकी इच्छा से कुछ नहीं करते। यह याद रखना कि इस काम में छुट्टी का सवाल नहीं है! कहो कि एक माह शास्त्र के अनुसार चल लिए, अब कुछ दिन मन के अनुसार चलें तो याद रखना कि यदि चौकीदार को दो दिन के लिए भी शासन दे दिया तो वह इतना नुकसान कर देगा कि तुम्हें एक वर्ष तक कमाना पड़ेगा! अतः मन से वही कराओ जो शास्त्र के अनुसार हो, अपने अनुसार नहीं करने दो। इससे मन का निग्रह होगा। इसलिए भगवान् ने गीता में कहा 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि'।।' क्या करना चाहिए—यदि यह जानना चाहते हो तो शास्त्र ही प्रमाण

है। कार्य और अकार्य, क्या करना है और क्या नहीं इसके लिए शास्त्र के विधान को जानो। निगृहीत हो चुका तब मन समझ लेता है कि मुझे चेतन की आज्ञा से ही चलना है। चेतन का ही माया-उपाधि का रूप ईश्वर है, उसके अनुसार चलना है। मन के निग्रह का दूसरा उपाय है, योगाभ्यास। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, इन सबका अभ्यास करने से भी मन का निग्रह होता है। यह भी है तो परमेश्वर की आज्ञा से ही। महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट किया है, परमेश्वर की शरण में चले जाओ तो समाधि सुलभ है।

इस संसार का वास्तविक स्वरूप क्या है? यह परमेश्वर की लीला है, परमेश्वर का जादू है। इसलिए यह भोग लीलारूप है। संसार में कहीं कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, सारा ही लीला है खेल है। जैसे बाजीगर अपनी मर्ज़ी से दिखाता है ऐसे यह ईश्वर की मर्ज़ी से दीख रहा है। इसमें तुम, जीव कुछ नहीं कर सकते। जो दीख रहा है वह इन्द्रजाल है, तुच्छ है, और मैं अकर्ता-अभोक्ता हूँ। इसलिए प्रारब्ध का अनुभव—लीला भोग है। यह खेल ही है। वास्तव में न भोग करने वाला है, न पदार्थ हैं। जो इसे खेल जानता है वह जादूगर के खेल को देखकर मौज में रहता है। जितना वह हमारे प्रारब्धानुसार खेल दिखला दे उतनी लीला को देखकर ही तुष्ट रहता है। 'क्लिष्टत्वाद्'; वह जानता है कि भोग तो मिथ्यात्वादि दोष से युक्त है, यह संस्कार पैदा करके फिर प्रवृत्ति करा सकता है, दुःखरूप है, भविष्य में भी दुःख ही देगा। अतः समझता है कि जो देखा वही पर्याप्त है, और खेल देखने की इच्छा नहीं होती है। 'दूध का जला छाछ भी फूँक कर पीता है।' करोड़ों कल्पों से हम भोगते इसलिए रहे कि इसके प्रति रुचि रखने से इसी के संस्कार पड़ जाते थे। कैमरा को जिधर एकाग्र करोगे फोटो उधर की ही आयेगी। इसी प्रकार यह मन जिधर देख लेगा, उधर के ही संस्कार डाल देगा। अतः जितना ज़रूरी भोग है, उतना ही करो, अन्यथा संस्कार पड़ने का भय बना रहेगा। यह वैराग्यजन्य क्लेश है। उसे ज़्यादा की इच्छा नहीं रहती है, जितना है उतना भोगता ही है, उसी को बहुत मानता है, ताकि आगे प्रवृत्ति न कराये।।१४६।।

कम को बहुत मानकर संतुष्टि में दृष्टांत देते हैं—

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति।
परैर्न बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते।।१५०।।

कैद होकर छूटा राजा गाँवमात्र पाकर सन्तुष्ट होता है। अन्यों द्वारा बन्दी न बनाया गया, जिस पर आक्रमण भी नहीं हुआ वह राजा पूरे राष्ट्र को भी ज़्यादा नहीं समझता।

किसी दूसरे राजा ने एक राजा को हराकर पकड़ लिया। सलाहकारों ने राजा को समझाया, 'अब इसे छोड़ दो, राज्य तो हमने ले ही लिया। थोड़ी ज़मीन दे दो ताकि खेती करके खाता रहे।' यों बन्दी बनकर जो छोड़ दिया गया वह अब गाँव की छोटी-सी ज़मीन से ही सन्तुष्ट रहता है कि कुछ तो मिल गया जीविका के लिए। इसी प्रकार जीव अविद्या-काम-कर्म से बँधा था। कामना इसको भगाती रहती थी। कामना मन करता है। कामना

को पूरी करने के लिए नौकरी कौन करता है? तुम करते हो। चेतन जो रानी थी दौड़ती फिर रही है, दासी बन गयी है। मन की कामनाओं के पीछे जीव दौड़ता है। अनादिकाल से इसमें बँधा था। किसी तरह से सद्गुरु की कृपा से विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि की प्राप्ति हुई, ज्ञान हुआ, पता लग गया कि इस मन का गुलाम मैं नहीं हूँ। यों उससे छूट गया। अब संसार की प्रतीति थोड़े समय तक प्रारब्ध काल में होती है, उसमें जितना प्रारब्ध से भोग प्राप्त हो जाये, उसी में प्रसन्नता है। मन कहता है 'रोटी नमक तो होना चाहिए।' पर अब जीव नमक ढूँढने नहीं जाता। मधुसूदन सरस्वती के पास भगवान् कृष्ण की मूर्ति थी, श्रद्धा से पूजा करने के बाद टिक्कड़ खिला देते थे। सालों बाद भगवान् कृष्ण ने कहा 'तू मुझे सूखा टिक्कड़ खिलाता है, ज़रा नमक साथ में मिल जाये तो अच्छा है।' उन्होंने कहा 'मैं संन्यासी हूँ। कल को आप छाछ माँगेगें! अन्त इसका नहीं है। जो मिलता है, उसे ही खाओ।' इसी प्रकार यदि मन की इच्छा को तुमने थोड़ा भी पूरा करना शुरू किया तो फँसे। इससे हमें सदैव सावधानी से रहना चाहिए। मन में तो अनादि काल से विषय-संस्कार भरे हैं। इसे अवसर मिला तो कामनाएँ बढ़ती जायेंगी, ज्ञान की दृढता हो नहीं पायेगी।

जिस महीपाल राजा के ऊपर किसी ने आक्रमण भी किया नहीं है, वह अपने बड़े राष्ट्र को भी काफी नहीं समझता है, और विस्तार चाहता है। जब तक हमें पता नहीं कि मन ने हमें दास बना रखा है यह भी पता नहीं लगता है कि मन हमसे अलग है, हमारे ऊपर निरन्तर आक्रमण कर रहा है, हम गुलाम की तरह उसके पीछे चलते रहते हैं, तब तक लगता है 'मन की और भी इच्छायें पूरी कर लें।' जब विचार से पता लगता है कि 'अनेकों कल्पों के पश्चात् भी इसकी इच्छायें तो पूरी हुई नहीं, सारी इच्छाओं को पूरी कराकर भी मन यह नहीं कहेगा कि बहुत हो गया,' तब इसकी बात मानने का क्रम बंद करता है, अपना स्वातंत्र्य कायम करता है। कामना चाहे धनादि की हो चाहे 'मेरी बात मानी जाये' इसकी हो, अनर्थ ही देगी। काम-क्रोध-लोभ को भगवान् ने नरक का दरवाज़ा कहा है। अपनी कामना पूरी न होने पर लोग भगवान् से भी दुर्व्यवहार कर देते हैं! आगरा के एक सज्जन का जवान लड़का मर गया तो घर की पूज्य देवमूर्ति चौराहे पर फैंक आये! इसी प्रकार संसारी लोग मानते हैं कि क्रोध तो दिखाना ही पड़ता है लोगों को ठीक रखने के लिए। उडिया बाबा का आश्रम बन गया, काफी लोग रहने लगे। उनके मतभेदों को समाप्त करने के लिए वे लोगों को प्रेम से समझाते थे। कुछ लोग नहीं मानते थे। व्यवस्थापकों ने कहा 'आप डाँटकर नहीं कहते अतः लोग सुनते नहीं हैं।' उन्होंने कहा कि 'भगवान् ने क्रोध को नरक का द्वार कहा है और मैं किसी को सुधारने के लिए नरक जाने को तैयार नहीं हूँ। दूसरों को सुधारने के लिये मैं तो बिगड़ने को तैयार नहीं हूँ।' क्रोध साक्षात् नरक देगा ही। अतः ज्ञान के बाद निदिध्यासु जो मिले उसी में सन्तुष्ट रहता है, अज्ञ की तरह और-और नहीं चाहता।। १५०।।

प्रारब्धवश कामना उपपन्न करते हैं—

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति।।१५१।।

दोषदर्शनरूप विवेक रहते प्रारब्ध कर्म भी भोग की इच्छा कैसे पैदा कर देगा?

श्लोक १४३ में प्रारब्ध से इच्छोत्पत्ति कही थी। शंका यह है कि विषय में दोष दीख रहा हो तो प्रारब्ध भी उसकी इच्छा पैदा करे यह कैसे संगत है? ज्ञानी में विषयदोष-दर्शनरूप विवेक तो जाग्रत् रहेगा ही। दोषों को वह सावधानी से जानेगा। शंका है कि यदि ऐसा दोषदर्शन, विवेक जग रहा है, तब प्रारब्ध कर्म से भी विषय-भोग की इच्छा कैसे होगी? दो चीज़ें हैं : प्रारब्ध कर्म इच्छा को पैदा करेगा; और विवेक इच्छा को नष्ट करेगा; अतः विवेक रहते इच्छा या होगी नहीं या होते ही कट जायेगी। फिर इच्छापूर्वक प्रारब्ध कैसे सफल होगा?।।१५१।।

प्रारब्ध-वैविध्य से उक्त शंका का समाधान करते हैं—

नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते।
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम्।। १५२।।

(पूर्वदर्शित व्यवस्था में) यह दोष नहीं है क्योंकि प्रारब्ध अनेक तरह का देखा जाता है। इच्छा, अनिच्छा और परेच्छा—यों तीन तरह का प्रारब्ध माना गया है।

प्रारब्ध अनेक प्रकार का है। दोषदर्शन के होने पर भी इच्छा का जन्म हो सकता है, क्योंकि एक तरह का प्रारब्ध अपना फल देने के लिए इच्छा को पैदा करने में सक्षम है। विवेक के जाग्रत् रहने पर भी इच्छा होती है। प्रारब्ध तीन प्रकार का होता है : एक 'इच्छा प्रारब्ध' है जो इच्छा कराकर फल देता है। दूसरा है 'अनिच्छा प्रारब्ध'। बिना इच्छा के भी प्रारब्ध भोगना पड़ता है। तीसरा है 'परेच्छा प्रारब्ध', जिसे दूसरे की इच्छा से भोगना पड़ता है। प्रारब्ध सुख या दुःख देने वाला है। सुख के आकार का मन तभी बन सकता है, जब अनुभव में इष्टबुद्धि हो। अतः प्रायः सुखद प्रारब्ध इच्छा के द्वारा फल देता है। प्रायः जो दुःखः का प्रारब्ध है, उसके लिए इच्छा की ज़रूरत नहीं है। किसी ने तुम्हारे सिर पर पत्थर मारा, उस दुःख को भोगने के लिए इच्छा की ज़रूरत नहीं है!।।१५२।।

इच्छा-प्रारब्ध पहले बतलाते हैं—

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि।
जानन्त एव स्वाऽनर्थम् इच्छन्त्यारब्धकर्मतः।।१५३।।

अपथ्य खाने वाले, चोर, रानी से अनैतिक सम्बन्ध रखने वाले, 'हमारे लिए अनर्थकर है' ऐसा जानते हुए भी प्रारब्धकर्म से उसकी इच्छा करते ही हैं।

शक्कर के बीमार को पता है कि शक्कर मेरे लिए जहर है, फिर भी खाता है, कष्ट पाता है, फिर भी इसे खाने में प्रवृत्त होता है। यह इच्छा-प्रारब्ध है। खाते समय जानता तो है कि जहर है लेकिन स्वयं को नहीं रोक पाता यद्यपि विवेक जाग्रत् है। ऐसे ही चोर भी जानता है कि एक दिन निश्चित पकड़ा जायेगा, सज़ा होगी, फिर भी इच्छावश चोरी की प्रवृत्ति करता है। राजा की स्त्री के भोग की तरफ जो प्रवृत्त होता है, वह भी निश्चित दण्ड को जानता है फिर भी रति छोड़ता नहीं। अतः विवेकमात्र से इच्छा नष्ट नहीं होती। प्रारब्ध-कर्म का प्राबल्य होने पर इच्छा पैदा होगी। आयुर्वेद, योगशास्त्र आदि शास्त्रों में इन इच्छाओं की निवृत्ति के उपाय बताये हैं। केवल विवेक से इच्छानाश नहीं होता। अनेक उपाय बताये हैं, उनसे हो भी जाता है। शराबी को पीने से रोकने के लिए भी चिकित्सा है जिससे धीरे-धीरे वह इच्छा दब जाती है। इच्छा-प्रारब्ध विवेकमात्र से दूर नहीं होता। तब प्रारब्ध कर्म भोग के लिए इच्छा का जनक बन जाता है।।१५३।।

कुपथ्य खाने आदि की इच्छा आरब्ध का प्रभाव है यह उपपन्न करते हैं—

न चात्रैतद् वारयितुम् ईश्वरेणापि शक्यते।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति।।१५४।।

संसार में इच्छा-प्रारब्ध को ईश्वर भी रोक नहीं सकते क्योंकि ईश्वर ने ही गीता में अर्जुन से यह कहा है—

चाहे जितना सामर्थ्य वाला होवे, फिर भी इसका वारण कोई नहीं कर सकता। सामर्थ्यवान् भी इसे हटा नहीं सकता है। भगवान् कृष्ण से ज़्यादा तो सामर्थ्य वाला कोई नहीं है, उन्होंने भी गीता में अर्जुन को यह बात बतलाई है।।१५४।।

गीता का (३.३३) श्लोक उद्धृत करते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।१५५।।

समझदार व्यक्ति भी अपनी प्रकृति के अनुरूप चेष्टा करता है। सभी प्राणी अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं। नियन्त्रण क्या करेगा!

अपनी प्रकृति के अनुसार ही प्राणियों की सारी चेष्टायें होती हैं। भाष्यकार ने बतलाया है कि पूर्व जन्मों के कर्म और संस्कार प्रकृति बने हैं। इसलिए जब तक दोष-दर्शन आदि के द्वारा अपनी प्रकृति को न बदलो, तब तक उसको नहीं दबा सकते। इच्छा तो संस्कारों के अनुसार होती है। जब 'यह दोष वाली चीज़ है' यह संस्कार बैठा लोगे, तब प्रवृत्ति रुकेगी। पहले हम किसी भी कुएँ-तालाब का पानी पी लेते थे। धीरे-धीरे संस्कार हुआ कि इस पानी को पीने से पेट खराब होता है। यह संस्कार दृढ होने पर, प्यास लगने पर भी वह पानी नहीं पीते। इसलिए संस्कार को पहले बदलना पड़ता है। इसलिए इच्छा को निवृत्त

करो, रोककर मत रखो। इच्छा तो है, उसे पूरा नहीं करेंगे, ऐसा नहीं; इच्छा को उत्पन्न मत होने दो। यह किससे उत्पन्न होती है? संस्कारों से। इसलिए नये संस्कारों का प्रवाह लाओ। तब इच्छा निरुद्ध होगी। तुम्हारी प्रवृत्ति तुम्हारे स्वभाव के अनुसार ही होगी। जिस अंतःकरण में ज्ञान हुआ है उसमें दूसरे संस्कार भी पड़े हैं। संस्कार प्रवृत्ति करायेंगे, ज्ञान रहने पर भी। इसलिए कहा कि अपने स्वभाव के अनुकूल ही सारे प्राणी व्यवहार करते हैं। इसलिए उनका निग्रह करनेमात्र से फल नहीं होगा।।१५५।।

तीव्र प्रारब्ध का परिहार नहीं हो सकता इसके लिए और भी वचन उपस्थित करते हैं—

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नल-राम-युधिष्ठिराः।। १५६ ।।

अवश्य होने वाले दुःखादि यदि रोके जा सकते तो नल, राम, युधिष्ठिर (जैसे लोग) दुःखों से न घिरते।

अवश्य ही होने वाले भोग का यदि प्रतीकार होता, तो अतिसमर्थ नल आदि को जीवन दुःख में न बिताना पड़ता। शास्त्र ने कहा है कि जुआ मत खेलो, फिर भी उसने जुए में प्रवृत्ति की और कष्ट उठाया। ऐसे ही युधिष्ठिर भी जानते थे, फिर भी जुआ खेला और कष्ट उठाया। राम आदि को भी इतना दुःख नहीं उठाना पड़ता यदि वे प्रारब्ध पर नियंत्रण कर पाते। नल और युधिष्ठिर तो जीव थे, उनके प्राचीन संस्कारों एवं पूर्व कर्मों के अनुसार उनकी प्रवृत्ति हो गयी। राम जी साक्षात् ईश्वर थे। राम निश्चितरूप से जानते थे कि सोने का हिरण नहीं होता फिर भी उसे मारने गये। शंका होती है कि वे साक्षात् ईश्वर थे और ईश्वर का जन्म पूर्व कर्मों के अनुसार होता नहीं है, यह शास्त्र-लिखित है। फिर उन्हें यहाँ कैसे गिना? शास्त्रों को ध्यान से देखते हैं तो पता लगता है कि भृगु के द्वारा विष्णु भगवान् को पत्नीवियोग का शाप मिला था। ईश्वर ने ही यह नियम बनाया है कि अपने तप के बल से जो शाप या अनुग्रह किया जाता है, वह सफल होगा। इसलिए भृगु के शाप को यथार्थ करना ज़रूरी था। परमेश्वर का संकल्प है कि 'जैसा तुम कर्म करोगे, वैसा मैं फल दूँगा' अतः ऐसा नहीं हो सकता कि तुम्हारे कर्मों का फल ईश्वर न दे। इसी प्रकार ईश्वर ने यह नियम बनाया है कि 'जो तपस्वी शाप, अनुग्रह आदि प्रदान करते हैं, उनकी बात को भी मैं पूरा करता हूँ।' शाप के फलस्वरूप तदनुकूल राम जी की इच्छा हुई। ईश्वर भी अपने किये संकल्प को अन्यथा नहीं करता है। स्वामी विवेकानन्द को कोई पीडा वाला रोग हो गया था। रामकृष्ण की पत्नी को उन्होंने लिखा कि 'किसी मुसलमान ने मेरे ऊपर यह प्रयोग कर दिया।' तब शारदा माँ ने लिखा 'भोग अपने कर्मानुसार होता है। मुसलमान ने किया फिर भी यह दुःख तुम्हें भोगना ही था। है यह अपने ही कर्म का फल। लेकिन अब तुम्हारा यह दुःख दूर हो जायेगा।' और वे ठीक भी हो गये। इसलिए जानते हुए भी कि हिरण नहीं है, फिर भी भगवान् राम की प्रवृत्ति हुई।।१५६।।

क्या ईश्वर भी तब सर्वसमर्थ नहीं हुआ? उत्तर देते हैं—

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः।
अवश्यं भाविताऽप्येषाम् ईश्वरेणैव निर्मिता।।१५७।।

भवितव्यता न बदलने से उनकी सर्वसामर्थ्य हटती नहीं क्योंकि ऐसे फल अवश्य होने हैं—यह भी ईश्वर का ही विधान है।

परमेश्वर की जो सर्वसामर्थ्य है वह इतने-मात्र से समाप्त नहीं हो जाती। क्योंकि प्रबल कर्मों के फलों की अवश्यंभाविता भी उन्हीं ने बनायी है। कोई दूसरा बनाता और उन्हें माननी पड़ती, तब तो होता पारतंत्र्य पर खुद बनाकर उसके अनुसार चलने को परतंत्रता नहीं कह सकते। प्रारब्ध कर्म के अधिकतर जो भोग हैं, वे एक व्यक्ति के सन्दर्भ में दीखते हैं, किंतु कई लोगों का उसमें लेन-देन है। क्यों सामान्य प्रयास से उन फलों की उपलब्धि नहीं रोक सकते? क्योंकि क्रम में रुकावट आने पर दूसरे को जो फल मिलना है वह भी तो नहीं मिल पायेगा। कोई भी कर्म देखो, प्रायः कई लोगों ने मिलकर उसकी उत्पत्ति का प्रसंग लाया होगा। उन सबका प्रारब्ध भी तो उसके संग जुड़ा है। इसलिए बड़ा फल सामान्य प्रयास से दूर नहीं हो सकता। जल्दी से कर्म-भोग की समाप्ति के लिए सिद्ध लोग एक साथ अनेक देहों का निर्माण कर लेते हैं। जो भी दस साल में होना था, दस शरीरों से किया तो एक साल में हो गया! दूसरों को लगेगा कि इन्होंने नौ साल के प्रारब्ध को काट लिया पर काटा नहीं, उसको दूसरे शरीरों में भोग लिया है। अतः अवश्यंभावी फल तो होंगे, उन्हें भोगने के प्रकार में भेद हो सकता है। इस तरह इच्छा-प्रारब्ध बताया।। **१५७।।**

अब अनिच्छा-प्रारब्ध स्पष्ट करते हैं—

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद् गम्यतेऽर्जुन-कृष्णयोः।
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु।।१५८।।

अनिच्छापूर्वक भी प्ररब्ध फलता है यह अर्जुन-कृष्ण के प्रश्न-उत्तर से समझ आता है। वह प्रसंग भी सुनो :।।

गीता में आये अर्जुन एवं कृष्ण के जो प्रश्न और उत्तर हैं, उनसे यह बात समझ में आती है कि अनिच्छा-प्रारब्ध भी होता है।।**१५८।।**

पहले अर्जुन का प्रश्न (३.३६) रखते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः।। १५९।।

'वृष्णिकुलीन! यह पुरुष किससे प्रेरित हुआ न चाहते हुए भी मानो बलपूर्वक नियुक्त होकर पापाचरण करता है?'

अर्जुन भगवान् से पूछ रहा है। भगवान् कृष्ण वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए थे। इसलिए उन्हें वार्ष्णेय कहा जाता है। प्रश्न है कि पुरुष किससे प्रयुक्त होकर पाप का आचरण करता है। यही बात केन उपनिषद् में पूछी है कि कौन हमारे मन को प्रवृत्त करता है? सारे कर्मों के बजाये यहाँ केवल पाप कर्मों को लिया है। इसका कारण यही है कि विवेक होने पर भी, पाप में प्रवृत्ति होती है तो प्रश्न उठता ही है। कभी अनुभव यह होता है कि 'मेरी खाने की इच्छा है, इसलिए मैं खा रहा हूँ।' कभी खाने की मेरी इच्छा नहीं है पर कोई अपना प्रिय व्यक्ति खाने को कहता है तो मान लेते हैं। यहाँ अपनी नहीं, दूसरे की इच्छा के अनुसार करते हैं। तब खाने से सुख नहीं होता, दूसरे की इच्छा पूरी कर रहे हैं—इसका ही सुख है। खुद की जब इच्छा नहीं है पर दूसरे किसी ने बलपूर्वक पाप करने में प्रयुक्त कर दिया तब प्रश्न उठता है कि किसने ऐसा किया। इस प्रकार, अनिच्छा से कर्म किये जाते हैं—यह अर्जुन के प्रश्न से सिद्ध है।। १५६।।

भगवान् का जवाब (३.३७) बताते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। १६०।।

(जिस प्रेरक को तुमने पूछा) यह कामना ही है। यही क्रोध है। यह रजोगुण से उत्पन्न है। बहुत वस्तुओं को यह विषय करता है और बहुत पापों में हेतु बनता है। संसार में इसे शत्रु समझो।

पुरुष को इस प्रकार से प्रवृत्त करने वाला है रजोगुणसे उत्पन्न काम-क्रोध। लोक में भ्रम से क्रोध करने वाले को तमोगुणी कहते हैं। यहाँ स्पष्ट है कि क्रोध करने वाला तमोगुणी नहीं है। निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि तो क्रोध में होते हैं नहीं। उल्टा चिल्लाना, पीटना आदि करता है जो सब रजोगुण से उत्पन्न हैं। 'रजोगुण-समुद्भवः' द्वारा बतलाना चाहते हैं कि जितना तुम अपने रजोगुण को न्यून-न्यूनतर करते जाओगे, उतने ही काम-क्रोध कम हो जायेंगे। महाभारत में बताया है कि तमोगुण को रजोगुण से जीतो। जो काम करने में नहीं लगेगा, उसके निद्रा-आलस्य दूर नहीं होंगे। काम करना चाहते हो तो रजोगुणी बनो, स्वभावतः तमोगुण कम होगा। जब काम है नहीं तब तमोगुण बढ़ता है। अतः तमोगुण को जीतने के लिए रजोगुण बढ़ाओ। रजोगुण को जीतने के लिए सत्त्वगुण बढ़ाना पड़ता है। घर वाले, तुम्हारा क्रोध शान्त हो जाये यह तो चाहते हैं पर तुम्हारी कामना शान्त हो जाये यह नहीं चाहते! 'खूब कमाओ, हम गाड़ियों में घूमें' यह चाहते हैं। भगवान् कहते हैं कि काम बढ़ेगा तो क्रोध भी बढ़ेगा। कामना निवृत्त होगी तो क्रोध भी समाप्त होगा। वर्तमान काल की यह बड़ी समस्या है। कामना बढ़ाने के लिए तो सारे प्रयास हैं। अतः इसके साथ क्रोध

बढ़ेगा ही। ये काम-क्रोध कैसे हैं? 'महाशनः' चाहे जितना विषय प्राप्त हो जाये, कामना शान्त नहीं होगी। घी डालने से आग बढ़ेगी, बुझेगी नहीं। सारे विषय कामना के क्षेत्र में आ जाते हैं, कितने भी विषयों से यह समाप्त नहीं होती। जो बात कामना के लिए है वही क्रोध के लिए है। क्रोध के विषयों का भी अन्त नहीं है। और 'महापाप्मा', महान् पाप करवाने में समर्थ है। भाष्यकार कहते हैं कि क्रोध गुरु के साथ भी तू-तड़ाका करा देता है। अतः काम-क्रोध को संसार में अपना दुश्मन जानो। प्रारब्ध के वश से जब रजोगुण बढ़ता है तब काम क्रोध आते हैं। जब उन्हें दुश्मन समझेंगे तभी यह वृत्ति मज़बूत होगी कि वह हानिकारक है। अभी तो लोग कहते हैं कि यदि जीवन में कोई उद्देश्य सामने नहीं रखा तो ठीक नहीं। वही तो बंधन का कारण बनता है! काम और क्रोध ये ही प्रवर्त्तक हैं, इनसे ही सारी प्रवृत्ति होती है। जितना रजोगुण को कम करते जाओगे, उतना ही ये कम होते जायेंगे।। १६०।।

भगवान् के उत्तर से जिसे स्पष्ट न हो कि अनिच्छादशा में प्रेरक बताया है उसे अठारहवें अध्याय के श्लोक (६०) से समझाते हैं—

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।१६१।।

कौन्तेय! खुद ही अनुष्ठित अतः अपने ही कर्म से बँधे होकर जो करना नहीं चाहते वह भी अविवेक से बेबस हुए करोगे।

काम व क्रोध ही पुरुष का प्रवर्त्तक है। हमने जो पहले कर्म किये हैं, उन के दो फल होते हैं : एक तो, उनसे संस्कार पड़ते हैं। दूसरा, अपूर्व पैदा होते हैं जिनसे सुख-दुःख फल होते हैं। संस्कार के कारण ही हमें विषयों की कामना होती है। कामपूर्ति में रुकावट आने पर क्रोध होता है। कोई चीज़ प्रबल संस्कारवश अच्छी लगती है। पुण्य-पाप का फल सुख या दुःख तो भोग कर समाप्त हो जाता है पर संस्कार स्थायी है। यही पुनः-पुनः प्रवृत्त करता है। पहले किये का संस्कार ही स्वभाव है। यहाँ 'स्व' का अर्थ आत्मा नहीं, चिदाभास है, जिसको जीव कहते हैं। जीव जो करता है वह उसका भाव बन जाता है। संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो सबको अच्छी लगे, सब देश, काल में अच्छी लगे। जो बचपन से मिर्च खाता रहा है उसके लिए वह स्वादिष्ट है, अन्य के लिए नहीं है। जिस चीज़ का संस्कार पड़ जाता है वही स्वभाव हो जाता है। अतः बच्चों में संस्कार डालने पड़ते हैं। जीवन के जो आधारभूत जीने के सिद्धान्त हैं, वे सिखाने पड़ते हैं। चिदाभास का संस्कार के द्वारा जो भाव बन जाता है, वह उसका स्वभाव होता है। स्वभाव से ही होने वाला काम या क्रोध है। जो कार्य जितना अधिक करोगे उतना दृढ उसका संस्कार बनेगा। अतः संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति करने से संस्कार की दृढता—यह चक्र है। शास्त्रकार इसीलिए कहते हैं कि सदैव सत्संग ही करना चाहिए, कुसंग नहीं। दिल्ली में बच्चों के कुछ स्कूल वातानुकूलित हैं।

शास्त्रों में कहा है कि अध्ययन-काल में सुख का अभ्यास मत डालो। प्राचीन गुरुकुल में बच्चों का तपस्वी जीवन होता था अतः विद्या दृढ होती थी। राजा दशरथ ने राम जी को आबू में ही वशिष्ठ जी के पास अध्ययन के लिए भेजा था। तपस्या के संस्कार न डलने से आधुनिक बालक सुविधाभोगी, आराम-परायण हो रहे हैं। स्वभाव से मनुष्य प्रवृत्ति करता है।

मोह-वश अर्जुन गुरुजनों से, पितामह से युद्ध नहीं करना चाहता था। मोह से अविवेक होता है। उससे धर्माधर्म छिप जाता है। धर्माधर्म विवेक में तो पता रहता है, मोह उसे ढाँक देता है। मोह के कारण युद्ध को अर्जुन ने अधर्म समझ लिया। पूर्वजन्मों के कर्मों के संस्कारों से बने स्वभाव वाले होकर हम यहाँ उत्पन्न हुए हैं। स्वभाव को धीरे-धीरे नये संस्कारों से तो कुछ बदला जा सकता है, अकस्मात् नहीं। अभी मोह के कारण अर्जुन जो नहीं करना चाहता था, भगवान् ने कहा, 'तुझे बाद में करना पड़ेगा।' धर्माधर्म का विवेक करके जो किया जाये वह धर्म है। अतः अधर्म के संस्कार की जगह धर्म के संस्कार लाने चाहिए। अधर्म के संस्कार के कारण ही ग़लत जगह काम, क्रोध होता है। जब धर्म के संस्कार पड़ जायेंगे, तब धर्म ही काम, क्रोध में भी प्रवृत्त करेगा! धर्म की चीज़ चाहकर तुम प्रवृत्ति करोगे, और अधर्म के प्रति तुम्हारे अंदर क्रोध आयेगा। प्रवर्त्तक तो वहाँ भी काम-क्रोध हैं पर वे ठीक तरफ ले जाने वाले हैं, अतः उनका संग्रह करना चाहिए, दूसरों से दूर होना चाहिए। यहाँ 'कर्तुं नेच्छसि, अवशः करिष्यसि' से स्वयं भगवान् ने अनिच्छा प्रारब्ध का कथन किया है।।१६१।।

इस प्रकार इच्छा और अनिच्छा प्रारब्ध का स्वरूप बतलाया। व्याख्येय श्रुति में कहा है, 'किस चीज़ की इच्छा से और किस चीज़ की कामना से'। प्रायः भाषा में इच्छा और कामना को एक जैसा मानते हैं। पर श्रुति में तथा यहाँ भगवान् ने इन दोनों को अलग किया है। मोह से होने वाली इच्छा को भगवान् ने काम कहा। विवेक से होने वाली जो इच्छा है, उसे यहाँ भगवान् काम नहीं कह रहे। तीसरा है परेच्छा प्रारब्ध। जो प्रवृत्ति अपनी इच्छा के द्वारा नहीं होती, काम-क्रोध के द्वारा भी नहीं होती बल्कि मैत्री, करुणा, मुदिता आदि भावों से प्रवृत्त होती है उसे परेच्छा-प्रयुक्त समझना चाहिए। जो सुखी है उसके प्रति मैत्री की भावना, जो दुःखी है उसके प्रति करुणा की भावना, दूसरे की उन्नति देखकर मुदिता की भावना इत्यादि अनेक सद्भाव शास्त्रों में वर्णित हैं। ये भाव विवेक से होने वाले हैं, इसलिए बुरे नहीं होते। इन भावनाओं से प्रेरित होकर किये को परेच्छा से किया समझा जाता है।

परेच्छा प्रारब्ध होता है यह दिखाते हैं—

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्य संयुताः।
सुखदुःखे भजन्त्येतत् परेच्छापूर्वकर्म हि।।१६२।।

अन्यों से व्यवहार में कुशल लोग न अनिच्छा से और न चाहते हुए ही (सौजन्यादि के चलते) सुख-दुःख भोगते हैं, यह परेच्छापूर्वक भोगा प्रारब्ध कर्म है।

'न अनिच्छन्तः' से यह स्पष्ट किया कि किसी बुरे आदमी की इच्छा से कोई बुरा कर्म नहीं करना चाहिए। यह नहीं कहना कि 'हमने तो उसको खुश करने के लिए किया है।' यहाँ वे ही कर्म संगृहीत हैं जिनके लिए जिसमें विवेक के संस्कार हैं उसमें न करने की इच्छा नहीं है अर्थात् उन कर्मों को वह हेय नहीं समझता है। केवल उस समय नहीं करना चाहता यह 'अनिच्छन्तः' से कहा। गुलाब जामुन से तुम्हारा पेट भर गया, अब तुम्हारी खानेकी इच्छा नहीं है परन्तु तुम गुलाब जामुन खाने को अधर्म नहीं समझते हो। तुम्हारी इच्छा भी नहीं है, कोई हेय बुद्धि भी नहीं है, दूसरे व्यक्ति की प्रसन्नता के लिए ले लेते हो। उसको प्रसन्नता हो, वह दुःखी न हो, तुम इतने मात्र के लिए ग्रहण करते हो। किसी को भी खुश करने के लिए अधर्म का आचरण नहीं होना चाहिए। इसमें मैत्री, करुणा, मुदिता आदि सारे भाव छिपे रहते हैं। कोई व्यक्ति महात्मा के पास दुःख-निवारण के लिए आता है। महात्मा के अंदर यह इच्छा नहीं थी कि इसका दुःख दूर हो जाये। पर किसी का दुःख दूर करना अधर्म तो है नहीं। महात्मा के मनमें आ जाता है कि 'इसका दुःख दूर हो जाये'। वेद में यह कहा है कि आत्मज्ञानी के मन मे कोई बात आ गई, तो वह पूरी हो जाती है। यहाँ करुणा से प्रेरित हो गया। दूसरों की प्रसन्नता के लिए क्रिया या भोग हो वह परेच्छा प्रारब्ध का फल है। इससे सुख और दुःख दोनों की प्राप्ति होती है। यद्यपि कारण तो प्रारब्ध है, फल देने के लिए तथापि इस प्रकार से देता है कि परेच्छा निमित्त बनती है। जैसे स्वेच्छा प्रारब्ध में अपने अंदर इच्छा होती है, अनिच्छा में काम-क्रोध द्वारा प्रेरणा होती है वैसे यहाँ दूसरे की इच्छा से प्रवृत्ति होती है। इसलिए परेच्छा पहले रहती है, तब कर्म होता है।।१६२।।

तत्त्वज्ञ में प्रारब्धवश इच्छा प्रमाणित होने पर प्रश्न उठता है कि व्याख्येय श्रुति से विरोध का परिहार कैसे? इसका उत्तर भी देते हैं–

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते।
नेच्छानिषेधः किन्त्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत्।।१६३।।

(ज्ञानी में इच्छा संभव है) तो 'क्या चाहते हुए' यों इच्छा का श्रुति द्वारा निषेध क्यों किया जा रहा है? श्रुति में इच्छा का निषेध नहीं किन्तु इच्छा का बाध है। भूँजे बीज की तरह (इच्छा की प्रतीति की मनाही नहीं है)।

यदि प्रारब्ध के कारण ही सही, इच्छा होती है, तो श्रुति क्यों कह रही है, 'किमिच्छन्' 'क्या इच्छा करते हुए'? इसके द्वारा तो लगता है कि श्रुति इच्छामात्र का निषेध कर रही है। उत्तर है कि इच्छा का निषेध श्रुति नहीं कर रही है। ऐसा नहीं कि उसमें इच्छा रहेगी

ही नहीं। जब तक प्रारब्ध रहेगा, प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए इच्छा भी होगी। इच्छा के बिना प्रवृत्ति-निवृत्ति हो नहीं सकती। जब तक प्रारब्ध है, इच्छा होनी ही है क्योंकि प्रारब्ध सुख-दुःख देता है और बिना प्रवृत्ति-निवृत्ति के सुख-दुःख हो नहीं सकते। इसलिए प्रारब्ध पर्यन्त इच्छा का निषेध संम्भव नहीं है। फिर क्या तात्पर्य है? 'इच्छाबाधः' ज्ञानी में इच्छा का बाध बना रहता है। 'अन्तःकरण या चित्त के अंदर जो संस्कार पड़े हैं उनके कारण चिदाभास में इच्छा हो रही है, यह इच्छा मेरी नहीं है उपाधि के अंदर जो विकार वह भ्रांति से मुझ में प्रतीत हो रहा है'—यह है बाध का रूप। प्रतीत हो रही है पर है नहीं। जैसे विदेश में बढ़िया गुलाब के फूल होते हैं। प्लास्टिक, कपड़ा आदि से बनते हैं। देखने में सुन्दर लगते हैं परन्तु वे फूल नहीं हैं, उनमें सुगन्ध नहीं है। तुम उन्हें सजा दो, पर तुम्हें पता है कि फूल नहीं हैं। इसी प्रकार ज्ञानी जानता है कि मैं के अन्दर प्रतीत होने वाली इच्छा, मैं में नहीं है, अन्तःकरण में है, उपाधि के अन्दर है। इच्छा होने का 'किमिच्छन्' श्रुति से कोई विरोध नहीं है। श्रुति ने 'इच्छा नहीं' यह नहीं कहा है वरन् 'सच्ची इच्छा नहीं' यह कहा है। जैसे कागज़ के फूलों से खुशबू नहीं आती वैसे ही इच्छा का बाध हो जाने पर जो भी भोग वह करता है वह आगे संस्कार पैदा करके, नये भोगों में प्रवृत्ति नहीं करा पाता। जैसे चने के बीज बोने से चना पैदा होता है। पर भूने चने को बोने से आगे कुछ पैदा नहीं होगा। इसी प्रकार जिस इच्छा का बाध हो गया है, वह इच्छा आगे संस्कार बनाकर प्रवर्त्तक नहीं होगी। अभी जो प्रवृत्ति पहले से निहित है, पहले से जो संस्कार अन्तःकरण में पड़े हैं, वे प्रवृत्त कराते रहते हैं। उनके हेतुभूत कर्म तो इच्छापूर्वक किये थे। अब जब बाधित इच्छा से करेंगे तो आगे प्रभाव नहीं होगा।।१६३।।

पूर्वोक्त बात ही समझाते हैं—

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत्।।१६४।।

भूँजे बीज अंकुररूप कार्य नहीं करते। विद्वान् की इच्छा वैसी समझनी चाहिए। 'है नहीं' इस ज्ञान के कारण वह (व्यसन आदि) कार्य नहीं करती।

भर्जित बीज, जिनको भून दिया गया है, वे खाये जा सकते हैं, बोने पर उनसे अंकुररूप कार्य पैदा नहीं होगा। कर्म दो चीज़ें पैदा करता है—एक, संस्कार और दूसरा, फलभोग। अभी जो गुलाब जामुन खाने से सुख हो रहा है वह प्रारब्ध के फल से हो रहा है। पर पेट भरने के बाद जो हम खा रहे हैं वह केवल प्रारब्ध-फल नहीं है वरन् जो उसके प्रति कामना है, उससे प्रवृत्त होकर खा रहे हैं। वह खाना अपने फल को और संस्कार को पैदा करेगा। ज्ञानी गुलाब जामुन को खाता अपने प्रारब्धक्षय के लिए ही है। लोक में कुछ ऐसी भ्रम धारणा है जिससे दुःख के प्रारब्ध को तो पूर्व जन्म के कर्मों का फल समझते हैं, सुख के

प्रारब्ध को इस जन्म के कर्मों का फल समझते हैं! लेकिन सुख-दुःख दोनों ही देने वाला प्रारब्ध है। अगर उस समय हमें गुलाब जामुन खाने का सुख भोगना है, तभी हमें गुलाब जामुन मिलेगा। यदि कामना की कि हमें तो सूखी रोटी खानी है, गुलाब जामुन नहीं और प्रारब्धवश मिलता तो तुम्हें गुलाब जामुन है, तब तुम दुःखी होगे। दुःख का प्रारब्ध ही गुलाब जामुन के प्रति हेयता या क्रोध, द्वेष की भावना पैदा कर रहा है। भिक्षा के अन्न के बारे में यह बात बताई गई कि जो मिले सो खा लेना। क्योंकि वह होगा प्रारब्धानुसार। उसमें हेय और उपादेय बुद्धि नहीं करनी चाहिए। ज्ञानी जो कर्म करता है उसकी निमित्तभूत इच्छा भर्जित बीज की तरह है, क्योंकि उसका बाध बना रहता है। इसलिए प्रारब्ध जिस समय जो भोग देता है, उससे नये काम, क्रोध, संस्कारों को उत्पन्न नहीं करता। इसलिए वे कर्म आगे फलदान नहीं कर सकते। इसलिए ज्ञानी का जन्मादि हो नहीं सकता।। १६४।।

कार्योत्पादक न होने पर भी इच्छा क्यों मान्य है यह स्पष्ट करते हैं—

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते।
विद्वदिच्छाऽप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु।।१६५।।

जला (भूँजा) बीज न उगने पर भी खाने में काम आता है। विद्वान् की इच्छा भी थोड़ा भोग संभव कर देती है, बहुतेरा व्यसन नहीं करती।

जो बीज भून दिया गया, वह आगे फल तो उत्पन्न नहीं करेगा, पर खाने के लिए तो उपयुक्त ही है। इसी प्रकार ज्ञानी का प्रारब्ध भोगने के लिए उपयुक्त है। ज्ञानी को सुख-दुःख देने में समर्थ है, परन्तु आगे काम, क्रोध को उत्पन्न करने की शक्ति उसमें नहीं है। प्रारब्ध-भोग के लिए विद्वान् की जो इच्छा है वह प्रारब्ध जितना लाता है, उतने मात्र से सन्तुष्ट हो जाती है, 'और अधिक होवे' ऐसा भाव नहीं बनाती। जितना प्रारब्ध का फल है, सुख या दुःख का, उतने को भोग लेता है, बढ़े—ऐसी भावना नहीं बनाता। यही कहा, व्यसन नहीं करता। जब हम काम-क्रोध से प्रवृत्त होते हैं, अपनी इच्छा से प्रवृत्ति करते हैं, तब चीज़ें वगैरह जुटाने के लिए तरह-तरह की विपत्ति को इकट्ठा करते हैं, तरह-तरह के परिश्रम करते हैं। जब इच्छा का बाध है, तब इस प्रकार अतिप्रवृत्ति करके विपत्ति-संग्रह नहीं करते। ईमानदारी से व्यापार करो तो ५%-७% का लाभ होता है। उतना प्रारब्धानुसार हो गया। उसमें सन्तोष है 'अल्पभोग'। ५% के स्थान पर ५०% लाभ का व्यापार करना चाहता है तो विपत्ति में पड़ता है। ज्ञानी को पता है कि प्रारब्ध-भोग के लिए अपेक्षित जो स्वेच्छा-अनिच्छा या परेच्छा, उतने मात्र से भोग हो जाता है। यदि सिद्ध है तो बहुत व्यसन उसको नहीं होता तथा साधक है तो तात्पर्य है कि सावधानीपूर्वक व्यसन से बचे। व्यसन का मतलब कामनादि से प्रेरित हो किये जाने वाले कर्म, उनसे दूर रहना उचित है, उनसे विपत्ति आती है।।१६५।।

ऐसा क्यों न माना जाये कि भोग स्वरूप से ही इच्छा को पैदा करता है? बताते हैं—

भोगेन चरितार्थत्वात् प्रारब्धं कर्म हीयते।
भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते।।१६६।।

भोग से गतार्थ होकर प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाता है। भोग्य सत्य है इस भ्रम से उसके भोग का व्यसन पड़ता है।

सुख या दुःख हो गया, बस इतना ही प्रारब्ध फल देता है। आगे इच्छा प्रारब्ध के कारण नहीं है। अर्थात् प्रारब्धफल से अतिरिक्त की कामना कर्म के कारण नहीं होती है। व्यसन-बुद्धि क्यों होती है? जिसका भोग हो रहा है वह विषय सत्य है, मेरा भोक्तृत्व सत्य है, यह भ्रम हो तब उसकी पुनः इच्छा होती है। गुलाब जामुन ने हमको सुख दिया। यदि वह सत्य है तो व्यसन होगा कि पुनः खायें। यदि वह असत्य है तो 'फिर होवे' यह इच्छा नहीं होगी। गुलाब जामुन खाया, प्रारब्ध से उसकी इच्छा भी हो गई थी अतः सुख हुआ, परन्तु 'आगे गुलाब जामुन सुख देगा' यह ज्ञानी को भ्रांति नहीं होती। व्यसन को उत्पन्न करने के लिए भोक्तव्य की सत्यता-बुद्धि चाहिए। भोग का विषय सत्य नहीं, यह जिसको निश्चय है, उसमें व्यसन पैदा नहीं होता।।१६६।।

व्यसन पैदा करने वाला भ्रम प्रकट करते हैं—

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम्।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः।।१६७।।

'यह भोग नष्ट न होवे, आगे बढ़ता ही रहे, विघ्न इसमें रुकावट न डालें, इससे मैं धन्य हूँ'—यह भ्रम (व्यसनहेतु) है।

भोग्यसत्यता की भ्रान्ति का क्या स्वरूप है? यह भोग नष्ट न होवे। बढ़िया मकान बना लिया, तो चाहते हैं कि यह टूटे नहीं। दूसरा भ्रम है कि उसमें वृद्धि होती रहे, भोग बढ़ता जाये। जो जानता है कि मकान खंडहर होना ही है, उसको मकान बनाने में व्यसन नहीं होगा। तीसरी भ्रान्ति है 'इसमें विघ्न न आवे'। जो जानता है कि प्रारब्ध यदि है तो भोग होगा, नहीं तो नहीं होगा, विघ्न भी प्रारब्ध से आयेंगे। जैसे मकान बनाने का सुख है, वैसे ही प्रतिबन्धक से दुःख है। वह भ्रांति से रहित है। चौथा भ्रम है कि इस विषय के भोग के द्वारा मैं धन्य हूँ, कृतार्थ हूँ क्योंकि जो चाहता था वह मैंने कर लिया। भोग्य-सत्यता की भ्रांति के ये सब प्रकार हैं। प्रायः सत्यता का मतलब होता है प्रमाणसिद्ध होना। यहाँ प्रमाणसिद्धि से तात्पर्य नहीं है। यहाँ सत्यता-बुद्धि का मतलब यह सब है। यही सब व्यसन को उत्पन्न करता है।।१६७।।

इस भ्रम को हटाने वाला उपाय क्या है?—यह बताते हैं—

यदभावि न तद्भावि भावि चेद् न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः।।१६८।।

जो होने लायक नहीं वह होगा नहीं, जो होना है वह होगा ही—यह ज्ञान चिन्तारूप विष का नाशक और पूर्वोक्त भ्रम का निवारक है।

यह जो भ्रम बतलाया, इसमें चिन्ता निहित है। चिन्ता जहर है। अन्यत्र चिन्ता को चिता से भी बुरा कहा है। आदमी चिन्ता से चिता समान जलता है। चिता मुर्दे को जलाती है। चिन्ता जीवित व्यक्ति को जलाती है। इसलिए यहाँ चिन्ता को विष कहा। इस विष को नष्ट करने वाला बोध है, ज्ञान है। जो नहीं होने वाली घटना, वह नहीं ही होती है। जो होने के योग्य है, वह होता ही है। यदि लड़के को दुर्घटना से मरना है तो मरेगा ही। यदि नहीं मरना तो नहीं मरेगा। सुरक्षित घर में बैठा आदमी भी मर जाता है। जो ऐसा जानता है वह 'मेरा प्रिय कार्य कब होगा' यह चिन्ता नहीं करता। अनिष्ट चीज़ को जब हटना होगा तभी हटेगी। इस निश्चय वाला 'कब हटेगी' के लिए परेशान नहीं होता। इस प्रकार से मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है, चिन्ता का जहर समाप्त हो जाता है। जो, जब जिस देश में, जिस वस्तु से होना है उस काल में वहाँ उससे होगा ही, यदि नहीं होना है तो नहीं ही होगा—यह बोध चिन्ता-रूप विष को नष्ट कर देता है। यह बोध ही उस भ्रम का निवर्तक है जिससे व्यसन होता है। व्यसन यह मानकर होता है कि 'हम जैसा चाहें वैसा हो सकता है ।।१६८।।

ज्ञानी-अज्ञानी में व्यसन होने-न होने का फ़र्क बताते हैं—

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धवान्।
अशक्यार्थस्य सङ्कल्पाद् भ्रान्तस्य व्यसनं बहु।।१६९।।

भोग समान होने पर भी भ्रान्त को व्यसन होता है, जो सत्य समझ चुका उसे नहीं होता। न हो सकने वाले के लिए संकल्प करने से भ्रान्त व्यक्ति को बहुत व्यसन प्राप्त होते हैं।

भोग तो ज्ञानी और अज्ञानी का एक जैसा है। भोग से दोनों को समान सुख होता है। लेकिन अज्ञानी जो भ्रान्त है, उसको व्यसन होता है कि यह भोग बना रहे, बढ़ता रहे। यह व्यसन ज्ञानी को नहीं होता। जिसने यह समझ लिया कि यह संसार मायामय है, उसको इसके बारे में संकल्प नहीं होते। उसे जो परमेश्वर का खेल देखता है, उसमें यह भ्रान्ति नहीं आती कि ऐसा होवे-ऐसा न होवे। वह आनंद से खेल देखता रहता है। अशक्य अर्थात् जो नहीं हो सकता है, उसके होने का संकल्प भ्रान्त करता है। जो नहीं हो सकता है, वह नहीं ही होगा, जो हो सकता है वह हो ही जायेगा। जो अशक्य है, असम्भव है, उस विषय का संकल्प करने के कारण भ्रान्त बार-बार उसके लिए प्रयत्न करता है, जैसे जुआरी बार-बार पैसे लगाता है। यही हाल शेयर बाजार में काम करने वालों का है। इसलिए भ्रान्त को बहुत व्यसन होता है। उसकी इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। शरीर को दाल-रोटी की ज़रूरत है। समझदार को निश्चित पता है कि शरीर को रखने वाला प्रारब्ध है। अतः यह प्रारब्ध

का सिरदर्द है कि रोटी खिलावे। मुझे क्यों चिन्ता करनी है! अतः उसे व्यसन, विपत्ति की प्राप्ति नहीं होती।।१६९।।

विद्वान् का वैशिष्ट्य दिखाते हैं—

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वाऽऽस्थामुपसंहरन्।
भुञ्जानोऽपि न सङ्कल्पं कुरुते व्यसनं कुतः।।१७०।।

भोग की मायिकता समझकर उस पर से आस्था हटाते हुए भोग करने पर भी वह संकल्प नहीं करता तो व्यसन कैसे होगा!

भोग तो मायावी परमेश्वर का खेल है। जब तक वह दिखा रहा है तभी तक खेल है, आगे-पीछे उसकी सत्ता कुछ नहीं है। 'यह केवल परमेश्वर की माया है'। यह जानने से ज्ञानी भोग के प्रति आस्था—यह कुछ सत्य है ऐसा भाव या प्रेम नहीं होने देता, स्वभावतः प्राप्त आस्था को भी हटाता रहता है। जैसे बाजीगर की पाँच सौ रुपये की गड्डी को देखते हो तो 'वह सचमुच में है' ऐसी बुद्धि नहीं होती है वैसे ज्ञानी को संसार में नहीं होती। महान् ऐन्द्रजालिक शिव जिन पदार्थों को दिखाता है वे अरबों वर्षों तक रहते हैं अतः उन पर आस्था सहज है। विचार से उनका असत्त्व पता चलता है, अन्त में यहाँ प्रलय भी होनी ही है। फिर भी बिना विचार के ऐसा लगता है कि हमारे जन्म के समय हिमालय था, अब मृत्युकाल आ गया तब भी हिमालय है अतः यह स्थायी है अर्थात् आस्था हो जाती है। इसलिए यहाँ विचार की ज़रूरत पड़ती है। आस्था हटाते हुए उसका भोग करते हुए भी 'यह मुझे प्राप्त हो जाये, होता रहे' ऐसा संकल्प नहीं करता। सारे भोग प्रतीतिमात्र हैं, इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जैसे रस्सी में सर्प कोई चीज़ नहीं है, प्रतीतिमात्र है, वैसे ही सारे भोग प्रतीतिमात्र हैं। ज्ञानी यह समझता है इसलिए उसके बारे में कोई संकल्प नहीं करता। जब संकल्प ही नहीं है तो व्यसन अर्थात् तन्निमित्तक आग्रह, प्रयास, क्लेश कहाँ से होगा!।। १७०।।

विद्वान् संसार के प्रति क्या दृष्टि रखता है यह बताते हैं—

स्वप्नेन्द्रजालसदृशम् अचिन्त्यरचनात्मकम्।
दृष्टनष्टं जगत् पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति।। १७१।।

स्वप्न के एवं इन्द्रजाल के समान है, इसका स्वरूप ऐसा है जो युक्ति से विचारयोग्य नहीं, दीखते हुए ही नष्ट है—जगत् को ऐसा देखते हुए इसमें अनुराग कैसे रखे!

माया का ज्ञान होने पर भी उस समय भोग से सुख होता है, यह बात तो पक्की है। तब उससे आस्था कैसे हटेगी? अतः समझाया कि वह देखते हुए जानता है कि जगत् स्वप्न-सा है। जैसे स्वप्न में गुलाब जामुन खायें तो सुख होता है वैसे ही जाग्रत् में। इसी

प्रकार इन्द्रजाल से भी सुख होता है पर वह आस्था के योग्य नहीं। ऐन्द्रजालिक की रचना लगती है मानो इंद्रियों से उसे ग्रहण करते हों। दार्शनिक रीति न समझने वालों के अनुसार बाजीगर के खेल को तो इंद्रियों से ग्रहण करते हो। तुम सोच ही नहीं सकते, बाजीगर कैसे रचना करता है। ये सारे सांसारिक भोग भी स्वप्न या इन्द्रजाल की तरह हैं। कैसे बनते हैं यह पता नहीं लगता। कैसे हुआ? इसके उत्तर में अन्ततः यही कहना पड़ता है कि 'आगे तो पता नहीं।' जगत् में पता नहीं लग पाता कि कैसे रचना होती है। और यह जगत् दृष्टनष्ट है, जब दीखता है तब भी नहीं है। अतः आँख के सामने है तो पैदा है, आँख के सामने नहीं है तो नष्ट है। जैसे न दीखता सपना या जादू कहीं पड़ा नहीं रहता वैसे न अनुभव किया जाता संसार भी है नहीं। इस प्रकार से जगत् के स्वरूप को विद्वान् देखता रहता है। वह याद रखता है कि यह स्वप्न और इन्द्रजाल की तरह बाधित होने वाला है। इसकी कारणता का विचार पूरी तरह से हो नहीं सकता। स्वप्न की तरह यह जब तक दीखता है तभी तक है, उसके बाद या पहले नहीं। बाजीगर का खेल जब तक वह दिखलाता है तब तक ही है, इसी प्रकार परमेश्वर इस संसार को जब तक दिखलाता है, तब तक है। जैसे ही महाप्रलय में वह दिखाना बंद कर देगा वैसे ही कुछ नहीं है। जो इस बात को याद रखता है, वह इसमें कैसे अनुरक्त हो जाये? बाजीगर का खेल देखते हैं, पर अनुरक्त नहीं होते। ऐसे ही परमेश्वर जो खेल दिखाता है, उसे देखते जाओ। यदि तुमने उसमें आस्था कर ली तो जन्म-मरण के चक्र में घूमते ही रहोगे। 'रक्त' का मतलब होता है रंग चढ जाना। हम जिस चीज़ का भोग करते हैं उस पर आस्था करते हैं अतः उसका रंग चढ जाता है इसलिए व्यसन होता है। जिस समय जो चीज़ सामने आवे उसका भोग कर लो, पर आस्था करके अनुरक्त मत होवो, बार-बार इच्छा मत करो, क्योंकि वह है नहीं। जब तक बाजीगर दिखायेगा तभी तक दीखेगा। परमेश्वर लम्बे समय तक चीज़ें दिखला देता है। पर कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो हमेशा रहे। हिमालय पर्वत भी महाप्रलय में समाप्त हो जाता है।।१७१।।

जगन्मिथ्यात्व के निश्चय का उपाय सुझाते हैं—

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम्।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः।।१७२।।

स्वयं का सपना अपरोक्ष देखकर अपना जाग्रत् देखते हुए प्रमाद किये बिना रोज़ बार-बार चिन्तन करना चाहिए कि दोनों (समान रूप से मिथ्या हैं)!

अपना स्वप्न अपरोक्ष ही देखते हो। उसको किसी के कहने से या अनुमान करके तो देख नहीं रहे हो। तुम खुद ही उसको साक्षात् देखते हो। जाग्रत् का अनुभव भी अपरोक्ष है। जाग्रत् में आते ही स्वप्न के मिथ्यात्व के बारे में निश्चय हो जाता है, अतः उस स्वप्न के कारण कोई तुमको चिन्ता नहीं होती। इसी प्रकार जब तुम आत्मस्वरूप में 'जगते' हो

तब जाग्रत् का मिथ्यात्व भास जाता है। जाग्रत् तुमने अपरोक्ष देखा इसमें संशय नहीं है, लेकिन 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष हो गया तो जाग्रत् का बाध होगा ही। अपरोक्ष दीखने से जैसे स्वप्न सत्य नहीं हो गया वैसे जाग्रत् भी नहीं होता। स्वप्न में कोई शेर तुम को नोंच रहा है। डर से जग जाते हो। आँख खुलते ही तुम्हें निश्चय हो जाता है कि वह तो स्वप्न था। पर डर के कारण जो पसीना आया था वह अभी भी रहता है! कोई पसीने को देखकर कहे 'उसका स्वप्न टूटा नहीं है, क्योंकि पसीना अब भी निकल रहा है, घबरा रहा है'। तो बात ग़लत होगी। इसी प्रकार ब्रह्म के अपरोक्ष साक्षात्कार से बाध होने पर भी जो अपरोक्ष जाग्रत् देखा है इसके संस्कार थोड़ी देर तक बने रहते हैं इसलिए दूसरे लोग सोचते हैं कि 'इसको अभी भी जगत् सत्य दीख रहा है, तभी प्रवृत्ति कर रहा है'। जो प्रारब्ध बचा है उससे प्रवृत्ति हो जाती है। प्रमाद से रहित होकर स्वप्न और जाग्रत् दोनों का समान रूप से मिथ्यात्व देखना चाहिए। दोनों अज्ञान के कार्य हैं और जो अज्ञान से हुआ करता है, जैसे रस्सी में साँप, वह सचमुच नहीं होता चाहे देखा तुमने अपरोक्ष। इसी प्रकार से जाग्रत् और स्वप्न हमने देखे लेकिन वास्तविक नहीं हैं। जैसे स्वप्न या इन्द्रजाल वैसे ही जाग्रत् है।

यह साधनाभ्यास करना पड़ेगा। अनुभव होगा सुख-दुःख का। भोग समाप्त होते ही चिन्तन करना चाहिए। धीरे-धीरे भोग के बीच-बीच में भी चिन्तन करना चाहिए। दृश्यत्वादि सभी हेतुओं से सोचकर जाग्रत् भी स्वप्न की तरह मिथ्या है यह लगातार विचार जाग्रत् रखने का प्रयास कर्तव्य है। इसमें कुछ भी सच्चा नहीं है। मैं केवल चेतनमात्र हूँ। स्वप्न या जाग्रत् कोई पदार्थ हो, जो भी चीज़ चेतन के सामने आती है उसका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, पर कोई भी सत्यता इसमें नहीं है। जैसे ही सुख का काल समाप्त हुआ वैसे ही 'मैं तो चिन्मात्र हूँ। मुझ चेतन के सिवाय कुछ भी नहीं है।'—इस प्रकार बार-बार विचार करता रहता है, तो संस्कार दृढ हो जाते हैं। जीवन् मुक्ति काल में बुद्धि की उपस्थिति है इसलिए बुद्धि में इसके संस्कार दृढ करना ज़रूरी होता है। विदेह-कैवल्य तो केवल ज्ञान से हो जाता है। जगत् को देखते हुए हमेशा जब इस बात का प्रवाह रहता है कि वह दृष्टनष्टस्वभाव है तब जीवन्मुक्ति की मस्ती रहती है।।१७२।।

पूर्वोक्त विचार का फल बताते हैं—

चिरं तयोः सर्वसाम्यम् अनुसन्धाय जागरे।
सत्यत्वबुद्धिं सन्त्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत्।।१७३।।

दीर्घ काल तक जाग्रत्-स्वप्न की सब तरह से समानता का अनुसन्धान कर जाग्रत् में सत्यता-निश्चय भली भाँति छोड़कर अज्ञदशा की तरह संसार पर अनुरक्त नहीं होता।

कोई बुद्धिमान् कुएँ से कुछ निकालने जाता है, तो पहले लौटने के मार्ग का प्रबन्ध करता है। परमात्मा ने इस संसार कूप में प्रवेश किया इसमें सन्देह नहीं है। वेद कहता है कि इस

सारे शरीर आदि की सृष्टि करके, जिसने सृष्टि की थी, उसी ने इसमें प्रवेश किया। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति' स्मृति कहती है कि वह परमेश्वर ही जीव की 'कला' को धारण करके प्रविष्ट हुआ है। अतः इससे बाहर निकलने के लिए उसने दो निश्चित चिह्न बनाये। जैसे जंगल से निकलने के लिए पेड़ों पर चिह्न लगाते हैं वैसे संसारारण्य से निकलने का मार्ग इन चिह्नों से मिलता है। ये चिह्न हैं—स्वप्न और सुषुप्ति। ये बाहर निकलने के मार्ग हैं। स्वप्न का अनुभव हर जीव को है। स्वप्न में ये चीज़ें ऐसी ही अपरोक्ष दीखती हैं जैसा जाग्रत् दीखता है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। तुम स्वप्न देख रहे हो या जग रहे हो—कोई तरीका यह निश्चय करने का नहीं है। स्वप्न के अनुभव से संसार की असत्यता निश्चित हो जाती है। और सुषुप्ति में निरुपाधि आत्मा की स्थिति रहती है। बुद्धि और ये सारी उपाधियाँ रहने पर सुख-दुःख का अनुभव है। ये कोई उपाधि सुषुप्ति में नहीं तो केवल आनंद का अनुभव है। गहरी नींद में सभी को आनंद का अनुभव है। वहाँ किसका आनंद है? जो सुषुप्ति का विचार नहीं करते वे यही कहते हैं 'कोई चीज़ होवे तो उससे सुख होवे। जाग्रत् में सुख किसी चीज़ से ही होता है। जब मोक्ष में कोई चीज़ ही नहीं है तो वहाँ सुख कैसे हो सकता है!' वैष्णवों के एक बड़े वर्ग को यही भ्रम है। 'चीनी को अपने मिठास का ज्ञान नहीं। चींटी ही उसको चख सकती है। इसी प्रकार परमात्मा आनंदरूप है, हम यदि परमात्मरूप हो जायेंगे तो हमें कोई आनंद नहीं आएगा। अतः हम चींटी की तरह परमात्मा से भिन्न ही बने रहना चाहते हैं जिसमें हम चीनी का आनंद लें। किसी चीज़ का ही तो मज़ा होता है।' ऐसा वे प्रतिपादन करते हैं। भूल कहाँ हो रही है? चीनी जड है इसलिए अपने मिठास को नहीं जानती। क्या परमात्मा भी जड़ है कि उसको अपने आनंद का पता नहीं? जाग्रत् पर ही विचार करने से मनुष्य को यह भ्रम होता है कि किसी चीज़ का ही आनंद होता है अतः मोक्ष में भी परमात्मारूप विषय का ही आनंद मानता है। परन्तु परमेश्वर ने सुषुप्ति भी बनायी। उससे उठकर प्रत्येक कहता है 'बड़े आनन्द से सोया।' वहाँ किस चीज़ का आनंद था? वहाँ कोई चीज़ नहीं थी अतः चीज़ का आनंद नहीं था फिर भी तुम आनंद में थे। जाग्रत् और स्वप्न का विचार करने पर यह पता चल गया कि जगत् सर्वथा मिथ्या है।

सुषुप्ति का विचार करने से पता लग जाता है कि मैं आनंदरूप हूँ। इसलिए इस जगत् की सारी उपाधियों को छोड़ने पर भी मेरा अपना आनंद प्रकट रहेगा, मैं आनन्दरूप से रहूँगा। सुषुप्ति में हम मुक्त नहीं होते। स्वप्न और सुषुप्ति का विचार हम जाग्रत् में ही कर सकते हैं। उस विचार से हमारा अज्ञान नष्ट होता है। सुषुप्ति में हम आनंद में हैं तो सही, पर 'मैं आनंद' का अनुभव वहाँ नहीं है, क्योंकि अज्ञान है। अज्ञान को सुषुप्ति में तो नष्ट कर नहीं सकते क्योंकि नष्ट करने के साधन ही वहाँ नहीं हैं। इसलिए जाग्रत् में अज्ञान को ज्ञान के द्वारा नष्ट करना पड़ता है। विचार करके जब अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब हमें उस अनुभवरूप आनन्द का उसी काल बोध होता है, वही मुक्तिहेतु है। इसके लिए स्वप्न और

जाग्रत् की समानता विचारणीय है। चाहे जितना विचार कर लो। कोई उपाय नहीं है जिससे पता लग सके कि इस समय हम जाग्रत् में हैं या स्वप्न में हैं। एक विदेशी विद्वान् ने लिखा है 'एक बार मैंने स्वप्न देखा कि मैं तितली हूँ। मैं जग गया। अब तक मैं निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ कि मैं जाग्रत् का आदमी हूँ या स्वप्न की तितली हूँ!' दोनों अवस्थाओं में सब प्रकार से समानता है, कुछ भी फ़र्क नहीं है। स्वप्न में भी इन्द्रिय-विषय इनका सम्बन्ध आदि ऐसे ही अनुभव में आते हैं जैसे जाग्रत् में। अतः ऐन्द्रियताकृत भेद भी नहीं कहना बनता। स्वप्न में संस्कारमात्र से प्रतीति है परन्तु यह अन्तर स्वप्न काल में प्रतीत नहीं होता। स्वप्न में भी आँख खोल कर ही देखते हो। वहाँ भी पैरों से ही चलते, हाथों से ही पकड़ते हो। वहाँ हाथ-पैर संस्काररूप हैं, यहाँ के नहीं—यह जो भेद है, यह हमें अपरोक्ष सिद्ध नहीं है, विचारसिद्ध है। अपरोक्ष दृष्टि से तो जाग्रत् और स्वप्न एक जैसे ही हैं। दोनों की समानता का अनुसन्धान लम्बे समय तक करना पड़ता है। जाग्रत् काल में ही यह अनुसंधान होगा।

जाग्रत् का वैशिष्ट्य यही है कि जाग्रत् में विचार किया जा सकता है। जाग्रत् में जब अच्छी तरह से विचार करोगे, तब संस्कार दृढ होकर स्वप्न में भी दीखेगा। जो अर्थ आज तक तुम्हारे अनुभव में नहीं आया, उसका संस्कार नहीं पड़ा तो उस विषय का स्वप्न में ज्ञान भी नहीं होगा। जाग्रत् में परमात्मा के बनाये हुए अर्थों के साथ सम्बन्ध होता है। परमेश्वर ने ही वेद हमारे लिए प्रकट किया है। बचपन में मोबाइल फोन, कम्प्यूटर नाम की किसी चीज़ का संस्कार नहीं पड़ा था। परमेश्वर के पदार्थों से ही इन नई चीज़ों का निर्माण हुआ तो जाग्रत् में पता भी लगा। यह अनुभव संस्कारों से नहीं हुआ, नई चीज़ से सम्बन्ध होकर ज्ञान हुआ। यदि हमें कम्प्यूटर का संस्कारों से ज्ञान नहीं हुआ तो हम उसे क्यों मानें?—यह व्यर्थ की शंका मानी जाती है। इसी प्रकार परमेश्वर के बनाये वेद के साथ सम्बन्ध होने पर नयी बात का ज्ञान होता है। बहुत-से लोग कहते हैं कि वेदविद्या हमारे प्रत्यक्ष-अनुमान के अनुसार नहीं है, इसलिए हम इसे कैसे मानें? इसका उत्तर यही है कि जैसे पूर्व संस्कार के बिना नया पदार्थ आँखों से पता चलता है वैसे शब्द से भी चलता है। जाग्रत् की असली विशेषता है कि परमेश्वर के बनाये पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है। परमेश्वर का बनाया हुआ वेद हमें मोक्ष देने वाला ज्ञान प्रदान करता है।

वेद से सम्बन्ध होकर विचार उत्पन्न होता है। तदनुसार जाग्रत् और स्वप्न की समानता का दीर्घकाल तक अनुसन्धान करो। वेदान्त की कठिनाई है कि इसमें हमारा अनुभव ही बताया गया है! वेदान्त तुमको कोई नई बात नहीं कहता। जो अनुभव तुम्हें सिद्ध है, उसी को बतलाता है। जाग्रत्-स्वप्न की समानता कहते हैं तो आदमी को समझ आ जाता है कि है तो एक जैसा ही। पर इसीलिए इसका चिर अनुसन्धान नहीं करता अतः वह संस्कार नहीं बन पाता। दीर्घकाल तक अनुसन्धान से ही संस्कार दृढ होगा। फिर यह ऐसा स्वभाव बन जायेगा कि जाग्रत् को देखते ही इसे दृष्ट-नष्टस्वभाव समझ पाओगे। तब जीवन में सुख

का अनुभव करोगे, दुःख का अनुभव नहीं करोगे। जिसे 'मिथ्या है' ऐसा जानते हैं उससे दुःख नहीं हो सकता। दुःख कारण को सत्य मान कर ही होता है। इसलिए जब तुम जगत् को सत्य समझ रहे थे, उस समय में, जैसे उसमें अनुराग करते थे वैसे अब मिथ्या दर्शन काल में अनुराग नहीं होता। व्यवहारमात्र भले ही होता रहे।। १७३।।

उक्त स्थिति का प्रारब्ध-भोग से कोई विरोध नहीं यह बताते हैं—

इन्द्रजालमिदं द्वैतम् अचिन्त्यरचनात्वतः।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः।।१७४।।

क्योंकि इसकी रचना विचार सहन नहीं करती इसलिए यह द्वैत इन्द्रजाल-सा मिथ्या है—इसे न भूलने वाले का प्रारब्धभोग से क्या नुकसान है!

जगत् इन्द्रजाल है। इन्द्र अर्थात् परमेश्वर। उसी से इदम् अर्थात् सारा जगत् द्रवित अर्थात् प्रकट होता है। सारे जगत् को अपने में प्रकट करने वाला इन्द्र है। उसी ने यह जगद्रूप जाल बनाया है। आचार्य शंकर ने महायोगी की कृति का दृष्टान्त संसार के लिए दिया कि जैसे मायावी या महायोगी कुछ बनाता है वैसे परमेश्वर ने जगत् बनाया। इन्द्रजाल उसे कहते हैं जिसके बनने में कोई हेतु, साधन न दीखे। बिना किसी पदार्थ के बनना ही जाल की विशेषता है। वेद कहता है कि परमेश्वर ने यह संसार बनाया, उससे पूर्व एकमात्र वही था, और कुछ नहीं था। 'कुछ नहीं' में से अर्थात् अपनी माया शक्ति से, आकाश, वायु, अग्नि, जल से लेकर मनुष्य शरीर तक सब बना दिया! इसी को 'जाल' कहा जाता है। जिसकी रचना के बारे में कोई 'चिन्ता' न कर सको, युक्ति, तर्क न लगा सको। रस्सी में साँप कैसे दीखता है—यह किसी तर्क से नहीं समझाया जा सकता। परमेश्वर की यह रचना हर कदम पर अचिन्त्य है। अग्नि को जल से बुझाते हो। और अग्नि से ही जल पैदा होता है, जैसे शरीर गर्म होने पर पसीना निकलता है। इसमें युक्ति नहीं बैठा सकते। इसलिए इसे इन्द्रजाल अर्थात् मिथ्या कहते हैं, क्योंकि सर्प की तरह है, सच्चा नहीं वरन् अचिन्त्य रचना है। यह कैसे बना—इसका अनादिकाल से अनेक विधियों से अनेकों ने पता लगाने का प्रयत्न किया, आज भी लोग कर रहे हैं, परन्तु आज भी यही कहना पड़ता है, 'पता नहीं'। जो दीर्घकाल तक स्वप्न और जाग्रत् की समानता देख लेता है, वह इस संसार के प्रयत्नों के द्वारा कुछ हो जायेगा इस भ्रम से छूट जाता है। जानता है कि जो होना है सो होगा ही,

जो नहीं होना है, वह नहीं ही होगा; सब इन्द्रजाल है, इसमें कोई तुक तो है नहीं। इसको न भूलो, इसका स्मरण बना रहे तो फिर प्रारब्ध-भोग के कारण कुछ भी प्रतीति होती रहे, दुःख का अनुभव कभी हो ही नहीं सकता। भोग यदि विषय की सत्यता को मान कर करते हो, तो सारे बन्धन और दुःख आते हैं। जब विषय-सत्यता का भ्रम हट जाता है, तब भोग होने पर भी उससे आगे संस्कार बनते नहीं। तब मज़े से इस इन्द्रजाल को, परमेश्वर की माया को देखते रहो। परन्तु यह तभी होता है जब पहले यह निश्चय हो जाये कि यह

इन्द्रजाल है। अन्यथा इसमें युक्ति की माथाफोड़ी करते रहते हो। शरीर-बुद्धि आदि स्वयं से अत्यन्त निकट प्रतीत होती उपाधियों एवं उनके विकारों को इन्द्रजाल देखने का अभ्यास आवश्यक है। पेड़-पहाड़ आदि को मिथ्या देखनामात्र पर्याप्त नहीं, अध्यात्म उपाधि को मिथ्या जाने बिना क्लेश से छुटकारा नहीं होता।।१७४।।

द्वैतमिथ्यात्वका ज्ञान और प्रारब्धभोग में विरोध नहीं यह उपपन्न करते हैं—

निर्बन्धस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः।। १७५।।

तत्त्वज्ञान का आग्रह इतना ही है कि जगत् की इन्द्रजालता याद रहे एवं प्रारब्ध का आग्रह इतना ही है कि जीव को सुख-दुःख का भोग हो जाये (अतः क्षेत्र ही अलग होने से इनमें विरोध नहीं)।

तत्त्वज्ञान और प्रारब्ध, दोनों का क्षेत्र ही अलग है। तत्त्वविद्या का निर्बन्ध अर्थात् शर्त क्या है? तत्त्वविद्या का फल ही यह है कि जगत्-प्रतीति के समय इसकी इंद्रजालता, मिथ्यात्व का स्मरण बना रहना। श्रुति के नेति-नेति वाक्य से इस जगत् के मिथ्यात्व का पता तो लग जाता है, पर इसकी विस्मृति हो जाती है। जब दीर्घकाल तक युक्तिपूर्वक विचार करके निर्णय कर लेता है तब मिथ्यात्व सदा याद रहता है। संसार में आज तक यह पता नहीं लगा कि कोई चीज़ कैसे होती है। अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सिरदर्द की अमुक दवा है! कभी दुर्घटना से पागल की स्मृति ठीक भी हो जाती है! जितना संसार का विचार करते हैं, उतना निश्चित हो जाता है कि यह अचिन्त्य रचना है। जब यह निश्चय हो जाता है तब नेतिनेति का कभी विस्मरण नहीं होता। तत्त्वविद्या की शर्त यही है कि तुम को यह विस्मृति न होवे, निरन्तर स्मृति बनी रहे कि यह इन्द्रजाल का खेल है। इसी को बाधितानुवृत्ति कहते हैं।

प्रारब्ध का यह आग्रह नहीं है कि तुम इसको सच्चा मानो। तत्त्वज्ञान कहता है इसको झूठा मानो। प्रारब्ध की शर्त इतनी ही है कि तुमको सुख-दुःख का भोग हो जाये। वह भोग सच्चा होवे—यह प्रारब्ध को आवश्यकता नहीं है। तत्त्वज्ञान से बाधित होते हुए भी प्रारब्ध-भोग अनुवृत्त रह सकता है प्रारब्ध अपना फल देता रहता है और तत्त्वज्ञान उसके मिथ्यात्व का स्मरण कराता रहता है। प्रारब्ध का यह आग्रह नहीं है कि उस सुख-दुःख को तुम सच्चा जानो। अतः परस्पर अविरुद्ध होने से इनका साहचर्य संगत है।।१७५।।

अनुमान के रूप में यही बात कहते हैं—

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु।। १७६।।

तत्त्वज्ञान और प्रारब्ध, विरुद्ध नहीं हैं, भिन्न विषयों वाले होने से जैसे सच्चाई जानते हुए भी बाजीगर का खेल देखकर आनंद लेने वाले दीखते ही हैं (उनमें मिथ्यात्वबोध और खेल से सुख—इनका साहचर्य सुलभ है)।

ज्ञान और प्रारब्ध का कोई विरोध नहीं है। प्रारब्ध सुख-दुःख का भोग देगा। विद्या उनको मिथ्या बतायेगी। विद्या यह नहीं कहती है कि भोग नहीं है। वह उसको मिथ्या ही बतलाती है। प्रारब्ध यह नहीं कहता है कि इसे सच्चा मानो। उसे इतना चाहिये कि जैसा है वैसा उसका भोग करलो। ज्ञान और प्रारब्ध के विषय अलग-अलग हैं। ज्ञान का काम है चीज़ कैसी है यह बतलाना; प्रारब्ध का काम है सुख-दुःख का अनुभव कराना। अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रश्न होगा कि जो भोग को मिथ्या समझेगा, उसे भोग का बाध हो जायेगा तो सुखादि कैसे मिलेंगे? उत्तर दिया कि ऐसा नहीं है। भोग के मिथ्यात्व की बुद्धि होने पर भी उसको क्रीडा, लीला के रूप में देखकर भोगा जा सकता है। आचार्य शंकर कहते हैं 'विनोदाय चैतन्यमेकं विभज्य'; एक अखण्ड चेतन है। इसमें दो हिस्से हो गये—एक समष्टि माया का, और दूसरा माया के एकदेश व्यष्टि का। है यह विभाग खेल के लिये ही। वास्तव में चेतन में कोई टुकड़े हैं नहीं। विभाग मिथ्या है। समष्टि उपाधिवाला ईश्वर एवं व्यष्टि उपाधि वाले जीव हैं। चेतनरूप से जीव ईश्वर से अलग नहीं है। चिन्मात्र शिव ही जीव बना है। जब जीव उपाधि से स्वयंको अलग समझ जाता है तब शिव ही है। हमेशा ही शिव ही है, पर जब तक व्यष्टि उपाधि है, तब तक जीवभाव है।

वास्तव में तो अखण्ड चैतन्य है। इस बात को अविद्या अवस्था में जीव जानता नहीं, शिव हमेशा जानता है। मनुष्य कर्म करता है, ईश्वर फल देता है। अज्ञान के कारण जीव जानता नहीं अतः इस खेल को सच्चा समझ लेता है। सोचता है 'मैं सचमुच में कर्म करने वाला हूँ, इसका फल ईश्वर सचमुच देगा।' यह नहीं समझता कि 'मैंने खेल-खेल में कर्म किया है, सचमुच में नहीं'। अतः वह कर्म-फल को सच्चा ही मानता है। जब ज्ञान हो जाता है, तब प्रारब्धभोग काल में भी इस बात को जानता है कि यह खेल है, सिवाय प्रतीति के कुछ नहीं है। तब प्रारब्ध ख़त्म होने के लिये घबराहट नहीं होती। जब इस बात को समझ लिया कि 'मैं अखण्ड चिन्मात्र हूँ, यह तो खेलमात्र के लिये प्रतीति है', तब इसे आनन्द से देखता रहता है। जो जानता है कि यह इन्द्रजाल का खेल है, उसको खेल देखने पर कोई घबराहट नहीं होती। अज्ञानी जीव घबराता रहता है। ज्ञानी जानता है यह खाली विनोद है, चमत्कारमात्र है।। १७६।।

प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञान का विरोध नहीं करता यह और समझाते हैं—

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद् यदि।
तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता।। १७७।।

प्रारब्ध अगर जगत् की सत्यता सम्पन्न कर भोग कराता तो विद्या का विरोधी होता। केवल भोग से जगत् में सत्यता नहीं आ जाती।

यदि यह कहते हो कि प्रारब्ध जगत् में सत्यत्व-प्रतीति करा कर ही भोग दे सकता है, तब विरोध संभव है। लोगों को यही लगता है कि सच्चा समझेंगे तभी प्रवृत्ति होगी। क्या जगत्-सत्यत्व को प्रारब्ध सम्पन्न कर सकता है? जगत्-मिथ्यात्व तो विचार से है। प्रारब्ध सुख-दुःख का भोग कराता है, वह विचार को तो बदलता नहीं। यदि प्रारब्ध जगत् में सत्यता करा करके भोग कराता है तो ज्ञान का सदा विरोधी रहेगा अतः ज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं पायेगा! मोक्ष असंभव हो जायेगा। प्रारब्ध के रहते ही ज्ञान होगा, इसलिये इनमें विरोध उचित नहीं। यदि प्रारब्ध भोग की सत्यता करा कर फल दे तो फिर जगत् को मिथ्या समझने वाला कभी कोई हो ही नहीं सकता। भोग के लिये चीज़ों का सत्य होना ज़रूरी नहीं है। स्वप्न में रोज देखते हो—वहाँ कोई विषय सच्चा नहीं है पर भोग होता है। स्वप्न में मूत्रालय में मूत्र किया पर जागने पर पाया कि बिस्तरा गीला है! भोग हुआ, पर मूत्रालय की सत्यता सिद्ध नहीं होती। इसलिये नहीं कह सकते कि जगत् भोग्य होने से सत्य है। ऐसा कोई दृष्टांत नहीं जिससे सिद्ध हो कि भोगमात्र से वस्तु की सत्यता है। अतः भोग का मिथ्या से कोई विरोध नहीं है।। १७७।।

मिथ्या पदार्थों से भोग स्वप्न में प्रसिद्ध ही है यह दिखाते हैं—

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवम् असत्यैर्भोग इष्यताम्।। १७८।।

स्वप्न में कल्पित वस्तुओं से जाग्रत् की अपेक्षा कोई कम भोग नहीं होता! जाग्रत् की भी वस्तुओं से वैसा ही पर्याप्त भोग स्वीकारा जाये।

स्वप्न वस्तु के बारे में यह निश्चय है कि वह कल्पित है, उसको सत्य तो नहीं मानते। जगत् को सत्य सिद्ध करने वाले कुछ आचार्य कहते हैं कि स्वप्न में भी सच्ची चीज़ें हैं! पर है ऐसा नहीं, फिर भी वहाँ जो भोग होता है वह निश्चित रूप से जाग्रत्-भोग से कम नहीं होता। इसी प्रकार जाग्रत् में भी वस्तु की सत्यता की ज़रूरत नहीं है। मिथ्यात्व-ज्ञान के रहते हुए भोग माना जा सकता है।। १७८।।

जैसे प्रारब्ध विद्या का विरोधी नहीं, वैसे विद्या भी प्रारब्ध का विरोध नहीं करती यह बताते हैं—

यदि विद्याऽपह्नुवीत जगत् प्रारब्धघातिनी।
तदा स्याद् न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः।। १७९।।

यदि तत्त्वविद्या जगत् का निषेध करती तो प्रारब्ध का विरोध करने वाली होती किन्तु जगत् को मायारूप समझने से जगत् का निषेध नहीं हुआ करता।

प्रारब्ध सत्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है। केवल सुख-दुःख के भोग के लिये उसका आग्रह है। ज्ञान सांस्कार का लोप, अपह्नव, निषेध नहीं करता। यदि इस संसार को हटाती तो विद्या प्रारब्ध की काट करने वाली होती। प्रारब्ध सुख-दुःख देता है। यदि इस व्यवस्था को ज्ञान हटाता, तब तो ज्ञान और प्रारब्ध का विरोध होता। ज्ञान हो जाता तो जगत् की प्रतीति नहीं होती। मुक्ति तो होती लेकिन मरने के बाद। जीवन् मुक्ति नहीं होती। किंतु विद्या प्रारब्ध की, और प्रारब्ध विद्या की काट नहीं करते। यह माया का कार्य है, इस ज्ञान से जगत् का लोप तो होगा नहीं। मूर्ति में रामजी दीखने से सोना या पत्थर का दीखना बंद नहीं होता। न ही पत्थर दीखने से राम जी का दीखना बंद होता है। चीज़ अपने स्वरूप से रहते हुए ही दूसरे की तरह प्रतीत होती है, इसी का नाम माया है। अखण्ड चिन्मात्र में बिना खण्ड हुए, कर्त्ता-रूप से जीवभाव, फलदाता-रूप से ईश्वरभाव की प्रतीति है। अखण्ड चिन्मात्र का ज्ञान होने पर समझ आता है कि मैं निर्विकार रहते ही समष्टि उपाधि से ईश्वर और व्यष्टि उपाधि से जीव प्रतीत होता है। यह सब माया का खेल है। इस ज्ञान से जगत् या भोग का निषेध नहीं होता। जो चीज़ जैसी है, वैसा जना देना—यह ज्ञान का कार्य है, किसी चीज़ के स्वभाव को बदलना ज्ञान का कार्य नहीं है।। १७६।।

दृष्टांत से पूर्वोक्त बात स्पष्ट करते हैं—

अनपह्नुत्य लोकास्तद् इन्द्रजालमिदं त्विति।
जानन्त्येवाऽनपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा।। १८०।।

लोग स्वरूपतः निषेध न करते हुए 'यह तो इन्द्रजाल है' ऐसा जानते ही हैं। इसी तरह भोग का निषेध किये बगैर 'यह मायारूप है' ऐसा समझा जाता है।

साधारण हम लोग जब इन्द्रजाल देखते हैं तो उसे इंद्रजाल जानते हैं। जाननेमात्र से इंद्रजाल दीखना बंद नहीं हो जाता! उसे लोग सच्चा नहीं समझते। बाजीगर के खेल में सारी चीज़ें दीखती हैं पर होता कुछ नहीं है। इसी प्रकार भोग का, सुख-दुःख का अपह्नव, निषेध नहीं किया जाता। सुख-दुःख नहीं हो रहे हैं—यह नहीं कहा जा रहा। इतना ही कहना है कि यह माया से दिखाया जाने वाला परमात्मा का खेल है। जगत् मिथ्यात्व देखते हुए ही सारे भोग ज्ञानी को होते हैं। प्रारब्ध-भोगना ज्ञानी और अज्ञानी का एक जैसा है। पर ज्ञानी जानता है कि यह मिथ्या है। अज्ञानी सच समझता है, इसीसे बन्धन में है। जब सच्चा मानकर कर्म करते हो तो परमेश्वर भी फल देता है। जब विनोद के लिये तुम कर्म करते हो, जानते हो कि यह कुछ नहीं है, तो आगे उसका फल कुछ नहीं होता।। १८०।।

उक्त परिहार में श्रुतिविरोध की शंका उठाते हैं—

यत्र त्वस्य जगत् स्वात्मा पश्येत् कस्तत्र केन् कम्।
किं जिघ्रेत् किं वदेद् वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम्।। १८१।।

तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा।
तथा च विदुषो भोगः कथं स्याद् इति चेच्छृणु।। १८२।।

'जिस अवस्था में जगत् इस (द्रष्टा) का आत्मा हो गया उसमें कौन किससे किसे देखे, सूँघे, बोले' यों वेद में बहुत बार कहा है इससे निश्चित है कि द्वैत का निषेध करके विद्या उत्पन्न होती है, बिना निषेध किये नहीं। ऐसा है तो विद्वान्, प्रारब्ध-भोग कैसे करेगा?—यह पूछो तो सुनो।

श्रुति के आधार पर प्रश्न है। श्रुति ने (बृ.४.५.१५) यह कहा है कि जब सब-कुछ आत्मा हो गया, तब कौन और किसका भोग करे? कौन देखे और किसको देखे? क्योंकि एकमात्र आत्मा रह गया। न वहाँ द्रष्टा है, न दृश्य और न दर्शन है। अतः श्रुति के बल से कह सकते हैं कि ज्ञान उत्पन्न होता है तो जगत् का विलापन करता ही है। यह श्रुति ने अलग-अलग ढंग से जगह-जगह कहा। जब सब कुछ आत्मरूप हो गया तो कौन सूँघे और किसको सूँघे? कौन बोले और किससे बोले? जो बात बार-बार कही जाती है, उसमें तात्पर्य होता है। इससे लगता है कि विद्या-अवस्था में, विद्वान् को सारे जगत् की अप्रतीति हो जाती है। श्रुति के वचन से पता लगता है कि द्वैत की प्रतीति को नष्ट करके, विद्या उत्पन्न होती है। ज्ञान बिना द्वैतानुभव को नष्ट किये उत्पन्न होगा नहीं। प्रारब्ध-भोग भेदव्यवहार के बिना संभव नहीं। भेदानुभव ही न हो तो प्रारब्ध-भोग दूरनिरस्त है। ऐसे में विद्वान् प्रारब्ध-भोग कर लेता है—यह कैसे माना जाये?—यह प्रश्न है, अगले श्लोकों से उत्तर देंगे।। **१८२।।**

'यत्र तु' आदि (बृ.४.५.१५) श्रुति का तात्पर्य बताकर उक्त विरोध का परिहार करते हैं—

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति।
उक्तं स्वाप्ययसम्पत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम्।। १८३।।

प्रश्न में आधार बनायी श्रुति तो गहरी नींद या (विदेह-) कैवल्य स्थिति के बारे में है। यह बात 'सुषुप्ति-मोक्ष में किसी के लिये है' आदि ब्रह्मसूत्र में (४.४.१६) अत्यन्त स्पष्ट है।

श्रुति कह रही है कि गहरी नींद में एकमात्र आत्मा ही रह जाता है, इसलिये किसी प्रकार का भोग संभव नहीं है। देखने, सुनने, सूँघने बोलने के लिये उपाधि की ज़रूरत है। अन्धा आदमी कुछ नहीं देख सकता। वह किससे किसको देखे! कुछ भी करने या जानने के लिये साधन उपाधि की ज़रूरत है। इस बात का पता सुषुप्ति में लगता है। गहरी नींद में आँख-कान नहीं हैं, इसलिये वहाँ किससे, किसको देखें! यह श्रुति बतलाती है कि बिना उपाधि के भोग असंभव है। सुषुप्ति के दृष्टांत से श्रुति ने विदेहकैवल्य में भी द्वैतव्यवहार का निषेध किया।

कुछ लोगों का कहना है कि यदि ज्ञान का प्रारब्धभोग से विरोध नहीं है तो पहले किये सभी कर्मों के भोग का भी विरोध नहीं होना चाहिये। जैसे कुछ लोग जीवन्मुक्ति सिद्ध नहीं

होने देना चाहते वैसे वे विदेहमुक्ति नहीं सिद्ध होने देना चाहते। इसलिये वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि भोग के बिना कर्म समाप्त नहीं होता। ज्ञान से संचित कर्म समाप्त नहीं होते यह नहीं कहा गया है पर वे वादी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैसे विद्या प्रारब्ध-भोग को समाप्त नहीं करती वैसे ही अनन्त जन्मों के जो कर्म हैं, उनके भोग को भी समाप्त न करे। इस वाद के निरासार्थ, विदेहमुक्ति है—इस बात को श्रुति ने 'यत्र तु' आदि से समझाया है। शरीर आदि की प्राप्ति प्रारब्ध से हुई है। आगे फिर इनकी प्राप्ति नहीं करनी पड़े तो विदेहमुक्ति है। अतः यह श्रुति कह देती है कि विदेहावस्था भी होती है। इस उपाधि के जाने के बाद, पुनः उपाधि की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं रहता है। अगले जन्म में जाने के लिये कारण हैं—पहले तुमने जो इच्छायें और कर्म किये हैं। इच्छओं की पूर्ति और कर्म के फलभोग के लिये अगला शरीर मिलता है। जिसकी कामनायें समाप्त हो गई हैं, उसे किस लिये अगला जन्म मिलेगा? इसी प्रकार 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु.उ.-२.२.८) श्रुति से सिद्ध है कि कर्म भी परावरदर्शन से समाप्त हो जाते हैं अतः किनके फलभोग के लिये जन्म मिलेगा? अतः श्रुति ने यहाँ, विदेहमुक्ति भी होती है यह कहा। यह बात केवल हमारी कल्पना नहीं है, भगवान् वेदव्यास ने स्वयं ही ब्रह्मसूत्र में दोनों तात्पर्य श्रुति के बतलाये हैं कि सुषुप्ति और मुक्ति के तात्पर्य से यह श्रुति है।। १८३।।

आत्मज्ञान का जगत् की प्रतीति से कोई विरोध नहीं है। जगत् की प्रतीति में सत्यता की दृष्टि अज्ञान के कारण है, जब ज्ञान से वह हट जाता है तब जगत् में सत्य-बुद्धि नहीं रह जाती। वेदप्रसंगों का यही अभिप्राय मान्य है इसे अर्थापत्ति से समर्थित करते हैं—

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न संभवेत्।
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत्।। १८४।।

यदि जीवन्मुक्ति न मानी जाये तो यह संभव नहीं कि याज्ञवल्क्य आदि आचार्य हुए हैं क्योंकि द्वैत दीखते वे विद्वान् नहीं रहे होंगे और द्वैत न दीखते उनकी वाणी ने कुछ न कहा होगा!

यदि ज्ञान के साथ जगत्-प्रतीति न रहे तो गुरूपदेश असंभव है। प्रतीति रहना संगत समझ आता ही है। कारण के हटने पर भी कार्य कुछ देर तक नहीं भी हटता है। शास्त्र में उसको 'संस्कार' कहते हैं। इसी प्रकार जो अज्ञान संसार को चलाता है, वह नष्ट होने के बाद भी उसका संस्कार रह जाता है। उसी को अविद्या की गंध, लेश आदि कह देते हैं। संस्कार की मात्रा अलग-अलग हो सकती है पर जो भी बचा है वह तो काम करेगा ही। ज्ञान से अज्ञान की ही निवृत्ति होती है, अज्ञान के संस्कार की नहीं। कारण के हट जाने पर भी कार्य रह जाता है, पर तत्त्वज्ञान स्थल में ऐसा क्यों मानना? इसलिये मानना पड़ता है कि यह श्रुतिसिद्ध भी है, और विद्वद्-अनुभव से सिद्ध भी है। जब तक शरीर ख़त्म न हो जाये इतना विलम्ब विदेहावस्था में होता है। श्रुति ने यह कहा है। श्रुति की अन्यथा

अनुपपत्ति से भी यह सिद्ध है। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इस विधि की अन्यथा अनुपपत्ति से जीवन्मुक्ति सिद्ध है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति अपने दिमाग से नहीं हो सकती। आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है कि जिसने सारे शास्त्र पढ़ लिये हैं, वह भी अपनी स्वतंत्र बुद्धि से ब्रह्म का अन्वेषण न करे, क्योंकि यह स्वतंत्र बुद्धि का विषय नहीं है। श्रुति ने नियम किया है कि हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाये, ताकि परमात्मज्ञान होवे। गुरु कौन है? जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ है। वैदिक ज्ञान देने वाले को वेद का ज्ञान तो होना ही चाहिये। केवल शास्त्रज्ञान से यहाँ काम नहीं चलता, ब्रह्म का साक्षात्कार करके, वह ज्ञान दृढ हो जाना चाहिये उसमें निष्ठा हो जानी चाहिये। इसके बिना वह तत्त्वज्ञान का उपदेश ठीक-ठीक कर ही नहीं सकता। जिस चीज़ का अनुभव नहीं हो उसका ठीक विधि से उपदेश नहीं हो सकता। यदि क्रिया का उपदेश देना है तो क्रिया का तुमको यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। जिसे तत्त्व का ज्ञान है, वही तत्त्व की वास्तविकता का उपदेश दे सकता है। यदि कोई ब्रह्मनिष्ठ हो ही नहीं सकता उपदेश करने वाला, तो यह श्रुति उपपन्न ही नहीं होगी। जब तत्त्वनिष्ठ गुरु मिलेगा नहीं तब गुरु के उपदेश के बिना ज्ञान भी होगा नहीं। याज्ञवल्क्य, उद्दालक आरुणि, प्रजापति ब्रह्मा, यमराज, आदि सबने उपदेश दिया, हम लोगों तक परम्परा से ज्ञान आया है। श्रुति ने ही याज्ञवल्क्य आदि को ब्रह्मनिष्ठ और आचार्य के रूप में वर्णित किया है।

आचार्य का मतलब होता है जो शास्त्र को पूरा समझे, तदनुसार रहे और पूरा ही समझाये। याज्ञवल्क्य ने साक्षात् भगवान् आदित्य से वेद और वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया था। सूर्य ने उन्हें निर्देश दिया 'धर्म का उपदेश और ब्रह्म का उपदेश भी करो। धर्माचरण करोगे तभी धर्म का उपदेश करोगे। इसलिये पहले कर्ममार्ग का प्रवर्तन करो। तब फिर संन्यास लेकर ब्रह्मनिष्ठा में रहना।' याज्ञवल्क्य ने गुरु-आज्ञा का पालन किया। सारे कर्म जीवन में करने के पश्चात् पत्नी से कहा 'अब मैं प्रव्रज्या को जा रहा हूँ, संन्यास ले रहा हूँ।' अतः सब धन सम्पत्ति दोनों पत्नियों में वितरित करने का प्रस्ताव किया। मैत्रेयी द्वारा जिज्ञासा व्यक्त करने पर उसे तत्त्व का उपदेश दिया। क्या वे द्वैतदृष्टि होने पर अज्ञानी थे? द्वैत की दृष्टि उनकी थी ही। यदि द्वैत नहीं दीखे तो शिष्य भी नहीं दीखेगा। जब जगत्-प्रतीति नहीं है तो शिष्य-प्रतीति भी नहीं है। यदि शिष्य दीखा, उपदेश दिया तो जगत् दीखा ही। इसलिये, विद्या और अविद्या में विरोध है, अविद्या के संस्कार से विद्या का विरोध नहीं है।

बिजली का पंखा चल रहा हो, बिजली बंद कर दें तो भी कुछ देर चलता है। यदि धीमा ही था तो बिजली बन्दकर यदि पंखुडियों के बीच दण्डा फँसा दें तो तुरन्त ही रुक जाता है। इसी प्रकार शास्त्रों में प्रारब्ध की निवृत्ति के जो उपाय बताये हैं, उनसे मन्द प्रारब्ध तो काटा जा सकता है, पर ज्ञान से नहीं कटता। ज्ञान से अज्ञान तो हट ही जाता है। अज्ञान के कार्य को देखकर जो अज्ञान का अनुमान करना चाहते हैं, वह सिद्ध नहीं होता। ज्ञान

से अविद्याकार्य भी विरुद्ध होता तो विद्या-सम्प्रदाय का उच्छेद हो जाता, आगे परंपरा चलती ही नहीं। अतः जो मानते हैं कि ज्ञान से जगत् की प्रतीति ही हट जाती है, वे सर्वथा ज्ञान के विरोधी हैं।। १८४।।

उपदेशादि परोक्ष ज्ञानदशा में सम्भव मानकर परम्परा चलना संगत क्यों न मानें?, केवल निर्विकल्प समाधि में ही अपरोक्ष ज्ञान क्यों न मानें? इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं—

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः।
सैवापरोक्षविद्येति चेत् सुषुप्तिस्तथा न किम्।। १८५।।

निर्विकल्प समाधि में तो द्वैत न दीखने से उसी दशा में होता ज्ञान अपरोक्ष है—ऐसा यदि कहो तो हम पूछते हैं कि सुषुप्तिदशा में अपरोक्ष ज्ञान क्यों नहीं मानते?

याज्ञवल्क्य जब उपदेश करते थे तब उनको ज्ञान था, पर परोक्ष ज्ञान था क्योंकि तब तक द्वैत की प्रतीति हो रही थी। बाद में जब संन्यास लिया तब अपरोक्ष ज्ञान हुआ, फिर द्वैत नहीं रहा। निर्विकल्प समाधि में द्वैत का दर्शन नहीं होता, वहीं अपरोक्ष ज्ञान है। उपदेश के लिये परोक्ष ज्ञान पर्याप्त है। इस मत के निरासार्थ कहा कि सुषुप्ति में भी तो किसी तरह का ज्ञान नहीं है, तब वहाँ सभी को अपरोक्ष ज्ञान हो जाये! अथवा जो ज्ञानी है, उसको कुछ देर के लिये द्वैत-अदर्शन चाहिये, तो सुषुप्ति में होता ही है। अतः परोक्षज्ञानी को सुषुप्ति में वही स्थिति मिल जाती है जो निर्विकल्प समाधि वाला पाता है। तब उसे अपरोक्ष से वंचित कैसे मानें। तात्पर्य है कि द्वैत की अप्रतीति सर्वसुलभ है, मोक्षार्थ पर्याप्त नहीं है।। १८५।।

परोक्ष ज्ञानी को समाधि में अपरोक्ष होता है यह संगत बनाने का प्रयास वादी करता हैः योगी की निर्विकल्प समाधि तो है, पर उनका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, इसलिये उसका मोक्ष नहीं होता। जो ज्ञानी है, अज्ञान उसका नष्ट हो चुका, उसकी जब निर्विकल्प समाधि होती है तब द्वैत का दर्शन नहीं होने से उसे अपरोक्ष ज्ञान होता है जिससे मुक्ति हो जायेगी। यह संभावना उठाकर इसका भी निरास करते हैं—

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः।। १८६।।

यदि कहो कि सुषुप्ति में आत्मतत्त्व को नहीं जानता (इसलिये मुक्ति नहीं होती), तो तुम्हें आत्मज्ञान को ही विद्या (अर्थात् अपरोक्ष) कहना चाहिये न कि द्वैत भूलने को।

अज्ञानी को सुषुप्ति में द्वैत का अदर्शन होने पर भी अपरोक्ष आत्मविद्या वाला नहीं कह सकते क्योंकि वह आत्मा का सत्य स्वरूप जानता ही नहीं। यह कहना कि नींद में निर्विकल्प समाधि जैसा अदर्शन है, यह तो ठीक है, द्वैत-अदर्शन एक जैसा है। लेकिन सोते को आत्मा का अज्ञान है, समाहित को आत्मा का ज्ञान है, इसलिये दोनों में अन्तर है—यदि ऐसा कहा

जाये तो सिद्धान्ती का जवाब है कि तब तो आत्मज्ञान ही विद्या है, यही मानना पड़ रहा है! सुषुप्ति में आत्मज्ञान नहीं है, इसलिये अपरोक्ष ज्ञान नहीं है, यही तुम्हारा कहना हो गया। लेकिन यदि यह कहते हो कि ज्ञानी को जब सुषुप्ति हुई तब उसका ज्ञान चला गया, तो यह ठीक नहीं। जैसे निर्विकल्प समाधि में जाकर, द्वैत का अदर्शन करने से, तुम कहते हो परोक्ष ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है वैसे सुषुप्ति में भी होता है यह क्यों नहीं मानते? अतः द्वैत की विस्मृति अपरोक्ष विद्या नहीं है वरन् आत्मज्ञान ही विद्या है, यही तुम्हारा भी तात्पर्य है।। १८६।।

पुनः प्रश्न उठाकर उत्तर प्रारंभ करते हैं—

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः।। १८७।।

यदि कहो कि (द्वैत का अदर्शन और ज्ञान) दोनों मिलकर विद्या है; तो घड़े आदि आधे विद्यावान् होंगे क्योंकि उनके लिये सारा ही द्वैत विस्मृत है!

परोक्ष आत्मज्ञान होवे और द्वैत की प्रतीति न होवे, ज्ञान रहते हुए द्वैत की प्रतीति न होवे तब उसे अपरोक्ष ज्ञान कहेंगे—यदि वादी ऐसा कहे तो जवाब हैः आधा ज्ञान तो घड़े को भी है! जब दोनों मिलकर के पूर्ण ज्ञान है, तो जैसे तुम परोक्ष ब्रह्मज्ञानी को आचार्य बनने लायक मान लेते हो, वैसे आधा ज्ञानी तो घड़े को भी मान लो क्योंकि उसे भी सारे द्वैत की विस्मृति है!।। १८७।।

वादी ने माना कि परोक्ष ज्ञान आधी विद्या है, बाकी आधी निर्विकल्प समाधि लगायेगा तब हो जायेगी। इस मान्यता का निरास मज़ाक से करते हैं—

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः।
तव विद्या तथा न स्याद् घटादीनां यथा दृढा।। १८८।।

मच्छर की ध्वनि आदि विक्षेप बहुतेरे हैं इसलिये तुम्हारी विद्या वैसी दृढ नहीं हो पायेगी जैसी घड़े आदि की! समाधि लगाने में बहुतेरे विध्नों का सामना करते रहना पड़ेगा।

घटादि को तो दृढ द्वैत की विस्मृति है। परोक्ष ज्ञानी जो निर्विकल्प समाधि के लिए बैठा है वह आधा ज्ञानी भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि मच्छर की ध्वनि, मक्खी आदि असंख्य विघ्नों से बच नहीं सकेगा। ऐसे बहुत विक्षेप हैं, इसलिये परोक्ष ज्ञानी आधा ज्ञानी भी नहीं हो सकेगा। तुम जिसको विद्या के लिये आवश्यक कह रहे हो वह निर्विकल्प समाधि वैसी दृढ नहीं होगी जैसे घटादि की। घड़ा फोड़ो भी तो उसे पता नहीं लगता, ऐसी द्वैतविस्मृति निर्विकल्प समाधि वाला नहीं पायेगा।

सिद्धान्ती का तात्पर्य है कि अज्ञान को हटाने वाला तो अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिरूप ज्ञान

ही है। आगे, द्वैत का दर्शन हो, न हो, कोई मतलब नहीं है। कुछ साधक तो दुःखनिवृत्ति मात्र के लिये प्रवृत्त होते हैं, दुःखनिवृत्ति ही उनका उद्देश्य है। कुछ लोग इस संसार का वास्तविक तत्त्व क्या है—इस जिज्ञासा से प्रवृत्त होते हैं। सब प्रकार के बाह्य सुखों की उपलब्धि होने पर भी, किसी भी दुःख का अनुभव न करने पर भी, इस संसार के वास्तविक तत्त्व को जानने के लिये प्रवृत्त होते हैं। जो दुःखनिवृत्ति के लिये प्रवृत्त होते हैं, 'संसार की प्रतीति होगी तो दुःख होगा ही' यह उनका आग्रह होता है। वे ज्ञान का फल दुःख का अर्थात् उसकी प्रतीति का अभाव मानते हैं। दुःख तब तक प्रतीत होता है, जब तक बुद्धि है। तभी सुख-दुःख की सम्भावना रहती है। अतः किसी तरह से बुद्धि काम न करे तो उन साधकों का काम बने। दुःख की प्रतीति नहीं हो—यह इष्ट हो तो बुद्धि न होने पर जड-जैसी स्थिति हो जायेगी! बुद्धि रहेगी तब दुःख-सुख दोनों की प्रतीति होगी। बुद्धि के अभाव में जैसे घट को दुःख-सुख नहीं है, वैसे ही चेतन को भी गहरी नींद में दुःख का अनुभव नहीं है। दुःखनिवृत्ति ही ज्ञानफल है, ऐसा जो मानते हैं, उन्हीं ने कहा था कि द्वैत का अदर्शन होता है इस हेतु से निर्विकल्प समाधि की अवस्था के अन्दर ही अपरोक्ष विद्या कही जाये। जो सत्यज्ञान के लिये प्रवृत्त हुए हैं, वास्तविक तत्त्व ब्रह्म को जानकर उनकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है, इसलिये द्वैत की प्रतीति हो या न हो, इससे उनको तात्पर्य नहीं रहता। उनको वास्तविक तत्त्व का ज्ञान हो जाये यही अभीष्ट है।

वादी ने कहा था 'हमारा मतलब है, आत्मज्ञान भी होवे, और द्वैत का अदर्शन भी होवे'। इसके उत्तर में कहा—यदि तुम दोनों को ज्ञान कह रहे हो तो द्वैत का अदर्शन जैसा घट को है वैसा कभी बुद्धि को होना नहीं है। पतंजलि यह कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि जब तक है, तब तक आत्मस्वरूप में स्थिति है। परन्तु फिर व्युत्थान होता है। शास्त्र भी कहता है, प्रारब्ध-भोग जब तक है तब तक जगत्-प्रतीति निवृत्त नहीं हो सकती। घट का तो कभी उत्थान नहीं होगा, क्योंकि बुद्धि है ही नहीं। जब तक बुद्धि है तब तक कभी न कभी व्युत्थान का अनुभव होगा ही इसलिये सकल द्वैत की विस्मृति—यह ज्ञान का प्रकार नहीं है। यही अभिप्राय है।। १८८।।

घट से मुक्त में ज्ञान का ही भेद वादी बता सकता है यह मानकर कहते हैं—

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव।
दुष्टचित्तं निरुन्ध्याच्चेद् निरुन्द्धि त्वं यथासुखम्।। १८९।।

यदि कहो कि आत्मज्ञान ही विद्या है (जो घड़े में सर्वथा न होने से आधी विद्या का प्रसंग नहीं), तो सुखी रहो! यदि सदोष चित्त का निरोध कर्त्तव्य समझो तो तुम्हें जैसा पसन्द हो वैसा उसका निरोध करो।

आत्मबुद्धि ही विद्या है यही वादी को कहना होगा। बुद्धि रहेगी तभी आत्मबुद्धि भी रहेगी किंतु तब सुख-दुःख की प्रतीति की भी सम्भावना रहती है। जब तक शरीर जिंदा है

तब तक बुद्धि रहेगी। 'आत्मज्ञान ही विद्या है' यदि वादी ऐसा मान जाता है तब उसने सिद्धांत ही स्वीकार लिया अतः आशीर्वाद दिया—'आनन्द से रह' अर्थात् फिर तुम्हारे कथन से हमारा विरोध नहीं है, तुम ठीक मार्ग पर आ गये, अब परमसुख की प्राप्ति कर लो।

वादी अपना भाव बताता है कि चित्त दोष वाला है और दुःख का अनुभव कराता है। इसकी रुकावट तो करनी चाहिये। इस पर सिद्धांती ने कहा कि करो। चित्त दुःख से ग्रस्त क्यों होता है? पाप के संस्कारों से जो चित्त भरा होता है उसमें तदनुरूप फल दुःख का अनुभव भी होता रहता है। इसके निरोध के लिये शास्त्रों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है, उसके द्वारा पाप-संस्कारों को दबाकर पुण्य संस्कार बढ़ा लेगा तो दुःख का अनुभव नहीं होगा। दूसरा कारण दुःख में होता है चित्त में विक्षेप। अनेकाग्रता भी दुःख का एक कारण है। अनेकाग्रता से ज्ञान में निष्ठा नहीं बन पायेगी। ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होकर वह सदैव उपस्थित भी रहना चाहिये। तत्त्व की अविस्मृति ही ज्ञान की निष्ठा है। इसके लिये एकाग्रता चाहिये। यदि पाप कर्मों के कारण दुःखों के अनुभव हैं तब पुण्यसंचय सहायक होगा। यदि अनेकाग्रता के कारण दुःख है, तो समाधि से दूर होगा। यह हमें भी इष्ट है। अतः कहा कि जितना चाहो, चित्त का निरोध करो। एकाग्रता से निष्ठा दृढ होगी।। १८९।।

चित्त की एकाग्रता सिद्धान्ती क्यों उपयोगी मानता है यह बताते हैं—

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात्।
इच्छन्नप्यज्ञवद् नेच्छेत् किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ।।१९०।।

वह (एकाग्रता हमें भी) अभिलषित है क्योंकि जिसे स्पष्ट करना चाहते हैं वह जगत्की मायिकता (एकाग्र-स्थिति में) भलीभाँति प्रतीत होगी। इस प्रकार, 'किमिच्छन्!' इस वचन का अर्थ है कि तत्त्वज्ञ भले ही चाहता है परन्तु अज्ञानी की तरह चाहने वाला नहीं है।

चित्त को एकाग्र करने के लिये पूरा प्रयास करना तो ज्ञाननिष्ठा के लिये अपेक्षित है, इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है। ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है। पर ज्ञान की विस्मृति नहीं होनी चाहिये, अतः एकाग्रता ज़रूरी है। जब चित्तदोष हट जाते हैं, तब आत्मस्वरूप में स्थित रहने के लिये ज़रूरी जो जगत् की मायामयता का समीक्षण है, वह पक्का होता है। इस तरह एकाग्रता ज्ञान के लिये नहीं, लेकिन जगत्-प्रतीति-काल में 'यह मायामय है', ऐसा निरन्तर भान होने के लिये ज़रूरी है। उपनिषदों में चित्त की एकाग्रता को श्रवण के लिये साधन भी गिना है। निदिध्यासन के रूप में उस विज्ञान में ही स्थिर रहने की विधि भी मानी है। निदिध्यासन में सर्वथा प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? क्योंकि साधक समझता है 'हो गया ज्ञान, निदिध्यासन क्यों करना!' सांख्यवादियों ने कई तरह के संतोष गिनाये हैं, जो नहीं करने चाहिये। जैसे, 'हम ने संन्यास कर लिया, अब कुछ नहीं करना है'। वैसे ही यह भी है कि 'हमें ज्ञान हो गया, काल से अपने-आप पक जायेगा, निदिध्यासन क्यों करें!' या 'जितना श्रवण-मनन करना था कर लिया, अब कुछ नहीं करना है।' ऐसे सन्तोष ग़लत हैं क्योंकि निष्ठा में उपयोगी नहीं।

शास्त्र तो कहता है कि जब तक जिओ तब तक श्रवणादि करो। पाँच सात सौ सालों से समाज में यह धारणा बनी है कि शास्त्र-विचार और चिन्तन करना, इन्हें मानते हैं कि असली साधन नहीं हैं। जप, ध्यान, तीर्थयात्रा आदि में ही उन्हें लगता है कि कुछ धर्म कर रहे हैं। ऐसे लोगों के लिये निदिध्यासन की अपूर्व विधि है कि निदिध्यासन करो ही। जिनको मालूम है कि ज्ञान की दृढता के लिये चित्त की एकाग्रता भी एक साधन है उनको नियम विधि से निदिध्यासन प्राप्त है। जो परिपाक के लिये उपायान्तर की सोचते हैं उनके लिये परिसंख्यान विधि है कि इसके सिवाय और कुछ नहीं करना है। ज्ञान के पूर्व भी और बाद में भी समाधान कर्त्तव्य ही कहा है। श्रवण के लिये जो समाधान किया जाता है वह श्रवण में एकाग्र होकर तत्त्व को समझने के लिये, आत्मतत्त्व सूक्ष्मतम है, उसको समझने के लिये अधिक एकाग्रता की अपेक्षा है। शास्त्र अथवा गुरु द्वारा समझने के लिये एकाग्र रहना चाहिये। तदनन्तर निदिध्यासन के द्वारा जो चीज़ समझ ली है उसमें स्थित होना है, अतः निरंतर स्मरण का प्रवाह चाहिये। इसलिये कहा कि यह चित्त का निरोध इष्ट है।

अद्वितीय आत्मज्ञान की निष्ठा के उद्देश्य से जगत् की मायामयता का भली प्रकार से ईक्षण करने के लिये एकाग्रता इष्ट है। जितना जगत् की मायामयता का ईक्षण किया जाता है, उतना चित्त निरुद्ध होता ही है। यह ठीक है कि झूठी चीज़ के प्रति भी आकर्षण होता है परन्तु वह थोड़े समय तक रहता है एवं हल्का आकर्षण होता है। सच्ची चीज़ के प्रति अत्यधिक आकर्षण लम्बे समय तक रहता है। इसी प्रकार जब जगत् को माया समझ लेते हैं, उसके मिथ्यात्व का पता लग जाता है, तब आकर्षण कम होने लगता है। जितना मायामयता का समीक्षण बढ़ेगा उतना ही तुम्हारा चित्त निरुद्ध होगा क्योंकि मिथ्या चीज़ की तरफ तीव्र प्रवृत्ति नहीं होती। चित्तवृत्ति की एकाग्रता जगत्के मायामयत्व के ईक्षण से बढ़ती चली जाती है। अधिकतर सांसारिक चिंतन जगत् को सत्य व स्थायी मानकर ही होता है। जितना-जितना इसका मिथ्यात्व-ज्ञान दृढ होता है, उतना चित्त स्वतः अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। प्रारब्ध-भोग काल में थोड़ी देर को जगत् प्रतीत होता है, फिर उसके मिथ्यात्व को स्मरण करके उसका चिन्तन कर लेते हैं। श्रुति में इसी बात को 'किमिच्छन्' इस शब्द से कहा। प्रारब्ध-भोग काल में स्वेच्छा, परेच्छा, अनिच्छा—इन के भेद होने पर भी जगत् को सत्य मानकर उसका भोग नहीं करता, इच्छा नहीं करता। 'किमिच्छन्' के द्वारा कहा कि सत्य मानकर वह इच्छा नहीं करता।। १६०।।

'किमिच्छन्' आदि से सर्वथा ही इच्छा का अभाव क्यों न मानें? यह समझाते हैं—

'रागो लिङ्गमबोधस्य', 'सन्तु रागादयो बुधे'।
इति शास्त्रद्वयं सार्थम् एवं सत्यविरोधतः।। १६१।।

'राग अज्ञान का चिह्न है' और 'ज्ञानी में रागादि भले ही रहें' ये दो तरह के शास्त्रवचन तभी अर्थवान् और परस्पर अविरोधी होंगे जब यों (इच्छा का द्वैविध्य स्वीकार) हो।

भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है,

'रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याऽग्निः कोटरे गतः।।' (नै. सि. ४.६७)

जब बुद्धि कोई व्यवहार करती है तब यदि राग है तो वह अज्ञान में लिंग है। दूसरे के चित्त का राग तो हमें दीख नहीं सकता, पर जो तत्त्वनिष्ठा चाहे वह राग रहते साधनाभ्यास में ढील न करे। स्थितप्रज्ञ के लिये कोई विधि नहीं है। उसमें कोई लक्षण ऐसा आवश्यक नहीं है जो दूसरा जान सके। स्थितप्रज्ञ को इस विषय में जानने की ज़रूरत नहीं है कि स्थितप्रज्ञता कैसी होती है। फिर भगवान् ने गीता द्वितीयाध्याय में उसका लक्षण क्यों कहा? भाष्यकार ने समझाया कि स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण कहे हैं उन्हें साधक प्रयत्नपूर्वक करे यही शास्त्र-तात्पर्य है। गाना सीखने के लिये जैसे उस्ताद का गाना ही ध्यान से सुनकर खुद वैसे गाना पड़ता है इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ के लक्षण जो ज्ञानी में प्रकट होंगे उन्हें समझकर स्वयं में साधक को लाना पड़ता है, तभी वह भी स्थितप्रज्ञ बन पायेगा। भगवान् ने प्रारंभ ही किया 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्' से अतः जब तक एक तिनके के प्रति भी राग है, तब तक निश्चित जानो कि ज्ञान नहीं हुआ। यह अपने ही अन्तःकरण की स्थिति जानने के लिये है। जब तक ज्ञान नहीं हुआ तभी तक राग होता है। जैसे सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में राग-अज्ञान का निश्चित संबंध कहा वैसे ही बृहदारण्यकवार्तिक में लिखा है,

'शास्त्रार्थस्य समाप्तेश्च मुक्तिःस्यात् तावता मितेः।
रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यति।।' (बृ. वा. १.४.१५३६)

शास्त्र का तात्पर्य है जीव-ब्रह्म की एकता का, जगद्मिथ्यात्व का बोध हो जाये। यह जो प्रमिति है, यही मोक्ष देने वाली है। उसके बाद जितने भी राग होवें उनसे उसे कोई अंतर नहीं पड़ता। यों, उन्हींने कहा कि राग अज्ञान का चिह्न है, और उन्हींने कहा कि ज्ञान के बाद राग हानि नहीं करता! इस लिये उनका मतलब यही हो सकता है कि मायामयता स्पष्टतः देखने से प्रारब्धभोग की प्रवृत्ति के लिये इच्छा-मात्र उसमें देखी जाती है, अज्ञानी जैसे 'मैं इच्छुक, संसार है जो इच्छा-विषय बने' समझता है वैसे ज्ञानी नहीं वरन् उसका सत्य के बारे में ज्ञान इच्छाकाल में भी अखण्ड रहता है। ज्ञानी प्रारब्धभोग के लिये इच्छा करते हुए भी अज्ञानी की तरह उसको सत्य समझकर भोग नहीं करता। ऐसा समझें तभी आचार्य के दोनों वचन सार्थक होते हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं रहते हैं ॥१९१॥

श्लोक १३६ से प्रारम्भ कर 'किमिच्छन्' इस भाग को समझाया। अब 'कस्य कामाय' समझाते हैं—

जगन्मिथ्यात्ववत् स्वात्माऽसङ्गत्वस्य समीक्षणात्।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया।। १९२।।

जगत् के मिथ्यात्व की तरह स्वात्मा की असंगता का सम्यक् दर्शन करने से 'किसकी कामना के लिये' यह वचन यह बताने की इच्छा से है कि कोई भोक्ता है ही नहीं।

'किमिच्छन्' से बताया कि अध्यात्म-अधिभूत जगत् को स्पष्टतः मिथ्या जानते रहने से ज्ञानी में बन्धनकारी इच्छा संभव नहीं। जैसे जगन्मिथ्यात्वज्ञान की दृढता ज़रूरी है ऐसे ही अपनी असंगता का ज्ञान भी दृढ होना चाहिये। केवल जगत् ही मायामय नहीं है, मुझमें जो संग की प्रतीति है, वह भी मिथ्या ही है। जैसे सचमुच में कोई भोग्य पदार्थ नहीं है वैसे कोई भोक्ता भी नहीं है। जैसे स्वप्न में रसगुल्ला नहीं है, वैसे ही उसका स्वाद लेने वाली जीभ भी नहीं है। यह बताने के लिये श्रुति ने कहा 'किसकी कामना के लिये'। कौन भोक्ता है जिसके लिये इच्छा की जाये! न कोई ऐसी चीज़ है जिसकी इच्छा करे तथा न कोई ऐसा है जो इच्छा करे। सच्चा भोग्य भी नहीं है, सच्चा भोक्ता भी नहीं है।। १९२।।

कोई कह सकता है कि आत्मा तो भोक्ता होता ही नहीं है, श्रुति किसके भोक्तृभाव को मना कर रही है? इसलिये समझाते हैं—

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति।
किन्त्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु।। १९३।।

वेद में यह अनेक तरह से घोषणा की गयी है कि पति, पत्नी आदि सब उन-उनके भोगों के लिए कोई नहीं चाहता किंतु अपने भोग के लिये चाहता है (अतः अपनेमें भोक्तृत्व है यह पता चलता है)।

पहले यह सिद्ध करना ज़रूरी है कि भोक्ता तुम ही हो। अतः श्रुति ने कहा—संसार में चीज़ें किसके लिये प्रिय होती हैं? लगता है, 'पत्नी-बच्चों के लिये हम कमाते हैं, परिश्रम करते हैं'। तो वे सब भोक्ता हुए, मैं भोग्य हूँ। किंतु श्रुति ने कहा कि तुम पत्नी-बच्चों के लिये नहीं, अपने लिये परिश्रम करते हो! किसी न किसी तरह से तुम्हारी ही भोक्तृता सिद्ध होती है। पत्नी आदि भी तुम्हारे भोग्य हैं। यदि वे भोग्य न रह जायें, पत्नी से ठीक भोजन नहीं मिले, तो उसे डाँटोगे कि नहीं? अतः वस्तुतः वह स्वयं हमारे लिये भोग्य है। श्रुति ने कहा कि असली भोक्ता तो एकमात्र तुम हो। जैसे पति के लिये पत्नी वैसे पत्नी के लिये पति भी भोग्य ही है। किसी अन्य को ही शेषी जानकर तुम्हारी इच्छा होती हो, ऐसा नहीं है। अपने भोग के लिये ही तुम दूसरों को भोगादि सब देते हो। श्रुति ने इस बात को अनेकों सन्दर्भों में बताया। देवता भी इसीलिये प्रिय हैं कि हमें सुख देते हैं। तात्पर्य यह है कि बाकी सब भोक्ताओं से चित्त हटकर अपने अंदर एकाग्र हो सके। श्रुति ने यह नहीं कहा कि सब चीज़ों की अपने लिये इच्छा करो! केवल बताया है कि ऐसा होता है। यथास्थिति बतलाई। भोग में दो चीज़ें हैं—भोक्ता और भोग्य। पहले भोग्य-मिथ्यात्व बताया। अब समझाना प्रारंभ कर रहे हैं कि भोक्ता भी आध्यासिक है। वर्त्तमान स्थिति बतायी कि, मेरे सिवाय कोई

भोक्ता नहीं। जब आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से पता लगता है कि मैं भी भोक्ता नहीं, तो 'भोक्ता है' यह कल्पना ही समाप्त हो जाती है! समझ आ जाता है कि वह भोक्ता है कौन जिसकी कामना के लिये मैं क्लेश सहूँ! ऐसे ही भोग्य है कहाँ जिसके लिये मैं इच्छा करूँ! इस समझ से सारे क्लेश छूट जाते हैं ॥१९३॥

अनुभूति और अध्यारोप के बोधक शास्त्र से आत्मा भोक्ता है यह सम्भावना कहकर इसके अपवाद के लिये भोक्ता की परीक्षा करते हैं—

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किं वोभयात्मकः।
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद् भोक्तृतां व्रजेत्।। १९४।।

भोक्ता क्या कूटस्थ है, या चिदाभास या दोनों मिले हुए? इनमें से असंग होने के कारण कूटस्थ भोक्तृभाव प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रश्न है, क्या कूटस्थ भोक्ता है? अथवा चिदाभास? या दोनों मिलकर भोक्ता हैं? इनमें कूटस्थ तो असंग है। अतः वह भोक्ता बन ही नहीं सकता ॥१९४॥

कपिल महर्षि ऐसा ही मानते हैं कि पुरुष असंग भी है, भोक्ता भी है। फिर कूटस्थ क्यों भोक्ता नहीं हो सकता? इसके उत्तर के लिये बताते हैं कि भोग किसे कहते हैं—

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम्।। १९५।।

सुखाभिमानरूप या दुःखाभिमानरूप परिवर्तन 'भोग' कहा जाता है। आत्मा कूटस्थ भी रहे और परिवर्तनों वाला भी हो—यह बात परस्पर विरुद्ध कैसे नहीं है?

(मोडक ' सुखिदुःख्यभिमानाख्यः' पाठ ठीक मानते हैं।)

मैं सुखी, मैं दुःखी—ऐसे जो अभिमान होते हैं, वे दोनों 'भोग' हैं। इन दोनों विकारों को भोग कहते हैं। भोग का मतलब सुख या दुःख का अभिमान है अतः यह एक विकार है। जब सुखी हूँ तब दुःखी नहीं, दुःखी हूँ तो सुखी नहीं। दुःख-सुख विरुद्ध धर्म मुझमें प्रतीत होते हैं, इसीलिये दोनों से मैं अलग हूँ। भोग इन विकारों को कहते हैं और कूटस्थ का मलतब है, अविकारी। कूटस्थ हो और विकारी भी हो, ये विरुद्ध बातें हैं। या वह कूटस्थ नहीं, या विकारी नहीं। कूटस्थ विकारी नहीं हो सकता। अतः कूटस्थ भोक्ता है यह बनता नहीं ॥१९५॥

चिदाभास विकारी है ही, क्या वही भोक्ता है? इसका उत्तर देते हैं—

विकारिबुद्ध्यधीनत्वाद् आभासे विकृतावपि।
निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला न हि तिष्ठति।। १९६।।

विकारों वाली बुद्धि के अधीन होने से आभास में विकृति होने पर भी अधिष्ठानरहित अकेला भ्रम रहता नहीं!

आभास विकारी बुद्धि के अधीन है। बुद्धि सुखाकार है तो आभास भी सुखाकार होगा। यदि बुद्धि दुःखाकार बनती है तो आभास भी दुःखाकार हो जाता है। यों आभास विकार वाला हो सकता है, अतः वही भोक्ता क्यों न होवे? इसपर कहा कि आभास एक भ्रम है, और भ्रम अधिष्ठान के बिना नहीं होता। यह बौद्धों में और हम लोगों में आधारभूत अंतर है। वे भ्रम के लिये अधिष्ठान की ज़रूरत नहीं मानते। हमारा कहना है कि कुछ होता है, उसमें भ्रम होता है। रस्सी है तभी साँप का भ्रम है। अतः कूटस्थ के बिना चिदाभास रहेगा नहीं। कूटस्थ छोड़कर केवल चिदाभास रह जाये, यह नहीं हो सकता। जब कभी हमें भ्रम होता है तब भ्रम के रूप में प्रतीत होने वाला अधिष्ठान ज़रूर होता है। इसी प्रकार चिदाभास के रूप में प्रतीत होने वाला कूटस्थ भी ज़रूर है। इसलिये न केवल चिदाभास न केवल कूटस्थ भोक्ता हो सकता है ॥१९६॥

तीसरा विकल्प कि 'दोनों मिलकर भोक्ता हैं' ही बचता है। तदनुसार कहते हैं—

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ।। १९७।।

इसलिये संसार में भोक्ता उसे कहते हैं जो कूटस्थ और आभास दोनों स्वरूपों वाला है। ऐसे भोक्तृरूप आत्मा से प्रारम्भकर श्रुति ने (उपाधि का निषेध कर) कूटस्थ (ही परमार्थ) बचता है यह बताया है।

अकेले न कूटस्थ का, न चिदाभास का भोक्तापना बनता है इसलिये दोनों को लेकर ही है। अधिष्ठान के साथ चिदाभास भोक्ता है। अधिष्ठान-ज्ञान-काल में चिदाभास का ज्ञान नहीं, चिदाभास-ज्ञान-काल में अधिष्ठान का ज्ञान नहीं फिर 'दोनों को मिला कर' यह कैसे कहते हो? उत्तर है कि अलग-अलग तो विचार करने पर हैं, विवेक होने पर ये विभिन्न हैं। पुरोवर्ती रस्सी 'यह साँप है' दीखती है। यहाँ 'यहपना' रस्सी का ही दीख रहा है। आँख से साँप नहीं, आँख से तो 'यह' दीखा। रस्सी तुमको नहीं दीखी इसलिये सर्प का संस्कार उद्बुद्ध हो गया। संस्कार में इतना वेग था कि रस्सी के अज्ञान को छोड़कर, साँप की शकल का बना दिया! इसलिये 'यह' दीख रहा है सच्चा, और साँप दीख रहा है झूठा। तब यह पता नहीं है कि 'यह' अलग है, और 'साँप' अलग है, इसीलिये भ्रान्ति है। विवेकी को पता है कि कूटस्थ, अधिष्ठान का 'है-पना, मैं-पना' और चिदाभास का 'सुखी-दुःखी-पना' ये दोनों अलग हैं। 'मैं हूँ' इतना ज्ञान सच्चा है, और 'सुखी हूँ' यह चिदाभास का ज्ञान झूठा है। विवेकी इस बात को जानता है, अविवेकी इस बात को जानता नहीं।

लोक में सुखी-दुःखी का विचार इस प्रकार विवेक करके नहीं होगा। विषयदर्शन व्यवहारदशा में होता है, परमार्थ दशा में नहीं होता। इसलिये कहा 'लोके' व्यवहारदशा में,

अविवेकदशा में 'दोनों' को मिलाकर भोक्ता कहा जाता है। विवेकदशा में दोनों की उभयात्मकता बनती नहीं है। वस्तुतः 'मैं सुखी हूँ'—इसमें 'सुखी' अलग है, 'मैं हूँ' अलग है। अविवेकदशा में दोनों एक लगते हैं, इसलिये भोक्ता का विचार वहीं से प्रारम्भ करना पड़ेगा। जब दृश्य जगत् का विवेक करते हैं तब पहले सारे दृश्यों को पंचमहाभूतों के रूप में देखना पड़ा। बुद्धि, प्राण आदि जो सूक्ष्म वस्तुएँ हैं ये सब अपंचीकृत महाभूतों के कार्य हैं। लेकिन पहाड़, समुद्र आदि पंचीकृत महाभूतों के कार्य हैं। हैं दोनों पंचभूत ही। इस प्रकार जितने दृश्य हैं, सबको पंचमहाभूतों में बदला, फिर पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, आदि क्रम से लीन करते हुए आकाश माया में लीन हुआ। अंत में अविद्यारूप माया का अधिष्ठान ब्रह्म में बाध हुआ। इस प्रकार संसार से प्रारंभ किया और एक ब्रह्म बचा। इसी तरह पहले कहा कि भोक्ता तो खाली तुम हो। जिन अन्यों को तुम भोक्ता कह रहे हो वे सब तुम्हारे भोग्य हैं। उस एक भोक्ता की परीक्षा की—वह कूटस्थ है या चिदाभास है? अन्त में विकारी भाग उपाधि समझते हुए एक कूटस्थ बचता है। बुद्धि की उपाधि से भोक्ता है—यहाँ से प्रारंभ किया, अन्त में एकमात्र चैतन्य अवशिष्ट रहा जो कूटस्थ है ॥१९७॥

इसी बात को बृहदारण्यक द्वारा समर्थित करते हैं—

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन्।
विज्ञानमयमारभ्याऽसङ्गं तं पर्यशेषयत्।। १९८।।

'(उपाधियों व आत्मा के समुदाय में से) आत्मा कौन-सा है?' यों (जनक द्वारा) पूछा जाने पर याज्ञवल्क्य ने समझाते हुए विज्ञानमय से प्रारम्भ कर सिद्ध किया कि विवेक से उपाधियाँ हटाने पर बचा असंग तत्त्व आत्मा है।

जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि इन सब चीज़ों में आत्मा कौन है? लोक में भोक्तारूप में ही आत्मा प्रसिद्ध है। हम जिसको भोग करने वाला समझते हैं, उसे चेतन मानते हैं, जो भोग नहीं करता उसे जड समझते हैं। आदमी जब तक भोग करता है, तब तक चेतन माना जाता है। भोग नहीं करता तो जड मानते हो। अतः कहा कि विज्ञानमय ही आत्मा प्रसिद्ध है। सबसे पहले उसी को बतलाया। फिर अन्त में कहा कि जो-जो संग वाले बुद्धि आदि हैं उनकी निवृत्ति करने पर जो अवशिष्ट रह जाता है वह आत्मा है। जो संग वाला दीखता है उसे हटाते जाओ, अंत में वह अपने आप बच जायेगा। जो हटा रहा था, उसे हटाने वाला कोई रहा ही नहीं। यही इसके प्रतिपादन का तरीका है ॥१९८॥

बृहदारण्यक के ढंग से असंग आत्मा का विवेक समझा चुके, अब वेदान्तों में यह सामान्य ही रीति है इसे सूचित करने के लिये ऐतरेय का प्रसंग दिखाते हैं—

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः।
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ।। १९९।।

'यह आत्मा कौन है?' इत्यादि (ऐ.४.३.१) सभी उपनिषत्-स्थलों में उपाधि-उपधेय दोनों के रूप वाले से प्रारंभ कर आत्मविषयक विचार से वेद में उपाधि हटने पर बचे हुए के रूप में कूटस्थ आत्मा है यह बताया है।

ऐतरेय ऋग्वेद की उपनिषत् है। वहाँ प्रश्न उठाया कि हम अनेकों की 'उपासना' करते हैं, इनमें से आत्मा कौन है? जिससे ज्ञानादि होते हैं, या जिसे होते हैं? फिर विचारपूर्वक, प्रज्ञानरूप तत्त्व ही आत्मा है यह निर्णय किया है। सभी जगह उपनिषदों में यह नियम है कि कूटस्थ-चिदाभास के मिले-जुले रूप को आत्मा मानकर परीक्षा प्रारंभ करते हैं फिर विचार से आभास की अनात्मरूपता समझाकर सिद्ध करते हैं कि बचा कूटस्थ ही आत्मा है। असंग का किसी से सम्बंध संभव नहीं, बिना सम्बंध के भोक्ता संभव नहीं अतः भोक्ता मिथ्या ही है, आत्मा अभोक्ता है यह वेदान्त-सिद्धान्त है॥१९९॥

मिथ्या भोक्ता को सत्य क्यों समझा जाता है यह बताते हैं—

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्याऽऽत्माऽविवेकतः।
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥२००॥

कूटस्थ की सत्यता को अविवेक से खुद पर आरोपित कर लोकप्रसिद्ध आत्मा (आभास) भोक्तारूपता को सच्चा मानकर उसे कभी छोड़ना नहीं चाहता।

कूटस्थ हमेशा सत्य है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—ये तीन अवस्थायें याद रहती हैं। जाग्रत् की मैं जो बुद्धि-वृत्ति वह स्वप्न-सुषुप्ति में नहीं है। स्वप्न में जो मैं-वृत्ति है, वह जाग्रत्-सुषुप्ति में नहीं है। जाग्रत्-स्वप्न दोनों की मैं-वृत्ति सुषुप्ति में नहीं है। इसलिये अहंकार का वृत्तिरूप जो मैं, उससे भिन्न अपने को हम समझ सकते हैं। यदि न जानते तो 'मैं ही स्वप्न देख रहा था, मैं ही नींद में सो रहा था, मैं ही अब जग रहा हूँ।' यों तीनों अवस्थाओं में एक-जैसा रहने वाले मैं को हम कैसे जानते हैं? तीनों अवस्थाओं के बदलने से वह नहीं बदलता, मैं वही रहता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि कौमार, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं के बदलने से आत्मा में बदलाव नहीं आता। एक फुट वाला जन्म के दिन था। साढ़े पाँच फीट वाला आज है। एक फुट वाला मना नहीं रहा, साढ़े पाँच फीट वाले का तो जन्म-दिन है नहीं! तुम वही कैसे हो? जो इस परिवर्तन वाला नहीं है वही कूटस्थ है। वह वैसा ही है। भगवान् कहते हैं कि जब तुम को दूसरा शरीर मिलता है, तब भी तुम वही रहते हो। कूटस्थ को 'हूँ' मानकर ही सारे व्यवहार करते हो। इसकी सत्यता नहीं बदलने वाली है। शरीर मन बदल गये, वह एक-जैसा रहा, अतएव कूटस्थ है। उसकी सत्यता को तुम चिदाभास पर, 'मैं' पर अध्यस्त कर लेते हो और कहते हो 'मैं ही वह था, मैं ही वह हूँ, मैं ही वह होऊँगा', बात तो ठीक है पर वह कूटस्थ है जो नित्य है जबकि तुम समझ रहे हो 'मैं' को नित्य।

यह अध्यास होता है 'अविवेकतः'। अध्यास वहीं होता है जहाँ विभिन्न चीज़ों को अलग-अलग नहीं जानते। अविवेक के चलते ही समझते हैं 'मैं भोक्ता हूँ'। मैं सुखी हूँ तो दुःखी नहीं, दुःखी हूँ तो सुखी नहीं। सच्चा होता तो एक-जैसा रहता किंतु यह विचार बिना किये विरुद्ध बातें मानते हैं कि सत्य भी हूँ और बदलता हुआ भी। कूटस्थ का सच्चापना है, उसको चिदाभास में समझते हैं। ऐसा भ्रम होने से कभी भी अपने भोक्ता-पने से अलग नहीं होना चाहते वरन् मुझे भोग प्राप्त होते रहें यही चाहते हैं। कारण कि अपने भोक्ता-पने को सच्चा समझते हैं। सुख का भोग होगा तो कभी दुःख का भी होगा! या तो दुःख के भोग का भी आनन्द लो। यह नहीं चाहते, पर फिर भी भोक्तापने को छोड़ना नहीं चाहते। यदि केवल सुख ही हो, तो भी रास नहीं आयेगा! उसके लिये दुःख भी चाहिये। भोजन के अच्छे स्वाद का कारण, अच्छी भूख है। जब तक इच्छारूप दुःख नहीं हो तब तक सुख भोगा नहीं जा सकता। यदि दुःख नहीं चाहते तो यह क्षणिक सुख भी छोड़ना पड़ेगा। पर विवेक न होने से अपने भोक्तापने को छोड़ना ही नहीं चाहते। क्यों मनुष्य संसार के पदार्थों से वैराग्यवान् नहीं हो पाता? क्योंकि कूटस्थ और चिदाभास को अलग-अलग नहीं जानता। यदि विवेक से पता लग जाये कि 'कूटस्थस्वरूप मैं भोक्ता नहीं हूँ' तब तो त्याग संभव हो जाये। यदि भोक्ता मैं सचमुच हूँ तो फिर संसार के सुखभोग क्यों छूटेंगे! केवल दुःख से छूटना चाह सकते हैं। जब तक कर्त्ता-भोक्ता का अभिमान है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व को वास्तविक समझते हैं तथा भोग को जब तक वास्तविक समझते हैं, तब तक भोगों का त्याग नहीं होगा। जब तक अपना भोक्तृत्व मिथ्या नहीं लगेगा तब तक भोक्तापना कैसे छूटेगा! ॥२००॥

यदि आत्मा भोक्ता नहीं तो श्लोक १९३ में कही श्रुति के अनुसार उसे भोक्ता क्यों कहा? इसका उत्तर देते हैं—

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति।
एष लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः।। २०१।।

भोक्ता अपने ही भोग के लिये पति-पत्नी आदि को चाहता है—यह लौकिक स्थिति वेद द्वारा अनुवाद के रूप में सही-सही बतायी गयी है।

श्रुति में इसलिये याज्ञवल्क्य ने यह उपदेश दिया कि जितने विषय हैं वे अंततोगत्वा भोक्ता के लिये हैं।

कई बार हमें लगता है कि हम किसी अन्य भोक्ता के लिये कर रहे हैं जैसे पति को लगता है कि पत्नी के लिये कर रहा है। पर वेद कहता है कि वह भी तुम अपने लिये कर रहे हो। वह करके मुझे संतोष मिलता है, मैंने कर्त्तव्य कर लिया इत्यादि; इसलिये करता हूँ, ताकि कृतकृत्यता की प्रतीति होवे। भोक्ता अपने ही भोग के लिये करता है। श्रुति ने इस प्रकार आत्मा को जो भोक्ता प्रतिपादित किया यह व्यावहारिक बात है। नियम है कि

प्रत्यक्ष और अनुमान से जिसका पता नहीं लगता, उसको बतलाना वेद का काम है। प्रत्यक्ष और अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों के बारे में पता नहीं लग सकता। उन्हें वेदबतलाता है। सब लोग अपने लिये करते हैं—यह तो प्रत्यक्ष दीखता ही है! इसलिये यह लौकिक वृत्त है। श्रुति ने तो उसका अनुवाद किया, प्रतिपादन नहीं। इस अनुवाद से सूचित किया कि अपने लिये करना लोक में स्थायी नियम है। यहाँ तक कि निष्काम कर्म भी परमेश्वर-प्रसन्नता से आत्मकल्याणार्थ, चित्तशुद्धि के लिये ही किये जाते हैं। 'निष्काम कर्म' शब्द का प्रयोग गीता के आचार्य शंकर के भाष्य में मिलता है। परमेश्वर की कामना से जो किया जाता है वह निष्काम कर्म है। परमेश्वर के सिवाय किसी और की कामना नहीं है, इसी को 'कामना न होना' कहते हैं। भाष्यकार कहते हैं कि ईश्वर-अर्पण दृष्टि से कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है। कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर को न मानकर भी निष्काम कर्म किया जा सकता है। किन्तु सिद्धान्त यही है कि ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया कर्म ही निष्काम कहा जाता है। जैसे कर्म, वैसे ही परमेश्वर की भक्ति, उपासना भी अपने लिये है। 'निष्काम भक्ति' का तात्पर्य यह नहीं है कि परमेश्वर की कामना भी न होवे! चाहे निष्काम कर्म हो चित्त-शुद्धि के लिये, चाहे निष्काम भक्ति हो चित्त की एकाग्रता के लिये, ये सब भी हैं भोक्ता के लिये ही।। २०१।।

अनुवाद का वैराग्यरूप प्रयोजन व्यक्त करते हैं—

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वाद् मा भोगेष्वनुरज्यताम्।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति।। २०२।।

भोग्य क्योंकि भोक्ता के लिये हैं इसलिये भोगों में अनुराग न किया जाये, प्रधान जो भोक्ता उसी में वह अनुराग किया जाये।

श्रुति द्वारा अनुवाद करने का उद्देश्य क्या है? किस लिये किया? अभी तक हमको अनेक भोग्य प्रिय लगते हैं इसलिये उनमें प्रेम बाँटते रहते हैं। कभी कुछ तो कभी कुछ और चाहते हैं। पति, पुत्र, पत्नी—सबमें हमारा प्रेम बँटा रहता है। सारे भोग्यों से जो प्रेम है, वह भोक्ता के लिये है, सारे भोग भोक्ता के शेष हैं, भोक्ता के लिये हैं। अतः जिसके लिये ये सब प्रिय हैं, उसीसे प्रेम करो! भोग्यों में अनुराग मत करो यह श्रुति का तात्पर्य है। प्रेम का उचित विषय तो भोक्ता ही है, उसमें ही अनुराग रहे। भोगों से वैराग्य करके अपना प्रेम केवल आत्मा के ऊपर लाओ। यह समझाना अनुवाद का प्रयोजन है।। २०२।।

उक्त तात्पर्य को पुराणोक्ति से प्रमाणित करते हैं—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु।। २०३।।

अविवेकियों का जो विषयों से स्थायी प्रेम है, आपका अनुस्मरण करते हुए मेरा वह प्रेम हृदय से न जाये।

यह विष्णुपुराण में (१.२०.१९) प्रह्लाद का वचन है। जिन्होंने यह विवेक नहीं कर लिया है कि भोग्य, भोग्य के लिये प्रिय नहीं होता है, भोक्ता के लिये प्रिय होता है, वे अविवेकी हैं। भोक्ता ही एकमात्र प्रेम का विषय है। किसी चीज़ को जानने के लिये जैसे एक प्रकार की अर्थात् ज्ञान-नामक बुद्धिवृत्ति आवश्यक है, उसी तरह प्रेम-नामक दूसरी बुद्धि-वृत्ति की अपेक्षा है किसी के आनंद को जानने के लिये। रसगुल्ला पहले खाया है, उससे मज़ा आया है, इसलिये आनंदप्रद है। जो आनंदप्रद नहीं है, उसमें प्रीति हो जाये—यह नहीं होता। यदि अखाद्य में भी खाद्यबुद्धि हो जाये तो प्रेम हो जाता है। जब आत्मा में प्रेम केन्द्रित होगा तभी आत्मा में परम आनंद का अनुभव होगा। जब तक आत्मा के प्रति इष्ट-बुद्धि नहीं होगी, उसके प्रति प्रेम नहीं होगा तब तक आनंद का प्राकट्य नहीं होगा, चित्त एकाग्र नहीं होगा। आत्मा से यदि प्रेम नहीं है तो श्रवण मनन निदिध्यासन की साधना कर ही नहीं पाओगे। आत्मज्ञान जिसने थोड़ा समझा है, उसकी तो प्रीति उधर हो जाती है, विषयों से कुछ हटती है, लेकिन जो आत्मज्ञान से शून्य हैं, उनकी विषयों में ही प्रीति रहती है। भोक्ता के प्रति उनका प्रेम होता ही नहीं, विषयों में प्रीति कभी हटती ही नहीं है। प्रार्थना है कि जैसी विषयों मे अविवेकियों को प्रीति होती है, वैसी ही 'त्वामनुस्मरतः'—त्वम्-पदार्थ का जब हम अनुस्मरण करते रहें तब वहाँ स्थिर रहे। त्वम् पदार्थ का विवेक ही सारे कर्मों को छोड़ने के लिये आवश्यक हो जाता है। कर्म से विषय की प्राप्ति होती है। विषय भोक्ता के लिये चाहिये, इसलिये भोक्ता में ही प्रीति मुख्य है, विषय-प्राप्ति व्यर्थ है। यह समझ ले तब त्वम्-पदार्थ पर चित्त एकाग्र करता है। 'अनुस्मरण' जो स्मरण के बाद होवे। श्रुति से पता लगा कि त्वम्-पदार्थ क्या है। उसके बाद उसके शुद्ध रूप के बारे में अनुस्मरण होता है कि कूटस्थ ही मैं हूँ चिदाभास नहीं। जिसने श्रुति के द्वारा त्वम् पदार्थ के स्वरूप को समझा है, वही अपने कूटस्थभाव में स्थिर होना चाहता है कि हमारा प्रेम हमेशा आत्मा में रहे। अर्थ यह भी हो सकता है, 'हे माया के पति परमेश्वर! विषयों के प्रति जो प्रीति है, वह हृदय से चली जाये, विषयों के प्रति दृढ वैराग्य हो जाये।' विषयों से आत्मचिन्तन में विक्षेप होवे और परमात्मा में चित्त एकाग्र रहे। विषयों से हटाना है, और परमात्मा में लगाना है।। २०३।।

इस विचार से प्रसंगानुसार यह पता चलता है—

इति न्यायेन सर्वस्माद् भोग्यजाताद् विरक्तधीः।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते।। २०४।।

इस तरह से वैराग्ययुक्त बुद्धि वाला उस प्रेम को सारे भोग्यों से बटोरकर भोक्ता आत्मा में एकाग्र कर उस आत्मा को समझना चाहता है।

सारे भोग्य पदार्थों से जिसकी बुद्धि वैराग्य वाली हो गई है, संसार के किसी पदार्थ के प्रति जिसको आकर्षण नहीं है, ऐसा व्यक्ति अपना प्रेम भोक्ता पर केन्द्रित करता है। जो लोग कहते हैं कि ज्ञानी का हृदय शुष्क हो जाता है, उन्होंने वेदान्तों का विचार किया ही नहीं। उसका हृदय तो परमात्मा के प्रेम से भरा रहता है। जाया पुत्रादि इसके प्रेम के विषय नहीं रहते हैं। जो विषयों से वैराग्य करके, सारे प्रेम को उपसंहृत, एकाग्र कर देवे आत्मा में, वही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहेगा। प्रेम के बिना मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। पहले मनुष्य चीज़ को जानता है फिर इच्छा करता है तब प्रवृत्त होता है। इच्छा के बिना प्रयत्न नहीं करता। इसी प्रकार जब परमात्मा से प्रेम होता है तभी उसकी बुभुत्सा, जिज्ञासा होती है। तब उसके लिये चिन्तन आदि प्रयत्न करता है। बिना प्रेम के प्रवृत्ति नहीं करता।। २०४।।

अनात्मप्रेम के उदाहरण से आत्मप्रेम बताते हैं—

स्त्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः।
अप्रमत्तो यथा तद्वद् न प्रमाद्यति भोक्तरि।। २०५।।

माला, चंदन, स्त्री, वस्त्र, स्वर्ण आदि के बारे में जैसे पामर प्रमाद नहीं करता वैसे विवेकी भोक्ता के बारे में प्रमाद नहीं करता।

पामर अर्थात् शास्त्र के प्रति श्रद्धा से रहित प्राणी जो (मर) मरने वाली चीज़ों के ही (पा) पालन में लगा है। शरीर मरने वाला है, उसकी रक्षा करने में ही पामर लगा रहता है। मन भी मरणधर्मा है, उसको प्रसन्न करने के लिये शक्ति व समय लगाता है। माला, चन्दन आदि का शरीर के लिये उपयोग करता है। मन के भोग के लिये पत्नीसेवा करता है। वस्त्र अपने शरीर के लिये कम दूसरे देखें, प्रशंसा करें, इसके लिये ज़्यादा हैं। सब विषय मरणधर्मा हैं, इनकी प्राप्ति एवं रक्षा में पामर लगा रहता है, इसमें प्रमाद नहीं करता। इसी प्रकार जो आत्मदर्शन चाहता है, वह आत्मविचार में प्रमाद नहीं करता, निरन्तर लगा रहता है इस विषय में सदैव सावधान रहता है। वह अमरणधर्मा परमात्मा के लिये तत्पर होता है। धृतराष्ट्र ने सनत्कुमार से मृत्यु के बारे में पूछा, तो उन्होंने कहा कि परमात्मा के विषय में असावधानी ही मृत्यु है। अतः साधक परमात्मा के चिन्तन में प्रमाद नहीं करता है। कुछ लोग इस साधक और पामर के मध्य में हैं। उनका परमात्मा में और अन्य में भी प्रेम रहता है। वे पामर से विवेक की अवस्था में जा रहे हैं। अन्य सब जगह से प्रेम हटा लिया जाता है तब भोक्ता में प्रेम होता है तभी उस प्रिय का चिन्तन होता है। जैसे संसार के पदार्थों में लोग लगे ही रहते हैं इसी प्रकार प्रत्यगात्मा के चिन्तन के लिये श्रवण-मनन में लगा रहे, प्रमाद न करे यह विवेकी का कार्य है।। २०५।।

और भी दृष्टान्तों से यही स्पष्ट करते हैं—

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम्।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत्।। २०६।।

वाद में जीतने का अभिलाषी जैसे काव्य, नाटक, तर्क आदि का लगातार अभ्यास करता है वैसे मोक्षेच्छुक को चाहिये कि स्वात्मा का (लगातार) विचार करे।

जैसे धन कमाने वाला धन कमाने में लगा रहता है ऐसे ही सभा में जाकर जो सब पर जय करने की इच्छा करता है वह शास्त्राभ्यास करता है। काव्यशास्त्री सदैव काव्य-अध्ययन में लगा रहता है, नाटकों को रात-दिन सोचता रहता है। वैज्ञानिकों की भी यही दशा है। ऐसे लोग अभ्यास करते ही रहते हैं। जैसे विजिगीषु, वैसे ही मोक्ष की इच्छा वाला भी 'मैं कौन हूँ' इसका विचार करता ही रहे। प्रत्यगात्मा के स्वरूप के बारे शास्त्रों में जो कहा और मेरे अनुभव में जो है उनमें क्या अन्तर है—इस बारे में विचार करता रहे। संसारी लोगों को श्लोक २०५ में दृष्टांत बनाया, यहाँ उनकी अपेक्षा सूक्ष्म विचार वालों को दृष्टांत बनाया ॥२०६॥

जो उपासना में लगे हैं उन्हें दृष्टान्त बनाते हैं—

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा।
स्वर्गादिवाञ्छया तद्वच्छ्रद्दध्यात् स्वे मुमुक्षया।। २०७।।

जैसे स्वर्गादि की इच्छा से जप, याग, उपासना आदि श्रद्धा से करता है, वैसे श्रुतिसिद्ध स्वात्मा में श्रद्धा करनी चाहिये।

पहले दृष्टांत से कहा कि अप्रमादी होवे, बेध्याना न हो। दूसरे दृष्टान्त में कहा कि अभ्यास भी करे। तीसरे से कह रहे हैं कि सगुण उपासक की तरह आत्मतत्त्व में श्रद्धा करे। श्रद्धा से कोई जप में लगा रहता है, कोई यज्ञ में लगा रहता है। दृष्ट फलों के लिये श्रद्धा की ज़रूरत नहीं होती। जप का तो दृष्ट फल है नहीं अतः इसमें श्रद्धा ज़रूरी है। जैसे जप श्रद्धा से ही हो सकता है वैसे ही यागादि भी। कुछ कहते हैं 'यज्ञ में घी डालने से क्या होगा!' अर्थात् दृष्ट फल के लिए काम करो, अदृष्ट फल के लिए नहीं। जिसे यज्ञ में श्रद्धा होगी वही करेगा। इसी प्रकार से उपासना का भी दृष्ट फल नहीं है। ये सब श्रद्धा से किये जाते हैं। जप के द्वारा वाणी का कार्य, यज्ञ के द्वारा शरीर और द्रव्य का कार्य एवं उपासना के द्वारा मन का कार्य बतलाया। तप, व्रत, तीर्थयात्रा, गंगास्नानादि का कोई दृष्ट फल तो है नहीं, श्रद्धा से ही ये कर्म किये जाते हैं। श्रद्धा है कि इनसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी, वैकुण्ठ-गोलोक आदि की प्राप्ति होगी। श्रद्धा वाला भी हो पर इन फलों को न चाहे, तो ये कर्म नहीं करेगा। इसलिये कहा 'स्वर्गादिवाञ्छया'। विषय-सेवन, विद्याभ्यासादि काम तो धर्मनिरपेक्ष लोग भी कर सकते हैं। पर श्रद्धा से जप आदि जो धर्म को मानते हैं वे ही कर सकते हैं। इसी प्रकार मुमुक्षु आत्मश्रद्धा से शमादिपूर्वक श्रवणादि में तत्पर होता है। जिसको मोक्ष की इच्छा नहीं है, उसके लिये यह संभव नहीं। शास्त्रसिद्ध आत्मा में श्रद्धा करनी पड़ती

है। कैसा आत्मा है—यह श्रद्धा का विषय है। उसे तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। कूटस्थ आत्मा होता है—इस पर श्रद्धा करने वाला होगा तब तो इधर प्रवृत्ति होगी, आत्मतत्त्व में श्रद्धा के बिना साधना में प्रवृत्ति नहीं होती। अप्रमादी, अभ्यासी, और श्रद्धा वाला होकर मुमुक्षु तत्पर बने यह तात्पर्य है ॥२०७॥

और भी दृष्टान्त देते हैं—

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत्।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया।। २०८।।

अणिमादि प्राप्त करने की इच्छा से जैसे योगी अतियत्न से चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करता है वैसे मुमुक्षा से प्रेरित हो स्वात्मा का विवेक करना चाहिये।

जो योगाभ्यासी है, उसको महान् प्रयत्न करना पड़ता है। वशिष्ठ जी कहते हैं कि मन को वश में करना समुद्र पी जाने से भी ज़्यादा कठिन है। पतंजलि कहते हैं कि ध्यान के लिये सबसे पहले यम चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम पहला साधन योग का है। यमों के बगैर किया ध्यान फल नहीं दे सकता। योगी का ध्यान यम-नियमों के साथ होगा, इसलिये उसे महान् प्रयास करना पड़ता है। वह चित्त की एकाग्रता, निरोध को प्राप्त करता है। 'एकाग्रता' शब्द का इसलिये प्रयोग किया, कि चित्तवृत्ति सर्वथा न उत्पन्न होवे इस प्रकार की निर्विकल्पावस्था 'स्व' का विचार करने वाले के लिये अपेक्षित नहीं है। निर्विकल्पावस्था के पहले तक चित्त की एकाग्रता के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वैसा प्रयत्न यहाँ अपेक्षित है। यम-नियम जो योगाभ्यास के लिये बतलाये गये हैं, वे आत्मतत्त्व का विचार करने वाले के लिये भी उतने ही ज़रूरी हैं। चित्त की एकाग्रता यम-नियम से प्राप्त करना वेदान्ती के लिये भी इष्ट है। अणिमादि ऐश्वर्य के लिये योगी प्रयास करता है। जिसे अणिमादि ऐश्वर्य चाहिये ही नहीं, वह क्यों योगाभ्यास में प्रवृत्त होगा! फल की इच्छा होगी तभी प्रवृत्ति करेगा। अणिमा, सूक्ष्म हो जाना। महिमा अर्थात् बड़ा हो जाना। लघिमा—अत्यन्त हलका हो जाना। गरिमा है, अत्यन्त भारी हो जाना। प्राप्ति अर्थात् जहाँ चाहो वहाँ पहुँच जाना। प्राकाम्य—बिना थकावट के बड़ा काम कर लेना। ईशत्व—जिसकी कोई बात कोई नकार न सके। वशित्व—राजा भी उसके वश में रहना चाहें। ये आठ सिद्धियाँ हैं। योगाभ्यास से ये सिद्धियाँ आती हैं। ऐसे ही मोक्ष की इच्छा से आत्मा का विवेक भी महान् अभ्यास से करना चाहिये। मैं शरीर आदि से अलग हूँ—इसके विवेचन से शरीर से अहम्-बुद्धि सर्वथा हट जाती है। यह भी पर्याप्त नहीं है पर यह अनुभव होने से ठीक मार्ग है यह पता लगता है। शरीर-मन से मैं का भाव धीरे-धीरे कम होता जाता है। अन्त में स्थिति होती है जब अहंकारात्मिका वृत्ति भी मैं नहीं हूँ यह स्पष्ट हो। तीनों शरीरों से विवेक करके स्वयं को अलग जानने में अप्रमादी, अभ्यासी,

श्रद्धालु और परिश्रमी होना आवश्यक है। यों इन दृष्टांतों से चार साधन निरूपित किये। जो प्रत्यगात्मा का चिन्तन करने वाला है, उसे इन चारों गुणों से युक्त होना पड़ता है ॥२०८॥

अभ्यास का प्रभाव बताते हैं—

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात्।
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद् विशदायते।। २०६।।

काव्यादि के अभ्यासियों का जैसे अभ्यासबाहुल्य से कौशल बढ़ता है वैसे मुमुक्षु का विवेक भी अभ्यास से स्पष्टतर व दृढतर होता जाता है।

इनमें से कोई काम एक दिन में नहीं होता, जितना काव्यादि का विचार करता है उतना वह दृढ होता जाता है। ऐसे ही धीरे-धीरे जपादि की कुशलता बढ़ती जाती है। ब्रह्माभ्यास चतुरता से करना पड़ता है क्योंकि आत्मचिन्तन बिना समझे नहीं हो सकता। अतः अभ्यास में पटुता, चतुरता होनी चाहिये। उससे करने में कुशलता आती जाती है। जैसे अभ्यास से धीरे-धीरे कुश को उखाड़ने की कुशलता आती है इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा का विवेक करने में कुशलता की ज़रूरत है। जैसे सरकण्डे के मध्य के धागे को निकालने के लिये अत्यधिक सावधानी चाहिये, नहीं तो टूट जाता है, इसी प्रकार पंचकोषों में प्रत्यगात्मा विद्यमान है, उनमें से उसे निकालना है। यदि कौशल होगा तभी निकाल पाओगे। कुछ लोगों ने मन को, कुछ ने प्राण या बुद्धि को ही आत्मा मान लिया! वहीं अटक गये। अतः इसके लिये कुशलता चाहिये। पटु अभ्यास से ही यह कुशलता बढ़ती है। अकुशल तो किसी उपाधि को ही आत्मा समझ लेगा, या आत्मा को 'कुछ नहीं' समझ लेगा, बौद्धों की तरह। अभ्यास से ही उचित विवेक होता है। वेदान्त की यह कठिनाई है कि पहले तो देहादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान चाहिये। बाकी सब विकारी और वह अविकारी है। बाकी सब अनित्य हैं वह नित्य है। भेदज्ञान से ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप का पता लगता है लेकिन इससे अतिरिक्त अभेदज्ञान चाहिये जो मोक्षप्रद है। व्यक्ति प्रायः कहते हैं कि जब सब कुछ परमात्म-स्वरूप है, तो विवेकरूप भेदज्ञान ठीक क्यों? यदि इनसे अलग आत्मा है, तो वह सारे जगत् का कारण कैसे? वेदान्त में पहले भेदज्ञान करते हैं तब अभेदज्ञान मिलता है। अतः श्रुति ने तरीका बतलाया कि शिव ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है—ऐसा विचार करो। और मैं सारे जडों से, विकारों से भिन्न हूँ—यह विचार करके समझो कि मैं उपाधियों से रहित चिन्मात्र हूँ। जिसको मैं शिव समझ रहा था, वह चेतन ही तो है—यों अभेद अंत में पता चलता है। सामने, पीछे, दक्षिणतः, वामतः सर्वत्र मैं ही हूँ—यह छान्दोग्य उपनिषत् में बतलाया। ईश्वर से अभेद जानने के कारण स्पष्ट होता है कि जो विवेक करके मैंने अलग किया है वह सब कल्पित है उस आत्मतत्त्व में। इस बात को विवेक से स्पष्ट समझ लेना चाहिये अन्यथा अद्वैत नहीं हृदयंगत होगा। अनेक विचारक परिणामी कारण ही

मानते हैं, किन्तु तब द्वैत ही रहता है। विवर्त्तवाद समझने पर ही अद्वैत संगत हो पाता है। विवेक की जहाँ कमी रहती है, वहाँ मिथ्यात्व का ज्ञान नहीं हो सकता ॥२०९॥

विवेक की प्रबलता का फल बताते हैं–

विविञ्चता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते।। २१०।।

अन्वय-व्यतिरेक से भोक्ता के पारमार्थिक स्वरूप को भोग्यों से पृथक् कर समझने वाला निश्चय कर पाता है कि जाग्रदादि सब अवस्थाओं में साक्षी असंग है।

भोक्ता की वास्तविकता समझनी ज़रूरी है। अभी देह, इन्द्रिय, मन, प्राण के साथ भोक्ता लगता है, विवेक दृढ हो तब अंत में कूटस्थ आत्मा ही भोक्ता का अधिष्ठान, वास्तविक स्वरूप है इस निर्णय पर पहुँचता है। भोक्ता की परीक्षा से, विवेक से ही यह स्पष्टीकरण अपरोक्ष होगा। भोग्यतत्त्व का विवेक भोग के मिथ्यात्व का तो निश्चय करा देगा, प्रत्यग्रूप ब्रह्म का निश्चय नहीं करा सकता। विवेक अर्थात् आत्मा का सर्वत्र अन्वय एवं अनात्मा का सर्वत्र व्यतिरेक समझते रहना। भोक्तृतत्त्व का विवेक करने के लिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ वे स्थल हैं क्योंकि इनमें सारा कुछ आ जाता है। जाग्रत् अवस्था में जो कुछ है वह स्वप्न अवस्था में नहीं रहता। जाग्रत् अवस्था की कुछ आसक्ति छोड़कर स्वप्न अवस्था में जाता हूँ। जाग्रत् में पत्नी बीमार है, स्वप्न में बाग में मज़े में घूम रहा हूँ। किन्तु स्वप्न अवस्था में संस्कार हैं जो जाग्रत् से आये हैं। सुषुप्ति में वे संस्कार भी नहीं रह जाते। वहाँ अवस्थाद्वय का कुछ भी नहीं दीखता है। वहाँ केवल अज्ञान रह गया कि 'मैंने कुछ नहीं जाना।' यह सर्वथा 'न जानने' का अनुभव स्वप्न और जाग्रत् में नहीं है। अज्ञान भले ही जाग्रदादि में है लेकिन बहुत-से ज्ञानों के चलते 'कुछ नहीं जानता' यह स्थिति नहीं जो सुषुप्ति में होती है।

'मैं ही तीनों अवस्थाओं में' यह हमारा अन्वय है। मैं वह जो जान रहा हूँ, मैं वह जो सुषुप्ति में नहीं जान रहा था। मैं वही रहता हूँ। इस प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से जब हम भोक्तृतत्त्व का विवेक अन्वयव्यतिरेक के द्वारा करते हैं तब अन्तिम निश्चय साक्षी में असंगता का ही होता है। साक्षी का लक्षण है, जो देखता है पर घटना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में मैं साक्ष्यों को छोड़कर जाता हूँ अतः मैं साक्षी हूँ। तीनों अवस्थाओं के देखने वाला मैं साक्षी हूँ। जाग्रत्-भोक्ता शरीर-मन उपाधियों वाला, स्वप्न का भोक्ता मन की उपाधि वाला, सुषुप्ति का भोक्ता अविद्या की उपाधि वाला। पर इन तीनों में जो एक-जैसा रहा, वह साक्षी सब सम्बन्धों से रहित है यह निश्चय हो जाता है ॥२१०॥

अन्वय-व्यतिरेक का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं–

यत्र यद् दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता।। २११।।

द्रष्टा (साक्षी) द्वारा जो (दृश्य) जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में से किसी भी अवस्था में देखा जाता है वह (दृश्य) उसी अवस्था में रहता है, अवस्थान्तर में नहीं—यह अनुभव सर्वसम्मत है।

जिस अवस्था में जैसा जो संसार देखा जाता है वह उसीमें सीमित है। तीनों अवस्थाओं को देखने वाला तो किसी एक अवस्था से प्रतिबद्ध नहीं है। तीनों अवस्थाओं की उपाधियाँ वहीं रहती हैं—जाग्रत् की उपाधि का स्वप्न में प्रवेश नहीं है, स्वप्न की उपाधि का सुषुप्ति में प्रवेश नहीं है, सुषुप्ति की उपाधि का जाग्रत्-स्वप्न में प्रवेश नहीं है क्योंकि 'कुछ नहीं जानना' यह जाग्रत्-स्वप्न में नहीं रहता। जाग्रत् आदि में जानने की इच्छा है अतः नहीं जानने वाली जो अविद्या है उसका यहाँ अवस्थान नहीं, यहाँ तो जानना ही है। दृश्यों का व्यतिरेक और द्रष्टा का अन्वय यह अनुभव निश्चितरूप से स्वीकृत है। यहाँ तक शास्त्र पर निर्भरता नहीं इसलिये इन्होंने 'अनुभूति' कहा। यह अनुभव निश्चित रूप से स्वीकृत है। इस अनुभव को लेकर ही अन्वय-व्यतिरेक नामक इस तर्क का आत्मविवेक के लिये प्रयोग होता है। अनुभव यही कहता है कि जाग्रत् अवस्था का जितना भी दृश्य जगत् है, वह जाग्रत् में ही रह जाता है, स्वप्न में नहीं जाता। स्वप्न का दृश्य जगत् जाग्रत् में नहीं आता। जाग्रत्-स्वप्न दोनों का दृश्य जगत् सुषुप्ति में नहीं जाता। सुषुप्ति का जो आनंदभोग वह जाग्रत्-स्वप्न में नहीं आता। इन तीनों अवस्थाओं में द्रष्टा तो मैं ही हूँ यह अनुभव से सिद्ध है ॥२११॥

अनुभव स्वयं कोई *प्रमाण* नहीं होता। रस्सी और साँप के अनुभव समान हैं। वह अनुभव ठीक होता है जो प्रमाणसिद्ध हो। रस्सी का अनुभव प्रमाण-सिद्ध है, पर साँप का नहीं क्योंकि अविद्या-वृत्ति से हुआ, अँधेरे के कारण हुआ। अतः साक्षी का यह अनुभव यथार्थ है यह प्रमाण पर निर्भर है। अतः बताते हैं कि इसमें श्रुति प्रमाण है—

स यत्तत्रेक्षते किञ्चित् तेनानन्वागतो भवेत्।
दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः।। २१२।।

आत्मा तत्तत् अवस्था में जो देखता है उससे किसी स्थायी सम्बन्ध वाला नहीं होता, पुण्य-पाप के फलों को देखकर ही (अगली अवस्था में चला जाता है) इत्यादि घोषणा वेदों में सुलभ है।

यह बृहदारण्यक की (४.३.१५) श्रुति है। याज्ञवल्क्य एक बार जनक के यहाँ गये, यह विचारकर कि 'शास्त्र विचार नहीं करूँगा'। एक बार पहले कभी याज्ञवल्क्य ने प्रसन्न होकर राजा से कहा था, 'जो माँगना हो माँग लो'। उसने 'जो मर्ज़ी सो आप से पूछूँ' यह छूट माँगी जिसे महर्षि ने स्वीकारा था। उसी वर के बल पर राजा ने इस मौके पर ज्ञानरूप आत्मा के बारे में प्रश्न उठाया। उत्तर में आत्मा के स्वरूप का विचार करते हुए याज्ञवल्क्य बार-बार

कहते हैं 'स यत्तत्र किंचित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति, असंगो ह्ययं पुरुषः' द्रष्टा जो भी जाग्रत् में देखता है, उस दृश्य को बिना लिये हुऐ ही वह स्वप्न में जाता है। अतः जाग्रत् के दृश्य प्रपंच से वह असंग है। न होता तो जाग्रत्-दृश्य द्रष्टा से जुड़े रहते। यहाँ स्पष्ट है कि चीजों के अनुभव का बाह्य साधन जो मन वह तो जाग्रत् में भी था, स्वप्न में भी है। परन्तु जिसे देखा, वह नहीं रहा। देखने वाले की उपाधि रहती है पर जिस चीज़ को देखा उसके साथ कोई संग नहीं रहता। इसलिये इससे आत्मा की असंगता सिद्ध होती है। स्वप्न में बाह्य दृश्य कुछ नहीं है, संस्कारों से बने विषय ही अनुभव में आते हैं। परन्तु स्वप्न में भोग तो होता ही है। सुषुप्ति में जाता है तो भोग का साधन जो उपाधि है वह मन भी नहीं रह जाता। इस प्रकार भोग्य जगत् की उपाधि से असंग है, क्योंकि स्वप्न में जाता है, और भोक्ता की उपाधि से असंग है क्योंकि सुषुप्ति में जाता है। इस प्रकार श्रुति पुरुष की विषय और अध्यात्मोपाधि से असंगता का प्रतिपादन कर रही है। जिस प्रकार कमल के पत्ते पर गिरने वाला पानी उसे गीला नहीं करता इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के भोगों से उसपर कुछ भी असर नहीं होता है।

प्रश्न होता है कि श्रुति ने जो बात कही उससे जाग्रत् और स्वप्न की उपाधियाँ तो गईं पर सुषुप्ति के बारे में क्या करें? मधुसूदन आदि आचार्यों ने कहा है कि सुषुप्ति भी एक तरह की नहीं होती। सात्त्विक, राजस और तामस सुषुप्तियाँ भी हैं। सत्त्वगुण से सुख होता है इसलिए सत्त्वप्रधान अविद्या जब होती है तब सुषुप्ति आती है तो उठकर अनुभव होता है, 'मैं सुख से सोया'। जब रजःप्रधान होती है, तब उठने पर ताजगी नहीं आती क्योंकि रजोगुण दुःख का कारण है। कई बार केवल यह स्मरण होता है, 'मैंने कुछ नहीं जाना'। यह नहीं कि 'सुख था'। वह तमोगुणप्रधान सुषुप्ति है। इन तीनों अनुभवों का भी उससे संग नहीं है। जब सुषुप्ति से जाग्रत्-स्वप्न में आता है, तब उस अनुभव को लेकर नहीं आता। इस प्रकार सुषुप्ति के अनुभवों के विचार से उनका व्यतिरेक समझा जा सकता है। अतः श्रुति ने 'सम्प्रसाद' 'स्वप्न' और 'बुद्धान्त' तीनों में समान रूप से कहा 'रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति' (४.३.१५-१७)। सभी सुख पुण्य के और दुःख पाप के फल हैं। न पुण्य न पाप देखने में आते हैं। इसलिये श्रुति के 'पुण्यं' पद की पुण्य के फल सुख में लक्षणा करनी चाहिये। कारणशब्द का प्रयोग कार्य के लिये कई बार करते हैं। 'दृष्ट्वैव पुण्यं' का मतलब यह नहीं कि पुण्य दिखाई देता है! पुण्य-पाप के फल ही दिखाई देते हैं।

इस प्रकार वेद ने घोषणा की है कि 'असंगो ह्ययं पुरुषः' यह पुरुष सर्वथा असंग है। जैसे जाग्रदादि से असंग है वैसे ही जन्मान्तर के पदार्थों, सम्बन्धों से भी असंग है। सारे जगत् के पदार्थों को तो जब मरता है तब छोड़ ही जाता है। हम लोग मरकर अनेक प्रेमियों को छोड़कर आये, कभी कोई याद भी नहीं आता। अतः शास्त्रों ने कहा कि सदैव अपनी मृत्यु का स्मरण करते रहने से पदार्थों के प्रति आसक्ति घटती जाती है। बार-बार मृत्यु के

बारे में सोचने से आसक्ति कम होगी। पुनर्जन्म सामान्य लोगों की समझ में नहीं आता, वे कहते हैं 'मरने के बाद कौन जाने!' इसलिये जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति जो यहाँ रहते हुए ही होते हैं, उनमें विवेक से असंगता स्पष्ट की जाती है। इसको दृढ करने के लिये मृत्यु का विचार भी आवश्यक है इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार इसके बाद ही मृत्यु का प्रकरण भी आ गया है।। २१२।।

भोक्ता की वास्तविकता बताती कैवल्योपनिषत् (१.१७) का वचन भी उद्धृत करते हैं–

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत् प्रकाशते।
तद् ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।। २१३।।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदि प्रपंच को जो प्रकाशित करता है वह ब्रह्म मैं हूँ—यह अनुभव कर (जीव) सब बन्धनों से सर्वथा छूट जाता है।

हमारा सारा प्रपंच जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ है, ब्रह्म उसको प्रकाशित करता है, (प्रकाशते प्रकाशयति)। स्वरूप से वह सच्चिदानन्द है परन्तु जगत्-काल में चिदाभास के साक्षी-रूप में वही प्रकाश करने वाला है। सारे प्रपंच को साक्षात् प्रकाशित करने वाला चिदाभास है। चिदाभास के द्वारा और सब चीज़ों का प्रकाश होता है, चिदाभास वाली जो बुद्धि है, उसका प्रकाश साक्षी के द्वारा होता है। इसलिये आचार्य ने कहा है 'को देवो यो मनःसाक्षी' परब्रह्म कौन है? जो मन का साक्षी है। प्रमाता तो मन के साथ लोट-पोट होने वाला है, मन सुखी-दुःखी तो वह भी सुखी-दुःखी हो जाता है। परन्तु इसको जो प्रकाशित करता है वह खुद सुखी-दुःखी नहीं होता, केवल प्रकाशमात्र करता है। वह साक्षी ही ब्रह्म है। वही मेरा वास्तविक अहम्रूप है। सारा जो नाम-रूपात्मक जगत् है, यह इस अहम् में प्रतीत होता है। अज्ञानकाल में प्रतीति होती है कि अहम् को प्रतीत होता है, 'मुझे ये सब दीखते हैं', परन्तु विचार से पता लगता है कि मैं *को* नहीं दीखते हैं, मैं *में* दीखते हैं। मैं वह अधिष्ठान हूँ जिसमें यह सारा प्रपंच दीखता है। जिसको दीखता है वह चिदाभास है। साक्षी को साक्षात् तो बुद्धिवृत्ति ही दीखेगी। क्योंकि 'मैं' को अधिष्ठान जानना है इसलिये कहा 'तद् ब्रह्माहमिति'। साक्षिरूप ब्रह्म को अपना प्रत्यगात्मा जानकर जितने भी बन्धन हैं, सब निवृत्त हो जाते हैं। 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ' यह अभिमान सबसे बड़ा बन्धन है। उससे मुक्त होता है तो फिर बन्धन में आता नहीं। अतः उपनिषद् यही कहती है कि सारे प्रपंच को प्रकाशित करने वाला साक्षी इससे असंग है। जैसे स्वप्न से जगकर तुम स्वप्न की चीज़ों की इच्छा नहीं करते वैसे जाग्रत् से जब अपने स्वरूप में जगते हो तब जाग्रत्-बन्धन के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। कर्त्ता-भोक्तापना ही समाप्त हो चुकता है अतः मोक्ष नित्यसिद्ध अनावृत होता है। इसलिये 'छूट जायेगा' के बजाये 'छूटता है' यों वर्तमान का प्रयोग है ॥२१३॥

उक्त तात्पर्य में ब्रह्मबिन्दु उपनिषत् (३.१) का संवाद दिखाते हैं—

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते।। २१४।।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में आत्मा एक ही है—यह विचार करना चाहिये। अवस्थात्रय से स्वतन्त्र आत्मा का पुनः पुनः जन्म नहीं है।

आत्मा एक ही है। आत्मा शब्द के तीन अर्थ होते हैंः एक जो 'अत्ति' खाता है। दूसरा, जो व्याप्त करता है। तीसरा, जो उसका सन्तत भाव है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक जैसा रहता है। तीनों अर्थ घट जाते हैं इसलिये इसे आत्मा कहते हैं। इसके प्रतिबिम्ब चिदाभास के अन्दर 'अत्ति', भोक्तापना है इसलिये चिदाभास को भी आत्मा कह देते हैं। चिदाभास रहता कूटस्थ के साथ ही है, इसलिये भोक्तापना हट जाने पर कूटस्थ बच ही जाता है। 'मन्तव्य' अर्थात् गुरुमुख से सुने, फिर उस भाव में स्थिर हो जाये। वास्तविक मान्यता को मंतव्य कहते हैं। जब तुम्हारा यह दृढ अनुभव हो जाता है कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—तीनों उपाधियों से रहित ही मैं एक ही आत्मा हूँ तब इस निश्चय का नाम 'मंतव्य' हो गया। तीनों अवस्थाओं की उपाधि वाला आत्मा—यहाँ 'उपाधि' से व्यष्टि-समष्टि दोनों समझना। जो मुझ में है वही सारे संसार के अधिष्ठाता ईश्वर में है। उपहित चाहे व्यष्टि से हो या समष्टि से, अधिष्ठान परमेश्वर में कोई अन्तर नहीं है। व्यष्टि भी समष्टि से पृथक् न होने के कारण उपाधियों में, अवस्थाओं में भी वास्तविक भेद सम्भव नहीं।

इसलिये कहा 'एक एवात्मा', आत्मा एक ही है। इन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, व्यष्टि, समष्टि स्थानों से वह विविक्त है, सर्वथा अलग है, इनका अधिष्ठानमात्र है इस बात को जिसने जान लिया, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म एक जो इस शरीर के बाद दूसरा शरीर मिलता है। किन्तु वास्तव में शरीर में मैं-बुद्धि ही जन्म है। न तुम्हारा जन्म है, न शरीर का जन्म है। जन्म अर्थात् आत्मा और देह का सम्बन्ध। जब अपने को शरीरादि से सर्वथा अलग जान लिया, तब फिर कभी मंतव्यरूप से शरीर के साथ मैं-बुद्धि होती नहीं।।२१४।।

इसी बात को कहने वाले कैवल्य उपनिषद् के (१.१८) मंत्र को भी उपस्थित करते हैं—

त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।। २१५।।

तीनों अवस्थाओं में जो भोक्ता भोग्य और भोग हैं, उनसे विलक्षण मैं चिद्रूप साक्षी सदाशिव हूँ।

तीनों धामों में, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में मैं एक ही हूँ। जाग्रत् के भोग परमेश्वर द्वारा बनायी चीज़ें हैं। जाग्रत् का भोक्ता इंद्रियों के द्वारा भोग करने वाला है। भोग अर्थात्

भोक्ता-भोग्य इन दोनों का जो सम्बन्ध हो रहा है जिससे सुख-दुःख का साक्षात्कार होता है। स्वप्न में इंद्रियों से दीखने वाले पदार्थ नहीं हैं। मन ही वहाँ सर्वरूप है। अतः भोग्य सूक्ष्म हैं। इसलिये केवल बुद्धिवृत्ति वाला ही वहाँ भोक्ता है बुद्धिवृत्ति ही वहाँ भोग्याकार है, तदतिरिक्त कोई विषय नहीं, उसी के निमित्त वहाँ सुख-दुःख का भोग है। सुषुप्ति में आनंद का भोग है, वहाँ भी आनंदाकार अविद्या-वृत्ति है, उस उपाधि से भोक्तापना है। जाग्रत्-स्वप्न का भोग पुण्य-पाप का फल है, जो मन इत्यादि उपाधियों से सम्पन्न किया जाता है। सुषुप्ति में अविद्यावृत्ति वाले आनंद का भोग है। स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों से ही पुण्य-पाप कर्म होते हैं अतः इनके फलों का भोग भी इन उपाधियों से होता है। अविद्यारूप कारणोपाधिमात्र से पुण्य-पाप होते नहीं अतः सिर्फ़ अविद्यावृत्ति से होता भोग भी पुण्यादि का फल नहीं इसलिये वहाँ आनंद परमात्मा का ही है। वेद कहता है कि उस समय ब्रह्म से सम्पन्न होता है। वह सत्सम्पत्ति पुण्य-पाप का फल नहीं है। इस प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों धामों में जो कभी नहीं बदलता वह प्रकाशमात्र है। अवस्थाओं के स्थूलादि भोगों से, उनके विश्वादि भोक्ताओं से एवं सुखादि भोगों से सर्वथा विलक्षण अर्थात् अवस्थाओं से परिच्छिन्न न होने वाला चिद्रूप साक्षी है। वह जाग्रत्-स्वप्न के भोग्यों से भी विलक्षण है, और अविद्यावृत्ति से जिस आनंद को ग्रहण किया जाता है, उससे भी विलक्षण ही है। शरीर, इन्द्रिय, मन, अविद्या की उपाधि वाले से भी साक्षी अलग है। पुण्य-पाप से जो भोग होते हैं, उनसे विलक्षण है ही, अविद्या-वृत्तिमात्र से जो भोग होता है, उससे भी विलक्षण है। वह साक्षी है, तीनों को एक-जैसा देखता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति को छोड़ना चाहता नहीं परन्तु एक को छोड़ दूसरे में जाकर फिर उसकी कुछ याद, चिन्ता नहीं करता।

उस साक्षी का अपना रूप चिन्मात्र है, चेतनमात्र, ज्ञानस्वरूप, अनुभवस्वरूप है। तीनों अवस्थाओं में अनुभव एक-जैसा ही रहता है। जिस उपाधि का अनुभव करता है वह बदलती रहती है पर अनुभव में क्या बदलता है! ऐसा चिन्मात्र ही प्रत्यगात्मा का स्वरूप है। *उसका* अनुभव नहीं है, वह अनुभवरूप है। वही अनुभव मैं हूँ। *मेरा* अनुभव नहीं, मैं अनुभव हूँ। वही सदाशिव है, शिवस्वरूप ही है। मेरा वास्तविक रूप शिव है। अतः शास्त्रों में आता हैः कोई मनुष्य कहे 'मैं अमुक देवता हूँ' तो वह देवता उस मनुष्य को दण्ड देता है। यह बाकी सब देवताओं का नियम है लेकिन जब तुम कहते हो 'शिवोऽहम्' तो भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं! सच सुनकर प्रसन्न होना ही संगत भी है। इसलिये कहेंगे (९.१५५) कि अनुभव न होवे तो भी अपने ब्रह्मस्वरूप का चिंतन करो क्योंकि सचमुच में तुम शिवरूप हो। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि भ्रमर की आवाज़ सुनते-सुनते और भय से उसी का चिन्तन करते-करते कीट भी भ्रमर हो जाता है तो हम जो शिवरूप ही हैं, अगर 'शिवोऽहम्' चिंतन करते रहें तो शिवस्वरूप क्यों नहीं हो जायेंगे? अतः अनुभव न हो तो भी सच्ची बात ही कहे कि मैं सदा शिवस्वरूप हूँ **॥२१५॥**

श्लोक १६७ में प्रसंग आया था कि 'योऽयं विज्ञानमयः' आदि से भोक्ता का रूप श्रुति में कहा गया है। उसका तात्पर्य भी कूटस्थ का परिचय देना है। अतः व्यवहार के स्तर का भोक्ता कौन है इसका निर्णय देते हैं—

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते।। २१६।।

इस प्रकार तत्त्व का विवेक हो जाने पर विज्ञानमय-शब्द से कहा जो विकारी चिदाभास है वही भोक्ता-रूप से बचता है।

उपाधि-आत्मा मिले-जुले रहते भोग होता है अतः उभयात्मक रूप भोक्ता का कहा था (श्लो. १६७)। दोनों में से तात्पर्य-विषय होने से कूटस्थ को निर्विकार परमात्मा से अभिन्न समझा दिया। अतः बचा हुआ आभास ही भोक्ता हो सकता है, तीसरा तो कुछ संभावित नहीं। यद्यपि श्लोक १६६ में इस मत का निषेध किया था तथापि विरोध नहीं क्योंकि वहाँ केवल अर्थात् कूटस्थ से स्वतन्त्र आभास के भोक्तृत्व की मनाही थी जब कि यहाँ अध्यस्त आभास को भोक्ता कह रहे हैं। अगले श्लोक में बताने जा ही रहे हैं कि चिदाभास मायिक है। अतः पूर्व में सत्य चिदाभास भोक्ता होना असंगत है—यह कहा था जब कि यहाँ जिस आभास को भोक्ता कह रहे हैं वह मिथ्या है। भोग एक विकार है अतः विकार-योग्य आभास में ही संभव है, विकार के अयोग्य कूटस्थ में नहीं। 'शिष्यते' से सूचित किया कि जैसे श्लोक १६८ में आत्मा असंगरूप है यह पारिशेष्य न्याय से बताया था वैसे यहाँ आभास भोक्ता है यह स्थापित किया।। २१६।।

श्लोक १६२ में प्रतिज्ञा की थी कि 'कस्य कामाय' भोक्ता का अभाव बताने के लिये कहा गया है। यदि आभास को भोक्ता बताते हैं तो भोक्ता का अभाव नहीं मान सकते! इस समस्या का परिहार करते हैं—

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवाद् अपि।
इन्द्रजालं जगत् प्रोक्तं तदन्तःपात्ययं यतः।। २१७।।

वेदवचन एवं अनुभव के अनुसार यह चिदाभास मायिक है। जगत् को इंद्रजाल बताया गया है। क्योंकि आभास जगत् के अन्तःपाती है इसलिये (यह मायिक ही है)।

भोक्ता का अभाव इस दृष्टि से कहा था कि आत्मा भोक्ता नहीं है। भोक्तृत्व पारमार्थिक नहीं—यह तात्पर्य था। जैसे अध्यस्त सर्प का अभाव और मिथ्या सर्प की आविद्यिक उत्पत्ति—दोनों बातें समझायी जाती हैं वैसे यहाँ पहले अभाव और अब आभास की भोक्तृता बता रहे हैं। 'जीव-ईश्वर को आभास से माया बनाती है' यह नृसिंहतापनीय का कथन श्लोक ३ में समझा चुके हैं। जीव से भोक्ता समझा ही जाता है अतः उसे आभासरूप मानना श्रुत्यनुसारी है। अनुभव भी उसे आभास सिद्ध करता है क्योंकि भोक्ता नियमतः सोपाधिक

मिलता है। बिना उपाधि के यदि कोई भोक्ता अनुभव में आये तो भोक्तृत्व सत्य माना जाये। किंतु ऐसा कभी मिलता नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से तो स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों के बिना ही सुषुप्ति में भोक्ता नहीं रह जाता। यद्यपि तब भी आनन्द का भोक्ता श्लोक २१५ में संगत किया था तथापि लोकसिद्ध भोग सौषुप्त-अनुभव को कहना नहीं बनता। किं च वह भी कारणरूप उपाधि वाली ही अवस्था है अतः तब भोक्ता है औपाधिक ही। द्रष्टा-दृश्य-दर्शन इस त्रिपुटी में ही भोक्तृत्व रहने से उसे मायिक कहना उचित है। जहाँ त्रिपुटी नहीं वहाँ भोक्तृत्व भी नहीं। सापेक्ष कभी सत्य नहीं देखा गया अतः दृश्यादि-सापेक्ष होने से भोक्तृत्व सत्य नहीं यह अनुभवानुसारी बात है। सारा जगत् श्लोक १७१,१७४ में इन्द्रजाल बताया था। भोक्ता है जगत् के अन्तर्गत ही अतः मिथ्या ही है। जीव आत्मस्वरूप होने से आज भले ही है, उसकी जीवता (भोक्तृत्वा) तो औपाधिक होने से जन्मवान् जगत् के अंतःपाती हो यह उपपन्न है। सद्-असत् से विलक्षण होने की तरह नित्य-अनित्य से भी विलक्षण यदि मिथ्या को समझें तो क्या हर्ज है! निवृत्त होने से जीवभाव नित्य नहीं, बिना पूर्वार्जित अपूर्व के असंभव होने से उसका जन्म भी नहीं कहा जा सकता अतः अनित्य भी नहीं, इस तरह वह इन्द्रजाल ही निर्णीत होता है।। २१७।।

भोक्तृत्व की नश्वरता भी इसके मिथ्यात्व में प्रमाण बताते हैं—

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते।
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः।। २१८।।

सुषुप्ति आदि में आभास का विलय (नाश) भी साक्षी द्वारा अनुभव किया जाता है। अपने ऐसे स्वभाव का बार-बार विवेक करता है।

गहरी नींद, बेहोशी आदि अवस्थाओं में आभास, भोक्तृत्व नामालूम हो जाता है, कारण में समा जाता है, और उसके इस विलयको, कारणभावापत्ति को साक्षी ही प्रकाशित करता रहता है। नाशवान् वस्तु मिथ्या ही होती है अतः नश्वर होने से भी आभास (भोक्ता) मिथ्या निर्णीत होता है। कूटस्थ से पृथक् कर आभास को मिथ्या, मायिक जानकर अपने ऐसे असत्य स्वभाव का वह आभास ही पुनः पुनः विवेक करता है क्योंकि साधकावस्थ भी आभास ही है। जाग्रत् से विमोक्ष तक जीवकल्पित संसार है यह श्लोक ४ में कहा ही था ॥२१८॥

नश्वरता से समझे स्वभाव का पुनः पुनः विवेक क्या प्रयोजन सिद्ध करता है यह कहते हैं—

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति।। २१९।।

विवेक करके नाश को निश्चित जानकर फिर भोग नहीं चाहता। धरती पर लेटाया जा चुका कौन मरणासन्न विवाह करना चाहता है!

पूर्वदर्शित विवेक से वैराग्य उपलब्ध होता है। 'नाश' से यहाँ बाध समझना चाहिये। नाश-बाध में अभावरूपता का अन्तर नहीं, प्रतीति का अन्तर है। प्रतीति और प्रतीयमान दोनों का अभाव नाश में होता है जबकि प्रतीति रहते प्रतीयमान का अभाव बाध में होता है। प्रतीति रहना यहाँ आवश्यक नहीं, सोपाधिक भ्रम में रह सकती है यही अभिप्राय है। अपने भोक्तापने को जो यों बाधित कर चुका, उसके संस्कार से उसे दृढ कर चुका उसे अब भोग की कामना होना सम्भव नहीं। यदि साधारण नश्वरता भी स्मरण रहे तो विषयभोग न चाहकर स्थायी हित ही चाहेगा जैसे मरणासन्न भगवत्स्मरणादि में ही प्रवृत्त होता है, विवाहादि सांसारिक भोग में नहीं। नाशवान् जानने पर भी नाश में किंचित् विलम्ब की आशा से कथंचित् विषयाभिलाषा हो जाये तो भी बाधित जानने पर सम्भव नहीं जैसे प्रतिबिम्ब से प्रतिक्रिया की अभिलाषा नहीं होती। यद्यपि चित्र आदि देखने की इच्छा होती ही है तथापि उसमें वह तीव्रता नहीं होती जो सत्य वस्तु के प्रति होती है। न उस इच्छा की अपूर्ति से वैसा दुःख ही होता है जैसे सत्य-विषयक इच्छा की अपूर्ति से। इस प्रकार भोक्ता चिदाभास है यह जानना अत्यन्त हितकर है क्योंकि संसार से वैराग्य दिलाता है ॥२१९॥

वैराग्य से वह भोगव्यवहार छोड़ता ही जाता है, शनैः भूमिकारोहण की ओर बढ़ सकता है यह बताते हैं—

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहऽमिति पूर्ववत्।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते।। २२०।।

पहले की तरह 'मैं भोक्ता हूँ' यों व्यवहार करने में भी शर्माता है जैसे जिसकी नाक कट गयी है वह व्यवहार करने में लज्जा महसूस करता है। जो वह प्रारब्ध का उपभोग करता है वह भी उसे एक झंझट समझते हुए।

प्राचीन दण्डव्यवस्था में कुछ अपराधों के दण्ड के रूप में नाक काट दी जाती थी। वह व्यक्ति फिर समाज से स्वयं कटता-फिरता था क्योंकि उसे लज्जा आती थी। उसे देखते ही लोग जान लेते थे कि वह अपराधी है। ऐसे ही प्रारब्ध से भोक्ता को व्यवहार करना तो पड़ता है लेकिन उसमें उसे लज्जा आती रहती है। 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा वह जानना भी नहीं चाहता, बोलना भी नहीं चाहता, प्रकट भी नहीं करना चाहता। फलतः अत्यावश्यक ही लोकव्यवहार करता है जिसे भगवान् ने 'शारीरं केवलं कर्म' कहा है। बाकी समय और यत्न अपनी वास्तविकता में स्थित रहने में लगाता है। अतएव प्रारब्धक्षय से क्लेश अनुभव करता है जैसा श्लोक १४४-१४५ में बताया था। अज्ञावस्था में तो भोक्तृत्व का गर्व होता है, विवेकी का वह गर्व दूर हो जाता है। अतः प्रतीत होते भोक्तृत्व को भी वह विवेक से तिरस्कृत करता रहता है।। २२०।।

आभासरूप भोक्ता के विवेक से कूटस्थ को क्या लाभ होता है यह बताते हैं—

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा।
साक्षिण्यारोपयेद् एतद् इति कैव कथा वृथा।। २२१।।

जब खुद को ही भोक्ता मानने में इसे लज्जा आती है तब यह उसे साक्षीपर आरोपित करेगा—यह क्या बेकार की बात है।

जब विवेक दृढ ज्ञानमें परिणत होने लगता है तब चिदाभास को अपने भोक्तापने को, मानने में ही शर्म आती है। अब तक तो अध्यारोप करता था कि मैं सचमुच में भोक्ता हूँ। अब अपने सच्चे रूप साक्षी पर वह अध्यारोप नहीं करता; कूटस्थ भोक्ता है, जीव है—ऐसा भ्रम नहीं करता। आभास की समान सत्ता वाला भोक्तृत्व मिथ्या होने से 'है' कहने लायक नहीं तो कूटस्थ से न्यून सत्ता वाला होने से उसमें उसे 'है' कहना सर्वथा अयोग्य है। अतः जैसे अभी 'आत्मा भोक्ता है' कहते-समझते हैं वैसे विवेकी नहीं कहता-समझता। सत्य पर मिथ्या वस्तु का आरोप समझदार करे यह संगत नहीं। वह ऐसा कर सकता है यह बात कहना भी बेकार है। 'कैव कथा', अर्थात् ऐसा हो यह प्रश्न ही नहीं उठता। 'किम्' यहाँ आक्षेप में समझना, प्रश्न में नहीं ॥२२१॥

व्याख्येय श्रुति से इस सन्दर्भ को जोड़ते हैं—

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारम् आक्षिपत्यविशङ्कया।
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि।। २२२।।

इस अभिप्राय से बिना शंका के 'किसकी कामना से!'—यों भोक्ता का ही अपलाप करता है इसलिये शरीर के अनुसार क्लेश नहीं भोगता।

अपना भोक्तापना भी शर्म का विषय लगता है, साक्षी पर इसका आरोप करे—यह प्रश्न ही नहीं उठता, तो फिर किसकी कामना के लिये परेशान होवे? यह श्रुति ने कहा 'कस्य कामाय' से। पहले बताया कि अज्ञानी की इच्छा के विषय भोग्य पदार्थ होते हैं। पैसा किसलिये कमाना चाहते हो?—जब ऐसा प्रश्न होता है तो पहले मनुष्य भोग्यों को बतलाता है। यदि पूछो कि भोग किसके लिये चाहते हो? तो कहता है —भोक्ता के लिये। जब विवेक करने लगे कि भोक्ता कौन? तब चिदाभास और कूटस्थ का मिला-जुला रूप सामने आया। उनमें कूटस्थ विकारी नहीं है, इसलिये भोक्ता नहीं है। बचा चिदाभास, वही भोक्ता होगा। किंतु स्वयं चिदाभास का ही मिथ्यात्व सिद्ध होता है अतः चिदाभास को भी अपने भोक्तापने में कोई गर्व का अनुभव नहीं हो सकता। न चिदाभास के लिये कामना की जाये यह उचित और न साक्षी के लिये की जाये यह बनता है। भोग्य तो पहले ही मिथ्या होने से हट गये। अब भोक्ता भी हट गया। कोई है ही नहीं जिसकी कामना के लिये शरीर के पीछे आत्मा क्लेश पाये! इस विचार को रखकर भोक्ता पर ही श्रुति ने आक्षेप किया बिलकुल शंका से रहित होकर। इस प्रकार कोई भोक्ता नहीं है जिसके लिये कामना की जाये। जिस चिदाभास

के लिये कह सकते थे, वह स्वयं जानता है कि 'मैं अगले क्षण नष्ट हो जाऊँगा'। अतः श्रुति ठीक ही आक्षेप करती है कि किसके लिये कामना करो जब भोग्य नहीं और भोक्ता नहीं? पहले तो शरीर के अन्दर ज्वर, संताप, दुःख नहीं बनता। पहले भोग्य के लिये शरीर आदि को पीडित करते थे। अब विवेक से पता लगा कि भोग तो भोक्ता के लिये हैं। इसलिये भोक्ता को कष्ट देकर भोगों को प्राप्त करना, यह तो मूर्खता है। अतः फिर भोगों की चिन्ता छोड़ी। अब भोक्ता पर विचार किया, तो यह भी कोई नहीं निकला। बस चिदाभास ही कहने-भर का भोक्ता बचता है, और वह भी क्षणिक है। इसलिये न भोगों के लिये शरीर को संताप देंगे और खुद सन्ताप वाले बनेंगे, न भोक्ता के लिये स्वयं सन्तप्त होंगे। शरीर का संताप है ही नहीं तो आत्मा अनु-सन्तप्त नहीं ही होगा ॥२२२॥

शरीर क्या चीज़ है जिसको हम अब तक संतप्त करते रहे और जिसके द्वारा हम कष्ट भोगते रहे? यह बताते हैं—

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम्।
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः।। २२३।।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीन तरह के शरीर माने गये हैं। उन-उन शरीरों में उनमें होने लायक तीन तरह के 'ज्वर' (क्लेश) होते ज़रूर है।

शास्त्रों में तीन प्रकार के शरीरों को बतलाया है। साधारणतः केवल स्थूल शरीर को ही लोग जानते हैं। विवाह सम्बन्धों के निर्धारण में भी लोग प्रायः बाह्य शरीर को देखते हैं। लड़के-लड़की का परिवार, संस्कार, सूक्ष्म शरीर को नहीं देखते। बाह्य शरीर को चलाने वाला अन्दर जो है, वह सूक्ष्म शरीर है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर जिससे पैदा होते हैं वह कारण शरीर है। स्थूल-सूक्ष्म तो कार्य व करण और यह उनके कारणरूप से स्थित है। इन तीनों शरीरों में तीन प्रकार का ज्वर है, तीनों तपते हैं, पर अलग-अलग ढंग से। इनमें ज्वर होना अवश्य है, तुम्हारे वश में नहीं है, प्रारब्ध के अनुसार ज्वर, सन्ताप होना ही है ॥२३३॥

स्थूल शरीर के योग्य ज्वर बताते हैं—

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ।
दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा।। २२४।।

वात-पित्त-कफ से पैदा होने वाली बीमारियाँ करोड़ों की तादाद में स्थूल शरीर में होती हैं। इसी तरह बदबू, कुरूपता, टूटना आदि ताप भी स्थूल शरीर में होते हैं।

यह शरीर किससे बना है, यह आयुर्वेद शास्त्र का विषय है। वात-पित्त-कफ इस शरीर को बनाने वाले 'धातु' हैं। जब तीनों के ज्वर, कोप इकट्ठे होते हैं तब कहते हैं कि सन्निपात हो गया, मृत्यु के निकट पहुँच गये। कभी दो कुपित होते हैं, कभी एक कुपित होता है तब

तदनुकूल रोग हो जाता है। रोगोत्पत्ति में धातुकोप मुख्य कारण है। लोग पित्त शब्द से पित्त की थैली से निकलने वाला स्राव समझते हैं। पेट में होने वाली वायु को, वात जानते हैं। इसी प्रकार गले से खखारने पर निकलने वाले को कफ समझते हैं। इन्हें यहाँ नहीं कह रहे हैं वरन् जो शरीर के आधारभूत पदार्थ हैं उनका उल्लेख है। वातपित्तश्लेष्मा-से जन्य हैं स्थूल शरीर के रोग। सृष्टि चूँकि त्रिगुणात्मक है इसलिये इन तीनों का सम्बन्ध सत्त्वगुण, तमोगुण, रजोगुण के साथ है। जैसे बाकी सृष्टि वैसे ही शरीर भी त्रिगुणात्मक है इसलिये इन तीनों का सम्बन्ध सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के साथ है। जिसको लोक में हम वात, पित्त, आदि समझते हैं वे तो कार्यरूप हैं, कारणरूप को धातु कहते हैं। चूँकि शरीर तीनों धातुओं से उत्पन्न हुआ, इसलिये इसकी व्याधियाँ भी इन्हीं से होती हैं।

व्याधियों के कितने भेद हैं? कहा, करोड़ों भेद हैं! हर हालत में, शरीर में जितने भी विकार हैं वे सारे इन तीन के ही कारण हैं। सारे रोगों को गिनती करके कोई निश्चित कर सके ऐसा है ही नहीं। अतः 'कोटिशः' अर्थात् असंख्य। ये सारे स्थूल शरीर में होने वाले हैं। बढ़िया सुगंधित पदार्थ खाते हो, सुगंधित पदार्थों से स्नान करते हो, चार घण्टों के बाद शरीर पर किया यह परिश्रम व्यर्थ हो जाता है, इसमें दुर्गन्ध आने लगती है। रोगों को दबाने के लिये दवाइयाँ लेते हैं। ये सब साधन दुःख को दबाने के हैं कि वह पता न लगे। हमारे यहाँ आयुर्वेद वह व्यवस्था बताता है जिससे तुम्हारा जीवन सुखी हो सके, रोग स्थायीरूप से दूर हो, केवल थोड़े समय के लिये दबे नहीं। शरीर का स्वरूप ही है सुगन्ध को दुर्गन्ध बनाना। कुरूपता ही स्थूल देह का ज्वर है। स्वभाव से स्वस्थ मनुष्य सुन्दर होता है। स्वास्थ्य शरीर का गुण है। आयु एवं रोग के कारण कुरूपता आती जाती है। जल जाने से भी शरीर में विकार आता है। या शरीर भंग हो जाता है, टूट जाता है। आदि असंख्य शरीरसम्बद्ध क्लेश हैं। दाहादि को भी रोग समझ सकते हैं क्योंकि उनसे होने वाला कष्ट समान ही है ॥२२४॥

अब सूक्ष्म शरीर का ज्वर कहते हैं–

कामक्रोधादयःशान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः।
ज्वरा द्वयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात्।। २२५।।

काम क्रोध आदि एवं शम, दम आदि सूक्ष्म शरीर में होने वाले ज्वर हैं। दोनों क्रमशः मिलने-न मिलने से दुःख देते हैं।

'लिंग' शब्द का मतलब होता है जो छिपी चीज़ को प्रकट करे, उसका ज्ञान करावे, जैसे धुँआ आग होने का ज्ञान कराता है। इसी प्रकार मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ ये सब लिंग देह कहे जाते हैं क्योंकि इसकी ही विक्रिया से पता लगता है कि यहाँ चेतन है। चेतन दीखता नहीं पर इन्द्रिय-प्राणादि के प्रभावों से चेतन का पता लगता है। अतः सूक्ष्म शरीर को लिंग देह कहा, जिससे वहाँ चेतन का पता लगता है। लिंगदेह ही शरीर को चलाने वाला

है। उसमें होने वाले ज्वर हैं काम; कामना शरीर को जलाती है। यह ज्वर है। शास्त्रों में कहा है कि संसार की सारी सम्पत्ति, धन, पदार्थ, स्त्रियाँ मिल जायें तो भी कामना पूरी नहीं होगी! ऐसे ही क्रोध है। क्रोध में मनुष्य अपने पूज्य व्यक्ति का भी अनादर कर देता है। मद, मोह, लोभ, मात्सर्य ये सब ज्वर ऐसे ही हैं। लिंगशरीर में शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान आदि भी हैं। जैसे कामना मन में है, वैसे शम, शान्ति भी है। ये दोनों ही लिंगदेह में होते हैं। दोनों ही ज्वर हैं। शान्ति आदि को ज्वर क्यों कहा? क्योंकि ये भी दुःख देते हैं! जैसे—काम-क्रोध आदि होकर दुःखी करते हैं वैसे शम आदि नहीं मिलने के कारण दुःखी करते हैं। साधक मन को कामनाओं से हटा नहीं पाता तो दुःखी होता है। अपरिग्रह नहीं कर पाता तो दुःखी होता है। साधक शान्ति, दान्ति की अप्राप्ति के कारण दुःखी होता है। संसारी तो शान्ति, दान्ति की प्राप्ति से दुःखी होता है, उसे काम क्रोधादि की अप्राप्ति दुःख देती है। अतः दुःख तो दोनों से होता है। जैसा तुलसीदास ने कहा कि सत्पुरुष का साथ मिल जाये तो छूटने पर दुःख होता है। यदि असत्पुरुष का साथ मिल जाये तो दुःख होता है कि उससे कब छूटें। दुःख तो दोनों ही देते हैं, सत्पुरुष और असत्पुरुष भी, एक प्राप्ति से, दूसरा अप्राप्ति से ॥२२५॥

श्रुति ने कहा कि शरीर के ज्वरों के पीछे कूटस्थ क्यों ज्वर वाला होवे! स्थूल और सूक्ष्म शरीर और उनके ज्वरों को बताया। अब कारण शरीर का ज्वर कहते हैं—

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम्।। २२६।।

कारण में आत्मा न खुद को न किसी और को जानता है मानो नष्ट हो गया हो, तथा आगामी दुःखों का बीज वह है ही इत्यादि (ज्वर) इन्द्र द्वार दिखाये गये हैं।

जब प्रजापति ब्रह्मा ने इन्द्र को उपदेश दिया, तो पहले स्थूल फिर सूक्ष्म फिर कारण शरीर वाले को बतलाया (छां.८.११)। कारण शरीर अर्थात् अज्ञान जो सुषुप्ति में स्पष्ट है। इन्द्र ने कहा कि आप कारण शरीर को ब्रह्म कहते हैं, लेकिन इस अवस्था में आत्मा न अपने को जानता है, न किसी दूसरे को जानता है। घड़ा-सुराही आदि सब जब अपने कारण मिट्टी में लीन हो जाते हैं तब वहाँ न घड़ा, न सुराही दीखते हैं। इसी प्रकार गहरी नींद में जाते हैं तो हम कारण में लीन हो जाते हैं इसलिये न सूक्ष्म, न स्थूल शरीर का भान रहता है, न काम, क्रोध का भान रहता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि जहाँ इस प्रकारसे कुछ नहीं जानता है वही 'प्रकृतिलीन' अवस्था है। यह अच्छी स्थिति इसलिये नहीं कि जैसे मिट्टी में से पुनः घड़ा, सुराही, सिकोरा निकल आते हैं, इसी प्रकार सुषुप्ति में से स्वप्न भी निकल आता है, जाग्रत्, शरीर, मन आदि भी निकल आते हैं। फिर वही दुःख शुरू हो जाते हैं। सुषुप्ति में तो दुःख नहीं है पर दुःखों का बीज है। अतः इन्द्र ने कहा कि यह तो ब्रह्मरूपता नहीं हुई

'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि'। इस प्रकार इन्द्र ने दिखलाया कि कारण शरीर में क्या व्याधि है। अतः स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों शरीरों में ज्वर ज़रूर होते हैं ॥२२६॥

शरीरों को इन ज्वरों से रहित नहीं कर सकते यह कठनाई दिखाते हैं–

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते।। २२७।।

शरीरों में ज्वर स्वाभाविक माने गये हैं। ज्वरों से वियोग होने पर वे शरीर ही नहीं रहते।

तीनों शरीरों में अवश्य ही ज्वर हैं और इन्हें दूर नहीं किया जा सकता। यह इनका स्वभाव, 'स्वस्य भावः' अपना भाव है। दुर्गन्ध आदि शरीर से दूर नहीं की जा सकती, यह उसके स्वाभाविक धर्म हैं। इसी प्रकार काम क्रोध आदि स्वाभाविक हैं। सुषुप्ति में 'कुछ न जानना' होता ही रहता है। यदि इनमें से कोई ज्वर न होवे तो वे शरीर ही नहीं रहेंगे। तीनों शरीरों में एक न एक ज्वर रहता ही है, यह उसकी स्वाभाविकता है। शरीर का निर्माण प्रारब्ध कर्म से हुआ है। उसे सुख-दुःख कुछ न कुछ देना होता है, उसी के अनुसार विकार पैदा करेगा ॥२२७॥

ज्वरहीन शरीर संभव नहीं इसमें दृष्टांत देते हैं–

तन्तोर्वियुज्येन्न पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम्।। २२८।।

जैसे धागे से कपड़ा अलग हो जाये, बालों से कम्बल अलग हो जाये, मिट्टी से घड़ा वियुक्त हो जाये– ये सब नहीं हो सकते, वैसे ज्वरों से शरीर भी छूट नहीं सकते यह समझना चाहिये।

दृष्टांत दिया कि कपड़े को धागों से अलग नहीं कर सकते। इसी प्रकार कम्बल में बाल अर्थात् उनके रेशे ज़रूर रहेंगे। इसी प्रकार मिट्टी से घड़े को अलग नहीं कर सकते। इसी प्रकार से ज्वरों से वियुक्त होकर शरीर नहीं रह सकता। शरीर का भोग के लिये निर्माण हुआ है। बिना भोग स्थूल-सूक्ष्म शरीर नहीं रहेगा। कारण शरीर बिना भोग के रहता है लेकिन तभी तक रहेगा जब तक दुःख आगामी है। आगामी भी दुःख नष्ट होने पर कारण शरीर भी नहीं रहेगा। आगामी दुःख का बीज कारण शरीर है। पुराणों में कहा है 'प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरम्' प्रारब्धरूप जो धागा उससे ही यह शरीर बना है। ('तन्तोर्वियुज्येत' मुद्रित पाठ में पूर्व श्लोक के 'नासते' से संबंध जोड़कर अर्थ समझना पड़ता है। मोडक ने 'वियुज्येत्' ही पाठ माना है, 'वियुज्येत' इसे ग़लत कहा है।) ॥२२८॥

कूटस्थ ही बिना ज्वर का है यह सिद्ध करने के लिये उसके प्रतिबिम्ब, आभास की ज्वरहीनता दिखाते हैं–

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत्।। २२६।।

चिदाभास में स्वयं (निरुपाधिक) कोई ज्वर नहीं है क्योंकि चेतन का एकमात्र ज्ञान ही स्वभाव देखा गया है, अन्य (ज्वरादि) नहीं।

शरीरों में तो ज्वर अवश्यम्भावी हैं। जब तक शरीर है, ये सन्ताप बने ही रहेंगे। शरीरों के कारण ही चिदाभास में इनकी प्रतीति है। शरीरों को अपने से अलग न समझने का जो भ्रम है, उसके कारण ही चिदाभास अपने को सुखी-दुःखी जानता है। है तो ज्वर शरीर में, विवेकाभाव में समझता है कि मन में हुआ तो मुझ में हुआ। यह अध्यास कई जगह पर प्रत्यक्ष हो जाता हैः जैसे कलक्टर की पत्नी को हीरों का हार दो तो वह समझता है कि 'मुझे ही दिया'। कलक्टर की पत्नी को पीटो तो वह इसे अपना ही अपमान समझता है। इसी प्रकार यह शरीर चेतन से अलग है, पर प्रतीति हो रही है कि शरीर मैं ही हूँ। माता-पिता के ब्राह्मण शरीरों से पैदा यह शरीर ब्राह्मण भले ही हो पर निश्चय होता है 'मैं ब्राह्मण हूँ'। मन से अलग होना और कठिन है। मैं मन ही हूँ—ऐसा निश्चय रहता है अतः मन के ज्वर मेरे ही प्रतीत होते हैं। शरीर, वाणी, और मन को लेकर ही सारे पुण्य-पाप हैं। फिर भी हमें निश्चय है 'मैं पापी हूँ'। सचमुच में चिदाभास में ज्वर नहीं है, ज्वर तो शरीरों में है। चेतन का एकमात्र स्वभाव अनुभव है। यही प्रमाणानुसार देखा गया है। इसलिये अनुभव से अलग ये सब चीज़ें उसका स्वभाव नहीं, शरीरों का स्वभाव हैं। चेतन चिद्रूप है। इसलिये काम, क्रोध, रोग आदि सब का अनुभव होता है, इन सब में अनुभवरूप चेतन एक जैसा ही है, जिसके बारे में अनुभव है, वे बदल रहे हैं। इसको अलग करके देखने की सामर्थ्य अविवेकी में होती नहीं इसलिये वह कहता है 'कामना का अनुभव कामना ही है'। जबकि कामना अलग है, अनुभव अलग है। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में जो होता है उसका कोई सम्बन्ध चेतन से नहीं है—यह अनुभव चिदाभास के रहते हुए ही विद्वानों को होता है। कामना में प्रतिबिम्बरूप से अनुभव दीखने पर भी, अनुभव कामनारूप नहीं है—ऐसा विद्वानों को अनुभव होता है। शरीरों के साथ एक होकर ही आभास ज्वरग्रस्त है, खुद उसका स्वरूप ये ज्वर नहीं। आभास में इनकी प्रतीति उपाधि में इनकी मौजूदगी से है ॥२२६॥

जो शरीरों से कथंचित् सम्बद्ध है उस आभास में ही जब ज्वर नहीं तब शरीरों से सर्वथा असम्बद्ध कूटस्थ ज्वरहीन है इसमें क्या कहना! लोकसिद्ध है कि प्रतिबिम्ब का बिम्बानुरूप होना स्वाभाविक है, बिम्ब से अलग ढंग का तभी दीखता है जब दर्पणादि उपाधि में कोई दोषादि है। अर्थात् बिम्ब से विरुद्धरूपता उपाधिवश ही होती है, बिम्बरूपता बिम्बवश होती है। जब आभास में ज्वर उपाधिवश निश्चित हो गये तब आभास की निर्विकार ज्ञानरूपता बिम्बानुकारी है यह भी स्पष्ट ही हो गया। यही व्यक्त करते हैं—

चिदाभासेऽप्यसम्भाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया।। २३०।।

चिदाभास में ज्वर सम्भव नहीं तो साक्षी में असंभव हैं इस में क्या कहना! फिर भी अविद्या के कारण चिदाभास (शरीरों से अपनी) एकता माने हुए है।

ज्वर तो चिदाभास में भी असम्भव हैं क्योंकि ज्वर सदैव रहेंगे तीनों शरीरों में। 'ज्वर' से यहाँ मतलब ज्वरों का अनुभव नहीं है। ज्वर शरीरों में हैं, लेकिन उन शरीरों से अभिन्न होकर, भ्रान्ति से चिदाभास समझता है 'ये ज्वर मेरे हैं'। स्वतः तो चिदाभास में भी ये ज्वर असम्भव हैं। जब चिदाभास में ही असम्भव हैं तब साक्षी के अन्दर ये असम्भव हैं इसमें कहना ही क्या! उसमें असम्भव होने पर भी चिदाभास ने अज्ञान से अपने को उन ज्वरों के साथ एक कर लिया। 'मुझे ज्वर है' यह अनुभव न चिदाभास का है और न शरीर का है। शरीर में ज्वर है पर शरीर के अन्दर अनुभव तो है नहीं। जब तक चेतन उसके साथ अपने को एक न माने, तब तक ज्वर का अनुभव नहीं हो सकता। ज्वर के रहने पर भी ज्वर का अनुभव हम लोगों को सिद्ध है इसलिये मानना पड़ता है कि चिदाभास शरीर के साथ अपनी एकता मान रहा है अज्ञान के कारण ।।२३०।।

उक्त बात और स्पष्ट करते हैं—

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते।। २३१।।

साक्षी की सत्यता को खुद समेत शरीरत्रय पर आरोपित कर ज्वर वाले तीनों शरीरों को चिदाभास अपना स्वरूप मानता है।

अज्ञान से खाली एकता नहीं मान रहा, साथ में मानता है कि 'यही मेरा सच्चा रूप है'। अविवेकावस्था में यह नहीं समझता है कि शरीर मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है। सत्यता कहाँ से आई? शरीर को निरंतर बदलते देखता है। और शरीरों के साथ एक हुआ अपने को भी बदलते देखता है। शरीरों और अपने को बदलते देख कर भी 'मैं वही हूँ', यह प्रत्यभिज्ञा जिसके आधार पर करता है वही वाला हिस्सा तो साक्षी है। आभास ने 'अनुभव' ग्रहण किया साक्षी से और 'बदलना' ले लिया शरीरों से। यों दो के धर्मों का असंभव मेल इसीलिये हो सका कि 'मैं एक हूँ' यह भ्रान्ति हुई। भ्रम में सभी कुछ संभव है। अविवेक से उसकी समझ में यह नहीं आता कि जब मैं अपने को बदलने वाला कह रहा हूँ, तो एक कैसे हो सकता हूँ? यदि एक हूँ तो बदलने वाला नहीं हूँ। पर इस बात को नहीं जानता। साक्षी की सत्यता को बदलने वाले रूप में अध्यस्त कर देता है। इसलिये अपने से (आभास से) युक्त जो तीनों शरीर हैं, वे सब वास्तविक प्रतीत होते हैं कि 'वे सब मेरे सच्चे रूप हैं।' जब विवेक होता है तब पता चलता है कि ये मेरा सच्चारूप नहीं हैं, वह तो नहीं बदलने वाला है ॥२३१॥

उक्त भ्रान्ति का प्रभाव बताते हैं–

एतस्मिन् भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुम्बिवत्।। २३२।।

इस भ्रमकाल में शरीर ज्वरवान् होने पर यह आभास 'मैं खुद ही ज्वरवान् हूँ' ऐसा मानता है जैसे गृहस्थ।

जब शरीरों और बदलने वाले रूपों को सच्चा समझता है तब भ्रान्तिकाल है। तब शरीर के अंदर ज्वर होता है तो आभास को प्रतीत होता है कि 'मैं खुद ही तप्त हो रहा हूँ'। शरीर के अन्दर कामना आई तो 'मैं कामी हो रहा हूँ' ऐसा मानता है। अविद्या से जो 'होता है' वह हुआ नहीं करता! संसारी भी इसलिये सचमुच में ज्वर का अनुभव करने वाला नहीं है, खाली मान रहा है। दस साल तक तुम रस्सी में साँप देखते रहो, वहाँ सचमुच में साँप हो नहीं जाता। इसी प्रकार से अनादि काल से शरीरों के ज्वरों के साथ, अपने को ज्वरवान् जानने पर भी, तुम ज्वरवाले बन नहीं गये। कैसे मानता है? जैसे कुटुम्बवाले मानते हैं। दृष्टांत अगले श्लोक में समझायेंगे ॥२३२॥

पूर्वोक्त उदाहरण व्यक्त करते हैं–

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा।
मन्यते पुरुषस्तद्वद् आभासोप्यभिमन्यते।। २३३।।

पुत्र, पत्नी ताप अनुभव कर रहे हों तो कुटुम्बी पुरुष जैसे बेकार ही मानता है 'मैं तप रहा हूँ' वैसे आभास भी मानता है।

जैसे पुत्र के बुखार से तपने पर बाप को तो कुछ ताप नहीं हुआ, पर दुःखी होता है। पुत्र के ताप से 'मैं तप रहा हूँ' लगता है अथवा पत्नी को बीमारी हो जाये तो 'मैं ही बीमार हो गया' ऐसा अनुभव करता है। हैं ये अनुभव बेकार, वृथा। अर्थात् पिता, पति में ज्वर न होने पर भी ज्वरानुभव अर्थ या प्रयोजन से हीन है। तुम्हारे दुःखी होने से पुत्र या स्त्री को कोई लाभ भी नहीं है। इसी प्रकार तुम्हारे शरीरत्रय भी अपने ढंग से चल रहे हैं। तुम उनके साथ एक हो, उससे उनमें कोई अन्तर भी नहीं है। वृथा ही तुम अज्ञान से उनके साथ एक होते रहते हो ॥२३३॥

अविवेकदशा में भ्रम से आभास की ज्वरानुभूति बता चुके। अब समझाते हैं कि विवेक-दशा में ज्वरानुभव नहीं रहता–

विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा।
चिन्तयन् साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत्।। २३४।।

(शरीरों से अपने कूटस्थ रूप का) विवेक करके, भ्रान्ति छोड़कर, खुद का भी अनादर करते हुए (अपने वास्तविक रूप) साक्षी का विचार करते हुए चिदाभास शरीर का अनुसरण करने से ज्वरवान् क्यों बनेगा!

जब चिदाभास ने विवेक करके जाना कि 'मैं तो चित्-स्वभाव वाला हूँ' तब कैसे शरीरों के साथ अज्ञान से एक होगा? विवेक होने से शरीर के दुःखी होने से 'मैं दुःखी हूँ' इस भ्रम को छोड़ देता है। फिर भोक्तृस्वरूप के विश्लेषण से जानता है कि इन शरीरों के साथ एकता का अभिमान करने वाला, अभिमानी चिदाभास कुछ भी नहीं है! 'चिद्रूप हूँ, भ्रम से शरीरों से एक हुआ प्रतीत हो रहा हूँ।' चिदाभास अपने चिदाभास रूप को भी गिनता ऐसा समझने पर नहीं अर्थात् उसको मिथ्या जानकर आदर नहीं देता। वह तो यह विचार करता है कि मेरा सच्चा स्वरूप तो साक्षी है। मन जब साक्षी का चिन्तन करता है तब भी चिदाभास उसके साथ है। लेकिन उस चिन्तन की तरफ उस का आग्रह रहता है, शरीरों के ज्वरों के साथ अनुसंज्वर करने के प्रति आदर नहीं होता। जब अपने बदलने वाले रूप का उसको आदर है ही नहीं तो ज्वर वाले शरीर के साथ एकता का अभिमान करके उसको आदर क्यों देगा? उसका अनुभव भले ही शरीर के साथ है फिर भी अपनी साक्षिरूपता को ही आदर देता है। अब तक शरीरों के ज्वरों को आदर देता रहा, अब उनको आदर नहीं देता, विवेक को ही आदर देता है। इसलिये ज्वरमुक्त हो जाता है **॥२३४॥**

अविवेक से दुःख, विवेक से दुःखनिवृत्ति में उदाहरण देते हैं—

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति।।२३५।।

सर्पादि झूठी चीज़ों का ज्ञान भागने में हेतु बनता है। रस्सी (आदि सच्ची चीज़) के ज्ञान से सर्पज्ञान का बाध होने पर (पूर्व में) किये (पलायनादि) पर पछताता है।

जब हमने झूठे सर्प को जाना तब डरकर भागना पड़ता है। उसी प्रकार, हूँ तो मैं साक्षी, जाना अपने को शरीर आदि में अभिमान वाला, अर्थात् चिदाभास, तो उसके कारण ही हम दौड़ते हैं। जैसे ही रस्सी का ज्ञान होता है, सर्प का ज्ञान नष्ट हो जाता है तब 'व्यर्थ ही डरा, बेकार ही भागा' यों मानो पछताता है। इसी प्रकार जब 'साक्षी हूँ' यह पता लगता है तब अनादिकाल से अब तक जितनी प्रवृत्तियाँ की थीं उन सब को वृथा समझता है। विवेक काल में चिदाभास साक्षी को ही देखने को आदर देता है। अब तक शरीर-मन के पीछे जो दौड़ थी उसे अब वृथा जानता है **॥२३५॥**

विवेक के बाद आभास सदा साक्षी का चिन्तन क्यों करता है यह सोदाहरण समझाते हैं—

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः।। २३६।।

झूठा आक्षेप लगाने के दोष का प्रायश्चित्त करने के लिये मानो माफी माँगते हुए (चिदाभास) साक्षी की शरण लेता है।

मिथ्या अभियोग अर्थात् झूठा आक्षेप। मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने व्यवहार काण्ड में किसी निर्दोष पर झूठा दोष लगाना बड़ा अपराध माना है जो दण्डनीय है। यदि किसी ने अनजाने में लगाया हो तो सत्य मालूम पड़ने पर वह बार-बार क्षमा माँगता है कि 'ग़लती से हो गया'। इसी प्रकार आभास को अपराधबोध होता है अतः साक्षी पर जो मिथ्या दोष लगाये थे उसका प्रायश्चित्त हो जाये इस दृष्टि से सदा आत्मचिन्तन करता रहता है। 'प्रायः' का मतलब है तप। ग़लती से माफ़ी के लिये तप अर्थात् कष्ट सहना ज़रूरी है। जानकर 'दण्ड' सहने में इतना कष्ट नहीं होता जितना अनजाने दण्ड सहन करने में होता है अतः अधिक शोक नहीं होता। ग़लत काम के दोष की निवृत्ति के लिये तप का शास्त्रों में विधान है। 'चित्त' का मतलब है निश्चय, अर्थात् यह निर्णय कि ग़लत कभी नहीं करूँगा। इसी प्रकार तुमने जिस पर मिथ्या अभियोग लगाया, उससे तुम क्षमा माँगते हो, कि 'ऐसी ग़लती कभी नहीं करूँगा'। चिदाभास ने साक्षी पर मिथ्या अभियोग लगाया था, इसलिये क्षमा-प्रार्थना करता है। जानता है कि क्योंकि मेरा अज्ञान नष्ट हो गया इसलिये पुनः ग़लती नहीं करूँगा। आगे भी झूठा विकार मुझमें दीखेगा पर उसे 'मेरा सच्चा रूप है' ऐसा नहीं मानूँगा। जब मैं कर्त्ता-भोक्ता दीख रहा हूँ, तब भी नहीं हूँ। इसलिये अब मैं अविकारी असंग साक्षी की ही शरण में हूँ। घर को भी शरण कहते हैं और रक्षा करने वाले को भी शरण कहते हैं। जहाँ तुम अन्त में विश्राम करते हो वह साक्षी ही घर है, वहीं तुम निश्चिन्त हो सकते हो। चिदाभास रूप में निश्चिंत नहीं रह सकते। पुरानी स्मृति और आगे की आशा दोनों दुःख देती हैं। भूत भविष्य दोनों दुःख देते हैं। भूत याद से, भविष्य आशा से दुःख देता है। जब तक विकारी चिदाभास में हो तब तक आराम नहीं मिलता। अविवेकदशा में उपाधिरूप बुद्धि में रहते हैं पर वह अपना घर नहीं है। साक्षी अपना घर है। शरण का दूसरा अर्थ होता है, रक्षा करने वाला। साक्षिभाव हमारे सारे पापों को नष्ट करके, हमारी रक्षा करता है। हर बार साक्षी का चिंतन करते हैं तो अनन्त पाप नष्ट होते रहते हैं **॥२३६॥**

दूसरे दृष्टांत से बताते हैं कि चिन्तन करता ही क्यों रहता है—

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः।। २३७।।

दुहराये गये पापों की निवृत्ति के लिये जैसे स्नान आदि (प्रायश्चित्त) बारम्बार किये जाते हैं वैसे चिदाभास मानो ध्यान को दुहराते हुए हमेशा साक्षिरूपता के चिन्तन में संलग्न रहता है।

जिस प्रकार, एक गाय को मारा है तो एक बार प्रायश्चित्त करता है, दो गायों को मारा है तो दो बार प्रायश्चित्त करता है। जितनी बार पाप किया उतनी ही बार प्रायश्चित्त करते

हैं। गंगा-स्नान आदि अनेक प्रायश्चित्त हैं, उन्हें ग़लती के हिसाब से दुहराना पड़ता है। साक्षी के ऊपर हमने अनन्त बार झूठा दोष लगाया है कि 'मैं सचमुच में दुःखी हूँ' इत्यादि। इसलिये बारम्बार प्रायश्चित्त करना पड़ेगा कि 'मैंने झूठा अभियोग लगाया है। इसलिये साक्षी परमेश्वर हमें क्षमा करें।' अतः मैं (चिदाभास) अकर्त्ता-अभोक्ता का बार-बार चिन्तन करता है। 'मैं सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से भिन्न कुछ नहीं' यों 'शिवोहम् शिवोहम्' इसका ही आवर्तन करता है। 'मैं सचमुच में तो साक्षी ही हूँ' इसका सदैव ध्यान करता है। यह परायणता ध्यान की तरह ही है। ध्यान-काल में एक ही वृत्ति रहती है। जब तक टूट-टूटकर वृत्ति बनती है, तब तक धारणा की अवस्था कहते हैं। जब एक तरह का प्रवाह होता है, तब उसे ध्यान की दशा कहते हैं। जब 'मैं' और ध्यान को भी भूल जायें, केवल एक सच्चिदानंद ही रहे हैं तब उसे समाधि की दशा कहते हैं। एक वृत्ति कायम रहते ध्यान होता है, यहाँ वृत्ति का आवर्त्तन होने से इसे ध्यान नहीं कह सकते। फिर भी ध्यान की तरह है; जैसे धारणा-काल में एक ही वृत्ति बार-बार बनाते हैं, वैसे यहाँ किया जाता है। इस अभ्यास को धारणा क्यों नहीं कहा? धारणा में दूसरी वृत्ति बीच में आती है। इसमें दूसरी वृत्ति का बीच में आना ज़रूरी नहीं होता, उसी वृत्ति को बार-बार दोहराते हैं इस दृष्टि से ध्यान कह दिया ॥२३७॥

श्लोक २२१ में भोक्तृता को लज्जास्पद कहा था। उसी लज्जा से साक्षिपरायणता में रहना स्वाभाविक कहा। उसी दृष्टि से दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं कि विवेक के बाद कर्तृत्व-भोक्तृत्व को प्रश्रय देना सर्वथा असहज है—

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते।
जानतोऽग्रे तथाऽऽभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते।। २३८।।

जिस वेश्या के उपस्थ में (योनि में) कोढ हो, उसकी इस स्थिति के जानकार के सामने वह कामोद्दीपक हाव-भाव व्यक्त करने में संकोच करती है। ऐसे ही चिदाभास (साक्षी के सम्मुख) स्वयं को (कर्त्ता-भोक्ता रूप में) व्यक्त करने में संकोच करता है।

चिदाभास ने ही सारे संसार को बनाने की सामग्री उपस्थित की! परमेश्वर सृष्टि सामग्री को बनाता है जीव के भोग एवं कर्म करने के लिये। दो प्रकार की कारणता होती है—एक तो उपादान, जिसको लेकर के चीज़ें बनाते हो, दूसरी, जिस उद्देश्य के लिये बनाते हो। यह सृष्टि परमात्मा ने अपने में से बनाई, वही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। बनाया किसके लिये? भगवान् कहते है, 'कोई चीज़ ऐसी नहीं जो मुझे प्राप्त नहीं है, या मुझे प्राप्त करने की इच्छा होवे। इसलिये मैं जो कर्म करता हूँ, उसके लिये मेरा अपना प्रयोजन नहीं है।' फिर सृष्टि का उद्देश्य क्या है? जीवों को कर्मफलों का भोग हो सके और जीव आगे कर्म कर सकें। जीव के लिये, चिदाभास के लिये ही सृष्टि है। जब चिदाभास को यह पता लगता

है कि 'मेरी वास्तविकता तो है ही नहीं फिर भी मेरे लिए इतनी बड़ी सृष्टि हुई', तब उसे लज्जा आती है। जैसे कोई वेश्या है, नाचती, गाती है। कोई उससे भोग-विलास करना चाहता है तो मना करती है क्योंकि वह कुष्ठ रोग से पीडित है। जानती है कि जो देखेगा वह मुझ से घृणा करेगा अतः भोग से उसे लज्जा आती है। इसी प्रकार से चिदाभास को पता है, 'मैं कुछ नहीं हूँ' इसलिये प्रारब्ध कर्म का भोग करने में भी उसे शर्म आती रहती है! बड़े से बड़े गौरव, प्रतिष्ठा से उसके मन में लज्जा ही आती है। सत्य जब तक छिपा रहे तब तक झूठा व्यवहार ठीक है। 'मैं चिदाभास कैसा हूँ?' यह गुप्त था, अज्ञात था, तब तक चाहे कर्त्ता-भोक्ता रहा किंतु इसकी असत्यता का निरावरण हो जाने पर भोगों में उसको शर्म ही आती रहती है। तात्पर्य है कि अत्यावश्यक से अतिरिक्त कोई व्यवहार बिना किये साक्षिभाव में प्रतिष्ठित रहता है **॥२३८॥**

सोदाहरण बताते हैं कि आभास उपाधिप्रधान व्यवहार से क्यों बचता है—

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन् पुनः।
म्लेच्छैः सङ्कीर्यते नैव तथाऽऽभासः शरीरकैः।। २३९।।

म्लेच्छों द्वारा एक बार छुआ जा चुका ब्राह्मण जब उस अस्पृश्यस्पर्श का प्रायश्चित्त कर रहा हो तब फिर म्लेच्छों से सटता नहीं, वैसे ही आभास इन कुत्सित शरीरों से सम्बन्ध नहीं करता।

किसी ब्राह्मण को मुसलमानों ने पकड़ लिया। उसे माँस आदि भी खिला दिया। उनसे छूटकर आने पर उसे शर्म आती है। क्षमा-प्रार्थनापूर्वक ब्राह्मणों से पूछता है, 'क्या प्रायश्चित्त करूँ?' बताया प्रायश्चित्त कर लेता है। तब क्या फिर पूर्व स्थिति में जायेगा? म्लेच्छों से बचने का, दूर रहने का सब तरह प्रयत्न करता है। म्लेच्छों के पास भी नहीं जाता। इसी प्रकार, आभास की यह दशा तीनों शरीरों के कारण हुई। मूल कारण तो अज्ञान है लेकिन अज्ञान के कार्य, स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं, तभी आभास कर्त्ता-भोक्ता बनता है। शरीर का साथ होते ही कर्त्ता-भोक्तापना है। अतः विवेक के बाद शरीर से बचता है। उससे यथासंभव सम्पर्क नहीं रखता। 'संकीर्ण' शब्द का अर्थ है, भीड़ में पास-पास हो जाना। लोग एक-दूसरे में मिल जायें तब उन्हें संकीर्ण कहते हैं। शरीर के साथ तादात्म्य की प्रतीति ही संकीर्णता है। शरीर को जब सावधानी से दृश्य की तरह देखते हैं तब तो उससे संकीर्णता नहीं होती। 'मैं देखने वाला हूँ, शरीर को देख रहा हूँ' यह जागरूकता रहे तब तक संकीर्णता, तादात्म्य नहीं है। पर जब शरीर-मन से घुल-मिल जाते हैं तब मानो भीड़ हो गई, संकीर्ण हो गये, इकट्ठे हो गये। शरीर चला तो मान लिया 'मैं चला'। मन दुःखी तो 'मैं दुखी'। यह अनुभूति संकीर्ण अवस्था है। 'शरीर दुःखी है, मैं द्रष्टा साक्षी हूँ' यह अनुभूति है तो संकीर्ण अवस्था नहीं है। शरीर की प्रतीति तो प्रारब्धभोगकाल में होगी पर निष्ठालाभ के लिये संकीर्ण न

हो जाओ यह सावधानी चाहिये। 'मैं कर रहा हूँ, भोग रहा हूँ' ऐसा निश्चय न होने दो ॥२३६॥

साक्षिभाव में स्थिति महान् फल देती है यह बताते हैं–

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ॥२४०॥

युवराज पद पर स्थित राजकुमार साम्राज्य पाने की इच्छा से राजा का अनुकरण करता है, वैसे यह आभास साक्षी का अनुकरण करता है।

राजपुत्र युवराज बन गया। सोचता है 'शीघ्र मुझे राज्य मिलेगा।' अतः जैसे राजा करता है, वैसा ही वह भी व्यवहार करता है ताकि राजा की दृष्टि में योग्य ही माना जाता रहे। इसी प्रकार से साक्षी जिस प्रकार से कभी संग को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही यह आभास भी कभी संग को प्राप्त नहीं होने के लिये सावधान रहता है। साक्षी तो स्वभाव से ऐसा ही है। आभास साक्षी का अनुकरण करके 'मैं इससे भिन्न हूँ' ऐसा ही विचार करता है। उसके साथ एकता अनुभव होने पर भी 'यह एकता सच्ची नहीं है' इसे नहीं भूलता। यह साक्षी का अनुकरण हुआ। साक्षी के साम्राज्य को, मुक्तभाव को प्राप्त करना–यह युवराज अर्थात् चिदाभास चाहता है। अतः जैसे साक्षी असंग है, वैसे ही यह असंग रहता है। अर्थात् साक्षिभाव में रहने से निष्ठा पकने पर जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द का लाभ हो जाता है ॥२४०॥

निष्ठा से उक्त फल मिलने में प्रमाण बताते हैं–

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥२४१॥

श्रुति कहती है 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है'। सुनकर उसी एक आकार के चित्त वाला हुआ ब्रह्म को जानता है, उससे अन्य ('मैं कर्त्ता-भोक्ता' आदि) को नहीं।

श्रुति यह स्पष्ट कहती है कि जो ब्रह्म का ज्ञान पा लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। इस को सुनकर विवेकी 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा एक निश्चय रखता है। उसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व का अनुभव होने पर भी यह निश्चय रखता है कि यह सच्चा नहीं, सचमुच में मैं ब्रह्म ही हूँ। ब्रह्म से अतिरिक्त और किसी चीज़ को नहीं जानता। श्रुति ने मुण्डक उपनिषत् (३.२.९) में कहा है 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। यहाँ तक बताया है कि उसके कुल में भी कोई अब्रह्मवेत्ता नहीं होता! कुल, अर्थात् जितनी-वृत्तियों का प्रवाह है, वह सब उसका कुल है। चित्त हर क्षण वृत्तियों को बनाता है, किसी भी वृत्ति में वह ब्रह्मज्ञान वाला न होवे, यह नहीं हो सकता। मृत्युकाल में भी उसकी ब्रह्मदृष्टि कभी जाती नहीं। साक्षी का अनुसरण करते हुए, कभी भी अपनी अब्रह्मता का अनुभव नहीं करता ॥२४१॥

युवराज तो राजा बनेगा अतः राजानुकारी हो यह ठीक है पर आभास को तो ब्रह्म बनना नहीं, तो क्यों साक्षी का अनुकरण करे? इसका उत्तर देते हैं—

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा।
साक्षित्वेनाऽवशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति।। २४२।।

देवभाव पाने की इच्छा वाले अग्नि आदि में प्रवेश कर जाते हैं। इसी तरह साक्षिरूप से बचे रहने के लिये आभास अपना नाश चाहता है।

प्रश्न था कि चिदाभास इस प्रकार ब्रह्म-चिंतन करते हुए ब्रह्म हो जायेगा तो नाश ही हो गया क्योंकि ब्रह्म ही अद्वितीय रहने पर चिदाभास रहा नहीं। फिर चिदाभास ऐसा क्यों करेगा कि अपना नाश हो? युवराज राजा की तरह काम करेगा तो युवराज नहीं रहकर राजा ही बन जायेगा। युवराज पद को छोड़कर बड़े पद की इच्छा स्वाभाविक है। युवराजपना-नष्ट होकर सम्राट् बना। प्राचीन काल में स्त्री कामना करती थी कि मैं यदि सती हो जाऊँगी तो मुझे देवत्व की प्राप्ति हो जायेगी। प्रयाग के अक्षयवट से जाकर यदि संगम में प्राण छोड़ते हो तो तुम्हें देवत्व की प्राप्ति हो जाती है। केदारनाथ की भैरव घाटी में प्राण दो तो भी देवपद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार देवत्व के लिये मनुष्यत्वाभिमान को नष्ट करने को तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार 'मैं चिदाभास विकारी हूँ और मिथ्या हूँ, मैं अपने अविकारी साक्षिभाव को प्राप्त हो जाऊँ'—इसलिये चिदाभास अपने नाश की भी इच्छा करता है। चिदाभास-भाव का नाश है, प्रत्यग्वस्तु का नहीं। जहाँ स्वनाश की प्रवृत्ति असम्भव कहते हैं, वहाँ आशय है स्वपदार्थ से। सत्य बचा रखने के लिये झूठे भाग को छोड़ना तो स्वाभाविक है। चिदाभास चिन्मात्र का एक मिथ्याभाव ही है। वह नष्ट होकर साक्षी रह जायेगा जो सत्य है। अतः चिदाभास-भाव के ही नष्ट होने की इच्छावाला हो जाता है ताकि अविकारी सत्यभाव से रहे। यह समझाने का तरीका है। वस्तुतः साक्षी या ब्रह्मभाव की 'प्राप्ति' है नहीं। वह ब्रह्मस्वरूप पहले ही है। देवभाव की तो प्राप्ति होती है। किन्तु जब अज्ञान से स्वयं को जीव समझ रहा है तब भी वह ब्रह्म ही है। रस्सी को जब तुम ब्रह्म समझ रहे हो तब भी वह रस्सी ही है। इसलिये यहाँ प्राप्ति नहीं है, जो अप्राप्त को प्राप्त समझ लिया है, उस भ्रम का ही नाश है **॥२४२॥**

मुक्त का देही-व्यवहार भी उपपन्न करते हैं—

यावत् स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति।
यावदारब्धेदेहं स्याद् नाभासत्वविमोचनम्।। २४३।।

जब तक अपना शरीर जल रहा है तब तक वह मनुष्य योनि नहीं ही छोड़ता। ऐसे ही जब तक प्रारब्धप्राप्त शरीर रहता है तब तक आभासता नहीं छूटती।

देवभाव की प्राप्ति के लिये जिस स्त्री ने चिता में प्रवेश किया, जब तक उस सती का शरीर जल नहीं जाता, तब तक मनुष्यभाव को नहीं छोड़ती है। इसी प्रकार चिदाभास ने आत्मज्ञान प्राप्त किया ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिये, परन्तु जब तक प्रारब्ध से प्राप्त यह देह रहेगा, तब तक चिदाभासपना समाप्त नहीं होगा। साक्षिभाव को जानते हुए भी चिदाभास की प्रतीति तो बनी ही रहेगी। प्रारब्ध कर्म के समाप्त होने तक चिदाभास का व्यवहार समाप्त नहीं होगा। यह व्यावहारिक निवृत्ति की बात है। पारमार्थिक निवृत्ति तो ज्ञान से ही हो जाती है। पहले तो चिदाभास को सच्चा जानते थे। आत्मज्ञान के बाद उसको झूठा जानते हैं पर उसकी प्रतीति तो होती रहती है। प्रतीति के अनुरूप व्यवहार भी होता रहता है इसमें कोई विरोध नहीं ॥२४३॥

अज्ञानरूप कारण नष्ट हो चुकने पर भी भोग की अनुवृत्ति समझाने के लिये दृष्टांत देते हैं—

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति।
पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ॥२४४॥
एवमारब्धभोगोऽपि शनैःशाम्यति नो हठात्।
भोगकाले कदाचित् तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥२४५॥

रस्सी की जानकारी हो चुकने पर भी कँपकँपी आदि धीरे-धीरे समाप्त होती है, फिर हल्का अंधेरा होने पर वह रस्सी साँप-सी लगती है। इसी प्रकार प्रारब्धभोग भी धीरे-धीरे शांत होता है, एकाएक नहीं। भोग के समय कभी 'मरणधर्मा हूँ' यह प्रतीति हो जाती है।

रस्सी का ज्ञान हो गया, यह निश्चय हो गया कि वहाँ सर्प नहीं है, पर भय से शरीर का कम्पन शांत होने में थोड़ा समय लेता है। भय समाप्त होने पर भी कम्पन रहता है, समय से ही शांत होता है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म नहीं, चिदाभास ही हूँ, इस भ्रम से जो कर्म किये थे, वे फलदायक होकर प्रारब्ध बने। प्रारब्ध कर्म का फल यह शरीर है। अब पता लग गया 'मैं जीव, कर्त्ता-भोक्ता नहीं था।' पर भ्रमावस्था का फल तो थोड़ा समय लेकर ही दूर होगा। ब्रह्म ही है—यह निश्चय होकर भी चिदाभास की प्रतीति कैसे? रस्सी को पुनः मन्दान्धकार में देखें तो सर्प की तरह प्रतीत हो जाती है। रस्सी के अज्ञान का नाश तो हो गया अतः 'साँप है' यह भ्रम नहीं होता लेकिन दीखती सर्वथा साँप है। मूलाज्ञान निवृत्त हो गया अतः अब यह नहीं होगा कि चिदाभास *वास्तविक* है। परंतु लेशाविद्या से आभास की प्रतीति हो जाती है। लेशाविद्या और अविद्या में अन्तर है। मूलाविद्या से तो निश्चय है कि मेरा जीवरूप सच्चा है। अब यह प्रतीति तो कभी नहीं होगी कि यह सच्चा है। केवल प्रतीति कराने के लिये लेशाविद्या काम करती है। लेशाविद्या को हटाने के लिये ज्ञान अपेक्षित नहीं है, जैसे ही प्रारब्धभोग समाप्त हो जाता है, लेशाविद्या बचती नहीं, मूलाविद्या समाप्त हो ही चुकी

है अतः अब प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। अन्यत्र कहा है 'प्रारब्धनाशे प्रतिभासनाशः'। लेशाविद्या केवल प्रतिभास कराती है, उसमें सत्यत्व-बुद्धि नहीं ला सकती। प्रारब्धभोग धीरे-धीरे शान्त होता है, अकस्मात् नहीं। जब प्रारब्धभोग काल होता है, तब 'मैं मनुष्य शरीर-मन हूँ' यह प्रतीति अर्थात् केवल प्रतिभास होता है **॥२४४-२४५॥**

'मरणधर्मा हूँ' ऐसा प्रतिभास अकिंचित्कर है यह स्पष्ट करते हैं—

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु।। २४६।।

मर्त्यता के प्रतिभासरूप अपराध से तत्त्व का ज्ञान नष्ट नहीं हो जाता। जीवन्मुक्ति नामक यह कोई व्रत नहीं वरन् निश्चित वास्तविकता है।

मैं शरीर मन हूँ—इतनी प्रतीतिमात्र से तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होता है। जैसे सोने का ज्ञान होने पर भी गहने की प्रतीति तो होती ही है उससे 'यह सोना है' यह निश्चय नहीं जाता। इसी प्रकार नाम-रूप अहंकार के प्रतिभास होने से 'ये मैं हूँ, ब्रह्म नहीं' ऐसा भ्रम नहीं होता। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह निश्चय कटता नहीं। जीवभाव के भान से खंडित हो जाये ऐसा यह कोई जीवन्-मुक्ति का व्रत नहीं है! यह तो जो वास्तविकता है उसकी स्थितिमात्र है। जैसे नाटक खेलते हुए पात्र का व्यवहार कर लेने से अपना देवदत्तत्वादि-निश्चय समाप्त नहीं होता वैसे ब्रह्मनिश्चय समाप्त नहीं होता। ब्रह्म हूँ, इस बात का निश्चय रहते हुए ही, 'मैं कर्त्ता-भोक्ता' की प्रतीति हो जाती है **॥२४६॥**

'दशमस्त्वमसि' के दृष्टान्त में भी उक्त स्थिति घटाकर दिखाते हैं—

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन् बुद्ध्वा न रोदिति।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ॥२४७॥

दसवाँ भी सिर पीटकर रोता रहा था। 'दसवाँ हूँ ही' यह जानकर रोता तो नहीं लेकिन सिर पीटने से लगी चोट महीने भर में धीरे-धीरे ठीक होती है, तत्काल नहीं।

जब तक पता नहीं चला कि 'मैं ही दसवाँ हूँ' तब तक रो रहा था कि 'दसवाँ कहाँ गया'। रोने में सिर पीटता था, उससे सिर पर घाव हो गया। 'दसवाँ मिल गया, मरा नहीं' इस ज्ञान से अब रोता नहीं है पर सिर का जो घाव है वह भरने में महीना लगता है। इसी प्रकार जैसे ही आत्मज्ञान हुआ 'मैं कर्त्ता-भोक्ता जीव हूँ' यह भ्रम तो हट गया। आत्मज्ञान से यह भ्रम हटे इसके लिये प्रारब्ध चाहिये। शरीर में रहोगे तभी यह ज्ञान भी होगा। प्रारब्ध भोग कर धीरे-धीरे समाप्त होगा, ज्ञान होते ही समाप्त नहीं हो जाता। प्रारब्ध भोग का जो दुःख है वह तो मृत्यु होने पर समाप्त होगा। 'मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ' अनादि काल से यह जो शोक है इसकी तो ज्ञान होते ही निवृत्ति हो जाती है **॥२४७॥**

जीवन्मुक्ति की पुरुषार्थता संगत बनाते हैं–

दशमाऽमृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम्।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम्।। २४८।।

दसवाँ नहीं मरा–इस फ़ायदे से उत्पन्न हर्ष घाव की पीडा को अभिभूत कर देता है। इस तरह मोक्षरूप लाभ प्रारब्ध से प्राप्त दुःख को अभिभूत कर देता है।

दसवाँ नहीं मरा, इसको जान लिया तो हर्ष हुआ। इसी प्रकार अपने आत्मज्ञान का भी हर्ष है। 'दसवाँ मिल गया' इस हर्ष में घाव की व्यथा भी भूल जाता है, उस पर ध्यान नहीं देता, वह दृष्टि से ओझल हो जाती है। इसी प्रकार 'इस शरीर से हमने परमात्मा की प्राप्ति कर ली, मुक्त हो गये' इसके हर्ष के कारण प्रारब्ध का दुःख तिरोहित हो जाता है **॥२४८॥**

तत्त्वस्मरण की दुःखतिरोभावकता का उपयोग बताते हैं–

व्रताभावाद् यदाऽध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम्।
रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ॥२४९॥

क्योंकि जीवन्मुक्ति कोई व्रत नहीं है इसलिये जब भी अध्यास हो तब पुनः विवेक किया जाये जैसे रसायन का सेवन करने वाला दिन में बार-बार भोजन कर लेता है।

कहा था कि जीवन्मुक्ति व्रत नहीं है, हमेशा 'करते रहने' का कार्य हो, ऐसा नहीं है। जब 'मैं कर्त्ता-भोक्ता' की प्रतीति होती है तब फिर से आत्मवस्तु का विवेक करना–इतना ही अभ्यास के रूप में अपेक्षित है। जब अभ्यास से ज्ञान दृढ हो जाता है तब 'मैं दुःखी' ऐसी प्रतीति होती ही नहीं अर्थात् जो दुःखी दीखता है उस अहंवृत्ति में प्रत्यग्भाव प्रतीत नहीं होता। तब अभ्यास की ज़रूरत नहीं है। व्रताभाव का यह आशय नहीं है कि अपनी ब्रह्मरूपता को स्मरण ही न करें! जब विस्मरण होवे तब पुनः स्मरण करे, ब्रह्मभाव बनाते रहने का व्रत नहीं है इतना ही तात्पर्य है। आवश्यकता पड़े तो विवेक, श्रवण-मनन कर लेवे, स्वरूप में स्थित हो जाये इसका निषेध नहीं। अभ्यास की मात्रा का कोई नियम नहीं, यथावश्यक किया जायेगा। जो शरीर की पुष्टि के लिये रस का, दवाई का सेवन करता है उसको बहुत भूख लगती है। अतः वह बार-बार खाता है। इसी प्रकार 'कितनी बार अपने ब्रह्मस्वरूप का स्मरण करोगे' इसमें कोई नियम नहीं है। जब भी कर्त्ता-भोक्ताभाव की प्रतीति होवे, तभी ब्रह्म स्वरूप का स्मरण करो। ज्ञान की दृढता होने पर यह प्रतीति होती ही नहीं है अतः ज़रूरत ही नहीं रहती **॥२४९॥**

दृष्टांतानुसार प्रारब्धभोग उपपन्न करते हैं–

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा।
भोगेन शमयित्वैतत् प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥२५०॥

दसवाँ अपने घाव का जैसे दवाई से उपचार करता है वैसे इस प्रारब्ध का भोग से उपचार करके मुक्त हो जाता है।

प्रारब्ध-कर्म किससे निवृत्त होगा? दसवें आदमी के समान अपने प्रारब्धरूप घाव का किस औषधि से शमन करे? प्रारब्ध कर्म का भोग से ही शमन होता है। 'जीवन्मुक्तिविवेक' प्रकरण में विद्यारण्य स्वामी ने कहा है कि यदि जल्दी शमन करना चाहे, तो मनोनाश-वासनाक्षय का मार्ग अपनावे। यह भी एक तरीका है। इसीलिये 'भोगे नहीं' ऐसा इन्होंने यहाँ नहीं कहा, 'भोग से ही' यह भी नहीं कहा। दूसरी बात, प्रारब्ध-विचार में यही माना है कि मंद और तीव्र प्रारब्ध की उपायों से निवृत्ति होती है। तीव्रतर प्रारब्ध की नहीं। अतः भोगना और मनोनाशादि से न भोगना, दोनों में कोई विरोध नहीं है। जिसका मंद प्रारब्ध है वह भूमिका-रूढ हो जाता है, जिसका ऐसा प्रारब्ध नहीं है, उसको भूमिकाओं की प्राप्ति नहीं होती **॥२५०॥**

श्लोक ४८ से प्रारंभकर अपरोक्ष ज्ञान एवं शोकनिवृत्ति नामक दो अवस्थाएँ बतायीं। अब पूर्वोक्त विषय दुहराकर 'तृप्ति'रूप सातवीं अवस्था बताना प्रारंभ करते हैं—

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी।। २५१।।

'किमिच्छन्' ('क्या चाहता हुआ') इस वाक्य से कही शोकनिवृत्ति अब तक बतायी। आभास की अवस्थाओं में यह छठी है। सातवीं अवस्था है—तृप्ति।

अपरोक्ष ज्ञान और शोकनिवृत्ति, ये दो अवस्थायें अब तक बतलाईं। 'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत्' इस वाक्य में शोक और शोक का मोक्ष दोनों बतलाये। यह शोक-मोक्ष भी चिदाभास की ही अवस्था है। 'मै मुक्त हो गया'—यह अनुभव चिदाभास ही करता है। शोक की अवस्था चूंकि आभास की है अतः शोकमोक्ष अवस्था भी आभास की ही है। श्लोक ३३ में कहे क्रम में यह छठी अवस्था है। 'तृप्ति' नाम की सातवीं अवस्था भी चिदाभास की ही है। १. अज्ञान, २. आवरण, ३. विक्षेप, ४. परोक्ष ज्ञान, ५. अपरोक्ष ज्ञान, ६. शोकनिवृत्ति, और ७. निरङ्कुश तृप्ति—ये सात अवस्थायें हैं **॥२५१॥**

अपरोक्ष ज्ञान से होने वाली तृप्ति असीम बताते हैं—

साङ्कुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति।। २५२।।

विषयों से होने वाली तृप्ति पर (कामनान्तर का, सान्तता आदि का) अंकुश होता है। अपरोक्ष आत्मज्ञान से होने वाली तृप्ति पर कोई अंकुश नहीं होता। 'सारे कर्त्तव्य कर लिये, जो पाया जाने योग्य वह पा लिया'—इसी से विद्वान् तृप्त होता है।

अपरोक्ष ज्ञान से होने वाली तृप्ति निरंकुश है। विषयों से जो तृप्ति है वह तो सांकुश

है। अंकुश एक तो यह है कि जब तक विषय है तभी तक वह तृप्ति है। यह ब्रह्मज्ञान की तृप्ति है; ब्रह्म नित्य है और ज्ञानरूप है अतः कुछ समाप्त होना नहीं कि तृप्ति पर अंकुश हो। मन में विषयान्तर की इच्छा आ जाये तब भी वैषयिक तृप्ति सांकुश हो जाती है। परन्तु ब्रह्म की तृप्ति प्राप्त करने के बाद, किसी विषयान्तर की कामना रह ही नहीं सकती। अपनी परमानंदरूपता को नहीं समझने पर ही अनात्मा की इच्छा होती है। ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर जो करने लायक है वह कर लिया, कुछ करने लायक बच नहीं गया है; जो भी प्राप्त करने योग्य है वह सब प्राप्त हो गया—यह अनुभूति होती है। जब तक यह समझ में आता है कि मेरे सिवाय कुछ है, तब तक अपरोक्षानुभूति हुई ही नहीं। इसीलिये यह निरंकुशा तृप्ति है क्योंकि कुछ करने या प्राप्त करने को रह ही नहीं जाता है। कृत्य और प्रापणीय सारा अविद्या का कार्य है, माया का ही सारा खेल है। अविद्या वास्तविक होती तो कुछ और प्रापणीय रह जाता। जब माया के कार्यों में सत्यता है ही नहीं तो वे हमारे करने या प्राप्त करने के योग्य कैसे हो सकते हैं? माया में यदि सत्यता की दृष्टि है, तो अभी परोक्ष ज्ञान भी नहीं हुआ। यह जगत् मिथ्या है—यह परोक्ष ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतः अपरोक्षजन्य तृप्ति अनन्त है **॥२५२॥**

तत्त्वज्ञदशा में समग्र कर्त्तव्यपूर्ति युक्ति से समर्थित करते हैं—

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहु कृत्यं पुराऽस्याऽभूत् तत् सर्वमधुना कृतम्।। २५३।।

इस लोक व परलोक के फलसमूह की प्राप्ति के लिये एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये पहले इस अज्ञानी के सामने जो बहुतेरे कार्य थे, वे सब अब समाप्त हो जाते हैं।

इहलोक में होने वाले पदार्थ—भोजन, वस्त्र नाम, यश, परिवार आदि। अनन्त जन्मों तक इसी में लगे रहे। इस संसार को सत्य समझकर सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने में ही लगे रहे। जो बहुत कुछ करने को था, वह सब किया। पर उससे शान्ति नहीं मिली। इहलोक से आगे पितृलोक, स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदि, अनेक लोक हैं, उनकी सिद्धि के लिये, तपस्या, तीर्थयात्रा, देवदर्शन, यज्ञ आदि किये फिर भी परमशान्ति का अनुभव नहीं हुआ। फिर सत्संग से पता लगा कि जो मिलता है, वह कभी भी पूर्ण नहीं होता! पूर्ण वही होता है जो देश-काल से अतीत हो। ये देश काल से परिच्छिन्न चीज़ें हैं। अतः ये निरंकुशा तृप्ति दे नहीं सकतीं। इसलिये मुक्ति ही एकमात्र प्राप्त कर्तव्य है। मुक्ति अर्थात् कैवल्य मोक्ष। शास्त्रग्रन्थों में दिव्य लोकों की प्राप्ति को भी मुक्ति कह देते हैं। अतः सालोक्य, सामीप्य सारूप्य, सायुज्य मुक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इष्ट लोक में रहना सालोक्य मुक्ति है। इष्ट के समीप रहना सामीप्य मुक्ति है। इष्ट के रूप की प्राप्ति सारूप्य मुक्ति है। सार्ष्टि मुक्ति—इष्ट जैसे वैभवों की प्राप्ति हो जाना। यहाँ इन मुक्तियों को 'व्रात' से ही कह दिया। इहलोक से जाकर ही उनकी प्राप्ति होती है इसलिये परलोक में होने वाली ये मुक्तियाँ हैं। कैवल्य मुक्ति यहीं

प्राप्त होती है। इसलिये यह ऐहिक फल हो सकती है। यह आगे भी हमेशा के लिये रहती है, इस लोक में सीमित नहीं, इस दृष्टि से आमुष्मिक भी है। यह कैवल्य मुक्ति एक ही है अतः 'मुक्तेश्च' यों एकवचन कहा। इसकी सिद्धि के लिये, पहले नित्यानित्य-विवेक करो, फिर अनित्य से आसक्ति हटाओ, शमादि पनपाओ, शास्त्रश्रवण करो, संदेह हटाने के लिये विचार करो, मनन करो, जो निःसंदिग्ध निर्णय हुआ, उसमें स्थिर रहो। ये सब कर लेने पर जो तृप्ति प्राप्त हुई वह अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने से ही। वही पूर्ण तृप्ति है, ऐहिक और आमुष्मिक सभी तरह से स्थायी है। यहाँ यह क्रम इष्ट नहीं है कि ऐहिकादि के लिये प्रयास के बाद ही मुक्ति के लिये किया जाये तथापि प्रायः ऐसा होता है। मोक्ष मिल जाने के बाद तो पूर्णता है; जैसा गीता में भगवान् ने कहा कि चारों ओर पानी भरा हो, तो कुएँ से पानी लाने की ज़रूरत नहीं रह जाती इसी प्रकार परमानन्द की प्राप्ति के बाद कोई कमी नहीं रहती, कामना असम्भव हो जाती है। जो कुछ करने योग्य था वह सब अब कर लिया गया। अब न इहलोक की न परलोक कि चीज़ों की इच्छा रह गई। ब्रह्मानंद की प्राप्ति हो चुकने से उसकी भी इच्छा रहने का प्रसंग नहीं। अप्राप्त की इच्छा होती है, प्राप्त की नहीं। 'बना रहे' यह इच्छा हो सकती है, पर जो नित्य प्राप्त है उसके बना रहने की इच्छा भी व्यर्थ है। ब्रह्मानंद की प्राप्ति होने पर कोई प्रेरक चीज़ नहीं है क्योंकि सब कर लिया गया। इसके बाद कुछ भी अनुष्ठानयोग्य नहीं रह गया ॥२५३॥

अनुभूयमान तृप्ति दिखाते हैं—

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्।
अनुसन्दधदेवाऽयमेवं तृप्यति नित्यशः।। २५४।।

जिन कार्यों से छुटकारा मिला उनपर दृष्टि डालकर इस (अपरोक्ष) उस (प्रामाणिक, पारमार्थिक) कृतकृत्यता का यों विचार करते हुए सर्वदा तृप्त रहता है।

प्राप्त धन पुनःपुनः देखने, गिनने से एक तृप्ति होती है। इसी प्रकार कृतकृत्यता के अनुसन्धान में तृप्ति होती है, जो कृत्य नहीं रहे वे इसके प्रतियोगी हैं। कामनाग्रस्त लोग जो कुछ करके तृप्ति पाते हैं, कामना न रहने से वह तृप्ति स्वरूपतः उपलब्ध है। लोक में जो कार्य माने जाते हैं उनका तृप्तिरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुकने से कर ही लिये गये। इसका विचार करने से, उस अनुसन्धानमात्र से ही, उसे सदैव तृप्ति रहती है। अन्य लोगों को कृत्य करते देखता है तो सोचता है कि 'मैं इन सबसे बच गया'। इससे तृप्ति का प्रवाह बना रहता है ॥२५४॥

अनुसंधान कैसे होता है यह कहते हैं—

दुःखिनोऽज्ञाःसंसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानन्दपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया।। २५५।।

अज्ञानी दुःखी पुत्रादि की इच्छा से चाहे जितना संसरण करें, परम आनन्द से पूर्ण मैं किस इच्छा से संसरण करूँ!

जो अज्ञानी लोग हैं, जिन्होंने अपने परमात्म-स्वरूप को नहीं जाना, उनको शरीर-मन का दुःख होता है। अज्ञानी दुःखी ही रहता है। उसके निवारणार्थ और संसार के जन्म-मरण देने वाले कर्म करके भटकता रहता है, एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता रहता है। पुत्र-पत्नी आदि के लिये जो कुछ करते हैं उससे जन्म-मरण के चक्र का ही विस्तार करते हैं। विद्वान् सोचता है कि मैं परमानन्द से पूर्ण हूँ। कोई परिच्छेद मेरे आनन्द पर नहीं है। अब मैं यह संसरण किस इच्छा से करूँ! अज्ञानी दुःखी हैं इसलिये करते हैं ॥२५५॥

लौकिक दुःखों की निवृत्ति के लिये जैसे अज्ञों के सामने कृत्य हैं, वैसे स्वर्गादि पाने के लिये भी। विद्वान् को वैसे कृत्य भी कार्य नहीं दीखते—

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम्।। २५६।।

परलोक जाने की इच्छा वाले कर्मों का अनुष्ठान करें। सारे लोकों का आत्मा मैं क्यों और क्या अनुष्ठान करूँ?

परलोकों को जाने की इच्छा वाले जो हैं वे कर्मों का अनुष्ठान करें। पर भगवान् शंकर ने मुझे सर्वलोकात्मा बना दिया। ये सारे लोक मेरा ही रूप हैं। सभी लोकों में मैं ही हूँ। चिद्रूप मैं ही तो हूँ। मुझे कहाँ जाना है! परलोक में जाने की इच्छा वाले अपने को इस लोक में समझते हैं, अतः यज्ञादि करते हैं। मुझे मालूम है कि ये सारे लोक अज्ञानसे मुझमें ही कल्पित हैं इसलिये मैं कहाँ जा सकता हूँ! किस इच्छा से क्या अनुष्ठान करूँ! मैं जातिविहीन सर्वरूप हूँ। अन्त्यज में भी ज्ञानरूप, अनुभवरूप, मैं ही मौजूद हूँ। कर्म कौन करें? ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्री, पुरुष—सबके अलग-अलग कर्म बतलाये हैं, इनमें से मैं कोई नहीं हूँ, तो कौन-सा कर्म करूँ? मुझे अधिकार ही नहीं, कैसे करूँ? मैं तो किसी वेद, परम्परा, वंश का हूँ नहीं, कैसे कोई यज्ञ करूँ? मुझे कोई इच्छा भी नहीं जिसकी पूर्ति के लिये करूँ। न ऐहिक न परलोक के पदार्थों के लिये मुझे अनुष्ठान करना है ॥२५६॥

यज्ञादि की तरह व्याख्यानादि से भी निरपेक्षता की तृप्ति दिखाते हैं—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः।। २५७।।

जो व्याख्यान आदि के लिये अधिकृत हैं वे शास्त्रों का व्याख्यान करें या वेद पढ़ावें। मैं तो क्रियाहीन होने से अधिकारी नहीं हूँ।

शास्त्रों का उपदेश देने में किनका अधिकार है, इसका शास्त्रों में नियम है। जन्म, आचार, शील आदि से सम्पन्न ही अध्यापन आदि का अधिकारी है। त्यागादि विप्रोचित आचार वाला ब्राह्मण वेद-अध्यापन का अधिकारी कहा गया है। शास्त्रों को जानने पर भी आचार-रहित होने पर व्याख्यान में अधिकारी नहीं होता है। अतः जो अधिकारी है वह शास्त्र का व्याख्यान करे। मैं तो गुणों वाला नहीं हूँ अतः अधिकार-मुक्त हूँ। शास्त्रों की तरह वेदों के अध्यापन के अधिकार वाला भी मैं नहीं हूँ। मुझे किसी भी अधिकार की प्राप्ति नहीं है क्योंकि क्रिया से रहित हूँ। जो जिसमें समर्थ है वही वह काम कर सकता है। मैं निष्क्रिय हूँ तो फिर कैसे करूँ ॥२५७॥

अनिवार्य क्रियाओं के दृष्टान्त से भी अन्य क्रियायें कार्यरूप नहीं प्रतीत होतीं यह कहते हैं—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात्।। २५८।।

सोना, भिक्षा करना, नहाना, शौचाचार करना—इन्हें भी न चाहता हूँ, न करता ही हूँ! देखने वाले (मुझपर इन्हें) कल्पित करते हों तो दूसरों की कल्पना से मुझे क्या!

निद्रा, भोजन, स्नान, शौच आदि की भी मुझे इच्छा होवे ऐसा नहीं है, और न मैं करता ही हूँ। शरीर करता है, मैं नहीं करता। मेरा करना तो अज्ञ द्रष्टाओं की कल्पना है। दूसरे लोग शरीर को देखकर मुझे करने वाला, इच्छा वाला समझते हैं। इनके इस भ्रम से मेरा क्या? शरीर के साथ मुझ आत्मा का सम्बन्ध तो टूट गया। जिनका यह सम्बन्ध-विच्छेद हुआ नहीं वे समझते हैं कि शरीर वाला आत्मा कर रहा है। मैं शरीर-मन वाला नहीं हूँ, अतः इनकी क्रियाओं से मैं क्रिया या इच्छा वाला नहीं बनता ॥२५८॥

कल्पना निष्प्रभावी होती है इसे दृष्टांत से व्यक्त करते हैं—

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे।। २५९।।

अन्यों को भ्रम हो गया कि यह आग है, इससे गुंजा की ढेरी आदि जलते नहीं! इसी प्रकार अन्यों द्वारा आरोपित संसार-धर्म मुझमें नहीं हैं।

गुंजा लाल रंग के दाने होते हैं मानो अंगारे हों! भ्रम से गुञ्जा-समूह को अग्नि समझकर तापने के लिये उसके चारों ओर बैठने पर क्या गुञ्जा कुछ भी जला सकेगा? उसमें अग्नि का आरोप अज्ञान से किया गया है। इसी प्रकार शरीर की क्रिया को देख मुझ आत्मा पर अज्ञानी लोग आरोप करते हैं कि यह क्रिया वाला है, इच्छा वाला है। उनके आरोप से मैं तो वैसा नहीं हो जाऊँगा। इसी प्रकार से दूसरों के द्वारा मेरे ऊपर जो संसार-धर्म आरोपित हैं वे मुझे

प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार से सभी चीज़ों की तृप्ति का अनुभव उसको होता है ॥२५६॥

आनन्द का अनुभव स्वरूप से है, और तृप्ति इस बात की है कि कोई अभाव नहीं, कमी नहीं है, अतः किसका अभाव या किसकी कमी—यह सामने रहे तभी तृप्ति महसूस होने से उसके लिये प्रतियोगियों का वर्णन चल रहा है। आनन्द की अभिव्यक्ति निरपेक्ष ही रहती है। कर्मादि की तरह श्रवणादि भी कृत्य नहीं रह गये—यह तृप्ति दिखाते हैं—

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः।। २६०।।

तत्त्व न जानने वाले श्रवण करें, जानता हुआ मैं क्यों करूँ? संशयग्रस्त लोग मनन करें, संशयरहित मैं मनन नहीं करता।

जिन्हें तत्त्व का ज्ञान नहीं वे सुनें, श्रवण करें। मैंने तत्त्व जान लिया, तो फिर मैं किसलिये श्रवण करूँ? इसी प्रकार जिनको प्रमेय-विषयक अभी संशय है, वे मनन करें। मुझे तो अब कोई संशय रहा नहीं इसलिये मैं मनन भी नहीं करता। श्रवण-मनन भी मेरे लिये कार्य नहीं हैं ॥२६०॥

ब्रह्मसंस्थ के लिये निदिध्यासन भी कर्त्तव्य नहीं रहा—

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम्।। २६१।।

विपरीत बुद्धिवाला निदिध्यासन करे, मुझे विपरीत-बुद्धि नहीं तो क्या ध्यान करूँ? देह आत्मा है—ऐसा उल्टा निश्चय मुझे कभी नहीं होता।

जिसको विपरीत ज्ञान होवे कि मैं शरीर और मन हूँ, यह संसार सत्य है, वह निदिध्यासन करे। पर ये दोनों भ्रम मुझे नहीं हैं। विपरीत ज्ञान होवे, तब उसको हटाकर संसार के मिथ्यात्व और अपनी ब्रह्मरूपता का चिंतन कर सकते हैं। लेकिन जब मुझे यह विपरीत ज्ञान होता ही नहीं, तो ध्यान क्या करूँ? शरीर की आत्मरूपता जो विपर्यास है, वह किसी भी काल में मुझे होता ही नहीं। इसलिये श्रवण-मनन-निदिध्यासन जो संन्यासी का कर्त्तव्य हैं मुझे प्राप्त नहीं हैं ॥२६१॥

मनुष्योचित व्यवहार भी विपर्यय के बगैर ही चलता है यह बताते हैं—

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम्।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते।। २६२।।

(मैं शरीर हूँ) इस भ्रम के बगैर भी 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि व्यवहार दीर्घ काल से डाली वासना से संभव हो रहा है।

जिस प्रकार मार्ग पर रोज़ आदमी जाने वाला है, उसे मोतिया बिंद आँख में हो गया तो मार्ग दीखता नहीं है, फिर भी वह उस मार्ग पर ठीक ही चल लेता है। नये मार्ग पर तो नहीं जा सकता, पुराने मार्ग पर वह अभ्यास से चल ही लेता है। इसी प्रकार जिस कार्य का अभ्यास है वह बिना सोचे हो जाता है, जैसे अपनी भाषा का प्रयोग करते समय व्याकरण-नियमों को सोचना नहीं पड़ता। जिस भाषा का अभ्यास नहीं है, जैसे संस्कृत, उसके प्रयोग में नियमों को सोचकर ध्यान रखना पड़ता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञ के वर्तमान शरीर में भोजन कर लेने का संस्कार है। घास खाने का, उड़ने का संस्कार नहीं है! अतः शरीर की दृष्टि रखकर 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी वृत्ति बनानी नहीं पड़ती, उसके संस्कार से तदनुरूप क्रिया हो जाती है। जन्म से लेकर आजतक के सारे संस्कार जैसे पड़े हैं, दीर्घकाल से जो अभ्यास किया है, उसके अनुसार व्यवहार के लिये विपर्यास की ज़रूरत नहीं पड़ती है। उन व्यवहारों के लिये 'मैं ब्रह्म नहीं, मनुष्य हूँ' ऐसे विपरीत निश्चय वाला होना ज़रूरी नहीं है **॥२६२॥**

इस व्यवहार की निवृत्ति कब होगी? इसका उत्तर देते हैं—

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद् ध्यानसहस्रतः।। २६३।।

प्रारब्ध कर्म समाप्त होने पर व्यवहार मिट जाता है। कर्म समाप्त हुए बिना हज़ारों ध्यानों से व्यवहार शान्त नहीं होता।

शरीर-मन को चलाने वाला प्रारब्ध कर्म है, और संस्कारों के अनुरूप चलते शरीरादि हैं। जब प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जायेगा तो व्यवहार-निवृत्ति हो ही जायेगी, फिर व्यवहार नहीं है। अज्ञानी प्रारब्ध कर्म का भोग भी करता है और कर्तृत्व बुद्धि से नये कर्म भी करता है इसलिये उस से फिर नये शरीर की प्राप्ति हो जाती है। जब कर्तृत्व-बुद्धि से नहीं किया जा रहा, केवल प्रारब्धभोग मात्र हो रहा है, तब आगे कर्म नहीं बन सकता। प्रारब्ध परमेश्वर का संकल्प है कि 'इस शरीर से ये भोग होने हैं'। भोग केवल एक के नहीं होते। अनेकों का आपसी लेन-देन (ऋण) सम्पन्न होने के लिये भोग ज़रूरी है। जो प्रारब्ध हमें ही भोग कराता है, उसे हम ध्यान से छोड़ भी देवें, पर जो हमारे द्वारा दूसरे को प्राप्त होना है, वह तो ध्यान से छूटेगा नहीं अन्यथा उस दूसरे को वह सब उपलब्ध ही नहीं होगा। इसलिये कहा कि जब तक प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं हो जाता, तब तक यह व्यवहार हज़ारों बार ध्यान करने से भी समाप्त नहीं होता। भगवान् ने गीता में कहा है 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'। प्रश्न उठता है कि जो इस प्रकार का ज्ञानी है उसकी पुत्रोत्पत्ति में तो प्रवृत्ति नहीं होगी फिर उसके कुल में जन्म कैसे लेगा? वहाँ विचार कर यह बताया है कि सामान्यतः तो प्रवृत्ति नहीं होगी, पर प्रारब्धवश कुछ हेतु बनते हैं जिनसे वह प्रवृत्ति भी होती है, अतः

ज्ञानियों को भी सन्तान आदि उत्पन्न होते हैं। उद्दालक आरुणि-श्वेतकेतु पिता-पुत्र थे। भगवान् ने यह अवश्य कहा कि यह होना कठिन है कि ऐसी जगह जन्म हो जाये। इसलिये कहा कि हज़ारों ध्यान कर लो, लेकिन ऋणानुबन्ध से जो चीज़ चुकानी है, वह तो चुकानी ही पड़ेगी ॥२६३॥

कोई कहे कि व्यवहार को कम तो कर सकते हैं। तब कहा—

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः।। २६४।।

व्यवहार की कमी चाहिये हो तो तुम ध्यान करो। व्यवहार को मैं बाधक नहीं देखता तो ध्यान किसलिये करूँ?

यदि कोई व्यवहार को कम करना चाहता है, उसकी विरलता उसे इष्ट है क्योंकि उससे उसे विक्षेप होता है तो ज़रूर ध्यान करे। शिष्य या वादी से कहा कि ज्ञान के बाद यदि तुम अपने प्रारब्ध के भोगों को कम करना चाहते हो तो उसके लिये ध्यान करो। इसकी ज़रूरत तभी होगी जब ध्यान में शान्ति है और व्यवहार में अशांति है। व्यवहार करने में तुमको अशांति अनुभव होती है तो तुम ध्यान करो। पर मुझे व्यवहार किसी प्रकार से परमात्मस्वरूप-स्थिति में अंतर नहीं लाता अतः ध्यान का प्रयोजन नहीं। दो तरह के लोग होते हैं—कुछ लोग निश्चय-प्रधान और कुछ प्रतीति-प्रधान। जैसे कुछ को मूर्ति में देवत्व का निश्चय होता है, वे मूर्ति देखकर 'देवदर्शन हुआ' समझते हैं। कुछ को निश्चय न होने से प्रतीति पर निर्भर होते हैं। दयानन्द तो प्रतीति के कारण इस विश्वास के हो गये कि मूर्ति में देवता हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार जिसकी ब्रह्म-दृष्टि दृढ हो गई है, सारा जगत् प्रतीत होने पर भी वह जानता है कि यह सब प्रतीत ही हो रहा है, है नहीं। जब तक ऐसी दृढता नहीं होती, तब तक नाम-रूप देखने पर विक्षेप होगा। सुनामी की बाढ़ में हज़ारों आदमी मर गये, बुरा हुआ—दृढ ब्रह्मदृष्टि वाले को ऐसा नहीं लगेगा। जिस को बुरा लगता है, वह ध्यान करे। मुझे तो कुछ विक्षेप होता नहीं है, व्यवहार बाधा करता नहीं; जो नाम-रूप तीन काल में है नहीं, वह कैसे दुःख का कारण बन सकता है? अतः मैं किस कारण से ध्यान करूँ? ॥२६४॥

ध्यान की तरह समाधि भी कार्य नहीं बची—

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद् विकारिणः।। २६५।।

क्योंकि मुझे विक्षेप नहीं इसलिये मेरी समाधि भी नहीं है। विकारवान् मन के ही विक्षेप व समाधि होते हैं।

मुझे विक्षेप ही नहीं है, क्योंकि यह प्रतीति मन में होती है, मुझ में तो होती नहीं है।

विक्षेप ही नहीं है तो समाधि भी क्यों होगी! मन विक्षेप करे या समाधि करे, मेरा कुछ नहीं क्योंकि मन से मैं भिन्न ही हूँ। मन भी मेरा रह नहीं गया। विक्षेप हो या समाधि, विकारी मन के ही धर्म हो सकते हैं। मेरा तो वे धर्म हैं नहीं **॥२६५॥**

समाधि का फलभूत अनुभव भी कर्त्तव्य नहीं रहा—

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः।। २६६।।

मैं सनातन अनुभवरूप हूँ, मुझसे अलग अनुभव कौन है (जिसे समाधि से प्राप्त करूँ)? मेरा यह निश्चय है कि करने योग्य सब कर लिया, पाने योग्य सब पा लिया।

मैं तो नित्य अनुभवरूप, सच्चिदानन्दरूप हूँ। विक्षेप का अनुभव भी अनुभवरूप ही है। समाधि का अनुभव भी अनुभवरूप ही है। अनुभव वैसा ही है, केवल विषय में फ़रक है। नित्य अनुभव हूँ तो समाधि से क्या प्राप्त करूँ? अनुभव से भिन्न समाधि का फल है क्या? अतः मुझे जो करना था वह सब कर लिया। अनुभवरूप में स्थिरता तक ही कर्त्तव्य है, वह मैं हूँ तो फिर करने को क्या रहा? जो भी प्राप्त करने योग्य है वह प्राप्त कर लिया। यही इस अवस्था का निश्चय है **॥२६६॥**

इस स्थिति में व्यवहार का निमित्त बताते हैं—

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्।। २६७।।

मुझ असंग अकर्त्ता का प्रारब्धानुसार लौकिक, शास्त्रीय या अन्य तरह का व्यवहार चलता रहे।

आचारवादी कहते हैं कि ज्ञानी को भी ठीक काम करना चाहिये। यदि कहो कि कर्त्तापना सर्वथा है ही नहीं तो संस्कारों से ग़लत आचार भी हो जायेगा। इसका एक परिहार कर ही चुके हैं कि जब तक अनाचार के संस्कार हैं, तब तक ज्ञान होता ही नहीं। श्रुति का नियम है कि जब तक दुश्चरित्रों से सर्वथा हट नहीं गया, जब तक मन सर्वथा शांत हो नहीं गया, एकाग्र हो नहीं गया तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो ग़लत आचार वाला है उसको ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतः यह संदेह व्यर्थ है कि ज्ञानी से अनाचार होगा, क्योंकि उसके अनाचार के संस्कार पहले ही समाप्त हो गये हैं। इहलौकिक व्यवहार प्रारब्ध के अनुरूप ही होगा। जो शास्त्रीय श्रवण, मनन आदि व्यवहार, वह भी होगा संस्कार से। उसके संस्कार अनाचार के तो हैं नहीं अतः लौकिक व्यवहार भी जैसा होना चाहिये वैसा ही होता है, ग़लत नहीं। जो बड़े काम करने वाले आधिकारिक लोग हैं, उनके कोई ऐसे भी प्रारब्ध कर्म होते हैं जो शास्त्र-दृष्टि से अनुचित न होने पर भी, लोकदृष्टि से

अनुचित हो जाते हैं। परमेश्वर की लीला में जो सहयोग करते हैं, उनके कार्य हम नहीं समझ सकते। नारद जी ने कंस को बताया कि आठवाँ कहीं से भी माना जा सकता है। भगवान् की लीलानुसार सात बच्चों के वध का पाप कंस के नाश के लिये आवश्यक था। अतः नारद जी केवल ईश्वरलीला में सहायक ही थे। इससे उनके ज्ञान पर कोई दोष नहीं आता। लेकिन साधक को यह समझना चाहिये कि इस 'अन्यथा' को अपनी किसी ग़लती के लिये ढाल न बनावे। ब्रह्मज्ञान अपने लिये है, किसी दूसरे को बतलाने के लिये नहीं है। परमेश्वर की लीला को पूर्ण करने का जिसको आदेश है वह कर लेगा। अपने मन से करके हम कहें कि 'हमें आदेश हो गया' तो हम अपने को धोखा देंगे। 'ममाकर्तुरलेपस्य'। मैं अकर्त्ता हूँ। किसी भी क्रिया से मेरा लेप नहीं हो सकता। यदि परमेश्वर ने आदेश दिया है, तब भी मैं अकर्त्ता हूँ; परमेश्वर के आदेश से शरीर, मन कर रहे हैं। 'अलेपस्य' लेप, संग से रहित। यह याद रखना। परमेश्वर के अनुचर की अलेपता एक विशेषता है। सारी दुनिया उसे कुछ बतावे फिर भी उसके मनमें यह कभी नहीं आता, शिकायत भी नहीं करता कि 'मेरे साथ ऐसा बुरा व्यवहार क्यों किया जा रहा है'। जानता है कि दोष शरीर-मन पर लगा रहे हैं, जो मैं हूँ नहीं। उसे कभी नहीं लगता कि मुझ पर दोष लग रहा है। 'यथारब्धं' जैसा प्रारब्ध है वैसा कर्म हो जाता है। ईश्वर का संकल्प ही प्रारब्ध है अतः ज्ञानी स्वीकारता है कि वैसा ही होवे। यहाँ तक ज्ञान की अवस्था की वास्तविक स्थिति को बतला दिया।। २६७।।

आगे प्रौढिवाद से विकल्प बताते हैं। प्रौढिवाद का मतलब है, 'अगर दूसरी बात कह दो तो भी हम उसको सिद्ध कर सकते हैं।' यहाँ तक जैसी वास्तविकता है, वैसा बतला दिया कि प्रारब्ध जैसा प्रवृत्त करे वही होवे। अब प्रौढिवाद से कहते हैं कि मैं अच्छा भी कर दूँ तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ता है—

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः।। २६८।।

अथवा कृतकृत्य होने पर भी लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से शास्त्रीय ही मार्गानुसार बर्ताव करूँ तो मेरा क्या नुकसान है!

अथवा, भले ही मुझे कुछ नहीं करना है, फिर भी लोगों पर अनुग्रह, करुणा का भाव है तो भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा। शास्त्रीय मार्ग से ही मैं प्रवृत्ति करूँ तो मेरा क्या नुकसान है! कुछ लोग उल्टा कहते हैं कि मुझे पाप लगना ही नहीं है, ज्ञानी हूँ, तो अखाद्य-भक्षण कर लिया करूँ! किंतु आचार्य ऐसा नहीं कह रहे वरन् शास्त्रीय मार्ग से व्यवहार करता हूँ तो लोगों को फ़ायदा हो जाता है, उनपर अनुग्रह हो जाता है। 'लोकानुग्रह' को ठीक से समझोः मैं सारे कार्य ठीक तरह शास्त्रीयविधि से करूँगा, उसे देखकर लोग करना

सीखेंगे—यह 'लोकानुग्रह' है। मैंने यदि शास्त्रीय व्यवहार किया तो मेरा कुछ बिगड़ा नहीं। मैं निर्विकल्प समाधि में चला जाता तो किसी का फ़ायदा नहीं होता। मेरे शास्त्रीय मार्ग से व्यवहार करने से लोगों को लाभ होगा। मुझे दोनों स्थितियों में कोई फ़रक नहीं पड़ता है। अतः मैं शास्त्रीय मार्ग से ही चलता हूँ, उससे मेरा कुछ नुकसान तो होता नहीं है, दूसरे का लाभ हो जाता है ॥२६८॥

गीता में भगवान् ने कहा है कि ज्ञानी की लोकसंग्रह करने के लिये प्रवृत्ति हो सकती है। उसके अनुसार यहाँ माना कि प्रारब्ध के अनुसार होवे तो ठीक है, लोगों पर अनुग्रह के लिये शास्त्रीय कर्म कर भी लेता है तो भी कोई हर्ज नहीं। शास्त्रीय कर्म ही बताते हैं—

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्त्ततां वपुः।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ।। २६९ ।।

देवताओं की अर्चना, स्नान, सफाई, भिक्षा आदि में शरीर व्यस्त रहे, वाणी प्रणव जपे या वेदान्त पढे।

शरीर, वाणी और मन से कर्म कर सकते हैं। तीन ही कर्म के साधन हैं। मनु ने भी मानसिक पाप, दैहिक पाप और वाचिक पाप का वर्णन किया। कर्म के लिये कर्मेन्द्रियों की जरूरत पड़ती है। ज्ञानेन्द्रियों से कर्म नहीं होता। कर्म का मतलब है जो चीज़ है उसमें परिवर्तन करना। यह दो प्रकार का है। उस स्थान में रखे हुए ही परिवर्तन अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायें। पहले को स्पंद कहते हैं, दूसरे को बाह्य क्रिया कह देते हैं। मन कर्मेन्द्रिय भी है, अतः मनसे कर्म होता है। वाणी कर्मेन्द्रिय है, अतः उससे कर्म हो जायेगा। हाथ-पैर आदि भी कर्मेन्द्रियाँ हैं, शरीर के अन्तर्गत उन सब को समझ लेते हैं। मन अपनी क्रिया में शरीर की अपेक्षा नहीं रखता। लंगड़ा आदमी भी मन से तेज़ दौड़ने की तो सोच ही सकता है। शब्द की विशेषता के अनुरोध से कर्मेन्द्रिय होते हुए भी वाणी को अलग गिना। इस प्रकार शरीर, वाणी और मन—ये तीन कर्म के साधन हैं। शरीर का कर्म है—देवार्चना, देवताओं की पूजा करना। यह शरीर से ही होती है। पूजा के लिये फूल उगाना उत्तम है, मध्यम है लगाये किसी और ने, तुम फूल तोड़ लो। निकृष्ट है कि कोई तोड़ कर लाये। अत्यन्त निकृष्ट है कि तुम खरीद कर लाओ। शरीर से जितना करोगे, उतनी ही देव-अर्चना उत्तम होगी। पूजा का जल स्वयं लाना, चंदन खुद घिसना श्रेष्ठ है। ऐसे ही शरीर से होने वाला स्नान है। ज्ञानी चाहे जैसा देवार्चन करले उसको कोई दोष नहीं होगा। पर शास्त्रीय ढंग से करेगा तो अज्ञानी भी तदनुकूल अनुसरण करेगा। ज्ञानी ने तो नमस्कार कर लिया तो पूरी पूजा हो गई। स्नान की भी विधि है। इसी प्रकार शौचविधि है। ज्ञानी के लिये सूतक-पातक अपेक्षित नहीं हैं पर लोकसंग्रह के लिये करता है। ज्ञानी की मायारूप माँ मर गई, ज्ञानरूप बेटा पैदा हो गया, पातक-सूतक दोनों लगे हैं, ज्ञानी कैसे संध्या करे! संन्यासी

भिक्षा नियम से करने जाता है ताकि दूसरे संन्यासी सीखें संन्यासी वाणी से ओंकार का जप करे। गृहस्थ वेदों का पाठ करे। ये सब शास्त्रीय मार्ग हैं ॥२६६॥

अब मन के पुण्य गिनाते हैं—

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नाऽपि कारये।। २७०।।

बुद्धि विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में डूबे, मैं साक्षी हूँ, न कुछ करता हूँ न कराता हूँ।

बुद्धि चाहे सगुण परमेश्वर विष्णु का ध्यान करे अथवा ब्रह्मानन्द में लीन होकर रहे, निराकार का ध्यान करे। सगुण परमेश्वर का ध्यान करने से ज्ञानी का कुछ नहीं बिगड़ता है पर उसे विष्णु का ध्यान करता देख अन्य लोगों की प्रवृत्ति हो जाती है। ज्ञानी के जो संस्कार पूर्व काल से दृढ हैं तदनुसार करता रहता है। चतुर्थ आश्रम-सम्बन्धी अधिकतर कर्म यहाँ बताये गये हैं। ये सब बुद्धि, वाणी, शरीर में हो रहे हैं, उनका मैं तो साक्षी हूँ। शास्त्रीय कर्म लोकसंग्रह के लिये होवे, पर मैं इनको करने वाला नहीं, कर्त्ता नहीं बनता हूँ। 'मैं' तो किंचित्मात्र भी नहीं कर रहा हूँ। 'नापि कारये' मैं प्रवर्तक कारण भी नहीं, केवल साक्षी हूँ। चुम्बक लोहे से कोई क्रिया नहीं कराता है, लोहे का चूरा स्वयं उस ओर खिंचता है। दीपक पतंगों को स्वयं खींच नहीं रहा है, दीपक है अतः वे स्वयं खिंच रहे हैं। इसी तरह प्रारब्ध कर्म है, इसलिये शरीरादि संस्कारों से कर्म कर रहे हैं। आत्मा वहाँ रहते हुए भी करता या कराता नहीं है ॥२७०॥

निष्कर्ष बतलाते हैं—

एवं च कलहः कुत्र सम्भवेत् कर्मिणो मम।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत्।। २७१।।

इस तरह कर्मी से मेरी कलह कहाँ है! हम दोनों के विषय क्योंकि अलग हैं जैसे पूर्व और पश्चिम के समुद्र।

ऐसा होने के कारण कर्मी से मेरा झगड़ा कहाँ हो सकता है! कर्मी कहता है, शरीर-वाणी-मन को यह करना चाहिये। मेरा विषय आत्मा, जिसका देह-वाणी-मन क्या करे इससे मतलब नहीं। मेरा विषय साक्षी, आत्मतत्त्व है। मैं तो यह नहीं कहता कि शरीर शास्त्रीय कर्म न करे। वैसा कहता तो मतभेद होता। मैं ऐसा कहता नहीं। जैसे पूर्व समुद्र बंगाल की खाड़ी, पश्चिम समुद्र अरब महासागर, दोनों के विषय अलग हैं ऐसे ज्ञानी व कर्मी के विषय सर्वथा अलग हैं ॥२७१॥

विषयभेद व्यक्त करते हैं—

वपुर्वाग्धीषुनिर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणि।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि।। २७२।।

कर्मी का आग्रह शरीर, वाणी, बुद्धि के बारे में है न कि साक्षी के बारे में। ज्ञानी का तात्पर्य साक्षी की निर्लेपता में है, अन्य किसी बारे में नहीं।

शरीर, मन, और इंद्रियाँ—इनके बारे में कर्मी का निर्बन्ध है कि ऐसा होना चाहिये। वह साक्षी के बारे में तो कुछ कहता नहीं कि साक्षी ऐसा होना चाहिये। और ज्ञानी का निर्बन्ध है कि साक्षी में कोई लेप नहीं। यह नहीं कहता कि मन-वाणी में लेप नहीं। साक्षी के बारे में कर्मी और उपाधि के बारे में ज्ञानी कुछ नहीं कहता। अतः दोनों के विषय ही अलग हैं ॥२७२॥

फिर भी इनमें मतभेद मानने वाले हँसी के पात्र हैं यह बताते हैं—

एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिराविव।
विवदेतां बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ।। २७३।।

इस तरह बहरों की तरह एक-दूसरे की बात से अनभिज्ञ कर्मी-ज्ञानी भले ही विवाद करें, उन्हें देखकर बुद्धिमान् तो हँसते ही हैं।

इस प्रकार कर्मी और ज्ञानी एक-दूसरे की बात बिना समझे ही विवाद कर सकते हैं। दो बहरों की तरह उनका विवाद होता है। परोक्ष ज्ञानी और कर्मी अपनी-अपनी बात कहते हैं तो अपरोक्ष ज्ञानी सुनकर हँसता है। कोई चाहे कहे कि मन निर्विकार रहे तो संभव नहीं क्योंकि मन तो विकारी है। साक्षी की बात मन आदि पर घटाने का प्रयास हँसी का हेतु है ॥२७३॥

कलह की निरर्थकता समझाते हैं—

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित्।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते।। २७४।।

जिस साक्षी का विवेकपूर्ण अनुभव कर्मी को नहीं, तत्त्ववेत्ता उसे ब्रह्मरूप समझे इसमें कर्मी की क्या हानि?

कर्मी साक्षी के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता। तत्त्वज्ञ साक्षी को ब्रह्म समझता है। अतः इससे कर्मी को कोई फ़रक नहीं पड़ता क्योंकि उसका संबन्ध तो शरीर-मन के साथ है। साधारण आदमी इसको नहीं जानते कि साक्षी अलग है, और उपाधियाँ अलग हैं। अतः तत्त्वज्ञ की बात उपाधि में देखना चाहते हैं, उपाधियों के धर्म साक्षी में मानकर प्रश्नादि करते हैं इसलिये कलह होती है जिससे जानकार को हँसी आती है ॥२७४॥

कर्मी के मत से ज्ञानी को भी हानि नहीं—

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनाऽनृतबुद्धितः।
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम्।। २७५।।

झूठे हैं—इस ज्ञान से ज्ञानी द्वारा शरीर-वाणी-बुद्धि छोड़े जा चुके हैं। इनसे कर्मी प्रवृत्ति करे, इसमें ज्ञानी का क्या बिगड़ता है?

देह, वाणी, बुद्धि—ये उपाधियाँ ज्ञानी ने छोड़ दीं। ये झूठे हैं, इस बुद्धि से ये आत्मा हैं यह निश्चय छोड़ दिया। कर्मी को इनसे ही मतलब है। शरीर, मन, वाणी को कर्मी सच्चा समझते हुए कर्म करता रहे तो क्या हानि! यदि कर्मी की तरह शरीरादि का आचरण हो तो साक्षी की हानि नहीं ॥२७५॥

ज्ञानी प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों से निरपेक्ष है—

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद् बुभुत्सायां तथेतरा।। २७६।।

यदि कहो कि प्रवृत्ति का कोई उपयोग नहीं तो बताओ कि निवृत्ति का ही क्या उपयोग? अगर निवृत्ति को ज्ञान में हेतु बताओ तो समझ लो कि प्रवृत्ति जिज्ञासा में हेतु है।

कोई कहता है कि ज्ञानी के लिये प्रवृत्ति उपयुक्त नहीं है, उसको शोभा नहीं देती। नियम यह है कि प्रयोजन के बिना मूर्ख भी कुछ नहीं करता। प्रवृत्ति किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये की जाती है। अतः ज्ञानी के लिये प्रवृत्ति शोभा नहीं देती, उसके अनुकूल नहीं है। इसके उत्तर में कहा कि फिर निवृत्ति से भी कोई लाभ नहीं! शरीर, इंद्रियाँ, मन संस्कार के अनुसार चलें तब भी उसको कोई फ़रक नहीं पड़ता अतः निवृत्ति करें तो भी कोई फ़रक नहीं पड़ता। यदि कहो कि निवृत्ति से ज्ञान दृढ होता है इसलिये ज्ञानी को निवृत्ति करनी चाहिये तो जान लो कि ज्ञान की इच्छा हो जाये इसके लिये प्रवृत्ति उपयोगी है। तात्पर्य है कि व्यावहारिक उपयोग दोनों का है, पारमार्थिक दोनों का नहीं ॥२७६॥

तत्त्वदृष्ट्या दोनों को निरुपयोग व्यक्त करते हैं—

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुद्ध्यते पुनः।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात्।। २७७।।

यदि कहो कि समझ चुका है इसलिये जिज्ञासा नहीं चाहता (तो कर्म उसके लिये व्यर्थ ही है), तो (यह भी स्पष्ट है कि समझ चुकने से) वह दुबारा जानता नहीं (कि निवृत्ति सार्थक हो)। ज्ञान बना रहे इसके लिये बाध नहीं होना चाहिये, और किसी साधन से बना नहीं रहता।

जो ज्ञानी है ही, इसलिये ज्ञान की इच्छा उसे नहीं हो सकती, अतः ज्ञान की इच्छा के लिये प्रवृत्ति करना बेकार है। ऐसे ही निवृत्ति ज्ञान की दृढता के लिये है। जैसे ज्ञान हो जाने पर ज्ञान की इच्छा नहीं वैसे ही दृढ ज्ञान हो जाने पर ज्ञान की दृढता के लिये निवृत्ति भी ज़रूरी नहीं। यदि कहो कि निवृत्ति नहीं करते रहे तो वह ज्ञान रह नहीं जायेगा; तो जवाब है कि बाध होने से ज्ञान कटता है अन्यथा ज्ञान बना ही रहता है। 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा कोई बाध करने वाला प्रामाणिक ज्ञान होता तो तत्त्वज्ञान कटता किन्तु जब बाध नहीं है तो ज्ञान वैसा ही बना रहेगा। अबाध से ही अनुवृत्ति होती है, निवृत्ति इत्यादि कोई अन्य साधन नहीं चाहिये ॥२७७॥

बाधक नहीं यह बताते हैं—

नाविद्या नाऽपि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः।। २७८।।

बोध का बाध न अविद्या न उसका कार्य कर सकता है क्योंकि वे दोनों पहले ही तत्त्वबोध से बाधित हो चुके हैं।

बोध का बाध न तो अविद्या कर सकती है, क्योंकि ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो चुकी। अब अविद्या का कार्य प्रारब्ध रह गया है। यह कार्य भी बोध को काट नहीं सकता क्योंकि इसके मिथ्यात्व का निश्चय है। इसको सत्य सिद्ध करने के लिये कोई भी कारण नहीं है। बाधक नहीं रहने से बोध की स्थिरता के लिये किसी प्रवृत्ति या निवृत्ति की उपयोगिता नहीं यह तात्पर्य है ॥२७८॥

असद्रूप से निश्चित की प्रतीति बाधक नहीं बनती यह बताते हैं—

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः।। २७९।।

बाधित जगत् इंद्रियों से भले ही दीखे, उससे तत्त्वबोध का बाध नहीं हो सकता। जीवित चूहा ही जब बिल्ली को नहीं मार पाता तो मरा हुआ उसे कैसे मारेगा?

जिसका बाध हो गया है, मिथ्यात्व का निश्चय हो गया है, वह देखा जाये इससे बाधा नहीं। जिस नाम-रूप से हमने धोखा खाया, कि यह सच्चा है, तत्त्वज्ञान होने पर पता लग गया कि यह सब परमेश्वर की लीला है। अब नाम-रूप सुख-दुःख दे नहीं सकते। अब परमेश्वर की माया देख कर प्रसन्नता होती है। पहले सच मानते रहे, अब बाधित होने के बाद इंद्रियों से दीखे, कोई हानि नहीं। जब नाम-रूप सच्चा लग रहा था, तभी तत्त्वज्ञान से हमने इसे झूठा सिद्ध कर दिया तो अब बाधित हुआ यह क्या फँसायेगा! चूहा ज़िन्दा ताकत वाला है तब भी बिल्ली को नहीं मार सकता तो फिर मरा चूहा उसे क्या मारेगा! नाम-रूप सच दीख रहा था तभी हमने इसका बाध कर दिया, अब तो यह बाधित है, झूठ दीख रहा है, तो कैसे बंधन में ले सकता है? ॥२७९॥

उक्त तथ्य अन्य उदाहरण से स्पष्ट करते हैं–

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः।
निष्फलेषुवितुन्नाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा।। २८०।।

पाशुपत अस्त्र से चोट खाकर भी जो मरा नहीं, बिना फल (नोक) के बाण से बींधे शरीर वाला होकर मर जायेगा–इसमें क्या प्रमाण?

महान् वीर पर पाशुपत अस्त्र चलाया, तब भी वह नहीं मरा। फिर, जिस बाण पर लोहा भी नहीं लगा, उससे अंग में चोट से मर जायेगा–इस बात को कैसे माना जाय! इसी प्रकार जीवित नामरूपात्मक माया का खेल जब हमको नहीं मार सका, अनन्त कल्प बीत गये, पर मेरी ब्रह्मरूपता पर कोई आँच नहीं ला सका, तो जब इसमें सत्यता का लोहा भी नहीं है तब मार देगा, यह कैसे माना जा सकता है?।। २८०।।

दृष्टांत का अभिप्राय सुनाते हैं–

आदावविद्यया चित्रैःस्वकार्यैर्जृम्भमाणया।
युद्ध्वा बोधोऽजयत् सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम्।। २८१।।

शुरू में अपने विचित्र कार्यों से फैली अविद्या से लड़कर ज्ञान जीत गया, अब मज़बूत होकर उससे काटा कैसे जायेगा?

शुरू में अविद्या के द्वारा अनेक प्रकार के कार्य, अनन्त संसार उत्पन्न किये गये हैं। बड़े विचित्र कार्य हैं। तारों का प्रकाश हजारों वर्षों में यहाँ पहुँचता है। अनेक अणु, परमाणु हैं, ऋणाणु धनाणु हैं। सारी विचित्र रचना है। अज्ञान पूरी तरह से मुझे खाने को तैयार था, खाने की कोशिश करता रहा। उन सब से मैंने युद्ध किया। शास्त्रीय कर्म व उपासना करके युद्ध किया, ज्ञानरूप विजय पाकर आत्मा बच कर अज्ञान के पंजे से मुक्त हुआ। जीत के बाद बोध सुदृढ भी हो गया, दीर्घकालीन निदिध्यासन द्वारा मज़बूत हो गया। उसको यह माया अब कैसे बाँध सकती है? सर्वथा नहीं ॥२८१॥

उक्त रूपक ही आगे चलाते हैं–

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः।
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः।। २८२।।

बोध से मारे अज्ञान और उसके कार्यरूप मुर्दे पड़े रहें, बोधरूप सम्राट् को उनसे कोई डर नहीं बल्कि उनसे उसकी कीर्ति ही होती है।

अज्ञान अब शव की तरह है, प्रतीतिमात्र है। क्योंकि कार्य दीख रहे हैं तो कारण भी है किंतु प्रतीतिमात्ररूप। इसी को लेशाविद्या कह देते हैं। अज्ञान और प्रारब्ध से जो अज्ञान का कार्य दीख रहा है, इनके मिथ्यात्व का अब दृढ बोध है क्योंकि ज्ञान के द्वारा ये मार

डाले गये हैं। अब तो मुर्दे पड़े हैं। अब जो अविद्या और अविद्या का कार्य जैसा दीखता है वह बाधित होने से है नहीं। बोध, ज्ञानरूप जो सम्राट् है, उसे अब कोई भय नहीं है कि इनके द्वारा हमारा ज्ञान अस्थिर हो जायेगा। निवृत्ति की तब तक ज़रूरत है जब तक बोध की अस्थिरता की संभावना है। जब ऐसी संभावना नहीं फिर निवृत्ति की भी ज़रूरत नहीं, प्रवृत्ति की भी ज़रूरत नहीं। इसको देखकर यश का अनुभव होता है कि 'मैंने इतने बड़े दुश्मन को मार डाला' ॥२८२॥

प्रसंग से (श्लोक २६४ आदि से) जोड़ते हुए कहते हैं—

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयाऽस्य किम्।। २८३।।

जो ऐसे अत्यन्त वीर दृढ ज्ञान से रहित नहीं होता, शरीरादि में होने वाली प्रवृत्ति या निवृत्ति से उसे क्या मतलब!

ज्ञान अत्यंत शूर है, क्योंकि इसने अनादिकाल के अज्ञान को नष्ट कर दिया। जो ऐसे ज्ञान से कभी विमुक्त नहीं होता उसके देह, मन आदि प्रवृत्ति करें या निवृत्ति करें, कोई अंतर नहीं पड़ता। अन्तर तभी तक है जब तक अज्ञान और उससे होने वाली कामना है ॥२८३॥

अज्ञानावस्था में प्रवृत्ति सार्थक बताते हैं—

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा।
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः।। २८४।।

बोधरहित का प्रवृत्ति में आग्रह बिलकुल संगत है क्योंकि मनुष्यों को चाहिये कि स्वर्ग या मोक्ष के लिये प्रयास करें।

प्रवृत्ति-निवृत्ति से तटस्थता दृढ ज्ञानी ही कर सकता है। जिसका ऐसा ज्ञान नहीं है, उसका प्रवृत्ति में आग्रह ही उचित है क्योंकि अभी इष्ट और अनिष्ट बुद्धि है। प्रवृत्ति उचित है, जब तक दृढ ज्ञान नहीं होता। जिसको अभिमान है कि 'मैं मनुष्य हूँ' वह या तो स्वर्ग के लिये प्रवृत्ति करे, शास्त्रीय कर्ममार्ग में प्रवृत्ति करे, या अपवर्ग, मोक्ष के लिये करे। ज्ञानी के लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है, ऐसा देखकर दृढ ज्ञान से पूर्व ऐसा करेगा तो गड़बड़ हो जायेगी। दृढ ज्ञान के बाद ही कुछ कर्त्तव्य नहीं है, उससे पहले तो स्वर्ग के लिये या मोक्ष के लिये करो। अपने वर्णधर्म और आश्रमधर्म के अनुसार करो ॥२८४॥

अनाग्रही विद्वान् कर्मसंगियों में कर्म करे यह बताते हैं—

विद्वांश्चेत् तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः।। २८५।।

विद्वान् यदि कर्माग्रहियों के बीच हो तो उनके अनुरोध से शरीर, मन, वाणी से सब क्रियायें करता है।

अज्ञानी को तो प्रवृत्ति में आग्रह करना चाहिये। ज्ञानी के लिये आग्रह नहीं है। यदि उसे प्रवृत्ति करने वालों के बीच रहना है, तो क्योंकि उन लोगों के ऊपर करुणा उसका स्वभाव है, और भगवान् ने भी 'करुण एव च' से यह कहा है, इस अनुरोध से कि ये लोग ठीक मार्ग पर चलें इसलिये वह कर्म करता है। सगुण का ध्यान करता है या निर्गुण में मन स्थिर रखता है। शरीर वाणी मन से सारी क्रियायें करता ही है। उसको करना चाहिये—यह नहीं कहा। करुणावश उससे लोगों का मार्गदर्शन होता ही है। जब कर्मियों के मध्य है, तब तदनुकूल कर्म करता है ॥२८५॥

अनाग्रही विद्वान् जिज्ञासुओं में कैसा व्यवहार करता है यह बताते हैं—

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम्।। २८६।।

जिज्ञासुओं के मध्य जब यह ज्ञानी रहे तब फिर उन्हें समझाने के लिये सारी क्रियाओं में दोष बताते हुए स्वयं उन्हें छोड़े रहे।

यह ज्ञानी जब जो लोग आत्मज्ञान के इच्छुक हैं, उनके बीच में रहे तब उनको ज्ञान होवे इसके लिये सर्वकर्मपरित्याग करे, सारी क्रियाओं के दोषों को बतावे। जो मुमुक्षु नहीं है, उनकी शास्त्रादि क्रियाओं में प्रवृत्ति होवे इस प्रकार का व्यवहार करे। जो मुमुक्षु हो गये हैं उनके बीच रहकर सारी क्रियाओं का दोष बतावे। कर्म करना और छोड़ना—ये दोनों ही ज़रूरी हैं। जैसे घोड़ा गाड़ी के लिये है, हल के लिये नहीं, इसी प्रकार विवेक जाग्रत् करने के लिये कर्म हैं लेकिन ज्ञान के लिये अनुपयोगी हैं। क्रियाओं के त्याग के बिना श्रवण-मनन में लोग प्रवृत्ति नहीं कर सकेंगे। अतः तत्त्वज्ञान के लिये सारी क्रियाओं को छोड़ देवे, उनके दोषों को बतावे। जैसे सुरेश्वराचार्य ने कहा 'यज्ञ से दीवालें भी काली होंगी, दिमाग भी काले होंगे।' जिसका अभी विवेक जाग्रत् ही नहीं हुआ है उसको तो यज्ञ करना पड़ेगा। जिनको विवेक प्राप्त नहीं हुआ है वे कर्म करते हुए उसे प्राप्त करें। फिर ज्ञानप्राप्ति के लिये क्रियाओं को छोड़ना चाहिये। अतः ज्ञानी कर्म के दोषों को बतलावे और स्वयं भी न करे। कर्मियों के बीच में करे, मुमुक्षुओं के बीच में न करे ॥२८६॥

ऐसे भेदभावपूर्ण व्यवहार को उपपन्न करते हैं—

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः।। २८७।।

अज्ञानियों के स्तर के अनुरूप विद्वान् का व्यवहार उचित है (क्योंकि वे दयनीय और यह दयालु होता है) जैसे शिशु के अनुसार उसका पिता बर्ताव करता है।

देखा जाता है कि जो अभी माँ के स्तन-पान को कर रहा है, अर्थात् अत्यन्त छोटा बच्चा है, उसके अनुसार ही उसका बाप बर्ताव करता है अर्थात् वह जिस बात की ज़िद करता है, वह बात पूरी कर देता है क्योंकि अभी बच्चा है, समझाने का तो कोई लाभ नहीं, समझ

सकता ही नहीं। यह कठिनाई बच्चों के साथ होती है। प्रसिद्ध है कि बीरबल एक बार देर से आया। अकबर ने कारण पूछा। बीरबल ने बताया 'मेरा बच्चा ज़िद कर रहा था, इसलिये आने में देरी हो गई।' अकबर ने कहा 'जैसा वह कहता था वह काम कर देते।' उसने कहा 'छोटे बच्चों के अनुसार करना बड़ा मुश्किल होता है।' अकबर ने पूछा 'ऐसा कैसे हो सकता है? तू छोटा बच्चा बन जा, मैं बाप हूँ; बता क्या करना है?' उसने कहा 'गन्ना मँगाओ, इसको छीलो।' छील दिया। 'इसकी गंडेरी काट दो।' काट दी। 'अब इसको जोड़कर छिलका चढ़ा दो!' नहीं किया तो बीरबल रोने लगा। बच्चों को समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है। इसी प्रकार अज्ञानी बच्चों की तरह ही हैं। बच्चा मूर्खता की बात कहेगा। पढ़ा है नहीं, परीक्षा में प्रश्न के उत्तर ठीक लिखे नहीं। परीक्षाफल आने वाला है। कहेगा 'आप आशीर्वाद दीजिये, मैं प्रथम श्रेणी में आ जाऊँ।' ऐसे अज्ञानी को समझाना व्यर्थ है। वह समझने में असमर्थ है। जो ज्ञानी है वह तो उसके अनुसार यथायोग्य आचरण कर सकता है। अज्ञ चाहता है 'मुझे संसार के विषयों से सुख की प्राप्ति होवे। धन मिल जाये, नौकरी मिल जाये। सुखी हो जाऊँ।' ज्ञानी निश्चित जानता है कि तीन काल में भी संसार से सुख होगा नहीं। आचार्य शंकर कहते हैं कि संसार के अन्दर सुख की गंध तो नहीं है, गंध की लेश भी नहीं है! अज्ञानी को यह तथ्य समझा नहीं सकते। वह मुमुक्षु तो है नहीं। उसको समझाने की चेष्टा व्यर्थ है। कहेगा 'दुनिया में इतने लोग धन से सुखी हो रहे हैं, हम क्यों नहीं होंगे? आप टालना चाहते हैं, आशीर्वाद नहीं देना चाहते।' यही कह सकते हैं 'तुम्हें पैसा मिल जायेगा।' हम तो जानते हैं कि जितना पैसा होगा, उतना ज़्यादा दुःखी होगा, पर उसको कहने से लाभ नहीं। इसलिये उस के अनुसार वृत्ति रखनी पड़ती है। वृत्ति मायने बर्ताव। ज्ञानी वैसा ही कर सकता है जैसे छोटे बालक के साथ बाप करता है। पिता का दृष्टांत दिया क्योंकि सारे जगत् का वही अधिष्ठान है, उसी अधिष्ठान के अन्दर माया ने सारे संसार की रचना की है। इसलिये संसार के सारे प्राणियों का असली पालन करने वाला वही है। इसलिये पिता है **॥२८७॥**

दृष्टांत स्पष्ट करते हैं—

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत्।। २८८।।

शिशु अनुचित बोल दे या मारे तो भी उसका पिता न क्लेश अनुभव करता है, न क्रोध करता है बल्कि उसे पुचकारता है।

बालक पिता पर अधिक्षेप करता है। पिता को बालक ने कहा था, 'रसगुल्ला ले आना।' बाप के पास पैसा है या नहीं, बच्चे को तो कुछ पता नहीं। बाप के पास उस दिन पैसे नहीं आये। लड़के ने पूछा 'रसगुल्ला लाये या नहीं?' बाप ने कहा 'आज तो नहीं लाया।' बालक कहेगा 'आप कभी मेरा कहा नहीं करते हो' इत्यादि अनुचित आक्षेप लगाता है। कई बार बहुत छोटा बच्चा पिता को लात भी मार देता है। बालक द्वारा ऐसा करने पर उसका जो पिता है, वह क्लेश को प्राप्त नहीं करता, न गुस्सा करता है। किसी तरह उसका लालन करता है, उसे मनाता है **॥२८८॥**

दार्ष्टान्त में घटाते हैं–

निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति।
न स्तौति किन्तु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाऽऽचरेत्।। २८६।।

अज्ञानी विद्वान् की निन्दा करे या स्तुति, वह खुद स्तुति या निन्दा नहीं करता किंतु उन्हें जैसे ज्ञान होवे वैसा आचरण करता है।

अज्ञानी निन्दा करते हैं। कभी उन्होंने देख लिया कि मुमुक्षुओं के बीच रहते विद्वान् ने संध्या, पूजा पाठ आदि कर्म नहीं किये और कभी किये तो निन्दा करते हैं, 'हम लोग सामने होते हैं तो करते हैं, नहीं तो कुछ नहीं करते। सब दिखावा है।' कुछ लोग स्तुति, प्रशंसा करते हैं, 'कितने ढंग से इन्होंने सब कर्म इत्यादि किये।' लेकिन अज्ञानियों के ऐसा करने पर भी वह उन अज्ञानियों की निन्दा नहीं करता है और न प्रशंसा ही करता है। जिस किसी प्रकार से उन्हें ज्ञान होवे, वैसा ही आचरण करता है।। २८६।।

उसका ऐसा आचार उपपन्न करते हैं–

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत्।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः।। २६०।।

यह अज्ञानी इस संसार में विद्वान् के जैसे आचार से तत्त्व समझे वैसा आचार विद्वान् करे यह योग्य है। लोक में अज्ञानी के प्रबोधन से अतिरिक्त तत्त्वज्ञ का कोई कार्य है ही नहीं।

'येनायं नटनेन'–जिस प्रकार के नृत्य से। 'नटनेन' इसलिये कहा कि शरीर आदि की ऐसी प्रवृत्ति होते हुए भी वह जानता है कि 'यह मैं नहीं हूँ'। जिस प्रकार से नट हरिश्चन्द्र का नाटक करते हुए निश्चित जानता है 'मैं हरिश्चन्द्र नहीं हूँ', एक क्षण को भी उसके मन में यह नहीं होता कि 'मैं हरिश्चन्द्र हूँ', इसी प्रकार ज्ञानी को निवृत्ति या प्रवृत्ति दोनों में से कुछ भी करते समय, यह बिलकुल नहीं लगता कि 'मैं करने वाला हूँ'। जैसा पहले बतलाया था, चुम्बक पत्थर लोहे को खींचता नहीं है, चुम्बक पत्थर है तो लोहा खिंच जाता है; उसी प्रकार *ज्ञानी* की न कोई प्रवृत्ति न निवृत्ति है। प्रवृत्ति के साधकों के उद्देश्य से उसके शरीर-मन तदनुकूल आचरण कर लेते हैं, निवृत्ति के साधकों के मध्य उसका शरीर-मन तदनुकूल आचरण कर लेता है। वह तो सर्वथा निष्क्रियभाव से ही रहता है। इसलिये कहा 'नटनेन'। अभी जो विवेक के योग्य है वह यज्ञ, दान आदि में प्रवृत्त होवे–ऐसा आचरण ज्ञानी से हो जाता है, और जिसे विवेक हो चुका है वह कर्मत्याग के द्वारा श्रवण-मनन करके, आत्मज्ञान पा जाये–इस प्रकार की प्रवृत्ति ज्ञानी की हो जाती है। बस वही उसका कार्य है। 'अत्र' अर्थात् प्रारब्ध के कारण व्यवहार होते समय अज्ञजन किसी प्रकार ज्ञान को प्राप्त करे–इसके सिवाय और कुछ उसे प्रेरित नहीं करता है। शरीर-मन प्रारब्ध-भोग करते हुए जैसों के बीच में रहता है तदनुकूल उसके शरीर-मन का आचरण हो जाता है। भाष्यकार के लेखरूप से

प्रसिद्ध एक 'जीवन्मुक्तानन्दलहरी' है, उसमें विस्तार से इसका वर्णन किया है। जिसको वास्तविकता का पता है उसके लिये अन्य कोई कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि वह जानता है कि और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है—प्राप्तव्य तो मनुष्य को एकमात्र ज्ञान ही है। उस ज्ञान की प्राप्ति में लोग चलें, यही उसकी इच्छा रहती है ॥२९०॥

श्लोक २५१ से बताना प्रारम्भ किया था तृप्ति को, उसी का उपसंहार करते हैं—

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्।। २९१।।

कार्य कर चुका होने से एवं प्राप्तव्य पा चुका होने से वह तृप्त विद्वान् निरन्तर तृप्त रहते हुए अपने मन से विचार करता है।

उसकी तृप्ति दोनों प्रकार की है—जो करना था सो सब कर लिया, अब कुछ करना नहीं है। और जो कुछ पाना था सो पा लिया, अब कुछ पाना नहीं है। अज्ञ-प्रबोधन भी उसके लिये *कार्य* नहीं है, स्वभाव से हो जाये तो हो जाता है। दोनों तरह के ज्ञानी देखे जाते हैं। कई लोग किसी को आते देख पत्थर मारते हैं क्योंकि जानते हैं कि उनके शरीर की प्रवृत्ति इस प्रकार की है नहीं जो अज्ञानी लोगों के लाभ की होवे। निवृत्ति-मार्ग वाला कोई आये तो उसके साथ वे ही ज्ञानी घण्टों लगा देते हैं क्योंकि पता है कि उनके शरीर-मन की ऐसी प्रवृत्ति है जो मुमुक्षुओं के लिये उपयोगी है। जिनके लिये उपयोगी नहीं है उन्हें दूर रहना ही अच्छा है ताकि विद्वान् की निवृत्ति से ग़लत बात न सीख लें। श्लोक २९० में 'कार्यम्' कहा था, इसे स्पष्ट करने के लिये कह दिया कि यहाँ कार्य का मतलब कृत्य की प्रतीति होवे ऐसा नहीं, दूसरों को वह कार्य भले ही लगता है। इसी प्रकार से जो कुछ भी प्राप्त करने योग्य है वह उसे प्राप्त हो गया। स्वरूपस्थिति के सिवाय और कुछ प्राप्तव्य है नहीं। कोई ऐसा न समझ लेवे कि यह ज्ञानी के अपने स्वरूप की ही तृप्ति है क्योंकि तृप्ति का अनुभव तो मन ही करता है, इसलिये कहा 'तृप्यन्नेवं स्वमनसा'। जिस मन से हमारा साथ रहा, और जिस मन ने ब्रह्माकार वृत्ति को बनाया, उस मन के लिये ही जो प्राप्तव्य ब्रह्म था वह प्राप्त हो गया और जो संसार के मिथ्यात्व का निश्चयरूप कृत्य था वह पूरा हो गया। इसलिये मन ही तृप्ति का भी अनुभव करेगा। एक क्षण के भी व्यवधान के बिना मन के अंदर यह भावना कि 'कृतकृत्य हूँ और प्राप्तप्राप्तव्य हूँ,' बनी ही रहती है। ये दोनों भाव मन में बने रहते हैं। जब तक मन है—जाग्रत् व स्वप्न में ही रहता है, सुषुप्ति में नहीं रहता—तब तक उसके अंदर ये भाव बने रहते हैं, इसलिये किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति यानि वृत्ति इसमें आ नहीं सकती। अन्यथा, अगर ये भाव मन में न रहें, तो स्वभाववश मन किसी चीज़ को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त हो सकता है। मन में जब ये भाव निरन्तर रहते हैं कि 'जो कुछ भी प्राप्त करने और पाने लायक था, वह प्राप्त कर लिया, इससे अतिरिक्त कुछ और नहीं है, मुझ ब्रह्म में ही सारा जगत्, अज्ञान के द्वारा कल्पित था, इसकी एक क्षण के लिये भी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है,' तभी कभी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। और अपने मन की यह

परीक्षा है। अगर कभी भी आ जाये कि 'यह चीज़ प्राप्त करने लायक है' तो समझ लेना चाहिये कि अभी दृढ बोध नहीं हुआ इसलिये 'निरन्तरम्' कहा ॥२९१॥

निरन्तर ऐसा मानता है, इसे उसके वचनों से प्रकट करते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्।। २९२।।

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, स्वात्मा को निरंतर साक्षात् जानता हूँ। मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मुझे ब्रह्मानन्द स्पष्ट भासता है।

अपनी अनुभूति यों व्यक्त करता है—मैं कृतकृत्य हो गया। जो कुछ करना था वह सब कर लिया। जो कुछ प्राप्त हो सकता था वह सब मुझे प्राप्त हो गया। यह अनुसन्धान मन करता रहता है। 'स्वात्मानम्' अपने आत्मा को जानता हूँ इसलिये धन्य हूँ। स्वात्मा का मतलब प्रत्यक् से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप से है। 'आत्मा' तो कभी शरीर को भी कह देते हैं मन या अहंकार को भी कह देते हैं। किंतु यहाँ 'स्व' से, प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो ब्रह्मतत्त्व है वह विवक्षित है। देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न प्रत्यगात्मा का जो स्वरूप ब्रह्म है उसको नित्य ही साक्षात् जानता है। यहाँ 'नित्यं' का मतलब है अनवरत, हर क्षण। 'अञ्जसा' अर्थात् स्पष्टरूप से। 'अहम् धन्यः' इसे दो बार कहा यह सूचित करने के लिये कि इस धन्यता के प्रति विद्वान् को आदर है, सद्भाव है। इसीलिये बार-बार याद करता है। पहले श्लोकार्ध में आत्मज्ञान का संकेत है और दूसरे में उसकी आनन्दरूपता का संकेत है। सब चीज़ें किसके लिये प्रिय हैं? अपने लिये प्रिय हैं। इसलिये अपना आपा आनन्द-स्वरूप है। बाकी जितने आनन्द हैं, वे सब अब्रह्मानंद हैं अर्थात् देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से उनमें आनन्द की प्रतीति है। यह देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न आनन्द है। 'स्पष्टम् विभाति' के द्वारा कह रहे हैं कि अब इसके भान के प्रति शास्त्रादि कोई कारण नहीं है। अनुभव हो जाने के बाद कोई निर्भरता नहीं रहती। अनुभव हुआ तो शास्त्र से पर अब उससे निरपेक्ष है। जैसे हमने घड़े को देखा तो आँख से, यदि उसके बाद आँख फूट जाये तो भी घड़े का *ज्ञान* बना ही रहेगा। इसी प्रकार शास्त्र के द्वारा ही ब्रह्मानन्द का ज्ञान हुआ, प्रमा हुई। अब उसके बाद शास्त्र की अनुवृत्ति नहीं रहेगी, तो भी वह ब्रह्मानन्द का ज्ञान स्फुरित होता ही रहेगा ॥२९२॥

अनिष्ट निवृत्त हो चुकने की भी तृप्ति रहती है—

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याऽज्ञानं पलायितं क्वापि।। २९३।।

अब दुःख-स्वरूप संसार का अनुभव नहीं रहा इसलिये धन्य हूँ, धन्य हूँ। मेरा अज्ञान कहीं भाग गया अतः धन्य हूँ, धन्य हूँ।

मन के अन्दर पुराने संस्कार तो हैं ही, कि पहले आत्मतत्त्व का सही पता नहीं था; इसलिए 'अद्य' का मतलब अब, ज्ञान के बाद जीवन्मुक्ति अवस्था में। संसरण से होने वाला

जो दुःख है उसका मिटना भी तृप्तिहेतु है। संसरण से दुःख होता है। अंतःकरण की वृत्ति एक के बाद दूसरे विषय में इष्ट और अनिष्ट बुद्धि से जाती है। मन जब एक के बाद दूसरी चीजों को सोचता है; कुछ को इष्ट बुद्धि से सोचता है, कि ये होवें तो अच्छा है; कुछ को अनिष्ट बुद्धि से सोचता है, कि ये न होवें तो अच्छा है। जब बुखार आ जाता है तब अनिष्ट बुद्धि से सोचता है, 'अरे, उस बुखार में बड़ी तकलीफ हुई थी, फिर नहीं होना चाहिये।' और यदि दाल का हलुआ याद आ जाता है तो इष्ट बुद्धि से कि ऐसा ही हलुआ फिर मिले। इष्ट और अनिष्ट दोनों बुद्धियाँ तभी हैं, जब तुम्हें पता है कि दाल का सीरा है और बुखार है। तत्त्वसाक्षात्कार से अब यह पता लग गया कि न दाल का सीरा है, न बुखार है। इनकी अवास्तविकता स्पष्ट होने के कारण सांसारिक दुःख नहीं रहता। संसरण से होने वाला दुःख ही है। सुख को यहाँ क्यों नहीं गिना है? उपलक्षणा कर ही सकते हैं, अन्यथा सीधा यही है कि आचार्य शंकर कहते हैं कि संसार में सुख की गन्ध का लेश भी नहीं है। इसलिये सुख की सम्भावना तो बहुत पहले चली जाती है! जिसको संसार वाले सुख समझते हैं, वह विवेक होने के बाद सुख नहीं लगता।

इसलिये भगवान् ने भी गीता में कहा है कि ये आगमापायी ही हैं अतः इनकी तितिक्षा करनी चाहिये। 'तितिक्षा' का मतलब होता है कष्ट को सहना। सारी ही आगमापायी चीज़ों को भगवान् ने तितिक्षा के योग्य ही कहा है, सबको सहन करना है। ऐसे समझ सकते होः जिसको तुम सुख समझते हो, उस सुख के उपलब्ध होने के पहले उसके लिये जितना प्रयत्न किया जाता है वह सब भी दुःखरूप ही है और उस सुख के पदार्थ के सेवन के बाद उसका जो अभाव है वह फिर दुःखरूप होता है। इसलिये कहा कि सांसारिक दुःख को नहीं देखता हूँ। कारण है कि इसकी वास्तविकता हट गई है।

किं च, मेरा जो अज्ञान था वह भी भाग गया। शरीर मन आदि के रूप में अज्ञान बैठा हुआ था जिसके कारण हमें अपने वास्तविक स्वरूप का पता नहीं लग रहा था। जैसा उपनिषत् में कहा हैः खेत के नीचे सोने के चरु गड़े होवें। नहीं जानने वाले उसके ऊपर से जाते हुए दुःखी रहते हैं कि 'हमारे पास पैसा नहीं है'! खेत उन्हीं का, रोज़ उसके ऊपर से जाते हैं, पर यह पता नहीं है कि यहाँ सोना है इसलिये उसका कोई लाभ नहीं ले पाते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण की प्रत्येक वृत्ति प्रकाशित होती है ज्ञान के प्रकाश से। बिना ज्ञान के प्रकाश के अन्तःकरण की कोई वृत्ति है नहीं। वह ज्ञान ही आनन्दरूप है पर हमें पता नहीं है। वृत्तियाँ उस ब्रह्म के ऊपर ही बन रही हैं। लेकिन अज्ञान है इसलिये लोगों को उस ब्रह्मानंद का पता नहीं है। वह जो अज्ञान की शिला थी आनंद के ऊपर वह कहीं भाग गई। जैसा विवेकचूडामणि में कहा है, 'अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्' अभी-अभी तो दीख रहा था, क्या है ही नहीं? कहाँ चला गया! इसी प्रकार संसार हमें अभी-अभी तो दीख रहा था, पर कुछ भी इसका बचा हुआ नहीं रहता है। इसलिये कहा कि वह भाग गया।

कहाँ भागा? 'क्वापि'। किसी भी चीज़ के भागने के दो तरीके हैं। एक तरीका, वह अपने कारण में चला जाये, जैसे घड़े को तोड़ दिया तो मिट्टी बच गई। ऐसे ही अज्ञान भागे

तो अपने कारण में जा सकता है। किन्तु यह अनादि है, इसका कोई कारण तो है नहीं। इसलिये अपने कारण में जाता नहीं। भागने का दूसरा तरीका है कि अन्य देश-काल में चला जाये किंतु देश-काल तो अज्ञान द्वारा ही कल्पित हैं इस लिये किसी अन्य देश-काल में चला जाये यह भी सम्भव नहीं है। जिस प्रकार, रस्सी में दीखा हुआ साँप कहाँ गया?—इसका क्या उत्तर देवें?। था ही नहीं तो गया कहाँ! इसी प्रकार अज्ञान था ही नहीं तो जाये कहाँ! इसलिये भाग तो गया, कहाँ भागा यह कह नहीं सकते क्योंकि कारण इसका है नहीं, अन्यत्र कहीं जा नहीं सकता। जो चीज़ है ही नहीं और प्रतीत हुई, जैसे साँप है ही नहीं और रस्सी में प्रतीत हुआ, उसका जाना 'कहीं' नहीं होता। कुछ कहना ही हो तो कह देते हैं कि वह अधिष्ठान ही बच गया 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः' ॥२६३॥

पुनः तृप्ति व्यक्त करते हैं—

धन्योहं धन्योहं कर्त्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्।। २६४।।

मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है। धन्य हूँ, धन्य हूँ सब प्राप्तव्य अब मिल गया।

अज्ञान का इस प्रकार से पलायन होने के बाद मैं धन्य हूँ क्योंकि कुछ भी करना शेष नहीं रहा है। इसीलिये समझाया था कि अज्ञप्रबोधन भी विद्वान् के लिये कर्त्तव्य नहीं, स्वाभाविक करुणा से होता है। कोई भी कर्त्तव्य बचा नहीं है और कुछ भी अब प्राप्त करने योग्य नहीं है। जो प्राप्त करने योग्य था वह सारा ही प्राप्त हो गया। प्राप्त करने योग्य तो एक आनंद ही होता है, लोग हमेशा आनंद ही चाहते हैं। अब देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न एक-जैसा अखंड आनंद रह गया। आनंद ही प्राप्त करने योग्य है जो स्वयं के रूप में मिल चुका ॥२६४॥

इस तृप्ति की अनुपमता कहते हैं—

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः।। २६५।।

मैं धन्य हूँ धन्य हूँ। मेरी तृप्ति के लिये लोक में उपमा क्या है! मैं पुनः पुनः अतिशय धन्य हूँ।

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ। मेरी जो ब्रह्मानन्द में स्थिति से तृप्ति है इसमें कोई लौकिक दृष्टांत नहीं है। तृप्ति तो हर हालत में मन की होगी। तृप्ति का अनुभव मन ही करेगा। मन कह रहा है—मेरी तृप्ति की लोक में कौन-सी उपमा हो सकती है? लोक में जो कुछ भी सुख है वह सारा परिच्छिन्न है। अपरिच्छिन्न के लिये परिच्छिन्न ठीक उपमा बनती नहीं क्योंकि दोनों सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न तरह के हैं ॥२६५॥

पुण्याधिक्य से ही यह स्थिति मिलती है यह सूचित करते हैं—

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयमहो वयम्।। २९६।।

मेरा पुण्य धन्य है जिसका दृढ फल मिल गया। इस पुण्य-सम्पादन से हम भी धन्य हैं, आश्चर्य हैं।

ऐसी स्थिति कैसे हुई? पुण्य के परिपाक से ही होती है। एक तो कर्मियों की दृष्टि में पुण्य है और दूसरा वेदान्तियों की दृष्टि में पुण्य है। कर्मियों की दृष्टि में जब कोई कर्म करता है तो उससे एक अपूर्व पैदा होता है जो फल देता है। इसके लिये प्रायः यह दृष्टांत दिया जाता है कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। हमने गेंद दीवाल पर मारी तो वापिस हमारी तरफ आती है। क्रिया की प्रतिक्रिया है—इससे और अतिरिक्त कुछ मानना कर्मी को नहीं लगता कि ज़रूरी है। किंतु जो लोक में क्रिया की प्रतिक्रिया देखी जाती है, वह तुरन्त होती है। ऐसा नहीं होता कि आज हमने दीवाल पर गेंद मारी और छह माह बाद गेंद वापिस आकर हमारे सिर पर लगे! प्रतिक्रिया तुरन्त होती है। कर्मवादियों ने माना कि शास्त्रीय क्रिया की प्रतिक्रिया होने तक, उस क्रिया का जो सूक्ष्मरूप अपूर्व है, वह रहता है, और फिर समय आने पर वह अपूर्व प्रतिक्रियारूप फल दे देता है। वेदान्ती कहता है कि जो अपूर्व तुम कहते हो, वह न तो कहीं शास्त्र में कहा है, न लोक में दृष्ट है। अतः इस कपोल-कल्पना को मानना ठीक नहीं। देखा क्या जाता है? नौकर ईमानदारी से काम करता है। उससे कहा 'आज रात काम से रुक जाना' उसने कहा 'ठीक है'। और कभी कहा 'सवेरे जल्दी आ जाना'। उसने कहा 'हाँ जी'। उन दिनों उसको कुछ नहीं देते हैं। परन्तु जब साल के अंत में तनख्वाह बढ़ानी होती है तब उसकी चार सौ रुपया बढ़ा देते हैं। पर यदि वह ऐसा व्यवहार नहीं करता, अतिरिक्त आवश्यकता के समय नहीं आता तो नियमानुसार साल के अंत में केवल सौ रुपया बढ़ा देते हैं। यह फ़र्क क्यों होता है? पुरुष तो जब किसी ने काम किया या नहीं किया उसको याद रखता है क्योंकि चेतन है। महिम्नःस्तोत्र में बताया है कि पुरुष की आराधना, चेतन की आराधना तुरन्त फल नहीं भी दे तो बाद में फल दे देती है। इसलिये भगवान् बादरायण ने सूत्र बनाया 'फलमत उपपत्तेः' ईश्वर से फल होता है, यही उपपन्न है। ईश्वर को फल देने वाला वेद ने भी कहा है, श्रुतिप्रमाण से सिद्ध है। लोकदृष्ट के अनुरूप है, युक्ति से भी सिद्ध है, इसलिये यही मान्य है कि ईश्वर फल देता है। अतः वेदांत सिद्धांत में कर्म का सूक्ष्मरूप पुण्य नहीं है, वरन् ईश्वर का संकल्प है। जो हम अच्छा या बुरा करते हैं, उससे ईश्वर के मन में 'इसको सुख होवे, या दुःख होवे' ऐसा संकल्प बन जाता है। कर्म से ईश्वर का संकल्प और ईश्वर के संकल्प से फल होता है।

अगर हम बेटे की तरह काम करते हैं, तो बेटे के लायक फल का संकल्प होता है और नौकर की तरह काम करते हैं तो नौकर जैसा फल देने का संकल्प होता है। नौकर केवल वेतन के लिये काम करता है इसलिये जितना वेतन उसका बढ़ाना चाहिये, उतना ही बढ़ता

है। बेटा तो केवल बाप की खुशी के लिये काम करता है। नौकर चाहे जितना बढ़िया काम कर ले, दुकान की मिलकियत कोई नौकर को देकर नहीं जायेगा। वह तो बेटे को ही दी जाती है क्योंकि वह बाप की खुशी के लिये काम करता है। इसी प्रकार हम ईश्वरार्पण-बुद्धि से करते हैं, अर्थात् 'इस कर्म का फल मुझे होवे' यह हमारे मन में नहीं है। ईश्वर ने वेद आदि में आज्ञा दी है, तदनुरूप हम कार्य करते हैं ताकि वे प्रसन्न होवें। इस प्रकार से ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करने पर परमेश्वर का संकल्प होता है 'इस जगत् का अधिष्ठान यह बन जाये। मैं इस जगत् का अधिष्ठान हूँ। वैसे ही इस जगत् का अधिष्ठान यह बन जाये।' जब यह संकल्प होता है तब उसमें विवेक वैराग्य आदि का उदय होता है, सद्गुरु की प्राप्ति होती है और निःसंशय ज्ञान होकर ज्ञान की दृढता को प्राप्त करता है। इसलिये वेदान्त शास्त्रों में इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उसी को ज्ञान होता है जिसने अनेक जन्मों तक ईश्वरार्पण-बुद्धि से शुभ कर्म किये हैं। गीता में भगवान् ने भी यही कहा है 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'। अपने कर्म से उनकी पूजा करे, फलप्राप्ति के लिये नहीं। परमेश्वर की यह सृष्टि है, मैं परमेश्वर की प्रसन्नता चाहता हूँ, इसलिये इस सृष्टि में जिस प्रकार शरीर मन का व्यवहार होना चाहिये, वैसा व्यवहार मैं करता हूँ। 'अहो पुण्यम्' इस प्रकार निष्काम कर्मानुष्ठान से होने वाला पुण्य धन्य है कि जिसने मुझे इस भाव की प्राप्ति करा दी।

'अहो पुण्यम् अहो पुण्यम्' दो बार कह कर श्रुति ने धन्यता प्रकट की है। इस पुण्य के कारण ही, ज्ञान भी हुआ। और ज्ञाननिष्ठा भी प्राप्त हुई। पुण्य कम हो तो ज्ञान प्राप्त होने पर भी निष्ठा पर्यन्त नहीं जा पाते। इस रास्ते में कम लोग ही जाते हैं, और जो इस रास्ते पर चलते हैं। उनमें भी कम ही होते हैं जो ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करें, जैसा 'मैं' हूँ वैसा जानें और उसी भाव में स्थित रहें। पुण्य भी धन्य है कि मुझे दृढ बोध करा दिया। ऐसे पुण्य मैं कर पाया क्योंकि भगवत्-कृपा थी। कल्याण के मार्ग पर चलने में बहुत विघ्न आते हैं। कोई बुरा काम करने चलो, तो सब तुम्हारी मदद करेंगे, अच्छा काम करने चलो तो सब तुम्हारे विरोधी होंगे! बड़े वकील चार्टर्ड एकाउण्टेंट, सब इसलिये बैठे हैं कि तुम्हें झूठ बोलना सिखा सकें। ऐसे सच बोलना सिखाने वाले दुर्लभ हैं। तुम सच बोलना चाहो तो सब कहेंगे 'यह अव्यावहारिक है। भूखे मर जाओगे, बच्चों को ऐसी शिक्षा देकर।' इसलिये कहा 'श्रेयांसिबहुविघ्नानि' कल्याण के मार्ग पर चलो तो बहुत विघ्न आते हैं। ऐसे पुण्य का मैं सम्पादन कर सका यह आश्चर्य है। इसीलिये उपनिषदों ने कहा है कि परमात्ममार्ग का पथिक सब देवताओं को खुश करे अन्यथा देवता विघ्न करते हैं क्योंकि देवता नहीं चाहते कि किसी को आत्मज्ञान हो। कारण कि, आत्मज्ञानी की सेवा में उनको खड़े रहना पड़ता है! आत्मज्ञानी के सामने देवताओं को भेंट लेकर उपस्थित होना पड़ता है। जो व्यक्ति अभी तक हमारा गुलाम था, अब वह हमारा मालिक बन जाये—यह कौन चाहेगा? इसलिये देवता इसमें हमेशा विघ्न करते हैं। किसी को भी तपस्या करते देखकर विघ्न करने को तैयार रहते हैं। इसलिये उन लोगों को आत्मज्ञान से पूर्व अच्छी तरह से मनाते रहना चाहिये जिससे वे विघ्न न करें। ऐसे पुण्य को हमने सम्पन्न कर लिया अतः हम भी धन्य हैं।

यहाँ 'वयम्' में बहुवचन का प्रयोग है। यह हो सकता है कि चिदाभास अपनी श्रेष्ठता

को बतलाने के लिये बहुवचन का प्रयोग कर रहा है। अथवा, कूटस्थ जानता है कि सारे प्राणियों के अन्दर मैं ही बैठा हुआ हूँ। इसलिये जो शिष्यादि, और सतीर्थ्य आदि इस प्रकार के पुण्य को सम्पन्न करके परमात्मज्ञान तक पहुँच रहे हैं, वे सब हम ही हैं। चिदाभास भी कूटस्थ को अपना सच्चा स्वरूप देख रहा है। इसलिये चिदाभास भी कूटस्थ को देख कर अपनी सर्वरूपता का स्मरण करके कहता है 'वयम्'। भाष्यकार ने कहा है कि जो ऐसा जाने कि 'मैं तो ज्ञानी हूँ, बाकी अज्ञानी हैं' वह अभी ज्ञानी है ही नहीं। 'मैं' कूटस्थरूप हूँ, चिदाभासरूप तो हूँ नहीं। ज्ञानी चिदाभास है। जब तक चिदाभास के अन्दर मैं-दृष्टि रहती है तब तक तो 'मैं ज्ञानी' यह बोध रहता है, जब कूटस्थभाव में स्थित होता है तब जहाँ कहीं ज्ञान प्रकट हो रहा है वह सब मैं ही हूँ यह अनुभव होता है। इसलिये बहुवचन का प्रयोग ठीक हो जाता है ॥२९६॥

पुण्य की तरह शास्त्र व आचार्य भी आश्चर्य और धन्य हैं कि ज्ञानहेतु बनते हैं—

अहो शास्त्रमहो शास्त्रम् अहो गुरुरहो गुरुः।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानम् अहो सुखमहो सुखम्।। २९७।।

शास्त्र, गुरु, ज्ञान और सुख, सभी आश्चर्य एवं धन्य हैं।

'अहो शास्त्रम्' शास्त्र भी धन्य है। शास्त्र उसको कहते हैं जो शासन करे। संसार में बाकी सब शास्त्र तो शासन ही करते हैं कि 'शासन में रहो'। एकमात्र उपनिषद् ही इस बात को कहती है कि हम तुम्हें वहाँ ले जा रहे हैं जहाँ हम भी नहीं रहेंगे! वेद अवेद हो जायेगा। यह शास्त्र धन्य है जो मुक्त करने के लिये स्वयं अपने को भी समाप्त कर देता है। बाकी जितने शास्त्र हैं, अपने को ऐसा नहीं कहेंगे कि इससे परे हो जाओ वरन् कहते हैं 'मेरी बात तो मानते ही रहो'। इसलिये यह शास्त्र धन्य है जो अपने को समाप्त करके भी तत्त्व की प्राप्ति कराता है। उपनिषद् भी अनादि काल से थी, मैं भी था, कूटस्थरूप भी था, परन्तु फिर भी ज्ञान नहीं हुआ। आचार्य सर्वज्ञात्म महामुनि स्पष्ट कहते हैं कि गुरु की कृपा ही विशेषता है जिससे अब ज्ञान हुआ, यह पहले नहीं थी। इसलिये श्रुति ने नियम किया है 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'। यदि उसका साक्षात् अनुभव करना चाहते हो, तो गुरु के पास ही जाओ। दूसरा कोई साधन नहीं कहा। गुरु के पास ही जाओ उसके विज्ञान के लिये। तब वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा स्वरूप के अंदर स्थिर करेगा। जिस गुरु के न होने पर सारे शास्त्र होने पर भी मेरा कल्याण नहीं हुआ और जो गुरु होने पर मेरा कल्याण हो गया वह गुरु भी धन्य है। इसीलिये आचार्यों ने (तत्त्वोपदेश श्लो. ८६) नियम किया है, 'यावदायुस्त्वया वन्द्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः मनसा कर्मणा वाचा श्रुतेरेवैष निश्चयः।।' जब तक प्रारब्ध है तब तक वेदान्त शास्त्र, गुरु और ईश्वर ये हमेशा ही वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं। मन से, कर्म से और वाणी से भी ये वंदनीय हैं। ऐसा नहीं कि भगवान् की मूर्ति के सामने गये, हमने केवल मन से नमस्कार कर लिया वरन् शरीर और वाणी से भी करना चाहिये। यही श्रुति का निश्चय है। गुरु वही है जो तत्त्व-साक्षात्कार करावे। उससे अतिरिक्त जो कुछ सिखाता है, उस गुरु को उपनिषद्वाक्य ने

नहीं कहा है। वैसे तो कोई भी ज्ञान देने वाला गुरु है। 'गु' शब्द अज्ञान को बताता है 'रु' शब्द अज्ञान मिटानेवाले प्रकाश को बतलाता है। इसलिये जिसने तुम को ककहरा पढ़ाया है वह भी गुरु ही है। मनुस्मृति कहती है कि 'जो एक अक्षर देने वाले गुरु के प्रति भी अनादर व्यक्त करता है वह निकृष्ट योनियाँ पाकर नरक जाता है।' परन्तु जिस गुरु की बात यहाँ कर रहे हैं, या उपनिषद् कर रही है, वह तो आत्मविज्ञान देने वाला है। चूंकि ऐसे गुरु अत्यंत दुर्लभ होते हैं, इसलिये 'अहो गुरुः अहो गुरुः' आश्चर्य है कि मुझे ऐसे गुरु मिल गये। यह होता है पुण्य-फल से ही। अन्यथा उसी शास्त्र को पढ़कर के विपरीत निश्चय होते रहते हैं।

गुरु से जिस ज्ञान की प्राप्ति हुई, उस ज्ञान को भी धन्य कहता है। क्यों यह ज्ञान धन्य है? क्योंकि जितने ज्ञान होते हैं, उनमें कोई जानने वाला और कोई वह चीज़ होती है, जिसको जाना जाता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी रहा करती है। किंतु परमात्मज्ञान में त्रिपुटी नहीं है। ज्ञाता अन्तःकरण ही हो सकता है। ज्ञेय भी भेद वाला ही है। ब्रह्म के अखण्ड ज्ञान में ज्ञान तो है, पर ज्ञाता और ज्ञेय नहीं। ज्ञाता और ज्ञेय से रहित ज्ञान है, इसीलिये धन्य है। अतः इस ज्ञान के साथ ज्ञाता-ज्ञेयभाव वाले ज्ञान का विरोध नहीं है। ज्ञानी के प्रारब्ध की जो इतनी बातें कहीं उन का मूल यही है। सोने का किसी गहने से विरोध नहीं है। गहनों का तो आपस में विरोध है। करधनी को सिर में नहीं पहन सकते, हार को हाथ में नहीं पहन सकते। कड़े को कमर में नहीं पहन सकते। वे सर्वथा एक-दूसरे से अलग हैं। पर उनका सोने से विरोध नहीं है। हैं तो सोनारूप ही। इसी प्रकार प्रारब्ध-भोग काल में जो ज्ञान होंगे वे तो त्रिपुटी के द्वारा होंगे और जिस ज्ञान की प्राप्ति हुई है, वह त्रिपुटी से रहित है। इसलिये त्रिपुटी वाले ज्ञानों से इसका कभी भी विरोध नहीं है। त्रिपुटी वाला ज्ञान इसका आभासमात्र है। ऐसा ज्ञाना भी धन्य है।

इसी प्रकार से जो मुझे परमानन्द की प्राप्ति हुई है यह धन्य है। बाकी जितने सुख हैं, वे सारे के सारे सुख किसी-न-किसी विषय से होते हैं, देश में होते हैं, काल में होते हैं। यह आनन्द देश, काल, वस्तु इनसे अपरिच्छिन्न है। इसलिये जान-बूझकर यहाँ 'आनन्द' शब्द का प्रयोग न करके 'सुख'-शब्द का प्रयोग किया। संस्कृत में 'ख' मायने इन्द्रियाँ । उपनिषद् में आता है 'परांचि खानि', 'ख' का मतलब खाली जगह भी होता है। यदि इंद्रियों के गोलकों को ध्यान से देखो तो आँखों में भी छेद है, कान में छेद ही हैं। मुँह छेद है। नाक छेद है और त्वचा में भी छेद ही छेद हैं जहाँ से रोम बाहर निकले हैं। सारी ज्ञानेन्द्रियाँ 'ख' वाली हैं। जो इन्द्रियों को अच्छा लगेगा वह 'सु-ख' सुख हुआ। जो इंद्रियों को बुरा लगता है वह दुःख है। किंतु यह ऐसा सुख है जो बिना इंद्रियों के होता है। ब्रह्म का सुख न आँख से देखने का है, न कान से सुनने का, न सूंघने का है। किसी भी इंद्रिय से यह ग्रहण नहीं होता। बिना किसी इंद्रिय के ही होता है, इसलिये धन्य है। यह स्वरूप सुख है इसलिये इस को किसी इंद्रिय की ज़रूरत नहीं है। इंद्रिय में छेद इसलिये है कि बाहर के संसार से तुम्हारा सम्बन्ध होवे। इन ज्ञानेन्द्रियों के बिना बाह्य संसार का पता नहीं लगेगा। जाग्रत् का लक्षण ही किया 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः'। इन्द्रियों से बाहर के पदार्थों से सुख होगा। परमार्थ सुख में किसी बाह्य पदार्थ का सुख नहीं है, प्रत्यगात्मा का सुख है। विषय-सुखों से अत्यंत विलक्षण

सुख है, जैसे ज्ञान भी अत्यंत विलक्षण है। इन शब्दों का प्रयोग अभी तो करते हैं ज्ञानाभास में, सुखाभास में, परन्तु लक्षणा से आत्मरूप ज्ञान व सुख को कहते हैं। शब्दशक्ति से वह परे ही है अतः अलग शब्द न खोजकर प्रचलित ज्ञान, सुख आदि का ही प्रयोग कर देते हैं।

बुद्धदेव के बारे में कहते हैं कि बुद्धदेव को जिस वृक्ष के नीचे ज्ञान हुआ था, सात दिन तक उस वृक्ष के चारों तरफ ही घूमते रहे, कि 'धन्य है यह वृक्ष कि मुझे इस बोध की प्राप्ति हुई'। इतना जो अधिक आनंद होता है वह अंदर रख नहीं सकते। जिन पुण्यादि से यह ज्ञान हुआ है उन पुण्य शास्त्र, गुरु इत्यादि के लिये यही भाव बनता है, हमेशा उनकी सेवा करता रहूँ। शास्त्र की सेवा यही है कि सदा सम्प्रदाय-प्रवहित होता रहे। पुण्य की सेवा यही है कि लोग पुण्य की ओर प्रवृत्त होवें। और गुरु की सेवा तो जैसा सर्वज्ञात्म महामुनि ने कहा है, 'त्वामाशरीरपतनाद् अहमप्युपासे' जब तक प्रारब्ध समाप्त नहीं हो जाता है, शरीर ख़त्म नहीं हो जाता है, तब तक उनकी ही उपासना, सेवा की जाये ॥२९७॥

इस प्रकरण के अभ्यास का फल बताते हैं—

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम्।। २९८।।

।।इति श्रीविद्यारण्यकृत-पञ्चदश्यां तृप्तिदीपाख्यं प्रकरणं समाप्तम्॥७॥

जो समझदार सदा इस 'तृप्तिदीप' प्रकरण का विचार करते हैं वे लगातार ब्रह्मानन्द में निमग्न हैं, तृप्त होते हैं।

ग्रन्थकार आशीर्वाद दे रहे हैं। 'आत्मानम्' आदि मंत्र का इस प्रकरण के अन्दर अर्थ खोला है। 'बुधाः' कह कर बताना चाहते हैं कि वेदान्त के ग्रंथ पाठमात्र के लिये नहीं हैं, अर्थावगति के लिये हैं। कई ऐसे ग्रंथ होते हैं जो पाठमात्र से फल देते हैं हवन इत्यादि करने के मंत्रों का उच्चारण करने वाले को मंत्रार्थ आवे या न आवे, शुद्ध बोल देवे तो पुण्य हो जाता है। परन्तु यहाँ अर्थबोध ज़रूरी है। इसलिये कहा 'ये बुधाः'। इसका बार-बार पठन तो करे ही, लेकिन अर्थ समझकर 'अनुसन्दधते' अर्थात् अनुसन्धान करे। अनुसन्धान का मतलब होता है, आगे-पीछे का मिलान करके अर्थ पर विचार करना। जितना तुम्हें याद हो उतना ही अनुसन्धान सरल होता है। एक बात से अनेक सम्बद्ध बातें याद आ जाती हैं। जो ऐसा अनुसन्धान करते हैं वे ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं अर्थात् जिस तृप्ति का अंतिम श्लोकों में वर्णन किया वह उनको प्रत्यक्ष हो जाती है। जैसे गंगाजी में गोता लगाते हो तो जल में निमग्न हो जाते हो, जल के सिवाय वहाँ कुछ भी नहीं दीखता, इसी प्रकार ब्रह्मानन्द में ऐसा निमग्न हो जाता है कि सिवाय ब्रह्मानन्द के दूसरी और प्रतीति नहीं रह जाती। प्रारब्ध शेष है, इसलिये बीच-बीच में चिदाभास ज़रा अपना सिर ऊपर करता है, तब 'तृप्यन्ति' भोगकाल में तृप्ति का प्रवाह चलता है। तृप्ति है चिदाभास के काल में, चिदाभास प्रारब्धभोग काल में रहेगा। प्रायः तो वे ब्रह्मानंद में निमग्न हैं। और जब कभी प्रारब्ध भोग होता है, तब इस तृप्ति का अनुभव करते हैं कि कृतकृत्य और प्राप्तप्रापणीय हो गया।॥२९८॥

इस प्रकार यह सातवाँ प्रकरण समाप्त हुआ ॥

आठवाँ
कूटस्थदीप प्रकरण

कूटस्थ और बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास—ये दो चेतन के रूप बताये। जैसे घड़े में जगह, उसमें पानी और पानी में प्रतिबिम्बित सूर्य—तीन होते हैं (चित्रदीप.१६-३) वैसे शरीर में बुद्धि पानी की जगह, बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है और चूंकि प्रतिबिम्ब बिना अधिष्ठान के रह नहीं सकता इसलिये कूटस्थ के साथ ही चिदाभास को लेना पड़ता है। इस प्रकार चेतन के दो रूप बतलाये। शंका रह जाती है कि कूटस्थ तो चिद्रूप है ही, उसी से बुद्धिवृत्ति के द्वारा काम चल जाये, दो चेतन मानने की क्या ज़रूरत है? इस के समाधानार्थ कूटस्थ के स्वरूप पर विचार करते हैं। ज्ञान वह है जो पैदा होता है, नष्ट होता है। हमने घड़े को जाना, उसके बाद घड़े को नहीं देख रहे हैं तो घड़े का ज्ञान नहीं हो रहा है। और दूसरा नित्यज्ञान है जो न उत्पन्न होता है, और न नष्ट होता है। इन दोनों में अंतर करना ज़रूरी है। बुद्धि रहते चिदाभास पैदा होगा और बुद्धि नहीं रहे तो आभास पैदा नहीं होता। बुद्धि रहे या न रहे, हर हालत में कूटस्थ नित्य है, बना ही रहता है। दोनों का अनुभव है। अनित्य ज्ञान का अनुभव है—घड़े को जाना और नहीं जाना। नित्य ज्ञान का भी अनुभव है—जाग्रत् अवस्था चली गई तब भी ज्ञान रहा, स्वप्न अवस्था चली गई तब भी ज्ञान रहा। इस तरह नित्य ज्ञान का भी अनुभव है। इस नित्य ज्ञान को ही वेद ब्रह्म कहता है। अनित्य ज्ञान वह है जो बुद्धिवृत्ति के द्वारा होता है, और बुद्धिवृत्ति के बिना नहीं रहता है। नित्य ज्ञान वह रहा, जो बुद्धि हो तो उसे प्रकाशित करता है, बुद्धि नहीं रहे तो 'बुद्धि नहीं है' इस बात को प्रकाशित करता है। स्वयं वैसा ही रहता है; उसमें कोई फ़र्क नहीं आता। इस बात को विस्तार से बताने के लिये कूटस्थदीप प्रकरण है। दीप अर्थात् प्रकाश। कूटस्थ के स्वरूप को स्पष्ट करके प्रकाशित करता है इसलिये 'कूटस्थदीप'—प्रकरण का नाम है। इतने विचार की ज़रूरत इसलिये है कि सारा वेदान्त दो ही चीज़ों पर निर्भर करता है—तत्पदार्थ ब्रह्म एवं त्वम्पदार्थ जीव। इन दोनों को समझना है और वस्तुतः जानना है, कि ये दोनों सचमुच में एक हैं भले ही झूठमूठ में अलग हैं।

उदाहरण से कूटस्थ और जीव (आभास) का अंतर व्यक्त करते हुए प्रश्न प्रारम्भ करते हैं—

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत्।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते।। १।।

नभस्थ सूर्य से प्रकाशित दीवाल पर दर्पण पर पड़कर आयी आदित्य की दीप्ति की तरह कूटस्थ से प्रकाशित शरीर बुद्धि में स्थित जीव द्वारा प्रकाशित किया जाता है।

'कुड्या' कहते हैं दीवार को। आकाश में जो सूर्य है, उसके प्रकाश से दीवार प्रकाशित है तभी दीख रही है। 'ख' मायने आकाश। आकाश में जो आदित्य, सूर्य है उसके द्वारा दीप्त हुई दीवार दीख रही है। तभी काँच को खास कोण पर केन्द्रित करके सूर्य का प्रतिबिम्बभूत प्रकाश उसी दीवाल पर डालो तो जहाँ प्रतिबिम्बित सूर्य की रोशनी पड़ेगी वहाँ वह ज्यादा चमकेगा, स्पष्ट दीखेगा। सारी दीवार तो दीख रही है, लेकिन तुम काँच के प्रतिबिम्ब को उस दीवार पर डालोगे तो उतना हिस्सा विशेष प्रकाशित दीखेगा। उसको कहते हैं 'दर्पणादित्यदीप्ति'। आकाश के सूर्य का सामान्य प्रकाश उस सारी दीवाल को एक-जैसा प्रकाशित करता है। दर्पण के द्वारा जो तुमने डाला वह, जितने पर दर्पण का प्रकाश प्रतिबिम्बित हो पड़ेगा उतने को ही विशेष प्रकाशित करेगा। सूर्य एक ही है, आकाश में सच्चा है, और काँच में झूठा है। झूठा वाला भी काम तो करता है, विशेष प्रकाश करता है, लेकिन है झूठा ही। इसी प्रकार कूटस्थ का प्रकाश सामान्य है, एक-जैसा है। बुद्धि-वृत्ति में पड़कर घड़े तक जाता है तो उसे विशेष प्रकाशित करता है। कूटस्थ से जो भासित देह है, वही फिर बुद्धि में प्रतिबिम्बित ब्रह्म अर्थात् जीव के द्वारा प्रकाशित होता है। शरीर और घड़े में यह फ़र्क है : शरीर में तो विशेष प्रकाश होता है, इसलिये जानते हो ' यह मैं हूँ'। ऐसे घड़े में कोई नहीं जानता 'यह मैं हूँ।' 'मैं हूँ' जो ज्ञान है, यह जीव का है। सामान्येन शरीर कूटस्थ से प्रकाशित है ही।। १।।

प्रतिबिम्बित दीप्ति से अतिरिक्त सामान्य दीप्ति स्पष्ट करते हैं—

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसन्धिषु।
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते।। २।।

अनेक दर्पणों द्वारा पड़ी विभिन्न आदित्यदीप्तियों की बहुतेरी सन्धियों में सामान्य प्रकाशरूप दूसरी (खादित्य की) दीप्ति व्यक्त होती है जो प्रतिबिम्बदीप्तियाँ न रहने पर भी भासती है।

कोई कह सकता है कि एक ही प्रकाश है, कहीं तेज़ हो गया कहीं हलका हो गया। अर्थात् केवल खादित्यदीप्ति है, दर्पणादित्यदीप्ति नहीं। अतः समझा रहे हैं कि ऐसा नहीं है। यदि हम दस दर्पण ले लें और उस दीवार पर अलग-अलग दस प्रतिबिम्ब डालें, तो दस जगहों पर ज़्यादा प्रकाश पड़ेगा, ज़्यादा रोशनी होगी। लेकिन उन काँच के प्रतिबिम्बों की जगह को छोड़ दो, तो बीच की दीवाल प्रकाशित ही दीखती है। किंच जब दर्पण हटा देते हो, तब भी दीवाल तो दीखती ही रहती है। इसलिये दोनों दीप्तियाँ अलग माननी पड़ती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकाशों का भेद स्पष्ट है, अनुभवसिद्ध है।। २।।

इसी बात को दार्ष्टान्त में बतलाते हैं—

चिदाभासविशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ।
सन्धिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम्।। ३।।

चेतन के प्रतिबिम्ब से युक्त अनेक बुद्धिवृत्तियों की सन्धियों को और वृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करता हुआ यह कूटस्थ वृत्तियों से पृथक्कर समझा जाये।

बुद्धि-वृत्तियों में चिदाभास पड़ता है। बुद्धिवृत्तियाँ अनेक हैं। घटाकार वृत्ति, पटाकार वृत्ति, मठाकार वृत्ति, सब अलग-अलग बनती हैं, अलग-अलग ज्ञान होते हैं। काँच के अन्दर सूरज की रोशनी नहीं पड़े तो काँच कोई प्रकाश नहीं डालेगा इसी प्रकार बुद्धिवृत्ति के अंदर चेतन का आभास पड़ेगा तभी वह प्रकाशित करेगी। घटाकार वृत्ति, पटाकार वृत्ति, मठाकार वृत्ति आदि वृत्तियों के मध्यकी स्थिति 'सन्धि' कही। तुमने घड़े को जाना, फिर कपड़े को जाना तो पहले घटाकार वृत्ति बनी, फिर पटाकार वृत्ति बनी। उसके बीच में ऐसा तो नहीं है कि तुम्हारा चेतन ख़त्म हो गया! वह तो बना ही रहा। घड़े, कपड़े को जान रहे हो तब तो चेतन हो ही। एक के बाद दूसरी चीज़ जानने में कम से कम एक क्षण लगता है। उस समय में जो चेतन है, वह कूटस्थ ही है। घटाकार वृत्ति में चिदाभास पड़ेगा तब चिदाभास की स्थिति हो गई। पर जब घटाकार वृत्ति ख़त्म हो गई, पटाकार अभी बनी नहीं, उस समय में जो प्रकाश है वह कूटस्थ है।

इससे साधना के लिये भी संकेत मिल गया—लोग कहते हैं निर्विशेष ब्रह्म का कैसे ध्यान चिंतन करें? बड़ा सीधा अभ्यास हैः दो वृत्तियों के मध्य का जो भाग है, उसकी तरफ अभी ध्यान नहीं जाता। धीरे-धीरे अभ्यास करो तो दो वृत्तियों के मध्य में अपनी कूटस्थता प्रकट होती है। निर्विशेष ब्रह्म का इस प्रकार से निरन्तर अनुसंधान किया जा सकता है। दो वृत्तियों के मध्य में कभी तो समय बहुत कम रहता है, और कभी दूसरी चीज़ का भान काफ़ी देर नहीं होता। जितनी देर दूसरे का भान नहीं होता है, उतनी देर कूटस्थ तो रहेगा ही। जो बहिर्मुखी लोग हैं, उन्हें इस कूटस्थ से डर लगता है। इसलिये एक के बाद दूसरी वृत्ति नहीं बने तो लोग ऊबने, 'बोर' होने, लगते हैं। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं 'अभये भयदर्शिनः' है तो कूटस्थ अभय, पर उन्हें भय लगता है कि यह तो कुछ नहीं है। ठीक जिस प्रकार से जिन लोगों ने छोटे बच्चों को बड़ा किया है वे जानते हैं, शुरू में जब बच्चे को नींद आती है तब बहुत रोता है। माँ अनेक तरह से सुलाने का प्रयत्न करती है। वह सोने से घबराता है, क्योंकि उसको ऐसा लगता है, जो दुनिया मैं जान रहा हूँ वह सब समाप्त हो गई। फिर धीरे-धीरे आदत पड़ जाती है। इस प्रकार से बहिर्मुखी लोग कुछ किये या जाने बिना बैठ ही नहीं सकते। वे तो इस कूटस्थ को समझ ही नहीं पायेंगे। उनको हमेशा कुछ होता रहे, तब ठीक लगता है। कुछ-न-कुछ करेंगे। बिना कुछ किये लगता है कि बेकार बैठे हैं। उनसे बैठा ही नहीं जाता। वे इस कूटस्थ को पकड़ ही नहीं पाते। लेकिन जो शांत वृत्ति के हो जाते हैं, उनकी वृत्तियों के बीच में जो संधिकाल है वह बढ़ता चला जाता है। उनकी

कूटस्थ में स्थिति बनती जाती है। कूटस्थ परम आनंदस्वरूप है। बुद्धिवृत्ति जब बनती है तब विक्षेप है। उसमें कभी परमानंद नहीं हो सकता। सन्धि कूटस्थरूप होने से परमानंदस्वरूप है।

जैसे अनेक बुद्धिवृत्तियों की सन्धि को प्रकाशित करता है वैसे जब कोई बुद्धिवृत्ति रहती ही नहीं, अर्थात् गहरी नींद, सुषुप्ति में, तब भी प्रकाशमान रहता है। सुषुप्ति में कोई बुद्धिवृत्ति न होने पर भी उठकर तुम्हें स्मरण आता है 'बड़े आनंद से सोया'। यह नियम है कि जो भी याद आता है, वह तभी जब तुमने पहले अनुभव किया हो। जैसे कल लापसी खाई थी तो आज याद आयेगी। स्मृति अर्थात् याद आने के लिये ज़रूरी है कि पहले अनुभव हो। जाग्रत् में हमें याद भी आ रहा है कि 'मैं बड़े सुख से सोया'। इसका मतलब है, उस समय मैं आनंद का अनुभव कर रहा था। सुषुप्ति काल में उस आनंद को भी कूटस्थ ही प्रकाशित करता है।

पर यह किसकी समझ में आता है? कहा 'प्रविविच्यताम्' दोनों को पृथक् करके जानने वाले को ही समझ आयेगा। ज्ञान एक-जैसा ही दीखता है। परंतु जब समझ कर आभास एवं कूटस्थ—दोनों ज्ञानों का भेद देखता है, तब कूटस्थ और चिदाभास की पहचान प्रकट होती है। अन्यथा 'मैं ही सो रहा था, मैं ही जाग रहा हूँ' ये एक ही तरह के अनुभव लगते हैं। मैं जाग रहा हूँ तो बुद्धिवृत्ति के साथ हूँ; मैं सो रहा हूँ तो बुद्धिवृत्ति के बिना हूँ। यह बात विवेक करनेवाला, अलग-अलग करके समझने वाला तो समझ सकता है, अन्यथा नहीं। चिदाभास खुद बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित है, झूठा है। और इसीलिये वह संसार के झूठे नाम-रूपों को प्रकाशित करता है। उसका अनित्य ज्ञान भी झूठा ही है क्योंकि वह खुद भी झूठा ही है। हमारे यहाँ नियम है कि जैसा देव होता है वैसी ही उसकी पूजा होती है। यदि तमोगुणी देवता है तो उसके अनुरूप बकरा भोग में चढ़ाना पड़ेगा। सात्त्विक देवता को हलुआ चढ़ेगा। इसी प्रकार मिथ्या नाम-रूप को देखने वाला भी मिथ्या ही है। जो सत्य तत्त्व है, वह न दीखता है,न देखता है। इसलिये श्रुति ने कहा है, 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्'। द्रष्टा तो नष्ट हो जाता है, लेकिन उसकी दृष्टि नष्ट नहीं होती, वैसी की वैसी रहती है। द्रष्टाभाव बुद्धिवृत्ति के द्वारा है, चिदाभास के द्वारा है। वह नाम-रूप को प्रकाशित करके ख़त्म हो जाता है पर दृष्टि वैसी ही बनी रहती है। उस दृष्टि को ही यहाँ कूटस्थ कह रहे हैं। दृष्टि अर्थात् ज्ञान है। चिदाभास का वृत्तिज्ञान है। वृत्ति तो नष्ट हो जायेगी, ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता।।३।।

अध्यात्म की तरह अधिभूत जगत् में भी यह भेद दिखाते हैं—

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत्।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते।।४।।

घट ही एक आकार है जिसका उस बुद्धिवृत्ति में स्थित (आभासरूप) चेतन घट को ही प्रकाशित करता है। घट की ज्ञातता ब्रह्मरूप चेतन से भासती है।

घड़े के आकार वाली बुद्धिवृत्ति से घड़े का पता चलता है। 'एक आकार' इसलिये कहा कि सिर्फ़ घट के ज्ञान के लिये वृत्ति भी घट-इतने ही आकार की चाहिये। उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चेतन अर्थात् चिदाभास है वह घट का प्रकाश करता है। इस प्रकार, बुद्धिवृत्ति ने घट को जाना। 'घड़े को जानना' तो बुद्धिवृत्ति है। 'घड़े को जानना' तो एक क्षण के बाद समाप्त हो जायेगा। पर घड़े को जान लिया, घड़ा 'जाना गया' बन गया अब वह 'नहीं जाना गया' तो कभी नहीं होगा! इसी को 'ज्ञातता' कहा। ' घटस्य ज्ञातता' घड़े को जान लिया—यह बात तो ब्रह्मरूप चैतन्य, कूटस्थ के द्वारा ही प्रकाशित होती है। घड़े को तो बुद्धिवृत्ति ने जाना, लेकिन 'घड़ा जान लिया गया, जाना हुआ घड़ा' यह कूटस्थ चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिये दो चेतनों को माने बिना यह व्यवस्था बन नहीं सकती। घड़े को जीव जानता है और 'घड़ा ज्ञात है,' इस बात को कूटस्थ जानता है। कूटस्थ दो प्रकार से घड़े को जानता है : जब तक बुद्धिवृत्ति नहीं बनी, तब तक तो घड़े को 'नहीं जानता' प्रकार से जानता है। जब तक बुद्धिवृत्ति नहीं बनी तब भी कूटस्थ घड़े को 'नहीं जाना हुआ घड़ा' यों जान रहा था। यह बात लोगों को स्पष्ट नहीं हो पाती। 'मैं जर्मन भाषा नहीं जानता' यह किससे सिद्ध हो रहा है? मैं जानता हूँ कि मैं जर्मन भाषा नहीं जानता। अतः मेरे ज्ञान से ही मेरा जर्मन भाषा का अज्ञान प्रकाशित हो रहा है। कोई दूसरा कहे 'तुम जानते हो' तो कहोगे 'मैं जानता हूँ कि मैं नहीं जानता।' इसलिये, 'जर्मन भाषा नहीं जानता' इस प्रकार से सीखने से पूर्व जर्मन भाषा जान रहा था, और सीखने के बाद 'मैं जर्मन भाषा जानता हूँ' इस प्रकार से जर्मन भाषा को जानता हूँ। कूटस्थ का जो ज्ञान है, वह एक जैसा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। कोई काल ऐसा नहीं है जब वह घड़े को नहीं जानता। सब चीज़ों को जानता है। कुछ चीज़ों को इस प्रकार से जानता है कि 'मैं जानता हूँ,' दूसरी चीज़ों को जानता है कि 'मैं नहीं जानता'। इसलिये कूटस्थ सर्वज्ञ है। जैसे बुद्धिवृत्ति में कूटस्थ-आभास का भेद प्रत्यक्ष है वैसे बाह्य घट आदि विषयों में भी स्पष्ट है। अध्यात्म में कूटस्थ अर्थात् त्वम्पदार्थ एवं बाह्य जगत् में ब्रह्म अर्थात् तत्पदार्थ आभास से पृथक् सिद्ध हो जाता है।।४।।

केवल कूटस्थ से सारे अनुभव उपपन्न नहीं होते अतः वृत्ति मान्य है यह दिखाते हैं—

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात् पुरा।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा।। ५।।

बुद्धिवृत्ति बनने से पहले यह घड़ ब्रह्म द्वारा ही अज्ञातरूप से ज्ञात था, वृत्ति बनने के बाद तो (उसी के द्वारा) ज्ञातरूप से ज्ञात है—यह भेद है।

पहले अज्ञातरूप से कूटस्थ घड़े को जानता था, 'मैं इसको नहीं जानता' इस रूप में जानता था। कब तक? जब तक अंतःकरण की वृत्ति ने जाकर घट से सम्बन्ध कर घटाकार ग्रहण नहीं किया था एवं उसमें चिदाभास नहीं पड़ा था तब तक यही मालूम था कि 'मैं

नहीं जानता'। यों घट को अज्ञातरूप से जानता था। जब घटाकार वृत्ति के अन्दर चिदाभास पड़ गया, अर्थात् घटज्ञान हो गया, तब वह ब्रह्म ही 'यह घड़ा ज्ञात है' इस रूप से जानता है। घटाकार बुद्धि बनने के पहले घट में अज्ञातता है, बाद में घट में ज्ञातता है। पर अज्ञातता वाला घट और ज्ञातता वाला घट—इन्हें ब्रह्म एक जैसे ही जानता है। बुद्धिवृत्ति बन गई तो विषय ज्ञात हो गया, बुद्धिवृत्ति वहीं बनी तो अज्ञात रहा। परंतु हर हालत में, चाहे अज्ञात रूप से, चाहे ज्ञातरूप से, घट हमेशा ही प्रकाशित है। बुद्धिवृत्ति बनने के बाद जो विशेष प्रकाश होता है उसमें आभास का योगदान है। दीवाल में जहाँ दर्पण के आदित्य का प्रकाश पड़ रहा है, वह साफ दीखता है। दीखता तो नभस्थ सूर्य के प्रकाश से भी है, पर दर्पणस्थ सूर्य के प्रकाश से अधिक साफ दीखता है। इसी प्रकार हमें बुद्धि के प्रकाश से चीज़ें साफ दीख जाती हैं, ज्ञातरूप दीख जाती हैं, किंतु उससे पहले भी अज्ञातरूप से दीख तो रही हैं। अज्ञातरूप से दीखना, सामान्य प्रकाश से प्रकाशित दीवाल की तरह है और ज्ञात-रूप से दीखना काँच के आदित्य के प्रकाश से प्रकाशित होने की तरह है। इसलिये अज्ञात अवस्था में हमें ऐसा लगता है, 'हम नहीं जानते'। विवेचन क्या हुआ? 'नहीं जानना' किससे सिद्ध है? जानने से। 'मैं जानता हूँ कि नहीं जानता' तभी 'नहीं जानता' सिद्ध है। अतः 'नहीं जानना' भी जानने से ही सिद्ध है। और, 'मैंने जान लिया' यह भी ज्ञान से ही सिद्ध है। ज्ञातता, अज्ञातता—ये दोनों ही ज्ञान से प्रकाशित हैं। इसलिये वह ज्ञान (कूटस्थ) सामान्य प्रकाश हुआ। ज्ञातरूप से जब तुमने जाना बस उस एक क्षण के लिये विशेष प्रकाश है, वृत्ति और आभास हैं। वृत्ति माने बिना 'अज्ञात' और 'ज्ञात' का अन्तर संगत नहीं होता इसलिये ज्ञानरूप भले ही कूटस्थ है पर वृत्ति और आभास स्वीकारने पर ही ये अनुभव उपपन्न होते हैं।। ५।।

विषयज्ञान और अज्ञान का भेद बताते हैं—

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्तकुन्तवत्।
जाड्यमज्ञानम् एताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते।। ६।।

चिदाभासरूप नोक वाली बुद्धिवृत्ति ज्ञान है जैसे लोहे की नोक वाला दण्ड भाला होता है। अज्ञान का अर्थ है जडता। इन दोनों द्वारा घड़ा घेरा जाता है अतः ('ज्ञात' और 'अज्ञात') दो तरह कहा जाता है।

चाहे लोहे का ही डंडा होवे, वह किसी चीज़ को भेदन नहीं कर सकता पर यदि उसके ऊपर शूल लगा दो तो भाला बन जाता है। भाले से तुम किसी का पेट फाड़ सकते हो। एक में काटने की शक्ति है, एक में काटने की शक्ति नहीं है। इसी प्रकार से बुद्धि खुद दण्डे की तरह जड है इसलिये किसी चीज़ को प्रकाशित नहीं कर सकती। जैसे काँच भी बालू ही है। इसलिये काँच से तुम चीज़ को दिखा नहीं सकते हो। पर काँच में यह शक्ति है कि सूर्य के प्रकाश को लेकर प्रकाश करने वाले जैसा बनता है। जैसे काँच में से जो प्रकाश

आ रहा है, वह काँच का नहीं है, है तो वह सूर्य का ही, लेकिन काँच से होकर आता है तो विशेष काम करता है, इसी प्रकार जैसे तुम्हारा शरीर महाभूतों से बना वैसे तुम्हारी बुद्धि भी महाभूतों से बनी। लेकिन बुद्धि में यह विशेषता है कि चेतन के प्रकाश को ले लेती है। बुद्धि हो गई डंडे की जगह। जब उसमें चेतन का प्रकाश पड़ता है तो वह बन गया शूल की, लोहे की नोक की तरह। लोहा होने पर भी नोक भेदन करती है, दण्डा नहीं करता। इसी तरह जड होने पर भी चेतन का प्रकाश ग्रहण करके वृत्ति जान लेती है, यदि प्रकाश नहीं पड़ेगा तो नहीं जानती। जैसे दण्डे के अंतिम भाग में 'कुन्त,' शूल लगा दिया जाये तो भाला बन जाता है। इसी प्रकार से चिदाभास लगा हुआ है बुद्धिवृत्ति पर। सूर्य तो सर्वव्यापक नहीं है इसलिये ऐसा काँच तुम रख सकते हो कमरे में जिसमें सूर्य का प्रकाश न पड़े। परन्तु ब्रह्म सर्वव्यापक है। इसलिये बुद्धिवृत्ति बनेगी तो उसमें ब्रह्म का प्रकाश ज़रूर पड़ेगा। यही इस भ्रम का कारण है कि वृत्ति ज्ञान ही है। चूँकि बुद्धिवृत्ति बनने पर प्रकाश ज़रूर पड़ता है इसलिये हमें लगता है कि यह बुद्धिवृत्ति ही ज्ञान कर रही है । विचार करने पर अंतर समझ में आता है कि बुद्धिवृत्ति तो जड महाभूतों से बनी है इसलिये इसमें ज्ञान कहीं से आना पड़ेगा। जैसे बिजली के तार हैं वैसे बुद्धि है। किसी को भ्रम हो सकता है कि तार ही बिजली है क्योंकि बिना तार के बिजली मिलती नहीं। जब तक देख न लें कि तार बिलकुल ठीक है फिर भी बिजली नहीं आ रही, तब तक यह भ्रम बना रहेगा कि तार ही बिजली है। नहर को ही पानी समझ लेना, या नल को पानी वाला समझ लेना, जैसे ये सब भ्रम होते हैं, वैसे ही लोग बुद्धि को ज्ञान समझ लेते हैं। वह तो ज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रकाश लेकर प्रकाशित है। पानी की टंकी से लेकर नल पानीवाला है लेकिन तभी जब टंकी के साथ सम्बन्धित होवे। नहर पानी है, तभी जब वह नदी के साथ सम्बन्धित होवे। ठीक इसी प्रकार ज्ञान बुद्धि में प्रकाशित होगा तब बुद्धि उस ज्ञान के द्वारा घड़े या कपड़े को प्रकाशित कर सकती है, अन्यथा नहीं। चिदाभास जिस बुद्धि के आगे लगा हुआ है, वही वृत्ति ज्ञान है। किसी चीज़ को नहीं जानते यह अज्ञान है। जड और चेतन का भेद क्या है? जो जानता है वह चेतन है, जो नहीं जानता उसे जड कहते हैं। नहीं जानना ही जडता का स्वरूप है। घड़ा दो प्रकार का कहा गया, एक तो जाना घड़ा, दूसरा नहीं जाना घड़ा। यदि उस आकार की बुद्धिवृत्ति बन गई तो तुम उस घड़े को 'ज्ञात' जानते हो, और बुद्धिवृत्ति नहीं बनी तो 'अज्ञात' जानते हो। अज्ञात और ज्ञात के द्वारा व्याप्त होने से घड़ा दो प्रकार से कहा जाता है।। ६।।

अज्ञाततया 'भान' के लिये ब्रह्म से भासित होना मानना आवश्यक होने पर भी ज्ञाततया भी ब्रह्म से भासित होना क्यों मानना, ज्ञान से ही क्यों न मानें? इसका उत्तर देते हैं—

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भस्तथा न किम्।
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः।। ७।।

अज्ञात घड़ा ब्रह्म से भासित होता है, इसी तरह ज्ञात भी क्यों नहीं होगा? चिदाभास का कार्य ज्ञातता पैदा करने से पूरा हो जाता है।

घड़ा अज्ञात है यह बात ब्रह्म से ही प्रकाशित है। कोई पूछता है 'तुम देवदत्त को जानते हो?' तुम कहते हो 'मैं देवदत्त को नहीं जानता'। अर्थात् 'मैं जानता हूँ कि मैं देवदत्त को नहीं जानता।' न जानने के लिये बुद्धिवृत्ति की कोई ज़रूरत नहीं है। 'मैं देवदत्त को नहीं जानता' इस के लिये बुद्धिवृत्ति की ज़रूरत नहीं है। बिना बुद्धिवृत्ति बने ही जानते हो, कि 'नहीं जानते'। घड़े को नहीं जानता हूँ—यह ब्रह्म से ही भास्य है। इस अज्ञान को सादि नहीं कह सकते, क्योंकि हमेशा से ही है। मैं देवदत्त को हमेशा से नहीं जानता इसलिये इसके लिये बुद्धिवृत्ति की ज़रूरत नहीं। फिर, ब्रह्म ही 'यह ज्ञात हो गया' इस बात को क्यों नहीं जान लेता? बुद्धि की क्या ज़रूरत है? पहले अज्ञात था और अब ज्ञात हो गया इन स्थितियों के बीच में कुछ अनित्य घटना होगी तभी घड़ा 'अज्ञात' से 'ज्ञात' होगा। अज्ञात तो अनादि काल से है, यदि कोई नया कार्य हो नहीं तो ज्ञात कैसे हो जायेगा? वह घटना उत्पन्न करना वृत्तिस्थ चेतन का कार्य है। जब बुद्धि से घड़े को घेरा तभी कह सकते हो कि 'मैंने जान लिया।' 'जान लियापना' वृत्ति से पैदा हुआ, क्योंकि इससे पहले नहीं था, और अब है, आगे हमेशा रहेगा। ब्रह्म का ज्ञान है लेकिन अब तक अज्ञात था, अब ज्ञात हो गया, कुछ फ़र्क पड़ा; फ़र्क यही है कि बुद्धिवृत्ति घड़े के आकार की बनी उसमें चिदाभास का प्रकाश पड़ा। ज्ञातता को पैदा करने में ही चिदाभास की ज़रूरत है। इसके बिना ज्ञातत्व पैदा नहीं होता।। ७।।

अकेली बुद्धि नहीं, आभास-समेत ही वह ज्ञातता पैदा करती है यह बताते हैं—

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते।
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद् विकारिणः।। ८।।

आभास-रहित बुद्धि से ज्ञातता पैदा नहीं ही की जाती। चिदाभासरहित परिवर्तनशील बुद्धि में मिट्टी आदि से क्या फ़र्क है!

बुद्धिवृत्ति जब बनी तब जाना तो बुद्धिवृत्ति बनना ही काफ़ी है, उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब, चिदाभास क्यों ज़रूरी है? उत्तर दिया कि बुद्धि और अन्य जड चीज़ों में क्या अंतर है? बुद्धि में और मिट्टी में क्या फ़र्क है? बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है और मिट्टी में चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। जिस प्रकार काँच और घड़े में क्या अन्तर है? काँच में मुँह दीखता है, घड़े में मुँह नहीं दीखता। बने तो दोनों मिट्टी से ही हैं। इसी प्रकार पंचमहाभूतों से बुद्धि भी बनी और उसी से घड़ा भी बना। पर बुद्धिवृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है और मिट्टी, घड़ा आदि में नहीं पड़ता। यही अंतर है। इसीलिये बुद्धि ज्ञातता को पैदा कर देती है। अन्यथा तो बुद्धि जड है। चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही ज्ञान को पैदा कर देती है। जिस ज्ञान को पैदा करती है वह अनित्य है। पर जो ज्ञातता

पैदा कर दी वह ज्ञातता हमेशा के लिये हो गई। अगर आभास न होता तो जड बुद्धि से ज्ञातता पैदा नहीं हो सकती थी। यदि चेतन का प्रतिबिम्ब न ग्रहण करे तो बुद्धि में कौन-सी विशेषता है कि बुद्धिवृत्ति से ज्ञान हो जाये! बुद्धि भी, मिट्टी इत्यादि की तरह भौतिक है, वैसे ही विकारी है। चूँकि आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिये जब भी बुद्धिवृत्ति बनेगी तब उसमें चेतन का प्रकाश पड़ेगा ही इसलिये बुद्धिवृत्ति कभी अज्ञात नहीं रहती। घट में तो अज्ञातता है, क्योंकि वह खुद चेतन का प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करता, यह ग्रहण करने के लिये उसके ऊपर बुद्धि की खोल चाहिये। जब जहाँ घड़ा है वहाँ बुद्धि जाकर घटाकार बने, तभी घट का ज्ञान हो।

इसीलिये बौद्धों को यह भ्रम हो गया, कि बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त घड़ा है ही नहीं। क्योंकि बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त घड़ा जानने का कोई प्रकार उनको लगा नहीं अतः उन्होंने मान लिया कि घटाकार बुद्धिवृत्ति बनी, बस वही घट है। परंतु आचार्य शंकर ने विस्तार से विचार किया है कि स्वप्न और जाग्रत् का सर्वप्रसिद्ध भेद बौद्ध के अनुसार असंगत है। इसके लिये उपदेशसाहस्री में स्वप्नस्मृति प्रकरण है। स्वप्न में भी चीज़ें दीखती हैं, और याद, स्मृति में भी चीज़ें दीखती हैं। उनके देखने में और जाग्रत् में सच्चे पदार्थों को देखने में कुछ अंतर मानना ही पड़ता है। स्वप्न के अन्दर घटाकार वृत्ति ही है, घट नहीं है। इसी प्रकार आँख बंद करके घड़े को याद करते हैं तो भी घड़ा *दीखता* है। परन्तु वहाँ केवल बुद्धि की वृत्ति है, घड़ा नहीं है। जाग्रत् में जब घड़ा देखते हैं तब भी बुद्धिवृत्ति के बिना तो नहीं, लेकिन कोई चीज़ है जिसको जाकर बुद्धि अपना विषय बनाती है। यदि ऐसा नहीं मानें तो स्वप्न और जाग्रत् में कोई फ़र्क ही नहीं रह जायेगा, इन्द्रियों की कोई अपेक्षा ही नहीं रह जायेगी। सारा व्यवहार इससे गड़बड़ा जायेगा। स्वप्न में हमने तुमको दस हज़ार रुपये दे दिये, दस हज़ार रुपये स्वप्न के ही हैं। जाग्रत् में तुमसे माँगेंगे तो तुम नहीं कहोगे कि 'लो, मैं बुद्धिवृत्ति बना देता हूँ। दस हज़ार दे दिये तुम को।' स्वप्न में हमारी बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त दस हज़ार रुपये नहीं हैं, पर जाग्रत् में तो हमारी बुद्धि से अतिरिक्त दस हज़ार हैं। आचार्य शंकर इसीलिये पूछते हैं कि विज्ञानवादी कहता है कि विज्ञान से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो फिर भिक्षा लेने को घर-घर भटकने की क्या ज़रूरत है? जैसे स्वप्न के अंदर हमको सड़क बनाने के लिये किसी इंजीनियर की ज़रूरत नहीं, वैसे ही जाग्रत् में भी किसी इंजीनियर की ज़रूरत नहीं पड़नी चाहिये। इसलिये यह ठीक है कि कभी भी बुद्धिवृत्ति होवे और ज्ञान न होवे, ऐसा नहीं मिलता, फिर भी बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त ज्ञान को मानना पड़ता है। और बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त कोई घड़ा भी नहीं मिलता, फिर भी बुद्धिवृत्ति से अतिरिक्त घड़े को मानना पड़ता है। अन्तःकरण ही जीव की खास उपाधि है। जीव और जीव का ज्ञान कहीं भी मिलता है तो हमेशा बुद्धिवृत्ति के साथ ही। परंतु जीव अर्थात् चिदाभास है बुद्धिवृत्ति से अलग क्योंकि बुद्धिवृत्ति जड है इसलिये उसको चेतन हम बनाते हैं, जीव बनाता है। चिदाभास ही जीव का रूप है।। ८।।

आभासप्रयुक्त ही बुद्धि और मिट्टी में भेद है यह उदाहरण से बताते हैं—

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित्।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा।। ९।।

मिट्टी से लिपा घड़ा कहीं 'ज्ञात' ऐसा नहीं कहा जाता, इसी तरह केवल बुद्धि से घिरे घड़े की ज्ञातता स्वीकार नहीं।

जिस समय घड़ा बना नहीं है, उस समय भी परिणामवाद के अनुसार, घड़ा मिट्टी के चूर्ण रूप से ढँका हुआ है। ठीक जिस प्रकार से जब तेल तिलों के खलीरूप से छिपा हुआ है तब उसे छू या चख़ नहीं सकते। जैसे ही खली हटाते हैं, वैसे ही तेल प्रकट हो जाता है। यह नहीं कह सकते कि पेरने से तेल आया क्योंकि तब तो बालू को भी पेरने से तेल आ जाता! तिलों में पहले से तेल है तभी निकलता है। इसी प्रकार से मिट्टी में घड़ा है तभी वह निकलता है। यदि ऐसा न होवे तो कपड़े से भी घड़ा बना लेवें। जैसे तिल से ही तेल निकलता है, वैसे मिट्टी से ही घड़ा बनता है इसका मतलब है, मिट्टी में घड़ा है। पर चूर्ण रूप से छिपा हुआ है। जैसे ही चूर्णरूप को हटाते हैं, घटरूप प्रकट हो जाता है। इसलिये 'मृदालिप्त' का एक अर्थ हो सकता है, जब तक घड़ा नहीं बना तब तक वह मिट्टी से आवृत या छिपा हुआ था। उस चूर्णरूप वाली मिट्टी को देखकर कोई नहीं कहता कि मैंने घड़े को जान लिया। दूसरा अर्थ हो सकता है, घड़े पर जैसे पंचमहाभूत से उत्पन्न बुद्धि को लीपते हो, वैसे घड़े के ऊपर मिट्टी को लीप दो इतने मात्र से घड़े को नहीं जान सकते। बुद्धि तदाकार बने तभी जाना जायेगा। बुद्धि भले ही प्रत्यक्ष से आकार ले या अनुमानादि से, लेगी तभी घड़ा ज्ञात होगा। पत्थर में कारीगर मूर्ति को अनुमान से देख लेता है अतः पत्थर उसके अनुकूल नहीं हो तो कह देता है 'इससे मूर्ति नहीं बनेगी'। उसको मूर्ति दीख जाती है, पर हमें नहीं दीखती। चाहे प्रत्यक्ष से या अनुमानादि से दीखे, बुद्धिवृत्ति बनने पर ही दीखता है। प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा जब तक विषय से सीधे संबद्ध होकर बुद्धिवृत्ति नहीं बनेगी। अतः मिट्टी और बुद्धि में कोई अंतर है जिससे मिट्टी से लिप्त ज्ञात नहीं होता, बुद्धि से लिप्त ज्ञात होता है। अन्तर यही है कि बुद्धि में चिदाभास पड़ता है, अन्यत्र नहीं। अतः वृत्तिमात्र नहीं वरन् साभास वृत्ति ही ज्ञातता में हेतु है। अन्यथा तो जैसे मिट्टी है वैसे ही बुद्धिवृत्ति भी जड है।। ९।।

निष्कर्ष यह निकला—

ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्चिदाभासफलोदयः।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात् प्रागपि सत्त्वतः।। १०।।

इसलिये घड़े में ज्ञातता का अर्थ है चिदाभासरूप फल की उत्पत्ति। ब्रह्मरूप चैतन्य फल नहीं है क्योंकि प्रमाण-व्यापार से पहले भी विद्यमान है।

'अतः'—चूँकि केवल बुद्धि से ज्ञातता पैदा नहीं होती। ठीक जिस प्रकार से केवल लकड़ी से किसी का पेट नहीं फाड़ सकते, यदि उसके आगे लोहे का शूल लगा दो, तो उसी भाले से किसी का पेट फाड़ सकते हो। इसी प्रकार केवल चिन्मात्र भी ज्ञातता को पैदा नहीं कर सकता और केवल बुद्धिवृत्ति भी पैदा नहीं कर सकती, बुद्धिवृत्ति में आरूढ चेतन कर सकता है। चूँकि ऐसा है अतः घड़े के ऊपर घटाकार वृत्ति बने और उसमें चेतन का प्रकाश पड़े तब घट में ज्ञातता होगी। बुद्धिवृत्ति के अंदर चेतन का आभासरूप फल का उदय होना ही ज्ञातता कहा जाता है। 'जान लिया' का मतलब हुआ घड़े के ऊपर घड़े की वृत्ति बन कर उसमें चिदाभास पड़ना। प्रश्न होता है कि ब्रह्मचैतन्य को ही फल क्यों न मान लें? बुद्धिवृत्ति बने और ब्रह्मचैतन्य उसको जान लेवे। किंतु ऐसा मानना ग़लत होगा। क्यों? ब्रह्मचैतन्य तो बुद्धिवृत्ति बनने के पहले भी था। प्रमाण के प्रवृत्त होने के पहले भी ब्रह्मचैतन्य था ही। ब्रह्मचैतन्य एक जैसा है, वह तो ज्ञात और अज्ञात दोनों घटों को प्रकाशित करता है। इसलिये ज्ञातता लाने के लिये बुद्धिवृत्ति और उसमें चेतन के प्रकाश की ज़रूरत है।। १०।।

फल का उक्त अभिप्राय सुरेश्वराचार्य के वचन के विरुद्ध जाता है। उनके वचन से ऐसा लगता है कि ब्रह्मचैतन्य ही फल कहा है। उनके वचन से विरुद्ध नहीं यह बताने के लिये पहले वचन (बृ.सं.वा.१५६) उद्धृत करते हैं—

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता।
संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः।। ११।।

अनात्मपदार्थरूप प्रमेयों में जो संवित् फलरूप मानी जाती है वही वेदान्तशास्त्र में प्रमेय वस्तु है क्योंकि वेदान्तों के वचन यही स्पष्ट करते हैं।

वेदान्त अर्थात् उपनिषद्। वेदान्त का मुख्य अर्थ होता है महावाक्य। महावाक्य से जिसको जाना जाता है वह ब्रह्मचैतन्य ही है। पराक् अर्थात् बाहर के घट पट आदि। बाहर के जो अर्थ हैं, उनको प्रमाणों से जाना जाता है। घड़ा हो गया 'परागर्थ' जो आँख या स्पर्श आदि के द्वारा जाना जाता है। प्रमाण के जो विषय हैं, उनमें प्रमाण का फल है ज्ञान। वह वही ज्ञान है जो वेदान्तरूप प्रमाण से जाना जाता है—यह सुरेश्वराचार्य ने बतलाया है। इसमें ऐसा लगता है कि हमने घट को जाना, घटज्ञान जो फल हुआ, वह वही है जो ब्रह्मरूप ज्ञान है।।११।।

इस वार्तिकवचन से पूर्वोक्त व्यवस्था का विरोध नहीं यह बताने के लिये वार्तिक का अर्थ बताते हैं—

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम्।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः।। १२।।

पूर्वोक्त वार्तिक में आचार्य फल में संवित्समानता बताना चाहते हैं क्योंकि उपदेशसाहस्री में ब्रह्मरूप चेतन और फल में भेद स्पष्ट बताया है। ('वार्तिककाराणाम्' ऐसा मोडक को इष्ट पाठ है।)

ज्ञान समझाना आचार्य के लिये प्रधान है। जैसे काँच में मुँह दीख रहा है, कोई पूछे 'यह किसका मुँह है?' तो क्या कहोगे? 'मेरा मुँह है' यह कहते हो। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि तुम यह कहना चाहते हो कि तुम्हारा सिर कटकर काँच में घुस गया! 'मेरा ही मुँह दीख रहा है', यह कहते हो, साथ ही जानते हो कि यह मेरे मुँह जैसा मुँह है। इसी प्रकार फल सचमुच में चेतन नहीं है। ब्रह्मचैतन्य ही बुद्धिवृत्ति में प्रतिफलित हुआ चिदाभास है, यह आचार्य कह रहे हैं। इस भाव को नहीं समझ कर यह मान्यता है कि शायद यही कहा है कि घटज्ञान में ज्ञान ब्रह्मचैतन्य ही है। बुद्धिवृत्ति के द्वारा होने वाला ज्ञान तो पैदा होता और समाप्त होता है जबकि ब्रह्म चैतन्य एक-जैसा निर्विकार रहता है। इतना फ़र्क है, परन्तु है किसका प्रतिबिम्ब? उस प्रतिबिम्ब को यदि ढूँढते हैं तो हमें चैतन्य हाथ में आ जाता है। इसलिये सामान्य नियम यही है कि परमात्मा को 'मैं' इस ज्ञान में ढूँढो। 'मैं' यह ज्ञान है तो जीव का, अहंकारात्मिका वृत्ति होती है तभी 'मैं' होता है। परन्तु जब मैं को जानने चलते हैं तब पता लगता है कि 'मैं' तो गहरी नींद में नहीं रहता, फिर भी मैं रहता हूँ क्योंकि 'मैं बड़े सुख से सोया' यही याद आती है। सुषुप्ति में 'मैं बड़े सुख से सो रहा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि 'मैं' नहीं रहता। इस तरह मैं को ढूँढने जाते हैं तो दो मैं मिलते हैंः एक तो बुद्धिवृत्ति के साथ वाला, अहंकारात्मिका वृत्ति के साथ वाला, और दूसरा सुषुप्ति में बिना बुद्धिवृत्ति वाला। इन दोनों में से सचमुच में मैं कौन हूँ? उपनिषद् यह बतलाती है कि सुषुप्ति के अंदर जो तुम हो वही तुम्हारा उपाधि से रहित रूप है। वहाँ पर अज्ञान है, इसलिये प्रकट नहीं है, परन्तु बुद्धिवृत्ति के बिना वाला रूप वहाँ अवश्य है। मैं को ढूँढने से ही सच्चे मैं का पता लग जाता है। इसलिये सुरेश्वराचार्य ने कह दिया कि घटज्ञान में जो ज्ञान है, उसको ठीक तरह से समझने जाओगे, तो वेदान्त-प्रमाण कहता है कि वह उस चेतन का ही प्रतिबिम्ब है।

ऐसा क्यों नहीं समझ लेते कि वह चेतन है, अर्थात् घटज्ञान में भी ब्रह्म का ही ज्ञान हो रहा है? इसलिये कि घड़ा भी ब्रह्मचैतन्य में अध्यस्त है। प्रमाण से घड़े के द्वारा घिरे चैतन्य का आवरण हटता है। हटता ब्रह्म का ही है लेकिन घिरे ब्रह्म का। इसलिये दोनों में बहुत बड़ा अंतर है—एक, घट से अवच्छिन्न चेतन का ज्ञान है, वेदान्तप्रमेय अनवच्छिन्न ब्रह्म है। जैसे 'मैं' में है तो ब्रह्म का ज्ञान लेकिन अन्तःकरण या अहंकारात्मिका वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन का ज्ञान है, उसी प्रकार घट का ज्ञान तो चेतनरूप है, लेकिन उपाधिवाले चेतन का ज्ञान हो रहा है। सुरेश्वराचार्य का यही अभिप्राय है क्योंकि भगवान् भाष्यकार ने इस बात को उपदेशसाहस्री में (प्र. १४ श्लो.७) कहा है। इसलिये चिदाभास को न लेकर ब्रह्मचैतन्य से ही काम चला लेवें, ऐसा वार्तिककार का अर्थ नहीं। 'सैव' का मतलब है 'तत्सदृशी',

चित्सादृश्य कहने में तात्पर्य है। लौकिक फलरूप ज्ञान चेतन के सदृश है। जैसे कोई पूछता है 'इस चित्र में मुरली कहाँ है?' तो मुरली इशारे से दिखाकर कहता है कि 'यह मैं हूँ।' परंतु उसका मतलब है 'यह मेरे जैसा है'। इसी प्रकार सुरेश्वराचार्य ने जो कह दिया, 'संवित् सैवेह मेयोऽर्थः' उसमें मतलब है कि संवित् की तरह है। सुरेश्वराचार्य का ऐसा ही अभिप्राय है क्योंकि चिदाभास और ब्रह्म का भेद आचार्य ने उपदेशसाहस्री में माना है। स्वप्नस्मृति प्रकरण में उन्होंने चिदाभास और ब्रह्म का भेद बतलाया है। उसके अनुरोध से यहाँ ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास का भेद ही प्रतिपादित मानना चाहिये।। १२।।

वार्तिक से विरोध का परिहार हो गया। प्रकृत प्रसंग को आगे बढ़ाते हैं—

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे।
तत् पुनर्ब्रह्मणा भास्यम् अज्ञातत्ववद् एव हि।। १३।।

(क्योंकि स्थायी ब्रह्म से अलग फल है) इसलिये घट में उत्पन्न आभास घट में ही ज्ञातता पैदा करता है। और वह ज्ञातता ब्रह्म से वैसे ही भासित होती है जैसे अज्ञातता उससे भासित होती है।

'इसलिये' अर्थात् ब्रह्मरूप चेतन से फल को क्योंकि अलग बतलाया है, इसलिये। घट के ऊपर जब बुद्धिवृत्ति गई और उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ा, तब घटस्थल के अन्दर आभास का उदय हुआ। जो उदित हुआ फल है, यही घट के अन्दर ज्ञातता पैदा कर देता है। घड़े को 'जान लिया', यह जो ज्ञातता है, इसे ब्रह्म प्रकाशित करता है। 'ज्ञात घट है'—यह बात ब्रह्म का प्रकाश है, ब्रह्म यह जानता है। जैसे पहले जानता था कि घट अज्ञात है वैसे ही जानता है कि घट ज्ञात है।। १३।।

ब्रह्म और आभास के भास्यों का अन्तर बताते हैं—

धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिता।
कुम्भमात्रफलत्वात् स एक आभासतः स्फुरेत्।। १४।।

बुद्धिवृत्ति, आभास और घड़ा—इनका समूह चेतनद्वारा भासित किया जाता है जबकि फल क्योंकि केवल घड़े में स्थित है इसलिये आभास (फल) से अकेला घड़ा भासता है।

'चिता' अर्थात् चेतनमात्र से; ब्रह्मचैतन्य से तो वृत्ति आभास और घड़ा—तीनों प्रकाशित होते हैं। फल से केवल घड़ा प्रकाशित होता है, तीनों नहीं। घड़ा जान लिया—यह तो ज्ञान चित् का है, चेतन का है। और चिदाभास घड़ेमात्र को जानता है। दोनों के भास्य में बहुत बड़ा अंतर है। हम लोगों का जो ज्ञान होता है 'यह घड़ा है'—यह चिदाभास का है क्योंकि बुद्धि की वृत्ति आँख के द्वारा निकल कर घड़े पर जाती है और घटाकार वृत्ति में चेतन का प्रकाश पड़ता है, चिदाभास पड़ता है। इसी का नाम है घटज्ञान। और घड़ा, आभास और बुद्धिवृत्ति—इन तीनों को प्रकाशित करने वाला कूटस्थ है। जब कहते हो 'मैंने घड़े को जाना'

तो जानने वाला मैं भी पता लगता है। किसको जाना? घड़े को जाना। 'जाना' मायने बुद्धिवृत्ति। इस तरह 'ज्ञात घट' में तीनों हैं—बुद्धिवृत्ति, आभास और घड़ा। इन्हें कूटस्थ प्रकाशित करता है।। १४।।

पराक् अर्थ घड़ा आदि आभास और कूटस्थ दोनों से भासित होता है यह बताते हैं—

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः।
अन्येऽनुव्यवसायाख्यम् आहुरेतद् यथोदितम्।। १५।।

क्योंकि घड़े में दुगुना चैतन्य हो जाता है इसलिये वह ज्ञात-रूप से स्फुरता है। जैसी बात यहाँ बतायी इसे अन्य दार्शनिक 'अनुव्यवसाय' कहते हैं।

घड़े में चेतन का प्रकाश दुगुना हो गया। जैसा पहले कहा था कि दीवाल के ऊपर सूर्य का प्रकाश है ही, और काँच के द्वारा भी प्रकाश डाला तो वहाँ दुगुना प्रकाश हो जाता है। दीवार सारी दीखती है पर जहाँ काँच का प्रकाश पड़े वहाँ ज़्यादा प्रकाश होने से चमक ज़्यादा दीखती है। इसी प्रकार घट को अज्ञातरूप से तो प्रकाशित कर रहा था कूटस्थ पहले ही, जब बुद्धिवृत्ति ने प्रकट किया, 'अयं घटः' तब फिर उसमें ज्ञातता भी आ गई, यों जिस समय बुद्धिवृत्ति बनी हुई है, उस समय घट के ऊपर दुहरा प्रकाश है, कूटस्थ का और आभास का। इसलिये उसका ज्ञातरूप से स्फुरण हो जाता है। ज्ञातता आने में कारण चिदाभास का प्रकाश है। ज्ञान से ही जान लिया जाये यह संभव नहीं अतएव वेदांतियों ने आत्मरूप ज्ञान से अलग आभासरूप ज्ञान भी माना। ज्ञान-द्वैविध्य खाली हम ही नहीं मानते अन्ये अर्थात् गौतम, कणाद आदि भी एक घटविषयक व्यवसाय नामक ज्ञान के बाद दूसरा अनुव्यवसाय नामक ज्ञान मानते हैं। हम लोग जिसे साक्षी का, कूटस्थ का ज्ञान कहते हैं, उसे ही गौतम, कणाद के अनुयायी अनुव्यवसाय नाम से कहते हैं। ज्ञात का ज्ञान मानना—यह दूसरों के मत में भी है। वेदान्त से अंतर यह है कि उनके यहाँ अनुव्यवसाय भी बुद्धि का ही ज्ञान है। अनुव्यवसाय भी आत्ममनःसंयोग से ही पैदा होगा। इसलिये प्रश्न उठता है कि दूसरे ज्ञान के लिये फिर तीसरा, चौथा ज्ञान क्यों नहीं? अर्थात् अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। हमारा कूटस्थ क्योंकि निर्विकार स्वप्रकाश है, कभी भी ज्ञेय होता नहीं, इसलिये यह प्रश्न हमारे मत में नहीं आ सकता अर्थात् अनवस्था दोष हमारे मत में नहीं है। हर हालत में जिसे वे अनुव्यवसाय कहते हैं, उसी को हम साक्षिज्ञान कहते हैं। मतान्तर में आत्मा ज्ञानरूप नहीं है, ज्ञान स्वप्रकाश भी नहीं है अतः उक्त दोष है, वेदान्त में आत्मा ही स्वप्रकाश ज्ञानरूप है अतः किसी शंका को मौका नहीं मिलता।। १५।।

आभास और कूटस्थ के ज्ञानों का अनुभव और कथन भी विभिन्न हैं अतः दोनों सर्वसम्मत ही हैं—

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत्।। १६।।

'यह घड़ा'—यह कथन आभास की कृपा से तथा 'जाना हुआ घड़ा' यह कथन ब्रह्म के (कूटस्थ के) अनुग्रह से होता है।

'अयं घटः' (यह घड़ा) उक्ति हम इसलिये कह पाते हैं कि चिदाभास ने घड़ा प्रकाशित किया। यह उसका प्रसाद है। जो तुमने जाना, उसी को तुम मुँह से बोल रहे हो। आभास के प्रसाद से तो 'यह घड़ा' यह ज्ञान है; परन्तु ऐसा कह क्यों पाते हैं? क्योंकि चिदाभास ने अर्थात् जीव ने घड़े को देखा है इसलिये उक्ति भी आभास का प्रसाद कह दी। और 'विज्ञातो घट इत्युक्तिः,' 'घट अनुभूत हो गया' यह उक्ति, और इसकी मूलभूत अनुभूति जिसके कारण यह कह पाते हैं, वह 'ब्रह्मानुग्रहतो भवेत्' कूटस्थ ब्रह्म के अनुग्रह से है। कूटस्थ ब्रह्म ने 'घट अनुभव में आ गया' यह प्रकाशित किया। कूटस्थ की दृष्टि से ही ऐसा कह सकते हैं। जब कहते हैं कि घट को जान लिया, उस समय कूटस्थ के अनुभव को लेकर कह रहे हैं। जीव दोनों ही हैं, चिदाभास और वह जिसमें अध्यस्त है वह कूटस्थ। जब हम कहते हैं कि 'यह घड़ा है' तब चिदाभास की दृष्टि से, जीव की दृष्टि से कहते हैं। जीव का ही ज्ञान है कि यह घड़ा है। जब कहते हैं 'जाना हुआ घड़ा' तब कूटस्थ के अनुभव को लेकर। कूटस्थ भी जीव के साथ ही है।।१६।।

घट आदि परागर्थों के संदर्भ में आभास एवं कूटस्थ समझाकर अध्यात्म में समझाना शुरू करते हैं—

आभासब्रह्मणी देहाद् बहिर्यद्वद् विवेचिते।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि।। १७।।

देह से बाहर जैसे आभास व ब्रह्म का विवेक किया वैसे शरीर में भी उन्हें विवेक से समझना चाहिये।

अब तक घट के ज्ञान को लेकर कहा। घड़े का मतलब शरीर से बाहर जितनी चीज़ें हैं सब के बारे में जानोगे तभी जब उसकी बुद्धिवृत्ति बनेगी। वृत्ति प्रत्यक्ष आदि अनेक साधनों से बन सकती है पर बनेगी अवश्य। जैसे बाहर की चीज़ों के ज्ञान का विवेचन किया वैसे शरीर के अन्दर भी जो ज्ञान होते हैं, उनमें आभास और कूटस्थ इन दोनों को अलग करके बताया जाना चाहिये, उनका विवेक करना चाहिये, कि अन्दर दो ज्ञान हैं या नहीं, और हैं तो उनका स्वरूप क्या है।।१६।।

चिदाभास के बारे में पहले बतलाते हैं—

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च।
संव्याप्य वर्त्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा।। १८।।

'मैं'-वृत्ति को एवं कामक्रोधादि वृत्तियों को चिदाभास वैसे ही भली भाँति घेरे रहता है जैसे तपे लोहे को आग घेरे रहती है।

अंदर का ज्ञान भी बुद्धिवृत्ति ही है। 'मैं'—यह भी बुद्धि की एक वृत्ति है। बुद्धि की वृत्ति बनी तो उसमें चिदाभास पड़ना ही है। जैसे घटाकार वृत्ति बनी तो उसमें चिदाभास पड़ा वैसे ही मैं-वृत्ति बनी तो उसमें भी चिदाभास पड़ा। अर्थात् केवल विषयाकार वृत्ति के बनने पर ही चिदाभास पड़ता हो ऐसा नहीं, जहाँ भी बुद्धिवृत्ति होगी वहाँ चिदाभास पड़ेगा। अहम्वृत्ति की विशेषता यह है कि इसके अन्दर चैतन्य की प्रत्यगात्मरूपता का पता लगता है। 'मैं' अर्थात् जानने वाला रूप हमेशा अंदर ही प्रतीत होता है। बहुत-सी चीज़ों को हम समझ लेते हैं कि ये जानने वाली होंगी। परंतु फिर पता लगता है कि वे जानने वाली नहीं, उनको जानने वाला तो दूसरा है। पर मैं के बारे में यह कभी नहीं होता कि मैं को कोई और जान रहा है। मैं का हमेशा अनुभव 'मैं जानने वाला' इसी रूप में होता है। प्रत्यगात्मरूपता अहं-वृत्ति में प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार से बुद्धि की काम वृत्ति है। उपनिषद् के अंदर मन की अनेक वृत्तियों को गिनाते हुऐ सबसे अंत में कहा है 'एतत् सर्वं मन एव'। काम, क्रोध, लोभ, हिंसा आदि मन की वृत्तियाँ गिनाकर उन्हें मन कहा। क्रोध भी मन की वृत्ति है। लोभ-मद मात्सर्य आदि सब बुद्धिवृत्तियाँ हैं। इसलिये इनमें भी चिदाभास पड़ेगा ही। इन सभी बुद्धिवृत्तियों के अंदर व्याप्त होकर चिदाभास रहता है। कैसे? दृष्टांत दिया : जैसे लोहे को गर्म करो तो आग सारे लोहे में फैल जाती है, इसी प्रकार बुद्धि की सारी वृत्तियों में चिदाभास रहता है। एक वृत्ति के बाद दूसरी वृत्ति बनेगी, इकट्ठे ही सब वृत्तियाँ नहीं बनेंगी पर सारी वृत्तियों में चिदाभास व्याप्त करके रहेगा। इस तरह चिदाभास का कार्य हो गया काम, क्रोध, मैं आदि को प्रकाशित करना। ॥१८॥

उक्त उदाहरण से यह भी समझाते हैं कि आभास व्याप्त होने पर भी ये 'ज्ञान' वृत्तियाँ नहीं हैं—

स्वमात्रं भासयेत् तप्तं लोहं नान्यत् कदाचन।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः।। १९।।

तपा लोहा केवल खुद को दिखाता है, और किसी को कभी नहीं, इसी तरह आभासयुक्त (अहमादि) वृत्तियाँ अपने-अपने को भासित करती हैं (ज्ञानवृत्ति की तरह और किसी को नहीं)।

जब लोहा खूब गर्म करने से लाल हो गया तब लाल लोहा तो दीखेगा पर उससे तुम चाहो कि किताब बाँच लो तो नहीं हो सकता। ऐसे ही धूपबत्ती जल रही है तो उसकी जलती नोंक दीखेगी पर यदि तुम चाहो कि उस से नीचे तक की पूरी बत्ती देखो, तो नहीं देख सकते। इसी प्रकार से अहं, काम आदि बुद्धिवृत्ति के अंदर जो चिदाभास है, वह उस बुद्धिवृत्ति को तो दिखा देता है, पर उसकी रोशनी बस उतनी ही है। उसके प्रकाश में और कुछ नहीं जान सकते। आभास के सहित जो अहमादि वृत्तियाँ हैं वे अपना भास तो करा देती हैं, स्वयं को ज्ञात करा देती हैं, पर काम आदि वृत्तियों से तुम्हें कोई दूसरी चीज़ दीख

जाये, यह सम्भव नहीं है, काम वृत्ति से केवल काम ही दीखेगा, क्रोध वृत्ति से क्रोध ही दीखेगा। यह बताया चिदाभास का कार्य।। १६।।

अब कूटस्थ समझाते हैं–

क्रमाद् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु।। २०।।
सन्धयोऽखिलवृत्तीनाम् अभावाश्चावभासिताः।
निर्विकारेण येनाऽसौ कूटस्थ इति चोच्यते।। २१।।

क्रम से, टूट-टूटकर सब वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और सुषुप्ति, मूर्छा, समाधि में सभी वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। सब वृत्तियों की सन्धियाँ एवं वृत्तियों के अभाव जिस निर्विकार से प्रकाशित होते हैं वह कूटस्थ कहलाता है।

एक वृत्ति बनेगी, वह समाप्त होगी तब दूसरी वृत्ति बनेगी। ऐसा नहीं होता कि एक के बाद दूसरी वृत्ति बिना बीच के व्यवधान के बने। वृत्ति तो अपने में पड़े प्रकाश से, चिदाभास से प्रकाशित हो गई; लेकिन एक वृत्ति नष्ट हो गई, और दूसरी वृत्ति पैदा नहीं हुई, उनके बीच में भी भान तो रहता है! ऐसा तो नहीं कि भान चला जाये। वह भान किससे है? वही कूटस्थ का भान है। यहाँ 'क्रमाद्' का अर्थ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति भी ले सकते हैं। जाग्रत् से जब स्वप्न में जाते हैं, तो इसके बीच में भी एक खाली जगह है। ये खाली जगहें साधना के लिये आवश्यक हैं। यह अभ्यास करना चाहिये जब कोई बाह्य काम नहीं होवे तब। जाग्रत् की जब इंद्रियों का ज्ञान धीरे-धीरे कम होता जाता है, तब उसकी तरफ सावधानी रखो कि कब सब ज्ञान ख़त्म हो जाते हैं। यह अभ्यास शुरू करोगे तो पहले नींद उड़ जायेगी, जाग्रत् ख़त्म होगा नहीं। धीरे-धीरे अभ्यास करने से फिर यह होने लगता है कि जाग्रत् चला गया, स्वप्न आया नहीं उसके बीच में कूटस्थ का भान रहता है, वही ब्रह्म का भान है। इसी प्रकार से यदि सावधानी से, जाग्रत् में भी जब दो वृत्तियाँ बनती हैं, तो एक ख़त्म हुई, दूसरी पैदा हुई नहीं, उसी स्थिति के भान की तरफ ध्यान रखो तो वह कूटस्थ का भान हो जाता है। ये क्रम से होते हैं, अतः साधक के लिये बड़े उपकारी हो जाते हैं। नहीं तो, कूटस्थ के भान का पता ही नहीं लगता! सुषुप्ति आती है प्रारब्धभोग के किंचित्काल के लिये समाप्त होने पर। मूर्छा आती है रोग-विशेष से। समाधि आती है योगाभ्यास से। लेकिन तीनों में समानता है कि सारी वृत्तियाँ ख़त्म हो जाती हैं। गहरी नींद में भी कोई वृत्ति नहीं रहती क्योंकि बुद्धि ही नहीं है। मूर्छा में भी कोई वृत्ति नहीं रहती और समाधि में भी वृत्ति का निरोध हो जाता है। समाधि में और सुषुप्ति-मूर्छा में इतना अंतर रहता है कि इनमें बुद्धिवृत्ति नहीं है, क्योंकि बुद्धि नहीं है, बुद्धि लीन हो जाती है और समाधि में बुद्धि की वृत्ति नहीं रहती, लेकिन बुद्धि लीन नहीं होती, रहती है। यह दोनों में अंतर है। जब बुद्धि की वृत्ति नहीं बनती है, तब जैसा पतंजलि कहते हैं, 'तदा द्रष्टुःस्वरूपे

अवस्थानम्' : बुद्धि की वृत्ति के कारण ही हम अपने स्वरूप से दूसरी तरफ जाते हैं। बुद्धि की वृत्ति नहीं बनेगी तो द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित ही रहेगा।

लेकिन 'तदा' के द्वारा यह बतलाया कि जितनी देर तक वृत्ति बनेगी उतनी देर तक तो द्रष्टा स्वरूप से है। परन्तु जैसे ही निरोधकाल ख़त्म हुआ और वृत्ति बनी, वैसे ही फिर वैसा ही हो जाता है। परंतु सद्‌ब्रह्म स्वरूप तुम्हारे अज्ञान को नष्ट करने वाला नहीं है। जितनी देर बुद्धिवृत्ति नहीं बनी उतनी देर तुम स्वरूप में स्थित हो, लेकिन अज्ञान तो नष्ट नहीं हुआ है। जैसे घटाकार वृत्ति बने तब घट के अज्ञान का नाश हो उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति बने तब ब्रह्म के अज्ञान का नाश हो। चूंकि समाधि में ब्रह्माकार वृत्ति बनी नहीं इसलिये अज्ञान का बाध हुआ नहीं। जिसने श्रवण-मनन करके ब्रह्माकार वृत्ति बना ली, अतः अज्ञान नष्ट हो गया वह अगर मन की शान्ति के लिये चित्तवृत्ति का निरोध करता है तो भूमिकारूढ हो जाता है। सुषुप्ति में सुखस्थिति होती है, परन्तु मूर्छा से उठता है तो उसका स्मरण होता है कि 'बड़े दुःख में था'। मूर्छा में सुख का अनुभव नहीं होता। इसलिये उसको स्वरूपस्थिति मान नहीं सकते क्योंकि स्वरूप तो आनंद है। अतः मूर्छा यहाँ पर केवल यह बतलाने के लिये है कि सुषुप्ति और समाधि से अतिरिक्त भी वृत्तियों का लय हो सकता है। यह ज़रूरी नहीं है कि वृत्तियों का लय होने पर स्वरूपस्थिति ही होवे। यह बतलाने के लिये मूर्छा को साथ रखा है।। २०।।

वृत्तियों के बीच में सन्धि, जोड़ होता है। पहली वृत्ति ख़त्म नहीं हुई, दूसरी पैदा नहीं हुई वह सन्धि-काल है। इसी प्रकार से जाग्रत् ख़त्म हो गया, स्वप्न शुरू नहीं हुआ, वह भी सन्धि-काल है। उस काल में वृत्ति नहीं होती। सारी वृत्तियों का अभाव सुषुप्ति में या समाधि में प्रसिद्ध है। जो उन संधियों को और अभाव को जानता है, जिससे वे अवभासित हैं, वह निर्विकार है। बुद्धिवृत्तियों से मिलकर प्रकाशित होता चिदाभास तो विकार वाला है। बुद्धिवृत्ति बनी तो आभास पैदा हुआ, बुद्धिवृत्ति नहीं रही तो वह भी नहीं रहा इसलिये वह तो विकारी है। पर कूटस्थ चैतन्य सब समय एक-जैसा ही रहता है, विकारी नहीं है। जो निर्विकार है उसी को कूटस्थ कहा जाता है। कूट कहते हैं, जिसके ऊपर लोहा कूटते हैं। लोहा तो बदलता जाता है पर कूट वैसा ही रहता है। इसी प्रकार (१) बुद्धि की वृत्तियाँ, (२) उनमें पड़ा चिदाभास, (३) बुद्धि की वृत्तियों का अभाव, इसलिये (४) चिदाभास का अभाव—इन सब में एकरूप से कूटस्थ बना ही रहता है।। २१।।

श्लोक १८में आभास और श्लो. २१ में कूटस्थ सिद्ध होने का फल बताते हैं—

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथान्तरे।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं सन्धितोऽधिकम्।। २२।।

बाहरी घड़े की तरह भीतरी वृत्तियों में भी चेतन दो-गुणा होता है इसलिये सन्धियों की अपेक्षा वृत्तियों के बारे में स्पष्टता अधिक होती है।

सन्धिकाल में, और वृत्तियों के अभावकाल में जो आनन्द और ज्ञान का अनुभव है, वह स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार सुषुप्ति में जो आनन्द है वह भी साफ़ नहीं है, स्पष्ट नहीं है। इसका कारण यही है कि जैसे घड़े का जब ज्ञान होता है, तो दो चैतन्य हैं—एक कूटस्थ चैतन्य और दूसरा घटाकार वृत्ति में प्रतिफलित चिदाभास—इसलिये घड़ा साफ़ नजर आता है; घड़ा तो शरीर से बाहर है, इसी प्रकार अन्दर भी जब वृत्ति बनती है तब उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब चेतन और कूटस्थ चेतन दो हो जाते हैं, इसलिये जब वृत्ति बनती है तब सफाई है, स्पष्टता है। वृत्तियों को साफ़ जानते हैं, चाहे अहंवृत्ति हो या काम-क्रोधादि हों। संधि या वृत्तियों के अभाव को साफ़-साफ़ नहीं जानते। इसीलिये स्मृति की अन्यथानुपपत्ति आदि से उन्हें सिद्ध करना पड़ता है। संधि आदि की अपेक्षा वृत्तियाँ इसी से स्पष्ट हैं कि तब चेतन दो-गुणा है। दो चैतन्यों से भान की व्यवस्था जैसी बाहर है, वैसी अंदर भी है। इसलिये सुषुप्ति में आनन्द होने पर भी वह आनन्द वैसा साफ़ नहीं होता, जैसा रसगुल्ला खाकर आनन्द आता है, स्पष्ट भान होता है। सुषुप्ति में रसगुल्ला खाने से ज़्यादा आनंद है लेकिन ऐसी स्पष्टता नहीं है क्योंकि वृत्ति नहीं है, कूटस्थ ज्ञान तो है ही।।२२।।

द्विगुण चैतन्य वाला होना यह बाह्य-आन्तर में समानता है। अब उनमें भेद बतलाते हैं—

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद् वृत्तिषु क्वचित्।
स्वस्य स्वेनाऽगृहीतत्वात् ताभिश्चाज्ञाननाशनात्।। २३।।

बाहरी घड़े की तरह वृत्तियों में ज्ञातता और अज्ञातता नहीं होतीं। ज्ञातता इसलिये नहीं कि खुद को खुद ग्रहण नहीं करता और अज्ञातता इसलिये नहीं कि वृत्तियों द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है।

दो प्रकार के पदार्थ होते हैं, एक ज्ञातैकसत्ता वाले दूसरे अज्ञात सत्ता वाले। पहले वे जो जब जाने जायें तभी हैं। दूसरे वे जो न जाने जायें तब भी हैं। ताजमहल है, तुम आगरा गये, तुमने नहीं देखा। अतः अज्ञात रहते हुए सत्ता वाला है। जब तुम ताजमहल को जाकर देखोगे तब वह ज्ञात-सत्ताक होगा, तुमने उसको जान लिया। आन्तर वृत्तियाँ अज्ञात-सत्ताक नहीं होतीं जैसे क्रोध आयेगा तो पता लगेगा ही कि 'हमें क्रोध आ रहा है'। वह अज्ञात-सत्ताक नहीं होता है। इसी प्रकार से सींप में चाँदी जब तुम देखते हो तभी है। ऐसा नहीं है कि जब तुमने नहीं देखी थी तब भी वहाँ कोई अज्ञात चाँदी थी! तुम्हारे देखने के समय ही अनिर्वचनीय चाँदी हुई। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मद, आदि जितनी आन्तरिक वृत्तियाँ हैं सब ऐसा नहीं है कि पड़ी रहें और तुम उन्हें देखो। वे जब बनें तभी जानी जाती हैं। आन्तरिक कामना होगी तो तुमको ज्ञात होगा ही, आन्तर वृत्तियाँ कभी भी अज्ञात नहीं होतीं। इसीलिये इनको ज्ञात भी नहीं कह सकते। घड़ा है, उससे सम्बन्ध होने

पर तुम्हारी वृत्ति बनी, तब तुमने कहा, 'यह ज्ञात हुआ।' वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है। घड़ा तो वृत्तियों से अन्य है अतः वृत्ति उसे व्याप्त कर तत्सम्बद्ध अज्ञान नष्ट करती है। स्वयं को वृत्तियाँ व्याप्त करती नहीं कि अज्ञान नष्ट करें इसलिये वृत्ति में ज्ञातता उत्पन्न भी नहीं होती और अज्ञातता है ही नहीं जो नष्ट हो। ऐसा नहीं है कि वृत्ति को वृत्ति का विषय बनाया जा सके। वह उत्पन्न होते समय ही ज्ञानरूप (ज्ञायमानरूप) ही है। काम, क्रोध इत्यादि हमेशा ज्ञायमान हैं ही। अज्ञातता और ज्ञातता जैसे बाहर के पदार्थों में हैं, वैसे आन्तरिक पदार्थों में नहीं हैं। घड़े की तरह वृत्तियों के अन्दर ज्ञातता और अज्ञातता नहीं हैं। बुद्धि की वृत्ति बने और उसमें चिदाभास न पड़े यह तो होगा ही नहीं इसलिये वृत्तियाँ चिदाभास-युक्त होती हैं। काम, क्रोध आदि वृत्ति अपने से खुद को ग्रहण नहीं कर सकती। उत्पत्ति से पूर्व वे वृत्तियाँ ज्ञायमान न होने से उनके बारे में जो अज्ञान था वह वृत्तियों की उत्पत्ति से ही नष्ट हो जाता है। खुद के बारे में जो अज्ञान उनसे नष्ट होना है उसे नष्ट करते हुऐ ही वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। वस्तु रहते उसके बारे में अज्ञान हो तो वस्तु अज्ञात कही जाये। वृत्ति तो उत्पन्न होते ही अपने बारे में अज्ञान को नष्ट करती है अतः अज्ञात नहीं बन पाती। इस प्रकार बाह्य अर्थों से वृत्तियों में अन्तर स्पष्ट किया ॥२३॥

चिद्रूप प्रतीत होने पर भी कूटस्थ और आभास में भेद बताते हैं—

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः।
अकूटस्थं तदन्यत् तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

जिसके कारण वृत्ति में चैतन्य दुगुणा हो जाता है उस चिदाभास के जन्म-नाश की अनुभूति होने के कारण वह कूटस्थ (निर्विकार) नहीं है। उससे अन्य चिन्मात्र तो निर्विकार होने से कूटस्थ है।

द्विगुणीकृत चैतन्य तो पैदा होता है क्योंकि कामना की वृत्ति बनी तब उसमें चिदाभास हुआ। और जब कामना की वृत्ति समाप्त होती है, तब चिदाभास भी नहीं रह जाता। कामना आदि को कूटस्थ का ज्ञान नहीं मान सकते क्योंकि वह ज्ञान उत्पन्न और नष्ट होने वाला है; वह चिदाभास का ही ज्ञान हो सकता है क्योंकि चिदाभास स्वयं पैदा और नष्ट होने वाला है। उससे भिन्न है कूटस्थ जो जन्मादि विकारों वाला नहीं है। इसमें किसी विकार वाला ज्ञान नहीं होता ॥२४॥

आभास-कूटस्थ के भेद को वाक्यवृत्ति के (श्लो. ११) वचन से प्रमाणित करते हैं—

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

'अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का साक्षी' इत्यादि वचनों में अनेक तरह से सर्वत्र पूर्ववर्ती आचार्यों ने सभी स्थलों पर कूटस्थ ऐसा ही निर्णीत किया है।

आचार्य शंकर ने वाक्यवृत्ति ग्रंथ में आभास-कूटस्थ का वर्णन किया है। वहाँ श्लोक है

'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः।
आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यते॥'

अर्थात् अंतःकरण और अंतःकरण की वृत्तियों का जो साक्षी वह केवल चैतन्यमात्र आनन्दरूप है। वृत्ति के साथ मिला चेतन तो सुख-दुःख का अनुभव करता है। लेकिन वृत्ति का जो साक्षी है वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता। चूंकि उसके जन्म-नाश नहीं होते इसलिये वह सत्य ही है। उस आत्मा की तू शरणागति क्यों नहीं करता? इसके अन्दर भाष्यकार ने वृत्ति और साक्षी का अंतर व्यक्त किया है। ऐसे ही वचनान्तर सुलभ होने से 'सर्वत्र' इसका ऐसा ही निश्चय बताया ॥२५॥

उपदेशसाहस्री के अनुसार चिदाभास भी आचार्य-वचन से प्रमाणित बताते हैं—

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्याम् इत्याभासश्च वर्णितः ॥२६॥

जैसे मुख, आभास और आभास का आश्रय, वैसे आत्मा, आभास और आभास का आश्रय शास्त्र एवं युक्ति से समझे जाते हैं—यों आभास भी आचार्य ने बताया है। भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में बतलाया है।

जिस प्रकार से एक तो अपना मुँह है, एक उस का प्रतिबिम्ब है, एक उसका आश्रय काँच है जिसमें वह प्रतिमुख दीखता है। वैसे ही मुख की जगह हो गया आत्मा, आभास की जगह चिदाभास, और आश्रय हो गया अन्तःकरण की वृत्ति या अन्तःकरण। इस तरह स्वयं आचार्य ने आत्मा से अन्य आभास का उल्लेख किया है। 'मनसः साक्षी, बुद्धेःसाक्षी' इत्यादि शास्त्रवचन (नृ.उ.२) भी प्रमाण है ही। मन का साक्षी, बुद्धि का साक्षी इस प्रकार से कूटस्थ साक्षी का वर्णन किया है। अन्यत्र वेद में (बृ.२.५.६) कहा कि इन्द्र अर्थात् परमेश्वर ने अपनी माया से अनेक रूपों को धारण किया है। अर्थात् अंतःकरण और उसकी वृत्तियों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपों को एक परमेश्वर ही धारण करता है। सचमुच में तो अनेक बनता नहीं! जैसे यदि तुम दस काँच रख दो, तो उसमें दस मुख दिखाई देंगे। पर सचमुच में तुम्हारे दस मुख हो नहीं गये। इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियाँ सारी चेतन दिखाई देती हैं, सचमुच में आत्मा अनेक हो जाता हो ऐसा नहीं है। चिदाभास कामी, क्रोधी, लोभी दीखता रहे, कूटस्थ से क्या मतलब! चिदाभास के अन्दर ये चीजें आती हैं, कूटस्थ निर्विकार वैसा ही बना रहता है। शास्त्र भी इस बात को बतलाता है, युक्ति से भी समझ आ जाती है। जन्म-नाश विकार आदि की सिद्धि ही निर्विकार नित्य चैतन्य से सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतः दो ज्ञान मानने ही पड़ते हैं। एक विकारी और दूसरा अविकारी। विकारी आश्रय को, अंतःकरण को लेकर है। जब अंतःकरण और उसकी वृत्तियाँ नहीं रहतीं तब कहीं

अनेकरूपता नहीं रहती। साधारण व्यक्ति को यह समझने के लिये सुषुप्ति सुलभ है। सुषुप्ति में तुम हो परन्तु अंतःकरण और उसकी वृतियाँ नहीं हैं तो तुम सुखी-दुःखी नहीं हो। इस प्रकार से चिदाभास की सिद्धि की ॥२६॥

कोई शंका करता है कि तीनों चीज़ें मानने की क्या ज़रूरत है? एक अंतःकरण माना, एक अंतःकरण में प्रतिबिम्ब और एक आत्मा कहा। दो ही क्यों नहीं मान लेते? जैसे आकाश के अंदर घड़ा आया तो आकाश हो गया घटावच्छिन्न, घड़े से घिरा आकाश। अब घड़े में भरे पानी को इधर-उधर ले जाओ तो प्रतीति यह होगी कि घड़े के अंदर की जगह भी इधर-उधर चली गई। पर आकाश में जाना-आना तो है नहीं। घड़े को इधर-उधर ले जाने से अनुभव हो जाता है। फिर चिदाभास मानने की ज़रूरत क्या है? अंतःकरण के होने से सुखी-दुःखीपना प्रतीत होवे और अंतःकरण न होने से न रहे, इतने से ही काम चल जाए तो एक चिदाभास और क्यों मानें? प्रश्न ही रखते हैं—

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ।
कर्त्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७॥

बुद्धि से घिरा कूटस्थ लोकान्तर जाना-आना कर सकता है जैसे घटाकाश जाना-आना कर लेता है। बताओ, आभास से क्या लाभ?

जैसे आकाश में घड़ा होने से ही उसमें जाने-आने की प्रतीति हो जाती है उसी प्रकार बुद्धि से अवच्छिन्न कूटस्थ बुद्धि के होने से ही जा-आ सकता है। बुद्धि चली गई स्वर्ग में तो प्रतीति हो गई 'मैं स्वर्ग में चला गया।' 'मैं' मतलब आत्मा। नरक में चली गई बुद्धि तो प्रतीति हो गई, 'मैं नरक में चला गया'। दो ही मानने से काम चल जाता है। जैसे घटाकाश दीख जाता है जाने-आने वाला वैसे कूटस्थ प्रतीत हो जाता है आने-जाने वाला। दो ही मानने से काम चलता है तो और एक चिदाभास क्यों मानना? दार्शनिक मर्यादा है कि कम-से-कम पदार्थों से व्यवस्था बननी चाहिए। कम पदार्थों से सम्भव रहते अधिक पदार्थों की कल्पना से व्यवस्था सङ्गत नहीं। बिना आभास के संभव हो तो उसे मानकर व्यवस्था ग़लत मानी जायेगी ॥२७॥

उत्तर देते हैं—

शृण्वसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्न हि।
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८॥

सुनो : केवल परिच्छेद से असंग आत्मा जीव नहीं बनेगा। यदि ऐसा हो तो घड़ा, दीवाल आदिसे अवच्छिन्न आत्मा भी जीव हो जाये!

घड़ा हो, दीवाल हो, कोई भी चीज़ हो, उससे आत्मा अवच्छिन्न हो जाएगा। महाभूतों से ही अंतःकरण बना, और महाभूतों से ही संसार के दूसरे पदार्थ बने, दीवाल, घड़ा आदि

बना। महाभूतों से ही पत्थर बना, परन्तु पत्थर में कभी चेतनता का अनुभव नहीं है! चेतनता का अनुभव तभी होता है जब बुद्धि अर्थात् अंतःकरण होता है। जड-चेतन का यह अनुभूयमान भेद संभव करने वाली चीज़ क्या है? अगर बुद्धि से अवच्छिन्न चेतन जीव है तो पत्थर से अवच्छिन्न चेतन जीव क्यों नहीं? इसके लिये मानना पड़ेगा कि बुद्धि में कुछ विशेषता है जो बुद्धि में तो चेतना होती है, दीवार आदि में नहीं होती जबकि कूटस्थ तो वहाँ भी एक-जैसा है। इसलिए असंग जो कूटस्थ है वह परिच्छेदमात्र से जीव नहीं हो जाता। यदि परिच्छेदमात्र से जीव संभव मानोगे तो फिर घड़ा, दीवार इत्यादि से अवच्छिन्न भी जीव हो जायेगा ॥२८॥

बुद्धि की स्वच्छता (सात्त्विकता) भी यह भेद संपादित नहीं कर सकती यह कहते हैं—

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥२९॥

यदि स्वच्छ होने से बुद्धि दीवार जैसी नहीं तो भले न हो, बुद्धि की स्वच्छता से तुम्हारे अनुसार अवच्छेद में क्या अन्तर आयेगा?

अवच्छेदवादी कहता है कि बुद्धि दीवाल की तरह नहीं है। क्यों? बुद्धि स्वच्छ है और दीवार अस्वच्छ है। स्वच्छ और अस्वच्छ में भेद है। जो स्वच्छ चीज़ है उसमें जीवता आ जाती है, अस्वच्छ चीज़ में जीवता नहीं आती। सिद्धान्ती कहता है कि स्वच्छता-अस्वच्छता का भेद रहो, लेकिन अवच्छिन्न तो एक जैसा ही रहेगा। अवच्छेदक चाहे साफ हो या साफ न हो, अवच्छेद में क्या फ़र्क आयेगा? चाहे मिट्टी के घड़े का हो या सोने के घड़े का अवच्छेद हो, दोनों में कोई भेद नहीं आयेगा, आकार के अनुरूप ही जल भरा जायेगा ॥२९॥

दृष्टान्त से यही स्पष्ट करते हैं—

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥

लकड़ी से बना हो या काँसे से, प्रस्थसे मापकर चावल आदि बेचने वाले के माप में फ़र्क नहीं आता।

'प्रस्थ' एक बर्तन होता है। पुराने ज़माने में तोलकर नहीं बेचते थे। बर्तन भरकर अनाज आदि नापकर बेचते थे। पाँच सेर का जो बर्तन होता है उसको 'प्रस्थ' कहते हैं। चाहे वह बर्तन लकड़ी का बना हो, चाहे काँसे का होवे, नापा हुआ चावल आदि बराबर ही रहेगा। बर्तन के उपादान से माप में कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। बेचने वाले को कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा ॥३०॥

काँसा चमचमाता है, लकड़ी नहीं—यह फ़र्क कहा जाये तो बुद्धि में भी इसे मानना होगा यह कहते हैं—

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते।
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद् बलात् ॥३१॥

माप समान होने पर भी काँसे में प्रतिबिम्ब पड़ता है यह अन्तर है तो इसी दृष्टांत के बलपर बुद्धि में भी आभास होगा (जिससे अन्तर संगत हो जायेगा)

पाँच किलो पानी तो दोनों में एक-जैसा आयेगा पर काँसा चमकेगा और लकड़ी चमकेगी नहीं। बस, चमक का अंतर है। यही हम कह रहे हैं, बुद्धि में चेतन आता है, तो वह चमक जाता है, और दीवार-घड़े आदि में चमकता नहीं है। चमकने का ही फ़र्क है। अंतः—करणावच्छिन्न कूटस्थ चेतन जीव है, इसमें मतभेद नहीं है। लेकिन अंतःकरण में विशेषता यह है कि वह साभास बन जाता है, मायने वहाँ ज्ञान हो जाता है और पत्थर में ज्ञान नहीं होता। हैं दोनों ही पांचभौतिक ॥३१॥

प्रतिबिम्ब का अर्थ क्या है, इसको बतलाते हैं—

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः।
बिम्बलक्षणहीनःसन् बिम्बवद् भासते स हि ॥३२॥

'आभास' अर्थात् थोड़ा भान। प्रतिबिम्ब ऐसा ही होता है क्योंकि बिम्ब के लक्षण वाला नहीं पर बिम्ब की तरह भासता है इसलिए वह बिम्बाभास है

आभास का मतलब होता है 'ईषद्भासनम्' चीज़ पूरी तरह से भासित न होवे तब उसको आभास कहते हैं। काँच के सामने खड़े हो तो काँच में मुँह का प्रतिबिम्ब पड़ेगा पीठ का नहीं, प्रतिबिम्ब में मुँह दीखेगा, पीठ नहीं। इसलिये प्रतिबिम्ब में बिम्ब पूरी तरह से प्रतीत नहीं होता। बिम्ब का लक्षण तो प्रतिबिम्ब में पूरा नहीं घटता, पर वह बिम्ब की तरह प्रतीत होता है। बिम्ब के सारे लक्षण न होवें; थोड़े लक्षण तो प्रतीत हों पर सारे प्रतीत भी नहीं हों पर बिम्ब की तरह प्रतीत हो वह प्रतिबिम्ब होता है ॥३२॥

कौन-सा लक्षण है, कौन-सा नहीं है, इसको बतलाते हैं—

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद् भासनं विदुः॥३३॥

प्रतिबिम्ब, चिदाभास संग और विकार वाला होने से बिम्ब के समूचे लक्षण वाला नहीं है। चिदाभास की स्फूर्तिरूपता (ज्ञानरूपता) इसका बिम्ब की तरह भान है ऐसा विद्वान् समझते हैं।

बिम्ब तो असंग है। और जो आभास, जीव दीख रहा है यह ससंग है, कामी, क्रोधी, लोभी, सुखी, दुःखी ऐसा अपने को अनुभव करता है। बिम्ब का जो लक्षण असंगता वह इसमें नहीं है। जैसे ससंग वैसे ही अपने को विकारी अनुभव करता है—'मैं जवान था, मैं बुड्ढा हो गया।' ब्रह्म तो विकारी है नहीं। अविकारिता और असंगता की प्रतीति न होकर के ससंगता और विकारिताकी प्रतीति है। इसलिये पूरे बिम्ब का लक्षण नहीं मिलता। फिर बिम्ब की तरह है, इसका मतलब क्या? जैसे बिम्ब ज्ञानरूप है वैसे ही यह भी ज्ञानरूप है।

चिदाभास जीव भी ज्ञानरूप है क्योंकि अपने को भी जानता है, दूसरे को भी जानता है। स्फूर्ति, ज्ञानरूपता को ही बिम्ब की तरह भासन कहा। इस प्रकार प्रतिबिम्ब कुछ तो बिम्ब की तरह है, इसकी ज्ञानरूपता ब्रह्म की तरह है, पर यह असंग और निर्विकार नहीं है यही अन्तर है। इस प्रकार से सिद्ध किया कि चिदाभास स्वीकारने का प्रयोजन है क्योंकि विकारी ज्ञानरूपता सिवाय बुद्धि के और कहीं मिलती नहीं, यह बुद्धि की विशेषता है कि यह ज्ञानरूप से प्रतीत होती है। ज्ञानरूप से प्रतीत होती है—इसी को चिदाभास कहते हैं अर्थात् चित् न होकर के चित् की तरह लगती है। जैसे तार्किकों का कथन है, हेतु के लक्षण से रहित होवे और हेतु की तरह प्रतीत होवे तो उसे हेत्वाभास कहते हैं, इसी प्रकार बिम्बलक्षण से रहित है और बिम्ब की तरह प्रतीत होता है, इसलिये इसको चिदाभास कहते हैं **॥३३॥**

बुद्धिमात्र भी चिदाभास नहीं यह समझाते हैं—

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक्।
इति चेद् अल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

बुद्धि रहते ही रहने वाला होने से बुद्धि से अलग आभास नहीं है—यह कहो तो जवाब है कि यह कम ही कहा, इसी तरह बुद्धि भी अपने शरीर से अलग न मिलने से शरीर से अलग नहीं है— यह भी कह सकते हो!

शंका है कि बुद्धि को ही ज्ञान क्यों न मान लेवें? उसमें एक चिदाभास क्यों मानें? जिसके होने पर ही जो होता है वह उससे भिन्न नहीं होता यह दार्शनिक मर्यादा है। इसी प्रकार बुद्धि होती है तब काम, क्रोध होते हैं, जीव होता है, और बुद्धि नहीं होती तो ये सब नहीं होते। बुद्धि के होने पर होता है इसलिये बुद्धि को ही मानो, बुद्धि से अलग एक आभास और क्यों मानें? यदि यह शंका करते हो तो तुमने बहुत छोटी-सी बात कही। क्यों? बुद्धि कभी शरीर से अलग नहीं मिलती। मन जब भी मिलता है तो शरीर के साथ ही मिलता है। शरीर के बिना तो कहीं मन मिलता नहीं। फिर शरीर को ही बुद्धि मान लो! शरीर से अतिरिक्त बुद्धि नहीं मिलती इसलिये शरीर से बुद्धि अलग मानने की जरूरत नहीं है। आजकल पाश्चात्य देशों से प्रभावित लोग मानते हैं कि तुम्हारे शरीर के, दिमाग के तन्तुओं के अंदर, स्नायु-मंडल में कुछ स्पन्दन होता है, उसी का नाम ज्ञान है। यदि तुम कहो कि बुद्धि से अतिरिक्त चिदाभास क्यों मानना तो हम पूछते हैं कि शरीर से अतिरिक्त बुद्धि नहीं मिलती तो शरीर से अतिरिक्त बुद्धि भी क्यों माननी? शरीर से भिन्न फिर बुद्धि भी नहीं है। ऐसा जवाब प्रतिबन्दी कहा जाता है। इसको कहने वाला वादी के तर्क से ही वादी का मत काट रहा है। प्रतिबन्दी उत्तर वह जिसमें हम न भी मानें तो तर्क से ऐसी बात सिद्ध करते हैं जिसे वादी भी मान नहीं सकता। इसका फल है कि वादी का तर्क दुर्बल सिद्ध होता है। कहने वाले का यह मतलब नहीं है कि हम शरीर को बुद्धि मानते हैं। वह तो केवल यह कहना चाह रहा है कि यदि तुम कहते हो कि जिससे अलग जो न मिले उसको न मानो

तो फिर चिदाभास ही नहीं, तुमको मानना पड़ेगा कि बुद्धि भी शरीर से अतिरिक्त नहीं है ॥३४॥

अब इसका उत्तर दे रहे हैं–

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथा सति।
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५॥

यदि शास्त्रप्रामाण्य से स्वीकारो कि शरीर मरने पर भी बुद्धि रहती है तो बुद्धि से अन्य चिदाभास प्रवेशबोधक वेदवाक्यों से निर्धारित है।

यह ठीक है कि शरीर से अतिरिक्त बुद्धि मिलती तो नहीं है, लेकिन शास्त्र बुद्धि को शरीर से अलग मानता है। क्यों? बृहदारण्यक आदि के अंदर जहाँ मरने की स्थिति बतलाई है वहाँ कहा है कि शरीर तो मर जाता है और जीव लोकान्तर-गमन करता है। इसलिये शरीर यहाँ रहने पर भी लोकान्तर-गमन करने वाला बुद्धिरूप चेतन है, इसलिये बुद्धि को शरीर से अलग मानना पड़ता है। इसका मतलब है कि तुम शास्त्र के अनुसार मान रहे हो। शास्त्र के अनुसार तो बुद्धि से भिन्न चिदाभास को भी कहा है। कहाँ? जहाँ कहा कि इन्द्रियाँ मन बुद्धि सब कुछ बना दिया, तब परमेश्वर ने इसमें प्रवेश किया। बुद्धि में प्रवेश किया, अतः बुद्धि से अतिरिक्त है, तभी बुद्धि में प्रवेश किया। ऐसी जो प्रवेश-श्रुतियाँ हैं इनसे बुद्धि से भिन्न चिदाभास सिद्ध हो रहा है ॥३५॥

प्रवेश अन्यथा उपपन्न नहीं यह दिखाते हैं–

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेद् नैतरेये धियःपृथक्।
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

यह नहीं कह सकते कि बुद्धि-सम्बद्ध का ही प्रवेश है क्योंकि ऐतरेय में बुद्धि से अलग आत्मा ने प्रवेश का संकल्प कर प्रवेश किया यह बताया है।

यही क्यों नहीं मान लेते कि बुद्धि के साथ सम्बद्ध, बुद्धि से अवच्छिन्न आत्मा ने प्रवेश किया? अर्थात् बुद्धि और आत्मा से भिन्न तीसरा चिदाभास नहीं है। अंतःकरणावच्छिन्न चेतन ने ही प्रवेश किया ऐसा मान लो। यदि ऐसा कहो तो भी नहीं बनेगा, क्योंकि ऐतरेय उपनिषद् के अन्दर जहाँ प्रवेश बतलाया वहाँ बुद्धि के, उपाधिके प्रवेश से अलग ही, आत्मा का प्रवेश कहा है कि आत्मा ने प्रवेश का संकल्प करके प्रवेश किया। बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सबके अंदर उसने मूर्धा का विदारण करके प्रवेश किया ऐसा बताया है। आत्मा ने संकल्प करके प्रवेश किया, इसलिये प्रवेश करने वाला बुद्धि से अलग है॥३६॥

उक्त श्रुतिप्रसंग का संकेत देते हैं–

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात्।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७॥

'इन्द्रियों समेत यह शरीर मुझ चेतन के बिना कैसे कार्यनिर्वाहक होगा!' ऐसा विचार करके कपाल-मध्य को फोड़कर प्रवेश करने वाला यह विचारकर्त्ता ही संसरण कर रहा है।

इन्द्रियों के साथ शरीर आत्मा से अतिरिक्त होने से अनात्मा है, जड है। अतः आत्मा ने सोचा 'यह मुझ चेतन के बिना कैसे सत्ता वाला हो सकता है?' वेदान्त की आधारभूत मान्यता है कि जड में प्रवृत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक चेतना उसमें प्रवेश न करे। यही बहुत बड़ा भेद सांख्य और वेदान्त में है। सांख्य मानते हैं कि प्रकृति स्वतः प्रवृत्ति करती है। वेदान्त ऐसा नहीं मानता। इसलिए सांख्य के अनुसार केवल त्वम्पदार्थ का विचार करके, जीव के स्वरूप का विचार करके उसके अकर्त्तापने का निर्णय हो जाता है कि पुरुष वस्तुतः अकर्ता है। वेदान्त कहता है कि प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती, चाहे वह प्रकृति का एकदेश शरीर आदि हो, चाहे समस्त प्रकृति हो। सारी प्रकृति को चलाने वाला भी चाहिये और प्रकृति के एकदेश शरीर-मन को चलाने वाला भी चाहिये। जो सारी प्रकृति को चलाने वाला है वह तत्पदार्थ परमेश्वर है। त्वम्पदार्थ है इस शरीर-मन-बुद्धि को चलाने वाला चेतन जीव। इसलिये वेदान्त के अनुसार जब तक तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ दोनों का शोधन न किया जाये तब तक ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं है। ऐतरेय में आत्मा विचार करके कहता है, 'मेरे बिना कैसे होगा'। यहाँ प्रसंग प्रकृति के कार्य स्थूल-सूक्ष्म शरीर का है। उसने निर्णय किया कि शरीर में उसको प्रवेश करना है। राजा जिस द्वार से प्रवेश करता है उस दरवाज़े से दूसरे लोग प्रवेश नहीं करते, इसलिये सिर के ऊपरी भाग में जहाँ शिखा होती है वहाँ फोड़कर उसने प्रवेश किया इसीलिये वापिस उस रास्ते से निकलता है तब तो ब्रह्मलोक को जाता है और बाकी द्वारों से निकले तो स्वर्ग, पितृलोक आदि को जाता है। ब्रह्मलोक उन रास्तों से नहीं जा सकते क्योंकि जिस रास्ते से प्रवेश किया है उसी रास्ते से वापिस निकलेगा। राजा आता और जाता अपने दरवाज़े से ही है। इसलिये मूर्धा को फोड़कर ही पुनः ब्रह्मलोक को जाता है। जहाँ ये तीनों कपाल मिलते हैं, जहाँ पर शिखा रखी जाती है, उस का विदारण करके जब इसमें प्रवेश कर लिया, तब वह संसार में भटकता है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च।' जिसने मूर्धा का विदारण करके प्रवेश किया वही संसरण कर रहा है। 'संसरति' मतलब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का अनुभव करता है और एक देह से देहान्तर जाता है। ये दोनों ही संसरण कहे जाते हैं। प्रतिदिन का संसरण है जाग्रत् से स्वप्न में जाना, स्वप्न से सुषुप्ति में जाना। और सौ साल पूरे होने पर शरीर को छोड़ कर दूसरे में जाना भी संसरण है। क्योंकि आत्मा ने प्रवेश किया अतः संसरण करने वाली बुद्धि नहीं हो सकती, बुद्धि से जीव अलग ही है ॥३७॥

जब कहते हैं कि ब्रह्म संसरण करता है तब लोगों को खटकता है कि ब्रह्म कैसे संसरण करता है? अतः इसे समझाते हैं—

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत् सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

यदि पूछो कि असंग घुसा कैसे? तो हम पूछते हैं कि असंग ने सृष्टि कैसे की? सृष्टि और प्रवेश दोनों की मायारूपता समान है, दोनों का विनाश भी समान है।

प्रविष्ट होकर संसरण करने वाला असंग कैसे हो सकता है? प्रवेश किया, इसका मतलब है इसके साथ तादात्म्य-अनुभव हो गया। यदि ब्रह्म ने प्रवेश किया, संसरण कर रहा है तो वह असंग कैसे हो सकता है, संग वाला हुआ? यह शंका करते हो तो बताओ कि अगर असंग है तो सृष्टि कैसे करेगा? अगर असंग प्रविष्ट नहीं हो सकता तो असंग रहते सृष्टि भी नहीं कर सकता। यदि सृष्टि माया से कर लेता है तो जैसे सृष्टि करने वाला ईश्वररूप मायिक है, वैसे ही जन्म-मरण में जाने वाला जीव मायिक है। ब्रह्म का लक्षण करने के लिये ही सारी उपनिषदें कहती हैं कि उसने सृष्टि की। उपनिषदें ब्रह्म का निरूपण इसी प्रकार से करती हैं कि वह सृष्टि करता है। इसलिये सृष्टि करने वाला उसका रूप जैसे मायिक है, वैसे ही सृष्टि के एकदेश स्थूल-सूक्ष्म शरीर के अन्दर उसका प्रवेश भी मायिक है। जिस समय ब्रह्मज्ञान होता है, उस समय जीव और ईश्वर दोनों ही नहीं रह जाते। ऐसा नहीं होता कि 'मैं जीव तो नहीं हूँ लेकिन ईश्वर तो रह गया'। इसलिये तत्पदार्थ का शोधन भी उतना ही ज़रूरी होता है जितना त्वम्-पदार्थ का शोधन। सृष्टि-स्थिति की मायिकता भी सिद्ध होना उतना ही ज़रूरी है जितना अन्तःकरण आदि के द्वारा सुख-दुःख भोगने की मायिकता। दोनों ही एक-जैसे मायिक हैं ॥३८॥

जीवका औपाधिक रूप विनाशी है, यह बतलाने वाली श्रुति (बृ.४.५.१३) सुनाते हैं—

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने साफ ही कहा कि यह प्रज्ञानघन आत्मा भूतकार्य देहादि उपाधियों के कारण जीवाभिमान पाकर उन्हीं के नष्ट होने पर वह जीवाभिमान छोड़ देता है।

क्यों हम कहते हैं कि जीवरूप चिदाभास विनाशी है? यह समझना ज़रूरी इसलिये है कि जीव ब्रह्मस्वरूप है, इसलिये उसका विनाश नहीं हो सकता। ऐसे वाक्य भी मिलते हैं। और चिदाभासरूप जीव तो उत्पत्ति और विनाश वाला प्रतीत होता ही है। जब बुद्धिवृत्ति बनी तब चिदाभास पड़ा अर्थात् प्रारम्भ हुआ और बुद्धिवृत्ति के समाप्त होने पर नहीं रहा, अर्थात् उसका विनाश हुआ इसलिये जीव नष्ट होता भी है। अतः स्पष्ट है कि जीव का नाश होना भी बताया है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को स्पष्ट रूप से इसका नाश बतलाया है। शरीर आदि का सहारा लेकर जीव सारे कार्यों को करके जब प्रारब्ध खत्म हो जाता है तब शरीरादि नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। जब महाभूतों से बने ये शरीर मन बुद्धि इत्यादि समाप्त होते हैं, तब इनके साथ ही वह जीव भी समाप्त हो जाता है। जब तक प्रारब्ध है तब तक तो शरीर के साथ है, और जैसे ही शरीर समाप्त हो जाता है, उसके साथ वह भी विनाश को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् फिर जीव नहीं रहता। जब तक उसका शरीर है तब तक तो लोगों

को प्रतीति होती है कि वह अभी है। परन्तु जब उसका शरीर नष्ट हो जाता है तो यह प्रतीति नहीं होती कि वह है वरन् लगता है कि वह नष्ट हो गया। 'अनुविनश्यति' अर्थात् प्रारब्ध से बना स्थूल-सूक्ष्म शरीर जब खत्म होता है तब जीवभाव खत्म होता है। यदि प्रारब्ध कई शरीरों का है तो कई शरीरों तक भी रहेगा। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के नष्ट होने पर ही जीवभाव नहीं रहता। क्या नष्ट होता है? जीवभाव की प्रतीति नष्ट होती है। क्योंकि है तो जीवभाव मायिक ही, प्रतीति से अतिरिक्त यह है नहीं। इसलिये अन्यत्र (वराहो.२.६९) कहा है 'प्रारब्धनाशात् प्रतिभाननाशः'। जब तक प्रारब्ध है तब तक द्वैत का प्रतिभास है, प्रातिभासिक सत्ता है। ज्ञात होने के बाद संसार की, शरीर आदि की व्यावहारिक सत्ता नहीं रहती, प्रातिभासिक रहती है, प्रतीतिमात्र रहती है। जिस प्रकार से माता मर चुकी है, उसके चित्र के बारे में कहते हो 'यह मेरी माँ है।' पर ऐसा कहते हुए भी जानते हो कि माँ मर चुकी है। इसी प्रकार पदार्थ प्रतीत होते हैं, इससे अतिरिक्त उनकी और कोई सत्ता रहती नहीं है। इस प्रकार जीव की नश्वरता भी बतायी गयी है॥३९॥

वह नश्वर ही है यह भ्रम न हो इसलिये आगे का श्रुतिवचन भी ग्रहण करते हैं—

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः।
मात्रासंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥४०॥

'यह आत्मा अविनाशी है' (बृ.४.५.१४) यों (नश्वर जीव से) कूटस्थ अलग कर बताया। शरीरादि से इसका असम्बन्ध हो जाता है (माध्य. बृ.४.५.१४) यों इस कूटस्थ को असंग बताया है।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें हैं—एक काण्व शाखा है दूसरी माध्यन्दिन शाखा है। दोनों में बृहदारण्यक उपनिषत् है। थोड़े-बहुत शब्दों में अन्तर है, बाकी समान है। भाष्य काण्वशाखा पर है, सायणाचार्य ने माध्यन्दिन पर भी व्याख्यान लिखा है। 'अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' इससे आगे माध्यन्दिन में 'मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' अधिक है। शरीरादि के नाश के पीछे नष्ट होता है यह भी कहा और यह आत्मा अविनाशी है, यह भी कहा। दोनों विरुद्ध बातें लगती हैं पर विरुद्ध नहीं हैं। अविनाशी आत्मा है, यह श्रुति कूटस्थ को बतलाती है। अर्थात् औपाधिक की विनाशिता है; और जो औपाधिक नहीं, अधिष्ठान है, उस कूटस्थ की अविनाशिता है। इस प्रकार से कूटस्थ को आभास से अलग करके बतलाया कि जो चिदाभास वाला हिस्सा है वह नष्ट होता है और कूटस्थ बच जाता है। किसी को भ्रम हो सकता है कि पूरा ही जीव नष्ट हो जाता होगा, अतः कहा कि ऐसी बात नहीं है। इसलिये उसके बाद ही कह दिया 'मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति'। अविनाशिता में कारण क्या है—यह आगे बतलाया। जो कूटस्थ है वह असंग है। जो चिदाभास अंतःकरण की वृति के साथ संगवाला है वह नष्ट हो जाता है। जिनका ज्ञान होता है वे सब देहादि 'मात्रा' कहे जाते हैं। उनके साथ आत्मा का असंसर्ग है, सम्बन्ध नहीं है। जिसने बुद्धि के

अन्दर प्रवेश किया वह शुद्ध बना रहता है लेकिन प्रविष्ट रूप ख़त्म हो जाता है ॥४०॥

छान्दोग्योपनिषत् में (६.११.३) 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' से औपाधिक आत्मा भी अविनाशी कहा गया है तो उसे 'अनुविनाशी' कैसे समझें? इसके उत्तर में समझाते हैं कि छान्दोग्यवचन देहान्तर-प्राप्ति के बारे में है, सर्वथा अविनाशी का बोधक नहीं–

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किन्तु लोकान्तरे गतिः ॥४१॥

'जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं' इस वाक्य में('जीव नहीं मरता' का) अर्थ मोक्ष नहीं वरन् यह है कि शरीर छोड़कर जीव लोकान्तर जाता है।

मरते समय जब जीव शरीर को छोड़ देता है, शरीर जीवरहित हो जाता है, तब शरीर मर जाता है। जीव तो दूसरी जगह चला जाता है। इस प्रकार यहाँ कहा कि शरीर के मरने से जीव नहीं मरता। किन्तु यहाँ मुक्ति के अभिप्राय से नहीं कहा जा रहा है, यहाँ मुक्ति का विषय नहीं है। जहाँ कहा है, 'जीव नष्ट हो जाता है', वहाँ तात्पर्य है कि जब मुक्ति हो जाती है तब जीवभाव नष्ट हो जाता है। जबकि यहाँ मुक्ति की बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु अन्य लोक में चला जाता है–इतना ही अर्थ है। लोकान्तर में जाता है क्योंकि तब तक सूक्ष्म शरीर होता ही है, उसके साथ जीव भी होता है अतः वह भी चला जाता है। इस तरह वहाँ मोक्ष का प्रसंग नहीं है। इसलिये दोनों वेदवाक्यों में विरोध नहीं है ॥४१॥

शंका होती है कि ब्रह्म अविनाशी है और जीव विनाशी है। जीव अपने को अविनाशी समझे तो यह ठीक ज्ञान कैसे? यह तो मिथ्या ज्ञान हो जायेगा और मिथ्या ज्ञान मोक्ष दे नहीं सकता। समाधान करते हैं–

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत्।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥४२॥

वह विनाशी जीव स्वयं को 'मैं ब्रह्म हूँ' नहीं जान सकता–ऐसा नहीं है क्योंकि बाध के अभिप्राय से भी सामानाधिकरण्य प्रयोग सम्भव है।

वेदान्त के अंदर कई प्रकार की प्रक्रियायें महावाक्य को समझने के लिये हैं। एक प्रक्रिया के अंदर तत्त्वमसि को उभयपद–लक्षणा से संगत कहा गया है। कुछ ऐसे भी आचार्य हुए जिन्होंने कहा कि लक्षणा की ज़रूरत ही नहीं है। उन्होंने इसकी मुख्यार्थ से संगति मानी है। कुछ आचार्यों ने बाध-सामानाधिकरण्य माना है। इस प्रकार से महावाक्य को समझने के प्रकार अलग-अलग हैं। बाध सामानाधिकरण्य की प्रक्रिया को अब ले रहे हैं: किसी ने भूत देखा। जानकार उसको ठूँठ के पास ले जाकर पूछता है, 'क्या है?' वह हाथ लगा कर और

आँख से भी देख कर कहता है कि ठूँठ है। तब समझदार बताता है 'यह ठूँठ ही भूत है।' इसका मतलब यह नहीं है कि ठूँठ भूत है वरन् इसका मतलब है कि यह भूत नहीं ठूँठ है। अर्थात् भूत का बाध करके ठूँठ है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' का मतलब—मैं जीव नहीं, ब्रह्म हूँ। जो मैं अपने को जीव समझ रहा था भ्रम से, वही मैं ब्रह्म हूँ। यह बाधसामानाधिकरण्य हुआ। विनाशी जीव अपने को अविनाशी कैसे समझेगा? अतः, जो मैं अपने को विनाशी समझ रहा था वह विनाशी नहीं अविनाशी हूँ, यह मतलब है। इस तरह विनाशी स्वयं को अविनाशी समझ सकता है। उसकी जो अविनाशिता है, ब्रह्मरूपता है वह नश्वरता का बाध करके वास्तविक ब्रह्म के अभिप्राय से संगत है। बाध में भी सामानाधिकरण्य हो सकता है। कम-से-कम एक स्थल ऐसा है जहाँ वेदान्त-सम्प्रदाय में सब लोगों को बाध-सामानाधिकरण्य मानना पड़ता है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' (छां.३.१४) यह सब ब्रह्म है। यहाँ हर हाल में 'यह सब नहीं है, माया से दीख रहा है, सच तो केवल ब्रह्म ही है,' यही अर्थ माना गया है। जैसे मानते हैं, वैसे ही कहते हैं कि 'जीव ब्रह्म है' यहाँ भी 'जीव नहीं, ब्रह्म है' ऐसा सामानाधिकरण्य अर्थ हो जायेगा। जब इदं में संभव है तो जीव का इदंभाग भी बाध्य ही है अतः अहं-स्थल में भी बाधसामानाधिकरण्य सम्भव ही है यह इस प्रकिया में समझा जाता है। 'सर्वमिदं' का एकदेश ही तो हुआ त्वम् अर्थात् शरीर-मन आदि। 'भूतेभ्यः समुत्थाय' महाभूतों से ही बना कहने का भी यही भाव है। इस प्रकार विनाशी का बाध करके अविनाशी को आत्मा जानना है ॥४२॥

उस प्रक्रिया में नैष्कर्म्यसिद्धि (२.२९) का वचन प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं—

योऽयं स्थाणुःपुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥४३॥

'जो यह ठूँठ (समझा जा रहा था) यह पुरुष है' यों पुरुषज्ञान से जैसे ठूँठ निवृत्त होता है वैसे 'ब्रह्म हूँ' ज्ञान से सारी मैं-बुद्धि निवृत्त होती है।

आदमी को समझा ठूँठ, फिर रोशनी आने पर यह आदमी है इस ज्ञान से 'यह ठूँठ है' यह भ्रम कट जाता है। प्रायः उभयपद-लक्षणा के लिये दृष्टांत बनाते हैं 'सोयं देवदत्तः' वह यही देवदत्त है—इस वाक्य को; इसी प्रकार बाधसामानाधिकरणता के लिये प्रसिद्ध दृष्टांत स्थाणु-पुरुष का है। जैसे स्थाणु वास्तव में पुरुष है अतः पुरुष-ज्ञान से झूठा ठूँठ-ज्ञान कट जाता है इसी प्रकार 'ब्रह्म हूँ' इस बुद्धि से जितनी चीज़ों में अहम् की प्रतीति थी, वे सारी निवृत्त हो जाती हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीर और जितनी वृत्तियाँ हैं सारी मैं नहीं रहतीं, उन्हें मैं समझना निवृत्त हो जाता है। मैं ब्रह्म ही रह जाता हूँ। ब्रह्माकार वृत्ति मैं के साथ जो कुछ भी अनात्मा अभिन्न प्रतीत था, वह सब हटा देती है, अतः मैं केवल ब्रह्म ही रह जाता हूँ। मैं सुखी-दुःखी, कामी-क्रोधी, कर्ता, भोक्ता आदि सब वृत्तियाँ निवृत्त हो जायेंगी ॥४३॥

क्योंकि यह तरीका भी संगत एवं पारंपरिक है इसलिये इसे भी मान्य बताते हैं—

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥४४॥

(जैसे इस ग्रन्थ में समझाया) वैसे आचार्य सुरेश्वर ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि में स्पष्ट कहा है कि बाध के अभिप्राय से सामानाधिकरण्य संगत है। अतः यह तात्पर्य (हृदयंगत) हो (तो भी ठीक है)।

सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ में बिलकुल साफ इस बात को बतलाया है। जिस प्रकार से जब कहते हैं, 'यह रस्सी ही साँप है, या साँप थी' तो अर्थ है कि साँप नहीं रस्सी ही थी, इसी प्रकार से जब कहते हैं, 'तत्त्वमसि' तो इसका मतलब है, जिसको तुम त्वम् समझ रहे हो वह तत् ही था। अहम् ब्रह्मास्मि के अन्दर और स्पष्ट हो जाता है कि जिसको मैं अहम् कर्त्ता समझ रहा था वह सचमुच में ब्रह्म ही था, उसी को मैंने भ्रम से कर्ता समझ लिया। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सामानाधिकरण्य-प्रयोग है जहाँ मैं और ब्रह्म दोनों के लिये एक ही विभक्ति में शब्द हैं। ऐसा अभेदबोध जीवभाव के बाध के लिये है।।४४।।

वार्त्तिकमत का सोपपत्ति उपसंहार करते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन समानाधिकृतिर्भवेत् ।।४५।।

सर्व ब्रह्म है—यों जगत् से(ब्रह्म की) समानाधिकरणता की तरह 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जीव से (ब्रह्म की) समानाधिकरणता (स्वीकार) हो।

इस पक्ष में एकरूपता लाभ की बात है, नहीं तो 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' आदि जगहों में बाध-समानाधिकरणता माननी पड़ती है तथा महावाक्यों में मुख्य सामानाधिकरण्य मानना पड़ता है। लाघव इसमें है कि दोनों जगह बाध-सामानाधिकरण्य मानकर काम चल जाता है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' आदि में जगत् के साथ सामानाधिकरण्य भाष्यकारादि सब आचार्यों को मान्य है। इसी प्रकार अहम् ब्रह्म में जीव के साथ ब्रह्म का सामानाधिकरण्य है जिसका अर्थ निकलता है कि जीव नहीं, ब्रह्म है ॥४५॥

महावाक्य-व्याख्यान का एक ढंग वार्तिकोक्त रीति से समझाया। दूसरा ढंग जो ज़्यादा प्रचलित है उसे पद्मपादाचार्य एवं विवरणकार आदि ने विस्तार से उपपादित किया है। तात्पर्य में कोई भी अन्तर नहीं, तरीके का भेद है जो साधकभेद से उपकारी है, जिस किसी को जो ठीक बैठ जाये, वह उसी से समझ ले क्योंकि प्रक्रियाभेद का यही प्रयोजन होता है। चिदाभास और कूटस्थ, अर्थात् बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्ब और अधिष्ठान दोनों को मिला कर जीव-शब्द का प्रयोग होता है। इस कारण एक बड़ी कठिनाई यह आती है कि बुद्धि में जो प्रतिबिम्ब पड़ा, चिदाभास, वह तो मिथ्या है और उसका जो अधिष्ठान कूटस्थ वह वास्तविक है। जैसे रस्सी में हमें साँप दीखा तो रस्सी सच्ची, साँप झूठा होता है। परन्तु रस्सी और

साँप दोनों चीज़ें साथ तो होती नहीं। हम कहते हैं 'घड़े में पानी है', हमारा मतलब यह तो नहीं होता है कि दस साल पहले घड़ा था, और दस साल बाद पानी है! मतलब है कि जिस काल में घड़ा है उसी काल में उसमें पानी है। जब कहते हैं 'रस्सी में साँप है' तब जिस समय रस्सी का ज्ञान है, उस समय सर्प का ज्ञान नहीं, जिस समय सर्प का ज्ञान होता है उसी समय रस्सी का ज्ञान नहीं। इसलिये मिथ्या और सच्ची चीज़—दोनों का साथ, सम्बन्ध तो सम्भव नहीं। इसी बात को दो तरह से कहा जाता है : एक, 'यह सर्प नहीं, रस्सी है'। झूठी चीज़ नहीं है, सच्ची चीज़ है। दूसरा तरीका है, 'यह साँप रस्सी है'। समझने वाला समझ जाता है कि जो साँप दीख रहा है, सचमुच में वह साँप नहीं है, रस्सी है। इसी प्रकार, झूठा चिदाभास और सच्चा कूटस्थ दोनों को मिलाकर जीव है। दोनों का सम्बन्ध कैसे है? एक तरीका तो यह कहता है कि कूटस्थ में चिदाभास है। परन्तु सचमुच कूटस्थ *में* तो चिदाभास है नहीं। इसीलिये इस बात को दूसरे तरीके से कह सकते हैं कि चिदाभास नहीं, कूटस्थ है। इस तरीके को शास्त्रों के अन्दर बाध-सामानाधिकरण्य कहा। इसे बतलाया सुरेश्वराचार्य के वचन के अनुसार। इस ढंग में 'जीव है ही नहीं, ब्रह्म ही है' यह तात्पर्यतः तो ठीक है लेकिन जीव मैं हूँ अतः 'मैं सर्वथा हूँ ही नहीं'—यह समझना पड़ता है जो संगत व सम्भव लगता नहीं।

इसलिये आचार्य शंकर के जो दूसरे शिष्य थे पद्मपादाचार्य, उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि मैं को कूटस्थ समझना है अतः जीव को ब्रह्म बताया है। जीव का एक भाग कूटस्थ है, वह ब्रह्म है। क्योंकि आभास और कूटस्थ, दोनों को मिलाकर जीव कहते हैं इसलिये जब चिदाभास और कूटस्थ का विचार करते हैं अर्थात् त्वम्-पदार्थ का शोधन करते हैं, तब मिथ्या चिदाभास को हटाकर सत्य कूटस्थ ही बचता है। जीव मायने मैं इसलिये यहाँ मुख्य सामानाधिकरण्य से ज्ञान होता है कि मैं कूटस्थ हूँ। केवल 'मैं चिदाभास नहीं हूँ,' कहने का कोई मतलब नहीं जब तक क्या हूँ भी न समझा जाये। क्योंकि कूटस्थ स्वप्रकाश है इसलिये आभास का निषेध होने पर भी भासता ही है अतः वास्तविक तात्पर्य तो एक ही आता है। मैं चिदाभास नहीं, मैं चिदाभास नहीं, इस प्रकार विचार करने का कोई फ़ायदा नहीं क्योंकि कूटस्थभाव के संस्कार नहीं पड़ते जबकि 'मैं कूटस्थ हूँ, मैं कूटस्थ हूँ' इस प्रकार का विचार करने से संस्कार दृढ होकर निष्ठा सरल होती है। फिर सुरेश्वराचार्य ने क्यों बाध समानाधिकरण माना है? उनका मतलब है कि मैं शब्द से प्रायः चिदाभास को ही समझते हैं इसलिये उस चिदाभासरूप मैं के निषेध की ज़रूरत है। अन्यथा कहीं न कहीं यह भ्रम रह जाता है कि मैं ब्रह्म तो हूँ परन्तु उसका कोई एक विकारादि रूप भी हूँ। यह सम्भावना न आ जाये इसलिये उनका ज़ोर है कि पहले समझ लो कि मैं चिदाभास नहीं हूँ, तो अपने आप कूटस्थ बच जाओगे। विवरणाचार्य का मतलब है कि 'मैं कूटस्थ हूँ' यह बार-बार विचारोगे तो चिदाभास अपने आप हट ही जायेगा क्योंकि त्वम् पदार्थ शोधन में बुद्धि और चिदाभास को अलग करके पहले ही समझ लिया है। अब पद्मपादाचार्य की बात को सामने ला रहे हैं—

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥४६॥

महावाक्यों में सामानाधिकरण्य बाध के अभिप्राय से है इसका विवरण ग्रंथ में विचारपूर्वक निषेध किया है कूटस्थ बताने के अभिप्राय से।

विवरणाचार्य 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' के अन्दर तो बाध समानाधिकरण ही मानते हैं इसमें भेद है नहीं परन्तु 'अहम् ब्रह्मास्मि' में मुख्य सामानाधिकरण्य स्वीकारते हैं। महावाक्यों में सामानाधिकरण्य बाध के लिये है। इस बात को विवरण में मना किया है। जैसे सुरेश्वराचार्य का मुख्य ग्रन्थ है बृहदारण्यकभाष्य पर 'वार्तिक' वैसे पद्मपादाचार्य का मुख्य ग्रन्थ है पंचपादिका जिस पर आगे प्रकाशात्मश्रीचरण की टीका है 'विवरण' जहाँ (पृ. ५८०) प्रयत्नपूर्वक युक्तियाँ देकर कहा है कि महावाक्यों में बाध के अभिप्राय से सामानाधिकरण्य नहीं है। ऐसा क्यों कहा? उन्होंने कूटस्थ को कहने के लिये बाध को हटाया अर्थात् कहीं ऐसा भ्रम न हो जाये कि 'मैं चिदाभास नहीं, तो मैं फिर कुछ नहीं हूँ,' इसलिये ज़ोर इसपर देना चाहिये कि 'मैं कूटस्थ हूँ'। मैं की कूटस्थरूपता को कहने के लिये उन्होंने बाध सामानाधिकरण्य हटाया है ॥४६॥

वही समझाते हैं–

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥४७॥

उपाधिरूप मल साफ कर लिया गया है जिस कूटस्थ का उसकी ब्रह्मरूपता कहने के लिये विवरण और अन्य ग्रन्थों में उस प्रकार समझाया है।

विवरणाचार्य कूटस्थ को शोधित त्वम्पदार्थ के रूप में बतला रहे हैं। चिदाभास जिसमें से हट चुका है, उस कूटस्थ का बाध नहीं है। जैसे सोने में जो खोट है, उसको हटाना ही सोने को शुद्ध करना है। अन्यथा सोना तो स्वरूप से शुद्ध ही है, उसमें मिले खोट को ही हटाना पड़ता है। इसी प्रकार से त्वम्-पदार्थ स्वरूप से कूटस्थ ब्रह्म ही है परन्तु उसके अन्दर मिथ्या चिदाभास को मिला दिया गया है। इसलिये हम लोग अपने को कूटस्थ भी जानते हैं और चिदाभास भी जानते हैं। जब कहते हैं 'मैं बड़े सुख से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना' उस समय जिस मैं को हम कह रहे हैं वह चिदाभास बुद्धि में तो है नहीं क्योंकि बुद्धिवृत्ति में जब प्रतिबिम्ब पड़े तभी चिदाभास होगा और सुषुप्ति में बुद्धिवृत्ति है नहीं; इसलिये वहाँ हम कूटस्थ को ही मैं कह रहे हैं और जब हम कहते हैं 'मैं कामी, मैं क्रोधी' तब बुद्धि में पड़े आभास को कहते हैं। जब कहते हो, 'मैं कामी-क्रोधी हूँ' तब बुद्धि-वृत्ति से एक हुऐ चिदाभास बनकर कहते हो। यों दोनों तरह से अपने को जानते हो। इनमें से तुम्हारा सच्चा रूप कौन-सा है? तुम दोनों मैं का अनुभव करते हो अतः शोधन जरूरी है। शोधित

त्वम्-पदार्थ का मतलब है कि बुद्धिवृत्ति से रहित जो तुम्हारा शुद्ध रूप है उसे समझना। बुद्धिवृत्ति वाला रूप, जिसको दुनिया सच्चा रूप समझती है, वह तुम्हारा सच्चा रूप नहीं है। इसके लिये दीर्घकाल तक विवेक करना पड़ता है क्योंकि लोग ही नहीं, तुम खुद भी अपने को आभासरूप ही समझते हो! जिस समय में अभिमान, काम क्रोध आदि नहीं भी हों, उस समय में भी सोचते हो कि मैं अभिमानी, कामी, क्रोधी आदि हूँ! इस तरह तुम खुद भी अपने उसी रूप को सच्चा मानते हो। दीर्घकाल तक विवेक करने के बाद पता चलता है कि बुद्धिवृत्ति वाला रूप आगन्तुक है, आकस्मिक है, सच्चा नहीं, सच्चा रूप कूटस्थ है। यह जो शोधित त्वम्-पदार्थ है अर्थात् चिदाभास को हटा करके जो कूटस्थ है उस की ब्रह्मरूपता को कहने के लिये विवरणाचार्य ने इतना प्रयास किया है यह कहने का कि महावाक्य का अर्थ है—ब्रह्म है। इस तरह अहम् ब्रह्म को समझने के लिये पहले अहम् को कूटस्थरूप जान लेते हैं, उसकी ब्रह्मरूपता बाध समानाधिकरण से नहीं है, मुख्य समानाधिकरण से है, कूटस्थ ब्रह्म ही है। ऐसा नहीं कि कूटस्थ नहीं वरन् ब्रह्म है! 'ब्रह्मरूपताम्' के द्वारा ब्रह्म की स्वरूपता समझना। ब्रह्म के दोनों रूप हैं, एक मायाविशिष्ट रूप, दूसरा माया-रहित रूप है। ब्रह्मसूत्रों के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की—ब्रह्म को जानने की कोशिश करो। फिर ब्रह्म का रूप बतलाया, सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला। इसी प्रकार भार्गवीवारुणी विद्या के अन्दर पूछा कि ब्रह्म क्या है, तो बतलाया कि जो सृष्टि को करता है, उसकी पालना करता है और अन्त में लीन कर लेता है वह ब्रह्म है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि करने वाला, ये सब सविशेष रूप हैं, माया-विशिष्ट रूप हैं। कूटस्थ मायाविशिष्ट रूप नहीं है। कूटस्थता ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। इसलिये तैत्तिरीयउपनिषद् में प्रारम्भ किया 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' सत्यरूपता, ज्ञानरूपता, अनन्तरूपता यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। कूटस्थ सच्चिदानन्द है। इसे स्पष्ट करने के लिये विवरणाचार्य ने कहा कि महावाक्यों में मुख्य सामानाधिकरण्य है। जैसा विवरणाचार्य ने कहा है, वैसा दूसरों ने भी कहा है अतः मुख्य सामानाधिकरण्य ही प्रायः करके प्रधान पक्ष है ॥४७॥

कूटस्थ पदार्थ बताते हैं—

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता ॥४८॥

शरीर इंद्रियादिसे सम्बद्ध जीवाभासरूप भ्रम का अधिष्ठानभूत चैतन्य यहाँ कूटस्थ से अभिप्रेत है।

कूटस्थ की ब्रह्म के साथ एकता बतलाना इष्ट होने से, शरीर इंद्रिय मन बुद्धि आदि से युक्त जीवाभास नामक भ्रम के अधिष्ठान के अभिप्रायसे कूटस्थ पद रखा गया है। कूटस्थ अपने को स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों से युक्त समझ रहा है, यही भ्रम है। कार्य करने के लिये पदासीन को कुर्सी मिलती है। ऐसे ही परमात्मज्ञान के लिये हम श्रवण मनन कर सकें इसके लिये हमें शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि में बैठा दिया गया। इनमें बैठने का और कोई

प्रयोजन नहीं है। किन्तु जैसे कार्य में तत्पर न रहकर भी कुर्सी नहीं छोड़ना चाहते वैसे इसमें बैठने के बाद हम इससे उतरना चाहते ही नहीं! ज़बरदस्ती यदि शरीर छूट भी जाता है तो हम तो अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सारा पुर्यष्टक साथ लेकर जाते हैं। देहेन्द्रियादि युक्त शरीरद्वय मेरा सच्चा स्वरूप है—यही जीवाभासरूप भ्रम है, सच्चा रूप नहीं है।

आचार्य शंकर ने एक दृष्टान्त दिया हैः उत्तंक नाम के महर्षि थे। उन्होंने बड़ी तपस्या की। भगवान् विष्णु ने कहा 'वर माँगो।' उन्होंने कहा 'मुझे अमृत पिलाइये, मैं अमर होना चाहता हूँ।' भगवान् ने समझाया 'यह मर्त्यदेह है, इसमें अमृत नहीं पी सकते।' उन्होंने कहा 'मुझे तो अमृत ही पीना है।' अब विष्णु भगवान् ने सोचा कि कैसे बचें। उन्होंने कहा 'ठीक है, एक बार तुमको कोई अमृत पिलाने आयेगा, तुम ना मत करना।' उन्होंने कहा 'ठीक है, पर मुझे पता होना चाहिये कि अमृत है।' भगवान् ने इन्द्र से कहा 'तुम ऐसा स्वांग करो : जैसे घरों से टट्टी बटोरकर सफाई-कर्मी घड़े में भरकर ले जाते हैं वैसे रूप को धारणकर वैसे घड़े में अमृत उत्तंक को कहकर एक बार उपलब्ध करा दो।' उत्तंक ऋषि मार्ग में जा रहे थे, वैसा रूप धरे इन्द्र ने कहा 'आइये, मटके से अमृत पी लीजिये।' ऋषि ने उसका नकली रूप देखकर अमृत नकार दिया! फिर इन्द्रने अपना असली रूप और अमृत का घड़ा प्रटक कर कहा 'महाराज, अब मैं जा रहा हूँ।' आचार्य शंकर कहते हैं कि इसी प्रकार जैसे उसने अमृत इसलिये नहीं पिया कि मेरी जाति चली जायेगी, वैसे अपने शरीर आदि का जो स्वरूप है, यह सब निकल जायेगा तो मोक्ष किस काम का!—यह सोचकर आदमी पूछता है कि 'इस ब्रह्मभाव से हमारे शरीर मन को क्या मिलेगा! ज्ञान का फल तो शरीर पुष्ट हो, बीमारी न हो, बुद्धि तेज़ हो जाये— ये सब होना चाहिये।' जैसे नश्वर ब्राह्मणत्व मोह के चलते उत्तंक अमृत से वंचित रहे वैसे मिथ्या जीवभाव के मोह के कारण मोक्ष से वंचित रहना संगत है। किंतु जो मुक्त स्वरूप को मैं जानेगा वह ऐसा धोखा नहीं खायेगा अतः शरीर-इन्द्रियादि का जो अधिष्ठान है, जिसमें शरीर इंद्रियादि सब कल्पितरूप से रहते हैं, वह चैतन्य ही 'अत्र' यहाँ कूटस्थ शब्द से कहा गया है ॥४८॥

कूटस्थ शब्द का अर्थ बता दिया। अब ब्रह्म शब्द का अर्थ बताते हैं—

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम्।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद् ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥४९॥

सारे जगद्-रूप भ्रम का वेदान्तों में जो अधिष्ठान बताया गया है वह यहाँ ब्रह्म-शब्द से बताना अभिप्रेत है।

सम्पूर्ण जगत् भ्रम है। यह क्या है? ऐसा पूछे जाने पर, हम लोग कहते हैं, 'घड़ा है, कपडा़ है, दीवार है।' घड़े के बारे में तो हम विस्तार से जानते हैं। कपड़े के बारे में जानते हैं कि धागे, ताने-बाने से बनता है। दीवार के बारे में जानते हैं कि ईंट-गारे से बनती है। पर इस 'है' के बारे में भी तो कुछ बतलाओ! कहते रहते हो बार-बार 'है,' पर 'है' चीज़ क्या है? कुछ नहीं बतला पाते हैं! जिस प्रकार घड़ा, सिकोरा, परई—सब मिट्टी के हैं इसी

प्रकार क्योंकि सब चीज़ों को है कह रहे हो इसलिये 'है' ही सबका कारण है। उसी तरफ ध्यान नहीं है। इसी प्रकार अपने बारे में समझ लो—'मैं ब्राह्मण या गोरा या बुद्धिमान् हूँ।' तुम ब्राह्मण या गोरा या बुद्धिमान् के बारे में जानते हो पर इस 'मैं' के बारे में भी क्या कभी सोचा है? यह 'मैं' क्या चीज़ है? 'मैं' और 'है'—इन दोनों चीज़ों के बारे में हम कुछ नहीं जानते। इसका मूल कारण यह है कि यही अधिष्ठान है। ठीक जिस प्रकार से रस्सी में जब साँप दीखता है तब साँप है—यही बुद्धि रहती है, रस्सी नहीं दीखती। इसी प्रकार से नामरूपात्मक जगत् है। नामरूप चाहे 'है' के ऊपर हो, चाहे 'मैं' के उपर हो, ये ही दीखते हैं, है का पता नहीं चलता। सारे जगत् का जो भ्रम है उसका अधिष्ठान ही 'है' कहलाता है। अर्थात् वह है तब ये नाम-रूप दीख रहे हैं। जैसे रस्सी है तब साँप दीख रहा है। रस्सी नहीं होती तो साँप क्या दीखता! इसी प्रकार मैं हूँ, तभी गोरा, बुद्धिमान, ब्राह्मण आदि हूँ। यदि मैं नहीं होता तो न ब्राह्मण होता, न गोरा होता।

'त्रय्यन्तेषु;' त्रयी कहते हैं वेद को क्योंकि वेद में तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड। जैसे विषय की दृष्टि से त्रयी कहते हैं वैसे रचना की दृष्टि से भी त्रयी हैः कुछ रचनायें छन्द में हैं जो ऋक् कहलाती हैं। उनमें नियत पाद (चरण) और हर पाद में नियत अक्षर होते हैं। दूसरा भाग गद्य है और तीसरा संगीत का हिस्सा है जो गाया जाता है। ये तीन प्रकार की रचनायें वेदों में हैं इसलिये भी इसे त्रयी कहते हैं। विषय दृष्ट्या अन्तिम है ज्ञान-काण्ड। ज्ञान-काण्ड में ही कर्म और भक्ति का भी सिद्धान्त बतलाया है। उसी के लिये कर्म और उपासना-काण्डों की रचना है। वेद का जो वास्तविक हृदय है वह समझ में तब आवे जब शुभ कर्म-उपासना कर ली जाये। जब तक व्यक्ति शुभ कर्म करने वाला नहीं हो तब तक उसकी उपासना ठीक नहीं होगी। गन्दे शरीर में कभी शुद्ध मन नहीं रह सकता। कर्म शरीर से होगा; जब तक कर्म ठीक नहीं होगा एवं शरीर शुद्ध नहीं हो जायेगा तब तक मन की शुद्धि सम्भव नहीं है। उसके बाद जब तक परमेश्वर की उपासना से मन अपने दोषों से मुक्त होकर निर्मल नहीं हो जाता तब तक वह तत्त्व समझ में आता नहीं। आइन्सटाइन ने बड़ा अन्वेषण किया कि उर्जा का और द्रव्य का क्या सम्बन्ध है। उसने उसे बड़े छोटे से सूत्र में उपस्थित कर दिया कि द्रव्यके परिमाण को यदि तुम प्रकाश की गति के वर्ग से गुणा कर दो तो कितनी उर्जा पैदा होगी यह पता चल जायेगा। सूत्र बड़ा छोटा है $E=mc^2$ किन्तु यदि इसका ठीक तात्पर्य समझना चाहो तो तुमको सारा गणित और भौतिकी शास्त्र पढ़ना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार सारे वेदों का चरम सिद्धान्त क्या है? सब कुछ ब्रह्मरूप है, मैं ब्रह्म हूँ। कहने में अत्यन्त छोटा सूत्र है पर समझना दुर्लभ है। बिना समझे रटकर बोलना सरल होने से प्रसिद्ध है कि जैसे फागुन के महीने में बालक गालियाँ देते हुए घूमते हैं, उन गालियों का अर्थ उन्हें कुछ भान नहीं होता, उसी प्रकार कलियुग में सभी लोग वेदान्त की बातें करते हैं परन्तु वे क्या बोल रहे हैं, उनको स्वयं पता नहीं है! राग, काम, क्रोध सभी दुर्गुण अपने में पनपाते हैं यह कहते हुए कि सब कुछ ब्रह्म है! नीलकंठ दीक्षित ने कहा है कि व्यापार करने के लिये यह बड़ा अच्छा तरीका है—

'सदा जपपटे हस्तो मध्ये मध्येऽक्षिमीलनम्।
सर्वं ब्रह्मेति वादश्च सद्यः प्रत्ययहेतवः।।'

हमेशा हाथ जप की थैली के अन्दर होवे। बीच-बीच में आँखें मीच ले। 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा बोलता रहे। ऐसे दुकानदारके बारे में ग्राहक सोचते हैं कि बड़ा महात्मा, सज्जन होगा। ऐसे आचार (या कपट) से ग्राहक जल्दी फँसता है। वेद का सिद्धान्त बड़ा सरल है। पर यदि उसको समझना चाहो तो सारे कर्म और उपासना का अनुष्ठान करके ही इसको समझ पाओगे। ऐसा जो त्रयी का सिद्धांत उसके बोधक भाग में जगत् के अधिष्ठान को ही ब्रह्म नाम से कहा है। अधिष्ठान चैतन्य ही व्यष्टि-दृष्टि से कूटस्थ व समष्टि-दृष्टि से ब्रह्म कहा जा रहा है ॥४९॥

जीव भी आरोपित वस्तु ही है, मिथ्या ही है, यह कहते हैं—

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥५०॥

इसी चैतन्य पर जब सारे जगत् का आरोप हो रहा है तब जगत् के ही एक हिस्से पर जीव के आभासका आरोप है इसमें क्या कहना!

सारा जगत् चिन्मात्र ब्रह्म के अन्दर आरोपित बतलाया जा रहा है। सब इसमें अध्यस्त है, 'सब' में तुम्हारे शरीर-मन-बुद्धि भी आ ही गये। जब सारा अध्यस्त है, तो उस जगत् का एकदेश तुम्हारा शरीर-मन आदि जो बहुत छोटा-सा हिस्सा है, वह भी अध्यस्त ही है। अतः उसके अधिष्ठाता तुम जीवाभास भी आरोपित हो, भ्रमरूप हो, इसमें क्या कहना! सुरेश्वराचार्य ने इसी दृष्टिसे कहा है कि जीव का बाध होता है ॥५०॥

कूटस्थ व ब्रह्म दोनों शब्द अधिष्ठान-विषयक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं यह समझाते हैं—

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः।
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥५१॥

वास्तव में चेतन एक होने पर भी क्योंकि जगत् और उसका एक हिस्सारूप समारोप्यों में भेद है इसलिये तत् और त्वम् पदों के अर्थ भिन्न हैं।

जिनका आरोपण होता है, अर्थात् जिनका अध्यास किया जाता है, वे क्योंकि दो हैं इसलिये अधिष्ठान को दो शब्दों से कहना संगत हो जाता है। अध्यस्तों में एक है— सारा जगत् और दूसरा है उसका एकदेश, बुद्धि। माया से पहले तो पंच महाभूत उत्पन्न हुए। पंच महाभूतों के सत्त्वांश से ज्ञान के साधन बने और रजोगुणांश से कर्म के साधन बने। बचा जो तमोगुणांश, उसका पंचीकरण होकर स्थूलसृष्टि बनी। ज्ञान का साधन जो अंतःकरण उसमें प्रतिबिम्बित चेतन एकदेश से संबद्ध हो गया। है तो वह भी भौतिक सृष्टि

ही, बुद्धि भी पचंभूतों का कार्य ही है परन्तु सत्त्वगुणांश होने के कारण उसमें चेतन प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार मिट्टी के घड़े में पड़ा दूध बाहर से दिखाई नहीं देता है परन्तु काँच के घड़े में दूध दिखाई देता है, इसी प्रकार पञ्चीकृत महाभूत तमोगुणरूप होने से उनमें चेतनता दिखाई नहीं देती परन्तु बुद्धि के अन्दर चेतन दिखाई देता है। इसलिये 'मैं चेतन हूँ,' ज्ञान जैसा अन्तःकरण की वृत्ति में हो सकता है वैसा ईंट-पत्थर को नहीं हो सकता। यही जड और चेतन का भेद है। जगत् अर्थात् पंचमहाभूत तथा एकदेश हो गया जिसमें चेतन प्रतीत होता है। दोनों ही समारोप्य हैं। इसके अन्दर जो भेद है, अर्थात् समष्टि–व्यष्टि, अंश-अंशी, कार्य-कारण आदि तरीकों से समझा जा सकने वाला अन्तर है, उसी के सहारे इनके अधिष्ठान के वाचक शब्द विभिन्न हो जाते हैं, उन शब्दों के वाच्यों में भेद संभव हो जाता है। जगत् जिस चेतन तत्त्व में समारोपित है, वह हो गया तत्पदार्थ अर्थात् ईश्वर। और बुद्धि जिसके अंदर अध्यस्त है, वह हो गया त्वं-पदार्थ अर्थात् जीव। इस तरह तत् और त्वम् दोनों पदार्थ भिन्न हो गये। परन्तु यह जिसमें अधिष्ठित है, अर्थात् जीव का अधिष्ठान कूटस्थ तथा ईश्वर का अधिष्ठान ब्रह्म वे अलग-अलग नहीं हैं। चेतन की तो एकता ही है। जैसे कोई बड़ा लम्बा कपड़ा हो, उसके ऊपर दो प्रतिबिम्ब डाले जा सकते हैं—एक सारे कपड़े के ऊपर लाल रंग का प्रतिबिम्ब डालने से सारा कपड़ा लाल दीखता है, और उसके एक हिस्से में हनुमान् जी का प्रतिबिम्ब डालो तो वह भी दीखता है। लाल रंग तो सारे कपड़े पर पड़ा, जहाँ हनुमान् जी का चित्र है वहाँ भी पड़ा; हनुमान् जी का प्रतिबिम्ब एक हिस्से पर ही पड़ा जबकि अधिष्ठान कपड़ा एक ही है। इसी तरह ईश्वर सबमें एक जैसा व्यापक है। परन्तु जीव खाली बुद्धि वाले हिस्से में है, दूसरे हिस्से में नहीं। पर दोनों का अधिष्ठान एक है, एक चेतन के ऊपर जीव और ईश्वर दोनों ही कल्पित हैं ॥५१॥

चिदाभास की आरोपितता उपपन्न करते हैं—

कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम्।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥५२॥

बुद्धि के कर्त्तृत्वादि धर्म और स्फूर्ति नामक आत्मस्वरूप को धारण करते हुए स्पष्ट प्रतीयमान है इसलिये चिदाभास भ्रम है।

आरोपित चीज़ में कुछ तो अधिष्ठान की विशेषता दिखाई देती और कुछ अधिष्ठान से सर्वथा अलग दिखाई देता है। जैसे कपड़े पर लाल प्रतिबिम्ब डाला तो लाल कपड़ा दीखा। इसमें कपड़ा अधिष्ठान है और लाल, अध्यस्त है। ऐसे चिदाभास में भी ज्ञानरूपता अधिष्ठान की विशेषता प्रतीत हो रही है और जो कर्तृत्व आदि धर्म बुद्धि के हैं वे भी आभास में ही प्रतीत हो रहे हैं 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी-दुःखी हूँ;' इनमें कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी—ये बुद्धि के धर्म हैं क्योंकि जैसे ही तुम गहरी नींद में जाते हो, बुद्धि नहीं रहती, वैसे ही न कर्ता हो, न भोक्ता हो, न सुखी हो, न दुःखी हो। क्योंकि ये सारी प्रतीतियाँ बुद्धि को लेकर हैं इसलिये ये बुद्धि के धर्म हैं। और जो स्फुरण है, अर्थात् उसका स्पष्ट ज्ञान होता

है वह आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान के स्थान पर 'स्फुरण' यहाँ इसलिये कहा है कि प्रायः ज्ञान-शब्द का प्रयोग किया जाता है जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय-भाव होवे। स्फुरण कह कर यह बतला रहे हैं कि 'मैं कर्ता' को तो कोई दूसरा जानता नहीं है। इसलिये यहाँ न ज्ञेय है और न ज्ञाता है, बस प्रतीतिमात्र है। जो यह स्फुरण, स्फूर्ति है, यह जड बुद्धि इत्यादि का तो धर्म है नहीं वरन् अधिष्ठान आत्मा का स्वरूप है। आभास में दोनों मिल गये। बुद्धि-धर्म और आत्मरूपता-दोनों धारण करते हुऐ आभास का स्पष्ट भान होता है। 'पुरतः' का मतलब होता है सामने। परन्तु यहाँ यह अर्थ नहीं है। इतना ही मतलब है कि जैसे सामने रखी चीज़ प्रतीत होती है वैसे ही 'मैं कर्ता, भोक्ता' ये स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं। जैसे कहते हैं 'यह चीज़ हाथ में रखे आँवले के समान स्पष्ट है'; अर्थात् स्पष्टता बतलाने के लिये 'पुरतः' कह दिया। क्योंकि वास्तव में स्फुरण भ्रम नहीं और कर्ता स्फुरणरूप नहीं इसलिये दोनों वाला लगता आभास भ्रम तभी तक रहता है जब तक उसका विचार नहीं करते ॥५२॥

इसलिये—

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्माऽत्र जगत् कथम्।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

बुद्धि क्या है? यह आभास क्या है? आत्मा कौन है? आत्मा में जगत् कैसे है? इन विषयों का निर्णय न करने तक जो मोह वह संसार स्वीकारा जाता है।

कर्ता-भोक्ता बनने वाली बुद्धि क्या है?—यह अधिकतर लोगों को नहीं पता। मैं कर्ता-भोक्ता यह पता है; इस पर विचार करें तब तो आगे पता लगे कि यदि मैं कर्त्ता होता तो गहरी नींद में भी रहता। वहाँ मैं था फिर कहाँ चला गया कर्ता-भोक्तापना? पर ऐसा सोच नहीं पाते कि कैसे माया के सत्त्वगुण के अन्दर सफाई होने से बुद्धितत्त्व बना जिसमें आत्मा ऐसा स्फुरित होता है। विचार करें तब बुद्धि का पता लगे। और 'अयम् आभासःकः?' बुद्धि के अन्दर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह क्या है? और जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, जो शुद्ध है वह आत्मा कौन है? सबसे कठिन है आत्मा को समझना। उससे सरल है आभास को समझना। और सबसे सरल है बुद्धि को समझना। इसलिये उसी क्रम से कहा कि पहले बुद्धि के तत्त्व को समझे, तब उसमें पड़े आभास के तत्त्व को समझे, तब ये दोनों जिसमें अध्यस्त हैं, उस आत्मतत्त्व को समझेगा।

किंच 'अत्र' इस आत्मा में 'जगत् कथम्?' यह जगत् कैसे आ गया? यह समझना और कठिन है। मेरे अन्दर आत्मा है—यदि यह समझ में आ भी जाये, तो सारा जगत् भी मुझ आत्मा में ही अध्यस्त है यह समझना और कठिन है। सांख्यवादी बुद्धि और आत्मा के स्वरूप को कुछ बतलाते हैं पर आत्मा का जगत् से कहते हैं कि कोई सम्बन्ध नहीं! इसलिये मानते हैं कि तुम प्रकृति से अलग होकर निकल सकते हो। पर प्रकृति बनी रहेगी, अपना काम

करती रहेगी, केवल तुम्हारे सामने नहीं आयेगी। यदि नहीं समझोगे कि यह सारा जगत् भी मुझ आत्मा में ही कल्पित है तो तत् पदार्थ हाथ में आयेगा नहीं इसलिये आत्मा की व्यापकता स्पष्ट होगी नहीं। भेदवादी कह देते हैं कि 'हम आत्मा को विभु अर्थात् व्यापक मानते हैं' परन्तु अगर प्रकृति तुमसे भिन्न विद्यमान है तो तुम व्यापक कैसे हो गये? प्रकृति में तो व्यापक हुए नहीं, उसको तुम अलग मान ही रहे हो। इसलिये अपने अनन्त रूप को समझने के लिये इस सारे जगत् का अधिष्ठान मैं आत्मा ही हूँ, यह समझना ज़रूरी है। इन चीज़ों का जब तक निर्णय नहीं कर लेते तब तक मोह बना रहेगा। सब तरफ से विचार करके जो अन्तिम निश्चय कर लिया जाता है वह निर्णय है। इन बातों का निर्णय नहीं करना मोह है, वही बन्धन है।

यह जो मोह है इसी को संसार कहा जाता है। एक अवस्था या शरीर से दूसरी अवस्था या शरीर में सरकना संसार-शब्द का अर्थ है। यह सरकना तब तक होता रहता है जब तक इन चीज़ों का निर्णय न कर लो। सरकना क्यों होता है? अध्यस्त बुद्धि और उसके धर्म आदि मायिक होने से प्रतिक्षण बदलेंगे। माया का स्वरूप ही ऐसा है! जब उसके साथ तुम्हारा मोह होगा तब तक उसके सरकने से तुम सरकते ही रहोगे। यदि योगाभ्यास करो, बुद्धि को एकाग्र करके समाधि में स्थिर कर लो, चित्तवृत्ति का निरोध हो जाये, तो भी चित्तवृत्ति जैसे ही समाधि से उस अवस्था में लौटेगी वैसे ही बुद्धि के साथ बदलने लग जाओगे! समाधि के अन्दर तुम्हारी स्वरूपस्थिति है किन्तु जैसे ही समाधि से व्युत्थान में आये वैसे ही फिर स्वयं को बद्ध पाओगे। परन्तु जब बदलने वाली बुद्धि से लेकर सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठानरूप से अपने को जानने के कारण इन सबकी मायिकता को जान लिया, तब फिर इनके परिवर्तन से मैं परिवर्तन वाला नहीं होता ॥५३॥

इसलिये कहते हैं कि संसार को निवृत्त करने वाला विवेक ही है—

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित्।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४॥

जो बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक करता है वह सत्य का जानकार ही मुक्त है यह वेदान्तों में निर्धारित है।

जो बुद्धि, आभास, आत्मा, जगत्—इन चारों के स्वरूप को अलग करके जानता है, भली प्रकार विवेक करके समझता है वह तत्त्वज्ञ है। मोह का निवर्तक यह विचार ही है। जैसे अनिर्णय बन्धन है वैसे ही निर्णय मोक्ष है। यथार्थ तत्त्व ही जानने के योग्य है। अन्य सारी चीज़ें मायिक होने से उनके बारे में कभी कोई निर्णय किया नहीं जा सकता। यदि निर्णय पर पहुँचोगे भी तो बाद में फिर निर्णय बदल जायेगा। पहले आधुनिक भौतिकवादी न्यूटन को मानते रहे, फिर आइन्स्टाइन ने उसे बदल दिया, अब आइन्स्टाइन की खोज में परिवर्तन की बात सोचनी पड़ रही है। जिस प्रकार से प्याज को छीलते चले जाओ, अन्त में कुछ

नहीं मिलना है क्योंकि वह है ही छिलका, इसी प्रकार इस संसार में प्रश्न ही प्रश्न हैं। एक प्रश्न हटाने से दूसरा उठेगा, यही क्रम चलेगा। यदि कोई सोचे कि माया की समस्याओं का समाधान हो सकता है, तो व्यर्थ है क्योंकि यह न हुआ है और न हो सकता है। समझदार व्यक्ति जिन प्रश्नों का उत्तर हो नहीं सकता उनमें माथा-पच्ची नहीं करता, उसके बारेमें तो जैसा व्यावहारिक शास्त्रों से समझ आये वैसा ठीक मान लेता है और जिस वास्तविकता का निर्णय हो सकता है, उस आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करता है क्योंकि वही नहीं बदलने वाला है। इसलिये कहा 'स तत्त्ववित्' उसी ने तत्त्व को जाना। 'स एव मुक्तः'—जिसने तत्त्व को जान लिया वही मुक्त है। उपनिषदों के अंदर यह बात बार-बार स्पष्ट कही गई है कि ज्ञान से ही मुक्ति है, और कोई चीज़ मोक्ष दे नहीं सकती। वेद ने स्पष्ट कह दिया, 'उसको जान कर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकते हो।' कोई और भी रास्ता होगा—इस सम्भावना को हटाने के लिये वेद ने कह दिया 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इस संसार का अतिक्रमण करने का कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं॥५४॥

आभास-उपपादन से लाभ बताते हैं—

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः॥५५॥

बन्धन व मोक्ष अविवेकमूलक सिद्ध होने पर 'बन्धन किसका?' इत्यादि कुतर्क-प्रेरित परिहासों का दृढतासे खण्डनखण्डखाद्य में कहे ढंग से खण्डन करना चाहिये।

अनिर्णय से मोह है, और निर्णय से मुक्ति है। तत्त्व के अनिर्णय से मोह किसको है? आत्मा को है और निर्णय से मुक्ति भी आत्मा की है। लोग प्रश्न करते हैं कि यदि आत्मा को आप नित्यमुक्त कहते हैं तो वह मोक्ष के लिये प्रयत्न क्यों करे जब वह है ही मुक्त? जड का बन्धन होता नहीं, चेतन आत्मा का भी बन्धन होता नहीं, तो बन्धन है किसका? उनका भाव है कि वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार बन्धन-मोक्ष असंगत है। किन्तु पूर्वोक्त तरीके से आत्मा का ही बन्धन है और मुक्ति भी आत्मा की ही है यह सिद्ध हो गया। आत्मा के अनिर्णय से बन्धन है और निर्णय से मोक्ष है। क्योंकि आत्मतत्त्व परमार्थतः अखण्ड एकरस नित्यमुक्त रहते भी अविवेक से बंधन एवं विवेक से मोक्ष की संगति बैठ जाती है इसलिये कुतार्किकों के आक्षेपों का परिहार सरलता से हो जाता है। विडम्बना का अर्थ है ऐसी स्थिति प्राप्त कराना जो सर्वथा युक्तिविरुद्ध अतः हास्यास्पद हो। आत्मवस्तु समझने वाले तो उन कुतर्कों पर हँसते हैं किन्तु अज्ञानी लोग वेदान्त-सिद्धान्त को हास्यास्पद मान बैठते हैं अतः इनका खण्डन कर देना चाहिये। इनका सीधा उत्तर देने से कुतर्क की कोटियाँ बढ़ती रहेंगी। इसलिये इनके उत्तर के लिये श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की प्रधानरूप से सहायता लेनी चाहिये। कोई आधार लेकर जो प्रश्न करे उसको जवाब दे सकते हैं। जो कुतर्की होता है उसको कोई बात समझाओ तो वह जो बात कह रहा था उससे भी मुकर जायेगा! ऐसे लोग

प्रायः आजकल आते हैं। उनसे पूछो 'तुम क्या मानते हो?' तो कहेंगे 'हमको तो कुछ पता ही नहीं है।' उनको समझाने का प्रयत्न करो तो हर चीज़ में उनका कुतर्क चलता रहेगा। कुतार्किक क्योंकि वितण्डा करते हैं इसलिये उसी रीति से उनका निरास सम्भव है। ढंग के जवाब से वे सन्तुष्ट नहीं होते इसलिये कुतार्किक हैं। उन्हें तर्कमात्र से निरुत्तर करना पड़ता है। ऐसे व्यक्तियों से वैसा ही वितण्डा करना पड़ता है। उनके प्रश्न की ही तार्किक विश्लेषणा की जाये जिसका वे समाधान न कर सकें, सिद्धान्ती स्वपक्ष के समर्थन का प्रयास न करे, उन्हीं से प्रश्न करता जाये ताकि वे जवाब देने में असमर्थ हो जायें। श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रंथ में इस तरह की कथा के लिये उपयोगी तर्कों की भरमार है अतः कहा कि वहाँ कहे ढंग से निरास कर देना चाहिये॥५५॥

कूटस्थ के बारे में पुराण-संवाद दिखाते हैं—

वृत्तेःसाक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः।
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोस्मीत्याभासज्ञानवस्तुनः॥५६॥

(१) वृत्तियों के और (२) वृत्तिप्रागभाव के साक्षिरूप से, जिज्ञासा होने पर (३) जिज्ञासा के तथा (जिसके बारे में जिज्ञासा है) उसके बारे में (४) 'आज्ञानी हूँ' यों आभासयुक्त अज्ञान नामक वस्तु के साक्षिरूप शिव ही स्थित हैं।

वृत्ति के साक्षिरूप में अर्थात् जब कामादि वृत्ति उत्पन्न होती है उसका जो साक्षी बना रहता है उस रूप में आत्मा मौज़ूद है। वृत्ति बनने के पहले उसके प्रागभाव का साक्षी भी आत्मा ही है। और 'बुभुत्सायां' जब किसी चीज़ को जानने चाहता हो, तब उस इच्छा का भी वही साक्षी है। 'मैं जानना चाहता हूँ' इस बात को भी साक्षी जानता है। जानने की इच्छा है अतः उस विषय को मैं नहीं जानता क्योंकि तभी जानने की इच्छा होगी यों उस अज्ञान को साक्षी जानता है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस तरह अज्ञान से संबद्ध अर्थात् आभास भी प्रतीत होता है अतः कहा कि आभास समेत अज्ञान का वही साक्षी है। सुषुप्ति में अज्ञान का साक्षी आत्मा है यह मान्य ही है। जाग्रत्-स्वप्न में भी 'मैं इस चीज़ को नहीं जानता' यों अनुभूयमान अज्ञान को जानने वाला साक्षी ही है। श्लोक ५६-८ किसी पुराण से लिये गये हैं। वहाँ संदर्भानुसार कहा है कि साक्षिरूप से शिव ही रहता है। इस प्रकार जो वृत्ति का साक्षी है, वृत्ति-प्रागभाव का साक्षी है, इच्छा का और अज्ञान का साक्षी है वही शिव है॥५६॥

आगे पुराण में उस साक्षी शिव को सच्चिदानन्द समझाया है—

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः।।५७।।

आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना।
सर्वसम्बन्धवत्त्वेन सम्पूर्णः शिवसंज्ञितः॥५८॥

वह सारे असत्य का अधिष्ठान होने से सत्य है। सारे जड को सिद्ध करने वाला होने से चेतनरूप है। हमेशा प्रेम का विषय होने से आनन्दरूप है। क्योंकि सभी अर्थों को सिद्ध करता है इसलिये सबसे सम्बन्ध वाला है अतएव सम्पूर्ण है। ऐसे तत्त्व का नाम शिव है।

साक्षी सत्य है अर्थात् सद्रूप है। क्यों? सारे असत्य इसके अन्दर अधिष्ठित होने से ही यह सत्य है। असत्य जो नाम-रूप उनका यह आलम्बन है, अधिष्ठान है, इसके सहारे ही नाम-रूप सत्य प्रतीत होते हैं इसलिये सारे असत्यों का अधिष्ठान होने से यह सत्य है। असत्य तो सत्यापेक्ष होता है, सत्य ही निरपेक्ष होता है। आत्मा असत्य हो तो किसी आलम्बन को चाहेगा अतः वह सत्य ही होना संगत है। इस तरह जो सबका आलम्बन, सहारा, अधिष्ठान निरपेक्ष तत्त्व है वही आत्मा है। इसके सिवाय जो कुछ है वह जड है। परन्तु सारे जडों को सिद्ध करने वाला कौन है? घड़ा है इसमें क्या प्रमाण? 'मुझे प्रतीत हुआ'। किसी भी जड चीज़ की सिद्धि तो प्रतीति से ही होती है। जड पदार्थ ज्ञान से ही प्रतीत होता है। अगर हम कहें कि एक ऐसी चीज़ है जिसको आजतक किसी ने न जाना है, न आगे कोई जानेगा, न कोई जान रहा है; तो किसी को विश्वास नहीं होगा। किसी चीज़ को सिद्ध करने के लिये उसका ज्ञान होना, प्रतीति होना आवश्यक है। झूठी चीज़ भी सिद्ध तभी होती है जब उसकी प्रतीति हो। जड और चेतन में यही अन्तर है—चेतन को किसी दूसरे की प्रतीति की ज़रूरत नहीं है। मैं चेतन हूँ तो मेरे लिये कोई ज्ञान साधक नहीं है। चेतन स्वतः प्रकाश है। ज्ञान अपने प्रकाश से ही प्रकाशित हो जाता है। परन्तु जड चाहे कितनी बड़ी या छोटी चीज़ हो, वह ज्ञान से ही सिद्ध होगी, स्वतः सिद्ध नहीं होगी। सब जडों का साधक होने से वह चिद्रूप है, चेतनरूप है और वह हमेशा ही प्रिय है। कभी भी ऐसा नहीं लगता 'मैं अपने आप को प्रिय नहीं हूँ'। बाकी सब चीज़ें अपने लिये प्रिय होती हैं। देवता भी प्रिय होता है जब हमारी प्रार्थना पूरी करे। यदि प्रार्थना पूरी नहीं हुई तो देवताओं से प्रेम नहीं रहता। यदि कोई पूछे कि 'तुम अपने से क्यों प्रेम करते हो'? तो कोई उत्तर नहीं होगा! इसलिये जिस प्रकार जनक-याज्ञवल्क्य संवाद के अंदर आत्मा की प्रकाशरूपता को सिद्ध किया गया उसी प्रकार मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-संवाद में परम प्रेमास्पदता सिद्ध की गई। जिस चीज़ से निर्हेतु प्रेम होता है वही चीज़ आनन्द देने वाली होती है। दुःख देनेवाली चीज़ से किसी को प्रेम नहीं होता।

सदा प्रेमास्पद होने के कारण साक्षी आनन्दरूप है। बाकी चीज़ें कभी सुख देती हैं, कभी नहीं देती हैं। पहले पहल गुलाब जामुन तो सुख देते हैं, जब पेट भर जाता है तब फिर दो के लिये भी मनाकर, हाथ जोड़ता है। यदि खाने भी पड़े तो क्या उसका मज़ा आता है? परन्तु अपना आपा हमेशा ही प्रिय होता है। मन में ऐसा कभी नहीं होता कि 'मैं दुःखी हो

जाऊँ'। 'सर्वार्थसाधकत्वेन'—प्रकाशित करके सब चीज़ों को सिद्ध करने वाला ही सब विषयों का साधक है। जो कुछ है वह ज्ञान से सिद्ध होता है, इसलिये ज्ञान के साथ सम्बन्ध है। सबके साथ सम्बन्ध होने के लिये जहाँ सब हैं वहाँ उसे होना पड़ेगा तभी सम्बन्ध होगा। इसलिये 'सम्पूर्णः' उसको सम्पूर्ण कहा जाता है। जो सच्चिदानन्द सम्पूर्ण है उसी की 'शिव' यह संज्ञा है। अर्थात् परमेश्वर का नाम शिव है। सर्वसम्बन्ध में सम्बन्धशब्द प्रकाश्य-प्रकाशकभाव से कहा गया है। वह प्रकाशक है, सब कुछ प्रकाश्य है। जैसे अधिष्ठानरूप से ही सत्य कहा वैसे प्रकाश्य का अधिष्ठान होने से प्रकाशक कहा जा रहा है। तभी सबसे सम्बन्ध सम्भव है। ज्ञानरूप प्रकाश अधिष्ठान है जिसमें प्रकाश्य कल्पितरूप से रहता है। बिना ज्ञान में अधिष्ठित हुए कोई चीज़ प्रकट हो नहीं सकती। 'सम्बन्ध' सुनते ही मनुष्य को लगता है कि दो चीज़ें हैं जिनमें कोई तीसरा सम्बन्ध है। दोनों चीज़ें समान सत्ता में हों तभी सम्बन्ध सम्भव है। आत्मा में समान सत्ता वाला 'सब' कुछ है नहीं। इसलिये प्रायः करके 'सर्वसम्बन्धवत्त्वेन' नहीं कहते। यहाँ कहा है अतः समझ लेना चाहिये कि समान सत्ता के सम्बन्ध को लेकर नहीं कहा है। अधिष्ठान और अध्यस्त का जो आध्यासिक सम्बन्ध है, उस सम्बन्धके अभिप्राय से वह पूर्ण है। सब कुछ उसमें अध्यस्त है—यही सम्बन्ध है और कोई सम्बन्ध नहीं। समान सत्ता वाला सम्बन्ध होता तो जो सर्व है यह मिथ्या नहीं रहता! आध्यासिक सम्बन्ध से ही मिथ्या और सत्य का सम्बन्ध होता है। इस तत्त्व का नाम शिव है॥५७-५८॥

उद्धृत वाक्यों का तात्पर्य बताते हैं—

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः॥५९॥

शैव पुराणों में इस प्रकार कूटस्थ का सविस्तार विवेचन है। जीवत्व-ईश्वरत्व आदि धर्मों से रहित अद्वितीय स्वप्रकाश वस्तु शिव है।

ये तीनों श्लोक शैव पुराण में कहे हैं। 'पुराणेषु' में बहुवचन है। इसका मतलब है कि कई जगह शैव पुराणों में यह बात कही है। कई जगह कही बात को यहाँ एकत्रित कर दिया है। पुराणों में कूटस्थ को भली प्रकार से आभासादि विकारों से अलग करके बतला दिया। अधिष्ठानरूप से सच्चिदानन्द के साथ सम्बन्धवाला होकर ही सारा अध्यस्त नाम-रूप प्रपंच सद्रूप, ज्ञानरूप, आनन्दरूप प्रतीत हो रहा है। वह कूटस्थ कैसा होता है? 'जीवेशत्वादिरहितः' अधिष्ठान सच्चिदानन्द में जीव और ईश्वर भी कल्पित हैं। अधिष्ठानरूप न जीव है, न ईश्वर है, न अल्पज्ञ है, न सर्वज्ञ है, न अल्पशक्तिमान् है, न सर्वशक्तिमान् है। वह तो सच्चिदानन्द अधिष्ठान ही है। जीव-ईश्वरादि कल्पनाओं से वह रहित है। 'जीवभाव से रहित है,' इसका उल्टा मतलब नहीं समझ लेना कि अभावरूप है! वह 'भावाभावविनिर्मुक्त' कहा गया है अर्थात् जीवादि भावरूप भी नहीं, इनका अभावरूप भी नहीं है। तात्पर्य है कि जीव-ईश्वर

आदि कल्पनाओं से छूटा हुआ है। जीव है या जीव नहीं है—दोनों ही कल्पनायें हैं। ईश्वर है, ईश्वर नहीं है—दोनों ही कल्पनायें हैं। अनेक लोग मुक्ति का विचार करते हैं तो उसे अभावरूप सोचते हैं कि वहाँ कोई भाव नहीं है। वेदान्तियों में एक मण्डनमिश्र हुए हैं, जो 'अभाव के साथ द्वैत का विरोध नहीं आता' ऐसा मानते थे। अर्थात् जगत् के अभाव के साथ ब्रह्म रह जायेगा। भगवान् भाष्यकार ने ज़ोर देकर कहा कि परमार्थ में द्वितीयरूप से अभाव भी नहीं है। अभाव भी भावापेक्ष होने से जब भाव है ही नहीं तो अभाव की सम्भावना कहाँ बचती है! अतः सर्वथा भाव और अभाव दोनों से वह रहित है। क्योंकि हम लोगों का दीर्घकाल से स्वभाव है कि या चीज़ों को 'है' समझते हैं या 'नहीं है' समझते हैं इसलिये 'है, नहीं है'—दोनों भावों से रहित' हम लोगों को जल्दी पकड़ में नहीं आता है। परन्तु धीरे-धीरे विचार करने से निश्चय हो जाता है कि वह परमात्मतत्त्व भाव और अभाव दोनों से रहित है। चूंकि सिद्धान्त के अन्दर अभावाद्वैत नहीं स्वीकार किया इसलिये स्पष्ट करते हैं 'केवलः' मायने वह अकेला ही है, अद्वितीय है।

'स्वप्रभः' वह स्वयंप्रकाश चैतन्य-रूप है। वैष्णवों ने परमेश्वर की चिद्रूपता नहीं समझकर चीनी-चींटी के दृष्टान्त से आनन्द के लिये भेद को मान्यता दी किन्तु शास्त्र परमेश्वर को न केवल आनन्दरूप वरन् ज्ञानरूप भी बताते हैं इसलिये वैष्णवकल्पना अप्रामाणिक, निरर्थक है। चीनी जड होने से अपने स्वाद से अनिभज्ञ है किन्तु परमात्मा चेतन है अतः आनन्द से अनभिज्ञ नहीं रह सकता। क्या वैष्णव परमात्मा को भी जड समझते हैं कि उसको अपना आनन्द नहीं *आता?* जड ईश्वर अप्रामाणिक है इसलिये उनकी मान्यता सर्वथा व्यर्थ है। आनन्द ज्ञानरूप है, आनन्द का ज्ञान नहीं, आनन्द स्वतः ही ज्ञानरूप है। वैष्णव मानते हैं कि आनन्द का ज्ञान होता है, आनन्द की ज्ञानरूपता को वे नहीं समझ पाते। इसका साधारण आदमी को थोड़ा भान हो सकता है नींद में। जब गहरी नींद आती है तब जगकर तुम कहते हो, 'आज बड़े आनन्द से सोया।' अर्थात् वहाँ आनन्द था। वह आनन्द किसी चीज़ का तो था नहीं, उल्टा, वहाँ कुछ नहीं था इसलिये आनन्द था। चूंकि मैं चेतनरूप हूँ, इसलिये कोई दूसरी चीज़ न रहने पर मेरा ही आनन्द प्रकट हो जाता है। जैसे सुषुप्ति में मैं-रूप आनन्द मुझे ही भासता है वैसे मोक्ष में आत्मरूप आनन्द आत्मा को मालूम रहता है। अतः उसका आनन्द स्वयंप्रकाश है। जो ऐसा स्वयंप्रकाश आनन्द उसी को शिव कहते हैं। इसलिये कोषकारों ने 'शिव' शब्द का एक अर्थ 'मंगल' कहा है। शिव मंगलमयरूप, आनन्दरूप है। शैव पुराणों में शिव का ऐसा रूप बतलाया है॥५९॥

जीव-ईश्वरभावों के वास्तविक राहित्य में श्रुति-समर्थन दिखाते हैं—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत्॥६०॥

क्योंकि यह श्रुतिसिद्ध है कि आभासों के रूप में जीव-ईश्वर को माया सम्भव करती है इसलिये वे मायिक ही हैं पर काँच और घड़े में जैसे स्वच्छताकृत भेद है वैसे जड जगत् से जीव-ईश्वर में भेद है क्योंकि वे स्वच्छ हैं।

नृसिंहोत्तरतापनीय की इस श्रुति पर ६.१५५,७.३ आदि स्थलों पर चर्चा हो चुकी है। माया स्वयं में सच्चिदानन्द का आभास ग्रहण करती है, वह आभास ईश्वर के रूप में व्यवहृत होता है। और माया अपने एकदेश में वही सच्चिदानन्द प्रतिबिम्बित करके जीव की प्रतीति कराती है। वह जो माया का एकदेश है उसी को अविद्या भी कहते हैं। एकदेश जो अविद्या, है वह भी माया ही। माया खुद ही समष्टि और व्यष्टि रूपों वाली प्रतीत हो जाती है और उससे सम्बद्ध आभास में जीव और ईश्वर भावों की प्रतीति हो जाती है। जीव और ईश्वर हैं आभास ही। इसलिये कहा 'मायिकावेव जीवेशौ' जीव और ईश्वर दोनों मायिक ही हैं। मायिक तो पहाड़-नदी भी हैं। फिर जीव-ईश्वर में जडों से क्या अन्तर है? उनमें स्वच्छता ही विशेष है। जैसे यदि शीशे का घड़ा हो, उसमें दूध भरा हो तो दूध दीख जाता है पर मिट्टी के घड़े में दूध दीखता नहीं क्योंकि मिट्टी का घड़ा काँच की अपेक्षा साफ़ नहीं है। इसी प्रकार से माया में से चेतन दीख जाता है, अविद्या में से भी वह दीख जाता है। अतः माया और अविद्या की उपाधि वाले जीव और ईश्वर तो चेतन प्रतीत होते हैं परन्तु पहाड़ नदी आदि चेतन प्रतीत नहीं होते क्योंकि उनकी उपाधि साफ़ नहीं है, चेतन दीखे ऐसी नहीं है। काँच का और मिट्टी का घड़ा दोनों पार्थिव होने पर भी एक अन्दर की चीज़ दिखला देता है, दूसरा नहीं दिखलाता; इसी प्रकार से पहाड़, नदी भी मायिक हैं और बुद्धि भी मायिक है, पर बुद्धि में से चेतन दीख जाता है जबकि दूसरी जगह नहीं दीखता। यह अन्तर है॥६०॥

दूसरे दृष्टांत से समझाते हैं—

अन्नजन्यं मनो देहात् स्वच्छं यद्वत् तथैव तौ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात् स्वच्छतां गतौ॥६१॥

जैसे अन्न से बना मन अन्न से ही बने स्थूल शरीर की अपेक्षा स्वच्छ है वैसे जीव-ईश्वर मायिक होते हुए भी बाकी सब से स्वच्छ हैं।

श्रुति कहती है कि जो हम अन्न खाते हैं उसके तीन हिस्से हो जाते हैं। जो अत्यन्त स्थूल भाग है, वह तो शौच में निकल जाता है। वह शरीर और मन के उपयोग में नहीं आता। दूसरा, उससे सूक्ष्म भाग, शरीर के मांस आदि बन जाता है। अन्न से ही मांस आदि बनते हैं। जो अन्न का अतिसूक्ष्म भाग है, उससे मन बन जाता है। मन भी अन्न से ही बनता है। आजकल लोग शंका करते हैं कि मन का अन्न से क्या सम्बन्ध। पर नशा करने पर स्वयं स्पष्ट होता है कि खाये का सीधा असर मन पर पड़ता है। मन के आचरण में परिवर्तन लाने वाली चीज़ खाई गई भाँग आदि ही है। यों अन्न से मन बनता है यह स्पष्ट हो जाता है। मन जब वृत्ति बनाता है तब स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि क्या वृत्ति बन रही है जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्ति बनते ही पता रहती हैं। और शरीर क्या वृत्ति बनाता है—कुछ नहीं दीखता! डाक्टरी परीक्षण या अन्य परीक्षण से उसे जानना होता है।

मनमें आई बात के लिये दूसरे से नहीं पूछना पड़ता, न कोई परीक्षण करना पड़ता है; सीधे ही पता चल जाता है। इसलिये अन्न से उत्पन्न होने वाला मन शरीर की अपेक्षा स्वच्छ है। उसी प्रकार से पहाड़-नदी आदि और जीव-ईश्वर ये दोनों ही मायिक हैं। ऐसा होने पर भी बाकी सब चीज़ों की अपेक्षा अंतःकरण स्वच्छ है। उसमें चेतन का भान स्पष्ट हो जाता है। ऐसे ही माया में ईश्वर स्पष्ट हो जाता है।

क्यों हम लोग ज़ोर देते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ,' जानो; सामने की विष्णु मूर्त्ति ब्रह्म है—यह क्यों न जानें? इसमें हेतु यही है कि जो मन की अहंकारात्मिका वृत्ति है, उसमें तो चेतन का प्रकाश स्पष्ट होगा, ऐसा प्रकाश पत्थर की मूर्त्ति में नहीं हो सकता। पत्थर की मूर्त्ति मन एकाग्र करने में तो मददगार हो सकती है, परन्तु परमात्मा के साक्षात्कार के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं हो सकती। चित्त एकाग्र करने के लिये वह उपयोगी है। एकाग्र चित्त में ही ज्ञान होता है। पर परमात्मा का साक्षात्कार 'अहम्' इस तरह ही होगा। इसलिये अहम् में तुम ब्रह्म का बिना समझे भी ध्यान करोगे, तो साक्षात्कार में मदद मिलेगी। विष्णुमूर्त्ति हमें देवता तो प्रतीत नहीं होती है, फिर भी उसको हम देवता मान लेते हैं। इसी प्रकार जिस अहम् को हम देख रहे हैं, वह सुखी-दुःखी कामी-क्रोधी-लोभी है। जैसे पत्थर दीख रहा है पर मान लेते हैं कि 'यह विष्णु है' ठीक इसी प्रकार अहम् हमें ब्रह्मरूप दीख नहीं रहा है, लेकिन इसको हम ब्रह्मरूप मान सकते हैं। यह ध्यान भी अत्यन्त उत्तम फल देने वाला है। मानने से, ध्यान से मोक्ष नहीं होगा। लेकिन जैसे तुम पत्थर की मूर्त्ति को विष्णु मानकर ध्यान करो तो फल होता है ऐसे अहं को ब्रह्म मानकर ध्यान करना भी सफल बताया गया है। मूर्ति में चेतना प्रतीत नहीं होती, अहंकार में होती है यह लाभ भी है। अगला, ध्यानदीप-प्रकरण इस बारे में और स्पष्टता देगा। लोक में तो कीट भ्रमर के चिंतन से भ्रमर बनता प्रसिद्ध है अतः वस्तुतः ब्रह्मरूप जीव अपने ब्रह्मभाव के चिन्तन से ब्रह्मरूप से भासे इसमें विरोध नहीं हो सकता। यदि 'मैं ब्रह्म हूँ'—इसका अनुभव न होने पर भी यह चिंतन करते रहते हो तो इस जन्म में भी दृढता आ जाये, अगले जन्म में दृढता आ जाये या मृत्युकाल में यही वृत्ति बन जाये तो कल्याण का मार्ग खुल जाये आदि विकल्प संभव हैं। ऐसा क्यों है कि मायिक होकर भी ये जीव-ईश्वर चेतन हैं? क्योंकि ये जो माया और अविद्या उपाधियाँ हैं, इनमें स्वच्छता है, और बाकी पत्थर इत्यादि में स्वच्छता नहीं है, इस कारण यह अन्तर है। स्वच्छता का मतलब यही है कि इन उपाधियों में ज्ञानरूपता प्रतिबिम्बित हो जाती है, प्रकट हो जाती है॥६१॥

मायिक होने से ये अनिर्वचनीय भी हैं—

चिद्रूपत्वं च सम्भाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात्।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि॥६२॥

(मायिक होने पर भी) उनकी (जीव-ईश्वर की) चेतनरूपता सम्भव है क्योंकि वे चेतनरूप से ही प्रतीयमान हैं। सब कल्पनाओं में सशक्त माया के लिये कुछ भी करना कठिन नहीं है।

चेतनरूप से जीव व ईश्वर की प्रतीति होती है इसलिये उन्हें चेतन स्वीकारा जाता है। माया के सभी कार्यों में यह नियम है कि जिस रूप से उनकी प्रतीति होती है, उस रूप से वस्तुओं को मानना पड़ता है। माया में असम्भवता का दोष नहीं आता। यदि असम्भवता का दोष देखो तो आकाश जो पोलरूप है उसमें से वायु आदि क्रम से भी ठोस पत्थर कैसे निकलेगा? अग्नि गर्मरूप है, उसमें से जल कैसे निकलेगा? इसलिये जो जिससे जैसा होता हुआ प्रतीत होता है, उसको वैसा ही मानना पड़ता है। अधिकतर चीज़ों को विचार पूर्वक देखो तो उनके अन्दर कारण-कार्यभाव समझना असम्भव ही लगता है। इसलिये मन चिद्रूप दीखता है इसलिये चेतन को स्पष्ट करके दिखलाने वाली स्वच्छता माननी पड़ती है। माया का लक्षण ही है कि सब चीज़ों को बनाने में समर्थ है। जैसे बाजीगर लड़की काट देता है, और पुनः जोड़ देता है! शरीर कटकर जुड़ जाये—यह असम्भव है। परन्तु बाजीगर दिखाता है, तो मानना पड़ता है। अगर कहो कि बाजीगर ने सचमुच में नहीं काटा, तो सचमुच में संसार भी पैदा ही नहीं हुआ, यह केवल प्रतीति है। माया कुछ भी करने में समर्थ है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा 'अघटित-घटना-पटीयसी माया' माया का काम ही है कि जो घट नहीं सकता उसको घटा हुआ दिखा देती है। इसलिये माया में जो चीज़ जैसी प्रतीत होती है, उसको वैसा ही स्वीकार करना पड़ता है।

सारी प्रक्रियाओं में कोई ऐसी नहीं है जिसमें सब चीज़ें ठीक बैठ जायें। इसलिये बुद्धिमान् को जो चीज़ जैसी होती है उसको वैसा स्वीकार करके, जो असली समस्या है उसके हल में लगना चाहिये कि परमात्मा का स्वरूप क्या है। निर्णय केवल इस बात का हो सकता है कि शिव कैसा है। माया द्वारा दिखाई चीज़ों में कोई तुक बैठती नहीं। जो घट नहीं सकता, उसे घटा हुआ दिखाने में माया चतुर है। इसलिये जड जो बुद्धि, अन्तःकरण उसको ऐसा चेतन करके दिखाया है कि संसार में रुपये में पौने सोलह आना लोग मन को ही चेतन मानते हैं। मन जड है और चेतन की तरह प्रतीत होता है यह बात अधिकतर आदमी नहीं समझते। तर्क करने में कुशल जो गौतम, और उनके अनुयायी भी यही मानते हैं कि आत्मा और मन के संयोग से ज्ञान पैदा होता है; आत्मा की ज्ञानरूपता वे भी नहीं समझ पाते। क्योंकि चेतनता का अनुभव बिना मन के कभी होता नहीं, जब भी चेतनता का अनुभव होता है तब मन अवश्य होता है, इसलिये सबको निश्चय है कि मन ही चेतन है। जड मन को चेतन करके दिखाना—यह माया के लिये सम्भव है। जड चेतन हो नहीं सकता पर माया ऐसा दिखला देती है॥६२॥

माया की अचिन्त्य सामर्थ्य में दृष्टान्त देते हैं—

अस्मन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत्।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते॥६३॥

हम लोगों की नींद भी स्वप्न में होने वाले चेतन जीव-ईश्वर उत्पन्न कर देती है तो महामाया इन्हें पैदा करती है इसमें तुम्हें क्या आश्चर्य है!

माया की तो ऐसी शक्ति है कि जीव और ईश्वर को भी बना दे पर माया को जाने दो, हमारी नींद भी यह कमाल कर दिखाती है : स्वप्न में दीखता है कि सौ आदमी कथा सुन रहे हैं। सौ जीव हैं, उनको किसने बनाया? हमारी जो निद्रा है, उसीमें सामर्थ्य है कि सौ आदमी दिखा दिये। स्वप्न में वर्णन करते हैं कि 'सारी सृष्टि को बनाने वाला परमेश्वर है। उसका साक्षात्कार करो।' सृष्टि स्थिति लय करने वाला परमेश्वर वहाँ जिसे कह रहे हैं वह जाग्रत् के सृष्टि आदि करने वाले को तो कह नहीं रहे हैं। स्वप्न में प्रतीयमान जो सृष्टि-स्थिति-लय उन्हीं को करने वाला ईश्वर कह रहे हैं। निद्रादोष से ही जब जीव और ईश्वर का निर्माण हो जाता है तो माया वैसे करे यह संभावित ही है। स्वप्न में होने वाले जीव और ईश्वर दोनों ही हमें चेतन प्रतीत होते हैं। यदि निद्रा ऐसी प्रतीति करा सकती है तो महामाया क्यों नहीं करा सकती! जिसने माया और अविद्या दोनों रूप धारण किये वह महामाया है। वह खुद ही मायारूप से ईश्वर की उपाधि भी बन जाती है, अविद्यारूप से जीव की उपाधि भी बन जाती है। चूंकि बनने वाली को माया कह दिया, इसलिये बनाने वाली को महामाया कहा जा रहा है। जब हमारे निद्रादोष में ही इतनी शक्ति है कि हम जीव और ईश्वर बना देते हैं तो जो महामाया है, जिसने माया और अविद्या को प्रकट किया, वह जीव और ईश्वर को बनाती है इसमें तुमको आश्चर्य क्यों हो रहा है?**॥६३॥**

ईश्वर की कल्पना कराने पर भी उसे मुग्ध, अविवेकी के रूप में नहीं बनाती वरन् सर्वज्ञ बनाती है यह कहते हैं—

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत्।
धर्मिणं कल्पयेद् याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने॥६४॥

ईश्वर में सर्वज्ञता आदि कल्पित कर दिखाती है। जो धर्मी (ईश्वर) की ही कल्पना करा देती है उसके लिये धर्म की कल्पना करना कौन-सा भारी काम है!

केवल ईश्वर की कल्पना कराती है ऐसा नहीं, वह ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सब जीवों के कर्मों का फल देता है आदि उसकी विशेषताएँ भी प्रतीत कराती है। पहले ईश्वर-रूप धर्मी की कल्पना, फिर ईश्वर में इन धर्मों की कल्पना करके दिखा देती है। इतना स्पष्ट दिखा देती है कि गुरु जब कहते हैं 'जीव और ईश्वर एक है' तब शिष्य कहता है कि 'मैं इतना अल्पज्ञ हूँ, सर्वज्ञ ईश्वर से एक कैसे हो सकता हूँ? मैं तो कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूँ'! माया ही परमेश्वर की कल्पना करा कर उस परमेश्वर में धर्मों की भी प्रतीति करा देती है। जैसे लौकिकों को कर्तृत्व में निष्ठा है वैसे उपासकों को 'ईश्वर उपास्य ही है' इसमें निष्ठा है। आवरण-स्वभाव वाली माया सर्वज्ञतारूप धर्म अर्थात् विशेषता कैसे कल्पित करती है? यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि जब धर्मी की ही कल्पना करा दी तो धर्मों की कल्पना क्यों नहीं करा सकती? एक तरफ उसी ने जीव बना दिया। वह कर्त्ता-भोक्ता अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् हो गया और सुख-दुःख भोग रहा है। दूसरी तरफ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्

ईश्वर की कल्पना हो गई जो जीवों को कर्मफल देता है। अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् जीव की तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कल्पना उसी ने करा दी है। इस तरह सब कुछ माया कर देती है॥६४॥

शंका होती है कि फिर क्या कूटस्थ ब्रह्म भी माया की कल्पना है? इसके समाधान में कहते हैं—

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्याद् इति चेन्माऽतिशङ्क्यताम्।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते॥६५॥

कूटस्थ के बारे में अतिदेश से मायिकता की शंका मन में उठे तो मत उठने देना क्योंकि कूटस्थ की मायिकता में कोई प्रमाण नहीं है।

योग्य स्थल की शंका यदि अयोग्य स्थल पर की जाये तो 'अतिशंका' कहलाती है। अतिशंका होगी कि कूटस्थ भी ऐसा ही मायिक है। करीब-करीब ऐसी बात बौद्ध लोग मानते ही हैं। वे कहते हैं कि नित्य आत्मा भी मायिक ही है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि अतिशंका न करो। अतिशंका का मतलब है प्रमाण-विरुद्ध शंका। 'आभासेन करोति' 'मायया संनिरुद्धः' आदि श्रुति एवं विविध स्मृतियाँ जीव-ईश्वर की मायिकता बताती हैं, महावाक्य के अखण्ड अर्थ की अन्यथा अनुपपत्ति से भी जीव-ईश्वरभावों की मायिकता निर्धारित होती है अतः इन्हें मायिक बताया किंतु कूटस्थ ब्रह्म की मायिकता में कोई प्रमाण नहीं बल्कि सत्य अधिष्ठान के बगैर माया ही संभव नहीं होगी इसलिये कूटस्थ की मायिकता की शंका ही उठाना व्यर्थ है, निराधार है॥६५॥

कूटस्थ की मायिकता में प्रमाण नहीं, उल्टा उसकी सत्यता में प्रमाण है भी यह कहते हैं—

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यद् न सहन्तेऽत्र किंचन॥६६॥

सकल वेदान्त कूटस्थ की वास्तविकता की घोषणा करते हैं तथा इसका विरोध करने वाली किसी अन्य वस्तु को सहन भी नहीं करते।

कूटस्थ की वास्तविकता प्रमाण से सिद्ध है। सारी ही उपनिषदें कूटस्थ की, ब्रह्म की वास्तविकता की घोषणा करती हैं। वे बताती हैं कि बस, यही एक वस्तु है, बाकी सब कल्पना है। सारी उपनिषदों में बार-बार इस बात का प्रतिपादन है। कूटस्थ से अन्य, भिन्न, यदि 'वस्तु' होगी तो 'सपत्नरूप' अद्वैत की शत्रुरूप होगी। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ है तो ब्रह्म की अद्वितीयता सिद्ध नहीं होगी। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्मात् द्वितीये सति वस्तुनि' दूसरी यदि कोई चीज़ होवे तो ब्रह्म जो सर्वव्यापक तत्त्व है, सिद्ध नहीं होगा। ब्रह्म से, कूटस्थ से भिन्न कुछ भी वस्तु होगी तो

शत्रुरूप होगी, अद्वैत को ख़त्म करने वाली होगी। वेदान्तशास्त्र ब्रह्म के साथ कुछ भी रहे, इसको सहन नहीं करते। अर्थात् ब्रह्म की सद्वितीयता प्रमाणविरुद्ध है॥६६॥

श्रुतियों के बल से कूटस्थ की वस्तुरूपता सिद्ध की। कूटस्थ वास्तविक है या अवास्तविक है, इसके लिये कोई तर्क भी यहाँ क्यों नहीं बताया? यह समझाते हैं—

श्रुत्यर्थं विशदी कुर्मो न तर्काद् वच्मि किंचन।
तेन तार्किकशङ्कानाम् अत्र कोऽवसरो वद।। ६७।।

वेदार्थ स्पष्ट कर रहे हैं, तर्क से कुछ सिद्ध नहीं कर रहे। इसलिये इस बारे में तार्किकों की शंकओं को मौका ही कौन-सा है? बताओ। ('वच्मि' की जगह 'वस्तु' ऐसा मोडक को इष्ट पाठ है।)

वेदान्त-आचार्य मुख्यरूप से वेद के अर्थ का ही विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं, वही उनके विचार का उद्देश्य है। तार्किक मानते हैं कि बिना शास्त्र पर निर्भर हुए तर्क से तथ्य निर्धारित हो। किन्तु यह असंगत आशा है क्योंकि तथ्य प्रमाण पर निर्भर है और तर्क प्रमाण है नहीं। पाश्चात्य चिन्तन ग्रंथ-आधारित विचार को थिओलॉजी तथा बिना ग्रंथ पर निर्भर किये तर्क से होने वाले विचार को फिलॉसफी कहते हैं। बाइबल के आधार पर एक धारा चली, उसे छोड़कर दूसरी चली। इस दृष्टि से वे हमारे शस्त्रीय विचार को फिलॉसफी नहीं स्वीकारते क्योंकि हम तथ्य को शास्त्रसिद्ध अंगीकार कर शास्त्रानुसारी ही तर्क को मान्यता देते हैं। वैसे, तर्क-प्रयोक्ता भी किसी आधारभूत मान्यता को बिना तर्क के स्वीकारे, तभी आगे तर्क चल सकता है। हेगेल ने वाद-प्रतिवाद-संवाद (थीसिस, एण्टीथीसिस, सिन्थिसिस) के त्रिक को सिद्धवत् माना जिस पर तर्कजाल स्थापित किया। इस त्रिक में क्या तर्क?— यह वह भी नहीं बताता। प्रायः वादी किसी मूल पर निर्भर तो करते हैं पर उसे छिपाते हैं। सॉक्रेटीज़ (सुकरात) के संवादों में हेगेल के त्रिक का मूल मिलता है पर हेगेल यह घोषणा नहीं करता। मार्क्स मानता है कि अत्याचार बुरा है क्योंकि बाइबल ऐसा बताती है। किसी तर्क से तो वह अत्याचार को बुरा सिद्ध नहीं करता पर यह भी नहीं कहता कि बाइबल के प्रामाण्य से वह उसे बुरा मानता है। यों पाश्चात्य तार्किक ईमानदारी का परिचय नहीं देते। भारतीय दार्शनिक स्पष्ट बताते हैं कि शास्त्र से उन्हें क्या उपलब्ध हुआ और फिर उसपर निर्भर कर तर्क का विस्तार करते हैं। इसलिये चाहे जितनी युक्तियों से समझा रहे हैं फिर भी आचार्य ने कहा कि श्रुत्यर्थ का ही विस्तार कर रहे हैं। 'श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मः' श्रुति के अर्थ का ही हम विस्तार करते हैं, स्पष्टीकरण करते हैं।

तर्क से हम किसी चीज़ को स्थापित नहीं करते। तर्क का प्रयोग हम शास्त्र की बात समझने के लिये तो करते हैं, लेकिन शास्त्र की बात को हम बिना सामने रखे, तर्क का जाल नहीं बनाते। जहाँ तर्क दिया जा सकता है, वहाँ देते हैं, अन्यथा नहीं। हर चीज़ को तर्क से ही सिद्ध करना है—ऐसा हमारा आग्रह नहीं है। जैसे सामने घड़ा है; कोई कहे, 'तर्क से

सिद्ध करो; आँख से देखने से क्यों मानते हो? घड़े में युक्ति क्या है?' तो बेकार बात है। जो आँख से दीख गया उसके लिये कोई युक्ति देने की ज़रूरत नहीं है। उसी प्रकार से वेद से कूटस्थ की वास्तविकता स्पष्ट हो रही है, उसके लिये व्यर्थ तर्क हम नहीं ढूँढते। जैसे घड़ा आँख से ही दीखेगा वैसे ही कूटस्थ श्रुति प्रमाण से ही ज्ञात होगा, अन्य प्रमाण से नहीं। सुरेश्वराचार्य कहते हैं (बृ.१.४.१५२१) कि जो ब्रह्म के विषय में तर्क माँगते हैं वे तो नाक की नोक से सूर्य भी देखते होंगे! 'नूनं ते नासिकाग्रेण वीक्षन्ते सूर्यमण्डलम्'। आँख से सूर्यमंडल दीख रहा है। कोई कहे कि 'आँख को हम प्रमाण नहीं मानते, हमें नाक से सूर्य दिखलाओ' तो कैसे दिखाया जाये? नाक से कुछ दीख ही नहीं सकता। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान श्रुति से ही हो सकता है, यह तर्क से हो ही नहीं सकता। सिवाय श्रुति प्रमाण के और कोई उसका ज्ञान करा नहीं सकता। इसलिये ब्रह्म के बारे में तार्किकों की शंकाओं के लिये स्थान ही नहीं है। तार्किक वे जो श्रुति को न मानकर तर्क से हर चीज़ सिद्ध करना चाहते हैं। 'चाहते हैं' यह याद रखना। तार्किकों की भी मान्यतायें हैं, उनके आधार पर वे तर्क भी करते हैं। वे मान्यताएँ तर्क से सिद्ध नहीं होतीं, वैसे ही हम श्रुति से ब्रह्म को वास्तविक मानते हैं। ब्रह्म की वास्तविकता किसी दूसरी तरह सिद्ध होती नहीं॥६७॥

क्योंकि यह तर्क से परे का क्षेत्र है इसलिये आचार्य निर्देश देते हैं—

तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत्।
श्रुतौ तु मायाजीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम्॥६८॥

इसलिये कुतर्क छोड़कर मुमुक्षु को चाहिये कि श्रुति का सहारा ले। श्रुति में तो 'माया जीव-ईश्वर बनाती है' यह दिखाया है।

'तस्मात्' अर्थात् श्रुति को छोड़ करके किसी और प्रकार से कूटस्थ की वास्तविकता नहीं बताई जा सकती इसलिये जो मुमुक्षु है उसको कुतर्क छोड़ देना चाहिये। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्', तर्क तो करो पर कुतर्क न करो। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा, 'दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्' कि श्रुति ने जो बात कही है, उसको सिद्ध करने के लिये तर्क का उपयोग करो, पर श्रुति की बात को काटने के लिये तर्क का उपयोग करना कुतर्क है। इसी को 'दुस्तर्क' कहा। तर्क दुधारी तलवार है। इससे तुम किसी भी बात को काट सकते हो। एक बड़े वकील थे—रासविहारी बोस। शराब पीते थे। उनके साथ चार-पाँच छोटे वकील रहते थे जो यदि नशे में ग़लत बात निकल जाये तो उनको बतला देते थे। किसी के मुकदमे में वे विरोधी बात ही सिद्ध करने लग गये! उनके छोटे वकीलों ने इशारा भी किया पर वे बोलते गये। अन्त में जब छोटे वकीलों ने ज़ोर देकर उन्हें चेताया कि वे प्रतिपक्षी का उपपादन कर रहे हैं तो उन्होंने अदालत से कहा 'विरोधी वकील केवल यहीं तक अपनी बात प्रमाणित करने की चेष्टा करेगा। इसलिये हमने कोर्ट का समय बचाने के लिये पहले ही उसका पक्ष रख दिया। अब हम इसका जवाब भी देते

हैं।' फिर उसका खण्डन करने लग गये। अतः तर्क ऐसा है जिससे बात सिद्ध भी कर सकते हैं, असिद्ध भी कर सकते हैं इसलिये भगवान् वेदव्यास ने लिखा है, 'तर्काप्रतिष्ठानात्' तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है, किसी निर्णय पर पहुँचने में तर्क समर्थ नहीं है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि यदि संसार के सारे तार्किकों को एक कमरे में बंद कर दो, और कहो 'तुम लोग एक निर्णय पर आओ कि क्या मानते हो,' तो भी वे कभी एक निर्णय पर नहीं आयेंगे। एक तार्किक एक बात सिद्ध करेगा तो दूसरा उसको काट देगा, यही क्रम चलता रहता है। इसलिये मुमुक्षु कुतर्क छोड़े। श्रुतिविरुद्ध नहीं, श्रुति को समझने के लिये तर्क करे। जो मोक्ष चाहता है, उसके लिये निश्चय ज़रूरी है। निश्चय ज्ञान से ही मोक्ष होगा। जो मोक्ष नहीं चाहता, अपना पांडित्य ही सिद्ध करना चाहता है, वह श्रुति का आश्रय नहीं करेगा। जो मोक्ष का इच्छुक है, वह यथार्थ ज्ञान में स्थित होना चाहता है। जो पाण्डित्य का प्रदर्शन करना चाहता है, वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहता केवल अपने अहंकार की पुष्टि करना चाहता है। इसलिये सारे कुतर्क मोक्ष की इच्छा वाले के काम के नहीं हैं। मुमुक्षु तो श्रुति का ही अवलम्बन लेवे। श्रुति में यह स्पष्ट कह दिया है कि आभास से माया जीव और ईश्वर को बना देती है। अतः यही स्वीकारकर कूटस्थबोध का प्रयास कर्त्तव्य है॥६८॥

अब जीव और ईश्वर के कार्यक्षेत्र के बारे में बतलाते हैं—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत्।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः॥६९॥

ईक्षण से शुरू कर प्रवेश तक सृष्टि ईश्वर द्वारा की जाती है। जाग्रत् से शुरूकर मोक्षपर्यन्त संसार जीवद्वारा किया जाता है। (यह श्लो. ६.२१३ और ७.४ में भी आ चुका है।)

ईश्वर पहले तो ईक्षण करता है। 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' ऐसा विचार करता है। फिर सत्यसंकल्प होने से वह बहुत हो जाता है। पंचमहाभूत के रूप में बन जाता है। महाभूतों के स्वच्छभाग से मन और ज्ञानेन्द्रियों को बना देता है। उनके रजोगुण वाले हिस्से से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ बना देता है। तमोगुण वाले हिस्से से पंचीकरण करके सब संसार बना देता है। फिर वह विचार करता है कि 'मेरे बिना यह चल भी नहीं सकता! क्योंकि मेरा संकल्प था कि मैं एक चेतन हूँ, बहुत चेतन हो जाऊँ इसलिये मुझे ही बहुत होना पड़ेगा'। अतः निर्णय करता है कि 'उपाधियों के बाद मैं इनमें जीवरूप से प्रवेश कर लूँ।' अतः उसने जीवरूप से प्रवेश कर लिया। स्वयं ही जीवरूप से प्रविष्ट हो गया, क्योंकि और कोई चेतन था नहीं।

जब जीवरूप से वह बाह्य जगत् को देखता है तब जाग्रत् अवस्था है। जब संस्कारों से चीज़ों को देखता है तब स्वप्न होता है, उसे जीव ही देखता है। जाग्रत्-स्वप्न से थक जाता है तो गहरी नींद में चला जाता है। वहाँ केवल अज्ञानमात्र है। इस प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति

ये सब जीव की कल्पना हैं, जीव ही इन सबको देखता है और इन सब का विचार करके अन्त में मोक्ष भी वही पाता है। 'मैं बद्ध हूँ' की तरह 'मैं मुक्त हूँ', यह भी जीव की ही कल्पना है, यह ईश्वर की नहीं है। वह न बद्ध है, न मुक्त है। इसी दृष्टि से ईश्वर को सर्वथा स्वतंत्र कहा जाता है। हम लोग परतंत्र हैं, बद्ध हैं। इस बन्धन से छूटने पर मुक्त होंगे। ईश्वर हमेशा स्वतंत्र है। इस प्रकार जीव के द्वारा किया हुआ संसार मोक्षपर्यन्त है।

यहाँ मोक्ष के स्थान पर विमोक्ष यह स्पष्ट करने के लिये कहा है कि पुराण आदि ग्रंथों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि को भी मुक्ति कह दिया है। जो अज्ञान से मुक्ति है वह विमोक्ष है। यह मुक्ति ऐसी है जिसमें मिलता कुछ नहीं है, केवल जो कचरा इकट्ठा किया है वह हट जाता है, तुम जैसे हो वैसे ही रह जाते हो। इसलिये इस मोक्ष के लिये प्रवृत्ति करने को अत्यंत कठिन माना है क्योंकि जीव को लगता है कि प्रयास के फलस्वरूप कुछ मिलना चाहिये। और विमोक्ष है, जिसमें कुछ नहीं मिलेगा। इस प्रकार ईश्वर और जीव द्वारा बनाये कार्यों का संग्रह किया॥६९॥

उचित संस्कार के आधान से निश्चयप्रद विचार सम्भव होने से सही चिन्तन का विधान करते हैं—

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम्।। ७०।।

कूटस्थ सदा असंग ही है। इसमें कभी कोई अतिशय नहीं होता। अतः मन में ऐसा ही विचार किया जाये।

ईक्षण से लेकर के प्रवेश पर्यन्त, स्थिति, विनाश, नियमन, इन सब कार्यों को जब ईश्वर कर रहा है तब भी कूटस्थ वैसा ही असंग है। उसके कार्यों को प्रकाशित करते हुए उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। वह असंग ही रहता है क्योंकि कूटस्थ तो ज्ञानमात्र है। संग होता है राग आदि के द्वारा जो कूटस्थ में है नहीं। इसी प्रकार से जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीव जो कुछ कर रहा है, उस सब को वह कूटस्थ ब्रह्म केवल प्रकाशित, भासित कर रहा है, उससे भी उसके अंदर कोई अंतर आता नहीं। सब स्थितियों में कूटस्थ तो असंग ही रहता है। सभी स्थितियों में कूटस्थ ब्रह्म तो एक-जैसा है। न बन्धन में, न मोक्ष काल में उसमें कोई परिवर्तन है। जिस प्रकार से रस्सी में साँप दीखता है तब भी, जब नहीं दीख रहा है तब भी रस्सी में कोई परिवर्तन नहीं है, इसी प्रकार से ब्रह्म में जब सृष्टि स्थिति लय की प्रतीति होती है एवं अन्य सब प्रतीतिकालों में वह तो एक जैसा ही रहता है। इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, बंधन, मोक्ष इन सब के अन्दर भी वह निर्विकार ही रहता है। सभी परिवर्तनों में कूटस्थ एक जैसा ही है। उसमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता। कोई परिवर्तन या विशेषता उसमें नहीं आती। यह बात जब शास्त्र और युक्ति से निश्चय कर ली तब बार-बार

मन के अन्दर वृत्ति बनाकर कूटस्थ की असंगता को मन में बैठाना है। केवल बुद्धि की प्रतीति ही बन्धन है कि 'मैं बद्ध हूँ।' इसी प्रकार 'मैं मुक्त हूँ' यह भी प्रतीति है, यही मुक्ति है। यदि बन्धन वास्तविक होता तो किसी अन्य उपाय से हट जाता। यह क्योंकि मायिक है, इसलिये इसको हटाने के लिये माया के कार्य, अन्तःकरण में ही बार-बार विचार करना पड़ेगा। क्योंकि 'बद्ध हूँ', यह अनुभव अंन्तःकरण को लेकर ही है, अतः अन्तःकरण को लेकर ही मोक्ष का अनुभव होगा। यह निश्चय पहले कर लेना चाहिये। यदि मन में संशय रहेगा तो बार-बार सोचने पर भी निष्ठा नहीं होगी। अतः पहले तो बुद्धि से निश्चय कर लेना पड़ता है कि श्रुति और युक्ति से यही बन सकता है। जैसे ग़लत वर्णन्यास, हिज्जे का अभ्यास हो जाये तो यद्यपि सही न्यास पता एक ही बार सुनने पर चल जाता है तथापि सैकड़ों बार लिखकर अभ्यास सुधारना पड़ता है, इसी प्रकार श्रुति, युक्ति, पर विचार करके निश्चय तो हो जाता है कि ऐसा ही है, पर मन में दीर्घकालीन संस्कार हैं कि 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, दुःखी-सुखी हूँ', व्यवहार में फिर ग़लती होती है कि 'मैं दुःखी हूँ, कर्त्ता हूँ'। दीर्घकाल में जब कूटस्थ के संस्कार स्थिर हो जाते हैं तो फिर यह ग़लती नहीं होती। जब तक शरीर है तब तक शरीर-मन चिदाभास से चलते रहते हैं परन्तु 'चिदाभास मैं हूँ' यह भ्रम सर्वथा मिट जायेगा। अज्ञान के कारण मैं की प्रतीति हो रही है पर मैं तो अकर्त्ता हूँ यह भान बना रहेगा॥७०॥

प्रश्न उठता है कि बन्ध-मोक्ष वास्तविक क्यों न मानें जायें? वास्तव बंध का निवर्तक होगा तो साधन भी सार्थक प्रतीत होगा। किंतु उत्तर है कि बंध सत्य होता तो नित्य मोक्ष असंभव है जब कि शास्त्र मोक्ष को नित्य बताता है। किं च ज्ञानमात्र से बन्धनिवृत्ति बताकर भी बंध को शास्त्र ने ही मिथ्या बता दिया है। साधना का प्रयास तो गोरखधन्धा सुलझाने जैसा है। जैसे गोरखधन्धे को खोलकर उसका समाधान करके कुछ होना नहीं है पर एक बार उलझ जाये तो सुलझाना ही पड़ता है। एक राजा के यहाँ कोई आदमी काम करता था। राजा ने प्रसन्न होकर कहा 'आज तुम राजकोष से जो भी अच्छी चीज़ लगे, ले लेना।' कोष के अध्यक्ष को राजा ने उस व्यक्ति को कुछ भी ले लेने के लिये कह दिया। पर कोषाध्यक्ष चतुर था, सोचा कि दिनभर में तो न जाने कितना बटोर ले जायेगा! वह व्यक्ति खजाने में गया तो प्रारम्भ में ही एक गोरखधंधा पड़ा था। उसने उसको परखा, सुलझाने का प्रयत्न किया। पर समय लगाने पर भी वह नहीं सुलझा तो आगे जाने लगा। अब कोषाध्यक्ष ने कहा 'शुरू में तुमने जिस गोरखधन्धे को उलझाया है, उसे पहले ठीक करना पड़ेगा, कोई चीज़ खराब करके नहीं जा सकते।' वह सुलझा नहीं सका और जाने का समय हो गया। ठीक यही हाल जीव का है। इसने अविद्या को छेड़ दिया है। अतः अविद्या से बन्धन अनुभव हो रहा है। मोक्ष इसको खोलना है। आनंदघन परमेश्वर विद्यमान है पर यह गोरखधंधा मिटे तब उसका भान हो। इसके अलावा साधना से कोई फायदा नहीं है। यह बात कहते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥७१॥

'नाश, उत्पत्ति, बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त—ये हैं ही नहीं, यह परमार्थता है।' (यह वैतथ्यप्रकरण की कारिका ३२ है)।

'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ'—यह अविद्या को जो छेड़ना हुआ, वहाँ से लेकर 'मैं बद्ध हूँ' यहाँ तक सब गोरखधन्धा ही छिड़ा हुआ है। वस्तुतः उत्पत्ति हुई ही नहीं, सच्ची उत्पत्ति नहीं है। अविद्या को छेड़ दिया तो तुमको उत्पत्ति दीख रही है। जब उत्पत्ति नहीं तो निरोध, नाश भी नहीं है, समापन भी नहीं है। जैसे रस्सी का साँप पैदा ही नहीं हुआ है तो रस्सी का साँप मरता भी नहीं है। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि प्रपंच यदि होता तो हट भी जाता। परन्तु रस्सी में साँप पैदा हुआ नहीं तो उसको मारें कैसे? द्वितीयता की प्रतीति केवल माया से ही है। अविद्या के बिना वह अद्वितीय तत्त्व वैसा का वैसा ही है। उत्पत्ति-नाश करने वाला ही परमेश्वर है। यदि उत्पत्ति-नाश नहीं है तो उन्हें करने वाला परमेश्वर भी नहीं है। इसी प्रकार से जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में जाने वाला कभी बन्धन में नहीं आया। जिस प्रकार से काँच पर धब्बे पड़े हैं, उसमें देखने पर चेहरे पर दाग दिखाई देते हैं। धब्बों वाले काँच से मुख धब्बे वाला ही दीखेगा, चाहे हो जितना भी साफ। साफ काँच में ही वह साफ दीख सकता है। इसी प्रकार अन्तःकरण में दोष भरे हैं, उनमें अपना रूप जीव को दोषी ही दीख सकता है। कर्म-उपासना से भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व के दाग तो मिटते नहीं। योगाभ्यास में कुछ काल तक दाग न दीखने पर भी व्यवहार में पुनः दाग दीख जाते हैं। अतः विचार से बोध की वृत्ति द्वारा अन्तःकरण से स्वतन्त्र अपना स्वरूप समझने से ही निर्दोषता स्थिर होती है। इससे पता लगता है कि मैं कभी बद्ध हुआ ही नहीं था! इसलिये 'न च साधकः'। जो मैंने साधना की वह सारी अन्तःकरण की वृत्तियों को लेकर थी, वह भी *मेरी* साधना नहीं थी। इसी प्रकार से बन्धन से छूटने की इच्छा भी मेरे अन्दर नहीं थी, अन्तःकरण की ही थी। मैं तो हमेशा ही बन्धनमुक्त हूँ, छूटा हुआ हूँ। वास्तविकता यही है॥७१॥

समस्या आती है कि यह सत्य स्थिति जीव को समझायी कैसे जाये। जीव को तो निरन्तर ही यह अनुभव हो रहा है 'मैं सुखी, मैं दुःखी।' सिर पर ईंट गिरी, सिर फूटा। मुझसे बाहर कोई ईंट है, जो गिरती है। ईंट का गिरना तो मेरे सिर फूटने से पहले था। कुछ है, जिसके कारण हमें दुःख-सुख होते हैं। कुछ है जिसकी प्राप्ति के लिए मैं कर्म करता हूँ। यह सार्वजनिक अनुभूति है। यदि उसको केवल यह कहते हैं कि 'ईंट गिरी नहीं। सिर फूटा नहीं।' तो कहेगा कि 'मुझे पागल बनाते हो!' अतः जो जानकार है, वह समझाने के लिए तरीका बनाता है—

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा।
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत्।।७२।।

सदा वाणी और मन से परे उस तत्त्व को समझाने के लिए श्रुति जीव, ईश्वर और जगत् का सहारा लेकर समझाती है।

जो पारमार्थिक कूटस्थ है उसे वाणी और मन के द्वारा समझ नहीं सकते। मन को तो वह प्रकाशित करता है, मन उसको प्रकाशित कैसे करे? सीधे उसको नहीं समझ सकता। मन में आया हुआ दोष ही मन मिटायेगा। आगे, परमात्मतत्त्व तो स्वप्रकाश है। उसके प्रकाश के लिए मन की ज़रूरत नहीं है और वाणी से उसको जान नहीं सकते। उसको वाणी से नहीं जान सकते यह अनेक मध्यकालीन लोगों ने भी कहा है। वे कहते हैं 'ये सब शास्त्र पढ़कर क्या होगा, परमात्मा थोड़े ही मिल जायेगा!' चाहे जितनी मन की साधना कर लो, उसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। कई समीकरण ऐसे होते हैं जिनका हल नहीं दीखता। पर उसमें यदि तुम कोई संख्या जोड़ दो तो वह समीकरण व्यवस्थित हो जाता है, हल निकल आता है। जब हल निकल आये तो जोड़ी हुई संख्या घटा देते हो ताकि सही उत्तर पता चले। हटाना ही है तो जोड़ना ही क्यों? इसलिए कि बिना जोड़े समाधान नहीं निकलता। इसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्म के अन्दर बन्धन, मुक्ति आदि कोई व्यवस्था नहीं है, जब कि इनकी प्रतीति हो रही है, तो इसका समाधान कैसे होवे? नहीं है—यह तो शास्त्र और ऋषियों का अनुभव है। और, हो रही है—यह हमारा अनुभव है। इस विरोध का परिहार कैसे किया जाये?

आचार्य शंकर कहते हैं कि वेद हज़ारों माता-पिताओं की अपेक्षा हमसे ज़्यादा प्रेम करता है। माता-पिता भी हों पर रोज़ सुबह उनको गालियाँ दो, खाने को कुछ न दो, तो कितने समय तक वे वत्सलता करते रहेंगे? पर सृष्टि के आदिकाल से हम कह रहे हैं 'परमेश्वर नहीं है, है भी तो निर्दय है।' इस प्रकार रात-दिन हम परमेश्वर में गलतियाँ निकालते हैं। रोज़ सूर्य हमें प्रकाश देता है, अनेक रोग दूर करता है। उसे अर्घ्य तक नहीं देते। बिजली का बिल भरना कभी नहीं भूलते क्योंकि बिजली कट जायेगी। पर अर्घ्य न दो तो भी सूर्य कुछ नहीं करेगा। इतने पर भी सूर्य तुमको गर्मी, रोशनी देता है एवं कीटाणुओं को नष्ट करता है। इस तरह परमेश्वर हमारे लिए हज़ारों माता-पिताओं से अधिक वत्सल है। वही वेद के द्वारा हमें वास्तविकता का ज्ञान कराता है। हमारे अध्यात्म अनुभवों की व्यवस्था बनाने के लिए श्रुति जीव का सहारा लेती है कि जीव कोई है जो कर्त्ता-भोक्ता है। इसी प्रकार अधिभूत अनुभव जगत् के सहारे समझाती है कि जगत् कुछ है जो दीख रहा है, व्यवहार का विषय बन रहा है। जैसे प्रत्यग्वस्तु समझाने के लिए जीव का सहारा शास्त्र लेता है वैसे अनन्त व्यापक तत्त्व समझाने के लिए ईश्वर का सहारा लेता है। ईश्वर में शब्द-मन

की गति है, उसके सहारे मन-वाणी से अतीत परमार्थ को लक्षित किया जा सकता है। यद्यपि यह सारा भेद है नहीं तथापि श्रुति ने इसे माना ताकि हमें वास्तविकता समझाई जा सके। बाह्य प्रपंच द्वैतापादक इसलिए नहीं कि एक परमेश्वर का विवर्त है और जीवभेद द्वैतापादक इसलिए नहीं कि परमेश्वर ही जीवरूप में प्रविष्ट है। यों जीवादि के सहारे श्रुति समझा अज्ञात शिवको ही रही है यह भाव है॥७२॥

वास्तविकता समझाने में तत्पर होने से श्रुति ने तत्त्व के बारे में एकरूप वर्णन रखा, समझाने के ढंग विभिन्न अपनाये ताकि जिसे जो अनुकूल पड़े उससे वह समझ ले—

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम्॥७३॥

साधकों को जिस-जिस प्रक्रिया (तरीके) से प्रत्यगात्मा के बारे में स्पष्ट समझ आ जाये वही अद्वैतशास्त्र में सही प्रक्रिया मान्य है—ऐसा भी सुरेश्वराचार्य का (बृ.वा.१.४.४०२) कथन है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इसलिए कहा है कि जिस तरीके से साधक समझ सके कि प्रत्यगात्मा का स्वरूप क्या है, वही तरीका ठीक है। अंदर बैठ कर सारी चीज़ों का प्रकाश करने वाले का वास्तविक रूप क्या है—यह बात जिस तरह समझ में आ जाये, उसी प्रक्रिया का आलम्बन श्रुति करती है। 'पुंसाम्' अर्थात् साधकों को ही व्युत्पत्ति अर्थात् समझ आ सकती है। साधकों में संस्कार विभिन्न प्रकार के हैं अतः विभिन्न ही प्रक्रियायें आवश्यक हैं, एक ही ढंग से समझाना जरूरी भी नहीं, समझना संभव भी नहीं। आचार्य ने ही (वहीं श्लो.४०१) स्पष्ट किया है 'प्रक्रियानियमो नापि पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः' कि वेदान्त में प्रधानता आत्मबोध की है, प्रक्रिया का कोई नियम नहीं कि अमुक ही मानें। जैसे त्रिकोण के तीनों कोणों का जोड़ १८०° होता है— इस निर्णय पर अलग-अलग ढंगों से पहुँच सकते हैं। सभी तरीके ठीक हैं, अच्छे-बुरे का कोई भेद नहीं। इसी प्रकार से कूटस्थ ब्रह्म निर्विकार, अविद्या और उसके कार्यों से असंस्पृष्ट है—जिस ढंग से यह उत्तर आ जाये, बस वही प्रक्रिया ठीक है। वेदान्त शास्त्रों में प्रक्रिया का ठीक होना फल पर निर्भर है, तार्किकता पर नहीं। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट कहा है।

जो वाणी-मन का विषय नहीं है उसे वाणी-मन से समझाना है। क्या, और किसे समझाना है—यह सामने रखना है। साधक की समझ में सही बात आ जावे, बस यही प्रक्रिया है। इसलिए अलग-अलग तरह से श्रुतियों में समझाया गया है। कहीं तीन शरीर, कहीं तीन अवस्थाएँ, कहीं पंचकोष लेकर बतला दिया। सभी दशाओं में उत्तर एक ही आता है। साधक को बोध होवे बस इसीलिए यहाँ प्रक्रिया है। इसलिए वेदान्त शास्त्र में गुरु का इतना महत्त्व होता है। वही तुम्हारे संस्कारों को देख कर बताता है कि कौन-सी प्रक्रिया

तुम्हारे लायक है। साधक स्वयं शास्त्र पढता है तो जो प्रक्रिया सामने आयी उससे उसके सन्देह नहीं हटे तो समझता है कि यह उत्तर ही ग़लत है। जब स्वतंत्र रूप से शास्त्रों का अर्थ लगायेगा तब यह कठिनाई होगी ही। गुरु वह है जिसको उत्तर का पता है। वह तो विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा तुम्हारे संदेह दूर कर सकता है। अन्यथा संभव नहीं। इसलिए प्रक्रिया-भेद उपयोगी भी है॥७३॥

प्रतिपादनरीति के वैविध्य से भ्रम भी हो जाता है यह सावधान करते हैं–

श्रुतितात्पर्यमखिलम् अबुध्वा भ्राम्यते जडः।
विवेकी त्वखिलं बुध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ॥७४॥

वेद का समग्र तात्पर्य बिना समझे अविचारवान् भ्रम में पड़ा रहता है, विवेकी तो सब समझकर आनन्द-समुद्र में रहता है।

श्रुति का तात्पर्य वह है जो वह कहना चाहती है। सामान्यतः संसार में देखा जाता है कि एक समस्या का हल एक प्रकार से निकलता है। इसलिए सभी सोचते हैं कि वेदान्त में भी एक प्रक्रिया होवे। अनेक प्रक्रियायें देखते हैं तो संदेह होता है कि ऐसा क्यों। इसके समाधान के लिए अधिकारिभेद को याद रखना पड़ता है। समझने वाले के योग्य उपदेश चाहिए अतः तरीके बदले जाते हैं। समझाने वाला भी अपनी सोच से जो बेहतर तरीका मानता है उसका सहारा लेता है। उत्तर निश्चित होने से सभी आश्वस्त रहते हैं कि तरीका सही है। श्रुति का अखिल अर्थात् जिसमें कुछ छूटे नहीं ऐसा तात्पर्य तो महावाक्य के अर्थ अखण्ड में है। किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए मध्यवर्ती भी अभिप्राय हैं जिन्हें 'खिल' तात्पर्य कह सकते है। खिल अर्थात् शेष; कर्म-उपासना ये शेष हैं, इनमें भी वेदतात्पर्य है। अखिल अर्थात् जो शेष नहीं शेषी है, उसमें तात्पर्य है ही। शास्त्रीय पूजा-पाठ आदि कर्मों के अंगों के भी फल कहे जाते हैं किंतु सम्पूर्ण कर्म किये बिना अंग निष्फल होते हैं। षोडशोपचार पूजा के अन्तर्गत चन्दन चढ़ाने का अमुक फल कहा तो ऐसा नहीं कि आगे विशेषार्घ्य पर्यन्त पूजा न करने पर भी चन्दन चढ़ाने का फल मिल जाये! सम्पूर्ण कर्म कर लेने पर भले ही अंग-कर्मों के फल भी मिलें, केवल अंगसम्पादन निष्फल रहता है। सभी हिस्सों के अनुष्ठान में प्रेरणा के लिए सभी के फल बताये हैं पर मिलेंगे समूची पूजा करने पर। इसी प्रकार मोक्ष के लिए ज्ञान बताया जो संपूर्ण साधना का फल है, वही नित्यानन्द की प्राप्ति है। उससे पूर्व कर्म-उपासना का भी विधान किया जो है सफल लेकिन सम्पूर्ण साधना होने पर। अतः 'कर्म ही करना चाहिए', 'भक्ति ही करनी चाहिए'–ये ही समग्र फल दे देंगे ऐसा समझना जडबुद्धि है। ये अनिवार्य हैं, उपयोगी हैं, सार्थक हैं किन्तु साधना पूर्ण होने पर ही वास्तव में फल मिलता है। ऐसी जडमति वाले भ्रम में पड़ते हैं कि अंग ही पर्याप्त है!

विवेकी अखिल को समझने से यथोचित सभी का सम्पादन कर परम फल पा लेता है। नित्यानन्दलाभ के लिए ही वेद का उपदेश है, ऐहिक-आमुष्मिक भोग तो गुडजिह्विकामात्र हैं, मुख्य साधना के लिए प्रलोभनमात्र हैं। मिलते अवश्य हैं पर उनमें वेद का तात्पर्य नहीं है। वास्तविक शिव ही प्रतिपाद्य है, मायिक जगत् बताना वेद का कार्य नहीं। माया व मायिक कल्पित होने से तत्त्वज्ञान से बाधित होते हैं, केवल अधिष्ठान रहता है। कारण में लय नाश प्रसिद्ध है किंतु मिथ्या का बाध होने पर कारण समेत निवृत्ति होती है अतः सिर्फ अधिष्ठान बचता है। अधिष्ठान सच्चिदानन्दस्वरूप है, सत्ता आदि भी उसमें धर्मविधया नहीं रहते। इस परमार्थ सत्य को साधक के हृदय में बैठाने के सभी तरीके प्रक्रियायें हैं। डाक्टरी में एक सिद्धान्त है कि 'जो लग जाये वह दवाई!' बहुधा परीक्षणादि से रोग एवम् उपचार का निर्णय न हो पाने पर भी यदि कोई दवा रोग मिटा दे तो समझ लेते हैं कि वही उपचार था, तदनुरूप रोग था। अतिसक्षम दवा निष्फल चली जाती है, साधारण चूर्ण से रोग ठीक हो जाता है! कदाचित् तो कुपथ्य भी औषध का काम कर देता है! किंतु हमेशा ऐसा नहीं होता। संसार भी एक दीर्घ रोग है। संसार तीनों कालों में है नहीं—यह निश्चय इस रोग की निवृत्ति है। यह जैसे हो जाये वही प्रक्रिया है। विभिन्न तरहों से यह निश्चय विभिन्न अधिकारियों को होता है। एक को जिस प्रकार निश्चय होता है, दूसरों को वैसे ही हो जाये यह नियम नहीं है, सम्भावना अवश्य है। अतः प्रक्रियाएँ अनेक रची गयी हैं, वे दिशानिर्देश करती हैं, अन्य भी प्रक्रियाएँ रची जा ही सकती हैं। नासमझ प्रक्रिया में दोष देखकर सिद्धान्त को सदोष मानने के भ्रम में पड़ जाता है। विवेकी समझ लेता है कि सिद्धान्त बुद्धि में आरूढ करना प्रक्रियाओं का उपयोग है अतः जिस तरीके से जितना भाग समझ आये उतना समझ लेना चाहिए, प्रतीयमान दोष की उपेक्षा कर देनी चाहिए और उस दोष से सिद्धान्त पर आये आक्षेप का प्रक्रियान्तर से परिहार कर लेना चाहिए। प्रमाणबल से वास्तविकता के बारे में निश्चित होने के कारण विवेकी आनन्दसागर में रह पाता है, प्रक्रियादोषों से विचलित नहीं होता॥७४॥

विवेकी के निश्चय का स्वरूप व्यक्त करते हैं—

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः॥७५॥

मायारूप मेघ जगत्-रूप जल की जैसी-तैसी वृष्टि करे, चिद्रूप आकाश को कोई नुकसान या फ़ायदा नहीं है—यह वास्तविकता है।

जैसे आकाश में बादल आते हैं, बरसात करते हैं, चले जाते हैं, परन्तु बरसात से

आकाश गीला नहीं होता, फिर धूप निकलने से आकाश सिकुड़ता भी नहीं है, दोनों स्थितियों में आकाश में कोई फ़र्क नहीं है; इसी प्रकार चित् आकाशरूप है। आकाश का शाब्दिक अर्थ होता है, अवकाश, जो सब चीज़ों के होने के लिए स्थान दे देता है। सब कुछ इसमें हो सकता है फिर भी इसके स्वरूप में अन्तर नहीं आता। आकाश सब घटनाओं को होने की जगह देने पर भी अविकारी है। वैसे ही चित् ज्ञानरूप आकाश है। संसार के सारे अनन्त ज्ञानों को यह होने देता है। पर इन ज्ञानों के होने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। इसे चाहे अवच्छेद की दृष्टि से समझो, चाहे प्रतिबिम्ब की दृष्टि से समझो। जैसे आकाश जगह देता है वैसे ही ज्ञान ही सब को होने देता है परन्तु स्वयं वैसा का वैसा निर्विकार है, उसमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिए पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं कि भगवान् शंकर के पास धेला कौड़ी नहीं है। श्मशान का भस्म, सूखी खोपड़ी, हाथी की छाल का कवच आदि ही हैं। पर सारे देवताओं को सब कुछ उन्होंने दिया है! इसी प्रकार शिव के कारण सारे ज्ञान हो रहे हैं, खुद शिव *के अन्दर* कोई ज्ञान नहीं, वह स्वयं ज्ञानरूप है। वह किसी का ज्ञान नहीं, ज्ञान ही उसका स्वरूप है। उसके कारण अन्तःकरणों में सारे ज्ञान हो रहे हैं। जिस जीव को जिस कर्म से जो सुख-दुःख होना है, वह सब उसी के कारण होता है। कर्मफलदाता वही है।

यह सब क्यों हो रहा है? मायारूप बादल है इसलिए। माया का नमूना तुम्हारा मन है। जैसे तुम्हारा मन सब चीज़ों की कल्पना करा देता है। मन की आँख से प्रतीत भी हो जाता है! परन्तु सचमुच में तो होता कुछ नहीं। मन से करोड़ रुपया बना सकते हो, पर उससे सौदा नहीं खरीद सकते। ऐसी ही माया है। माया से तो सब सम्भव होता है पर वास्तव में होता कुछ भी नहीं है। माया का जो रूप तुम्हारे सामने है वह मन है। जैसे मनरूप बादल स्वप्न के अंदर न जाने कितनी चीज़ों की वर्षा कर देते हैं, इसी प्रकार से मायारूप बादल जगद्रूप जल बरसाता है। सारा ब्रह्माण्ड माया मेघ से बरसा हुआ जल है। माया की विशेषता है कि बिना कुछ हुए लगता है सब हो गया। जैसे इस दृष्टान्त में वृष्टि से आकाश का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता है, इसी प्रकार चिदाकाश के अंदर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर वह तो वैसा का वैसा है। यह सब होने से चिदाकाश की कोई हानि नहीं हुई। लोग सोचते हैं 'अगर हमें संसार की कोई चीज़ दीख गई तो हमारा ज्ञान हिल गया।' किंतु जैसा जगत् का दीखना है वैसा जगत् का नहीं दीखना है! क्योंकि जो चीज़ है नहीं, वह जैसे दीखती है, वैसे ही नहीं दीखती है। मिथ्या की प्रतीति व अप्रतीति दोनों एक जैसे हैं। चाहे जितनी जगत्-प्रतीति होती रहे, चिदाकाश का कोई नुकसान नहीं है। जैसे स्वप्न में करोड़ रुपया मिल जाना है वैसे स्वप्न में करोड़ रुपया खो जाना है। स्वप्न से इसमें

यह फ़र्क है कि स्वप्न में तो सच्चा लगता है, उठने पर ही झूठा लगता है किंतु जब चिदाकाशरूप से जानता है तब जिस समय मिल रहा है उसी समय 'नहीं मिल रहा है' इस बात को जानता है। ठीक जैसे बाजीगर पाँच सौ की गड्डी दिखलाता है; तुम हाथ से छूते भी हो। ये सब करते हुए भी जानते हो कि यह कुछ नहीं है। यदि पाँच सौ की गड्डी उसके पास होती तो तमाशे से पैसे क्यों कमाता! जैसे वहाँ यह देखते हुए जानते हो कि 'यह नहीं है' वैसे ही प्रतीति होते हुए भी ज्ञानी का निश्चय है कि प्रपंच नहीं है। इसलिए जगत् की वर्षा हो या न हो, स्वरूप वैसा ही रहता है। ज्ञानी को जगत् के संदर्भ में न लाभ है, न हानि है। यह वास्तविक स्थिति है॥७५॥

इस प्रकरण के अभ्यास का फल बताते हैं–

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसन्धत्ते निरन्तरम्।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम्।।७६।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य भारतीतीर्थविद्यारण्यस्वामिविरचित-पञ्चदश्यां कूटस्थदीपप्रकरणं समाप्तम्।।

जो इस 'कूटस्थदीप' प्रकरण का लगातार विचार करता है वह स्वयं कूटस्थरूप से अनवरत भासमान रहता है।

जो कूटस्थदीप प्रकरण हमने बतलाया, उसका जो आगे-पीछे के विचारपूर्वक अनुसन्धान करता है वही फल पाता है। केवल पाठ करने का फल नहीं है। गहनता से, विस्तृत रूप से अर्थ-विचार होता है तब अनुसन्धान कहलाता है। यह भी निरन्तरम् अर्थात् बिना व्यवधान के करना चाहिए। जब व्यक्ति गंभीर अनुसन्धान में लगता है, उस समय भोजन करना भी उसके लिए असंम्भव होता है। जैसे तुम मार्च के अन्त में आयकर विभाग को देने के लिए तलपट बना रहे हो तो और कुछ रुचिकर नहीं होता, वैसे अनुसन्धाता को और कुछ सहन नहीं होता। जब इस कूटस्थदीप का ऐसा अनुसन्धान हो कि भोजन-पानी भी विस्मृत हो जाये, तब दीप्ति प्राप्त होती है। बुद्ध का ऐसा ही निश्चय था जब वे बोधिवृक्ष के नीचे बैठे थे कि शरीर रहे या जाये, मोक्ष पाये बगैर उठना नहीं है! ऐसी दृढता से साधना करें तब मोक्षप्रद बोध हो पाता है। ज्ञान का प्रकाश तभी आता है जब साधना पूर्ण हो। लोग पूछते हैं 'हमारी स्थिति क्यों नहीं हुई?' इसीलिए नहीं हो पाती, कि निरन्तर अनुसन्धान नहीं कर पाते जिससे निश्चय की पूर्णता नहीं हो पाती। जब ऐसा हो पाता है तब यह जो

कूटस्थ शिव है, वह ऐसा स्पष्ट भान होता है जैसे सूर्य का प्रकाश होता है। और यह दीप्ति स्थायी है, बिन रुकावट की है॥७६॥

इस प्रकार यह आठवाँ प्रकरण पूरा हुआ

नवम
ध्यानदीप प्रकरण

ध्यानदीप प्रकरण पंचदशी में विशिष्ट स्थान रखता है। प्रायः लोगों की शास्त्र में पूर्ण श्रद्धा कम होती है। श्रद्धा तो होती है परन्तु ऐसी श्रद्धा नहीं होती जैसी योग्य गुरु की उपलब्धि होने पर होती है। इसलिये ऐसे साधकों के लिए ध्यान के द्वारा उस तत्त्व तक पहुँचने का उपाय बताया जाये यह आवश्यक है। यह विद्यारण्य स्वामी की विलक्षणता है कि पंचदशी में सभी तरह के साधकों को मार्गदर्शन दिया है। पंचदशी के पहले छह प्रकरण विद्यारण्य स्वामी ने लिखे। उनके गुरु भारती तीर्थ जी थे, उन्हें वे बताते रहते थे कि मुझे क्या लिखना है। छह प्रकरण लिखते-लिखते उनका शरीर नहीं रहा अतः उन्होंने जो बतलाया था उसके आधारपर भरतीतीर्थ जी ने ग्रंथ पूरा किया। इसलिये यह प्रकरण भारती तीर्थ जी का लिखा हुआ है। वैसे, मूल ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे लेखकभेद सम्भावित हो। कारण यह है कि भारती तीर्थ जी की दृष्टि में श्लोकों की रचना उन्होंने की है, लेकिन विचार सब विद्यारण्य स्वामी के हैं। प्रायः गुरु-शिष्य बैठते हैं तो परस्पर विचार चलता रहता है, गुरु बताते रहते हैं कि किस विषय पर उनके क्या विचार हैं। तथापि पंचदशीकार के रूप में विद्यारण्य ही प्रसिद्ध हैं। बाण भट्ट की कादम्बरी भी उनके पुत्र ने पूरी की थी किन्तु ग्रन्थ के रचयिता बाण ही प्रसिद्ध हैं। यह ध्यानदीप प्रकरण विशेष करके उन साधकों के मार्ग-दर्शनार्थ है जिन्हें किसी प्रतिबन्धवश श्रवण आदि से वाक्यार्थ का अपरोक्ष नहीं हो पाता। उनके लिये सप्रमाण उपाय सूचित करते हैं—

संवादिभ्रमवद् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यते।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा।।१।।

संवादी भ्रम की तरह ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी क्योंकि मोक्ष मिलता है इसलिये नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत् में अनेक तरह से ब्रह्मोपासना सुनी गयी है।

भ्रम दो प्रकार के होते हैं, एक भ्रम तुम्हें सत्यता की तरफ ले जाता है तथा दूसरा नहीं ले जाता परन्तु हैं दोनों ही भ्रम। स्वप्न है तो भ्रम ही, लेकिन कई सपने देखने के बाद वैसी ही घटना सचमुच में दीख जाती है। तब आश्चर्य होता है तथा याद आता है कि स्वप्न में ऐसा देखा था। स्वप्न में जो देखा था, वह भ्रम था, जाग्रत् में प्रमा हो रही है। 'वहाँ मणि है' इस भ्रम से जाने पर यदि मणि मिल जाये तो भ्रम को 'संवादी' कहते हैं तथा न मिले

तो 'विसंवादी' कहते हैं। इस प्रकार दो भ्रम हुए—एक, जो सत्य की प्राप्ति करा देता है और दूसरा, जो सत्य प्राप्त नहीं कराता। अगर विचार करके देखो तो किसी भी चीज़ को बताने में इसी प्रकार भ्रम का सहारा लेना पड़ता है। इसलिये शास्त्रकारों ने (नै.सि.३.१०४) कहा है, 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते' असत्य के रास्ते से सत्य की प्राप्ति होती है। असत्य श्रवण, मनन आदि करते हैं; वे तो ब्रह्म नहीं हैं परन्तु उनमें प्रयुक्त शब्द के वाच्यार्थ से जो लक्ष्य करते हो वह सत्य होता है। जैसे वाच्यार्थ भ्रम होकर भी सत्य को बता देता है, ठीक इसी प्रकार जिस चीज़ का तुम ध्यान करोगे वह तुम्हें प्रकट हो जाती है। यदि तुम सच्ची चीज़ का ध्यान करो तो तुम्हें सत्य की प्राप्ति हो जायेगी। सत्य की प्राप्ति या सत्य का ज्ञान, एक ही बात है। सत्य की प्राप्ति सत्य का अनुभव है। ब्रह्म के स्वरूप को शास्त्रानुसार गुरु से समझने के बाद दीर्घ काल तक ध्यान करने से वैसा ब्रह्म हमें प्रकट हो जाता है। जब झूठी चीज़ ही हमारे सामने ध्यान से प्रकट हो जाती है तो सच्ची चीज़ प्रकट होगी ही। जिस साधक को विवेक वैराग्य शम दम मुमुक्षा—इन सब साधनों से सम्पन्न होकर श्रवण मनन निदिध्यासन करने पर भी तत्-त्वं-पदार्थों का अभेद-ज्ञान नहीं होता वह ध्यान का सहारा ले। यह बोध तो हो जाता है कि गुरु जी कहते हैं तो हूँ ब्रह्म ही, वेद कह रहा है कि मैं ब्रह्म हूँ। यह समझने पर भी लगता नहीं कि मैं ब्रह्म हूँ। अधिकतर साधक इसी प्रकार के होते हैं। शास्त्र और गुरु कहते हैं, युक्ति से ठीक है—यहाँ तक तो मानते हैं परन्तु कहने के साथ ही वैसा ही अनुभव हो जाये, ऐसा नहीं होता।

इसका एक कारण बुद्धि की मन्दता है। जो बुद्धि प्रज्ञासम्पन्न होती है वह तो असली चीज़ झट पकड़ लेती है और फिर छोड़ती नहीं। जैसे बिजली का सम्पर्क शिथिल होता है तो बीच-बीच में बिजली आती है और फिर चली जाती है, इसी प्रकार मन्द साधक की बुद्धि श्रवण आदि के बीच-बीच में तत्त्व को पकड़ती है लेकिन फिर छोड़ देती है। किसी के लिये प्रतिबन्धक यह भी होता है कि योग्य गुरु नहीं मिलता। गुरु केवल शास्त्रज्ञ होने से काम नहीं चलता बल्कि वह ऊहापोह में समर्थ होना चाहिये। भगवान् भाष्यकार ने इस बात को उपदेशसाहस्री में स्पष्ट किया है। शिष्य की शंका समझे कि इस शंका का क्या आधार है, उस शंका को दूर करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। जैसे अपने आपको मारने के लिये एक ब्लेड ही काफी है, ब्लेड लेकर नस काट कर खून बहने दो तो मरने का यह सरल उपाय है, परन्तु दूसरे को मारने के लिये तो तुम्हें अनेक शस्त्र-अस्त्र चलाने आने चाहिये, इसी प्रकार स्वयं समझ की सामर्थ्य तो सरलता से उपलब्ध होती है परन्तु शिष्य की शंका समझकर उसका उत्तर उसे हृदयंगम कराना कठिन होता है। जिस किसी भी युक्ति से समझाओ, सारी युक्तियों में कोई न कोई दोष कहीं न कहीं रहेगा ही। शिष्य जो शंका कर रहा है उसे मिटाना गुरुकार्य है। युक्ति की गलती सामान्य व्यक्ति को प्रतीत नहीं होती है। जितना विचार अधिक होगा उतना ही युक्ति में दोष मिलता जायेगा। शिष्य की शंकाओं का निवारण उसे स्पष्ट हो जाये तो उसका काम बन जाता है। ऐसा कर सकने वाला गुरु मिलना कठिन होता है। कई बार अपना बुद्धि-मान्द्य कारण पड़ता है और कई बार बुद्धि

की शक्ति होने पर भी, प्रज्ञा होने पर भी योग्य गुरु नहीं मिलता। इन सबको प्रतिबन्धक कहते हैं अर्थात् ये सब रुकावटें हैं।

ऐसे साधक के लिये ब्रह्म तत्त्व की उपासना विहित की जा सकती है। उसमें योग्य गुरु की ज़रूरत नहीं है। साधक को स्वयम् ज़ोर लगाकर ध्यान की दृढता प्राप्त करनी है। तुम्हारे सन्देहों को तुम नहीं मिटा सकते। लेकिन ध्यान में तो जो बता दिया केवल वही करना है। इसलिये ध्यान करना तुम्हारे हाथ में है। खूब ध्यान करके उस की स्थिति, सिद्धिप्राप्ति कर सकते हो। श्रुति ने निषेध कर दिया 'यन्मनसा न मनुते' जो कभी भी मन के द्वारा मनन नहीं किया जा सकता; 'अवाङ्मनसगोचरम्' मन और (वाणी) का अविषय है। जब तुम मन से ब्रह्म का ध्यान करते हो तब वह भ्रम इसलिये है कि ब्रह्म ध्येय है नहीं। यह दोष जैसे ध्यान के पक्ष में है वैसे ही ज्ञान के पक्ष में भी है क्योंकि वह शब्द का विषय है नहीं फिर भी शब्द के द्वारा ही समझाना है। ब्रह्म शब्द से बताया नहीं जा सकता फिर भी गुरु उसे बताते हैं। इस प्रकार, ब्रह्म मन का या ध्यान का विषय हो नहीं सकता फिर भी उसे विषय बनाते हैं इसलिये इसे संवादी भ्रम कहा जाता है। उपासना अर्थात् ध्यान ज्ञानरूप न होने पर भी उससे मुक्ति हो जाती है जैसे ज्ञान से होती है। ध्यान से मोक्ष—यह नई, काल्पनिक बात नहीं कह रहे, नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत्‌के प्रमाण से कह रहे हैं। शास्त्र में अनेक प्रकार की उपासनओं को बताया है जिनसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये यह विचार ग्रन्थकार का स्वकपोल-कल्पित नहीं है।।।१।।

जैसे शब्द खुद ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं हो सकता फिर भी उससे सही ज्ञान होता है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म का ध्यान करने से भी उसका साक्षात्कार हो जाता है। ध्यान के द्वारा मन से वह प्राप्त होने योग्य न होने पर भी ध्यान से प्राप्त हो जाता है। दृष्टांत से संवादी भ्रम का स्वरूप बताते हैं—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।।२।।

मणि-प्रभा और प्रदीप की रोशनी को मणि समझकर उसकी ओर जाने वालों को ज्ञान एक-जैसा मिथ्या होने पर भी प्रयोजन सम्पन्न होने में अन्तर है।

कहीं एक खुली खिड़की में हीरा रखा हुआ है। जब दूर से देखते हैं तो हीरा नहीं दीखता परन्तु हीरे की चमक दीखने से उस चमक को हीरा मान लिया और उधर गये कि हीरा मिल जायेगा। इसी प्रकार, कहीं कोई दीपक रखा है, उसकी भी चमक दीखती है, उस चमक को हीरा समझ लिया और उधर गये। मणि की चमक को मणि समझने पर भी वहाँ जाने पर मणि मिल जाती है जब कि वह चमक हीरा नहीं थी क्योंकि जहाँ चमक दीखी थी वहीं पास में हीरा था। दीपक स्थल में प्रभा, जिसे हीरा समझा था उसके आस-पास मणि नहीं थी इसलिये मणि समझकर जाने पर भी वहाँ मणि नहीं मिलती। मणि की या दिये की चमक को मणि समझना दोनों मिथ्या ज्ञान हैं परन्तु एक अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजन का

संपादक है। एक भ्रान्त मणि के लिये दौड़ा और उसे मणि मिल गई जबकि दूसरा मणि समझकर दौड़ा मणि लेने के लिये फिर भी उसे मणि नहीं मिली, क्योंकि वहाँ दीपक ही है। मणि की हो या दीपक की, चमक को हीरा समझना मिथ्या ज्ञान ही है इसलिये दोनों का मिथ्या ज्ञान एक जैसा है क्योंकि दोनों चमक को हीरा समझ रहे हैं लेकिन वहाँ जाने पर हीरा मिल जाता है, दूसरे को हीरा नहीं मिलता यों अर्थक्रिया में विशेष है। एक जाने की क्रिया का प्रयोजन पाने में सफल हो जाता है, दूसरा असफल हो जाता है। यह दोनों में भेद है। जहाँ भ्रमसिद्ध चीज़ मिल जाये वहाँ संवादी भ्रम है और जहाँ न मिले वहाँ विसंवादी भ्रम है। भ्रम एक-जैसे हैं यह तो निश्चित समझ लेना चाहिये।

आजकल हम लोगों के व्यवहारों में भी ऐसा हैः हम किसी से दस हजार रुपये लेते हैं, वह हमें नोट पकड़ाता है। हम उन नोटों पर देखते हैं, सब के उपर एक जैसा लिखा हुआ है। अगले दिन हम उन नोटों को बैंक में जमा कराने जायें, खजांची उन नोटों में एक नकली नोट निकाल देता है। नोट रुपया नहीं है क्योंकि रुपया तो चाँदी का होता है। रूप्य नाम चाँदी का है। नोट में लिखा रहता है कि 'इसके बदले में पाँच सौ रुपये देंगे ऐसी प्रतिज्ञा है'। जिस चीज़ को देने की प्रतिज्ञा करते हैं वह रुपया है। नकली नोट भी रुपया नहीं, असली नोट भी रुपया नहीं है। परन्तु असली नोट लेकर रिजर्व बैंक में जाओ तो वह पाँच सौ रुपये दे देगा, नकली नोट ले जाओ तो नहीं देगा। मिथ्या होना दोनों तरह के नोटों का एक-जैसा है क्योंकि कागज़ रुपया (चाँदी) नहीं है परन्तु मिथ्या ज्ञान एक-जैसा होने पर भी एक नोट देते हैं तो उसके बदले रुपये मिल जाते हैं, दूसरा नकली देते हैं तो बदले में रुपये नहीं मिलते। इसी प्रकार ॐकार आदि के द्वारा जो उस आत्मा का विचार करता है उसे तत्त्वज्ञान हो जाता है , और किसी चीज़ का ध्यान करता है तो उसकी प्राप्ति नहीं होती है।।२।।

संवादी भ्रम का उक्त दृष्टान्त स्वयं समझाते हैं—

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद् दृष्टा मणेःप्रभा।।३।।

दीपक आले में रखा रहता है, उसकी रोशनी बाहर दरवाज़े पर दीखती है और किसी दूसरी जगह मणि की चमक भी ऐसे ही देखी जाती है।

आले के अन्दर दिया रखा है, उसकी रोशनी बाहर निकलती है, और वह प्रभा उस खिड़की के दरवाज़े में दीखती है। पुराने ज़माने में आले पर दरवाज़ा लगा देते थे, आजकल के ज़माने में काँच लगा हो तो उस काँच में रखे दीपक की प्रभा दीखेगी। इतना फ़र्क है कि यदि खिड़की में शक्करपारे जैसा आकार बना हो तो उसमें से रोशनी, प्रभा उसी आकार के जैसी दीखेगी और अगर वह गोलाकार या अठपहलू आकार का हो तो प्रभा वैसी दीखेगी। कदाचित् दिये की चमक को देखने से 'यह हीरा है' ऐसा भ्रम होता है। इसी प्रकार कहीं मणि रखी हो तो उस मणि की प्रभा भी उसी आकार की दीखेगी। जैसे आकार का

आला है जहाँ दिया रखा है, या जिस शक्ल का काँच कटा है उसी शक्ल की उसकी प्रभा दीखेगी तो वहाँ चमकता हुआ हीरा जैसा दीख सकता है। एक आले में हीरा रखा है, उसकी चमक और दूसरे आले में दिया रखा है, उसकी भी चमक, दोनों के बारे में 'यह मणि है' ऐसा भ्रम संभव है।।३।।

भ्रम भी प्रवृत्ति आदि में निमित्त बन सकता है यह दिखाते हैं–

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि।।४।।

दूर में दो प्रभायें देखकर उन्हें मणि समझकर उनकी ओर दौड़ने वाले दोनों की प्रभा में मणिबुद्धि गलत ज्ञान ही है।

तुम और तुम्हारा साथी, दोनों उस प्रभा वाले स्थल से सौ मीटर दूर हो। दोनों ने चमकने वाली चीज़ देखी और उसे हीरा समझकर लेने के लिये दोनों दौड़े। चमक के अन्दर जो मणि-बुद्धि हुई वह मिथ्या ज्ञान ही है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। इसी प्रकार, 'मैं' के अन्दर भी चेतनता की प्रतीति है 'मैं चेतन हूँ'। इसमें मैं तो अहंकार की वृत्ति है; उस अहंकार की वृत्ति में हमें चेतनता का भ्रम हो रहा है कि यह अहंकार की वृति ही चेतन है, मैं ही चेतन हूँ। ऐसी भी किसी को प्रतीति होती है कि यह सामने कोई विग्रह-विशेष है, मूर्ति-विशेष है जो चेतन है, परब्रह्म परमात्मा है। यहाँ चेतन-दृष्टि उस विग्रह के अन्दर हो रही है लेकिन दृश्य कभी चेतन होता नहीं, चेतन तो द्रष्टा ही होता है। इसलिये दृश्य में चेतनबुद्धिरूप भ्रम वाला जितना भी आगे बढ़े उसे कभी भी परमात्मा का दर्शन हो नहीं सकता क्योंकि वहाँ चेतन है नहीं। 'मैं' भी चेतन नहीं किंतु उस में चेतन का प्रतिबिम्ब है इसलिये अहंकारात्मिका वृत्ति को जब परब्रह्म परमात्मा समझकर उसे ढूँढने जाते हो तो वहाँ मिल जायेगा। द्रष्टा-रूप को छोड़कर किसी दृश्य में ढूँढोगे तो वहाँ परब्रह्म परमात्मा कभी नहीं मिलेगा। भ्रम तो दोनों जगह है। जैसे पदार्थ-शोधन करके समझ आता है कि 'मैं' में ज्ञानरूप चमक वृत्ति की नहीं, ब्रह्म की है वैसे बात को नहीं समझने पर भी 'मैं' की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने पर परब्रह्म परमात्मा का दर्शन हो जाता है, अन्यथा नहीं होता, जबकि मिथ्या ज्ञान दोनों जगह है। 'मैं' को या दृश्य को ब्रह्म समझना मिथ्या ज्ञान है। लेकिन 'मैं' में उपासना करने वाले को चूँकि वहाँ ब्रह्म है इसलिये परमात्मा मिल जाता है, दूसरे को नहीं मिलता।।४।।

भ्रम भी फलकाल में प्रमातुल्य हो सकता है यह दृष्टान्त का निगमन करते हैं–

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता।
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः।।५।।

दीप-प्रभा की ओर दौड़ने वाले को मणि नहीं मिलती, मणि की प्रभा में मणिबुद्धि से दौड़ने वाले को मणि अवश्य मिलती है।

दीपक की चमक की तरफ जो दौड़ता है वह यद्यपि उसे मणि समझकर गया तथापि उसको मणि मिलती नहीं। मणि की प्रभा को देख कर जो उस तरफ दौड़ा, उसे मणि अवश्य मिल ही जाती है। इसलिये जो कुछ लोग कहते हैं कि प्रतिमा की उपासना करते-करते प्रतिमा में परमात्मा का दर्शन हो सकता है, वह सम्भव नहीं यह इन्होंने यहाँ स्पष्ट किया।।५।।

संवादी-विसंवादी भ्रम का भेद दृष्टान्त पर आरूढ करते हैं–

दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते।।६।।

दीप की रोशनी में मणि की भ्रान्ति विसंवादी भ्रम कहा जाता है। मणि की चमक में मणि की भ्रान्ति संवादी भ्रम कहा जाता है।

पूर्वोक्त बात को ही और स्पष्ट किया कि दीप-प्रभा को मणि समझना विसंवादी भ्रम है और मणि-प्रभा को मणि समझना संवादी भ्रम है। संवादी भ्रम में ब्रह्म की उपासना करने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है जैसे भ्रान्त भी मणि को प्राप्त कर लेता है।।६।।

संवादी भ्रम के अनेक दृष्टांत देते हैं। हर जगह अर्थ यही है कि चीज़ को तुम गलत समझते हो तब भी मिल जाती है तभी संवादी भ्रम होता है–

बाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्राङ्गारानुमानतः।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः।।७।।

भाप को धुआँ समझकर वहाँ अनुमान से अंगारा जानकर प्रवृत्त व्यक्ति को दैवात् अग्नि (अंगारा) मिल जाये तो वह संवादी भ्रम माना जायेगा।

लकड़ी जलने पर जो निकलता है वह तो धुआँ है और पानी को उबालो तो उसमें से जो निकलती है वह भाप है। दोनों में फर्क है। दूर से देखने पर भाप और धुएँ में फर्क पता नहीं चलता। इसलिये तुम दूर से कभी भाप को देखो तो वह भी धुएँ जैसी लगती है। कहीं खूब ज़ोर से पानी उबल रहा है, तुमको तो भाप दीखी लेकिन तुमने समझा कि धुआँ है और तुमने अनुमान किया कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। भाप को धुआँ समझकर तुमने अंगारे या आग का अनुमान कर लिया। यह अनुमान में संवादी भ्रम है। पहले तो प्रत्यक्ष के अन्दर दोनों भ्रम बताये थे। किंतु अनुमानादि में भी दोनों होते हैं। यहाँ तुमने अनुमान किया कि धुआँ है तो वहाँ आग है। वहाँ जाने पर पाते हो कि पानी उबल रहा है पर पतीले के नीचे गेस जल रही है या बिजली का चूल्हा जल रहा है। आग तो है तभी पानी उबल रहा है। भाप को धुआँ समझकर गये तो भी आग मिल गई! 'जहाँ भाप वहाँ

आग' यह अनुमान प्रमाण तो नहीं है, इसलिये 'यदृच्छया' कहा अर्थात् कभी आग मिलेगी कभी नहीं मिलेगी। दूर से बादल भी भाप जैसे लगते हैं, पास जाओगे तो आग नहीं मिलेगी। अनुमान से आग समझी और मिली, परन्तु अनुमान के लिये धूम का जो ज्ञान हुआ वह तो भ्रम था क्योंकि धुआँ था ही नहीं। परन्तु जहाँ भ्रमसिद्ध धुआँ होता है वहाँ आग नियम से नहीं होती, यदृच्छया अर्थात् by chance होती है अर्थात् कभी आग मिलेगी, कभी नहीं मिलेगी। अगर आग मिल गई तो उसे संवादी भ्रम कहेंगे और यदि दूसरी यदृच्छा (chance) हुई कि बादल को धुआँ समझकर गये और वहाँ आग नहीं मिली तो वह विसंवादी भ्रम है। भ्रम से वस्तु कभी मिल जाती है, कभी नहीं मिलती, इसमें कोई कारण नहीं कह सकते।।७।।

प्रत्यक्ष और अनुमान से दोनों भ्रम बता दिये, अब कहते हैं कि शास्त्र के विषय में भी दोनों भ्रम हो सकते हैं–

गोदावर्युदकं गंगोदकं मत्वा विशुद्धये।
सम्प्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः।।८।।

गोदावरी के जल को गंगाजल समझकर विशुद्धि के लिये प्रोक्षण (छिड़काव) कर शुद्धि मिल जाती है–यह संवादी भ्रम माना जायेगा।

अशुद्ध-स्पर्श से व्यक्ति अशुद्ध हो जाये तो गंगाजल छिड़कने से आदमी शुद्ध हो जाता है। घर में जिस बोतल में पानी रखा था तुमने उसे गंगाजल समझकर अपने उपर छिड़क दिया। वह गंगाजल नहीं था पर तुमने उसे गंगाजल समझा तो भ्रम ही है। परन्तु यदि उस बोतल में गोदावरी का पानी रखा था तो गंगाजल न होने पर भी गोदावरी भी चूँकि देवनदी है, पवित्र नदी है, इसलिये तब भी पवित्र तो हो ही गये। अगर उस बोतल में नलके का पानी रखा होता तो उसे छिड़कने से पवित्र नहीं होते। गोदावरी के जल से पवित्रता होती है इसमें शास्त्र ही प्रमाण है क्योंकि पानी तो सब एक-जैसा है, चाहे नलके का हो, चाहे गंगा या गोदावरी का। शास्त्र से ही ज्ञात है कि गंगाजल से शुद्धि होती है। जिसे गंगाजल समझा वह गंगाजल नहीं था, अतः वह तो भ्रम हुआ परन्तु शुद्धि के लिये जिस जल को अपने ऊपर छिड़का वह गोदावरी का जल था अतः पवित्र तो हो गये क्योंकि गोदावरी भी पवित्र नदी है। यह आगम अर्थात् शास्त्र के विषय में संवादी भ्रम बता दिया। अगर वह नलके का पानी होता तो विसंवादी भ्रम हो जाता।।।८।।

और भी दृष्टांत देते हैं–

ज्वरेणाप्तःसन्निपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन्।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः।।९।।

ज्वर से सन्निपात में पड़ा व्यक्ति भ्रम से नारायण को याद करते हुए मरे (तो भी) स्वर्ग पाता है। यह संवादी भ्रम माना जाता है।

ज्वर के कारण जब मरने का समय आता है तब बुखार के अन्दर कफ वात और पित्त तीनों इकट्ठे कुपित हो जाते हैं, उसका नाम सन्निपात ज्वर है। सन्निपात में भ्रम होता ही है। उस भ्रान्ति में किसी ने नारायण का स्मरण किया। नारायण के स्मरण से स्वर्ग की प्राप्ति होगी यह समझकर भगवान् नारायण का स्मरण नहीं किया बल्कि नारायण नाम वाले किसी आदमी को समझकर नारायण-स्मरण किया। परमात्मा समझते हुए नारायण-स्मरण नहीं किया, परिच्छिन्न नारायण का स्मरण किया परन्तु हुआ तो नारायण नाम से ही उसका स्मरण! अंतकाल में वैसा करने से उसकी सद्गति हो ही जाती है, वह स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत एक भक्त का है। उसने अन्तिम समय में अपने पुत्र नारायण का स्मरण किया और उससे उसकी सद्गति हो गई। मरते समय नारायण नाम के स्मरण का विधान है। वह भगवान् का नाम है—यह मानकर स्मरण का विधान किया परन्तु है तो नारायण का नाम अतः निश्चित प्रभाव वाला है। नारायण नामक पुत्र का स्मरण कर के नारायण कहना है तो भ्रम परन्तु चूँकि नारायण का नाम है, इसलिये शास्त्रवचन के अनुसार सद्गति हो जाती है अतः संवादी है। यह भी शास्त्रीय विषय का ही उदाहरण है क्योंकि नारायण नाम से सद्गति होती है इसमें शास्त्र के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है। नाम और रूप दोनों परमात्मा की उपाधियाँ हैं, रूप का ध्यान नहीं भी आया परन्तु नाम का स्मरण हो गया इससे भी सद्गति होती है।।९।।

उदाहरण-उपन्यास समाप्त करते हैं—

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे।
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः।।१०।।

प्रदर्शित ढंग से प्रत्यक्ष के, अनुमान के एवं शास्त्र के विषयों के बारे में करोड़ों की तादाद में संवादी भ्रम होते हैं।

प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र, इन सबके द्वारा जो अनुभव में भ्रम आते हैं, सभी में कोई संवादी भी हुआ करते हैं। जहाँ भ्रम फलदायी होता है वहाँ संवादी और जहाँ भ्रम सफल नहीं वहाँ विसंवादी भ्रम कहेंगे। इसका निर्णय अर्थक्रियाकारिता से होता है कि जो उद्देश्य था वह काम हुआ या नहीं। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं। दुर्गापूजा के समय मिट्टी को थापकर 'यह दुर्गा है' ऐसा मानकर पूजा करते हैं। जगन्नाथधाम में लकड़ी की ही मूर्ति है। प्रायः पत्थर की मूर्ति बनाकर प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। यद्यपि देवता अपने-अपने लोक में कहीं बैठे हैं अथवा स्वर्ग में बैठे हैं, यहाँ देवता तो नहीं हैं, परन्तु उन्हें तत्तद् देवता मानकर मूर्तियों की पूजा करते हैं तो देवता प्रसन्न हो जाते हैं, हमें फल मिल जाता है। मूर्ति न बनाकर, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा न करके केवल मिट्टी का लोंदा लेकर पूजा करेंगे तो कुछ फल नहीं होगा। जो कुछ ऐसी उक्तियाँ हैं कि 'पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहाड़' इत्यादि, वे यह नहीं समझकर हैं कि मिट्टी या पत्थर की मूर्ति की पूजा करने का शास्त्र में विधान है इसलिये

उसकी पूजा का फल हो जायेगा। वह देवता नहीं है, परन्तु उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके उसे देवता मानकर पूजा करते हैं तो फल हो जाता है। जैसे जब किसी के पूछते हैं– तुम कहाँ गये थे? वह कहता है 'वृन्दावन गया था'। वहाँ क्या देखा? 'बाँके बिहारी का दर्शन कर के आया।' बाँके बिहारी तो गोलोक में हैं और कभी द्वापर के अन्त में आये थे। तुम्हें वहाँ पत्थर की मूर्ति ही दीखी परन्तु कहते यही हो कि वही तो बाँके बिहारी हैं। वे अपने दिव्य लोक गोलोकधाम में बैठे हैं परन्तु यहाँ वृन्दावन में उनकी पूजा, दर्शन इत्यादि करने से गोलोक में बैठे हुए बाँके बिहारी प्रसन्न हो जाते हैं। यदि संवादी भ्रम न होता तो यों देवताओं की पूजा कैसे होती? आधुनिक लोग कहते हैं कि यह तो मिट्टी या पत्थर की पूजा है पर हम पत्थर की पूजा थोड़े ही करते हैं! यह कभी कोई नहीं कहता कि हम पत्थर की पूजा कर रहे हैं। सब यही कहते हैं कि देवी जी या शिव जी की पूजा कर रहे हैं। इस बात को न समझने से ही गुजरात में एक महात्मा हुए हैं जिन्हें भ्रम हो गया। उन्होंने एक बार कहीं शिवलिंग पर चूहा चढ़ता देख लिया तो कहने लगे 'जो शिव अपनी रक्षा नहीं कर सकते वे तुम्हारी क्या रक्षा करेंगे?' उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि मूर्ति-पूजा बेकार है। कारण कि उन्होंने समझा कि यही शिवजी है जबकि लिंग तो पूजा ध्यान आदि करने के लिये शिवजी का प्रतीक है। है यह संवादी भ्रम अतः फलदायक हो जाता है। उस मूर्ति को छोड़कर किसी भी पत्थर या पहाड़ को पूजोगे तो फल नहीं होगा, वह विसंवादी भ्रम हो जायेगा। मूर्ति में स्वतः देवत्व का अभाव है लेकिन उसे देवता मानकर पूजन करने से तुम्हें फल मिल जाता है, सद्गति हो जाती है। ठीक जैसे अजामिल ने तो पुत्र का नाम समझकर नारायण नाम लिया परन्तु चूँकि नारायण भगवान् का नाम है इसलिये उसका कल्याण हो गया, सद्गति हो गई। इसी प्रकार से मूर्ति का पूजन करने से भगवान् का पूजन हो गया, सद्गति की प्राप्ति हो गई। यह नहीं समझ लेना कि पुराण आदि में ही प्रतीकोपासना विहित है, वेदो में भी पंचाग्निविद्या आदि असंख्य प्रतीकोपासनायें विहित हैं।।।१०।।

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम्।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः।।११।।

संवादी भ्रम न हो तो मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि देवता कैसे हों? पत्नी आदि अग्नि आदि दृष्टि से उपासनीय कैसे हों?

छान्दोग्य (५.८.१) में पाँच अग्नियाँ कही हैं। उन पाँचों अग्नियों में स्त्री को भी एक अग्नि बताया है। स्त्री तो अग्नि नहीं हुआ करती, चाहे जितना स्त्री पर हाथ तापने की कोशिश करो, कुछ गर्मी नहीं आयेगी! परन्तु स्त्री को अग्नि मान कर एवं बाकी भी सारी उपासना करके पंचाग्नि-उपासना हो जाती है जिससे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। जैसे पत्थर की मूर्ति को बाँके बिहारी मानने से सद्गति की प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार स्त्री

को अग्नि मानकर उपासना करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। यह भी भ्रम है क्योंकि स्त्री आग तो है नहीं, परन्तु आग मानकर उपासना करने से फल हो जाता है। यदि संवादी भ्रम न हो तो स्त्री इत्यादि में अग्नि इत्यादि की बुद्धि से उपासना कैसे होती? अग्नित्व के आगे आदि-पद से मन को भी ब्रह्म मानकर उपासना करने की विधि (तै.३.१८), आदित्य को ब्रह्म मानकर उपासना की विधि (छां. ३.१६) आदि का संग्रह है। इस प्रकार की अनेक उपासनायें उपनिषदों में आयी हैं। जैसे स्त्री में अग्निबुद्धि वैसे ही मन में ब्रह्मबुद्धि करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। यद्यपि मन ब्रह्म नहीं है तब भी उसमें ब्रह्मदृष्टि करने से फल हो जाता है। इसलिए शास्त्रीय विधियों की अन्यथा अनुपपत्ति से संवादी भ्रम स्वीकार्य है।।११।।

संक्षेप में संवादी भ्रम की परिभाषा बताते हैं—

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम्।
काकतालीयतःसोऽयं संवादिभ्रम उच्यते।।१२।।

जो वस्तु जैसी नहीं उसे वैसा समझनारूप जिस भ्रम से दैवात् इष्ट वस्तु मिल जाये उसे संवादी भ्रम कहते हैं।

जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा समझना भ्रम है। जैसे चीज़ तो पत्थर है, देवता नहीं है परन्तु उसको देवता समझने से तुम्हें इष्ट फल, सद्गति की प्राप्ति हो जाती है। क्यों हो जाती है—इसमें नियम नहीं कर सकते कि किस भ्रम से इष्ट-प्राप्ति हो जायेगी। यह तो काकतालीय न्याय से होता है। जैसे किसी ताड़ के पेड़ की डाल पर कौआ बैठा और फल नीचे गिर गया। कौए के बैठने से फल नहीं गिरा परन्तु कौए का बैठना हुआ और फल गिरा। ऐसे जो अकस्मात् हो जाये उसे 'काकतालीय' कहते हैं। इसी प्रकार तुमने पत्थर की पूजा की तो तुम्हें फल तब मिला जब पत्थर की मूर्ति बनाकर उसमें प्राणप्रतिष्ठा की हुई थी, अन्यथा फल नहीं मिलता। यों फल के मिलने से भ्रम को संवादी भ्रम कहते हैं।।।१२।।

उक्त रीति से ब्रह्मोपासना वह फल देती है जो ब्रह्मज्ञान का ही सम्भव है, यह निर्णय देते हैं—

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनाऽपि तथा मुक्तिफलप्रदा।।१३।।

संवादी कहलाता अनुभव खुद भ्रम होने पर भी जैसे सही फल देता है वैसे ब्रह्मरूप तत्त्व की उपासना भी मोक्षरूप फल देती है।

जिस प्रकार संवादी भी स्वयं भ्रम है किन्तु फल तो ठीक ही दे देता है इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञेय और ध्येय कभी हो ही नहीं सकता परन्तु उसके ज्ञान या उसकी उपासना करने से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।।१३।।

ब्रह्म का ध्यान कैसे करते हैं यह बताते हैं–

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वम् अखण्डैकरसात्मकम्।
परोक्षमवगम्यैतद् अहमस्मीत्युपासते।।१४।।

वेदान्तों से अखण्ड एकरसस्वरूप ब्रह्म नामक तत्त्व परोक्ष रूप से समझकर 'यह मैं हूँ' यों उसकी उपासना की जाती है।

वेदान्त अर्थात् उपनिषद्। वैदिक सभी उपनिषदों के समन्वय के द्वारा ब्रह्म तत्त्व कैसा बताया है, इतना निश्चय करना पहले जरूरी है। यह निश्चय होना चाहिये कि उपनिषदों में किस ब्रह्मतत्त्व को बताया है। ठीक जिस प्रकार से यह पता होना चाहिये कि लिंग में शिवपूजा, शालिग्राम में विष्णु की पूजा होती है इत्यादि, इसी प्रकार उपनिषदों ने ब्रह्मतत्त्व जैसा बताया है वैसा पता लग जाना चाहिये। किस ब्रह्मतत्त्व का पता लगता है? वह अखण्ड है; देश-काल-वस्तुपरिच्छेद से शून्य है। यह पता तो लगता है परन्तु अपरोक्ष नहीं है कि देश काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न मैं हूँ। इतना पता चलता है कि कुछ है जो देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न है और वह 'कुछ' ब्रह्म है। उसके अन्दर किसी प्रकार का सजातीय विजातीय और स्वगत भेद नहीं है। इसके नज़दीक से नज़दीक हम आकाश को सोच सकते हैं, या काल को सोच सकते हैं। परन्तु सृष्टि के पहले और प्रलय के बाद तो ये भी नहीं हैं। अतः वास्तव में सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदों से रहित हम किसी चीज़ को नहीं जानते हैं। फिर भी शास्त्र से पता चलता है कि कोई ब्रह्म तत्त्व है जो सजातीय विजातीय और स्वगत भेद से रहित है। परोक्षज्ञान के अन्दर यह जानना जरूरी नहीं होता कि वह मैं हूँ। केवल परोक्षरूप से इतना पता लगता है कि वह एकरस और अखण्ड है। उसे परोक्षरूप से जान करके 'वह मैं हूँ' इस प्रकार से उपासना कर सकते हैं। ब्रह्म और आत्मा की एकता शास्त्र बताता है, केवल इतना ही हम जानते हैं, अपरोक्ष तो हमें यह होता नहीं है। अपरोक्ष होने के लिये तत्-पदार्थ और त्वम्-पदार्थ के शोधन की सामर्थ्य होनी चाहिये तभी तत्त्वमसि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होगा। परन्तु परोक्ष ज्ञान में तो कोई रुकावट नहीं, उसे पाकर उपासना कर सकते हैं।

ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान मोक्ष का साधन है और जब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है तब तक मोक्ष नहीं होता। ब्रह्मतत्त्वज्ञान से मोक्ष हो जाता है और मोक्ष हो गया तो ध्यान का कोई प्रयोजन नहीं है। यदि तुमने उसको नहीं जाना तो ध्यान करो कैसे? और जाना है तो उसी से मोक्ष हो ही जायेगा, ध्यान करो क्यों? इस के समाधान के लिये समझना पड़ेगा कि ज्ञान दो प्रकार का है। तुमने अखबार में बाँचा कि बम्बई में ताज होटल में अतिसुन्दर कमरे हैं। कैसे सुन्दर कमरे हैं–यह तो तुम्हें पता नहीं लगता है, वहाँ सुन्दर कमरे हैं, यह परोक्ष ज्ञान तो हो ही जाता है। इसी प्रकार तुमने आज तक जाना है कि कोई चीज़ एक देश (स्थान) में होती है तो दूसरे देश में नहीं होती है। ब्रह्म के बारे में शास्त्र कहता है कि कोई देश ऐसा नहीं जहाँ ब्रह्म नहीं! यह जान तो सब सकते हैं जैसे ताजमहल होटल के कमरे

सुन्दर हैं यह सभी जान सकते हैं। एक बार किसी का मकान देखने गये। उसने एक कमरा दिखाते हुए कहा कि यह हमारा शयन का कमरा (bed room) है। हमने देखा तो वहाँ एक गड्ढा था, और तो हमें कुछ नहीं दीखा। हमने उससे पूछा तो उसने बताया कि यह नये ढंग का बिछौना है। उसी समय उसने वहाँ पानी भरकर रबड़ का एक गद्दा बिछाया और लेट गया। हमने सोचा कि वह उसमें डूब जायेगा, लेकिन नहीं डूबा। वह बिछौना पानी के उपर ही रहता है। हमने सोचा, करवट बदलने पर उस पर पानी आ जाता होगा। उसने कहा कि ऐसा भी कुछ नहीं होता, बस यही इसकी विशेषता है। हमें कुछ अंदाज़ तो मिला कि है बिछौना लेकिन बिस्तर जाना जैसा हमने पहले था उससे तो इसका कोई सम्बध नहीं था। इतना ही ज्ञान हुआ कि यह लेटने के काम का है। यह भी परोक्षरूप से ज्ञान हुआ, जब उस पर सोकर रातभर निकाल दी तब पता लगा कि सचमुच उस पर लेटने का अनुभव कैसा है। स्वयं लेटते नहीं तो कई कल्पनाएँ होती रहतीं। जैसे बिस्तर के परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ज्ञान हुए इसी प्रकार आत्मा के बारे में है। बिना जाने उपासना नहीं हो सकती, जानकर उपासना की ज़रूरत नहीं है, ये बातें यह मानकर हैं कि ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, लेकिन परोक्ष ज्ञान भी होता है। जैसे जब उस गड्ढे को बताया कि यह खटिया है, तब खटिया दीखी नहीं लेकिन परोक्ष ज्ञान तो हुआ ही। उसी प्रकार से एकरस अखण्ड का हम लोगों को कोई ज्ञान नहीं है, हम लोगों को तो सब चीज़ें खंडित होने का और अनेकरसात्मक होने का ज्ञान है, परन्तु फिर भी 'ब्रह्म ऐसा नहीं है' इस प्रकार से उपासना करने से कौन रोक सकता है? परोक्षरूप से जानकर उपासना होती है। मोक्ष का कारण तो परमात्मा का साक्षात् अपरोक्ष है परन्तु उपासना या ध्यान परोक्ष ज्ञान से हो जाता है।।१४।।

उपास्य ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान का परिचय देते हैं–

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत्।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः।।१५।।

शास्त्र से जैसे विष्णु आदि की मूर्ति पता चलती है वैसे बुद्धिसाक्षी आत्मा को विषय किये बिना शास्त्र से 'ब्रह्म है' यह सामान्यरूप से जानना उपासना में उपयोगी परोक्ष ज्ञान है।

शास्त्र यह निश्चय कराते हैं कि भगवान् विष्णु की चार भुजायें हैं। उनके एक हाथ में शंख, एक हाथ में च्रक, एक हाथ में गदा और एक हाथ में पद्म है तथा श्याम मूर्ति है। शास्त्र ने इतना ही कहा। परन्तु वह कैसा श्याम रंग है? हाथ अगल-बगल में चार हैं, दायें-बायें चार हैं या ऊपर-नीचे चार हैं? यह तो जब भगवान् विष्णु के दर्शन होंगे तब पता लगेगा। चार हैं इतना निश्चित है परन्तु हैं कैसे? ऊपर-नीचे भी हो सकते हैं, कंधे से एक हाथ निकला है और बगल से दूसरा निकला है अथवा एक हाथ आगे और दूसरा हाथ पीछे की तरफ निकलता हो यह भी हो सकता है। शंख च्रक आदि किस प्रकार से पकड़े हैं? बीच-बीच में छोड़ते हैं या नहीं? कई शंकाएँ, सम्भावनाएँ बनी रहती हैं, फिर भी हम ध्यान

करते हैं तो विष्णु का साक्षात्कार हो जाता है और इन बातों का ठीक-ठीक पता लग जाता है। इसी प्रकार से ब्रह्म प्रत्यगात्मरूप है। प्रत्यगात्मा अर्थात् बुद्धि का साक्षी, बुद्धि को भी जो जानता है। घड़े को तो मैं जानता हूँ। परन्तु घटज्ञान जिसके द्वारा जाना जाता है वह साक्षी है। घटज्ञान बुद्धि की वृत्ति है। घटाकार वृति बनी तो उसे हम लोग घटज्ञान कहते हैं। वृत्ति में प्रतिबिम्बित तो मैं हूँ और जिस ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह ब्रह्म साक्षी है। 'मैं' से ज्ञानरूप से वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला समझ नहीं आ रहा इसलिये ब्रह्म या साक्षी है यह परोक्ष ज्ञान है। यदि वह बिम्ब मैं समझ में आ जाये, तो अपरोक्ष ज्ञान हो जाये। फिर तो परम आनन्द में, ब्रह्मानन्द में लीन हो जाओ। ब्रह्म की मैं-रूपता का अनुभव प्रत्यग्-व्यक्ति का उल्लेख कहा जाता है। प्रत्यगात्मा को ही मैं अभी हमने समझा नहीं। शास्त्र से ही यह पता लगा कि सद्रूप, चिद्रूप, आंनदरूप और अनन्तरूप ब्रह्म है। ब्रह्म सच्चिदानंद है यह परोक्ष ज्ञान या सामान्य ज्ञान है। इस सामन्य ज्ञान को ही यहाँ ध्यानदीप प्रकरण में परोक्ष कहते हैं। इस बात को उपनिषदों ने भी कहा है 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद' (तै. २.६) अर्थात् ब्रह्म है इतना निश्चय रखने वाला, 'ब्रह्म ही है' ऐसी उपासना करने वाला 'सन्त' समझने योग्य है, वही वास्तव में है। साधारणतः इतना भी 'निश्चय' नहीं होता। इसे यहाँ परोक्ष ज्ञान छठे प्रकरण में (श्लो. १६) बता ही चुके हैं। जिसे शास्त्र पर पूरी श्रद्धा है उसको इतना निश्चय हो जाता है अर्थात् परोक्ष ज्ञान हो ही जाता है। जैसे विज्ञापन (Advertisment) में जिसको विश्वास है उसको यह बाँचकर कि ताजमहल होटल में ऐसा-ऐसा कमरा है, परोक्ष ज्ञान हो जाता है कि ऐसा कमरा अवश्य है। जिसका उस विज्ञापन पर विश्वास नहीं उसे लगेगा 'क्या पता वहाँ कोठरी ही हो, ऐसे ही कमरा लिख दिया'; विज्ञापन में तो बढ़ा चढ़ा कर लिख ही दिया करते हैं। जिस साधन पर श्रद्धा नहीं होगी उससे तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होगा, केवल संदेहमात्र होकर रह जायेगा।

बहुत-सी चीज़ों को विज्ञापन में बाँच लेते हैं, परन्तु वहाँ जाकर देखें तो चीज़ वैसी नहीं होती है। एक आदमी ने बहुत साल पहले अखबार में बड़ा भारी विज्ञापन दिया; तब तक आजकल की कछुआ छाप या बिजली की ऑल आउट (all out) जैसी मच्छर मारने की चीज़ें आई नहीं थीं, पंखा आदि चलाकर मच्छरों को उड़ाते रहते थे; उसने यह विज्ञापन दिया कि हमने एक ऐसी मशीन बनाई है जो मच्छरों को तुरंत मार देती है। उसके कुछ मामूली दाम ही लिखे थे। बहुत-से लोगों ने चिट्ठी लिख कर वह मशीन डाक से मँगा ली। वह आई तो उसमें एक डिबिया में दो पत्थर थे, एक छोटा और एक बड़ा। साथ में हिदायत की पर्ची जिस पर लिखा था कि बड़े पत्थर पर मच्छर रख कर उसे छोटे पत्थर से मार दो! ऐसे विज्ञापन से विज्ञापनों पर अविश्वास हो जाता है। इसी प्रकार से संसार में बहुत-से ग्रंथ और बहुत-से सम्प्रदाय हैं जो परमेश्वर के विषय में अनेक प्रकार की बातें कहते रहते हैं। इससे लगता है कि वेदवाक्य भी ऐसा ही होगा। इसलिये वेदवाक्य पर श्रद्धा नहीं होती है। जैसे जिसे विज्ञापनों पर श्रद्धा है उसको यह परोक्ष ज्ञान होगा कि जरूर कोई मशीन होगी जिससे

मच्छर मर जायेंगे, इसी प्रकार वेद से ज्ञान होने के लिये श्रद्धा तो आवश्यक है, परन्तु इतने से बात समझ में आ गई ऐसा है नहीं क्योंकि ज्ञान परोक्ष रहा। सच्चिदानंरूप परब्रह्म है — केवल इतना ज्ञान हुआ।।१५।।

विशेष ज्ञान होने मात्र से अपरोक्ष नहीं हो जाता यह दृष्टान्त से समझाते हैं—

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन्।
अक्षैःपरोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते।।१६।।

चार भुजा वाले हैं इत्यादि जानने पर भी इन्द्रियों से मूर्ति को विषय न करता व्यक्ति परोक्ष जानकार ही है क्योंकि तब विष्णु को देख नहीं रहा है।

शास्त्र से इतना पता लगता है कि भगवान् विष्णु चतुर्भुज हैं। 'आदि' पद से सँवाले हैं। शंख-चक्र-गदा-पद्म लिये हुए हैं, यह सब तो शास्त्र से पता लगता है लेकिन सामने किसी मूर्ति को सचमुच में देख नहीं पाते, सामने कुछ नहीं आता है। चतुर्भुज इत्यादि कुछ है इतना मात्र जानते हो। इन्द्रियों से विष्णु का दर्शन नहीं होता इसलिये वह परोक्ष ज्ञान है। भगवान् विष्णु का दर्शन करने पर जो ज्ञान होगा वह अपरोक्ष होगा। भगवान् विष्णु चतुर्भुज कुछ हैं यह ज्ञान परोक्ष होने से इसमें उन बातों का ज्ञान नहीं होगा जो केवल अपरोक्षयोग्य हैं। उन बातों का ज्ञान तो जब भगवान् विष्णु को देखेंगे तभी होगा। इन्द्रियों के द्वारा उनको जिसने नहीं जाना है वह परोक्षज्ञानी है।।१६।।

क्योंकि भगवान् सामने नहीं आये इसलिये वह उनके बारे में सर्वथा अज्ञानी है ऐसा भी नहीं है। वे चतुर्भुज, श्याम , गदा-चक्र-शंख-पद्मधारी हैं आदि जितनी बातें जानी हैं, वे सब ठीक हैं। अतः परोक्ष ज्ञान भ्रम नहीं है यह प्रतिपादन करते हैं—

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम्।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्त्तेर्विभासनात्।।१७।।

परोक्ष होने मात्र से भ्रम नहीं हो जाता क्योंकि जो शास्त्र प्रमाण ही है उससे सत्त्व की अधिष्ठात्री मूर्ति समझ आती है। केवल परोक्ष होना ज्ञान का अपराध भले ही मानें पर इतनी गलती से उसे भ्रम या तत्त्व का ज्ञान नहीं है ऐसा नहीं घोषित कर सकते। अनुमान से आग की परोक्ष भी प्रमा ही होती है। लपटें कैसी हैं, आवाज़ कैसी है, ईधन कैसा है इत्यादि न पता लगने पर भी 'आग है' यह ज्ञान तो समीचीन ही है क्योंकि उस स्थल पर आग है सही। अनुमान के समय धुआँ देखकर इन सबका पता नहीं लगा था, वह परोक्ष ज्ञान था। जितना पता लगा कि वहाँ आग है, वह ज्ञान तो सच्चा ही है। इतने मात्र से तुमने वास्तविक चीज़ को नहीं जाना या चीज़ को ही नहीं जाना ऐसा नहीं है। एक मत है कि अपरोक्ष वस्तु को परोक्ष जानना भ्रम या अज्ञान ही है। उसी के जवाब में यह कह रहे हैं कि अपरोक्ष चीज़ है लेकिन उस चीज़ का भी परोक्ष ज्ञान अतत्त्व-ज्ञान नहीं है। है तो वास्तविक ही, पूरा ज्ञान

नही है, केवल इतना ही कह सकते हो। सच्चा ज्ञान वह होता है जो प्रमाण से होता है। सच्चे ज्ञान का ही नाम संस्कृत में प्रमा है। जो प्रमा को उत्पन्न करे वह प्रमाण है। जैसे कोई पूछे कि सामने इस कमरे का दरवाजा सफेद है यह आपको कैसे पता? तो यही कहोगे कि 'हमने आँखों से देखा है।' ऐसे ही तुम्हारी माँ है, यह तुम्हें कैसे पता? तुमने तो अपने को पैदा होते देखा नहीं, पिता जी ने बताया है तो तुम्हें निश्चित विश्वास हो जाता है कि यह मेरी माँ ही है। कोई शंकालु हो तो कहेगा कि बाप झूठ बोल रहा होगा, दूसरी औरत को रखकर पैदा किया होगा, इत्यादि; लेकिन जिसको निश्चित विश्वास है कि पिता जी कह रहे हैं तो मेरी माँ ही है उसे प्रमा है क्योंकि सिवाय इस शब्द के और कोई साधन माँ के ज्ञान का नहीं है। पैदा होते समय तुम्हारी आँखें बन्द होती हैं। कई कहानियाँ बाँच लेते हैं कि अस्पताल में नम्बर इधर का उधर हो जाता है तो बच्चा पलट जाता है इत्यादि। संदेही हो तो उसे कभी निश्चय नहीं होगा कि यह मेरी माँ है। लेकिन जिसे पता है कि पिता सत्यवादी है और कोई कारण नहीं है कि वह हमें धोखा दे, उसे पिता कहता है 'माँ है' तो जान लेता है कि यही मेरी माँ है। ठीक इसी प्रकार वेद कह रहा है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', श्रद्धा होने पर साक्षात्कार के बिना भी वैसा ब्रह्म का ध्यान करोगे तो ब्रह्म का साक्षात्कार हो जायेगा, अपरोक्ष पता तब लगेगा। इसके लिये श्रद्धा करके प्रयत्न तो आवश्यक ही है। चूँकि वेद यथार्थ ही कहता है, वह किसी को धोखा नहीं देता, इसलिये भ्रान्ति का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान प्रमा होना संगत है।।१७।।

शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान में परोक्षता माननी ही क्यों? इसका उत्तर देते हैं—

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद् भानेऽप्यनुल्लिखन्।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते।।१८।।

शास्त्र से (ब्रह्म के) सच्चिदानन्द स्वरूपका पता चलने पर भी 'वह प्रत्यगात्मा साक्षी है' यह भान न होते साधक ब्रह्मका साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता।

जैसे भगवान् विष्णु सत्त्वमूर्ति हैं, उसी प्रकार जो सच्चिदानन्द है वह साक्षात् मूर्ति है, 'प्रत्यञ्चं साक्षिणं' वही वह मूर्ति है जिसके कारण हम घट पट आदि को जानते हैं। वह जो सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है उसका शास्त्र से भान हुआ लेकिन 'वही यह प्रत्यगात्मा साक्षी है' इसका हमें कोई भान नहीं हो रहा। केवल इतना पता चला कि वह सच्चिदानन्द है। वही साक्षी है— यह पता नहीं है। तत्त्वमसि महावाक्य से हुए ज्ञान में तो वैसे उल्लेख होता ही है। हमें ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान होता अगर महावाक्य बता दिया जाता, परन्तु वह तभी बताया जा सकता है जब तत् और त्वम् पदार्थों को समझने की हमारी सामर्थ्य हो। उसके लिये विवेक वैराग्य शम दम आदि साधन-सम्पत्ति आवश्यक है, अन्यथा अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त में ही मैं-भान होता रहेगा। विवेक आदि साधनों से सम्पन्न होने पर ही पदार्थ-शोधन हो पाता है। तब तक प्रत्यग्भाव का उल्लेख किये बिना ब्रह्म का ज्ञान होता है। है वह नित्य अपरोक्ष, परन्तु उसका साक्षात् ज्ञान होता नहीं। यहाँ सच्चिदानन्द कहे हैं,

परन्तु इस के साथ और भी विशेषताएँ समझनी चाहिये। सर्वज्ञात्म महामुनि ने ब्रह्म में चिन्तनीय धर्म बताये हैं–

'नित्यः शुद्धः बुद्धमुक्त-स्वभावः सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति।।'

वह नित्य है, स्वभाव से शुद्ध है जैसे गंगाजल स्वभाव से शुद्ध है। बाकी पानी को तो मंत्र आदि से शुद्ध करना पड़ता है, परन्तु गंगाजल को शुद्ध करना नहीं पड़ता क्यों कि वह स्वभाव से शुद्ध है। स्वभाव से ही वह बुद्धरूप है, ज्ञानस्वरूप है। हम घड़े को जानते हैं, परन्तु हमें उसे जानने के लिये रोशनी चाहिये। हम अंधेरे में प्यासे बैठे हैं, पानी नहीं पी सकते क्योंकि घड़े तक पहुँचें कैसे? बिजली आदि हो या मोमबत्ती आदि जलाओ तब घड़े तक जाओ। अन्धे का काम रोशनी होने पर भी नहीं होता! रोशनी हो और आँखें भी हों, साथ में मन भी हो तब घड़ा दीखे। अगर डट कर भाँग पी ली हो तो पड़े कहते रहोगे 'पानी पिला दो'। कोइ कहे 'पानी पड़ा तो है, पी लो' तो कहोगे 'मुझे नज़र नहीं आ रहा है।' हाथ में पानी भरा लोटा पकड़ाओ तो पी लेगा। ऐसा इसलिये क्योंकि नशे में ज्ञान नहीं है। सारी सामग्री हो तब हमें ज्ञान होता है। ब्रह्म के लिए ऐसा नहीं है। उसको अन्धकार में, अन्धे के हृदय में भी ज्ञान है। भांग के नशे में मन नहीं पर वहाँ भी ज्ञान है क्योंकि वह बोधस्वरूप है, उसे किसी अन्य अवलम्बन की जरूरत नहीं कि अमुक चीज़ें हों तब ज्ञान हो। हम तो साधना करके मुक्त होते हैं लेकिन वह किसी साधना से मुक्त नहीं है, स्वभाव से ही मुक्त है बद्ध को मोक्ष के लिये साधन की ज़रूरत है, ब्रह्म को नहीं। सच्चिदानन्द से यहाँ नित्य शुद्ध आदि सब समझ लेने चाहिये। ध्याता को इन सबका शास्त्र से परोक्षत्वेन भान हुआ, वही प्रत्यगात्मा है, बुद्धि का भी साक्षी है, इस बात को नहीं जाना। इसलिये ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं है।।१८।।

शंका होगी कि ब्रह्म अपरोक्ष है, हमने उसे परोक्ष जाना तो भ्रम क्यों नहीं? समाधान देते हैं–

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात्।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः।।१९।।

परोक्ष भी वह ज्ञान शास्त्र-कथित ही ढंग से सच्चिदानन्द का निश्चय है अतः यथार्थ ज्ञान है, भ्रम तो नहीं है।

हमने ब्रह्म को अपने मन से तो जाना नहीं! शास्त्र ने जैसे समझने को कहा वैसे हमारा यह निश्चय है कि है, ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है। यह हमारे मन की कल्पना तो है नहीं, शास्त्र ने कहा है इसलिये हम जानते हैं। पूरी बात न जानने को भ्रम नहीं कहा जाता क्योंकि जितना जाना उतना सही जाना। पूरा विचार करके देखें तो *पूरी* बात कितनी-सी जानते होंगे!

एक पेड़ के बारे में ही कई बातों को जानते हैं, कई बातों को नहीं जानते। जब फराडे ने सब से पहले लोगों को बिजली दिखाई तब छोटा-सा लट्टू जलाकर दिखाया था। किसी बहुत प्रभावशाली लॉर्ड की घरवाली ने उससे कहा 'आप ने इतने ताम-झाम से एक छोटी-सी धूपबत्ती जैसी रोशनी दिखाई, इसका क्या फायदा होगा?' उस समय लोगों ने सोचा था कि वह बिलकुल बेकार चीज़ है परन्तु बिजली का पता भ्रम तो नहीं था। आज जितने बड़े काम बिजली से होते हैं, बिजली की इस सारी शक्ति को तो फराडे ने नहीं जाना, परन्तु जितना जाना उतना तो ठीक ही जाना। हमारे जितने ज्ञान हैं उन्हें विवेचन-पूर्वक देखते हैं तो कोई भी पूर्ण ज्ञान नहीं है। पूर्ण ज्ञान तो सिवाय परमेश्वर के किसी को नहीं है, परन्तु जितना जानते हैं उतना ठीक हो तो प्रमा है। आगे फिर वह ज्ञान धीरे-धीरे और अधिक बढ़ेगा। इसी प्रकार से ब्रह्म सच्चिदानन्द है, यह हमने शास्त्र प्रमाण से जाना। शास्त्ररूप प्रमाण से जितना हमने जाना उतना तो ठीक ही पता लगा, आगे और भी पता लग जायेगा। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, यह हमारा निश्चय है। ब्रह्म कण-कण और क्षण-क्षण में है यह तो हमें पता लग गया भले ही हमें साक्षात्कार नहीं। यह निश्चय है तो कभी ऐसा भी दीख जायेगा, साक्षात्कार भी हो जायेगा। इसलिये शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान भी वास्तविक ही है, भ्रम नहीं है।।१९।।

ब्रह्म के बारे में परोक्ष ज्ञान होता क्यों है? इसका उत्तर देते हैं—

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम्।
महावाक्यैस्तथाप्येतद् दुर्बोधमविचारिणः।।२०।।

यद्यपि शास्त्रों में महावाक्यों द्वारा ब्रह्म प्रत्यग्रूप से (मैंरूप से) ही बताया गया है तथापि अविचारशील के लिये वह समझना अतिकठिन है।

शास्त्र से ब्रह्म का स्वरूप जानकर उपासना की जा सकती है, परन्तु ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये विचार-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। प्रश्न होगा कि शास्त्र से जैसे सत्य-ज्ञान-आनंद को समझ कर उपासना हो सकती है वैसे ही ब्रह्म मैं हूँ — यह भी ज्ञान हो जाना चाहिये क्योंकि शास्त्र में ब्रह्म को प्रत्यगात्मा ही कहा है। उत्तर है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म है यह परोक्ष रूप से तो जान सकते हैं परन्तु ब्रह्म मैं हूँ जानने के लिये विचार आवश्यक है।।२०।।

अपरोक्ष वस्तु प्रमाण रहते भी दुर्बोध रहती क्यों है यह स्पष्ट करते हैं—

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात् पुमान्।
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमेत मन्दधीत्वतः।।२१।।

शरीरादि आत्मा हैं (मैं हूँ) ऐसा भ्रम प्रकट रहते मंदमति होने से व्यक्ति एकाएक ब्रह्म को आत्मा समझने में अक्षम हो जाता है।

जिस चीज़ का तुम्हें जैसा अपरोक्ष अनुभव है, उससे भिन्न यदि उपदेश दिया जाता है

तो तुम्हें निश्चय न होकर जिज्ञासा होती है कि 'ऐसा कैसे है?' जैसे, अभी कुछ दिन पहले खबर थी कि एक लड़का औरतों के साथ रहकर औरतों की ही खेल-प्रतियोगिता में जीता, उसे कई पुरस्कार भी मिले। फिर पता लगा कि वह लड़की नहीं लड़का है! जिसने उसे अपरोक्षरूप से लड़की जाना है, साथ रहा साथ ही खाया-पिया, सारे व्यवहार किये, उसे 'यह लड़की नहीं लड़का है' यह सुनते ही ज्ञान, निश्चय नहीं होता कि वह लड़का है। उसके मन में प्रश्न होता है कि वह लड़का कैसे है? यदि इस सवाल का जवाब मिल जाये तब तो ज्ञान हो जाता है कि अमुक लक्षण है इसलिये वह लड़का है, अन्यथा कहने पर भी निश्चय नहीं होगा। इसी प्रकार 'मैं ब्राह्मण, मैं सुखी-दुःखी होता हूँ' इत्यादि मेरा अपने बारे में अपरोक्ष ज्ञान है, यह प्रत्यक्ष जानता हूँ। शास्त्र ने कहा 'तू देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न है, अद्वितीय है'। मुझे यही पता नहीं कि इस समय दिल्ली में क्या हो रहा है! इसलिये प्रश्न होता है कि मैं ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ? यदि इस शंका का जवाब मिल जाये तब पता लग जाये कि मैं शरीर-मन नहीं हूँ, सुखी-दुःखी नहीं हूँ इसलिये तत्त्वमसि प्रमाण से ब्रह्म हूँ। यदि सही विचार नहीं हो सका और तुम्हारे संदेहों का जवाब नहीं मिल सका तो वाक्य शास्त्र का होने पर भी अपरोक्ष निश्चित ज्ञान नहीं होगा। तुम उपनिषद् का कुछ और ही तात्पर्य ढूँढोगे। कुछ लोग अर्थ निकालते हैं कि ब्रह्मा जी ने वेद में कहा है 'अहं ब्रह्मास्मि' तो उन्होंने ठीक ही कहा है क्योंकि वे तो ब्रह्म ही हैं। श्वेतकेतु को उपदेश दिया 'तू ब्रह्म है' इसलिये वह भी ब्रह्म रहा होगा। अर्थात् हम सभी ब्रह्म हैं ऐसा वेद का भाव वे नहीं समझते।

देह से अहंकार पर्यन्त ही मेरा स्वरूप है—यह हम अपरोक्षरूप से जानते हैं, किसी के कहने की ज़रूरत नहीं है, साक्षात् जानते हैं। शास्त्र के अनुसार यह भ्रम है, परन्तु यह भ्रम तब पता लगे जब यह समझ आये कि मैं क्या हूँ? अधिष्ठान का साक्षात्कार हो तब भ्रम मिटता है। मिथ्या ज्ञान के जगते हुए अर्थात् बिलकुल स्पष्ट रहते हुए सत्य के प्रति महत्त्वबुद्धि भी नहीं होती। भ्रम का 'जगना' अर्थात् वही ठीक है ऐसा दृढ अनुभव होना, उसके बारे में कोई शंका न रहना। इसी प्रकार बिलकुल सावधानी से मैं जानता हूँ कि मैं शरीर, मन अहंकार हूँ। यह बिलकुल स्पष्ट है, इसमें कहीं कोई संदेह नहीं है। कोई हमें पीछे से मुक्का मारता है तो हमें बिलकुल निश्चित ज्ञान होता है कि *मुझे* मुक्का मारा। इसलिये लोग कहते हैं 'दीवार पर माथा ठोको तो पता लग जायेगा कि मैं शरीर हूँ या नहीं।' ऐसा स्पष्ट भान रहते ब्रह्म ही आत्मा है— इसका अनुभव करने में व्यक्ति समर्थ नहीं होता। 'हठात्' अर्थात् तुरन्त ऐसा ज्ञान नहीं होता। क्यों ऐसा ज्ञान नहीं होता? क्योंकि मन्दबुद्धि है। जिसने पदार्थ-शोधन विचार-पूर्वक कर लिया है उसे तत्त्वमसि सुनते ही ज्ञान हो जाता है। तत्-पदार्थ का निश्चय जिसने सच्चिदानन्दरूप से किया और त्वं-पदार्थ का निश्चय प्रत्यग्-रूप से किया है उसे तुरन्त निश्चय हो जाता है कि एक ही है, यह वही है, मैं वही हूँ। परन्तु जिसने यह विचार नहीं समझ रखा है, वह इस एकता का अनुभव करे यह संभव नहीं है। यह भ्रम विचार से ही निवृत्त होता है।।।२१।।

यदि शरीर इन्द्रिय आदि को मैं-रूप से जानने के कारण अद्वैत का ज्ञान नहीं होता है तो फिर देश-काल-वस्तु से परिच्छिन्न सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से ग्रस्त संसार को देखते हुए ब्रह्म अद्वितीय है, यह परोक्ष ज्ञान भी कैसे होगा? उत्तर है कि परोक्ष ज्ञान की यह विशेषता है कि वह अपरोक्ष का विरोध रहते भी उत्पन्न हो जाता है। ऐसे समझ लोः किसी कुम्हार के यहाँ परई, सिकोरा आदि सब चीज़ें 'एकमात्र मिट्टी है' यह समझ आ सकता है किंतु वे विभिन्न बर्त्तन नहीं हैं—यह 'देखा' नहीं जा सकता। इसलिये परोक्ष ज्ञान तो हो जायेगा पर अपरोक्ष के लिये विशेष योग्यता चाहिये। यदि श्रुति केवल यह कहे कि यह सब ब्रह्म है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तो तुम्हें निश्चय नहीं होता, उल्टा लगता है कि यह सब ब्रह्म कैसे हो सकता है! जब श्रुति ने कहा 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' यह सब बनने के पहले अद्वितीय ब्रह्म था, उसने माया शक्ति से यह सब बनाया; तब समझ में आ जाता है, परोक्ष ज्ञान हो जाता है कि अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, उसी से यह सब बना है। इसलिये कहते हैं कि द्वैतका अपरोक्ष भ्रम अद्वैत के परोक्ष ज्ञान को नहीं रोकता—

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः।
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत्।।२२।।

द्वैतका अपरोक्ष ज्ञान क्योंकि अद्वैत के परोक्ष ज्ञान का विरोधी नहीं इसलिये श्रद्धालु शास्त्र-अध्येता के लिये 'ब्रह्म' इतना ही आराम से समझने योग्य है।

ब्रह्ममात्र अर्थात् प्रत्यक् व्यक्ति का उल्लेख किये बिना। इतना तो आदमी को समझ में भली प्रकार से आता है। परन्तु यह भी किसकी समझ में आता है? शास्त्रदर्शियों की समझ में आता है। जिसने भली प्रकार से शास्त्र का विचार किया है कि सचमुच शास्त्र यही कहता है कि यह सब बनने से पहले अखण्ड चिन्मात्र ही था उसे निश्चय हो जाता है। बनने के पहले का हमें तो कोई अपरोक्ष ज्ञान है नहीं इसलिये हमारे अपरोक्ष ज्ञान का उस स्थिति के बारे में परोक्ष ज्ञान से कोई विरोध नहीं। इसलिये शास्त्र का ही भली प्रकार विचार करके पता लगता है कि यह सब उत्पन्न होने के पहले अद्वितीय ब्रह्म था। शास्त्र से ही अद्वैत-निश्चय होगा। अन्यथा, कोई कहेगा कि यह सब प्रकृति से उत्पन्न होता है, कोई कहेगा कि जीव अपने कर्मों से पैदा कर लेता है, कोई कहेगा कि दुनिया है नहीं, सब हमारे मन का ही खेल है इत्यादि। अनेक बातें लोग कहेंगे। परन्तु जब शास्त्र का अध्ययन करते हैं तब पता लगता है कि शास्त्र एकस्वर से यही कहता है कि सृष्टि अद्वितीय आत्मा से है। यद्यपि बहुत-से लोग शास्त्रों को पढ़ते हैं फिर भी वे यह नहीं मानते कि सब अद्वितीय ब्रह्म से पैदा हुआ है। जिसे शास्त्र पर श्रद्धा है उसीको यह ज्ञान होगा। जिसे शास्त्र पर श्रद्धा नहीं है उसको तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होगा। जो श्रद्धालु है उसे परोक्ष ज्ञान हो जाता है। श्रद्धामात्र से परोक्ष ज्ञान हो जाता है। अपरोक्ष साक्षात्कार के लिये श्रद्धा के साथ बुद्धि, विचार भी चाहिये। प्रश्न होता है कि श्रद्धालु को परोक्ष होता है तो अपरोक्ष ज्ञान क्यों नहीं

होता? इसलिये नहीं होता कि हमें यह सारा द्वैत अपरोक्ष दीख रहा है। 'मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी-दुःखी हूँ, यह आदमी है, वह मकान है, यह दीवार है' इत्यादि सब द्वैत हमें अपरोक्ष है अतः अद्वैत का अपरोक्ष सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में वास्तविकता का परोक्ष होना ही संभव है।।२२।।

इसलिये अपरोक्ष भ्रम परोक्ष प्रमा का विरोधी नहीं इसमें दृष्टांत देते हैं—

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत्।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते।।२३।।

'पत्थर है' ऐसा अपरोक्ष ज्ञान परोक्ष ईश्वरता को हटाता नहीं। मूर्त्ति आदि विष्णु हैं इसमें कौन संदेह रख सकता है!

अपरोक्ष तो सामने पत्थर है, सामने साक्षात् पत्थर दीख रहा है। उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके 'भगवान् नारायण बैठे हुए हैं,' यह परोक्ष ज्ञान है। दीखता तो पत्थर ही रहेगा। पत्थर न दीखे तो पूजा ही नहीं कर सकते। शिवरात्रि को भगवान् पर ठण्डा-ठण्डा पानी चढ़ाओगे तो जो ठिठुरन होगी वह भगवान् ही जानें, अपने को तो पता नहीं। अपने को तो पता है कि सामने पत्थर है इसलिये चाहे जितना ठण्डा पानी चढ़ायेंगे। क्यों ठण्डा पानी चढ़ाते हैं? क्योंकि शास्त्र प्रमाण से पता है कि नर्मदेश्वर की पूजा शिवजी की पूजा है। परोक्ष रूप से हम उसे शिव जानते हैं, इसलिए अपरोक्ष शिलाबुद्धि परोक्ष शिव-ज्ञान को नहीं हटाती। मूर्ति को उठाते हैं, अच्छी तरह से पोंछते भी हैं; ऐसा नहीं करते कि कहें 'भगवान् जी, यह तौलिया लो, अपने को पोंछ लो।' अगर अपरोक्ष ज्ञान हो जाता कि 'यह नारायण हैं' तो वैसा करते। भगवान् को भोग लगाते हैं लेकिन एक कौर भी इधर-उधर हो जाए तो दायें-बायें देखते हैं कि कहीं कोई चूहा वगैरह तो आकर नहीं ले गया! अपरोक्षरूप से तो हम यही जानते हैं कि यह पत्थर है। एक दिन गणेशजी ने कई स्थानों पर दूध पी लिय तो कितना हल्ला मचा! तुम्हारा लड़का रोज़ दूध पीता है, तो कोई हल्ला नहीं मचता क्योंकि उसको तुम अपरोक्षरूप से जानते हो कि खाने-पीने वाला है। मूर्ति को तो भोग लगाने का विधान है इसलिए भोग लगाते हैं। इसीलिए स्पष्ट है कि अपरोक्ष शिला-बुद्धि परोक्ष ईश्वरता को नहीं हटाती। प्रतिमा आदि, शलिग्राम आदि, विष्णु हैं इसके विषय में कौन आस्तिक संदेह करता है! कोई भी आस्तिक इस विषय में संदेह नहीं करता। अपरोक्ष भ्रम परोक्ष सम्यक् ज्ञान का विरोधी नहीं है। परोक्ष सम्यक् ज्ञान शास्त्र के द्वारा हुआ और अपरोक्ष तो इन्द्रियों के द्वारा दीख ही रहा है इसलिए दोनों में विरोध नहीं है।।।२३।।

जब कहा कि कौन संदेह करता है? तब प्रश्न उठता है कि लोग नास्तिक भी हैं जो कहते हैं कि पत्थर को क्या सिर झुकाना है! पत्थर से पौधे बड़े हैं, पौधों से जानवर बड़े है, जानवरों से मनुष्य बड़े हैं; ऐसे मनुष्य होकर हम पत्थर को सिर झुकाएँ यह नहीं बनता। एक चूहे को शिवलिंग पर चढ़ते देखकर लोगों ने निर्णय कर लिया कि वह ईश्वर नहीं है।

अतः विप्रतिपत्ति या विरोधी मत रखने वाले सुलभ हैं। इसके समाधान में कहते हैं—

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

श्रद्धाहीन को प्रतिमा विष्णु होने में अविश्वास है यह इस प्रसंग में कहना योग्य नहीं क्योंकि वेद-शास्त्रीय सभी प्रसंगों में श्रद्धावान् ही अधिकारी होता है।

जो अश्रद्धालु है उसे तो यह ज्ञान कभी नहीं होगा! शब्द से ज्ञान उसी को होता है जो श्रद्धालु है। अख़बार में आया कि आज सारे हिन्दुस्तान में बाज़ार बंद होगा। किसी ने आकर कहा कि आबू में दूकानें खुली हुई हैं। यदि कहने वाला अपना विश्वासी आदमी है, हम जानते हैं कि वह आप्त है, झूठ नहीं बोलता है और बाज़ार से आ रहा है, वहीं रहता है, तब तो हमें प्रमा ज्ञान हो जाएगा कि आबू में दूकानें खुली हुई हैं और यदि उस आदमी के वचन में हमारी श्रद्धा नहीं है, अख़बार में श्रद्धा है तो उसकी बात सुनकर भी स्वीकारेंगे नहीं। रामकृष्ण परमहंस बताया करते थे कि आजकल के ज़माने में लोगों को अख़बार पर बड़ी श्रद्धा हुआ करती है। एक आदमी आकर कहे 'मैं उधर से आ रहा हूँ, सात नम्बर के मकान की दीवार गिर गई, इसलिए घूमकर आना पड़ा।' तो सामने वाला कहता है कि 'अखबार में कहीं नहीं लिखा है कि दीवार गिर गई, तुम्हें भ्रम हुआ है!' अख़बार में ही श्रद्धालु को तो निश्चय रहेगा कि दीवार नहीं गिरी लेकिन जो वहाँ चक्कर काटकर आ रहा है उस पर यदि श्रद्धा होगी तो प्रमात्मक निश्चित ज्ञान हो जाएगा कि दीवार गिरी है। इसी प्रकार जो वेद आदि सत्-शास्त्रों में श्रद्धा वाला होगा उसको परोक्ष ज्ञान हो जाएगा कि सृष्टि उत्पन्न होने से पहले अद्वितीय ब्रह्म था। जिसको किसी दूसरे पर विश्वास होगा, उसको उसकी कही हुई बात से परोक्ष ज्ञान हो जाएगा, क्योंकि स्वयम् अपनी देखी हुई तो वह स्थिति है नहीं। श्रद्धालु व्यक्ति को ही शब्द से निश्चयात्मक ज्ञान होता है।

वस्तुतः यदि विचार करो तो सभी प्रमाणों के बारे में यही स्थिति है। पहले हमें आँख से दीखता था कि सामने गड्ढा है तो निश्चित ज्ञान होता था कि गड्ढा है, क्योंकि आँख पर श्रद्धा थी। दो-चार बार गड्ढा देखा, पास जाने पर पाया कि गड्ढा नहीं है, तो पता लग गया कि आँख के ऑपरेशन के बाद चीज़ ३० डिग्री पर होती है तो अपने को १० डिग्री पर दिखाई देती है, इसलिए आँख पर श्रद्धा नहीं रह गई। अब चलते हैं तो पहले डण्डे से ठोक कर देखते हैं कि गड्ढा है या नहीं। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण में भी मूल कारण श्रद्धा है। इसी प्रकार अनुमान ज्ञान में व्याप्ति पर श्रद्धा चाहिये कि यह व्याप्ति ठीक है। अँग्रेज़ लोगों में व्याप्ति का प्रसिद्ध दृष्टांत है कि सारे कौए काले होते हैं, 'क' एक कौआ है, इसलिए वह काला है। सफेद कौआ जिसने देख रखा है, जब उसे पढ़ाते हैं तब तुरन्त वह व्याप्ति नहीं जँचती क्योंकि प्रश्न उठता है 'मैंने तो सफेद कौआ देख रखा है, सब कौए काले कैसे हो सकते हैं?' प्रत्यक्ष वस्तु में प्रत्यक्ष के करण में श्रद्धा की ज़रूरत और अनुमान में

उसके करण व्याप्ति में श्रद्धा की ज़रूरत है। शब्द में भी श्रद्धा नहीं होगी तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होगा कि इस सृष्टि का मूल कारण अद्वितीय ब्रह्म है। जो शास्त्र में श्रद्धा वाले नहीं हैं, उन्हें तो शास्त्रीय बात पर अविश्वास होना ही है, उन्हें शास्त्र का मतलब संगत नहीं लग सकता। जो कहा 'कोई संदेह नहीं कर सकता' वह अश्रद्धालु नहीं, श्रद्धालु की दृष्टि से।

यद्यपि वेद प्रमाण है, उससे निश्चय हो जाना चाहिए तथापि वेदोक्त जो भी चीज़ है, कर्म, उपासना या ज्ञान, सब में श्रद्धालु अर्थात् श्रद्धा वाले को ही अधिकार है। कर्म-विषयक निश्चय में भी श्रद्धा की ज़रूरत है, अन्यथा आजकल के लोग कहते हैं कि 'आग में घी झोंकने की अपेक्षा तो लोगों के पेट में घी झोंको क्योंकि लोग भूखे मर रहे हैं।' अश्रद्धालु को यही जँचता है। उपासना के बारे में भी यही बात हैः लोग कहते हैं कि दुनिया-भर के ग़लत काम करते हो, फिर 'राम-राम' करने से क्या होगा! एक बहुत बड़े विचारक कहा करते थे कि चाहे राम-राम कहो, चाहे 'कोका-कोला, कोका-कोला' कहो एक ही बात है। वस्तुतः कर्म-उपासना में श्रद्धा वाले को ही अधिकार है। ज्ञान होने के लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान भी अधिकार के अंतःपाती हैं। इसलिए जो श्रद्धालु नहीं है वह तो उनमें अधिकारी ही नहीं है, चाहे जितना पढ़ ले। इसलिए अश्रद्धालु की बात इस प्रसंग में मत करो। श्रद्धालु की दृष्टि से शालग्राम का दृष्टांत है।।२५।।

उक्त दृष्टांत से सन्दर्भानुसार निर्णय सिद्ध करते हैं—

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत्।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसाम् अपेक्षते।।२५।।

प्रामाणिक उपदेश से एक बार में ही परोक्ष ज्ञान तो ठीक-ठीक उत्पन्न हो सकता है जैसे विष्णु की मूर्त्ति के बारे में उपदेश को समझने के लिये मीमांसा की आवश्यकता नहीं पड़ती।

आप्त पुरुष अर्थात् जिस पर तुम्हें विश्वास है, उसने एक बार भी कहा कि ये विष्णु भगवान् हैं, इन पर चन्दन लगाकर अगरबत्ती जला कर तुलसी-दल रखा करो। ऐसा एक बार ही उपदेश हुआ तो परोक्ष ज्ञान पैदा हो जाता है कि ये विष्णु हैं और इनकी पूजा करनी चाहिए। इसके लिए किसी मीमांसा या विचार की ज़रूरत नहीं है कि यह कैसे विष्णु है। इसी प्रकार से कर्म में हैः नारायणाय नमः, माधवाय नमः, गोविन्दाय नमः कहते हुए तीन बार आचमन कर लो। कोई कहे कि ये तीनों नाम एक ही नारायण के हैं तो पहले माधवाय कहकर क्यों न आचमन कर लें? हैं तो सब भगवान् के ही नाम? तो सिवाय यह कहने के कि 'माथा मत खाओ, करना हो तो करो,' और क्या समझायेंगे! यहाँ मीमांसा से कुछ नहीं होगा। मीमांसा का मतलब होता है विचार करना, ऐसे प्रसंग में विचार की कोई ज़रूरत नहीं है। विष्णु गोल-मटोल हैं, खड़े हुए हैं या लेटे हुए? शालग्राम गोल-मटोल है, इसमें विष्णु भगवान् चक्रिका आसन कैसे किए हुए हैं? ऐसे कोई विचार की ज़रूरत नहीं है। केवल यह विष्णु है, इतने से ही काम हो जाएगा।।२५।।

यदि कर्म-उपासना में विचार की ज़रूरत ही नहीं है तो फिर कर्ममीमांसा, भक्ति-मीमांसा करते ही क्यों हैं? उत्तर समझाते हैं—

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात्।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः।।२६।।

जिसका अनुष्ठान कर्त्तव्य है उसका खासकर निर्णय कठिन होने से कर्म एवं उपासना का विचार किया जाता है। अनेक शाखाओं में बिखरे विषय का साधारण व्यक्ति निर्णय करने में समर्थ नहीं होता है।

कर्म-मीमांसा, देवताकाण्ड आदि सब विचार ही हैं। क्या अनुष्ठान करना है इसका विचार इसलिए करना पड़ता है कि वेद अनेक शाखाओं वाले हैं, उन शाखाओं में कहीं कुछ कहा है, तो कहीं कुछ और ही कह दिया है! एक जगह सब क्रमवार तो कहा नहीं है। बहुत-सी शाखाएँ होने के कारण अनुष्ठान से पहले मीमांसा इसलिए की जाती है कि अमुक अंग अमुक जगह से लेना है यह समझना पड़ता है। विचार इस बात का है कि क्या व कैसे अनुष्ठान करें? ऋषियों ने मीमांसा इसलिए बनाई कि कोई भी सामान्य व्यक्ति वेदों को पढ़कर आगे-पीछे देखकर निर्णय कर सके यह सम्भव नहीं है। ऋषि लोग सब चीज़ों को जानने वाले थे, उन्होंने समझाने के लिए सब बता दिया। सामान्य मनुष्य चूँकि इसका निर्णय स्वयम् नहीं कर सकता, इसलिए मीमांसा की ज़रूरत है।।२६।।

मीमांसा पढ़ना भी तो हम लोगों के बूते का नहीं है! चार अध्याय वाले ब्रह्मसूत्रों में ही हम लोग बहुत परेशान हो जाते हैं तो बारह अध्यायों वाली कर्ममीमांसा कैसे पढ़ेंगे! इतना ही नहीं, हमने एक शाखा ही नहीं पढ़ रखी, उसे हमने देखा ही नहीं तो फिर मीमांसा भी कैसे समझें? इसलिए कहते हैं कि ऋषि लोग बड़े दयालु थे अतः उन्होंने निर्णय भी बता दिया—

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽऽस्तिकः।
विचारमन्तरेणापि शक्तोनुष्ठातुमञ्जसा।।२७।।

मीमांसा से निश्चित किया अनुष्ठान-प्रकार 'कल्पसूत्रों' द्वारा संगृहीत है। आस्तिक व्यक्ति उतने से, विचार किये बिना शीघ्र अनुष्ठान कर सकता है।

मीमांसा में यज्ञयागादि अथवा पूजा-पाठ के जो विस्तार हैं उन सबका विचार किया। जो जानना चाहे वह उसे पढ़े। नहीं पढ़ पाता है तो कोई बात नहीं क्योंकि ऋषियों ने कल्पसूत्रों में निर्णय एकत्र कर दिये। कर्म को कैसे करना है, यह बता दिया कल्पसूत्र, गृह्यसूत्र आदि में। चूँकि उन्होंने वहाँ निर्णय करके बता दिया इसलिये कल्पसूत्रों को देखकर ही अनुष्ठान कर लेना चाहिये। हर एक को सारा विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि क्या कहाँ से लिया, उस शाखा में है या नहीं इत्यादि; वे ऋषि सर्वज्ञ थे, इसलिए उन्होंने जैसा

निर्णय किया है वैसा स्वीकार कर लेना चाहिए। व्रत, त्यौहार आदि का निर्णय आचार्यों ने लिखा है, उसे देखकर पालन कर लेना चाहिए। सारे पुराणों के आदि-अंत, स्मृतियों के आदि-अंत को देखकर सौ साल की ज़िन्दगी में निर्णय करना हम लोगों के लिए असम्भव है इसलिए ऋषियों ने जो निर्णय करके रख दिया है वैसा ही कर लो। कहाँ से क्या लिया, कैसे लिया, इसको आगे-पीछे क्यों नहीं लिया—इत्यादि सारा विचार हरएक आदमी करने में समर्थ नहीं है। निर्णय का अनुसरण कर अनुष्ठान ठीक प्रकार से कर सकते हैं। तुमको केवल यह पता होना चाहिए कि क्या करना है। यह निर्णय कैसे हुआ? — जिसको यह जिज्ञासा हो वह फिर मीमांसा पढ़ ले।।२७।।

कर्ममीमांसा की तरह उपासना-मीमांसा के निर्णय भी सुलभ हैं—

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम्।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः।।२८।।

ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों में उपासनाओं के अनुष्ठान-प्रकार वर्णित हैं। विचार में अक्षम मनुष्य गुरु से उन्हें सुनकर उपासना करते हैं।

ऋषियों ने उपासना की विधि बताने वाले ग्रन्थों में भी निर्णय किया है। उपासना का अनुष्ठान कैसे किया जाए, यह भी आर्ष ग्रन्थों के अन्दर बताया है। आर्ष इत्यादि ग्रन्थों में बार-बार इस बात को बताया है कि किस प्रकार से आत्मतत्त्व को बार-बार अपने मन में लाया जा सकता है। 'मर्त्याः', जो मरण-धर्म वाले हैं अर्थात् हम लोग। चूँकि हम लोगों की मृत्यु कभी भी हो सकती है इसलिये मनुष्यों को मर्त्य कहा जाता है। विचार से अनुभव होगा लेकिन उसके लिये काफी विचार करना पड़ता है ताकि अपने अन्दर जितने संदेह हैं वे सब निकल जायें। जीव का जीवन अनिश्चित है अतः शीघ्र से शीघ्र उस तत्त्व की प्राप्ति हो जाए, इसलिए मनुष्य को विचार करना चाहिये जो कठिन पड़ता है। प्रायः मनुष्य उतना विचार करने में समर्थ नहीं हो पाता, मन्द बुद्धि इत्यादि के कारण विचार में अक्षम रहता है। इसलिए उपासना को उपाय बताया है। उसको आर्ष ग्रन्थों के द्वारा गुरु से जानकर करना पड़ता है। गुरु से ही सुनना पड़ता है, चाहे जितना विचार कर लिया जाए, लेकिन जैसे यज्ञ के अनुष्ठान का ज्ञान करने के लिए याज्ञिक से ही सीखना पड़ता है वैसे दहर विद्या, शाण्डिल्य विद्या इत्यादि परम्परा से प्राप्त होती हैं, तभी उनका पूरा पता लगता है, अन्यथा ग्रन्थ में लिखा होने पर भी स्पष्ट नहीं हो पाता और जब तक स्पष्ट नहीं होता तब तक उपासना ठीक हो रही है या नहीं—यह पता नहीं लग पाता, जिस प्रकार कर्म को जानने वाला उस कर्म को सम्पादित करने के ढंग न बताए तो हमारा कर्म ठीक से सम्पादित हो रहा है—इसमें शंका ही रहती है।।२८।।

हम-जैसों के लिये मीमांसा का उपयोग भी बताते हैं—

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि सम्भवेत्।।२९।।

वेद के वाक्यों का स्वयं भी निर्णय करना चाहता व्यक्ति उनकी मीमांसा (अवश्य) करे लेकिन अनुष्ठान तो केवल प्रामाणिक उपदेश से सम्भव है।

वेद-वाक्यों में क्या कैसा विहित है इसका निर्णय बिना वेदवाक्यों के विचार के हो नहीं सकता, परन्तु अधिकतर फलप्रेप्सु अर्थात् फल प्राप्ति की इच्छा वाले ही होते हैं और फलप्राप्ति अनुष्ठानमात्र से हो जाती है। 'क्यों-क्या' के चक्कर वाले कम होते हैं। अधिकतर लोग चाहते हैं कि उस प्रकार को जान लें जिसे करके फल मिल जाए। कर्म व उपासना की यह विशेषता है कि अमुक चीज़ अमुक जगह ही लिखी है इस निर्णय का फल कुछ नहीं होगा जब तक कि अनुष्ठान नहीं करो। इसलिए जो फल को चाहता है वह तो बस तरीका जानकर अनुष्ठान को ही करना चाहता है कि फल मिल जाए। वह आप्त पुरुषों के उपदेश से अर्थात् जो उस कर्म-उपासना का जानकार आदमी है, जिसको उस कर्म-उपासना के बारे में निश्चित पता है, उस के उपदेश से अनुष्ठान सीख ले। जो यह निर्णय करना चाहे कि अमुक पद्धति ठीक है या नहीं, वह मीमांसाका विचार अवश्य करे। यद्यपि ऋषियों ने कल्पसूत्रों आदि के अन्दर निर्णय किया है, फिर भी आज तक इन बातों का विचार किया ही जा रहा है, ग्रन्थ लिखने वाले भी पूर्व-उत्तर पक्ष उठाते-रखते ही हैं। विचार करके तो वे भी उसी निर्णय पर पहुँचेंगे जहाँ ऋषि लोग पहुँच चुके हैं। परन्तु विचार किए बिना उनको संतोष नहीं होता। साधारण आदमी को जाननेमात्र से संतोष हो जाता है। उसको तो जैसा उपदेश मिला, वह वैसा अनुष्ठान करने लग जाएगा। विचार करके किसी नई बात का पता लगेगा यह तो असम्भव है क्योंकि ऋषियों ने जो निर्णय कर दिया वही ठीक है। मन की खाज मिटाने के लिए विचार करते ही हैं। उससे अनुष्ठान में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अनुष्ठान तो वही करना है जो बताया है। जैसे ऋषियों ने कर्म-उपासना को बताया वैसे ही उन्होंने वेदांत को भी बता दिया कि ब्रह्म आत्मा है। ऋषियों ने निर्णय कर दिया कि यही वास्तविक है, तुम्हारे मन में वेदवाक्य का विचार करने की इच्छा है तो करो, अंत में वास्तविक बात तो गुरु के मुख से सुनी हुई ही है।।२६।।

यदि गुरु-उपदेशमात्र पर्याप्त है तो क्या तत्त्वसाक्षात्कार के लिये विचार चाहिये ही नहीं? इसका उत्तर देते हैं कि अवश्य चाहिये—

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम्।
आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित्।।३०।।

कर्म-उपासना के अनुष्ठान-प्रकार के निश्चित ज्ञान की तरह लोगों को केवल आप्त उपदेश से ब्रह्म का साक्षात्कार कभी कहीं सम्भव नहीं।

अनुष्ठान कैसे करना है—इसका ज्ञान गुरु के उपदेश से ही हो जाता है। चाहे विचार न करो तो भी अनुष्ठान के ढंग का ज्ञान हो जाता है, लेकिन ब्रह्मसाक्षात्कार इस प्रकार का नहीं है कि कहने से हो जाए! चाहे जैसा आप्त पुरुष हो, ब्रह्मनिष्ठ गुरु हो, उसके

उपदेशमात्र से कहीं भी ब्रह्मसाक्षात्कार होना सम्भव नहीं होता है। बिना खुद विचार किए अपरोक्ष निश्चय नहीं हो सकता। ऋषियों के निर्णय को आत्मसात् करने के लिये, अपना निर्णय बनाने के लिये विचार आवश्यक है।।३०।।

यदि निर्णय गुरुवचन से ही सिद्ध है तो विचार ज़रूरी क्यों? यह समझाते हैं—

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत्।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः।।३१।।

अश्रद्धा परोक्ष ज्ञान में रुकावट है, अपरोक्ष में नहीं। अविचार अपरोक्ष ज्ञान में रुकावट है (अतः रुकावट हटाने के लिये विचार चाहिये)।

गुरु के उपदेश से परोक्ष ज्ञान हो जाएगा। 'सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है, वही जीव के साक्षीरूप से मेरे अन्दर विद्यमान है' ऐसा परोक्षज्ञान तो विचार के बिना हो जाएगा। परोक्षज्ञान में रुकावट करने वाला श्रद्धा का अभाव है। जो बात कही गई, उसमें यदि तुम्हारी श्रद्धा नहीं है तो परोक्ष ज्ञान भी नहीं होता, उसमें संदेह बना रहता है। विश्वास होगा तो परोक्ष ज्ञान हो ही जाएगा। अविचार उसको नहीं रोकता, उसको तो अश्रद्धा ही रोकती है। परन्तु जो अपरोक्ष ज्ञान या साक्षात्कार है, उसमें अश्रद्धा रुकावट नहीं है, रुकावट तो विचार न करना ही है। अपरोक्ष ज्ञान को रोकने वाली चीज़ अविचार ही है। चाहे जितनी श्रद्धा हो परन्तु 'यह दीखने वाला संसार सच्चा नहीं है' यों यह झूठा, बिना विचार के नहीं लगता। जितनी चिंता हम लोग संसार की चीज़ों के लिए करते हैं उसका सौवाँ हिस्सा भी हम परमात्मा के लिए नहीं करते।

ऐसा क्यों होता है? आदमी कहता है कि 'संसार की कोई चीज़ स्थिर नहीं रहनी है, यह भी ठीक है कि हम मरकर जाएँगे तो ये बच्चे, धन आदि सभी हमारे किसी काम नहीं आने हैं। यह हम जानते हैं, परन्तु फिर भी करना तो पड़ता ही है।' स्वप्न से उठने के बाद क्या कभी चिंता करते हैं कि स्वप्न में हम जवान लड़के को छोड़कर आए थे, उसका ब्याह कौन कराएगा? कुछ नहीं सोचते, क्योंकि जानते हैं कि वह लड़का जितनी देर दीखा उतनी ही देर भी नहीं था। ठीक इसी प्रकार जाग्रत् संसार में जो लड़के पैदा हुए उनके प्रति यह वृत्ति नहीं बन पाती। श्रद्धा तो है कि मरकर जाना है, परन्तु यह जो दीख रहा है वह सच्चा नहीं है—यह निश्चय अनुभव नहीं हो रहा है। यह अपरोक्ष ज्ञान बिना विचार के सिद्ध नहीं हो सकता। परोक्ष ज्ञान तो हो जाएगा कि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित, देश-काल-वस्तु तीनों परिच्छेदों से रहित ब्रह्म है। वह तो 'कोई ब्रह्म' लगता है इसलिए विरोध नहीं आता। विरोध तब आता है जब अपने सिर में दर्द होता है, हमारा जी घुटता है; तब 'मैं सिर से एक नहीं हूँ, सिर से अलग हूँ', यह कैसे हो सकता है? अपरोक्ष ज्ञान तो यह हो रहा है कि 'मैं कर्त्ता-भोक्ता, सुख-दुःख का भोग करने वाला, कर्म करने वाला हूँ। क्या करूँ, सत्संग में बैठने का विचार तो था लेकिन सवेरे दुकान खोलनी पड़ती है, चाबी

मेरे पास है इसलिए जाना पड़ता है'। सब जानते हैं कि रात को बारह बजे चोर आकर दुकान से माल ले जाते हैं! फिर भी यह निर्णय नहीं होता कि मैं नहीं जाऊँगा तो भी दुकान खुलनी होगी तो खुल जाएगी। अपरोक्ष ज्ञान है जीव-ईश्वर की सद्वितीयता का, सुख-दुःख के भोग का। अपरोक्ष ज्ञान हो रहा है कि संसार है। शास्त्र पर श्रद्धा होने पर भी इस अपरोक्ष ज्ञान को परोक्ष ब्रह्म-ज्ञान बाध नहीं सकता। अपरोक्ष ज्ञान के लिए तो विचार की अपेक्षा है। जब तक विचार नहीं किया जाएगा तब तक ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता। जब विचार से विरोध दूर हो जाता है तब अपरोक्ष ज्ञान प्रकट हो जाता है। इसलिये प्रतिबंध-निवृत्ति के लिये विचार कर्त्तव्य है।।३१।।

प्रश्न होता है कि हम तो बीस साल से सुन रहे हैं और विचार भी करते हैं, रोज़ सत्संग में आ रहे हैं, लेकिन हुआ कुछ नहीं! अभी भी हमें संसार सच्चा ही लगता है। इसलिए केवल विचार करने से क्या होगा? आप तो कोई अनुष्ठान बताईए जिससे यह ज्ञान होता हो या कोई ध्यान ही बताईए जिससे यह हो। दूसरे लोग कह भी देते हैं 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ', अरे! चाहे जितना विचार करो, विचार से कुछ नहीं होगा! अपने भी अनुभव में आता है कि विचार करने से होता नहीं है, अतः लगता है कि जरूर कोई न कोई छिपी हुई चीज़ है जो गुरु जी नहीं बता रहे। इसके उत्तर में विचार का ही महत्त्व कहते हैं—

विचार्याप्यापरोक्षेण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत्।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद् भूयो भूयो विचारयेत्।।३२।।

विचार कर भी ब्रह्मात्मा को अपरोक्ष न समझ पाने पर भी पुनः पुनः विचार ही कर्त्तव्य है क्योंकि उसी का अवसान अपरोक्ष में होता है।

कई अच्छे पंडितों की शंका होती है कि हम वेदान्त पढ़ा तो देते हैं, लेकिन सच्ची बात यह है कि हमें जँचता नहीं है। मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ यह जो ब्रह्म और आत्मा की सर्वथा एकता है, इसे अपरोक्ष रूप से नहीं जानते। कोई संदेह करे तो हम जवाब तो दे देंगे, परन्तु 'ऐसा मैं हूँ' यह नहीं जानते। आचार्य कहते हैं कि दूसरा कोई उपाय नहीं है! जब तक अपरोक्ष ज्ञान न हो जाए तब तक बार-बार विचार ही करो। सिवाय विचार के, अपरोक्ष ज्ञान का और कोई साधन नहीं है, कोई अन्य तरीका नहीं है जो तुम्हें अपरोक्ष ज्ञान दे दे। इसलिए चाहे बीस साल हो जाएँ और चाहे मरने का क्षण आ जाए, जब तक अपरोक्ष ज्ञान न हो तब तक साधक विचार में ही लगा रहे, विचार से ही ज्ञान होगा, और किसी से नहीं होगा। असली प्रतिबन्धक कोई न कोई, किसी न किसी प्रकार का संदेह है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि किसी समय कुछ सुन कर कोई संदेह मिट जाता है, किसी समय कोई और संदेह मिट जाता है। विचार करते-करते, सुनते-सुनते कभी न कभी सारे संदेह मिट जाते हैं। कौन-सा संदेह किस प्रकार समझाने से मिटेगा—यह संदेह मिटने के बाद ही पता लगता है! यह वैसा ही है जैसे एक खिलौना आता है जिस के अन्दर छोटे-छोटे छह छेद

होते हैं और छह ही उसमें छोटी-छोटी गोलियाँ होती हैं। खेल यह है कि सारी गोलियों को उन छेदों में डाल दो। तीन-चार या पाँच तक तो चली जाएँगी, सोचो कि छठी भी बस जाने वाली ही है, तब तक पहले वाली तीन फिर निकल जाती हैं! इसमें कोई कहे कि इन्हें बैठाने के लिए हनुमान चालीसा का पाठ करो, तो चाहे दस साल तक करते रहो, गोलियाँ बैठने वाली नहीं हैं। आचार्यों ने इतनी प्रक्रियाएँ बनाई हैं कि एक प्रक्रिया से निश्चय करने जाते हैं तो कोई संशय रह जाते हैं, उन्हें मिटाने जाते हैं तब तीन संशय और निकल आते हैं! भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं में कोई संदेह किसी से हट जाता है, दूसरा संदेह किसी दूसरी प्रक्रिया से हट जाता है। कई संशय हैं जिन्हें हटाना है पर ऐसी कोई एक प्रक्रिया नहीं जिससे *सारे* संदेह एक-साथ हट जाएँ। हटते ज़रूर हैं, लेकिन कब ?—यह पता नहीं है। विचार करते-करते कभी न कभी सारे संदेह दूर हो जाते हैं। इसलिए जब तक अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक विचार ही करना है, और कोई उपाय नहीं है।।**३२**।।

हम लोग मरणधर्मा हैं, यदि मरते दम तक भी बात नहीं बैठे तो क्या करें?—

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत्।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति।।३३।।

मरण-पर्यन्त विचार करते रहकर आत्मलाभ यदि न हुआ तो रुकावट दूर होने पर अन्य किसी जन्म में अवश्य होगा।

मरते दम तक आत्मप्राप्ति नहीं हुई तो फिर क्या प्रयास व्यर्थ गया? इसकी अपेक्षा तो हनुमान् जी का अनुष्ठान करते तो बन्दरों के लोक में, दिव्य लोक में तो पहुँच जाते! ऐसे विचार से क्या होगा? उत्तर में आचार्य कहते हैं, ऐसी बात नहीं है कि आत्मप्राप्ति नहीं होगी। किया हुआ विचार बेकार नहीं जाएगा। भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि यह विचाररूप धर्म ऐसा है जो कभी नष्ट होता ही नहीं है, अंततोगत्वा फल देगा ही। व्यास जी ने भी ब्रह्मसूत्र में यह कह दिया है कि ज्ञान यहीं हो जाता है परन्तु यदि यहाँ नहीं हुआ तो जन्मान्तर में विचार फल ज़रूर देगा, व्यर्थ नहीं जाएगा, वहाँ जल्दी हो जाएगा। अविचार प्रतिबन्धक है, कोई न कोई ऐसी शंका रह जाती है जिसका निराकरण नहीं हो पाता है। जैसे ही वह विचार की कड़ी जुड़ेगी वैसे ही बात बैठ जाएगी। सिवाय अविचार के और कुछ प्रतिबन्धक नहीं है अतः ठीक विचार ही उपाय है। इसलिए यदि इस जन्म में नहीं भी हुआ तो अगले जन्म में हो ही जाएगा।।**३३**।।

इसी बात को प्रमाण-सिद्ध बताते हैं। अंग्रेजी में कहावत है कि भगवान् पर विश्वास रखो, परन्तु बन्दूक में गोली तैयार रखो! यह उपदेश बहुत लोग देते हैं कि विचार करो जिससे ब्रह्मज्ञान हो जाए लेकिन साथ में कुछ न कुछ कर्म भी करो, भक्ति आदि करते रहो ताकि ज्ञान नहीं होगा तो ये काम आएँगे। ऐसा नहीं करो कि कर्म-उपासना बिलकुल छोड़ दो क्योंकि ज्ञान नहीं हुआ तो फिर नष्ट हो जाओगे। अर्जुन ने भी इसी बात को पूछा

था—'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति' कि कर्म-उपासना का सहारा छोड़ दिया और विचार सफल नहीं हुआ तो जैसे हवा में बादल छितर जाते हैं, ऐसे ही क्या हमारा हाल हो जाएगा? अधिकतर लोग कर्म और उपासना के अधिकारी होने के कारण उसी को ठीक समझते हैं, वे ज्ञान का साक्षात् विरोध नहीं करते, परन्तु कहते हैं कि ज्ञान या विचार करना अच्छी चीज़ है मगर कर्म-उपासना भी करनी चाहिए। इसलिए सिद्धान्ती को कहना पड़ता है कि कर्म-उपासना के रहते विचार ठीक से नहीं हो पाएगा। कारण यह है कि चाहे कर्म हो या उपासना हो, सब जगत् में सत्य-बुद्धि लाते ही हैं। कर्म-उपासना का फल सच्चा होगा— इस बुद्धि से ही आदमी कर्म-उपासना करता है। वैकुण्ठ सचमुच है, वहाँ जाकर कल्याण होना है यह मानते हैं तभी तो उपासना करते हैं। ऐसी भावना से द्वैतबुद्धि ही दृढ होगी, अद्वैतबुद्धि दृढ नहीं हो पाएगी। यही चीज़ लौकिक कर्मों के बारे में भी समझ लेनी चाहिए : लौकिक कर्मों में भी मनुष्य की यह बुद्धि होती है कि अमुक काम तो फल पाने के लिए ज़रूरी है। यह हम जानते हैं कि संसार मिथ्या है, लेकिन ज़रूरत पड़े तो करना ही है। जब तक यह 'ज़रूरत पड़ने' की भावना है तब तक कभी भी तत्त्वनिष्ठा नहीं हो पाएगी क्योंकि 'ज़रूरत' के पीछे भावना यह है कि संसार सच्चा है, सच्ची ज़रूरत को सच्चे उपाय से हटाना पड़ेगा। इसलिये 'जरूरत' है ही नहीं। विचार से निश्चय करना है कि वास्तव में जिन चीज़ों के विषय में यह निर्णय करना है कि ये हैं ही नहीं, उन्हें 'हैं' मानकर व्यवहार करना गलत है। प्रतीति हो रही है, प्रतीति को मना नहीं कर रहे हैं, परन्तु प्रतीति वैसे ही हो रही है जैसे रस्सी में साँप दीखता है; साँप की प्रतीति होती है, साँप होता नहीं है। इसी प्रकार आवश्यकता की प्रतीति है, परन्तु आवश्यकता सचमुच में होती नहीं है। इसी प्रकार किसी चीज़ से आवश्यकता पूरी हो गई— ऐसी प्रतीति होती है, वस्तुतः वह आवश्यकता पूरी या दूर होती नहीं है। इसलिए कहते हैं कि कैवल्यार्थी के लिये विचार ही कर्त्तव्य है—

इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम्।
शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः।।३४।।

ब्रह्मसूत्र-रचयिता ने बताया है कि तत्त्वज्ञान के साधन इस जन्म में या परजन्म में सफल हो जाते हैं। वेद कहता है कि संसार में बहुतेरे हैं जो सुनते हुए भी तत्त्व को समझते नहीं।

सूत्रकार भगवान् बादरायण ने (३.४.५१) कहा है 'ऐहिकम् अपि अप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' विचार यहीं फल देता है, इस शरीर में फल दे देता है। अगर विचार की पूर्णता नहीं हुई, कोई प्रतिबन्धक रह गया, तो जब प्रतिबन्धक हट जाएगा तब अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाएगा। जितने संदेह हटाए गए वे तो फिर आएँगे नहीं पर जो दस-पाँच संदेह बचे हुए हैं, वे जैसे ही हटेंगे वैसे ही अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाएगा। इसलिए, मरकर जाएँगे तो यहाँ किया हुआ विचार नष्ट नहीं होगा। लोक में देखा जाता है कि ऐसे-ऐसे बच्चे हैं जो चार साल के होने पर भी स्नातक-स्तर के गणित के सवालों का जवाब निकाल लेते हैं! चार साल

का बच्चा संगीत की ऐसी ध्वनि निकालता है जो बड़े-बड़े गवैयों के लिये कठिन है। क्योंकि पूर्वजन्म में अभ्यास किया हुआ है, इसीलिए वैसा कर लेता है। इसी प्रकार, बहुत से बच्चे चार-आठ साल की उम्र में संसार की अनित्यता का अनुभव करते हैं। ऐसा अनुभव तभी करते हैं जब उनमें पूर्व जन्म के संस्कार हैं जो उस उम्र में उदय होते हैं। इसलिए स्पष्ट है कि विचार का फल अर्थात् तत्त्वज्ञान यहाँ भी हो जाता है या आगे जब प्रतिबंधक हटता है, तब हो जाता है। पुराणों में भी यह बात आती है और स्वयं श्रुति भी कहती है। श्रुति में कहाँ कहा है, इसका एक स्थल बताते हैं—'शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः' (कठोपनिषद् १.२.७) अर्थात् जो सामने उपस्थित लोग हैं, उनमें से बहुतों को बार-बार सुनने पर भी बात समझ में नहीं आती। सौ में से किसी एक को बात ठीक समझ में आ जाती है, बाकियों को नहीं आती। एक बार सुनकर एक को तो बिलकुल स्पष्ट समझ में आ जाती है, दूसरा बिलकुल नहीं समझ पाता, एक को थोड़ी समझ में आती है, थोड़ी नहीं आती, कुछ संदेह रह जाते हैं। ऐसा भेद क्यों है? जिसने तो पहले साधना कर रखी है, उसको तो वह बात एक बार सुनकर ही स्पष्ट हो जाती है। जिस की तत्सम्बन्धी पूर्व साधना नहीं है, उसकी समझ में ही नहीं आता कि क्या कह रहे हैं। जिसने थोड़ा विचार किया हुआ है, उसकी समझ में कम आता है, कुछ नहीं भी आता। प्रतिबंधक शत प्रतिशत हैं, तो बिलकुल समझ में नहीं आयेगा। सुनते हुए भी इसलिए समझ में नहीं आता कि पहले विचार किया हुआ ही नहीं है। यदि पहले का किया हुआ विचार फलोन्मुख है तो बात सुनते ही समझ में आ जाती है। बहुत-से लोग कहते हैं कि वेदान्त बड़ा कठिन है, कुछ समझ में नहीं आता। घण्टी बजाना, पीतल ठोकने की बात तो समझ में आती है! सर्वथा अविचारशील की समझ में बार-बार सुनने पर भी समझ में नहीं आता।।**३४**।।

फिर वह कब जानेगा? प्रतिबंध दूर होने पर ही उसे समझ आयेगी। इसमें भी श्रुति-वचन सुनाते हैं—

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान्।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु।।३५।।

गर्भ में ही लेटे हुए वामदेव ने पूर्व जन्म में अभ्यास किये विचार से ब्रह्म समझ लिया। जैसे अध्ययन आदि में (पूर्वलब्ध संस्कार प्रभावी देखे जाते हैं वैसे ब्रह्मविद्या में भी है)।

श्रुति ने (ऐ.अध्याय २) वामदेव का दृष्टांत दिया है : वामदेव महर्षि ने खूब वेदान्त-श्रवण किया परन्तु उन्हें ज्ञान नहीं हुआ, मर गए, पुनः गर्भ में आए पर गर्भ में आते ही उन्हें ज्ञान हो गया। उनके जो साथी थे वे अभी श्रवण में ही लगे हुए थे। उनमें से कईयों का उत्साह टूटने लगा था कि इतने साल श्रवण करते हुए बीत गए, कुछ नहीं हुआ। वामदेव को ज्ञान हुआ, सब के मन की बात जानते थे। उन्होंने सोचा कि सब इतनी दूर तो आ गए लेकिन अब इन्हें अश्रद्धा हो रही है! चूँकि गर्भ में लेटे हुए ही उन्हें ज्ञान हो गया था इसलिए गर्भ के अन्दर से ही उन्होंने उन सब को कहा—'अरे! तुम लोग घबराओ नहीं। मैं

भी तुम लोगों में से ही अमुक नाम वाला था। अब मैं गर्भ में आया हूँ पर गर्भ में आते ही मुझे ज्ञान हो गया है। इसलिए तुम लोग इस विचार के मार्ग को मत छोड़ो, इसी में डटे रहो।' यह बात बिलकुल पक्की, निश्चित है कि जीव ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। श्रुति ने कहा है। 'गर्भ एव शयानो वामदेवः प्रतिपेदे' गर्भ में लेटे हुए ही उन्हें ज्ञान हुआ। गर्भ में ही उन्हें साक्षात्कार हो गया। गर्भ में जाने से उन्हें कुछ नई चीज़ की प्राप्ति नहीं हुई। पूर्व में जो विचार का अभ्यास किया था उससे ही उन्हें ज्ञान हुआ क्योंकि गर्भ में तो कोई उपदेश देने वाला था नहीं। ऐसा कैसे होता है? जैसे अध्ययन में।।३५।।

अध्ययन का दृष्टांत स्पष्ट करते हैं—

बहुवारमधीतेऽपि तदा नाऽऽयाति चेत्पुनः।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत् पुमान्।।३६।।

बहुत बार पढ़ने पर भी उस समय यदि नहीं आता तो अगले दिन बिना पढ़े ही व्यक्ति को पहले पढ़ा याद आ जाता है।

कभी-कभी बहुत बार पढ़ी हुई बात भी याद नहीं आती। दूसरे दिन, न हमने कोई किताब पढ़ी, न कुछ प्रयत्न किया, बिना कुछ किए हुए ही वह बात ठीक स्मरण आ जाती है। इसीलिए याद आ जाती है कि पहले अध्ययन किया हुआ है। कोई कहे कि 'अकस्मात् याद आ जाती है तो फिर पढ़ने की क्या ज़रूरत है? बिना पढ़े भी याद आ जाएगी!' तो ऐसा नहीं होता। जिसने बीस साल तक ख़ूब अध्ययन या पाठ किया है उसी को याद आएगी, रास्ते चलते को तो याद नहीं आएगी। ठीक इसी प्रकार जिसने ख़ूब विचार किया है उसी को कभी अकस्मात्, जैसे वामदेव को हुआ, अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाएगा। *उस समय* उसने कुछ नहीं किया, फिर भी अकस्मात् वह तत्त्व एकदम चमक जाएगा। इसलिए जो अपरोक्ष साक्षात्कार प्राप्त करना चाहता है वह विचार में लगा ही रहे। भगवान् कहते हैं 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम् अपोहनं च' स्मरण होता है तभी जब परमेश्वर स्मरण कराता है। परमेश्वर जब अपोहन कर देता है उस समय स्मृति नहीं आती। परन्तु याद आता वही है जो पहले अध्ययन किया हुआ है। 'स्मरण कब होगा' यह परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है, होगा वही जो तुम्हारा अध्ययन किया हुआ है। इसलिए साधक विचार में तत्पर ही रहे, अन्य साधन में न लगे।।३६।।

पहले (श्लोक ३५ में) कहा था 'अध्ययनादिषु' अब 'आदि' पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते।।३७।।

खेती, गर्भ आदि जैसे समय से पकते हैं वैसे आत्मविचार भी समय से धीर-धीरे परिपक्व होता है।

समय आने पर ही कृषि, गर्भ आदि चीज़ें पूर्णरूप से पक कर तैयार हो जाती हैं। 'काल' हमारे यहाँ परमेश्वर ही है। जब अर्जुन ने भगवान् से पूछा 'आप कौन हैं जो इस सारे संसार में विश्वरूप में प्रकट हो रहे हैं?' तब भगवान् ने और किसी का नाम न लेकर यही कहा 'कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' मैं काल ही हूँ। काल को हम लोग परमात्मा का साक्षात् स्वरूप मानते हैं। लोक अर्थात् जिस चीज़ को हम लौकते हैं या देखते हैं, जो तुरन्त नष्ट होता रहता है। एक की जगह दूसरी चीज़ तभी आएगी जब बीच में काल होगा। काल के कारण ही सारी चीज़ें नष्ट होती हैं और 'कालेन परिपच्यन्ते' काल अर्थात् परमेश्वर के संकल्प से ही चीज़ें पूर्णरूप से पकती हैं! थोड़ी-थोड़ी पकती जाती हैं परन्तु जब काल पूरा होता है तब पूरी पकती हैं। अमुक चावल साठ दिन में, अमुक पैंसठ या नब्बे दिन में पकता है, परन्तु जिसे हम साठ दिन में पकने वाला समझते हैं वह भी ५८-५६ दिनों तक भी पक ही रहा है। जब काल पूरा पकाएगा तभी परिपक्व होगा। लोक में जब कहते हैं कि समय या काल बड़ा बलवान् होता है तब काल अर्थात् परमेश्वर।

समय की बलवत्ता को कहते हुए बताया है कि वह भी एक काल था जब अर्जुन ने विराट् नगर में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि सब को अकेले ही हराया था, उसका कोई साथी वहाँ नहीं था। वही अर्जुन गाण्डीव लेकर प्रयत्न करता रहा परन्तु वह उसका अपना धनुष ही उसके द्वारा तैयार नहीं हो पाया! फिर उसी गाण्डीव धनुष को डण्डे जैसा लेकर मारने लगा, कहने लगा—'जानते नहीं कि मैं अर्जुन हूँ?' सारे डकैत हँसते रहे कि बड़ा भारी अर्जुन आया है! उसके देखते-देखते यादवों की सारी औरतों को भगा ले गए। कहाँ तो भीष्म, द्रोण आदि सब मिलकर भी उसका बाल बाँका नहीं कर सके और कहाँ वह डाकुओं का कुछ नहीं बिगाड़ सका। इसलिए काल अर्थात् ईश्वरेच्छा को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। जैसे खेती, वैसे ही गर्भ भी काल से परिपक्व होता है। हम जानते हैं कि दसवें महीने में बच्चा पैदा होता है, लेकिन वह भी कोई निश्चित नहीं कह सकता। कई बार सातवें या नौवें महीने में पैदा हो जाता है। हम अंदाज़ कर सकते हैं, परन्तु निश्चित रूप से भगवान् ही जानते हैं। वे परिपाक करेंगे तभी पूर्णतः तैयार होगा। इसी प्रकार अन्य सब चीज़ें भी समय से ही सम्पन्न होती हैं।

जब हम आत्मा के स्वरूप का ब्रह्मरूप से विचार करते हैं तो कोई नहीं कह सकता कि दस बार उपनिषद् की आवृत्ति करेंगे तब निश्चिय होगा या बीस बार आवृत्ति करने से होगा! समय आने पर ही होगा। इसलिए शास्त्रों के अन्दर बार-बार ईश्वरोपासना पर इतना ज़ोर दिया जाता है क्योंकि ईश्वर के अनुग्रह से ही फल होता है। भगवान् भाष्यकार बार-बार इस बात को याद दिलाते हैं कि परमेश्वर के अनुग्रह से ही अज्ञान का बंधन नष्ट होता है क्योंकि जब परमेश्वर अनुग्रह करेंगे तभी विचार पकेगा। जैसे पाक धीरे-धीरे होता है, पता नहीं चलता और तैयार हो जाता है, इसी प्रकार आत्मविचार में भी एक क्षण पहले तक पता नहीं चलता, फिर बड़ा भारी आश्चर्य होता है। भगवान् भाष्यकार कहते (वि. चू. ४८३) हैं—

'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्।।'

अभी-अभी यह सारा जगत् सच्चा दीख रहा था और अचानक निश्चित ज्ञान हो रहा है कि यह तीन काल में नहीं है! प्रतीति हो रही है, परन्तु है-रूप से प्रतीति नहीं रह गई। इसलिए आत्मज्ञान के मार्ग में बड़ा धैर्य चाहिए, जल्दबाज़ी करने वाले को तत्त्वनिश्चय नहीं हो पाता।

एक बार नारद जी कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक तपस्वी घोर तपस्या कर रहा था। नारद जी भी उधर से निकले तो उस तपस्वी ने उनसे पूछा 'आप कौन हैं?' उन्होंने कहा—मैं नारद हूँ। उसने कहा—'फिर तो आप भगवान् के पास जाते होंगे, ज़रा उनसे पूछ कर आना कि मेरे ऊपर उनकी कृपा कब होगी, मुझे उनके दर्शन कब होंगे?' नारद जी 'ठीक है' कह कर चल दिए। थोड़ी दूर गए तो एक आदमी बड़ी शांति से जप, ध्यान आदि में लगा था, वैसा घोर तपस्वी नहीं था, परन्तु भगवान् का निरंतर चिंतन करता था। उसने भी बात-चीत में पूछा—'आप कौन हैं?' कहा—मैं नारद हूँ। उसने भी वही कहा कि 'भगवान् से पूछ लेना कि हमें उनके दर्शन कब होंगे?' नारद जी तो रोज़ घूमते-घूमते भगवान् के यहाँ जाते ही हैं। बातचीत में उन्होंने पूछ लिया 'एक बड़ा भारी तपस्वी है, उसने मुझ से पूछा था कि भगवान् के दर्शन कब होंगे?' भगवान् ने कहा 'उसे तीसरे जन्म में मेरे दर्शन हो जाएँगे।' फिर नारद जी ने दूसरे के बारे में भी पूछा, भगवान् ने कहा—'उसको कह देना कि जिस पेड़ के नीचे कुटिया बनाकर भजन कर रहे हो' उस पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने जन्म बीतने पर उसे दर्शन हो जाएँगे।' नारद जी फिर जब घूमते-घामते पहले वाले घोर तपस्वी के पास आए तो बताया—'भगवान् ने कहा है कि अब से तीसरे जन्म में तुम्हें दर्शन हो जाएँगे, इसलिए तीन जन्म तो लेने पड़ेंगे।' उसने गुस्से में कहा—'तू झूठा, तेरा भगवान् झूठा। मुझ जैसा घोर तपस्वी, सब तरह से कष्ट सहने वाला, सर्दी को सर्दी नहीं समझता, गर्मी को गर्मी नहीं समझता, गर्मी में भी पंचाग्नि तापता हूँ, सर्दी में गंगा जी के ठण्डे पानी में नहाता हूँ, मुझे तीन जन्मों के बाद दर्शन होंगे! तुम सब झूठे हो, भगवान् आदि कुछ नहीं है। इससे अच्छा तो हम जाकर संसार का आनन्द लें।' अब नारद जी दूसरे भक्त के पास जाने से डर रहे थे कि यह तीन जन्म सुन कर ही घबरा गया तो उससे जब पेड़ के पत्तों जितने जन्म बीतने के बाद की बात कहूँगा तो मेरा क्या हाल करेगा! फिर भी बड़ी तैयार करके, कि कुछ करेगा तो तुरन्त वहाँ से भागूँगा, फिर वहाँ पहुँचे क्योंकि जवाब तो उसे भी देना ही था। उसने नारद जी को बड़े आदर से बिठाया, दूध आदि पिलाया, फिर पूछा, —'आपने मेरे बारे में भगवान् से पूछा होगा।' नारद जी धीरे-धीरे बोले—'पूछा तो था, भगवान ने कहा है कि इस पेड़ में जितने पत्ते हैं उतने जन्म बीतने के बाद तुम्हें दर्शन होंगे।' वह तो यह सुनते ही आनन्द से नाचने लगा कि भगवान् की बड़ी कृपा है! अनंत जन्म तो बीत गए,

पेड़ में पत्ते हैं ही कितने, इतने जन्म भी समाप्त हो जाएँगे। आपने बहुत अच्छा किया कि मुझे भगवान् का निश्चय बता दिया। अब मैं शांति से भजन में ही लगा रहूँगा क्योंकि समय निश्चित हो गया, भगवान् ने स्वयं कह दिया।' ऐसा धैर्य हो तब आत्मविचार पकता है। भगवान् गौडपाद कहते हैं कि कुशा के एक कोने को समुद्र में डुबोकर बाहर छिड़कने से समुद्र को खाली करने जैसा बड़ा धैर्य जिसे हो, वही इस विचार मार्ग में लगे। यह नहीं समझना कि नहीं होगा, बिना किसी प्रकार का खेद मन में लाए हुए साधक इसमें लगा रहता है तो सफल हो जाता है। होगा तो ईश्वरानुग्रह से ही, इसलिए श्रीहर्ष कहते हैं 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसाम् अद्वैतवासना' ईश्वर के अनुग्रह से जीव के अद्वैत के संस्कार दृढ, परिपक्व होते हैं। एक युग में दो-तीन को ही होना बड़ा मुश्किल है, परन्तु जब परिपक्व हो जाता है तब संसाररूपी महाभय से वह छूट जाता है।।३७।।

भगवान् का अनुग्रह तुरन्त क्यों नहीं हो जाता? क्योंकि उसमें रुकावटें हैं—

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम्।।३८।।

वार्त्तिक में यह साफ-साफ बताया है कि तीन तरह की रुकावटों से बारम्बार विचार करने पर भी व्यक्ति तत्त्व को नहीं जान पाता।

बार-बार ऊहापोह और उपक्रम-उपसंहार के द्वारा विवेचन करके, विचार करके यह नहीं सोचना कि इतना विचार कर लिया, कुछ नहीं हुआ तो अब कुछ और ही काम कर लें, घण्टी आदि हिलाने से हो जाए! ऐसा नहीं है। होना तो विचार से ही है। भगवान् शंकर ने सूत-संहिता में बड़े स्पष्ट रूप से कहा है कि और सब प्रकार के चिंतनों की अपेक्षा 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' यह विचार श्रेष्ठ है। साधारण मालिक इस बात से खुश नहीं होता कि नौकर अपने को मालिक बताये। तुम अपने को देवता बताओ तो कौन देवता ख़ुश होगा! कोई ख़ुश नहीं होगा। परन्तु जब हम कहते हैं 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' तब परब्रह्म परमात्मा बड़े प्रसन्न होते हैं। उन्हें यह उपासना सबसे श्रेष्ठ लगती है। भगवान् शंकर कहते हैं कि 'शिवोऽहं' इस भावना से मैं जितना प्रसन्न होता हूँ और किसी भावना से नहीं होता। भगवान् ने गीता में कहा है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' सचमुच में ज्ञानी मेरा स्वरूप है। जब कहते हैं 'मैं ब्रह्म हूँ' तब परोक्ष भाव को हटाकर अपरोक्ष स्वरूप को समझते हैं, इसलिए शिव प्रसन्न होते हैं कि 'मेरे वास्तविक स्वरूप को समझ लिया'। इसीलिए करना बार-बार अद्वैत का विचार ही है और वह धैर्य से ही होगा।

इसमें समय क्यों लगता है? क्योंकि तीन प्रकार की रुकावटें है, उन्हें दूर करने में समय लगता है। प्रतिबंधक उसको कहते हैं जो सामग्री रहते कार्य न होने दे। जब तक रुकावट नहीं हटेगी तब तक कार्य प्रकट नहीं होगा। जैसे, पानी बरस रहा है, नदी में पानी बढ़ भी रहा है, फिर भी आगे पानी नहीं आ रहा है तो अवश्य बीच में बंधा बना हुआ है जो उस

पानी को आगे नहीं जाने देता। उस पानी को आगे लाने के लिए न पानी बरसने की ज़रूरत है, न कहीं से पानी लाने की ज़रूरत है; केवल यह ज़रूरत है कि उस बंधे को तोड़ दो, इसके अतिरिक्त और कोई रुकावट नहीं है। जो चीज़ रोक रही है उसे हटाना है। इसी प्रकार, श्रवण-मनन के सन्दर्भ में तीन प्रतिबंधक हैं जो रुकावट डालते हैं, जिन के कारण 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह जो वास्तविक तत्त्व है इसका साक्षात् अनुभव नहीं कर पाते हैं। प्रतिबंधकों की बात अपने मन से नहीं कही है, इस बात को साक्षात् भगवान् सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक में स्पष्ट रूप से कहा है।।३८।।

वार्तिक (बृ.सं.२६४-५) का प्रमाण उद्धृत करते हैं–

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बंधपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा।।३९।।

वह ज्ञान कैसे होता है? वह प्रतिबन्ध के पूरी तरह क्षय से ही होता है। प्रतिबंध भी भूत, भावी या वर्त्तमान हुआ करते हैं।

ज्ञान किस चीज़ से होगा? 'मैं ही ब्रह्म हूँ और ब्रह्म ही मैं हूँ' यह ज्ञान इसलिए नहीं हो रहा है कि तीन प्रतिबंधक हैं। जब तक ये प्रतिबंधक हैं तब तक ज्ञान नहीं होगा। इन प्रतिबंधों को हटाने से ज्ञान हो जाता है, जैसे बंधे को हटाने से पानी मिल जाता है। कोई भूत प्रतिबंधक है, कोई भावी और कोई वर्तमान प्रतिबंधक है। भूत अर्थात् पहले किए हुए कोई कर्म आदि ऐसे हैं जिनके कारण रुकावट है। कोई कर्म भावी अर्थात् आगे फलने वाले हैं और कोई इस समय मौजूद हैं जो ज्ञान होने में प्रतिबंधक हैं।।३९।।

प्रतिबंध-कल्पना का श्रुतिप्रसंग से समर्थन करते हैं–

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते।
हिरण्यनिधिदृष्टांतादिदमेव हि दर्शितम्।।४०।।

सोने के खजाने के उदाहरण से यही दिखाया कि जिसने वेद और उसका अर्थ पढ़ लिया वह भी रुकावट के कारण मुक्त नहीं होता।

जिसने वेद पढ़ लिया और वेद के अर्थ को भी जान लिया वह भी बद्ध रह जाता है। यहाँ वेद का अर्थ उपनिषद् है। जिसने उपनिषदों को पढ़ लिया, उनका भली प्रकार विचार करके अर्थज्ञान कर लिया वह भी मोक्षसे वंचित रह सकता है। केवल उपनिषदें बाँची हों ऐसा नहीं, बल्कि अर्थ या तात्पर्य का भी निश्चय कर लिया है फिर भी प्रतिबंधक के कारण ही मुक्त नहीं होता है अर्थात् अविद्या निवृत्त नहीं होती है। इस बात को श्रुति ने छान्दोग्य (८.३.२) में कहा है कि तुम्हारे बग़ीचे में ख़ज़ाना गड़ा हुआ है, उस ख़ज़ाने के ऊपर से रोज़ गुज़रते भी हो, फिर भी तुम पैसे के लिए मोहताज हो! तुम्हें कहीं से पैसा कमा कर नहीं लाना है क्योंकि तुम्हारे बगीचे में ही है, उसके मालिक तुम ही हो, तुम्हारा ही बगीचा है,

फिर भी जब तक वह गड़ा हुआ धन उघड़ न जाए तब तक तुम्हारे किस काम का है! श्रुति ने इस हिरण्यनिधि के दृष्टांत से इसी बात को बताया है कि उसके ऊपर रखा हुआ पत्थर ही प्रतिबंधक है। बाप का गाड़ा हुआ ख़ज़ाना वहीं है, केवल उस पर पत्थर रखा होने के कारण तुम्हारे लिए तो नहीं-जैसा है। इसी प्रकार तुम्हारी हृदय-गुहा के अन्दर तुम्हारे ही पिता परब्रह्म परमात्मा ने उस आत्मरूप को बिलकुल शुद्ध रूप में बिठाकर रखा है, परन्तु जब तक प्रतिबंधक उसके ऊपर पड़े हुए हैं तब तक तुम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। इससे श्रुति ने कहा कि प्रतिबंधक-निवृत्ति के बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकते।॥४०॥

तीनों प्रतिबंधक कैसे हैं, यह बताते हुए पहले भूत प्रतिबंध दिखाते हैं—

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबंधतः।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते।।४१।।

संसार में ऐसा किस्सा सुनाया जाता है कि पूर्वकालीन महिषी-प्रेम द्वारा कृत प्रतिबंध से भिक्षु तत्त्व नहीं समझ पाया।

भूत प्रतिबंधक को बताना इसीलिए ज़रूरी है कि प्रायः वर्तमान प्रतिबंधक तो स्वयम् समझ में आता है। नदी के ऊपर बाँध बना हुआ है तो पानी रुका है, यह समझ में आ जाता है। अगर कोई कहे कि 'यहाँ दस साल पहले बन्धा बँधा हुआ था जिसके कारण पानी नहीं बह रहा है' तो कुछ समझ में नहीं आएगा! वर्त्तमान का ही प्रतिबंधक काम रोकता देखा जाता है। परन्तु आत्मज्ञान के लिए ऐसा नियम नहीं है। कोई संन्यासी बनने के पहले जब घर में था, उस समय उसकी एक भैंस बड़ी सुन्दर थी, बहुत बढ़िया दूध भी देती थी। उसने संन्यास लिया तो घर छोड़ दिया, उस भैंस को भी घर में छोड़कर आया। वह श्रवण आदि साधन में लग गया। अब भैंस उसकी नहीं और उसका दूध भी नहीं निकालता, इस समय उसका कुछ पता भी नहीं है। पहले उसे उस भैंस से बड़ा स्नेह था। गुरु जी ने उसको बार-बार श्रवण कराकर देखा तो पाया कि उसका चित्त इधर-उधर जाता था, श्रवण में एकाग्र नहीं होता था। गुरु जी ने पूछा—'आख़िर तुझे क्या याद आती है, क्या घर की कोई बात याद आती है?' उसने कहा—'बाकी कुछ याद नहीं आता, परन्तु मुझे अपनी भैंस बहुत याद आती है। वह बड़ी सुन्दर थी, बढ़िया दूध देती थी। बस वही बीच-बीच में बहुत याद आती है।' अधिक प्रेम था इसलिए उस भैंस में उसे असत्यत्व-बुद्धि नहीं होती थी, बाकी चीज़ों में हो जाती थी। संसार की अन्य चीज़ें सत्य नहीं हैं, यह तो विचार से निश्चय हो जाता था पर बीच-बीच में भैंस की याद आती थी तो लगता था कि भैंस थी तो बहुत अच्छी ही। वह संन्यासी तो हो गया था लेकिन भूत काल का स्नेह ही विचार में प्रतिबंधक बना था इसीलिए उस संन्यासी को तत्त्वज्ञान नहीं हो रहा था। यह लोक में कोई प्रसिद्ध कथा है जिसे सब लोग जानते हैं।।४१।।

गाथा सुनाकर उसके तात्पर्य को बताते हैं कि उस भैंस के स्नेह के रहते ज्ञान कैसे होगा?—

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान्।
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात्।।४२।।

उसके स्नेह के अनुसार गुरु ने महिषी में ब्रह्मतत्त्व घटाकर बताया, उससे रुकावट दूर हो जाने से भिक्षु सही बात समझ गया।

गुरुजी ने समझ लिया कि बाकी चीज़ों का विचार करते समय इसके अन्दर राग का प्रतिबन्धक नहीं रह रहा है, लेकिन भैंस को याद करते समय सब गड़बड़ हो जाता है। उन्होंने उसी के विवेक को स्पष्ट करना शुरू किया। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस के जीवन में आता है कि उनको भगवती काली से बड़ा प्रेम था। जब उनके संन्यास-गुरु तोतापुरी ने सब चीज़ समझा कर कहा कि 'अब बिलकुल स्थिर होकर ब्रह्मचिन्तन करो' तो थोड़ी देर बाद ही रामकृष्ण परमहंस कहने लगे 'बाकी सब चीज़ें तो मन से हट जाती हैं परन्तु काली की मूर्ति आ जाती है, माँ सामने आ जाती है, उसे मैं नहीं हटा पाता क्योंकि वही इष्ट है, उसमें बड़ा प्रेम है।' तब गुरुजी ने कहा कि विवेक की तलवार से उसके दो टुकड़े करके काट दो! जो अनुभव में आ रहा है वह मिथ्या है और जो अनुभवरूप ज्ञान है वह सच्चा है। इसमें युक्ति भी बताई। फिर जैसे ही उन्होंने उस रूप को दृश्यभाव वाला होने से काट दिया वैसे ही शुद्ध रूप में स्थित हो गए। इसलिए जिस चीज़ से स्नेह होता है उसी का विवेक अधिक करना पड़ता है। जब गुरुजी समझ गए कि केवल भैंस में उसका स्नेह है तब उसका अनुसरण करके उससे कहा 'तू उस भैंस में ही तत्त्व की दृष्टि कर'। उसे तत्त्व का उपदेश किया कि जब नाम-रूप उपाधि वाली भैंस सामने आए तो उस के अन्दर चिन्तन कर कि उपाधि में सदंश, चिदंश और आनन्दांश क्या है? उसने ऐसा चिंतन किया तो नाम-रूप अलग हो गए और सच्चिदानंद बच गया। भिक्षु साधक ने महिषी का ही विवेक कर दिया तो यथावत् सच्चिदानंदरूप ब्रह्म जैसा है वैसा ही उसे साक्षात्कार हो गया क्योंकि जो नाम-रूप के प्रति स्नेहात्मक भूत प्रतिबंधक था वह उस चिंतन से छिन्न हो गया। चूंकि उस भैंस को छोड़ ही आया था इसलिये उसका स्नेह वर्तमान में प्रतिबंधक बन नहीं रहा था। इस तरह, पहले किया हुआ स्नेह भी प्रतिबंधक बन जाता है।।४२।।

भूत प्रतिबंधक को बता चुके, अब वर्तमान प्रतिबंधक को बताते हैं—

प्रतिबंधो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्यय-दुराग्रहः।।४३।।

विषयों में आसक्तिरूप, बुद्धि में सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करने में असमर्थता, अनुभव-प्रमाण से रहित तर्क तथा शास्त्रीय से विपरीत भाव में आग्रह—ये (चार प्रधान) वर्त्तमान प्रतिबन्धक हैं।

वर्तमान प्रतिबंधकों में सबसे पहला विषयासक्ति है। भिक्षुक को तो केवल महिषी में आसक्ति थी, लेकिन प्रायः लोगों को अनेक विषयों में आसक्ति होती है। कुछ के अनुसार

'महिषी' से महारानी समझी जा सकती है। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, इनमें से किसी को एक-दो में तो किसी को पाँचों में आसक्ति रहती है। यह वर्तमान में, साधना-काल में सामने है। जिस चीज़ को पाना चाहते हो वह भी मन के सामने रहती है और जो चीज़ सामने मौज़ूद है, उससे तो आसक्ति है ही। लता के ऊपर अंगूर लगा हुआ है, सामने दीख रहा है तो मन चटकारा मारता है कि एक तो तोड़कर खा ही लें। कई बार तो अभी अमरूद लगा नहीं है, पेड़ पर फूल ही आया है, तभी मन में हो जाता है कि यह अमरूद खाने को मिलेगा, बड़ा मज़ा आएगा। इसे हटाने का उपाय आगे बताएँगे। दूसरा प्रज्ञामान्द्य है। बहुत से लोगों की समझने की शक्ति, प्रज्ञा बड़ी मन्द होती है। लोक में भी देखा जाता है कि किसी को थोड़ा-सा इशारा मिले तो बात समझ जाता है, किसी को एक ही बार कहो तो समझ लेता है और कोई बार-बार कहने से भी नहीं समझता! मनु महाराज कहते हैं 'यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किं' जिसकी अपनी प्रज्ञा नहीं है वह शास्त्र में कही हुई बात को, तत्त्व को सुनकर समझ ही नहीं सकता। जैसे पानी भरी बाल्टी में एक बूंद तेल डालें तो थोड़ी देर के बाद देखोगे कि वह तेल सारी बाल्टी पर फैल जाता है वैसे प्रज्ञा की तीक्ष्णता होती है तो थोड़ी-सी भी जानकारी को सर्वत्र फैलाकर उसके समग्र रूप को देख लेती है कि इस तथ्य का कहाँ-कहाँ, क्या-क्या प्रभाव हो सकता है। जहाँ प्रज्ञा की तीक्ष्णता नहीं होती है वहाँ केवल जितना कहा है उतना ही समझ आता है।

प्राचीन काल का दृष्टांत है : बढ़िया खीर बनाई, बनाकर बनाने वाले ने सोचा कि स्नान वगैरह कर आएँ तो खीर खाएँगे। पास वाले से कहा, 'देखना, कौए आकर खीर न खा जाएँ।' यह कहकर नहाने चला गया। नहाकर आया तो पूछा 'कौए तो नहीं आए थे?' खीर के पास बैठे हुए आदमी ने कहा 'कौए तो नहीं आए थे, एक कुत्ता आया था और खीर खा गया।' उसने कहा—'तू यहाँ बैठा हुआ क्या कर रहा था?' उसने कहा—'आपने कहा था कौए खीर न खा जाएँ, तो मैं देख रहा था, कौओं को भगाना था। आपने कुत्ते को भगाने को तो कहा नहीं था!' खीर बनाने वाला अपना माथा ठोकने लगा कि इतने परिश्रम से खीर बनाई थी, इसने नष्ट करवा दी। जब कौओं से बचाने को कहा था तो कुत्तों से बचाने को भी समझ लेना था। प्रज्ञामांद्य वाला जितना कहा उतना ही समझता है। उसे यह प्रतीत नहीं होता कि मतलब है कि जो भी विघ्न डाले उससे बचाना। प्रज्ञा की मन्दता होती है तो वह श्रवण नहीं कर पाता चूँकि शब्द लक्षणा से ही ज्ञान देगा जैसे कौए से लक्षणा केवल चिड़िया आदि की ही नहीं, कुत्ते, बिल्ली की भी करनी थी। जो भी खीर बिगाड़े, गिराये गंदी या जूठी करे सभी से बचाने में तात्पर्य है। पहले पंजाब में एक सम्प्रदाय था जिसे चाकूकटिया कहते थे। तुमने खिचड़ी या खीर बनाकर तैयार की, वे अकस्मात् आएँगे और कहेंगे—'देखो-देखो इसमें तो चींटा पड़ा है,' जब तक तुम देखो तब तक चींटा निकालने के लिए उसमें अपना हाथ (या चाकू) डाल देंगे और कहेंगे कि 'अब यह आपके खाने लायक नहीं रही, हम ले जाते हैं'। कौओं से बचाओ का मतलब सबसे बचाना ही समझना पड़ेगा। यह बात लक्षणा

से ही समझ में आती है। मन्द प्रज्ञा वाला लक्षणा नहीं कर सकता शब्द को ही पकड़े रहेगा और शब्द का विषय ब्रह्म है नहीं। प्रज्ञामान्द्य भी अभी, इस समय है; पहले था इसलिए ज्ञान नहीं हुआ—ऐसा नहीं है।

कुतर्क करने वाले को भी ज्ञान नहीं होता। कुतर्क करने वाला यही समझने का प्रयास करता है कि बतायी बात कैसे ठीक नहीं है! इसी प्रकार से वह सोचता है। इसलिए आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है 'दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्' श्रुति जिस बात को कह रही है उसे उसी तरह जैसे समझा जा सकता है, वह युक्ति सोचो। वह बात कैसे कट सकती है, यह मत सोचो। वह बात कैसे समझी जा सकती है, अपने मन में स्थिर हो सकती है, वह युक्ति सोचो। कुतर्की को हमेशा वही तर्क उपस्थित होता है जो श्रुतिमत को काट सके। श्रुत्यर्थ को अभिप्राय से विपरीत तरफ ले जाना कुतर्क है। जिसमें श्रुति के अर्थ का निर्णय करने का प्रयत्न नहीं, बाल्कि श्रुति को तात्पर्य-विरुद्ध कैसे समझा जाए, यह सोचना है, वही कुतर्क है।

विपर्यय-दुराग्रह—जो विपरीत ज्ञान है उसके प्रति दुराग्रह करना कि वही ठीक है। विपर्यय ज्ञान है कि मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ। दुराग्रही कहेगा कि वेद भले ही कहे, फिर भी कर्त्ता तो हूँ ही, भोक्ता तो हूँ ही। विपर्यय के प्रति दुराग्रह कि ऐसा तो है ही, यह भी प्रतिबंधक है। धन के बारे में चाहे जितना समझाएँ कि धन के अन्दर क्या-क्या दोष हैं फिर भी दुराग्रही का यह निर्णय रहता है कि ज़रूरी तो है ही, भले ही बिलकुल दोष की चीज़ है। सिग्रेट पीने वाले को अनेक कारण बताओ कि सिग्रेट पीने से नुकसान होता है, अंत में कहेगा—फिर भी दो-चार प्रतिशत ऐसे भी होते हैं जिन्हें नुकसान नहीं होता! मुझे नुकसान नहीं होगा—यही उसके कहने का मतलब है अर्थात् उसे लगता है कि सिग्रेट पीने से नुकसान नहीं होता। भले ही प्रमाण हो कि नुकसान होता है पर वह कहता है कि कोई नुकसान नहीं होता। विपर्यय में दुराग्रह वाला कहता है कि यह ठीक है कि शास्त्र हमको अकर्त्ता-अभोक्ता कहता है, फिर भी फल होगा तो कुछ करने से ही, बिना किए थोड़े ही हो जाएगा! यह दुराग्रह या अभिनिवेश भी वर्तमान में मौजूद प्रतिबंधक है। विषयासक्ति, प्रज्ञामांद्य, कुतर्क और विपर्यय या विपरीत ज्ञान में दुराग्रह—सभी प्रतिबंधक हैं। जब इन्हें हटा देते हैं तब वही पहले किया हुआ जो तत्त्वमसि आदि का विचार है, वह फल दे देता है। **॥४३॥**

आत्मज्ञान न होने में कारण तीन तरह के प्रतिबंधक हैं—भूत, भावी और वर्तमान। भूत प्रतिबंधक अर्थात् जिसका पहले अनुभव किया है उसकी स्मृति और वर्तमान प्रतिबंधक अर्थात्, जो मौज़ूद विषय है उसके प्रति आसक्ति, प्रज्ञा की मन्दता, कुतर्क और विपरीत ज्ञान में दुराग्रह। भूत प्रतिबंधक की निवृत्ति का उपाय बताया कि जिसकी स्मृति में स्नेहादि है उसी के अन्दर आत्मदृष्टि करना। अब वर्तमान प्रतिबंधक की निवृत्ति का उपाय बताते हैं—

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम्।
नीतेऽस्मिन् प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते।।४४।।

उस-उस रुकावट को दूर करने के लिये उचित साधन शम आदि एवं श्रवण आदि से इस (वर्त्तमान) रुकावट का नाश कर प्रतिबन्ध दूर होने से साधक प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता पा लेता है।

श्रुति में कहा है 'शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा'; किसी शाखा में केवल 'समाहितो भूत्वा' कहा है और किसी शाखा में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' कहा है। प्रायः दोनों का समाहार कर देते हैं। विषयासक्ति हटाने के लिए शमादि को साधन बताया। इसलिए उत्तरनारायण उपनिषद् में कहा है 'शमेन शांताः शिवमाचरन्ति'। शम अर्थात् मन को विषयों से दोष-दर्शन के द्वारा हटाना। इसलिए वैराग्य के बाद ही शम आदि को गिना गया। वैराग्य के द्वारा राग के विषयों में दुःख-दर्शन तो हो जाता है परन्तु दुःख-दर्शन के बाद भी उधर मन जाता है, उसको धीरे-धीरे बार-बार विचार करके वहाँ से हटा लेना है। इसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त नहीं होने देना है। इस प्रकार जब शम से शांत हो जाता है तब शिवतत्त्व अपने में प्रत्येक क्षण प्रकट होने लगता है। प्रज्ञामान्द्य को दूर करने के लिए बार-बार श्रवण-मनन का अभ्यास करना है। तेज़ छुरे से काग़ज एक झटके से फट जाता है। भुथरी छुरी हो तो वैसा नहीं कटता लेकिन बार-बार जब उसे धार लगाते हैं तो वही छुरी कागज को काट देती है। ठीक इसी प्रकार जिसकी प्रज्ञा तीव्र होती है वह तो थोड़ा श्रवण करने से ही सब तरह बात को समझ लेता है। लेकिन जिसमें यह सामर्थ्य नहीं है, वह जब बार-बार श्रवण करता है तो बार-बार झटका लगते-लगते, जैसे धार वाली छुरी से काग़ज कट जाता है, इसी प्रकार प्रज्ञामांद्य हटने से ज्ञान हो जाता है। बार-बार श्रवण करना इसी से प्रधान है। कुतर्क को हटाने के लिए मनन प्रधान है और विपरीत-दुराग्रह को हटाने के लिए निदिध्यासन प्रधान है। जिस-जिस प्रतिबंधक को हटाने के योग्य जो हथियार है, उस-उस के द्वारा जब ये प्रतिबन्धक क्षीण या नष्ट हो जाते हैं तब साधक ब्रह्म तत्त्व में स्थित हो जाता है। यहाँ प्रतिबंधक-नाश न कहकर प्रतिबंध-क्षय इसलिए कहा है क्योंकि ये सारे दोष बिना ब्रह्माकार वृत्ति के बने हुए समूल नष्ट नहीं होते। फिर भी उक्त साधनों को करने से इतने क्षीण हो जाने चाहिए कि श्रवण से उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति पर बोझ न रहे अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति को बन जाने दें। जब ये क्षीण हो जाते हैं या इनका बोझ कम हो जाता है तभी प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार वर्तमान प्रतिबंधक की निवृत्ति का उपाय बताया। ॥४४॥

भूत और वर्तमान प्रतिबंधकों को तो हम इन प्रयत्नों से हटा सकते हैं लेकिन भावी प्रतिबंध तो अभी पैदा ही नहीं हुआ है, वह जब सामने आएगा तब पता चलेगा। इस लिए अब उसे बताते हैं—

आगामिप्रतिबंधश्च वामदेवे समीरितः।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः।।४५।।

आगे आने वाला प्रतिबन्ध (अर्थात् प्रारब्धशेष) वामदेव के प्रसंग में कहा गया है। वामदेव का वह प्रतिबंधक एक जन्म में समाप्त हो गया था। भरत का वैसा प्रतिबंध तीन जन्मों में नष्ट हुआ।

अधिकतर प्रारब्ध तो एक जन्म में अपना फल दे देते हैं। प्रारब्ध उसी कर्म को कहते हैं जिसे इस (वर्तमान) शरीर में भोगना है, प्रायोवाद से यही अर्थ है। परन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो कई जन्मों में फल देते हैं। जैसे ब्रह्महत्या कई जन्मान्तरों तक फल देने वाली होती है। संचित कर्म तो वे हैं जो फलोन्मुख नहीं हुए इसलिए वे ज्ञान से चले जाते हैं। परन्तु प्रारब्ध उन कर्मों को कहते हैं जो फलोन्मुख हो गए हैं अर्थात् इस जन्म में फल देना शुरू कर दिया है। हम विवेक वैराग्य के रास्ते लग गए, फिर भी प्रारब्ध तो अपना फल दे रहा है, क्योंकि वह फलोन्मुख हो चुका है। जिस कर्म का फल मान लो सात जन्मों तक भोगना है,उसने फल देना शुरू किया, एक-दो जन्म हुए और हम विवेकादि के मार्ग पर चल पड़े। वह कर्म तो पूरा होने में सात जन्म ले लेगा। प्रतिबंधक केवल पाप का ही नहीं होता है, पुण्य का भी प्रतिबंधक होता है। जो भी कर्म फल देना शुरू कर चुके हैं उनको तो भोगकर ही समाप्त करना पड़ेगा। जिन्होंने अत्यधिक कर्म और उपासना की है वे लोग सृष्टि के आदि में इन्द्र, यम आदि पदों पर परमेश्वर के द्वारा उन कर्मों के फलस्वरूप आरूढ किए जाते हैं। उन्हें वे कार्य इस सृष्टि के अंत तक भी करने पड़ सकते हैं। चूँकि उन की उत्कृष्ट कर्म-उपासना तो थी ही, इसलिए इन पदों पर जा कर उन्हें श्रवण-मनन करने को मिल गया और ज्ञान हो गया। परन्तु उनका वह प्रारब्ध सृष्टि के अंतकाल तक चलना है और उसी से उनको अनेक शरीर भी लेने पड़ते हैं। उन शरीरों के अन्दर उनका तत्त्वज्ञान तो अप्रतिहत रहता है परन्तु चूँकि वे फल भोगने हैं अतः द्वैतका सर्वथा अदर्शन नहीं हो पाता। जैसे सामान्य ज्ञानी को ज्ञान होने के बाद दस-बीस साल जीना पड़ता है और जब तक शरीर नहीं छूट जाता तब तक संसार-दर्शन रहता है वैसे ही उन को प्रलय तक रहता है। उनका भी तत्त्वज्ञान वैस ही दृढ रहता है जैसे प्रारब्धभोग-काल में ज्ञानी का रहता है। जैसे यहाँ दस-बीस साल परमेश्वर के संकल्प के अनुसार शरीर-निर्वाह दीखता रहता है वैसे ही वे लोग अतिदीर्घ काल तक परमेश्वर के संकल्प से सारे कार्यों को करते हुए कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। भगवान् भाष्यकार ने लिखा है कि ऋग्वेद में जो अपान्तरतमा ऋषि हैं वही कलिद्वापर की संधि में व्यास-रूप में अवतरित हुए।

आगामी प्रतिबंध वे हुए जो जन्मान्तर के शेष प्रारब्ध-भोग हैं। उसका निवर्तन संभव नहीं क्योंकि वे प्रारम्भ हो गए। उसमें यह नहीं कह सकते कि उसे भोगने के लिए दस-बीस साल या दस-बीस करोड़ साल लगेंगे। जब तक प्रारब्ध शेष होगा तब तक भोगना पड़ेगा।

वामदेव महर्षि को 'गर्भ एवैतत् शयानो वामदेवः एवमुवाच'(ऐ. ४.५) गर्भ में ही तत्त्वनिष्ठा हो गई। इसलिए उनका तो एक ही जन्म हुआ जिससे भोग समाप्त हो गया। भरत राजा को तीन जन्म की ज़रूरत पड़ी। भरत ऋषभ देव के पुत्र थे, अखण्ड भूमण्डल के अधिपति थे। उन्होंने सब का त्याग किया और जंगल में जाकर तपस्या करने लगे। वहाँ उन्हें एक बार एक हिरण-हिरणी दीखे, हिरणी ब्याहने वाली थी। उसने उछलकर एक नाले को पार किया तो मृग-शावक गिर गया। यह देखकर भरत को दया आ गई, सोचने लगे कि बेचारे शावक का क्या होगा? जा कर उसे उठा लाए और उसका पालन-पोषण करने लगे। उस पर उन्हें इतना स्नेह हो गया कि निरन्तर उसी को सोचने लगे। वही हालत हुई, जैसा कबीरदास कहते हैं 'आए थे हरिभजन को ओटन लगे कपास'! भरत भी सब कुछ छोड़कर जंगल में आए तो थे भजन करने लेकिन दया का ऐसा स्वरूप कि उसी में फँस गए और यही चिंता करने लगे कि इस बेचारे का क्या होगा। इसलिए भाष्यकार ने लिखा है 'जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्' दया और निष्ठुरता, दोनों बंधन में डालती हैं। एक, दया राग के द्वारा और दूसरी, निष्ठुरता द्वेष के द्वारा। इस दया अर्थात् राग के कारण ही उन्हें अगले जन्म में हरिण बनना पड़ा, क्योंकि नियम है कि जो जैसा चिन्तन करते हुए मरेगा उसको वैसे शरीर की प्राप्ति होगी। परन्तु हिरण के शरीर में भी उनका ज्ञान बना रहा कि 'मैं इस प्रकार से लगा तो था परमेश्वर का भजन करके ब्रह्मप्राप्ति करने में पर जंगल में जाकर भी दयावशात् हरिण के स्नेह में फँस गया'।

जब हरिण का शरीर छूटा तब वे अपने पूर्व जन्म को ही याद कर रहे थे, इसलिए पुनः ब्राह्मण के घर पैदा हुए! वहाँ पैदा होकर उन्होंने निश्चय किया कि अब किसी से कुछ संबंध नहीं रखना है क्योंकि थोड़ा-सा संबंध रखा था तो क्या हालत हो गई! माँ-बाप ने जनेऊ आदि का प्रबंध किया तो उन्होंने गायत्री वगैरह भी नहीं ली। बड़े हो गए, कुछ काम ही न करें, किसी से कोई मतलब ही नहीं; घरवालों ने सोचा कि यह महाबेकार लड़का कहाँ से पैदा हो गया! इसलिए उसे जडभरत कहने लगे। घरवालों ने सोचा कि यह और कुछ काम नहीं करता तो इसे खेत में बिठा दें, कम से कम इसे वहाँ बैठा देख कर चिड़िया वगैरह तो खेत को खराब नहीं करेंगी। खेत में प्रायः लोग कपड़े और बाँस को गोल-मटोल बनाकर उसके हाथ पैर निकाल देते हैं और उसे खेत में गाड़ देते हैं जिसे दूर से देखकर लगता है कि कोई आदमी खड़ा है। वह पुतला होने से हवा चलने से हिलता भी रहता है अतः उसे आदमी समझकर चिड़िया वगैरह खेत में नहीं आती। घरवालों ने सोचा, उसे भी इसी काम के लिए खेत में बिठा दें। किन्तु वे तो जडभरत थे! पूर्व स्मृति के कारण महाभय लगता था कि फिर कहीं दुर्दशा न हो जाए। वहाँ बैठे हुए उनका तो ऐसा तत्त्वचिंतन ही चला कि चिड़ियाँ भी उसे पत्थर की मूर्ति समझें क्योंकि वह थोड़ा भी हिलता-डुलता तो था नहीं। इसलिए उसके बैठे रहते भी चिड़ियाँ खेत में खूब दाना चुगती रहीं! अब घर वालों ने कहा कि यह तो इस काम का भी नहीं, बिलकुल निकम्मा है, यह तो बाँस और कपड़े के बने

पुतले का भी काम नहीं कर सकता। वह पुतला तो फिर भी आदमी की शक्ल जैसा लगकर कुछ हिलता-डुलता है, यह तो वह भी नहीं कर सकता। भरत तो पूर्व भय के कारण इसी को सोचें कि कहीं फिर न फँस जाएँ। जिसे भाषा में कहते हैं कि दूध का जला छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीता है।

एक बार उधर से एक राजा जा रहा था। उसकी पालकी उठाने वालों में से एक आदमी बीमार हो गया तो उन्हें एक पालकी उठाने वाला चाहिए था। इसे देखा तो सोचा यह खूब हृष्ट-पुष्ट बैठ हुआ कुछ नहीं कर रहा है तो इसे पकड़कर ले आए और पालकी में लगा दिया। वह पालकी में लग गया, पालकी ढोने लगा, क्योंकि इसमें क्या फ़र्क पड़ना था। लेकिन पालकी उठाने वाले तो सुशिक्षित लोग होते हैं कि कैसे पैर रखना है, कहाँ देखना है इत्यादि सब जानते हैं। भरत को तो यह सब कुछ पता नहीं था, चलने लगा तो पालकी थोड़ी ऊपर नीचे होने लगी। राजा ने पूछा—'क्या तुम्हें बोझ लग रहा है?' भरत ने कहा—'मुझे क्या बोझ लगना है! तू पालकी पर बोझ है, पालकी कंधे पर बोझ है, कंधा पैर पर बोझ है, पैर जमींन पर बोझ है; इसमें मुझे कहाँ से भार लग गया!' राजा ने तुरन्त सब से कहकर पालकी नीचे रखवाई और कहा 'यह तो कोई महापुरुष है।' उसको नमस्कार कर के राजा ने बड़ी श्रद्धा से कहा 'आप तो तत्त्वज्ञानी हैं, इसलिए आप मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश दें।' तब उन्होंने राजा को उपदेश दिया जिससे पता लग गया कि वे तत्त्वज्ञान में निष्ठा के कारण ही अन्य किसी कार्य से दूर रहते हैं। एक जन्म तो वह हुआ जिसमें ज्ञान हुआ, दूसरा जन्म हरिण का और तीसरा जन्म जड भरत का था, फिर उनकी मुक्ति हो गई। वामदेव ऋषि का एक ही जन्म में प्रारब्ध समाप्त हो गया और भरत का तीन जन्म में खत्म हुआ। इसलिए कोई नियम नहीं है कि प्रारब्ध-भोग कितने जन्मों में खत्म हो। **॥४५॥**

एक या तीन जन्म यों दो विकल्प ही हों ऐसा नहीं है। अतः भगवान् ने गीता में योगभ्रष्ट के बारे में कहा है यह समझाते हैं श्लोक ५० तक

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोप्यनर्थकः।।४६।।

गीता में बताया है कि बहुत जन्म बीतने पर योगभ्रष्ट का प्रतिबन्ध समाप्त होता है। फिर भी विचार व्यर्थ नहीं है।

अर्जुन ने यह प्रश्न किया था (गी. ६. ३७-६) कि आत्मज्ञान के मार्ग में चला हुआ व्यक्ति अगर सिद्धि प्राप्त नहीं करता है तो उसकी क्या गति होती है? उसने कर्म और उपासना तो पहले ही छोड़ दिए तभी श्रवण-मनन का अधिकारी हुआ। ऐसा नहीं है कि कर्म उपासना करते हुए श्रवण-मनन कर नहीं सकता, लेकिन श्रवण-मनन का फल ब्रह्मनिष्ठा तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक कर्म-उपासना को छोड़ नहीं देता। इसलिए कोई कर्म और उपासना तो उसने अपने पास रखे नहीं जिससे उत्तम लोकों को जाए; और ज्ञाननिष्ठा की सिद्धि हुई

नहीं। इसलिए दूसरे जन्म की प्राप्ति होगी। तो क्या जैसे बादल हवा से टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट हो जाता है, ऐसे नष्ट हो जाता है! तब भगवान् ने जवाब दिया कि ऐसा नहीं है। जो तत्त्वविचार में लगा हुआ है, परन्तु साक्षात्कार तक नहीं पहुँचा, वह योगभ्रष्ट कहलाता है, उसके बहुत जन्म बीतने पर वह सिद्धि को प्राप्त करता है। इसलिए एक या तीन जन्मों का नियम नहीं है। कुछ भी प्रतिबंधक जितना-जितना जहाँ-जहाँ होगा उसके अनुसार जन्म बीत जाते हैं। प्रारब्ध-भोग के लिए जितने जन्म चाहिए, जब वे बीत जाते हैं अर्थात् प्रतिबंधक की निवृत्ति के बाद ही ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होकर अपरोक्ष ज्ञान होता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं समझ लेना कि फिर उसका विचार करना व्यर्थ ही गया। विचार भी प्रयोजन-रहित नहीं है क्योंकि जो किया हुआ विचार है वही फिर आगे बढ़कर फल को पूर्ण करेगा। जैसे ही प्रतिबंधक नष्ट होगा, पुनः वहीं से विचार प्रारम्भ होगा और तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति हो जाएगी। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट किया है कि इस मार्ग में कोई प्रत्यवाय नहीं है। ऐसा नहीं है कि बीच में इतना व्यवधान हुआ तो किया हुआ विचार सब खत्म हो जाए! वह तो फल देगा ही॥४६॥

अतः भगवान् ने ही कहा (गी. ६. ४१–४४)–

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते।।४७।।

आत्मवस्तु के विचार के प्रभाव से पुण्य करने वालों के योग्य लोकों को पाकर (वहाँ बहुत समय सुख भोगकर) कुछ कामनाएँ बची रहें तो शुद्ध और धनसम्पन्नों के घर उत्पन्न होता है।

विचार में कमी के दो कारण होते हैंः एक तो समय का अभाव। यदि वह पाँच-सात साल ज़िन्दा रहता तो उसका विचार पक जाता। जितने समय में पकना था उतना समय नहीं मिला और मर गया, अतः भी योगभ्रष्ट हो जाता है। दूसरा कारण है कि भरत की तरह मन दूसरी तरफ चला जाये। वामदेव के लिए तो केवल काल की कमी थी पर भरत के अन्दर हरिण के प्रति दया विचार छूटने में कारण थी। सब साधकों में ये दो सम्भावनाएँ रहती हैं। यदि मन में कोई इच्छा रह जाए तो साधक साभिलाष है। चूँकि अभिलाषा है, इसलिए पुण्यकारी लोकों को अर्थात्-स्वर्ग लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यंत को प्राप्त होता है। उसने पहले किया तो आत्मतत्त्व का विचार ही है, उस आत्मतत्त्व के विचार से उसका इतना पुण्य इकट्ठा हुआ है कि ब्रह्मलोक पर्यन्त भी जा सकता है। इससे भगवान् ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आत्मतत्त्व का विचार सारे कर्म और उपासनाओं का फल देने में समर्थ है अतः मुमुक्षु और कुछ भी न करे, यदि आत्मतत्त्व के विचार में ही लगा रहता है तो जितने कर्म और जितनी उपासनाएँ हैं उन सब का फल उसे मिल जाता है।

मन में प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों है? विचार करोः कर्म और उपासना परमेश्वर

को प्रसन्न ही तो करती है। परमेश्वर ने श्रुति-स्मृति में आज्ञा दी है, उसके अनुसार मनुष्य कर्म और उपासना करता है तो परमेश्वराज्ञा का पालन करता है इसलिए परमेश्वर प्रसन्न होकर फल देते हैं। आत्मविचार में तो तुम उस परमात्मा के शुद्ध रूप की उपासना ही कर रहे हो, इसलिए यह इतना ज़्यादा पुण्य उत्पन्न करता है कि उन सब से आगे चला जाता है! परमेश्वर के गुणों का विचार, परमेश्वर की शक्ति और सामर्थ्य का विचार, परमेश्वर का हमारे हृदय में साक्षी-रूप से बैठे होने का विचार इतना बड़ा पुण्यकार्य है जिससे अधिक और कोई पुण्य कार्य नहीं है। आत्मविचार करने वाला यही करता रहा है। इसलिए आत्मतत्त्व के विचार के बल से ही उसकी सद्गति है, और किसी कर्म या उपासना की उसे ज़रूरत नहीं है। इसलिए स्मृतियों में कहा है कि प्रतिदिन आदमी यदि वेदांत-श्रवण करता है तो अस्सी कृच्छ्र-चान्द्रायण का फल उसे मिलता है। एक चान्द्रायण व्रत के लिए एक महीना चाहिए, कृच्छ्र चान्द्रायण में तो और ज़्यादा समय चाहिए। ऐसे अस्सी चान्द्रायण करो तो छह सात साल चाहिए यदि बीच में एक भी बाधा न हो। इतने सालों में जितने होंगे उतने प्रतिदिन करते हैं यदि गुरुसेवा और भक्तिसहित वेदान्तों का श्रवण करते हैं। इसलिए उस पुण्य के फल से साधक पुण्यलोकों को प्राप्त करता है।

वहाँ बहुत काल तक दिव्य विषयों के सुख का भोग करता है। क्योंकि कोई न कोई अभिलाषा थी, इसलिए उसने यहाँ पूर्णता की प्राप्ति नहीं की थी, उसकी वह अभिलाषा वहाँ जाकर पूर्ण हो जाती है। जितना भोग भोगना संभव था, वह सब भोग लेने के बाद वह फिर पृथ्वी में आता है। तब वह ऐसों के घर पैदा होता है जो पवित्र और धनवान् हैं। केवल पवित्र होंगे और धन आदि से सम्पन्न नहीं होंगे तो चूँकि है तो वह साभिलाष, इसलिए यहाँ आकर फिर धन आदि की तरफ प्रवृत्त हो सकता है। परन्तु पवित्र होने के साथ-साथ धनवान् होंगे तो उसे सब कुछ उपलब्ध हो ही जाएगा। यदि केवल धनी होंगे और पवित्र नहीं तो कुमार्ग में जा सकता है। इसलिए कहा कि पवित्र भी हों और धनवान् भी हों, ऐसे घरों में पैदा होता है।॥४६॥

दूसरा योगभ्रष्ट वह है जिसे अभिलाषा तो कुछ नहीं थी, केवल पूरा समय नहीं मिला इसलिए दृढता नहीं हुई। पूरा समय मिल जाता तो उसका विचार या उपासना दृढ हो जाती। उसे तो पुण्य लोकों में कोई रुचि थी नहीं तो क्या आत्मतत्त्व का विचार उसके लिए काम आया नहीं? भगवान् कहते हैं कि ऐसा भी नहीं है। यदि वह निरभिलाष है तो उसे उन दिव्य लोकों में जाने की कोई ज़रूरत नहीं है वरन् ज्ञाननिष्ठा के लिये बेहतर अवसर पाता है—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम्।।४८।।

या विषयभोगों के प्रति स्पृहा-रहित साधक ब्रह्मतत्त्वके विचार से आत्मज्ञान-सम्पन्न योगियों के कुल में पैदा होता है। वैसा जन्म दुर्लभ ही है।

अथवा जो निरभिलाष है, निस्पृह है अर्थात् उसका वैराग्य पूर्ण है। उसको किसी चीज की अभिलाषा है नहीं, इसलिए वह उसी ब्रह्मतत्त्व के विचार के बल से उन बुद्धिमानों के कुलों में उत्पन्न होता है जिनको आत्मतत्त्व का दृढ निश्चय है। ज्ञानी पुरुषों के कुल में उत्पन्न होता है। केवल 'धीमताम्' कहते तो कोई शास्त्रीय विद्या वाले पुरुष समझ लेता, इसलिए साथ में 'योगिनां' कहा अर्थात् जो परमात्मा से एकता को प्राप्त हैं, जिनका चित्त हमेशा परमात्मा में ही लगा हुआ है, उनके ही कुल में या घर में उत्पन्न होता है। अतः बचपन से ही उसको आत्मतत्त्व के विचार के संस्कार मिल जाते हैं। जैसे मदालसा के पुत्र उत्पन्न हुए तो वह लोरी ही गाती थी कि 'तू शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्तस्वरूप है, यह सारा संसार तेरे लिए नहीं है'; यही लोरी गाती थी! तुम लोग अपने बच्चों को जहाँ पढ़ाने भेजते हो वहाँ बच्चों को गाकर सुनाते है 'हम्प्टी-डम्प्टी सैट ऑन ए वॉल' और वैसा सीखकर बच्चे भी ऐसा कहते हैं तो लोग खुश होते हैं कि कैसी बढ़िया अंग्रेजी बोलता है! वे श्रीमान् बुद्धिमान् लोग ऐसा नहीं पढ़ाते। वे तो मदालसा की तरह बचपन से ही उपदेश देते हैं कि 'तू नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है, संसार माया का तेरे साथ कोई सम्बंध नहीं है'। ऐसे कुल में जन्म किस पुण्य से हुआ? निरभिलाष द्वारा किये ब्रह्मविचार से हुआ। लेकिन भगवान् कहते हैं कि ऐसा जन्म अत्यधिक दुर्लभ है क्योंकि इस प्रकार के जो निष्ठा वाले श्रीमान् और योगी हैं, उनके घर में जन्म लेना ही असम्भव-सा है। परन्तु जिसका ब्रह्मतत्त्व का विचार निःस्पृह भाव से सम्पन्न हुआ लेकन वृत्ति नहीं बन पाई, उसे ऐसे ही दुर्लभ जन्म की प्राप्ति होती है। दुर्लभ इसलिए कि जिनका अत्यधिक पुण्य है उन्हीं को ऐसे जन्म की प्राप्ति होती है।॥४८॥

दुर्लभ क्यों है, इसको बताते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम्।।४९।।

उस जन्म में वह पूर्व शरीर में विचार-सम्पादित निश्चय बिना यत्न के पाता है और पहले से ज़्यादा यत्न में तत्पर होता है। इसीलिये ऐसा जन्म कठिनाई से मिलता है।

इसलिए दुर्लभ है क्योंकि ऐसे कुल में जो जन्म है वह पूर्व देह में जो विचार किया है उसको आगे चलाने के लिए सक्षम है। वहाँ उसी ब्रह्मतत्त्व के विचार वालों की बुद्धि के साथ संबंधवाला वह साधक हो जाता है। तब बचपन से ही उसे, मदालसा के पुत्रों की तरह, उधर ही दृढ वृत्ति बनाने का मौका मिल जाता है। बचपन से ही उसके वैसे विचार पुनः बन जाते हैं इसलिए उसकी निष्ठा बनने में कोई कठिनाई नहीं होती। वह ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर, साक्षात्कार पाकर मनोनाश, वासनाक्षय तक पहुँच सकता है। जैसे थर्मामीटर आदि में पारा बंधा होता है इसलिए स्थिर रहता है। यदि थर्मामीटर गिरकर टूट जाता है और पारा उसमें से निकल जाता है तो चारों तरफ फैल जाता है। फिर उसे इकट्ठा करना बड़ा मुश्किल होता

है। क्योंकि पारा तरल पदार्थ है इसलिए चारों ओर फैल जाता है। जब तक नहीं फैला है तब तक तो स्थिर है। मन भी पारे की तरह है। पैदा होते समय दूसरे संस्कार चूँकि अभी उद्बुद्ध नहीं हैं, इसलिए तब अगर आत्मज्ञान के संस्कार डाल दो तब तो वे दृढ और स्थिर हो जाते हैं और एक बार अगर संसारी कार्यों में बिखर गया तो बुद्धि अनेक विषयों में विक्षिप्त हो जाती है, उन्हीं विषयों में फैल जाती है, वहाँ से बटोर कर उसे फिर आत्मविचार में लगाना बड़ा मुश्किल हो जाता है। बुद्धिमान् योगी के कुल में जन्म होता उसी का है जिसने पूर्व देह में आत्मतत्त्व का विचार किया है, अन्यथा हो नहीं सकता। इसलिए जितना पूर्वजन्म में था उस से भी ज्यादा विचार चूँकि धीमान् योगियों के यहाँ प्रारम्भ में ही मिल जाता है इसलिए उसका यत्न पहले से भी ज़्यादा हो जाता है और वह पूर्णतया ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर सकता है। इन सब कारणों से यह दुर्लभ है।।४६।।

वहाँ उत्पन्न प्राणी ब्रह्माभ्यास में ही लगता क्यों है? इसका जवाब भगवान् स्वयं देते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।५०।।

उसी पूर्वकृत अभ्यास से आकृष्ट भी हुआ योगभ्रष्ट अनेक जन्मों में सम्यक् सिद्धि पाता है जिससे मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वह चूँकि योगभ्रष्ट है, इसलिए उस पूर्व में किए हुए अभ्यास से ही प्रेरित होता है। जैसे गाड़ी तेज़ी से चल रही हो और ब्रेक लगाओ तो उसकी गति कम होती है, परन्तु फिर ब्रेक दबाना छोड़ते ही उसकी गति बढ़ जाती है। लेकिन खड़ी गाड़ी को ब्रेक लगाओ या छोड़ो तो कुछ नहीं होता, वहीं की वहीं खड़ी रहती है। इसी प्रकार यह साधक साभिलाष तो है नहीं, निःस्पृह है, परन्तु समय की कमी के कारण मृत्यु के समय तक पर्याप्त विचार नहीं कर सका। मृत्त्यु से साधना में ब्रेक लगी परन्तु जैसे ही फिर ऐसे शरीर में आया वैसे ही पुनः गाड़ी आगे चल दी। उसने पहले जो अभ्यास किया है उससे ही वह दिशा लेता है, इधर-उधर जाने में मानों स्वतंत्र नहीं है। और कोई स्पृहा उसकी है नहीं और आत्मतत्त्व का विचारक है ही, इसलिए अवश होकर उधर ही जाएगा। अवश का मतलब यहाँ परतन्त्रता नहीं समझ लेना! यहाँ मतलब है कि बिना और कोई विशिष्ट प्रयत्न किए हुए ही उधर चल पड़ता है। जैसे संसारी लोग कोई बड़ी भारी शिक्षा की अपेक्षा नहीं करते कि संसार की तरफ कैसे जाएँ, अपने-आप ही मन संसार की तरफ जाता है। इसी प्रकार इसका मन अपने आप, पूर्वाभ्यास के संस्कारों के कारण आत्मविचार में लग जाता है। वह कोई परतंत्र होकर नहीं जा रहा है क्योंकि अभी संस्कारयुक्त मन के साथ एक है। मन जो कहता है उसी को करने को मनमानी कहते हैं। इसका मन ही कहता है कि परमात्मा की तरफ चलें। इसलिए यह अपने मनके ही वश में है और वे पूर्व के संस्कार ही प्रवृत्त कर देते हैं, इसलिए उसी तरफ आकृष्ट हो जाता है, बहकर चला जाता है।

इस प्रकार अनेक जन्मान्तरों में अथवा एकाधिक जन्म में किए हुए भी आत्मविचार के संस्कार सफल होते हैं। अन्य कर्म और उपासनाओं में ऐसा नहीं होता। तुमने यहाँ आधा सोमयाग किया तो अगले जन्म में उसके आगे से शुरू करो, ऐसा नहीं होता, फिर शुरू से ही पूरा करना पड़ता है। ऐसे समझ लो : मान लो तुम पूजा करने बैठे और तुमने एक सौ एक दिन के अनुष्ठान का संकल्प किया। पचास दिनों तक अनुष्ठान करके मर गए तो ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इक्यावन दिन करने से अनुष्ठान पूरा हो जाएगा! वहाँ फिर एक सौ एक दिन करना पड़ेगा। ऐसा इस विचार-मार्ग में नहीं है कि तुमने जो विचार जितना किया वह फिर करना पड़े। किया हुआ विचार झट से फिर उद्‌बुद्ध हो जाएगा। इसलिए 'अनेक-जन्म-संसिद्धः' का अर्थ है कि अनेक जन्मों में की हुई साधना से भी सम्यक् सिद्धि हो जाती है, ब्रह्मज्ञान हो जाता है और इस प्रकार से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यों प्रारब्धरूप आगामी प्रतिबन्धक बता दिया॥५०॥

एक और तरह का आगामी प्रतिबंधक है, उस पर विचार करते हैं—

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक् सत्यां निरुध्य ताम्।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम्।।५१।।

ब्रह्मलोक पाने की उत्कट इच्छा रहते उसे रोक कर जो आत्मविचार करता है वह साक्षात्कार तो नहीं कर पाता।

ब्रह्मलोक अर्थात् सगुण ब्रह्म का लोक। परब्रह्म तो निर्गुण को कहते हैं और गुणों के सहित ब्रह्म को मायाविशिष्ट चेतन कहते हैं। मायाविशिष्ट चेतन की आराधना भी है तो ब्रह्म की ही परन्तु उपाधि-सहित होने से उसका फल भी उपाधि-सहित हो सकता है। कोई साधक विष्णु भगवान् अर्थात् सगुण ब्रह्म को देखने के लिए वैकुण्ठ लोक जाना चाहता है। कोई शंकररूप से उस सगुण ब्रह्म को देखने के लिए कैलास जाना चाहता है। कोई स्त्रीमूर्ति काली, दुर्गा आदि के रूप में उस सगुण ब्रह्म का दर्शन करने के लिए और उस के साथ रहकर आनन्द भोगने के लिये देवीलोक को जाना चाहता है। यद्यपि ये सब सगुण ब्रह्म की उपासनायें हैं, तथापि अहंग्रहोपासना नहीं हैं। इनमें उपासना करने वाला हमेशा अपने को उपास्य से अलग समझता है। परमेश्वर की तरफ तो जो जिस भाव से जाता है उसके उसी भाव को वह पूरा करता है। भगवान् ने कहा है कि मेरे लिए ये सब एक जैसे हैं 'न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः'। कोई समझे या न समझे, मैं तो जानता हूँ कि सब मेरे ही प्रतिबिम्ब हैं इसलिए किसी के भी साथ न मुझे द्वेष है और न किसी के प्रति राग है। जो जिस भाव से मेरा भजन करता है मैं उसी भाव से उसे ग्रहण करता हूँ। इस उपासक का भाव है कि मेरा जो इष्ट परमात्मा है उसके साथ रहकर में आनन्द भोगूँ। है तो यह सुख की इच्छा, परन्तु यह विषयसुख की इच्छा नहीं है क्योंकि वह किसी विषय से आनन्द नहीं भोगना चाहता, परमात्मा का ही आनन्द भोगना चाहता है। सगुण ब्रह्म का ही लोक ब्रह्मलोक है,

वहाँ उसी का दर्शन मिलता है। दर्शन का मतलब केवल आँखों से ही नहीं वरन् कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ और अंतःकरण सब केवल परमात्मा का ही भोग करें, परमात्मा के साथ ही भोग करें—यह ब्रह्मलोक की अभिवांछा है।

'सम्यक् सत्यां'; यह इच्छा मन में होते हुए भी सोचता है कि 'जो भी गुणवाला है वह सचमुच में विनाशी ही है।' मन में इच्छा तो परमात्मा को भोगने की है परन्तु शास्त्रीय विवेक के कारण उसका विरोध कर देता है कि 'मुझे यह नहीं चाहिए, मुझे तो शुद्ध ही चाहिए'। अतः आत्मा का विचार करता है। अन्दर दृढ अभिलाषा परमात्मा के साथ आनन्द में रहने की है, इसलिए उसे 'ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार नहीं हो पाता। इसके द्वारा यह बताया कि हृदय में यदि कोई वाँछा केवल दबाकर रखोगे तो आत्मा का स्वरूप प्रकट नहीं होगा। विचार करने में तो यह बाधा नहीं डालता है परन्तु इस वांछा के कारण ऐसा साक्षात् अनुभव नहीं हो पाता।।५१।।

क्या उसका किया हुआ यह सगुण ध्यान और आत्मविचार व्यर्थ जाएगा? नहीं जायेगा, क्योंकि हैं तो ये दोनों ही परमात्मा से सम्बद्ध अर्थात् सगुण ध्यान भी वह परमात्मा का ही कर रहा है और निर्गुण आत्मतत्त्व का विचार भी वह परमात्मा का ही कर रहा है। इसलिये कहते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते।।५२।।

'वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने अर्थ सुनिश्चित कर लिया' इस वेदवचन के अनुसार वह साधक ब्रह्मलोक में कल्पसमाप्ति तक रहकर वहीं ब्रह्मा के साथ मोक्ष पा जाता है।

उसका राग शिव के प्रति ही है, सगुण शिव का ध्यान करता है, निर्गुण शिव का विचार करता है। अतः सगुण ब्रह्म के ध्यान के बल से तो ब्रह्मलोक में जाता है अर्थात् अपने इष्टदेव के साथ सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, और सार्ष्टि इन सब का भोग करता है और यह भोग करने के बाद जब इस सृष्टि का अंत होता है, यह कल्प समाप्त होता है तब सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है और वह साधक भी अपने इष्ट देव के साथ उस निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है अर्थात् सगुण ब्रह्म के साथ ही वह मुक्त हो जाता है। इस बात में श्रुति प्रमाण है—'वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।' मुण्डकोपनिषद् (३.२.६) इसमें प्रमाण है। वेदांत अर्थात् उपनिषदों में जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप का वर्णन किया गया है उसके विज्ञान के विषय में श्रवण-मनन करके, आगे-पीछे सोचकर युक्तियों के द्वारा भी निश्चय कर निस्संदिग्ध हो गया है कि ब्रह्म ही सत्य है तदतिरिक्त सब मिथ्या है अतः इह लोक व परलोक के सारे भोगों का परित्याग कर देता है। संन्यास ग्रहण करते हुए जब प्रेष लेते हैं तब कहते हैं कि 'भूः भुवः स्वः तीनों मैंने सर्वथा छोड़ दिये'। ऐसे संन्यास-युक्त यति विचार

में प्रवृत्त हैं अतः उनका अंतःकरण सर्वथा शुद्ध होता है जिससे वे लोग कल्प के अंत में ब्रह्मलोक के अन्दर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ जितने भी भगवान् के पार्षद हैं, सब उन के साथ ही मुक्त हो जाते हैं। इसी बात को स्मृति ने (द्रष्टव्य सूत्रभाष्य ३.३.३२) भी कहा—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्।।'

जो सगुण ब्रह्म की उपासना करके अपने-अपने इष्ट लोकों को जाते हैं वे जब कल्पान्त होता है तब अपने इष्टदेव के साथ ही मुक्त होते हैं। चूँकि उन्होंने सब प्रकार की कृतार्थता प्राप्त कर ली है इसलिए वे ब्रह्म पद को प्राप्त होते हैं। यम ने नचिकेता से कहा 'मैंने इस परम पद की प्राप्ति तो की, परन्तु इसके पहले परमेश्वर की कृपा से मुझे यम पद की प्राप्ति हो गई! अब तो कल्पांत में ही परमात्मा के साथ विदेहभाव से एक हो सकूंगा। हे नचिकेता! तू धन्य है कि इस प्रकार के किसी पुण्य-वेग के बिना ही वैराग्यवान् होकर परमात्मपद को प्राप्त कर लेगा।'

इस प्रकार उन्होंने जो सगुण ब्रह्म का ध्यान किया है, उसका भी फल हो गया क्योंकि ब्रह्मलोक में जाकर अपने इष्टदेव के साथ सब प्रकार के भोग्य भोग लिए और चूँकि निर्गुण तत्त्व का विचार किया हुआ है, अतः उस ब्रह्म पद को भी प्राप्त कर लेता है। जो सगुण ब्रह्म की, अपने-अपने इष्टदेव की भक्ति में लगे हुए हैं और साथ में वेदान्त-विचार से 'यह मायिक स्वरूप है, वास्तविक तो अधिष्ठान तत्त्व ही है' यह निश्चय भी जिन्होंने किया हुआ है वे भी दोनों से लाभान्वित होते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती की सब प्रकार से अद्वैत-निष्ठा पूर्ण थी, सारी उपनिषदों का तात्पर्य एकमात्र निर्गुण परब्रह्म परमात्मा में है—इसमें वे निस्संदिग्ध थे, परन्तु साथ में यह भी कहते हैं—कि यह जानते हुए भी कि यह मायिक है, हमारा मन त्रिभंगी मूर्त्ति वाले श्रीकृष्ण के प्रति ही जाता है। अतः अद्वैत-निश्चय होने पर भी सगुण ब्रह्म की तरफ वृत्ति जाए यह देखा जाता है।**।५२॥**

यहाँ तक तो यह बताया कि जिन्होंने विचार कर लिया और निश्चय भी कर लिया फिर भी साक्षात्कार नहीं होता है तो इसमें कारण कौन-से प्रतिबंधक हैं। परन्तु कुछ साधकों का ऐसा भी प्रतिबन्धक होता है कि विचार सम्भव नहीं रहता यह बताते हैं—

केषाञ्चित् स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः।।५३।।

कुछ साधकों के कर्मों से आत्मविचार में भी रुकावट आती है। वेद भी (कठ. १.२.७) कहता है कि बहुतेरों को परमेश्वर सुनने को भी नहीं मिलता।

कुछ लोग अर्थात् जिनके अंतःकरण में मलदोष अत्यधिक होता है, पाप का संस्कार अत्यधिक होता है, उनके लिए तत्त्व का विचार सर्वथा प्रतिबद्ध है, वे विचार ही नहीं कर पाते। ठीक जिस प्रकार से किसी की पीठ पर एक मन का बोझ लदा हो तो वह धीरे-धीरे ही चल सकता है, भाग नहीं सकता जबकि उसी के शरीर पर पाँच मन का वज़न रख दो तो वह वहीं बैठ जाता है, आगे चल ही नहीं सकता, इसी प्रकार जिसके कुछ दोष हैं, वह तो अभ्यास आदि कर के अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त कर लेता है परन्तु किसी पर इतने पाप लदे हुए हैं कि वह विचार ही नहीं कर सकता। ऐसे को परोक्ष निश्चय भी नहीं हो पाता। अनेक लोग ऐसे देखने में आते हैं जो जिस चीज़ को बाँचते हैं उनको वही जँचने लग जाती है! उनको समझाएँ कि इसमें यह दोष है तो वह भी जँच जाता है। फिर कोई दूसरा मिल गया, उसने कोई विपरीत बात कह दी तो वह भी जँच गई! जब तक व्यक्ति स्वयं विचार करके निश्चय नहीं कर पाता है, तब तक दूसरे के कहे हुए निश्चय से स्वयं का निश्चय नहीं होता। ऐसे लोगों की शंका यावत्-जीवन नहीं मिटती। वह उनका दोष नहीं है, उन्होंने जो पहले पाप किए हैं वे सब प्रतिबंधक बनकर बैठे हुए हैं, इसलिए वे विचार ही नहीं कर पाते। उन कर्मों के कारण उनमें विचार ही प्रतिबद्ध हो जाता है। कई लोग कहते हैं कि वेदान्त की कथा सुनते हैं तो सिर दर्द होने लगता है, बड़ा मुश्किल लगता है। कुछ लोग कहते हैं कि हमको वेदान्त की कथा ही ठीक समझ में आती है, बाकी इधर-उधर की कहानियाँ लोग सुनाते हैं, वे नहीं जँचतीं। जिनका विचार प्रतिबद्ध है वे कितना भी पढ़ें, कितना भी सुनें, वे विचार करके निश्चय नहीं कर पाते कि ऐसा ही है। विचार मायने सोचना; वे सोच तो लेते हैं, परन्तु उनके मन में हमेशा संदेह ही रहता है। इसीलिए भगवान् ने गीता में बहुत बड़ा दोष संदेह को माना है 'संशयात्मा विनश्यति'। आत्मा कभी खत्म तो होगा नहीं! अतः भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि आत्मा का ज्ञान न होना ही आत्मा का नाश है। वे आत्मविचार करके निश्चय नहीं कर पाते, संशय में पड़े रहते हैं। यहाँ विचार मतलब यह नहीं समझना कि वे सोच नहीं पाते। मनुष्यमात्र में मन-बुद्धि है ही, इसलिए सोच तो लेता है, जो बात कही जाती है वह समझ भी लेता है, परन्तु निश्चय नहीं कर पाता, विपरीत बातें सुने तो वे भी जँचने लग जाती हैं।

स्वयं वेद ने कहा है 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' यह जो परमात्मतत्त्व है, यह बहुत-से लोगों को सुनने को भी नहीं मिलता। ऐसा नहीं है कि अगर उन के सामने वेदान्त बोलो तो वे मर जाएँगे या बहरे हो जायेंगे। श्रवण का मतलब है—उपनिषदों का तात्पर्य-निर्णय करना। 'श्रवण' शब्द पारिभाषिक है। श्रुति ने कहा है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' आत्मदर्शन का उपाय श्रवण है। सुनने से तो परोक्ष ज्ञान होगा, फिर कैसे कह दिया कि सुनने से आत्मदर्शन हो जाएगा? आचार्यों ने समझाया कि श्रवण का मतलब है 'उपनिषदें यही प्रतिपादन कर रही हैं, और कुछ नहीं' ऐसे निर्णय पर पहुँचना। इसके लिये उपक्रम-उपसंहार इत्यादि, श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण आदि सभी सोचने के तरीके हैं, इनके

द्वारा निश्चय पर पहुँचा जाता है। इसलिए श्रुति कहती है कि सुनने को भी नहीं मिलता तो मतलब है कि उपनिषदों का ऊहापोह करके, यही तात्पर्य है—इस निश्चय पर नहीं पहुँच पाते। प्रसंगवशात् उपनिषदों में कई बातें आ जाती हैं। उनमें से 'यही तात्पर्य है' यह निश्चय करना पड़ता है। अविचारशील को लगता है कि ऐसा भी कहीं कहा है, वैसा भी कहीं कहा है, तो श्रौत अभिप्राय पता नहीं चलता। बहुत से विदेशी विद्वान् और उनकी जूठन चाटने वाले हिन्दुस्तानी विद्वान् यही कहते हैं कि 'वेदों में तरह-तरह की बातें कही हैं। किसी ऋषि ने कुछ कहा, किसी ऋषि ने कुछ अन्यथा समझा, उन मतों को जानकर हम कुछ निश्चय नहीं कर पाते।' अर्थात् उनसे श्रवण हो ही नहीं पाता यह तथ्य खुद ही श्रुति ने कहा है। इसलिए श्रुति ने आगे जाकर बताया 'नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः' (कठोप० १.२.२३) जिसने अपने दुष्ट चरित्रों को सर्वथा छोड़ नहीं दिया है, जिसका चित्त समाहित या एकाग्र नहीं हो गया है, जिसका मन विषयाकांक्षा से हट नहीं गया है, वह इस तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता। ॥५३॥

क्या ऐसे व्यक्ति के लिए भी कोई उपाय है? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते हैं—

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥५४॥

बुद्धि की अत्यधिक मन्दता से या ज्ञानोत्पत्ति के लिये आवश्यक कारण-कलापसे जो विचार से वंचित है उसे चाहिये कि दिन-रात ब्रह्म की उपासना करे।

विचार करने में जो असमर्थ हैं वे अत्यंत बुद्धिमन्दता वाले हैं। थोड़ी-बहुत बुद्धिमन्दता हो तो ज़्यादा विचार करके निश्चय हो जाता है। जैसा दृष्टांत से बताया कि चाकू अगर भुथरा है तो एक झटके में कागज नहीं काट पाता, बार-बार रोक-रोक कर चलाते हैं तो कागज काट लेते हैं। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है उसे बात जल्दी समझ में नहीं आती, लेकिन संस्कार पड़ते-पड़ते अनेक जन्मों में समझ में आ भी जाती है। परन्तु जिसके पास भुथरी छुरी भी नहीं है, एक छड़ है! चाकू की तरह छड़ भी लोहे की होती है, उससे लकड़ी आदि तो कट-फट जाएगी पर कागज़ काटने में बेकार है। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि अत्यंत मन्द है वह कुछ भी संगतरूप में नहीं सोच पाता। उसका मन इधर से उधर जाता रहता है।

कई लोगों की बुद्धि तो बड़ी तीक्ष्ण है, समझने की सामर्थ्य भी है परन्तु उन्हें उपदेश देने वाला गुरु नहीं मिला जिससे निश्चय कर सकें कि शास्त्र का ऐसा ही अर्थ है, यही तात्पर्य है। जिसने शास्त्र के तात्पर्य का निर्णय करके, ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त करके अनुभव कर लिया है वही शास्त्र का अर्थ निश्चित रूप से समझा सकता है। इसलिए भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है कि उस तत्त्व का साक्षात्कार करने के बाद वेदों में कहाँ क्या कहा है, उसको वह स्पष्ट, निःसंशय रूप से बता सकता है। इस प्रकार उपदेश देने वाला गुरु

नहीं मिले तो भी विचार नहीं हो सकता। अथवा, गुरु मिला भी पर उसके साथ शिष्य नहीं रह पाता है अथवा अधिक समय नहीं मिला और गुरु पहले ही चले गए आदि स्थितियों में सामग्री की कमी रह जाती है। कई बार अपना शरीर कारण बन जाता है, बीमार बने रहते हैं जिसके कारण विचार नहीं कर सकते। यह सब श्रवण-मनन की सामग्री की कमियाँ हैं। बुद्धि भी तीक्ष्ण है, योग्य गुरु भी मिले तो ज्ञान हो जाए लेकिन नहीं होता क्योंकि विचार करने की सुलभता प्राप्त नहीं होती। गुरु मिलने में सबसे अधिक कठिनाई शास्त्र में बताई है कि गुरु में और तदनुकूल शास्त्रों में अत्यंत विश्वास होना कठिन है। 'गुरु जी कह रहे हैं इसलिए ठीक है' ऐसा निश्चय होना अत्यन्तविश्वास है, लेकिन यह प्रायः नहीं हो पाता। इसी प्रकार 'उपनिषद् ही ठीक हैं, दूसरा कुछ ठीक नहीं,' बहुत-सों को यह विश्वास भी नहीं होता। सोचते हैं जैसे उपनिषद् वैसे ही दूसरे ग्रन्थ हैं! उपनिषदें ठीक हैं यह निश्चय हो भी जाये तो इसका यही अर्थ वस्तुतः है जो सम्प्रदाय से आया हुआ है—यह निश्चय नहीं हो पाता, इसलिए विचार नहीं कर पाते।

ऐसे साधक निरंतर ब्रह्म की उपासना करें। प्रतिबंध रहते ब्रह्म के बारे में परोक्ष निश्चय तो हो जाता है, अपरोक्ष नहीं हो पाता। नियम है कि जिस चीज़ का निरंतर चिंतन करोगे वह एक दिन अनुभव में आ जाएगी। इसमें आचार्यों ने एक कीड़े का दृष्टांत दिया हैः वह कीड़ा जिस समय अपने घर में होता है तब कोई भौंरा आकर उसके घरोंदे के चारों तरफ घूँ-घूँ करता है। अन्दर वाला कीड़ा डरता है कि 'यह मुझे खा जाएगा'। निरन्तर उससे डरते हुए उसी का चिंतन करता रहता है जिससे वह कीड़ा भौंरा ही बन जाता है! ठीक इसी प्रकार से तुम जिस भावना को निरंतर करोगे तद्रूप हो जाओगे। अभी तो लौकिक चेष्टाओं की भावना करते हुए वैसे प्रतीत हो जाते हो, लेकिन तुम वैसे हो नहीं।

एक अनुसंधान हैः जब किसी का ब्याह हो तब लड़का-लड़की के स्वभाव को ध्यान से देखो और ब्याह किए हुए वे साठ-सत्तर साल के हो जायें तब फिर उन दोनों के व्यवहार को देखो तो पाओगे कि शादी करने के समय तो दोनों का विचार सर्वथा अलग ही था परन्तु साठ साल साथ-साथ रहते हुए दोनों के विचार एक-जैसे हो जाते हैं! तब औरत को भी वही चीज़ अच्छी लगने लगती है जो आदमी को अच्छी लगती है। किसी-किसी चीज़ में जो पत्नी को अच्छा लगता है वह पति को अच्छा लगने लग जाता है। हर हालत में, उस उम्र में दोनों का स्वभाव एक-जैसा इसलिए होता है कि दीर्घकाल तक एक-दूसरे का चिन्तन करते-करते दोनों एक-दूसरे के समान हो जाते हैं। इसलिए किसी संस्कृत काव्यकार ने एक जगह लिखा है कि किसी ने राम जी से कहा कि 'आप रात-दिन सीता! सीता! कहते हो, कहीं ऐसा कहते-कहते आप सीता न हो जाओ और फिर दो सीता हो जाएँगी!' राम जी ने जवाब दिया कि 'तुम चिन्ता मत करो। जितना चिंतन करने से मैं सीता हो जाऊँगा उतना मेरा चिंतन करने से सीता भी राम हो जाएगी क्योंकि सीता भी मेरा ही चिंतन कर रही है, इसलिए फिर भी हमारा जोड़ा तो अखण्ड ही रहेगा।' इन दृष्टांतों से यह निष्कर्ष निकला

कि जो चीज़ जो नहीं है वह भी उस का चिंतन करते हुए तद्रूप हो सकती है तो हम जो सचमुच ब्रह्म हैं, ब्रह्म का चिन्तन करते हुए ब्रह्म क्यों नहीं हो जाएँगे? इसलिए ब्रह्मोपासना का विधान संगत है।

सृष्टि के पहले श्रुति ने कहा 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' एकमात्र ब्रह्मतत्त्व था। उसके बाद महाभूतों से बुद्धि, मन, इन्द्रियों आदि की सृष्टि हुई और इसके अन्दर एक वृत्ति अहंकारात्मिका हुई, उसमें ब्रह्म का प्रवेश हो गया। श्रुति कहती है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सृष्टि करके उसने ही उसमें प्रवेश किया। स्मृति भी कहती है 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' सब बना कर स्वयं ही जीवरूप से प्रविष्ट हो गया। अहंकार में प्रविष्ट हुए हम उसके साथ एक हो गए हैं। बार-बार शास्त्र कहता है 'तू ब्रह्म है' और हम कहते हैं कि हम तो जीव हैं। हमारा सृष्टि के पहले जो वास्तविक स्वरूप था वही तो इस समय 'मैं' बना हुआ है। अपने उसी स्वरूप का, ब्रह्म का ध्यान करेंगे तो अपने स्वरूप को प्राप्त होंगे, इसमें कहना ही क्या है! यहाँ तक प्रतिबंधक का विचार हो गया।॥५४॥

आगे एक प्रधान शंका उठती है कि उपासना किसी चीज़ का विशेषरूप से चिन्तन है। किसी न किसी विशेषरूप से चिंतन करोगे तभी उपासना होगी। निर्गुण ब्रह्म कहो या निर्विशेष ब्रह्म कहो, उसमें तो विशेष है ही नहीं। वह सद्रूप है। किन्तु 'है' यह तो सामान्य हुआ, 'फूल है' यह सविशेष हुआ। 'फूल है'—यह ध्यान तो कर सकते हो लेकिन केवल 'है'—यह ध्यान कैसे करोगे? अगर केवल 'है' को तुमने जान लिया तब तो तुम वैसे ही मुक्त हो जाओगे क्योंकि ज्ञान होते ही मुक्ति हो जाती है और यदि 'सत्' को तुमने जाना ही नहीं तो उसका ध्यान कैसे करोगे? इसी प्रकार चित् है। तुम्हें घड़े का ज्ञान तो होता है, परन्तु केवल ज्ञान तो कभी हुआ नहीं। इसी प्रकार से आनन्द है। तुम्हें रसगुल्ले का आनन्द तो आया है, परन्तु केवल आनन्द का अनुभव तो नहीं हुआ। कह सकते हो कि गहरी नींद में केवल आनन्द होता ही है, वहाँ तो किसी चीज़ का आनन्द नहीं है, फिर भी आनन्द है। परन्तु वह आनन्द स्फुट नहीं होता। इसलिए उसका ध्यान कैसे करोगे? सच्चिदानंद-स्वरूप का ध्यान बिना किसी विशेष के, बिना किसी उपाधि के किया नहीं जा सकता क्योंकि जिस चीज़ को तुम जानोगे उसी की उपासना कर सकते हो और बिना विशेष के सत् आदि को जाना नहीं जा सकता। इसका समाधान करते हैं—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसम्भवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात्।।५५।।

निर्गुण ब्रह्म तत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है क्योंकि सगुण ब्रह्म की तरह निर्गुण ब्रह्म के बारे में वृत्तियों का आवर्तन सम्भव है।

ब्रह्म निर्विशेष है, इसलिए उसकी उपासना नहीं हो सकती है और इस विषय के अन्दर भाष्य, वार्तिक, टीका सब प्रमाण हैं तथा उपनिषद् तो कहती ही है कि ब्रह्म मन-वाणी के

परे है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ऐसा नहीं है। निर्गुण तत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्द के आकार की वृत्तियों की आवृत्ति तो कर ही सकते हैं। सत्यम्, ज्ञानम्, आनन्दम्, ब्रह्म इसकी आवृत्ति कर सकते हैं। जब 'घड़ा है' कहते हैं तो इसमें 'है' परमात्मरूप ही है, यह चिन्तन कर सकते हैं। ॐकार का ध्यान भी संभव है। ॐकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति को बताता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में रहने वाला जो 'मैं' वही ब्रह्म है। सगुण ब्रह्म का ध्यान यहाँ दृष्टांत इसलिए कहा कि प्रायः श्रुतियों में जो उपासनाएँ आई हैं वे या किसी कर्म का अंग होती हैं या कोई सामान्य फल देने वाली होती हैं। परन्तु सगुण ब्रह्म की उपासनायें क्रममोक्ष देती हैं। ब्रह्म निर्गुण होने पर भी जैसे सगुण ब्रह्म का ध्यान कर सकते हैं वैसे ही वह निर्गुण है—ऐसा भी ध्यान कर सकते हैं। इतना याद रखना कि सगुण ब्रह्म के ध्यान में भी ब्रह्म का ही ध्यान कर रहे हैं। जटाजूटधारी और त्रिशूलधारी परमात्मा का ध्यान कर रहे हो अथवा जटाजूट और त्रिशूलधारण का ध्यान कर रहे हो? दोनों का प्रकार एक लगता है पर है अन्तर। इसलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि ॐकार परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों को बताता है। ॐकार ही ब्रह्म का नेदिष्ठ नाम है, इसलिए ॐकार दोनों को बता रहा है। जब उपाधि प्रधान होगी, ॐकार-प्रधान उपासना होगी, तब तो सगुण की उपासना हो जाएगी और यदि ॐकार से प्रतिपादित का ध्यान करते हुए ॐकार का ध्यान करोगे तो वह निर्गुण की उपासना होगी। जैसे सगुण ब्रह्म की उपासना होती है, ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्दरूप प्रत्ययों की आवृत्ति हो सकती है।।**५५**।।

प्रश्न होता है कि फिर इस शास्त्र का क्या होगा कि वह वाणी और मन का अविषय है? उत्तर देते हैं—

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च सम्भवेत्।।५६।।

शंका हो कि वाणी और मन से अगम्य वह परतत्त्व उपासना के योग्य नहीं तो यह भी मानना होगा कि वाणी और मनसे अगम्य का ज्ञान सम्भव नहीं!

वाणी और मन का वह अविषय है अर्थात् ब्रह्म को न वाणी से बता सकते हो और न मन उसको जान सकता है। जिसे वाणी से नहीं जान सकते, गुरु तुमको उसका उपदेश नहीं दे सकते और मन से तुम स्वयम् जान नहीं सकते। बिना मन से जाने उसका ध्यान कैसे करोगे? इसलिए उसकी उपासना सम्भव नहीं है। निर्गुण-उपासना न स्वीकारने वाले यदि ऐसा कहें 'तदा' तब उपासना का पक्षधर कहेगा कि जो वाणी और मन का विषय नहीं है उसको जान भी कैसे सकते हो? वह वाणी और मन का विषय ही नहीं है और जानने के साधन तुम्हारे पास ये ही हैं। दूसरे को बताना हो तो वाणी का प्रयोग और स्वयम् समझना हो तो मन का प्रयोग करना पड़ता है। इसलिए निर्विशेष ब्रह्म जाना भी तो नहीं जा सकता!

तात्पर्य है कि उक्त तर्क से निर्विशेष का ज्ञान भी असंभव होने से उसके ज्ञान का पक्षधर इस तर्क का प्रयोग नहीं कर सकता। ॥५६॥

निर्विशेष का ज्ञान मानने वाले कहते हैं कि वह वाणी का अविषय है—इस प्रकार से तो जान ही सकते हैं! 'वाणी का विषय नहीं' इस बात को तो सुन भी सकते हैं। इसलिए उपनिषदों ने तरीका ही यह लिया कि उस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताई और जितना कुछ तुमने आज तक अनुभव किया है, उस सब का बाध करते-करते जो इससे पहले शुद्ध था वहाँ पहुँच जाओगे। यही एकमात्र समझने का तरीका है। वाणी सभी विषयों को कहेगी, फिर उनका बाध कर देंगे तो निर्विशेष तत्त्व बच जाएगा। उपासनावादी इस रीति को भी अपने अनुकूल कहते हैं—

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः।।५७।।

यदि ज्ञानी उसे यों जान सकता है कि वह वाणी आदि के अविषयभूत आकार वाला है तो वाणी आदि के अविषय आकार वाला है—यों उसकी उपासना कोई क्यों न करे?

जैसे, वागादि का वह विषय नहीं है इस प्रकार से उसे जानते हैं, निषेध करते-करते जिसका निषेध नहीं हो सकता वही वह है, यह जान सकते हैं; अंगुल्या निर्देश नहीं हो सकता, लेकिन जो-जो 'होता' है उसका निषेध करके ही वह समझ में आता है; इसी प्रकार से वह वाक् (वाणी) आदि का अगोचर है—इस प्रकार से तुम उसकी उपासना क्यों नहीं कर सकते? जितनी चीज़ों का बाध कर सकते हैं उन सब का निषेध करने के बाद जो शेष रहता है वह ब्रह्म है—यों उसकी उपासना हो जाएगी। जैसे तुम किसी से कहते हो कि 'पेटी में जगह करो, मुझे भी कुछ सामान रखना है।' क्या तुम्हारे पास कोई तरीका है कि कहीं जगह बना दो? केवल उसमें रखे हुए कपड़ों को निकाल देते हो तो जगह बन जाती है। चीज़ों को निकालने के बाद जो बचे वही जगह है। इसी प्रकार यह सारा संसार वाणी और मन का विषय है, वाणी और मन के विषयों को तुमने हटा दिया तो जो बचा वही ब्रह्म है। यह जैसे जानने की प्रक्रिया है, उसी ढंग से उपासना भी की जा सकती है।॥५७॥

निर्गुण को शास्त्र में ज्ञान के योग्य माना है, उपासना के योग्य नहीं। इसमें मूल कारण है कि ज्ञान चीज़ जैसी है उसको वैसा प्रकट कर देता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं करता। उपासना के अन्दर जो चीज़ जैसी है नहीं उसको वैसा सोचना है। जो जैसा है नहीं उसको वैसा सोचकर जो जैसा है वैसा कैसे प्रकट हो जायेगा? यह मूल प्रश्न है। उपासना दृष्टि वालों का कहना है कि दो तरह से चीज़ को जाना जाता है—एक परोक्ष दूसरा, अपरोक्ष। अतः परोक्ष जानकर यथावस्तु भी उपासना सम्भव है। इस पक्ष में यह समझना आवश्यक है कि अपरोक्ष आत्मस्वरूप का परोक्ष भी ज्ञान हो ही सकता है। परोक्ष करके उपासना हो जायेगी और जब उसका अपरोक्ष होता है तब ज्ञान सफल हो जायेगा। उपासना मानने वाले

सहारा इस बात का लेते हैं अनेक जगह शास्त्रों में कहा है कि जिस का यावज्जीवन चिन्तन करते हुए अंतिम काल में भी चिन्तन हो जाये, उसकी प्राप्ति हो जायेगी। जैसे यह बात अन्य विषयों में घटेगी वैसे ब्रह्म पर भी घटेगी। इसलिये ब्रह्म की उपासना हो जायेगी। चूंकि ब्रह्म अपरोक्ष है इसलिये अपरोक्ष रूप से यदि ज्ञान है तो अपरोक्ष रूप से प्राप्ति हो जायेगी। यदि ऐसा नहीं हो पाया तो उपासना के फलस्वरूप सगुण ब्रह्म को जायेगा क्योंकि ब्रह्म का चिन्तन करता ही रहा है, और वहाँ जाकर मुक्त हो जायेगा। इसलिये ब्रह्म की उपासना सम्भव है, इस बात को कहते हैं—

सगुणत्वम् उपास्यत्वाद् यदि वेद्यत्वतोऽपि तत्।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम्।।५८।।

यदि उपासना का विषय होने से सगुणता का आपादन किया जाये तो ज्ञान का विषय होने से भी सगुणता होगी। यदि लक्षणा वृत्ति से ज्ञेयता संगत है तो लक्षणा से समझे की उपासना भी की जाये इसमें क्या हर्ज है!

उपासना-विरोधी यदि यह कहता है कि उसकी उपासना करते हैं इसलिये उपासना का विषय होने से वह सगुण हो जायेगा, अन्य कोई गुण न भी हो तो उपास्यत्व गुण तो है ही! तो उपासनावादी कहता है कि वह जाना जा सकता है तो ज्ञेयता भी गुण हो जायेगा! ज्ञानवादी कहता है—जैसे प्रकाश चीज़ को प्रकाशित करता है, उसके उपर कोई ढक्कन नहीं लाता वैसे ही ज्ञान अज्ञान को दूरमात्र करता है, अतः जब कहते हैं कि ज्ञान से ब्रह्म को जानते हैं तब इसका इतना ही मतलब है कि ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है। ब्रह्म तो स्वप्रकाश है, इसलिये अपने आप ही प्रकट है। वह जाना जाता है, वेद्य है—यह बात लक्षणा के द्वारा कहते हैं। जैसे अनात्मा जाना जाता है वैसे आत्मा जाना नहीं जाता। अन्तःकरण की वृत्ति से अज्ञान नष्ट हो जाता है, बाकी ब्रह्म तो स्वप्रकाश है इसलिये वेद्यत्वरूप गुण उसमें नहीं आता है। इस पर उपासनावादी कहते हैं कि तब तो उपासना में भी यही बात हैः उपासना अन्तःकरण में करने से वह उपासना का विषय होता नहीं है, परन्तु उसके द्वारा वह प्रकट हो जायेगा इसलिये उसे उपास्य कह दिया गया। जैसे अज्ञान-निवृत्ति से उसका ज्ञान हो जायेगा, वैसे ही उपासना से वह प्राप्त हो जायेगा, इतने मात्र से उसे उपास्य कहते हैं।॥५८॥

ब्रह्म की उपासना का श्रुति ने निषेध किया है इसलिए उपास्य कैसे मानें? इस शंका का भी समाधान है—

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि।।५९।।
विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम्।।६०।।

'उसे ही तुम ब्रह्म जानो, इसे नहीं जिसकी उपासना की जाती है' इस वेदवाक्य से (केन. १.१.४) यदि ब्रह्म की उपासना-योग्यता की मनाही है तो 'ज्ञातसे अन्य ही है' इस वेदवाक्य से (के.१.१.३) उसकी ज्ञान-योग्यता भी नहीं है! जैसे किन्हीं वेदवचनों से ही उसे ज्ञेय मानना ठीक है वैसे वेदवचनों के अनुसार ही उसकी उपासना भी की जाये यह ठीक है।

केनोपनिषद् में कहा है 'यन्मनसा न मनुते' मन उसके बारे में कुछ जान नहीं सकता, बल्कि उसके कारण मन सोच पाता है। मन तो जड है, ब्रह्म के सम्बन्ध से ही वह चेतन की तरह आचरण करता है। जिसके साथ सम्बद्ध हुआ अर्थात् जिसके प्रतिबिम्ब वाला हुआ वह ज्ञानरूप होता है वह ब्रह्म है न कि जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकार की श्रुति के द्वारा यदि ब्रह्म की उपासना का निषेध कहते हो तो उसी केनोपनिषद् में श्रुति ने कह दिया है कि वह जाने गये से भिन्न है, न जाने गये से भी भिन्न है। अतः मानना पड़ेगा कि वह जाना नहीं जा सकता। शंका होगी कि यदि वह जाना नहीं जा सकता तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' श्रुति का क्या अर्थ होगा? समाधान है कि 'अविदिताद् अन्यद्' वह अविदित से भी अन्य है अतः नहीं भी नहीं जाना जा सकता। जैसे सूर्य किसी से प्रकाशित नहीं है पर वह अप्रकाशमान भी नहीं है। जो चीज़ प्रकाशित नहीं होती वह अप्रकाशित रहती है अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होता, दीखती नहीं है। लेकिन सूर्य बिना किसी से प्रकाशित हुए भी दीखता ही है। इसी तरह ज्ञानरूप होने से आत्मा ज्ञात नहीं पर अज्ञात भी नहीं। इसलिये श्रुति ने जैसे उसकी उपास्यता का निषेध किया वैसे विदित से और अविदित से भी अन्य बताया। श्रुति ने अगर उसकी उपास्यता का निषेध किया है तो वेद्यता का भी निषेध किया है। यदि श्रुति ने कहा है अतः उसकी वेद्यता है तो आत्मोपासना की, ब्रह्मोपासना की भी विधियाँ सुलभ होने से उसकी उपास्यता भी है। विदित हुए बिना भी वह अविदित नहीं है इस तरह उसे समझना पड़ता है। मन किसके कारण जानता है? आत्मा के कारण ही मन जानता है। 'मैं' जो अहंकार है यह तो बुद्धिवृत्ति है क्योंकि यह मैं (वृति) गहरी नींद में नहीं रहता। गहरी नींद में 'कुछ नहीं जान रहा' ऐसा अनुभव नहीं होता क्योंकि मैं नहीं है। स्मृति से सिद्ध होता है कि वहाँ कुछ नहीं जाना जा रहा था। स्मृति उस मैं के कारण है जो गहरी नींद में था और अभी भी है। दो मैं हुए—एक मैं जाग्रत् काल में है, सुषुप्ति काल में नहीं है, और दूसरा मैं जाग्रत् काल में भी है तथा सुषुप्ति काल में भी है। उसे श्रुति ने कहा है कि वह विदित और अविदित से भिन्न स्वप्रकाश है। वेद्य या वेदन का विषय वह नहीं है। ठीक इसी प्रकार से उसकी उपासना भी की जा सकती है जिससे उसमें उपास्यता नामक विशेष नहीं आता। **॥५६, ६०॥**

निर्विशेष की उपासना का विरोध उसके ज्ञान को मानने वाला नहीं कर सकता यही समझाते हैं—

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम्।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत् समम्।।६१।।

वेद्यता, ज्ञेयता अवास्तविक (मिथ्या) हो सकती है तो उपास्यता वैसी क्यों नहीं हो सकती? वृत्ति से व्याप्त होनामात्र वेद्यता हो तो उपास्यता भी वृत्तिव्याप्तिरूप ही है।

ज्ञानवादी कहते हैं कि वास्तविक वेद्यता नहीं है, अज्ञाननाशमात्र को ही ज्ञान कह देते हैं। इसलिये ब्रह्म वस्तुतः वेद्य नहीं है। अंधेरे कमरे में एक सेब के ऊपर उलटा घड़ा रखा हुआ है और एक जलते दीपक पर भी उलटा घड़ा रखा है। घड़ा तो दोनों पर रखा हुआ है। परन्तु घड़े को फोड़ने पर उसके नीचे रखा हुआ सेब तो नहीं दीखेगा, दीपक दीख जायेगा क्योंकि उसमें अपना प्रकाश है। सेब देखने के लिये घड़ा फोड़ना भी जरूरी है और उस पर टॉर्च मारना भी ज़रूरी है। सेब पर जब टॉर्च की रोशनी डालोगे तभी दीखेगा। घड़े पर टॉर्च डालोगे तो सेब नहीं दीखेगा क्योंकि सेब पर घड़ा पड़ा है। इसलिये दोनों काम करोगे तभी सेब दीखेगा; घड़ा भी फूटे और प्रकाश भी पड़े तब सेब दीखेगा। ऐसे घड़ा फोड़ने पर दीपक को देखने के लिये किसी टॉर्च की जरूरत नहीं है, केवल घड़ा फोड़ने से ही काम चल जाता है क्योंकि दीपक स्वप्रकाश होने के कारण किसी से प्रकाशित होने की जरूरत नहीं रखता है। इसी प्रकार से घड़े के ऊपर अज्ञान है इसलिये हम घड़े को नहीं जान रहे हैं। आँख के द्वारा तुम्हारे मन की वृत्ति अज्ञान तो नष्ट कर देती है लेकिन वृत्ति भी जड है, इसलिये वहाँ ज्ञानरूपी रोशनी की जरूरत है। अन्तःकरण की जरूरत इसलिये है कि वह अनावृत हो सके, परन्तु दिखाने वाला ज्ञान भी आवश्यक है। परन्तु ब्रह्म स्वप्रकाश है, अज्ञान के द्वारा तो वह भी ढका हुआ है। अज्ञान के हटते ही ज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म प्रकट हो जाता है। वेद्यता शब्द का सामान्यतः अर्थ यह होता है कि अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान से प्रकाशित होना; यह ब्रह्म में नहीं है, अर्थात् अज्ञान नष्ट करना ही जरूरी है, आगे ज्ञान से प्रकाशित करने की जरूरत नहीं है क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश है। इसलिये ब्रह्म की वेद्यता, वेदन की योग्यता अवास्तविक है क्योंकि अज्ञान नष्ट ही करना है, ज्ञान नहीं करना है। इसी तरह उपासनावादी कहते हैं कि उपास्यता को भी अवास्तविक क्यों नहीं मान लेते? ब्रह्म की प्राप्ति की जरूरत नहीं है क्योंकि वह हमेशा स्वरूप से प्राप्त है। जैसे ज्ञानपक्ष में वृत्तिव्याप्ति है, फलव्याप्ति नहीं है वैसे उपास्यता में भी होना संगत है। जैसा शास्त्र ने बताया है वैसा परोक्षरूप से समझकर ब्रह्माकार वृत्ति बनानी है और चूँकि वह प्रत्यगात्मरूप है इसलिये जब भी मिलेगा प्रत्यगात्मरूप से *मिलेगा* ही, दूसरा रहकर मिलना नहीं है! इस प्रकार, विस्तार से स्पष्ट किया कि आत्मा की उपास्यता सम्भव है। ॥६१॥

प्रमाण-सिद्ध होने से ब्रह्मोपासना श्रद्धेय है यह निगमन करते हैं—

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत् कस्ते द्वेषस्तदीरय।
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात्।।६२।।

पूछो कि हमें उपासना से अधिक प्रेम क्यों है तो तुम बताओ कि उससे तुम्हें इतना द्वेष,

विरोध क्यों है? उपासना में प्रमाण न हो ऐसा है नहीं क्योंकि बहुतेरे वेदप्रसंगों में उसका विस्तार मिलता है।

उपासनावादी बार-बार घूम-फिर कर कहता है कि वह उपास्य है तो इसमें उसका इतना आग्रह क्यों है? इस पर वह ज्ञानवादी से प्रतिप्रश्न करता है कि उपासना से ज्ञानवादी को इतना द्वेष क्यों है? उपासनावादी तो यह नहीं कहते कि आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता, वे तो मान लेते हैं कि ज्ञेय हुए बिना ज्ञान हो सकता है। ज्ञानवादी ही हठ कर रहा है कि उपास्य हुए बिना उपासना नहीं हो सकती है। उपासना में प्रमाण हैं ही। उपासक कहता है कि हमें उपासना से ज्ञान होगा और ज्ञान से मोक्ष होगा, इसलिये शास्त्र में जो कहा कि मोक्ष तो ज्ञान से होगा वह यथावत् स्वीकार है।॥६२॥

जिन बहुत-सी श्रुतियों में उपासना बतायी है उनमें से अनेक श्रुतियों को कहते हैं—

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता।।६३।।

नृसिंहोत्तरतापनीय, प्रश्नोपनिषत् का शैब्यकृत प्रश्न, कठोपनिषत्, माण्डूक्य आदि उपनिषदों में सभी जगह निर्गुण की उपासना बतायी गयी है।

निर्गुण उपासना को उत्तरतापनीय में बहुत विस्तार से बताया है। आत्मा की ॐकार के साधन से कैसे उपासना की जाये? शैब्य के इस प्रश्न के जवाब में निर्गुण उपासना को प्रश्नोपनिषत् में बताया है। ॐकार के सहारे से उस परब्रह्म, परम पुरुष का ध्यान या उपासना कैसे करें—यह प्रश्न ५ में स्पष्ट किया। कठोपनिषद् (१. २.१४- १७) में भी कहा है। वहाँ बताया कि यह जो ॐकार है, यह अक्षर ही ब्रह्म है, इसलिये ॐकार का ध्यान ब्रह्म का ही ध्यान है। इसीलिये यह परमात्मा का श्रेष्ठ आलम्बन है। माण्डूक्य उपनिषद् के अन्दर भी बताया है कि ॐ यह अक्षर ही सारा जगत् है। इस प्रकार से उस ॐकार की उपासना बहुत स्थलों पर बताई है। 'आदौ' आदि पद से छान्दोग्य (१.१.१) तैत्तिरीय (१.८), मुण्डक (२.२.३) आदि अनेक उपनिषदों में ॐकार की जो निर्गुण उपासनायें बतायी हैं सभी का संग्रह है। वादी ने कहा था कि निर्गुण उपासना में प्रमाण नहीं है अतः उसे जवाब दिया कि बहुत-सी उपनिषदें प्रमाण हैं ।। ६३।।

उपासना होती है तो उसका कोई न कोई ढंग भी होता है। किसी उपासना में भस्म-रुद्राक्ष धारण किये हुए हैं, किसी में भगवान् तिलक लगाये हुए, तुलसी-माला पहने हुए हैं ऐसा ध्यान है आदि अलग-अलग नियम हैं। इस प्रकार ॐकार की उपासना का क्या प्रकार है? निर्गुण की उपासना कैसे की जाये? इसके उत्तर में कहते हैं—

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम्।।६४।।

निर्गुण उपासना के अनुष्ठान का तरीका 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थ में बताया गया है। कहो कि यह उपासना ज्ञानलाभ का ही उपाय है तो इसे मना कौन करता है।

यह ठीक है कि कल्पसूत्र आदि में ॐकार की उपासना का विस्तार नहीं किया है, परन्तु इसकी उपासना के अनुष्ठान का प्रकार पूरी तरह से भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने पंचीकरण नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कर दिया है। वहाँ जो प्रकार बताया है वही ब्रह्म की उपासना का ढंग है। अन्य उपासना के आचमन आदि अंग इसमें प्रयुक्त नहीं हैं, उन सब की इसमें कोई ज़रूरत नहीं है। न कोई विशिष्ट माला और न कोई विशिष्ट तिलक आदि करना है। उसके प्रारम्भ में ही आचार्य शंकर कहते हैं कि यह उपासना परमहंसों के लिये है। जब तक मनुष्य सब कामनाओं को छोड़ नहीं देता तब तक शुद्ध ॐकार की उपासना का अधिकारी नहीं होता। अगर कामना हो भी परन्तु तुम चाहते हो कि मेरे मन से चली जाये, तब तो इसका अनुष्ठान कर सकते हो। परन्तु यदि तुम्हारे मन में है कि मेरी कामनायें पूरी हो जायें, तो इसके अधिकारी नहीं हो। चूँकि ॐकार परब्रह्म का भी प्रतीक है और अपर ब्रह्म का भी, इसलिये ॐकार के द्वारा यदि तुम अपर ब्रह्म का ध्यान करो तो ॐकार के द्वारा सारी कामनाओं की पूर्ति भी हो जाती है किंतु उसका ढंग अलग है, पंचीकरण वाला नहीं। परब्रह्म की ॐकार से उपासना करते हो तो वह मोक्ष दे देती है। यद्यपि भाष्यकार ने तो इस ध्यान को ज्ञान का साधन बताया है अर्थात् इससे ज्ञान होता है यह कहा है तथापि यहाँ बतायी बातों से विरोध नहीं क्योंकि ध्यानदीप के ढंग में हमने भी यह मना कहाँ किया कि यह ज्ञान का साधन नहीं है! पंचीकरण की विधि से इसका अनुष्ठान करने से ज्ञान की प्राप्ति अवश्य होती है जिससे मोक्ष मिल जाता है। ॥६४॥

अनुष्ठाता-दौर्लभ्य अंगीकार करके प्रामाणिकता का प्रसंग पूरा करते हैं–

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन् मानुतिष्ठतु।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति।।६५।।

कोई व्यक्ति इस उपासना का अनुष्ठान नहीं कर रहा तो मत करे, लोगों की गलती से उपासना का क्या बिगड़ता है!

प्राचीन काल में तो बुद्धिमान्द्य, गुरु की उपलब्धि न होना इत्यादि समस्यायें नहीं थीं, इसलिये विचार के द्वारा ही इस तत्त्व को प्राप्त कर लेते थे। आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने परमहंसोपनिषद् की व्याख्या में कहा है कि दो तरह के लोग होते हैं - एक, जिन के शुभ कर्म और शुभ वासनायें इकट्ठी हो गयीं अर्थात् जो कृतोपास्ति हैं, और दूसरे, जिनके शुभ कर्म और उपासना इकट्ठी नहीं हुई। दोनों तरह के साधक होते हैं - कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति। कृतोपास्ति तो इस ॐकार के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अकृतोपास्ति तात्कालिक भी मन की शांति करने में समर्थ होते हैं। विचार करते समय उनके मन में इधर-उधर का कोई विचार नहीं आता परन्तु चूँकि कर्म-उपासना का बल नहीं है

इसलिये विचार काल से अतिरिक्त काल में फिर संसार की प्रतीति प्रधान हो जाती है। अकृतोपास्ति साधक समझ लेने पर भी उस समझी हुई बात पर स्थिर नहीं रह पाते जिसे लौकिक भाषा में कहते हैं 'गंगा गये तो गंगादास, जमुना गये तो जमुनादास,' सत्संग सुनते हुए लगता है कि परमात्मा ही सब कुछ है, परन्तु जैसे ही घर पहुँचे, लगता है कि बीबी-बच्चे भी तो कुछ हैं ही! अकृतोपास्ति समझ तो लेते हैं परन्तु समझनेमात्र से उनकी कृतार्थता नहीं होती इसलिये उसके बाद उन्हें मनोनाश और वासनाक्षय के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिये या ऐसे लोग देखे जाते हैं जो विचार करके तत्त्वनिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं अथवा दूसरे देखे जाते हैं जो ॐकार से अपरब्रह्म, सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं। उनके मन में कामनायें हैं इसलिये चाहते हैं कि कामना पूरी हो जाये, साथ ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाये। इसलिये प्रतीत होता है कि निर्विशेष की उपासना का कोई अनुष्ठान नहीं होता अन्यथा कोई अनुष्ठान करने वाला भी होता। किंतु यह आक्षेप निरर्थक है क्योंकि यह तो पुरुष का, अधिकारी का अपराध हुआ कि नहीं करता। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ऐसी उपासना है ही नहीं। सत्यवादी दुर्लभ होने से जैसे सत्य का अपलाप उचित नहीं वैसे उपासक न मिलने से उपासना का अपलाप संगत नहीं। ॥६५॥

लोकदृष्टि की प्रधानता ही सर्वाधिक सुलभ है, इससे शास्त्रीय पद्धतियाँ हेय नहीं समझी जा सकतीं यह स्पष्ट करते हैं—

इतोप्यतिशयं मत्वा मन्त्रान् वश्यादिकारिणः।
मूढा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम्।।६६।।

सगुणोपासना से भी अधिक विशेषता मानकर मोहग्रस्त लोग वशीकरण आदि प्रयोजन वाले मंत्र जपें, उनसे अधिक अविचारशील लोग केवल खेती ही करते रहें (इतने से जैसे ईश्वरोपासना आदि असिद्ध नहीं होती वैसे अविवेकी अनुष्ठान नहीं करते इतने से निर्विशेष उपासना अपलापके अयोग्य है)।

मूढ व्यक्ति कहता है कि विष्णु शंकर आदि की उपासना करो तो भी पता नहीं कि कब फल होगा, इससे अच्छा तो शीघ्र सिद्धि देने वाले अनुष्ठान हैं! यह अपने अनुभव को कह रहे हैं : विद्यारण्य स्वामी के मन में एक हिन्दू राज्य-स्थापन की इच्छा थी, इसलिये इन्होंने गायत्री का अनुष्ठान शुरू किया। कई पुरश्चरण करने पर भी कुछ फल नहीं हुआ। तब इन के मन में आया कि यह सब अनुष्ठान, सन्ध्या-वन्दन आदि सब बेकार की चीज़ें हैं! पुरश्चरण एक बार गलत हो सकता है, सारे तो गलत नहीं हुए होंगे, इसलिये सब निष्फल लगे। उनके मामा ने देखा कि वे संध्या आदि नहीं कर रहे थे। पूछा तो इन्होंने कहा कि 'सब बेकार है, संध्यावंदन से कुछ नहीं होता। मैंने गायत्री के इतने पुरश्चरण किये, किसी एकाध में कोई भूल रह भी गई हो, सभी तो गलत नहीं हुए। फिर भी कुछ फल नहीं हुआ इसलिये ये सब गप्पे हैं।' तब मामा ने कहा 'मैं तुम्हें इक्तालीस दिन का अनुष्ठान बताता

हूँ, वह नियम से कर लो और उससे कुछ नहीं हो तो फिर सब छोड़ देना।' उन्होंने वह अनुष्ठान जैसे ही पूरा किया पीछे से आवाज़ आई 'तुम्हें जो माँगना है सो माँग लो।' विद्यारण्यने कहा 'माँग तो लूँ, लेकिन सामने आकर क्यों नहीं कहते, पीछे से क्यों बोलते हो?' पीछे से ही जवाब मिला 'मैं तुम्हारा सामना नहीं कर सकता! तुमने इतने गायत्रीपुरश्चरण किये हैं कि तुम्हारे ब्रह्मतेज से मैं भस्म हो जाऊँगा! मेरी भी उपासना की है अतः वर तो दे सकता हूँ पर सम्मुख नहीं आ सकता।' उन्होंने पूछा कि 'यदि ऐसा है, और मेरे पुरश्चरण सफल हुए हैं तो मुझे भगवती का साक्षात्कार क्यों नही हुआ?' तब देवता ने कहा 'बात ऐसी है कि पूर्व जन्म में तुझ से एक बड़ा भारी पाप हुआ था इसलिये इस जन्म में तुम्हें गायत्री का दर्शन नहीं होगा।' विद्यारण्य स्वामी ने पूछा 'क्या ऐसा कोई उपाय है जिससे दर्शन हो जाये?' उस वाणी ने कहा 'शरीर रहते हुए शरीर बदलने का एक ही उपाय है कि संन्यास ले लो। संन्यास दूसरा जन्म माना जाता है, इसलिये संन्यास लेने पर तुम्हें दर्शन हो जायेगा।' आचार्य ने विचार किया 'संन्यास तब लूँ जब मेरी कामनायें जायें परन्तु मैं चाहता हूँ कि हिन्दूराज्य स्थापित करूँ। सनातन धर्म की रक्षा करूँ'। फिर किसी प्रकार से विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की, उसके बाद भी बहुत साल वहाँ मन्त्री रहे और इक्यासी साल की उम्र के बाद इन्होंने संन्यास लिया फिर एक सौ बीस साल तक जिये। जैसे ही इन्होंने प्रेषोच्चारण किया वैसे ही भगवती सामने प्रकट हो गयीं क्योंकि पहले ही पुरश्चरण किये हुए थे। भगवती ने कहा 'जो वर चाहो माँग लो।' आचार्य हँसकर बोले 'जब मुझे माँगना था तब तो आई नहीं, अब मैनें संन्यास ले लिया, अब मुझे कुछ नहीं चाहिये, आपको नमस्कार है।' भगवती ने कहा 'मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं जायेगा। अब मैं तुम्हारी जीभ पर बैठूँगी और तुम्हारे लिखे हुए ग्रन्थ अमर हो जायेंगे।' फिर उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे।

यह चूँकि उनका अनुभव था, इसलिये कहते हैं कि विष्णु शंकर आदि की उपासना पता नहीं कब फल देगी, इसलिये मारण, मोहन, वशीकरण आदि शाबर मंत्रों का अनुष्ठान तांत्रिक करें, इससे वैदिक अनुष्ठानों की क्या हानि! मूढ लोग वे जो संसार के पदार्थों में फँसे हैं, फल चाहते हैं इसलिये मोहग्रस्त हैं। वे शाबर आदि जप कर लेते हैं लेकिन विष्णु शंकर आदि का पूजन नहीं करते हैं इतने मात्र से यह मानना ठीक नहीं कि यह पूजन आदि सार्थक नहीं है। मूढ तो कम से कम देवताओं को मान कर जप किया करते हैं, परन्तु जो अतिमूढ हैं वे कहते हैं 'अनुष्ठानों में क्या रखा है, शास्त्रीय नियमों में क्या पड़ना है! उसमें कितना कष्ट होता है; भूखे रहो तो कष्ट, ठण्डे पानी से नहाओ तो कष्ट; इसलिये सब से बढ़िया है कि खेती करो, खाओ-पियो मौज करो।' ऐसे अतिमूढ केवल संसारी क्रियाओं को ही करते हैं। उनसे कुछ आगे तंत्र-मंत्र में जाते हैं, उनसे जो कुछ श्रेष्ठ हैं वे परमेश्वर की उपासना करते हैं। उससे भी श्रेष्ठ हो तब तो परब्रह्म का उपासक हो। इसीलिये यह करने वाले जल्दी दीखते नहीं हैं। इतने मात्र से यह नहीं कह सकते कि 'हमने देखा नहीं तो यह निर्गुणोपासना हो नहीं सकती।' साधनानुष्ठान इसपर निर्भर करता है कि तुम्हें क्या चाहिये। संसार-इच्छुक विभिन्न साधना अपनायेंगे, ज्ञाननिष्ठा में असमर्थ मुमुक्षु निर्गुण की उपासना करेंगे। ॥६६॥

नाम-रूप की जाति के फल चाहना सरल होने से उनके साधनों के अनुष्ठाता सुलभ ही होंगे, निर्गुणोपासक दुर्लभ ही होंगे, यह प्रसंगवश समझा दिया। अब उपासना का विस्तार करते हैं–

तिष्ठन्तु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते।
विद्यैक्यात् सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत्।।६७।।

मूढ जैसे हैं वैसे रहें, उनकी और चर्चा व्यर्थ है। जिसका प्रकरण चला है वह निर्गुण उपासना बतायी जाती है : क्योंकि विद्या एक है इसलिये सब शाखाओं में कहे गुणों का इसमें उपसंहार कर लेना चाहिये।

जो मोहग्रस्त लोग हैं उनकी बात छोड़ो। वे दृश्य के मोह में फँसे हुए हैं अर्थात् चाहते हैं कि कुछ न कुछ दृश्यरूप चीज़ें मिलनी ही चाहिये। जो केवल बन्धन की निवृत्ति चाहते हैं, उनके लिये यह निर्गुण उपासना कर प्रकरण चल रहा है। यह उपासना कैसे करनी है? सगुण उपासनायें तो गुणों के भेद से अलग-अलग हैं। निर्गुण एक अखण्ड ही है। इसलिये उपासना के प्रकरण में आता है 'सर्व-वेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषाद्' (ब्र.सू.३.३.१) कि सारे वेदान्तों में अर्थात् उपनिषदों में एक-सी उपासनाओं को बताया है। अतः कहीं कह दिया 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और कहीं कह दिया 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' तो वहाँ कहे अनंत को यहाँ कहे आनन्द के साथ जोड़ लेना चाहिये। वेदान्तों में अलग-अलग कहे हुए जो प्रत्यय अर्थात् विज्ञान हैं उन सबको उपासना के लिये मिला लेना चाहिये। ब्रह्म-विचार के लिये जैसा बताया है, उपासना के लिये भी उसे वैसा समझना है। निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान एक-जैसा ही होना है क्योंकि उसमें कोई भेद तो है नहीं, इसी प्रकार निर्गुण उपासना भी एक-जैसी होगी इस लिये तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कौथुमी आदि सभी शाखाओं के अनुसार ध्येय तत्त्व भी समझ लेना पड़ेगा। सारी शाखाओं में कहे हुए जो गुण उन सबको निर्गुणोपासना में उपसंहृत कर लेना पड़ेगा। ॥६७॥

निर्गुण ब्रह्म के दो प्रकार के गुण बताये हैं - एक तो वह क्या नहीं है; दूसरे, वह क्या है। केवल 'क्या है' वालों का उपसंहार करें या केवल 'क्या नहीं है' वालों का उपसंहार करें? यह शंका होती है। समाधान में कहते हैं–

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः।
आनन्दादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता।।६८।।

विधिमुख से कहे आनन्द आदि गुणों का उपसंहार (समावेश) व्यास जी ने 'आनन्द आदि ब्रह्मधर्म हैं' (३.३.११) इस सूत्र में समझाया है।

जितने भी विधेय गुण हैं जैसे आनन्द, विज्ञान, परम, प्रत्यगेकरस इत्यादि सभी जो 'ब्रह्म क्या है?' के उत्तर में बताये गये हैं, उन्हें मिला कर स्वरूप समझना पड़ेगा। ऐसा स्वयम्

व्यास जी ने बताया है। जिसका प्रतिपादन करना है वह ब्रह्म प्रधान होने से, उसके जो गुण आनन्द आदि बताये गये हैं उन सब को उपसंहृत अर्थात् एकत्र कर समझना चाहिये। उक्त सूत्र में भगवान् वेदव्यास ने यही बताया है। इसलिये सभी विधेय गुणों का उपसंहार हो जाता है।। ६८।।

निषेध्य गुणों के लिये भी व्यास जी ने कहा है—

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताक्षरधियां त्विति।।६९।।

इसी प्रकार व्यास जी ने 'अक्षरविषयक सब निषेध ज्ञान सभी अक्षर-प्रसंगों में समझने चाहिये' (३.३.३३) इस सूत्र में 'अस्थूल' आदि शब्दों से कहे निषेधयोग्य गुणों का एकत्रीकरण बताया है।

'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्' (३.३.३३) सूत्र में व्यास जी ने बताया है कि जितने भी 'ब्रह्म क्या नहीं है' यों निषेध-मुख से बताने वाले शब्द हैं उन सबका भी उपसंहार कर लेना चाहिये। अर्थात् जैसे ज्ञान के लिये विहित और निषिद्ध सभी धर्मों का ब्रह्म में संग्रह होता है उसी प्रकार उपासना के लिये भी हो जायेगा। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, वह अत्यंत सूक्ष्म या अणु भी नहीं है, छोटा भी नहीं है। 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्', 'अशब्दम्' अस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि में बताया है कि वह देखने लायक भी नहीं है, पकड़ने लायक भी नहीं है, शब्दरहित है, स्पर्शरहित है, रूप-रहित है, अव्यय है अर्थात् उसमें कभी किसी प्रकार की कमी-बेशी नहीं होती। इस प्रकार जितने विधेय (भावात्मक) गुण हैं तथा अस्थूल आदि जो निषेध्य (अभावात्मक) गुण हैं उन सबका उपसंहार कर लेना चाहिये। वेदान्तदृष्टि से भावों की तरह अभाव भी गुण ही समझे जाते हैं क्योंकि सभी विशेषतायें गुण कहलाती हैं। कर्मकाण्ड में जैमिनि ने भी इस रीति को स्वीकार किया है कि सभी अंग अपने प्रधान के आधीन होते हैं। उसी प्रकार यहाँ समझ लेना चहिये कि विधेय और निषेध्य सारे गुणों वाला परमेश्वर है।॥६९॥

निर्गुण की उपासना में सारे गुणों को मिलाना विरुद्ध है क्योंकि निर्गुण में तो कोई गुण होता नहीं? इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः।
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु।।७०।।

निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की विद्या (उपासना) में गुण एकत्र करना संगत नहीं यह उलाहना व्यास जी के प्रति दिया जाना चाहिये मेरे (ध्यानदीपकार के) प्रति नहीं!

निर्गुण ब्रह्म के सारे गुणों का उपसंहार करो अर्थात् निर्गुण को समझने के लिये सारे गुणों

को मिला कर समझो! यह तो कोइ बात नहीं बनी क्योंकि उसमें कोई गुण है ही नहीं? इस पर कहते हैं कि इसीलिये हमने दोनों तरह के गुणों के सम्बन्ध में व्यास जी की बात प्रमाणरूप से कह दी। अतः यह उपालम्भ कि निर्गुणों में गुणों का उपसंहार युक्त नहीं, यह दोष व्यास जी पर लगाया जाये, मुझ पर नहीं। तात्पर्य है कि यह दोष ही नहीं है। **॥७०॥**

व्यास जी का निर्देश गलत हो नहीं सकता अतः निर्गुणोपासना में गुणोपसंहार कैसे संगत है यह समझाते हैं—

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत् तुष्यतां त्वया।।७१।।

स्वर्णमय दाढ़ी वाली सूर्य आदि मूर्तियों का इस उपासना में संग्रह न होने से (सत्य, अस्थूल आदि गुणों का संग्रह) यदि विरुद्ध नहीं है (यह समझ पाओ तो) सन्तोष करो कि यह सिद्धान्त शास्त्र व युक्ति के अनुकूल है।

कुछ गुण उपाधियों के कारण हैं, कुछ स्वरूपभूत हैं। हिरण्यश्मश्रु अर्थात् सोने की मूँछ वाली सूर्य आदि की मूर्तियाँ औपाधिक हैं। रुद्राष्टाध्यायी में भी कहा है 'नमो हिरण्यबाहवे' आदि। ऐसी मूर्तियों को, गुणों को एकत्र करने के लिये यहाँ नहीं कहा जा रहा है, इसलिये निर्गुणत्व अविरुद्ध है। हिरण्यश्मश्रु आदि गुण औपाधिक हैं अर्थात् उपाधियों के द्वारा हैं जबकि सत्य ज्ञान अनंत आनन्द इत्यादि स्वरूपभूत हैं अर्थात् वे ब्रह्म का स्वरूप हैं। स्वरूप को समझने के लिये जिसका चिन्तन किया जाता है वह गुण की तरह प्रतीत होता है, परन्तु गुण होता नहीं है। जैसे आग का स्वरूप गर्मी है, फिर भी कहा जाता है कि आग का गुण गर्मी है। गर्मी के अतिरिक्त कोई आग होती हो, ऐसा नहीं है, जहाँ गर्मी है वहाँ आग है, इसलिये गर्मी आग का स्वरूप है फिर भी समझने के लिये कह दिया जाता है कि आग का गुण गर्मी है। इसी प्रकार ब्रह्म सत्यरूप, आनन्दरूप, ज्ञानरूप है, यह सब ब्रह्म का स्वरूप है फिर भी समझने के लिये कह दिया जाता है कि इन गुणों का उपसंहार करो। निर्गुण में गुणों के उपसंहार का मतलब इतना ही है कि उसके स्वरूप-प्रतिपादक वाक्यों का अर्थ इकट्ठे समझना है, चाहे विधिमुख से, चाहे निषेधमुख से उसे कह दिया हो। हिरण्यश्मश्रु आदि जो औपाधिक मूर्तियाँ हैं उनका ग्रहण नहीं करना है। इसलिये निर्गुणत्व अविरुद्ध रहा क्योंकि ये गुण ब्रह्म में नहीं हैं, उसका स्वरूप ही हैं। इसीलिये व्यास जी ने निर्गुणविद्या के प्रकरण में ऐसा कहा है। **॥७१॥**

सत्य, अस्थूल आदि को ब्रह्म 'में' यदि नहीं समझना है तो उपसंहृत करने योग्य उपास्य गुण कैसे हुए? इसका उत्तर देते हैं—

गुणानाम् लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तः प्रवेशनम्।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम्।।७२।।

इस प्रसंग में समझे गये गुण ब्रह्म के ज्ञान में उपयोगीमात्र हैं—यदि यह स्वीकारो तो यही सही, ब्रह्मरूप तत्त्व की उपासना की जाये।

स्वरूप को जो गुणवाला कहा गया है, वह लक्ष्यरूप ब्रह्म को लखाने के लिये है। सत्य शब्द का एक अर्थ तो लोकप्रसिद्ध है। जो चीज़ जानी जाते हुए नहीं है यह सिद्ध नहीं होती उसे सत्य कहते हैं, जैसे यह दीवार है, यह सच्ची बात है क्योंकि जब तक व्यवहारयोग्य है तब तक दीवार कभी असिद्ध नहीं होगी। दीवार पैदा हो सकती है, नष्ट हो सकती है परन्तु 'यह दीवार झूठी है' ऐसा सिद्ध नहीं होगा। इसलिये जो कभी झूठा सिद्ध न हो वह सत्य का वाच्य हुआ। झूठी सिद्ध न होना इस विशेषता में सत्य-पद की लक्षणा हो जायेगी। इसी तरह से ज्ञान का वाच्यार्थ अंतःकरणवृत्तिविशिष्ट चेतन है। 'मैंने घड़े को जाना या मुझे घड़े का ज्ञान हुआ,' यहाँ जाना या ज्ञान का वाच्यार्थ अन्तःकरणवृत्ति से विशिष्ट ज्ञान है। ज्ञान-शब्द का अर्थ है अंतःकरणवृत्तियुक्त चेतन। युक्तता चाहे विशिष्टरूप से कहो चाहे उपलक्षित रूपसे कहो। इसी अर्थ में ज्ञान-शब्द लोक में प्रसिद्ध है। बिना अन्तःकरण की वृत्ति के जो ज्ञानरूप है वह इसका लक्ष्य हो जायेगा। इसी प्रकार से अन्तःकरण की वृत्ति शान्त रहने पर जो बना रहता है वह आनन्द है। इसीलिये आनन्द को आनन्दमय कोश, सुषुप्ति के द्वारा बताया क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण की वृत्ति नहीं रहती है और आनन्द रहता है। इस प्रकार ये गुण उसे लक्ष्य बनाकर कहते हैं, वाच्य बनाकर नहीं कहते। इस लिये निर्गुण तत्त्व के अन्दर उनका प्रवेश नहीं है, ये सब उसको बताने के लिये ही हैं। व्यास जी ने उपसंहार (संग्रह) किया इसलिये कि वे ब्रह्मतत्त्वरूप हैं अतः ब्रह्म को लखा देते हैं, धर्म नहीं बनते।

शंका होती है कि उपासना में तो गुणों सहित का चिन्तन होता है जबकि लक्ष्य करने पर लक्षक को छोड़ दिया जाता है। दूज का चन्द्रमा नहीं दीख रहा तो कहते हैं कि वह सामने नीम के पेड़ की ऊपर की दो डालियों के बीच में देखो। वह उन डालियों के बीच में देखता है तो उसे चन्द्रमा दीख जाता है। चन्द्रमा उन डालियों के बीच में है तो नहीं। कहने वाला भी जानता है कि दो डालियों के बीच में चन्द्रमा नहीं है, सुनने वाला भी जानता है कि दो डालियों के बीच में नहीं है फिर भी दो डालियों के बीच में देखने से चन्द्रमा दीख जाता है। चन्द्रमा में दो डालियों का प्रवेश नहीं, देखने में मदद के लिये हैं। किंतु यदि दो डालियों के बीच में चन्द्रमा का ध्यान करना हो तब तो दो डालियाँ बनी रहेंगी। इसलिये ज्ञान के प्रसंग में सबका उपसंहार संगत बन जात है, उपासना में कैसे संगत है? समाधान है 'एवमेव ब्रह्मतत्त्वम्'; गुणों से लक्षित तत्त्व के रूपमें यहाँ चिन्तन विवक्षित है। जिस उपाधि के द्वारा ज्ञान हो रहा है उससे रहित वह ब्रह्मतत्त्व है—इस प्रकार से उपासना करो। तत्त्व के अन्दर न प्रवेश करते हुए ही वे गुण उसको बता देते हैं। 'सत्यादि विधेय और अनणु आदि निषेध्य गुणों से लक्षित वस्तु मैं हूँ'—ऐसे चिन्तन का, बार-बार ऐसी वृत्ति बनाने का यहाँ विधान है। जब तक प्रयास से है तब तक उपासना एवं अनायास यह अनुभव हो तब ज्ञान है। आकार एक ही है, परोक्षता रहते उपासना तथा साक्षात्कार होने पर ज्ञान है।

आत्मस्वरूप के परोक्ष ज्ञान की पुनरावृत्ति, विरोधी ज्ञान न उत्पन्न होने देना, यहाँ उपासना है। ॥७२॥

उपासना का आकार व्यक्त करते हैं–

आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः।
अखण्डैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते।।७३।।

'आनन्द आदि एवं अस्थूल आदि द्वारा इन श्रुतिवचनों में जो आत्मा लक्षणा वृत्ति से कहा गया है वही अखण्ड वस्तु मैं हूँ,' इस प्रकार मोक्षेच्छुक उपासना करते हैं।

आनन्द आदि गुणों के द्वारा वह लक्षित होता है अर्थात् आनन्द आदि गुणों के द्वारा उसका विचार चलता है। आत्मा अखण्ड एकरस है। जैसे चन्द्रमा सुदूर आकाश में है, परन्तु दो डालियों के बीच में देखने का प्रयत्न करना है इसी प्रकार आत्मा अखण्ड एकरस है, परन्तु उपासक आनन्द आदि गुणों के द्वारा उसका साक्षात्कार करेगा। आनन्दादि विधेय और अस्थूल आदि निषेध्य, दोनों तरह के गुणों द्वारा लक्षित अखण्ड एकरस आत्मा मैं हूँ–यह उपासना का ढंग है। अखण्ड है इसलिये गुण-गुणिभाव वहाँ नहीं है, आनन्द वाला वह नहीं है, वरन् आनन्दरूप है। ऐसे ही ज्ञानवाला वह नहीं है, ज्ञानरूप वही मेरा वास्तविक प्रत्यगात्मरूप है–इस प्रकार ब्रह्म तत्त्व की उपासना बन जाती है। ॥७३॥

ज्ञान और उपासना में भेद स्पष्ट करते हैं–

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु।
वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।।७४।।

ज्ञान और उपासना में अन्तर क्या है? सुनोः ज्ञान वस्तु के (विषयके) अधीन होता है, उपासना कर्त्ताके (उपासक के) अधीन होती है।

प्रश्न है कि आकार समान है तो फिर ज्ञान और उपासना दोनों में फ़र्क क्या रह गया? फ़र्क बताते हैंः वृत्ति का आकार एक ही है किन्तु ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है तो आनन्द आदि स्वरूप प्रतीत होता है, दृश्यरूप प्रतीत नहीं होता, मैं–ऐसा अनुभव होता है। जब वस्तु का बोध होता है तब जैसी चीज़ है वैसा ही होता है। जो चीज़ जैसी है वैसी दीखेगी, इसमें तुम कुछ नहीं *कर* सकते। कुत्ता सड़ रहा है तो बदबू आयेगी, इसमें तुम कुछ नहीं कर सकते। केसर डालकर चन्दन घिस रहे हो तो सुगन्धि ही आयेगी, इसमें भी तुम कुछ नहीं कर सकते। जैसी चीज़ है वैसा ही ज्ञान होगा, इसमें जानने वाले की कुछ स्वतंत्रता नहीं है। जो है सुगन्धि उसे बदबू समझ लो–यह तुम्हारा स्वातन्त्र्य है, यह उपासना हो जायेगी। समझना तो तुम्हारे हाथ में है, कर्तृतंत्र है, यह वस्तु के हाथ में नहीं है। तुम चाहे हज़ार साल सोचते रहो कि यह बदबू सुगन्धि है, लेकिन वह बदबू ही रहेगी, सुगन्धि हो नहीं जायेगी। ज्ञान वस्तु के अधीन होता है। जैसी चीज़ है वैसा ही ज्ञान होगा जबकि उपासना, करने वाले के अधीन है। 'सत्य-अस्थूल आदि अखण्ड एकरस हूँ' यह प्रामाणिक अनुभव ज्ञान

है तथा अनुभव रहे कि 'कर्ता-भोक्ता हूँ' और शास्त्रवश समझूँ कि 'अखण्ड हूँ,' तो उपासना है। उपासना जितनी देर चलती है उतनी देर ब्रह्मदृष्टि करोगे, परन्तु जैसे ही उपासना का काल समाप्त हुआ वैसे ही फिर तुम जीवभाव की वृत्ति वाले ही रह जाओगे, तुमको भूख लगेगी, सुख-दुःख होंगे। तुम चाहे जितनी निर्गुण ब्रह्म की उपासना, अहंग्रहोपासना कर लो, परन्तु तुम कर्त्ता-भोक्ता ही रहोगे। जब ज्ञान होता है तब 'मैं कर्त्तादि नहीं हूँ ब्रह्म हूँ, अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं वरन् साक्षिमात्र हूँ' यह अनुभव स्थायी रहता है। इस ज्ञान के होने के बाद प्राणों को भूख लग सकती है, इन्द्रियों को विषय-दर्शन हो सकता है, मन सोच सकता है, परन्तु यह सब तुम नहीं करोगे। बोध और उपासना के अन्दर यह आधारभूत अन्तर है। प्रत्यगात्मा सचमुच ब्रह्मरूप है, इसलिये प्रत्यगात्मा को ब्रह्म *जानना* तुम्हारे हाथ में नहीं है। आचार्य शंकर एक जगह कहते हैं कि जो अपनी ब्रह्मस्वरूपता को जान लेता है वह न चाहे तब भी उसकी मुक्ति हो ही जायेगी! जैसे तुम नहीं चाहते कि बदबू आये लेकिन बदबू है तो बदबू ही आयेगी, ठीक इसी प्रकार से तुम नित्यमुक्त हो अतः *जानोगे* तो अपने को नित्यमुक्त ही जानोगे। फिर चाहकर भी कर्त्ता-भोक्ता हो नहीं सकते। उपासना यत्नसाध्य होने से यत्नपर्यन्त वृत्ति रहती है, आगे-पीछे नहीं। यह बहुत बड़ा फ़र्क ज्ञान और उपासना में है। **॥७४॥**

उपासना व ज्ञान का भेद ही व्यक्त करते हैं—

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत्।
स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारं दहत्यखिलसत्यताम्।।७५।।

ज्ञान उत्पन्न होता है विचार से। न चाहने से ज्ञान का निवारण नहीं होता। संसार में भासती सारी सत्यता को अपने केवल जन्म से ज्ञान जला देता है।

उपासना तुम्हारे करने से होती है, ज्ञान तुम्हारे करने से नहीं होता, ज्ञान तो विचार से ही होता है। 'ब्रह्म क्या है?' जब इसका यथाशास्त्र विचार करते हो तब ब्रह्म का ज्ञान होता है। ज्ञान के लिये 'ब्रह्म ऐसा है' यह नहीं सोचना है। ब्रह्म कैसा है—केवल इसको जानना है। विचार से जो ज्ञान होगा वह तुम्हें इच्छा न होने से निवृत्त नहीं होगा। जो चीज़ जैसी है वैसी ही दीखेगी। जैसे तुम नहीं चाहते कि तुम्हें बदबू आये फिर भी बदबू है तो आयेगी, इसी प्रकार मैं मुक्ति की इच्छा न भी करूँ तो भी स्वयं की प्रमा यही संभव है कि नित्यमुक्त हूँ। इसलिये एक विशेषता हुई कि ज्ञान वस्तु के अधीन होता है अतः दूसरी कि विचार से पैदा होता है। उपासना, करने वाले की इच्छा के अधीन है। तीसरी विशेषता है कि ज्ञान उत्पन्न होते ही संसार में हर चीज़ की सत्यता सर्वथा नष्ट हो जाती है। संसार में कहीं भी सत्यत्व-बुद्धि नहीं रह जाती। ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सबकी असत्यता स्पष्ट हो जाती है। अनादिकाल से चली आई जो बुद्धि (निश्चय) है कि यह संसार है, वह बुद्धि सारे संसार से हट जाती है। **॥७५॥**

सत्यता-निश्चय हटने का प्रभाव दिखाते हैं—

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः।
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते।।७६।।

तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से ही साधक कृतार्थ हुआ सनातन तृप्ति पा जाता है। यों जीवित रहते मोक्षका अनुभव कर प्रारब्ध के क्षयको साक्षी बना देखता रहता है।

जब ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब चीजों की असत्यता और प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का निश्चय हो गया तो जो कुछ किया जा सकता है वह सब कर लिया; और कुछ करने को बाकी नहीं रह जाता। अगर संसार में कुछ करने को बाकी रह गया तो समझ लो कि असत्यता और प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का निश्चय नहीं हुआ। ठीक जिस प्रकार से तुमने सिनेमा में देखा कि कोई चोरी करके भागा। लेकिन क्या तुम उसको पकड़ने के लिये उसके पीछे भागोगे? नहीं, क्योंकि जानते हो कि वह खेल है, असत्य है। न चोर की रिपोर्ट दर्ज करानी है, न और कुछ करना है; खेल खत्म पैसा हजम। इसी प्रकार से जैसे ही संसार की सत्यता पर पटाक्षेप हुआ वैसे ही संसार का खेल भी खत्म है, कुछ करने को बाकी नहीं रहा। चूँकि अपने परम आनन्दस्वरूप का स्पष्ट भान है इसलिये तृप्ति हमेशा रहने वाली है। तृप्ति आ गई इसलिए भी करने को कुछ रहा नहीं। सर्वथा तृप्त ही पूर्ण आनन्द में है। इसी को शास्त्र में जीवन्मुक्ति कहा है। उसके बाद जो अविद्यालेश है उसके कारण थोड़ा-सा खेल दीखता है। वह प्रारब्धक्षय-रूपी खेल कब खत्म हो—इसको देखतामात्र रहता है। यह उपासना की अपेक्षा बोध में मुख्य विशेषता है।

प्रश्न का हृदय यह था कि मन की वृत्ति से तुम जानते हो और मन की वृत्ति ही तुम उपासना में बनाते हो तो मन की वृत्ति एक-जैसी अतः उपासाना भी ज्ञान है। उत्तर का भाव है कि मन की वृत्ति बनती दो प्रकार की है। ऐसे समझ लो : एक तो तुम रसगुल्ला खा रहे हो। रसगुल्ला खाना मन की वृत्ति है। नशे या नींद में मनोवृत्ति न बनने से 'रसगुल्ला खा रहा हूँ' यह ज्ञान नहीं होता। जीभ पर रसगुल्ला रखा और मन की वृत्ति रसगुल्ले के स्वाद के आकार की बनी तब रसगुल्ले का स्वाद आया। मन की वृत्ति से ही रसगुल्ले का स्वाद पता चलता है। दूसरा मन की वृत्ति बनाने का प्रकार है कि तुम यहीं बैठे हुए मन से सोचते हो कि 'मैं कलकत्ते के बाग बज़ार में जाकर नवीन चन्द्र की दुकान में रसगुल्ला खा रहा हूँ'। क्योंकि पहले भी वहाँ तुम्हारा खाया हुआ है, इसलिये तुम्हें रसगुल्ला और उसका स्वाद याद तो आ ही रहा है पर स्वाद को *जान* नहीं रहे। वृत्ति रसगुल्ला जीभ पर होने से भी बन रही है, रसगुल्ले को याद करके भी बन रही है। दोनों में क्या फ़र्क है? दोनों एक-जैसे हैं परन्तु जिसने रसगुल्ला खाया है वह जानता है कि दोनों बिलकुल अलग भी हैं। मन की वृत्ति एक-सी होने पर भी एक जगह तो चीज़ के द्वारा तुम्हें ज्ञान हुआ, दूसरे में चीज़ का योगदान नहीं, तुमने ही वृत्ति वैसी बनायी। यही फ़र्क ज्ञान और उपासना में है। ज्ञान के अन्दर तो ब्रह्म जैसा है वैसा तुम जान रहे हो जबकि उपासना में वैसा दर्शन नहीं, फिर भी वैसा बार-बार सोच रहे हो। यह दोनों में फ़र्क है। **॥७६॥**

विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है जिसे अनिच्छा निवृत्त नहीं कर सकती। परन्तु विचार भी कोई तभी करेगा जब इच्छा है! विचार करने की तो इच्छा होनी चाहिये, परन्तु विचार से क्या ज्ञान होगा यह अपने हाथ में नहीं है। ज्ञान से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। उपासना इससे भिन्न है, उसमें विचार की ज़रूरत नहीं है—

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन्।
चिन्तयेत् प्रत्ययैरन्यैरनन्तरितवृत्तिभिः।।७७।।

श्रद्धालु साधक आप्त उपदेष्टा पर विश्वास कर निःशंक हो विरोधी वृत्तियों से चिन्तन करे—यह उपासना हो जाती है।

ज्ञानमार्ग के साधक में विचार अत्यावश्यक है और उपासनामार्ग का साधक श्रद्धालु होना अत्यावश्यक है। यद्यपि श्रद्धा की ज़रूरत तो विचार मार्ग में भी है, तथापि किस प्रकार से विचार करना चाहिये—इसीमें श्रद्धा की ज़रूरत है, आगे, विचार से ज्ञान तो स्वतः उत्पन्न होगा। जो श्रद्धालु विचार नहीं कर सकता उसको तो जैसा आप्त, प्रामाणिक पुरुष का अर्थात् गुरु का उपदेश है कि यह उपास्य का स्वरूप है, उसी प्रकार की उपासना करनी है। भगवान् विष्णु के चार हाथ हैं, इसमें विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि चार ही क्यों, पाँच हाथ क्यों नहीं! यह सब विचार नहीं किया जाता, आप्त ने कह दिया तो चार ही हाथ हैं, उसी का ध्यान होगा। जो विचार करने लगे कि चार हाथ क्यों हैं, वह उपासना का अधिकारी नहीं होगा। उपास्य का स्वरूप क्या है, यह बात उपदेश से पता लग जाती है। कोई बात समझ में नहीं आये तो वापिस गुरु से पूछो, उसमें अपनी युक्तियों से विचार करने से काम नहीं चलेगा।

जो विश्वास भी नहीं कर सकता और उसमें विचार की भी सामर्थ्य न हो तो वह इन दोनों मार्गों का अधिकारी नहीं है जैसे वर्तमान काल के लोग! वे हर चीज़ के बारे में पूछेंगे कि 'ऐसा क्यों, ऐसा क्यों नहीं', और जब उनसे विचार करने लगो तो कहेंगे कि 'इसमें तो सिर दर्द होता है, जी घबराता है'। अगर विचार करने की सामर्थ्य हो तो उससे घबराहट नहीं होगी। अगर विचार करने की सामर्थ्य नहीं तो जैसे गुरु जी ने कह दिया वैसा विश्वास करो कि ऐसा ही है। जो उन्होंने कहा है उससे भिन्न विजातीय प्रत्यय अर्थात् चिन्तन न करे। उन्होंने विष्णु भगवान् का ध्यान करने को कहा और उनके चार हाथ बताये तो वैसा ही ध्यान करना है। यदि अन्य आकार की वृत्तियाँ बनती रहीं तो ध्यान, उपासना नहीं होगी। प्रायः लोगों की यह शंका रहती है कि विष्णुपुराण बाँचते हैं तो उसमें विष्णु को ही सब कह दिया गया है और गणेश-पुराण में गणेश को ही सब कुछ कह दिया। ऐसा विरोध क्यों? उत्तर तो सीधा है कि गणेश के उपासक के लिये वैसा लिखा गया है और विष्णुभक्त के लिये विष्णुपुराण लिखा है। दोनो बाँचोगे तो गड़बड़ी के अतिरिक्त और कुझ नहीं लगना है। पुराण क्योंकि स्मार्त हैं अतः किसी पुराण में विष्णु प्रधान होंगे लेकिन अन्य देवताओं का

भी वर्णन आयेगा ही। सिद्धान्त है कि विष्णु-उपासक विष्णु को प्रधान मानकर बाकी सबको गौण माने और गणेश का उपासक गणेश को प्रधान मानकर बाकी सबको गौण माने। ऐसा कोई पुराण नहीं है जिसमें सारे देवताओं को न कहा हो। सबकी पूजा करनी है, लेकिन अन्य सब गौण हैं, इष्ट देवता के पार्षद हैं, और वह प्रधान देवता है। विचारक दोनों को बाँचेगा और तब विचार करके इस निर्णय पर पहुँचेगा कि किसी भी गुणवाला प्रधान नहीं है, इन सब गुणों को छोड़कर जो निराकार है वही प्रधान है, उसी की भिन्न-भिन्न उपाधियों में स्थिति कही है। विचार करने का मार्ग अलग है, उपासना का मार्ग अलग है। उपासना के मार्ग में श्रद्धा ही चाहिये। अन्यथा दूसरे प्रत्ययों या ज्ञानों से ध्यान अनंतरित न रहकर बीच-बीच में दूसरी बातें भी आती रहेंगी। बहुत से लोग देवभेद में आग्रही होकर विभिन्न देवताओं की आराधना करते रहते हैं जिससे कोई भी एक प्रत्यय दृढ नहीं होता। अन्य वृत्तियों का व्यवधान न रखे तभी उपासना-मार्ग में अधिकारी बनेगा। एकनिष्ठ प्रत्यय-प्रवाह होने पर ही उपासना की सिद्धि होगी। इसलिये स्मार्त पंचदेव-पूजा में सभी को मानते हैं, परन्तु मध्य में उपास्यको रखते हैं। विष्णु-उपासक विष्णु को मध्य में रखकर और गणेश का उपासक गणेश को मध्य में रखकर उपासना करेगा, बाकी को चारों तरफ रख देगा। स्मार्त किसी देवता को मना नहीं करता है, उन सभी को पार्षद मानता है। इस प्रकार अविचारशील श्रद्धालु उपासना में तथा विचारशील श्रद्धालु ज्ञान में अधिकारी है, यह भी इन दोनों में अन्तर है। ॥७७॥

उपासक के लिये चिन्तन-काल कितना चाहिये यह सूचित करते हैं—

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवाऽऽमृति धारयेत्।।७८।।

जब तक 'उपास्य ही मेरा वास्तविक स्वरूप है' यह दृढ भावना न बने तब तक इसके लिये चिन्तन करता रहे, तदनन्तर मरण-पर्यन्त वही भाव कायम रखे।

यह उपासना कब तक करे? जब तक चिन्त्य के स्वरूप का अभिमान न हो जाये अर्थात् जिसका चिंतन कर रहा है उसमें 'यही मैं हूँ' ऐसा अभिमान न हो जाये। जब तक यह अभिमान न हो जाये कि 'यह देव ही मैं हूँ और कुछ नहीं हूँ' तब तक अन्य कोई प्रत्यय बीच में न लाते हुए उसका चिंतन करता रहे। ज्ञान में तो जब निश्चय हो गया, उसके बाद फिर प्रारब्धक्षय को देखता है। फिर उसको और कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। उपासना में ऐसा नहीं है। 'मैं उपास्य ही हूँ, इससे भिन्न नहीं' ऐसा अभिमान होने के बाद भी मरने तक इसको धारण करना पड़ेगा। अर्थात् लगातार अभिमान करना पड़ेगा क्योंकि ऐसा ज्ञान, अनुभव तो है नहीं। अगर तुम दूसरा चिंतन करने लगे तो वह प्राप्त हुआ अभिमान हाथ से निकल जायेगा। ठीक जैसे रेल में तुमको अपने नाम का टिकट नहीं मिला और तुमने देवदत्त के नाम का टिकट ले लिया तो तुम्हें मन में बार-बार याद रखना पड़ेगा कि कोई

नाम पूछे तो 'देवदत्त' कहना है, उम्र पूछे तो ५५ साल कहना है अर्थात् 'मैं देवदत्त हूँ और ५५ साल का हूँ' यह धारण करना है। परन्तु तब भी तुमको ज्ञान तो है कि 'मैं यज्ञदत्त हूँ और पचास साल का हूँ।' इस बात को याद नहीं करना पड़ता। जहाँ भी जाओ, कोई पूछे तो फट बता दोगे। मैं देवदत्त ५५ साल का हूँ नहीं, टिकट उसके नाम का लिया है तो याद रखना होगा, यदि तुमने उधर ध्यान नहीं दिया तो पकड़े जाओगे। इसी प्रकार तुम जिस इष्ट का ध्यान कर रहे हो तद्रूप हुए तो हो नहीं, केवल अभिमान है अतः ऐसा यदि याद नहीं करते रहे तो जीव ही रह जाओगे। इसलिये जब तक मर न जाओ तब तक इसको धारण करके रखना पड़ेगा। यह भी फ़र्क ज्ञान और उपासना में है। ॥७८॥

आमरण ध्यान रखने का निर्णय उदाहरण से पुष्ट करते हैं

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया।
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत।।७९।।

संवर्ग नामक उपासना के अनुष्ठाता भिक्षा माँगने वाले ब्रह्मचारी ने चित्त में अपनी संवर्गरूपता धारण कर भिक्षा की याचना की।

उपासक को अपने इष्टरूप के अभिमान को हमेशा धारण करना पड़ता है। छांदोग्य (४. ३.६) की संवर्गविद्या में एक कथा आई हैः कोई ब्रह्मचारी था जिसने संवर्ग विद्या की उपासना की थी। जैसे वायु संहार के समय सब को अपने में लीन कर लेता है वैसे ही सारी इन्द्रियाँ सुषुप्ति के समय प्राण में लीन हो जाती हैं, अतः प्राण में संवर्गता का चिंतन है जिससे 'मैं सर्वसंहाररूप हूँ' ऐसा अभिमान हो जाता है। इस संवर्ग विद्या से युक्त वह ब्रह्मचारी भिक्षा से जीवन-निर्वाह करता था। एक बार भिक्षा लेने के लिये राजा के पास गया। राजा के सामने कहा कि चारों देवों को जो एक निगलता है या जो जगता रहता है वह सारे संसार की रक्षा करने वाला मैं हूँ—इस प्रकार से 'मैं संवर्गरूप हूँ' ऐसा उसने अपना परिचय राजा को दिया क्योंकि उसके चित्त में वही अभिमान दृढ था। इससे पता लगता है कि उपासक को हर समय अपने इष्ट का चिंतन करते रहना चाहिये। ॥७९॥

मरण-पर्यन्त धारण करने में हेतु समझाते हैं—

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात् प्रत्ययसन्ततिम्।।८०।।

क्योंकि कर्त्ता की इच्छा से उपासना करना, न करना या अन्य तरह करना संभव है इसलिये हमेशा वृत्ति-प्रवाह चलाना चाहिये।

पुरुष अपनी इच्छा से जैसी उपासना बताई है वैसा कर सकता है। गुरु जी ने जैसा उपदेश दिया है वैसा करे, न करे या कुछ और ही उसमें जोड़-घटा कर करे। गुरु जी ने कहा कि रोज़ सवेरे चार बजे उठकर ध्यान करना, लेकिन वह छह बजे तक पड़ा सोता ही रहे,

ध्यान न करे। विष्णु भगवान् का नीले या साँवले रूप में ध्यान करना है, उसकी जगह सफेद रूप में ही उनका ध्यान कर ले तो कोई क्या कर लेगा! जैसा बताया वैसा करे, न करे या अपनी इच्छा से और ही कुछ करे, इन सब प्रकारों से उपासना करना सम्भव है। इसलिये नियम करते हैं कि जैसा बताया वैसा ही नित्य करे। वैसा न किया तो उपासना नहीं होगी, अन्यथा करने से भी उपासना नहीं होगी।

ज्ञान में ऐसा विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि जिसका विचार करोगे उसके बारे में एक ही निर्णय आना है। इतना ज़रूर है कि नियमों के अनुसार तम्हें विचार करना है। उस के विचार को करने के जो नियम हैं उनके अनुसार करने से ही निर्णय आता है। विचार से जो नतीजा निकलेगा वह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर नहीं है। अगर नियम नहीं मानोगे तो गलत नतीजा निकलेगा। जैसे हिसाब करने का तरीका बता दिया कि इस-इस प्रकार से गुणा-भाग या जोड़-बाकी करना है, उस तरीके से करोगे तो ठीक नतीजा निकलेगा, उसी नियम से दो आदमी करेंगे तो भी नतीजा एक ही निकलेगा। यदि तुम तरीका ही बदल दो और नतीजा दूसरा निकले तो गलती तुम्हारी है। जैसे गुणा करने का तरीका बताया कि पहले दाहिने अंक से गुणा करना, लेकिन तुम पहले बायें से करो और नतीजा दूसरा निकले तो तुम्हारी गलती है। गुणा करने का जो तरीका बताया गया उसी से करना पड़ेगा, तब नतीजा ठीक और एक ही आयेगा। इसी प्रकार से विचार करने के जो नियम बताये हैं उन नियमों से वैसा ही विचार करना पड़ेगा और तब एक ही निर्णय निकलेगा। अगर तुम विचार करने के नियम ही बदल दो तो बात दूसरी है। सामान्य नियम है कि कोई चीज़ बदलती है तो उसके अन्दर विकार या परिवर्तन होता है। लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि बदलते हुए भी परमेश्वर में बदलाव नहीं आता है! यह विरोध उन्हें असंगत नहीं लगता है कि बदल रहा और नहीं बदल रहा है। विचार करने का नियम है कि विरोधी बातों में एक ही ठीक हो सकती है या दोनों गलत हो सकती हैं, परन्तु दोनों तो ठीक नहीं हो सकतीं। जो कहे कि 'हमारे विचार के तरीके में दोनों ही ठीक हो सकती हैं' उससे किस आधार पर विचार होगा! प्रसिद्ध दृष्टांत है कि एक आदमी ने दूसरे आदमी के आँगन में परनाला निकाल दिया। दूसरे ने पंचों को बुलाया। पंचों ने उसे समझाया कि तुमने दूसरे के घर मे नाला निकाला, यह ठीक नहीं उसे वहाँ से हटाओ। पंचों की बात माननी पड़ती है। अतः उसने कहा, 'पंचों की बात सिर-माथे पर नाला तो वहीं निकलेगा!' ऐसे आदमी को क्या समझाया जाये! उपासना के अन्दर विकल्प संभव होने से नियम करते हैं कि जैसा बताया है वैसा ही करना पड़ेगा। ध्यान भी लगातार और मरने तक रोज़ करना होगा। ॥८०॥

निरन्तर ध्यान का अनुभव-सिद्ध प्रभाव बताते हैं—

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत्।।८१।।

अप्रमादी वेदाध्येता दृढ वासनावश सपने में भी अध्ययन ही करता है, जपशील सपने में भी जप करता है, इसी प्रकार ध्यान-कर्त्ता को भी चाहिये कि इष्टाकार की वासना स्थिर करे।

दृष्टांत देते हैं कि बिना प्रमाद के जो वेद का अध्ययन करने वाला है उसको प्रतिदिन वेदाध्ययन करना ही होता है, ऐसा नहीं कि आज तीन घण्टे पाठ करे, कल छोड़ दे, फिर परसों आधा घण्टा कर लिया। कई लोग ऐसा करते हैं—किसी दिन पाँच हज़ार जप कर लिया, किसी दिन एक ही हज़ार किया, तीसरे दिन नौ हज़ार जप कर लिया; लोग भी कहते हैं कि उसने पूरा तो कर ही लिया। लेकिन वेदाध्ययन या कोई भी जप ऐसे नहीं होता। पाँच हज़ार जप करने को बताया है तो रोज़ पाँच हज़ार ही करना है, चार हज़ार नौ सौ निन्यानबे नहीं करना है। रोज़ ही करना है तो रोज़ ही करना है, ऐसा नहीं कि महीने में हिसाब लगा लो कि पूरा हो गया। इसलिये बिना प्रमाद के और पूरी सावधानी से लगकर करना पड़ता है। हरेक अक्षर ठीक तरह से उच्चारण हो इस प्रकार वेदाध्ययन किया जाता है। जो अध्ययनशील है वह बिना प्रमाद के वेदाध्ययन करता है। इसी प्रकार से जो जप करने वाला है वह जप भी इसी प्रकार से बिना प्रमाद के करता है। जप में भी प्रमाद होता है जैसे पूरे मंत्र का उच्चारण स्पष्ट नहीं करते, कहीं जाना है तो बहुत फुर्ती से कर लेते हैं, जैसा कई बार भोजन के पहले पाठ करने में होता है! यह सब प्रमाद है। जप जैसा करना बताया है वैसा ही करना पड़ता है। इस प्रकार करने से संस्कार दृढ होते हैं तो स्वप्न में भी वही जप या वही वेदाध्ययन होता है। जो दृढ नियम वाला नहीं होता उसे सपने में उस प्रकार की प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार से जिसने परमेश्वर का ध्यान किया है वह स्वप्न में भी परमेश्वर का वैसा ही ध्यान करता है। ध्यान करने वाला उपासक अपनी वासना को ऐसा दृढ करे कि स्वप्न में भी उसका ध्यान स्थिर रहे। दृढ अभ्यासी की अंगुलियाँ बेहोशी में भी वैसे चलती हैं जैसे जप में चलायी जाती हैं! ऐसी दृढता-पर्यन्त मरने तक उपासना करनी ही है। ॥८१॥

स्पष्ट करते हैं कि ऐसी स्थिति सम्भव है—

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन्।
लभते वासनावेशात् स्वप्नादावपि भावनाम्।।८२।।

विरोधी वृत्ति छोड़कर लगातार चिन्तन करता व्यक्ति संस्कार-पुष्टि से सपने आदि में भी ध्यान कर पाता है।

विरोधी प्रत्यय को छोड़ करके अर्थात् ध्येय आकार का विरोध करने वाले विचार या भावनाओं को मन में न आने देकर। शास्त्रों में यहाँ तक वर्णन आता है कि जिस रूप में भक्त ध्यान करता था उससे अलग रूप धारण कर भगवान् ने दर्शन देकर वर माँगने को कहा तो भक्त ने मना कर दिया! कहा 'आप को पूज्य अवश्य मानता हूँ पर वर तो इष्ट देव से ही लूँगा!' जिसकी उपास्य में ऐसी निष्ठा नहीं होती, वह कहता है 'कहीं से भी मिले, ले

लूगाँ'। किसी हज़रत मुसलमान से मिले तो उसी से लेने को तैयार हो जाते हैं! ऐसे की उपासना दृढ नहीं हो सकती। विरोधी भावनाओं और विरोधी ज्ञानों को छोड़कर ही दृढता आती है। यह भी एक फ़र्क विचार-मार्ग और उपासना-मार्ग में है। विचार-मार्ग में चलने वाला तो विरोधी विचारों को उठाकर उनमें क्या गलतियाँ हैं यह समझता है। उपासक के लिये ऐसा हितकर नहीं। विचार करने वाले को तो विरोधी प्रत्ययों से कोई घबराहट नहीं होती, वे उसके निश्चय को दृढ करने वाले बनते हैं। इसलिये विचार-मार्ग में स्थूणानुखनन न्याय मानते हैं। कील दीवार में ठोक दी, अन्दर चली गई, फिर भी उसे हिलाते हैं, फिर ठोकते हैं। कारण है कि ढीला कर फिर से ठोकने से मज़बूती से ठुकती है। अन्त में उसे चाहे जितना हिला लो फिर भी नहीं हिलती तब उसे वहीं छोड़ देते हैं। उसी प्रकार विचार के मार्ग में जितनी विरोधी बातें हैं उनको लाकर सिद्धांत में कमज़ोरी दिखाओ—यह हिलाना हुआ ताकि शंका उठे कि शायद ठीक न हो। पुनः सिद्धांत के अनुकूल उसे ठोक कर दृढ करो कि वह शंका ठीक नहीं। अन्त में जब निश्शंक हो जाते हैं कि ऐसा ही है, फिर चाहे जितनी विरोधी बातें सामने आयें, निश्चय दृढ रहता है। उसके पहले तक तो बार-बार विचार दृढ करना है।

परन्तु यह हिलाने का काम उपासक के काम का नहीं है। बहुत-सी दीवारें ऐसी होती हैं कि हिलाते रहोगे तो छेद बड़ा होता जायेगा! कच्ची दीवार मिट्टी की होती है, उसे ज़रा खोदो तो कील इस पार से उस पार निकल जायेगी, लेकिन मज़बूत नहीं होगी। इसी प्रकार से उपासना चाहे जितनी दृढ हो, तुम्हें विरोधी प्रत्यय का परिहार नहीं करना है वरन् उन्हें छोड़ना है। इसी पर एक कथा आती हैः भगवान् शंकर का एक भक्त था जो अपने दोनों कानों में दो घण्टे लटकाये रखता था। वह इसलिये कि अगर किसी ने भगवान् शंकर के सिवाय कोई दूसरी बात की तो वह दोनों घण्टे बजा दे ताकि अन्य चर्चा सुननी ही न पड़े! इसलिये उसका नाम ही 'घण्टाकर्ण' पड़ गया। भगवान् के सिवाय दूसरी बात को सुनना ही नहीं—यह विरोधी प्रत्यय को सर्वथा छोड़ना है।

विरोधी प्रत्यय को न करे इतने मात्र से भी नहीं होगा, जो प्रत्यय बनाना है उसको निरन्तर बनाते भी रहना पड़ता है, तब उसकी दृढ वासना हो जाती है। ठीक जिस प्रकार से हम लोग हिन्दी बोलते हैं तो हिन्दी की वासना दृढ होती है। कुछ लोग कभी-कभी अंग्रेजी बोलते हैं, उनकी हिन्दी की वासना दृढ नहीं हो पाती, वे हिन्दी बोलते हुए बीच-बीच में अंग्रेजी बोल देंगे। कई बार अंग्रेजी बोलते हुए बीच में हिन्दी बोल देंगे। यों किसी की वासना दृढ नहीं होगी। जब निरंतर हिन्दी ही बोलोगे तब उसकी वासना दृढ होगी। इसलिये बहुत-से अंग्रेजी के स्कूल होते हैं जहाँ एक शब्द भी हिन्दी का बोल दो तो पाँच-दस रुपये ले लेंगे! कई लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं होना चाहिये। तुम हिन्दुस्तान में अंग्रेजी पढ़ाना चाहते हो, तो यही तरीका है। बिना बीच में व्यवधान हुए ही भावना बनानी पड़ती है। जिस समय द्वितीय विश्व महायुद्ध चल रहा था, उस समय इंग्लैण्ड वालों को

ज़रूरत थी ऐसे जर्मन बोलने वालों की जिनको जर्मनी में उतार दें और किसी को पता न लगे कि वे जर्मन नहीं हैं अन्यथा जर्मनी वाले मार डालेंगे। ऐसे व्यक्तियों को तैयार करने के लिये उन्होंने नौ महीने का कोर्स, पाठ्यक्रम चलाया जिसमें भर्ती होने के समय से ही सिवाय जर्मन भाषा के और कुछ नहीं बोला जाता था। अगर कुछ चाहिये जिसके लिये जर्मन भाषा में नहीं बोल सकते तो इशारा कर सकते थे। अगर अंग्रेजी उच्चारण कर दिया तो दण्ड दिया जाता था जैसे दस मील की दौड़ लगा कर आओ। तब वे नौ महीने में जर्मन भाषा बोलने में इतने होशियार हो जाते थे कि फिर उन्हें हवाइ जहाज से जर्मनी में उतार देते थे तो सफलता-पूर्वक वहाँ सारा काम कर लेते थे। इसलिये नियम है कि जो प्रत्यय बनाना है उसे निरन्तर बनाता रहे, बीच-बीच में विरोधी प्रत्ययों को लाता रहेगा तो कभी भी दृढता नहीं होगी। इस प्रकार निरंतर करने से ही वासना का आवेश दृढ हो जाता है। तभी स्वप्न भी वैसा ही देखेगा।।८२।।

लौकिक उदाहरण से समझाते हैं कि सामान्य व्यवहार का आत्मचिन्तन से विरोध नहीं है—

भुञ्जानोऽपि निजारब्धम् आस्थातिशयतोऽनिशम्।
ध्यातुं शक्तो न सन्देहो विषयव्यसनी यथा।।८३।।

अपना प्रारब्ध भोगते हुए भी आस्था की अधिकता से लगातार ध्यान उपासक कर पाता है जैसे विषयों में व्यसन रखने वाले (विषयचिंतन करते हुए अन्य व्यवहार कर लेते हैं)।

जिस विषय में कोई व्यसन वाला हो उसका आकर्षण बना रहता है। दिल्ली का एक भंगेड़ी एक बार हमारे पास कलकत्ते आ गया। कहने लगा 'मैं यहीं रह जाऊँ?', हमने कहा,'भाँग पीता है इसलिये महात्माओं के पास रहना ठीक नहीं।' वह बोला 'मैंने भाँग छोड़ दी है।' तब हमने कहा 'रह जाओ।' उसके बाद दो-चार बातें हुई। तब तक एक बीकानेर वाला भंगेड़ी एक गोली निकालकर पूछने लगा, 'यह लोगे?' तो बिना सोचे ही दिल्ली वाले का जवाब था 'पानी कहाँ मिलेगा?' हमने उससे कहा, 'अभी-अभी तो तूने कहा कि भाँग छोड़ दी!' कहने लगा, 'सामने आ गई तो क्या करूँ?' इसलिये जिसे जिस चीज़ का व्यसन होता है उसे अपने प्रारब्ध के अनुसार दूसरे भोग मिलते भी हैं लेकिन उसकी अत्यन्त आस्था तो व्यसन के पदार्थ में ही रहती है। शादी में बढ़िया इन्तजाम हो, मिठाई आदि बढ़िया व्यंजन मिल रहे हों, पर व्यसनी को अपने व्यसन के पदार्थ की कमी ही खलती रहती है। इष्ट पदार्थ में निरन्तर दृढ वृत्ति रहती ही है। जैसे ये दृष्टान्त हैं वैसे ही प्रारब्ध कर्म के अनुसार जो उपासक है उसको भी भोजन करना है, कपड़ा पहनना है, अनिवार्य भोग करना ही है, लेकिन उसको हमेशा यह भाव बना रहता है कि 'मेरा ध्यान गड़बड़ न हो, मैं निरन्तर ध्यान कर सकूँ'। ऐसी स्थिति होती है इसमें कोई संदेह करने की जरूरत नहीं है। निरन्तर भावना करे तो ऐसा नहीं है कि खाना-पीना छूट जायेगा! क्योंकि प्रारब्ध-भोग तो करना ही

है इसलिए खाना-पीना सब कुछ चलेगा लेकिन उसका चित्त निरन्तर ध्येय की तरफ ही रहेगा। उसका भी मन प्रारब्ध-भोग में जाता है लेकिन वह उसमें लिप्त नहीं हो पाता, लिप्त तो वह अपने ध्यान में ही रहता है। हम लोग जब भोग आता है तब उसमें लिप्त हो जाते हैं, और कुछ ध्यान में नहीं रहता। किन्तु जो ध्यानी है वह बाकी सब काम तो मन के एकदेश से कर लेता है, बाकी मन इष्टध्यान में लगाये रखता है। तभी व्यक्ति सफल होता है। इसी प्रकार जो उपासना करने वाला है उसे पूर्ण तत्परता से उपासना को सिद्ध करना है, इसके लिये ही सारा प्रयत्न करना है। अगर सोचने लगा कि कुछ सुस्ता ले, संसार भी संभाल ले, तो मोक्षप्रद दृढता नहीं मिलेगी। कार्य को सिद्ध करना है, भले ही इसमें शरीर गिर जाये—ऐसा निश्चय करके उपासना या भावना के मार्ग में चलेंगे तब वह सिद्ध होती है। **॥८३॥**

उपासक की भावना परमेश्वर में और प्रारब्धोचित व्यवहार संसार से चलते हैं इसमें लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्।।८४।।

पराये आदमी में आसक्त स्त्री अपने घर के काम में व्यस्त रहती हुई भी उस व्यक्ति के साथ के सुखरूप उसी रसायन का मानो स्वाद लेती रहती है!

जिस स्त्री की आसक्ति किसी अन्य पुरुष में है, ऐसी स्त्री भी घर के सारे कामों में व्यस्त रहेगी। लेकिन सारे कार्य करते हुए भी मन में पर-पुरुष के संग का जो रस है उसका आस्वादन करती है, स्मरण करती रहती है। इस श्लोक में विद्यारण्य स्वामी ने दोनों बातें कह दीं : पर का अर्थ परमात्मा भी है। बुद्धि को एक नारी की तरह कहा है। इसलिये, परमात्मा में ही व्यसन है जिस बुद्धि का, ऐसी बुद्धि गृहकर्म में अर्थात् शरीर में रहते हुए भी परसंग अर्थात् परमात्मा का आस्वादन करती है। जिस प्रकार दृष्टान्त में स्त्री को रहना घर में ही पड़ेगा लेकिन व्यसन अन्यत्र ही है, उसी प्रकार उपासक को रहना तो शरीर में पड़ेगा परन्तु उसे निरन्तर स्मरण परमात्मा का रहेगा। शरीर में जो किसी स्पर्श वाला नहीं है, वह परमात्मा 'पर' है। जब आदमी व्यग्र होता है तब जल्दी-जल्दी काम निपटाता है, अन्यथा कार्य को दीर्घ करता है, जैसे घर में कोई शादी-ब्याह का काम होता है तो बाकी कामों को झट-पट निपटाते हैं क्योंकि प्रधान कार्य शादी है, उसकी तैयारी करनी है। इसी प्रकार उपासक खाने-पीने इत्यादि व्यवहार को निपटाता है, क्योंकि शरीर में रहना है, पर उसे जल्दी से खत्म करने की सोचता है। भोजन आदि व्यवहार करते हुए भी अन्दर में तो परमात्मा के चिन्तन का जो आनंद है, उसी को लेता है। उसके लिये वही रसायन है। रसायन उसे कहते हैं जो तुम्हें पुष्टि देता है। इसी प्रकार परमात्मा का चिन्तन उपासक की आत्मा को पुष्ट करने वाला है। परन्तु जीवित है तो वह व्यवहार भी कर लेता है। **॥८४॥**

मन अन्यत्र लगा रहते भी काम-चलाऊ व्यवहार संभव है यह दिखाते हैं—

परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत्।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते।।८५।।

परपुरुष के संयोग के स्मरण, कल्पना आदि का स्वाद लेती हुई का भी वह घरेलू कार्य रुकता नहीं लेकिन ऊपरी मन से ही होता है।

दृष्टांत तो स्पष्ट है। दार्ष्टान्त में, परमात्मा के प्रति जो प्रेम का भाव है उसका आस्वादन करते हुए भी लोकव्यवहार सम्पन्न करता है। जैसे घण्टे को ज़ोर से बजा दो तो धीरे-धीरे उसकी ध्वनि कम तो होती है पर टंकार के काफी देर बाद तक भी उसकी गूँज बनी रहती है, इसी प्रकार जब परमात्मा का ध्यान करते हैं, वह काल घण्टे के टंकार जैसा है। उस समय वह स्वाद पूर्णता से प्राप्त होता है। परन्तु उसके बाद भी काफी देर तक उसकी मस्ती बनी रहती है। इसीलिये प्रायः साधक को प्रारम्भ में ही कहा जाता है कि सवेरे, मध्याह्न और सायंकाल संध्या करे। सवेरे की खुमारी मध्याह्न तक चल जायेगी और मध्याह्न की खुमारी सायंकाल तक चल जायेगी। शाम की खुमारी उतरते नींद आ जायेगी। फिर प्रातः काल उठकर वही क्रम शुरू हो जायेगा। साधक को तीन बार संध्या करने को कह देते हैं पर धीरे-धीरे समय बढ़ाते जाना चाहिये। जैसे मध्याह्न में संध्या करनी है परन्तु ग्यारह-पौने ग्यारह बजे ही तुम्हारा चित्त घड़ी की तरफ जाने लगता है कि मध्याह्न काल चूक न जायें। उसी प्रकार यदि तुम हर तीन घण्टे पर ध्यान का नियम कर लो या और भी बढ़ा कर प्रत्येक घण्टे का नियम कर लो तो नियम के कारण वह काल आने से कुछ मिनट पहले ही तुम्हारे मन में परमात्मा-सम्बन्धी विचार आने लगेगा। साधक के मन में परमेश्वर-ध्यान के प्रति प्रेमपूर्ण उत्साह होता है। जैसे अपना बच्चा सात बजे कहीं से आने वाला हो तो पौने सात बजे से ही घड़ी देखने लगते हैं कि आने ही वाला है, इसी प्रकार उपासक की वृत्ति बनती रहती है कि अब ध्यान का समय आने ही वाला है। इस प्रकार आस्वादन करते हुए भी प्रारब्ध-भोग कर लेता है, ऐसा नहीं कि वह काम न हो। काम होता रहेगा और अन्दर में आस्वादन भी होता रहेगा। जो काम बहुत समय तक कर लेते हैं, वह फिर बिना ध्यान दिये हुए भी आपाततः हो जाता है अर्थात् 'किया या नहीं किया' इसका होश भी नहीं रहता। जिस रास्ते पर रोज़ चलते हैं वहाँ स्वयं को पता रहता है कि कहाँ गड्ढा है, सीढी है और तदनुसार चलने की क्रिया होती रहती है, साथ में अपने दोस्त के साथ गप्पें मारते रहते हैं। चलते हुए भी चलने का मानो भान नहीं रहता। इसी प्रकार अनादि काल से और यहाँ जन्म से ही खाने-पीने आदि का सारा व्यवहार चलता रहा है, इसलिये उस व्यवहार की तरफ अन्तःकरण की किंचित् वृत्ति पर्याप्त होती है। इतने से ही बाह्य काम आपाततः हो जायेगा, लेकिन अन्दर का प्रधान चिन्तन परमात्मा का चलता ही रहेगा। **॥८५॥**

सामान्य संसारी से परमात्म-उपासक के व्यवहार में अन्तर दिखाते हैं—

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत्।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा।।८६।।

घर सँभालने की रुचि वाली नारी जैसे घर के कार्य भली भाँति करती है, पराये आदमी में आसक्त नारी वैसी कुशलता से अपने घर का काम नहीं ही करती है।

जिसको परव्यसन नहीं है, गृहकृत्य में ही व्यसन है, केवल घर के काम को ही सोचती है, वह तो ठीक ढंग के काम करती है। इसी तरह जो लौकिक लोग प्रारब्धभोग के कृत्यों के अन्दर ही व्यसन वाले हैं, आज क्या कमाया, क्या खाया, क्या पहना इत्यादि को ही सोचते हैं। कभी मन्दिर जाकर हाथ भी जोड़ लेंगे लेकिन भगवान् के सामने खड़े होकर भी यही मन में कहेंगे कि कैसे लड़के या लड़की की शादी हो जाये, नौकरी में तरक्की हो जाये, बढ़ोत्री हो जाये! इस प्रकार भगवान् के सामने भी गृहकृत्य का व्यसन प्रकट होता है। ध्यान-निष्ठा वाले की बुद्धि सर्वथा केवल सांसारिक भोगों का ही विचार नहीं करती, वैपरीत्येन संसारकृत्य के दौरान भी परमेश्वर-विचार ही करती रहती है। ॥८६॥

लोकव्यवहार में उपासक और ज्ञानी का अन्तर सूचित करते हैं—

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत्।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत्।।८७।।

अन्यत्र संलग्न मन वाले की तरह केवल परमात्म-ध्यान में निष्ठा वाला भी लौकिक कार्य आपाततः प्रारम्भ कर पाता है। तत्त्वज्ञानी तो लौकिक कार्य भली भाँति कर लेता है क्योंकि तत्त्वनिष्ठा का व्यवहार से कोई विरोध नहीं।

जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त में, इसी प्रकार ध्यान में जो एकनिष्ठा वाला है, व्यसन वाला है, वह लौकिक काम अर्थात् इस लोक में जिससे भोग की प्राप्ति होती है उस काम में अपना मन थोड़ा-सा लगाकर कार्य कर लेता है। शंका होती है कि तत्त्ववेत्ता का भी लौकिक व्यवहार क्या ऐसे ही होता है? समाधान देते हैं कि तत्त्ववेत्ता और ध्यानी में यह फ़र्क रहेगा कि तत्त्ववेत्ता तो जानता है कि 'कण-कण और क्षण-क्षण में केवल एकमात्र परमात्मा ही प्रकट हो रहा है, यह सारा खेल मैंनें ही माया से रचा है, इसलिये संसार की प्रत्येक चीज़ स्वरूप से निस्तत्त्व है, परन्तु माया शक्ति से ही प्रतीत हो रही है,' इसलिये वह स्वभाव से ध्यानैकनिष्ठ रहता है। जैसा कबीरदास कहते हैं 'आँख न मूंदूँ कान न रूँदूँ हँस हँस रूप निहारूँ'। यह सारा जगत् परमात्मा का रूप है, वही कण-कण और क्षण-क्षण में प्रकाशित हो रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष जानने वाला आपाततः लौकिक व्यवहार नहीं करता वरन् क्योंकि परमात्मा ही उसे भली प्रकार दीखता है इसलिये व्यवहार समीचीन करता है। जिस व्यक्ति ने सिनेमा में मुख्य नायक का काम किया है, जब उस खेल को पहली बार दिखाया जाता

है तब उसके ही हाथ से उस सिनेमा का उद्घाटन करते हैं कि पहले वह देखे। वह उसी खेल को देखता है जिसमें मुख्य नायक वह खुद है। बड़े ध्यान से देखता है कि 'मेरे अभिनय में कहीं कोई त्रुटि तो नहीं रह गई'। ऐसा नहीं सोचता कि 'यह तो मेरा ही किया हुआ अभिनय है, क्या देखना है!' बल्कि बड़े ध्यान से देखता है कि कैसा खेल किया है। ठीक इसी प्रकार से तत्त्ववेत्ता जानता है कि 'मैं अधिष्ठान तत्त्व हूँ, माया के द्वारा मुझसे ही यह सब प्रकट हुआ है। अतः कैसा प्रकट हुआ है—इसको अच्छी तरह से, ध्यान से देखूँ।' उसको वहाँ से मन को हटाना नहीं है क्योंकि स्वरूप को निरन्तर समझ पा रहा है, इसलिये लौकिक कर्म का अच्छी तरह से, बड़े ध्यान से सम्यक् आचरण करता है। जिस समय शरीर-मन से करता है उसी समय स्वयं को साक्षीरूप से देखता है। ॥८७॥

व्यवहार का तत्त्वस्थिति से क्यों विरोध नहीं यह स्पष्ट करते हैं—

मायामयः प्रपञ्चोऽयम् आत्मा चैतन्यरूपधृक्।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः।।८८।।

'यह प्रपंच मायिक है, मैं (आत्मा) चेतनस्वरूप हूँ' यह निश्चय हो चुकने पर लोक-सम्बद्ध व्यवहार करने वाले ज्ञानी का क्या विरोध है!

यह जितना प्रपंच दीख रहा है, सारा माया का ही स्वरूप है, माया का ही कार्य है। आत्मा तो एकमात्र चैतन्यरूप ही है, साक्षी ही है। जब यह ज्ञान हो गया, अपरोक्ष समझ आ गई तो फिर लौकिक व्यवहार करने वाले जो शरीर, मन आदि अहंकार पर्यन्त हैं, माया में कल्पित हैं, अभिनय तो इनमें हो रहा है, मैं चैतन्यमात्र हूँ, इसलिये ज्ञानी को व्यवहार से कोई विरोध नहीं आता है। ॥८८॥

तत्त्वबोध और व्यवहार में विरोध न होना उपपन्न करते हैं—

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य सत्यताम्।
नाप्यात्मजाड्यं किन्त्वेषा साधनान्येव कांक्षति।।८९।।

व्यवहार को प्रपंच की सत्यता की तथा आत्मा की जडती की भी ज़रूरत नहीं है। व्यवहार तो (अपने निर्वाह के) साधन ही चाहता है।

व्यवहार करने के लिये प्रपंच वास्तविक हो इसकी अपेक्षा नहीं है। ठीक जिस प्रकार से सिनेमा में चित्र दीख रहे हैं, दर्शक बना नायक जानता है कि 'यह मैं नहीं हूँ'। वह समझे कि यह मैं हूँ तभी देख सके, ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार से व्यवहार को भी प्रपंच की वास्तविकता की अपेक्षा तो है नहीं। यदि प्रपंच-वास्तविकता की अपेक्षा होती तब तो तत्त्ववेत्ता व्यवहार नहीं कर सकता था क्योंकि उसकी दृष्टि में प्रपंच सत्य है नहीं। परन्तु व्यवहार के लिये प्रपंच की वस्तुता की अपेक्षा नहीं है। इसी प्रकार आत्मा जड हो इसकी भी व्यवहार के लिये कोई ज़रूरत नहीं। साधारण आदमी को लगता है कि जब तक मैं शरीर

को चेतन नहीं मानूँगा तब तक इसके उपर ठण्ड होने पर रजाई कैसे ओढाऊँगा। वह मानता है कि जब तक शरीर आदि संघात से एकता का अध्यास नहीं होता तब तक व्यवहार नहीं होता। इसलिये अनात्मा से अध्यास होकर आत्मा की जडता होना अपेक्षित है, इसलिये जब वह तत्त्ववेत्ता को व्यवहार करते हुए देखता है तो समझता है कि इसका भी शरीर आदि के साथ अवश्य अध्यास होगा। लेकिन आत्मा इस प्रकार से अनात्मा से अध्यास होकर जडभाव में आये, इसकी कभी अपेक्षा नहीं है। इसलिये साधनों की ज़रूरत है, न अनात्मा का आत्मा में अध्यास करना ज़रूरी है और न इदं-बुद्धि के विषयों के अन्दर सत्य-बुद्धि लाना ज़रूरी है। इन दोनों को बिना किये हुए भी साधनों से तत्त्ववेत्ता का व्यवहार हो जाता है। इसलिये भगवान् ने जहाँ कर्म के साधन बताये वहाँ अधिष्ठान अर्थात् शरीर को भी एक कारण बताया

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।' (गी.१८.१४)

अहंकारात्मिका वृत्ति, बुद्धिवृत्ति को आवश्यक माना, सारी इन्द्रियों को, साधनों को ज़रूरी माना, तरह-तरह की क्रियाओं अर्थात् प्राणों की आवश्यकता बतायी तब पंचम आवश्यकता बतायी देव की अर्थात् प्रारब्ध होना चाहिये, तभी कर्म होता है। इनमें भगवान् ने कहीं नहीं कहा कि कर्म करने के लिये तुम्हारे आत्मा की आवश्यकता है! साधनों का तत्त्वज्ञान कुछ विरोध नहीं करता, तत्त्वज्ञान केवल अज्ञान को हटाता है। जैसा कि पद्मपादाचार्य कहते हैं, 'ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्' ज्ञान अज्ञान को ही हटाता है; अज्ञान के कार्यों के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। ॥८९॥

व्यवहार-साधन बताते हैं—

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान्।
तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः।।९०।।

मन, वाणी, शरीर और इनसे बाहरी (घी, जौ आदि) पदार्थ (व्यवहार के) साधन हैं। तत्त्वज्ञ इनका निवारण करता नहीं तो उसका व्यवहार नहीं क्यों होगा?

व्यवहार के लिये मन साधन है। सुषुप्ति में मन नहीं होता तो ज्ञान का भी व्यवहार नहीं है। व्यवहार के लिये कर्मेन्द्रियों की एवं ज्ञानेन्द्रियों की ज़रूरत है, शरीर की ज़रूरत है और पदार्थों की ज़रूरत है। ये सब साधन व्यवहार करने के लिये अपेक्षित हैं। मनोवाक्-पद से सूक्ष्म देह और कार्य-पद से स्थूल देह का संग्रह हो गया। कारण अज्ञान की व्यवहार के अन्दर कोई अपेक्षा नहीं है। बाहर कुछ पदार्थ होगा तभी कुछ करोगे, नहीं तो नहीं करोगे। इसलिये ये सब साधन हैं। तत्त्ववेत्ता इनमें से किसी को नष्ट करता नहीं है। ये जैसे पहले

थे वैसे ही बने रहते हैं। अतः विद्वान् का व्यवहार क्यों नहीं होगा? व्यवहार तो साधनों के द्वारा होता है और आत्मा देखता, जानता है। ॥९०॥

तत्त्ववेत्ता भी'शातो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा' आदि श्रुति के अनुसार चित्तवृत्ति को निरुद्ध ही रखे यह क्यों ज़रूरी नहीं, यह समझाते हैं—

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्याताऽसौ न तु तत्त्ववित्।
न बुद्धिमर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता।।९१।।

अगर चित्त की प्रक्रिया को प्रतिबद्ध करता है तो वह ध्यानी है न कि तत्त्वज्ञ। घड़े की वास्तविकता का जानकार (वह ज्ञान बना रहे इसके लिये) बुद्धि को बलात् एकाग्र करता नहीं देखा गया।

शास्त्र की शम, दम की विधि के अनुसार चित्त का उपमर्दन तभी तक है जब तक श्रवण मनन निदिध्यासन का परिपाक नहीं है। तब तक तो साधक उपासक-कोटि में ही आयेगा। ध्यान करनेमात्र से यह नहीं कह सकते कि वह तत्त्ववेत्ता हो गया। प्रयास से वृत्ति बनाने तक ध्याता है, अभी तत्त्ववित् नहीं बना है क्योंकि जब अहंकार के अन्दर झाँकता है तब 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति हो जाती है। जब क्षणमात्र को भी अहंकार के अन्दर 'यह मैं' अर्थात् प्रत्यगात्मा ऐसा प्रतीत न हो तब तत्त्वबोध हुआ जानना चाहिये। शम, दम आदि की विधि तब तक है जब तक अहंकार के अन्दर प्रत्यगात्मा की भावना कुछ न कुछ अन्वित है। तब तक ध्यान रखना पड़ता है कि अहंकार का सम्बन्ध सत्त्वगुण के कार्यों के साथ हो, रजोगुण-तमोगुण के कार्यों के साथ न हो। परन्तु जब प्रतिबन्धक निवृत्त हो गये, ज्ञान की दृढता हो गई जिससे क्षणमात्र को भी प्रत्यगात्मा में अहंकार आदि की प्रतीति नहीं होती, तब वह तत्त्ववित् है जिसे इससे क्या फ़र्क पड़ेगा कि चित्तवृत्ति क्या आकार ले। घट के तत्त्व को जानकर वह निश्चय बना ही रहता है, उसे मिटने न देने के लिये चित्तको कार्यान्तर से निरुद्ध कर घट पर एकाग्र नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा ब्रह्म को जानने वाला तदितर वृत्ति को हटाने या उसी वृत्ति को बनाने के लिये कोई प्रयत्न करे ऐसा नहीं है। ॥९१॥

आत्मभान के लिये घटदर्शन की अपेक्षा कम ज़रूरत चित्त-निरोध की है यह कहते हैं—

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद् भासते सदा।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते।।९२।।

एक बार प्रामाणिक निश्चयात्मक वृत्ति बनने से यदि घड़ा हमेशा के लिये ज्ञात हो चुकता है तो स्वयम्प्रकाश यह आत्मा क्या घड़े की तरह भी नहीं भासेगा?

यदि किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने कहा 'कमरे में घड़ा है', तो कहने के साथ ही घटाकार वृत्ति बनने पर घटज्ञान हो जाता है। उसके बाद घटाकार वृत्ति को बनाते रहो तभी घट का भान हो, ऐसा नहीं है। फिर से यदि देखने की इच्छा हुई कि कमरे में अन्दर घड़ा है या

नहीं तो देख सकते हैं, लेकिन निरन्तर घटाकार वृत्ति बनाने की जरूरत नहीं है। देवदत्त जब तक स्वयं पर यज्ञदत्त होने का आरोप करता है, जैसे दूसरे के टिकट से यात्रा करते हुए, तब तक सावधानी पर निर्भर है लेकिन संन्यास आदि से नामान्तरण हो जाने पर निश्चय-पर्यन्त ही सावधानी चाहिये, निश्चय हो जाने पर सहजभाव से वही नाम रहता है। इसी प्रकार जब तक प्रत्यगात्मा का ब्रह्म के साथ साक्षात् अभेद नहीं हो गया तब तक तो हमेशा याद रखना है कि 'मैं ब्रह्म हूँ, अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं हूँ,' जैसे ही यह वृत्ति हटायेगा फिर वैसा का वैसा द्रष्टा, या अहम् ही रह जायेगा। जब तक याद रखेगा तभी तक ब्रह्म, साक्षी बना रहेगा। परन्तु जब दृढ साक्षात्कार हो गया कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म ही है तब फिर वृत्ति की जरूरत नहीं रह गई।

घड़ा तो तभी जाना जायेगा जब घटाकार वृत्ति बने। इसलिये यह तो कह सकते हैं कि सात बजे तक कमरे में घड़ा था, परन्तु सात बजकर पाँच मिनट पर वहाँ घड़ा है या नहीं, इसको जानने के लिये फिर घड़े की वृत्ति बनानी पड़ेगी। यह इसलिए क्योंकि घड़ा जड है। परन्तु अपनी ब्रह्मरूपता का ज्ञान वृत्ति बनाने से ही रहेगा ऐसा नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार 'मैं ब्रह्म हो गया' ऐसा नहीं होता वरन् वह तो नित्य एक-जैसा विद्यमान ही रहेगा। यह भान होता है कि मैं सदा ही ब्रह्म हूँ। 'ब्रह्म था, हूँ और रहूँगा' यह काल की कल्पना भी माया की दृष्टि के कहनी पड़ती है। अन्यथा तो वह नित्य भान का आविर्भाव है। ब्रह्म ही मेरा स्वरूप है और वह स्वप्रकाश है अर्थात् दूसरे से प्रकाशित हुए बिना अप्रकाशित नहीं है। घड़ा तो वृत्ति से प्रकाशित होगा, जिस काल में वृत्ति नहीं है उस काल में अप्रकाशित रहेगा। परन्तु ब्रह्म वृत्ति से प्रकाशित होकर ही प्रकाशमान हो, ऐसा है नहीं। वृत्ति से प्रकाशित बिना हुए भी अप्रकाशित नहीं है। चूँकि घड़ा जड है, इसलिये अन्तः-करण की वृत्ति से प्रकाशित होता है। सात बजे का घड़ा प्रकाशित हो गया तो सात बजे वाला स्वरूप ज्ञात रहेगा। सात बज कर पाँच मिनट वाला अन्तःकरण की वृत्ति से प्रकाशित होगा अन्यथा अप्रकाशित है। ब्रह्म जड नहीं चेतन है, वृत्ति से स्वतन्त्र प्रकाश-रूप है। अतः घटभान में कथंचित् वृत्तिनिर्भरता होने पर भी आत्मज्ञान में नहीं है॥९२॥

प्रश्नोत्तर से उक्त विचार और स्पष्ट करते हैं—

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम्।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु।।९३।।

(वादी कहता है) 'आत्मा की स्वप्रकाशता से तुम्हें क्या लाभ? आत्माकार वृत्ति ही तत्त्वज्ञान है एवं वृत्ति क्षणभंगुर होती है (तो पुनः पुनः क्यों नहीं चाहिये)?' (सिद्धान्ती जवाब देता है) 'यह प्रश्न घड़े आदि के ज्ञान में भी समान है। (यदि प्रश्न वाजिब हो तो घटज्ञाता और कुछ जान ही नहीं सकेगा)।'

वादी कहता है कि ब्रह्म स्वप्रकाश हो, इससे तुमको क्या फायदा? ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी तभी तो ब्रह्म को जानोगे। जब ब्रह्माकार वृत्ति न बने तब ब्रह्मज्ञान है नहीं, इसलिये

ब्रह्माकार वृत्ति के बिना ब्रह्म अज्ञात है– यह आपात दृष्टि है। वस्तुतः ब्रह्म कभी भी अज्ञात नहीं होता। जैसे भाद्रपद के महीने में घनघोर बादल आये हुए हैं, सूर्य नहीं दीख रहा है तो लोग कहते हैं कि आज सूर्य बिलकुल नहीं है। क्या तुमने बादल आदि को किसी टार्च वगैरह से देखा! बादलों को सूर्य ही तो दिखा रहा है। सूर्य के प्रकाश में ही बादल दीख रहे हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप ही है। यह कह सकते हो कि जैसा चमकदार सूर्य बिना बादलों के दीखता है, वैसा नहीं दीख रहा है। परन्तु दीखता ही नहीं है—यह नहीं कह सकते। इसी प्रकार अज्ञान के आवरण से देदीप्यमान परमानन्द प्रतीत न होने पर भी सब चीज़ों को तुम जिस अहंकार के प्रकाश से जान रहे हो, वह अन्दर किसके प्रकाश से उपलब्ध है? अहंकार या बुद्धि देखने वाली, जानने वाली किसके प्रकाश से बन रही है? ब्रह्म कभी भी ऐसा नहीं होता कि सर्वथा अप्रकाश हो जाये। अज्ञान के कारण उसका जाज्वल्यमान रूप प्रकट नहीं है। अज्ञान के आवरण से छिपा हुआ अहं जाज्वल्यमान प्रकाश वाला नहीं है, दीख तो उस समय में भी रहा है। जब ब्रह्माकार वृत्ति बन गई और अज्ञान का बादल फट गया तब वह परमानन्दरूप से प्रतिभास हो जाता है। जब कहते हैं कि ब्रह्माकार वृत्ति से ब्रह्मज्ञान होता है, तब तात्पर्य है कि वृत्ति अज्ञान का नाश करती है। जिस प्रकार बादल फटने से सूर्य का प्रकाश नहीं होता, बादल फटने से सूर्य का आवरण नष्ट होता है फलतः प्रकाश प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञान के हटने से परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई है। इस बात को न समझकर वादी का कहना है कि तदाकार जो वृत्ति बनती है, वह तत्त्ववेदन है। बुद्धि तो क्षण-क्षण में बदलने वाली है, इसलिये तुम्हें हमेशा हर समय वृत्ति बनाये रखनी पड़ेगी अन्यथा ब्रह्म अज्ञात हो जायेगा।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती की ओर से कहना है कि ऐसी वृत्ति की आवश्यकता तो घटादि-ज्ञानों में भी है। जैसे घड़ा तुमने एक बार देखा, उसके बाद तुम अन्य-अन्य कामों में लग गये। कोई पूछता है कि क्या कमरे में घडा है? तो क्या जवाब दोगे? क्या फिर प्रमाण से वृत्ति बनाओगे, तब पता लगेगा? या निश्चित कहते हो कि 'अन्दर घड़ा है, मैं ताला बंद करके आया हूँ'। जड पदार्थों का भी ज्ञान होने के बाद लगातार वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता है। घटव्यवहार के लिये स्मरण आदि वृत्तियाँ चाहिये लेकिन ज्ञात घट वृत्ति न रहने पर भी रहता ज्ञात ही है, ऐसा नहीं कि घट को ज्ञात रखना हो तो केवल तदाकार वृत्तिप्रवाह चलाये रखना पड़े! ऐसे ही ब्रह्म 'सकृद्विभात' है, व्यवहारार्थ स्मरण भले ही करें पर पुनः अज्ञात नहीं हो सकता ॥९३॥

ज्ञात हो चुकने पर वृत्ति की अनावश्यकता जड-चेतन दोनों जगह समान है यही व्यक्त करते हैं—

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत् सममात्मनि।।९४।।

घड़े आदि का निश्चय हो चुकने पर बुद्धिवृत्ति नष्ट होती ही है किन्तु जब घड़ा ले जाना चाहें तब ले जा सकते हैं (इससे उसे ज्ञात मानते हैं)। यह स्थिति आत्मा में भी समान है।

घड़े को पास जाकर देखने से तुम्हें निश्चय हो गया फिर घट आदि बुद्धि क्षणिक होने पर भी उस घड़े के साथ पानी लाना आदि सारा व्यवहार यथावश्यक हो सकता है। घट आदि का निश्चय कर लिया, उसके बाद लगातार घटाकार वृत्ति तो नहीं रहेगी लेकिन जब घड़े के साथ व्यवहार करना इष्ट है तब व्यवहार कर सकते हैं इसलिये घड़े की वृत्ति बनाये नहीं रखनी पड़ती। इसी प्रकार आत्मा के बारे में है। ॥९४॥

यथावश्यक घटव्यवहार की तरह आत्मव्यवहार सम्भव हो जाने से विद्वान् को निरन्तर वृत्ति-प्रवाह नहीं चाहिये यह समानता ही समझाते हैं—

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम्।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित्।।९५।।

एक बार आत्मा की समग्र वास्तविकता का निश्चय कर चुककर तत्त्वज्ञ जब आवश्यक हो तब उसका कथन, मनन और ध्यान कर ही सकता है।

भली प्रकार से सारे संशयों और विप्रतिपत्तियों को हटाकर ज्ञान 'निश्चय' है। जैसे घड़े को ठोक-बजाकर देखते हो ऐसे आत्मस्थल में भी किसी प्रकार का संशय या विपर्यय ज्ञान जब तक है तब तक खूब ठोक-बजाकर देखो कि मैं परमात्मा ही हूँ, और कुछ नहीं। जब एक बार निश्चय हो गया तो फिर जब आवश्यकता होगी तब वह जैसा है उसको वैसा बता सकोगे। यह ठीक है कि वह शब्द का विषय नहीं है, फिर भी उसको बता सकते हैं। शब्द से दो तरह ज्ञान होता है : एक, शब्द की शक्ति से ज्ञान होता है और दूसरा, शब्द की लक्षणा से ज्ञान होता है। शब्दशक्ति से तो उसका ज्ञान नहीं कराया जा सकता लेकिन जिसको भली प्रकार से संस्कार पड़ गया है उसको शब्द से लक्षणा द्वारा पता लग जाता है। इसलिये लक्षणा के विषय को पहले समझाया जाता है। शिष्यादि के प्रति 'वक्तुं' अर्थात् लक्षणा से उसे समझा सकता है। जैसे वाणी का वह विषय नहीं है वैसे ही मन का या मनन का भी विषय है नहीं फिर भी विचारा जा सकता है। जो भी शंका तुमको स्वरूप से अलग कर रही है उसे मनन कर दूर कर सकते हो। क्योंकि विद्वान् जानता है कि शिष्य को क्या समझाना है इसलिये उसे वाणी और मन का विषय नहीं बना कर भी स्पष्ट कर पाता है। जब ऐसे व्यवहार की आवश्यकता नहीं तब ध्यान कर लेता है। और तो कुछ करना नहीं है। ध्यान चाहे आँखें खोलकर करे, जैसा कबीर ने कहा, 'सहज समाधि भली', चाहे आँखें बन्द कर करे। बाहर-अन्दर दोनों जगह दीखता तो वही है। इस प्रकार विद्वान् यथावश्यक बोलता है, श्रवण कराता है, मनन करता-कराता है क्योंकि स्पष्ट जानता है कि कहाँ पहुँचना है। उपासक भी ध्यान करते रहते हैं, तत्त्ववेत्ता वैसा निश्चितरूप से जानते हुए ध्यान करता है। चूँकि उसने तत्त्व को जान लिया है, इसलिये वह उसके सम्बन्ध में कुछ भी कर सकता है। विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ संकेत किया है कि वह ये ही कार्य करता है अर्थात् इनसे अतिरिक्त कार्यों के लिये उसको स्वतः प्रेरणा नहीं मिलती। आत्मतत्त्व पूर्णतः जान लिया है, इसलिये वह उसके लिये स्वभावतः कुछ भी कर सकता है।॥९५॥

प्रायः तत्त्ववेत्ता लोग उपासकों की तरह ही आत्मानुसंधान करते हुए दीखते हैं। संसार के व्यवहारों के प्रति उनमें कोई रुचि नहीं देखी जाती, ऐसा क्यों? इसका उत्तर देते हैं—

उपासक इव ध्यायल्ँलौकिकं विस्मरेद्यदि।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद् विस्मृतिर्न तु वेदनात्।।९६।।

उपासक जैसे ध्यान करते हुए यदि सांसारिक प्रसंग भूल जाता है तो भूलता ही है लेकिन वह भूलना ध्यान-प्रयुक्त है, तत्त्वानुभवप्रयुक्त नहीं।

यद्यपि ज्ञानी या विचारक भी उपासक की तरह है, जैसे उपासक निरन्तर ध्यान में ही स्वाभाविकी प्रवृत्ति करता है, बाकी व्यवहार आपाततः चलाता है, वैसे सांसारिक प्रवृत्ति के प्रति ज्ञानी में कोई विशेष रुचि नहीं देखी जाती। तत्त्ववेत्ता भी उपासक की तरह व्यवहारों को विस्मृत ही रखता है, उधर ध्यान नहीं देता। तथापि यह ज्ञान का फल नहीं है। ज्ञान के कारण वह संसारी पदार्थों की तरफ ध्यान नहीं देता ऐसा नहीं परन्तु चूँकि तत्त्व की तरफ ध्यान देता है इसलिये लौकिक चीज़ों का विस्मरण हो जाता है। वह ज्ञान के कारण नहीं वरन् ध्यान के ही कारण ऐसा है। प्रश्न होगा कि वह ध्यान क्यों करता है? ध्यान इसलिये करता है कि जो चीज़ अत्यन्त रुचिकर होती है, प्रयोजन कुछ नहीं हो तो भी उसकी याद आती रहती है। जैसे बच्चा अमरीका पढ़ने चला गया, माँ यहाँ बैठी उसे याद करती रहती है तो उसका क्या प्रयोजन है? ऐसा करने से वह वापिस तो आ नहीं जायेगा! चूँकि पुत्र प्रिय है, इसलिये मन उधर चला जाता है, उसके लिये उसे चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप में जो आनन्द है, नाम-रूप में भी अधिष्ठानरूप से वही आनन्द है परन्तु नाम-रूप का व्यवधान होकर है। तत्त्वज्ञ की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो आनन्द की तरफ होती है परन्तु उससे सम्बन्ध होने के चलते नाम-रूप से भी व्यवहार कर लेता है। अधिष्ठान आत्मा परम प्रिय और आनन्दघन है, इसलिये उसका चिन्तन तो स्वाभाविक है। उसके बारे में किसी को श्रवण करा रहा है, किसी को मनन करा रहा है तो वह भी प्रिय लगता है क्योंकि प्रिय के बारे में कर रहा है। तदतिरिक्त जो संसारी चीज़ें हैं, जैसे धन की प्राप्ति कैसे हो अथवा समाज का उद्धार कैसे होगा, उनके चिंतनों में उसको विशेष रुचि नहीं होती और उधर प्रवृत्ति स्वभाव से नहीं होती। यदि कोई प्रारब्ध कर्म ऐसा है जिसके लिये कोई काम करना है तो प्रारब्ध परमात्मा का संकल्प है और ईश्वर आत्मस्वरूप है इसलिये उसके संकल्प के अनुसार ज्ञानी आचरण कर लेता है। परन्तु परमात्मा के विषय में श्रवण-मनन में रुचि स्वभावतः बनी रहती है। प्रारब्ध-भोग के लिये जैसे दाल-रोटी खाने का प्रयत्न है वैसे ही चाहे जितना बड़ा कार्य हो, निभा लेता है जैसा आगे कहेंगे कि जनक आदि की भी प्रवृत्ति राज्य-कार्य की रही। इस प्रकार ज्ञानी में भी विस्मृति देखने में आती है पर उसका कारण ध्यान है, ज्ञान नहीं है। ॥९६॥

उपासना से स्वतन्त्र ही ज्ञान मोक्षोपाय है यह स्पष्ट करते हैं–

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः।।९७।।

ज्ञानी के लिये ध्यान स्वैच्छिक है (चाहे तो करे अन्यथा नहीं) क्योंकि मुक्ति की उपलब्धि तत्त्वसाक्षात्कार से हो जाती है। 'ज्ञान से ही मोक्ष होता है' यह शास्त्रों में ढिंढोरा पीटा गया है।

ज्ञानी की तो ज्ञान से ही मुक्ति सिद्ध हो गई। उपासक तो ध्यान करता रहता है क्योंकि ध्यान नहीं करेगा तो अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा। ज्ञानी ने तो लक्ष्य प्राप्त कर लिया इसलिये उसे कुछ और प्राप्त करना नहीं है। परन्तु चूँकि परमात्मा का ध्यान करने से वह आनन्दघन प्रकट रहता है इसलिये उसे ध्यान की इच्छा सम्भव है और इच्छा होने पर ध्यान करे तो हर्ज नहीं है। यह कुछ ऐसा ही है जैसे मुनीम रोज़ाना रोकड़-बाकी मिलाता है और रुपयों को गिन कर रखता है क्योंकि जानता है कि कहीं गड़बड़ी हो गई तो उसका कार्य सिद्ध नहीं होगा, नौकरी से निकाल दिया जायेगा। इसलिये वह ध्यान-पूर्वक यह सब करता है। परन्तु जो धन में आसक्ति वाला है वह भी अपने रुपयों को गिनता ही है क्योंकि गिनने में मज़ा आता है। औरतों को इसका बहुत शौक होता है : बहुत बार औरत को कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी काँच के सामने खड़ी होकर अपने ही गहने को पहन कर देखती है कि 'कैसी लगती हूँ,' जब कि पहले भी उसी गहने को सैंकड़ों बार पहन कर देख चुकी है। ऐसा क्यों करती है? क्योंकि अपने को सुन्दर देखने में मज़ा आता है। इसी प्रकार से ज्ञानी का मोक्ष तो सिद्ध हो गया है। 'मुझे करना है या मेरा कर्त्तव्य है' यह उसकी बुद्धि नहीं है। परन्तु परमात्मा उसकी इच्छा का विषय है, इसलिये उस आनन्द को लेने के लिये करता भी है। ज्ञान से ही मुक्ति तो सिद्ध होती है क्योंकि श्रुति कहती है 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान से ही मुक्ति होती है, 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे. १. ८) उस देव को जानकर सारे पाशों से मुक्ति हो जाती है। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे. ६. १५) उस को जान कर ही आत्मा की प्राप्ति हो जाती है। यह बात शास्त्र के अन्दर बार-बार ढिंढोरा पीट कर कही गई है। इसलिये वह मोक्ष के लिये ध्यान नहीं करता कि मानता हो 'ध्यान नहीं करूँगा तो मेरा कुछ गड़बड़ हो जायेगा', क्योंकि उसका मोक्ष तो ज्ञान से सिद्ध हो चुका है।॥९७॥

कर्मनिरपेक्ष मुक्ति न संसारी लोगों को समझ में आती है और न कर्ममार्गियों को समझ में आती है। सबको लगता है कि कोइ प्रयोजन या उद्देश्य सामने नहीं होगा तो व्यक्ति फिजूल के कामों में लग जायेगा। प्रसिद्ध कहानी है ही कि किसी आदमी ने भूत सिद्ध कर लिया। वह भूत कहे 'मुझे कोई न कोई काम बताओ नहीं तो मैं तुम्हें ही खा जाऊँगा।' उससे कहा 'पाँच तल्ले का मकान बना दे।' उसने झट से वह मकान बना दिया। उसे जो

भी काम बताये, झट से वह काम करके सामने खड़ा हो जाये कि और कोई काम बताओ। वह आदमी बेचारा बड़ा परेशान हो गया। इसी प्रकार से मन भी संसारी के लिये भूत ही है! संसारी समझता है कि अगर मन को निश्चित कर्मों में लगा रखेंगे तब तो ठीक है नहीं तो यह ऊटपटांग करेगा। इसलिये कर्ममार्गियों का कहना है कि ज्ञानी का मन भी चूँकि भूत है इसलिय, मोक्ष प्राप्त कर लिया, अन्य कोई उद्देश्य तो है नहीं अतः मन उससे ऊटपटांग काम करायेगा। इसलिये कर्मी चाहता है कि उसके लिये कोई न कोई नियम रखना ही चाहिये कि यह करो, यह नहीं करो। अन्यथा वह बहिर्मुख बन जायेगा। इसी शंका को उठाकर समाधान करते हैं—

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत् प्रवर्तेत तदा बहिः।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने।।९८।।

तत्त्वज्ञ यदि ध्यान नहीं करेगा तो बाह्य प्रवृत्तियाँ करेगा किंतु क्योंकि प्रवृत्ति से उसको कोई बाधा नहीं होती इसलिये आराम से प्रवृत्ति करे, कोई हर्ज नहीं।

संसारी व्यक्ति शंका करता है कि नियम होना चाहिये कि तत्त्ववेत्ता भी ध्यान करता रहे अन्यथा बहिर्मुखी प्रवृत्ति करके वह फँस जायेगा! क्योंकि वह अपने मन की दृष्टि से देखता है, इसलिये शंका स्वाभाविक है। पूर्वोक्त कथा में आगे आता है कि किसी महात्मा के कहने पर उस आदमी ने भूत को कह दिया कि कुत्ते की पूँछ सीधी करो! अब बार-बार पूँछ सीधी करता रहा परन्तु कुत्ते की पूँछ टेढ़ी ही रहे! भूत परेशान हो गया क्योंकि न वह पूँछ सीधी हो और न दूसरा काम बताने को कहे! इसी प्रकार बार-बार साधक की यह स्थिति है कि मन को ध्यान में लगाता है लेकिन वह बार-बार विषयों में जाता है इसलिये वादी का कहना है कि ऐसे ही तत्त्ववेत्ता भी ब्रह्म-प्रवृत्ति में नहीं जायेगा, तो बाहर चला जायेगा, बाहरी प्रवृत्ति करने लगेगा। किन्तु मन प्रवृत्ति किस लिये करता है? संसारी का भी मन वहीं प्रवृत्ति करता है जहाँ उसका राग या द्वेष है। विद्वान् का तो सारा प्रेम परमात्मा में है। उसको बहिःप्रवृत्ति प्रारब्ध के कारण जबर्दस्ती करनी पड़ती है, परन्तु जैसे ही प्रारब्ध का वेग समाप्त होता है, वह फिर अपने प्रियतम की तरफ चला जाता है। इस बात को वादी नहीं समझ सकता है। संसारी समझता है कि मन तो हमेशा बाहर के विषयों में ही जायेगा। वस्तुतः इसलिये उनमें जाता है कि वे पसन्द हैं। तत्त्ववेत्ता को वे विषय अच्छे लगते नहीं हैं तो वहाँ क्यों जायेगा? लेकिन वादी तो अपने मन की दृष्टि से देख रहा है।

अभ्युपेत्यवाद से जवाब देते हैं कि मान लिया कि उसका मन बाहर गया, इससे उसका हर्ज क्या है! यह अभ्युपगमवाद इसलिये है कि सम्प्रदाय-रक्षण इत्यादि के लिये, ज्ञान-संतति, परम्परा बनी रहे इसके लिये कुछ विद्वान् लोगों में बाह्य प्रवृत्ति देखने में आती है कि शिष्य को उपदेश देते हैं, शिष्टों को सन्मार्ग में लगाते हैं। यह सब भी प्रारब्ध के कारण ही है लेकिन वस्तुस्थिति है। अनेक आधुनिक लोग कहते हैं कि जब यह सब कर रहे हो तो फिर

संसार का ही कार्य कर लो! वे यह नहीं समझते कि तत्त्ववेता का यह करना तो साक्षात् परमात्मा के लिये है। संसार के सारे कार्य भी परमात्मा के लिये हैं लेकिन साक्षात् नहीं हैं इसलिये तीव्र प्रारब्ध के भोग के लिये तो बाह्य प्रवृत्ति हो सकती है परन्तु स्वेच्छया नहीं होगी। जहाँ ऐसी प्रवृत्ति कुछ लोगों में देखी जाती है वहाँ के लिये कहते हैं कि विद्वान् सुख से भले ही दूसरा काम कर ले, उसे करने में कोई बाधा नहीं है। उस की निष्ठा में बाधक कुछ नहीं है॥॥९८॥

अनात्मप्रवृत्ति सम्भव होने पर भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व की आपादक प्रवृत्ति सम्भव नहीं यह विस्तार से (श्लोक १०५ तक) समझाते हैं—

अतिप्रसङ्ग इति चेत् प्रसङ्गं तावदीरय।
प्रसङ्गो विधिशास्त्रं चेन्न तत् तत्त्वविदं प्रति।।९९।।

यदि शंका करो कि बाह्य प्रवृत्ति स्वीकारने पर अनुपयुक्त भी प्रवृत्ति होने लगेगी; तो पहले यह बताओ कि विद्वान् की प्रवृत्ति में हेतु क्या समझते हो? यदि विधिशास्त्र को मानो तो यह जानो कि वह तत्त्ववेत्ता पर लागू ही नहीं है।

यदि सुख से उसकी प्रवृत्ति होती है तो फिर अतिप्रसंग हो जायेगा अर्थात् जो उसे नहीं करना चाहिये, वह भी कर लेगा! अर्थात् शास्त्रविरुद्ध या लोकविरुद्ध कर लेगा। अतिप्रसंग हो जायेगा कि बाहर प्रवृत्ति करने से कुछ भी कर लेगा। इस शंका पर कहते हैं कि यह बताओ कि फिर उसके लिए क्या प्रवृत्ति ठीक है? बेठीक प्रवृत्ति कहने के लिये पहले ठीक का पता होना चाहिये। ठीक किस के लिये है, किस परिस्थिति में है, किस के साथ है—इन सब चीज़ों का निर्णय किये बिना किसी चीज़ को ठीक या बेठीक नहीं कह सकते। ब्राह्मण का कुछ कर्त्तव्य है, क्षत्रिय का कुछ, वैश्य का कुछ और शूद्र का कुछ अन्य कर्त्तव्य है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी के अलग-अलग कर्तव्य हैं। दिन में कुछ काम करने के होते हैं, रात में कुछ और। लोगों को गलत रास्ते में ले जाने के लिये वैसे कार्यक्रम लोग रात में रखते हैं ताकि लोग बिगड़ें। जो रात में करने के काम नहीं हैं वे रात में करते हैं जैसे दिल्ली में कई लोग रात में बारह बजे तक जगते हैं! ऐसा नहीं है कि समाधिस्थ रहते हों! फिर सवेरे आठ बजे तक सोते हैं। सोना कार्य तो है लेकिन उचित समय पर सो जाते, फिर सवेरे चार बजे उठ जाते तो ठीक था। ब्राह्म मुहूर्त में जगने के समय कहते हैं कि नींद आती है। रामकृष्ण परमहंस के गुरु तोता पुरी थे, वे दिन-भर चादर तानकर सोते रहते थे! लोगों के मन में होता था कि दिन-भर क्यों सोते हैं। वे रात-भर समाधि लगाते थे। सवेरे छह बजे थोड़ी देर लेट जाते थे लेकिन बाद में जगकर भी चादर तान कर पड़े रहते थे। एक बार रामकृष्ण परमहंस के भतीजे, हृदय ने कहा 'दिन के समय आप कुछ देर तो बैठा करें। क्योंकि आप ऐसा नहीं करेंगे तो लोग दुनिया भर के सवाल पूछेंगे!' लेकिन वे तो चादर तानकर ध्यान ही करते रहते थे ताकि लोग आकर अलग-अलग बातें न करते

रहें। इसलिये प्रसंग का निर्णय करने के पहले यह निर्णय करना पड़ेगा कि जो बात कही जा रही है वह कौन से काल, कौन से देश, कौन से वर्ण और कौन से व्यक्ति, पुरुष या स्त्री, के लिये है, तभी निर्णय होगा।

जितने काम कर्मकाण्ड में बताये गये हैं या लौकिक कार्य हैं, वे सब शरीर के धर्मों को लेकर हैं। पुरुष के अमुक कर्त्तव्य हैं, स्त्री के कुछ और कर्तव्य हैं। वर्णानुसार फिर अलग-अलग कर्त्तव्य हैं। लौकिक-पारलौकिक दोनों काम उपाधि के लिये हैं। बहुत से लोग कहते हैं कि देशभक्ति करनी चाहिये। इसमें देश-शब्द का अर्थ है जहाँ तुम्हारा शरीर पैदा हुआ है। शरीर का तो देश हो सकता है, *मेरा* कैसे देश हो सकता है! इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'स्वेदेशो भुवनत्रयम्'। जब आत्मदृष्टि से सोचते हैं तब केवल भू लोक ही नहीं, सभी मेरे ही लोक हैं, मेरा ही घर हैं। सारे ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान मैं ही हूँ। चाहे लौकिक प्रसंग हो, चाहे कर्मकाण्ड में पारलौकिक प्रसंग हो, हर हालत में शरीर को लेकर ही कर्मों का विधान किया जाता है। लेकिन ज्ञानी तो स्थूल शरीर की बात क्या, सूक्ष्म शरीर मैं हूँ—यह भी नहीं जानता! इसलिये पहले तो यह बताओ कि ऐसे ज्ञानी को क्या करना चाहिये? प्रसंग का निर्णय हो कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये।

जो जिसके लिये विहित किया गया है, वही प्रसंग है, उसके अतिरिक्त दूसरा करना अतिप्रसंग है। तत्त्ववेता के लिये कोई प्रसंग नहीं है। जब अज्ञान के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के अन्दर मैं-बुद्धि हो, तब कुछ आगे 'मेरा' कर्म बने। जिसे शरीरों में मैं-बुद्धि है ही नहीं, उसका कोई प्रसंग कैसे होगा? शरीर से भी अतिप्रसंग नहीं होगा क्योंकि अतिदीर्घ काल तक उसने विधि-शास्त्र का पालन करके अन्तःकरण की शुद्धि की है,इसलिये शरीर आदि की अन्यथा प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है। अब केवल संस्कार के कारण शरीर चल रहा है। अतः शरीर के लिये पुराने संस्कारों और कर्मफलों से जो प्राप्त है उसकी मनाही नहीं है। अपनी, आत्मा की तरफ से कुछ किया जाये इसका विधान मिल नहीं सकता क्योंकि ब्रह्म के लिये कोई विधान है ही नहीं। यहाँ यद्यपि विधिशास्त्र लिखा है, लेकिन इसके साथ निषेध-शास्त्र को भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिये क्योंकि किसके लिये क्या निषेध है यह भी शरीर के निमित्त से ही प्राप्त होगा। जैसे कहें कि देशद्रोही मत बनो, तो मतलब है जहाँ स्थूल शरीर पैदा हुआ उसे अपना देश मानो और उसका द्रोह न करो। आत्मा के लिये प्रसंग ही नहीं तो अतिप्रसंग असंभव है यही निर्णय है। ॥९९॥

शास्त्र अज्ञानी को ही निर्देश देता है यही समझाते हैं –

वर्णाश्रमवयोऽवस्थाभिमानो यस्य विद्यते।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि।।१००।।

वर्ण, आश्रम, उम्र, अवस्था में अभिमानी के लिये ही सब विधि-निषेध हैं।

अज्ञानी को स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के साथ अध्यास होकर 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि है तब

यदि ब्राह्मण पैदा हुआ, शरीर ब्राह्मण है, 'मै ब्राह्मण हूँ' यों वर्ण का निर्णय होगा। यदि उसका यज्ञोपवीत हो गया है तो 'मैं ब्रह्मचारी हूँ' यों आश्रम का निर्णय होगा। यज्ञोपवीत तो शरीर का ही करोगे। अन्यथा, राजस्थान के एक बड़े अच्छे कर्मकाण्डी पंडित थे। उन्होंने एक बार शिकायत की 'मेरा लड़का जानेऊ नहीं पहनता, आप उसे समझाईये।' अगली बार लड़का मिला तो उससे पूछा। उसने कहा 'जनेऊ बहुत अच्छी तरह पहनता हूँ, पहन ही रखा है। मैंने सोचा कि जनेऊ इतनी अच्छी चीज़ है अतः एक दिन उसे जलाकर उसकी राख को शहद से मिला कर चाट लिया। इसलिये मेरे खून के रग-रग में जनेऊ है। लोग कैसे कहते हैं कि मैं जनेऊ नहीं पहनता!' शरीर के ऊपर जनेऊ धारण करने का विधान है। जो उस लड़के ने किया उसका नाम धरण करना नहीं होता। इसी प्रकार संस्कार से ही तुम्हारा आश्रम निर्णीत हुआ। वह भी शरीर को ही लेकर है। उम्र तो शरीर की ही है। बहुत से कार्य वय, उम्र के कारण भी होते हैं: महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि सतहत्तर साल सात महीने सात दिन की उम्र के बाद किसी भी व्रत की आवश्यकता नहीं रह जाती। कोई कहे कि 'मैं तो तीस साल की उम्र में ही व्रत करना छोड़ दूँ' तो यह ठीक नहीं है। वर्त्तमान स्थूल शरीर जब उस उम्र का होगा, तभी की बात है। इसी प्रकार से शरीर की अवस्था पर भी कर्त्तव्य निर्भर है। लोग समझते हैं कि हम किसी को नहीं छूते तो उसके प्रति हमें घृणा होगी! किंतु घृणा नहीं है, वरन् उस स्थिति में वह अस्पृश्य है, इसलिये उसको नहीं छूना है। माता भी उपवीती के लिये प्रतिमास अस्पृश्य होती है। माँ के प्रति घृणा का प्रश्न ही नहीं। इसी प्रकार जिनके बारे में शास्त्रों ने कहा है कि उनका स्पर्श नहीं करना है, हम उनका स्पर्श नहीं करते। वही शास्त्र लिखता है कि होली के अगले दिन स्पर्श करना है तो खोजकर करते हैं। यों अवस्था को लेकर भी स्पर्शास्पर्श की व्यवस्था है। सदा कोई अस्पृश्य भी नहीं है और सदा कोई स्पृश्य भी नहीं है। दादा जी मर गये, पिता अग्निहोत्री हैं तो दस दिन तक उनका स्पर्श नहीं कर सकते क्योंकि पितृ कर्म करके घर आये हैं। किसी अवस्था में कोई और किसी में कोई दूसरा अस्पृश्य हुआ। शरीरादि में जब अभिमान होता है तभी यह सब बनता है। ये मूलतः देहाभिमान ही हैं। जिनको ऐसा अभिमान है उन्हीं के लिये विधि और निषेध दोनों हैं। लेकिन देहाभिमान छूटने के बाद, स्थूल सूक्ष्म शरीर का अभिमान छूटने के बाद न कोई विधि और न कोई निषेध रह जाता है। इस प्रकार जब प्रसंग की ही प्राप्ति नहीं तो अतिप्रसंग की बात क्या हो सकती है! ॥१००॥

तत्त्वज्ञ उक्त अभिमानी नहीं होता यह बताते हैं —

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः।।१०१।।

वर्ण, आश्रम आदि मायाद्वारा देहपर आरोपित हैं, ज्ञानरूप आत्मा के धर्म नहीं हैं—यह विद्वान् का विचारित निश्चय है।

ज्ञानी का निश्चय यह है कि वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि शरीर में माया के द्वारा अहंकार का अध्यास होकर ही परिकल्पित हैं। जितने विधि-निषेध हैं, वे सारे जीवित व्यक्ति के प्रति हैं। न केवल शरीर के लिये कोई विधि-निषेध है और न केवल आत्मा के लिये है। माया के द्वारा जब आत्मा और स्थूल-सूक्ष्म शरीर का अध्यास होता है तब ये सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं।

माया द्वारा कल्पित न कहकर माया द्वारा परिकल्पित कहा अर्थात् यह सामान्य कल्पना नहीं है। यह तो भली प्रकार से की हुई कल्पना है। बहुत-सी ऐसी लौकिक अच्छी-बुरी चीज़ों की कल्पना हम लोग कर लेते हैं जो भिन्न-भिन्न देशों में बदल जाती हैं। किसी देश में एक चीज़ को ठीक समझते हैं और किसी अन्य देश में उसी चीज़ को गलत समझते हैं। अपनी भारतीय परम्परा में आदमी आगे और औरत पीछे चलती है। यूरोप में औरत को आगे रखते हैं, आदमी पीछे चलता है। क्योंकि माया से ही वे कल्पनायें हैं इसलिये व्यवहार-काल में ही बदल जाती हैं। सन् १९४७ से पहले बलूचिस्तान से पश्चिमोत्तर प्रान्त तक सबको अपना ही देश मानकर इसकी स्वतन्त्रता के लिये लगे हुए थे, किन्तु अब हम लोगों के काम से ही वह परदेश हो गया! ये सब कल्पनायें ही हैं जो खटाखट बदल जाती हैं। वर्णाश्रम आदि की बातें परिकल्पना हैं क्योंकि वे किसी युग में बदलने वाली नहीं हैं। वे यावद्व्यवहार यथावत् रहेंगी। इसलिये परमेश्वर के नाम-रूप आदि जैसे शास्त्र में कहे हैं वैसे व्यावहारिक हैं किन्तु हमारी अपनी कल्पनायें प्रातिभासिक ही हैं अतः धार्मिक, पारलौकिक लाभ की नहीं हैं। शास्त्रों में जो उनका ध्यान आदि बताया गया है वह परिकल्पित है अर्थात् शास्त्रों ने भली प्रकार से समझ कर उनका विधान किया है। इसलिये वर्णाश्रमादि कल्पित ही नहीं परिकल्पित हैं क्योंकि इनको मानकर चलने वाला परमात्मा का अनुभव कर लेगा, मनमानी कल्पना वाला अनुभव नहीं कर सकता।

वेदान्त में भी यह हमेशा याद रखना पड़ता है। आत्मतत्त्व के ज्ञान के बाद जितना व्यावहारिक संसार है यह सारा निर्मूल हो जाता है। यह सुनकर साधक सोचता है कि उसके लिये भी नियमों की ज़रूरत नहीं है। यह ठीक है कि सारे कल्पित हैं परन्तु वह हमारी या जीव की कल्पना नहीं है। गणित में जैसे असंभव भी काल्पनिक संख्या (ऋण एक का वर्गमूल) समझी-समझायी नहीं जा सकती क्योंकि है ही नहीं, लेकिन बिना जाने इसका प्रयोग करके सवाल हल हो जाते हैं इसी प्रकार से ब्रह्म निर्विकार है, इसलिये उसमें किसी प्रकार का विकार किसी तरह से हो नहीं सकता और हमें यह सारा विकारी संसार दीख रहा है तो इसका समाधान कैसे किया जाये? इसलिये शास्त्रने माया या अज्ञान को बताया। माया क्या है—इसे कोई नहीं जानता परन्तु माया वह है जिससे अधिष्ठान तत्त्व निर्विकार रहते हुए सारे नाम-रूपों में प्रतीत हो रहा है, यही उसकी माया शक्ति है। इसलिये आचार्य शंकर ने माया का प्रभाव बताया है 'अघटितघटनापटीयसी' जो बुद्धि के विचार से कभी घट नहीं सकता उसे घटाकर दिखाने में चतुर माया है।

जब कोई बुद्धिमान् आदमी किसी काम के लिये कुएँ में जाता है तो ऐसे ही नहीं उतरता, एक डोरी कमर में बाँधकर उतरता है क्योंकि उसे पता है कि वापिस उससे ऊपर आ जायेगा। अथवा आजकल स्काउट किसी अज्ञात जंगल में जाते हैं तो पेड़ आदि पर निशान बनाते जाते हैं कि उनको देखकर वापिस आ जायें। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस सारे संसार को बनाकर वह परमात्मा इसमें प्रविष्ट हो गया। सर्वज्ञ ने इसमें प्रवेश किया तो कुछ रास्ता इसमें से निकलने का रखेगा ही जिससे वापिस आयेगा। इसमें से निकलने का मार्ग शास्त्रों के द्वारा बता दिया, उसमें बताये रास्ते से जाओगे तो वापिस अपनी जगह पहुँच जाओगे। सृष्टि बनाना प्रारंभ किया तो पहले ब्रह्मा जी को बनाकर कह दिया कि 'आगे तुम दुनिया बनाओ।' 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' साथ में ब्रह्मा जी को वेद भी दे दिया। इस प्रकार ये सारे वर्णाश्रम-धर्मादि परिकल्पित हैं, वापिस निकलने के रास्ते हैं। जब रस्सी को पकड़ कर कुएँ से बाहर निकल आये तो फिर उस रस्सी को पेट पर लपेट कर तो नहीं घूमते कि इसने बड़ा काम दिया है इसलिये पेट पर लपेटे रखो! रस्सी तब तक जरूरी है जब तक बाहर नहीं निकल आये, बाहर आने के बाद नहीं है। परन्तु किसी दूसरे को निकालना होगा तो उसी डोरी से निकालना पड़ेगा। इसी तरह तत्त्ववेत्ता को इस परिकल्पित की आवश्यकता न होने पर भी तत्त्वजिज्ञासु के लिये तो इसकी पूरी तरह आवश्यकता है ही। तत्त्ववेत्ता ज्ञानस्वरूप है क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्र है। आत्मा सदा सुनिर्मल है—यह उसका निश्चय है। माया से परिकल्पित वर्णाश्रम आदि आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिये ज्ञानी के लिये प्रसंग की ही प्राप्ति नहीं तो अतिप्रसंग कहाँ से आयेगा! वर्णाश्रम आदि सभी देहाध्यास के बाद आते हैं और उनके आधार पर अधिकार के अनुसार ही कर्तव्य का उपदेश है। इसलिये वर्णाश्रम-अभिमानी के लिये ही विधि और निषेध हैं। जिसने यह जान लिया है कि देह में रहने वाले वर्णाश्रम आदि माया के द्वारा आत्मा अपने में परिकल्पित कर लेता है वह अध्यास-निवृत्ति कर लेता है—इसलिये कोई प्रसंग उसका रहता नहीं है। **॥१०१॥**

विद्वान् पर कर्त्तव्यबोझ नहीं इसमें प्रमाण (यो.वा.स्थि.५७.२६) देते हैं—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः।।१०२।।

बुद्धिद्वारा सारी आसक्तियों को छोड़ चुका निर्मल ज्ञान वाला विद्वान् समाधि या कर्म करे या न करे, वह मुक्त ही है।

'मैं ब्राह्मण हूँ' यह भी बुद्धि की एक निश्चयात्मिका वृत्ति ही है, अपने विषय में जो निश्चयात्मिका बुद्धि है वही कर्त्तव्य का निर्णय करती है। जिसने बुद्धि से सभी प्रकार की आस्थायें अर्थात् सभी प्रकार की आसक्तियाँ हटा दीं वह कर्त्तव्यमुक्त हो गया। अभिमानों को ही आत्मसम्बन्धी अभिनिवेश कहते हैं। भिन्न-भिन्न निश्चय भिन्न-भिन्न आश्रमों में जाने पर, उम्र को लेकर, आस्था को लेकर बदल जाते हैं। इसकी सब प्रकार की आस्थायें अर्थात्

अभिमान परित्यक्त हो गयीं। यतिधर्म ग्रहण करते हुए कहते हैं 'नाहं कस्यचिद् न मे कश्चित्' न मैं किसी का हूँ, न मेरा कोई है। पारिवारिक बन्धन 'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इस निश्चय को लेकर ही है। संन्यासी उन सब को छोड़ देता है। विचारशील में भी अभिमान छूट जाता है। लेकिन कहीं न कहीं आस्था रह जाती है। लगता है कि वास्तविक सम्बन्ध नहीं है परन्तु फिर भी कभी तो, किसी तरह का सम्बन्ध था। 'हृदयेन' कहकर बताया कि तत्त्वनिष्ठ को सर्वथा निश्चय हो गया है कि 'न मैं किसी का हूँ और न मेरा कोई है'। जैसे इस शरीर को जब हम छोड़कर जाते हैं तब निश्चय हो जाता है कि अब इस शरीर वालों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही सर्वत्र अनुभव हो जाये तब अपनी आत्मरूपता का निश्चय है। चूँकि सारे सम्बन्ध देह को लेकर ही हैं और देही मैं तीनों कालों में नहीं हूँ इसलिये सब बाधित हो जाते हैं। उनकी प्रतीति होने पर भी वह वास्तविक है—यह बात कभी भी मन में आती नहीं है।

इसलिये वह उत्तमाशय है। उत्तमके विषय में छांदोग्य उपनिषद् कहती है 'तस्य उद् इति नाम' ब्रह्म का नाम उत् है। यद्यपि ब्रह्म तो हमेशा ही निर्मल है, तथापि जब ब्रह्म के बारे में परोक्षरूप से जानता है, तब उत्तर है और जब 'ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा निश्चय होता है तब उत्तम है। जिसका यह ज्ञान, अभिप्राय सर्वथा निर्मल है, ऐसा उत्तमाशय ही मुक्त है। अतः उस के बाद शरीर मन आदि के संस्कार से चाहे समाधि करे चाहे न करे, कोई अन्तर नहीं है। उसका प्रारब्ध उत्तर है तो चतुर्थ, पंचम और षष्ठ भूमिकाओं की ओर चला जाता है। यदि परमेश्वर के द्वारा शिष्य आदिको उपदेश के लिये नियुक्त है अथवा यम आदि की तरह आधिकारिक पुरुष होने के कारण सृष्टि-कार्यों को करने के लिये नियुक्त है तो भूमिकाओं पर आरूढ तो हो नहीं सकता, इसलिये 'कर्माणि करोतु' कर्म कर लेगा। मुण्डकोपनिषद् भाष्य में लिखा है कि आचार्य के लिये भी यह नियम है कि शिष्य आये तो उसे ज्ञान का उपदेश दे। इसलिये तदतिरिक्त लौकिक वार्ता में तो उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। शास्त्र उसके लिये कर्म या समाधि, दोनों में से किसी का भी नियमन नहीं करता। सारे नियमन तभी तक हैं जब तक सारी उपाधियों से रहित नहीं हो गया है। उसके बाद तो 'प्रारब्धाय समर्पितं मम तनुः' प्रारब्ध जो परमेश्वर का संकल्प है, उसके अनुसार ही सारी प्रवृत्तियाँ करता है। ॥१०२॥

विद्वान् पर कार्यभार नहीं होता, इसमें अगला वाक्य (यो. वा. स्थि. ५७. २७) सुनाते हैं—

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः।।१०३।।

जिसका मन वासनाओं से रहित हो चुका है उसे निष्कर्मता और कर्म दोनों से कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रवृत्ति कराने वाली चीज़ अन्तःकरण में संस्कारों का उद्‌बुद्ध होना है। जो वासना उद्‌बुद्ध होती है वही कर्म में प्रवृत्ति कराती है। जिसके मन में कोई वासना नहीं है, उसका प्रवर्त्तन कठिन है। कर्म तो तब भी किसी संस्कार के उद्‌बुद्ध होने से ही होगा, परन्तु ईश्वर-संकल्प से संस्कार उद्‌बुद्ध होंगे। इसलिये प्रारब्ध से अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति तत्त्वनिष्ठ की नहीं है। जब तक मन के अन्दर किसी भी प्रकार के संस्कार हैं अतः संस्कारों के द्वारा प्रवृत्ति होती है तब तक तो नैष्कर्म्य और कर्मों का प्रयोजन है किन्तु संस्कार-निवृत्ति के बाद नहीं। संस्कार अन्तःकरण में होते हैं, उसके अनुसार ही मन की वृत्ति बनती है। मन की वृत्ति बनने पर कामना होती है। अविद्या, काम और कर्म—यह क्रम भाष्यकार बार-बार कहते हैं। कामना का कारण अज्ञान और कामना का कार्य कर्म। कर्म करने पर वे संस्कार फिर दृढ हो जाते हैं। संस्कार उद्‌बुद्ध होकर आये भी तो शास्त्रानुकूल न होने से मन की प्रवृत्ति होने पर भी उस कर्म में प्रवृत्ति नहीं ही करता है, यह साधना में पहला कदम है। साधक के लिये पहली चीज़ यही है, भगवान् ने कहा— 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' क्या करना है, क्या नहीं करना है, इसमें शास्त्र प्रमाण है। यह बात गाँठ बाँध कर रखनी चाहिये। ठीक जिस प्रकार से सेना का सैनिक अपने सेनापति की आज्ञा के बारे में यह सोचे 'इसे तो लड़ना आता नहीं, ऐसे लड़ाई थोड़े ही की जाती है, हम जानते हैं कि कैसे लड़ाई जीती जाती है।' उस समय वह चाहे मनमानी कर ले लेकिन आगे चलकर तो दण्डित ही होता है। जिसने जैसे कमाण्डर ने आज्ञा दी, वैसा ही कर लिया, वह पुरस्कृत होता है। यह काम कमाण्डर का है कि निर्णय करे कि कहाँ क्या करना है। यह सैनिक का काम नहीं है। ठीक इसी प्रकार शास्त्र परमेश्वर की आज्ञा है। स्वयं भगवान् ने कहा है 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' श्रुति एवं स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं, जो उनका उल्लंघन करता है वह मुझसे चाहे जितना प्रेम करे, परन्तु शास्त्राज्ञा के विरुद्ध जाता है तो मेरी आज्ञा का विरोधी होने से मेरा द्वेषी ही है।

द्वितीय विश्व महायुद्ध के समय स्वेटर बिनने की लम्बी सलाइयाँ भारतवर्ष में नहीं बनती थीं, इंग्लैण्ड से आती थीं। युद्ध के समय वहाँ से माल आना कम हो गया था क्योंकि रास्ते में माल के जहाज डुबो दिये जाते थे। कम माल आता था तो उसकी असली कीमत की जगह बाजार में चौगुणी हो गई। उस समय एक एजेण्ट था जिसे सलाइयों का 'कोटा' मिलता था। उस हिन्दुस्तानी एजेण्ट ने कम्पनी से कहा कि सलाइयों के दाम बढ़ा दे क्योंकि बाजार में चौगुणे-पाँच गुणे दामों में बिक रही हैं। कम्पनी ने कहा कि जब चीज़ की कमी है और लोगों को उसकी आवश्यकता है तब उसका दाम बढ़ाना व्यापार का अच्छा ढंग नहीं है। इसलिये कम्पनी इसका दाम नहीं बढ़ायेगी। एजेण्ट ने सलाह दी 'तुम अगर मेरी एजेन्सी का कोटा बढ़ा दो तो हमको जो फायदा होगा, उसमें से आधा हम आपको दे देंगे।' कम्पनी ने कहा कि भविष्य में तुमने ऐसी बात कही तो तुम्हारी एजेन्सी समाप्त कर दी जायेगी। अगर निर्धारित दर से ज़्यादा दाम पर बेचते पाये गये तो तुम्हारी एजेन्सी रद्‌द हो जाएगी।

इसी प्रकार परमेश्वर ने नियम बनाया कि सत्य के अनुसार चलो। तुम कहते हो कि ज़माना बदल गया, सच बोलने से काम नहीं होता। झूठ बोलने से ही काम होगा तो उस के फायदे में से कुछ हिस्सा ठाकुर जी को भी चढायेंगे। ऐसों के लिये भगवान् ने कहा कि आज्ञा का छेदन करने वाला वस्तुतः मेरा द्वेषी है। अविवेक से मेरा प्रेमी होकर भी वैष्णव नहीं है। भगवान् कहते हैं कि मैंने तुम्हें कहा 'सत्य बोलकर चलो' और तुम झूठ बोलकर फायदा करके मुझे भी हिस्सा देते हो तो तुम्हें दण्ड ही मिलेगा। मेरी बनाई हुई व्यवस्था से द्वेष करना मूलतः मुझसे द्वेष ही है। जब मन के अनुसार चलते हैं, शास्त्र की परवाह नहीं करते तब भगवान् का विरोध ही कर रहे हैं। धीरे-धीरे शास्त्रीय संस्कार दृढ हो जाते हैं तो मन समझ लेता है कि अब उसकी बात नहीं सुनी जायेगी क्योंकि इसके ऊपर से मेरा राज्य गया। तब धीरे-धीरे तुम्हारी प्रवृत्ति सर्वथा शास्त्रविहित ही रह जाती है। शास्त्र-विहित कर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि सारे सुख उसी से उत्पन्न पुण्य से मिलते हैं। चित्त में पुण्य एकत्र होने पर विवेक करके देखते हैं तो पता लगता है कि कर्म जो भी फल देगा वह अनित्य ही संभव है और मैं नित्य हूँ अतः मेरे लिये कर्मफल निरर्थक है। इस विचार की दृढता के बाद विषयसुखों की अभिलाषा चली जाती है। जिस प्रकार से कोई क्षणिक सुख प्राप्त हो पर साथ ही बड़ा दुःख आये तो उस सुख को छोड़ देते हैं इसी प्रकार पाप से विषयसुख की प्राप्ति तो होगी परन्तु उसके द्वारा जन्म-मरण का चक्र कभी हटेगा नहीं। जब विषय-सुख की अभिलाषा छोड़ देता है तब ईश्वरार्पण-बुद्धि से ही कर्म करता है। जब वह ईश्वर-सेवा सफल होती है तब निष्कामता की अवस्था में श्रवण मनन निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वनिठा की प्राप्ति होती है। तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति होने पर दृढ निश्चय बना रहता है कि संस्कार अन्तःकरण में रहने वाले हैं, मुझ से इनका सम्बन्ध तीनों कालों में नहीं है।

इस प्रकार का अन्तःकरण वही होगा जो सारी वासनाओं से रहित हो गया है। 'यस्य मनः' यह भूतपूर्व गति से कहा है। अब वह मन उसका नहीं है परन्तु लौकिक दृष्टि से कभी था। उसकी तो अनुभूति यह भी नहीं है कि 'यह मेरा मन था' क्योंकि मन के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध का अत्यंत अभाव जानता है। परन्तु अन्यों की दृष्टि से कहते हैं कि *उसका* मन सर्वथा निर्वासन हो गया। अतः उसका निष्कर्मता से कोई प्रयोजन नहीं रह गया। सामान्य सोचने का तरीक है कि यदि नैष्कर्म्य नहीं है तो कर्म होगा। या कामना करोगे या नहीं करोगे—हम लोग दो ही कोटियों में सोचते हैं। इसलिये कहा कि जैसे कर्म नहीं करने से कुछ प्रयोजन नहीं वैसे ही कर्म करने से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता है। न शरीर मन आदि में कर्म होने पर उसको लगता है कि इससे *मेरा* कोई प्रयोजन सिद्ध हो रहा है और कोई कर्म नहीं होता तो भी नहीं लगता कि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है। समाधान अर्थात् समाधि का अभ्यास करने पर 'बहुत अच्छा हो रहा है, मेरी समाधि बढ़ती जा रही है' ऐसा कुछ भी उसको नहीं लगता है। इसी प्रकार जप हो तो भी कुछ अन्तर उसको नहीं है। इसलिये विद्वान् के लिये कोई शास्त्रीय भी विधि-निषेध नहीं हैं। **॥१०३॥**

वासना-निवृत्ति के कारण सभी कर्त्तव्यों से छुटकारा समझाते हैं–

आत्माऽसङ्गस्ततोऽन्यत् स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम्।
इत्यचञ्चलनिर्णीते कुतो मनसि वासना।।१०४।।

जब यह दृढ निर्णय हो गया कि आत्मा सभी सम्बन्धों से रहित है एवं आत्मा से अन्य केवल मायामय इन्द्रजाल-सा है तब मन में वासना कैसे रहेगी!

समाधि का प्रयोजन है कि मन वासना से रहित हो जाये। लेकिन जो इस बात को जानता है कि आत्मा असंग है, उसके लिये वासना हटाने के क्या मायने? भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि दस साल तक भी मृग-मरीचिका, मृगी का जल दीखता रहे तो बालू के एक कण को भी गीला नहीं करता। कोई कहे कि दस साल से दीख रहा है तो गीला होता होगा, तो हँसी की बात है। इसी प्रकार अनादि काल से अनन्त जन्म प्रतीत हुए परन्तु आत्मा पर इसका कोई प्रभाव आ सकता ही नहीं है। आत्मा असंग है और आत्मा से भिन्न अनात्मा, शरीर इन्द्रियाँ मन आदि सभी परमेश्वररूप बाज़ीगर का खेल है। इन्द्र अर्थात् परमेश्वर अपनी माया शक्ति से संसार प्रकट करता है अतः यह इन्द्रजाल है। जैसे बाजीगर तुमको पाँच सौ के नोटों की गड्डी दिखाता है पर खेल खत्म होने पर वह अपनी डुगडुगी बजाकर दो-चार आने उसमें डालने के लिये कहता है! जब उसके पास पाँच सौ के नोटों की गड्डी है तो फिर दो-चार आने कैसे माँगता है? इसलिये कि वह गड्डी केवल इन्द्रजालमात्र है।

जब सन् १९१३ में दिल्ली के अन्दर एडवर्ड आया था तब वहाँ एक बुड्ढा सड़क पर जा रहा था। कॉलेज के कुछ लड़के उस बुड्ढे को छेड़ने लगे। थोड़ी दूर गये तो वहाँ पुलिस तैनात थी। उस बुड्ढे ने एक पुलिस वाले से कहा 'इन बच्चों ने मुझसे छह गिन्नियाँ छीन ली हैं। अमुक अमुक जेब में एक-एक गिन्नी रखी है।' पुलिस वाले ने तलाशी ली तो गिन्नियाँ मिल गयीं! वह उन्हें पकड़ कर थाने की ओर चल दिया। लड़कों का बुरा हाल था, बुड्ढे से हाथ-पैर जोड़ने लगे कि हमें माफ कर दो, पुलिस वाले से छुड़ा दो। उस ने कहा 'अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि तुमने मुझे बहुत परेशान किया है।' जब थाना पास आ गया तो बुड्ढे ने उन लड़कों से कहा 'आगे कभी किसी बुड्ढे को छेड़ोगे तो नहीं?' लड़कों ने कान पकड़ कर माफी माँगी 'आइन्दा कभी किसी को नहीं छेड़ेंगे।' तब बुड्ढे ने पुलिस वाले से कहा 'इन्हें छोड़ दो, इन्होंने मेरा कुछ नहीं लिया।' लेकिन चोरी आदि अपराधों के मुकदमों में राज्य की तरफ से दण्डव्यवस्था होती है। इसलिये पुलिस वाले ने कहा 'ये रंगे-हाथों चोरी के जुर्म में पकड़े गये हैं, इस लिये अब इन्हें नहीं छोड़ा जा सकता।' बुड्ढे ने कहा 'चोरी का माल कहाँ है?' पुलिस वाले ने जेब में हाथ डाला तो देखा कि वहाँ गिन्नियाँ हैं ही नहीं। पुलिस वाला इधर-उधर देखने लगा। बुड्ढे ने उससे कहा 'यह तो मेरा खेल था। मैं एक बाज़ीगर हूँ। इन्होंने मुझे परेशान किया तो मैंने इन्हें सबक सिखा दिया कि भविष्य में ऐसे कभी किसी को परेशान मत करना। इसलिये तुम इन्हें छोड़ दो।'

कुछ भी दिखाया जा सकता है लेकिन है यह इन्द्रजाल ही। इन्द्रजाल मायिक है। बाज़ीगर के खेल में और परमेश्वर के खेल में यही फर्क है कि बाज़ीगर का इन्द्रजाल घण्टे-आधे घण्टे का है और परमेश्वर का यह संसाररूप इन्द्रजाल जब तक तुम्हें स्थिर आत्मज्ञान न हो जाये तब तक ऐसा ही रहेगा। परमेश्वर का बनाया हुआ सोना जब तक तुम्हारी आत्मज्ञान की निष्ठा पूर्ण नहीं होगी तब तक वैसा ही रहेगा, तुम्हारे अन्तःकरण आदि वैसे ही रहेंगे, चाहे अनंत सृष्टियों का प्रवाह निकल जाये। मायिक वह हुआ जो माया से निर्मित है, किसी मनुष्य की शक्ति से निर्मित नहीं है। माया प्रकृति है, प्रकर्षेण कृति वाली है, परमेश्वर की शक्ति है, उसी के द्वारा सारी कृति होती है, उसका नियामक मायाधीश परमेश्वर है। माया दो तरह की है। आचार्य कहते हैं 'विद्याविद्ये प्रभोःशक्ती'; सूर्य की तरफ मुख करो तो तुम्हारा मुख चमकता है, उधर से फेर लो तो तुम्हारा मुँह काला हो जाता है, चमकता नहीं। ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर की तरफ दृष्टि करने वाले का तो ज्ञानरूप चेहरा चमकता है जबकि परमेश्वर से हटकर उसके इन्द्रजाल की तरफ जो दृष्टि करने वाला है वह हमेशा तमसे, अज्ञान से ही आच्छादित है। ईश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति माया का ही प्रपंच विस्तार है—यह निर्णय स्थिर हो गया कि क्षण-भर को भी नहीं हटता, तब विद्वान् के मन में वासना कहाँ से रहेगी! वासना नहीं है तो सारे प्रयोजन समाप्त हो गये, प्रयोजन के बिना कोई प्रवृत्ति नहीं करता। शुरू में प्रयोजन शरीर आदि को लेकर है। बाद में प्रयोजन सूक्ष्म हो जाता है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर का प्रयोजन श्रेष्ठ, उसकी अपेक्षा कारण अर्थात् उसके अधिष्ठाता परमेश्वर का, परमेश्वर की प्रसन्नता का प्रयोजन श्रेष्ठ। इन सबके रहते तो कुछ न कुछ कर्तव्य प्राप्त होता जाता है। जब यह अचंचल या स्थिर निर्णय हो गया कि आत्मा असंग है और यह सारा जगत् मायिक इन्द्रजाल है, तब कहीं कोई प्रयोजन नहीं रह गया। न संसार का प्रयोजन रह गया और न मन इत्यादि को ठीक करने का प्रयोजन रह गया। ॥१०४॥

श्लोक ९९ से चले प्रसंग को पूरा करते हैं —

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम्।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शङ्क्येतातिप्रसञ्जनम्।।१०५।।

उक्त विचारानुसार विद्वान् के लिये कुछ भी करना प्राप्त नहीं है तो गलत करने की प्राप्ति की सम्भावना कैसे होगी! जो कुछ कर सके वही गलत भी करे यह संभव है।

प्रश्न उठा था कि तत्त्ववित् यदि आत्मध्यान में तल्लीन न रहा तो बहिर्मुखी प्रवृत्ति कर भ्रष्ट हो सकता है। सिद्धान्ती ने कहा कि भले ही बाह्य प्रवृत्ति करे, उसकी हानि नहीं। तब संभावना हुई कि गलती कर जायेगा। इसका उत्तर समझाया कि जो करेगा वही गलती भी करेगा। विद्वान् निज-वासना, कामना से तो रहित है अतः कुछ करता नहीं, शास्त्र उसके लिये कोई विधान नहीं करता अतः वह शास्त्रप्रेरित होकर भी कुछ नहीं करता। ऐसे में गलत करे यह कहाँ सम्भव है? जब 'अकर्त्ता-अभोक्ता आत्मरूप हूँ' यह दृढ निश्चय हो गया तब सब

प्रयोजन समाप्त हो जाने से सही-गलत कुछ भी करना प्राप्त नहीं। ॥१०५॥

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसञ्जनम्।
स्यात् कुतोऽतिप्रसङ्गोऽस्य विध्यभावे समे सति।।१०६।।

बालके के लिये कोई विधि न होने से वह विधि का उल्लंघन करे यह नहीं देखा जाता तो 'विधि न होना' समान रहते विद्वान् विधिका उल्लंघन कैसे करेगा?

जो छोटा बालक माँ की गोद में है उसके लिये किसी भी प्रकार की विधि का अभाव है क्योंकि वह कुछ कर ही नहीं सकता है। ज़्यादा से ज़्यादा वह रो सकता है, और तो कुछ कर नहीं सकता है। उसकी आखँ पर मक्खी बैठी हो तो बेचारा उसे ही नहीं उड़ा सकता है। उसके लिये विधि कैसे की जायेगी! अतः बालक गलत करता हुआ भी नहीं देखा जाता। माँ की गोद में टट्टी कर देता है, फिर भी उसे कोइ नहीं कहता कि यह गलत किया क्योंकि वह कुछ भी करने में असमर्थ है। जो शरीर आदि की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है उसको कोई दोष का कारण नहीं बताता। ठीक इसी प्रकार से जिसको अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व का अनुभव हो गया है उसके लिये भी विधि का अभाव होने से ठीक या गलत का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल प्रारब्धमात्र से जो प्रवृत्ति होनी है वही होती है। जैसे बालक वैसे ही विद्वान् है। इसलिये अन्यत्र शास्त्र में कहा है 'बालोन्मत्तजडपिशाचवत्' बालक, उन्मादी, जड (मूर्ख), पिशाच की तरह रहता है। इसी लिये विद्वान् के लिये विधि का अभाव होने से अतिप्रसक्ति का प्रसंग ही नहीं है जैसे बालक आदि के लिये। विधि का अभाव एक जैसा होने के कारण जैसे बालक में वैसे ही विद्वान् में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।॥१०६॥

शंका होती है कि बालक में तो इसलिये प्रवृत्ति नहीं है कि समझ नहीं सकता अतः उसके लिये विधि नहीं है, किन्तु विद्वान् समझदार और समर्थ है अतः विधि में अधिकृत क्यों नहीं? इसका समाधान करते हैं—

न किञ्चिद्वेत्ति बालश्चेत् सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित्।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः।।१०७।।

बालक की यदि यह विशेषता कि वह कुछ नहीं जानता तो विद्वान् की यह विशेषता कि वह सब कुछ जानता है! कम जानने वाले के लिये ही सब विधियाँ (और निषेध) हैं, बाकी दोनों (अर्थात् अज्ञ-सर्वज्ञ) के लिये नहीं।

यदि कहो कि बालक कुछ नहीं जानता है इसलिये उसके लिये विधि नहीं है तो सर्वज्ञता विद्वान् के लिये विधि के अभाव में प्रयोजिका है। जैसे कुछ नहीं जानने वाले के लिये विधान नहीं बनता वैसे ही सब कुछ जानने वाले के लिये भी। ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिये उसके लिये कोई विधि नहीं। सर्वज्ञ हो चुके विद्वान् के लिये भी कहा है कि स्नान, आचमन, शौच आदि

भी उसके किसी विधि से नहीं होते। जैसे ईश्वर सब करता है लेकिन विधि से नहीं, वैसे ही विद्वान् भी प्रारब्ध के अधीन होने से स्नान, आचमन आदि करता है, परन्तु उसमें विधि प्रयोजक नहीं है। जैसे सर्वथा अज्ञता विधि की अप्राप्ति में प्रयोजक है वैसे ही सर्वज्ञता भी।

वह सर्वज्ञ कैसे है? छान्दोग्य में यह स्पष्ट है। श्वेतकेतु से पिता यही पूछते हैं 'तूने क्या वह जान लिया जिसे जानने से सब कुछ जान लिया जाता है?' लड़का जानता नहीं था, इसलिये पिता ने उसे शिक्षा दी कि परमात्मा ही एक ऐसी चीज़ है जिसे जानने से सब जान लिया जाता है। परमात्मा का रूप बताया 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' यह सारा संसार 'है' से प्रकट हुआ है, इसलिये सब चीज़ों में हमेशा है दीखता है। बिना है के कोई चीज़ नहीं दीखती। जैसे लोहे या सोने से बनी चीज़ों में लोहा या सोना होगा ही, जिसने लोहे या सोने को ठीक तरह से समझ लिया है वह सोने को किसी भी आकार या गहने में देखे तो पहचान लेगा कि यह सोना है। वह सोनारूप से सोने की बनी हुई सब चीज़ों को जानता है क्योंकि उन चीज़ों के अन्दर सच्ची चीज़ तो सोना ही है। जब तुम गहना खरीदते हो तो उसमें सोना ही सच्चा है। बाकी आकार आदि तो थोड़े दिन रहेंगे, फिर टूट जायेंगे। यथावत् सोना रहेगा। जैसे बार-बार गहनों के आकार बदलते रहोगे तो हर बार कुछ-न-कुछ सोना घटेगा, नुकसान में ही रहोगे, ठीक इसी प्रकार नाम-रूपों को हम बदलते रहते हैं और इसीलिये दुःख उठाते रहते हैं। 'है' तो जैसा है वैसा ही रहता है। इसलिये है को जान लिया तो तुमने है के सारे नाम-रूपों को जान लिया।

कुछ लोग शंका करते हैं कि 'है' अर्थात् सामान्य रूप से जाना, विशेष रूप से नहीं जाना है। लेकिन विचार करो, सींप को सींपरूप से जानने को जानना कहते हैं, उसे चाँदी-रूप से जानने को 'जानना' नहीं कहा जाता। सींप को चाँदीरूप से जान तो रहे ही हैं, लेकिन उसे जानना कहा नहीं जाता। असली चीज़ को जानना ही जानना है। असली चीज़ तो सद्ब्रह्म ही है। नाम-रूप उसके अन्दर कल्पित हैं, जैसे सींप में चाँदी कल्पित है। ऐसे ही सोने की दृष्टि से जानने को ही जानना कह सकते हैं। सोना है तभी गहना होगा, सोना होने पर ही उसे चाहे जिस डिजाइन का बना लो। इसी प्रकार हमें संसार परमात्मा के है-रूप से सम्बन्धित होकर दीखता है। अभी हम सारे व्यवहार परमात्मा से संबद्ध रख कर नहीं करते, इसलिये हमें नाम-रूप ही विशेष लगते हैं जबकि परमात्मा है तभी नाम-रूप का ज्ञान भी है। ज्ञानी का यह निश्चय अवश्य बना रहता है कि असली चीज़ तो ज्ञान है, नाम-रूप कल्पित हैं। असली चीज़ सद् ब्रह्म ही है, जैसे सुनार की दृष्टि में सच्ची चीज़ सोना ही है, डिजाइन कल्पित है। सुनार नाम-रूप को नहीं खरीदता, खरीदता वह सोने को ही है। सोना गणेश या चूहे के रूप में हो सकता है, परन्तु वह सोने का ग्रहक है, गणेश जी या चूहे का ग्राहक नहीं है। इसी प्रकार तत्त्ववित् ग्राहक तो केवल सच्चिदानन्द परमात्मा का है, परमात्मा किसी भी रूप में हो, क्या फर्क पड़ता है। उसका निश्चय है कि हमें असली माल लेना है, वह किसी भी रूप में हो कुछ फ़र्क नहीं पड़ता है। इसलिये वह सर्वज्ञ है।

सारी विधियाँ अल्पज्ञ के लिये हैं, न सर्वथा अज्ञ और न सर्वज्ञ के लिये कोई विधि है। इसलिये अज्ञ और सर्वज्ञ दोनों ही विधि के विषय नहीं होते। अल्पज्ञ ही विधि का विषय होता है। जैसे बालक अज्ञानी होने के कारण उसके लिये विधि-निषेध नहीं हो सकते, ऐसे ही विद्वान् सर्वज्ञ होने के कारण उसके लिये विधि-निषेध नहीं हो सकते। जिसकी जिसमें सामर्थ्य नहीं है, उसके लिये उसका विधान सम्भव नहीं है। अधिकारि-भेद के सनातन धर्म के सिद्धांत का आधार यही है कि जितनी जिसकी क्षमता है उतना ही उसका अधिकार है, जिसकी जिसमें क्षमता नहीं उसके लिये उसका विधान भी नहीं है। वेद में 'राजा' 'ब्राह्मण' आदि शब्दों से अधिकारी बताया या सामान्यतः विधान किया। जहाँ नामोल्लेख है वहाँ उसी के लिये नियम है, अन्य के लिये मनाही है परन्तु जहाँ कुछ नहीं कहा वहाँ मनुष्यमात्र को अधिकार प्राप्त हो जाता है। जिसमें जिसकी सामर्थ्य नहीं है, कर सकता नहीं है, उसके लिये वह अज्ञ बालक की तरह है, उसके लिये विधि-निषेध प्रवृत्त नहीं होते। जैसे अज्ञानी शास्त्र का विषय नहीं है वैसे ही सर्वज्ञ भी शास्त्र का विषय नहीं है। ॥१०७॥

ज्ञानी सर्वज्ञ है सुनकर गाँव के लोग समझते हैं कि खोयी भैंस का पता जानते होंगे! नामरूप-देश-काल से परिच्छिन्न वस्तुओं का ज्ञान ही ज्ञान है ऐसी लौकिक दृष्टि है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञ में अलौकिक सामर्थ्य की आशा की जाती है। इस तरह की भ्रान्ति को दूर करते हैं —

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्याऽसौ तत्त्वविद्यदि।
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात् तपसो यतः।।१०८।।

शाप, वरदान आदि की सामर्थ्य वाला ही तत्त्ववेत्ता हो ऐसा नहीं क्योंकि शाप आदि की सामर्थ्य तपस्या का फल है, ज्ञान का नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि तत्त्ववेता वह है जो शाप और अनुग्रह की सामर्थ्य वाला है। दूसरे को शाप दे सके अथवा अनुग्रह से वर दे सके वह तत्त्ववेत्ता है। ऐसा व्यक्ति 'सर्वज्ञ' का अर्थ होना चाहिये। यह प्रश्न लौकिक का ही सम्भव है। कोई विचारशील यह प्रश्न नहीं करेगा! शाप तब दिया जाता है जब तुम्हें क्रोध आये। अनुग्रह भी तभी होगा जब दया आये। शास्त्रकार कहते हैं 'जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्' लोगों के ऊपर दया और निष्ठुरता दोनों का त्याग करना है। अतः तत्त्वज्ञ के द्वारा शाप और अनुग्रह दोनों की प्राप्ति ही नहीं है। इन दोनों भावों की प्राप्ति तभी हो सकती है जब सर्व न दीखकर सामने वाले के अन्दर छोटी-छोटी चीज़ें दीखें क्योंकि जब सर्व की दृष्टि से देखते हो तो वहाँ न कोई कृपा के योग्य और न कोई शाप के योग्य है। फिर भी शंका मानकर समझाते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि शाप-अनुग्रह आदि की सामर्थ्य तो तप का फल है, तत्त्वज्ञान का फल नहीं है। तप से शाप-अनुग्रह आदि की सामर्थ्य आती है, यह आत्मज्ञान का प्रभाव नहीं है। ॥१०८॥

तत्त्ववेत्ता व्यास आदि में शाप की सामर्थ्य देखने में आती है। जैसे व्यास जी ने जनमेजय से कहा था कि तुझे कोढ़ निकलेगा तो उसको १८ प्रकार का कोढ़ हुआ! व्यास जी तत्त्वज्ञानी प्रसिद्ध हैं। इसलिये अन्य तत्त्ववेता में भी सामर्थ्य देखने में आनी चाहिये। इस आक्षेप के समाधान में कहते हैं–

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात्।
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम्।।१०९।।

व्यासादि की सामर्थ्य भी तप के बल से दीखती है। शापादि-सामर्थ्य देने वाले की अपेक्षा अन्य तप ज्ञान के प्रति कारण है।

व्यास आदि तपस्वी भी थे, केवल तत्त्ववेत्ता ही नहीं थे। जैसे किसी आदमी ने वकालत पढ़ी फिर अंग्रेजी पढ़ी, फिर उसने श्रवण-मनन करके आत्मज्ञान प्राप्त किया। आत्मज्ञान का फल तो मोक्ष है। परन्तु वकालत पढ़ी होने से उससे कोई सलाह माँगे तो दे देगा, लेकिन वह आत्मज्ञान का फल नहीं है, वह तो उसने जो दूसरी पढ़ाई कर रखी है, उसका फल है। इसी प्रकार व्यास आदि ने तपस्या की थी, उस तप के बल से उनके अन्दर शापानुग्रह की सामर्थ्य थी। आत्मविचार को भी शास्त्रकारों ने तप बताया है। यजुर्वेद में लिखा है 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' अर्थात् तप से ज्ञान प्राप्त करो। किन्तु वह तप विचाररूप है। जिसने आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया है, उसने विचाररूपी तप किया है, उससे उसके अन्दर शाप आदि की सामर्थ्य होनी चहिये ऐसा नहीं। तप शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। विचार को भी तप कहते हैं। इन्द्रिय और मन को एकाग्र करने को भी तप कहते हैं। महीने भर का चान्द्रायण व्रत करने को भी तप कहते हैं। अपने चारों तरफ आग जलाकर बैठना और ऊपर से धूप भी पड़े इसको भी तप कहते हैं। माघ के महीने में सूर्यास्त से सूर्योदय तक रातभर छाती तक पानी में खड़े रहने को भी तप कहते हैं। विचाररूपी तप ज्ञानहेतु है और शापादि का कारण अन्य प्रकार का तप है। व्यास जी ने दोनों प्रकार के तप किये थे अतः वे तत्त्वज्ञ के साथ सामर्थ्यवान् भी थे किन्तु इससे सभी तत्त्ववेत्ता समर्थ हों यह नियम नहीं हो जाता। ॥१०९॥

विभिन्न तपों की फलव्यवस्था दिखाते हैं –

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः।
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम्।।११०।।

दोनों तरह के तप जिसमें हैं उसी में शापादि-सामर्थ्य तथा तत्त्वज्ञान दोनों आते हैं। अतः एक-एक ढंग का तप करता व्यक्ति एक-एक का ही फल पाता है।

व्यास, दुर्वासा आदि ने दोनों प्रकार का तप किया था, इसलिये उन लोगों के अन्दर शापानुग्रह की सामर्थ्य भी थी और ज्ञान भी था। अलग-अलग तरह के तपों से अलग-अलग

फल पैदा हुए। जैसे भोजन दो प्रकार से बनता है—एक तो आग के चूल्हे में भूँज देते हैं और दूसरा, पानी में डालकर उबाल देते हैं। दोनों तरह से अलग-अलग तरह की चीज़ें बनती हैं। जिसके पास जिस प्रकार का चूल्हा होगा वह वैसा भोजन बनायेगा। किसी के घर में दोनों हैं तो वह दोनों तरह का भोजन बना लेता है। इसी प्रकार से जिसके पास दोनों तपस्यायें हैं उसकी तो दोनों प्रकार की सामर्थ्य होती है, शाप-अनुग्रह की सामर्थ्य भी होती है और तत्त्वज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। जो केवल शाप-अनुग्रह सामर्थ्य देने वाली तपस्या करेगा उसमें वही सामर्थ्य आयेगी। जो केवल तत्त्वज्ञान देने वाली तपस्या करेगा उसमें ज्ञान आयेगा, शापानुग्रह की सामर्थ्य नहीं आयेगी। क्योंकि दोनों के अलग-अलग कारण हैं, इसलिये एक-एक करने वाले को एक-एक का फल प्राप्त होता है, दोनों करने वाले को दोनों फल प्राप्त होते हैं। ॥११०॥

लौकिक स्थिति है कि जिसमें शाप-अनुग्रह की सामर्थ्य हो, वह यदि विधि-निषेध का पालन न करे तो कोई आपत्ति नहीं करता। कहते भी हैं 'समरथ को नहि दोष गुसाईं' उसे कोई नहीं कहता क्योंकि डरते हैं कि कहीं शाप न दे देवे! जिसमें कुछ करने की शक्ति नहीं है वह विधि-निषेध का पालन नहीं करता तो लोग निन्दा करते हैं। इसी दृष्टि से वादी कहता है कि लोक-निन्दा से बचने के लिये ही ज्ञानी के लिये कर्त्तव्य क्यों न माने जायें?

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः।
निन्द्यन्ते यतयोऽप्यन्यैरनिशं भोगलम्पटैः।।१११।।

सामर्थ्य-रहित तत्त्वज्ञ विधि-पालन न करे तो यदि (विधि-अनुसत्ता) संन्यासियों द्वारा निन्दनीय है तो भोगों के प्रति लम्पट लोगों द्वारा सभी संन्यासियों की निन्दा की ही जाती है!

लोग क्या कहते हैं, इससे कोई वास्तविक बात सिद्ध नहीं होती। बाकी कर्मकाण्डी निन्दा करें तो परवाह नहीं क्योंकि उन्हें तो यतिधर्म पता नहीं है परन्तु यति आत्मज्ञान के मार्ग में चलने वाले हैं। शास्त्रकारों ने निर्णय किया है 'त्वं-पदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्' आत्मा को ही जानना जब एकमात्र इष्ट रह जाये तब सब कर्मों का संन्यास करना चाहिये। जिसे इहलोक या परलोक की कोई भी इच्छा है उसे कर्त्तव्य कर्म आदि छोड़ने के लिये नहीं कहा। बाकी सांसारिक कर्मों को करने वाले यज्ञ आदि को छोड़ें—ऐसा शास्त्रकार नहीं कहते। आत्मा की वास्तविकता को समझने के लिये ही सारे कर्मों का संन्यास कहा गया है। संन्यासियों की भी कई विधियाँ होती हैं जैसे दण्ड आदि का तर्पण करो, भोजन आदि के लिये आचमन आदि अमुक प्रकार से करो। जो ज्ञानी परमहंस होगा वह यह सब करेगा नहीं। स्मृति आदि के अन्दर विधान यति के लिये किया गया है, उस विधि से भी ज्ञानी रहित है। ऐसा यदि शाप-अनुगह की सामर्थ्य वाला होगा तो दूसरे यति जानेंगे कि उससे कुछ कहना ठीक नहीं, नहीं तो शाप दे देगा! लेकिन यदि उसमें यह सामर्थ्य नहीं होगी तो लोग उसे बेकार आदमी कहेंगे, दूसरे यति भी उसकी निंदा करेंगे। इसलिये उसे विधि के अनुकूल ही आचरण करना चाहिये, विधिरहित नहीं रहना चाहिये।

इस शंका के जवाब में कहते हैं कि जो संसार के भोगों में लगे हुए हैं वे लोग, विधिपालक संन्यासी चाहे जितना अपने लिये विधान किये हुए तर्पण आदि करे, कहते हैं कि 'क्या व्यर्थ का कार्य कर रहे हो! संसार कहाँ जा रहा है, धर्म की क्या स्थिति हो रही है और तुम बेकार समय खो रहे हो।' कभी रेल आदि में यात्रा करो तो ऐसे अनुभव हो जाते हैं। काशी में यदि कोई विद्यार्थी संन्यासी बनना चाहता है तो सब पंडित उसे समझाने लगते हैं कि 'क्यों संन्यासी बनते हो? हम तुम्हारा ब्याह करा देंगे!' भोगलम्पट लोग रात-दिन संन्यासिमात्र की निंदा करते हैं। क्या इतने से यह भी माना जाये कि निन्दा से बचने के लिये संन्यासी भोगपरायण बने? सभी द्वारा कोई अनिन्दनीय हो नहीं सकता अतः निन्दा की चिन्ता न कर शास्त्र का अनुसरण ही उचित होने से विद्वान् के लिये कर्त्तव्य नहीं ही मान सकते। ॥१११॥

भोगपरायण नागरिकों की सन्तुष्टि के लिये संन्यासी विषय-सेवन भी कर ले—इस संभावना का निरास करते हैं—

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम्।।११२।।

यदि ये (निन्दा से डरने वाले संन्यासी) भोग-समर्थकों के सन्तोषार्थ भोजन, वस्त्र आदि की रक्षा में लग जायें तो इनका संन्यासीपना ही एक आश्चर्य होगा जो वैराग्य को मानो एक बोझ समझकर उससे मन्द पड़ गया है।

संसारी लोग संन्यासियों की ऐसे ही निंदा करते हैं कि ये लोग भोग के लिये प्रयत्न नहीं करते। गौशाला खोलें, व्यापार करें, और कोई धन्धा करें तो ऐसे लोग उनकी प्रशंसा करते हैं कि ये खूब काम करते हैं। सांसारिक भोगों के पक्ष में, लोगों को विषय उपलब्ध कराने के लिये सचेष्ट के बारे में प्रशंसा की दृष्टि से कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने यह बहुत अच्छा किया। वैराग्यवान् यति तो जानता है कि हमारा धर्म वैराग्य है, यह सब बाह्य व्यवहार तो हमारा धर्म नहीं है। लम्पट लोग कहते हैं 'बड़ा वैराग्यवान् बनता है! चार दिन इसे भिक्षा न मिले तो सारा वैराग्य ढीला पड़ जायेगा।' अथवा कहीं बन्दर वस्त्र या लंगोटी फाड़ देते हैं, वहाँ कपड़ा सुखाकर महात्मा रुका रहे तो पूछते हैं 'आप यहाँ क्यों खड़े हैं?' साधु कहे 'लंगोटी की रक्षा के लिये खड़े हैं।' तो कहते हैं 'काहे का वैराग्य है, दो गज कपड़े का मोह करते हो।' कहते हैं कि रोटी खानी है, सामान सँभालना है, इतना सब करना है तो फिर वैराग्य काहे का है? लंगोटी की रक्षा कर सकते हो, भिक्षा लेने जा सकते हो तो फिर नौकरी क्यों नहीं कर सकते? जैसे कर्मी द्वारा की निन्दा से बचने के लिये संन्यासी ज्ञानी कर्म करे यह मानना, वैसे ही भोगी द्वारा की निन्दा से बचने के लिये वह सांसारिक कार्य भी करे यह स्वीकारना गलत है। बल्कि यदि निंदाभय से यति यों ऐहिक-आमुष्मिक कार्यों में लगा तो उसका वैराग्य ही शोभास्पद नहीं है। वैराग्य विवेक का प्रभाव है, कोई भार नहीं जिसके कारण संसार के कार्य धीरे-धीरे हों वरन् संसार के लिये करना व्यर्थ है—इस निश्चय से उधर से विरति होती है। वैराग्य बोझ माना गया तो वह निस्तेज ही रहेगा। ॥११२॥

शास्त्रीय कर्मों के समर्थक कह सकते हैं कि भोग-लम्पट तो नास्तिक हैं, उनकी निन्दा की आस्तिक क्यों परवाह करें? अतः संन्यासी सांसारिक गतिविधि तो मत करे लेकिन आस्तिक-निन्दा से बचने के लिये शास्त्रीय कर्त्तव्यों का पालन अवश्य करे। शिष्ट को दूसरे शिष्ट की ही निंदा महत्त्वपूर्ण लगती है, अशिष्ट की नहीं। यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं—

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः।।११३।।

वर्णाश्रम-परायणों की मूढ लोग भले ही निन्दा करें—यदि ऐसा कहो तो देह को आत्मा समझने वाले आश्रमाभिमानी तत्त्वज्ञ की भले ही निन्दा करें!

मूढ या मूर्ख नास्तिक ही आस्तिक की निन्दा करते हैं। संसार में कोई भी सब विषयों में मूर्ख नहीं होता। जो एक अक्षर पढ़ा लिखा नहीं है, केवल पत्थर तोड़कर या गड्ढा खोदकर अपना गुज़ारा करता है, उस को दूसरे पढ़े-लिखे लोग मूर्ख कहते हैं। परन्तु पत्थर तोड़ने हों तो जैसे वह तोड़ लेगा, वैसे ये पढ़े-लिखे लोग नहीं तोड़ पायेंगे। पत्थर तो दोनों को एक जैसा दीखता है लेकिन पत्थर तोड़ने वाला जान लेता है कि किस पत्थर को कैसे तोड़ने से पत्थर सही टूट जायेगा और वहीं छैनी मारेगा। पढ़ा-लिखा घण्टों लगे तो भी पत्थर नहीं टूटेगा। गड्ढा खोदने में भी किस प्रकार फावड़े से मिट्टी निकाल कर बाहर फैंकनी है यह जो रोज़ खोदते हैं उन्हें खूब पता रहता है। दूसरे को पता ही नहीं चलेगा, वह चाहे फावड़ा चलाये लेकिन गड्ढा नहीं खोद पायेगा। गया (बिहार) में फल्गु नदी में गड्ढा खोदकर पानी निकलता है। वहाँ का पण्डा फटाफट गड्ढा करके पानी निकाल देता है, पंडित जी की नकल करके दूसरे लोग काफी देर तक गड्ढा खोदते रहते हैं लेकिन उसमें से पानी नहीं निकाल पाते। जिसको तुम अपनी दृष्टि से अत्यंत मूर्ख मानते हो वह भी किसी विषय में कुशल है। भाषा, विज्ञान आदि का पण्डित भी हो सकता है मिट्टी का चूल्हा बनाने में मूर्ख रहे। इसलिय मूढ का अर्थ बदलता रहता है। जिसका जिस विषय में प्रवेश नहीं है वह उस विषय में मूढ कहा जाता है। इसलिये हमारे शास्त्रों में जिस व्यक्ति ने व्याकरण, साहित्य पढ़ लिये लेकिन न्याय शास्त्र नहीं पढ़ा, नैयायिक उसे कहेगा कि यह बाल अर्थात् मूढ है क्योंकि न्याय शास्त्र जानता नहीं है। ऐसे ही व्याकरण, साहित्य शास्त्र पढ़े हुए लोग केवल न्यायशास्त्र पढ़े हुए को बाल कहेंगे। इसी प्रकार से जिसको वर्णाश्रम आदि का ज्ञान नहीं है, जैसे आधुनिक लोग हैं, उनको तो आदमीमात्र एक-सा लगता है। सबके एक-जैसे नाक-कान हैं तो सब एक-जैसे आदमी हैं, ऐसा समझते हैं। इसलिये उनकी समझ में न वर्णभेद आता है और न आश्रमभेद आता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था को न समझने वाले मूर्ख हैं।

यदि विचार करके देखो तो वर्णव्यवस्था का आधार वंशानुगतता है। जितना धीरे-धीरे आनुवंशिकी का ज्ञान बढ़ रहा है उतना ही लोगों की समझ में आने लगा है कि वर्ण-व्यवस्था क्या है। और आश्रम-व्यवस्था पर्यावरण-नियंत्रण पर आधारित है। व्यक्तित्व क्या है? विज्ञान

यह मानता है कि वंशानुगतता और पर्यावरण मिलकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व को निर्णीत करते हैं। इसलिये वैज्ञानिक तो वर्णाश्रम-व्यवस्था को समझ लेता है परन्तु मूढ लोग कहते हैं कि सबके नाक-कान एक तरह के हैं तो फर्क क्या है! इसलिये जब तक रूस में साम्यवाद था तब तक वहाँ सरकार ने जैनेटिक्स, आनुवंशिकी की पढ़ाई बन्द कर रखी थी। थोड़े-से वैज्ञानिक चोरी-छिपे प्रयोग कर लेते थे, कानून से निषेध था क्योंकि तदनुसार मानना पड़ता है कि सब आदमी एक जैसे पैदा *नहीं* होते! विचार-विरुद्ध जानकर भी आग्रह रखना—यह मूढता का लक्षण है।

इसी प्रकार जो वर्णाश्रमव्यवस्था न जानने वाले मूर्ख लोग हैं, वे वर्णाश्रमधर्म मानने वालों की निन्दा करते हैं तो भले ही करते रहें, हम तो वर्णाश्रम मानने वाले हैं। भोगलम्पट, वर्णाश्रम-व्यवस्था को नहीं मानने वाले भले ही निन्दा करें, हमें उसकी चिन्ता नहीं है। ऐसा यदि शास्त्रीय कर्मों की कर्त्तव्यता का समर्थक कहे तो सिद्धान्ती का जवाब है कि शरीर को ही आत्मा समझने वाले जो आश्रम में ही अभिमान करने वाले हैं उनकी निन्दा की फिर आत्मज्ञ क्यों परवाह करे! आश्रम तो शरीर का होगा। 'शरीर मैं हूँ' ऐसे निश्चय वाले वर्णाश्रम पर दृढ होंगे। शरीर का धर्म शरीर भले ही माने, आत्मा से क्या सम्बंध है!—इस बात को जिसने जान लिया वह शरीर के धर्मों को अपने में नहीं देखेगा। इसलिये जो यति-निन्दा करते हैं वे आश्रम में ही अभिमान करने वाले हैं। आश्रम में अभिमान वही कर सकता है जो देह में आत्मबुद्धि रखे। जैसे वर्णाश्रम-व्यवस्था को नहीं समझने वाले मूर्खों की निन्दा से वर्णाश्रम वालों का कुछ नहीं बिगड़ता वैसे ही शरीर को आत्मा मानने वाले की निन्दा से जो शरीर को आत्मा नहीं जानता, उसका कुछ नहीं बिगड़ता।**॥११३॥**

श्लोक ९० में कहा था साधनों को निष्प्रभावी न बनाने से तत्त्वज्ञ का व्यवहार से कोई विरोध नहीं होता। चित्त का निरोध भी उसके लिये अनिवार्य नहीं रहता क्योंकि चित्त से सम्पाद्य तत्त्वबोध वह हासिल कर चुका है। श्लोक ९९ में प्रश्न उठा कि फिर क्या वह गलत कार्य करेगा? उत्तर में समझाया कि वैसा संभव नहीं। लौकिक या शास्त्रीय कोई प्रतिबन्ध उसपर नहीं रहता। लोकनिन्दा भी उसे बहिर्मुख बनाने में अक्षम है। अब इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात्।
ज्ञानिनाऽऽचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम्।।११४।।

उक्त विचारानुसार, तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर मन आदि आन्तर और घट-पट आदि बाहरी साधनों का विलय न हो जाने से राज्य-परिपालन आदि लौकिक कर्म ज्ञानी द्वारा भलीभाँति किये जा सकते हैं।

इस सब विचार से क्या निष्कर्ष निकला? जब तत्त्व को जान लिया कि आत्मा का यह स्वरूप है तब आत्मा का शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रहा जैसे रस्सी का

साँप से कोई सम्बन्ध नहीं है। तत्त्वविज्ञान होने पर भी जितने लौकिक व्यवहार हैं वे सारे शरीर, मन, बुद्धि से होने हैं। उन साधनों का उपमर्दन तो हुआ नहीं। योगी या ध्यानी के लिये यह कठिनाई है क्योंकि वह मन को अपना स्वरूप मानता है। वह समझता है कि मन अच्छा हुआ तो मैं अच्छा और मन बिगड़ गया तो मैं बिगड़ गया, इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ बिगड़ीं तो मैं बिगड़ गया; इसलिये उपासक, योगी तो इनकी शुद्धि-अशुद्धि का विचार करते रहते हैं। वह मन की वृति को सर्वथा हटाने का प्रयत्न करेगा। व्यवहार तो चित्तवृत्ति से ही होना है। बाकी जितने हैं वे साधनों का उपमर्दन करते हैं किन्तु तत्त्वविज्ञान के कारण साधनों का उपमर्दन होता नहीं है।

इतना अवश्य समझ लेना कि जब तक इन साधनों को व्यवस्थित नहीं कर लिया जाता तब तक इनसे अपने को हटाना कठिन है! जिस घोड़े को अच्छी तरह से तोड़ लिया गया है उस घोड़े पर बैठ कर कुछ भी सोचते हुए जाओ, घोड़े की तरफ ध्यान नहीं जाता। परन्तु जो घोड़ा अभी नहीं टूटा है, जंगली घोड़ा है अगर उसकी तरफ से एक सेकेण्ड को ध्यान हट गया तो वह तुम्हें गिरा देगा। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर, मन आदि पहले व्यवस्थित हो जायें तब इनका विचार किये बिना तुम आत्मतत्त्व का विचार कर सकते हो। यदि ये अव्यवस्थित रहे तो विचार कर ही नहीं पाओगे। इसलिये तत्त्वविज्ञान होने के साधनों की शुद्धि आवश्यक है, साधनों का उपमर्दन आवश्यक नहीं है। शिक्षितता और उपमर्दन में अन्तर है। मन शुद्ध हो यह तो जरूरी है परन्तु मन की वृत्ति निरुद्ध हो जाये, यह जरूरी नहीं है। उलटा, मन की वृत्ति का निरोध करोगे तो विचार कर ही नहीं पाओगे। यह इसलिये बताते हैं कि पूर्वोक्त विचार से कई लोग समझते हैं कि शरीर-मन कैसा भी हो, उसकी शुद्धि की क्या जरूरत है। जरूरी इसलिये है कि बिना शरीर-मन व्यवस्थित हुए आत्मविचार करना सम्भव नहीं है। आत्मविचार से साधन का उपमर्दन नहीं है परन्तु शुद्ध साधनों के बिना विचार हो नहीं सकता।

चूँकि साधन का उपमर्दन नहीं है, इसलिये जो तत्त्वज्ञानी है वह सम्यक् अर्थात् भली प्रकार से लौकिक व्यवहार का आचरण कर सकता है। प्राचीन काल में सबसे कठिन और झँझट का काम राज्य करना माना जाता था। वर्तमान में राजा का कार्य सरल है क्योंकि ऐसा सूत्र बनाया गया है कि प्रजा ही राजा है! इस सूत्र के कारण राजा कहता है कि 'राजा तो तुम यानी प्रजा हो, हम क्यों ईमानदार बनें। तुमने ईमानदार को क्यों नहीं चुना? हम बेईमान हैं तो हैं, तुमने गलती क्यों की?' प्राचीन काल में तो राजा को सब कार्य ठीक करना पड़ता था क्योंकि उसका यह धर्म था। इसलिये कहा कि तत्त्वज्ञ राज्य आदि का सम्यक् पालन भी कर लेगा। आत्मज्ञान हो गया इससे कोई रुकावट नहीं आती। इसलिये राम और जनक राजा थे, आत्मज्ञानी थे ही। आत्मज्ञान हो जाने पर उनका राज्य तो गया नहीं! इसी प्रकार जनक को आत्मज्ञान हुआ, उसके बाद भी वह राज्य करता रहा। फर्क इतना पड़ गया कि अब तक वह जानता था 'मैं राजा हूँ' और अब समझ गया कि *मैं* राजा नहीं हूँ। इसी प्रकार राम जी तीर्थ-यात्रा करके आये, विचारशील थे ही, वैराग्य हो गया। विश्वामित्र की प्रेरणा

से वसिष्ठजी ने राम जी को उपदेश दिया, जिससे राम जी तत्त्वज्ञानी बने। तत्त्वज्ञान होने के बाद वसिष्ठ जी ने कहा 'तुम जिस काम को पूरा करने आये हो, वह करो'। उसके अनुसार रावण, मारीच आदि सब को मारा, उसके बाद एक-दो दिन नहीं, ग्यारह हजार साल तक राज्य करते रहे! ऐसे कठिन कार्यों को करते हुए भी उन्हें कभी कोई विक्षेप नहीं हुआ। तत्त्वज्ञ जिस सामाजिक आदि अवस्था में है तदनुसार व्यवहार-निर्वाह कर लेता है। यदि संन्यास लिया तो भली प्रकार से श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेगा। जैसे जो राजा के घर में पैदा हुआ उसे राज्य करना है, उसी प्रकार यदि संन्यासी है तो श्रवणादि करना है। यद्यपि उसको कोई जरूरत नहीं है तथापि जहाँ बैठा है तदनुसार ही करेगा, उससे उसे कोई विक्षेप नहीं होगा। चूँकि साधनों की शुद्धि है इसलिये अतिप्रसंग अर्थात् शास्त्रादि से प्रतिकूल नहीं करने लग जायेगा। प्राप्त कार्य सम्यक् अर्थात् भली प्रकार से करेगा। भगवान् पद्मपादाचार्य का वचन है 'ज्ञानम् अज्ञानस्य एव निवर्तकम्' ज्ञान अज्ञान को ही हटाता है। अज्ञान के कार्य के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। वरन् उन कार्यों की सहायता से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उनका विरोधी हो तो वे उसे उत्पन्न करने में सहायक ही न बनें! जैसे उचित प्रयोग से विष भी हित करता है ऐसे इन्द्रियादि साधनों का सदुपयोग तत्त्वज्ञान उत्पन्न करता है। स्वरूपभूत ज्ञान अज्ञान को नहीं हटाता, वह तो अज्ञान का पोषक है! रस्सी को इससे कोई मतलब नहीं कि किसी ने रस्सी को देखा या साँप को देखा। रस्सी नहीं होती तो साँप दीखता ही नहीं। रस्सी की दया से ही साँप है। किन्तु ब्रह्म का ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है। चूँकि शरीर-मन को पता है कि ज्ञान पैदा होकर हमें खत्म नहीं करेगा, इसलिये वे ज्ञान का विरोध नहीं करते, उसे पैदा होने देते हैं। इसीलिये तत्त्वज्ञान साधनों का उपमर्दन नहीं करता, साधनों से व्यवहार होने देता है। ज्ञानी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर भी उसका व्यवहार सम्यक् चलता ही है। ॥११४॥

आत्मनिर्विकारता के ज्ञान की तरह जगत्-मिथ्यात्वका ज्ञान भी व्यवहार-विरोधी नहीं यह बताते हैं—

मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत् तर्हि मास्तु तत्।
ध्यायन् वाऽथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम्।।११५।।

प्रपंच मिथ्या है इस ज्ञान से प्रपंच-पक्षीय इच्छा ही विद्वान् को यदि न हो तो मत हो, प्रारब्ध के अनुसार वह ध्यान या व्यवहार करते हुए रहे।

अधिष्ठान आत्मा को जानने वाला संसार को मिथ्या देखेगा ही। किसी प्रसिद्ध चित्रकार के हाथ से आँका चित्र करोड़ों रुपयों का बिकता है, उसकी नकल सैकड़ों में बिकती है। नकली है यह जानने वाला उसे खास मूल्य नहीं दे पाता, असली के प्रति ही प्रवृत्ति होती है। अज्ञानी संसार को सच्चा समझने से इसे महत्त्व देकर इससे व्यवहार करता है, मिथ्या समझने वाला तत्त्वज्ञ ऐसा कैसे करेगा? उसे राज्यादि-संचालन की इच्छा कैसे होगी? उत्तर है कि तत्त्वज्ञ संसार-सम्बद्ध इच्छा करे ऐसा नियम नहीं। जिसे इच्छा नहीं वह व्यवहार नहीं

करेगा। जिससे लोकसंग्रह कराना ईश्वर की इच्छा है वह व्यवहार करे तो हानि भी नहीं। अज्ञानी के लिये तो कर्त्तव्यों का प्रतिबन्ध है, अनिवार्यता है, उल्लंघन से दण्ड है। ज्ञानी यों विधि-निषेध से प्रतिबद्ध नहीं है, प्रारब्धानुसार कर लेगा। जीवन का प्रारब्ध रहते जो उपलब्ध है वह खा लेगा, न घी-रबड़ी की आशा रखेगा, न बाजरा-राबोड़ी पाकर शिकायत करेगा। इसी तरह यदि बाह्य व्यवहार का मौका आया तो वह कर लेगा अन्यथा परमात्मचिन्तन कर लेगा, मनोव्यापार से उसे कोई क्लेश नहीं होगा। प्रारब्ध ईश्वर का संकल्प है अतः ज्ञानी न उसे हटाता है, न दूसरा लाने की सोचता है। ध्यान करने से उसके आनन्द में कोई वृद्धि नहीं और संसारव्यवहार से कोई कमी नहीं। जब तक शरीर-मन में मैं-मेरापन है तब तक अन्तर पड़ता है, इनके हट जाने पर कोई अन्तर पड़ नहीं सकता। जब तक बन्धन था तब तक छूटने के लिये साधन भी थे, बन्धन निवृत्त हो गया, प्रयोजन सिद्ध हो गया, कृतकृत्यता हो गयी तो कोई कर्त्तव्य रह नहीं गया। सृष्टिकर्ता परमात्मा का संकल्प पूरा होता रहे, इससे तत्त्ववेत्ता को कोई बाधा महसूस नहीं होती। ईश्वर उस कार्यकरणसंघात से हिमालय की गुफा में समाधि लगवाना चाहे तो लगवाये, लोकसंग्रह कराना चाहे तो करावे, दोनों में विद्वान् का कोई प्रयोजन नहीं और दोनों से ही कोई विरोध भी नहीं। अतः उसकी उपाधिविषयक कोई इच्छा नहीं यह ठीक है और इसीलिये वह प्रारब्धानुसार जीवन-प्रवाह चलने देता है। योग में आग्रह भी तभी संभव है जब उपाधि में सत्यता और ममता हो। इनके अभाव में आग्रह असंभव है। योगाभ्यास के प्रारब्ध वाला ज्ञानी भूमिकारोहण की ओर बढ़ता है। पहले अनिवार्यमात्र भोग तक दृष्टि जाती है फिर अपनी ओर से उतनी भी नहीं जाती। अन्त में कोई मुँह में कौर डाल दे तो निगलने की भी प्रवृत्ति नहीं रहती! किन्तु लोकसंग्रही ऐसा न करने पर भी उसकी आत्मनिष्ठा में कोई कमी नहीं। अखण्ड साक्षात्कार प्रमा है, उत्पन्न होते ही अज्ञान मिटा देता है, फिर उपाधियों की बाधित अनुवृत्ति निष्प्रभावी है। **॥११५॥**

ज्ञानी से ध्यानी में अन्तर बताते हैं—

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद् यतः।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुताऽदिवत्।।११६।।

क्योंकि स्वयं में या शिला में विष्णुरूपता आदि की तरह उपासक की ब्रह्मरूपता ध्यान से ही की गयी है इसलिये उसे निरन्तर ध्यान करते हुए ही रहना पड़ता है।

ज्ञान से वंचित ध्यानी की ऐसी स्थिति नहीं, उसे निरन्तर सावधानी चाहिये। मूर्त्ति में देवरूपता विधिवत् प्रतिष्ठित होने से है किन्तु आँखें पत्थर देखेंगी, देवतादर्शन ध्यान से ही होगा। जब साक्षात् दर्शन हो जाता है तब निरन्तर देवता-व्यवहार रहता है। रामकृष्ण परमहंस ने एक बार नैवेद्य चढाया तो भगवती ने चखकर छोड़ दिया कि ठीक नहीं बना। परमहंस ने कहा 'जैसा बना वैसा खा लीजिये।' अगले दिन माँ बोली 'मेरा पेट खराब हो गया!' परमहंस रोने लगे 'आपका पेट बहुत कमज़ोर है, मैं बेवकूफ रहा कि यह ध्यान नहीं

दिया।' ऐसे साक्षात्कारी का अनुभव निरन्तर है किन्तु ध्याता को ध्यान में तत्पर ही रहना अनिवार्य है। **॥११६॥**

ध्यान से उपलब्ध अनुभूति पारमार्थिक नहीं यह स्पष्ट करते हैं—

ध्यानोपादानकं यत्तद् ध्यानाभावे विलीयते।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते।।११७।।

ध्यानमात्र से जो सम्पादित है वह (अभिनामादि) ध्यान न रहने पर विलीन हो जाता है जबकि ब्रह्मता वास्तविक है इसलिये तदाकार वृत्तिरूप ज्ञान न रहने पर भी विलीन नहीं होती।

ध्यान जिसका उपादान अर्थात् कारण है। जो ध्यान के कारण होता है, वह तभी तक रहता भी है। जिस समय मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, उस समय ध्यान करना आवश्यक है। मंत्र का प्रयोग तो है ही, परन्तु साथ में ध्यान भी बताया। ध्यान के कारण अहम् की ब्रह्मरूपता की अथवा मूर्ति में विष्णुता की प्रतीति है, इसलिये ध्यान ही उसका उपादान अर्थात् कारण हुआ। ध्यान जिसका उपादान होगा वह उपादान नहीं होने पर नष्ट हो जायेगा। परन्तु वास्तवी ब्रह्मता ऐसी नहीं है। यदि सामने देवदत्त बैठा है तो तुमने क्योंकि ध्यान से उसकी देवदत्तरूपता सम्पादित नहीं की है, इसलिये तुम्हारे ध्यान पर वह निर्भर नहीं। ठीक इसी प्रकार से वैकुण्ठ में भगवान् विष्णु के जो आँख-कान हैं वे तुम्हारे ध्यान के कारण नहीं, वे तो उनका शरीर ही हैं। इसी प्रकार प्रमाण से जन्य जो प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता वह सत्य है। ऐसा नहीं है कि जब तक ध्यान करो अथवा ब्रह्माकार वृत्ति बनाओ तब तक ब्रह्मता रहे, आगे-पीछे न रहे। उसका उपादान अर्थात् कारण ध्यान या ज्ञान नहीं है। घट के ज्ञान का घट कारण है। घट है तो घटज्ञान हुआ। तुमको घटज्ञान है तो वहाँ घट हो गया, ऐसा नहीं है वरन् वहाँ घड़ा है तब तुम्हें घट का ज्ञान हुआ। परन्तु ऐसा ध्यान में नहीं है। मूर्ति तो कारीगर ने बनाई है। उसमें ध्यान और मंत्र आदि के द्वारा विष्णुभाव को सम्पन्न किया गया है। प्रमाण ज्ञान से पता लगता है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्मरूप है तो उसका कारण ज्ञान नहीं है, कारण तो खुद ब्रह्म ही है। अतः तुम जानो चाहे नहीं जानो, ब्रह्माकार वृत्ति बनाओ चाहे नहीं, वह ब्रह्म ही रहेगा। इसलिये ज्ञान और ध्यान दोनों में फ़र्क रहता है। अतः ज्ञानी तो सर्वविध आचरण कर सकता है, ध्यानी नहीं कर सकता। **॥११७॥**

ध्यान में जब तक वृत्ति रहती है तब तक ही चीज का भान रहता है क्योंकि ध्यान का कारण मन का प्रयत्न है। मन कुछ करता है तब ध्यान होता है। ज्ञान उससे बिलकुल भिन्न है। ज्ञान के लिये इन्द्रियाँ मन इत्यादि क्रिया करके विषय का आवरण नष्ट करते हैं। आवरण नष्ट होने के बाद ज्ञान का भान तो स्वतः ही होता है। अतः अज्ञान-नाश करने में तो वृत्ति की अपेक्षा या प्रयत्न की अपेक्षा है, परंतु ज्ञान के लिए प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान और ध्यान में यह फ़र्क़ क्यों है—यह बताते हैं—

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः।
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८॥

क्योंकि ब्रह्मता नित्य है इसलिये ज्ञान उसका बोधक ही है, उत्पादक नहीं। बोधक न रहने मात्र से सत्य विलीन नहीं होता।

इस फ़र्क का कारण है कि ब्रह्मरूपता नित्य है, ज्ञान से होती नहीं है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान करने से ब्रह्म है। ज्ञान तो अभिज्ञापक है, जो चीज जैसी है ज्ञान उसको वैसा प्रकट कर देता है अथवा जना देता है। जैसे प्रकाश के कारण किसी चीज में रंग पैदा नहीं होता, प्रकट होता है। प्रकाश उसमें कोई बदलाव नहीं लाता, वह जैसा है वैसा केवल प्रकट कर देता है। ऐसा नहीं है कि प्रकाश किसी को लाल कर देता है, किसी को पीला कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान, ब्रह्म की नित्यता प्रकट कर देता है। घट पट आदि अनित्य हैं तो उनकी अनित्यता को प्रकट कर देता है। जो चीज जैसी है उसको वैसा जना देना या प्रकट कर देना ही ज्ञान का कार्य है। नित्य ब्रह्म को वह उत्पन्न नहीं करता। जैसे, बत्ती बंद हो गई, इतने-मात्र से लाल रंग वाली चीज़ काली नहीं हो जाती अथवा काली चीज़ सफेद नहीं हो जायेगी, वह जैसी है वैसी ही रहेगी। इसी प्रकार ज्ञापक या बताने वाला नहीं रहा इतने-मात्र से सत्य ब्रह्म नहीं रह जायेगा, ऐसा नहीं है, वह विलीन नहीं होता। चूँकि सत्य ब्रह्म विलीन नहीं होता, इसलिए यह ज्ञान अभिज्ञापक है, पैदा नहीं करता। यह ज्ञान और ध्यान में मूलतः फ़र्क़ है। ध्यान से सम्पादित तो जब तक ध्यान करोगे तब तक रहेगा और ज्ञेय तत्त्व जब ज्ञान नहीं हो रहा है तब भी रहेगा ही। तात्पर्य यह हुआ कि यदि ब्रह्म की नित्यता, प्रत्यगभिन्नता ज्ञान से पैदा होती तब तो वह ज्ञान के हटने से हट जाती। जैसे तुमने हरे रंग का बल्ब लगाया तो तुमको सफेद कपड़ा हरा दीखने लग गया; सफेद कपड़े में हरापना प्रकाश ने किया है, इसलिए जैसे ही वह हरा प्रकाश हटा वैसे ही उस कपड़े का हरापना भी हट जायेगा। परंतु जो कपड़ा हरा है, सूर्य के प्रकाश से हरा दीख रहा है, वह सूर्य के अस्त हो जाने पर भी हरा ही बना रहेगा। इसी प्रकार से जब ज्ञान हो गया कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म से अभिन्न है, उसके बाद तुम्हारी यह वृत्ति नहीं बन रही है तब भी प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही रहेगा क्योंकि जानने से पहले भी वह वैसा ही था। ॥११८॥

प्रश्न होता है कि हम जिसका ध्यान कर रहे हैं वह ब्रह्मता नित्य है, इसलिए जब हम ध्यान नहीं करेंगे तब भी ब्रह्मता रहनी चाहिये? इसका उत्तर देते हैं—

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत्।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥११९॥

यदि कहो कि उपासक की भी ब्रह्मरूपता वास्तविक है (फिर अन्तर क्यों? तो उत्तर है कि) अज्ञानियों एवं जानवरों की ब्रह्मता क्या वास्तविक नहीं है!

जैसे ज्ञानी का प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म वास्तव है, वैसे ही उपासक का भी तो आत्मा ब्रह्म ही है। इसलिए यदि वह ध्यान नहीं करेगा तो भी ब्रह्म वैसा ही बना रहेगा। किन्तु अज्ञान से आवृत रहते ब्रह्म-भाव निष्फल है अन्यथा संसार के अंदर जो कुछ विचार नहीं करने वाले, हल जोतने वाले अथवा ब्रह्म का खण्डन करने वाले कम्युनिस्ट वगैरह हैं, उनकी ब्रह्मता भी वैसी ही है जैसी ध्यान नहीं करने वाले की है। कुत्तों, मेंढकों का प्रत्यगात्मा भी ब्रह्म ही है। क्या तुम्हारा ध्यान भी व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि जो ऐसा ध्यान नहीं करता वह भी ब्रह्म ही है? ध्यानी यह तो कहने को तैयार है कि आत्मा ब्रह्मरूप है लेकिन यह जरूर कहता है कि ध्यान तो करना ही चाहिए, तभी ब्रह्मता प्रकट होगी। इसी प्रकार आवरणनिवृत्ति के लिये ज्ञान करना ही चाहिये। स्वरूपभूत ब्रह्मता से पुरुषार्थसिद्धि नहीं, अनावृत से है यह तात्पर्य है। ॥ ११९॥

पशु, संसारी, उपासक सबकी समानता दिखाते हुए उपासना का लाभ बताते हैं—

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत् समम्।
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथाऽन्यतः ॥१२०॥

पामरादि को ब्रह्मता पता नहीं इसलिये पुरुषार्थोपयोगी नहीं, तो ध्यानी को भी वह पता न होना समान है। उपवास से जैसे माँग कर खा लेना बेहतर है वैसे अन्य अनुष्ठानों से आत्मध्यान बेहतर है।

पामरों, कुत्ते-मेंढक आदि की ब्रह्मता होने पर भी वे इस बात को जानते नहीं इसलिए उससे उनको कोई लाभ नहीं, उनका कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। ऐसे ही ध्यानी को भी ब्रह्मता का ज्ञान नहीं है, इसलिये वास्तविक भी ब्रह्मता पुरुषार्थ-साधक नहीं है, फिर ध्यान से क्या लाभ? यदि हमारे पास भोजन करने का कोई साधन नहीं है, परंतु हम चार घरों से भिक्षा माँग लेते हैं, तो हमारा पेट भर जायेगा और जो माँगने नहीं जाता, उसका पेट खाली रहता है। हम दोनों ने *अपना* भोजन तो किया नहीं, परंतु हमें खाने को मिल गया, दूसरे को नहीं मिला। लेकिन जिसके पास अपना भोजन है, वह श्रेष्ठ है ही। भिक्षा से यह स्वातन्त्र्य तो नहीं हो सकता जो निजी साधनों से होता है। अपने पैसे वाले की बराबरी भिक्षा माँगने वाला नहीं कर सकता, परंतु भूखा रहने वाले की अपेक्षा तो भिक्षा माँगकर खाने वाला अच्छा ही है। जैसे उपवास करने की अपेक्षा भिक्षा कर लेना अच्छा है, इसी प्रकार, जब तक ब्रह्मता का ध्यान करते हैं तब तक अपनी ब्रह्मता प्रकट रहती है। ध्यान नहीं किया तो फिर प्रकट नहीं है, अपना जीवभाव रह जाता है। ज्ञानी का अपना धन है, वह तो निरन्तर अपनी ब्रह्मरूपता को समझता है। ध्यानी का भिक्षा की तरह है, जब माँगे तब मिल जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि किसी ऐसे गाँव में फँस जाओ जहाँ कोई भिक्षा देने वाला न हो तो कुछ भी खाने को नहीं मिलता। इसी प्रकार से किसी दिन मन लगेगा, किसी दिन नहीं लगेगा। जिस दिन मन नहीं लगेगा उस दिन प्रत्यगात्मरूपता ब्रह्म से अभिन्न नहीं हो पायेगी

क्योंकि ध्यान नहीं लगा तो वह प्रकट नहीं होती है। ज्ञानी के लिए ऐसा कभी नहीं होता कि उसकी ब्रह्मरूपता प्रकट न हो। फिर भी पामरों, पशु-पक्षियों या बेध्यानी (ध्यान नहीं करने वालों) की अपेक्षा ध्यानी श्रेष्ठ तो है ही। ॥१२०॥

इस बात को स्पष्ट करके कहते हैं कि कौन-सी चीज़ किससे श्रेष्ठ है—

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥१२१॥।

पामरों के व्यवहार से कर्म आदि का अनुष्ठान श्रेष्ठ है, उससे भी सगुण उपासना और उससे भी निर्गुणोपासना बेहतर है।

पामर लोग अर्थात् जो लोग इहलोक के अंदर खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता आदि के अंदर ही लगे हुए हैं, उनकी दृष्टि में इहलोक से आगे का कोई विचार नहीं है। वर्तमान के जितने नेता लोग हैं वे सभी इसी तरह के पामर हैं। वे रोटी, कपड़ा और मकान की ही बातें करते हैं कि ये सबको मिलें, रोजगार सबको मिले। अर्थात् इस दुनिया में क्या मिले, इसके सिवाय और कोई बात नहीं करना पामरता है। ऐसे सारे के सारे लोग पामर कोटि के हैं। आजकल के पामरों की एक और विशेषता है कि वे पामर बनने को श्रेष्ठ बताते हैं। इस संसार की उन्नति के लिए जो प्रयत्न करते हैं, कहते हैं कि वे ही तो भगवान् की सेवा कर रहे हैं। इनके व्यवहारों की अपेक्षा अर्थात् इहलोक के भोगों में लगे रहने की अपेक्षा भगवान् की पूजा-पाठ, तीर्थ-दर्शन आदि सभी कार्य जो तुम्हारे परलोक को सम्भालने वाले कर्म हैं, उनका अनुष्ठान श्रेष्ठ है। इहलोक के भोगों में लगे रहने की अपेक्षा स्वर्ग आदि लोकों में सुख आदि के साधनों को सम्पन्न करना श्रेष्ठ है। उससे भी श्रेष्ठ अर्थात् परलोक के लिए करने की अपेक्षा भी परमेश्वर की उपासना श्रेष्ठ है क्योंकि परमेश्वर की उपासना वाला परलोक के भोगों की भी इच्छा नहीं करता। उपासना भी वह ईश्वरार्पण-बुद्धि से ही करता है। सगुण उपासना की शिक्षा तो कर्म-काल में ही दे देते हैं। एक-एक आहुति के साथ कहलवाते हैं 'इन्द्राय स्वाहा इदं न मम' यह मैंने इन्द्र को दे दिया, यह मेरा नहीं है। इसी प्रकार विष्णु, शंकर आदि की पूजा के अंत में भी कहलवाते हैं 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' इस कर्म का सारा फल भगवान् कृष्ण को दे रहा हूँ। सगुण उपासना में कर्म का फल नहीं चाहते, सारे कर्मों का फल ईश्वर को देते हैं। पुत्र जो कुछ कमाता है, वह सारा का सारा बाप के हाथ में रख देता है। आगे बाप उसे रोटी खिलाता है, अपने मकान में रखता भी है, जरूरत पड़ने पर कपड़े भी खरीद कर देता है, और भी यदि उसका कोई खर्चा है तो वह भी उसका पूरा कर देता है, लेकिन वह सब बाप की इच्छा पर है। कोई पुत्र पिता से यह नहीं कहेगा कि 'मैंने आपको इस साल एक लाख दस हजार कमाकर दिया है, आपने सब जमा करके रखा है या नहीं है?' पुत्र ऐसा कुछ नहीं कहता। पिता की जो मर्जी होगी, वही वह करेगा। तुम्हारी पसंद के अनुसार शादी पर भी खर्च कर देगा। दूसरे पुत्र की नौकरी छूट गई, वह भी घर

में ही रह रहा है, उसको भी वही हलवा-पूरी खाने को मिलता है जो एक लाख दस हजार कमाकर लाये को मिलता है। पुत्र ने जब अपनी सारी कमाई लाकर पिता को दे दी तो आगे पिता उसमें से तुम्हें अधिक दे, कम दे वह उसकी मर्जी है, तुम कुछ नहीं बोल सकते। इसी प्रकार तुमने जितना कर्म किया वह सारा ईश्वरार्पण कर दिया। आगे उसमें से तुम्हारे प्रारब्धानुसार जो वह तुमको दे देगा वह तुमको लेना है। ईश्वर प्रसन्न होकर तुम्हें मोक्ष दे सकता है। मोक्ष किसी कर्म का फल तो होता नहीं है, परंतु ईश्वर का अनुग्रह है तो मोक्ष हो जाता है। इस तरह, जो परमेश्वर की आराधना अर्थात् कर्म करता है वह उत्तम लोकों के अंदर भोग प्राप्त करेगा, वैकुण्ठ-गोलोक आदि में जायेगा। उसकी अपेक्षा जो ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करते हुए उसमें मन को लगाता रहेगा, वह श्रेष्ठ है। निर्गुण-उपासना उससे भी श्रेष्ठ है, परमेश्वर के निर्गुणरूप की अर्थात् प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप की ही उपासना करना उन दोनों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह परमात्मा का अपना वास्तविक स्वरूप है। सगुण रूप तो माया के कार्य से है, उसका अपना रूप तो निर्गुण ही है। ॥१२१॥

श्रेष्ठता का यह क्रम उपपन्न करते हैं –

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१२२॥

जितनी विज्ञान से समीपता अधिक होती है उतनी (साधनों की) श्रेष्ठता बढ़ती है। निर्गुण की उपासना धीरे-धीरे स्वयं ब्रह्मज्ञान जैसी हो जाती है।

साधनों में एक से दूसरे को श्रेष्ठ बता रहे हैं, इसमें क्या मापदंड है? परमात्मा का अपना स्वरूप है 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', विज्ञान अर्थात् अनुभव जो आनन्दरूप ही है वह ब्रह्म है। जो उसके जितना समीप है वह उतना श्रेष्ठ है। पामर तो उससे उल्टा मुख किए हुए, उससे अत्यंत दूर है। उसकी अपेक्षा मन-बुद्धि की शुद्धि का कारण होने से अग्निहोत्र आदि कर्म श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा भी सगुण उपासना में चित्त की एकाग्रता होने के कारण वह श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा भी परमात्मा के निर्गुण स्वरूप जो अपना ही रूप है, उसकी उपासना और भी श्रेष्ठ है। इसलिए जितना-जितना विज्ञान के समीप है उतनी ही उसकी श्रेष्ठता बढ़ती जाती है। ब्रह्मज्ञान का साक्षात् कारण निर्गुण उपासना है, इसलिए यह सबसे श्रेष्ठ है। धीरे-धीरे आगे बढ़ते-बढ़ते निर्गुण उपासना लगभग तत्त्वज्ञान जैसी स्थिति हो जाती है। साधक उससे पूर्णता को प्राप्त करता है। ॥१२२॥

उपासना का विद्या जैसा होना प्रकरणारम्भ में कहे दृष्टान्त से समर्थित करते हैं–

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥१२३॥

जैसे संवादी भ्रम फलकाल में प्रमा का कार्य कर देता है वैसे पूर्ण परिपक्व होने से निर्गुण उपासना मोक्षकाल में विद्या का काम कर देती है।

इस प्रकरण के शुरू में ही कहा था कि भ्रम दो प्रकार के हैं। जो यथार्थ ज्ञान न हो वह भ्रम है। एक भ्रम ज्ञान है जो तुमको सच्ची चीज के पास ले जाता है। दूसरा भ्रम ज्ञान वह है जो तुमको सच्ची चीज से दूर करता है। कई बार अखबार के अंदर पाँच सौ रुपये का नोट छपता है और एक रिज़र्व बैंक का छपा हुआ पाँच सौ रुपये का नोट भी है। अख़बार के छपे हुए पाँच सौ रुपये के नोटों को तुम इकट्ठा करके रखो तो तुम्हें उसका एक धेला भी नहीं मिलना है, उन्हें रिज़र्व बैंक में ले जाकर कहो कि इस पर भी लिखा है 'मैं धारक को पाँच सौ रुपये अदा करने का वचन देता हूँ' तो बैंक वाले हँसेंगे और तुम्हें ठेंगा दिखायेंगे। है वह भी कागज़, उस पर भी पाँच सौ रुपये छपे हैं, और रिज़र्व बैंक का छपा हुआ नोट भी कागज़ ही है, पर उसे ले जाओगे तो वे झट तुम्हें पाँच सौ रुपये गिनकर दे देंगे। रुपये तो दोनों नहीं हैं परंतु नोट को रुपये समझना तो संवादी भ्रम है क्योंकि उससे तुमको रुपये मिल जायेंगे जबकि अख़बार के नोट को रुपया समझना विसंवादी भ्रम है जिससे तुम्हें कुछ नहीं मिलना है। ठीक इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को तुमने अभी जाना है नहीं। शास्त्र और गुरु ने तुमसे कहा है, इसलिए तुम निर्गुण ब्रह्म की उपासना को बिना जाने हुए भी करते हो। अभी वह भ्रम होने पर भी तुम वैसा ध्यान करते हो तो एक दिन तुम्हें निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। ब्रह्म निर्गुण है—यह जो तुमने शास्त्र व गुरु से जाना, वह तुम्हें अनुभव तो नहीं हो रहा है, लेकिन वैसा ध्यान करने से एक दिन तुम्हें अनुभव हो जायेगा, इसलिए वह संवादी भ्रम है। जो संवादी भ्रम, जैसे नोट में सच्चे रुपयों का ज्ञान है, उसके फलकाल मे रिज़र्व बैंक से सच्चे रुपये मिल जाते हैं। उसी प्रकार से निर्गुण उपासना से, जब तुम्हारा मुक्ति का काल आता है तब निर्गुण ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। मुक्तिकाल तब है जब ध्यान करते-करते पूरी तरह से पक जाता है। तब तुम्हें ज्ञान का फल मोक्ष प्राप्त हो जाता है **॥१२३॥**

संवादी भ्रम से समता व्यक्त करते हैं—

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः।
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥१२४॥

संवादी भ्रम से प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को (उस भ्रम की अपेक्षा) अन्य (किसी) प्रमाण से प्रमा होती है, इसी तरह निर्गुणोपासना भी (उपासना से) अतिरिक्त प्रमा के लिये कारण की आवश्यकता पूरी कर देगी।

पूर्व पद्य में कहा कि संवादी भ्रम से यथार्थ ज्ञान हो जाता है लेकिन संवादी भ्रम से तो प्रमा ज्ञान होता नहीं है। नोट में जो रुपयों की बुद्धि है वह कभी प्रमा है नहीं, जब उस भ्रम से पुरुष ने नोट लेकर प्रवृत्ति की, रिज़र्व बैंक में वह नोट दिया, तब सच्चे रुपये मिले।

संवादी भ्रम सच्चा नहीं हुआ, वरन् उससे बैंक में जाकर जब हाथ में रुपये आ गये तब सच्चे रुपयों का ज्ञान हुआ। इसलिए भ्रम से प्रमा नहीं हुई, वरन् संवादी भ्रम से तुमने प्रवृत्ति की और तब प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमा हुई। इसलिए यथार्थ ज्ञान अन्य प्रमाण से हुआ। इसलिए केवल उपासना पकने से ज्ञान तो नहीं होना चाहिए। ऐसी शंका उठने पर समझाते हैं कि जैसे भ्रम में, ऐसे ही ब्रह्म निर्गुण है—यह समझकर तुमने उपासना की, कुछ प्रवृत्ति की। उस ध्यान के काम को करने के कारण तुम्हारी ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी। प्रमा तो उस वृत्ति से होगी, परंतु ध्यान के कारण ही वृत्ति बनी। तात्पर्य है कि शुरू में जो ब्रह्म का प्रत्यगभेद शास्त्र-आचार्य से सुना था वह प्रमाण ही था, उसमें रुकावट को दूर करने में निदिध्यासनरूप निर्गुणोपासना उपाय बन जाती है अतः वाक्यार्थ की प्रमा होती प्रमाण से ही है। ॥१२४॥

इसी न्याय से अन्य साधनों को भी उपयोगी सिद्ध करते हैं —

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि।
अस्तु नाम तथाऽप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥१२५॥

मूर्त्तियों का ध्यान, मन्त्रजप आदि भी कथंचित् साक्षात्कार के कारण बनते हों तो बनें, फिर भी निर्गुणोपासना साक्षात्कार के अत्यन्त सन्निकट है।

प्रश्न होगा कि फिर निर्गुण ध्यान की क्या विशेषता है? 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र जपते हुए हमने चतुर्भुज मूर्ति नारायण का ध्यान किया, उस ध्यान के कारण हमको भगवान् विष्णु के दर्शन हो गए। मंत्र, ध्यान आदि के कारण भी दर्शन होते हैं तो उन्हें भी अपरोक्ष ज्ञान का साधन मान लेना चाहिये। बाकी साधनों से निर्गुणोपासना में क्या फ़र्क़ है? निर्गुण उपासना में प्रत्यासत्ति अर्थात् निकटता, मध्य में और व्यवधान न आना विशेष है। इससे परमात्मा का ज्ञान प्रत्यगात्मा से अभिन्न होकर होगा और बाकी ध्यानों में अपने से भिन्नरूप से विष्णु आदि का दर्शन होगा। सबसे नज़दीक तो स्वरूप ही है। जैसे, विचार करो कि रुपये से तुमने रसगुल्ला खरीदा, तुमको रसगुल्ला तो मिला। परंतु जिसको तुमने रसगुल्ला खाने को दिया उसको रसगुल्ले का पूरा आनन्द आयेगा। अपरोक्ष लाभ से ही उपलब्धि की पूर्णता जैसे लोक में वैसे विष्णु आदि का भेदेन दर्शन तो अन्य उपासनाओं से होगा किन्तु 'मैं विष्णु' यों उपास्य से सर्वथा अभेद न होने से साक्षाद्रूपता नहीं रहेगी। परंतु निर्गुण ब्रह्म के उपासक ने तो उसको अपने साथ एक कर लिया। आनन्दरूप विष्णु को उसने अपने से अभिन्न अनुभव किया। इसलिए उसकी विशेषता है। निर्गुण उपासना उस तत्त्व की की जाती है जो प्रत्यासन्न अर्थात् साक्षात् ही है। अपरोक्ष वस्तु को विषय करने वाली होने से वह तत्त्वप्रमा से अत्यधिक नजदीक है। ॥१२५॥

उक्त निकटता स्पष्ट करते हैं—

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥

निर्गुणोपासना सुदृढ होने पर समाधि होती है, फिर धीरे-धीरे निरोध नाम की समाधि अनायास सम्पन्न हो जाती है।

शास्त्र और गुरु के कहने से तत् और त्वं पदार्थों का जो शुद्ध रूप, दोनों में होने वाली जो उपाधियाँ और गुण हैं उनको हटाने के बाद जो चिन्मात्र बचता है वह और मैं एक ही है—यही निर्गुण उपासना है। जब तक साक्षात्कार नहीं हुआ तब तक मन के सामने तो सगुण रहेगा, उस सगुण के रहते हुए ही उपासक को उन गुणों को हटाना है। जैसे तुमको देवदत्त, यज्ञदत्त, भानुदत्त, इन्द्रदत्त आदि दीखे। आँखों से तुम्हें 'आदमी' नहीं दीख सकता, यज्ञदत्त आदि सबको आँखों से देखते हुए ही तुम इनमें दीखने वाले नाक-कान आदि सबको हटाकर एक 'आदमी-जाति' (आदमियत) को जान जाते हो। सामने तुम्हें दीख तो इन्द्रदत्त आदि ही रहे हैं। अगर कहीं तभी तुम्हारे सामने जॉन, डिक, हैरी कोट-पैण्ट पहने हुए आ गये, दोनों समुदायों में कोई समानता नहीं कहोगे क्योंकि एक आदमी काला और दूसरा एकदम गोरा, एक लम्बा और दूसरा बौना, परंतु जॉन, डिक, हैरी को देखकर भी तुम तुरंत पहचान जाते हो कि ये भी आदमी हैं। क्या तुमने कभी *आदमी* को देखा है? फिर कैसे पहचान लिया? आदमी को तुमने कभी नहीं देखा, देखोगे तो तुम यज्ञदत्त आदि को, लेकिन उनके नाक-कान-आँख आदि को हटाकर बुद्धि के द्वारा उन्हें आदमीमात्र समझ लेते हो। जॉन, डिक भी इन्द्रदत्त की तरह आदमी हैं, आदमी-जाति का फ़र्क़ नहीं है। जिन चीजों को तुमने देखा उनके रूप को हटाकर तुमने वास्तविकता जानी है। यदि नहीं जानी होती तो प्रत्यभिज्ञा नहीं होती कि यह आदमी है। इसी प्रकार, तुमने चतुर्भुजी, पंचमुखी, षण्मुखी, अष्टभुजी, दशभुजी आदि सबको देखा, निर्गुण तो कभी देखा नहीं, परंतु सब रूपों को देखते हुए ही 'ये सब परमात्मा ही है' यह समझ में आ जाता है। बुद्धि से ही इस बात को समझ लेते हैं, इसलिए निर्गुण उपासना सम्भव हो जाती है। सगुण को देखते हुए ही गुणों को हटाते जाना पड़ता है। इतना ख्याल रखना कि जीव और ईश्वर दोनों के गुण हटाने हैं। जो ध्यान करने वाला है उसके और जिसका ध्यान कर रहा है उसके, दोनों के गुणों को हटाना है। जिसका ध्यान कर रहे हो उसके गुण सर्वशक्तिमत्ता, सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला आदि हैं और ध्यान करने वाले के गुण अल्पज्ञता, कर्त्ता-भोक्तापन, सुखी-दुःखी होना आदि हैं। सभी को हटाना पड़ेगा। केवल बुद्धि से ही उपासक उनका हटना समझ रहा है, हटने का अनुभव नहीं हो रहा है। उस शुद्ध का ध्यान करते-करते जब निर्गुण उपासना पक जाती है तब धीरे-धीरे समाधि हो जाती है।

तीन शब्द हैं—आधि, व्याधि और समाधि। आधि—कोई भी रोग सबसे पहले तुम्हारे मन में आयेगा। क्या गड़बड़ है—अभी यह पता नहीं होता है। फिर जब वह गड़बड़ ज़रा ज्यादा हो जाती है तब व्याधि हो जाती है। अब वह मन में ही नहीं रही, विशेष आधि, शरीर में व्याधि हो गई। मन में रहने वाले दोष जब मन में नहीं रह गये तब समाधि हो गई। जब तुम तत् और त्वं पदार्थों का शुद्ध स्वरूप परोक्षतः जानकर 'वह केवल निर्गुण ही है' ऐसी

बार-बार उपासना करते हो तब धीरे-धीरे उस निर्गुण के अंदर तुम्हारी समाधि हो जाती है, उसमें समाहित हो जाते हो। जब तुम्हारी वह समाधि और दृढ हो जाती है अर्थात् सविकल्प समाधि निश्चित हो जाती है तब निरोधाख्य समाधि बन जाती है। जिसे पतंजलि महर्षि चित्तवृत्ति का निरोध कहते हैं, उस निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति धीरे-धीरे हो जाती है। बिना कोई प्रयास किए हुए जब समाधि हो जाती है तब 'निरोध' कहते हैं। शंका होती है कि यह सब तो प्रयत्न ही किया है फिर 'अनायास' क्यों कह रहे हैं? ऐसे समझ लो : पहले एक किलोमीटर तक खूब तेज़ी से साइकिल चलाओ और फिर पैडल चलाना छोड़ दो, चुपचाप साइकिल पर बैठे रहो तो भी वह साइकिल आगे सौ मीटर तक अपने आप चलती रहती है, उसमें तुम्हें कोई आयास या ज़ोर नहीं लगाना पड़ता। अतः वह सौ मीटर रास्ता चलना अनायास ही कहा जायेगा क्योंकि तुमने बिना कुछ किए हुए ही सौ मीटर पार कर दिए। इसी प्रकार से जब तुम सविकल्प समाधि खूब अभ्यस्त कर लेते हो, उसकी पूरी खुमारी चढ़ जाती है, तब वृत्ति *बनाना* छूट जाता है, वृत्ति बनी रहती है। निरोधाख्य समाधि तब है जब तुम वृत्ति बना नहीं रहे हो, वरन् पहले जो प्रयत्न किया है उससे ही वह प्रवाह चल रहा है। जब तक सविकल्प समाधि में प्रयत्न करते हो तब तक कर्त्तापना बना रहता है। परंतु जब पूर्वाभ्यास के वेग के कारण बिना कर्त्ताभाव के ही निर्गुण भावना चलती रहेगी तब समाधि की पूर्णता है। इस प्रकार से कर्तृत्वभाव से रहित जो समाधि चलती है वही अंत में ब्रह्मसाक्षात्कार करा देती है। **॥१२६॥**

जब समाधि पक जाती है, अनायास हो जाने पर निरोध समाधि की प्राप्ति हो जाती है तब क्या होता है यह बताते हैं–

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन् वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥१२७॥

निरोध-अवस्था प्राप्त हो जाने पर साधक में असंग स्वप्रकाश तत्त्व रह जाता है जिसकी बार-बार भावना कर लेने पर महावाक्य से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

निरोधलाभ अर्थात् निरोध समाधि की प्राप्ति होने पर तत्त्वभान रहता है। पहले तो दीर्घकाल तक सविकल्प समाधि की प्राप्ति रही। उसके बाद अपनी तरफ से कर्त्तृत्वभाव छूट जाता है, सविकल्प समाधि के अंदर केवल इतना ही रह गया था कि 'मैं वृत्ति का निरोध कर रहा हूँ,' बाकी सब तो पहले ही छूट गया था, केवल इतना रह गया था कि 'मैं समाधि कर रहा हूँ,' जब वह भी छूट गया तब सर्वनिरोध हो गया, तब निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है। अब चित्त या अंतःकरण के अंदर कर्तृत्व-भोक्तृत्वभाव से रहित जो अपना असंग आत्मस्वरूप है वही बच जाता है। अंतःकरण लीन हुआ नहीं और उस में कोई वृत्ति भी रही नहीं, यहाँ तक कि कर्तृत्वभाव भी रहा नहीं; तब जो बच गया, वह केवल शुद्ध आत्मस्वरूप ही है। 'शिष्यते' कहकर आचार्य यह ध्वनित कर रहे हैं कि उसकी प्राप्ति नहीं हुई, वह है

तो पहले से ही। विचार से जब हम नेति नेति के द्वारा मूर्तामूर्त सब चीज़ों को हटाते चले जाते हैं तब जिसे नहीं हटाया जा सकता वह वस्तु अर्थात् अधिष्ठान स्वयम् शेष रह जाता है। विचार से जब बाध, त्रैकालिक-अत्यंताभाव-निश्चय करते हैं तब बाध करने वाले का बाध नहीं होगा। जैसे कमरे के अंदर से कोई कहता है 'सारा सामान खाली हो गया,' तब खाली को देखने वाला तो अंदर बच गया। इसी प्रकार मूर्तामूर्त का 'नेति नेति' के द्वारा बाध करने पर बाध करने वाला अवशिष्ट रहेगा ही। एक आत्मा ही शेष रहता है। उपासना में भी जब किसी वृत्ति को नहीं बनने दिया, सारी वृत्तियाँ हट गयीं, तब केवल किसी वृत्ति को नहीं बनने देने की वृत्ति है। जब यह सविकल्पता भी अनायास सिद्ध हो गई तब 'किसी वृत्ति को नहीं बनने देना' यह भाव भी छोड़ दिया। तब सर्वथा निर्वृत्तिक अवस्था आ गई और आत्मा तो रह ही गया।

ज्ञान से फ़र्क़ यह रहता है कि ज्ञान में तो त्रैकालिक अत्यंताभाव-निश्चय होने से बाध होता है, उपासना में 'नहीं है' की अवस्था तो बन जाती है लेकिन 'नहीं था' यह नहीं बनता है। यहाँ यह याद रखना कि जिसने पहले श्रवण-मनन से समझ लिया है कि जो नहीं है वह किसी भी क्षण में नहीं है, उसी से ऐसी उपासना भी होगी। यह निश्चय ही है कि जिसकी जो जाति है वह नहीं बदलती है। परमेश्वर या ब्रह्म 'है' (सत्) जाति का है। और यह नाम-रूपात्मक संसार 'नहीं है' जाति का ही है। जो है नहीं वह दीखने-मात्र से तो 'है' जाति का नहीं हो जायेगा। ब्रह्म है, नाम-रूप नहीं है—इसका निश्चय वेदवाक्य से ही है। सिवाय माँ-बाप के वचन के कि 'तू मेरा बेटा है', और कोई प्रमाण नहीं है कि मैं इसका बेटा कैसे? इसी प्रकार वेदवाक्य के सिवाय हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि ब्रह्म है ही। वेद कहता है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' अतः ब्रह्म 'है'जाति का ही है। जिसने श्रवण के द्वारा यह निश्चय कर लिया है उसकी निर्बीज समाधि होगी तो अनात्मा कैसा भी उपस्थित नहीं होगा। किन्तु जिसने श्रवण नहीं किया है उसके अनुभव का प्रकार यही रहता है कि 'यह संसार मेरे लिए नहीं है,' परंतु यह सर्वथा किसी के लिए, कहीं भी, कभी भी नहीं है—यह निश्चय नहीं होता। 'नहीं है' का जब बार-बार अभ्यास करते हैं तब जो असंग वस्तु बच गई, इसकी बार-बार वासना बनाते हैं, बार-बार समाधि का अभ्यास करते हैं तो 'नहीं है' की वासना दृढ हो जाती है। तब तत् और त्वम् दोनों पदार्थों की उपाधियाँ नहीं हैं, यह पता लग ही गया इसलिये चिद् वस्तु एक ही है—यह निश्चय होता है। गुरु उसे तत्त्वमसि सुना चुके हैं; चूँकि दोनों की उपाधियों को वह पहले छोड़ चुका है, इसलिए 'मैं ही ब्रह्म हूँ' 'ब्रह्म ही मैं है' यह ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

यह उत्पत्ति है वाक्य से ही क्योंकि दोनों एक हैं यह सिवाय वेदवाक्य के और कोई नहीं कह सकता। वेद का वाक्य अपौरुषेय होने से नित्य है। किसी संबंध को वह नहीं कहता है, किसी देश या किसी काल से सीमित को नहीं कहता है, सब परिच्छेदों से रहित तत्त्व को वेद ही कह सकता है। वेद की अपौरुषेयता पर ज़ोर देना पड़ता है क्योंकि मनुष्य जिस

बात को कहेगा उसको किसी तरह जानकर कहेगा, अन्यथा तो झूठ होगा। साधनों से जानें तो उनकी सीमा ज्ञान को प्रभावित करती है। ब्रह्म तत्त्व हमेशा इन्द्रियों और मन के अतीत है, वे उसको जान नहीं सकते। तत्त्वमसि आदि पौरुषेय वाक्य हो तो अविश्वसनीय होगा। लेकिन जो पौरुषेय वाक्य नहीं है उससे प्रमा ज्ञान निश्चित हो जाता है। **॥१२७॥**

निर्गुणोपासक को होने वाले तत्त्वज्ञान का स्वरूप बताते हैं—

निर्विकाराऽसङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥१२८॥

आत्मा की शास्त्रोक्त निर्विकारता, असंगता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता, पूर्णता तुरन्त बिना विवाद के बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

तत्त्वज्ञान का स्वरूप बताते हैं : ब्रह्म निर्विकार है, उसमें कभी भी किसी भी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं हो सकता। सब चीजों में तो बदलाव आता है, लेकिन 'है' में कोई बदलाव नहीं आता। सारे बदलाव 'है' में दीखते हैं, पर क्या 'है' में अब तक कोई बदलाव आया? कपड़ा है; कपड़ा जला दिया तो राख है। कपड़ा और राख बिलकुल अलग हैं। लेकिन कपड़े के 'है' और राख के 'है' में क्या कोई फ़र्क़ है? अतः 'है' सर्वथा निर्विकार है और इसीलिए असंग है, उसमें कोई चिपकाव नहीं होता। अन्य चीजों में किसी का किसी के साथ संपर्क हो जाता है जिससे कुछ असर भी छूट ही जाता है। परंतु परमात्मा के अंदर सारे संसार का संबंध प्रतीत होने पर भी उस पर किसी चीज का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह असंग नित्य स्वप्रकाश है। अन्य सब चीजों को जानने की ज़रूरत है, उसको जानने के लिए किसी की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही ज्ञान है। अपने में देख सकते हो कि 'मैं' निर्विकार है।

एक बार बड़ा भारी प्लेग रोग फैला था। पूरे गाँव मर गए, लाखों मौंते हो गयीं। एक घर के तेरह लोग थे, उनमें से एक को छोड़कर बाकी सारे मर गये। जो बच गया, वह सब मुर्दों को बैलगाड़ी में भरकर जलाने ले गया। मन में विचार किया 'इनको जलाकर मैं भी चिता में कूद कर मर जाऊँ। मैं भी जिन्दा रह कर क्या करूँगा!' अपने लिए चिता तैयार कर रहा था तो श्मशान में रहने वाला मसानिया कहने लगा 'आज जिसके घर में तेरह आदमी मरे हैं वह बड़ा सौभाग्यशाली है।' इसने सोचा यह कोई पागल आदमी होगा उससे पूछा—'यह कैसे कह रहे हो कि वह सौभाग्यशाली है?' उसने कहा—'वह करोड़पति बनेगा। पुत्र-पुत्री सबको खुश देखेगा।' आत्महत्या ऐसी चेष्टा है कि उसमें थोड़ी-सी भी रुकावट आ जाये तो फिर आदमी आत्महत्या नहीं कर सकता! जब तक नशे जैसी धुन सवार है तब तक अपने आप को मार डाले तो मार डाले, बाद में आत्महत्या नहीं कर सकता। वह मसानिये की बात सुन कर, सबको जला कर घर वापिस आ गया। सचमुच में धीरे-धीरे उसका व्यापार बढ़ने लगा और वह वास्तव में करोड़पति बन गया। वह अपनी जीवन-कथा

सुनाया करता था। विचार करो, जिस समय उसके घर के लोग मर गये थे तब उसे लगता था 'मैं बड़ा दुःखी हूँ' और अब उसी को नहीं लगता है कि 'मैं दुःखी हूँ'। इससे यह सिद्ध होता है कि मैं तो निर्विकार ही रहता है, असंग ही रहता है। किसी का पति मर जाये, किसी की माँ मर जाये तो दो-तीन दिन तक सर्वथा अच्छा नहीं लगता, व्यक्ति भूखा रहता है, रोता रहता है। छह महीने बाद उससे मिलने जाओ तो पहले की अपेक्षा काफी सामान्य हो चुकता है।

चाहे जितना शोक कर ले, है तो आत्मा निर्विकार और असंग ही। इसी प्रकार 'मैं' नित्य हूँ। हमें कोई समय ऐसा याद नहीं कि मैं नहीं हूँ। मैं नहीं हूँ—यह तभी जान सकते हो जब उस समय तुम हो! जैसे घड़ा नहीं है जानने के लिए तुम्हें होना पड़ेगा इसी प्रकार 'मैं नहीं हूँ'—यह तब जानो जब पहले मैं हो। किन्तु जब मैं हूँ ही तो मैं नहीं हूँ यह कैसे कहोगे? इसलिए 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव कभी भी हो नहीं सकता। दूसरे की बात से जानते हैं कि मैं नहीं था लेकिन मैं की नित्यता स्वभावसिद्ध है। मैं स्वप्रकाश है क्योंकि अपने आपको जानने के लिए मुझे किसी अन्य की ज़रूरत नहीं पड़ती। कभी कोई किसी डॉक्टर से नहीं कहता कि नाडी देखकर बताईये कि मैं जिन्दा हूँ या मर गया! मैं हूँ ही, इसलिये घोर अंधकार में भी सन्देह नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं। मैं है और यह ज्ञान भी है। मैं हमेशा एक रहता हूँ। व्याकरण में सिखाते हैं कि रामः एक वचन और रामाः बहुवचन होता है, 'घोड़ा' का बहुवचन घोड़े होता है। बहुवचन कहते हो तो मतलब है कम-से-कम तीन हैं; रामाः राम, राम और राम। इसी प्रकार तुम का बहुवचन तुम लोग अर्थात् तुम + तुम + तुम। व्याकरण में 'मैं' के बहुवचन में 'हम' कहेंगे तो क्या वहाँ मतलब है मैं + मैं + मैं? ऐसा नहीं है। मैं के बहुवचन का अर्थ है—मैं + तुम + वह। 'मैं' अकेला ही रहता है, तुम और वह मिलकर बहुवचन 'हम' बनता है। इसलिए आत्मतत्त्व हमेशा एक ही है। किसी अन्य चीज़ का भाव न होने से वह पूर्ण है। शास्त्र ने उस तत्त्व के बारे में यह सब कहा है। जब तक यह निर्बीज अवस्था नहीं हुई थी तब तक आत्मा की निर्विकारता आदि के बारे में विवाद था, जब निर्बीज या निरोध समाधि में चले गये, वहाँ पर तो कोई शब्द, स्पर्श, गंध आदि, मन की वृत्ति इत्यादि कुछ भी नहीं रह गये इसलिए कोई विवाद नहीं रहा। तब शास्त्र की कही हुई बात अविवाद के कारण झट, तुरंत बुद्धि में आरूढ हो जाती है। इस प्रकार, निर्विकल्प समाधि से अपरोक्ष ज्ञान का उदय होना सरल हो जाता है। **॥१२८॥**

निर्विकल्प समाधि से अपरोक्ष साक्षात्कार में शास्त्रीय आधार सूचित करते हैं —

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः।
एवं च दृष्टद्वाराऽपि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥१२९॥

तत्त्वज्ञान के प्रयोजन से योगाभ्यास अमृतबिन्दु आदि में विहित है। इस प्रकार दृष्ट द्वार से भी ज्ञानहेतु होने के कारण अन्य साधनों से निर्गुणोपासना बेहतर है।

योगाभ्यास अर्थात् निर्विकल्प समाधि का अभ्यास ज्ञान का हेतु है यह अमृतबिन्दु उपनिषद् इत्यादि में कहा गया है। यहाँ युक्ति से सिद्ध किया और अमृतबिन्दु इत्यादि श्रुति से सिद्ध है ही। इस प्रकार वह दृष्ट द्वार और अदृष्ट द्वार दोनों से उपयोगी है। समाधि से तत्त्वज्ञान में सुविधा अनुभवसिद्ध भी है और शास्त्रीय विधि होने से, कथंचित् इस जन्म में ज्ञान न हुआ तो जन्मान्तर में समाधि सफल होगी। इस प्रकार युक्ति और प्रमाण दोनों मिलने के कारण यह सिद्ध होता है कि बाकी जितने सगुण आदि ध्यान हैं उनकी अपेक्षा निर्गुण ध्यान श्रेष्ठ है। शास्त्र से तो पता चलता है कि सगुण ध्यान भी निर्गुण ज्ञान को दे देता है। जैसे गीता में भगवान् ने कहा कि 'जो इस प्रकार से मेरी आराधना करता है उसे 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'। जब मैं उसके ध्यान-पूजा से प्रसन्न हो जाता हूँ तब उसे आत्मज्ञान दे देता हूँ।' सगुण ध्यान से निर्गुण ज्ञान हो जाता है, यह बात शास्त्रसिद्ध तो है, लेकिन इसमें युक्ति नहीं दे सकते कि सगुणध्यान से निर्गुणज्ञान क्यों होगा? जिस प्रकार भैंस को जानने से गाय का ज्ञान नहीं हो सकता वैसे ही सगुण-ध्यान से निर्गुण का ज्ञान कैसे होता है? युक्ति से वह सिद्ध नहीं होता लेकिन शास्त्र से मान्य है। निर्गुण ध्यान से ज्ञान की प्राप्ति होती है यह शास्त्रसिद्ध तो है ही, परंतु युक्तिसिद्ध भी है यह उसकी विशेष श्रेष्ठता है। ॥१२९॥

चूँकि निर्गुण ध्यान इतना श्रेष्ठ है इसलिए—

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम्।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥१३०॥

निर्गुणोपासना की उपेक्षा कर तीर्थ-यात्रा, जप आदि ही करने वालों पर 'मिठाई, फैंक कर हाथ चाटना' यह कहावत चरितार्थ होती है।

चूँकि यह ध्यान युक्ति, शास्त्र आदि सबसे सिद्ध है इसलिये इससे परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उसको छोड़कर, उसकी उपेक्षा करके कि 'निर्गुण ध्यान बड़ा झंझट का काम है, कौन करे! इससे अच्छा तो तीर्थयात्रा करो, बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि तीर्थों में जाओ,' आदि अन्य साधन करना निकृष्ट ही है। कहीं तो परमात्मा मिल ही जायेगा मानकर कुछ लोग तीर्थयात्रा करते हैं। अन्य लोग जप करते हैं कि इतने करोड़ जप कर लेंगे तो शायद कुछ हो जायेगा। और भी अनेक साधन हैं, उनको ही करते हैं। अन्य साधनों को करते हुए निर्गुण उपासना करते हैं तो फिर ठीक है क्योंकि ये सब अंतःकरण की शुद्धि का साधन बन जायेंगे। परंतु परमेश्वर की उपासना को *छोड़कर* केवल ये ही साधन करते रहे, तो अनुचित है। आजकल कुछ लोग तीर्थयात्रा, जप आदि नहीं करते, कहते हैं कि कंगलों, कोढ़ियों की सेवा करो, बिना माँ-बाप वालों की सेवा करो, यह सब ही परमेश्वर की सेवा है, इनसे ही कल्याण हो जायेगा। ऐसे लोग तो और भी ज़्यादा परमेश्वर से दूर ले जाने वाले हैं। यह सब मत करो—ऐसा हम लोग नहीं कहते, परंतु यह सब करने के साथ परमेश्वर

की उपासना ज़रूर करो क्योंकि उससे तुम्हारा मन शुद्ध होकर परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी। जो समर्थ होकर भी निर्गुणोपासना नहीं करता उसके लिए कह रहे हैं : तुम्हारे हाथ में किसी ने रसगुल्ला रखा। तुमने कहा कि रसगुल्ले को क्या खाना, उसे तो गिरा दिया; लेकिन मीठा तुम्हें अच्छा लगता है इसलिए रसगुल्ला फैंककर हाथ को चाटते हो क्योंकि हथेली पर थोड़ा-सा मिठास रह जाता है! इसी प्रकार मनुष्य-शरीर में आकर परमात्म-ध्यान प्रधान है, और उसे कर भी सकते हैं। लेकिन उसे छोड़ दिया और थोड़ी-बहुत अंतःकरण की शुद्धि करने वाले काम करते हैं। यह तो रसगुल्ले को फैंककर हथेली को चाटने जैसी बात हो रही है। ॥१३०॥

तत्त्वज्ञान के साक्षात् हेतुभूत विचार की बजाये निर्गुणोपासना भी पूर्वोक्त कहावत चरितार्थ करती है, यह समझाते हैं–

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि।
बाढं तस्माद् विचारस्याऽसंभवे योग ईरितः ॥१३१॥

विचार छोड़कर उपासना करने वालों की भी वैसी ही स्थिति यदि कहो तो ठीक बात है। इसीलिये विचार सम्भव न रहने पर योग का विधान है।

हमारे यहाँ साधनों को करने का क्रम बताया है। जो जितना कर सके वह उतना करे। कर सकने की योग्यता होने पर नहीं करता है तो दोष का भागी है। जो विचार करने की सामर्थ्य वाला है, वह यदि विचार *छोड़कर* ध्यान करे तो दोष का भागी है। परंतु सभी विचार करने की सामर्थ्य वाले नहीं होते, वे ध्यान करें। ठीक इसी प्रकार बहुत-से लोग सगुण ध्यान कर ही नहीं सकते। उनकी समझ में ही नहीं आता कि परमेश्वर क्या है। वे लोगों की सेवा करें तो कभी न कभी उनकी समझ में भी आ जायेगा। अनेक लोग यह भी नहीं कर सकते। बहुत से लोग घुमक्कड़ होते हैं, घूमने का ही काम करते हैं। जिसका स्वभाव घूमने का होता है, वह घूमने से चूक नहीं सकता। उससे शास्त्र कहता है कि जाना ही है तो तीर्थ करने जाओ। प्राचीन परंपरा थी कि कहीं जाते थे तो कोई न कोई तीर्थ सामने रखते थे। भले ही जा कलकत्ते रहे हो लेकिन काली जी के दर्शन करने जाना है अथवा गंगा-सागर जाना है यह सोचोगे तो उसके कुछ-न-कुछ संस्कार मन में आयेंगे। इसलिए नियम है कि श्रेष्ठ साधन का त्याग न करे। जिसके लिए विचार करना संभव नहीं है उसीके लिए योग को बताया गया है, विचार में समर्थ उसे छोड़कर योग करे यह शास्त्र में नहीं कहा है। इसीलिए महर्षि वसिष्ठ ने कहा है कि योग व ज्ञान दोनों मार्ग हैं लेकिन कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनसे समाधि का अभ्यास नहीं होता और कुछ लोग होते हैं कि चाहे जितना युक्ति से विचार कर लें उनको निश्चय होता ही नहीं है। जिसके लिए विचार करना संभव नहीं है उसके लिए योग कहा गया है। ॥१३१॥

विचार में कठिनाई क्या है इसे संक्षेप में व्यक्त करने के लिये विचार क्यों असम्भव हो जाता है यह बताते हैं—

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात् तत्त्वधीर्न हि।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१३२॥

जिन साधकों का चित्त अधिक अशान्त है उन्हें विचार से तत्त्वनिश्चय नहीं होता अतः उनके लिए योग (निर्गुणोपासना) मुख्य उपाय है जिससे बुद्धिगत प्रमाद नष्ट हो जाता है।

जिनका चित्त बहुत व्याकुल है वे विचार में अधिकारी नहीं। व्याकुल-शब्द का अर्थ यहाँ व्यग्र समझना। जिसके पास बहुत से काम एक-साथ उपस्थित हों उसका चित्त हमेशा व्यग्र रहता है। आज माँ की तबीयत खराब है, कल पत्नी की तो फिर बच्चों की तबीयत खराब हो जाती है। तब तक चिट्ठी आ जाती है कि साले की तबीयत खराब हो गई! इसी प्रकार, व्यापार सम्भालते रहना पड़ता है। कभी चीज़ का भाव बढ़ता है तो उसकी उपलब्धि नहीं होती, कभी माल बढ़े हुए भाव में आ जाता है, इत्यादि एक के बाद एक कार्य लगा ही रहता है तो चित्त व्याकुल रहना ही है। साधारण भाषा में कहते हैं कि एक जगह से कपड़ा सिया तो तेरह जगह से फट गया! गृहस्थ जीवन प्रायः इस प्रकार का होता है। अन्यथा भी चित्त व्याकुल हो सकता है, परंतु प्रायः गृहस्थियों का चित्त रहता व्याकुल है। ऐसे लोग चाहे जितना विचार करें, उनकी ब्रह्माकार वृत्ति बनती ही नहीं है, उन्हें तत्त्वनिश्चय हो नहीं पाता। इसलिए उनके लिए मुख्य यही है कि वे योग का अभ्यास करें, चित्तवृत्ति का निरोध करें तो कम-से-कम समाधि की अवस्था में जब उन्हें निर्विकार तत्त्व की प्रतीति होगी तब पहले पढ़े हुए शास्त्र का अर्थ उनके सामने स्पष्ट होने लगेगा। अभी तो एक के बाद एक चिंता लगी है। दुःख हो तो व्यग्रता, सुख हो तो भी व्यग्रता। जैसे आज अमुक का जन्मदिन है तो सोचते रहेंगे कि भेंट क्या दें! इसलिए व्यग्रता बनी ही रहती है कि कोई न कोई झंझट लगा ही रहता है। ऐसी स्थिति में विचार से तत्त्वबुद्धि होती ही नहीं है। विचार तो सब समय करना पड़ता है और योग का अभ्यास सवेरे-शाम दो घण्टे भी कर लो तो लाभप्रद हो सकता है। योग करने से क्या होता है? उससे धीदर्प अर्थात् बुद्धि की व्यग्रता नष्ट हो जाती है। ॥१३२॥

विचार में कौन अधिकारी यह बताते हैं—

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम्।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥१३३॥

सिर्फ मोह से जिनका चित्त आवृत है, बुद्धि जिनकी व्याकुल नहीं है, उन्हें 'सांख्य' कहलाने वाला विचार शीघ्र सिद्धि प्रदान करता है।

जिनको वैसी व्यग्रता नहीं है, न पत्नी की चिन्ता, न बच्चों की और न दुकान की झंझट है, प्रायः ऐसे लोग संन्यासी होते हैं। और भी कई हैं, लेकिन प्रायः संन्यासी को ऐसी कोई झंझट नहीं रहती। उन्हें आत्मज्ञान में रुकावट केवल अज्ञान से है। अज्ञान का ही आवरण है क्योंकि विक्षेप है नहीं, स्वभाव से वहाँ विक्षेप का कोई कारण नहीं है। अज्ञान का आवरण है अर्थात् आत्मा का तत्त्व क्या है यह उन्हें पता नहीं है। उतने-मात्र से जिनका आत्मा आच्छादित है, उनके लिए विचार ही मुख्य है। क्योंकि उन्हें दिन भर के लिए कोई दूसरी व्यग्रता तो है नहीं इसलिए हर समय, हर परिस्थिति में उनका विचार जागरूक रहेगा। इसलिए संन्यासी के लिए तो माना कि वह भिक्षा करने भी जाये तो रास्ते में ॐकार का चिन्तन करता जाए। उसके लिए आत्मविचार ही मुख्य उपाय है। उसके लिए योगाभ्यास पर्याप्त नहीं रहेगा। विचार की विशेषता यह है कि जैसे ही संशय दूर होता है वैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति झट बन जाती है। विचार को शास्त्रकारों ने सांख्य नाम से कहा है। सांख्य का अर्थ है 'सम्यक् ख्यायते ज्ञायते इति' जिससे किसी चीज़ को ठीक प्रकार से, वह जैसी है वैसा जान लिया जाता है, वह सांख्य बुद्धि है। परवर्ती काल में सांख्य शब्द का प्रयोग कपिल ऋषि के दर्शन के लिए अधिक होने लगा। परंतु मूलतः सांख्य का मतलब केवल यह है कि जहाँ भली प्रकार से ज्ञान कराया जाये। संन्यासी को चूँकि विक्षेप है नहीं, केवल आवरण है इसलिये विचार से जैसे ही उसके संदेह दूर हुए वैसे ही तत्त्वज्ञान में स्थिर हो जाता है। ॥१३३॥

यह बात स्वयं भगवान् ने गीता में (५.५) कही है यह याद दिलाते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१३४॥

सांख्यों (विचारकों) को मिलने वाला स्थान ही योगियों को मिलता है अतः सांख्य व योग को एक समझना ही ठीक है।

सांख्य अर्थात् विचारमार्ग के द्वारा जिस पद की प्राप्ति होती है, वही पद योग से भी प्राप्त होता है। इस प्रकार, सांख्य और योग दोनों एक ही काम को सिद्ध करने वाले हैं। अतः सांख्य व योग दोनों को एक समझने वाले उसी सच्ची बात को देखते हैं, शास्त्र के अर्थ को ठीक समझते हैं। तात्पर्य है कि औपनिषद विचार सांख्य शब्द का एवं निर्गुण-उपासना योग शब्द का मुख्य अर्थ है, अन्य तात्पर्य गौण हैं। ॥१३४॥

स्मृति की तरह श्रुति में (श्वे. ६.१३) भी यही बात कही है—

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः।
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥१३५॥

वह कारण तत्त्व सांख्य-योग से अधिगम के योग्य है ऐसा श्रुतिवचन प्रसिद्ध है। सांख्य और योग नाम से प्रसिद्ध शास्त्रों में जो तो श्रुति से विरुद्ध है वह सब अवास्तविक है।

श्वेताश्वतर की श्रुति का भाग उद्धृत है। इस सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला अभिन्न निमित्तोपादान कारण एक ब्रह्म ही है। वेदांत को छोड़कर संसार में दूसरे सब कहते हैं कि बनता कुछ है, बनाता कोई और है। परमेश्वर बनाने वाला है—यह तो सभी ईश्वरवादी मानते हैं। लेकिन किन्हीं परमाणुओं से बनाया, कोई प्रकृति थी उससे बनाया आदि मानते हैं। आधुनिक काल में भी सृष्टि किसी अनादि तत्त्व से ही संभावित करते हैं, भले ही उसे अचेतन मानते हैं। कुछ उपादान था और भगवान् ने कार्य बनाया—यह तो सभी ईश्वरवादी मानते हैं, वेदान्त कहता है कि परमेश्वर ने सारी ही दुनिया को बनाया। कार्य और ईश्वर से स्वतंत्र उपादान मानने वाले ईश्वर को सर्वकर्त्ता नहीं समझा पाते क्योंकि उपादान के प्रति वे उसे कर्त्ता नहीं मानते। यदि कुछ चीज़, परमाणु या प्रकृति, ऐसी है जो बिना ईश्वर के बनाये हो सकती है तो सारी दुनिया भी बिना ईश्वर के बनाये हो सकती है! इसलिए वेदांती कहता है कि *सब कुछ* परमेश्वर ने ही बनाया। उसकी सामग्री भी वह खुद ही है। प्रायः कहते हैं कि ऐसा तो कहीं देखा नहीं जाता कि जो बनाये वही खुद बने, किसी न किसी उपादान से कोई न कोई कार्य बनाता है और बनाने वाला भी होता है। किन्तु विचार करो, तुम हर तीसरे दिन अपनी दाढ़ी और सिर के बाल बनाते हो, उसके लिये कच्चा माल तुम कहाँ से लाते हो? दाढ़ी-बाल तुम ही बनाते हो और तुम ही बन भी जाते हो। वेद कहता है कि जैसे बाल और रोयें एकमात्र तुमसे ही बनते हैं, वैसे ही यह सारा विश्व उस परब्रह्म परमात्मा से ही बना है। उसे जानने के दोनों उपाय बताये—सांख्य अर्थात् ठीक प्रकार से विचार और ठीक प्रकार से ध्यानयोग।

कपिल और पतंजलि के शास्त्रों को लोक में सांख्य और योग कहते हैं। उनमें अनेक मान्यतायें श्रुतिविरुद्ध हैं। सांख्यवादी जगत् का कारण परमेश्वर या पुरुष से भिन्न प्रकृति को मानता है। योग दर्शन भी प्रकृति को ईश्वर से अलग मानता है। इसी प्रकार अन्य अनेक चीज़ें उन्होंने कल्पित कर रखी हैं। सांख्य व योग में कपिल और पतंजलि ने कुछ बातें श्रुति के अनुकूल भी कही हैं, कुछ विरुद्ध कही हैं। विरुद्ध बातें गलत हैं, सही स्वीकार्य हैं। नास्तिक दर्शन वाले तो वेद की बात काटने में ही लगे रहते हैं। आस्तिकों में पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा वालों का कहना है कि हम शास्त्र को ही मानेंगे, उसे समझने के लिए तो युक्ति का विचार करते हैं। परंतु शास्त्र ने गलत कहा या ठीक कहा—यह विचार नहीं करते। शास्त्र ने ठीक ही कहा है यह स्वीकार कर उसके लिए युक्ति सोचते हैं। दूसरे आस्तिक—नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग भी श्रुति को मानते हैं लेकिन कहते हैं कि युक्ति से जो समझ में आये उस बात को वेद कहे तो यथावत् मानो लेकिन जिसमें युक्ति न मिले, वेद की उस बात का खण्डन मत करो, केवल थोड़ा जोड़-घटाकर अर्थ कर दो।

वे कभी वेद का खण्डन नहीं करते इसीलिए आस्तिक हैं; क्योंकि वेद को नहीं मानने वाला नास्तिक है, वेद को मानने वाला आस्तिक है। ईश्वर को नहीं माने तो आपत्ति नहीं है, लेकिन वेद को जो नहीं माने, उसे आस्तिक नहीं मान सकते। आस्तिक तो हैं, लेकिन केवल वेद में कही हुई बात को ही मानना—ऐसा नियम वे नहीं मानते। इसलिए इन लोगों के मत में बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो श्रुति से विरुद्ध हैं। चूँकि विचार किया है इसलिए दर्शनको सांख्य नाम से कह देते हैं, तथा जहाँ ध्यान बताया है उसे योग कह देते हैं। लेकिन वे सच्चे सांख्य-योग नहीं हैं। सच्चा सांख्य या योग वही है जो वेद ने बताया है। वेद के वाक्यों का युक्तिपूर्वक विचार सांख्य है और वेद ने जिस परमात्मा को कहा है उसका ध्यान करके साक्षात्कार करना योग है। ॥१३५॥

श्वेताश्वतर उपनिषद्, ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् आदि श्रुति और भगवद्गीता आदि स्मृति के द्वारा सांख्य और योग अर्थात् ज्ञान, विचार और चित्तनिरोध का अभ्यास—ये दोनों ही साधन आत्मज्ञान का कारण बनते हैं। ज्ञान का तो दृष्ट फल है, इसलिए यहीं अपरोक्ष अनुभव हो जाता है तो निश्चित पता लग जाता है कि अज्ञान नष्ट हो गया इसलिए मोक्ष अवश्यम्भावी है। ज्ञान के अंदर तो यह प्रश्न नहीं उठता कि आगे क्या होगा। परंतु उपासना में यह प्रश्न जरूर होता है क्योंकि उपासना का यहीं मोक्षरूप फल होता हो, यह बात निश्चित तो है नहीं। यह पता नहीं लग सकता है कि हमारी उपासना पूरी तैयार है जिससे मोक्ष ज़रूर हो जायेगा, क्योंकि उपासना का फल यहाँ अर्थात् दृष्ट नहीं है। यदि कोई व्यक्ति उपासना करता रहा, तत्त्वज्ञान हुआ नहीं, इहलोक के सुख तो उपासक के पहले ही गये क्योंकि उपासक का, बाकी तो छोड़ो, पेट भी पूरी तरह नहीं भर सकता! शास्त्र में ऐसा ही कहा गया है कि आधा पेट खाओ, एक-चौथाई पानी के लिए और एक-चौथाई हवा के लिये खाली रखो। इसलिए भोजन का सुख उसने छोड़ा। नींद का सुख भी छोड़ा क्योंकि भगवान् ने कह दिया कि और लोग जब सोते रहें तब तुम जगते रहो, और लोग जब जगते हों तब तुम सोओ! अपरिग्रही है, पास में कोई विषय भी नहीं है जिनका कुछ भोग करे। योगी के लिए सारे ऐहिक सुखों के द्वार बंद ही हैं, इसलिए इहलोक तो गया, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। ज्ञान हुआ नहीं इसलिए मोक्ष भी होगा नहीं; कर्म छोड़ दिये, इसलिए स्वर्ग आदि भी नहीं होंगे। संसारी का परलोक गया पर यहाँ के सुख भोग लेता है, कर्मी को इहलोक का पूरा सुख तो नहीं मिलता, परंतु परलोक जायेगा तो वहाँ का सुख भोग लेगा। परंतु निर्गुणोपासक की स्थिति क्या बनेगी? इसका उत्तर देते हैं—

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६॥

इस जन्म में जिसकी उपासना पर्याप्त दृढ नहीं भी हुई, मर जाने पर वह अन्य जन्म में

या ब्रह्मलोक में परमार्थ तत्त्व का साक्षात्कार पाकर मुक्त हो ही जाता है।

('नातिपक्वं' पाठान्तर है।) ज्ञान तो सम्भव था नहीं, उपासना भी पकी नहीं; 'अपि' से कर्म भी समझ सकते हैं अर्थात् प्रधानतः उपासना में तत्पर रहने से स्वर्ग आदि उत्कृष्ट लोक देने वाले कर्म भी किये नहीं। वह मरने पर जिस योग्य देह में पहुँचेगा वहाँ आगे साधना सम्भव होगी यह गीता आदि से समर्थित है। यदि अपक्व किन्तु पर्याप्त गम्भीर हो गयी तो उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मलोक प्राप्त होता है जहाँ ब्रह्मा जी के उपदेश से तत्त्वबोध सुलभ है। 'ब्रह्मलोक' से इष्ट का लोक समझना चाहिये। ऐसे स्थलों में सगुण ब्रह्म के लिये ब्रह्म शब्द आता है, गुणमूर्ति अर्थात् चतुर्भुज ब्रह्मा जी के लिये नहीं। जैसे पृथ्वी लोक तो एक ही पर भौगोलिक भेद से स्थितियाँ भिन्न हैं अतः वर्णनों में भेद रहेगा ही वैसे ब्रह्मलोक एक होने पर भी इष्टभेद से वहाँ के वर्णन विभिन्न मिलते हैं; वैकुण्ठ, कैलास, मणिद्वीप आदि के बारे में बतायी बातें अलग-अलग हैं पर चर्चा एक ही लोक की समझनी चाहिये जैसे भारत, अफ्रीका, चीन, यूरोप के वर्णन सर्वथा अलग होने पर भी हैं सब पृथ्वी के ही वर्णन। लोक 'दर्शन' को कहते हैं। अंग्रेजी में इसी को look कहते हैं। जहाँ हमेशा सगुण ब्रह्म के दर्शन होते रहते हैं वह ब्रह्मलोक है। मनुस्मृति में लिखा है कि वहाँ जाकर कल्पांत में ब्रह्मा जी उपदेश देते हैं। महाप्रलय में जब ब्रह्मा जी अपने स्वरूप में लीन होते हैं, तब उनके साथ, इस उपासना के द्वारा उनके लोक में गये हुए जितने उपासक हैं वे सब मुक्त हो जाते हैं। यह ख्याल रखना कि ब्रह्मलोक में जाने वाले भी दो तरह के साधक हैं। अश्वमेध आदि कुछ ऐसे कर्म बताये हैं जिन्हें करके भी ब्रह्मलोक में जाते हैं और दूसरे इस योगाभ्यास से अर्थात् सगुण की उपासना करके जाते हैं। जो कर्म करके गये हैं वे तो वापिस आ जाते हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती पर जो परमेश्वर की उपासना करके गये हैं उनकी कल्पान्त में मुक्ति होती है। सगुण ब्रह्मलोक में जो उपासना करके गये हैं वे तो वापिस नहीं आते, जो कर्म करके गये हैं वे वापिस आ जाते हैं। ब्रह्मलोक में पहुँचे भी लेकिन भगवान् की उपासना नहीं की तो वापिस आना पड़ता है। उपासकों को ब्रह्मा के उपदेश से तत्त्वज्ञान हो जाता है और उस तत्त्वज्ञान से वे मुक्त हो जाते हैं।

'वा' से विकल्प करते हैं : किसी का ध्यान लगभग पक गया है, थोड़ी कमी है तो मरणकाल में जब शरीर का त्याग होता है तब वह ध्यान पक जाता है। ध्यान को रोकने वाली कोई न कोई चंचलता आदि होती है; मरने के साथ ही उस रुकावट का संबंध तो टूट ही गया अतः ध्यान पूरा पक जाता है। शरीर छूटने के साथ उस रुकावट का त्याग हो गया, और कोई प्रतिबंधक था नहीं अतः मरने के झटके में ही ज्ञान हो जाता है। **॥१३६॥**

ब्रह्मलोक की बात उपनिषद् में आ गई, गीता (८.६) में कह दिया कि मरणकाल में कैसे हो जाता है। प्रायः करके मरणकाल में इसलिए नहीं होता कि अनेक चीज़ें उस समय मन में उपस्थित रहती हैं, भगवान् ही वहाँ उपस्थित नहीं होते। लेकिन उपासक ने तो इतनी

दृढतर उपासना कर ली है कि इष्ट ही उस समय उसके सामने रह जाता है। बेहोशी की अवस्था में मनुष्य की वास्तविकता का पता लगता है। प्रसिद्ध और प्रकाण्ड विद्वान् अप्पयदीक्षित भगवान् शंकर के परम भक्त थे। उन्होंने जन्मभर उपासना की, बड़े-बड़े कर्म किये, अनेक सोमयाग किये, सौ जगह वेद-पाठशालायें खोलीं। एक बार उन्हें विचार आया कि मेरे मन में परमात्मा के दृढ संस्कार आये हैं या नहीं इसका पता लगाना चाहिए। चेलों से पहले कह दिया कि 'आज मैं खूब बड़बड़ाऊँगा, जो बोलूँ वह तुम लोग लिखते जाना।' भाँग पीने के बाद खूब नशा चढ़ा तो बड़बड़ाने लगे। उस बड़बड़ाहट में उन्होंने भगवान् शंकर की प्रशंसा में बड़ा सुंदर स्तोत्र गाया! शिष्यों ने उसे पूरा लिख लिया। उस नशे में भी और कोई बात उनके मन में आई ही नहीं। बाद में उनके चित्त में बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब मन में संसार की कोई बात नहीं है। वही स्तोत्र 'आत्मार्पण-स्तुति' नाम से प्रसिद्ध है। मन में जो दृढ वासना प्रविष्ट होती है वही अंतिम समय में प्रकट होती है। इसलिए भगवान् ने गीता में जो कहा है उसे उद्धृत कर मरणकाल की भावना का महत्त्व प्रकट करते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥१३७॥

'जिस-जिस भी भावको अन्त में याद करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है' (गी. ८.६), '(मरते समय) जैसा चित्त (संकल्प) होता है, तदनुरूप प्रयाण करता है' (प्रश्न. ३.१०) इत्यादि शास्त्र से (उपासना मरणद्वारा भी सार्थक कही गयी है)।

जिस-जिस चीज़ को तुम अंतिम काल में स्मरण करोगे उसे पाओगे। अंत में अर्थात् जब शरीर छूटता है, तब जो वृत्ति बनती है। लोक में भी कहते हैं कि 'अंत मति सो गति।' अंतिम समय में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हैं मरने के बाद उसी-उसी भाव को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् ने वहाँ उसका कारण भी बता दिया 'सदा तद्भावभावितः' क्योंकि हर समय उसके सिवाय दूसरा चिन्तन किया ही नहीं है, सदा उस भाव से भावित रहा है। ऐसा नहीं है कि रोज़ दो घण्टे ध्यान करे तो मरते समय ईश्वरध्यान हो जायेगा! जब निरंतर उसी की भावना करोगे तब उसकी वृत्ति ऐसी दृढ होगी कि अंतिम समय में भी वही वृत्ति बनकर उसी भाव को प्राप्त होगे। प्रश्नोपनिषत् कहती है 'यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।' जिस निश्चय को अर्थात् दृढ संस्कारों और वासनाओं को प्राप्त कर लेता है उसके द्वारा ही प्राण खींच कर ले जाये जाते हैं। इस प्रकार, श्रुति और स्मृति दोनों ने यह बात कही है। अंतिम काल की वृत्ति सफल हो जाती है। चूँकि इस साधक ने निर्गुण ब्रह्म का ध्यान किया है, इसीलिए वह निर्गुण ब्रह्म को जाता है अर्थात् उसका मोक्ष हो जाता है, यह एक ही बात है केवल कहने का ही फ़र्क़ है। या तो यहीं

निर्गुणोपासक को तत्त्वज्ञान हो जाता है अथवा मरण-काल में अंतिम वृत्ति बनने से मुक्ति हो जाती है। ये दोनों भी नहीं होते तो वह अपने इष्टदेव के लोक को प्राप्त कर जाता है। ॥१३७॥

प्रश्न उठता है कि दर्शित वचन अन्तिम वृत्ति के अनुसार भावी जन्म की प्राप्ति ही कहते हैं, उससे मोक्ष कैसे बता रहे हैं? उत्तर देते हैं—

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात् सगुणोपासने यथा ॥१३८॥

आखिरी वृत्ति से भविष्य का जन्म निश्चित है तो जैसे सगुण की उपासना से मरते समय सगुण आकार की वृत्ति अवश्य बनेगी वैसे निर्गुण की उपासना से निर्गुण के आकार की वृत्ति भी अवश्य बनेगी।

जैसे सगुणोपासना करने वालों को अंतिम समय में सगुण की प्रतीति होगी, उसी प्रकार निर्गुणोपासक को भी निर्गुण का ज्ञान या प्रतीति होगी। चाहे सगुण की हो, चाहे निर्गुण की हो और चाहे कोई वैषयिक हो, जो भी अंतिम वृत्ति है उससे ही भावी जन्म का निर्णय होता है। अगला जन्म क्या होगा—यह इसपर निर्भर करता है कि हमारी अंतिम वृत्ति क्या बनी। अंतिम वृत्ति क्या बने, इसका निर्णायक होता है कि हमने किस चीज़ की सदा भावना की है। अधिकतर लोग चूँकि सदा तद्भाव-भावित होते नहीं हैं, इसलिये उन्हें कई प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं। उनमें से कौन-सी प्रतीति अंत में होगी, इसका कोई ठिकाना नहीं है, कोई निश्चित नहीं कह सकता। महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध हैः एक बड़े भारी उपासक योगी थे, उन्हें निश्चित पता था कि उन्हें इष्ट-लोक को ही जाना है। योगी थे, इसलिए उन्हें मरने का काल भी पता था। उन्होंने शिष्यों से कहा 'तुम लोग जब मेरे शरीर को गंगा जी में डालोगे तब आकाश से फूल बरसेंगे और देवता लोग दुंदुभि बजायेंगे। तब समझ लेना कि मैं मुक्त हो गया, नहीं तो समझना कि गड़बड़ हो गया।' शिष्यों की तो आदत होती है प्रचार करने की। गुरु जी ने तो मना किया था कि वह बात किसी को मत बताना पर जब गुरु जी का शरीर छूटा तो शिष्यों ने गाँव में सब लोगों को खबर करवा दी 'आज गुरु जी का शरीर गंगा जी में डालेंगे, आप लोग आकर चमत्कार देखना।' भगवान् तो नटखट हैं ही! गंगा-किनारे बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई। लोगों ने मिलकर उन्हें गंगा जी में डाला लेकिन शिष्यों ने जैसी घोषणा की थी, उसके अनुसार न आकाश से फूल बरसे, दुंदुभि तो क्या, कहीं से गधे की आवाज भी नहीं आई! सब शिष्यों का चेहरा फीका पड़ गया। लोग भी कहने लगे कि ऐसे कोई चमत्कार नहीं हुआ करते। शिष्य उदास थे।

चार-छह महीने बाद दिवंगत स्वामी जी के एक गुरुभाई उधर से निकले। उन्होंने देखा कि सारे आश्रम में उदासीनता पसरी है, शिष्य ढीले पड़ गये हैं। पूछा तो शिष्यों ने

कहा—गुरु जी चले गये। उन्होंने कहा—'यह तो शरीर का धर्म है, तुम लोग साधना में लगे रहो, ऐसे दुःखी नहीं होना चाहिए, ऐसे दुःखी तो गृहस्थ लोग हुआ करते हैं।' तब शिष्यों ने सच्ची बात बताई 'शरीर छोड़ने से पहले गुरु जी ने ऐसा-ऐसा कहा था। उन्होंने तो वह बात किसी को भी बताने को मना किया था। लेकिन हमने सोचा कि लोग गुरु जी का चमत्कार देखेंगे तो उनका कल्याण होगा, अतः हमने सब जगह प्रचार कर दिया। लेकिन कुछ हुआ नहीं। गुरु जी की बात झूठी तो होनी नहीं चाहिए। जब गुरु जी की सद्गति नहीं हुई तो चेलों की क्या गति होनी है! इसलिए हम सब उदास हो गये। दुःख तो है ही, लेकिन सारी दुनिया में बदनामी हो गई, इसका दुःख ज्यादा है।' उन्होंने भी सोचा कि गुरुभाई थे तो सिद्ध, उनकी कही बात झूठी नहीं होनी चाहिए। विचार करते रहे कि आखिर उनके मन में ऐसी क्या अंतिम वृत्ति हो सकती थी? अंत में उन्होंने शिष्यों से पूछा 'अंतिम समय में हमारे गुरुभाई कहाँ लेटे थे, मुझे वह जगह दिखाओ, उनका मुँह किधर, किस दिशा में था?' जब उस जगह पहुँचे और उसी स्थिति या उस कोण से देखा तो ठीक सामने एक मटकी लटकी थी। वह मटकी मँगाकर उसके अंदर देखा तो एक बेर (फल) पड़ा था। उसे निकाला और उन लोगों के देखते-देखते उनके सामने ही वह बेर तोड़ दिया। देखा कि उसमें एक सफेद मोटी लट कुलबुला रही थी। उन्होंने चेलों से कहा—'यह तुम्हारे गुरु जी हैं'। सब आश्चर्य में पड़ गये कि यह कैसे हो गया! तब उनसे कहा 'अब फिर सब लोग गंगा जी चलो।' वहाँ जाकर जैसे ही उस कीड़े को गंगा जी में डाला वैसे ही आकाश में दुंदुभि बजने लगी और फूल भी बरसने लगे। अब सब चेलों का चेहरा खिल गया। लेकिन कुछ समझ में नहीं आया कि गुरु जी वह लट कैसे बन गये?

तब गुरुभाई ने चेलों से कहा 'मैंने खूब विचार किया कि उनके मन में संसार की कोई वृत्ति तो हो नहीं सकती थी। इसलिए मैंने उसी जगह लेट कर देखा तो वह मटकी नजर आ गई। मैंने सोचा कि गुरुभाई को भी अंतिम समय में स्वभाव से वह मटकी ही सामने दीखी होगी तो उसमें पड़ी हुई कुछ चीज़ की याद आई होगी। इसलिए मैंने वह मटकी मँगाकर देखा तो उसमें कोई रुपया-पैसा या गहना तो था नहीं। एक बेर फल ही था जिसमें उन के मन की अंतिम वृत्ति अटक गई। मैं समझ गया कि गुरुभाई उस शांत लट के रूप में तृप्त थे। कोई इच्छा तो उनके मन में थी नहीं लेकिन यह वृत्ति बन गई कि मटकी में बेर बहुत अच्छा है वह खाने को मिल जाये तो बहुत अच्छा है, और वही मरने का अंतिम क्षण था। जब उस बेर की स्मृति आ गई तो उसे खाने के लिए लट होना पड़ा। जब उसे गंगा जी में डाला तो वह अपने इष्ट-लोक को चले गये।' विचार करो, एक क्षण को बेर भी याद आ गया तो क्या हाल हो गया और हम लोगों को अंतिम क्षण में कितने बेर याद आ जायें, क्या ठिकाना है! जो अंतिम प्रत्यय अथवा वृत्ति होती है उससे निश्चित ही भावी जन्म हो जाता है। जिसकी अंतिम क्षण में निर्गुण की वृत्ति होगी उसे निर्गुण की प्राप्ति होगी और जिसको सगुण की प्रतीति होगी उसे सगुण ईश्वरभाव की प्राप्ति होगी। ॥१३८॥

निर्गुण भाव की प्राप्ति ही मोक्ष है यह स्पष्ट करते हैं—

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम्।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥१३९॥

ब्रह्म सदा निर्गुणस्वरूप है (अतः उस स्थिति को) कहने के लिये 'निर्गुणभाव की प्राप्ति' भले ही कहा जाये, अर्थात् यह मोक्ष ही है। जैसे संवादी होने पर भ्रम केवल नाम है, (व्यवहारतः प्रमा ही है वैसे उपासनाजन्य होने पर भी निर्गुण-स्वरूपता मोक्ष ही है)।

परमात्मा का जो निर्गुण रूप है वह नित्य है, इसलिए उसकी जो वृत्ति बनेगी उससे नित्य निर्गुण की ही प्रतीति होगी। नित्य निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। तत्त्वमसि आदि वाक्य का बल ही ऐसा है कि वृत्ति बन जाती है, निर्गुण का ज्ञान हो जाता है। जो चीज़ बिलकुल नहीं हो, उसके लिए भी शब्द बोला जाता है तो कुछ भान हो ही जाता है। शब्द किसी अर्थ का ज़रूर भान करायेगा। जैसे तुमने किसी से कहा—'तू गधा है।' तो सुनते ही उसको पहले भान होगा कि मैं गधा, लेकिन तभी उसको याद आ जायेगा कि गधा चार पैर वाला होता है और रेंकता है। मैं चार पैर का नहीं हूँ ओर रेंकता भी नहीं हूँ, इसलिए मैं गधा कैसे हो सकता हूँ! तब लक्षणा करेगा कि गधा बेवकूफ होता है, इसलिए यह मुझसे कह रहा है कि मैं बेवकूफ हूँ। लक्षणा तुम तभी करोगे जब पहले वाच्य पता चले कि मैं गधा हूँ। तभी आगे विचार करोगे कि इसका मतलब क्या है। 'मेरा गधा होना' अत्यंत असत् है फिर भी कोई कहेगा तो अर्थज्ञान होगा ही। जब अत्यंत असत् अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है तो 'तत्त्वमसि' वाक्य सुनते ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह प्रतीति होगी ही और तुम ब्रह्म तो सचमुच में हो। जब अत्यंत झूठी चीज का भान सुनते ही हो जाता है तो सबसे सच्ची चीज़ का ज्ञान सुनते ही क्यों नहीं होगा? इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विद्मस्तन्मोहहानतः।' शब्द की शक्ति अचिन्त्य है, इसे कोई सोच ही नहीं सकता। अगर विचार करके देखो तो मनुष्य जाति की सारी उन्नति का मूल कारण शब्द है। शब्द होने से ही हम अपना यथार्थ ज्ञान अगली पीढ़ी को दे पाते हैं। अन्यथा, जो प्रयोग करोगे उसका ज्ञान तो तुम्हारे पास ही रहेगा। बिना शब्द के किसी दूसरे को समझा नहीं सकते। इसलिए शब्द की शक्ति अचिन्त्य है। वह शक्ति है ज़रूर जिससे ज्ञान होते ही मोह या अज्ञान नष्ट हो जाता है। 'मैं गधा हूँ' सुनते ही ज्ञान हुआ, लेकिन आगे विचार किया तो निश्चय हुआ कि मैं गधा नहीं हूँ। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' सुनकर भी तुमको ज्ञान तो हो जायेगा कि 'मैं ब्रह्म हूँ' लेकिन अगले ही क्षण कहोगे 'मैं ब्रह्म कैसे? मैं तो सुखी-दुःखी होने वाला, कर्त्ता-भोक्ता, अत्यंत छोटी-सी चीज़ों को जानने वाला, अत्यंत छोटे काम करने की शक्ति वाला और ब्रह्म सारी सृष्टि को पैदा करने वाला, सर्वव्यापक है, इसलिए मैं ब्रह्म नहीं हो सकता।' जिसको वेदवाक्य पर श्रद्धा होगी कि वेद गलत तो कह नहीं रहा है, वह

गुरु से पूछेगा 'समझ में नहीं आ रहा है, मैं कैसे ब्रह्म हो सकता हूँ?' तब गुरु संदेहों को हटायेगा, तत् और त्वं पदार्थों का शोधन करायेगा। शब्द से ज्ञान तो होता है लेकिन प्रतिबद्ध होता है। जो श्रद्धा वाला नहीं होगा, उसको भी ज्ञान हो जायेगा परंतु अनुभवविरोध से कट जायेगा। एक सज्जन कहा करते थे कि प्राचीन ऋषि खूब भाँग छानते थे, उसके नशे में ही कह देते थे कि 'मैं ब्रह्म हूँ,' भला कोई ब्रह्म हो सकता है! इसलिए वेद पर श्रद्धा नहीं होगी तो शब्दजन्य प्रमा नहीं हो पायेगी।

क्योंकि आत्मा हमेशा निर्गुण स्वरूप है इसलिए निर्गुण का अंतिम प्रत्यय होने पर निर्गुण की प्राप्ति होगी। चूँकि वह स्वरूप स्वाभाविक है, इसलिए नित्य निर्गुण की ही प्राप्ति है। निर्गुण की प्राप्ति उपासना से हुई, परंतु नित्य हुई। निर्गुणभावकी प्राप्ति और मोक्ष—दोनों में नाममात्र का फ़र्क़ है, नित्य निर्गुण की प्राप्ति का मतलब तो मोक्ष ही है। यह तो ठीक है कि ज्ञान नहीं हुआ परंतु निर्गुणभाव की प्राप्ति होना ही तो मोक्ष है। अपने नित्य निर्गुण रूप में स्थिति हो जाना ही मोक्ष बताया गया है। जैसे संवादी भ्रम फल-काल में प्रमा हो जाता है, इसी प्रकार से अंतिम काल में हुए निर्गुण-भान का बाधक कोई नहीं है जिससे वह बगैर कटे रह जाने से मोक्ष ही है। प्रमा का मतलब ही है जहाँ 'ऐसा नहीं' यह ज्ञान नहीं होता। चूँकि निर्गुण-भान होते ही वह मर गया इसलिये 'ऐसा नहीं है' समझने का कोई कारण ही नहीं रह गया ॥१३९॥

ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव होने से उक्त प्रक्रिया को संगत बनाते हैं—

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०॥

निर्गुणोपासना के बल से मूलभूत अविद्या मिटाने वाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जैसे अविमुक्त काशी क्षेत्र में नियमानुसार मरणपर्यन्त रहकर मरने से संसार से तारने वाले ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है।

निर्गुण उपासना है तो क्रिया क्योंकि मन से करते हो, परंतु उसको मुक्ति का साधन बताया है। फिर 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' का क्या होगा? नित्य निर्गुण की उपासना की सामर्थ्य से मूल अविद्या को हटाने वाली, अविद्या का नाश करने वाली ब्रह्माकार वृत्ति पैदा हो जाती है—यह उस उपासना का फल हुआ। यद्यपि प्रधानतः विचार से ही ज्ञान होता है, तथापि निर्गुण उपासना से अंतिम क्षण में अखण्डाकार ही वृत्ति बनती है इसलिए मोक्ष हो जायेगा। उपासना के बल से अंतिम वृत्ति ब्रह्माकार बन जाती है। भगवान् भी कहते हैं 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' कि जो मेरी उपासना करता रहता है, मैं उसे बुद्धियोग देता हूँ अर्थात् उसे ब्रह्माकार वृत्ति देता हूँ। उस वृत्ति से ही वह मुझे प्राप्त करता है। होता तो ज्ञान से ही मोक्ष है, पर भगवान् वह ज्ञान देते हैं।

विवेकादि साधनों से विचार न करने वालों के लिये मोक्ष का एक उपाय शास्त्र में प्रसिद्ध है 'काश्यां तु मरणान् मुक्तिः' काशी में मरने से मोक्ष होता है। यह वेद का वाक्य है। कुत्ते, बिल्ली आदि भी मरते हैं तो उनका वहाँ मोक्ष होता है। जब रामकृष्ण परमहंस काशी गये तो मणिकर्णिका घाट पर उन्होंने देखा कि भगवान् विश्वनाथ साक्षात् आकर मुर्दे को अपनी गोद में लेकर उसके कान में कुछ फुसफुसाते हैं जिससे उनकी मुक्ति हो जाती है। केवल आदमी ही नहीं, जो बकरी, घोड़े, मच्छर तक भी वहाँ मरते हैं वे सब मुक्त हो जाते हैं। उन्होंने यह वहाँ प्रत्यक्ष देखा और शास्त्र तो कहता ही है। काशी में मरने से मोक्ष कैसे होता है—इस पर आचार्यों ने विचार किया है। भगवान् सुरेश्वराचार्य का तो एक ग्रंथ ही 'काशीमृतिमोक्षविचार' है जिसमें स्पष्ट किया कि वहाँ कैसे मोक्ष होता है। काशी में मरने से पहले जीव को काल भैरव दण्ड देते हैं। काल भैरव का प्रभाव काशी में अक्षुण्ण है। काशी में रहने के बड़े नियम हैं, जैसे काशी क्षेत्र में जहाँ कहीं थूक नहीं सकते, हर जगह टट्टी-पेशाब नहीं कर सकते इत्यादि। प्रायः उन नियमों का पूरी तरह से कोई पालन नहीं करता है। इसलिए जब तक काल भैरव उस जीव को पहले भैरव-यंत्रणा देकर उसके पाप खत्म नहीं कर देते तब तक भगवान् शंकर उसे उपदेश नहीं देते। उपदेश देते ज़रूर हैं। वहाँ यह नियत नहीं है कि कितने काल में मोक्ष होगा। इसलिए काल भैरव पहले जीव को शुद्ध कर देते हैं तब शंकर भगवान् उसे ज्ञान देते हैं और उसका मोक्ष हो जाता है। इसलिए 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' के नियम से विरोध नहीं है।

एक आदमी ने काशी में रहकर सारे नियमों का पालन किया। भगवान् शंकर तो आशुतोष हैं ही, जब वह आदमी मरा तो उन्होंने उसे उपदेश देने के लिए अपनी गोद में लिया। काल भैरव ने उसे भगवान् शंकर की गोद से यह कहकर छीन लिया कि 'मुझे दिये बिना पहले ही आपने इसे कैसे ले लिया! पहले मेरा अधिकार है। आपका अधिकार तब है जब पहले यह शुद्ध हो जाये।' भगवान् शंकर ने पूछा—'यह तो काशी में पूरे नियमों से रहा है और इसने कोई गलती नहीं की है।' काल भैरव ने कहा—'आप तो ऐसे ही कह देते हैं, इसने सारे नियमों का पालन नहीं किया है क्योंकि मरते समय इसने मुँह से लार काशी में गिरायी!', मरते समय बेहोशी में लार गिरती ही है, लेकिन तब थोड़ा जिन्दा तो रहता ही है। इसलिए उसे ज़ोर से एक डण्डा भैरव जी ने मारा जिससे उसका वह पाप नष्ट हो गया, फिर भगवान् शंकर ने उसे उपदेश देकर मुक्त कर दिया। काल भैरव का ऐसा प्रभाव है। इसलिए शास्त्र में जो यह बात आती है कि बिना पाप न्यून हुए ज्ञान नहीं होता, वह भी घट जाती है और ज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह भी घट जाता है। कोई गुरु आकर श्रवण मनन करायेंगे इत्यादि इन्तज़ार नहीं करना पड़ता क्योंकि शंकर जी ज्ञान दे देते हैं। यह सब तो काशी में मरने का फल है।

जैसे काशी-सेवन करने से तारक ब्रह्म ॐकार का उपदेश मिलता है, वैसे ही मरते समय

या ब्रह्मलोक में उपासना के बल से निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है। ॥१४०॥

नृसिंहतापनीय उपनिषद् का प्रमाण देते हैं कि निर्गुणोपासना से मोक्ष होता है—

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥१४१॥

उपासक कामनाओं से रहित हो जाता है, कामना के प्रेरक संस्कारों से भी रहित होता है, शरीर-इन्द्रियों में अहं-ममभाव नहीं रखता, अभय ही होता है—यों उपासक का मोक्ष नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत् में निर्दिष्ट है।

'सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैवसमवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (नृ.उ.५.२), 'अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवं वेद' (नृ.उ.७.१), 'चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम्' (नृ.उ. ८.१) यह उपनिषद् स्पष्ट बताती है कि परिपक्व उपासक सारी कामनाओं से रहित हो जाता है, सारी कामनायें उस से निकल जाती हैं। लगता तो है कि अकाम 'कामना नहीं रही' और निष्काम 'कामना निकल गई' दोनों का एक ही मतलब है, परंतु विवेक के द्वारा नई कामना तो पैदा नहीं होती परंतु जो पुराने संस्कार पड़े हुए हैं वे अंतःकरण में कामना की उत्पत्ति करते रहते हैं। उन्हें पूरा करने के लिए साधक-चेष्टा नहीं करता परंतु कामना आती तो रहेगी। जब वह भी आना बंद कर दे, तब निष्काम हुए। बहुत बार कामनायें इसलिए चली जाती हैं कि उनका कोई साधन ही नहीं है। लोक में प्रसिद्ध है कि कूद-कूद कर देख लिया, अंगूर तक नहीं पहुँच पाये तो अंत में कह दिया कि अंगूर खट्टे हैं, कौन खाये! इसी प्रकार से कभी प्रतीत होता है कि मुझे कामना ही नहीं है जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। किंतु उपासक की जितनी कामनायें थीं वे सब पूर्ण हो गयीं, और कोई कामना बची ही नहीं इसलिये वह आप्तकाम हो जाता है। जैसे तुम्हारे सामने कोई तेज़ इच्छा होती है तो बाकी सब कामनायें उस तीव्र इच्छा के सामने दब जाती हैं, केवल उसी चीज़ की इच्छा पूरी तरह से रहती है, वैसे यह सर्वथा परमात्मा को ही चाहता है। चाहना खत्म नहीं होती यह ठीक है, लेकिन इसकी *पूरी* चाहना परमात्मा की ही है, इसलिए बाकी सब कामनायें पूर्ण हो गयीं। इसी प्रकार वह शरीर-इन्द्रिय-प्राण-मन से रहित, सर्वथा स्वतंत्र, स्वयं अपना ही राजा होता है। इस प्रकार मुक्त के स्वरूप का वहाँ वर्णन किया। ब्रह्म का जो वर्णन है, वही मुक्त का वर्णन है। इसकी प्राप्ति उपासना से कही है। इस प्रकार नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद् उक्त सन्दर्भ में प्रमाण है। ॥१४१॥

मोक्षसाधन के बारे में श्रुतिविरोध के परिहार का उपसंहार करते हैं—

उपासनस्य सामर्थ्याद् विद्योत्पत्तिर्भवेत् ततः।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥१४२॥

क्योंकि उपासना के प्रभाव से तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न हो जाता है इसलिये 'अन्य मार्ग नहीं' इत्यादि शास्त्र (श्वे. ३.८) से कोई विरोध नहीं है।

जैसे काशी-मरण से मोक्ष और ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं—दोनों का समाधान हो जाता है वैसे ही उपासना की सामर्थ्य से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः मोक्ष तो ज्ञान से ही है। इसलिए वेद ने बिलकुल स्पष्ट किया है 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. ३.८) अर्थात् ज्ञान के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता मोक्ष का नहीं है। मोक्ष में पहुँचने का तो एक ही रास्ता आत्मज्ञान है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। लोग कई रास्ते गिनाते रहते हैं, कहते हैं देशसेवा, लोकसेवा आदि करके वहाँ पहुँच सकते हैं। इसके आगे कोई तो कहता है कि चोरबाजारी करके भी बड़े-बड़े मंदिर बनाने से वहाँ पहुँच जायेंगे! परंतु ये सब बातें सर्वथा वेद-विरुद्ध हैं। वेद ने केवल यह नहीं कहा कि ज्ञान से पहुँचते हैं बल्कि कहा है कि उसके सिवाय दूसरा रास्ता है ही नहीं। उपासना से ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति इस क्रम में शास्त्रवचनों का परस्पर कोई विरोध नहीं है। **॥१४२॥**

मरने पर या ब्रह्मलोक में उपासक ब्रह्म को जानकर मुक्त होता है इस बात को श्रुति से समर्थित करते हैं—

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ॥१४३॥

तापनीयोपनिषत् में निष्काम उपासना से मुक्ति बतायी ही है, सकाम की ब्रह्मोपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति शैब्यके प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ने (प्रश्नो. ५) समझायी है।

निर्गुण की उपासना हमेशा निष्काम ही होती है। सगुण-उपासना तो कामना से भी होती है और बिना कामना के भी होती है। भगवान् ने जहाँ भक्त गिनाये वहाँ चार प्रकार के भक्तों में तीन तो कामना वाले गिनाये—आर्त, रोग आदि से दुःखी होकर भजन करता है तो उसका रोग दूर हो जाता है। अर्थार्थी—जिसका व्यापार नहीं चमक रहा, नौकरी में उन्नति नहीं हो रही है, वह जब ध्यान-भजन करता है तो उसका व्यापार ठीक हो जाता है, नौकरी में उन्नति होती है। जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान चाहने वाले ज्ञान के लिए जाते हैं तो उनकी भी इच्छा पूरी हो जाती है। जो केवल परमात्मा से प्रेम करता है, कुछ नहीं चाहता, वह भी भगवान् की उपासना (भक्ति) करता है। भगवान् ने बहुत स्पष्ट कर दिया है कि 'उदाराः सर्व एवैते' अर्थात् कहीं यह नहीं समझ लेना कि केवल ज्ञानी ही मेरा भक्त है! भगवान् कहते हैं कि मुझे सब प्रिय हैं, मुझसे माँगने वाला कुछ बुरा नहीं क्योंकि किसी भी तरह मेरी तरफ

आया। हमारी परंपरा में एक मण्डलेश्वर थे। अपने कक्ष में बैठे, रास्ते जाते हुए किसी व्यक्ति को 'महादेव, महादेव' कहते हुए सुनते थे तो उसे एक पैसा दे देते थे! उस जमाने में एक पैसे की बड़ी कीमत थी। आश्रम में रहने वाले कहने लगे 'आप ऐसे पैसा लुटाते हैं। पैसा पाने वाला न जाने चोरी करता है, डाका डालता है या किसी की हत्या करने वाला है। इसलिए कुछ विचार करके पैसा दिया कीजिए।' मण्डलेश्वर जी कहते थे 'सबको पता है, मैं इस तरह महादेव कहते सुनकर पैसा ज़रूर देता हूँ, फिर भी देखो कि महादेव कहने वाले कितने कम निकलते हैं!' अगर कोई एक सेकेण्ड को भी महादेव कहे तो उतनी देर भगवान् के पास है ही और उस समय तो बाकी बुराई से हटा हुआ भी है। भगवान् शंकर ने यहाँ तक कह दिया है कि 'महादेव महादेव महादेव' ऐसा तीन बार कोई कह दे तो पहली बार कहने पर मैं उसे मोक्ष दे देता हूँ। अतः दूसरी-तीसरी बार कहता है तो मुझे चिंता हो जाती है कि अब मेरे पास देने को कुछ बचा नहीं! इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं कि सब भजन करने वाले उदार हैं। यह बात दूसरी है कि ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है। सबका कल्याण होगा ही, यह निश्चित है। तापनीय उपनिषद् में निष्काम उपासन से मुक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया।

यह उपासना यदि सकाम, कामना से करेगा तो वह भी ब्रह्मलोक में जायेगा ही। की तो उसने उपासना ही है, कामना से की है तो उसके मन में जो कामना है वह पूरी हो जायेगी। कामना वाला होकर भी उपासक ब्रह्मलोक जाता है, इस बात को प्रश्नोपनिषद् में शैब्य के प्रश्न के जवाब में बताया गया है। **॥१४३॥**

प्रश्नोपनिषद् में शैब्य के प्रश्न से जैसा निर्णय किया है उस के सार को बताते हैं—

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते।
स एतस्माज्जीवघनात् परं पुरुषमीक्षते ॥१४४॥

जो तीन मात्राओं वाले ॐकार से उपासना करता है वह इस जीवघन अर्थात् हिरण्यगर्भ से परे जो निरुपाधिक चेतन उसका साक्षात्कार पाता है।

जो तीन मात्रा वाले 'ॐ' इस अक्षर से परमपुरुष का ध्यान करता है वह पापरहित हो ब्रह्मलोक जाता है जहाँ परमात्मदर्शन प्राप्त करता है—ऐसा प्रश्नोपनिषत् (५.५) में समझाया गया है। ॐ इस अक्षर में अ, उ और म् तीन मात्रायें हैं। इस अक्षर के द्वारा जो परमपुरुष परमेश्वर का ध्यान करता है वह यहाँ से जा कर पहले तो सूर्यलोक में प्रवेश करता है और तब जैसे साँप की केंचुली उतर जाती है, वैसे ही इसका जो पाप है, वह सारा उतर जाता है। स्थूल शरीर तो मरते समय उतर गया, फिर जब वह सूर्यलोक में गया, तब उसका सूक्ष्म शरीर भी उतर गया। सूक्ष्म शरीर में ही सारे पाप (और पुण्य) रहते हैं। पुर्यष्टक के अंदर ही कर्म भी रहेंगे। जब वह सूक्ष्म शरीर भी उतर गया तो सब कर्मों से मुक्त हो जाता है।

फिर साम के जो अधिष्ठाता देवता हैं, वे उसे ब्रह्मलोक में लेकर जाते हैं। तब केवल कारण शरीर ही रहता है, उसके साथ ही वह ब्रह्मलोक को जाता है। यह ठीक है कि ब्रह्मलोक को अश्वमेध आदि कर्म करने वाले भी जाते हैं, परंतु एक यंत्र के द्वारा उनके पाप छील कर अलग किए जाते हैं। उपासक तो, जैसे साँप बिना किसी कष्ट के अपना छिलका (केंचुली) उतार देता है ऐसे ही सूक्ष्म शरीर से छूट जाता है। ब्रह्मलोक में जाने पर चूँकि सूक्ष्म शरीर की उपाधि तो है नहीं, अविद्या या अज्ञान में चूँकि कोई भेद है नहीं, भेद तो अंतःकरण आदि को लेकर ही हुए थे, इसलिए अब वह जीवघन अर्थात् हिरणयगर्भ को प्राप्त करता है। तब इस सारी जगद्रूपी पुरी में सोने वाले तथा हिरण्यगर्भ से भी परे जो पुरुष निरुपाधिक चैतन्यरूप है उसको हिरण्यगर्भ की कृपा से जान लेता है। वहाँ तक पहुँचना इस उपासना के प्रभाव से हुआ, वहाँ जीवात्मैक्य-ज्ञान हो जाता है। हम लोगों को तो शब्द की जरूरत पड़ती है, परंतु शब्द भी तो आख़िर ज्ञान के आकार का होकर ही हमारे काम आता है! वहाँ चूँकि हिरण्यगर्भ समष्टि अंतःकरण है इसलिए उसके अंदर सीधा ही वह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ॥१४४॥

इस बात को भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में (४. ३. १५) भी कहा है—

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात् सकामस्येति वर्णितम् ॥१४५॥

अप्रतीक-अधिकरण में 'जो जैसे निश्चय वाला होता है वह वैसा बन जाता है' यह निर्णय बताया है। इसलिये कामना वाले द्वारा अनुष्ठित ब्रह्मोपासना ब्रह्मलोक-रूप फल वाली होती है यह वर्णन किया।

अप्रतीकाधिकरण का सूत्र है 'अप्रतीकालम्बनान्नयति इति बादरायणः' (४. ३. १५)। एक ध्यान है प्रतीक के सहारे, जैसे शालिग्राम में विष्णु का ध्यान है। अथवा प्राण में स्वर्ग-बुद्धि आदि सभी प्रतीकोपासनायें हैं। जो ब्रह्म का रूप नहीं है, उसे ब्रह्म का रूप मानकर प्रतीक-उपासना की जाती है। प्रतीक वह चीज़ होती है जो स्वयं ध्येय न हो। जैसे पूजा करने के विधान में कहा कि विष्णुपूजा ऐसे करे। परन्तु विष्णु भगवान् आयें तभी पूजा करें! इसलिये शालिग्राम को विष्णु मान कर पूजा कर लेते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर तो मायाविशिष्ट चेतन है, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सृष्टि स्थिति लय करने वाला है। लेकिन उसको हम लोग समझ नहीं पा रहे हैं तो उसका ध्यान कैसे करें? विष्णु को ईश्वर का प्रतीक बनाकर ध्यान कर सकते हैं। जगत् के सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाला ईश्वर; विष्णु केवल स्थिति करने वाला अतः ईश्वर है नहीं फिर भी शास्त्रानुसार उनमें ईश्वरदृष्टि सफल है। चाहे मूर्ति में देवदृष्टि हो या विष्णु-आदि में ईश्वर-दृष्टि हो, प्रतीकोपासनायें हैं। इनका सहारा लेने वाले ब्रह्मलोक से वंचित रहते हैं क्योंकि 'अप्रतीकालम्बन' अर्थात् जो प्रतीकोपासक नहीं उन्हें

ब्रह्मलोक तक पहुँचाया जाता है। प्रणव क्योंकि केवल प्रतीक नहीं है, पर-अपर ब्रह्मरूप उसे कहा है, इसलिये उसके सहारे उपासना करने वाले 'अप्रतीकालम्बन' होने से ब्रह्मलोक पा लेते हैं। बृहदारण्यक (४.४.५) में बताया है कि कामना से क्रतु अर्थात् संकल्प, क्रतु से कर्म और उससे फल मिलता है। संकल्पानुसारी फल मिलने को 'तत्क्रतु-न्याय' कहते हैं। अन्यत्र भी कहा है 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' (मुद्गल. ३.३) कि उपासना के अनुरूप स्थिति उपलब्ध होती है। प्रतीकोपासना में केवल ब्रह्मसंकल्प है नहीं क्योंकि वहाँ प्रतीक प्रधान होता है। उदाहृत सूत्रभाष्य में यह स्पष्ट है। इसलिये प्रतीकोपासक ब्रह्मभाव न पाये यह संगत है। क्रतु या संकल्प से ईश्वर ने सृष्टि ही रच दी तो इसके महत्त्व को क्या कहा जाये! साधक को चाहिये कि असत्संकल्पों से दूर रहे, सत्संकल्प ही करे। धीरे-धीरे संकल्प का भी साक्षी ही रहे तो ब्रह्मभाव सुलभ होगा।

विषयकामना-पूर्वक उपासना से ब्रह्मलोक में भोगोपलब्धि होती है। वे विषय वैसे ही सत्य हैं जैसे इह लोक के विषय। कुछ लोग उपासनाफलभूत विषयों को प्रातिभासिक मानना चाहते हैं, कुछ लोग उन्हें पारमार्थिक मानना चाहते हैं लेकिन छान्दोग्यादि भाष्य में आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि यहाँ के हों या लोकान्तर के, कर्म से मिलें या उपासना से, भोग व्यावहारिक हैं। अन्यथा ऐन्द्रिय विषय भी प्रातिभासिक मानें जायें तो क्या विरोध होगा! हम सभी भोग मनःस्तर पर ग्रहण करते हैं। बाह्य वस्तु का तो गोलक या इन्द्रिय से ही सम्पर्क रहता है, हमसे नहीं। हमें तो विषयेन्द्रिय-संपर्क से बनी मनोवृत्ति ही उपलब्ध हो सकती है। अतः ब्रह्मलोक के विषयों में धरती के विषयों से कोई अधिक सत्यता की कल्पना व्यर्थ है। ॥१४५॥

निष्काम उपासक मरने पर अन्तिम वृत्ति के अनुसार निर्गुणभावरूप मोक्ष पा जाता है, सकाम ब्रह्मलोक जाता है तो सकाम को मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान कैसे होता है? इसके उत्तर में कहते हैं—

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात् तत्र तत्त्वमवेक्षते।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥१४६॥

भले ही कामना वाला था पर उपासना निर्गुण की ही की थी अतः ब्रह्मलोक में वह ब्रह्मतत्त्व का दर्शन पा लेता है। वह भी पुनः जन्म-मरण के चक्र में भटकता नहीं, कल्प की समाप्ति में मुक्त हो जाता है।

सकाम के लिये अतिकठिन होने पर भी निर्गुण-उपासना सम्भव है ही। उसे ब्रह्मलोक में कामना-पूर्ति का प्रभूत अवसर मिलता है किंतु पूर्व में अनुष्ठित निर्गुण-उपासना के ही प्रभाव से 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ' ऐसा तत्त्वदर्शन पाकर कल्पसमाप्ति में वह मुक्त ही होता है, जन्म-मरण के प्रबन्ध में लौटता नहीं। यद्यपि पहले छान्दोग्य में (४.

१५.५) ही बताया कि देवयान से ब्रह्मलोक गया साधक इस 'मानव आवर्त्त' में नहीं लौटता तथापि यह मतलब नहीं कि गन्धर्व आदि बन जाता है वरन् जीवभाव से भँवर में पड़ना 'मानव आवर्त' में पड़ना है अतः जन्मादिचक्र से निवृत्त होता है यही तात्पर्य है। आठवें अध्यायके अंत में (८.१५) छान्दोग्य में ही 'न च पुनरावर्त्तते' स्पष्ट कहा है। उत्तरमार्ग से जाने वालों के पुनरावर्त्तन का प्रश्नोपनिषत् (१. १०) में भी निषेध किया है। **॥१४६॥**

श्लोक ६२ में निर्गुणोपासना के लिये प्रमाण-प्रतिज्ञाकर तापनीय, शैब्यप्रश्न, कठ और माण्डूक्य का नाम लिया था। इन स्थलों पर प्रणव की उपासना का विस्तार प्रसिद्ध है। उसी प्रसंग का अनुसरण करते हुए कहते हैं—

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः।
क्वचित् सगुणताऽप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥१४७॥

वेद में बतायी प्रणव-निर्भर उपासनायें प्रायः निर्गुण-विषयक हैं फिर भी कहीं सगुण-विषयक भी कही हैं।

प्रणव परमेश्वर का साक्षात् रूप होने से, निकटतम नाम होने से इसके द्वारा परमेश्वर वस्तुतः जैसा है वैसा ध्यान अर्थात् निर्गुण ध्यान ही प्रधानतः विहित है। पुत्र-वित्त-लोकादि सब एषणायें छोड़े संन्यासी का ही इसलिये प्रणवजप में अधिकार प्रसिद्ध है। सकाम प्रणवयुक्त विभिन्न मन्त्र जपे, केवल प्रणव में सकाम का अधिकार नहीं माना जाता। किन्तु कहीं-कहीं वेद ने प्रणव से सगुण ध्यान भी बताया है जिसके आधार पर तन्त्र-आगमों में काफी विस्तार है। अतः ओंकार को 'कामद' और 'मोक्षद' कहा गया है। प्रणव का सहारा लेने वाला तुच्छ कामनाओं वाला नहीं होगा, इष्टदर्शन आदि दिव्य कामनाओं वाला हो सकता है। **॥१४७॥**

निर्गुण-सगुण दोनों की उपासना में प्रणव का विनियोग है यह बात प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट कही बताते हैं—

परापरब्रह्मरूप ओङ्कार उपवर्णितः।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८॥

प्रष्टा सत्यकाम को मुनि पिप्पलाद ने परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों रूपों वाला ओंकार समझाया है।

सत्यकाम ने पिप्पलाद से पूछा यह प्रश्नोपनिषत् पंचम प्रश्न में बताया। पिप्पलाद महर्षि मुनि थे। जो परमात्मा के बारे में वार्ता से अतिरिक्त दूसरी वार्ता करता ही नहीं वही मुनि हो सकता है। उनसे इधर-उधर की बात पूछो तो वे जवाब ही नहीं देते। पहले एक मण्डलेश्वर थे, उनसे कोई आकर बात करता तो वे गद्दी पर तकिये के ऊपर सिर रखकर

सो जाते थे! आश्रम में काम करने वाले कोठारी आदि ने कहा 'अमुक भक्त आया था, आप सो गये, उससे बात नहीं की, भक्त को कुछ उपदेश दिया कीजिए।' उन्होंने कहा 'वह उपदेश सुनने नहीं आता, वह तो अपनी बात सुनाने आता है कि वहाँ यह हुआ, वहाँ वह हुआ, यह कैसे सुधर जाये। मैं उसकी बेकार बातों को क्या सुनूँ? जब वह नमो नारायणाय करता है तब आशीर्वाद दे देता हूँ।' फिर भी महात्मा कहने लगे 'ऐसा नहीं, भक्त को कुछ तो बताना चाहिए। 'उन्होंने कहा—'ठीक है, कुछ उपदेश कर देंगे।' वह अगले दिन आया। मण्डलेश्वर जी ने योगवासिष्ठ का प्रकरण सुनाना शुरू किया तो वह दो-चार मिनट में ही उठकर चल दिया! ऐसे ही और दो-तीन जने भी आये पर दो-तीन मिनट बैठकर चल दिये। मण्डलेश्वर जी ने महात्माओं से कहा—'देखा! पहले तो ये लोग आधा-आधा घण्टा बैठते थे और अब कुछ सुनाने लगा हूँ तो दो-चार मिनट में चल देते हैं। मैंने पहले ही कहा था कि ये लोग सुनने नहीं, सुनाने आते हैं कि अमुक समस्या कैसे हल होगी, व्यापार में नुकसान कैसे हो गया इत्यादि। मैं तो यही उपदेश करूँगा कि अच्छा हुआ पैसा चला गया, अब इसकी सुरक्षा नहीं करते रहना पड़ेगा। भगवान् करे, बचा-खुचा रुपया भी चला जाये तो भगवान् के भजन में लगो।' मुनि तो यही सब सुनायेगा। पिप्पलाद महर्षि मुनि थे। मुनि को कोई दाल-रोटी नहीं देगा। पीपल के पेड़ के पत्ते और उसमें लगे छोटे-छोटे फल खाकर रहते थे। उनको संसार से कोई मतलब नहीं था। छह जने उनसे पूछने आये और छहों को बहुत अच्छे ढंग से जवाब दिया। आचार्य शंकर बताते हैं कि असली मुनि क्या हैः माया अनिर्वचनीय होने से शब्दप्रयोग का विषय नहीं, ब्रह्म को बताने वाला कोई शब्द हो नहीं सकता, इसलिए ब्रह्म का प्रतिपादन भी शब्द से नहीं। अतः न माया को और न ब्रह्म को शब्द से बता सकते हैं। इस बात का जिसको ज्ञान है वही असल में मौन का आचरण करता है। पिप्पलाद मुनि इस प्रकार के थे। शैब्य सत्यकाम ने पूछा कि जो आमरण ओंकार का ध्यान करता है वह किस लोक को जाता है? उन्होंने कहा—'एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म'। परब्रह्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्म और अपर ब्रह्म अर्थात् मायाविशिष्ट; इन दोनों को ही ओंकार कहते हैं। चूँकि इन दोनों को ओंकार कहते हैं, इसलिए इसे तुम चाहे सगुण ब्रह्म की दृष्टि से देखो कि वह सृष्टि स्थिति लय करने वाला है या चाहे निर्गुण ब्रह्म की दृष्टि से देखो कि अधिष्ठान है जिसमें ये सब प्रतीतियाँ होती हैं, दोनों ही ओंकार की उपासना हैं। यदि सगुण को इससे ध्याता है तो साधक सगुण की प्राप्ति कर लेता है और यदि इससे निर्गुण को ध्याता है तो निर्गुण की प्राप्ति कर लेता है। ॥१४८॥

कठोपनिषत् (१.२.१६) से भी पूर्वोक्त विकल्प सिद्ध करते हैं—

एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।
इति प्रोक्तं यमेनाऽपि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९॥

पूछने वाले नचिकेता को यमराज ने भी समझाया कि इस ओंकाररूप सहारे को जानकर जो जिसे चाहता है वह उसे उपलब्ध हो जाता है।

महर्षि पिप्पलाद की तरह देवताओं ने भी इस बात को कहा है। नचिकेता ने यमदेव से प्रश्न पूछा कि मरकर क्या होता है? इसमें यम के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं हो सकता! क्योंकि मरने के बाद यमदेव ही सब को ले जाते हैं। वहाँ यमराज ने यही कहा कि इस ओंकार का ध्यान करके जो सगुण तत्त्व की इच्छा करता है वह सगुण परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है और जो उसके निर्गुणरूप की उपासना करता है वह निर्गुण को प्राप्त हो जाता है। जिसकी जो इच्छा है, उसको वह प्राप्त हो जाता है। ॥१४९॥

प्रसंग पूरा करते हैं—

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत्।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥१५०॥

निर्गुण की ठीक-ठीक उपासना करने वाले को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, यहीं हो, मरने पर हो या ब्रह्मलोक में हो।

जो निर्गुण की उपासना करने वाला है और उसकी वह उपासना सम्यक् हो जाती है वह ब्रह्मदर्शन पाता है। सम्यक् अर्थात् यावज्जीवन, जब तक मृत्यु न आ जाये और जब तक नींद न आ जाये तब तक जो ब्रह्म-दृष्टि रखे। ऐसे साधक की निर्गुण उपासना सिद्ध हो जाती है। उसको निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार अवश्य हो जाता है। वह उपासना दृढ पक जाती है तो परमेश्वर की कृपा से परमेश्वर स्वयं ही आकर उसे तत्त्वज्ञान दे देते हैं क्योंकि भगवान् की प्रतिज्ञा है 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' मैं उनको बुद्धियोग दे देता हूँ अर्थात् मैं उनको उपदेश देकर उनकी ब्रह्माकार वृत्ति स्थिर कर देता हूँ। ब्रह्माकार वृत्ति बन गई तो वह निर्गुण-भाव को प्राप्त हो जाता है। पूरा सिद्ध हो जाता है तो यहीं जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है। किसी कारण से यदि उपासना दृढ नहीं हो पाई, परंतु उसी के संस्कार प्रबल हैं तो मरते समय अखण्ड वृत्ति बन जाती है। जैसे लोक में कोई आदमी अपने पालतू कुत्ते को चौबीस घंटे तो नहीं सोचता रहता, परंतु बीच-बीच में उसे कुत्ते की याद आती है। घर से बाहर जाये तो सोचेगा कि उसे समय पर खाने को मिला होगा या नहीं आदि। बाकी काम-काज भी करता है लेकिन बीच-बीच में अपने कुत्ते को भी सोचता है। इसी प्रकार जो सब समय निर्गुण उपासना करता रहता है, परंतु कुछ व्यवहार भी करता है, उसे मरते समय ब्रह्म ही याद आता है जैसे चूँकि वह सब समय उस कुत्ते को सोचता रहा है तो उसे मरण काल में भी वही कुत्ता याद आता है! जो सब समय सम्यक् निर्गुण उपासना करता है उसका जब मरण-काल आता है, उस समय सम्यक् की हुई निर्गुण उपासना सिद्ध होकर उसकी गति हो जाती है, अंतकाल में उसे निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अंतकाल में जो मति सो

गति होती है। अगर उतनी भी दृढता नहीं तो जैसा तुलसीदास जी कहते हैं 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं अंत राम कहि आवत नाहिं' चाहे जितना यत्न कर ले तब भी मरते समय इष्ट की याद नहीं आती। किंतु जिसकी उपासना कम-से-कम उतनी दृढ है, वह अपने इष्ट लोक को, सगुण ब्रह्म के लोक को जाता है और संसार के अंत में ब्रह्मा जी के उपदेश से मुक्त हो जाता है। साधना पूरी हो जाये तो यहीं जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है। उपासना पूरी नहीं हुई, तो मरणकाल में होता है, वह भी नहीं हुआ तो ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त होता है। हर हालत में जिसने निर्गुण उपासना ढंग से कर ली, उसे यहाँ वापिस नहीं आना पड़ता।

निर्गुण उपासना संभव भी है और उपनिषद् के द्वारा प्रमाणित भी है। निर्गुण उपासना का फल या तो यहीं सिद्ध होकर ज्ञान हो जाता है अथवा मरण-काल में ज्ञान हो जाता है; अन्यथा ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्माजी के उपदेश से ज्ञान हो जाता है। विचार करने में जो अशक्त है, जो विचार नहीं कर सकता है, वसिष्ठ जी ने यही कहा है कि उसके लिये यही उपाय है। परमात्मा के साक्षात्कार के लिए दो रास्ते हैं—योग और ज्ञान। मन को चित्त इसलिए कहते हैं कि यह चित् तो है लेकिन चित् के साथ 'त' और लगा है। 'चित्तं चिच्च विजानीयात् तकाररहितं यदा। तकारो विषयाध्यासः जपारागो मणौ यथा।' चित्त में से तकार मिटा दो तो चित् रह जाता है। तकार का अर्थ विषयाध्यास है। वह अध्यास दो प्रकार का है : अहं के अंदर जड चीज़ों का अध्यास और जड चीज़ों में आत्मा की सद्रूपता का अध्यास। जब इन दोनों अध्यासों की निवृत्ति हो जाती है तब चित् ही रह जाता है। कुछ लोग तो विचार के द्वारा ही निश्चय कर लेते हैं और उनका निश्चय अटल हो जाता है। परंतु कुछ लोगों के लिए यह विचार मार्ग कठिन होता है। जो विचार करने में अक्षम हैं वे ध्यान कर लें। ज्ञान से निश्चय होने के बाद स्वभाव से ही निरंतर वह भान रहता है। किसी प्रारब्ध-भोग के कारण यदि वृत्ति नहीं चलती तो भी उसको परमात्माकार वृत्ति बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। जिसका निश्चय हो गया है उसको तो केवल इतना ही ख्याल रखना है कि विरुद्ध निश्चय की कोई वृत्ति न बने। किन्तु ध्यानरूप साधन अपनाने वाले को उस जाति की वृत्ति का प्रवाह रखना है अर्थात् उसके मन में समान जाति की वृत्ति का प्रवाह हो और विजातीय वृत्ति न आये। जिसका ज्ञान-निश्चय हो गया है उसको वृत्ति रखने की ज़रूरत नहीं है ॥१५०॥

विचार-अक्षम के लिए निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का विधान बताते हैं—

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितम् ।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति सन्ततम् ॥१५१॥

विचार में असमर्थ साधक सतत आत्मा की उपासना करे यह बात 'आत्मगीता' में स्पष्ट बतायी है।

निर्गुण ब्रह्म के ध्यान की बात 'आत्मगीता' में स्पष्ट करके बताई है कि जो विचार करने में अक्षम है, विचार नहीं कर सकता है, वह उपासना करे। विचार करने में असामर्थ्य का कारण प्रज्ञा की कमी भी होता है क्योंकि सूक्ष्म बात को समझने के लिए प्रज्ञा चाहिए। गुरु की उपलब्धि भी चाहिए, गुरु ऊहापोह करने में विचक्षण होना चाहिए। कई बार शिष्य के मन में शंका है, परंतु वह शंका प्रकट नहीं कर पाता। समझ में नहीं आ रहा है—इतना तो निश्चित है। योग्य गुरु उसके चेहरे इत्यादि को देखकर समझ जाते हैं और समाधान करते हैं। ज्ञान तो अनेकों को हो जाता है परंतु दूसरे को उपदेश देने की सामर्थ्य सबमें नहीं होती। योग्य गुरु नहीं मिला जो तुम्हारी शंकाओं को दूर कर सके तो भी उपासना का ही सहारा है। ऐसे कई कारण होते हैं जिनसे विचार संभव नहीं होता। जो विचार में अक्षम है वह निरंतर आत्मा की उपासना करे। पंचकोशों से अतिरिक्त, नाम-रूप से अतिरिक्त, सारे संसार का अधिष्ठानरूप जो निर्गुण तत्त्व है उसका चिंतन करे। ठीक जैसे हमको आँख से तो रामजी का चित्र दीखता है परंतु हम विश्वास के बल से उसमें रामचन्द्रजी को देखते हैं, इसी प्रकार से हमको तो नाम-रूपविशिष्ट, पंचकोश-विशिष्ट ब्रह्म की प्रतीति होती है परंतु उपासना में हम उसको नामरूपरहित-पंचकोशरहित देखते हैं। दीखता तो तब भी नाम-रूप वाला ही रहता है। जैसे फोटो तो दीखती ही रहेगी, फोटो देखते हुए ही हमको उसमें राम जी की दृष्टि करनी है। ध्यान के लिए जैसे विश्वास करना पड़ेगा कि यह राम है, इसी प्रकार नाम-रूपात्मक जगत् में ब्रह्मदृष्टि करनी है। एक आदमी आकर हमको सोने की मोहर चढ़ा जाता है। दूसरा हमारी सोने की मोहर भी ले जाता है और साथ में हमारा कमण्डलु भी ले जाता है! दोनों को हम एक कैसे समझें? समझने के लिये तो विवेक का पैनापन चाहिये, उसके अभाव में ही उपासना की जा रही है इसलिए कहा कि दीखेगी नाम-रूप उपाधि, परंतु दृष्टि करनी है कि नाम-रूप से रहित निर्गुण ब्रह्म है। मुमुक्षु के संन्यास पर भाष्यकार बार-बार ज़ोर देते हैं क्योंकि किसी भी अवस्था में तुम चिन्तन कर सकते हो—यह बात बिलकुल ठीक है लेकिन व्यवहार-काल में ऐसा होता नहीं है! जितना तुम्हारा व्यवहार न्यून-न्यूनतर होगा उतनी ही ज्यादा तुम यह उपासना कर सकोगे। कोई विशेष बल वाला हो तो कर्मठ रहकर भले ही कर ले। किंतु मुख्यतः निर्गुणोपासना संन्यासी से ही निभेगी, सफल होगी। ॥१५१॥

आत्मोपासना कर्त्तव्य है यही बताते हैं—

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः।
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥१५२॥

साक्षात्कार में असमर्थ मुमुक्षु भी निःसंकोच मेरा चिन्तन करे। समय से उसके अनुभव में आकर अवश्य फलस्वरूप से उसे उपलब्ध होता हूँ।

साक्षिभाव में स्थिर रहना ही साक्षात्कार है। जो ऐसा नहीं कर सकता परन्तु उसको यह निश्चय है कि 'मैं' मन से अलग हूँ; यह विवेक से निश्चय हो जाता है। फिर भी मन दुःखी होने पर 'मैं दुःखी नहीं हूँ' ऐसा दृढ अनुभव नहीं होता। साक्षिभाव में स्थित रहने का या साक्षात्कार का मतलब वसिष्ठ जी कहते हैं, यह है कि आकाश को टुकड़े-टुकड़े होते देखे तो भी मन में नहीं हो कि इसके टुकड़े कैसे हो गये! बालू के ढेर में पानी हो सकता है तो आकाश के टुकड़े क्यों नहीं हो सकते? ऐसी स्थिति सरलता से प्राप्त नहीं होती क्योंकि संसार में कार्य-कारणभाव जरूरी लगता है। हमारे अंतःकरण में देश, काल, कार्यकारणभाव ऐसा स्थित है कि निश्चय करने पर भी लगता है कि कुछ तो कारण होता ही है! इसलिए साक्षात्कार करने में साधक असमर्थ रहता है। ऐसे असमर्थ के लिये भी भगवान् शंकर कहते हैं कि मुझ निर्गुण का अशंकित चिन्तन करे। यह *अशंकित चिंतन* करना कठिन है। जैसे शास्त्र ने कहा कि शालिग्राम विष्णु है तो है ही, इसी प्रकार भगवान् शंकर ने विस्तार से बता दिया कि मैं कैसे अधिष्ठानमात्र हूँ, तो निश्चय होना चाहिए कि ऐसा ही है। संदेह वाला व्यक्ति कभी ध्यान भी नहीं कर सकेगा। निर्गुण का चिंतन निस्संदिग्ध करो तभी सफल होगा। जब दीर्घकाल तक ऐसा चिंतन करने से दृढ संस्कार बन जाता है तब वह अनुभव में आरूढ हो जाता है। फिर स्वभाव से वैसा ही प्रतीत होता है। बालक भाषा सीखते समय पूरे वाक्य को सोच नहीं पाता, वाक्यार्थ की संकल्पना नहीं कर पाता किन्तु दीर्घ अभ्यास से उसे वाक्यार्थ ही प्रतीत होता है एवं वाक्य सोचकर ही शब्द बोलता है। इसी प्रकार 'मुझ समेत सारा जगत् परमात्मा है' इसका संस्कार दृढ होने पर यही निश्चय निरायास रहता है। सन्त नामदेव ने रोटी ले जाते कुत्ते को किसी कोशिश से नारायण नहीं देखा वरन् सहजता से ही उन्हें वह नारायण ही दीखा। यही अनुभव में आरूढ होना कहा जाता है। इस स्थिति में सन्तत आनन्दरूप फल उपलब्ध हो जाता है। ॥१५२॥

आत्मलाभ के लिये इसे अचूक उपाय बताते हैं—

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥१५३॥

गहरे गड्ढे में छिपे खजाने को पाने के लिये खोदने के अलावा जैसे तरीका नहीं वैसे मुझ सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये भी स्वात्मा के चिन्तन को छोड़कर अन्य उपाय नहीं है।

पिता जी ने जमीन में बहुत धन गाड़ दिया। उनका शरीर छूट गया। अब वह धन तुम्हारा है, तुम्हारे पास है पर उस धन की प्राप्ति के लिये सिवाय उस जमीन को खोदने के और कोई उपाय नहीं है। तुम वहाँ रोज़ आते-जाते हो परंतु कोई काम पड़ने पर खोदे बगैर उससे कोई लाभ नहीं ले सकते। तुम ही उस धन के मालिक हो लेकिन उसे *प्राप्त* करने के लिए खुदाई करनी पड़ेगी। इसी प्रकार ब्रह्म तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है। भगवान्

ने स्पष्ट कह दिया 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' तुम्हारे पास ही है परंतु तुम्हें चिंतन से ही मिलेगा। 'मैं'—इस रूप से ही परमात्मा तुम्हारे अंदर बैठा हुआ है, लेकिन वह सारे अध्यासों से ढका हुआ है। जब आत्मचिन्तन करते हो तब धीरे-धीरे वह अनात्मा का कीचड़रूप सारे अध्यास निकलते जाते हैं। आत्मचिन्तन को छोड़कर और कोई उपाय इन्हें निकालने का नहीं है। ॥१५३॥

रूपक से उक्त तथ्य स्पष्ट करते हैं—

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात् पुनः।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥१५४॥

बुद्धिरूप कुदाली से देहरूप शिला हटाकर बार-बार मनरूप ज़मीन खोद कर पुरुष को चाहिये कि मैं-रूप खजाना प्राप्त करे।

पहले ज़माने में जब ज़मीन के अंदर धन गाड़ते थे तो उस पर मिट्टी डालने के पहले एक पत्थर रख देते थे जिससे मिट्टी उसके अंदर न जाय। इसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म देह पत्थर की जगह हैं इसलिए देहरूपी पत्थर को हटाना ज़रूरी है। इसको हटाने के लिए बार-बार खोदना अर्थात् आत्माकार वृत्ति बनानी है। 'मां गृह्णीयात्' से भगवान् कहते हैं कि तब मुझे प्राप्त कर लोगे। मैं हूँ तुम्हारे हृदय में ही, इसलिए कहीं से आना नहीं है, लेकिन फिर भी आत्माकार वृत्ति बनने पर ही मैं तुम्हारे काम का हो सकता हूँ। तब प्रतिक्षण तुम्हें परमानन्द का अनुभव होगा क्योंकि तुम ही आनन्दरूप हो जाओगे। मैं तुम्हारा सर्वस्व, तुम्हारा ख़ज़ाना हूँ, उसी को तुम खोदकर निकालो। यह कौन कर सकता है? जो पुरुष है वही करता है। पुरुष वह है जो इस बात को जाने कि मैं पुरुष हूँ। पुरी में शयन करने वाला हूँ, पुरी नहीं हूँ—इस बात को जाने तब पुरुष होता है। ॥१५४॥

तत्त्वज्ञान में असमर्थ के लिये आत्मध्यान उपाय है इसे समर्थित करते हैं—

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम्।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१५५॥

अनुभव न होने पर भी 'ब्रह्म हूँ' यही चिन्तन किया जाये। जो है नहीं वह भी जब ध्यान से मिल जाता है तब हमेशा उपलब्ध ब्रह्म ध्यान से मिलेगा इसमें क्या कहना!

अनुभव न होने पर भी 'मैं ब्रह्म' ऐसा चिन्तन करे। समझ में आता है कि हम सच्चिदानन्दरूप हैं परंतु जब तक इसका भान न हो तब तक इसका फायदा नहीं है। अतः जब तक इसका भान न हो तब तक इसका ध्यान करने में उपयोग है। सर्वथा नहीं समझे हुए होगे तो इसका ध्यान भी कैसे करोगे? अनुभव हो गया होता तो मुक्त हो गये होते! जब हम निर्गुण का ध्यान करते हैं तब तक निर्गुण का साक्षात्कार नहीं हो गया। फिर भी

'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा बार-बार चिन्तन करना है। अभी बार-बार स्मरण आयेगा मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं इन्द्रियाँ हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं अल्पज्ञ हूँ, अल्पशक्तिमान हूँ, मैं पापी हूँ, इत्यादि; बार-बार तुमको चिन्तन करना है कि यह सब मैं नहीं, मैं तो ब्रह्म हूँ। ध्यान से तो जो चीज़ सच्ची नहीं होती है उसकी भी प्राप्ति हो जाती है! असत् का अर्थ शून्य है। बौद्ध लोग 'कुछ नहीं' का अर्थात् शून्य का ध्यान करते हैं तो उन्हें शून्यभाव की प्राप्ति हो जाती है। शून्य है नहीं फिर भी उस की प्राप्ति हो जाती है! मूर्ति विष्णु नहीं है, परंतु उसका ध्यान करते-करते एक दिन विष्णु मिल जाते हैं। निर्गुण ब्रह्मरूप से अपना ध्यान करते-करते वहाँ तुमको निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। जो तुम नहीं हो उस भाव को भी जब ध्यान से प्राप्त कर लेते हो तो ब्रह्म नित्यप्राप्त है अतः मिलना अनिवार्य है। जो चीज़ नहीं है वह भी ध्यान से प्रतीत हो जाती है, ब्रह्म तो सचमुच में तुम हो, प्रमाण से सिद्ध होता है कि तुम ब्रह्म ही हो अतः अपनी ब्रह्मरूपता की प्रतीति भी अवश्य होगी। ॥१५५॥

परोक्ष वस्तु के ध्यान तो परिपाक से पूर्व प्रभावी नहीं होते किन्तु आत्मध्यान का प्रभाव अविलम्ब होता है यह रहस्य प्रकट करते हैं—

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद् दिने दिने।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात् पशुर्वद ॥१५६॥

ध्यान करते रहें तो अनात्मा में 'मैं'-बुद्धि प्रतिदिन कम होती जाती है। यह फल अनुभव करते हुए भी जो ध्यान-तत्पर न हो, उससे अन्य पशु कौन होगा!

निर्गुण का ध्यान करते हो तो प्रतिदिन अनात्मबुद्धि अर्थात् शरीर, मन आदि जो अनात्म पदार्थ हैं उनके अंदर तुम्हारा मैं-निश्चय कम होने लग जाता है। सर्वथा हटता तो नहीं है, लेकिन कम हो जाता है। ऐसे समझ लो कि आज से साठ साल पहले हम लोगों में अधिकतर का निश्चय था कि मैं ब्राह्मण हूँ, या मैं क्षत्रिय हूँ इत्यादि। पचास साल से सिखाया गया कि तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय नहीं वरन् इंसान हो। अब उसी का निरंतर चिंतन करते-करते लोग कहते हैं कि आखिर हैं तो हम इंसान ही। यह अकस्मात् नहीं हुआ, पहली पीढ़ी में कुछ और दूसरी पीढ़ी में कुछ अधिक संस्कार पड़े तो तीसरी पीढ़ी को निश्चय हो गया है। बार-बार संस्कार पड़ने से 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह संस्कार चला गया और मैं इंसान हूँ—यह संस्कार आ गया। आगे और भी उन्नति हो सकती है! एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक ने कहा है कि कुत्ते-बिल्लियों को कभी मानसिक रोग नहीं होता है, तो हम कुत्ते-बिल्ली जैसे क्यों नहीं हो सकते? 'Why can't we be normal like cats and dogs?' पहले इंसान बने हो, आगे 'मैं पशु हूँ' ऐसा अभ्यास भी हो जायेगा। पश्चिमी लोग कहते हैं कि पहले हम बंदर थे, फिर पूँछ घिसते-घिसते इंसान बने। आजकल यह उपदेश देते हैं कि तुम आदमी थे, समाज ने तुम्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बना दिया। अधिकतर लोग यह मानने भी

लग गये कि यह सामाजिक व्यवस्था है। मनु भगवान् को खूब बदनाम भी किया गया है कि यह मनुवाद है। निरंतर प्रचार का यह नतीजा होता है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह बुद्धि बार-बार बनाने से ब्रह्मभाव की प्रतीति सम्भव है। बीच में याद भी आयेगा कि 'दो दिन से कुछ खाया नहीं है, पेट में चूहे दौड़ने लगे हैं' तो मन में होगा कि 'मैं भूखा हूँ', लेकिन फिर तुरंत ही याद आयेगा कि 'भूख तो प्राण का धर्म है, हूँ तो मैं ब्रह्म ही।' इस प्रकार आत्मनिश्चय स्थिर होता जाता है। यह निरंतर हर साधक अपने में देख सकता है, दूसरे में भी देख सकता है। जो इस मार्ग में चलने वाले हैं वे शरीर आदि में आसक्ति वाले नहीं देखे जाते। यों प्रत्यक्ष फल दीखते हुए भी निरंतर ध्यान या चिंतन नहीं करे तो बताओ, इससे बड़ा जानवर और कौन होगा! ॥१५६॥

प्रकरणार्थ का संग्रह करते हैं

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम्।
पश्यन् मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१५७॥

ध्यान से देह में आत्मबुद्धि नष्ट कर अद्वय आत्मा का साक्षात्कार करते हुए मरणधर्मा अमृत होकर यहीं ब्रह्मभाव पा लेता है।

ध्यान करने से शरीराभिमान नष्ट होता चला जाता है। किसके ध्यान से ऐसा होता है? अद्वितीय आत्मा के ध्यान से। नाम-रूप की प्रतीति होने पर, चाहे देह आदि हो, चाहे पर्वत आदि हो, न देह आदि उसके ब्रह्मभाव में भेद लाते हैं और न पर्वत आदि उसके अंदर द्वैतभाव लाते हैं क्योंकि याद करता है कि ये दोनों अध्यस्त हुए इसमें ही रहते हैं, पैदा होते हैं और इसमें ही अंत में लीन हो जाते हैं। देहादि और बाह्य प्रपंच मुझ आत्मतत्त्व से उत्पन्न हुआ, प्रतीत हुआ और मुझमें ही लीन हो जाता है, इसलिए वह मुझ में द्वितीयता नहीं ला सकता। साधक बार-बार इस चीज़ की तरफ ध्यान देता है तो यह वृत्ति बनती है। 'देह' अर्थात् शरीर इसलिए नामतः कहा कि साधारण से साधारण मनुष्य भी यह जानता है कि शरीर पैदा हुआ है और एक दिन मर जायेगा, मैं न पैदा होने वाला और न मरने वाला हूँ। इसलिए शरीर के अंदर 'मैं हूँ' यह भाव हो ही कैसे सकता है! गलत पाठ पढ़ लिया इसलिए ऐसा लगता है कि मैं शरीर हूँ। अद्वितीय आत्मा को जब तक देहाभिमान है तब तक मरणधर्मा होने का भ्रम और जब यह अभिमान नहीं रहता तो सब अनात्मधर्मों से रहित हो जाता है। यही कारण है कि यहीं, जीते हुए जीवन्मुक्ति का अनुभव हो जाता है। ॥१५७॥

प्रकरण-विचार का फल बताकर उपसंहार करते हैं—

ध्यानदीपमिमं सम्यक् परामृशति यो नरः।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥१५८॥

।।इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचित-पञ्चदश्यां नवमो ध्यानदीपः समाप्तः।।

जो नर इस 'ध्यानदीप' का ठीक-ठीक परिशीलन करता है वह संशय-रहित हो निरन्तर ब्रह्मध्यान में ही तत्पर रहता है।

इस ध्यानदीप प्रकरण को जो भली प्रकार से आगे-पीछे विचार करके समझ लेता है वही फल पाता है। कौन समझेगा? नर ही समझ सकता है। नर का मतलब है 'न विषयेषु रमते इति नरः' जो विषयों में रमण नहीं करता उसे नर कहते हैं। विषयों में रमण करने वाला तो निर्गुण ध्यान को इसलिए नहीं कर सकता कि वह यही सोचेगा कि मेरी कामनायें कैसे पूरी होंगी? पहले ही कहा था कि निर्गुण ध्यान निष्काम के लिए है, सकाम के लिए है नहीं। 'नर' कह कर वही बता दिया। ध्यान से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होगी या नहीं, अथवा मर कर भी प्राप्ति होगी या नहीं इत्यादि संशय को छोड़कर जो नर है वह निरंतर ब्रह्म का ध्यान करता है यह इसके अध्ययन का प्रभाव है। ॥१५८॥

॥ ध्यानदीप प्रकरण पूरा हुआ ॥

दसवाँ
नाटकदीप प्रकरण

नाटक दीख सके यह सम्भव बनाने वाले दीपक को उदाहरण बनाकर आत्मा की परमार्थता का प्रतिपादन करता हुआ दसवाँ प्रकरण प्रारम्भ होता है। त्वम्पदार्थ का शोधन जिनमें प्रधान है ऐसे पाँच दीप-प्रकरणों में यह अंतिम है। तत्त्व का अनुस्मरण-रूप मङ्गलाचरण करते हुए कहते हैं—

परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया।
स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः।।१।।

अद्वितीय, आनन्द और पूर्ण परमात्मा पहले अपनी माया से खुद ही जगत् होकर जीवरूप से उसमें घुसा।

निष्प्रपंच ब्रह्म केवल मौन के द्वारा ही उपदिष्ट हो सकता है। उपनिषदों में प्रसंग आया है—एक ऋषि के पास एक राजा ब्रह्म-विषयक प्रश्न पूछता है। ऋषि कुछ जवाब नहीं देते। राजा ने सोचा, कम सुनते होंगे, तो ज़रा ज़ोर से बोला। फिर भी वे जवाब नहीं देते। अंत में ऋषि ने कहा 'मैं कह तो रहा हूँ पर तू सुन नहीं रहा। ब्रह्म को बतलाने के लिए सिवाय मौन के कुछ नहीं कहा जा सकता।' ब्रह्म के विषय में न मन की, न शब्द की प्रवृत्ति है। न मन से उसे जान सकते हो, न शब्द से कह सकते हो। सनत्कुमारों को जब दक्षिणामूर्ति ने मौन से उपदेश दिया, तब उन्हें ज्ञान हो गया। जो उत्तमाधिकारी है उसे बिना शब्द के उपदेश दे सकते हो, पर मंदाधिकारियों के लिए यह सम्भव नहीं है। सनत्-कुमार समझ गये, परन्तु वह राजा नहीं समझ सका। बिना निष्प्रपंच के ज्ञान के काम चलता नहीं, और निष्प्रपंच का उपदेश मौन से होता है! शिव हैं करुणावतार। उन्होंने सोचा कि मौन व्याख्या से मंदाधिकारियों को तो कुछ लाभ होगा नहीं। अतः उन्होंने प्रक्रिया बनाई 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपञ्च्यते' जो नहीं हुआ है उसका आरोप करो और जब उसको हटाओगे, तब शुद्ध वस्तु का ज्ञान हो जायेगा। जैसे कपड़े का मैल है, उसको हटाने के लिए साबुनरूप दूसरा मैल लगाते हो, वह मैलरूप 'सर्फ' कपड़े के मैल को लेकर पानी से निकल जाता है। सर्फ का लगाना अध्यारोप है। अध्यारोप इसलिए करना पड़ता है क्योंकि पहले संसाररूप अध्यास है। जैसे कपड़ा मैला है, तभी साबुन से धोना पड़ता है। सबसे बड़ा मैल संसार है। वास्तव में संसार कभी है नहीं, पर हमें इसका अध्यास है तो इसे हटाने के लिए शास्त्र अध्यारोप

करता है कि संसार कैसे बना। परमेश्वर से आकाश, आकाश से वायु अर्थात् पर्यावरण हुआ, इत्यादि प्रकार से संसार पैदा हुआ। संसार दीख रहा है, इसलिए बताया कि कैसे पैदा हुआ। क्रमशः अपवाद करते हैं—यह पृथ्वी जल से अतिरिक्त नहीं, जल तेज से अतिरिक्त नहीं; इस प्रकार से अपवादरूप पानी से अध्यारोप सहित संसाररूप मैल को धोते हैं। अंत में आकाश भी नहीं केवल ब्रह्म रहता है। इस तरह, तुमने जो संसार मान रखा था, वह धुल जाता है। अध्यारोप-प्रक्रिया समझने पर ही लय-प्रक्रिया के द्वारा हटेगा। संसार को किसी अन्य ढंग से बना समझते रहे तो उसका निवारण नहीं हो पायेगा। तत्त्वज्ञानियों ने अध्यारोप का क्रम कल्पित किया है, यह वास्तविक नहीं है। शिष्यों के लिये समझने में उपयोगी यह प्रक्रिया है।

'पूर्वं' अर्थात् जब तक संसार सृष्ट नहीं हुआ था। हर-एक को स्वभाव से लगता है कि संसार बना। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सृष्टि अनादि है इसलिए इसके बनने की जरूरत नहीं। कुछ लोग साथ में यह भी मानते हैं कि यह सृष्टि चलती रहती है कर्म के द्वारा। कर्म से ही चीज़ें फलभोग के लिए प्राप्त होती हैं। इस तरह कर्म को उन्होंने संचालक माना। सृष्टि-चक्र के प्रारम्भ का कारण कुछ नहीं माना लेकिन सृष्टि की प्रत्येक वस्तु तो उत्पन्न होती है जिसमें हेतु कर्म स्वीकारा। किंतु कर्म भी जन्य ही है। अतः 'पूर्वम्' अर्थात् सब चीज़ों के सामने आने से पहले क्या था? 'अद्वयानन्दपूर्णः परमात्मा।' जब तक ये सब सामने नहीं आये थे, इस संसार का सृजन नहीं हुआ था, तब तक अद्वय तत्त्व था। इसके आने के बाद तो वह सदृश्य हुआ यह कह सकते हो पर उससे पहले तो कोई दूसरा नहीं था। इसलिए श्रुति कहती है 'एकमेवाऽद्वितीयम्' जब दूसरा नहीं था तब क्या वह पत्थर की तरह था? अतः कहा 'आनन्दः' आनंदरूप, सुखरूप था। उसको आनंद नहीं था, उसमें आनंद नहीं था, वह आनन्दरूप ही था। और पूर्ण था। उसने न किसी कमी के कारण यह सृष्टि बनाई, न उसका कोई प्रयोजन था। इसलिए गीता में भी भगवान् ने कहा 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'। कुछ भी ऐसा नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है। कुछ प्राप्त करने योग्य भी नहीं है। जीव या तो किसी चीज़ को प्राप्त करने के लिए कर्म करते हैं, या जो कुछ प्राप्त है उसे हटाने के लिए कर्म करते हैं। यदि लोक-दृष्टि से सोचें कि परमेश्वर ने अमुक काम के लिए सृष्टि की तो ऐसा नहीं। स्वभाव से ही उसने रचना की। अद्वयानंद पूर्ण था, फिर भी स्वमायया अपनी माया से वह जगत् बना। माया बिना किसी हेतु के हुआ करती है। इसलिए 'माया से' अर्थात् बिना किसी हेतु के। स्वयं किसी हेतु से नहीं है पर आगे सब चीज़ों को पैदा करने की सामर्थ्य वाली है। स्वयं माया कुछ भी करने में असमर्थ है किन्तु परमात्मा से सम्बन्धित होकर सब कुछ कर लेती है। उस माया शक्ति से वह स्वयं ही जगत्-रूप से प्रतीत होता है। जिस प्रकार से रस्सी ही साँपरूप से प्रतीत होती है इसी प्रकार जो कुछ है वह ब्रह्म ही है, परन्तु सारे जगत्-रूप में प्रतीत होता है। माया के अलावा और किसी प्रकार से समझ में नहीं आयेगा कि ब्रह्म कोढ़ी, लंगड़ा, लूला किसलिए बना! हम लोग डंडे

के ज़ोर से दुःखी बनाये जाते हैं, परन्तु जानकर तो कोई भी दुःखी होना नहीं चाहता। संसार में दुःखी ज्यादा, सुखी कम ही नज़र आयेंगे। आचार्य शंकर तो कहते हैं कि संसार में सुख असम्भव है। संसार बनाने वाले परमात्मा कह रहे हैं कि संसार 'दुःखालयम्' है, इसमें सुख की गन्ध भी नहीं हो सकती। ऐसा दुःखरूप वह क्यों बना? माया से ही यह सम्भव है, क्योंकि तभी बिना बने बना हुआ प्रतीत हो रहा है। अतः इस प्रकरण में कहा कि जगत् नाटक की तरह खेल है। जैसे भजन करने वाला काम-क्रोध-रहित व्यक्ति रावण बना दिया जाता है। वह हनुमान् जी पर क्रोध करता है, पर वह क्रोधी नहीं है। इसी का नाम नाटक है—बिना रावण हुए, रावण की तरह खेल करना। इसी प्रकार, बिना दुःखी हुए दुःखी की तरह दीखना—नाटक है। नाटक में तुम सचमुच में कुछ नहीं बनते। इसी प्रकार इस संसार में तुम सचमुच में बने नहीं हो। नाटक में दूसरे दर्शक हैं पर यहाँ परमात्मा के सिवाय कोई नहीं है। दर्शक भी वही बन गया—'प्राविशज्जीवरूपतः' जो दीख रहा है वह भी बना, और जो देख रहा है वह भी बना, वही जीवरूप से प्रविष्ट हो गया। उसने जगत् अनेक प्रकार का बनाया है, तदन्तर्गत जितने शरीर बनाये, उन सबमें प्रवेश करता है।।१।।

विचारशील के निश्चय में प्रतिबंधक बनते हैं संशय। अनेक साधकों को संशय न होने पर भी विपर्ययवश निश्चय नहीं हो पाता। उन्हें नित्य-निरन्तर तत्त्वानुसन्धान चलाते रहना उपयोगी है। एक अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व है, इसमें बुद्धि स्थिर क्यों नहीं होती? क्योंकि हमें यह प्रपंच प्रतीत हो रहा है। इसीलिए अध्यारोप करना पड़ता है कि जो प्रपंच प्रतीत हो रहा है वह अद्वितीय ब्रह्म का विरोधी न रहे। इसलिए बतलाया कि अद्वितीय परमात्मतत्त्व, अपनी माया के द्वारा इस सारे प्रपंच की रचना करके, इसमें जीवरूप से प्रविष्ट हुआ। उस परमात्मा ने, अपनी माया के द्वारा इस जगत् को प्रतीत किया है। इसकी प्रतीति होवे इसलिए स्वयं ही जीवरूप से इसमें प्रवेश किया है। प्रश्न उठता है कि यदि उसी ने जीवरूप से प्रवेश किया, तो पूज्य-पूजकभाव कैसे बनेगा? यदि उसी ने प्रवेश किया है तो सब जगह एक जैसा ही हुआ। फिर एक पूज्य है और एक हम हैं पूजा करने वाले—यह भेद कैसे? इसका उत्तर देते हैं—

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत्।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम्।।२।।

विष्णु आदि उत्तम शरीरों में घुसा ब्रह्म देवता हो जाता है, मनुष्य आदि अधम शरीरों में रहता हुआ मरणधर्मा हो जाता है।

मोडक के अनुसार 'मर्त्यताम्' की जगह 'देवताम्' पाठ है। अधम शरीर में रहकर देवता की सेवा करता है—यह अर्थ है।

विष्णु इत्यादि के देहों की उत्तमता है। प्रविष्ट तो उसमें भी परमेश्वर है और तुम्हारे में भी। उस प्रविष्ट परमेश्वर में भेद नहीं है। भेद देहों में है। यहाँ देह का मतलब केवल स्थूल

देह ही नहीं है; सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय; इनमें कोई तो श्रेष्ठ उपाधि है, कोई कनिष्ठ है। भेद चेतन का नहीं है, इन उपाधियों में है। विष्णु आदि उत्तम देह हैं इसलिए उनमें वही परमेश्वर प्रविष्ट हुआ पूज्य देवतारूप से विद्यमान है। मनुष्य आदि अन्य अधम देहों के अन्दर प्रविष्ट हुआ मनुष्यभाव को प्राप्त कर लेता है, पूजक बन जाता है, ध्यान करने वाला हो जाता है और देवता शरीरों में पूज्य हो जाता है। सारे शरीर में मैं एक हूँ, पर मलमूत्र-द्वारों में हाथ लगे तो हाथ धोना पड़ता है। अगर मुँह से कोई गलत बात निकल जाती है या वेदपाठ में स्वर की गलती हो गयी तो दोष-निवृत्ति के लिए कान को हाथ लगाते हैं। एक जगह हाथ लगा तो अपवित्र हो गया, कान में हाथ लगा तो दोष-निवर्त्तक हो गया! पर तुम तो सारे शरीर में एक जैसे हो। यह इसीलिए कि उपाधि का अन्तर है। शरीर में ही कोई पवित्र स्थल, कोई अपवित्र स्थल है। इसी प्रकार सभी में परमात्मा एक-जैसा है। परन्तु विष्णु की उपाधि उत्तम है इसलिए पूज्य है और मच्छर की उपाधि अधम है अतः उसे मार देते हो। भगवान् ने भी कहा कि सबके हृदय में वही ईश्वर है। परन्तु इसका निरन्तर चिन्तन कैसे होवे? व्यवहार में जो भेद दीखता है वह उपाधि के कारण है वास्तविक अभेद है। जीव की उपाधि शास्त्रकारों ने अविद्या बताई। अविद्या एक ही है। इसलिए 'जीवरूप से परमेश्वर ने प्रवेश किया' कहने पर समष्टि जीव ही समझना चाहिए। वही अंतःकरण आदि उपाधि में प्रकट होता है। अविद्या तो विष्णु में और हम में एक जैसी है पर उनका अंतःकरण, सूक्ष्म शरीर उत्तम है, हमारा अधम है। इसलिये एक होने पर भी उपाधिभेद को लेकर पूज्य-पूजकभाव बन जायेगा।। २।।

अध्यारोप बता चुके, अब संक्षेप से अपवाद का संग्रह करते हैं—

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम्।।३।।

अनेक जन्मों में परमेश्वरका भजन करने से (चित्त शुद्ध होने पर) स्व-तत्त्व का विचार करना चाहता है। विचार से माया का बोध हो चुकने पर स्वयं ही बचा रहता है।

अनेक जन्मों तक जीव देवताओं का भजन-उपासना करता है। तब उसके मन में आता है कि 'पूजा करने वाला मैं कौन हूँ?' अनेक जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप अपनी आत्मरूपता का विचार करने की इच्छा भी होती है। अन्यथा, संसार में लोगों को कभी यह जिज्ञासा ही नहीं होती कि मेरा स्वरूप क्या है, मैं कौन हूँ। प्रायः आदमी अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शरीररूप मानकर ही सन्तुष्ट रहता है, निश्चय में बना रहता है। फिर जब कभी विचार आता है तब समझ आता है कि शरीर छोड़कर जाता हूँ, दूसरे शरीर में पुण्य-पाप का फल प्राप्त होता है, इसलिए शरीर से भिन्न कुछ मैं हूँ। वह मेरा स्वरूप क्या है? बुद्धि यहाँ है और आगे भी रहती है। क्या वही मैं हूँ? फिर विचार होता है कि बुद्धिवृत्ति कभी होती है, कभी नहीं होती। और विरुद्ध बुद्धिवृत्तियाँ भी होती हैं, उन सब में मेरा स्वरूप क्या है? जो

अनुभूति इस विचार में प्रवृत्त कराने वाली है वह प्रत्यभिज्ञा है। शरीर-मन सब के परिर्वतन होने पर भी, यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि मैं ही वह हूँ। बाल्य अवस्था में जो मैं था, वही मैं इस वृद्धावस्था में भी हूँ। इसी प्रकार से काम, क्रोध आदि की वृत्तियाँ बदलीं, परन्तु मैं वही हूँ, पहले कामी था, अब क्रोधी हूँ। इस प्रकार जो सब अनुभवों के अंदर अपना अनुवेध दीख रहा है, वही विचार में प्रवृत्त कराता है कि वह कौन है जो इन सब चीजों का अनुभव करने वाला है। तब आत्मविचार में प्रवृत्ति होती है, वरना आदमी अनेक (संसारी) बातों का घण्टों विचार करता है, मैं कौन हूँ?— इसका विचार होता ही नहीं।

जब अनेक जन्मों तक शुभ कर्म करेगा तभी देवताओं की कृपा से बाहरी वृत्तियाँ छोड़कर आन्तरिक विचार की तरफ जायेगा। चिकित्सा के बारे में जानना चाहते हो तो उस शास्त्र की पुस्तकें पढ़ते हो, जो उनको जाननेवाला है उसके पास जाते हो। इसी प्रकार आत्मा को बतलाने वाला शास्त्र उपनिषद् है। जिसने आत्मा का अनुभव किया है, उससे ही उपनिषदों के अनुसार यह विचार मिलेगा। श्रवण से आत्मविचार मिलता है। विचार से समझ आता है कि मैं वह ब्रह्म हूँ जिसने माया के द्वारा यह सारी सृष्टि रची। प्रविष्ट हुआ रूप सच्चा नहीं है, जिसने सारा संसार रचा है वही सत्य है। वही अपना अद्वितीय आनन्दरूप है। जैसे ही यह निश्चय होता है वैसे ही अज्ञान, अविद्या आदि शब्दों से कही जाने वाली माया नष्ट हो जाती है और तब 'स्वयम् शिष्यते', पूर्ण आनन्दरूप बच जाता है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है, वही अवशिष्ट रह जाता है। सृष्टि, प्रवेश आदि करने से रहित जो उसका स्वरूप है वह बच जाता है। यह अपवाद हो गया।। ३ ।।

स्वरूप से बच जाना ही मोक्ष है यह समझाते हैं—

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता।
बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते।। ४।।

अद्वय आनन्दरूप आत्मा की सद्वयता और दुःखिता बन्धन कहलाती है। स्वरूप से रहना मुक्ति कहलाता है।

इस समय ब्रह्म सविशेष है, माया के कार्य वाला है। माया-तत्कार्य से रहित जो उसका शुद्ध रूप, निष्प्रपंच रूप है वही मैं हूँ— यह निश्चयात्मक अनुभव हो जाने पर जीव सारे बन्धनों से छूट जाता है। बन्धनिवृत्ति ही मोक्ष है, चूँकि बन्ध-निवृत्ति ज्ञान से होती है, इसलिये कहा जाता है कि ज्ञान से मोक्ष होता है। मुक्ति तो हमारा स्वरूप है, वह ज्ञान से पैदा नहीं होता। परन्तु बन्धन अज्ञान के द्वारा अध्यारोपित है। ज्ञान से बन्धन की निवृत्ति होती है, इसी से कह दिया जाता है कि मोक्ष हो गया। देश, काल, वस्तु किसी भी प्रकार की सजातीय-विजातीय-स्वगत द्वितीयता जहाँ नहीं है वह आत्मा है। वह सब भेदों से रहित है। आनन्द ही उसका स्वरूप है। ऐसे अद्वितीय आनन्द के अन्दर 'सद्वयत्वं' भेद उपस्थित हो गया। अनेक जड पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनसे विजातीय भेद है। दूसरे जीवादि प्रतीत

होते हैं, उनसे सजातीय भेद है। इस प्रकार से जो अद्वितीय है उसमें हमको सद्वितीयता की प्रतीति हो रही है। इन सब से मैं अलग हूँ—यह भी सद्वितीयता का अनुभव है। अनेक सद्वितीयतायें प्रतीत हो रही हैं, यह बन्धन है। प्रवृत्ति मार्ग में संसार को बढ़ाना चाहते हो, अतः जितनी सद्वितीयता बढ़ाओगे उतनी उन्नति मानोगे। एक डाक्टर के स्थान पर अनेक विभिन्न विशेषज्ञ हो जाने को उन्नति मानोगे। सद्वितीयता बढ़ना प्रवृत्ति-मार्ग में उन्नति मानी जाती है। निवृत्ति-मार्ग वाले के लिये इससे विपरीत है। जितनी सद्वितीयता समाप्त हो, उतना ही वह श्रेष्ठ समझेगा। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों में उन्नति एक-जैसी नहीं हो सकती। एक आदमी पहाड़ों में नंगा रहता है, गर्मी-सर्दी सहन करता है। निवृत्ति-मार्ग के लिये वह उन्नत है पर प्रवृत्ति-मार्गी उसको उन्नत नहीं कहेगा वरन् विभिन्न मौसमों के अनुसार अलग-अलग परिधान जिसके पास हैं उसे उन्नत मानेगा। जब बन्धन को बढ़ाना चाहो तब प्रवृत्ति मार्ग पर चलो। जब मोक्ष चाहो तब निवृत्तिमार्ग पर चलो, तभी प्रवृत्ति-उपयोगी व्यर्थ लगेगा। इन दोनों मार्गों का समन्वय हो नहीं सकता। एक साथ गंगोत्री और गंगासागर नहीं पहुँचा जा सकता! निवृत्ति और प्रवृत्ति सर्वथा विरुद्ध मार्ग हैं। बन्धन और मोक्ष का मेल नहीं हो सकता। सद्वयता प्रतीत होते ही दुःखिता सामने आ जाती है। अद्वय वस्तु आनन्दरूप है, सद्वयता दुःखरूप है। सद्वयता भी है ब्रह्म का रूप ही किंतु दुःखी नहीं रहना चाहते हो, इसलिये इसे बन्धन स्वीकारते हो। परमात्मा आनन्दघन है, संसार दुःखालय है। जो कभी थोड़ा-बहुत सुख लग जाता है वह केवल अविवेक के कारण। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि 'सर्वं दुःख विवेकिनाम्'। संसार में जो सुख समझे जाते हैं वे भी विवेकियों की दृष्टि में दुःख ही हैं। अद्वितीय आनन्दरूप के अन्दर सद्वितीयता और दुःखिता की प्रतीति का नाम बन्धन है। जब यह प्रतीति हटकर अद्वयानन्द अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ तब मोक्ष है। फिर दुःखिता की कोई प्रतीति नहीं है। जिसने इस बात को समझ लिया है कि सिनेमा में दो ही चीज़ें हैं, रोशनी और अंधेरा; इस बात को जानने वाला उसे देख कर रोयेगा नहीं। वहाँ अन्धकार और प्रकाश के कारण थोड़ा अन्तर हो सकता है, पर यहाँ तो सर्वथा अद्वितीयता है, एक अखंड प्रकाश के अलावा कुछ है ही नहीं। इसलिये सारा संसार उस तत्त्वज्ञ के लिये नंन्दनवन है। दस मंज़िला मकान उसके लिये बन जाए या भूकम्प में वह गिर जाऐ, वह वैसे ही दोनों को देखकर हँसता है।। ४।।

मोक्षोपाय का निर्धारण करते हैं—

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत्।।५।।

बन्धन अविचार-प्रयुक्त है अतः विचार से हट जाता है। इसलिये हमेशा ही जीव और परमात्मा के बारे में विचार करना चाहिये।

बन्धन क्यों होता है? अविचारकृत ही बन्धन है, विचार नहीं करने से उसकी स्थिति है। यहाँ, विचार नहीं करने वाली स्थिति से अज्ञान की उपलक्षणा समझनी चाहिये। साधारणतः तो 'अविचार' का मतलब 'विचार नहीं', पर 'नहीं' से(अभाव से) कुछ उत्पन्न हो नहीं सकता है! इसलिये अविचार का मतलब अज्ञान है। अज्ञान के द्वारा ही सारा बन्धन है। अज्ञान इसलिये है कि उसे हटाने का उपाय नहीं किया गया है। अज्ञान अनादि है, उसका कारण कुछ नहीं है। अज्ञान ज्ञान से ही हट सकता है। ज्ञान श्रवन-मनन आदि विचार से होता है। अतः जैसे यहाँ अविचार से अज्ञान समझना है, वैसे ही 'विचार' से ज्ञान समझना है। जो सद्वयता और दुःखिता है, वह इसलिये कि हमने इन पर विचार नहीं किया। दुःख क्या है, कौन दुःखी है, मैं कौन हूँ– इस पर विचार किये बिना ही दुःखी होते रहते हैं। विचार करें तो दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं है। इसलिये 'सर्वदा', सब परिस्थितियों में, प्रविष्ट हुआ जीव क्या है, और जो प्रविष्ट हुआ वह परमात्मा क्या है?–इसका विचार कर्त्तव्य है। जीव और परमात्मा का जो स्वरूप है, उसका ही विचार करना चाहिये। जब तक तत्त्वसाक्षात्कार न हो जाये तब तक श्रवण आदि साधन में लगा ही रहे, यह मुमुक्षुका कार्य है। श्रवण किसका? जीव और ब्रह्म इन दोनों को बतलाने वाला जो शास्त्र है उसी का पहले श्रवणरूप विचार करे। क्योंकि शरीर में बैठकर ही विचार करोगे अतः शरीर-रक्षा के लिये जितना आवश्यक है उतना कार्य करते हुए बाकी समय विचार में ही लगाना चाहिये। दूसरी चीजों का विचार न करो, जीव और परमात्मा का ही विचार करो। इसी तरह सजातीय वृत्ति का प्रवाह बनता है। विजातीय वृत्तियाँ न बन पायें इसकी सावधानी रखनी पड़ती है। लगातार ऐसे प्रयास से तत्त्व-साक्षात्कार होता है। संस्कारों की दृढता अपेक्षित है ताकि विपरीत अनुभव विचलन का हेतु न बने।। ५।।

विचारणीय जीवका परिचय देते हैं–

अहमित्यभिमन्ता यः कर्त्ताऽसौ तस्य साधनम्।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते।। ६।।

जो 'मैं' ऐसा अभिमान करता है वह कर्त्ता है। उसका (प्रधान) साधन मन है। मन की क्रियाएँ क्रमशः उत्पन्न होने वाली आंतरिक और बाह्य वृत्तियाँ हैं।

जो 'मैं' ऐसा अभिमान करता है वह कर्त्ता जीव है। अहंकारात्मिका मन की वृत्ति को वह अपना स्वरूप समझता है। 'मैं' यह वृत्ति तो मन की है, और मन स्वरूप से, महाभूतों का विकार होने से, जड है। परन्तु उस मैं-वृत्ति में अध्यास कर लेता है इसलिये आत्मा को 'मैं हूँ' ऐसा बोध होता है। मैं अर्थात् प्रत्यगात्मा तो निरुपाधि है जबकि हमें जो 'मैं' अनुभूयमान है उसमें उपाधि-संबंध स्पष्ट है अतः हम 'मैं' से प्रत्यक् के बजाये अहंकारवृत्ति को समझ रहे हैं। प्रत्यक् और अहंकार, दोनों को 'मैं'-शब्द से कहा जाता है। जब हम 'मैं' कहते हैं, तब एक तो मैं अनुभूति है, वह है वृत्तिज्ञान और यह भी मालूम रहता है कि 'मैं

उस मैं-अनुभूति को जानने वाला हूँ,' यह प्रत्यक्-स्वरूप का भान है। जो अहंकार के अन्दर अभिमान करता है, अर्थात् चिदाभास-विशिष्ट अहंकार है वह कर्त्ता बनता है। चित् अहंकार को अपने में अध्यस्त कर लेता है तब कर्त्ता बनता है। जड में चेतन का अध्यास भी होता है, और चेतन में जड का अध्यास भी होता है। दोनों में अन्तर है कि चेतन में जड का अध्यास स्वरूप से और जड में चेतन का अध्यास संसर्गमात्र से है। चेतन में पहले अविद्या के द्वारा मन की वृत्ति अहंकार अध्यस्त हुई, फिर उस अहंकार के अन्दर चेतन के संसर्ग का अध्यास हुआ, इसलिये 'मैं चेतन हूँ' ऐसा ज्ञान हुआ। चिदाभास-विशिष्ट अहंकार आगे मन, शरीर, इंद्रियाँ आदि सबसे सम्बन्धित होता चला जाता है और सब को 'मैं' मानता है! शरीर-पर्यन्त अहन्ता का अध्यास हो जाता है। इसलिये लगता है कि 'मैं गोरा हूँ'; गोरा कौन है? शरीर है। 'मैं काणा' अर्थात् इंद्रिय में अध्यास है। 'मैं विद्वान्' इस तरह बुद्धि में अभिमान होता है। सबसे पहले अहम् में अध्यास होता है फिर अहम् के द्वारा सब में अध्यास होता जाता है। यह अहम् ही कर्त्ता है। चिदाभास-विशिष्ट अहंकार ही सब कुछ करता है। कर्त्ता को सदैव साधन चाहिये, जैसे लकड़ी छीलने के लिये बसूला चाहिये। छीलेगा तो बढ़ई, पर बसूले से। इसी प्रकार अहम् कर्त्ता हुआ, इसके पास करण, साधन क्या है? साधन मन है। अन्तःकरण का संकल्प-विकल्प करने वाला भाग मन है। अन्तःकरण का अहम्भाव तो हो गया कर्त्ता। उसकी वृत्ति संकल्प-विकल्प, वह हो गई साधन जिसके द्वारा करेगा। जैसे मैं, कामना के द्वारा, हाथ इंद्रिय को प्रवृत्त करके दूसरे की जेब से पैसा निकाल लेता हूँ। अहंकार सीधा कुछ नहीं करता, उसका साधन मन है। मन की क्रिया क्या है? अन्दर और बाहर के बारे में बनने वाली वृत्तियाँ उसकी क्रियायें हैं। सामने कुछ देखने की इच्छ से हमने आँखों को प्रवृत्त किया तो सामने घड़ा दीखा। यह तो अंतःकरण की बहिर्वृत्ति हुई। और अंतर्वृत्ति वह जो मैं के बारे में बने। ये क्रम से होती हैं।। **६**।।

इन दोनों वृत्तियों के स्वरूप को अलग-अलग करके दिखाते हैं—

अन्तर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्त्तारमुल्लिखेत्।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत्।। ७।।

'मैं' यह अन्तर्मुखी वृत्ति है जो कर्त्ता को व्यक्त करती है। 'यह' इस तरह बाहरी चीजों को 'यह' यों पहचानने वाली बहिर्मुखी वृत्ति है।

अन्दर की ओर मुख करने वाली जो वृत्ति है, मैं की वृत्ति, जिसका विषय बाहर नहीं है अन्दर ही है, इस अहंकार की वृत्ति में कर्त्ता बनने का उल्लेख आता है—'मैं करने वाला'। और बहिर्मुखा वृत्ति वह है जो 'यह' यों बाह्य चीज़ें ग्रहण करती है। भीतर-बाहर का विभाजन शरीर की अपेक्षा से समझना चाहिये। 'इदम्' अर्थात् यह; बाहर की सब चीजें यह-रूप से समझ आती हैं, अन्दर की सब चीजें मैं-रूप से समझ आती हैं। जितना विषय-दर्शन है, सब बाह्य ही है। विषय बाहर ही दीखते हैं। शरीर से बाहर जाने पर 'इदंता'

ही है। शरीर से बाहर जब किसी को कामी क्रोधी समझते हैं तब भी 'यह कामी, यह क्रोधी' ऐसी ही प्रतीति होती है।। ७।।

बहिर्वृत्ति में इन्द्रियों का योगदान दिखाते हैं—

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः।
असाङ्कर्येण तान् भिन्द्याद् घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम्।।८।।

'इदम्' अर्थात् 'यह' के जो गंध, रूप, रस आदि विशेष, उनका मिलाये-जुलाये बिना भेदपूर्वक ग्रहण घ्राण आदि पाँचों इन्द्रियाँ करती हैं।

मन से ही अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति द्वारा सारा व्यवहार सिद्ध नहीं होता क्योंकि मन की बाह्य वृत्ति तो केवल 'इदम्' का उल्लेख करेगी 'यह'। आगे, यह क्या है? इसका पता अकेले मन से नहीं लग सकता। उसके लिये इंद्रियों की ज़रूरत पड़ती है। 'इदम्' के विशेष हैं—यह सफेद है, यह काला है, यह गरम है, यह ठंडा है, यह ठोस है, यह अच्छी गंध है, यह बुरी गंध है। ये सब 'यह' के भेद हो गये। इन सब भेदों का ज्ञान नाक, आँख इत्यादि जो इंद्रियाँ हैं, उनके द्वारा ही होता है। इन्द्रियों के अपने-अपने नियत विषय हैं, आँखें रूप ही देखती हैं, कान शब्द ही सुनते हैं इत्यादि। अतः ये अपने विषय का मिला-जुला नहीं वरन् अकेले का ग्रहण करती हैं। इंद्रियाँ अपने विषय को ही ग्रहण करेंगी। रूप आदि विशेषों को समझने के लिये इंद्रियों की ज़रूरत पड़ती है। बिना इंद्रियों के मन 'यह' केवल इतना मात्र जानता है, आगे उसके रूप आदि विशेषों को नहीं जान सकता। यह हो गया जीव का स्वरूप। हमेशा अपने जीवस्वरूप का विचार करो। अहंकारात्मिका वृत्ति से विशिष्ट जो मेरा रूप है वही कर्त्ता है तथा मन से करता है। 'इदम्' का ज्ञान होवे तो समझो कि मन की बहिर्वृत्ति है। जब 'मैं कामी, क्रोधी' इत्यादि प्रतीतियाँ होवें तब जानो कि अन्दर के बारे में प्रतीति है। यह हर समय करने का अभ्यास है। जब व्यवहार कर रहे हो तब इस प्रकार का विचार करते रहो। संसार की प्रवृत्ति में न जाने के लिये यही उपाय है। जब तुम अपने अहंकार-स्वरूप का मनन करोगे तब तुम को धीरे-धीरे लगेगा कि 'यह अहंकारात्मिकावृत्ति कर रही है, मैं नहीं'। बिना विचारे तो 'मैं कर्त्ता' का भाव बढ़ता ही जाता है। विचार से पता लगता है कि 'अध्यास से कर्त्ताभाव है, सचमुच में मैं करता हूँ नहीं। यह मेरा स्वरूप नहीं है, अहंकारात्मिका वृत्ति के साथ जुड़ने से प्रतीत हो रहा है।' यह विचार ऐसा है कि भोजन का कौर खाते हुऐ भी किया जा सकता है कि 'जीभ चख रही है, मन की वृत्ति बन रही है, उस वृत्ति को बनाने वाली अहंकारात्मिकावृत्ति है। वह चित् से युक्त बन रही है'। इतना विचार करोगे तो रसगुल्ले का स्वाद उड़ जाएगा! जब व्यवहार आदि करते हो तब यह अभ्यास करो।। ८।।

जिस समय व्यवहार नहीं कर रहे हो, तब साक्षिरूप परमात्मा का विचार करना चाहिये—

कर्त्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि।
स्फोरयेदकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः।। ९।।

कर्त्ता (अहंकार), क्रिया (मनोवृत्तियाँ) एवं अलग-अलग विषय—सभी को एक-साथ प्रकाशित करने वाला चित्स्वरूप वेदान्त शास्त्र में साक्षी कहा जाता है।

कर्त्ता अर्थात् चिदाभास-विशिष्ट अहंकार, क्रिया अर्थात् अन्दर के बारे में मैं-रूप और शरीर से बाहर के बारे में इदम्-रूप वृत्तियाँ और वृत्तियों के जो व्यावृत्त परस्पर विलक्षण विषय हैं—सभी को साक्षी प्रकाशित करता है। रसगुल्ले को आँख से सफेद जाना, जीभ से मीठा जाना, त्वक् के द्वारा कोमल जाना; ये सब इंद्रियों के व्यावृत्त विषय हैं। साधारणतः तो लगता है कि रसगुल्ले का ही एक ज्ञान है पर विचार से पता चलता है कि अनेक अनुभवों का पुंज रसगुल्ला-ज्ञान है। कर्त्ता, क्रिया और विषय सब अलग-अलग हैं, एक प्रयत्न से अर्थात् एक साथ ही जो इन सबको व्यक्त करता है वह साक्षी है। उसका स्वरूप चैतन्य ही है। व्यवहार-काल में साक्षी को ही चिद्रूप देखना है।। ९।।

एक-साथ प्रकाशन ही प्रकट करते हैं—

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम्।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत्।। १०।।

देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, सूँघ रहा हूँ, चख रहा हूँ, छू रहा हूँ—यों साक्षी सभी को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे नृत्यशाला में रखा दीपक वहाँ के सब लोगों को एक-साथ प्रकाशित करता है।

यद्यपि सूक्ष्म विशेषों के बारे में सावधानी-पूर्वक क्रम से ही प्रकाश होता है तथापि समूचे विषय का अनुभव ऐसा होता है जिसमें उसके बारे में सभी तरह के ज्ञान एकत्र हो जायें। रसगुल्ले के स्पर्श आदि क्रम से पता चलने पर भी रसगुल्ले की पूरी जानकारी में रूप-रस आदि सब साक्षी को एक-साथ भासते हैं। अंधेरे कमरे में अचानक बिजली जले तो सभी चीज़ों पर एक-साथ रोशनी पड़ती है, सभी एक-साथ दीख जाती हैं, उनके भासित होने में कोई क्रम नहीं होता, इसी तरह साक्षी इकट्ठे सब को प्रकाशित कर देता है। नृत्यशाला, रंगमंच को प्रकाशित करने के लिये जो दीपक जलाया जाता है वह वहाँ जो कोई है सभी को इकट्ठे ही प्रकाशित करता है, ऐसे ही देखना-सुनना-सूँघना-चखना-छूना—सभी को साक्षी इकट्ठे ही प्रकाशित करता है। 'अहं' अर्थात् कर्त्ता, 'सर्वम्' अर्थात् विषय और 'ईक्षे' इत्यादि अर्थात् दर्शन—यों त्रिपुटी का प्रकाश साक्षी से हो जाता है। द्रष्टा व दर्शन को अन्तर्वृत्ति से विषय करता है, यह फ़र्क है लेकिन प्रकाशन एक-साथ होता है। 'मैंने घड़ा जाना' यह इकट्ठे ही पता लगता है।। १०।।

दृष्टान्त को और स्पष्ट करते हैं–

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेदविशेषेण　　तदभावेऽपि　　　दीप्यते ।। ११।।

नृत्यशाला में रखा दीपक प्रभु, सभ्य और नर्तकी, सब को बिना पक्षपात के प्रकाशित करता है। उन सबके न रहने पर भी जलता ही रहता है।

नृत्यशाला में जो दीपक है वह मालिक, राजा को जैसे प्रकाशित करता है वैसे ही अन्य दर्शकों को भी। ऐसा नहीं की मालिक को ज़्यादा प्रकाशित करे! जो वहाँ दर्शक बैठे हैं, उन सब को और जो नाचने वाली, नाटक करने वाली है उसे बिना कोई भेद किये, समानरूप से ही प्रकाशित करता है। चाहे राजा उठ कर चला जाये तब भी वैसा ही प्रकाश रहता है। नर्तकी और अन्य सबके उठकर जाने पर भी, उस अभाव में भी दीपक तो जलता ही रहता है। इसी प्रकार जब सब नहीं रहते तब 'सब नहीं हैं' इसी बात को साक्षी प्रकाशित करता रहता है। गहरी नींद में यह प्रकाश स्पष्ट होता है। उठकर यही कहते हो 'मैंने कुछ नहीं जाना'। हम कहते हैं कि 'मैंने घड़े को जाना' तो मतलब है, 'मैं घड़े को जान रहा था'। जब कहते हैं 'मैंने कुछ नहीं जाना' तो इसका मतलब है कि 'मैं कुछ नहीं को जान रहा था'। सब चीज़ें नहीं रहती हैं तब भी साक्षी वैसा का वैसा प्रकाशमान रहता है। जब प्रवृत्ति कर रहे हो तब व्यवहार में इन सब चीजों का ध्यान रखना चाहिये। कौन करने वाला है, किससे करता है इत्यादि विचार करने से विषयों में नहीं फँसते। इस प्रकार कर्त्ता को जानकर फिर जैसे ही करना खत्म हुआ, वैसे ही सारे को इकट्ठे ही साक्षी प्रकाशित करता है, कि 'मैंने यह सब कर लिया' इस प्रकार साक्षिभाव का प्रकाश स्पष्ट हो जाता है। जब कुछ भाव नहीं है तब साक्षी 'कुछ भाव नहीं है', इसको प्रकाशित करता है। यह अभ्यास हमेशा सब व्यवहारों में किया जा सकता है।। ११।।

दृष्टान्त के प्रभु इत्यादि को दार्ष्टान्त में घटाकर बतलाते हैं–

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्।।१२।।

अहंकार, बुद्धि और विषयों को साक्षी प्रकाशित करता है। अहंकारादि न रहने पर भी खुद तो साक्षी पहले की ही तरह भासमान रहता है।

इस सब खेल का मालिक कौन है? अहंकार। जब तक अहंकार रहेगा तभी तक ये मन आदि सब अपना-अपना काम करेंगे। मालिक है अहंकार, प्रभु की जगह और धी, अन्तःकरण उसका साधन है। जैसे वहाँ प्रभु, सभ्य और नर्तकी वैसे यहाँ अहंकार, बुद्धि और विषय हैं। जैसे नर्तकी नाचने वाली है वैसे ही विषय परिवर्तित होते रहते हैं। जैसे सभ्य नर्तकी को देखते रहते हैं, वैसे ही मन की वृत्ति विषयों को देखती रहती है। यद्यपि आगे

बुद्धि को नर्तकी कहेंगे तथापि यहाँ ऐसा समझने से भी मूल अभिप्राय से कोई विरोध नहीं आता। जब अहंकार आदि नहीं रहते हैं तब भी साक्षी रहता है जैसे सुषुप्ति में, अथवा जाग्रत् में भी, जब थक करके चूर हो जाता है आदमी तब कुछ होश नहीं रहता। इन सब के अभाव में भी पूर्ववत्, अर्थात् अहंकारादि रहते जैसा भासता था वैसा ही वह साक्षी प्रकाशमान तो बना ही रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता।। १२।।

बुद्धि से स्वतंत्र साक्षी सिद्ध करते हैं–

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा।।१३।।

कूटस्थ के ज्ञप्तिरूप से निरन्तर भासमान रहते उसके प्रकाश से प्रकाशित होती यह बुद्धि अनेक तरह से नाचती है।

कूटस्थ निरन्तर भास ही रहा है। 'भास रहा' का मतलब यह नहीं कि किसी दूसरे को पता चल रहा है। वरन् स्वयं ही ज्ञानरूप से उपस्थित है। जैसे दीपक निरन्तर जल रहा है, प्रभु आदि आ गये तब दीपक प्रकाशक की तरह दिखता है। सब नहीं हैं तो केवल प्रकाशरूप रहता है। कूटस्थ मायने साक्षी। कूटस्थ इसलिये कहा कि इन सब चीजों के बदलने पर भी यह नहीं बदलता है। निरन्तर कैसे भासमान है? 'ज्ञप्तिरूपतः', ज्ञान-रूप से ही निरन्तर प्रकाशित है। हम लोग प्रकाश, भास आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो भ्रम होता है कि आत्मा कोई रोशनीरूप होगी! किंतु 'प्रकाश' का मतलब रोशनी से नहीं है। जैसे प्रकाश जो चीज़ जैसी है उसे वैसा प्रकट करता है, ऐसे ही जो चीज़ जैसी है उसको ज्ञान वैसा प्रकट करता है। इसी का नाम ज्ञान है। उस कूटस्थ के प्रकाश से प्रकाशित हुई बुद्धि अनेक प्रकार से नाचती है। बुद्धि को जब साक्षी से प्रकाश मिला था तो प्रकाशित हुई वह 'यह घड़ा, यह कपड़ा' इस प्रकार से विभिन्न आकार लेती रहती है। बिना कूटस्थ से प्रकाश पाये नहीं नाचेगी, प्रकाश से ही नाचेगी। बुद्धि की वृत्ति घटाकार बनने का मतलब होगा कि घट के अज्ञान का नाश होगा। अज्ञान का नाश बिना ज्ञान के हो नहीं सकता। इसलिये बिना प्रकाश के खाली वृत्ति बन सके ऐसा नहीं है। कूटस्थ का प्रकाश बुद्धि में आता है अहंकार से युक्त होकर। अर्थात् कूटस्थ से सीधे अहंकार प्रकाशित होता है, उसके माध्यम से अन्यान्य बुद्धिवृत्तियाँ प्रकाशित होती हैं। बुद्धि जड है, विकारों वाली है, कभी उत्पन्न होगी, कभी नष्ट होगी। अनित्य ज्ञान तो बुद्धि के जन्म-नाश से संगत हैं और निर्विकार एकरस निरन्तर रहता ज्ञान कूटस्थ का स्वरूप है। अतः केवल बुद्धि या जन्यज्ञान मानकर ही व्यवस्था नहीं बन सकती, उससे स्वतंत्र कूटस्थ स्वीकारना पड़ता है जो स्वप्रकाश, नित्य ज्ञानरूप है।। १३ ।।

दार्ष्टान्त ही और स्पष्ट करते हैं—

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः।।१४।।

अहंकार प्रभु है, विषय सभास्थित प्रेक्षक हैं, बुद्धि नर्तकी है, इंद्रियाँ ताल आदि वाद्य बजाने वाले हैं, साक्षी सबको प्रकाशित करता दीपक है।

प्रभु कौन होता है? अगर नर्तकी ने अच्छा नृत्य किया तो उसको अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि 'मैंने कितना अच्छा नाच करवाया'। यदि ख़राब नृत्य करती है तो विषाद करता है। भोग जिसे हो वह प्रभु होता है। इसी प्रकार यदि बुद्धि सुखद अनुभव करती है तो अहंकार को हर्ष होता है। यदि बुद्धि को दुःखद अनुभव होता है, तो अहंकार विषाद करता है। इसे श्रुति ने कहा है कि 'मैंने अच्छा क्यों नहीं किया और मैंने बुरा क्यों किया' ये हर्ष और विषाद जिसको होते हैं वही अहंकार है। अहंकार के द्वारा ही मालिक की तरह सारे कर्म किये जाते हैं। नाटक करने वालों ने नाटक किया, देखने वालों ने देखा, परन्तु अभिमान करने वाला राजा मालिक ही है। व्यापार अच्छा हुआ, लोगों को धन मिला, प्रसन्नता मालिक को हुई। और नुकसान हुआ तो भी मालिक को ही विषाद हुआ। इसी प्रकार से हमारे सारे कामों में अच्छे-बुरे का अभिमान जिसे होता है वह अहंकार है। जो दूसरे लोग दरबार में नृत्य देख रहे हैं वे सभ्य कहलाते हैं। वे देखते तो हैं, 'मैंने अच्छा या बुरा नृत्य कराया' ऐसा भाव उनमें नहीं आता है। इसी प्रकार रसगुल्ला खाकर मुझे तो मज़ा आया, पर रसगुल्ला प्रसन्नता आदि से रहित है। पुराना खट्टा रसगुल्ला खाया तो मुझे दुःख होगा, पर रसगुल्ले को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। सुख-दुःख तो किसी न किसी विषय से होगा, पर विषयको नहीं होगा। यद्यपि मैं भी ज़रूरी और विषय भी ज़रूरी, पर विषय को सुख-दुःख नहीं होता है, 'मैं' को होता है। नाटक को सभ्य भी वैसा ही देखते हैं जैसा प्रभु देखता है लेकिन उन्हें अभिमान नहीं होता। इसी तरह जड होने के कारण विषयों को भी अभिमान नहीं होता। इसलिये वे सभ्य-स्थानीय हैं। नाचने और अभिनय करने वाले लोग जैसे विकार वाले बनते रहते हैं वैसे ही यह बुद्धि तरह-तरह के विकारों वाली बनती रहती है। इंद्रियाँ ताल देने वालों की तरह हैं। जैसे तालधारी, तबलची आदि वाद्य बजाता है, उसके अनुसार नर्तकी के पैर सम पर आकर स्थिर होते हैं; उसी प्रकार से इंद्रियाँ जब विषयों को देखती हैं तब बुद्धि नाचती है।

ये सब तो अलग-अलग काम करेंगे, लेकिन दीपक सभ्य प्रभु और नर्तकी को भी दिखायेगा और वे नहीं रहें तो खाली शाला को प्रकाशित करेगा। इसी प्रकार साक्षी अहंकार को, विषयों को, इंद्रियों को और बुद्धि को भी प्रकाशित करता है। यह दीपक की जगह हो गया। जब कभी भी व्यवहार-भूमि में हो तब अहंकार के अन्दर प्रभु की दृष्टि करनी है, विषयों के अन्दर सभ्यों की दृष्टि करनी है। साक्षी इन सब को प्रकाशित कर रहा है। बार-बार ऐसा सोचकर फिर साक्षी में स्थित होना है। साक्षी में आने की यह विधि बतला रहे हैं।। १४।।

अहङ्कारादि जन्य, परिवर्तनशील वस्तुओं का प्रकाशक होने पर इनसे सम्बद्ध होते रहने पर साक्षी भी विकारी होगा— यह सम्भावना आती ही। उदाहरण में जैसे दीपक भी उत्पन्न आदि होता ही है, हिलता-डुलता भी है। आधुनिक वैज्ञानिक तो प्रकाश का गमन भी मानते हैं अतः वस्तुओं को क्रम से प्रकाशित भी कह सकते हैं। ऐसे ही साक्षी में विकार न माने जायें इसलिये समझाते हैं—

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद् यथा।
चिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत्।। १५ ।।

अपनी जगह पड़ा दीपक जैसे सब ओर प्रकाशित कर देता है वैसे स्थिर और स्थायी साक्षी बाहर भीतर सब प्रकाशित करता है।

सिद्धान्त के अनुसार वह्नि व्यापक है अतः सर्वत्र प्रकट ही होगी, इसके गमनागमन का प्रसंग नहीं, लौ आदि ही उत्पन्न, नष्ट, चंचल आदि हो सकती हैं, प्रकाशरूप वह्नि नहीं। इसी तरह साक्षी निर्विकार है। स्थिर से चांचल्यादि विकारों का निषेध है, स्थायी से जन्म-नाश का निषेध है। घड़ा जाना तो साक्षी उसे प्रकाशित करता है, इससे लगता है कि साक्षी में अन्तर आया, पहले घड़े को प्रकाशित नहीं कर रहा था, अब किया; किंतु साक्षी पहले भी अज्ञातरूप उसे प्रकाशित कर ही रहा था इसलिये साक्षी में अन्तर नहीं आया, घड़े में ही अज्ञातता हटना और ज्ञातता आना यह अन्तर आया। साक्षी नित्य होने से स्थायी है और स्वरूप से विभु होने से स्थिर है। बाह्य विषयों को प्रमाता के द्वारा एवं आन्तर विषयों को अज्ञान के द्वारा वह प्रकाशित करता है। बहिर्मुख या अन्तर्मुख जैसी वृत्ति होगी तदनुसार साक्षी अर्थों का प्रकाशक हो जायेगा, स्वयं वह निर्विकार चिद्रूप ही है।। १५ ।।

आत्मरूप साक्षी व्यापक है तो बाहर-भीतर का भेद कैसे? यह समझाते हैं—

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहङ्कृतिः।।१६।।

बाहर-भीतर का यह विभाजन शरीर की अपेक्षा से है, साक्षी में नहीं है। विषय बाहरी स्थान में मौजूद हैं और शरीर के अन्दर अहंकार है।

'बाहर-अन्दर को प्रकाशित करता है,' सुनने से साक्षी के बहार और अन्दर, यही प्राप्ति होती है। अर्थात् साक्षी अपने अन्दर को और बाहर को भी प्रकाशित करता है। किंतु 'अनन्तरम् अबाह्यम्' आदि वाक्यों के द्वारा साक्षी में किसी प्रकार का अन्दर-बाहर का भेद नहीं है। इसलिये बाहर-अन्दर का जो विभाग है वह शरीर की दृष्टि से है। शरीर के बाहर-अन्दर को प्रकाशित करता है—यह तात्पर्य है। साक्षी तो सब जगह एक जैसा ही है। घट-पट आदि विषय बाहर हैं क्योंकि शरीर से बाहर हैं और शरीर के अन्दर मैं-शब्द से कहा जाने वाला अहंकार कहा जाता है। 'अन्दर की तरफ प्रकाशित करता है' अर्थात् मैं को

प्रकाशित करता है, कर्त्ता को प्रकाशित करता है। और बहार अर्थात् घट-पट आदि विषयों को प्रकाशित करता है।। १६ ।।

पहले 'मैं' यह भीतर का ज्ञान होता है फिर 'घड़े को जान रहा हूँ' यह बाहर का ज्ञान होता है, इससे लगता है कि ज्ञान करने वाला साक्षी भीतर से बाहर जाता है तो स्थिर कैसे? इसका उत्तर देते हैं—

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा।। १७।।

शरीर में स्थित बुद्धि इन्द्रियों के साथ बार-बार बाहर जाती है। प्रकाश्य उस बुद्धि की चंचलता व्यर्थ ही साक्षी पर आरोपित की जाती है।

अन्दर स्थित जो बुद्धि वही तो इंद्रियों से जुड़कर बाहर जाती है, साक्षी जाता नहीं, भ्रमसे समझते हैं कि साक्षी बाहर गया है। 'अक्षैः सहैव,' मन बिना इन्द्रियों की सहायता लिये शरीर से बाहर नहीं जाता। कुछ विचारक योगादि के प्रभाव से मन में बिना इन्द्रियों के सहारे भी दूर जाने की सामर्थ्य मानते हैं किंतु वेदान्त में मनोवृत्ति की तरह अविद्यावृत्ति से भी अनुभवों को समझा जाता है अतः जहाँ इंद्रियों के बगैर दूरादि का अनुभव हो वहाँ अविद्यावृत्ति मानी जाती है। अबाधित अनुभूति भ्रम नहीं होती अतः योगसिद्धि से हुआ ज्ञान सही हो सकता है। बुद्धि तो इंद्रियों के साथ ही बाहर जाती है। 'पुनः पुनः' बार-बार जाती है, दिनभर विषयों का ही दर्शन होता रहता है! एक तो इंद्रियाँ बहिर्मुखी हैं, दूसरा मन में विषयों के प्रति आकर्षण है, तीसरा विभिन्न इंद्रियादि से ग्रहण किये बिना विषयों का साकल्येन निश्चय नहीं होता इसलिये बार-बार बुद्धि को जाना पड़ता है। बुद्धि के साथ चिदाभास भी बाहर जाता है यह समझ लेना। साक्षी के द्वारा बुद्धि भास्य है, जानी जाती है। बुद्धि चंचल है। इस बात को साक्षी देखता है, साक्षी में तो वह चांचल्य नहीं है परन्तु उसके ऊपर आरोपित हो जाता है! चंचल बुद्धि को साक्षी प्रकाशित करता है, और उस प्रकाशन से ही हमें साक्षी का भान होता है इसलिये हम मान लेते हैं कि यह चंचलता साक्षी की है। यह आरोप वृथा, निरर्थक, निराधार है लेकिन हो जाता है। जो प्रकाश करने वाला भासक है, जानने वाला है, उस पर प्रकाश्य की चंचलता आरोपित हो जाती है।। १७।।

बुद्धि जानी जा रही है, उसकी चंचलता का आरोप जानने वाले साक्षी में हो रहा है— यह कैसे समझा जाये? भास्य के चांचल्य का आरोप प्रायः भास्य पर ही होता है, भासक पर नहीं अतः दृष्टांत से समझाते हैं—

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षाद् आतपोऽचलः।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा।।१८।।

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात् करोतीव तथा तथा।।१६।।

गवाक्ष से घर के अन्दर आयी थोड़ी रोशनी होती स्थिर है पर उसमें हाथ नचाने पर जैसे रोशनी नाचती-सी लगती है, वैसे साक्षी अपने स्थान पर स्थित है, बाहर-भीतर जाना-आना नहीं कर रहा लेकिन बुद्धि की चंचलता से लगता है मानो गमन-आगमन कर रहा हो।

पुराने घरों में इतनी खिड़कियाँ नहीं बनती थीं, केवल छोटे गवाक्ष या छेद होते थे जिनमें से सूर्य का प्रकाश आता था। उसमें से आता प्रकाश एक लम्बे दण्ड-सा दिखाई देता है। वह प्रकाश अचंचल है। पर उसमें अपनी अंगुलियाँ हिलाओ तो लगता है कि प्रकाश हिल रहा है! यहाँ नाच तो रही है भास्य अंगुली, उससे प्रतीत हो रहा है कि भासक प्रकाश नाच रहा है। इसी प्रकार भास्य बुद्धि नाच रही है और लगता यह है कि प्रकाशरूप साक्षी नाच रहा है। इसी तरह भासक प्रकाश के ऊपर भास्य के चांचल्य का आरोप देखा जाता है। 'नृत्यतीव' से कहा कि सचमुच में उसमें कोई हिलना-डुलना नहीं है, वह अचंचल है, लेकिन चलते हुऐ की तरह प्रतीत होता है। इसी प्रकार साक्षी बुद्धि के कारण चंचल प्रतीत होता है परन्तु है वह एक-जैसा; वह अपने स्थान में स्थित है। साक्षिभाव तभी तक रहता है जब तक मूलाज्ञान है। उसके बाद न साक्ष्यभाव है न साक्षिभाव है। जैसा स्वरूप है वैसा ही रह जाता है । मूलाविद्या से आवृत रहते ही आत्मा साक्षी है। इसलिये उसको निजस्थान कह दिया। उसका अपना स्थान हुआ अविद्या। जो जहाँ नियम से रहता है वही उसका स्थान है। साक्षिता का प्रयोजक होने से अविद्या को स्थान कहा। मोडक ने माना है कि वह अविद्या भी जहाँ रहती है उस ब्रह्म को साक्षी के रहने का स्थान समझना चाहिये। सर्वाधिष्ठान होने से वैसा कहना भी बन जाता है। साक्षी अविद्या में स्थित है, उसका आना-जाना, हिलना-डुलना कुछ नहीं है। बाहर, अर्थात् घट आदि स्थल में भी साक्षी का जाना नहीं है; और अहंकार के स्थल पर भी जाना नहीं है। वह बाहर-अन्दर कहीं जाता-आता नहीं है। लेकिन चूँकि बुद्धि चंचल है, कभी अन्दर अर्थात् अहंकार के बारे में बनती है, कभी बाहर अर्थात् घट-पट आदि की तरफ जाती है, इसलिये वह साक्षी जाते हुए की तरह प्रतीत हो जाता है। बुद्धि की चंचलता से साक्षी पर चंचलता का आरोप हो जाता है। **॥१६॥**

'निजस्थान' ही स्पष्ट करते हैं—

न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः।।२०।।

साक्षी न बाहरी है न भीतरी, बाहर-भीतर दोनों बुद्धि के स्थान हैं। बुद्धि आदि सभी कुछ प्रतीत होना बंद होने पर साक्षी जहाँ भासता है वहीं है।

पूर्व श्लोक में कहा 'अपने स्थान में स्थित'; इसका मतलब हुआ कि साक्षी किसी स्थान

में है। जैसे जब कहते हैं कि साक्षी नित्य है तब प्रतीति यह होती है कि सब कालों में है। वस्तुस्थिति यह है कि काल उसमें कल्पित है! इसलिये काल उसका परिच्छेद नहीं कर सकता। परन्तु प्रतीति हो जाती है कि सब कालों में है जबकि है वह कालातीत, इसलिये वह किसी काल में नहीं है, सारे काल ही उसमें हैं। ऐसे ही जब कहते हैं कि वह अन्दर-बाहर सब को प्रकाशित करता है, तब लगता है कि वह किसी देश में है। सर्वव्यापक है सुनकर प्रतीति हो जाती है कि वह सब देशों में हैं। परन्तु वह सब देशों में नहीं, सब देश उसमें कल्पित हैं। ऐसे ही कहते हैं कि परमेश्वर सब के हृदय में है, तो प्रतीति हो जाती है कि परिच्छिन्न हृदय के अन्दर वह है। पर वास्तव में सब हृदय उसमें कल्पित हैं। देश काल और वस्तुओं के परिच्छेद उसमें नहीं हैं क्योंकि वह देशातीत, कालातीत, वस्तुओं से अतीत है। स्थानपरिच्छिन्नता के भ्रम को हटाने के लिये कहते हैं कि साक्षी न बाहर है, न अन्दर है। आत्मा को 'अन्दर' शास्त्रों में केवल इसलिये कहा है कि अन्दर की तरफ जाने से उसकी उपलब्धि होती है। बाहर से वृत्ति हटाकर, अन्दर की तरफ ले जाने के उद्देश्य से कहा जाता है कि वह हृदय-देश में है, सबके अन्दर है इत्यादि। साक्षी न शरीर के बाहर है न अन्दर है। फिर अन्दर-बाहर कैसे कहा जाता है? इसलिये कि अन्दर और बाहर दोनों बुद्धि के देश हैं। बुद्धि बाहर जाती है तो बन्धन बढ़ता है, जब अन्दर आती है तब मनुष्य मोक्ष की तरफ प्रवृत्त होता है। जब बुद्धि बाहर जाती है तब लगता है साक्षी बाहर है, जब अन्दर आती है तब लगता है साक्षी अन्दर है।

फिर साक्षी का निज स्थान कौन-सा है? बुद्धि, मन, इंद्रियाँ ये सब जब शान्त हो जाते हैं अर्थात् इनकी प्रतीति नहीं होती तब जहाँ भासे वहाँ साक्षी है। बुद्धि आदि की प्रतीति घट-पट आदि की तरह तो होती नहीं है, इनकी क्रियाओं की प्रतीति से इनकी प्रतीति माननी पड़ती है। जैसे आँख की प्रतीति हम लोगों को नहीं होती। पर देखना-रूप क्रिया से मान लेते हैं कि हमारी आँखें हैं। सुनने की क्रिया से मान लेते हैं कि श्रवणेन्द्रिय है। अतः मन, बुद्धि, इंद्रियों की प्रतीति न होने का मतलब है इनकी क्रियाओं की प्रतीति का न होना। विचार करते-करते चित्त एकाग्र होता चला जाता है। अंत में विचार करने की भी प्रतीति नहीं रह जाती, कर्त्तापने की भी प्रतीति नहीं रह जाती। ये सब शान्त हो जाते हैं। इनको शान्त दोनों तरीके से किया जा सकता है; एक, प्राणायाम के द्वारा दीर्घ कालीन कुम्भक के अभ्यास से मन, बुद्धि, इंद्रियाँ– ये सब अपना कार्य नहीं करते। अतः इनकी प्रतीति नहीं होती। दूसरा उपाय है कि किसी एक चीज़ पर मन को एकाग्र करते चले जाओ, धीरे-धीरे मन की प्रतीति भी हट जाती है। इंद्रियों की प्रतीति तो पहले ही हट जाती है। अथवा श्रवण-मनन को लगातार करते-करते मन एकाग्र हो जाता है। हर हालत में, बुद्धि-मन-इंद्रियाँ शान्त हो जाती हैं ऐसी स्थिति चाहिये। जब इन सब की कोई भी क्रिया नहीं रह जाती, जब ये शान्त हो जाते हैं, तब वहाँ साक्षी 'अस्ति' और 'भाति' है भी और इसका भान भी होता है। भान इसलिये होता है कि बुद्धि आदि अंतःकारण की क्रियायें तो सब शान्त हो

गईं, कोई वृत्ति नहीं है, परन्तु अन्तःकरण अभी है। इसलिये अन्तःकरण में प्रतीति हो जाती है।

सुषुप्ति के अन्दर भी बुद्धि आदि अशेष अर्थात् सब शान्त तो हो जाते हैं, पर वहाँ खुद अन्तःकरण ही नहीं अतः भान नहीं होता। भान होने के लिये किसी-न-किसी आलम्बन की ज़रूरत होती है। जैसे भौतिकी के जानकार बताते हैं कि यदि प्रकाश्य कुछ न होवे तो प्रकाश की प्रतीति नहीं होगी भले ही प्रकाश है सही। इसलिये अन्तरिक्ष में चले जाते हो, तो घोर अन्धेरा दीखता है। सूर्य का प्रकाश तो आ रहा है, पर अंधेरा दीखता है। अंधेरा नहीं है, तुम हाथ या डंडा कुछ भी बाहर निकालो तो वह दिखता है! जैसे प्रकाश व्यक्त होने के लिये प्रकाश्य की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार से ज्ञानस्वरूप साक्षी अन्तःकरण के ऊपर जब पड़ता है तब उसका प्रकाश ज्ञात होता है। प्रकाशस्वरूप तो साक्षी है, लेकिन अंतःकरण हो, उसकी वृत्ति हो, कुछ-न-कुछ हो तभी उसमें वह प्रकाश पड़ेगा। अतः अन्तःकरण स्वरूप से शांत नहीं हो जाना चाहिये तब साक्षी भासेगा। वह भी शांत हो जाये तो नींद आ जायेगी। वहाँ वह है भी और प्रतीत भी होता है। दोनों इसलिये कहे कि अन्तःकरण जब शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्ति में, तब भी साक्षी है तो सही, पर उसका भान नहीं होता। यह याद रखना चाहिये कि ब्रह्म या साक्षी, जगत्-भ्रम का नाशक नहीं है। ठीक जैसे रस्सी सर्प के भ्रम को नष्ट नहीं करती। रस्सी का *ज्ञान* सर्प के भ्रम को नष्ट करता है। परमात्मा भ्रम का नाशक नहीं है। परमात्मा का ज्ञान भ्रम का नाशक है। ज्ञान ही अज्ञान को हटायेगा अत एव बंधननिवृत्तिका एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञान है, इसके बिना अज्ञान नहीं मिट सकता।

गीता में स्पष्ट कर दिया कि परमेश्वर भक्ति का क्या फल दे सकता है, 'ददामि बुद्धियोगं तम्'। सभी योगों का अन्तिम फल मैं ज्ञानयोग देता हूँ, ज्ञानयोग के अभ्यास से ही साधक मुझे प्राप्त करते हैं। दूसरे साधन ज्ञानयोग की सहायता करने वाले हैं। कर्मयोग तुम्हारे मलदोष को निवृत्त करता है। भक्ति, चाहे सगुण या राजयोग निर्गुण भक्ति हो, विक्षेप दूर करेगी। योगाभ्यास में भी यम-नियमों के अन्दर ही ईश्वरप्रणिधान आ गया है। सारा भक्तियोग ईश्वर-प्रणिधान ही है। अन्तर यह है कि पतंजलि ने प्रधान रूप से निर्गुण उपासना पर ज़ोर दिया है, भक्ति वाले सगुण उपासना पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं, निर्गुण उपासना पर नहीं। पर दोनों ही चित्त को एकाग्र करके विक्षेप दोष को हटाते हैं। विक्षेप के हटने पर ज्ञान योग आवरण को हटा देता है। तीन दोषों की निवृत्ति के लिये तीन मार्ग बताये हैं। पर भगवान् ने कहा कि बाकी सब ज्ञानयोग की तरफ ले जाते हैं और आवरणभंग, परमात्मा के साथ एक हो जाना तो केवल ज्ञानयोग से ही होता है। जैसा भगवान् ने कहा वैसा वेद भी कह रहा है। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति'। उस परमात्मा का ज्ञान ही तुम को नाशवान् संसार के पार ले जाता है। वेद ने स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान को छोड़, उसकी प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। स्पष्टरूप से यह अनेक श्रुति वाक्य बतलाते हैं। इस प्रकार निजस्थान का अभिप्राय सूचित किया।। २०।।

वही अभिप्राय प्रकट करते हैं–

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक्।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः।। २१।।

बुद्धि आदि अशेष की संशान्ति हो जाने पर यदि कोई देश न भासे तो समझो कि साक्षी को स्व से अतिरिक्त किसी देश की, स्थान की अपेक्षा ही नहीं है। सारे देश उसमें कल्पित होने से ही वह सर्वगत है, स्वभाव से किसी देश से सम्बद्ध नहीं।

देश की सारी कल्पना व्यवहार को लेकर है। हमारा मन ऐसा बना है कि देश, काल और कार्य-कारणभाव इनके बिना सोच ही नहीं सकता। कोई बात होने पर प्रश्न होता है कहाँ, कब, की बात है? इसके बिना जिज्ञासा शांत नहीं होती। अन्य प्रश्न होता है कि इसका कारण क्या है? पेट खराब हुआ तो क्यों हुआ? सामान्य कारण से भी शान्ति नहीं होती। घड़ा बन गया, किसने बनाया, कहाँ का बना है? इसके पीछे बनाने वाले लोगों की भावना क्या है? मन का निर्माण ही ऐसा हुआ है कि इसके अन्दर देश, काल, और कार्य-कारण-भाव हमेशा निहित रहते हैं। बुद्धि की प्रवृत्ति तब होगी जब कुछ व्यवहार होगा। बुद्धि के बिना देश, काल, कार्य-कारणभाव की कल्पनायें नहीं हैं। जब व्यवहार शांत हो गया, उस समय देश की प्रतीति नहीं होती है। अतः यदि कहो कि जब बुद्धिआदि-अशेष संशान्त हो गये तब किसी देश का भान नहीं रहेगा तो यही समझो कि साक्षी किसी देश में नहीं होता है। शंका होगी कि नास्तिक भी कहता है परमात्मा कभी नहीं है, कहीं नहीं है। वही आपने भी कह दिया कि किसी देश में नहीं है! समाधान है कि जब हम कहते हैं कि वह सर्वगत है, तब अभिप्राय है कि देशादि-कल्पना का वह अधिष्ठान है। उससे अलग रहकर देश नाम की कोई चीज़ है ही नहीं। जैसे सारा संसार कल्पित है वैसे ही देश भी परमात्मा के अन्दर कल्पित है। अधिष्ठान होने के कारण उसको अपने से भिन्न किसी देश की अपेक्षा नहीं है जहाँ वह रहे। उसके होने से सब देश है, वह किसी देश में नहीं है। श्रुति उसको सर्वव्यापक क्यों कहती है? सर्वग शब्द के अन्दर ही यह अर्थ छिपा हुआ है : गम् धातु का अर्थ ज्ञान भी होता है। जो गति को बताने वाले धातु हैं वे सारे के सारे ज्ञान को बताने वाले हैं। सर्वगत का मतलब हो जाता है, सर्वज्ञानस्वरूप। जब ज्ञान से सम्बद्ध होता है तभी कोई देश है। बिना ज्ञान से सम्बद्ध हुए न कोई देश, न काल, न कार्यकारणभाव है। कार्य-कारणभाव वस्तुओं में तो होता नहीं है। वस्तुओं को आगे-पीछे देखकर हमें कार्य-कारणभाव की प्रतीति है। इसलिये जहाँ कार्य-कारण-भाव है वहाँ ज्ञान है। इसी प्रकार जहाँ देश है वहाँ देश का ज्ञान है, अन्यथा देश की सिद्धि ही नहीं है। सब को जानने वाला, सबका साक्षी है, इसलिये शास्त्र ने सर्वग कह दिया। सारे देशों की कल्पना इस पर ही होती है। ज्ञानरूप साक्षी होने पर ही सब देशों की कल्पना होती है, इसलिये उसको 'सर्वग' कह दिया। साँप का भ्रम हुआ तभी बाध की दृष्टि से रस्सी को साँप का अधिष्ठान कहते हैं।

इसी प्रकार, साक्षी में अंतःकरण के व्यवहारों के साथ सम्बन्धित होकर देश की कल्पना बनती है। जैसे ही उसकी वास्तविकता का ज्ञान होता है, देश, काल, कारणकार्यता ये सारे भ्रम हट जाते हैं। इसीलिये उसको अधिष्ठान कहते हैं। किंतु भ्रम की जब प्रतीति नहीं है तब अधिष्ठान भी नहीं कह सकते। किसका अधिष्ठान? भ्रम का ही अधिष्ठान होगा। भ्रम ही नहीं तो अधिष्ठान क्या होगा! *स्वयं* वह अधिष्ठान भी नहीं है। इसलिये जब विदेह मोक्ष हो जाता है तब सारा व्यवहार हट जाता है। उस समय उसमें अधिष्ठानता भी नहीं रहेगी।। २१।।

जैसे व्यापकता वैसे साक्षिता भी सापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं यह कहते हैं—

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत्।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत्।।२२।।

बुद्धि जिस भी देश की कल्पना करे— चाहे अन्दर देश, बाहर का देश या सारा ही देश, उस देश में साक्षी उपस्थित है। यही बात वस्तुओं के बारे में समझनी चाहिये।

जैसे उसे सर्वग कहा है, वैसे ही श्रुति कहती है कि वह सबका साक्षी है, विषयों का, कर्त्ता अहम् का भी और क्रिया का भी साक्षी है। जैसे 'सर्वत्र है' इसका तात्पर्य है कि सारे देश उसमें कल्पित हैं उसी प्रकार 'सबका साक्षी है' का मतलब है कि सब उस साक्षी में कल्पित हैं। देश या स्थान बुद्धि की कल्पना हो तभी बाहर-भीतर के विभाग से प्रतीत होगा या एक सामान्य देश की भी कल्पना बनेगी। 'सब जगह' यह भी बुद्धि की परिकल्पना ही है। 'अन्दर है' प्रतीति हो तो अन्दर के देश की कल्पना, 'बाहर है' प्रतीति हो तो बाहर के देश की कल्पना। 'सर्वत्र है' प्रतीति हो तो सर्व देश की कल्पना। ये कल्पनायें करती बुद्धि ही है। गमन-आगमन बुद्धि करती है अतः वही देशों की कल्पना करती है। घड़ा बाहर और क्रोध को अन्दर ही देखती है। बुद्धि ने अन्दर की कल्पना की तो वहाँ भी साक्षी है। इसलिये कह देते हैं कि साक्षी भीतर भी है। इसी प्रकार बुद्धि ने घटाकार वृत्ति बनाई, साक्षी वहाँ भी प्रकाशक है, इसलिये कह देते हैं कि वह बाहर का भी साक्षी है। जिस देश की कल्पना बुद्धि करती है उस जगह वह साक्षी अवश्य है। जैसे देश के बारे में बतलाया है, वैसा वस्तुओं के बारे में भी समझ लेना चाहिये। इसे अगले श्लोक में स्पष्ट करेंगे। बुद्धि की हर कल्पना का वह साक्षी है। ईशावास्य उपनिषद् में कहा कि आत्मा मन से भी ज़्यादा तेज़ है। प्रश्न हुआ कि एक तरफ कहते हो कि आत्मा कुछ भी हिलना-डुलना नहीं करता है, फिर मन से तेज़ का क्या आशय है? उत्तर दिया कि मन जहाँ पहुँचता है वहाँ आत्मा पहले ही मौजूद मिलता है! जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ अधिष्ठान परमात्मा पहले से ही मौजूद है, इसलिये कहा जाता है कि उससे तेज़ है। इसी तरह वह सर्वत्र है का भी अर्थ समझना चाहिये।। २२।।

वस्तुओं के बारे में क्या समझना है यह बताते हैं—

यद्यद् रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत् प्रकाशयन्।
तस्य तस्य भवेत् साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः।।२३।।

बुद्धि से जिस-जिस रूपादि की कल्पना करता है। उस-उस को प्रकाशित करते हुए उस-उसका साक्षी हो जाता है। स्वयं वह वाणी बुद्धि आदि का विषय नहीं है।

जो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श बुद्धि के द्वारा कल्पित किया जाता है, अर्थात् बुद्धि की वृत्ति जिस चीज़ की बनाई जाती है, बुद्धि जिस आकार को लेती है उस-उस चीज़ का साक्षी प्रकाश कर देता है। जहाँ भी बुद्धि की वृत्ति बनी वहाँ प्रकाश ज़रूर पड़ेगा। इसलिये उस-उस का साक्षी होता है। साधना की दृष्टि से साक्षी का चिंतन कैसे करें? जिस देश काल वस्तु की बुद्धि कल्पना करती है उन सब का ज्ञान होता है, क्योंकि साक्षी है—इस प्रकार साधना करने के लिये देश काल वस्तु सब को साक्षी में अधिष्ठित देखो। जब इनका ज्ञान होता है तभी ये चीजें सिद्ध होती हैं। ज्ञान तभी होता है जब उस बुद्धिवृत्ति का प्रकाश होता है। इस प्रकार साक्षी का निरन्तर ध्यान करना पड़ता है। परन्तु 'प्रकाश *करना*' यह उसका अपना रूप नहीं है। स्वतः तो वह वाणी और बुद्धि से भी परे है। बुद्धि की वृत्ति बनती है तब *उसका* प्रकाश हो जाता है। बुद्धि से साक्षी का प्रकाशन नहीं है। बुद्धि का वह विषय नहीं है। इसी तरह, शब्द के द्वारा उसका पता लगता है परन्तु शब्द के द्वारा वह विषय होता नहीं है। दर्शन का साधन तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन को बतलाया, पर साधन हैं, दर्शन तो उसका अपने स्वरूप से ही होता है। श्रवण मनन के द्वारा उसका अनावरण होता है। कोई ऐसा नहीं जो नहीं जानता है कि 'मैं हूँ'। मैं के अन्दर जो चेतन का प्रकाश है वही मेरा स्वरूप है। किंतु क्या नहीं जानते हैं? जब मैं की वृत्ति नहीं है तब भी वह है।

इसका अनुभव गहरी नींद में करते हैं। तब मैं-बुद्धि नहीं है और ज्ञानरूप से हूँ तभी उठकर कहता हूँ 'मैं सुख से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना'। यह स्मरण वहाँ पर साक्षी की उपस्थिति स्पष्ट कर रहा है। ऐसा होने पर भी इधर ध्यान ही नहीं जाता। लोग ध्यान भी देते हैं तो किसी तरह यह सिद्ध करने के लिये कि वहाँ ज्ञान स्वरूपतः नहीं है, केवल भ्रम है! इसलिये मानते हैं कि मैं वहाँ सुख से नहीं सोया, वहाँ केवल दुःख नहीं हुआ। इसी से कहते हैं कि 'सुख से सोया'। किंतु यों 'सुख से सोया' को भ्रम मानने का कोई आधार नहीं। दुःख न होना और सुख होना, विचार करके देखो तो दोनों अनुभव अलग हैं। सुषुप्ति में सुख का अनुभव तभी बन सकता है जब वहाँ ज्ञानरूप साक्षी था। ज्ञान तो मैं-रूप से हमेशा है। लेकिन उस समय पता नहीं लगता, उठने के बाद पता लगता है। उठने के बाद बुद्धि आई तब पता लगा। सुषुप्ति में बुद्धि नहीं थी इसलिये पता नहीं लगा। मैं-रूप से ज्ञान होने पर भी, मैं को साक्षी-रूप से न जान कर केवल चिदाभास-रूप से जानते हैं इसलिये वाणी और बुद्धि का विषय समझते हैं जबकि वह अविषय है। अभी वह ज्ञात है किसी दूसरी चीज़ से मिला हुआ; उस दूसरी चीज़ अर्थात् बुद्ध्यादि को हटाने के लिये पहले बुद्धि और वाणी

की ज़रूरत है। जब जीव 'प्रज्ञानम् ब्रह्म' सुनता है तब पता लगता है कि परिच्छिन्नता उपाधियों के कारण है, स्वरूप से अपरिच्छिन्नता है। अर्थात् 'प्रज्ञानं ब्रह्म' सुनने से उसका पता नहीं लगा, उसके बारे में जो बुद्धिवृत्ति के साथ एकता का भ्रम था वह हटा। उसको हटाने के लिये शब्दादि चाहिये। जब पता लगता है कि उपाधि परिच्छेदक है, मैं परिच्छिन्न नहीं, तब मैं का नया ज्ञान नहीं हुआ, केवल उसके बारे में जो अज्ञान था वह हट गया, आवरण हट गया। वाणी और बुद्धि से सहायता तो मिलती है पर उनसे उसका पता नहीं लगता। उसके ऊपर जो अध्यस्त पदार्थ हैं उनकी निवृत्तिमात्र होती है। **॥२३॥**

यह बताया कि व्यापक ब्रह्मरूप कूटस्थ का बुद्धि पर प्रकाश पड़ने से जिस देशादि में बुद्धि होती है वहाँ कूटस्थ, साक्षी की स्थिति का व्यवहार हो जाता है। शरीर के भीतर 'मैं'-रूप और बाहर 'यह'-रूप प्रतीतियाँ बुद्धि से होती हैं तो साक्षी को बाहर-भीतर समझ लिया जाता है। देश की तरह काल में भी बुद्धि ही भूत-वर्तमान-भविष्य जो आकार लेती है वहाँ साक्षी की स्थिति समझी जाती है। जैसे घट, शाला आदि उपाधियों से घटाकाश, शालाकाश आदि में फ़र्क है स्वयं आकाश में कोई फर्क नहीं वैसे साक्षी में भीतर-बाहर, भूत-भविष्य, यह-वह आदि कोई अन्तर नहीं, बुद्धिरूप उपाधि से सारे अन्तर व्यवहार्य हैं। ऐसे तत्त्व को ग्रहण करने में कठिनाई है यह सूचित करते हुए सहज उपाय बताते हैं–

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम्।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते।।२४।।

यदि पूछो 'ऐसे साक्षी को मैं कैसे ग्रहण करूँ?' तो उत्तर है कि मत ग्रहण करो! सब ग्रहण जब उपशान्त हो जाते हैं तब वह स्वयं ही बच जाता है।

आत्मा स्वयं वाणी और बुद्धि का अविषय है। उसका साक्षात् ज्ञान नहीं होता। बुद्धि जिस-जिस आकार को लेती है उस-उस में उसका प्रकाश पड़ता है, इस प्रकार से प्रकाश का ज्ञान होता है। प्रकाश का स्वतः कोई ज्ञान नहीं होता। जिस चीज़ के ऊपर प्रकाश पड़ता है, वह चीज़ प्रकाशित हो जाती है, इससे प्रकाश का पता लगता है। इसी प्रकार से आत्म-तत्त्व के ऊपर न बुद्धि न वाणी प्रकाश कर सकती है। पर जिस-जिस चीज़ का बुद्धि आकार ग्रहण करती रहती है, वही-वही चीज़ प्रकाशित होती है, इस प्रकार प्रकाश का पता लग जाता है। कोई साधक शंका करता है, 'ठीक है, वह रूप लेता रहता है; पर यह तत्त्व मुझे कैसे पता लगे?' यह प्रश्न हमेशा आता है कि परमेश्वर का क्या रूप है। जब कहते हैं, वह तो रूप वाला नहीं है तब दिक्कत होती है कि फिर उसे कैसा समझें? भगवान् ने स्वयं कहा 'न मेरा रूप, रस, स्पर्श हो सकता है न गन्ध न शब्द हो सकता है।' 'अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययं तथाऽरसं-नित्यमगन्धवच्च यत्'। हमारे पास साक्षात् ज्ञान-प्राप्ति के ये पाँच ही साधन हैं, उन पाँचों का ही निवारण कर दिया। फिर परमात्मा का साक्षात्कार

कैसे होवे? इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि उसका साक्षात्कार इस रूप में है कि व 'नित्य अपरोक्ष' है।

कौन-सी चीज़ है जो नित्य अपरोक्ष है? विचार करके देखो तो मैं नित्य अपरोक्ष हूँ। मैं का रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं। फिर भी मैं का ज्ञान अपरोक्ष है ही, प्रत्यक्ष है। रूप का ज्ञान अपरोक्ष तो है, लेकिन आँख के माध्यम से, आँख होगी तब रूप का ज्ञान होगा। शब्द भी प्रत्यक्ष है लेकिन कान के माध्यम से। बाकी सब ज्ञान तो किसी माध्यम से हो रहे हैं, परन्तु मैं का ज्ञान किसी साधन से नहीं फिर भी है प्रत्यक्ष, अपरोक्ष। साक्षात् अपरोक्ष होने पर भी श्रुति ने कहा है कि उसका बुद्धि से ग्रहण होता है। भगवान् ने भी गीता में कहा कि शुद्ध बुद्धि का वह विषय है। कहीं कहा है कि बुद्धि का विषय नहीं है, कहीं कहा कि है; तात्पर्य है कि बुद्धि उसको जानती नहीं है, बुद्धि का उपयोग उसके अज्ञान को प्रकट करने में है। मैं-रूप से तो उसे जानते हैं पर वह 'मैं' सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक ब्रह्म है यह नहीं जानते। मैं-रूप से जानने के लिये हमें किसी की ज़रूरत नहीं है; चींटी भी जानती है 'मैं हूँ', यह ज्ञान तो सब को है; परन्तु मैं को हमेशा उपाधि के साथ देखते रहते हैं। शरीर के साथ गोरा-काला देखा, बुद्धि के साथ बुद्धिमान्, अज्ञानी देखा। किसी-न-किसी चीज़ के ऊपर पड़े मैं के प्रकाश को देखते हैं। वह प्रकाश कैसा है? जैसे कोई पूछे 'यहाँ शर्मा जी हैं?' हम कहते हैं 'हाँ है। यहीं तुम्हारे सामने है।' आँख से देख रहा है फिर भी कहता है, 'मैं उन्हें नहीं जानता'। शर्मा को देखते हुऐ 'यह शर्मा है' इस बात का अज्ञान है। जब हम अंगुल्या निर्देश करते हैं कि 'यह शर्मा है', उससे उसे केवल इतना ही ज्ञान होता है कि यह शर्मा है। इसी प्रकार से, रात-दिन, 'सारे जगत् का कारण ब्रह्म है, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापक है' सुनते रहते हैं। वह ब्रह्म कौन है? उस ब्रह्म को मैं-रूप से जान रहे हो, पर 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बात नहीं जान रहे। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'अहमेव परं ब्रह्म इत्यस्यार्थस्य अप्रबुद्धता अविद्येति वयं ब्रूमो येह नास्ति सदात्मनि'। जिस को आज तक मैं-रूप से जान रहा हूँ, वही परब्रह्म है—इस बात की अप्रबुद्धता, ग़ैर समझ अविद्या है, अज्ञान है। जिस प्रकार से घट-पट सबके ऊपर पड़ते हुऐ प्रकाश को जानते हुए भी 'प्रकाश को नहीं जानते', इसी प्रकार मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, परन्तु मैं को जानते हुए भी ब्रह्मरूप से नहीं जानते। मैं को हमेशा शरीर आदि के साथ ही देखते हैं। जब अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं उस समय सारी निवृत्ति से उपलक्षित मैं का शुद्ध स्वरूप है। यह काम ब्रह्माकार वृत्ति कर देती है तो अज्ञान नष्ट हो जाता है। वाणी का प्रयोग केवल इतने के लिये है कि मैं ही ब्रह्म हूँ इस बात को बतला देवे। ज्ञान *उत्पन्न* करना उसका कार्य नहीं। वाणी और मन अज्ञान-निवृत्ति में प्रयुक्त हैं, ब्रह्म तो स्वतः प्रकाश है।

फिर भी पूर्व वासनाओं से युक्त हुआ कहता है 'कथं तादृङ् मया ग्राह्यः', मैं उसे कैसे समझूँ? इस पर आचार्य कहते हैं उसका ग्रहण मत करो! वह ज्ञानरूप है, उसका ज्ञान नहीं होता। उसका अज्ञान तो हट जाता है, ज्ञान की ज़रूरत नहीं, सदा मैं के रूप में भान हो

ही रहा है। अज्ञान के कारण दूसरी चीजों के साथ मिलाकर देखते हैं। उसकी अग्राह्यता तो सिद्धान्त में इष्ट है। वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान के द्वारा प्रकाशित नहीं, सूर्य को किसी दीपक के प्रकाश में नहीं देख सकते। सूर्य तो अपने प्रकाश से ही दीखेगा। मान लो, घना बादल आया है, सूर्य नहीं दिखाई देता। अब चाहे जितनी मशालें जला लो, सूर्य तो नहीं दीखेगा! जब तक बादल रहेगा, सूर्य नहीं दीख सकता क्योंकि सूर्य किसी दूसरे प्रकाश में नहीं दीखता, वह अपने ही प्रकाश से दीखेगा। इसी प्रकार ब्रह्म किसी दूसरे प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो सकता। वह अज्ञान-रूप बादल हटने से ही प्रकाशित होगा। अज्ञान-रूप बादल के रहते हुऐ, उसकी तरफ मन जाये, इसके लिये सगुण उपासना कह दी जाती हैं, पर इससे निर्गुण का *ज्ञान* नहीं होता, केवल वृत्ति उधर जा सकती है। उसके ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं और उसका ज्ञान हो नहीं सकता तो परमात्मा की ओर प्रवृत्ति क्या व्यर्थ है? तब कहा 'सर्वग्रहोपसंशान्तौ' जितने तुम्हारे बुद्धिवृत्तियों के ज्ञान हैं, ये जब सम्यक् शान्त हो जाते हैं तब उसी का भान रहता है।

इसी को योगी लोग निर्विकल्प समाधि कहते हैं अन्तःकरण में जब कोई विकल्प नहीं रह जाता। निर्विकल्प समाधि में अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह स्वयं कूटस्थ, साक्षी, ब्रह्म ही बच जाता है। परन्तु उस अवस्था में अज्ञान का नाश नहीं करता क्योंकि ब्रह्म अज्ञान का नाशक नहीं है, ब्रह्मज्ञान अज्ञान का नाशक है। इसलिये भगवान् ने यही कहा 'ददामि बुद्धियोगम्' मैं उसको बुद्धियोग देता हूँ, उसके द्वारा मुझे जानेगा, अर्थात् अज्ञान नष्ट करेगा। जो केवल योग के सहारे चलते हैं, उनकी स्वरूप में स्थिति तो होती है, परन्तु 'यही मेरा वास्तविक रूप है' ऐसा निश्चय नहीं होता। इसलिये वे चाहते हैं कि ग्रह की उपशान्ति बनी रहे। श्रवण-मनन से जिसके संस्कार दृढ हो गये हैं, ब्रह्माकार वृत्ति बन चुकी है, उसकी जब यह स्थिति होती है, तब उसे अपने स्वरूप का स्वयं अनुभव हो जाता है अन्यथा, अपने स्वरूप में स्थित होने पर भी पहचान नहीं पाता। जब अपना रूप पहचान लिया तब फिर व्यवहार-काल के अन्दर अपने रूप को बुद्धि में बदलते देख कर भी उसको यह पता है कि मैं तो नहीं बदलने वाला हूँ। इसलिये जानता है कि विक्षेप बुद्धि का, समाधि भी बुद्धि की, न मेरे में समाधि है, न विक्षेप है। इसलिये ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा जब इस प्रकार बुद्धि की संशान्ति होती है तब वह हमेशा के लिये स्वरूप में स्थित हो जाता है। अनन्त जन्मों के संस्कार बुद्धि में पड़े हुऐ हैं। इसलिये कुछ देर के विक्षेप के बाद फिर बुद्धि के पुराने संस्कार जाग्रत् होकर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' यह प्रतीति हो जाती है। अतः पुनः बुद्धि की संशान्ति करके, ब्रह्माकार वृत्ति बना करके, फिर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना पड़ता है। जितनी बार अपने स्वरूप में स्थित होता जायेगा, उतना बुद्धि का संस्कार दृढ होता चला जायेगा। फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्व की पुरानी बात याद ही नहीं आती। इसमें लौकिक दृष्टान्त है, टंडन की लड़की मेहरा को ब्याह गई। वह मेहरा तो हो गई परन्तु अभी टंडन के संस्कार शेष हैं। परन्तु पच्चीस साल के बाद उसको कोई कहता है 'देवी टंडन' तो चुप बैठी रहती

है। कहती है 'नहीं, मैं तो देवी मेहरा हूँ।' पैदा तो वही हुई थी, पर भूल गई। इसी प्रकार शुरू में जब ब्रह्म के संस्कार बनते हैं तब विचार करने पर अनुभव होता है 'मैं ब्रह्म हूँ,' परन्तु पुराने संस्कार पुनः जाग्रत् हो जाते हैं कि 'मैं ब्राह्मण, धनी, या दुःखी, सुखी'। अब पुनः पुनः उन संस्कारों का बाध करते चले जाओ। जब दृढता हो जाती है तब स्मरण भी नहीं आता कि मैं सुखी-दुःखी इत्यादि रहा। आत्मा के अतिरिक्त सभी के मिथ्यात्व-निश्चय से प्रतीति की उपशान्ति होने से स्वभावतः साक्षी का भान ही रह जाता है। जब सारी प्रतीतियों की उपशान्ति होती है तब उससे उपलक्षित हो जाता है सत्यरूप से बचा हुआ स्वात्मा।। २४।।

प्रश्न उठता है कि इसमें प्रमाण क्या है? वेदान्त की यह कठिनाई है कि उस काल में पता लग नहीं सकता! बुद्धि आदि की प्रतीति की उपशान्ति के बिना स्वरूपमात्र भास नहीं सकता। प्रमाण होंगे बुद्धि-आदिरूप ही। जब तक प्रमाणादि हैं तब तक *केवल* स्वतः सिद्ध नहीं। अतः प्रायः जितने दूसरे वादी हैं, वे कहते हैं कि अद्वैत प्रमाणसिद्ध नहीं है। वेदान्ती का कहना है—

न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात्।। २५।।

साक्षिस्वरूप के बारे में प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वरूप से स्वप्रकाश है। इस तथ्य की समझ के लिये प्रमाणादि चाहिये तो गुरुमुख से वेद पढ़ो।

'तत्र' मायने स्वप्रकाश जो आत्मस्वरूप है। सब चीजों के चले जाने पर जो बच जाता है उसमें किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, वह प्रमाण से *सिद्ध* नहीं है। तुम सब जानते हो—मैं हूँ। इसमें प्रमाण क्या है कि तुम जान रहे हो मैं हूँ? मैं इन्द्रियादि से प्रत्यक्ष नहीं। अनुमानादि से भी उसका पता लगाते नहीं। यह जानने में कि 'मैं हूँ' कोई *प्रमाण* काम नहीं करता है। इसी प्रकार से 'मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञान के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। यदि मैं और ब्रह्म में कोई भेद होता तब तो प्रमाण की ज़रूरत पड़ती। जिस कारण से मैं ब्रह्म नहीं है वह अज्ञान और उसका कार्य है। वह नहीं रहा तो ब्रह्म अपने आप अवशिष्ट रह गया अतः उसमें प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। प्रमाण क्या करता है? रूप में आँख प्रमाण है अर्थात् रूप को आँख प्रकाशित करती है। जब तक आँख से न देखो तब तक रूप का ज्ञान नहीं है। रूप ज्ञान की अपेक्षा करता है। ऐसे, 'मैं हूँ' किसी ज्ञान की अपेक्षा करता है क्या? जब तक हम जाग्रत्, स्वप्न अवस्था में हैं, हम अपने आप ही जानते हैं 'मैं हूँ'। और सुषुप्ति में बोध न होने पर भी पता है ' मैं वहाँ था।' मैं स्वप्रकाश है, क्योंकि मैं ज्ञानरूप है इसलिये उसको किसी दूसरे के द्वारा ज्ञात होने की ज़रूरत नहीं है। 'मैं' तो अहंकारात्मिका वृत्ति को लेकर व्यवहार है, जो उस वृत्ति को भी प्रकाशित कर रहा है, उस साक्षी को कहाँ प्रमाण की अपेक्षा है! वह स्वयं ही ज्ञानरूप होने से, उसको प्रमाण की अपेक्षा नहीं। प्रमाण के द्वारा प्रमेय को ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है उसे ज्ञान की ज़रूरत नहीं है। परन्तु वह

सचमुच में ज्ञानस्वरूप है, यह समझ में कैसे आये? यदि तुम उसकी स्वप्रकाशता को *समझना* चाहते हो तो गुरु के मुख से श्रुति को पढ़ो। केवल 'वेद को पढ़ो' नहीं कहा। वेद रहस्यात्मक ग्रन्थ है। उसके अर्थ इतने गूढ हैं कि जब तक उनको खोलकर नहीं समझाया जाता, तब तक कुछ समझ में नहीं आ सकता। इसलिये जो लोग अपने मन से पढ़ते हैं वे कहते हैं कि वेदों में असंबद्ध बातें हैं। या, उपनिषदों के ऋषि अलग-अलग मत रखते थे। केवल यदि वेद को पढ़ते हैं तो ये विपरीत भावनायें बनती हैं। गीता को ही यदि तुम अपनी बुद्धि से पढ़ते हो तो अनेक विरुद्ध बातें लगेंगी। जब गुरु से पढ़ते हो तब पता लगता है कि विरोध नहीं है। प्रकरण, अधिकारी आदि के भेद से शास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियाँ होती हैं जिन्हें गुरुपरम्परानुसार जानने से स्पष्ट कर आपाततः प्रतीत विरोधों का परिहार कर देता है तो ऐसे भ्रम नहीं होते, वेद का तात्पर्य समझ आकर स्वीकार हो जाता है। अतः आचार्य शंकर कहते हैं कि सारे शास्त्रों का जानकार भी सम्प्रदाय न समझता हो तो वैसे ही उपेक्षा के योग्य है जैसे मूर्ख! अतः कहा कि पढ़ो श्रुति ही किंतु गुरु के द्वारा ही, तभी यह समझ आयेगा कि साक्षितत्त्व स्वप्रकाश अतः प्रमाणनिरपेक्ष है।। २५।।

श्रुत्यर्थनिश्चय-पूर्वक बुद्धि आदि अशेष की निवृत्ति उत्तम अधिकारी ही कर सकेगा। मंदाधिकारी के लिये उपासना उपाय है—

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम्।।२६।।

। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विद्यारण्यकृत-पञ्चदश्यां नाटकदीप-प्रकरणं दशमं समाप्तम्।।

यदि सारे ग्रहणों का त्याग न कर सको तो बुद्धि की शरण जाओ। बुद्धि के अधीन होकर भीतर-बाहर ब्रह्मानुभव करो।

यदि तुम्हारे लिये सारी प्रतीतियों का त्याग अर्थात् मिथ्यात्व-निश्चय से सब को छोड़ना संभव नहीं हो तो बुद्धि के सहारे ब्रह्मचिन्तन करो। जो बुद्धि की प्रतीतियों, वृत्तियों को सर्वथा हटा नहीं पाता है, बुद्धिवृत्तियों के सहारे से ही उसका चिन्तन होगा। बुद्धि के अधीन उसे अनुभव करना पड़ेगा। चाहे बुद्धि बाह्य वृत्ति बनावे, चाहे काम क्रोध आदि अन्दर की वृत्ति बनावे, उस वृत्ति के अन्दर जो प्रकाश पड़ रहा है, चिदाभासरूप उस प्रकाश के ऊपर ही मन को स्थिर करे। बुद्धिवृत्तियाँ सर्वथा शान्त नहीं हुई हैं लेकिन उनके अन्दर जो प्रकाशरूपता है 'वह ज्ञान मेरा स्वरूप है' ऐसा चिन्तन करना है। वस्तुतः यह अहम् का चिंतन है, पर अहम् के ऊपर स्थिर रहते-रहते धीरे-धीरे वृत्तियाँ शांत हो जायेंगी यह तात्पर्य है। सभी बुद्धिवृत्तियों के साक्षी को ब्रह्म समझते रहने की सावधानी रखना इस उपासना की विशेषता है।। २६।।

।। नाटकदीप प्रकरण समाप्त।।

ग्यारहवाँ
ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण

पंचदशी के पहले पाँच प्रकरण सत्-प्रधान हैं, मध्य के पाँच दीप-नामक प्रकरण चित्-प्रधान हैं और अन्तिम पांच आनंद-प्रधान हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्द का इसमें विस्तार से वर्णन है।

पहले दसों प्रकरणों के अपने-अपने ही नाम हैं। अन्तिम पाँचों प्रकरणों का 'ब्रह्मानन्द' एक सामान्य नाम है अर्थात् ब्रह्मानन्द नामक एक प्रकरण के फिर मानो पाँच भाग किये हैं। यह अन्तर करना इसलिये ज़रूरी पड़ा कि तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर जहाँ आनन्दमय का वर्णन किया, वहाँ अधिष्ठान ब्रह्म को अलग गिना, और आनंद के चार विकारी रूप बतलाये। इसलिये, यदि केवल 'योगानन्द' प्रकरण कहते, तो शंका हो सकती थी, कि योग से होने वाले आनंद को बतलाया है। वह इन्हें इष्ट नहीं है क्योंकि योगानन्द में भी ये ब्रह्मानन्द की बात करेंगे। विद्यानन्द में या विषयानन्द में भी ब्रह्मानन्द की बात करेंगे। इसलिये यह स्पष्ट करना ज़रूरी था कि हम योग का, विद्या का, विषयों का आनंद नहीं कह रहे हैं वरन् इन आनन्दों में 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' अर्थात् अधिष्ठान का किस प्रकार से बोध किया जाये, यह बता रहे हैं। पहले फल बताते हुए प्रकरणारम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं–

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते।। १।।

ब्रह्मानन्द का प्रवचन करूँगा। उसे जानने पर इस लोक और परलोक में होने वाले अनर्थों के समूह को पूरी तरह छोड़कर सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

पहले प्रतिज्ञा की 'ब्रह्मानन्द समझाऊँगा।' पाँचों प्रकरणों को 'ब्रह्मानन्द' नाम से कहा कि ब्रह्मानन्द अर्थात् अधिष्ठान आनन्द को बतलाना ही हमारा तात्पर्य है। बताने में प्रकर्ष है कि उपनिषदों में अलग-अलग जगह इन आनन्दों का वर्णन किया है। इकट्ठा करके इसे श्रुतियों ने नहीं कहा। यहाँ एक-साथ बता रहे हैं यह विशेषता है। प्रकर्ष से कहना इसलिये ज़रूरी है कि परमात्मा को सीधे ही समझना साधक को कठिन लगता है। इसलिये आचार्य अमलानन्द ने कहा है, 'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात् कर्त्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।' परमब्रह्म निर्विशेष है। यदि ब्रह्म में किसी प्रकार के विशेष-सामान्य भाव का आपादन हो तो अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसा होने पर भी हम लोगों को

आदत है कि किसी भी चीज़ को विशेषरूप से जानने पर ही लगता है कि हमने जाना। विशेषज्ञान से ही लगता है कि ज्ञान हुआ। अतः निर्विशेष का ज्ञान होने पर हम लोगों को संतोष नहीं होता। इसीलिये ईश्वर का साक्षात्कार कर नहीं पाते। अत्यन्त सरल चीज़ भी मंदबुद्धि के लिये समझना अत्यन्त कठिन हो जाती है। ऐसे आदमियों को संसारताप में झुलसने से बचाने के लिये वेद कृपापूर्वक सविशेष का निरूपण करता है। मंदबुद्धि वालों पर श्रुति अनुकम्पा कर विशेषों को बतलाती है। उसी आधार पर यहाँ पाँच प्रकार के विशेष बतलायेंगे। पहला है, योग से जो आनन्द होता है उसके अधिष्ठानरूप में ब्रह्म को देखो। इसी प्रकार जो भी आनन्द हो उसके अधिष्ठानरूप में ब्रह्म को देखो। यह सविशेष निरूपण है। विषयानंद को संसार में साधारण व्यक्ति भी जानता है। उसमें भी किस प्रकार से अधिष्ठानरूप से ब्रह्म को समझा जाये यह बताने से ब्रह्म की आनन्दरूपता स्पष्ट होगी। आनन्द ब्रह्म का रूप है। ब्रह्म की सद्रूपता का अनुसन्धान विवेक प्रकरणों में बतलाया, वह पहला कदम है। 'है'-रूप से सब चीज़ों को जानते हैं अतः सब में अनुविद्ध, सबका अधिष्ठान होने से वह ब्रह्म है। केवल है-रूप से ब्रह्म जानोगे तो काम नहीं होगा! इसलिये स्वयं वेद कहता है कि अगर है-रूप से भी ब्रह्म को जान लेते हो, 'ब्रह्म है' ऐसा भी निश्चय हो जाता है, तो तुम्हारा निश्चय सत् होने से तुम सन्त हो गये! बात तो सरल लगती है परन्तु साधारणतः हम सचमुच में नहीं मानते कि ब्रह्म है। ब्रह्म का मतलब है, अपरिच्छिन्न, त्रिविध परिच्छेद से रहित। और तुम सोचते हो 'मेरा एक लड़का, पत्नी, एक मकान और एक ब्रह्म भी है'। यह ब्रह्म को जानना नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं—'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्माद् द्वितीये सति वस्तुनि'। दूसरी चीज़ यदि अणुमात्र भी है, तो ब्रह्मशब्द का अर्थ ही सिद्ध नहीं होगा! इसलिये ब्रह्म को छोड़कर कहीं कुछ नहीं हो सकता। जैसे हम कहते हैं 'परमात्मा तो सर्वशक्तिमान् है, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी आजकल शनि की दशा चल रही है, क्या अनुष्ठान करें?' परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् भी जानते हो, एक शनि को और जानते हो जो अलग शक्तिमान् है। इसलिये हमारी 'ब्रह्म है' ऐसी निष्ठा नहीं है। पहले तो वही कठिन, पर उससे ज़्यादा कठिन हो जाता है यह जानना कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। हमें साफ समझ में आता है कि कुछ प्राणी तो ज्ञान वाले हैं, चेतन हैं, बाकी पत्थर इत्यादि जड हैं, जहाँ चेतन का, ज्ञान का अनुभव नहीं है। तब ज्ञान व्यापक कैसे हो सकता है? इसलिये सत् अर्थात् है-रूप से ब्रह्म को व्यापक समझना सरल होता है, ज्ञानरूप से ब्रह्म को व्यापक समझना कठिन हो जाता है। मध्यम पाँच अध्यायों में बतला दिया कि कैसे सब चीज़ें ज्ञानस्वरूप हैं।

फिर भी, आनन्दरूप से व्यापक कैसे समझें? हमें अधिकतर तो दुःख होता रहता है। केवल कभी-कभी आनंद होता है। इसलिये ज्ञान की अपेक्षा आनंद हमें और परिच्छिन्न लगता है। श्रुति कहती है कि कण-कण के और क्षण-क्षण के अन्दर आनंदरूप ब्रह्म है। प्रत्यक्ष में जो दुःख दीख रहा है उसे हम आनन्द या सुखरूप कैसे मान लें? इसलिये आनंदरूप ब्रह्म को समझना और कठिन हो जाता है। किंतु उसको भली प्रकार समझना ज़रूरी है। जब उस व्यापक आनन्द को जान लिया जाता है तभी सुखरूपता मिलती है।

अनन्त और आनंद वेदों में एक ही बात है। सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् कहती है—'यो वै भूमा तत् सुखम्।' जो चीज़ सर्वव्यापक, भूमा है वही आनंद है। यह नहीं कहा कि जो भूमा है, उसमें सुख है। व्यापक में सुख है—यह नहीं कहा वरन् जो व्यापक है, वही सुखरूप है, आनंदरूप है—यह कहा। आगे स्पष्ट किया 'नाल्पे सुखमस्ति' कि नाम-रूपात्मा जो अल्प है, उसमें सुख नहीं है। फिर भी अल्प में हमें सुख दीखता है! अल्प में सुख वैसे ही है जैसे सर्प में रस्सी। रस्सी में सर्प केवल अध्यस्त होता है, अतः ऐसा बाध होता है कि जिसको मैंने सर्प देखा था, वह रस्सी ही थी। इसी प्रकार यहाँ प्रतीति होती है कि अल्प में जो सुख हुआ वह असल में ब्रह्मानन्द ही है। परन्तु भ्रम से बजाय यह समझने के कि ब्रह्मानंद में इस अल्पता की प्रतीति है, उल्टा समझ लेते हैं कि अल्प विषय में ही आनंद है! इसलिये कहा—'अशेषतः ज्ञाते' अर्थात् जब उसे सभी परिच्छेदों से रहित जानते हैं, तब अनर्थ का झंझावात निवृत्त होता है।

'अर्थ' वह होता है जिसे हम चाहते हैं। जो हमारी इच्छा-प्रार्थना का विषय है वही अर्थ है। उसी को इष्ट कहते हैं। इसलिये अनर्थ हुआ अनिष्ट। जो कुछ अल्प है वह सारा अनर्थ है। अनर्थ को ही हम लोग अर्थ समझ लेते हैं। जिस प्रकार से बच्चा अंगारे को देख पकड़ना चाहता है। माता-पिता मना करते हैं तो रोता है। शास्त्र की दृष्टि से सब बच्चे ही हैं। जानते हुऐ भी हम सभी दिमाग में कैंसर देने वाले मोबाइल फोन को कान से लगाये हुए हैं! वेद कहता है कि जो अल्प है उसमें सुख नहीं है। है अनर्थ, हम समझते हैं कि अर्थ हो रहा है। अनर्थ दो प्रकार के हैं: एक, ऐहिक—धन, पुत्र, पति आदि। इनमें इष्ट-बुद्धि है। इनमें सुख-बुद्धि चार्वाक को भी है। जो शास्त्र को जानने वाले हैं उनकी इन चीज़ों से तो कुछ बुद्धि हट भी जाती है लेकिन आमुष्मिक अर्थात् परलोक, स्वर्ग से वैकुंठ, गोलोक तक होने वाले जो सुख हैं उन्हें चाहते हैं। ये भी परिच्छिन्न हैं, दुःख हैं फिर भी उनके प्रति इष्ट-बुद्धि है। उन्हें ज़्यादा बड़ा सुख समझते हैं इसलिये उन्हें पाने के लिये यहाँ के छोटे सुख को छोड़ने को तैयार हो जाते हैं। एकादशी का व्रत रखने से वैकुंठ में भगवान् की सन्निधि में रहेंगे, बड़ा सुख होगा—आमुष्मिक सुख के लिये व्रत रखते हैं। परन्तु है वह भी अनर्थ ही। ऐसे वचन आते हैं कि परमेश्वर का भक्त मुक्ति को भी मना करता है! अर्थात् सालोक्यादि मुक्ति हैं, आमुष्मिक फल हैं, उन्हें छोड़ता है क्योंकि उसे केवल परमात्मा ही चाहिये। अनर्थों को अर्थ समझते हैं जबकि ये दोनों ही अनर्थ का कारण हैं। उनको ब्रह्मानंद का जानकार 'हित्वा' छोड़ देता है। गीता में भगवान् कहते हैं कि जैसे सारी नदियाँ समुद्र में जाती हैं, वैसे ही सारे सुख उस ब्रह्म सुख में जाकर एक हो जाते हैं इसलिये इन सब अनर्थ-व्रातों को, अनर्थ-समूहों को छोड़ कर, 'सुखायते' सुखरूप हो जाता है। बाकी सारे सुख केवल उसके ही प्रतिबिम्ब हैं, उसका असली रूप नहीं है। ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार पाने वाला असली आनंदरूप हो जाता है।

ब्रह्मज्ञान अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट-प्राप्ति का कारण है। यह बात जब तक समझ में नहीं आती तब तक ब्रह्म की जिज्ञासा तीव्र नहीं होती। अभी हमें लगता है कि बाकी सब चीज़ें भी चाहिये और ब्रह्म भी चाहिये। कल भोजन मिलेगा या नहीं—इतना तक

परमेश्वर पर हमें विश्वास नहीं होता! यह विश्वास नहीं होता कि परमेश्वर ने हमें जन्म दिया है तो कल भोजन भी देगा। इसलिये यह समझना ज़रूरी है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। इसी प्रकार, ब्रह्मज्ञान सारे अनिष्टों की निवृत्ति और सारे इष्टों की प्राप्ति का कारण है, यह समझना ज़रूरी है। इस विषय में अनेक प्रमाण देंगे। अनेक प्रमाणों का प्रयोजन यह है कि जैसे ज्ञान के बारे में हमें संस्कार पड़ा है कि कोई ज्ञेय वस्तु होती है तब उसका ज्ञान होता है अतः ज्ञेय वस्तु के बिना का ज्ञान समझना कठिन होता है, इसी प्रकार हमें लगता है कि कोई वस्तु हो, तभी उसका सुख होता है। ज्ञेय वस्तु के बिना ज्ञान होना—यह मैं में घट जाता है। मैं का ज्ञान होता है, उसमें ज्ञेय कौन है? तुम अपने आप को ही जान रहे हो। आचार्य शंकर कहते हैं कि कैसा भी कुशल नट होवे, परन्तु खुद अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता! इसी प्रकार से वही ज्ञाता हो जाये और ज्ञेय भी हो जाये यह नहीं हो सकता। अतः मैं का ज्ञान बिना किसी ज्ञेय के है। इसी प्रकार आनंद के विषय में लगता है कि कोई वस्तु न होवे तो आनन्द कैसे? इसके बारे में द्वैतियों ने प्रचार भी खूब किया है। कहते हैं हम परमात्मा से आनन्द लेना चाहते हैं। आनंदरूप परमात्मा बन जायें तो हमें क्या लाभ? कहते हैं, चीनी होने से क्या लाभ? चींटी होकर चीनी खाने में मज़ा है। पर उनका यह दृष्टांत सुननेमात्र से विरोधी है। चीनी तो जड है इसलिये अपने मिठास को नहीं जानती। क्या परमात्मा भी जड है जो अपने आनंद को नहीं जानता? निर्विशेष परमात्मा का वर्णन है कि उसमें रूप, रस आदि नहीं। सारा सुख जो हमने आजतक जाना है, वह रूप, रस, या गन्ध, शब्द या स्पर्श का ही है। वे सारे के सारे सुख तो वहाँ नहीं हैं। इसलिये लोग सोच लेते हैं कि यह ब्रह्म भी अनानन्दरूप है! इसलिये श्रुतियों के प्रमाण से सिद्ध करेंगे कि ब्रह्म आनंदरूप है।। १।।

अनेक प्रमाण उद्धृत करते हैं—

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा।। २।।

'ब्रह्मानुभवी उत्कृष्ट आनन्दरूप ब्रह्म को पा जाता है', 'आत्मसाक्षात्कार पाया व्यक्ति शोक से तर जाता है', 'ब्रह्म रस है, उस रस को पाकर निरतिशय सुखवान् हो जाता है, इसके लिये अन्य उपाय नहीं'।

सबसे पहले कृष्ण यजुर्वेद का प्रमाण देते हैं। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै.२.१) जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, वह परभाव को प्राप्त कर जाता है। दूसरा वाक्य सामवेद की छांदोग्य उपनिषत् का है (छां.७.१)। नारद सनत्कुमार से कहते हैं 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकम् आत्मवित्' (छा. ७.१.३)। 'जो ब्रह्मवेत्ता है वह शोक के परे चला जाता है और मैंने अनेक शास्त्र जान तो लिये परन्तु अभी तक मेरा शोक गया नहीं।' यह नारद का वाक्य याद रखना चाहिये। आजकल एक भ्रान्त विचारधारा चली है कि 'मैंने अपने ब्रह्मरूप को जान लिया, वह तो अविकारी है और ये शोक-मोह अन्तःकरण के धर्म हैं, बने

रहें तो हर्ज नहीं'। शोक है अंतःकरण का धर्म तभी उसका तरण होता है, उसके पार जाते हो। नारद स्पष्ट कहते हैं 'मैं जानता हूँ कि ज्ञानी को शोक नहीं रहता और मुझे अभी शोक का अनुभव हो रहा है।' तात्पर्य है कि यदि ब्रह्मज्ञान हो गया होता तो 'मुझे' शोक न होता, मैं शोक से परे पहुँच चुकता। यदि तुम अन्तःकरण से अलग हो तो तुम्हें शोक हो नहीं सकता। शोक आन्तरिक अनुभव है। किसी ने लकड़ी मारी, उससे देहादि को दुःख होगा। लकड़ी का दर्द तो दो या चार दिन में चला जायेगा, पर पिटने के अपमान का शोक बना रहता है। वह जो तुम्हें सालता है, उसका नाम शोक है। इसलिये नारद प्रार्थना करते हैं 'भगवन्! मुझे शोक वाले अंन्तःकरण से अतीत बना दीजिए, उसको मैं तर जाऊँ।'तैत्तिरीय के पहले वाक्य में कहा है 'ब्रह्मवित् परमाप्नोति,' 'पर' का मतलब तो हुआ उत्कृष्ट आनंदरूप परंतु मुखतः आनंद नहीं कहा। इसलिये आगे (तै. २.७) कहा है 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'। परमात्मा रसरूप है अर्थात् आनंदरूप ही है। रस किसे कहा है? प्रारंभ किया था 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म'। फिर उसी ब्रह्म के बारे में कहा 'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'। जिसको ब्रह्म शब्द से कहा उसी को 'आत्म'-शब्द से कहा। उसी को यहाँ 'रसो वै सः' में रस कहा। अतः ब्रह्म, आत्मा और आनन्द एक ही चीज़ है। जो ब्रह्म आत्मस्वरूप आनन्द है, इसी को प्राप्त करके 'आनन्दी भवति', आनन्दरूपता की प्राप्ति होती है। जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव नहीं होता तब तक आनन्द नहीं होता। आनन्द नित्य चीज़ है। जो अपरिच्छिन्न हो और निरतिशय हो, उसी को आनन्द कह सकते हैं। और कोई प्रकार नहीं है, 'नान्यथा' जिससे इस निरतिशय सुख की प्राप्ति होवे। ब्रह्मतत्त्वज्ञान को छोड़कर किसी साधनान्तर के अनुष्ठान से आनंद की प्राप्ति नहीं है। अन्य उपायों से दुःखरहित तो हो सकते हो, आनंदभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब मैं और तुम ये दोनों भेद हट जाते हैं तभी एकमात्र आनंद उस अवस्था में रह जाता है। जब तक मैं अलग और तुम अलग, तब तक आनंद प्रकट नहीं होता। आनंद तभी प्रकट होता है जब ब्रह्म और आत्मा का भेद हट जाता है। शोक से परे जाना—यों अनिष्ट-निवृत्ति और आनन्दरूप होना—यों इष्ट प्राप्ति, दोनों बताकर आत्मा की मोक्षरूपता व्यक्त हो गयी। रस की तरह अन्यत्र मधु शब्द के प्रयोग से भी वेद ने परमात्मा को आनन्द कहा ही है अतः यह वेद का आवश्यक तात्पर्य है और आनंदरूप परमेश्वर स्वीकारना वैदिकों की विशेषता है।। २।।

तैत्तिरीय (२.७) में ही आगे समझाया है 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।' अर्थात् परमात्मा में स्थिति से अभय और उससे किंचिद् भी भेद करने से भय होता है। मोक्ष में आनन्द अभयरूप है। इस श्रुति को भी ब्रह्मानन्द-सिद्धि के लिये उद्धृत करते हैं—

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः।
कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत्।। ३।।

स्वयं में जब प्रतिष्ठा पाता है तभी साधक अभय होता है। इस प्रत्यक्स्वरूप में भेद देखता है तो उसे भय होता है।

जब अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तभी निर्भय होता है। स्थित का मतलब होता है रहना, और प्रतिष्ठित का मतलब होता है, स्थित रूप से रहना। अतः मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं ताकि प्राण उसी में रहें। इसी प्रकार कहा कि 'जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है'। 'स्वरूप में ' क्यों कहा? क्योंकि अभी वह शरीर मन आदि में प्रतिष्ठित है। अभी की प्रतीति है– मैं शरीर-मन हूँ, शरीर-मन में हूँ। मन में क्रोध है तो मैं विचलित रहता हूँ, शांत नहीं रह पाता क्योंकि स्वयं को मन से बाहर नहीं निकाल पाता। कमरे में गर्मी लगने लगे तो खुले में जाकर राहत ले सकते हैं ऐसे मन से बाहर निकलें तो मनोविकारों से राहत मिले। अतः वशिष्ठ महर्षि कहते हैं कि चाहे अपने हाथ से अपना ही हाथ मसल डालना पड़े, अपने दाँतों से अपने दाँत चूरा बनाने पड़ें पर सबसे पहले अपने मन को जीतो। क्योंकि हम मन में स्थित रहते हैं, इसलिये उसपर नियंत्रण नहीं कर पाते। जब मन से एक होने के कारण 'मुझे' क्रोध आ रहा है, तब भी 'मैं क्रोधी' इसे जानता हूँ अर्थात् साक्षी को ज्ञान ही है, मन से अलग होकर ही वह देख रहा है। आचार्य शंकर कहते हैं 'को देवो यो मनःसाक्षी' मन का जो साक्षी है वही परमात्म-देव है। साधना से प्रयास करना है कि अपने आत्मस्वरूप में ऐसा प्रतिष्ठित हो जाये कि शरीर-मन में कभी अहंकारात्मिका बुद्धि होवे ही नहीं।

यह प्रतिष्ठा-प्राप्ति क्यों कठिन है? श्रुति ने कहा 'अदृश्ये' आत्मा कभी भी दृष्टि का विषय नहीं है। जो दृष्टि का विषय है उसमें स्थित होने की हमारी आदत पड़ी है। क्योंकि यह दृष्टि है, दृष्टि का विषय नहीं है इसलिये इसमें स्थित हो नहीं पाते। श्रुति कहती है कि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। हम दृष्टिरूप हैं, दृश्यरूप नहीं। हम आत्मरूप हैं, आत्मीयरूप नहीं। हम 'मैं' हैं, 'मेरा' नहीं। जिस चीज़ के साथ 'मेरा' लगता है, वह मैं नहीं हो सकती। शरीर आदि के साथ मैं भी लगता है, मेरा भी लगता है। मेरा लगता है अतः वह मैं नहीं हो सकता। मैं का व्यवहार करते हैं किंतु मेरे का व्यवहार भी है, इसलिये वे सब सच्चा मैं नहीं हो सकते। विनिगमना यह है कि गहरी नींद में उनके बिना मैं हूँ अतः मैं के स्वरूप में शरीरादि का अनुवेध नहीं है। किंच अनिरुक्ते, इसके बारे में कुछ कह नहीं सकते क्योंकि कहा दूसरे के बारे में जाता है। आत्मा से भिन्न कहीं कुछ है नहीं, तो इसका निर्वचन कैसे किया जाये! ऐसा जो मेरा स्वरूप वह अभयरूप है। जब साधक उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है तब अभय पद की प्राप्ति कर लेता है। और यदि 'अस्मिन्नन्तरं कुरुते' यह जो अपना स्वरूप है इसके अन्दर थोड़ा भी भेद मंददृष्टि करता है तो 'तस्य भयं भवेत्' उसे भय होता है। श्रुति ने स्पष्ट कहा है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' कोई दूसरा होगा तो भय ज़रूर होगा। केवल अपने आपे में कभी भय होता नहीं। यदि अद्वितीय आत्मतत्त्व से साथ एक है, तब तो अभय हो जाता है, यदि उससे कुछ भी भेद किया तो भय अवश्यम्भावी है। उपास्य-उपासक का भेद भी किया तो अभय नहीं होगा। एकता का अनुभव न करके कैसे भी भेद का अनुभव करेगा तो भय होगा ही। उपासना में उससे

सम्बन्ध तो होता है कि 'परमात्मा मेरा उपास्य है, इष्ट है', परंतु सम्बन्ध की अंतिम परिणति जिस एकता में होनी चाहिये वह नहीं हो पाती है इसलिये भय होता है।। ३।।

प्रश्न होगा कि यदि उपासना दृढ हो जाये तब तो भय नहीं होता होगा? इसके उत्तर में वेद कहता है कि देवता भी उससे डरते ही हैं! अतः केवल उपासना से अभयलाभ असंभव है। तैत्तिरीय २.८ में 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।' कहा है। इसी तरह कठ ६.३ में कहा है 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।' इन्हीं का संग्रह करते हैं—

वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्त्युर्जन्मान्तरेऽन्तरम्।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद् भीत्या चरन्ति हि।। ४।।

वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, यम जन्मान्तर में उपासना करते हुए धर्म करके भी भेददृष्टि रखते हैं अतः इसके डर से व्यवहार करते ही हैं।

श्रुति कहती है 'भीषास्माद्वातः पवते' (तै २.८) उस परमेश्वर के भय से वायु भी बहता रहता है। उसी के भय से समय पर सूर्य उदय होता है। इसी आधार पर आगे सौ साल तक का पंचांग छाप देते हैं। हम लोग भयहीन, निर्भय हैं, इसलिये उठने का निश्चित समय नहीं है। इन्द्र भी भय से, जब परमात्मा का आदेश कर्मफल देने का है तब वर्षा कर देता है। अग्नि भी जलती रहती है। मृत्यु देवता भी दौड़ते रहते हैं। वर्षा-रात्री-गर्मी में भी मृत्यु देवता पकड़ के ले जाते हैं क्योंकि उसको भी किसी का भय है। ये पाँच देवता संसार में सबसे बलवान् माने जाते हैं—वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु। ये देवता इतने बड़े कैसे बन गये? 'जन्मान्तरे धर्मम्' जन्मांतर में, पूर्व जन्म में इन्होंने धर्म किया तभी आधिकारिक पुरुष होकर इतने बड़े पदों पर पहुँचे। धर्म भी 'विजानन्तः' उपासना-सहित किया, समझ-बूझकर किया! उपासना-सहित कर्म करने से ही देवलोक मिलता है, अकेला धर्म तो पितृलोक ही दे पाता है। जो कर्म उपासना सहित और कर्म के स्वरूप के ज्ञानपूर्वक किया जाता है, वही पूरा फल देता है। जिसको कर्म के उपनिषद् और विद्या का ज्ञान नहीं है, उसका कर्म फल तो देता है पर देवभावपर्यन्त नहीं। छान्दोग्य में श्रद्धा-उपनिषत् सहित कर्म का 'वीर्यवत्तर' फल कहा अर्थात् उनके बिना वीर्यवान् तो होगा ही। बिना समझे भी जो कर्म किया जाता है, वह अपना फल तो पैदा करता ही है किंतु इन महत्त्वपूर्ण पदों पर तो वही पहुँचेगा जिसने विद्या और उपनिषद् के साथ कर्मों का अनुष्ठान किया। परन्तु 'अन्तरम् कृत्वा' उन्हें अनुभव रहा 'हम इस कर्म के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न कर रहे हैं' अर्थात् परमेश्वर को स्वयं से भिन्न जानते रहे। भेद-बुद्धि इनकी नहीं हटी थी। यदि हट जाती, तब तो आत्मज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाते। उनसे ज़्यादा अच्छी कर्म उपासना तुम कर लोगे इसकी आशा नहीं कर सकते! जब वे ही डरते हैं तो अन्य उपासक डरेंगे इसमें क्या कहना—यह तात्पर्य है। जीव और ईश्वर का भेद मान करके किया इसलिये भयक्षेत्र से परे नहीं गये। कर्मफल-दाता ईश्वर को तो जानते थे, पर 'मैं शिव ही हूँ' इस बात को नहीं जानते थे।

इसलिये ऐसे कर्म करके भी भय से ये अपने-अपने कर्मों का आचरण करते हैं, क्योंकि द्वितीय रहेगा तो भय होगा ही। इसलिये भेदोपासना कभी भी अभय में परिणत नहीं होती। बहुत से लोग सोचते हैं कि भेदोपासना करते-करते अभेद हो जायेगा। किंतु यह संभव नहीं, अभेदज्ञान से ही, अभेद की स्थिति बन सकती है।। ४।।

परमात्मज्ञान से भय की सहेतु निवृत्ति बताने वाली तैत्तिरीय २.६ श्रुति है 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। 'उसे भी उद्धृत करते हैं–

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसम्भृता।। ५।।

ब्रह्म का स्वरूप आनन्द जानता हुआ किसी कारण से डरता नहीं। कर्मरूप अग्नि से सम्पादित सर्वानुभवसिद्ध चिन्ता उसे नहीं तपाती।

ब्रह्म का आनन्द जो विद्वान् जानता है वह निडर होता है। 'ब्रह्म का' अर्थात् ब्रह्मरूप। श्रुति कहती है 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म' ब्रह्म स्वयं आनंद है। अतः आनन्द 'उसका' नहीं कहा जा सकता। लेकिन कई बार अभिन्न वस्तु का भी सम्बन्धी रूप से उल्लेख हो जाता है। अमृतपान के समय राक्षस का सिर काट दिया था तो सिर का नाम राहु और धड़ का नाम केतु हो गया। फिर भी लोग कहते हैं 'राहु का सिर'। अथवा, 'सिल-बट्टा' के सन्दर्भ में 'सिल का पत्थर' कहते हैं जबकि सिल पत्थर ही है! इस प्रकार अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ सम्बन्ध का व्यवहार होता है, अभेद में तात्पर्य होता है। इसी को संस्कृत में गौण प्रयोग कहते हैं। अर्थात् जैसा कहा जा रहा है वैसा मुख्य अर्थ नहीं है। इसी प्रकार जब श्रुति कहती है 'ब्रह्मण आनन्दं' तब उसका मतलब ब्रह्म का आनंद नहीं, वरन् मतलब है ब्रह्मरूप आनंद। यह जब जान लिया जाता है, तब कोई दूसरा रह नहीं जाता अतः भयरहित अवस्था प्राप्त हो जाती है। तब ऐहिक से भी भय नहीं है, और पारलौकिक भय भी नहीं है। शीतला (चेचक देने वाली), मरिअम्मा (हैजा देने वाली) आदि सब का जो आत्मस्वरूप है, उसे इस सब से कभी भय नहीं होता।

शंका होती है कि तत्त्वज्ञानी ने पहले तो कर्म किये हैं, जब तक भोग न कर ले, कर्मों का नाश नहीं होता। इसीलिये संसार के जितने अज्ञानी लोग हैं, उन सबको अच्छे-बुरे कर्मरूप अग्नि चिन्ता कराती है कि 'मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया, अशुभ कर्म क्यों कर लिया।' इस चिंता से लोग तपते रहते हैं। परन्तु यह ताप तभी तक है जब तक अज्ञान है। अज्ञान के कारण भेद-दृष्टि है। इसी से रागद्वेषपूर्वक कर्म होने के कारण कर्म का फल उत्पन्न होता है, इसलिये चिन्ता होती है। परमेश्वर की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला कर्म ही तो पुण्य है और अप्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला कर्म ही पाप है। दोनों को करने या न करने का ताप होना स्वाभाविक है। परन्तु जब यह पता लग गया कि वह परमेश्वरस्वरूप मैं ही हूँ तब फिर चिंता नहीं होती। फिर कर्म ताप नहीं देता। इस प्रकार तत्त्वज्ञ को न भय होता है न चिन्ता होती है। अज्ञानी कामनावान् होने से चिन्ता करता है। सारे संसार का

अद्वितीय स्वतन्त्र कारण मैं ही हूँ, मुझमें ही सारे विश्व उत्पन्न-विलीन हो रहे हैं—यह जानने वाला काहे कि चिन्ता कर भी सकता है! ऐहिक-आमुष्मिक कुछ भी जिससे अतिरिक्त नहीं उसे उनकी न चिंता न भय संभव है।। ५।।

विद्वान् कर्मों से निश्चिन्त क्यों रहता है यह तैत्तिरीय में (२.९) ही कहा है 'स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते।' इसका संग्रह करते हैं—

एवं विद्वान् कर्मणी द्वे हित्वात्मानं स्मरेत् सदा।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति।। ६।।

महावाक्योक्त ढंग से अद्वैत समझने वाला पुण्य-पाप दोनों कर्म छोड़कर सदा आत्मा को याद रखता है। पूर्व में किये अच्छे-बुरे कर्मों को वह स्वात्मरूप ही देखता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के सभी कर्मों को विद्वान् छोड़ देता है। भगवान् ने भी कहा 'बुद्धि-युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' (२.५०)। साधना का प्रारंभ कर्म से करते हो, परंतु समाप्ति नैष्कर्म्य में होती है। वर्तमान काल में तिलक आदि कुछ विचारक मानते हैं कि नैष्कर्म्य का भी कर्म से समापन होना चाहिये। किंतु सिद्धान्त यही है कि कर्म से नैष्कर्म्य में आना है, नैष्कर्म्य से कर्म में नहीं जाना है। आचार्य बार-बार कहते हैं कि संसार का रास्ता अविद्या-काम-कर्म ही है। अविद्या से कामना, कामना से कर्म होता है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो गई है, उसके बारे में कहना कि वह कर्म करे, यह संगत ही नहीं है। विधि-निषेध वाले दोनों कर्म वह छोड़ देता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पारलौकिक कर्म तो छोड़ दे, ऐहिक कर्म करता रहे! अज्ञानी ऐसा धोखा खा जाता है। यह संसार हमें सच्चा ही दीखता है। अभी निश्चय तो हुआ नहीं है कि यह मिथ्या है। शास्त्र की बातें मानने में अनेक नियम पालन करने पड़ते हैं। इसलिये चाहते हैं कि शास्त्रीय कर्मों को विदा करें। कहते हैं कि आत्मा अभोक्ता है अतः कर्मों का कुछ फल नहीं है। या मिथ्यात्व का उल्लेख करते हैं कि स्वर्ग जाकर क्या लाभ होगा! किन्तु दुकान पर जो पैसा मिलता है उसका लोभ नहीं छोड़ पाते, व्यापार नहीं छोड़ पाते। यह नास्तिकता का रूप है। शास्त्र में अश्रद्धा ही यह रूप धारण करके आ जाती है अतः उससे हमें बचना चाहिये। मनु ने कहा है कि शास्त्र उस चीज़ को बताता है जिसका तुम को प्रत्यक्ष और अनुमान से पता नहीं लग सकता। पुण्य से फल मिलता है, यह न अनुमान से, न प्रत्यक्ष से सिद्ध होगा। लोग कहते हैं, 'भूखे को खिलायेंगे तो इसको सन्तोष होगा, इसमें भगवान् है। यह भगवान् की पूजा है, पुण्य है।' किंतु साथ में शराबी बैठा है। उसको शराब पिलाओगे तो उसे भी प्रसन्नता होगी। इसको भी तुम पुण्य मानोगे क्या? अतः प्रत्यक्ष से यह बात सिद्ध नहीं होती है कि दूसरे प्राणी को प्रसन्न करना पुण्य है। वेद कहते हैं ज्ञान को। जैसे आँख से ही पता चल सकता है कि रूप क्या है, इसी तरह वेद से पता चल सकता है कि धर्म और ब्रह्म क्या है। इसका ज्ञान यदि प्रत्यक्ष-अनुमान से लगता, तो वेद की कोई ज़रूरत नहीं रहती। वह केवल विज्ञान का ग्रन्थ-विशेष हो जाता। पुण्य-पाप शास्त्र से ही पता चलते हैं। तत्त्वज्ञान भी शास्त्र से ही

होगा। कर्म-भाग पर अश्रद्धा करोगे तो ब्रह्मभाग से ज्ञान भी नहीं पा सकोगे। अतः कर्तृत्वाभिमान रहते रागादि-पर्यन्त प्रवृत्ति धर्म और वैराग्य होने पर निवृत्ति धर्म का विधिवत् पालन अवश्य करना चाहिये। जब कर्तृत्व का अभिमान मिट जायेगा, परमेश्वर से अपना अभेद प्रत्यक्ष हो जायेगा तब ऐहिक-आमुष्मिक सभी कर्म अपने-आप छूट ही जायेंगे।

दोनों कर्मों को छोड़ कर क्या वह सोता रहता है? नहीं, वरन् 'सदा आत्मानं स्मरेत्' एक क्षण भी परमात्मा का बिना स्मरण किये नहीं रहता। श्रुति ने साधक के लिये सारे कर्मों के संन्यास का विधान किया 'मेरा सच्चा स्वरूप क्या है' इसका पता लगाने के लिये। इसलिये यदि आत्मा का स्मरण नहीं करते हुऐ तुम सब कर्मों का त्याग करते हो, तो पतित हो जाओगे। इसमें व्यावहारिक छूट समझनी ही चाहिये। 'सदा' में शरीर-निर्वाह के भोजन-शौच आदि कर्मों का काल छोड़कर बाकी का समय ग्रहण करते हैं। वह भी आचार करते हुए साधक यथाशक्ति आत्मस्मरण तो रखने का प्रयास करे। निष्ठावान् का वह व्यवहार भी बिना अभिमान का होता ही है अतः 'सदा' कहना उचित है क्योंकि यहाँ प्रसंग विद्वान् का है। जो इस बात का स्मरण करता है कि 'परमेश्वर से मैं भिन्न नहीं हूँ' उसके लिये पूर्वार्जित भी कर्म भिन्न होकर तो रह नहीं जाते जो उसे फल दें। ज्ञानी किये हुऐ सब कर्मों को अपने आत्मरूप से ही देखता है इसलिये चिन्ता की सम्भावना ही नहीं। हम खुद अपने लिये चिंता का कारण नहीं होते।। ६।।

कर्मकाण्डी कहते हैं कि पुण्य-पाप का फल अवश्य भोक्तव्य है अतः तत्त्वज्ञान से मोक्ष संभव नहीं। वेदान्ती कर्ममात्र से फल नहीं मानता, कर्म से परमेश्वर प्रसन्नादि होकर फल देता है यही मानता है। व्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों में यही निर्णय दिया है। तत्त्वज्ञ परमेश्वर से अभिन्न है अतः उसके लिये कर्मबन्धन रहने की संभावना ही नहीं अतः तत्त्वसाक्षात्कार मोक्षहेतु है इसमें शंका नहीं। इस बात को मुण्डक उपनिषत् (२.२.८) में कहा है। वहीं का वाक्य यथावत् उद्धृत करते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। ७।।

उस परावर को देख लेने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सारे संशय समाप्त हो जाते हैं; परमेश्वर के इस द्रष्टा के कर्म क्षीण हो जाते हैं।

'तस्मिन् परावरे दृष्टे'; 'पर' अर्थात् परमात्मा, 'अवर' अर्थात् जीवात्मा। 'पर' कहते हैं उत्कृष्ट को; परमेश्वर उसी आत्मा का श्रेष्ठ रूप है। 'अवर' अर्थात् अल्प, जीव उसी आत्मा का छोटा रूप है। जीव की जो उपाधि अन्तःकरण है, वह उस माया का एकदेश है। जिस प्रकार सारे भारत का राजा भी राजा है और भारत के किसी छोटे क्षेत्र का भी राजा है। इसी प्रकार से सारी माया का अधिपति परमेश्वर, और माया का छोटा-सा हिस्सा अंतःकरण, मन, उसका राजा जीव। परन्तु 'पर' और 'अवर' का भेद उपाधि से है। माया की उपाधि बड़ी है, अन्तःकरण उपाधि छोटी है। उपाधियों के कारण भेद है। यदि 'राजा' से 'राज्य'

हटा दिया जाये तो केवल मनुष्य रह जाता है। मनुष्यता उसका स्वरूप है, यावज्जीवन उसे कोई नहीं हटा सकता। इसी प्रकार माया की उत्कृष्ट उपाधि जब नहीं रही, अन्तःकरण की अल्प उपाधि जब नहीं रही, तब एक आत्मा वैसा का वैसा है। आत्मस्वरूप तो स्वाभाविक होने से रहेगा ही। वह किसी उपाधि के अधीन नहीं है। जब पर और अवर, इन दोनों की एकता को देख लेता है कि ये वस्तुतः एक ही हैं, तब हृदय की गाँठ खुल जाती है। दो डोरियों को गाँठ से एक कर देते हैं, इसी प्रकार मन, अन्तःकरण पंच महाभूतों से बना है, जड है। इसमें चेतनता, कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। आत्मा चेतन है पर वह अकर्त्ता-अभोक्ता है। अहंकारात्मिका वृत्ति से दोनों में गाँठ डाल दी जाती है। अहंकार के अंदर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसके द्वारा अध्यास की गाँठ लग जाती है। अतः अहंकार से मिला जो आत्मा है, वह कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। जैसे गाँठ जिस काम को करती है, उसे दोनों अलग डोरियाँ नहीं कर सकतीं इसी प्रकार न मन कुछ कर सकता है, न आत्मा कुछ कर सकता है, परन्तु जब दोनों का एकीकरण हो जाता है, गाँठ लग जाती है तब वह कर्त्ता-भोक्ता होकर सारे संसार को चलाता है। जैसे एक गाँठ के ऊपर एक और गाँठ लगाते हो तो पक्की हो जाती है इसी प्रकार यहाँ दो गाँठें लग गईं—आत्मा में अन्तःकरण का अध्यास हो गया, और अन्तःकरण में फिर आत्मा का अध्यास हो गया। इसलिये हम लोगों का अनुभव दोनों प्रकार का हैः 'मैं चेतन हूँ', और 'मैं हूँ'। आत्मा में अंतःकरण का अध्यास स्वरूप-अध्यास है और आत्मा का अन्तःकरण में अध्यास संसर्गाध्यास है। स्वरूप और संसर्ग अध्यास ये दो गाँठें लग गईं जिससे आत्मानात्मतादात्म्य पक्का हो गया। अनादि काल से गाँठ का काम चल रहा है, वह खुली नहीं। जब मेरा चेतन ही परमात्मचेतन है—इसका साक्षात् ज्ञान हो जाता है, जैसे हाथ में रखा आँवला स्पष्ट दीखता है उसी प्रकार से मैं चेतन ही माया-उपाधि से जगत् का कारण हूँ—ऐसा जब अनुभव हो जाता है, तब जो हृदय की गाँठ-रूप ये दोनों अध्यास हैं, यह गाँठ खुल जाती है। जैसे गाँठें एक-एक करके खुलती हैं, वैसे ही संसर्ग से अध्यस्त आत्मा तो साक्षात्कार के साथ ही नहीं रह जाता। फिर भी आत्मा में अनात्मा का अध्यास अध्यासरूप से तो नहीं रहता पर प्रतीति कुछ समय तक रह जाती है। इस प्रकार अभेदबोध से हृदय की गाँठ नष्ट, विदीर्ण हो जाती है।

इसके साथ ही, 'सर्वसंशयाः छिद्यन्ते', सारे संशय हट जाते हैं। अर्थात् आत्मा के विषय में अपने चेतन स्वरूप के विषय में कोई भी संशय नहीं रहता। जिस चीज़ का साक्षात्कार तुमने कर लिया, वहाँ संशय रहता ही नहीं। चाहे तुम अनुमान या शास्त्र से जानो, उससे वैसी स्पष्टता नहीं होती जैसी साक्षात्कार से होती है। धुआँ देखकर आग का अनुमान करते हैं। पर वहाँ जाकर आग देखने से जैसा निश्चय होता है, वैसा अनुमान से नहीं हो पाता। इसी प्रकार, शब्द से ज्ञान होता है; किसी से पूछते हो 'शेरशाह रोड किधर है?' वह कहता है 'अगले चौराहे से बाँये मुड़ जाना।' जब तुम वहाँ स्वयं पहुँचते हो तब तुमको संशय नहीं रहता। इसी प्रकार परमात्मा के विषय में अनेक बातों का पता लगता है श्रुति से, शब्द से उसको जाना। फिर भी कुछ संशय रह जाते हैं। परन्तु साक्षात्कार होने पर कोई संशय नहीं बचता।

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि', जिसने उस परावर का दर्शन कर लिया उसके अनादि काल से आज तक के सारे के सारे कर्म जल जाते हैं। जो फलरूप में परिणत हो गये हैं, प्रारब्ध-भोग के लिये जो फलोन्मुख हो चुके हैं, वे तो रह जाते हैं। कर्म कारण है, फल उसका परिणाम है। शंका होती है कि यदि कर्म क्षीण हो जाते हैं तो प्रारब्ध कर्म भी क्षीण क्यों न हों? इसलिये कि प्रारब्ध अब 'कर्म' नहीं रह गये हैं, वे तो अब 'फल' हो गये हैं, परमेश्वर का संकल्प बन गया है। आगे तो परमेश्वर तुम्हारे कर्मों के विषय में संकल्प नहीं करेगा, पर जो हो गया वह रहेगा ही। प्रारब्ध को कर्म नहीं कह सकते क्योंकि अब वे परिणाम के रूप में आ गये हैं, फल बन गये हैं। कर्मों का ज्ञान से क्षय होता है, फलों का नहीं। यद्यपि फल को उपचार से कर्म कहते हैं जैसे घड़े को मिट्टी कहते हैं क्योंकि कार्य बताने के लिये कारणबोधक शब्द का प्रयोग प्रचलित है तथापि कार्य को हर तरह से कारण नहीं समझ सकते, घड़े की ज़रूरत मिट्टी से पूरी नहीं होती। शास्त्र ने ज्ञान से कर्मनिवृत्ति कही अतः उससे फलनिवृत्ति नहीं समझ सकते। प्रारब्ध फलरूप में अवस्थित है अतः वह बना रहे तो श्रुतिविरोध नहीं है बल्कि गुर्वभिगमन, उपदेश आदि के विधायक वचनों के लिये अनुकूल ही है। इसलिये कारणरूप में स्थित संचित कर्म सारे नष्ट हो जाते हैं परंतु जो फलरूप में परिणत हुए प्रारब्ध हैं वे भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार कर्मकृत शोकादि की संभावना भी नहीं।। ७।।

मृत्युसंसाररूप बंधन की निवृत्ति का एकमात्र उपाय परमेश्वरसाक्षात्कार है जिससे पाशशब्दित बंध खुलते ही हैं एवं जन्म से ही छुटकारा मिल जाने के कारण मृत्यु से छुटकारा अर्थसिद्ध है क्योंकि जन्मवान् की ही मृत्यु संभव है, इसे वेद-वचनों से प्रमाणित करते हैं—

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैःक्लेशैर्न जन्मभाक्।। ८।।

'उसी का जानकार मृत्यु से परे पहुँचता है। मृत्यु की पकड़ से दूर होने का और कोई मार्ग नहीं।' 'देव को जानकर पाश नष्ट होते हैं अतः क्लेशों का क्षय हो जाने से साधक जन्मधारी नहीं बनता।'

वेद के (वा.सं.३१.१८) अन्दर कहा 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। वेदों में अनेक स्थलों पर यह शब्दावलि उपलब्ध है। इसी श्रुति को यहाँ उद्धृत किया है। 'तमेव विद्वान्' जो जीव-ईश्वरभाव से रहित शुद्ध चेतन है उसे ही जानकर मृत्यु-अत्यय होता है। 'एव'कार के द्वारा उपाधि की व्यावृत्ति कर दी। उपाधि के सहित वाला रूप नहीं, निरुपाधिक का जो अनुभव कर लेता है वही फल पाता है। जो उस स्वरूप के अन्दर स्थित हो जाता है, वह मृत्यु को पार कर जाता है। मृत्यु का मतलब होता है, नष्ट होना। इसलिये अर्थ हुआ कि वह आगे कभी नष्ट नहीं होता। उसका शरीर भले ही नष्ट होवे, परन्तु उसको 'मैं नष्ट हो रहा हूँ', ऐसी प्रतीति नहीं होती। शरीर से उसने स्वयं को पहले ही अलग जान लिया है। जैसे तुम्हारा मकान सरकार अधिगृहीत करे, उससे पहले ही यदि तुमने वह मकान

बेच दिया है तो 'तुम्हारा' मकान अधिगृहीत नहीं कर सकती है, बिकने के बाद अब जिसका मकान है उसीका अधिग्रहण होगा, उसीका घर जायेगा। वैसे तुमने इस 'मकान' को (शरीरादि को) पहले ही मिथ्या जान कर छोड़ दिया है इसलिये शरीरादि से 'तुम्हारी' मृत्यु तो होगी नहीं। उपनिषद् स्पष्ट कहती है 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' उसके प्राण निकलते नहीं हैं, यहीं लीन हो जाते हैं। बाकी लोगों के तो मृत्यु काल के अन्दर प्राण किसी न किसी द्वार से निकलते हैं, ज्ञानी के प्राण बाहर निकलते नहीं हैं, लीन हो जाते हैं। अगला जन्म देने वाली चीज़ें तुम्हारे कर्म हैं, वासनायें हैं, राग-द्वेष हैं। कर्म तो ज्ञानकाल में नष्ट हो गये। ज्ञान की दृढता होने पर कामना रहे यह भी नहीं हो सकता। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जिस पेड़ की खोह में आग लगी हो, वह पेड़ हरा रह सकता है क्या? इसी प्रकार जिस अन्तःकरण में ज्ञान की अग्नि जल रही है वहाँ राग नहीं रहेगा। इसलिये वेद कहता है 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते'। (कठ. ६.१४) बुद्धि में रहने वाली जितनी कामनायें हैं, वे जिसकी निवृत्त हो गई हैं, वही अमरण-धर्मा बनता है। आधुनिक लोग चाहते हैं कि कोई ऐसा उपाय हो जिससे कामनाओं की पूर्ति भी होवे और मोक्ष भी होवे! यह सम्भव नहीं। कामना रहते मोक्ष नहीं हो सकता।

शंका होती है कि ज्ञान से मोक्ष होवे पर भक्ति, तप आदि कोई और उपाय भी होगा? वेद सर्वथा मना कर देता है कि उसके सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं है क्योंकि बन्धन का कारण अज्ञान है और अज्ञान को ज्ञान ही नष्ट कर सकता है, अन्य कोई साधन अज्ञाननिवृत्ति का नहीं है।

मृत्यु से परे जाने का उपाय ज्ञान है यह बताकर श्वेताश्वतर उपनिषत् के मंत्र से समझाते हैं कि जन्म से परे जाने का भी वही उपाय है। मंत्र (१.११) है–

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।'

देवाधिदेव भगवान् शिव का जब साक्षात्कार होता है तब आठों पाश जो मनुष्य को बाँधे रखते हैं, वे सारे निवृत्त हो जाते हैं। आठ पाश शास्त्रकारों ने बतलाये हैं, 'घृणा, शंका, भयं, लज्जा, जुगुप्सा चैव पंचमी। कुलं जातिश्च शीलं चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः।' एक पाश है घृणा। घृणा का मतलब है किसी पापी को देख करके उसके प्रति जो 'यह बुरा है' ऐसी भावना होती है। दो तरह के लोग दुःखी हमें मिलते हैं–एक तो सत्कर्म करने वाले और दूसरे पाप कर्म करने वाले दुःखी मिलते हैं। जैसे आबू में सारा दिन काम करके रात में शराब पीकर नाली या सड़क पर गिरे मिलते हैं। वे दुःखी तो हैं पर पाप कर्म करके दुःखी हुए हैं। दूसरा भी सड़क पर बैठा है, चेष्टा करने पर भी खाना तक उसे नहीं मिलता, वह भी दुःखी है। दोनों के प्रति अलग-अलग भाव होता है। जो सत्कर्म करते हुए दुःखी दीखता है उसके प्रति करुणा होती है, कि 'इसका दुःख दूर करें'। जो पापी दुःखी होता है उसके प्रति घृणा होती है। करुणा उपादेय भावना है, 'मैत्रः करुण एव च', भगवान् ने गीता में

कहा है। सत्कर्मी दुःखी है तो उसके प्रति करुणा ठीक है। पापी के प्रति जो घृणा होती है, उसका क्या करें? पतंजलि ने कहा है, पापी की उपेक्षा करनी चाहिये। उसके प्रति घृणा का भाव न करो क्योंकि यह भी एक पाश है। इससे लाभ कुछ नहीं है। पापियों की उपेक्षा करनी चाहिये, घृणा नहीं। शंका भी एक पाश है। अनेक व्यक्ति हर आदमी पर शंका करते रहते हैं। एक महात्मा थे, कहते थे, 'विश्वास तो बाप का भी नहीं करना चाहिये।' ऐसे लोगों को सदैव शंका रहती है। यह भी बड़ा पाश है। भयरूप पाश प्रसिद्ध ही है। लज्जा अर्थात् हमारी बुराई को कोई न जान ले—यह भावना। एक व्यक्ति ने किसी बात पर गुस्सा किया। जब शांत हुआ तब इसका उसको दुःख नहीं था कि क्रोध क्यों आया, वरन् दूसरों के सामने गुस्सा करने की लज्जा उसे परेशान करती रही। साधक तो इससे दुःखी होगा कि क्रोध क्यों आया। किसी को पता लगने से क्या अंतर पड़ता है! तुमको बुखार आया, किसी को पता लगे या न लगे, तुम्हारे लिये तो वह रोग है ही। किंतु लज्जारूप पाश वाला इसी से घबराता रहता है कि लोग न जानें। जुगुप्सा अर्थात् गंदगी से, बुराई से स्वयं को दूर रखने का भाव। लोक में इसी अर्थ में घृणा-शब्द का प्रयोग होता है। स्वच्छतादि के लिये उपयोगी होने पर भी भेददृष्टि दृढ करने से यह भी पाश है। कुल भी एक बड़ा पाश है। 'मैं अमुक कुल का हूँ' इसका अभिमान बन्धनकारी होता है। जाति का अभिमान भी बन्धन-हेतु है। ब्राह्मण हूँ क्षत्रिय हूँ आदि आभिनिवेश से व्यक्ति स्वयं को परिच्छिन्न समझता है। उत्तंक महर्षि की कथा बता चुके हैं जिन्होंने जातिभ्रंश के भय से अमृत ठुकरा दिया था!

इसी प्रकार से बहुत से लोग अपने आत्मतत्त्व को इसलिये ही जानने में घबराते हैं कि हम ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं रह जायेंगे! शील भी पाश है। हमारा शील, स्वभाव कहीं गड़बड़ा न जाये— इस घबराहट में लोग दुःखी हो जाते हैं। ये सारे पाश हैं जिनके कारण हम आत्मतत्त्व से दूर रहते हैं। ये सारे पाश परावर को जान लेने पर हट जाते हैं। फिर न किसी चीज़ की लज्जा रह जाती है, न भय, न शंका, न घृणा आदि रह जाती हैं। और सारे क्लेश क्षीण हो जाते हैं। क्लेश का मतलब दुःख होता है। खास दुःख क्या हैं? शास्त्रकारों ने बतलाये हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश; इन पाँच को क्लेश बतलाया है। सारे दुःखों का अज्ञान ही मूल है। अस्मिता—शरीर आदि में मैं-बुद्धि। मन और शरीर को जो अच्छा लगे उसमें राग होता है। और शरीर को जो बुरा लगे उससे द्वेष होता है। 'मैं हमेशा बना ही रहूँ'—यह आग्रह अभिनिवेश है। ये पाँचों मूलभूत क्लेश नष्ट हो जाते हैं जब अद्वैत-साक्षात्कार हो जाता है।। ८।।

शोकनिवृत्ति और तापशांति दृढ साक्षात्कार का प्रभाव है; कठोपनिषत् (१.२.१२) में 'अधिगम' शब्द से यह कहा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।' इसी प्रकार जिस धीर ने विज्ञान के बाद प्रज्ञा कर ली (बृ. ४.४.२१) उसकी आत्मरूप स्थिति के लिये बृहदारण्यक में कहा है 'उभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः' (४.४.२२)। आपात ज्ञान, परोक्ष ज्ञान या अदृढ अपरोक्ष से यह स्थिति प्रकट नहीं होती वरन् दृढ अपरोक्ष से ही होती है। इसे उक्त श्रुतियों के आधार पर सूचित करते हैं—

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान्।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित्।। ६।।

चिदानन्दरूप देव का अवगम कर इसी जन्म में साधक हर्ष और शोक छोड़ देता है क्योंकि धैर्यादिसे युक्त हुआ साधना कर चुका है। किये या न किये पुण्य या पाप इसे कभी ताप प्रदान नहीं करते।

'देवं मत्वा' उस परम ब्रह्म परमात्मा देव का भली प्रकार से साक्षात्कार करके चूंकि वही सारे संसार के रूप को धारण करता है इसका निश्चय है इसलिये न किसी चीज़ से हर्ष हो सकता है, न शोक हो सकता है। अपने से कोई भिन्न चीज़ होवे तो हर्ष और शोक हो क्योंकि भिन्न कुछ रहता नहीं इसलिये दोनों हट जाते हैं। इन्हें कौन छोड़ सकता है? कहा धैर्यवान्। जो धैर्यवाला, धीरता वाला है। धीरता दोनों ही ले लेनाः बुद्धि में जो रत होता है, उसको भी धीर कहते हैं। और जो किसी भी परिस्थिति में घबराता नहीं उसको भी धैर्यवान् कहते हैं, धीर पुरुष कहते हैं। परमात्मा के साक्षात्कार के लिये जो साधन चाहिये, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, उनमें से प्रत्येक के लिये बड़े धैर्य की ज़रूरत है, नहीं तो थोड़े समय में ही आदमी घबरा जाता है। भगवान् गौडपादाचार्य ने तो कहा है, जो घास के तिनके से एक-एक बूँद लेकर समुद्र को सुखाने का धैर्य रख सके, वह अपने मन की अनन्त वासनाओं को सुखाने की हिम्मत करे! इसीलिये आज के लोगों के लिये यह मार्ग अत्यन्त कठिन है क्योंकि आजकल धैर्य तो किसी के पास है ही नहीं। जो टेलीफोन से तत्काल जवाब चाहते हैं, चिट्ठी से जवाब तक की इन्तजार नहीं कर सकते, ऐसे अधीर लोगों के लिये तो यह मार्ग नहीं है। शम, दम आदि साधन सब धैर्य से सही सम्पन्न होते हैं। श्रवण, मनन आदि साधन भी बुद्धि में रमण करने से ही प्राप्त होते हैं। ऐसे जो धैर्य से सम्पन्न हैं, वे ही इसी जन्म में परमात्मा का साक्षात्कार कर हर्ष-शोक छोड़ते हैं। जिसमें ऐसा धैर्य नहीं होता उससे यह काम हो नहीं सकता। इसलिये अन्यत्र उपनिषद् ने कहा है, जैसे सलमा-सितारे की सूई की आँख में बहुत पतला धागा डालना अत्यन्त कठिन वैसे ही परमात्मसाक्षात्कार है। ऐसे सूक्ष्म परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये धैर्यपूर्वक साधन करने से अज्ञान-निवृत्ति देखने में आती है। इसी जन्म में तब हो पाता है जब इस प्रकार धैर्य पूर्वक लगे।

पुण्य-पाप उस लब्धबोध को सन्ताप नहीं देते। यह बात पहले श्लोक ५ में आई है। 'मैंने पुण्य क्यों नहीं किया, मैंने पाप क्यों कर दिया'—इसका ताप उसे नहीं होता। किये पुण्य का भी फल अवश्य भोगना पड़ेगा—इससे ताप संभावित है, वह ज्ञाननिष्ठ को नहीं होता। पाप-दुःख से ताप भी नहीं होता। पुण्य और पाप ये दोनों ही अध्यास से होते हैं। अहंकार में चेतन का भ्रम होने पर ही पुण्य भी होगा और पाप भी होगा। इसलिये उसका फल भी भोगने वाला अध्यास वाला ही होगा। जिसका अध्यास हट गया उसने तो कुछ किया नहीं इसलिये करने-न करने से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है क्योंकि 'अकृत' आत्मा का बोध

होने के बाद, 'करने वाला' तो वह रह नहीं गया। अतः किये कर्म इस ज्ञानी को ताप नहीं देते, दुःख नहीं देते। 'क्वचित्' थोड़ा भी; ऐसा नहीं कि इतना बड़ा पाप किया तो ज्ञानप्रभाव से थोड़ा फल रह जायेगा! कुछ नहीं रहता, ख़त्म हो जाता है क्योंकि करने वाला रहा ही नहीं। अहंकार और चेतन दोनों की हृदयग्रन्थि ने ही सब किया था, हृदयग्रन्थि वाला कोई अब रहा ही नहीं, इसलिये सजा किसको हो, या पुरस्कार भी किसको मिले! इसलिये कहा कि ब्रह्मरूप का ज्ञान हो जाने पर उस तत्त्ववेत्ता को कुछ भी ताप नहीं होता।। ६।।

प्रमाणोपन्यास का उपसंहार करते हैं–

इत्यादिश्रुतयो बह्व्यः पुराणैः स्मृतिभिः सह।
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिम् आनन्दं चाप्यघोषयन्।।१०।।

पूर्वोक्त एवं ऐसी बहुतेरी श्रुतियाँ, पुराणों व स्मृतियों समेत घोषित कर चुकी हैं कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर अनर्थ समाप्त हो जाता है एवं आनन्द ही रह जाता है।

जितनी श्रुतियाँ हमने कही उतनी ही नहीं, और भी बहुत-सी श्रुतियाँ यही बताती हैं। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष के लिये सभी लोग प्रवृत्त हो सकते हैं इसलिये फल के बारे में कहा, 'यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत' देवताओं में, मनुष्यों में, ऋषियों में जिसने भी इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया, वही ब्रह्मरूप हो गया। अतः इसके अंदर देवतादि का भी अधिकार है। ब्रह्मसूत्रों में भी यही निर्णय किया कि देवताओं को यद्यपि कर्म और उपासना का अधिकार नहीं है, तथापि ज्ञान का अधिकार तो है ही, इसलिये इन्द्र और विरोचन देवराज और असुरराज दोनों ही ब्रह्माजी के पास आत्मज्ञान सीखने के लिये गये। 'मैं ही पर ब्रह्म हूँ,' ऐसा निश्चय होने पर मृत्यु के मुख से जीव छूट जाता है अर्थात् फिर उसको मरना नहीं पड़ता। उसके प्राण लीन हो जाते हैं। वह मर कर कहीं जाता नहीं, यहीं रह जाता है। स्मृतियों में भी यही कहा है। 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' सारे जड-चेतन जगत् को जो एक आत्मा में ही अध्यस्त देखता है और सारे भूतों के अन्दर सत्-चिद्रूप से उसीको देखता है वह स्वतन्त्र हो जाता है। यह देखना ही एक यज्ञ है: 'सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति।।' जड-चेतन उपाधियाँ स्वरूप से अध्यस्त हैं और सभी में जो सत् और चित् की प्रतीति है– जहाँ अन्तःकरण है वहाँ सत्-चित् की प्रतीति, जहाँ अन्तःकरण नहीं है, वहाँ केवल सत् की प्रतीति– यह केवल संसर्गमात्र से अध्यस्त है। आत्मा तो अधिष्ठान ही है। इस प्रकार सारे जड-चेतन की आहुति अधिष्ठान आत्मा में और व्यवहार काल में अधिष्ठान आत्मा की सत्-चिद्रूप से विषयों के साथ प्रतीति–इसी को आत्मविद् आत्मयज्ञ कहते हैं। इस आत्मयज्ञ को करने वाला अपने आत्मराज्य को प्राप्त कर लेता है। पुराणों के अन्दर भी कहा 'क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद् विशुद्धिः परमा मता'। शरीर क्षेत्र है। और इस शरीर को जो मैं-रूप जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। मैं-रूप से जानने वाला क्षेत्रज्ञ यदि इस उपाधि के बिना जो अपना वास्तविक स्वरूप है, उसे जान लेता है तो यही परम शुद्धि है। बाकी शुद्धियाँ कुछ पापों की निवृत्ति करेंगी, अतः गौण विशुद्धियाँ हैं, क्योंकि वापिस अशुद्धि आती है। जैसे बर्तन माँजकर

चमचमाता बनाओ। उस समय लगता है, साफ हो गया। दो माह न धोओ तो फिर काला का काला। सोने के बर्तन को साफ करके रख देते हो, तो वह काला नहीं होता क्योंकि वह स्वरूप से विशुद्ध है। इसी प्रकार से तुम खुद सोने की तरह शुद्ध हो। ऊपर से अन्तःकरण के दोषों को अपने ऊपर डालकर तुम अशुद्ध—जैसे दीखते हो, अशुद्ध कभी होते नहीं। और, जो अन्तःकरण की वृत्ति मैं-आदि हैं, वे स्वरूप से अशुद्ध हैं। इसलिये कितनी भी उपासना कर लो, कर्म कर लो, थोड़े समय के लिये तो मन आदि बिलकुल साफ लगेंगे, पर क्योंकि वे स्वरूप से ही अशुद्ध हैं इसलिये थोड़ा-सा छोड़ दो तो फिर वैसे के वैसे हो जाते हैं। अतः उनकी विशुद्धियाँ अपरम हैं। किंतु क्योंकि आत्मा के ऊपर तो तुमने जबरदस्ती अशुद्धि अध्यस्त की है इसलिये जैसे ही अध्यास हटा वैसे ही यह शुद्ध है।

ब्रह्मज्ञान होने पर जो संसार से होने वाला दुःख है, यह अनर्थ हमेशा के लिये मिट जाता है। केवल अनर्थ ही नहीं मिटता, आनन्द-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। यह ऐसा चिह्न है जिससे अपने को साफ़ पता चलता है। जितनी-जितनी आनन्द में स्थिति बढ़ती जाये, जानो कि ठीक रास्ते जा रहे हो। कुन्ती का वचन है ‘ भगवन्! हमारे ऊपर चाहे विपत्ति आवे पर आप का दर्शन होता रहे।’ अर्थात्, शरीर-मन में कितने भी दुःख होवें, परन्तु यदि तुम शिवभाव में हो, तो उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं, हमें चाहे जंगली जानवर बनना पड़े, चाहे कीट पतंग ही बनना पड़े पर ‘सदा त्वत्पादाब्जस्मरण-परमानन्दलहरी-विहारासक्तम्’ आपके चरण-कमलों के अन्दर हमेशा विहार करने में आसक्त यदि मेरा हृदय बना रहता है तो शरीर क्या है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अनर्थ-हानि और आनन्द की प्राप्ति—इनकी श्रुतियों, स्मृतियों एवं पुराणों ने घोषणा की है।। १०।।

जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उस आनन्द का ज़रा विचार करते हैं—

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा।
विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते।।११।।

ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द—यों आनन्द तीन तरह का है। आनन्द-पंचक के प्रारम्भ में ब्रह्मानन्द को समझाया जा रहा है।

आनन्द तीन प्रकार का है। एक है ‘ब्रह्मानन्द’। ब्रह्मानन्द कहने से ही प्रतीति होती है कि दूसरा भी कोई आनन्द है। ब्रह्म अर्थात् हमारा और जगत् का जो मूल कारण है। ब्रह्म का यही लक्षण किया—जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा सबका पालन होता है और अन्त में जिसमें सब चले जाते हैं, वही ब्रह्म है। एक तो वह आनन्द है जिससे सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं। दूसरा आनन्द है जिसमें स्थिर रहते हैं। तीसरा, जिसमें लय हो जाते हैं। ये ब्रह्मानन्द के स्वरूप हुए। उसको यहाँ तीन प्रकरणों में बतलायेंगे। योगानन्द, आत्मानन्द और अद्वैतानन्द—ये तीनों ब्रह्मानन्द के प्रकार हुए। दूसरा है ‘विद्यासुखं’। एक ब्रह्मरूप आनन्द है और एक ब्रह्म को जानने का आनन्द है जिसे विद्यानन्द कहा। जब तक

ब्रह्माकार वृत्ति अज्ञान को नष्ट नहीं करती, तब तक ब्रह्मरूप आनन्द में तो स्थिति नहीं है परन्तु ब्रह्मरूप आनन्द को वृत्ति विषय बनाने का प्रयत्न कर रही है, इसका भी एक आनन्द है। जिस प्रकार नींद आने पर जो आनन्द है वह बड़ा भारी आनन्द है। परन्तु नींद आने के पहले, मुलायम बिस्तर पर लेटे हो, ठंडी हवा है, नींद की तैयारी हो रही है, इसका भी एक आनन्द है। जिस समय नींद आ जाती है उस समय आनन्द में मग्न हो जाते हो, केवल आनन्द ही आनन्द रह जाता है और कुछ नहीं; परन्तु उस आनन्द का स्पष्ट स्फुरण नहीं होता। बिछौने पर लेटने का इत्यादि सुख तब नहीं भासता। आनंद को प्रकट करने की जो तैयारी है, उसका स्फुट आनन्द है क्योंकि बुद्धि जाग्रत् है। आनंद आयेगा, उस समय तो आनंद में मग्न हो जाओगे, कोई होश भी नहीं रहेगा। बाद में स्मृति ज़रूर रहेगी कि बड़ा आनंद आया। परन्तु उस समय व्यक्तीभवन नहीं है, क्योंकि उसमें बुद्धि रह नहीं जाती। इसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप में स्थित होने का ब्रह्मानन्द है, और उसकी प्राप्ति के लिये जो ब्रह्माकार वृत्ति बनाने का प्रयत्न है, वह विद्यानन्द है।

तीसरा है विषयानन्द। इसपर पंचदशी का अन्तिम प्रकरण है। जिस समय हमें जगत् की प्रतीति हो रही है उस समय सब चीज़ों के अंदर विद्यमान जो सत्-चिद्रूप ब्रह्म है, उसकी तरफ दृष्टि जाने से सच्चिदानन्द की प्रतीति होती है तो व्यवहार काल में भी अनुसन्धान अक्षुण्ण रहता है, टूटता नहीं है। विद्यानन्द में तो साक्षात् ब्रह्म को विषय कर रहे हो, इसलिये वह श्रेष्ठ है। विषयानन्द में उपाधि के साथ सच्चिदानन्द को विषय कर रहे हो इसलिये उपाधि का अनुवर्तन होने से कम आनन्द है। जैसे नमक की डली का नमकीनपना, और साग में थोड़ा नमक डाल दिया, उसका नमकीनपना इनमें खारेपन की तीव्रता का अन्तर होता है वैसे संसार के नामरूपात्मक विषयों के रहते हुए जो आनन्द है, वह चुटकी-भर नमक डालने का आनन्द है और विद्यानन्द नमक की डली खाने का आनन्द है। एक हो गया ब्रह्मानंद, जिसके तीन भेद बतलाये योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द। दूसरा हो गया विद्यानन्द। तीसरा हो गया विषयानन्द। त्रिविध आनन्द बतला दिये। अब इनमें सबसे पहले ब्रह्मानन्द का विवेक करेंगे। 'विविच्यते' अर्थात् विभक्त करके दिखलायेंगे कि ये हैं तो तीनों ब्रह्मानन्द के स्वरूप।। ११।।

ब्रह्मानन्द समझाने के लिये कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय श्रुति का आधार लेते हैं–

भृगुः पुत्रः पितुःश्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणम्।
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान्।। १२।।

पुत्र भृगु ने पिता वरुण से ब्रह्म का लक्षण सुनकर अन्न, प्राण, मन, बुद्धि को परीक्षापूर्वक छोड़कर आनन्द ही ब्रह्म है, यह जाना था।

भृगुऋषि वरुण ऋषि के पुत्र थे। अपने पिता वरुण के पास गये, और कहा 'हमें ब्रह्म का उपदेश दीजिये।' ब्रह्म दीर्घकाल विचार करने से ही पता लगता है। जिस प्रकार यदि तुम को वैद्य बनना है तो लम्बे समय तक तुमको नाडी का परीक्षण करना पड़ेगा। हैं तो नाडी में तीन ही चीज़ें, वातप्रधान, पित्तप्रधान और कफप्रधान। परन्तु इन तीनों के भेदों का

ज्ञान दीर्घ काल तक अभ्यास करने से ही होता है। इसी प्रकार परमात्मा के तीन ही लक्षणों का विचार करना है—उससे जगत् उत्पन्न, स्थित और उसमें ही लीन हो जाता है। शुरू में लगता है कि यह सीधी-सी बात है। पर दीर्घकाल तक विवेचन करने पर अनेक चीज़ें सामने आती हैं कि ब्रह्म का क्या रूप है। फिर परीक्षा करने से समझ आता है कि ब्रह्म का क्या रूप नहीं हो सकता। अतः दीर्घकाल तक अभ्यास करने की ज़रूरत है। पिता वरुण से भृगुने ब्रह्म का लक्षण सुन लिया। फिर उसने दीर्घकाल तक विचार किया। पहले समझ में आया कि प्राणी अन्न से पैदा होते, रहते, नष्ट होते हैं। माता-पिता ने जो अन्न खाया है वही शुक्र-शोणित बनकर शरीर को उत्पन्न करता है। हम तभी तक रहते भी हैं जब तक अन्न मिलता रहे। और अन्त में जब हम जल जाते हैं तब पुनः खादरूप से अन्न में चले जाते हैं। इसलिये अन्न ही वह ब्रह्म है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब स्थित रहता है, जिसमें सब चला जाता है। यह समझकर भृगु पिता के पास गया, बताया कि इस लक्षण से यह जवाब मिला। पिता ने कहा 'यह ठीक नहीं है, जाकर और विचार करो।' विचार करने पर 'प्राण' समझ आया। प्राण से सृष्टि, स्थिति, लय की प्रतीति होती है। वरुण ने बतलाया कि वह भी नहीं है, और विचार करो। प्राण से जीवित तो रहता है, लेकिन यदि मन न होवे तो चेतना लुप्त हो जाती है। कोमा (बेहोशी) में आदमी होवे, तो प्राण चलने पर वह जी तो रहा है पर पता उसे कुछ नहीं। इसलिये प्राण नहीं, मन ही ब्रह्म है यह भृगु को समझ आया। तब वरुण ने पुनः कहा 'नहीं, और विचार करो।' विचार करके उसने निश्चय किया कि मन तो बार-बार बदलता रहता है। बुद्धि ही असली चीज़ है। उसको भी वरुण ने मना कर दिया। फिर विचार किया।

श्रुति इसके द्वारा बतला रही है कि परमात्मा का ज्ञान करने के लिये, दीर्घ-काल तक मनुष्य को चित्त को एकाग्र करके विचार में लगाना पड़ता है। आजकल तो लोग कहते हैं कि 'बताइये क्या है?' इसीलिये निष्ठा बनती नहीं है। भृगु ने अनेक वर्षों तक इन चीज़ों का पता लगाने के लिये पुनः पुनः विचार गुरु-आज्ञा से किया। जब इस प्रकार विचार से उत्पन्न होता है, तब वह अनुभव होता है। अन्यथा, 'उन्होंने यह कहा' यह तो प्रतीति होती है पर 'मैं ऐसा जानता हूँ' यह प्रतीति नहीं होती। वेद, उपनिषद्, गीता में भगवान् ने कहा, गुरु ने कहा, बात सच्ची है और स्वयं विचार करके वही ज्ञान हो तब निश्चय होता है। इसलिये उपनिषदों में कहा है 'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्', ज्ञान का जब दीर्घकाल तक अभ्यास करता है, तब वह ज्ञान उत्पन्न होता है जो सारे पापों को नष्ट कर देता है। इस प्रकार अंत में भृगु ने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है।

क्या चीज़ है जो जीव हर क्षण चाहता है? आनंद ही चाहता है। संसार में कोई व्यक्ति दुःख नहीं चाहता। सब सुख चाहते हैं। भूल होती है कि जहाँ सुख नहीं है वहाँ से हमें सुख मिल जायेगा। रसगुल्ला खाने से हमारी ही आनन्दाकार वृत्ति बनती है, फिर भी वहम यह है कि रसगुल्ले में आनन्द है। इसी भ्रम के कारण जो आनंदसमुद्र हम, वह आनंद की एक बूँद के लिये संसार के सामने हाथ फैलाते फिरते हैं कि हमें सुख मिल जाये! सारे प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न

होते हैं। माता-पिता के आनन्द के अन्दर ही प्राणी के उत्पन्न होने का बीज निहित है। आनन्द में ही स्थित रहते हैं, आनंद की ही निरन्तर इच्छा सबको बनाये रखती है। जब आशा टूट जाती है कि कोई आनन्द हो सकता है, तब आत्महत्या करते देखे जाते हैं। जब तक शरीर से सुख की आशा है तब तक तो कर्जा लेकर भी दवाई से इसको सुरक्षित रखना चाहते हैं कि यह रहेगा तो आगे सुख होगा। जब यह निश्चित हो जाता है कि अब सुख की कोई आशा नहीं है, तब आदमी अपने को बचाने का प्रयत्न नहीं, अपने को खत्म करने का ही प्रयत्न करता है। जब तक सुख की आशा है तभी तक जीवन है। और अंत में उसी के अंदर सब लीन हो जाता है। इस प्रकार से अन्न, प्राण, मन, इन सब को छोड़कर आनन्द को ही ब्रह्मरूप से भृगु ने जाना। यद्यपि सत् और चित् भी ब्रह्म का लक्षण है तथापि ब्रह्म का जो लक्षण हमें निरन्तर अपनी तरफ आकृष्ट कर पाता है वह आनन्द ही है। चूंकि ब्रह्म आनन्दरूप है इसलिये, हमारी निरंतर प्रवृत्ति उधर होती है।। १२।।

आनन्द में ब्रह्मलक्षण घटाकर दिखाते हैं—

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम्।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः।। १३।।

आनन्द से ही भूत (प्राणी) पैदा होते हैं, उन्हीं से जीवन है, भूतों का लय भी आनन्द में है अतः इसमें संशय नहीं कि आनन्द ही ब्रह्म है।

जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं, सब आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं। आनन्द से ही जीवन है, जितनी चीज़ों की, विषयों की प्राप्ति होती है, वे सब आनन्द देते हैं, इसीलिये जीवन है। बीमार आदमी सुख के लिये शरीर छोड़ना चाहता है कि 'मैं मर जाऊँ, ये सब दुःख छूट जायें' वह ब्रह्मानन्द को तो समझता नहीं है, विषयानन्द को ही समझ रहा है, उसीसे जी रहा है। और जब गहरी नींद में जाता है, उस समय ये सारे विषयादि सुषुप्ति के आनन्द में ही लीन होते हैं। जाग्रत् में भी इस आनन्द का कभी-कभी कोई बोध हो जाता है, परन्तु वह सार्वकालिक और सार्वदिक् नहीं है। जितनी देर सुषुप्ति है उतनी देर आनन्द रहता ही है। जाग्रत् में आनन्द का अनुभव करने के लिये बुद्धि स्थिर हो जाये पर लीन न हो यह स्थिति चाहिये। आनन्द के स्फुरण का जो बोध होता है, उसमें लीन तो सब होते ही हैं। साधना का प्रयत्न इस बात के लिये है कि उसका स्फुरण होवे। अतः उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें स्थित है, उसी में लय होता है, अतः आनन्द ब्रह्म ही है। ब्रह्म का लक्षण आनन्द में ही घटता है, इसमें कोई संशय नहीं यह सार्वकालिक सार्वजनिक अनुभव है, इसलिये 'न संशयः'।। १३।।

जिसको तैत्तिरीय में आनन्द कहा है, उसीको सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् में भूमा कहा है—

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटी द्वैतवर्जनात्।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो।। १४।।

भूतों की उत्पत्ति से पूर्व द्वैत न होने से भूमा ही रहा। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप वाले तीनों आकारों का समूह प्रलय में नहीं होता।

सनत् कुमार और नारद का छांदोग्य के सप्तम अध्याय में संवाद है। नारद सनत्कुमार के पास जाते हैं, कहते हैं, 'हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करिये।' सनत् कुमार कहते हैं 'पहले बताओ अब तक तुमने क्या-क्या समझा है?' नारद लम्बी सूची पेश करते हैं 'मैंने वेद, वेदांग, इतिहास, ज्योतिष आदि सब पढ़ा है। परन्तु सब पढ़कर भी अभी तक शोक की निवृत्ति नहीं हुई।' तब सनत् कुमार ने कहा 'तुमने केवल अक्षर ही अक्षर, शब्द ही शब्द पढ़े हैं।' जब तक अर्थ के अनुभव में परिणति नहीं हो जाती, तब तक शब्द ही है। रसगुल्ले को जीभ पर रखने से ही उसके वास्तविक आनंद का पता लगता है। शब्द पढ़े हैं अर्थात् उनका अर्थ ग्रहण नहीं किया। अर्थ क्या है? पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, ये जो पंचमहाभूत और इन से जो प्राणी आदि उत्पन्न हुऐ इनकी उत्पत्ति से पूर्व जो तत्त्व रहा वही 'अर्थ' है। जो पेट से पैदा होते हैं वे जरायुज, अण्डों से पैदा होने वाले अण्डज। कुछ प्राणी हैं जो पसीने से पैदा होते हैं उन्हें स्वदेज कहते हैं। कुछ प्राणी हैं जो भूमि को फोड़ कर निकलते हैं जो उद्भिज कहलाते हैं। पाँच महाभूत और चारों तरह के प्राणी उत्पन्न हुए। प्राणी हो गये ज्ञाता और आकाश आदि महाभूतों से उत्पन्न हुई चीज़ें हो गईं ज्ञेय, जिन्हें जानते हैं। प्राणी जानने वाले तथा ये सब चीज़ें जिनको जानते हैं। जो ज्ञान के साधन हैं, इंद्रियाँ उनके द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की क्रिया—इस प्रकार यह त्रिपुटी उत्पन्न हो गई। परन्तु इन महाभूतों के और प्राणियों के उत्पन्न होने के पहले ये प्राणी नहीं थे इसलिये कोई ज्ञाता नहीं था। जिन्हें जानें वे विषय भी नहीं थे। क्योंकि भौतिक हैं इसलिये भूतों के अभाव में इन्द्रियाँ भी नहीं थीं। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इस त्रिपुटी के उत्पन्न होने के पहले जो था वह अद्वैत रहा। ये होने के बाद तो त्रिपुटी भी हो गई।

यह त्रिपुटी ही द्वैत है। जैसे एक फूल में एक पंखुड़ी के पीछे दूसरी, उसके पीछे तीसरी यों पंखुड़ियाँ मिलकर फूल होती हैं इसी प्रकार ये तीन पुट हैं—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। पुट अर्थात् आकार। आगे चाहे इन सब के अनन्त भेद हो जायें पर रहेंगी ये तीन ही कोटियाँ, श्रेणियाँ। तीन पुटों का, आकारों का जो संग्रह है, वही त्रिपुटी है। यही सारा द्वैत है। इसको द्वैत ही क्यों कहते हैं, त्रैत क्यों नहीं कहते? आर्यसमाज के स्वामी दयानन्द के पहले तक अपने यहाँ द्वैतवाद तो था, पर उन्हींने त्रैतवाद का प्रतिष्ठापन किया! त्रिपुटी होने पर भी, इसमें विषय तो दो ही हुऐ, ज्ञाता और ज्ञेय। ज्ञान तो उनका संम्बन्धमात्र है। इसलिये दो ही के भेद में तीनों आ जाते हैं। दृक् और दृश्य, इसी में सारे आ जाते हैं। जब ये नहीं थे तब 'यत्र नान्यत्पश्यति' जिस अवस्था में किसी दूसरे को देखता नहीं है, सुनता नहीं है, किसी दूसरे को जानता ही नहीं वह भूमा है। द्रष्टा और दृश्य का भेद होने से ही भूमा 'नहीं रहता' है। यह भेद नहीं रहा तो भूमा 'हो गया'। भूमा ही आनंद है। जो परिच्छिन्न है उसमें केवल सुखाभास है, सुख है नहीं। इसलिये सनत्कुमार ने कहा कि ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटी प्रकट होने के पहले जब प्रलय था, तब ये सब कुछ नहीं था अतः वह भूमावस्था है, वही आनंदावस्था है। प्रलय का तो हम लोगों को साक्षात् अनुभव नहीं है। लेकिन यह

सारा संसार जब हम गहरी नींद में जाते हैं तब नहीं रह जाता। दृश्य और द्रष्टा दोनों नहीं रह जाते इसलिये दर्शन भी नहीं रह जाता । सुषुप्ति के अन्दर सब चीज़ें लीन हो जाती हैं। इसलिये लय-प्रक्रिया समझाते हुए कहते हैं कि जाग्रत् में विषय, इंद्रियाँ और मन; उसकी अपेक्षा जब इंद्रियाँ लीन हो जायें, केवल मन रह जाये तब स्वप्न; जब मन भी लीन हो जाये तब सुषुप्ति। सृष्टि-प्रक्रिया की दृष्टि से देखो तो प्रलयावस्था हो गई सुषुप्ति। जिस समय सुषुप्ति थी उस समय पूर्ण रूप से आनंद था। जब मन, इंद्रियाँ आईं तब दुःख शुरू हुआ। यह बात सनत् कुमार ने नारद को स्पष्टतः बतलाई। जब द्वैत समाप्त होता है तभी सुख होता है। वही सुख जगत् का कारण है।। १४।।

ज्ञाता आदि का स्वरूप बताते हैं—

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः।
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत् त्रयमुत्पत्तितः पुरा।। १५।।

परमात्मा से उत्पन्न विज्ञानमय कोश ज्ञाता है, मनोमय कोश ज्ञान है, शब्द आदि विषय ज्ञेय हैं। ये तीनों उत्पत्ति से पहले थे नहीं।

उत्पत्ति से पहले शब्दादि अर्थात् रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श जो जाने जाते हैं, वे नहीं थे। क्योंकि वेद कहता है कि उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, उससे वायु उत्पन्न हुआ इत्यादि इसलिये जब आकाश आदि नहीं थे तब आकाशादि में रहने वाले शब्दआदि कहाँ से आयेंगे? यदि शब्दरूप ही आकाश को मानते हैं, तब भी वही बात है। गौतम व कणाद के अनुयायियों का कहना है, आकाश एक द्रव्य है, उसके अन्दर शब्द गुण रहता है। हम लोग मानते हैं, पहले शब्दात्मक आकाश अव्यक्त है, क्योंकि पंचीकृत नहीं हुआ। पंचीकृत होने पर वह व्यक्त हो गया। परन्तु है आकाश शब्दात्मक। उसमें पृथ्वी जल तेज वायु—ये दो-दो आना मिले हैं तो आठ आना मिलकर बाकी चार, और आठ आना आकाश मिलकर जो हम लोगों को उपलब्ध है वह स्थूल, पंचीकृत आकाश बना। उसमें ये पाँचों तत्त्व पंचीकरण से मौजूद हैं। जैसा आकाश में वैसा वायु, तेज, जल, पृथ्वी में भी है। शब्द हमें ग्राह्यरूप से व्यक्त तब होता है जब बाकी चार मिल जावें। शब्द से कोई अलग चीज़ आकाश नहीं है। अगर शब्द-आकाश अलग हैं यह पक्ष मान लो तो भी आकाश ज्ञेय तो तभी होता है जब उसमें शब्द होवे। इसी प्रकार रूप रस गंध स्पर्श सभी का हाल है।

'ज्ञानं मनोमयः'। मन की जब वृत्ति ज्ञेय के आकार की बनती है तब ज्ञान होता है। परस्पर असम्बद्ध ज्ञाता व ज्ञेय बने रहें, तो ज्ञान नहीं होगा। वह तभी होगा जब इनका उचित मेल हो। इंद्रिय स्वतः ज्ञान नहीं कर सकती, मन के द्वारा सम्बन्धित होकर ज्ञानहेतु बनती है। अतः ज्ञान मनोमय है। मन व इंद्रियाँ अपंचीकृत भूतों का कार्य अतः सूक्ष्म हैं इसलिये इनके द्वारा घिरने पर भी विषय आवृत नहीं होते और न ही इनका कोई बोझ विषय पर पड़ता है! त्रिपुटी के अन्दर ज्ञेय तो हो गये पञ्चीकृत विषय। ज्ञान हो गया अपंचीकृत; इंद्रियों के द्वारा मन की वृत्ति बनती है तो प्रत्यक्ष हो जाता है। अन्य साधनों से मन की

ज्ञानाकार वृत्ति बने तो परोक्ष ज्ञान हो जाता है। केवल संस्कारों के द्वारा मन की वृत्ति बनती है तो स्मरण हो जाता है। हैं ये ज्ञान।

तीसरा 'विज्ञानमयो ज्ञाता'। बुद्धि में जो अहंकारात्मिका बुद्धिवृत्ति है, वही चेतन से सम्बन्धित होकर जानने वाली है। जानने वाले का अनुभव हमेशा होता है 'मैं जानने वाला'। दूसरा कोई जानने वाला है—यह केवल अनुमान से पता लगता है। वह भी पता मैं को लगेगा। जानने वाला विज्ञानमय अहंकारात्मिका वृत्ति है। विज्ञानमय, मनोमय और शब्दादि—ये तीनों ही उत्पन्न हैं। यहाँ 'उत्पन्नाः' नहीं कहा है क्योंकि प्रधान रूप से पहले ज्ञाता उत्पन्न होगा, तभी ज्ञान और ज्ञेय होंगे। जब विज्ञानमय उत्पन्न हो गया, तब आगे ज्ञेय और ज्ञान होंगे। ये तीनों ही उत्पत्ति के पहले नहीं हैं। क्योंकि ये तीनों कार्य हैं। जो उत्पन्न होता है वह कार्य किसी कारण से उत्पन्न होता है इसलिये उत्पत्ति से पहले ये कारणरूप में थे। कार्य कुछ नहीं था।। १५।।

कार्य न होने से प्रकृत में क्या लाभ यह दिखाते हैं—

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा।। १६।।

ज्ञाता आदि तीनों न होने पर बिना द्वैत का पूर्ण ही अनुभव होता है। समाधि, सुषुप्ति, मूर्छा में जैसे पूर्ण रहता है वैसे सृष्टि से पहले पूर्ण रहा।

जब ये तीनों ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता नहीं हैं, तब सारे द्वैतों से रहित अद्वैत मौजूद ही है। द्वैत उत्पन्न होने वाला है, इसलिये जहाँ द्वैत नहीं है वह अनुत्पन्न अद्वैत है। चूंकि वह किसी भी द्वितीय से रहित है इसलिये उसमें न देश का, न काल का, न वस्तु का परिच्छेद है। किसी तरह की बाड़ का वहाँ अनुभव नहीं। हमें तीन तरह की बाड़ों का अनुभव होता हैः एक, देश की बाड़, इस देश में यह चीज़ है उस देश में नहीं। बाड़ मतलब जिसे सीमा कहते हैं। जब तक त्रिपुटी उत्पन्न नहीं हुई तब तक देश कहाँ है? इसी प्रकार काल की बाड़ है। आज तक चीज़ है, आगे नहीं। देश की बाड़ यहाँ तक, काल की बाड़ तब तक। जब त्रिपुटी नहीं है तब काल भी बाड़ नहीं बन सकता। और वस्तु की बाड़—यह चीज़ है, वह चीज़ नहीं। टेबल घड़ी नहीं, घड़ी टेबल नहीं है। इसलिये वस्तु भी बाड़ हो जाती है। जब त्रिपुटी नहीं है तब पूर्ण ही है यह अनुभव धीरे-धीरे मन में बैठाने का है। अन्यथा हम सोचते रहते हैं कि जैसे घड़े का अनुभव होता है वैसे ही पूर्ण का अनुभव होता होगा। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी रहते यदि अनुभव होगा तो बाड़ रहेगी ही। किंतु ज्ञाता के अभाव में जैसे घड़े को जानते हैं वैसे पूर्ण को नहीं जान सकते। अद्वैत का अनुभव द्वैत की तरह नहीं है। जैसे बहुत-सी चीज़ों को जानते हैं वैसे अद्वैत को भी जान लिया, यह बात नहीं है। अद्वैत का अनुभव कैसा है? 'पूर्ण एवानुभूयते।' ऐसा कौन-सा दृष्टांत है? यदि उसका अनुभव समझना चाहते हो, तो पहला उत्तम दृष्टांत है समाधि। निर्विकल्प समाधि में किसी भी द्वैत का भान नहीं है। वहाँ अद्वैत के भान का जो प्रकार है, उसमें न मन के द्वारा भान हो रहा है, न विज्ञान के द्वारा जानने वाला है, और न ज्ञेय है। केवल आत्मा का पूर्ण दर्शन है।

उसका कुछ अंदाज मिले ऐसा दृष्टान्त है सुषुप्ति। गहरी नींद के अन्दर न ज्ञाता है न ज्ञान है न ज्ञेय है। तुम कुछ भी वहाँ जान नहीं रहे हो। तुम को न यहाँ-वहाँ का, न अब-तब का, न यह-वह का पता है। सुषुप्ति में काल का कोई परिच्छेद नहीं है। वहाँ कोई दूसरी वस्तु भी नहीं है जिसका परिच्छेद होवे। सुषुप्ति में देश, काल, वस्तु का परिच्छेद न होने से पूर्ण अनुभव होता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय नहीं होने से अद्वैत अनुभव होता है। परन्तु सुषुप्ति में अज्ञान रहता है। निर्विकल्प समाधि में 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह अनुभव नहीं होता। सुषुप्ति में यह भी अनुभव होता है, 'मैं बड़े आनंद से सोया'। और यह भी अनुभव होता है, 'मैंने कुछ नहीं जाना'; यह अज्ञान का अनुभव है। और चूंकि अज्ञान है, इसलिये जैसे ही प्रारब्ध कर्म फल देने वाले होते हैं, इस अज्ञान से वापिस तुम्हारी इंद्रियाँ आ जाती हैं, अंतःकरण आ जाता है, सब प्रकट हो जाता है। आत्मज्ञान-पूर्वक जब निर्विकल्प समाधि होती है, तब अज्ञान नहीं रहता। इसलिये वापिस जगत् नहीं आ सकता। संसार तभी उत्पन्न होवे, जब अज्ञान होवे। एक अवस्था मूर्छा की भी होती है। जब सुषुप्ति से उठता है तब तो कहता है, 'मैं बड़े मज़े से सोया।' मूर्छा से वापिस आकर कहता है 'बड़ा दुःख पाया'। शरीर में भी विकार, मुँह से झाग या शरीर का अकड़ना इत्यादि ये सब बतलाते हैं कि मूर्छित को दुःख हो रहा है। यद्यपि मूर्छा में भी देश, काल वस्तु का परिच्छेद नहीं है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का परिच्छेद नहीं है तथापि वहाँ अविद्या की दुःखाकार वृत्ति है। गहरी नींद में अविद्या की सुखाकार वृत्ति है। इसलिये सुषुप्ति और मूर्छा को अलग गिनाया। त्रिपुटीरहित पूर्ण में दृष्टांत दोनों ही हैं।

समाधि में जो अनुभव होता है, वह पूर्ण है क्योंकि सृष्टि से पहले जैसा पूर्ण था, वैसी ही पूर्णता समाधि में अनुभव होती है। अविद्या रहने से जैसे प्रलय से सृष्टि अवश्य हो जाती है वैसे समाधि आदि से व्युत्थानादि अवश्य हो जाता है। बिना तत्त्वज्ञान से अविद्या नष्ट हुए, न सृष्टि-प्रवाह समाप्त होता है, न व्युत्थान के जाग्रदादिका चक्र समाप्त होता है। परिच्छेद न होने से पूर्ण है– इतने के लिये ये दृष्टान्त हैं। जैसे सुषुप्ति आदि में वैसे प्रलयावस्थ आत्मा पूर्ण है। चिद्रूप होने से भान है ही अतः 'अनुभूयते' कहा। समाधि, सुषुप्ति, मूर्छा में जैसे पूर्ण का अनुभव होता है, वैसा ही सृष्टि के पहले भी पूर्ण था यह समझना चाहिये। सृष्टि के पहले पूर्ण था– यह शास्त्र कहता है और इसके दृष्टांत का अनुभव यहाँ हो जाता है अतः शब्द से पूर्ण का ज्ञान संभव है यह तात्पर्य है।। १६।।

पूर्ण और आनन्द एक ही चीज़ है। दुःख हमेशा सद्वितीयता से है। लोक में भी यदि कोई आदमी दुःखी दीखता है, तो उससे पूछते हो कि क्या हुआ, क्या दुःख है। और कोई प्रसन्न बैठा है तो उससे कारण नहीं पूछते। सुख स्वाभाविक होता है, दुःख किसी कारण से होता है। जैसे कोई आदमी स्वस्थ है तो कोई नहीं पूछता 'तुम बीमार क्यों नहीं हो?' जो बीमार है उससे ज़रूर पूछा जाता है। दुःख का, बीमारी का कारण कोई दूसरा हुआ करता है। दूसरा कुछ नहीं है तो आदमी स्वाभाविक रूप से स्वस्थ, सुखमय होता है। इस पर विचार करना चाहिये। बचपन से ऐसा दृढ संस्कार डाल दिया गया है कि सुख चीज़ों से

होता है। सत्य तो है कि सुख चीज़ों से कभी नहीं हो सकता। द्वैत से सुख नहीं हो सकता। अपने मन में यह दृढ संस्कार डालना चाहिये कि कोई भी चीज़ होगी वह दुःख ही देगी, सुख तो अपना स्वरूप है। इसलिये बताते हैं कि जिसे पूर्ण कहा है वही सुख है—

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि।
सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने।। १७।।

जो भूमा है वह सुख है, अल्प में, ज्ञाता आदि तीन तरह के भेद वाले में सुख नहीं है। यों अतिशोक वाले नारद से सनत्कुमार ने कहा।

उपनिषद् कहती है 'यो वै भूमा तत् सुखम्' जो पूर्ण होता है वही सुख है। किसी को दुःखी करने के लिये कोई दण्ड देने की ज़रूरत नहीं है—यदि नौकर काम नहीं करता तो उसे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है, केवल दूसरे नौकर के २५० रुपया और इसके ५० रुपया वेतन बढ़ाओ। पैसे बढ़ने पर भी दूसरे की अपेक्षा कमी देखकर दुःखी हो जाता है। जो चीज़ पूर्ण होती है वही सदैव सुख देती है। जो 'भूमा' है वही सुख है। थोड़े में सुख नहीं है। जो पूर्ण होगा वह अद्वितीय होगा। दूसरा हमें या देश से या काल से या वस्तु से परिच्छिन्न करेगा। दूसरा नहीं होगा तभी देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्नता अतः पूर्णता होगी। इसलिये अल्प का मतलब हुआ, परिच्छिन्न और वह कभी भी सुख नहीं दे सकता। परिच्छिन्नता देश-काल-वस्तु तीन प्रकार से भेद करती है, हमें सीमित करती है। भगवान् सनत्कुमार के पास नारद गये, कहा 'मेरे आत्मा को शांति नहीं है' तो उन्होंने कई चीज़ें उपासना के लिये बतलाई। उसी क्रम में निष्ठा को कहा। जब तक व्यक्ति किसी एक निश्चिय में स्थित नहीं हो जाता, तब तक शोक की निवृत्ति नहीं होती। हमारे शोक की निवृत्ति इसीलिये नहीं होती कि हमारा कोई निश्चय नहीं है। भली प्रकार से विचार-पूर्वक निश्चय करते हो तो निष्ठा होती है। निष्ठा इसलिये नहीं होती कि हम लोग विचार-पूवर्क निश्चय करते ही नहीं। निश्चय करने की प्रकृति मन में डालनी पड़ती है। निश्चय करने से पहले सब संकल्प-विकल्प कागज़ पर लिखो। 'यह काम करने से यह लाभ है, यह हानि है' फिर विचार करते रहो। संकल्प-विकल्प करना, विचार करना यह मन का कार्य है। सब विकल्पों में कौन-सा ठीक है। जब यह निश्चय बुद्धि से कर लिया उसके बाद, कितनी भी बातें आवें, अपने निश्चय को नहीं बदलना चाहिये। उसपर स्थिर रहो। हम लोग स्थिर रहते नहीं इसलिये बुद्धि का स्वभाव निश्चय करने का बन ही नहीं पाता। हमेशा मन के स्तर पर रहते हैं, स्थिरता नहीं करते, निश्चय पर नहीं पहुँचते। कृति से निष्ठा होती है। कृति का कारण क्या है? कोई भी आदमी करता है तो सुख के लिये, जहाँ सुख नहीं देखता वहाँ नहीं करेगा। निष्ठा के लिये कृति और कृति के लिये सुख चाहिये। तब नारद ने कहा 'महाराज, सुख को बतलाइये।' तब कहा—सुख वह है जहाँ कोई परिच्छेद नहीं। जहाँ कोई दूसरा देखा, सुना, चखा, नहीं जाता वह सुख है। जहाँ द्वैत होगा वहाँ कभी सुख नहीं होगा। यह भगवान् सनत्कुमार का नारद के प्रति वचन है। शिष्यभूत नारद था 'अतिशोकिने' अत्यन्त शोक में क्योंकि द्वैत-भावनाओं से ग्रस्त था। द्वैत-भावना रहते दुःख ही हो सकता है, सुख हो नहीं

सकता। जब तक तुम किसी चीज़ से सुख लेना चाहोगे तब तक सुख नहीं दुःख ही मिलेगा। सुख तुम्हारा स्वरूप है, और दुःखस्वरूप यह सारा संसार है। इस से जो भी मिलेगा वह दुःख ही होगा। जब सब कुछ मिलना बन्द हो जाये, तब सुख होवे।। १७।।

उपनिषत् में तो यही कहा है 'सोहम् भगवः शोचामि', पंचदशीकार ने अतिशोक क्यों कहा? यह बताने के लिये कि पढ़ा-लिखा, अतः द्वैत ज़्यादा हो गया! मूर्ख आदमी को रोटी न मिलने पर दुःख और मिलने पर सुख हो जाता है। पढ़े-लिखों को केवल रोटी से सुख नहीं होता तथा दुःख के हेतु बहुतेरे हो जाते हैं। नारद के अतिशोक को ही उपपन्न करते हैं—

सपुराणान् पञ्च वेदान् शास्त्राणि विविधानि च।
ज्ञात्वाऽप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह।। १८।।

पुराणों सहित पाँच वेद और विविध शास्त्र समझकर भी आत्मवेत्ता न होने से नारद अत्यधिक शोक करता था यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

चार वेदों के साथ पाँचवाँ महाभारत गिन लेने से 'पाँच वेद' कहते हैं। ऐसा नहीं कि महाभारत भी वेद है! जैसे 'ये पाँच हैं—चार ब्राह्मण, एक ठाकुर' यह कहने पर 'पाँच' का मतलब यह नहीं कि ठाकुर साहब भी ब्राह्मण हैं! इतना ही भाव है कि मिलकर पाँच जन हैं। इसी प्रकार इतिहास-पुराण को पाँचवाँ वेद कहने का मतलब इतना ही कि वेदों सहित पाँच ग्रन्थ हैं। अतः स्पष्ट किया 'सपुराणान्' कि पुराणों के साथ गिनकर वेदों को पाँच कहते हैं। नारद ने वेद, पुराण और महाभारत भी पढ़ लिये थे। अनेक विद्याओं को वहाँ गिनाया है जिन्हें नारद ने पढ़ा था। फिर भी नारद को अत्यन्त शोक ही रहा क्योंकि जितना पढ़ा था सब अनात्मा था। अनात्मा के ज्ञान से शोक बढ़ता है, घटता नहीं। हम लोग निरन्तर प्रयत्न करते हैं कि अनात्मा का ज्ञान हो जाये तो सुखी हों। यह विपरीत प्रयास है! अनात्म विद्या बढ़ने से दुःख ही बढ़ता जायेगा। जब अनात्मा का ज्ञान नहीं रहता है तब केवल आत्मा आनन्दरूप रहता है। नारद को उन शास्त्रों से अनात्मा का ही ज्ञान बढ़ा था इसलिये अत्यन्त शोक कर रहे थे।। १८।।

स्पष्ट करते हैं कि पढ़ने से शोक बढ़ा कैसे—

वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता।। १९।।

वेदाभ्यास से पूर्व तीन तापों से ही शोक रहता है। वेदाभ्यास के बाद तो आवृत्ति, भूलना, तिरस्कार और गर्व से भी शोक हो जाता है।

जब तक हमने वेद का अध्ययन नहीं किया, तीन ताप हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतक। ये दुःख का कारण हैं। इनसे दुःख तो साधारण व्यक्ति को भी है। पढ़े-लिखों को ये दुःख तो रहते ही हैं परन्तु ये और बढ़ जाते हैं— 'अभ्यास' बार-बार याद करते रहने का दुःख। जो नहीं पढ़ा है उसको तो कोई अभ्यास, पुनरावर्त्तन करना नहीं है! फिर भूलने

की चिन्ता लगी रहती है 'विस्मार'। जो नहीं पढ़ा उसको कुछ भूलने की झंझट नहीं है। 'भंग'—हमसे बड़ा कोई विद्वान् आकर बात काट दे तो सिर नीचा होता है, इससे भी शोक होता है। और 'गर्व'—पढ़े-लिखे को घमंड भी हो जाता है। ये सब नये शोक जुड़ जाते हैं।। १९।।

नारद ने स्वयं अपनी शोकिता कही तो सनत्कुमार ने सुख को ही शोकसागर का परला किनारा बताया—

सोहं विद्वन् प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम्।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधाद् ऋषिः।। २०।।

'हे विद्वन्! ऐसा पढ़ा हुआ मैं शोक कर रहा हूँ। मुझे इसी जन्म में शोक से पार ले जाइये।' नारद द्वारा यों प्रार्थित ऋषि सनत्कुमार ने कहा 'सुख ही इसका पार है।'

इस प्रकार नारद का भाव बताया कि अधिक पढ़ करके शोक और बढ़ गया। 'प्रशोचामि' पहले से ज्यादा दुःखी हो गया। 'हे विद्वन्! आप सब परिस्थिति में शान्त रहते हैं।' एक बार सनत्कुमार आत्मविचार कर रहे थे, ध्यान में थे। उधर से शंकर-पार्वती जी निकले। उनको नमस्कार न करने पर पार्वतीजी को गुस्सा आया, तो शाप दे दिया, 'जा ऊँट हो जा'। समाधि से उठ सनत्कुमार ने नमस्कार कर कहा 'आपने कृपा की।' वे ऊँट बन गये। एक बार पार्वतीजी पुनः उनको देखने आईं, सोचा दुःखी होगा। पर उन्होंने कहा 'आनन्द में हूँ। इस शरीर में संध्या-वंदन, स्नान आदि का झंझट नहीं। काँटें के पेड़ भी खा सकता हूँ। शौच की चिंता नहीं। निरन्तर आत्मचिंतन हो रहा है। उस ब्राह्मण शरीर में तो अनेक विघ्न होते रहते थे।' पार्वतीजी प्रसन्न हुईं, जान लिया कि वे आत्मवेत्ता हैं। पार्वतीजी ने वर माँगने को कहा। सनत्कुमार ने कहा 'इस शरीर में ही सुख है।' पार्वती ने कहा तो 'हमें ही वर दे दो। हमारे पुत्र होकर पैदा होना।' अतः सनत्कुमार ही कार्तिक स्वामी होकर पार्वती से पैदा हुए। यह है आत्मज्ञान की पूर्ण निष्ठा। अतः उनसे नारद ने निवेदन किया 'आप मुझे शोक के पार ले जायें। पढ़कर तो मैंने शोक बढ़ा लिया है।' जब इस प्रकार नारद ने कहा तब सनत्कुमार बोले—शोक का पार सुख है। सुख की प्राप्ति से शोक नहीं रह जाता। फिर क्रमशः व्यापक की प्राप्ति के लिये उपासनायें बताकर अंत में कहा 'सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'। हम लोगों को शोक इसलिये होता है क्योंकि हम सुख का रूप ही नहीं जानते। हम समझते हैं कि चीज़ों से सुख होगा, इस चीज़ से नहीं तो दूसरी चीज़ से होगा। इसीलिये कभी सुख होता नहीं। एक बार यह पता लग जाये कि सुख तो हमारा आत्मरूप है, तो स्वतः दूसरी चीज़ों से हट जायेंगे।। २०।।

विषयों से मिलता सुख वास्तव में सुख नहीं यह बताते हैं—

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ।। २१।।

वैषयिक सुख हज़ारों दुःखों से घिरा होने के कारण दुःख ही है यह विचार कर सनत्कुमार ने कहा 'अल्प में सुख नहीं है।'

वैषयिक सुख दुःख ही है। विषयों से होने वाला अनुकूल भी अनुभव सुख नहीं है। क्यों? 'शोकसहस्रेणावृतत्वतः' क्योंकि हज़ारों दुःखों से आवृत है। जितना सुख नहीं है उससे बहुत ज़्यादा दुःखों से आवृत है। चीज़ों को पाने में, रखने में, भोग से समाप्ति में दुःख, पुनः न मिलने का दुःख। इस प्रकार असंख्य दुःखों से वह आवृत है। भोगकाल में भी ये दुःख स्मरण रहते हैं। इसलिये सुखरूप लगता वैषयिक अनुभव दुःख ही है क्योंकि अनेक दुःखों से आवृत है। इस बात को मुनि ने समझ लिया था इसलिये उन्होंने यही नहीं कहा कि सुख भूमा है, यह भी जोड़ा कि अल्प में सुख नहीं है। जिसको हम लोग सुख समझते हैं वह सुख नहीं है। जिस प्रकार से किसी लड्डू में जहर भरा होवे, उसको खाने में थोड़ा तो स्वाद का सुख मिलेगा पर विष से परिणाम में इतना दुःख मिलेगा कि वह लड्डू दुःख ही कहा जायेगा। भगवान् ने भी यही कहा 'परिणामे विषमिव' (१८.३८)। विषयभोग-काल का क्षणिक सुख भी परिणाम में विष ही है, दुःख ही है। अल्प में, विषय में सुख नहीं है। सुख तो अपना आत्मस्वरूप ही है।। २१।।

दार्शनिक एवं अन्य लोगों को भी द्वैत में सुख नहीं यह कथंचित् जँचे तो भी लगता है कि अद्वैत में भी सुख नहीं होगा! यही शंका व्यक्त करते हैं—

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम्।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत्।। २२।।

द्वैत में सुख भले ही न हो, अद्वैत में भी सुख नहीं है। यदि होता तो अनुभव में आता और तब त्रिपुटी उपस्थित हो जाती (तो पुनः भूमता न रहकर परिच्छिन्नता हो जाती)।— यह शंका है।

प्रष्टा शंका करता हैः मान लिया कि जो विषय सुख प्रतीत होता है, वह हज़ारों दुःखों से आवृत होने के कारण कोई सुख है नहीं। द्वैत में सुख नहीं—यह तो मान लिया। पर भूमा में, अद्वैत में भी सुख नहीं है। यह बात बौद्धों की भी मान्यता के लगभग पास चली जाती है। बुद्ध ने जो चार सत्य आविष्कार किये, उनमें एक है 'सर्वम् दुःखं दुःखम्'। संसार के पदार्थ दुःखरूप हैं, यहाँ तक तो हमारी उनसे समानता है। नाम-रूप सब दुःखरूप है। पर हम लोग साथ में कहते हैं कि अद्वितीय चिन्मात्र जो तत्त्व, वह सुखरूप है। द्वैत में सुख नहीं है, इतना ही हम नहीं कहते, जैसा बौद्ध कहते हैं। वेदान्त और इससे सम्बन्धित विचारों को, लोग कह देते हैं, कि यह निराशावादी दर्शन है। किंतु वह इस लिये कि बौद्धों के 'सर्वं दुखम्' और हमारे 'जगत् दुःखम्' को एक समझ लेते हैं। हमारा निराशावाद नहीं है क्योंकि हम कहते हैं कि आगे उस अनन्त सुख की प्राप्ति है। परिच्छिन्न को इसलिये नहीं छोड़ते हैं कि यह दुःखरूप है, वरन् इसलिये छोड़ते हैं कि आगे अनन्त सुख है। अतः निराशावाद नहीं कहा जा सकता। शंकावादी कहता है कि अद्वैत में भी सुख नहीं है। सिद्धान्ती पूछे

कि 'तुम ऐसा क्यों कहते हो? श्रुति ने तो कह दिया 'यो वै भूमा तत् सुखम्।' तो शंकावादी कहता है, यदि अद्वैत में सुख होता तो सुख मिलता। सुख मिले तो सुख लेने वाला भी एक होगा, सुख भी एक होगा और सुख मिलने की कोई प्रक्रिया भी होगी। यों त्रिपुटी हो जायेगी! फिर वह भूमा नहीं रहेगा। वेदान्ती कहता है कि अद्वैत में किसी का सुख नहीं मिलता, अपना ही सुख प्रकट होता है। इसलिये सुख लेने वाला, सुख और सुख लेने का तरीका—ऐसा भेद वहाँ नहीं है। भूमा तो सुखरूप है। मध्यकालीन भक्त इसी शंका से ग्रस्त रहे। वे कहते हैं कि आनंद तो द्वैत में ही है, अद्वैत में नहीं। उनकी कल्पना है कि अद्वैत मिले तो भी नहीं लेना चाहिये, द्वैत को ही चुनना चाहिये। इसलिये यदि अद्वितीय का बोध होने लगे, तो उससे बचना चाहिये। कुछ कहते हैं कि चित्तवृत्ति का निरोध होने से अद्वैत स्थिति हो तो जाती है और उसमें दुःख भी नहीं होगा परन्तु सुख भी नहीं होगा। इसलिये उसकी अपेक्षा जहाँ सुख होता है वह द्वैत ही ठीक है। सांसारिक विषयों का जो सुख है, वह तो क्षणिक है परन्तु दिव्य लोकों में जाकर जो सुख मिलेगा वह स्थायी रहने वाला है। ये सब भ्रम इसीलिये कि सुखस्वरूप ज्ञान की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती।। २२।।

उक्त शंका यदि यह स्थापित करती है कि अद्वैत में सुख नहीं है अर्थात् अद्वैत और सुख का भेदघटित सम्बन्ध नहीं है तो सिद्धान्ती अंगीकार करता है—

मास्त्वद्वैते सुखं किन्तु सुखमद्वैतमेव हि।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाङ्क्षा स्वयम्प्रभे।। २३।।

अद्वैत में सुख न हो किंतु अद्वैत ही सुख है। यदि पूछो कि इसमें प्रमाण क्या; तो समझ लो कि स्वप्रकाश अद्वैत को प्रमाण की निर्भरता ही नहीं है।

शंका यह मानकर थी कि अद्वैत में सुख होवे तो मिले। अद्वैत *में* सुख नहीं है। किन्तु अद्वैत है ही सुखरूप। जैसे नमक में नमक नहीं क्योंकि वह स्वयं नमक है ऐसे अद्वैत स्वयं सुख होने से उसमें सुख नहीं। अद्वैत सुखरूप है इसमें प्रमाण क्या है? इस पर कहा कि अद्वैत स्वयंप्रकाश है। इसे प्रमाण की ज़रूरत नहीं। स्वप्रकाश में प्रमाण नहीं होता है। जो चीज़ें अंधकार होती हैं उन्हें देखने के लिये रोशनी चाहिये। सूर्य की रोशनी को किस रोशनी से देखते हो? उसके लिये रोशनी नहीं चाहिये क्योंकि वह रोशनीरूप है। प्रमाण से प्रमा उत्पन्न होती है, अर्थात् ज्ञान होता है। जैसे आँख प्रमाण है, तो आँख से रूप दीखता है। जो स्वयं ही प्रमा होवे, उसके लिये प्रमाण की ज़रूरत कहाँ पड़ती है! जिस समय अद्वितीय अवस्था होती है तब हम सब कुछ भूल जाते हैं। तभी अपने सुखरूप की प्राप्ति हो जाती है। सुख चूँकि स्वयंप्रकाश है, इसलिये उसके लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है। हमने उस सुख को किससे जाना—यह प्रश्न नहीं बनता है। सुख के कोई रूप-रस-गंध आदि तो हैं नहीं जो प्रत्यक्ष प्रमाण की ज़रूरत पड़े। इसीलिये अनुमान आदि की भी ज़रूरत नहीं है। इसको समझने के लिये वेद की ज़रूरत है। वेद तो कह ही रहा है 'यो वै भूमा तत् सुखम्'। जब वह सुख अभिव्यक्त होता है, तब उसे आदमी श्रुति के बल से पहचान सकता है पर उस समय श्रुति की स्मृति नहीं है। श्रुति से यह पता लगता है कि उस समय सुख है।। २३।।

आत्मा स्वयंप्रकाश है इसी में प्रमाण क्या? यह वादी का प्रश्न मानकर उत्तर देते हैं—

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद् भवानिदम्।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन् सुखं नास्तीति भाषते ।। २४।।

आत्मा की स्वप्रकाशता में आपका (पूर्वपक्षी का) वचन ही प्रमाण है क्योंकि आप अद्वैत स्वीकार कर 'इसमें सुख नहीं है' ऐसा कह रहे हैं!

तर्कजाल फैलाकर यह तत्त्व तर्क से परे है यह स्पष्ट करना है। वादी आत्मरूप अद्वैत को स्वप्रकाश मानने के लिये प्रमाण पूछे तो कहते हैं 'भवद्वाक्यं मानम्' आप पूछ रहे हैं 'स्वप्रकाश में क्या प्रमाण?' तो स्वप्रकाश आप समझ ही रहे हैं! केवल प्रमाण की जिज्ञासा है। ठीक जिस प्रकार नास्तिक से कहते हैं कि तुम कहते हो 'ईश्वर नहीं है' तो तुम उसे जानते हो, तभी कहोगे कि नहीं है! जिसे न जानो उसे न 'है' कहना बनता है, न 'नहीं है' कहना बनता है। जब वादी कह रहा है कि 'स्वप्रकाश में क्या प्रमाण?' तो उसका वाक्य ही प्रमाण है क्योंकि स्वप्रकाश है, तभी पूछ रहा है। 'अद्वैत में सुख नहीं है' कहने से अर्थसिद्ध है कि अद्वैत के बारे में शंका नहीं है। अद्वैत में सुख नहीं है—यह कहा तो अद्वैत को तो आपने मान ही लिया। इस अद्वैत को आप कैसे जानते हो? वही आपके लिये अद्वैत में और अद्वैत की स्वप्रकाशता में प्रमाण हो जायेगा। यदि इसे जानते हो तो वह सुखरूप है, इसे भी जान ही जाओगे। मतलब यह है कि कई चीज़ों को हम बिना प्रमाण के मानते ही हैं। यह स्वप्रकाशता अर्थसिद्ध है, इसे बिना माने व्यवहार ही असंगत हो जाता है। अतः प्रमाण-निरपेक्ष अद्वैत को स्वीकार करके ही यह आक्षेप कर सकते हैं कि अद्वैत में सुख नहीं है।। २४।।

उक्त बात पर ही प्रश्न-उत्तर करते हैं—

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं त्वद्वचोऽनूद्य दूषणम्।
वच्मीति चेत् तदा ब्रूहि किमासीद् द्वैततः पुरा।। २५।।

यदि वादी कहता है 'मैं अद्वैत स्वीकार नहीं रहा वरन् तुम्हारे (सिद्धान्ती के) वचन का अनुवाद कर केवल दोष बता रहा हूँ।' तो (सिद्धान्ती कहता है) बताओ कि द्वैत से पहले क्या था?

जैसे नास्तिक कह सकता है कि मैं ईश्वर को मान कर 'ईश्वर नहीं है', यह नहीं कह रहा हूँ, तुम कहते हो 'ईश्वर है', तुम्हारी बात को लेकर कह रहा हूँ कि 'ईश्वर नहीं है'; इसी प्रकार यह कहता है 'मैं अद्वैत को स्वीकार करके यह शंका नहीं कर रहा हूँ कि अद्वैत में सुख नहीं है आदि, वरन् तुम्हारी बात को लेकर कह रहा हूँ। 'त्वद्वचः' तुमने (सिद्धान्ती ने) जो बात कही थी, उसका मैंने अनुवाद किया है। तुमने कहा 'अद्वैत में सुख है', इसका अनुवाद करके मैंने कहा 'अद्वैत में सुख नहीं है'। न हमको अद्वैत, न उसमें सुख स्वीकार है। यदि यह शंका करते हो, तो सिद्धान्ती पूछता है कि बताओ, द्वैत पैदा होने के पहले

क्या था? क्योंकि संसार की चीज़ें पैदा होती मिलती हैं इसलिये यह तो कह नहीं सकते कि द्वैत पैदा नहीं होता है। अतः जब यह द्वैत पैदा नहीं हुआ था तब क्या था?।। २५।।

प्रश्न के संभावित उत्तरों की परीक्षा करते हैं—

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरन्तिमः।
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः।। २६।।

द्वैतोत्पत्ति से पूर्व अद्वैत था या द्वैत या और कुछ? द्वैत-अद्वैत से अतिरिक्त कुछ प्रामाणिक नहीं अतः 'और कुछ' वाला विकल्प असंभव है। 'द्वैत ही था' यह इसलिये नहीं बनता कि वह अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ था। अतः पहला विकल्प ही बचता है कि द्वैत की उत्पत्ति से पूर्व अद्वैत था।

द्वैत पैदा होने से पहले अद्वैत था या द्वैत था या कोई तीसरी चीज़ थी? द्वैत-अद्वैत के अलावा कोई तीसरी चीज़ तो प्रमाणसिद्ध है नहीं। इसलिये द्वैत पैदा होने के पहले कोई तीसरी चीज़ थी यह अप्रसिद्ध है। जो भी रहा होगा वह अद्वैत या द्वैत होगा। 'द्वैत-उत्पत्ति से पहले द्वैत था' यह तो कहना बनता ही नहीं है। इस तरह, तीनों विकल्पों में प्रथम वाला ही बच जाता है कि द्वैत पैदा होने के पहले अद्वैत था। इसको पारिशेष्य न्याय कहते हैं कि बाकी सम्भावनाओं के न होने पर जो अपने आप बच जाती है वह स्वीकार्य होती है। इसलिये द्वैतोत्पत्ति से पूर्व अद्वैत सिद्ध होता है। अद्वैत वैसे नहीं जाना जा सकता जैसे द्वैत। द्वैत में तो ज्ञाता अलग और ज्ञेय अलग होते हैं। अद्वैत में अलग चीज़ तो कुछ है नहीं! उसे जानने का तरीका है कि अज्ञान न रहते किसी द्वैत का ज्ञान न हो; वही पारिशेष्य न्याय से अद्वैत का ज्ञान है। इस न्याय का हम लोग बहुत व्यवहार करते हैंः इस कमरे में तीन आदमी थे। मेरा कड़ा अब यहाँ नहीं है। मैं तो उसे ले नहीं जाऊँगा। उन दो में से ही कोई होगा। एक अभी भी यहाँ पर है, उसका सामान मैंने देख लिया, कड़ा नहीं निकला। अतः सिद्ध हो जाता है कि जो चला गया वही लेकर गया है। इसी को पारिशेष्य न्याय कहते हैं। इसी तरह, अनुभव है, द्वैत का नहीं है तो स्वतः सिद्ध है कि अद्वैतानुभव है।। २६।।

वादी बलात् अद्वैत स्वीकारने को मजबूर होने पर इसे 'यौक्तिक सिद्धि' कहकर नहीं टाल सकता यह स्पष्ट करते हुए वादी से सिद्धान्ती पूछता है—

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोट्यन्तरमत्र नो।। २७।।

यदि कहो कि अद्वैत की सिद्धि पूर्वोक्त युक्ति से भले ही हो जाये, अनुभूति से नहीं होती; तो बताओ कि युक्ति का समर्थक कोई दृष्टांत नहीं है या दृष्टांत है? तीसरा विकल्प तो इस बारे में सम्भव नहीं।

प्रायः विचारों में प्रवृत्त होने पर अद्वैत से अतिरिक्त संभावना संगत नहीं लगती फिर भी द्वैताग्रहवश अद्वैत स्वीकार न कर व्यक्ति आक्षेप करता है कि तर्क-युक्ति से सिद्ध होने पर भी अद्वैत अनुभूति के द्वारा सिद्ध नहीं। अनुभूति तभी हो जब कोई अनुभव करने वाला विषयी और अनुभव होने वाला विषय होवे। ये दोनों हों तो अद्वैत नहीं रहेगा—यह भाव है। यह समस्या साधक को लम्बे समय तक झंझट पैदा करती है। क्योंकि हमने द्वैत का अनुभव किया है अतः हमें लगता है कि अद्वैत भी द्वैत का कोई प्रकार है, उसकी भी द्वैत के समान ही अनुभूति होगी। इसलिये विचार से संस्कार दृढ कर लेना चाहिये कि अद्वैत का अनुभव उस प्रकार से नहीं होता है जैसे और चीज़ों का होता है। उसका अनुभव स्वरूप से है, त्रिपुटीरूप से नहीं। 'युक्ति से अद्वैतसिद्धि हो गयी' यह वादी ने माना अतः सिद्धान्ती पूछता है कि अद्वैत की सिद्धि जिस युक्ति से है वह युक्ति बिना दृष्टांत की है या दृष्टांत वाली है? तर्क करोगे तो दृष्टांत देना पड़ेगा। तुमने अद्वैत की सिद्धि युक्ति से मान ली, तो युक्ति में दृष्टांत भी समझा होगा, वह बताओ। दृष्टांत है या नहीं—ये दो ही विकल्प हो सकते हैं, कोई तीसरी कोटि तो हो नहीं सकती।। २७।।

पूर्वोक्त प्रश्न के प्रथम विकल्प की अस्वीकार्यता प्रकट करते हैं—

नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम्।। २८।।

अनुभूति अद्वैत के बारे में आप मना कर ही रहे हैं, युक्ति में भी यदि आप कहें कि दृष्टान्त नहीं है तब तो युक्ति शोभा वाली ही होगी (कार्यसाधक नहीं)। यदि युक्ति को दृष्टान्त का सहारा आप मानते हैं तो मुझे (वेदान्ती को) स्वीकृत वह दृष्टान्त सुनाइये।

सिद्धान्ती वादी का उपहास करते हुए कहता है कि अद्वैत का न तुम्हें अनुभव हुआ, न तुम्हें दृष्टांत मिला। फिर 'युक्ति से अद्वैत सिद्ध हो गया' यह मानने वाले तुम्हारी युक्ति तो बड़ी सुन्दर है! बिना दृष्टान्त के यदि तुमने माना तो वह युक्ति कैसे हुई? जिस चीज़ का अनुभव होवे उसमें दृष्टांत की ज़रूरत नहीं है। तुम्हें अनुभव नहीं हो रहा है, केवल युक्ति से सिद्ध मान रहे हो तब तो कोई दृष्टांत चाहिये। यदि कहते हो कि 'हमने दृष्टांत से माना है,' तो उस दृष्टांत को बोलो। 'मे मतम्' जिसे समझाया जा रहा है वह जिसे स्वीकार करे वही दृष्टांत हो सकता है। तात्पर्य है कि वादी का कहना (श्लोक २७) कि 'बिना अनुभव, युक्ति से मनवा रहे हो' ग़लत है, स्वानुभव के आधार पर ही सिद्धान्ती ने प्रतिपादन किया है।। २८।।

पूर्ववादी 'दृष्टान्त से ही अद्वैत की सिद्धि मानी' ऐसा भी नहीं कह सकता यह स्पष्ट करते हैं—

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत्।
इति चेत् सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय।। २९।।

'प्रलय अद्वैत है क्योंकि तब द्वैत का अनुभव नहीं होता जैसे गहरी नींद में।'—यदि ऐसा कहो तो गहरी नींद अद्वैत है इसमें दृष्टांत बताओ!

वादी कहता है कि प्रलय में सब चीज़ें लीन हो जाती हैं, वहाँ अद्वैत है। सारा द्वैत जहाँ किंचित् भी अवशेष नहीं रहता वह प्रलय है। घड़ा फूटे तो उसका लय हो जाता है पर प्रलय नहीं क्योंकि उसका संस्कार और नाम भी रह गया है, प्रलय वहाँ है जहाँ न स्मृति है न नाम है। स्मृति उसको होती है जिसको अनुभव हुआ। इसलिये जिसने अनुभव किया था, वह भी नहीं रहेगा तब प्रलय है। वहाँ नाम भी नहीं रहता। अतः तब द्वैत की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये वादी कहता है कि प्रलय में सारा द्वैत लय हो जाता है क्योंकि उपलब्धि नहीं होती। दृष्टांत है, जैसे गहरी नींद में किसी द्वैत की प्रतीति नहीं होती वैसे ही प्रलय में सब चीज़ें लीन हो जाती हैं अतः अद्वैत ही रह जाता है। इस तरह वादी ने युक्ति को सुषुप्तिरूप दृष्टांत का समर्थन दिखाया। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि सुषुप्ति में अद्वैत है यही कैसे मानें? अनुभव से तो वादी मना कर चुका है कि अद्वैत सिद्ध होता है अतः सुषुप्ति में कोई द्वैत नहीं रहता, इस विषय में भी दृष्टान्त ही देना पड़ेगा। सुषुप्ति में कुछ नहीं रहता, इसमें दृष्टांत क्या है? सिद्धान्ती का प्रयास वादी को समझाने का है कि अन्त में जाकर स्वप्रकाशता ही माननी पड़ेगी। सुषुप्ति में कुछ नहीं रहता—इसे तुम ऐसे तो नहीं जानते जैसे इस कमरे में देवदत्त नहीं है यह तुम आँख खोल कर देखते हो। अतः सुषुप्ति में कुछ नहीं है, यह जाना कैसे? अनुभव से जाना—यह वादी नहीं कहेगा क्योंकि श्लोक २७ में कह चुका है कि अद्वैत का अनुभव होता नहीं। अतः खुद अपनी सुषुप्ति को दृष्टान्त बना नहीं सकता। किसी और की सुषुप्ति को दृष्टान्त बनाकर अपनी सुषुप्ति को अद्वैत कहना पड़ेगा। इसकी असंगतता अगले श्लोक में कहेंगे।। २६।।

वादी यही कहेगा कि जैसे दूसरे को सुषुप्ति में कुछ भान नहीं होता वैसे मुझे भी सुषुप्ति में कुछ भान नहीं होता अतः अद्वैत होता है। किन्तु इस कथनका उपहास से निरास करते हैं—

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेद् अहो ते कौशलं महत्।
यःस्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा।। ३०।।

परायी सुषुप्ति को दृष्टान्त कहो तो तुम्हारी महान् कुशलता आश्चर्यजनक है; जो तुम अपनी सुषुप्ति नहीं जानते वह दूसरे की सुषुप्ति नहीं जान सकोगे इसमें क्या कहना!

अपनी सुषुप्ति को वादी दृष्टांत नहीं कह पाया क्योंकि वहाँ अद्वैत का अनुभव नहीं कहना चाहता है, अद्वैत को केवल युक्तिसिद्ध कह रहा है। इसलिये सिद्धान्ती हँसी कर रहा है कि दूसरे की सुषुप्ति को तुम दृष्टांत बना रहे हो, यह बड़ी चतुराई दिखला रहे हो क्योंकि दूसरे की सुषुप्ति में अद्वैत है यह तुम्हें पता है जबकि स्वयं की सुषुप्ति में अद्वैत का अनुभव नहीं! अपनी सुषुप्ति न जान सकने वाला दूसरे की सुषुप्ति कैसे जान सकता है! यह भाव है।। ३०।।

यदि वादी कहे कि दूसरे की सुषुप्ति को प्रमाण से जानते हैं इसलिये उसको दृष्टांत बनाया। दूसरे की सुषुप्ति हम अपनी जाग्रदवस्था में जान सकते हैं, अपनी को नहीं जान

सकते क्योंकि सुषुप्ति में इन्द्रियाँ, मन कुछ नहीं रहते हैं। इस संभावना को उठाकर सिद्धांती जवाब देता है—

निश्चेष्टत्वात् परः सुप्तौ यथाऽहमिति चेत्तदा।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद् भवेत् ।। ३१।।

'निश्चेष्ट होने से पर (बराबर सामने लेटा व्यक्ति) सुषुप्ति में है जैसे निश्चेष्ट मैं सुषुप्ति में होता हूँ'—यदि इस अनुमान से परायी सुषुप्ति जानते हो तो सुषुप्तिका उदाहरण देने वाले तुम्हारी सुषुप्ति बलात् स्वप्रकाश होगी!

दूसरा जब सोया हुआ है तब हम देखते हैं कि वह निश्चेष्ट है, कोई चेष्टा नहीं कर रहा है। यह हमें प्रत्यक्ष दीखता है। जब मैं सोता हूँ तब भी निश्चेष्ट होता हूँ। अतः अनुमान करता हूँ कि वह भी सो रहा है। दूसरे की निश्चेष्टता तो प्रत्यक्ष है लेकिन सुषुप्ति रूपादि वाली वस्तु न होने से प्रत्यक्ष हो नहीं सकती अतः अनुमेय होगी। पराई सुषुप्ति के लिये अनुमान में दृष्टांत क्या होगा? तीसरे की सुषुप्ति देना असंगत हो जायेगा क्योंकि वह कैसे जानोगे? अतः वादी खुद की सुषुप्ति को ही दृष्टांत बनायेगा। इसका मतलब है कि अपनी सुषुप्ति की जानकारी वह अंगीकार कर रहा है! इस प्रकार अपनी सुषुप्ति तो स्वप्रकाश तुम्हें माननी ही पड़ेगी। मैं सोता हूँ—यह कैसे पता लगे? इंद्रियाँ व मन तब काम करते नहीं अतः सुषुप्ति को स्वप्रकाश ही मानना पड़ेगा। जब किसी को देखते हैं कि जिन्दा है, कोई चेष्टा नहीं कर रहा है तब अनुमान होता है कि जैसे मैं सोता हूँ तो कोई चेष्टा नहीं करता हूँ वैसे यह भी सो रहा है। स्वयं की सुषुप्ति को स्वयं जानें तभी 'मेरी तरह यह सो रहा है' ऐसा समझ सकते हैं। अतः उसकी स्वप्रकाशता मान ही रहे हो। इस प्रकार से अद्वैत को अनुभूयमान बताया।। ३१।।

स्वयंप्रकाश न मानने का कोई विकल्प ही नहीं रहता, इसी अभिप्राय से 'बलात्' कहा था (श्लो. ३१), वही व्यक्त करते हैं—

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाऽप्यङ्गी करोषि ताम्।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद् भानं साधनैर्विना।। ३२।।

सुषुप्ति को ग्रहण करने वाली कोई इन्द्रियाँ नहीं, न उसमें कोई दृष्टान्त है। फिर भी सुषुप्ति स्वीकार ही रहे हो। यही तो स्वप्रकाशता है कि बिना साधनों के भान होना।

सुषुप्ति दीखती तो है नहीं, इंद्रियाँ वहाँ हैं नहीं, अनुमान लगाओगे तो उसमें दृष्टांत चाहिये। इंद्रियाँ न होने से प्रत्यक्ष से पता नहीं, दृष्टांत न होने से अनुमान से पता नहीं फिर भी व्यक्ति मानता है कि 'मैं सोया था'। इसीका नाम स्वप्रकाशता है कि ज्ञान तो होवे और ज्ञान का साधन न होवे। ऐसा ज्ञान स्वप्रकाश ही हो सकता है। जैसे सूर्य के प्रकाश को कोई दूसरा प्रकाश प्रकाशित नहीं कर रहा है फिर भी प्रतीत हो रहा है इसलिये उसको स्वप्रकाश कहते हैं इसी प्रकार सुषुप्ति में सारे द्वैत का अभाव किसी प्रमाण से नहीं जान

रहे हैं, फिर भी जान रहे हैं। यही स्वप्रकाशता है। ज्ञान के साधन के बिना भान होना यही 'स्वप्रभत्व' है। सुषुप्ति को स्वप्रकाश इसीलिये मानना पड़ता है कि ज्ञान का कोई साधन वहाँ है नहीं फिर भी ज्ञान हो रहा है। यद्यपि सुषुप्ति को स्वप्रकाश कहा है तथापि सुषुप्ति-साक्षी की स्वप्रकाशता में तात्पर्य है यह स्मरण रखना चाहिये।। ३२।।

सुषुप्ति में अद्वैत और स्वप्रकाशता सिद्ध कर चुके। अब वहाँ सुख भी सिद्ध करते हैं—

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम्।
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम्।। ३३।।

(वादी पूछता है—) सुषुप्ति में अद्वैत और स्वप्रकाशता भले ही हों, वहाँ सुख कैसे स्वीकारें? (सिद्धान्ती कहता है—) सुनो : तब दुःख नहीं है इसलिये तुम्हारे पास सुख ही बचता है।

मूल बात तो यह थी कि अद्वैत में सुख कैसे मानते हो? अद्वैत और स्वप्रभता को तो सिद्ध कर दिया। परन्तु सुषुप्ति में सुख है यह पता नहीं लगा अतः सिद्धान्ती कहता है—सुनो : सुषुप्ति में दुःख नहीं है तो फिर सुख ही है! प्रायः तो सुख की स्मृति से ही सुख की सिद्धि हो जाती है कि उठकर हमें सुख का स्मरण होता है इसलिये उस समय सुख था। यहाँ कहा कि उस समय दुःख नहीं है अतः सुख ही बचा। द्वैत की दुःखरूपता को मानकर कहा कि दुःखरूप द्वैत नहीं है तो सुखरूप अद्वैत है। इस ढंग से सौषुप्त सुख में युक्ति कही।। ३३।।

सुषुप्ति में दुःख न होना श्रुति से समर्थित करते हैं—

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद् विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि।
अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः।। ३४।।

(जाग्रत् में) अंधा, चोटिल, रोगी भी व्यक्ति (सुषुप्ति में) अनन्धा, गैर-चोटिल और नीरोग रह जाता है— यह श्रुति ने कहा है और सब लोग जानते भी हैं।

सुषुप्ति में दुःख का अभाव श्रुति ने भी बतलाया है, और सबका अनुभव भी है। श्रुति (छां. ८.४.२) कहती है 'तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा'। इस संसार-समुद्र को जब पार कर जाता है तब 'अन्धः सन्ननन्धो भवति'। जो जाग्रत् में अन्धा होता है, वह सुषुप्ति में अन्धा नहीं रहता। गहरी नींद में अन्धेपने के अनुभव का प्रश्न ही नहीं है। 'विद्धःसन्नविद्धो भवति'। नींद में जाने पर शरीर में बाण लगा रहे तो भी प्रतीत नहीं होता। जो भी दुःख का कारण शरीर इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं उनमें से कुछ भी वहाँ नहीं है। 'उपतापी सन्ननुपतापी भवति'। गहरी नींद में बुखार भी रहता नहीं। शरीर में अन्धापना रहे, जख्म रहे, बुखार रहे, सब चीज़ें शरीर में छोड़कर जीव सुषुप्ति में चला जाता है। श्रुति कह रही है कि जब तक देहाभिमान रहता है तब तक अन्धापना इत्यादि रहता है। संसार-समुद्र के पार जाने का मतलब सूक्ष्म और

स्थूल शरीरों के अन्दर अभिमान का न रह जाना है। दुःख इन्हीं को लेकर है। गहरी नींद में सूक्ष्म और स्थूल शरीर रह नहीं जाते इसलिये वहाँ दुःख का अभाव है तो सुख अवश्य है। श्रुति के अलावा सभी लोग यह जानते भी हैं। बुखार होवे और नींद आ गई हो तो कोई दुःख नहीं होता। गहरी नींद में दुःख नहीं हो रहा—इस बात को सभी जानते हैं। सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर होने पर ही दुःख होता है। श्रुति जिस बात को कह रही है, उसको सभी अनुभव करते हैं। इसीलिये वैद्य भी रोगी को गहरी नींद से उठाने की चेष्टा नहीं करता। रोगी भी उठने पर पहले से बेहतर ही अनुभव करता है। इस प्रकार सुषुप्ति में दुःखाभाव सिद्ध किया।। ३४।।

प्रश्न होता है कि दुःख नहीं है, इतनेमात्र से सुख कैसे कहते हो? सुषुप्ति में अद्वैत है और दुःख नहीं है यह तो सिद्ध है पर इतनेमात्र से तब सुख कैसे माना जाये? दुःख न रहने से सुख ही रहे इस नियम का भंग वादी दिखाता है—

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद् विषमं वचः।। ३५।।

दुःख नहीं है इतने-भर से सुख नहीं सिद्ध होता क्योंकि लोंदे, पत्थर आदि में सुख-दुःख दोनों न होना देखा जाता है।—यदि (वादी ऐसा कहे तो सिद्धान्ती का जवाब है कि) यह उदाहरण विचाराधीन विषय के अनुरूप नहीं है।

सुषुप्ति में दुःख नहीं है इससे वहाँ सुख सिद्ध नहीं होता। महर्षि गौतम के अनुयायी यही मानते हैं कि सुषुप्ति में दुःख का अभाव है, और सुख भी नहीं है। पत्थर और मिट्टी के ढेले में, सभी जड पदार्थों में सुख और दुःख दोनों का अभाव देखा जाता है। इसी तरह सुषुप्ति में दोनों ही नहीं हैं। यदि यह शंका करो तो सिद्धान्ती कहता है 'विषमं वचः'। पत्थर का दृष्टांत तो जड के लिये उचित है। दार्ष्टान्त है चेतन, और तुमने दृष्टांत दिया जड का अतः विषमता स्पष्ट है। जड में दुःख-सुख दोनों न होवें परन्तु चेतन में यह कैसे बनेगा! चेतन तो या दुःखी होगा या सुखी।। ३५।।

कोई दुःखी है या सुखी है यह चेतन के बारे में पता लगता है जबकि जड के बारे में नहीं अतः दृष्टांत-दार्ष्टान्त में सन्तुलन नहीं यह प्रकट करते हैं—

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम्।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत्।। ३६।।

मुख मुर्झाने या खिलने से पराये दुःख या सुख की समझ आ जाती है। लोंदे में मुर्झाना आदि न होने से दुःख आदि नहीं समझे जाते।

किसी का मुख अत्यन्त दीन होवे, उदास बैठा हो, तो ज्ञान होता है 'यह दुःखी है'। इसी प्रकार यदि मुख खिला है, प्रसन्न है तो पता लगता है 'यह सुखी है'। चेहरे से

दुःख-सुख की ऊहना की जाती है। पर मिट्टी के लोंदे में या पत्थर में न दीनता, न विकास नजर आयेगा। आदमी का मुख देख कर ही हम लोगों को उस के सुख-दुःख का पता लगता है, मिट्टी के लोंदे से बने मुख में भी प्रसन्नता या दीनता नहीं आयेगी। जब लोंदे आदि का सुखादि नहीं समझ आता तब उसको सुखादि नहीं है यह भी समझ नहीं आ सकता क्योंकि जिस प्रमाण से भाव का पता चलता है उसकी प्रवृत्ति रहते ही अभाव जाना जा सकता है। अतः लोंदे में दुःखाभाव भी न कहा जा सकने से वादी जो दुःखाभाव-सुख में व्यभिचार दिखाना चाहता है वह संभव नहीं यह तात्पर्य है।। **३६**।।

पराये और अपने सुख-दुःख में अन्तर दिखाते हैं—

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः।
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः।। ३७।।

अपने सुख-दुःख चिह्नादि से नहीं समझने पड़ते। उनका होना-न होना अनुभव से ही जानने योग्य है, अन्य उपाय से नहीं।

दूसरे का सुख या दुःख ऊहा से, चिह्न की समझ से पता लगेगा। पर अपने सुख-दुःख का पता स्वानुभव से ही लगता है, वहाँ हमें ऊह, कल्पना नहीं करनी पड़ती। अपना मुख आदि देखकर अपने सुखादि को जानें ऐसा नहीं है। अपने सुख-दुःख के अनुभव से ही पता लगता है कि मैं सुखी या दुःखी हूँ। अपने सुख-दुःख तो अनुभव से जाने जाते हैं, दूसरे का सुख या दुःख ऊहा का विषय है। जैसे उनका पता अनुभव से लगता है वैसे ही उनके अभाव का पता अनुभव से ही लगता है। युक्ति से, ऊह से पता नहीं लगता। अपने सुख-दुःख अनुभव से तथा दूसरे के ऊहा से जाने जाते हैं।। **३७**।।

उक्त स्थिति का प्रकृत में नतीजा बताते हैं—

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः।
विरोधिदुःखराहित्यात् सुखं निर्विघ्नमिष्यताम्।। ३८।।

ऐसा रहते अपनी सुषुप्ति में दुःख का अभाव भी अनूभूति से ही सिद्ध है। (सुख के) विरोधी दुःख के न होने से बिना किसी विघ्न के सुख (उस अवस्था में) स्वीकारा जाये।

क्योंकि अपने सुख-दुःख अनुभव से ही सिद्ध होते हैं इसलिये अपनी सुषुप्ति में दुःख नहीं है, यह भी अपने अनुभव से ही पता लगता है। तथा जैसे दुःख के अभाव का पता लगता है, वैसे ही सुख का पता लगता है। सुख आत्मा का स्वभाव है। उसका विरोधी दुःख आता है तब सुख का भान नहीं होता है। इसलिये विरोधी दुःख के आने पर 'सुख नहीं है' ऐसा लगता है। सुषुप्ति में जब विरोधी दुःख नहीं है तब बिना किसी रुकावट के वहाँ सुख है यह सिद्ध हो जाता है। जैसे द्वैताभाव से ही अद्वैत की सिद्धि हो जाती है; सुषुप्ति में द्वैत का बोध नहीं होता, इसलिये अद्वैत स्वभावसिद्ध है; इसी प्रकार सुख भी अपना

स्वभाव है, दुःख होता है तो वह ढक जाता है, दुःख नहीं रहता तो सुख स्वाभाविक है। लोगों की प्रायः भावना है कि कोई चीज़ होती है तब सुख होता है किन्तु वास्तव में दुःख सुख में विघ्न करता है। अज्ञान से द्वैत-प्रतीति होती है, इसलिये अद्वैत स्वप्रकाश होने पर भी लगता है कि प्रतीत नहीं है। इसी प्रकार, अज्ञान से उत्पन्न होने वाले पदार्थ दुःख देते हैं, इसलिये स्वरूपसिद्ध सुख स्वप्रकाश होने पर भी पता नहीं लगता। अज्ञान की निवृत्ति होने पर अद्वैत की स्वप्रकाशता सुखरूपता को अपने आप व्यक्त कर देती है।। ३८।।

मनुष्य की सुख के लिये ही प्रवृत्ति होती है। हम चेष्टा करते हैं तो सुख की प्राप्ति के लिये ही। गहरी नींद की चेष्टा करते हैं अतः वह सुखरूप है। यह सुषुप्ति की सुखरूपता में युक्ति बताते हैं—

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादि साधनम्।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत् तत्र नो भवेत्।। ३९।।

सुषुप्ति में सुख न होता तो सोने के लिये अत्यधिक कोशिश से कोमल शय्या आदि साधन क्यों बटोरे जाते?

नींद आये इसके लिये नरम बिस्तरा होवे इत्यादि बहुतेरे साधन एकत्र करने के लिये महत्तर प्रयास आवश्यक होता है। इसके लिये रुई को धुनवाना पड़ता है, गद्दा सही ढंग से भरवाना-सिलना आदि पड़ता है। इसी तरह कमरा वातानुकूलित करवाते हैं ताकि नींद आये। इन सभी के लिये अत्यधिक प्रयास करना पड़ता है। यदि सुषुप्ति में सुख नहीं होता तो क्यों आदमी ये सारी चेष्टायें करता? इसलिये सुषुप्ति की सुखरूपता अनुभव-सिद्ध है।। ३९।।

प्रयास-पूर्वकता वहाँ सुख की निश्चायक है यह बताते हैं—

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद् रोगिणस्तथा।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत् सुखायैवेति निश्चिनु।। ४०।।

दुःख मिटाने के लिये यह प्रयास है ऐसा कहो, तो रोगी का सोने के लिये प्रयास भले ही दुःखनिवारणार्थ हो, जो रोगी नहीं उसका प्रयास तो सुख के ही लिये है यह निश्चय करो।

यदि वादी कहे कि गहरी नींद के लिये इसलिये व्यक्ति चेष्टा करता है कि वहाँ दुःख का अभाव है। वहाँ सुख है यह मानने की ज़रूरत नहीं है। दुःख हो रहा है, इसलिये उसे हटाने के लिये नींद लाने का प्रयत्न है। जैसे सुखप्राप्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है वैसे दुःख-निवृत्ति के लिये भी प्रयत्न होता ही है। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि जिसको रोग आदि कोई दुःख है वह उस की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करे यह ठीक है। लेकिन जिसको कोई दुःख नहीं है वह भी नींद लेना चाहता है। दुःख वाला तो दुःख को हटाने के लिये करता है, पर जिसको रोगादि दुःख नहीं है वह क्यों नींद चाहता है? जैसे, केवल भूख को हटाने के लिये खाना नहीं चाहते। ऐसा हो तो दाल रोटी में ही संतुष्ट हो जायें। महत्तर

प्रयास से दाल का सीरा बनाते हैं। पेट भरने के दुःख को हटाने के लिये भी भोजन किया जाता है, परन्तु पेट भरा है, फिर भी बढ़िया ताजा दाल का सीरा खाते हैं, वह क्यों? वह तो खाने के सुख के लिये ही करते हैं। दुःख हटाने की प्रवृत्ति वहाँ होती है जहाँ दुःख है, पर जहाँ दुःख नहीं है फिर भी प्रवृत्ति है तो सुख के लिये ही है। अतः दुःखरहित का सोने के लिये प्रयास सुख के लिये ही है यह निश्चय करो।। ४०।।

शय्यादि से यदि नींद में सुख माना तो वह स्वरूपसुख नहीं रहा! इस आक्षेप का समाधान करते हैं–

तर्हि साधनजन्यत्वात् सुखं वैषयिकं भवेत्।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम्।। ४१।।

तो साधनों से उत्पाद्य होने के कारण सोने में सुख भी विषय-सम्बन्धी ही होगा! सोने की प्रक्रिया में नींद आने से पहले जो खाट-बिछौना आदि से उत्पन्न सुख है वह बेशक विषय-सम्बन्धी होवे।

वादी कहता है कि बढ़िया बिस्तरा, वातानुकूल आदि से नींद का सुख होता है तो वह विषय-सुख हुआ, स्वरूप का कैसे? सिद्धान्ती समझाता है कि पलंग, बिस्तर, ठण्डी हवा आदि का जो वैषयिक सुख है वह निद्रा आने के पहले का सुख है। निद्रा में इस वैषयिक सुख का भान नहीं रहता है। अतः नींद से पहले का जो सुख है वह वैषयिक सुख है पर नींद आने पर जो सुख हुआ वह वैषयिक नहीं है। यह दोनों सुखों में अंतर है। जब तक विषय का भान है तब तक विषय-सुख है। जब विषय का भान नहीं रहता है तब स्वरूप सुख है।। ४१।।

निद्रा के दौरान होता सुख वैषयिक हो यह सम्भव नहीं यह स्पष्ट करते हैं–

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत् परे सुखे।। ४२।।

नींद में जो सुख है वह किस कारण से पैदा होता है! नींद आने से पूर्व व्यक्ति की बुद्धि शय्यादि के सुख को ग्रहण करती है, फिर नींद से स्वरूपसुख में विलीन हो जाती है।

जो गहरी नींद आने पर सुख होता है, वह किसी चीज़ से नहीं होता है। विषयजन्य सुख निद्रा से पहले है। निद्रा आने पर स्वरूप-सुख है। स्वरूपभूत आनंद के अनुभव के पहले तो विषयों की सत्ता है अतः उनसे सुख हो जाता है किंतु इसीलिये यह भ्रम हो जाता है कि नींद में सुख भी विषयों से हुआ। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि निद्रा आने पर किसी विषय का भान न होने पर भी सुख रहता है। सावधानी से देखें तो जब कभी व्यक्ति आनन्द में मग्न होता है, तब किसी विषय का भान नहीं होता! आनन्द में डूबने के पहले तो विषयों की अपेक्षा रहती है इसी से विषय सुख कहा जाता है। इसी तरह लेटने पर बिस्तर आदि विषयों के अनुभव से सुख प्रतीत होता है, उसे बुद्धि ग्रहण करने लगती है। बुद्धि सुख की

तरफ जाती है। सुख आत्मा का स्वरूप है अतः वह वास्तव में आत्मा की तरफ ही गई। विषय-सुख के द्वारा सुखाकार वृत्ति बनी। वह वृत्ति सुख है इसलिये विषय सुख है। इस विषय सुख का उपयोग यह है कि तुम्हारी बुद्धि बहिर्मुखता से हटकर अन्तर्मुख हो गई। विषय सुख लेने के लिये भी बुद्धि अन्तर्मुखी होती है। विषयानंद प्रकरण में यह बात पुनः स्पष्ट होगी। जब कोई कामना होती है तब कामना के विषय की तरफ बुद्धि जाती है। जब रसगुल्ला खाने की कामना हुई तब बुद्धि उसकी तरफ जाती है। रसगुल्ले के लिये सारी चेष्टा करते हैं। जब रसगुल्ला मिलता है तब कामना निवृत्त हो जाती है। मन को बाहर धकेलने के लिये जो कामना थी, वह रसगुल्ला मिलने पर हट गई। बाहर धकेलना बंद हुआ, तब मन अपने आप अन्दर की तरफ आ जाता है। भ्रम यह होता है कि रसगुल्ला मिला, इसलिये सुख हुआ। पर रसगुल्ला मिलने से पहले जो स्थिति थी, वही लौटी है! पहले न रसगुल्ला था, न कामना थी। कामना आने के कारण वह स्थिति बदली। रसगुल्ला मिलने पर कामना समाप्त हो गई और खाकर रसगुल्ला भी समाप्त हो गया अतः जहाँ पहले थे वहीं पहुँच गये! जब बुद्धि अन्दर लौटी, अन्तर्मुखी हुई, तब सुखरूप आत्मा को विषय कर लिया। भ्रम होता है कि रसगुल्ले से सुख मिला किंतु रसगुल्ले से कामना निवृत्त हुई तो आत्मसुख ही प्रकट हुआ। इसलिये जहाँ उपनिषदों ने आनन्द की मीमांसा की है, आनंद के परिमाण बतलाये हैं, वहाँ हर आनंद के साथ कहा है 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'। जिसे उस चीज़ की कामना नहीं है उसे वह आनंद प्राप्त ही है। प्रश्न उठता है कि फिर तो जिसको चीज़ों की कामना नहीं है उसको जब वह आनन्द प्राप्त ही है, तो सुख का अनुभव होना चाहिये? इसलिये श्रुति ने कहा कि जो श्रोत्रिय है, जिसने उपनिषदों का अध्ययन करके, इस बात का पहले निश्चय कर लिया है कि 'मैं सच्चिदानन्दरूप हूँ' वही आनंद पाता है। साथ ही व्यक्ति कुटिल नहीं हो तभी आनंद मिलता है। कुटिलता मायने असली बात को छिपाना। अगर अन्दर कामना है तो छिपाने से भी सुख को प्रकट नहीं होने देगी। साधारण लोगों को क्यों पता नहीं है कि उनको आनन्दरूप प्राप्त है जबकि आनंद स्वप्रकाश है? दो कारण हैं: पहला है, चूंकि यह बात उन्होंने उपनिषद् आदि से जानी नहीं है। दूसरा, कुटिलतापूर्वक कामनाओं के नाश के लिये प्रवृत्त नहीं हैं। कामना का आघात पड़ते आनन्द सम्भव नहीं! अतः चीज़ों की कामना से हत नहीं होना चाहिये और यह पता होना चाहिये कि 'मैं सुखरूप हूँ' तब आत्मानंद प्रकट रहता है। जब मृदुशैया आदि पर लेटा तब सुख की तरफ वृत्ति चली गई। नींद के आनंद से पहले जो विषय की आवश्यकता है, वह इसलिये कि वृत्ति अन्तरर्मुखी हो जाये। तदनन्तर किसी दूसरी कामना ने तुमको परेशान नहीं किया, तो फिर वह परमसुख में मग्न हो जाती है। वह परम सुख विषय-परामर्श से रहित ही है।। **४२।।**

पूर्वोक्त विषय ही स्पष्ट करते हैं—

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद् विषये सुखम्।। ४३।।

जाग्रत् के व्यवहारों से थका व्यक्ति विश्राम करके फिर सुखविरोधी दुःख हटने पर अव्याकुलमना हुआ विषयमें सुख का अनुभव करता है। ('जाग्रद्व्यापृतिभिः'– कल्याणपीयूषटीकानुसारी पाठ है।)

इंद्रियों से विषयों का व्यवहार जाग्रद् अवस्था का लक्षण है। जागरण अवस्था में चाहे ज्ञान-रूप चाहे क्रियारूप जो भी व्यापार-विशेष हो, उस व्यापार से व्यक्ति थकता ही है। इंद्रियों से क्रिया जब करता है तब थकावट ज़्यादा होती है। स्वप्न में इतनी थकावट नहीं होती क्योंकि वहाँ केवल मन से ही काम करते हैं। जब शरीर से काम करते हैं, तब शरीर और मन दोनों थकते हैं। मन से इंद्रियाँ भी समझ लेना। दोनों थकने पर नींद अच्छी आती है। थककर मृदुशय्या के ऊपर जब आराम करता है तब शरीर और मन दोनों को विश्राम मिलता है। ज्ञान और कर्म दोंनों व्यवहारों से दुःख उत्पन्न हुआ तभी अशान्त हुऐ थे। जब मृदुशय्या पर लेटे, कोई चिन्ता भी नहीं है, तब सुख का जो विरोधी दुःख वह हट जाता है। तब चित्त आत्मा की तरफ स्थित होने से स्वस्थ हो जाता है, व्याकुलता हट जाती है। तब विषय का अर्थात् मृदुशय्या आदि का सुख अनुभव करता है। मृदुशय्या आदि विषयों की ज़रूरत क्यों है? जो दुःख देने वाले हेतु थे उनको हटाने के लिये। स्वस्थचित्त होकर शय्यादि विषय के सुख का अनुभव होता है। यह नींद आने से पूर्वकी दशा है।।४३।।

उस विषयसुख को बताकर उसमें भी श्रम दिखाते हैं–

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति।
अनुभूयैनमत्राऽपि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ।। ४४ ।।

आत्मा की ओर अभिमुख हुई बुद्धिवृत्ति में स्वरूपभूत आनन्द ही प्रतिबिम्बित होता है। इस का अनुभव कर इस अनुभूति में भी त्रिपुटी से थकान होती है।

जब चित्त स्वस्थ होता है तब स्वभाव से अपने स्वरूप की तरफ जाता है अतः आत्मा की तरफ वृत्ति जाती है। उसमें आत्मानंद प्रतिबिम्बित होता है। परंतु यह भी विषय-सुख ही है अतः उसके अन्दर भी 'मैं शय्यादि से सुःख का अनुभव कर रहा हूँ' यों त्रिपुटी भासती है। सुख आत्मरूप है लेकिन उसका अनुभव करने वाला चित्त अहंकारात्मिका वृत्ति वाला है और आत्मा को विषय कर रहा है, इसलिये त्रिपुटी बन रही है। उससे थकान होती है और वह त्रिपुटी भी अच्छी नहीं लगती ।। ४४ ।।

उस थकान का नतीजा बताते हैं–

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत्।। ४५ ।।

उस श्रम को मिटाने के लिये जीव परमात्मा में भाग जाता है, उससे एकता पाकर स्वयं वहाँ का ब्रह्मानन्द हो जाता है।

जब त्रिपुटी रहती है, सुख को जानते हैं तब उस सुख लेने से भी श्रम होता है। उसको

भी हटाने के लिये, वही जीव परात्मा जो आनंदरूप है, उसकी तरफ दौड़ता है अर्थात् ब्रह्मानन्द की तरफ दौड़ता है। त्रिपुटी से होनेवाला विषय-सुख थकावट देता है तब वह स्वरूप-सुख की तरफ जाता है अर्थात् त्रिपुटी का लोप करता है। बिछौने पर लेटा हूँ, कोमलता का सुख भोग रहा हूँ आदि अनुभवों की उपेक्षा करता है तब नींद आती है। तब परमात्मा अर्थात् ब्रह्मानन्द की तरफ दौड़ता है। क्योंकि इस क्रम में अधिक समय नहीं लगता इसलिये कहा, 'धावेत्'। फिर उस ब्रह्मानन्द से एक हो जाता है अर्थात् ब्रह्मानन्द का अनुभव रहता है, न ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाला रहता है, न वही विषयरूप से रहता है। उस आनन्द के साथ एक हो जाता है। 'तत्रत्यः' वहाँ होने वाला ब्रह्मानन्द स्वयं ही हो जाता है। 'तत्रत्य' कह कर बतला रहे हैं कि जब तक सुषुप्ति में है तब तक तो ब्रह्मानन्द से एक रहेगा परन्तु फिर जैसे ही जगेगा, वैसे सब कुछ उपस्थित हो जायेगा। है तो वह ब्रह्मानन्द, परंतु मोक्ष की तरह उसकी सनातन प्राप्ति नहीं, अवस्था की परिधि में ही प्राप्ति है। जैसे पतंजलि ने कहा कि समाधिकाल में स्वरूप में स्थिति है अर्थात् जाग्रत् स्वप्न में फिर नहीं है, इसी प्रकार सुषुप्ति में आनन्दानुभव काल में ब्रह्मानन्द है, आगे-पीछे फिर नहीं है। ब्रह्मानन्द स्वरूप होता है पर क्योंकि अज्ञान निवृत्त हुआ नहीं है इसलिये अवस्था की सीमा रहती ही है।। ४५।।

सुषुप्ति के आनन्द के लिये श्रुति ने बहुतेरे दृष्टान्त दिये हैं—

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः।। ४६।।

चिड़िया, बाज, बच्चा, महाराजा और श्रेष्ठ ब्राह्मण—ये दृष्टान्त श्रुति में सुषुप्ति के आनंद के लिये कहे हैं।

श्रुतिने इसको समझने के लिये अलग-अलग स्थलों पर पाँच दृष्टान्त दिये हैं। थकने के बाद अपने स्वरूप की तरफ जाने में एक दृष्टान्त है शकुनि, छोटी चिड़िया, जिसे लोग अपनी अँगुली पर बाँध कर रखते हैं। श्येन बड़ी चिड़िया है, बाज। वह दूर से ही अपने शिकार को देख लेता है। वेद में जीव को अनेक जगह पक्षी की तरह बतलाया है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' आदि में उसे अच्छे परों वाला पक्षी कहा। भाषा में हंस का भी दृष्टांत प्रायः देते हैं। जीव को हंस शब्द से संस्कृत में भी कहा गया है। 'एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये' (श्वे. ६.१५)। हंस शब्द का मतलब होता है जो जाता है। जीव एक शरीर से दूसरे में या एक शरीर में भी बाल्यावस्था से युवावृद्धावस्था में जाता है इसलिये उसे हंस शब्द से कहा है। पक्षी दो पंखों से उड़ता है इस प्रकार गति करने के लिये जीव में भी ज्ञान और कर्म ये दो साधन हैं। दो परों के सामन ज्ञान और कर्म के द्वारा जीव गति करता है। दो पक्षियों के दृष्टांतों की तरह तीन मनुष्यों के दृष्टान्त दिये हैं। एक तो छोटा बालक। जब तक मन में किसी प्रकार की कामना का उदय नहीं है तब तक उसे 'कुमार' कहते हैं। खाने के अतिरिक्त उसके अन्दर कोई कामना नहीं होती। कामनाओं का उदय मैं और मेरा स्पष्ट होने के बाद

ही होता है। छोटा बालक अपने हाथ से ही ऐसे खेलता है जैसे खिलौने से। उसे अभी यह भान उदय नहीं हुआ है कि यह हाथ मेरा ही है, मैं ही हूँ। अतः यदि आँख पर मक्खी बैठी है तो उसे अच्छा नहीं लगता है, किन्तु 'हाथ मेरा है इससे मैं मक्खी हटा सकता हूँ', यह ज्ञान अभी नहीं है। अतः वह रोता है। कुमार में लगभग किसी चीज़ की कामना का कोई संस्कार उदय नहीं हुआ है। 'महानृपः' अर्थात् जिसकी सारी कामनायें पूरी हो गई हैं, ऐसा राजा। और 'महाब्राह्मण' जिसने आत्मज्ञान की पूरी निष्ठा प्राप्त कर ली है। ज्ञान की प्राप्ति से ब्राह्मण, जब ज्ञाननिष्ठा हो गई तब महाब्राह्मण कहलता है। ये दृष्टान्त श्रुति में कहे गये हैं, सुषुप्ति के आनन्द को बतलाने के लिये। सुषुप्ति में तो आनन्द का पता चलता नहीं है। परंतु जाग्रत् में उससे मिलता-जुलता आनन्द होता है। इसलिये इन दृष्टांतों से उसको बतलाते हैं।। ४६।।

दो श्लोकों से शकुनि दृष्टांत समझाते हैं–

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम्।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत्।। ४७।।

धागे से बँधा हुआ शकुनि विभिन्न दिशाओं में उड़कर आराम की जगह न पाकर हाथ, खम्भा आदि वहीं लौट आता है जहाँ बँधा है।

श्रुति (छा. ६.८.२) है 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनम् अलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते'। शकुनि, जो छोटा पक्षी होता है, उसको समुद्रयात्रादि के प्रसंग में धागे से अंगुली में बाँध लेते हैं। वह विभिन्न दिशाओं में उड़ता है पर चारों तरफ पानी होने से कोई स्थान ऐसा नहीं मिलता जहाँ विश्राम को प्राप्त करे। जब कहीं भी विश्राम नहीं मिलता तब जो उसके बँधने का स्थान है वहीं आकर बैठता है आराम करने के लिये। उसके अलावा अन्यत्र उसको सहारा नहीं मिलता।। ४७।।

इसी प्रकार से श्रुति ने दार्ष्टान्त बताया है 'एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इसका भाव व्यक्त करते हैं–

जीवोपाधिमनस्तद्वद् धर्माऽधर्मफलाप्तये।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ।। ४८।।

दृष्टान्त की तरह, जीव की उपाधि मन पुण्य-पाप के फल भोगने के लिये स्वप्न और जाग्रत् में भटक कर, कर्म क्षीण होने पर (अपने उपादान अज्ञान में) लीन हो जाता है।

जीव से बँधा हुआ है मन, 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'। मन जीवभाव को छोड़कर कहीं जा नहीं सकता। यह जीव की उपाधि है। जब तक मन रहता है, तब तक जीव-भाव रहता है। जैसे शकुनि पक्षी इधर-उधर जाता है कि कहीं विश्राम मिल जाये पर मिलता नहीं, इसी प्रकार धर्म-अधर्म का फल भोगने के लिये मन विषयों में जाता है। धर्म फलोन्मुख होता है

तो सुख का विषय मिलता है, अधर्म फलोन्मुख होता है तो दुःख का विषय मिलता है। स्वप्न में बिना इंद्रियों के भी मन विषयों में ही जाता है। जाग्रत् में इंद्रियों के द्वारा जाता है। स्वप्न और जाग्रत् में यही अन्तर है कि इंद्रियों के द्वारा जब विषयों का ज्ञान होता है तब जाग्रत् अवस्था है, बिना इंद्रियों के विषयों का ज्ञान होवे तो स्वप्न है। दोनों ही जगह अपने पुण्य-पाप का फल भोगने के लिये दौड़ लगाता है। जाता तो हमेशा सुख के लिये है, यदि पुण्य फल मिलना है तब तो पदार्थ मिल कर सुख हो जाता है, यदि अधर्म अर्थात् पाप का फल मिलना हो तो सुख नहीं होता बल्कि दुःख हो जाता है। जो चीज़ चाहते हैं वह मिले ही नहीं, या हमने जैसी चाही वैसी चीज़ न निकली, दोनों स्थितियों में दुःख होता है जो पाप का फल है।

दोनों ही अवस्थाओं में धर्माधर्म का फल प्राप्त होता है। स्वप्न में और जाग्रत् में 'भ्रान्त्वा' मन घूमता रहता है, ठहर कहीं नहीं पाता जैसे शकुनि उड़ता रहता है, बैठने की जगह उसे नहीं मिलती। पुण्य-पाप के कर्मों को जब कुछ समय के लिये फल नहीं देना है तब सुषुप्ति आती है। जब तक कर्मफल भोगना होगा तब तक तो नींद आयेगी नहीं, कर्म जाग्रत् और स्वप्न में घुमाता रहेगा; जब फल देने वाले धर्माधर्म नहीं रहेंगे, तब मन अपने बंधन के स्थान प्राण में लीन हो जाता है। जीव से बँधा मन विषयों की तरफ दौड़ता है और थक कर अपने जीवभाव में ही लीन हो जाता है। जीव की उपाधि अविद्या, अज्ञान है। वह प्रकट तब होती है जब अज्ञान मन-रूप में परिणत होता है। जब तक कारणरूप में अज्ञान है तब तक कुछ सुख-दुःख नहीं होते हैं। अपने आत्मानन्द का *ज्ञान* नहीं रहता है। जब अज्ञान मन-रूप परिणाम को पैदा करता है, तभी सुख-दुःख शुरू होते हैं। जब तक वे भोगने हैं तब तक मन बना रहता है, इसलिये जाग्रत् या स्वप्न में जाते हो। इसीलिये कहा जाता है (गीता १५.२) कि यह संसार 'कर्मानुबन्ध' है। मन लीन होगा तो जीव में, जीव हुआ अज्ञान उपाधि वाला। वह जीव वस्तु परमात्मा ही है। जीवभाव तभी प्रकट होता है जब अज्ञान मन-रूप में परिणत हो जाये। इसलिये कह देते हैं कि मन सुषुप्ति में अज्ञान उपाधि वाले परमात्मा में ही लीन होता है। ।। ४८ ।।

दूसरा 'श्येन' का दृष्टान्त है। बृहदारण्यक ४.३.१९ में कहा है 'तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवाऽयं पुरुषः एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति।' इसे व्यक्त करते हैं—

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत्।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः।। ४९ ।।

सोने के लिये घोंसले में ही पहुँचना चाहने वाला बाज जैसे तेज़ी से उधर जाये वैसे केवल ब्रह्मानन्द पाना चाहने वाला जीव सोने के लिये दौड़कर जाता है।

श्येन, बाज खूब उड़ लेता है, और थक जाता है तो एकमात्र घोंसले को ही प्राप्त करना, जाना चाहता है क्योंकि वहीं जाकर सो सकता है। शकुनि दृष्टान्त में पक्षी बँधा था, विश्राम

का अन्य स्थान नहीं था। यह श्येन बँधा नहीं है और घोंसले में ही जाना चाहता है, अन्यत्र कहीं बैठ कर सोना नहीं चाहता इसलिये घोंसले की तरफ वेग से जाता है।

इसी प्रकार जीव भी सुषुप्ति की तरफ दौड़ता है, तेज़ी से जाता है। बहुत समय तक साधना करो तब पता लगता है कि गहरी नींद में कैसे जाते हैं। अन्यथा अपने को दो ही अवस्थाओं का पता लगता है— या हम जगे हैं या नींद आ गई। जगने से नींद की तरफ कैसे गये—यह पता नहीं लगता। इसीलिये नहीं लगता कि इतनी जल्दी हो जाता है मानो दौड़कर सुषुप्ति में घुस जाता हो। जैसे श्येन घोंसले में जाने के लिये आतुर था, वैसे ही जीव गहरी नींद में जो ब्रह्मानन्द आता है, एकमात्र उसको ही प्राप्त करना चाहता है। 'एकलम्पट' के द्वारा यह कहना है कि यदि किसी भी अन्य चीज़ की प्रकट कामना रह गई है तो गहरी नींद नहीं आती। जब एकमात्र ब्रह्मानन्द-स्वरूप होना चाहता है, तभी उसकी प्राप्ति होती है, थोड़ी भी और कामना है तो प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य के कामना या चिंता के जितने अधिक स्थल होते हैं, उतना ही उसकी सुषुप्ति सबसे पहले गड़बड़ाती है। उन्हें प्रायः गहरी नींद नहीं आती, इस बात का अनुभव ही नहीं हो पाता कि रात्री नौ बजे सोये, सुबह चार बजे तक कुछ पता नहीं लगा कि क्या हुआ। मन उपाधि वाला जो चिदाभास है, जब उस को एकमात्र ब्रह्मानन्द की अभिलाषा होती है तब नींद आती है। वह उसे ब्रह्मानंद जानता तो नहीं पर है वह स्वरूपतः ब्रह्मानन्द अतः विषयानन्द नहीं चाहता और आनन्द चाहता है—इस अभिप्राय से ब्रह्मानंद-शब्द का प्रयोग किया है। सोने के लिये जीव शीघ्रतासे हृदयाकाश में जाता है। जीव अर्थात् मन उपाधि वाला चिदाभास। उपाधि का अज्ञान में लय होता है तो जीव सत् परमात्मा से एक हुआ रहता है। इस प्रकार सुषुप्ति का सुख परमात्मरूप ही है, जन्य नहीं यह स्पष्ट है।। ४९।।

दो दृष्टान्तों से बताया कि चिदाभास अपनी उपाधि से रहित होना चाहे तथा मन अपने आश्रय स्थान अज्ञान से ढँके हुऐ ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करना चाहे तब सुषुप्ति होती है। बालाकि ब्राह्मण (बृ २.१.१९) में सुषुप्ति के लिये तीन और दृष्टांत दिये हैं 'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणोवाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते'। तीन श्लोकों में इसे समझाते हैं—

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन्।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक्।। ५०।।

अत्यंत छोटा बच्चा दूध पीकर कोमल शय्यापर लेटा हँसते हुए केवल आनन्द-स्वभाव वाला होता है क्योंकि राग-द्वेष आदि उसमें उत्पन्न हुए नहीं हैं।

श्रुति में कुमार शब्द का प्रयोग है। पाँच वर्ष तक बच्चे को कुमार कहते हैं। इतने बड़े की प्राप्ति न होवे इसलिये कह दिया, 'अतिबालः' अर्थात् जो अभी स्तनपान ही करता है। प्रायः तीन माह तक बच्चा बस भूख लगने पर दूध पीना ही जानता है। ऐसे स्तनन्धयने

भरपेट दूध पी लिया, मुलायम बिछौने पर उसको लेटाया हुआ है। बिस्तरा कठोर, कर्कश, ऊँचा-नीचा होगा तो वह रोयेगा। पेट भरा है, मुलायम बिस्तरा है तो किसी दुःख का अनुभव नहीं है, अतः हँसता है। हम पेट भरा होने पर, मुलायम बिस्तर पर लेटे होने पर भी वैसा आनन्द नहीं ले पाते क्योंकि हमें अन्य पदार्थों का राग-द्वेष बना रहता है। इसीलिये श्रुतिने स्तनन्धय को दृष्टांत बनाया। उम्रदराज व्यक्ति साधन-सम्पन्न हो फिर भी वह आनन्द में मग्न नहीं रहता है क्योंकि याद करता रहता है, 'मेरा उसने अपमान कर दिया' आदि। पेट भी भरा है, बिछौना भी मुलायम है, पर रोग हो तो कहाँ आनन्द आता है! दूध पीते बच्चे में रागद्वेष उत्पन्न नहीं हुए। इसलिये प्रकट दुःख न हो तो एकमात्र आनन्द को ही भोगना उसका स्वभाव है। स्वाभाविकरूप से वह आनन्द में रहता है।। ५०।।

बालक अत्यन्त मुग्ध है अर्थात् उसे किसी प्रकार का विवेक नहीं है। अब विवेकी राजा का दृष्टान्त लेते हैं—

महाराजः सार्वभौमः सन्तृप्तः सर्वभोगतः।
मानुषानन्दसीमानं प्राप्यानन्दैकमूर्तिभाक्।। ५१।।

सारी भूमि का शासक महाराजा सभी भोगों से भली भाँति तृप्त हो मनुष्योचित आनन्द की सीमा (=पूर्णता) पाकर केवल आनन्द का मानो मूर्तिमान् रूप हो जाता है।

राजा सम्राट् के अन्तर्गत होता है। जिस का कोई सम्राट् न होवे वह महाराजा है। महाराजा अर्थात् जिसका महान् राज्य होवे। 'सार्वभौमः' अर्थात् जो सारी पृथ्वी का एक ही राजा है। जहाँ उपनिषदों ने आनन्द का परिमाण गिनाया है वहाँ एक इकाई गिना है मानुषानन्द को। उस एक इकाई के अन्दर सार्वभौम के आनंद को ही ग्रहण किया है। यदि पृथ्वी पर दूसरा राजा है तो ज़रूर भय आदि का अवसर रहेगा। सार्वभौम की स्थिति में ऐसा नहीं होगा। जहाँ मानुषानंद गिनाया वहाँ कहा है कि उस सार्वभौमका मजबूत शरीर होवे। स्वस्थ दृढ शरीर के बिना व्यक्ति आनंद नहीं भोग सकता। निर्बलता स्वयं में ही दुःख का कारण होती है। फिर उपनिषद् कहती है कि वह अच्छे चरित्र वाला, साधु पुरुष होना चाहिये। सच्चरित्रता के बिना कभी भी पूर्ण आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती। पढ़ा-लिखा भी होना चाहिये क्योंकि संसार के सारे सूक्ष्म आनन्द विद्या के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। जैसे संगीत, काव्य आदि का आनंद उन विषयों के जानकार को ही आता है। खाली खा-पी कर कितना आनंद ले सकते हो! सूक्ष्म-स्थूल सारे भोगों को भोग कर के जो 'संतृप्तः', भली प्रकार से तृप्त हो गया है उसने मनुष्य योनिमें प्राप्तव्य पूरा आनंद पा लिया। यही मानुष आनन्दकी सीमा है। ऐसा संतृप्त महाराजा बैठा हो तो ऐसा लगता है कि आनंद की एक मूर्ति है। वह आनंदमग्न रहता है। पहला दृष्टान्त था सर्वथा अविवेकी बच्चा जिसे राग-द्वेष न होने से सुख रहता है। महाराजा विवेकी तो है पर जितना राग का विषय है, वह सब इसे प्राप्त हो गया है। और कोई उसका विरोधी नहीं है, इसलिये इसे द्वेष भी नहीं है। इस तरह इसमें भी राग-द्वेष

का अभाव होने से वह आनन्दैकमूर्ति है। दोनों ही जगह कारण तो जैसा श्रुति ने कहा है 'अकामहतता' ही है। सारे दुःखों की जड कामना ही है।। ५१।।

तीसरा दृष्टान्त समझाते हैं–

महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम्।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते।। ५२।।

ब्रह्मवेत्ता महान् वेदपाठी, कृतकृत्यता जिसका स्वरूप है उस विद्यानन्द के चरम उत्कर्ष को पाकर (उसी में) रहता है।

तीसरा उदाहरण महाब्राह्मण है। ब्राह्मण को महान् इसलिये कहा कि उसने अपने प्रत्यगात्मा से ब्रह्म अभिन्न है इस बात को जान लिया है। ब्रह्म प्रत्यगात्मा से अलग नहीं है और प्रत्यगात्मा ब्रह्म से अलग नहीं है ऐसी जिसने एकता जान ली है उसे ब्रह्मवेदी कहा। आत्मज्ञान हो जाता है, फिर भी चित्त के संस्कारों के कारण, बार-बार 'मैं ब्रह्म से अलग हूँ' यह अलगाव की वृत्ति बनती रहती है। मच्छर काट रहा है अर्थात् मैं मच्छर से अलग हूँ इस प्रकार शरीरादि में मैं-बुद्धि पुराने संस्कारों से उदय होती है। उसे हटाने के लिये बार-बार विचार करना पड़ता है 'मैं शरीर नहीं हूँ, यह मच्छर मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है'। इस प्रकार विचार कर, दृढ हो जाता है कि ब्रह्म ही हूँ। फिर शरीर आदि में मैं-बुद्धि पैदा नहीं होती। मेरा मकान है, उसमें कोई नुकसान होता है तो मुझे दुःखी कर देता है। मैंने तो वह मकान बेच दिया। दीख रहा है पर अब मेरा नहीं है। अब यदि वह नष्ट भी हो जाये तो मुझे दुःख नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञानदृढता के बाद शरीर दीखे, मन दीखे, परन्तु निश्चय है कि वे मेरे तो हैं नहीं इसलिये चाहे मच्छर या शेर काटे, मुझे क्या फ़र्क पड़ता है! जब यह भावना हो जाती है तब कृतकृत्यता स्फुट होती है। यह निष्ठा-प्राप्ति ही कर्तव्य बाकी रह जाती है ज्ञान के बाद। जब यह निष्ठा हो गई तब फिर कुछ करना शेष नहीं है। यही विद्यानन्द की पराकाष्ठा है। विद्यानन्द की पूर्णता यही है। ऐसा जो आत्मज्ञानी है वह अपने स्वरूप के अन्दर धन्यता अनुभव करते हुए रहता है। निष्ठा प्राप्त करके हमेशा आनंद में मग्न रहता है। बच्चा आनंद में मग्न तो है, लेकिन आगे नहीं रहेगा। महाराजा आनन्दमग्न है, परंतु मानुषानंद की सीमा है, मरने के बाद फिर उसकी पूर्णता नहीं रहेगी। पर यह जो विद्यानन्द से तृप्त है, तत्त्वज्ञ है, इसको फिर कभी भी इस आनंद स्फूर्ति का त्याग करना ही नहीं है। हमेशा ही आनन्द में रहेगा। इस प्रकार पाँच दृष्टान्तों में दो पक्षियों को, तीन पुरुषों को ग्रहण किया। ये जैसे आनन्द की मूर्ति लोगों को प्रतीत होते हैं, ऐसे ही सुषुप्ति के अंदर आत्मानन्दस्वरूप से स्थिति रहती है।। ५२।।

मनुष्य-दृष्टान्तों की विशेषता बताते हैं–

मुग्धबुद्धाऽतिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ।। ५३।।

जिन्हें उदाहरण बनाया उनमें विवेकशून्य (बालक), समझदार (सम्राट्) और आत्यंतिक बोध पाया (ब्रह्मवेत्ता)—ये सुखमय होते हैं, इनसे अन्य तो दुःखी ही रहते हैं, उनमें सुखशीलता नहीं होती।

जो तीन दृष्टान्त आनंद के लिये दिये उनमें एक तो बिलकुल छोटा बालक है, वह मुग्ध है अर्थात् कोई विवेक उसके अंदर नहीं है। उसे तो भूख आदि शरीर के कुछ अनुभवों को छोड़कर और कोई दुःख नहीं है। बुद्ध अर्थात् जिसमें विवेक है; ऐसों में सम्राट् ग्रहण किया क्योंकि उसको जो भी सम्भव इष्ट पदार्थ हैं सब मिल गये हैं और कोई उसका विरोध करने में सामर्थ्य वाला भी नहीं है; अतः उसे न कुछ पाने की, न कुछ इस लोक में हटाने की इच्छा है। और 'अतिबुद्ध' अर्थात् अतिविवेकी है, जिसने ब्रह्मानुभव कर लिया है वह वास्तविक आनंद में है, इहलोक और परलोक, कहीं भी कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो उसके लिये प्राप्त करने के योग्य होवे। सम्राट् को इहलोक की चीजें तो प्राप्त हैं किन्तु परलोक की अभिलाषा हो सकती है। अतः अश्वमेध आदि में प्रवृत्त हो सकता है। पर जो अतिबुद्ध है उसके लिये वह भी सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु से लेकर घास के तिनके तक सब केवल मिथ्या प्रतीतिमात्र है, इस बात का वह साक्षात्कार कर चुका है। उसी को ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार है। दूसरे दोनों उस समय दुःख से ग्रस्त नहीं हैं—बस इतनी ही बात है जबकि इसके लिये तो ब्रह्मानंद हाथ में रखे आँवले की तरह है, ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा वह उसको प्रत्यग्रूप जानता है। राग-द्वेष ही आनंद नहीं होने देते। आनंद की स्थिति जब बनती भी है, तभी कोई न कोई अन्य चीज़ के प्रति राग या द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इसलिये क्षणभर के लिये आनन्द की प्रतीति होकर तुरन्त आनंद बंद हो जाता है। हर हालत में, तीनों के अंदर राग-द्वेष के अभाव के कारण इनकी सुखरूपता लोकप्रसिद्ध है। इन तीन के अलावा अन्यों को तो कुछ भी सुख नहीं होता! वे लोग तो राग आदि के कारण हमेशा दुःखी ही हैं। पहले भी आया था (श्लोक ३८ में) कि दूसरों को सुखके विरोधी दुःख की हमेशा उपस्थिति है इसलिये वे एकमात्र आनंद में मग्न नहीं हो पाते। सुखी तो होते हैं लेकिन सुखरूप नहीं हो पाते, तुरन्त दूसरी वृत्ति बन जाती है।। ५३।।

सुषुप्ति में सुख को दृष्टान्तों से निर्णीत करते हुए वहाँ अज्ञान है इसमें वेदोक्त दृष्टान्त सुनाते हैं—

कुमारादिवदेवाऽयं ब्रह्मानन्दैकतत्परः।
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नाऽपि चान्तरम्।। ५४।।

कुमार आदि की तरह ही यह जीव (सुषुप्ति में) केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। स्त्री से आलिंगित की तरह बाहर-भीतर की कोई बात नहीं समझता।

जैसे कुमार, महाराज और महाविप्र, आनन्दस्वरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार से जो सुषुप्ति की तरफ जाता है, वह ब्रह्मानन्द के लिये ही तत्पर है अर्थात् तब ब्रह्मानन्द में ही लीन होने को जाता है। इस प्रकार सुषुप्ति में अद्वितीय, स्वप्रकाश आनन्द सिद्ध किया। वहाँ अज्ञान

है इसे भी श्रुति ने दृष्टान्त से समझाया है। जनक को सम्बोधित कर याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक (४.३.२१) में कहते हैं 'तद्वा अस्यैतद् अतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, एवमेवाऽयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् तद्वा अस्यैतद् आप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम्।।' श्रुति ने कहा है कि जो कामुक व्यक्ति स्त्री के साथ एकता का अनुभव करता है तब उसे न बाहर की किसी चीज़ का ज्ञान रहता है न अन्दर की; ज्ञानरहित हो जाता है। पहले के दृष्टान्तों से ज्ञानरहितता स्पष्ट नहीं थी। वहाँ केवल बतलाना था कि सुखात्मकता कैसे होती है। अब बतला रहे हैं कि यह जो सुषुप्ति का आनन्द है, वहाँ न बाहर, न अन्दर का कुछ ज्ञान है। स्त्री की तरह तब साक्षात् परमात्मा से आलिंगित अर्थात् एकमेक हो जाता है, तब आनंद रहने पर भी अज्ञान बना रहता है। यही स्थिति सुषुप्ति में है।। ५४।।

दृष्टान्त ही व्यक्त करते हैं–

बाह्यं रथ्यादिजं वृत्तं गृहकार्यं यथान्तरम्।
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ।। ५५।।

दृष्टान्त में 'बाह्य' अर्थात् रास्ता आदि एवं और भी वृत्तान्त; 'भीतरी' जैसे घर के काम। इसी तरह दार्ष्टान्त में बाहरी अर्थात् जाग्रत् और भीतरी अर्थात नाडी में होने वाला स्वप्न।

ऐसे प्रसंगों में दार्ष्टान्तमें शरीर से बाहर को बाहर कहा जाता है, और शरीर के अन्दर को अन्दर कहा जाता है। दृष्टान्त में सड़क आदि पर जो कुछ वृत्तान्त है वह है बाहर। जो घर के अन्दर होने वाले कार्य हैं वे भीतरी हैं। इसी प्रकार दृष्टान्त में इंद्रियों के द्वारा मन बाहर जाता है, वहाँ जो कुछ देखता है वह बाह्य है। जाग्रत् अवस्था वह है जब तुम शरीर से बाहर की चीज़ों को जानते हो। जाग्रत् अवस्था का लक्षण है कि जो मन में ही नहीं है, मन के बाहर है, उन अर्थों की इंद्रियों से प्राप्ति होना। और जाग्रत् की वासनाओं से नाडी के अन्दर ही चीज़ों की प्रतीति हो जाना स्वप्न है। इंद्रियों से कहीं बाहर नहीं जाता है। अतः स्वप्न आन्तर है। जब जाग्रत् और स्वप्न दोनों नहीं होते हैं, तब सुषुप्ति होती है। इसलिये वहाँ बाहरी-भीतरी कुछ पता नहीं रहता। जो प्राज्ञ पुरुष है, सुषुप्ति का अभिमानी, वह तब अपने वास्तविक आत्मस्वरूप के द्वारा आलिंगित हुआ न जाग्रत् की, न स्वप्न की चीज़ों को जानता है। 'प्राज्ञेनात्मना' का अर्थ भाष्यकार ने किया है 'परमार्थे स्वाभाविकेन स्वेनात्मना परेण ज्योतिषा'। यद्यपि तब वास्तविक सत्यस्वरूप से मानो घिरा रहता है तथापि इससे अनजान ही बना रहने से मोक्ष नहीं पा जाता है।। ५५।।

सुषुप्ति में बाह्य और आन्तर का कुछ भान नहीं रहता है यह भी वहीं (४.३.२२) कहा 'अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता' इत्यादि। इससे वेदने वहाँ ब्रह्मरूपता को युक्ति से समर्थित किया क्योंकि ब्रह्म ही ऐसी वस्तु है जहाँ ये सब कोई भेद नहीं हैं–

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात्।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात्।। ५६।।

सुषुप्ति में पिता भी पिता नहीं रहता—इत्यादि प्रसंग में वहाँ जीवरूपता के निषेध से स्पष्ट है कि क्योंकि तब संसारिरूपता का स्पष्ट अनुभव नहीं होता इसलिये जीव नहीं वरन् ब्रह्म ही है।

सुषुप्ति में जाने पर पिता, पिता नहीं रहता, माता भी माता नहीं रहती। माता-पिता आदि सब जाग्रत्-स्वप्न में ही रहते हैं। पितृत्वादि सारे सम्बन्ध हैं। सम्बन्ध दो चीज़ों में रहता है। सुषुप्ति में एक तो रह जाता है, पर दूसरा कोई वहाँ नहीं रहता इसलिये जितने भी ये जीवकल्पित सम्बन्ध हैं ये कोई वहाँ नहीं रह जाते। इससे पता चलता है कि सुषुप्ति में जीवभाव नहीं रहता। उपाधियों से स्वयं को तादात्म्य वाला जानकर सब सम्बन्धों से घिरा समझना जीवभाव है। 'मैं इसका लड़का हूँ। मैं ब्राह्मण हूँ' आदि अभिमान जीवभाव हैं। सुषुप्ति में इन भावों से रहित प्रत्यगात्मस्वरूप ही रह जायेगा। ये सारे भाव या शरीर-प्रसूत हैं, या मनःप्रसूत हैं। शरीर या मन को लेकर सारे सम्बन्ध हैं। वहाँ इन सब से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अध्यास सारे छिप जाते हैं इसलिये सुषुप्ति के अन्दर केवल एक ब्रह्म है, जीव नहीं है। यद्यपि जीव का बाध नहीं हुआ, अज्ञान तो है, तथापि स्फुट जीवभाव तभी होता है जब अज्ञान अंतःकरणरूप में परिणत होता है। सुषुप्ति में यह परिणति नहीं होने से, संसारित्व की 'समीक्षा' सम्यक् ईक्षण नहीं है। अभी अध्यास का मूल अज्ञान नहीं हटा है परन्तु अध्यास तो सारे छिप गये हैं। अध्यासों को लेकर ही जीवभाव है। जैसे सर्प न दीखे तो अज्ञात रस्सी ही रहती है वैसे अध्यास छिप गया तो अधिष्ठानरूप के अन्दर किसी प्रकार का जीवभाव रहेगा नहीं। अध्यास का मूल अज्ञान नहीं हटा है, यह बात दूसरी है। हर हालत में जीवभावकी तब प्रतीति नहीं होती।। ५६।।

अभिमान न रहने पर पुण्यादि के अभाव में शोक से परे हो जाता है यह वहीं (बृ४.३.२२) कहा 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति'। इसका संग्रह करते हैं—

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान् भवत्ययम्।। ५७।।

पिता-पने आदिका जो अभिमान वही सुख-दुःख का खजाना है! वह हट जाने पर वह आत्मा सारे शोक तर जाता है।

मैं पिता, माता, पति इत्यादि जो अभिमान हैं ये ही सुख-दुःख का घर हैं। इन सम्बन्धों के आने पर ही सुख-दुःख शुरू होते हैं। इस अभिमान के साथ शरीर-मन के अभिमान भी समझ लेने चाहिये क्योंकि तभी सुख-दुःख संभव होते हैं। सुख-दुःख ही संसार है। सुख-दुःखरूप संसार का आकर है अभिमान। अभिमान का मतलब होता है जो मैं नहीं हूँ वह अपने को मान लेना। ब्राह्मण पिता मनुष्य इत्यादि स्वयं को मानता हूँ पर मैं ये सब हूँ तो नहीं! विचार से यह समझने पर भी दृढता-पूर्वक स्वयं को ऐसा मानता हूँ। विवेकी को भी यह अनुभव होता है कि 'यह बात युक्तिसिद्ध तो है कि मैं देहादि नहीं, परन्तु मैं हूँ तो आदमी ही!' जब तक अभिमान रहेगा, तब तक सुख-दुःखरूप संसार भी रहेगा। जब जीव सुषुप्ति में जाता है तब यह अभिमान निवृत्त हो जाता है। इसलिये सारे शोकों से उत्तीर्ण हो

जाता है। यह तात्कालिक उत्तीर्णता है क्योंकि केवल अभिमान की निवृत्ति हुई है, कारण अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई है।

उस काल में कोई शोक नहीं रहता है क्योंकि अभिमान नहीं है। जैसे पतंजलि ने 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानम्' कहा वैसे यहाँ श्रुतिने 'तीर्णो हि तदा शोकान्' कहा अर्थात् अवस्था की परिधि में कहा जा रहा है।। ५७।।

उक्त श्रुतियों में आत्मभाव की प्राप्ति और आध्यासिक चीज़ों की अप्रतीति बतलाई। सुषुप्तिकाल में साक्षात् आनंद की प्रतीति अथर्व वेद की कैवल्योपनिषत् (१.१३) में कही है, उसे सूचित करते हैं—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ।। ५८।।

अथर्ववेद की श्रुति कहती है कि सुषुप्ति के समय सारा प्रपंच विलीन होने पर तमःशब्दित अज्ञान से आच्छादित जीव सुखरूप ब्रह्म को पा जाता है।

कैवल्योपनिषद् की श्रुति यह कहती है कि जितनी देर सुषुप्ति रहती है, इंद्रियाँ, मन, शरीर आदि सब विलीन हो जाते हैं। प्राण ही वहाँ जगता हुआ रहता है अतः उस समय सब कुछ प्राण में लीन रहता है। प्राण में चूँकि ज्ञान का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है, इसलिये किसी चीज़ का भान नहीं होता है। सब विलीन हो जाने पर 'तमोऽभिभूत' अर्थात् 'तमसावृतः', अन्धकार, अज्ञान ही रह जाता है। जीव तब सुखरूप को प्राप्त कर लेता है। श्रुति इस प्रकार सुख की प्राप्ति बतला रही है। ब्रह्म स्वरूप ही है। इसलिये 'सुख को प्राप्त होता है' अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है।।५८।।

उक्त बात शास्त्र के अलावा सार्वजनीन अनुभव से भी समर्थित है—

सुखमस्वाप्समत्राऽहं न वै किञ्चिदवेदिषम्।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः।।५९।।

'इतनी देर सुखसे सोया, कुछ पता नहीं चला' यों सुषुप्ति के समय सुख और अज्ञान को जगा व्यक्ति याद करता है।

यह तथ्य श्रुति से ही नहीं, सबके अनुभव से भी सिद्ध है। उठकर सभी को याद आता है 'सुषुप्ति के अन्दर मैं सुख से सोया। मैंने तब न बाहर का, न अन्दर का कुछ जाना।' इस प्रकार, सोने पर सुख और कुछ नहीं जानना—इन दोनों को जब उठता है तब स्मरण करता है। इसलिये सुषुप्ति में सुख और अज्ञान—ये दोनों सब के अनुभव से भी सिद्ध हैं।।५९।।

स्मरण से सुख-अज्ञान प्रमाणित कैसे हो जाते हैं यह क्रम समझाते हैं—

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा।
चिदात्मत्वात् स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः।। ६०।।

क्योंकि अनुभव किये के बारे में स्मरण होता है इसलिये (स्मरण की अन्यथा अनुपपत्ति से) सुषुप्ति में अनुभव था (यह निश्चित है)। सुख चेतन आत्मा का स्वरूप है अतः खुद अनुभूयमान है एवं उस सुखरूप आत्मा से ही अज्ञान का भी अनुभव हो जाता है।

अनुभूति थी, तभी स्मरण हुआ है। जिसका अनुभव हुआ हो उसी चीज़ का स्मरण होता है। इसलिये सुख एवं अज्ञान के परामर्श अर्थात् स्मरण से पता लगता है कि उस समय, अर्थात् सुषुप्ति के दौरान सुख व अज्ञान का अनुभव था। सुषुप्ति में न मन था, न ज्ञान की इंद्रियाँ थीं, वे सब लीन थे तो कैसे ज्ञान हुआ? कुछ लोग मानते हैं कि अनुभव वही है जो प्रमाणों से उत्पन्न हो। हम लोगों का कहना है कि प्रमाण से उत्पन्न होना सच्चे ज्ञान का लक्षण नहीं है। जिस चीज़ के बारे में 'यह नहीं हुआ था' ऐसा निश्चय नहीं होवे, वह सच्चा ज्ञान है। ब्रह्मस्वरूप में स्थिति भी किसी प्रमाण से तो है नहीं! अज्ञान कुछ हो जो नष्ट हो तब उसके नाशक को प्रमाण कहा जाये। जब अज्ञान ही मिथ्या है, है ही नहीं तब उसका नाशक कौन बनेगा जिसे प्रमाण कहें? फिर भी, चूँकि कभी ब्रह्मस्थिति का बाध होता नहीं, इसलिये उसे सच्ची कहते हैं। किन्तु यह न समझने वालों को जिज्ञासा रहती है कि अनुभव कैसे हुआ प्रमाण के अभाव में? इसके समाधानार्थ कहा 'चिदात्मत्वात् स्वतो भाति'। बिना किसी प्रमाण के ही अनुभव हुआ। क्योंकि वह सुख चिद्रूप है, ज्ञानस्वरूप है इसलिये उसका स्वयम् भान होता है। घड़े को तो तुमने आँखों से जाना। परन्तु घटज्ञान को काहे से जाना? 'घड़े का ज्ञान हुआ', यह भी तो हम जानते हैं। इस ज्ञान को तो इंद्रियों से नहीं जानते। यह ज्ञान किसी प्रमाण से नहीं होता। ज्ञानरूप होने से वह प्रकाशमान रहता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से सब चीज़ों को देखते हो, सूर्य के प्रकाश को किसी प्रकाश से नहीं देखते इसी प्रकार जड पदार्थों को जानने के लिये तो प्रमाणों की ज़रूरत है क्योंकि वे ज्ञानरूप नहीं हैं। परन्तु जो ज्ञानरूप पदार्थ है उसे जानने के लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि सुख ज्ञानरूप है इसलिये स्वयं ही भान होता है। इसी प्रकार, जो चिदात्मा है वही 'कुछ नहीं जाना' इसको भी जान लेता है। अतः सुख और अज्ञान का सुषुप्ति में अनुभव युक्तिसंगत है तथा स्मरणबल से निश्चित है।। ६०।।

श्लोक ४५ में सुख को ब्रह्मरूप कहा था उसे श्रुति से प्रमाणित करते हैं जिससे सौषुप्त सुख की ब्रह्मरूपता निश्चित हो ताकि ब्रह्म की आनंदरूपता को अनुभवका समर्थन मिले—

ब्रह्म विज्ञानमानन्दमिति वाजसनेयिनः।
पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ।। ६१।।

वाजसनेयी शाखा की बृहदारण्यक उपनिषत् में (३.९.२८) पढ़ते हैं कि ब्रह्म विज्ञानरूप और आनन्दरूप है। इसलिये स्वयंप्रकाश सुख ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं।

सुषुप्ति को अद्वैत, स्वप्रकाश और सुख सिद्ध कर चुके। अब समझा रहे हैं कि वह सुख ही ब्रह्मरूप है। यह वेद ने कहाँ कहा? शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा वाले कहते हैं 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म' ज्ञानस्वरूप, आनंदस्वरूप ही ब्रह्म है। चाहे हमें विषयादि से सम्बद्ध

जन्यादि प्रतीत हो पर ज्ञान व सुख है ब्रह्मका ही स्वरूप। यह वाजसनेयी शाखा वाले स्पष्ट कहते हैं। अतः सिद्ध होता है कि सुख विज्ञानरूप है अतः स्वप्रकाश है इसलिये ब्रह्म ही है। सुखरूप से भिन्न ब्रह्म नहीं है। कुछ लोगों की शंका होती है कि जब सब कुछ ब्रह्मरूप है तो दुःख भी ब्रह्मरूप होगा! पर स्थिति यह है कि सुख तो है ब्रह्म रूप, दुःख ब्रह्म का स्वरूप नहीं है क्योंकि दुःख हमेशा अज्ञान से होता है। जिस प्रकार से 'है' की प्रतीति हमें इंद्रियों से हो जाती है लेकिन 'नहीं है' कि प्रतीति किसी इन्द्रिय से नहीं होती है, अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा होती है। जैसे 'घड़ा नहीं है' के लिये सोचना पड़ता है कि घड़ा होता तो दीखता, दीख नहीं रहा इसलिये घड़ा नहीं है। घड़ा इंद्रियों से दीखता है, ऐसे घटाभाव नहीं दीखता। सत् तो ब्रह्म का रूप है, लेकिन 'नहीं है', यह जो असत् है, वह ब्रह्म का रूप नहीं है वरन् माया का रूप है। सत् चित् आनंद ब्रह्म का रूप है। और असत्, जड, दुःख माया के रूप हैं। ब्रह्म सुखरूप ही है, दुःखरूप माया है।। ६१।।

स्मरण से अनुभव समर्थित किया। प्रश्न उठता है कि अनुभवावस्था में जो था नहीं वह स्मरण करता कैसे है? इसका उत्तर समझाते हैं–

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ।
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि।। ६२।।

जगने पर याद आता जो अज्ञान उसमें प्रमातारूप विज्ञानमय और प्रमाणरूप मनोमय लीन थे। उनकी लीन स्थिति ही निद्रा है, वही अज्ञान है।

सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द की स्थिति बतायी। सुषुप्तिवाला आत्मा ब्रह्मानन्दरूप होने से उसका अनुभव भले ही करें किन्तु जगकर 'मैं सुख से सो रहा था, मैंने कुछ नहीं जाना' यह तो मन-बुद्धि वाला कह रहा है! सुषुप्ति में मन-बुद्धि वाला तो था ही नहीं। यदि चैत्र अनुभव करता है तो चैत्र ही उसका स्मरण करेगा, मैत्र स्मरण करेगा नहीं। इसी प्रकार, बुद्धिरहित का जो अनुभव है, उसको बुद्धिवाला कैसे याद करेगा? यह शंका है। इसके समाधान में कहा कि विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय चैत्र और मैत्र की तरह सर्वथा अलग-अलग नहीं हैं। 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस स्मरण से पता लगता है कि सुषुप्ति में 'कुछ नहीं जानना' अर्थात् अज्ञान था। 'कुछ नहीं जाना' इस स्मरण से जो अज्ञान सिद्ध हो रहा है, उसमें लीन थे विज्ञानमय और मनोमय। विज्ञानमय है जानने वाला प्रमाता और मनोमय है जानने का साधन प्रमाण। ये दोनों उसी अज्ञान में लीन थे। चैत्र और मैत्र जैसे सर्वथा अलग हैं वैसे यहाँ अनुभविता और स्मर्ता सर्वथा अलग नहीं। मनोमय और विज्ञानमय अज्ञान में ही लीन थे। जब प्रमाता और प्रमाण नहीं रह जाते हैं, लीन हो जाते हैं, उसी का नाम है निद्रा। नींद आ गई अर्थात् न जानने वाला रहा, न जानने के साधन रहे। यह निद्रा ही अज्ञान है। विज्ञानमय और मनोमय का न होना ही निद्रा है। कहीं कोष में कहा है 'विज्ञानविरतिः सुप्तिः' कोई ज्ञान न रह जाये–यह सोने का लक्षण है। 'विज्ञान' इसलिये कहा कि तब विशेष ज्ञान कोई नहीं रहता है, आनंदरूप ज्ञान तो रहता ही है। उस निद्रा में ही सब लीन हुए हैं।

वही निद्रा ज्ञान नाम से भी कही जाती है। अतः 'नींद में लीन' और 'अज्ञान में लीन' एक ही बात है। प्रमाता-प्रमाण तब लीन थे अतः प्रकट होकर तब का स्मरण करें यह संगत है। सर्वथा तब न रहे होते तभी स्मरण असंभव होता।।६२।।

एक चीज़ की दो अवस्थाओं का दृष्टान्त देते हैं—

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद् विज्ञानमयो घनः।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ।। ६३।।

जैसे पिघला घी बाद में ठोस हो जाता है वैसे विज्ञानमय (ठोस की तरह है, वही) जब पिघली अवस्था में होता है तब आनन्दमय-शब्द से कहा जाता है।

घी धूप में गल जाता है। जब फिर अंदर रख दो तो ठोस हो जाता है। इसमें कोई नियम नहीं कर सकते हो कि पचास या सौ बार ही ऐसा होगा। घी तो एक ही है, पिघला हो या गाढ़ा हो, उसी की ये दो अवस्थायें हैं। इसी प्रकार, जिस समय सुख-दुःख देने वाले कर्मों का उद्भव हो उस समय विज्ञानमय नामक घनीभूत रूप बन जाता है। जब कर्म फल देने वाले नहीं होते हैं तब वापिस पिघलकर आनन्दमय रह जाता है। विज्ञानमय ही जब विलीन हो गया तब उसे आनंदमय कह देते हैं। जब तक कर्म फल देने वाले हैं तब तक सुख-दुःख से तीर्ण नहीं होगा। जब वे फल देने वाले नहीं होंगे, तभी उस अवस्था में जायेगा जहाँ सुख-दुःख से परे आनंदरूप से रहेगा अर्थात् सुषुप्ति में रहेगा। जैसे एक ही घी की दो अवस्थायें हैं, वैसे ही एक ही अज्ञान की दो अवस्थायें हैं, एक जिसमें विज्ञानमय-मनोमय हैं, दूसरी जिसमें आनंदमय है। क्योंकि अवस्थाओं का ही भेद है इसलिये स्मरण बन जाता है। ठोस घी में रंग या गन्ध डाल दो तो पिघलने पर भी उस चीज़ की अनुवृत्ति रहेगी। जब लोगों को खाने का शौक था तब घी में नागबेल का पत्ता डालकर उबाल लेते थे। घी में सुगंधि आ जाती थी। पिघले में डालते थे तो ठोस में भी सुगंध रहती थी। इसी प्रकार से आनंद का अनुभव पिघली अवस्था में था, जाग्रत् स्वप्न की जब ठोस अवस्था आती है, तब उसके अंदर भी उस आनन्द की स्मृति बन जाती है।

जिस प्रकार से घी की दो अवस्थायें, पिघला और जमा, उसी प्रकार जीव की दो अवस्थायें, गला हुआ अंतःकरण आनन्दमय और जमा हुआ अंतःकरण विज्ञानमय। जैसे जमा-गला दोनों घी एक ही है इसी प्रकार सुषुप्ति में गले एवं जाग्रत् में जमे अंतःकरण वाला जीव एक ही है इसलिये स्मृति सम्भव है। विलीनावस्था में आनंदमय है और जमी अवस्था में विज्ञानमय-मनोमय हैं।। ६३।।

श्लोक ५२ से ५५ तक कहे अनुसार यहाँ भी स्पष्ट करते हैं कि अन्तःकरण की ही अवस्था-विशेष आनन्दमय है। आनंदमय की ही अवस्थाविशेष विज्ञानमय है—इस तरह भी समझे रखना चाहिये—

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता।
सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः।। ६४।।

सुषुप्ति से पूर्व के क्षण में सुख के प्रतिबिम्ब से युक्त जो बुद्धि की वृत्ति, उस प्रतिबिम्ब समेत वही बाद में लीन हुई आनन्दमय कहलाती है।

गलने पर इसको आनन्दमय क्यों कहते हैं? सोने के अव्यवहित पूर्वक्षण में, अर्थात् सुषुप्ति जब आती है उसके ठीक पहले क्षण में, बुद्धि की वृत्ति में सुखरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ब्रह्मानंदरूप सुख जिसमें प्रतिबिम्बित है वह वृत्ति सुख के प्रतिबिम्ब के कारण सुखरूप भासती है। उस समय प्रतिबिम्बरूप सुख वाली हुई बुद्धि सुख के उस प्रतिबिम्ब के साथ ही लीन होती है। बुद्धि लीन हुई तो उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब भी अज्ञानरूप आनन्दमय के अन्दर लीन हुआ। इस तरह जो जगकर याद करता है वही सुषुप्ति में सोता है, उपाधि वही है, केवल घन और विलीन अवस्थाओं का अन्तर है।

इसलिये आनन्दमय कोश के बारे में दो प्रकार के विचार हैं। एक मानना है कि 'आनन्दमय' शब्द में 'मयट्'-प्रत्यय विकारार्थक है अतः आनंदका विकार आनन्दमय है। इसलिये आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, जो आनंदमय का अधिष्ठान कहा गया है, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा', वह अधिष्ठान तत्त्व ही ब्रह्म है। प्रधान अर्थ यही है। दूसरा अर्थ है कि आनंदमय उपास्य ब्रह्म है। इस पक्ष में मयट् को विकारार्थक न लेकर प्राचुर्यार्थक लेते हैं अर्थात् आनंद से भरा हुआ। प्रारम्भ में कहा था कि आनंद से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, आनंद में ही स्थित और लीन होता है। उपाधि के सहारे सृष्टि आदि करने वाले के स्वरूपभूत निर्विशेष आनंद को बतलाने के लिये, 'यो वै भूमा तत् सुखम्' बतलाया। आनन्द से सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई है इसलिये माया उपाधि वाला ब्रह्म समझा जाता है। अंतःकरण की लीनावस्था हुई अज्ञान, अतः उस अज्ञान से विशिष्ट ब्रह्म की बात यहाँ संगत है।।। ६४।।

सुषुप्ति में सुख का अनुभव उपपन्न करते हैं—

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः।। ६५।।

अन्तर्मुख वृत्ति के संस्कार वाला आनन्दमय सुषुप्ति में चेतन के आभास वाली अज्ञान से उत्पन्न वृत्तियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूपभूत सुख का भोग करता है।

सोने से ठीक पूर्व बुद्धिवृत्ति सारे बाह्य व्यवहार छोड़कर अन्तर्मुख होती है और उसमें आनन्दरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है अतः वह वृत्ति सुखाकार होती है। वह अज्ञान में लीन होती है तो सुख का ही संस्कार लिये हुए लीन होती है। आनन्दमय उसी सुख-संस्कार वाले अज्ञान से उपहित होता है। वहाँ आनंद तो स्वरूप है जिसे अविद्यावृत्ति से ग्रहण करता हुआ आनन्दमयरूप विलीन विज्ञानमय है। इसलिये जीव तब ब्रह्मसुख का भोग करता समझा जाता है। यद्यपि विज्ञानमय की उपाधि घनीभूतरूप में नहीं इसलिये जीव की सत्सम्पत्ति है तथापि विज्ञानमय विलीन ही सही परन्तु उपस्थित तो है ही इसलिये सुषुप्ति है अवस्था जीव की है।

किससे भोग करता है जो बुद्धि अज्ञानावस्था में है उस अज्ञान से उत्पन्न वृत्तियों से आनंदभोग होता है। वृत्तियाँ या तो प्रतिक्षण नई बनती हैं यह मानकर बहुवचन है। अथवा, आनंद एकरूप ही है तो बार-बार वृत्तियाँ बनाने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिये यह मानें तो बहुवचन इसलिये है कि अज्ञान की तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं—एक साक्षी के आकार की वृत्ति, एक सुख के आकार की वृत्ति और एक अज्ञान के आकार की वृत्ति। इन तीन को विवरणकार आदि आचार्यों ने स्वीकार किया है। इसलिये अज्ञान से उत्पन्न वृत्तियाँ—यह बहुवचन है। ये वृत्तियाँ कैसी हैं? 'चिद्बिम्बयुक्ताभिः' उनमें चेतनरूप परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ ही रहा है, इसीलिये अज्ञान की वृत्तियों से सुख का भोग हो रहा है। अज्ञान की वृत्ति में सुख का प्रतिबिम्ब होने से उसका भोग हो रहा है।। **६५।।**

शंका होती है कि यदि अज्ञान की वृत्तियों के अंदर चिदाभास का प्रतिबिम्ब पड़कर आनंद होता है तो ज्ञान स्पष्ट ही होना चाहिये। जबकि वहाँ 'मैं सुख भोग रहा हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता। यह क्यों? इसका समाधान करते हैं—

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगा प्रवदन्ति हि।। ६६ ।।

अज्ञान की वृत्तियाँ सूक्ष्म होती हैं जब कि बुद्धि की वृत्तियाँ खास स्पष्ट होती हैं। ऐसा वेदान्तसिद्धान्त के पारंगत आचार्य साफ़-साफ़ कहते हैं। इसलिये (सौषुप्तानुभूति में स्पष्टता नहीं है)।

अज्ञान की वृत्तियाँ सूक्ष्म होती हैं इसलिये उनसे स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जिस साधन से हम ब्रह्म के आनंद को ले रहे हैं, वे साधन सुषुप्ति में सूक्ष्म हैं। जिससे स्पष्टता होती है उस बुद्धि की तब विलीनावस्था है इसलिये वहाँ स्पष्टता नहीं है। जाग्रत् के अन्दर बुद्धि आ जाने पर बुद्धिवृत्तियाँ स्पष्ट हो जाती हैं अर्थात् उनसे अनुभव स्पष्ट होता है। ठीक जिस प्रकार से सूक्ष्म महाभूत इंद्रियों का विषय होकर स्पष्ट नहीं होते, स्थूल महाभूत इंद्रियों के द्वारा स्पष्ट गृहीत होते हैं, इसी प्रकार से अज्ञान कारण होने से सूक्ष्म है, बुद्धि उसकी अपेक्षा स्थूल है, इसलिये अज्ञान की वृत्तियों से भान स्पष्ट नहीं होता। शंका हो सकती है कि रस्सी में सर्प तो स्पष्ट भान होता है, वह भी अविद्यावृत्ति से है? इस प्रसंग में यह समझना चाहिये कि सर्प और उसका अनुभव तो अविद्यावृत्ति से है, पर उस समय बुद्धि जग रही है। यदि बुद्धि जगती न हो तो 'यह' का ज्ञान न होवे। बुद्धि जग रही है इसलिये अज्ञानवृत्ति से भी स्पष्ट-जैसी अनुभूति हो जाती है। सुषुप्ति में बुद्धि जग नहीं रही है, इसलिये अज्ञानवृत्ति से आनंदानुभूति अस्पष्ट ही रहती है। 'विस्पष्टा' से यह कहना चाहते हैं कि जाग्रत् के भ्रमों में भी जैसे बाधदशा में रस्सी हमें विशेषकर स्पष्ट होती है, ऐसे भ्रमदशा में सर्प विशेषकर स्पष्ट नहीं होता। इसका अशय यह है कि अगर अन्य साधनों से भी उसका ग्रहण करते हैं तब ज्ञान में सफाई आती है। जैसे आम, सेब को देखते हैं तो आम का ग्रहण तो हुआ लेकिन स्पष्ट नहीं होता कि पका आम है या नहीं। हाथ में लेने से, सूँघने से साफ होता है।

'विस्पष्ट' का मतलब है कि जैसे आम के बारे में कई पहलुओं का ज्ञान किया जा सकता है ऐसे रस्सी में दीखते साँप को कई तरह से नहीं परख सकते। पास में जाकर छूओगे तो सचाई का पता चल जायेगा! इसलिये, आवाज़ करके चेष्टा करते हैं कि वह हिले, नहीं हिलने पर उसके साँप होने में सन्देह होता है। इसलिये विशेष स्पष्टता बुद्धिवृत्तियों में रहती है। अज्ञान की वृत्तियों में वैसी विस्पष्टता नहीं हो पाती। जाग्रत् में थोड़ी स्पष्टता का आभास होता है किन्तु वह भी इसलिये कि वहाँ बुद्धि जग रही है। वेदान्त का सिद्धांत जिन्होंने भली प्रकार से जान लिया, ऐसे प्रकाशात्मश्रीचरण आदि आचार्यों ने इसको स्पष्ट कर प्रतिपादित किया है कि सुषुप्ति में आनन्दानुभूति ऐसे ही होती है जैसे यहाँ सरलकर समझायी। ब्रह्मसूत्र के चतुःसूत्रीभाष्य की टीका के विवरण के बहाने सारे वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादक होने से प्रकाशात्ममुनि को इस सिद्धान्त में पारंगत कहना उचित है। उन्हीं के विवरण के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने समूचे भाष्य की विविध व्याख्यायें की एवं अनेक प्रकरण रचे।। ६६।।

आचार्यवचन ही नहीं, शास्त्र से भी यही समर्थित है यह सूचित करते हैं—

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम्।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता।। ६७।।

माण्डूक्य, नृसिंहोत्तरतापनीय आदि श्रुतिप्रसङ्गों में यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सुषुप्तिमें आनन्दमय भोक्ता है एवं ब्रह्मानन्द भोग्य है।

इस बात को अथर्ववेद की माण्डूक्य उपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषत् आदि विस्तार से कहती हैं। बृहदारण्यक में भी इसकी बात आती है। आनंदमय में भोक्तापना है, ब्रह्मानन्द वह है जिसका आनन्दमय भोग करता है। आनंदमय हो गया बुद्धि की विलीनावस्था वाला, उस उपाधि से वह जानता है और ब्रह्मस्वरूप आनंद को जानता है। सुषुप्ति में जो ज्ञान होता है उसमें परिच्छिन्नता का बोध नहीं है। परिच्छिन्नता नहीं है—यह नहीं कह रहे हैं किन्तु भोक्ता में परिच्छिन्नता का बोध होने के लिये अहंकारात्मिका बुद्धिवृत्ति अपेक्षित होती है। बिना इसके किसी परिच्छिन्नता का ज्ञान नहीं होता। 'मैं' होने पर ही जानने वाले में परिच्छिन्नता का बोध आता है। ऐसी बुद्धिवृत्ति सुषुप्ति में है नहीं इसलिये अपरिच्छिन्न आनंद ही वहाँ भोग्य है फिर भी वह परमपुरुषार्थ नहीं है।।६७।।

पूर्वोक्त माण्डूक्यवचन (५; नृ.४.१) का अभिप्राय व्यक्त करते हैं—

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः।
आनन्दमय आनन्दभुक् चेतोमयवृत्तिभिः।। ६८।।

प्रज्ञानघनरूपता को प्राप्त आनन्दमय सुषुप्तिमें स्थित एकीभूत हुआ चेतनाभासयुक्त वृत्तियों से आनन्द भोगने वाला बनता है।

श्रुति ने कहा है 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः' यह माण्डूक्योपनिषद् (एवं तापनीय) में कहा है। 'सुषुप्तस्थान' में स्थान अर्थात् अवस्था।

सामान्य भाषा में कह सकते हैं 'सुषुप्ति काल में।' वस्तुतः जाग्रत् का तो काल कह सकते हैं, क्योंकि तब काल के परिच्छेद का भान है। स्वप्न काल में भी परिच्छेद का भान है। ऐसे सुषुप्ति का काल नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ न देश के, न काल के परिच्छेद का भान है।

इसलिये श्रुति ने सुषुप्तस्थान कहा, यहाँ उसी को कह दिया 'सुषुप्तस्थः'। सुषुप्ति के अन्दर जो रहता है वह सुषुप्तस्थ हुआ। वही आनन्दमय है, आनन्दप्रचुर है आनन्द से भरा है। वहाँ दुःख का अनुभव नहीं है। 'आनन्दभुक्' अर्थात् स्वरूपभूत आनंद का भोग भी कर रहा है। उसे आनन्द का भान है। जैसे रसगुल्ले के भोग का मतलब है रसगुल्ले के स्वाद आदि का भान होना उसी प्रकार सुषुप्ति में आनंद का भान हो रहा है। किससे भान होता है? अज्ञान की वृत्तियाँ हैं जो प्रतिबिम्बित चेतन से भरी हैं, उनके द्वारा ही वहाँ भोग हो रहा है। जैसे बुद्धिवृत्ति में जब चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है तभी उस विषय का भोग होता है उसी प्रकार अज्ञान की वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है इसलिये सुख का, ब्रह्मानन्द का भान हो रहा है। किससे हो रहा है? जो सुषुप्तस्थ है, सुषुप्ति में स्थित है वही एकीभूत है। अज्ञान की वृत्तियाँ बनाते हुए भी वह आनंदस्वरूप से एक हुआ है। एकीभूत-शब्द को स्वयं अगले श्लोक में समझायेंगे। जो स्थूलरूपता, बुद्धिवृत्ति और मनोवृत्ति बनने से जाग्रदादि में हुई थी वह सुषुप्ति में नहीं है, एकमात्र आनंदमय ही है। प्रज्ञानघनता को प्राप्त हो चुका है। इस शब्द का श्लोक ७० में अर्थ बतायेंगे ही। प्रज्ञान हो गयी बुद्धि की वृत्तियाँ, वे वृत्तियाँ सुषुप्ति में अलग-अलग नहीं हैं, मानो सम्पिण्डित हो गई हैं। यह श्रुति ने कहा है।। ६८।।

'एकीभूत' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हैं—

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराऽधुना।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतण्डुलपिष्टवत्।। ६९।।

जो पहले विज्ञानमय आदि रूपों वाला था वह अब विज्ञानादि उपाधियाँ लीन होने से एक रूप वाला रह गया है जैसे बहुतेरे चावलों का पिसा लोंदा।

इडली बनाने के लिये चावलों को भिगो कर पीसते हैं। भात में तो चावल अलग-अलग दिखाई देते हैं परंतु इडली में ऐसे दिखाई नहीं देते, सब चावल एक हो जाते हैं। जैसे बहुत चावलों को पीस दो, उसी तरह जो जीवात्मा सुषुप्ति में जाने के पहले विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, इन्द्रिय-शरीर-आदिमय अर्थात् इन सब उपाधियों से युक्त था, उसके ये सब रूप अलग-अलग मौजूद थे, वही अब सुषुप्ति में केवल एकरूप रह जाता है मानो सारे रूपों को पीसकर एक पिंड बना दिया हो! बृहदारण्यक श्रुति ने कहा है 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमय-श्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः' जो आत्मा ब्रह्मस्वरूप है वही बुद्धि की उपाधि से विज्ञानमय, मन की उपाधि से मनोमय, प्राण की उपाधि से प्राणमय, इंद्रियों की उपाधि से आँख-कान-मय शरीर की उपाधि-से पृथ्वी-जल-वायु-आकाश-तेजोमय

जब अन्धकार देखता है तब अतेजोमय आदि है। अतेज—शब्द से अज्ञान भी समझ सकते हैं। हर चीज़ में कुछ कोटियों तक कार्य-कारणभाव समझ आने के बाद फिर हर जीव अज्ञानमय ही रह जाता है। हर चीज़ में एक हद के बाद कहना पड़ता है, 'मैं कुछ नहीं जानता।' जब अतेजोमय है तब काममय है। यह नियम है कि जब अज्ञान होता है तभी कामना होती है। जब कामना में रुकावट आती है तब क्रोधमय हो जाता है।

क्रोध से इच्छा की अपूर्ति का पता लगता है। भगवान् ने गीता में कहा है 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' साधकों में पदार्थों के प्रति वैराग्य प्रतीत होता है। पर जहाँ उनके मन का काम नहीं हुआ, वहीं उन्हें सामान्य संसारी से भी ज़्यादा क्रोध आता है! इस बात को पुराणों में इससे बतलाया गया है कि प्रायः परम तपस्वी क्रोधी हुए। भगवान् के बताये नियम से पता लगता है कि वे तपस्या किसी न किसी कामना की पूर्ति के लिए कर रहे थे। अतः साधक क्रोध की उपेक्षा न करे, उससे निश्चित जाने कि मन कामनाग्रस्त है। जब कामना नहीं है तब जीव अकाममय भी है, जब क्रोध नहीं है तब अक्रोधमय भी है। इस प्रकार जाग्रत् व स्वप्न में अनेक रूपों से युक्त था। उपाधियाँ और उनके विकारों में अभिमानी होने से ऐसे असंख्य उसके रूप थे।

इन सब रूपोंवाला होने में एक चीज़ ज़रूर रहती है, 'मैं' अर्थात् अहंकार, अभिमान। बाकी सब बदलते हैं पर 'मैं' हमेशा रहता ही है। इसीलिये कहा कि विज्ञानमय 'मुख्य' है अर्थात् वह इन सबका मुखरूप है। वह होगा तभी उसके साथ दूसरे रूप होंगे। जब सुषुप्ति आ गई, तब विज्ञानमय की जितनी उपाधियाँ थीं सब लय हो गयीं, एक-भाव को, एकाकार को प्राप्त हो गयीं। कैसे? दृष्टान्त दिया कि बहुत से चावलों को पीसने पर जैसे एक आटा रह जाता है।।। ६९।।

एकीभूत बता चुके। अब प्रज्ञानघन-शब्दार्थ व्यक्त करते हैं—

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवन्।
घनत्वं हिमबिन्दूनाम् उदग्देशे यथा तथा ।।७०।।

पहले अर्थात् जाग्रदादि में प्रज्ञान अर्थात् जो बुद्धिवृतियाँ थीं वे अब, सुषुप्ति में एक 'घन', चेतनरूप मूर्ति ही रह जाती हैं जैसे उत्तर देश में हिम की बूँदें धरती पर पड़कर घनीभूत हो जाती हैं।

दृष्टान्त दिया 'उदग्देशे'; इसके दो अर्थ हो सकते हैं। उत्तर को भी उदक् कहते हैं और पानी को भी उदग् कहते हैं। अगर बर्फ गिरती है पानी में तो पानी में मिलकर एक हो जाती है। यह बर्फ का पानी, वह दूसरा पानी—ऐसा अन्तर तो रह नहीं जाता। अथवा, उत्तर में हिमालयादि में हिमपात होता है, तो लगते हैं अलग टुकड़े हैं या बूँदें पड़ी हों परंतु गिरते ही वे जम कर एक बड़ा पिण्ड हो जाता है, हिमबिन्दु ही घन बन जाते हैं। इसी प्रकार से 'पुरा' अर्थात् जाग्रत् के अंदर जो बुद्धिवृत्तियाँ अलग-अलग थीं वे 'अथ' अब एक हो जाती हैं। हमेशा बुद्धिवृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब रहेगा ही। सुषुप्ति काल में चूँकि घटादि पदार्थ

रह नहीं गये, इसलिये बुद्धिवृत्तियाँ 'घन' मानों सम्पिण्डित हो जाती हैं। कोई चीज़ विषय होने वाली वहाँ रहती नहीं। इसलिये एकमात्र आनंद के प्रतिबिम्ब वाला आनन्दमय हो जाता है। वहाँ केवल ब्रह्मानंद ही है जिसे विषय किया जा सकता है। विषयभेद न होने से वहाँ वृत्तियाँ अलग-अलग प्रतीत हो नहीं सकतीं। जितना भी सुषुप्ति का अवस्थान था, उस सब में केवल सुख का ही भान रहता है, और कोई भान नहीं रहता। वहाँ अगर अज्ञान की वृत्तियाँ थीं भी तो उनका अलग-अलग भान नहीं था इसलिये कहा प्रज्ञानघनता को वृत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।। ७०।।

प्रज्ञानघन वस्तु के बारे में और समझाते हैं—

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ।। ७१।।

प्रज्ञान की घनरूपता जो साक्षिता है उसे सामान्य लोग और तर्कशास्त्री दुःख का अभाव कहते हैं क्योंकि सारे दुःख विलुप्त हो चुकते हैं।

यह जो प्रज्ञानघनता की प्राप्ति हो जाना है, एक ही बन जाना है, यही साक्षिभाव है। प्रज्ञानघनता ही साक्षिभाव है। अलग-अलग विषयों की प्रतीति नहीं, सारे ही विषयों की एकमात्र ज्ञानरूप से प्रतीति ही साक्षिभाव है। घटपटादिविषयक सारे ज्ञान साक्षी के लिये एक जैसे ही विषय हैं। इस बात को न समझने के कारण साधारण आदमी समझता है कि साक्षी सर्वज्ञ है तो उसे चीज़ों का अलग-अलग पता होना चाहिये किन्तु चीज़ों का अलग नहीं, ज्ञानरूप से सबका पता रहता है। जो चीज़ ज्ञातरूप से सामने नहीं आयी उसका अज्ञानरूप से पता रहता है। यही साक्षिभाव है, प्रज्ञानघनता है। क्योंकि सुषुप्ति के समय दुःख नहीं है इसलिये लोगों को भ्रम होता है कि साक्षी भी कुछ है नहीं। कहते तो हैं कि दुःख का भान नहीं है। उसका ही स्मरण भी मानते हैं। फिर भी जिसे दुःख का भान नहीं अर्थात् अज्ञातरूप से दुःख जिसे भास रहा है उसे नकारते हैं। यही सामान्य लोगों की नासमझी है। लौकिक पुरुष कहते हैं कि सुषुप्ति में दुःख नहीं है, बस। 'साक्षी है' ऐसा नहीं कह पाते। तार्किक लोग वहाँ दुःखाभाव ही है, सुख नहीं है, इस प्रकार सुख का भी अभाव प्रतिपादित करते हैं। वेदान्ती कहता है कि जहाँ द्वैत होता है, वहीं दुःख होता है। अद्वैत हमेशा सुखरूप ही है। तार्किक दुःख और सुख दोनों को द्वैत से ही समझता है क्योंकि वह आत्मा की आनंदरूपता और ज्ञानरूपता को नहीं जानता। वह कहता है आत्ममनःसंयोग से ज्ञान, सुख आदि होते हैं। इसलिये तार्किक द्वैत से ही सुख-दुःख मानता है। क्योंकि वेदान्ती के अनुसार द्वैत से दुःख ही होगा इसलिये वेदान्ती कहेगा कि दुःख के कुछ रूपों को तार्किक सुख की संज्ञा दे देते हैं!

रसगुल्ला मिलने के पहले भी सुख नहीं है और रसगुल्ला छिन जाये तो भी सुख नहीं है। यह सब स्वीकारते हैं। वेदान्ती इससे समझ लेता है कि बीच में वह दुःखरूप ही है क्योंकि आदि और अन्त में जो दुःखरूप है वह मध्य में भी दुःखरूप ही है। बच्चा पैदा नहीं हुआ तो दुःख रहा। दो साल बाद पैदा हुआ तो सुख हुआ। फिर दो साल बाद मर गया

तो दुःख हुआ। अतः मध्य काल भी दुःख का ही है यह वेदान्ती की सोच है। द्वैत से होने वाला सुख भी दुःख की ही जाति का विशेष है। इसलिये भगवान् ने गीता में इस बात को स्पष्ट कहा कि सारा संसार 'दुःखालय', 'असुख' है। इस संसार में रह कर किसी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। वैकुण्ठ तक चले जाओ तो भी सुख है नहीं। जहाँ तक द्वैत की प्रतीति है, लोक है, वहाँ तक सब दुःखरूप ही है। द्वैत की निवृत्ति में ही आनंदरूपता है। परन्तु तार्किक सिद्ध करता है कि अद्वैत में सुख नहीं है क्योंकि जब द्वैतरूप आत्ममनःसंयोग आवे तभी सुख हो सकता है। 'प्रचक्षते' बड़े ऊहापोह से सिद्ध ऐसा करता है कि वहाँ केवल दुःखाभाव है। सारी दुःख-वृत्तियों का वहाँ विलोप हो जाता है इसलिये दुःखाभाव ही है, कोई सुख नहीं है। यदि प्रश्न करो कि जैसे दुःख वहाँ विलुप्त है इसलिये 'सुख था' यह भ्रम होता है वैसे सुख भी तो विलुप्त है तो 'वहाँ बड़ा दुःख था' ऐसा भ्रम क्यों नहीं होता? तो कोई सन्तोष-जनक उत्तर उनके पास नहीं। तार्किक वहाँ दुःखाभाव ही मानते हैं, आनन्द का भोग होता है—इस बात को नहीं मानते। प्रज्ञानघन का प्रसंग था अतः समझाया कि वही साक्षी की स्थिति है। सुषुप्ति साक्षी से ही भास्य है, प्रमाता वहाँ लीन हो चुकता है अतः उसे सुषुप्ति का प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि अनुभूयमान अवस्था है इसलिये साक्षी अपलापयोग्य नहीं यह बताने के लिये तार्किकों की मान्यता का भी निरास कर दिया। घनीभूत अवस्थामें जो साक्षी वही बिखरी अवस्था में प्रमाता भी प्रतीत हो जाता है। क्योंकि प्रमातृत्व औपाधिक है इसलिये साक्षी बना रहते ही प्रमाता भी बन जाता है। इस प्रकार सुषुप्ति-श्रुति के एकीभूत और प्रज्ञानघन शब्दों का अर्थ बताया।। ७१।।

श्रुति में एक शब्द 'चेतोमुखः' भी है। श्लोक ६८ में 'चेतोमयवृत्तिभिः' से इसी का अनुवाद किया था। अज्ञान की वृत्तियों से आनन्द का वहाँ भोग होता है। चेतन को हमेशा भोग के लिये कोई-न-कोई साधन चाहिये। चाहे क्रिया हो या भोग हो अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व रहेंगे किसी-न-किसी उपाधि में। पर उपाधि को कर्त्ता-भोक्ता बनाने के लिये चेतन का प्रतिबिम्ब अपेक्षित है। जाग्रत् में तो इंद्रियों की वृत्ति से क्रिया और भोग होते हैं। स्वप्न में मन की वृतियों से भोग आदि होता है। सुषुप्ति में अज्ञान की वृत्ति से भोग होता है। होता है चेतन से सम्बद्ध होकर ही। क्योंकि जड और चेतन का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता इसलिये यह आविद्यिक सम्बन्ध होता है। अब 'चेतोमुख' शब्द का स्वयं व्याख्यान करते हैं—

अज्ञानबिम्बिता चित् स्यान्मुखमानन्दभोजने।
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा।। ७२।।

सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का स्वाद लेने के लिये अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन ही मुख अर्थात् साधन बनता है। फिर कर्म से प्रेरित जीव चखे ब्रह्मानन्द को भी छोड़कर उस अवस्था से बाहर निकल आता है।

जैसे अंधकार में प्रतिबिम्बित चेतन जाग्रत्-स्वप्न का भोग करता है वैसे ही सुषुप्ति में अज्ञान के अंदर जो प्रतिबिम्ब पड़ा है, वही मुख है, द्वार है जिसके द्वारा आनन्दमय भोग

करता है, आनंद का भोजन करने में, भोग करने में समर्थ होता है। जाग्रत् व स्वप्न के अंदर सुख और दुःख का भोग है। सुषुप्ति के अंदर ब्रह्मानंद का ही भोग है। ब्रह्मानंद का भोग अज्ञान की सूक्ष्म अवस्था के कारण स्फुट नहीं होता इसलिये सुषुप्ति की कीमत सबको पता नहीं लगती भले ही है वहाँ ब्रह्मानन्द। इसमें एक कारण तो है अज्ञान की सूक्ष्मता (श्लोक ६६), दूसरा कारण है अभ्यास; हमको बुद्धिवृत्ति से भोग करने का इतना अभ्यास है कि जहाँ बुद्धिवृत्ति नहीं होती वहाँ का भोग, भोग ही नहीं लगता। जैसे जिन लोगों को मसाले खाने की आदत होती है वे हर सब्जी का जो अपना स्वाद है उसे पहचान ही नहीं पाते। यदि टींडा उबाल कर दे दो तो कहेंगे कि बेस्वाद है, उसका निजी स्वाद उनकी जीभ पकड़ नहीं पाती क्योंकि उनको हल्के स्वाद को ग्रहण करने का अभ्यास ही नहीं है। पर जिनको बिना मसाले की सब्जी का स्वाद भा जाता है वे उसके स्वाद से प्रसन्न होते हैं। साग का स्वाद मसालों से दबा रहता है, नमक भी जब नहीं खाने का अभ्यास हो जाता है तब साग का स्वाद स्पष्ट होता है। जाग्रत् के भोगों में जिस चीज़ का अभ्यास है वह भोग के लायक लगती है अन्य नहीं। चूँकि जाग्रत्-स्वप्न में हमें बुद्धिवृत्ति के भोग का अभ्यास है, इसलिये अज्ञानवृत्ति का भोग स्वादरहित लगता है।

पहले तो अज्ञानवृत्ति सूक्ष्म और फिर उसका अभ्यास नहीं। योगानन्द प्रकरण में यह बतायेंगे कि कैसे धीरे-धीरे अभ्यास से ब्रह्मानन्द के रस का आस्वाद संभव होता है। ब्रह्मानन्द भोग किया सुषुप्ति में लेकिन छोड़कर बाहर की तरफ़ अर्थात् अज्ञान से बाहर स्वप्न या जाग्रत् में आता है। किससे? अपने पहले के किये कर्म जीव को उस ब्रह्मानन्द सुख से हटाते हैं। अपनी तरफ से नहीं हटता है परन्तु कर्मों का वेग उसको हटाता है।। ७२।।

कर्म से सुषुप्तिभंग को कैवल्योपनिषत् (१.१४) से समर्थित करते हैं—

कर्म जन्मान्तरेऽभूद् यत् तद्योगाद् बुध्यते पुनः।
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः।। ७३।।

अन्य जन्मों में जो कर्म सम्पन्न हुए थे उनके सम्बन्धवश फिर जगता है—यों कैवल्यनामक शाखा में जगना कर्मजन्य कहा गया है।

कैवल्यशाखा में यह कहा है 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः'। जन्मान्तर के फलोन्मुख कर्म के संयोग अर्थात् संबंध से प्राणी जगता है। अर्थात् केवल इसी जन्म के हेतु होवें तभी जगे ऐसा नहीं है, जन्मान्तर के कर्म भी फल देने के लिये उठाते हैं। उपाधियों के बदलने से भी जीव वही रहता है। अज्ञान उपाधि वाला हो चाहे विज्ञानमय-मनोमय उपाधि वाला हो, उपाधियों के बदलने से भी जीव वही रहता है। जो सोता है वही जगता है। जन्मान्तर में या यहाँ भी जो कर्म किया गया उस कर्म का सम्बन्ध हमेशा ही संस्काररूप से अज्ञान में बैठा रहता है अतः योग से या तो गीताभाष्योक्त (७.२६) रीति से 'युक्तिः, घटनम्' अर्थ समझ सकते हैं कि कर्म यह घटित कर देते हैं कि जीव जग जाता है अथवा कर्म से कर्म का फलकाल समझकर उसका सम्बन्ध योग-शब्द से कहा समझ सकते हैं। हर

हालत में कर्म का फल भोगने के लिय ही जीव उठता है। कैवल्य शाखा की उपनिषद् के अंदर कहा है कि कर्म के कारण फिर जाग्रत् अवस्था होती है, जीव जाग्रत् में आता है।। ७३।।

सुषुप्ति में आनन्द के भोग में जाग्रत् का अनुभव भी संवादी दिखाते हैं—

कञ्चित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना।
अनुगच्छेद् यतस्तूष्णीम् आस्ते निर्विषयः सुखी।। ७४।।

जगे हुए में कुछ समय तक ब्रह्मानन्द का संस्कार अनुवृत्त रहता है क्योंकि (जगकर कुछ काल तक) बिना किसी विषय के व्यक्ति चुपचाप सुखी पड़ा रहता है।

जगने पर झट से उठ बैठे ऐसा प्रायः व्यक्ति नहीं करता, थोड़ी देर तक वैसे ही पड़ा रहता है। वहाँ कोई विषय-सुख तो है नहीं पर सुख की खुमारी है। अल्प काल तक ही यह स्थिति रहती है। जो ब्रह्मानन्द सुषुप्ति में अनुभव किया था उसके सुख का संस्कार ही तब सुख देता है। जिस प्रकार रसगुल्ला गले से नीचे उतर गया, फिर भी थोड़ी देर तक मुँह में उसका संस्कार बना रहता है, मज़ा आता रहता है वैसे नींद के सुख का भी रहता है। जब भोग्य सामग्री न रह जाये, परन्तु उस से हुआ सुख रहे तब उसे संस्कार या वासना कहते हैं। उठने पर अज्ञान की वृत्तियाँ तो नहीं हैं, इसलिये ब्रह्मानन्द नहीं है, पर उसी अज्ञान से बना जो विज्ञानमय और मनोमय, उसके अंदर उस आनंद की वासना है, संस्कार है। इसलिये थोड़े समय तक सुख बना रहता है। इसमें प्रमाण यही है कि तब 'निर्विषयः सुखी' बिना किसी विषय के सुखी रहता है। जाग्रत् काल में प्रायः बिना विषय के सुख का अनुभव नहीं होता। कोई विषय हो तभी सुख होता है। स्वप्न में बाह्य विषय नहीं है परन्तु मिथ्या विषय हैं। सुषुप्ति से उठने के बाद विषय का सुख तो कुछ नहीं है पर व्यक्ति अपने को दुःखी नहीं पाता है इसलिये मज़ा लेने के लिये चुपचाप पड़ा रहना चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि तब ब्रह्मानन्द की वासना है। यही वासनानन्द कहलाता है। विषय से सुख होने पर विषयानन्द है। ब्रह्मानन्द ग्रहण हो तो ब्रह्मानन्द है; जहाँ विषय भी नहीं हैं और ब्रह्मानन्द भी ग्रहण नहीं हो रहा है वहाँ उसकी वासनामात्र है इसलिए इसे वासनानन्द कहते हैं।।७४।।

इतना महान् आनन्द आता है तो थोड़ी ही देर क्यों उसे लेता है, लगातार क्यों नहीं आस्वादन करता? इसका उत्तर देते हैं—

कर्मभिः प्रेरितः पश्चाद् नानादुःखानि भावयन्।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः।। ७५।।

कुछ क्षण बाद फलदानोत्सुक कर्मों से प्रेरित हुए, विविध दुःखों को सोचते हुए, धीरे से ब्रह्मानन्द को ये सभी प्राणी भूल जाते हैं।

जिन कर्मों ने सुषुप्ति से उठाया था वे कर्म फिर बहिर्मुख होने को प्रेरित करते हैं तब उठ बैठता है। विविध दुःख उपस्थित होते हैं—समय का ख्याल आता है, अनेक कार्य याद आते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं के दुःख प्रकट होते हैं। दिन-भर की बातों का अनुसंधान होता है। उसके कारण दुःख होता है तो ब्रह्मानन्द की वासना क्षीण होती है। जैसे रसगुल्ले का स्वाद मुँह में बचा है, उसी समय अचार मुँह में लगा लो तो मिठास तुरन्त ख़त्म हो जाती है, वैसे कर्मों के द्वारा दुःख का अनुभव करने से वासनानन्द ख़त्म हो जाता है। इस तरह सभी लोग ब्रह्मानन्द को धीरे-धीरे भूल जाते हैं। अतः लंबे समय रसास्वाद संभव नहीं, यह भी कर्मों का ही प्रभाव है।। ७५।।

सुषुप्ति में निर्विषय सुख निर्विवाद है यह निर्णय देते हैं—

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने।
ब्रह्मानन्दे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन् विवदेत कः।। ७६।।

प्रतिदिन सोने से पूर्व तथा जगने के बाद सभी को नींद के प्रति स्नेह अनुभूयमान है अतः प्राज्ञ सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द में रहता है इसमें कौन विवाद कर सकता है!

निद्रा से पहले, जिन चीज़ों को हम निद्रा लाने में सक्षम समझते हैं जैसे कोमल बिछौना, पंखा चलाना, मच्छरदानी लगाना आदि जिन चीज़ों से निद्रा आयेगी ऐसा मानते हैं, उनका इन्तजाम करते हैं। निद्रा के प्रति पक्षपात है तभी इतनी मेहनत करके यह तैयारी करते हैं। हम जाग्रत् में हैं पर निद्रा के लिये चेष्टा कर रहे हैं! इसी प्रकार 'ऊर्ध्वमपि' जगने पर भी थोड़ी देर उस आनंद में रहते हैं, उसे एकाएक छोड़ने का उत्साह नहीं होता। निद्रा के पहले और बाद में भी रोज़ ही इस निद्रा के प्रति पक्षपात है इसको देख कर, ब्रह्मानन्द का अनुभव सुषुप्ति में होता है, इसमें विवाद कौन करेगा? अर्थात् इस विषय में विवाद करना अनुभवविरुद्ध है। ।। ७६।।

यदि सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है, तो जो जितना आलसी है क्या वही अधिक ठीक है? इस प्रश्न को उठाते हैं—

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद् भाति लौकिकाः।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणाऽत्र किम् ।।७७।।

यदि (जगते ही) चुपचाप पड़े रहने में ब्रह्मानन्द भासता हो तो सांसारिक आलसी लोग पुरुषार्थ पा जायें, पुरुषार्थ-प्राप्ति में गुरु व शास्त्र का क्या उपयोग रहेगा!

नींद से उठने पर जब व्यक्ति चुपचाप स्थित है तब ब्रह्मानन्द का भान है तो क्या सोना या जगकर पड़े रहना पुरुषार्थ माना जाये? लौकिक कार्यों को करने के लिये लौकिक लोग प्रवृत्त होते हैं तो उन्हें उठना पड़ता है किन्तु विलम्ब से उठते हैं। शास्त्रीय लोग बढ़िया नींद आने पर भी मानते हैं कि सुबह चार बजे बिछौना छोड़ देना चाहिये। यदि वहाँ ब्रह्मानन्द ले रहे हैं, तो क्यों छोड़ें? लौकिक लोग सांसारिक कार्यों के लिये छोड़ें भी पर शास्त्रीय लोग

ब्रह्मानन्द और वासनानन्द छोड़कर पूजा, अर्चना, अग्निहोत्र आदि क्यों करें? ब्रह्मानन्द या वासनानन्द में ही क्यों न रहें? शास्त्रीयों से तो लौकिक लोग ठीक हैं क्योंकि देर तक सोते हैं! लौकिकों में भी आलसी ज़्यादा सोयेंगे तो और बेहतर हैं क्योंकि ऐसे लोगों को ब्रह्मानन्द का वासनानंद हो ही रहा है। जब इतने से ही काम हो जायेगा तो गुरु के पास जाओ, सेवा करो इत्यादि सब क्यों विधान किया गया है? शास्त्र-श्रवण आदि की भी क्या ज़रूरत है जब ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सुषुप्ति में हो ही रही है। न शास्त्र से प्रयोजन रहेगा, न गुरु से प्रयोजन रहेगा, श्रवण आदि सब व्यर्थ ही सिद्ध होंगे यदि ब्रह्मानन्द के अनुभव को तूष्णीं स्थितिमात्र से ही प्राप्त मान लेंगे। जब कभी सुषुप्ति की महत्ता बताई जाती है तब लोग प्रायः ऐसी शंका करते हैं ।। ७७।।

आचार्य उक्त शंका का समाधान करते हैं—

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत् कृतार्थास्तावतैव ते।
गुरुशास्त्रे विनात्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ।। ७८।।

ठीक है, यदि 'ब्रह्म' ऐसा जानें तो इतने से ही वे कृतकृत्य ही हैं; किन्तु गुरु व शास्त्र के बगैर अत्यन्त गंभीर ब्रह्म को कौन जानता है!

ब्रह्मानन्द बंधन की निवृत्ति का कारण नहीं है, ब्रह्मानन्द का ज्ञान संसार की निवृत्ति का कारण है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिये। ब्रह्म संसार को पुष्ट करने वाला है, संसार की निवृत्ति का कारण नहीं है। भगवान् संसार को उत्पन्न करते हैं, स्थित रखते हैं। इसलिये भगवान् संसार को चलाने वाले हैं, संसार को सर्वथा निरस्त करने वाले नहीं हैं। संसार को ख़त्म करने वाली चीज़ परमात्मा का ज्ञान है, परमात्मा नहीं। जैसे रस्सी में तुम को साँप आदि दिखाई देते हैं। रस्सी सर्प इत्यादि को तो नहीं हटाती! रस्सी का ज्ञान ही उन सब को हटाता है। अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यस्त की निवृत्ति होती है, अधिष्ठान तो अध्यस्त को समर्थित करता है, पुष्ट करता है। 'बाढं' अर्थात् बात जो कहते हो यह ग़लत नहीं है परंतु 'वह ब्रह्म है'—इस बात का यदि ज्ञान होता, तब यह लाभ होता। उतने से ही कृतार्थ हो जाओगे। संसार की निवृत्ति के लिये ज्ञान के अलावा और कुछ नहीं चाहिये; कर्म, उपासना किसी का समावेश मोक्ष के लिये नहीं है। वे साधन ज्ञान की उत्पत्ति के लिये तो सहायक होते हैं पर मोक्ष केवल ज्ञान से ही होता है। इसलिये कहा कि अगर ब्रह्मज्ञान हो तो पर्याप्त है। जो ब्रह्मानन्द सुषुप्ति का है उसको यदि तुम जान लो कि वह ब्रह्म-स्वरूप है तो कृतार्थता है ही। गुरु की सेवापूर्वक शास्त्र का श्रवण करके, संशय हटाकर मनन करके जब तक उसमें स्थिर नहीं हो जाते तब तक ब्रह्म जाना जाता नहीं है। ब्रह्म अत्यंत गम्भीर है। उसे प्राप्त करना, समझना कठिन है क्योंकि वह मन-वाणी से नहीं समझा जा सकता। जो अत्यंत गम्भीर सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वान्तर ब्रह्म है उसे स्वयमेव तो कौन जानता है! इसलिये गुरु व शास्त्र के बिना इसका ज्ञान सम्भव ही नहीं है। ।।७८।।

यहाँ 'ज्ञान' से आपात बोध नहीं दृढ साक्षात्कार अभिप्रेत है यह बताते हैं—

जानाम्यहं त्वदुक्त्याऽद्य कुतो मे न कृतार्थता।
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित्।।७६।।

(वादी कहता है) आपके बता देने से मैं अब (सौषुप्त सुख को ब्रह्म) जानता ही हूँ तो मैं कृतार्थ क्यों नहीं हूँ? (सिद्धान्ती कहता है) तुम्हारे इस कथन पर तुम जैसे किसी पण्डितम्मन्य का वृत्तान्त सुनो।

वादी कहता है, 'आपने कहा कि सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द है, बस हमने जान लिया। फिर भी मैं कृतार्थ क्यों नहीं हो गया?' सिद्धांती ने कहाः सुनो, तुम्हारी तरह की जानकारी कैसी होती है इस में दृष्टान्त देते हैं। तुम्हारी ही तरह कोई था जो कुछ न जानते हुए भी स्वयं को महान् पण्डित समझता था। उसकी उस 'जानकारी' से केवल जगहँसायी मिली, लाभ कोई नहीं हुआ। अगले श्लोक में दृष्टांत बता रहे हैं ।।७६।।

पूर्वसूचित वृत्तान्त सुनाते हैं–

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ।। ८०।।

'चारों वेदों के जानकार को बहुतेरा धन दिया जायेगा' सुनकर प्राज्ञंमन्य बोला, 'वेद चार हैं यह जानता हूँ, मुझे धन दिया जाये'!

किसी ने कहा कि 'चारों वेदों को जो जानता है उसे मैं दस करोड़ रुपए दूँगा।' यह सुनकर कोई बोला 'मैंने जान लिया कि वेद चार होते हैं इसलिये मुझे ही वह धन दे दीजिये'! जैसे यह कहने वाला मूर्ख ही है वैसे बात-चीत से सौषुप्त सुख को ब्रह्म जानने वाला भी मूर्ख ही है।।८०।।

दोनों में समानता समझाते हैं–

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ।।८१।।

यदि कहो कि दृष्टान्त में आया व्यक्ति वेदों की संख्या ही जानता है, सारे वेद नहीं, तो ऐसे ही तुम (वादी) भी समग्र ब्रह्म नहीं ही जानते हो।

उक्त प्राज्ञंमन्य ने तो केवल वेदों की संख्या जानी कि वेद चार हैं। पूरी तरह से वेदों का जो विषय है वह तो समझा नहीं इसलिये उसको धन नहीं देना ठीक है, तो वादी भी वैसा ही है क्योंकि निश्चित रूप से ब्रह्म को पूरी तरह से नहीं जानता। ब्रह्म जैसा है वैसा नहीं जानता है ।।८१।।

वादी सूक्ष्मेक्षिका करता है–

अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते।
अशेषत्वसशेषत्ववार्ताऽवसर एव कः।। ८२।।

(वादी पूछता है—) माया एवं उसके प्रभावों से रहित अखंड एकरस आनन्दरूप ब्रह्म के बारे में जानकारी सम्पूर्ण है या अधूरी—इस बात का मौका ही क्या है?

तार्किक कहता है कि ब्रह्म के अन्दर कोई खण्ड तो हैं ही नहीं तो 'सारे' ब्रह्म की बात कहाँ होगी? ब्रह्म एक ही है तथा अखण्ड और एकरस के अंदर स्वगतादि भेद नहीं हैं तो उसकी जानकारी अधूरी कैसे होगी? आनंदरूप जो ब्रह्म वह टुकड़ों वाला होता तो आधा-अधूरा जाना जा सकता था। भेदादि सब माया की रचना है। ब्रह्म माया और माया के कार्यों से रहित है। उसके बारे में यह कैसे कहा कि 'सारा नहीं जाना'? सारा और बाकी उसी के बारे में कह सकते हो जिसमें खण्ड होवें। अखण्ड के बारे में यह चर्चा नहीं बनती—यह वादी अपनी सूक्ष्मबुद्धि प्रदर्शित कर रहा है ।।८२।।

ब्रह्मज्ञान में भी पूर्णता, अधूरापन आदि होते हैं यह समझाते हैं—

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि।
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते सम्पाद्यत्वेन शिष्यते।।८३।।

(सिद्धान्ती कहता है—) शब्द ही पढ़ते हो या उनका अर्थ भी साफ़-साफ़ समझते हो? यदि शब्द ही पढ़ते हो तो उनका अर्थ जानना तुम्हारे लिये बाकी है।

ब्रह्म में शेष-अशेषता की बात नहीं है। तुमने अखण्ड, एकरस, आनन्द—आदि सब शब्दों को बाँच लिया है। क्या अखण्ड, एकरस शब्दों का कुछ अर्थ भी समझते हो? जैसे उसने केवल संख्या जानी थी, ऐसे ही तुमने ब्रह्म के बारे में कुछ शब्दों को सीख लिया है। बहुत-सी चीज़ों के लिये शब्द तो हम लोग जान लेते हैं पर जब तक उन्हें देखें नहीं तब तक अर्थबोध होता नहीं है। अनेक दवाइयों के नाम किताबों में लिखे हैं परन्तु वे क्या चीज़ें हैं—यह किसी को पता नहीं है! ऐसे ही वादी शब्द को तो जानता है लेकिन उसका अर्थ नहीं जानता। एकरस, अखण्ड, ब्रह्म—इन शब्दों को सीख लिया पर इनका अर्थज्ञान कुछ हो नहीं रहा। इसलिये उनके अर्थ का ज्ञान सम्पन्न करना तुम्हारे लिये अवशिष्ट है ।।८३।।

ज्ञानमात्र के बाद भी कार्य अवशिष्ट रहता है यह स्पष्ट करते हैं—

अर्थे व्याकरणाद् बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते।
स्यात् कृतार्थत्वधीर्यावत् तावद् गुरुमुपास्व भोः।। ८४।।

व्याकरण से अर्थ समझ लेने पर भी उसका साक्षात्कार (अपरोक्ष) बाकी रहता है। जब तक 'और कुछ कार्य नहीं रहा' ऐसा निश्चय न हो तब तक गुरु-उपासना करते रहो।

वादी कह सकता है कि खण्ड मायने टुकड़ा, जिसमें किसी भी टुकड़े का अभाव है वह

अखण्ड हो गया। यह तो सामान्य व्याकरणनियम से ही स्पष्ट है, इसमें जानना क्या? इसी प्रकार जो एक हो और रसरूप होवे वह एकरस है। व्याकरण आदि से ही जान लिया जाता है कि शब्द का अर्थ क्या। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि कुछ नहीं जाना! 'उसमें खण्ड नहीं' यह तो व्याकरण ने बताया लेकिन 'उसमें' अर्थात् किसमें? जिसमें खण्ड नहीं वह क्या है? व्याकरण से अर्थ को जान लेने पर भी उस चीज का साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान होना बाकी ही रह गया! जब साक्षात्कार होता है तभी कृतार्थता होती है। जैसे नारद ने कहा था 'तरति शोकम् आत्मवित्'। जब तुमको ब्रह्म का साक्षात्कार होगा तब कृतार्थता निश्चित हो जायेगी। यह कृतार्थता तब होगी जब साक्षात्कार होगा। 'मुझे कुछ नहीं चाहिये, नित्य-आनन्द का अनुभव है' जब तक ऐसा स्थायी अनुभव न हो जाये तब तक तुम गुरु-शुश्रूषा करो, गुरु का उपदेश सुनो। जब बार-बार श्रवण करोगे तभी सब संशय हटेंगे, निरन्तर चिन्तन तुम से सम्भव होगा। तभी अपरोक्ष दृढ होगा। जब तक कृतार्थता-बुद्धि नहीं होती है, तब तक ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यही ज्ञान की पहचान है। स्थिर निदिध्यासन पर्यन्त श्रवण-मनन की आवृत्ति कर्तव्य है।।८४।।

सम्बन्ध, जाति, गुण, क्रिया से रहित वस्तु का शब्द से तभी सम्बन्ध समझा जा सकता है जब वह प्रत्यक्ष हो जैसे देवदत्त आदि नाम और व्यक्ति का सम्बंध पता चलता है। ब्रह्म भी जब साक्षात् अपरोक्ष हो तभी अखण्ड आदि शब्दों का वह अर्थ है यह समझ आयेगा और वैसा अपरोक्ष कृतार्थता प्रदान करेगा ही। प्राप्तव्य, भोक्तव्य और कर्तव्य कुछ शेष न रहे क्योंकि आत्मेतर सभी मिथ्या प्रतीत हो, एकमात्र सत्य जो आत्मा वह प्राप्त के ही रूप में भासे, तब कृतार्थता कही जाती है। रति, तृप्ति, सन्तोष—सब आत्मा में ही होते हैं। सर्वथा निष्कामता से सब कर्मों से निवृत्ति हो जाती है। इस लाभपर्यन्त गुरुसेवा करते हुए श्रवणादि का आवर्तन ही साधन है। यह बात प्रसंगवश श्लोक ७७-८४ तक बतायी। वासनानन्द से सुषुप्तिगत ब्रह्मानन्द का समर्थन समझाया जा रहा था। उसी चर्चा का उपसंहार करते हैं—

आस्तामेतद् यत्र यत्र सुखं स्याद् विषयैर्विना।
तत्र सर्वत्र विद्ध्येतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम्।। ८५।।

इस बारे में और चर्चा रोकी जाती है। जहाँ-जहाँ बिना विषयों के सुख हो वहाँ सभी जगह ब्रह्मानन्द की इस वासना को समझो।

बीच में विषय-परिवर्तन हो गया था। वासनानन्द ही पर्याप्त है या सुषुप्ति का आनन्द ही पर्याप्त है, उसके अलावा किसी आनन्द के लिये साधना व्यर्थ है ऐसी शंका उठी तो समाधान करने लगे थे।

बात तो यह कह रहे थे कि ब्रह्म आनंदरूप है इसे सुषुप्ति के अनुभव से समर्थन मिलता है। वहाँ बिना किसी विषय के असीम सुख है जो आत्मा का ही होना संभव है। 'विषय' का यहाँ मतलब है पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि पदार्थों से जो चीज़ें निर्मित होती हैं। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श इनमें से तो कोई विषय वहाँ है नहीं जो सुख दे रहा हो। 'यत्र' अर्थात् जब, 'यत्र' अर्थात् जहाँ, तात्पर्य है कि सभी देशों-कालों में विषय है नहीं और

सुख का अनुभव हो रहा हो तो पूर्वोक्त न्याय ही लागू होता है। खाली सोकर उठते हैं तभी नहीं, ऐसी सभी परिस्थितियों के अन्दर जो सुख हो रहा है, उसको ब्रह्मानन्द की वासना जानो। प्रायः ऐसे समय जब सुख होता है तब उसकी तरफ ध्यान नहीं देते, उल्टा सोचते हैं कि कुछ करें। उस सुख की महत्ता को नहीं समझते। तूष्णींभाव में सुख से स्थित होने पर, हमेशा उसको समझो कि यहाँ विषयजन्यता है नहीं फिर भी 'मैं सुखी' यह भावना है। तब आत्मा 'मैं' इस वृत्तिभाव से आच्छादित है। जो ब्रह्मानन्द की वासना होगी उसके अंदर 'मैं' ज़रूर उपस्थित होगा। मैं के सिवाय और किसी चीज़ का भान नहीं, 'मैं सुखी' यही भान रहता है। इसे ब्रह्मानन्द की वासना जानो। जब ब्रह्मानंद का संस्कार पुष्ट होगा तब वृत्ति ब्रह्मानन्द की तरफ जायेगी। जिस चीज़ का अनुभव हुआ है, उसी की वासना होती है। गहरी नींद में ब्रह्मानन्द का अनुभव हुआ है, वहाँ अहंकार था नहीं, साक्षी अज्ञान की वृत्तियों के द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग कर रहा था। उठने पर अहंकार से अवच्छिन्न है। जिस अज्ञान की वृत्तियों से भोग किया था, उसी से बना यह अंतःकरण होने से उसमें उस आनन्द के संस्कार हैं अतः उसकी स्मृति 'मैं'वाले को आती है ।। ८५।।

आगे के विषय के स्पष्टीकरण के लिये श्लोक ५५ की बात याद दिलाते हैं—

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति।।८६।।

विषय मिलने पर भी उनके प्रति इच्छा का उपराम हो तब मनकी अन्तर्मुख वृत्ति में आनन्द की परछाँई पड़ती है।

विषय की, रसगुल्ले की इच्छा हुई। वह मिल गया। तब उस के प्रति इच्छा उपरत, पूरी हो गई। मन कामना के कारण बाहर जा रहा था, अब वापिस लौटता है तो अन्दर जो आनंद है वह उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। वही विषयानन्द कहलाता है।।८६।।

आनन्द के भेदों का संग्रह करते हैं—

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम्।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन।। ८७।।

ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और प्रतिबिम्बानन्द—इन तीन से अतिरिक्त इस जगत् में कोई आनन्द नहीं है।

ब्रह्मानन्द—जिसका सुषुप्ति में अनुभव होता है। वासनानन्द—जो तूष्णीं स्थिति में अनुभव होता है। प्रतिबिम्बानन्द—जो इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से, बुद्धि अंतर्मुखी होने पर होता है। ये तीन ही सुख हैं। इनको छोड़कर सारे जगत् में और कोई आनन्द नहीं है। शंका होती है कि श्लोक ११ में भी तीन आनंद कहे थे, श्लोक ६८ में 'निजानन्द' भी कहेंगे, श्लोक १२१ में एक 'मुख्यानन्द' बतायेंगे, प्रकरण १२ श्लोक ४ में 'आत्मानन्द', प्रकरण १३ में 'योगानन्द' और वहीं श्लोक १०५ में 'अद्वैतानन्द' का वर्णन आयेगा। इस से लगता है कि कुल नौ आनन्द

मान्य हैं। फिर 'तीन से अतिरिक्त नहीं है' कैसे कहा? समाधान है कि अन्यों का प्रतिबिम्बानन्द या ब्रह्मानन्द में अन्तर्भाव हो जाता है अतः तीन ही भेद हैं। विषय न होना ब्रह्मानन्द-वासनानन्द में समान है, प्रमाता न रहने और रहने का अन्तर है। प्रतिबिम्बानन्द अर्थात् आनन्दका प्रतिबिम्ब। वृत्ति में पड़ा प्रतिबिम्ब तीसरा आनन्द है। वृत्ति के निमित्तों के भेद से इसके अन्यान्य भेद हो जाते हैं। इस प्रकार अलग-अलग दृष्टियों से नामों में फ़र्क होने पर भी यहाँ जो तीन कहे, इनमें सब को इकट्ठा किया जाना संगत है।।८७।।

तीन आनन्दों में भी वस्तुतः आनन्द कहलाने वाला एक ही है यह समझाते हैं—

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ।। ८८।।

स्वयम्प्रकाश ब्रह्मानन्द ही विषयानन्द और वासनानन्द इन दोनों को पैदा करता रहता है।

प्रधानरूप से ये तीन ही आनन्द हुए—ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और विषयानन्द। ब्रह्मानन्द तो स्वप्रकाश है, वह किसी चीज़ पर निर्भर नहीं करता। बाकी आनन्दों को वही उत्पन्न करता है। जिस प्रकार गुड़, शहद, चीनी आदि सभी से चीज़ मीठी होती है परंतु इन सबका जो मिठास है, वह शर्करा का है। रासायनिक दृष्टि से कोयला, प्राण वायु और जल तत्त्व के निश्चित परमाणुओं का संगठित रूप शर्करा है। मिठास होता उसी का है। बाकी चीज़ों के मिले होने से स्वाद में अंतर हो जाता है। सभी नमकीन चीज़ों में असल स्वाद नमक का ही है। इसी प्रकार सारे आनन्द ब्रह्मानन्द के कारण ही हैं। शर्करा से चीज़ें मीठी होंगी पर शर्करा स्वतः मीठी है, उसके मिठास का कोई दूसरा कारण नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द का कोई कारण नहीं है। शर्करा का स्वाद 'स्वयंप्रभ' नहीं कहा जा सकता क्योंकि जीभ जब तक उसको न जाने तब तक मिठास का ज्ञान नहीं है! परंतु ब्रह्मानंद तब आनन्दस्वरूप होगा जब बुद्धिवृत्ति बने—ऐसा नहीं है। अतः वह स्वप्रकाश है। इसी के प्रकाश से दूसरे आनंद भी प्रकट होते हैं। जब दूसरा कोई नहीं रहता तब भी यह आनंद रहता ही है। बाकी दोनों आनन्दों को उत्पन्न करते हुऐ स्वयं स्थिर रहता है। ऐसा नहीं है कि विषयानन्द या वासनानन्द आया तो ब्रह्मानन्द में कमी हो जाये। वह तो स्थिरभाव से वैसा ही रहता है। जैसे कमरे में १०० वाट का या ५०० वाट का लट्टू जल रहा है, कमरे में १००० व्यक्ति प्रकाशित होवें तो भी लट्टू के प्रकाश में कोई बढ़ोतरी या घटोतरी नहीं आती। व्यक्तियों की संख्या में घटोतरी-बढ़ोतरी होने पर भी जैसे दीपक, प्रकाश जैसा है वैसा ही रहता है इसी प्रकार विषय एवं वृत्ति के होने-न होने, कम-ज़्यादा होने पर भी ब्रह्मानन्द वैसा ही रहता है। अंतःकरण की वृत्ति उसकी तरफ जाये तो वह प्रकाशित हो जाती है, वृत्ति यदि तूष्णींभाव में चली गई तो वासनानन्द प्रकट होता है। परन्तु ब्रह्मानन्द वैसा ही रहता है। जब ये सब नहीं हैं तब भी ब्रह्मानन्द वैसा ही रहता है। प्रतीयमान सर्वविध आनन्दों को उत्पन्न करते हुऐ वह एकरस रहता है। तार्किकों की शंका रहती है कि यदि उत्पन्न करता है तो उसमें ज़रूर कुछ परिणति होनी चाहिये क्योंकि जो पैदा करेगा उसमें भी कुछ न कुछ परिवर्तन आयेगा। वेदान्ती का समाधान है कि जो उत्पन्न हो रहे हैं वे मिथ्या हैं, नाम-रूप के द्वारा भासते हैं, मिथ्या

अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा प्रकाशित होते हैं। जैसे रस्सी में साँप या मरुभूमि में बड़ा तालाब उत्पन्न करने पर भी रस्सी या मरुभूमि में कोई परिवर्तन नहीं है वैसे आनन्द को उत्पन्न करने पर भी ब्रह्मानन्द में परिवर्तन नहीं है। अगर कोई सत्य चीज़ पैदा करे, तब कारण पर प्रभाव आयेगा परन्तु सत्य तो कुछ उत्पन्न करता नहीं! और मिथ्या उत्पत्ति से सत्य के अंदर कोई फ़र्क नहीं आता। इसलिये मिथ्यारूप से उत्पन्न करने वाला दीखने पर भी यह तो अपने स्वरूप में वैसा का वैसा स्थित रहता है। उत्पाद्य दोनों आनन्द कौन से? विषयानन्द और वासनानन्द। इस प्रकार से ब्रह्मानन्द की सिद्धि प्रत्येक प्राणी के अन्दर उसके अनुभव से करके दिखला दी ।।८८।।

अगले प्रसंग का उपक्रम करते हैं—

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके।
ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ।। ८९।।

वेद, युक्ति और अनुभूति से सुषुप्तिकाल में स्वयम्प्रकाश चेतनरूप ब्रह्मानन्द सिद्ध हो जाने पर अन्य समय में (ब्रह्मानन्द के अस्तित्वके बारे में) सुनो।

पहले श्रुति से ब्रह्मानन्द को सिद्ध किया। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति' यह कैवल्योपनिषत् का वचन है। इसी बात को युक्ति से भी सिद्ध किया कि 'मैं सुख से सोया था' यह स्मृति बन ही नहीं सकती यदि सुख से सो न रहा होऊँ। स्मृति की अन्यथानुपपत्ति-रूप युक्ति के द्वारा भी सुषुप्ति में नित्य ज्ञानरूप आनन्द सिद्ध किया। सुषुप्ति में होते सुखानुभव के द्वारा भी यही निर्धारित हुआ। श्रुति, युक्ति और अनुभव के द्वारा सिद्ध हुआ कि स्वप्रकाश चिन्मात्र ब्रह्मानन्द है। केवल 'स्वप्रकाश' कहते तो जड प्रकाश की सम्भावना रहती, इसलिये चिदात्मक भी कहा। अब बताना है कि उस ब्रह्मानन्द का जाग्रत् में कैसे अनुभव किया जाये। इस पर विचार करते हैं। सुषुप्ति में है यह समझने पर अन्यकाल में भी उसके अनुभव की बात उठती है। अन्य काल अर्थात् जागरण अवस्था में भी कैसे अनुभव होवे यह पहले समझना है। जाग्रत् में संस्कार होगा तो स्वप्न में भी अनुभव होने लगेगा, स्वप्न में जानने के लिये हम कोई अन्य प्रयत्न नहीं कर सकते, जाग्रत् के संस्कारों से ही स्वप्न में वैशिष्ट्य आता है। सुषुप्ति में स्वभाव से आनंद है, जाग्रत् में प्रयास से है और जाग्रत् में संस्कार दृढ हो जाने से स्वप्न में भी वैसा ही अनुभव होने लगता है। फिर सब समय इसका अनुभव बना रहता है।। ८९।।

सुषुप्ति वाले की ही बाकी भी दोनों अवस्थायें हैं यह बतला रहे हैं—

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम्।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ।। ९०।।

गहरी नींद में जो आनन्दमय है वह विज्ञानमयरूपता पाकर (उपाधि के रहने के) स्थानों के भेद से स्वप्न या जाग्रत् अवस्थाएँ प्राप्त करता है।

जो सुषुप्ति काल में आनन्दमय है, वह जब प्रबोध में आता है, जाग्रत् में आता है, तब विज्ञानमय और मनोमय हो जाता है। जैसे घी के घनीभाव और तरलभाव होते हैं वैसे अज्ञान और अंतःकरण होते हैं। यदि मनोमय प्रधान है तो स्वप्न होता है और विज्ञानमय प्रधान है तो जाग्रत् में जाता है। आनन्दमय ही जाग्रत् और स्वप्न में मनोमय-विज्ञानमय बन जाता है। कैसे बन जाता है? कहा, 'स्थानभेदतः' आनन्दमय जहाँ जाता है, उस स्थान के भेद से या मनोमय हो जाता है, या विज्ञानमय हो जाता है।। ९०।।

वे स्थान कौन-से हैं—

नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ।। ९१।।

नेत्र में रहने पर जागरण, कण्ठ में रहने पर स्वप्न और हृदयकमल में रहने पर सुषुप्ति होती है। (सामान्यतः तो) पैर से सिर तक शरीर में फैलकर चेतन उपस्थित होता है।

सुषुप्तिकाल में जीव हृदयकमल में रहता है। नाभि से एक बित्ते ऊपर मध्य में जहाँ तीव्र सुख या दुःख का अनुभव होता है उसी स्थान को हृदयकमल कहते हैं। वहीं जाने से सुषुप्ति होती है। जब कण्ठ में आ जाता है तब स्वप्न का अनुभव होता है एवं नेत्र में आता है तो जाग्रत् अवस्था हो जाती है। स्थानभेद हो गये—हृदय, कण्ठ और नेत्र। कण्ठ और नेत्र में मनोमय-विज्ञानमय रहेंगे और हृदय में आनन्दमय रहेगा। जाग्रत् अवस्था में तो पैर के तले से लेकर सिर के ऊपर के भाग तक सारे शरीर के अन्दर व्याप्त होकर चेतन जगता ही है। 'नेत्र में' कहने से कोई यह न समझ लेवे कि नेत्र में ही जगता है इसलिय कहा कि सारे शरीर में रहेगा। टीकाकार ने कहा है कि नेत्र की उपलक्षणा ही सारे शरीर में कर लेनी चाहिये। अथवा, एक 'चेतना' नामक वृत्ति है जो सारे शरीर में चेतन को प्रकट रखती है। जाग्रत् में यह प्राकट्य विशद होता है, स्वप्न में घटकर और सुषुप्ति में काफी कम होता है। बेहोशी आदि में प्रायः नहीं-सा रह जाता है। इससे अतिरिक्त विशेषतः आँख को व्याप्तकर प्रकट होने से जाग्रत् और कण्ठ को व्याप्तकर प्रकट होने से स्वप्न होता है, ऐसा भी समझ सकते हैं।।९१।।

सारे शरीर में व्याप्त रहता है, इसका आशय क्या? यह समझाते हैं—

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायःपिण्डवत् ततः।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते।। ९२।।

लोहे के तपे पिण्ड की तरह शरीर से चेतन तादात्म्य पाता है जिससे 'मैं मनुष्य' यों निश्चय किये ही रहता है।

शरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है, अर्थात् प्रतीति होती है कि 'यह शरीर मैं हूँ' जिस प्रकार से भ्रम में 'सर्प ही यह है' यों सर्प का और 'यह' का अभेदनिश्चय हो जाता है वैसे देह और अपना होता है। वस्तुतः 'यह' तो रस्सी है, भ्रम से निश्चय यह होता है कि यह सर्प ही है। शरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध का मतलब है 'मैं शरीर ही हूँ' ऐसा निश्चय

होना। आग से गर्म किये लोहे के बारे में ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'लोहा तो ठंडा है, उसके बीच में आग के कण गर्म हैं'। वरन् ऐसी प्रतीति होती है कि 'लोहा गर्म ही है।' इसी प्रकार शरीर के अंदर ऐसा नहीं होता कि शरीर-रूप उपाधि के कारण हमको चेतनता की प्रतीति हो रही है, वरन् निश्चय रहता है कि शरीर ही मैं हूँ। कोई मुक्का मारता है तो यही प्रतीत होता है कि मुझे मारा। तादात्म्य के कारण ही 'मैं मनुष्य हूँ,' यह निश्चय होता है। इस विषय में किसी प्रकार के संशय विपर्यय नहीं हैं। जितना भी शास्त्र कहें कि चेतन शरीर से भिन्न है, परंतु निश्चय यही रहता है कि मैं शरीर हूँ, मनुष्य हूँ ।।९२।।

देहतादात्म्य के अभिमान से त्रिविध स्थितियाँ बनती हैं यह बताते हैं–

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ।। ९३।।

(जिसे उक्त तादात्म्याध्यास है) वह ये तीन अवस्थाएँ पाता है–उदासीन, सुखी और दुःखी। सुख व दुःख कर्म के कार्य हैं, उदासीनता तो स्वभाव से है।

जब शरीर के साथ एक है, तब जीव की तीन अवस्थायें होती हैं। एक, उदासीन जब सुख-दुःख कुछ नहीं है, शांति है। इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो तो सुखी तथा अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने पर दुःखी होता है। इन दोनों के अभाव में उदासीन है। 'असौ' शरीर के साथ एक हुआ जो जीव है, शरीर में रहते हुऐ वह तीन तरह का अनुभव करता है–सुख का, दुःख का, और उदासीनता का। पहले किये हुऐ जो कर्म हैं, उनसे उत्पन्न होते हैं, सुख और दुःख। पुण्यकर्म सुख, पापकर्म दुःख देता है। सुख-दुःख कर्म से होते हैं। जब कोई कर्म फल नहीं दे रहा, उस समय उदासीनता रहती है जब न सुख है न दुःख है। कर्मफल न होने से उदासीनता स्वभाव से है अर्थात् सुख-दुःख तो कर्मों से होते हैं, उदासीनता के लिये कोई कारण नहीं है ।। ९३।।

सुख-दुःख के और भेद बताते हैं–

बाह्यभोगाद् मनोराज्यात् सुखदुःखे द्विधा मते।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत् तूष्णीमवस्थितिः ।। ९४।।

सुख एवं दुःख दो तरह के माने गये हैं–बाहरी भोग से तथा मनोराज्य से। सुख-दुःख के बीच में चुप्पी की (उदासीनता की) स्थिति होती है।

सुख-दुःख दो तरह के हैं–एक बाहरी भोग से। बढ़िया दाल का सीरा मिला तो बाह्य भोग से सुख हुआ। सिर फट गया तो दुःख हो गया। ये बाह्य भोग हैं। दूसरा प्रकार है मनोराज्य से सुख दुःख होना। 'ऐसा करूँगा वैसा हो जायेगा'–कल्पनाओं से भी भोग होते हैं। उन्हें मनोराज्य के सुखादि कहते हैं। बाह्य निमित्त से होने वाले को 'भोग' कहा, उसमें हम संसार के पदार्थों के अधीन हैं। पदार्थ मिलेंगे तो प्रारब्ध के अनुसार, उसमें हमारा स्वातंत्र्य नहीं है। हमें सुखादिका भोग करना पड़ता है पर मनोराज्य में मन स्वतंत्र है इसीलिये उसको मनोराज्य कहा 'मनोभोग' नहीं कहा। वहाँ किसी चीज़ का भोग होता नहीं है। स्वतन्त्र

होकर मन जैसा चाहे वैसी कल्पना करता है। फिर भी सुख-दुःख का अनुभव एक-जैसा है। सुख-दुःख के बीच में, अंतराल में तूष्णीं भाव होता है। उदासीन स्थिति को तूष्णीम् अवस्था कहते हैं। विशेषकर जब तीव्र आनंद या दुःख का अनुभव नहीं होता है, कुछ करने की इच्छा भी नहीं रहती है, इसी को तूष्णीमवस्थिति कहते हैं।।९४।।

उस समय के अनुभव को बतलाते हैं–

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन्।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ।। ९५।।

'आज मुझे कोई चिंता नहीं, आराम से हूँ' ऐसा बोलते हुए उदासीनता में निजानन्द के भान का सभी लोग अनुभव करते हैं।

'इस समय मुझे कोई चिंता नहीं है, सब काम समाप्त है। सुख से बैठा हूँ।' यह कहते हुऐ सभी लोग उदासीन अवस्था के अन्दर निजानंद के भाव को बताते हैं क्योंकि तब किसी चीज़ का सुख तो है नहीं। अतः विक्षेप न रहने पर आत्मा का निज ही आनन्द स्पष्ट होता है, इसमें विवाद संभव नहीं ।।९५।।

यहाँ जिसे निजानन्द कहा वह पूर्वोक्त वासनानन्द का ही रूप है यह स्पष्ट करते हैं–

अहमस्मीत्यहङ्कार-सामान्याच्छादितत्वतः।
निजानन्दो न मुख्योऽयं किन्त्वसौ तस्य वासना।। ९६।।

'मैं हूँ' यों साधारण अहंकार से आवृत होने के कारण निजानन्द मुख्य अर्थात् ब्रह्मानन्द नहीं वरन् उसकी वासना है।

समझा रहे हैं कि इस निजानन्द को स्वरूपभूत आनन्द का अनावृत रूप क्यों नहीं कह सकते। वहाँ कोई विषय तो नहीं है, इसलिये ब्रह्मानन्द का ही भान है पर 'मैं' के द्वारा तो आच्छन्न है। वहाँ 'मैं कौन! क्या हूँ' आदि तो प्रकट नहीं है, लेकिन मैं-पने का भान रहता है। इसे ही अहंकार-सामान्य कहा। उदासीन-भाव तभी कहा जायेगा जब केवल मैं का भान है। देहतादात्म्यापन्नता के कारण भी अहंकार से परिच्छिन्नता है। मैं सुखी हूँ–यह तो है लेकिन 'मैं' से मतलब शरीर-मन वाले से है। शरीर की विशेषताओं के प्रति उदासीनता है किन्तु शरीर-मनवाला हूँ–यह भान है इसलिये इसको निजानन्द कह रहे हैं, सीधे ही ब्रह्मानन्द नहीं कह रहे। फिर निजानन्द क्या है? यह ब्रह्मानन्द की वासना है। जैसे सुषुप्ति से उठने पर सुषुप्ति के आनन्द का भान नहीं है, जाग्रत् के किसी पदार्थ के आनन्द का भी भान नहीं है, फिर भी आनन्द है अतः वह आनन्द की वासना है, वैसे उदासीनता में भी ब्रह्मानन्द की वासना ही है जिसे निजानन्द कहा।।९६।।

दृष्टान्त से वासनानन्द बताते हैं–

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम्।
किन्तु नीरगुणस्तेन नीरसत्तानुमीयते ।। ९७।।

जल-भरे बर्तन की बाहरी सतह का ठण्डापन जल नहीं वरन् जल का गुण है जिससे जल के अस्तित्व का अनुमान होता है।

घड़े में ठंडा पानी भरा हो, उस घड़े को बाहर से छूते हैं तो ठंडा लगता है। बाहर जल तो नहीं है पर कलश के अंदर पानी ठंडा है इसलिये बाहर भी ठंडा लग रहा है। है तो ठण्डक पानी का गुण, अतः गुण है तो उसके द्वारा 'अन्दर ठंडा पानी है' ऐसा अनुमान होता है। कलश में जो शीतता मिलती है, वह पानी के कारण ही हो सकती है क्योंकि चीज़ वहाँ वही है। इसी प्रकार से निजानन्द ब्रह्मानन्द तो नहीं है लेकिन इस वासना से ब्रह्मानन्द का अनुमान होता है।। ९७।।

उसी को स्पष्ट करते हैं—

यावद्यावद् अहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः।
तावत्तावत् सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते।। ९८।।

अभ्यास के प्रभाव से जितना-जितना अहंकार भूला जाता है, उतनी-उतनी चित्तनामक दृष्टि सूक्ष्म होने से अनुमान होता है कि निजानन्द अभिव्यक्त हो रहा है।

जितना-जितना अहंकार हम भूल जाते हैं उतना ही निजानन्द व्यक्त होता है क्योंकि अहंकार से ही आच्छादित है। इसीलिये यह निजानन्द घटता-बढ़ता है। अत एव यह मुख्य भी नहीं। जितना-जितना अहंकार का भान कम होता जाता है, उतना-उतना यह आनन्द बढ़ता जाता है। अहंकार चूँकि ज्ञानरूप ही है इसलिये इसकी विस्मृति ही हो सकती है। यह कोई 'चीज़' तो है नहीं जिसे हटाया जा सके! जब तक अहंकार का भान है, तभी तक अहंकार है। अहंकार का भान कम कैसे होगा? 'अभ्यासयोगतः'। इसका उपायभूत अभ्यास इस अध्याय में प्रधान प्रतिपाद्य है। यह जो अहंकार की विस्मृति है, इसका अभ्यास करना ही अभ्यास योग है। जितना अहंकार कम होता है उतना ही चित्त सूक्ष्म होता जाता है, इससे वासनारूप जो निजानन्द है उसका अनुमान होता है। निजानन्द की अभिव्यक्ति बढ़ती है तभी स्पष्ट होती है, बाकी समय क्षण-दो क्षण अनुभव होने पर भी उसका अस्तित्व समझ नहीं आता है।

अहंकार जब संकुचित हो जाता है, नहीं-सा रह जाता है, उस क्षण के अन्दर जितना आनन्द होता है, पुनः अहंकार के आने पर उतना आनन्द नहीं रह जाता। यह जो अहंकार के कारण घटा-बढ़ी हो रही है इसी से वह वासनानन्द है, ब्रह्मानन्द नहीं। टीकाकार ने समझाया है कि जिस क्षण अहंकार का संकोच किया उस क्षण तो उस कारण से सुख संभव है लेकिन उसके बाद जब तक अहंकार संकुचित रहता है तब तक जो सुख है वह वासनानन्द का वह प्रकार है जिसे योगानन्द कह रहे हैं। सुषुप्ति के बाद बिना आभास के होने वाला वासनानन्द है, योगविशेष के अभ्यास से होने वाला योगानन्द है।। ९८।।

चित्तरूप दृष्टि की सूक्ष्मता की चरम सीमा परमात्मानुभव है यह व्यक्त करते हैं—

सर्वात्मना विस्मृतः सन् सूक्ष्मतां परमां व्रजेत्।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत्।। ९९।।

सब तरह से भूला गया अहंकार परम सूक्ष्म हो जाता है। लीन न होने से यह नींद नहीं है इसलिये शरीर गिरता भी नहीं है।

अभ्यास योग है कि अहंकार का निरोध करना। यह होते-होते अहंकार को सर्वथा भूल जाओ तो चित्त परम सूक्ष्म हो जाता है। साधारणतः सूक्ष्मता तो कार्य की कारणरूपता होती है। घड़ा मिट्टी हो जाये, यही उसकी सूक्ष्मता कहलाती है। गहरी नींद में ऐसा होता है। किन्तु निरोध समाधि निद्रा नहीं है क्योंकि चित्त लीन नहीं हो जाता है, अपने कारण अज्ञान में नहीं जाता। 'परम सूक्ष्म हो गया' मायने अज्ञान रह गया—ऐसा नहीं; अगर निद्रा आ गई होती, तो शरीर बैठा नहीं रहता। चूँकि अज्ञान में लीन नहीं हुआ, इसलिये शरीर गिर नहीं पड़ता। नहीं गिरता, इसीलिये इस स्थिति को निद्रा नहीं कह सकते। अहम् का भान नहीं, सुख-दुःख का भान नहीं, इसलिये इसको जाग्रत् भी नहीं कह सकते। और शरीर ऐसा का ऐसा बैठा रहता है, इसलिये इसको सुषुप्ति भी नहीं कह सकते। यही निरोध समाधि की अवस्था है। शरीर को उत्तम्भित रखने का कारण है शरीर के साथ अहंकार का तादात्म्य अनुभव होना, वही शरीर को उत्तम्भित रखता है, खड़ा रखता है। समाधि में वह अध्यास नहीं रहने पर भी शरीर गिरता नहीं है, क्योंकि लयरूप सूक्ष्मता के बजाये निरोधरूप सूक्ष्मता है।।९९।।

इस स्थिति के बारे में भगवान् की संमति दिखाते हैं—

न द्वैतं भासते नाऽपि निद्रा तत्रास्ति यत् सुखम्।
स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति।।१००।।

द्वैत न भासे, नींद भी न हो, वहाँ जो सुख है वह ब्रह्मानन्द है। यह अर्जुन से भगवान् ने कहा है।

निरोध समाधि के अन्दर किसी भी नाम-रूप का भान नहीं है। हम लोगों का अनुभव है कि जब नाम-रूप का भान नहीं रहता तब निद्रा हो जाती है। समाधि में शरीर गिरता नहीं इसलिये वह निद्रा नहीं है। वहाँ द्वैत का भान नहीं है। बिना अहंकार का भान हुए द्वैत का भान हो नहीं सकता। उस समाधि के अन्दर जो सुख है वह ब्रह्मानन्द ही सम्भव है। तब चित्त, अंतःकरण है परंतु सर्वथा वृत्तिरहित है। अहंकारात्मिका वृत्ति भी नहीं बचती है। उस समय जो अनुभव होगा वह अन्तःकरण का अनुभव होगा। सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है, लेकिन अज्ञानवृत्ति से होता है। समाधि में अंतःकरण के रहने से सुषुप्ति वाली अज्ञान-अवस्था नहीं है। इस प्रकार निरोध समाधि में होने वाला सुख ब्रह्मानन्द है। अहंकार के रहते हुऐ जो ब्रह्मानन्द होता है वह निजानन्द कहलाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता के छठे अध्याय में अर्जुन को बतलाया है कि समाधि सुख ब्रह्मानन्दरूप है। योग के अभ्यास से होने वाला है इसलिये इसे योगानन्द कहते हैं।।१००।।

गीता के आठ श्लोक उस क्रम से उद्धृत करते हैं जिससे अभ्यास का ढंग स्पष्ट हो—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। १०१।।

धैर्ययुक्त बुद्धिसे धीरे-धीरे उपरति करे, मन आत्मा में भलीभाँति स्थापित कर कुछ भी न सोचे।

यह गीता के छठे अध्याय का पच्चीसवाँ श्लोक है। निरोध समाधि का अभ्यास करने के लिये अत्यन्त धैर्य चाहिये। कैसा धैर्य? एक-एक बूँद पानी वहाँ से हटाकर समुद्र सुखाने का जिसमें धैर्य हो वह इस समाधि में प्रवृत्त होवे! पहला कदम है उपरति अर्थात् उपरामता को प्राप्त होवे। यह होगा अत्यन्त धीरे-धीरे। साधक प्रायः चाहता है कि जल्दी काम हो जाये! जल्दी के चक्कर में अधिक कर्त्तृत्वभावना आकर और ज़्यादा रुकावट हो जाती है। जिसने श्रवण-मनन से यह निश्चय कर लिया कि यही एकमात्र प्राप्त करने योग्य चीज़ है, और यही इसका मार्ग है, उसे बार-बार देखने की ज़रूरत नहीं है कि फल कितनी दूर है। धैर्य जब तक नहीं होता तब तक मनुष्य उपरामता को प्राप्त हो नहीं पाता। प्राप्त करने की जल्दी ही उसको उपराम नहीं होने देती। उपरामता में छोड़ना होता है, और जल्दी में कुछ करना पड़ता है। परम आनन्द को प्राप्त करने के लिये तुमको सब कुछ छोड़ना पड़ता है, अहंकार का भी विस्मरण हो जाना पड़ता है। बार-बार सोचोगे कि 'अभी नहीं हुआ' तो इसी कारण से नहीं होगा। जैसे अनेक लोगों को रात में 'नींद नहीं आई' इसी चिंता से नींद नहीं आती। चिकित्सक उल्टी गिनती करने को कह देता है। उससे तुम्हारा ध्यान उधर जाता है क्योंकि उल्टी गिनती का अभ्यास तो है नहीं अतः 'नींद नहीं आयी' यह चिन्ता छूटने पर वह आ भी जाती है। पहले भली प्रकार श्रवण-मनन करके आत्मतत्त्व की सच्चिदानन्दरूपता का निश्चय कर उसी में मन को स्थित करना है। आत्मा में स्थित तभी हो सकता है जब इस बात को जान लिया है कि एकमात्र आत्मा को छोड़ कर कुछ भी नहीं है। अंतःकरण किसी भी चीज़ की वृत्ति बनाये तो तुरन्त उसके मिथ्यात्व का निश्चय होना चाहिये कि 'यह नहीं है, आत्मा ही है'। अहंकार की वृत्ति बने तब भी समझ आना चाहिये कि अहंकार नहीं है, आत्मस्वरूप ही है। यह अवस्था पाकर फिर चित्त से कुछ भी न सोचे। अर्थात् आत्माकार वृत्ति भी फिर बनाने की ज़रूरत नहीं है। मन में केवल आत्मा ही रहता है।। १०१।।

उक्त साधना में प्रवृत्त के लिये पहला कदम गीता ६.२६ से बताते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत्।। १०२।।

स्वभाव से चंचल और अस्थिर मन जिस-जिस विषयरूप निमित्त से निकलता है, उस-उस से इसे निरुद्ध कर आत्मामें ही वशीकृत करना चाहिये।

मन आत्मा के प्रतिबिम्ब से युक्त हो, इसमें कोई दूसरी वृत्ति नहीं हो, तो शुद्ध ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्ब होता है इसलिये वह शुद्ध बिम्ब का ज्ञान करा देता है। जैसे साफ काँच में

मुँह देख कर मुँह का ज्ञान हो जाता है, ऐसे ही जो चित्त सारी वृत्तियों से रहित हो गया है, उसमें जो ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्ब है, उससे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है। यहाँ तक पहुँचना है। मन स्वरूप से चंचल है, यह इसका स्वभाव है। मन किसी आगन्तुक दोष से चंचल नहीं होता है। यह उसका स्वभावगत दोष है। एक चंचलता तो राग-द्वेष से आती है। उस को अभ्यास से पहले शान्त कर लिया जाता है। पर बिना राग-द्वेष के भी मन एक से दूसरी चीज़ पर फुदकता रहता है। यही इसका स्वभाव है। इसलिये इसको स्थिर करना अत्यंत कठिन है। वशिष्ठ जी कहते हैं, गिरती बिजली को रोक सकते हैं, आकाश के तलवार से टुकड़े कर सकते हैं, पर मन को स्थिर करना उससे भी ज़्यादा कठिन है! इसीलिये यह अस्थिर है। चाहे आत्मा हो या अनात्मा, एक विषय में मन स्थिर नहीं रहता। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श किसी न किसी चीज़ की तरफ जाता रहता है। विषय चाहे मानसिक हो, चाहे बाह्य हो पर मन विषयों में भटके बिना रहता नहीं। मन कल्पना भी करता रहता है। ऐसी सब प्रवृत्तियों से मन को हटावे।

इसका बड़ा साधन है मिथ्यात्व-निश्चय। आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि अद्वैत की सिद्धि द्वैतमिथ्यात्व सिद्धि-पूर्वक होती है। केवल युक्ति से ही नहीं, अद्वैतभाव की सिद्धि प्राप्त होवे इसके लिये द्वैत-मिथ्यात्व का निश्चय ज़रूरी है। थोड़ी भी द्वैत में सत्यत्व बुद्धि रहती है तो अद्वैत में स्थिति सिद्ध नहीं होती। यही कारण है कि आचार्य शंकर बार-बार इस आत्मनिष्ठा के लिये सर्वकर्म-संन्यास पर ज़ोर देते हैं। कर्म कुछ-न-कुछ सत्यभाव की अपेक्षा करता है। थोड़े से काम के लिये भी कार्य-कारणभाव मानना ही पड़ता है। रोटी से भूख मिटेगी—यह कार्यकारणभाव सत्य प्रतीत होता है, तभी खाते हैं। खाये बिना तो शरीर रहेगा नहीं इसलिये शास्त्र ने सर्वकर्म-संन्यास के प्रसंग में भी कहा कि शारीरकर्म, शरीर की स्थिति के लिये उचित कर्म, करता रहे तो दोष नहीं। जब शरीर ही नहीं रहेगा तो अभ्यास कैसे होगा? उससे अतिरिक्त जब कोई कर्म नहीं रहेगा तब न्यूनतम सत्यभावना रह जायेगी। भोजन आदि की भी निवृत्ति तो अंतिम अवस्था में जाकर होगी। परन्तु बाकी सब कर्मों की निवृत्ति पहले हो जानी चाहिये। कर्म करोगे तो तुम्हें बार-बार सत्यत्व-बुद्धि लानी पड़ेगी अतः मिथ्यात्व-निश्चय नहीं हो पायेगा। इसलिये विषयों से मन को खींचकर भीतर ले आना चाहिये। इसके लिये याद रखना है कि सभी विषयों में मिथ्यात्वरूप दोष है। ऐसे ही विषय और मन का जो भी संयोग है, वह अवश्य दुःख ही देता है, चाहे प्राप्त होने के पहले दुःख देवे या हट जाने के बाद अथवा भोगकाल में दुःख देवे। बेटे के पैदा न होने पर भी दुःख है, बाद में लालन, शिक्षा, बड़ा करने में दुःख है। उसके मरने से भी दुःख, पोते-बहू को देख कर भी दुःख है। इसलिये भगवान् ने कह दिया कि जो भी 'संस्पर्शज' अर्थात् विषय-इन्द्रिय के स्पर्श से पैदा होने वाले भोग हैं वे अवश्यमेव दुःख ही देंगे। जैसे पदार्थों का मिथ्यात्व-दर्शन उनसे हटने में कारण होता है, वैसे ही दुःखदर्शन भी, क्योंकि मन दुःख की चीज़ की तरफ नहीं जाना चाहता। मिथ्यात्व-दर्शन के द्वारा तो विषय केवल प्रतीतिमात्र रह जाता है, कार्यकारी नहीं रहता। और, वैराग्य की भावना से वहाँ से मन हटता है। इसलिये कहा है (वराहोपनिषत् २.६८) 'शास्त्रेण न स्यात् परमार्थदृष्टिः कार्यक्षमं पश्यति चापरोक्षम्।' शास्त्र

से यह तो निश्चय हो जाता है कि यह संसार अन्तिम सत्य नहीं है, परमार्थ नहीं है। जब अपरोक्ष होता है, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी प्रतीति होती है तब संसार कार्यक्षम है यह बुद्धि भी हट जाती है। व्यवहार इसलिये किया जाता है ताकि सुख हो और संसार सुख को पैदा कर ही नहीं सकता।

प्रतीति के साथ संसार का, विषयों का वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता। जिस भी विषय की तरफ मन जाये उसके बारे में विचार करके मिथ्यात्व, दुःखदत्व आदिका निर्णय करते रहने से मन का नियमन होगा। जहाँ एक बार भी ग़लती कर दी कि 'यह सुख की चीज़ है' बस, फँस जाओगे। रामकृष्ण परमहंस के गुरु ने जब उन्हें निरोध समाधि में बैठाया तब बार-बार देवी के प्रति उनकी भावना प्रकट हो जाती थी, हटती नहीं थी। बाकी चीज़ों में तो उनका मन नहीं जाता था पर सगुण परमात्मा के बारे में बुद्धि थी कि 'भगवान् का रूप तो अच्छा है'। तब गुरु ने कहा कि विवेक की तलवार से उसे काट दो। जो दृश्य दीखता है वह मिथ्या है। दृग्रूप ही सत्य है। जब नामरूप को काट दोगे, तब जो बचेगा वही शुद्ध है। किसी भी चीज़ के प्रति तुम्हारी सत्य या शोभन बुद्धि रह जायेगी तो वह तुम्हें स्थिर नहीं होने देगी। मन का इस प्रकार से निरोध करके उसे आत्मा में ही स्थिर करे। आत्मरूप अधिष्ठान में ही वश्यता को प्राप्त करावे। उसके कारण ही मन ज्ञानरूप से प्रतीत हो रहा है। मन में जो ज्ञात हो रहा है वह उस अधिष्ठान के प्रतिबिम्ब के कारण है। अतः उस में ही इसे स्थिर करने का अभ्यास कर्त्तव्य है।।१०२।।

जब चित्त वृत्तिरहित हो जाये, कोई द्वैतदर्शन न रहे, चित्त अज्ञान में लीन न होवे इसलिये निद्रा भी न आवे, उस समय जो सुख होता है, वह ब्रह्मानन्द है। होश तो रहे पर द्वैत का भान न रहे तब यह स्थिति सुलभ है यह गीता के ६.२७ श्लोक से कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।। १०३।।

जिसका रजोगुण (और तमोगुण) प्रक्षीण हो चुका है, जिसका मन अत्यधिक शांत हो चुका है, 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा जिसे निश्चय है, अधर्मादि दोषों से जो रहित है उस योगी को उत्तम सुख मिलता है।

मन सब विक्षेपों से रहित हो जाना चाहिये। विक्षेप का मतलब द्वैत-दर्शन है। लोक में विक्षेप-शब्द से दुःख को कहते हैं। यहाँ वह तात्पर्य नहीं है वरन् द्वैतशून्य होवे यह अर्थ है। द्वैत-प्रतीति से रहित जो मन है वह 'शान्त-रजस्' है अर्थात् उसके अंन्दर संस्कारों से बनने वाली किसी प्रकार की आन्तरिक वृत्ति नहीं है। एक बाह्य द्वैत है, दूसरा अन्दर का मानसिक द्वैत है। 'शान्तरजस्' स्थिति में मानसिक द्वैत भी नहीं है, कोई संस्कार भी उद्भूत नहीं हो रहा है, और कोई बाह्य विक्षेप भी नहीं है। शान्ति तभी होती है जब राग, द्वेष, मोह आदि सब निवृत्त हो जाते हैं। राग आदि अच्छा-बुरा लगना, ये भाव पदार्थों के अन्दर सत्यबुद्धि से होते हैं। 'ब्रह्मभूत' अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसे निश्चय वाला। ब्रह्म मैं ही हूँ और ब्रह्म से अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है इसके बारे में जिसे संदेह नहीं है। 'अकल्मषम्' उस समय

पुण्यापुण्य का फल जिसे नहीं हो रहा है। योगी के लिये पुण्य और पाप दोनों विक्षेप के प्रति कारण हैं। पुण्य सुख देगा। जब किसी चीज़ में इष्ट-बुद्धि होगी तब पुण्य उसके द्वारा सुख देगा। इष्ट बुद्धि का मतलब है, राग का उद्भव। इसलिये उत्तम सुख के लिये ज़रूरी है कि उस समय न पुण्य का न पाप का फल हो रहा हो, उदासीन स्थिति रहे ऐसा जो योगी है अर्थात् समाहितचेता है। कोई दूसरा नहीं है जिसके साथ संबन्ध हो रहा हो वरन् केवल अपने आत्मस्वरूप में समाहितता है। वह योगी उत्तम सुख को प्राप्त करता है। इष्ट बुद्धि के द्वारा प्राप्त विषय से या मानसिक संकल्प से जो सुख होता है वह श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कुछ समय रहता है, फिर नहीं रहता और उससे ज़्यादा सुख किसी दूसरी चीज़ से हो सकता है। ऐसे कम-ज़्यादा या नाश होने वाले सुख को नहीं, उत्तम सुख को योगी प्राप्त करता है। इस प्रकार इस सुख के प्रति साधन बतलाये—मन की प्रशान्ति, रज की शान्ति, ब्रह्मभूतता और निष्कल्मषता। मन और रज की शांति से दोनों प्रकार के द्वैतों का निषेध कर दिया, और निष्कल्मषता से पुण्य-पाप का निषेध कर दिया। ऐसा जो ब्रह्मभूत योगी है, उसे ही उत्तम सुख मिलता है।। १०३।।

इसके लिये क्रम गीता के ६.२०-२३ श्लोकों से बतलाते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। १०४।।

योगानुष्ठान से जब विषयों से निवृत्त हुआ चित्त स्वयं आत्मा को उपलब्ध करते हुए उस आत्मा में ही संतुष्ट होता है (तब उसे वास्तविक योग समझना चाहिये)।

'यत्र' अर्थात् जिस देश-काल में योग की सेवा अर्थात् योग का अनुष्ठान, अभ्यास। इससे चित्त बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तरह के विषयों से निवृत्त हो जाता है। 'रुद्ध' का मतलब होता है रुका होना। रोकने का मतलब है 'रोक रहा हूँ' इस कर्तृत्व-भावना-पूर्वक रोक रहे हैं। इसलिये यहाँ 'निरुद्ध' का मतलब है अभ्यास करते-करते जब वह स्वभावतः रुक गया है। कब तक योग का सेवन करें? जब तक चित्त निरुद्ध न हो जाये। निरुद्ध हो जाने से 'उपरमते' उपरति को प्राप्त कर जाता है अर्थात् कुछ भी द्वैत की प्राप्ति या निवृत्ति उसकी रति का विषय नहीं रहता। 'आत्मना' अर्थात् अंतःकरण से। जिस अंतःकरण को समाधि से शुद्ध कर दिया गया है उसके अंदर शुद्ध ब्रह्म का सही प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। जिससे उसका साक्षात्कार होता है। प्रतिबिम्ब को देखने से बिम्ब का ज्ञान होता है।

जो परमात्मा ज्योतिःस्वरूप है, उसकी उपलब्धि हो जाती है, साक्षात्कार हो जाता है तो अपने आप में ही तुष्टि की प्राप्ति होती है जो किसी दूसरी चीज़ से तुष्टि नहीं है। जैसे, बुखार औषधि से निवृत्त हो जाये, उस समय व्यक्ति को जिस सुख का अनुभव होता है, वह किसी चीज से नहीं है। दुःख की निवृत्ति का ही सुखरूप से वह अनुभव है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ, द्वैत है', इससे होने वाले दुःखों की निवृत्ति हो जाती है जब 'एकमात्र मैं ब्रह्मरूप ही हूँ' यह समझ आती है। चूँकि आत्मा से तुष्टि होती है, इसलिये अन्य किसी तुष्टि की कामना नहीं रह जाती।।१०४।।

सन्तुष्टिकी स्थिरता भी गीता-श्लोक (६.२१) से बताते हैं–

सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।१०५।।

और जहाँ इंद्रियातीत, केवल बुद्धि से उपलब्ध होने वाले अतिशय सुख का अनुभव करता है एवं उस आत्मस्वरूप से डिगता नहीं (उसे योग समझना चाहिये)।

यह अभ्यास करने वाला आत्यन्तिक अर्थात् जिससे अधिक और कोई भी न हो ऐसे ब्रह्मसुख का अनुभव करता है। वह सुख बुद्धिमात्र से ग्राह्य है। जो बुद्धि सभी वृत्तियों से रहित हो गई है, अहंकार की वृत्ति से भी रहित हो गई है उस बुद्धि में शुद्ध आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिये मानो उसने उसे ग्रहण कर लिया, जैसे कहते हैं 'दर्पण ने हमारे मुख को ग्रहण कर लिया'। वह इंद्रियों का तो कभी विषय नहीं है। इंद्रियों के साथ मन को भी समझा जाता है अतः मनोमय वृत्ति से भी ग्राह्य नहीं। मनोमय वृत्ति में कभी स्थिरता नहीं रहेगी। यह केवल बुद्धि का निश्चय है। परमात्मा के विषय में निश्चय की परम आवश्यकता है। किंचित् भी संशय रहता है तो यह सुख बुद्धि के अन्दर शुद्धरूप में प्रतिबिम्बित नहीं हो पाता। सर्वथा निःसंदिग्ध होने की ज़रूरत है, इसीलिये बार-बार श्रवण-मनन के लिये कहते हैं। दो प्रकार के संशय होते हैं। एक है प्रमाणविषयक संशय। वेद ही प्रमाण है। यह निश्चय पहले हो जाना चाहिये। वेद को छोड़कर और कोई आत्मतत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता। दूसरा संशय है कि क्या वेद ने अद्वैत ही कहा है या और कुछ भी कहा है? इसकी निवृत्ति के लिये वेदप्रतिपाद्य अद्वैतेतर विचारों में अप्रामाणिकता समझनी आवश्यक है। ये दोनों ही श्रवण के द्वारा निवृत्त होते हैं। और, अद्वैत क्यों नहीं हो सकता?—इसके बारे में जितने वाद हैं, सब के अन्दर वास्तविकता सिद्ध नहीं होती यह निश्चय मनन से हो जाना पड़ता है। ऐसा निःसंशय प्रमाण-प्रमेय-विषयक जिसका ज्ञान होता है, वह आत्यंतिक सुख में तत्त्व से स्थित हो जाता है, 'आत्मस्वरूप यही है', इसमें निश्चल हो जाता है। बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय जो आत्यंतिक सुख, उसे वह स्पष्ट जानता है, चूँकि निःसंशय है, इसलिये उसमें स्थिर हो जाता है, फिर कभी भी उस स्वरूप से अलग नहीं होता। गौडपादाचार्य ने भी कहा है, 'तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वाद् अप्रच्युतो भवेत्' (वैत. ३८) कि तत्त्वस्वरूप होकर उसमें रमण करे, वहाँ से हटे नहीं। शास्त्रादि पर श्रद्धा रख कर यह स्थिति कायम रखनी चाहिये। 'केवल इतने से नहीं होता' इस भ्रम में तत्त्व से चलायमान नहीं हो जाना चाहिये।।१०५।।

आत्मलाभ सर्वोपरि है यह गीताश्लोक (६.२२) से निर्धारित करते हैं–

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।।१०६।।

जिसे प्राप्त कर किसी और लाभ को इससे अधिक नहीं समझता तथा जिसमें स्थित हुआ महान् दुःख से भी विचलित नहीं किया जा पाता (उसे योग समझना चाहिये)।

सविशेष की प्राप्ति का सुख निर्विशेष प्रत्यक्तत्त्व के साक्षात्कार से अधिक आनन्द है इत्यादि भ्रम अविचारशीलों को हो जाता है। 'उससे और अच्छा कोई सुख है' यह जँचने से साधक उस स्थिति से प्रच्युत हो जाता है। अथवा, उसकी प्राप्ति होने पर भी कोई दुःख बचा रह जाये, दुःख न हटे तो भी साधक व्युत्थित होता है। ये दोनों ही बातें नहीं हैं। श्रुति-स्मृति में स्पष्ट है कि ब्रह्मात्मदर्शन को छोड़कर उस निर्विशेष स्थिति से अधिक सविशेष में सुख नहीं है। अतः कोई दूसरा लाभ विवेकी नहीं मानता है। सविशेष में द्वैत रहेगा और द्वैत में सुख की पूर्णता हो नहीं सकती। अगर किसी कारण से पहले यह निर्णय नहीं किया है तो बाद में भी करना पड़ेगा। आत्मरूप की प्राप्ति हो जाने पर कितना भी बड़ा दुःख आ जाये, उससे वह विचलित नहीं होता। इसलिये कोई दुःखनिवृत्ति अपेक्षित नहीं रहती है, क्योंकि वहाँ पहुँचकर दुःख उसे दुःखी कर नहीं सकते। इस प्रकार न सुखान्तर के भ्रम से और न दुःख से वह उस अद्वैतावस्था से विचलित होता है। 'तत्त्वतः न चलति' अर्थात् मन शरीर आदि के अन्दर भ्रान्तिसिद्ध प्रतीति होने पर भी, उनको अपना स्वरूप नहीं समझता।।१०६।।

पूर्वदर्शित अवस्था अवश्य प्राप्तव्य बताते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।१०७।।

(जिसका तीन श्लोकों में वर्णन किया) उस दुःख-सम्बन्ध से छूटने को 'योग' नामक आत्मावस्था जानना चाहिये। निश्चयपूर्वक बिना किसी खेद के इस योग का अनुष्ठान करना चाहिये।

भगवान् यहाँ (६.२३) 'योग' शब्द का बड़ा विचित्र निरुक्त करते हैं। सामान्य दृष्टि से 'योग' का अर्थ है किसी चीज़ से मिलना। भगवान् कहते हैं कि जिसे 'योग' संज्ञा मैं दे रहा हूँ, यह वियोग है! दुःख के संयोग के वियोग को यहाँ भगवान् ने योग कहा है। जीवात्मा और परमात्मा का समुद्र में बूँद की तरह मिल जाना, एक हो जाना—यही सामान्य लोग 'योग' समझते हैं। भगवान् कहते हैं कि ये एक हो जायें यदि दो हों तो। सत्य तो है कि है ही एक। इसलिये, जो भ्रम है कि 'मैं ब्रह्म से अलग हूँ' यही निवृत्त होगा, प्राप्ति कुछ नहीं होगी। जीवभाव से वियुक्त हो जाना—यही योग है। जीवभाव है 'दुःखसंयोग'। अहम्-वृत्ति को अपना स्वरूप समझना, इसके द्वारा ही सारे दुःखों से संयोग होता है। अहम् ही शरीर-मन-प्राण आदि सबसे एकता किये हुए है। इस अहम् को जब हम अपना स्वरूप समझते हैं, तभी शरीर-प्राण-मन-बुद्धि के दुःखी होने से दुःखी होते हैं। दुःखसंयोग का मतलब 'मिलना' नहीं समझना, यह है आध्यासिक संयोग। हम कभी भी अहम् बनते नहीं हैं, पर अहम् के साथ हम अपने को एक समझ लेते हैं। कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद

हुआ। कर्ण ने कहा 'तुम ब्राह्मण हो इसलिये तुमसे लड़ूँगा नहीं'। गुस्से में अश्वत्थामा ने जनेऊ तोड़ दी! कहा, 'मैं ब्राह्मण नहीं रहा, अब युद्ध कर।' तब दुर्योधन बीच-बचाव में आया। जैसे यज्ञोपवीत रहते कोई ब्राह्मण होता है इस प्रकार जब तक अहम् है तभी तक जीवभाव है। दुःखसंयोग अहम् को लेकर ही है, संयोग यहाँ आध्यासिक है। दुःख-संयोग अर्थात् जीवभाव का वियोग ही यहाँ योग कहा है।

'स योगोऽनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः' यहाँ 'निर्विण्ण' या 'अनिर्विण्ण' दोनों शब्द होना संभव है। 'निर्विण्णचेतसा' अर्थात् वैराग्य वाले चित्त से। जब तक वैराग्य नहीं होता तब तक वैषयिक सुख चाहिये, जो शरीर के बिना हो नहीं सकते। वैषयिक सुखों के लिये शरीर की आवश्यकता है अतः वैराग्य के बगैर उससे सम्बन्ध बनाने वाले अहम् को कैसे छोड़ें! जब-जब अहम् पर चोट पड़ती है तब-तब जीव बौखलाता है। जब विषयों से पूर्ण वैराग्य हो जाता है, तब शरीर-मन की ज़रूरत रहती नहीं। भगवान् भाष्यकार ने यहाँ 'अनिर्विण्णचेतसा' ऐसा पदच्छेद किया है। मतलब है कि योग का अभ्यास करते हुए मन में यह नहीं आना चाहिये कि 'अभी तक कुछ नहीं हुआ' अर्थात् खेद नहीं करना चाहिये। दोनों ही अर्थ मानने योग्य हैं।

'निश्चयेन योक्तव्यः' निश्चय से यह योग किया जाता है। संशय-निवारण में जल्दबाजी के कारण ही निश्चय पर पहुँच नहीं पाते। प्रायः वेदान्ती की यह कठिनाई है, बात तो सीधी लगती है, समझ में आ जाती है, इसलिये व्यक्ति सोचता है, 'अब समझ तो लिया'; पर मन में अनेक प्रकार के संशय बने रहते हैं जिससे ज्ञान दृढ नहीं होता। बार-बार विचार करने से वे संशय प्रकट होते हैं, उनके समाप्त होने पर स्थिरता बनती है। इस प्रकर अध्यवसाय से अनिर्विण्ण चित्त वाले को योग का अभ्यास करना उचित है।।१०७।।

गीताप्रसंग के उपसंहार के रूप में वहीं (६.१५) का श्लोक पढ़ते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते।।१०८।।

निष्पाप योगी दर्शित रीति से निरन्तर आत्मा का अनुसन्धान करते हुए अनायास ब्रह्मस्वरूप निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है।

जो योगी सर्वथा कल्मष अर्थात् पाप से रहित है उसे ही यह सुख मिलेगा। ऐसा नहीं कि अनन्तकाल में जो पाप किये हैं उन सबसे रहित हो जायेंगे! पाप का उदित संस्कार मन के अन्दर नहीं रहना चाहिये। कल्मष वही होता है जो प्रकट, विद्यमान होवे। कल्मषनिवृत्ति क्यों ज़रूरी है? योग को सिद्ध न होने देने के लिये पाप तरह-तरह की वृत्तियों को पैदा करता है। स्त्यान (अकर्मण्यता), प्रमाद आदि योग के कई अन्तराय, विघ्न बताये गये हैं शास्त्रों में। जब तक इससे रहित नहीं होता है तब तक साधक की स्थिति बन नहीं पाती। उपनिषदों ने कहा है कि आत्मज्ञान के पहले तक सभी देवताओं को मनाते रहना चाहिये अन्यथा देवता पापों के सहारे से अन्तराय करते रहते हैं। देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य आत्मज्ञान को प्राप्त करे। आचार्य शंकर कहते हैं कि कोई नहीं चाहता कि नौकर

मेरा मालिक बने! जब तक हम जीव है तब तक हम देवताओं के नौकर हैं। आत्मज्ञान को प्राप्त करने से उल्टा हो जाता है। आत्मज्ञानी पूज्य और देवता पूजक हो जाते हैं! यह देवताओं को प्रिय नहीं है। अन्यत्र कहा गया है कि माया जीव की माँ है। माँ कहती है 'तुझे जो भी लेना हो ले ले परन्तु मेरे अंचल से निकलकर मत जा। ब्रह्मरूप में स्थित न हो।' सास-बहू के झगड़े का एक प्रधान कारण यही है कि माँ को लगता है कि बेटा अपनी पत्नी का हो गया। अतः चाहे देवता हो या माया हो, कोई नहीं चाहता कि जीव सत्य समझे। ज्ञान में विघ्न डालने के लिये उन्हें सहारा पाप का ही लेना पड़ता है। इसलिये विगतकल्मष होना ज़रूरी।

ऐसा योगी सदा आत्मा का ही योग करे, उसी का अनुभव प्राप्त करे। अन्य किसी चीज़ को नहीं सोचना है, आत्मविचार ही करना है, अनात्मविचार नहीं। क्योंकि अन्तराय हट गये हैं इसलिये वह आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति करता है। वह सुख है 'ब्रह्मसंस्पर्शम्' ब्रह्मस्वरूप। यद्यपि 'संस्पर्श' शब्द से ऐसी प्रतीति होती है, मानों दो चीज़ों का सम्बन्ध होवे किंतु सुख ब्रह्म का स्वरूप ही है। योगी चूँकि योगाभ्यास कर रहा है, इसलिये उसके अन्तःकरण में सुख प्रतिबिम्बित है। है यह भी 'अत्यन्तम्' अर्थात् निरतिशय। बहुत ज़्यादा पास होने पर 'छूना' कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म का स्पर्श तो सम्मत नहीं परन्तु ब्रह्म के जैसा ही यह सुख है इसलिये इसका मानो ब्रह्म से भली भाँति स्पर्श सम्पन्न हुआ हो! विगतकल्मष होने के बाद जब इस अभ्यास में लगता है तब अन्तराय नहीं होने के कारण 'सुखेन' अर्थात् सरलता से ही उस सुख को प्राप्त कर लेता है।।१०८।।

पूर्व में (श्लोक १०७) कहा था 'योगोऽनिर्विण्णचेतसा'। कैसा अनिर्वेद होना चाहिये? माण्डूक्यकारिका (३.४१) के प्रमाण से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः।।१०९।।

कुशा की नोक से एक-एक बूँद कर समुद्र सुखाने की तरह बिना खिन्न हुए (साधना में लगने से) मन का निग्रह होता है।

कुशा के अग्रभाग अर्थात् नोक से एक-एक बूँद निकाल कर जिस तरह से समुद्र को सुखा देना असंभव-सा कार्य है पर अत्यन्त धैर्य होने से ही यह काम भी किया जाता है ऐसे ही मन का निग्रह है। फिर भी होता ज़रूर है। 'यह असम्भव-सा काम कब होगा?' ऐसे खेद का बिलकुल जिसे स्पर्श न होवे, उसी से मनोनिग्रह होता है। इसमें प्राचीनों ने एक टिट्टिभ चिड़िया का दृष्टांत दिया है। समुद्र ने उसके अण्डों को बहा लिया तो उसने समुद्र को सुखा कर अण्डों को निकालने का निश्चय किया! चोंच में पानी भरकर निकालने का प्रयत्न करने लगा। नारदजी ने देखा, जाकर गरुड से कहा। गरुड भी समुद्र को सुखाने के लिये आ गया। समुद्र ने क्षमा माँगी और अण्डे वापिस दे दिये। जब वह छोटा-सा पक्षी अपरिखेद से लगा, तभी गरुड भी सहायता को आया। इसी प्रकार अनिर्विण्ण तत्पर साधक

को ही गुरु और ईश्वर की सहायता मिलती है, तभी यह काम हो पाता है। होता यह परमेश्वर की कृपा से है। 'तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः'; भगवान् शंकर, जिनके मस्तक पर चंद्रमा है, उनके अनुग्रह से ही अद्वैतनिष्ठा होती है। जब तुम धैर्यपूर्वक इसको नियंत्रित करने लगते हो तब उनका अनुग्रह हो जाता है, मन की सारी वासनायें नष्ट हो जाती हैं।।१०९।।

अभ्यास के द्वारा जितना-जितना अहम् का परिच्छेद हटता जाता है, उतना-उतना अन्दर का ब्रह्मानन्द प्रकट होता जाता है। थोड़ा-बहुत अहम् रहने के कारण ही प्रकट होते हुए वह निजानंद रहता है, ब्रह्मानंद अर्थात् व्यापक आनंद नहीं हो पाता। अहं-समाप्ति से पूर्व ब्रह्मानन्द की वासना तो है, परन्तु ब्रह्मानन्द नहीं है। यह बात जैसे गीता में कही है, वैसे मैत्रायणी उपनिषद् (६) में भी कही है यह दिखाते हैं—

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम्।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम्।।११०।।

'मैत्र'-नाम की शाखा में शाकायन्य मुनि ने राजर्षि बृहद्रथ को समाधिकथन-पूर्वक ब्रह्मसुख समझाया है।

यजुर्वेद की एक शाखा 'मैत्रायणी' है। उसकी संहिता भी ग्रंथ के आकार में मिलती है और उपनिषद् भी मिलती है। यहाँ सूचित उपदेश उपनिषद्-भाग में है। शाकायन्य नाम के मुनि थे। उनका शिष्य था राजर्षि बृहद्रथ। उसके प्रति समाधि को बतला कर, उस ब्रह्मानन्द के स्वरूप को ऋषि ने बतलाया। पहले समाधि का फिर ब्रह्मानन्दरूप सुख का स्वरूप बतलाया। इससे कहा कि यह बात केवल गीतादि स्मृति में ही आई हो ऐसा नहीं है श्रुति में भी इसका प्रतिपादन किया है।।११०।।

श्लोक ११६ तक मैत्रायणी उपनिषत् (६) के वचन उद्धृत करते हैं—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति।।१११।।

जैसे ईंधन न रह जाने पर आग अपने कारण में, व्यापक तेज में, विलीन हो जाती है वैसे वृत्तियाँ क्षीण होने पर चित्त अपने कारण में, भूतों के सत्त्वांश में लीन हो जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक ऊर्जा ही एक तत्त्व स्वीकारते हैं, वही घनीभूत हो तो द्रव्य कहलाती है। यदि ऊर्जा को वह्नि, अग्नितत्त्व मानें तो बाह्य सारा जगत् वह्नि का ही विविध औपाधिक विस्तार है अतः सर्वत्र वह्नि प्रविष्ट है। प्राचीन दृष्टि से सृष्टि पांचभौतिक है। वह्निरूप भूत अपनी सब उपाधियों में प्रविष्ट है। मूर्त सारे प्रपंच में व्याप्त होने से श्रुति ने उसे 'भुवनप्रविष्ट' (कठ. २.२.९) तक कह दिया है। परमात्मा के समान व्यापक न सही पर काफ़ी हद तक व्यापक होने से वेद ने परमात्मा के लिये वह्नि और वायु की व्यापकता को दृष्टांत बनाया है। जीवनी शक्ति, प्राण के अभिप्राय से वायु तथा बाकी शक्ति के लिये अग्नि का

उल्लेख किया। जीवित प्राणियों में होने वाली ऊर्जा एवं जड वस्तुओं में होने वाली ऊर्जा में कुछ अंतर प्रत्यक्ष है। प्राणि-ऊर्जा अत्यल्प व्यय होने पर भी अत्यधिक कार्य हो जाते हैं जबकि बाह्य जड ऊर्जा उतने कार्य में अधिक खर्च होती है। इसलिये अग्नि-वायु दो दृष्टांत वेद में आये। व्यापक अग्नि ही कारण है, लकड़ी आदि जलने से प्रकट अग्नि उसका कार्य है। व्यापक तेज ही ईंधन में प्रकट होता है, ईंधन जलकर समाप्त हो जाने पर वह अग्नि अन्यत्र कहीं नहीं वरन् अपने कारण में, व्यापक तेजस्तत्त्व में विलीन हो जाती है। 'योनि' मायने कारण। प्रकट आग का कारण व्यापक आग ही है, उसी रूप से रह जाना 'उपशांति' या विलय है। राख आदि अवशेषों में भी व्यापक अग्नि प्रविष्ट ही है, केवल उसका प्रकट रूप समाप्त हुआ है। इस प्रकार दृष्टान्त हुआ कि ज्वालारूप अग्नि ईंधन-समाप्ति पर व्यापक अग्नि रह जाती है।

इसी प्रकार चित्त क्या है? शास्त्रकारों ने बतलया है कि चित्त शब्द के अन्दर दो त-कार हैं। चित् के आगे एक और 'त्' जोड़ें तो 'चित्त' बनता है। 'चित्' तो है परमात्मा, चेतन। तकार है विषय का अध्यास। घटज्ञान में ज्ञान तो परमात्मा का स्वरूप है लेकिन घटरूप उपाधि में प्रकट हो रहा है, इसलिये घटज्ञान प्रतीत हो रहा है। विषय और चिन्मात्र का परस्पर अध्यास 'तकार' का अर्थ है। चित् जब अंतःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है, तब चित्त बनता है। 'वृत्तिक्षयात्' जब चित्त की वृत्ति की समाप्ति होती है तब चिन्मात्र ही रहता है। जब चित्त की कोई वृत्ति नहीं रहती तब तकार रहा नहीं अतः चिन्मात्र ही बच गया। चित्त कहाँ से आया? सारे जगत् का कारण परब्रह्म परमात्मा है, वही पंच महाभूतों को उत्पन्न करता है, उनका रूप धारण करता है; सूक्ष्म महाभूतों से चित्त बनता है, इसलिये चित्त का अंतिम कारण तो सच्चिदानंद परमात्मा ही है। अतः क्षीण होने पर चित्त उस परमात्मा के अन्दर ही उपशान्त हो जाता है। जैसे बिना ईंधन के ज्वाला ख़त्म हो जाती है, वैसे ही बिना वृत्ति के चित्त ख़त्म होकर चिन्मात्र ही बच जाता है। वृत्तिक्षय और अन्तःकरण का बना रहना—यह सन्तुलन रखना आवश्यक है।।१११।।

वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं और अन्तःकरण स्वरूप से रह जाता है तो क्या लाभ—यह बताते हैं—

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः।।११२।।

सत्य आत्मा को ही चाहने वाला होने से जो मन अपने कारणभूत सत्त्व में लीन है, इन्द्रियों के गोचर विषयों से विमुख है, कर्मवश उसके सम्मुख आने वाले साधनों समेत सुखादि मिथ्या ही जाने जाते हैं।

वृत्तियाँ क्षीण हो चुकने पर मन अपने कारण में उपशान्त अर्थात् लीन होता है। उस सत्त्व में ब्रह्म का स्वरूपभूत आनन्द प्रकट होता है अतः मानो मन उसी में, ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाता है। चित्त मुमुक्षासंस्कार से सत्य की ही कामना वाला हो ही चुका होगा तभी यह

शांति सुलभ है। सत्य की ही कामना न हो, अन्य कुछ चाहिये हो तो मन या चंचल होगा या अज्ञान में, तम में लीन होगा, सुषुप्ति आ जायेगी। सत्य परमात्मा चाहने से विवेकी का मन विषयाकारों से चंचल नहीं होता है और शांतावस्था के आनन्द से तृप्त होने के कारण तम में लीन नहीं होता। विषयों से उसे आकर्षण नहीं, उन पर मुग्ध नहीं, उनसे मोह नहीं। 'इन्द्रियार्थविमूढस्य' अर्थात् इन्द्रियाँ जिन्हें ग्रहण करती हैं उन विषयों के प्रति मूढता जिसमें से विगत है, निकल चुकी है। इन्द्रियों में यहाँ मन भी समझ लेना चाहिये। 'विमूढ' का यहाँ 'विमुख' अर्थ है अर्थात् जो मन विषयों के ज्ञान से रहित है। ऐसे साधक के भी प्रारब्ध के अनुसार विषय सामने आकर सुख-दुःख देते ही हैं। यद्यपि इसका मन विषयों को ढूँढता नहीं, जैसे बाकी संसारियों के मन ढूँढते रहते हैं, तथापि पूर्वकृत कर्म फलीभूत होने के लिये सुखादि देते हैं, तदर्थ विषयादिसम्बन्ध स्थापित कराते हैं। जो कर्म किये हैं वे सुख या दुःख देंगे, अतः उस फल को उत्पन्न करने वाले साधन भी सामने आयेंगे। उसकी खुद कोई प्रवृत्ति नहीं है किंतु कर्मवश फलभोग के साधन रूप से जो अर्थ सामने आते हैं, उन्हें वह जानता है कि अनृत हैं, मिथ्या हैं। मन के द्वारा ही यह जाना जाता है कि जो दीखता है वह वस्तुतः है ही नहीं। चूँकि विषयों के अनृतत्व का उसको निश्चय है, इसलिये उनकी ओर से सर्वथा विमुख रहता है। इंद्रियार्थ-विमूढ हो जाने पर भी, सुषुप्ति में इसलिये नहीं जाता कि सत्य आत्मा की कामना करता है। चित्त की उपशांति विषयमिथ्यात्व के ज्ञान से हो जाती है।।११२।।

स्वयोनि में उपशांत जो मन, उसके लिये यह सारा विषय जगत् अनृत है। किन्तु शंका होती है कि चित्त की उपशांति से जगत् मिथ्या होता है यह बनता नहीं, क्योंकि चित्त से यह संसार पैदा हुआ नहीं। इसके समाधान में कहते हैं—

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत् सनातनम्।।११३।।

क्योंकि चित्त ही संसार है इसलिये कोशिश कर चित्त शुद्ध बनाना चाहिये। मरणधर्मा प्राणी जिसे विषय करते चित्त वाला होता है, तद्रूप ही होता है। यह अनादिसिद्ध रहस्य है।

विषयों को भले ही चित्त ने नहीं बनाया पर उन्हें 'भोग्य' तो चित्त ही बनाता है। यदि मैं अन्धा हूँ तो मेरे लिये रूप भोग्य नहीं होता क्योंकि मेरा चित्त उसमें भोग्यता का अनुभव नहीं करता। भोग्यता के बिना प्रपंच को संसार कहना बनता नहीं क्योंकि उसमें प्राणी संसरण, गति नहीं करता। इसलिये कहा कि चित्त ही संसार है। मूलतः 'संसार' का मतलब है, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में *सरकना*। भोगों के लिये ही, सुख-दुःख के लिये ही सरकना पड़ता है, परिवर्तन वाला बनना पड़ता है। वेदांत इसीलिये 'दृष्टि ही सृष्टि है' मानता है अर्थात् वृत्ति बने तभी विषय की सिद्धि स्वीकारता है। ऐसा क्यों? सुषुप्ति में चित्त का विलय हो जाता है तो किसी भी प्रकार का भोग गहरी नींद में नहीं होता है। अतः सिद्ध होता है कि चित्त से ही संसार है। इसलिये चित्त को ही प्रयत्न के द्वारा शुद्ध करना चाहिये।

रज की प्रधानता होने पर विक्षेप, तम की प्रधानता होने पर मल, इन दोनों दोषों को हटाना शोधन है। मल पाप से होता है। पाप में अज्ञान के कारण प्रवृत्ति होती है। समझदार व्यक्ति आँख रहते कभी गड्ढे में नहीं गिरता। अन्धा हो, घोर अन्धकार हो, आँख काम न करे तभी गिरना पड़ता है। ऐसे ही जिसके पास शास्त्र के नेत्र नहीं हैं, या श्रद्धा का प्रकाश नहीं है वही पाप करता है। अज्ञान के कारण ही अधर्म होता है। मल दोष को इसीलिये तमोरूप कह देते हैं। विक्षेप दोष मन की चंचलता से होता है। विक्षेप और मल इन दोनों से जब चित्त को रहित कर दिया जाता है, तब वह शुद्ध होता है। यह प्रयत्न से ही सम्भव होगा। विक्षेप को हटाने के लिये वैराग्य का प्रयोग करना पड़ेगा। जितना वैराग्य होगा उतना विक्षेप हटेगा। चित्त को परमात्मा में एकाग्र होने का अभ्यास भी करना पड़ेगा। इसलिये पतंजलि ने कहा 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। अभ्यास और वैराग्य से चित्त को निरुद्ध किया जाये। राग से मन दूसरी चीजों में जाता है। अभ्यास के बिना मन परमात्मा में स्थिर नहीं रहता। भगवान् ने भी कहा कि मनोनियंत्रण के ये ही दो साधन हैं। श्रवण-मनन के द्वारा आत्मतत्त्व का चिंतन करो और जब अनात्मा में मन जाये तो वैराग्य के द्वारा उसे वहाँ से हटाओ। यह प्रयत्न करने पर मल और विक्षेप से चित्त रहित अतः शुद्ध हो जाता है।

शंका होती है कि मैं सत्यकाम हूँ, मोक्ष मैं चाहता हूँ, मेरी शुद्धि भले ही होनी चाहिये, चित्त की शुद्धि से क्या? वेदान्तियों के लिये यह शंका अत्यंत स्थूल है, पर सामान्यतः ठीक लगती है। मुझे ब्रह्मरूपता की प्राप्ति होनी है; वैराग्य, अभ्यास आदि चित्त में होने हैं; चित्त कैसा भी हो इससे मुझमें क्या फ़र्क है? कुछ लोग कहते हैं कि शरीर कैसा भी अशुद्ध होवे, मन शुद्ध होना चाहिये। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। सिद्धान्ती का समाधान है कि आत्मा तो नित्यशुद्ध है, उसका शोधन तुम क्या करोगे? आत्मा में तो अज्ञान के कारण चित्त की प्रतीति है। चित्त के अन्दर ही बंधन का अनुभव है अतः उसमें ही मोक्ष का अनुभव होना है। जैसे शरीर के बिना चित्त नहीं रहता इसलिये शरीर की शुद्धि, चित्त की शुद्धि के लिये ज़रूरी, उसी प्रकार चित्त के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता, इसलिये चित्त की शुद्धि ज्ञान के लिये ज़रूरी। ब्रह्मज्ञान से, अज्ञान नष्ट होने के बाद जो शुद्ध चेतन बच जाता है उसे किसी शुद्धि की ज़रूरत नहीं है क्योंकि उसमें अशुद्धि कभी नहीं है। इसलिये कहा, 'यच्चित्तस्तन्मयो मृर्त्यः' जो मरणधर्मा मनुष्य है वह वैसा है जैसा उसका चित्त है। तन्मय अर्थात् तद्रूप ही हो जाता है। चित्त जब शरीर वाला है, तब शरीर की बीमारी से चित्त बीमार हो जाता है क्योंकि शरीर के साथ तादात्म्य है। मनुष्य का एक शरीर ही उसका चित्त भी है अतः वह 'तन्मय' अर्थात् चित्त से एकमेक हुआ चित्त द्वारा धारण किये आकार वाला हो जाता है। जैसे शरीर वैसे शरीर के बाहर की चीज़ों से भी हम स्वयं को परिवर्तित अनुभव करते हैं। बाहर एक हज़ार करोड़ रुपया हो जाये तो, तुम्हारा रूप 'मैं धनी' हो जाता है! जैसे बुद्धि के वैशिष्ट्य से 'मैं विद्वान्' समझते हैं वैसे बाह्य धन से भी 'मैं धनी' समझते हैं। उपाधि 'यन्मय' अर्थात् जैसी होती है, जीव भी तन्मय ही हो जाता है, तद्रूप ही हो जाता है।

इसे सनातन गुह्य, गोपनीय रहस्य बताया। आत्मा स्वभाव से ही शुद्ध है, भ्रममात्र से अशुद्धि का अभिमान होता है यह बात हमसे छिपी रखी गयी है, अज्ञानवश हम यह रहस्य जानते नहीं। लाभ इसका यह है कि हम शरीर-मन आदि को शुद्ध करने का प्रयास कर पाते हैं जिससे उस अज्ञान का निरास हो। शुद्ध आत्मा तो अज्ञानविरोधी है नहीं; उसका साक्षात्कार ही अज्ञान का समापक है। 'शुद्ध हूँ' इस सदासिद्ध स्थिति से संतुष्ट न बैठ जायें इसीलिये अज्ञान से इस रहस्य को छिपाया गया है ताकि साधनपूर्वक कल्याणोपाय सम्पादित कर अज्ञान दूर कर सकें।।११३।।

संसरण कराने वाला ही चित्त मोक्षहेतु भी बनाया जा सकता है यह बताते हैं—

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते।।११४।।

चित्त की शुद्धि से (जीव) शुभ-अशुभ कर्म समाप्त कर शान्तमना हुआ चिन्मात्र रहते हुए अविनाशी सुख आत्मसात् करता है।

इस अनादि संसार में, अनन्त कर्मों को इकट्ठा किया हुआ है, अतः अनन्त प्रकार के सुख-दुःख वे देंगे। चित्त को शुद्ध कर भी लो परन्तु किये कर्म कैसे निवृत्त हों? ऐसे वचन मिलते हैं जो कहते हैं कि अनेक कल्प बीतने पर भी किये कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं। इनसे लगता है कि चित्त शुद्ध भी कर लो, आत्मा का दर्शन भी कर लो, पर अनादिकाल के जो कर्म हैं उनको तो भोगना पड़ेगा, उसके बाद ही तो मुक्ति होगी। इसलिये कहा 'चित्तस्य हि प्रसादेन'। चित्त के शान्त हो जाने से कर्म समाप्त होते हैं। चित्त की एक प्रसन्नता है जो विषय-भोग से सुखी होने पर पता चलती है। पर वह भोग की प्राप्ति रहते ही है एवं दूसरे भोग की इच्छा पैदा कर देती है। इसलिये उसको वास्तव में प्रसाद नहीं कह सकते। जब कार्तिक माह में तालाब बिलकुल निर्मल हो जाता है तब संस्कृत में उसे कहते हैं कि प्रसन्न है। इसी प्रकार जब चित्त में परमात्मा यथावत् प्रतिबिम्बित होता है, तब कहते हैं कि चित्त का प्रसाद हुआ, प्रसन्नता हुई। जितना-जितना ब्रह्म का अनुसन्धान करते हैं उतने-उतने किये सारे कर्म क्षीण होते चले जाते हैं। इसलिये वेद ने कहा है 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा ५.२४.३)। जैसे सरकण्डे से जो पतली डोरी-जैसा तूल निकलता है उसे अग्नि में डालते ही वह जल कर भस्म हो जाता है, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म की जितनी वृत्ति बनाते हो, श्रवण, मनन या निदिध्यासन से, उतने ही पाप जलते चले जायेंगे, अतः अनादि कर्म सब समाप्त होते जाते हैं। ऐसा ही स्मृति ने भी कहा है—

'उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च।
प्रविष्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानम् समाचरेत्।।'

चाहे ब्रह्महत्यादि महापाप हुए हों या गोवधादि उपपातक हुए हों, रात्रि के एक चरण के बाद ब्रह्मध्यान करना चाहिये, इससे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार श्रुति और स्मृति के अनुसार निर्धारित हो जाता है कि पूर्वार्जित कर्म भोगने ही पड़ें यह ज़रूरी नहीं, तत्त्वज्ञान से उनकी निवृत्ति की जा सकती है। चित्त का 'प्रसाद' अर्थात् बार-बार ब्रह्मानुसन्धान। उससे साधक शुभ और अशुभ कर्म, सभी समाप्त कर देता है। ऐसा करके प्रसन्नात्मा हो जाता है। उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है। जिसके चित्त में ब्रह्म ही प्रतिबिम्बित हो रहा है, जो सर्वथा शान्त हो गया है, वह अपने वास्तविक अद्वितीय आनन्दलक्षण स्वरूप में है, ब्रह्मरूप में स्थित हो जाता है, वहाँ से कभी भी हटता नहीं। अविनाशी सुख उसका स्वरूप हो जाता है। वह सुख उससे दूसरा अर्थात् अन्य नहीं है, चिन्मात्ररूप से स्थित होना ही अक्षय सुख है। वह पहले भी कभी क्षय नहीं हुआ, आगे भी क्षय होगा नहीं। जब लग रहा है कि 'दुःख है' तब भी वह पूर्ण सुख ही है। अतः अक्षय्य अर्थात् क्षय के अयोग्य कहा। आत्मस्थता से ही पूर्ण आनन्द प्रकट होता है। विशेषताओं के चिन्तनादि से जो सुख होता है उसकी अपेक्षा निर्विशेष-स्थिति का सुख अतुलनीय अधिक है। निर्विशेष होने से ही वहाँ से विचलन संभव नहीं, सविशेष स्थिति में अस्थिरता स्वाभाविक है। अतः निरोध द्वारा ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति का महत्त्व है। अहंकार का आवरण रहते जो ब्रह्मानन्द उसे वासनानन्द बताया था। वह भी आवरण हटाने पर वास्तविक आनन्द प्रकट हो जाता है। इसके लिये प्रयास-रूप से किया दीर्घकालीन ब्रह्मध्यान पूर्वार्जित पापों का समापक है। तोता पुरीजी के बारे में प्रसिद्ध है कि वे दिन में सोते थे, रात में समाधिस्थ रहते थे। न्यूनतम बहिर्मुखता एवं कम से कम विक्षेप के लिये यह कारगर उपाय है। रात का एक चरण छोड़कर ध्यान प्रारम्भ करने पर न्यूनतम नौ घण्टे का ध्यान चलेगा। इससे पापात्मक मलदोष और विक्षेपदोष दोनों निवृत्त होते हैं। श्रवणादि से आवरण दोष हटता है। तीनों दोष दूर होने पर अक्षय ब्रह्मानन्द प्रकट होता है। 'अश्नुते' से यहाँ प्राकट्य, अप्रतिबद्ध अनावरण ही विवक्षित है।।११४।।

उदाहरण-प्रदर्शन से उक्त प्रसाद का उपाय सूचित करते हैं—

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात् तत् को न मुच्येत बन्धनात्।।११५।।

जन्तुओं का चित्त बन्धनकारी विषयों में जैसे भलीभाँति समग्रता से चिपका है, ऐसे अगर ब्रह्म में हो जाये तो बन्धन से कौन न छूट जाये!

जन्तु मायने जन्म लेना ही जिनका स्वभाव है। प्रमाता का स्वभाव ही है जन्म लेना। रोज़ जन्म लेता है। गहरी नींद में चला जाता है तो इसे शरीर का कुछ पता नहीं रहता। जब फिर जन्म लिया अर्थात् जाग्रत् में आया, तब पुनः प्रमाता हो गया। इसी प्रकार स्वप्न में भी स्थूल शरीर का कोई भान नहीं रहता है। स्वप्न में मन कार्यकारी रहता है। स्वप्न में जाना एक तरह से दूसरा जन्म है क्योंकि सूक्ष्म शरीर, मन तो यही बना रहा परंतु यह स्थूल

शरीर वहाँ प्रतीत नहीं होता। अतः जाग्रत् में जो जवान होता है, वह स्वप्न में अपने को बुड्ढा देखता है। इससे भी स्पष्ट है कि स्वप्न में जाना जन्मान्तर की तरह है। जब गहरी नींद में जाते हैं तब सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता। यह महाप्रलय की तरह हो गया क्योंकि प्रलय में सूक्ष्म शरीर नहीं रहता है। इस प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के चक्कर में घूमते रहना और भिन्न-भिन्न योनियों में जाकर जन्म लेना यही जिसका स्वभाव है उसका नाम है 'जन्तु'। प्रमाता हमेशा अपने को जन्म वाला ही समझता है। जाग्रत् काल में शरीर के साथ सम्बन्ध रहता ही है। जन्तु का जो मन है, वह विषयरूप गोचर में समासक्त है। गोचर उसको कहते हैं जहाँ गायें चरने जाती हैं। शास्त्रों में इंद्रियों को भी गो कहा है। इसलिये इंद्रियों की जो चरने की जगह है, वह विषय हैं। गोचर अर्थात् इंद्रियों के चरने की भूमि। उसमें मन ऐसा आसक्त है कि वही स्वाभाविक लगता है।

विषयों में मन का जाना स्वाभाविक बिलकुल नहीं है। स्वाभाविक तो है कि मन परमात्मा में जाये। जैसे हम लोग यहाँ पैदा हुए हैं, यहीं की भाषा, वेशभूषा, भोजन हमारे लिये स्वाभाविक हैं। परंतु भ्रम से हमारा 'स्वाभाविक' हो गया है विदेशी कपड़े पहनना, विदेशी भाषा बोलना। अपनी मातृभाषा बोलने में भी कठिनता लगती है। इसी प्रकार हमारा स्वरूप तो है सच्चिदानन्द ब्रह्म। स्वभाव से हम परमात्मस्वरूप हैं। परंतु मन के साथ हमने ऐसा प्रेम कर रखा है कि मन जिसको चाहता है, उसी को हम सोचते हैं कि हम चाहते हैं। मन जिससे दुःखी होता है, हम सोचते हैं कि हम उससे दुःखी हैं। मन की भाषा हमारी भाषा नहीं है। असत्-जड-दुःखरूप है मन। यह प्रकृति से पैदा हुआ है। हम हैं इससे विपरीत, सच्चिदानन्दरूप। परंतु रात-दिन मन की भाषा बोलने से, जब मन प्रसन्न होता है तब सोचते हैं, 'मैं प्रसन्न हूँ'। इसलिये कहा 'समासक्तम्'। शास्त्र जब कहते हैं कि तुम साक्षी द्रष्टा हो, तब जन्तु कहते हैं 'ठीक है, पर मन नहीं मानता, क्या करें!' जैसे अस्वभाव को स्वभाव बना लिया है, वैसे ही जब मन स्वभाव से परमात्मा में ही लगे, तब बन्धन से मुक्त कौन नहीं होगा! क्योंकि बन्धन आध्यासिक है इसलिये तत्त्वसाक्षात्कार से निवृत्त होता है, उसकी उपलब्धि आत्मा पर शुद्ध मन एकाग्र होने से सम्भव है।।११५।।

मैत्रायणी में ही पूर्वोक्त तथ्य दृढ करने के लिये मन का द्वैविध्य कहा है—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाऽशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम्।।११६।।

मन दो तरह का बताया गया है—शुद्ध और अशुद्ध। कामना आदि के सम्पर्क से मन अशुद्ध तथा उनसे रहित मन शुद्ध है।

यदि चित्त, मन ही संसार है तो सुषुप्ति में मोक्ष होना चाहिये क्योंकि तब मन नहीं रहता। किंतु मोक्ष इसलिये नहीं होता कि तब मन छिपा रहता है! आत्मस्वरूप मोक्षहेतु होता तो मन छिपना मोक्ष हो भी सकता था। किंतु बंधनहेतु की तरह मोक्षहेतु भी मन है। एक

ही मन बंधन और मुक्ति दोनों का कारण है। अतः शास्त्र में यह भी कहा है कि मन से परमात्मा जाना नहीं जाता और यह भी कि मन के द्वारा ही जाना जाता है! ये विरुद्ध बातें नहीं हैं। जैसे, दही नुकसान करता है परंतु दही को चीनी, खाँड के साथ खाया जाये तो फ़ायदा करता है। एक ही चीज़ किसी अवस्था में फ़ायदा, किसी में नुकसान करती है। अनेक ऐसी चीज़ें हैं। गौडपादाचार्य कहते हैं कि अधिकतर योगी यही मानते हैं 'मनसो निग्रहायत्तम् अभयं सर्वयोगिनाम्'। जब तक मन का निग्रह करोगे, रोकोगे, तभी तक तुमको अभय पद की प्राप्ति है। जहाँ उसे नहीं रोका, वहीं फिर भय हो जायेगा। परंतु वेद कहता है कि ऐसा नहीं है। मन बहुत दुःखदायी अवश्य है परंतु जब मन का शोधन हो जाता है, मन शुद्ध हो जाता है तब वही सुखदायी भी है। अशुद्ध मन के कारण नाम-रूप तो दीखते हैं, उनका अधिष्ठान जो सच्चिद्रूप वह नहीं दीखता है। अशुद्ध मन नाम-रूप में आसक्त रहता है। जब तक यह ऐसा रहेगा तब तक बन्धन है। अशुद्धि क्या है? मल, आवरण और विक्षेप—ये अशुद्धि हैं। जब अशुद्धि हट जाती है तब मन शुद्ध हो जाता है। जब मल, आवरण, विक्षेप हट जायेंगे तब मन ब्रह्म को विषय करने वाला रह जायेगा। उस मन में ब्रह्म ही भरा रहेगा। जहाँ कहा है, 'मन से ही जाना जाता है', वहाँ तात्पर्य है कि शुद्ध मन से जाना जाता है। भगवान् भाष्यकार (गीता २.२१) कहते हैं 'शास्त्राचार्योपदेशशमदमादि-संस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्'। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जिस बुद्धि का संस्कार हो गया है वही तत्त्वज्ञान कर लेती है। जो लौकिक बुद्धि है, उससे सत्य का कभी दर्शन नहीं होता। जो लौकिक दृष्टि से सोचने वाले हैं, उन्हें कभी भी ब्रह्मदृष्टि बनती नहीं।

आचार्य शंकर ने इसीलिये ब्रह्मनिष्ठा के लिये सर्वकर्मसंन्यास अनिवार्य बताया। अविद्या से भेददृष्टि और तभी कामना से कर्म सम्पन्न होता है। दिन में बीस घण्टे भेददृष्टि बनाने वाली कर्मिबुद्धि केवल चार घण्टों के अभेदचिंतन से अभेदनिष्ठ नहीं हो सकती। संन्यासी इससे विपरीत, बीस घण्टे अभेददृष्टि बनाता है, प्रारब्धवेग से व्यवहार आवश्यक होने पर चार घण्टे भेददृष्टि रखता है अतः उसकी बुद्धि अभेद में प्रतिष्ठित हो पाये यह संभव है। जब सर्वकर्म संन्यास करता है तब निरंतर अभेद दृष्टि रखना सम्भव होता है। इसलिये शुद्ध और अशुद्ध ये मन के भेद हैं।

मल, विक्षेप, आवरण को हटा चुका जो मन होगा, वह ब्रह्माकार ग्रहण करेगा। स्वरूप से नष्ट नहीं हुआ है लेकिन समासक्त ब्रह्म में है, ऐसा मन शुद्ध समझा जाता है। 'कामसम्पर्क' अर्थात् कामनासम्बन्ध से मन अशुद्ध है। काम से उपलक्षित हैं अविद्या और कर्म भी। अज्ञान से जब नाम-रूप को देखा तब उस में 'यह अच्छा है, यह बुरा है' ऐसी बुद्धि हुई। लड़का-लड़की हाथ पकड़ कर चले जा रहे हैं। अगर भाई-बहन हैं तो तुम्हें दोष नहीं दीखेगा पति-पत्नी हैं तो दोष दीखेगा। जैसे तुम्हारे संस्कार हैं वैसे दोष दीखेगा। इसी प्रकार ब्रह्मसंस्कारों वाले को वही दीखता है, जगत् के संस्कारों वाले को जगत् ही दीखता है। जगत् दीखेगा तो बन्धन शुरू हो जायेगा। अविद्या से होने वाली कामना से मन में

अशुद्धि आती है। कामना से अर्थात् उसके प्रति हेतुभूत भेदबुद्धि से रहित मन शुद्ध है। बिना किसी विषयचिन्तन के, जब तुम शांति से बैठे हो, कोई इच्छा नहीं है, विषय का सम्पर्क भी नहीं है तब भी अपने अहम् का आनन्द लेते हो। मन है, अहम् है, परंतु कोई कामना नहीं होने से आनंद है। लेकिन जब तक अविद्या हटती नहीं है, तब तक कामना का बीज पड़ा रहता है। जिसने श्रवण-मनन किया हुआ है उसके अन्दर ब्रह्मानन्द की वासना पल्लवित-फलित हो रही है, इसलिये वह कामविवर्जित है।

अहंकार की वृत्ति रहते हुए अन्य सारी वृत्तियों का परित्याग हो जाने पर भी वासनानंद आता है। कामना के सम्पर्क से मन अशुद्ध हो जाता है जैसे सोना स्वभावतः शुद्ध होने पर भी खोट मिला देने से खोटा हो जाता है। चीनी और नमक को मिलाकर रख लो, हमें एक ही सफेद चीज़ नजर आयेगी परंतु चींटी को वहाँ चीनी और नमक के कण अलग-अलग नज़र आते हैं अतः वह चीनी खा लेती है, नमक छोड़ देती है। हमारी आँखें यह भेद ग्रहण नहीं कर सकतीं, चींटी की आँखें कर लेती हैं। दो चीज़ें एक-सी दीखने पर भी विविक्त ग्रहण करने की सामर्थ्य होने पर व्यक्ति उन्हें अलग-अलग ग्रहण कर लेता है। पानी हमें साफ दीखता है पर उसे खुर्दबीन के सामने रखते हैं तो हमारी ही आँख उस यंत्र की सहायता से अनेक कीटाणुओं को देख लेती है। इसी प्रकार जब हमारा शम-दमयुक्त मन शास्त्र और आचार्य के उपदेश से संस्कृत होकर देखता है तब उसे सच्चिदानंद ब्रह्म दीखता है। नाम-रूप दीखने पर भी उसको वे मिथ्या दीखते हैं। खुर्दबीन के बिना न दीखने वाली चीज़ें उसकी सहायता से दीखती हैं और उनके रोगादि प्रभाव के कारण उन्हें युक्ति से उपपन्न भी किया जा सकता है। इसी तरह शास्त्रादि के अनुसार सत्तत्त्व का दर्शन है तथा उसका प्रभाव कैवल्य उसे उपपन्न भी करता है। निर्विशेष-साक्षात्कार के बिना वैकुण्ठ तक जाकर भी जय-विजय की तरह जन्म लेना पड़ता है जबकि साक्षात्कार से दृश्यमात्र का बाध हो चुकने पर बंधन की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है, दुःख नाम की चीज़ नहीं रहती।

यह नहीं कहा कि 'ब्रह्मज्ञान से संसार से तर जाओगे' वरन् 'तर जाता है' कहा अर्थात् आत्मज्ञान होते ही शोकनिवृत्ति है क्योंकि वास्तव में शोक है ही नहीं। शुद्ध अंतःकरण वह है जिसके द्वारा ब्रह्मदर्शन होता है, और अशुद्ध मन वह जो नाम-रूप से युक्त ही सच्चिदानन्द को ग्रहण करता है। अशुद्ध और शुद्ध दोनों मनों के प्रभाव सर्वथा अलग हैं। दुःख का मूल कारण क्या है? कामना। हमें जो अच्छा लगता है, वह न मिलने पर दुःख होता है। यद्यपि सुख का भी कारण कामना प्रतीत होती है तथापि उस निमित्त से कामना को कोई छोड़ना नहीं चाहता है! वास्तव में दुःख का ही कारण कामना है यह समझने पर ही कोई उसे छोड़ना चाहता है। इसलिये 'कामसम्पर्क' से कामना के संसर्ग से होने वाले दुःख की तरफ इशारा है। अशुद्धि कामना में यही है कि वह शोक कराती है। जब दुःख का कारण कामना रही नहीं, तब शुद्ध मन में दुःख रहेगा नहीं।।११६।।

शुद्ध-अशुद्ध मन का प्रभाव दिखाते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्।।११७।।

मनुष्यों का मन ही उनके बंधन और मोक्ष के प्रति कारण बनता है। विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिये उपयोगी है जबकि विषय से अनासक्त मन मोक्ष के लिये उपयोगी है।

विषय भूमि में चरने वाला चित्त बताते हुए जीव को 'जन्तु' कहा था (११५) जिससे सभी प्राणियों का संग्रह हो गया। यहाँ कहा 'मनुष्याणां' मनुष्यों का मन ही। मनन करना, विवेक करना—यह मनुष्य में ही है, दूसरे प्राणियों में नहीं है। पशु और मनुष्य का यही अन्तर है। जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सुख दीखता है, उसकी तरफ जाना, और जो दुःख दीखता है उससे दूर जाना—यह तो जन्तुओं का धर्म है। परन्तु मनुष्य में विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो नहीं जाना जाता है, उस सुख के लिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होने वाले दुःख को भी सहन करता है। जैसे, भोजन उपलब्ध होते हुए भी, भूखे होने पर भी, क्योंकि शास्त्र कहता है कि आज एकादशी है अतः नहीं खाओगे तो पुण्य होगा इसलिये भूखे रहते हो। पुण्य अदृश्य है। मनन करके मनुष्य ने निश्चय किया है कि वेद-शास्त्र के वाक्य ठीक हैं। तभी वह प्रत्यक्ष का दुःख सह रहा है ताकि अदृश्य पुण्य हो जिससे भविष्य में कभी सुख मिले। मनन मनुष्य को पशुओं से अलग कर देता है। अनेक मनुष्य, मनुष्य योनि में पैदा होकर भी चाहते हैं कि पशु हो जायें। खाना-कपड़ा-रोजगार—यही मिलना चाहिये ऐसा प्रचार करने वाले लोग खुद तो पशु हैं ही, बाकी को भी पशु बनाना चाहते हैं।

मनन करने वाले का मन बन्धन और मोक्ष का कारण है। मोक्ष का कारण मनन करने वाला मन तथा बन्धन का कारण अशुद्ध मन है। बन्धन का कारण मनुष्य का मन ही है। 'हम बद्ध हैं' यह तथ्य गैरमनुष्यों के सामने प्रकट नहीं है। जो मनुष्य नहीं वे बँधे होने पर भी 'मैं बद्ध हूँ' ऐसा जानते नहीं हैं। जो शास्त्र-आचार्य के उपदेशों से संस्कृत अन्तःकरण वाले नहीं उनको 'हम बन्धन में हैं' यह भान ही नहीं है। 'हम गरीब-अमीर हैं' यह तो पता लग जाता है, लेकिन 'हमें परमात्मा का ज्ञान नहीं है' यह प्रतीति ही नहीं है, जन्म-मरण कोई बन्धन है यह प्रतीति नहीं है। जो विवेकी है, उसी को यह भान होता है कि 'मैं बद्ध हूँ'। इसी प्रकार, स्वरूप से आत्मा नित्यमुक्त है परंतु फिर भी उस मुक्ति से मोक्ष की *प्रतीति* नहीं है। जब मल-विक्षेप-आवरण से रहित अंतःकरण हो जाता है तब ब्रह्माकार वृत्ति बनती है जिससे 'मैं नित्य, शुद्ध, मुक्त, बुद्ध हूँ' ऐसी प्रतीति होती है।

बन्धन और मोक्ष दोनों का ज्ञान मनुष्य के मन को होता है, पशु-पक्षियों को या पशुसमान मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं होता है। कारण क्या है? विषयों में आसक्त होने पर मन अशुद्ध हो जाता है। उस मन से बन्धन की प्रतीति होने पर भी वह बंधन है यह पता नहीं लगता। जो मनन करना चाहता है और कर नहीं पाता, उसे वह बन्धन स्फुट होता है।

जिसका विवेकी मन नहीं है उसके मन में विषयों की आसक्ति न होवे, तो वह मनोवैज्ञानिकों के पास जाता है! निष्कामता को विषयी लोग रोग मानते हैं। जो विवेकी है, जब विषयों की तरफ उसका मन जाता है तब उसे 'मैं बद्ध हूँ' यह स्फुट होता है। जब मन विषयों की तरफ नहीं जाता तब बन्धन का अनुभव नहीं होता। विवेकी ही शांति में सुखानुभव करता है। जो विवेकी नहीं है, वह थोड़ी देर भी शान्ति से नहीं बैठ सकता वासनानन्द भी वहीं स्थिर रह सकता है जिसका मन शुद्ध हो गया है। मुक्ति के लिये वही मन साधन बनता है जो विषय-बंधन से सर्वथा छूट चुका है। वासनानन्द को धीरे-धीरे छोड़कर शुद्ध चेतन में स्थिर हो जाना विवेकी तत्त्वज्ञ के लिये सम्भव है ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है।।११७।।

निर्मल मन में आत्मानन्द की अभिव्यक्ति स्पष्ट करते हैं–

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तद् अन्तःकरणेन गृह्यते।।११८।।

समाधि से निर्मल बनाये मन को प्रत्यक्‌स्वरूप में प्रविष्ट करने पर जो सुख होता है वह शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा पाता, स्वयं ही उस स्थिति में अन्तःकरण से समझा जाता है।

जितना-जितना जीव परमात्मचिन्तन, ब्रह्मध्यान करता है, उतना-उतना ही मल और विक्षेप दूर होते हैं। जैसे कपड़े को जितना क्षार से रगड़ो, उतना ही कपड़ा साफ होगा उसी प्रकार मन को जितना समाधि का अभ्यास कराओगे उतना ही मन पर लगे मल और विक्षेप के संस्कार धुलेंगे। जैसे तुमने दीवाल पर और कोई पक्का रंग पोत लिया, अब रंग बदलना है, सफेद करना है तो तुम्हें अधिक मेहनत करके पुराने रंग को हटाना पड़ेगा। ऐसे ही मन पर विषयों का गहरा रंग चढ़ा हुआ है, इसे लम्बे समय तक जब साफ करोगे तभी वह हटेगा। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो संस्कृत मन है, वह परमात्मवस्तु पर स्थिर होता है। 'समाधिनिर्धूतमलस्य' में मल से विक्षेप को भी समझ लेना। समाधि से जब मल-विक्षेप हट चुकते हैं तब मन परमानन्द पर स्थिर होता है। भगवान् भाष्यकार कर्मत्याग पर इसलिये ही ज़ोर देते हैं। कर्म लगातार विषयों के ही संस्कारों को चढ़ाते हैं। जिसने दीर्घकाल तक समाधि का अभ्यास कर लिया, ऐसे चित्त को आत्मा में घुसाया जा सकता है। पहले शास्त्र और आचार्य के द्वारा उपदेश दिया जाने पर जो ज्ञान प्राप्त होता है, समाधि में उसी में गहरा एवं स्थिर प्रवेश हो जाता है। ऐसा नहीं कि समाधि में ज्ञान नवीन मिले। ज्ञान तो जब पहली बार तत्त्वमसि सुना था, तभी हुआ। परंतु जो सुनाया था उसके अन्दर निवेश, प्रवेश नहीं हो पाया क्योंकि चित्त में संसार का रंग पहले लगा था। जब वह हटा, तब उसी ज्ञान के अन्दर मन प्रविष्ट हो जाता है। आत्मस्वरूप में निविष्ट होने पर अपार, असीम सुख होता है। ऐसे सुख का अनुभव होता है जो न किसी देश की सीमा से आक्रांत है, न काल की, न वस्तु की सीमा से आक्रांत है। इसलिये उसे वाणी के द्वारा बतला नहीं सकते।

वाणी अर्थ बताने में चार प्रकार से ही प्रवृत्त होती है—जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध। तुमने दस ब्राह्मणों को देखा है। हमने कहा 'देवदत्त आया था वह ब्राह्मण है।' तुम्हें कुछ ज्ञान होता है क्योंकि ब्राह्मण जाति से परिचित हो। 'रसोइया था' सुनकर क्रिया द्वारा पता चलता है। हमने कहा 'गोरा था' तो गौर गुण से उसे समझते है। अथवा कहा 'यज्ञदत्त पंडितजी का लड़का है' तो सम्बन्ध से उसे समझा। इस प्रकार, कुछ भी ज्ञान उसके बारे में शब्द द्वारा इन चार से ही प्राप्त कर सकते हो। इन चारों का ज्ञान यदि तुममें है तभी शब्द से समझ आयेगी। मनुष्य देख रखा है और 'देवदत्त मनुष्य है' सुनते हो तो समझोगे अन्यथा। 'देवदत्त' सुननेमात्र से यह पता नहीं लगेगा कि वह मनुष्य है। शब्द से तभी पता लगता है यदि उक्त चारों चीज़ों को तुमने पहले ग्रहण किया हो। अथवा तुम पहले देवदत्त से मिले हो, हम कहते हैं 'देवदत्त आया था', तो भी ज्ञान हो जायेगा। 'असीम' शब्द के अर्थ का ज्ञान अभी तक हुआ ही नहीं है तो 'ब्रह्म' आदि शब्दों से कैसे असीमता का ज्ञान होगा? 'गिरा' अर्थात् शब्द के द्वारा पूर्वज्ञात या ज्ञातसम्बन्ध का वर्णन किया जा सकता है, जबकि ब्रह्म ऐसा नहीं अतः वहाँ जो ब्रह्मरूप परमानन्द का सुख होता है, उसके लिये कोई वाचक शब्द न होने से वाणी से उसको प्रकट नहीं कर सकते। जिसे वह सुख हो रहा है, वही शुद्ध अंतःकरण से उसको ग्रहण करता है। यह गूँगे को आते स्वाद की तरह है जिसे वही जानता है, सही-सही कह नहीं सकता। शुद्ध अंतःकरण के द्वारा पता तो लगता है, स्वयं उसका ग्रहण करने पर भी अन्य को बता नहीं सकते। पहले श्लोक ११४ में कहा था 'सुखमक्षय्यमश्नुते', वह अक्षय सुख कैसा है—उसे यहाँ कहा कि अलौकिक है, इसका अनुभव किया जा सकता है, बताया नहीं जा सकता।

संस्कारहीन को 'मैं बद्ध हूँ' यह भान जैसे नहीं है वैसे मोक्षरूप आनन्द का भान नहीं है। जन्म-मरण के चक्र का ज्ञान शास्त्र से ही हो सकता है। कई बार लोग कहते हैं कि जन्म-मरण तो सब मानते हैं किंतु भारत के बाहर चले जाओ तो कोई विदेशी जन्म-मरण के चक्र को नहीं मानता। जन्म-मरण का चक्र है भारत में जन्मे का। इसलिये है कि यहाँ शास्त्रों के संस्कारों का आधान है। आजकल संस्कार-आधान की प्रक्रिया अवरुद्ध हो गयी अतः अब पढ़े-लिखे भी कहते हैं 'आगे किसने देखा है!' यह वह कहता है जिसको शास्त्र के संस्कारों की प्राप्ति नहीं हुई। 'मैं बद्ध हूँ' यह भी विवेकी मनुष्य का ही ज्ञान है। जब शास्त्र और आचार्य के द्वारा वास्तविकता के संस्कार दृढ हो जाते हैं, तब *पता* लगता है कि जन्म-मरण का चक्र किसी का नहीं है! यह तो केवल रज्जु में सर्प की तरह भ्रान्ति है। आत्मा सदैव नित्य बुद्ध मुक्त है। अज्ञान के कारण हमको जन्म-मरण की प्रतीति है। जन्म-मरण का चक्र जानना बन्धन हुआ, और 'एक बार भी, एक क्षण को भी जन्म नहीं हुआ'—यह जानना मुक्ति है। यह भी शास्त्र और आचार्यों के उपदेश के संस्कारों से ही होती है। इसलिये मन को ही बंधन और मोक्ष का कारण बतलाया। इस प्रकार की समाधि, आत्मा में मन का स्थिर हो जाना, अत्यंत कठिन है, दुर्लभ है। किन्तु इसकी प्राप्ति के बिना ब्रह्मानंद का निश्चय नहीं हो सकता।।११८।।

ब्रह्मानन्द का निश्चय समाधि से कैसे जबकि समाधि ही दुर्लभ है? इसके उत्तर में कहते हैं—

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम्।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ।।११९।।

यद्यपि दीर्घकालिक यह समाधि मनुष्यों को दुर्लभ है तथापि क्षणभर को भी हुई ऐसी समाधि ब्रह्मानंद का निश्चय करा देती है।

तीन घण्टे लगातार चित्तवृत्ति निरुद्ध रहे, उसी को समाधि कहते हैं जो सामान्यतः लोगों के लिये दुर्लभ है। इसलिये उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्मलोक में जो ब्रह्मज्ञान होता है वह जैसे छाया और धूप बिलकुल स्पष्ट पता चलते हैं ऐसे एकदम साफ हुआ करता है। अन्यत्र स्पष्टता में कमी रहती है। इसी प्रकार तीन घण्टे की समाधि के अभ्यास से जो होगा, वह भी अतिस्पष्ट होगा। ब्रह्मलोक के नीचे के लोकों में वैसा स्पष्ट ज्ञान होता नहीं है। कारण है कि तीन घण्टे तक कोई तीव्र प्रारब्ध का उदय न होवे तभी विक्षेप नहीं हो। तीव्र प्रारब्ध के आने पर चाहे जैसा योगी होवे, उसको विक्षेप होगा ही। जो मनुष्य-लोक में आया है उसके पुण्य और पाप करीब-करीब एक जैसे होते हैं। इसलिये हमारा कभी एक घण्टा भी ऐसा नहीं होता जिसमें सुख ही सुख होवे, दुःख न होवे। इसी तरह हम लोगों का कोई दुःख प्रायः ऐसा नहीं होता जिसके बीच में सुख न होवे। कोई एक घण्टा भी ऐसा नहीं होगा कि कोई-न-कोई प्रारब्ध सुख या दुःख देने वाला उदय न होवे। तीव्र प्रारब्ध होगा तो ज़रूर सुख-दुःख देगा। इसलिये कहा 'नृणाम्'। जिनके अच्छे कर्म-उपासना हैं वे ब्रह्मलोक को जाते हैं वहाँ उन्हें दीर्घकाल की समाधि संभव है। आत्मा में एकाग्रता दीर्घकाल तक प्राप्त होना अत्यंत कठिन है।

आत्मा में चित्त की स्थिरतारूप समाधि ही अधिक कठिन है, अन्य समाधियाँ ऐसी दुर्लभ नहीं हैं, वे तो लग भी जाती हैं। इसका मूल कारण है कि मन माया से पैदा हुआ है और माँ को बच्चे से बहुत प्रेम होता है इसलिये माया मन से कहती है, 'तू यहाँ तो द्वैतक्षेत्र में जैसी समाधि लगानी चाहे लगा ले, लेकिन यदि अद्वैत में समाधि लगा ली तो मेरे हाथ से ऐसा निकल जायेगा कि कभी हाथ नहीं आयेगा'! इसलिये माया मन को सारी चीज़ें देने को तैयार है, यह समाधि नहीं देना चाहती। कर्मफल उदय होना ही मानो माया का इसमें विघ्न का प्रयास है। तथापि जीव के कल्याण की आशा है क्योंकि आत्मनिश्चय के लिये ऐसी दीर्घकाल की समाधि की अनिवार्यता नहीं है। क्षणभर को भी जो ब्रह्मानन्द मिल जाता है उसी से शास्त्रीय बोध को बल उपलब्ध हो जाता है। चित्त सारी चिन्ताओं से छूटे, विषय ग्रहण न करे और अहंकार भी लुप्त हो—ऐसा क्षणभर के लिये भी हो जाये तो ब्रह्मानंद का पता लग ही जाता है। शास्त्र से निर्धारित तथ्य की इतनी झलक भी निश्चय के लिये पर्याप्त हो जाती है। उस क्षणिक अनुभूति के बल पर शास्त्रोक्त सत्य को अनुमान का सहारा भी उपलब्ध हो जाता है।

जब वासनानंद का अनुभव होता है, जब केवल अहंकार-वृत्ति है, उस वृत्ति को भी जब आत्मा में एकाग्र करते हो, अहंकार लुप्त-सा हो जाता है, उस समय केवल आनंद का ही भान रहता है। उस क्षणिक ब्रह्मानंद के तुरन्त बाद प्रारब्ध फिर जग जायेगा, लेकिन उतना भी साक्षात्कार ब्रह्मानन्द का निश्चय करा देता है। अहंकार, विषयज्ञान और वासना न होने पर भी जो क्षणभर को हुआ, वह निश्चय करा देता है कि आत्मा असीम आनन्द है।

इतना भी अनुभव हुए बिना ब्रह्मानंद का निश्चय नहीं होता है। लोगों को लगता है कि कुछ मिलने से सुख होता है। 'मैं सुखस्वरूप हूँ' यह निश्चय नहीं होता है। ब्रह्म की आनंदरूपता को सुनकर लोग दीर्घकाल में भी ऐसा निश्चय नहीं कर पाते। अब आनंदस्वरूप ब्रह्म है—यह निश्चय उसी को होगा जिसे शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा है। 'वही अनुभव सच्चा है' यह तो शास्त्र से ही निर्णय होगा। जैसे रस्सी में साँप को भी तुमने देखा। रोशनी आने पर रस्सी को भी देखा। अगर तुमको यह निश्चय है कि रोशनी वाला ज्ञान सच्चा होता है तभी उसे प्रमाण मानकर सर्प का भ्रम मानोगे। कोई शंका करे कि 'रोशनी वाले रस्सी के ज्ञान को ही हम सच्चा क्यों मानें?' तो निश्चय नहीं होगा। जिसको यह श्रद्धा है कि रोशनी में जो दीखता है वही सच्चा होता है, उसको रस्सी है यह निश्चय हो जायेगा। इसी प्रकार अहंकार का लोप होने पर जो आनंद है, उसका अनुभव तो योगियों को भी हो जायेगा, परंतु वह सच्चा है इसका निश्चय उसी को संभव है जो शास्त्र पर श्रद्धा रखता है।।११९।।

श्रद्धा और तत्प्रेरित अभ्यास से निश्चय की उपलब्धि समझाते हैं—

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा।
निश्चिते तु सकृत् तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाऽप्ययम्।।१२०।।

'किसी भी तरह से यह स्थिति सम्पन्न करूँगा' इस आग्रह वाला श्रद्धावान् समाधि में तो निश्चय करता ही है किन्तु एक बार निश्चय हो जाने पर अन्य दशाओं में भी उस तथ्य पर विश्वास स्थिर रखता है। ('सर्वथा' की जगह 'सर्वदा' कल्याणपीयूषटीका के अनुसार पाठ है।)

आत्मदर्शन के लिये, श्रवण-मनन-निदिध्यासन भी कर लिये, पर 'आत्मा ब्रह्मानन्दस्वरूप है' यह निश्चय नहीं कर पाते। हमें संस्कार है कि कुछ मिले तो आनंद होवे। अतः 'ब्रह्म का आनन्द' तो समझ में आता है लेकिन ब्रह्म *ही* आनंद है—यह निश्चय नहीं हो पाता। जब तक ब्रह्म की आनंदरूपता का निश्चय नहीं रहेगा, तब तक व्यक्ति बहिर्मुख होगा। जब यह निश्चय होगा कि 'आनन्द-स्वरूप तो मैं खुद ही हूँ' तब किसी चीज़ के लिये मन कामना नहीं करेगा। बहिर्मुखता से पता लगता है कि अभी बाहर की चीज़ों से सुख लेने की प्रवृत्ति है। ब्रह्म की आनन्दरूपता में कारण है श्रद्धा। निर्विषय आनन्द का क्षणिक अनुभव होकर भी निश्चय तब होता है जब साधक श्रद्धालु होवे अर्थात् स्वीकारे कि शास्त्र जो कहता है वह सच्चा है, इंद्रियों और मन से जो जाना जाता है, वह मिथ्या है।

यह निश्चय केवल श्रद्धा से ही होता है।

श्रद्धा के साथ दूसरी चीज़ बतलाई व्यसन। व्यसन का मतलब होता है जिस कार्य को किसी विपरीत हालत में भी छोड़ नहीं सकें। ब्रह्मानंद पाये बिना जिससे रहा नहीं जाता वही वासनानन्द के द्वारा ब्रह्मानन्द का निश्चय करने का अभ्यास करेगा। शुरू में तो लगता है कि क्षणिक सुख में क्या रखा है? लेकिन जो व्यसनी है वह 'मुझे ब्रह्मानंद ही प्राप्त करना है' इस हठ से बार-बार इसी का अभ्यास करेगा जिससे उसका अहंकार भी लुप्त होगा और धीरे-धीरे ब्रह्मानंद के संस्कार दृढ हो जायेंगे। क्षणिक होने पर भी बार-बार का अभ्यास करने से यह निश्चय दृढ हो जाता है। श्रद्धा और व्यसन इन दो गुणों वाला इसका निश्चय अवश्य प्राप्त करता है। मनन और अनुभव की आवृत्ति से सारे संशयों को हटा देना आवश्यक ही है। 'मैंने किया तब आनन्द हुआ' ऐसा नहीं समझकर स्थित आनंद का अनुभव किया—यह समझना चाहिये। जैसे 'मैंने रोशनी लाकर साँप को रस्सी बना दिया' ऐसा नहीं, उसी प्रकार ब्रह्मानंद हम बनाते नहीं वरन् उसे प्राप्त करते हैं। प्रमुख है ऐसा निश्चय करना जिसे प्रतिबद्ध करने वाला कोई संशय न रह जाये।

श्रवण-मनन से ब्रह्म की आनंदस्वरूपता का एक बार निश्चय क्षणभर को भी होने पर तो केवल समाहित स्थिति में नहीं, अन्य स्थितियों में भी विश्वास बना रहता है कि वास्तविकता वही है। समाधि में जो सत्यापित हुआ वह व्युत्थान में भी सत्य ही समझा जाता है, चाहे वैसा ग्रहण न किया जा रहा हो।

नाम-रूप का व्यवहार करते हुए भी, उसका यह निश्चय नहीं जाता कि आत्मा निर्विकार पूर्ण आनन्द है। ऐसे समझो : कोई सज्जन पुरुष है, किसी पराई स्त्री को कुदृष्टि से नहीं देखता। उसे रामलीला में रावण बना दिया। सीता को लेकर दौड़ता है तो क्या वह कामुक हो जाता है? ऐसा नहीं, क्योंकि जानता है कि सीता भी कोई लड़का ही बना है! वैसे भी वह कामुक व्यक्ति है नहीं। इसी प्रकार प्रारब्धवेग से उपाधि का ग्रहण होने पर भी उसे विषय के मिथ्यात्व का और अपने अभोक्तापने का निश्चय है अतः ग्रहण से वह विकृत नहीं हो जाता। बाकी सब उसे भले ही बुरा आदमी समझें पर उसमें कामना आदि नहीं है जैसे सीता बने लड़के के प्रति रावण बने लड़के की कामना नहीं है। 'मैं अभोक्ता हूँ, और ये सारे नाम-रूपात्मक विश्व मिथ्या हैं' यह जब निश्चय हो गया, तब शरीर-मन की प्रवृत्ति से विश्वास में कोई अंतर नहीं आता।।१२०।।

उक्त विश्वास का प्रभाव बताते हैं—

तादृक् पुमान् उदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम्।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः।।१२१।।

ऐसा व्यक्ति उदासीनता के समय भी वासनानन्द की उपेक्षा कर तत्पर हुआ मुख्य आनन्द की भावना करता ही रहता है।

जिसने श्रद्धा और व्यसन के द्वारा निश्चय को प्राप्त कर लिया है ऐसा व्यक्ति वासनानंद का सुख तुच्छ जानकर उसे छोड़ता है। अहंकार का जब लोप हुआ, तब ब्रह्मानंद का उसने निश्चय कर लिया है। तदनन्तर उदासीन काल में, अर्थात् जब कुछ नहीं कर रहा है, शांति से बैठा है तब पुनः मुख्यानन्द को याद करता है। पहले वासनानन्द का प्रयोग करता था मुख्यानन्द ग्रहण करने के लिये। श्लोक ६४-६५ में यह समझाकर श्लोक ६८ में कहा था कि वासनानन्द से मुख्यानन्द का अनुमान होता है। पहले अनुमान के लिये वासनानन्द की ज़रूरत रहती थी। लेकिन अब जब निश्चय दृढ हो गया तब उदासीन काल में भी वासनानन्द की उपेक्षा ही करता है। जो मुख्य आनंद है, जिसके कारण यह हो रहा है, उसी की तत्परता से भावना करता है। शनैः शनैः वासनानन्द से भी हमें हट जाना है। इसलिये उस मुख्य आनंद की ही बार-बार भावना करता है। वासनानंद के अनुभवकाल में उसके रसास्वाद में नहीं लग जाता, उसके अन्दर मुख्य आनंद पर दृष्टि एकाग्र करता है।।१२१।।

असमाहित अवस्था में भी समाधि के अनुभव में दृष्टान्त देते हैं—

परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्।।१२२।।

पराये पुरुष में आसक्त उसकी संगति के दुर्व्यसन वाली स्त्री अपने घर के काम में व्यस्त होने पर भी मन ही मन परपुरुष के संग के उसी रस का मानो स्वाद लेती रहती है।

यह दृष्टान्त ध्यानदीप श्लोक ८४ में समझा चुके हैं। अपने पति पर आसक्त स्त्री के लिये तो गृहकार्य भी पतिसेवारूप होता है। लेकिन अन्यत्र आसक्त को गृहकार्य अनिवार्यता प्रतीत होता है, उसमें कोई सुख नहीं मिलता अतः अन्यत्र अनुभूत सुख का वह स्मरण करती रहती है या भावी सुख की कल्पना करती रहती है। गृहकार्य तो जैसे-तैसे पूरा ही करती है, उसके गुणादि में उसे आदर नहीं होता। इसी प्रकार विद्वान् का गृहकर्म है शरीर-रक्षार्थ जो कुछ करना पड़े। शरीर को घर बताया जाता है। 'शारीर कर्म' करना आवश्यक है ही किंतु उसमें विद्वान् को कोई प्रसन्नता नहीं होती। व्यग्रता से, जैसे-तैसे होकर ख़त्म हो—इस तरह वह उसे संपन्न करता है एवं तब भी समाधि में जो परमेश्वर का संग, अभेद स्पष्ट हुआ था उसका स्मरण करता है। जैसे रोगनिवारक औषध रसायन प्रसिद्ध है वैसे जन्मजरादि स्थायी रोग का समापक वह परसंग ही रसायन है जिसका अंतः अर्थात् चित्त में वह आस्वादन, स्मृतिरूप अनुसन्धान करता रहता है।।१२२।।

उक्त दृष्टान्त का प्रकृत में तात्पर्य स्वयं व्यक्त करते हैं—

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः।
तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि।।१२३।।

इसी प्रकार शुद्ध परमार्थ वस्तु के बारे में जो निश्चय वाला है अतः विश्राम पा चुका है वह बाह्य व्यवहार करते हुए भी भीतर उसी का स्वाद लेता रहता है।

जैसे परपुरुष के संग से सुखी हुई नारी वैसे समाधि में अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार कर चुका पुरुष उस बारे में दृढ निश्चयी होता है। वैसी स्त्री को कभी शंका भी नहीं होती कि परप्रसंग में क्लेश भी है! ऐसे ही विद्वान् परमार्थ के बारे में निःसन्दिग्ध होता है। 'तत्त्वे' आदि में सप्तमी विषयार्थक है अर्थात् इस विषय में जो धीर, धीमान् है, विद्वान् है। परमार्थ का मतलब है कि अविद्या और उसके कार्यों से अस्पृष्ट है। शुद्ध अर्थात् परोक्षतारूप मल भी उसमें है नहीं। ऐसा जो तत्त्व अर्थात् सत्य वस्तु है उसका जिसने दृढ निश्चय कर लिया तथा उसे कभी विस्मृत नहीं होने देता वह यद्यपि व्युत्थानकाल में अनात्मव्यवहार करता है तथापि उसका मन समाधिसुख के स्मरण से ही प्रसन्न रहता है। विषय-सम्पर्क उसे किंचित् भी सुख दे नहीं पाता, इसकी सामर्थ्य से अतिशय अधिक सुख उसे परमार्थानुसंधानमात्र से सुलभ रहता है। आस्वादन अर्थात् सुखस्मृति से भी सुख लेना। इससे उसी का संस्कार दृढ होता जाता है, संसार के संस्कार पड़ नहीं पाते अतः धीरे-धीरे बहिर्मुखता घटकर समाहितता स्थायी हो जाती है।।१२३।।

पूर्व श्लोक में आये 'धीर' शब्द का अर्थ बताते हैं—

धीरत्वम् अक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवाञ्छया।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्तनम्।।१२४।।

इन्द्रियाँ पुष्ट रहने पर भी परमानन्द का स्वाद लेने की इच्छा से सब इन्द्रियों का तिरस्कार कर आनन्द के अनुसन्धान में ही तत्पर रहना 'धीरता' है।

ऐसा नहीं कि विद्वान् की विषय-व्यवहार की सामर्थ्य क्षीण हो। उसकी इन्द्रियों में दुर्बलता नहीं, वे पुष्ट रहती हैं, विषय सामने रहने पर उधर आकृष्ट होने में समर्थ हैं, फिर भी विद्वान् उनकी उपेक्षा करता है, उन्हें महत्त्व नहीं देता क्योंकि उससे अधिक जो परमानन्द उसे चखते रहना चाहता है। यह वांछा, चाहना इसलिये सहज स्वाभाविक है कि सभी को अधिकाधिक आनन्द में सराबौर रहना अभीष्ट ही है। अज्ञानी भी यह चाहता है भले ही भ्रमवश अनात्मा को आनन्दहेतु मानकर उधर उन्मुख हो। ज्ञानी का भ्रम मिट चुकने से अनात्मा से वह आकृष्ट नहीं होता फलतः आत्म-सुख लेते रहना स्वभावतः प्राप्त है। इसे इस प्रसंग में धीरता कह रहे हैं। अन्यत्र भी उपनिषत् कहती है कि इंद्रियाँ जिसकी बहिर्मुख नहीं रही वही धीर है जो अमरता चाहते हुए प्रत्यक्स्वरूप का साक्षात्कार पाता है (कठ. २. १.१)। यहाँ भी धीर में समझपूर्वक स्थिरता से चिंतन कह रहे हैं जिससे धैर्य का लोकसिद्ध अर्थ भी संगृहीत हो जाता है। 'अखिल' अक्षों का अर्थात् एक को भी छोड़े बगैर सब इन्द्रियों का तिरस्कार करने पर जो एकनिष्ठ चिंतन उसमें संलग्नता को यहाँ धैर्य कह रहे हैं। अखिल कहने से मन का भी संग्रह हो गया। चिन्तन उससे करना है फिर भी तिरस्कार अर्थात् संकल्पादि जो मन के स्वाभाविक कृत्य उन्हें वह न कर पाये, उसके लिये मन प्रेरित करे तो व्यक्ति उस दिशा में सोचने का तिरस्कार कर दे। इसी तरह यदि पढ़ना-सुनना ज़रूरी हो

तो आँख-कान का प्रयोग भले ही करे, अनात्म-दर्शन-श्रवणादि में प्रवृत्ति न करे। संभव हो तो सब इंद्रियाँ निगृहीत कर मन भी वृत्तिहीन कर ले ताकि समाधिलाभ बना रहे। 'प्रवर्तन' से सूचित किया कि सब इन्द्रियों को चिन्तन में लगाना चाहिये अर्थात् सारे व्यवहार चिन्तनोपयोगी बनें, विरोधी नहीं।।१२४।।

श्लोक १२३ में आये 'विश्रान्ति' शब्द का अभिप्राय व्यक्त करते हैं—

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः।।१२५।।

भार ढोने वाला सिर पर रखे भार को उतार कर आराम पाने पर जैसे निश्चय वाला होता है, सांसारिक व्यवहार छोड़ने पर वैसा निश्चय होना यहाँ 'विश्राम' कहा है।

पहाड़ आदि पर सामान पहुँचाने के लिये सिर पर ढोना पड़ता है। उपायान्तर रहते कोई उसे ढोना नहीं चाहता, अनिवार्य हो तभी ऐसा कार्य करता है। अनिच्छा से भार ढोने वाला जब गंतव्य पर पहुँचकर भारमुक्त होता है तब 'कार्य समाप्त हुआ, अच्छा हुआ' यह अनुभव करता है। इसी तरह विवेकी संसारव्यवहार प्रारब्ध की अनिवार्यता से ही करता है। उसमें थोड़ा भी रस आता नहीं अतः आवश्यक व्यवहार पूरा होते ही उसे छोड़कर राहत महसूस करता है, उसके बारे में स्मरणादि कुछ नहीं करता। प्रपंच-मिथ्यात्व के निश्चय से उसे मालूम है कि दृश्य कुछ तात्त्विक है नहीं अतः अपनी ओर से प्रवृत्ति संभव नहीं, प्रारब्ध से ही आवश्यक चेष्टा कर लेता है। भार ढोने की तरह अच्छे-बुरे प्रारब्ध का वह निर्वाह करता है। करते हुए भी निश्चय रहता है कि होना कुछ नहीं है। अतः प्रारब्ध का वेग निवृत्त होते ही सुख से स्वरूपास्वादन में तृप्ति का अनुभव करता है। संसार कहते ही निरन्तर सरकने वाले को हैं अतः इसके स्तर पर रहें तो कोई कार्य पूर्णतः कभी समाप्त हो नहीं सकता। अतः विवेकी केवल बोझ की तरह समझकर इसका वहन कर देता है। प्रारब्ध रुकने पर निर्विषय स्थिति में स्वरूप का आनन्द यथावत् भासता है। अतः संसार-संपर्क रुकने पर अकेलेपन से या कुछ करने-जानने को न होने से विवेकी खिन्न नहीं होता वरन् परमानन्द का आस्वादन करता है। संसार से जुड़ना पसंद से नहीं, संसार छूटने पर वह पसंद से समाहित रहता है।।१२५।।

श्लोक १२३ में 'तदेव आस्वादयति', उसी को चखता है ऐसा कहा था। इसमें धीरता चाहिये, उसे बताया और 'आराम पाकर चखता है' के लिये भारवाही का उदाहरण दिया। 'व्यवहार करते हुए भी' जो कहा था उसी का उल्लेख करते हुए श्लोक १२० से चले प्रसंग का निगमन करते हैं—

विश्रान्तिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा।
सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः।।१२६।।

निःसीम आराम पाया विवेकी उदासीन दशा में जैसे आनंद चखने में तत्पर होता है वैसे विद्वान् सुख-दुःख भोगते समय भी उसी आनन्द को चखने में तत्पर रहता है।

घर के कामों में व्यग्र होने पर भी जैसे परसंग-रसायन का आनंद लेना सम्भव होता है, (श्लोक १२२) वैसे ही सुख-दुःख की दशा में भी परमेश्वरस्वरूप के आनंद का आस्वादन संभव होता है। प्रारब्ध होने से शरीर व्यवहार करता है, इससे सुख-दुःख भी होगा। उस दशा में भी निष्ठावान् विद्वान् की तत्परता स्वरूपभूत ब्रह्मानंद ग्रहण करने में रहती है। उदासीन दशा में जैसे वासनानंद छोड़ता है वैसे व्यवहारदशा में बाह्य भोग के आस्वादन की उपेक्षा करता है। इस प्रकार वह वास्तविक आनंद में ही परायण रहता है। वह सांसारिक सुख-दुःख के भोग से अपने को सुखी-दुःखी नहीं बनाता। जैसे घर का काम करते हुए काम के अच्छे-बुरे होने की चिन्ता उस स्त्री को नहीं होती जिसकी तत्परता किसी अन्य आनंद के लिये है इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म जो सुख-दुःख देता है, उसके परायण विद्वान् नहीं है। दुःख-सुख तो यथावत् लगते हैं, पर उनमें वह दुःखी-सुखी नहीं होता क्योंकि जानता है कि ये तो हट जायेंगे और उदासीन अवस्था वाला निजानंद प्राप्त हो जायेगा। उदासीन काल में परम विश्राम की प्राप्ति केवल दृष्टान्त है। है वहाँ भी विद्वान् ब्रह्मानंद के परायण, न कि वासनानन्द के। प्रारब्ध का सुख-दुःख भोगता तो है, परन्तु उसका तात्पर्य इसमें नहीं है वरन् परमार्थ आनन्द में है। इस प्रकार 'अन्यदाप्ययं विश्वसिति' (श्लोक १२०) में जो व्युत्थानदशा का प्रसंग उठा था उसके बारे में समझा दिया।।१२६।।

सुख के प्रति प्राणिमात्र का प्रेम होता है। दुःख सब को प्रतिकूल लगता है। इसलिये विद्वान् दुःख के लिये प्रवृत्ति न करे यह सम्भव है परंतु विषय से जो सुख होता है, उसमें अनुकूलता है इसलिये उसके लिये प्रयत्न क्यों नहीं करता है? सुख के काल में उस सुख को क्यों नहीं तात्पर्य से लेता? इस शंका के समाधानार्थ दूसरा दृष्टांत देते हैं—

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसन्धानविरोधिनि।।१२७।।

आग में जलने के लिये आवश्यक शृंगार के प्रति जैसी बुद्धि हुआ करती है, धीर को परमानन्द के अनुसन्धान में विरोध करने वाले विषय में वैसी ही बुद्धि होती है।

जब स्त्री सती होने के लिये आग में प्रवेश करने जाती है तब वह सोलहों शृंगार करती है, परन्तु अग्नि-प्रवेश के योग्य बनने के लिये जो शृंगार किया जाता है, उस शृंगार में तात्पर्य नहीं होता है। मनु कहते हैं कि जब पति दूर गया होवे तब पत्नी किसी भी प्रकार का शृंगार न करे। अतः जब पति मर गया, प्रेत हो गया तब यह शृंगार करेगी क्यों? अतः इस शृंगार से उसका तात्पर्य तो नहीं है, रुचि तो नहीं है परन्तु विधि है अतः करती है। इसी प्रकार बुद्धि भी ज्ञानाग्नि में, ब्रह्माकार वृत्ति में जल जायेगी, ख़त्म होने वाली है। ज्ञानाग्नि से पूर्णतः जलने से पहले विधि कहती है कि प्रारब्ध को भोगना है। प्रारब्ध में सुख भी, दुःख भी है।

जैसे सती होने वाली स्त्री को शृंगार में तात्पर्य नहीं है पर करती है उसी प्रकार आत्मज्ञान होने के बाद प्रारब्ध विधि से वह सुख-दुःख का भोग करती तो है, परन्तु उसमें तात्पर्य नहीं है। आत्मा के अनुसन्धान की प्रक्रिया में विषयव्यवहार अत्यन्त रुकावट डालता है अतः उसका विरोधी है। विषय-भोग के दौरान ही नहीं उसे प्राप्त करना आदि सब अत्यन्त बहिर्मुखता लाता है। इसलिये विवेकी किंचित् भी रुचि से उधर प्रवृत्त नहीं हो सकता, अनिवार्य व्यवहार सती के शृंगार की तरह कर लेता है। सुख की इच्छा से वह नहीं करता है क्योंकि जो सुख मिलेगा भी वह निजानंद की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ है।

प्रारब्धमात्र से अपेक्षित को वह सम्पन्न करता है। किसी भोग को स्थिर रखना चाहे—यह तत्त्वज्ञ के लिये सम्भव नहीं। नारदपरिव्राजकोपनिषत् (३.६१) में बताया है 'नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्। कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा।' दफ्तर के बाहर बैठा चपरासी न चाहता है किसी काम से उसे बुलाया जाये, न यह कि मत बुलाया जाये, केवल बैठता है कि बुलाया तो चला जायेगा; इसी प्रकार विद्वान् न चाहता है कि मौत बुलाये, न यह कि मत ही बुलाये, केवल निजस्वरूप के अनुसन्धान में रहकर काल-निर्देश की प्रतीक्षा करता है। बहिर्मुखता से सर्वथा बचता है। मन्द-तीव्र-तीव्रतर भेद से तीन तरह के प्रारब्ध हैं, मन्द की उपेक्षा कुछ सरल है, तीव्र की कठिन है, तीव्रतर भोगना पड़ता ही है। मंद के लिये विशेष आयास नहीं चाहिये अतः स्वरसतः मिलने से कम विक्षेपक है। किसी से मिलने गये, उसने रसगुल्ला खिला दिया, इसमें रसगुल्ले के लिये बहिर्मुखता बहुत कम होती है। तीव्र को भोगने में इससे ज़्यादा एवं उससे भी ज़्यादा होती है तीव्रतम के कारण। अनिवार्य को भी केवल 'आवश्यक है' इस दृष्टि से भोगता है क्योंकि सती को शृंगार की तरह विद्वान् को भोग किसी महत्त्व का नहीं प्रतीत होता।।१२७।।

पूर्व श्लोक में विषय के लिये 'अनुसन्धानविरोधिनि' विशेषण दिया था। इससे लगता है कि कोई विषय अविरोधी भी होगा अतः प्रश्न होता है कि ब्रह्मानुसन्धान भी करे एवं कोई अविरोधी विषय भी ग्रहण करे यह कैसे सम्भव है? उदाहरण सहित उत्तर देते हैं—

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवद् इतस्ततः।।१२८।।

विद्वान् की बुद्धि अविरोधी सुख और स्वरूपभूत आनन्द—इनमें क्रमशः गमन-आगमन करती रहती है जैसे कौवे की आँख इधर से उधर जाती रहती है।

जो विषयभोग प्रारब्धवश अनिवार्य है, न्यूनतम बहिर्मुखता की अपेक्षा वाला है उसको ग्रहण करने के लिये विषयदृष्टि बनाता है। बिना प्रयत्न किये मिले सुख में 'यह ब्रह्मसुख ही उपाधिपरिच्छेद में उपस्थित है' ऐसी दृष्टि बनाकर उसका भोग संभव है। ऐसे भोगों में बहिर्मुखता अत्यल्प होने से ये अविरुद्ध हैं। जैसे ही इस प्रकार का भोग पूरा हो वैसे ही पुनः विद्वान् अन्तर्मुख होकर ब्रह्मानन्द लेता है। भोग में भी ब्रह्मदृष्टि करने से औपाधिकता की

परिच्छिन्नता याद आने से उधर अधिक रुचि न हो पाने से शीघ्र ही ब्रह्मानन्द पर दृष्टिपात करता ही है। उसकी बुद्धि दोनों आनन्द क्रमशः ग्रहण करती रहती है। विषयभोग आते-जाते रहते हैं, ब्रह्मानन्द निरन्तर विद्यमान है अतः प्रारब्धवश भोग देखकर प्रारब्धवेग समाप्त होते ही ब्रह्मानंद ग्रहण करने लगता है। विषयानन्द में भी, आनन्द को वह ब्रह्मरूप ही जानता है। क्रम से ग्रहण सम्भव होने से इनमें कोई विरोध नहीं। इसमें उदाहरण है कौवे की आँख।।१२८।।

ब्रह्मात्मानुभव और द्वैतदर्शन क्रमशः होता है, भोगहेतु प्रारब्ध न रहते समाधि में ब्रह्मबोध एवं प्रारब्धकाल में द्वैतदर्शन। विवरणाचार्य ने (पृ. ६७१ विव.द.मू.मठ.) यह समझाया है। तदनुसार बताया कि काकाक्षिकी की तरह बुद्धि दोनों ग्रहण करती है। काकाक्षिका दृष्टांत स्पष्ट करते हुए विद्वान् की स्थिति स्पष्ट करते हैं—

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मतिः।।१२९।।

कौवे की आँख का डोया एक ही होता है जो बाँयी-दाँयी आँखों में जाता-आता रहता है; इसी तरह तत्त्ववेता की बुद्धि ब्रह्मानन्द और विषयानन्द में जाती आती रहती है।

कौवे के बाँये और दाँये नेत्र में एक ही देखने वाला डोया है। हम लोगों के दो डोये होने से लाभ क्या है? कैमरे से लम्बाई-चौड़ाई का चित्र तो आता है, गहराई का नहीं आता। दो कोणों से अलग चित्र लो, उन्हें ढंग से इकट्ठा करो तो गहराई समझ आती है। इसी प्रकार एक आँख से गहराई का पता नहीं लगता। कौवे की एक और हमारी दो दृष्टियाँ हैं। अतः हमें गहराई का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार, हम लोग भी कौवे की तरह हैं! क्योंकि संसार के विषयों को देखने वाली एक ही दृष्टि हमारे पास है। विषयों को देखते हैं, उसके अधिष्ठान को नहीं देख पाते। आत्मज्ञान की जब उच्च भूमिका पर रूढ हो जाता है या विदेहमुक्त हो जाता है तब उसकी केवल ब्रह्मदृष्टि है, संसार का, नाम-रूप का कोई ज्ञान नहीं रहता है। जो जीवन्मुक्त है, उसकी दोनों दृष्टियाँ हैं। प्रारब्धभोग-काल में संस्कारों के अनुसार उसकी बुद्धि वैषयिक सुख को भी देखती है तथा जब प्रारब्धभोग-काल नहीं है, उस समय निजानंद के अन्दर उसको ब्रह्मानंद की प्रतीति रहती है। उसे निर्विषय आनंद की और विषयानंद की भी प्रतीति होती है। बिना किसी प्रयत्न के जो सुख प्राप्त हो गया, उसके अन्दर भी नाम-रूप के अधिष्ठानरूप से वह सुख को जानता है। 'दृष्टि' मायने जिससे प्रतीत होता है; बुद्धि भी प्रतीति का साधन है। अनादि संस्कारों वाली बुद्धि से विषयदर्शन और शास्त्र-आचार्य के उपदेश के संस्कारों वाली उसी बुद्धि से अधिष्ठान-दर्शन भी कर लेता है। जैसे कौवे की आँख इधर-उधर आती-जाती है, इसी प्रकार जिसने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया, उसकी बुद्धि अनायास प्राप्त विषयसुख और निर्विषय सुख दोनों को समझ लेती है। ज्ञानी की बुद्धि एक है। परंतु कभी लौकिक इंद्रियों से देखती है तो विषयसुख ग्रहण कर लेती

है, कभी शास्त्र-आचार्य-उपदेश के संस्कारों के अनुसार देखती है तो अधिष्ठान का दर्शन करती है। दोनों ही चीज़ों को उसकी बुद्धि जान लेती है। तत्त्वज्ञानी प्रारब्ध के सुख को भी परमात्मसुख जानता है, उस काल में भी उसे ब्रह्मानंद की पहचान रहती है। जब प्रारब्ध-भोग नहीं मिल रहा है, उस समय उदासीन अवस्था में, परमविश्राम को प्राप्त किये हुये वह निर्विषय आनन्द को ग्रहण करता है। आनंद की ब्रह्मरूपता दोनों दशाओं में उसे स्पष्ट है।।१२६।।

अन्य दृष्टान्त से भी दोनों का साथ सम्भव दिखाते हैं—

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च तत्त्ववित्।
द्विभाषाऽभिज्ञवद् विद्याद् उभौ लौकिकवैदिकौ।।१३०।।

दो भाषायें जानने वाला जैसे दोनों से अर्थ समझता है वैसे तत्त्ववेत्ता विषयानंदरूप लौकिक और ब्रह्मानंदरूप वैदिक, दोनों सुख अनुभव करता है।

भाषा दो तरह की चीज़ों को बतलाती है। एक, जो इंद्रियों के द्वारा जानी जाती हैं। भाषा नहीं होवे तो भी उन चीज़ों को हमारी इंद्रियाँ जान लेती हैं। जैसे पानी ठंडा, तरल, स्वादिष्ट, मीठा है—यह इंद्रियों से जान लेंगे। जिसको हम इंद्रियों से जानते हैं, उसे भी भाषा से कहा जा सकता है, परंतु जिन चीज़ों को इंद्रियों से नहीं जानते, ऐसी चीज़ों का भी भाषा से ज्ञान होता है। जैसे प्रेम को तुम देख, चख, सूंघ आदि नहीं सकते। उसे केवल भाषा से ही जान सकते हो। जिन चीज़ों का ज्ञान केवल भाषा से होता है, उन्हें एक भाषा से कह सकने पर भी दूसरी भाषा से नहीं कह पाते। जैसे संस्कृत में स्नेह और प्रेम अलग भाव हैं। यदि अन्य भाषा में उन्हें कहने के लिये शब्दभेद नहीं है तो उनमें भेद बतला नहीं सकते। हमारे यहाँ देव, सुर, ईश, ईश्वर अलग-अलग शब्द हैं। अंग्रेजी में इन भेदों को कह ही नहीं सकते, इन सब अर्थों के लिये 'गॉड' एक ही शब्द है। उस भाषा से इन भेदों को नहीं जाना जा सकता।

यहाँ 'द्विभाषाभिज्ञ' से तात्पर्य है जो लौकिक तथा वैदिक दोनों को समझ सकता है। लौकिक अर्थात् इंद्रियों के द्वारा जिसको जाना जा सकता है। वैदिक अर्थात् जिसको इंद्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इंद्रियों में हम लोग मन, बुद्धि को भी लेते हैं। संसार में वेद के अलावा जितने ग्रन्थ हैं उनको प्रकट करने वाले का कहना है कि 'ऐसा मैंने जाना'। अर्थात् बुद्धि के द्वारा जानी जाने वाली बातें ही कही गई हैं, इंद्रियों के द्वारा भले ही न जानी जायें। वेद ऐसा नहीं है कि किसी ने जान कर अर्थात् बुद्धि से विषय कर तब कहा है। अन्य सारे मत किसी-न-किसी व्यक्ति की बात पर निर्भर करते हैं। वेद, किसने कहा—इसके ऊपर निर्भर है ही नहीं। वेद जिस विषय को कहता है वह न बाह्य न आभ्यन्तर इंद्रियों का विषय है। अतः वेद के द्वारा प्रतिपाद्य परमार्थ ही है यह भगवान् ने गीता में कहा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। सारे वेद एकमात्र 'मैं' इस आत्मतत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं। आत्मा,

मैं, इंद्रियों का विषय होता ही नहीं। आत्मा किसी के अनुभव का *विषय* भी नहीं है। आत्मा वह है जो अनुभव करता है। वह एक है, दो नहीं। इसलिये उसका अनुभव किया ही नहीं जा सकता। ऐसा बुद्धि एवं इंद्रियों का अविषय जो आत्मतत्त्व है, उसे वेद बतलाता है अतः उसकी अपनी कही जाये वह वैदिक भाषा है। उस तत्त्व में प्रमाण एकमात्र वेद ही है। अधिष्ठान तत्त्व एकमात्र वेदप्रतिपाद्य है। वेद की भाषा समझना इसलिये ज़रूरी है। वेद की भाषा को जानने से एक भाषा का अभिज्ञ है। दूसरी भाषा लौकिक है जिसके लिये संसार के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से संस्कृत अन्तःकरण पर्याप्त है। जिस चीज़ का संस्कार अन्तःकरण में नहीं होगा, उस चीज़ को तुम भली प्रकार से नहीं जान सकते। जो जिस के संस्कारों से संस्कृत नहीं है, उसके सामने शब्दों से कहो तो कुछ नहीं समझेगा अथवा ग़लत ही समझेगा। अतः जब तक परम्परा से गुरु के द्वारा अंतःकरण शास्त्र-संस्कारों से संस्कृत नहीं हो जाता तब तक वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो पायेगा क्योंकि तब तक महावाक्य का अर्थ समझ में नहीं आयेगा।

जो जैसे दो भाषाओं को जानने वाला है, वह दोनों भाषाओं की बातें समझ लेता है ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता लौकिक और वैदिक दोनों भाषाओं को समझ लेता है। लौकिक भाषा तो हम सब समझते ही हैं। जैसे अज्ञानी को दाल का सीरा खाकर आनंद आता है, वैसे ज्ञानी को भी आता है। अतः लौकिक विषयानन्द को भी विद्वान् ग्रहण करता है। किंतु विषयानंद का भोग करते हुए साथ ही दूसरी भाषा से ब्रह्मानंद का भी अनुभव कर लेता है। दाल का सीरा खा रहे हैं; उसके स्वाद का प्रकाशक अंतःकरण, आगे उसका प्रकाशक कौन? अंतःकरण खुद पंचमहाभूतों से बना हुआ है, जड है। अहंकारात्मिका वृत्ति मन का विकार होने से जड है, उसमें चेतनता आई कहाँ से? चेतनता ही ब्रह्म का रूप है। अनुभव बिना चेतन नहीं होता। मैं का जड वाला हिस्सा जिस चेतन के स्पर्श से अनुभव करता है, वह चेतन ही 'मैं' की वास्तविकता है। यही बात शास्त्र से पता लगती है इसलिये जो मेरा सच्चिदानन्दस्वरूप है इसे वैदिक भाषा से ही जाना जाता है। यह जानना ब्रह्मानन्द को जानना है। आनन्द तभी होता है जब किसी प्रकार की परिच्छिन्नता का बोध नहीं हो। वेद कहता है कि भूमा या व्यापक ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। शरीर आदि सारी उपाधियों की परिच्छिन्नता जहाँ है, वहाँ सच्चा आनंद नहीं है। सच्चा आनन्द उसे ही मिलता है जो तत्त्ववित् है। जो सारी उपाधियों से रहित आत्मतत्त्व को वेद-प्रमाण से ही जानता है वही संस्कृत अंतःकरण के द्वारा ब्रह्मानंद को जानता है। यह वैदिक भाषा से हुआ ज्ञान है। जब प्रारब्ध सुख को लाता है तब इस तरह विद्वान् ब्रह्मानंद भी समझता है।

प्रारब्ध दुःख को भी लाता है। दुःख आता है तब क्या होता है? दुःख के प्रारब्ध भोग-काल में ब्रह्मानंद का अनुसन्धान कैसे हो सकता है? दुःख भी भोगने वाला, उसका अनुभव करने वाला भी कौन है—इसका चिंतन करने से आत्मवस्तु ही समझ आती है। सुख लेने वाला, दुःख लेने वाला और जिस समय प्रारब्ध का भोग नहीं है, अर्थात् न सुख है न

दुःख है तब भी एकमात्र तत्त्व वही है। इंद्रियों को पसंद आने वाले अनुभव को सुख कहते हैं, इंद्रियों को जो बुरा लगे वह दुःख है। मन और बुद्धि भी अंतःकरण हैं, अन्तरिन्द्रिय हैं। इन्द्रियाँ सभी पराग्दर्शी हैं इसलिये मन और बुद्धि भी अपने से बाहर की चीज़ों को देखते हैं। जब प्रारब्धभोग का काल है तब किसी समय इंद्रियों व मन को अच्छी चीज़ें मिलती हैं तथा कभी ऐसी चीज़ें मिलती हैं जो अच्छी नहीं लगतीं। अच्छा और बुरा लगना संस्कारों के कारण है। कोई चीज़ स्वरूप से न अच्छी, न बुरी होती है। जब पुण्य प्रारब्ध का फल परमेश्वर देना चाहता है, तब अनुकूल संस्कार वाले विषयों के साथ संसर्ग हो जाता है इसलिये सुख हो जाता है। जब पाप प्रारब्ध का फल देना चाहता है, तब जिसके संस्कार पड़े हैं कि बुरा है, उसके साथ सम्पर्क हो जाता है जिससे मनुष्य को दुःख का अनुभव हो जाता है।

जिस समय न कोई पाप, न कोई पुण्य फल देने वाला है, उस समय सुख दुःख कुछ नहीं होता है, उदासीन काल है। जिन्हें सुख या दुःख के भोग की आदत पड़ी है, वे सोचते हैं कि व्यर्थ का समय है; अंग्रेजी में उसे 'बोर' होने का समय कहते हैं। यहाँ आचार्य ने बतलाया कि वह मामूली समय नहीं है, उस समय अहंकार के अन्दर से ब्रह्मानन्द छनकर आ रहा है। क्योंकि वहाँ सुख या दुःख का कोई कारण नहीं है, इसलिये आनंद न तो अनुकूल संस्कारों के कारण सुख वाला है, न प्रतिकूल संस्कारों के कारण दुःख वाला है। विषयों के अभाव में वहाँ शांति के आनंद का अनुभव है, अहंकार के अंदर पड़ा जो ब्रह्मानंद है वही प्रतीत हो रहा है, जिसे यहाँ निजानंद कहा। प्रारब्धभोग काल में ही जो उदासीन काल है, वह निजानंद के अनुभव का काल है।

जो सुखभोग का काल है, वहाँ ज्ञानी समझता है कि यह सुख, ब्रह्म का ही सुख प्रतिबिम्बित हो रहा है इसलिये विषयसुख के द्वारा भी वह ब्रह्मानंद को ही ग्रहण करता है। मनीआर्डर का भुगतान तो डाकिया करेगा लेकिन धन्यवाद दोगे भेजने वालों को। इसी प्रकार दाल का सीरा खाकर जो आनंद आया, वह वास्तव में ब्रह्मानंद है। डाकिये को ही रुपया देने वाला समझने की तरह साधारण व्यक्ति समझता है कि इस विषय से सुख हुआ या पुण्य के कारण सुख मिला। परन्तु तत्त्वज्ञानी जानता है कि पुण्य के प्रारब्ध के द्वारा ब्रह्मानंद ही मिला क्योंकि आनंदस्वरूप तो ब्रह्म ही है। इस प्रकार से वैषयिक सुखभोग काल में भी ब्रह्मानंद का अनुसन्धान रहता है। जब दुःख मिलेगा तब भी अनुभवरूप से ब्रह्मानन्द को विद्वान् देखता रहता है।।१३०।।

यदि दुःखानुभूति होती है तो ब्रह्मानुभव देखने का क्या फायदा? यह बताते हैं—

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक्।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा।।१३१।।

दुःख मिलने पर भी पहले की तरह उसे उद्वेग नहीं होता क्योंकि विवेकी

व्यावहारिक-पारमार्थिक दोनों को देखता रहता है। गंगा में आधा शरीर डूबा हो तो व्यक्ति को ठंडा-गर्म दोनों जैसे महसूस होते हैं वैसे विद्वान् को दोनों अनुभव होते हैं।

दुःख सुख की जाति का तो नहीं है। विषयसुख, सुख की जाति का होने से उसमें ब्रह्मानंद का अनुसन्धान हो जाता है परन्तु दुःख उस जाति का है नहीं। जेठ माह में गंगा स्नान करने गये, शरीर के ऊपरी भाग पर धूप की उष्णता से दुःख का अनुभव होता है, उसी समय नाभि तक गंगा के शीतल जल से सुख का अनुभव होता है। इसी प्रकार दुःख का अनुभव तभी हो रहा है जब चिदानंद ब्रह्म का स्पर्श हो रहा है। अंतःकरण तो जड है, वह न सुख न दुःख का अनुभव कर सकता है। अनुभव करने की शक्ति जड मन में आनंदस्वरूप ब्रह्म के कारण ही है। दुःख का अनुभव करते समय भी ब्रह्म का भान है ही, वही मन से अवच्छिन्न हुआ दुःख को प्रकाशित कर रहा है।

अज्ञानी ब्रह्म को न जानने से दुःखमात्र समझता है, ज्ञानी दुःख के साथ ही ज्ञानरूप ब्रह्मानन्द भी समझता है। मन में दुःख का अनुभव हो रहा है लेकिन तभी जब वहाँ अनुभवरूप ब्रह्म है। जैसे टाँगों से गंगा की शीतलता को और मस्तकादि से धूप की गर्मी को जानते हैं वैसे लौकिक अनुभव से विद्वान् दुःख को और वेदप्रमाण से ज्ञानरूप ब्रह्मानन्द को जानता है। ईंट आदि जड को दुःख नहीं होता, जहाँ चेतन व्यक्त है वहीं दुःख, दर्द होता है; चेतन आनन्दरूप है अतः विद्वान् दुःखकाल में आनंद भी समझता रहता है। चेतनमात्र तो सभी समझते हैं लेकिन वह आनन्द है इसे न जानने से केवल दुःखानुभव ही कर पाते हैं जबकि विद्वान् दोनों जानता है। अतः अज्ञ को दुःख की प्राप्ति पर 'यह दुःख कब हटे' ऐसा उद्वेग होता है क्योंकि उसे पता नहीं है कि उसी समय आनन्द भी अक्षुण्ण है। जिसे पता है कि ब्रह्म आनंद-स्वरूप तो है ही, उसे दुःख हटने की छटपटाहट नहीं होती। उद्वेग का अभाव अज्ञानी में नहीं होगा, ज्ञानी में होगा। अज्ञानी को उद्वेग का अतिरिक्त दुःख और हो जाता है! दुःख माया है, आने वाली चीज़ ज़रूर जायेगी—इस बात का जिसे निश्चय है उसे उद्वेग नहीं होता। अज्ञानी समझता है 'मेरे कुछ करने से ही दुःख जायेगा'। लोग मानते हैं कि दुःख बिना बुलाये आया है, पर बिना प्रयत्न के चला जायेगा—यह नहीं मानते। अनुभव दोनों हैं—बिना प्रयत्न के दुःख आता भी है, जाता भी है, कभी प्रयत्न से आता और जाता है। हर हालत में आगमापायी है, अतः दुःख जायेगा ज़रूर। सुख के विषय में हम मानते हैं कि प्रयत्न करेंगे तो आयेगा पर जीवन में अनेक बार वह सुख भी आता है जिसके लिये हमने कोई प्रयत्न नहीं किया। फिर भी सुख प्रयत्न से ही आयेगा—यह आग्रह है। दुःख स्वयं भी जाता है, पर मान्यता है कि इसके लिये प्रयत्न करना ही पड़ेगा। इसीलिये अज्ञानी को सुख की प्राप्ति के लिये भी उद्वेग होता है और दुःखनिवृत्ति के लिये भी उद्वेग होता है।

विद्वान् को दुःखकाल में केवल दुःख का ही अनुभव नहीं है, जिस आनंद के कारण दुःख का अनुभव हो रहा है, उसका भी उसे भान है। कारण यह कि 'द्विदृक्' है, लौकिक और वैदिक दोनों भाषाओं को जानने वाला है। अत एव यह दुःखप्राप्ति काल में भी अपने

अधिष्ठान को कभी भूलता नहीं जिससे उसमें उद्वेग नहीं होता। उसे पता है कि पाप का प्रारब्ध समाप्त होगा तो दुःख चला ही जायेगा।।१३१।।

विद्यालाभ दिखाते हैं कि वह सदा आनंद-अनुभव करता है—

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा।
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद् भासते तथा।।१३२।।

इस प्रकार तत्त्ववेत्ता को सदा ब्रह्मसुख भासता है। जाग्रत् में भासने से जाग्रत् की वासना से जन्य स्वप्न में भी वैसे ही भासता है।

'इत्थं' अर्थात् सुख, दुःख और उदासीन तीनों अनुभव-कालों में विद्वान् ब्रह्मानंद से रहित नहीं होता। जाग्रत् अवस्था में ये तीन अवस्थायें हैं। उनमें उदासीन में निजानंदरूप से, सुखभोग में 'ब्रह्मसुख का ही विषयपरिच्छिन्न लाभ है' इस रूप से, एवं दुःखभोग में अनुभवरूप से वह ब्रह्मानंद का अनुभव करता रहता है। जिसने वेद के द्वारा तत्त्व को यथावत् जान लिया, उसे सदा ही ब्रह्मसुख, ब्रह्मानंद का भान होता है। जाग्रत् में यह दृढ हो जाता है तो स्वप्न में भी आनंद बना रहता है। जाग्रत् की वासना से ही उत्पन्न होता है स्वप्न अतः जिसे जाग्रत् में ब्रह्मानन्द पर दृष्टि रखने की वासना है वह स्वप्न भी वैसा ही देखेगा। इस तरह जीवन्मुक्त सदा सुखी रहता है।।१३२।।

आनन्दसंस्कार है तो विद्वान् को स्वप्न में दुःख कैसे भासता है—यह समझाते हैं—

अविद्यावासनाऽप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते।।१३३।।

अविद्या की वासना भी है अतः वासनाओं से उत्पन्न सपने में यह विद्वान् मूर्ख की ही तरह सुख व दुःख दोनों का अनुभव करता है।

'ब्रह्मसुखं सदा भाति' कहने से प्रश्न होता है कि जाग्रत् में सुख का ही ग्रहण हो तो वासनाजन्य स्वप्न में दुःख का ग्रहण होना ही नहीं चाहिये। किंच, अभ्यास किया है ब्रह्मानन्द ग्रहण करने का, अतः विषय और विषयसुख भी सपने में ग्रहण नहीं होने चाहिये? जाग्रत् में प्रारब्धभोग से सुख-दुःख हो जायें पर स्वप्न में क्यों होते हैं? स्वप्न वासनाजन्य हो तो वहाँ आनंद का ही अनुभव होना चाहिये।

इसके उत्तर में कहा, वासना जो बन रही है उसमें विषयादि का सम्बन्ध भी अनिवार्य है अतः वे भी सपने में ग्रहण होंगे। अभ्यास कर रहे हो जाग्रत् में ब्रह्मानंद लेने का, पर उस काल में विषयों की प्रतीति भी हो रही है अतः उनकी भी तो वासना है। जिस प्रकार, हमने गीता का श्लोक बाँचा देवनागरी में। वह याद आता है तो देवनागरी के अक्षर भी याद आते हैं क्योंकि उनका संस्कार भी है ही। तत्त्ववेता ब्रह्मानन्द ग्रहण भले ही करे पर उपस्थित तो सभी कुछ होता है। सुख, दुःख, नाम, रूप आदि सारा संसार जैसा प्रसिद्ध है वैसा उसे भी

दीखता है। उसमें जो ब्रह्मानन्दरूपता देखी है, उसका अभ्यास किया है, उसकी वासना तो है किन्तु वासनान्तर भी मना नहीं की जा सकती। इसलिये कहा 'अविद्यावासनाऽप्यस्ति'। ब्रह्मानंद की वासना तो है लेकिन बिना अभ्यास किये जो अविद्या के कारण नाम-रूप की प्रतीति थी, उसकी भी वासना है ही। इच्छा नहीं करने पर भी है अनादिकाल से अविद्यावासना है ही। जीवन्मुक्ति में भी अविद्यालेश से वासना होती है। याद रखना, वासना पड़ने के लिये इच्छा की ज़रूरत नहीं है। बिना इच्छा के भी किसी चीज़ का बार-बार अंतःकरण से सम्बन्ध होता है तो उसकी वासना बन जाती है। प्रायः लोग कह देते हैं 'बुरी चीज़ लेनी नहीं चाहिये, देखने में हर्ज नहीं'। किंतु वास्तविकता है कि देखोगे तो संस्कार पड़ेगा ही। प्रयत्नपूर्वक तो ब्रह्मानंद की वासना बनाई है, पर अविद्या की वासना भी हो ही जायेगी। विषयों का जो अनुभव हुआ है उसकी वासना से उनका भी स्वप्न आता है। अतः 'मूर्खवदेव' मूर्ख अर्थात् अज्ञानी की तरह ही तत्त्ववेत्ता जाग्रत् की तरह स्वप्न में सुख-दुःख का अनुभव करता है। जाग्रत् में भी 'ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं है' यह निश्चय होने पर भी जिस समय प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार करता है, उस समय मूर्ख की तरह ही करता है। इसलिये अध्यासभाष्य में भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं कि हरी घास को देख कर, गाय उसकी तरफ जाती है और लाल आँखें एवं डंडा दिखाने से दूर भागती है। ऐसे ही समझदार लोगों का भी व्यवहार होता है। पशु और मनुष्य में सुख की तरफ जाना और दुःख से दूर भागना, इस बारे में कोई अंतर नहीं है।

इस प्रकार संगत है कि स्वप्न अवस्था के अंदर भी अविद्या की वासना से सुख-दुःख का भोग भी करता है और अभ्यास के कारण ब्रह्मानंद का भी। जाग्रत् से स्वप्न को अलग करके इसलिये कह रहे हैं कि जाग्रत् में बाह्य विषय हैं जो सुख-दुःख देते हैं जबकि स्वप्न में बाह्य विषय हैं नहीं। वहाँ वासनाजन्य ही विषय भी हैं। बिना व्यावहारिक विषयों के वहाँ भोग है। जैसे अज्ञानी बिना विषयों के स्वप्न में सुख-दुःख का अनुभव करता है वैसे ही बिना विषयों के सुख-दुःख का अनुभव अविद्या के संस्कारों से स्वप्न में ज्ञानी भी करता है।।१३३।।

'ब्रह्मानंद' नामक पंचप्रकरणी के इस प्रथम प्रकरण का अर्थात् पंचदशी के ग्यारहवें प्रकरण का समापन करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम्।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम्।।१३४।।

।।इति ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नामैकादशं प्रकरणम्।।

'ब्रह्मानन्द' नामक ग्रंथ में, उसके इस पहले ('योगानन्द' नामक) प्रकरण में ब्रह्म के आनन्द का प्रकाश करने वाला जो प्रत्यक्ष योगी को होता है उसे व्यक्त किया।

पंचदशी के अंतिम पंचक में परमात्मा का आनन्दस्वरूप व्यक्त किया गया है। पाँच अध्यायों को मिलाकर 'ब्रह्मानन्द' नामक ग्रंथ कहा जाता है। पंचदशी का भाग है ही पर ये पाँच मिलकर एक स्पष्ट बोध आनन्द के बारे में प्रदान करते हैं अतः मानो एक ग्रंथ ही है। इसमें पाँच अध्याय या प्रकरण हैं जिनमें 'योगानन्द' यह पहले अध्याय का नाम पुष्पिका से पता चलता है एवं तेरहवें प्रकरण के प्रारंभिक श्लोक से भी सूचित है। यहाँ 'योगिप्रत्यक्षम्' कहकर उसी बात को बताया है। योगाभ्यासी निजानन्द कैसे पाता है इसे यहाँ विस्तार से समझाया। योग अर्थात् समाधिका अभ्यासी ही यहाँ बताया प्रत्यक्ष आनंद कर पाता है। एकाग्र चित्त के बिना यह सनातन सुलभ आनन्द दुर्लभ बना रहता है।।१३४।।

।। योगानन्द-नामक ग्यारहवाँ प्रकरण समाप्त ।।

बारहवाँ
ब्रह्मानन्द में आत्मानन्द प्रकरण

ब्रह्मानन्द ग्रंथ का द्वितीय अध्याय 'आत्मानन्द' है। विवेकवान् योग से निजानन्द का अनुभव कैसे करता है यह पूर्व प्रकरण में स्पष्ट किया। जो जिज्ञासु अभी आत्मयाथात्म्य से तत्त्वतः परिचित नहीं उसका भी अपना स्वरूप है तो आनन्दरूप आत्मा ही। त्वम्पद का वाच्य अर्थ भी वस्तुतः आत्मरूप आनन्द ही है, भले ही अध्यासवश वह रूप अग्राह्य हुआ-सा उपस्थित है बल्कि दुःख-शोकादि से सम्पन्न हुआ-सा प्रतीयमान है। इसका भी विवेक करें तो अनुभव ब्रह्मरूप आनन्द का ही होगा। वह आनन्द कैसे पायें—यह जिज्ञासुओं को समझाने के लिये यह प्रकरण है। शिष्य के प्रश्न से इसे प्रारम्भ करते हैं—

नन्वेवं वासनानन्दात् ब्रह्मानन्दादपीतरम्।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्याऽत्राऽस्ति का गतिः।।१।।

(शिष्य पूछता है) पूर्वोक्त ढंग से योगी वासनानन्द और ब्रह्मानन्द के अलावा निजानन्द भी ग्रहण करे, आनन्दलाभ के लिये मूढ के पास क्या उपाय है?

वासनानन्द हुआ, जब सोकर उठे उस समय 'मैं कुछ नहीं जान रहा था, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, आनन्द में था' इसका संस्कार रहते जो सुख होता है। संस्कारी पुरुष सोकर उठता है तो कुछ समय तक सुषुप्ति की, निश्चिन्तता की वासना रहती है जिससे होते सुख को वासनानन्द कहते हैं। सुषुप्ति में जिसका अनुभव हुआ वह ब्रह्मानन्द है। इन दोनों से भिन्न है निजानंद। जाग्रत् में समाधि का अभ्यास करते हुए, सारी वृत्तियाँ शान्त होकर केवल अहम् का भान रह जाता है, धीरे-धीरे अहम् जैसे-जैसे कम होता जाता है, वैसे-वैसे उस आनंद की अधिकता होती जाती है। उसको निजानंद कहा है। जब अहम् सर्वथा लुप्त हो जाता है, तब ब्रह्मानंद में स्थिति हो जाती है। अहंकार-वृत्ति सूक्ष्म हो, अन्य वृत्तियाँ चली जायें, तब निजानंद है जो अहम् की सूक्ष्मता के अनुसार बढ़ता जाता है। यह योगी के ही अभ्यास का विषय है, इसका योगी ही अनुभव कर सकता है। जो विवेकी है, साथ ही योगी है वेदांत से संस्कृत जिसका अन्तःकरण है, वह चित्त को एकाग्र करने पर निजानन्द को जानता है। योगाभ्यास दीर्घकाल की अपेक्षा करता है। कलयुगी मनुष्य अल्पायु है अतः दीर्घकाल तक कलियुग में यह सम्भव नहीं कि योगाभ्यास हो सके। कलिकाल में विक्षेप भी

अत्यधिक है। जो योगाभ्यास और विवेक प्राप्त नहीं कर सकता वह हुआ मूढ। एक मूढ जिसका ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, उधर वृत्ति ही नहीं है। वह तो लौकिक आनंद अथवा पारलौकिक आनंद ही चाहता है। दूसरा मूढ वह है जो परमात्मा को चाहता है पर विवेक और चित्त-एकाग्र नहीं कर पाता। ऐसे मूढ के लिये ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिये, कौन-सा उपाय है, यह इस श्लोक में प्रश्न है।।१।।

मूढता दुर्गति का मूल है यह सूचित करते हुए आचार्य जवाब देते हैं—

धर्माधर्मवशाद् एष जायतां म्रियतामपि।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद।।२।।

पुण्य-पाप के फलस्वरूप यह मूढ बार-बार लाखों शरीरों को लेते-छोड़ते जन्मे-मरे, हमारी कुशलता से क्या लाभ, बताओ!

मूढ क्योंकि संघात से तादात्म्य अनुभव करने से मोहग्रस्त हुआ कामनादि से प्रेरित हो कर्म करता है, क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, इसलिये उससे धर्म या अधर्म सम्पन्न होते ही हैं। किये कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है, धर्म का पुण्य द्वारा सुख एवं अधर्म का पाप द्वारा दुःख फल होता है। मूढ कर्मानुसार फल पाने को जन्मेगा, फिर मरेगा। अधिक मूढ हुआ तो ज्यादा पुण्य भी न करने से, उपासना भी न करने से 'जायस्व म्रियस्व' का तीसरा मार्ग तय करेगा जिसमें बारम्बार जन्म-मरण ही है। यों लाखों शरीरों में भटकता रहेगा। हमारी अर्थात् जो ब्रह्मानुसन्धान में तत्पर हैं उनकी कुशलता से मूढ को कोई लाभ नहीं, उसे तो स्वयं समझ आये तभी कोई फायदा होगा। सभी अज्ञानियों को समझा सकना तो किसी विद्वान् के बूते का नहीं। शिष्य ने पूछा था कि योगी निजानन्द भले ही पा ले, मूढ कैसे उसे पायेगा? गुरु का उत्तर है कि मोह का परित्याग बगैर किये वह निजानन्द नहीं पा सकता।।२।।

सभी पर अनुग्रह करना आचार्य का स्वभाव होने से शिष्य प्रेरित करता है कि मूढों के लिये भी कोई उपाय बतायें—

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद् दाक्षिण्येन प्रयोजनम्।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः।।३।।

(शिष्य कहता है) आप स्वभावतः अनुग्रह करना चाहते हैं इसलिये आपकी कुशलता से प्रयोजन (सिद्ध हो सकता है)। (गुरु पूछते हैं) तो बताओ (जिसके बारे में तुम्हारी जिज्ञासा है) वह मूढ क्या परमात्मज्ञान चाहता है या विषयाभिमुख ही है?

शिष्य कहता है, 'आप का स्वभाव है अनुग्रह, दया करना। इसलिये मूढ का कल्याण हो—यह इच्छा भी स्वभाव से आपकी है ही। अतः उसके ऊपर अनुग्रह करना—यह आपके लिये प्रयोजन है ही।' गीता में दो जगह (५.२५; १२.४) भगवान् ने हितैषिता को कहा है, 'सर्वभूतहितेरताः'। सारे प्राणियों का हित होवे ऐसा सिद्ध का भाव होता ही है। इसलिये

शिष्य का कहना है कि आचार्य में अनुजिघृक्षा, अनुग्रह करने की इच्छा है ही। भगवान् ने अन्यत्र भी कहा 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'। जो परमात्मभाव को प्राप्त होते हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, उनका किसी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं होता। जो दूसरे विवेकी हैं उनके प्रति मित्रता भी होती है, और अज्ञानियों के प्रति करुणा भी होती है। अतः आचार्य से निवेदन है 'इस करुणा के वश में होकर आप उनके प्रति दया करें ताकि उनका भी उपकार होवे। जो आपके पास आया है, उसका उद्धार हो यह आपके दाक्षिण्य का, बुद्धिमानी का प्रयोजन है।' गुरु को शिष्य से कुछ लेना नहीं है। देवताओं से भी कुछ नहीं लेना है तो अन्यों से क्या प्राप्त करेगा! ज्ञानी का अपने लिये कोई प्रयोजन नहीं होता है। भाष्यकार ने (गीता भूमिका में) कहा है 'स्वप्रयोजनाभावेऽपि' अपना कोई प्रयोजन उसका नहीं है। उसका स्वभाव करुणा से सम्पन्न है इसलिये दूसरे का उद्धार हो ऐसी वृत्ति बन जाती है।

गुरु ने कहा—यदि किसी का उद्धार संभव हो तो जिसके उद्धार की चर्चा है : वह मूढ कैसा है? उसे समझकर ही प्रयास सम्भव है। गुरु अपनी ओर से ढूँढने निकलते नहीं, जो कल्याण चाहकर उनकी शरण में आता है उसकी योग्यतानुसार ही वे प्रयास करते हैं। उन्हें लगता है कि जो मूढ शिष्य भोगपरायण न होकर तत्त्वज्ञान चाहे, परमात्ममार्ग का पथिक हो, अर्थात् उसे संसार नहीं परमात्मा चाहिये, उसी के लिये गुरु का दाक्षिण्य सार्थक है। याद रखना कि संसार की और परमात्मा की इच्छा, ये साथ-साथ नहीं रहती। दोनों मिल जायें यह असंभव है। संसार अज्ञान का कार्य है। अज्ञान से ही संसार की चीजें मिलती हैं। ज्ञान से संसार की कोई चीज नहीं मिल सकती, क्योंकि ज्ञान से संसार रह ही नहीं जाता। ज्ञान होने पर अज्ञान की किसी चीज की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि वे चीजें स्वप्न के संसार की तरह कभी किसी काल में नहीं हैं। संसार की कोई चीज नहीं चाहते, परम वैराग्य है, तभी अधिष्ठान परमात्मा को चाहते हो। अधिकतर लोग संसार में प्रसन्न हैं। ईश्वर को मानते हैं, लेकिन ईश्वर से संसार की चीजें चाहते हैं। ईश्वर को नहीं चाहते। पराङ्मुख अर्थात् आत्मा से भिन्न अनात्म पदार्थों को चाहने वाले लोग। लोग सब चीजों को बाहर देखते हैं अतः परमेश्वर को भी अपने से बाहर देखना चाहते हैं। यह भी पराङ्मुखता है। संसार बाहर है, परमेश्वर अपने से बाहर नहीं है। जो मूढ शरण में आया वह क्या संसार को चाहने वाला है या जिज्ञासु है, परमात्म-ज्ञान को चाहने वाला है? रागी और विरक्त में यही भेद है। कुछ लोग कहते हैं 'हमारे मार्ग से संसार और परमात्मा दोनों मिल जायेंगे;' यह धोखे के सिवाय और कुछ नहीं है। एक उपाय से आत्मा और अनात्मा दोनों नहीं मिल सकते। पटनावासी चाहे कि गंगोत्री और गंगासागर एक साथ पहुँच जाये तो यह नहीं हो सकता। एक की तरफ जाने से दूसरे से दूर होना ही पड़ेगा। आत्मा और अनात्मा का मार्ग ऐसा ही भिन्न है। शिष्य आत्मा को चाहता है या अनात्मा को, इससे महान् अन्तर आता है।।३।।

मूढ संसार को सत्य मानता है। यह तो अनेक जन्मों के सत्संग के बाद निश्चय होता है कि जो दीख रहा है, वह नहीं है। जैसे दूरदर्शन या सिनेमा में सब कुछ पर्दे पर दीखता

है, देखने वाला जानता है कि वहाँ कुछ नहीं है, इसलिये उसकी कामना भी नहीं होती, ऐसे जिसको सत्संग के संस्कार पड़ते हैं वही विरक्त हो पाता है। जब तक संसार की असत्यता का निश्चय नहीं होता तब तक जिज्ञासु नहीं बन पाता। बिना वैराग्य के जिज्ञासा होती नहीं है। इसलिये यजुर्वेद में कहा कि जिज्ञासा उत्पन्न हो इसके लिये यज्ञ, दान, तप आदि सब करो। अतः आचार्य का शिष्य-योग्यता के बारे में प्रश्न संगत है। प्रायः प्राथमिक शिष्य रागी होगा जिसे कर्म-उपासना के साधन बताये जायेंगे। यदि पूर्व जन्म या यहीं के सत्संस्कार से विरक्त हो जिज्ञासु है तो तदनुरूप साधन बताये जायेंगे। अतः ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं कि अधिकारानुरूप उपदेश देय है—

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद् विमुखाय यथोचितम्।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुम् आत्मानन्देन बोधयेत्।।४।।

आत्मा से विमुख के लिये यथायोग्य उपासना या कर्म साधन बताया जाये। जिस जिज्ञासु की प्रज्ञा मन्द है उसे 'आत्मानन्द' से समझाया जाये।

'विमुखाय' अर्थात् जो पराङ्मुख, बहिर्मुख है उसमें चीज़ों की इच्छा रहती है। आचार्य शंकर बार-बार कहते हैं कि अविद्या से कामना और उससे कर्म होता है। जो विमुख अर्थात् तत्त्वज्ञान से विमुख है, जिज्ञासु नहीं है, यदि वह ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति चाहता है, तो उसको गुरु उपासना का साधन बतलावे। अगर वह स्वर्गादि चाहता है, तो उसको अग्निहोत्र आदि कर्म और साथ में उपासनाओं को बतलावे। जो इहलोक के पदार्थों को चाहता है, उसे वेदों में जो ऐहिक फलों के साधन बताये हैं वे बतावे। जो परमात्मा से विमुख है, उसको यथोचित जैसी कामना है वैसा साधन बतावे। वशिष्ठ जी ने दशरथ को पुत्रेष्टि बताया, रामचंद्रजी को तत्त्वज्ञान और वैराग्य का उपदेश दिया। शास्त्र या ज्ञानी अपनी ओर से कोई रास्ता नहीं बतलाता, जो राग तुम्हारे मन में है उसे पूर्ण करने का उपाय बतला देता है। यदि उससे पूछो तो कहेगा कि संसार को सर्वथा असत्य देखो। यही रास्ता बतायेगा। दूसरे रास्ते तो मूढ को ही बताये जाते हैं। जिज्ञासु परमात्मज्ञान को चाहता है, पर उसकी प्रज्ञा, बुद्धि मंद भी हो सकती है। ऐसा शिष्य विवेक और दीर्घकालीन निरन्तर योगाभ्यास करने में अक्षम होता है। शांति का सुख ठीक से समझ ही नहीं पाता। फिर भी यदि चाहता परमात्मा को है तो उसे समझाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। 'आत्मानन्देन' से यह तो कहा ही कि आत्मा की आनन्दरूपता समझाने के द्वारा उसे प्रबोधित करे, इस प्रकरण का नामोल्लेख भी कर दिया, अर्थात् इसमें ऐसे का अधिकार कहा है। आत्मानन्द द्वारा वह ब्रह्मानन्द पा लेगा।

योग में समर्थ तो अहंकार भी लीन कर लेगा। उसे उस मार्ग से ब्रह्मानन्द मिल जायेगा। परंतु जिसमें ऐसे विवेक और योगाभ्यास की सामर्थ्य नहीं है उसके लिये भी उपाय चाहिये।

इस कलिकाल में अल्पायु वाले होने से ऐसे लोग बहुत ज्यादा हैं, उनकी गति बताते हुए गुरु उत्तर दे रहे हैं। आत्मज्ञान की दृढता होने के बाद केवल प्रारब्धाधीन ही ज्ञानी का आचरण रह जाता है। प्रारब्ध दो प्रकार के हैं। एक, जिसमें द्वैतदर्शन अत्यल्प है। वह शरीर के भोजन-पानी इत्यादि के लिये फलप्रद होता है। उससे अतिरिक्त किसी फल वाला नहीं होता। ऐसे ज्ञानी स्वभाव से भूमिकारूढ होते चले जाते हैं और अंतिम भूमिका में पहुँचकर विदेहकैवल्य को प्राप्त कर जाते हैं। पंचमादि भूमिकाओं में किंचित् द्वैत-प्रतीति रह जाती है, उतना ही उनका प्रारब्ध-भोग हुआ करता है। सप्तम भूमिका में द्वैतदर्शन खत्म हो जाता है। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ शिष्यप्रबोधन में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि भेद का ग्रहण ही नहीं करता। जो भूमिकारूढ होगा वह भी पहले, चतुर्थ में आने पर स्पष्ट ज्ञानी हो चुका है। पंचम भूमिका तक किंचित् द्वैत-प्रतीति होने से, तदनुकूल आचरण भी हो जाता है। शास्त्र की आज्ञा है कि 'ज्ञानी भी अज्ञानी की उपेक्षा न करे' अतः जो योग्य है उसे तो वह तत्त्वज्ञान का उपदेश दे देता है, बाकी जो पराङ्मुख अतः जन्म-मरण के चक्र में रहने वाले हैं उनका क्या किया जा सकता है! दूसरा प्रारब्ध ऐसा है जिसके फल में द्वैत-दर्शन है। ऐसे प्रारब्ध वाले विद्वान् में स्वभावतः करुणा होती है। सामने आया मध्यम या उत्तम कैसा भी शिष्य हो, उसका कल्याण करने की तत्परता होती है। अतः वे सभी प्रकार का उपदेश देते हैं। ईश्वरकोटि वाले, केवल उत्तम साधकों के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही प्रतिपादन करते हैं। उनका द्वैतदर्शन और प्रारब्ध इतना अल्प है कि ज्यादा करने की उनके प्रारब्ध में अवस्था ही नहीं है। जिनके प्रारब्ध में द्वैत-प्रतीति है, उनमें करुणा भी होती है। ऐसे ज्ञानियों को आचार्य-कोटि का कहते हैं। वे व्यक्तियों की जैसी योग्यता है वैसा उपदेश करते हैं। अगर शिष्य, सामान्य विषयों की तरफ आकृष्ट है, या स्वर्गादिलोकों के प्रति आकृष्ट है, तो उसे कर्म का उपदेश दे देते हैं। यदि वैकुंठ आदि लोकों को जाना चाहता है, तो उपासना का उपदेश दे देते हैं। जो प्रबुद्ध जिज्ञासु है, उसको तो निजानंद का उपदेश दे ही देते हैं। परंतु जो मंदप्रज्ञ है, उसके प्रति भी उपायान्तर बतलाते हैं।

मंदप्रज्ञ को कैसे उपदेश दिया जाये? ब्रह्म के आनंदस्वरूप का निश्चय योगाभ्यासी ने तो अहंकार को लीन करके प्राप्त किया। मन्द को ब्रह्म आनंदरूप है—यह निश्चय कैसे हो? जब कहा जाता है कि 'तू ब्रह्मरूप है' तब 'मैं हूँ' अर्थात् सद्रूप हूँ यह पहले समझ आता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में मैं हमेशा रहता हूँ, देहान्तरों में भी हमेशा रहता हूँ, इसलिये 'होना', सत् मेरा रूप है—यह निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार ऐसा भी काल कभी नहीं आता, जब मेरा ज्ञान लुप्त हो जाये। किसी चीज का ज्ञान नहीं होता है तब भी 'किसी चीज का ज्ञान नहीं हो रहा है' यही ज्ञान होता है। मैं हूँ और हमेशा ज्ञानरूप हूँ—इतना निश्चय तो सभी को हो सकता है। जैसे सर्पभ्रम में 'यह है' अर्थात् यहपना और होना—इनका निश्चय अंधेरे में भी होता ही है, केवल रस्सीपना नहीं प्रतीत होता, वैसे अज्ञान में भी सद्रूपता व चिद्रूपता का पता चल जाता है, आनंदरूपता समझने में ही कठिनाई है। 'यह

है' साँप हटने पर भी रहेगा, ऐसे ही सच्चिद्रूप तब भी रहेगा जब कर्तृभोक्तृरूप हट जायेगा। अभी जो व्यापक आनन्दरूप ढका है वह तत्त्वबोध से प्रकट हो जायेगा जैसे भ्रमकाल में ढका रस्सीरूप प्रमाकाल में प्रकट हो जाता है। 'मैं आनंद हूँ' यह किसी को अविद्या-दशा में अनुभव नहीं होता। 'मुझे मज़ा आया' तो अनुभव होता है, 'मैं मज़ा हूँ' ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। इसी का मतलब है कि आनंदरूपता ढकी हुई है। यदि यह निश्चय हो जाये कि 'मैं आनंदरूप हूँ' तो क्योंकि आनंद ही ब्रह्म है इसलिये ब्रह्मरूपता का निश्चय हो जाये। जो मंदप्रज्ञ है, उसको भी अपनी आनंदरूपता का निश्चय कराना जरूरी है। आगे (श्लोक ७२ में) बतलाया है कि परमानंदरूप की सिद्धि परम-प्रेमास्पद होने से है। 'मैं आनंद हूँ' यह निश्चय कराने का उपाय क्या है? यह समझना कि मैं परमप्रियरूप हूँ। 'मैं ही परमप्रिय है' सिद्ध कर दें तो आनंदरूपता की सिद्धि हो जाये। आनंदरूप कब सिद्ध होता है? जब यह सिद्ध होवे कि उससे मुझे प्रेम है। जो मुझे बुरा लगेगा, उससे मुझे कभी सुख नहीं होगा। जो अच्छा लगेगा उसी से मुझे सुख होगा। जिससे ज्यादा और कोई चीज अच्छी न लगे, वह परम प्रेमास्पद होगा, और वही परमानंदरूप होगा।

यह है निश्चय कराने का तरीका। आगे बतलाया है कि सब चीजें मुझे अपने लिये प्रिय होती हैं। प्रायः लोगों का यही कहना है कि ' प्रेम अपने से नहीं, दूसरों के लिये करो'। पर वस्तुस्थिति है कि अपने प्रति निरतिशय प्रेम कोई छोड़ नहीं पाता। हम सच्ची बात कहते हैं कि सब लोग स्वार्थी ही हो सकते हैं। 'स्वार्थी होना चाहिये' ऐसा हम नहीं कह रहे। हमारा प्रश्न है कि दूसरे के लिये क्यों कर रहे हो? क्योंकि तुम्हें अच्छा लग रहा है। लोग चाहे कहें 'हम परमार्थ के लिये कर रहे हैं', परंतु दूसरे के लिये भी वही करेंगे जो उन्हें अच्छा लगता है। दूसरे को वह अच्छा लगे जो तुम्हें अच्छा लगता है, तब तुम्हें जँचता है, अन्यथा नहीं। दूसरा सुख को प्राप्त होवे तो मैं सुखी होऊँ—यों स्वयं के लिये ही दूसरे को सुख देते हो। स्वार्थी बनो—यह नहीं कह रहे पर सच यह है कि स्वार्थी ही हो सकते हो। दूसरे के लिये भी तभी करते हो जब तुम्हें अच्छा लगता है। गड़बड़ी क्या है? हम अधिकतर काम दूसरों के लिये करते हैं। आँख को अच्छा लगे—इसके लिये *हम* परेशान होते हैं। क्योंकि हम आँख को स्व मानते हैं इसलिये आँख को अच्छा लगे तो मुझे अच्छा लगता है। यह विचार से पता लगता है कि आँख तो मैं हूँ नहीं। जो मन को अच्छा लगे उसके लिये करते हो। पर क्यों करते हो? क्योंकि वह मन मेरा है। जिस मन को तुम अपना रूप मानते हो, उसके लिये करते हो। वेदांत समझाता है कि ये सब तुम नहीं हो इसलिये इनके लिये करना व्यर्थ है। भ्रम से उन्हें स्व समझते हो। अतः करते स्वार्थ से ही हो क्योंकि भ्रम से जिसको स्व समझते हो उसके लिये करते हो। उचित यह है कि जो असली स्व है उसके लिये करो। वास्तविक स्व वह है जो अज्ञान के कारण सारे ब्रह्माण्डरूप से प्रतीत हो रहा है। इन्द्रियाँ तुम्हारा स्व नहीं हैं। मन, प्राण, इंद्रियों आदि के लिये करने को लोग स्वार्थ समझते हैं। वेदांत कहता है कि सब कुछ अपने लिये प्रिय है तो उसका स्व से मतलब इंद्रियाँ, मन, प्राण आदि नहीं है। उसका मतलब है कि सारे जगत् के अधिष्ठान

के लिये सब प्रिय हैं। शास्त्र को यही समझाना है कि आत्मा आनंदरूप है, वही परप्रेम का विषय है। आनंद से ही प्रेम होगा।।४।।

उपनिषत् में आनंद के आधार पर आत्मोपदेश कैसे समझाया है यह बताते हैं—

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम्।
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन्।।५।।

अपनी प्रिय मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने 'अरे! पति के लिये पति प्रिय नहीं होता' इत्यादि कहते हुए आत्मा को आनन्दरूप समझाया है।

बृहदारण्यक उपनिषत् (२.४ एवं ४.५) में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को आनन्दरूप आत्मा का बोधन कराया। याज्ञवल्क्य को मैत्रेयी प्रिय थी क्योंकि वह जिज्ञासु थी। उनकी दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। जब वे संन्यास लेने चले, तब कहा 'अपनी सम्पत्ति को तुम दोनों में बाँट देता हूँ ताकि बाद में कोई मनमुटाव न होवे।' कात्यायनी तो लौकिक दृष्टिकोण वाली थी। पर मैत्रेयी ने कहा 'आप सारा कुछ बाँट रहे हैं या कुछ साथ ले जा रहे हैं? अन्यथा संन्यास में गुजर कैसे करेंगे? जिस सम्पत्ति को लेकर आप संन्यास मार्ग पर जा रहे हैं, उसे मुझे बाँटिये। जिस सम्पत्ति को आप छोड़कर जा रहे हैं, उससे तो किसी का कल्याण हुआ नहीं है। इसको मैं लेकर क्या करूँगी? जिस आत्मज्ञान को आप लेकर जा रहे हैं, वही मुझे दीजिए।' वह वैराग्यवान् जिज्ञासु थी। प्रिय तो उनको कात्यायनी भी थी लेकिन वह सम्पत्ति प्राप्त कर प्रसन्न थी अतः उसे आत्मप्रबोधन अपेक्षित नहीं था। जो शिष्य इहलोक और परलोक का जिज्ञासु है, उसके प्रति ब्रह्मवेत्ता गुरु का पूर्ण प्रेम नहीं होता। जैसे कात्यायनी को धन दे दिया, वैसे उसको कर्म उपासना से इहलोक और परलोक के साधन बता देते हैं। जो वैराग्यवान् और जिज्ञासु है, उसके प्रति ही पूर्ण प्रेम होता है। उपनिषत् में शब्द हैं 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।' पति के लिये, अर्थात् पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता। पति की इच्छा है इसलिये पति प्रिय है, ऐसा नहीं है वरन् अपने लिये ही पति प्रिय होता है। पति लम्बे समय से बीमार है, हजारों खर्च हो गये, ठीक होने की सम्भावना नहीं, तब पत्नी ही कहती है 'ईश्वर इन्हें उठा ले तो ठीक है, बहुत कष्ट पा रहे हैं।' पति को दुःखी देखकर स्वयं दुःखी होती पत्नी अपने दुःख को दूर करने के लिये ही ऐसी प्रार्थना करती है। 'मुझे पसन्द है' तभी कुछ प्रिय है अतः प्रेम का ठीक-ठीक विषय मैं ही हूँ, आत्मा ही है।।५।।

उपनिषत् में क्रमशः पति, पत्नी, पुत्र, धन एवं पशु, ब्राह्मण-क्षत्रिय जातियाँ, लोक, देवता, वेद, अन्य प्राणी—इन्हें कहकर 'सर्वस्य कामाय' यों सामान्यतः सभी को आत्मा के लिये ही प्रिय घोषित किया है अतः यहाँ भी पति-कथन को सभी के उपलक्षणार्थ बताते हैं—

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः।
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम्।।६।।

पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण जाति, क्षत्रिय जाति, लोक, देवता, वेद, भूत—सभी आत्मा के लिये प्रिय हैं।

पत्नी को जैसे पति वैसे पति को पत्नी उसके लिये नहीं वरन् अपने ही लिये प्रिय होती है। कर्कश पत्नी से कितने दिन पति प्रेम रख सकता है! इसी प्रकार पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, वेद, भूत आदि सभी से प्रेम होता है किंतु ये सब आत्मा के लिये ही, अपने लिये ही प्रिय होते हैं। आजकल देशप्रेम की बात भी होती है। हमसे सम्बन्ध वाला होने से ही हमें देश से प्रेम है। ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला जो धर्म है, उससे प्रेम है या हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, आदि धर्म से प्रेम है, क्योंकि उसका पालन करने से मेरा कल्याण होगा। यही नियम सर्वत्र लागू होता है अतः निष्कर्ष यह है कि मुख्य प्रेम आत्मा से (मैं से) ही है, उसी के लिये भले ही अन्यत्र भी प्रेम प्रतीत हो जाये। अतः ब्रह्म की आनंदरूपता के निश्चय के लिये आत्मा के प्रिय स्वरूप पर दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ती है, वहीं आनंद का साक्षात् अनुभव होता है। अहंकार को लुप्त करने पर भी जो आत्मा रह जाता है वही प्रेम का मुख्य केंद्र अतः आनंदस्वरूप है। रसगुल्ले में आनंद है यह निश्चय कैसे करते हो? यही कहोगे कि 'रसगुल्ला हमें प्रिय है इसलिये रसगुल्ले में आनंद है।' रसगुल्ले में आनंद का अनुभव कब होता है? जब रसगुल्ले के प्रति प्रेमाकार वृत्ति बने। रसगुल्ला सफेद है, इसका निश्चय कैसे होता है? रसगुल्ले से आँख में सफेद आकार की वृत्ति बनती है इसलिये निश्चय होता है कि वह सफेद है। इसी प्रकार स्पर्श के द्वारा मुलायमियत की अंतःकरण में वृत्ति बनती है तब निश्चय करते हो कि रेशम मुलायम है। वृत्ति के बनने से ही निश्चय होता है कि कोई चीज कैसी है। इसी प्रकार से रसगुल्ले को देखकर प्रेम की वृत्ति बनती है इससे निश्चय करते हो कि रसगुल्ला सुखरूप है। जिस चीज से प्रेम होता है वही आनंद देती है। ब्रह्म की आनंदरूपता का तब निश्चय होता है जब उससे प्रेम हो। नित्य-निरंतर सभी को आत्मा से प्रेम है अतः सिद्ध होता है कि अन्ततः सबका प्रेम ब्रह्म से ही है क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म की परमानन्दरूपता का निश्चय तभी होगा जब आत्मा को ब्रह्म समझें। आत्मा और ब्रह्म दो चीजें नहीं हैं। इसलिये आत्मा की आनंदरूपता का बोध होने से ब्रह्म की आनंदरूपता समझ आ जायेगी। भ्रम से जिसे आत्मा समझ रहे हो, वह भी प्रेम का विषय बन जाता है। पर जैसे उसे अनात्मा जान लेते हैं वैसे ही वह प्रिय नहीं रहता। कदाचित् तो दुःखदायी, अप्रिय बन जाता है। चालीस लाख की हीरे की अंगूठी पहनी है, वह हमें प्रिय है। कहीं एक मिनट छूट जाये तो सब काम छोड़कर उसे ढूँढने लगते हैं। रेल में अकेले जा रहे हैं। कोई हमें मारने का भय दिखाकर अंगूठी लेना चाहे तो झट से अंगूठी उतारकर उसे देते हैं, तब अंगूठी से प्रेम नहीं रहता, उससे ज्यादा प्रेम जीवन से है, प्राणों से है। अभ्यास क्या करना है? इस विचार का कि जितना धन तुम्हारे पास है, उस सब की अपेक्षा प्राण अधिक प्रिय है इसलिये धन नहीं वरन् प्राण आनंदरूप है। प्राण प्रतिक्षण तुम्हारे साथ है। धन की अपेक्षा तो यही ज्यादा प्रिय है। पर कोई नहीं कहता 'बड़ा आनंद है, साँस आ रही है' क्योंकि उधर ध्यान जाता नहीं। साँस नहीं आयेगी, तब छटपटाओगे। 'प्राण ब्रह्म

है' यह कहते हैं तो आजकल के लोगों को समझ में नहीं आता है। किंतु प्राण तुम्हारे प्रेम का विषय है इसलिये आनंदरूप है। आत्मा की प्रेमास्पदता सिद्ध करेंगे, वह समझने के बाद तो तुम्हारा आत्मा आनंदस्वरूप है, उसके रहते तुम्हें और कोई दूसरी चीज ज्यादा सुख नहीं दे सकती। जैसे किसी के पास एक खरब रुपया है। उसको तुमने एक पैसा दिया। उसका धन तो बढ़ ही गया, पर क्या उसे प्रसन्नता होगी? उसी प्रकार जिसको ब्रह्मानंद का अनुभव है उसे सारे संसार के सुख अतितुच्छ लगते हैं। अतः विषयसुख मिलने पर 'ज्यादा सुखी हो गया' ऐसा बोध उसे नहीं होता। खरब वाले को पैसा तो असली मिल सकता है लेकिन जो 'एक पैसा'-रूप संसार परमेश्वर ने तुम्हें दिया है वह खोटा है! सच्चा नहीं दिया। अतः चलता नहीं है। ऐसे पैसे से तो समझदार को बिलकुल प्रसन्नता नहीं होगी। उसका सुख कैसे होगा? आत्मा की आनंदरूपता को समझाना इसलिये है कि तुम हमेशा परमानन्द में मग्न रहो।।६।।

उक्त प्रसंग को स्वयं ग्रंथकार समझाते हैं—

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः।।७।।

पत्नी में जब पति-विषयक इच्छा हो तब वह उससे प्रेम करती है। भूख, धार्मिक व्रत, रोगादि से जब उसका पति युक्त हो तब वह उसकी इच्छा नहीं करती।

पत्नी को जब पति की इच्छा होती है, तब वह पति से प्रेम करती है। यदि उसको भूख लगी है, और पति कहता है 'मैं तेरे पास बैठा हूँ तेरी प्रीति का विषय हूँ, मुझसे प्रेम कर।' वह कहेगी 'कहीं से रोटी लाओ।' पति कहे कि 'इसके लिये मुझे जाना पड़ेगा, तुझे वियोग का दुःख नहीं देता हूँ।' तो क्या पति उस पत्नी की प्रीति का विषय रहेगा? इसी प्रकार वह रोगादि से ग्रस्त हो, पति कहे 'मैं वियोग देने के लिये उपचार के लिये कहीं नहीं जाता, न तुझे भेजता हूँ। मैं तेरे पास बैठा हूँ।' ऐसा भी नहीं है कि पत्नी को पति से प्रेम नहीं है पर उस समय भूख या रोग के कारण प्रेम प्रतिबद्ध हो जाता है। प्राण और शरीर के अंदर जो वेदना है, उसके चलते बाह्य जो पति उससे सुख नहीं मिलता। प्राण और शरीर पति की अपेक्षा ज्यादा प्रिय हैं। इसलिये पति का चाहे वियोग हो जाये, इनकी सुरक्षा अवश्य की जायेगी। इसी प्रकार पत्नी ने कोई अनुष्ठान, व्रत ले रखा है। अनुष्ठान के नियमों में पतिप्रेम नहीं करना भी है। उस समय वह पति की इच्छा नहीं करती। अनुष्ठान-काल में पति की अपेक्षा अधिक प्रेम बुद्धि से है। आजकल पति चाहते हैं कि पत्नी उन्हें शराब पिलाये। मनु के अनुसार पीने की तरह शराब पिलाना भी पाप है। जिसे धर्म से प्रेम होगा वह पति की खुशी के लिये ऐसा पाप नहीं करेगी। जैसे पत्नी वैसे पति यदि भूख, रोगादि से ग्रस्त है या व्रत ग्रहण किये है तो भी पत्नी की इच्छा का विषय नहीं रह जायेगा। पति चाहे तभी पत्नी उसे चाहती है अन्यथा नहीं। इससे निर्णय होता है कि अंततः अपने ही लिये पत्नी का पतिप्रेम है, पति के लिये नहीं।।७।।

प्रेम-विश्लेषण का निष्कर्ष बताते हैं—

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम्।
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन।।८।।

वह प्रेम पति के लिये नहीं वरन् अपने ही लिये पत्नी करती है। पति भी पत्नी के लिये कभी प्रेम नहीं करता वरन् अपने ही लिये करता है।

पति के लिये पत्नी का प्रेम नहीं है। पत्नी उस प्रीति को अपने लिये ही करती है। पति के विषय में भी वही समझ लेना। पति जब पत्नी की इच्छा करता है तब भी अपने लिये ही करता है। पति का प्रेम भी अपने लिए ही है।।८।।

प्रश्न होता है कि जहाँ एक की इच्छा अवरुद्ध हो वहाँ तो मान लिया कि प्रेम अपने लिये है लेकिन जहाँ दोनों की इकट्ठी ही कामना होवे, वहाँ क्यों न मान लें कि पति के लिये ही प्रेम है? उत्तर देते हैं—

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम्।।९।।

परस्पर प्रेरणा में भी इसी तरह स्वकीय इच्छा से ही प्रवृत्ति होती है।

प्रायः अनुभव होता है कि दोनों को आपस में प्रेम है। एक-दूसरे को प्रेरित कर वे अभीष्ट क्रिया आदि संपन्न करते हैं। वहाँ भ्रम होता है कि दूसरे के लिये प्रेम होगा। किंतु सत्य वहाँ भी यही है कि स्वयं के लिये ही प्रेम है। यह हो सकता है कि दूसरे की प्रेरणा से हमारी इच्छा उद्भूत हो जाये, परन्तु प्रवृत्ति तो अपनी इच्छा से ही होगी। इसलिये दोनों की इच्छायें अपने-अपने लिये ही हैं। यद्यपि परेच्छा एवं अनिच्छा से भी भोग प्रसिद्ध है तथापि जहाँ किसी प्रयास से सुखानुभूति का प्रसंग है वहाँ अन्ततः स्वेच्छा रहती ही है। दूसरे का आग्रह भी तभी मान्य होता है जब उसे प्रसन्न करने की हमें इच्छा हो, अन्यथा नकारने में देर नहीं लगती।

दुःख तो अनिच्छा से भोगा भी जाता है लेकिन सुख-भोग में इच्छा का विनियोग रहा करता है। कम-से-कम जब दो लोग एक-दूसरे को परस्पर सुख के लिये प्रेरित करते हैं तब तो निश्चित ही उनकी स्वेच्छा से प्रवृत्ति होती है। फिर भी 'स्वेच्छा' कही वहाँ जाती है जहाँ प्रेरणा आदि का बाहरी स्रोत न हो। बाहर से प्रेरणा पाकर स्वेच्छा से करना भी परेच्छा से करना कहलाता है। इस प्रकार पति-पत्नी का परस्पर प्रेम स्वयं अपने-अपने लिये ही है यह तात्पर्य है।।९।।

पति-पत्नी परस्पर प्रेमी प्रसिद्ध होने से उन्हीं से परीक्षा प्रारम्भ कर निर्णय किया कि उनका प्रेम अपने ही लिये है, एक-दूसरे के लिये नहीं। इसी तरह, माता-पिता का बालक के प्रति प्रेम भी निःस्वार्थ प्रसिद्ध है अतः उसका भी विचार करते हैं—

श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता।
चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा।।१०।।

काँटों-सी दाढ़ी चुभने से बच्चे के रोते हुए भी उसका पिता उसे चूमता ही है। वह प्रेम बालक के लिये नहीं वरन् अपने ही लिये है।

चार दिन की यात्रा करके रंगून से घर पहुँचा है। मार्ग में हजामत कहाँ बनायेगा! अतः दाढ़ी बढ़ी है, काँटों की तरह है। आते ही अपने बच्चे को बड़े प्रेम से चूमता है। पिता की बढ़ी दाढ़ी बालक को काँटों की तरह चुभती है। जिससे परेशान हुआ बालक रोता है। पर बाप तो उसे चूमता ही है। बालक कष्ट से रो रहा है, किंतु पिता उसे चूमकर प्रसन्न हो रहा है अतः बालक के साथ प्रेम है इसलिये नहीं चूम रहा, वरन् स्वयम् को अच्छा लग रहा है, इसीलिये चूम रहा है। वह प्रेम अपने सुख, सन्तोष के लिये है, बालक के लिये नहीं। पति-पत्नी और बालक के सम्बन्ध में माना जाता है कि बिना कारण ही प्रेम किया जाता है। हमें कुछ मिलेगा—इसलिये नहीं। जब वहीं पर स्वार्थ है तो अन्य जितने रिश्ते हैं, उनमें स्वार्थ होगा ही, यह स्वाभाविक है ।। १० ।।

पति-पत्नी और बच्चा तो स्वयं चेतना वाले हैं, इसलिये सम्भावना है कि उनके लिये प्रेम होगा। परन्तु लोगों में धन से प्रेम देखा जाता है। सोना, चाँदी, जवाहरात आदि से प्रेम होता है। वहाँ तो सम्भावना भी नहीं है कि उन रत्नादि के लिये या धन के लिये धन से प्रेम है क्योंकि उनमें तो जड होने से इच्छा है ही नहीं। अतः जडों के, अनात्मा के प्रति प्रेम स्पष्ट कर देता है कि प्रेम स्वयं के लिये होता है, अन्य के लिये नहीं—

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन्।
प्रीतिं करोति सा स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम्।।११।।

जिसमें इच्छा हुआ ही नहीं करती उस रत्न आदि धन का यत्नपूर्वक पालन (रक्षण-संवर्धन) करते हुए उससे व्यक्ति प्रीति करता है, वह प्रीति (प्रेम) अपने लिये है क्योंकि धन के लिये हो यह शंका भी सम्भव नहीं।

रत्नादि वित्त अर्थात् हीरा, पन्ना, मोती, सोना, चाँदी, नोट आदि धन। यद्यपि गाय आदि मानुष वित्त एवं उपासनारूप दैव वित्त अन्यत्र शास्त्र में प्रसिद्ध है तथापि विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट किया कि यहाँ वित्त मायने रत्नादि। जड होने से रत्नादि के अन्दर तो कोई इच्छा है ही नहीं। पत्नी, बालक आदि से प्रेम कह तो सकते हैं कि अपने नहीं उन्हीं के लिये प्रेम है किंतु धन से प्रेम में तो ऐसा कह भी नहीं सकते क्योंकि धन जड है।

मखमल की डिब्बी बनाकर उसमें हीरों को रखते हैं! हीरा संसार में सबसे कठोर, कड़ी चीज है। उसमें कोई न तरेड़ आयेगी, न दाग लगेगा, चाहे जहाँ रखो। फिर भी लोग उसके लिये मखमल की डिब्बी बनाते हैं। हीरा तो यह चाहता नहीं है। ऐसे नये नोट के प्रति रुचि भी अपने लिये ही है, नोट तो पुराना भी उसी कीमत का है। न हीरे के लिये मखमल है, न धन के लिये नया नोट है वरन् अपनी प्रसन्नता के लिये ही यह प्रेम है। धन-स्थल में यह

शंका-योग्य भी नहीं कि धनार्थ प्रेम होगा। अतः यहाँ आत्मार्थ प्रेम निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।।११।।

बालक की तरह पशु से प्रेम भी स्वार्थ सिद्ध करते हैं—

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात्।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः।।१२।।

बैल न चाहे तो भी बलपूर्वक उससे वजन ढुआना चाहता है। अतः वणिक् को अपने लिये ही प्रीति है, बैल के लिये नहीं।

व्यापारी बैल के ऊपर कपड़े के थान रखकर एक मंडी से दूसरी मंडी जाता है। प्राचीन भारत में ग्राहक दुकानों पर नहीं जाता था, दुकानें ही ग्राहक के पास आती थीं। बैल आराम चाहे, चलना नहीं चाहे, फिर भी व्यापारी उसे मारता है, बलपूर्वक उससे माल ढुलाता है। मंजिल पर पहुँचने पर तो उसे चारा, पानी देता है, प्रेम करता है। लगेगा कि बैल से उसे कितना प्रेम है। पर वह सब इसलिये कि आगे और माल ढोना है। वह प्रेम बैल से नहीं है, अपने लिये है। प्रीति बैल के लिये होती तो जबरदस्ती बैल को मारकर क्यों चलाता? 'कुतः' बैल के लिये वह प्रीति कैसे हो सकती है! लोग कहते हैं 'इसे अपनी गाय से बड़ा प्रेम है, घोड़े या कुत्ते से बड़ा प्रेम है।' किंतु इसीलिये है कि वह उसे अच्छा लगता है।।१२।।

ब्राह्मणों को अपने वर्ण के प्रति प्रेम होता है। अनेक कष्ट सहकर शास्त्रीय नियमों का अनुसरण करते हैं ताकि ब्राह्मणत्व सुरक्षित रहे। इससे लगता है कि वह प्रेम अपने लिये न होकर जाति के लिये होगा। किंतु वहाँ भी है अपने ही लिये यह स्पष्ट करते हैं—

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया।
अचेतनाया जातेर्नो सन्तुष्टिः पुंस एव सा।।१३।।

'मुझमें ब्राह्मणत्व है, मैं पूज्य हूँ' इस अभिमान से पूजा पाकर खुश होता है। वह खुशी जड जाति की नहीं वरन् स्वयं व्यक्ति की ही है।

'मेरे में ब्राह्मण जाति है' अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ, इसलिये पूज्य हूँ' यह व्यक्ति को ही अनुभव है। उसे और कुछ नहीं मिले, गाँव के लोग चरणस्पर्श करें तो भी बड़ा संतोष होता है। जब तक पूजा मिलती रही, उससे संतोष रहा तब तक जाति-रक्षा के लिये तप भी करते रहे। आधुनिक काल में अधिकांश जनता ने आदर देना छोड़ दिया, तपस्वी ब्राह्मण का भी चरणस्पर्श करने वाले नहीं रहे, ब्राह्मण होना पूजा में कारण नहीं रहा तो लोग जाति के लिये तप भी छोड़ बैठे। सरकारी विभाग में जाकर कोई कहना भी नहीं चाहता 'मैं ब्राह्मण हूँ' क्योंकि यह पता लग जाये तो उसका काम कभी नहीं करेंगे। दक्षिण भारत में अन्ना दुरई आदि के आन्दोलनों के बाद से अपने नाम के आगे अय्यर, अय्यंगर आदि शब्द लगाते ही जब पूजा की जगह अपमान मिलने लगा तब ब्राह्मण जाति की रक्षा करते हैं क्या? जाति

के लिये वे तप नहीं कर रहे थे, 'मैं ब्राह्मण हूँ, पूज्य बना रहूँ' इसके लिये करते थे। ब्राह्मण तो जाति है, जड है, उसे संतोष हो ही नहीं सकता। संतोष पुरुष के लिये ही है।।१३।।

जो ब्राह्मण के बारे में कहा वह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये यह समझाते हैं–

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता।
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम्।।१४।।

'मैं क्षत्रिय हूँ अतः राज्य करता हूँ' यह व्यक्ति का ही अभिमान है, जाति में तो राजापना है नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय का उल्लेख वैश्यादि सभी जातियों के बारे में यह समझने के लिये किया।

प्रजा या शरणागत का क्षत से त्राण करना क्षत्रिय का धर्म है। इससे प्रसन्नता किसे है? जाति तो जड है, व्यक्ति ही स्वधर्मानुष्ठान से प्रसन्न होता है। राजस्थान में एक राजकुमार का विवाह होते ही उसे युद्ध पर जाने का आदेश हुआ। पत्नी से प्रेमवश वह युद्धभूमि से लौटा तो पत्नी ने उसे कर्त्तव्य-परायण बनाये रखने के लिये अपना सिर काट लिया। पति की कर्त्तव्यनिष्ठा से पत्नी को सुख था इसलिये उसने ऐसा किया। 'मैं क्षत्रिय हूँ इसलिये जहाँ कहीं भी देश-धर्म पर आपत्ति आवे उसकी रक्षा का काम करता हूँ' इसी अभिमान का नाम 'राजता' है। जिसमें यह अभिमान जितना दृढ है वह उतना ही तत्परता से राजधर्म का पालन करता है। जाति-प्रयुक्त हो तो ऐसे अभिमान से वंचित आधुनिक क्षत्रियों में भी धर्मनिष्ठा मिले। जिस व्यक्ति में क्षत्रिय होने का अभिमान है वही क्षात्रधर्म पर दृढ रहता है। उससे वही सुखी होता है, जड जाति को कोई सुख हो ऐसा नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय की तरह वैश्य-शूद्र आदि जातियों के बारे में भी यही नियम है कि जिसे अभिमान है वही उसके लिये तत्पर होता है, जाति के प्रयोजन से नहीं। जाति-उचित कार्य से व्यक्ति ही प्रसन्न होता है, जाति नहीं। जाति की तरह ही देश के बारे में समझना। जिसे स्वदेश का अभिमान है वह उसके लिये बलिदान देता है। देश जड वस्तु होने से न उस बलिदान से सुखी होता है न लाभान्वित।

जैसे देशाभिमानरहित में देश-प्रेम नहीं वैसे जाति के अभिमान से रहित में जातिप्रेम नहीं। कृषि को उत्तम व्यवसाय मानने वाले वैश्य को नगरीय सुविधायें मिलने लगीं तो खेती छोड़ गया। सर्वत्र वस्तुएँ उपलब्ध कराने से, गाँव-नगर में सबको अन्नादि सुलभ कराने से कीर्ति मिलते व्यापारी ऐसे कार्यों में सचेष्ट रहा, विद्यालय, औषधालय, धर्मशाला, घाट-प्याऊ, अन्नक्षेत्र बनाता चलाता रहा। जब इन कार्यों के बजाये अधिक धनी होने से ख्याति मिलने लगी तब ये काम छोड़कर अपनी संपत्ति, अपना भोग-वैभव बढ़ाने लगा। जिस कार्य से श्रेष्ठता का बोध होगा, जिससे सुख मिलेगा उसी में प्रवृत्ति होगी, जाति देश आदि अनात्मा के उद्देश्य से नहीं। सभी कुछ अपने लिये प्रिय होता है। कदाचित् प्रतीति होती है कि 'हमें दूसरे के लिये प्रिय है' परंतु वास्तविक बात यही है कि विषय के लिये नहीं, भोक्ता को अपने लिये विषय प्रिय है।।१४।।

आगे वाक्य है 'न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति' इत्यादि। लोकप्राप्ति के लिये प्रयास प्रसिद्ध होने से संभव है कि लोक ही स्वप्रधान होकर प्रिय हो! किंतु श्रुति उन्हें भी आत्मा के लिये प्रिय घोषित करती है—

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम्।
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम्।।१५।।

'स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोक मुझे मिलें' यह इच्छा लोकों के उपकार के लिये नहीं वरन् केवल अपने ही भोग के लिये है।

केवल कर्म से मिलने वाले लोकों को स्वर्ग से तथा उपासना-समेत कर्म से मिलने वाले को ब्रह्मलोक से ग्रहण किया। 'स्वः' का अर्थ सुख है अतः भुवः, स्वर्, महः, जनः, तपः—इन्हें स्वर्ग से एकत्र किया और सत्यलोक को ही ब्रह्मलोक कहते हैं। वही हिरण्यगर्भ का लोक है। जहाँ अपने इष्टदेव के साथ सम्बन्ध होता है, वह ब्रह्मलोक है। वहाँ अपने इष्ट का ही भोग है और कोई विषय-भोग नहीं है। वैकुण्ठ, गोलोक आदि सब ब्रह्मलोक के ही अवान्तर भेद हैं। एक ही परमेश्वर भिन्न-भिन्न साधकों को, उनके इष्ट के रूप में दर्शन देता है। परमेश्वर एक ही है। यह प्रश्न नहीं करना 'परमेश्वर का अपना रूप क्या है?'

परमेश्वर का अपना कोई रूप नहीं है। जैसे संस्कारभेद से रस्सी ही सर्प-माला-जलधारादि दीखती है वैसे भक्तों के संस्कारों के अनुरूप परमेश्वर ही विभिन्न रूप धारण कर दर्शन देते हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये ही स्वेच्छावश ईश्वर विभिन्न नाम-रूप ग्रहण करते हैं। उन्हीं रूपों के संस्कारों से युक्त भक्त आराधनाकर उन्हीं रूपों वाले परमेश्वर का दर्शन करते हैं। दीखता हर रूप में परमेश्वर ही है। जिस प्रकार के संस्कार हैं, उस प्रकार दीखने वाला है परमेश्वर ही, इसमें सन्देह नहीं। ब्रह्मलोक वह है जहाँ अपने इष्टदेव का सुख मिलता है। वहाँ कोई विषय-सुख नहीं है। जैसे जाग्रत् में बाह्य विषय हैं ऐसे स्वप्नमें नहीं, भले ही स्वप्न में भी 'रसगुल्ले से सुख हुआ' प्रतीति है। इसी तरह ब्रह्मलोक में प्रतीति सविषयता की है, लेकिन विषय नहीं है। छांदोग्योपनिषद् में जहाँ इस पर विचार आया है वहाँ भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि स्वप्न और जाग्रत् का भेद केवल काल्पनिक है। ब्रह्मलोक के अन्दर बाह्य विषय नहीं हैं, स्वप्न-समान स्थिति है। बाह्य विषयों की सत्ता मानकर स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक में भेद है। वस्तुतः तो एक ब्रह्म में ही अज्ञान के कारण सारी प्रतीति हो रही है। श्रुति ने जो लोकों का उल्लेख किया, उसे आचार्य ने यहाँ दो भागों में बाँट दिया—एक, जहाँ बाह्य विषय हैं, और दूसरा, जहाँ बाह्य विषय नहीं हैं। 'स्वर्ग और ब्रह्मलोक मेरे होवें। मैं वहाँ पहुँचूँ'—यही कर्ता चाहता है। स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक को नहीं चाहता। वे लोक बने रहें, फलें-फूलें—इसलिये कोई यज्ञादि अनुष्ठान नहीं करता। क्या चाहता है? 'गोलोक मेरा हो जाये, मैं वहाँ जाऊँ। स्वर्ग और ब्रह्मलोक मेरे हो जायें।' यही इच्छा है। मैं वैकुंठ में पहुँचूँगा तो वैकुण्ठ का कुछ उपकार होना नहीं है। स्वर्गलोक या ब्रह्मलोक के उपकार के

लिये मैं उन लोकों को नहीं चाहता। मुझे अपने इष्ट के भोग की प्रतीति हो यही अभिलाषा है। अपने इष्टदेव के दर्शन, उनसे निकट के व्यवहार की इच्छा भक्तों को होती है। 'मुझे दर्शन मिले, सेवा का अवसर मिले' यों मैं-से सम्बन्ध चाहिये, केवल इष्ट की अभिलाषा नहीं। इष्ट से अन्य धन, पुत्र, दुःखनिवृत्ति आदि कुछ नहीं चाहते इसलिये भक्ति अहैतुकी है, लेकिन इष्ट को अपने लिये ही चाहते हैं।

लोक में भी विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना अलग-अलग प्रयोजनों से करने वाले सुलभ हैं। उनकी अपेक्षा वे भक्त निष्काम कहलाते हैं जो देवता को चाहते हैं, किंतु वे भी देवता को अपने लिये चाहते हैं, 'मुझे दीखे, मुझसे सम्पर्क हो' यह चाहते हैं। देवता जहाँ हैं वहीं आनन्द से बने रहें—यह भक्तों की इच्छा नहीं हुआ करती। इसी प्रकार सन्त-महात्माओं की सेवा आदि में कुछ तो धन-पुत्र आदि के लिये संलग्न होते हैं तथा कुछ अपने कल्याण के लिये। 'मेरा कल्याण हो' यह भी न चाहते हुए केवल महात्मा के प्रयोजन से उनका भक्त हो यह संभव नहीं। 'एव' और 'केवलम्' से सूचित है कि पूज्य की असुविधा के प्रति भी सावधान न रहकर भक्त इष्ट का लाभ चाहता है। राक्षस-निवारण में इष्ट को श्रम होगा यह जानने पर भी उन्हीं से प्रार्थना करते ही हैं। राम, कृष्ण आदि ने जीवन में असंख्य क्लेश सहे यह जानकारी भी हम 'धर्मरक्षार्थ भगवान् शीघ्र अवतार लें' यही प्रार्थना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने सुख के लिये ही इष्ट से, देवी-देवताओं से प्रेम है, न कि उनके लिये।।१५।।

लोकों के प्रसंग में आराध्य देव भी आत्मार्थ प्रिय हैं यह जो विचार किया उसे स्वयं ग्रंथकार व्यक्त करते हैं 'न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति' आदि श्रुति को समझाते हुए—

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनष्टये।
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते।।१६।।

शिव, विष्णु आदि की जो पाप-निवृत्ति के लिये पूजा की जाती है वह निष्पाप देवताओं के लिये नहीं वरन् हमारे अपने लाभ के प्रयोजन से।

देवाराधना देवता के लिये नहीं वरन् आराधक के स्वार्थ की सिद्धि के लिये होती है। पाप-क्षय से हमें दुःख नहीं होगा—इसलिये इस प्रयोजन से पूजा करते हैं न कि इसलिये कि देवता निष्पाप बने रहें! देवता चाहते हैं हम पाप करें ही नहीं। हम चाहते हैं कि पाप तो करें, देवताओं की पूजा से उनके फल दुःख से बच जायें।

परमेश्वर तो हैं ही निष्पाप जैसा श्रुति ने 'अपापविद्धम्' से कहा है, अतः उनके लिये, उनके पाप की निवृत्ति के लिये नहीं वरन् अपने हितार्थ पूजा की जाती है। कह देते हैं 'ठाकुरजी भूखे न रह जायें इसलिये नैवेद्य तैयार कर रहा हूँ'। शास्त्र से मालूम यह है कि देवता खाते-पीते ही नहीं! अतः अपने नियम के पालनार्थ ही नैवेद्यपाक है, देवार्थ नहीं। अशुद्ध दशा में देवविग्रह का स्पर्श हमारे पाप का हेतु होगा। इसलिये उससे बचते हैं, ऐसा

तो है नहीं कि हमारे छू देने से भगवान् अशुद्ध हो जायें। कह तो देते हैं कि अस्पृश्य-स्पर्श से विग्रह अपवित्र हो गया किंतु तात्पर्य यही है कि स्प्रष्टा दोषी हुआ। ईश्वर तो पवित्र ही रह सकता है! हिरण्यगर्भ से देवताओं तक जीवभाववश कोई पाप संभव भी हो किंतु ईश्वर नित्य निष्पाप ही है। उसके पाप को नष्ट करने के लिये पूजनादि चाहिये ही नहीं। पूजादि से हमें, करने वाले को ही लाभ होता है। पूजा से कर्त्ता के पाप नष्ट होते हैं। अतः ईश्वर, देवता आदि से भी प्रेम स्वार्थवश ही है।।१६।।

पति आदि सम्बन्धियों से, धन से, जाति से, देवताओं से जैसे स्वार्थप्रयुक्त प्रेम है वैसे ही वेद से भी है यह कहते हैं—

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये।
न तत् प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते।।१७।।

ऋक् आदि शाखाएँ इसलिये विधिवत् पढ़ी जाती हैं कि निकृष्ट ब्राह्मणता से बचा जाये। वह बुरी ब्राह्मणता वेदों में तो आती नहीं; मनुष्यों में ही आती है।

यद्यपि घोर श्रमपूर्वक वेद सुनकर याद करना एवं रोज पाठ करते रहना प्रतीत होता है कि वेदरक्षा के लिये होगा तथापि 'मैं अच्छा ब्राह्मण बनूँ, नीच ब्राह्मण न बनूँ' ऐसा चाहने वाला ब्राह्मण ही वेद पढ़ता-याद रखता है अतः वह अपने ही लिये है, वेद के लिये नहीं। वेद शब्दराशि तो है किंतु गुरुमुख से सुनकर वैसा ही उच्चारण कर पाने की सामर्थ्य आये बगैर वेद-शब्दों का शास्त्रीय उपयोग संभव नहीं अर्थात् यथाविधि जिसने वेदोच्चारण सीखकर याद नहीं किया उसके द्वारा किया वेदपाठ शास्त्रीय कर्मों में काम नहीं आता। वेदाध्ययन से रहित ब्राह्मण को 'व्रात्य' या निकृष्ट ब्राह्मण माना गया है। निकृष्टता व्यक्ति में ही आयेगी यदि वह वेद न पढ़ सका। न पढ़ा गया वेद तो निकृष्ट हो नहीं जाता। अतः वेद के लिये नहीं वरन् अपनी ब्राह्मणता बेहतर हो इसलिये ब्राह्मण वेद पढ़ते हैं। तपस्या और वेदाध्ययन से रहित को जातिब्राह्मण अर्थात् जन्ममात्र से ब्राह्मण या ब्राह्मणबन्धु अर्थात् जिसके रिश्तेदार ब्राह्मण हैं, खुद जिसमें ब्राह्मणोचित योग्यता नहीं है—ऐसा कहा है। आचार्य शंकर ने ऐसों को ब्राह्मणों में 'अपसद' या नीच कहा है। ब्राह्मण पैदा अवश्य हुआ किन्तु आचार-विचार उस योग्य नहीं रखा, यह नीचता है। ऐसी नीचता से बचने के लिये ब्राह्मण वेद पढ़ता है न कि वेद के किसी प्रयोजन से। क्षत्रिय-वैश्य भी वेदाधिकारी होने से वेद न पढ़ने से नीच होते हैं। उन्हें भी उस नीचता से बचने के लिये वेदाध्ययन करना चाहिये। सर्वथापि वेदसेवा भी आत्मार्थ ही है, वेद के लिये नहीं, यह भाव है।।१७।।

महाभूत भी आत्मार्थ प्रिय समझ आते हैं—

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थान-तृट्-पाक-शोषणैः।
हेतुभिश्चावकाशेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः।।१८।।

सब प्राणी जगह, प्यास मिटाना, पकाना, सुखाना तथा खालीपन के प्रयोजनों से पाँचों भूत चाहते हैं। भूतों के अपने तो कोई हेतु नहीं जिनके लिये लोग भूतों को चाहें।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन भूतों को लोग चाहते हैं। पृथ्वी को चाहते हैं स्थान के लिये, बैठना आदि कोई भी काम भूमि पर ही कर सकते हैं। जल से ही प्यास बुझेगी। अग्नि से ही भोजन पकेगा। वायु से ही चीजें सूखेंगी और किसी भी काम को करने के लिये खाली जगह चाहिये। आकाश अवकाश देगा तभी चलना भी सम्भव है। जिस चीज की जरूरत जब होती है तभी उसकी वाञ्छा करते हैं। दिल्ली में बारिश से सड़कों पर पानी भर जाता है। लोग कहते हैं 'मौसम खराब है'। नगर से बाहर गाँव में लोग इसी वर्षा से प्रसन्न हैं कि खेती अच्छी होगी। किसान को पानी की प्यास है अतः उसे वर्षा अच्छी लगती है। नलों में पानी न आवे तो नगरवालों के लिये बुरा है, पर वर्षा होवे यह नहीं चाहते क्योंकि कीचड़ लगती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना। कारणों से ही उन चीजों को भी चाहते हो, ये कारण नहीं रहें तो वे चीजें अच्छी भी नहीं लगतीं। पृथ्वी स्वयं पृथ्वी के लिये अच्छी नहीं लगती है, हमें बैठने, खड़े होने को जगह मिलती है, इसलिये अच्छी लगती है। अग्नि भोजन पकाती है, इसलिये अच्छी लगती है, अग्नि के कारण नहीं। पंचभूतों से जितनी चीजें उत्पन्न होती हैं, वे भी समझ लेना कि इसी तरह मैं के लिये प्रिय हैं। जिस चीज की जरूरत जब होती है, वह तब अच्छी लगती है अन्यथा नहीं।।१८।।

पदार्थों के बारे में बताकर अब कहते हैं कि आपस के सम्बन्धों में भी यही बात है—

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते।।१९।।

मालिक, नौकर आदि सब को अपने उपकार के लिये कोई भी चाहता है; उस-उस का उस-उससे किया तो कोई उपकार है नहीं।

नौकर कहते हैं 'हम तो सारा दिन मालिक के लिये काम करते हैं।' मालिक कहता है 'हमें तो भोजन करने का भी समय नहीं मिलता, हजार व्यक्तियों को भोजन कराते हैं।' एक-दूसरे के लिये कर रहे हैं—ऐसा कहते हैं। किन्तु वास्तविकता है कि नौकर मालिक के लिये नहीं उससे प्राप्य वेतन के लिये कर रहा है। मालिक भी अपने लाभांश की प्राप्ति होगी इसलिये करता है। यदि घाटा हो तो सभी नौकरों को निकाल फैक्ट्री बंद कर देगा। कहते तो हैं कि दूसरों के लिये करते हैं, परंतु ऐसा नहीं है। जैसा मालिक-नौकर के सम्बन्ध में है ऐसा ही यह सारे सम्बन्धों के बारे में है। सारे सम्बन्ध अपने-अपने उपकार के लिये प्रिय लगते हैं। नेता कहता है 'हम जनता के लिये करते हैं।' जनता कहती है, 'हम नेताओं का पेट भरते हैं।' सचमुच में हरएक केवल अपने उपकार के लिये ही कर रहा है। स्वामी या

भृत्य ने अपने लिये ही किया। 'तत्-तत्-कृत' अर्थात् मालिक या नौकर द्वारा किया कोई उपकार 'तस्य तस्य' अर्थात् नौकर या मालिक का हो ऐसी परिस्थिति नहीं। अल्प समय में नहीं तो दीर्घ काल में, इहलोक में नहीं तो परलोक में अपने हित के लिये ही सबकी चेष्टा है। सम्बन्धी एवं सम्बन्ध सभी आत्मार्थ प्रिय है यह सार है।।१६।।

इतने सारे दृष्टान्त श्रुति ने क्यों दिये? इसका उत्तर देते हैं—

सर्वव्यवहृतिष्वेवम् अनुसन्धातुमीदृशम्।
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम्।।२०।।

सभी व्यवहार इसी तरह आत्मकाम-प्रयुक्त हैं—यह विचार करने के लिये पूर्वोक्त ढंग के दृष्टान्तों की बहुलता कही। इसलिये अपनी बुद्धि को इस संस्कार वाली बनाना चाहिये।

दीर्घकाल से हमारे मन में संस्कार पड़े हैं, कि हम दूसरों के लिये करते हैं। कहते भी हैं 'दूसरों के लिये करना बहुत अच्छा है। परोपकार ही करना चाहिये' यह प्रसिद्धि भी है। व्यास जी ने भी कह दिया है 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'। दूसरे का उपकार करने से पुण्य होता है, दूसरों को पीडा देने से पाप होता है इसलिये परोपकार करना चाहिये। यही संस्कार पड़े हुए हैं। वास्तविक स्थिति है कि कोई परोपकार नहीं करता है! अमरीका के एक राष्ट्रपति थे। घोड़ागाड़ी का काल था, उस पर जा रहे थे। एक सुअर कहीं कीचड़ में फँसा था। लोगों की भीड़ उसे निकालने में लगी थी। वे बग्गी से उतरे, उसको बचाने में लग गये। वह बाहर आ गया तो राष्ट्रपति भी अपने कार्यालय आ गये। लोगों ने तारीफ की। उन्होंने कहा 'मैंने कोई परोपकार नहीं किया। केवल अपने मन की चिन्ता से परेशान न होने के लिये वैसा किया। यदि फँसा छोड़ आता तो बाद में उसी का विचार करता रहता।' तात्पर्य है कि सुअर के लिये नहीं वरन् अपने मन की शांति के लिये सुअर को बचाया। दूसरे का दुःख हमें सहन नहीं होता है तभी उसे हटाने के लिये प्रयास करते हैं। यह बात स्पष्ट रूप से हमारे मन में दृढ हो जाये इसलिये बहुत दृष्टान्तों से समझाया। अपने हर व्यवहार में देखो कि कैसे मैं अपनी अनुकूलता के लिये कर रहा हूँ।

व्यवहार कब करते हो? नियम है कि अविद्या से काम, उससे कर्म होगा। अज्ञान के कारण कामना होती है, कामना के कारण कर्म होता है। यह भाष्यकार बार-बार याद दिलाते हैं। फिर भी हम भूल जाते हैं! अज्ञान से होने वाली कामना को पूर्ण करने के लिये, चाहे प्रवृत्ति का, चाहे निवृत्ति का व्यवहार करते हैं। इस बात का पुनः-पुनः अनुसन्धान करो। अन्यथा, 'हम कर्तव्य कर्म करते हैं, अपनी इच्छा से नहीं करते' यह संस्कार आता है। विचार करने से पता लगता है कि कर्तव्य भी हम इसलिये करते हैं कि उसे न करने से कोई-न-कोई दुःख या दोष की प्राप्ति का भय है। सब अपने ही लिये प्रिय है—यह मन में स्थिर करने से आत्मा की परमप्रियता स्पष्ट हो जाती है। अनेक दृष्टान्तों से विषय स्पष्ट भी होता है

तथा नियम भी स्थिर होता है, व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। श्रुति ने बहुत से दृष्टान्त दिये हैं, इसलिये सब समय इसका अनुसन्धान करना है। इससे अपनी ही बुद्धि में सही संस्कार दृढ होगा। तुम्हारे ऐसा अनुसन्धान करने के कारण दूसरों की बुद्धि सुधर जायेगी, ऐसा नहीं है। अपनी बुद्धि ही सुधरेगी। उसके अन्दर यह वासना दृढ होगी कि सभी चीजें आत्मा के लिये ही प्रिय हैं। तभी आत्मा में आनन्द की प्रतीति होगी। अभी हमें संस्कार है कि विषय से सुख मिलता है। जब आत्मा को सुख समझते हैं तब पता चलता है कि कामनारूप दुःख हम पैदा करते हैं जिसे विषय-लाभ मिटाता है तो सुख वही होता है जो हमारा स्वरूप है। स्वयं एक काँटा चुभायें, फिर दूसरे काँटे से उसे निकालें—यह जैसे बुद्धिमानी नहीं वैसे कामना करके उसे मिटाने में बुद्धिमानी नहीं। कामना का मूल अज्ञान मिटाने में ही बुद्धिमानी है। मन में पहले इच्छा करते हो, फिर उसे पूरी करते हो, फिर खुश होते हो कि बढ़िया हो गया। पहले तुमने इच्छा की क्यों थी? इच्छा हटी तभी सुख हुआ। इच्छा तो पहले ही हटी हुई थी। हटानी ही थी तो इच्छा को लाये क्यों थे? समझना है कि सभी कामना अज्ञानमूलक है। आत्मा में आनन्दरूपता का भान न होने से कामना हो रही है। जब कामना नहीं होगी तब पूरा आनंद है। जैसा किसी कवि ने कहा है 'जाको कछू न चाहिये सो जग शाहनशाह' जिसे कोई इच्छा नहीं वह संसार में असली राजा है। इस स्थिति को पाने के लिये श्रुति ने अनेक दृष्टान्त दिये जिनसे हर परिस्थिति में अनुसन्धान करे। जब-जब किसी में प्रीति की विषयता की प्रतीति हो, तब विचार करे कि असल में प्रिय तो आत्मा है। अनादि काल से वासना बैठी हुई है कि पदार्थों में सुख है। यह वृत्ति जब हटे, तब परमात्मा में सुख की श्रद्धा हो सकती है। अन्यथा परमात्मा *भी* प्रिय रहेगा, साथ ही विषय भी प्रिय रहेंगे। दोनों में प्रिय-बुद्धि होगी तो परमात्मा की आनंदरूपता का निश्चय कभी भी दृढ नहीं हो सकेगा। भक्तों की यह समस्या है कि वे भगवान् को आत्मा समझते नहीं। इसलिये भगवान् से भी प्रेम है उनका, परंतु साथ में स्वयं से भी प्रेम है। स्वयं और भगवान् का अभेद समझ आये तभी केवल भगवत्प्रेम सम्भव है।।२०।।

प्रश्न होता है कि आत्मा के लिये सब प्रिय है यह तब निर्णय हो जब पहले स्पष्ट हो कि प्रिय होने का मतलब क्या, प्रीति कहते किसे हैं? लोकसिद्ध प्रेम के भेदों का उल्लेख करते हैं यह व्यक्त करने के लिये कि प्रेम-सामान्य की जिज्ञासा है, जिस प्रेम का विषय आत्मा विवक्षित है—

अथ केयं भवेत् प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि।
रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि।
भक्तिःस्याद् गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि।।२१।।

प्रश्न उठता है कि निज आत्मा के बारे में सुनी जाती यह प्रीति है क्या? पत्नी आदि के विषय में (प्रेम) राग होता है। याग आदि कर्म में (प्रेम) श्रद्धा होती है। गुरु, देव आदि

के प्रति (प्रेम) भक्ति होती है। न मिली चीज के प्रति (प्रेम) इच्छा होती है। (आत्मा के विषय में प्रेम इनमें से कोई वृत्ति है या अन्य ही है?)

हम लोग प्रीति शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं। चाहे हिन्दी हो या संस्कृत हो, अंग्रेजी या फ्रेंच हो। कोई भाषा ऐसी नहीं जिसें प्रेम के पर्यायवाची अनेक शब्द न हों। अनेक शब्द इसलिये हैं कि उनके अंदर सूक्ष्म अर्थभेद है। हम लोग प्रायः विचार ही नहीं करते कि क्या सूक्ष्म भेद है। यहाँ यही विचार कर रहे हैं। 'या निजात्मनि श्रूयते' उपनिषद् में अपने आत्मा के बारे में जो प्रेम कहा जा रहा है, वह प्रीति कौन-सी है? प्रीति के अनेक भेद शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, लेकिन यहाँ चार भेदों को विद्यारण्य स्वामी कह रहे हैं। एक प्रेम है राग। किसी में राग होना अर्थात् उस पर प्रेम होना। पति-पत्नी आदि का आपसी जो प्रेम हो, उसे राग कहते हैं। राग का मतलब संस्कृत में होता है रंग। जब तुम को कोई सुखद अनुभव होता है, तब अन्तःकरण के ऊपर 'यह पदार्थ सुख देने वाला है' ऐसा संस्कार पड़ जाता है अर्थात् रंग चढ़ जाता है। भगवान् कहते हैं कि इस रंग चढ़ने के लिये जरूरी है अभ्यास। जितना उस चीज का अभ्यास करोगे उतना ही उस का राग तीव्र होगा।

अंतःकरण में सुखदता के संस्कार से विषय के प्रति जो प्रीति होती है उसको राग कहा। पत्नी इत्यादि से सुख का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, इसलिये उसके प्रति राग होता है। एक पंडितजी कहते थे कि यदि पत्नी से सच्चा प्रेम है तो पत्नी के मरने के बाद जल्दी-से-जल्दी ब्याह करेगा। यदि पत्नी ने दुःखी किया है तो उसके मरने के बाद कभी ब्याह नहीं करेगा। प्रायः लोग उल्टा सोचते हैं कि यदि पत्नी से प्रेम है तो उसके मरने पर फिर ब्याह करेंगे ही नहीं। लेकिन जैसे रसगुल्ला खाया, हमें अच्छा लगा, तो फिर रसगुल्ला खायेंगे, यदि रसगुल्ला खट्टा मिला, तो पुनः रसगुल्ला नहीं खायेंगे; इसी प्रकार पत्नी से सुख मिला तो उसके मरने के बाद जल्दी से जल्दी पत्नी-प्राप्ति का प्रयत्न करेगा। यदि दुःख मिला हो तभी तो कहोगे 'अब बस'। तात्पर्य है कि जिस चीज का अनुभव करके सुख हुआ है उस चीज को फिर प्राप्त करने के लिये जो मन में वृत्ति बनती है उसको राग कहते हैं।

'श्रद्धा यागादिकर्मणि'। पूजा-पाठ इत्यादि में भी प्रीति होती है, उसके करने में कोई सुख तो होता नहीं, इसलिये उसे राग नहीं कह सकते। जेठ की गर्मी में निर्जला एकादशी आयेगी, पानी नहीं पीना। इससे कोई सुख तो होगा नहीं। यदि व्रत नहीं रख पाये तो मन में दुःख होता है। गर्मी में हवन कर रहे हो, पसीना आ रहा है तो सुख का अनुभव तो नहीं है फिर भी उस यज्ञ को करने में प्रीति है। इसे राग नहीं कह सकते, श्रद्धा कहते हैं। गुरु और वेदांत जो कह रहा है, उसमें आदर-बुद्धि के कारण साधना में प्रीति होती है। सुख का अनुभव न होने पर भी गुरु और शास्त्र के वाक्यों में आदरबुद्धि कि जैसा कहा है वैसा ही ठीक है, श्रद्धा कहलाती है। जिसमें श्रद्धा नहीं होती, शास्त्रों के प्रति आदर नहीं होता वह साधना आदि से प्रेम नहीं करता। लौकिक लाभ आदि के लिये वह कोई कार्य कर भी ले पर शास्त्रनिर्देश है इतने मात्र से करने के लिये प्रेरित नहीं होता क्योंकि श्रद्धा नहीं है।

जैसे आजकल लोग रुद्राक्ष पहनते हैं। कहते हैं 'महाराज! आजकल श्रद्धा बढ़ गई है।' श्रद्धा नहीं है, शास्त्र कह रहा है इसलिये नहीं पहन रहे। कुछ वैज्ञानिकों ने लौकिक प्रयोग करके देखा कि रुद्राक्ष पहनने से रक्तचाप कम होता है। इसे मानकर रक्तचाप को कम करने के लिये ही रुद्राक्ष पहनते हैं। इस दोष से बचने के लिये हमारे मीमांसकों ने एक नियम बतलायाः मीमांसक मानते हैं 'दृष्टफल हो तो अदृष्ट फल की कल्पना असंगत है' अर्थात् कर्म का एक ही फल मान्य है, या लौकिक या पारलौकिक। श्रद्धालु शास्त्रीय कर्म का शास्त्रीय ही फल मानेगा, लौकिक असर हो तो भी उसे उस कर्म का फल नहीं मानेगा। अश्रद्धालु के लिये दृष्ट लाभ-हानि ही प्रधान है। इसलिये वे लोग कहेंगे 'आग में घी झौंक कर क्या होगा, गरीबों को खिलाओ'। उनके अंदर यह श्रद्धा नहीं है कि यज्ञ करने से पुण्य होगा। गरीब को घी खिलाने पर हमें लौकिक प्रमाण से दीखता है कि उसके गाल पर लाली आ गई, इसमें श्रद्धा की जरूरत नहीं है। इसलिये खिलाने को अच्छा कह रहे हैं। जहाँ केवल शब्द प्रमाण से ही प्रेम होता है, प्रीति होती है वहाँ श्रद्धा है। आत्मा में प्रीति रागरूप नहीं है क्योंकि इस आत्मा से पहले कभी हमें सुख नहीं हुआ है। पहले सुख हुआ होता तो इतना विचार करने की जरूरत नहीं थी। आत्मा से कोई पुण्य होता नहीं है इसलिये इस प्रीति को श्रद्धा भी नहीं कह सकते।

'भक्तिःस्याद् गुरुदेवादौ'। गुरु और अपने इष्टदेव आदि से प्रेम को भक्ति कहते हैं। जिसको हम पूज्य समझते हैं उसके प्रति जो मन में प्रेम होता है, उसे भक्ति कहते हैं। अगर हमें साक्षात्कार हुआ होता और फिर प्रीति होती तो राग कहते। उससे पूर्व भक्ति ही है। भक्ति-शास्त्र वाले भक्ति को दो प्रकार की बतलाते हैं—वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति। विधि से प्रवृत्ति वैधी है। जिसको वे वैधी भक्ति कहते हैं, उसी को शास्त्रों में श्रद्धा कहा है। इष्ट का दर्शन, स्पर्श इत्यादि मिलने पर जब सुख का अनुभव हो गया, उसके बाद की भक्ति को रागानुगा भक्ति कहते हैं क्योंकि फिर विधि की जरूरत नहीं है। परंतु इन दोनों से भिन्न यहाँ कह रहे हैं कि पूज्य के प्रति प्रेम की भावना भक्ति होती है। यह श्रद्धा से भी अलग है, राग से भी अलग है। गुरु और देवता के प्रति प्रेम होता है क्योंकि वह पूज्य है, उसे भक्ति कहते हैं। इसलिये नियम किया है कि भगवान् का महत्त्व विस्मृत नहीं होना चाहिये, अर्थात् यह मत भूल जाओ कि 'ये भगवान् हैं'। यदि यही भूल जाओगे तो पूज्यबुद्धि रही नहीं अतः भक्ति रही नहीं। अपने आत्मा में पूज्य बुद्धि भी नहीं है, इसलिये इससे प्रेम को भक्ति भी नहीं कह सकते।

चौथा कहा 'इच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि'। जो चीज हमें प्राप्त नहीं उसकी इच्छा होती है। प्राप्त वस्तु के विषय में तो राग होता है और अप्राप्त वस्तु के विषय में इच्छा कहेंगे। जैसे यहाँ बैठा लड़का सोचता है, 'हमें अमरीका के कॉलेज में प्रवेश मिल जाये'। इच्छा कर रहा है क्योंकि अभी प्रवेश मिला नहीं है। 'हम इस कॉलेज में पढ़ रहे हैं, कोई ऐसा काम न करें कि निकाल दिये जायें, इस कॉलेज में हम बने रहें'—यह राग हुआ और 'वह अप्राप्त कॉलेज

हमें प्राप्त हो जाये' यह इच्छा हुई। राग और इच्छा, ये दोनों लौकिक वस्तुओं को लेकर ही होती हैं। श्रद्धा और भक्ति—ये दोनों अलौकिक पदार्थों के बारे में होती हैं। इनमें से कोई भी प्रीति आत्मा के साथ नहीं बनती। अलौकिक होने से राग और प्राप्त होने से इच्छा नहीं। पूज्यबुद्धि न होने से भक्ति नहीं और पारलौकिक फल न होने से श्रद्धा नहीं। फिर आत्मा से प्रेम कौन-सा है?।।२१।।

कोई भाव उक्त चारों में अनुगत मिले तो उसे प्रीति कह सकते हैं।। कोई ऐसी प्रियता बतानी पड़ेगी, जो इस तरह के भावों में समान रहे। आत्मा को प्रियतम कह रहे हैं, तो प्रिय एवं प्रियतर भी समझने पड़ेंगे एवं तीनों में प्रियता अनुगत मिलनी पड़ेगी। राग आदि भाव एक-दूसरे से भिन्न हैं। पत्नी के विषय में श्रद्धा नहीं हो सकती। अप्राप्त वस्तु की भक्ति नहीं हो सकती। इन सब में रहने वाली होवे और आत्मा में भी होवे वही प्रियता है। सब दुनिया प्रेम की बातें करती है लेकिन प्रेम को समझने की चेष्टा कोई नहीं करता। यह प्रश्न होने पर बताते हैं कि प्रेम किसको कहते हैं—

तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी।
प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावाद् इच्छातो व्यतिरिच्यते।।२२।।

रागादिरूप नहीं हो सकती तो केवल सुख को विषय करती अन्तःकरण की सात्त्विक वृत्ति प्रीति होवे। प्राप्त और नष्ट हो चुके, दोनों तरह के सुखों के बारे में होने से प्रीति इच्छा से अलग है।

प्रीति या प्रेम को राग आदि किसी एक से अभिन्न नहीं कह सकते यह ठीक है। अतः प्रीति का स्वरूप यहाँ बता रहे हैं—'सात्त्विकी वृत्तिः'। प्रेम एक सत्त्वगुणी वृत्ति है। सुख सत्त्वगुण में ही सम्भव है। सात्त्विकी वृत्ति तो ज्ञान की भी है, उससे अलग करने को कहा 'सुखमात्रानुवर्तिनी'। केवल सुख का अनुवर्तन करने वाली वृत्ति प्रेम है। संसार में जहाँ भी प्रेम का विषय आवे, सब जगह यह नियम मिलेगा कि वहाँ सर्वत्र सुख की वृत्ति है। सुख होता है तभी प्रेम होता है। दुःख में किसी को प्रेम नहीं है। प्रेम का विषय केवल सुख है। विषय तो अनिवार्य होने से प्रिय-व्यवहार का आस्पद बनते हैं, प्रिय वस्तुतः है सिर्फ सुख। विषय क्योंकि स्वयं सुख नहीं इसलिये प्रिय भी नहीं। अतः विषयों के प्रति राग आदि हो जाते हैं। अर्थात् प्रेम से अतिरिक्त कुछ जुड़ जाता है। विषय को महत्त्व दिये बिना केवल सुख का अनुवर्तन करने वाली जो अंतःकरण की सत्त्वगुणी वृत्ति वह प्रेम है। भगवान् ने गीता में कहा कि सत्त्वगुण कैसा है? 'निर्मलत्वात्' मल से रहित है। यहाँ दोनों ही मल समझ लेना। जब पाप कर्म का उदय होता है तब सुख नहीं हो सकता। पुण्य कर्म का उदय होने पर ही सुख होता है। इसलिये चीज अपने पास होवे, खूब मात्रा में भी होवे, पर यदि पुण्य कर्म नहीं होगा तो उस चीज का सुख नहीं मिलेगा, जैसे मधुमेह के रोगी के पास चाहे जितनी मिठाइयाँ हों उसे उनसे कोई सुख नहीं मिलता। मिठाई बेचने से प्राप्त पैसे का सुख भले ही हो, पर मिठाई का सुख नहीं होगा। यदि चीज से सुख होना होता तो उसे हो जाता,

इसलिये सुख के लिये पापरूप मल न रहना भी आवश्यक है। जब पापादि मल नहीं रहेंगे तब रजोगुण और तमोगुण से रहित सत्त्वगुण होगा, तभी वह अपना यह कार्य कर सकेगा।

यद्यपि सत्त्वगुणी वृत्ति ज्ञान भी बतायी गयी है तथापि सुखमात्र को विषय करती यह प्रेम वृत्ति ज्ञानात्मक नहीं है। सत्त्वगुण निर्मल होने से उसके बढ़े रहते ज्ञान स्पष्ट होता है किंतु प्रेम में ऐसा नहीं। जैसे वृत्ति में ज्ञान का वैसे सुख का प्रतिबिम्ब पड़ने से 'मैं सुखी' बोध होता है। सत्त्व की विशेषता है कि इस सुखिता में आसक्त कर बाँधता है जिससे कोई सुख नहीं होना चाहता, सुखी रहना चाहते हैं। इस सुखसंग से आत्मा की सुखरूपता को समझना कठिन हो जाता है। ऐसे ही ज्ञानी रहना चाहते हैं, ज्ञान नहीं होना चाहते। यह बन्धन पापी को रहता है, निष्पाप को नहीं। पूर्ण सात्त्विकता के लिये पापराहित्य आवश्यक है। प्रीति है तो सात्त्विक वृत्ति लेकिन न यह ज्ञानरूप है न निष्पाप स्थितिवाली है वरन् सुखमात्र से सम्बद्ध है। प्रश्न होता है कि फिर यह इच्छा क्यों नहीं हुई? सुखमात्र अभी प्राप्त नहीं है, इसलिये उसकी चाह को इच्छा के अंतर्गत क्यों नहीं लेते? उत्तर है कि इच्छा अप्राप्तविषयक ही होती है जबकि प्रीति पदार्थ प्राप्त होने पर भी रहेगी और पदार्थ के नष्ट होने पर भी रहेगी। विषय की तो विषयलाभ से इच्छा मिटती है जबकि सुख मिलने से उससे प्रेम मिटता नहीं। यद्यपि राग भी ऐसे ही बना रहता है तथापि वह पत्नी आदि अर्थात् विषयों के प्रति आकर्षणरूप है जबकि प्रेम सुखमात्र के प्रति है अतः इनमें अन्तर है। इस प्रकार प्रेम को इच्छारूप कहना नहीं बनता।

इस प्रकार विद्यारण्य स्वामी ने चार भावनायें गिनायीं। राग प्रधानतः इहलौकिक के बारे में होता है। श्रद्धा-भक्ति में परलोक-प्रधानता रहती है जबकि इच्छा दोनों के विषय में होती है। अपनी समझी जाती वस्तु के बारे में राग और अभी अपनी नहीं हुई वस्तु के बारे में इच्छा होती है। शास्त्रोक्त तत्त्व के प्रति भक्ति तथा शास्त्रोक्त विधियों के प्रति श्रद्धा होती है। श्रद्धा क्रिया में प्रेरित करती है, भक्ति ज्ञान में प्रवृत्त करती है। इन चार से अलग प्रेम है जो सुखमात्र-सम्बन्धी सात्त्विक वृत्ति है। प्रेम में तारतम्य है एवं सर्वाधिक प्रेम आत्मा से है। इसे राग आदि में से कोई एक नहीं समझ सकते। आत्मीय, आत्मसम्बन्धी के प्रति राग होता है जबकि यह आत्मा के बारे में है। क्रियादिरूप न होने से आत्मा के बारे में श्रद्धा कहना नहीं बनता। स्वप्रकाश अतः केवल शास्त्रगम्य नहीं अतः इसके प्रति भक्ति नहीं कही जा सकती और नित्य प्राप्त होने से इसकी इच्छा नहीं हो सकती। प्रेम का विषय होने से आत्मा सुखरूप ही निर्धारित होता है। प्रेम सात्त्विक वृत्ति है क्योंकि परम विवेक रहते ही आत्मा से प्रीति सम्भव है। अविवेकी को रागादि हो सकते हैं, प्रेम विवेकी में स्फुट होगा। सात्त्विक होने से यह क्रियानिरपेक्ष है किन्तु तमोगुण की तरह प्रमादपक्षीय नहीं है। प्रमादी विषय चाहकर उसके लिये प्रयास से विमुख रहता है जबकि सात्त्विक को विषय की चाह ही न होकर आत्मतृप्ति रहती है। किंच इच्छा की तरह प्रेम हटता नहीं, बना रहता है। ऐसे प्रेम का विषय आत्मा परमानन्दरूप है यह तात्पर्य है।।२२।।

शंका होती है कि क्या आत्मा से वैसा ही प्रेम है जैसा विषयों से होता है या अन्य तरह का है? इसके समाधानार्थ विचार प्रवृत्त करते हैं–

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः।।२३।।
आत्माऽऽनुकूल्यादन्नादिसमश्चेद् अमुनाऽत्र कः।
अनुकूलयितव्यः स्याद् नैकस्मिन् कर्मकर्तृता।।२४।।

अन्न, जल आदि इसीलिये प्रिय हैं कि सुख के साधन हैं। अन्नादि से आत्मा में अनुकूलता की समानता हो तो, आत्मनिष्ठ सुखोपायता से यहाँ वह कौन होगा जिसे तृप्ति होगी! एक आत्मा ही अनुकूलन-क्रिया का कर्त्ता एवं कर्म दोनों बने यह संगत नहीं।

अन्न आदि प्रिय क्यों हैं? क्योंकि भूख मिटने से होने वाले सुख के उपाय हैं। विषयों में सुखोपायता हो तभी वे प्रिय हैं। जब प्रियता वस्तुमात्र पर निर्भर न होकर उसकी किसी विशेषता पर निर्भर हो तब उस प्रियता को सोपाधिक एवं उस विशेषता को उपाधि कहते हैं। वह उपाधि जहाँ-कहीं हो उसे प्रिय बना देगी। अन्न, जल, वस्त्र, पशु आदि सभी सुखोपाय होने से प्रिय हैं, सुखोपायता-रूप विशेषता न रहने पर कोई विषय प्रिय नहीं होता। इससे भ्रम हो सकता है कि आत्मा भी प्रिय है तो सुखोपाय होगा, न कि स्वयं ही सुख होगा। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जो भोग्य है, भोग का विषय है वही सुखसाधन होने से प्रिय होता है, अभोग्य रहकर प्रिय आत्मा बिना सुखसाधन हुए ही प्रिय है क्योंकि स्वयं सुख है।

अन्न-पानादि प्रिय हैं तथा भोग्य हैं। आत्मा प्रिय है, पर भोग्य नहीं है। आत्मा भोग करने वाला है, उसका भोग नहीं होता। जो चीज भोग्य हो और प्रिय हो वह तो अन्नपानादि की तरह साधन हो जायेगी। जो भोग्य न हो और प्रिय होवे उसे सुखसाधन नहीं होना पड़ता। इसी को उपपन्न करने के लिये कहते हैं कि अन्न-पानादि तो आत्मा के अनुकूल होते हैं, आत्मा किसके अनुकूल समझा जाये? 'अत्र' अर्थात् लोक में ऐसा कोई मिलता नहीं जिसके अनुकूल आत्मा हो सके। अनात्मा जड होने से उसके अनुकूल-प्रतिकूल का प्रसंग नहीं और आत्मा है ही एक। यदि अपने ही अनुकूल आत्मा हो तो एक को ही अनुकूल होने का कर्त्ता भी मानना पड़ेगा और कर्म भी। किसके अनुकूल हुआ? आत्मा के। कौन अनुकूल हुआ? आत्मा। कर्म और कर्त्ता एक ही हों यह संगत नहीं। उपकार करने वाला और उपकृत होने वाला एक ही नहीं हो सकता। एक में दोनों बातें नहीं हो सकतीं। क्योंकि गौणता-प्रधानता दोनों विरुद्ध हैं। बाकी सब मैं के लिये प्रिय हैं, मैं किसी के लिये प्रिय नहीं, स्वतःप्रिय है।

'तुम स्वयं को क्यों चाहते हो, सब कुछ अन्ततः अपने लिये क्यों चाहते हो?' इस प्रश्न का 'यही स्वाभाविक है' के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं मिलता। अतः मैं किसी सुख का साधन नहीं वरन् स्वयं सुख ही है। वह प्रिय है लेकिन किसी के लिये नहीं। जैसे गुलाबजामुन किससे मीठा है? चीनी से। आगे, चीनी किससे मीठी है? चीनी तो खुद ही मीठी है। जिससे

सम्बन्ध वाली होती है उसे भी मीठा करती है। इसी प्रकार आत्मा का जिससे अनुकूल सम्बन्ध हो जाता है, वह प्रिय हो जाता है। आत्मा का अर्थात् मेरा; मेरे अनुकूल जो-जो चीज है वह मुझे प्रिय है। मैं जिससे अनुकूल सम्बन्ध करता हूँ वह भी सब प्रिय होता है तो मैं खुद प्रिय हूँ ही।।२४।।

विषयसुख से और भी विलक्षणता बताते हैं आत्मप्रेम के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिये—

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रम् आत्मा त्वतिप्रियः।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी।।२५।।

विषयोपाधिक सुख के प्रति केवल प्रेम होता है जबकि आत्मा से अति-प्रेम होता है। किसी विषयसुख से प्रेम स्थायी नहीं रहता लेकिन आत्मा से स्थायी, कभी घटने भी न वाला प्रेम है।

अन्नपानादि जो विषय हैं, उनसे जो सुख होता है उसके प्रति प्रीतिमात्र है। अर्थात् हर विषयसुख से अधिक प्रिय कुछ होता है। किंच प्रतिकूल हो जाने पर वही विषयसुख प्रिय नहीं भी रहता। मधुमेह के रोगी का दीर्घकालिक विवेकी रोगी मिठाई को प्रिय समझना ही छोड़ देता है। किंतु आत्मा के लिये ऐसा कभी नहीं होता कि आत्मा अब दुःख का साधन हो गया इसलिये इसमें प्रीति नहीं है। इसलिये आत्मा अतिप्रिय है। अन्नादि तो अनुकूल होने पर ही सुख देंगे, आत्मा हमेशा ही प्रीति का विषय रहेगा। अन्नपानादि विषयसुख में प्रीति व्यभिचारी है, अर्थात् अनुकूल है तो प्रिय है अनुकूल नहीं है तो वही चीज प्रिय नहीं है। पर 'नात्मनि व्यभिचारिणी' मैं प्रतिकूल हो जाऊँ जिससे मुझे मुझसे प्रीति न रहे—ऐसा नहीं होता। इसलिये विषयों का तो परिवर्तन चाहते हैं। दस लड्डू खाने के बाद नमकीन, अचार की इच्छा होती है, अब लड्डू अच्छा नहीं लग रहा है। अचार से इच्छा हटी तो फिर मीठा खाने लगा। विषय में तो प्रीति व्यभिचारिणी हुई क्योंकि अच्छा लगा तो प्रिय है, अच्छा नहीं लगा तो प्रिय नहीं है। परंतु ऐसा कभी नहीं होता कि मैं प्रिय नहीं हूँ। जैसे प्रीति एक विषय से दूसरे विषय में जाती है, वैसे आत्मा में प्रीति का व्यभिचार नहीं होता। आनंद भोगने पर, सुख भोगने पर 'थोड़ा दुःख भी भोगूँ' ऐसा कोई कभी नहीं चाहता। लड्डू के बाद तो अचार से प्रेम होता है लेकिन मैं के बाद 'यह' से प्रेम हो ऐसा नहीं है। विषयसुख प्रिय ही है, प्रियतम नहीं एवं विषयसुख कभी प्रिय है कभी प्रिय नहीं जबकि आत्मा प्रियतम है और हमेशा प्रियतम है।।२५।।

विषयप्रेम का व्यभिचारी रूप तथा आत्मप्रेम का अव्यभिचार स्पष्ट करते हैं—

एकं त्यक्त्वाऽन्यद् आदत्ते सुखं वैषयिकं सदा।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन् व्यभिचरेत् कथम्।।२६।।

विषयोपाधिक सुख के बारे में हमेशा देखा जाता है कि प्रेम किसी एक को छोड़कर दूसरे

को ग्रहण करता है। आत्मा न छोड़ा जा सकता है न पकड़ा जा सकता है तो उसके बारे में प्रेम बदलने वाला कैसे होगा!

प्रेम एक चीज को छोड़कर जैसे लड्डू को छोड़कर दूसरी चीज जैसे अचार को ग्रहण करता है। पहले लड्डू में प्रेम था फिर अचार में हो रहा है। एक विषयसुख को छोड़कर प्रेम दूसरे को लेता है। वैषयिक सुख में यही होता है। परंतु आत्मा के बारे में ऐसा नहीं होता कि 'मैंने बहुत दिन सुख भोग लिया, दूसरे को भोगने दूँ।' आत्मा त्याज्य भी नहीं है, ग्राह्य भी नहीं है। अपने आप को न छोड़ सकते हो, न कहीं से ला सकते हो। क्योंकि जो छोड़ने वाला वही तुम हो। इसी प्रकार आत्मा को पकड़कर ला नहीं सकते, ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि जो लायेगा, वही तो तुम हो। जब आत्मा छोड़ने-ग्रहण करने के योग्य नहीं तब उसके साथ प्रेम का व्यभिचार भी असंभव है। छोड़ी जा सके ऐसी चीज को ही प्रेम छोड़ता है, पकड़ी जा सके उसे ही पकड़ता है। आत्मा को प्रेम न पकड़ता है, न छोड़ता है वरन् अव्यभिचारी निरंतर एकरस बना रहता है।।**२६**।।

ग्रहण-त्याग के अयोग्य को उपेक्ष्य क्यों न समझें यह बताते हैं—

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत् तृणादिवत्।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वाद् नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः।।२७।।

छोड़ना-लेना से रहित इस आत्मा के प्रति क्या उपेक्षा होती है जैसे तिनके आदि के प्रति हो जाती है? उपेक्षा करने वाले का स्वरूप होने से निजका आत्मा उपेक्षा के भी योग्य नहीं है।

शंका होती है कि जिसे न ग्रहण करो न छोड़ो, उसकी तो उपेक्षा कही जाती। जैसे रास्ते में पड़े सूखे तिनकों को लेने की इच्छा नहीं होगी पर सोना पड़ा है तो लेने की इच्छा करते हो। मरे गधे को देख दूर भागते हैं ऐसे तिनका देखकर दूर भी नहीं भागते। सोने को लेने की इच्छा, मरे गधे को छोड़ने की इच्छा, पर तिनके को न लेने, न छोड़ने की इच्छा होती है अर्थात् उसके प्रति उपेक्षा है। लेने-छोड़ने जैसा नहीं तो फिर आत्मा भी उपेक्षा का ही विषय हुआ। जब इसे छोड़ना भी नहीं और ग्रहण भी नहीं करना है तब तिनके की तरह इसकी उपेक्षा होगी। संसार में अधिकतर लौकिक पुरुष आत्मा की उपेक्षा ही करते हैं। बाकी सब चीजों को तो कीमत देते हैं, परंतु आत्मा की उपेक्षा ही करते हैं। फिर इससे अव्यभिचारी प्रीति क्यों कह रहे हैं? उत्तर में कहा कि यह उपेक्षा का विषय भी नहीं है। आत्मा की उपेक्षा कौन करेगा? आत्मा ही करेगा। मैं ही अपनी उपेक्षा कर सकता हूँ। तिनके की तो उपेक्षा हो सकती है क्योंकि उससे अलग उपेक्षक मैं हूँ, परंतु यहाँ उपेक्षा करने वाला हूँ तो उपेक्षा का विषय कैसे बन जाऊँ? उपेक्षा का कर्त्ता और कर्म एक ही कैसे हो? अतः उपेक्षा का विषय मैं नहीं हूँ। चीजों को छोड़ने वाला मैं हूँ, चीजों को पकड़ने वाला भी मैं हूँ तथा चीजों की उपेक्षा करने वाला भी मैं हूँ। इसलिये न मैं छोड़ा जाने वाला हूँ, न पकड़ा न उपेक्षा किये जाने वाला हूँ। उपेक्षा करने वाले का स्वरूप मैं हूँ। इसलिये अपने आत्मा की

उपेक्षायोग्यता नहीं है। 'निजात्मनः' अर्थात् अपना मैं! प्रायः यदि मैं शब्द से कहते हैं तो लोग अहंकार वाले को समझ लेते हैं। मैं शब्द से नहीं कहते, आत्मा शब्द से कहते हैं, तो लोग 'मैं से भिन्न कोई आत्मा होगा' ऐसा मान लेते हैं। इसलिये कह दिया, 'अपना मैं'। अपने मैं की न तुम उपेक्षा कर सकते हो, न उसका ग्रहण कर सकते हो, न उसका त्याग कर सकते हो। इस तरह समझाया कि वह उपेक्ष्य भी नहीं है।।२७।।

ऐसा देखा जाता है कि आदमी अपने को छोड़ना चाहता है अतः आत्मा त्याज्य कैसे नहीं? यह शंका उठाते हैं—

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित्।
ततो द्वेषाद् भवेत् त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि।।२८।।

रोग, क्रोध आदि से बेबस हुए लोगों में कभी मरने की इच्छा देखी जाती है अतः द्वेषवश आत्मा त्याज्य है—यदि ऐसी शंका हो तो समाधान है कि ऐसी बात नहीं।

कोई आदमी भयंकर रोगी हो जाता है। मान लो कैंसर आदि रोग है, जब तक जीयेगा, उसे कष्ट ही भोगना है। उसे इच्छा होती है कि 'मर जाऊँ'। ऐसों को मरने का अधिकार होना चाहिये ऐसा कुछ देशों में कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि मरने का अधिकार किसी को नहीं होना चाहिये। रोग में जब आदमी अति कष्ट को सहन नहीं कर पाता तब मरने की इच्छा करता है। ऐसे ही जब किसी को भयंकर क्रोध आता है तब भी आत्महत्या कर लेता है। अतः दारुण रोग या क्रोध में मरने की इच्छा देखी जाती है। हर आदमी गुस्सा होकर या रोग के कारण मरना नहीं चाहता। 'क्वचित्' कभी ही किसी में ऐसी इच्छा होती है। इसलिये अपने आप से भी द्वेष होता है जैसे क्रोध या रोग में स्वयं दुःखी होने पर दुःख न मिटा सकने पर खुद मिटने की इच्छा हो जाती है अतः आत्मा द्वेष्य तो है ही। यह शंका अनेक बार उठती है। समाधान दिया कि ऐसा नहीं है कि आत्मा द्वेषविषय हो जाये या उसे छोड़ने का प्रयास भी हो। इसमें उपपत्ति अगले श्लोक से देंगे।।२८।।

'आत्महत्या' में आत्मत्याग नहीं होता अतः इससे आत्मा की अप्रियता की संभावना नहीं उठती यह समझाते हैं—

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा।
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः।।२९।।

छोड़ा जा सकने वाला शरीर आत्मा नहीं, छोड़ने वाला आत्मा है। छोड़ने वाले के प्रति वह द्वेष है नहीं; छोड़ने योग्य से द्वेष होने में हानि क्या है!

जो मरना चाहता है वह क्या चाहता है? 'यह शरीर रोगी है, इससे *मैं* छूट जाऊँ।' या सास से परेशान है तो 'बहूपने को लाने वाला शरीर छूट जाये'। रोग और क्रोध से शरीर

को छोड़ना चाहता है। *अपने आप* को नहीं छोड़ना चाहता। आशा यह है कि इस रोगी शरीर के छूटने से इस रोगी शरीर का दुःख *मुझे* नहीं झेलना पड़ेगा। यह सिद्धान्ती ने कब कहा कि जीव शरीर को नहीं छोड़ना चाहता? शरीर तो विषय है, अनात्मा है। शरीर को थोड़े ही आत्मा कह रहे हैं! आत्मा कौन है? जो शरीर को छोड़ रहा है, वह आत्मा है। छोड़ने वाला आत्मा है, जिसे छोड़ रहा है वह आत्मा नहीं है। रोग या क्रोध के कारण जो द्वेष है, वह छोड़ने वाले के प्रति नहीं है वरन् रोग आदि निमित्तों के प्रति है। इसलिये जो मरने वाला है उसे अपने से द्वेष नहीं है। जो दुःख देने वाला शरीर है उसी से द्वेष है, उसे छोड़ता है। जो छोड़ने लायक है, त्याज्य है उस शरीर से मुझे द्वेष होवे, इससे जो हम आत्मा के अपने विषय में बात कर रहे हैं, उसमें क्या अन्तर आ रहा है? जिस इच्छा के आधार पर शंका की उससे तो आत्मा शरीर से छूटना चाहता है। जो छूटना चाहने वाला आत्मा है उसके प्रति तो द्वेष की सिद्धि हुई नहीं। आत्मा को न छोड़ना है, न आत्मा का ग्रहण है, न आत्मा उपेक्ष्य है। आत्मा तो उपेक्षा करने वाला, द्वेष करने वाला प्रीति करने वाला है। बचपन में खिलौने, जवानी में धन, बुढ़ापे में पोते-पोती प्रिय होते हैं लेकिन जिसे प्रिय हुआ करते हैं वह निरन्तर रहने वाला आत्मा है। छोड़ता-ग्रहण करता विषयों को है, स्वयं को नहीं। उस स्वयं के लिये ही अन्य सबसे प्रेम होता है। इस प्रकार यहाँ विद्यारण्य स्वामी उस 'स्वयं' पदार्थ के विवेक का संकेत कर रहे हैं जिसका छठे प्रकरण में (श्लोक ३४ आदि में) विस्तार आ चुका है। यह ठीक है कि अविवेकावस्था में, मैं देवदत्त हूँ अर्थात् शरीर हूँ, शरीर बीमार तो मैं बीमार। परंतु आत्महत्या करता हूँ तब करने वाला आत्मा है, शरीर नहीं। वहाँ भी मैं शरीर के बन्धन से छूट कर सुखी होना चाहता हूँ। इसलिये सब चीजें मुझे अपने लिये प्रिय हैं। जिसके लिये सब चीजें प्रिय हैं, वह मैं अतिप्रिय हुआ।

शरीर की तरह मेरा मन मुझे दुःखी करता है तो मैं आत्महत्या कर लेता हूँ। जब मन दुःखी करता है तब मैं दुःखी होता हूँ, अतः मन को छोड़ना चाहता हूँ। इसका पहला तरीका, खूब भाँग खा लो, गांजे के दम खींच लो। मन को मारना चाहते हैं अतः भाँग पी लेते हैं। ईसाइयों में शराब पाप नहीं है अतः वे शराब पी लेते हैं। उद्देश्य एक ही है कि दुःखी मन से बचना है। धार्मिक व्यक्ति सोचता है कि नशा करना ठीक नहीं है। तब प्राणायाम आदि करके मन को स्तब्ध करता है ताकि मन से मैं छूट जाऊँ। जो मन के दुःख से छूटना चाहता है वह आत्मा है, जिससे छूटना चाहता है वह मन आत्मा नहीं है। मन की ही एक वृत्ति है अहंकार। जब जीव गहरी नींद में जाता है तब यह वृत्ति भी नहीं रह जाती। वहाँ असीम आनंद का अनुभव होता है। गहरी नींद में मैं-वृत्ति से रहित अपना स्वरूप रहता है। उसमें प्रीति है ही अन्यथा लोग नींद न चाहें। नींद का अनुभव मैं की वृत्ति को नहीं होता। नींद में मैं की वृत्ति नहीं रह जाती। चाहे जाग्रत् हो, स्वप्न हो, नशा हो, आत्महत्या हो, मैं अर्थात् आत्मा तो सुखी ही होना चाहता हूँ। अतः आत्मा की प्रियता निर्विवाद है।।२९।।

आत्मप्रियता में युक्तिप्रदर्शन भी करते हैं

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात् पुत्रः प्रियतरस्तथा।।३०।।

क्योंकि सभी आत्मा के लिये प्रिय हैं इसलिये सिद्ध होता है कि आत्मा अतिप्रिय है जैसे पुत्र का मित्र जितना प्रिय हो, पुत्र उससे ज्यादा प्रिय होता है।

'सर्वस्य' जितने भी सुख के साधन हैं, उनमें शरीर-मन भी समझ लेना, वे सब आत्मा के लिये प्रीति का विषय होते हैं। आत्मा के लिये हैं तभी प्रीति का विषय हैं। पास की दुकान वाले को दस लाख का फायदा होना मुझे अच्छा लगे—ऐसा कभी होता है? लाभ सुख का साधन तो है पर तभी जब मुझे होवे। जब चीजें आत्मा का उपकार करें, तभी प्रिय हैं। इसी से सिद्ध है कि आत्मा अत्यन्त प्रिय है। लड़के का दोस्त है, साथ रहते हैं, उस दोस्त को पकौड़े पसन्द हैं तो लड़के की माँ बनाकर खिलाती है। यदि लड़के की उससे दोस्ती समाप्त होकर दुश्मनी हो जाये तो लड़के की माँ उसी व्यक्ति के लिये पकौड़े बनाने से इनकार कर देती है। पुत्र के लिये उसके मित्र से प्रेम था, पुत्र को जब वह इष्ट नहीं रहा तो माँ का उससे कोई प्रेम नहीं। उस लड़के को खिलाना अच्छा लगता था, क्योंकि उसकी खुशी से बच्चा प्रसन्न होता था। प्रेम पुत्र से था, उस लड़के से प्रेम नहीं था। लड़का बच्चे को प्रिय था और बच्चा माँ को प्रिय है। बच्चे के लिये उसको खिलाती थी। इसी प्रकार चीजें आत्मा के लिये प्रिय हैं। आगे आत्मा किसी के लिये प्रिय नहीं है अतः आत्मा अतिप्रिय हुआ। जैसे लड़के के दोस्त की अपेक्षा लड़का अधिक प्रिय है उसी प्रकार सब चीजों की अपेक्षा आत्मा अतिप्रिय है यह बात सिद्ध हो गई। इस प्रकार श्रुति प्रमाण से भी बतला दिया कि आत्मा अति प्रिय है और इस अनुमान से भी बतला दिया : जो चीज जिसके लिये प्रिय होती है वह उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय होता है, जैसे पुत्रमित्र की अपेक्षा पुत्र अधिक प्रिय होता है।।३०।।

आत्मप्रियता के लिये अनुभव प्रमाण भी बताते हैं। यद्यपि वेदान्त में परम प्रमाण श्रुति ही है तथापि भगवान् भाष्यकार ने एक जगह कहा है कि आत्मा के संदर्भ में श्रुति, स्मृति, युक्ति, अनुभव आदि सभी प्रमाण हैं। श्रुति के अनुकूल स्मृति, युक्ति, अनुभव सभी प्रमाण हो जाते हैं। ग्रंथारंभ (१.८) का स्मरण कराते हुए अनुभव दिखाते हैं—

मा न भूवमहं किन्तु भूयासं सर्वदेत्यसौ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि।।३१।।

'ऐसा न हो कि मैं न रहूँ किंतु हमेशा रहूँ ही' ऐसी सभी में आशा देखी जाने से आत्मा से प्रेम प्रत्यक्ष है।

यज्ञादि में शब्द ही प्रमाण है। उसमें युक्ति और अनुभव लागू ही नहीं होता। ज्योतिष्टोम से स्वर्ग होता है, इस बात में न युक्ति लग सकती है, न अनुभव लग सकता

है इसलिये श्रुति ही प्रमाण है, शब्द ही प्रमाण है। वेदान्त में श्रुति परम प्रमाण तो है ही, परंतु श्रुति के अनुकूल युक्ति भी मिल जाती है और अनुभव भी मिल जाता है। अतः उन्हें भी प्रमाण मान लेते हैं। आत्मा से निरतिशय प्रीति को बतलाने के लिये अनुभव दिखा रहे हैं। 'मैं न होऊँ ऐसा कभी न हो'—सभी को यह आशा रहती है। सब चाहते हैं कि कभी भी ऐसा न हो, कहीं भी ऐसा न हो, कि मैं न होऊँ। सबकी इच्छा है कि 'मैं सर्वदा रहूँ ही।' वेदों ने कहा है कि मनुष्य की सोलह कलायें हैं, उनमें एक कला 'नाम' है। बाकी पंद्रह कलायें मरने पर चली जाती हैं, पर सोलहवीं कला तो बच जाती है। इसलिये आदमी मरने पर भी चाहता है 'मेरे नाम पर दाग न लगे। नाम बना रहे।' नाम के प्रति आसक्ति है क्योंकि वह मेरा ही हिस्सा है। सब जीव हमेशा रहना चाहते हैं। सभी लोगों में यही आशा, प्रार्थना देखने में आती है। यह सबके अनुभव का विषय है। इस तरह स्वयं से प्रेम अनुभवसिद्ध है **॥३१॥**

आत्मा अन्य किसी का शेष अर्थात् अन्य किसी के लिये नहीं है यही और स्पष्ट करने के लिये प्रश्न उठाते हैं—

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि।
पुत्रभार्यादिशेषत्वम् आत्मनः कैश्चिदीरितम्।।३२।।

पूर्वप्रदर्शित की तरह के तीन प्रमाणों से आत्मा के प्रति प्रेम सिद्ध होने पर भी कुछ लोगों द्वारा कहा जाता है कि आत्मा पुत्र, पत्नी आदि का शेष (अर्थात् उनके लिये) है।

तीन प्रमाण हो गये प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। तीनों प्रकार से आत्मा में प्रीति सिद्ध हो रही है। अतः आत्मा को आनंदरूप मान लेना चाहिये किंतु जो लोग श्रुति के तात्पर्य को या तो जानते नहीं, या उसके तात्पर्य को मानना चाहते नहीं उन अतिरागी लोगों का अन्यथा कथन है। जैसे शास्त्रों में वर्णविभाग है, पर लोग कहते हैं कि 'शास्त्रों का इसमें तात्पर्य नहीं है; यह प्राचीन समय की सामाजिक व्यवस्था थी, शास्त्रों ने अनुवाद किया है।' शास्त्रीय विधियों की अन्यथानुपपत्ति आदि अनेक रीतियों से जानते हुए भी कि शास्त्रों को वही व्यवस्था स्वीकृत है, क्योंकि उसको मानना नहीं चाहते इसलिये अन्यथा कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा में प्रीति श्रुति, युक्ति, प्रत्यक्ष तीनों से सिद्ध होने पर भी, जो नहीं मानना चाहते, या जो अनभिज्ञ हैं, वे कहते हैं कि पुत्र भार्या इत्यादि का आत्मा अंग है। आत्मा को शेष कहते हैं अर्थात् वह पुत्रादि का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये है। उनका अभिप्राय है कि आत्मा पुत्र भार्या आदि के अंगरूप से प्रिय है, स्वयं अपने लिये नहीं। लोक में ऐसा बहुत माना जाता है। आदमी कहता है 'मैं तो दो रोटी ही खाता हूँ पर घर वालों के कारण सब कुछ करता हूँ।' पत्नी कहती है 'मैं तो झोंपड़ी में रह लूँ पर परिवार के सम्मान के कारण बड़े भवन में रहती हूँ।' अर्थात् मैं पुत्र, पति इत्यादि का शेष हूँ। ऐसा प्रयोग संसार में रात-दिन होता है। व्यापारी, नेता भी ऐसा ही कहते हैं कि 'मैं अन्य के लिये कर रहा हूँ।' अर्थात् मैं शेष हूँ, शेषी कोई और है। इस प्रकार मैं शेष हूँ किसी दूसरे का—ऐसा कुछ लोग कहते हैं।।३२।।

उक्त मान्यता के समर्थन में वे वेदवाक्य भी सुनाते हैं–

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम्।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम्।।३३।।

पूर्वोक्त तथ्य बताने की इच्छा से पुत्र मुख्यात्मा है यह 'पुत्र आत्मा ही है' इस श्रुति ने कहा है। यह बात (ऐतरेय) उपनिषत् में स्पष्ट है।

यह बात वेद भी कहना चाहते हैं कि पुत्र ही मुख्य आत्मा है। इसलिये बेटे के लिये सब कुछ करना चाहिये। वेद में कहा है 'आत्मा वै पुत्र नामासि' पुत्र नामसे तुम ही हो अर्थात् आत्मा ही पुत्र नाम से है। इस तरह श्रुति पुत्र को ही मुख्य आत्मा बतला रही है, अतः पुत्र ही आत्मा अर्थात् शेषी है। सिद्धान्ती के अनुसार श्रुति ने तो केवल यह बतलाया है कि तुम्हारे कर्म उपासना इत्यादि को तुम्हारे मरने के बाद तुम्हारा पुत्र करेगा इसलिये वह तुम्हारा ही रूप है। पुत्र ने पिता का कर्ज पिता के बाद चुका दिया तो लोक में भी माना जाता है कि पिता ने चुका दिया। अर्थात् पुत्र ने जो किया वह पिता का किया हुआ ही मान्य है। पर जो इस तात्पर्य को नहीं समझता, वह कहता है कि पुत्र को आत्मा बताया। किंच वादी को लगता है कि यही बात उपनिषद् में स्पष्ट कही है।।३३।।

ऐतरेय (२.१.४) में वाक्य है 'सोऽस्याऽयमात्मा पुण्येभ्यःकर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथाऽस्याऽयम् इतर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति'। इससे पुत्र की आत्मरूपता प्रमाणित करने के लिये वादी इसका उपन्यास करता है–

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते।
अथास्येतर आत्माऽयं कृतकृत्यः प्रमीयते।।३४।।

इसका वह यह आत्मा पुण्य कर्मों के लिये प्रतिनिधि बनाया जाता है। इसके बाद इस पिता का यह दूसरा आत्मा सारे कर्तव्य कर चुका होकर मरता है।

पुत्र अपने पिता का आत्मा है। अपने सारे पुण्य कर्मों को करते रहने के लिये मरते समय पिता पुत्र को बुलाता है। प्राचीन समय में मृत्यु से पूर्व भूमि पवित्र कर, स्नान कर, कुशा के आसन पर शरीर को रख, भस्म लगाते थे और परमात्मा का ध्यान करते हुए शरीर छोड़ते थे। ऐसा न होने पर नारायण बलि करते थे। उसी समय मृत्यु से पहले पिता, पुत्र को उपदेश देता था कि 'ये ये शुभ कर्म हमारी वंश-परम्परा में होते रहे हैं, अब मैं तुम्हें उनमें अपना प्रतिनिधि बनाता हूँ, अब से तुम यह सब करना।' इसको उपनिषदों में संप्रत्ति कर्म कहा है। अपने धार्मिक नियम पुत्र को देने चाहिये। शास्त्रों में पुण्य के लिये पुत्र को प्रतिनिधि बनाने का विधान है। उस पिता का पुत्ररूप आत्मा पिता के धर्म करता रहेगा और जो मरने वाला पिता है, 'मेरे नियम पूर्ण हो गये, अब बेटे को प्रतिनिधि बना दिया, अब मेरे वंश के

पुण्य कर्म का प्रवाह रुकेगा नहीं' ऐसा अपने को कृतकृत्य समझ कर वह मरता है। इस श्रुति-प्रसंग से निर्णय होता है कि पुत्र आत्मा है।।३४।।

'पुत्रहीन लोक से वंचित रहता है' आदि वचनों से भी उक्त भाव ही प्रकट होता है ऐसा वादी समझाता है—

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नाऽपुत्रस्यात एव हि।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः।।३५।।

स्वयंरूप आत्मा रहने पर भी पुत्रहीन को श्रेष्ठ परलोक नहीं मिलता, इसीलिये मनीषी उसी पुत्र को परलोक के लिये हितकारी साधन बताते हैं जो विधिवत् धर्मपालन के लिये सुशिक्षित है।

शास्त्र कहता है 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' 'अपुत्रस्य लोको न अस्ति' इत्यादि। अर्थात् जिसके पुत्र नहीं है, उसको लोक नहीं मिलता है। आत्मा तो सबका है ही, फिर क्यों कहत हैं कि सन्तति नहीं है, पुत्र नहीं है इसलिये गति नहीं है? इससे पता चलता है कि शास्त्र की दृष्टि में पुत्र ही आत्मा है, पुत्र न होने से आत्मा ही नहीं अतः लोक नहीं मिलता—यह संगत हो जाता है। 'पुत्र को जिसने पुण्य कर्मों का उपदेश दिया, उसी को परलोक की प्राप्ति होगी' ऐसा भी मनीषियों ने कहा है। श्रुतियों में भी यही बात कही गई है, लोक में भी प्रसिद्ध है कि बिना पुत्र के गति नहीं है।अतः पुत्र का आत्मा होना वेदसम्मत प्रतीत होता है यह वादी का अभिप्राय है।।३५।।

परलोक की तरह इहलोक के लिये भी पुत्रनिर्भरता कही होने से वही आत्मा सिद्ध होता है यह वादी कहता है—

मनुष्यलोको जय्यःस्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत् पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः।।३६।।

'पुत्र द्वारा ही मनुष्य-लोक जीता जा सकता है, अन्य साधनों से नहीं', 'मरणासन्न को चाहिये कि 'तू ब्रह्म है' आदि मन्त्रों से पुत्र को अभिमन्त्रित करे।'

बृहदारण्यक उपनिषत् में (१.५.१६) कहा है 'मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' अर्थात् पुत्र के द्वारा ही मनुष्य लोक का जय हो सकता है। अतः न केवल परलोक वरन् वर्तमान लोक भी पुत्रहीन द्वारा हारा हुआ ही है। यह तभी संभव है जब पुत्र ही आत्मा हो अन्यथा आत्मा से ही यह लोक क्यों न जीता जा सके? वहीं यह भी समझाया है कि मरणासन्न व्यक्ति पुत्र को मंत्रों से अपना प्रतिनिधि बनाये 'यदा प्रैष्यन् मन्यतेऽथ पुत्रमाह—त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः, त्वं लोकः इति'। 'त्वं ब्रह्म'आदि तीन छोटे-छोटे मंत्र हैं जिनसे पुत्र विधिवत् आगे पिता के कर्म करने में अधिकृत होता है। इस तरह क्योंकि इह लोक पर जीत का भी पुत्रातिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है यह श्रुति ने कह दिया, इसलिये उसे

आत्मा स्वीकारना चाहिये। इसलिये 'मुमूर्षु' जो मरने को तैयार है वह अपने पुत्र को तीन मंत्र देता है 'त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः त्व लोकः।' इन तीन मंत्रों से पुत्र को मंत्रित अर्थात् अनुशासित करता है। इन विधियों का अभिप्राय पुत्रात्मवाद में प्रतीत होता है। यह वादी को अभिप्रेत है।।३६।।

शंका का उपसंहार करते हैं—

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम्।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते।।३७।।

पूर्वदर्शित एवं ऐसी अन्य भी श्रुतियाँ बताती हैं कि जीव पुत्र-पत्नी आदि के प्रति शेष है, उनके लिये है। संसारी लोग भी स्वयं से पुत्र-प्रधानता का अनुमोदन करते हैं।

जिस प्रकार श्रुतियों में पुत्र को आत्मा बतलाया वैसे ही श्रुतियों में पत्नी को भी आत्मा कहा है। 'अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी' आदि से वेद ने बताया कि आत्मा का आधा पुरुष और आधा स्त्री है, दोनों मिलकर ही आत्मा पूरा होता है। लोक में पत्नी को अर्धांगिनी कहते हैं, इसलिये भार्या का भी पुरुष शेष अर्थात् अंग है और पुत्र का भी शेष है। ऐसा श्रुतियाँ भी कहती हैं। लोकप्रसिद्धि भी ऐसी ही है। आदमी सुबह से शाम तक खटनी करता है। उसे पता है 'मुझे इतने रुपये मिल गये। सौ साल भी जीऊँगा तो आराम से खा लूँगा, मेरे लिये पर्याप्त है।' फिर भी काम करता है, क्यों? बच्चों के लिये, 'मेरे मरने के बाद भी बच्चे खाते-पीते रहें।' अर्थात् अपने को बच्चों का शेष मानता है। अपने लिये पूरा होने के बाद सारी मेहनत बच्चों के लिये है। इससे सिद्ध होता है कि वह अपनी अपेक्षा बाल-बच्चों से ज्यादा प्रीति करता है। इससे पता लगता है कि जिसको सिद्धांती स्व कहता है, वह नहीं वरन् स्व से भिन्न जो पर है, पुत्र, पत्नी आदि, वह ज्यादा प्रिय है। तभी आदमी अपने को इतना परेशान करता है। लौकिक लोग भी मानते हैं कि पिता से अधिक पुत्र का महत्त्व है।।३७।।

श्लोक ३३ से प्रारंभ पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हैं—

स्वस्मिन् मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद् वित्तादिना यथा।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः।।३८।।

स्वयं के मरने पर भी पुत्रादि धनादि से जैसे सुखसम्पन्न रहें वैसा ही प्रयास पिता करता है। इसलिये पुत्रादि पिता की अपेक्षा मुख्य निश्चित होते हैं।

पिता सोचता है 'मैंने जो कमा कर छोड़ा है, मैं तो मर जाऊँगा, इनका भोग नहीं करूँगा, पर मेरे पुत्र-पत्नी इस धन से अपना जीवन सुख से व्यतीत कर सकें।' व्यक्ति ऐसा ही प्रयत्न करता है कि मरने के बाद भी पत्नी-पुत्र आदि सुखी रहें। श्रुति, स्मृति और अनुभव भी मिल गया इसलिये निर्णय जानना चाहिये कि पुत्रादि मुख्य हैं, प्रत्यगात्मा नहीं। खुद को प्रधान समझकर नहीं वरन् बाल-बच्चों के लिये करता है। यहाँ तक पूर्व पक्ष है।।३८।।

अब श्रुतियों ने क्या कहा है और तुम क्या गलत समझ रहे हो—यह आगे बतलायेंगे। वस्तुतः ऐसा नहीं है कि किसी और की प्रधानता हो वरन् पुत्रादि के लिये करते हुए पिता अपने लिये ही कर रहा है। 'आत्मा' शब्द का प्रयोग तीन जगह होता है। पुत्रात्मता कहती श्रुतियों में जहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग आया है, वहाँ 'आत्मा' का अन्य अर्थ है, और जहाँ आया है कि 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वहाँ आत्मा का कुछ और अर्थ है। यह सब समझाने के लिये अनुभव को स्वीकार कर उसे शास्त्र-युक्ति से उपपन्न करते हैं—

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित्।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्माऽयं भवति त्रिधा।।३९।।

(पुत्रादि की प्रधानता प्रतीत होती है) यह बात ठीक है। लेकिन इतने से आत्मा किसी (अनात्मा) का शेष नहीं हो जाता। गौण, मिथ्या और मुख्य—इन भेदों से यह आत्मा तीन तरह का है।

सिद्धान्ती कहता है कि तुमने जो श्रुति, स्मृति और लोकानुभव बतलाया है, वह सत्य है। हमें स्वीकार है। लेकिन तुमने उसके बल पर कुछ बढ करके कहा कि आत्मा शेष है, वह गलत है। कई जगह पुत्र, पत्नी आदि की प्रधानता होती है लेकिन कहाँ? जहाँ उन्हें आत्मा समझा जाता है। सर्वत्र आत्मा के रूप में प्रत्यक्स्वरूप ही नहीं समझा जाता। आत्मा किन-किन चीजों को कहते हैं—इस पर विचार वादी ने नहीं किया अतः उसे भ्रम हुआ कि अनात्मा प्रधान है। आत्मबुद्धि के वैविध्य को समझे तो पता चलेगा कि जो वह कहना चाहता है वह सिद्ध नहीं होता। श्रुति, स्मृति और अनुभव बताये, उनसे आत्मा किसी अन्य का शेष अर्थात् अंग सिद्ध नहीं होता। वादी ने बतलाया कि पुत्र का अंग आत्मा हुआ क्योंकि 'मैं काम करता हूँ बच्चों के लिये' ऐसा अनुभव है। किंतु आत्मा कभी भी किसी का शेष नहीं होता, होता तो आत्मा के लिये ही है। दृष्टांत में भी है आत्मा के लिये ही, लेकिन इसके लिये आत्मा-शब्द का अर्थ तीन तरह से समझना पड़ता है। गौण, मिथ्या और मुख्य—ये आत्मा के तीन प्रकार हैं। जहाँ आत्मा को शेष बतलाया, वहाँ भी शेषी तो आत्मा का ही कोई प्रकार है।।३९।।

आत्मा के तीन भेद स्पष्ट करते हैं—

देवदत्तस्तु सिंहोऽयम् इत्यैक्यं गौणमेतयोः।
भेदस्य भासमानत्वात् पुत्रादेरात्मता तथा।।४०।।

'यह देवदत्त शेर है' ऐसे प्रयोगों में देवदत्त और शेर की गौण एकता होती है क्योंकि दोनों का अन्तर प्रतीत होता रहता है। पुत्रादि इसी तरह गौण आत्मा हैं।

गौण उसको कहते हैं जहाँ भेद की प्रतीति, अनुभव भी हो, फिर भी किसी गुण सम्बन्ध के कारण अभेद का प्रयोग किया जाता है। जैसे, देवदत्त हिम्मत वाला बहादुर है तो उसे कह देते हैं कि शेर है। कहने वाला भी जानता है कि वह शेर नहीं है। भोजन उसे आदमी

वाला ही देते हो, कच्चा मांस तो नहीं देते! पता है कि देवदत्त शेर नहीं है, यह सत्य भी है। भेद सच है, प्रतीति भी भेद की है, फिर भी अभेद का प्रयोग कर लिया जाता है। दो बड़े विद्वान् पंडित थे। विद्वत्ता से असूयारूप दोष बहुत लोगों में आ जाता है। असूया का मतलब होता है 'किसी में गुण होवे फिर भी उस गुण की तरफ ध्यान न देकर उसमें कोई न कोई दोष मन में सोच लेना। जैसे आजकल कोई घूस नहीं खाता तो जो घूस खाने वाला है वह उसकी प्रशंसा नहीं करता। कहेगा कि 'घूस खाने के लिये हिम्मत चाहिये। डरपोक क्या घूस खायेगा?' घूस नहीं खानारूप गुण में उसने भयरूप दोष का आविष्कार कर लिया। वे दोनों विद्वान् एक साथ कहीं गये। एक की अनुपस्थिति में दूसरे ने यजमान से कहा 'यह विद्वान् नहीं है, मीमांसा नहीं पढ़ा, वेद का सही अर्थ नहीं कर सकता है। कुतर्की है, कौआ है।' इसके बाद पहले वाले की अनुपस्थिति में दूसरे ने कहा, 'यह विद्वान् नहीं है खाली वेद में लिखे को बोलता रहता है, मीमांसा करता रहता है। यह तो गधा है, पंडित नहीं है।' भोजन में यजमान ने चिड़ियों का भोजन एक के लिये, तथा गधे का भोजन दूसरे के सामने रख दिया। पण्डितों को मालूम था कि वे कौआ या गधा नहीं हैं। पर उसने युक्तियाँ देने वाले, ज्यादा बोलने वाले को कौआ कह दिया था। जानता था कि वह कौआ नहीं है। इसी प्रकार दूसरे ने उसे गधा कहा था। भेद हो, भेद की प्रतीति हो, फिर भी एकता कही जाये, उसे गौण एकता कहते हैं। इसी तरह देवदत्त के लिये शेर शब्द का प्रयोग गौण है।

पुत्र और भार्या को इसी तरह आत्मा कहते हैं। जब श्रुति, स्मृति पुत्र को आत्मा कहती है या वैसा अनुभव होता है, वहाँ पुत्र सचमुच में आत्मा है ऐसा मतलब नहीं है। पुत्र और आत्मा अलग भी हैं, कहते समय यह प्रतीति भी है कि अलग हैं फिर भी आत्मा के जैसा यह मुझे प्रिय है—इस प्रियतावश आत्मबुद्धि है। पुत्र ने किया तो मानो मैंने ही किया ऐसा लगता है। इसलिये पुत्रादि गौण आत्मा ही है। वहाँ भेद है, भेद की प्रतीति भी है फिर भी एकता कह दी जाती है। जहाँ श्रुति, स्मृति, अनुभव से पुत्र आत्मा है वहाँ गौण दृष्टि से है। तात्पर्य है कि पुत्र के लिये करते हुए 'अपने लिये कर रहा हूँ' यह प्रतीति होने से मैं ही तब भी प्रधान रहा। गलती इतनी ही है कि मैं-बुद्धि पुत्र में कर ली। श्रुति ने पुत्र को आत्मा क्यों कहा? अज्ञानी को स्थूल शरीर में आत्मबुद्धि है, शरीर को 'मैं' समझता है। शरीर के अंगों को भी 'मैं' समझा जाता है। माथे पर चंदन लगे तो 'मुझे तिलक लगाया' यह प्रतीति होती है, समूचे शरीर पर चंदन लगे तभी 'मुझे लगा' ऐसा अनुभव हो यह नियम नहीं। शरीर का ही एक अंग शुक्र है, उसी का विकसित रूप पुत्र है अतः अज्ञानी के लिये पुत्र आत्मा है। जैसे अपने शरीर के अंगों से अपना, अंगी का भेद भी भासता है अतएव सड़ने लगे तो पैर या अंगुली कटवा देते हैं, वैसे पुत्र से अपना भेद भी स्पष्ट है एवं अधिक विरोध होने पर उससे आत्मबुद्धि हट भी जाती है। इसलिये पुत्र को आत्मा समझना गौण दृष्टि से है, इसी को श्रुति आदि ने अनुमोदित किया।।४०।।

मिथ्या आत्मा बतलाते हैं–

भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ।
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चोरात्मता यथा।।४१।।

साक्षी से पाँचों कोश अलग हैं लेकिन यह भेद प्रतीत नहीं होता इसलिये कोश मिथ्यात्मा हैं जैसे ठूँठ चोररूप होता है।

मिथ्या आत्मा किसको कहते हैं? शरीर से लेकर के अहंकार पर्यन्त को। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय–ये पाँचों कोष हैं। कोष का मतलब होता है उन दीवालों का घेरा जिसमें कोई महत्त्वपूर्ण चीज होवे। ये पाँच मानो दीवालें हैं। जैसे तुम धन को सुरक्षित करके रखते हो वैसे परमेश्वर ने भी अपने को पंचकोषों के अंदर सुरक्षित रखा। बाहर का है अन्नमय कोष अर्थात् शरीर जो अन्न से बनता है, उसी में विलय होता है। इस अन्नमय कोष में प्राणमय कोष है। प्राण मायने जीवनी शक्ति। जिसमें प्राण होता है उसे प्राणी कहते हैं। सभी जीवित चीजों में प्राणमय कोश होता है। प्राण अपान व्यान उदान और समान–ये पाँच प्राण कहे गये हैं। साँस वह है जो आती-जाती है, ये प्राण-अपान हो गये। शरीर में फैलकर रहने वाली जीवनी शक्ति व्यान हुई, उसी से खाना पचाया जाता है, रक्त पहुँचाया जाता है। उदान वायु तुमको बैठा रखती है, नहीं तो शरीर लुढक जायेगा। जीवित शरीर में ही आत्मा स्पष्ट मिलता है। प्राणमय के अंदर है मनोमय जो संकल्प-विकल्प करता है। जहाँ आत्मा व्यक्त होगा वहाँ खाली प्राण ही नहीं, मनोमय भी है। केवल मन से भी काम नहीं चलता। कर्तृत्व, भोक्तृत्व वाला जो विज्ञानमय है, वह भी उपस्थित है। जहाँ कर्त्ता-भोक्तापना होगा वहीं आत्मा प्रकट होगा। मूल कारण है आनन्दमय। हम कुछ भी करें, कुछ भी भोगें, विचार करो तो उसका सदैव अंतिम लक्ष्य आनन्द पाना है। संसार में कोई भी दुःख के लिये काम नहीं करता है, दुःख को नहीं चाहता है। आनन्दमय कोष सबसे अन्त में, सबसे भीतरी है।

उस आनन्दमय कोष के अंदर, उसका भी अधिष्ठान ब्रह्म है। इन कोशों के अंदर परमात्मा ने प्रवेश किया अतः ये पाँच कोष साक्षी से भिन्न हैं। साक्षी शास्त्रसिद्ध है। सामान्यतः साक्षी का अनुभव लोगों को नहीं है। शास्त्र के द्वारा ही साक्षी का बोध होता है। हमें अपना बोध हमेशा कर्त्ता-भोक्तारूप में होता है, साक्षीरूप में नहीं होता। जब हम साक्षी शब्द का प्रयोग करते हैं, तब भी हमें ऐसा लगता है कि 'जिसका मैं साक्षी हूँ उसके कारण मुझमें फरक तो आता ही है।' बहुत से लोग यह कहते हैं कि दुःख-सुख का साक्षी होने पर भी दुःख होता तो है; ऐसा इसलिये कि साक्षी को नहीं जानते, द्रष्टा, देखने वाले को ही जानते हैं। साक्षी हमेशा निर्विकार है। साक्षी से पंचकोषों में भेद है, लेकिन 'न तु भात्यसौ' प्रतीत नहीं होता। जैसे बेटे से मैं अलग हूँ, मैं जानता हूँ कि मैं अलग हूँ, इस प्रकार साक्षी से पाँच कोष अलग हैं–यह हम नहीं जानते, केवल शास्त्र में सुनते हैं। हमें तो पाँच कोषों वाला

ही मैं लगता है। गाल पर थप्पड़ लगा तो यह नहीं लगता कि 'गाल को थप्पड़ लगा' वरन् 'मुझे थप्पड़ लगा'। इसी प्रकार मन हमें अपने से अलग नहीं लगता। मन सुखी-दुःखी हो तो मैं ही सुखी-दुःखी होता हूँ। साक्षी जो मेरा स्वरूप है, वह है तो कोशों से अलग, परंतु प्रतीत अलग नहीं होता। जहाँ भेद हो प्रमाणसिद्ध परंतु भेद का भान न होवे वहाँ मिथ्या एकता होती है। प्रायः जब साक्षी का विचार आता है तब आदमी यह रहस्य भूलकर 'साक्षी है' के ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है, 'साक्षी हूँ' की अनुभूति का प्रयास नहीं करता। अभी साक्षी का भान नहीं है, द्रष्टा का ही भान है, उसी को साक्षी समझ रहे हो। साक्षी का अनुभव करने के लिये दीर्घकाल तक साधना चाहिये। साक्षी का क्षणभर को भी यदि साक्षात् अनुभव हो जाता है तो उसका बड़ा दीर्घकालीन प्रभाव पड़ जाता है। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि 'मुझे साक्षिभाव तो है, फिर भी दुःख होता है'। साक्षिभाव होने पर दुःख नहीं होता। इस तरह कोषों को जब तुम आत्मा कहते हो तब गौण आत्मता नहीं है, क्योंकि भेद का भान नहीं है, वरन् मिथ्या आत्मता है। तुम कोष हो, आत्मा कोष नहीं है। परन्तु 'मैं कोष' ऐसा एकता का भान होता है। मिथ्या वह चीज हुई जहाँ भेद प्रमाणसिद्ध होने पर भी भेद का भान न होवे। दृष्टांत दिया, जैसे मन्द अंधकार में तुम्हें ठूँठ दिखाई दिया, किन्तु तुम्हें वह चोर लगा। वह चोर है तो नहीं, लेकिन दीख रहा है। ऐसी प्रतीति नहीं होती कि यह चोर है नहीं केवल दीख रहा है वरन् 'चोर ही है' ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार से 'मैं देवदत्त हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। जैसे स्थाणु में चोर है, ऐसे ही अपने साक्षिरूप से ये पंचकोष एक हुए प्रतीत होते हैं। इस तरह मिथ्यात्मा बताया।।४१।।

अब मुख्य आत्मा बतलाते हैं—

न भाति भेदो नाऽप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः।
सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते।।४२।।

अप्रतियोगी (अर्थात् सम्बन्धहीन) साक्षी का किसी से भी न भेद है, न उसका किसी से भेद प्रतीत होता है। ऐसा साक्षी सबकी अपेक्षा आन्तर (प्रत्यक्) होने से उसे मुख्य आत्मा स्वीकारा जाता है।

साक्षी और 'मैं' के भेद का भान नहीं होता इसलिये वह गौण से अलग हो गया। और भेद है भी नहीं इसलिये मिथ्यात्मा से अलग हो गया। साक्षी, मुख्य आत्मा कैसा है? 'अप्रतियोगिनः' उसका कोई प्रतियोगी नहीं है। जैसे, 'मैं कौन?' मैं देवदत्त—ऐसे शरीर का भान हुआ। मैं सुखी, तो मन का भान हुआ। या अपने पुत्र के बारे में कहा 'यह मैं ही समझ लेना' तो 'मैं' से सम्बद्ध पुत्र का भान हुआ। 'मैं'—इसके साथ किसी-न-किसी का भान होता है। किन्तु मुख्यात्मा जो साक्षी है, उसके बारे में 'कौन?' ऐसी जिज्ञासा हो तो अन्य कुछ प्रतीत नहीं होता। इसलिये बहुत से लोग इस साक्षी से घबराते हैं। भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है, 'अभये भयदर्शिनः'। हमें सदा मैं का अनुभव किसी प्रतियोगी के साथ है, अर्थात्

मैं अमुक हूँ, ऐसी प्रतीति है। इसलिये जब 'मैं क्या हूँ' नहीं कह पाते, तब समझते हो कि मैं रहा ही नहीं। केवल 'मैं हूँ' इस अभेद-दर्शन से लोगों को लगता है कि मैं कुछ नहीं रहा किंतु यों 'कुछ और नहीं रहना' ही साक्षी का रूप है। जब कोई भी अध्यस्त नहीं रह जायेगा तब जो मैं-मात्र अनुभूति वही साक्षी है। शरीर से लेकर के अहंकार-पर्यन्त, सब कुछ अध्यस्त है और एकमात्र आत्मा अधिष्ठान है। अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यस्तों की निवृत्ति हो जाती है। अगर चीज सचमुच होवे, तो सचमुच निवृत्त भी होवे, अगर झूठमूठ है, तो झूठमूठ ही निवृत्त होती है। पास गये तो पता लगा 'यह तो काँच है, मेरा अपना ही मुँह दीख रहा है'। अन्दर मुँह नहीं है यह पता लगने पर भी मुँह दीखता रहता है। चूँकि प्रतिबिम्बरूप मुँह झूठा है इसलिये उसका दीखना बंद नहीं होता, पर तुम जानते हो कि वहाँ है नहीं। इसी प्रकार उस अधिष्ठान के ज्ञान के बाद, अध्यस्त की प्रतीति भी होती है पर है-रूप से नहीं होती। नहीं होते हुए ही प्रतीत होता है जैसे काँच में मुँह। अधिष्ठान में जितने कल्पित, अध्यस्त हैं वे सब अपने अधिष्ठान के प्रतियोगी नहीं हैं। जब अध्यस्त प्रतीत होता है तब अधिष्ठान नहीं और जब अधिष्ठान-बोध हो जाता है तब अध्यस्त 'नहीं है' प्रतीत होने से अधिष्ठान का सम्बन्धी नहीं लगता। या 'ब्रह्म है' प्रतीति होती है, या 'जगत् है' प्रतीति होती है अतः 'ब्रह्म है' प्रतीति होने पर 'जगत् है' प्रतीति न रहने से 'ब्रह्म का' समझा जाये ऐसा कुछ नहीं है इसलिये वह अप्रतियोगी है। किं च वही सर्वान्तर है।

गौणात्मा पुत्रादि तथा मिथ्यात्मा देहादि, ये सब प्रतीत उसके कारण ही हैं। वह है तब ये प्रतीत हो रहे हैं। जिसकी प्रतीति होती है, उसको शास्त्रों में 'बाहर' पराक् कहा है। प्रायः हम लोग इंद्रियों से अनुभव करते हैं और इंद्रियों से जो चीज दीखती है, वह बाहर ही दीखती है। इसलिये दीखने वाली चीजें बाहर हैं, और मैं देखने वाला, शरीर में हूँ, या अविद्या रहते शरीर हूँ। देखने वाला अंदर लगता है, जो दीखने वाली चीजें हैं वे अपने से अलग लगती हैं। बाहर की चीजों के लिये शरीर या उसके अंग, आँख आदि साधन हैं। आँख को देखने के लिये मन है, मन को देखने के लिये? जो मन को जानता है वही सर्वान्तर है, सब चीजें बाहर दीखने वाली हैं और वह सबका आन्तर है, उसके होने से ही यह सब प्रकाशित हो रहा है। अंदर-बाहर को ऐसे नहीं समझना कि जैसे पेटी में कपड़े होते हैं, ऐसे सबमें परमात्मा होवे! जो द्रष्टा है वह अन्दर हुआ, अंतिम द्रष्टा साक्षी है इसलिये उसे सबके अंदर कहा जाता है। बाकी चीजों में मत ढूँढना कि वहाँ ब्रह्म मिल जायेगा। कई लोग कहते हैं, 'चाहे अपने अंदर और चाहे शालिग्राम में परमात्मा का दर्शन करो, वहाँ भी परमात्मा ही है।' वे लोग द्रष्टा-दृश्य इन दोनों का भेद नहीं समझ पाते। बाहर परमात्मा सदैव 'यह रूप' से ही प्रतीत होगा। देखने वाले तुम रहोगे। अन्दर तुम कहते हो देखने वाले को और देखने वाले का अनुभव तुमको केवल मैं में ही होता है, और कहीं देखने वाले का अनुभव नहीं होता है। वही मुख्यात्मा है, जो सबका साक्षी है।

जहाँ शास्त्रों ने 'आत्मा' कहा है, वहाँ कहाँ किस अर्थ में प्रयोग है यह समझना पड़ता

है। कहीं गौणात्मा को, कहीं मिथ्यात्मा को तथा कहीं मुख्यात्मा को कहा है। यह विवेक करके समझना चाहिये नहीं तो आत्मा शब्द का गलत अर्थ समझ लोगे। आत्मा शब्द का कहीं गौण अर्थ में प्रयोग है, कहीं मिथ्या में, कहीं मुख्य में। आत्मा का मतलब साधारण भाषा में होता है खुद। खुद को हम जो समझते हैं, उसी के लिये खुद शब्द का प्रयोग हो जाता है। इसी तरह से आत्मा शब्द का प्रयोग हो जाता है। यह गौणात्मा, मिथ्यात्मा, मुख्यात्मा का भेद आचार्य शंकर से भी बहुत पहले सुन्दर पाण्ड्य ने व्यक्त किया है। उनकी कारिकाओं को भगवान् भाष्यकार ने उद्धृत किया है। यह प्रयोग प्राचीन है। गौण वहाँ हुआ जहाँ भेद और भेद प्रतीति है फिर भी अभेद व्यवहार होता है। मिथ्यात्मा वह कहा जाता है जहाँ भेद है, परंतु भेद की प्रतीति नहीं है। और मुख्यात्मा वह कहा जाता है जहाँ न भेद है और न प्रतीत होता है।।४२।।

आत्मा त्रिविध होने से उस शंका का समाधान कैसे जिसमें आत्मा को शेष और पुत्रादि को शेषी उपपादित किया था (श्लोक ३२-३८)। यही समझाते हैं–

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता।।४३।।

ऐसी स्थिति रहते, जिन व्यवहारों में जिसका आत्मा होना उचित है उनमें वही शेषी एवं बाकी सब शेष हो जाते हैं।

मूल विचार चल रहा था कि आत्मा ही सबसे ज्यादा प्रिय है। आत्मा शब्द के तीन प्रकार से तात्पर्य सिद्ध हो जाने पर जिस व्यवहार में गौण, मिथ्यात्मा या मुख्य की संगति हो वहाँ उसे ही आत्मा कहा-समझा जाता है। जब पुत्र को आत्मा कहते हैं तब आत्मा शब्द का गौण आत्मा ही अर्थ है। 'मेरे स्थान पर मेरे मैनेजर को भुगतान कर देना' इसका मतलब यह नहीं है कि मेरे स्थान पर भोजन भी उसी को खिला देना! भुगतान जायज होगा क्योंकि उसमें गौणात्मता हो सकती है मिथ्यात्मता नहीं हो सकती। जहाँ पालन करने का प्रसंग है वहाँ पुत्रादि प्रधान हैं, जीने-स्वस्थ रहने का प्रसंग है वहाँ शरीरादि प्रधान है तथा जहाँ परमार्थ का प्रसंग है वहाँ मुख्यात्मा प्रधान है। उन सन्दर्भों में आया आत्मा-शब्द उन्हीं अर्थों को कहेगा। मुख्य आत्मा को भूख-प्यास नहीं लगती पर मिथ्यात्मा को तो लगेगी। अनेक लोग जो बात मिथ्यात्मा के बारे में कही जाती है, उसे गौणात्मा या मुख्यात्मा के विषय में घटाना चाहते हैं। जिस लौकिक व्यवहार में जिसकी आत्मरूपता उचित है, उसमें वह शेषी होगा, अर्थात् अंगी होगा। दूसरी सब चीजें उसके प्रति अंग होंगी अर्थात् उसके लिये होंगी। अंग-अंगी के लिये होता है। अनेक कर्मों के अनुष्ठान से पहले कुछ प्रारम्भिक कर्म भी करने पड़ते हैं तभी प्रधान कर्म सम्पन्न होता है। अतः प्रधान कर्म शेषी तथा बाकी कर्म शेष कहलाते हैं। जिसके लिये होता है वह अंगी, और उसके लिये जो हो वह अंग। इसलिये जब जो शेषी होगा, उसके अतिरिक्त बाकी सब गौण होंगे।।४३।।

पूर्वोक्त विषय और स्पष्ट करते हैं—

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः।।४४।।

मरणासन्न के घर की रक्षा आदि के लिये गौणात्मा (पुत्रादि) ही उपयुक्त है, न मुख्य और न मिथ्या, अतः उस प्रसंग में पुत्र शेषी होता है।

जो मरने को तैयार है, वह घर की देखभाल के लिये किसको कहेगा? बेटे को ही कहेगा या पत्नी को कहेगा। 'जैसे मैंने घर को रखा, तुम भी वैसे ठीक से रखना'। खाली इहलोक की रक्षा मत समझ लेना, घर की परम्पराओं का रक्षण भी घर के रक्षण के अन्तर्गत आता है। पहले घर के बँटवारे में पहले अग्नि और बाद में देवमूर्तियाँ बाँटी जाती थीं, तब ही बँटवारा मान्य होता था। घर की रक्षा केवल दीवालों की रक्षा नहीं है, किसी परम्परा की रक्षा है। कुलधर्म शाश्वत माने गये हैं। यह तभी होगा जब पिता उसकी जिम्मेदारी पुत्र को देगा, पुत्र उसे स्वीकार करेगा। इसलिये वहाँ पुत्र या भार्या, जो गौणात्मा है, उसी का उपयोग हो सकता है, मुख्यात्मा का नहीं हो सकता क्योंकि उसमें किसी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं है। मुख्यात्मा अकर्ता अभोक्ता है, इसलिये वह घर की रक्षा इत्यादि कार्य के लिये उपयोगी नहीं है। मिथ्यात्मा उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि शरीर तो खुद ही मर रहा है, घर की रखवाली नहीं कर सकता। मुख्यात्मा कर्माधिकारी नहीं, क्योंकि वह न वर्ण-धर्म, न आश्रमधर्म वाला है। वर्ण-धर्म शरीर के साथ होते हैं। ब्राह्मण माता-पिता से पैदा हुआ इसलिये मैं ब्राह्मण हूँ। पैदा शरीर हुआ, इसलिये जब तक उस शरीर में हूँ, तभी तक ब्राह्मण हूँ। हो सकता है अगले जन्म में मैं कहीं और पैदा हो जाऊँ। उसी वर्ण जाति देश में पैदा होऊँ, ऐसा नियम नहीं है। आश्रमधर्म हम अपने वर्ण एवं संस्कारों के अनुसार चुनते हैं इसलिये हमारे मन से सम्बन्धित हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी बनेंगे, इसका जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह निश्चय मन का है। निश्चय कर गृहस्थ बन गये, तब उस आश्रम के नियम लागू हो गये। ब्रह्मचारी रहे तो गृहस्थ के नियम लागू नहीं होते। वर्णधर्म का सम्बन्ध तो है शरीर के साथ, आश्रम-धर्मों का सम्बन्ध है, अन्तःकरण के साथ। जो मुख्य आत्मा है अर्थात् जो शरीर-मन-प्राण से रहित है, उसका न तो वर्ण है न आश्रम है। इसलिये उसके लिये कोई भी कर्माधिकार की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिय कुलधर्म, परम्परा की रखवाली करने के लिये तो पुत्र ही अंगी होगा। इस अभिप्राय से शास्त्र ने भी पुत्र को आत्मा कहा।।४४।।

तात्पर्यानुसार शब्दों के अर्थ समझे जाते हैं यह दृष्टांत से बताते हैं—

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते।
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद् बटुरेवाऽत्र गृह्यते।।४५।।

'अध्ययन करने वाला आग है' इस कथन से उपस्थित भी आग ग्रहण नहीं की जाती

क्योंकि वह अध्ययन करने के योग्य नहीं। अध्ययन करने के योग्य होने से बटु ही इस वाक्य में 'आग' शब्द से समझा जाता है।

कोई पूछे कि जब शरीर भी है और बेटा भी है तब कैसे पता लगे किसको कह रहे हो? दो ब्राह्मण बैठे हैं, उनसे कहा 'रुद्रिय पाठ कर लेना'। कौन समझे कि उसे कह रहे हो? इसी प्रकार मुमूर्षु है, अभी मरा तो है नहीं, और बेटा भी बैठा है। कैसे पता लगे कि किस आत्मा को कह रहे हो? उत्तर है कि योग्यतावश अर्थबोध होता है। एक जगह ठंडा मौसम है और आग जल रही होती है, वहाँ वेदपाठ हो रहा है। वेदपाठ करने वालों में कोई बड़ा तेज है। उसको कहते हैं कि 'यह वेदपाठ करने वाला तो आग है।' जो कड़वी बातें बोलता है उसे भी कहते हैं कि आग है, आग उगलता है। वहाँ आग भी जल रही है, बटुक वेदपाठ भी कर रहे हैं। 'आग' कहा तो उसका मतलब क्या लें? 'पाठ करने वाला आग है' जब ऐसा कहा जाता है तब अग्नि वहाँ होते हुए भी ग्रहण नहीं की जाती। क्यों? क्योंकि आग बोला नहीं करती। अतः वेदपाठी को ही आग शब्द से लिया जाता है। इसी प्रकार जो मरने को तैयार पड़ा है, उसको कोई काम बताना सम्भव ही नहीं है यद्यपि अभी जिन्दा है। लड़का बैठा भी है। अतः लड़के को ही लेना पड़ेगा। इसलिये गौणात्मा और मिथ्यात्मा दोनों उपस्थित होवें, तो भी जिस व्यवहार के जो योग्य है, उसे ही लेना पड़ेगा।।**४५**।।

अब मिथ्यात्मा की शेषिता को बतलाते हैं—

कृशोऽहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे।।४६।।

'मैं कमजोर हूँ, (भोजनादि से) पुष्टता पाऊँगा' इत्यादि कथनों में देह को आत्मा कहना ही उचित है। पुष्टि के लिये अन्न खाने में पुत्र विनियोग के अयोग्य है।

'मैं बहुत दुबला हो गया हूँ। कुछ घी-दूध खाऊँगा तो पुष्ट हो जाऊँगा। दुर्बलता समाप्त हो जायेगी।' इस प्रकार के व्यवहार में जो मिथ्यात्मा है, शरीररूप आत्मा है, वही समझना उचित है। यहाँ पुत्र का विनियोग नहीं हो सकता। अपनी पुष्टि के लिये जो अन्न खाना है वह मिथ्यात्मा अर्थात् शरीर को ही खाना पड़ेगा, गौणात्मा खाये तो मिथ्यात्मा पुष्ट नहीं होता। यह याद रखना कि कहाँ किसका प्रयोग है। तुम्हारे शरीर में गंगा नाडी है, इतने मात्र से तुम शुद्ध हो गये, ऐसा नहीं। शुद्धि के लिये गंगा नहाना ही पड़ेगा। जैसे पुष्टिहेतु अन्नभक्षण वैसे पुण्यहेतु गंगास्नान हुआ। दोनों जगह मिथ्यात्मा का उपयोग होगा। चाहे लौकिक कर्म हों या शास्त्रीय कर्म हों, जहाँ जिसका प्रयोग संभव है, वही समझ लेना उचित है। तुम गंगा में गोता लगाओगे तो तुम्हें पुण्य होगा, कोई दूसरा तुम्हारे नाम से गोता लगाये तो तुम्हें नहीं होगा जैसे दूसरे के खाने से तुम्हारे शरीर की पुष्टि नहीं हो सकती।।**४६**।।

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत् कृच्छ्रादिकं ततः।।४७।।

'तपस्या से स्वर्ग जाऊँगा' इत्यादि में कर्त्ता (विज्ञानमय) को आत्मा समझा जाता है अतः शरीर के सुखभोगों की परवाह बिना किये व्यक्ति कृच्छ्र आदि सम्पन्न करता है।

किसी ने निर्णय किया कि 'मैं तपस्या करूँगा, तपस्या करके स्वर्ग जाऊँगा।' वेद कहता है कि तपस्या से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। तुम स्वर्ग के लिये तप करोगे तो तुम्हें पंचाग्नि का ताप सहना पड़ेगा। जेठ के महीने में अपने चारों तरफ आग जला लो, ऊपर से धूप हो, इस प्रकार चारों तरफ से अग्नि और ऊपर से सूर्यरूप अग्नि—यों जब पंचाग्नि तपोगे तब स्वर्गप्राप्ति होगी। स्थूल शरीर तो स्वर्ग जायेगा नहीं और शरीर को ही तपना पड़ रहा है। स्थूल शरीर कष्ट भोग रहा है, जिससे जो सूक्ष्म शरीर है—मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय—वह स्वर्ग को भोगेगा। स्वर्ग का सुख भोगने वाला सूक्ष्म शरीर है और तप स्थूल शरीर से हो रहा है। वैसे ही कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपस्यायें हैं। उन सबके अंदर स्थूल शरीर की सुख-सुविधा नहीं देखी जाती जबकि शरीर की अपेक्षा नहीं है स्वर्ग जाने के लिये। शरीर को तो कष्ट ही होता है। क्यों? क्योंकि वह शेष है कर्त्ता का, विज्ञानमय का। वहाँ अन्नमय को छोड़कर विज्ञानमय को ही प्रधान समझना पड़ेगा क्योंकि स्वर्ग जाने का संकल्प उसी का है। स्थूल शरीर को स्वर्ग नहीं मिलना है। इसलिये जब कहता है 'मैं स्वर्ग जाऊँगा' तब 'मैं' मायने आत्मा अर्थात् शरीर नहीं वरन् सूक्ष्म शरीर है। शरीर भोगों का परित्याग करे तभी कर्त्ता का उपकार होगा। इसलिये शरीर हो गया शेष और विज्ञानमय हो गया शेषी। हैं तो पाँचों कोष मिथ्यात्मा पर, इनमें भी कभी कोई प्रधान हो जाता है, कभी कोई प्रधान हो जाता है। यद्यपि यहाँ प्रधान के रूप में दो ही कोष लिये हैं तथापि प्राणमय, मनोमय आदि सबमें समझ लेना। कई बार हमारा निश्चय कुछ होने पर भी, उससे विपरीत मन के पीछे जाना पड़ता है। कई बार अनुभव होता है 'मैं क्या करूँ, करना नहीं चाहता पर बेटे के मोह के कारण करना पड़ता है।' वहाँ मोहादि जो मन के धर्म हैं वे प्रधान हो जाते हैं। मन तो करता है गोमुख पर चढ़ा जाये, पर वृद्धावस्था के कारण साँस टूटने लगती है, उस समय प्राणमय ही प्रधान है। कई बार आनंदरूप प्रधान हो जाता है। बढ़िया नाच गाना हो रहा है, बढ़िया भोजन भी आ रहा है, हमें उसका शौक भी है, पर चार दिन से जरा भी नींद नहीं आई है तो जो मन को सुख देने वाली चीजें हैं वे सब गौण हो जाती हैं, उस समय आनंदमय की सुषुप्ति, गहरी नींद, ही प्रधान हो जाती है। परीक्षा के समय कॉफी पीकर भी नींद को भगाते हैं। वहाँ आनंदमय गौण हो गया, विज्ञानमय प्रधान हो गया। इस प्रकार मिथ्यात्मा की प्रधानता समझायी।।४७।।

अब मुख्यात्मा कहाँ प्रधान है यह बताते हैं—

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान्।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किञ्चित् चिकीर्षति।।४८।।

'मैं मुक्त होऊँगा'—यहाँ चेतन ही आत्मा है, (मैं-पद का अर्थ है)। जब मोक्ष पाने का निर्णय करता है तब पुरुष गुरु व शास्त्र के उपदेश से उस आत्मा का साक्षात्कार पाता है, कुछ भी करना नहीं चाहता।

जब शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, वैराग्य आदि से सम्पन्न हो जाता है तब 'मैं मुक्त हो जाऊँगा' ऐसा निश्चय होता है। यहाँ मुक्ति का मतलब आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति है। उसके लिये मुख्यात्मा ही उपयोग में आयेगा। सालोक्य, सामीप्य आदि भी मुक्तियाँ हैं लेकिन वे आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति वाली नहीं हैं। वैकुण्ठ में भगवान् के सदैव समीप रहकर भी जय और विजय राक्षस योनि में गये। इसलिये वहाँ आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं है। वहाँ भोगों में तारतम्य भी है, इसलिये परमानन्द की प्राप्ति नहीं है। यहाँ 'मोक्ष्ये' का मतलब उन मुक्तियों का ग्रहण नहीं वरन् कैवल्य का ग्रहण है। यह मुमुक्षा तभी हो सकती है, जब सारे भोगों से पूर्ण वैराग्य हो जाये। 'मुझे न यहाँ भोग चाहिये, न ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक की प्राप्ति चाहिये' यह निश्चय हो तभी कैवल्य का अधिकारी बने। जब वह कहता है 'मैं मुक्त होऊँगा' तब 'मैं' का क्या मतलब, मुक्ति को कौन प्राप्त होगा? 'चिदात्मत्वं'; जो चिद्रूप आत्मा है उसी को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानंद की प्राप्ति है। न पंचकोशरूप मिथ्यात्मा, न पुत्रादि गौणात्मा मुक्त होंगे वरन् मुख्यात्मा ही मुक्त होगा। ऐसा पुरुष ही गुरु और शास्त्र के द्वारा इस चिदात्मा को जानता है अर्थात् अपरोक्ष साक्षात्कार करता है। अपरोक्ष ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। न केवल शास्त्र से और न केवल गुरु से काम चलता है। शास्त्र का जो वाक्य है उसमें ही शक्ति है कि वह हमें जगावे।

शब्द की शक्ति बड़ी विचित्र है। चार आदमी सो रहे हैं, हम कहते हैं 'शिवप्रसाद!' बाकी तीन सोते रहते हैं, शिवप्रसाद जग जाता है। इसलिये आवाज से जगा यह नहीं कह सकते। आवाज तो तीनों के कानों में जाती है। लेकिन जो तुम्हारा नाम है, उसी में शक्ति है कि तुम्हें जगा देती है। कोई तर्क करने वाला कहे कि शिव मायने ईश्वर, प्रसाद मायने कृपा, तो ईश्वरकृपा कहने से भी यह जग जायेगा! पर उसमें चारों में से कोई नहीं जगेगा। ऐसे ही 'तत्त्वमस्यादि' में ही वह शक्ति है, अन्य भाषाओं के वाक्यों में नहीं। आदमी की सारी इंद्रियाँ तो सो रही हैं, इसलिये कान से आवाज आई यह तो नहीं कह सकते। यदि कान से गयी आवाज जगाती तो बाकी तीन को भी जगा देती। विचार करके देखो तो आवाज देने से सोया आदमी जगे इसमें कोई उपपत्ति नहीं है। फिर भी जगनारूप फल उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शास्त्र के महावाक्यों से अपरोक्ष अनुभव होता देखा जाता है इसलिये मानना पड़ता है। जो अविद्या निद्रा में सोया हुआ है वह कैसे 'तत्त्वमसि' का अर्थ सुन सकता

है—यह समझना तो असम्भव है। जब तक मैं समझने वाला हूँ, तब तक तो अविद्या की निद्रा है। उसमें मैं कैसे अपने परमार्थ स्वरूप में जगूँ? जो अपनी बुद्धि से सोचते हैं उन्हें ब्रह्मज्ञान असम्भव लगता है। शरीरादि, भूख-प्यास आदि के रहते कैसे परमार्थ तत्त्व का ज्ञान हो सकता है—यह स्वमति से अबोध्य है। भगवान् सुरेश्वराचार्य इसलिये कहते हैं, शब्द की शक्ति अचिन्त्य है अतएव शास्त्र से आत्ममोह निवृत्त होता है। इसलिये शास्त्र की जरूरत है।

जब तक पदार्थ-शोधन आदि नहीं हो जाता तब तक वाक्य भी नहीं जगाता। इसके लिये गुरु की आवश्यकता है। संशय-छेदन करने के लिये गुरु की आवश्यकता है। इसलिये कहा 'गुरुशास्त्राभ्याम्'। जब तुम वाक्यार्थ का विचार करते हो तब वह प्रकट होता है, अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब पता लगता है कि 'मैं मिथ्यात्मा नहीं हूँ। पंचकोषों वाला नहीं हूँ। सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ।' अतः जब व्यक्ति कहता है, 'मैं मुक्त होऊँगा' तब 'मैं' का मतलब मुख्यात्मा है। वह जब अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ' जानता है तब कुछ भी करने की इच्छा, कामना नहीं रह सकती। मेरे अलावा कुछ है—यह अविद्या है। अविद्या से, भेदबुद्धि से कामना होती है, पाना या छोड़ना अभीष्ट होता है। अपने आपको न कोई पाना चाहता है, न कोई छोड़ना चाहता है क्योंकि पाया हुआ है ही, छोड़ सकता नहीं। अविद्या समाप्त होने से कामना नहीं रह जाती तो कर्म भी नहीं रह जायेगा। इसीलिये उपनिषदों ने कहा है 'जब हृदय की सारी कामनायें चली जाती हैं, तब मरणधर्मा, अमरणधर्मा हो जाता है, यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।' इसलिये न उसमें कर्म, न इच्छा रह जाती है। अविद्या-निवृत्ति से कामना और कर्म दोनों निवृत्त हो जाते हैं। यहाँ दोनों का निषेध किया है अतः जब तक कामना या कर्म की इच्छा है तब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ।।४८।।

दृष्टान्तपूर्वक बताते हैं कि तीनों आत्मा व्यवस्थित रूप से ग्राह्य होते हैं—

विप्रक्षत्रादयो यद्वद् बृहस्पतिसवादिषु।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम्।।४९।।

जैसे बृहस्पतिसव आदि में ब्राह्मण, क्षत्रियादि अधिकारीरूप से निर्धारित हैं वैसे गौणात्मा, मिथ्यात्मा और मुख्यात्मा औचित्यानुसार प्रधानरूप से निर्णीत हैं।

शास्त्रों में अलग-अलग लोगों का अलग-अलग कर्मों में अधिकार बतलाया है। बृहस्पति सव नाम का जो यज्ञ है, उसे ब्राह्मण को ही करने को कहा है। इसमें क्षत्रिय का अधिकार नहीं। इसी प्रकार से राजा, क्षत्रिय को राजसूय करने को कहा है। इसमें ब्राह्मण का अधिकार नहीं। वैश्य को वैश्यस्तोम करना है। इसमें क्षत्रिय, ब्राह्मण का अधिकार नहीं है। जहाँ जिसका अधिकार है वहाँ उसी को समझना पड़ता है। सब कर्म सबके योग्य नहीं होते। लोक में लौकिक अधिकार निर्धारित होते हैं। यदि तुम वेदान्ताचार्य होना चाहते हो तो तुम्हें वेदान्त शास्त्री उत्तीर्ण करना पड़ेगा। यदि न्यायशास्त्री बनना चाहते हो तो पुनः मध्यमा में न्यायशास्त्र पढ़ना पड़ेगा। जिसका जिसमें अधिकार है वही उसे कर सकता है। लोक और

शास्त्र में अधिकार का विचार है। शास्त्रीय अधिकार का विचार शास्त्र के आधार पर ही करना पड़ता है। बृहस्पतिसव केवल ब्राह्मण ही क्यों करे—इसमें तुम्हारी युक्ति काम नहीं करेगी। यह अधिकार शास्त्र से ही जानना पड़ता है। शूद्र के लिये कहा है कि यदि वह मंदिर के शिखर का दर्शन कर लेता है, तो उसे भगवान् के दर्शन का पुण्य हो जाता है। कोई ब्राह्मण कहे कि मुझे शिखर-दर्शन से पुण्य क्यों नहीं हो सकता? तो उत्तर है कि वह इसका अधिकारी नहीं। जैसे चाहे जितना समझदार हो, पूर्व परीक्षा में उत्तीर्ण हुए बिना अगली परीक्षा में क्यों अधिकारी नहीं? इसमें युक्ति काम नहीं करती, विधान ही मान्य है, ऐसे शास्त्र में भी निर्देश ही स्वीकार है। जो अधिकारी नहीं होता है, उसे वह कर्म करने से कोई फल होता नहीं। अनेक पूजा-अर्चना में चोटी, जनेऊ वाले को ही अधिकार है, उनमें संन्यासी को अधिकार नहीं। अधिकार की जब बात करते हैं तब श्रेष्ठता या निकृष्टता की भावना नहीं है।

यदि बुद्धि से सोचो तो मंदिर में मूर्ति बना हुआ पत्थर ही है, उससे पुण्य का क्या लेना-देना! यदि शास्त्र से सोचो तो वह भगवान् का प्रतीक है, उसकी पूजा करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह बात केवल शास्त्र से पता लगती है। जैसे शास्त्र ने पत्थर में विष्णु भगवान् को बताया, वैसे ही कोई आदमी ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, संन्यासी है आदि बात का आँख से देखकर पता नहीं लग सकता है, यह तो शास्त्र से ही पता लगता है। जैसे पूजा का विधान शास्त्रसिद्ध है, ऐसे ही कौन पूजा करे—इसका भी विधान शास्त्रसिद्ध है। आगे, किस देव की पूजा कैसे की जाये—यह भी शास्त्रसिद्ध है। चाहे पूजा की विधि हो, पूजा का अधिकारी हो, चाहे पूज्य हो, ये सब चीजें शास्त्र से ही सिद्ध होती हैं। इसमें युक्ति नहीं लगा सकते। इसी प्रकार से वेद कहाँ आत्मा का मतलब गौणात्मा करता है, कहाँ मिथ्यात्मा, कहाँ मुख्यात्मा करता है, यह शास्त्र-परम्परा को जानने वाला ही समझ सकता है। उसमें अपनी बुद्धि लगाने से काम नहीं होगा। शास्त्र ने कह दिया 'आत्मा वै पुत्रनाम', वहाँ 'आत्मा' का अर्थ तुम मुख्यात्मा करने लगो तो नहीं होगा। ब्राह्मण-शब्द का भी अर्थ वेदों में अलग-अलग जगह अलग है। बृहदारण्यक उपनिषद् में, जब सारी साधना पूरी हो करके रागादि निवृत्त हो गये, जब तत्त्वज्ञानी हुए, तब कहा है, 'अथ ब्राह्मणः', अब ब्राह्मण हुआ। वहाँ 'ब्राह्मणी से पैदा हुआ ब्राह्मण' अर्थ नहीं है, वहाँ अर्थ ब्रह्मज्ञानी है। यक्षप्रश्न में युधिष्ठिर कहते हैं कि 'जिसमें ऐसे गुण होते हैं वह शूद्र भी होवे तो ब्राह्मण है। यदि ब्राह्मण में वे गुण नहीं हैं तो वह ब्राह्मण नहीं है।' लोग अपनी बुद्धि से कहते हैं कि महाभारत का तात्पर्य है कि गुणों से पता लग जाता है कि कौन ब्राह्मण है। पर वे कह रहे हैं कि 'वह ब्राह्मण है तो भी ब्राह्मण नहीं है' अतः दो 'ब्राह्मण' हैं, दोनों का अर्थ अलग-अलग है। शास्त्र कहता है 'तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः' जिसमें तपस्या और वेदाध्ययन नहीं हैं, वह जाति से ही ब्राह्मण है। मतलब है कि विवाह आदि संस्कारों के काम का तो वह ब्राह्मण है, लेकिन उसके पास जाकर तुम वेदाध्ययन कर सको, ऐसा नहीं है क्योंकि उसमें वह ज्ञान है ही नहीं। जब कहा कि 'वह ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है,' तब पहले ब्राह्मण शब्द

का मतलब है कि जाति से, वर्ण से तो ब्राह्मण है, पर उसमें ब्राह्मणोचित गुण नहीं हैं इसलिये दूसरे ब्राह्मण शब्द से 'गुणवान् ब्राह्मण' अभिप्रेत है। इसी प्रकार जब कहते हैं कि वह शूद्र भी ब्राह्मण है, तब पहले 'शूद्र' का मतलब है कि वर्ण से, जाति से तो शूद्र है, पर उसमें गुण ब्राह्मण के हैं। इस तरह के अर्थ का पता परम्परा से लगता है। गलत अर्थ करने से अव्यवस्था नजर आयेगी। इसी प्रकार कहाँ गौणात्मा लेना है, कहाँ मिथ्यात्मा, कहाँ मुख्यात्मा लेना है—यह सब व्यवस्थित है।।४९।।

आत्मत्रैविध्य से निर्णय हुआ कि प्रेम आत्मा में ही है, भले ही मिथ्या या गौण में हो। यही निष्कर्ष सुनाते हैं—

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी।
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम्।।५०।।

विभिन्न व्यवहारों में जो आत्मरूप से ग्रहण करना उचित है उस आत्मा में ही सर्वाधिक प्रेम होता है, उसका शेष बनने वाले अनात्मा से भी प्रेम हो जाता है लेकिन जो न आत्मा है, न आत्मा का शेष है उससे प्रेम होता ही नहीं।

विभिन्न व्यवहारों में जो आत्मा समझना उचित है वही प्रिय है। जैसे 'मुझे भूख लगी है', भूख प्राण का धर्म है। वहाँ मुख्यात्मा अर्थ नहीं बनेगा। और मिथ्या में भी शरीरात्मा अर्थ नहीं बनेगा। स्वस्थ व्यक्ति भी कहता है 'मुझे भूख लगी है'। स्थूल शरीर मोटा है पर प्राण को तो भूख लगती है। अतः यहाँ 'मैं' से प्राण ही समझे जायेंगे, उन्हीं से प्रेम है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि आत्मा के लिये ही सब प्रिय होता है, पर कहीं मुख्य कहीं मिथ्या एवं कहीं गौणात्मा के लिये प्रिय होता है। है सर्वत्र आत्मा में प्रीति। 'बीमार लड़के के ठीक होने से मैं उपकृत होऊँगा', यहाँ मैं मायने गौणात्मा। लड़के को गौणात्मा समझ रहा है तभी ऐसा कह रहा है। मिथ्यात्मा का तो उसने कुछ उपकार नहीं किया तो तुम्हें प्रीति कैसे है? उस समय गौणात्मा की प्रीति को कह रहे हो। प्रीति तो हर हालत में आत्मा से ही है। संदेह यह होता है कि कई बार मैं काम करता हूँ लड़के के लिये, तो कहाँ अपने से प्रेम है? किंतु वहाँ भी लड़के में गौणात्मा-दृष्टि है इसलिये वह प्रेम आत्मा से ही है। देशप्रेम में भी देश में गौणात्मदृष्टि है। गौणात्मा का मोटा रूप समझ लो मेरापन। जैसे पुत्र-पत्नी मेरे, देश मेरा है, इसलिये 'मेरे देश' के लिये काम करते हैं, चाहे जिस देश के लिये नहीं।

अंगी जो भी आत्मा उसमें अतिशय प्रेम होता है। आत्मा का जो अंग होवे, अर्थात् जो अनात्मा है, उसमें भी प्रीति होती है। वह है इसलिये कि वह आत्मशेष है, आत्मा के लिये है। पहले दृष्टांत दिया था, जैसे पुत्र के दोस्त में प्रीति है, पर पुत्र में अतिशय प्रीति है। इसी प्रकार जो शेषी आत्मा होगा वहाँ अतिशय प्रीति होगी और जो उसके लिये होगा, उसका शेष होगा, उसमें केवल प्रीति होगी। अतिशय प्रीति नहीं होगी। गौणात्मा, मिथ्यात्मा, और मुख्यात्मा का जो शेष है, उस अनात्मा में भी प्रेम होता है। कहो कि मुख्यात्मा का तो शेष कुछ भी नहीं है, उसका अंग कुछ भी नहीं है, तो वहाँ किस में प्रीति है? विवेक, वैराग्य

से लेकर ब्रह्माकार वृत्ति तक, यह सब उस ब्रह्मस्वरूप का अनावरण करने के लिये शेष हो जाता है। शेष न होने पर भी शेष की तरह है। क्योंकि विवेक से लेकर ब्रह्माकार वृत्ति तक जो कुछ भी हम प्रयत्न करते हैं, वह किसलिये है? ब्रह्म का अनावरण होने के लिये। इसीलिये हमें शम, दम, वैराग्य आदि प्रिय होते हैं। मुमुक्षु के लिये वैराग्य आदि प्रिय है। तपस्वी को तपस्या अतिशय प्रिय नहीं है, उसकी अतिशय प्रीति स्वर्ग में है। स्वर्ग की प्राप्ति तप से होगी इसलिये तप से प्रेम है। अतः अतिशय प्रेम हुआ स्वर्ग में। तप करेंगे तब स्वर्ग जायेंगे। इसलिये तप में भी प्रेम है। उनसे ब्रह्म अनावृत होगा इसलिये वैराग्य आदि में प्रेम है, उद्देश्य तो अनावृत ब्रह्म है। इसलिये उस अनावृत ब्रह्म का इसको शेष कहा जाता है। आवरण और अनावरण ब्रह्म की दृष्टि से नहीं है प्रमाता की दृष्टि से है। परंतु प्रमाता का अन्वेषण करने से ही उसका पता लगेगा। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि जब तक आत्मा अनावृत नहीं होता है, तब तक मैं जो प्रमाता, कर्त्ता-भोक्ता, उसको ही ढूँढना पड़ता है। जब ढूँढ लिया जाता है तब जिसे हम कर्त्ता-भोक्ता समझ रहे हैं, वही मैं सारे दोषों से रहित, सच्चिदानन्द, ब्रह्म मिल जाता है। इसलिये अनावृत ब्रह्म हो गया मुख्यात्मा, परंतु उस अनावरण के लिये जितनी साधनायें हैं वे उसका शेष हो गयीं। इस तरह मुख्यात्मा का शेष भी सम्भव होता है। जो तीनों प्रकारों का आत्मा नहीं, और उसका शेष भी नहीं, उसमें न प्रेम है न अतिशय प्रेम है।।५०।।

जो प्रेमपात्र नहीं उसके भी दो विभाग बताते हैं—

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद् द्वेधा मार्गतृणादिकम्।
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम्।।५१।।

अप्रिय वस्तु दो प्रकार की होती है—उपेक्षा-योग्य और द्वेष-योग्य। रास्ते में पड़े तिनके आदि उपेक्षणीय हैं तथा बाघ, साँप आदि द्वेष-विषय हैं। इस प्रकार सब पदार्थ चार तरह के हैं।

अन्य अर्थात् आत्मा और आत्मशेष से भिन्न, जहाँ प्रीति भी नहीं, अतिशय प्रीति भी नहीं। एक जिनकी उपेक्षा की जाती है, दूसरा जिनसे द्वेष होता है। तुम मार्ग पर जा रहे हो, मार्ग में तिनका पड़ा है, उसकी उपेक्षा करते हो। न वह राग का विषय है न द्वेष का विषय है। उपेक्ष्य अर्थात् राग-द्वेष दोनों जिससे नहीं। अगर शेर है, या सर्प है तो वह द्वेष का विषय है। इस प्रकार संसार की सभी चीजें चार प्रकार की हो जाती हैं। एक अतिशय प्रेम का विषय, दूसरा प्रेम का विषय। तीसरा द्वेष का और चौथा उपेक्षा का विषय।।५१।।

उक्त भेद की औपाधिकता व्यक्त करते हैं—

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि।
न व्यक्तिनियमः किन्तु तत्तत्कार्यात् तथा तथा।।५२।।

(चार प्रकार हैं—) आत्मा (अर्थात् शेषी), उसका शेष, उपेक्ष्य और द्वेष्य। चारों में ही

व्यक्ति के बारे में नियम नहीं कि वह हमेशा ही शेषी या शेष या उपेक्ष्य या द्वेष्य हो किंतु विभिन्न कार्यों से शेषी आदि हो जाता है।

एक हो गया आत्मा; तीनों आत्मा समझना। हमें भूख लगी है; प्राण हो गया शेषी, भूख लगने वाला मिथ्यात्मा, उसका शेष हुआ रसगुल्ला। पैसा हो तो वह मिले। इसलिये पैसा भी प्रिय हो गया। बृहदारण्यक में विस्तार बतलाया : पहले इच्छा होती है 'मेरे बेटा हो जाये'। पत्नी हो तो बेटा होगा। अतः पत्नी से प्रेम हुआ। बिना धन कमाये कोई विवाह भी नहीं करेगी, अतः धन में प्रीति हुई। धन के लिये कर्म करना पड़ेगा इसलिये कर्म से प्रीति हुई। कर्म में प्रीति है धन के लिये, धन में प्रीति है पत्नी के लिये, पत्नी में प्रीति है पुत्र के लिये। ऐसे आत्मा का शेष लम्बा होता जाता है। जिस-जिसमें ममता होती जाती है, वही गौणात्मा होता जाता है। अतः एक शेषी आत्मा और दूसरा शेष हो गया। उपेक्ष्य– जिसकी उपेक्षा करते हो। द्वेष्य, जिससे द्वेष करते हो। ये चार भेद हो गये। किसी एक चीज का नियम नहीं कर सकते कि यह शेषी ही है या शेष, उपेक्ष्य या द्वेष्य ही है। एक ही चीज कभी प्रिय, कभी अतिशय प्रिय, कभी उपेक्षा का विषय, कभी द्वेष का विषय हो जायेगी। पर यह निश्चित है कि आत्मा और उसका शेष ये प्रीति और अतिशय प्रीति का विषय रहेंगे तथा उपेक्ष्य और द्वेष्य दूसरे हो जायेंगे। नियम है कि जिस-जिस काम के लिये जो-जो चीज अपेक्षित होगी वह प्रियादि होती जायेगी। धन कमाने के लिये मेहनत करते हो अतः धन से प्रेम है पर फिर भोग के लिये उसे खर्च करते हो, अर्थात् धन की अपेक्षा भोग से प्रेम है। धन खर्च न हो, इसलिये कोई भूखा तो रहेगा नहीं। भूख के कारण धन खर्च करते हो तो वह प्रिय नहीं रहा। इस प्रकार प्रियता के पात्र बदलते रहते हैं।।५२।।

बाघ जैसी चीज में भी द्वेष्य-उपेक्ष्य-प्रिय बनने की सामर्थ्य दिखाते हैं–

स्याद् व्याघ्रः सम्मुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः।
लालनाद् अनुकूलश्चेद् विनोदायेति शेषताम्।।५३।।

सामने अपनी ओर आते बाघ से द्वेष होता है, अपने से दूर जा रहा हो तो उसकी उपेक्षा होती है, पाल लेने से यदि अनुकूल हो जाये तो मन बहलाने के लिये अपना शेष अतः प्रिय हो जाता है।

शेर तुम्हारे सामने आ रहा है, खाने के लिये। उस समय वह द्वेष का विषय है। अगर वह तुम्हारी तरफ न आकर दूसरी तरफ चला जाता है, तब वह उपेक्ष्य है। अगर तुमने किसी शेर को पाल लिया तो प्रिय भी होगा। एक महात्मा ने शेर पाल लिया था, कुम्भ में शेर पर सवार होकर आये, लोगों को उत्सुकता रही। बचपन से उसे शाकाहारी रखा। उसका लालन-पालन किया तब वह अनुकूल हो गया, विनोद के लिये। शेर ही द्वेष्य है, पराङ्मुख होने पर उपेक्ष्य है, यदि विनोद के लिये है तो वह अपना शेष हो गया, प्रिय हो गया। अतः व्यक्ति के बारे में नियम नहीं है कि हमेशा द्वेष्य ही होगा या प्रिय आदि ही होगा।।५३।।

प्रियता आदि की व्यवस्था का नियामक समझाते हैं—

व्यक्तीनां नियमो मा भूद् लक्षणात् तु व्यवस्थितिः।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम्।।५४।।

व्यक्ति पर निर्भर नियम न होने पर भी लक्षणवश व्यवस्था है : अनुकूलता, प्रतिकूलता और दोनों न होना—ये (क्रमशः प्रिय, द्वेष्य और उपेक्ष्य के) लक्षण हैं।

किसको द्वेष्य या उपेक्ष्य मानें? इसका क्या चीज है, इससे नियम नहीं लेकिन लक्षण से व्यवस्था हो जायेगी। जैसे जमालघोटा प्रिय भी होता है, द्वेष्य भी होता है। पता कैसे लगे? जहाँ व्यक्तियों का नियम नहीं होता है वहाँ लक्षण से व्यवस्था हो जाती है। जिस आदमी को शौच नहीं होता उसके लिये जमालघोटा तो प्रिय ही होगा। जिसको संग्रहणी है, उसे वह द्वेष्य ही होगा। यहाँ लक्षण से ही व्यवस्था है। ये तीन लक्षण हैं—जो चीज अपने अनुकूल है वह होगी प्रिय। जो प्रतिकूल है वह होगी द्वेष्य और जिसमें न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है, वह होगी उपेक्ष्य। अतः उपेक्ष्य, प्रिय, द्वेष्य चीजों का लक्षण से पता लगता है। इसलिये कुछ आचार्यों ने सुख का लक्षण ही किया है 'अनुकूलवेदनीयता'। जिस चीज में अनुकूलता का अनुभव होता है, वही सुख है। जहाँ प्रतिकूल वेदनीयता होवे वही दुःख है। सुख प्रिय होता है, इसलिये जहाँ-जहाँ सुख है वहाँ-वहाँ प्रीति है। संसार के पदार्थ, संसारी लोगों को तो अनुकूल हैं, इसलिये वे पदार्थ उनको सुख देते हैं। जो मुमुक्षु है, उसे वही पदार्थ प्रतिकूल लगते हैं, उसके लिये वे दुःख की चीजें हैं। मुमुक्षु को विषय प्रतिकूल इसलिये लगते हैं कि उनसे प्रेम के कारण ही परमात्मा की तरफ नहीं जा पा रहे हैं। उनमें सुख समझने वालों को शम, दम आदि की सिद्धि नहीं होती। संसार में जो आसक्त हैं, उन्हें पदार्थों में अनुकूलता-बुद्धि है। मुमुक्षु को उनमें प्रतिकूलता बुद्धि होगी तभी वैराग्य होगा। जो सत्य को जान लेता है, अपने स्वरूप को जान लेता है कि संसार के पदार्थ वास्तविकता से परे होने के कारण न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं, उसे संसार उपेक्ष्य दीखता है। वह गौणात्मा एवं मिथ्यात्मा को आत्मा ही नहीं मानता। अतः उसके लिये सब कुछ उपेक्ष्य हो जाता है। इस तरह अनुकूलता, प्रतिकूलता और दोनों का अभाव—ये ही तीनों के लक्षण हैं। मुमुक्षु के लिये संसार के सारे पदार्थ प्रतिकूल ही हैं। संसारी के लिये अनेक अनुकूल, अनेक प्रतिकूल हैं और ज्ञानी के लिये संसार के सारे पदार्थ उपेक्ष्य ही हैं। इन लक्षणों से व्यवस्था हो जाती है।।५४।।

पूर्वोक्त विषय संक्षेप में व्यक्त करते हैं—

आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः।
इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत्।।५५।।

प्रत्यगात्मा अतिशय प्रिय है, जो शेष अर्थात् आत्मा का उपकारक हो वह प्रिय है, जो इन दोनों से अन्य हों, उनके प्रति द्वेष या उपेक्षा होती है। यह लोक में निश्चित है और याज्ञवल्क्य को भी स्वीकृत है।

'आत्मा प्रेयान्' प्रियतर है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि सभी कुछ आत्मा के लिये प्रिय है अतः आत्मा सर्वाधिक प्रिय है यह उनका भाव है। सब आत्मा के लिये प्रिय होता है इसलिये आत्मा को प्रियतर कहा। उसका शेष हुआ पति आदि। इसलिये पति भी प्रिय हुआ। यदि ये दोनों नहीं हैं, अर्थात् वस्तु न आत्मा है न आत्मशेष है तो द्वेष्य या उपेक्ष्य होती है। यह संसार में व्यवस्था है और वेद ने भी कहा है। यही याज्ञवल्क्य ने विचार-पूर्वक बतलाकर निश्चय कराया है।।५५।।

यद्यपि वेद में एक जगह कहा भी पूर्ण प्रमाण है तथापि अभ्यास को तात्पर्यसूचक माना जाता है इसलिये बताते हैं कि केवल मैत्रेयी-प्रसंग में ही नहीं, पुरुषविध ब्राह्मण में भी यही व्यक्त किया है—

अन्यत्राऽपि श्रुतिः प्राह पुत्राद् वित्तात् तथाऽन्यतः।
सर्वस्माद् आन्तरं तत्त्वं तदेतत् प्रेय इष्यताम्।।५६।।

अन्यत्र (बृ. १.४.८) भी श्रुति ने समझाया है कि पुत्र, धन आदि अन्य सब से जो भीतरी तत्त्व उसी को सर्वाधिक प्रिय समझा जाये।

उपनिषत् का वाक्य है 'तद् एतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यद् अयम् आत्मा'। आत्मा प्रेय अर्थात् प्रियतर, अधिक प्रिय है। किसकी अपेक्षा अधिक? पुत्र, धन आदि सभी कुछ की अपेक्षा अधिक प्रिय है। गौण से मिथ्या एवं उससे मनुष्य अधिक प्रिय है। पुत्र से भी मुख्यात्मा ज्यादा प्रिय है तभी पुत्र के दुर्व्यवहार से पिता दुःखी होता है। पुत्र तो वैसा व्यवहार कर प्रसन्न है, उसके सुख से पिता को सुखी होना चाहिये क्योंकि यही प्रेम है—प्रिय के सुख में सुखी होना, किंतु होता नहीं अतः स्पष्ट है कि स्वयं से, मन से प्रेम अधिक है। डकैत से जान छुड़ाने को पैसा देता है अतः धन से भी अधिक निज से, प्राणों से प्रेम है। जिसे आत्मा समझें उससे प्रेम अधिकाधिक होता है। अधिकता की समाप्ति या पूर्णता कहाँ? 'अन्तरतरम्' जहाँ भीतरीपन खत्म होता है उस प्रत्यक्स्वरूप में। मैं का अनुभव सदैव 'जानने वाला' रूप से होता है। जो चीज जानने वाली होती है वह अंदर कही जाती है और जिसको जानते हैं, उसे बाहर कहा जाता है। शरीर की अपेक्षा आँख अंदर है। आँख की अपेक्षा मन अंदर है। मन को मैं जानता हूँ।

मन दुःखी-सुखी है यह मैं जानता हूँ। मन के अंदर भी बुद्धि है, मनोमय में विज्ञानमय है। इसलिये जिसके अंदर आगे कुछ नहीं है वह 'अयम् आत्मा' मुख्यात्मा है। पुत्र से, वित्त से, बाकी सब चीजों से अंदर का मतलब हो गया, जानने वाला। अंदर जो आत्मा है, इसी को प्रियतर स्वीकार करो—यह श्रुति का निर्देश है।।५६।।

उदाहृत वेदवचनों का अभिप्राय बताते हैं—

श्रौत्या विचारदृष्ट्याऽयं साक्ष्येवात्मा न चेतरः।
कोशान् पञ्च विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा।।५७।।

श्रुतिदर्शित विचारानुसारिणी दृष्टि से यह साक्षी ही आत्मा है, अन्य कोई नहीं। पाँचों कोषों का विवेक कर भीतरी वस्तु का अनुभव श्रुतिप्रोक्त विचार है।

अब साधना की बात बतलाते हैं। वेदांत की सबसे श्रेष्ठ साधना है विचार। विचार कहते किसे हैं? लोग समझते हैं कि मन से जो सोचो वह विचार है! इसीलिये लौकिक लोगों को लगता है कि विचार कोई साधना नहीं है। जप, ध्यान, पूजा को लोग साधना समझते हैं, विचार को साधना नहीं समझते। वशिष्ठ कहते हैं कि विचार से समाधि लग जाती है। जैसे ध्यान से समाधि लगती है वैसे ही विचार से भी समाधि लगती है। वेदांत की मुख्य साधना ही 'विचारणा' है। मन में आने वाली हर बात विचार नहीं है। 'चार' शब्द का अर्थ होता है चलना। चार से 'चाल', चलना शब्द बन जाता है। विचार अर्थात् मन का चार, मन का चलना, लेकिन कहाँ? श्रुतियों में जो परमेश्वर के बारे में कहा है, उसके अंदर मन का चलना विचार है। विशेषकर वेद की बातों में घूमना विचार है। तैत्तिरीय श्रुति में विचार का ढंग बतलाया है : अन्नमय के अंदर, प्राणमय, प्राणमय के अंदर मनोमय, मनोमय के अंदर विज्ञानमय, विज्ञानमय के अंदर आनंदमय, आनंदमय का जो अधिष्ठान है वह ब्रह्म है। इस प्रकार विचार करना है। इसी से यह नतीजा निकलेगा कि साक्षी ही आत्मा है। ब्रह्म ही आत्मा है। अन्य अन्नमय आदि आत्मा नहीं है। यह श्रुति के विचार से पता लगेगा, केवल अपने तरीके से सोचने से कभी कुछ, कभी कुछ आत्मा लगेगा। कुछ लोग तो साक्षी को भी शेष मानते हैं: अधिकतर लोगों के लिये ईश्वर शेष है या शेषी? ईश्वर अंग है या अंगी? अधिकतर लोगों के लिये ईश्वर अंग है। मैं स्वास्थ्य के लिये मृत्युंजय का जप कराता हूँ। इस मंत्र के द्वारा जो शिव की आराधना है वह अंग है और मेरे शरीर के स्वास्थ्य का अर्थात् मेरे शरीर के लिये शिव का, उनके मंत्रजप का विनियोग है। अधिकतर लोग परमात्मा को अंग बनाते हैं और शरीरादि को अंगी बनाते हैं। परमेश्वर के लिये मैं हूँ—ऐसा नहीं वरन् परमेश्वर मेरे लिये है ऐसा मानते हैं। 'मैं भजन-पूजन करता हूँ, मुझ पर फिर भी दुःख आता है, तब क्या फल हुआ!' यह शिकायत बताती है कि मैं ही प्रधान हूँ। दूसरे भी कहते हैं, 'तुमने समय व्यर्थ किया।' जब अपने आप विचार करोगे तब लगेगा कि शरीर-मन का सुख अंगी है, हमारा मन सुखी, शरीर स्वस्थ हो जाये—इसके लिये भगवान् है। अपनी बुद्धि से सोचने लगोगे तो ऐसे उल्टे रास्ते जाओगे। अतः सावधान किया कि श्रुति ने जैसा कहा है, वैसे विचार करना है। जैसे साँस तो तुम्हारी हमेशा चल ही रही है, फिर प्राणायाम क्या? जिस ढंग से बतलाया है रेचक, पूरक, कुम्भक आदि करना, उस ढंग से करो तब प्राणायाम होगा। अपने आप जो प्राण चलता है, उसको प्राणायाम नहीं कहते। इसी प्रकार, जिस चीज का ध्यान करने को कहा है, उस चीज के ऊपर एकाग्रता करोगे तब ध्यान कहा जाता है। अतः चाहे जो बात मन से सोच लेना, विचार नहीं है। श्रुति में कहे गये ढंग से ही विचार करना है, तब, साक्षी ही आत्मा है यह समझ आयेगा। गौणात्मा और मिथ्यात्मा को श्रुति ने मुख्य आत्मा नहीं कहा है।

विचार कहाँ कहा है? तैत्तिरीय में बताया है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय—इन पंच कोषों का धीरे-धीरे, विवेक करके इनसे आत्मा अलग करके समझना है। शरीर से आत्मा को अलग करने का मतलब यह नहीं है कि जहर खा लो। जहर खाकर शरीर से विवेक नहीं हो जायेगा। शरीर से अलग अपने को जानना है। आगे मन से अलग जानो। अगर तुमने मन को काम करने से बन्द कर दिया, मन को मार दिया, तो क्या मन से अलग हो जाओगे? जब तुम प्राणायाम आदि के द्वारा मन को स्थिर करते हो, तो मन फिर कोई काम नहीं करता, तब स्वरूप में स्थिति तो हो जायेगी लेकिन जब तक मन को बन्द रखोगे, जितनी देर समाधि लगाओगे उतनी देर स्थिति रहेगी, उसके बाद जैसे ही मन जगेगा पुनः देहादि मैं लगेंगे। अतः मन को सर्वत्र बंद करके उससे अलग होना काफी नहीं है वरन् इस बात को जानना है कि मैं मन से अलग हूँ। इस प्रकार पाँचों कोषों से अपने को अलग जानना है। इसमें सबसे ज्यादा कठिन पड़ता है मन से विवेक। यद्यपि शरीर से पृथक् जानना भी सरल नहीं या विज्ञान और आनंद से अलग जानना भी कठिन ही है तथापि मन से भेद स्पष्ट होने पर बाकी में सुविधा रहती है।

जो चीज तुमको प्रिय लगती है वही आनंदमय कोष का सिर कहा है। जो चीज तुम्हें प्रिय लगती है, वह जब तुम्हारे सामने आ जाती है तब मोद होता है। जब प्रिय वस्तु जैसे रसगुल्ला जीभ पर पहुँच गया तब प्रमोद होता है। आनंद अर्थात् सुखसामान्य। परंतु ये चारों प्रमेय हैं, आत्मरूप नहीं हैं। इसलिये वेद ने कहा है, 'आनंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य'। जैसे शरीर आदि से अपने को अलग जानना है, वैसे ही मोद, प्रमोद इत्यादि से भी अपने को अलग जानना है। ये सब मेरा स्वरूप नहीं हैं। इन सब का जो अधिष्ठान है, जिसके होने से कुछ प्रिय है, वही आत्मा है।

पंचकोषों का विवेक करके इनको जानने वाला 'अंतर्वस्तु' अन्दर का सत्य तत्त्व है। वही जानने वाला है। यह याद रखना कि आनंदमय तक सबको जानने वाला है पर आगे 'जानने वाला' नहीं है, वह अधिष्ठान है, वह है इसलिये ये सब जानने वाले बनते हैं। जैसे बिजली है तब पंखे इत्यादि चलने वाले बनते हैं। बिजली स्वयं समझ में नहीं आ सकती, लेकिन पंखा चलता देखकर पता लगता है कि बिजली है। इसी प्रकार साक्षी के होने से ये सब जानने वाले बनते हैं। साक्षी स्वयं न जाना जाता है न जानने वाला है, वह तो केवल ज्ञानमात्र है। यह हुई 'अन्तर्वस्तु-दृष्टि'। अर्थात् इन पंचकोषों से अपने को अलग करके, आनंदमय आत्मा को भी छोड़ कर, उसका जो अधिष्ठान आत्मा है, उसमें अनुभवरूप से स्थित हो जाना, उस ज्ञानरूप में स्थित हो जाना, जिससे ये सब जाने जाते हैं। यह जो दृष्टि है, इसका अनुभव नहीं, यह खुद ही अनुभवरूप है।।५७।।

अब इस अन्तर्वस्तुदृष्टि का एक और भी ढंग बतलाते हैं—

जागरस्वप्नसुप्तीनाम् आगमापायभासनम्।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाश-चिदात्मकः।।५८।।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के आने-जाने का प्रकाशन जिससे होता है वह स्वप्रकाश चेतन आत्मा है।

जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रक्रिया से बतलाया पंचकोषों का विचार, वैसे ही छान्दोग्योपनिषद् की प्रक्रिया से, इंद्र-विरोचन के संवाद की प्रक्रिया से या माण्डूक्य की प्रक्रिया से, और एक प्रकार बतलाते हैं। इंद्रियों से जब हम विषयों का अनुभव करते हैं तब उसका नाम है जागर-अवस्था। जब इंद्रियाँ थक जाती हैं तब सो जाते हैं। वहाँ भी देखते हो पर स्वप्न देखते हो, मन से देखते हो, वहाँ इंद्रियों से नहीं देखते। सपना बिना इंद्रियों के मन देखता है। इसलिये अगर जागते हुए भी व्यक्ति कुछ सोच रहा होता है तो यही कहते हैं, 'यह स्वप्न देख रहा है'। जहाँ इंद्रियों से विषयों को देखते हो, वहाँ जाग्रत् अवस्था है, जहाँ बिना इंद्रियों के, केवल मन से देखते हो वह स्वप्न अवस्था है। जाग्रत् की कोई चीज स्वप्न में नहीं है, दोनों अलग हैं। पर दोनों में होने वाला आत्मा, मैं तो एक ही हूँ। जो मैं जाग्रत् में भूखा था वही स्वप्न में लड्डू खा रहा हूँ। जाग्रत् का मैं था इंद्रियों के द्वारा विषयों का अनुभव करने वाला, स्वप्न में वह मैं तो हूँ नहीं, इंद्रियों से विषयभोग करने वाला नहीं हूँ। बिना इंद्रियों के मन के संस्कारों का भोग करने वाला हूँ। दोनों में तुम्हारी उपाधि बदल गई। इसलिये जो 'तुम' हो, वह न इंद्रियों से, न मन से विषयों का भोग करने वाले हो। जाग्रत् में इंद्रियों से, स्वप्न में बिना इंद्रियों के भोग करते हो। दोनों उपाधियों को छोड़कर जो हो वह तुम हुए। उसके बाद, गहरी नींद आ गई। अब मन से भी तुम कुछ नहीं देख रहे हो, मन भी नहीं है, मैं का अनुभव भी नहीं है। लेकिन उठकर स्मृति होती है, 'मैं बड़े सुख से सो रहा था। मैंने कुछ नहीं जाना।' यह तुमने मन से नहीं जाना। वहाँ बिना मन के ही सुख से और न जानते हुए थे। लोग कह देते हैं कि 'वहाँ अनुभव हुआ ही नहीं'। लेकिन नियम है कि जिस-जिस चीज की स्मृति होती है, उसका पूर्व काल में अनुभव हुआ है तभी स्मृति होती है। अतः उस समय कोई था, जिसने अनुभव किया 'सुख से सो रहा हूँ, कुछ नहीं जान रहा हूँ' मायने 'कुछ नहीं को जान रहा हूँ।' इसी को अज्ञान कहते हैं। वहाँ आनंद था और अज्ञान था और स्मृति बतलाती है कि उस समय इनका अनुभव था। उस समय मन नहीं होने से, सुख-अनुभव मन का नहीं था।

मन के अनुभव को हम खुद का अनुभव सरलता से समझ पाते हैं। लेकिन साक्षी के अनुभव में विवेक चाहिये। जैसे आज के मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं कि बहुत-सी चीजें हमारे मन में, हमें बिना पता हुए रहती हैं जिसे अचेतन मन कहते हैं। वे संस्कार हमें नहीं पता लेकिन हैं। उनका भी पता प्रयोगों से तो लगता है, सामान्यतः नहीं। ऐसे ही मन का ज्ञान सामान्यतः समझ आता है, साक्षी समझने के लिये विवेक चाहिये। जहाँ मन नहीं है, वहाँ होश नहीं होता है, ज्ञान होने पर भी। इंद्रियों से विषयों को जाना तो हमने जाना, इन उपाधियों से। बिना इंद्रियों के जाना, तो हमने ही। 'सुख से सो रहा हूँ, कुछ नहीं जाना', यह भी जाना हमने ही। जानने वाला मैं ही हूँ क्योंकि मैं को ही स्मरण हो रहा है। 'आगमापायभासनम्'। आगम, इस समय जाग्रत् आ गया। अपाय—अब सपना नहीं है,

गहरी नींद नहीं है। इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, आने-जाने वाले हैं। इन तीनों अवस्थाओं में नहीं बदलते रहने वाला आत्मा है। अगर खाली जाग्रत् अवस्था होती, तो भी आत्मा का पता नहीं लगता, इद्रियों से विषयों का अनुभव करना ही जानते। केवल स्वप्न अवस्था होती, तो मन से विषयों को कल्पित करना—बस यही जानते। इन दोनों अवस्थाओं से अन्वय-व्यतिरेक हो जाता है—अन्वय, मैं जाग्रत् में भी, और स्वप्न में भी। स्वप्न में मैं मन-वाला है, सुषुप्ति में वह भी नहीं है, पर मैं हूँ। जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति का आना-जाना पता चल रहा है, उसका भास हो रहा है। जिसके होने से ये सब जाने जा रहे हैं वह निर्विकार है, आत्मा है।

उसका रूप क्या? 'स्वप्रकाशचिदात्मकः'। आगे उसको प्रकाशित करने के लिये, जानने के लिये, कोई जानने वाला नहीं है। जैसे कमरे में आदमी, दीवालें, दरवाजे आदि हैं, सबको तुम लट्टू के प्रकाश में जान रहे हो। आगे, लट्टू के प्रकाश को किस प्रकाश से जान रहे हो? किसी से नहीं, वह स्वप्रकाश है। इसी प्रकार जो चेतन आत्मा है, वह किसीसे नहीं जाना जाता है, ज्ञानस्वरूप है। कह सकते हो 'लट्टू अपने को प्रकाशित कर रहा है', पर सचमुच में वह अपने 'को' प्रकाशित थोड़े ही कर रहा है! वह तो प्रकाश-रूप है। इसी प्रकार कह सकते हैं कि 'आत्मा अपने आप को जानता है ' पर सचमुच में वह अपने आप को जानता नहीं, वह तो ज्ञान-स्वरूप है। इसमें अत्यंत विचारक ही स्थित हो पाता है, अन्यथा लम्बे समय तक साधक को यही भ्रम रहता है, 'आत्मा कुछ चीज होगी जिसको मैं जानूँ। परमात्मा कुछ है जिसे मैं जानूँ।' परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है, उसको कोई जानता नहीं है। वह स्वयं भी अपने 'को' नहीं जानता है क्योंकि ज्ञानस्वरूप है। जो प्रकाशरूप न होवे उसे तो रोशनी प्रकाशित करेगी, प्रकाशरूप को रोशनी क्या प्रकाशित करेगी! तुम सूर्य देवता की आरती करते हो। क्या आरती के प्रकाश से उसके दर्शन करते हो? जो प्रकाशरूप नहीं ऐसी मूर्ति आदि को तो प्रकाश प्रकाशित करेगा, पर प्रकाश-रूप सूर्य को नहीं। सूर्य नारायण की आरती की तरह ब्रह्माकार वृत्ति है। उससे वह प्रकाशित नहीं होता, ब्रह्म जाना नहीं जाता वरन् ब्रह्म का जो अज्ञान है, वह निवृत्त हो जाता है। प्रकाशरूप होना उसका स्वरूप है। किसी अन्य से बिना प्रकाशित हुए प्रकाश होना, किसी से बिना जाने हुए, ज्ञानरूप रहना स्वप्रकाशता है। कहा था कि 'वस्तुदृष्टि-विचारणा'; वस्तु है 'स्वप्रकाशचिदात्मकः', इस रूप से स्थित होना विचारणा है। इन दो श्लोकों से विचार की साधना बतलाई।।५८।।

विचार का अर्थ क्या है? शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त सब जाने जाते हैं, अतः वह सब मैं नहीं हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ जिसके कारण अन्तःकरण जड होने पर भी, अहंकारात्मिका वृत्ति में मेरे प्रतिबिम्ब को लेकर सब चीजों को प्रकाशित करता है, सब चीजों को जानता है। मेरा स्वरूप ऐसा है जिसके ऊपर से जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की उपाधियाँ निकलती जाती हैं, और मैं निर्विकार साक्षी वैसा ही बना रहता हूँ। संक्षेप में जो कह चुके वही समझाते हैं—

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः।
प्रीतिस्तथा तारतम्यात् तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते।।५९।।

प्राण से शुरू होकर धन तक जो शेष (अंग) पदार्थ हैं वे न्यूनाधिकभाव से निकट हैं एवं निकटता की अधिकता के अनुसार उन सब में प्रेम अनुभव में आता है।

जो स्वप्रकाश शुद्ध चेतनमात्र मेरा स्वरूप है, शेषी तो एकमात्र वही है। सचमुच में वह शेषी नहीं है, परन्तु उसके लिये ही मिथ्यात्मा और गौणात्मा प्रवृत्त होते हैं। ज्ञानस्वरूप साक्षी मौजूद है, इसलिये उन सबकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये वह शेष कहलाता है। शेष कौन है? 'प्राणादिवित्तान्तः', प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आदि कोष और गौणात्मा पुत्र, पत्नी, मकान, धन आदि; प्राण से लेकर वित्तपर्यन्त, सब शेष हैं। 'तारतम्यतः आसन्नाः' कोई ज्यादा पास है, कोई कम पास है। जैसे, धन की अपेक्षा पत्नी नजदीक है इसलिये धन खर्च करके भी पत्नी का इलाज कराता है। पुत्र प्रिय है, सम्पत्ति बेचकर भी पुत्र की रक्षा करता है। इन सबकी अपेक्षा प्राण प्रिय है। जो ज्यादा नजदीक है वह ज्यादा प्रिय है, जो दूर है वह कम प्रिय है। धन में भी प्रेम है तो वस्तुतः आत्मा से ही। अतः वही धन प्रिय है जो मेरा है। दूसरे का धन तो मुझे प्रिय नहीं! मुझसे सम्बन्ध वाला धन प्रिय होता है। लड़का भी प्रिय नहीं है, मेरा है तभी प्रिय है क्योंकि मैं-से सम्बन्ध वाला हुआ। मैं के सम्बन्ध का पता नहीं है तो प्रियता भी नहीं है। मैं और मैं-सम्बन्धी में ही प्रीति होती है। संसार में जो जितना मैं के नजदीक होता है उतना ही ज्यादा प्रिय होता है।।५६।।

प्रेम का न्यूनाधिकभाव अनुभव से प्रमाणित करते हैं–

वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणाद् आत्मा प्रियः परः।।६०।।

धन से पुत्र, उससे शरीर, उससे इंद्रियाँ, उनसे प्राण और उससे भी अधिक प्रिय आत्मा है अतः वह परम प्रिय है।

धन की अपेक्षा पुत्र ज्यादा प्रिय है। पुत्र के रोगादि हटाने के लिये धन को खर्च कर देता है। अपने देह की रक्षा के लिये, पुत्र को भी प्रयोग में लेता है। वेद में कथा आती है कि अपने देह की रक्षा के लिये पुत्र का भी पिता ने बलिदान किया। अतः धन से पुत्र प्रिय और पुत्रसे अपना शरीर प्रिय। शरीर की अपेक्षा इंद्रियाँ प्रिय हैं। इसलिये यदि कहीं पत्थर की चोट लगने को हो तो आदमी अपनी आँख पर हाथ रखता है। इंद्रियों की अपेक्षा भी प्राण ज्यादा प्रिय है। यदि आँख में जहर फैल गया है तो प्राण को बचाने के लिये उसे भी निकलवा देता है ताकि आँख जाये पर हम बच जायें। एक-दूसरे की अपेक्षा जो अधिक नजदीक है वह अधिक प्रिय है। प्राण भी क्यों प्रिय है? आत्मा के लिये, अपने लिये। इसलिये निरतिशय तो प्रेमास्पदता आत्मा में ही है। पर यह तब तक पता नहीं लगता जब तक उसका अनुभव नहीं होता। क्योंकि अभी गौणात्मा और मिथ्यात्मा को ही हम आत्मा समझते हैं इसलिये गौणात्मा-मिथ्यात्मा में दूर-पास समझ पाते हैं। जो आत्मा परम प्रिय है उसका जब तक अनुभव नहीं होता तब तक उसकी प्रियता का भी अनुभव नहीं होता। परम प्रेम

निर्विषय प्रेम है, यह आत्मानुभव होने पर ही सिद्ध होता है। निरतिशय प्रेमास्पदता वाला शुद्ध आत्मा है। जब तक उस अधिष्ठान साक्षी का पता नहीं लगता, तब तक मिथ्यात्मा तक ही प्रियता प्रतीत होती है। उसकी परमप्रेमास्पदता का पता लगना—इसी को देवर्षि नारद और महर्षि शाण्डिल्य, दोनों ने 'भक्ति' नाम दिया है। नारद ने कहा है कि भक्ति है 'परमप्रेमस्वरूपा'। परम प्रेम को ही भक्ति कहा है। परमप्रेमस्वरूप आत्मा ही हो सकता है। महर्षि शाण्डिल्य ने भी कहा है 'परानुरक्तिरीश्वरे'। ईश्वर में परम अनुराग अर्थात् परम प्रेम का नाम भक्ति है। इसलिये वैधी भक्ति, भक्ति कही ही नहीं जा सकती नारद और शाण्डिल्य के अनुसार। हर हालत में, असीम, निर्हेतुक प्रेम प्रत्यगात्मा से ही है।।६०।।

आत्मप्रियता बताने में श्रुति का उद्देश्य प्रकट करते हैं—

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः।।६१।।

यह परिस्थिति होने पर इस बारे में आत्मज्ञ और विमूढ का विवाद रहता है जिसमें 'आत्मा ही अधिक प्रिय है' यह श्रुति ने निर्णय दिया है।

इस प्रकार, आत्मा की प्रियतमता श्रुति प्रमाण से सिद्ध होने पर भी, ज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध होने पर भी, विमूढ जिसने उस परमात्मा को अभी तक नहीं जाना वह तत्त्वज्ञ से इस बारे में विवाद करता है। लोकसंमत प्रमाण से न मुख्य आत्मा सिद्ध है न उसकी निरतिशय प्रियता। अतः लौकिक पुत्रादि को भी अधिक प्रिय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। ज्यादा से ज्यादा प्राण ही परम प्रिय है, बस यहीं तक समझ पाते हैं। ज्ञानी कहता है कि अन्य नहीं, परम प्रेम का विषय मुख्य आत्मा है। इस विवाद में निर्णय को बतलाते हुए श्रुति ने कहा है 'प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्' (बृ. १.४.८) कि आत्मा ही प्रियतम है। यही निर्णय श्रुति ने किया है।।६१।।

विवाद किस प्रकार का है, इसको बतलाते हैं—

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्त्ववित्।
प्रेयान् पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः।।६२।।

तत्त्वज्ञ का पक्ष है कि अन्यों से अर्थात् दृश्यों से अधिक प्रिय साक्षी ही है। मूढ बुद्धि वाला मानता है कि पुत्रादि ही अधिक प्रिय हैं, उन्हें भोगने के लिये ही साक्षी की उपस्थिति है।

जिसने उस परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया, वह तत्त्ववेत्ता कहता है कि साक्षी आत्मा को छोड़कर सब कुछ दृश्य है। जिसको तुम मैं समझ रहे हो वह भी साक्षी का दृश्य ही है। कभी शान्ति से बैठकर इतना ही सोचो कि 'मैं हूँ' तो उसमें दो ज्ञानों का पता लगता है। एक तो मैं हूँ, और एक 'मैं हूँ' इस बात का ज्ञान भी है। 'मैं हूँ' को वैसे नहीं जानते

जैसे रसगुल्ले को जानते हो। 'मैं हूँ' प्रकाशित हो रहा है, बस इतनी ही बात है। मैं हूँ, यह है अहंकारात्मिका वृत्ति और मैं हूँ का जो प्रकाश हो रहा है वह ज्ञान या साक्षी है। बाकी सब चीजों की अपेक्षा देखने वाला द्रष्टा है मैं। बाकी सब दृश्य हैं। इसलिये प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि इस मैं का ही विचार करना पड़ता है। मैं करने वाला जानने वाला—इसका ही विचार करना पड़ता है आत्मा को समझने के लिये। वस्तुतः जो करने-जानने वाला है उसी को शास्त्रीय भाषा में जीव, प्रमाता आदि कहते हैं। आत्मा का अनुभव होने के बदले, जिस चीज पर ध्यान केन्द्रित करना है जहाँ परमात्मा मिलेगा, वह 'मैं' है। इसी का विचार-विश्लेषण करना पड़ता है, इसी में साक्षी परमात्मा मिलेगा। जब श्रुति में बताये प्रकार से विचार कर लेते हैं तब जिस अपने आप को हम आज तक कर्ता-भोक्ता समझते रहे हैं, वही कर्ता भोक्ता नहीं वरन् सारे पापों से रहित शुद्ध समझ आता है। तत्त्ववेत्ता तो यही कह रहा है, कि एक साक्षी को छोड़कर, अहंकार पर्यन्त सब ही दृश्य है। उस सब से साक्षी भिन्न है। बाकी जितनी चीजें हैं, वे ही जानने वाली हैं, या जानी जाती हैं। आँख, मन आदि जानने वाले हैं, घड़ा, रसगुल्ला आदि सब जाने जाते हैं। पहले तो जानी जाने वाली चीजों से, जानने वाले पर आत्मबुद्धि लानी पड़ती है। जानने वाला भी ज्ञाता और कर्ता किसी-न-किसी साधन से होता है। आँख या कान या हाथ, मन या प्राण होवे तब वह जानता या करता है। इन साधनों से अतिरिक्त वह है तो सही। जैसे खाती, बढ़ई औजारों के साथ आता है तो काम कर लेता है, बिना औजारों के उससे काम ले नहीं सकते पर उसका आदमी (खाती) वाला रूप तो है ही। इसी प्रकार से ज्ञानेद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ, अन्तःकरण—इनके होने पर तो सब जानना-करना होता है, जब ये करण नहीं हैं तब भी वह तो है ही। साक्षी वह है जिसके होने से ये सब जानते-करते हैं। जैसे खाती होवे तभी औजार काम करेंगे, उसी प्रकार साक्षी है तब अहंकार से लेकर ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तक सब काम करते हैं। वही प्रियतम है—यह तो कहता है जो तत्त्ववेत्ता है। और 'मूढधीः' जो अभी मोह में पड़ा हुआ है, गौणात्मा, मिथ्यात्मा को ही जानता है। वह भी जानता तो है कि ज्ञान होता है तब ये सब काम करते हैं पर कहता है कि साक्षी किस काम का! जो संसारी लोग हैं, उनको ऐसा ही लगता है कि जो न जान सके, न कर सके, वह किसी काम का नहीं। कहते हैं 'साक्षी की जरूरत तो केवल इसलिये है कि हम रसगुल्ला खा सकें।' वे कहते हैं कि साक्षी अंग है, भोग करने के लिये। 'भोक्तुम्' के साथ 'कर्तुम्' भी समझ लो। पुत्रादि अंगी हैं, उनका भोग करने के लिये साक्षी जरूरी है लेकिन साक्षी परम प्रिय नहीं है, परम प्रिय तो पुत्रादि हैं। बीमारी की अवस्था में भी व्यापार में लगे रहते हैं अर्थात् वे अपने शरीर को शेष और व्यापार को शेषी समझते हैं। व्यापार प्रधान है, मैं शरीर गौण हूँ। व्यापार किसके लिये? कहते हैं, 'हमें शरीर मिला है, इस व्यापार को चमकाने के लिये।' ऐसे ही मूढ कहता है कि साक्षी इसलिये है कि उस ज्ञान से हम भोग कर सकें। साक्षी प्रियतर नहीं है। इस विवाद का निर्णय श्रुति ने आत्मा को प्रेयान् कहकर दिया।।६२।।

मूढ दो प्रकार के हैं—एक, शिष्य होते हैं जो समझना चाहते हैं। दूसरा मूढ है, जो अपनी बात को सिद्ध करने के लिये जिद करता है। तत्त्वज्ञ दोनों को समझाता है। शिष्य अपनी सोच बदलता है। जिद्दी को समझ में नहीं आता है। तत्त्वज्ञ दोनों को एक ही वचन से उद्‌बोधित करता है—यह 'प्रियं त्वा' आदि का अवतरण करते हैं—

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात् तयोः क्रमात्।।६३।।

शिष्य और प्रतिवादी दोनों आत्मभिन्न को प्रिय कहते हैं। उसके जवाब में विद्वान् जो कहता है वह शिष्य को ज्ञान करा देता है लेकिन प्रतिवादी के लिये शाप हो जाता है।

साक्षी आत्मा से भिन्न, दूसरी चीज को प्रिय कहने वाले दो हैं—शिष्य और दूसरा, प्रतिवादी। आधुनिक वादी कहते हैं 'व्यक्ति की अपेक्षा देश या समाज प्रधान है, देश या समाज के लिये ही व्यक्ति है।' शिष्य और प्रतिवादी दोनों को तत्त्ववेता उत्तर देता है। वचन तो एक ही है लेकिन शिष्य उससे बात समझ जाता है किन्तु प्रतिवादी को शाप लग जाता है! बहुत समझाने पर भी जनक का पुरोहित शाकल्य नहीं समझा तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'तेरा अकल्याण होगा। उस साक्षी तत्त्व को जाने बिना तू विवाद कर रहा है, तेरा सिर कट जायेगा।' और कट गया, शरीर की दुर्गति हुई। तत्त्ववेता प्रतिवादी को शाप दे सकता है। क्यों? आत्मपुराण में बतलाया है, याज्ञवल्क्य को जब परम तत्त्व का ज्ञान दिया था, तब उनके गुरु ने कहा था 'यदि इस आत्मतत्त्व का कोई अपमान करेगा तो मैं तेरे अंदर आकर उस आदमी का सर्वनाश कर दूँगा।' तत्त्ववेता के अंदर बैठा ज्ञान शाप दे देता है। बात एक ही कही जाती है, अधिकारी के अनुसार बोध और शाप अलग-अलग प्रभाव हो जाते हैं।।**६३।।**

तत्त्वज्ञ के उस वचन को सुनाते हैं—

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवम् उत्तरं वक्ति तत्त्ववित्।
स्वोक्ताप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः।।६४।।

तत्त्वानुभवी 'प्रिय तुझे रुलायेगा'—ऐसा उत्तर बताता है। शिष्य विवेक द्वारा समझ लेता है कि उसने जिसे प्रिय कहा था वह दोषपूर्ण (अतः प्रियता के अयोग्य) है।

श्रुतिवचन है, 'स योऽन्यम् आत्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति, ईश्वरो ह तथैव स्यात्' (बृ. १.४.८) वेद में लिखा है कि 'जिसको तू प्रिय कह रहा है, वह तुझे रुलायेगा।' तत्त्ववेत्ता दोनों को उत्तर तो एक ही देता है। शिष्य समझता है कि गुरुजी मुझे उपदेश दे रहे हैं। मैंने जिसे प्रिय समझा है वह प्रिय नहीं वरन् सचमुच में दोष वाला है। वह विवेक करके देखता है कि वह कैसे दुःख का कारण होगा। जैसे भगवान् ने गीता में कहा 'अनित्यमसुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्', इस संसार की सभी चीजें अनित्य हैं, और सुख से रहित हैं। यह चीजों की वास्तविकता को बताया, भगवान् शाप नहीं दे रहे हैं। ऐसे ही ज्ञानी बतला रहा है कि साक्षी से अतिरिक्त तुम जिसे प्रिय समझोगे, वह नष्ट होगी और

दुःख देगी अतः वहाँ से मन को हटाओ। क्योंकि वह गुरु के वाक्य का विवेक करता है इसलिये विषयदोष समझ पाता है।

तत्त्ववेत्ता और अज्ञानी की वार्ता में जब अज्ञानी इस बात पर जोर देता है कि सबसे अधिक प्रिय परमात्मा नहीं है, शरीर, पुत्र, धन आदि सबसे अधिक प्रिय हैं तब जवाब देते हुए तत्त्ववेत्ता कहता है, 'जिसको तुम प्रिय समझते हो वह 'रोत्स्यति'।' इस शब्द के दो अर्थ होते हैं। 'रुदिर् अश्रुविमोचने' (अदा.प. से) धातु से जब यह शब्द बनता है, तब मतलब होता है, 'रुलाता है'। और 'रुधिर् आवरणे' (रु.प.अ.) धातु से जो 'रोत्स्यति' बनता है, उस का मतलब है 'रोक लेता है'। जो शिष्यभाव से समझने की इच्छा से कहता है कि 'मुझे परमात्मा से अतिरिक्त, शरीर, पुत्र, पत्नी, धन आदि प्रिय लगते हैं', उसको तो तत्त्ववेत्ता कहता है, 'वे तुम्हें परिच्छिन्न करते हैं'। जो विवाद करना चाहता है, उसको कहता है, 'तू जिसे प्रिय सोचता है, वह नष्ट हो जायेगा। उसका प्राण निरुद्ध हो जायेगा, अर्थात् मर जायेगा।' इस प्रकार एक ही वाक्य से शिष्य को बोध करा दिया और प्रतिवादी को शाप दे दिया। क्यों? तत्त्वज्ञान का अपमान सहन नहीं किया जा सकता।।६४।।

शिष्य के विवेक का ढंग बतलाते हैं—

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम्।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते।।६५।।

गर्भ में न आया पुत्र 'कब आयेगा!' इस इन्तजार से माता-पिता को लम्बे समय तक क्लेश पहुँचाता है। गर्भ में आने पर भी गर्भ गिरने से या प्रसव-पीडा से बाधा पहुँचाता है।

पुत्र को दृष्टांतरूप से लिया। लम्बे समय तक सन्तान नहीं हो तब भी माता-पिता दुःखी रहते हैं, अनेक अनुष्ठान करते हैं। जब तक पुत्र नहीं होता, तब तक क्लेश होता ही रहता है। यदि पुत्र प्राप्त हो भी गया, तो तीन-चार माह में गर्भपात हो जाये तो भी दुःख होता है। शरीर, मन दोनों को कष्ट होता है। बच्चा होने में भी, प्रसव में भी माँ को भयंकर कष्ट होता है। यदि मूल नक्षत्र में पैदा हो जाये तो बाप उसका अनेक दिनों तक मुँह नहीं देख सकता, नहीं तो अनिष्ट हो जायेगा।।६५।।

जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च मूर्खता।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वम् अनुद्वाहश्च पण्डिते।।६६।।

पैदा हुए को ग्रह-पीडा हो जाती है, रोगादि हो जाते हैं। बचपन में मूर्खता रहती है। उपनयन होने पर भी कदाचित् विद्वान् नहीं बन पाता। पण्डित हो भी जाये तो ब्याह नहीं होता।

इसी प्रकार कभी उसका पेट खराब होगा, कभी गला खराब होगा। बच्चे के रोग आदि सब के कारण माता-पिता को कष्ट ही है। जब तक बच्चा छोटा है, अगर उसकी आँख पर मक्खी भी बैठ जाती है, तो उड़ाना नहीं जानता, केवल रोता है। माँ दौड़कर आती है।

बाल्यावस्था से बड़ा हुआ, कुमार हो गया तो पढ़ता ही नहीं है, खेलने में ही मन लगाता है। ब्राह्मण माता-पिता तो कहते हैं, 'पैदा ही नहीं होता, मर गया होता तो अच्छा था।' इतना दुःख होता है! उसका उपनयन कर दिया, गुरु के घर भेज दिया। विद्या का लक्षण होता है 'विद्या ददाति विनयम्'। जितनी विद्या आती है उतना ही मनुष्य विनयी होता है, नम्र होता है, शास्त्रानुकूल व्यवहार करता है। पर आजकल प्रायः पढ़कर और ज्यादा उद्दण्ड हो जाते हैं, जैसे श्वेतकेतु हुआ था। ऐसे में माँ-बाप को नमस्कार करना भी भारी लगता है। पुत्र माता-पिता के पैर नहीं छुए तब भी पिता को बड़ा दुःख होता है। पुत्र की उद्दण्डता से पिता को मरने जैसा दुःख लगता है। यदि पढ़ भी गया, विनय वाला भी हो गया, तो गुण होते हुए भी विवाह नहीं हुआ तब भी माँ-बाप को लगता है 'मेरी जिम्मेदारी पूरी नहीं हुई'। जब तक बच्चों का विवाह नहीं हो जाता तब तक महान् दुःख होता है।।६६।।

इतना ही नहीं, जवानी पागलपन लाती है—

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेद् म्रियते तदा।।६७।।

जवान लड़का अन्यों की पत्नियों पर कुदृष्टि करता है, परिवार बढ़ाकर भी दरिद्र रहता है, धनी हो तो मर जाता है। माता-पिता के दुःख की समाप्ति नहीं।

जवानी में व्यक्ति पागलपन करता है, अपनी पत्नी की अपेक्षा दूसरी स्त्री की तरफ दृष्टि करता है। यह भी माँ-बाप के लिये दुःख का विषय है। या कहीं बच्चे हो गये, पर उनका पेट पालना ही कठिन हो जाता है तब भी दुःख होता है। यदि वह किसी राजा के साथ सम्बन्ध वाला हो गया, तब धन भी आ गया पर चिन्ता, रोग, दुर्घटना आदि से उसका देहान्त हो जाये तो दुःखी। इस प्रकार माता-पिता को सन्तान से होने वाले दुःख का अन्त नहीं है। विवेकी पुत्र को प्रिय समझे यह संगत नहीं। भगवान् विष्णु रामरूप में दशरथ के घर जन्मे, पर दशरथ बेटे के शोक में मरे। वसुदेव के यहाँ भगवान् ने जन्म लिया पर गर्भ में आते ही वसुदेव-देवकी को जेल में रहना पड़ा। साक्षात् भगवान् पुत्ररूप में आने पर भी सुख नहीं मिलता है तो अन्य को पुत्र कैसे सुख दे सकता है? विवेकी तो इस प्रकार से विचार कर लेता है।।६७।।

पुत्र की तरह गौणात्मामात्र से विवेक चाहिये—

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम्।।६८।।

इस प्रकार विवेक कर पुत्रादि में प्रेम छोड़कर निजात्मा में परम प्रेम का निश्चय कर उसे रात-दिन देखता रहता है।

जैसा पुत्र में बताया है वैसा पत्नी, धन आदि सभी चीजों में घटा कर देख लेना चाहिये। योगवाशिष्ठ में काफी लम्बे प्रकरण हैं जहाँ यह विस्तार है। अपनी बुद्धि से या जहाँ शास्त्रों में वर्णन किया है, उससे समझ लेवें लेकिन यह विवेक करके वास्तव में समझ आता है। बिना विवेक के तो यही लगता है कि इन चीजों से सुख है। एक बहुत बड़ा कारण यह होता है कि अधिकतर लोग सोचते हैं कि 'मेरे बेटे ठीक नहीं निकले, पर कहीं अच्छे भी हैं'। इसी प्रकार प्रायः लोगों को दूसरे का धन, दूसरे की पत्नी, दूसरे की सन्तान लगते हैं कि वे सुख के कारण हैं। विवेक से पता लगता है कि सब जगह वही बात है। जो अनात्मा है वह कभी सुख दे नहीं सकता। अतः विवेक करके उन सबके प्रति जो प्रेम है उसको छोड़ देता है। इसी को वैराग्य कहते हैं कि सभी पदार्थों से राग का हट जाना। राग दो तरह से हटता है, किसी चीज से दुःख पा करके भी हटता है और विवेक से भी हटता है। दुःख पाकर जो हटता है, वह वैराग्य ज्ञान का कारण नहीं है। दुःख से जो वैराग्य होता है वह कालान्तर में जब दुःख वाली चीज नहीं रह जाती, तब फिर राग आ जाता है। यह देखा जाता है कि दुःख से वैराग्य हुआ पर कालान्तर में, वह दुःख की चीज नहीं रही, उस जाति की दूसरी चीज अच्छी है, तो फिर आसक्ति हो जाती है। इसलिये दुःख से होने वाला जो वैराग्य है वह ज्ञान का साधन नहीं बन पाता। जो विवेक से वैराग्य होता है वह हमेशा दृढ ही रहता है। चीज से सुख मिलने पर भी वैराग्य कम नहीं होता। इसलिये साधक विवेक से वैराग्य करके चीजों से राग को छोड़ता है। जो अपने अन्दर रहने वाला साक्षी परमात्मा है, उसमें ही परम प्रेम रखता है। निजात्मा मायने मुख्य आत्मा। गौणात्मा और मिथ्यात्मा निजात्मा नहीं है। निजात्मा तो परमात्मा ही है। इसलिये उसमें परम प्रीति रखनी चाहिये। जिस चीज से प्रेम होता है उसे आदमी रात-दिन, अपने सामने रखना चाहता है। हमेशा देखता रहता है। जिसको धन से प्रेम होता है, वह धन को बार-बार गिनता रहता है। इसी प्रकार जब साक्षी परमात्मा के साथ प्रेम होता है तभी उसकी तरफ उसका ध्यान हमेशा लगा रहता है, उसी को सोचता है। जैसे धन से प्रेम करने वाला सारे संसारी काम करता है, पर ध्यान धन में ही रहता है, इसी प्रकार परम प्रीति साक्षी चिन्मात्र में है, फिर भी शरीर आदि का व्यवहार करता है, लेकिन उस समय में भी ध्यान रहता है कि 'यह शरीर आदि का व्यवहार कब सम्पन्न होवे, और कब मैं साक्षी परमात्मा में फिर से स्थित होऊँ'। सब कुछ करते हुए भी उसका ध्यान उधर ही लगा रहता है। जो शिष्य है, वह विवेक कर लेता है, और ब्रह्मवेत्ता के वाक्य के सहारे से, जो परम प्रेम के योग्य साक्षी चिन्मात्र है, उसमें लग जाता है। तत्त्ववेत्ता ने कहा, 'ये तुम्हें रुलायेंगे।' विवेक से, 'कैसे रुलायेंगे' यह सोच कर ही वैराग्य प्राप्त करके, निरन्तर उस परमात्मा में मन को शिष्य तो लगा देता है अतः बोध पा जाता है।।६८।।

वादी के लिये वह वाक्य शाप कैसे—यह बताते हैं—

आग्रहाद् ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुञ्चतः।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु।।६९।।

पुत्रादि की परम प्रियता के हठ से या ब्रह्म के प्रति द्वेष से जो अपना गलत मत छोड़ता नहीं उस वादी के लिये नरकप्राप्ति एवं अनेक योनियों में दुःखादि दोषोपलब्धि बतायी है।

प्रतिवादी भी दो तरह के हैं। एक तो 'आग्रहाद्'। कुछ लोग समझते हैं—ब्रह्मवेत्ता बाबाजी हैं, इन्होंने कौन से बच्चों को पैदा किया है जो प्रियता जानें! एक बाबा ने एक लकड़हारे का दुःख-कष्ट सुन कर दया कर कहा, 'ठीक है, आकर आश्रम में रहो और भोजन करो।' उस ने कहा,'नहीं बाबाजी, इतना दुःख-कष्ट होते हुए भी बच्चों का जो प्रेम है, उसमें बहुत सुख है।' महात्मा ने सोचा 'यह इतना दुःखी होते हुए भी कहता है, इतना सुख है, तो देखें क्या सुख है।' उसके घर जाकर देखा तो घर के लोग सभी चीजों की माँग कर रहे थे, कमियों की शिकायत कर रहे थे। थके-मांदे लकड़हारे को ठीक से भोजन भी नहीं मिला, बच्चों ने ठीक से आराम भी नहीं करने दिया। बाबाजी को यह सब देख आश्चर्य हुआ कि सभी प्रकार का कष्ट होते हुए भी संतान का सुख अनुभव कर रहा है! अज्ञानियों में कुछ तो आग्रही होते हैं। कुछ, 'ब्रह्मविद्वेषाद्' जिन्हें ब्रह्मवेत्ताओं से द्वेष होता है। इसलिये हर तरह की युक्तियों से 'ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता' सिद्ध करते हैं। पहले तो कहते हैं, 'ब्रह्म है ही नहीं। ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता, और आनंदरूप भी नहीं हो सकता।' यदि कथंचित् मानते हैं तो भी जीते-जी किसी को उसका साक्षात्कार हो सके यह संभव नहीं समझते। इस प्रकार उनको ब्रह्मज्ञानियों से भी द्वेष है। अतः तरह-तरह की युक्तियों से अपने पक्ष को सिद्ध करना चाहते हैं। कहेंगे 'अगर ब्रह्म अधिष्ठान है, तो जैसे रस्सी दीखने पर साँप नहीं दीखता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ को संसार नहीं देखना चाहिये।' जो यहाँ समझाया, गौणात्मा, मिथ्यात्मा आदि, यह सब उनकी समझ में नहीं आता। वे कहते हैं 'खूब कर्म करो और फल भोगो'। कुछ लोग समाज, देश, मानवता के लिये किये जाने वाले लौकिक कर्मों को मानते हैं। कुछ अन्य लोग यज्ञ, उपासना आदि को कर्तव्य कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता कुछ नहीं कहता है, इससे उन्हें द्वेष होता है। उन्हें लगता है कि ब्रह्मज्ञान की इन बातों से समाज का नुकसान हो रहा है, समाज में अकर्मण्यता आ रही है। ऐसे लोग प्राचीनकाल में भी थे, वर्तमान में भी है। ब्रह्मज्ञान से अकर्मण्यता आती है, यह बात बनती नहीं है। आचार्य शंकर कहते हैं कि सारे शास्त्र एक स्वर से बताते हैं कि कामना बुरी चीज है, अपने लिये कुछ चाहना बुरा है, लेकिन सारे शास्त्रों और विद्वानों के कहने पर भी किसी ने कामना करना छोड़ दिया क्या? जैसे लाख कहें 'कामना मत करो', लेकिन कामना करने वाला करेगा ही, इसी प्रकार लाख कहने पर 'कर्म मत करो', तुम कर्म करोगे ही। भगवान् ने कहा है कि संसारी व्यक्ति जो शरीर को अपना स्वरूप समझता है, वह बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। अतः ब्रह्मज्ञान सुनने से कोई कर्म छोड़ देगा—ये सब बातें व्यर्थ की हैं।

साधारण लोग आग्रह से, विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओं से द्वेष होने से, अपने इस पक्ष को नहीं छोड़ते कि संसार ही प्रिय है। ब्रह्मवेत्ता को भी बार-बार कहते हैं कि परमात्मा सबसे प्रिय नहीं हो सकता। तब ब्रह्मवेत्ता कहता है 'तेरे स्वर्ग के रास्ते रुक जायेंगे, तू नरक में ही जायेगा। बहुत- सी पशु-पक्षी योनियों में जायेगा। उन योनियों में भी जिन्हें प्रिय समझता है उनका वियोग भोगता रहेगा।' ।।६९।।

कोई कहे कि 'ब्रह्मवेत्ता के यों कहने से क्या होता है'? अतः उसका प्रभाव बताते हैं—

ब्रह्मविद् ब्रह्मरूपत्वाद् ईश्वरस्तेन वर्णितम्।
यद्यत् तत्तत् तथैव स्यात् तच्छिष्यप्रतिवादिनोः।।७०।।

ब्रह्मरूप होने से ब्रह्मवेत्ता ईश्वर है अतः जो-जो बताया वह-वह उसके शिष्य और प्रतिवादी के साथ वैसा ही होता है।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' यह श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञान को जिसने प्राप्त कर लिया वह ब्रह्मरूप है। इसलिये वह ईश्वर ही है। भगवान् पानी बरसाते हैं। वही पानी करेले में जाता है तो उसको कड़वा करता है, मिर्च को तीखा बनाता है, आम-अंगूर मीठा बन जाता है। भगवान् का बरसाया पानी एक होने पर भी अलग-अलग पेड़ों को अलग-अलग फल देता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी ईश्वर होने के कारण, उसका कहा हुआ एक वाक्य ही शिष्य को ज्ञान दे देता है और प्रतिवादी को नरक की प्राप्ति करा देता है। जैसे पेड़ के भेद से असर में अंतर आता है वैसे जैसा अधिकारी वैसा ही उसका वाक्य फल दे देता है। इसलिये जो-जो उसने कहा है वह वैसा ही हो जाता है। शिष्य को ज्ञान कराने में कारण हो जाता है और प्रतिवादी के नाश का कारण हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता की ऐसी सामर्थ्य हो जाती है क्योंकि उसने अधिष्ठान तत्त्व से एकता की प्राप्ति कर ली है। इसलिये जो चीजें लोक में प्रायः नहीं हो पातीं, वे भी ऐसे ब्रह्मवेत्ता के संकल्प से हो जाया करती हैं।

नारद जी ने एक भक्त से पूछा 'कोई क्लेश तो नहीं है?' उसने कहा 'संतान नहीं है।' नारद जी ने कहा, 'मैं भगवान् से पता लगाता हूँ।' भगवान् ने नारद से कहा, 'इसके तो सात जन्म तक कोई संतान का लेख नहीं है।' आकर नारद जी ने उसको ऐसा ही बताया। उसने भी कहा, 'ठीक है, जैसी भगवान् की इच्छा।' एक बार यह बात उस भक्त ने एक ब्रह्मवेत्ता को बताई। उन्होंने कहा 'इसी जन्म में सात संतति ले ले।' अब हर साल एक-एक कर उसके सात बच्चे हो गये। नारद जी ने यह देखा तो भगवान् विष्णु से जाकर शिकायत की 'मुझे झूठा क्यों बनाया?' भगवान् नारद जी को उस ब्रह्मवेत्ता महात्मा के पास ले गये जिन्होंने अपने शरीर के अंग को जलाकर भगवान् को गर्म दूध दिया। तब भगवान् ने कहा 'इसी महात्मा ने उस भक्त को सात बच्चे दिये हैं। क्या इसकी बात टाली जा सकती है?' जो अपने को मिथ्यात्मा और गौणात्मा से सर्वथा अलग जानता है वह ईश्वर ही हो जाता है। वह जैसा सोचता है, वैसा ही हो जाता है। शिष्य को उसके वाक्य से ज्ञान हो जाता है।।७०।।

आगे श्रुति ने कहा है 'आत्मानम् एव प्रियम् उपासीत। स य आत्मानम् एव प्रियम् उपास्ते, नेहाऽस्य प्रियं प्रमायुकं भवति' (बृ. १.४.८)। इसका संग्रह करते हैं–

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम्।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन।।७१।।

जो तो उत्तम प्रिय साक्षी आत्मा का सेवन (प्रियतया स्मरण) करता है उसका यह अधिक प्रिय आत्मा कभी नष्ट नहीं होता।

श्रुति कहती है 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत'। परमात्मा ही सबसे अधिक प्रिय है–इस बात की उपासना करे, बार-बार विचार करे। जो आत्मा को ही एकमात्र प्रिय समझता है, वह अनात्मा को अप्रिय समझता है अतः विवेक करके 'वह दुःख का साधन है'–यह जान कर उसका त्याग कर देवे। हठपूर्वक अनात्मा को प्रिय समझेगा तो नरक या निम्न योनियों को चला जायेगा। जो परमात्मा को प्रिय समझता है, उसके प्रिय परमात्मा का कभी नाश नहीं होता। उसे न कभी प्रिय वस्तु के नाश का दुःख होता है, न नरकादि लोकों की प्राप्ति, जो अनात्मा की उपासना से होती है। अनात्मा को प्रिय समझने वाले लोगों से आत्मप्रेमी भिन्न है–यह 'तुकार' के द्वारा बतलाते हैं। अनात्मा और आत्मा को एक-साथ प्रिय नहीं समझ सकते! आत्मा को प्रिय समझोगे तो अनात्मा को अप्रिय समझोगे। अनात्मा वह है जो जाना जाता है, और आत्मा वह है जो जानता है। जानने वाला और जिसको जानते हो वे कभी एक नहीं हो सकते। ज्ञेय और ज्ञाता दोनों की जाति सर्वथा विरुद्ध है। वेदान्त शास्त्र इसलिये सारे संसार को दो भागों में ही बाँटता है। 'दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ' शास्त्रकार कहते हैं कि दृक् और दृश्य ये दोनों सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं, दोनों के लक्षण सर्वथा विपरीत हैं। अतः आत्मा और अनात्मा को एक-साथ प्रेम का विषय नहीं बनाया जा सकता। कालभेद से तो हो सकता है, जैसे सर्दी में कम्बल अच्छा किंतु गर्मी में बुरा लगता है। व्यक्तिभेद से भी एक चीज प्रिय और अप्रिय हो सकती है,एक आदमी के लिये वही चीज सुखद है, दूसरे के लिये वही चीज दुःखद है। परंतु एक आदमी के लिये एक ही काल में एक ही चीज सुख और दुःख देने वाली नहीं हो सकती, एक वस्तु प्रिय होगी तो दूसरी अप्रिय होगी। इसी प्रकार संसारी लोगों के लिये अनात्मा प्रिय है। मुमुक्षुओं के लिये परमात्मा प्रिय है। कालभेद से बदल सकता है–जवानी में अनात्मरूप संसार प्रिय है, प्रौढ अवस्था में परमात्मा का प्रेम आ गया। काल एवं व्यक्ति के भेद से भेद हो सकता है लेकिन एक ही व्यक्ति में उसी काल में आत्मा और अनात्मा दोनों में प्रेम हो–यह नहीं हो सकता।

गौणात्मा और मिथ्यात्मा का विचार इसलिये किया था कि संसार के अनेक पदार्थ, मिथ्यात्मा को लेकर प्रिय हैं, गौणात्मा को लेकर प्रिय हैं। है तो वहाँ भी आत्मा प्रिय, लेकिन गौणात्मा और मिथ्यात्मा में अनात्मारूप उपाधि के साथ आत्मा है, अनात्मारूप उपाधि से रहित आत्मा नहीं है इसलिये उसकी प्रियता और अप्रियता बदल जाती है। जैसे पत्नी बहुत प्रिय है परंतु पाँच साल से बिस्तरे पर पड़ी है, अंत में पति दुःखी होकर कहता है 'यह बहुत

कष्ट पा रही है। भगवान् इसको उठा ले तो अच्छा है।' गौणात्मा कभी प्रिय होने पर भी कभी प्रिय नहीं रहता। इसी प्रकार मिथ्यात्मा मन हमें प्रिय है। वह कैसे सुखी हो इसके लिये हम परेशान रहते हैं। पर यदि मन ही हमारे दुःख का कारण हो जाये, तो फिर अच्छा संगीत सुन कर सोने का प्रयत्न करते हैं। यदि मन अशान्ति का कारण होता है तो हम उस मन को भी बंद कर देना चाहते हैं। मिथ्यात्मा भी कभी अप्रिय हो जाता है। परंतु जो हमारा परमात्मरूप साक्षी है, उसके अंदर कभी दुःखरूपता नहीं आती। वह हमेशा एक जैसा प्रिय ही रहता है। वह गौणात्मा को भी जानता है और मिथ्यात्मा को भी जानता है। गौणात्मा, मिथ्यात्मा में जो उपाधियाँ हैं, वे पहले तो लगती हैं कि आत्मा से एक हैं, परंतु अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा, वेद में बतलाये गये पंचकोषों के विवेक के द्वारा, धीरे-धीरे पता लगता है कि उपाधि आत्मा का सत्य स्वरूप नहीं है। उसका स्वरूप तो केवल स्वप्रकाश है। तब जो साक्षी आत्मा, परमात्मा है, वही प्रियतम है—इस तरह से उसका सदा सेवन, स्मरण करता है।

जो ऐसा चिंतन करने वाला है, उसका आत्मा प्रियतम है, परमात्मा उसका प्रियतम है। वह कभी नष्ट नहीं होता। नष्ट होने वाला क्या पदार्थ है? 'नश अदर्शने' धातु है। नाश का मतलब है, कोई चीज तुम्हारे सामने न रहे। चीज है या नहीं इससे तुमको मतलब नहीं है, तुम्हारे ज्ञान में नहीं रही। तुम्हारा प्रिय पति मर गया। ऐसा नहीं है कि वह नहीं रहा। किसी अन्य लोक में पैदा हुआ है। वह है, परंतु तुम्हें उसका दर्शन नहीं होता, इसलिये कहते हो 'वह मर गया'। नश धातु का मतलब अदर्शन है, चीज है या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं है। सामने दो प्रकार से नहीं हो सकती—एक तो इस समय नहीं, दो साल के बाद है। या यहाँ नहीं? अन्यत्र है। साक्षी आत्मा का अदर्शन कभी होता नहीं। वेद ने क्यों कहा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', परमात्मा का दर्शन करना चाहिये, वह दर्शनयोग्य है? यदि हमेशा ही उसका दर्शन है तो यह कहने की क्या जरूरत है? दर्शन दो तरह का होता है : तुम्हारे सामने पेड़ है, दीख रहा है, पर तुम पूछते हो 'यह कौनसा पेड़ है'? दीख तो रहा है पर जानते नहीं कि कौनसा पेड़ है। यदि वृक्ष की पहचान नहीं तो उसका लाभ नहीं उठा सकोगे। पेड़ के औषधीय गुणों का ज्ञान होने से ही उसका लाभ होगा। इसी प्रकार आत्मा आनंदघन है। आत्मा, साक्षी तुम्हें दीख रहा भी है। नया कुछ नहीं दीखेगा। मैं हूँ—इस रूप से दीख रहा है। गहरी नींद में भी अपने को, जहाँ अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं है, देख रहे हो। उठकर कहते हो 'मैं सुख से सोया'। वही तुम्हारे अनुभव का विषय-आश्रय है क्योंकि वह न आश्रय है, न विषय है वस्तुतः स्वप्रकाशरूप है। परंतु इसके आनंदरूप को तुम जानते नहीं क्योंकि तुम उसे हमेशा किसी न किसी उपाधि के साथ देखने के आदी हो गये हो। विवेक करके तुमने अलग किया नहीं। जब वेद के बताये मार्ग से तुमने विवेक कर अलग कर लिया तब पता लगता है कि मैं ही पूर्ण आनन्द हूँ।

बहुत से लोग कहते हैं कि 'हमको पता तो है कि यह अलग है, फिर भी हम एक हो जाते हैं।' ऐसा अविचार से होता है। खाली परोक्ष रूप से जानने से अनुभव नहीं होता।

'शरीर मैं नहीं हूँ, मैं शरीर को जानने वाला हूँ' इसी अनुभव का अभ्यास लम्बे समय तक करोगे, तब धीरे-धीरे चीज स्थिर होगी। अतः विचार की परिपक्वता होनी चाहिये। शरीर का भान नहीं जायेगा। शरीर की प्रतीति तो होती रहेगी लेकिन 'शरीर मैं हूँ' इस प्रकार से भान नहीं रहेगा। शरीर से व्यवहार करते हुए भी 'मैं कर रहा हूँ' यह भान नहीं रहेगा। इसलिये आचार्य शंकर ने कहा है कि अभी जैसे सब समय तुम्हारा निश्चय है, 'मैं शरीर हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ'; ये अभिमान जाते नहीं; जैसे यह दृढ है, वैसा ही दृढ हो जाये, 'मैं सत्-प्रकाश-चिदानंदरूप ही हूँ, साक्षी हूँ' तब देहभाव का बाध होगा। फिर चाहे शरीर आदि से व्यवहार होवे, 'मैं शरीर, मन अहंकार हूँ' यह प्रतीति नहीं होती। अभी लगता है कि 'शास्त्र-गुरु कहते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ, मगर हूँ तो सही'। जब तक यह 'मगर' नहीं जायेगा, तब तक काम नहीं होता है, तब तक अभ्यास करना है। जब साक्षी परमात्मा की प्रियतमता की दृढ भावना हो जाती है, तब आत्मा का आनंदरूप भास जाता है। अभी हमें लगता है कि अनात्मा से आनंद मिलेगा। जब अपनी आनंदरूपता का पता लग जाता है तब सारे संसार का वैभव तुच्छ दीखता है। श्रुति ने कहा है कि उस परम आनंद की बूँद की भी जो बूँद है, बस उसी से सारा संसार अपने को धन्य समझता है। निष्ठा होने पर वह आनंद कभी उससे ओझल नहीं होता। जब आनंदरूपता का पता चल जाता है तब फिर तुम किस अनात्मा की तरफ अपने को ले जाओगे? सेवन या उपासना मायने विचार करके मिथ्यात्मा, गौणात्मा में आत्मभाव को हटाना। इसलिये सुरेश्वराचार्य ने कहा है 'अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे' अनात्मा का अदर्शन करने के द्वारा ही परमात्मा की उपासना होती है। यही यहाँ उपासना का रूप है। जैसे कपड़े को साफ करना मायने मैल हटा देना, अन्य कुछ जोड़ना नहीं पड़ता; सोने की मैल ही हटाते हैं, चमक उसमें स्वाभाविक है; इसी प्रकार आत्मा का नित्य आनन्द स्वाभाविक है, केवल अज्ञान का निवारण आवश्यक है।।७१।।

प्रिय होने से निकला नतीजा बताते हैं—

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता।।७२।।

परम प्रेम का विषय होने से (आत्मा) सर्वाधिक आनन्दरूप है यह सिद्ध होता है क्योंकि प्रेम बढ़ने पर सुख का बढ़ना सार्वभौम आदि के सुखों के प्रसंग में सुना गया है।

आत्मा परमानंदरूप कैसे है? जो प्रेम का विषय होता है वह सुख होता है। कोई चीज सुख वाली है यह तब पता लगता है जब उस चीज से प्रेम होवे। एक राजा को चर्मरोग हो गया। किसी ने बताया कि गीध की बीट लगाओगे तो ठीक हो जायेगा। गीध ही अप्रिय है, फिर उसका मल अतिघृणित। लेकिन जब बीट मिल गई तो राजा प्रसन्न हुआ, लगाया और ठीक भी हो गया। खराब चीज में भी जब प्रेमास्पदता आ गई तो सुखदायी हो गई।

प्रिय ही आनंदरूप होता है। आत्मा परम प्रेम का विषय है, क्योंकि बाकी सब चीजें आत्मा के लिये प्रिय हैं, आत्मा किसी अन्य चीज के लिये प्रिय नहीं है। जो किसी अन्य के लिये प्रिय न होते हुए प्रिय हो वही परम प्रेमास्पद है, वही परम आनंदरूप है। परमप्रेमास्पदत्व यह हेतु हो गया : आत्मा क्यों परमानंदरूप है? परमप्रेमास्पद होने से। इसमें तुमको अन्वयी दृष्टांत नहीं मिलेगा। 'अपने लिये प्रिय होवे, किसी अन्य के लिये प्रिय न होवे' यह विशेषता सिवाय परमात्मा के और कहीं मिलेगी नहीं। सत्-चित् आत्मा से भिन्न जो चीजें हैं वे सब प्रत्यगात्मा के लिये प्रिय हैं। कोई प्रिय चीज ऐसी नहीं जो प्रत्यगात्मा के लिये प्रिय न हो। परमात्मा जैसा प्रिय और कोई नहीं मिलेगा। परमप्रेमास्पद केवल आत्मा है, इसलिये उसकी परमानंदरूपता है। उसे परमानंद क्यों कहते हैं? जितना प्रेम बढ़ता है उतना सुख ज्यादा होता है। रसगुल्ले से प्रेम है परंतु मधुमेह हो गया, डाक्टर ने कहा 'मीठा खाना नहीं छोड़ोगे तो रोग नहीं मिटेगा।' स्वाद की अपेक्षा तुम्हें शरीर से ज्यादा प्रेम है। तुम रसगुल्ला छोड़ देते हो। कुछ लोग कहते हैं 'मरना तो है ही, खाओ।' जिस चीज से प्रेम ज्यादा है, उसी से सुख भी ज्यादा होता है। प्रीति के बढ़ने की अंतिम सीमा हुई आत्मा। इसलिये वहाँ परमानंद मानना पड़ता है। यह बात केवल युक्ति और अनुभव से नहीं कह रहे हैं। आत्मा, ब्रह्म ऐसी चीजें हैं जो युक्ति से समझ में नहीं आतीं। इसलिये कहा 'सार्वभौमादिषु श्रुता'।

यजुर्वेद में एक प्रसंग है; संसार में केवल वही जगह है जहाँ सुख का परिमाण, नाप बतलाया है। सत्रहवीं शताब्दी में विज्ञान ने यह सिद्धांत बनाया कि जिस चीज की नाप-तोल नहीं है उस चीज को नहीं मानेंगे। आयुर्वेद की दवा से कितने रोगी ठीक हुए, कितने नहीं हुए आदि माप नहीं रखे जाते इसलिये आधुनिक वैज्ञानिक आयुर्वेद-चिकित्सा पद्धति को नहीं मानते। अन्य चीजों में नाप की शर्त लगायी पर अभी तक किसी विज्ञान ने सुख का नाप नहीं किया है। यह केवल वेदों में बताया गया है। मापने के लिये इकाई बनानी पड़ती है जैसे लम्बाई के नाप की इकाई मीटर आदि, समय की इकाई घण्टा, सैकिण्ड आदि। इसी प्रकार वेद ने सुख की इकाई बना दी : सारी पृथ्वी का राजा होवे, पृथ्वी धन-धान्य से भरी हो, राजा बल वाला हो, युवा हो, सच्चरित्र हो, क्योंकि दुश्चरित्र व्यक्ति को आनंद नहीं मिलता; विद्वान् हो; इन सारे गुणों वाले व्यक्ति को जो सुख मिलता है उसे एक मानुष आनंद अर्थात् आनन्द मापने की इकाई बनाया। हम लोग उस सुख के अंशमात्र प्राप्त करने के लिये ही दुःखी हैं। संसार में लगभग छह अरब जनसंख्या है। उसमें तुम्हारा एक बेटा। वह तुम्हारी बात नहीं मानता तो तुम परेशान हो जाते हो। बाकी संसार तुम्हारी बात नहीं मानता, पर तुम परेशान उससे नहीं हो रहे हो। संसार के एकछत्र राजा के सुख को सुख का एक माप माना। आगे बताया कि पितृलोक में उससे सौ गुणा सुख है। देवलोक में उससे, पितृलोक से सौ गुणा सुख है। ऐसे ही अनेक उत्तरोत्तर अधिक सुख के स्थान बताये और हर सुख के साथ कहा गया है 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'। जिसने वेद-अध्ययन कर उसके, अर्थ को समझा है, और जिसको इस पद की कामना नहीं है, उसको वह सुख पहले ही प्राप्त है।

अन्त में हिरण्यगर्भ का सुख बतलाया है। तैत्तिरीय और बृहदारण्यक में भी वही प्रसंग है। थोड़ा-बहुत सामान्य भेद है।

श्रुति ने बताया कि जितना चीजों से तुम्हें वैराग्य होता जाता है उतना ही तुम्हारा सुख बढ़ता जाता है। सुख होने के लिये असली चीज है अकामना। अनात्म-पदार्थ की कामना होती है, वही तुमको सुख दे सकती है। जैसे हम लोगों को बिजली के जाने से दुःख और आने से सुख होता है। अनेक वर्षों पूर्व जब बिजली नहीं थी तब बिजली जाने का दुःख होता था क्या? मूर्ख समझते हैं कि चीजें बढ़ने से सुख है। चीजों का स्वभाव है कि कभी होंगी, कभी नहीं होंगी। ज्यादा चीजों से सुख लोगे तो उनके जाने से दुःख भी ज्यादा होगा। वस्तुतः सुख का कारण अकामना है। तुम्हारे पास चीज है इसलिये या इच्छा ही नहीं है इसलिये भी अकामना हो सकती है। भरी-पूरी पृथ्वी का एकछत्र राज्य पाना किसी के हाथ में नहीं लेकिन कामना छोड़ना तुम्हारे हाथ में है। अकामता सुखी होने का उपाय वेद ने बताया है। जो हिरण्यगर्भ पद से, अर्थात् ब्रह्मा के पद से भी वैराग्य वाला है, उसको परमप्रेमास्पद परमानंदरूपता की प्राप्ति है। जब यह दृढता हो जाती है तब परमानंदमें स्थिति होती है।।७२।।

प्रश्न होता है—

चैतन्यवत् सुखं चाऽस्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा।।७३।।

चैतन्य की तरह चिद्रूप आत्मा का सुख भी स्वभाव होता तो बुद्धि की सभी वृत्तियों में ज्ञान की तरह अनुगत मिलता।

युक्ति से तो सिद्ध कर दिया कि परमप्रेमास्पद होने से आत्मा परमानंदरूप है, लेकिन यह बात अनुभव से विरुद्ध है। अनुभव क्या है? मैं में हमेशा चेतनता की प्रतीति है, 'मैं चेतन हूँ'। आत्मा चेतनरूप है यह सिद्ध किया जाये तो अनुभव के अनुरूप है क्योंकि 'मैं चेतन हूँ' यह सब का अनुभव है। परंतु 'मैं आनंद हूँ' ऐसा भान किसी को नहीं होता। यदि चेतन की तरह ही यह हमारा स्वरूप होता तो जैसे हमें भान होता है 'मैं चेतन हूँ' वैसे ही भान होना चाहिये 'मैं आनंद हूँ'। यदि चिदात्मा का स्वभाव सुख होता तो सभी अन्तःकरण-वृत्तियों में इसकी अनुवृत्ति होती, हमेशा मैं के साथ सुख का भी भान होता। जैसे चेतन का अनुवर्तन होता है वैसे ही सुख का होना चाहिये। यदि सुख का भान होता, तो हम लोग आनंद से बैठे रहते। परेशान तो सुख के लिये ही होते हैं। धन कमाते हैं क्योंकि लगता है कि धन से सुख होगा। दाल का सीरा मेहनत कर बनाते हैं, क्योंकि उसे खाने से सुख होगा। यदि पहले ही भान होता कि 'मैं सुखरूप हूँ' तो क्यों इतनी मेहनत करते? अतः जो बात युक्ति से सिद्ध की वह अनुभव-विरुद्ध है। यह प्रश्न है।।७३।।

इसका उत्तर देते हैं—

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम्।।७४।।

अनुभव-विरोध नहीं है। दीपक का स्वरूप गर्मी और रोशनी है। उसकी प्रभा (रोशनी) तो घर में फैल जाती है, गर्मी नहीं। इसी तरह चैतन्य की ही बुद्धिवृत्तियों में उपलब्धि है (आनंद की नहीं)।

शंका थी कि यदि चैतन्य की तरह आनंद आत्मा का स्वभाव होता तो सारी वृत्तियों में अनुवृत्त होता। किंतु देखने में आता है कि एक ही चीज के अनेक स्वभाव होने पर भी एक अनुवृत्त होता है, दूसरा नहीं होता। इसमें दृष्टांत दिया : दीपक के दो स्वभाव हैं—वह गर्म होता है और उसमें रोशनी होती है। गर्मी और प्रकाश, दोनों दीपक के आत्मा अर्थात् स्वरूप, स्वभाव हैं। किंतु दीपक का जो प्रकाश है, वह कमरे में फैल जाता है पर उसकी गर्मी सब जगह नहीं फैलती, उसके निकट ही गर्मी रहती है। रोशनी व्यापक हो जाती है, गर्मी नहीं। इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य और आनंद दोनों स्वभाव हैं, चैतन्य तो सभी बुद्धिवृत्तियों में प्रकाशित हो जाता है पर आनंद सारी बुद्धिवृत्तियों में नहीं होता। लोग शंका करते हैं, 'हम आनंदस्वरूप हैं तो हमें अपने आनंद का भान क्यों नहीं है। हम चेतनरूप हैं तो चेतन का भान है। फिर आनंदरूप हैं तो उसका भान क्यों नहीं है?' उत्तर है कि जैसे दीपक में भी गर्मी है तो सही, उसका स्वरूप ही है, लेकिन वह सब जगह वैसी नहीं फैलती जैसे प्रकाश फैलता है। इसी प्रकार से मन की सब वृत्तियों में चेतनता तो रहेगी पर सुख नहीं रहेगा।।७४।।

उक्त स्थिति को स्पष्ट करते हैं—

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक्।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा।।७५।।

जैसे एक वस्तु में गंध, रूप, रस, स्पर्श—सभी रहने पर भी एक इंद्रिय से एक गुण ही ग्रहण किया जाता है अन्य नहीं, वैसे चेतन और आनंद में से चेतन ही भासता है, आनंद नहीं।

बढिया लंगड़ा आम है। सुन्दर गन्ध, रूप, रस और स्पर्श—सभी चीजें उस में हैं। ऐसा होने पर भी तुम आँख से केवल रूप ही देख सकते हो, नाक से केवल सुगन्धि ही ले सकते हो, जीभ से उसका स्वाद ही ले सकते हो, त्वक् से उसका स्पर्श ही कर सकते हो। हर इंद्रिय एक विशेषता को ही ग्रहण करती है भले ही दूसरी भी वहीं है। एक इंद्रिय से एक ही गुण ग्रहण होता है। इसी प्रकार से चेतन और आनंद में से सभी मन की वृत्तियाँ चेतन को तो ग्रहण कर लेती हैं, परंतु आनंद को ग्रहण नहीं करतीं।।७५।।

शंका होती है कि दृष्टान्त में गुण परस्पर विभिन्न हैं जबकि दार्ष्टान्त में ऐसा नहीं—

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः।
इति चेत् तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद।।७६।।

गन्ध आदि तो (परस्पर) भिन्न हैं जबकि चैतन्य व आनन्द भिन्न हैं नहीं? यह शंका है तो बताओ कि चैतन्य व आनन्द का अभेद आत्मस्वरूप साक्षी में है या उससे अन्यत्र उपाधिभूत वृत्तियों में?

शंका है कि चेतन और आनंद तो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। यदि ये भिन्न होते तो आत्मा की अखण्डता, अद्वितीयता नहीं रह जाये। यदि तुम कहते हो कि चेतन और आनंद अलग चीज़ें हैं तो सिद्धान्त-विरोध होगा। चेतन और आनंद—ये दोनों चीजें भिन्न नहीं हैं। परंतु गंध,रंग, रूप तो सब अलग-अलग चीजें हैं। इस शंका के समाधानार्थ कहा कि दोनों को जो तुम अभिन्न कह रहे हो वह किस अभिप्राय से? दो प्रकार से चीजें भिन्न हुआ करती हैं। एक, उपाधि के कारण, और दूसरा, स्वरूप के कारण। जैसे घड़े के आकाश में और कमरे के आकाश में क्या अंतर है? दीखते तो अलग-अलग हैं, व्यवहार भी अलग है, घड़े का गोल, कमरे का चौकोर आकाश दीखता है। फिर भी उन आकाशों में भेद नहीं है। जैसे ही तुमने घड़ा उपाधि को फोड़ा, घड़े वाले आकाश और कमरे वाले आकाश में कोई अंतर रहा क्या? आकाश एकरूप होने पर भी उसमें औपाधिक भेद है। स्वाभाविक भेद भी होता है, जैसे घड़े और कपड़े में। आम में गन्ध, रूप, स्पर्श अलग-अलग हैं क्या? आम तो एक ही है, कई नहीं हैं। यह नहीं कह सकते कि हमने रस अलग निकाल लिया, गंध अलग निकाल ली आदि। इसलिये जब तुम इंद्रियों से ग्रहण करते हो तब औपाधिक भेद है। आम एक ही है, उसमें भेद इंद्रियों की उपाधि से है। क्योंकि अलग-अलग इंद्रियाँ रूप, गंध, स्पर्श को ही ग्रहण करेंगी इसलिये उनमें भेद माना जाता है, है तो एक आम ही। गन्धादि में विलक्षणता औपाधिक है। इसी प्रकार से चेतन और आनंद स्वभाव से एक हैं। वह स्वभाव से एक रूप कौन-सा है? साक्षी। साक्षी में अभेद है। वृत्तियों में अभेद नहीं है। ज्ञान की वृत्ति और आनंद की वृत्ति अलग हैं, वृत्तियों के भेद से दोनों में भेद प्रतीत होता है, स्वरूप तो साक्षी ही है।।७६।।

उक्त विकल्पों की परीक्षा करते हैं—

आद्ये गन्धादयोऽप्येवम् अभिन्नाः पुष्पवर्तिनः।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात् तयोर्भिदा।।७७।।

यदि पहला पक्ष स्वीकारो तो पुष्प में होने वाले गन्धादि भी अभिन्न हैं। यदि (दूसरे पक्ष के अनुसार) इन्द्रियों के भेद से गन्ध आदि में भेद स्वीकारो तो वृत्तियों के भेद से चेतन और आनन्द में भी भेद है।

अगर कहते हो कि चेतन और आनन्द का स्वरूप साक्षी है अतः उनमें अभेद है, तो इस प्रकार तो फूल में रहने वाले गंध, रूप, रस, स्पर्श आदि सब भी अलग-अलग नहीं हैं, फूलरूप से तो सब एक ही हैं। यदि कहते हो कि विभिन्न इंद्रियाँ ग्रहण करती हैं अतः गंधादि में भेद है, तो भेद औपाधिक माना, वास्तविक नहीं। इंद्रियों के भेद से विषयों में भेद है, अर्थात् आँख से मन की वृत्ति बनी तो रूप दीखा, नाक से मन की वृत्ति बनी तो गन्ध आई। वहाँ फूल तो एक ही है। इसी प्रकार साक्षी तो एक ही है। यदि तुम्हारी सात्त्विक वृत्ति बनी तो तुम्हें सुख होगा। राजस वृत्ति बनी तो सुख नहीं होगा। जैसे रूपादि में इंद्रियों के भेद से भेद है वैसे सात्त्विक, राजस, तामस भेद से सुखादि का भेद हो जाता है। अतः हर-एक वृत्ति में ज्ञान व आनंद दोनों न प्रकट होना संगत है।।७७।।

चेतन एवं आनन्द अभिन्न कहाँ मिलते हैं यह बताते हैं–

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात् सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः।।७८।।

सत्त्वगुण से बनी वृत्ति में ज्ञान और आनंद की एकता प्रकट होती है क्योंकि वह वृत्ति निर्मल है। रजोगुण से बनी वृत्ति मलिन होने से वहाँ (आत्मा का) सुखरूप हिस्सा छिप जाता है।

भगवान् ने भी गीता में कहा है कि सत्त्वगुण व सुख का परस्पर सम्बन्ध है। सत्त्व की वृत्ति से सुख के प्रति आसक्ति होती है। अतः जब साक्षी में पहुँचना हो तब इस सत्त्व गुण की वृत्ति को भी छोड़ना पड़ता है, सुख की इच्छा को भी छोड़ना पड़ता है क्योंकि सत्त्व गुण के कारण सुख की अभिव्यक्ति होती है और सुख के प्रति हमारा आकर्षण है अतः उस वृत्ति में होने वाले आनंद को भगवान् गौडपादाचार्य ने 'रसास्वाद' कहा है। जब सत्त्व गुण की वृत्ति बनाओगे तब सुख होगा। अन्यथा नहीं। इसलिये 'हमारी हमेशा सत्त्व गुण की ही वृत्ति बने' यह आग्रह रसास्वाद के लिये है। जब सत्त्वगुण की वृत्ति बनाओगे तब कर्ता बनोगे और अपने सात्त्विक रूप से हमेशा दूर रहोगे। यह बन्धन छोड़ना बहुत बाद में है। अभी चाहो कि सुख की इच्छा न होवे, तो छूटेगी नहीं। अन्तिम बन्धन है रसास्वाद। समझने की बात यह है कि सुख तुम्हारा स्वरूप है,और वृत्ति में जो सुख का प्रकाश पड़ता है वह प्रतिबिम्ब है, औपाधिक है। जब सत्त्वगुण की वृत्ति नहीं रहती तब वह छायासुख हट जाता है। अतः वृत्तिसुख अमृतपद की प्राप्ति नहीं है। शंका होती है कि सत्त्व गुण की वृत्ति में यह विशेषता क्यों है? सत्त्वगुण की वृत्ति निर्मल है। हमारे पुराने किये जो पाप कर्म हैं, उनके कारण हमारी बुद्धि में मैल आता है। सत्त्व गुण की वृत्ति तभी बनती है जब पाप फलदायक नहीं रहते। यह नहीं कि सारे पाप खत्म हो जाते हैं। ऐसा होने से तो तुम्हारा जीना भी कठिन हो जायेगा। जैसे भूख एक दुःख है, इसके बिना कब तक खाओगे? खाओगे नहीं तो जीओगे कितने दिन? अतः भूख-प्यास तो जरूरी दुःख हैं। ऐसे ही सर्दी लगना है, इसी से तुम कम्बल ओढ़ोगे अन्यथा बुखार से मर जाओगे। अतः दुःख भी जरूरी है। इसलिये पाप भी जीवन के लिये जरूरी है। किंतु इसका मतलब यह नहीं कि हम पाप करें! आशय है कि

सब समय सात्त्विक वृत्ति रह नहीं सकती। लेकिन पाप जब फलदायक नहीं हैं, तब तक तुम्हारी बुद्धिवृत्ति में प्रकट नहीं होंगे, दबे रहेंगे। मच्छर काटे और तुम्हें दुःख होवे, तभी तुम मच्छर से बचोगे। कुछ भक्तों ने कहा है कि दुःख-सुख एक हो जायें। यदि एक हो जायेंगे तो जीना ही दुर्लभ हो जायेगा। अतः तात्पर्य है कि दुःख रहेगा, सुख भी रहेगा परंतु 'दुःख और सुख मुझ में नहीं हैं' ऐसा बोध बना रहेगा। सुख भी वृत्ति होने से है, दुःख भी वृत्ति होने से है, पर सुख जो प्रतिबिम्ब है, उससे भिन्न आनंद मेरा स्वरूप है। सत्त्वगुण में क्यों सुख होता है? क्योंकि उस समय पाप फलदायक नहीं है। सभी वृत्तियों में चेतन का अनुवर्तन तो रहता ही है। इसलिये सुख के समय में भी ज्ञान है ही।

रजोगुण की वृत्ति में मलिनता है, उस समय कुछ-न-कुछ करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। लगता है कि कुछ करना तो जरूरी ही है। इसी को भगवान् ने कहा है 'रजःकर्मणि भारत'। रजोगुण मनुष्य को कर्म में फँसाता है, आसक्त करता है। जैसे सत्त्वगुण में सुख की आसक्ति वैसे रजोगुण में कर्म में आसक्ति है। भगवान् गीता में कहते हैं कि जितने भी कर्म हैं उन सब में दोष की अनुवृत्ति रहेगी। कर्म हो और दोष नहीं होवे, यह नहीं हो सकता। सभी कर्मों में कुछ-न-कुछ दोष होगा ही। उसमें पाप का सम्बन्ध है, इसलिये रजोवृत्ति मलिन है। जैसे आग जलाओगे तो धुआँ अवश्य होगा वैसे सभी कर्मों में दोष जरूर होगा। बिना दोष के कोई कर्म सम्भव नहीं है। अतः रजोगुण की वृत्ति में मालिन्य रहता है। इसलिये उसमें सुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। रजोगुण में चेतनता का तो भान रहेगा, पर सुख की अनुवृत्ति नहीं रहेगी।

लेकिन तमोगुण में क्या रहेगा? भगवान् ने कहा है तमोगुण, आज तक तुमने जो भी समझा है उसे आवृत कर देता है। इसलिये तमोगुण जो करना चाहिये उसकी तरफ ध्यान नहीं जाने देता। शास्त्र कहते हैं सबेरे ब्राह्म मुहूर्त में उठना चाहिये। उठते समय व्यक्ति कहता है 'कल से प्रारंभ करेंगे'। इसी का नाम प्रमाद है। प्रायः लोग कुछ नहीं करने को सत्त्व का प्रभाव मान लेते हैं अर्थात् तमोगुण और सत्त्वगुण में भेद नहीं करते। किंतु ऐसा है नहीं, सत्त्व में असावधानी, आलस्य, लापरवाही नहीं होगी जबकि तमोगुणी वृत्ति में प्रमाद रहेगा, ज्ञान का आवरण रहेगा। अतः दोनों चीजें एक नहीं हैं। वेदांत में बार-बार इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि नैष्कर्म्य प्राप्त करना चाहिये। साधारण आदमी नैष्कर्म्य को तमोगुण की वृत्ति समझते हैं। तमोगुण की वृत्ति प्रमाद में आसक्त करती है, नैष्कर्म्य में नहीं।।७८।।

दृष्टांत दिया था कि एक फूल में इंद्रियभेद से भेद है। प्रश्न होता है कि इंद्रियभेद की जगह वृत्तिभेद तब ठीक था यदि सत्त्ववृत्ति सिर्फ आनंद ग्रहण करती। वह तो ज्ञान के लिये आवश्यक है ही। अतः उसमें भी आनन्द क्यों ग्रहण नहीं होता? अतः विद्यमान के ग्रहण की सामग्री के बावजूद उसके तिरस्कार को उदाहरण से सिद्ध करते हैं—

तिन्तिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा।
तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा।।७६।।

जैसे अत्यधिक खट्टा इमली-फल जब नमक मिलाकर चखा जाये तब उसकी स्वाभाविक खटास छिप जाती है, हल्की खटास प्रतीत होती है, वैसे रजोवृत्ति में आनंद छिप जाता है।

इमली का फल बहुत खट्टा होता है। उसे खाने के लिये लवण डाल देते हैं, जैसे नींबू में भी चूसने के लिये नमक डाल देते हैं। लवण से जब युक्त करते हो तब खटाई कम हो जाती है। रहती तो है पर महसूस कम होती है। जैसे यह दृष्टांत है वैसे ही रजोगुण की वृत्ति में आनंद का भान नहीं रहता। जैसे इमली की खटाई का कुछ अनुवर्तन तो रह जाता है, इसी प्रकार से दुःख को जानने में भी एक आनंद है। जैसे कोई चिकित्सक किसी लकवे वाले का इलाज करता है तो बीच-बीच में एक हथौड़ी पैर पर मारता है। 'कुछ लगा?' पूछता है। मार से दुःख ही होता है। पर जब उस हथौड़ी की मार का रोगी को पता लगे तब वह प्रसन्न होता है कि हथौड़ी की मार के दुःख का पता लगा। यों उसमें थोड़े-से सुख का अनुवर्तन है। ऐसे ही स्वादिष्ट भोजन मिलते समय भूख लगी हो तो सुख होता है जबकि अपने-आप में भूख भी दुःख है। पड़ौसी बुराई तुम्हारी कर रहा है, तुम दीवाल पर कान लगाकर सुनते हो। सुनने में तुमको कुछ सुख का अनुवर्तन तो है ही जैसे इमली में थोड़ी खटाई का अनुवर्तन है ही। यदि पड़ौसी तुम्हारी प्रशंसा कर रहा होता तो जैसा सुख होता वैसा नहीं है लेकिन कुछ आनंद के कारण ही कान लगाकर सुन रहे हो। जैसे रजोवृत्ति वैसे केवल ज्ञान की सात्त्विक भी वृत्ति आनन्द का तिरस्कार करती है। सात्त्विक तो है पर 'सुख' यह आकार न लेने से उसमें सुख भासता नहीं, भले ही आत्मा निरन्तर आनन्दरूप ही है।।७६।।

प्रश्न उठता है कि आत्मा आनन्द है यह समझना क्या पर्याप्त है? यदि अन्य कोई सहायक चाहिये मोक्षप्राप्ति के लिये तो मोक्ष ज्ञानमात्रलभ्य न होने से नित्य नहीं होगा और बिना सहायक के इतना समझना दुःखनिवर्तक प्रतीत होता नहीं। इस अभिप्राय से प्रश्नोत्तर व्यक्त करते हैं—

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि।
विवेक्तुं शक्यताम् एवं विना योगेन किं भवेत्।।८०।।

प्रियतम होने से आत्मा में परमानन्दरूपता है यह विवेक करना सम्भव होने पर भी योगाभ्यास के बिना क्या लाभ होगा?

तत्त्वविवेक प्रकरण में ही आत्मा प्रियतम होने से आनन्द है यह कह चुके हैं। जगह-जगह वह तथ्य प्रमाण-युक्ति से पुष्ट भी कर दिया। समझदार अनात्मा से पृथक् किये निजस्वरूप में आनंद स्वीकार भी लेगा, पर इतने-मात्र से मोक्ष तो होता नहीं। तात्पर्य है कि शब्द अकेला आत्मसाक्षात्कार के लिये काफी नहीं, उसे योग की, समाधि की सहायता चाहिये। शब्द से समझकर उस पर मन एकाग्र रखें तब दुःखहीन आनन्द का नैरन्तर्य अर्थात् मोक्ष मिलेगा। प्रश्न का तात्पर्य, शब्द अपरोक्ष का हेतु नहीं यह सिद्ध कर साधनान्तर के प्रवेश से मोक्ष अनित्य और संसार सत्य सिद्ध करने पर्यन्त समझा जा सकता है।।८०।।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—

यद् योगेन तद् एवेति वदामो; ज्ञानसिद्धये।
योगः प्रोक्तो; विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते।।८१।।

हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि जो योग से होगा वही विवेक से होगा। यदि कहो कि ज्ञान की सिद्धि (प्राप्ति) के लिये योग बताया गया है तो (सोचो), विवेक से क्या ज्ञान उत्पन्न नहीं होता?

प्रष्टा योग का फल अपरोक्ष ज्ञान ही कहेगा। इसलिये जवाब दिया कि यही विवेक का फल क्यों न माना जाये? वस्तु अपरोक्ष है तो विवेक से उसका ज्ञान भी अपरोक्ष हो इसमें तर्क या अनुभव का कोई विरोध नहीं। यहाँ 'योग' पातञ्जल समाधि नहीं वरन् वेदान्तोक्त निदिध्यासन समझना चाहिये। शब्द से परोक्ष ज्ञान होकर समाहित रहने से अपरोक्ष होता है ऐसा कुछ वेदान्ती मानते हैं। भाष्यकार एवं उनके मुख्य अनुयायी श्रवण से साक्षात्कार स्वीकार करते हैं। यहाँ इसीलिये 'विवेक से क्या होगा?' का उत्तर दिया कि वही होगा जो योग से मानते हो। पता तो विवेक से (श्रवण से) चलेगा यह सर्वसम्मत है, योग अपरोक्ष में ही हेतु होगा और वही विवेक से (श्रवण से) संभव है। योग आवश्यक अंग भले ही हो लेकिन अपरोक्ष साक्षात्कार विवेक से हो जायेगा यह भाव है।।८१।।

उक्त विषय में प्रमाण बताते हैं—

यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम्।।८२।।

'सांख्य जो स्थान पाते हैं, योगी भी वहीं जाते हैं' यों योगियों और विवेकियों को एक फल मिलता है ऐसा स्मृति में (गी.५.५) बताया है।

आत्मा-अनात्मा का विवेक करने वाले 'सांख्य' एवं समाहित रहने वाले 'योग' कहे जाते हैं। दोनों को प्राप्य स्थान एक मोक्ष ही है। मोक्ष तो ज्ञान से ही मिलता है पर उसके लिये सांख्य एवं योग दोनों उपाय हो जाते हैं। यद्यपि गीता में योग-शब्द से आचार्यों ने कर्मी कहे हैं तथापि वे निष्काम कर्मी ही माने हैं। कामना-राहित्य योगाभ्यासियों में ही सम्भव है एवं योग-शब्द समाधि-अर्थ में प्रचलन में भी है। अतः यहाँ समाध्यभ्यासी निदिध्यासु का 'योग' शब्द से ग्रहण संगत है। प्रमाण गीता वचन हुआ जो निश्चित करता है कि विवेकी वह फल पाता है जो योग से मिलता है।।८२।।

फल एक है तो साधन विभिन्न क्यों विहित हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः।।८३।।

किसी के लिये योग एवं किसी के लिये ज्ञान-निश्चय पाना असंभव है—ऐसा विचार कर परमेश्वर ने दो मार्ग बताये।

योगवासिष्ठ में (निर्वाण. पू. सर्ग १३ श्लोक ८) वर्णित है कि अधिकारिभेद से मार्गद्वय उपयोगी है। चित्त-नाश के दो मार्ग हैं—योग और ज्ञान। अनात्मवृत्ति का निरोध योग और वास्तविकता का अवलोकन ज्ञान है। किंतु सभी मुमुक्षु दोनों साधनों में सक्षम नहीं होते। वासिष्ठ उपशमप्रकरण में बताया है कि मशाल घुमाने से दीखने वाले विविध आकारों की तरह चित्त के स्पन्दन से जगत् उपलब्ध होता है। गुण-गुणी आदि में जैसे भेद कल्पित रहता है वैसे चित्त और उसका स्पन्दन है अभिन्न, व्यवहार भले ही भेद का है। वसिष्ठ जी ने कहा है 'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव। योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्।।' (उपशम सर्ग ७८.८)। चित्तवृत्ति का निरोधरूप योग और आत्मा का सम्यक् अपरोक्ष साक्षात्काररूप ज्ञान—ये दो उपाय चित्तविनाश के प्रतिपादित हैं। प्राण-चित्त का सम्बन्ध होने से प्राणनियन्त्रण का बड़ा उपयोग है। मनःस्पन्दन की उपशान्ति से यह संसार ही विलीन हो जाता है। अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास, सत्संग, वैराग्य, यमादि, ध्याननिष्ठा—इन उपायों से प्राण-स्पन्दन निरुद्ध होता है। दीर्घप्रणव के सहारे अन्तर्मुखता स्थिर करना भी अतीव उपयोगी है। निर्वाणप्रकरण (पूर्वार्ध) में सरल और कष्टरहित विकल्प पूछा जाने पर वसिष्ठ जी ने दोनों को तुल्य कहा है 'एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे। समावुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलप्रदौ।। असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्याचिज्ज्ञान-निश्चयः। मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः।।' (सर्ग १३ श्लोक ७-८) अधिकारी के भेद से दोनों मार्ग उचित, प्रामाणिक हैं। वसिष्ठ जी विवेक मार्ग के पक्षधर हैं। मधुसूदन सरस्वती ने माना है कि आचार्य शंकर को भी यही अभिमत है। वेदमुख से स्वयं परमेश्वर ने दोनों उपायों का प्रतिपादन किया है। क्योंकि साधकों की सामर्थ्य विभिन्न होती है इसलिये एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न उपायों का विधान संगत है।।८३।।

अधिक श्रमसाध्य प्रतीत होने से योग में वैशिष्ट्य सम्भावित होता है अतः प्रश्नोत्तर से समानता समझाते हैं—

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः।।८४।।

(श्लोक ८० में जिसने योग की अनिवार्यता का प्रश्न उठाया उस) तुम्हारे मत में योग में (ज्ञान से) अतिशय (विशेषता) क्या है? दोनों क्रमों में ज्ञान समान है यह तो (श्लोक ८१-८२ में) कह चुके। राग-द्वेष आदि का अभाव भी योगी और विवेकी में समान है।

योग का पक्षधर योग से अपरोक्ष कहे तो सिद्धान्ती विवेक से अपरोक्ष उपपन्न कर चुका है। शब्दापरोक्षवाद वेदान्त-सिद्धान्त में सुप्रसिद्ध है। वेद में अनेक प्रसंग इसके समर्थक हैं,

एवं युक्ति से इसे आचार्यों ने जगह-जगह संगत बनाया है। अनुभव के यह पक्ष निकट भी है क्योंकि अपरोक्ष का शब्द से भी साक्षात्कार लोकसिद्ध है। योगी दूसरी विशेषता कह सकता है कि यम नियमादि सभी अंगों का पालन चित्त में रागादि क्षीण करता है। किंतु यह कार्य ज्ञान भी करता ही है।।८४।।

विवेक से रागादि की निवृत्ति स्पष्ट करते हैं—

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः।।८५।।

'आत्मा अधिक प्रिय है' जानने वाले का विषयों से प्रेम नहीं होता अतः राग कैसे हो? प्रतिकूलता अनुभव न करने वाले को द्वेष कैसे हो?

विषयों में सुख-बुद्धिवश उनसे प्रेम होने से राग होता है। विवेकी आत्मा में आनन्द जानने से वहीं सारा प्रेम केन्द्रित रखता है, विषयों को सुख समझता नहीं तो उनसे प्रेम ही नहीं कर सकता अतः उनसे राग कैसे हो? आत्मा ही एक सत्य व्यापक तत्त्व है यह जानते हुए उसके अनुसन्धान में सतत संलग्न विवेकी अनात्मा को सोचने योग्य ही न समझने से 'वह प्रतिकूल है' यह अनुभव नहीं करता कि उससे द्वेष करे। शरीरादि में आत्मबुद्धि होने पर ही उन्हें प्रतिकूल लगते पदार्थों से द्वेष संभव है। जो विवेकमार्ग पर चल रहा है वह निरन्तर देहादि में आत्मबुद्धि से बचता है अतः किसी के प्रति प्रतिकूल भावना होती ही नहीं कि द्वेष संभव हो। इस तरह ज्ञानसाधना में राग-द्वेष और इनके विभिन्न भेद निरस्त हो जाते हैं अतः यह भी योग की ही विशेषता नहीं कही जा सकती है।।८५।।

व्यवहारदशा में द्वेष की संभावना भी दोनों क्रमों में समान है—

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेद् अविवेक्यपि तादृशः।।८६।।

शरीरादि के लिये जो प्रतिकूल हो उनके प्रति द्वेष (योगी व ज्ञानी) दोनों में बराबर है। द्वेष करता यदि योगी नहीं तो वैसा (अर्थात् द्वेष करता) विवेकी भी नहीं।

व्यवहार अर्थात् व्युत्थान दशा में बिच्छू को प्रतिकूल समझकर योगी भी उससे वैसे ही द्वेष करेगा जैसे विवेकी। स्पष्ट ही दुःखदायी पदार्थों को तुरन्त हटाने की प्रवृत्तिसे उनके प्रति द्वेष प्रकट होता है। योग का पक्षधर यदि ऐसे को योगी न माने तो विवेक-पक्षधर भी व्यवहार में द्वेष करने वाले को विवेकी नहीं, अविवेकी ही मानेगा। वस्तुतस्तु प्रतिकूल की हानि की तीव्र इच्छा द्वेष है। योगी हो या ज्ञानमार्गी, सभी साधक दुःखनिमित्त से बचने का ही प्रयास करते हैं, उनसे द्वेष नहीं। सिनेमा आदि में जैसे अनिष्ट दृश्य देखने से बचने का प्रयास होने पर भी उनसे द्वेष नहीं क्योंकि उनमें सत्यता नहीं मानी जाती, वैसे विवेकी किसी अनात्मा से द्वेष कर नहीं सकता। फिर भी देहस्थिति के लिये प्रतिकूलवारण का प्रयास होगा

ही जो योगी-ज्ञानी में समान है अतः योग में राग-द्वेषराहित्य की विशेषता नहीं कही जा सकती।।८६।।

विवेकजन्य समाधि और निर्विकल्प समाधि में कोई अंतर नहीं है। जो लोग विवेक की महत्ता को, उसमें लगने वाले परिश्रम को नहीं समझते, उन्हें लौकिक कार्यों में, गड्ढा खोदने में लगता है कि कितनी मेहनत है परन्तु श्रवण, विचार आदि में उन्हें मेहनत नहीं लगती! इसी प्रकार साधकों में जो योग करने वाला है उसे क्रियादृष्टिवश योगाभ्यास में आयास का अतिशय लगता है। जो विचार करता है, उसके बारे में लगता है कि यह कुछ नहीं कर रहा है। ऐसे ही कीर्तन करने वालों को लगता है कि सोचने वाला कुछ नहीं कर रहा। अतः योग के पक्षपाती ने कहा कि विवेक से क्या होगा! उससे पूछा कि योग से क्या होगा? उसने कहा कि योग से अपरोक्ष साक्षात्कार होगा। उत्तर दिया कि यह तो विवेक से ही हो जायेगा। क्योंकि अपना आपा नित्य अपरोक्ष है, इसलिये उसके विषय में जो कहा जायेगा, उसका अपरोक्ष ज्ञान ही होगा। योगी ने कहा कि ज्ञान तो हो जायेगा, परंतु योगी के राग-द्वेष मिट जायेंगे और विचारक के राग-द्वेष रह जायेंगे। इसके उत्तर में कहा कि विचार करके जिसने समझ लिया कि सिवाय परमात्मा के और कोई प्रियतम नहीं है, उसको जब कोई दूसरी चीज प्रिय लगती ही नहीं, तो विषयों में राग कैसे होगा? द्वेष भी नहीं होगा। यदि कहो कि विचारक राग-द्वेष करते देखे जाते हैं, तो योगी भी देखे ही जाते हैं। जो राग-द्वेष करे वह योगी नहीं तो जो राग-द्वेष करे वह विवेकी भी नहीं। राग-द्वेष तो स्वानुभव-सिद्ध हैं। किसी दूसरे के मन को हम देख नहीं सकते। हम स्थूल शरीर की क्रियाओं से अनुमान करते रहते हैं कि इसके मन में ऐसी वृत्ति होगी। हमारा समझना ठीक भी हो सकता है, गलत भी हो सकता है। किसी की मृत्यु के निमित्त उसके घर जाने पर, जब दुःख होता नहीं है तब भी दुःख प्रकट करना पड़ता है। कोई देखकर तो यही कहेगा, 'इनको दुःख हुआ है', जबकि मन में दुःख नहीं है। अपना मन अपने को छोड़कर और किसी को प्रत्यक्ष है नहीं। योगी की और विवेकी की शरीर की क्रियाओं से कहोगे, लेकिन व्यवहार जैसे योगी का है, वैसे ही ज्ञानी का भी है। जो राग-द्वेष करता है, वह न योगी है न ज्ञानी है। राग-द्वेष कौन करता है, कौन नहीं—इसको आदमी अपने आप ही जानता है। इनकी निवृत्ति जैसी योग से है वैसी ही ज्ञान से है। इस तरह योग और ज्ञान में अपरोक्ष ज्ञान के संदर्भ में फरक नहीं। राग-द्वेष की निवृत्ति में भी फरक नहीं

तीसरा अंतर कहा जाता है कि जब निर्विकल्प समाधि में जाता है, उस समय योगी को द्वैत का भान नहीं रहता, संसार की प्रतीति नहीं रहती, पर विवेकी को हमेशा रहती है। इस पर कहते हैं—

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम्।
समाधौ नेति चेत् तद्वद् नाद्वैतत्वविवेकिनः।।८७।।

व्यवहार-काल में द्वैत-प्रतीति तो दोनों की समान है। यदि कहो कि योगी को समाधि में द्वैतभान नहीं तो उसी तरह अद्वैतता के विवेकी को भी नहीं है।

द्वैत का भान ज्ञानी को विचार करते समय रहता है या व्यवहार करते समय रहता है? जब निरन्तर द्वैत की असत्यता का विचार हो रहा है तब द्वैत का असत्य रूप से भान कहाँ है? अगर कहो कि व्यवहार काल में रहता है, तो उस काल में ज्ञानी और योगी दोनों को द्वैत का प्रतिभान एक जैसा ही रहेगा। योगी भी रोटी खायेगा जब उसे रोटी दीखेगी। अतः योगी हो या ज्ञानी, व्यवहार काल में द्वैत का भान समान है। व्यवहार दशा किसको कहते हैं? व्यवहार का मतलब होता है कुछ-न-कुछ क्रिया करना। एक चीज एक देश-काल में है, उसे वहाँ से दूसरे देश-काल में ले जाना—यही क्रिया है। कुछ-न-कुछ परिवर्तन करना—इसी का नाम व्यवहार है। ज्ञान में और क्रिया में यही अंतर है। ज्ञान में जो चीज जैसी है वैसा जानते हो, ज्ञान से परिवर्तन कुछ नहीं होता। इसलिये भगवान् पद्मपादाचार्य कहते हैं, 'ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्'। (पंच पा॰ पृ. २७ म.अ.सं.) ज्ञान केवल अज्ञान को नष्ट करता है। क्रिया कुछ-न-कुछ परिवर्तन करती है। व्यवहार का मुख्य मतलब है कुछ-न-कुछ क्रिया करना। क्रिया तभी हो सकती है जब द्वैत का भान होवे। जगत्-प्रतीति में कारण क्या है? प्रारब्ध ही जगत्-प्रतीति में कारण है। प्रारब्ध मायने जो पहले किये तुम्हारे कर्म हैं, उनमें से जिनके विषय में परमेश्वर का संकल्प हो गया 'इस जन्म में यह व्यक्ति ये-ये कर्मफल भोगेगा' वे कर्म प्रारब्ध हैं। सुख-दुःख किसी-न-किसी वस्तु के आश्रय से होगा। प्रारब्ध सुख-दुःख देता है जो किसी चीज के माध्यम से होंगे। जब तक अज्ञान है तब तक तुम्हें आग्रह है कि सुख होवे, दुःख न होवे। तत्त्वज्ञान के बाद शरीर-मन से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। इसलिये *अपने* योग्य कोई सुख-दुःख रहा नहीं। ईश्वर-संकल्प शरीर-मन से भोग के लिये हो चुका है अतः शरीर-मन के संस्कारों के अनुसार भोग होता रहे, 'मेरा प्रारब्ध भी नहीं अतः 'मुझे' भोग भी नहीं'। परमात्मा इस बात को जानता है कि 'तुम्हारा' प्रारब्ध नहीं है। शरीर-मन से क्रिया तुमने की है, शरीर-मन से ही भोगोगे। परन्तु तुम इस बात को नहीं जानते, इसलिये समझते हो 'मैं भोग रहा हूँ।' सुख-दुःख की वृत्तियाँ मन में उठती हैं,'ये मेरी हैं'—इसका नाम अध्यास है। जब अविद्या हट गई तब सुख-दुःख उस से सम्बन्धित नहीं रहे, शरीर-मन से उनकी प्रतीति होती रहे। द्वैतभान में कारण प्रारब्ध है। प्रारब्ध योगी का भी है, और ज्ञानी का भी है। इसलिये जिस समय प्रारब्ध को फल देना है, उस समय तुम्हारा शरीर व मन न विचार कर सकेगा, न समाधि लगा सकेगा। योगी होगा तो उसका भी व्युत्थान हो जायेगा। इसलिये प्रारब्ध के कारण होने वाली द्वैत-प्रतीति योगी और ज्ञानी की एक-जैसी है, उसमें कोई अंतर नहीं। योगी को समाधि में द्वैत का भान नहीं रहता। जैसे समाधि के समय उसको नहीं होता, वैसे ही अद्वैत तत्त्व के विवेकी को भी विवेकदशा में द्वैत का भान नहीं रहता। विवेक करता है तो इस निर्णय पर आता है कि द्वैत नहीं है, तथा इस ज्ञान के रहते द्वैत कैसे नजर आयेगा!

ज्ञानी सुनार की तरह है : सुनार के सामने गहने हैं, परन्तु वह उनमें केवल सोना देखता है। सोने के गणेश हों या चूहा, दोनों उसके लिये सोना ही हैं। विवेकी को द्वैत दीखते हुए भी वह उसके असली तत्त्व ब्रह्म को ही देखता है। इस तत्त्व को देखते तो सभी हैं। जो गहना खरीदता है वह भी देख तो सोना रहा है पर ज्यादा कीमत दे रहा है गहने की। खरीददार कीमत देता है नाम-रूप को, आकार को, पर सुनार कीमत देता है सोने को। इसी प्रकार सबको घड़ा दीखता है। पूछें कि 'घड़ा है तो इस 'है' के बारे में बतलाओ।' तुम 'है' की कीमत नहीं देते, घड़े की कीमत देते हो। अतः घड़े का ही बखान करोगे, है के बारे में कुछ कह नहीं सकोगे। यदि 'है' नहीं, घड़ा 'नहीं है' हो, तब उसकी कीमत क्या होगी? शून्य होगी। इसी प्रकार इस सारे जगत् का कारण 'है' ही है। संस्कृत में इसे 'सत्' कहते हैं। शुरू में केवल है। सृष्टि बनने से पहले इसका मूल कारण केवल 'है'। जैसे तुमने रूई से धागा, कपड़ा, कमीज बनायी, इन सारे परिवर्तनों के बावजूद कमीज की वास्तविकता तो रूई ही है, क्योंकि रूई से ही शुरू हुआ है। इसी प्रकार यह सारा संसार 'है' से शुरू हुआ, इसलिये चाहे जितने परिवर्तन हों, सत्य केवल है ही है, असली कीमत है की है।

ज्ञानी जिस समय विचार करता है तब जिसको तुम द्वैत कहते हो, उसकी उसे दृष्टि नहीं रहती। सारे द्वैत के रूप में जो भान हो रहा है वह 'है' ही दीखता है। विवेकी जिसने वेदान्त-विचार करके योगाभ्यास किया है, उसके लिये तो विचार और समाधि एक जैसी स्थिति है, पर जिसने इसके बिना पातंजल योग से निर्विकल्प समाधि प्राप्त की है, उसकी व्यवहार-काल में भेदबुद्धि बनेगी ही क्योंकि उसका संस्कार द्वैत-सत्यत्व का है। समाधि-काल में तो उसका द्रष्टा-रूप से अवस्थान है परन्तु व्यवहारकाल में उसकी द्वैत-बुद्धि नहीं हटती। जो विवेकी है, उसको जैसे विचारकाल में वैसे ही व्यवहारकाल के अंदर भी हर क्षण बाधित होता हुआ द्वैत दीखने से सद्-बुद्धि बनी रहती है। जैसे सुनार एक क्षण गहना देखता है, अगले क्षण सोना देखने लगता है, इसी प्रकार विवेकी को व्यवहार काल में भी अद्वैत-प्रतीति होती रहती है। इसलिये जिसने अद्वितीय तत्त्व का विवेक किया है, उसको भी द्वैत का भान नहीं रहता है। इस तरह श्लोक ८४ में जो योग की विशेषता पूछी थी उसका विस्तार पूरा हुआ और विवेक से योग में कोई विशेषता नहीं है यह सिद्ध हुआ।।८७।।

वैचारिक समाधि में द्वैतभान का राहित्य 'अद्वैतानन्द' प्रकरण में स्पष्ट करेंगे यह सूचित करते हैं–

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानन्दनामके।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम्।।८८।।

पूर्वोक्त तथ्य 'अद्वैतानन्द' नामक तीसरे अध्याय में हम बतायेंगे। इस तरह सभी अत्यन्त मंगल है।

विवेककाल में द्वैत का अभाव अगले प्रकरण 'अद्वैतानन्द' में विस्तार से कहेंगे। 'ब्रह्मानन्द' नामक पंचप्रकरणी में वह तीसरा एवं पंचदशी में तेरहवाँ प्रकरण है। विचार वाले को द्वैत की कैसे प्रतीति नहीं होती है यह विस्तार से बतायेंगे। आधार यही है कि कारण से कार्य भिन्न नहीं हुआ करता। कारण में ही कार्य की प्रतीति होती है, सत्य तो कारण ही बना रहता है। गहने को गला कर सोना देखना—यह योगी की प्रक्रिया है। गहना बना रहे और सोने की दृष्टि रखना—यह विवेकी का तरीका है। ज्ञान केवल अज्ञान को हटाता है। कारण में कार्य की प्रतीति अज्ञान से है। सारे संसार को विचार करके देखो, तो रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श के सिवाय संसार कुछ नहीं है। अतः पहले सब चीजों को इन पाँच में लय करो। शब्दों में अंतर नहीं है; जैसा 'डोसा' शब्द वैसा ही 'साडो' भी शब्द है चाहे किसी भाषा में गाली हो। यह बार-बार दृढ विचार करना पड़ता है। जब संसार के सारे अनुभवों को तुम रूप-रस-गन्ध आदि में बदलने लग जाओ तब गन्ध को रस में लीन करो, रस को रूप में, रूप को स्पर्श में और स्पर्श को शब्द में लीन करो। सभी शब्दों को ॐ में लीन करो। अ-उ-म् ये ओंकार के घटक हैं। अ-का स्थान कण्ठ है, उ-का ओष्ठ है और म् बोलने में नासिका का प्रयोग है। इन्हीं स्थानों से कोई भी शब्द बोला जाता है अतः ॐ में सभी शब्दों का अन्तर्भाव है। यह परमात्मा का साक्षात् प्रतीक है। इस प्रकार लय करने से विवेकी को द्वैत की प्रतीति नहीं रहती। इसको विस्तार से अगले अध्याय में बतलायेंगे। जो इस प्रक्रिया को जान लेता है, उसके लिये सब कुछ मंगलरूप ही हो जाता है। विवेकी के लिये यह सब मंगलरूप है।।८८।।

इस तरह विवेक-योग के अभेद में उपसंहार करते हैं—

सदा पश्यन् निजानन्दम् अपश्यन्निखिलं जगत्।
अर्थाद् योगीति चेत् तर्हि सन्तुष्टो वर्धतां भवान्।।८९।।

सदा निजानन्द देखते हुए, सारे संसार को न देखते हुए (रहने वाला विवेकी भी) अर्थात् योगी ही है—यदि ऐसा समझो तो सन्तुष्ट रहकर उत्तरोत्तर प्रगति करो।

यह जो सारा फैलाव, ब्रह्मलोक से पाताललोक तक का है, इस निखिल जगत् को विवेकी केवल आत्मरूप ही देखता है। जितने फर्क हैं, ये उसे नहीं दीखते। सोने की चाहे पूज्य मूर्ति हो चाहे गन्दी जगह का सोना हो, सोना तो समान है। मनु ने लिखा है कि यदि गन्दी जगह पर भी सोना पड़ा हो तो भी उसको धोकर काम में ले सकते हैं, सोना कभी अशुद्ध नहीं होता। इसी प्रकार जिसे हम घृणित समझते थे, और जिसे महापूज्य समझते थे, ब्रह्मदृष्टि होने पर दोनों में कोई अंतर नजर नहीं आता। जगत् शब्द का अर्थ है जहाँ सब चीजें बदलती रहती हैं। ज्ञानी जिसे देखता है, वह नहीं बदलने वाला है। 'है' में फर्क आता नहीं। माया के बदलने वाले सारे कार्यों में वह तो केवल अधिष्ठानमात्र को ग्रहण करता है।

अधिष्ठान है निजानन्द। आनन्द ही ब्रह्मरूप है। इसलिये ज्ञानी निरंतर आनंद में ही मग्न रहता है कि जो मेरा आनंदस्वरूप है, वही भ्रम से इन चीजों के रूप में दीख रहा है। वह विषयानन्द नहीं है, निजानन्द है। सब अनुभवों के अंदर वह केवल अपने आत्मानंद को देखता है, इस नाम-रूपात्मक बदलने वाले जगत् को नहीं देखता। सदा साक्षिरूप में स्थित होने से उसे संसार नहीं दीखता और परमात्मा दीखता है। योगी कहेगा कि यही तो निर्विकल्प समाधि हुई, इसमें विकल्प तो रहा नहीं तो फिर ज्ञानी भी योगी ही हो गया! इस पर वेदान्ती ने कहा, 'तो तुम उसे योगी ही कह दो।' योगी विवेकमात्र से मोक्षलाभ नहीं समझ पा रहा था, उसे योग का उपयोग आवश्यक लग रहा था। सिद्धान्ती ने समझाया कि विवेक का ही परिपाक उसके समकक्ष हो जाता है जिसे योगी समाधि समझता है। योग या ज्ञान इस नामभेद से अंतर नहीं, मोक्ष के लिये ज्ञान ही पर्याप्त है यह स्थिति है। ऐसा समझदार साधक ज्ञानाभ्यास करके उन्नत होता रहे ऐसा आशीर्वाद दिया तथा सूचित किया कि योगी को सिद्धान्ती का मत मान्य हो गया।।८९।।

अध्याय का परिसमापन करते हैं–

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः।।९०।।

।।इति श्रीपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मान्दो नाम द्वादशं प्रकरण समाप्तम्।।

ब्रह्मानन्द नामक पंचाध्यायात्मक ग्रंथ में मन्दमति साधकों पर अनुग्रह करने के लिये इस दूसरे अध्याय में आत्मानन्द का विवेचन किया गया।

यह पाँच प्रकरणों वाला 'ब्रह्मानन्द' नाम का अंश किसके लिये बनाया है? जो योगाभ्यास करने में असमर्थ हैं, उनके ऊपर कृपा कर यह ग्रंथकार ने बतलाया है। इसमें, विवेक करके आत्मा ही आनन्दरूप है–यह मैत्रेयी आदि के संवाद से सुनाया। मंदप्रज्ञ जिज्ञासु को इस आत्मानन्द प्रकरण से प्रबोधन कराया है। समाधि की तरह विवेक से ब्रह्मानन्द का स्फुरण युक्तियुक्त है। समाधि में जगत्प्रतीति न रहते जैसे ब्रह्मानन्द भासता है, विवेकी के लिये जगत् सत्य न प्रतीत होने से वैसे ही ब्रह्मानन्द भासता है। सत्यरूप से जगद्भान आनन्द को नहीं प्रकट होने देता, मिथ्यारूप से भान रुकावट नहीं डालता। जैसे व्यक्ति-सा दीखता भी चित्र व्यक्ति नहीं समझा जाता वैसे सत्य-सा दीखता भी प्रपंच विवेकी द्वारा सत्य नहीं समझा जाता। अतः उसे प्रपंच की वास्तविक ब्रह्मरूपता भासती रहती है जिससे अद्वितीय आनन्द स्थिर रहता है। योगी को प्रपंच के अभाव में विशेषता इसलिये लगती है कि वह प्रपंच सत्य समझता है। मिथ्या जानने वाले के लिये भाव-अभाव दोनों समान हैं। यदि भाव से सद्वितीयता हो तो अभाव से भी होगी। विवेकी जानता है कि 'घड़ा है' भी एक अनुभव, 'घड़ा नहीं है' यह भी एक अनुभव, इन्हीं के भरोसे हम घड़े को है या

नहीं है मान बैठते हैं। आधार केवल हमारा अनुभव है। उससे निरपेक्ष घड़े की चर्चा ही व्यर्थ है। जो स्वयं न होकर अन्य पर, अनुभव पर निर्भर है वह सत्य हो नहीं सकता। अतः जगत् मिथ्या ही है। जैसे मिथ्या साँप रस्सी को सद्वितीय नहीं बनाता वैसे उसका अभाव नहीं बनाता। इसलिये प्रपंच की अप्रतीति का आग्रह निष्प्रयोजन होने से विवेकाभ्यासी प्रतीयमान का निरन्तर बाध करता रहकर आत्मानन्द का अनुभव करे, यह इस प्रकरण का उपदेश है।।९०।।

इस प्रकार यह बारहवाँ प्रकरण समाप्त हुआ

तेरहवाँ
ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण

योगानन्द प्रकरण में (११.११) ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द इन तीन आनन्दों की प्रतिज्ञा की थी। आत्मानन्द वहाँ नहीं कहा तो क्रम में उसे स्थान कैसे मिला? इस शंका का समाधान करते हुए प्रकरण प्रारम्भ करते हैं–

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम्।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु।।१।।

पहले जो योगानन्द कहा वह आत्मानन्द समझो। इस सद्वितीय की ब्रह्मरूपता कैसे? यह प्रश्न हो तो (उत्तर) सुनो।

प्रारंभ में कहे तीन आनन्दों में ब्रह्मानन्द का ही विस्तार योगानन्द, आत्मानन्द और अद्वैतानन्द के रूप में किया है अतः उपक्रम से विरोध नहीं है। चित्त की एकाग्रता से एवं विवेक की तीव्रता से ब्रह्मानन्द ही प्राप्त किया जाता है। योगानन्द और आत्मानन्द वस्तु अलग नहीं हैं, उसी आनन्द को पाने के उपायों के भेद से वर्णन का भेद, नाम का भेद है। आनन्द एक ही है, एकाग्रता और विवेक इन दो उपायों से वह पाया जाता है। फिर भी प्रश्न उठता है कि विवेक है भेदबुद्धि, उससे लभ्य ज्ञान में, समाधि में भी भेद रहना चाहिये, वहाँ अद्वैत कैसे होगा? योगी को लगता है कि द्वैतभान मिटाने से तो अद्वैत संगत है, द्वैत प्रतीत रहते कैसे? इस प्रश्न का उत्तर तेरहवें प्रकरण में देना है।।१।।

आनन्द की अद्वितीयता श्रुतिसिद्ध है यह प्रतिपादन करते हैं–

आकाशादि स्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम्।
जगद् नाऽस्त्यन्यद् आनन्दाद् अद्वैतब्रह्मता ततः।।२।।

आकाश से लेकर अपने शरीर तक सारा जगत् आनन्द से अन्य नहीं है यह तैत्तिरीय उपनिषत् में बताया गया है। इसलिये आत्मरूप आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही है।

एक कथा प्रसिद्ध है। रूई लदे ऊँटों का काफिला गाँव से गुज़र रहा था। कोई लड़का ऊँट गिनने लगा। बहुत ऊँट देखकर उसके मन में आया 'इतनी रूई कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा?' यह विचार इतना तीव्र हुआ कि वह लगातार यही चिंता करने लगा

एवं जो-कोई मिले उससे यही रटने से लोगों ने सोचा कोई बीमारी होगी, पागल हुआ होगा अतः काफी इलाज कराया पर कुछ लाभ नहीं हुआ। एक बार उधर कोई अनुभवी परमहंस महात्मा पहुँचे। लोगों ने उन्हें उसकी समस्या सुनायी। सारा किस्सा समझकर उन्होंने लड़के को बुलवाया। पूछा 'कितने ऊँट गिने?' उसने जवाब दिया, 'लाखों!' महात्मा बोले, 'इससे भी अधिक थे!' लड़के की उत्तेजना और बढ़ गयी। महात्मा ने कहा 'सब की रूई उतार कर रखी तो हिमालय जैसा पहाड़ बन गया।' लड़के ने चिन्ता के मारे पूछा 'फिर क्या हुआ?' महात्मा बोले, 'मैं भी सोचता रहा कि इतनी रूई कैसे सँभलेगी। ऊँट वाले वहाँ बैठकर चिलम पी रहे थे। अचानक एक चिंगारी रूई में लगी और धू-धू कर क्षणभर में सारी ही रूई जल गई, राख का अम्बार लग गया। इतनी आग जली कि आसमान में बादल छा गये और ऐसी बरसात हुई कि सारी राख भी बह गयी, कहीं कुछ नहीं बचा'। वह लड़का शांत हो गया, कहा 'बहुत अच्छा हुआ, चिन्ता मिटी।'

इसी प्रकार से संसारी लोग पागल हो रहे हैं। 'यह बेटा है, मकान है, इसका ब्याह होना है' आदि आदि। 'कैसे होगा, कौन करेगा?'—सब कातने-बुनने में लगे हैं, चिन्ता में पड़े हैं। कहते हैं 'महाराज! आप को क्या पता, आप तो बाबाजी हैं!' चिन्ता छुड़ाने के लिये श्रुति ने कहा, 'आकाश बना।' वह बना तो है नहीं! 'आकाश से वायु बनी। अनेक ब्रह्मा के युग बीते। संसार इस प्रकार से चला आ रहा है।' इस प्रकार हमारे पागलपन के अनुसार सृष्टि का विस्तार बताते हुए वेद ने कहा, 'सृष्टि बनने से पूर्व सद् ब्रह्म अकेला था। दूसरा कोई नहीं था। इसलिये 'दूसरा' यों प्रतीत होता प्रपंच हुआ ही नहीं है!' इस तरह वेद उस संसार को जला डालता है जिसकी चिन्ता में हम पागल हो रहे हैं। 'संसार है ही नहीं' यही समझाने के लिये 'सब कुछ एक ब्रह्म से बना' यह बतलाना जरूरी है। इसलिये यजुर्वेद की तैत्तिरीय श्रुति में कहा कि ब्रह्म से ये पंच-महाभूत बने। उनसे पंचकोष बने। वास्तविकता है कि यह सारा जगत् है ही नहीं, अगर होता तो सद्वितीयता आती।

जैसे सुना कि रूई जल गई तो चिंता समाप्त हुई, इसी प्रकार 'यह जगत् है ही नहीं' समझने से सारी चिंता खत्म हो जाती है। सचमुच एकमात्र अद्वितीय आनंदरूप ब्रह्म है क्योंकि आनंदरूप ब्रह्म से अलग कुछ नहीं है, इसलिये विवेक करने वाले के लिये एकमात्र अद्वैत ब्रह्म ही बचता है। जैसे योगज समाधि में जगत् नहीं है, वैसे ही विवेकज समाधि में चित्त को हटाये बिना भी जगत् नहीं है। इसी को कबीर कहते हैं, 'आँख न मूंदूँ, कान न रूँदूँ, हँस-हँस रूप निहारूँ'। कारण स्थायी होता है, कार्य आगमापायी होता है अतः औपाधिक है। विवेक से स्थायी, अनुगत कारण को विचारपूर्वक ग्रहण करने से तथा औपाधिक समेत उपाधि को असत्य समझने से ही यह जगद्भ्रम दूर होकर अद्वैत आत्मानन्द भासता है।।२।।

तैत्तिरीय-प्रसंग में 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' कहा होने से 'आनन्द से अन्य जगत् नहीं' यह कैसे मानें? इसका उत्तर देते हैं—

आनन्दाद् एव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत्।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्ताऽऽनन्दात् कथं पृथक्।।३।।

वह जगत् आनन्द से ही उत्पन्न होता है, आनंद से ही रहता है, आनंद में ही लीन होता है—इस प्रकार बताये आनंद से जगत् पृथक् कैसे रहे?

श्रुतियों में उपक्रम-उपसंहार की एक-वाक्यता से अभिप्राय पता चलता है। जन्मादि-अधिकरण में भगवान् भाष्यकार ने इसलिये 'यतो वा इमानि' से शुरू हुए प्रसंग का सम्बन्ध बताया 'तस्य च निर्णयवाक्यम् आनन्दाद्।' तैत्तिरीयोपनिषत् की दूसरी वल्ली में शुरू किया प्रसंग तीसरी वल्ली में भी चला है। वरुण से भृगु ने ब्रह्मज्ञान माँगा तो वरुण ने एक सूत्र बताया—जिससे सब भूत पैदा होते हैं, जहाँ रहते और विलीन होते हैं वह ब्रह्म है। उसे ब्रह्म समझने के लिये तप को साधन बताया और कुछ स्थलों का संकेत किया जहाँ ब्रह्म समझ आये—अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक्। भृगु ने पहले तपस्यापूर्वक अन्न को ब्रह्म समझा। वरुण ने और तपस्या करने को कहा। यों प्राण, मन और विज्ञान को ब्रह्म जानकर अंत में पता चला कि आनन्द ब्रह्म है। इसे 'भार्गवी वारुणी विद्या' कहा गया है। सूत्र—जिसे हिन्दी में 'गुर' कहते हैं—से सार्वत्रिक बोध हो जाता है। गणित में यह नियम-पालन किया ही जाता है। वरुण ने ब्रह्म खोजने का सूत्र जन्मादि-कारणता बताया एवं उपाय तप बताया। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है। एकाग्रतापूर्वक विचार ही ब्रह्मज्ञान में उपयोगी तपस्या है। इससे भृगु ने ब्रह्म को आनन्द समझा। दूसरी वल्ली में ब्रह्म को आत्मा कहा, उससे संसारोत्पत्ति बतायी; तीसरी में संसारोत्पादक को ब्रह्म एवं आनंदस्वरूप कहा। इस प्रकार चाहे आत्मा से जगदुत्पति कहें, चाहे ब्रह्म से और चाहे आनन्द से, बात एक ही है। जैसे रूई से बना कपड़ा रूईरूप है वैसे आनन्द से बना जगत् आनन्दरूप है। कार्य कारण से अलग नहीं होता। इसलिये जगत् में आनन्द के सिवाय कुछ है ही नहीं।।३।।

आनन्दरूप ब्रह्म की कारणता अधूरी समझकर स्वाभाविक शंका बताकर उसका समाधान करते हैं—

कुलालाद् घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्क्यताम्।
मृद्वद् एष उपादानं निमित्तं न कुलालवत्।।४।।

यह शंका न की जाये कि कुम्हार से घड़ा पैदा होता है पर उससे भिन्न ही होता है (तो कार्य-कारण के अभेद का नियम कैसे?) क्योंकि यह आनन्द मिट्टी की तरह उपादान (भी) है, कुम्हार की तरह (केवल) निमित्त नहीं।

कुम्हार से घड़ा पैदा होता है। यहाँ हेतुसामान्य में पंचमी है। संसार में वेदान्ती को छोड़कर सब ईश्वरवादी, ईश्वर को निमित्त कारण ही मानते हैं। इसका विस्तृत विचार ब्रह्मसूत्रों में किया है। प्रायः ईश्वरवादी मानते हैं कि परमेश्वर ने जगत् को बनाया जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है। कुम्हार तो घड़ा नहीं है। इसी तरह परमेश्वर ने जगत् को बनाया

तो जगत् और परमेश्वर अलग हैं। वे ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मान पाते हैं। वेद का घोष है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। सब परमात्मा ही है। खलु मायने निश्चयरूप से क्योंकि वह जगत् का उपादान भी है इसीलिये सभी कुछ को, स्वयं हम अपने आपको भी ब्रह्मरूप समझ सकते हैं। यह हमारे यहाँ ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। प्रायः वादी समझते हैं कि जैसे कुम्हार ने घड़ा बनाया वैसे परमात्मा ने दुनिया बनायी। अतः परमात्मा और संसार अलग-अलग हैं। वेदान्त-सिद्धान्त में आत्मा उपादान कारण भी है। जैसे घड़े का उपादान कारण है मृत्; मिट्टी से घड़ा बनता है, कुम्हार से नहीं बनता।

मिट्टी की तरह परमात्मा जगत् का उपादान कारण है और चेतन होने से निमित्त कारण भी है। 'कुलालवत् निमित्तं न'। *कुम्हार की तरह* निमित्त कारण नहीं है। कुम्हार स्वयं से भिन्न किसी दूसरी मिट्टी को लेकर घड़ा बनाता है। परमात्मा अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है, कुम्हार की तरह सिर्फ निमित्त कारण नहीं है जो किसी अन्य से जगत् बनाये। इसलिये श्रुति ने दृष्टांत दिया कि जैसे मकड़ी किसी दूसरी चीज से जाला नहीं बनाती, अपने से ही जाला बनाती है; जैसे हम नाखून और बाल को पैदा करते हैं जिसमें सामग्री भी हम ही हैं और बनाने वाले भी हम ही हैं; ऐसे परमात्मा अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है। चूँकि वह उपादान कारण है अतः कार्य में हमेशा मिलेगा। कार्य उपादान कारण में ही रहेगा, घड़ा मिट्टी में ही रहेगा एवं अंत में भी मिट्टी ही हो जायेगा। इस प्रकार कार्य अपने उपादान से भिन्न नहीं यह नियम है अतः आनंद अद्वितीय है।।४।।

कोई शंका करे कि घड़े को क्यों नहीं मान लेते कुम्हार का कार्य? तो समाधान देते हैं—

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित्।
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत् स्याद् उपादानं तयोः श्रुतेः।।५।।

घड़े की स्थिति और उसका लय कुम्हार में कभी नहीं होते, वे मिट्टी में होते ही देखे गये हैं। इसी तरह श्रुतिप्रमाण से जगत् के स्थिति-लय का उपादान आनन्द ही है।

उत्पत्ति के लिये तो कुम्हार भी और मिट्टी भी चाहिये। मिट्टी उपादान तथा कुम्हार निमित्त कारण है। दोनों से घड़ा बनेगा। बनने के काल में तो दोनों चाहिये परन्तु स्थिति-काल में मिट्टी की तो जरूरत है, कुम्हार की नहीं। स्थितिकाल में उपादान कारण जरूरी है, निमित्त नहीं, कुम्हार के न होने पर भी घड़ा रहेगा। इसी तरह से कुम्हार में घड़ा वापिस नहीं जाता! घड़े को तुम लीन, नष्ट कर दो तो वह कुम्हार के पास नहीं जाता, वरन् मिट्टी में जरूर जायेगा। घड़े के स्थिति और लय, कहीं भी कुलाल में नहीं देखे जाते। स्थिति और लय दोनों मिट्टी में देखे जाते हैं। उपादान उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों में जरूरी है। संसार में कोई चीज दीखती है, तो है-रूप से ही उसका अनुभव होता है। इसलिये स्थितिकाल में है तो प्रत्यक्ष ही अनुगत है। जब चीज को नष्ट कर देते हो तो भी 'है' रहता ही है। इस तरह तो स्थिति और लय में है। संसार की उत्पत्ति सत् से—यह श्रुति से प्रमाणित है। स्थिति-लय

भी ब्रह्म से है यह श्रुतिप्रमाणित है ही, स्वानुभव से उपोद्बलित भी है। उत्पत्ति भी सत् से होना अनुभवानुसारी है। सद्रूप मिट्टी से ही घड़ा बनता है, किसी असत् (नहीं है) से कुछ बनता दीखता नहीं। अतः सत् ही जन्म-स्थिति-भंग में समान कारण होने से उपादान निर्णीत होता है।

जगत् बनाता है, जगद्रूप से रहता है, अंत में अपने में उसे लीन भी करता है—यह परमेश्वर के बारे में वेद ने समझाया है। केवल उत्पत्ति-कारण कहा होता तो शंका संभव भी थी कि निमित्त होगा। पर श्रुति ने कहा कि परमात्मा वह है जो जगत् को बनाता है, जगद्रूप में रहता है, और अंत में जगत् को अपने में विलीन करता है। इन तीनों को करने वाले अलग-अलग परमात्मा नहीं हैं। वैष्णव मानते हैं कि विष्णु भगवान् पालन करते हैं, शंकर तो संसार का संहार करने वाले हैं। यदि संहार करने वाला कोई और है तो विष्णु परमात्मा ही नहीं! परमात्मा वह है जो जगत् को पैदा करता है, रखता है और लीन भी करता है। इस तरह, जगत् का उपादान कारण परमात्मा ही है।।५।।

आनन्द जगत्कारण है यह समझाने के लिये उपादान के प्रसिद्ध भेद दिखाते हैं—

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्त्ति परिणामि च।
आरम्भकं च तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशकौ।।६।।

उपादान तीन तरह से विभिन्न प्रसिद्ध है— (१) विवर्ती, (२) परिणामी और (३) आरम्भक। इनमें आखिरी दो निरंश वस्तु में संभव नहीं।

जो चीज कार्यरूप से बनती है उसे उपादान कहते हैं। रुई कपड़ा बनने पर रुई नहीं कही जाती। ऐसे यदि परमात्मा से जगत् बना तो क्या फिर परमात्मा नहीं रहा! संभवतः इसी भाव से 'नीत्शे' नामक यूरोपीय दार्शनिक ने कहा है 'क्या तुमने आज की ताजा खबर सुनी? ईश्वर मर गया!' कपड़ा बन गया तो रुई जैसे समाप्त वैसे संसार बन गया तो ईश्वर समाप्त हो जाना चाहिये। यद्यपि परिणामवादी या आरंभवादी यों कहेंगे नहीं तथापि उनका व्यवहार ऐसा ही है क्योंकि दही-दशा में 'दूध' ऐसा व्यवहार वे नहीं मानते। कार्य अपने कारण में छिपा रहता है, निमित्त-व्यापार से वह प्रकट ही किया जाता है, अभिनव कोई रचना नहीं होती—ऐसा परिणामवादी का मानना है। अवयवभूत कारण मिलने से अभिनव कार्य उत्पन्न होता है यह आरंभवादी मानते हैं। इनके मत में कार्य पहले से छिपा नहीं वरन् नया ही पैदा होता है। इतना इनके मतों में अन्तर है पर कार्य रहता व नष्ट कारण में ही होता है यह इन्हें स्वीकार है फिर भी कारण ही है, कार्य है नहीं—यह रहस्य इन्हें समझ नहीं आता। परमात्मा अंशरहित निर्विकार पूर्ण वस्तु है अतः परिणाम या आरंभ की दृष्टि से वह उपादान नहीं हो सकता।

तीसरा तरीका है विवर्तका जिसमें बगैर बदले कारण कार्य के रूप में प्रतीत, व्यवहार्य होता है। रस्सी से साँप बनता है तो रस्सीरूप छोड़कर साँप नहीं बनता या जैसे कागज बना रहता है, उसके ऊपर राम, लक्ष्मण, सीता 'बन' गये तब भी कागज ही रहा, केवल रंगों के

कारण राम, सीता दीखने लग गये। रस्सी बनी रही, अंधकार में साँप दीख गया। जो लोग विवर्त्त-कारणता को नहीं समझते उन्हें परमेश्वर की सर्वरूपता खटकती है। विवेकानन्दजी ने रामकृष्ण से बार-बार पूछा कि संसार की अच्छी-बुरी, जड-चेतन सब चीज़ें कैसे ब्रह्म हो सकता है! रामकृष्ण ने कहा 'धीरे-धीरे समझ में आयेगा।' जैसे रस्सी रहते हुए ही साँप है ऐसे परमात्मा ही है, फिर भी हमें अच्छा-बुरा आतंकी-शान्त दीखते हैं, हमारे अज्ञान के कारण। इस तरह परमात्मा जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय तीनों का कारण है। जो चाहते हैं कि परमात्मा रक्षा करने वाला ही है, संहार करने वाला नहीं होना चाहिये, वे लोग समझते हैं कि रक्षा करना *सचमुच* में अच्छा है! सृष्टि, स्थिति और संहार *सचमुच* में होते तो अच्छे-बुरे का प्रसंग होता। जैसे रस्सी में साँप वैसे माला भी दीखती है पर इससे रस्सी में कोई विशेषता या कमी नहीं आती। इसी प्रकार जब परमात्मा आतंकी या महात्मा दीखता है तब भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। दोनों ही अज्ञान के कारण दीख रहे हैं, है तो परमात्मा ही सत्य। ब्रह्म को उपादान कारण कहते हैं, तो इस दृष्टि से। सृष्टि, स्थिति, लय तीनों कालों में हो—वह उपादान कारण है।

'त्रिधा' से गिनती कर तीन का उल्लेख किया इससे सूचित है कि इनसे अतिरिक्त कारणवाद असम्भावित है। जैसे भगवान् ने 'त्रिविध' से गिनती कही और काम-क्रोध-लोभ ये तीन गिनाये भी तो मतलब है कि नरक का अन्य द्वार नहीं है वैसे यहाँ अन्य तरह से कारणता के निषेध को समझना चाहिये। बौद्धों की चौथी कल्पना है—संघातवाद। संघात मायने ढेरी, कई चीजें इकट्ठी हो जाना। वे मानते हैं कि किसी तरह की ढेरी को घड़ा और अन्य तरह की ढेरी को सिकोरा कहते-समझते हैं, ढेरीरूप में मिट्टी के अलावा कारण नहीं है। किंतु जैसे चणे की ढेरी किसी के प्रति कारण नहीं वैसे कोई ढेरी कारण नहीं हो सकती। संघातवाद विचार के सर्वथा अयोग्य होने से 'त्रिधा' कहना संगत है। अतिस्थूल दृष्टि से संघातवाद का उल्लेख है, विवेक से नहीं।।६।।

तिल में एक हिस्सा तेल, दूध में एक हिस्सा घी है तभी उससे निकलता है यह मानने वाला परिणामवादी—हिस्सायुक्त वस्तु को ही कारण कहेगा। आरंभवादी को अवयवों का संयोग स्वीकार है जिससे कार्य उत्पन्न हो; संयोग भी हिस्सायुक्तों में ही देखा गया है। निरंश में संयोग केवल काल्पनिक है, हठात् ही मान्य है। परमेश्वर निरंश है, उसमें हिस्से हैं नहीं अतः उक्त दोनों तरीकों से वह कारण नहीं बन सकता। और भी तरह से समझाते हैं कि क्यों उक्त दोनों तरीके ब्रह्मकारणता समझने में उपयोगी नहीं—

आरम्भवादिनोऽन्यस्माद् अन्यस्योत्पत्तिमूचिरे।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तन्तुपटौ खलु।।७।।

आरम्भवादी कहते हैं कि अन्य से अन्य की उत्पत्ति होती है क्योंकि धागों से कपड़ा उत्पन्न होता है और निश्चित ही धागा-कपड़ा विभिन्न हैं।

आरम्भवाद का सिद्धान्त नैयायिक और वैशेषिक का है। गौतम और कणाद महर्षि आरंभवादी हैं। संसार में केवल वेदान्ती को छोड़कर सभी आरम्भवाद या परिणामवाद में से एक को मानते हैं। जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण वे परमात्मा को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कार्य-कारण आपस में सर्वथा अलग हैं, धागा, कपड़ा नहीं तथा कपड़ा धागा नहीं। जब तक 'कारण' व्यवहार है तब तक कार्य है ही नहीं अतः कार्य से सर्वथा अन्य ही कारण होगा जो अपने से सर्वथा भिन्न कार्य को उत्पन्न करेगा। 'अन्यस्मात्' अर्थात् कार्य से अन्य जो कारण उससे 'अन्यस्य' अर्थात् कारण से अन्य जो कार्य उसका जन्म होता है। इसमें धागा-कपड़ा आदि लोकसिद्ध उदाहरण उन्हें सुलभ हैं। यद्यपि इस मत में स्फुट अनेक दोष हैं तथापि साधारण दृष्टि से, जो नहीं है वही पैदा होगा—यह संगत लगता है तथा कपड़ा-धागा में भेद भी सुगम लगता है अतः तार्किकों को यह मत रुचिकर है। किंतु परमात्मा अद्वितीय वस्तु होने से वह आरंभक नहीं। तार्किक के अनुसार 'अन्य से ही अन्य का जन्म' संभव है, ब्रह्म अनन्य है अतः उससे किसी का जन्म आरंभरीति से नहीं होगा। इसलिये ब्रह्मकारणवाद में आरंभदृष्टि व्यर्थ है।।७।।

परिणाम का स्वरूप बताते हैं ताकि वह भी ब्रह्म-प्रसंग के लिये उपयोगी नहीं यह स्पष्ट हो—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य　　परिणामिता।
स्यात् क्षीरं दधि मृत् कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा।।८।।

एक ही वस्तु पहली अवस्था छोड़कर अन्य अवस्था ग्रहण करे—इसका नाम है परिणाम वाला, बदलने वाला होना। जैसे—दूध दही होता है, मिट्टी घड़ा होती है, सोना कुण्डल होता है।

कपिल, पतंजलि आदि परिणामवादी हैं। कार्य से कारण सर्वथा तो अलग वे नहीं मानते लेकिन कारण की अवस्था का अलग होना उन्हें स्वीकार है। कारण की बदली अवस्था कार्य है। दूध की ही अलग अवस्था दही, मिट्टी की अलग अवस्था घड़ा, सोने की अलग अवस्था गहना है। अवस्थान्तरण क्या हुआ? पहली अवस्था में वस्तु से जो व्यवहार कर सकते थे, वह अब दूसरी अवस्था वाली वस्तु से नहीं कर सकते। दूध से खीर बनाने का व्यवहार हो सकता था पर दही से खीर नहीं बन सकती। आरंभ दृष्टि से यह दृष्टि कुछ सूक्ष्म है। बहुत से आचार्य परिणामवाद स्वीकार कर लेते हैं। इसमें कारणभूत वस्तु बनी रहती है, उसकी अवस्था दूसरी हो जाती है। इसके अनुसार संभावना है कि परमात्मा बना रहता है, उसकी अवस्थान्तर हो जाती है जगत्। अन्य रूप से प्रतीत होना अवस्थान्तर है। किंतु फिर उसमें अब 'परमात्मा' व्यवहार की योग्यता नहीं रहेगी! आतंकवादी से यह व्यवहार नहीं कर सकते कि वह परमात्मा है तो उसकी बात मान लो। परिणामवाद और विवर्तवाद में अन्तर है। वेदों में कारण समझाने के प्रायः जो दृष्टांत हैं वे परिणामवाद के भी अनुकूल पड़ जाते हैं।

परिणामवादियों का कहना है कि परमात्मा ने जगत् उत्पन्न किया। यह अमान्य है क्योंकि परमात्मा अपरिणामी है, बदलना उस का स्वभाव नहीं है। यदि वह परिणत होकर जगत् बने तो जैसे दही बने में 'दूध' इस व्यवहार की योग्यता नहीं वैसे उसमें अब 'परमात्मा' इस व्यवहार की योग्यता नहीं रहे। जैसे मिट्टी से हाथ धोते हैं, वही जब घड़ा बन गयी तो उससे हाथ नहीं धो सकते, ऐसे संसार बन चुके को परमात्मा नहीं कह-समझ सकते। किसी एक काल में कोई एक व्यवहार-योग्यता ही रहती है। अतः संसार बन जाए तो परमेश्वर भी बन्धनकारी ही होगा, मोक्षप्रद नहीं। सांख्य व योगी तो परमेश्वर को यों जगत्कारण मानते नहीं, प्रकृति को ही मानते हैं, लेकिन अन्य कुछ विचारकों ने ईश्वर का परिणाम जगत् है ऐसी कल्पना की है जो इसीलिये ठीक नहीं कि परमेश्वर विकारी है नहीं, एवं हो तो परमेश्वर ही नहीं रह जायेगा।।८।।

आरंभवाद कार्य-कारण वस्तुओं को भिन्न कहता है, परिणामवाद वस्तु तो अभिन्न स्वीकारकर अवस्था का भेद कहता है, दोनों से विलक्षण है विवर्तवाद जो प्रतीति का ही भेद कहता है—

अवस्थान्तरभानं तु विवर्त्तो रज्जुसर्पवत्।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात्।।९।।

अन्य अवस्था की प्रतीति 'विवर्त्त' है जैसे रस्सी-भान के बजाय साँप-भान। यह निरवयव वस्तु में भी होता है क्योंकि आकाश में तल, मलिनता आदि की कल्पना होती है।

अवस्थान्तर होती नहीं, केवल प्रतीत होती है—यह विवर्तवाद है। यहाँ यह जरूरी नहीं कि पहले रस्सी-भान हो! तात्पर्य है कि प्रमाभान का विषय कारण और भ्रमभान का विषय कार्य है। श्रुति ने इसीलिये 'विकार' या कार्य को 'वाचारम्भण' और 'मिट्टी' या कारण को सत्य बताया है। लौकिक प्रमा का विषय मिट्टी है, भ्रम का विषय घटादि हैं, इतने मात्र से मिट्टी की अन्य अवस्था का भान होना मिट्टी का घड़ा बन जाना है—यह विवर्तवादी का तात्पर्य है। क्योंकि अवस्थान्तर 'है' जिसका भान हो यह स्वीकार नहीं, वह 'नहीं है' जिसका भान है यह भी स्वीकार नहीं इसलिये अवस्थान्तर को मिथ्या कहा जाता है।

अवस्थान्तर 'है' इसलिये नहीं कि कारण से पृथक् कुछ नहीं है, मिट्टी के अलावा घड़ा कुछ नहीं मिलता। अवस्थान्तर 'नहीं है' इसलिये नहीं कि 'है'—ऐसी प्रतीति होती है। अतः मिथ्या अवस्थान्तरण विवर्तता है। भान को विवर्त इसलिये कहा कि घटभान के अतिरिक्त घट कोई अवस्था भी नहीं है। यद्यपि यों भान से स्वतंत्र मिट्टी भी नहीं है तथापि ब्रह्म स्वयम्प्रकाश होने से वह परमार्थ सत् है जो भान पर निर्भर नहीं जबकि जगत् भान-सापेक्ष ही है। इसलिये विवर्तवाद में ज्ञानसाकारता का प्रसंग नहीं जो बौद्धों की कल्पना में आता है; विवर्तवादी के लिये मिथ्या अवस्थान्तर है जिसका भान है, विज्ञानवादी को बिना अवस्थान्तर के उसका भान है।

विवर्तवादी होने से हम लोग कहते हैं कि परमात्मा जगत् के आकार का प्रतीत होता है, है नहीं। क्यों नहीं मानते कि परमात्मा जगत् के आकार का हो गया? मूल कारण है कि परमात्मा निरंश है इसलिये वह परिणामी कारण नहीं हो सकता। जैसे तिल में खली और तेल दो अंश हैं, दूध में मक्खन और छाछ दो अंश हैं, ऐसे अगर परमात्मा में अंश होते तब तो मान लेते जगत् को उसका परिणाम। परंतु उसमें अंश नहीं हैं अतः उसमें से जगत् निकल आये तिलों से तेल की तरह यह संभव नहीं। यद्यपि रज्जु, सीप आदि सावयवों में सर्प, चाँदी आदि का विवर्त है तथापि निरंश आकाश में भी तल, मलिनता आदि का विवर्त दीखने से विवर्ती होने के लिये सांश होना अनिवार्य नहीं। विवर्त कारण निरंश भी हो सकता है। आकाश को बिना टुकड़े का सब मानते हैं। उसका कोई रूप तो है नहीं पर उल्टी कड़ाही-सा दीखता है। आकाश जेठ में धूमिल दीखता है जबकि आकाश मैला तो नहीं हो सकता। कड़ाही जैसा, नीला आदि दीखने पर भी आकाश में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह परिणामी कारण नहीं है, पर रूपवाला प्रतीत होता है। प्रतीत होते समय भी वह नीरूप ही है। तेल-खली की तरह तल, नीलिमा आदि से अलग कोई आकाश वस्तु रह जाये इत्यादि संभावना नहीं, बिना हुए उनकी प्रतीतिमात्र है। इसी प्रकार परमात्मा में न राम-रूप की सफाई, न रावण-रूप की गन्दगी आयी। परमात्मा जैसा है वैसा ही बना रहा।

सचमुच में बिना बने वैसा दीखना विवर्त होना कहलाता है। पत्थर को तराशने पर हनुमान् जी बने गये, पर पत्थर तो रहा ही! उसके रहते हुए ही हनुमान् जी दीख रहे हैं जैसे रस्सी रहते हुए ही साँप दीखता है, आकाश बिना रंग का रहते हुए ही रंगवाला या आकारवाला दीखता है। परमात्मा जगत्-रूप में दीखते हुए भी, सच्चिदानन्द बना ही रहता है। इसी को कहते हैं 'अतत्त्वतः अन्यथाप्रथा' बिना बदले दूसरी तरह प्रतीत हो जाना। इसलिये वसिष्ठजी ने बतलाया कि जैसे शिला के ऊपर रेखायें, उपरेखायें बना लीं तो मूर्तियाँ बन गयीं, उसी प्रकार आनन्द की मानो ठोस शिला-से ब्रह्म में माया द्वारा त्रिलोकी बन गई। जैसे पत्थर तो पत्थर ही बना रहा वैसे ब्रह्म भी ब्रह्म ही बना रहा।।६।।

उपपादित विवर्तवाद को प्रसङ्ग में लागू करते हैं—

ततो निरंश आनन्दे विवर्त्तो जगदिष्यताम्।
मायाशक्तिः कल्पिका स्याद् ऐन्द्रजालिकशक्तिवत्।।१०।।

इसलिये यही स्वीकारा जाये कि निरंश आनन्द में जगत् विवर्त ही है। बाजीगर की शक्ति जैसी माया-शक्ति यह कल्पना करने वाली है।

परमेश्वर चूंकि निरवयव है, निरंश है, आनंदरूप है इसलिये अन्य कोई कारणता संभव नहीं, वह विवर्तोपादान हो यही मानना संभव है। यह बात श्वेतकेतु को समझायी तो एकाएक उसकी समझ में नहीं आयी। पूछा, परमात्मा हमें क्यों नहीं नजर आता? तब पिता ने लोटा भर पानी में नमक की डली डाल दी। अगले दिन श्वेतकेतु को बुलाया, कहा 'लोटा

देखो, नमक की डली निकालो।' श्वेतकेतु को वह मिली नहीं। पिता ने कहा 'लोटे के पानी को चख।' चखने पर पाया कि नमकीन स्वाद है, सारा पानी नमकीन है। पिता ने कहा 'जैसे इस पानी में नमक सब जगह है जबकि दीखता नहीं, इसी प्रकार परमात्मा सब चीजों में है, लेकिन अशुद्ध बुद्धि वाले को नजर नहीं आता।' आचार्य शंकर लिखते हैं कि शास्त्र और गुरु के उपदेश से जिस मन में संस्कार हो गया है उस मन से तो पता लग जाता है, अशुद्ध बुद्धि वाले को पता नहीं लगता। शुद्ध बुद्धि वाले को संस्कार है कि परमात्मा सद्रूप है। जो भी संसार में चीज़ दीखती है, उसमें है-पना है। जिस चीज को भी ग्रहण करो वहाँ है-रूप से परमात्मा का ग्रहण होता है। अतः जो सदभिन्न आनंदरूप ब्रह्म है, उसमें जगत् विवर्त है यह मान्य है। विवर्त होने से परमात्मा जैसा है वैसा बना ही रहा पर नाम-रूप वाला प्रतीत होने लग गया।

नमक की तो दो अवस्थाएँ हो सकती हैं—ठोस और घुली, किंतु ब्रह्म में अवस्थाएँ भी नहीं हैं। उसमें जगत् की कल्पना हुई कैसे? कैसे वह शिव नाम-रूप वाला हो गया? इसके उत्तर में कहा 'कल्पिका माया शक्तिः स्याद्'। इस कल्पना को कराने वाली मायाशक्ति है। यह माया शक्ति शिव को नाम-रूप से युक्त दिखला देती है। यह शक्ति कैसी है? जैसे बाजीगर में अनेक चीजें दिखाने की शक्ति होती है। वह नजर नहीं आती है पर जब खेल दिखाता है तब कार्य देखने से मानी जाती है। इसलिये आचार्य शंकर ने लिखा है कि बुद्धिमान् ही इसे कार्यों से अनुमान द्वारा समझते हैं। जादूगर जब कोई चमत्कार कर देता है तब मानना पड़ता है कि उसमें शक्ति है। ऐसे ही शिव की शक्ति दिखाई नहीं देती, पर जगत् है इससे मानना पड़ता है कि इसे उत्पन्न करने की शक्ति उसमें है। यह हमेशा अनुमेय ही रहेगी। शक्ति का सदैव अनुमान ही होगा, अनुभव नहीं होगा। बाजीगर की तरह शिव में यह जगत् दिखाने की शक्ति है, जिसकी बुद्धि ठीक है वही उसको समझ सकता है। कल्पतरुकार ने लिखा है 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्' अर्थात् आचार्य शंकर ने बतलाया है कि अपनी शक्ति से जैसे नट खेल दिखलाता है वैसे ही शिव सारा खेल दिखला रहा है। फिर भी यह बिलकुल ऐन्द्रजालिक की तरह नहीं है। वह खेल तब दिखाता है जब कोई और खेल देखने वाला हो। खेल दिखाने में उसका कोई प्रयोजन होता है। पर यहाँ देखने वाला भी शिव स्वयं ही है यह अंतर है। महादेव का यह स्वभाव है। रस्सी का स्वभाव ही है कि मंद अंधकार में साँप की तरह दीखे। उसका ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है कि कोई डरे। इसी प्रकार परमात्मा अज्ञात रहते जगत् के रूप में दीखता है यह स्वभाव है।।१०।।

परमेश्वर शक्ति से जगद्रूप विवर्त करता है तो शक्ति से सद्वितीय हो जायेगा? इस समस्या का समाधान करते हैं—

शक्तिः शक्तात् पृथङ्नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः।।११।।

शक्ति शक्तिमान् से अलग नहीं है क्योंकि ऐसा ही सर्वत्र देखा गया है कि शक्तिवाले में ही शक्ति होती है। ऐसा भी नहीं कि शक्तिमान् से शक्ति सर्वथा एक हो क्योंकि प्रतिबन्ध भी अनुभवसिद्ध है। शक्ति न हो तो प्रतिबंध किसका होगा!

पूछने वाले का भाव है कि शक्ति और शिव का भेद मानने से द्वैत स्वीकार हो जायेगा। उत्तर का अभिप्राय है कि शिव से अलग, स्वतंत्र सत्ता-स्फूर्ति वाली शक्ति होती तो अवश्य द्वैत होता किंतु वह अलग है नहीं कि द्वैत संभव हो। शक्तिमान् से स्वतंत्र न होने पर भी शक्ति का शक्तिमान् से अलग उल्लेख इसलिये कि शक्तिमान् जब शक्ति का प्रयोग करता है तभी कार्य होता है, सदा नहीं एवं प्रतिबंधक, रुकावट आने पर शक्तिमान् रहते हुए भी कार्य नहीं हो पाता। शक्तिमान् तो यथावत् रहता है, पर उसकी शक्ति पर ही रुकावट काम करती है। अतः शक्ति को सर्वथा शक्तिमान् से एक ही नहीं कह सकते। अत्यंत भिन्न नहीं क्योंकि शक्तिमान् में ही नियमतः मिलती है, अन्यत्र नहीं। शक्तिमान् से अलग शक्ति कभी नहीं मिलती अतः उसे शक्तिमान् से पृथक्, स्वतन्त्र नहीं मान सकते। प्रतिबन्धक उस पर कारगर हो जाता है इसलिये सर्वथा अभिन्न नहीं मान सकते। अतः आचार्य शंकर ने कहा है 'भिन्नाऽप्यभिन्नाप्युभयात्मिका न' वह न भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न वरन् 'महाद्भुताऽनिर्वचनीय-रूपा' अत्यन्त अद्भुत, अनिर्वचनीय-स्वरूप है।।११।।

शक्ति इन्द्रियगम्य होती नहीं तो उसका प्रतिबंध अर्थात् उसकी रुकावट कैसे समझें? इसका उत्तर देते हैं—

शक्तेः कार्यानुमेयत्वाद् अकार्ये प्रतिबन्धनम्।
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्याद् मन्त्रादिप्रतिबन्धता।।१२।।

कार्य से अनुमानगम्य होने से कार्य न होने पर प्रतिबन्ध समझा जाता है जैसे जलती आग से दाह न हो तो मन्त्रादि से अग्नि प्रतिबद्ध है यह मानते हैं।

शक्ति अतीन्द्रिय पदार्थ है, इंद्रियों से उसका पता नहीं लग सकता। जैसे शरीर को दुबला या मोटा देखने से खाने की शक्ति का पता नहीं लगता, केवल कार्य से ही पता लगता है। स्वयं अपने को भी अपनी शक्ति का पता नहीं लगता। दस मील चलने पर ही पता लगता है कि 'चल सकता हूँ'। इसलिये उसे प्रतिबद्ध तब मानना पड़ता है जब वह अपना काम न कर सके। दृष्टान्त है : आग ज़ोरसे जल रही है पर गलाने-पकाने का काम नहीं कर रही है। ऊँचाई पर दबाव कम होने से आग की शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है। प्रतिबन्ध मंत्र से भी होता है। अग्नि को मंत्र से बाँध देते हैं तो बच्चे भी ऐसी अग्नि पर पाँव से चल सकते हैं। तुम्हारी शक्ति को तुम्हारा राग भी प्रतिबद्ध कर देता है। अपने विकार अपनी शक्ति को प्रतिबद्ध करते हैं। युद्ध प्रारम्भ होने से पहले भीष्म पितामह से पूछा गया कि किसमें कितनी ताकत है। उन्होंने कहा 'मैं वृद्ध हूँ लेकिन सवेरे से शाम तक पूरे ज़ोर से लड़ूँ तो अठारह अक्षौहिणी सेना मैं अकेला मार सकता हूँ। द्रोणाचार्य तीन दिन में सब

को मार सकते हैं।' कर्ण को उन्होंने अर्धरथी बताया। कर्ण को कहा 'हम दोनों के गुरु परशुराम ही हैं। तुमने गुरु से शिक्षा लेने से पहले अपने को ब्राह्मण बताया। तभी परशुराम ने अस्त्रविद्या सिखा दी।' एक दिन गुरुजी कर्ण की जाँघ पर सिर रखकर सो रहे थे, एक भौंरे ने कर्ण को जाँघ पर काटा, खून निकला पर कर्ण स्थिर रहा ताकि गुरु की नींद में कोई व्यवधान न हो। गुरु ने जगकर यह देखा तो समझ लिया कि तीन काल में भी कर्ण ब्राह्मण नहीं हो सकता। उन्होंने कहा 'तू क्षत्रिय है। तूने झूठ बोला। अतः जब तू ब्राह्मण का कार्य करेगा, तेरी विद्या ठीक रहेगी। क्षत्रियरूप में विद्या काम नहीं आयेगी। अतः युद्ध के मैदान में विद्या की शक्ति प्रतिबद्ध रहेगी।' यह बात भीष्म पितामह को मालूम थी। तात्पर्य है कि प्रतिबंध की अन्यथाऽनुपपत्ति शक्तिसद्भाव में प्रमाण है।।१२।।

लोक में अनुमान, अर्थापत्ति से शक्ति मान्य है एवं परमेश्वर की मायारूप शक्ति का शास्त्र से पता चलता है यह कहते हैं—

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन्।
परास्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका।।१३।।

स्वप्रकाश परमेश्वर की अपनी शक्ति मुनियों ने जानी जो अपने-अपने कार्यभूत शरीरों से अत्यधिक ढकी है। ब्रह्म की क्रिया-ज्ञान-इच्छारूप विविध पराशक्ति वेदोक्त है।

जन्म का कारण क्या? अनेक कल्पनायें उपस्थित होती हैं। श्वेताश्वतर उपनिषत् के प्रारंभ में कारणविचार कथित है। समय से चीज पैदा होती है ऐसा कालवादी कहते हैं। जितने समय सृष्टि रहती है उतने समय तक प्रलय रहेगा। समय का पता तो सूर्य-चंद्र से ही लगता है, उनके परिवर्तन से ही लगता है। महाप्रलय में सूर्य-चंद्र नहीं हैं, परिवर्तन है ही नहीं तो समय कैसे बीतेगा? ज्योतिषी लोग काल को कारण मानते हैं। कुछ लोग यदृच्छा या अकस्मात् हो जाने को कारण मानते हैं। सभी मुनियों ने, मननशील लोगों ने बहुत-सी चीजों पर विचार किया पर कोई कारण संगत नहीं लगा। तब उन्होंने कारण जानने के लिये ध्यान किया जिससे उन्हें परमात्मदेव की शक्ति का साक्षात्कार हुआ (श्वे. १.३)। देव में आत्मशक्ति है जो हमेशा छिपी रहती है, निगूढ है। कैसे छिपी है? हमारे जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर हैं, उन्हीं से छिपी है। जाग्रत्काल में विषयों से ढकी है, नाम-रूप से ढकी है। जैसे कपड़े पर बनी डिजाइनों के कारण कपड़ा दीखता ही नहीं है ऐसे शक्ति के प्रति गुणभूत उसके कार्यों से छिपी शक्ति नहीं दीखती। स्वप्न में बाहर के पदार्थ तो नहीं हैं लेकिन मन ही तरह-तरह की वृत्तियाँ बना लेता है तो स्वप्न में मन के द्वारा ढकी है। गहरी नींद में कुछ नहीं जानते, उस समय अज्ञान के द्वारा ढकी है। इन तीनों से शक्ति ढकी है। मुनियों ने उसका साक्षात्कार किया। मनन के बगैर निगूढ वस्तु समझ नहीं आती। जगत् का एकमात्र उपादान कारण ब्रह्म ही है। ब्रह्म अद्वितीय है अतः न तो आरम्भ कारणवाद से सृष्टि हो सकती है, न परिणाम कारणवाद से। इसलिये अद्वितीय ब्रह्म केवल अज्ञान से ही जगत् बन

सकता है। वह अज्ञान ही उस आत्मदेव की शक्ति है एवं वह अपने ही कार्यों से छिपा है जैसे गहना, सोने का कार्य है पर गहना देखते समय सोने पर ध्यान नहीं जाता। इसलिये इसको देवात्मशक्ति कहते हैं।

श्वेताश्वतर के छठे अध्याय में (मं. ८) कहा है 'अस्य परा शक्ति र्विविधा'। उस परमात्मा की पराशक्ति विविध है। 'पर' कहते हैं जो श्रेष्ठ होता है उसे। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को उत्पन्न कर देती है, इससे बड़ी शक्ति और क्या हो सकती है! ऐसा कार्य बनाती है जो अनादिकाल से अनन्तकाल तक चलता रहे इसलिये इसको 'पराशक्ति' कहा। सारे जगत् के एकमात्र कारण ब्रह्म की यह शक्ति अनेक प्रकार की है। और इसका अंत आने वाला नहीं है। पुरानी चीजें भूलते जाओगे, नई चीजें देखते जाओगे। वह नटराज सदैव नवीन सृष्टि करता रहेगा। यह जाननेवाले को नई चीज देखकर कभी घबराहट नहीं होती। जो इसको परमात्मा का नृत्य नहीं समझते उन्हें लगता है 'जो हमने बचपन में देखा है वही ठीक है'। किन्तु महादेव की शक्ति अनंत प्रकार की है, हमेशा नये ढंग से प्रकट होती ही रहेगी। शक्तियों को जानने के हमारे साधन सीमित हैं इसलिये उनका वर्गीकरण कर दिया—श्रुति ने कहा 'ज्ञान, बल, क्रिया'।

एक है क्रियाशक्ति अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था में ले जाने वाली। दूसरी है ज्ञानशक्ति जिससे कोई अवस्थान्तरण किये बिना जो चीज़ जैसी है, वैसा जानते हैं। क्रिया दो प्रकार की है—परिणाम और परिस्पन्द। एक क्रिया में चीज़ अपने स्वरूप से रहते हुए ही बदलती दीखती है। जैसे हम यहीं बैठे हैं, फिर बाहर बैठ गये, पर हम तो वैसे ही रहे, क्रिया हो गई। वह परिस्पन्दरूप क्रिया है। बचपन में बिना दाढ़ी-मूंछ वाले थे, फिर दाढ़ी आ गयी। यह हम में ही परिवर्तन परिणामरूप क्रिया है। जो चीज़ जैसी है उसे वैसा ही अनावृत करना ज्ञान अर्थात् प्रमा है। क्रिया में प्रवृत्ति कब होती है? जब तुम्हारे मन में इच्छा करने वाली इच्छा-शक्ति है। हमारे पास तीन ही साधन हैं, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मोन्द्रिय और मन जो इच्छा के लिये साधन है। इसके अलावा हमारे पास और कुछ नहीं है। परमात्मा अनन्तरूप है, हमारे साधन सीमित हैं। अतः हमें परमात्मा सीमित लग सकता है। ये तीन शक्तियाँ हमें परमात्मा में भी प्रतीत होती हैं। महाप्रलय में एकमात्र शिव ही था। उसमें इच्छा आई। ऋग्वेद कहता है, 'उसने कामना की 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ'।' इच्छा ही सृष्टि का बीज है।। **१३।।**

श्रुति-उदाहरण समाप्त कर स्मृति-उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत्।
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्।।
ययोल्लसति शक्त्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति।। १४।।

पूर्वोक्त ढंग से वेदवचनों ने मायाशक्ति बतायी। महर्षि वसिष्ठ ने (उत्पत्ति.१००) भी

ऐसा समझाया है 'सदा सर्वथा पूर्ण अद्वितीय परब्रह्म समग्र शक्ति से सम्पन्न है जिससे वह विवर्तित होता है तो यह शक्ति प्रकट होती है।'

वेद में ऋषियों ने परमेश्वर की मायारूप शक्ति कही है। यद्यपि वेद स्वतः प्रमाण है, उसे अपनी प्रामाणिकता के लिये किसी अन्य प्रमाण की जरूरत नहीं है, तथापि समझने के लिये अधिकारी में विशेष शक्ति चाहिये। वेद अत्यन्त विस्तृत है। वेद विभिन्न दृष्टियों से विचारों को कहता है। वैदिक शब्दों के विभिन्न अर्थ भी हैं। सबको समझना, याद रखना कठिन है। अतः ऋषियों ने श्रुतियों के विषयों को एकत्रित किया जिससे वेद समझना हमारे लिये सरल हो गया। श्रुतियों का अर्थ स्मृति से *सिद्ध* नहीं होता, उनका अर्थ समझने में स्मृतियों से सहायता ली जाती है। इसलिये यहाँ कहा कि महर्षि वसिष्ठ, जो ऋग्वेद के दस में से एक मंडल के द्रष्टा हैं, उन्होंने भी यही बात कही। जैसा वेद ने कहा है, वैसी ही बात उन्होंने कही है। योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण के सौवें सर्ग के पाँचवें श्लोक का पूर्वार्ध 'सर्वशक्ति' इत्यादि है। उत्तरार्ध है 'न तदस्ति न तस्मिन् यद् विद्यते विततात्मनि।' वसिष्ठ जी ने कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—पर और अपर। अज्ञान में हमें जो रूप उपस्थित होता है वह अपर है, ईश्वररूप है। अज्ञान में रहते हुऐ हम ईश्वर को ही समझ सकते हैं। जब ईश्वर को ठीक जैसा है वैसा जानते हैं, तब जो रूप जानते हैं वह परब्रह्म है। ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं। अज्ञान में ब्रह्म ईश्वररूप से दीखता है, अज्ञान हटने पर जो रूप दीखता है, वह परब्रह्म है। जो परमात्मा का दर्शन होता है, वह माया के पर्दे में से होता है, मायारूप पर्दे से वह ढका रहता है, किंतु ब्रह्म वही है। माया का घूँघट रहते अपर ब्रह्म है, घूँघट हट गया तो परब्रह्म है। ब्रह्म कैसा है? 'सर्वशक्ति' सारी शक्तियों वाला है। जिस चीज़ की हम कल्पना भी नहीं कर सकते वह सब भी कर लेता है। विराट्-रूप का परिच्छिन्न दृष्टि वाले को दर्शन संगत नहीं लेकिन भगवान् ऐसा भी कर देते हैं। यह सब सर्वशक्ति माया के द्वारा हो जाता है। इसीलिये आदि काल से 'परमात्मा साकार या निराकार है' यह विवाद है।

ब्रह्म 'नित्य है।' काल को वह पैदा करता है अतः समय से पहले और बाद में भी है। हमारे मन में, देश, काल, कार्य-कारणभाव—ये तीन निश्चित आयाम हैं। मन किसी चीज़ को समझेगा तो ये प्रश्न होंगे ही 'कहाँ? कब? और इसका कारण क्या है?' इन तीन आधारों पर हम सोचते हैं। ये तीनों परमात्मा ने ही पैदा किये। अतः वह देश, काल, कार्य-कारण-भाव से रहित होकर रहता है, उसे इनमें नहीं बाँध सकते। इसलिये वह नित्य है। वह 'आपूर्णम्' पूरी तरह पूरा है। 'अद्वयम्', उसके जैसा दूसरा नहीं है। उसमें न कोई भेद है न उसका कैसा भी अभाव है। सभी भेदों से रहित, उसका पारमार्थिक रूप है। सर्वशक्ति उसका व्यावहारिक रूप है। माया-विशिष्ट हो गया ईश्वररूप और निर्माय हो गया उसका पारमार्थिक रूप।

माया शक्ति के द्वारा ब्रह्म उल्लास को प्राप्त करता है। जैसे समुद्र अपने से निकले चन्द्रमा को पूर्ण देखता है तो प्रेम से बड़ी लहरें उठाता है मानो खिल-खिला कर हँस रहा हो, इसी प्रकार परमात्मा अपनी माया शक्ति से उल्लास को प्राप्त होता है। लहर समुद्र का

पानी ही है फिर भी वह समुद्र से अलग दीखती है। ऐसे ही माया शक्ति से बिना अलग हुऐ ही दीखने वाला जीव और संसार है। यह माया शक्ति से हुआ उल्लास है। इस उल्लास के होने पर माया शक्ति का पता लगता है, शक्ति अभिव्यक्त, प्रकट हो जाती है। महाप्रलय में परमात्मा की इस अनन्त शक्ति का पता नहीं लगता, जब सृष्टि होती है तब पता लगता है। जब तुम गहरी नींद में हो तब तुममें कोई भी इन्द्रिय-शक्ति नहीं है। जैसे ही उठते हो, सारी शक्तियाँ आ जाती हैं। इसी प्रकार महाप्रलय में कोई शक्ति प्रकट नहीं है। जब सृष्टि काल हुआ तभी सारी शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। सृष्टि होने पर ही कारण की शक्ति प्रकट होती है। जहाँ जो भी हो रहा है, उसे करने वाली परमात्मा की ही शक्ति है। वेदान्त-साधना में सभी अनुभवों में उसकी इस शक्ति को ही देखने का प्रयत्न करना है। इसीलिये सृष्टिकाल में परमात्मा की यह अनन्त शक्ति व्यक्त हो जाती है। हमारे राग-द्वेष इस साधना में बाधक हैं। हमें जो रूप, व्यक्ति, अच्छा लगता है उसे परमेश्वर का किया है स्वीकार सकते हैं पर रावणरूप में वही परमेश्वर है—यह स्वीकार नहीं होता! अभ्यास से, 'सभी चीज़ें परमात्मा का उल्लास है' यह स्वीकार होगा।। १४।।

शक्ति की अभिव्यक्ति वसिष्ठवचनों से स्पष्ट करते हैं—

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम! शरीरेषूपलभ्यते।। १५।।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले।
द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु दाहशक्तिस्तथाऽनले।। १६।।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि।
यथाऽण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथाऽऽत्मनि।। १७।।

हे राम! शरीरों में ब्रह्म की चिच्छक्ति (ज्ञानशक्ति) उपलब्ध होती है, वायुओं में स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति) तथा पत्थर में मज़बूती की शक्ति मिलती है। जलों में बहने की शक्ति एवं आग में जलाने की शक्ति है।। १५-१६।। आकाश में खालीपन की शक्ति, नष्ट होने वाले पदार्थ में नाश की शक्ति उपलब्ध है। अण्डे में महान् साँप की तरह आत्मा में जगत् है।। १७।।

(वासिष्ठ उत्पत्तिप्रकरण सर्ग १०० श्लो. ७ आदि का यहाँ संग्रह है। 'शरीरेष्वभिदृश्यते', 'जडशक्तिस्तथोपले,' 'तेजःशक्तिस्तथाऽनले'—ये वहाँ पाठ हैं। 'नाशशक्तिर्विनाशेषु' यों नौवें श्लोक में तृतीय पाद है। 'यथाऽण्डे' आदि अर्धाली वहाँ नहीं है।)

स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में उपलब्ध चेतना-शक्ति हमेशा प्रकट है। लोक-लोकान्तर का या अपने मन का भी हमें न पूरा ज्ञान है, न किसी पर नियन्त्रण है। चेतना की सामर्थ्य निरन्तर उपलब्ध है, मिलती है शरीरों में; जाग्रत् में स्थूल शरीर में एवं स्वप्न में सूक्ष्म शरीर में चेतन मिलेगा। चेतनता के व्यवहार का हेतु ब्रह्म की ही शक्ति है। इस पर दृष्टि केन्द्रित रखने के लिये अभ्यास चाहिये। किसी चीज़ को जानो तो, याद करो कि परमात्मा की ज्ञान-शक्ति ही जान रही है। वेदान्त साधना में यही कठिनाई आती है कि बात तो समझ में आ जाती

है पर वह सदैव व्यवहार में रहे, यह नहीं हो पाता। प्रयासपूर्वक वैसा किया जाये तब साधना अपना काम करेगी। जो ईंट-पत्थर हैं, शरीर नहीं हैं, उनमें ब्रह्म की सत्ता तो प्रकाश को प्राप्त होती है, पर ज्ञान, चेतन नहीं होता है। बन्धन-मोक्ष चेतन में ही सम्भव हैं। मोक्ष-शास्त्र में चेतन का ही अधिकार है क्योंकि बन्धन का अनुभव उसी को है। जड चीज़ न बद्ध है न मुक्त होगी। शरीर में चेतन शक्ति का विकास हुआ है, वहाँ द्रष्टा है, देखने वाला है बाकी चीज़ों में दृश्यभाव है, वे देखी जाती हैं। इस तरह दृश्य और द्रष्टा, दोनों उसी ब्रह्म का विलास है। क्योंकि वह अनन्त है, इसलिये अनंत प्रकार के शरीरों का निर्माण करता है। जैसे शुद्ध ब्रह्मा-विष्णु के शरीर हैं वैसे लता, घास आदि के अशुद्ध शरीर हैं। उनमें चेतन का इतना ही विकास है कि वे सन्तति पैदा कर लेते हैं जब कि ब्रह्मा-विष्णु सारी सृष्टि को बना सकते हैं।

जहाँ वायु है वहाँ स्पन्दशक्ति है अर्थात् हिलना डुलना सम्भव है। शरीर में भी हिलना-डुलना करने वाली वायु ही है। भोजन को पचाकर शरीर के सब भागों में पहुँचाना प्राण-वायु का काम है। वाक् या मन भी स्पन्दन करता है तो प्राण की आवश्यकता रहती है। प्राणायाम के द्वारा प्राणों का निरोध करते हैं तो मन अपने आप निरुद्ध हो जायेगा। अगर मन का स्पन्दन ख़त्म हो जायेगा तो प्राण की गति पर भी उसका असर आ जाता है। प्राण वाले हिस्से में कुछ प्रतीति नहीं है। गहरी नींद में प्राण तो चलता रहता है पर होश (चेतनशक्ति) नहीं रहती। प्राण के बिना मन वृत्ति नहीं बना सकता। वृत्ति बनाने के लिये स्पन्द शक्ति की ज़रूरत पड़ेगी जो प्राण से आयेगी। इसलिये कहा कि वायु में स्पन्दशक्ति है। माया की अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। 'यह मेरी शक्ति है' ऐसा हमें भ्रम है। हम मन से भी जो जानते हैं, वह परमेश्वर की मायाशक्ति से ही। पत्थर के अन्दर दार्ढ्य-शक्ति है, दार्ढ्य अर्थात् भारीपन, दृढता, मज़बूती। दृढता के रूप में भी शिव की मायाशक्ति का ही प्राकट्य है। अपने शरीर में हड्डियों में वज़न सहने की शक्ति भी परमेश्वर की माया की ही है। जल में बहने की शक्ति भी उसीकी है। तरल पदार्थों में तरलता शिव की ही शक्ति है और अग्नि में उसीकी जलाने की शक्ति है। इस प्रकार चार महाभूतों का ग्रहण हो गया। इसी प्रकार आकाश सब चीज़ों के हिलने-डुलने को सम्भव करता है। आकाश इसके लिये खाली जगह देता है। खाली जगह का अपना विशेष महत्त्व है। आकाश में प्रकट भी शिव की ही शक्ति है। पंचमहाभूत तरीका या साधन बनते हैं शिवकी शक्ति को जानने के लिये। उस शक्ति के सम्बन्ध से तुमको शिव का अनुभव होना चाहिये।

हर चीज़ परिवर्तित होने वाली अतः नश्वर है। आरम्भवादी होने से नैयायिक वस्तुओं को कम-से-कम तीन क्षण रहने वाला कहते हैं; उनके अनुसार चीज़ पैदा होगी, रहेगी तभी नष्ट होगी अतः नाशक्षण-पर्यन्त उसे रहना उचित है। परिणामवादी होने से पतंजलि आदि 'सर्वे भावाःक्षणपरिणामिनः, ऋते चितिशक्तेः' मानते हैं। परिणाम के अनुसार वस्तु वही रहती है, उसी में परिणाम, बदलाव आते रहते हैं अतः उत्पत्ति के बाद स्थिति भी पूर्वावस्था का नाश

ही है। सौ का नोट वैसा ही रहे पर उसकी कीमत घट जाती है तो उसका नाश ही है। ऐसे ही उत्पन्न होते ही सबका नाश प्रारम्भ हो जाता है। ऐसे नश्वर सभी पदार्थों में शिवकी ही नाशशक्ति काम कर रही है। हर नाश में इसलिये शिवका स्मरण होना चाहिये। नाशक्ति का प्रभाव प्रत्यक्ष ही है। पाँचों महाभूतों में व उनके कार्यों में नाशशक्ति लगातार काम कर रही है।

परमात्मा में सारा जगत्, इसे रचने की शक्ति वैसे ही निहित है जैसे अण्डे में साँप। अण्डा फोड़ो तो तरल पदार्थ के अलावा कुछ नज़र नहीं आता किन्तु बड़े-से-बड़ा विषधर साँप उसी में छिपा है। इसी तरह प्रलय में कुछ न मिलने पर भी सभी कुछ परमेश्वर में निहित है, वहीं से प्रकट होता है। आत्मा में जगत् छिपा रहकर सृष्टिकाल में व्यक्त हो जाता है। संसार से भयभीत ही परमार्थ का जिज्ञासु बनता है। सिर पर अंगारा पड़ जाये तो उसे हटाने की छटपटाहट जैसे संसार-बंधन से छूटने की उतावल वाला ही तीव्र मुमुक्षा से सम्पन्न है। जगत् की भीषणता सूचित करने के लिये इसे साँप से उपमित किया।। १५-१७।।

अण्डे जैसा दूसरा दृष्टांत देते हैं। अण्डे वाला वासिष्ठ में नहीं, बीज वाला वहीं (श्लोक. ११) का है—

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान्।
ननु बीजे यथावृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम्।। १८।।

फल, पत्ते, लता, फूल, डाल, प्रशाखा और तने से युक्त वृक्ष जैसे बीज में रहता ही है वैसे ब्रह्म में यह जगत् है। (वासिष्ठ में 'वृक्षबीजे' है, 'ननु' नहीं है।)

श्वेतकेतु को समझाने के लिये पिता उद्दालक ने उससे कहा, 'इस वटवृक्ष का फल लाओ। उसके बीज में तुम्हें कुछ नहीं दीख रहा, पर उसीमें यह सारा वृक्ष है। यह श्रद्धा करने से पता लगता है। बीज होगा तभी वृक्ष होगा, खाद, पानी, मिट्टी से ही नहीं। ऐसे ही आत्मा से ही यह सारा जगत् निकलता है।' उसी तरह यहाँ बताया कि जैसे बीज में वृक्ष है ऐसे ही जगत् ब्रह्म में स्थित है। फल, फूल, पत्ते भिन्न हैं पर एक ही बीज से उत्पन्न हैं। ऐसे ही एक परमात्मा अनेकविध सृष्टि करता है। परमात्मा का अनन्त रूप से प्रकट होने का स्वभाव है, क्योंकि वह अनन्त है। तुम्हारे लिये संसार बहुत बड़ा है पर परमेश्वर के लिये नहीं! जैसे आँख खुलते ही सारा संसार सामने है, आँख बन्द होते ही कुछ नहीं है, ऐसे समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-नाश ईश्वर के लिये अयत्नसिद्ध हैं। तना, जड़ें, फल, पुष्प, शाखा, लता, सब एक ही बीज में हैं। फल खाने के कामका, फूल सुगन्ध सूँघने के कामका, पत्ते पहनने के काम के, लकड़ी जलाने के काम की इत्यादि सब अंग भिन्न-भिन्न काम में आते हैं लेकिन सभी बीज से ही प्रकट होते हैं। परमात्मा से भी विभिन्न चीज़ें, विभिन्न उपयोग के लिये पैदा हुईं अतः ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत् ब्रह्मरूप है भले ही इसके विभिन्न उपयोग हैं।। १८।।

सारी शक्तियाँ एक-साथ अभिव्यक्त न होना युक्तिसंगत दिखाते हैं–

क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्माद् उद्यन्ति शक्तयः।
देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः।। १६।।

परमेश्वर से कहीं कोई कभी शक्तियाँ प्रकट होती हैं क्योंकि देश-काल विचित्र हैं जैसे भूतल से विभिन्न पौधे कालादिभेदानुसार उगते हैं। (वासिष्ठ में यह श्लो.२१ है, थोड़ा पाठांतर है।)

किसी देश में कोई शक्ति प्रकट होती है। देश एक-जैसे नहीं हैं। हिमालय में बर्फ ही बर्फ है। मारवाड़ में रेफ्रिजरेटर में से एक टुकड़ा बर्फ निकलते ही पिघलने लगता है। बर्फ कहीं-कहीं होती है, कहीं नहीं। कहीं उसकी ठंडी शक्ति प्रकट है, कहीं गर्म शक्ति प्रकट है। काल का अन्तर भी प्रकट होने पर असर डालता है। अतः एक-साथ सारी शक्तियाँ प्रकट नहीं होती हैं। कार्यों की इकट्ठी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। वर्तमान युग है यंत्र-शक्तियों का, प्राचीन युग था मंत्रशक्तियों का। कोई मानस युग था जब मन से ही सब काम हो जाते थे। अलग-अलग समय में अलग-अलग शक्तियाँ प्रकट होती हैं। किसी देश में, किसी काल में कोई-कोई शक्ति प्रकट होती है। एक-साथ सब शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं। उस शिव से शक्तियाँ उदित होती हैं अर्थात् पैदा नहीं होती हैं, तुम्हारे सामने आती हैं जिससे उनका उदय मानते हो। साधारण लोग कहेंगे कि चलते-फिरते दूरभाषयन्त्र (मोबाइल फोन) बन गये लेकिन वेदान्ती कहेगा कि ये सदैव थे, अब केवल प्रकट हो गये हैं। यह वैसे ही है जैसे पृथ्वी से अलग-अलग अनाज होता है। बाड़मेर में तुम चावल के बीज डाल दो, पानी दो, तो भी पौधा पैदा नहीं होगा क्योंकि देश का भेद है। बंगाल में बाजरा नहीं होगा। पृथ्वी तो एक ही है। इसी प्रकार काल का भेद : सर्दी में चावल नहीं होगा, वही बीज बरसात में फल दे देगा। मनुष्य चाहता है, 'जब हमारी इच्छा हो तब शक्ति प्रकट हो', पर वह तो शिव से प्रकट होती है। व्यक्ति निरन्तर परमेश्वर की सृष्टि को बदलने की सोचता है जो कभी हो पाता नहीं। जीव का काम है, साक्षिभाव से आनंद लेना। परेशान इसलिये है कि वह भी ईश्वर की तरह करना चाहता है पर शक्तियाँ केवल ईश्वर की हैं।। १६।।

मिथ्या जगत् केवल कल्पनारूप है यह समझाने के लिये वसिष्ठवचन (वासिष्ठ उत्प.१०० श्लो.१४-१५) देते हैं–

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितमहावपुः।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते।। २०।।

हे राम! सदा प्रकाशमान अपरिच्छिन्न स्वरूप वाला वह व्यापक आत्मा जब तनिक मनन-शक्ति धारण करता है तब 'मन' कहलाता है।

आत्मा सब जगह एक जैसा है, सर्वव्यापक है। कोई ऐसा देश, काल, वस्तु नहीं है

जिसमें वह उदय हुआ न रहे। हमेशा प्रकट रहता है। देश, काल, वस्तु के परिच्छेदों से रहित है। यही उसका वपु अर्थात् स्वरूप है।

इसीलिये कहा है 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म सर्वावस्थासु निर्मलम्'; परब्रह्म ज्ञानमात्ररूप है। घटज्ञान, पटज्ञान आदि विभिन्न रूपों में भासने पर भी उसका निज स्वरूप केवल ज्ञान है। भाव का हो या अभाव का, ज्ञान में अंतर नहीं। ज्ञानात्मक होने से सर्वज्ञ है। जाग्रदादि, सृष्टि आदि में प्रतीत होते हुए भी सबके स्पर्श से रहित अतः निर्मल रहता है। ऐसा आत्मा 'मननी' शक्ति धारण करने से मन कहा जाता है। स्वयं को एवं अन्य को समझने की सामर्थ्य मननी शक्ति है। उसमें भेद, परिच्छिन्नता रहने से यह माया का परिणाम है। ज्ञानरूप आत्मा है लेकिन 'स्वयं को' जानने पर ज्ञाता-ज्ञेय का अंतर प्रतीत होने से मन का अस्तित्व आ जाता है। यही किसी भी चीज़ को प्रकाशित करने की शक्ति है। इसी से अद्वितीय में सद्वितीयता भासती है। द्वितीय या दूसरा समझने के लिये पहला-तीसरा आदि समझना ज़रूरी है क्योंकि किसी और की अपेक्षा से ही दूसरापन पता चल सकता है। आत्मा स्वयमेव दूसरा नहीं, मनरूप मननीशक्ति धारण करने से उसमें दूसरापन प्रकट होता है। मन भी जाना ही जाता है अतः वास्तव में ज्ञान से अतिरिक्त नहीं लेकिन इस रहस्य को न समझने तक उसे स्वतंत्र मानते हैं तो उसकी अपेक्षा से आत्मा द्वितीय हो जाता है एवं मन स्वयं परिच्छिन्न है अतः अन्य अनात्मा भी द्वितीय हो जाते हैं। स्वप्रकाशस्वरूप के लिये मन नहीं है, स्वयं को एवं अन्यों को—यों विषय तथा जानने के लिये जो आत्मशक्ति उदय होती है वह मन है। इससे कम ही जाना जा सकता है इसलिये 'मनाक्' (तनिक) कहा। मन बहुत ज़्यादा नहीं जान सकता, सर्वज्ञ तो आत्मा ही रहता है।। २०।।

कल्पनारूप जगत् कैसे कल्पित होता है यह वासिष्ठ (वहीं श्लो. ४३) द्वारा कहते हैं—

आदौ मनस्तदनु बन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना।।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठाम्
आख्यायिका सुभग! बालजनोदितेव।। २१।।

हे सौभाग्यवान् राम! पहले मन हुआ, तत्पश्चात् बंधन और मोक्ष के अनुभव आये, फिर प्रपंच की रचना हुई जो भुवन कही जाती है। यों प्रारम्भ होने वाली यह स्थिति वैसे ही सबको स्वीकार हो गयी है जैसे बालक के लिये सुनायी कहानी!

सबसे पहले आत्मा की माया के कारण मन की तरह प्रतीति हुई अर्थात् मनन करना प्रतीत हुआ। जब 'मैं' ऐसा जाना तब 'दूसरे हैं' इसलिये 'मुझे सीमित करते हैं, बन्धन में डालते हैं।' दूसरे की कल्पना बन्धन में डालने वाली है, उसीसे परतन्त्रता आई। फिर इच्छा हुई कि इस बन्धन से मुक्त कैसे होऊँ?

वस्तुतः हुआ कुछ नहीं! जो बन्धन तीन काल में नहीं है, उससे छूटने के लिये लोग साधना करते हैं। अपने को एवं अपने से दूसरे को जानना—यही मन है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें अपना या दूसरा कुछ है नहीं। दूसरे को जाना तो बंधन हो गया। यह सब उल्लास अर्थात् खेल है। जो तीन काल में नहीं उसकी प्रतीति करा देना ही माया की विशेषता है। इसी से प्रतीति है कि हम बंधन में हैं,हम हमेशा के लिये मुक्त हो जायेंगे। जब बंधन और मोक्ष आया, तब प्रपंच की रचना हो जाती है। 'पंच' मायने पाँच। पाँच महाभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इत्यादि सारे प्रपंच की रचना हो गई। इसी को भुवन कहते हैं, लोक कहते हैं। बना कुछ नहीं फिर भी प्रतीत होने लगा। प्रतीतिवश सब मान बैठे कि संसार है जबकि है नहीं। यह वैसा ही है जैसे बालक को कहानी सुनाओ तो उसे लगता है कि ऐसी ही वस्तुस्थिति है। जैसे बालकों को कहानी में वास्तविकता-बुद्धि हो जाती है इसी प्रकार 'तुम बन्धन में हो, साधना करो, मुक्त होगे' यह सुन-समझकर इसमें वास्तविकता-बुद्धि होती है।। २१।।

वासिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण में एक सौ एकवें सर्ग में धाय की कथा का प्रसंग है, उसे सूचित करते हैं—

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम्।
क्वचित् सन्ति महाबाहो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः।। २२।।
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्ताऽसति पत्तने।। २३।।
स्वकीयाच्छून्यनगराद् निर्गत्य विमलाशयाः।
गच्छन्तो गगने वृक्षान् ददृशुः फलशालिनः।। २४।।
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र मृगयाव्यवहारिणः।। २५।।

बालक के मनोरंजन के लिये धाय ने सुन्दर कहानी सुनायी—हे महाबाहो! किसी जगह तीन सुन्दर योग्य राजकुमार रहते हैं।। २२।।

(उनमें से) दो पैदा नहीं हो पाये और एक तो गर्भ में ही नहीं टिक पाया! जो नगर न कभी था, न है, न होगा, वहाँ वे धर्मपरायण हुए रहते हैं।। २३।।

अपने निस्तत्त्व नगर से निकल कर जाते हुए निर्मल चित्त वाले उन कुमारों ने आकाश में फलों से लदे वृक्ष देखे।। २४।।

वे तीनों राजकुमार शिकार खेलते हुए आज वहाँ रहते हैं जो नगर भविष्य में बनेगा!। २५।।

भले ही स्तनन्धय बालक ये बातें सुनकर इन्हें घटना के रूप में मानकर प्रसन्न हो जाये किंतु बातें केवल अनर्गल हैं, असंभव हैं। पैदा न हुए और गर्भ में ही न आये बालकों का चरित्र सुनाने जैसा संसारवर्णन, इसमें समर्थ शक्ति का वर्णन है। आकाश में पेड़ कहाँ! फिर

भी उन्हें फलों से लदा देखा! जो बसा ही नहीं उस नगर में वे आज से ही रहते हैं! सारी ही बातें बेमेल हैं, असंगत हैं। इसी तरह आकाश से वायु का जन्म किसी युक्ति से समर्थन के योग्य नहीं। बच्चे को जैसे कहानी वैसे बड़ों को संसार-कथा, सृष्टि-आदि प्रसंग भले ही सच लगें, मनमानी युक्तियाँ भी वे सोच लें किंतु वस्तुदृष्टि आते ही पता चलता है कि ये सारी चर्चाएँ अर्थहीन हैं। एक सीमा तक ही इन बातों में सार प्रतीत होता है, उससे आगे नहीं।। २२—२५।।

उक्त कथा से बालक का सन्तोष दिखाते हैं—

धात्र्येति कथिता राम! बालकाख्यायिका शुभा।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया।। २६।।

हे राम! राजकुमारों की यह शुभ कथा धायने यों सुनायी कि विचारहीन अपनी बुद्धि से उस बालक को निश्चय हो गया (कि ऐसा ही हुआ)।

कथा शुभ इसलिये कि बालक का मन बहल गया। शक्ति आदि का वर्णन भी शुभ इसलिये कि बन्धन-मोक्ष उपपन्न हो जाते हैं, सत्कर्म में प्रवृत्ति से अभ्युदय और अंतर्मुखता से निःश्रेयस सम्भव हो जाता है। बालक की तरह मोहग्रस्त प्राणी विचार नहीं कर सकता अतः संसार-चर्चा से इसे वास्तविक मानता ही है।। २६।।

उदाहरण से प्रकृत में निर्णय बताते हैं—

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम्।
बालकाख्यायिकेवेत्थम् अवस्थितिमुपागता।। २७।।

बालकों की कहानी जैसी, यह संसार-रचना उन्हें लगती है कि 'अवश्य है ही' जिनके मन से विचार विलुप्त है।

विवेकी के लिये संसार न है न इसका होना युक्ति-प्रमाण से समर्थित है। मनगढ़न्त उक्त कहानी जैसा जगत् के जन्मादिका वर्णन है, इसमें विभिन्न व्यवस्थाओं को स्वीकारना है। अविवेकी को ही यह सब वैसे सच्चा लगता है जैसे छोटे बच्चे को वह कहानी।। २७।।

वासिष्ठ-प्रसंग का संक्षेप सुनाकर प्रसंग आगे बढ़ाते हैं—

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम्।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते।। २८।।

इस एवं ऐसी अन्य कहानियों से मायाशक्ति का विस्तार वसिष्ठ जी ने कहा है। वही शक्ति यहाँ समझायी जा रही है।

राम जी को अज्ञात तत्त्व हृदयंगम करने के लिये वसिष्ठ जी ने असंख्य कथाओं का सहारा लिया। समझाना प्रधानतः यही है कि संसार में कुछ भी युक्तिसंगत नहीं है। माया स्वयम् असंगत होने से इसका फैलाव भी इसी तरह का है। वेद ने गंभीर ढंग से तथा

वसिष्ठ-व्यासादि ने सरल ढंग से यह तथ्य प्रकाशित किया है। अनिर्वचनीय माया का विस्तार अनिर्वचनीय ही प्रपञ्च है। प्रमाण एवं युक्ति के समर्थन के बिना ही प्रपंच हमें सत्य ही लगता है अतः इसरूप में बनी शक्ति भी वास्तविक लगती है। यह पारमेश्वरी शक्ति का ही महान् अद्भुत प्रभाव है।। २८।।

निरूपण प्रारम्भ करते हैं–

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते।। २९।।

यह शक्ति अपने कार्य से एवं आश्रय से अलग है। चिन्गारी या चट-चट ऐसी आवाज़ तथा अंगारा–ये (कार्य और आश्रय तो) देखे जाते हैं, वहाँ शक्ति (केवल) अनुमान से समझी जाती है।

मायाशक्ति अपने कार्य से भिन्न है, जिसको यह पैदा करती है, उससे भी अलग है, और जिस आश्रय में है उससे भी भिन्न है। मायाशक्ति परमात्मदेव में है लेकिन परमात्मा से भिन्न है; क्योंकि मोक्षअवस्था में परमात्मा रह जाता है, यह शक्ति नहीं रहती। इसलिये आश्रय से अलग है। इसका जो कार्य संसार है इससे भी अलग है क्योंकि महाप्रलय में माया तो रह जाती है पर इसका कार्य नहीं रहता। इस तरह शक्ति अपने कार्य से भी अलग है और आश्रय से भी अलग है, जहाँ रहती है तथा जिसको पैदा करती है, दोनों से अलग है। विलक्षण अर्थात् इसका स्वभाव, दोनों से पृथक् है अतः उनसे भिन्न है। लौकिक भी शक्ति में यही देखा जाता है। चिन्गारियाँ दिखाई देती हैं, चट-चट आवाज़ कर चिन्गारियाँ निकलती हैं। आवाज़ हमें सुनाई देती है, चिन्गारियाँ दीखती हैं; और अंगारा भी दिखाई देता है। अंगारे की शक्ति नहीं दिखाई देती, उसका अनुमान ही करते हैं। स्फोट हो गया कार्य, अंगारा है आश्रय जिसमें वह रहती है। शक्ति दोनों से भिन्न है। चिन्गारी और आवाज़ न रहे तो भी शक्ति रहती है तभी और चिन्गारियाँ निकलती हैं। अंगारा प्रत्यक्ष है जबकि शक्ति अप्रत्यक्ष है, जलने से पहले कोयले में शक्ति तो है पर वह अंगारा नहीं है, इसलिये अंगारे से भी शक्ति भिन्न है। इसी प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार से ब्रह्म का पता लगता है और ब्रह्म के अज्ञानकाल में जगत् दीखता है। अज्ञानकाल में जगत् दीखा, ज्ञानकाल में ब्रह्म का पता चला पर माया शक्ति दोनों से अलग है। ज्ञान हो जाये तो जगत् नहीं रहता, जगत् दीखे तो ब्रह्म प्रतीत नहीं होता। स्वभाव स्थायी होता है। यदि हर समय चट-चट करेगा तो अंगारे का वह स्वभाव होगा। तुममें चलने की शक्ति है, चाहो तो चलो या नहीं चलो। इसी तरह, परमशिव सब समय सृष्टि नहीं करता, उसमें शक्ति है सृष्टि बनाने की। अंगारे की शक्ति का अनुमान किया जाता है। अंगारा चट-चट करेगा तभी शक्ति का पता लगेगा। अंगारे में वह आश्रित रहती है, स्फोट में वह कार्यरूप से रहती है।

माया शक्ति का आश्रय तो परमेश्वर, जगत् उसका कार्य, इनसे पृथक् शक्ति है, जो अनुमेय ही है।। २९।।

दृष्टान्तान्तर दिखाते हैं—

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा।। ३०।।

मोटे गोल पेट-से आकार वाला घड़ा कार्य और शब्द आदि पाँच गुणों से युक्त मिट्टी उसमें कारण है (जो शक्ति का आश्रय है)। शक्ति तो वैसी (कार्यरूप या पंचगुणोपेत) नहीं है।

मोटा, गोल पेट घड़े का स्वरूप है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द गुणों से युक्त मिट्टी घड़े में कारण है। हर मिट्टी में हर समय घड़ा है नहीं, अतः उसे मिट्टी का स्वरूप नहीं कह सकते। मिट्टी से पैदा होता है इसलिये मिट्टी में उसे पैदा करने की शक्ति माननी पड़ती है। इसलिये शक्ति कार्य से भी और आश्रय से भी भिन्न है। आश्रय मिट्टी में शक्ति आश्रित हुई रहती है और घड़े में कार्यरूप से रहती है। कारण में रहती ज़रूर है पर है कारण से भिन्न। कार्य को भी पैदा करती है पर है कार्य से भिन्न क्योंकि जब कार्य नहीं रहता, तब भी रहती है। जब घड़ा नहीं है तब भी मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति तो है ही। इसी प्रकार कार्य हो गया जगत्, कारण है परमेश्वर, दोनों से यह शक्ति भिन्न है। परमेश्वर में रहती है और जगत् को पैदा करती है।। ३०।।

'शक्ति वैसी नहीं'-यह स्पष्ट करते हैं—

न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति।। ३१।।

शक्ति में मोटा पेट आदि कार्यधर्म भी नहीं और शब्दादि कारणधर्म भी नहीं (अतः वह दोनों से विलक्षण है)। वह जैसी हो वैसे रहे। इसलिए वह चिन्तन के अयोग्य है, उसको सद्-असद् आदि रूप से परिभाषित नहीं कर सकते।

शक्ति में घड़े का मोटापा नहीं है, मिट्टी में रहने वाले शब्दादि भी नहीं हैं। न कार्य के और न कारण के गुण शक्ति में हैं। अतः इसे न कार्य से भिन्न कह सकते हैं, न कारण से भिन्न कह सकते हैं। शक्ति में न रूप-रंग है, न आकार है, इसलिये वह इन दोनों से भिन्न है, विलक्षण है। जिस समय शक्ति है, उस समय किसी प्रमाण का विषय नहीं। जब नहीं रह गयी, कार्यरूप में परिणत हो गई तब 'यह थी' ऐसा अनुमान कर सकते हो किंतु तब वह है नहीं। अतः अचिंत्य है, इसका विचार कर ही नहीं सकते। मिट्टी तो वैसी ही बनी रही पर जो घट पैदा हो गया उसे पैदा करने की शक्ति समाप्त हो गयी इसलिये कारण से वह अभिन्न नहीं। और कार्य पैदा होने से पहले है अतः कार्य से अभिन्न नहीं है। किसी भी रूप में इसका निर्वचन नहीं कर सकते। कारण से कार्य हुआ इसलिये शक्ति माननी पड़ती है। कारण तो वह है जो सब समय रहता है। कार्य वह है जो कभी रहे, कभी न रहे। इस प्रकार शक्ति अचिन्त्य, अनिर्वाच्य है।। ३१।।

कारण से भिन्न होने पर भी कारण की तरह स्पष्ट न प्रतीत होने में कारण बताते हैं कि वह छिपी रहती है—

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत्।। ३२।।

(घट आदि) कार्य की उत्पत्ति से पहले शक्ति मिट्टी (अर्थात् कारण) में छिपी रहती है। कुम्हार आदिकी सहायता से वह विकार (अर्थात् कार्य) का आकार ग्रहण कर लेती है।

घड़ा बनने से पहले कार्य उत्पन्न करने की शक्ति मिट्टी में निगूढ है, अव्यक्त है। कुम्हार आदि की सहायता से उस शक्ति का विकास हो गया, घड़े के आकार में शक्ति बन गई। पहले छिपी थी, कुम्हार की मदद से प्रकट हो गई लेकिन घड़े-रूप में। कुम्हार के अलावा चक्का डंडा, पानी, आदि अन्य कारण भी चाहिये, किन्तु यदि मिट्टी नहीं है तो सारे साधन घड़ा नहीं बना सकते! अतः मिट्टी में ही घड़ा बनने की शक्ति माननी पड़ती है। सारी मिट्टियाँ घड़ा बनाने योग्य नहीं होतीं। कारणावस्था में छिपी होने से पृथक् पहचान नहीं, कार्यावस्था में क्योंकि उसने अपना आकार ही बदल लिया, कार्य का आकार धारण कर लिया, इसलिये शक्ति की पृथक् पहचान नहीं—इसलिये दीखते तो कार्य व कारण हैं किंतु स्वीकारनी शक्ति भी पड़ती है।। ३२।।

घड़ा मिट्टी की तरह शक्ति का कार्य है यह समझाना प्रारम्भ करते हैं—

पृथुत्वादिविकारं तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम्।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः।। ३३।।

मोटा पेट आदि पूर्वोक्त परिवर्तन, स्पर्श आदि गुण एवं मिट्टी, इन्हें एकमेककर ‘घड़ा’ वे कहते हैं जो लोग विचार में प्रवृत्त नहीं हैं।

व्यवहार में घड़े का रूप केवल विकार तो नहीं, मिट्टी, मिट्टी के गुण और जो कुम्हारादि ने आकार का परिवर्तन किया वह— इन तीनों को मिला-जुलाकर ‘घड़ा’ समझा जाता है। उसे मिट्टी से सर्वथा अलग बना हुआ कोई अन्य पदार्थ नहीं समझा जाता। घड़े में मिटट्री—यों साधारण लोग, मिटट्री में घड़ा—यों दार्शनिक लोग भले ही कहने में मिटट्री—घड़े के अन्तर का उल्लेख कर दें लेकिन घड़े के स्वरूप में ही मिट्टी सब को स्वीकार है, मिट्टी से स्वतन्त्र घड़ा कोई नहीं मानता। विचारविकल अर्थात् अविवेकी यों मानते हैं— ऐसा इसलिये कहा कि घड़े का मोटा पेट आदि रूप अलग, जलाहरणादि विकार अर्थात् कार्य अलग, कड़ा स्पर्श आदि वाच्य अलग और मिट्टीरूप कारण अलग—ये सभी पृथक्-पृथक् समझ आने पर भी घड़ा देखते हुए यह भेद भूलकर इन्हें एकमेक कर लेते हैं। विभिन्नों को अभिन्न समझना अविवेक ही है। (‘पृथुत्वादिविकारान्तम्’ ऐसा छपा पाठ अनुचित है यह अच्युतराय ने बताया है।)।। ३३।।

'घड़ा' ऐसा व्यवहार अविचार-रमणीय ही क्यों है यह स्पष्ट करते हैं—

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता।। ३४।।

कुम्हार ने जो कुछ किया उससे पहले का सारा भाग 'घड़ा' नहीं है। कुम्हार की क्रियायें पूरी होने पर (वही अंश) मोटा पेट आदि वाला हो तभी घड़ारूपता संगत है।

कुम्हार ने जो कुछ किया उससे पहले मिट्टी ही थी, वह घड़ा कही-समझी नहीं जा सकती। कुम्हार काम करता है तभी वह मिट्टी ऐसा आकार धारण करती है जिसे घड़ा कहा जाये। ऐसे ही सुनार के प्रयास से गहना-आकार ग्रहण करने वाला है सोना। विचार से सोना-गहना पृथक् होने पर भी अविवेक से इन्हें एकमेक समझा जाता है। मिट्टी कुम्हार-कार्य नहीं, घड़ा ही उसका कार्य है, फिर भी घड़ा समझते आकार विशेष में स्थित मिट्टी को हैं अतः अविवेक है। इसी से कार्य का मिथ्यात्व सिद्ध है।। **३४।।**

घट वास्तविक सत्य नहीं, यही व्यक्त करते हैं—

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्।
नाऽप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायाम् अनवेक्षणात्।। ३५।।

कार्यभूत घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं क्योंकि मिट्टी से अलग होने पर उपलब्ध नहीं होता। और घड़ा मिट्टी से अभिन्न भी नहीं क्योंकि पहले, जब तक मिट्टी पिण्ड की स्थिति में है तब तक घड़ा दीखता नहीं।

जिसको घड़ा कहते हो, वह मिट्टी से कोई अलग चीज़ हो ऐसा तो है नहीं। घड़े का गोल आकार मिट्टी के बिना दीखता नहीं। कच्चा घड़ा पानी में डाल दो तो गल जायेगा। मिट्टी वहाँ भी रही पर जो कुम्हार ने बनाया वह बना नहीं रहा। अतः उसको मिट्टी से भिन्न भी कहना पड़ेगा। किन्तु मिटट्ी से अलग होकर वह आकार दीखता नहीं। जो चीज़ जिसके बिना नहीं रहती वह उसका ही रूप होती है— इस नियम से मिट्टी से घड़ा भिन्न भी नहीं है क्योंकि मिटट्ी के रहते भी दीखता नहीं। इस तरह अलग नहीं कह सकते, अभिन्न नहीं कह सकते। कुम्हार के काम करने से पहले मिट्टी पिण्डदशा में थी, उस समय उसके अन्दर घड़ा नहीं दीख रहा था। मिट्टी अलग होकर घड़ा नहीं दीखता इसलिये भिन्न भी नहीं है, अभिन्न भी नहीं है। विचार करो, क्या तुम्हें कोई चीज़ बिना ज्ञान के प्रतीत होती है? अतः ज्ञान से अलग कोई चीज़ नहीं है। परन्तु घटज्ञान-काल में पट नहीं, पटज्ञान-काल में घट नहीं, इसलिये ज्ञान से अभिन्न भी नहीं कह सकते। ज्ञान ही ब्रह्म है। इसलिये ज्ञानरूप ब्रह्म में यह शक्ति माननी पड़ती है जिस से सब चीज़ें पैदा होती हैं। बिना ज्ञान के कोई चीज़ मिलती नहीं। माया इस शक्ति को ही कहते हैं।। **३५।।**

पूर्वोक्त विचार से घड़ा भी अनिर्वचनीय ही सिद्ध हुआ अतः उसका कारण अनिर्वचनीय माया होना उचित है यह निर्णय बताते हैं—

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत् तेन शक्तिजः।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत्।। ३६।।

जैसे मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति मिट्टी से भिन्न भी नहीं अभिन्न भी नहीं, विलक्षण है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् उत्पन्न करने की शक्ति ब्रह्म से भिन्न भी नहीं अभिन्न भी नहीं।

घड़ा बन गया तो पता लगा कि शक्ति थी, घड़े को देख कर शक्ति का अनुमान होता है। इसी प्रकार जगत् को देखकर माया का अनुमान होता है। ब्रह्म तो शब्द से सिद्ध है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वेदवाक्य से सिद्ध है। ब्रह्म का हमें कोई अनुभव नहीं है। सजातीय विजातीय आदि सारे भेदों से रहित ब्रह्म वेद प्रमाण से ही पता लगता है। यह जगत् दीखता है। शास्त्र बताता है कि यह उस ब्रह्म से पैदा हुआ इसलिये मानना पड़ता है कि ब्रह्म में जगत् उत्पन्न करने की शक्ति अर्थात् माया है। शक्ति और कार्य दोनों अनिर्वचनीय होने पर भी जिस समय महाप्रलय है, उस समय कुछ भी व्यक्त नहीं है, जिस समय जगत् है तभी कह सकते हैं कि महाप्रलय में सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति थी, नहीं होती तो पैदा कैसे हुआ? माया अज्ञानरूप है। संसार को देखकर पता लगता है कि हमें ब्रह्म का अज्ञान है। जब अप्रकट है तब उसे शक्ति कहते हैं, जब प्रकट है तब उसे घड़ा कहते हैं। मिट्टी-घड़ा आदि में कारण-कार्य दोनों प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणसिद्ध और उनमें कार्यकारणता समझना भी लौकिक आधार पर ही सम्भव है। जगत्-ब्रह्म में स्थिति है कि न ब्रह्म प्रत्यक्षादिसिद्ध है, न यह कि वह जगत्कारण है। ब्रह्म और उसकी जगत्कारणता शास्त्र से ही पता चल सकती है। संसार की चीज़ें जन्म-नाश वाली मिलने से, सावयव होने से, आदि विचार-पूर्वक समस्त जगत् जन्म-नाश वाला निर्णीत होता है। यहाँ तक अनुमान कार्य करता है। वेद शिव को जगत् का एकमात्र कारण कहता है। लोकसिद्ध नियम के आधारपर ब्रह्म में जगत् बनने की शक्ति समझी जाती है जिसका अनुवाद शास्त्र भी कर देता है। शक्तिसम्पन्न ब्रह्म को 'ईश्वर' कहते हैं। माया से युक्त ही जगत्कारण होने से ईश्वर है। जगत्, इसकी सृष्टि आदि के आधार पर अनुमान से जो पता लगेगा, जिसमें 'ईश्वर' शब्द की शक्ति का ग्रहण करेंगे, वह माया-विशिष्ट है। अतः जगत्काल में, व्यवहारदशा में ब्रह्म ईश्वर ही कहा-समझा जायेगा। ब्रह्म-ईश्वर पृथक् नहीं हैं! ब्रह्म ही मायायुक्त समझा जाता ईश्वर है। ब्रह्म में किसी तरह का बदलाव, सम्बन्ध-वियोग आदि नहीं, माया से भी उसका कोई सम्पर्क नहीं! हम कार्य की अपेक्षा से समझते हैं अतः मायायुक्त पता लगता है, वास्तव में वह स्वरूपमात्र में स्थित है। शक्ति-कार्य में अव्यक्तता का अन्तर है, हैं दोनों मिथ्या।। **३६।।**

पहले व्यक्त, प्रकट न रहकर बाद में प्रकट होने वाले को लोक में 'माया' नहीं कहते तो ईश्वरशक्ति क्यों माया कही जाये? उसके उत्तर में समझाते हैं कि लोक में भी माया कही ही जाती है—

ऐन्द्रजालिकनिष्ठाऽपि माया न व्यज्यते पुरा।
पश्चाद् गन्धर्वसेनाऽदिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात्।। ३७।।
एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम्।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाऽब्रवीच्छ्रुतिः।। ३८।।

जादूगर में स्थित माया भी (वह खेल दिखाये इससे) पहले व्यक्ति नहीं रहती, (जब वह खेल दिखाने का निश्चय करे उसके) बाद में गन्धर्वों की सेना आदि के रूप में व्यक्त होती है (३७) इसी तरह (का होने से) कार्य क्योंकि मायामय है इसलिये श्रुति ने उसे झूठ बताया तथा उसका आधार जो मिट्टी आदि कारण वस्तु उसे सत्य बताया।

लोक में कार्य जैसे अप्रकट रहकर प्रकट होता है ऐसे ही जादूगर की माया भी। हमेशा तो उसका खेल दीखता नहीं रहता, रास्ते चलते बाजीगर को देखकर पता भी नहीं चलता कि यह मायावी है। नगर, सेना आदि जो कुछ वह दिखाता है सब उसीमें छिपा है, उसके संकल्पानुसार सभी व्यक्त हुआ दीखता है। जैसे ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) अपने खेल का, अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है वैसे ईश्वर भी प्रपंच का एकमात्र कारण है।। **३७-३८।।**

परमेश्वर की शक्ति माया बतायी जिसका विस्तार होने से प्रपंच भी मायिक अतः झूठा कहा। उसे झूठा बताने वाली प्रसिद्ध श्रुति छान्दोग्य (६.४.१) में है 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', उसका उल्लेख करते हैं—

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका।। ३९।।

कार्य वाणी-सम्पाद्य होने से नाम ही है, इसकी सत्यता नहीं। स्पर्श आदि गुणों से युक्त (अतः) सत्य तो मिट्टी ही है।

श्रुति ने कहा कि वाणी से ही घट की सिद्धि होती है। वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि यह सारा प्रपंच शब्द का ही प्राकट्य है। वाणी से उच्चारण करते हो 'घट' यह नाम, बस इतनी ही घट की सत्यता है, इसकी वास्तविक सत्यता नहीं है। जो चीज़ सत्य होती है वह हमेशा 'है' के साथ जुड़ी रहती है। संसार की चीज़ें तो 'नहीं है' के साथ मिलती हैं : बेटा पैदा होने से पहले अनादि काल से और मरने के बाद अनन्त काल तक नहीं है। फिर मध्यकाल में सौ साल तक जो बेटा दीखा उसे तुम सत्य कैसे मानते हो? सच्ची तो कारणरूप मिट्टी है। मिट्टी के अपने स्वतंत्र रूपादि गुण हैं। घड़े के स्वतंत्र कोई गुण आदि नहीं हैं, मिट्टी के ही स्पर्श आदि को घड़े का गुण मान लेते हैं। मिट्टी के स्पर्शादि इसलिये सत्य हैं कि घड़े से पूर्व और बाद में भी रहेंगे। विचारक जगत् की नश्वरता तो मानते हैं, इसे हमेशा रहने वाला कोई दार्शनिक नहीं मानता। जिस रूप में उपस्थित है उसी रूप में रहेगा ऐसा कोई नहीं मानता। जो मीमांसक जगत् को नित्य मानते हैं, वे भी हर चीज़ पैदा

और समाप्त होती है इसलिये उन्हें अनित्य मानते हैं। जो अनित्य होता है वह मिथ्या होता है, इस बात को अन्य लोग नहीं समझ पाते। अनित्यता से मिथ्या सिद्ध होवे इसलिये श्रुति ने कहा कि कहनेभर का होने से कार्य सत्य नहीं। जो हमेशा रहने वाला है वह सत्य है, आने-जाने वाला मिथ्या है। मिथ्या सत्य से ही आया है, इसलिये सत्य में मिथ्या की शक्ति है जिसे माया कहते हैं।। ३९।।

शक्ति और उसका कार्य मिथ्या तथा शक्ति का आधार सत्य समझने में हेतु बताते हैं—

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति।। ४०।।

व्यक्त अव्यक्त और उनका आधार—इन तीनों में पहले दोनों समयानुसार क्रम से होते हैं जबकि तीसरा निरन्तर बना रहता है।

मिट्टीरूप आधार, व्यक्त घड़ा, और व्यक्त होने से पहले अव्यक्त—ये तीन हो गये। एक प्रकट होने वाला कार्य, दूसरा अप्रकट रहने वाली शक्ति, तीसरा हमेशा एक-जैसा रहने वाला कारण। व्यक्त और अव्यक्त परिवर्तित होता रहता है। व्यक्तकाल में कार्य और अव्यक्तकाल में शक्ति है, कालभेद से ये आते-जाते हैं। घड़ा बनने से पहले अव्यक्त है। कुम्हार के काम के बाद व्यक्त है। व्यक्त-अव्यक्त एक-एक करके आते हैं।

मिट्टी पहले और बाद में, सभी समय है। शक्ति और कार्य कभी-कभी हैं इसलिये इन्हें अनृत, मिथ्या कहते हैं। मिट्टी एकरूप अतः सत्य है। कार्य पहले अव्यक्त है, फिर व्यक्त और फिर अव्यक्त हो जाता है। भगवान् ने कहा है 'अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत, अव्यक्तनिधनानि'—सारे भूत पहले अव्यक्त, बीच में व्यक्त, फिर अव्यक्त हो जाते हैं। यह कार्यमात्र का नियम है। यही कालभेद 'पर्यायता' अर्थात् क्रमभाविता है। तीनों कालों में एक-जैसा रहने वाला तो कारण ही है। अव्यक्त से व्यक्त और फिर अव्यक्त होने वाला विकार असत्य है। संसार में सभी को कार्य अव्यक्त और व्यक्त मानना ही पड़ता है। सभी चीज़ें जन्म-मरण वाली हैं। परन्तु वे कहते हैं कि जिस काल में व्यक्त है, तब कार्य सचमुच में है। वेदान्ती कहता है पैदा होने वाला, मरणधर्मा असत् है क्योंकि वह विनाशिता को असत्यता में हेतु कहता है।। ४०।।

कार्य असत्य है इसे अनेक हेतुओं से सिद्ध करते हैं—

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तम् उत्पत्तिनाशभाक्।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः।। ४१।।

व्यक्त कहलाता कार्य स्वरूप से असत् रहकर प्रतीयमान है एवं उत्पत्ति-विनाश वाला है। उसकी उत्पत्ति होने पर लोग वाणी से उसके नाम का व्यवहार करते हैं।

संसार वास्तविकता से रहित है, सत्तारहित है। जैसे रस्सी में साँप दीखते काल में भी

वहाँ सर्प नहीं है वैसे दीखते काल में भी घट में वास्तविकता नहीं है। बिना वास्तविकता हुऐ भी प्रतीति होती है। घड़ा सचमुच में है नहीं, पर प्रतीत होता है। सभी व्यक्त चीज़ें ऐसी ही हैं। इसीलिये वेदान्त में व्यक्त पदार्थों का ज़्यादा विचार नहीं है। अन्य दार्शनिक व्यक्त के बारे में अधिक विचार करते हैं। वेदांती कहता है कि व्यक्त तो निस्तत्त्व है इसलिये उसकी सत्ता का निर्णय करने का प्रयत्न मत करो। यह माया का खेल है, 'क्या है'—यह कह नहीं सकते किन्तु 'भासमानं च' प्रतीत होता है। व्यक्त उत्पन्न हुआ है और नष्ट होता है।

भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।।' (वैत.६) पहले-पीछे न होने वाला मध्य में भी नहीं ही हो सकता है। तथ्यहीन जैसा है पर लगता तथ्यवान् है, इसी से लोग भ्रम में पड़ते हैं। व्यक्त वास्तविक लगने से हम सारा प्रयत्न उसपर केन्द्रित रखते हैं। क्योंकि है वह अवास्तविक इसलिये हमारा श्रम, सामर्थ्य तो क्षीण होते हैं लेकिन उपलब्धि कुछ हो नहीं पाती, हाथ में रह कुछ नहीं जाता। निस्तत्त्व होकर भी भासमान होने वाला मिथ्या कहलाता है।

कार्यमिथ्यात्व में एक हेतु निस्तत्त्व होते हुए भासमानता अर्थात् दृश्यता, दूसरा—जन्मनाशशीलता। सभी व्यक्त पदार्थों में ये विशेषतायें हैं अतः सब कार्य मिथ्या हैं। मिथ्या व्यवहार-योग्य होता है, इसमें एक मुख्य कारण है कि उसका नाम पड़ जाता है। यह तीसरा कारण है मिथ्यात्व में। जब चीज़ उत्पन्न, व्यक्त होती है, तब लोग वाणी के द्वारा उसका नाम रख लेते हैं। पैदा होने से पहले उसका नाम नहीं है। नष्ट होने के बाद भी नाम बना रहेगा। यही बन्धन में डालता है। नाम-रूप में से नाम ज़्यादा बन्धन का कारण है। नाम वाणी से पैदा हुआ, उसका व्यवहार वाणी से ही होता है। जैसे संसार के बन्धन में नाम डालता है, वैसे ही संसार से छुड़ाने वाला भी हो जाता है। त्रेता में दशरथ के घर राम नाम का बेटा हुआ। उनका नाम लोगों को आज भी तारता है। शब्दों के द्वारा उनके चरित्र का वर्णन कर आज भी मार्गदर्शन कराता है। संसार की चीज़ों का ग़लत प्रयोग बन्धन का कारण है, उचित ढंग से उपयोग मोक्ष का कारण है। बन्धन-मोक्ष दोनों ही नाम-रूप की मर्यादा में हैं। बन्धन-मोक्ष ये भी नाम हैं। शुद्ध चेतन एक जैसा सदैव है। बन्धन वास्तविक नहीं है, यदि होता तो मोक्ष भी वास्तविक होता। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि परमार्थ दृष्टि से निरोध (बन्धन), उत्पत्ति, बद्ध, साधक, मुमुक्षु, मुक्त—ये सब हैं ही नहीं! जैसे गड़े काँटे को हाथ में पकड़े काँटे से निकालना पड़ता है वैसे अज्ञान के काँटे को ज्ञान के काँटे से निकालना पड़ता है। यदि निकालने वाला काँटा भी गड़ा रह गया तो वह भी नासूर करेगा, जैसा पहले वाले ने किया। यदि मोक्ष की वास्तविकता पर ज़ोर दोगे, तो बन्धन की वास्तविकता स्वयं आ जायेगी।। ४१।।

नाम पड़ने से व्यवहार्यता होने के कारण श्रुति ने कार्यों को 'वाचारम्भण' अर्थात् वाणी के सहारे ही होने वाला कहा यह बताते हैं—

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतद् नृवक्त्रेष्वनुवर्तते।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद् व्यक्तं तद्रूपमुच्यते।। ४२।।

व्यक्त रहते एवं नष्ट होने पर भी यह नाम लोगों के मुँहपर बना रहता है इसलिये नामद्वारा निरूपणीय होने के कारण व्यक्त अर्थात् कार्य को नामात्मक कहा गया है।

जब चीज़ व्यक्त हो गई, उससे पहले उसका नाम नहीं है। चीज़ तो नष्ट हो गई लेकिन उसका नाम मनुष्यों के मुख में रहता ही है। यहाँ 'नृवक्त्रेषु' से देवता, गन्धर्व इत्यादि के मुख भी ले लेने चाहिये। अर्थात् जो-जो शब्द का प्रयोग करने में समर्थ हैं, वे सभी यहाँ नृ शब्द से कह दिये। जो भी शब्द का प्रयोग करने वाले हैं, उनके अन्दर वह नाम बना रहता है। व्यक्त कार्य वाणी के द्वारा नाम से व्यवहृत किया जाता है। वाणी से ही कार्य का निरूपण होता है। वाणी से जिसका व्यवहार करते हो वह व्यक्त रूप ही है। शिव का वाणी से व्यवहार कर नहीं सकते। श्रुति बार-बार कहती है कि वह मन और वाणी का विषय नहीं है क्योंकि कोई शब्द उसे कहने में समर्थ नहीं है। शब्द से जब कहने का प्रयत्न करते हैं तब विरुद्ध बातें कहनी पड़ती हैं! जैसे, ईशावास्य में कहा 'अनेजत्' वह हिलता भी नहीं है, फिर भी 'मनसो जवीयः' मन से भी तेज़ चलता है! दोनों विरुद्ध बातें हैं। व्यवहार अज्ञान का ही कार्य होगा। नाम से व्यवहार हो जाता है रूप के नष्ट होने के बाद भी, इस दृष्टि से नाम को रूप की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है। राम का नाम हज़ारों सालों से कल्याण कर रहा है और करता रहेगा। नाम श्रेष्ठ होने से वेद में वही उसका रूप कह दिया गया है।। ४२।।

तीनों हेतु बता चुके, अब अनुमान के ढंग से कहते हैं—

निस्तत्त्वत्वाद् विनाशित्वाद् वाचारम्भणनामतः।
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किञ्चिद् मृदादिवत्।। ४३।।

व्यक्त अर्थात् कार्य का वह (अर्थात् कहा जा सकने वाला) रूप कुछ भी सत्य नहीं है क्योंकि तत्त्वहीन है, विनाशी है और वाणी के सहारे रहने वाला अर्थात् नाममात्र है। (जो निस्तत्त्वादि नहीं होता वही सत्य होता है) जैसे मिट्टी आदि।

अनुमान बनेगा—घटादि कार्य असत्य है क्योंकि १) निस्तत्त्व है, २) विनाशी है और ३) वाणी पर ही निर्भर है; जो असत्य नहीं होता वह निस्तत्त्वादि भी नहीं होता जैसे घटादि का उपादान मिट्टी आदि। तत्त्व वह होता है जो प्रमाणसिद्ध होकर एकरस ही रहे। घट आदि कार्य तो विभिन्न परिवर्तनों वाला एवं प्रमाणसिद्ध नहीं; प्रमाण मिट्टी ही सिद्ध कर पाते हैं, घट नहीं। आँख आदि से मिट्टी ही दीखती है, उससे स्वतन्त्र घड़ा कोई वस्तु मिलती नहीं। अवयव ऊपर-नीचे कर देने से तत्त्वान्तर नहीं बन जाता। इसी प्रकार सत्य नश्वर नहीं होता, सत् का, सत्ता का व्यभिचारी नहीं होता। कार्य सभी सद्व्यभिचारी हैं, जन्म से पूर्व और ध्वंस के बाद सत्सम्बद्ध नहीं हैं। तीसरा हेतु है नामाश्रित ही होना। प्रमाण से नहीं वरन् वाङ्मात्र से, नाममात्र से व्यवहार्य होना कार्य का स्वरूप है।

कार्य उत्पन्न होने पर नाम पड़ता है फिर उसके ध्वंस के बाद भी कुछ समय तक चलता रहता है। हमेशा तो नहीं पर तारतम्यसे दीर्घ काल तक बना रहता है। रूप का जीवन

स्वल्पतर है, नाम उससे ज़्यादा टिकाऊ है। रूप पहले अव्यक्त रहा, कार्यजन्म के समय व्यक्त हुआ, तदनन्तर नाम व्यक्त हुआ—यह लोकसिद्ध क्रम है। किंतु घड़े का जो कुछ भी परिचय संभव है वह शब्दात्मक ही है; 'घड़ा बनाओ' ऐसा कुम्हार से कहते हैं, 'घड़ा बन गया' यह जब वह बताता है तब जाकर जिसे 'घड़ा' कहते हैं उसे उठा लाते हैं, कालान्तर में 'घड़ा फूट गया' यह कहते हैं। वस्तु लगातार मिट्टी रही, पहले उसे 'घड़ा' नहीं कहते थे, बीच में कुछ काल कहा, फिर नहीं कहते; इस तरह घड़ा कहलाती चीज़ का 'घड़ा' शब्द ही परिचय है अतः इस शब्द के सहारे ही उसकी वर्तमानता स्वीकार्य होने से वह शब्दनिर्भर या वाचारम्भण (वागालम्बन) है। वाणी द्वारा नाम पड़कर व्यवहार्य होना कार्य का वैशिष्ट्य है। घटादि 'असत्य' है अर्थात् वास्तव में सत्य नहीं। व्यवहार-निर्वाह के लिये भले ही उसमें सत्यता है लेकिन परमार्थतः नहीं। त्रिकाल में वह अबाध्य हो ऐसी बात नहीं। सचमुच में सच्चा, और झूठ-मूठ में सच्चा, इस अन्तर को वेदान्ती ही स्पष्ट करता है।। ४३।।

कार्य असत्य है यह समझा चुके, अब स्पष्ट करते हैं कि कार्य का अधिष्ठानरूप मिट्टी सत्य है—

व्यक्तकाले ततःपूर्वम् ऊर्ध्वमप्येकरूपभाक्।
सतत्त्वम् अविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते।। ४४।।

व्यक्त होने वाले कार्यों के समय, उससे पहले और व्यक्त न रह जाने के बाद, सभी समय एक-समान रहने वाली मिट्टीरूप वस्तु वास्तविक रूप वाली, अविनाशी और सत्य कहलाती है।

घड़ा आदि व्यक्त होने से पहले, उसके बाद तथा कार्य समाप्त होने के अनन्तर भी मिट्टी स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया अतः वह तत्त्व वाली है। और वह नष्ट होने वाली नहीं है। सृष्टि होने से पहले ब्रह्म था, महाप्रलय में भी ब्रह्म ही रह जायेगा। बीच में भी हर चीज़ सत् से अनुविद्ध मिलती है। व्यक्त होने से पहले, व्यक्त के नष्ट होने पर तथा मध्य में भी रहने से सद्रूप ब्रह्म ही वास्तविक है, सत्य है, पारमार्थिक है।। ४४।।

कार्य असत्य है तो उसके अधिष्ठान अर्थात् कारण को जानते ही निवृत्त, प्रतीति का अविषय क्यों नहीं हो जाता? यह प्रश्न उठाते हैं—

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः।
अर्थश्चेदनृतः कस्माद् न मृद्बोधे निवर्तते।। ४५।।

'व्यक्त' 'घट' 'विकार' आदि नामों से कहा जाने वाला कार्यरूप पदार्थ यदि झूठा है तो मिट्टी आदि कारण के ज्ञान से मिट क्यों नहीं जाता?

कार्यमात्र को कारण पर अध्यस्त बताया जैसे रस्सी आदि पर साँप आदि अध्यस्त अर्थात् भ्रमसिद्ध होते हैं। प्रश्न उठता है कि रस्सी देख लेने पर साँप समाप्त हो जाता है, दीखना ही बंद हो जाता है, 'नहीं है' ऐसा उसके बारे में अनुभव हो जाता है; इसी तरह

मिट्टी, धागा, सोना आदि देखने से घड़ा, कपड़ा गहना आदि भी समाप्त हो जाने चाहिये, उनका अनुभव 'है' की जगह 'ये कार्य नहीं हैं' ऐसा होना चाहिये जबकि परिस्थिति ऐसी है नहीं, कारण जानते हुए भी कार्य दीखता ही है, व्यवहार में आता रहता ही है। संसार रस्सी में साँप की तरह हो तो परमेश्वर जानने के साथ ही मिट जाना चाहिये। कार्य के व्यक्त, विकार आदि सामान्य नाम हैं, घट उदाहरण के लिये बताया गया है। यह प्रश्न वेदान्ती के सामने हमेशा आता है कि मिट्टी , सोना आदि जानने के बावजूद घड़ा, गहना आदि व्यवहार निर्बाध है तो इन्हें मिथ्या कैसे समझें?।। ४५।।

उक्त प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्ती समझाता है कि 'निवृत्ति' मायने क्या? प्रतीयमानता को ही सत्यता मानकर प्रश्न है जबकि सत्य का मतलब अबाध्यता, नित्यता, स्वतन्त्रता है। अधिष्ठानज्ञान से कार्य बाध्य ही है अतः प्रतीतिमात्र से वह सत्य नहीं रह जाता—

निवृत्त एव यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिर्गता।
ईदृङ्निवृत्तिरेवाऽत्र बोधजा न त्वभासनम्।। ४६।।

(कारण-ज्ञान से कार्य) मिटता ही है क्योंकि तुम्हें (जो उसके अधिष्ठानभूत कारण को जानते हो) उसकी सत्यता का निश्चय नहीं रह जाता। वेदान्तों में ज्ञान से होने वाली ऐसी ही निवृत्ति स्वीकार है, भान न होनारूप निवृत्ति विवक्षित नहीं।

हमारा संस्कार है कि जो प्रतीत है, वह है। 'प्रतीत होने वाला सचमुच में नहीं है'—यह निश्चय ही प्रतीयमान की निवृत्ति है। वेदान्त में ज्ञान से होने वाली यही निवृत्ति है। ज्ञान, अज्ञान को हटा देता है। प्रतीति न होना यहाँ निवृत्ति नहीं है।

जब तक 'प्रतीत होना ही सत्य होना है'—यह मानते हैं तब तक अधिष्ठानज्ञान से लाभ समझ नहीं आता। वेदान्तों में इसीलिये व्यावहारिक सत्यता पृथक् बतायी गई। कार्य व्यवहारयोग्य है यह तो मान्य ही है। अज्ञानदशा में 'वही अबाध्य है, वास्तविक है' ऐसा लगता है, ज्ञानदशा में यह भ्रम दूर हो जाता है, नाम-रूप-कर्म का व्यवहारोपयोग हटे यह न जरूरी है, न शास्त्र का अभिप्राय है। अधिष्ठानबोध से जब तक अध्यस्त का बाध न हो तब तक अधिष्ठान ही सत्य है इस निश्चय को दृढ करने का अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यों एव-कार का वेद ने प्रयोग किया। दृढ अपरोक्ष से ही यह संभव है कि कार्य-प्रतीति होती रहने पर भी निश्चय रहे कि वह असत्य है।। ४६।।

झूठा जानकर भी प्रतीत होता रहे ऐसा दृष्टान्त दिखाते हैं—

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः।
तटस्थमर्त्यवत् तस्मिन्नैवास्था कस्यचित् क्वचित्।। ४७।।

तालाब, नदी आदि के किनारे खड़ा आदमी जल में डूबा दीखता है, उसका मुख जलमें नीचा, गहरायी में, दीखता है, फिर भी सभी समझते हैं कि वह वास्तव में है नहीं, कभी कहीं किसी को वह वैसा सत्य नहीं लगता जैसा किनारे खड़ा आदमी।

तालाब के किनारे का आदमी जल में उलटा दिखाई देता है। दीखने पर भी निश्चय है कि सचमुच में वहाँ नहीं है, मैं जैसा सच्चा हूँ वैसा पानी में दीखने वाला आदमी सच्चा नहीं है। इसी प्रकार, शिव जैसा सच्चा है, वैसा सच्चा अहंकार में प्रतिबिम्बित होने वाला शिव नहीं है। जब तक 'अहम्' है तब तक अहंकार में प्रतीति होती रहेगी परन्तु उसमें प्रतीत होता रूप वैसा सच्चा नहीं है जैसा मैं हूँ। पानी में आदमी दीख रहा है पर उसमें तुम्हें कोई आस्था, विश्वास नहीं होता है। उसको सच्चा कोई नहीं मानता। जब समझ दृढ हो जाती है कि जिनसे व्यवहार हो रहा है वे विषय हैं नहीं, तब उनसे राग-द्वेषरूप बन्धन समाप्त हो जाता है यह विशेष है, व्यवहार-लोप विशेष नहीं है। पूर्व जन्मों के हों या वर्तमान के, किसी कर्म से या उसके फल से मुझ आत्मा का कोई वास्तव सम्बन्ध नहीं। अतः शास्त्र कहता है कि तत्त्वज्ञ से कोई घोर पाप भी हो जाये तो भी उसके चेहरे पर छाया नहीं आती, मुख मलिन नहीं होता। कारण यही है कि वह स्वयं को उससे असम्बद्ध जानता है। ऐसे ही किसी पुण्य से उसे उल्लास नहीं हो सकता। दृश्य-सम्बन्ध से राहित्य का दृढ निश्चय ही सार्थक है, यह भाव है।। ४७।।

प्रश्न होता है कि आरोपित को असत्य जानने से ही क्या पुरुषार्थ-लाभ हो जाता है, क्या प्रतीति रुकना ज़रूरी नहीं? उत्तर है—

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम्।
मृद्रूपस्याऽपरित्यागाद् विवर्त्तत्वं घटे स्थितम्।। ४८।।

कार्य के मिथ्यात्व का साक्षात्कार होने से आनन्दरूप पुरुषार्थ की सिद्धि अद्वैतवादियों को स्वीकार है। घड़ा क्योंकि मिट्टीरूपता छोड़ता नहीं इसलिये अवश्य वह विवर्त्त है।

अद्वैत सिद्धान्त में अपरिच्छिन्न आत्मा सत्य है, कार्य-कारण प्रपंच मिथ्या है अतः प्रपंच का बाध ही सम्भव है, निवृत्ति नहीं। सत्य को दूर कर सकते हैं। झूठ को झूठा जान ही सकते हैं, दूर नहीं कर सकते। चाहे बाह्य प्रपंच हो, चाहे मन आदि आन्तर प्रपंच हो या उससे सम्बन्ध हो, उसे मिथ्या जानना ही इसका हटना है, इसके अलावा इसे हटाना संभव नहीं। आनन्द सत्य होने से मिथ्या आवरण हटते ही अनावृत हो जाता है अतः मिथ्यात्व-साक्षात्कार पुरुषार्थसम्पादक है। कार्यादि प्रपंच मिथ्या जानने वाला साक्षी ही एकमात्र आनन्दरूप आत्मा सत्य है।

इसके अलावा सब प्रतीत होने वाला मिथ्या है। जिसे प्रतीति हो रही है, वही एकमात्र सत्य है। शरीर और मन को लेकर ही सारे दुःखों का निरूपण होता है। शरीर-मन से सम्बन्ध नहीं रहा तो उसमें होने वाले दुःखों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्यगात्मा प्रिय होने से वहाँ आनन्दरूपता है।

वह प्रत्यक्स्वरूप सत्य है अतः निर्विकार रहते हुए भी प्रपंच का कारण है क्योंकि प्रपंच विवर्त्त है, परिणाम नहीं। मिट्टी यथावत् रहती है, घट की प्रतीति आती-जाती है अतः घड़ा मिट्टी का विवर्त है। इसीसे छान्दोग्य श्रुति ने रज्जुसर्प को उदाहरण न बनाकर मिट्टी-बर्तन आदि को दृष्टान्त बनाया है। ये दृष्टान्त साधारण आदमी को परिणामवाद के लगते हैं।

वह सोचता है कि मिट्टी से घड़ा बना तो दोनों ही सच हैं। यहाँ विवेक कर बताया कि घड़ा बनने से पहले नहीं था, मिट्टी थी। घड़ा न होने पर भी मिट्टी है। घड़ा मिट्टी के समान सत्य नहीं है। अतः यह रज्जु-सर्प की तरह ही विवर्त का दृष्टांत है, परिणामवाद के अनुकूल नहीं है। जैसे बाह्य संसार मिथ्या प्रतीत है वैसे 'मैं संसारी' यह प्रतीति, पानी में पड़ी अपनी छाया देखने के समान है। वह छाया उल्टी दीखती है पर ऊपर देखने पर सीधा खड़ा आदमी दीखता है। उसे देखकर व्यक्ति समझ जाता है कि सीधा खड़ा सच्चा और जल में दीखने वाला प्रतीतिमात्र है। जब हम अपने को देखते हैं तब अहंकार में पड़ा, रागद्वेष वाला अपना रूप दिखाई देता है, उसे ही अपना रूप मानते हैं। जब श्रुति को देखते हैं तब 'तुम नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव वाले हो' पता लगता है। शंका होती है कि 'मैं अपने को कामी, क्रोधी, लोभी, देख रहा हूँ?' विचार करते हैं, 'ऐसा मैं कब बनता हूँ? जब अहंकार में आता हूँ। नींद में मैं ऐसा नहीं हूँ। जब मन में अपने को देखता हूँ तब ये विकार मुझमें दीखते हैं।' जब यह निश्चय हो जाता है, तब मन में विकार वाला देखते हुए भी जानते हैं कि 'ये मेरा सच्चा रूप नहीं हैं'। इस प्रकार का ज्ञान ही मुक्ति का स्वरूप है। जैसे मिट्टी यथावत् रहते हुए भी घट-रूप में दीखती है वैसे ही ज्ञानस्वरूप साक्षिस्वरूप मैं निर्विकार रहते हुए ही मन में संसारी दीखता हूँ।। ४८।।

प्रश्न उठता है कि मिट्टी-रूप रहते हुऐ भी घड़े को मिट्टी का परिणाम क्यों न माना जाये? परिणाम का लक्षण है 'सचमुच में दूसरा हो जाना'। और विवर्त का लक्षण है 'बिना अपना वास्तविक स्वरूप बदले हुए, अन्य रूप में दीखना।' आत्मा भी पहले ब्रह्म था, अब जीव बन गया—यही क्यों न समझें? इसका उत्तर देते हैं—

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत्।
मृत्सुवर्णे निवर्त्तेते घटकुण्डलयोर्न हि।। ४९।।

परिणाम होने पर वह (कारण) अपना पहले का रूप छोड़ता है जैसे (दही बनने पर) दूध ारूप (छूट जाता है)। घड़ा या कुण्डल बनने पर भी मिट्टी या सोनारूप छूटते नहीं (अतः घड़ा आदि परिणाम नहीं, विवर्त्त हैं।)

परिणाम अर्थात् बदलना। कारण में कोई परिवर्तन आये तब परिणाम कहा जाता है किंतु इसमें कारण का जो स्वरूप था वह न रहकर नया स्वरूप प्रकट होता है। इसमें प्रसिद्ध दृष्टान्त है दूध का दही बन जाना। दही परिणाम है, दही-दशा में दूध उस स्वरूप से नहीं जिस स्वरूप से वह पहले, कारणदशा में था। पिछला रूप छोड़ना—यह परिणाम में देखा जाता है किंतु घड़ा, गहना आदि बनने पर भी मिट्टी, सोना आदि अपने स्वरूप से यथावत् बने रहते हैं। दही बन चुकने पर 'दूध है' ऐसा व्यवहार नहीं, 'दूध नहीं रहा' ऐसा व्यवहार होता है। किंतु घड़ा बनने पर 'मिट्टी नहीं है' ऐसा व्यवहार नहीं वरन् 'मिट्टी है' यही व्यवहार होता है। कारण का स्वरूप रहते कार्य का व्यवहार हो जाये तो विवर्त ही कह सकते हैं,परिणाम नहीं। विवर्त में कारण पूर्वरूप को छोड़ता नहीं है। मिट्टी और सोना, घट और

कुण्डल बनने पर निवृत्त नहीं होते अर्थात् मूल पदार्थ यथावत् रहता है इसलिये घड़ा आदि विवर्त ही है, जीव भी विवर्त-विधया ही कर्ता आदि 'बनता' है।। ४६।।

प्रश्नोत्तर से समझाते हैं कि घड़ा आदि स्थल पर कारण अविकृत है—

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात्।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम्।। ५०।।

प्रश्न होता है कि—घड़ा फूटने पर मिट्टी-स्वरूप नहीं मिलता क्योंकि ठीकरे दीखते हैं? उत्तर है कि—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ठीकरों का चूरा करने पर मिट्टीरूप है ही। किंच, गहना न रहने पर सोनारूप बना ही रहता है—यह तो अत्यन्त स्पष्ट है।

तार्किक आदि दार्शनिक घड़े का कारण 'कपाल' को कहते हैं क्योंकि घड़े से ठीक पूर्व कपाल-दशा ही दीखती है और प्रायः घड़ा फूटे तो ठीकरा-रूप कपाल ही बचते हैं। किंतु सांख्यादि कहते हैं कि कारण मिट्टी ही है, कपाल तो एक अवान्तर अवस्था है। अतः समझा दिया कि घड़ा फूटने पर ठीकरे ही नहीं रहते, यदि भारी वजन पड़कर टूटे तो घड़ा चूर-चूर हो जाता है। इस तरह मिट्टीरूप बना रहना सिद्ध होता है। गहना-सोने के उदाहरण में तो और भी साफ है कि सोना जैसे का तैसा ही रहता है। इसलिये कार्यों को विवर्त ही समझना संगत है।। ५०।।

शंका होती है कि क्या मिट्टी-बर्तन आदि की तरह सर्वत्र विवर्त स्वीकार है? यदि हाँ तो क्या दूध का विवर्त ही दही भी है? यद्यपि सिद्धान्ती का परम मत अजातवाद तथा उपायरूप से विवर्तवाद प्रसिद्ध होने से दूध-दही में भी विवर्त मानना संगत है तथापि एकाएक स्थूल बुद्धि वाला समझ नहीं सकेगा यह मानकर 'विवर्तवाद की पूर्वभूमि परिणामवाद है' ऐसी साम्प्रदायिक उक्ति का अनुसरण कर वहाँ परिणाम का अभ्युपगम कर समाधान देते हैं—

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात्।
एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते।। ५१।।

दूध आदि से दही आदि बनने के स्थलों में परिणाम भले ही हो क्योंकि दही-नाश से पुनः दूधरूप बनना दुर्लभ है किंतु इतने-मात्र से मिट्टी आदि विवर्त में दृष्टान्त बने इसमें कोई रुकावट नहीं आती।

जैसे आधुनिक लोग समझाते हैं, जहाँ केवल अवयव-विन्यास में परिवर्त्तन है उस स्थल पर पदार्थ वही रहता है, जहाँ रासायनिक परिवर्तन है वहाँ पदार्थ नया होता है, इसी तरह जहाँ कार्य से पहले, कार्यकाल में, कार्यनाश होने पर कारण का अस्तित्व एक-सा रहे वहाँ विवर्त, तथा जहाँ कारण का स्वरूपतः व्यवहार न रहे वहाँ परिणाम मान सकते हैं ऐसा यहाँ समझा रहे हैं। इसे 'अतत्त्वतः अन्यथाभाव' विवर्त्त का तथा 'सतत्त्वतः अन्यथाभाव' परिणाम का लक्षण बताकर प्राचीनों ने समझाया है। दूध-दही स्थल में परिणाम मान लेने से सर्वत्र

वह मान्य नहीं अतः मिट्टी-घड़ा आदि श्रौत दृष्टान्त विवर्त के ही रहते हैं। जो दृष्टान्त उपनिषद् ने दिये उनमें कोई क्षति नहीं आती। परिणाम को 'अस्तु' कह कर भी विवर्त अन्ततः सिद्ध करना ही है। सद्ब्रह्म का यह प्रपंच विवर्त है, क्योंकि सद् ब्रह्म एक-सा बना रहता है, सद्रूप ब्रह्म में ही जगत् की प्रतीति है। लय-प्रक्रिया के द्वारा चिन्तन करते हैं तो सद्ब्रह्म ही रह जाता है। दूध से दही स्थल में तत्त्वतः अन्यथाभाव भले ही मान लो क्योंकि फिर दूध मिलता नहीं, लेकिन मिट्टी तो फिर मिल जाती है अतः मिट्टी सोने आदि दृष्टान्त विवर्त के रह ही जाते हैं। क्योंकि मिट्टी आदि दृष्टान्त साधारण आदमी स्पष्टतः नहीं समझता, इसलिये आचार्यों ने विवर्त्त का स्पष्ट भान जहाँ होता है वे उदाहरण दिये—सींप से चाँदी बनने का या रस्सी से साँप बनने का।।५१।

वैशेषिक पूछ सकता है कि वेदान्ती यदि किन्हीं स्थलों पर परिणाम स्वीकार सकता है तो कहीं-कहीं आरम्भ भी क्यों नहीं मान लेता? बल्कि आरम्भवाद में कारण का बना रहना विवर्तवाद के अनुकूल है। जैसे रस्सी यथावत् रहते साँप बनता है ऐसे परमाणु आदि कारण यथावत् रहते द्व्यणुक या घट आदि कार्य बनते हैं। इसलिये आरम्भ को मान्यता क्यों नहीं? इसका जवाब देते हैं—

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत्।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक्।। ५२।।

आरम्भवादी के मत में घट आदि कार्यवस्तु में कारण-द्रव्य दोगुणा हो जाना चाहिये! कार्य और कारण के रूप स्पर्श आदि (उनके मत में) अलग बताये जाते हैं।

आरम्भवाद के अनुसार कारण यथावत् रहकर कार्य नामक अभिनव वस्तु उत्पन्न होती है जिसके रूप स्पर्शादि नये ही बनते हैं। फलतः घड़े का अपना वज़न होगा और घड़ा जिस कारणभूत मिट्टी (या कपाल) में रहेगा उसका अपना वज़न होगा; इस प्रकार दो गुणा वज़न हो जायेगा। ऐसे ही अन्य गुणों में समझना चाहिये। कार्य-कारण में सर्वथा भेद मानने पर यह दोष अनिवार्य है। वेदान्त में तो है सिर्फ कारण, कार्य की प्रतीतिमात्र है अतः यह समस्या नहीं। परिणामवादी के मत में कारण ही कार्यरूप से उपलब्ध है अतः दो वस्तुएँ नहीं। आरम्भवाद में ही उक्त असंगत स्थिति बनने से वह मत हेय है। कार्य-कारण के गुण अलग-अलग होते हैं यह उनकी मान्यता है जिससे यह समस्या है। कारण के गुण कार्य के गुणों को पैदा करते हैं यह मानना उनकी गलती है। विवर्तवाद में तो, कारण के गुण कार्य में प्रतीत ही होते हैं, होते नहीं, इसलिये दोगुणा होना संभव नहीं। हम कहते हैं कि रस्सी का यह-पना सर्प में प्रतीत हो गया। सर्प में नया यह-पना नहीं आता। अतः आरम्भवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता। परिणामवाद पर गम्भीर चिन्तन करें तो विवर्तवाद स्वयम् हृदयंगत हो जायेगा इसलिये सर्वज्ञात्म महामुनि आदि ने विवर्तवाद की पूर्वभूमि के रूप में इसे अनुमति प्रदान की है।। ५२।।

मिट्टी आदि विवर्तानुसारी दृष्टान्त श्रुतिप्रोक्त हैं यह सूचित करते हैं–

मृत्सुवर्णम् अयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः।
प्राहातो वासयेत् कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु।। ५३।।

महर्षि आरुणि ने मिट्टी, सोना, लोहा–ये तीन दृष्टान्त सुनाये। अतः कार्य का मिथ्यात्व सभी वस्तुओं में समझे रखना चाहिये।

छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में प्रसंग आया कि अरुण के पुत्र उद्दालक महर्षि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाया कि जगत् पैदा होने से पूर्व एक सद् ब्रह्म ही था, उसी से तेज आदि क्रम से सारा संसार बना। सत् से सब बनने के कारण वस्तुतः सब सद्रूप है, नाम-रूप अवास्तविक है। इसमें उन्होंने मिट्टी, सोना और लोहा–ये तीन दृष्टान्त दिये। 'यथा सौम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।' (६.१.४) अर्थात् जो कुछ मिट्टी से बना वह सभी एक मिट्टी का ढेला समझने से पता चल जाता है क्योंकि बनने वाले कार्य कहने-भर को हैं, मिट्टी ही सच्ची है। इसी प्रकार स्वर्णपिण्ड, लोहपिण्ड के ज्ञान से सोने या लोहे के कार्य समझ आते हैं। कारण ही सत्य अतः वही जानने से सब पता चल जाता है, कार्य असत्य हैं अतः उन्हें जानने का प्रयास निरर्थक है। जो है वही जाना जायेगा, जो है ही नहीं वह जानेंगे भी कैसे! मिट्टी आदि दृष्टान्त इसमें हैं कि एक सन्मात्र सत्य है, कार्यभूत सारा प्रपंच मिथ्या है। इस रीति से विचार करते हुए वासना, दृढ संस्कार बना लेना चाहिये ताकि कार्य पर दृष्टि पड़ते ही याद आये कि वह मिथ्या है। इससे उसपर आदर नहीं रहेगा राग-द्वेष का बंधनजाल नहीं बनेगा। मनुष्य का मन अभ्यास आदि से पड़ी वासनाओं के अनुसार ही सोचता है, अच्छा हो या बुरा हो। 'वास' का मतलब है कि जब सावधानी से नहीं सोच रहे तब भी उसकी 'गन्ध' आती रहे अर्थात् वह भावना कायम रहे। विचार-पूर्वक दृढनिश्चय करना चाहिये कि सारी वस्तुओं में सद्ब्रह्म ही एक-जैसा है, चीज़ें प्रतीतिमात्र हैं अनृत हैं। वासना बनने से सदैव कार्य अनृत ही लगता है। यह प्रपंच-मिथ्यात्व हृदय में बसाया जाता है, तब अन्तःकरण में संसारोन्मुख प्रवृत्ति कम होती जाती है। मन में पहले से संस्कार है कि सत्य आकर्षक है, प्रभावी है। जिसे मिथ्या जानते हैं उसका आकर्षण भी दुर्बल होता है, उससे वैराग्य स्वाभाविक हो जाता है। दृश्य को सत्य समझने की वासना वाला ही जगत् की सत्यता को पकड़ता है। जिसके मन में जगत्-सत्य की वासना कम है, वह जगत् की सत्यता का आग्रह नहीं रखता। संस्कार डालने से ही धीरे-धीरे यह भाव दृढ होता है क्योंकि जगन्मिथ्यात्व समझना अद्वैतबोध के लिये आवश्यक है इसलिये कहा कि साधक को इसके अनुरूप वासना बना लेनी चाहिये।। ५३।।

कार्य मिथ्या है यह समझना क्या लाभ देता है यह स्पष्ट करते हैं–

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चाऽपि सोऽवदत्।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते।। ५४।।

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः।। ५५।।

उद्दालक ने यह भी कहा कि कारण के ज्ञान से कार्यों का पता लग जाता है। इस पर प्रश्न होगा कि सत्य का ज्ञान होने पर झूठ का पता लगना युक्तिसंगत कैसे है? *(५४)* मिट्टी समेत विकार की कार्यरूपता अविचारशीलों में ही प्रसिद्ध है, वहाँ जो मिट्टीरूप वास्तविक भाग है उसका पता कारण के ज्ञान से लगता ही है।

श्वेतकेतु से पिता ने पूछा 'क्या तू वह बात सीखकर आया है, जिस को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है? सब कुछ सुना, सोचा, देखा हो जाता है?' उसने कहा 'नहीं।' अर्थात् कारण जो परमात्मा है उसे जानने से सारा कार्य जान लिया जाता है। कारण-ज्ञान से कार्य का ज्ञान—यह उद्दालक ने कहा है। आप कह रहे हैं कि कारण सत्य है। सच्ची चीज़ को जानने से झूठी चीज़ अर्थात् कार्य का ज्ञान कैसे होगा? यह दो-तरफी समस्या है। सब कुछ जानना मायने क्या? मैं जानता हूँ कि यह नीम का पेड़ है। इसके असंख्य गुण-कार्य-धर्म-प्रभाव मुझे मालूम नहीं। नये-नये गुणादि पता लगते रहते हैं, पुराने भ्रम टूटते रहते हैं, अतः सारे गुणादि किसी को एक-साथ ठीक-ठीक मालूम हों यह सम्भव भी नहीं। पर इसका यह मतलब भी नहीं कि मैं नीम को नहीं जानता! किंच नीम के बारे में झूठ-मूठ की बातें पता होना नीम की जानकारी नहीं है। यदि कार्य झूठा है तो उसे जानना कोई ज्ञान कहा नहीं जा सकता और सत्य है तो कोई व्यक्ति सारे कार्यों का ज्ञाता हो नहीं सकता।

समाधान है कि कार्य की लौकिक सत्यता है, अविचारशील समझते हैं कि वह कुछ है। कार्य में सत्य केवल कारण है। मृन्मय पदार्थों में सत्य केवल कारणभूत मिट्टी ही रहती है, घड़े आदि का उसपर आरोप होता रहता है। जैसे पत्थर यथावत् रहते विष्णु भगवान् की मूर्ति बन जाती है वैसे सद्ब्रह्म यथावत् रहते जगत् बन गया है। प्रामाणिक तो कारण ही रहा, कार्य लोकदृष्टि से प्रसिद्ध हो गया। प्रमाणसिद्ध होने से कारण वास्तविक है अतः उसे जानने से कार्य में भी जो सत्यांश वह जान ही लिया गया। बाकी हिस्सा है ही झूठा अतः जानने, प्रमाण से विषय करने योग्य ही नहीं है। अतः सच्चिदानन्द जो वास्तविक भाग उसे जानने से सर्वज्ञता सिद्ध है, बाकी भाग है ही माया अतः जानने लायक नहीं, प्रमाण के अयोग्य ही है, उसे जानने से कोई मतलब ही नहीं।

कार्य मिथ्या जानने का लाभ यह है कि उसे जानने की इच्छा निवृत्त हो जाती है, सत्य का ज्ञान ही सर्वज्ञता-हेतु समझ आ जाता है।। ५४-५५।।

सत्य की तरह झूठ समझना व्यर्थ है यही कहते हैं—

अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधाऽनुपयोगतः।
तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्याद् नाऽनृतांशावबोधनम्।। ५६।।

झूठा अंश जानने योग्य नहीं क्योंकि (मुमुक्षु को) उसे जानने का कोई उपयोग नहीं है। अबाध्य वस्तु का ज्ञान सप्रयोजन होता है, कार्यरूप बाध्य, मिथ्या का ज्ञान निरर्थक है।

कार्य में जो झूठा अंश है जैसे सोने में खोट, उसकी मीमांसा से कोई मतलब नहीं, मतलब तो सोने से है। झूठा अंश जानने लायक है ही नहीं। उसको जानना 'ज्ञान' नहीं है। उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं। यह रहस्य उसके लिये है जिसको अनृतांश से वैराग्य है। आचार्य शंकर कहते हैं 'वैराग्यस्य फलं बोधः'। वैराग्य होने पर ही बोध होता है। यदि वैराग्य नहीं है तो सत्यका बोध अनुपयोगी है। वैराग्य के बिना यह बात बैठेगी भी नहीं। हमें मोक्ष से मतलब है, वह कारणज्ञान से होगा, इसलिये कार्यज्ञान हमारे लिये अनुपयोगी है। कारण अर्थात् जो चीज़ नहीं बदलने वाली है उसका ज्ञान ही पुरुषार्थ है। आत्मवस्तु का ज्ञान ही उसके लिये सार्थक है जिस मनुष्य का प्रयोजन मोक्ष ही है। जिसमें वैराग्य और मुमुक्षा पूर्ण है, उसी के लिये यह विद्या है। जिसको वैराग्य नहीं, वैराग्य होने पर भी यदि परमात्मा को नहीं चाहता है, मुमुक्षु नहीं है, तब भी आत्मज्ञान में अधिकारी नहीं जैसे बौद्ध या जो ईश्वर को नहीं मानने वाले, उन लोगों का उद्देश्य परमात्मप्राप्ति नहीं। जगत् की तृष्णा से निवृत्ति, दुःख से निवृत्ति ही उन्हें पर्याप्त लगती है। वैराग्य हो और परमात्मा को पाने की इच्छा हो तभी मोक्ष पुरुषार्थ है। वैराग्य होने के बाद साधक श्रवण मनन निदिध्यासन की साधना में प्रवृत्त होता है परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये। केवल वैराग्य से दुःख-निवृत्ति तो हो जाती है पर परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती।। **५६**।।

श्रुति ने जो एकविज्ञान से सर्वविज्ञान कहा तथा उसे जिस ढंग से समझाया उसमें असंगति का प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं—

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते।
मृद्बोधाद् मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात् कोऽत्र विस्मयः।। ५७।।
सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः।
विस्मयो माऽस्त्विहाऽज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते।। ५८।।

आप जैसा समझा रहे हैं वैसा मानें तो 'कारण को जानने से कार्य पता चल जाते हैं' यह कहने पर तात्पर्य निकला 'मिट्टी के ज्ञान से मिट्टी समझ आती है;' किन्तु इस बात में आश्चर्य क्या (कि वेद ने प्रतिपादित किया)? (५७) ठीक है, आश्चर्य उसके लिये नहीं जो जानता है कि कार्यों में सत्य भाग कारण-स्वरूप ही है, फिर भी अज्ञानी को उक्त बात से आश्चर्य हो इसे कैसे मना करें!

पिता ने अविनीत पठित पुत्र से पूछा था कि 'क्या तू वह समझ आया जिसे समझने से सब समझ लिया जाता है?' पुत्र ने ऐसे तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञता जतायी जिसको जानना सर्वज्ञता का हेतु है। तब पिता ने उपदेश दिया। आपात दृष्टि से पिता की बात आश्चर्यकारी है क्योंकि सब को जानने के लिये एक को जानना पर्याप्त हो यह संभव नहीं

लगता। सिद्धान्ती की व्याख्या से तो जिसे जाना उसी का ज्ञान होता है, बाकी को जानने लायक ही नहीं समझना है—यह स्थिति बनी। पिता की बात की आश्चर्यरूपता ही समाप्त हो जाती है यदि इतना ही उनका भाव मानें कि कारणज्ञान है या नहीं। इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि वास्तविक अर्थ भले ही आश्चर्यजनक न लगे पर वह अर्थ न समझने तक तो वाक्य से आश्चर्य होगा ही। किंच कार्यमिथ्यात्व भी अत्यन्त आश्चर्य ही है जो इस कथन से व्यक्त है अतः श्रुति बताये इस योग्य तो यह बात अवश्य है।। ५७-५८।।

अज्ञानी विस्मित होगा यही समझाते हैं—

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे।
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम्।। ५९।।

आरंभवादी, परिणामवादी और साधारण अविचारशील, तीनों ही 'कारणरूप एक को जानने पर सब समझ आता है' सुनकर चकित होते ही हैं।

आरम्भी अर्थात् कारण से नये कार्य की शुरुआत मानने वाला। आरम्भवादी के तात्पर्य से आरम्भी-शब्द रखा है। ऐसे ही परिणामी है। शास्त्रीय प्रक्रियाओं से अनभिज्ञ लौकिक व्यवहार पर ही सोचने वाला लौकिक है। आरम्भवाद में माना गया है कि समवायी असमवायी और निमित्त—ये तीन कारण होते हैं जिनसे नवीन कार्य बनता है जो इन तीनों से भिन्न होता है। 'समवाय' नामक एक सम्बन्ध वे मानते हैं जिससे कार्य जहाँ रहे वह समवायी कारण कहलाता है। महाभूत, दिक्, काल, आत्मा और मन—ये आठ द्रव्य ही समवायी कारण हो सकते हैं ऐसी उनकी मान्यता है। इसलिये घड़े का समवायी कारण वे 'कपाल' अर्थात् घट से ठीक पूर्व जिस स्थिति में मिट्टी होती है उसे बताते हैं। कार्यजन्म में हेतु जो कारणस्थ गुणादि वे 'असमवायी कारण' हैं। समवायी से बहिर्भूत दण्ड चक्र कुम्हार आदि निमित्त कारण हैं। इन तीनों से सर्वथा अलग, जो अब तक था नहीं ऐसा नया कार्य उत्पन्न होता है—यह आरम्भवाद का मत है। वह जब कारण-ज्ञान से सर्वज्ञता सुनता है तो उसे आश्चर्य होगा कि जो अभी हैं ही नहीं वे नयी चीज़ें कैसे पता चलती होंगी! दूसरा मत है परिणामवाद जिसमें कारण ही नये-नये रूप धारण करता रहता है। परिणामवादी को भी आश्चर्य होगा कि सारे रूपान्तर कैसे जान लिये गये, जो वर्तमान में हैं ही नहीं। लौकिक यद्यपि इन मतों पर आग्रही नहीं तथापि दोनों मतों को विभिन्न स्थलों पर मानता है, पुत्र मकान आदि नये बनते हैं ऐसा भी समझता है, जो बीज में निहित है वही अंकुरण आदि से प्रकट होता है ऐसा भी समझता है। दोनों हालतों में उसे होता आश्चर्य ही है कि नयी चीज़ें, सभी सम्भव कार्य कैसे पता लगते होंगे! कारणज्ञान से सब कार्यों का ज्ञान तीनों के लिये आश्चर्यहेतु है।। ५९।।

शंका होती है कि श्रुति ने जैसा कहा वैसा ही मानें, कोई अलौकिक साक्षात्कार हो जाता होगा जिससे हर-एक कार्य के बारे में पता चलता होगा यही क्यों न मानें? सिद्धान्ती जैसी व्याख्या कर रहा है उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? इसका समाधान करते हैं—

अद्वैतेऽभिमुखी कर्तुम् एवाऽत्रैकस्य बोधतः।
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया।। ६०।।

अद्वैत की ओर सावधान करनेके लिये ही श्रुति में एक के ज्ञान से सबका ज्ञान बताया है, विभिन्न कार्यों का भिन्न-भिन्न कर ज्ञान होगा यह बताने के लिये नहीं।

श्वेतकेतु ब्रह्मज्ञान के प्रति उत्सुक बने इस प्रयोजन से उक्त प्रतिज्ञा है, न कि कार्यों के बारे में सरलता से जानकारी पाने का कोई उपाय बताना श्रुति का उद्देश्य है। शिष्य ब्रह्मज्ञानार्थ प्रवृत्त होवे, इसलिये एकविज्ञान का महत्त्व कहा है। शास्त्रीय भाषा में इसको 'अर्थवाद' कहते हैं। 'अर्थ' मायने प्रयोजन-विशेष से 'वाद' अर्थात् कही बात। इसलिये जो कहा गया उसमें तात्पर्य नहीं हुआ करता। विधि में प्रवृत्त करने के लिये प्रायः अर्थवाद होते हैं। कहीं कहा है 'अमुक यज्ञ करने से सभी कर्म सम्पन्न हो जाते हैं' वहाँ यह आशय नहीं है कि और कुछ करो मत वरन् इतना ही तात्पर्य है कि वह यज्ञ करो। 'पढ़ोगे नहीं तो, बर्तन माँजोगे!' इसका तात्पर्य यही है कि पढ़ाई की तारीफ है, अर्थवाद है। विधिबोधित कर्म में प्रवृत्त कराने के लिये जो उसकी प्रशंसा की जाती है, उसे अर्थवाद कहते हैं। श्रुति ने जो कहा कि 'एक को जानने से सब जान लिया जाता है' इसका आशय यह नहीं है कि सब जानेंगे वरन् आशय है कि अद्वितीय कारण को जानकर संसार-बन्धन से छूट जाओ, अद्वैत की तरफ लगाना प्रयोजन है। अनेक चीज़ों के ज्ञान को बतलाने के तात्पर्य से नहीं कहा है। सारे मिथ्या नाम-रूपों का तुम्हें ज्ञान हो जायेगा यह श्रुति का तात्पर्य नहीं है।। ६०।।

श्रुति का पूर्वोक्त ही अभिप्राय है इसमें चिह्न दिखाते हुए दृष्टान्त की संगति बताते हैं—

एकमृत्पिण्डविज्ञानात् सर्वमृन्मयधीर्यथा।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम्।। ६१।।

मिट्टी के एक पिण्ड के अनुभव से जैसे सारे मृद्विकारों की वास्तविकता समझ आ जाती है वैसे एक ब्रह्म के बोध से जगत् की सचाई पता चलायी जाये।

वेद ने स्वयम् अभिप्राय स्पष्ट किया : मिट्टी के एक ढेले की जानकारी से मृत्कार्यमात्र का ज्ञान होता है—यह कहने पर समझ आ जाता है कि श्रुति यह नहीं कह रही कि सारे बर्तन, उन्हें बनाने के तरीके, उनके उपयोग आदि मालूम चलेंगे वरन् सब मृत्कार्यों में वास्तविक चीज़ जो मिट्टी है वह पता चलेगा इतना ही अर्थ है। इसी तरह एक ब्रह्म जान लेने से जगत् की सभी चीज़ों की वास्तविकता पता चलेगी। सत्, है—यही सारे नाम-रूप-कर्म की सचायी है, उसे जानने से सारा जगत् ज्ञात हो जाता है क्योंकि सत् ही सर्वत्र वास्तविक है। सारी मिथ्या चीज़ों के ज्ञान में वेद का तात्पर्य ही नहीं है। जैसे, रस्सी जान ली तो सर्प-जलधारा आदि सब समझ आ गये वैसे ब्रह्मज्ञान से सब जान लिया जाता है। मृत्-ज्ञान, स्वर्णज्ञान आदि दृष्टान्त ही लिंग, चिह्न हैं जिनसे स्पष्ट है कि विभिन्न नाम-रूपों के ज्ञान अभिप्रेत नहीं।। ६१।।

ब्रह्मज्ञान से जगत् का ज्ञान तब समझ आये जब ब्रह्म और जगत् के स्वरूप पता हों अतः उनके स्वरूप बताते हुए पहले ब्रह्म का स्वरूप व्यक्त करते हैं–

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।। ६२ ।।

ब्रह्म का स्वरूप है सत्, चित्, सुख। जगत् का स्वरूप है नाम, रूप। नृसिंहोत्तरतापनीय (७) में सुना जाता है कि ब्रह्म का लक्षण सत्-चित्-आनन्द है।

पहले ब्रह्म के स्वरूप को बतलाते हैं 'सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म'। सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है। जगत् नाम-रूपात्मक है। हर नीम के पेड़ को जानो तभी तुम नीम के पेड़ को जानोगे यह नहीं कह सकते वरन् नीम के सारे पेड़ों में जो मौजूद है नीमपना, उसको जानने से नीम के पेड़ को जान लिया। लोक में सब में अनुस्यूत को जो जान लेता है, उसी को 'जानने वाला' कहते हैं। इसी प्रकार संसार में पाँच चीज़ें मिलती हैं–१) नाम, २) रूप, ३) है, ४) ज्ञान, ५) सुख। जो कोई पदार्थ उपलब्ध होगा वह किसी नाम वाला, रूपवाला, है से सम्बद्ध, ज्ञान से सम्बद्ध और किसी-न-किसी तरह सुख से सम्बद्ध। इनमें है (सत्), ज्ञान (चित्) और सुख (आनन्द) ये ब्रह्म का ही स्वभाव है। नाम और रूप जगत् का स्वभाव है। रूप का मतलब सिर्फ आँखों से दीखने वाला ही नहीं, जिससे भी वस्तु का निरूपण, पहचान हो सके उसे इस प्रसंग में 'रूप' कहा जाता है। जैसे, गर्मी से अग्नि का पता लग जाता है तो गर्मी आग का 'रूप' है। नाम और रूप ये जगत् हैं। नृसिंहोत्तरतापनीय श्रुति इसमें प्रमाण है। उसमें यह बताया है कि सत्-चित्-सुख-रूप ब्रह्म है। यह अथर्ववेद की उपनिषद् है, इसमें कहा है 'ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम्' जो कुछ प्रतीत होता है उसकी वास्तविकता सच्चिदानन्द है। 'मात्रम्' से बताया कि इसके अतिरिक्त सब मिथ्या है। कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो बिना है के, बिना ज्ञान के और बिना प्रियता के हो। प्रियता से आनन्द का पता चलता है, आनंद ही प्रिय है। ब्रह्म के बारे में सही जानकारी वेद से ही प्राप्त होगी। अतीन्द्रिय वस्तु होने से उसको इन्द्रियों से जानना संभव नहीं। न पहले कभी वह इन्द्रियों से जाना गया, न भविष्य में कभी उनसे जाना जायेगा। जो इन्द्रियों से न ग्रहण हो ऐसे के बारे में अनुमान भी संभव नहीं क्योंकि व्याप्ति-ग्रहण नहीं हो पाता। अतः वचन ही अतीन्द्रिय वस्तुओं में प्रमाण है। लौकिक वचन भी ऐन्द्रियादि अनुभवों पर निर्भर होने से ब्रह्म में प्रमाण होना सम्भव नहीं, केवल अपौरुषेय वेद ही उसमें प्रमाण है। विचार करो, कौन-सी चीज़ है जो कभी अनुभव में नहीं आती? वह है अनुभव करने वाला 'मैं'। अतः श्रुति ने कहा कि जानने वाले को कौन जाने! जानने वाला स्वयं अतीन्द्रिय ही है। इसीलिये आत्मा के बारे में वेदातिरिक्त कोई प्रमाण सम्भव नहीं। श्रुति आत्मा को सच्चिदानंद कह रही है। इसका अनुभव सर्वदा है क्योंकि घड़ा-कपड़ा जो अनुभव में आता है वह इन तीन के साथ ही आता है। 'है' से सम्बद्ध न हो तो घड़ा अनुभव में नहीं आ सकता! केवल है, केवल ज्ञान, केवल आनन्द हमें अभी पता नहीं चलता पर विषयों से सम्बद्ध रूप में इन्हें अवश्य जानते हैं। शुद्ध न समझ पाने से इनका

मिश्रित रूप जानकर भी इनके बारे में अनभिज्ञ ही रहते हैं। मैं हूँ, जानने वाला हूँ, प्रिय हूँ—यों जानते परमात्मा को हैं लेकिन 'मैं' के परिच्छिन्नरूप से सम्बद्ध को ही जानते हैं, आँख-नाक आदि द्वारा जानने वाले को ही जानते हैं। इतना ही ब्रह्म के बारे में भ्रम है। ज्ञानादि-स्वरूप ही प्रत्यग्भाव है—यह बोध नहीं है। इसी के लिये श्रुति आवश्यक है। इस प्रकार, जिसके ज्ञान से सर्वज्ञता है वह सच्चिदानन्द ब्रह्म है एवं 'सर्वज्ञता' में 'सर्व' का मतलब है—नाम-रूप। नाम-रूप आरोपित ही हैं, उनकी वास्तविकता ब्रह्म है—यही उनके बारे में ठीक जानकारी है।। ६२।।

ब्रह्म का उक्त स्वरूप एक-आध जगह नहीं, सारी शाखाओं में कहा है यह अन्य श्रुतियों के संग्रह से प्रकट करते हैं—

सद्रूपम् आरुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः।
सनत्कुमार आनन्दम् एवमन्यत्र गम्यताम्।। ६३।।

आरुणि ने ब्रह्म को सद्रूप बताया है, ऐतरेय शाखीय ऋग्वेदी उस ब्रह्म को प्रज्ञान कहते हैं। सनत्कुमार ने सामवेद में उसे आनन्द बताया है। अन्य शाखाओं में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये।

साम-वेद में कहा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। प्रकट होने से पहले यह सब सत् ही था। ब्रह्म का सद्रूप से वहाँ निरूपण किया। इसी प्रकार से बह्वृच शाखा वालों ने अर्थात् ऋग्वेदी लोगों ने बतलाया 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ज्ञान ही ब्रह्म है। सद्रूप बतला दिया सामवेद में, ज्ञानरूप बतला दिया ऋग्वेद में। नारद जब सनत्कुमार के पास ब्रह्म का आदेश लेने के लिये गये तब कहा 'अनेक शास्त्र समझ लिये पर मेरा शोक नहीं गया। परमात्मज्ञान का लक्षण है कि शोक नहीं रहता। अतः मुझे परमात्मा समझाइए ताकि शोक मिटे।' सनत्कुमार ने बतलाया कि आनन्द ही ब्रह्म है। सद्रूप से उद्दालक ने कहा, चेतनरूप से ऋग्वेद में कहा, सनत्कुमारों ने आनन्दरूप से बतलाया। सत्, चित् तो लोग सरलता से समझ लेते हैं क्योंकि हर चीज़ 'है', और हम उसको जानते हैं। लेकिन आनन्दरूप हर चीज़ कैसे है? सनत्कुमार ने समझाया कि 'यो वै भूमा तत् सुखम्।' जो सभी परिच्छेदों से रहित है वही सुख है। इसलिये अनन्त और आनन्द दोनों एक ही बात हैं। अन्य स्थलों पर जैसे कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय में कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म'। वहाँ आनन्द नहीं, अनन्त कहा, हैं दोनों एक ही चीज़। जो भी चीज़ सीमा वाली है वह दुःखी करती है। बिना सीमा के होने वाली सुखी करती है। इस प्रकार सर्वत्र सच्चिदानन्द की ब्रह्मरूपता बतलाई। जगत् केवल नामरूप ही है।। ६३।।

सत् चित् और आनन्द ब्रह्म का रूप बतलाया, अब नाम-रूप को बतलाते हैं—

विचित्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपेइति श्रुतेः।। ६४।।

'सब रूपों को सोचकर, सब के नाम बनाकर रहता है।' 'मैं इन नाम-रूपों को प्रकट करूँ'। आदि श्रुतियों से (जगत् नाम-रूपात्मक ही है)। (कल्याणपीयूष नामक पंचदशीटीका के अनुसार 'विचित्य' ऐसा ही प्रथम पद का पाठ है। सूचित श्रुति के अनुसार वह उचित भी है। अर्थ में भेद नहीं तथापि कहीं 'विचिन्त्य' पाठ मुद्रित है।)

वेद में मन्त्र है 'आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते धाता पुरस्ताद् यमुदाजहार' (महावाक्योप. तै.३.१२.७) माया से अतीत ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ ने मायावृत्ति से सारे रूप सोचकर (बनाकर), उनके नाम बनाकर उन्हें बोलते हुए रहना शुरू किया। छान्दोग्योपनिषत् (६.३.२) में कहा है 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस जीवरूप से उपाधि के अनुसार प्रवेश कर नाम और रूपको प्रकट करूँ। और भी ऐसे प्रसंग हैं जिन सबसे निर्णय होता है कि माया से जगत् के रूप अर्थात् नाम-रूप की ही सृष्टि हुई। सच्चिदानन्द नित्यसिद्ध हैं, उत्पन्न होने वाले नाम-रूप ही हैं। प्रपंच में उपलब्ध पाँच में से ये दोनों मायिक अतः मिथ्या हैं।। ६४।।

इसी भाव को बृहदारण्यक (१.४.७.) से समर्थित करते हैं—

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा।
अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताऽभिधा।। ६५।।

सृष्टि से पूर्व अव्यक्त था जो दो तरह से व्यक्त हुआ। ब्रह्म में यह विचार से परे की शक्ति है जिसे अव्याकृत कहते हैं।

जो अन्दर है उसे जैसे बाहर फैंका जाये वैसे माया में जो अव्यक्त, अप्रकट है वह जब व्यक्त, प्रकट होता है तब 'सृष्टि' कहते हैं। सृष्टि किसी नई चीज़ का उत्पादन नहीं है, जो छिपा है उसी को प्रकट किया जाता है। सृष्टि के बारे में यह वैदिक मान्यता है। अन्य मत वाले 'नई चीज़ बनी' इस प्रकार आरम्भवाद को मानते हैं। पहले अप्रकट था, फिर प्रकट हो गया, पहले अव्यक्त था फिर व्यक्त हो गया—इतना ही हम स्वीकारते हैं। संसार प्रकट दो प्रकार से हुआ, एक, नाम और दूसरा, रूप। अव्यक्त को ही माया कहते हैं। यह अचिन्त्य शक्ति है, इसके बारे में कुछ भी सोचा नहीं जा सकता। इसमें भी श्रुति समर्थक है। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' यह सब अव्यक्त था, नाम-रूप इन दो तरह से यह बँटा। ये दोनों ही प्रकट हुए। ये दोनों परमात्मा के बनाये हुए हैं। अव्यक्त के व्यक्त होने से पहले 'कैसा है' यह कुछ नहीं कहा जा सकता। माया ब्रह्म में ही रहती है। इसीको अव्याकृत कहते हैं। इसी तरह ब्रह्म में सारा जगत् अव्यक्त रहता है। अव्यक्त को ही माया कहते हैं। क्या कैसा प्रकट होगा—यह कभी नहीं कह सकते। कभी भी दो सूर्य-उदय एक जैसे नहीं होते किन्तु होता सूर्य उदय ही है। इसी प्रकार जो प्रकट होगा वह सद्रूप होगा। यह सूर्य की तरह निश्चित है। प्रकट 'है'-रूप से होगा, उसका ज्ञान भी होगा। इस प्रकार प्रत्येक नाम-रूप को मायात्मक और उसकी वास्तविकता को सच्चिदानन्दात्मक देखने का अभ्यास करते हुए प्रपंच से आस्था हटानी चाहिये।। ६५।।

जगत् के आकार में उपस्थित होती माया ही है इसे व्यक्त करते हैं–

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा।
मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्।। ६६।।

निर्विकार परमात्मा में आश्रय-विषयभाव से स्थित माया अनेक तरह से बदलती है। प्रकृति को माया और मायाधीश को महेश्वर जानना चाहिये।

ब्रह्म किसी भी प्रकार के विकार से रहित है। अनन्त सृष्टि उत्पन्न करने पर भी उसमें कोई विकार नहीं आता। माया ब्रह्म में मायिक सम्बन्ध से ही रहती है। माया सच में ब्रह्म में रहती हो यह नहीं कह सकते, सर्वथा नहीं रहती–यह भी नहीं कह सकते! माया विकार को प्राप्त करते हुए भी ब्रह्म को विकृत नहीं करती। माया सब चीज़ों को व्यक्तरूप से पैदा करती है। ब्रह्म के साथ उसका अपना सम्बन्ध भी अव्यक्त ही है। वहाँ रहते यह अनेक प्रकार के विकारों में, कार्याकारों में परिणत होती रहती है। हमारे सामने पांचभौतिक ही व्यक्त होगा। पंचभूतों से ही उत्पन्न हमारी इन्द्रियों का विषय होगा।

ब्रह्म में रहते हुए भी उसे विकृत नहीं करती यह कैसे? इसमें उपनिषद् का मन्त्र प्रमाण है 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्' माया को प्रकृति समझो। अनेक प्रकार से प्रकट होती है इसलिये इसको 'प्रकृति' कहते हैं। कई आचार्यों ने सरलता से समझने के लिये माया को उपादान कारण और ब्रह्म को निमित्त कारण कह दिया है। यह तरीका समझने में सरल है पर वेद के अनुसार तो ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यदि ब्रह्म केवल निमित्त कारण होता, तो हमें जगत् में सत् की व्याप्ति नहीं मिलती। उपादान कारण ही कार्य में अनुविद्ध मिलता है। मिट्टी तो सब बर्त्तनों में मिलती है, परन्तु कुम्हार नहीं मिलता! 'मायिनं' माया का आश्रय महेश्वर है। माया उन्हीं को आश्रय करके रहती है। वह आश्रय भी है और उसका नियामक, नियंत्रण करने वाला भी है। इस मंत्र में दो 'तु'-शब्द हैं, मायान्तु, मायिनं तु। दो तुकार बताते हैं कि माया यद्यपि ब्रह्म के आश्रय में है, तथापि उससे एक भी नहीं है, अलग भी नहीं है। भेद रहे और भेद नहीं रहे यह सम्भव नहीं अतः भिन्न और अभिन्न दोनों से उसे विलक्षण ही कहना पड़ेगा। परमेश्वर परमार्थ सत्य है। इस प्रकार दोनों में विलक्षणता स्फुट है।। ६६।।

सच्चिदानन्द-नामरूप इन पाँचों को प्रथम कार्य में घटाकर दिखाते हैं–

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम्।। ६७।।

माया उपाधि वाले ब्रह्म से प्रकट होने वाला पहला कार्य आकाश है। वह है, भासमान है, प्रिय भी है। खाली जगह उसका 'रूप' है, (आकाश यह 'नाम' है)। इनमें से रूप (और नाम) मिथ्या हैं, पहले तीन मिथ्या नहीं हैं।

प्रकृति सारे रूपों में बनती है। सबसे पहला विकार, कार्य आकाश है। 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' यह श्रुति आत्मा से आकाश की उत्पत्ति बतलाती है। आकाश में ब्रह्म की तीनों विशेषताओं की प्रतीति है; 'अस्ति' है, 'भाति' आकाश का ज्ञान है और वह प्रिय है। इन तीनों चीज़ों की प्रतीति वस्तुतः ब्रह्म की प्रतीति है। घड़े के जो रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श हैं, वे तो मिट्टी के हैं। आकार घड़े का अपना है। पाँच गुण तो घड़े के फूटने पर भी रहेंगे। पर आकार नहीं रहेगा। घड़े का धर्म सदैव रहने वाला नहीं है, मिट्टी का धर्म हमेशा रहेगा। इसी तरह अस्ति भाति प्रिय—ये तो हमेशा रहेंगे। आकाश का अपना रूप जो अवकाश, खाली जगह, वह मिथ्या है। वह रूप और आकाश यह नाम मिट जाते हैं, लेकिन सच्चिदानन्द मिथ्या नहीं है, सदा रहेगा।। ६७।।

आकाश का अपना रूप मिथ्या कैसे है, यह समझाते हैं—

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चाऽपि नाशतः।
आदावन्ते च यद् नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत् तथा।। ६८।।

अभिव्यक्ति से पूर्व और नाश के बाद आकाश का रूप नहीं होता। आदि और अन्त में जो नहीं होता, वर्त्तमान में भी वह वैसा ही अर्थात् नहीं ही है।

जब तक आकाश प्रकट नहीं हुआ, तब तक वह नहीं है और नष्ट होने के बाद भी नहीं है। व्यक्त होने से पहले अव्यक्त, नाश के बाद फिर अव्यक्त शुरू में नहीं, अन्त में नहीं, तो दीखते समय भी सच्चा नहीं है। गौडपादाचार्य कहते हैं कि जो व्यक्त होने से पहले एवं नाश के बाद नहीं होता वह वर्तमान में भी नहीं है। प्रतीत है, पर वास्तविक नहीं है। जितने माया के विकार हैं, वे प्रकट होने के पहले नहीं थे, नष्ट होने के बाद नहीं रहते अतः दीखते समय भी सचमुच में नहीं हैं। इस प्रकार नाम-रूप मिथ्या हैं इसमें अनित्यत्व स्पष्ट हेतु है।। ६८।।

पूर्वोक्त अभिप्राय भगवान् श्री कृष्ण के वचनसे भी समर्थित करते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति।। ६९।।

श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि सब भूतों का आदि अव्यक्त है, बीच में वे व्यक्त रहते हैं, समाप्ति उनकी अव्यक्त ही है।

गीता के (२.२८) श्लोक के अन्तिम चरण में अन्तर कर बाकी श्लोक उद्धरणरूप है। 'भूत' से आकाशादि और इनके विकार सभी समझने चाहिये। ये जब तक व्यक्त, प्रकट नहीं थे तब तक अव्यक्त थे अतः 'अव्यक्तादि' हैं। बीच में ये व्यक्त हो जाते हैं। अन्त में सब अव्यक्त में ही नष्ट हो जाते हैं, पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। आदि-अन्त में अव्यक्त होने से निश्चित है कि मध्य में प्रतीत व्यक्त अवस्था असत्य है। भगवान् ने व्यक्त को दुःखनिमित्त होने के अयोग्य कहा है। मिथ्या वस्तु दुःख के अयोग्य होती है अतः दुःख के अयोग्य होने से मिथ्यात्व बताया—यह तात्पर्य है।। ६९।।

स्थापित सिद्धान्त को अनुभव से पुष्ट करते हैं—

मृद्वत् ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वथा।
निराकाशे सदादीनाम् अनुभूतिर्निजात्मनि।। ७०।।

घड़े आदि में मिट्टी की तरह सच्चिदानन्द (आकाश में) हमेशा अनुस्यूत हैं एवं जो आकाशहीन निजात्मतत्त्व है वहाँ सच्चिदानन्द अनुभूयमान हैं ही।

जैसे मिट्टी के धर्म मिट्टी के सब कार्यों में बने रहते हैं, वैसे ही जो ब्रह्म का सच्चिदानन्द रूप है वह आकाश में एवं सारी चीज़ों में अनुगत रहेगा। पानी है, उसका ज्ञान और उससे आनन्द भी है। ऐसा ही मिट्टी आदि में। जिस समय ये रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श वाले पदार्थ नहीं थे, तब भी सच्चिदानन्द तो था ही। रूपादि के नाश के बाद भी सच्चिदानन्द तो रहेगा ही। मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी के समान ये तो सर्वत्र प्रकट ही हैं। प्रश्न है कि हमको जब आकाश दीखता है, तब हम कहते हैं 'आकाश है'। कुछ होगा तभी सच्चिदानन्द होगा। आकाश आदि प्रकट होने वाले सब नहीं हों, उस समय सच्चिदानन्द कहाँ है? उत्तर दिया 'निराकाशे'। जब आकाश नहीं है, तब भी मैं हूँ! मैं चेतन हूँ, प्रिय हूँ। इस प्रकार, अपने आत्मस्वरूप में यह सच्चिदानन्द रहता ही है। आकाशादि न होने पर भी सच्चिदानन्द है तभी दोनों पृथक् और सत् के व्यभिचारी होनेसे आकाशादि मिथ्या निर्णय होते हैं।। ७०।।

नाम-रूप निवृत्त होने पर सद्ब्रह्म का रहना स्पष्ट करते हैं—

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि।। ७१।।

'खाली जगह' (अर्थात् आकाश का निजी रूप) न प्रतीत होने पर वहाँ तुम्हें क्या भासता है? बताओ। यदि कहो 'शून्य ही भासता है', तो ठीक है, वैसे अर्थात् 'शून्य'-नाम वाला कुछ तो भासता होगा!

'खाली जगह' का न होना कहाँ प्रतीत होगा, कब प्रतीत होगा? अभाव के किसी देश-काल में ही प्रतीत हो सकने से उसे 'खाली जगह' से अलग समझना पड़ेगा। घटाभाव जैसे भूतल आदि कहीं प्रतीत होता है वैसे 'जगह का अभाव' भी कहीं ही प्रतीत हो सकता है। एवं च भले ही 'शून्य' नाम से कहें पर उसका आधार तो सद्रूप और ज्ञानसम्बद्ध ही निश्चित होगा। 'अवकाशाभाव कहाँ है?' इस का जो भी उत्तर दिया जाये वह सद्रूप वस्तु ही होगी। इतना ही नहीं, 'खाली जगह नहीं है' यह किसी को ही पता चलेगा अतः उससे अन्य ज्ञाता, चेतन भी सिद्ध है। इस तरह देश-काल-चेतन-इंद्रियाँ आदि अनन्त वस्तुओं को 'शून्य' कहा जाये तो कोई हानि नहीं! 'हि' शब्द से बताया कि अवकाश अर्थात् खाली जगह का न होना अभाव होने से किसी भाव पर ही आश्रित होगा यह लोक में सभी समझ सकते हैं।। ७१।।

भले ही 'शून्य' से कुछ कहा जाये, इससे ब्रह्म के बारे में क्या पता चला? इसका उत्तर देते हैं—

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वम् औदासीन्येन तत्सुखम्।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत् तद् निजं सुखम्।। ७२।।

'वैसा' होने से ही उसकी सत्ता है, क्योंकि उसके प्रति उदासीनता रहती है इसलिये वह सुख है। जो न अनुकूल व न प्रतिकूल हो वह आत्मरूप सुख होता है।

'वैसा' अर्थात्, 'जहाँ खाली जगह नहीं है' ऐसा; अवकाश के अभाव के विशेष्य (अधिकरण) रूप से प्रतीत होता है अतः चाहे कहो 'शून्य' फिर भी होगा वह सत् क्योंकि घटाभाव आदि सब अभावों का विशेष्य भूतल आदि सत् ही देखा गया है। इतना ही नहीं, 'शून्य'-शब्द से कहा जाता है इस तरह का होने से भी सत् है क्योंकि शब्द-वाच्य वस्तु सत् देखी जाती है। 'शून्य'रूप से सही, पर भासता है अतः वह चित् (ज्ञान) है। वह सत्-चित् वस्तु सुख भी है क्योंकि उसके प्रति उदासीनता (तटस्थता) रहती है। जो अनुकूल-प्रतिकूल दोनों नहीं वही निज आत्मरूप सुख या आनन्द माना गया है।। ७२।।

स्वरूप वह कहलाता है जिसे न पकड़ा जा सके, न छोड़ा जा सके। सब चीज़ें आकाश में लीन होंगी, वह भी जब लीन होगा तब स्वरूप ही रह जायेगा, प्रत्यक् पदार्थ ही रह जायेगा जो अनुकूल-प्रतिकूल न कहा जा सकने से आनन्दस्वरूप है। यही समझाते हैं—

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः।
द्वयाऽभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित्।। ७३।।

अनुकूलता होने पर हर्ष का निश्चय तथा प्रतिकूलता होने पर दुःख का निश्चय होता है। ये दोनों न हों तब निजस्वरूप आनन्द रहता है। निजस्वरूप दुःख कहीं प्रसिद्ध नहीं।

जब कोई चीज़ अनुकूल होती है तब जो अनुभव होता है वह हर्ष है। जब हर्ष होता है तब आदमी धर्म का अतिक्रमण करता है। उसको आनन्द नहीं कह सकते। अपना जो स्वरूपानन्द है, इससे धर्म-अतिक्रमण नहीं होता। अनुकूलता के भाव से धर्म का अतिक्रमण होता है। कुछ अनुकूल है का मतलब या शरीर या इन्द्रियों के या मन के सुख का हेतु है। इन सब उपाधियों को जब तुमने लीन कर लिया, तब ऐसा कोई है नहीं जिसके अनुकूल कुछ होवे इसलिये हर्ष असम्भव है। इसी प्रकार किसी उपाधि के लिये ही कुछ प्रतिकूल होता है। किसी-न-किसी उपाधि की दृष्टि से कुछ भी प्रतिकूल प्रतीत होता है जिससे दुःख होता है। जो स्वरूप है उसमें न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है अतः इन भावों से रहित निजानंद है। अनुकूलता-प्रतिकूलता से रहित आनन्द ही क्यों कहते हैं, दुःख भी क्यों नहीं? जब कोई चीज़ प्रतिकूल नहीं होती, तब दुःख का अनुभव नहीं है। जैसे शरीर स्वस्थ है तो उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता के भाव नहीं रहेंगे। स्वाभाविक स्थिति कभी दुःखात्मक नहीं होती, दुःख सदा किसी हेतु से होता एवं वह हेतु उपाधिदृष्टि से प्रतिकूल होता है। सारी उपाधियों

को जब लीन कर लिया, तब आत्मा का जो सहजभाव उसी को यहाँ 'आनन्द' कह रहे हैं। सहज भाव कभी दुःख नहीं होता। इसलिये दुःख में कभी निजरूपता की सिद्धि नहीं हो सकती।। ७३।।

निज स्वरूप सदा ही आनन्द है तो हमेशा हर्ष क्यों नहीं, शोक क्यों होता है? उत्तर है कि मन ही हर्ष को ग्रहण करता है, वह अनित्य है अर्थात् उसकी सुखाकारता अनित्य है इसलिये सदा हर्ष नहीं और विपरीत आकार होने पर दुःख भी होता है। यही बताते हैं—

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात्।
मनसःक्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम्।। ७४।।

निज आनन्द अचल रहते भी हर्ष और शोक क्षणमात्र में समाप्त हो जाते हैं क्योंकि मन, मनोवृत्ति क्षणिक है। हर्ष-शोक मानस हैं (न कि निज आत्मरूप) यह समझना चाहिये।

निजानन्द स्थिर है, वहाँ हर्ष-शोक नहीं हैं, वह सदैव आनन्दरूप है, फिर उस आनन्द से हर्ष का अनुभव क्यों नहीं होता? निजानन्द तो नित्य है, लेकिन उस निजानन्द में जो मन स्थिर होने पर हर्ष होता है वह क्षणभर को टिकता है तो क्षणभर को ही आनन्द या प्रियता को पकड़ पाता है किन्तु क्षणभर में मन बदल जाता है। चंचलता के कारण मन में हर्ष हमेशा नहीं रहता। मन क्षण-क्षण में बदलने वाली चीज़ है। अतः हर्ष-शोक मन में क्षणिक ही हो सकते हैं। स्वरूप तो स्थायी आनन्द है। लीन अवस्था में स्वरूपभूत आनन्द का भान होता है। जब समाधि से उठते हैं, तब भी स्मरण होता है 'मैं बड़े आनन्द में था'। वह हमेशा क्यों नहीं रहता है? मन क्षणिक होने से वह फिर विषयों में चला जाता है इसलिये स्वरूप सुख का भान कायम नहीं रहता। हर्ष-शोक मन में होने वाले हैं। स्वरूपानंद को इनसे अलग समझना ज़रूरी है।। ७४।।

श्लोक ६७ में आकाश में सच्चिदानन्द कहे थे। अन्वय-व्यतिरेक से सच्चिदानन्द की अनुगति बताकर 'शून्य' में तीनों की अनुस्यूतता दृष्टांत के रूप में कही। अब आकाशादि में वही बताते हैं—

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु सम्मते।
वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम्।। ७५।।

जैसे निजात्मा में वैसे आकाश में भी आनन्द है। सत्ता और भान तो उसमें सर्वसम्मत हैं। वायु से शरीर तक वस्तुओं में इसी तरह विचार किया जाये।

सारी उपाधियाँ न रहने पर निजानन्द ही रहता है यह सबका अनुभव है। वह आनन्द आकाश में भी स्वरूपतः है ही। आकाश अपने स्वरूप से दुःखरूप कभी नहीं । जैसे आत्मा में दुःख औपाधिक वैसे आकाश भी उपाधिवश ही दुःखद होता है। आकाश है और उसका भान है—यह तो वादियों को भी स्वीकृत है। इसलिये उसमें सच्चिदानन्द तीनों का अन्वय सुलभ है। ऐसे ही वायु आदि सब महाभूतों में और उनसे बनी सब चीज़ों में, यहाँ तक कि अपने शरीर में इनका अनुगम समझना चाहिये, यह संस्कार दृढ कर लेना चाहिये।। ७५।।

आकाश का निजी रूप अवकाश श्लो. ६७ में बता चुके। अब अन्यों के रूप बताते हैं—

गतिस्पर्शौ　वायुरूपं　वह्नेर्दाहप्रकाशने।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः।। ७६।।

वायु के 'रूप' हैं गति और स्पर्श। वह्नि के 'रूप' हैं जलाना और प्रकाशित करना। जल का 'रूप' द्रवता (बहने की योग्यता) तथा भूमि का कठोरता हैं।

सच्चिदानन्द आत्मा से सर्वत्र प्राप्त हैं। भूतों के अपने निजी गुण अवकाश, गति आदि हैं। वायु में शब्द तो आकाश से प्राप्त विशेषता है, उसकी अपनी विशेषता गति-स्पर्श ही हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर कार्यों में अपनी विशेषताओं के अतिरिक्त कारणों की भी विशेषतायें मिल जाती हैं। मूलकारण सच्चिदानन्द है, उसी से सर्वत्र सत् आदि तीनों उपलब्ध होते हैं। जल का स्वयं का धर्म तरलता है और पृथ्वी का है ठोसपना। ये सभी भासते हैं, प्रिय हैं इसलिये कि उनमें सच्चिदानन्द भी हैं।। ७६।।

श्लोक २ में आकाश से स्वदेह-पर्यन्त जगत् की परीक्षा प्रारंभ की थी अतः यहाँ भी शरीर तक बताते हैं—

असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुःष्वपि।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम्।। ७७।।

पूर्वोक्त रीति से ओषधि, अन्न और शरीर में भी उनके असाधारण आकार जो उनके अलग-अलग 'रूप' वे अपने मन से विचारपूर्वक समझ लेने चाहिये।

तैत्तिरीयोपनिषत् में पंचभूतों की उत्पत्ति के बाद 'पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः।' (२.१) यों शरीर तक की उत्पत्ति कही है। जौ-चावल आदि ओषधि हैं। 'अदनार्हं तथाऽन्नं च' (तै.वा.२.१.१६७) वार्तिक के अनुसार खाने योग्य लाप्सी-भात आदि अन्न हैं तथा पुरुष अर्थात् स्थूल देह। इनमें भी कुछ अपने रूप हैं, कुछ इनमें कारणगुण दीखते हैं, सच्चिदानन्द तो इन सबमें भी मिलते ही हैं। इनके अपने धर्म स्वयं समझने चाहिये जैसे भूमि से पैदा होना, प्राण-धारण करना ओषधियों का रूप, शरीर को पुष्ट करना अन्न का रूप, सूक्ष्म शरीर के द्वारा चेतनता अभिव्यक्त करना शरीर का रूप है। ये माया और तद्विकारों से आये हैं, ओषधि आदि में जो सच्चिदानन्द वे अधिष्ठान से आये हैं।। ७७।।

निष्कर्ष बताते हैं—

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा।
तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित्।। ७८।।

अनेक प्रकार से अलग-अलग नामों व रूपों में सच्चिदानन्द एक ही प्रकार से रहते हैं इसमें किसी का मतभेद नहीं है।

नाम-रूपों में अनन्त वैविध्य है। ध्यान से देखें तो सर्वथा एक-सी कोई दो चीज़ें संसार में उपलब्ध नहीं। लेकिन नाम-रूप का चाहे जितना भेद हो, सर्वत्र सत्-चित्-आनन्द एक-समान स्थित हैं। सभी 'है'-बुद्धि का विषय बनते हैं, भासते हैं और स्वरूप से प्रिय हैं। सच्चिदानन्दरूपता सभी नाम-रूपों में निर्विवाद है। आनन्द में आपाततः वैमत्य है लेकिन उदासीनतारूप सुख जो श्लोक ७३ में बताया, उस अभिप्राय से कोई मतभेद नहीं। सर्वत्र किसी-न-किसी अपेक्षा से ही दुःख-हर्ष होते हैं,अन्यथा स्वरूपमात्र की दृष्टि से तटस्थता ही रहती है।। ७८।।

प्रपंच की पंचरूपता बता कर नाम-रूप के मिथ्यात्व को दृढ करते हैं—

निस्तत्त्वे नाम-रूपे द्वे जन्म-नाशयुते च ते।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत्।। ७९।।

विवेकपूर्ण बुद्धि से देखो कि वास्तविकता से हीन, उत्पत्ति-विनाश वाले नाम-रूप दोनों ब्रह्म में वैसे ही हैं जैसे समुद्र में बुद्बुदे आदि।

तत्त्व अर्थात् सत्यता, त्रिकाल में बाधित न होना, एक-समान रहना; यह नाम-रूपों में नहीं है। इनका इसीलिये 'ये ऐसे ही हैं' ऐसा निश्चय संभव नहीं। अतः नाम-रूप प्रतीत होने पर भी वस्तुतः हैं नहीं। जन्म से पूर्व, नाश के बाद 'है' से असम्बद्ध होने से है से नित्य सम्बन्ध वाले नहीं अतः मिथ्या हैं। मिथ्या का आरोप सत्य पर ही सम्भव होने से एकमात्र सद्रूप ब्रह्म पर ही नाम-रूप कल्पित हैं। विचार पूर्वक इस बात का निर्णय करना आवश्यक है। जैसे समुद्र में वास्तविक वस्तु केवल जल है जबकि दीखती लहरें भी हैं, बुद्बुदे और झाग भी दीखते हैं इसी प्रकार ज्ञानी यह समझता है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म में अनन्त नाम-रूप दीख ही रहे हैं; उनकी अपनी कुछ भी वास्तविकता नहीं है। इसलिये कहा है

'मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमाः।।'

समुद्र में जल की तरह मुझ में, आत्मतत्त्व में अखण्ड सुख है, उसीका सागर मैं हूँ जिसमें प्रतीत होती खण्डरूप उपाधियाँ वास्तविक नहीं हैं। घड़ा,कमरा आदि से जैसे आकाश बँटा लगता है, होता नहीं, वैसे उपाधियों से मुझमें खण्ड प्रतीत ही हैं, सचमुच नहीं। मन आदि से अपना परिच्छेद, अपनी सीमितता को वास्तविक समझना बन्धन है। मनमें मैं नहीं, मुझमें मन है, भ्रमवश मुझपर अध्यस्त है अतः मुझ अखण्ड को परिच्छिन्न बना सकता ही नहीं। समुद्र में हवा से लहरों की तरह मुझमें माया के कारण अनन्त विश्व लहरों जैसे उत्पन्न और नष्ट हो रहे हैं। उस अधिष्ठान अपने सत्यस्वरूप का दृढ निश्चय कल्याण का एकमात्र हेतु है।। ७९।।

अधिष्ठान-दर्शनका प्रभाव बताते हैं—

सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः।। ८०।।

सच्चिदानन्द इस पूर्ण ब्रह्म का दर्शन कर लेने पर धीरे-धीरे खुद ही साधक नाम-रूपकी अवज्ञा करने लगता है।

स्वरूप की वास्तविकता का यथाशास्त्र पुनः पुनः विचारपूर्वक निश्चय बनाना आवश्यक है कि मैं केवल अखण्ड आनन्द हूँ। मुझ में अनन्त सृष्टियाँ पैदा और लीन हो रही हैं। पूर्ण ब्रह्म, अर्थात् सारी उपाधियों से रहित ब्रह्म का जितना ध्यान करोगे उतना ही नामरूप की अवज्ञा होने लग जायेगी। वे तुम्हें सच्चे प्रतीत नहीं होंगे। यदि सोचो कि नाम-रूप को भूलने का प्रयत्न सफल होगा तो कठिन है क्योंकि वे अनन्त हैं। इसलिये लयप्रक्रिया द्वारा आकाश तक पहुँच कर आकाश की विस्मृति करने पर सच्चिदानन्द ही बचता है, जितना-जितना उसका वीक्षण करते हैं, बुद्धि को उसपर स्थिर करते हैं, उतना-उतना अपने आप ही नाम-रूपों की अवज्ञा होने लग जाती है क्योंकि पता रहता है कि सच्ची चीज़ तो केवल ब्रह्म ही है। मन फिर उसीमें धीरे-धीरे स्थिर होता है। बुद्धि से विचार, निश्चय तो जल्दी हो जाता है पर वह संस्कारों में आ जाये तब संसार की अवज्ञा होने लगती है। अभी तो शरीर को प्रधानता देते हैं, उसमें ब्रह्म गौण दीखता है। यही ब्रह्म की अवज्ञा है। अब उल्टा करना है, ब्रह्म प्रधान और नाम-रूप को गौण जानना है। जैसे ब्रिटिश काल में चलने वाले पचास हजार के नोट की अब कोई कीमत नहीं है भले ही दीख रहा है, इसी प्रकार जब बुद्धि ने निश्चय कर लिया कि नाम-रूप दीखने पर भी निस्तत्त्व हैं तब उनकी अवज्ञा होगी। इसका संस्कार दृढ होना ज़रूरी है तभी साधक संसार को निस्तत्त्व ही देखेगा। यह शनैः शनैः होता है।। ८०।।

द्वैत की अवज्ञा और ब्रह्मज्ञान की दृढता अन्योन्याश्रित है, एक-दूसरे के सहारे होते हैं इसलिये साधना में अद्वैत-ज्ञान के प्रयास के साथ ही द्वैत-तिरस्कार का प्रयास भी कर्त्तव्य बताते हैं—

यावद् यावद् अवज्ञा स्यात् तावत् तावत् तदीक्षणम्।
यावद् यावद् वीक्ष्यते तत् तावत् तावदुभे त्यजेत्।। ८१।।

जितनी-जितनी नाम-रूप की अवज्ञा होगी उतना-उतना ब्रह्म का दर्शन टिकेगा एवं जितना-जितना ब्रह्म देखा जायेगा उतना-उतना साधक नाम-रूप छोड़ सकेगा।

जितनी तुम नाम-रूप की अवज्ञा करोगे, उतना अपने सच्चिदानन्द रूप की वृत्ति बनेगी। द्वैत की अवज्ञा से ही अद्वितीय में स्थिति होती है। जैसे श्रवण-मनन साधक का कर्तव्य है, वैसे ही नाम-रूप की अवज्ञा अर्थात् वहाँ से मनको हटाना भी अद्वैत की स्थिति के लिये आवश्यक है। सर्वकर्मत्याग की बात इसी लिये आती है। कर्म अपेक्षा करता है नाम-रूप पर ध्यान देने की। चाहे लौकिक हो या शास्त्रीय कर्म हो, वह करने में नाम-रूप पर ध्यान देना पड़ता है। अतः नाम-रूप की अवज्ञा के लिये शास्त्रों ने बतलाया कि कर्ममात्र का त्याग हो। जैसे श्रवण-मनन कर्तव्य है वैसे ही नाम-रूप की अवज्ञा भी। जितना-जितना तुम निजानन्द का अनुभव करते हो उतना-उतना ही इन दोनों की प्रधानता घटती जाती है। अन्योन्याश्रित होने से दोनों साधन साथ-साथ करने पड़ते हैं—नाम-रूप की अवज्ञा और सच्चिदानन्द का

निश्चय। श्रवण-मनन में सच्चिदानन्द का निश्चय प्रधान है तथा लय-प्रक्रिया में नाम-रूप की अवज्ञा प्रधान है।। ८१।।

दोनों उपायों के अभ्यास का फल बताते हैं–

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान्।
जीवन्नेव भवेद् मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा।। ८२।।

उक्त अभ्यास से विद्या हृदय में प्रतिष्ठित हो चुकने पर यह पुरुष जीवित रहते ही मुक्त होता है, शरीर चाहे जैसे रहे।

नाम-रूप की विस्मृति और सच्चिदानन्द की वृत्ति स्थिर करना इस उभयविध अभ्यास से विद्या अर्थात् ज्ञान मन में अच्छी तरह से वासित हो जाता है, स्थिर हो जाता है तो साधक पुरुष जीवित रहते हुए ही मुक्ति का अनुभव करता है। नाम-रूपों की प्रतीति होना जीवन है किन्तु उनका वास्तविक रूप से प्रतीत होना बन्धन का लक्षण है। 'कल्पित हैं' इस रूप से प्रतीत हों तो उसे मुक्ति का लक्षण कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का शरीर जैसी ईश्वरेच्छा वैसा रहता है, उसे स्वयं शरीर की चिंता नहीं रहती है। वह प्रारब्ध से ही चलता रहता है, उसका कोई आग्रह नहीं रहता है।। ८२।।

'तदभ्यासेन' (श्लो.८२) कहा, अभ्यास का स्वरूप बताते हैं–

तच्चिन्तनं तत्कथनम् अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः।। ८३।।

परमेश्वर का चिन्तन, कथन, परस्पर उसके बारे में समझना–इस तरह एक वस्तु के प्रति तत्परता को समझदार 'ब्रह्माभ्यास' जानते हैं।

चिन्तन अर्थात् बार-बार प्रमाण-तर्क-स्वानुभव से विचार करना। एकमात्र सत् ही जगत् का अधिष्ठान होने से 'है'-प्रतीति वास्तव में अधिष्ठान ब्रह्म की प्रतीति है–इस निर्णय पर पहुँचना और स्थिर रहना जैसे हो वैसा विचार 'तच्चिन्तन' है। कथन भी तत्त्व के बारे में ही किया जाये। प्रपंचकी निवृत्ति शिवरूप है अतः नाम-रूप के कथन को छोड़कर इससे रहित का ही कथन भी कर्त्तव्य है। जगत् तीनों कालों में है नहीं, इसलिये इसके बारे में कुछ भी सोचना सर्वथा निरर्थक है। सपने में देखे का जैसे जाग्रत् में कोई बुद्धिमान् विचार नहीं करता वैसे ब्रह्मसत्यता समझने वाला नाम-रूपका विचार न करे। मिथ्या पर ध्यान देना व्यर्थ जानकर जगत् की उपेक्षा ही योग्य है। उपनिषदों में इसी लिये साधक को अकेला रहने को कहा। यदि दो जने भी साथ रहेंगे तो नाम-रूप की चर्चा होगी ही। सौभाग्य से दोनों सावधान हों तब तो परस्पर चिन्तन याद दिलायेंगे अन्यथा बहिर्मुखता अवश्यम्भावी है। साथी को तत्त्व के बारे में प्रबोधित करे, अन्य कोई हो तो तत्त्वकथन करे–यह साधक के लिए नियम है, ऐसा करता रहा तो उसे एक तत्त्व के प्रति तत्पर समझा जायेगा जो तत्परता ब्रह्मनिष्ठा में उपयोगी है। अतः इसे ब्रह्माभ्यास कहा। नाम-रूप में मन न लगने दे और ब्रह्म में उसे स्थिर करे इसी के चिन्तनादि उपाय हैं। द्वैत-संस्कार अनादि काल से एकत्र हैं अतः

ब्रह्माभ्यास भी पर्याप्त करें तभी अनिष्ट संस्कार धूमिल, निष्प्रभावी होंगे। जानने-मात्र से यह काम नहीं होता, अभ्यास से उसे दृढ करना पड़ता है।। ८३।।

ब्रह्माभ्यास का धैर्यपूर्वक अनुष्ठान कराने के लिये कहते हैं–

वासनाऽनेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम्।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते।। ८४।।

लम्बे समय तक लगातार आदरपूर्वक ब्रह्माभ्यास की आवृत्ति करने पर अनेक कालों में एकत्र द्वैतवासना पूरी तरह समाप्त हो जाती है।

नामरूप की वासना अनादिकाल से है। इसलिये ब्रह्मज्ञान का अभ्यास भी दीर्घकाल तक होना चाहिये। जब तक मर न जायें तथा जब तक नींद न आ जाये तब तक ब्रह्म-विचार करते रहना ही श्रेयस्कर है। विचार आदर-पूर्वक करे अर्थात् इस निश्चय से कि यही ठीक है, तब विद्या दृढभूमि हो जाती है। तभी अनादिकाल की वासना भी निवृत्त हो जाती है। सच्चिदानन्द के संस्कार इतने दृढ हो जाते हैं कि नाम-रूप के संस्कार सर्वथा गौण हो जाते हैं तथा फिर सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। ('अनेककालीना' की जगह 'दीर्घकालीना' ऐसा मोडक का पाठ है। 'अनेक काल' अर्थात् विभिन्न पूर्व जन्मों के विविध युग आदि।)।। ८४।।

एकरूप ब्रह्म से अनेकरस सृष्टि उपपन्न करते हैं–

मृच्छक्तिवद् ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान् सृजेत्।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चाऽत्र निदर्शनम्।। ८५।।

एकरस मिट्टी की शक्ति जैसे विविध बर्तन बनाती है वैसे ब्रह्मशक्ति अनेक मिथ्या कार्य बनाती है। अथवा जैसे जीव की निद्रा स्वप्न बना देती है वैसे ब्रह्म की माया से संसार समझना चाहिये।

ब्रह्म ही जगत् का एकमात्र कारण है। एक ब्रह्म ही इस अनेक आकार के जगत् की मिथ्या सृष्टि करता है। जैसे मिट्टी से अनेक आकार बन जाते हैं वैसे ब्रह्म से संसार बनता है। जैसे मिट्टी में बर्तनों को पैदा करने की शक्ति है ऐसे ही ब्रह्म में अनन्त नाम-रूपों के आकार में प्रकाशित होने की शक्ति है, हैं वे सारे अनृत। शक्ति मिथ्या है, यह दीर्घ कालीन विचार से ही स्थिर हो पाता है। रस्सी में भय देने वाला सर्प या आकर्षण करने वाली माला, दोनों ही मिथ्या हैं। सच्चिदानन्द में प्रियता या अप्रियता दीख रही है जबकि जिनमें दीख रही है, वस्तुतः वे पदार्थ हैं ही नहीं। एक ब्रह्म ही सबका कारण है, कोई दूसरा कारण नहीं है। मिट्टी-बर्त्तनों के दृष्टान्त से प्रायः प्रतीत होता है कि कार्य वास्तविक है, कार्य के रूप में कारण वस्तुतः है। यह भ्रम दूर करने के लिये दूसरा दृष्टान्त दिया : जीवगत निद्रा स्वप्न दिखाती है, अच्छा भी, बुरा भी; उठने पर सपनों में सत्यता की भावना नहीं रहती है। वह अनृत था यह हमारा निश्चय हो जाता है। वैसे ही अज्ञान की निद्रा में जो कुछ भी दीख रहा है, वह झूठा है।। ८५।।

दृष्टान्त का विस्तार करते हैं—

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी।। ८६ ।।

जैसे निद्रारूप शक्ति जीव में ऐसे सपने बना देती है जो घटित होने संभव नहीं, वैसे ब्रह्म में सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाली यह माया स्थित है।

निद्रा जीव से सर्वथा अलग कुछ नहीं है। निद्रा शक्ति ऐसे स्वप्न को बनाती है जिसकी सम्भावना ही नहीं है, दुर्घट है जैसे मृत व्यक्ति का स्वप्न में दिखाई देना। निद्रा की शक्ति है कि असंभव को भी घटा हुआ दिखा देती है। इसी प्रकार ब्रह्म में स्थित माया शक्ति असम्भव सृष्टि, स्थिति और प्रलय की प्रतीति कराने वाली है। जगत् की सृष्टि आदि असम्भव हैं, विचार से सिद्ध होते नहीं ।

विचार की किरण आते ही सृष्टि ही सिद्ध नहीं होती, तो स्थिति और अन्त क्या सिद्ध होंगे! जब तक माया का आवरण है, तब तक यह सम्भव ही नहीं लगता कि सृष्टि नहीं हुई। भगवान् ने गीता में कहा 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः'। इसका अभिप्राय यही निकलता है कि किसी चीज़ की सृष्टि संम्भव नहीं है। सृष्टि का मतलब, जो पहले नहीं था वह अब है। भगवान् ने कहा कि जो चीज़ पहले नहीं थी वह हो जाये यह कभी हो ही नहीं सकता। सृष्टि ही नहीं हो सकती, इसलिये संहार भी असम्भव है। फिर भी माया इन सबकी प्रतीति करा देती है।।८६।।

सपने में असंभव का दर्शन स्पष्ट करते हैं—

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः।। ८७ ।।

सपने में आकाश-गमन, अपनी मूर्धा का कटना, मुहूर्तभर के काल में अनेक वर्ष बीतना, मरा पुत्र देखना आदि असंभव बातें देखी जाना सम्भव है।

स्वप्न में व्यक्ति स्वयं को आकाश में चलते देखता है। आकाश में चलना असम्भव है परन्तु स्वप्न में प्रतीति होती है। तलवार से अपना ही सिर काट लिया—यह देखना सम्भव ही नहीं है फिर भी यह स्वप्न में दीख जाता है। पाँच मिनट के स्वप्न में पच्चीस वर्ष बीत गये ऐसा प्रतीत होता है। मरा पुत्र भी देखने में आ जाता है। ये सब असम्भव बातें हैं किंतु स्वप्न में अनुभव में आ जाती हैं।। ८७ ।।

सपने में दुर्घट भी संभव होना समझाते हैं—

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा।
यथा यथेक्ष्यते यद् यत् तत् तद् युक्तं तथा तथा ।। ८८ ।।

यह संगत, यह संगत नहीं—ऐसी व्यवस्था सपने में निर्णीत नहीं होती। जो-जो जैसा-जैसा दीखता है वह-वह वैसा-वैसा ही वहाँ संगत होता है।

यह ठीक है, यह ठीक नहीं है—ऐसी व्यवस्था स्वप्न में दुर्लभ है। जिसको जला दिया, वह वहाँ बोलता है! इसी तरह माया ने भी जो बनाया उसमें 'यह युक्त है, यह अयुक्त है' ऐसी व्यवस्था नहीं बनती। जो नकल करके डाक्टरेट पाये उसे भी राष्ट्रपति पुरस्कार मिल जाता है और योग्य अन्वेषक को कुछ नहीं मिलता! अनुचित भी उचित हो जाये— संसार में यह विचित्रता है। जैसे स्वप्न में वैसे जाग्रत् में भी व्यवस्था नहीं बनती। जैसा-जैसा दीखता है, वैसा ही युक्त मानना पड़ेगा। प्रायः जाग्रत् में मनुष्य व्यवस्था बनाने में लगा रहता है किंतु अन्त में पता लगता है कि यह तो माया से बना है, इसमें युक्त-अयुक्त का विचार हो ही नहीं सकता। यहाँ जैसी प्रतीति होती है, वही ठीक है।। ८८।।

सपने का वैचित्र्य बताकर दार्ष्टान्त सूचित करते हैं—

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा।
मायाशक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम्।। ८९।।

जब (जीवगत) निद्रानामक शक्ति की ऐसी महिमा है तब (ईश्वर की) माया-शक्ति की यह अचिन्त्य महिमा हो इसमें क्या आश्चर्य!

निद्रा शक्ति की ऐसी महिमा देखी जाती है कि अयुक्त चीज़ों को दिखला देती है तो ब्रह्म की माया शक्ति में असम्भव चीज़ों को दिखला देने की शक्ति में क्या शंका करोगे? हर जीव अपनी निद्रा शक्ति को देखता ही है। परमेश्वर की माया शक्ति भी ऐसे ही असम्भव चीज़ों को दिखलाती रहती है। माया की यह अचिन्त्य महिमा है। न्यूटन के सारे विचारों को सिद्धान्तों को आइन्स्टाइन ने काट दिया, ग़लत साबित कर दिया। आगे आइन्स्टाइन की बातों को भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'ऐसा ही है और आगे भी रहेगा'। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि कुछ भी निश्चित-रूप से नहीं कहा जा सकता। यह रोग इसी दवा से ठीक हो ही जायेगा—यह नहीं कहा जा सकता। 'इतने प्रतिशत को लाभ होगा' ऐसी संभावना ही समझ आती है। कोई भी चीज़ इस संसार में व्यवस्थित नहीं है, निश्चित नहीं है। इसलिये माया शक्ति अचिन्त्य है। अतः माया जो दिखावे, देखते जाओ वह सब मिथ्या है, खेल है। यह जगत् प्रतीतिमात्र है, इसमें वास्तविकता नहीं है। वह तो केवल सच्चिदानन्द है। परमेश्वर की माया शक्ति की महिमा अचिन्त्य है, इसका विचार कर नहीं सकते। जीव की ही निद्रा इतना बड़ा आश्चर्य करती है तो यह ब्रह्म की माया संसार खड़ा करे इसमें कुछ भी अद्भुत नहीं है। अतः परमेश्वर की माया को केवल देखते जाओ, उसको विचारो नहीं। यह अभ्यास कर्त्तव्य है।। ८९।।

निष्प्रयत्न ब्रह्म में स्थित माया जगत्कारण है यह भी दृष्टान्त से बताते हैं—

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत्।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ।। ९०।।

सोते पुरुष में (स्थित) नींद अनेक प्रकार के सपने जैसे पैदा करती है वैसे निर्विकार ब्रह्म में माया विकार कल्पित कराती है।

जो सोया हुआ पुरुष है उस में निद्रा अनेक प्रकार के स्वप्नों का निर्माण करती है। दस स्वप्न आते हैं एक ही रात में, सभी भिन्न-भिन्न होते हैं, उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। लोग सोचते हैं कि इतनी प्रकार की सृष्टि क्यों? विचार करो, तुम्हारे सपने इतने प्रकार के कैसे हैं? जैसे स्वप्न निद्रा करती है वैसे जो ब्रह्म सारे विकारों से रहित है उसमें माया शक्ति अनन्त विकारों की कल्पना कर लेती है। निद्रा का दृष्टान्त हर जीव को माया शक्ति को स्पष्ट कर देता है। स्वप्न में 'क्यों' का प्रश्न नहीं है। वहाँ तो बनाने वाले तुम हो फिर भी 'क्यों' के जवाब में कहोगे 'कुछ पता नहीं।' ऐसे ही जो निर्विकार ब्रह्म है उसमें माया अनन्त कल्पनाओं को कर लेती है।। ९०।।

माया से उत्पादित पदार्थ बताते हैं—

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः।
विकारा प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छायाप्रतिबिम्बिता।। ९१।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्माण्ड, लोक, प्राणी, पत्थर आदि विकार (मायाकार्य हैं)। प्राणियों की बुद्धि के अंदर चेतन की छाया प्रतिबिम्बित होती है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, पंचमहाभूतों से ब्रह्माण्ड, उसमें सात ऊपर के सात नीचे के लोक, उनमें अनेक प्रकार के प्राणी एवं शिला आदि सारे विकार हैं। यद्यपि यह सारी सृष्टि पांचभौतिक है तथापि इनमें कोई चेतन है कोई जड है। पंचमहाभूत का एक विकार अंतःकरण है, उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। जैसे बालू का विकार काँच या दर्पण है, सूर्य का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, बाकी मिट्टी में नहीं पड़ता; वैसे बाकी भी पांच-भौतिक होने पर भी अन्तःकरण ऐसा विकार है जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ जाता है जो चेतन की तरह प्रतीत होता है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब काँच में लगता है पर है नहीं, इसी प्रकार अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ने से लगता है 'यह चेतन है' जबकि वस्तुतः चेतन तो सर्वव्यापक, आनन्दरूप है। अन्तःकरण में पड़ा प्रतिबिम्ब सुखी दुःखी परिच्छिन्न है इसलिये सचमुच में चेतन नहीं है, केवल प्रतीत होता है। प्राणियों के अंतःकरण के अन्दर चेतन की छाया प्रतिबिम्बित हो जाती है, जहाँ अन्तःकरण नहीं है वहाँ चेतन का प्रतिबिम्बि नहीं है अतः जडता है।। ९१।।

जड हो या चेतन, ब्रह्म सर्वत्र समान है—

चेतनाचेतनेष्वेषु　　सच्चिदानन्दलक्षणम्।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक्।। ९२।।

इन चेतनों व अचेतनों में सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म समान है, नाम-रूप अलग-अलग बँटे हैं।

चाहे चेतन हो चाहे अचेतन, दोनों में सच्चिदानन्द ब्रह्म एक-जैसा है इसलिये जैसे 'मैं

हूँ’ की प्रतीति है वैसे ‘घड़ा है’ की प्रतीति है। जड-चेतन यह चेतन ब्रह्म के द्वारा किया गया भेद नहीं है। वह तो सभी का एक-जैसा उपादान कारण है। इनके नाम और रूप अलग-अलग हैं। चेतन का नाम और रूप अलग, जड के अलग हैं। जहाँ चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं है, उसे जड कहा। नाम-रूपों का ही भेद होता चला जाता है, सच्चिदानन्द तो सब जगह एक-जैसे रहेंगे।। ९२।।

ब्रह्म से नाम और रूप, दोनों का सम्बन्ध कैसा है, यह बताते हैं—

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत्।। ९३।।

ये नाम-रूप ब्रह्म में वैसे स्थित हैं जैसे कपड़े पर चित्र। नाम-रूप दोनों की उपेक्षा करने से सच्चिदानन्द का ज्ञान हो जाता है।

जैसे कपड़े के ऊपर रंग से तुम चित्र बना देते हो वैसे ब्रह्मपर संसार है। कपड़ा एक-जैसा रहता है, उस पर राम भी, रावण भी बना दिये जाते हैं। दोनों के नाम-रूप अलग हैं। जबकि दोनों का अधिष्ठान कपड़ा दोनों में एक है। रंगों के कारण राम और रावण दीख रहे हैं, कपड़े में भेद नहीं। चित्र में बनी धोती दीखती है जो चित्र के आधारभूत कपड़े से भिन्न लगती है! कपड़ा भी कपड़े-जैसा दीखता है। चित्रगत धोती असली धोती नहीं है। इसी प्रकार संसार में जो चेतन दीख रहे हैं वे चेतन हैं नहीं, चेतन—जैसे दीख रहे हैं। जो चेतन संसार में दीख रहा है, वह परिच्छिन्न, सुखी, दुःखी, है जबकि वस्तुतः चेतन व्यापक और आनन्दरूप है। जैसे कपड़े पर चित्र उसी प्रकार ब्रह्मरूप कपड़े के ऊपर नाम-रूप बने हैं। जहाँ अन्तःकरण है, वहाँ चेतन वैसे प्रतीत होता है जैसे कपड़े में कपड़ा दीख जाता है; ब्रह्म भी चेतन है और जीव भी चेतनरूप है। परन्तु जीव सचमुच में चेतन नहीं है, वह अन्तःकरण में केवल प्रतिबिम्बित चेतन है। बाकी सब नाम-रूप ब्रह्म में हैं। सारी कल्पनाओं का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। जैसे राम-रावण में आधारभूत कपड़ा एक-जैसा ही है इसी प्रकार जितने नाम-रूप हैं, सबका अधिष्ठान सच्चिदानन्द ब्रह्म एक ही है। यदि चित्रों से मन को हटा लो तो वहाँ कपड़ा ठीक से दीखेगा। अच्छे चित्रों के आकर्षण के कारण असली कपड़ा नहीं दीख पाता। अच्छा व्यापारी कपड़े को ही देखता है इसलिये वह ठगा नहीं जाता। रंगों को धूप, पानी से बचाने पर जैसे घटिया कपड़ा देर तक चलेगा वैसे ही माया को विवेक से बचाने पर संसार ठीक चलता रहता है! यदि विवेक कर लिया तो नाम-रूप की तरफ ध्यान नहीं जाकर सच्चिदानन्द स्पष्ट हो जायेगा। कल्पित नाम-रूप के त्याग से ही ब्रह्म की अवगति हो सकती है। उन्हीं में हमारा मन फँसता है, सभी कामों को ये राग-द्वेष ही बिगाड़ने वाले हैं। सारी चिन्ताएँ, उलझनें आदि नाम-रूप को लेकर ही हैं। नाम-रूप को त्याग दो तो पर ब्रह्म ही है। विवेक से ही यह त्याग होगा। अतः विवेकजन्य वैराग्य को ही मोक्ष की इच्छा वाले के लिये उपयोगी बताया है। दुःख से होने वाला वैराग्य इसके लिये पर्याप्त उपादेय नहीं है क्योंकि दुःख का कारण हटते ही वैराग्य भी हट सकता है। ऐसा प्रायः देखने में भी आता है। पर विवेक से जो वैराग्य होगा, वह कभी हट नहीं सकता।

विवेकजन्य वैराग्य से ही नाम-रूप की उपेक्षा होगी। दुःख से वैराग्य में हम एक नाम-रूप हटाकर दूसरा नाम-रूप लाना चाहते हैं, विवेक में नाम-रूपमात्र से वैराग्य होता है। विवेक क्या है? नित्य और अनित्य को पृथक् समझना। सच्चिदानन्द नित्य है। नाम-रूप अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं। परन्तु जो भी नाम या रूप, वे हैं अर्थात् सद्रूपता नहीं बदलती, है-रूपता नित्य है। नाम-रूप की जितनी उपेक्षा होती है उतनी ही सच्चिदानन्द-बुद्धि स्पष्ट व स्थिर होती है।। ९३।।

दृश्य की उपेक्षा-पूर्वक द्रष्टा को समझने में दृष्टान्त देते हैं–

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम्।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद् यथा तथा।। ९४।।

नीचे की ओर मुँह वाला अपना शरीर जल में स्थित दीखने पर भी उसकी उपेक्षा कर किनारे पर स्थित ही अपने शरीर में जैसे तात्पर्य होता है वैसे (नाम-रूप की उपेक्षा से ब्रह्म में तात्पर्य रखना चाहिये।)

जिस प्रकार अपना शरीर जल में सिर नीचा पैर ऊपर वाला दीखता है पर तुम उसकी उपेक्षा ही करते हो, इसी प्रकार सब नाम-रूप दीखते हुए भी उनकी उपेक्षा करते रहो। जो शरीर सीधा है, ऊपर सिर वाला है, उसी में तुम्हें तात्पर्य लगता है कि 'वास्तव में मैं यह हूँ'; ऐसे ही जानना है कि मैं हमेशा ही हूँ, बाकी जो दीखता है, वह हमेशा नहीं है। पहले बच्चा था, अब बुड्ढा हो गया या एक शरीर से दूसरे शरीर में चला गया पर 'हूँ' तो ज़रूर। कभी भी यह बोध नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ'। है एक-जैसा रहता है। मैं जानने वाला नहीं रहता जैसे गहरी नींद में, पर ज्ञानरूप हमेशा रहता हूँ। गहरी नींद से उठने पर भी स्मरण नहीं होता कि 'मैं नहीं था' वरन् यही होता है 'मैंने कुछ नहीं जाना।' मैं अपने आप को कभी अच्छा न लगूँ ऐसा नहीं पर संसार की चीज़ें कभी अच्छी तो कभी बुरी लगती हैं। इसलिये जवान शरीर, बुड्ढा शरीर देखने पर भी उसकी उपेक्षा और सच्चिदानन्द जो मेरा रूप है उसी में तात्पर्य रखना है कि वही मेरा वास्तविक रूप है।। ९४।।

मिथ्या की उपेक्षणीयता में और दृष्टान्त देते हैं–

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत्।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वद् उपेक्षा नामरूपयोः।। ९५।।

हज़ारों की तादाद में मनोराज्य होने पर भी सब हमेशा उसकी उपेक्षा ही करते हैं, ऐसे ही विवेकी नाम-रूप की उपेक्षा करे।

मनोराज्य अर्थात् जब मन तरह-तरह की बातें सोचता है कि 'ऐसा हो जाता तो अच्छा था'। कल्पना या दिवास्वप्न मनोराज्य है। मनोराज्य के दौरान मन में वैसा लगने पर भी जानकार उसकी उपेक्षा करते हैं, यदि कोई उसे सच्चा माने तो पागल कहलाता है। समझदार लोग मनोराज्य की उपेक्षा ही करते हैं। मनोराज्य एक जैसा नहीं रहता वरन् हज़ारों तरह

बदलता रहता है। जैसे मनोराज्य की उपेक्षा करते हो, वैसे ही नाम-रूप की उपेक्षा करो। मनोराज्य होना बन्द नहीं होगा पर स्वस्थ आदमी उसकी उपेक्षा करता है। जो नहीं कर पाता वह पागल हो जाता है। इसी प्रकार नाम-रूप दीखना बंद नहीं होंगे, जो उपेक्षा करता है वह स्वस्थ रहता है, अर्थात् आत्मज्ञानी हो जाता है।। ९५।।

संसार मनोराज्य-सा है यह समझाते हैं—

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा।। ९६।।

क्षण-क्षण में मनोराज्य अलग-अलग तरह के होते ही रहते हैं। जो-जो मनोराज्य बीत जाये वह फिर नहीं होता। इसी तरह बाह्य व्यवहार भी है।

मनोराज्य क्षण-क्षण में बदलता रहता है, और-और प्रकार का होता रहता है। जो मानोराज्य चला गया, ठीक वैसा वह फिर नहीं आता। इसी प्रकार नामरूप बदलते रहते हैं। जहाँ चीज एक जैसी लगती है वहाँ भी काल का सम्बन्ध तो बदलता ही रहता है। क्षण-क्षण में चीज़ बदल रही है। आदमी कभी शांत है, फिर महान् उत्तेजित है या उल्टा भी होता है। बाहर का व्यवहार नाम-रूप से वैसा ही है जैसा मनोराज्य है। जो चीज़ जैसी है उसको वैसा ही देखना—यह तो है ज्ञान। उसमें कुछ परिवर्तन करना व्यवहार है। ज्ञान से जो हो उसमें परिवर्तन का प्रयत्न न हो तो व्यवहार नहीं है। परिवर्त्तन चाहना मनोराज्य है। जो चला गया वह फिर हो नहीं सकता पर आदमी इसी का प्रयत्न करता रहता है। इसी में सारा समय चला जाता है। इसलिये हम शान्ति और आनन्द से नहीं रह पाते। नाम-रूप का बाध करते रहें तभी शांति है।। ९६।।

व्यवहार की मनोराज्य-समानता ही व्यक्त करते हैं—

न बाल्ये यौवनं लभ्यं यौवने स्थाविरे तथा।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम्।। ९७।।

बचपन में जवानी नहीं मिल सकती, न वह बुढ़ापे में ही मिल सकती है। मर चुका पिता फिर रहता नहीं, बीता दिन लौटता नहीं।

बालक अवस्था में जवानी नहीं है। जवानी में बालक की तरह आदमी होना चाहता है! जब बुड्ढा हो गया तब जवानी पुनः नहीं हो सकती। पिता मर गया। पुत्र मनोराज्य बनाता है 'पिता जी होते तो ऐसा करता।' पर उन्हें पुनः होना ही नहीं है। आदमी सोचता रहता है 'पहले जो था वह ठीक था।' लेकिन जो दिन बीत गया वह वापिस आने वाला नहीं है। हम बीते दिनों को ही सोचते रहते हैं, उनको लाने का प्रयत्न करते रहते हैं इसीलिये हम नाम-रूप की उपेक्षा नहीं कर पाते। जो नाम-रूप दीख रहा है उसके अलावा अन्य नाम-रूप सोचने से ही व्यवहार होता है। जब तुम विद्यमान को बदलना चाहते हो तभी व्यवहार होता है। जो मनोराज्य बीत गया वह लौटता नहीं। इसी प्रकार समझकर जो नाम-रूप दीखता

जाये उसकी उपेक्षा करते जाओ। ऐसा करने से सच्चिदानन्दरूप स्थिर होता जाता है। जैसे मनोराज्य व्यक्ति दिनभर बनाता रहता है लेकिन 'वह व्यावहारिक नहीं है, इसलिये सत्य नहीं है' इस निश्चय से मनोराज्य बनने पर भी उसको पकड़कर रखता नहीं, इसी प्रकार जो जगत् के पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं ये भी पारमार्थिक नहीं हैं, जैसे मनोराज्य व्यावहारिक नहीं है। अतः उनको पकड रखने का प्रयत्न, उनपर ध्यान देना व्यर्थ है। पिता मरनेके बाद, वापिस होगा नहीं। जवानी वापिस आयेगी नहीं। जो चीज़ एक क्षण पहले चली गई वह फिर वापिस आयेगी नहीं। उसको वापिस लानेका प्रयत्न व्यर्थ है।। ९७।।

जगत् के मिथ्यात्व के वर्णन का उपसंहार करते हैं—

मनोराज्याद् विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके।
अतोऽस्मिन् भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत्।। ९८।।

मनोराज्य से क्षणभर में नष्ट होने वाले सांसारिक पदार्थ में क्या अन्तर है! इसलिये प्रतीत होते भी इस संसार के बारे में यह निश्चय छोड़ना उचित है कि यह सत्य है।

व्यावहारिक, या लौकिक अर्थात् लोक में जिससे काम चलता है। इसके लिये चीज़ हो, यह ज़रूरी नहीं। जैसे पाँच सौ रुपये का काम कागज़ के टुकड़े से चलता है। 'रूपा' मतलब चाँदी। कागज में अणुमात्र भी चाँदी नहीं है। फिर भी व्यवहार करता है पाँच सौ रुपये का इसलिये वह लौकिक हुआ। लोक में जो सिद्ध है वह लौकिक। लौकिक पदार्थ हर क्षण में नष्ट होते रहते हैं। जिस क्षण से चीज़ बनी उसी क्षण से नष्ट होना शुरू हो जाती है, पर पता नहीं लगता है। मनोराज्य भी हर क्षण बदलते रहते हैं। एक क्षण में एक मनोराज्य बनेगा। लौकिक पदार्थों के समान मनोराज्य भी क्षणध्वंसी हैं। इस तरह व्यावहारिक में मनोराज्य से कोई विशेषता नहीं। जब मनोराज्य पर तुम ध्यान नहीं देते तो लौकिक के ऊपर क्यों देते हो? लौकिक व्यावहारिक पदार्थों की प्रतीति होने पर भी 'ये सच्चे हैं' यह बुद्धि छोड़ देनी चाहिये। सत्य उसे कहते हैं जो चीज़ जैसी प्रमाण से निर्णीत है वैसी ही बनी रहे। पर संसार में हर चीज़ बदल रही है। अतः यह मिथ्या है, इसे सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्य का लक्षण है—जिस चीज़ का जिस रूप से निश्चय हो उसी रूप में रहे, निश्चय होने के बाद बदले नहीं। ऐसी संसार की कोई चीज़ नहीं है। अतः वह सत्य है यह भ्रम छोड़ देना चाहिये।। ९८।।

नाम-रूप की उपेक्षा का लाभ बताते हैं—

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने।
नटवत् कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम्।। ९९।।

लौकिक की उपेक्षा कर देने पर ब्रह्म-चिन्तन में बुद्धि बिना विघ्न के लगी रहती है। नाटक में पात्र बना जैसे बनावटी आग्रह रखता है वैसा रखने से भी लोकव्यवहार का निर्वाह हो ही जाता है।

नाम-रूप के मिथ्यात्व को समझने का फल होगा कि उसकी उपेक्षा सहज हो जायेगी। दीखता रहने पर भी उसपर आस्था न होने से, 'यह सत्य है' ऐसा निश्चय न होने से उन्हें बदलने आदि का विचार समाप्त हो जाता है। इसलिये जो सच्चिदानन्दरूप है, उसका चिन्तन निर्विघ्न होता है। विघ्न डालने वाले नाम-रूप हैं। नाम-रूप की उपेक्षा जितनी करोगे, ब्रह्मचिन्तन उतना निर्विघ्न होगा। फिर व्यवहार कैसे होगा? 'नटवत्'। जैसे जो लड़का नाटक में राधा बना है, वह अभिनय लड़की की तरह करता है पर जानता है 'मैं लड़का हूँ'। इसी प्रकार मैं मनुष्य के शरीर में हूँ तो मनुष्य की तरह आचरण करता हूँ। जैसे नट जो कर रहा है, उसमें उसकी आस्था नहीं है, 'मैं ऐसा हूँ' ऐसा निश्चय नहीं है, भले ही कृत्रिम, बनावटी आस्था है; वैसे ही विवेकी जानता है 'मैं मनुष्य नहीं हूँ, मनुष्य शरीर का आचरण करने पर भी। कल मुझे शेर का शरीर मिल सकता है। आज ब्राह्मण, कल क्षत्रिय का अभिनय मिल सकता है।' शरीर-मन जैसा आचरण करते हुए भी उसमें आस्था नहीं रखता है। जानता है 'मनुष्य शरीर में जब तक हूँ तब तक वैसा आचरण करता हूँ पर मैं मनुष्य नहीं हूँ, मुझे उसका नाटक ही करना है।' इस कृत्रिम आस्था से जो लौकिक काम हैं, उनका निर्वाह हो जाता है। व्यवहार के कामों में ज्ञानी का कोई आग्रह नहीं है, आस्था है कि 'मैं सच्चिदानन्द हूँ। अन्तःकरण में भी सच्चिदानन्दरूप हूँ, वह जिस घट को विषय कर रहा है, वह भी सच्चिदानन्दरूप है।' इस तरह तत्त्वज्ञान से व्यवहार-विरोध नहीं होता।। ९९।।

ब्रह्मनिष्ठ को व्यवहार से अन्तर नहीं पड़ता, इसे दृष्टान्त से समझाते हैं—

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा।
नामरूपाऽन्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा।। १००।।

पानी बहता रहने पर भी बड़ी चट्टान जैसे स्थिर रहती है वैसे नाम-रूप बदलने पर भी कूटस्थ ब्रह्म अपरिवर्तित रहता है।

सारा व्यवहार मन से होता है, शुद्ध आत्मा से तो कोई व्यवहार है नहीं। आँख भी देखती नहीं क्योंकि मेरे बिना नहीं देख सकती। मैं भी देखने वाला नहीं, क्योंकि बिना आँख के देखता नहीं। इस प्रकार न आँख, न मैं देखने वाले हैं। मैं और आँख दोनों एक हों तब देखने वाले बनते हैं। दोनों एक तो हो सकते नहीं। एक हो न सकें और एक की तरह काम करें, इसी को अध्यास कहते हैं। जो दो एक नहीं हो सकते, फिर भी एक हो जायें, यही अविद्या का कार्य है। ब्राह्मण कौन है? ब्राह्मणी में ब्राह्मण पिता से पैदा हुआ ब्राह्मण है। गुण होने से ब्राह्मण नहीं होता। गुण किसके? शरीरों में ब्राह्मण का कोई गुण एक-जैसा मिलेगा नहीं। किसी एक निश्चित गुण के आधार पर किसी को ब्राह्मण नहीं कह सकते। गुण से ब्राह्मण कहने वाले गुण मन के बताने लगते हैं। सूक्ष्म शरीर का धर्म जो शांति, प्रज्ञा आदि उससे यदि ब्राह्मण मानो तो क्या सूक्ष्म शरीर पैदा होता है? सूक्ष्म शरीर पैदा होता है यह मान सकते नहीं। पैदा होता है स्थूल शरीर। इसमें गुण कुछ भी आ जाते हैं, बदल जाते हैं। लोग गीता का श्लोक सुना देते हैं कि गुण और कर्म से वर्णन बने हैं। पर वहाँ भगवान् ने कहा है, 'मैंने बनाया है।' भगवान् ने विधान किया है कि ब्राह्मण क्या गुण वाले और क्या कर्म

करे। यदि गुण-कर्म से निर्णय होता तो 'मैंने उत्पन्न किया' कहने की ज़रूरत ही नहीं थी। भगवान् ने जन्म दिया। क्या गुण अपने में लाऊँ, क्या कर्म करूँ—यह भी भगवान् ने कहा। जैसे मैं आँख से एक होकर देखने वाला, वैसे ही शरीर से एक होने वाला ब्राह्मण हूँ। शरीर जड, मैं चेतन, दोनों एक होंगे अध्यास से ही। सारे अध्यास मन में प्रतीत होते हैं।

चाहे लौकिक हो या शास्त्रीय, व्यवहार होंगे सभी अध्यास से। 'मैं ब्राह्मण हूँ' यों शरीर से एक होकर ही शास्त्रीय व्यवहार होंगे। अन्तःकरण से एक होकर ही सारे व्यवहार होते हैं। कुछ व्यवहार अन्तःकरण से एक होकर नहीं भी होते जैसे सोते समय व्यक्ति खर्राटे लेता है। यह प्राणों का व्यवहार है। अन्तःकरण तो ले नहीं रहा। उसको खुर्राटे लेने का पता ही नहीं होता। जिन व्यवहारों में नाम-रूप की प्रतीति है उन व्यवहारों में ही उन की उपेक्षा है। जहाँ केवल प्राण आदि का व्यवहार है वहाँ उपेक्षा करने की भी ज़रूरत नहीं है। अन्तःकरण में आने के बाद बन्धन और मोक्ष का प्रश्न होता है। इसलिये व्यवहार से आत्मस्थिति डिगे—ऐसा नहीं। ज़ोर से पानी बह रहा हो तो भी उसके नीचे भारी शिला स्थिर ही रहती है। ऐसे ही बुद्धि का, नाम-रूप का व्यवहार होता रहे फिर भी विद्वान् की निर्विकारता यथावत् रहती है। व्यवहार तभी करेगी जब उपाधि-आत्मा का अन्योन्याध्यास हो किन्तु विद्वान् का अध्यास नट की तरह कृत्रिम है। अतः वेदान्त में अज्ञान भी माना और बाधित अज्ञान भी माना। उसी को 'अविद्यागन्ध, अविद्या-छाया, अविद्यालेश' आदि कहा है। जैसे ऊनी कपड़ों में रखी फिनाइल की गोली कुछ समय बाद समाप्त हो जाती है पर उसकी गन्ध रहती है ऐसे ही जिस अंतःकरण में अविद्या से 'मैं' का अध्यास था, उस अविद्या की निवृत्ति के बाद भी कुछ समय तक मन-बुद्धि में 'मैं' का अध्यास चलता रहता है क्योंकि अविद्या का संस्कार है, वासना है। नाम-रूप को देख बुद्धि रही है पर आत्मा के द्वारा ही। किन्तु आत्मा को उसमें अध्यास न होकर अध्यास की अनुवृत्तिमात्र है, संस्कारमात्र है। तब नाम-रूप बदलते रहें, कूटस्थ ब्रह्म बिना बदले ही रहता है। ज्ञानी व्यवहार करता है पर उसमें कुछ विकार होता नहीं। जैसे बहता जल शिला को हिलाता नहीं है वैसे व्यवहार ज्ञानी में कोई परिवर्तन नहीं लाते। नटवत् व्यवहार करते हुए भी वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है। कूट अर्थात् खोट में वह निर्विकार रूप से स्थित रहता है इसलिये उसे कहा कूटस्थ ब्रह्म। वह किसी भी प्रकार से परिवर्तित नहीं होता।। १००।।

ब्रह्म में जगद्भान में उदाहरण देते हैं—

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद् वियत्।
सच्चिद्घने तथा नानाजगद्गर्भमिदं वियत्।। १०१।।

वस्तुएँ गर्भ में धारण किया व्यापक आकाश जैसे बिना छेद वाले दर्पण में भासता है वैसे सद्घन-चिद्घन में अनेक जगत् गर्भ में रखने वाला यह आकाश प्रतीत होता है।

ब्रह्म के अन्दर नाम-रूप का भान कैसे होगा? जीवन् मुक्त में व्यवहार की शंका जब तक वह अनुभव नहीं होता तब तक हटती नहीं। इसलिये आचार्य शंकर इतने ग्रन्थों में कहीं

यह नहीं कहते कि 'यह मैं कहता हूँ।' लेकिन ब्रह्मसूत्रों में जहाँ जीवन्मुक्त का विचार आया है, वहाँ उन्होंने कहा है कि किसी के अनुभव का अपलाप कैसे किया जा सकता है! वहाँ प्राचीन आचार्यों ने माना है कि भाष्यकार अपना अनुभव कह रहे हैं। अखण्ड ब्रह्म में खण्ड वाले जगत् के भान में उदाहरण दिया : प्रायः कहीं छेद होता है तब छेद में से पदार्थ भीतर घुसता है। लेकिन काँच में कोई छेद नहीं, फिर भी उसमें सारा आकाश दिखाई देता है! यह कैसे? और उस आकाश में सूर्य, चंद्र, तारे, बादल आदि हैं ही, ऐसा आकाश काँच में कैसे घुस गया? जैसे बिना छिद्र के अन्दर घुसना सम्भव नहीं पर सारी चीज़ों को लेकर आकाश घुस ही गया ऐसे ही बिना अज्ञान के अध्यास सम्भव नहीं फिर भी ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होने के बाद भी नाम-रूप की प्रतीति है। जैसे काँच में सचमुच में आकाश नहीं, वैसे 'सचमुच' इस तरह से मुक्त में कोई व्यवहार नहीं। सारे व्यवहार करते हुए प्रतीत होता है, लेकिन वस्तुतः व्यवहार नहीं कर रहा है।। १०१।।

अध्यास बगैर अधिष्ठानज्ञान के नहीं होता अतः सदा नाम-रूप का भान ब्रह्मभान से व्याप्त ही है यह स्पष्ट करते हैं—

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तःस्थेक्षणं तथा।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः।। १०२।।

दर्पण देखे बिना उसमें स्थित का जैसे दर्शन संभव नहीं वैसे सच्चिदानन्द के भान के बिना नाम-रूप का ज्ञान कैसे संभव है!

यह नहीं कह सकते कि हमें सिर्फ नाम-रूप या केवल व्यवहार ही दीखता है क्योंकि बिना सच्चिदानन्द देखे व्यवहार, नाम-रूप का दर्शन संभव नहीं। जैसे काँच बिना देखे प्रतिबिम्ब नहीं दीख सकता वैसे सच्चिदानन्द देखे बगैर नाम-रूप नहीं दीख सकता। काँच अत्यन्त स्वच्छ हो तो जैसे एकाएक प्रतीत नहीं होता, केवल प्रतिबिम्ब ही दीखता है और इसलिये वह 'प्रतिबिम्ब है' यों पता न चलकर बिम्बभूत वस्तु है ऐसा लगता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द अतिस्वच्छ होने से हम उसकी उपेक्षा कर नाम-रूप को ही वस्तु माने हुए हैं। बिना अधिष्ठानबोध के अध्यास कभी नहीं अनुभव किया जाता, असावधानीवश हम उससे बेखबर भले ही रहें।। १०२।।

अध्यासदशा में सच्चिदानन्द के प्रति जागरूक होने का ढंग बताते हैं—

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेद् नामरूपयोः।। १०३।।

प्रारम्भ में सच्चिदानन्द भासने पर उतने पर ही बुद्धि रोककर आगे नाम-रूप की बुद्धि न बनने दे।

इदंतारूप से रस्सी देखे बिना साँप नहीं दीख सकता। घोर अन्धकार में साँप नहीं

दीखता, मन्दान्धकार में ही दीखता है। 'सामने पड़ा हुआ' रूप से कौन दीख रहा है? सामने पड़ी रस्सी ही। ऐसा होने पर भी रस्सी की पहचान नहीं होने से वहाँ साँप दीख गया। इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म पहले प्रतीत होगा तब उसमें कल्पित दूसरी चीज़ें प्रतीत होंगी। 'यह है' अनुभव तो रस्सी को बतला रहा है, और 'साँप' अनुभव कल्पित का है। इसी प्रकार 'घड़ा है' यह प्रतीति होती है। 'है' की प्रतीति तो सच्ची है, वह बदलती नहीं। तुम्हारे संस्कारों से तुम्हें घड़ा दीख रहा है। पहले है ग्रहण होगा, तब घड़ा पता चलेगा। सच्चिदानन्दरूप का पहले भान होता है। अविचार से यह पता नहीं लगता किन्तु विवेकपूर्ण अभ्यास से समझ आता है कि पहले सच्चिदानन्द भासता है तब नाम-रूप। जब सच्चिदानन्द की प्रतीति हो तब उसमें ही बुद्धि को स्थिर कर लेना चाहिये। यों है-बुद्धि स्थिर हो जायेगी तो नामरूप नहीं दीखेंगे। 'यह क्या है?' यों बहिर्मुखी जिज्ञासा होती है तब बुद्धि अस्थिर होती है, तब तुम्हारा संस्कार जगता है और नाम-रूप प्रतीत होते हैं। सच्चिदानन्द का पहले भान हो, वहीं बुद्धि को नियमित कर लो तो नाम-रूपात्मक प्रपंच की कल्पना ही नहीं होगी, मिथ्या ज्ञान पैदा ही नहीं होगा। साधक के लिये यह अभ्यास बताया।। १०३।।

निष्कर्ष व्यक्त करते हैं—

एवं च निर्जगद् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अद्वैतानन्द एतस्मिन् विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम्।। १०४।।

इस प्रकार निश्चित हुआ कि सच्चिदानन्दरूप लक्षण वाला ब्रह्म जगद्-रहित है। लोगों को चाहिये कि इस अद्वैत आनन्दरूप ब्रह्म में चिरकाल के लिये विश्राम करें।

साधक जब ऐसा अभ्यास करता है तब नाम-रूप से रहित ब्रह्म में स्थिति होती है। अद्वैतानन्द अनुभव का प्रकार बतलाया। बीच में जीवन्मुक्त का, व्यवहार का प्रसंग आ गया। इसका यह अर्थ न समझ लेना कि व्यवहार को होने दो! शिला की तरह प्रौढता तब होगी जब तुम्हारी बुद्धि सच्चिदानन्द में सुस्थिर हो जायेगी। तभी फिर व्यवहार से अन्तर नहीं पड़ेगा। लेकिन निष्ठा होने तक नाम-रूप वाले जगत् से रहित जो ब्रह्म है सच्चिदानन्द लक्षण वाला, उसमें दीर्घकाल तक विश्राम करना ही श्रेयस्कर है। शिलावत् प्रौढता होने के बाद भले ही व्यवहार कुछ भी चलता रहे। दीर्घकाल तक यों स्थिरता का अभ्यास करना पड़ेगा। यही अद्वैतानन्द है।। १०४।।

अध्याय समाप्त करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया।। १०५।।

।।इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

'ब्रह्मानन्द' नामक (पंचाध्यायात्मक) ग्रन्थ में यह तीसरा अध्याय बताया 'अद्वैतानन्द' जगत् के मिथ्यात्व के विचार से यही उपलब्ध हो जाता है।

जो ब्रह्मानन्द के पाँच अध्याय हैं इनमें यह तीसरा अध्याय है। योगानन्द, आत्मानन्द के बाद यह अद्वैतानन्द है। अद्वैतानन्द कब रहता है? जब जगत् का बार-बार मिथ्यारूप से चिन्तन करें तब अद्वैतानन्द में स्थिति होती है। पंचदशी के अन्तिम पाँच प्रकरण मिलाकर 'ब्रह्मानन्द' नामक एक खण्ड ही है। इनमें पहला था 'योगानन्द' जहाँ द्वैत सर्वथा न रहने वाली समाधि में आनन्द का वर्णन किया। उस स्थिति में निर्विशेष ब्रह्मका आनन्द भासता है। योग सबसे सध नहीं पाता, इसमें प्रारब्ध बड़ा हेतु है। 'जीवन्मुक्तिविवेक' नामक ग्रंथ में विद्यारण्य स्वामी ने ही बताया है कि तीव्र प्रारब्ध समाधि से भी प्रबल है अतः व्युत्थान का हेतु हो जाता है। प्रश्न होता है कि प्रारब्ध-भोगकाल में भी ब्रह्मानन्द का अनुभव कैसे हो? भले ही तत्त्वज्ञान एवं उसकी निष्ठा के लिये समाधि अनिवार्य हो पर हर साधक अधिकतम काल समाहित रहे यह दुर्लभ है। उसके लिये आनन्द-स्थिति का क्या उपाय? दूसरे प्रकरण 'आत्मानन्द' में इसका उत्तर दिया जहाँ आत्मा की परम प्रियता के आधार पर निरन्तर आनन्दभान रहना संभव बताया। जैसे दस बच्चों में भी बैठे अपने पुत्र पर ही प्रेमवश दृष्टि जाती रहती है वैसे सांसारिक व्यवहार में भी निजस्वरूप पर दृष्टि जाती रहे तो आनन्द भासता रह सकता है। अनात्मा, गौणात्मा, मिथ्यात्मा—सभी से अधिक प्रिय प्रत्यगात्मा को ही वेद ब्रह्म बताता है, जगज्जन्मादि का कारण बताता है। व्यापक होने से वही आनन्द है। उसकी परम प्रियता याद रखकर पुनः पुनः उस स्वरूप से प्रफुल्लित रहना भी सम्भव है। जगत्प्रतीति-काल में भी आत्मानन्द का अनुभव सम्भव है। किन्तु इसमें अद्वैत का आनन्द नहीं! अद्वैतानन्द नामक तीसरे प्रकरण में उसका उपाय बताया कि नाम-रूप का मिथ्यात्व जानकर प्रत्यगात्मा में उन्हें लीन करने से अद्वैत भासता रहता है। सच्चिदानन्द जो प्रत्यक्स्वरूप वही अधिष्ठान है जिसके भान के बिना द्वैत भास ही नहीं सकता अतः उस प्राथमिक अधिष्ठान-भान में स्थिति का 'अद्वैतानन्द' में विस्तार किया।। १०५।।

।। तेरहवाँ प्रकरण समाप्त।।

चौदहवाँ
ब्रह्मानन्द में विद्यानन्द प्रकरण

निष्प्रपंच ब्रह्म के आनन्द को तीन प्रकरणों से बता चुके, आगे दो प्रकरणों से वृत्ति से होने वाले आनन्द का वर्णन है। अद्वैतानन्द में नाम-रूप के लय तक वृत्ति होने पर भी अधिष्ठान-भान वृत्ति के अधीन नहीं है। अपना स्वरूप स्वतः सिद्ध होने से वृत्तिनिर्भर नहीं है। अध्यस्त-लय के अलावा वृत्ति का उपयोग नहीं क्योंकि अधिष्ठान स्वयं भानरूप से उपस्थित ही है। मिथ्या-गौणादि में प्रियबुद्धि हटाने में श्रम है, आत्मा की प्रियता वस्तुस्थिति ही है उसके लिये वृत्ति चाहिये नहीं। स्वरूपसुख का अनुभव पा चुका व्यक्ति ही वृत्तिसुखों में अधिकृत समझना चाहिये अतः प्रकरणों का क्रम भी संगत है।

चौदहवें प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया।
ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते।। १।।

योग, आत्मा का विवेक एवं द्वैतमिथ्यात्व का विचार—इन उपायों से ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले के लिये अब विद्यानन्द का निरूपण किया जाता है।

पूर्व के तीन प्रकरणों में कहे उपायों से ब्रह्मानन्द का आस्वादन किये हुए को विद्यानन्द की उपलब्धि सम्भव है। निर्विकल्प समाधि एक उपाय है। गौण और मिथ्या आत्माओं से मुख्य आत्मा को सर्वथा पृथक् कर समझना अर्थात् विवेक दूसरा उपाय है। नाम-रूपात्मक द्वैत प्रपंच वास्तविक नहीं मिथ्या है यह दृढता रखना ब्रह्मानन्द-लाभ का तीसरा उपाय है। 'मिथ' कहते हैं पुराण को। अंग्रेजी भाषा में भी यह शब्द है। पुराण में जो बात कही जा रही है, वह बात शाश्वत सत्य है परन्तु जिस कथा के मध्यम से कही जा रही है, वह सत्य नहीं है। हरिश्चन्द्र की कथा का प्रतिपाद्य जो सत्य की धर्मरूपता, वह शाश्वत सत्य है। दो चीज़ें जहाँ मिलती हैं, एक क्षणिक और दूसरी शाश्वत वही मिथ्या है। 'यह साँप है' में 'यह है' सत्य और 'साँप' भाग झूठा है। घड़ा असत्य भले ही हो, 'है' सत्य, इसलिये घड़े का ज्ञान मिथ्या कहा जाता है। मिथ्या का अभिप्राय असत् से नहीं। मिथ्या का अर्थ असत् मानकर ही अधिकतम प्रश्न उठते हैं किन्तु मिथ्या प्रतीत होता है, असत् प्रतीत नहीं होता—यह दोनों में स्पष्ट फ़र्क है। द्वैत का जो अधिष्ठान सच्चिदानन्द उसका बार-बार विचार करने से भी आनंद-आविर्भाव होता है। ये तीन तरीके बतलाये उस ब्रह्मानन्द के साक्षात्कार के लिये। जो

इन तीन तरीकों से ब्रह्मानन्द को देखता है वही वृत्ति से होने वाले विद्यानन्द का आस्वादन कर सकता है। इस विद्यानन्द का निरूपण चौदहवें प्रकरण में होगा।। १।।

विद्यानन्द का स्वरूप बताते हैं—

विषयानन्दवद् विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः।
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः।। २।।

विषयानन्द की तरह विद्यानन्द बुद्धिवृत्तिरूप है। दुःख का अभाव आदि रूप से यह चार तरह का बताया गया है।

विषयानंद का स्वरूप बुद्धि की वृत्ति है। जिसने कभी रसगुल्ला नहीं खाया उसे उसमें प्रियता नहीं तो उसे रसगुल्ले का आनंद भी नहीं आता। जिसने खाया है उसे रसगुल्ला नहीं होनेपर भी मुँह में पानी आता है अतः विषयानंद बुद्धिवृत्तिरूप है। यदि ध्यान कहीं और है तो मुँह में रसगुल्ला डालने पर भी आनन्द नहीं आयेगा। वृत्ति है तो आनन्द है, अन्यथा नहीं। विद्या का आनंद, ब्रह्मज्ञान का आनन्द भी वृत्तिरूप है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में आनंदमय कोष का वर्णन किया : 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।' आनन्दमय कोष का सिर है प्रिय। हमें चीज़ अच्छी लगती है, यह प्रियता है, इसे सिरकी तरह कहा। वस्तु प्रिय हो और सम्मुख आ जाये तो जो सुख होता है वह 'मोद' तथा प्रिय की उपलब्धि हो जाये, हाथ में आ जाये तो 'प्रमोद'—ये दोनों दाँयें-बाँये हिस्से हैं। आनन्द अर्थात् सुखसामान्य धड़ की तरह तथा ब्रह्म पूँछ-सा अधिष्ठान है। ब्रह्म यद्यपि आनन्दस्वरूप है तथापि वृत्तियों में होने वाला आनन्द अलग-अलग है। प्रतिष्ठा कहा आनन्द तो अधिष्ठान अर्थात् आत्मस्वरूप है। विषयों की तरह शिवविषयक प्रिय आदि वृत्तियाँ बनने लगें तो आनन्दमय-स्तर पर ब्रह्मानन्द सुलभ है। ज्ञान-की वृत्ति बने तो ज्ञान का आनन्द होगा। स्वरूपभूत तो आनन्द एकरूप है पर वृत्तिरूप चार तरह का है।। २।।

दुःखाभाव आदि जो चार प्रकार हैं उस आनंद के, उन्हें बताते हैं—

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ।
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यम् उदाहृतम्।। ३।।

दुःख न होना, कामनाओं की पूर्ति, 'मेरे कर्त्तव्य पूरे हो गये' यह भाव तथा 'पाने योग्य सब पा चुका' यह भाव—ये चार प्रकार हैं।

पतिविरह में दुःखी पत्नी को सूचना मिले कि पति देव आ रहे हैं तो दुःखाभाव होता है। उनके मिलने की तैयारी में जो सुख वह प्रिय है। पति आ गये तो जिस पति की कामना थी वह प्राप्त हो गया अतः कामनापूर्ति है। पति मिलने से 'अब मैं कृतकृत्य हो गयी।' यह धारणा बनती है। अर्थात् इसे प्रमोद समझ सकते हैं। जो प्राप्त करने लायक था वह प्राप्त हो गया यह चौथी मनःस्थिति है। इस प्रकार प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द की जो

अवस्थायें हैं इन्हें यहाँ चार प्रकार से बताया गया। जितने दुःख वे सारे अनात्मा के हैं। अज्ञानी सोचते हैं कि चीजों के अभाव से दुःख होता है। चीज़ अनात्मा ही होगी, माया का कार्य होगी अतः दुःख का ही कारण होगी। न मिलने पर भी और फिर मिलकर चली जाने पर दुःख का कारण होगी। अनात्मा तो दुःख का ही कारण है। जिसने उस आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया, वह जानता है कि दुःख का कारण जो अनात्मा उसका मुझ आत्मा से स्पर्श ही नहीं है। आत्मज्ञानी का लक्षण ही है कि उसे कभी दुःख नहीं होता, 'तरति शोकम् आत्मवित्'। सारे दुःख मिट गये—इसका जो सुख होता है वह एक तरह का वृत्तिसुख है। जब वृत्ति बनती है कि 'अनादि काल से जिस-जिस अनात्मा ने हमें दुःख दिया था उस सबसे मैं छूट गया' तब यह पहले प्रकार का विद्यानन्द है। यह एक वृत्तिरूप ज्ञान है।

दूसरा है 'कामाप्तिः' अनादि काल से मैं सुख ढूँढ रहा था। कोई *चीज़* कामना का विषय नहीं है। अनादि काल से काम्य आनंद मुझे प्राप्त हो गया, मैं आनंदस्वरूप हो गया—यह समझ 'कामाप्ति' या कामनापूर्ति-रूप सुख है। फिर तीसरा है जब अनुभव होता है 'अब मेरा कोई कृत्य नहीं रहा। कुछ भी करने को नहीं रहा। लड़की के हाथ पीले हो गये मैं कृतकृत्य हो गया। गंगा नहा लिया।' कृतकृत्यता का भी एक विशेष सुख होता है। इसी प्रकार चौथा है प्राप्तप्राप्यता का, 'जो प्राप्त करने लायक था वह सब पा लिया' यह निश्चय। प्रारम्भ में विषयों को प्राप्य समझता था। वेद ने बताया कि 'एक चीज़ है जिसका अनुभव कर लोगे तो सब कुछ तुम्हारे अनुभव में आया हो जायेगा।' यही श्वेतकेतु को आरुणि ने कहा था। क्योंकि उस चीज़ को मैंने जान लिया जिस को जानने से सब कुछ जान लिया गया होता है इसलिये सभी प्राप्तव्यों की प्राप्ति हो गयी। यह भी जब वृत्ति का आकार हो तभी इस चौथे आनंद का लाभ होता है।

ये चार तरह के धीवृत्तिरूप आनंद हैं। इस प्रकार, चार प्रकार के सुख विद्यानन्द हैं। जो आनन्द सारी कामनाओं द्वारा कामित था, उस स्वरूप से स्थिति हो जाने पर ये चारों आनन्द सुलभ हैं। फिर कुछ करने को रह नहीं जाता। कामना से ही व्यक्ति कुछ भी करता है। अतः निष्काम कर्म का मतलब भी परमात्मा की कामना से किया कर्म है। जब एकमात्र परमेश्वर-कामना से कर्म करें तब वे निष्काम कहलाते हैं। जब परमात्मा प्राप्त हो गया तब कुछ करना शेष रहा ही नहीं अतः कृतकृत्य हो जाता है। नाम-रूपात्मक सारे प्रपंच को बाधित कर दिया तब कृतकृत्यता का अनुभव होता है। इन चार प्रकारों का आनंद विद्यानन्द प्रकरण में बतलायेंगे : श्लोक १८ से दूसरा, श्लोक ३७ से तीसरा, श्लोक ५८ से चौथा बताया जायेगा।। ३।।

दुःखाभाव समझाने के लिये निवृत्त होने वाला दुःख पहले बताते हैं—

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम्।
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः।। ४।।

दुःख दो तरह का बताया जाता है—इहलोक और परलोक का। बृहदारण्यक का वचन इहलोक के दुःख की निवृत्ति बताता है।

दुःख दो प्रकार का कहा गया है। एक है 'ऐहिक' यहाँ होने वाला, मनुष्यलोक में होने वाला। यहाँ जब तक हम जीवित हैं तब तक जो दुःख होता है वह ऐहिक, 'इह' मायने इस देश और इस काल में होने वाला दुःख है। भूत और भविष्य काल का दुःख अनुभव नहीं होता, उसकी या स्मृति होती है या कल्पना होती है। दुःख का अनुभव वर्तमान काल में ही होता है। प्रारब्ध को ही यहाँ का 'वर्तमान' काल समझ लेना चाहिये। प्रारब्ध काल में होने वाला ऐहिक है।

जब तक मृत्यु लोक में हैं, प्रारब्ध भोग है, तब तक के सारे दुःखों को ऐहिक कह दिया। यहाँ से जाने के बाद अन्य देश-काल में जो अनुभव होगा वह आमुष्मिक है। प्रारब्ध-भोग यहीं भोगकर समाप्त हो जाता है। पहले के संचित कर्म एवं इस जन्म में सम्पन्न होने वाले आगामी कर्म, दोनों को मिलाकर भावी जन्मों के प्रारब्ध बनते हैं अतः उनसे होने वाले दुःख आमुष्मिक होंगे। आमुष्मिक भोगों में आगे आने वाले सारे जन्मों के भोग गिन लिये। आमुष्मिक से केवल कोई एक काल नहीं वरन् सारा भावी भोग का काल कहा। इनमें से ऐहिक दुःखभोगों की निवृत्ति आत्मविज्ञान से हो जाती है—यह बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर बतलाया गया है।। ४।।

बृहदारण्यक का वह वाक्य सुनाते हैं—

आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयम् अस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत्।। ५।।

'यह पुरुष मैं हूँ' यों यदि आत्मा का अनुभव कर ले तो क्या चाहते हुए, किसकी कामना पूरी करने के लिये शरीर के पीछे दुःखी होवे!

बृहदारण्यक ४.४.१२ के इस मंत्र का सातवें प्रकरण में अत्यन्त विस्तार से व्याख्यान कर चुके हैं। जैसे सरकण्डे में एक बारीक डोरी होती है, उसे निकालने में बहुत सावधानी चाहिये। धैर्य न रखें तो बीच में ही टूट जाती है एवं बाकी डोरी निकल नहीं पाती। इसी प्रकार आत्मतत्त्व भी ऐसा ही सूक्ष्म है। उपनिषद् में कहा है कि वह अणु से भी अणुतर है। यहाँ मूँज-समान स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीर हैं। धीरे-धीरे पदार्थ-विवेक करना पड़ता है। त्वम्-पद का अर्थ, देहत्रय-विशिष्ट चेतन है। जब कहते हैं 'तुम आना' तब तीनों शरीर लेकर आते हो, वही 'तुम' का मतलब होता है। पदार्थ-शोधन का मतलब है कि तीनों शरीरों में, जो अनुगत चेतन है, तीनों देहों को हटा करके उसे ही 'मैं' अनुभव करना। सोने को शुद्ध करना मतलब सोने के अलावा अन्य सभी चीज़ें हटायी जायें। इसी तरह चेतन से भिन्न जितनी चीज़ें स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर, उन्हें जब हटा दिया जाये तब पदार्थ-शोधन होता है जो धैर्य से करना पड़ता है। 'शरीर मैं नहीं हूँ' ऐसा सोचते हैं, इसीको लोग मान लेते हैं

कि पदार्थ-शोधन हो गया! स्थूल शरीर में होने वाले सारे अनुभवों में 'मैं' की प्रतीति न रह जाये, तब स्थूल शरीर से त्वम् को हटाया है। धीरे-धीरे अभ्यास करें तभी यह दृढ होता है। वेदान्त की साधना में इसीलिये कठिनाई आती है कि इसमें बात समझना सरल है जबकि उसे अनुभवारूढ करना अतिदुर्लभ है। सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्रधानरूप से मन-प्राण जिनमें प्रकट होती है ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति। इनसे भी मैं अलग हूँ। सूक्ष्म शरीर से अपने को अलग करना और भी धैर्य से होगा। मन में होने वाला अनुभव जब मैं के साथ एक न रह जाये तब तक इसे मज़बूत करना पड़ता है। मन में दुःख है—यह तो रह जायेगा, 'मैं दुःखी हूँ'—यह अनुभव नहीं रहेगा। इसी प्रकार 'प्राण क्रिया कर रहा है, पर मैं क्रिया नहीं कर रहा। प्राण मेरे कारण कर रहा है। पर मैं कर्त्ता नहीं बन जाता।' सूक्ष्म शरीर से अलग कर लिया तो भी कारण शरीर, अविद्या रह गई, संस्कार रह गये। प्रायः जब हम पदार्थ-शोधन करते हैं, तब लय का अनुभव होने लगता है। जनेऊ संस्कार के समय लड़के को तीन दिन अकेले कमरे में रखा जाता है। वेदानुसार आचार्य के गर्भ में तीन दिन रहना पड़ता है ताकि कोई बारह की चीज़ व्यवधान करने वाली न रहे। ऐसे में दो-तीन घंटे तो मन में विचार आयेगा, फिर धीरे-धीरे नींद आ जायेगी। बाह्य विषय का सम्बन्ध न होने पर पदार्थ-शोधन से भी निद्रा आती है।

गौडपादाचार्य ने सावधान किया 'लये सम्बोधयेत् चित्तम्' कि साधक निद्रा में न जाये, फिर पदार्थ-शोधन को करने लग जाये। पदार्थों को याद करने से ही सम्बोधन या जगना होगा। सम्बोधन करते हैं तो विषयों के संस्कार उठते हैं जिससे वह विक्षिप्त हो जाता है। 'विक्षिप्तं शमयेत् पुनः'। जब विषय याद आने लगें तब मन को पुनः शान्त करे, विषय हटावे। ऐसा करते-करते न लय रह जाता है न विक्षेप रह जाता है। लेकिन उस समय उसके सारे संस्कार अज्ञान में रह जाते हैं। 'सकषायं विजानीयात्' यह जो संस्कार वाली अविद्या है इसी से वे फिर-फिर बाहर निकल आते हैं। इसलिये स्थूल सूक्ष्म से पदार्थ-शोधन के बाद, जो कारण शरीर है, जिसमें सारे संस्कार पड़े हैं, उसे हटाने के लिये बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति दुहरानी पड़ती है। इसको ब्रह्माकार वृत्ति बनाना नहीं समझ लेना! यह तो केवल चिन्तनरूप है। जब पदार्थ-शोधन पूरा हो जाता है, तब संस्कार वाली अविद्या भी उपाधि-रूप से नहीं रह जाती और समभाव की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् ने गीता में कहा है 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'। सम एक ही है, ब्रह्म, बाकी सब विषम हैं। 'समप्राप्तं न चालयेत्' जब तीनों शरीरों से अपने को अलग कर लिया तब उस भाव को फिर मिलाने का प्रयत्न न करे, प्रारब्ध कर्म से विचलित न हो जाये इसके प्रति भी सजग रहे। यह पदार्थ-शोधन यदि धैर्यपूर्वक नहीं किया जाता है, तो बीच में छूट जाता है। इस समस्थिति की प्राप्ति अत्यंत-दुर्लभ है। इसलिये 'चेद्' (यदि) कहा।

प्रकृति से सर्वथा अलग किया जो पुरुष वही मैं हूँ। हम लोग सोचते हैं कि अच्छी प्रकृति रखकर हम प्रकृति से अलग हो जायेंगे किंतु गीता में कहा कि सत्त्व गुण भी सुख के प्रति आसक्ति को लाता है। सोने का पिंजड़ा भी पिंजड़ा ही है। चाहे रजोगुण, चाहे

सत्त्वगुण अवच्छेद बने, दोनों ही उपाधियाँ हैं अतः छोड़नी पड़ती हैं। इसलिये भगवान् ने अर्जुन को कहा 'त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' वेद तुम्हें जहाँ तक ले जायेगा वह सब त्रिगुणात्मक सृष्टि ही है। तीनों गुणों से सर्वथा रहित, मेरा वास्तविक स्वरूप है। ऐसा यदि कोई साक्षात् और दृढ अनुभव कर लेता है तो फिर वह किस चीज़ की इच्छा करेगा! इच्छा शरीर या मन के लिये ही होती है। शरीर-मन से अपने को अब अलग जान लिया तब 'कस्य कामाय' कौन भोक्ता बचा? इधर, कामना को लेकर ही स्थूल-सूक्ष्म शरीर दुःखी होते थे, जिससे हम दुःखी होते थे। जब शरीरों से तादात्म्य हट गया तब न किसी चीज़ की इच्छा है न भोक्ता बचा है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर में तो ज्वर रहेगा, पर मैं ज्वर वाला नहीं होऊँगा।। ५।।

आत्मा को शोक होना समझाने के लिये आत्मा के प्रतीयमान भेद बताते हैं—

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः।
चित्तादात्म्यात् त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत्।। ६।।

आत्मा दो तरह का बताया गया है—जीवात्मा और परमात्मा। तीन शरीरों से चेतन के अभेदाध्यासवश आत्मा जीव हुआ भोक्तापना पा जाता है।

भोक्ता कैसे होता है? आत्मा दो प्रकार का है—एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। जीवात्मा बनता है क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से तादात्म्य अर्थात् अभेद का अध्यास, भ्रम कर लेता है। आत्मा का स्वरूप तो चेतन है पर जब इन तीन शरीरों से तादात्म्य सम्बन्ध होता है, तब स्वयं को जीव अर्थात् कर्त्ता-भोक्ता समझता है। ज्ञान होने के बाद भी प्रारब्धक्षय पर्यन्त देहों से सम्बन्ध तो है ही, पर तादात्म्य नहीं है, 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है। अतः जीवभाव नहीं है। मालूम तो है कि अब तक हम इन तीनों शरीरों से काम चला रहे थे इन्हें मैं समझते हुए; अब हमने अपने को इनसे अलग कर लिया, अब हमारा इनसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रह गया, इसी से सुखी-दुःखी नहीं होते। चेतन आत्मा का तीनों देहों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है, तभी वह भोक्ता बनता है, अन्यथा वह भोक्ता नहीं है। तब कौन काम चलाता है? चलाने वाला तो प्रारब्ध ही है! इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'प्रारब्धाय समर्पितं मम तनुः' मेरे स्थूल-सूक्ष्म शरीर अब प्रारब्ध को समर्पित हैं। तादात्म्य सम्बन्ध से ही भोक्ता बनता है, सम्बन्धमात्र से भोक्ता नहीं होता। इस तादात्म्य सम्बन्ध वाले को ही जीवात्मा कहते हैं।। ६।।

जीव के बाद ईश्वर बताते हैं—

परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः।
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम्।। ७।।

सच्चिदानन्दरूप परमात्मा नाम-रूप से तादात्म्य पाकर भोग्य हो जाता है। शरीरत्रय एवं नाम-रूप—इन दोनों से भेद जान लेने पर न भोक्ता है न भोग्य है।

परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है। हिंदी में सत् को 'है' कहते हैं। चित्, जानना और आनंद अर्थात् प्रिय-मोद-प्रमोद-रूपों से अनुभव होना। यह परमात्मा का स्वरूप है। उसका नाम और रूप से तादात्म्य है इसलिये हमें 'घड़ा है' आदि दीखते हैं। 'घड़ा' और 'है' हमें दो चीज़ें नहीं लगतीं जैसे शरीर को ठंड लगी। मुझे ठंड लगी—ये दो अनुभव नहीं लगते हैं क्योंकि तादात्म्य है। ऐसे ही नाम-रूप के साथ क्योंकि तादात्म्य है सच्चिदानन्द का इसलिये 'घड़ा है' दो नहीं लगते। ऐसे ही ज्ञान और नाम-रूप अलग प्रतीत नहीं होते। इसी प्रकार सुख का अनुभव भी हमें तादात्म्य सम्बन्ध से विषयों में ही होता है। 'रसगुल्ला खाया, मज़ा आया', वह 'मज़ा' हमें रसगुल्ले से अलग नहीं दीखता 'मज़ा आया', 'मैं मज़े में हूँ' एक ही बात लगती है। जैसे शरीरों से एक हुआ जीव है, वैसे नाम-रूपों से एक समझा गया परमात्मा है। वही भोग्य हो गया, भोग के योग्य हो गया। शरीरों से एक होकर भोगने वाला जीव हो गया, और नाम-रूपों से एक होकर भोगा जाने वाला प्रपंच हो गया। घड़ा है तभी भोग्य है। 'है' के सम्बन्ध से रहित हो तो भोग्य नहीं होगा। अतः तीनों शरीरों से सच्चिदानन्द को अलग कर लिया तो भोक्तापना नहीं रहा तथा नाम-रूप से सच्चिदानन्द को अलग कर दिया तो भोग्य नहीं रहा। न भोक्ता रहा, न भोग्य रहा तो इच्छा कौन और किसकी करे! तत्पदार्थ-शोधन से इच्छा का विषय कुछ नहीं बचा एवं जब देहत्रय से विवेक हो गया तब भोक्ता कोई नहीं बचा।। ७।।

संक्षेप में कहा ही समझाकर बताते हैं—

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत्।
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः।। ८।।

भोक्ता के लिए भोग्य चाहते हुए शरीर के ज्वरों से स्वयं ज्वरान्वित होता है। ज्वर तीनों शरीरों में रहते हैं, आत्मा का तो कोई ज्वर नहीं।

ऐहिक और आमुष्मिक दो तरह के दुःख हैं। दुःख तब होता है जब कोई भोगने वाला हो, और कोई चीज़ हो जिसके कारण दुःख हो। भोक्ता और भोग्य हों तभी भोग संभव है। विचार करने पर भोक्ता सिद्ध नहीं होता, यह आत्मानंद प्रकरण में बतलाया और भोग्य सिद्ध नहीं होता यह अद्वैतानन्द प्रकरण में बताया। परमात्मा के साथ नाम-रूप का तादात्म्य होवे, तब कोई भोग्य पदार्थ होवे, और स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों के साथ उसका तादात्म्य होवे तब कोई भोक्ता जीव होवे। एक सच्चिदानन्द परमात्मा में ही तीन देहों के सम्बन्ध से भोक्ता और नाम-रूप के सम्बन्ध से भोग्य बनते हैं। जब जीवात्मा और परमात्मा का विवेक करके, सिद्ध हो गया कि सच्चिदानन्द इनसे स्वतंत्र है तब दोनों ही नहीं रहे तो दुःख होवे कैसे!

किसी-न-किसी भोग्य पदार्थ की इच्छा होगी, तब शरीर के पीछे मनुष्य ज्वर को प्राप्त करेगा और किसी-न-किसी भोक्ता के लिये करेगा। कोई भोक्ता नहीं होवे, तो कोई प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि किसी भोक्ता के लिये ही भोग की इच्छा होती है। तीनों शरीरों के पीछे उनकी

आवश्यकता या कामना के कारण परिश्रम करने वाले हम बन जाते हैं। शरीर को भूख लगी तो बाजार हम जाते हैं। शरीर के पीछे हम अपने को दुःखी कर लेते हैं। तीनों शरीरों में ज्वर हैं, दुःख है; उनके पीछे हम परेशान हैं। कारण शरीर का ज्वर है कि उस अविद्या में सारे संस्कार हैं जो स्थूल, सूक्ष्म शरीरों को प्रवृत्त करते हैं। ज्वरों का मूल है इसलिये उसे भी ज्वर कहा। आत्मा में तो कोई ज्वर है नहीं। वह बेकार इनके पीछे परेशान है।। ८।।

शरीरों के ज्वर ही बताते हैं—

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे।। ९।।

धातुओं का असन्तुलन होने पर प्रकट व्याधियों से स्थूल शरीर में ज्वर हैं, कामना-क्रोध आदि सूक्ष्म शरीर में ज्वर हैं तथा दोनों ज्वरों के बीज कारण शरीर में हैं।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि वात, पित्त, कफ, ये तीनों धातु उचित काम करते हैं तो मनुष्य स्वस्थ रहता है। जब ये विषम हो जाते हैं, कम या ज़्यादा हो जाते हैं तब व्याधि या बीमारी आती है। तीनों धातु स्थूल देह में हैं। आजकल लोग समझते हैं कि बीमारी बाहर से आती है। आयुर्वेद कहता है कि बीमारी बाहर से तभी आपको होगी जब आप में पहले से धातु विषम हैं। धातु रहते हैं स्थूल देह में, इसलिये विषमता भी स्थूल देह में होगी। जो सूक्ष्म शरीर है—मन और प्राण, इसमें होने वाले जो रोग अर्थात् दुःख हैं कामना क्रोध, आदि। कामना अलग है और शरीर आदि की आवश्यकता अलग है। भूख लगने पर खाने के पदार्थों की आवश्यकता है, कामना नहीं है। कामना है जब विशिष्ट चीज़ ही खाने को चाहिये अन्यथा असंतोष हो गया। 'विशिष्ट चीज़ ही मिले'—यह कामना है, और 'भूख मिटे' यह आवश्यकता है। भूखे को चने मिल जायें या मालपूआ मिल जाये, दोनों के प्रति आग्रह या अनाग्रह नहीं होता है। इसी से वह आवश्यकता है। जैसे ही 'अमुक चीज़ ही मिले' आया, वह कामना हो जाती है। काम, क्रोध आदि मन में होंगे, शरीर में नहीं। शरीर में उनके असर प्रकट ज़रूर होंगे पर ये रोग मन के हैं। जैसे मनके रोग से शरीर पर असर आता है वैसे शरीर के रोग से मन में भी असर आता है। बुखार हो गया तो अध्ययन में मन नहीं लगेगा। शरीर के रोग का मन पर और मन के रोग का शरीर पर असर होगा, पर हैं दोनों के रोग अलग। कारण में कोई रोग सीधा तो नहीं रहेगा लेकिन शरीरों के ज्वरों के बीज अविद्या में संस्कारों के रूप में रहेंगे। स्थूल स्तर के दुःख भी संस्कारानुरूप हैं और संस्कार स्थायी होने से सुषुप्ति में रहेंगे ही इसलिये उन्हें अविद्या में स्वीकारा। काम-क्रोधादि रोगों के बीज संस्कार हैं यह स्पष्ट ही है। आधुनिक यन्त्रों के संस्कार नहीं थे तो इनकी कामना भी नहीं होती थी। 'बीज' से कर्मों का भी संग्रह समझना चाहिये, वे भी रोगों के प्रति कारण हैं। (कल्याणपीयूष-व्याख्या में 'कारणम्' पाठ है। अविद्यारूप कारण ही दोनों शरीरों के रोगों का बीज है—यह भाव है)।। ९।।

ज्वर बताकर अब 'अनुसंज्वरेत्' आदि श्रुति समझाते हैं—

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते।
अपश्यन् वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत् परात्मवित्।। १०।।

'अद्वैतानन्द' प्रकरण में बताये तरीके से परात्मा का विवेक हो चुकने पर किसी भी भोग को वास्तविक न देखता हुआ परात्मा का ज्ञाता क्या चाहे!

अद्वैतानन्द प्रकरण के अन्दर यह बतलाया था कि एक सच्चिदानन्द परमात्मा में मिथ्या नाम-रूप तादात्म्य को प्राप्त करके, सच्चे प्रतीत होते हैं। उस प्रकरण में समझाये मार्ग से, परात्मा को जब नाम-रूप से अलग करके जान लिया, नाम-रूप *'सचमुच में है'* तो रह नहीं गये। अतः वास्तव भोग कुछ भी नहीं रह गया। पदार्थ दीखते तो हैं पर वास्तव में हैं नहीं। सच्चिदानन्द के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होकर हमें 'भोग्य है, भोग्य का ज्ञान हो रहा है, भोग्य प्रिय है' यह प्रतीति होती है, इसीलिये उनकी इच्छा भी होती है। जब पता लग गया कि नाम-रूप वास्तविक हैं नहीं तब दीखने पर भी उनकी इच्छा होगी नहीं। सचमुच में भोग्य है—इस बात को फिर नहीं देखता अतः निष्काम बन जाता है। जिसने अद्वैतानंद के द्वारा नाम-रूप से सच्चिदानन्द को अलग करके, परमात्मा के स्वरूप को जान लिया वह फिर कैसे इच्छा कर सकता है? भोग्य तब इच्छा का विषय नहीं रहता।। १०।।

भोक्ता इच्छा करता है भोग्य पाने के लिये। उक्त विवेक से भोग्य नहीं रहा तो किसकी इच्छा करे! अब रहा भोक्ता, उसे भी कैसे समाप्त किया जाये यह बताते हैं—

आत्मानन्दोक्तरीत्याऽस्मिन् जीवात्मन्यवधारिते।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरःकुतः।। ११।।

'आत्मानन्द' प्रकरण में कहे ढंग से इस जीवात्मा की असंग-कूटस्थ-चिद्रूपता का निश्चय हो जाने पर इस संघात में कोई भी भोक्ता ही नहीं तो ज्वर कैसे हो!

आत्मानन्द प्रकरण में आत्मा की ही प्रियतमता सिद्ध की थी, मिथ्यात्मा और गौणात्मा को मुख्य आत्मा से अलग समझाया था। जब ये निश्चितरूप से अलग कर लिये गये, तब जीवात्मा का स्वरूप सच्चिदानन्द अवधारित, निर्धारित हो गया, उसका निश्चित ज्ञान हो गया। असंग कूटस्थ चैतन्य ही उसका स्वरूप है। सत्य भोक्तृत्व असंभव होने से इहलोक में कहीं भी भोक्ता है ही नहीं, तो शरीर में दुःख ही कैसे होगा! दुःख तो आत्मा के सम्बन्ध से ही प्रतीत होता है और उस तादात्म्य सम्बन्ध का बाध हो चुका। इस तरह जब भोक्ता नहीं, भोग्य नहीं तब इह लोक में होने वाले दुःख भी नहीं हो सकते। जो बृहदारण्यक में कहा कि 'आत्मज्ञान होने पर, किस भोग की इच्छा के लिये, किस भोक्ता के लिये शरीर के पीछे दुःखी हो!' उसमें ऐहिक दुःख असंभव हो जाते हैं यह समझाया।। ११।।

अब परलोक के ज्वर बताते हैं—

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत्।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति।। १२।।

पुण्य-पाप इन दो के बारे में चिन्ता पारलौकिक ज्वर है। (ब्रह्मानन्द के) पहले अध्याय में ही बताया था कि तत्त्वज्ञ को चिन्ता नहीं सताती। (पंचदशी प्र.११ श्लो. ५-६)।

आगे आने वाला दुःख अर्थात् 'मैंने यह पुण्य क्यों नहीं किया, यह पाप मैंने क्यों कर लिया?' इस प्रकार परलोक की चिन्ता। पुण्य न करने से सुलभ भोग से वंचित रहा इसका पश्चात्ताप एवं पाप कर लेने से भावी दुःख का भय—ये यहाँ ज्वर या दुःख हैं। प्रथम अध्याय अर्थात् योगानन्द प्रकरण में बतलाया था कि ज्ञानी को कभी यह चिन्ता नहीं होती कि 'मैंने पाप क्यों किया और पुण्य क्यों नहीं किया'। प्रकरण ११ श्लोक ५ से ही यह प्रसंग स्पष्ट किया जा चुका है। विषय सुख में सुख-दृष्टि नहीं रहती, दुःख-भोग सम्भव नहीं दीखता इसलिये विद्वान् चिन्तामुक्त ही रह सकता है।। **१२।।**

ज्ञान से संचित कर्म नष्ट हो गये अतः उनकी चिन्त न हो, प्रारब्ध विवेक से कट गये इसलिये उनकी भी चिंता न हो, आगामी अर्थात् ज्ञान के बाद होते कर्मों की चिंता क्यों नहीं होती?

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपाम् अश्लेषणं तथा।
वेदनाद् ऊर्ध्वम् आगामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे।। १३।।

जैसे प्रत्यक्षदृष्ट कमल के पत्ते से जल चिपकता नहीं वैसे आत्मज्ञान के बाद तत्त्वज्ञ से आगामी कर्म का भी सम्बन्ध नहीं होता।

वेद ने (छां ४.१४) स्पष्ट किया है कि कमल के पत्ते पर जैसे पानी ठहरता ही नहीं इसी प्रकार जब ज्ञानी से पाप-पुण्य होते हुए दीखते हैं उसी समय वह पुण्य और पाप वाला नहीं है। अज्ञान रहने तक तो शरीर-मन के पुण्य-पाप से वह अपने को पुण्य-पाप वाला मानता था। अब जीवन-क्रम में पाप-पुण्य दीखते हैं, लेकिन 'यह मेरा पाप या पुण्य है' इसका अगले क्षण ही बाध हो जाता है कि 'यह शरीर में हुआ, मुझ से सम्बन्ध नहीं।' अतः जैसे पानी कमल के पत्ते पर गिरा और लुढ़क गया, वैसे ही पुण्य-पाप हुए और अपने से असंबद्ध हो गये। इस दृष्टान्त से किये जाते कर्म ही विद्वान् से असम्बद्ध हैं तो पुण्य-पाप का असम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। जब दृढ ज्ञान हो गया उसके बाद आगामी कर्मों का ज्ञानी में कोई श्लेष अर्थात् चिपकाव नहीं होता। 'यह कर्म मुझ से हो गया' ऐसा बोध उसे नहीं रहता। प्रतीत हुआ और खत्म हो गया, इतना ही होता है।। **१३।।**

संचित कर्म ज्ञान से नष्ट हो चुकने से उनके प्रति भी निश्चिन्तता बताते हैं—

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद् यथा।
तथा सञ्चितकर्माऽस्य दग्धं भवति वेदनात्।। १४।।

सरकण्डे की डोरी जैसे क्षणभर में जल जाती है वैसे विद्वान् के संचित कर्म ज्ञान से जल जाते हैं।

सरकण्डे में जो पतला तृण निकलता है, वह रूई की तरह अत्यन्त हलका होता है। अग्नि के साथ सम्बन्ध होते ही वह क्षणभर में जल जाता है। वैसे ही आत्मज्ञान होते ही सभी संचित कर्म जल जाते हैं। श्रुति स्वयं कहती है कि विद्वान् के सारे पाप वैसे ही जल जाते हैं जैसे आग में पड़ी सरकण्डे की डोरी। इसलिये संचित कर्म भी नहीं रहे कि उनसे चिंतित बने। इस प्रकार आमुष्मिक ज्वर नहीं बचता यह स्पष्ट है।। १४।।

इसे भगवान् श्रीकृष्ण के वाक्य से (गी. ४.३७) भी समर्थित करते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।। १५।।

अर्जुन! जैसे तेज़ आग ईधन को राख बना देती है वैसे ज्ञानरूप अग्नि सारे कर्म समाप्त कर देती है।

जिस प्रकार लकड़ियों के ढेर को ज़ोर से प्रदीप्त अग्नि भस्म कर देती है इसी प्रकार आत्मज्ञान की अग्नि जितने संचित कर्म हैं उन्हें भस्म कर देती है तथा आगामी कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देती। उपनिषद् और गीता के प्रमाण से निश्चित है कि कोई कर्म ज्ञानी को भोगना नहीं है जिसकी उसे चिन्ता होवे कि 'आगे क्या होगा!'।। १५।।

भोक्ता असिद्ध होने से ज्वर नहीं यह बताकर अब कहते हैं कि कर्त्ता न होने से भी ज्ञानी को ज्वर नहीं हुआ करते—

यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।। १६।।

जिसका आत्मा अहंकार से एकमेक नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन प्राणियों को मारकर भी मारने वाला नहीं होता (अतः) बँधता नहीं।

भगवान् ने कहा कि 'मैं करने वाला हूँ' ऐसा जिसका भाव नहीं है उसका कोई कर्मबंधन नहीं होता। भगवान् ने कहा है, किसी भी क्रिया में पाँच कारण होते हैं १) अधिष्ठान अर्थात् शरीर, २) कर्त्ता अर्थात् करने वाला, मायने अहंकारात्मिका वृत्ति, ३) ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति के साथ करने के साधन, कर्मेन्द्रियाँ, ४) इनके लिये किया जाने वाला प्रयत्न, चेष्टा और, ५) दैव अर्थात् ईश्वरेच्छा। ये पाँचों कर्म करते हैं, परन्तु जो ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति वाला अहंकार है, वह अपने को ही करने वाला मानता है। जिसने आत्मस्वरूप को समझ लिया उसे स्पष्ट है कि ये पाँच कारण हैं, इनमें एक अहम् अर्थात् कर्त्ता है। अहम् स्वरूप से जड है, प्रतिबिम्ब ग्रहण करने से आत्मा के साथ सम्बन्ध वाला हो कर उसमें कर्तृत्व की प्रतीति है। अन्तःकरण जड है, उसकी वृत्ति अहंकार भी जड है अतः जड स्वयं कुछ कर नहीं सकता। जड से किसी अन्य के द्वारा प्रवृत्त होकर कर्म *करवाया* तो जा सकता है परन्तु

उसकी स्वतः प्रवृत्ति नहीं बनती। चेतन स्वरूप से अकर्त्ता है। इसलिये उसमें भी किसी प्रकार की क्रिया की सम्भावना ही नहीं है। न जड और न चेतन कर्म कर सकता है। फिर करने वाला कौन? अहंकार में प्रतिबिम्बरूप से पड़ा जो चेतन वह अपने सम्बन्ध से अहंकार को करने वाला बना देता है।

सामान्यतः वह प्रतिबिम्ब कुछ करने वाला नहीं होता है तो अन्तःकरण में पड़ा प्रतिबिम्ब कैसे कर्त्ता हो गया? इसमें लौकिक दृष्टान्त है कि जहाँ सूर्य की रोशनी नहीं पहुँचती वहाँ दर्पणों की सहायता से उसे पहुँचाया जाता है। उस जगह के अंधेरे के नाश का कर्त्ता प्रतिबिम्ब ही कहा जा सकता है, बिम्ब का तो वहाँ प्रवेश नहीं। अथवा योगवासिष्ठ का दृष्टान्त है : सूर्य घास को नहीं जलाता, वह तो पोषक है। सूर्यकान्त या उन्नतोदर काँच (कॉनवेक्स लैंस) रात्री में घास जला नहीं सकता। दोनों स्वयं जो कार्य नहीं कर सकते वह दोनों के मिलने से हो जाता है, मणि में से गुज़रने वाला सूर्य-प्रकाश घास को जलाता है! इसी प्रकार अहंकार में प्रतिबिम्बित चेतन कर्त्ता है, खाली न चेतन न वृत्ति कर्त्ता है। अतः कर्त्ता में न अहंकार की वृत्ति करने वाली है, न चेतन। प्रतिबिम्ब के आध्यासिक सम्बन्ध के कारण कर्तृत्व है। इस बात को विद्वान् ने जान लिया कि कोई भी सच्चा कर्त्ता नहीं है। प्रतीति तो होती है 'मैं करने वाला हूँ' लेकिन जिसका यह भाव, निश्चय, पदार्थ-शोधन के द्वारा निकल गया है वह अकर्ता ही रहता है। अकर्तृत्व का प्रभाव है 'यस्य बुद्धिर्न लिप्यते' 'यह कर्म मैंने किया, इसका फल मुझे मिलेगा' यह भावना फल के प्रति आसक्ति या लेप है। बंधन करने वाली दो चीज़ें हैं, फलासक्ति और कर्तृत्वाभिमान। जिसने स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त किया उसमें कर्तृत्वभाव नहीं। कर्त्तापना रहेगा अन्तःकरणस्थित प्रतिबिम्ब में, बिम्ब में नहीं, और विद्वान् जानता है 'मैं बिम्बरूप हूँ' इसलिये वह करने वाला नहीं। फल की इच्छा तब होवे जब शरीरों के साथ अध्यास होवे। जिसने अपने साक्षिरूप को जान लिया, वह जानता है 'मैं भोक्ता हूँ ही नहीं' इसलिये फलासक्ति भी रहती नहीं। कर्त्ता-भोक्तापना ही बन्धन के प्रति कारण है। साक्षिरूप में स्थित होने पर ये दोनों नहीं रहते। यदि वह सारे संसार के सारे प्राणियों को मार डाले, लेकिन 'मैंने मारा' यह भाव, अभिमान उसमें हो ही नहीं तो 'न हन्ति' वह मारने वाला नहीं और आसक्ति न होने से हनन कर्म का कोई फल भी उसको बन्धन में डालता नहीं। 'न निबध्यते' अतः उसके लिये आगामी कर्म भी फल पैदा करने वाले बनते ही नहीं।। १६।।

ऋग्वेद की कौषीतकी उपनिषत् (३.१) से भी विद्वान् का अकर्तृत्व समझाते हैं—

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्याऽन्यद् ईदृशम्।
न मुक्तिं नाशयेत् पापं मुखकान्तिर्न नश्यति।। १७।।

माता-पिता की हत्या, (स्वर्णादि की) चोरी, गर्भविनाश एवं अन्य भी ऐसे पाप मुक्ति नष्ट नहीं करते (अतः विद्वान् के) मुखकी कान्ति समाप्त नहीं होती।

कौषीतकी उपनिषद् में कहा कि माता आदि की हत्या करे तो भी विद्वान् को किंचित्

भी ग्लानि संभव नहीं। परशुराम ने माँ को मार दिया था। ऐसे ही कोई चाहे पिता को मार दे, किसी अन्य के धन को चुरा ले; ये सभी प्रसिद्ध पाप हैं। पाँच बड़े पापों में गर्भपात द्वारा हत्या करना भी गिनाया। ये सब करके भी विद्वान् को पाप की प्राप्ति नहीं, इससे उसके मुख पर कोई कालिमा आती नहीं। ज्ञान के द्वारा जो अज्ञान नष्ट हो गया है वह इन कर्मों के द्वारा पुनः कार्यकारी हो सके, ऐसा नहीं है। शुभ कर्म से अन्तःकरण शुद्ध हुआ, यह तो ठीक है, पर शुद्ध अन्तःकरण से प्राप्त ज्ञान को अशुभ कर्म हटा सके—यह नहीं हो सकता। अज्ञान एक बार नष्ट हो गया तो अब उत्पन्न नहीं होता। मुख पर जो कान्ति, कमनीयता होती है, वह शांतिजन्य है। चिन्ताग्रस्त मुख पर कमनीयता नहीं होती है। पाप कर्म से चिन्ता होती है। जो साक्षिरूप में स्थित है, उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। उसे कहीं जाना ही नहीं है! विद्वान् के प्राण चलना बंद होने पर भी *जाते* कहीं नहीं अतः शांति, प्रसन्नता हटती नहीं है, मुख पर कमनीयता बनी रहती है। इस प्रकार इहलोक-परलोक के दोनों दुःख ज्ञानी को होते नहीं। ज्ञान के आनन्द के चार प्रकारों में से एक बताया दुःखाभाव।। १७।।

दूसरा प्रकार कामाप्ति, कामनाओं की पूर्ति हो जाना कहा था (श्लो.३)। अब उसे श्लोक ३६ तक समझाते हैं—

दुःखाभाववदेवास्य　　सर्वकामाप्तिरीरिता।
सर्वान् कामान् असावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः।। १८।।

विद्वान् को जैसे दुःख नहीं रहता वैसे यह भी वेद ने बताया कि उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो चुकती हैं। 'सारी कामनाएँ पूरी कर अमृत हुआ' ऐसा (ऐतरेय उपनिषत् में जो) कहा उससे पता चलता है (कि विद्वान् को यह भी फल उपलब्ध है)।

जैसे दुःखाभाव ज्ञानी का बताया वैसे ही वेद ने कहा है कि उसकी सारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। अतः कहा गया है कि आत्मा की कामना कर ली तो सारी कामनायें पूर्ण हो गईं। आत्मा ही सर्वरूप है। अतः आत्मा की प्राप्ति ही सारे संसार की प्राप्ति है। यह ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् में बतलाया है। सारी कामनाओं की पूर्ति के लिये ऋग्वेद का प्रमाण दे दिया।। १८।।

सारी कामनाओं का पूरा होना ही विभिन्न दृष्टान्तों से दिखाते हैं—

जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः।
शरीरं न स्मरेत् प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम्।। १९।।

खाते, खेलते, स्त्रियों से, यानों से तथा अन्यों से आनंद पाया (विद्वान्) शरीर याद नहीं रखता। कर्मों से प्राण इसे जिलाता है।

छान्दोग्य उपनिषत् (८.१२.३) में कहा है 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्येति—जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳस्मरन् इदं शरीरम्'। परम ज्योति अर्थात् परमात्मा प्राप्त होने से साधक वही रह

जाता है जो वह वास्तव में है, आरोपित अभिमान छूट चुकते हैं। अतः वही पुरुष उत्तम है। तब उसका जीवन आनन्दमग्न ही रहता है क्योंकि सब लोगों को दीखते इस शरीर को वह याद भी नहीं रखता, इससे तादात्म्य सर्वथा समाप्त हो चुकता है। शरीराभिमानी तो कामना-पूर्ति से दुःख भी पाते हैं लेकिन इसे आनन्द ही होता है, दुःख नहीं। आनन्द इसका स्वभाव है, वह स्थिर रहता है यह भाव है। खाते, खेलते, भोग करते इसका आनन्द हटता नहीं। जहाँ-कहीं भोग है वहाँ साक्षिरूप मैं ही प्रकाशक हूँ—यह जानने से वह सारी कामनाएँ पूरी कर लेता है। साक्षी मैं अभिन्न हूँ—यह उसका अनुभव है। उपाधियाँ चाहे जो हों, सर्वज्ञ साक्षी स्वयं को जानता है। इस तरह सारी उपाधियों से सारी कामनाएँ पूरी हुई पाता है। साक्षी के लिये सारी ही उपाधियाँ कल्पित हैं, किसी एक में कोई विशेष नहीं। खाते, खेलते, स्त्रियों से रति करते भी वह शरीरतादात्म्य से रहित है। जानता है कि खेल में हारने और जीतने वाली उपाधियों का साक्षी एक ही है। जहाँ पहले तादात्म्य था, उस शरीर का भी जो प्रतिबिम्ब चेतन है वह मैं हूँ नहीं। बिम्ब चेतन साक्षी ही हूँ। रोल्स रायस, शेवर्लेट गाड़ियाँ मेरी न होते हुऐ भी उनका आनन्द भी मैं ही ले रहा हूँ। ब्रह्मसूत्रों में शंका उठाई कि सबका साक्षी है तो सबके दुखों का भी साक्षी होगा? अतः कहा कि शरीर का स्मरण आयेगा तब दुःख होगा। साक्षिभाव में स्थित होने पर क्योंकि सुख तो आनंद का प्रतिबिम्ब है, इसलिये वह अनुभव में आ जायेगा। परन्तु दुःख आत्मा का स्वरूप है नहीं। आनन्द ही उसका स्वरूप है। अतः साक्षिभाव में स्थित हुआ सभी कामनाओं का जो सुख है, उसको प्राप्त कर लेता है, दुःख प्राप्त नहीं करता। साक्षिभाव से करता है, भोक्ता बनकर नहीं। भोक्ता बनने के लिये शरीर का स्मरण करना पड़ेगा। जब शरीर का स्मरण करता नहीं तो चलता कैसे है? शरीर के सारे कार्यों को प्राण ही सम्पन्न कर लेता है। परमेश्वर ने जब सृष्टि की तब प्राण को अपना सर्वाधिकारी नियुक्त किया जैसे राजा सेनापति को नियुक्त करता है। प्राण को निमित्त कारण चाहिये, जो है प्रारब्ध कर्म। इस शरीरादि का काम चलाने के लिये प्राण नियुक्त हो गया। प्राण जड नहीं वरन् ईश्वराधिष्ठित समझना चाहिये। परमेश्वर द्वारा संकल्पित जो कर्म इस जन्म में इस शरीर में भोगे जाने हैं उन्हीं कर्मों के अनुसार प्राण इस शरीर को जीवित रखता है, इसके सारे कार्य कर लेता है।। १६।।

ऋग्वेद, सामवेद बताकर अब यजुर्वेद से विद्वान् की सर्वकामाप्ति प्रकट करते हैं—

सर्वान् कामान् सहाऽऽप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः।
वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत् क्रमवर्जिताः।। २०।।

विद्वान् सारी कामनाएँ एक-साथ पूरी कर लेता है अज्ञानियों की तरह जन्मों और कर्मों की अपेक्षा से टुकड़ों में नहीं करता। वेदज्ञ विद्वान् में भोग एक-साथ होते हैं, उनमें क्रम नहीं रहता।

सारी कामनाओं को अर्थात् काम्य पदार्थों, अनुभवों को इकट्ठे ही प्राप्त कर लेता है। अज्ञानी लोगों की कामनाओं की पूर्ति क्रम से होती है, एक काल में कुछ, दूसरे काल में कुछ और मिलेगा। साक्षिभाव प्राप्त होने के बाद ऐसा नहीं होगा। साथ ही साथ सबका भोग

हो जाता है। जैसे देहादि उपाधियों का भेद नहीं वैसे ही कालिक उपाधि का भी भेद नहीं रहता है। सब कालों की जितनी कामनायें हैं, सभी पूर्ण हो जाती हैं। भूत, वर्तमान, भविष्य यह कालों का क्रम साक्षी के लिये नहीं है। जब भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखलाया, तब अर्जुन से कहा कि भूत भविष्य जो देखना चाहे देख ले। काल का परिच्छेद परमेश्वर के लिये नहीं है। साक्षी के लिये भी कालभेद नहीं है। अज्ञानी जीवों के लिये कालक्रम है। जैसे हम दरवाज़े पर खड़े हैं। सामने से एक मोटर गुज़र गई, कुछ समय बाद दूसरी मोटर सामने है, और थोड़े समय बाद तीसरी मोटर आयेगी। हमारे लिये पहली मोटर गुज़रने के बाद भूत हो गई, जो सामने दूसरी है वह वर्तमान और तीसरी आने वाली भविष्य हो गई। पर जो व्यक्ति सत्तरवीं मंज़िल पर खड़ा है उसे तीनों एक-साथ दिखाई देंगी, उसके लिये वे भूत, वर्तमान, भविष्य नहीं हैं, तीनों वर्तमान हैं। हम क्योंकि एक शरीर में स्थित मन की दृष्टि से देखते हैं इसलिये हमारे लिये क्रम है। जो इस शरीर से अपरिच्छिन्न साक्षी परमेश्वर है, उसके लिये सब एक ही है। इसलिये अज्ञानी भी यद्यपि विभिन्न कर्मों से विभिन्न जन्मों में अनन्त काल में सारी कामनाएँ पूरी कर सकते हैं तथापि एक-साथ नहीं जबकि विद्वान् एक-साथ करता है अतः तृप्ति होती है। क्रम से इच्छा पूरी होने पर भी वह तृप्ति सम्भव नहीं।

तैत्तिरीय में सर्वकामादि समझाने के लिये मानुष, गन्धर्व, देव आदि अनेक आनन्दों का उल्लेख है जो सौ-सौ गुणा अधिक हैं। सभी की उपलब्धि उसे कही जो श्रोत्रिय आदि सद्गुणों वाला 'अकामहत' है, कामना का जिसपर आघात नहीं पड़ा है। पंचदशी में यहाँ 'अकामहत' कहा नहीं, पर समझ लेना चाहिये। श्रोत्रियता, वेदज्ञता वेदरहस्यज्ञता प्रधान है, अश्रोत्रिय को यों युगपत् सर्वकामावाप्ति सम्भव नहीं। 'सकलान् कामान् सह'—इस श्रुतिभाग का युगपत् कहकर संग्रह किया। मानुष आनन्द के बाद गंधर्वानन्द फिर देवादि-आनन्द मिलें ऐसा क्रम विद्वान् के लिये नहीं, एक-साथ सभी आनन्द उपलब्ध रहते हैं। जैसे रस्सी मिलने से जो कुछ उसपर अध्यस्त वह सभी मिल गया वैसे ब्रह्म मिलने से सारा संसार मिल जाता है। अज्ञानी तो एक-एक कर्म से एक-एक जन्म में अलग-अलग भोग प्राप्त करता है, ज्ञानी पर ऐसी कोई रुकावट नहीं।। २०।।

आनन्दमीमांसा तैत्तिरीय (२.८) एवं बृहदारण्यक (४.३.३३) दोनों उपनिषदों में आयी है। वेद से अतिरिक्त कहीं आनंद का माप प्रसिद्ध नहीं एवं यहाँ दशमलव-प्रणालीका भी प्रचीनतम उपयोग वेद में ही सुलभ है। सुख का कम-ज़्यादा होना तो सबको अनुभव है, उसी का वर्गीकरण मीमांसा में निर्धारित है। उस प्रसंग का आवश्यक भाग संक्षेप में सुनाते हैं—

युवा रूपी च विद्यावान् नीरोगो दृढचित्तवान्।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन्।। २१।।
सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नस्तृप्तभूमिपः।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते।। २२।।

जवान, रूपवान्, विद्वान्, स्वस्थ, प्रौढमनस्क, सेनासम्पन्न, धनपूर्ण सारी पृथ्वी का पालन करता हुआ, मनुष्योचित सब भोगों से युक्त, सन्तुष्ट राजा जो आनन्द पाता है, ब्रह्मज्ञानी भी उसी का भोग करता है।

आनन्द भोगने के लिये जवानी आवश्यक है, वृद्धावस्था में विशेष सुख भोगा नहीं जा पाता। सुरूप व्यक्ति साथियों को आकृष्ट करता है, समान रुचि वाले एकत्र हों तब सुख भोगा जाता है, अकेले भी सुखभोग संभव नहीं। साहित्य, संगीत, कला आदि सूक्ष्म आनन्द भोगने के लिये विद्यावान् होना अनिवार्य है, मूर्ख या अशिक्षित के भी सुखोपाय सीमित हो जाते हैं। रोगी से भी सुख नहीं भोगा जाता, रुग्ण तो विद्वान् भी सुखी नहीं हो पाता। चित्त में दृढता प्रौढता चाहिये, स्थिरनिश्चयी ही सुखी हो सकता है। गीता में (४.४०) भी कहा 'न सुखं संशयात्मनः' इह-पर लोक कहीं उसे सुख नहीं मिलता जो संशयालु हो। राजा निर्भय हुआ तभी सुख भोग सकता है जब सेना से युक्त हो। सैन्यबल से हीन राजा आतंकियों से, दुश्मनों से त्रस्त ही रहेगा, उन्हें जैसे-तैसे खुश रखेगा तो स्वयं कैसे आनंद भोग सकेगा! उसका देश धन-धान्य से सम्पन्न होना चाहिये, दरिद्र भी आनन्द भोगने में असमर्थ होता है। जो राजा सुव्यवस्था से प्रजा का पालन करे उसी के प्रति जनता का सद्भाव, आदर होता है एवं वही प्रसन्न रहता है। जिस राजा की प्रजा असन्तुष्ट, राजा से क्षुब्ध रहे, वह राजा निरन्तर शंकाग्रस्त अतः दुःखी ही रहेगा। 'सब मेरा बुरा चाहते हैं' यों समझने वाला व्यक्ति आनन्द में रहे यह सम्भव नहीं । मनुष्य प्रसन्न हो इसके लिये उसे विश्वास होना चाहिये कि अन्यों की उसके प्रति अच्छी भावना, अच्छी राय है। सम्पन्न प्रजा भी सुखी होने से वहाँ का राजा सुखभोग में हिचकिचायेगा भी नहीं। पालन करने से वह कर्त्तव्य-निर्वाह के प्रति भी निश्चिन्त रहता है। ऐसे राजा का आनन्द 'एक' मानुष आनंद कहलाता है, वह आनन्द मापने की एक इकाई है। यह सारा आनन्द निष्काम ब्रह्मवेत्ता को है। मानुष भोगों की अन्तिम सीमा उसे प्राप्त है। विषय-निरपेक्षता के कारण ही तृप्ति, आनन्द मिलता है; निरपेक्षता चाहे प्राप्ति से हो, चाहे आकर्षण न होने से हो। विशाल तृष्णा वालेके पास चाहे जो हो पर वह रहता हमेशा दरिद्र है। विषय-कामना ही दरिद्रता है। कामना यदि विषयलाभ से मिटी तो और यदि निष्कामता से मिटी तो, दोनों स्थितियों में आनन्द समान है।। २१-२२।।

विषयसंपन्न व विषय-रहित दोनों के आनन्द की समानता उपपन्न करते हैं—

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा।
भोगाद् निष्कामतैकस्य परस्याऽपि विवेकतः।। २३।।

मनुष्यलोक के भोगों की दोनों को कामना नहीं अतः दोनों की तृप्ति समान है। एक की निष्कामता भोग के कारण है, दूसरे की विवेक से है, यह अन्तर होने पर भी कामना न होना समान है।

विषय-अभिलाषा ही अतृप्ति का हेतु है, अभिलाषा भोग से हटे या विवेक से, हटते ही आनन्द स्वाभाविक होता है। भोग यद्यपि वास्तविक निष्कामता नहीं देता, विवेक स्थायी निष्कामता प्रदान करता है, तथापि तत्काल तो कामना न होना समान ही है, यह तात्पर्य है। भोग से निष्कामता का मतलब यह नहीं कि निष्कामता-प्राप्ति में उसे उपाय मान रहे हैं! भोग-काल में उस वस्तु की कामना मिटनारूप निष्कामता के अभिप्राय से समानता बतायी। किंच श्रुति में राजा भी विद्यावान् ग्रहण किया (श्लो. २१) अतः विवेक-पूर्वक भोग करने से उसे निष्कामता प्राप्त हो तो भी विवेकज होने से ही वास्तविक होगी।। २३।।

विद्वान् विवेक से निष्काम होता है यह कहा, इसे ही वैदिक स्थल बताकर स्पष्ट करते हैं—

श्रोत्रियत्वाद् वेदशास्त्रैर्भोगदोषान् अवेक्षते।
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत्।। २४।।

श्रोत्रिय अर्थात् वेदाध्येता होने से वह वेद-शास्त्रों के सहारे भोगों के दोषों का आलोचन करता है। राजा बृहद्रथने गाथाओं द्वारा वे दोष प्रकट किये हैं।

तत्त्वज्ञ को सभी विषयों का आनन्द एक-साथ इसलिये सुलभ बताया कि वह उनसे विरक्त है। वैराग्य इसलिये कि वह उनमें दोष देख पाता है। वह भी इसलिये कि उसने वेद शास्त्र समझे हैं जहाँ विषयभोगों के दोष बताये गये हैं। सबसे बड़ा दोष तो अनित्यता है। भोग कुछ करके मिलते हैं अतः अस्थिर हैं। अनित्य विषय वस्तुतः सुखहेतु हो नहीं सकता। विवेकी इस अनित्यता के दर्शन से हर तरफ से विरक्त हो जाता है। बिना किये मिलने वाला केवल अपना आत्मस्वरूप है, वही नित्य है। वेदों में अनेक जगह भोगदोष वर्णित हैं। एक स्थल है मैत्रायणी उपनिषत् (प्रथम प्रपाठक)। वहाँ बताया है कि बृहद्रथ नामक राजा ने संसार को अशाश्वत समझकर वैराग्यवान् हो राज्य पुत्र को सौंपकर वनको प्रस्थान किया। वहाँ तपस्या करता रहा। उसे शाकायन्य मुनि का सांनिध्य मिला, उसने उनसे आत्मजिज्ञासा व्यक्त की। उन्होंने उसे भोग माँगने को कहा तो राजा ने उनके चरण छूकर अनेक गाथाएँ सुनायीं जिनमें विषयदोष स्पष्ट किये कि क्यों विवेकी के लिये भोग अनर्थकर हैं। गाथाओं में बार-बार 'किं कामोपभोगैः' से उनकी व्यर्थता बतायी है। योगवासिष्ठ में भी अत्यन्त विस्तार से विषयों की परीक्षा-पूर्वक उनके दोष बताये गये हैं। वेद एवं अन्य सच्छास्त्रों का ज्ञाता अतएव विषयभोगों से विरत हो यही स्वाभाविक है। दोषदर्शी भोग नहीं कर सकता। वैद्यों को हर साग में दोष दीखेगा अतः उन्हें साग लेने बाज़ार भेजो तो नीम के पत्ते ही लेकर लौटेंगे! अतः शास्त्रादि का ज्ञान वैराग्य प्रदान कर असीम आनन्द का हेतु हो जाता है।। २४।।

विवेकी में भोग-कामना नहीं हो पाती इसे उपपन्न करते हैं—

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषान् अनेकशः।
शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद् विवेकिनः।। २५।।

(राजा ने मैत्रायणी में) अनेकों दोष शरीर, मन और भोग्यों में बताये हैं। जैसे कुत्ते द्वारा खाकर मुख से निकाल दी खीर के प्रति सत्पुरुष को कामना संभव नहीं वैसे विवेकी को, सदोष शरीर-मन के उपयोग से सदोष विषय भोगने की कामना संभव नहीं।

शरीर के दोष जैसे इत्र लगाने पर भी शरीर-दुर्गन्ध स्थायीरूप से नहीं जाती। पदार्थ खाने पर भी दुर्गन्ध वाली विष्ठा बनेगी। चित्त, मन अन्तःकरण के भी ऐसे ही दोष हैं। एक तो, मन का भरोसा नहीं। रामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि 'मेरा शरीर जल जाये राख हो जाये, तभी मुझे अच्छा महात्मा कहना क्योंकि मनका कोई भरोसा नहीं।'

जैसे कुत्ते द्वारा वमन की गई खीर कभी खाने का विचार नहीं आता, कामना नहीं होती, इसी प्रकार भोगों के दोषों को जानने वाले को भोग्य-पदार्थों की कामना नहीं होती।। २५।।

श्रोत्रिय को राजा के समान ही नहीं, अधिक सुख उपलब्ध है यह स्पष्ट करते हैं–

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसञ्चये।
दुःखमासीद् भाविनाशादतिभीरनुवर्तते।। २६।।
नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः।
गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो, नास्ति विवेकिनः।। २७।।

भोगों के प्रति निष्कामता समान होने पर भी राजा को साधन एकत्र करने में दुःख उठाना पड़ा और भविष्य में साधनों के नाश से डर भी बना रहता है। श्रोत्रिय को दुःख व भय दोनों नहीं अतः उसका आनन्द राजा के आनन्द से अधिक है। राजा को तो गंधर्वानन्द की आशा भी सताती है जब कि विवेकी को वह भी नहीं।

राजा ने भोग पाकर उनसे तृप्ति यदि पा ली तो भी विवेकी से उसका सुख कम ही रहेगा क्योंकि पहले तो भोग पाने में श्रम किया और बाद में 'भोग नष्ट न हो जाये' इसके भय से त्रस्त रहेगा। किंच गंधर्वानंद आदि आनंद भोगे नहीं अतः उनसे भी आकृष्ट राजा तो बना रहेगा जबकि विवेकी ने न साधन एकत्र किये अतः न उनकी हानि का भय है और न गंधर्वादि उत्तरोत्तर आनन्द का कोई आकर्षण है। राजा को पहले दुःख था, पर विवेकी को वह दुःख नहीं उठाना पड़ा। राजा की निष्कामता दुःख करके है, ज्ञानी की बिना उस दुःख के है। इसलिये ज्ञानी का आनन्द श्रेष्ठ है। राजा को 'यह आगे नष्ट हो जायेगा' यों भविष्य में दुःख की सम्भावना है, श्रोत्रिय को ऐसा भी नहीं है; उसे भूत दुःख भी नहीं, भावी दुःख भी नहीं। निष्कामता भी विवेकज होने से स्थायी हो गई है, वह चली जायेगी–यह नहीं हो सकता। अतः भोग से तृप्ति और विवेक से तृप्ति इनमें विवेक से तृप्ति ही श्रेष्ठ है। मानुषानंद से गन्धर्वानन्द सौगुणा ज़्यादा है अतः राजा को गन्धर्वानंद की इच्छा रहती है। मानुषानंद तो प्राप्त होने से उसके प्रति अनिच्छा है पर अप्राप्त की इच्छा होती है। श्रोत्रिय को उसकी भी इच्छा नहीं है। चाहिये ही नहीं इसलिये मानुषानन्द, गन्धर्वानन्द आदि एक जैसे ही प्राप्त हैं।।२६-२७।।

प्रसंगवश गंधर्वों का भेद सूचित करते हैं—

अस्मिन् कल्पे मनुष्यः सन् पुण्यपाकविशेषतः।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ।। २८।।
पूर्वकल्पे कृतात् पुण्यात् कल्पादावेव चेद् भवेत्।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते।। २९।।

इस कल्प में मनुष्य रहकर पुण्य के खास परिपाक से गंधर्वभाव को पाने वाला 'मर्त्यगन्धर्व' कहलाता है। पूर्व कल्प में किये गये पुण्य से कल्पारम्भ में ही यदि गंधर्वभाव पाये तो वैसे को 'देवगन्धर्व' कहते हैं।

मनुष्यगन्धर्वों के आनंद से सौ गुणा देवगन्धर्वों का आनंद बताया है अतः दोनों का अंतर समझाया। तैत्तिरीय में यही क्रम है। विवक्षा ब्रह्म की आनन्दरूपता की होने से क्रमभेद अकिंचित्कर है। देवगन्धर्व इसलिये श्रेष्ठ कि समग्र कल्प तक वैसा आनंद लेंगे जबकि मनुष्यगंधर्व या मर्त्यगंधर्व तो यहाँ साधन कर जब वहाँ पहुँचेंगे तभी से शुरू कर कर्मफल पूरा होने तक वहाँ का आनन्द भोगेंगे।। २८-२९।।

तैत्तिरीय में देवगन्धर्वों से सौ गुणा 'पितृणां चिरलोकलोकानाम्' आनन्द बताया। बृहदारण्यक में 'पितृणां जितलोकानाम्' कहा है। तदनन्तर 'आजनज देव' और 'कर्मदेव' बताकर 'देवों' का उल्लेख है। बृहदारण्यक में 'कर्मदेव' और 'आजानदेव' इस क्रम में दो का ही संग्रह है। इनका भी उल्लेख करते हैं—

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः।
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः।। ३०।।
अस्मिन् कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत् पदम्।
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः।। ३१।।

'अग्निष्वात्त' आदि पितर हैं जो पितृलोक में चिरकाल तक रहते हैं। कल्पप्रारम्भ में ही जो देव बने वे 'आजान देवता' हैं। इस कल्प में अश्वमेध आदि कर्म कर महान् पद पाकर आजान देवताओं से सम्मानित होने वाले कर्मदेव हैं। उन्हें विशेष इसलिये कहा कि वहाँ पहुँचने पर वहाँ स्थित देव भी इनका सम्मान करते हैं।। ३०-३१।।

पूर्वोक्त से अधिक आनंद बताते हैं—

यमाऽग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती।
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः।। ३२।।

यम, अग्नि आदि देव हैं। इन्द्र और बृहस्पति प्रसिद्ध ही हैं। प्रजापति अर्थात् विराट् और ब्रह्मा मायने सूत्रात्मा।

तैत्तिरीय में कर्मदेवों के आनन्द के बाद सौ-सौ गुणा आनंद इनके बताये हैं—देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मा। बृहदारण्यक में देवादि छोड़कर आजानदेवों के बाद इनका उल्लेख है—प्रजापति लोक, ब्रह्मलोक। पूर्व में कर्मदेवों का आनन्द कहा था। उससे सौ गुणा है देवों का। देवों में यम, अग्नि आदि प्रसिद्धों का संग्रह है। उनसे सौ गुणा अधिक उनके राजा इन्द्र का आनन्द है, उससे सौ गुणा देवगुरु बृहस्पतिका, उससे सौ गुणा प्रजापति का तथा उससे सौ गुणा सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ का। भोगी को तो साधन कर ये आनन्द पाकर इनसे तृप्ति हो सकती है, विवेकी को इन सभी से वैराग्य है क्योंकि इनमें अनित्यत्वादि सभी दोष समान हैं, अतः उसे इन सबसे प्राप्त तृप्ति स्वतःसिद्ध है।। **३२।।**

शमादि-सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता को उपलब्ध ब्रह्मानन्द इन सभी तारतम्ययुक्त आनन्दों से अधिक है यह प्रतिपादन करते हैं—

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः।
अवाङ्मनसगम्योऽयम् आत्मानन्दस्ततः परः।। ३३।।

सार्वभौम राजा से लेकर सूत्रात्मा तक सभी अगले-अगले आनंद की कामना रखते हैं। वाणी-मन का अगोचर यह आत्मानन्द इसीलिये इन सबसे अधिक है।

वृत्ति-आनन्दों में तारतम्य होता है, स्वरूप में नहीं। राजा आदि क्योंकि भोक्ता हैं अतः उपलब्ध से बेहतर चाहेंगे ही जिससे वे कामनाग्रस्त होने से परमानन्द में मग्न नहीं रह सकते। आत्मरूप आनंद अद्वितीय है, इसमें स्थित विद्वान् विषयों से विरक्त भी है अतः उसको अन्य कुछ चाहिये नहीं एवं पूर्ण आनंद में मग्न है जिससे स्पष्ट ही उसे पूर्वोक्त सबसे ज़्यादा सुख है। बाकी आनंद 'सौ गुणा' आदि तरह से कहे-समझे जा सकते हैं, ब्रह्मानन्द न कहा न समझा जा सकता है। इसीलिये बृहदारण्यक में इसे 'परम आनन्द' कहा। यद्यपि इसे इन सबसे परे बताया तथापि वह केवल उसके महत्त्व-द्योतन के लिये क्योंकि उसकी परमता इनकी अपेक्षा से नहीं वरन् स्वाभाविक है, सापेक्ष नहीं पूर्ण है।। **३३।।**

श्रोत्रिय विवेकी को उक्त सभी आनंद प्राप्त ही हैं यह बताते हैं—

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः सन्ति तस्य ते।। ३४।।

विभिन्न दोषों के कारण सभी काम्य सुखों के प्रति क्योंकि श्रोत्रिय इच्छुक नहीं इसलिये सभी के वे आनन्द उसे हैं ही।

श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ विचारपूर्वक सभी भोगों को सदोष जानता है अतः किसी काम्य को नहीं चाहता जिससे उसे वही सुख है जो उपायों से पाकर उन्हें भोगकर तृप्त हुए राजादि-सूत्रान्त को है। भोगों से निःस्पृह एवं उनकी वास्तविकता जानने से वह उस अपार सुख का अधिकारी है। अज्ञानवश निःस्पृहता से सुखोल्लेख संभव नहीं जबकि ज्ञानपूर्वक निःस्पृहता से सुख भासता है। विषय जानते नहीं अतः उसे चाहते नहीं तो उस विषय का सुख प्रतीत नहीं होता जबकि समझ-बूझकर नहीं चाहते तो स्पष्ट भान होता है। श्रोत्रिय

जानकार है इसलिये उसे वे सब आनन्द साफ़ अनुभव होते हैं। वास्तव में उसे इन सब से इतना अधिक आनन्द भासता है कि इनका वहाँ अन्तर्भाव ही हो जाता है।। ३४।।

चार प्रकार के वृत्त्यानन्द (विद्यानन्द) में दूसरा जो कामाप्ति उसे युक्ति-समर्थित किया कि निष्कामता से सर्वानन्दलाभ है। अन्य भी ढंग से कामप्राप्ति कहते हैं–

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना।
स्वदेहवत् सर्वदेहेष्वपि भोगान् अवेक्षते।। ३५।।

सारी कामनाओं की पूर्ति अब तक बतायी। अथवा (सर्वकामाप्ति यों समझी जा सकती है–) साक्षी चैतन्यरूप से अपने देह की तरह सभी शरीरों में भोगों का अनुभव करता है।

विषय-वास्तविकता समझ-बूझकर उससे वैराग्य के कारण उसका सुख विद्वान् को उपलब्ध बताया। अब विकल्प कर रहे हैं कि विद्वान् स्वयं को साक्षी जानता है। जैसे एक विवेकी देह का वह साक्षी वैसे ही त्रिलोकी के सब देहों का साक्षी है क्योंकि साक्ष्य देहों में ही भेद है, साक्षी में नहीं। एक देह में जैसे सुखवृत्ति तो मन में ही रहती है, साक्षिरूप आत्मा केवल उसका अवेक्षण, प्रकाशन, दर्शन करता है वैसे अन्य देहों में भी सुखवृत्ति मनों में बनती है जिसका अवेक्षण यही साक्षी करता है। इसलिये सारी कामनाएँ सुलभ हैं। आभास से स्वतंत्र साक्षी में ही आत्मबुद्धि (मैं-निश्चय) हो तभी यह सब उपाधियों में अवेक्षण संभव है। स्थूलमति तो प्रतिबुद्धि साक्षी भी विभिन्न मानता है! उपाधिभेद से निवृत्त होने के लिये ही साक्षी समझना ज़रूरी, यदि वहाँ भी भेद रहा तो स्वल्प ही लाभ है किंतु एकाएक स्वीकार नहीं होता कि साक्षी अभिन्न ही है। विवेकदार्ढ्य से जब समझ आये तब 'कहीं भी किसी भी उपाधि में होते सुख का मैं साक्षी ही दर्शन कर रहा हूँ' यह बोध रहने से सर्वकामाप्ति सिद्ध हो जाती है। सभी कुछ साक्षिचैतन्य का विषय है, चाहे ज्ञातरूप से हो या अज्ञातरूप से। अतः अज्ञात उपाधियों की सुखवृत्तियाँ भी अज्ञातरूप से सभी को भासती ही हैं। ब्रह्मसूत्रों में जैमिनि के अनुसार (४.४.५) अपहतपाप्मत्वादि की तरह सत्यसंकल्पादि भी प्राप्त होते हैं जबकि औडुलोमि के मत में (सूत्र ६) चिन्मात्ररूपता रहती है, औपाधिक धर्म नहीं किन्तु बादरायण ने (सूत्र ७) माना है कि व्यवहार की दृष्टि से जैमिनिमत और परमार्थ की दृष्टि से औडुलोमिमत दोनों संगत हैं। यद्यपि वह प्रसंग उपासनाफल का है तथापि तात्पर्य है कि मुक्त को व्यवहारदृष्टि से राजादि-सूत्रात्मपर्यन्त सब विषयसुख उपलब्ध है एवं परमार्थदृष्टि से भूमानन्द है ही।। ३५।।

'सबका साक्षी मैं' जानने से ही उक्त लाभ है, न जानने तक नहीं, यह सप्रमाण समझाते हैं–

अज्ञस्याऽप्येतद् अस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान् कामान् इत्यब्रवीच्छ्रुतिः।। ३६।।

अज्ञानी का भी सर्वानन्दसाक्षित्व है ही किंतु अज्ञानवश उसे तृप्ति नहीं। श्रुति ने बताया है कि जो जानता है वही सब कामनाएँ भोग पाता है।

अज्ञानी भी वास्तविकरूप में साक्षी है अतः सर्वत्र आनन्द उसी से प्रकाशित है लेकिन ज्ञान न होने से उस प्रकाशमात्र से वह तृप्त नहीं होता। जो जौहरी नहीं वह यदि विश्वस्त जौहरी से बहुमूल्य रत्न खरीदे तो भी स्वयं उन्हें देखना ही चाहता है! पुड़िया में बन्द रखे रहने से उसे तृप्ति नहीं होती, भले ही देखकर उनका गुण-दोष कुछ भी न समझ पाये। वस्तु अपनी हो पर हमें पता न हो कि मेरी है तो हमें सुख नहीं होता। इसी प्रकार साक्षी अज्ञानी भी वैसा ही है जैसा ज्ञानी किन्तु उसे मालूम न होने से उसे तृप्ति होना संभव नहीं।

इसमें तैत्तिरीयोपनिषत् प्रमाण है जो कहती है 'यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' (तै.२.१) ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है किन्तु उसे जो बुद्धिसाक्षी जानता है उसी की सारी कामनाएँ एक-साथ पूरी होती हैं। पूर्ववर्णित बादरायणमत में अत एव जैमिनिमत को व्यवहार-भूमि पर स्वीकारा था, तभी 'सर्वान् कामान्' सार्थक होता है। विद्वान् की सारी इच्छाएँ पूरी होती ही हैं। जैमिनि सोपाधि सुख पारमार्थिक मानते हैं उतना ही उनके मत में दोष है, व्यावहारिक मानना श्रुतिसम्मत है। औडुलोमि सर्वथा निषेध करते हैं, वह भी शास्त्र एवं विद्वदनुभव से विरुद्ध है। इसलिये पारमार्थिक-व्यावहारिक स्तरों पर दोनों स्वीकार हैं। सर्वकामाप्ति होने पर भी 'जगद्व्यापार' अर्थात् ईश्वरकृत्य विद्वान् नहीं करता क्योंकि वे उपाधिप्रधान हैं न कि साक्षिप्रधान। ईश्वर अज्ञान से सर्वथा रहित ही है जबकि विद्वान् अज्ञानी रहकर उसे मिटा चुका है। विद्वान् ने ज्ञान पाया उससे बहुत पूर्व ईश्वर जगद्व्यापार करता रहा है, वह उसी का अधिकारक्षेत्र है, विद्वान् का नहीं। कामप्राप्ति तक ईश्वरभाव संभव है अतः जीवनकाल में वही स्वीकार है। सूत्रों में ये बातें उपासकों के प्रसंग में कहीं तथापि यथोचित रूप से ज्ञानियों में समझ लेनी चाहिये।। **३६**।।

सारी कामनाओं की पूर्ति १) निष्कामता से एवं २) साक्षिभाव से बता चुके। अब तीसरे ढंग से कहते हैं—

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा।
अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति साम ह्यधीयते।। ३७।।

अथवा साम द्वारा हमेशा अपनी सर्वात्मता गाता रहता है। 'मैं अन्न और अन्नाद हूँ' ऐसा साम वेद में पढ़ा जाता है।

सुखी व्यक्ति सुखानुभव से प्रसन्नतापूर्वक गाता है। विद्वान् को प्रतीत होता है कि 'पहले अत्यंत परिच्छिन्न था, अब सर्वव्यापक, सारी सृष्टि को जान रहा हूँ' इसलिये उल्लास से उसके मुख से गान निकलता है। द्रष्टा-दृश्य दोनों को वह निज साक्षिरूप में आरोपित देखकर प्रसन्न होता है। 'अन्न अर्थात् दृश्य एवं अन्नाद अर्थात् द्रष्टा, दोनों मुझ पर कल्पित हैं' इस अद्भुत अनुभूति का आनन्द 'साम' के रूप में व्यक्त होता है। जैसे विभिन्न दर्पणों में अपने मुख के विभिन्न आकार देखने से सुख होता है वैसे ज्ञानी सर्वत्र स्वयं को देखकर प्रफुल्लित होता है। इससे वह सारे संसार की समता भी अनुभव करता है। मुक्तका यह ज्ञान तैत्तिरीय में (३.१०.५-६) प्रसिद्ध है 'अहमन्नम् ..अहमन्नादः ...अहं श्लोककृत्...अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य' इत्यादि। इसमें अपनी सर्वरूपता का उल्लेख है।। **३७**।।

विद्यानन्द के बाकी प्रकार पूर्व में कहे जा चुके हैं यह याद दिलाते हैं–

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्तव्यमीक्षताम्।। ३८।।
उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम्।
त एवाऽत्रानुसन्धेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये।। ३९।।

इस प्रकार, दुःखाभाव और कामनापूर्ति समझा दिये। कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्तव्यता–ये बाकी दोनों प्रकार जानो। ये दोनों हमने 'तृप्तिदीप' में (श्लो. २५३ आदि) स्पष्ट कहे हैं। बुद्धि में विद्यानन्द की स्पष्टता हो इसलिये वहीं के श्लोकों का यहाँ भी विचार करना चाहिये।

श्लोक ३ में विद्यानन्द को चार तरह का कहा था, उनमें दो प्रकार अब तक बताये, बाकी दो तृप्तिदीप में कह आये हैं, जिन्हें यहाँ भी समझ लेना चाहिये। विषयों से होती तृप्ति सांकुश, ससीम है जब कि वैराग्य से निरंकुश तृप्ति मिलती है। ज्ञानदशा में ऐसी तृप्ति रहने के बारे में कोई संशय न रहे इसलिये पूर्वोक्त भी श्लोक पुनः ग्रहण करेंगे। वेदान्त में पुनरुक्ति दोष नहीं। मीठा लगता है इसलिये गन्ना चूसते जाते हैं ऐसे ही सत्य का पुनः पुनः उपन्यास उपयुक्त है। जैसे लोहा आदि काफी चोट खाकर ही रूप धारण करता है वैसे शास्त्र साधक के चित्त पर दृढतर संस्कार अंकित करने के लिये बहुशः परमात्मा, साधन, फल आदि का वर्णन करता है। वैराग्यवान् ही परमात्मा का उपदेश ग्रहण कर सकता है तथा वैराग्य उपजे, स्थिर हो इसके लिये संसार से वितृष्णा उपजाना ज़रूरी है। जैसे ईशभाष्य में कहा कि मंत्रों को 'जामिता' आलस्य नहीं वैसे ग्रन्थकार को नहीं अतः बुद्धिशुद्धि के उद्देश्य से अनेक पूर्वोक्त श्लोक उद्धृत कर रहे हैं।।३८ -३९।।

कृतकृत्यता का उल्लेख प्रारंभ करते हैं। ये श्लोक ७.२५६ से प्रारम्भ कर पूर्व में आ चुके हैं–

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहुकृत्यं पुराऽस्याऽभूत् तत् सर्वम् अधुना कृतम्।। ४०।।

इस लोक व परलोक के फल पाने के लिये और मोक्षलाभ के लिये इस साधक के कर्त्तव्य बहुतेरे थे, वह सब अब कर लिया गया।

संसार के पदार्थ, अनुभव अच्छे लगते थे अतः उनके उपायरूप से बहुतेरे कार्य आवश्यक प्रतीत होते थे। संसार में इस लोक की तरह परलोक भी संगृहीत है, यहाँ के भोगों की तरह वहाँ के भोगों के लिये भी अनेक कार्य करते हैं। बंधन-अनुभव रहते इससे मोक्ष की भी अभिलाषा होने से मोक्षप्राप्ति के लिये भी अनेक कार्य किये जाते हैं। तत्काल के कार्य यद्यपि सर्वप्रधान लगते हैं तथापि काल बदलते ही अन्य कार्य वैसे ही प्रधान हो जाते हैं एवं कार्य

कुछ-न-कुछ बढ़ते ही हैं, करके समाप्त हों या कम हो जायें—ऐसा दुर्लभ है। इस लोक के विषय इतनी जल्दी निरर्थक हो जाते हैं कि विवेकी इनके लिये प्रयास व्यर्थ समझता है। ब्रह्मलोक में चले जाओ तो भी जन्म-मरण के चक्कर का वही वातावरण रहेगा। इन सबसे छूटें यह आत्मदर्शन से ही हो सकता है। आत्मदर्शन के लिये, मन-इन्द्रियों का नियंत्रण, धर्म करने में जो कष्ट आता है उसको सहने का अभ्यास, चित्त की एकाग्रता आदि सबसे युक्त होकर वेदान्त का श्रवण किया जाये। शमादि से रहित रहकर जो श्रवण किया जाता है, उससे आत्मदर्शन नहीं होता। पता परन्तु लग जायेगा कि आत्मतत्त्व कैसा है, उसका साक्षात् अनुभव नहीं होगा। बिना आत्मदर्शन के जीव जन्म-मरण से छूट नहीं सकता। भोगेच्छुक हो या मोक्षेच्छुक, जीवों के सामने ये सभी कर्म कर्त्तव्य बने रहते हैं। जब तत्त्वबोध दृढ हो गया तब ये सारे कार्य पूरे हो गये, अब इनमें से किसी को कर्त्तव्य नहीं समझा जा सकता।। ४०।।

कर्त्तव्य स्मरण कर उनसे छुटकारे का आनन्द विद्वान् लेता है यह बताते हैं—

तदेतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्।
अनुसन्दधदेवाऽयमेवं तृप्यति नित्यशः।। ४१।।

प्रतियोगी आगे रखकर इस कृतकृत्यता का अनुचिन्तन करते हुए ही यह सदा तृप्ति का अनुभव करता है।

यद्यपि सिद्ध हो चुका तथापि जिन कृत्यों के बंधन से छुटकारा मिला उन्हें याद करने से छुटकारे का सुख स्पष्ट होता है। कृत्य ही प्रतियोगी हैं, उन्हें याद करने से जब वे स्मृतिपटल पर स्फुट होते हैं तब 'यह भी कर लिया' यों कृतकृत्यता-विशेष भासती है। पहले गाली सुनकर बुरा लगता था। अब पता चला कि गाली तो अनात्मा शरीर-मन को मिलती थी जो उसी योग्य भी थे! जिनका कोई महत्त्व नहीं ऐसी बातों के लिये परेशान रहते थे—यह याद आने पर असीम राहत मिलती है। इस लोक की तरह परलोक के भी सुख परिच्छिन्न, सातिशय ही हैं, उन्हें चाहकर क्लेश सहना भी 'कार्य' था; अब परमार्थ फल मिल जाने से वह भी सब सम्पन्न हो गया। इस तरह विचारने से तृप्ति मिलती है।। ४१।।

संसरण अपने लिये ज्ञानी व्यर्थ समझता है यह बताते हैं—

दुःखिनोऽज्ञाःसंसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया।। ४२।।

अज्ञानी दुःखी हुए भले ही पुत्रादि के लिये संसार में भ्रमण करें, परम आनंद से पूर्ण मैं क्या चाहकर संसार-यात्रा करूँ!

जो अज्ञानी हैं वे सदा दुःखी ही हैं। इसलिये पुत्रादि की अपेक्षा से संसार में भ्रमण करते रहें। वे जीवनकाल में भी पुत्र से, पत्नी से परेशान हैं; आगे, पुत्र ने श्राद्ध नहीं किया तो भी व्यथित होंगे! यहाँ ऐहिक संसरण भी समझना चाहिये अर्थात् इस लोक से सम्बद्ध व्यवहार और आमुष्मिक संसरण भी समझना चाहिये। अज्ञानी यह सब करता है क्योंकि दुःख का अनुभव करता है, और दुःखनिवृत्तिके लिये ये प्रयत्न प्रसिद्ध हैं। विद्वान् का अनुभव

है—मुझे अब पता लग गया कि मैं तो परम आनंद से भरा हुआ हूँ। जब दुःख है ही नहीं तो निवृत्ति कैसी! विषय ही नहीं हैं तो प्राप्ति के लिये प्रयत्न कैसा! विषय हों तो भी कामना के योग्य नहीं हैं इससे भी उनके लिये प्रयत्न सार्थक नहीं है। सारी कामनायें सुख के लिये हैं या दुःख हटाने के लिये हैं। जो परमानन्द से भरा हुआ है उसमें लेशमात्र भी दुःख का स्थान नहीं है। ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठ आनंद कुछ नहीं है। यह अपनी कृतकृत्यता का भान है।। ४२।।

संसरण की तरह शास्त्रीय कृत्यों से छुटकारे की तृप्ति बताते हैं—

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः।
सर्वलोकात्मकः कस्माद् अनुतिष्ठामि किं कथम्।। ४३।।

परलोक जाना चाहने वाले भले ही कर्मानुष्ठान करें, मैं सर्वलोकरूप हूँ, क्यों, कैसे, क्या अनुष्ठान करूँ?

अज्ञपुरुष इहलोक के सुखों की इच्छा करके प्रवृत्तियाँ करते हैं, मुझे इहलोक की कोई इच्छा न होने से वह सब मेरे लिये व्यर्थ हो चुका। स्वर्गलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त की इच्छा भी मुझे नहीं है। जिसे मरना है, उसे परलोक जाना पड़ेगा। मरने वाला मैं हूँ नहीं। मन को अपना स्वरूप समझकर परलोक की इच्छा बनती थी। मन या सूक्ष्मशरीर मैं हूँ ही नहीं इसलिये मुझे परलोक की इच्छा है नहीं। अन्य अज्ञानी परलोकहेतु अनुष्ठान करें, किंतु मुझे जो करना था वह कर लिया। प्रायः होता है कि जिस कार्य को हमने करके छोड़ दिया हम चाहते हैं कि सारी दुनिया उसे छोड़ दे! ऐसा ब्रह्मविद्या के अनुभव से नहीं होता। जैसे बच्चों को हम अब भी खिलौने देते हैं, यद्यपि हमने खेलना छोड़ दिया है, इसी प्रकार ब्रह्मविद्या वाला संसार की सब चीज़ों को व्यर्थ जानता है पर अन्यों को उनसे व्यवहार करने देता है। उसे लगता है 'मेरी ये कार्य करने की स्थिति चली गई, अज्ञ जन कर्म करें।' उसका अनुभव है कि सारे लोक मेरे ही तो रूप हैं। वे सब लोक 'हैं' और 'है' मेरा रूप है। जब मैं सर्वलोकरूप हूँ तो कहाँ जाने की इच्छा करूँ? अब कौन-सा हेतु ऐसा है कि मैं अनुष्ठान करूँ? कौन-सा अनुष्ठान करूँ? किसी भी अनुष्ठान का जो फल होगा, वह मैं पहले ही हूँ। किस वेदानुसार करूँ? किस जाति, वर्ण का बनकर करूँ? इस प्रकार कोई कारण नहीं कि मैं अनुष्ठान करूँ।। ४३।।

कर्मानुष्ठान की तरह शास्त्रव्याख्यानादि कार्यों से भी निवृत्ति का उल्लेख करते हैं—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः।। ४४।।

जो इसमें अधिकृत हों वे शास्त्रों की व्याख्या करें या वेद पढ़ायें, क्रियाहीन मैं इन कार्यों में भी अधिकार नहीं रखता।

जो उपदेश देने में अधिकृत हैं, अधिकारी हैं, जिनका उपदेश देना कर्तव्य बाकी हो वे व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ावें। मीमांसा या न्याय के विद्वान् वे विषय पढ़ावें। अधिकार की प्राप्ति उसे है जिसमें उस विशिष्ट विषय के संस्कार हैं। वेदादि शास्त्र का ज्ञाता होने का अभिमान होने पर ही अध्यापन का अधिकार आता है। जिसमें यह अभिमान नहीं, वह कैसे पढ़ायेगा? जो अधिकारी हैं वे बेशक शास्त्रों को पढ़ावें। मुझे यह अधिकार नहीं है। अध्यापन एक क्रिया है। जो सर्वकर्मसंन्यासी है उसे वेद पढ़ाने का अधिकार नहीं है। अक्रिय होने से उसका किसी क्रिया में अधिकार नहीं है। जो लोग क्रिया में अभिमान वाले हैं, वे कहते हैं 'कुछ तो करना ही चाहिये'। 'मैं करने वाला नहीं,' ऐसा जिसने जान लिया, वह कैसे करेगा! छान्दोग्य भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं कि शास्त्र कहते हैं 'क्रोध करना बुरा है' पर लोग फिर भी करते हैं। इसलिये यह हमारा वृथा अभिमान है कि 'हम ऐसा करेंगे तो संसार सुधरेगा।' तत्त्वनिष्ठ को कर्मसंन्यासी देखकर कोई आसानी से कर्म छोड़ेगा नहीं। व्यक्ति अपनी कामनानुसार कर्म करता है। जिसने अपने क्रिया-हीन स्वरूप को जान लिया उसे कर्माधिकार की प्राप्ति कैसे होगी? साक्षी कर्म करने की योग्यता वाला ही नहीं तो उसे नियुक्त कैसे किया जाये? जो करने की योग्यता वाला है, उसी की नियुक्ति होगी। अतः अज्ञ ही शास्त्र द्वारा कर्मों में नियुक्त हैं, मैं उस बंधन से छूट गया—यह कृतकृत्यता स्पष्ट है।। ४४।।

पारलौकिक की तरह ऐहिक भी कृत्य नहीं रहे यह बताते हैं—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्याद् अन्यकल्पनात्।। ४५।।

सोना, भिक्षा करना, नहाना, सफाई रखना—ये न मैं चाहता हूँ न करता हूँ। देखने वाले यदि मुझपर इनका आरोप करें तो दूसरों की कल्पना से मुझे क्या!

मैं ज्ञानी नींद लेता हूँ या खाता हूँ—यह बात तुम अज्ञानी को दीखती है या मुझे? मुझे तो दीखता नहीं; तुम्हें दीखता है। शरीर को प्राप्त भोग के काल में जो भी कर्म होता है उसके प्रति साक्षिभाव में स्थित को अभिमान नहीं होता कि 'यह मैं कर रहा हूँ।' दूसरों को अज्ञान है तो वे कल्पना करते हैं। निद्रा, भिक्षा (खाना), स्नान शौच—ये न मुझे करने की इच्छा होती है न करता ही हूँ। ये शरीर-मन में होंगे जो मेरा स्वरूप हैं नहीं। न इनकी इच्छा करता हूँ, न मैं करता हूँ। प्राण और कर्मेन्द्रियों से क्रिया होती है। जो अज्ञानी है, वह शरीर-मन को मैं समझता है अतः अनुमान करता है, कि ज्ञानी के शरीर-मन की क्रियाएँ भी साभिमान हैं! सभिमान उसकी स्थिति समझ ही नहीं पाता जो निवृत्ताभिमान है। 'गुणा गुणेषु' आदि गीता में कही स्थिति का अनुभव करने वाला कर्तृत्व का अनुभव करने में अक्षम है। अतः उपदेशसाहस्री में आचार्य शंकर ने कहा है कि 'मैं ज्ञानी, अन्य अज्ञानी' ऐसे भेदानुभव वाला भी तत्त्वनिष्ठ नहीं। जीवमात्र ब्रह्मरूप है अतः कोई भी अज्ञानी नहीं, कर्ता-भोक्ता नहीं। 'मैं कर्त्ता' यह अभिमानमात्र है, इससे मैं कर्त्ता हो नहीं जाता। मैं का

स्वरूप ही ऐसा है कि वह सदा अकर्त्ता-अभोक्ता है। अज्ञानी ही दूसरों में कर्तृत्व, कामना आदि की कल्पना कर सकता है क्योंकि स्वयं वैसा अभिमान पाले हुए है। तत्त्वज्ञ, को जब पूर्वजन्म भी बाधित निश्चित है तब वह उनमें किये कर्मों के फलस्वरूप प्रारब्ध कैसे अनुभव कर सकता है! मेरा पूर्व जन्म हुआ हो, तब मैंने कुछ किया हो, तभी उसका फल प्रारब्धरूप से भोग्य बनेगा; जब मैं हूँ ही अज तो न कर्त्ता हूँ न मेरा प्रारब्ध है। अतः प्रारब्ध-क्षय के लिये भिक्षादि करूँ यह संभव नहीं।। ४५।।

अज्ञानियों का आरोप निस्तत्त्व होता है इसे सोदाहरण बताते हैं—

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसारधर्मान् एवमहं भजे।। ४६।।

अन्यों द्वारा भ्रम से आरोपित आग से जैसे गुंजा-पुंज आदि जलने नहीं लगते वैसे अन्यों द्वारा आरोपित कर्तृत्वादि संसारधर्मों से मैं युक्त नहीं हो जाता।

गुंजा एक तरह का बीज होता है, एक तरफ लाल दूसरी तरफ काला। गुंजाओं के ढेर को दूर से देखने पर अंगारे-से दीखते हैं। चाहे जितनों को ऐसा ही दीखे पर उसमें गर्मी (आग) थोड़े ही आ जायेगी! दूसरों के द्वारा आरोपित अग्नि जलती नहीं है। इसी प्रकार लोगों की कल्पनामात्र से मुझ में कोई अन्तर आ जाये यह असम्भव है। देखने वालों के द्वारा आरोपित संसारधर्मों को मैं प्राप्त नहीं करता, मैं वैसा बन नहीं जाता।। ४६।।

अन्य कार्यों की तरह श्रवणादि कार्यों से छुटकारा मिलना कहते हैं—

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः।। ४७।।
विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्यये।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम्।। ४८।।

तत्त्व से अनभिज्ञ भले ही श्रवण करे, तत्त्व समझ ही रहा हूँ तो शास्त्र क्यों सुनूँ? संशयग्रस्त लोग मनन करें, सन्देहहीन हो चुका मैं मनन नहीं करता। जिसे शरीरादि अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् विपरीत ज्ञान है वह निदिध्यासन करे, मुझे विपरीत अनुभव ही नहीं तो क्या ध्यान करुँ! देह आत्मा है ऐसा उल्टा निश्चय मुझे कभी होता ही नहीं।

जो सर्वकर्मसंन्यासी हैं, उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया नहीं इसीलिये संन्यास लिया। सर्वकर्मसंन्यास का विधान उनके लिये किया जिनको आत्मज्ञान की ज़रूरत थी। जिन्होंने ब्रह्म को नहीं जाना है, वे श्रवण करें । श्रवण से जो ज्ञान होता है, वह मुझे तो हो गया, इसलिये श्रवण के लिये मैं कैसे प्रवृत्त होऊँ? किस कारण से श्रवण करूँ? और, जिन्हें उस विषय में संशय है, वे मनन भी करें। मैं ब्रह्म हूँ—इसमें मुझे कोई संशय है ही नहीं। ब्रह्म

को तो यह संशय नहीं होता कि 'मैं ब्रह्म हूँ कि नहीं।' अतः मैं संशय से रहित हूँ। श्रवण कर लिया कि वेद ने ऐसा कहा है, और युक्ति से निश्चय कर लिया कि ऐसा ही है। फिर भी पुराने संस्कारों से विपरीत ज्ञान हो जाता है। जब तक संस्कार दृढ नहीं हो जाते तब तक शरीर में मैं-बुद्धि हो जाती है। संस्कारों को दृढ करने के लिये निदिध्यासन करना पड़ता है। जिन्हें विपरीत बोध हो जाता है वे ध्यान, निदिध्यासन करें। जिस चीज़ का निश्चय होवे फिर केवल संस्कार दृढ बनाने के लिये ध्यान किया जाये, वह निदिध्यासन है। ध्येय के प्रामाणिक निश्चय के बगैर कर्त्तव्यरूप से एकाकार वृत्ति का प्रवाह ध्यान है। ध्यान एवं निदिध्यासन में यह अंतर है। ध्यान में 'ऐसा कैसे' यह प्रश्न नहीं होता। शालग्राम में विष्णु का ध्यान करो। नर्मदेश्वर में शिव का ध्यान करो। क्यों? शास्त्रों में कहा है इसलिये। हैं तो दो पत्थर ही! ध्यान यथाशास्त्र प्रत्यय होता है। निदिध्यासन में निःसंशय पहले होना पड़ता है। अतः जिसे विपरीत ज्ञान है वह निदिध्यासन करे। देह में मैं की भावना वासना से हो जाती है। सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि विजातीय प्रत्ययों को केवल हटाना निदिध्यासन है। सजातीय प्रत्यय को लाने वाला ध्यान इसमें नहीं है। विजातीय प्रत्यय के हटने से सजातीय तो मौजूद ही है। निदिध्यासन की परिसंख्या विधि है अर्थात् 'मैं ब्रह्म' के अलावा प्रतीतियाँ हटाने के लिये कहा है, 'मैं ब्रह्म' तो श्रवण-मनन से निश्चय हो ही चुका। ब्रह्मरूपता का पहले निश्चय हो चुका है, केवल विपरीत वासना को हटाना है। मुझे कभी 'मैं देह' ऐसा विपर्यास, विपरीत ज्ञान होता ही नहीं। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब मैं अपने साक्षिभाव से दूर होऊँ इसलिये निदिध्यासन भी मेरे लिये नहीं। श्रवण मनन निदिध्यासन तीनों मेरे लिये नहीं। जो अकर्ता है वह तो सर्वकर्मसंन्यास कर नहीं सकता। कर्मों को छोड़ेगा वही जो कर्म करता है। कर्म को करना, छोड़ना दोनों ही कर्म हैं। मैं दोनों से अतीत हूँ, इसलिये संन्यासी के कर्म भी मेरे नहीं हैं।। ४७-४८।।

यदि देहात्मबुद्धि नहीं तो जीवन्मुक्ति-काल में मनुष्योचित ही व्यवहार कैसे? मनुष्य तो शरीर ही है, उसे मैं समझकर ही चलना, खाना, बोलना आदि होगा? इसका उत्तर देते हैं—

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम्।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते।। ४९।।

मैं मनुष्य आदि व्यवहार दीर्घकाल से अभ्यास की गयी वासना से (मैं शरीर) इस विपर्यास (विपरीत निश्चय) के बिना भी होता है।

'मैं शरीर हूँ' ऐसी प्रतीति हुए बिना ही दीर्घ कालीन जो शरीर-मन-इन्द्रियों का व्यवहार रहा है उस अभ्यास के कारण व्यवहार संभव है। पेड़ की डाली को खींचकर तुमने नीचे किया पर छोड़ते ही पूर्व स्थिति में चली जाती है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन दीर्घकाल के अभ्यास से, व्यवहार में प्रवृत्त हो जाते हैं। दीर्घकाल तक मैंने मनुष्योचित व्यवहार किया है अतःशेष जीवन वैसा बीतता है। मनु की सन्तति मनुष्य कहलाती है। सन्तति शरीर से और बुद्धि से उत्पन्न होती है। शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर का भी जन्म अर्थात् सम्बन्ध हुआ। सूक्ष्म

शरीर तो सृष्टि के आदि में बन जाता है, वह हर जन्म में पैदा नहीं होता पर वह स्थूल शरीर में रहने पर ही कार्य कर सकता है। स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर का संबंध पैदा हुआ तो 'मैं पैदा हुआ' ऐसी प्रतीति होती है। जन्म से शरीर मानव का है और शिक्षा में मनःसंस्कार मानव के हैं तो व्यवहार मानवीय ही होगा। आचार्य-उपदेश से जो द्विजता मिलती है, 'दूसरा जन्म' होता है, उससे बुद्धि में मानवता आती है।

मनु ने जीवन के सारे नियमों को बताया है। उनके अनुसार चलने पर ही हम मनुष्य बने। अब मनुष्य के संस्कार हमारे अन्दर हैं, उनका अभ्यास बना है अतः मनुष्योचित व्यवहार ही जीवन्मुक्त-दशा में होता है। पाप के संस्कार शरीर-मन में हैं ही नहीं। चिराभ्यस्त वासना है ही मनुष्योचित कार्य की, इसलिये तदनुकूल ही व्यवहार होता है। मानव योनि में उत्पन्न हुए ज्ञानी का आचार मनुष्योचित ही होगा। देखने वाले को लगता है कि 'यह मनुष्य अपने को समझता होगा तभी मनुष्योचित खाता है।' किंतु केवल चिराभ्यस्त वासना से वैसा हो जाता है। 'मैं शिव हूँ' इसकी जगह 'मैं मनुष्य देह हूँ' ऐसा उसका विपर्यास नहीं होता, विपरीत ज्ञान नहीं होता।। ४६।।

व्यवहार-निवृत्ति भी कोई प्रयोजन नहीं जिसके लिये किसी साधन को अपनाना पड़े यह बताते हैं—

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद् ध्यानसहस्रतः।। ५०।।

प्रारब्ध कर्म क्षीण होने पर व्यवहार समाप्त होता है। कर्म क्षीण न होने तक हज़ारों ध्यानों से भी यह निवृत्त होगा नहीं।

अज्ञदशा में व्यवहार क्लेशप्रद होने से विद्वान् से भी आशा रखते हैं कि व्यवहार समाप्त करेगा, इसके लिये भूमिकारोहण आदि ध्यानों का प्रयास करेगा। किंतु आचार्य कहते हैं कि जो व्यवहार अनिवार्य उसे ध्यानादि से भी हटा नहीं सकते और बाधित रहने से बाकी व्यवहार भी हटाने योग्य लगता नहीं। इस जन्म में जो सुख-दुःख भोगने हैं उनका निर्णय ईश्वर-संकल्पात्मक प्रारब्ध है। जब प्रारब्ध समाप्त होगा तब व्यवहार स्वयं निवृत्त होगा। भावी जन्म असंभव हैं क्योंकि कर्माशय जल चुके। परमेश्वर-संकल्प होने से प्रारब्ध बलवान् है। प्रारब्ध मंद, तीव्र तीव्रतर भेद से तीन तरह का होता है। लौकिक पुरुषार्थ, चेष्टा आदि से मिटे वह मन्द, पारलौकिक साधनों से मिटे वह तीव्र और केवल भोगकर ही मिटे वह तीव्रतम है। सिरदर्द आदि लौकिक दवा से दूर होते हैं। उनका दुःख मंद प्रारब्ध का फल है। ऐसे ही सुख का भी मन्द प्रारब्ध होता है तो लौकिक उपाय सफल हो जाते हैं। तीव्र प्रारब्ध के लिये यज्ञादि, योगादि शास्त्रीय उपाय ही अपेक्षित हैं। दवा आदि से पुत्रलाभ न होने पर भी पुत्रेष्टि आदि से हो जाता है। किंतु तीव्रतर वह प्रारब्ध है जो भोगना ही पड़ेगा, कोई प्रयास उसे परिवर्तित कर नहीं सकता। जब प्रारब्ध समाप्त होगा तब कारण न रहने से नाम-रूपादि कोई व्यवहार नहीं रहेगा, तब व्यवहार निवृत्त हो इसके लिये किसी साधन की जरूरत नहीं। चाहे हज़ारों प्रयत्न करें, ध्यानादि अभ्यास करें तो भी तीव्रतर भोगना ही

पड़ेगा एवं प्रारब्ध-समाप्ति पर व्यवहार नहीं ही रहेगा। ऐसे प्रारब्ध का उदय होने पर तो समाधि भी भंग हो जाती है। अतः तीव्रतर प्रारब्ध के फलस्वरूप होने वाले व्यवहार के क्षयार्थ यत्न निरर्थक है।। ५०।।

तीव्रतर का विरोध अनावश्यक होने पर भी मंद व तीव्र का ही शमन विद्वान् क्यों नहीं करता? इसका उत्तर देते हैं—

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः।। ५१।।

तुम्हें व्यवहार की अल्पता अभीष्ट हो तो ध्यान करो। व्यवहार से मुझे कोई बाधा नहीं यह अनुभव करता मैं क्यों ध्यान करूँ?

विरल अर्थात् कम। जीवन चलने के लिये अनिवार्य से अतिरिक्त व्यवहार घटाने पर व्यवहार 'विरल' रह जाता है। व्यवहार घटाना वही चाहेगा जो उससे असुविधा अनुभव करे। विद्वान् ऐसे को प्रेरणा ही देता है कि अधिकाधिक अन्तर्मुख बने। किंतु स्वयं उसे व्यवहार की असत्यता का स्पष्ट भान रहते उससे कोई असुविधा ही नहीं तो क्यों हटाने का यत्न करे! व्यवहार हो तो घटाया भी जाये, जिसे 'व्यवहार नहीं है' मालूम है, वह घटाये क्या! व्यवहार-सत्यता प्रतीत होने पर ही उसे हटाने की इच्छा व कोशिश होगी, एकमात्र परमात्मा सत्य जानने पर, स्वयं का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व जानने पर न इच्छा, न प्रयत्न होगा।। ५१।।

बाधा न पहुँचाये तो भी विक्षेप निवारणीय ही है, उसे हटाने का प्रयास क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हैं—

विक्षेपो नास्ति यस्माद् मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद् विकारिणः।। ५२।।

मुझ आत्मवस्तु का न विक्षेप है अतः समाधि भी नहीं है। विकारी मन के ही समाधि व विक्षेप हैं।

'आधि' अर्थात् मानस पीडा। वही शरीर में प्रकट होकर 'व्याधि' कहलाती है। यदि आधि का मानस-नियन्त्रण से संहार कर लिया तो समाधि हो गयी। चित्तवृत्तियों के निरोध को ही समाधि कहते हैं। विक्षेप अर्थात् बिखराव। मन ही विभिन्न विषयों में बिखरता है, अनेकों से राग-द्वेषादि सम्बन्धों वाला बनता है। आत्मा निर्विकार असंग होने से न बिखर सकता है, न समेटा जा सकता है। विभिन्न वृत्तियों के रूप में विकृत, परिवर्तित होने वाला मन ही बिखरता है अतः समेटा भी जा सकता है। मैं आत्मा न बिखर सकता हूँ अत एव न समेटा जा सकता हूँ। अतः कृतकृत्य जो मैं आत्मा वह विक्षेप हटाने का भी कोई कृत्य अपने लिये नहीं देखता।। ५२।।

विषयानुभव जैसे आत्मानुभव वृत्तिसापेक्ष नहीं कि तदर्थ प्रयास कार्य रहे यह बताते हैं—

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तम् इत्येव निश्चयः।। ५३।।

सनातन अनुभवरूप मेरा मेरे बारे में मुझसे अन्य अनुभव कौन-सा है (जिसे संपन्न करूँ)! यही निश्चित है कि करने लायक सब कुछ कर लिया, पाने लायक सब पा लिया।

समाधि में परमात्मा का अनुभव होता है, कामना की निवृत्ति भी होती है, स्वरूपस्थिति भी होती है। पतंजलि ने कहा है 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' समाधिकाल में आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इसके लिये समाधि का अभ्यास क्यों न किया जाये? इसपर कहा कि मैं नित्य अनुभवरूप ही तो हूँ। सच्चिदानन्दरूप ही हूँ। इसलिये मुझ से कोई अलग अनुभव होवे ऐसा नहीं। समाधि में अनुभव होता है, यह ठीक है। एक बार उस अनुभव में स्थिति हुई, तो फिर समाधि से नया अनुभव क्या होगा? अब तो उस स्वरूप में ही स्थिति है। अतः समाधि से कोई दूसरा अनुभव होगा नहीं। जब तक आत्मा का अनुभव दृढ हुआ नहीं, तब तक समाधि ज़रूरी, जब वह अनुभव स्पष्ट हो गया, तब समाधि से भी प्रयोजन नहीं। करने योग्य जो काम था वह सब हो गया। प्राप्त करने योग्य सभी प्राप्त हो गया, अब यही निश्चय है।। ५३।।

सारे शास्त्रों का तात्पर्य आत्मदर्शन में है, उसके बाद सब कामनायें निवृत्त हो जाने से कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। नित्य अनुभवस्वरूप का आगे कोई अनुभव नहीं होता 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' से याज्ञवल्क्यने यही स्पष्ट किया है। अतः दृढ बोध के बाद न क्रियारूप व न ज्ञानरूप कोई कार्य रह जाता है।

तदनन्तर ईश्वरेच्छामात्र प्रवृत्त होती है यह बताते हैं—

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्।। ५४।।

अकर्ता और असंग मेरा लौकिक या शास्त्रीय व्यवहार प्रारब्धानुसार चलता रहे।

व्यवहार का मतलब है नाम-रूप का देश-काल में परिवर्तन। एकदेश से दूसरे देश में जाओ तो गमन क्रिया होगी। एक चीज़ को दूसरी जगह रखोगे तो उठाना और रखना क्रिया होगी। सब्जी को छीलोगे तो संस्काररूप क्रिया होगी। किसी चीज़ में विकृति पैदा करोगे जैसे दूध को फाड़ना, तब क्रिया होगी। उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कार, विकार—क्रिया से ये चार चीज़ें ही हो सकती हैं। घड़े को बनाया अर्थात् पूर्व काल में वह नहीं था, दूसरे काल में पैदा किया। सब देशों में जो व्यापक है, उसमें देश का परिवर्तन सम्भव नहीं। वह हर जगह पहले से है। जो सब कालों में है उसमें काल-परिवर्तन नहीं। उसकी उत्पत्ति कैसे होगी? जो नित्य शुद्ध है उसमें संस्कार कैसे करोगे? किसी भी क्रिया का वह विषय नहीं होता। व्यवहार सब क्रिया ही हैं। इसलिये चाहे लौकिक हो या शास्त्रीय, इन दो से अलग और कुछ व्यवहार हो नहीं सकता। मैं आत्मस्वरूप अकर्त्ता हूँ, क्योंकि व्यवहार सर्वदेश, सर्वकाल सर्ववस्तुओं

में व्यापक मुझमें हो नहीं सकता। किसी भी क्रिया का मेरे साथ कोई संसर्ग नहीं हो सकता और मैं अलिप्त हूँ अतः माया के कार्यों से मुझ में कोई संसर्ग आ जाये यह भी सम्भव नहीं है। अतः ये सारे व्यवहार जैसा प्रारब्ध है वैसे रहें।

जब शरीर जन्म लेता है तब परमेश्वर संकल्प करता है कि 'इस शरीर से ये फलभोग होंगे।' भोग में जीव परतंत्र है, जो प्रारब्ध में है वह भोगना ही है। करने के विषय में जीव को कुछ स्वतंत्रता है। तुम कुछ नहीं कर सकते, सब कुछ निश्चित है—यदि यह पक्ष हो तो सारे शास्त्र, आयुर्वेद योगशास्त्र आदि व्यर्थ होंगे। अतः भगवान् बादरायण ने कहा कि जीव ही कर्त्ता है। गीता में भगवान् ने भी यही कहा है कि तुम्हें कर्म में अधिकार है। फल देने का ईश्वर को अधिकार है। इसमें जीव कुछ नहीं कर सकता। जब तक मैं जीव हूँ तब तक प्रारब्ध तो परतंत्र होकर भोगना ही है पर स्वतंत्र होकर कर्म करता हूँ। तत्त्वबोध से यह पता लगा कि जीवभाव अविद्या से है। चिज्जडग्रन्थि के कारण कर्त्तापना प्रतीयमान है। केवल चित् में या केवल जड में कर्त्तापना नहीं है। जब यह पता लग गया तब कर्म करने की जो स्वतन्त्रता है वह भी नहीं रही! प्रारब्ध में अब कोई परिवर्तन करने का मेरा प्रयत्न नहीं है। अतः प्रारब्ध-भोगनामात्र बचता है, कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। शरीर-मन ईश्वर-आज्ञा से प्रवृत्त होते रहेंगे। इसी को आचार्य शंकर ने कहा है 'प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुः' मेरा स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रारब्ध को समर्पित हैं।। ५४।।

शास्त्रों में ज्ञानियों की दो तरह की स्थितियाँ बतायीं—एक में करुणा का उद्रेग है, दूसरी में प्रज्ञा ही है, करुणा नहीं। परमेश्वर तो करुणाविग्रह है। जीव स्वप्रयत्न से परमेश्वर-दर्शन नहीं पाता तो भगवान् करुणापूर्वक स्वयं दर्शन देते हैं जैसा गीता में कहा कि 'मृत्युसंसारसागर से मैं उद्धार करता हूँ'। परमात्मा में तो करुणा व ज्ञान दोनों असीम हैं पर सब ज्ञानियों में ये नहीं होते। जिनमें करुणा भी होगी वे लोगों का उद्धार करना चाहेंगे, उन्हीं को भगवान् ने लोकसंग्रही कहा। सब तत्त्ववेत्ता लोकसंग्रही हों ऐसा नियम नहीं, करुणावान् ज्ञानी लोकसंग्रही होगा। वह कर्म करके अज्ञानी को अपने उदाहरण से प्रेरित, प्रशिक्षित करता है कर्म करने में। इस तरह के ज्ञानी के अभिप्राय से कहते हैं—

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्त्तेऽहं का मम क्षतिः।। ५५।।

अथवा लोगों पर अनुग्रह की इच्छा से शास्त्रीय ही मार्ग से व्यवहार करूँ, मुझे क्या हानि है!

पूर्व में सारे व्यवहारों से दूरी कही थी। यहाँ शास्त्रीय व्यवहार ज्ञानी करे तो भी उसे हर्ज़ नहीं यह बताया अतः 'अथवा' से पक्षान्तर सूचित है। स्वयं को प्रयोजन न होने पर भी विद्वान् से प्रेरित हो अन्य श्रद्धालु अपना कल्याण करें इसलिये विद्वान् उन्हें समुचित शिक्षा देने के लिये योग्य व्यवहार करेगा। इससे उसे कोई पुण्यादिका बंधन नहीं होगा क्योंकि उसमें कर्तृत्वबोध नहीं है। करुणा ही इसमें प्रेरक है। आचार्य शंकरादि तत्त्वनिष्ठा पाने के बाद भी

सब जीवों के उद्धार की इच्छा से ही ग्रंथरचना, दिग्विजय आदि में प्रवृत्त हुए, न कि किसी निजी लाभ के लिये। कर्त्तव्य, प्राप्तव्य न रह जाने पर भी करुणावश शास्त्रीय मार्ग प्रशस्त करे—यह लोकसंग्रही तत्त्वज्ञानी के लिये स्वाभाविक है।। ५५।।

शास्त्रीय मार्ग ही बताते हैं—

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्त्ततां वपुः।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम्।। ५६।।

शरीर देवपूजा, स्नान, सफाई, भिक्षा आदि करता रहे, वाणी प्रणव जपती रहे या वेदान्तों का उच्चारण करती रहे।

भगवान् की पूजा, प्रातः स्नान आदि कृत्य ज्ञानी करता है ताकि दूसरे प्रवृत्त हों। शुद्धि रखने का प्रयास, शास्त्रानुसार भोजन इत्यादि कार्यों को शरीर करे तो ज्ञानी को हानि नहीं, श्रद्धालु अज्ञानी को लाभ है। इसमें भी, 'मैं कर रहा हूँ' यह भावना ज्ञानी में नहीं आयेगी। शरीर आदि ऐसा व्यवहार करेंगे, ज्ञानी में कर्त्तापना नहीं है। वाणी जप करती रहे या वेदान्त-कथन करती रहे तो भी ज्ञानी को फ़र्क नहीं पड़ता और शिष्यादि को सच्छिक्षा मिलकर उनका कल्याण हो जाता है। ज्ञानी भी वर्णाश्रमानुसार ही व्यवहार करके प्रेरणा देगा अतः यहाँ मुख्यतः संन्यासी के लिये उचित कर्म गिनाये।। ५६।।

कृतकृत्यता का उपसंहार करते हैं—

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये।। ५७।।

बुद्धि चाहे विष्णु का ध्यान करे चाहे ब्रह्मानन्द में डूबे, मैं साक्षी हूँ, इस सबमें न कुछ करता हूँ न कराता हूँ।

बुद्धि भगवान् विष्णु का, सगुण ब्रह्म का ध्यान करे या निर्गुण ब्रह्म का जो आनंद है, उसमें लीन हो जाये, ज्ञानी के लिये अंतर नहीं। पिछले श्लोक में शरीर-वाणी के कर्म कहे, यहाँ बुद्धि-कर्म बताये। जो साधक परमार्थ वस्तु समझ पाते हैं, उनके लिये तो निर्गुण निराकार बुद्धि का विषय होता है। जो उसे समझ नहीं पाते, उनके लिये सगुण साकार ध्येय है। सगुण-निर्गुण दोनों का ध्यान इसलिये कह दिया। 'विष्णु' इसलिये कहा कि परमेश्वर की व्यापकता सूचित हो। परमात्मा सारे संसार में व्यापक, प्रविष्ट है, इसी लिये उसे विष्णु कहते हैं। वही सबमें रहने वाला तत्त्व है। विष्णु शब्द का प्रयोग कर उसकी व्यापकता को बताते हैं। वह किसी एकदेश में होने वाली चीज़ नहीं। सभी नाम-रूपों में जो विद्यमान है वह विष्णु है। सभी नाम-रूपों में विद्यमान सगुण हो गया, नाम-रूपका बाध करके वही निर्गुण हो गया। दोनों प्रकार के साधकों को शिक्षा देने के लिये दोनों तरह के ध्यान विद्वान् कर सकता है। पर ये सब करते हुऐ भी उसे 'मैं कर रहा हूँ, करा रहा हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता। आत्मज्ञान से पहले ये सब कर्म आदमी करेगा अतः इन्हीं की वासनायें होंगी, तदनुकूल ही

आचार होगा। 'शरीर-मन ये सब करें, मैं तो केवल साक्षी हूँ'—ऐसा उसका निश्चय रहने से करते हुए भी 'कर्त्ता हूँ' ऐसा कोई भाव नहीं बनता है। 'मैं करवाता भी नहीं हूँ' अर्थात् मैं शरीर-मन को प्रेरणा भी नहीं देता, करने से रोकता भी नहीं हूँ। कारण कि मुझे कृतकृत्यता प्राप्त हो गई। मेरे शरीर के आचरण से लोगों का कल्याण होता है तो भले ही हो, इतने से मुझमें कोई अंतर नहीं।। ५७।।

विद्यानन्द का चौथा प्रकार समझाते हुए तृप्तिदीप-श्लोक ही उद्धृत करते हैं—

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्।। ५८।।

कृतकृत्यता से तृप्त हुआ फिर 'प्राप्तव्य पा लिये' इससे भी तृप्त होता हुआ वह अपने मनसे निरन्तर यों विचार करता है।

जो करना था वह सब कर लिया—जैसे इसकी तृप्ति है, वैसे जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया इसकी भी तृप्ति है। तृप्तिका अनुभव मन में होगा, साक्षी को तृप्ति का अनुभव नहीं है। जब तक प्रारब्ध है, शरीर-मन हैं, तब तक मन इस तृप्ति का अनुभव करता है। बीच में एक क्षण भी ऐसा नहीं जब तृप्ति का अनुभव न हो। जो विचार उसके मनमें आते हैं वे ही आगे के श्लोकों में व्यक्त हैं ।।५८।।

प्राप्त-प्राप्तव्यता की तृप्ति की अभिव्यक्ति सुनाते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्।। ५९।।

सदा स्वात्मा को स्पष्ट जानता हूँ, ब्रह्मानन्द मुझे साफ भास रहा है अतः मैं धन्य हूँ।

मैं धन्य हो गया। धन्य अर्थात् धन के योग्य। बाकी धन तो आगमापायी है। अपना परमात्मस्वरूप जाने-आने वाला है नहीं अतः इसकी प्राप्ति ही सच्चे धन की प्राप्ति है। मीरा ने कहा है 'ऐसे वर को क्या वरूँ, जो जन्मे और मर जाये।' मरण संसार के पदार्थों का स्वरूप ही है। परमात्मस्वरूप ही असली धन है। उस धन के मैं योग्य हो गया। वह धन हमेशा ही अपने स्वरूप से प्रतीयमान है। मन उसके प्रति जागरूक ही रहता है। ज्ञानी को सच्चिदानन्द स्पष्ट रूप से भान होता है। सत्-चित् का भान तो प्रायः लोगों को सहन हो भी जाता है भले ही कठिन है पर आनंद को उसका स्वरूप नहीं मानते! 'उसका भान होने से दुःख का अभाव हो जायेगा, मोक्ष में दुःखाभाव है' इतना ही मानते हैं। वेदान्त कहता है कि वह सत् चित् ही नहीं, आनन्दरूप भी है, मोक्ष में परमानन्द की स्थिति है। आनन्द नित्य है, पहले जाना नहीं था, अब स्पष्ट ही उसका प्राकट्य है।। ५९।।

मोक्ष का आनंद दुःख का सहचर नहीं, तत्त्वज्ञान भी अज्ञान का साथी नहीं—यह कहते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याऽज्ञानं पलायितं क्वापि।। ६०।।

मैं धन्य हूँ क्योंकि अब सांसारिक दुःख का अनुभव नहीं करता एवं मेरा अज्ञान कहीं भाग गया है।

मैं धन्य हूँ। मन में जो पुराने संस्कार दुःख के हैं, उनसे स्मृति हो जाती है तभी तृप्ति का भान होता है। अब ज्ञान होने के बाद सांसारिक दुःखों का अनुभव नहीं करता। ब्रह्मानंद-समुद्र में गोता लगा चुका मैं, किसी भी दुःख का अनुभव नहीं करता हूँ। संसार-यात्रा में यही बताया जाता है कि पाप से दुःख होता है। जब अपने स्वरूप का पता चलता है तब ऐसा नहीं लगता कि 'अब दुःख दूर हो गये' वरन् लगता है कि कभी थे ही नहीं। अपने ब्रह्मानंदरूप को न जानने से, अज्ञान के कारण मन में होने वाले दुःखों को अपना मान लेता था। मन नहीं है, जैसे निद्रा में, तो दुःख भी नहीं है। 'मन से अलग हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होने से 'मैं' दुःखी होता रहा हूँ। अब वह अज्ञान कहीं भाग गया! भगवान् भाष्यकार कहते हैं (विवेकचू.) कि 'अभी-अभी जो दीख रहा था, वह कहाँ चला गया? यह जगत् कहाँ चला गया? प्रतीति थी वह हट गई, क्या आश्चर्य है कि जो अभी दीख रहा था वह है ही नहीं!' इस प्रकार निरन्तर विचारते हुए आनंद में रहता है। विद्यानन्द के लिये प्रतियोगी का विचार चाहिये। किसी की भयंकर बीमारी का सुनते हैं तो भावना आती है, 'ईश्वर मेरे साथ ऐसा न हो'। उतनी देर 'मुझे यह बीमारी नहीं है'—इसका सुख अनुभव होता है। बीमारी भूल जाने पर अपनी नीरोगिता से कोई तृप्ति नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति में सांसारिक दुःखों को देखकर विद्वान् को आनन्द का अनुभव होता है।। ६०।।

कृतकृत्यतादि का उल्लेख-पूर्वक धन्यता कहते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्त्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्।। ६१।।

मेरा अब कोई कर्त्तव्य नहीं, पाने योग्य सब मिल गया, मैं धन्य हूँ।

मनुष्य के जीवन में, हमेशा कोई-न-कोई काम सामने रहता है—इहलौकिक, पारलौकिक, या पारमार्थिक। इन सब स्तरों पर कर्त्तव्य की प्राप्ति है। करने लायक काफ़ी है, नहीं करने पर ग्लानि होती है। सांसारिक कर्म पूर्ण न होने पर एक तरह के दुःख का अनुभव होता है। ऐसे ही पारलौकिक कर्म के विषय में है। जैसे गोदान के लिये गाय, या उसे लेने वाला ब्राह्मण नहीं मिले तो ग्लानि होती है। इसी प्रकार वेद ने आज्ञा दी कि आत्मा का दर्शन करो। केवल शब्दों से जानना ज्ञान नहीं, अनुभव-पूर्वक जानने को कहा है। शास्त्र के शब्दों से ज्ञान और तत्त्व का अनुभव विज्ञान है। श्रुति आत्मा के साक्षात् अनुभव को कर्त्तव्य कहती है। जिसने शास्त्रों का अध्ययन एवं सत्य का साक्षात्कार किया हो, कोई संशय उसको नहीं हो, ऐसा गुरु न हो तो विज्ञान हो कैसे? परमार्थ कार्य सिद्ध नहीं कर सकें तो भी ग्लानि होती है। ये तीन प्रकार के कर्तव्य हैं—इहलौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक। कर्तव्य के लिये अधिकार का भी विचार है। अधिकार शरीर आदि को लेकर ही निर्धारित किया जाता है। वर्ण शरीर का ही होगा। मैंने समझ लिया कि मैं कभी न शरीर था, न हूँ, न रहूँगा। शरीर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल अज्ञान, भ्रम से सम्बन्ध है। शरीर पैदा होने वाला व मरने वाला। मैं न पैदा होने वाला, न मरने वाला, मैं तो मरकर स्वर्ग-नरक भी जाऊँगा

अर्थात् मैं मरा नहीं, मरता तो शरीर है, मैं नहीं। शरीर को लेकर ही इहलोक और परलोक के कर्म हैं। ज्ञानी जानता है कि मैं शरीर नहीं क्योंकि वह जन्मने-मरने वाला है। शरीर मैं नहीं तो मेरा कोई कर्तव्य नहीं। ऐसे व्यक्ति का केवल पारमार्थिक कर्तव्य ही बचता है। मैं शरीर नहीं पर दुःख का अनुभव तो कर ही रहा हूँ। दुःख-सुख सूक्ष्म शरीर में होते हैं। इनकी निवृत्ति का एकमात्र उपाय परमेश्वर का साक्षात्कार है। परमेश्वर के ज्ञान से ही संसार से तर सकते हो; दुःख से परे जा सकते हो। परमेश्वर का ज्ञान कैसे हो? उपनिषत् ने बताया है कि आत्मदर्शन के लिये शम-दम आदि आवश्यक हैं।

चिन्ता से शान्ति आयेगी कैसे! इसलिये मन का शमन करे, इन्द्रियों का दमन करे। भगवान् ने कहा है कि इंद्रियाँ मनको बलपूर्वक खींचकर बाहर ले जाती हैं। कामना मन, बुद्धि, इन्द्रियों में रहती है 'इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याऽधिष्ठानमुच्यते'। जैसे बुद्धि को मन विचलित करता है वैसे इन्द्रियाँ मन को विचलित कर देती हैं। जबरदस्ती इंद्रियाँ तुम्हारे मन को खींचकर ले जाती हैं। अनेक साधक कहते हैं कि मन शांत होगा तो इंद्रियाँ शान्त हो जायेंगी। पर इंद्रियों का अलग से दमन शास्त्र ने विहित किया। ये सब करने से परमात्मदर्शन का अधिकार आयेगा। यह किया कैसे जाये? इंद्रियों को नष्ट करने से तो होगा नहीं अतः परमात्मा का जो सगुण रूप है, उसमें मन को तथा इंद्रियों को एकाग्र करने से शान्ति-दान्ति आयेंगी। इसलिये विभिन्न प्रकार की सगुण उपासनाओं का निरूपण वेद ने किया। जब यह शांति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, समाधान आ जाये तब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त कर ब्रह्मविज्ञान की प्राप्ति होगी। अगर गुरु की प्राप्ति नहीं होती तो भगवान् की उपासना से वही सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म के दर्शन के लिये उपदेश दे देता है। क्योंकि सगुणरूप में है, इसलिये उपदेश दे देता है। भगवान् ने गीता में कहा 'ददामि बुद्धियोगं तम्'। जिसने इन उपायों से परमात्मसाक्षात्कार पा लिया उसका ऐहलौकिक कर्तव्य नहीं, पारलौकिक नहीं और पारमार्थिक भी नहीं रहा; कोई भी कर्तव्य तब रहा नहीं जब परमार्थ की प्राप्ति हो गई। परमात्मा ही ऐसा है जिसका साक्षात् अनुभव करने से सब चीज़ें अनुभूत हो जाती हैं। उसी एक के विज्ञान से सबका विज्ञान हो जाता है। यह उपनिषद् का घोष है कि ब्रह्म-प्राप्ति हो गई तो सब कुछ प्राप्त हो गया। यदि मन में संकल्प होता भी है तो उसके लिये कुछ अन्य प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जो कुछ भी प्राप्त करने लायक है, उसी समय मिल जाता है। उपनिषद् ने कहा है कि आत्मज्ञानी से मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर सकता है। ऐसा बोध पाने से मैं कृतकृत्य हूँ, प्राप्तव्य सब पा चुका हूँ।। ६१।।

तृप्ति की निरङ्कुशता, असीमता प्रकट करते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः।। ६२।।

मुझे जो तृप्ति है, संसार में उसकी उपमा कौन हो! मैं बारम्बार धन्य हूँ।

मुक्त को अद्वैत भासता है अतः स्वयं को अनुपम, उपमा-रहित जानता है। वह साक्षी है और एक ही है। ब्रह्मबोध 'मैं ब्रह्म' इसी प्रकार से होता है अतः मुक्त ब्रह्म से भी भिन्न नहीं कि 'ब्रह्म की तरह हूँ' यों ब्रह्म को उपमा बनाये। अन्य ज्ञानी होंगे—यह सम्भावना

साक्षिरूप से स्थिति के कारण मिट गयी अतः उन्हें दृष्टान्त नहीं बना सकते। लोक अर्थात् संसार तो सारा द्वैत से, कमियों से ग्रस्त है अतः अद्वैत या पूर्ण के लिये उपमा नहीं बन सकता। इसलिये कहा कि मेरी उपमा बने कौन! तृप्ति होने पर उपमा की आवश्यकता भी नहीं रहती। धन्यता अज्ञाननिवृत्ति-पूर्वक ब्रह्मप्राप्ति से है। अज्ञाननिवृत्ति से उपलक्षित चेतन मोक्ष में रहता है। अज्ञाननिवृत्ति का परामर्श रहते धन्यता का स्पष्ट उल्लेख भी जीवनदशा में बना रहता है। यहाँ जो धन्यता कही जा रही है वह मुमुक्षु को उत्साह-पूर्वक साधना में प्रेरणा के लिये है। हर प्रकार से धन्यता केवल तत्त्वज्ञान से प्राप्त होगी अतः उसके लिये सप्रयत्न बनना ही उचित है।। **६२।।**

इस स्थिति तक पहुँचाने वाली पुण्यनामक ईश्वरप्रसन्नता है अतः उसकी स्तुति करते हैं—

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयम् अहो वयम्।। ६३।।

पुण्य की महिमा अपार है, वही अब स्थिररूप से फलशाली बना है। यही पुण्य पाने से हम भी महान् हैं!

साधारण पुण्य भी सुख देता है किंतु नश्वर। जो पुण्य मुमुक्षा, विविदिषा का हेतु है वह अंत में नित्य सुख देता है। मुक्त हो मैंने वह आनंद पाया जो न पैदा होता है, न नष्ट होता है। महर्षि पतंजलि ने कर्मों का विचार करते हुए कहा है कि कुछ कर्म सुख, कुछ दुःख, (पापकर्म) कुछ कर्म सुख और दुःख दोनों और कुछ कर्म दोनों ही नहीं देते। परमात्म-प्राप्ति के लिये जो अभ्यास है,वह न सुख देता है न दुःख देता है, वह तो इस आनंद को देता है! आनन्द सुख की जाति का होने से उसे पुण्य कह सकते हैं। जिसका फल हुआ वह भी पुण्य और उसका फल भी पुण्य है। अथवा सारे शुभ कर्मों का फल है परमात्मा के, ब्रह्म के दर्शन की इच्छा हो जाना। जब तक शुभ कर्म इकट्ठे नहीं होते तब तक परमात्मा की तरफ जाने की इच्छा ही नहीं होती। इच्छा यदि हो गई तो अनेक जन्मों के पुण्य फलित हो गये। मेरे पुण्य इकट्ठे हो गये तभी ब्रह्मदर्शन की इच्छा हुई। पुण्य सुख देने वाली चीज़ है और इच्छा दुःख देती है। परमेश्वर-दर्शन की इच्छा हो जाये और दर्शन होवे नहीं तो दुःख होगा। पुण्य कर्म से दुःख संभव नहीं। अतः वह कर्म केवल इच्छा ही नहीं, परमात्मज्ञान के सारे साधनों को भी एकत्रित कर देता है। जब तक परमात्मदर्शन न होवे तब तक शुभ कर्म करते ही रहो। केवल इच्छा ही नहीं, पूर्णता भी इनसे होती है। इच्छा की पूर्ति हो जाये, शरीर ठीक रहे अन्य चीज़ें अनुकूल हो जायें—यह भी पुण्य का ही फल है। शुभ कर्म ब्रह्मज्ञान की इच्छा भी पैदा करते हैं फिर ब्रह्मज्ञान तक साथ देते हैं। ज्ञान कर्म से नहीं होगा, वह तो श्रवण-मनन से होगा, पर उसके लिये परिस्थितियाँ अनुकूल हों यह पुण्य का फल है। एक पुण्य फलित यह हो गया कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गई। ज्ञान भी सर्वथा संशय से रहित दृढ है कि मैं उस भाव से क्षणमात्र भी विचलित नहीं होता। संशय विपर्यास से रहित निश्चित ज्ञान हो गया है। सारे पुण्यों की सम्पत्ति यही है। परमेश्वर का मिलना ही 'सम्पत्ति' है। शास्त्रों में कहा है 'विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः' जिसको लोक में विपत्ति या सम्पत्ति कहते हैं, वह विपत्ति या सम्पत्ति नहीं है।

'स्वस्वरूपं भवेत् सम्पत्' अपना जो स्वरूप है वही सम्पत्ति है 'तदन्यद् विदुषां विपत्' इसके अलावा सब विपत्ति ही है। माया का कार्य होने से अनात्मा विपत्ति ही है। वह भ्रम से सम्पत्ति मानी जा रही है। आने-जाने वाली सम्पत्ति कैसे होगी? वह तो थोड़े समय के लिय रहने से विपत्ति ही है। 'अपनी' चीज़ आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द है। इस सद्रूप की प्राप्ति ही पुण्य की सम्पत्ति है। यह लाभ भी हमें एक आश्चर्य है।। ६३।।

मोक्ष-साधनों की भी विशेषता कहते हैं—

अहो शास्त्रमहो शास्त्रम् अहो गुरुरहो गुरुः।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानम् अहो सुखमहो सुखम्।। ६४।।

शास्त्र, गुरु, ज्ञान व आनन्द सभी अतिश्रेष्ठ एवं आश्चर्य हैं।

शास्त्र धन्य है। शास्त्र अर्थात् जो शासन करे, उपदेश दे। वह धन्य है जिसने उस सत्य का उपदेश दिया। इसी प्रकार जिस गुरु ने मुझे उस सत्य को बताया वह धन्य है। सारे विकल्प जहाँ हट जाते हैं, जहाँ माया भी हट कर केवल अधिष्ठानरूप से प्रत्यगात्मा रह गया वह ज्ञान धन्य है। उसमें कोई विकल्प नहीं है। सारा जगत् इस मैं में ही कल्पित है। जिसने यह दिखलाया ऐसा गुरु वन्दनीय है। जिस शास्त्र ने उपदेश दिया, जिस गुरु ने उसे दिखला दिया और जो ज्ञान है, सभी आश्चर्य हैं। इनकी संभावना युक्ति से समझ नहीं आती लेकिन फल से स्वीकारना पड़ता है। सुरेश्वराचार्य ने समझाया है कि जैसे सोता आदमी सुन सके यह संभव नहीं पर आवाज सुनकर जगता है अतः स्वीकारना पड़ता है, वैसे मोहहानि अर्थात् अविद्यानिवृत्ति होती है इसलिये गुरुमुख से शास्त्रोपदेश का श्रवण तत्त्वसाक्षात्कार का हेतु स्वीकारना अनिवार्य है। तत्त्वबोध से अनावृत आनन्द भी आश्चर्य है।।६५।।

प्रकरण समाप्त करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः।
विद्यानन्दस्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम्।। ६५।।

।।इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यस्वामि-विरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।।

ब्रह्मानन्द नामक पंचाध्यायी में विद्यानन्द नामक चौथा अध्याय बताया। इस आनंद की उत्पत्ति तक अभ्यास करते रहना चाहिये।

'ब्रह्मानन्द' नाम का पाँच प्रकरणों वाला जो ग्रंथभाग है उसमें चौथे अध्याय को बतला दिया। पंचदशी के क्रम में यह चौदहवाँ है। तत्त्वनिष्ठा के परिपाक से ही इसकी उपलब्धि है अतः ज्ञाननिष्ठा के उपायों का अधिकाधिक अभ्यास तब तक करते रहना पुरुषार्थ है जब तक यह निरंकुश तृप्ति सुरक्षित न हो जाये।। ६५।।

।। चौदहवाँ प्रकरण पूरा हुआ।।

पन्द्रहवाँ
ब्रह्मानन्द में विषयानन्द प्रकरण

अनुकूल प्रारब्ध रहते विद्वान् योगानन्द-अद्वैतानन्द में स्थित रहे अथवा विवेक द्वारा आत्मानन्द के साथ अद्वैतानन्द में रहे। जिस समय प्रारब्धभोग है, संसार की प्रतीति है, परन्तु विशेष विषयों की प्राप्ति नहीं अर्थात् संसार का भान तो है, पर विषय सामने उपस्थित नहीं हो रहे हैं, उस समय मन की वृत्ति विद्यानंद में लगा ली जाये। जिस समय प्रारब्ध-भोग से विषयों का प्राबल्य है, उस समय कैसे जीवन्मुक्ति का आनन्द लिया जाये? यह बताने के लिये अन्तिम विषयानन्द प्रकरण है। विद्यानन्द में तो पूर्वानुभूत संसार की स्मृति करके, उन दुःखों के अभाव का तृप्तिज्ञान है जबकि इसमें विषयों का ज्ञान है, नाम-रूप का भान है।

प्रकरण का प्रतिपाद्य सूचित करते हैं—

अथाऽत्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक्।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ।। १।।

ब्रह्मानन्द का अंश विषयानन्द अब यहाँ बताया जा रहा है। वेद ने उसे ब्रह्मानन्द का अंश बताया है अतः वह उसे पाने में उपाय बनता है।

विद्यानन्द को बताने के बाद विषयानन्द को बतलाते हैं। विषय का आनन्द है लौकिक। लौकिक सभी आनन्द वैराग्य के द्वारा त्याज्य है। विषयों का आनंद राग से होता है। मोक्षशास्त्र में वैराग्य पहली ज़रूरत है। फिर इसका निरूपण यहाँ मोक्षशास्त्र में कैसे? उत्तर में कहा 'ब्रह्मानन्दांशरूपभाक्'। विषयानन्द भी आनंद होने से ब्रह्मानन्द का अंश ही है। श्रुति में कहा है कि इस ब्रह्मानन्द के एक छोटे हिस्से से संसार के सारे आनंद होते हैं। जैसे कमरे का प्रकाश भी सूर्य का प्रकाश है वैसे सभी सुख ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं। साक्षात् न सही, प्रतिफलित होकर ही सूर्य कमरे में है, इस तरह कमरे का प्रकाश सूर्य की रोशनी का ही अंश है। इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्ति में प्रतिफलित होकर विषयसुख की प्रतीति होती है; प्रतिफलित ब्रह्मानंद ही हो रहा है इसलिये उसीका अंश कहलाता है। इसलिये ब्रह्मानन्द समझने के लिये वह द्वार बन जाता है। कैसे? श्रुति ने कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। ब्रह्म सत्य है, त्रिकालाबाधित है, तीनों कालों में उसका बाध नहीं। संसार की कोई चीज़ तो ऐसी है नहीं। लेकिन संसार का अर्थात् जगत् में देखे का बाध नहीं होता। स्वप्नमें जाग्रत् का बाध नहीं होता कि 'जाग्रत् में ऐसा दीखा था वह झूठ था'। सपने में हमें यह नहीं लगता

कि यह सपना है। 'मैंने ऐसा सपना देखा था' यों स्वप्न की चीज़ का तो जाग्रत् में बाध हो जाता है पर जाग्रत् की चीज़ का स्वप्न में बाध नहीं होता। सुषुप्ति में तो अन्तःकरण है ही नहीं अतः न प्रमा, न भ्रम, न बाध है। जाग्रत् में जिसका बाध नहीं होता, उसका बाध व्यवहार में कभी नहीं होता। अतः जाग्रत् की चीज़ों को व्यवहार में सत्य कहते हैं। व्यवहार-काल में बाध नहीं होता—यह व्यावहारिक सत्यता है। जिसके त्रैकालिक अत्यन्ताभाव का निश्चय हो जाये वह मिथ्या है। जिसका बाध नहीं हो सकता वह पारमार्थिक सत्य है। इस प्रकार व्यावहारिक सत्य से हमें पारमार्थिक सत्य समझने का रास्ता मिल जाता है। ऐसे ही व्यवहार का जो विषयानन्द है उसको समझने से हमें ब्रह्मानंद-प्राप्ति का मार्ग मिलता है इसलिये उसे द्वारभूत कहा। अभी विषयसुख ब्रह्मानन्द का अंश है ऐसा प्रतीत नहीं होता। जैसे साधारण दृष्टि से गहनों में सोना प्रतीत होता है, विचार-दृष्टि से सोने में गहना निर्धारित होता है वैसे अभी नाम-रूपों में सत्ता, सुख दीखते हैं, विचार से ही समझ आएगा कि सच्चिदानन्द में नाम-रूपात्मक जगत् है। जैसे रस्सी की लम्बाई साँप में दीखती है ऐसे ब्रह्म का आनन्द विषयों में दीखता है। इस तरह समझने से विषयानन्द ब्रह्मानन्द-प्राप्ति का साधन हो जाता है। सृष्टि से पूर्व एक सत् ही था, उसी में सारा संसार बना है। वह सत् ही आनन्द है अतः आनन्द में ही विषय हैं। विषय-सम्बद्ध आनन्द को ही ब्रह्मानन्द का अंश कहा है। लौकिक सुख विषयों का नहीं, है परमेश्वर का ही। जब विषयानन्द को ब्रह्मानन्द के अन्दर ही कल्पितरूप से देखते हैं, तब वह दरवाज़ा हो जाता है ब्रह्मानन्द में प्रवेश का। श्रुति ने इसीलिये उसको अंश कहा है। विषय से वैराग्य करना है, विषय में जो प्रतिफलित आनन्द है, उससे वैराग्य नहीं करना है!।। १।।

विषयसुखों को ब्रह्मानन्द का अंश बताने वाली श्रुति सूचित करते हैं—

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते।। २।।

जो अखण्ड एकरसरूप है। वह इस (जीव) का परम आनन्द है, इस आनन्द के ही अंश का उपभोग अन्य भूत करते हैं।

'अखण्ड'—जिसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये खण्ड नहीं हैं। लौकिक ज्ञान में एक जानने वाला (प्रमाता), एक जिस साधन से जानता है, प्रमाण और एक जिसको जानता है प्रमेय, ये तीन होते हैं। सारे ज्ञान इस त्रिपुटी वाले होते हैं, तीन खण्डों वाले होते हैं। परन्तु परमात्मरूप ज्ञान अखण्ड है। मैं जानने वाला, अपने को जानता हूँ कि मैं ही ब्रह्मरूप हूँ। इस समय अज्ञान के कारण अपने को व्यापक नहीं जानता हूँ। यह तत्त्व स्वयंप्रकाश है इसलिये इसको किसी दूसरे जानने वाले की अपेक्षा नहीं है। अखण्ड है, एकरसात्मक है। रस अर्थात् आनंद। आनंद ज्ञानरूप है। कोई विषय हो जिससे आनंद होता हो, ऐसा ब्रह्मानन्द नहीं है। वह आनंदघन है। अभी जो हमारे आनंद हैं उनमें दुःख का अनुवेध रहता

है। जब तक आनंद नहीं हुआ तब तक दुःख है और आनंद-समाप्ति पर भी दुःख है। ब्रह्मानन्द नित्य है अतः पहले या बाद में भी दुःख नहीं है। साधन से केवल अज्ञान नष्ट होता है। जब ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है तब ऐसा नहीं लगता कि कोई नई चीज़ मिली वरन् लगता है कि 'यह तो हमेशा ही मेरा रूप था, अज्ञान के कारण पता नहीं था'। अज्ञान की निवृत्ति क्षणमात्र में हो जाती है। शुकदेव ने राजा परीक्षित को सात दिन में ज्ञान कराया। तैयारी में बाकी समय जाता है, अज्ञान तो क्षणमात्र में हटता है।

इस श्लोक में बृहदारण्यक (४.३.३२) का संग्रह हैः 'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। जीव की वास्तविकता यह परम आनन्द ही है। यह आनन्द ब्रह्मरूप है। इसे 'ब्रह्म का' कहते हैं पर ब्रह्म से इसके किसी सम्बन्ध को बताने के लिये नहीं वरन् जैसे मिश्री में मिठास कही जाती है पर मिश्री और मिठास दो अलग परस्पर सम्बद्ध वस्तुएँ नहीं हैं वैसे कहते हैं। ब्रह्मा से चींटी तक को मिलने वाले सारे आनन्द इसी आनन्द के अंश हैं।। २।।

व्यवहार की तीव्रता हो तो अन्तःकरण प्रधान हो जाता है। अंतःकरण में चार प्रकार के व्यवहार हैं। एक 'चित्त' व्यवहार है। चित्त में सारे संस्कार बैठे हैं। उनमें से जो-जो प्रारब्ध-भोग के उपयोगी होते हैं, वे उचित काल में जगा करते हैं। उनके जगने पर मन प्रवृत्ति या निवृत्ति करना चाहता है। लौकिक व्यक्ति मन की प्रवृत्ति या निवृत्ति के अनुकूल आचरण करता है। उस समय उसमें और पशु में कोई भेद नहीं है। सुख वाली चीज़ की तरफ जाना, दुःख वाली से दूर हटना— यह मन की प्रवृत्ति। सुख की प्राप्ति, दुःख की निवृत्ति हो—ये दो ही इच्छायें होती हैं। मनुष्य में बुद्धितत्त्व प्रधान है। बुद्धि निर्णय करती है कि यह सुख आगे दुःख का जनक होगा, या यह दुःख आगे सुख का जनक होगा। मन और बुद्धि के निर्णय में यही भेद है। व्यक्ति दुःख को भी सहन करता है भविष्य के सुख के लिये। इसी तरह सद्यः सुख को छोड़ता है भविष्य के दुःख से बचने के लिये। यह निर्णय बुद्धि से ही होगा। चित्त संस्कारों को सामने लाता है। कुछ संस्कार लौकिक हैं, दूसरे शास्त्र के हैं। प्रथम में मन प्रधान है दूसरे में बुद्धि प्रधान है। इनको प्रवृत्त करने वाली है अहंकारात्मिका वृत्ति। अन्तःकरण में चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार—ये चार वृत्तियाँ हैं। इनके द्वारा आत्मा का चैतन्यरूप प्रकट होता है। जहाँ-जहाँ अन्तःकरण है वहाँ चेतन, ज्ञान, ब्रह्म का चिद्रूप प्रकट होगा। जहाँ अन्तःकरण नहीं है वहाँ ब्रह्म का केवल है-अंश प्रकट होगा। अन्तःकरण ही ब्रह्म के ज्ञानरूप को ग्रहण कर सकता है। वही उपाधि है जहाँ ज्ञान होने से दुःख का और सुख का अनुभव है। दुःख के अनुभव में बंधन की प्रतीति है। दुःख के लिये कोई प्रार्थना नहीं करता है, आता है तो भोगना पड़ता है। सुख में बंधन का अनुभव नहीं होता। इसलिये हमारी प्रवृत्ति में हमेशा सुख सामने रहता है, चाहे इहलौकिक हो या पारलौकिक हो। सुख में स्वतंत्रता का अनुभव है। दुःख के समान सुख भी जबरदस्ती भोगना ही पड़ता है यह विचार से समझ आता है। सुख की इच्छा सदैव है। दुःख-सुख तो होंगे ही, उन का प्रकार

बदल जायेगा लेकिन होंगे अवश्य। दुःख का अभाव कैसे हो? यह जिज्ञासा हो तब परमार्थ की तरफ व्यक्ति जाता है। अन्तःकरण ही उपाधि है जिसमें बन्धन का अनुभव और मोक्ष का अनुभव होगा क्योंकि वहीं दुःख और सुख का अनुभव होता है अतः अन्तःकरण की वृत्तियों का विचार करते हैं—

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यम् इत्याद्याः शान्तवृत्तयः।। ३।।

मन की वृत्तियाँ तीन तरह की हैं—शान्त, घोर और मूढ। वैराग्य, क्षमा, उदारता इत्यादि शान्त वृत्तियाँ हैं।

मन या अन्तःकरण की तीन प्रकार की वृत्तियाँ हैं—शान्त, घोर और मूढ। शान्त वृत्तियाँ कैसी हैं? 'वैराग्यम्' जब किसी चीज़ से रागनिवृत्ति का अनुभव होता है, तब शान्त वृत्ति बनती है। प्रायः वैराग्य थोड़ी देर के लिये होता है तो भी राग की निवृत्ति से आनन्द भी है। क्षान्ति मायने क्षमा। किसी ने हमारा अपराध किया तो पहले उसके प्रति क्रोध की वृत्ति बनती है। यदि क्षमा की वृत्ति आ जाये तो शान्ति हो जाती है। अपराधी के प्रति क्षमा की वृत्ति बनने पर शान्ति मिलती है। इसी प्रकार यदि किसी की आवश्यकता को तुम दूर करते हो, उदारता करो तो शान्त वृत्ति बनेगी। अन्यथा इसके अभाव में भयादि की वृत्ति बन सकती है। अतः वैराग्य, क्षमा , उदारता आदि शान्त वृत्तियाँ हैं। जब अन्तःकरण में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तब ये वृत्तियाँ बनती हैं।। ३।।

घोर व मूढ वृत्तियाँ उदाहृत करते हैं—

तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः।। ४।।

तृष्णा (कामना), स्नेह (प्रेम), राग, लोभ आदि वृत्तियाँ घोर हैं। सम्मोह, भय इत्यादि मूढ वृत्तियाँ कही गयी हैं।

जब अन्तःकरण में रजोगुण प्रधान होता है तब घोर वृत्ति बनती है। तृष्णा अर्थात् अधिक की इच्छा। विषयों से कभी कामना शान्त नहीं होती। विषय मिलने पर तृष्णा बढ़ती है, शान्त नहीं होती। कामना में तो 'हमें यह चीज़ चाहिये' इतना ही होने से वह मिल जाये तो शान्ति हो जाती है। तृष्णा में 'इतना तो मिल गया, और मिल जाये तो अच्छा है' यों भूख बढ़ती जाती है। इसलिये तृष्णा की कभी पूर्ति नहीं हो सकती है, वह बढ़ती रहती है। यह रजोगुणी, घोरवृत्ति है। भगवान् ने गीता में इसको अनल कहा। मन में तृष्णा की अनल अर्थात् आग है। स्नेह, तेल को भी कहते हैं। मन का जो प्रेम उसे भी स्नेह कहते हैं। यह अन्तःकरण को 'चिपचिपा' बनाता है जैसे तेल चीज़ों को चिपचिपा बनाता है। स्नेह से विषयों के प्रति राग होता है जिससे जो विषय मिले वह 'चिपकता' जाता है। ऐसा राग के कारण होता है। इसे विषयों के प्रति आसक्ति समझ सकते हैं। राग अर्थात् 'रंग चढ़ जाना'

जिस को कहते हैं। विषयों का रंग अर्थात् विषय नहीं है तब भी उनका स्मरण होना। लोभ—'जो चीज़ हमारे पास आ गई वह हमारे पास ही रहे' यह भावना। चीज़ का आने-जाने का स्वभाव है। तुम्हारे पास भी तो कहीं से आयी है! 'मेरे पास ही रहे' यह इच्छा लोभ है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि सत्कार्य में चीज़ का उपयोग न करना लोभ है। असत् कार्य में खर्च करना निर्लोभता नहीं है। इस प्रकार की वृत्तियाँ घोर कहलाती हैं।

तीसरी हैं मूढ वृत्तियाँ। सम्मोह अर्थात् किसी चीज़ के बारे में उचित निश्चय करने में असमर्थ होना अर्थात् दूसरा तुम्हें समझावे तब भी न समझो। इस वृत्ति में आवरण की प्रधानता रहती है। घोर वृत्तियों में विक्षेप की प्रधानता है। शान्त वृत्तियों में भी विक्षेप की प्रधानता है। 'सम्मोह' रहते 'वास्तविकता क्या है' यह समझ में नहीं आता। भय अर्थात् डर। 'शेर खाने आ रहा है, क्या करूँ'—यह भय नहीं, सम्मोह वृत्ति है। शेर आया नहीं है पर 'आ गया तो क्या होगा?' यह भय है। दोनों में 'समझ में नहीं आता' यह मूढता समान है। इस तरह की वृत्तियों को तमोगुणी मानते हैं। अन्तःकरण इन तीन प्रकार की वृत्तियों से व्यवहार करता है। आवरण-प्रधान होकर मूढ वृत्तियाँ, विक्षेपप्रधान होकर घोर वृत्तियाँ और आत्मा की प्रधानता से शान्त वृत्तियाँ होती हैं ।। ४।।

ये वृत्तियाँ चित् का ही आभास ग्रहण कर व्यवहारसाधक बनती हैं यह बताते हैं—

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता।
प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति।। ५।।

इन सभी वृत्तियों में ब्रह्म के चेतन स्वभाव का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं शान्त वृत्तियों में सुख का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है।

इन सभी वृत्तियों में ज्ञान होता है। अन्तःकरण काँच की तरह अर्थात् आभास-ग्राहक है इसलिये उसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इन तीनों वृत्तियों में ब्रह्म का ज्ञानस्वभाव प्रतिबिम्बित होता है। घोर और मूढ वृत्तियों में ज्ञान का प्रतिबिम्ब तो है, सुख का नहीं है। शान्त वृत्तियों में सुख का प्रतिबिम्ब भी है। अन्तःकरण में सत् चित् का अनुभव है, उसकी शान्त वृत्तियों में सुख का अनुभव भी है।। ५।।

श्रुतिवचन से यह विषय स्पष्ट करते हैं—

रूपं रूपं बभूवाऽसौ प्रतिरूप इति श्रुतिः।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत्।। ६।।

श्रुति ने कहा है कि हर रूप के अनुरूप आत्मा बनता है। सूत्रकार ने बताया है कि सूर्यक आदि उपमा से (आत्मा के अंश समझे जा सकते हैं)।

जो अखण्ड एकरस ब्रह्म है, इसमें अन्तःकरण की जो-जो वृत्ति आती है उस ही वृत्ति में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। रजोगुणी, तमोगुणी, सत्त्वगुणी जैसी भी वृत्ति बने , सब में प्रतिबिम्बित वही होता है। ब्रह्मसूत्र में भगवान् बादरायण ने भी कहा है 'अतएव चोपमा

सूर्यकादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३.२.१८) जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक तरह के काँचों मे पड़ता है ऐसे ही जैसी अन्तःकरण की वृत्ति बनती है, वैसा ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जो चीज़ एक है वह उपाधि के कारण अनेक प्रतीत होती है। इस बात को 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृ.२.५.१९) 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठ. २.२.९) आदि वेदवचन बताते हैं।। ६।।

एक की बहुत तरह से प्रतीति भी उपनिषत् से समर्थित करते हैं–

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।। ७।।

हर भूत (प्राणी) में विशेषतः अवस्थित वास्तविक आत्मा एक ही है। वह एक प्रकार का एवं बहुत प्रकारों का वैसे ही दीखता है जैसे जल में चाँद। (यह ब्रह्मबिन्दु उपनिषत् का श्लोक १२ है।)

निर्मल, साफ़ जल में चंद्रमा बिलकुल जैसा है वैसा ही लगता है। गन्दे पानी में वही चन्द्रमा साफ़ नहीं दीखता, गन्दा दीखता है। पर दीख कौन रहा है? चन्द्रमा। लहरों वाले पानी में चन्द्रमा हिलता दीखता है। अत्यन्त गन्दे पानी में चन्द्रमा का पता ही नहीं लगता। एक प्रकार का और अनेक प्रकार का चन्द्र दीखता रहता है पर है तो वह चंद्र ही। इस विभिन्नता का कारण क्या है? उपाधियाँ। चन्द्रमा में फ़र्क नहीं है, फ़र्क हैं पानी में, दीखते हैं मानो चन्द्रमा में हों। वस्तुतः वह निर्विकार है। इसी प्रकार आत्मवस्तु एक ही है। राम में भी और रावण में भी परमात्मा वही दीख रहा है। अन्तर उपाधि के अर्थात् अन्तःकरण के कारण है। स्वच्छ जल में जैसा चन्द्रमा है, वैसा ही उसका ज्ञान हो जाता है भले ही थोड़ा अन्तर रहता है। ब्रह्म सर्वव्यापक है। सारे प्राणियों में रहने वाला भूतात्मा, वस्तुरूप चेतन एक ही है। आतंकवादी में भी वही व्यवस्थित है। परमात्मा अन्तःकरण की उपाधि से अलग-अलग दीखता है, अलग हो नहीं जाता। उपाधि-दोषों से परमात्मा या चेतन को सदोष समझना वैसा ही भ्रम है जैसे प्रतिबिम्ब के दोषों से बिम्ब को सदोष समझना। ऐसे ही प्रतिबिम्बों की अनेकता से जैसे बिम्ब में बहुत्व नहीं वैसे चेतन आत्मा में अनेकता नहीं है।। ७।।

किसी उपाधि में आनन्दस्वभाव प्रतिबिम्बित होता है, किसी में नहीं जबकि सत्स्वभाव, चित्स्वभाव प्रतिबिम्बित हो भी रहे हों, ऐसा कैसे? दृष्टान्त से उत्तर देते हैं–

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयम् अस्पष्टः कलुषे जले।
विस्पष्टो निर्मले तद्वद् द्वेधा ब्रह्माऽपि वृत्तिषु।। ८।।

जैसे कलुषित जल में प्रविष्ट हुआ चन्द्र अस्पष्ट भासता है तथा निर्मल जल में सुस्पष्ट दीखता है वैसे ब्रह्म भी वृत्तियों में दो ढंग से मिलता है।

पूर्णिमा का चन्द्रमा चमक रहा है। चन्द्रमा आकाश में है। जिसमें वह प्रतिबिम्बित हो रहा है, यदि वह जल चंचल, या मैला है तो उसमें चंद्रमा साफ नहीं दीखेगा। निर्मल जल में चंद्रमा साफ दीखता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अन्तःकरण की वृत्तियों में दो प्रकार का दीखता है। दोनों प्रकार अगले श्लोकों में बता रहे हैं।।८।।

एक वस्तु के अनेकविध प्रतिबिम्बों में हेतु दिखाते हैं–

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम्।। ९।।

घोर व मूढ वृत्तियों में मलिनतावश सुख-अंश छिपा रहता है, किंचित् निर्मलता के कारण उनमें चेतन अंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

घोर और मूढ वृत्तियाँ, दोनों ही मलिन हैं। घोर वृत्ति में चांचल्य ज़्यादा होगा, और मूढ वृत्ति में जडता ज़्यादा होगी। परन्तु दोनों में ही जैसा बिम्ब है वैसा प्रतिबिम्ब नहीं बन पाता इसलिये दोनों को इकट्ठा कर दिया। दोनों में ही सुख तिरोहित हो जाता है। ब्रह्म-प्रतिबिम्ब तो दोनों में पड़ता है। जैसे निर्मल जल और गन्दे पानी में से एक में चाँद जैसा है वैसा भान होता है, दूसरे में नहीं, इसी तरह आत्मा आनन्द-स्वभाव है, जहाँ आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वहाँ सुखानुभूति होती है, जहाँ आनन्द का प्रतिबिम्ब नहीं है, वहाँ सुखानुभूति नहीं है। पानी गंदा तो है पर ऐसा नहीं कि उसमें प्रतिबिम्ब पड़े ही नहीं। अंतःकरण बना है महाभूतों के सत्त्वांश से, इसलिये उसमें सत्त्वांश सदैव रहेगा अतः उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा। परन्तु जब सत्त्व के संस्कार भी होते हैं तब उसको निर्मल कह देते हैं, वैसे संस्कार नहीं होते हैं तो उसे निर्मल नहीं कहते। ईषत् अर्थात् थोड़ी निर्मलता तो अन्तःकरण में स्वाभाविक है क्योंकि वह बना ही सत्त्वगुण से है। स्वभाव ही उसका बिम्ब को प्रतिबिम्बित करने का है। अतः अन्तःकरण में चेतन के हिस्से का प्रतिबिम्ब तो पड़ जाता है लेकिन मलिनता होने से उसमें आनन्द का स्पष्ट भान नहीं होता।। ९।।

साफ-मैला जल तो विभिन्न होने से प्रतिबिम्ब में भेद संगत है, अंतःकरण एक होने से प्रतिबिम्ब-भेद कैसे? इसके उत्तर में दृष्टान्त से बताते हैं कि ऐसा भी सम्भव ही है–

यद्वापि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्य संक्रमः।
न प्रकाशस्य तद्वत् स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च।। १०।।

अथवा, निर्मल जल में अग्नि की गर्मी तो संक्रान्त हो जाती है, उसका प्रकाश नहीं। इसी तरह कम स्वच्छ चित्त में आत्मा के केवल चित्स्वभाव का संक्रमण होता है।

आत्मा एक-साथ सच्चिदानन्द है तो सत्-स्वभाव का प्रतिबिम्ब भी चिदानन्द-स्वभाव का भी प्रदर्शन क्यों नहीं करता? इसके उत्तर के लिये जल दृष्टांत है जो आग का उष्णस्वभाव ग्रहण करने पर भी रूप-स्वभाव ग्रहण नहीं करता। दर्पण भी द्रव्य का रूप ही ग्रहण करता है, गंधादि नहीं, वैसे भी समझ सकते हैं। घोर व मूढ वृत्तियाँ चित्स्वभाव ग्रहण कर पाती

हैं, आनन्द-स्वभाव नहीं। जैसे उष्णता और प्रकाश दोनों अग्नि से अभिन्न हैं पर जल एक ही ग्रहण करता है वैसे उक्त वृत्तियाँ चैतन्य ही प्रकट करती हैं।। १०।।

शान्त वृत्तियाँ सच्चिदानन्द समूचा प्रतीत करा देती हैं यह बताते हैं–

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा।
शान्तासु सुख-चैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः।। ११।।

लकड़ियों में तो गर्मी व रोशनी दोनों का उद्भव हो जाता है ऐसे ही शान्त वृत्तियों में सुख और ज्ञान दोनों प्रकट होते हैं।

लकड़ी आग में डालते हो तो उसमें गर्मी भी आ जाती है, प्रकाश भी आ जाता है, दोनों प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार शान्त वृत्तियों में आत्मा का सुख और आत्मा का चैतन्य, दोनों ही प्रकट हो जाते हैं।। ११।।

उपाधि-योग्यतावश उक्त नियमन उपपन्न करते हैं–

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम्।। १२।।

वस्तुओं के स्वभाव का सहारा लेकर दृष्टांत-दार्ष्टान्त दोनों में व्यवस्था तो एक-सी है क्योंकि नियामक की कल्पना अनुभूति के अनुसार की जाती है।

पानी और लकड़ी का स्वभाव ही ऐसा है कि पानी एक विशेषता लेता है और लकड़ी दोनों ले लेती है। इसी तरह से घोर और मूढ वृत्तियाँ सुख ग्रहण नहीं करती, शांत वृत्तियाँ कर लेती हैं। घोर व मूढ में सुख क्यों नहीं प्रतिफलित होता? क्योंकि उनका ऐसा स्वभाव है। स्वभाव में नियामक क्या है? जो अनुभव में आता है वही नियामक बन जाता है। जैसा अनुभव होवे, उसी से स्वभाव की कल्पना हो जाती है। घोर और मूढ वृत्तियों में सुख का अनुभव नहीं होता जबकि शान्त में हो जाता है। अनुभूति के अनुसार ही सर्वत्र स्वभाव मान लेना पड़ता है।। १२।।

अनुभव-भेद का ही प्रदर्शन करते हैं–

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते।
शान्तास्वपि क्वचित् कश्चित् सुखातिशय ईक्ष्यताम्।। १३।।

घोर एवं मूढ वृत्तियों में सुख का अनुभव होता नहीं, शान्त वृत्तियों में भी कभी कहीं सुख अधिक देखा जाये (यह संभव है)।

घोर और मूढ वृत्तियों में सुख का अनुभव नहीं देखा जाता। इन दोनों में दुःखाभाव तो कभी देखा जायेगा, और दुःख देखा ही जायेगा। जिससे जिस चीज़ का अनुभव होता है उसी से उसके अभाव का अनुभव होता है। जैसे आँख से घड़ा दीखता है तो घड़ा नहीं है यह

भी आँख से ही दीखेगा। अन्धा व्यक्ति दोनों (है या नहीं है) नहीं देख पाता। शान्त वृत्ति सुख का अनुभव करती है, अतः सुख का अभाव भी इसी वृत्ति से पता चलता है। 'मुझे ऐसी-ऐसी चीज़ें नहीं भोगनी पड़ीं' यों दुःख के अभाव का भी अनुभव होता है। शान्त वृत्ति में ही सुख की स्मृति भी होती है। घोर और मूढ वृत्तियों में तो सुखानुभव देखा नहीं जाता, शान्त वृत्तियाँ भी सब एक-जैसी नहीं होतीं। हमें जिन दस चीज़ों से वैराग्य है, वे हमारे सुख का कारण हैं। जिसे वैराग्य नहीं है, उसे वह सुख का अनुभव नहीं होगा जो वैराग्यवान् को है। जिनमें आनन्द का प्रकाश है उन शान्त वृत्तियों में भी कहीं सुख ज्यादा, कहीं कम देखा जाता है। सुख के अतिशय में अन्तर लगता है अतः प्रतिबिम्बग्राहक उपाधि का वैशिष्ट्य स्वीकारना अनिवार्य है।। १३।।

अशान्त वृत्तियाँ सुखद नहीं यह बताते हैं—

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात् तत्र नो सुखम्।। १४।।

घर, खेत आदि के विषय में जब कामना होती है तब वह कामना राजस अतः घोर होने से उसमें सुख नहीं होता।

घर, खेत, पुत्र आदि उसी के विषय में कामना होती है जो अप्राप्त है। परमात्मा ने कामना की 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' क्योंकि पहले एक था। हमारे पास बहुलता पहले ही है अतः हमारी कामना होती है 'मैं एक हो जाऊँ'। अप्राप्त विषय के लिये रजोगुण से होने वाली कामना है इसलिये वह घोर वृत्ति है जिससे वहाँ सुख नहीं है। अप्राप्त विषय की कामना में सुख नहीं है।। १४।।

कैसे सुख नहीं है? यही स्पष्ट करते हैं—

सिद्ध्येन्न वेत्यस्ति दुःखम् असिद्धौ तद् विवर्धते।
प्रतिबन्धे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः।। १५।।

'कामना पूरी होगी या नहीं' इस संदेह का दुःख रहता है। पूरी न हो तो दुःख बढ़ता है। पूरी होने में रुकावट आये तो क्रोध होता है, अपूर्ति के दुःख से (एवं अपूर्ति के हेतु से) द्वेष भी होता है।

कामना-पूर्ति होने तक जो संदेह रहता है उससे निरन्तर सशंक रहता व्यक्ति दुःखी होता है। 'होगा' यह संभावना उसे सुख नहीं दे पाती क्योंकि 'नहीं होगा' यह संभावना विचलित किये रहती है। जब मिल जायेगा, कामना शान्त हो जायेगी तब भले ही क्षणिक सुख होगा पर कामना रहते नहीं। यदि चीज़ नहीं प्राप्त हुई, तब दुःख बढ़ ही जाता है। वस्तु मिलने में जो रुकावट आये या डाले उस के प्रति क्रोध आता है। यदि रुकावट हटाने का उपाय नहीं कर पायें तो द्वेष होता है। रुकावट डालने वाले को दण्ड दे सके तो क्रोध, नहीं दे सके तो उससे द्वेष होता है। क्रोध और द्वेष, दोनों के अन्दर सुख का अनुभव हो नहीं सकता

क्योंकि ये अनुकूल नहीं हैं, प्रतिकूल हैं। क्रोधी भी नहीं चाहता 'मैं, सदैव क्रोध करता रहूँ'। कोई भी स्वभाव से क्रोधी नहीं है। ऐसी वृत्तियाँ दुःखरूप हैं।। १५।।

राजस की तरह तामस वृत्ति भी दुःख देती है यह बताते हैं–

अशक्यश्चेत् प्रतीकारो विषादः स्यात् स तामसः।
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशङ्काऽपि दूरतः।। १६।।

रुकावट हटा सकना सम्भव ही न हो तो विषाद होता है। वह तामस वृत्ति है। क्रोध आदि में अत्यधिक दुःख होता है, उनमें सुख की संभावना दूर से निरस्त है।

प्रतीकार यदि असंभव है तो द्वेष करने पर भी कुछ नहीं कर सकता, अतः विषाद होता है। यह तामस वृत्ति हो गई जो दुःखप्रद है ही। इस प्रकार क्रोध द्वेष विषाद आदि ये सब दुःख ही हैं, इनमें तो सुख की शंका भी नही है।। १६।।

वैराग्य क्षमा उदारता आदि आत्मानुभव में सहायक होने से विवेकी को अनुकूल प्रतीत होते हैं अतः उसे सुख होता है। तृष्णा, स्नेह आदि आत्मा के अपरोक्ष में सहायक नहीं बाधक ही होते हैं अतः उसे प्रतिकूल लगने से उसे उनसे दुःख होता है। सांसारिक लोगों को घोर-मूढ वृत्तियों में भले ही सुखानुभव हो, मुमुक्षु को होना संभव नहीं। संसारियों को प्रतीत होता भी सुख आपाततः ही है, विवेकी को वास्तविक सुख का प्रतिबिम्ब मिलता है क्योंकि वे वृत्तियाँ सात्त्विक हैं। सुख का तारतम्य दिखाते हैं–

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत् सुखम्।
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि।। १७।।

जिसकी कामना है वह मिले तो हर्षनामक वृत्ति बनती है जो शान्त है अतः वहाँ महान् सुख है। काम्य वस्तु के भोग में महत्तर सुख है। काम्य वस्तु मिलना प्रारंभ हो तो थोड़ा ही सुख होता है।

'हर्ष' से यहाँ 'मोद' समझना चाहिये। तैत्तिरीय में प्रिय के बाद होने वाला मोद यहाँ हर्ष है। दर्पहेतु हर्ष अलग है, यहाँ उसका ग्रहण नहीं। जब मोद हुआ तब जो वृत्ति को, कामना को धक्का दे रही थी, वह समाप्त हो जाने से वृत्ति अन्तर्मुखी हो गई, अतः शान्त होती है। जब मोद होता है तब बड़ा सुख होता है जिस सुख का कारण वृत्ति का बाहर जाना रुकना है। जब भोग हुआ तब प्रमोद हो गया, मोद से ज्यादा सुख हो गया। अभी चीज़ मिली नहीं, पर लाभ होने की सम्भावना हो गई, तो उससे भी थोड़ा सुख होता है जिसे 'प्रिय' समझना चाहिये। मिलने पर महत् सुख होता है, जब उस चीज़ का भोग करेंगे तो महत्तर होगा। तैत्तिरीय में समझाये ढंग से इन सब सुखों का स्वरूप है आनन्द आत्मा। इस प्रकार आनन्दमय कोष का जो वृत्तिरूप है, उसे इंगित किया।। १७।।

सर्वाधिक सुख बताते हैं–

महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम्।।
एवं क्षान्तौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात्।। १८।।

विरक्ति में सबसे महान् सुख है जिसे विद्यानन्द प्रकरण में (श्लो. २६ आदि) बता चुके हैं। इसी तरह क्षमा और उदारता में क्रोध और लोभ का निवारण होने से महत्तम सुख है।

वैराग्य का जो अनुभव है, उसमें महत्तम, सबसे ज्यादा सुख का अनुभव होता है। इसको पिछले प्रकरण में बतलाया है। जो वैराग्य वाला है उसको सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति प्रयत्न, लाभादि के बगैर ही है। जिसको ब्रह्मलोक की भी इच्छा नहीं है, उसे महत्तम आनंद है। यदि काम्य-लाभ नहीं हुआ तो क्रोध और द्वेष होता है पर यदि वैराग्यवश क्षमा की वृत्ति बन गई तो दुःख का कारण जो क्रोध, उसका निवारण हो गया अतः सुख हो गया। उदारता की वृत्ति आ जाये तो लोभ हट जाने से सुख रहता है। वैराग्य, शांति और उदारता में कामना नहीं रह जाने से दुःख हट जाते हैं। ये शान्त वृत्तियाँ हैं जो काम-क्रोध-लोभ को हटा देती हैं। पदार्थ की प्राप्ति से सुख नहीं है, उनकी तरफ जाने वाली वृत्ति की निवृत्ति से, अन्तर्मुखता से सुख है।। १८।।

सुख ब्रह्मरूप ही है यह दृढ करते हैं–

यद्यत् सुखं भवेत् तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात्।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम्।। १९।।

जो-जो सुख होता है वह प्रतिबिम्बन से उपलब्ध ब्रह्म ही है। अन्तर्मुख वृत्तियों में इसका प्रतिबिम्ब निर्विघ्न पड़ता है।

'जो-जो' अर्थात् चाहे विषय से हो, चाहे शांत वृत्ति से हो, सर्वत्र सुख है परमात्मरूप, उसीका प्रतिबिम्ब जीव को 'सुख' प्रतीत होगा। विषयों का सुख में विनियोग होता तो वैराग्यादि में सुख न होता, अतः वे अन्यथासिद्ध ही हैं। चित्तवृत्ति का अन्तर्मुख होना आवश्यक है, उसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़े तभी सुख है। विषयकामना पूरी होने पर भी होती वृत्ति ही अन्तर्मुख है जिसमें पड़ा ब्रह्म-प्रतिबिम्ब विषयसुख समझा जाता है। बाह्य वृत्तियाँ अनात्मविषयक होनेसे सुखरूप नहीं, दुःखरूप हो सकती हैं। अंतर्मुख वृत्ति विषय करती है अन्तःस्थित परमेश्वर को अत एव वही सुख हो पाती है। जितना प्रतिबिम्ब निर्विघ्न होगा, जितनी वृत्ति अधिक सात्त्विक होगी, उतना सुख अधिक हो जायेगा। कामना-निवृत्ति से अन्तर्मुख हुई वृत्ति में सर्वथा शान्ति नहीं अतः वैषयिक सुख महत्तम नहीं, वैराग्यादि वृत्तियाँ पूर्ण शान्त हैं अतः उनमें सुख सर्वाधिक है। विषयों के प्रति रागादि रहते मन पूरी तरह शांत होता नहीं। गौडपादाचार्य ने इसे कषाय-स्थिति कहा है जहाँ कामनाकार न होने पर भी उसकी बीजावस्था अवश्य है। विषयों की इच्छारूप कषाय मन में रहते सुख में विघ्न डालता ही है। विघ्न रहते, प्रतिबंधक रहते अन्तर्मुख वृत्ति भी महत्तम सुख नहीं दे पाती। सुख है

केवल ब्रह्मरूप, संसार में तो भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि सुख का लेश भी नहीं है, फिर भी भ्रमवश हम वहाँ सुख समझते हैं। मनोवृत्ति में छायारूप तो है, विषयों में वैसा भी सुख नहीं अतः वह सर्वथा भ्रान्ति है। वृत्ति में सुखबुद्धि सोपाधिक भ्रांति है जैसे दर्पण में मुख दीखना। वहाँ मुख का कुछ तो बोध है, इसी तरह शांत वृत्ति में ब्रह्मरूप सुख का प्रतिबिम्ब तो उपलब्ध है। उससे विवेक-पूर्वक ब्रह्मस्वरूप समझने का यत्न करना चाहिये।। १६।।

सब चीज़ों में ब्रह्मस्वरूप का अनुभव दिखाने के लिये उस स्वरूप को ही याद दिलाते हैं—

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद् द्वयम्।। २०।।

सत्ता, ज्ञान व सुख—ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं। मिट्टी पत्थर आदि में सत्ता ही व्यक्त होती है, बाकी दोनों नहीं।

ब्रह्म के तीन स्वभाव हैं, अपना स्वरूप हैं। लोक का अनुसरण कर कदाचित् स्वभाव को गुणों के रूप में भी कहते हैं। सत्ता, ज्ञान, आनंद ब्रह्म में गुण की तरह नहीं रहते, उसके स्वरूप हुए रहते हैं। अन्यथा ब्रह्म गुणी हो जायेगा जिससे परिच्छिन्नता आदि दोष होंगे। जैसे गर्मी, प्रकाश अग्नि का स्वरूप है न कि गुण, वैसे ब्रह्म के तीन स्वभाव हैंः 'सत्ता' होना, 'चितिः' ज्ञान और सुख। प्रकाश को देखकर या गर्मी लगने से हम जानते हैं कि अग्नि है। वैसे ही कहीं है का अनुभव हो जाये तो हमें पता लग जाना चाहिये कि यहाँ ब्रह्म है। बिना ब्रह्म के 'है' का अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ भी ब्रह्म का निश्चय हो जाना चाहिये क्योंकि उसके बिना ज्ञान का अनुभव नहीं होता। जहाँ सुख का अनुभव हो वहाँ भी ब्रह्म है। जहाँ सुख होगा, वहाँ ज्ञान अवश्य होगा। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ हैपना भी होगा। जहाँ सुख की प्रतीति होगी वहाँ ब्रह्म के तीनों स्वरूपों की प्रतीति होगी। जहाँ ज्ञान हो वहाँ दो चीज़ों की अनुभूति होगी। जहाँ है का अनुभव होगा वहाँ एक की प्रतीति होगी। मिट्टी पत्थर जड चीज़ों में सत्ता ही व्यक्त होती है। ज्ञान और आनंद का वहाँ भान नहीं होता। ब्रह्म के सद्रूप का ध्यान रखते हुए चीज़ों में है की प्रतीति जब हो तब है-रूप से ब्रह्म को समझना है। तीव्र प्रारब्ध के समय तत्त्वज्ञ जब जड पदार्थों से व्यवहार करता है तब उनमें 'है-पने' को ब्रह्मरूप से देखता है।। २०।।

चिद्-आनन्द की अभिव्यक्ति के योग्य स्थल मनोवृत्तियाँ बताते हैं—

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः।
शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम्।। २१।।

घोर और मूढ वृत्तियों में सत्ता और ज्ञान दोनों प्रकट हैं, शान्त वृत्ति में तीनों व्यक्त हैं। इस प्रकार प्रपंच से मिला ब्रह्म बताया।

घोर और मूढ वृत्तियाँ अर्थात्, राजस और तामस वृत्तियाँ, जैसे तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ, भय, मोह वृत्तियाँ। उनमें 'है' (सत्ता) की एवं ज्ञान की प्रतीति है। ये बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, बुद्धि में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सत् और चेतन रूप से पड़ेगा। उनमें सुख-अनुभव नहीं होता है। सत् और चिद्रूप से ब्रह्म को वे अभिव्यक्त करती हैं। उस रूप से ब्रह्म उनमें मौजूद है। सत् का अनुवेध तो सब में मिलेगा। जहाँ बुद्धिवृत्ति होगी वहाँ चित् का भी अनुवेध होगा। वैराग्य, उदारता, क्षमा आदि शान्त वृत्तियों में आनंदरूप भी व्यक्त हो जाता है। जड पदार्थ और बुद्धिवृत्तियाँ—इन्हीं से सारे व्यवहार होते हैं। इनसे जुड़ा जो ब्रह्म का स्वरूप है वह उपाधि के सहित है। इसलिये इसको मिश्र ब्रह्म कहते हैं। वह नाम-रूप की उपाधि के साथ मिला हुआ है। समाधिकाल में तो नाम-रूप का बाध कर अधिष्ठानरूप से ब्रह्म को देखोगे। व्यवहार काल में सब कुछ की ब्रह्मरूपता को सत् आदि के अनुवेध से देखोगे। इस प्रकार, सगुण ब्रह्म का निरूपण हुआ।। २१।।

सप्रपंच ब्रह्म बता चुके, निष्प्रपंच के बारे में कहते हैं—

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः।। २२।।

अभिन्न (निष्प्रपंच) ब्रह्म ज्ञान एवं योग से पता चलता है। वे दोनों पहले बता चुके। (ब्रह्मानन्द-पंचक के) पहले अध्याय में योग का विचार किया, फिर दो अध्यायों में ज्ञान बताया।

शुद्ध ब्रह्म का चिन्तन कैसे होता है? नाम-रूप से बिना मिले ब्रह्म का चिन्तन तो ज्ञान के द्वारा या योग के द्वारा होगा। उन दोनों को पहले बताया गया है। योगानन्द प्रकरण में योग का उपाय तथा आत्मानन्द एवम् अद्वैतानन्द प्रकरणों में ज्ञानका वर्णन किया। अमिश्र ब्रह्म का चिन्तन इन तीन में बतला दिया, मिश्र ब्रह्म का चिन्तन इस प्रकरण में व्यवहार-काल में अभ्यासार्थ बतला रहे हैं।। २२।।

विषयानन्द भी ब्रह्मानन्द ही है तो माया का क्या औचित्य? इसका उत्तर देते हैं—

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम्।
असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु।। २३।।

असद्रूपता, जडता और दुःख—ये तीनों माया के रूप हैं। मनुष्य के सींग आदि में असद्रूपता एवं लकड़ी-पत्थर आदि में जडता उपलब्ध है।

यदि सब कुछ, विषय भी ब्रह्मरूप है तो माया को आप मानते ही क्यों हैं? कुछ लोग, जिन्हें 'अविकृत परिणामवादी' कहते हैं, मानते हैं कि सब कुछ जैसा है वैसा ब्रह्मरूप ही है अतः माया को मानने की ज़रूरत नहीं है। सगुण में माया की ज़रूरत क्यों? माया इसलिये माननी पड़ती है कि सद्रूप तो ब्रह्म है, लेकिन 'नहीं है' तो ब्रह्म का रूप नहीं है! यह कहाँ से आया? ऐसे ही ज्ञान ब्रह्मरूप है लेकिन जडता (ज्ञान का अभाव) कहाँ से आई? इसी तरह

सुख ब्रह्म का रूप है पर दुःख कहाँ से आया? असत्, जड, दुःख कहाँ से आये? ये सारे मायाके रूप हैं, माया (अज्ञान) के कारण संसार में मिलते हैं। मिश्र ब्रह्म इसलिये कहा कि व्यवहार-काल में नहीं है का भी अनुभव होता है, जडता का भी अनुभव होता है जो ब्रह्मरूप नहीं हैं। इसके लिये माया स्वीकारना अनिवार्य है।। २३।।

असत् और जड की उपलब्धि के स्थल बता चुके, दुःख की उपलब्धि का स्थल कहते हैं—

घोरमूढधियोर्दुःखम् एवं माया विजृम्भिता।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्याद् मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम्।। २४।।

घोर व मूढ वृत्तियों में दुःख मिलता है। इस प्रकार माया फैली हुई है। शान्त आदि बुद्धिवृत्तियों से एकता के कारण ब्रह्म 'मिश्र' ऐसा कहा गया है।

बुद्धि की अशान्त वृत्तियों में ही दुःख होता है जो ब्रह्मरूप होना असंभव है अतः वह मायारूप ही है। राजस-तामस मनोवृत्तियाँ दुःखरूप ही हैं। इनकी दुःखरूपता विवेकी को समझ आती है, अविवेकी तो घोर व मूढ वृत्तियों में भी सुख मानता है! घोर-मूढ दशा में बुद्धि माया की पक्षपाती है, शान्त दशा में आत्मा की पक्षपाती है। बुद्धि से तादात्म्य, अभेद, एकमेकता पाया मिलता है इसलिये ब्रह्म भी मिश्र अर्थात् मिला-जुला कहा जाता है।। २४।।

यों बताने का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं—

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ।
नृशृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद् यथायथम्।। २५।।

उक्त परिस्थिति निर्णीत होने पर अब जो पुरुष ब्रह्म का ध्यान करना चाहे वह नरशृंग आदि की उपेक्षा करे और बाकी के सहारे जैसा योग्य है वैसा ब्रह्मध्यान करे।

'उक्त परिस्थिति' अर्थात् प्रपंच में आत्मा और माया दोनों की उपलब्धि है, ऐसी स्थिति में जो पुरुष ब्रह्म का ध्यान करना चाहता है उसे रास्ता मिल जाता है। जो पुरुषार्थ करने वाला है, वही ब्रह्मध्यान की इच्छा करेगा। ब्रह्म के लिये जो किया जाता है, वही पुरुषार्थ है। माया के लिये जो किया जाता है, वह 'पुरुषार्थ' नहीं है। अतः जो अपुरुषार्थी हैं, वे घोर-मूढ वृत्तियों में ही फँसे रहते हैं, उन्हीं को सुख समझते रहते हैं। माया की तरफ जो जाता है उसे वह क्षणभर को मिलती है, फिर रहती नहीं है। भगवान् ने कहा है कि 'सुख मिलना' वह है जिसमें स्थित हो जाने पर व्यक्ति दुःख में भी अपने सुखरूप से विचलित नहीं होता। जो ऐसा पुरुषार्थ करना चाहता है वह असत् पदार्थों की उपेक्षा करे। मनुष्य के सींग आदि असत् पदार्थ प्रारब्ध से सामने आते तो हैं नहीं, इसलिये विवेकी उन चीज़ों की सर्वथा उपेक्षा करे। जड और दुःखरूप जो सामने आयें उनके सहारे ब्रह्म का ध्यान करे। जड में सद्रूप से एवं घोर और मूढ में ज्ञानरूप से ब्रह्म का ध्यान करे।। २५।।

पूर्व श्लोक में कहा था 'बाकी के सहारे'; 'बाकी' को ही प्रकट करते हैं—

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम्।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम्।। २६।।

पत्थर आदि में नाम-रूप ये दो छोड़कर सन्मात्र का चिंतन करे, घोर और मूढ वृत्तियों में दुःखांश छोड़कर सत्-चित् का अनुभव करे।

पत्थर, लकड़ी आदि में नाम रूप दोनों की तरफ से ध्यान हटावे। पत्थर में से नाम को हटाकर ही विष्णुरूप को देखना है। पत्थर में विष्णुरूपता केवल शास्त्रसिद्ध है, बुद्धि से समझी नहीं जा सकती। पत्थर का सद्रूप शास्त्रसिद्ध भी है, बुद्धिगम्य भी है, क्योंकि है-रूप से उसका अनुभव होता है। उस है की तरफ ही मन को ले जाना 'है' का चिन्तन करना है। यह धीरे-धीरे अभ्यास से होता है। यद्यपि प्रतीतियाँ नाम-रूप की एवं है की, दोनों की हुई, इनमें नाम-रूप की बजाये 'है' पर दृष्टि स्थिर करना ध्यान है।

घोर और मूढ बुद्धिवृत्तियों में दुःख की प्रतीति है। इनमें दुःख की तरफ दृष्टि न ले जाओ, वहाँ जो ज्ञान हो रहा है उसकी तरफ ले जाओ। ज्ञान भी है तो सही। दुःख में 'है' और ज्ञान दो रूपों में ब्रह्म है। सद्-ज्ञानरूप दुःख में से दुःख को हटाकर केवल ज्ञान को ध्यान में रखो। 'मैं दुःखी हूँ' यह बुद्धि बनती है मैं से एकमेक होने के कारण। अतः यह हटाना ज़्यादा कठिन है। 'मैं हूँ, मैं ज्ञानरूप हूँ' इस निश्चय के सहारे दुःख से बुद्धि हटाकर, सत्-चित् का चिंतन करना है। इसमें ज़्यादा अभ्यास चाहिये।। २६।।

सात्त्विक वृत्तियों में ब्रह्मध्यान बताते हैं—

शान्तासु सच्चिदानन्दांस्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत्।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः।। २७।।

शान्त वृत्तियों में सच्चिदानन्द तीनों का इस तरह चिन्तन करे। ये विचार (ध्यान) क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट हैं।

शान्त वृत्तियाँ—वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि, इनमें सत्-चित्-आनंद तीनों की प्रतीति होती है। विवेकी को वैराग्य आदि में आनंद की प्रतीति होती है। उसे ही स्वाभाविक सुख भी होता है। शांतिवृत्ति भी सच्चिदानन्द है नहीं क्योंकि बुद्धिवृत्ति है, परन्तु उसमें सच्चिदानन्द का ध्यान करना है। केवल सद्रूप से ध्यान कनिष्ठ है। सत् और चिद् रूपों का ध्यान मध्यम है। शांत वृत्ति में सच्चिदानन्द तीनों का ध्यान उत्कृष्ट है। ये वृत्तियाँ प्रारब्ध-भोग के अनुसार उपस्थित होंगी। इसलिये जब जो भोग उपस्थित हो उस बाह्य या आन्तर भोग्य वस्तु से मन को हटाकर सत्, चित्, आनंद में ले जाना है।। २७।।

मिश्र ब्रह्म के ध्यान का अधिकारी सूचित करते हैं—

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम्।
उत्कृष्टं वक्तुमेवाऽत्र विषयानन्द ईरितः।। २८।।

मन्दाधिकारी व्यवहार में भी मिश्र ब्रह्म के बारे में चिन्तन करे। यहाँ विषयानन्द कहा इसलिए है कि उत्कृष्ट ध्यान बताया जा सके।

जिसकी बुद्धि समर्थ है, वह तो नाम-रूप का बाध कर लेता है अतः अधिष्ठानरूप से ब्रह्म का ध्यान करता है। जो मन्दबुद्धि है, वह बाध नहीं कर पाता। नाम-रूप में सच्चिदानन्द की प्रतीति उसे नहीं है। जो जानता है कि अधिष्ठान जो सच्चिदानन्द है वही संसार में प्रतीत हो रहा है इसलिये उसको बाध होता है। जो वैसा समझ नहीं पाता वह बाध भी नहीं कर सकता।

कागज पर बने चित्र की अपेक्षा कागज को देखना अर्थात् अधिष्ठान को देखना उत्तम बुद्धि है। काग़ज पर चित्र को देखने वाला मंदबुद्धि है। उत्तम बुद्धि वाले के लिये नाम-रूप नहीं हैं। मंदबुद्धि वाला यह नहीं स्वीकार पाता है। उसे जिस समय विषय-प्रतीति नहीं है, उस समय विद्यानन्द का अनुभव करे। जिस समय विषय-प्रतीति है, उस समय अर्थात् विषय-व्यवहार करते समय वह इस प्रकार से ध्यान करे क्योंकि वह मिश्र ब्रह्म पर ही चिंतन कर सकता है। मिश्र अर्थात् माया से मिला हुआ। लेकिन मिले हुए में भी वह ब्रह्म का ध्यान करता है। इसी को सगुण ब्रह्म कहते हैं। विषयानन्द का यह अध्याय मंदसाधक के लिये है। अन्यथा वह व्यवहार में स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता, और विषयों को सच्चा मान लेगा, दुःख को सच्चा मान लेगा। समाधि करेगा तब निष्प्रपंच भी मान लेगा। यों दोनों ज्ञान उसको रह जायेंगे, अद्वैत ज्ञान की निष्ठा नहीं बन पायेगी। उसे लगेगा कि व्यवहार में सद्वितीय है, परमार्थ में अद्वितीय है, अतः उसे व्यवहार-काल में भी सच्चिदानन्द का ध्यान करना ही चाहिये।। २८।।

उत्कृष्ट का अब उल्लेख करते हैं—

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्याद् उत्तमोत्तमम्।
चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम्।। २९।।

उदासीन स्थिति में बुद्धि-वृत्ति शिथिल होने से सर्वोत्तम चिन्तन वासनानन्द में होता है। यों चार तरह का ध्यान बताया।

जिस समय बुद्धि-वृत्ति उदासीन अवस्था में है; अनुकूल या प्रतिकूल अनुभव नहीं है, तब जो चिन्तन वह सर्वोत्तम है। व्यवहार करते समय तीनों वृत्तियाँ होती हैं, कभी सुख, कभी दुःख या कभी उदासीनता। सुखभोग के पश्चात् भी उदासीन वृत्ति आती है। उस समय बुद्धिवृत्ति शिथिल हो जाती है। तब उत्तमोत्तम चिंतन होता है। वहाँ नामरूप का भान नहीं-जैसा ही रहता है। उस समय वासनानन्द कहा जाता है। योगानन्द प्रकरण श्लोक ८५ आदि में इसे बता ही चुके हैं। यह जो उदासीन भाव है, इसमें सुख की वासना रह जाती

है, इसलिये इसको वासनानन्द कहते हैं। तीन ध्यान हो गये—कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट। सद्रूप से ध्यान कनिष्ठ, सत्-चिद्रूप से मध्यम, सच्चिदानंदरूप से उत्कृष्ट है। वासनानंद में विषय की वृत्ति शिथिल है अतः यह उत्तमोत्तम है। इस तरह चार प्रकार का ध्यान बतलाया।। २६।।

ये ध्यान ही हैं तो क्या योग मार्ग का ही अनुसरण बताया जा रहा है? इस संभावना को हटाते हैं—

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरी भवेत्।। ३०।।

ज्ञान व योग से होने वाला ध्यान नहीं, वह तो ब्रह्मविद्या ही है। ध्यान से चित्त एकाग्र होने पर विद्या स्थिर होती है।

वेदान्त का चिन्तन उस दृष्टि से ध्यान नहीं जिस दृष्टि से योगशास्त्री बताते हैं। अनुपस्थित का मानस आकार कायम रखना योगोक्त ध्यान है जबकि यहाँ जो ब्रह्मध्यान कहा वह उपस्थित को ग्रहण करनारूप है। मैं सच में ब्रह्म हूँ अतः 'मैं ब्रह्म' सोचना ध्यान नहीं है। उसके लिये तो यह भी ध्यान हो जायेगा जो इस बात को नहीं समझ पाया कि मैं ब्रह्म हूँ। जब पंचकोषों को विवेक से अलग कर लिया, तब जो बचा उसे ब्रह्म समझना ब्रह्मविद्या ही है। प्रायः लोगों को ज्ञान भी ध्यान ही लगता है। पत्थर को पत्थर देखना ध्यान नहीं ज्ञान है, पत्थर को विष्णु देखना ध्यान है। इसी तरह ब्रह्म को ब्रह्म देखना ज्ञान है, ध्यान नहीं। व्यवहार के समय भी अधिष्ठान-भाव बनाये रखना मंदबुद्धि के लिये सम्भव नहीं है। व्यवहारकाल में उसे नाम-रूप दीखता है, उसमें चिदानन्द का जो वह ध्यान कर पाता है वह ब्रह्मज्ञान ही है, योगप्रसिद्ध ध्यान नहीं है। साधनरूप ध्यान का लाभ यह है कि चित्त एकाग्र हो जाता है, वेदान्त में 'एक' का मतलब ब्रह्म है। एकाग्र का मतलब है ब्रह्म के आगे अपनी बुद्धि को ले जाना, ब्रह्माकार वृत्ति बनाना। ये जो चार ध्यान बतलाये, उनसे बुद्धि व्यवहारकाल में भी एकाग्र बनी रहती है। तभी यह ब्रह्मविद्या चित्त में स्थिर हो जाती है अन्यथा ब्रह्मविद्या स्थिर नहीं होती। ज्ञान तो हो जायेगा पर स्थिर नहीं होगा, व्यवहार-काल में चलायमान हो जायेगा। जब सच्चिदानन्दरूप से ब्रह्म को देखने का अभ्यास हो जायेगा तब व्यवहार में भी एकाग्रता बनी रहने से विचार की प्राप्ति होगी अतः चित्त में ब्रह्मविद्या स्थिर होगी। अतः ध्यान ब्रह्मविद्या के लिये उपयोगी है। ध्यान का ब्रह्मविद्या में साक्षात् उपयोग नहीं है, एकाग्र चित्त सम्पन्न करने के द्वारा है। परमात्मा के विषय को समझने के पहले जो साधन बतलाये, उनमें 'समाहितो भूत्वा' कहा है। वह ध्यान श्रवण से पहले का है। यहाँ बताये ध्यान जब तत्त्व को समझ लिया उसके बाद के हैं। ब्रह्मेतर का ध्यान ब्रह्मज्ञान को दृढ नहीं करेगा, उल्टा शिथिल करेगा। इसलिये साधक को सावधान रहना चाहिये कि चित्त एकाग्र करने के लिये सच्चिदानन्द का ही ध्यान करे।। ३०।।

ध्यान से ज्ञान का अन्तर बताते हैं–

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम्।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात्।। ३१।।

विद्या अर्थात् ज्ञान में सत्-चिद्-आनन्द एकरसता पाकर भासते हैं, अलग-अलग नहीं क्योंकि इन्हें अलग करने वाली कोई उपाधि नहीं होती।

जब ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तब सत् चित् और आनंद अलग-अलग नहीं रह जाते। ध्यान में चूँकि उपाधि मौजूद है, इसलिये सत् चित् आनंद का अलग-अलग भान है। जब ब्रह्माकार-वृत्ति बनती है, तब ये अलग नहीं रह जाते, एकरस हो जाते हैं। जो सत् है वही चित् है, जो चित् है वही आनंद है वही सत् है, इनमें भेद नहीं रह जाता जबकि ध्यान करने में भेद रहता है। एक देवदत्त कलकत्ते में देखा, उसका एक चित्र मन में है। एक देवदत्त आबू में देखा, उसका अलग चित्र मन में हैं। जब प्रत्यभिज्ञा होती है 'यह वही देवदत्त है' तब देश, काल,वस्तु में हमें जो भेद दीखा था, उसके बिना वाली वस्तु का ज्ञान हो जाता है। पत्तों से बनी झोपड़ी भी मकान है और सत्तर तल्ले वाला भी मकान है। दोनों ही मकान हैं। दोनों में मोटी दृष्टि से कोई समानता नहीं देखने को मिलेगी पर मकान दोनों ही हैं। स्थूल रूप से 'मकान' का ज्ञान नहीं बताया जा सकता। जैसे जाति का ज्ञान स्थूल रूप से नहीं बतला सकते ऐसे ही सच्चिदानन्द की एकरसता का ज्ञान होता है, पर उसे बताया नहीं जा सकता।

ध्यान करते समय 'मैं ध्यान करने वाला, ध्यान कर रहा हूँ, और सत्-चित्-आनन्द का ध्यान का रहा हूँ' यह त्रिपुटी रहती है। ध्यान करने वाला कर्त्ता, ध्यान क्रिया और ध्येय, जिसका ध्यान कर रहा हूँ। ब्रह्माकार वृत्ति से जब ज्ञान होता है तब ज्ञान करने वाला, जिसका ज्ञान हो रहा है, और ज्ञानरूप क्रिया ये तीन खण्ड नहीं रहते। एक अखण्ड ज्ञान ही रह जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीन नहीं रहते। ध्यान में भेद बना रहता है, अखण्ड एकरसता को प्राप्त करके प्रमाता प्रमाण प्रमेय का भेद भी नहीं रहता, और सत् चित् आनंद का भेद भी नहीं रहता। भेदक उपाधि का बाध हो जाता है। जैसे घड़े का घटाकाश, कमरे का शालाकाश, और बाहर का महाकाश, घड़े व कमरे के हटने पर तीनों एक ही भासते हैं। जब तक भेदक उपाधि है तभी तक अलग-अलग प्रतीति है। ब्रह्मविद्या से भेदक उपाधि का बाध हो जाता है। ध्यान में भेदक उपाधि का बाध नहीं होता। भेदक के रहते जो उसमें अखण्ड तत्त्व है उसकी तरफ ध्यान करते हैं, परन्तु उपाधि रहती है। यही ज्ञान और ध्यान में बड़ा अंतर है। इसी प्रकार जडता व दुःख का भान रहते हुए जड में सद्रूप से, दुःख में चिद्रूप से, और शांत वृत्ति में आनंदरूप से उसका ध्यान करते हो परंतु जड विषय हट नहीं जाते। जब ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तब सभी भेदों का बाध हो जाता है। श्रुति ने कहा है कि सृष्टि से पहले केवल एक परमात्मा था। 'था' का क्या मतलब है कि अब

नहीं है? भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि सांसारिक रीति से समझने वाले व्यक्ति के लिये 'था' कहा, परमात्मा तो इस समय भी है। साधारण मनुष्य 'यह संसार नहीं है, ब्रह्म है' सुनकर भ्रमित हो जाता है। जैसे पानी में आदमी डूबा हो तो विह्वल हो जाता है ऐसे 'यह संसार नहीं है' सुनकर व्यक्ति विह्वल हो जायेगा। इसलिये कहा जा रहा है कि 'सृष्टि से पूर्व एकमात्र परमात्मा था'। धीरे-धीरे समझ आयेगा कि एक परमात्मा ही अब भी है। नाम-रूप का बाध करके वह अद्वैत प्रकट हो जायेगा जैसे साँप का बाध करने पर रस्सी प्रकट हो जाती है। साँप तीनों कालों में नहीं था, रस्सी ही थी, केवल अज्ञान से प्रतीति है, पर साँप दीखते समय यह स्वीकार नहीं होता।। ३१।।

भिन्न बनाने वाली उपाधियाँ याद दिलाते हैं—

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः।
योगाद् विवेकतो वैषाम् उपाधीनाम् अपाकृतिः।। ३२।।

भेद करने वाली उपाधियाँ हैं १) शांत वृत्तियाँ, २) घोर वृत्तियाँ और ३) पत्थर आदि। योग या विवेक से इन उपाधियों को हटाया जाता है।

श्लोक २६ आदि में इन उपाधियों का कथन हो चुका है। इनमें भेद है अतः ब्रह्म के इनमें भासने वाले स्वभाव भिन्न लगते हैं। 'है' इसीलिये 'चित्' नहीं लगता क्योंकि पत्थर है तो सही पर वह ज्ञान नहीं। वस्तुतः यहाँ अंतर तो पत्थर और मनोवृत्ति अर्थात् उपाधियों में है किन्तु उनके कारण प्रतीत होता है कि 'है' अलग और 'ज्ञान' अलग वस्तु है। ऐसे ही आनन्द भी भिन्न प्रतीत होता है। ब्रह्मज्ञान से अखण्ड प्रतीति होती है। जड उपाधियों में दीखने पर उसके स्वभाव विभिन्न प्रतीत होते हैं। आग एक है पर जल में प्रकाश ग्रहण न होने से हमें गर्मी व रोशनी में अन्तर लगता है। पत्थर पर सूर्य पड़ने से आँखें नहीं चौंधती, काँच पर पड़ने से चौंधती हैं, इसमें सूर्य के कारण भेद नहीं, पत्थर या काँच के कारण भेद है। ब्रह्म तो अखण्ड है। जड पदार्थ में यह योग्यता है कि केवल सत् को दिखला दे। बुद्धिवृत्ति में यह विशेषता है कि सत्-चित् दोनों को दिखला दे। भेद करने वाली उपाधियाँ तीन हैं—शांत और घोर बुद्धिवृत्तियाँ और जड पत्थर आदि। योगानंद प्रकरण में बताये तरीके से या विवेक से आत्मानंद, अद्वैतानंद में बतायी विधि से जो उपाधियाँ हैं इनका अपाकरण हो जाता है, ये दूर हो जाती हैं। जीवन्मुक्ति काल में ये नहीं रहती हुई भी आभासरूप में प्रतीत होती रहती हैं। संसार के पदार्थ सर्वथा नहीं हैं ऐसा बोध होने के बाद भी जीवन्मुक्ति काल में इनकी प्रतीति होती रहती है।। ३२।।

निष्कर्ष बताते हैं—

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयम्प्रभे।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमाऽऽनन्दोऽत उच्यते।। ३३।।

उपाधि-रहित तात्त्विक स्वप्रकाश अद्वैत ब्रह्म भासने पर त्रिपुटी न रहने से आनन्द 'भूमा' कहलाता है।

ब्रह्म किसी अन्य प्रभा की अपेक्षा नहीं करता। सूर्य उसका प्रकाशक नहीं बनता, न चंद्रमा न तारे। वह स्वयं ही प्रभा है। सूर्य किससे प्रकाश वाला हो रहा है? वह स्वप्रकाश है, किसी से प्रकाश वाला नहीं है। यह केवल समझाने के लिये कहते हैं क्योंकि आँख की रोशनी न हो तो सूर्य भी अँधेरा ही है! अतः वह स्वप्रकाश नहीं, बल्कि आँख की रोशनी के अधीन है। आँख बुद्धि के और बुद्धि ब्रह्म के प्रकाश के कारण है। ब्रह्म ही स्वयंप्रकाश है। वास्तव में कोई भी उसकी उपाधि नहीं है। सारी उपाधियों की वहाँ निवृत्ति हो जाती है। शिव सारे प्रपंच का उपशमरूप है। इसलिये कहा है कि कल्पित वस्तु का हटना अधिष्ठान का अवशेष रह जाना ही है। उपाधियाँ जब अपाकृत हो गयीं, योग या विवेक से, तब निरुपाधिक ब्रह्म तत्त्व के अन्दर किसी भी प्रकार का द्वैत रहता नहीं है। वह स्वप्रकाश ही भासमान है। ब्रह्माकार वृत्ति उसको प्रकाशित नहीं करती, वह तो केवल अज्ञान का नाश कर देती है। इसकी भासमानता में त्रिपुटी नहीं है, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय का भेद नहीं है। उसकी वहाँ अपेक्षा ही नहीं है। घट-पट, शांत, घोर वृत्तियों में तो उसकी अपेक्षा है, पर जो स्वप्रकाश ब्रह्म है उसमें त्रिपुटी की ज़रूरत नहीं है। परिच्छेद न होने से ही उसको भूमानन्द कहा जाता है। देश-काल-वस्तु—सब में वह व्यापक है। कल्पित वस्तुओं का बाध हो जाने से जो अधिष्ठान अवशिष्ट रह गया वह व्यापक ब्रह्म है। देश, काल, कारणकार्यभाव—ये सब ब्रह्म में कल्पित हैं। अतः देश या काल में वह नहीं है, देश और काल ही उसमें कल्पित हैं। इसलिये उसे 'भूमानन्द' कहते हैं। आनंद सत्-चित्-रूप तो होगा ही। जहाँ किसी भी प्रकार की उपाधि की स्थिति होगी वहाँ पूर्ण आनंद हो ही नहीं सकता। भगवान् सनत्कुमार ने इसलिये कहा 'यो वै भूमा तत् सुखम्'। जहाँ द्वैत है वहाँ सच्चा सुख नहीं होता। सबका बाध हो गया इसीलिये भूमानन्द है।। ३३।।

अध्याय समाप्त करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पञ्चमोध्याय ईरितः।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तः प्रविश्यताम्।। ३४।।

ब्रह्मानन्द नामक पंचाध्यायी ग्रन्थ में 'विषयानन्द' नामक पाँचवाँ अध्याय बता दिया। इस दरवाज़े से भीतर (आत्मा में) प्रवेश किया जाये।

यह जो पाँच अध्यायों का ब्रह्मानन्द प्रकरण है इसमें आनंद के बारे में जितनी सोचने लायक बातें हैं सब ग्रथित कर दी गईं इसलिये इसे 'ग्रन्थ' कह दिया। पाँचवें अध्याय का नाम 'विषयानन्द' है। ब्रह्मविद्या में विषयानन्द का निरूपण क्यों? ध्यान से विषय के नाम-रूप को हटाकर आनंद का ग्रहण करना इसमें बताया। योग और विवेक वाला तो नाम-रूप का बाध कर लेता है। जो मंदाधिकारी है वह बाध नहीं कर पाता। उसे लगता है कि 'दीख रहा है, तो कैसे कहें कि नहीं है'। उसे समझाया कि दीखते हुए उसमें जो

सच्चिदानन्द दीख रहा है उसका ध्यान करते-करते अंत में विषय अर्थात् नाम-रूप नहीं-जैसा ही हो जाता है। विषय के द्वारा इसमें जो ध्यान का प्रकार बतलाया यह द्वार है। उससे चाहे बाहर जाओ, चाहे अन्दर आओ! जो अज्ञानी है वह तो इस विषयानन्दरूप द्वार से ही बाहर जायेगा, विषय की तरफ जायेगा। मुमुक्षु यहाँ बतायी प्रक्रिया से विषय सामने आने पर विषय में स्थित जो सच्चिदानंद है उसका विचार कर आनंद को देखकर उसके अंदर स्थित जो सच्चिदानन्द उसे ग्रहण करता है। इस तरह विषय के आने पर भी सच्चिदानन्द का चिन्तन करके अन्दर की तरफ आ जाता है। जो विषय बाहर जाने का द्वार था, उसका ही प्रयोग वह अन्दर आने के लिये करता है। अतः साधक को प्रेरित किया कि इस द्वार से अब अन्तःप्रवेश करे अर्थात् साक्षिस्वरूप की प्राप्ति करे।। ३४।।

ब्रह्मानन्द नामक समग्र ग्रंथ का समापन करते हैं—

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रिताञ्शुद्धमानसान्।। ३५।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीविद्यारण्यमुनि-विरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विषयानन्दो नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः।।

।। सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः।।

इस ब्रह्मानन्द से हरि और हर हमेशा प्रसन्न हों तथा अपने आश्रित, शुद्धमन वाले सब प्राणियों की रक्षा करें।

ग्रंथ का समापन कर रहे हैं। हरण करने वाले हर हैं। अज्ञान का हरण करने वाले भगवान् शंकर हैं। यह जो ब्रह्मानंद प्रकरण लिखा है, इससे हरि और हर सदैव हमारे ऊपर प्रसन्न रहें और सभी प्राणियों का पालन भी करें। विष्णु और शंकर भगवान् का स्मरण इसलिये कि ये दो ही, सनातन धर्म में सबसे ज्यादा पूज्य हैं। विष्णु प्रवृत्ति मार्ग के अधिपति हैं। भगवान् शंकर निवृत्ति मार्ग के अधिपति हैं। भर्तृहरि ने लिखा है 'एको देवः केशवो वा शिवो वा' एक देव होना चाहिये, चाहे शंकर हो या विष्णु। 'एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा' एक मित्र होना चाहिये चाहे राजा हो या संन्यासी। 'एको वासो पत्तने वा वने वा' एक जगह रहने की होनी चाहिये, चाहे बड़ा नगर हो या जंगल होवे। 'एका नारी सुन्दरी वा दरी वा' एक ही पत्नी होनी चाहिये, चाहे सुन्दरी हो या गुफा हो। इस क्रम में पहला केशव है, उसके साथ पहले क्रम में भूपति, शहर और सुन्दर स्त्री हैं। ये तीनों ही प्रवृत्ति मार्ग के सूचक हैं। देवों में दूसरा शिव, मित्रों में संन्यासी, वासों में वन, पत्नियों में गुफा— ये सब निवृत्ति के संकेत हैं। भगवान् विष्णु प्रवृत्ति और भगवान् शंकर निवृत्ति मार्ग के अधिपति हैं। दोनों का उद्देश्य तो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है। प्रवृत्ति का *उद्देश्य* अंतःकरण की शुद्धि है, संसार चक्र में भटकने के लिये वह नहीं है। दोनों वृत्तियों का उद्देश्य एक ही है। भगवान् ने इसीलिये कहा कि सांख्य और योग अलग हैं, प्रवृत्ति-निवृत्ति अलग हैं—ऐसा मूर्ख लोग कहा करते हैं।

दोनों का उद्‌देश्य एक होने से वस्तुतः वे एक ही हैं। हरि और हर के द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति को कह दिया। ब्रह्मानन्द से वे प्रसन्न हों, रक्षा करें। भगवान् ही सब की रक्षा करते हैं पर स्वयमेव ब्रह्मानन्द का पान नहीं कराते! जिन्होंने परमेश्वर का ही आश्रय लिया है, लौकिक आश्रय का सहारा जिन्होंने छोड़ दिया, उपयोग भले ही करते हैं पर सहारा केवल परमेश्वर का ही लेते हैं अतः परमेश्वर के ही आश्रित हैं, शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, उनकी वे सदैव रक्षा करें। सदैव प्रसन्न रहें और संरक्षण करें। परमेश्वर की प्रसन्नता यही है कि हमारी बुद्धि सदैव परमात्मा को ही विषय करे। जब बुद्धि में बाकी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, विषयों की, काम-क्रोध आदि की मलिनता नहीं रह जाती है, तब उसमें जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी को कहा जाता है वास्तविक रक्षा। आचार्य आशीर्वाद दे रहे हैं कि इस ग्रंथानुसार साधना करनेवालों का सदैव रक्षण होता रहे।

यह भी याद रहे कि हरिहर नामक राजा के मंत्री रहकर बाद में जब संन्यासी बनकर 'विद्यारण्यमुनि' हो गये, तब राजा ने प्रार्थना की, 'हमारे कल्याण का कोई रास्ता बताइये।' तब आचार्य ने इस *पंचदशी* की रचना की। अपना आश्रय देने वाला जो हरिहर राजा है, उसका चित्त इस ग्रंथ द्वारा शान्त हो जाये, और सदैव शुद्ध अंतःकरण वाली जो उसकी प्रजा है, उसकी सदैव रक्षा करता रहे। इस तरह कर्तव्य-निर्देश भी कर दिया और प्राप्तव्य का निर्देश भी किया ही है। अर्थात् 'हरिर्हरः' से हरिहर नामक राजा ध्वनित है, वह इस ब्रह्मानन्द से प्रसन्न रहे एवं प्राणिरक्षारूप राजकार्य बिना विक्षेप के करे—यह सूचित भाव संभव है।

यद्यपि इस श्लोक में ब्रह्मानन्द-प्रकरण की समाप्ति मुखतः की है तथापि पंचदशी-प्रकरण का भी यहीं समापन है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मानन्द का ही सर्वांगीण प्रतिपादन है। इस ग्रंथकरण से एवं इससे इंगित ग्रंथकार की स्थिति से परमेश्वर की प्रसन्नता ही प्रार्थित है। जीवन्मुक्त की समग्र चेष्टायें केवल ईश्वर-प्रसन्नतार्थ होती हैं। करुणापूर्ण होने से सभी सज्जनों के कल्याणर्थ भी प्रार्थना इसमें व्यक्त है।।**३५**।।

इस प्रकार यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ।

अथ पञ्चदशीप्रकरणस्थ-श्लोकाद्यचरणप्रतीकानां अकारादिवर्णानुक्रमणिका

इति पञ्चदशीस्थश्लोकानुक्रमणिका ॥

---------- o -----------